

# ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

भाष्यस्यादित्याख्योपलब्धः स्यात्तत्रकोपेतम्















# CALCUTTA SANSKRIT SERIES

*under the direction of*

PANDIT AMARESWAR THAKUR, M.A., Ph. D.

No. 1.

**ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्**

भामत्यादिव्याख्योपव्याख्या-नवकोपेतम्

**BRAHMASUTRA-SANKARA-BHASHYAM**

WITH NINE COMMENTARIES

**Part II.**

EDITED BY

MAHAMAHOPADHYAYA VEDANTAVISARADA

**ANANTAKRISHNA SASTRI**

LECTURER IN SANSKRIT, CALCUTTA UNIVERSITY, VICE-PRESIDENT  
SANSKRIT SAHITYA-PARISHAD, CALCUTTA, AUTHOR OF  
VARIOUS VEDANTA AND MIMAMSA WORKS &C.

---

PUBLISHED BY

THE METROPOLITAN PRINTING & PUBLISHING  
HOUSE, LIMITED, CALCUTTA.

1933.



PRINTED BY SAJANI KANTA DAS  
AT THE METROPOLITAN PRINTING & PUBLISHING HOUSE, LIMITED,  
56, DHARAMTALA STREET, CALCUTTA.



# BRAHMASŪTRA-SĀṆKARA-BHĀṢYA

[with nine commentaries]

with an English Foreword

By His Holiness

JAGADGURU SRI SANKARACARYA

OF

GOVARDHANMATH, PURI.

*Ed. with a Sanskrit Introduction*

BY

Mahamahopadhyaya Anantakrishna Sastri, Vedanta-Visarada.

—o—

## COMMENTARIES :—

- (i) PANCAPĀDIKĀ, a commentary on Śaṅkara's Bhāṣya by Padma-pādācārya.
- (ii) PANCAPĀDIKĀVIVARAṆA, a commentary on Pañcapādikā by Prakāśātmayati.
- (iii) RĀJUVIVARAṆA, a commentary, older than Tattvadīpana, on Pañcapādikāvivarāṇa by Viṣṇu-Bhaṭṭopādhyāya, son of Janārdana who became Ānandagiri after sannyāsa, published for the first time.
- (iv) TATTVADĪPANA, a commentary on Pañcapādikāvivarāṇa by Akhaṇḍananda Muni, disciple of Ānandagiri.
- (v) BHĀMATĪ, a commentary on Śaṅkara's Bhāṣya by Vācaspati Miśra.
- (vi) RĀJUPRĀKĀŚIKĀ, a commentary on Bhāmatī by Akhaṇḍānanda, probably the author of the Tattvadīpana, published for the first time.
- (vii) BHĀṢYABHĀVAPRĀKĀŚIKĀ, a commentary on Śaṅkara's Bhāṣya reconciling both Bhāmatī-prasthāna and Vivaraṇa-prasthāna by Citsukha-Muni, published for the first time.
- (viii) VĀRTIKA, an exhaustive commentary on Śaṅkara's Bhāṣya, referred to in the Siddhānta-leśasamgraha and the Vedānta-siddhānta-sūkti-mañjarī, by Nārayaṇa Sarasvatī, probably the preceptor of Gauḍa Brahmānanda, published for the first time.
- (ix) PRADĪPA, a comparative study of Vedānta by the editor M. M. Anantakṛṣṇa Śāstrī.

---

[ N.B. There are two *prasthānas* of Advaita Vedānta : (i) the Bhāmatī-prasthāna and (ii) the Vivaraṇa-prasthāna of which the latter is represented by the Catuḥ-sūtrī portion of the Brahmasūtra-Śāṅkarabhāṣya. Hence, this edition is brought out up-to the Catuḥ-sūtrī portion only.]







# सव्याख्यभामतीविषयानुक्रमणिका

| विषयाः                                       | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| जिज्ञासाया ज्ञानेच्छारूपत्वाद्विचाररूप-      |            |
| त्वाभावाच्च नाधिकार्यत्वम् ...               | ५५४— ५९८   |
| अथशब्दमङ्गलार्थत्वनिरासः ...                 | ६४५— ६४६   |
| अथशब्दपूर्वप्रकृतापेक्षार्थत्वासंभवः ;       |            |
| आनन्तर्यपर्यवसानम् ...                       | ६४७— ६४८   |
| अथशब्दानन्तर्यार्थत्वोपसंहारः ...            | ६५२        |
| स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यार्थशब्दार्थत्वशङ्का- |            |
| तन्निरासौ ...                                | ६५३— ६५४   |
| कर्मणां वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ, यजमान-       |            |
| संस्कारद्वारणापकरणद्वारा ब्रह्म-             |            |
| भावनायां संयोगपृथक्त्वन्यायेन-               |            |
| वोपयोगात् कर्मावबोधानन्तर्य-                 |            |
| मथशब्दार्थ इति शङ्का ...                     | ६५९— ६६३   |
| कर्मणां ब्रह्मभावनायाम्, अविद्यापिधानाप-     |            |
| नयने वाऽनुपयोगः, किन्तु चित्तशुद्धि-         |            |
| द्वारा विचारं प्रत्यारोपकारकत्वमे-           |            |
| वेति कर्मविचारानन्तर्यमथशब्दार्थः            | ६६५— ३७६   |
| ब्रह्मचारिणामृणाद्यभावः ...                  | ६७७        |
| आर्थक्रमाभावेऽपि श्रौतादिक्रमो धर्म-ब्रह्म-  |            |
| जिज्ञासयोर्भवत्विति शङ्का-तत्परिहारौ         | ६९७— ७०४   |
| धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरधिकृताधिकाराभावात्फल-   |            |
| जिज्ञास्यभेदाच्च न क्रमः ...                 | ७०६— ७११   |
| चोदनाप्रवृत्तिभेदाद् न क्रमः ...             | ७२१— ७२४   |
| यत्किञ्चिदानन्तर्यप्रतियोगिनिरूपणावश्यकता    | ७२५        |
| नित्यानित्यवस्तुविवेकविवरणम्, तस्य           |            |
| वैराग्योपयोगित्वं च ...                      | ७२६— ७२८   |
| इहामुत्रार्थफलभोगविराग-शम-दमादिसंप-          |            |
| न्मुमुक्षुत्वपदार्थविवरणम्, तेषां ब्रह्म-    |            |
| विचारसाधनत्वं च ...                          | ७४१— ७४४   |
| अतःशब्दविवरणम्, तत्पदकृत्यं च                | ७४६— ७४७   |
| कर्मणामनित्यफलत्वम्, ब्रह्मणो नित्यत्वं च    | ७५२— ७५५   |
| ” ” ...                                      | ७५६        |
| साधनचतुष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा-    |            |
| कर्तव्यता ...                                | ७५८        |

| विषयाः   | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| ब्रह्मजिज्ञासापदे चतुर्थीसमासनिषेधेन षष्ठी-    |            |
| समासव्यवस्था ...                               | ७६०— ७६१   |
| ब्रह्मपदार्थनिष्कर्षः ...                      | ७६२— ७६३   |
| ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे ...           | ७६४— ७६८   |
| जिज्ञासापदविभागः, तत्र ज्ञाधात्वर्थ-           |            |
| निष्कर्षश्च ...                                | ७७१— ७७२   |
| ” ” ...  | ७७४— ७७५   |
| ब्रह्मजिज्ञास्यत्वोपसंहारः ...                 | ७८०— ७८१   |
| ” ” ...  | ७८३— ७८४   |
| ब्रह्मप्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वयोर्विकल्पासह-    |            |
| त्वाद् ब्रह्मजिज्ञास्यत्वायोगशङ्का ...         | ७८७— ७८९   |
| ” ” ...  | ७९१        |
| प्रसिद्धत्वपक्षेणोक्तशङ्कापरिहारः ...          | ७९२— ७९४   |
| ” ” ...  | ७९९        |
| ब्रह्मशब्दव्युत्पत्त्या ब्रह्मपदार्थप्रसिद्धिः | ८१५        |
| सर्वस्यात्मत्वाद् ब्रह्मास्तित्वम् ...         | ८१७— ८१९   |
| विप्रतिपत्तिनिबन्धनात्सन्देहाद् ब्रह्मजिज्ञा-  |            |
| स्यत्वसंभवः ...                                | ८२०— ८२१   |
| देहात्मवादोपक्षेपः ...                         | ८२३        |
| इन्द्रियात्मवादोपक्षेपः ...                    | ८२६        |
| सांख्याभिमततात्मस्वरूपम् ...                   | ८४८        |
| देहात्मवादादिपक्षे जीवब्रह्माभेदायोगनिरूपणम्   | ८५०        |
| तत्पदार्थविप्रतिपत्तिप्रदर्शनम् ...            | ८५१        |
| ” ” ...  | ८५५        |
| जीवाभिन्नब्रह्मस्वरूपपक्षः ...                 | ८५६        |
| युक्ति-वाक्य-तदाभासाश्रयणमुक्तविप्रतिपत्ति     |            |
| निदानम् ...                                    | ८५४        |
| जिज्ञासाऽऽवश्यकता, तत्प्रतिज्ञा च ...          | ८६२— ८६३   |
| जिज्ञासाधिकारणोपसंहारः ...                     | ८६३        |
| जन्मादिसूत्रावतारणम् ...                       | ८६९— ८७४   |
| जन्मादीति नपुंसकप्रयोगोपपत्तिः ...             | ८७७        |
| जन्म-स्थिति-भङ्गानां समासार्थत्वम्,            |            |
| जन्मनः प्रथमनिर्देशकारणानि च                   | ८७९— ८८९   |
| “नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”त्यादिपदकृत्यानि    | ८९२— ८९३   |



| विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|
| ” ” ...   | ८९५— ८९६   |
| ” ” ...   | ८९८        |
| नैरुक्तषट्भावविकाराग्रहणकारणम् ...  | ९०२— ९०४   |
| प्रधानादिकारणवादासंभवोपपादनम् ...   | ९१२— ९१३   |
| ” ” ...   | ९१५        |
| संभावनाहेतुनिर्देशः ...   | ९१८        |
| सूत्रेऽनुमाननिर्देशशङ्का-तत्परिहारौ ...                                       | ९२०— ९२१   |
| अनुमानोपयोगप्रकारः ...  | ९२२        |
| ब्रह्मजिज्ञासायामनुमानोपयोगसंभवः ...  | ९२४— ९२७   |
| कर्म-ब्रह्मवैलक्षण्यम् ...  | ९२९— ९३३   |
| ब्रह्मणो भूतवस्तुत्वेऽपि वेदान्तविचारा-<br>वैयर्थ्यम् ...                     | ९३४— ९३६   |
| “यतो वे”तिवाक्यस्य निर्णयवाक्यमा“नन्दा-<br>द्धयेवे”ति ...                     | ९४१        |
| जन्माद्यधिकरणोपसंहारः ...   | ९४४        |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणाघतारणम् ...  | ९४७        |
| शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञत्वसाधनत्वम् ...                                     | ९५२— ९५६   |
| शास्त्रयोनित्वस्य वेदापौरुषेयत्वाविरोधित्वम् ...                              | ९६९— ९७१   |
| वर्णकान्तरावतारणम् ...  | ९७४        |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणोपसंहारः ...  | ९७७        |
| समन्वयाधिकरणपूर्वपक्षभाष्यविवरणम् ...   | ९८०— ९८४   |
| ” ” ...   | ९८६— ९८७   |
| सिद्धे वस्तुनि विध्यसंभवेन पूर्वपक्षोप-<br>संहारः ...                         | ९९३— ९९४   |
| “तत्तु समन्वयादि”ति सूत्रार्थः, “सदेवे”-<br>त्यादौ समन्वयसमन्वयश्च ...        | ९९५        |
| ” ” ...   | १०१३       |
| उपक्रमाद्यनुसारेण “सदेवे”ति वाक्यार्थ-<br>वर्णनम्, उपांशुयाजाधिकरणञ्च ...     | १०१७— १०१८ |
| भूतार्थत्वेऽपि न वेदान्तानां प्रमाणान्तर-<br>सापेक्षत्वम् ; पौरुषेयत्वात् ... | १०१९— १०२० |
| हेयोपादेयराहित्येऽप्युपदेशवैयर्थ्यम् ...                                      | १०२१— १०२४ |
| विधिसंस्पर्शं विनाऽपि वेदान्तप्रामाण्य-<br>संभवः ...                          | १०२६— १०२८ |
| ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वोपसंहारः ...  | १०४०       |

| विषयाः   | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| एकदेशिप्रत्यवस्थानप्रकारभेदानां संग्रह-<br>कारिका—“अज्ञातसंगतित्वेन” इत्यादि,<br>तद्विवरणं च ... | १०४४— १०४६ |
| प्रतिपत्तिविधिवाक्यैरेव ब्रह्मणोऽपि सिद्धिः ...  | १०६४       |
| ” ” ...  | १०६६       |
| “नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमिति”<br>शङ्का-तत्परिहारभाष्यविवरणम् ...                               | १०६९— १०७२ |
| एकदेशिमत्तनिरासः, कर्म-ब्रह्मविद्याफल<br>वैलक्षण्येन ...   | १०७३— १०७४ |
| ” ” ...  | १०७८— १०७९ |
| ” ” ...  | १०८१       |
| परिणामि-कूटस्थनित्यविभाग-तत्स्वरूपा-<br>दिकम्, ब्रह्मणः कूटस्थनित्यत्वं च ...                    | १०८४— १०९० |
| अज्ञाननिवृत्तिमात्रेण ज्ञानेन मोक्षः ...   | १०९४       |
| ” ” ...  | १०९६       |
| ज्ञानेन मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रेण मोक्षे<br>गौतमसूत्रोपपत्तिः ...                               | १०९८       |
| न्यायसूत्रविवरणम् ...  | ११०१       |
| एकत्वज्ञानस्य संपदादिरूपत्वनिरासः ...  | ११०३       |
| आत्मनः संस्कार्यकर्मत्वनिरासः ...  | ११०४— ११०७ |
| ब्रह्मणो विदिक्रियाकर्मत्वायोगः ...  | ११२५— ११२८ |
| अविद्याकल्पभेदनिवृत्तिपरत्वमेव शास्त्रस्य ...  | ११३८       |
| उत्पाद्यत्वे मोक्षानित्यत्वापत्तिश्च ...   | ११३९       |
| ब्रह्मणः प्राप्यकर्मताशङ्का-तत्परिहारौ ...   | ११४२— ११४३ |
| मोक्षसंस्कार्यतानिरासः ...   | ११५०— ११५२ |
| देहाश्रयक्रिययाऽऽत्मनोऽसंस्कार्यत्वम् ...  | ११५४— ११५७ |
| ब्रह्मणो ज्ञानातिरिक्तक्रियाविषयत्वोप-<br>संहारः ...   | ११५८       |
| ज्ञानस्य क्रियात्वेऽप्यविधेयत्वं प्रमाण-<br>जन्यत्वे ...   | ११६०       |
| ” ” ...  | ११६२       |
| ज्ञानाविधित्वपक्षः ...   | ११६६       |
| ” ” ...  | ११७०       |
| “श्रोतव्यो मन्तव्यः” इत्यादीनां विधि-<br>सरूपत्वम्, नतु विधित्वम् ...                            | ११७२— ११७४ |



| विषयः                                       | पत्राङ्काः | विषयः   | पत्राङ्काः |
|---|------------|---|------------|
| सिद्धेऽपि वस्तुनि संगतिग्रहादिना वेदान्त-   |            | ” ” ... १२१४                                    |            |
| प्रामाण्योपक्षेपः, “कार्यबोधे यथा चेष्टे”ति |            | ” ” ... १२१५                                    |            |
| कारिकाविवरणं च ... ११७५—११७६                |            | ” ” ... १२२०                                    |            |
| ” ” ... ११७८—११८०                           |            | ” ” ... १२२२—१२२३                               |            |
| ” ” ... ११८२                                |            | श्रुतब्रह्मणोऽपि संसारित्वोपपत्तिः, सश-         |            |
| आत्मन औपनिषदत्वानुपपत्तिशङ्का-परि-          |            | रीरत्वस्य मिथ्याऽज्ञाननिमित्तत्वं च १२२५—१२२९   |            |
| हारौ ... ११८३—११८७                          |            | देहादावहंभावस्य गौणत्वनिरासः ... १२२९—१२३४      |            |
| “दृष्टो हि तस्यार्थः” इत्यस्य धर्मजिज्ञासा- |            | प्रतिपत्तिविधिवादे पृथक् शास्त्रारम्भानु-       |            |
| विषयत्वम् ... ११८८                          |            | पपत्तिः ... १२३५                                |            |
| भूतोपदेशवत् कूटस्थनित्योपदेशः ... ११९२      |            | विधीनां यावद्ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रवृत्तिः, ननु |            |
| ” ” ... ११९४—१२०१                           |            | ततः परमपि ... १२३८—१२३९                         |            |
| “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिनिषेध-        |            | “गौणमिथ्यात्मनः” इत्यादि श्लोकत्रयविवरणम् १२४७— |            |
| वाक्यार्थपरीक्षा ... १२११—१२१२              |            | ” ” १२५०—                                       |            |

## पञ्चपादिकाप्रस्थानविषयानुक्रमणिका

|  |  |   |  |
|--|--|---|--|
| अथशब्दस्य लोकप्रसिद्धार्थचतुष्टयोल्लेखः  |  | अथशब्दस्य पूर्वप्रकृतापेक्षार्थत्वायोगः           |  |
| अथशब्दव्याख्योपक्रमश्च ... ५९१—५९३       |  | आनन्तर्यार्थत्वस्यैवौचित्यं च ... ६४८—६५१         |  |
| पुष्कलकारणतया पूर्वनिवृत्तसाधनचतु-       |  | जिज्ञासायाः स्वाध्यायाध्यायनानन्तर्या-            |  |
| ष्ट्यार्थत्वादथशब्दप्रयोजनम्, अधि-       |  | र्थत्वायोगः ... ६५४                               |  |
| कारार्थत्वनिरासश्च ... ५९४—५९५           |  | जिज्ञासायाः कर्मविचारानन्तर्यापेक्षः ... ६५९      |  |
| ” ” ... ५९९                              |  | ” ” ... ६६४                                       |  |
| जिज्ञासाशब्दस्य यौगिकत्वस्यैव युक्त-     |  | जिज्ञासायाः कर्मविचारानन्तर्यानपेक्ष-             |  |
| त्वाद् मीमांसापर्यायत्वासंभवः,           |  | त्वोपपादनम् ... ६७५—६८६                           |  |
| अन्तर्णीतं विचारमाश्रित्याप्रयोजन-       |  | संस्कारविधया कर्मणां ब्रह्मज्ञानोपयोग-            |  |
| त्वापत्त्याऽधिकारार्थत्वासंभवः, ब्रह्म-  |  | शङ्कानिरासः ... ६७९—३८६                           |  |
| ज्ञानस्यापि प्रयोजनत्वनिरासः, अध्य-      |  | यज्ञादीनां ज्ञानजनकतया कर्मविचारा-                |  |
| यनविध्यनुसारेण विचारस्य ब्रह्म-          |  | पेक्षाशङ्कानिरासः ... ६८७—६९०                     |  |
| ज्ञानार्थत्वप्रतिक्षेपश्च ... ६००—६०५    |  | मोक्षजनकतया कर्मणां कर्मविचारापेक्षा-             |  |
| अध्ययनस्यार्थावबोधार्थत्वपक्षनिरासेना-   |  | शङ्का-तन्निरासौ ... ६९१—६९२                       |  |
| क्षरग्रहणान्तत्वपक्षोपक्षेपः ... ६०५—६१४ |  | कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानहेतुत्वे संस्कार- |  |
| अध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वपक्षो-    |  | विविदिषापक्षयोर्विशेषोपपादनम्,                    |  |
| ल्लेख-तन्निरासौ, ब्रह्मजिज्ञासाया        |  | कर्मणामृणत्रयपरिहारार्थत्व-निरासः,                |  |
| अनधिकार्यत्वोपक्षेपश्च ... ६१५—५४४       |  | ऋणापकरणश्रुतेरर्थवादमात्रत्वम्,                   |  |
| अथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वनिरासः ... ६४४—६४५ |  | संन्यासस्यान्ध्यायविषयत्वं च ... ६९३—६९५          |  |



| विषयाः                                     | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| संन्यासे यज्ञोपवीतादीनां त्यागावश्यकता     |            |
| त्रिदण्डमतनिरासश्च ...                     | ६९६        |
| हेतु-हेतुमद्भावाभावेऽपि कर्मविचारानन्तर्यं |            |
| क्रमश्रुत्यादिनेति शङ्का-निरासौ ...        | ६९७— ६९८   |
| धर्म-ब्रह्मविचारयोरेकजिज्ञास्य-फलकत्व-     |            |
| शङ्का ...                                  | ७०५        |
| उक्तशङ्कानिरासः ...                        | ७०८— ७११   |
| ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादनिरासः, समुच्चयपक्षे   |            |
| ब्रह्मविचारानन्तर्यविनिगमनाभावः,           |            |
| फलैक्यात्कर्मविचारानन्तर्यार्थत्व-         |            |
| पक्षनिरासोपसंहारश्च ...                    | ७१२— ७२०   |
| प्रमाणोपाधिप्रमेयवैलक्षण्यं धर्म-ब्रह्म-   |            |
| विचारयोः ...                               | ७२१— ७२२   |
| „ „ ...                                    | ७२४— ७२५   |
| नित्यानित्यवस्तुविवेकपदार्थः ...           | ७२६        |
| नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य विहितविचारा-      |            |
| ङ्गत्वोपक्षेपः ...                         | ७२९— ७३३   |
| फलकामनातिरिक्तस्यापि काम्यकर्म-            |            |
| निमित्तत्वपरीक्षा ...                      | ७३४— ७३६   |
| इहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य मुमुक्षायाश्चा-  |            |
| धिकारनिमित्तत्वोपपादनम्, साधन-             |            |
| चतुष्टयानन्तर्योपसंहारश्च ...              | ७३७— ७४४   |
| विचारं प्रतिजानानस्य सूत्रकारस्य शमा-      |            |
| दीनामपि बुद्धावाख्यत्वप्रतिपादनम्          | ७४५— ७४    |
| अथशब्दगृहीतस्यैव हेतुत्वस्य हृदी-          |            |
| करणार्थमतःशब्द इति विवरणम्, ...            | ७४६— ७४८   |
| कृतकत्व-परिच्छिन्नत्वयोरेकान्ततोऽ-         |            |
| नित्यत्वसाधकत्वम्, नित्यानित्य-            |            |
| वस्तुविवेकादिसंभवाद् ब्रह्मविचार-          |            |
| साधकत्वेनातःशब्दसाफल्यं च ...              | ७४९— ७५५   |
| मुमुक्षासंभवव्यवस्थापनमाशङ्कानिरासपूर्वकम् |            |
| “तस्माद्यथोक्तसाधनचतुष्टयसंपत्त्यनन्तर्य-  |            |
| मि”ति भाष्यविवरणम् ...                     | ७५६— ७५८   |
| ब्रह्मजिज्ञासापदविभजनम् ...                | ७५९— ७६०   |
| ब्रह्मपदार्थनिष्कर्षः ...                  | ७६२— ७६३   |

| विषयाः                                       | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| ब्रह्मण इति कर्मषष्ठीनिष्कर्षणम्, शेषषष्ठी   |            |
| निरासश्च ...                                 | ७६४— ७७०   |
| जिज्ञासापदविभजनम्, ज्ञानस्वरूप-              |            |
| निष्कर्षः ...                                | ७७१— ७७८   |
| जिज्ञासासूत्रस्यापि शास्त्रान्तर्भूतत्वादनु- |            |
| बन्धचतुष्टयसूचनेनोक्तसूत्रपर्यवसान-          |            |
| विवेचनम् ...                                 | ७७८— ७८०   |
| शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयवर्णनम् ...          | ७८४        |
| प्रयोजन-विषय-सम्बन्धाक्षेपः ...              | ७८६— ७९१   |
| प्रयोजन-विषय-सम्बन्धानां विशेषरूपेण          |            |
| शास्त्रारम्भे निर्देशावश्यकता, वेदान्त-      |            |
| विषयस्यैव ब्रह्मणः शास्त्रविषयत्वम्,         |            |
| प्रतिबन्धरासेन वेदान्तेतिकर्तव्यता-          |            |
| च शास्त्रस्य ...                             | ७९२— ८०७   |
| जात्याद्यतिरिक्तब्रह्मपदार्थसंभवः प्रयोग-    |            |
| सामर्थ्योन्नेयः, निगम-निरुक्तादि-            |            |
| प्रयोजनं तत्स्वरूपम्, सौत्र-श्रौतब्रह्म-     |            |
| शब्दविषये निगमादि, पदमात्रस्या-              |            |
| प्रमाणत्वाद्विचारावश्यकता च ...              | ८०८        |
| आत्मनः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्यापि         |            |
| विचारयोग्यत्वम्, शून्यवादनिरासः, ...         | ८१७— ८२२   |
| देहस्यात्मशब्दाभिधेयत्वम्, देहेन्द्रिय-मनो-  |            |
| विज्ञान-शून्यवादोपक्षेपश्च ...               | ८२३— ८६१   |
| शून्य-विज्ञान-मन इन्द्रिय-दिव्यतिरि-         |            |
| क्तात्मसाधनम्, नैयायिक-वैशेषिका-             |            |
| भिमतशरीरपार्थित्वादिमात्रनिरासेन             |            |
| तत्पाञ्चभौतिकत्वसमर्थनम्, तस्या-             |            |
| भोक्तृत्वसाधनं च ...                         | ८३२— ८४१   |
| सप्रमाणं गोलकातिरिक्तभौतिकेन्द्रिय-मन        |            |
| आदिसाधनम्, तत्सर्वगतत्वाप्राप्य-             |            |
| कारित्वादिमतपरीक्षा, इन्द्रियाति-            |            |
| रिक्तात्मस्वरूपनिरूपणं च ...                 | ८४२— ८४७   |
| सांख्याभिमततात्माभोक्तृत्वपक्षोपक्षेपः       |            |
| चार्वाकादिमतपरीक्षाप्रयोजननिरूपणं च          |            |
| ... ..                                       | ८४८— ८५०   |



| विषयाः   | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| जीवव्यतिरिक्तेश्वरे वैशेषिक-नैयायिकाभि-<br>मतानुमानस्वरूपम् ... ८५१— ८५५   |            |
| जीव-ब्रह्माभेदपक्षविवेचनम्, मतान्तराणां<br>युक्त्याभासमूलत्वव्यवस्थापनं च ८५६— ८६१                                       |            |
| अनर्थनिवृत्त्यर्थं ब्रह्ममीमांसावश्यकता,<br>विचारस्य निःश्रेयसप्रयोजनत्वोप-<br>पादनं च ... ८६२— ८६५                      |            |
| ” ” ... ८६६  |            |
| जन्मादिसूत्रावतारणम् ... ८७०   |            |
| ब्रह्मस्वरूपविचारस्याभ्यर्हितत्वात्तद्विचारा-<br>वश्यकत्वम् ... ८७३  |            |
| लक्षणनिर्णये युक्तेरर्थसिद्धत्वम् ... ८७७  |            |
| “जन्मादी”ति नपुंसकनिर्देशप्रयोजनम्,<br>जन्मादित्वनिर्देशकारणं च ... ८७९— ८८०   |            |
| अभिन्ननिमित्तोपादाने प्रमाणाभावेन<br>निमित्तादिकारणमात्र एवास्य बाधेन<br>च जन्मादिसूत्रायोगशङ्का ... ८८२— ८८३            |            |
| दुःखादिदृष्टान्तेनाभिन्ननिमित्तोपादन-<br>त्वस्य श्रुतिसिद्धत्वान्नोक्तशङ्कावसरः ८८४— ८८५                                 |            |
| ब्रह्मपरिणामवादावतारणम्, तन्निरासः,<br>मिथ्याविषयत्वेऽपि सगुणवाक्यानां<br>प्रामाण्यं च ... ८८५— ८८७                      |            |
| प्रपञ्चमिथ्यात्वपक्षाश्रयणे प्रत्यक्षानुमाना-<br>र्थापत्त्यादिप्रमाणानि ... ८८८— ८९१                                     |            |
| द्विविधलक्षणपरीक्षा नाम-रूपभेदेन पदार्थ-<br>द्वैविध्यविभागे कारणानि च नैयायिका-<br>द्यभिमतपदार्थविभागसमालोचनेन ८९२— ८९४  |            |
| ब्रह्मण एव जगत्कर्तृत्वम्, तत्सर्वज्ञत्वप्रकाराश्च ८९८— ९०१  |            |
| नैरुक्तपदभावविकाराग्रहणकारणम् ... ९०४— ९०५   |            |
| मायाऽनिर्वचनीयत्वसाधनम्, तस्याः कारण-<br>त्वश्रुतीनां त्रेधोपपादनम्, ब्रह्मपरिणाम-<br>वादस्य संविस्तरं निरासश्च ९०५— ९११ |            |
| पृथिव्यादिजन्मविनाशानुमानम्, प्रधा-<br>नादिकारणताऽनुपपत्तिः, नैयायिका-<br>द्यभिमतेश्वरानुमाननिरासश्च ... ९११— ९१९        |            |
| जन्मादिसूत्रादीनां परार्थानुमाननिर्देशपर-  |            |

| विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|
| त्वशङ्कासमाधाने, युक्तीनामपि<br>वेदान्तविचारपेक्षा च ... ९२०— ९२९   |            |
| ” ” ... ९३१   |            |
| ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वायोगः, ब्रह्म-<br>गोचराणामपि युक्तीनां ब्रह्मविचारोप-<br>योगप्रकारः ... ९३४— ९३६                                     |            |
| कारणवाक्यानामद्वितीयब्रह्मप्रतिपादक-<br>त्वम् ... ९३७— ९४०  |            |
| निर्गुणं ब्रह्मैवाप्रसिद्धमिति भाष्करादिमत-<br>निरासः ... ९४२   |            |
| ” ” ... ९४४   |            |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणप्रतिपाद्यार्थसंग्रहः ९४७— ९४८  |            |
| वेदकारणत्वस्य सर्वज्ञत्वसाधकत्व-<br>प्रकारः ... ९५०— ९५१  |            |
| ” ” ... ९५३   |            |
| ” ” ... ९५७   |            |
| वेदापौरुषेयत्वोपपादनम्, ईश्वरसर्वज्ञ-<br>त्वोपपत्तिश्च ... ९५७— ९६८   |            |
| ” ” ... ९७२   |            |
| बिम्बचैतन्यं जगत्कारणम्, प्रतिबिम्ब-<br>चैतन्यं जगत्कारणम्, जीवस्यैव-<br>कारणत्वमित्यादिमतानां संग्रहणम् ९७४— ९७५                               |            |
| ” ” ... ९७७—  |            |
| समन्वयाधिकरणप्रतिपाद्यार्थसंग्रहः ... ९७९— ९८०  |            |
| वेदान्तानां सिद्धब्रह्मपरत्वेऽप्रामाण्यशङ्का-<br>परिहारपरतया समन्वयसूत्रावतारणम् ९८२  |            |
| ” ” ... ९८८— ९९२  |            |
| “तत्तु समन्वयदि”ति सूत्रार्थः, तात्पर्यलिङ्ग-<br>परीक्षा, समन्वयपदार्थनिष्कर्षः,<br>वेदान्तवाक्यानामद्वितीयब्रह्मपरत्व-<br>प्रकारः ... ९९५— ९९९ |            |
| पदानामखण्डैकसप्रवृत्तिप्रकाराः<br>(ऋजुविवरणम्) ... १०००— १००७   |            |
| “तत्त्वमसी”त्यादीनां प्रत्यभिज्ञावत्<br>स्वरूपमात्रविषयकत्वम्, पदार्थस्यैव<br>वाक्यार्थत्वेऽपि प्रामाण्यम्, सामा-                               |            |



| विषयाः   | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| नाधिकरण्यस्य भेदाभेदविषयकत्वमत-<br>निरासः, सत्यादिवाक्यानामप्येव-<br>मित्यादिविवेचनम् ... १००८—१०१२  |            |
| “सदेवे”त्यादिवाक्यान्तरग्रहणकारणम्,<br>सिद्ध्यर्थपराणामपि वेदान्तानां विषया-<br>भावेन पौरुषेयत्वेनानुवादकत्वेन वाऽ-<br>प्रामाण्यशङ्कानिरासश्च ... १०१३—१०१६                          |            |
| “ ” ” ... १०२९—१०३२  |            |
| लौकिकवाक्याद्वैदिकवाक्यस्य विशेषः<br>दुष्टकारणजन्यत्वस्यैवाप्रामाण्यप्रयो-<br>जकत्वाद् वेदान्तानामद्वितीयब्रह्म-<br>ज्ञानजनने च दोषाभावात्प्रामाण्य-<br>मित्युपपादनं च ... १०३३—१०३७ |            |
| अन्योन्याश्रयापत्त्या विधिवाक्यमात्र-<br>प्रामाण्यायोगेन प्राप्तप्राप्तिपराणा-<br>मपि वेदान्तानां प्रामाण्यव्यवस्था १०३७—१०३९  |            |
| निष्प्रयोजनत्वेऽपि नित्यादिवाक्यप्रामा-<br>ण्याद् बोधलक्षणमेव प्रामाण्यम्,<br>न प्रवृत्तिलक्षणम् ... १०४१  |            |
| कार्यसंसृष्ट एव वेदवाक्यप्रामाण्यमिति<br>प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव वेदान्त-<br>प्रामाण्यमिति प्रत्यवस्थानम् ... १०४३—१०४८   |            |
| निरर्थकत्वात् श्रुतब्रह्मणोऽपि संसारित्व-<br>दर्शनाद् विधीयमानकर्मकारकत्वेन<br>ब्रह्मबोध इति शङ्का, तत्परिहारश्च १०४९—१०५४   |            |
| शाब्दज्ञानातिरिक्तलौकिकज्ञानान्तर-<br>विधिमत्-तन्निरासौ ... १०५५—१०५६  |            |
| श्लोकैः कार्यान्वितशक्तिवादस्योपक्षेपः<br>(ऋजुविवरणम्) ... १०५७—१०५९   |            |
| नियोगस्येष्टसाधनत्वातिरिक्तस्य निरासः,<br>तादृशनियोगपरत्वमद्वैतमतेऽपि<br>समानमित्युपपादनम् ... १०६०—१०६२   |            |
| देवताधिकरणन्यायेन ब्रह्मसिद्धिरूपासन-<br>साध्यमोक्षवादश्चोभयमुपपद्यत इति<br>न धर्मवैलक्षण्यं ब्रह्मण इति विवेचनम् १०६३   |            |
| मोक्षस्य नित्यत्वानादित्व-स्वाभाविका-  |            |

| विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|
| शरीरत्वादिरूपत्वाद् न क्रियासाध्य-<br>त्वम्, मोक्षसाधनस्य स्वरूप-काल-<br>देश-संख्यानिबन्धनपरिमाणसंभवा-<br>दिति विवेकः ... १०७५—१०७८   |            |
| “न स पुनरावर्तते” इति श्रुत्याऽप्युपास-<br>नासाध्यफलस्य न नित्यत्वसंभवः,<br>ज्ञानस्य मोक्षजननार्थमवान्तरव्या-<br>पारानपेक्षा च ... १०९०—१०९७  |            |
| न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-सुगतमता-<br>नुसारेणापि मिथ्याज्ञाननिवृत्तिफलं<br>ब्रह्मज्ञानम्, तत्त्वज्ञानस्वरूपे परं<br>भेद इति विवेकः ... १०९८—११००   |            |
| “ ” ” ... ११०२  |            |
| “तत्त्वमसी”त्यादीनां संपदादिरूपत्वेऽभेद-<br>श्रुतिव्याकोपः, भेदाभेदवादनिरासश्च ११०५   |            |
| “ ” ” ११०८—११२३   |            |
| ब्रह्मणि विधिसम्बन्धायोगः, शास्त्रयोनि-<br>त्वोपपत्तिश्च ... ११२५—११२६  |            |
| “ ” ” ११२८—११२९   |            |
| शास्त्रप्रमेयत्व-ज्ञानविषयत्वयोर्भेदः, ब्रह्मा-<br>भेदयोग्यजीवस्वरूपविवरणम्, भेदा-<br>भेदवाक्यार्थतानिरासश्च ... ११३२—११३६  |            |
| “ ” ” ११३८  |            |
| मोक्षस्य ज्ञानजन्यत्वेनानित्यत्वापत्ति-<br>शङ्कायां ज्ञानस्याविद्यानिवृत्तिमात्रो-<br>पक्षीणत्वेन मोक्षाजनकत्वाद् जन्य-<br>त्वेऽनित्यत्वस्यापरिहार्यत्वाच्च नोक्ता<br>शङ्कावसर इति निरूपणम् ... ११४०—११४३ |            |
| प्रदेशान्तरवर्तिब्रह्मप्राप्यत्व-ब्रह्मसंस्कार्य-<br>त्वाद्ययोगः, “स एतान् ब्रह्म गम-<br>यती”त्यत्र कार्यब्रह्मण एव ग्रहणं च ११४४—११४९  |            |
| “ ” ” ... ११५३  |            |
| ज्ञानविलक्षणक्रियायाः प्रत्यक्षेण साधनम् ११६३—११६५  |            |
| ब्रह्मज्ञाने विधिनिरासः ... ११६७  |            |
| श्रवण-मनन-निदिध्यासन-दर्शनस्वरूपवि-<br>वेकः, श्रवणादिवाक्यस्यार्थवादत्व-  |            |



| विषयाः                                     | पत्राङ्काः    | विषयाः                                   | पत्राङ्काः |
|--|---------------|--|------------|
| प्रकारः, तव्यप्रत्ययस्यार्हार्थत्वं च      | ११७०—११७२     | ,, ,, ...                                | १२२३—१२२४  |
| वर्णकद्वयार्थानुवादेनात्मनोऽनन्यशेषत्व-    |               | प्रतिपन्नात्मभावस्य संसाराभावः, सश-      |            |
| व्यवस्था ...                               | ११७४—११७५     | रीरत्वस्य मिथ्याऽज्ञाननिमित्तत्वं च      | १२२५—१२२६  |
| ,, ,, ...                                  | ११७७          | ,, ,, ...                                | १२३१       |
| ,, ,, ...                                  | ११८१—११८२     | तत्त्वज्ञानस्य प्रारब्धेतरनाशकत्वाज्जीव- |            |
| “आम्नायस्ये”त्यादिसूत्राविरोधः             | ... ११८७      | न्मुक्त्युपपत्तिः, श्रवणातिरेकेण म-      |            |
| ,, ,, ...                                  | ११८९—११९२     | नादिविधिसार्थक्यम्, पृथक्                |            |
| कार्यसंसृष्टे पदानां शक्तिग्रह इति प्राभा- |               | शास्त्रारम्भोपपत्तिः, भेदाभेदमत-         |            |
| करमतनिरासः ...                             | ...           | निरासश्च ...                             | १२४०—१२४५  |
| सिद्धेऽपि शक्तिग्रहसंभवश्च                 | १२०२—१२११     | “गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे, इति श्लोक-      |            |
| “ब्रह्मणो न हन्तव्यः” इति निषेधवाक्य-      |               | चिवरणम् ...                              | १२४६       |
| परीक्षा, प्रभाकरमतनिरासश्च                 | ... १२१३—१२१४ | ,, ,, ...                                | १२४८       |
| ,, ,, ...                                  | १२१७—१२२१     | समन्वयाधिकाणोपसंहारः                     | ... १२५०   |

## वार्तिकविषयानुक्रमणिका

|  |     |     |          |
|--|-----|-----|----------|
| “अथशब्द आनन्तर्यार्थः” इत्यारभ्य जिज्ञासा-         | ... | ... | ७०५— ७१० |
| धिकरणान्तर्पर्यन्तभाष्यग्रन्थे व्या-               | ... | ... | ७२०— ७२५ |
| ख्यानलक्षणसमन्वयः                                  | ... | ५९१ |          |
| अथशब्दार्थचतुष्टयेऽधिकारार्थत्वपक्षोपक्षेपः        |     |     |          |
| तन्निरासश्च  | ... | ... | ५९२— ५९५ |
| ”  | ”   | ... | ५९७— ६०० |
| ”  | ”   |     | ६४४      |
| अथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वनिरासः                       |     |     | ६४५— ६४७ |
| अथशब्दस्य पूर्वप्रकृतापेक्षार्थत्वनिरासः           |     |     | ६५०— ३५२ |
| अथशब्दस्यानन्तर्यार्थत्वासंभवशङ्का-                |     |     |          |
| तत्परिहारौ   | ... | ... | ६५२— ६५३ |
| वेदाध्ययनानन्तर्यस्य नाथशब्दार्थत्वम्              |     |     | ६५४— ६५८ |
| कर्मविचारानन्तर्यस्य नाथशब्दार्थत्वम्              |     |     | ६५९      |
| ”  | ”   | ... | ६६२— ६७४ |
| ”  | ”   | ... | ६७३— ३७६ |
| श्रुत्यर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्तिप्रमाणैर्धर्म- |     |     |          |
| ब्रह्मविचारयोः क्रमनियमासंभवः                      |     |     | ६७७      |
| ”  | ”   | ... | ६७९      |
| ”  | ”   | ... | ६९८— ७०० |
| ”  | ”   | ... | ७०२      |

|  |     |     |          |
|--|-----|-----|----------|
| साधनचतुष्टयसंपत्तेरानन्तर्यप्रतियोगित्व- |     |     |          |
| योग्यतोपक्षेपः                           | ... | ... | ७२६      |
| नित्यानित्यवस्तुविवेकसंपत्त्युपयोगि-     |     |     |          |
| तथा प्रपञ्चानित्यत्वसाधनम्               | ... | ... | ७२८— ७३२ |
| आत्मनो देहादिविलक्षणस्य प्रत्यक्षादि-    |     |     |          |
| नाऽनित्यत्वग्रहासंभावोपपादनार्थ          |     |     |          |
| तस्य दृश्यविलक्षणत्वस्येच्छादिधर्म-      |     |     |          |
| कत्वस्य च साधनम्                         | ... | ... | ७३३— ७३४ |
| आत्मनः परकीयज्ञानविषयत्वनिरासः,          |     |     |          |
| श्रुत्या तस्य दृश्यविलक्षणस्यैव सिद्धि-  |     |     |          |
| रिति व्यवस्था, तदनित्यत्वप्रमा-          |     |     |          |
| णाभावश्च                                 | ... | ... | ७३५— ७३९ |
| नित्यानित्यवस्तुविवेकाधीनवैराग्य-        |     |     |          |
| प्रक्रिया                                | ... | ... | ७३९— ७४२ |
| शम-दमादिस्वरूपविवेकः, साधनचतु-           |     |     |          |
| ष्ट्यानन्तर्योपसंहारश्च                  | ... | ... | ७४३— ७४४ |
| अतःशब्दविवरणम्                           | ... | ... | ७४६      |
| साधनचतुष्टयासंभवाशङ्का                   | ... | ... | ७४९      |



## वार्तिकविषयानुक्रमणिका

| विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|
| "   | ७५१        |
| उक्तशङ्कापरिहारः  | ७५२— ७५३   |
| "   | ७५६        |
| "   | ७५८— ७५९   |
| “ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्र चतुर्थीसमासानुपपत्तिः<br>ब्रह्मपदार्थो जगत्कारणादिस्वरूपमेव,<br>न ब्राह्मणादीति निरूपणम् | ७६०— ७६३   |
| ब्रह्मण इति कर्मण्येव षष्ठी, न शेषे ;<br>प्रयासवैयर्थ्यात्, श्रुत्यनुगमाच्च                                     | ७६४        |
| "   | ७६६— ७७१   |
| जिज्ञासपदविभागः, ज्ञाधात्वर्थनिष्कर्षः  | ७७१— ७७५   |
| अनुबन्धचतुष्टयं सूत्रारूढम्   | ७८०        |
| "   | ७८२— ७८३   |
| सन्देहाभावाद् ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वाप्रसिद्ध-<br>त्वाभ्यां जिज्ञास्यत्वाक्षेपः                                   | ७८७— ७९३   |
| ज्ञातेऽपि ब्रह्मण्यन्तःकरणदोषात्सन्देहोप-<br>पत्त्याऽऽक्षेपनिरासः   | ७९४— ७९६   |
| जिज्ञास्यब्रह्मणः कथं सौत्रत्वमिति शङ्का<br>श्रौतब्रह्मशब्दमहिम्नैव नित्यशुद्धत्वार्थ-                          | ७९९        |
| प्रतीतिः  | ८१५— ८१६   |
| अनुभवतोऽपि ब्रह्मप्रसिद्धिः   | ८१७— ८१८   |
| "   | ८२१— ८२२   |
| प्रसिद्धेऽपि ब्रह्मणि विशेषविप्रतिपत्त्या<br>विचारावश्यकता  | ८२४        |
| देहोन्द्रिय-मनो-विज्ञान-शून्यात्मवादः   | ८२५— ८३१   |
| देहादिव्यतिरिक्तवैशेषिकसम्मततात्मवादः   | ८३२        |
| तादृशसाङ्ख्याद्यभिमततात्मवादः   | ८४४— ८४९   |
| तार्किकाद्यभिमततत्पदार्थः   | ८५१        |
| वेदान्ताभिमततत्पदार्थस्वरूपम्   | ८५६        |
| युक्ति-वाक्य-तदाभाससमाश्रयाणां विवेकः   | ८५८        |
| "   | ८६०        |
| विचारावश्यकता   | ८६२— ८६३   |
| "   | ८६५— ८६६   |
| "   | ८६८        |
| अधिकरणसङ्कतिविवेकः  | ८७०— ८७२   |
| अखण्डब्रह्मण उपलक्षणादिसंभवः  | ८७४— ८७७   |

| विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|
| जन्मादिपदे तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-<br>समर्थनम्, तदर्थः, जन्मन आदित्व-<br>निर्देशकारणं च   | ८७८— ८८१   |
| अस्यपदविवरणम्   | ८८२        |
| "   | ८९०— ८९१   |
| “जन्माद्यस्य यतः” इति वाक्यार्थः,<br>“नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”त्यादि-<br>विशेषणप्रयोजनविवरणं च  | ९०१— ९०३   |
| "   | ८९६— ८९८   |
| परमतस्यानुमनिकेश्वरवादस्यानादेयत्वे-<br>नोपन्यासः   | ९१८— ९२२   |
| श्रुत्यर्थानुवादित्वेनैवानुमानापेक्षा, न तु<br>तत्पुरोवादत्वेन, प्रमाणान्तरयोग्या-<br>र्थत्वेन धर्मजिज्ञासावैलक्षण्यम्                          | ९२३— ९२७   |
| कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्यार्थत्वस्योप-<br>पादनम्  | ९२९— ९३५   |
| सूत्रलक्षितवेदान्तवाक्यनिर्देशः   | ९३७— ९३८   |
| "   | ९४१, ९४४   |
| शास्त्रयोनित्वसूत्रावतारणम्   | ९४६        |
| शास्त्रपदेन मनोमयकोशग्रहणम्, शब्द-<br>मनःपरिणामतावादः, वेदापौरुषेत्व-<br>व्यवस्था च   | ९४८— ९५१   |
| शास्त्रयोनित्वसूत्रविवक्षितसर्वज्ञत्वानु-<br>मानम्  | ९५२— ९५५   |
| वेदकारणत्वे श्रुतिनिर्देशः  | ९७१        |
| ब्रह्मणि शास्त्रप्रमाणकत्वोपक्षेपः, आनु-<br>मानिकवादनिराससूचनार्थत्वेन<br>शास्त्रयोनित्वसूत्रावश्यकतादिश्च                                      | ९७४— ९७६   |
| "   | ९७८        |
| समन्वयसूत्रावतारणम्   | ९८०        |
| शास्त्रयोनित्वसूत्रेणाक्षेपसङ्कतिः, सिद्ध-<br>ब्रह्मबोधकत्वायोगरूपाक्षेपस्य जैमिनि-<br>पूर्वपक्षानुसारेण तत्सिद्धान्तानुसारेण च<br>प्रतिपादनं च | ९८२— ९८७   |
| वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शेनैव वस्तुनि<br>प्रामाण्यम्  | ९९०        |



| विषयः   | पत्राङ्काः    |
|---|---------------|
| ” ” ...                                       | १९३           |
| समन्वयाधिकरणशरीरम्                            | ... १९५       |
| ” ” ...                                       | १००१          |
| सूत्रार्थविवरणम्                              | ... १००२—१००६ |
| “सदेवे”त्यादिवाक्यार्थः, ब्रह्मणि वेदान्तानां |               |
| प्रामाण्यं च                                  | ... १०१८—१०१९ |
| ” ” ...                                       | १०२१          |
| हेयोपादेयराहित्यादुपदेशानर्थक्यशङ्कानु-       |               |
| वाद-तत्परिहारौ                                | ... १०२२—१०२३ |
| अन्यत्र विधिसंस्पर्शमन्तरेणाप्रामाण्येऽपि     |               |
| वेदान्तानां प्रामाण्यम्                       | ... १०२६—१०२८ |
| ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वोपसंहारः            | ... १०४०      |
| विधिसंस्पर्शमन्तरेण वेदान्तानां प्रामाण्ये-   |               |
| विप्रतिपत्तिनिर्देशः                          | ... १०४३—१०४४ |
| ” ” ...                                       | १०६४          |
| उपासनाविषयस्यापि ब्रह्मणः सत्यत्वा-           |               |
| विरोधात् क्रियापरत्वमेव वेदा-                 |               |
| न्तानाम् ; ज्ञानमात्रेण पुरुषार्था-           |               |
| सिद्धेः                                       | ... १०६५—१०६७ |
| धर्म-ब्रह्मजिज्ञासावैलक्षण्यपरिहारः           | ... १०६९      |
| उपासनस्य मोक्षफलकत्वम्, वस्तुमात्र-           |               |
| कथनेन वेदान्तानामप्रयोजनत्वं च                | १०७१—१०७२     |
| कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यव्यवस्था      | १०७३—१०७४     |
| ” ” ...                                       | १०८०          |
| अशरीरत्वस्वरूपत्वाद् कूटस्थनित्यमोक्षस्य      |               |
| कर्मानिमित्तत्वोपपादनम्                       | ... १०८१—१०८४ |
| ब्रह्मरूपस्व मोक्षस्य परिणामिनित्यत्व-        |               |
| निरासः, ज्ञानातिरिक्तसाधनान्तरा-              |               |
| योगश्च  | ... १०८९—१०९७ |
| ज्ञानमात्रसाध्यत्वे मोक्षस्य न्यायसूत्र-      |               |
| सङ्गतिः ; तद्विवरणं च                         | ... १०९८—११०० |
| गौतमाभिमततत्त्वज्ञानं न तत्त्व-               |               |
| ज्ञानमित्याक्षेप-समाधानाभ्यां विव-            |               |
| रणम्  | ... ११०२—११०५ |
| तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्व-            |               |
| परीक्षा, वेदान्तपरिभाषाभिमतस्य                |               |

| विषयः  | पत्राङ्काः    |
|--|---------------|
| विना लक्षणां तत्त्वमसिवाक्यार्थ-               |               |
| वर्णनस्य साहासिकत्वादिवर्णनम्                  | १११३—११२२     |
| ब्रह्मणस्संस्कार्यकर्मत्वादिनिषेधः             | ... ११२३      |
| ” ” ...  | ११२५          |
| अविषयत्वेऽपि ब्रह्मणः शास्त्रसार्थक्यम्        | ११२६          |
| ब्रह्मणः फलाव्याप्यत्ववद् न वृत्तिव्याप्य-     |               |
| त्वमपि, निर्विकल्पाविद्याध्यास-                |               |
| निवृत्तिः, वृत्तिस्थायित्वं च                  | ... ११२८      |
| ” ” ...  | ११३०—११३१     |
| “तस्याभिध्यानादि”ति श्रुतिघटकभि-               |               |
| ध्यानादिस्वरूपम्, तत्त्वभावस्यै-               |               |
| वोत्तमयोगत्वमित्यादिविवेचनम्                   | ११३६—११३७     |
| सविकल्पक-निर्विकल्पकसमाधिभेदः                  |               |
| ब्रह्मणि सकल्पकसमाध्युपपत्तिश्च                | ... ११३८—११३९ |
| हैरण्यगर्भ-वैष्णव-भास्करीय-तौष्टिक-पाञ्च-      |               |
| पतमतावलम्बिनां मोक्षे कर्मापेक्षा-             |               |
| नुवादेन तन्निरसनम्                             | ... ११३९      |
| ” ” ...  | ११४३          |
| ” ” ...  | ११४९—११५२     |
| देहनिष्ठक्रिययाऽऽत्मसंस्कार्यत्वनिरासः         | ११५४—११५७     |
| ज्ञानविषयत्वेनाङ्गीकृतेन क्रियाविषयत्वमा-      |               |
| पतितमिति शङ्का-तत्परिहारौ                      | ... ११५९      |
| उपासनाज्ञानस्य क्रियात्वमेव नास्तीति-          |               |
| विवरणपक्षनिरासः                                | ... ११६७      |
| “आत्मन्येवात्मानं पश्येदिति”तीतरपरिसंख्या-     |               |
| विधिः, नतु ज्ञानविधिः                          | ... ११६८—११७२ |
| अथवा श्रवणादिसाधननियमः, नतु ज्ञान-             |               |
| विधिः, प्रवृत्ति-निवृत्त्यबोधनेऽपि शक्ति-      |               |
| ग्रहादिसंभवात्प्रामाण्योपपत्तिश्च              | ... ११८४      |
| ” ” ...  | ११८६          |
| “आज्ञायस्य क्रियार्थत्वादि”त्यादिसूत्राविरोधो- |               |
| पपादनम्, कार्यान्वितशक्तिग्रहादि-              |               |
| निरासः, इष्टसाधनत्वस्यैव लिङ्गार्थ-            |               |
| त्वेन नियोगवादनिरासश्च                         | ... ११८६—११९३ |
| ” ” ...  | ११९६—११९७     |
| “ब्रह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिनिषेधवाक्यार्थ-   |               |



| विषयाः  | पत्राङ्काः | विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|---|------------|
| परीक्षा ... .. १२००                           |            | एकदेशिमते पृथक्शास्त्रारम्भानुपपत्तिः १२३५—१२३७ |            |
| ” ” ... १२१०                                  |            | अद्वैतपरत्वेऽपि वेदान्तानां कर्मकाण्डा-         |            |
| ” ” ... १२१३                                  |            | दीनामविद्यावद्विषयत्वस्य गौडपाद-                |            |
| श्रुतब्रह्मणः संसाराभावः ... १२१५             |            | कारिकानुसारेणोपपादनम् ... १२३९                  |            |
| सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वम् १२१५—१२१७ |            | ” ” ... १२४४—१२४६                               |            |
| देहादिष्वहंप्रत्ययस्य गौणत्वशङ्का-तन्नि-      |            | ” ” ... १२४८                                    |            |
| रासौ ... .. १२२०—१२२१                         |            | समन्वयाधिकरणोपसंहारः ... १२५१                   |            |
| ” ” ... १२२३                                  |            |   |            |

## भाष्यभावप्रकाशिकाविषयानुक्रमणिका

|  |  |   |  |
|--|--|---|--|
| अथशब्दार्थसंग्रहः, जिज्ञासासूत्रेऽधिकारा-  |  | ” ” ... ७४९   |  |
| र्थत्वासंभवश्च ... .. ५९४— ५९५             |  | ” ” ... ७५१   |  |
| ” ” ... ५९७— ५९८                           |  | कर्मणामनित्यफलत्वम्, ब्रह्मणो नित्य-                  |  |
| ” ” ... ६४४— ६४६                           |  | त्वं च ... .. ७५२                                     |  |
| अथशब्दपूर्वप्रकृतापेक्षार्थत्वनिरासः ६५०   |  | ” ” ... ७५६— ७५३                                      |  |
| अथशब्दानन्तर्यार्थत्वोपसंहारः ... ६५२      |  | चतुर्थीसमासनिषेधेन ब्रह्मजिज्ञासापदेन                 |  |
| स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यार्थत्वनिरासः ६५३   |  | षष्ठीसमासप्रदर्शनम् ... ७५८                           |  |
| ” ” ... ६५५                                |  | ” ” ... ७६०— ७६१                                      |  |
| अथशब्दस्य कर्मावधानान्तर्यपरत्व-           |  | ब्रह्मपदार्थनिष्कर्षः ... ७६२— ७६३                    |  |
| शङ्का-तन्निरासौ ... .. ६५९                 |  | ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी ; न शेषे ... ७६४             |  |
| धर्मजिज्ञासाया ब्रह्मजिज्ञासापुष्कल-       |  | ” ” ... ७६६— ७७०                                      |  |
| कारणत्वासंभवः ... .. ६६५                   |  | जिज्ञासापदविभजनम्, तत्र ज्ञाधात्वर्थ-                 |  |
| ” ” ... ६७०— ६७६                           |  | निष्कर्षश्च ... .. ७७१— ७७५                           |  |
| क्रमप्रतिपत्त्यर्थोऽथशब्दो भवत्विति शङ्का- |  | ब्रह्मजिज्ञास्यत्वोपसंहारः ... ७४०                    |  |
| तत्परिहारौ ... .. ६९९— ७००                 |  | ” ” ... ७४५   |  |
| फल-जिज्ञास्यभेदात् क्रमाभावः ... ७०८— ७१०  |  | विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाक्षेपः ... ७८७— ७८८              |  |
| चोदनाप्रवृत्तिभेदाद् न क्रमः ... ७२१— ७२२  |  | प्रसिद्धत्वपक्षावलम्बनेनोक्ताक्षेपपरिहारः ७९२         |  |
| ” ” ... ७२४                                |  | ” ” ... ७९९   |  |
| यत्किञ्चिदानन्तर्यप्रतियोगिनिरूपणा-        |  | ” ” ... ८१४   |  |
| वश्यकता ... .. ७२५                         |  | ब्रह्मशब्दव्युत्पत्तिमात्रेण ब्रह्मप्रसिद्धिः ... ८१५ |  |
| साधनचतुष्टयस्य ब्रह्मविचारसाधनत्वो-        |  | सर्वात्मत्वाद् ब्रह्मास्तित्वम् ... ८१७— ८१८          |  |
| पयोगः ... .. ७२६                           |  | विप्रतिपत्तेर्ब्रह्मजिज्ञास्यत्वम् ... ८२०            |  |
| ” ” ... ७४४                                |  | देहात्मवादोपक्षेपः, ... ८२३                           |  |
| अतःशब्दप्रयोजनम् ... .. ७४६                |  | इन्द्रिय-मनो-विज्ञान-शून्यात्मवादोपक्षेपः ८२६— ८३०    |  |



| विषयाः   | पत्राङ्काः | विषयाः   | पत्राङ्काः |
|--|------------|--|------------|
| नैयायिकाभिमतजीवस्वरूपम् ...                      | ८३३        | समन्वयाधिकरणपूर्वपक्षभाष्यविवरणम् ...            | ९८०        |
| तत्पदार्थविप्रतिपत्तिप्रदर्शनम् ...              | ८५०— ८५१   | ” ” ...  | ९८३        |
| जीवाभिन्नब्रह्मस्वरूपपक्षः ...                   | ८५६        | ” ” ...  | ९८६— ९८७   |
| युक्ति-वाक्य-तदाभासाश्रया विप्रतिपत्तिः ...      | ८५८        | सिद्धे वस्तुनि विध्यसंभवेन पूर्वपक्षोपसंहारः ... | ९९३— ९९४   |
| जिज्ञासाऽऽवश्यकता तत्प्रतिज्ञा च ...             | ८६२— ८६३   | “तच्च समन्वयादि”तिसूत्रार्थः ...                 | ९९५        |
| ” ” ...  | ८६५        | ” ” ...  | १०१४       |
| जिज्ञासाधिकरणोपसंहारः ...                        | ८६८        | भूतार्थत्वस्य सापेक्षत्वाप्रयोजकत्वम् ...        | १०१९       |
| जन्मादिसूत्रावतारणम् ...                         | ८७०        | हेयोपादेयराहित्येऽप्युपदेशसार्थक्यम् ...         | १०२१       |
| जन्मादीतितद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः ...           | ८७७        | ” ” ...  | १०२२— १०२४ |
| जन्मनः प्रथमनिर्देशकारणानि ...                   | ८८०— ८८१   | विधिसंस्पर्शाभावेऽपि वेदान्तप्रामाण्यम् ...      | १०२६       |
| अस्यपदार्थविवरणम् ...                            | ८८२        | ” ” ...  | १०२८       |
| ” ” ...  | ८९१— ८९२   | ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वोपसंहारः ...           | १०४०       |
| ” ” ...  | ८९५— ८९८   | कार्यान्वित एव संगतिग्रहवादिनामेकदेशिनां         |            |
| नैरुक्तषट्भावविकाराग्रहणकारणम् ...               | ९०२— ९०३   | प्रत्यवस्थानम् ...                               | १०४४       |
| ” ” ...  | ९०५        | प्रतिपत्तिविधिभिरेव ब्रह्मणोऽपि सिद्धिः ...      | १०६४       |
| ” ” ...  | ९०९        | ” ” ...  | १०६६       |
| प्रधानादिकारणवादासंभवोपपादनम् ...                | ९१२        | “नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तमि”त्यादिभाष्य-   |            |
| ” ” ...  | ९१५— ९१६   | विवरणम् ...                                      | १०६९— १०७२ |
| स्वभावकारणवादनिरासः ...                          | ९१७        | एकदेशिमतनिरासः ...                               | १०७३— १०७४ |
| संभावनाहेतुनिर्देशः ...                          | ९१८— ९१९   | कर्म-ब्रह्मविद्याफलवैलक्षण्यम् ...               | १०७३— १०७४ |
| सूत्रोऽनुमाननिर्देशशङ्का-तत्परिहारौ ...          | ९२०— ९२१   | कर्म-ब्रह्मविद्याफलवैलक्षण्यम् ...               | १०७३— १०७४ |
| अनुमानोपयोगप्रकारः ...                           | ९२२        | ” ” ...  | १०८०       |
| ब्रह्मजिज्ञासायामनुमानोपयोगसंभवः ...             | ९२४        | ” ” ...  | १०८१— १०८३ |
| ” ” ...  | ९२६— ९२७   | परिणामि-कूटस्थनित्यविभागः ...                    | १०८४       |
| कर्म-ब्रह्मवैलक्षण्यम् ...                       | ९२९— ९३०   | ” ” ...  | १०८८— १०९० |
| ” ” ...  | ९३२— ९३३   | ज्ञानस्य मोक्षजनने व्यापारानपेक्षा ...           | १०९५       |
| ब्रह्मणो भूतवस्तुत्वेऽपि न वेदान्तवैधर्म्यम् ... | ९३४        | ” ” ...  | १०९७       |
| ” ” ...  | ९३६        | ज्ञानेन मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रेण मोक्षजन-      |            |
| “यतो वे”ति वाक्यस्य निर्णयवाक्यमानन्दा-          |            | ने न्यायसूत्रावलम्बः ...                         | १०३८       |
| द्वेयवे”ति ...                                   | ९४१        | ” ” ...  | ११०१       |
| जन्माद्यधिकरणोपसंहारः ...                        | ९४४        | एकत्वज्ञानस्य संपदार्थिरूपत्वनिरासः ...          | ११०५       |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणावतारणम् ...                 | ९४७        | ” ” ...  | ११०७       |
| शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञत्वसाधनत्वम् ...        | ९५२— ९५६   | ” ” ...  | ११२२       |
| ” ” ...  | ९७१        | ब्रह्मणो विदिक्रियाकर्मत्वासंभवः ...             | ११२५— ११२६ |
| घर्णकान्तरावतारणम् ...                           | ९७४        | ब्राह्मण इदंस्तया शास्त्रेणाविषयीकरणम् ...       | ११३३       |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणोपसंहारः ...                 | ९७८        | उत्पाद्यत्वे मोक्षानित्यत्वापत्तिः ...           | ९१३८— ११३९ |



## प्रदीपविषयानुक्रमणिका

| विषयाः  | पत्राङ्काः    | विषयाः                                     | पत्राङ्काः    |
|---|---------------|--|---------------|
| ब्रह्मणः प्राप्यकर्मतानिरासः                    | ... ११४३      | दि'त्याद्यविरोधः                           | ... ११९३      |
| " " "   | ... ११४९      | " " "                                      | ... ११९५—११९७ |
| मोक्षसंस्कार्यतानिरासः                          | ... ११५०—११५१ | "ब्राह्मणो न हन्तन्यः" इति निषेधवाक्यार्थ- |               |
| " " "   | ... ११५३      | परीक्षा                                    | ... १२११—१२१२ |
| देहाश्रयक्रियाऽऽत्मनोऽसंस्कार्यत्वम्            | ११५४—११५६     | " " "                                      | ... १२१४      |
| ब्रह्मणो ज्ञानमात्रविषयत्वम्, नतु क्रिया-       |               | " " "                                      | ... १२२०—१२२३ |
| विषयत्वम्                                       | ... ११५८      | श्रुतब्रह्मणोऽपि संसारित्वोपपत्तिः         | ... १२२५      |
| ज्ञानक्रियात्वायोगः                             | ... ११६०—११६१ | " " "                                      | ... १२२७—१२२९ |
| ज्ञानविधिनिरासः                                 | ... ११६६      | देहादावहंभावस्य गौणत्वनिरासः               | १२२९—१२३३     |
| "श्रोतव्यः" इत्यादेर्विधिसरूपत्वम्, नतु-        |               | प्रतिपत्तिविधिवादे शास्त्रारम्भानुपपत्तिः  | १२३५          |
| विधित्वम्                                       | ... ११७२—११७४ | " " "                                      | ... १२३७      |
| सिद्धेऽपि वस्तुनि वेदान्तप्रामाण्यम्            | ... ११७७      | विधीनामात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमेव           |               |
| " " "   | ... ११७९—११८० | प्रवृत्तिः                                 | ... ११३४—११३९ |
| " " "   | ... ११८२      | "गौणमिथ्यात्मनः" इति श्लोकत्रयविव-         |               |
| आत्मन औपनिषदत्वोपपादनम्                         | ... ११८४—११८८ | रणम्                                       | ... १२४७—१२४९ |
| "दृष्टो हि तस्यार्थः" "अन्नायस्य क्रियार्थत्वा- |               | " " "                                      | ... १२५०      |

## प्रदीपविषयानुक्रमणिका

|  |                        |  |                   |
|--|------------------------|--|-------------------|
| अथशब्दस्य सावतरणमधिकारार्थत्वनि-             |                        | साधनचतुष्टयानन्तर्योपक्षेपः                | ... ७२६—७२८       |
| रासः   | ... ९४—९९              | " " "                                      | ... ७४१—७४४       |
| प्रस्थानद्वयदृष्ट्यापि जिज्ञासापदस्य विचारा- |                        | अतःशब्दविचरणम्                             | ... ७४६, ७४९, ७५१ |
| लक्षकत्वम्                                   | ... ९९७—९९८            | सूत्रार्थवर्णनम्                           | ... ७५३           |
| अथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वाभावः, भामत्या-        |                        | ब्रह्मज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनत्वम्       | ... ७६६           |
| मन्योन्याश्रयापत्तिशङ्कानवसरश्च              | ... ६४४—६४६            | ब्रह्मपदार्थः, ब्रह्मजिज्ञासेतिषष्टीसमासो- |                   |
| त्वाध्यायाध्यायनानन्तर्यार्थत्वशङ्का-        |                        | पक्षेपः, शेषषष्टीनिरासश्च                  | ... ७६२—७६४       |
| तत्परिहारौ                                   | ... ६४९—६५०            | " " "                                      | ... ७६८—७७०       |
| " " "  | ... ६५२—६५४            | जिज्ञासापदविभागः, ज्ञाधात्वर्थश्च          | ... ७७१—७७३       |
| " " "  | ... ६५६—६५७            | " " "                                      | ... ७७५           |
| कर्मविचारानन्तर्यार्थत्वशङ्का                | ६५८, ३६२, ६६४          | मुमुक्षामात्रस्य साधनत्वायोगः ( टिप्पणी )  | ७७९               |
| कर्मविचारानन्तर्यनिरासः                      | ६६५, ६८९, ६९७          | "तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमि"ति भाष्य-   |                   |
| श्रौतादिक्रमविवक्षाऽसंभवः                    | ६९७, ६९९, ७००, ७०१     | विचरणम्                                    | ... ७८०—७८१       |
| कर्म-ब्रह्मविचारयोरेधिकृताधिकाराभावः         | ७०६                    | साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारिकब्रह्मविचारे      |                   |
| कर्म-ब्रह्मविचारयोः फल-जिज्ञास्य-            |                        | सगुणविचारादिप्रसङ्गोपपादनम्                | ७८२—७८३           |
| भेदः   | ... ७०८, ७०९, ७१६, ७१८ | " " "                                      | ... ७८५           |
| ज्ञाने प्रमाणतन्त्रे पुरुषस्यानियोज्यत्वम्   | ७२४—७२५                | ब्रह्मणो विषयत्वसंभवासंभवविकल्पः-          |                   |



| विषयाः                                     | पत्राङ्काः |
|--|------------|
| प्रस्थानद्वयाभिमतं विवरणं च ...            | ७८८— ७८९   |
| ब्रह्मप्रसिद्धिपक्षेण समाधानम् ...         | ७९२        |
| बृद्धिधात्वर्थानुगमेन ब्रह्मप्रसिद्धिः ... | ७९९        |
| आत्मपदेनापि ब्रह्मप्रसिद्धिः ...           | ८१६— ८१८   |
| “ ” ” ...                                  | ८२०        |
| आत्मत्वेऽपि ब्रह्मणो विशेषविप्रतिपत्त्या   |            |
| विचारसंभवः, देहात्मवादोपक्षेपश्च           | ८२२— ८२३   |
| जीवे देहेन्द्रियाद्यात्मवादविकल्पाः ...    | ८२६        |
| तत्पदार्थे जीवभेद-तदभेदाभ्यां विकल्प-      |            |
| द्वयम्, सर्वेषां पक्षाणां श्रुत्यारूढत्वम् | ८२८        |
| “ ” ” ...                                  | ८३१        |
| सर्वेषां श्रौतत्वे विकल्पशङ्काविप्रति-     |            |
| पत्त्यानुपपत्तेश्चन्द्रिकापादितायाः        |            |
| परिहारः ( टिप्प० ) ...                     | ८५०        |
| सर्वेषां पक्षाणां वैदिकत्वेऽपि वस्तुनि     |            |
| विकल्पासंभवाद्विचारावश्यकता ...            | ८६२— ८६३   |
| शरीरात्मवादविवादानामापातत एव               |            |
| वैदिकत्वम्, न तु वस्तुतः ; जीवा-           |            |
| भिन्नब्रह्मवादस्यैव श्रौतत्वम् ...         | ८६५— ८६६   |
| “ ” ” ...                                  | ८६८        |
| ब्रह्मलक्षणजिज्ञासा ...                    | ८६९— ८७२   |
| कारणत्वस्य तत्स्थलक्षणत्वमेव, न तु         |            |
| स्वरूपलक्षणत्वम्, जन्मादिसूत्र-            |            |
| विषय आनन्दवल्ली सर्वाऽपीति                 |            |
| विवरणं च ...                               | ८७४— ८७५   |
| जन्मादीति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः        |            |
| प्रत्येकलक्षणादिपक्षस्य भाष्या-            |            |
| रूढत्वं च ...                              | ८७८— ८८३   |
| प्रकृतेरपि ब्रह्मणोऽपरिणामित्वम् ...       | ८८४        |
| “ ” ” ...                                  | ८९१        |
| “यतो वे”त्यादिवाक्यानां जीवादिपरत्व-       |            |
| पूर्वपक्षनिरासः ...                        | ८९६— ९००   |
| नैरुक्तभावविकाराग्रहणकारणानि ...           | ९०१— ९०२   |
| प्रधानादिति दृष्टान्तार्थम्, जीवकारणता-    |            |
| निरास एव तात्पर्यम् ...                    | ९१२        |
| स्वभावकारणतावादनिरासः ...                  | ९१८        |

| विषयाः  | पत्राङ्काः |
|---|------------|
| नैयायिकाद्यनुमानस्य संभावनामात्रहेतु-         |            |
| त्वम्, न त्वभिन्ननिमित्तोपादान-               |            |
| ब्रह्मप्रामाण्यम् ...                         | ९२०        |
| वेदान्तानामेव तत्र प्रामाण्यम् ...            | ९२३        |
| धर्मस्येव ब्रह्मणो न प्रमाणान्तराविषय-        |            |
| त्वम्, एवमपि प्रमाणान्तरागृही-                |            |
| तांशबोधनार्थं वेदान्तापेक्षेति जन्मा-         |            |
| दिसूत्रप्रवृत्तिः ...                         | ९२६— ९२७   |
| “ ” ” ...                                     | ९२९— ९३७   |
| भृगुवल्ली सर्वाऽपि विषयवाक्यम् ...            | ९४१— ९४३   |
| श्रीभाष्यकाराणामद्वैतमतनिरास-                 |            |
| निरासः ...                                    | ९४३— ९४६   |
| उपाधितः सर्वज्ञानाश्रयस्य स्वरूपतो            |            |
| ज्ञानरूपस्य च ब्रह्मणः साधनार्थं              |            |
| शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्, सर्वशक्ति-            |            |
| त्वदृष्टीकरणार्थं सूत्रान्तरानपेक्षे-         |            |
| त्यादिकम् ...                                 | ९४७— ९४९   |
| ब्रह्मसर्वज्ञत्वानुमानम् ...                  | ९५१        |
| “महत् ऋग्वेदादेरि”त्यादिभाष्य-                |            |
| विवरणम् ...                                   | ९५३— ९५४   |
| शास्त्रयोनित्वनिष्कर्षः ...                   | ९५६— ९६०   |
| “ ” ” ...                                     | ९६९— ९७०   |
| ब्रह्मणो भ्रान्तत्वशङ्कानिरासः, वेदा-         |            |
| पौरुषेयत्व-पौरुषेयत्वाविरोधः, अधि-            |            |
| करणशरीरनिर्देशश्च ...                         | ९७२— ९७३   |
| वर्णकद्वयसार्थक्यम्, ब्रह्मणः शास्त्रप्रमा-   |            |
| णकत्वनिर्देशश्च ...                           | ९७४— ९७६   |
| श्रीभाष्य-श्रीमाध्वाद्यापादितशङ्कानिरासः      | ९७८        |
| ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वाक्षेपः, पूर्व-     |            |
| मीमांसकानां कर्माङ्गकर्तृत्वावेकत्वे-         |            |
| नोपासनाविधानेन बोधयथापि न                     |            |
| ब्रह्मवस्तुसिद्धिः ...                        | ९८०— ९८७   |
| “ ” ” ...                                     | ९८७— ९९४   |
| “ ” ” ...                                     | ९९६— ९९७   |
| “तत् समन्वयादि”ति सूत्रार्थः, हेतुसमन्वयश्चा- |            |



| विषयाः   | पत्राङ्काः    |
|--|---------------|
| द्वितीय एव ब्रह्मणि, ननु सद्द्वितीये   | ९९९—१००७      |
| ” ” ...  | १०११          |
| ” ” ...  | १०१४          |
| ” ” ...  | १०२१          |
| सिद्धेऽप्यद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानामेव<br>प्रामाण्यम्, विधिसंस्पर्शमन्तरेणापि<br>वेदान्तप्रामाण्यसंभवश्च  | ... १०२५—१०२६ |
| ” ” ...  | १०२८          |
| समन्वयाधिकरणप्रथमवर्णकोपसंहारः   | १०४०          |
| आचार्यदेशीयानां सिद्धसङ्गतिग्रहभावेन<br>ब्रह्माप्रामाण्याक्षेपः ...  | ... १०४३—१०४४ |
| वृत्तिकारमते स्वमते च फलवादादिकम्,<br>तन्मतानुवादः, कर्म-ब्रह्मविद्याफल-<br>वैलक्षण्येन तत्परिहारश्च   | ... १०६३—१०७५ |
| कूटस्थाशरीरत्वाख्यमोक्षस्योपासनासाध्य-<br>त्वाभावः ...   | ... १०८०—१०८२ |
| ब्रह्मणो न परिणामिनित्यत्वम्   | ... १०८४      |
| ब्रह्मणः स्वयंप्रकाशस्य धर्माधर्माद्यतीत-<br>त्वम्, ज्ञेयत्वमेव, नोपास्यत्वमिति<br>च निरूपणम् ...  | ... १०८८—१०९० |
| ” ” ...  | १०९६          |
| “श्रुतं ह्येव मे” इत्यादिश्रुत्यर्थसंग्रहः,<br>तर्कशास्त्रानुसारेणापि तत्त्वज्ञानस्य<br>मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वेन मोक्ष इति<br>न्यायसूत्रविवरणम् ... | ... १०९८—११०० |
| प्रतिपत्तिविधिविषयत्वे ब्रह्मणो मोक्षा-<br>नित्यत्वम् ...  | ... ११०२      |
| उपासनभेदाः, वेदान्तानां तत्परत्वमात्रा-<br>भावश्च ...  | ... ११०५—११०७ |
| ” ” ...  | ११०८—११०९     |
| वेदान्तपरिभाषामतनिरासस्तत्त्वमसि-<br>वाक्यार्थविषये (टिप्प०) ...   | ... १११७—१११८ |
| “तत्त्वमसी”त्यस्य गौणभेदपरत्वायोगः,<br>ब्रह्मणो ज्ञानमात्रेण मोक्षश्च ...  | ... ११२१—११२३ |

| विषयाः  | पत्राङ्काः    |
|---|---------------|
| ब्रह्मणोऽविषयत्वानुपास्यत्व-शास्त्रप्रमेयत्वादि-<br>कम् ...   | ... ११२५—११२८ |
| ” ” ...   | ११३०—११३१     |
| ” ” ...   | ११३६—११३८     |
| ज्ञानसाध्यत्वेऽपि मोक्षस्यानित्यत्वपरि-<br>हारः ...   | ... ११४४      |
| मोक्षस्य प्राप्यत्व-संस्कार्यत्वनिरासः ...  | ... ११४९—११५१ |
| ” ” ...   | ११५३—११५४     |
| ” ” ...   | ११५६—११५८     |
| ज्ञानमासनक्रियात्वपक्ष-तदक्रियात्वपक्षौ<br>मतद्वयेऽपि ...   | ... ११६०—११६१ |
| “ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिये”ति भाष्य-<br>योजना ...   | ... ११६५      |
| श्रवणादिविधिपक्षस्य तद्विधिपक्षस्यो-<br>भयस्य च “अनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठी-<br>भवन्ती”ति भाष्ये योजनम् ... | ... ११६६      |
| ” ” ...   | ११६८—११६९     |
| ” ” ...   | ११७३—११७४     |
| परिसंख्याविधिपक्षो सिद्धान्तलेशसंगृही-<br>तोऽत्र प्रकाशित वार्तिककाराणामि-<br>ति (टिप्पणम्) ...           | ... ११६९      |
| प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यतिरेकेण सिद्धब्रह्ममात्र-<br>बोधनोपपत्तिः ...  | ... ११७५—११७७ |
| ” ” ...   | ११७९—११८०     |
| ” ” ...   | ११८३—११८४     |
| वृत्तिकारमते जैमिनि-शबरस्वामिवचना-<br>नामपि प्रातिकूल्यम् ...   | ... ११८७—११८८ |
| वृत्तिकारैरपि क्रियापरत्वमेवेति नियम-<br>स्वीकारायोगः ...   | ... ११९४      |
| ” ” ...   | ११९७—११९८     |
| “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिनिषेधवाक्यानां<br>वृत्तिकारमतेऽप्रामाण्यापत्तिः ...                         | ... १२१०      |
| ” ” ...   | १२१४          |
| ” ” ...   | १२१८          |
| ” ” ...   | १२२१—१२२२     |



## प्रदीपविषयानुक्रमणिका

१५

| विषयाः                                   | पन्नाङ्काः | विषयाः                                    | पन्नाङ्काः |
|--|------------|---|------------|
| वस्तुमात्रकथनेऽपि वेदान्तानां सप्रयो-    |            | श्रीभाष्यकाराणां समन्वयसूत्रयोजनावि-      |            |
| जनत्वम् ... १२२३                         |            | मर्शः, ब्रह्मसाक्षात्कारापूर्वमेव प्रमाण- |            |
| ब्रह्मात्मावगतौ संसाराभावः, ततः पूर्वमेव |            | प्रवृत्तिश्च ... १२३७—१२३९                |            |
| संसारः, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञान-         |            | " , , ... १२४१—१२४२                       |            |
| निमित्तत्वात्, देहादावहंभावस्य           |            | "गौण-मिथ्यात्मनोऽसत्त्वे" इति श्लोक-      |            |
| गौणत्वनिरासश्च ... १२२६—१२३९             |            | व्याख्या ... ११४६—१२४९                    |            |
| ब्रह्मणः प्रतिपत्तिविधिविषयत्वे पृथक्    |            | समन्वयाधिकरणोपसंहारः ... १२५१             |            |
| शास्त्रारम्भानुपपत्तिः ... १२६५—१२३६     |            |   |            |

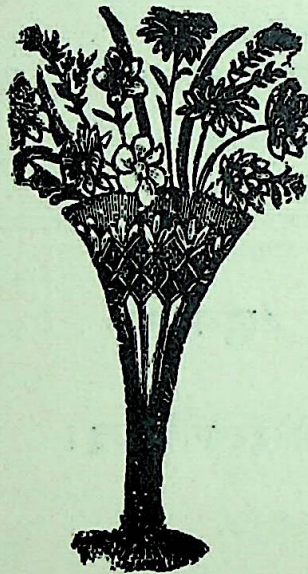
इति चतुस्सूत्रीविषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

\*शुभमस्तु\*

श्रीवेङ्कटेश्वरार्पणमस्तु ।









## अथ तृतीयं वर्णकम्

\*अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति\* ॥

पञ्चपादिका

\*अथातो ब्रह्मजिज्ञासेतीति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

“अथातो ब्रह्मजिज्ञासेतीति”ति ॥

ऋजुविवरणम्

पदवाक्यसमासैश्च प्रकृति-प्रत्ययादिभिः । मानैर्ज्ञेयं सदेकं चिद्गुरुरूपं निरूपितम् ॥

द्वितीयवर्णकनैव शास्त्रारम्भः समर्थितः । पदव्याख्या तृतीयेन क्रियतेऽवसरादिह ॥

ज्ञातेऽत्र सूत्रे प्रथमं विचार्यै ब्रह्मस्वरूपे तदपीह योग्यम् ।

विचारणायाथ भवेन्नवेति जिज्ञास्यते तेन कृतोत्तरा सा ॥

“तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः” इत्यादिभाष्यम् । ‘जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थाङ्गीकारे युज्यते’ इति वदता किमुक्त-  
मिति न ज्ञायते । भाष्यस्य युक्तत्वं नामार्थद्वारेण । भाष्ये चात्र बहवोऽर्थाः प्रतीयन्ते । नच तेषु सर्वेष्ववयवार्थग्रहणमुप-

तत्त्वदीपनम्

फलसिद्धावर्थात् तत्कामोऽधिकारी सिध्यति, किमुत्तरग्रन्थेनेति चेत्, मुमुक्षुत्वमात्रस्याधिकारनिमित्तत्वासंभवाद्  
विशेषणान्तरमेष्टव्यम् । तथाच साधनचतुष्टयविशिष्टाधिकारिनिरूपणार्थं वर्णकान्तरप्रारम्भो युक्तः । व्यवहिताव्यवहित-  
विषयफलसिध्युत्तरसमयेऽधिकारिव्युत्पादनं सुकरमिति पौर्वापर्यम् । वेदान्तशास्त्रमारम्भणीयम् ? उतानारम्भणीयमिति  
विशिष्टाधिकारिसंभवासंभवाभ्यां संदिह्यते । तत्र विशिष्टाधिकारिणि प्रमाणाभावादिदं शास्त्रमनारम्भणीयमिति पूर्वः पक्षः ।  
“परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्” “शान्तो दान्तः” इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया साधनचतुष्टयविशिष्टाधिकारिप्रतिपत्तेरारम्भ-

वार्तिकम्

संप्रति सूत्राक्षरसिद्धोऽर्थ उपवर्णनीयः, इति तदर्थं सूत्रं पठति—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासेतीति”ति ॥ इति  
शब्दस्तु भाष्येऽर्थतः सूत्रपाठनिरासार्थः । “अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”त्येवंपदसन्निवेशविशिष्टमादिमं सूत्रमित्यर्थः ।  
तेन—“तत्राथशब्दः” इत्यादिना सूत्रपदान्येव व्याक्रियन्ते, न स्वपदानीति ध्वनितं भवतीति द्रष्टव्यम् ॥  
तत्र—“पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना । आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्” ॥  
इति व्याख्यालक्षणमनुसृत्य भगवान् भाष्यकारः सूत्रं व्याकुर्वन् पदार्थोक्तिपूर्वकत्वाद् वाक्यार्थोक्तेः प्रथमं  
“तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते” इत्यादिना पदच्छेदपुरःसरं पदार्थोक्तिं करोति ; पश्चात्  
“तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्ये”ति वाक्ययोजनाम्, “ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्म-  
जिज्ञासे”ति विग्रहम्, “तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धम् ? अप्रसिद्धं वे”त्यादिना आक्षेपपुरःसरं समाधानमिति ।  
सर्वत्र चैवंविधव्याख्यानसन्निवेशेऽयमेव न्यायोऽनुसर्तव्यः । तत्रापि प्रथमोपस्थितत्वादतिक्रमे कारणा-  
भावाच्चाधिकारान्वयस्य प्राथमिकत्वाच्च प्रथमतोऽर्थशब्दार्थकथनम् ॥

तत्रैतद्विचार्यते—



## पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्र लोकेऽथशब्दस्य चत्वारोऽर्था वृद्धव्यवहारे प्रयोगसामर्थ्यात् प्रसिद्धाः—आनन्तर्यम्, अधिकारः, मङ्गला-  
चरणम्, प्रकृतादर्थार्थान्तरत्वं च । तत्रेतरपर्युदासेनानन्तर्यमथशब्देनोपादीयत इत्यस्मिन्नर्थे “सति

## ऋजुविवरणम्

युज्यते ; समुदायार्थग्रहणेऽप्यानन्तर्यस्य साधयितुं शक्यत्वात्, नचैकदेशोपपत्तिरेवात्र विवक्षिता ; “इत्यादिभाष्यमि”ति  
बहुस्वीकारप्रतीतिः । अतो न भाष्यस्यानेनोपपन्नत्वं भवति । अयुक्तं च “तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः” इत्यादिभाष्यम् ;  
एकस्य शब्दस्यैक एवायमानान्तर्यरूपोऽर्थः ; अन्याप्यश्चानेकार्थत्वमिति न्यायात् ; अतो नार्थान्तरनिराकरणेन  
कृत्यम् । टीकाग्रन्थोऽप्ययुक्तः ; भाष्यानुपपत्तिमपरिहृत्याप्रस्तुतयुक्तत्वकीर्तनात् । किंच का तत्र युक्ता ? आदि-  
ग्रहणेन कियद्विवक्षितमिति न ज्ञायते ; उत्तरभाष्यस्य पुनर्व्याख्याकरणात् पौनरुक्त्यं च । तेन सह विवरणेन भाष्यं  
हेयमित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र लोक इति\* ॥ ‘तत्रे’ति निर्धारणे । तेषु पदेष्वित्यर्थः । \*ननु\* अवयवार्थ-

## तत्त्वदीपनम्

णीयमिति सिद्धान्तः । तत्रानन्तर्याभिधानमुखेनाधिकारिसमर्पणार्थोऽयमथशब्द इति प्रतिपादयितुमधिकारार्थत्वं तस्य  
प्रतिविक्षेप भाष्यकृत ; तदनुपपन्नम्, एकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वानुपपत्तेरधिकाराद्यर्थत्वशङ्कानवतारात् । ततश्च भाष्यं  
तद्व्याख्यानं चासङ्गतमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेत्यादिना\* ॥ तत्रेति पदमथशब्देनेत्यनेनानुपपद्यते । सूत्रपदानां  
मध्य इत्यर्थः ॥

## वार्तिकम्

अभिधत्तेऽथशब्दो हि चतुरोऽर्थान् प्रयोगतः । आनन्तर्यश्चाधिकारं पूर्वापेक्षं च मङ्गलम् ॥

लोके तावच्चतुर्थेष्वथशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते—आनन्तर्यं, अधिकारे, मङ्गले, पूर्वप्रकृतापेक्षार्थान्तरे  
च । तद्यथा—आनन्तर्यं तावत् “अथानुमानं निरूप्यते” “अथ शब्दो निरूप्यते” इति । वेदेऽपि “हृदयस्या  
प्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः” इति । अधिकारे यथा लोके—“अथ योगानुशासनम्” “अथ शब्दानु-  
शासनमि”ति, वेदे—“अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरि”ति । मङ्गलेऽपि लोके वेदे च बहुषु  
स्थलेषु भवति प्रयोगः । तथाच स्मृतिः—

“ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावभौ”—इति ॥

पूर्वप्रकृतापेक्षार्थान्तरेऽथशब्दो दृश्यते । तद्यथा—किमयमथशब्द आनन्तर्यार्थः ? अथाधि-  
काराद्यर्थः ? इतीममेवाथशब्दं सौत्रं विषयीकृत्य विचार्यते । अत्र द्वितीयाथशब्दः पूर्वप्रकृतमथशब्द-  
रूपं धर्मिणमपेक्ष्य संशयोत्तरकोटिभूते प्रयुज्यमानोऽर्थान्तरे वर्तते । स्वसमभिव्याहृतपदान्तरोपस्थित  
एव पदार्थ आनन्तर्यम्, अधिकृतत्वम्, मङ्गलत्वम्, पूर्वप्रकृतापेक्षत्वं वा निमित्तं कृत्वा सर्व-  
थाथशब्दस्य वर्तनात् । नच—आनन्तर्यमेवाथशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, न पूर्वप्रकृतापेक्षत्वमिति—वाच्यम् ;  
प्रथमकोटिव्यवायेनानन्तर्याभावात्, “अयमथशब्दः” इति धर्मिनिर्देशानन्तरम्—“किमानन्तर्यं” इति  
हि प्रथमकोटिमभिधाय पश्चात्—“अथाधिकारार्थः” इत्युत्तरकोटिरभिधीयते । तथाच न प्रथमकोटेस्तदानन्त-  
र्यमास्ते ; प्रथमकोटैश्च तद्व्यवहितत्वादित्युक्तम् । नच—आनन्तर्यवत् पूर्वप्रकृतधर्म्यपेक्षाऽप्युत्तरकोटेर्ना-  
स्तीति—वाच्यम् ; तदनपेक्षत्वे कोट्योर्भिन्नधर्मितया संशयानुपपत्तेः, समानविशेष्यकविरुद्धनानाको-  
ट्यपजीव्यकज्ञानस्यैव संशयत्वात् । नहि भवत्यात्मा नित्यः, अथ बुद्धिरनित्येति संशयः । एतेन—  
पूर्वकोट्यानन्तर्यमेवोत्तरकोटेरथशब्देनाभिधीयतामिति—अपास्तम् ; तस्यार्थप्राप्तत्वात्, पूर्वप्रकृतापेक्षायां-  
स्तदभावात्, व्यधिकरणाया अयुत्तरकोटेर्बुद्धिर्नित्येतिवदभिधानसंभवात् । तस्मादनन्यलभ्यत्वात्



## ऋजुप्रकाशिका

\*तस्य = सूत्रस्य । \*प्रथमपदमथेति\* ॥ अथेति प्राथमिकं पदमित्यर्थः । तत्र \*अथशब्दवार्तिकम्

पूर्वप्रकृतापेक्ष एवात्राथशब्दः प्रयुज्यत इति ॥ एवं च सत्यथशब्दोऽत्र किमानन्तर्यं प्रतीयताम् ? किं वाऽधिकाराद्यर्थे स्यात् ? उत्तरः पक्ष इष्यताम्—

संभवत्यधिकारोऽत्र ज्ञानस्य ब्रह्मणोऽथवा । ‘दण्डी प्रैषान्’ यथा, तद्वद्विचारस्याथवा भवेत् ॥

संभवत्यधिकारार्थं नानन्तर्यार्थता भवेत् । “अथैष ज्योतिरि”त्यादौ तथात्वस्य निदर्शनात् ॥

मङ्गलं वा तदर्थः स्याद् ब्रह्मजिज्ञासनं परम् । मङ्गलं तत् सदा कार्यं लोके श्रेयोऽर्थिभिर्नरैः ॥

पूर्वप्रकृतमापेक्ष्य कर्ममीमांसनं भवेत् । ब्रह्ममीमांसनं नूनमित्यर्थो वाऽवधार्यताम् ॥

एवमथशब्दस्यानन्तर्याद्यर्थचतुष्टये प्रयोगे सति किमस्मिन् सूत्रे श्रूयमाणोऽथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते ? किं वाऽधिकाराद्यन्यतमार्थः ? इति संशये, अधिकाराद्यन्यतमार्थ इत्यवसीयते ॥

तथाहि—संभवति तावद् ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारस्य तद्विषयस्य वा ब्रह्मणस्तत्प्रमाणवेदान्तवाक्य-विचारस्य वाऽत्राधिकारः ; तेषामैव “जन्माद्यस्य यतः” इत्यादिना व्युत्पाद्यमानत्वात् । नच—प्रत्ययार्थस्येच्छायाः प्राधान्यात्, प्रधानपदार्थेनैव पदान्तराभिहितविशेषणान्वयात् तस्याश्चाग्रे व्युत्पादनाभावेनानधिकार्यत्वाद् ब्रह्म-तज्ज्ञानयोश्च तदुपसर्जनतयाऽप्राधान्यात्, ताभ्यामथशब्दार्थान्वयानुपपत्तेः, नह्यप्रधानेनाप्रधानार्थान्तरस्यैकस्मिन् वाक्येऽन्वयो भवति ; अरुणाधिकरणविरोधात्, विचारस्य चाशाब्दत्वात्, शब्दात्प्रतीयमानप्रधानपदार्थपरित्यागे कारणाभावाच्च कथमधिकारार्थत्वमिति—वाच्यम् ; ब्रह्म-तज्ज्ञानयोः शब्दतः प्राधान्याभावेऽप्यर्थतः प्राधान्याद् आकृत्यधिकरणन्यायेन जातिशब्दार्थत्वपक्षे “गामानये”त्यादौ गवादिव्यक्तेः शाब्दप्राधान्याभावेऽप्यर्थतः प्राधान्यमात्रेण पदार्थान्तरेणान्वयदर्शनात्, जातेस्तु तदन्वयायोऽयत्त्वात् । नच—अयमस्ति नियमः प्रधानपदार्थेनैव पदार्थान्तरस्यान्वयो न गुणभूतेनेति—वाच्यम् ; “दण्डी प्रैषानन्वाह” “लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती”त्यादिषु गुणभूतैरपि दण्ड-लोहितोष्णीषादिभिर्विधेरन्वयदर्शनात्, तद्वद् गुणभूतेन ब्रह्मणा तज्ज्ञानेन वाऽथशब्दार्थान्वयोपपत्तेः, विचारस्यापि लाक्षणिकत्वेन शब्दार्थत्वात् तेन सह तदन्वयाविरोधात् । \*एतेन\*—शब्दात्प्रतीयमान-प्रधानपदार्थपरित्यागे कारणाभावः—\*प्रत्याख्यातः\* ; इच्छाया अविधेयत्वात्, विचारस्यैव तथात्वात् ॥ यद्येवमपि—अत्यन्तमयमाग्रहो भवताम्—शब्दात्प्रतीयमानप्रधानार्थो न हातव्यः ; अन्यथा तद्विवक्षायां प्रयोजनसंशययोरलाभात्, जिज्ञासयैव तदुभयाक्षेपात्, विचारकर्तव्यताया अप्यनुपपत्तेः, अतस्तेनैवाथ-शब्दार्थस्यान्वय इति, तर्हस्तु नामैवम् । मङ्गलार्थस्त्वथशब्दो भविष्यति—ब्रह्मज्ञानेच्छा मङ्गलमिति, सर्वदा सा कर्तव्येति ॥ यदि तत्राप्ययमाग्रहः—न मङ्गलमथशब्दस्याभिधेयम् ; मृदङ्गादिध्वनिवत् तच्छ्रवणमात्रेण मङ्गलोत्पत्तेः । नच—यद् यतो जायते तत् तस्याभिधेयमिति कुत्रचिद् दृष्टम् ; तथा सति पदार्थस्मृतेरपि तदभिधेयत्वप्रसङ्गादिति । अस्तु तर्हि पूर्वप्रकृतापेक्षार्थोऽथशब्दः ; धर्ममीमांसायारतदनुष्ठानस्य च पूर्वप्रकृतस्य ब्रह्मजिज्ञासयाऽपेक्षणात् । “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशक्तेने”ति यज्ञ-दानादेर्विविदिषाहेतुत्वश्रवणात्, विविदिषा-जिज्ञासयोस्त्वभेदात् । तस्मादधिकाराद्यर्थ एवात्राथशब्दः, नानन्तर्यार्थः ; तस्यार्थप्राप्तत्वात्—किञ्चिदनन्तरं किञ्चित् क्रियत इत्यर्थप्राप्तमिति ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

तदेवं सूत्रतात्पर्यं व्याख्याय तत्र सूत्रसामर्थ्यं दर्शयितुं प्रतिपदं व्याख्यामारभते—\*तत्राथेत्या-



## तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते ।

भामती

तदेवं सूत्रतात्पर्यं व्याख्याय तस्य प्रथमपदमथेति व्याचष्टे—\*तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते\* ॥ तेषु सूत्रपदेषु मध्ये योऽयमथशब्दः स आनन्तर्यार्थ इति योजना । \*ननु\* अधिकारार्थोऽप्यथशब्दो दृश्यते, यथा तु “अथैष ज्योतिः” इति वेदे, यथा वा लोके “अथ शब्दानुशासनम्” “अथ

ऋजुप्रकाशिका

आनन्तर्यार्थ इति भाष्यं योजयति—\*तेषु सूत्रपदेष्विति\* ॥ अथशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः संभवन्ति । आनन्तर्यम्, अधिकारः, मङ्गलम्, प्रकृतादर्थादर्थान्तरत्वं चेति । तत्र अधिकारार्थत्वमेवाथशब्दस्य किं न स्यात् ? इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ क दृश्यते ? इति वीक्षायां वेदेऽधिकारार्थकमथशब्दमुदाहरति—\*यथा त्वथैष ज्योतिरिति\* ॥ अथेत्यस्य अधिक्रियत इत्यर्थः । प्रारम्भ्यत इत्यर्थ इति यावत् । लोकेऽप्यधिकारार्थकमथशब्दमुदाहरति—\*यथा वा लोक इत्यादिना\* ॥ \*अथशब्दानुशासनम् = अधिक्रियते शब्दानुशासनमित्यर्थः । अधिकारः प्रारम्भ इत्यनर्थान्तरम् । “अथ योगानुशासनम्” इत्येतदप्येवमेव व्याख्येयम् । वेदे लोके चाथशब्दस्याधिकारार्थकत्वमुदाहृत्य, तद्वत् प्रकृतेऽपि तदर्थक

पञ्चपादिका

तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

चानन्तर्यार्थत्वे” इत्यतः प्राक्तनभाष्यस्य तात्पर्यमाह—\*तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थ इत्यादिना\* ॥ कथम् ?

ऋजुविवरणम्

ग्रहणेऽपि कथमधिकाराद्यर्थत्वनिराकरणम् ? तस्यैवाधिकार्यत्वादिसंभवादित्यभिप्रायेण पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ प्रारम्भो

तत्त्वदीपनम्

इतरपर्युदासस्योत्तरत्र प्रतिपाद्यत्वेऽपि सुखप्रतिपत्त्यर्थं संक्षेपेण तं दर्शयितुमाकाङ्क्षामवतारयति—\*कथमिति\* ॥ इतरस्य पर्युदास इति शेषः । जिज्ञासाशब्दस्य यौगिकत्वमादायाधिकाराद्यर्थत्वं मन्यते ? उत रूढिम् ? \*तत्राद्ये\*

वार्तिकम्

तामिमामाशङ्कान् निराकुर्वन् भगवान् भाष्यकारोऽथशब्दस्य प्रकृत आनन्तर्यार्थत्वं प्रतिजानीते—\*तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यत इति\* ॥ तेषु सूत्रपदेषु मध्ये योऽयमथशब्दः, स आनन्तर्यार्थः, आनन्तर्यमेवार्थो यस्य, स आनन्तर्यार्थः । \*परिगृह्यते=उपादीयते । सूत्रकारेणेति शेषः । अस्यां प्रतिज्ञायामर्थान्तरासंभवादिति हेतुवचनं द्रष्टव्यम्, यतो “नाधिकारार्थः” इत्यादिना तस्यैव प्रतिपादनमिति । \*ननु\*—उक्त-

भाष्यभावप्रकाशिका

दिना\* ॥ \*तत्र\* सूत्रपदेषु मध्ये योऽयं प्रथमोऽथशब्दः, स आनन्तर्यार्थ इति योजना । अथवा यद्यपि लोकेऽथशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः प्रसिद्धाः—आनन्तर्यम्, अधिकारः, मङ्गलम्, प्रकृतादर्थादर्थान्तरं चेति ; तथाऽप्यत्रानन्तर्यमेवोपादीयते, नान्यदिति प्रतिपादयति—\*“तत्रे”त्यादिना\* “सति चानन्तर्ये”त्यतः प्राक्तनभाष्येण ॥

प्रदीपः

तत्र प्रथमं सूत्रार्थवर्णनार्थं सूत्रपदार्थं निष्कृष्य प्रतिपादयति—\*तत्राथशब्द इति\* ॥ सूत्रघटकाथशब्द आनन्तर्यार्थकः स्वीक्रियत इत्यर्थः । “मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येवथो अथ” इति कोशेनानेकार्थत्वेऽप्यथशब्दस्यार्थान्तरग्रहणस्यात्रासंभवादानन्तर्यमेवार्थः परिगृह्यत इति भावः । अर्थान्तरासंभवं प्रतिपादयिष्यन् प्रथममधिकारार्थत्वमारम्भाह्व-



## नाधिकारार्थः ; ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् ।

भामती

योगानुशासनम्” इति । तत्किमत्राधिकारार्थो न गृह्यत इति ? अत आह—नाधिकारार्थः ; कुतः ?  
\*ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

एवाथशब्दः किं न स्यात् ? इत्याह—\*तत् किमिति\* ॥ प्रकृतेऽप्यथशब्द इति शेषः । अत्राथशब्दानन्तरं प्राधान्येनोपात्ताया ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वाद् नात्रत्याथशब्दोऽधिकारार्थ इत्याह—\*अत आहिति\* ॥ हेत्वाकाङ्क्षोद्भावनपूर्वकं हेतुमाह—\*कुत इत्यादिना\* ॥ “अनधिकार्यत्वादि”त्यतः प्राक्

पञ्चपादिका

ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादित्यादि भाष्यम् । तद् जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थेनार्थवत्त्वे युज्यते ?  
 अधिक्रियायोग्यस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य वा प्राधान्येनानिर्देशात्, प्रधानस्य चेच्छाया अनधिकार्यत्वात् ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थेनार्थवत्त्वे सतीच्छायाः कर्तव्यतया प्रारम्भानुपपत्तेः, प्रत्यधिकरणं चाप्रतिपाद्यत्वान्नाधिकारार्थोऽथशब्दः । ब्रह्मज्ञानेच्छाया मङ्गलाचरणार्थत्वस्य प्रसिद्धतरत्वात्, अप्रसिद्धत्वेऽपि प्रशंसापरतयाऽर्थवादत्वप्रसङ्गात् सूत्रस्य न मङ्गलाचरणार्थता । इच्छायाश्च कुतश्चित्प्रकृतादर्थान्तरभावस्य प्रसिद्धतरत्वान्नाभिधानेन कृत्यम्, इत्यथशब्दस्य न तदर्थतेति । \*ननु\* इच्छायाः कुतश्चिदानन्तर्यमपि प्रसिद्धम्, \*सत्यम्\* ;

ऋजुविवरणम्

द्विविधः—कर्तव्यतया, प्रतिपाद्यतया च । तत्र प्रथमपक्षं निराकरोति—\*इच्छायाः कर्तव्यतयेति\* ॥ वस्तुसौन्दर्यादिजन्यत्वादिति भावः । द्वितीयपक्षे दूषणमाह—\*प्रत्यधिकरणं चेति\* ॥ सत्यं हेतु-फलभावेनेति\* ॥ मुख्यमानन्तर्य-तत्त्वदीपनम्

दूषणमाह—\*जिज्ञासेति\* ॥ इच्छायाः प्रारम्भो नाम किं कर्तव्यता ? उत प्रतिपाद्यता ? नाद्यः ; विषयसौन्दर्यलभ्यत्वाद्विच्छाया इत्याशयवानाह—\*इच्छाया इति\* ॥ न द्वितीयोऽपीत्याह—\*प्रत्यधिकरणमिति\* ॥ पूर्वपक्षसिद्धान्तान्नाभिच्छायाप्रतिपादनस्य प्रत्यधिकरणमदृष्टेरित्यर्थः । मङ्गलार्थत्वं दूषयति—\*ब्रह्मेति\* ॥ प्रसिद्धतरत्वान्न तद् वक्तव्यमित्यर्थः । हेत्वसिद्धिं मन्वानं प्रत्याह—\*अप्रसिद्धत्व इति\* ॥ नचार्थवादत्वमिष्टमित्यपि शङ्क्यम्, सूत्रस्य न्यायप्रतिपादकत्वादित्यर्थः । प्रकृतादर्थान्तरमथशब्दार्थ इति पक्षं निरस्यति—\*इच्छाया इति\* ॥ परिशेषादानन्तर्यार्थत्वमितीतिशब्दार्थः । अर्थसिद्धत्वादानन्तर्यमपि न निर्देष्टव्यमिति शङ्कते—\*नन्विच्छाया इति\* ॥ आनन्त-वार्तिकम्

रीत्याऽथशब्दः प्रकृतेऽधिकारार्थः संभवतीत्युक्तम्, नेत्याह—\*नाधिकारार्थ इति\* ॥ कुतो नेति ? अत आह—

\*ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादिति\* ॥ अथशब्दस्य हि तावदयं स्वभावः, यत् स स्वसमानाधिकृतपदान्तराभिहितप्रधानपदार्थान्वययोग्यं विशेषणमभिधत्ते । प्रकृते च स्वसमानाधिकृतपदान्तराभिहितप्रधानपदार्थो

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* अधिकारार्थोऽप्यथशब्दो वेदे लोके च “अथैष ज्योतिः” “अथ योगानुशासनमि”त्यादौ दृश्यते, कथं तद्वदत्राप्यधिकारार्थो न स्यादिति ? तत्राह—\*नाधिकारार्थ इति\* ॥ कुत इति ? तत्राह—

प्रदीपः

मिति शङ्कां निवेधति—\*नाधिकारार्थ इति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादिति\* ॥ जिज्ञासा हि शातुमिच्छा, सा हि न कृतिसाध्या, न वाऽत्रारभ्यते, इति नाधिकारार्थत्वसंभव इति भावः । तदेतदाह—ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादिति ॥



## भामती

जिज्ञासा तावदिह सूत्रे ब्रह्मणश्च तज्ज्ञानाच्च शब्दतः प्रधानं प्रतीयते । नच—यथा “दण्डी प्रैषानन्वाह” इत्यत्राप्रधानमपि दण्डशब्दार्थो विवक्ष्यते, एवमिहापि ब्रह्म-तज्ज्ञाने इति—युक्तम् ; ब्रह्ममीमांसाशास्त्रप्रवृत्त्यङ्गसंशय-प्रयोजनसूचनार्थत्वेन जिज्ञासाया एव विवक्षितत्वात्, तदविवक्षायां तु तदसूचनेन काकदन्तपरीक्षायामिव ब्रह्ममीमांसायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तेरन् । नहि तदानीं ब्रह्म वा तज्ज्ञानं वाऽभिधेय-प्रयोजने भवितुमर्हतः ; अनध्यस्ताहंप्रत्ययविरोधेन वेदान्तानामेवंविधेऽर्थे प्रामाण्या-नुपपत्तेः, कर्मप्रवृत्त्युपयोगितयोपचरितार्थानां वा जपोपयोगिनां वा ‘हुम्’ इत्येवमादीनामविवक्षितार्थानामपि स्वाध्यायाध्ययनविध्यधीनग्रहणत्वस्य संभवात् । तस्मात् संदेह-प्रयोजनसूचनी जिज्ञासा, इह पदतो वाक्यतश्च प्रधानं विवक्षितव्या । नच तस्या अधिकार्यत्वम् ; अप्रस्तूयमानत्वात्, येन

## ऋजुप्रकाशिका

प्रधानाया इति शेषः । प्राधान्यमेवोपपादयति—\*जिज्ञासा तावदिति\* ॥ ब्रह्मण इति पञ्चमी । \*ननु\*—यथा “दण्डी प्रैषानन्वाह” इत्यत्राप्रधानस्यापि दण्डस्य शब्दार्थत्वेन विवक्षितत्वम्, एवम्—“अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा” इत्यत्रापि शब्दतोऽप्रधानयोरपि ब्रह्म-तज्ज्ञानयोर्विवक्षितत्वसंभवेन ब्रह्म-तज्ज्ञानप्रारम्भार्थ एवाथशब्दोऽस्त्वित्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेत्यादिना\* ॥ ब्रह्म-तज्ज्ञाने विवक्षिते इति शेषः । \*नच\* एतद् “युक्त-मि”त्यनेन सम्बध्यते । “मैत्रावरुणः प्रेष्यति चान्वाह” इति मैत्रावरुणस्य प्रैषानुवचनयोः प्राप्तत्वात् “दण्डी प्रैषानन्वाह” इत्यत्र दण्डविरहितकेवलमैत्रावरुणस्याविवक्षितत्वाद् दण्डविशिष्टस्यैव तस्य विवक्षितत्वाद् दण्डस्य विवक्षितता युक्ता, इह तु जिज्ञासाया अविवक्षितत्वे जिज्ञासाया संशयसूचनद्वारा विषय-प्रयोजनसूचनं न स्यात्, तथाच जिज्ञासा विवक्षिता ; तदेतदाह—\*ब्रह्ममीमांसेति\* ॥ जिज्ञासाविवक्षाप्रयुक्तं विवक्षाप्रयोजना-सूचनमस्तु, किं बाधकमिति ? अत आह—\*तदविवक्षायां तु तदसूचनेनेति\* ॥

विषय-प्रयोजनासूचनेऽपि ब्रह्म-तज्ज्ञानयोः स्वरूपसतोर्विषय-प्रयोजनयोः सत्त्वाद् ब्रह्ममीमांसायां प्रेक्षावतां प्रवृत्ति-र्घटत एवेत्यत आह—\*नहीति\* ॥ \*तदानीम्\* = विषय-प्रयोजनासूचनदशायाम् ; विषय-प्रयोजनाज्ञानदशायामिति यावत् । विषयोऽभिधेयशब्दार्थः । \*भवितुमर्हत इत्यतः\* प्राक् स्वरूपसती प्रवर्तके इति शेषः । एवंच निरुक्ते विषय-प्रयोजने स्वरूपसती प्रवर्तके भवितुं नार्हत इति योजना । \*हिः\* प्रसिद्धौ । ज्ञातयोरेव तयोः प्रवर्तकत्वादिति भावः । तस्मादद्वितीयब्रह्मजिज्ञासैव विवक्षितेति तात्पर्यतः स्थितम् । \*ननु\*—सद्वितीयब्रह्मजिज्ञासैव विवक्षिताऽस्तु, किं जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वेनेति—\*चेत्\*, \*न\* ; एवं सति यद्ब्रह्म सद्वितीयं जिज्ञास्यम्, तत्रैव वेदान्तानां प्रामाण्यं वाच्यम्, तच्चानुपपन्नमित्याह—\*अनध्यस्ताहंप्रत्ययविरोधेनेति\* ॥ \*अनध्यस्ते\* = कर्तृ-भोक्तृत्वभेदाद्यर्थ्याध्यासरहितमद्वितीयं परं ब्रह्म, तत्र । अहंप्रत्ययः = अहमद्वितीयं ब्रह्मास्मीत्येवमात्मकोऽखण्डाकारवृत्तिलक्षणः प्रत्ययः, तद्विरोधेनेत्यर्थः । इदमुपलक्षणम्—उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गैरद्वितीय एव ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यावधारणविरोधेन चेत्यपि द्रष्टव्यम् । \*ननु\* एवं सति ब्रह्मकाण्डपठित-वाक्यानामद्वितीयब्रह्मण्येव प्रामाण्यमित्यायातम्, तदनुपपन्नम् ; तथात्वे ब्रह्मकाण्डपठितानामुपासना-कर्मपराणामुपचरितार्थानां जपोपयोगिनामपि केषांचिद् वाक्यानां सत्त्वेन तेषां प्रामाण्यं न स्यात् ; तेषामद्वितीयब्रह्मप्रतिपादकत्वाभावात्, नचेष्टापत्तिः ; तथात्वे तेषामविवक्षितस्वार्थत्वेन स्वाध्यायाध्ययनविध्यधीनग्रहणं न स्यादित्यत आह—\*कर्मप्रवृत्त्युपयोगितयेति\* ॥ उपासना-कर्मप्रवृत्त्युपयोगितया । प्रवृत्तानामित्यध्याहारेणार्थः । उपचरितार्थानामित्यनन्तरं केषांचिदिति शेषः । \*हुम्\* इत्यादीनामिव = हुं फट् इत्यादीनामिव । \*अविवक्षितार्थानामपि\* = अद्वितीयब्रह्मविवक्षाशून्यानामपि । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*जिज्ञासा\* = अद्वितीय-ब्रह्मजिज्ञासा । \*तस्याः\* = जिज्ञासायाः । अनधिकार्यत्वे हेतुमाह—\*अप्रस्तूयमानत्वादिति\* ॥ तस्याः



## भामती

तत्समभिव्याहृतोऽथशब्दोऽधिकारार्थः स्यात्, जिज्ञासाविशेषणं तु ब्रह्मज्ञानमधिकार्यं भवेत् । नच तदप्यथशब्देन संबध्यते ; प्राधान्याभावात् । नच जिज्ञासा मीमांसा, येन योगानुशासनवदधिक्रियेत ; नान्तत्वं निपात्य “माङ् माने” इत्यस्माद्वा “मान पूजायाम्” इत्यस्माद्वा धातोः “मान्-बध”

## ऋजुप्रकाशिका

प्रत्यधिकरणमप्रतिपाद्यमानत्वादित्यर्थः । \*तत्समभिव्याहृतः = जिज्ञासापदसमभिव्याहृतः । विषयतया ब्रह्म-जिज्ञासाविशेषणं ब्रह्मज्ञानं यद्यप्यधिकार्यम् ; तथाऽपि ब्रह्मज्ञानस्य ‘ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र’ शब्दतोऽप्रधानत्वेनाथ-शब्देनासंबद्धत्वाद् न ब्रह्मजिज्ञासाप्रारम्भार्थोऽथशब्द इत्यभिप्रत्याह—\*जिज्ञासाविशेषणं त्वित्यादिना\* ॥ \*ब्रह्मज्ञानमधिकार्यमिति\* । ब्रह्मज्ञानहेतुभूतविचारस्याधिकार्यत्वाद् ब्रह्मज्ञानमप्यधिकार्यमित्युपचारादुच्यत इति द्रष्टव्यम् । \*अधिकारः = प्रारम्भ इत्यनर्थान्तरमित्युक्तम् । ब्रह्मविचारस्याधिकार्यत्वेन ब्रह्मणोऽप्यधि-कार्यत्वोपचाराद् ब्रह्मप्रारम्भार्थोऽथशब्द इत्यपि न शङ्कास्पदम् ; ‘ब्रह्मजिज्ञासे’त्यत्र ब्रह्मणोऽपि शब्दतोऽप्रधानतयाऽ-थशब्देनासंबन्धेनाथशब्दस्य ब्रह्मप्रारम्भार्थकत्वायोगाद् ब्रह्मविचारप्रारम्भार्थत्वायोगात् । \*ननु\*—जिज्ञासा नाम मीमांसा, मीमांसायाश्च शब्दानुशासन-योगानुशासनादिवदधिकार्यत्वसंभवाद् मीमांसार्थकजिज्ञासाशब्द-समभिव्याहृतोऽथशब्दोऽधिकारार्थ एवेत्याशयवानाशङ्क्य, मीमांसाशब्दस्य पूजितविचारवाचित्वाद् जिज्ञासा-शब्दस्य तु ज्ञानेच्छावाचित्वाद् न जिज्ञासाशब्दो मीमांसार्थकः, येनाधिकारार्थः स्यादित्याह—\*नच जिज्ञासा मीमांसेत्यादिना, जिज्ञासापदस्येत्यन्तेन\* ॥ मीमांसाशब्दस्य पूजितविचारवचनत्वं दर्शयन्नाह—\*नान्तत्वं निपात्येति\* ॥ “मान्-बध-दान्-शान्-भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य” इति सूत्रेण “माङ् माने” इत्यस्य डानुबन्धस्य धातो-र्नान्तत्वं निपातितम्, तस्य च पूजितविचारार्थत्वं प्रसिद्धिवलात् । स्वतो नान्तस्य तु तदर्थत्वं स्मृतिसिद्ध-मिति । \*मान्-बधेति\* ॥ मानित्यादिधातुभ्यः सन् भवति, अभ्यासस्य च दीर्घ इत्यर्थः । “धातोः कर्मणः”

## वार्तिकम्

ब्रह्मजिज्ञासा । नचाधिकारस्तदन्वययोग्यः, येनाथशब्दोऽधिकारार्थो व्याख्यायेत ; ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । नहि सूत्रकारेण परस्ताद् ब्रह्मजिज्ञासाऽधिकृता ; “जन्माद्यस्य यतः” इत्यारभ्य तस्या अप्रतिपादनात्, तत्प्रतिपादनस्य निरर्थकत्वाच्च । स एव हि पदार्थो विनेयान् प्रति प्रतिपादनीयः, यस्तैः स्वतो न ज्ञायते । नच ब्रह्मज्ञानेच्छा तथा ; विविदिषूणां तस्याः स्वानुभवंसिद्धत्वात् तत्प्रतिपादनान-

## भाष्यभावप्रकाशिका

\*ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादिति\* ॥ अयं भावः—जिज्ञासापदस्य ज्ञानेच्छावाचकत्वादिच्छावाच्य-मीमांसाप्रतिज्ञायास्तत्प्रवृत्तिवानुपपत्तेः प्रारम्भायोगात्, प्रत्यधिकरणं च तस्या अप्रतिपाद्यमानत्वात्, जिज्ञासाशब्दस्य लक्षणया विचारपरत्वेऽपि साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारिणोऽर्थशब्देनानन्तर्याभिधानमुखेन समर्पणाभावे साधनचतुष्टयसंपत्तिविरहिणां ब्रह्म-ज्ञान-तद्विचारेष्वनर्थत्वान्निरधिकारतया विचारस्याननुष्ठेय-त्वप्रसङ्गात्, विचारविधिसामर्थ्यादधिकारः कल्प्यते ; विध्यपेक्षितोपाधित्वाच्चाधिकारस्य प्रारम्भस्याथ-शब्दार्थत्वकल्पनातो विधेयेक्येन तदर्थत्वकल्पनाया युक्तत्वात्, जिज्ञासाविशेषणब्रह्मज्ञानस्यानन्द-

## प्रदीपः

अयं भावः—जिज्ञासापदं ज्ञानेच्छापरमेव सूत्रे, नतु विचारलक्षकम् । तथाहि सति कर्तव्यपदाध्याहारं विना न सूत्रार्थपर्यवसानम्, इति तेनैव गतार्थत्वादथशब्दवैयर्थ्यमापद्येतेति रत्नप्रभा । सत्यं विचारलक्षणया कर्तव्यपदानध्याहारेण वाक्यार्थ-वर्णनमेव युक्तम्, अथशब्देनारम्भबोधनात् ; तथाऽपि कुत्रापि जिज्ञासापदस्य विचारे-प्रयोगाभावाद् अधिकारिसमर्पणार्थत्वेनैवाथ-



## भामती

इत्यादिनाऽनिच्छार्थे सनि व्युत्पादितस्य मीमांसाशब्दस्य पूजितविचारवचनत्वात्, ज्ञानेच्छावाचकत्वाद् जिज्ञासापदस्य । प्रवर्तिका हि मीमांसायां जिज्ञासा स्यात् । नच प्रवर्त्य-प्रवर्तकयोरैक्यम् ; एकत्वे तद्भावानुपपत्तेः । नच स्वार्थपरत्वस्योपपत्तौ सत्यामन्यार्थपरत्वकल्पना युक्ता ; अतिप्रसङ्गात् । तस्मात् \*सुष्ठुक्तम्—“ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्” इति ॥ अथ मङ्गलार्थोऽथशब्दः कस्मान्न भवति? तथाच

## ऋजुप्रकाशिका

इत्युत्तरसूत्र इच्छार्थे सन्निधानाद् अयमनिच्छार्थ इति गम्यते । \*ज्ञानेच्छेति\* ॥ जिज्ञासापदस्य तु ज्ञानेच्छावाचकत्वादिति योजना । तथाच जिज्ञासाशब्दस्य मीमांसावाचकत्वाभावाद् न जिज्ञासापदसमि-  
व्याहृतोऽथशब्दो मीमांसाप्रारम्भार्थ इति भावः । इतोऽपि न जिज्ञासा-मीमांसयोरैक्यम्, येन मीमांसा-  
प्रारम्भार्थोऽथशब्दः स्यादित्याह—\*प्रवर्तिका हीति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*नचेति\* ॥ एकत्वे किं  
बाधकमिति ? अत आह—\*एकत्व इति\* ॥ \*तद्भावानुपपत्तेः = प्रवर्त्य-प्रवर्तकभावानुपपत्तेः । इतोऽपि न जिज्ञासा-  
शब्दो मीमांसार्थक इत्याह—\*नचेति\* ॥ जिज्ञासाशब्दस्य स्वार्थज्ञानेच्छापरत्वस्योपपत्तौ सत्याम् \*अन्यार्थ-  
परत्वकल्पना = मीमांसार्थपरत्वकल्पना न युक्तेत्यर्थः । अन्यार्थस्यान्यार्थकल्पनायां बाधकमाह—\*अति-  
प्रसङ्गादिति\* ॥ घटशब्दस्यापि पटार्थकत्वकल्पनाप्रसङ्गादित्यर्थः । \*ननु\* जिज्ञासाशब्देन विचारं  
लक्षयित्वा लक्षितविचारप्रारम्भार्थोऽथशब्दोऽस्त्विति—\*चेत्\*, \*न\* ; जिज्ञासाशब्दस्य ज्ञानेच्छापरत्वानुपपत्तौ  
सत्यां विचारलक्षणा कल्पनीया, ज्ञानेच्छापरत्वोपपत्तौ सत्यां संशयसूचनद्वारा विषय-प्रयोजनसूचनसंभवाद्  
लक्षणाश्रयणस्यानुपपन्नत्वात् । तथाच न विचारप्रारम्भार्थोऽथशब्दः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ एव-

## वार्तिकम्

पेक्षणात् । \*ननु\*—मा भूत् प्रत्ययार्थस्येच्छायाः परस्तादप्रतिपादनादधिकारः, प्रकृत्यर्थस्य तु ज्ञानस्य  
तद्विशेषणस्य वा ब्रह्मणः प्रतिपादनादधिकारो भविष्यति ; तयोरप्राधान्येऽपि “दण्डी प्रैषानन्वाह”  
“लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती”त्यत्र दण्ड-लोहितोष्णीषयोर्विधिनाऽन्वयवद्धिकारेणान्वयोपपत्तेरित्युक्त-  
मिति—चेत्, \*न\* ; वैषम्यात् । यद्वि यत्रोपादेयत्वेन विवक्षितम्, तत् तस्मिन् वाक्ये विधेयमिति वस्तु-  
स्थितिः । नच “दण्डी प्रैषानन्वाहे”त्यत्र भैत्रावरुणस्य प्रैषसंबन्धोऽनुवचनसंबन्धो वा विवक्षितः, येन  
विधेयः स्यात् ; “भैत्रावरुणः प्रैष्यत्यनु चाहे”ति तयोर्बचनान्तरप्राप्तत्वात् । न वा “लोहितोष्णीषा ऋत्विजः  
प्रचरन्ती”त्यत्र ऋत्विजां तत्प्रचारस्य वा विवक्षाऽस्ति ; चोदकेन तदुभयोरपि प्राप्तत्वात् । अतो  
विवक्षावशात् प्रधानपदार्थानपि हित्वा तद्विशेषणे विधि-निषेधाविति न्यायेनाप्रधानेऽपि दण्डमात्रे लोहि-  
तोष्णीषमात्रे च विधिरूपसङ्क्रामति । नच तद्वदत्र प्रत्ययार्थभूतप्रधानपदार्थस्य जिज्ञासाया अवि-

## भाष्यभावप्रकाशिका

साक्षात्कारतयाऽधिकार्यत्वेऽपि तस्याप्राधान्यादथशब्देन संबन्धायोगाद् न प्रारम्भकल्पनस्यापि तुल्यतेति ।

## प्रदीपः

शब्दस्य विशिष्टप्रयोजनवत्त्वान्न विचारलक्षकं जिज्ञासापदम् । संमतमिदं भामतीप्रस्थाने विवरणप्रस्थाने च । यत्तु—तात्पर्य-  
चन्द्रिकायाम्—जिज्ञासाया अनारम्भ्यत्वेऽपि विवरणीत्या जिज्ञासापदलक्ष्यविचारारम्भत्वसंभवः—इत्युक्तम्, तदिदं  
पञ्चपादिकायां स्पष्टम्—“नायं जिज्ञासाशब्दः परित्यक्तावयवार्थः केवलमीमांसापरपर्यायः प्रयुज्यमानो दृश्यते । नापि सरण-  
मस्ति । नचावयवार्थेनार्थवत्त्वे समुदायस्यार्थान्तरकल्पना युक्ता । ‘इदमतो जिज्ञासन्ते’ इति त्वन्तर्णीतविचारार्थं जिज्ञासापदमिति”ति  
प्रतिपादनाद् विचारसाध्यज्ञानेच्छैव जिज्ञासेत्येव मतद्वयेऽपि तात्पर्याच्चावनसरमेव । विचारसाध्यज्ञानविषयेच्छा तु जिज्ञासा  
नोपरितनेषु सूत्रेषु प्रस्तूयते, इति नाधिकारार्थोऽथशब्द इति भावः ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

हेतु-फलभावेनानन्तर्यस्य विवक्षितत्वादानन्तर्याभिधानमुखेन पूर्वप्रकृतपुष्कलकारणमथशब्देनावद्योत्यते । \*ननु\* ब्रह्मज्ञाने प्रवृत्तिपर्यन्तेच्छोदयसामर्थ्यादेव पुष्कलकारणमनुमीयते किमथशब्देन ? \*सत्यम्\* ; इच्छोदय-प्रभृतीष्यमाणज्ञानोदयपर्यन्तस्य कार्यस्य पुष्कलकारणतया पूर्वप्रवृत्तस्य शास्त्रीयस्याधिकारिविशेषणस्य प्रतिपत्ति-परत्वादथशब्दस्य न दोषः । तत्प्रतिपत्तिश्चेष्ट्यमाणज्ञाने प्रवृत्तिपर्यन्तेच्छोदयद्वारेण प्रवृत्त्यङ्गभावं भजते, इति तेनानन्तर्याभिधानमुखेन प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टेच्छोदयप्रभृतेषां नोदयपर्यन्तस्य कार्यस्य पुष्कलकारणतया पूर्वनिर्वृत्त-साधनचतुष्टयावद्योतनायानन्तर्यार्थोऽथशब्द इति सूक्तम् ॥

## ऋजुविवरणम्

मत्र प्रतिपाद्यम्, तच्च हेतु-फलयोरेव, अहेतुफलयोस्तु लोकसिद्धं नानन्तर्यम् ; व्यभिचारात्, व्यवधानाच्चेति भावः । \*सत्यमिच्छोदयेति\* ॥ अनुमानेन कारणावगतिर्भवति ; न कारणज्ञानार्थमथशब्दः, किंतु तस्याधिकारिविशेषणतया ज्ञानार्थम्, तच्च नानुमानेन भवति ; शास्त्रैकसमधिगम्यत्वादिति भावः । \*ननु\*—स्वरूपेण विद्यमानं स्वकार्यं कर्तुं शक्नोति ; न तत्प्रतिपत्त्या कृतमित्याशङ्क्याह—\*तत्प्रतिपत्तिश्चेति\* ॥ अज्ञाते साधन इच्छामात्रं भवति, सामर्थ्यप्रतिपत्त्या तु विशिष्टेच्छोत्पत्तिद्वारेण प्रवृत्तिरेव क्रियत इति विशेषः । “अयं तु जिज्ञासाशब्दः” इत्याक्षेपो न युक्तः ; नहि वृद्धप्रयोगमात्रं विचारविषयं मुख्यत्वेन लाक्षणिकत्वेन चानिश्रितं संघातस्यावयवशक्त्या प्रतीयमानार्थानुपादाने कारणं

## तत्त्वदीपनम्

र्यमात्रस्य प्रसिद्धिमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्ह्यथशब्दो वृथा, तत्राह—\*हेतुफलेति\* ॥ मुख्यं ह्यानन्तर्यं प्रतिपाद्यम्, तच्च हेतु-फलयोः, अहेतु-फलयोस्त्वानन्तर्यममुख्यम् ; व्यभिचारात्, व्यवधेश्चेत्यर्थः । तथाऽपि तदभिधानं मुयेत्याशङ्क्याह—\*आनन्तर्येति\* ॥ अथवा—हेतु-फलभावेन प्रकृतादर्थान्तरमथशब्देन समर्प्यत इति शङ्कां निरस्यति—\*आनन्तर्येति\* ॥ यस्यानन्तरं यद्भवति, स तस्य हेतुरिति हेतुत्वसिद्धयर्थमानन्तर्यमाश्रयणीयम्, ततस्तदेव समर्प्यतामित्यर्थः ॥

पुष्कलकारणस्यापि कार्यलिङ्गानुमितत्वाद् नाथशब्दापेक्षेति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ अनुमेयत्वमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्ह्यथशब्दवैयर्थ्यम् ? नेत्याह—\*नेति\* ॥ शास्त्रीयविशेषणप्रतिपत्तिर्वा कस्मादिति ? तत्राह—\*तत्प्रतिपत्तिरिति\* ॥ यदिदं पूर्ववृत्तं पुष्कलकारणम्, तस्य शास्त्रीयत्वज्ञानाभावे निःसंदिग्धा प्रवृत्तिर्न स्यात्, शास्त्रपर्युदस्तत्वशङ्काया अपि संभवात् । तस्माच्छास्त्रीयाधिकारिविशेषणसमर्पणार्थत्वमथशब्दस्येत्यर्थः । किं तच्छास्त्रीयं विशेषणमिति शङ्कां निराकुर्वन् स्वमतमुपसंहरति—\*तेनेति\* ॥ अधिकारिविशेषणप्रतिपत्तेः प्रवृत्त्युपयोगित्वं

## वार्तिकम्

वक्ष्यामि ; तस्या विचाराङ्गसंशय-प्रयोजनसूचकत्वेन विवक्षितत्वात् । सन्दिग्धस्यैव सप्रयोजनस्यैव च जिज्ञास्यमानत्वात्, अन्यथा काकदन्तवत् कृतकरणवच्चजिज्ञास्यत्वात् । नच प्रधानपदार्थस्य विवक्षितत्वे तदन्येन विशेषणान्वयो दृष्टपूर्वः, संभवी वेत्युक्तमधस्तात् । \*पतेन\*—जिज्ञासालक्षित-विचारेणाधिकारान्वयः—\*प्रत्युक्तः\* ; जिज्ञासाया अविवक्षितत्वे संशय-प्रयोजनासिद्धेर्विचारस्यैवानुपपत्तेः, विवक्षितत्वे तु तथैव तदन्वयात् । स च न संभवतीत्युक्तं पुरस्तात् । यदप्युक्तम्—ब्रह्म-तज्ज्ञानयोः शब्दतः प्राधान्याभावेऽप्यर्थतः प्राधान्याद् “गामानये”त्यादौ पिण्डेनानयनान्वयवत् ताभ्यामधिकारान्वयोपपत्तिः—इति, तदपि न ; वैषम्यात् । नहि “गामानये”त्यत्रार्थप्राधान्यवलात् पिण्डस्यानयनेनान्वयः ; तथा सति गौर्नित्येत्यत्र नित्यत्वेनापि तदन्वयप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? शब्दाभिधेयस्यापि गोत्वस्य गङ्गावद् घोषेणानयनेनान्वयासंभवितयाऽविवक्षितत्वात्, तल्लक्षितस्य च पिण्डस्य तद्योग्यतया तीरवद्विवक्षितत्वात्, लाक्षणिकस्याप्यभिधेयवत् शब्दार्थत्वात्, विवक्षितस्यैव शाब्दिकैः शब्दार्थत्वाभ्युप-



## पञ्चपादिका

अयं तु जिज्ञासाशब्दो विचारवचनो मीमांसापरपर्यायः प्रयुक्तोऽभियुक्तैः—“इदमतो जिज्ञासन्ते—किं क्रतुगुणकमुपासनं स्वामिकर्म ? उतत्विक्कमे”ति ? इदन्तु जिज्ञास्यम्—किं नु खल्विमौः तप्य-तापकावेकस्यात्मनो भेदौ ? उत जात्यन्तरम् ? इति । धर्ममीमांसाभाष्यकारोऽपि संघातमेव प्रायुङ्क्त—“धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेदि”ति, संघातवाच्यत्वाद्विचारस्य ; अन्यथैवमवक्ष्यत्—“धर्मं ज्ञातुमिच्छेदि”ति । अत एव धर्माय जिज्ञासा ‘धर्मजिज्ञासे’ति संघातस्यार्थवत्त्वमङ्गीकृत्य चतुर्थीसमासो दर्शितः । तदनुसारेण चैतानि भाष्याणि—“एवं वेदवाक्यान्वैभिर्विचार्यन्ते” “वेदवाक्यानि विचारयितव्यानि” “कथं वेदवाक्यानि विचारयेदि”ति च ; पुनश्च “क्रत्वर्थ-पुरुषार्थ-योजिज्ञासा” “क्रत्वर्थपुरुषार्थौ जिज्ञास्येते” इति । इहापि भाष्यकारो वक्ष्यति—“तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति”ति । पुनश्च “वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितकौपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते” इति । अतः संघातस्यार्थवत्त्वादधिकारार्थता युज्यते । शास्त्रवचनो हि जिज्ञासाशब्दः ; तेन ब्रह्मजिज्ञासाऽधिकृता वेदितव्येति ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* जिज्ञासाशब्दस्य विचारे रूढस्य कथमवयवार्थेनार्थवत्त्वमादीयते ? “रूढिर्हि योगमपहरती”ति न्यायात्, इत्याक्षिपति—\*अयं तु जिज्ञासाशब्दो विचारवचन इत्यारभ्योच्यत इत्यतः प्राक्तनेन\* ॥ \*ग्रन्थः

## ऋजुविवरणम्

भवितुं शक्नोतीत्याशङ्क्यावतारयति,—\*ननु जिज्ञासाशब्दस्येति\* ॥ “नायं जिज्ञासाशब्दः” इति परिहारेऽवयवार्थ-परित्यागो नास्तीत्युक्तम्, तद् व्यर्थम् ; अवयवार्थपरित्यागेऽपि विचारे प्रयोगाच्छक्तिसिद्धेः, इतरथा प्रयोगानुपपत्तेः । “प्रयुज्यमानो न दृश्यते” इति चायुक्तम् ; दर्शितत्वाच्छब्दप्रयोगस्य, स्मरणस्यापि प्रयोगमूलत्वात् । “नचावयवार्थेन”त्यप्यसम्बद्धम् ; अवयवशक्तेः संभवेऽपि समुदायशक्तेस्तत्तिरोधायकत्वाविशेषादित्याशङ्क्याभिप्रायसाह—

## तत्त्वदीपनम्

तच्छब्दार्थः । जिज्ञासाशब्दो विचारे रूढ इत्युक्तम्—\*अयं तु जिज्ञासाशब्द इत्यत्र\* ॥ तत्रावयववृत्त्याऽर्थप्रतिपत्तिसंभवे रूढ्याश्रयणेन कथमधिकाराद्यर्थत्वशङ्का ? इति शङ्कायामाह—\*ननु जिज्ञासेति\* ॥ \*टीकाया अयमर्थः\*—

जिज्ञासाशब्दस्य कथं विचारवचनत्वमित्याशङ्कायां तथा वृद्धैः प्रयुक्तत्वादित्याह—\*मीमांसेति\* ॥ प्रयोगमेव दर्शयति—\*इदमिति\* ॥ \*क्रतुगुणकमिति\* ॥ क्रत्वङ्गोद्गीथादिविषयमित्यर्थः । जीव-संसारौ तप्य-तापकशब्दार्थः । \*संघातं प्रायुङ्क्तेति\* ॥ अखण्डशब्दमेव प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । तथाऽपि कथं विचारार्थत्वमिति ? अत आह—\*संघातेति\* ॥ उक्तं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—\*अन्यथेति\* ॥ जिज्ञासाशब्दस्यावयवशक्त्याऽर्थपरत्वे ‘धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेदि’त्यनुपपन्नम्, जिज्ञासाशब्देनेच्छाया निर्दिष्टत्वात्, इच्छाविषयत्वेनेच्छान्तरप्रसक्तेः । तस्माद् ‘धर्मं ज्ञातुमिच्छेदि’त्यभिधानं स्यादित्यर्थः । तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—\*अत एवेति\* ॥ जिज्ञासाशब्दस्य यौगिकत्व इष्यमाणस्य फलत्वसिद्धेस्तन्निर्देशानपेक्षणाद् विषयस्य चानिर्दिष्टत्वात् षष्ठीसमासः स्यात्, विचारार्थत्वे त्वस्य प्रयोजनापेक्षायां चतुर्थ्या प्रयोजननिर्देशो युक्त इत्यर्थः । उत्तरत्र विचारस्य निर्दिष्टत्वात् संदिग्धार्थं जिज्ञासापदं तद्विषयत्वेन व्याख्येयमित्याह—\*तदनुसारेणेति\* ॥ अस्मदुक्तानुसारेणेत्यर्थः । एभिर्न्यायैः । क्रत्वर्थः=क्रतुस्वरूपोपकारी प्रोक्षणादिः ; फलोपकारी प्रयाजादिः । फलोद्देशेन क्रियमाणं कर्म फलं च पुरुषश्चेत्येते पुरुषार्थशब्दार्थः । \*संघातस्यार्थवत्त्वादिति\* ॥ अखण्डशब्दस्य विचारलक्षणाथेनार्थवत्त्वादित्यर्थः ॥ अतःशब्दार्थमाह—\*शास्त्रेति\* ॥ विचारवचन इत्यर्थः । वाक्यार्थमाह—\*तेनेति\* ॥

## वार्तिकम्

गमात्, ‘विवक्षितार्थं शब्दः प्रमाणमिति’ न्यायात् । नच प्रकृते जिज्ञासाया अविवक्षायां कारणमास्ते ;



## पञ्चपादिका

\*उच्यते\* ;—नायं जिज्ञासाशब्दः परित्यक्तावयवार्थः केवलमीमांसापर्यायः प्रयुज्यमानो दृश्यते ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्पष्टार्थः\* । \*उच्यते नायं जिज्ञासाशब्द इत्यादिः परिहारः\* । \*अयमाशयः\*—चत्वारः शब्दप्रवृत्तिप्रकाराः । तत्र रूढिः—यथा वृद्धव्यवहारेऽभिधानाभिधेयव्यतिरिक्तमनपेक्ष्यैव प्रयोगसामर्थ्याद् अखण्डाभिधानसम्बन्धः, योगः—समासादिनैकपद्यमापन्नस्य शब्दस्य स्वावयवगतानेकाभिधानशक्तिद्वारेण विशिष्टार्थाभिधानम् ; एतच्चोभयं मुख्यं वृत्तिरित्युच्यते । गौणः—स्वाभिधेयादर्थादर्थान्तरे गुणयोगाद् लक्षणया वृत्तिरिति । तत्रैकस्यैव शब्दस्यार्थान्तरे रूढस्यार्थान्तरे च योगवृत्तिसम्भवे 'रूढिर्योगमपहरती'ति न्यायेन योगं परित्यज्य रूढिरुपादीयते । रूढि-योग-मुख्यवृत्तिसम्भवे गौणः परित्यज्यते ; तत्रैकस्मिन्नर्थे क्लृप्तसामर्थ्येन शब्दस्य योगवृत्ति-सम्भवे तत्रैव तस्यैव शब्दस्य शक्त्यन्तरकल्पनानिमित्तकार्यान्तराभावात् । \*ननु\* पङ्कजशब्दादिषु योगरूढि-रिति वृत्त्यन्तरं कल्प्यत इति, \*न\* ; तत्रापि योगवृत्त्यैवार्थप्रतिपत्तेः । \*ननु\* उत्पलादिवस्त्वन्तरं विहाय

## ऋजुविवरणम्

\*अयमाशयश्चत्वार इति ॥ गुणयोगादिति\* ॥ स्वाभिधेयगतगुणयोगादित्यर्थः ॥ \*लक्षणया वृत्तिरिति\* ॥ अभिधेया-विनाभावेन वृत्तिरित्यर्थः । "गौणस्त्वभिधेयादर्थादर्थान्तरे लक्षणये"त्येव पाठे लक्षणापूर्वकत्वोक्त्यैव लक्षणाया उक्तत्वाद्नु-पन्यासः । तदुक्तम्—“अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेष्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्गुणैरिष्टा तु गौणता” ॥ इति ॥

\*तत्रैकस्मिन्नर्थ इति\* ॥ क्लृप्ता रूढिर्योगापहारिणी, नतु कल्प्येत्यर्थः । \*ननु पङ्कजादिष्विति\* ॥ यथा

## तत्त्वदीपनम्

जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थत्वमाश्रित्य कथं समाधिरभिधीयते ? रूढिर्योगमपहरतीति न्यायविरोधादित्याशङ्क्याह—

\*उच्यत इति\* ॥ \*तस्यायमर्थः\*—किमभियुक्तोक्तिमात्राद् जिज्ञासाशब्दस्य विचारवाचित्वं विवक्षितम् ? उत निघण्ट्वादेषूक्तेरिति विकल्पद्वयं हृदि निधायाह—\*उच्यत इति\* ॥ आद्यं निरस्यति—\*नायमिति\* ॥ केवला च सा मीमांसा चेति केवलमीमांसा, तस्याः पर्यायः । केवलशब्दार्थमाह—\*परित्यक्तेति\* ॥ अवयवार्थोपादानेनापि प्रयोगोपपत्तिरित्यभिसन्धिः । द्वितीयं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ योगाद् रूढेः प्राबल्यान्न योगवृत्तिपरिग्रहः, तत्राह—\*नचेति\* ॥ शिष्टप्रयोगस्यावयवार्थनार्थवत्त्वासंभवाद्द्विचारात्त्वमित्याशयवानाह—\*ननु न वयमिति\* ॥ असिद्धो हेतुरित्याह—\*न तस्येति\* ॥ परिहारप्रकारमाह—\*अयमाशय इति\* ॥

न्यायस्य विषयभेदं दर्शयितुं शब्दप्रवृत्तिभेदानाह—\*चत्वार इति\* ॥ रूढि-योग-गौण-लक्षणारूपा इत्यर्थः । क्रमेण तानेवाह—\*तत्रेत्यादिना\* ॥ अखण्डाभिधानस्याभिधेयेन संबन्धो रूढिरित्युक्ते साङ्केतिकशब्देऽवतिव्याप्तिः, तदर्थम्—\*अभिधानाभिधेयव्यतिरिक्तमिति\* ॥ साङ्केतिकशब्देषु सङ्केतापेक्षेति यावत् । यौगिकशब्दव्यावृत्त्यर्थम्—\*अखण्डेति विशेष-णम्\* । कथं तत्प्रतिपत्तिरित्याकाङ्क्षायामुक्तम्—\*वृद्धव्यवहारे प्रयोगसामर्थ्यादिति\* ॥ अत्र 'गौर्घटः' इत्याद्युदाहरणम् । विशये रूढ्यर्थो ग्राह्यः ; तस्या अविलम्बितप्रतिपत्तिकत्वात्, तत्र च रूढिर्योगमपहरतीति न्यायावसर इत्यर्थः । यत्र तु मुख्यामुख्यग्रहणशङ्का, तत्र मुख्यस्य ग्रहणमितरस्य परित्याग इत्याह—\*रूढीति\* ॥ रूढिश्च योगश्चेति रूढि-योगौ, तावेव मुख्यवृत्ती, तयोः संभव इति विग्रहः । कथं तर्हि जिज्ञासाशब्दाद् विचारपरित्यागेनेच्छाप्रतिपत्तिः ? तत्राह—\*तत्रैकस्मिन्निति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*क्लृप्तसामर्थ्येनेति\* ॥ अवयवशक्तेरित्यर्थः । अखण्डशक्त्या विनाऽ-नुपपद्यमानकार्याभावान्न तत्कल्पनम्, तथा च कल्प्याया रूढेर्योगात्प्राबल्यं नावकल्पत इत्यर्थः ॥

पङ्कजशब्दादिषु योगसंभवेऽपि यथा वृत्त्यन्तरमाश्रितम्, तद्वदत्र योगसंभवेऽपि रूढिकल्पनं स्यादिति शङ्कते—\*ननु पङ्कजेति\* ॥ अप्रसिद्धत्वात् कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च न वृत्त्यन्तरकल्पनमित्यत्राह—\*शक्तिद्वयमिति\* ॥ पूर्व-त्रैकशब्दस्य द्वाभ्यां शक्तिभ्यामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिरुक्ता, अत्र त्ववयवशक्त्याऽनेकार्थत्वम्, अखण्डशक्त्या तामरसार्थत्व-मिति विभागः । दृष्टान्तोऽसंप्रतिपन्न इत्याह—\*न तत्रापीति\* ॥ दृष्टान्तं समर्थयते—\*ननूत्पलेति\* ॥ पङ्कज-



## पञ्चपादिका

नापि स्मरणमस्ति । न चावयवार्थेनार्थवत्त्वे सम्भवति समुदायस्यार्थान्तरकल्पना युक्ता । \*ननु\* न वयं कल्पयामः ; दर्शितः शिष्टप्रयोगः, \*न\* ; तस्यान्यथासिद्धत्वात् । कथमन्यथासिद्धत्वम् ? अन्तर्णीत-विचारार्थत्वाजिज्ञासाशब्दस्य । \*तथाहि\*—विचारपूर्वकसाध्यज्ञानविषयेच्छा जिज्ञासाशब्दात् प्रतीयते, नोपदेशमात्रसाध्यज्ञानविषया ; एवं प्रयोग-प्रत्यययोर्दर्शनात्, तेन जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थेनार्थवत्त्वाद् युक्तमुक्तम्—\*ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादिति\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पङ्कजशब्दाज्झटिति तामरसे प्रतिपत्तिदर्शनाच्छक्तिद्वयमेव कल्पनीयम्, \*न\* ; प्रयोगबाहुल्यादपि सामर्थ्या-विशेषे प्रथमप्रतिपत्तिदर्शनात् । यथा नवस्वर्थेषु शक्त्यविशेषेऽपि गोशब्दात् सास्नादिमदाकृतौ प्रयोगबाहुल्या-देव प्रथमप्रतिपत्तिः । तस्मात् क्लृप्तसामर्थ्यादेव प्रयोगप्रतिपत्तिसम्भवे न शक्त्यन्तरकल्पनेत्याह—\*नायं जिज्ञासाशब्द इति\* ॥ कथमित्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः ॥

\*ननु\* अवयवार्थसंसर्ग एव योगवृत्त्याऽपि शब्देन प्रतिपाद्यते, विचारस्तु न जिज्ञासाशब्दावयवार्थः, कथं तदवगमस्य क्लृप्तसामर्थ्येनैवान्यथा सिद्धिरिति चोदयति—\*कथमन्यथासिद्धत्वमिति\* ॥ स्वयमवय-वार्थत्वाभावेऽप्यवयवार्थसंसर्गाविनाभावादपि तल्लक्षणया प्रयोग-प्रत्ययोपपत्तौ न शक्त्यन्तरकल्पना ; अनन्यथा-सिद्धकार्याभावादिति परिहरति—\*अन्तर्णीतविचारार्थत्वादिति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानमात्रमिष्यमाणं कथं विचारेणाविनाभूतमिति ? तदाह—\*तथाहीति\* ॥ किं तत्र प्रमाणमिति ? तदाह—\*एवं प्रयोग-प्रत्यययो-

## ऋजुविवरणम्

पङ्कजादिषु योगसंभवेऽपि वृत्त्यन्तरादि कल्पितम्, तद्वदत्रापि कल्प्यत इति भावः । पूर्वग्रन्थे योगसंभवे न रूढिः कल्प्यत इत्युक्तत्वात्—“अन्यथासिद्धत्वादि”त्यत्रापि सन्निहितत्वाद् योगवृत्त्यैव प्रतिपत्तिरुक्तेति कृत्वा चोदयति—\*नन्व-वयवार्थेति\* ॥ अन्यथासिद्धत्वाभावे शक्त्यन्तरमेव कल्पनीयमिति भावः । “एवं प्रयोग-प्रत्यययोरिति”त्यसम्बद्धमुक्तम् ;

## तत्त्वदीपनम्

शब्दो योगवृत्त्या तामरसं बोधयति चेत्, तर्हि योगवृत्तेरुत्पलादिष्वप्यविशेषात् पङ्कजशब्दात् तत्प्रतिपत्तिरपि स्यात्, नच तथा प्रतिपाद्यते । तस्मात् तामरसे शक्त्यन्तरं वृत्त्यन्तरं वाऽऽश्रयणीयमित्यर्थः । कल्पनागौरवप्रसङ्गाद् न वृत्त्य-न्तराद्याश्रयणीयम् । नच तामरसप्रतिपत्त्यनुपपत्त्या तदाश्रयणीयम् ; प्रतिपत्तेरन्यथाऽप्युपपत्तेरित्याह—\*न. प्रयोगेति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ \*नवस्विति\* ॥ दिग्-दृष्टि-दीधिति-स्वर्ग-वज्र-वाग्-बाण-वारि-भूलक्षणेष्वित्यर्थः । अनन्यथासिद्धकार्याभावाच्च शक्त्यन्तरमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ उपवर्णितेऽर्थे टीकां पातयति—\*इत्याहेति\* ॥ कथंशब्दसूचितामनुपपत्तिं दर्शयति—\*नन्ववयवेति\* ॥ \*अन्यथा\*—अखण्डशक्त्या विनेति यावत् ।

जिज्ञासाशब्दस्य यौगिकत्वे कथं विचारार्थत्वम् ? विचारस्यावयवार्थत्वाभावादित्याशङ्क्य, किं जिज्ञासा-शब्दस्य विचारे प्रवृत्ति-प्रत्ययौ पृच्छेयते ? अथवा तस्य शक्त्यन्तरं कल्प्यम् ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*स्वय-मिति\* ॥ लक्षणानिमित्तसंबन्धमाह—\*अवयवार्थेति\* ॥ अविनाभावस्योत्तरत्र प्रपञ्च्यमानत्वान्नासिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयं निरस्यति—\*अपीति\* ॥ लक्षणयाऽपीति संबन्धः । उभयमपि किं न स्यादिति ? अत आह—\*अनन्यथेति\* ॥ अविनाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ ज्ञानमात्रस्य विचाराविनाभावः ? उत तद्विशेषस्य ? नाद्य इत्याह—\*ज्ञानेति\* ॥ वृत्तादिदिदृक्षूणां विचारादृष्टेः । अत एव नेतरोऽपीत्यर्थः । निरूपकाणां ज्ञानविशेषस्य विचाराविनाभावप्रतिपत्तेर्नासिद्धिरित्याह—\*तदाहेति\* ॥ तत्राहेत्यर्थः । उक्तेऽर्थे कल्पकं पृच्छति—\*किं तत्रेति\* ॥ विचारसाध्यज्ञानेच्छाविषयत्वेन जिज्ञासाशब्दस्योत्तमवृद्धेन प्रयुज्यमानत्वाद् मध्यमवृद्धस्य तथा प्रत्ययदर्शनाच्चाविना-भाव इत्याह—\*तदाहेति\* ॥ हेत्वसिद्धिं मन्वानं प्रत्याह—\*ज्ञानमिति\* ॥ अवगतेरनवगतौ कामनाऽनुपपत्ते-



## पञ्चपादिका

\*ननु\* एवमपि कुत एतत् ? अन्तर्णीतं विचारमाश्रित्य शब्दतो गुणत्वेऽप्यर्थलक्षणेन प्राधा-  
पञ्चपादिकाविवरणम्

रिति\* ॥ ज्ञानं खल्विष्यमाणं विषयेण सहावगतमिष्यते, अनवगतविषयेच्छायोगात् । ततश्च प्रतिपन्ने वस्तुनि ज्ञानमिष्यमाणं संदिग्धे निश्चयफलं वा परोक्षेऽपरोक्षफलं वेष्यते । तच्चोभयं प्रमाणादिविचारप्रयत्नसाध्यम्, इति प्रतिपन्ने वस्तुनि विशिष्टज्ञानमिष्यमाणं प्रमाणादिविचारमविनाभावेन गमयति, इति विचारसाध्यज्ञाने प्रयोग प्रत्यया-  
वित्यर्थः । \*ननु\* नेच्छामात्रं सूत्रेण प्रतिपाद्यते, प्रयोजनाभावात्, किंत्विष्यमाणज्ञानप्रदर्शनमुखेन तत्साधनं विचारमन्तर्णीतमुपलक्ष्य स एव तात्पर्येण प्रतिपाद्यते, अतो विचार-ज्ञान-ब्रह्मणामन्यतमस्य तात्पर्येण प्रतिपाद्य-  
स्यारम्भायाथशब्द इति चोदयति—\*नन्वेवमपि कुत एतदिति\* ॥ तदेव प्रपञ्चयति—\*अन्तर्णीतं विचार-  
माश्रित्येति\* ॥ अर्थलक्षणेन प्राधान्येनान्तर्णीतं विचारमाश्रित्येति सम्बन्धः । अतस्त्रयाणामन्यतमस्याधि-

## ऋजुविवरणम्

नहि जिज्ञासाशब्दो विचारसाध्यज्ञानेच्छायां प्रयुक्तः, नापि प्रतीतिरस्तीति वक्तुं शक्यते ; पुनश्च मुख्यत्वप्रसङ्गादित्या-  
शङ्क्याभिप्रायमाह—\*ज्ञानं खल्विष्यमाणमिति\* ॥ “नन्वेवमपि कुतः” इत्यादिना विचारस्वीकारमङ्गीकृत्याधि-  
कारार्थतया चोद्यं क्रियते, तदनुपपन्नम् ; नहि विचारोऽत्र सूत्रे प्रतिपाद्यते, किंत्वविनाभावमात्रेण प्रतीयते । अतश्च तन्निबन्धनं प्राधान्यं तस्यान्यस्य वा नाधिकारकारणमित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु नेच्छामात्रमिति\* ॥ “अर्थ-  
लक्षणेन प्राधान्येन ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरधिकारयोग्यत्वादि”त्युत्तरेणान्वयः प्रतिभाति ; तथा सति विचारस्य प्राधान्य-  
प्रतीत्यभावादधिक्रियमाणत्वं न स्यात्, अन्तर्णीतविचारग्रहोऽपि व्यर्थः स्यात् । विचारस्य हि पुरुषाधीनत्वेनाधिक्रिय-  
माणत्वसंभवादिदानीं तस्य स्वीकारः । अतः प्राधान्यमपि तत्रैव वक्तव्यम् ; अन्यथेच्छाप्राधान्येऽपि ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरर्थतः  
प्राधान्यादधिक्रियमाणत्वसंभवादिति मनसि कृत्वा योजनां दर्शयति—\*अर्थलक्षणेन प्राधान्येनान्तर्णीतमिति\* ॥  
“अधिक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्ये”त्यत्र ब्रह्म-तज्ज्ञानयोः प्रतीतिः स्यात् ; पूर्वं तयोः प्रकृतत्वात्, तथा सति विचारस्याधि-  
क्रियमाणत्वाभावशङ्का स्यात्, तदभावे ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरपि न स्यात्, तदर्थं व्याचष्टे—\*अतस्त्रयाणामपीति\* ॥  
अत्रैवमधिकरणसंक्षेपः ;—शास्त्रं नारम्भणीयम् ? उत्तरम्भणीयमिति संशये—निरधिकारत्वाद् नारम्भणीयमिति पूर्वः

## तत्सद्दीपनम्

रश्मिगतिरङ्गीकार्या, तत्र च विशेषणस्येव विशेष्यस्याप्यवगतिः ? उत न ? इति विकल्प्याद्यमवतारयति—\*विषयेणेति\* ॥  
द्वितीयनिरासेनेतरत्र हेतुमाह—\*अनवगतेति\* ॥ अनवगतो विषयो यस्य ज्ञानस्य तत्तथा, तत्रेच्छायोगादित्यर्थः ।  
अस्तु विषयविशेषितज्ञानप्रतिपत्तिः ; तथाऽपि तत्रेच्छाऽनुपपन्नेत्याशङ्क्याह—\*ततश्चेति\* ॥ आद्यज्ञानेन संदिग्धतया  
प्रतिपत्तौ तत्र निर्णयज्ञानं काम्यते, असंदिग्धतया प्रतिपत्तावप्यपरोक्षज्ञानमिति विभागः । ततः किमिति ? अत आह—  
\*तच्चेति\* ॥ प्रमेयमादिशब्दार्थः । विचारविषयः प्रयत्नो \*विचारप्रयत्नः\* । तथाऽपि कथं जिज्ञासापदेन विचारसिद्धिः ?  
तत्राह—\*इति प्रतिपन्न इति\* ॥ विचारस्य साधनत्वाद् विशिष्टज्ञानस्य च साध्यत्वात् तयोरविनाभाव इत्यर्थः । ततश्च  
टीकाग्रन्थो युक्त इत्याह—\*इति विचारेति\* ॥

‘ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासे’तीच्छायाः प्राधान्यप्रतिपत्तेः कया युक्त्या विचारादेः प्राधान्यम् ? इति शङ्कायामाह—  
\*ननु नेच्छेति\* ॥ शब्दतः प्राधान्यप्रतिपत्तावपीच्छाया अपि प्रतिपाद्यत्वान्न तस्या अर्थतः प्राधान्यमित्यर्थः ।  
किं तर्हि प्रतिपाद्यम् ? इति पृच्छायामाह—\*किंत्वित्यादिना\* ॥ जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थत्वेऽप्यानन्तर्यार्थत्वम-  
प्यथशब्दस्य कस्मादिति टीकार्थः । इच्छाया अनारम्भ्यत्वादानन्तर्यार्थत्वमित्याशङ्क्याह—\*तदेवेति\* ॥ “प्राधान्ये-  
ने”त्यस्य “ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरिति”त्यनेन संबन्ध इति शङ्का स्यात्, नच सा युज्यते ; विचाराश्रयणवैयर्थ्यापातादित्याशङ्क्या-  
न्वयमाह—\*अर्थलक्षणेनेति\* ॥ विचारमाश्रित्य ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरधिक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्येत्यन्वय इति शङ्का स्यात्, ततश्च  
विचाराश्रयणं वृथेत्याशङ्क्यान्वयमाह—\*अत इति\* ॥ आरम्भयोग्यत्वमतःशब्दार्थः । अर्थलक्षणेन प्राधान्येनान्तर्णीतं



## पञ्चपादिका

न्येन ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरधिकारयोग्यत्वाच्चाधिक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्याधिकारार्थत्वं किमिति न गृह्यते ? येन शब्दलक्षणेन प्राधान्येनेच्छाया अनधिकार्यत्वादानन्तर्यार्थत्वमेव परिगृह्यत इति, \*उच्यते\* ;—शास्त्र-स्यानारम्भप्रसङ्गादधिकारार्थत्वानुपपत्तेः । अधिकारार्थत्वे ह्यप्रयोजनं शास्त्रं काकदन्तपरीक्षावदना-रम्भं स्यात् ! तत्र कस्याधिकार उच्येत ?

## पञ्चपादिकाविवरणम्

क्रियमाणत्वमङ्गीकृत्येति योजना । तत्राथशब्देनानन्तर्याभिधानमुखेन शास्त्रीयसाधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारि-विशेषस्य न्यायतः समर्पणाभावे विचारारम्भार्थत्वे च कर्तव्यतया विधीयमानो विचारो निरधिकारोऽननुष्ठेयः स्यादिति परिहरति—\*उच्यते शास्त्रस्यानारम्भप्रसङ्गादिति\* ॥ \*ननु\* विचारविधेरेव विश्वजिन्न्यायेना-धिकारिविशेषं कल्पयित्वा प्रवृत्तिपर्यन्तो भविष्यति, किमथशब्देनेति ? \*ननु\* कर्तव्यतयाऽवगतो विचारोऽपि प्रारम्भमर्थाद् गमयति, किं विचारप्रारम्भार्थेनाथशब्देन ? \*ननु\* विधिसामर्थ्यादुभयप्राप्तौ कस्तत्र निर्णयः ? विध्यपेक्षितोपाधित्वादानन्तर्याभिधानमुखेनाधिकारिसमर्पणमेव युक्तमित्याह—\*अधिकारार्थत्वे ह्यप्रयोजन-मिति\* ॥ प्रवृत्तिद्वारेण प्रयोजनपर्यन्तताशून्यमित्यर्थः । \*ननु\* मोक्षकामः कल्प्यते, \*ननु\* ; प्रसज्यप्रतिषेध-प्रसङ्गात् । \*तथाहि\*—कर्तव्य इत्युक्तेऽविशेषात् सर्वाधिकारप्रतिपत्तौ तदनुपपत्त्या विशिष्टाधिकारः

## ऋजुविवरणम्

पक्षः । अथशब्दोपात्तसाधनचतुष्टयसंपन्नस्य विद्यमानत्वाद् आरम्भणीयमिति सिद्धान्तः । “शास्त्रस्यानारम्भप्रसङ्गात्” इति विरुद्धम् ; प्रारम्भार्थेऽथशब्दे तदभावायोगादित्याशङ्क्याह—\*तत्राथशब्देनेति\* ॥ “अधिकारार्थत्वे ह्यप्रयोजन-मिति”ति कथमुक्तम् ? नह्येकमेव शास्त्रमधिकारार्थत्वे निष्प्रयोजनमानन्तर्यं सफलमिति वक्तुं शक्यते । न ह्यथशब्देनानव-बोधिते फले विद्यमानस्याभावो भवति, अतः कथं निष्प्रयोजनमित्याशङ्क्य व्याचष्टे,—\*प्रवृत्तिद्वारेणेति\* ॥ “तत्र कस्याधिकारः” इति ग्रन्थमाक्षिपति—\*ननु मोक्षकाम इति\* ॥ कथं प्रसज्यप्रतिषेधः ? नहि पूर्वमधिकारप्रापकमस्ति ;

## तत्त्वदीपनम्

विचारमाश्रित्य तस्याधिक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्याधिकारार्थत्वम्, तथा ब्रह्म-तज्ज्ञानयोः शब्दतो गुणत्वेऽपि ब्रह्म-तज्ज्ञानयो-रर्थलक्षणप्राधान्येनाधिकारयोग्यत्वादधिक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्याधिकारार्थत्वं किमिति न गृह्यते ? इति योजना द्रष्टव्या । “आरम्भार्थत्वेऽनारम्भप्रसङ्गादि”ति कथमुक्तम् ? तत्राह—\*तत्राथशब्देनेति\* ॥ \*तत्र=सूत्र इत्यर्थः । \*न्यायत इति\* ॥ धक्ष्यमाणादित्यर्थः । “विश्वजिता यजेते”त्यत्राधिकार्यश्रवणेऽपि यथा प्रवृत्तिः, तद्वदत्रापीति शङ्कते—\*ननु विचारेति\* । \*विश्वजिन्न्यायेनेति\* ॥ “विश्वजिता यजेते”ति श्रुतम्, नियोज्याभावेऽनुष्ठानानुपपत्तेर्नियोज्यस्तावदेष्टव्यः, स किम-विवक्षितविशेषः ? उत स्वर्गकामः ? इति जिज्ञासायां नियामकाभावाद् यः कश्चिदिति पूर्वपक्षं प्राप्य सिद्धान्तिम्—स्वर्गकामो नियोज्य इति । निरतिशयप्रीतिः स्वर्गः, तत्र च सर्वपामाकाङ्क्षादर्शनात् तत्कामोऽधिकारीति । तथाचा-धिकारिविशेषाभावे विचारविधेरप्यनुपपत्तेः स आश्रयणीयः, इति न प्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्यर्थः । अथशब्द आनन्त-र्याभिधानद्वाराऽधिकारिसमर्थकः, आरम्भस्त्वर्थादित्याश्रीयतामिति शङ्कते—\*ननु कर्तव्यतयेति\* । \*अवगत इति\* ॥ श्रुतावित्यर्थः । नियामकाभावान्मैवमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अथशब्द आरम्भार्थोऽधिकार्यार्थो वेति संशय एव, न तत्र निर्णायकमस्तीत्यर्थः । निर्णायकाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*विध्यपेक्षितेति\* ॥ विधिना अपेक्षितश्चासावुपाधिश्च विध्यपेक्षितोपाधिः, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादिति विग्रहः । अधिकारिणमन्तरेण विधिप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः प्रथमा-पेक्षितोऽधिकारी । विधिप्रतिपत्त्युत्तरकालीनमनुष्ठानमिति प्रथमापेक्षितोऽधिकार्यार्थशब्देन समर्प्यत इत्यर्थः ॥

मोक्षलक्षणप्रयोजनसंभवादप्रयोजनमिति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रवृत्तीति\* ॥ निर्णीताधिकार्य-भावात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्न पुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थः । विधेरधिकार्याकाङ्क्षाया अन्यत एवोपशान्तत्वाद् नाथशब्दस्याधिकारि-समर्पकत्वमिति शङ्कते—\*ननु मोक्षेति\* ॥ कल्पनमेवायुक्तमित्याह—\*न प्रसज्यप्रतिषेधप्रसङ्गादिति\* ॥ तदेव



## पञ्चपादिका

\*ननु\* ब्रह्मज्ञानं प्रयोजनम् ; तदर्थः शास्त्रारम्भः, \*न\* ; ब्रह्मज्ञानेऽर्थत्वानुपपत्तेः, ब्रह्मज्ञानाद्धि

## पञ्चपादिकाविवरणम्

कल्पनीयः । ततो वरं शब्देनैव विशिष्टाधिकारिसमर्पणमिति भावः । \*ननु\* रात्रिसन्न्यायेनार्थवादगतमेव मोक्षं ब्रह्मज्ञानं वा प्रयोजनं साध्यत्वेन परिणम्य मोक्षकामो ब्रह्मज्ञानकामो वा विचारयेदिति विधिप्रतिपत्तिसमयेऽधिकारिविशिष्टविधिप्रतिषेध इति चोदयति—\*ननु ब्रह्मज्ञानं प्रयोजनमिति\* ॥ \*तत्रेदं वक्तव्यम्\*—किं सर्वेषां फलकामितया सर्वाधिकारं शास्त्रमुच्यते ? किं वा विशिष्टाधिकारमिति ? विशिष्टाधिकारत्वे विधिप्रतिपत्त्यधीनत्वादर्थवादसामर्थ्यलभ्याधिकारिकल्पनायाः प्रसज्यप्रतिषेधव्यापारगौरवं तदवस्थमेव । अतोऽथशब्देन श्रोतव्यादिविधिप्रकरणपठितसाधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारिप्रतिपत्तिपूर्वके विचारविध्यवगमे नासौ दोषः, इत्यथशब्देन श्रौतविशेषाधिकारिसमर्पणमेव युक्तमिति । अथ सर्वाधिकारं शास्त्रमिति, न प्रसज्यप्रतिषेधः, नापि विशेषाधिकारसमर्पणे शब्दापेक्षेति, तत्र वक्तव्यम्—किं फलतः सर्वाधिकारं शास्त्रम् ? किं वा विधितः ? न तावत्फलतः ; सर्वेषां फलार्थिताऽभावादित्याह—\*न ब्रह्मज्ञानेऽर्थत्वानुपपत्तेरिति\* ॥ \*मा भूद् ब्रह्मज्ञानार्थतेत्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः ॥

\*ननु\* अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकाधिकारत्वात् तत्प्रयुक्तत्वाच्च विचारस्य विधित एव सर्वाधिकारं शास्त्रमिति

## ऋजुविवरणम्

भवतु वा प्रसज्यप्रतिषेधः ; तथाऽपि निरधिकारिकत्वेनानुष्ठानाद् वरमेतदित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*तथाहि कर्तव्य इत्युक्त इति\* ॥ विधिप्रतिपत्त्यधीनत्वादिति\* ॥ विधिप्रतिपत्तौ सत्यामधिकाराकाङ्क्षायामर्थवादादिसमर्पितस्य पश्चात् स्वीकारः, नतु पूर्वमर्थवादसमर्पितप्रतीतौ विशिष्टाधिकारप्रतीतिः पश्चाद्युक्तम् । ततश्च विधिप्रतिपत्तेः सर्वाधिकारत्वमर्थवादपर्यालोचनया च विशिष्टाधिकारत्वमिति भावः । \*ननु\*—अथशब्देनाधिकारिविशेषणसमर्पणेऽपि प्रसज्यप्रतिषेधस्तदवस्थ एव ; विधिप्रतिपत्तिसमये सर्वाधिकारत्वप्रतीतेरथशब्देन विशिष्टाधिकारसमर्पणात्, अतो विशिष्टाधिकारसमर्पणमपि न युक्तमित्याशङ्क्याह—\*अतोऽथशब्देनेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

दर्शयति—\*तथाहीति\* ॥ एतदभिसन्धायोक्तम्—\*तत्र कस्येति\* ॥ अधिकार्यभावादारम्भार्थत्वे निरस्ते “नन्वि”त्यादेरनवसरः । नच—ब्रह्मज्ञानकामाधिकारिणः कल्प्यत्वात् तदुपपत्तिरिति—शङ्क्यम् ; प्रसज्यप्रतिषेधप्रसङ्गोक्तेरित्याशङ्क्य, विधिप्रतिपत्तिसमये एवाधिकारिविशेषस्य कल्प्यत्वाच्च प्रसज्यप्रतिषेधः ; इतरथा न कुत्रापि विशिष्टाधिकारिकल्पनमित्याशयेन शङ्कते—\*ननु रात्रिसन्नेति\* ॥ सर्वेषां ब्रह्मज्ञानार्थिताया अनुक्तत्वाच्च निषेधानुपपत्तिरित्याशङ्क्य, विकल्पोत्तरत्वेन व्याख्यातुं विकल्पयति—\*तत्रेदमिति\* ॥ आद्ये बहुवक्तव्यसंभवादन्तिमं तावन्निरस्यति—\*विशिष्टेति\* ॥ विधिप्रतिपत्तौ सत्यां निरधिकारस्य विधेरसंभवादधिकार्याकाङ्क्षायामर्थवादादधिकारिविशेषः कल्प्यते, इति विधिप्रतिपत्तेः सर्वाधिकारित्वमर्थवादाच्च विशिष्टाधिकारिकल्पनमिति प्रसज्यप्रतिषेध इत्यर्थः ।

त्वत्पक्षेऽपि विधिप्रतिपत्तिसमये सर्वाधिकारित्वम्, अथशब्दाच्च विशिष्टाधिकारिसिद्धिरिति प्रसज्यप्रतिषेधस्तुल्य इति शङ्कायामाह—\*अत इति\* ॥ साङ्गाध्ययनानन्तरमापाततोऽधिकार्यादिप्रतिपत्तौ तदसंभवशङ्कायां तन्निराकरणार्थमाद्यसूत्रं प्रवृत्तम्, ततः कथं प्रसज्यप्रतिषेध इत्यर्थः । आद्यमनुवदति—\*अथेति\* ॥ एतदपि न निरूपणपथमवतरतीत्याह—\*तत्रेदं वक्तव्यमिति\* ॥ शास्त्रस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वात् तत्र च सर्वेषामर्थित्वात् सर्वाधिकारित्वम् ? उताध्ययनविधेः सर्वाधिकारित्वात् तत्प्रयुक्तविचारस्यापि तथात्वमिति विमर्शार्थः । नच—फलकामित्वात् सर्वाधिकारित्वमित्युक्तत्वाद् विकल्पानुपपत्तिरिति—\*शङ्क्यम्\* ; सर्वेषां स्वतः एव फलकामित्वात् सर्वाधिकारत्वम् ? अथवा फलकामनाया विधायित्वाद् विधितः सर्वाधिकारत्वमिति विकल्पोपपत्तेरिति द्रष्टव्यम् । ब्रह्मज्ञानस्य कर्तव्यतोक्तेः प्रस्तुतानुपयोगित्वादुत्तरग्रन्थवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—\*नन्विति\* ॥ वेदस्यार्थबोधपर्यन्ततामापादयताऽध्ययन-



## पञ्चपादिका

मनसोऽपि वियोगान्निखिलविषयानुषङ्गनिवृत्तिः श्रूयते । सा च सार्वभौमोपक्रमं ब्रह्मलोकावसानमुत्कृष्टो-  
त्कृष्टसुखं श्रूयमाणं सोपायं निवर्तयति । अतो ब्रह्मज्ञानादुद्विजते लोकः ; कुतस्तत्र प्रवृत्तिः ?  
\*ननु\* आनन्दरूपताऽपि ब्रह्मज्ञानादाप्यते, अतस्तदर्थं प्रवर्तते तत्र, \*मैवम्\* ; न हि ब्रह्मानन्दोऽननुभूत-  
पूर्वोऽनुभूतभोग्यसुखामिलाषं मन्दीकर्तुमुत्सहते, येन तदुज्जित्वा ब्रह्मज्ञाने प्रवर्तते । \*ननु\* परि-  
तृप्तरूपताऽपि ब्रह्मज्ञानात्, अतः परितृप्तः किं कामयते ? अतृप्तिनिमित्तकत्वात् कामस्य ; तथाच  
श्रुतिः—“आप्तकामः” । स्मृतिरपि “आत्मलाभान्न परं विद्यते” “एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृत-  
कृत्यश्च भारते”ति । \*न\* ; तृप्तेरेवोद्वेगदर्शनाद्विषयविच्छेदात्मिकायाः । तथाच वक्तारो भवन्ति—  
अहो कष्टं किमिति सृष्टिरेवं न बभूव ? यत् सर्वमेव भोक्तुं सामर्थ्यमतृप्तिर्भोग्यानां च क्षयः—इति ।  
रागिगीतं श्लोकमप्युदाहरन्ति—

“अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति । नतु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥” इति ।

मा भूद् ब्रह्मज्ञानार्थता, वेदार्थत्वादेव ब्रह्मज्ञानं कर्तव्यम् ; स्वाध्यायाध्ययनस्यार्थावबोधफलक-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

चोदयति\*—\*मा भूद् ब्रह्मज्ञानार्थतेति\* ॥ \*ननु\* विधिर्नाम स्वविषयस्य तदुपकारकस्य वाऽनुष्ठान-  
निमित्तं भवति, नच विचारोऽध्ययनविधेर्विषयस्तदुपकारको वा ; तत्कथमध्ययनविधिविधेयो विचार इति ?  
तत्राह—\*स्वाध्यायाध्ययनस्यार्थावबोधफलत्वादिति\* ॥ \*अयमाशयः\*—दृष्टफलस्याध्ययनविधेर्भावदर्थाव-  
बोधफलं व्यापाराद्विचारमपि फलनिष्पत्तयेऽध्ययनविधिरनुष्ठापयतीति । \*ननु\* विषय-तदुपकारिव्यतिरिक्तस्य  
व्यापारस्य फलनिष्पत्त्यपेक्षया विधिप्रयुक्तानुष्ठेयत्वं क्व दृश्यते ? अवघातादिष्विति चेत्, \*न\* ; विधेयावघात-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—अध्ययनविधेरध्ययनधात्वर्थविषयत्वात् तस्य च ताल्चोष्ठपुटव्यापारसाध्यत्वाद् विचारो न विषयः ;  
नापि विषयोपकारकः ; विचाराभावेऽप्यध्ययननिष्पत्तिदर्शनात्, अतो नार्थावबोधफलत्वेऽपि व्यधिकरणत्वेन विधेस्त-  
त्प्रयोजकत्वमित्याशङ्क्यामिप्रायमाह—\*दृष्टफलस्येति\* ॥ दृष्टः प्रतीतोऽर्थावबोधः फलं यस्य विधेः, स दृष्टफल  
इति । अत्र चान्वय-व्यतिरेकदृष्टत्वमभिप्रेतमपि विकल्पावसरे ग्रन्थकारेण विकल्पकोटित्वेन दर्शितत्वाच्चेह प्रदर्शितम् ;  
चोद्य एव तस्य व्यक्तत्वे विकल्पानुपपत्तिप्रसङ्गादिति । \*अवघातादिष्विति\* ॥ अयमर्थः\*—“ब्रीहीनवहन्ती”-  
त्यत्रावघातो विषयः ; वैतुष्यं दृष्टफलम्, अत्रावृत्तिर्न विषयः ; किंतु फलनिष्पत्त्यर्थमेवानुष्ठीयते, तद्वदिति । अथापात-

## तत्त्वदीपनम्

विधिना ब्रह्मबोधोऽपि कर्तव्यतयाऽऽपादितः, तस्य च विचारपुरःसरत्वादधीतिविध्यधिकारिणस्तदधिकार इत्यर्थः ।  
तत्प्रयुक्तत्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*ननु विधिरिति\* ॥ \*स्वविषयस्य=भावार्थस्येत्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—  
\*नचेति\* ॥ अध्ययनस्य विषयत्वादर्थत्वादादिज्ञानस्य उपकारकत्वाच्च न विचारस्योभयार्थत्वमित्यर्थः । \*विधिविधेय  
इति\* ॥ विधिप्रयुक्तानुष्ठान इत्यर्थः ॥ विचारस्य विधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वं न संभवतीति चोदिते अर्थावबोधस्य फलत्वाभि-  
धानमसंगतमिवेत्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ अध्ययनविधिप्रयुक्तेराक्षेपः ? उत प्रश्नमात्रम् ? नाद्य इत्याह—  
\*दृष्टेति\* ॥ इतिशब्द आद्यकल्पनिराससमाप्त्यर्थः । विषय-तदुपकारकयोर्विधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वम्, विचारस्य च  
विषयोपकारकान्यतरत्वाभावान्न विधितोऽनुष्ठेयत्वमिति । द्वितीयं शङ्कते—\*ननु विषयेति\* ॥ “ब्रीहीनवहन्त्यादि”त्य-  
वहननावृत्तेर्विषय-तदुपकारकत्वाभावेऽप्यवहननविधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वं यथा, तद्वदत्रापि शङ्कते—\*अवघातेति\* ॥  
“तण्डुलान् पिनष्टी”त्यादिरादिशब्दार्थः । दृष्टान्तो विषम इत्याह—\*न विधेयेति\* ॥ आवृत्तेर्विधेयावघातसमवेतत्वाद्  
अनुष्ठेयत्वं युज्यते ; विचारस्य चाध्ययनासमवेतत्वाच्चानुष्ठेयत्वमित्यर्थः । अविवक्षितांशवैषम्येऽपि विवक्षितांशस्योभयत्र  
संमत्त्वाद् दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावो युक्त इत्याह—\*नैष दोष इति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्यैव फलपर्यन्तमावर्त्यमानत्वात्, विचारस्तु स्वतन्त्रमेव भावार्थान्तरं कथं विधीयते, इति वक्तव्यम्, \*नैष दोषः\* ; आवृत्तिगुणस्याविहितस्य विहितानुपकारकस्य च विधेः फलपर्यन्ततानुपपत्त्या विधेयत्वकल्पनवद् विचारस्यापि तदुपपत्तिरिति । तत्र किं विचारसाध्यज्ञानमर्थनिश्चयफलमध्ययनस्यान्वय-व्यतिरेकसिद्धं दृष्टफलम् ? किं वा तदुद्देशेन विधानादधिकारिविशेषणतया शास्त्रीयं फलम् ? किं वा विधेः प्रयोजनपर्यन्ततासामर्थ्यलभ्यं फलमिति ? न तावद् दृष्टं फलम् ; अध्ययनमात्रादावृत्तिगुणकादप्यर्थनिश्चयानुदयात्, आपातदर्शनस्य च विचारानपेक्षत्वात् । अतो नार्थनिश्चयदृष्टफलाऽध्ययनक्रिया स्यादिति । \*ननु\* तव्यप्रत्ययेन स्वव्यापारः शब्दभावना विधिरूपतयाऽभिधीयते, सा च शब्दभावनाऽध्ययनकरणिकामर्थभावनां निष्पादयन्ती फलवदर्थवबोधं पुरुषार्थमर्थभावनाभाव्यत्वेन कल्पयति ; अपुरुषार्थं पुरुषप्रवृत्त्ययोगात्, ततश्च भाव्यान्तरलाभात् समानपदोपात्तमध्ययनं भावनायाः करणतामापन्नं भाव्यस्यार्थावबोधस्य निर्वर्तकतया करणं भवति ; कुठारादीनामपि

## ऋजुविवरणम्

मेवान्वय-व्यतिरेकसिद्धमिष्यते, तर्हि न विचाराक्षेप इत्याह—\*आपातदर्शनस्येति\* ॥ \*विधिरूपतयेति\* ॥ अप्रवृत्त-प्रेरणारूपतया । अध्येतव्यः=अध्ययनेन भावयेदिति । तत्र च भावनाद्वयं प्रतीयते—विधिरूपं पुरुषप्रयत्नरूपं च । तत्र पुरुषप्रयत्नजनको विधिः । तस्य किम् ? केन ? कथम् ? इत्यंशत्रयं विनाऽनुपपत्तेः केनेति करणांशं तावद् दर्शयति—\*अध्ययनकरणिकामिति\* ॥ किमंशं दर्शयति—\*अर्थावबोधमिति\* ॥ \*ननु\*—अध्ययनं विहायार्थावबोधस्यापि कथं भाव्यत्वं स्वीक्रियते ? इत्याशङ्क्याह—\*पुरुषार्थमिति\* ॥ कथमर्थावबोधस्य पुरुषार्थत्वम् ? सुखावासि-दुःखपरिहार-रूपत्वाभावादिति, तत्राह—\*फलवदिति\* ॥ \*ननु\*—अर्थावबोधस्य फलत्वाद् भाव्यत्वं सिध्येत्, अध्ययनस्य करणत्वं कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*ततश्च भाव्यान्तरेति\* ॥ \*ननु\*—अध्ययनस्य भावनाऽनिष्पादकस्य कथं करणत्वम् ? कथं वा तत्फलत्वमिति ? तदाह—\*भाव्यस्येति\* ॥ \*ननु\*—विरुद्धमभिधीयतेऽर्थावबोधजनकतया भावनाकरणमिति, यद्वि-यदुत्पादकम्, तत् तत्र करणमित्युच्यते ; अतो न फलजनकत्वेन फलजनकप्रयत्नकरणत्वं वक्तुं शक्यते, किन्तु प्रयत्न-जनकत्वेनैव, नच प्रयत्नोऽप्यध्ययनजन्यः, तत्कथमध्ययनस्य करणत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*कुठारादीनामपीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

अधीतेरर्थावबोधफलत्वमुभयसंमतम्, ततः कथं तत्प्रतिषेधः ? इत्याशङ्क्य, अर्थावबोधस्य विधिफलत्वे तदनुपपत्त्या विचाराक्षेपः स्यात्, तदेव दुर्निरूपमित्याह—\*तत्र किमिति\* ॥ \*तत्रेति\* ॥ तव मत इति यावत् । नच—“दृष्टफलस्याध्ययनविधेरिति”त्यर्थावबोधस्य दृष्टफलत्वं निर्दिष्टमिति कथं विकल्पसंभव इत्यपि—शङ्क्यम्, दृष्टशब्दस्य प्रतीतिमात्रपरत्वादित्यर्थः । आद्यं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ अध्ययनमात्रात् तद्भवति ? उतावृत्तिगुणात् ? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—\*अध्ययनेति\* ॥ अर्थनिश्चयाभावेऽप्यापातदर्शनं जायत इत्याशङ्क्याह—\*आपातदर्शन-स्येति\* ॥ मध्यमकल्पे निर्देष्टव्यस्यानेकस्य संभवात् तमुपेक्ष्यान्तिममुत्थापयति—\*ननु तव्यप्रत्ययेनेति\* ॥ तव्य-प्रत्ययः स्वशब्दार्थः । कस्माद् भावनाभिधानम् ? इत्याशङ्क्याह—\*विधिरूपतयेति\* ॥ अप्रवृत्तप्रवर्तकत्वादित्यर्थः ॥

भवतु भावनायाः प्रत्ययार्थत्वम् ; तथाऽपि कथमर्थावबोधस्य भाव्यत्वम् ? अर्थभावनायाः शब्दभावनाभाव्यत्वा-दित्याशङ्क्याह—\*सा चेति\* ॥ “भावयेदि”त्युक्ते—किम् ? केन ? कथम् ? इत्यंशत्रयं तावदपेक्षते शब्दभावना, तत्रार्थ-भावनाया भाव्यत्वात् तस्याश्च भावनात्वात् करणापेक्षायां तद् दर्शयति—\*अध्ययनेति\* ॥ स्वाध्यायस्य भाव्यस्य स्वरूपेण पुरुषार्थत्वाभावादर्थवबोधो भाव्य इत्याह—\*फलवदिति\* ॥ समानपदोपात्तत्वादध्ययनस्य भाव्यत्वान्न करणत्व-मित्येतद् अत एवापास्तमित्याह—\*ततश्चेति\* ॥ अपुरुषार्थस्य भाव्यत्वम्, तत इत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । अध्ययन-स्याभाव्यत्वे हेत्वन्तरमाह—\*भाव्यान्तरेति\* ॥ \*समानपदोपात्तम्\*=प्रत्ययार्थभूतभावनाया सह एकपदोपात्त-मित्यर्थः । अध्ययनस्य भावनाकरणत्वात् कथमर्थावबोधस्य करणत्वम् ? तत्राह—\*भाव्यस्येति\* ॥ भावनाभाव्य-निर्वर्तकत्वेन भावनाकरणत्वमित्येतद् दृष्टान्तेनाह—\*कुठारादीनामिति\* ॥ तृतीयकल्पसमर्थनमुपसंहरति—\*अत इति\* ॥



## पञ्चपादिका

त्वात् । स्यादेतदेवम् ; यद्यर्थावबोधफलाध्ययनक्रिया स्यात्, सा ह्यधीयमानावाप्तिफलत्वादक्षरग्रहणान्ता । अथाक्षरग्रहणं निष्प्रयोजनमिति न तत्र पर्यवसानं विधेः, भवतु तर्हि सक्तूनां गतिः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

क्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तनद्वारेण छिदिभावनाकरणत्वदर्शनात्, अतोऽध्ययनविधेः प्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्यैवार्थभावनाकरणस्याध्ययनस्यार्थावबोधः फलमिति सिद्धम् ; अन्यथा समानपदोपात्तस्याध्ययनस्यैव भाव्यतया स्वाध्यायावाप्तेरपि विधिफलत्वाभावप्रसङ्गात्, इत्यत आह—\*सा ह्यधीयमानावाप्तिफलत्वादक्षरग्रहणान्तेति\* ॥ \*अयमाशयः\*—तव्यप्रत्ययेन भावनाकर्मकारकेऽभिधीयमाने स्वाध्याये स्वावाप्तिफले च न भाव्यान्तरं कल्पनीयम् ; भावनाकर्मभिधायिशब्दविरोधादिति । \*ननु\* न भाव्यमात्रेण पुरुषप्रवृत्तिर्विधिना जन्यते, किन्तु पुरुषार्थभाव्यापेक्षयैव ; ततश्च शब्दविरोधेऽपि भावनानिष्पत्तयेऽर्थावबोधो भाव्य इति शङ्कते—\*अथाक्षरग्रहणं निष्प्रयोजनमिति\* ॥ परिहरति—\*भवतु तर्हि सक्तूनां गतिरिति\* ॥ \*अयमाशयः\*—अर्थनिर्णयस्याध्ययनमात्रादनिष्पत्तेः, श्रूयमाणस्य स्वाध्यायस्य चाफलत्वाद् अध्ययनमात्रस्य चाप्रयोजनतया भाव्यत्वायोगात् स्वाध्यायाध्ययनेन स्वर्गं भावयेदिति कल्प्यत इति ॥

\*ननु\* व्याकरणस्याप्यङ्गत्वात् साङ्गादध्ययनाद् विधीयमानादर्थनिश्चयो दृष्टफलतया जायते, तस्य च

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—उपात्तस्वाध्यायस्यैव फलत्वे संभवति सति तद् विहाय किमिति विधिसामर्थ्यमाश्रित्यार्थावबोधफलत्वं स्वीक्रियत इति ? तदाह—\*अन्यथेति\* ॥ कथमधीयमानावाप्तिफलत्वम् ? विधिसामर्थ्याद् भाव्यान्तरलाभात्, अन्यथा विधिसामर्थ्यं विहाय भाव्याश्रयणे सति समानपदोपात्तत्वेनाध्ययनस्यैव भाव्यत्वप्राप्तेरुक्तत्वादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयस्तव्यप्रत्ययेनेति\* ॥ कथं सक्तूनां गतिरत्र संभवति ? तत्र सक्तुहोमस्य क्रत्वङ्गस्य सक्तूनां संस्कार्यत्वासंभवेन प्राधान्यं स्वीकृतम्, सक्तूनां च गुणत्वम् ; अङ्गत्वादेव च न होमस्य फलाकाङ्क्षा, इह तु फलेन विना तावन्न प्रवृत्तिः संभवति ; अनङ्गत्वात्, अतोऽक्षरैरध्येतव्यमिति विनियोगभङ्गाश्रयणेऽपि विधेरपर्यवसानं तदवस्थमेव ; अतोऽर्थावबोधस्य स्वाध्यायस्य वा भाव्यत्वं विहाय सक्तुन्यायाश्रयणमयुक्तम्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः—अर्थनिर्णयस्येति\* ॥ “अक्षरेभ्यः प्रयोजनवदि”ति चोद्यं परिहृतमेव, “स्यादेतदि”त्यनेनैवार्थावबोधभाव्यत्वस्योक्तत्वात्, इष्टविधातश्च ; सप्रयोजनत्वे वाऽक्षराणां भाव्यत्वप्रसङ्गात्, इत्याशङ्क्याधिक्यं दर्शयति—\*ननु व्याकरणस्येति\* ॥ \*ननु\*—अर्थनिश्चयस्य पूर्वमेवोत्पत्तौ तस्य विचारानपेक्षत्वाद् विचा-

## तत्त्वदीपनम्

भाव्यान्तरासंभवोऽतःशब्दार्थः । विपक्षे दण्डं पातयति—\*अन्यथेति\* ॥ व्यवहितत्वादर्थवबोधस्य न फलत्वम्, संनिहितत्वात् स्वाध्यायावाप्तेः फलत्वमित्यङ्गीकारे ततोऽपि संनिहितत्वादध्ययनस्यैव भाव्यत्वम्, इति नावाप्तेः फलत्वमित्यर्थः । अन्यथोपपत्त्या दूषयति—\*अत आदेति\* ॥ अध्ययनक्रियाकर्मकारकस्य स्वाध्यायस्यावाप्तिः फलम् ; तद्रूपत्वादक्षरग्रहणस्येति हेत्वर्थः । संनिहितत्वादत्रासौ पर्यवसानं चेत्, तर्हि ततोऽपि संनिधानादध्ययने पर्यवसानं स्यादित्युक्तमित्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ अध्ययनस्य प्रकृत्युपात्तत्वात् स्वाध्यायस्य कर्मकारकस्य भावनावाचितव्यप्रत्ययेनोपात्तत्वात् तस्यैव भाव्यत्वम्, अन्यथा तव्यप्रत्ययविरोध इत्यर्थः । शब्दविरोधादन्यत्रापर्यवसानस्योक्तत्वादथेति चोद्यानुपपत्तिमाशङ्क्याह—\*ननु न भाव्येति\* ॥ मूलारोहणादौ स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यदृष्टेरिति भावः ॥ “सक्तून् जुहोती”त्यत्र सक्तूनां भाव्यत्वप्रतिपत्तावपि यथा तत्परित्यागः, तथाऽत्राप्येति—\*ततश्चेति\* ॥ सक्तुन्यायस्याङ्गीकृतत्वाद् “भवतु तर्हि”ति परिहारस्याभासत्वमाशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ परिहारमेव स्पष्टयति—\*अयमाशय इति\* ॥ विश्वजिन्यायेन स्वर्गस्य भाव्यत्वोपादानात् परिहारस्याभासत्वमित्यर्थः । अध्ययनेऽप्यर्थनिश्चयादृष्टेः—“तदपि ने”त्यस्य चोद्यस्यानुपपत्तिमाशङ्क्याह—\*ननु व्याकरणस्यापीति\* ॥ तर्हि विचारो



## पञ्चपादिका

तदपि न ; अक्षरेभ्यः प्रयोजनवदर्थवबोधदर्शनात् । न तर्हि निष्प्रयोजनान्यक्षराणि ; अतस्तत्पर्यन्तमध्ययनं न निष्फलम् ; अतोऽक्षरग्रहणादेव नियोगसिद्धेः फलप्रयुक्त एवार्थावबोधः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

विरोधपरिहाराय विचारः प्रयुज्यते ; अतो दृष्टे सत्यदृष्टकल्पना न न्याय्येति चोदयति—\*तदपि न ; अक्षरेभ्यः प्रयोजनवदिति\* ॥ परिहरति—\*न तर्हि निष्प्रयोजनानीति\* ॥ श्रूयमाणस्वाध्यायलक्षणात् कर्मण एवाध्ययन-भावनया भाव्यमानात् फलवदर्थवबोधसिद्धेः पञ्चपादीनां प्रयोजनं प्रति परम्परया साधनानामपि भाव्यत्व-दर्शनात् श्रूयमाणस्वाध्यायावाप्तिपर्यन्त एव विधिव्यापार इति भावः । \*ननु\* अक्षरग्रहणपर्यन्ते विधिव्यापारे फलवदर्थवबोधस्य निर्निमित्तता स्यादिति, तत्राह—\*फलप्रयुक्त एवार्थावबोध इति\* ॥ \*अयमाशयः\*—लौकिकाप्तवाक्यानां विधिमन्तरेणापि फलवदर्थवबोधकत्वदर्शनात् साङ्गाच्च कर्मणो विधीयमानादवघातादिष्विवा-दृष्टजन्मनियमाद् न विधिफलमर्थावबोधः, किन्तु स्वीकृतस्वाध्यायमात्रजन्यं फलमिति । विधेस्तु दृष्टसमवाय्यदृष्टमेव किञ्चित्फलम्, इति दृष्टफलाविरोधेनादृष्टसिद्धौ न तद्विरोधस्वतन्त्रादृष्टं कल्पयितुं युक्तमिति । \*किञ्च\* फलवदर्थ-

## ऋजुविवरणम्

रस्यानाक्षेप इत्याशङ्क्याह—\*तस्य च विरोधपरिहारायेति\* ॥ “न तर्ही”त्यादिनाऽक्षराणां सप्रयोजनत्वादक्षर-ग्रहणपर्यन्तमध्ययनं सफलमित्युक्तम्, तदयुक्तम् ; नह्यर्थावबोधस्य सफलत्वे स्वाध्यायस्य सफलत्वं संभवति, नापि तत्पर्यन्तत्वं विधेः ; साक्षात् पुरुषार्थसाधनव्यतिरिक्तानां भाव्यत्वासंभवात्, नापि फलाव्यवहितस्य प्रयोजनत्व-संभवेऽत्यन्तव्यवधानमपि युक्तमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*श्रूयमाणस्वाध्यायलक्षणादिति\* ॥ \*ननु\*—कथं फल-प्रयुक्तत्वमर्थावबोधस्य ? ‘स्वाध्यायेनार्थावबोधं भावयेदिति’ विध्यभावे फलवदर्थवबोधफलत्वं वेदस्य न स्यात्, ऐद-मर्थ्यरूपतात्पर्याभावात्, तस्य च शाब्दज्ञाने कारणत्वादध्ययनविधेरतत्प्रयोजनत्वे वेदस्यार्थपरत्वाभावादविवक्षि-तार्थत्वात् । विधिश्च नाक्षरग्रहणार्थः संभवति ; अध्ययनादक्षरावाप्तेरन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वात्, अतोऽध्ययनफलत्व-मेवार्थावबोधस्य ; अन्यथा स्वतन्त्रादृष्टार्थोऽध्ययनविधिः स्यादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः । लौकि-केति\* ॥ \*ननु\*—अदृष्टार्थः सर्वो विधिः, तत्र भाव्युपयोगेन शेषित्वनिर्वाहेन नियमकल्पनाद् वरं स्वतन्त्रादृष्टार्थत्व-मित्याशङ्क्याह—\*विधेस्त्विति\* ॥ \*ननु\*—नाक्षराणां स्वरूपेण भाव्यत्वं संभवति, अवासिश्च नाध्ययनभाव्या

## तत्त्वदीपनम्

वृथेत्याशङ्क्याह—\*तस्य चेति\* ॥ \*ननु\* उभयोः फलत्वसंभवे कथमर्थावबोधस्यैव फलत्वम् ? तत्राह—\*अत इति\* ॥ दृष्टत्वमतःशब्दार्थः । अक्षराणां फलवदर्थवबोधपर्यवसानमात्रेण नाक्षराणां फलवत्वमिति परिहारस्याभासत्वमाश-ङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ परिहारं स्पष्टयति—\*श्रूयमाणेति\* ॥ फलवदर्थवबोधजनकत्वेऽपि न स्वाध्यायस्य भाव्यत्वमित्युक्तमित्याशङ्क्याह—\*पञ्चनेति\* ॥ तथाऽपि कथं मतभेदः ? इत्याशङ्क्याह—\*श्रूयमाणेति\* ॥ अक्षरेभ्यः फलवदर्थवबोधनिष्पत्तावप्यक्षरावाप्तौ विधेः पर्यवसानम्, अन्यस्य त्वर्थावबोध इति विभागः । फलवदर्थवबोधा-नुपपत्त्या तस्या विधिफलत्वमेवाश्रयणीयमिति शङ्कते—\*नन्वक्षरेति\* ॥ अन्यथोपपत्त्या समाधत्ते—\*तत्राहेति\* ॥

तात्पर्योपेतशब्दस्यार्थबोधकत्वम्, तच्च विध्यधीनमिति । अर्थावबोधस्य विधिफलत्वमाशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ किमेतत्सार्वत्रिकम् ? उत काचित्कम् ? नाद्य इत्याह—\*लौकिकेति\* ॥ तार्किकमते वेद-वाक्यानामप्याप्तवाक्यत्वमस्ति, तदर्थम्—\*लौकिकेति\* विशेषणम् । लोकसिद्धो य आसस्तद्वाक्यानामित्यर्थः । ‘सुर-सरितीरे प्रसूनानि सन्ती’त्यादीनां विधिविधुराणामर्थावबोधकत्वं दृष्टम्, तद्वदत्रापीत्यर्थः । द्वितीयं निरस्यति—\*साङ्गादिति\* ॥ इतरर्थावबोध इत्यनेन संबन्धः ॥

विधिरदृष्टाविनाभूतश्चेत्, तर्हि स्वतन्त्रादृष्टं फलत्वेन कल्प्यतामित्यत आह—\*विधेरिति\* ॥ तत्र हेतु-माह—\*इति दृष्टेति\* ॥ इतिशब्द उक्तप्रकारपरामर्शार्थः । कृत्स्नवेदाध्ययनस्य नार्थावबोधः फलमित्युक्तम्—



## पञ्चपादिका

अपिच अक्षरग्रहणान्तो विधिर्निष्प्रयोजनः, इति न सर्वत्र प्रयोजनवदर्थवबोधपर्यन्तता कल्पयितुमपि शक्यते । तत्रावश्यं कल्पनीयाऽक्षरग्रहणान्तता । तद्यथा राजन्यस्य सत्र-वैश्यस्तोम-बृहस्पति-सवानामाग्नानं वैश्यस्य चाश्वमेधराजसूय-सत्राणां पाठः । नच तेषामनध्ययनमेव ; स्वाध्यायशब्देन सकलवेदवाचिनाऽध्ययनस्य विहितत्वात् । \*ननु\* चाश्रूयमाणाधिकारोऽध्ययनविधिः, दृष्टश्चाक्षर-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

वबोधफलेऽध्ययनविधौ, यस्य यस्मिन् कर्मण्यधिकारः, तस्य तद्वाक्याध्ययनमेव स्यात्, न वाक्यान्तराध्ययनम् ; तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात्, इति न कृत्स्नवेदाध्ययनसिद्धिरित्याह—\*अपिचाक्षरग्रहणान्तो विधिरिति\* ॥ \*ननु\* कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनस्य नित्यतया विधेयत्वेऽपि सकलस्वाध्यायावातिसमवेतस्यादृष्टस्यानधिकृतकर्म-वाक्यगतस्यार्थावबोधानुष्ठानादिद्वारेऽपि कथमपूर्वसिद्धिहेतुतेति ? \*नैष दोषः\* ; प्रायश्चित्तजपाद्यपूर्वोपकारित्वोपपत्तेः । \*ननु\* अध्ययनादक्षरावाप्तेः को विशेषः ? अस्त्यत्र विशेषः ; स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वं नामाक्षरधर्मोऽवाप्तिः, तदर्थो वाङ्-मनसव्यापारोऽध्ययनमिति ॥

\*ननु\* अधिकारिविशेषणमर्थावबोधमुद्दिश्याध्ययनं विधातव्यम् ; निरधिकारविधानायोगात्, अर्थावबोधमुद्दिश्यैव च विहितशब्दोच्चारणे सति वाक्यतात्पर्यसिद्धेः, अर्थावबोधमुद्दिश्य रागप्रयुक्तशब्दोच्चारणे लोके तात्पर्यदर्शनादिति चोदयति—\*ननु चाश्रूयमाणाधिकारोऽध्ययनविधिरिति\* ॥ अधिक्रियतेऽस्मिन् कर्मण्यनेनेत्य-

## ऋजुविवरणम्

स्यात्, अध्ययनादवाप्तेर्भेदाभावादिति चोदयति—\*नन्वाध्ययनादिति\* ॥ मा भूद् निरधिकारस्याध्ययनस्य विधानम्, तथाऽप्यक्षरावाप्तेः प्रयोजनान्तरस्य वाऽधिकारेहेतुत्वसंभवात् कथमर्थावबोधस्यैवाधिकारिविशेषणत्वं निश्चीयते ? विधानमन्तरेण बोधकत्वं चोक्तम्, तत्कथं बोध्यम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अर्थावबोधमुद्दिश्येति\* ॥ इच्छाया विधिमन-

## तत्त्वदीपनम्

\*अपि चेत्यत्र\*, तत् कस्मादित्याकाङ्क्षायामाह—\*किं च फलवदिति\* ॥ वाक्यान्तरविचारवदध्ययनमपि स्यादित्याशङ्क्य, त्वन्मते सोऽपि न स्यादित्याशयेनाह—\*न वाक्यान्तरेति\* ॥ सकलवेदाध्ययनासिद्धिस्तथापि समेति शङ्कते—\*ननु कृत्स्नेति\* ॥

विध्यर्थवादाद्यात्मकस्वाध्यायादर्थावबोधद्वाराऽपूर्वोत्पत्तौ नियमाददृष्टोपयोगात् कथं तन्निरसनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अनधिकृतेति\* ॥ विधिफलत्वेनोपेतस्य दृष्टसमवेतादृष्टस्य स्वरूपेण पुरुषार्थसाधनत्वाभावादर्थबोधानुष्ठानद्वारा परमापूर्वं निष्पाद्य फलपर्यवसायित्वं वक्तव्यम् । नचानधिकृतकर्मवाक्यगतस्यादृष्टस्य तथात्वम्, इति कृत्स्नाध्ययनासिद्धिरित्यर्थः । अनधिकारिणां कर्मानुष्ठानाभावेऽपि जपादिसमुत्थापूर्वद्वाराऽनधिकृतवाक्यगतस्यादृष्टस्यापि फलपर्यवसायित्वात् सकलाध्ययनसिद्धिरित्याह—\*नैष इति\* ॥ नित्यजप आदिशब्दार्थः ॥

अक्षरावाप्तेर्नाध्ययनफलत्वम्, तयोर्भेदाभावादिति शङ्कते—\*नन्वाध्ययनादिति\* ॥ ताल्वोष्ठपुटादिना अक्षराणामुच्चारणमध्ययनम्, अवाप्तिश्च सैव, इति न विशेष इत्यर्थः । विशेषाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*अस्त्यत्रेति\* ॥ विशेषमेवाह—\*स्वाधीनेति\* ॥ क्षमत्वं नाम योग्यता । अधीतिविधेरक्षरावाप्तिद्वाराऽर्थावबोधपर्यन्तत्वमिष्टमित्याशङ्क्य, मध्यमविकल्पपरतया व्याचष्टे—\*नन्विति\* ॥ अधिक्रियतेऽनेनेत्यधिकारो विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तम्, तद्विधुरविध्यसंभवादित्यर्थः । अर्थावबोधस्यैव कस्मादुद्देश्यत्वम् ? तत्राह—\*अर्थावबोधमिति\* ॥ अर्थावबोधोद्देशेन विध्यभावेऽपि तत्र तात्पर्यं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—\*अर्थावबोधमिति\* ॥ लोके वक्तृविवक्षादेस्तात्पर्यनिमित्तत्वम्, वेदे च तदभावादर्थवबोधोद्देशेन विधितः शब्दोच्चारणं तात्पर्यनिमित्तं वक्तव्यम्, ततश्चार्थावबोधस्योद्देश्यत्वमित्यर्थः । अधिकारशब्दस्यानेकधा व्युत्पत्तिसंभवाद्विवक्षितां व्युत्पत्तिं दर्शयति—\*अधिक्रियत इति\* ॥



## पञ्चपादिका

ग्रहणेऽर्थावबोधः, स कल्पनामधिकारस्य निरुन्धन् स्वयमधिकारस्य हेतुः संपद्यते । दृष्टाधिकारेषु प्रत्यक्षतस्तदुपलब्धावधिकारसिद्धिः । अतोऽर्थावबोधपर्यन्तः स्वाध्यायाध्ययननियोगः ; तेन नियोग-सिध्यर्थमेव सकलवेदार्थविचारः, \*अत्रोच्यते\*—भवेदध्ययनविधेरर्थावबोधः प्रयोजनम्, नाधि-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

धिकारो विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तं जीवन-कामादिरुच्यते । \*ननु\* विश्वजिन्यायेनाधिकारी कल्प्यताम्, अथवा वाजसनेयिनां “ब्रह्मचर्यमागामि”त्यादिनोपनयनस्य प्रकृतत्वादुपनीतोऽधिकारीति प्रकरणप्रमाणेन कल्प्यतामिति, नेत्याह—\*दृष्टश्चाक्षरग्रहणेऽर्थावबोधः, स कल्पनामधिकारस्य निरुन्धन्नित्यादिना\* ॥ भवतु नाम—‘अध्ययनेनार्थावबोधं भावयेदर्थवबोधकामः’ इति विधिः, तथाऽपि ‘विचारेणार्थावबोधं भावयेदि’ति विचारे प्रवृत्तिरध्ययनविधिना न विधीयत इति, तत्राह—\*दृष्टाधिकारेषु प्रत्यक्षत इति\* ॥ तत्र किमर्थसामर्थ्यादेवाध्ययनस्यार्थावबोधः साक्षाद्वा परम्परया वा फलमित्युच्यते ? किं वाऽर्थावबोधकाममुद्दिश्य विधानतः ? इत्यभि-प्रेत्याह—\*अत्रोच्यत इति\* ॥ प्रथमः कल्पोऽङ्गीकृत इत्याह—\*भवेदध्ययनविधेरिति\* ॥ द्वितीयः पक्षोऽनुपपन्न इत्याह—\*नाधिकारहेतुतेति\* ॥ अध्ययनात् प्रागर्थवबोधस्याप्रतिपन्नस्य कामनायोगान्नार्थावबोध-

## ऋजुविवरणम्

पक्ष्य प्रयुज्यमानेष्वित्यर्थः । “दृष्टाधिकारेष्विति टीकाग्रन्थस्यायमर्थः—\*दृष्टाधिकारेषु = दृष्टफलेषु । \*प्रत्यक्षतः = अन्वय-व्यतिरेकतः । तदुपलब्धौ = तस्येतिकर्तव्यतात्वस्योपलब्धौ । अधि उपरि पश्चात् करणं विचारस्य विधि-सामर्थ्यात्, अथवाऽधिकारात् फलात् प्रवृत्तिसिद्धिरधिकारसिद्धिः ; फलसिद्ध्यर्थं तत्र प्रवर्तत इत्यर्थः । \*किमर्थसाम-र्थ्यात् = वस्तुसामर्थ्यादिति ; अध्ययने कृतेऽवश्यंभावित्वादित्यर्थः । अध्ययनात् प्रागसिद्धत्वेन कथमधिकारि-विशेषणत्वं निराकरोति ? फलस्य सर्वत्रासिद्धस्यैवाधिकारिविशेषणत्वात् । अथवा “नाधिकारहेतुते”त्युक्तम् ; नहि फलस्याधिकारहेतुत्वं पूर्ववादिनाऽप्युक्तम्, किन्तु फलकामनायाः ; “ततः प्रागसिद्धत्वाच्चे”ति हेतुरपि व्यर्थ इत्या-शङ्क्य व्याचष्टे—\*अध्ययनात् प्रागिति\* ॥ \*ननु\*—अर्थस्यावबोधस्य च लोकसिद्धत्वात् कथमसिद्धतेति चोद-

## तत्त्वदीपनम्

“विश्वजिता यजेते”त्यत्र विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्ताश्रवणेऽपि यथा तत्कल्पनम्, तद्वदत्रापीति शङ्कते—\*ननु विश्वजिदिति\* ॥ नच—अर्थावबोधस्यानुद्देश्यत्वे वाक्यस्य तात्पर्यं न स्यान्निमित्ताभावादिति—शङ्क्यम् ; तात्प-र्यस्योपक्रमादितात्पर्यलिङ्गसमधिगमनीयत्वादुद्देश्यत्वस्याप्रयोजकत्वादिति द्रष्टव्यम् । कामनाऽधिकारनिमित्तमित्य-भिधाय, नित्यमुपनयनमधिकारनिमित्तमित्याह—\*अथवेति\* ॥ वाजसनेयिनां शाखायामुपनयनस्य प्रकृतत्वादिति योजना । कल्पनाप्रतिबन्धकसद्भावाद् नोभयविधमपि कल्पनं घटत इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अध्ययनविधावर्थाव-बोधस्योद्देश्यत्वमङ्गीकृत्य विचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वमाक्षिपति—\*भवत्विति\* ॥ विचारमन्तरेण विध्यनुप-पत्त्यनुपलम्भान्न विचारप्रवृत्तिरध्ययनविध्यधीनेत्यर्थः । असिद्धो हेतुरित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकदृष्ट-फलानि यानि कर्माणि, तेषु प्रत्यक्षप्रमाणात् फलोपलब्धौ नियोगनिवृत्तेरिति टीकार्थः । अर्थबोधस्याध्ययनात्प्राग-निवृत्तत्वेऽपि तत्फलत्वम् ; साध्यस्य स्वर्गादेः फलत्वदर्शनात् । “प्रतीतिस्तूभयत्रापि समे”ति टीकाऽनुपपत्तिमाशङ्क्याह—\*तत्र किमिति\* । \*अर्थसामर्थ्यादिति\* ॥ अधीतस्वाध्यायसामर्थ्यादित्यर्थः । \*परम्परयेति\* ॥ विचारव्यवधाने-नेत्यर्थः । नच—अर्थावबोधोद्देशेनाध्ययनस्य विधानात् तस्य फलत्वमित्यभिहितत्वाद्विकल्पानवसर इति—शङ्क्यम् ; उद्दिश्य विधानेऽप्यधीतस्वाध्यायनिबन्धनः सः ? आहो विधिसामर्थ्यादेव ? इति विकल्पोपपत्तेरिति द्रष्टव्यम् ॥

अर्थावबोधस्य प्रागनिवृत्तावप्यधिकारनिमित्तत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य, किमध्ययनात् प्रागर्थवबोधः प्रतिपन्नः ? उत न ? तत्रान्त्यं दूषयति—\*अध्ययनादिति\* ॥ कामनायाः प्रतिपन्नविषयत्वादप्रतिपन्नं कामनानुपपत्तिरित्यर्थः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

काममुद्दिश्य विधानमित्यर्थः । \*ननु\* कथमर्थावबोधस्याप्रतिपत्तिः ? अध्ययनात् प्राग्वेदार्थस्याप्रतिपत्तेः, विशेषणापरिज्ञाने तद्विशिष्टावबोधानवगमात् । \*ननु\* वेदस्य वाक्यप्रमाणत्वादातवचनवदर्थो विद्यते, इत्यर्थ-सद्भावमात्रमनुमानेनावगम्यते, \*ननु\* ; अर्थवत्त्वज्ञानमात्रस्यानुमानसिद्धत्वात् तज्ज्ञानकामनाऽयोगात्, अग्निहोत्रादिविशिष्टवाक्यार्थानामप्रतिपन्नतया तद्विशिष्टज्ञानकामनाऽयोगात् ; उपदेशत एवाग्निहोत्रादिवाक्यार्थ-विशेषाः प्रतिपन्ना इति चेत्, तर्हि वाक्यार्थविशेषज्ञानानामपि सिद्धत्वान्न तत्र कामना सम्भवेत् । अर्थप-देशिकज्ञानस्याप्रमाणत्वान्निर्णयज्ञानं काम्यत इति चेत्, अप्रामाण्ये निश्चिते न तत्र निर्णयज्ञानकामना, अर्थस्य विभ्रममात्रत्वादौपदेशिकज्ञानस्य ; सन्दिग्धे प्रामाण्यविचारस्यैवावसरो नाध्ययनस्य । \*किंच\*—सर्ववाक्यार्थ-ज्ञानानां युगपदेकबुद्ध्योद्देशनासम्भवात्, सामान्येनोद्दिश्य शब्दोच्चारणायामर्थमात्रज्ञाने शब्दस्य तात्पर्य-प्रसङ्गात्, अग्निहोत्रादिविशेषज्ञाने तात्पर्याभावात्, वाक्यशक्त्यनुसारेण विशिष्टार्थे तात्पर्यकल्पनयाऽर्थज्ञान-

## ऋजुविवरणम्

यति—\*ननु कथमिति\* ॥ \*ननु\*—ज्ञानमात्रस्य सिद्धत्वेन कामना मा भूत् ; अर्थविशेषज्ञानस्य काम्यत्वं स्यात् ; अप्राप्तत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*अग्निहोत्रादीति\* ॥ \*ननु\*—औपदेशिकज्ञानस्याप्रामाण्येऽर्थस्य विभ्रमत्वमिति यदुक्तम्, तत् तावन्नोपपद्यते ; अप्रमाणस्मृतिविषयस्याप्यभ्रान्तत्वदर्शनात्, भ्रान्तिज्ञानविषयत्वं हि भ्रान्तत्वप्रयोजकम्, नाप्रमाणज्ञानविषयत्वम् । “प्रामाण्यविचारस्यैवावसरः” इति यदुक्तम्, तदप्ययुक्तम् ; प्रामाण्यविचारोऽप्यौपदे-शिकज्ञानस्य मूलान्वेषणम्, तच्च क्रियत एव । तदुक्तम्,—“निर्मूलासंभवादत्र प्रमाणैः सैव मृग्यते” इति ॥ “धर्मे सामान्यतः सिद्धे प्रमाणं चोदोच्यते” इति च । तथा सति वेदप्रामाण्यविचारस्याप्यवसर इत्याशङ्क्याह—\*किंच सर्ववाक्यार्थेति\* ॥ \*ननु\*—विशेषरूपेणोपदेशासंभवेऽपि विज्ञानमात्रमुद्दिश्याध्ययनादि विधीयते, इत्या-शङ्क्याह—\*सामान्येनेति\* ॥ \*ननु\*—विधिसामर्थ्यादर्थमात्रे तात्पर्येऽपि स्वशक्त्यनुसारेणार्थविशेषेऽपि तात्पर्यं सिध्यतीत्याशङ्क्याह—\*वाक्यशक्त्यनुसारेणेति\* ॥ \*ननु\*—वेदस्यार्थावबोधमुद्दिश्योच्चारणाभावे स्वार्थे तात्पर्यं

## तत्त्वदीपनम्

आद्यमुत्थापयति—\*ननु कथमिति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्, किं वेदार्थमधिगम्य तदवबोधं जानाति ? उत न ? इति, तत्रा-न्त्यस्तावन्न शोभत इत्याह—\*अध्ययनादिति\* ॥ “अर्थस्याप्रतिपत्तेरि”त्यत्र तद्वोधस्याप्रतिपत्तिरित्यनुपङ्गः । अर्था-प्रतिपत्तावपि बोधप्रतिपत्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—\*विशेषणेति\* ॥ ‘नागृहीतविशेषणा विशिष्टे बुद्धिरिति न्यायादित्यर्थः । विचारनैरर्थक्यं परिहर्तुं सद्भावमात्रमित्युक्तम्, तत्रेदमालोचनीयम्—किमर्थावबोधमात्रं काम्यते ? उताग्निहोत्रादिविशिष्टार्थावबोधः ? इति, तत्राद्यं दूषयति—\*नार्थवत्त्वेति\* ॥ द्वितीयेऽपीदं निरूपणीयम्—किमध्ययनात्प्राग् अग्निहोत्रादिः प्रतिपन्नः ? उत नेति ? तत्रान्त्यस्तावन्न शोभत इत्याह—\*अग्निहोत्रादीति\* ॥ आद्यमनुवदति—\*उपदेशत इति\* ॥ किमुपदेशजन्यं ज्ञानं प्रमाणम् ? उत न ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*तर्हीति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—\*अथेति\* ॥ किम्—अप्रामाण्ये निर्धारिते निर्णयज्ञानं काम्यते ? उत सन्दिग्धे ? नाद्य इत्याह—\*अप्रामाण्येति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*अर्थस्येति\* ॥ शुक्तिकासमारोपितरजतप्रत्ययस्याप्रामाण्यनिश्चितौ तत्र निर्णयज्ञानकामना नोपलब्धचरीत्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—\*सन्दिग्ध इति\* ॥

अर्थावबोधकामनामङ्गीकृत्योद्दिश्य विधानं दूषयति—\*किंच सर्वेति\* ॥ किं सकलवाक्यार्थावबोधनम-धिगम्य तदुद्देशेनाध्ययनं विधीयते ? आहो वेदार्थबोधमात्रम् ? नाद्यः ; वाक्यार्थबोधानां ज्ञानस्य क्रमभावितया युगपत् तदुद्देशेनाध्ययनविधानानुपपत्तेरित्यर्थः । द्वितीयं निरस्यति—\*सामान्येति\* ॥ अर्थावबोधोद्देशेन शब्दो-च्चारणस्य तात्पर्यप्रयोजकत्वात् सकलवाक्यार्थबोधानां च सकृदुपदेष्टुमशक्यत्वाद् नोद्दिश्य विधानम् । तस्मादर्थमात्रबोधो-द्देशेन शब्दोच्चारणात् तत्र शब्दतात्पर्यं स्यादित्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*अग्निहोत्रादीति\* ॥ “तात्पर्याभावा-



## पञ्चपादिका

कारहेतुता, अध्ययनात्प्रागसिद्धत्वात् । प्राक् चाधिकारज्ञानेन प्रयोजनम् ; अतो न विधेर्दृष्टाधिकार-  
त्वेनार्थावबोधसिद्धिः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मुद्दिश्य अध्ययनविधेस्तात्पर्यानिमित्तत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् विशेषज्ञानानां प्रागसिद्धत्वान्न तत्काममुद्दिश्य विधान-  
मित्याह—\*प्राक् चाधिकारज्ञानेन प्रयोजनमिति\* ॥ किंचोद्दिश्यविधानेऽपि नाध्ययनमात्रात् दृष्टफलतयाऽ-  
र्थावबोधसिद्धिः ; अदर्शनादित्याह—\*अतो न विधेरिति\* ॥ \*ननु\* अर्थावबोधमुद्दिश्य शब्दोच्चारणायां तात्पर्ये  
लोके दृश्यते, \*न तावच्छ्रोतुरुच्चारणा तात्पर्यनिमित्तम् ; लोके तदभावात्, न वक्तुरुच्चारणा, वेदेऽपौरुषेये  
तात्पर्याभावप्रसङ्गात् । तस्मात् स्वभावत एवार्थप्रतिपादनसमर्थस्य शब्दस्य पुरुषसम्बन्धकृतदोषपरिहारायार्थ-  
ज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणाऽपेक्ष्यते, तात्पर्यमपि शब्दधर्म एव षड्विधलिङ्गगम्यो न पुरुषधर्म इति वक्ष्यते ॥

इदानीमध्ययनविधेर्नित्याधिकारतां प्रतिपादयितुमधिकारिविशेषणाभावादनध्ययनमेवेत्यध्ययनप्रवृत्तिमाक्षि-

## ऋजुविवरणम्

न स्यात्, तात्पर्यहेत्वभावादिति चोदयति—\*नन्वर्थावबोधमुद्दिश्येति\* ॥ \*ननु\*—एवं वेदस्यार्थप्रतिपादकत्वं न  
स्यात् ; उद्दिश्योच्चारणस्य प्रतिपादनहेतोरभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*तस्मात्स्वभावत इति\* ॥ \*ननु\*—वेदस्यार्थ-  
प्रतिपादनसामर्थ्येऽपि कथं बोधकत्वम् ? तात्पर्याधीनत्वात् बोधस्य, तात्पर्यस्य च पुरुषधर्मस्यात्रासंभवादित्याशङ्क्याह  
—\*तात्पर्यमपीति\* ॥ \*ननु\*—तात्पर्यस्य शब्दधर्मत्वे तस्य ज्ञातस्यार्थनिश्चयहेतुत्वाद् ज्ञापकस्य चादर्शनाद् बोध-  
रूपकार्यस्य ज्ञापकत्व इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गाद् नार्थनिश्चयः स्यादित्याशङ्क्याह—\*षड्विधलिङ्गेति\* ॥ वक्ष्यमाणलिङ्गानि  
त्वेतानि—उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यम्, अभ्यासः, अपूर्वार्थत्वम्, फलविशेषः, अर्थवादोपादानम्, उपपत्तिभिरुपादानं  
चेति ॥ “यद्येवमि”ति चोद्यं व्यर्थम् ; सर्वाधिकारनिवृत्त्यर्थमर्थावबोधकामस्याधिकारो निरस्तः । तावताऽधिकारार्थत्वे  
शास्त्रानारम्भ इति यद् दूषणम्, तत् समर्थितम् ; किमिदानीमप्रस्तुतमाक्षिप्यते ? पुनरुक्तं च “स्यादेतदि”त्यनेन ;  
तत्राक्षरग्रहणमात्रे चरितार्थत्वस्य साधितत्वात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*इदानीमिति\* ॥ नित्याधिकारत्वे सिद्धे  
पूर्वोक्तार्थावबोधकामस्यानधिकारः सिध्यति, नान्यथेति भावः । “अत्र केचिदि”त्यध्यापनविधिप्रयुक्त्युपन्यासो न

## तत्त्वदीपनम्

दि’त्यत्र विशेषांशे शब्दप्रामाण्यं न स्यादित्यनुषङ्गः । विशेषज्ञानोद्देशेन शब्दानुच्चारणेऽपि शब्दशक्त्या विशेषप्रति-  
पत्तेरपवादकाभावाच्च शब्दस्य विशेषांशे तात्पर्यमित्याशङ्क्य स्वोक्तिविरोधान्मैवमित्याह—\*वाक्येति\* ॥ ‘काश-  
कुश-पलाशाः’ इति यथा बहुविषयमेकं ज्ञानम्, तथा सकलवाक्यार्थावबोधविषयस्यैकस्य ज्ञानस्य संभवादुद्दिश्य विधान-  
शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ प्रागित्यत्राध्ययनादित्यनुषङ्गः । द्वितीयकल्पनिरासस्य प्रस्तु-  
तत्वात्—“अतः” इत्युपसंहारानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—\*किंचेति\* ॥

उद्दिश्य शब्दोच्चारणायास्तात्पर्यनिमित्तत्वं दृष्टम्, ततः कथं तदपलापः ? इति शङ्कते—\*नन्वर्थेति\* ॥ किं  
श्रोतुरुच्चारणा तात्पर्यनिमित्तम् ? उत वक्तुः ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ वक्तृप्रयोगादवाङ् वाक्यार्थाप्रति-  
पत्तेर्न तदुद्देशेन श्रोतुरुच्चारणं समस्तीत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*न वक्तुरिति\* ॥ तर्हि लोके ज्ञानोद्देशेन शब्दो-  
च्चारणे तात्पर्यदृष्टेः का गतिः ? इति शङ्कायामाह—\*तस्मादिति\* ॥ तात्पर्यस्य पुरुषधर्मस्यापौरुषेये शब्दे कथं संभवः ?  
इति शङ्कायामाह—\*तात्पर्यमपीति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*षड्विधेति\* ॥ ‘उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।  
अर्थवादोपपत्ती चे’त्येतानि षट् तात्पर्यलिङ्गानि, तानि यत्र लक्ष्यन्ते, तस्मिन् तस्य शब्दस्य तात्पर्यनिश्चयात् शब्दधर्मत्वं  
तात्पर्यस्येत्यर्थः । सर्वेषां शब्दानां पुंस्तन्त्रत्वात् तात्पर्यमपि पुंमर्थ इत्याशङ्क्याह—\*न पुरुषेति\* ॥ “यद्येवमि”त्यादिनाऽ  
ध्ययने प्रवृत्तिराक्षिप्य समर्थ्यते, तत् कस्मात् ? अथशब्दस्याधिकारार्थनिरसनस्य प्रस्तुतत्वात् तस्य च सिद्धत्वादित्या-  
शङ्क्याह—\*इदानीमिति\* ॥ अध्ययनविधेर्नित्याधिकारत्वाभावेऽर्थावबोधकामोऽधिकारीति स्यात्, अर्थावबोधस्य



## पञ्चपादिका

यद्येवमधिकाराश्रवणादर्थबोधे च प्रतिपक्षकल्पनानुपपत्तेस्तस्य चाधिकारहेतुत्वानभ्युपगमाद-  
प्रवृत्तिरेवाध्ययने प्राप्ता । \*अत्र केचिदाहुः\*—

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पति—\*यद्येवमधिकाराश्रवणादिति\* ॥ तत्र विधिर्हि स्वविषये प्रवर्तकतया प्रतिपन्नस्तदन्यथानुपपत्त्या 'ममायं  
नियोग' इति प्रतिपद्य प्रवृत्तिसमर्थमधिकारिणं कल्पयति, यदा तु पुनर्विधिविषयस्य निमित्तान्तरादनुष्ठानं  
सम्पद्यते, तदा विधेः प्रवर्तकत्वं प्रतिबध्यते । प्रतिबद्धप्रवर्तकभावश्च विधिः प्रवृत्तिसिद्धये न स्वामिनमधिकारिणं  
कल्पयित्वा प्रवर्तयति । तत्राध्ययनविधिरपि स्वविषयस्याध्यापनविधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वात् स्वयं प्रतिबद्धप्रवर्तक-  
भावो नाधिकारं कल्पयित्वा प्रवर्तयतीति प्राभाकराः प्रत्यवतिष्ठन्त इत्याह—\*अत्र केचिदाहुरिति\* ॥  
\*ननु\*—“अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत” “तमध्यापयतीति”तिश्रुतावध्यापनविधिरश्रूयमाणाधिकारः कथमध्ययनं  
प्रयोजयेत् ? कल्प्यतेऽत्राधिकार इति चेत्, न ; अध्ययनेऽप्यधिकारं कल्पयित्वा स्वविधिप्रयुक्तिरेवाध्ययनस्य  
गृह्यताम् ; सन्निधानात्, \*ननु\*—कल्पिताधिकारेऽध्यापनविधौ तत्प्रयुक्तानुष्ठानत्वादध्ययनस्य न तत्राधिकारः  
कल्प्यत इति चेत्, विपरीतं किं न स्यात् ? अध्ययने कल्पिताधिकारे तत्प्रयुक्तानुष्ठानत्वादध्यापनस्य न तत्रा-  
धिकारः कल्प्यत इति ; \*ननु\* लिखितपाठादप्यध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिरध्यापनं प्रयोजयति, तर्हि अविहिता-  
ध्ययनेनाप्यध्यापनविधिसिद्धेर्न विहितमध्ययनमध्यापनविधिः प्रयोजयेत्, अथाप्यध्ययनाध्यापनयोर्माणवकस्य

## ऋजुविवरणम्

युक्तः ; अश्रुताधिकाराध्ययनविधिसामर्थ्यादेवाधिकारलाभात्, अस्य च सामर्थ्यं विश्वजिदादावप्यधिकारकल्पना स्यात् ;  
विशेषाभावात्, इत्याशङ्क्य विषयदर्शनपूर्वकमवतारयति—\*तत्र विधिर्हीति\* । \*ममायमिति\* ॥ स्वसम्बन्धि-  
कार्यबोद्धा नियोज्यः ; स एव चार्थादधिकारी, स च कर्मण्यैश्वर्यपर्यवसानार्थिना विधिनाऽपेक्षितः ; तदभावे च  
प्रवृत्त्यभावादिति भावः । \*ननु “अष्टवर्षमिति”\* ॥ “आचार्यकरणकामो माणवकमुपनीयाध्यापयेदि”त्यश्रवणादित्यर्थः ।

## तत्त्वदीपनम्

च विचारमन्तरेणानुपपत्तेर्विधितस्तदाक्षेप इति सर्वाधिकारत्वं शास्त्रस्य । तस्मान्नित्याधिकारत्वं प्रतिपादनीयमित्य-  
भिप्रेत्य पूर्वपक्षोपक्रम इत्यर्थः ॥

“अत्र केचिदि”त्यत्राध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वमुक्तम्, तत्र घटते ; अध्ययनविधिप्रयुक्त्या तद-  
नुष्ठानसंभवात् । नच—अनुष्ठानभावादध्ययनविधेर्नानुष्ठापकत्वमिति—शङ्क्यम् ; विश्वजिन्न्यायेनाधिकारिकल्पन-  
संभवादित्याशङ्क्याह—\*तत्र विधिरिति\* ॥ अस्तु प्रकृते किमायातमिति ? अत्राह—\*तत्राध्ययनेति\* ॥ अध्ययन-  
मन्तरेणानुपपद्यमानोऽध्यापनविधिरध्ययनमनुष्ठापयतीत्यर्थः । अध्यापनविधेः प्रवर्तकत्वे सिद्धे तत्प्रयुक्तानुष्ठानत्व-  
मध्ययनस्य सिध्येत्, तदेवासिद्धमिति शङ्कते—\*नन्वष्टेति\* ॥

अधिकाराश्रवणेऽप्यध्यापनविधेः प्रवर्तकत्वं स्यात्, विश्वजिद्विधिवदिति शङ्कते—\*कल्प्यत इति\* ॥ साम्येन  
समाधत्ते—\*नाध्ययनेति\* ॥ न केवलं साम्यमात्रम्, अस्ति च विशेष इत्याह—एवेति\* ॥ विशेषमाह—\*सन्निधा-  
मादिति\* ॥ अध्यापनविधावधिकारं परिकल्प्य तत्प्रयुक्तमध्ययनमिति कल्पनाद् वरमव्यवधानादध्ययनविधिवाक्य एवा-  
धिकारिणं परिकल्प्य तत्प्रयुक्तकल्पनमध्ययनस्येत्यर्थः । अव्यवहितार्थासंभवे व्यवहितोऽप्यर्थो ग्राह्य इति शङ्कते—  
\*ननु कल्पितेति\* ॥ अध्यापनविधेः कल्पिताधिकारत्वमसिद्धमित्याह—\*विपरीतमिति\* ॥ वैपरीत्यमेवाह—अध्ययन  
इति\* ॥ अध्ययनविधिः किमध्यापनमात्रं प्रयोजयति ? उत विहितमध्यापनम् ? नाद्यः ; अङ्गीकृतेः, इत्यभिप्रेत्य द्वितीयं  
दूषयति—\*ननु लिखितेति\* ॥ \*अध्यापनम्=विहिताध्यापनमित्यर्थः । यथा विहिताध्यापनस्याध्ययनविधिप्र-  
युक्त्यनुपपत्तिः, तद्विहिताध्ययनस्याप्यध्यापनविधिप्रयुक्त्यनुपपत्तिरिति शङ्कते—\*तर्ह्यविहितेति\* ॥ विध्यन्तरपर्या-  
लोचनयाऽध्यापनविधिर्विहिताध्ययनं प्रयुङ्क्त इति शङ्कते—\*अथेति\* ॥ \*अध्ययनाध्यापनयोरिति\* ॥ अध्ययना-



## पञ्चपादिका

आचार्यकरणविधिप्रयुक्तस्याध्ययनस्यानुष्ठानम् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्राङ्मुखत्व-पवित्रपाणिताद्यङ्गसाम्याद्विहितमेवाध्ययनमध्यापनविधिः प्रयुङ्क्त इति, अध्यापनस्याध्ययनविधि-प्रयुक्तावपि समानमेतत् । किंच “आचार्याधीनो वेदमधीष्वे”ति नियमविधानाल्लिखितपाठो न युक्तः ; अध्यापनादुत्तरभावित्वादाचार्यकरणविधिप्रयुक्तः—“अधीष्वे”तिवाक्यार्थ इति चेत्, “तद् द्वितीयं जन्म तद् यस्मात्स आचार्य” इत्युपनयनमात्रादाचार्यत्वश्रवणात्, “आचारान् ग्राहयती”ति व्युत्पत्त्याऽऽचार्यत्वस्य प्रागेव सिद्धेः, आचार्यकरणविधिप्रयुक्त इत्यध्याहारात् शब्दस्य भाविवृत्त्याश्रयणस्यैव लघीयस्त्वात् । तस्मादधिकारकल्पना-साम्यादितरेतरप्रयुक्तिसाम्याच्च स्वविधिप्रयुक्तिसम्भवेऽध्ययनस्य कथमध्यापनविधिप्रयुक्तिरिति ? तत्राह—आचार्यकरणविधिप्रयुक्तस्यानुष्ठानमिति\* ॥ \*अयमाशयः\*—“संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरण-ज्ञान-भृति-विगणन-

## ऋजुविवरणम्

कथमध्ययनविधिप्रयुक्तौ समानत्वमापाद्यते ? माणवकधर्ममात्रसाम्यात् तत्र विहिताध्ययनप्रयुक्तिरुक्ता, नेह तथाविधं विहिताध्ययनविधिप्रयुक्त्योतकमस्ति ; अतो न लिखितपाठो निषेद्धं शक्यते, इत्याशङ्क्याह—किंचाचार्याधीन इति\* ॥ \*ननु\*—स्वविधिप्रयुक्ताध्ययने नायं नियमविधिरिति चोदयति—\*अध्यापनादिति\* ॥ \*आचारान् ग्राहयतीति व्युत्पत्त्येति\* ॥ “शौचाचारांश्च शिक्षयेत्” इति विधानात्, आचारशिक्षक आचार्य इत्युच्यते । \*आचारान् ग्राहयितुमर्हतीत्याचारप्रातिपदिकादर्हार्थं यत्प्रत्यये कृते तेनाभिधातुं शक्यत इति भावः । \*ननु\*—“उपनीय तु यः शिष्य”मिति वचनपर्यालोचनयोपनयनाध्यापनसाध्यमाचार्यत्वं प्रतीयते, तत्कथमुपनयनमात्रात् तत्सिद्धिः ? तद्वाचित्वं तस्य पदस्य श्रुत्या निश्चीयते, तदभावे चाचार्याधीन इति वक्तुमशक्यत्वात्, अतश्चोत्तरभावित्वादाचार्य-करणविधिप्रयुक्त इत्येव वाक्यार्थ इत्याशङ्क्याह—\*अध्याहारादिति\* ॥ आचार्यकरणविधिप्रयुक्तस्यैवेत्यवधारणं न युक्तम् । उभयत्राधिकार-प्रयुक्तिकल्पनयोः साम्यस्योक्तत्वात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः-संमाननेति\* ॥ संमाननम्=पूजनम्, उत्सञ्जनम्=उपाकरणम्, भृतिः=वेतनम्, विगणनम्=परिगणनम् । एतदिह विवक्षितम्—आचार्यत्वे साध्य आत्मनेपदविधानाद् आचार्यत्वं प्रतीयते । तच्चालौकिकम्—“आचार्याय वरो देयः” इति संप्रदानत्व-निर्देशात्, उपनयनादिसंस्कृतत्वरूपादन्येन तत्कर्तृत्वरूपेण सम्प्रदानत्वायोगात्, दृष्टस्य च संस्कारस्यादर्शनात् तदा-धारालौकिकसंस्कार आचार्यशब्दवाच्यः ; आहवनीयशब्दस्य आधानक्रियायोगोत्तरकालम्—“आहवनीये जुहोती”ति

## तत्त्वदीपनम्

ध्यापनवाक्ययोरित्यर्थः । “प्राङ्मुखः पवित्रपाणिरधीयीते”त्यध्ययने प्राङ्मुखत्वाद्यङ्गजातं विधीयते । “तं प्राङ्मुखं पवित्रपाणिमध्यापयेत्” इत्यत्रापि माणवकस्य प्राङ्मुखत्वादीतिकर्तव्यता श्रूयते । यदि चाध्यापनविधिरविहितमध्ययनं प्रयुञ्ज्यात्, तदेतिकर्तव्यताविधानं निरर्थकमापद्येत । तस्मादध्यापनविधिर्विहितमेवाध्ययनं प्रयुङ्क्त इत्यर्थः । तुल्यमेतदितरत्रापीत्याह—\*अध्यापनस्येति\* ॥ अविहिताध्यापनस्य विहिताध्ययनप्रयोज्यत्वे “प्राङ्मुखमध्यापयेदि”ति नियमविधानं न स्यात्, अस्ति च तत् । तस्माद् विहिताध्यापनस्याध्ययनविधिप्रयोज्यत्वमित्यर्थः । इतोऽध्ययन-विधिर्विहिताध्यापनं प्रयुङ्क्त इत्याह—\*किंचेति\* ॥ स्मृत्यर्थानभिज्ञो भवानित्याह—\*अध्यापनादिति\* ॥ उत्तरभा-वित्वमसिद्धमित्याह—\*न तदिति\* ॥ उपनयनं तच्छब्दार्थः ॥

विधान्तरेणाचार्यत्वसंपत्तिं दर्शयति—\*आचारानिति\* ॥ आचार्यत्वस्याध्यापनैकसाध्यत्वमङ्गीकृत्य दूषणमाह—\*आचार्यकरणेति\* ॥ “गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयादि”त्यत्र भाविवृत्त्याश्रयणेन गृहस्थशब्दवद् भाविवृत्त्या-श्रयणेनाचार्यशब्दप्रयोगो न विरुध्यत इत्यर्थः । सिद्धान्तिनः शङ्कासमर्थनमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ तत्पद-परामृष्टं हेतुमेवाह—\*अधिकारेति\* ॥ आचार्यकरणविधिप्रयुक्तेर्निरस्तत्वात् कथमाचार्यकरणविधिप्रयुक्तस्येत्युक्तम् ? इत्या-शङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ संमाननम्=पूजनम् । उत्सञ्जनम्=उत्क्षेपणम् । भृतिः=वेतनम् । विगणनम्=ऋणादेः



## पञ्चपादिकाविवरणम्

व्ययेषु नियः” इति संमाननादिषु साध्येषु नयतेर्धातोरात्मनेपदं विधीयते ; तत्र “उपनयीत, तमध्यापयीते”त्येक-  
प्रयोगतावगमादुपनयनाध्यापनयोर्माणवकस्याध्यापनं प्रति कर्मकारकांशेन गुणभूतत्वाद् माणवकः केनोप-  
कारेणाध्यापनविधिं निर्वर्तयेदिति वीक्षायामुपगमेनाध्ययनं कुर्वन्नध्यापनविधेरुपकरोतीति गम्यते । तत्रोपनीया-

## ऋजुविवरणम्

प्रयोगात् संस्कृतरूपादन्येनाग्नीनां होमकारकत्वासंभवादलौकिकार्थत्वनिश्चयवदिति । \*ननु\*—एवमप्युपनयनसाध्यमा-  
चार्यत्वं भवेत्, नाध्यापनसाध्यम् ; अध्यापनसाध्यत्वस्य गमकाभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*तत्रोपनीय तमिति\* ॥  
एवमप्युपनयनाध्ययनयोरध्यापनविधिप्रयुक्तिर्नास्ति ; तयोरप्रतीतेरिति, तत्राह—\*उपनयनाध्यापनयोरिति\* ॥ \*ननु\*—  
एकप्रयोगत्वेऽप्यध्यापनस्यैव साधिकारत्वं कथं गम्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*माणवकस्येति\* ॥ आचार्यकरणत्वं तत्फल-  
कार्यपूर्वविषयस्य भवति । नचोपनयनस्यापूर्वविषयत्वं संभवति ; “ब्राह्मणमि”ति द्वितीयया लिङ्गाच्चोपनेयासत्त्य-  
र्थत्वावगतेः, उत्पत्त्याद्यर्थस्य चापूर्वविषयत्वं “तेषांने”त्यत्र निषिद्धम् । एवंचात्मनेपदबोधितमेवाचार्यकरणत्वं  
साक्षादाचार्यकरणत्वे द्वितीया-लिङ्गाभ्यां बाधिते सत्युपनेतृकर्तृकमन्यदाचार्यकरणमुपनयनं च तत्प्रयोजकमिति कल्पय-  
तीति भावः । कथं पुनः साक्षात्त्वबाधः ? अपूर्वविषयत्वापातात्, द्वितीयाद्यवगतान्यार्थत्वविरोधादिति चेत्,  
न ; अनीप्सितेऽपि द्वितीयासंभवेन साक्षात्त्वाविरोधात्, लिङ्गस्य तु सामान्यसम्बन्धापेक्षत्वात् । एवंचात्मनेपदस्वार-  
स्येन शीघ्रधीस्थाचार्यकरणत्वान्यथानुपपत्तिकल्पिताचार्यकरणकामाधिकारापूर्वविषयताऽस्तु, “ब्राह्मणमि”त्यनीप्सिते  
द्वितीयाऽस्तु, अध्यापनं चोपनेयसंस्कारत्वेन तदङ्गमस्तु, ‘तमि’ति, द्वितीयास्वरसानुग्रहात्, \*उच्यते\* ; न तावदुभय-  
त्राधिकारः कल्प्यः ; अन्यतरस्य साधिकारत्वेनैवान्यतरस्य तदङ्गतया प्रयुक्तिः ; नचोपनयने कल्प्यः ; नह्यात्मने-  
पदस्य साक्षादाचार्यकरणत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं संमाननसूत्रे प्रतीयते ; करणतामात्रप्रतीतेः । तच्चासति व्यवधिबोधे  
साक्षाद् विवर्तवत् । अन्यतस्तु व्यवधिबोधे पारंपर्येण ब्रीहीणामिव । उपनयने त्वन्यतो व्यवधानान्न साक्षाद्  
कारणता । नह्युपनयनं क्रियानन्तरमपूर्वफलमाचार्यत्वमुत्पादयति । नच कारकगतफले साध्ये श्रुते हन्त्यादाविवापूर्व-  
साध्यता ; साध्यद्वयविरोधात्, द्रागीप्सिते द्वितीया, बाधे त्वनीप्सितता, व्यत्ययो वा, नेह स इति दर्शितम् ।  
संस्कृतस्य द्विजादीनामिज्याध्ययनफलमिति विनियोगोऽप्यस्ति । एवं च सान्निध्यान्नादुपनेयस्याध्यापन-  
विधिप्रयुक्ताध्ययनद्वारतया शेषित्वं निर्वहतीति भावः । यद्यप्युपनेयस्य शेषित्वनिर्वाहात् नोपनयनस्यार्थकर्मत्वम् ;  
तथाऽपि तस्यापूर्वफलाचार्यकरणं तद्वेत्, नत्वध्यापनस्याचार्यकरणफलत्वसिद्धिः ; तदभावे चाधिकारनिमित्तं  
कल्प्यम् ; तथासति न विशेषः, इत्याशङ्क्याह—\*तत्रोपनयीत तमध्यापयीतेति\* ॥ अथवा ‘तमि’ति प्रकृत-  
परामर्शात् एकप्रयोगत्वेऽप्युपनयनसाध्यस्यैव तत्साध्यत्वं कथं निश्चीयते ? अथवा—न कर्मकारकमात्रैक्यादेक-  
प्रयोगत्वम्, किंतु तन्त्रैक्यात्, तच्च शेष-शेषित्वे । तच्चात्र निरपेक्षविधिभेदान्न संभवतीत्याशङ्क्याह—\*तत्रोप-  
नीयेति\* ॥ \*ननु\*—उपनयनस्याङ्गत्वात् तत्साध्यमाचार्यत्वम् ‘अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवादः’ इति न्यायविरोधात् कथं

## तत्त्वदीपनम्

प्रतिनिर्यातनम् । व्ययः=धर्मादिषु द्रव्यविनियोगः । संक्षेपेण सूत्रार्थमाह—\*संमाननादिष्विति\* ॥ तथाचाचार्यत्वे  
साध्ये नयतेर्धातोरात्मनेपदविधानादुपनयनसाध्यमाचार्यत्वं लक्ष्यत इत्युक्तं भवतीत्यर्थः । भवत्वाचार्यत्वमुपनयनफलम्,  
कथमध्यापनफलं स्याद् ? येनाध्यापनविधेः साधिकारत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ \*तत्र=आचार्यत्वस्योप-  
नयनफलत्वे सतीत्यर्थः । \*एकप्रयोगताऽवगमादिति\* ॥ एककर्मताऽवगमादित्यर्थः । भवत्वेकप्रयोगत्वम्, तथाऽप्या-  
चार्यत्वं कथमध्यापनफलं स्यादित्याशङ्क्याह—\*माणवकस्येति\* ॥ “तमध्यापयीते”ति माणवकाध्यापनेन विशेषितो  
नियोगस्तावत् प्रथते । तत्र माणवकस्य कथं नियोगोपकारकत्वम् ? इति वीक्षयां दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाद्  
उपगमनाध्ययनाभ्यां माणवक उपकरोतीति निश्चीयत इत्यर्थः । भवतु दृष्टद्वारोपकारकत्वं माणवकस्य, तथाऽप्यध्या-  
पनविधेः कथं साधिकारत्वमित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ अध्यापनस्य भाव्यमन्तरेणापर्यवसानात् तदाकाङ्क्षायां



## पञ्चपादिका

आधानस्येव कामश्रुतिप्रयुक्तस्य—इति ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

ध्यापयेदिति प्रयोगैक्यकल्पनायां नयत्यर्थसाध्यमेवाचार्यकरणमध्यापनस्यापि फलं गम्यते । ततश्चोपनीया-  
ध्यापयेदाचार्यकरणकामः' इति श्रुतस्यैवाचार्यत्वस्य फलस्य कामोपबन्धमात्रकल्पनात् साधिकारोऽध्यापनविधिः  
सम्पद्यते । अथवा “उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते”  
इत्युपनयनाध्यापनयोः प्रयोगैक्यादध्यापने विधिः श्रवणादाचार्यत्वफलश्रवणाच्चाचार्यत्वकामो माणवकमुपनीया-  
ध्यापयेदिति विधिर्निष्पद्यते, अध्ययने तु नाधिकारनिमित्तं किञ्चित् श्रुतमस्तीति विशेषः । \*ननु\* अध्यापन-  
विधिविषयतदङ्गताभावेऽध्ययनस्य स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितस्य कथं स्वतन्त्रविध्यन्तरप्रयुक्तानुष्ठानतेति ? तत्राह—  
\*आधानस्येव कामश्रुतिप्रयुक्तस्येति\* ॥ \*अयमाशयः\*—“ब्राह्मणोऽग्नीनादधीते”ति श्रूयते । तत्र न  
तावत्पुरुषमुद्दिश्य स्वातन्त्र्येण नित्यमाधानं विधीयते ; द्रव्यपरतया प्रोक्षणादिवत् कर्मकारकसंस्कारकर्मताप्रतीतेः,  
अश्रूयमाणफलत्वादेव न स्वतन्त्रकाम्याधिकारता । नच सकुन्यायेन गुण-प्रधानवैपरीत्यान्नित्यकाम्याधिकारता ;  
“यदाहवनीये जुहोती”ति संस्कृताग्नीनां क्रत्वन्तरे विनियोगात् ; तस्मादुभयविधाधिकारशून्यो नाधानविधि-  
राधाने प्रवर्तयितुं क्षमः । तर्ह्युत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तानुष्ठानमाधानं स्यात्, \*उच्यते\* ; न तावन्नित्यदर्श-पूर्णमासादि-  
विधिप्रयुक्तानुष्ठानकमाधानम् ; आहवनीयस्योद्देश्यतयाऽनुपादेयत्वात्, क्रतुविधिप्रयुक्तानुष्ठेयत्वायोगात् ।

## ऋतुप्रकाशिका

प्रधानविध्यधिकारनिमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अथवेति\* ॥ अथवा—पूर्वमेकपुरुषसम्बन्धेनैकप्रयोगमङ्गीकृत्याध्या-  
पने साक्षादधिकारनिमित्ताश्रवणेऽप्युपनयनसाध्यत्वेन प्रतीतस्यापि स्वीकार इत्युक्तम्, इदानीमेकप्रयोगत्वं साक्षाद-  
ध्यापनस्य साधनत्वप्रतीत्या च साधिकारत्वमित्याह—\*अथवेति\* ॥ स्वतन्त्रेति\* ॥ अनारभ्याधीतत्वादव्यभिचरित-  
क्रतुसम्बन्धाभावादनङ्गविधित्वादित्यर्थः । \*ननु\*—आधानस्य स्वतन्त्रतया स्वविधिप्रयुक्तिरेव कस्मान्नाङ्गीक्रियते ?  
अन्यप्रयुक्तावपि सर्वोत्तरक्रतुप्रयुक्तिः कस्माद् नाङ्गीक्रियते ? सर्वेषामग्निसाध्यानां तेन विनाऽनुपपत्तेरित्याशङ्क्याभि-  
प्रायमाह—\*अयमाशयो ब्राह्मण इति\* ॥ \*ननु\*—हिरण्यधारणवत् स्वतन्त्रफलता स्यादिति, नेत्याह—\*अश्रूयमा-

## तत्त्वदीपनम्

यदुपनयनफलम्, तदेवान्नापि फलत्वेन निश्चीयते ; सन्निधानादित्यर्थः । [फलितं दर्शयति—\*ततश्चेति\* ॥ आत्मनेपद-  
सामर्थ्यादध्यापनविधेराचार्यत्वं फलमित्युक्तम्, संप्रत्यध्यापनविधेराचार्यत्वं फलत्वेन श्रूयते चेत्याह—\*अथवेति\* ॥  
टीकार्थमुपसंहरति—\*उपनयनेति\* ॥ \*अधिकारनिमित्तमिति\* ॥ विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तमित्यर्थः ।  
अध्यापनविधेः साधिकारत्वादध्ययनस्य च तत्प्रयुक्तानुष्ठानत्वादध्ययनविधिवाक्ये, नाधिकारिकल्पनमित्युक्तम् । तत्र  
तत्प्रयुक्तानुष्ठानत्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*नन्वध्यापनेति\* ॥ आवृत्तेरवहननविधिविषयतदङ्गताभावेऽपि तत्प्रयुक्तानु-  
ष्ठेयत्वं यथा, तद्वदिति शङ्कां निरस्यति—\*स्वतन्त्रेति\* ॥ दृष्टान्तासंप्रतिपत्तिशङ्कायामाह—\*अयमाशय इति\* ॥  
किमाधानविधिः स्वतन्त्रनित्यविधिः ? उत स्वतन्त्रकाम्यविधिः ? इति विकल्प्याद्यं निरस्यति—\*तत्र न तावदिति\* ॥  
द्वितीयं निरस्यति—\*अश्रूयमाणेति\* ॥ “अग्नीनादधीते”त्यत्र यद्यप्यग्नीनां प्राधान्यमाधानस्य चोपसर्जनत्वं लक्ष्यते ;  
तथाऽपि “सक्तून् जुहोती”तिवद् गुण-प्रधानवैपरीत्यकल्पनया स्वतन्त्रनित्यविधित्वम्, विश्वजिन्यायेन फलस्य  
कल्पनया स्वतन्त्रकाम्यविधित्वं वेति शङ्कायामाह—\*नचेति\* । \*नित्यकाम्याधिकारतेति\* ॥ नित्याधिकारता  
काम्याधिकारता चेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*यदाहवनीय इति\* ॥ सक्तूनां भस्मीभूतत्वेनान्यत्र विनियोगासं-  
भवाद् विभक्तिविपरिणामः, न तथाऽत्र ; अग्नीनामन्यत्र विनियोगसंभवादित्यर्थः । आधानस्यान्यप्रयुक्तत्वमङ्गीकृत्य  
काम्यविधिप्रयुक्तिमाक्षिपति—\*तर्ह्युत्तरेति\* ॥ नित्यविधिप्रयुक्तत्वासंभवात् काम्यविधिप्रयुक्तिः परिशिष्यत इत्याह  
—\*उच्यत इति\* ॥ अनुपादेयत्वादसाध्यत्वादित्यर्थः । अनुपादेयस्यापि क्रतुविधिप्रयुक्तानुष्ठेयत्वं किं न स्यात् ?



## पञ्चपादिका

तदयुक्तमित्यपरे ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

उपादेयमेव हि विधिरनुष्ठापयति ; अन्यथा स्वर्गकामादीनामप्यनुष्ठेयत्वप्रसङ्गात् । तस्मादुत्तरकाम्यविधि-  
प्रयुक्तमेवाधानस्यानुष्ठानमिति । नहि विधिरिव कामोऽप्युपादेयमेवानुष्ठापयति ; किन्तु यद्यदुद्देश्यमुपादेयं वा  
विना काम्यमानं न सिध्यति तत् सर्वं विधिः सहकारितयाऽनुष्ठापयति ; एवं विधि-रागयोर्विभागदर्शनात् ।  
यथा “सौवर्णे पीठे समुपविशेदि”ति विधौ तथाविधपीठाभावे विधिर्नानुष्ठापयति, रागस्तु तथाविधं पीठ-  
मुत्पाद्यापि तत्र निवेशयति ; एवमाचार्यकरणकामनैवाध्ययनमाचार्यप्रेरणाद्वारेण माणवकेन निर्वर्तयत्यध्यापन-  
सिद्ध्यर्थमिति । अत्राध्ययनविधिरेव नित्याधिकारेण साधिकारोऽध्ययने प्रवर्तयतीति प्रतिपादयितुमध्यापनविधिप्रयुक्तिं  
निराकरोति—\*तदयुक्तमित्यपर इति\* ॥ \*अयमाशयः\*—न तावदाचार्यत्वं स्वयमेव विधेयमिति युक्तम् ;  
उपनयनाध्यापनभावार्थविषयत्वाद् विधेः । नापि विधिपदाभिधेयतया विधिरूपमाचार्यत्वम् ; आत्मनेपदमात्राभि-  
धेयत्वात् । नापि नैयोगिकफलमाचार्यत्वम् ; “आचारान् ग्राहयती”ति प्रयोजककर्तृत्वनिबन्धनस्याचार्यत्वस्य  
लौकिकत्वात् । अथ माणवकविषयनयत्यर्थजन्यमाचार्यत्वमलौकिकमिति, न तत् ; “यस्मात् स आचार्यः”  
इतिस्मृतौ माणवकसंस्कारं प्रति हेतुकर्तृत्वस्यैव लौकिकस्याचार्यशब्दनिमित्तत्वावगमात्, सहपठितानां च

## ऋजुविवरणम्

णेति\* ॥ अनुपादेयफलप्रवृत्तिदर्शनात् फलकामनाया न विधिसाम्यमित्याह—\*नहि विधिरिवेति\* ॥ \*ननु\*—  
अध्ययनविधिरधिकारशून्यो न प्रवर्तक इति चोद्यं परिहर्तव्यम् ; तेनैव परप्रयुक्तिनिराकरणसिद्धेः, तद्विहायाध्यापन-  
विधिप्रयुक्तिनिराकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्यावतारयति—\*अत्राध्ययनविधिरिति\* ॥

\*ननु\*—साधिकारत्वेन चाचार्यकरणविधेः प्रवर्तकत्वमुक्तम् ; साधिकारस्य प्रवर्तकत्वसंभवे निरधिकारस्या-  
धिकारकल्पनया न प्रवर्तकत्वमित्यप्युक्तम्, अतः कथमाचार्यकरणविधिप्रयुक्तिरयुक्तेत्युच्यते ? इत्याशङ्क्य, भवदभिमता-  
चार्यत्वमेव विधिविषयत्वेन, नियोगरूपत्वेन, तत्फलत्वेन वा निरूपयितुं न शक्यते, निरूपणे वा नाध्यापनविधिप्रयुक्ति-  
रेवेति निश्चेतुं शक्यते ; अध्ययनेऽपि साधिकारत्वेन विशेषाभावात्, इति दर्शयति—\*अयमाशयो न तावदिति\* ॥

\*ननु\*—नेदमाचार्यत्वं विधिफलम्, किन्त्वन्यदेव ; वैकल्पिकत्वादाचार्यत्वस्य । यद्वा वेद एव व्युत्पत्तेर्मुख्यत्वम्, तत्र  
गौण इति चोदयति—\*अथ माणवकेति\* ॥ तत्रापि हेतुकर्तृत्वमेव नालौकिकमिति कथं गम्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*सह-  
पठितानामिति\* ॥ \*ननु\*—विधिप्रत्ययश्रवणाद् नियोगः प्रतीयते, तस्य नियोज्यविशेषणाकाङ्क्षायां स्वर्गवद् नियोग-

## तत्त्वदीपनम्

तत्राह—\*उपादेयमिति\* ॥ तदेव व्यतिरेकमुखेनाह—\*अन्यथेति\* ॥ अनुपादेयस्य काम्यविधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वं वा  
कथमिति शङ्कायामाह—\*न हीति\* । \*स्पष्टार्थो ग्रन्थः\* ॥ “तदयुक्तमित्यपरे” इत्यत्राध्यापनविधिप्रयुक्तत्वं निराक्रियते,  
तदनुपपन्नम् ; निरधिकारत्वेनाध्ययनविधेरप्रवर्तकत्वात् । प्रवर्तकान्तरस्य चानङ्गीकरणादित्याशङ्क्याह—\*अत्रेति\* ॥ अत्र  
पूर्वपक्षे प्राप्ते प्रयुक्तिं निराकरोतीति संबन्धः । आचार्यकरणविधेः साधिकारत्वेन प्रवर्तकत्वस्योपपादितत्वात् कथं  
तन्निरसनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ आचार्यत्वस्य किं विधेयत्वेन साध्यत्वम् ? उत विधिरूपत्वात् ?  
अथवा फलत्वात् ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*नापि विधीति\* ॥ विधि-  
पदाभिधेयो हि विधिः, आचार्यत्वं चात्मनेपदमात्राभिधेयमिति न विधिरित्यर्थः । तृतीयं दूषयति—\*नापि नैयोगि-  
केति\* ॥ किमाचार्यत्वमात्रं नियोगफलम् ? उत तद्विशेषः ? इति, नाद्य इत्याह—\*आचारानिति\* ॥ द्वितीयमनु-  
वदति—\*अथेति\* ॥ तस्याप्यलौकिकत्वमसिद्धमित्याह—\*न तदिति\* ॥ इतोऽपि न तदलौकिकमित्याह—  
\*सहपठितानामिति\* ॥ हेतुकर्तृत्वमात्रस्य लौकिकत्वेऽपि साङ्गोपनयनाध्यापनकर्तृत्वलक्षणमाचार्यत्वमलौकिक-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

समाननादीनामलौकिकत्वाभावात् । आचार्यत्वस्यालौकिकत्वेऽप्युपनयननियोगफलं भविष्यति । तेनाध्यापनविधेः कुतः साधिकारता ? अथ “तमध्यापयीते”त्येकप्रयोगताऽवगमादुपनीयाध्यापयीतेति विधिः परिणमत इति, तथाऽप्यङ्गफलस्यार्थवादस्य न प्रधानविध्यधिकारनिमित्तता कल्पनीया—आचार्यकरणकामो माणवकमुपनीयाध्यापयेदिति । तदेवमध्ययनविधेरप्युपनयनप्रकरणत्वाद्वाजसनेयिनाम्, सर्वस्मृतिषु चोपनीतोऽधीयीतेति प्रकरणप्रमाणात् साधिकारत्वसिद्धेः स्वविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति युक्तम् । यत्तु मानवं वचनमुक्तम्, तत् स्वयमेव वा मूलश्रुत्य-

## ऋजुविवरणम्

साध्यत्वेनैव नियोज्यविशेषणत्वमिति गम्यते ; कारकफलस्य तदनुपपत्तेः, नचाचारग्राहकत्वमुपनयने हेतुकर्तृत्वं चाचार्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ; विकल्पापत्तेः, अतो मन्त्राद्यलौकिकसाधनान्तरविधानादलौकिकमाचार्यत्वम्, समाननादीनान्तु तदभावाद् भवतु लौकिकत्वम् । साहचर्यं च लिङ्गमात्रम् ; प्राप्तिपक्षत्वात्, इत्यभ्युपगम्य दूषणमाह—\*अलौकिकत्वेऽपीति\* ॥ असिद्धे ह्यन्यतोऽलौकिक आचार्यत्वे तद्विधेरेव न सिध्यति, यो नियोज्यमाकाङ्क्षेत्, अन्यतस्तु तस्मिन्नुत्पत्त्यपेक्षे जाते तदुत्पादकं विधीयते । यदि तु तद्विधिः, तदालौकिकत्वनिश्चयः स्यात्, इतरेतराश्रयश्च—विधितस्तदलौकिकत्वधीः, अलौकिकत्वे च तस्मिन् धीस्थे तदुपायविधिरिति ।

नचाध्यापनस्वरूपविधानेन दोषः परिह्रियते ; वृत्त्यर्थाध्यापनविधितोऽध्ययनविध्याक्षेपाद्वा तत्प्राप्तेः । नच वैपरीत्यम् ; प्रवृत्तप्रेरणात्मकणिजर्थस्याध्ययनविध्यधीनप्रवृत्तिसापेक्षत्वात्, अलौकिकत्वे चार्थवादगतस्याप्यबोधकत्वान्न तस्य नियोज्यविशेषणत्वम्, लौकिकस्य तु क्रियासाध्यतया न नियोज्यविशेषणता । नच दानवाक्यपर्यालोचनयाऽप्यलौकिकत्वम् ; उपाध्यायवदुपपत्तेरित्यर्थः । \*ननु\*—उपनयनस्य संस्कारकर्मणः फलपेक्षत्वात् संस्कृतस्य च विनियोगाकाङ्क्षत्वात्, “तस्मि”त्यध्यापने विनियोगप्रतीतेः तस्य च फलाकाङ्क्षत्वात्, अध्यापनफलत्वेन सन्निहितं स्वीक्रियत इति चोदयति—\*अथ तमध्यापयीतेति\* ॥ \*तथाऽप्यङ्गफलस्येति\* ॥ “द्रव्य-संस्कार-कर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्” इति न्यायविरुद्धमङ्गफलस्य प्रधानविध्यधिकारनिमित्तत्वकल्पनमिति भावः । \*ननु\*—सर्वथा निरधिकारत्वेनाननुष्ठानाद् वरमङ्गफलस्याप्यधिकारनिमित्तत्वकल्पनम् ; विधिप्रत्ययाद् नियोगप्रतीतेः, नियोज्यविशेषणापेक्षायां “फलमात्रेयो निर्देशादि”त्युक्तन्यायसाम्यात् प्रतीतिस्वीकारः । तस्याङ्गविध्यनुपपत्तिगम्यत्वमप्यस्ति ; फलश्रुतेरर्थवादत्वस्याप्रतीतनियोज्यविशेषणविषयत्वात् । हेत्वन्तरमपि साधिकारत्व उक्तमेव ; तदनादरे चानुष्ठानाभावः, अध्ययने त्वधिकारनिमित्तस्य प्रतीतिमात्रमपि नास्तीत्युक्तमित्याशङ्क्याह—\*तदेवमध्ययनेति\* ॥ उपनयनं प्रक्रम्य विहितत्वादित्यर्थः । \*ननु\*—“उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।” इत्यत्र साक्षादध्यापनसाध्यमेवाचार्यत्वं प्रतीयते, तेन नाङ्गफलस्य स्तुतिमात्रतया कीर्तितस्य प्रधानविध्यधिकारनिमित्तत्वकल्पनालक्षणो दोष इत्याशङ्क्याह—\*यत्तु मानवमिति\* ॥ \*ननु\*—“यच्छब्दसंबन्धादुपनयनाध्यापनयोरनुवादः”इत्यसंबद्धमुक्तम् ; यच्छब्दोपबन्धेऽपि “यदाग्नेयोऽष्टाकपालः”इत्यादिषु विधायकत्वदर्शनात् ; \*मैवम्\* ; “तस्मि”ति द्वितीयाश्रुत्योपनीतस्य कर्मत्वावगमात्, तस्य च फलवत्कर्मावबोधोपयोग्यध्ययनकर्तृत्वेन निरुद्धकार्यत्वात् तत्संस्कारार्थमध्ययनं फलाकाङ्क्षमिति भावः । अवष्टते तात्पर्यं यच्छब्दो न विधानपरिपन्थी, अत्र तु विधौ प्रसिद्धार्थविरोधात् पूर्वप्रसिद्धानुवादप्रतीतिः । किञ्च क्रियायोगिनो यच्छब्दस्य न विधानपरिपन्थित्वम्, कर्तृसंबन्धस्य तु विधानविरोधित्वम्, अत्रापि ‘यः पुरुषोऽध्या-

## तत्त्वदीनम्

मित्याशङ्क्याह—\*आचार्यत्वस्येति\* ॥ उपनयनस्याध्यापनाङ्गत्वादुपनयनफलमध्यापनफलं भविष्यतीति शङ्कते—\*अथ तमध्यापयीतेति\* ॥ अङ्गेषु फलश्रुतेरर्थवादत्वादुपनयनस्याध्यापनाङ्गत्वात् तत्फलश्रवणमर्थवादः, ततो नाधिकारनिमित्तत्वमित्याह—\*तथाऽपीति\* ॥ कल्पनाप्रकारमभिनयति—\*आचार्येति\* ॥ तर्थाधिकारनिमित्ताभावादनध्ययनं प्राप्तमिति शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*तदेवमिति\* ॥ आचार्यत्वस्य चाध्यापनविधिफलत्वं स्मर्यत



## पञ्चपादिका

कथम् ? “अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीते”ति यद्ययमाचार्यस्य नियोगः ? माणवको न नियुक्तो भवति ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

नुमानेन वा नाचार्यकरणकामस्य किञ्चिद्विदधाति, किंतु यच्छब्दोपबन्धादुपनयनाध्यापनानुवादेन कर्तुराचार्य-  
संज्ञामेव विदधाति ; “तमाचार्यं प्रचक्षते” इति वचनात्, संज्ञायाश्च वक्ष्यमाणनमस्कारपूजादिविधानाङ्गत्वात् ।  
तस्मादाचार्यकरणविधिप्रयुक्तिरयुक्ता—\*इति\* ॥ \*ननु\* एवमप्युभयत्राधिकारकल्पना न युक्ता ; अन्यतरे-  
णैवान्यतरस्य प्रयुक्तिसिद्धेः, अतः कस्यान्यतरस्य कल्प्यते ? इति वीक्षायां माणवकस्याप्रबुद्धत्वात् स्वाधिकारं  
प्रतिपन्नानुष्ठातुमशक्तत्वादध्यापनविधिरेव साधिकारोऽध्ययनं प्रयुज्ज इति चोदयति—\*कथमिति\* ॥ तत्रो-  
त्तरमाह—\*अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीतेति\* ॥ \*यद्ययमाचार्यस्य नियोग इति\* ॥ आचार्यकरणकामस्य नियोग  
इत्यर्थः । \*अयमभिसन्धिः\*—आचार्यकरणविधिस्तावन्नाविहितमध्ययनं प्रयुज्जते ; अध्ययनानधिकारिणां  
तत्र प्रयोजनशून्यतयाऽऽचार्यगुणभावेन प्रवृत्त्ययोगात् । अथ विहितमेवाध्ययनं प्रयोजयति, तत्र वक्तव्यम्—  
किं विधिः स्वरूपनिर्धारणोपाधित्वेनाधिकारिणं विषयं चापेक्षते ? न वेति ? स्वरूपोपाधितया विषयमपेक्षते, नाधि-  
कारिणम् ; प्रवर्तकत्वोपाधित्वादधिकारिण इति चेत्, तर्ह्यस्यायं विधिरिति विहितस्याध्येतृविशेषस्यापरिज्ञानाद्  
यं कश्चिदध्यापयेत्, तदेतदाह—\*माणवको न नियुक्तो भवतीति\* ॥ अथ स्वरूपोपाधित्वेनैवाधिकारिण-

## ऋजुविवरणम्

पयेदिति पुरुषसंबद्ध एव यच्छब्दः, तेन विधानविरोधित्वमेव । तदुक्तम्—“क्रियापदैकयोगित्वे यच्छब्दो न भजेद्विधिम् ।  
कर्तृयुक्तः स एवान्यः प्रापितार्थानुवादकृत् ॥” इति ॥ \*ननु\*—संज्ञाकरणस्य निष्प्रयोजनत्वादगत्या विधित्वमेवा-  
ङ्गीकरणीयमित्याशङ्क्याह—\*संज्ञायाश्चेति\* ॥ “आचार्यस्य नियोगः” इति कथमुक्तम् ? आचार्यस्य प्रागसिद्धत्वात्,  
असदनुवादत्वप्रसङ्गाच्चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*आचार्यकरणकामस्येति\* ॥ \*ननु\*—“माणवको न नियुक्तो भवती”ति  
किमर्थमुक्तम् ? नहि माणवकस्य नियुक्तत्वं चोद्यवादिनो विवक्षितम्, नापि तदभावेनाध्यापनविधौ किञ्चिद् दूषणं  
भवति, अतो व्यर्थं इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमभिसन्धिराचार्येति\* ॥

\*विधिरिति\* ॥ प्रथमप्रतीतौ नियोगस्य विषयमात्रापेक्षा, पश्चाद्विषयसिद्धयधीनस्वात्मलाभार्थं प्रवर्तकस्य

## तत्त्वदीपनम्

इति यदुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—\*यत्तु मानवमिति\* ॥ अनुपलब्धेरिति शेषः । किंपरं तर्हि वचनम् ? इति पृच्छाया-  
माह—\*किंत्वित्यादिना\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*तमाचार्यमिति\* ॥ संज्ञाविधानमपि निष्फलमित्याशङ्क्याह—  
\*संज्ञाया इति\* ॥ अध्ययनस्य स्वविधिप्रयुक्त्ययुक्तेरन्यविधिप्रयुक्तिराश्रयणीयेति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ किमध्ययनेऽध्यापने  
चाधिकारः कल्प्यः ? उत्तैकत्र ? नाद्यः ; गौरवप्रसङ्गादित्याह—\*एवमपीति\* ॥ आचार्यत्वस्य फलत्वासंभवेऽ-  
पीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*अन्यतरेणेति\* ॥ द्वितीयेऽपि किमध्ययनेऽधिकारकल्पनम् ? उताध्यापने ? इति विवे-  
चनीयम्, तत्र नाद्यः शोभत इत्याह—\*अत इति\* ॥ उभयत्राधिकारकल्पनाऽयोगोऽतःशब्दार्थः । ऐकग्रन्थशङ्कां  
निरस्यति—\*तत्रोत्तरमिति\* ॥ आचार्यत्वस्याध्यापनादुत्तरकालीनत्वादाचार्यस्य नियोग इति कथमुक्तम् ? तत्राह—  
\*आचार्येति\* ॥ आचार्यविधेर्माणवकप्रवृत्तेर्माणवको न नियुक्त इति कथम् ? तत्राह—\*अयमभिसन्धिरिति\* ॥

आचार्यकरणविधिरविहितमध्ययनं प्रवर्तयति ? उत विहितम् ? नाद्य इत्याह—\*आचार्येति\* ॥ \*अध्ययना-  
धिकारिणामिति\* ॥ अध्ययननियोगेनाप्रेरितानामित्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—\*अथेति\* ॥ विकल्पासह-  
त्वान्नैतदित्याह—\*तत्र वक्तव्यमिति\* । \*स्वरूपनिर्धारणोपाधित्वेनेति\* ॥ स्वरूपनिश्चयहेतुतयेत्यर्थः । यथा  
विषयमपेक्षते, तथाऽधिकारिणमपेक्षते ? उत न ? इति विमर्शार्थः । द्वितीयमनुवदति—\*स्वरूपेति\* ॥ \*स्वरूपोपाधि-  
तयेति\* ॥ स्वरूपप्रतिपत्तिहेतुतयेत्यर्थः । अस्मिन् कल्पे न विहिताध्ययनसिद्धिरित्याह—\*तर्ह्यस्येति\* ॥ आद्यमनु-  
वदति—\*अथ स्वरूपेति\* ॥



## पञ्चपादिका

अनियुक्तस्य च स्वाध्यायाध्ययने प्रवृत्तिर्न सम्भवति । किंचान्यत्— आचार्यकरणविधिरनित्यः,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मपेक्षते विधिः, तर्हि सिद्धमध्ययनविधेः साधिकारत्वम् । तत्र प्रकरणादुपनीतोऽधिकारी सम्पद्यते । साधिकारत्वे चाध्ययनविधेः प्रयोजयितृत्वमपि सिध्यति । परप्रयुक्तानुष्ठानसम्भवे साधिकारोऽपि विधिर्न प्रयोजयतीति चेत्, तत्राह—\*अनियुक्तस्य च स्वाध्यायाध्ययन इति\* ॥ \*अनियुक्तस्येति\* । स्वाधिकारविधिनैवाप्रवर्तितस्येत्यर्थः । \*ननु\* एकस्मिन्नप्रवर्तमानेऽप्यन्यः प्रवर्तिष्यत इति स्रोतोरूपेणाध्यापनस्य सिद्धिरिति, \*न\* ; उपनेतृत्वस्यापि तदङ्गत्वात् । स्वात्मनैवोपनीत तमध्यापयीत नान्येनोपनीतम् ; अन्यथाऽङ्गवैकल्यादधिकारा-निष्पत्तेराचार्यत्वफलासिद्धेः । तर्ह्यन्यानप्युपनीयाध्यापयेत्, \*तत्र\* ; सर्वे च माणवका न प्रवर्तन्ते निष्प्रयोजनव्यापारे, इति नाध्यापनं सिध्यति । \*ननु\* बालकस्य कथं स्वाधिकारप्रतिपत्तिः ? संच्योपासनसमिदाहरणादिकर्तव्यताप्रतिपत्तिवदुपदेशसामर्थ्यादध्ययनकर्तव्यताप्रतिपत्तिरिति न विरोधः । \*किञ्च अनित्येन विधिना नित्यस्याध्ययनस्यानुष्ठाने तदुपरमे नित्यमध्ययनं सम्पादयितुं न शक्यत इत्याह—\*किञ्चान्यद् आचार्यकरणविधिरिति\* ॥

\*अयमाशयः\*—काम्यमानमाचार्यत्वं न तावत् स्वयमेव पुरुषार्थः ; परम्परया च सुख-दुःखप्राप्ति-

## ऋजुविवरणम्

स्वसंबन्धिकार्यबोद्धरभावे प्रवर्तकत्वाभावात् प्रवर्तकत्वाय तदपेक्षेति भावः । \*परप्रयुक्तानुष्ठानेति\* ॥ यद्यपि साधिकारः ; तथाऽपि स्वयमधिकारबोधात् प्रवर्तितुं न शक्नोति, प्रवृत्तश्च साङ्गाध्ययनानन्तरमधिकारं स्वीयमवगच्छति ; अतः साधिकारोऽपि न प्रयोजयति ; प्रतीत्यभावादिति । “अनियुक्तस्ये”त्युक्तमुक्तम् ; नियोगस्याङ्गीकृतत्वात्, प्रवृत्त्यभावमात्रेणैव चोद्यस्य कृतत्वात्, प्रयोजकान्तरस्यासंभवाच्चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*स्वाधिकारविधिनैवेति\* ॥

\*ननु बालस्येति\* ॥ अप्रबुद्धस्य स्वाधिकारज्ञानपूर्वकं प्रवृत्तिर्नास्त्येव ; विध्यर्थापरिज्ञानादिति भावः । “किञ्चान्यदि”ति टीकाग्रन्थेनाचार्यकरणविधेरनित्यत्वं वृत्त्यर्थत्वेनोक्तम्, तदयुक्तम् ; आचार्यत्वस्य साध्यत्वप्रतीतेर्वृत्त्यर्थत्वे तद्विरोधः ; एकस्य विधेरुभयार्थताऽयोगात्, स्वतः परतो वाऽऽचार्यबुभूषोरधिकारस्यावश्यंभावितात्, नित्यसमीहितफलत्वेन वा नित्यत्वम्, अर्थावबोधकामाधिकाराध्ययनविधिवदित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः काम्य-

## तत्त्वदीपनम्

तर्ह्यस्मदमिलपितसिद्धिरित्याह—\*तर्हीति\* ॥ कथं तर्ह्यधिकारिविशेषसिद्धिः ? तत्राह—\*तत्र प्रकरणादिति\* ॥ साधिकारत्वप्रतिपादनफलमाह—\*साधिकारत्व इति\* ॥ अध्ययनविधेः साधिकारत्वमङ्गीकृत्य तस्य प्रवर्तकत्वं न संभवतीत्याह—\*परप्रयुक्तेति\* ॥ अध्यापनविधिप्रेरितत्वादनियुक्तस्येति कथमुक्तमिति ? अत्राह—\*अनियुक्तस्येति\* ॥ माणवकप्रवृत्तेरध्ययनविधिनिबन्धनत्वाभावे प्रवृत्तिहेत्वभावान्नाध्यापनसिद्धिरित्युक्तम् ? तत्किमेकस्याप्रवृत्तिः ? उत सर्वेषाम् ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकृत्य, द्वितीयं दूषयति—\*नन्वेकस्मिन्निति\* ॥ \*प्रवर्तिष्यत इति\* ॥ अत्र कुतूहलादिनेति द्रष्टव्यम् । किमाचार्यो माणवकान्तरमुपनीयाध्यापयति ? उतैकमेव ? नान्त्य इत्याह—\*नोपनेतृत्वस्येति\* ॥ माणवकान्तरस्योपनीतत्वात् तदध्यापनं युक्तमित्याशङ्क्याह—\*स्वात्मनेति\* ॥ \*उपनीत तमध्यापयीतेति\* ॥ स्वोपनीताध्यापनप्रतिपत्तेरित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ नियोगोऽधिकारशब्दार्थः । आद्यमुत्थापयति—\*तर्ह्यन्यानि\* ॥ माणवकान्तरस्यापि एतत्समानयोगक्षेमत्वाद् न प्रवृत्तिरित्याह—\*तत्रेति\* ॥ कुतूहलादिमात्रस्य प्रयोजकत्वे शूद्रादिपरिवर्जनं न सिध्येदित्यर्थः । माणवकस्याप्रबुद्धत्वाद् विधितोऽध्ययनमित्युक्तं स्मारयति—\*ननु बालस्येति\* ॥ अप्रबुद्धत्वेऽपि पित्राद्युपदेशबलात् प्रवृत्तिर्युक्तेत्याह—\*सन्ध्योपासनेति\* ॥ “किं चान्यदि”त्यत्रानित्येनाध्यापनविधिना नित्यस्य प्रयोज्यत्वं नेत्युक्तम् ; तत् कस्मात् ? इत्याशङ्क्याह—\*किंचानित्येनेति\* ॥ अध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयोज्यत्वे तस्यानित्यत्वाद् नित्याध्ययनासिद्धिः, ततश्च प्रत्यवायः स्यादित्यर्थः । अध्यापनस्याचार्यत्वफलकत्वात् कथं वृत्त्यर्थत्वमुक्तम् ? तत्राह—\*अयमाशय इति\* ॥ आचार्यत्वं किं साक्षात्पुरुषार्थः ? उत



## पञ्चपादिका

“ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचन याजन-प्रतिग्रहाः” इति वृत्त्यर्थोऽधिकारः ; अतः स्वेच्छातः प्रवृत्तिः । उपनयनारूप्यस्तु संस्कारो नित्यः ; अकरणे दोषश्रवणात्—“अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता ब्राह्म्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् । ब्राह्मन् यौनांश्च संबन्धानाचरेद् ब्राह्मणः कचिदि”ति ॥ संस्कारश्च स्वाध्यायाध्ययनार्थः । एवं च स्वाध्यायाध्ययनमपि

## पञ्चपादिकाविवरणम्

निवृत्त्योरेव पुरुषार्थत्वात् । तत्ताचार्यत्वस्याध्यापनमात्रस्य वा प्रयोजनाकाङ्क्षायां दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेर्द्रव्यार्जनोपायत्वेन “षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः” ॥ इति स्मरणात्, माणवकस्य चाध्ययनाङ्गत्वेन गुरुदक्षिणादिविधानात्, अङ्गिन्यध्ययनेऽनुष्ठापकस्याध्यापनविधेर्दक्षिणा-शुश्रूषाद्यङ्गेष्वनुष्ठापकत्वाद् द्रव्यार्जनमेव प्रयोजनम् । तत्र प्रयोजनवत्तया काम्यत्वान्न नित्यवत् प्रयोक्तृत्वसिद्धिरिति । उपगमनाध्ययने तर्ह्यनित्ये इति, नेत्याह—\*उपनयनारूप्यस्तु संस्कारो नित्य इति\* ॥ \*ननु\* प्रायश्चित्तस्याप्यकरणे दोषः श्रूयते—“अतीते चिरकाले तु द्विगुणं व्रतमर्हती”ति, तत्र कथं प्रत्यवायश्रवणादुपनयनस्य नित्यतेति ? \*उच्यते\* ; न प्रायश्चित्ताकरणनिमित्तदोषनिरासाय द्विगुणं व्रतमुच्यते, किन्तु प्रायश्चित्तेन निराकर्तव्यस्य पूर्वदोषस्यैवातीतचिरकाले द्विगुणव्रतापेक्षयैव निरास इत्युच्यते ; अन्यथा प्रायश्चित्तानवस्थाप्रसङ्गात् । \*ननु\* उपनयनसंस्कारस्य नित्यत्वेऽप्यध्ययनस्य कथं नित्यतासिद्धिरिति ? तत्राह—\*संस्कारश्चेति\* ॥ अङ्गयुपाधिविहितत्वादङ्गस्योपहिताङ्गनित्यता स्वोपाधेरध्ययनस्यापि नित्यत्वं

## अनुविवरणम्

मानमिति\* ॥ \*ननु\*—याजनस्य जीविकार्थत्वं युक्तम् ; ऋत्विग्भ्यो दक्षिणादिविधानात् सर्वाङ्गानुष्ठापकत्वात्, द्रव्यार्जनं निश्चित्य हि तदर्थिनां याजने प्रवृत्तिः, अत्र तु भृतकाध्यापननिषेधात् प्रकारान्तरेण द्रव्यार्जनाभावात् कथं तादर्थ्यमध्यापनस्य निश्चीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*माणवकस्येति\* ॥ \*ननु\*—उपनयनसंस्कारस्य नित्यत्वं कथमध्ययननित्यत्वसाधकम् ? व्यधिकरणत्वात्, नह्यन्यस्य नित्यत्वेऽन्यनित्यता, नाप्युपगमनस्य तादर्थ्येऽध्ययन-तत्त्वदीपनम्

परम्परया ? नाद्य इत्याह—\*काम्यमानमिति\* ॥ सुखप्राप्त्यादिस्वरूपत्वाभावादित्यर्थः । पश्चादीनां पुरुषार्थत्वं दृष्टम्, इत्याशङ्क्य, तत्रापि न साक्षात् पुरुषार्थत्वमित्याह—\*परम्परयेति\* ॥ तर्ह्यत्रापि परम्परया पुरुषार्थत्वमित्याशङ्क्य, किमदृष्टद्वारा ? उत दृष्टद्वारा ? नाद्य इत्याह—\*तत्राचार्यत्वस्येति\* ॥ \*तत्र-सुखादेः पुरुषार्थत्वे सतीत्यर्थः । किं तद् दृष्टं फलम् ? इति वीक्षायामाह—\*द्रव्येति\* ॥ द्रव्यार्जनोपायत्वेनाध्यापनस्य स्मरणाद् द्रव्यार्जनमेव प्रयोजनमिति संबन्धः । स्मरणमेवाह—\*षण्णामिति\* ॥ यजनाध्ययन-दान-याजनाध्यापन-प्रतिग्रह-लक्षणानामित्यर्थः । “त्रीणी”त्युक्तं विवृणोति—\*याजनेति\* ॥ अध्यापनस्य द्रव्यार्जनार्थत्वं न घटते—“भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितश्च यः । तावुभौ भरकं यातश्चिन्नरज्जुर्घटो यथा ॥” इति द्रव्यार्थत्वप्रतिषेधादित्याशङ्क्याह—\*माणवकस्येति\* ॥ शुश्रूषादिरादिशब्दार्थः । भवतु दक्षिणादेरध्ययनाङ्गत्वम्, तथाऽपि तदनुष्ठानं किं निबन्धनमिति वीक्षायामाह—\*अङ्गिनीति\* ॥ अतः किमिति ? अत आह—\*तत्रेति\* ॥ अध्यापनविधिरध्ययनं न नित्यवत् प्रयोजयतीत्युक्तम्, तत्रेष्टापत्तिमाशङ्कते—\*उपगमनेति\* ॥ अकरणे प्रत्यवायश्रवणाद् नानित्यत्वमित्याह—\*मेत्याहेति\* ॥ प्रत्यवायश्रवणं न नित्यतां साधयति ; व्यभिचारादिति शङ्कते—\*ननु प्रायश्चित्तस्येति\* ॥ स्मृत्यर्थानभिज्ञो भवानित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ विपक्षे बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ प्रायश्चित्ताकरणनिमित्त-दोषनिर्हरणार्थं प्रायश्चित्तान्तरं चेत्, तदा तदकरणदोषनिवर्णार्थं प्रायश्चित्तान्तरम्, एवं तत्र तत्रापि प्रायश्चित्त-मालेत्यर्थः ॥ अध्ययननित्यतासाधकाभावादु न तस्य नित्यत्वमिति शङ्कते—\*ननुपनयनेति\* ॥ संस्कारनित्यत्वमात्रेण कथमध्ययननित्यता ? न ह्यन्यनित्यत्वेऽन्यनित्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*अङ्गीति\* ॥ अङ्गस्याङ्गितन्त्रत्वादङ्गनित्यत्व-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कल्पयतीति । \*ननु\*—अध्ययनमनारभ्याधीयमानमुपनयनफलं कथमध्ययनाङ्गं स्यात् ? नचोपनयनसंस्कार-विधिमात्रमेवानुपपत्त्या शेषित्वेनाध्ययनं कल्पयति ; श्रुत्यादिविशेषसम्बन्धनिमित्तप्रमाणाभावेऽध्ययनविशेषेण सम्बन्धासिद्धेः, यथा “हिरण्यं धार्यमि”ति विधिः प्रतीतितो हिरण्यसंस्कारार्थोऽपि श्रुत्यादिविशेषसम्बन्धप्रमाणाभावात् संस्कार्यहिरण्यपदार्थसामर्थ्यात् क्रतुसम्बन्धे सर्वक्रतुसम्बन्धप्रसङ्गाद् एकस्य संस्कारस्य सर्वक्रतूपकारित्वानुपपत्तेश्चान्याङ्गतामनश्नुवानः संस्कारकर्मत्वं परित्यज्याभ्युदयफलः स्वतन्त्रो विधिरभ्युपगतः, एवमुपनयनविधिरपि श्रुत्यादिप्रमाणविरहात् संस्कार्यमाणवकसामर्थ्यात् क्रतुसम्बन्धप्रसङ्गादन्याङ्गतामनश्नुवानः संस्कारकर्मत्वं परित्यज्य स्वतन्त्र एवाभ्युदयफलः स्यात् । कर्मस्वरूपविधिर्हि सर्वः स्वभावसामर्थ्यादेवाङ्गाङ्गिभावं सामान्येन प्रमिमाणः श्रुत्यादिसहकृत एव विशेषसम्बन्धं प्रमिमीते, इति नोपनयनस्य संस्कारकर्मता सिध्यति—\*इति\* ॥

\*अत्रोच्यते\*—अध्ययनविधिरेव श्रुत्यादिप्रमाणानपेक्षतया चातुर्थिकेन प्रमाणेनोपगमनमात्मीयाङ्गत्वेन स्वीकरोति ; “आचार्याधीनो वेदमधीष्वे”त्यादिनियमविधानाल्लिखितपाठादिप्रतिषेधे सत्याचार्योपगमनमन्तरेण

## ऋजुविवरणम्

नित्यतेत्याशङ्क्याह—\*अङ्गुपाधिबिहितत्वादिति\* ॥ \*ननु\*—उपनयनस्य संस्कारकर्मत्वात् संस्कारस्य च भूत-भाव्युपयोगयोरन्यतराकाङ्क्षत्वादत्र भूतोपयोगाभावाद् भाव्युपयोगेन भवितव्यम्, तथा सति माणवकस्य शेषित्वा-निर्वाहात् संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या तद्वद्वाराध्ययनशेषत्वं प्रतीयते, इत्याशङ्क्याह—\*नचोपनयनसंस्कारेति\* ॥

\*ननु\* उपनयनस्य द्वितीयया संस्कारकत्वं प्रतीयते, तस्य चान्यार्थत्वनियामकत्वाद्यभावेऽपि सामान्य-संबन्धस्य विशेषनिष्ठत्वादध्ययनसंबन्धः ; यद्वा पर्णताया जुहुमुखेन क्रतुसंबन्धवत् संस्कार्य-माणवकद्वारेणैवाध्ययन-संबन्धोऽङ्गीकर्तव्यः, नतु श्रुत्याद्यभावेन शेषत्वं निराकर्तुं युक्तम् ; तदभावे संस्कारत्वाभावात्, विधिवैयर्थ्यप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह—\*यथा हिरण्यमिति\* ॥ अव्यभिचरितक्रतुसंबन्धाभावादित्यर्थः । \*ननु\*—कर्मविधिरेवाङ्गिभूत-मङ्गभूतं वा कर्म प्रतिपादयन्नङ्गाङ्गिभावे प्रमाणमिति, नेत्याह—\*कर्मस्वरूपविधिर्हीति\* ॥ \*चातुर्थिकेनेति\* ॥ चतुर्था-ध्यायव्युत्पाद्येन विध्यनुपपत्तिरूपेण प्रमाणेन उपगमनमङ्गत्वेन स्वीकरोति, आचार्यस्योपगमनमन्तरेणाध्ययनायोगा-दित्यर्थः । \*ननु\*—नाध्ययनस्योपगमनमन्तरेणानुपपत्तिः ; लिखितपाठादिनाऽप्यध्ययनसंभवात्, इत्याशङ्क्याह—[\*लिखितपाठादीति\* ॥ \*ननु\*—“दृष्टे सती”ति न्यायस्यायं विषयो न भवति, संस्कारनिबन्धनस्याध्ययनोपकार-

## तत्त्वदीपनम्

मङ्गिनोऽपि नित्यत्वमाक्षिपतीत्यर्थः । उपनयनस्याङ्गत्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*नन्वध्ययनमिति\* ॥ “यद्धि प्रकरणे यस्य तत् तदङ्गं प्रचक्षते ॥” इति न्यायादुपनयनस्याध्ययनं प्रकृत्यानाम्नानाद् न तदङ्गत्वमित्यर्थः उपनयनसंस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्योपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वम्, “ब्रीहीन् प्रोक्षती”त्यादौ संस्कारकर्मणामन्यशेषत्वदर्शनादित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* संस्कारविध्यनुपपत्त्योपनयनस्याङ्गिमात्रसंबन्धः सिध्यति, नाङ्गिविशेषसंबन्धः ; तस्य श्रुत्याद्यायत्तत्वात् । नच श्रुत्या-द्यन्यतममस्तीत्यर्थः । तर्हि संस्कारविधेः का गतिः ? इत्याशङ्क्याह—\*यथेति\* ॥ तर्हि प्रतीत्यनुरोधेन संस्कारार्थत्वमेव किं न स्यात् ? तत्राह—\*श्रुत्यादीति\* ॥ श्रुत्यादिलक्षणं यदिदं विशेषसंबन्धप्रमाणम्, तस्याभावादित्यर्थः । जुहुद्वारा पर्णतायाः क्रतुसंबन्धवद् हिरण्यद्वारा क्रत्वर्थहिरण्यसंस्कारस्य क्रतुसंबन्धः किं न स्यात् ? तत्राह—\*संस्कार्येति\* ॥ अस्तु सर्वक्रतुसंबन्ध इति, तत्राह—\*एकस्येति\* ॥ प्रमाणाभावादित्यर्थः । दाष्टान्तिकमाह—\*एवमिति\* ॥

उपनयनविध्यनुपपत्त्याऽन्याङ्गत्वसिद्धेः किं श्रुत्यादिगावेषणेन ? इत्याह—\*कर्मैति\* ॥ उपनयनस्याङ्गत्वे श्रुत्या-द्यन्यतमाभावेऽप्युपादानप्रमाणादुपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वं सिध्यतीति समाधत्ते—\*अत्रोच्यत इति\* ॥ \*चातुर्थिके-नेति\* ॥ विध्यनुपपत्तिलक्षणोपादानेन चतुर्थाध्यायनिर्णीतेनेत्यर्थः । उपनयनमन्तरेण लिखितपाठादिनाऽप्यध्ययन-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

माणवकाध्ययननिर्वृत्ययोगात् । \*ननु\* दृष्टमाचार्योपगमनमध्ययनविधिसामर्थ्यादुपादीयताम्, अदृष्टस्तूपनयन-  
संस्कारः कथमङ्गतयोपादीयत इति ? \*उच्यते\*—आचार्योपगमनविधिरेव नानाविधेति कर्तव्यकलापानुगृहीतोऽ-  
दृष्टं संस्कारमुत्पादयति । स च विधिर्विधिप्रयुक्तप्रयोजनमीक्षमाणो दृष्टोपगमनद्वारेणाध्ययनविध्युपकारे  
सम्भवति नादृष्टं कल्पयति ; दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेः । दृष्टफलातिशयेऽदृष्टे संभवति, स्वतन्त्रादृष्टकल्पना-  
नुपपत्तेरित्यर्थः । तदेवमध्ययनविधिसामर्थ्यादुपादीयमाने सत्याचार्योपगमने तदाश्रितोपनयनविधिजन्यसंस्कार-  
स्यापि तद्वारेणाध्ययनविधिसम्बन्धस्योपनयनविधिसामर्थ्यादेव सिद्धेरुभयविध्युपादानसामर्थ्यादध्ययनाङ्गमुपनयन-  
मिति सिद्धम् । \*ननु\* उपनयनस्य संस्कारकर्मतायां सिद्धायां संस्कारविधेः प्रयोजनाकाङ्क्षा, ततश्चाध्ययन-  
विध्याक्षिप्ताचार्योपगमनदृष्टद्वारेणोपनयनविधिरध्ययनाङ्गतामात्मनः सामर्थ्यात् प्रमिमीते । नचोपनयनस्य संस्कार-  
कर्मत्वे प्रमाणमिति, \*अत्रोच्यते\*—परस्पोपादानसामर्थ्यादेवोपनयनाध्ययनयोरङ्गाङ्गिभावे सिद्धे किमुपनयनं  
प्रोक्षणादिवत् संस्कारकर्मतयाऽङ्गम् ? किं वा प्रयाजादिवदध्ययनफलोपकार्यङ्गम् ? इति विशये संस्कारकर्मतयाऽङ्गत्व-  
मुपादीयते ; अङ्गिस्वरूपोपकारलाभात् सन्निपत्याङ्गत्वात्, फलोपकार्यङ्गानां विप्रकृष्टतयाऽङ्गत्वात्, विप्रकर्षात्  
सन्निकर्षग्रहणस्य युक्तत्वात् । अतो माणवकसंस्कारतयोपनयनमध्ययनस्वरूपोपकार्यङ्गमुभयविध्युपादानसामर्थ्यात्

## अनुविवरणम्

स्याप्यदृष्टरूपत्वादित्याशङ्क्य न्यायस्वरूपं दर्शयति—\*दृष्टफलातिशय इति\* ॥ \*ननु\*—प्रकृतत्वेऽपि माणव-  
कस्यैव तच्छ्रुत्या निर्देशः ; अध्ययनेनापेक्षितत्वात्, न संस्कारस्य ; अनपेक्षितत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*उप-  
नयनाध्ययनयोरिति\* ॥ \*ननु\*—शेषत्वादिवोधकद्वितीयादिश्रुत्यभावे कथं तच्छ्रुतिमात्रेण शेष-शेषित्वम् ? इत्या-

## तत्त्वदीपनम्

संभवात् कथमुपनयनाक्षेपः ? इति शङ्कायामाह—\*आचार्येति\* ॥ दृष्टस्योपगमनस्याध्ययनाङ्गत्वेऽप्यदृष्टसंस्कारस्य  
न तदङ्गत्वम्, तत्साधकाभावादिति शङ्कते—\*ननु दृष्टमिति\* ॥ साधकाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*उच्यत इति\* ॥

किमदृष्टः संस्कार एव नास्तीत्यभिप्रायः ? उत तमङ्गीकृत्याङ्गत्वाक्षेपः ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*आचा-  
र्येति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*स चेति\* ॥ विधेरदृष्टं फलमित्युक्तम्, ततः कथं तत्प्रतिक्षेपः ? इत्याशङ्क्याह—  
\*दृष्टफलेति\* ॥ दृष्टफलसंभवोऽतिशयो दृष्टफलातिशयः, तस्मिन्नित्यर्थः । कोऽसावतिशयः ? इति वीक्षायामुक्तम्—  
\*अदृष्ट इति\* ॥ न दृष्टोऽन्वयादिना, किं तु शास्त्रेणैवेत्यर्थः । उक्तमर्थं स्पष्टीकुर्वन्नपसंहरति—\*तदेवमिति\* ॥  
“तदाश्रिते”त्यत्रोपगमनं तच्छब्दार्थः । तदाश्रितश्चासावुपनयनविधिजन्यसंस्कारश्चेति तथोक्तस्येति विग्रहः । \*तद्वारे-  
णेति\* ॥ उपगमनद्वारेणेत्यर्थः । \*उभयेति\* ॥ उभयविध्यनुपपत्तिबलादित्यर्थः । उपनयनस्य संस्कारकर्मत्वम-  
सिद्धम्, येनाङ्गत्वं सिध्येदिति शङ्कते—\*ननूपनयनस्येति\* ॥ नच—“व्रीहीन् प्रोक्षती”तिवद् ‘माणवकमि’ति द्वितीयया  
संस्कार्यत्वं प्रथेतेत्यपि—शङ्क्यम् ; प्रयोजकव्यापारे विधि व्युद्भूतः, ‘माणवक उपगच्छेदि’ति माणवकव्यापारे विध्यङ्गी-  
करणादित्यर्थः । प्रमाणाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*अत्रोच्यत इति\* ॥

संस्कारकर्मत्वं दर्शयितुमुपनयनाध्ययनयोरङ्गाङ्गितायां न विमतिः कार्येत्याह—\*परस्परेति\* ॥ परस्परा-  
पेक्षाभयोपादानप्रमाणबलादित्यर्थः । तथाऽपि कथं संस्कारकर्मत्वम् ? तत्राह—\*किमुपनयनमिति\* ॥ तत्र हेतुमाह—  
\*नाङ्गीति\* ॥ तदुपपादयति—\*संनिपत्येति\* ॥ यत् समवायिन्युत्पत्त्याद्यन्यतमफलं कुर्वत् प्रधानस्योपकरोति, तत्  
संनिपत्योपकारकम्, ततश्चोपनयनस्य संस्कारकर्मत्वमङ्गिस्वरूपोपकारकत्वमित्यर्थः । फलोपकाराङ्गत्वेऽपि किं बाधकम् ?  
तत्राह—\*फलेति\* ॥ भवतु विप्रकृष्टतयाऽङ्गत्वम्, ततः किमिति ? अत आह—\*विप्रकर्षादिति\* ॥ सन्निकर्षविप्रकर्षयोः  
सन्निकर्षग्रहणं युक्तमित्यर्थः । फलितमाह—\*अत इति\* ॥ येन माणवकव्यापारे विधिराश्रीयते, तेनाप्याचार्यव्यापार-  
कर्मत्वमपरित्यज्याचार्येण नीयमानः सन्नुपगच्छेदिति प्रयोजकव्यापारानुवादेन प्रधानकर्तृव्यापारे विध्यङ्गीकरणाद्  
माणवकस्य संस्कार्यत्वमित्यर्थः ।



## पञ्चपादिका

नित्यम् । तथा च निन्दाश्रवणम्—“अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयः शूद्रसधर्माणो भवन्ती”ति । एवं चेत् कथं नित्यमनित्येन प्रयुज्यते ? इति वाच्यम् । \*ननु\* कथमाचार्यकरणविधिरनित्यः ? \*यावता वृत्त्यर्थो हि सः\* । नहि कश्चिद्विना धनेन जीविष्यति । तथाचोक्तम्—“जीविष्यति विना धनेनेत्यनुपपन्न-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सिद्धम् । \*किंच\* “अष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्” “सोऽधीयीते”ति वाक्यविपरिणामस्य वक्ष्यमाणत्वात् तच्छब्द-श्रुतिरेवोपनयनसंस्कृतं माणवकमादाय स्वाध्यायाध्ययने नियुङ्क्ते, इति श्रुत्यनुगृहीत एवोपनयनविधिरध्ययनाङ्गतामात्मनः प्रतिपादयति । तच्छब्देन संस्कारो न परामृश्यते, किंतु माणवक एवेति न युक्तं वक्तुम् ; अनन्तरप्रकृतत्वात् संस्कारस्य, उपनयनाध्ययनयोः परस्परसाकाङ्क्षत्वस्य दर्शितत्वात्, आकाङ्क्षितसमर्पणत्वाच्च श्रुतेः, अविभक्तेरपि प्रातिपदिकस्यान्विताभिधायितया सम्बन्धप्रतिपादकत्वात् । तस्मात् श्रुत्यनुगृहीत एव विधिरङ्गाङ्गिभावं प्रमिमीत इति । \*किञ्च\* वाजसनेयिनां सर्वस्मृत्यनुमितश्रुतिषु चोपनयनं प्रकृत्याध्ययनविधानात् फलवदध्ययनप्रकरणानुगृहीत एवोपनयनविधिरध्ययनाङ्गतामात्मनः प्रतिपादयति । तस्माद् युक्तम्—संस्कारश्च स्वाध्यायाध्ययनार्थ इति । \*ननु\* काम्यत्वेऽप्याचार्यकरणविधिर्नित्यसमीहितफलत्वान्नित्य एव । ततश्च न नित्यानित्यसंयोगविरोध इति चोदयति—\*ननु कथमाचार्यकरणेत्यादिना\* ॥ फलस्य नित्यसमी-

## ऋजुविवरणम्

शङ्क्याह—\*अविभक्तेरपीति\* ॥ \*ननु\*—उपनयनं प्रकृत्याध्ययनस्य विहितत्वेऽध्ययनस्य तत्प्रकरणपठितत्वेन तदङ्गत्वं स्यात्, नतूपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वमित्याशङ्क्याह—\*फलवदध्ययनप्रकरणेति\* ॥ फलवतः प्रकरणम्, नतु प्रक्रममात्रम् ; “फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति”न्यायादिति भावः । “\*ननु\*—कथमाचार्यकरणविधिरिति”त्यनेन नित्यसमीहितफलत्वेन नित्यत्वमुक्तम्, तद्व्याहतम् ; आचार्यकरणकामस्याधिकाराङ्गीकारात्, तदभावे वृत्त्यर्थत्वस्याप्यभावात् ; काम्यत्वाङ्गीकारे पूर्वोक्तदूषणस्य परिहर्तुमशक्यत्वाद् व्यर्थमेतच्चोद्यमित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु काम्यत्वेऽपीति\* ॥ “भवेदेवमिति”त्यसंबद्धम् ; फलस्य नित्यसमीहितत्वस्य व्यभिचारित्वेन वक्तुमशक्यत्वादित्याश-

## तत्त्वदीपनम्

न केवलमनुपपत्त्योपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वम्, किं तु श्रुतितोऽपीत्याह—\*किं चाष्टवर्ष इति\* ॥ “सोऽधीयीते”त्यत्र तच्छब्दश्रुत्या माणवकः परामृश्यते, न संस्कारः, येनाध्ययनाङ्गत्वं सिध्येदित्याशङ्क्याह—\*तच्छब्देनेति\* ॥ केवलमाणवकस्य व्यवहितत्वात् संस्कृतस्य चाव्यवहितत्वात् तदग्रहणमित्यर्थः । तथाऽप्याकाङ्क्षाऽभावान्न संस्कारस्य तच्छब्देन ग्रहणमित्याशङ्क्याह—\*उपनयनेति\* ॥ प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रकृत्यर्थस्तावत्प्रत्ययार्थोपसर्जनम् ; ततश्च संस्कृतस्य प्रकृत्यर्थत्वाद् न अधीयीते”त्यनेन संबन्ध इत्याशङ्क्याह—\*अविभक्तेरपीति\* ॥ विभक्तिप्रत्ययवत् तद्व्यतिरिक्तप्रातिपदिकस्यापि—“अधीयीते”ति प्रधानविध्यन्विताभिधायित्वं वक्तव्यम्, अन्यथा प्रयोगस्यैवानुपपत्तिरित्यर्थः । प्रकरणपर्यालोचनायामप्युपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वमित्याह—\*किंचेति\* ॥ उपनयनं प्रकृत्याध्ययनसमाप्तानाहु अध्ययनस्योपनयनाङ्गत्वं प्राप्तम्, इत्याशङ्क्याह—\*फलवदिति\* ॥ न प्रकृतमात्रं प्रकरणम्, किंतु फलवतः । ततश्च “फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति”ति न्यायान्निफलस्योपनयनस्य फलवदध्ययनशेषत्वमित्यर्थः ॥

आचार्यकरणविधेर्नित्यसमीहितफलत्वेऽपि न नित्यत्वम्, अकरणे प्रत्यवायाश्रवणात्, इतरथा काम्यत्वव्याधातात्, ततश्चासङ्गत उत्तरो ग्रन्थ इत्याशङ्क्याह—\*ननु काम्यत्व इति\* ॥ अध्यापनविधेराचार्यफलत्वात् काम्यत्वं तावदेष्टव्यम् । नच—एवं सत्यनित्येन तेन नित्यस्याध्ययनस्य न प्रयोज्यत्वमिति—वक्तव्यम् ; आचार्यत्वस्यापि धनार्जनद्वारा पुमर्थत्वम्, धनं च समीहितमिति नित्यानुष्ठेयत्वादध्यापनस्य । ततो न नित्यानित्यसंयोगविरोध इत्यर्थः । फलस्यापि नित्यसमीहितत्वासिद्धेः—“भवेदेवमिति”त्येतदसङ्गतमित्याशङ्क्याह—\*फलस्येति\* ॥ अध्यापनस्य नित्यत्वमङ्गीकृतं चेत्,



## पञ्चपादिका

मि”ति । अतः सर्वेषां सर्वदा समीहितफलः सन् कथमनित्यः स्यात् ? भवेदेवं नित्यता फलवशेन, न शब्दात् । तथाहि—फलस्य नित्यसमीहितत्वादवश्यकर्तव्यता वास्तवी । तत्रासति शब्दव्यापार इच्छातः कर्तव्यताप्रतिपत्तिः स्यात्, न कर्तव्यताप्रतिपत्तेरिच्छा । शाब्द्यां हि नित्यकर्तव्यताप्रतिपत्तौ शब्दस्य

## पञ्चपादिकाविवरणम्

हितत्वमङ्गीकृत्य परिहरति—\*भवेदेवं नित्यता फलवशेन, न शब्दादिति\* ॥ \*ननु\* फलसामर्थ्याद्वा शब्द-सामर्थ्याद्वाऽनुष्ठेयं नित्यकर्तव्यं चेत्, किं प्रमाणविशेषेण हीयत इति ? तत्राह—\*तथाहि फलस्य नित्यसमीहित-त्वादिति\* ॥ \*वास्तवी = फलवस्तुसामर्थ्यनिबन्धनेत्यर्थः । \*ननु\* अध्यापने क्वचित् फलसाधनकामनाधीना कर्तव्यताप्रतिपत्तिः, अन्यत्र तु शाब्दकर्तव्यताप्रतिपत्त्यधीनाऽध्यापने फलसाधनेच्छा, किमत्राध्यापनस्य नित्य-कर्तव्यताप्रतिपत्तेरायातमिति ? तत्राह—\*शाब्द्यां हि नित्यकर्तव्यताप्रतिपत्ताविति\* ॥ अस्त्यत्र विशेषः, कथम् ? अध्यापनविधिर्हि शब्दान्नित्यतया प्रतिपन्नो विशेषेण स्वाधिकारोपाधौ सर्वदा सर्वान् प्रत्यनुष्ठेयेच्छा-मुत्पाद्य प्रवर्तयति ; प्रामाणिककर्तव्यताप्रतिपत्तेः स्वोपाधौ संकोचाभावात्, इच्छाधीने तु कर्तव्यतावगमे तत्सङ्कोचादेव कर्तव्यतावगमसङ्कोचाद् न नित्यवदध्यापनसिद्धिरिति । \*ननु\* प्रामाणिकनित्यकर्तव्यताधीनाऽपीच्छा क्वचिद्देशे काले वस्तुनि च कारकसामर्थ्याभावादिवशेनौचित्यात् प्रतिहन्यते, तत्र कथं नित्यकर्तव्यताधीननित्ये-

## ऋजुविवरणम्

इत्यावतारयति—\*फलस्य नित्येति । \*ननु\*—फलसामर्थ्यादिति\* ॥ फलप्रयुक्तमध्यापनं भवतु, नित्यविधिप्रयुक्तं वा, उभयथाऽपि नित्यवदध्यापने प्रयुक्तिः संभवत्येव, तथाऽध्ययनस्यापि । \*किं प्रमाणविशेषेण हीयत इति\* ॥ फलस्य प्रवर्तकत्वस्वीकारेण शब्दविशेषस्वीकारेण प्रमाणविशेषाभावेन वा कस्यार्थस्य हानिर्भवतीत्यर्थः । वास्तवीति परमार्था, इत्युक्तमिव प्रतिभाति ; तथा सत्यविशेष एव, तदर्थं व्याचष्टे—\*फलवस्तुसामर्थ्येति\* ॥ \*ननु\*—अध्यापनविधिप्रयुक्तिपक्षे तत्फलप्रयुक्तिपक्षे चाध्यापनस्य नित्यकर्तव्यत्वेन न कश्चिद्विशेषः, उभयत्रेच्छाया अविशेषेण सर्वान् प्रति संभव उक्तः, नतु कर्तव्यतायाः ; अन्यतरस्मिन् पक्षे विशेष उक्तः । अतः पृष्टस्य विशेषस्यानुक्तत्वाद् असंबद्धत्वमिति शङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—\*अस्त्यत्र विशेष इति\* ॥ “औचित्यादिभावेऽपीच्छायाः” इति, अवतरणिकायामर्थाद्व्याख्यातम् । “प्रमाणतस्तावन्नित्यः” इत्यनेन कस्य नित्यत्वमुक्तम् ? यच्चास्मिन् पक्षे नित्यवदनुष्ठानं नोपपद्यत इति चोदितम्,

## तत्त्वदीपनम्

न तर्हि विवाद इति शङ्कते—\*ननु फलेति\* ॥ \*किं प्रमाणविशेषेणेति\* ॥ फलसामर्थ्यलक्षणविशेषानुरोधेनापि नित्य-कर्तव्यतासिद्धेर्न काचित् क्षतिः । तथा चावश्यकर्तव्यताप्रतिपादकशब्दप्रमाणाभावो निष्फल इत्यर्थः ॥

अवश्यकर्तव्यतायाः परमार्थत्वोपगमो निष्फलः ; तत्र विमत्यभावादित्याशङ्क्याह—\*वास्तवीति\* ॥ इच्छातः कर्तव्यताप्रतिपत्तावपि नानिष्टं किञ्चिदापादितं स्यादिति शङ्कते—\*नन्वध्यापन इति\* ॥ \*क्वचित्=काम्यत्वपक्षे । \*अन्यत्र=नित्यत्वपक्षे । अध्यापनस्य नित्यत्वे काम्यत्वे च विशेषस्यानभिहितत्वात् समाधेराभासत्वम् । नचैकत्रेच्छाया नित्यत्वमन्यत्रानित्यत्वमिति वैषम्यम् ; शब्दान्नित्यकर्तव्यताप्रतिपत्तावप्यनधिकृतानामिच्छानुदयादित्याशङ्क्य, टीका-सूचितं विशेषमाह—\*अस्तीति\* ॥ आकाङ्क्षापूर्वकं विशेषं दर्शयितुमाशङ्कामाह—\*कथमिति\* ॥

“यावज्जीवमग्निश्रोत्रं जुहुयादि”ति जीवनोपाधौ सायंप्रातःकालयोर्होमस्यावश्यकर्तव्यतोक्तावश्यानुष्ठेयत्ववत् शब्दादध्यापनस्यावश्यकर्तव्यताप्रतिपत्तौ नित्यानुष्ठानम् ; इतरथा “चित्रया यजेत पशुकामः” इत्यादौ कामनाप्रतिबन्धे चित्रानुष्ठानं स्यादित्याह—\*अध्यापनेति\* ॥ \*स्वाधिकारोपाधाविति\* ॥ विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तब्राह्मण्याद्युपाधा-वित्यर्थः । शब्दकर्तव्यताप्रतिपत्तावप्यननुष्ठानं दृष्टमिति शङ्कते—\*ननु प्रामाणिकेति\* ॥ इच्छाया औचित्यादिभावेऽपि



## पञ्चपादिका

सर्वदा सर्वान् प्रत्येकरूपत्वादिच्छाऽपि तद्वशवर्तिनी तथैव स्यात् ; औचित्यादिभावेऽपि कस्यचित् कथंचित् क्वचित् कदाचिदिच्छायाः । तेन नित्येन तथाविधमेव प्रयुज्यते, इत्यतो नित्यानित्यसंयोगविरोधः फलवशात् तत्कर्तव्यताप्रतिपत्तौ । यद्यपि नित्याभिलषितं फलम् ; तथाऽप्युपायान्तरादपि तत्सिद्धेः, तदेकोपायत्वेऽप्यालस्यादायासासहिष्णुतया वा कामस्य कुण्ठीभावे न कर्तव्यतायाः प्रतिपत्तिः, इत्यनित्यत्वे सति न तेन नित्यस्य प्रयोज्यत्वमुपपद्यते ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

च्छाद्वारेण नित्यवदनुष्ठानमिति ? तत्राह—\*औचित्यादिभावेऽपीति\* ॥ प्रमाणतस्तावन्नित्योऽध्यापनविधिः प्रत्यवायभयादिव यावच्छक्यमिच्छादिद्वारेणाधिकारिणमनुष्ठापयतीत्यर्थः । तेनेति स्पष्टार्थः । \*ननु\* प्रमाणतो विधिनित्यत्ववदिच्छातोऽपि कर्तव्यतानित्यत्वं किं न स्यादिति ? नेत्याह—\*फलवशात् कर्तव्यताप्रतिपत्ताविति\* ॥ अनित्यैव सा स्यादित्यध्याहारः । \*ननु\* अर्थस्य नित्यसमीहितत्वात् कर्तव्यताप्रतिपत्तिनिमित्तकामोऽपि नित्य एवेत्यत आह—\*यद्यपीति\* ॥ उपेयनित्यत्वेऽप्युपायमेवादध्यापनकर्तव्यताऽप्यनित्यैवेत्यर्थः । \*ननु\* कस्यचिदुपायान्तरासमर्थस्य तदेकोपायत्वान्नित्यकर्तव्यतेति, तन्नाह—\*तदेकोपायत्वेऽपीति\* ॥ \*अतो नित्यानित्यसंयोगविरोध इति\* । इदानीं स्वतो नित्यत्वाभावेऽपि नित्यपुत्रोत्पादनविधिशेषतयोपनयनाध्यापन-

## ऋजुविवरणम्

तच्च न परिहृतम्, अतो व्याचष्टे—\*प्रमाणतस्तावन्नित्योऽध्यापनेति\* ॥ “फलवशादि”ति साकाङ्क्षत्वात् पूरयति—\*अनित्यैवेति\* ॥ “उपायान्तरादपी”ति व्यर्थम् ; अर्थस्य नित्यसमीहितत्वेनाध्यापननित्यत्वचोद्यस्यापरिहारात्, इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*उपायनित्यत्वेऽपीति\* ॥ “ननु—पितुरि”त्यनेन ग्रन्थेन पुत्रोत्पादनस्यानुशासनपर्यन्तत्वादनुशासनस्य चोपनयनाध्यापनेन विनाऽनुपपत्तेस्तदाक्षिप्तत्वादाचार्यकरणविधेः नित्यत्वेन भवितव्यमिति चोदितम्, तद् व्यधिकरणम् ; नहुपनयननाध्यापनयोस्तदाक्षिप्तत्वमाचार्यकरणविधिं व्याहन्ति, नाप्युपनयनाध्यापनयोराक्षिप्तत्वप्रदर्शनं पूर्वोक्तदूषणपरिहार उपयुज्यते, अतो निष्प्रयोजनमेतच्चोद्यमित्याशङ्क्यावतारयति—\*इदानीमिति\* ॥ कथं पुत्रोत्पादनविधेरनुशासनपर्यन्ततोच्यते ? नहि पुत्रोत्पादनविधेरनुशासनेन विनाऽनुप-

## तत्त्वदीपनम्

प्रमाणतस्तावन्नित्य इति संबन्धः । औचित्यादिभावमेवाह—\*कस्यचिदित्यादिना\* ॥ व्याध्याद्युपद्रवात्कर्तृसंकोचमाह—\*कस्यचिदिति\* ॥ \*कथंचिदिति\* साधानदौर्लभ्यादिनिमित्तं संकोचं दर्शयति । सुदेश-कालदौर्लभ्यनिमित्तं संकोचमाह—\*क्वचिदिति\* ॥ दुष्कालनिमित्तः संकोचः कथ्यते—\*कदाचिदिति\* ॥ सामर्थ्यादिपर्यालोचनयेदानीमेतदुचितमितीच्छाया औचित्यादिभावेऽप्यवश्यकर्तव्यतायाः प्रतिपन्नत्वाद् यथाशक्त्यनुष्ठानं सेत्स्यतीति टीकार्थः । टीकायामपेक्षितं पूरयति—\*प्रमाणत इति\* ॥

नित्यताप्रतिपत्तावपि प्रतिबन्धे कथं नित्यवदनुष्ठानम् ? इत्याशङ्क्य, टीकायामपेक्षितं पूरयन्नाह—\*प्रत्यवायेति\* ॥ कामनाधीनकर्तव्यताप्रतिपत्तिरित्यत्रापि नित्यानुष्ठानं सिध्यतीति शङ्कते—\*ननु प्रमाणत इति\* ॥ फलस्य नित्याभिलषितत्वेन तत्कामनाया अपि नित्यत्वादिति द्रष्टव्यम् । कामनाया अनित्यत्वात् तत्प्रयुक्तकर्तव्यताऽप्यनित्येत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ कर्तव्यताप्रतिपत्तेरशाब्दत्वेऽपि फलस्य नित्यसमीहितत्वसिद्धेः “फलवशादि”ति कथमुक्तमित्याशङ्क्यापेक्षितं पूरयति—\*अनित्येति\* ॥ कामनाया अनित्यत्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*नन्वर्थस्वेति\* ॥ “तथाऽपी”त्यस्य साकाङ्क्षत्वेनानर्थक्यमित्याशङ्क्याह—\*उपायेति\* ॥ याजन-प्रतिग्रहलक्षणोपायान्तराभावेऽध्यापनस्य नित्यत्वं सिध्यतीति शङ्कते—\*ननु कस्यचिदिति\* ॥ अनित्येन नित्यस्याप्रयोज्यत्वसमर्थनफलमाह—\*अत इति\* ॥

अध्यापनविधेः काम्यत्वात् कथं नित्यत्वचोद्यम् ? इत्याशङ्क्य, तात्पर्यमाह—\*इदानीमिति\* ॥ दर्श-पौर्णमासयोर्यथा काम्यत्वं नित्यत्वं च, तद्वदध्यापनस्यापीत्यर्थः । पुत्रोत्पादनविधेरनुशासनेन विनाऽनुपपत्त्यभावात् कथमनु-



## पञ्चपादिका

\*ननु\* पितुः पुत्रोत्पादनविधिरनुशासनपर्यन्तः श्रूयते—“तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासती”ति । अतः पुत्रोत्पादनस्य नित्यत्वात् तस्य चानुशासनपर्यन्तत्वात् तदाक्षिप्तत्वाच्चोपनयनाध्ययनयोः कथमाचार्यकरणविधिरनित्यः स्यात् ? कथं वाऽध्ययनस्यार्थावबोधपर्यन्तता न भवेत् ? \*उच्यते\*—नानेन पुत्रानुशासनं विधीयते, पुत्रोत्पादनविधिशेषत्वेन स्वतन्त्रमेव वा, किन्तु सम्पत्तिकर्मविधिशेषोऽयमर्थवादः ; तेनैकवाक्यत्वात् । अतो यथाप्राप्तमनुशासनमनुवदति । किं तदनुशासनम् ? कथं वा तत् प्राप्तवदनूद्यते ? \*उच्यते\*—नित्यस्य पुत्रोत्पादनविधेः प्रयोजनम्—यत् पितृणां लुप्तपिण्डोदकक्रियाणां नरकपातश्रवणात् पितृपिण्डोदकक्रियाद्यनुष्ठानेन नरकपातत्राणम् । न च शास्त्रीयेण परिज्ञानेन विना तदनुष्ठानं सम्भवति । तेन पित्रा नित्यमात्मनः पुत्रोत्पादनाधिकारं परिसमापयितुं पुत्रस्यावश्यकर्तव्यार्थ-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

योर्नित्यत्वान्न नित्यानित्यसंयोगविरोध इति चोदयति—\*ननु पितुः पुत्रोत्पादनविधिरिति\* ॥ तत्र पुत्रोत्पादनविधेः पितृणां परलोकगतानामस्मिन् लोके पिण्डपितृयज्ञाद्यनुष्ठानद्वारेण तृप्तिसम्पादनं प्रयोजनम् । नचोपनयनाध्यापनार्थज्ञानादिव्यतिरेकेणानुष्ठानं सम्भवति । ततश्च नित्यस्य पुत्रोत्पादनविधेः फलपर्यन्ततापेक्षितमनुशासनं तच्छेषतया विदधाति “तस्मात्पुत्रमि”ति वाक्यम् । ततश्च पितुरेव नित्यपुत्रोत्पादनविधिसामर्थ्यादुपनयनादिविधीनां नित्यत्वं प्राप्तम् । ततश्चार्थज्ञानपर्यन्तत्वादननुशासनस्याध्ययनमप्यर्थज्ञानफलमित्याह—\*कथं वाऽध्ययनस्येति\* ॥ परिहरति—\*नानेन पुत्रानुशासनं विधीयत इति\* ॥ “अथातः संपत्तिर्यदा प्रौढ्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोकः” इति वेद-तदर्थ-तत्फलानां स्वानुष्ठेयानां पुत्रे समर्प्यमाणानां “स पुत्रः प्रत्याह अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोकः” इति पुत्रेणानुष्ठेयतया स्वीकरणं संपत्तिकर्म । तत्र च पूर्वानुशासनमन्तरेणाकस्मादेव सकलकर्तव्यसंग्रहानुपपत्तेः फलपर्यन्तपुत्रोत्पादनविधिनाक्षिप्तमनुशासनं पूर्वनिवृत्तमेवार्थ-वादतयाऽनुवदत्येतद्वाक्यमिति भावः । मा भूत् तदेतद्वाक्यमनुशासनविधायकम् ; तथाऽपि नित्यपुत्रो-

## ऋजुविवरणम्

पत्तिरस्ति, नापि वचनसामर्थ्यान्निश्चेतुं शक्यते ; वचनस्य वर्तमानापदेशत्वेनातत्परत्वात् । एवञ्च नोपनयनादेरपि तदाक्षिप्ततया नित्यत्वम् ; आक्षेपकत्वाभावात्, अतो नित्यानित्यसंयोगविरोधस्तदवस्थ एवेत्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र पुत्रोत्पादनविधेरिति\* ॥ संपत्तिकर्मेति । तत्र किं तत् संपत्तिकर्म ? कथञ्च तच्छेषत्वमस्य वाक्यस्य ? नह्यनेनानुवादेन विना तस्य कर्मणोऽनुपपत्तिः । न ह्यनुपपुक्तप्रतिपादकस्य तेनैकवाक्यत्वमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अथातः संपत्तिरित्यादिना\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

शासनाक्षेपत्वम् ? अनुशासनस्य वा कथमुपनयनाद्याक्षेपकत्वम् ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ वेद इति यावत् । \*अनुष्ठानद्वारेणेति\* ॥ पुत्रेणानुष्ठानद्वारेणेत्यर्थः । तथाऽपि कथमनुशासनाक्षेपकत्वम् ? तत्राह—\*नचेति\* ॥ अध्ययनविधेर्नार्थावबोधः फलमित्युक्तम्, तच्चैवं सति निराकृतमित्याह—\*ततश्चार्थेति\* ॥ “तस्मात्पुत्रम्” इत्यादिवाक्यं संपत्तिकर्म । विध्यपेक्षितार्थाप्रतिपादकस्य कथं तच्छेषत्वम् ? इति परिहारस्याभासत्वमाशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ सम्यक् परिहारं दर्शयितुं संपत्तिकर्म तावदाह—\*अथात इति\* ॥ प्रारब्धकर्मोपभोगानन्तर्यमथशब्दार्थः । कर्मान्तरस्य फलोन्मुखत्वमतःशब्दार्थः । प्रैष्यन् = मरिष्यन्नित्यर्थः । श्रुत्यादिप्रतिपन्नगर्दभारोहणादि यन्मरणसूचकं स्वप्राद्युपलब्धम्, तद्दर्शनेनैष्यन्मरणं जानन्नित्यर्थः । त्वं ब्रह्मेत्येदर्थमाह—\*वेदेति\* ॥ समर्प्यमाणानां पुत्रेणानुष्ठेयतया स्वीकरणं संपत्तिकर्मेति संबन्धः । स्वीकरणप्रकारमाह—\*स पुत्र इति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*तत्र चेति\* ॥ अनुशासनस्यान्यतः प्राप्तत्वात् “तस्मात्पुत्रमि”त्यादिवाक्यस्यानुशासनाविधायित्वेऽपि वाक्यान्तरादननुशासनं प्रतीयत इति शङ्कते—\*मा भूदिति\* ॥



## पञ्चपादिका

विषयं गर्भाष्टवर्षेण ब्राह्मणेन त्वयोपनयनाख्यः संस्कारः कारयितव्यः, यः स्वाध्यायाध्ययनार्थो विहित इति यदनुशासनम्, तदिहानूयते—“तस्मादेनमनुशासतीति” ॥ तथाच लिङ्गम्—“श्वेतकेतुर्होऽऽरुणेय आस । तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मवन्धुरिव भवती”ति । तदेवमनित्येनाचार्यकरणविधिना कथं नित्यं प्रयुज्यत इति वाच्यम् । \*किंच\* आचार्ये प्रेत आचार्यान्तरकरणं न प्राप्नोति ; नह्यधिकारी प्रतिनिधीयते, नाध्यधिकारः । अधिकारी

## पञ्चपादिकाविवरणम्

त्पादनविधिसामर्थ्यादेव पितुरुपनयनाद्यनुशासनविधिर्नित्य एव प्रात इति, तत्राह—\*गर्भाष्टवर्षेणेत्यादिना\* ॥ \*अयमर्थः\*—नित्यपुत्रोत्पादनविध्यधिकारिणः पितुरायुर्नियमाभावादनुशासनपर्यन्तमवस्थानानुपपत्तेः कर्तव्यार्थोपदेशनमेवानुशासनम्, नानुष्ठापनम् । अतो नित्यपुत्रोत्पादनविध्याक्षिततयाऽपि नोपनयनादिविधेर्नित्यतेति । \*ननु\* पितुः कर्तव्योपदेशनमेवानुशासनं नोपनयनाद्यनुष्ठापनमिति कथमवगम्यते ? तदाह—\*तथाच लिङ्गं श्वेतकेतुरिति\* ॥ ततश्च नित्यानित्यसंयोगविरोधस्तदवस्थ एवेत्याह—\*तदेवमनित्येनेति\* ॥ \*ननु\* माणवक एव एकस्मिन्नाचार्ये मरणादिना निवृत्ते पुनराचार्यान्तरमाहूय नित्यमध्ययनं सम्पादयिष्यतीति, नेत्याह—\*किंचाचार्ये प्रेत इति\* ॥ न तावन्माणवक एव स्वनियोगेन प्रेर्यमाणः स्वाधिकारं निर्वर्तयितुमाचार्यान्तरं सम्पादयति ; अनङ्गीकरणात्, नाप्याचार्यनियोगेन ; अधिकारिणोऽभावे नियोगस्य कर्तव्यताप्रतिपत्त्यभावात्, अकर्तव्यानुष्ठानेन साधनसंपादनायोगादिति । \*ननु\*—साधनान्तरप्रतिनिध्युपादानवदधिकारिणोऽपि प्रतिनिध्युपादानेन कर्तव्यं माणवकः सम्पादयेदिति, नेत्याह—\*नचाधिकारी प्रतिनिधीयत इति\* ॥ अवश्य-कर्तव्यस्य ह्यननुष्ठाने प्रत्यवायात् तदनुष्ठानाय हि मुख्याभावे प्रतिनिधिरादीयते ; अधिकार्यभावे ‘ममेदमि’ति सम्बन्धानवगमादकर्तव्ये नियोगे कस्यावश्यानुष्ठानाय प्रतिनिधिरादीयते ? न तावन्मृतस्य ; तस्य विधिसम्बन्ध-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—मुख्यानुशासनं विहाय कर्तव्यतोपदेशनमेवानुशासनं कस्मादङ्गीकृतम् ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थो नित्येति\*—\*अवस्थानानुपपत्तेरिति\* ॥ अयमर्थः—नित्यपुत्रोत्पादनविधेरनुशासनपर्यन्तत्वं न संभवति ; मृते पितरि नित्याध्ययनाभावप्रसङ्गादिति । “किञ्च आचार्ये”इत्यनेन युक्त्यन्तरमुच्यत इति प्रतिभाति, तदयुक्तम् ; नह्यआचार्यान्तरकरणाभावे पूर्वं युक्तिरुक्ता, असङ्गतञ्चैतन्निराकरणमित्याशङ्क्य, पूर्वग्रन्थोक्तदूषणपरिहारेण शङ्कां दर्शयति—\*ननु माणवक एवेति\* ॥ कथमाचार्यान्तरकरणं निषिध्यते ? अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षेऽप्यङ्गीकरणीयत्वादित्याशङ्क्याह—\*न तावन्माणवक एवेति\* ॥ स्वेनोपनीतस्य मृतत्वात् कारणान्तरेण वा निवृत्तत्वाद् अन्येनोपनीतमध्यापये-

## तत्त्वदीपनम्

उपदेशनमनुशासनमित्युक्तं टीकायाम्, तत् कस्मात् ? अनुष्ठापनमेवानुशासनं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ उपदेशनमेवानुशासनं नानुष्ठापनमित्यत्र विनिगमने हेत्वभावं शङ्कते—\*ननु पितुरिति\* ॥ नचायुर्नियमाभावो नियामक इति शङ्क्यम् ; ‘शतायुर्वै पुरुषः’ इत्यायुषो नियमादित्यर्थः । विनिगमनहेत्वभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तदाहेति\* ॥ यद्यप्यध्यापनविधिरनित्यः ; तथाऽपि नित्याध्ययनसिद्धिरिति शङ्कते—\*ननु माणवक इति\* ॥ आचार्यान्तरप्राप्तौ नित्याध्ययनसिद्धिः, सैव न सिद्धयतीत्याह—\*पुनराचार्य इति\* ॥ आचार्यान्तरप्राप्तौ को हेतुरिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं माणवकनियोगादाचार्यान्तरप्राप्तिः ? उत पूर्वाचार्यनियोगात् ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ पूर्वाचार्यप्रतिनिधेराचार्यान्तरस्य नियोगनिवृत्त्यर्थमाचार्यान्तरसंपादनमिति शङ्कते—\*ननु साधनेति\* ॥ टीकापेक्षितं हेतुमाह—\*अवश्यकर्तव्यस्येति\* ॥ \*अधिकार्यभाव इति\* ॥ अध्यापनाधिकार्यभाव इत्यर्थः । कस्येति सूचितामनुपपत्तिं दर्शयति—\*न तावदित्यादिना\* ॥ कर्तव्यताप्रतिपत्तौ सत्यं प्रतिनिधिकल्पनं प्रतिनिधौ च कर्तव्यताप्रतिपत्तिरिति परस्परश्रयप्रसक्तिरित्यर्थः । प्रकारान्तरेण नित्याध्ययन-



## पञ्चपादिका

स्वाधिकारसिद्ध्यर्थं साधनान्तरप्रेषे साधनान्तरं प्रतिनिधाय स्वाधिकारं निर्वर्तयतीति युक्तम्; एवमेषा बहुदोषा कल्पना दृश्यते । तस्माद् माणवकस्यैव नियोगः । कथं गुणकर्तृव्यापारसम्बन्धो विधिः प्रधान-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

निमित्तनिवृत्तेः कर्तव्यत्वाभावात्, नापि प्रतिनिधेः ; आचार्यस्येदं कर्तव्यम्, तस्य कर्तव्यसिद्ध्युत्तरकालत्वात् । तस्मान्नाधिकारिणः प्रतिनिधिसम्बन्धः । न तर्हि सर्वत्र प्रतिनिधिर्वार्तावकाश इति, तदाह—\*अधिकारी स्वाधिकारसिद्ध्यर्थमिति\* ॥ \*ननु\* आचार्ये प्रेतेऽन्यः कश्चिदाचार्यः स्वाधिकारं निर्वर्तयितुं माणवकं स्वीकरिष्यति, किं माणवकस्याचार्यान्तरकरणव्यापारेणेति ? \*न\* ; पुनरुपनयनाभावात्, उपनेतृत्वाङ्गस्या-चार्यव्यापारस्याभावेऽङ्गव्यापननिर्वृत्त्ययोगात्, माणवकान्तरेऽङ्गं निर्वृत्तमिति चेत्, तेनैवाध्यापनस्यापि सिद्धेन माणवकान्तरस्वीकारः, अनुपनीतं वाऽध्यापयति ; अङ्गस्य निर्वृत्तत्वात् । वृत्त्युपचयार्थः संग्रह इति चेत्, न ; दरिद्रस्य माणवकस्याग्रहणप्रसङ्गात्, अल्पव्यवहितग्रामवासिनां च माणवकानामाचार्यसंपादनार्थं ग्रामान्तरगमनं न स्यात् । न हि तत्र तत्राध्यापयितारः श्रोत्रियाश्च दृश्यन्ते । तथाच माणवकस्योपनयनादि-सिद्ध्यर्थं स्वयमेवाचार्यगमनं श्रूयते—सत्यकामो हि वै जाबालो ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याभ्युपेयां भगवन्त-मि”त्यादिश्रुतौ । उपसंहरति—\*एवमेषा बहुदोषेति\* ॥

\*ननु\* स्वविधिप्रयुक्तत्वे सत्युपगमनाध्ययनयोस्तत्प्रयुक्ततयोपनयनाध्यापनसिद्धेस्तत्र विधानमनर्थकमिति, \*नायं\* प्रयोजकव्यापारयोर्विधिः, किंतूपगमनाध्ययनयोः कर्तृव्यापारयोर्विधिरित्याह—\*तस्मान्माणवकस्यैव नियोग इति\* ॥ \*ननु\* णिजर्थसंसृष्टस्वार्थभिधायिनि विधिपदे कर्तृव्यापारे विधिसंसर्गो वाक्यप्रमाणविरुद्ध इति चोदयति—\*कथं गुणकर्तृव्यापारसम्बन्ध इति\* ॥

## श्रुतविवरणम्

दित्याशङ्क्याह—\*अनुपनीतं वेति\* ॥ \*ननु\*—\*दरिद्रस्यापि शिष्यस्य संग्रहं करोति, शुश्रूषादिना सोऽप्युपकर्तुं शक्नोति यतः, अतो न तस्याप्याचार्यसंपादनव्यापार इत्याशङ्क्याह—\*अल्पव्यवहितेति\* ॥ \*ननु\*—\*स्वग्राम एव स्वीकर्तुमाचार्यस्य संभवाद् मा भवत्वाचार्यसंपादनाय ग्रामान्तरगमनमित्याशङ्क्याह—\*नहि तत्र तत्रेति\* ॥ ननु “गुणकर्तृव्यापारे”त्ययुक्तम्, प्रयोजक-प्रयोज्यव्यापारप्रतीतेस्तत्सम्बन्धस्य चाविशेषादित्याशङ्क्याह—\*ननु णिजर्थेति\* ॥ वाक्यप्रमाणविरुद्ध इति\* ॥ अयमर्थः—अस्मिन् वाक्ये कर्तृव्यापारे विधिसंसर्गः कथं स्वीक्रियते प्रमाणविरुद्धः इति ? अथवा—वाक्यात् कर्तृव्यापारे विधिसम्बन्धः कथं निर्णीयते ? इत्यन्वयः ; वाक्यप्रमाणस्य श्रुतेः सकाशाद् दुर्बलत्वात् ।

## तत्त्वदीपनम्

सिद्धिं शङ्कते—\*नन्वाचार्य इति\* ॥ किमाचार्यान्तरं माणवकमुपनीयाध्यापयति ? उतान्यमेव ? नाद्य इत्याह—\*न पुनरिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*उपनेतृत्वस्येति\* ॥ तदुपनयनाभावेऽप्यध्यापननियोगो घटते ; अन्यत्रोपनयन-नियोगनिवृत्तेरिति शङ्कते—\*माणवकान्तर इति\* ॥ अस्मिन् पक्षे नैतस्य नित्याध्ययनसिद्धिरित्याह—\*तेनैवेति\* ॥ तत्र च दोषान्तरं समुच्चिनोति—\*अनुपनीतमिति\* ॥ स्वोपनीतमाणवकाध्यापनेन नियोगनिवृत्तावपि माणवकान्तर-स्वीकारो घटत इति शङ्कते—\*वृत्तीति\* ॥ तर्हि यदध्यापनेन तद्द्व्यंशलाभस्तदध्यापनं न स्यादित्याह—\*न दरिद्र-स्येति\* ॥ आचार्यविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति मते दोषान्तरं समुच्चिनोति—\*अल्पेति\* ॥ मा भूद् ग्रामान्तरगमनमित्य-त्राह—\*न हि तत्रेति\* ॥ वेदवचनपर्यालोचनायामपि स्वविधिप्रयुक्तमध्ययनमित्याह—\*तथाचेति\* ॥ उपनयनाध्या-पनविध्यनुपपत्त्या नाध्ययनं स्वविधिप्रयुक्तमिति शङ्कते—\*ननु स्वविधीति\* ॥ प्रयोजकव्यापारस्यान्यतः प्राप्तत्वाद् न नत्र विधिर्घटत इत्याह—\*नायमिति\* ॥ तर्हि वाक्यनैरर्थक्यप्रसक्तिरिति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ कर्तृव्यापार-विधिपरत्वाद् नैरर्थक्यमित्याह—\*उपगमनेति\* ॥ कथं शब्दसूचितामनुपपत्तिं दर्शयति—\*ननु णिजर्थेति\* ॥ विकल्पा-



## पञ्चपादिका

कर्तृस्थो भवति ? यथा—“एतया ग्रामकामं याजयेदि”ति ग्रामकामस्य यागो विधीयते, गुणकर्तृव्यापारः प्राप्तोऽनूद्यते ; तस्य याजनस्य वृत्त्यर्थत्वात्, एवमिहापि गुणकर्तृव्यापारो वृत्त्यर्थत्वेन प्राप्तोऽनूद्यते ॥

\*अत्रैके प्रत्यवतिष्ठन्ते\*—युक्तं “याजयेदि”ति प्रधानकर्तृव्यापाराभिधायिनो यजतेः परस्य गुण-कर्तृव्यापाराभिधायिनः शब्दान्तरस्य णिच उपादानात् तस्य चाविधेयत्वात् प्रधानकर्तृव्यापारस्याभिधानम् ; इह पुनरेको नयतिर्माणवकस्य व्यापारं ब्रूयात् ? आचार्यस्य वा ? न तावद् माणवकस्य नयत्यर्थकर्तृत्वम् ; कर्मकारकत्वात् तस्य । अतोऽनभिधेयव्यापारः कथं नियुज्येत ? न हि परव्यापारे परो नियोक्तुं शक्यते । स्वव्यापारे हि पुरुषस्य नियोगः । तस्मान्नैष माणवकस्य नियोगः । तदेवमाचार्यकरणविधि-प्रयुक्तत्वादध्ययनस्य नात्राधिकारचिन्तया मनः खेदयितव्यम्—\*इति\* ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

किं न्यायविरोध उच्यते ? किंवा शब्दविरोधः ? न तावच्छब्दविरोधः ; अन्यत्रापि दर्शनात्, इत्याह—\*यथैतया ग्रामकाममिति\* ॥ नापि न्यायविरोधः ; ग्रामानुवादेनाप्राप्तविधानात्, इत्याह—\*ग्रामकामस्य यागो विधीयत इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* अध्यापन-याजनयोः कर्तृप्रयोजकव्यापारद्वयावगमादन्यतरानुवादेनान्यतरो विधीयत इति युक्तम्, उपनयने तु धात्वर्थस्य प्रयोजकव्यापारत्वादनभिधीयमानः कर्तृव्यापारः कथं विधीयते ? इति चोदयति—\*युक्तं याजयेदित्यादिना\* ॥ \*ननु\* उपनयने मा भून्माणवकव्यापारविधिः, अध्ययने तु भविष्यति, \*तत्र\* ; वाक्यसारूप्यादित्याह—\*तदेवमाचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वादिति\* ॥ तत्र प्रयोजक-व्यापाराभिधायिनाऽपि नयतिधातुना माणवकव्यापारस्यानभिधीयमानस्यापि गम्यमानत्वात् स एव धातुना

## ऋजुविवरणम्

वाक्यत्वञ्च विलम्बाभिप्रायेण, ननु वाक्यप्रमाणविरुद्ध इत्येवान्वयः प्रतिभति ; तस्य वाक्यप्रमाणावसेयत्वेन तद्विरुद्धत्वा-भावात् । अनन्तरत्वाद् द्वितीयं पक्षं पूर्वं निराकरोति—\*न तावदिति\* ॥ “अन्यत्रापि दर्शनादि”ति वदतोऽयम-भिप्रायः—अप्राप्तार्थो श्रुतिवाक्याद् बलीयसी, ननु श्रुतित्वमात्रेणेति । “युक्तं याजयेदि”ति याजने वैषम्यप्रदर्शनं व्यर्थम् ; चोद्याभावात्, नापि दृष्टान्तवैषम्येण चोद्यम् ; अत्रापि कर्तृ-प्रयोजकव्यापारप्रतीतेर्वक्तुं शक्यत्वात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*नन्वध्यापन-याजनयोरिति\* ॥ “तदेवमि”त्यसंबद्धमुपसंहृतम् ; नह्युपनयने कर्तृव्यापारविधानाभावेऽध्ययनस्याध्या-पनविधिप्रयुक्तिलाभः, इत्यभिप्रायेणाक्षिपति—\*ननूपनयन इति\* ॥ विधानेऽप्यगत्या लक्षणाश्रयणं युक्तमित्याह—\*तत्र प्रयोजकेति\* ॥ “उपनयीते”त्यनेन प्रयोजकव्यापारप्रदर्शनम् । तस्याविधेयत्वप्रदर्शनमसङ्गतमित्याशङ्क्याह—

## तत्त्वदीपनम्

सहत्वान्नैतच्चोद्यमित्याह—\*किं न्यायेति\* ॥ “याजयेदि”त्यत्र व्यापारद्वयप्रतिपत्तेर्गुणकर्तृव्यापारानुवादेन प्रधानकर्तृ-व्यापारविधिवद् “अध्यापयीते”त्यत्रापि प्रधानकर्तृव्यापारविधिर्घटते, ततः कथं वैषम्यम् ? इत्याशङ्क्याध्यापन-याजनयोर्न वैषम्यमुच्यते, किं तूपनयन-याजनयोरित्याह—\*नन्वध्यापनेति\* ॥ अध्यापयीत याजयेदित्यनयोर्वाक्ययो-रित्यर्थः । \*व्यापारद्वयावगमादिति\* ॥ “अध्यापयीते”त्यत्राध्ययनाध्यापनलक्षणं व्यापारद्वयं लक्ष्यते, “याजयेदि”त्यत्र यजन-याजनलक्षणमित्यर्थः । \*उपनयन इति\* ॥ “उपनयीते”ति वाक्य इत्यर्थः । “उपनयीते”त्यत्र कर्तृव्यापाराप्रतिपत्तेर्न विधिश्चेत्, तर्ह्यध्यापयीतेत्यत्र कर्तृव्यापारप्रतिपत्तेस्तद्विधानं घटत इति शङ्कते—\*ननु उपनयन इति\* ॥ विधेः प्रयोजकव्यापारविषयत्वस्योभयत्राविशेषादुभयत्रापि प्रयोजकव्यापारविषयो विधिरित्याह—\*तन्नेति\* ॥

“उपनयीते”त्यत्र कर्तृव्यापारस्य नयतिधातुनाऽनभिहितत्वात् कथं तद्विषयो विधिरिति शङ्कायामाह—\*तत्र प्रयोजकेति\* ॥ श्रुतितः प्रतीयमानविषयो विधिः किं न स्यादिति ? अत्राह—\*न प्रयोजकेति\* ॥ कथंशब्दसूचिता-



## पञ्चपादिका

\*उच्यते\* ;—माणवकस्यैवायं नियोगः, नाचार्यस्येह किञ्चिद्विधेयमस्ति । कथम्? यत्तावत्—‘उपनयीते’  
त्यस्याभिधानतो न्यायतश्च निरूप्यमाणोऽर्थ एतावान् प्रतीयते, आत्मानमाचार्यं कर्तुं कञ्चिदात्मसमीपमानीया-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

लक्षणयोपादाय विधीयते, न प्रयोजकव्यापारः ; स्वयं प्राप्तेरिति परिहरति—\*उच्यते माणवकस्यैवायमिति\* ॥  
\*ननु\* माणवकव्यापारो गम्यमानतया वा कथं प्रतीयते? कथं वा प्रयोजकव्यापारः प्राप्तानुवाद इति  
चोदयति—\*कथं यत्तावदिति\* ॥ माणवकव्यापारस्य गम्यमानतामुपपादयितुं प्रथममाचार्यव्यापारस्या-  
विधेयतामुपपादयति—\*उपनयीतेत्यस्याभिधानतो न्यायतश्चेति\* ॥ ‘माणवकमुपनयीते’त्युक्ते माणवकस्य  
स्वात्मसमीपगमनमभिधानतः प्रतीयते, न स्वस्य माणवकसमीपगमनम् ; अन्यथा माणवकमुपगच्छेदिति  
वचनं स्यात् । न्यायतश्च प्रतीयते—यथा बालानक्षराणि शिक्षयल्लौकिकः पुरुषो न बालगुणभावं गच्छति,  
किंतु बालानेव स्वयमात्मगुणभावं नयति । \*ननु\* एवमप्याचार्यव्यापारो न प्राप्तानुवादः, कथम्? शुश्रूषाद्यङ्ग-  
सहितेऽध्ययने माणवकस्य विहिते स्वविधिप्रयुक्ते चाध्ययने वृत्त्यर्थतयाऽऽचार्यप्रवृत्तिः प्राप्नोति, वृत्त्यर्थप्रवृत्तौ  
च प्राप्तायां तदनुवादेन माणवकव्यापारोऽध्ययनादिर्विधातुं शक्यते, इतीतरेतराश्रयप्रसङ्गात् । \*ननु\*—  
‘ग्रामकामं याजयेद्’त्यत्रापि समानोऽयं दोषः, अथ स्वविधिप्रयुक्तेषु यागान्तरेषु सामान्येन वृत्त्यर्थतया  
प्राप्तं प्रयोजकव्यापारमनूय ग्रामकामस्य यागविशेषो विधीयत इति, तर्हीहाप्यध्ययनान्तरेषु सामान्यप्राप्त-

## ऋजुविवरणम्

\*माणवकव्यापारस्येति\* ॥ कथं माणवकव्यापारप्रतीतिः? आचार्यव्यापारः, तत्फलं माणवकसामीप्यं च प्रतीयते,  
नान्यत्, अतः श्रुतित इत्युक्तम्, न्यायेऽपि न विशेष इत्याशङ्क्योपपादयति—\*माणवकमिति\* ॥ \*ननु\* “द्रव्यमार्जयन्  
अध्यापयेद्”ति वचनेन प्राप्तौ न चोद्यमित्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ \*ननु\* ग्रामकामं याजयेद् इत्यत्रापि \*ननु\*  
कर्तृव्यापारे दक्षिणाद्यङ्गसहिते विहिते सति प्रवृत्त्यर्थत्वेन प्रयोजकव्यापारप्राप्तिः, प्रयोजकव्यापारप्राप्तौ च तदनुवादेन  
कर्तृव्यापारविधिरित्यर्थः ॥ \*ननु\* याजने चोदकादिना प्रयोजकव्यापारप्राप्तौ नेतरेतराश्रयत्वम्, इह तु नान्यतः

## तत्त्वदीपनम्

मनुपपत्तिं दर्शयति—\*ननु माणवकेति\* ॥ माणवकव्यापारमन्तरेणानुपपन्नार्थाभावान्नार्थादपि तत्प्रतिपत्तिरित्यर्थः ।  
प्रयोजकव्यापारस्य प्राप्तिसिवा कथमित्याह—\*कथमिति\* ॥ माणवकव्यापारो विधीयते, नाचार्यव्यापारः, इति यत्तावदु-  
च्यते, तत्कथमिति टीकायोजना । माणवकव्यापाराप्रतिपत्तिचोद्ये प्रयोजकव्यापारप्रतिपत्तिप्रदर्शनमसङ्गतमित्याशङ्क्य  
तात्पर्यमाह—\*माणवकेति\* ॥ आत्मसमीपं प्रति माणवकानयनम् “अभिधानतो न्यायतश्च प्रतीयते” इत्युक्तम्,  
तत्राभिधानन्यायाभ्यां कथं तत्प्रतिपत्तिः? इत्याकाङ्क्षायामाह—\*माणवकमिति\* ॥

“उपनयीते”त्यत्र माणवकसामीप्यमात्रं प्रतीयते, न माणवकस्य स्वसमीपागमनमित्याशङ्क्याह—\*न स्वस्येति\* ॥  
माणवकसामीप्यमाचार्यव्यापाराद्वा? माणवकव्यापाराद्वा? नाद्यः ; ‘माणवकमुपगच्छेद्’ति वचनप्रसङ्गात् । तस्माद्  
माणवकस्याचार्यसमीपं प्रत्यागमनमत्रोच्यत इत्यर्थः । उक्तं चोद्यान्तरमनुवदति—\*नन्वेवमिति\* ॥ माणवकव्यापारप्रति-  
पत्तावपीत्यर्थः । तस्य वृत्त्यर्थत्वेन प्राप्तत्वात् कथं न प्राप्तानुवादतेत्याह—\*कथमिति\* ॥ परस्तराश्रयप्रसङ्गान्न वृत्त्यर्थत्वेन  
प्राप्तिसंभव इत्याह—\*शुश्रूषेति\* ॥ यस्मादध्ययनं माणवकस्य विहितम्, तस्मादेवाध्ययनं स्वविधिप्रयुक्तमित्याह—  
\*स्वविधीति\* ॥ तर्हि न कुत्रापि प्रयोजकव्यापारानुवादेन प्रधानकर्तृव्यापारविधिः स्यादित्याह—\*ननु ग्रामेति\* ।  
दक्षिणाद्यङ्गसहितकर्तृव्यापारविधौ वृत्त्यर्थत्वेन प्रयोजकव्यापारप्राप्तिः, तस्यां च तदनुवादेन कर्तृव्यापारे विधिः, इतीतरेतरा-  
श्रयत्वप्रसङ्गान्न ग्रामकामस्य यागविधिरपि घटत इत्यर्थः । अन्यत्र प्रयोजकव्यापारस्य वृत्त्यर्थत्वादत्रापि वृत्त्यर्थत्वं  
प्राप्तम्, ततो नेतरेतराश्रयप्रसङ्ग इत्याह—\*अथ स्वविधीति\* ॥ तुल्यमुत्तरमित्याह—\*तर्हीहापीति\* ॥



## पञ्चपादिका

ध्यापयेत्? इति । एतच्च सर्वं वृत्त्यर्थत्वेन ब्राह्मणस्यान्यत एव प्राप्तम्, नात्र विधातव्यम् । तत्र कमध्यापयेत्? इति विशेषाकाङ्क्षायां “ब्राह्मणमष्टवर्षमि”ति विशेषस्य विधायकमेतत् स्यात् । तत्र प्राप्ते व्यापारेऽर्थद्वयविधान-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रयोजकव्यापारानुवादेन माणवकव्यापार उपगमनाध्ययनादिविधीयताम् । \*अथवा\*—माणवक-व्यापारविधिसामर्थ्यादेव प्रयोजकव्यापारः प्राप्त्यते, न प्रयोजकव्यापारविधानादेव भाविनीं प्राप्तिमनूद्य माणवकव्यापारः कदाचिदप्यप्राप्तो विधीयत इति, तदेतदाह—\*एतच्च सर्वं वृत्त्यर्थत्वेन ब्राह्मणस्यान्यत एव प्राप्तमिति\* ॥ \*ननु\* प्रयोजकव्यापारं प्राप्तमेवांनूद्य गुणाधिकारादिविशेषविधिपरं वाक्यं किं न स्यादिति ? न तावदधिकारविधिपरं वाक्यम् ; जीवनादिनित्यकाम्याधिकारश्रवणात्, अतो गुणविधिरेव “दक्षा जुहोती”त्यादिवत् परिशिष्यत इत्याह—\*तत्र कमध्यापयेदिति\* ॥ भवतु तर्हि गुणविधिरिति, नेत्याह—\*तत्र प्राप्ते व्यापार इति\* ॥ \*अयमाशयः\*—यदा विशेष्योऽपि पदार्थः प्रमीयते, तदा नानाविधगुण-विशिष्टतया स एको विशिष्टः पदार्थः प्रमीयते, इति न वाक्यभेदः स्यात् ; यदा तु विशेष्यमनूद्य विशेषणानि प्रमीयन्ते, तदा विशेषणानामन्योन्यविशिष्टतयैकत्वापत्त्यभावादन्योन्यानपेक्षतया प्रत्येकं प्रमेयत्वे प्रमेयभेदाद् वाक्यं

## ऋजुविवरणम्

प्राप्तिरिति तरेतराश्रयमित्याशङ्क्याह—\*अथवेति\* ॥ \*ननु\* “कमध्यापयेदि”ति पूर्वोपरिविरुद्धम् ; प्रयोजकव्यापार-विधानस्य निरस्तत्वात्, अतः ‘कमध्यापयेदि’ति विशेषाकाङ्क्षाप्रदर्शने विहितत्वप्रतीतेः, अविहितस्यानाकाङ्क्षतया चान्वयप्रतिपादनायोगाद् विधानान्तरमपि शक्यते वक्तुम्, तत्कथमर्थद्वयविधानोक्तिः ? यद्वा—प्रयोजकव्यापारविधाने प्रयोज्यव्यापारो विधेयः, तत्र नच दूषणमित्याशङ्क्याह—\*ननु प्रयोजकेति\* ॥ गुणाधिकारादिति\* ॥ ‘अध्यापये-दि’ति यत्, तदष्टवर्षं ब्राह्मणमाचार्यत्वकामो वा जीवन्निति वा पूर्णत इति ॥ “तत्र च प्राप्ते व्यापारः” इति किमर्थं प्राप्तिग्रहणम् ? अर्थद्वयविधानस्य वाक्यभेदे हेतुत्वात्, तस्य चाप्राप्ते प्राप्ते च व्यापारे विशेषाभावात् । नच—ब्राह्मण्याष्टवर्षत्वयोरपि विधानमिति युक्तं—वक्तुम् ; स्वरूपेण तयोर्विधेयत्वासंभवात्, विशिष्टविधानविधया परि-हारस्याविशेषादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः—यदा विशेष्योऽपीति\* ॥ एकतापत्त्यभावादिति\* ॥ गुणानां परस्परसंबन्धायोगादित्यर्थः ॥

यदि प्राप्ते विशेष्येऽनेकगुणविधानं वाक्यभेदाद् नेप्यते, तर्हि सर्वत्र विशेषणसामर्थ्याद् विशेष्यप्राप्तिरविशिष्टा, इति

## तत्त्वदीपनम्

प्रकारान्तरेण परस्पराश्रयप्रसङ्गनिरासप्रकारमाह—\*अथवेति\* ॥ अध्यापयित्रभावेऽध्ययनानुपपत्तेरार्थिकः प्रयोजकव्यापार इत्यर्थः । अध्ययनाभावेऽध्यापनस्याप्यसंभवाद् माणवकव्यापारोऽप्यर्थात् प्राप्तः, इत्याशङ्क्याह—\*न प्रयोजकेति\* ॥ माणवकस्याप्यध्ययनविध्यभावे फलाभावात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेरित्यर्थः । तथाऽपि कथमितरेतराश्रय-निरास इति ? तत्राह—\*तत्र माणवकेति\* ॥ प्रयोजकव्यापारस्यान्यतः प्राप्तिमङ्गीकृत्योपगमनादिविधि-माक्षिपति—\*ननु प्रयोजकेति\* ॥ “अध्यापयीते”ति यत् तद् ‘अष्टवर्षं ब्राह्मणमि’ति गुणविशेषविधिपरत्वम्, आचार्यत्व-कामो जीवन्निति वेत्यधिकारविशेषविधिपरत्वमित्यर्थः । अधिकारविधिपरत्वं तावदयुक्तमित्याह—\*न तावदिति\* ॥ अध्याहारस्यान्याप्यत्वमित्यर्थः । “अरुणयैकहयैन्ये”त्यादावनेकविशेषणविधिपरत्वं वाक्यस्य दृष्टमित्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ तथा चोक्तम्—

“प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।

अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥ इति ।”

विशेष्यप्राप्तौ वाक्यस्यानेकविशेषणविधिपरत्वाभावश्चेत्, तर्हि न कचिदप्यनेकविधानं युज्येत, विशेष्यस्य



## पञ्चपादिका

मेकस्मिन् वाक्ये न शक्यते वक्तुम् ; वाक्यभेदप्रसङ्गात् । अतो नाचार्यस्य किञ्चिद् विधेयमिहास्ति ।  
 \*ननु\* माणवकस्यापि न किञ्चिद् विधेयमस्ति, \*अस्तीति ब्रूमः\* । कथम् ? यदैव—“उपनयीते”ति  
 शब्दतो न्यायतश्चात्मानमाचार्यं कर्तुमुपनयनेन संस्कृत्य कंचिदध्यापयेदिति प्रतीयते, तदैव यागश्रुतौ द्रव्य-  
 देवतामात्रप्रतीतिवदध्ययनार्थोपनयनसंस्कार्योऽपि सामान्यतः प्रतीयते । तस्य च प्रेक्षावतो निष्प्रयोजने प्रवर्त-  
 यितुमशक्यत्वात्, विद्यमानस्याप्यध्ययनेऽर्थावबोधस्य प्रागसिद्धेः प्रवृत्तिहेतुत्वासिद्धेः, विधितोऽवश्य-  
 कर्तव्यतां प्रतिपद्य स्वयमेव प्रवर्तते । तेन—“अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीते”त्यष्टवर्षो ब्राह्मण उपसर्पेदाचार्य-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मिद्यत इति । \*ननु\* सर्वत्र विशेष्यं सामान्यद्वारेणानुवाद्यमेव, \*सत्यम्\* ; विशेषणान्यपि तथा, किन्तु विशेषा-  
 कारेणान्योन्यविशिष्टतया पदार्थाः प्रमीयन्त इति । तस्मादुत्पत्त्यधिकार-गुणविधयः प्रयोजकव्यापारे न सम्भवन्ती-  
 त्युपसंहरति—\*अतो नाचार्यस्येति\* ॥ तत्र माणवकव्यापारस्य गम्यमानस्यैव धातुना लक्षणयोपादाय विधेयत्वं  
 दर्शयितुं चोदयति—\*ननु माणवकस्यापीति\* ॥ परिहरति—\*अस्तीति ब्रूम इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* कर्तुरेव  
 व्यापारो गमनादिषु दृश्यते, न कर्मकारकस्य ग्रामादेः ; माणवकश्च नयत्यर्थकर्मभूतः कथं गम्यमानव्यापारः ?  
 इति चोदयति—\*कथमिति\* ॥ परिहरति—\*यदैवोपनयीतेति\* ॥ \*उपनयनसंस्कार्योऽपीति=उपगन्ताऽपी-  
 त्यर्थः । नयत्यर्थकर्मणो नीयमानस्य गमनव्यापारः सुप्रसिद्ध इति भावः । \*ननु\* तर्हि माणवकस्य गमनं  
 प्रयोजकव्यापारादेव सिध्यति, किमिति तद् विधीयत इति ? न ; विधानमन्तरेणासिद्धेरित्याह—\*तस्य च प्रेक्षावत  
 इति\* ॥ \*ननु\* विधानेऽपि काम्यविधिः स्यादिति, नेत्याह—\*विद्यमानस्यापीति\* । कथं तर्हि विधिरिति ?  
 परिशेषान्नित्यविधिरित्याह—\*विधितोऽवश्यकर्तव्यतामिति\* ॥ कथं तर्हि वाक्यं परिणम्यत इति ? तदाह—  
 \*तेनाष्टवर्षं ब्राह्मणमिति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

न काप्यनेकगुणविधानसंभव इति चोदयति—\*ननु सर्वत्रेति\* ॥ \*ननु\*—माणवकव्यापारस्य गम्यमानत्वं वक्तुं  
 प्रक्रम्य टीकाकारेण—“उपनयनसंस्कार्योऽपी”ति संस्कार्यप्रतीतिरुक्ता, सा न युक्ता ; नहि तथा सति गम्यमानत्वं माण-  
 वकव्यापारस्योक्तमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*उपगन्ताऽपीति\* ॥ कर्मकारकस्य व्यापारो नास्तीत्यस्य परिहारमाह—  
 \*नयत्यर्थकर्मण इति\* ॥ “विधि-पुरुषसंबन्धो वे”ति कर्मण्यैश्वर्यमधिकार इत्यङ्गीकृत्योक्तम्, “विधि-पुरुषसंबन्ध-

## तत्त्वदीपनम्

सर्वत्र प्राप्तत्वादिति शङ्कते—\*ननु सर्वत्रेति\* ॥ “दक्ष्णा जुहोती”त्यत्र विशेष्यस्य होमस्यानूद्यमानत्ववत् सर्वमपि  
 विशेष्यं सिद्धम्, इत्यरुणादावपि वाक्यभेदः स्यादित्यर्थः । विशेष्यस्य सिद्धत्वान्न प्रमेयत्वमित्येतावन्मात्रं विवक्षितम् ?  
 उत विशेषणानां प्रमेयत्वम् ? इति विकल्पप्राद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ द्वितीयं निरस्यति—\*विशेषणानीति\* ॥  
 किंपरं तर्हि वाक्यम् ? इति पृच्छति—\*किंत्विति\* ॥ सामान्याकारेण सिद्धत्वेऽपि विशेषाकारस्यासिद्धत्वात् पदार्था-  
 नामन्योन्यवैशिष्ट्यं वाक्यप्रमेयमित्यर्थः ॥ माणवकव्यापारस्य विधेयत्वाद् माणवकस्य विधेयं नेति कथमुक्तम् ?  
 इत्याशङ्क्य, उक्तं स्पष्टीकर्तुं चोद्यमुत्थाप्यत इत्याह—\*तत्रेति\* ॥ ग्रामादेरिव माणवकस्यापि कर्मत्वेन  
 व्यापारानुपपत्तेः परिहारस्याभासत्वमाशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ सम्यक्परिहारं दर्शयितुं चोद्यमुत्था-  
 पयति—\*ननु कर्तुरिति\* ॥ “मैवमि”त्यादिपरिहारसूचकाभावाच्चोद्यग्रन्थत्वशङ्कां निरस्यति—\*परिहरतीति\* ॥  
 माणवकस्य व्यापारवत्त्वे निषिद्धे तस्य संस्कार्यत्वाभिधानमनर्थकमित्याशङ्क्याह—\*उपनयनेति\* ॥ ग्रामादे-  
 व्यापारवत्त्वमदृष्टमित्युक्तं निरस्यति—\*नयत्यर्थेति\* ॥ ‘अजां ग्रामं नयती’त्यादौ कर्मभूताजदेरपि व्यापारवत्त्वं  
 स्पष्टमित्यर्थः । माणवकस्य व्यापारमङ्गीकृत्य तस्य विधेयत्वमाक्षिपति—\*ननु तर्हीति\* ॥ प्रयोजको हि कुर्वन्तं  
 कारयति । नच माणवकस्य फलविधुरेऽध्ययने प्रवृत्तिरित्याह—\*न विधानमिति\* ॥ उत्तरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः ।



## पञ्चपादिका

मित्यर्थः ; ग्रामकामं याजयेद् ग्रामकामो यजेतेति यथा । \*ननु\* एवमप्यधिकारो न लभ्यते, \*अस्त्यत्रा-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* नित्यतया विधेयत्वेऽपि विधि-पुरुषसंबन्धो वा विधि-पुरुषसम्बन्धनिमित्तं वा प्रवृत्तिर्वाऽधिकारशब्दार्थो न लभ्यत इति चोदयति—\*ननु एवमप्यधिकारो न लभ्यत इति\* ॥ \*अयमाशयः\*—\*ननु\* सामान्येन गम्यमानस्योपगन्तुः “अष्टवर्षं ब्राह्मणमि”ति विशेषणश्रवणादिदमेवाधिकारनिमित्तं संपत्स्यते, \*नैवम्\* ; एकैकस्य विशेषणस्याधिकारनिमित्तत्वानुपपत्तेः, विशेषणयोश्च परस्परविशिष्टताऽभावात् । एकैकस्य विशेषणस्याभिधानिके क्रियासंबन्धेऽध्ययन्यैकहायन्यादिवदर्थत्वं परस्परविशिष्टतयाऽधिकारनिमित्ततेति चेत्, न ; विधि-पुरुषसंबन्ध-निमित्तस्याशब्दत्वप्रसङ्गात्—\*इति\* । परिहरति—\*अस्त्यत्राधिकारहेतुर्नित्यं निमित्तमिति\* ॥ विधि-पुरुषसंबन्धस्य

## ऋजुविवरणम्

निमित्तं वे”ति करणव्युत्पत्त्या—अधिक्रियते तस्मिन् कर्मण्यनेनेति विशेषणविवक्षयोक्तम्, “प्रवृत्तिर्वै”ति अधि उपरि करणमित्यधिकार इति । \*नैवमेकैकस्येति\* ॥ अष्टवर्षत्वमात्रे विशेषणे सर्वेषामधिकारः, ब्राह्मण्ये च यदा कदाचिदिति भावः । \*विशेषणयोश्चेति\* ॥ “गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात् स्यादिति”न्यायादिति भावः । \*अरुण्यैक-हायन्यादिवदिति\* ॥ “अरुणया क्रीणाति” “एकहायन्या क्रीणाती”ति द्वयोः क्रियाऽन्वयेऽपि पार्थिकः परस्परा-न्वयः—अरुण्यैकहायन्येति ; तद्वदष्टवर्ष उपगच्छेद् ब्राह्मण उपगच्छेत्, इति साक्षात् क्रियान्वये सति पश्चाद् अष्टवर्षो ब्राह्मण इत्यन्वयः । एकप्रयोजनत्वसामर्थ्यादित्यर्थः । अधिकारशब्दस्य पूर्वोक्तार्थत्रयशङ्कानिरासाय व्याचष्टे—

## तत्त्वदीपनम्

अधिकारशब्दार्थं दर्शयंस्तत्पर्यमाह—\*नन्विति\* ॥ अधिक्रियतेऽनेनेत्यधिकारो निमित्तम्, अधिकृतिरधिकारः प्रवृत्तिः, अधिकरोत्यस्मिन्नित्यधिकारो विधि-पुरुषसंबन्धः, प्रेर्य-प्रेरकतादिरिति विभागः । टीकापेक्षितहेतुमाह—\*अयमाशय इति\* ॥ सिद्धान्तिशङ्कानिरासेन हेतुं दर्शयितुं शङ्कां तावदनुवदति—\*ननु सामान्येनेति\* ॥ “उपगच्छेदित्युक्त उपगन्तारमन्तरेणोपगमनानुपपत्तेरुपगन्ता कश्चित्प्रतीयते, स च कीदृशः ? इति वीक्षायाम्—“अष्टवर्षं ब्राह्मणमि”त्या-ज्ञानादष्टवर्षविशिष्टो ब्राह्मणोऽधिकारीति निश्चीयत इत्यर्थः । विकल्पासहत्वान्न तदित्याह—\*नैवमिति\* ॥ किमेकैकं विशेषणमधिकारे निमित्तम् ? उत मिलितम् ? नाद्य इत्याह—\*एकैकस्येति\* ॥ ब्राह्मणमात्रस्य निमित्तत्वे स्थविर-स्याप्यधिकारप्रसक्तिः, अष्टवर्षस्याधिकारनिमित्तत्वे शूद्रादेरप्यधिकारः स्यात् ; ततो नैकैकस्याधिकारनिमित्तते-त्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*विशेषणयोरिति\* ॥ आख्यातपदार्थस्य प्राधान्याद् विशेषणयोस्तेनान्वयो वक्तव्यः, न परस्परमित्यर्थः ॥

“अरुण्यैकहायन्या पिङ्गाध्या गवा सोमं क्रीणाती”त्यत्र प्रथममरुणादेः क्रयेणान्वये प्रतिपन्ने केवलस्य गुणस्य द्रव्यस्य च क्रयेणान्वयानुपपत्तौ, अरुणादीनां मिथोऽपि यथा संबन्धः, तद्वदत्रापीति शङ्कते—एकैकस्येति\* ॥ \*अर्था-दिति\* ॥ केवलस्य वयसो ब्राह्मण्यस्य वाऽधिकारनिमित्तत्वासंभवात् तयोरन्योन्यसंबन्ध इत्यर्थः । “स्वर्गकामः” इत्यादौ शाब्दस्याधिकारनिमित्तत्वाद् विशेषणयोः परस्परवैशिष्ट्यस्य चाशाब्दत्वान्नाधिकारनिमित्तत्वमित्याह—\*न विधीति\* ॥ इतिशब्दस्य—“अयमाशयः” इत्यनेनानुषङ्गः ॥

“अधिकारो नोपलभ्यते” इत्युक्तेऽस्त्यधिकारहेतुरिति वदन्वादी कथं न व्याहृतोक्तिः स्यादित्याशङ्क्य, भिन्न-ग्रन्थत्वान्न विरोध इत्याह—\*परिहरतीति\* ॥ अधिकारशब्दस्यार्थत्रयपरत्वोक्तेरत्रापि तथात्वशङ्का स्यात्, न च सोपपद्यते ; अधिकारशब्दस्य निमित्तार्थत्वे नित्यं निमित्तं निमित्तहेतुरित्युक्तं स्यादित्याशङ्क्याह—\*विधिपुरुषेति\* ॥



## पञ्चपादिका

धिकारहेतुर्नित्यं निमित्तं वयोविशिष्टा जातिः, जातिविशिष्टं वयो वा । \*ननु\* जाति-वयसी

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रवृत्तेर्वा हेतुरित्यर्थः । \*नित्यमिति\* ॥ जीवतः पुरुषविशेषस्य नियतभावीत्यर्थः । नच शाब्दमेव सर्वत्राधिकार-  
निमित्तम् ; साङ्गकर्मानुष्ठानसामर्थ्यस्याप्यशाब्दस्याधिकारनिमित्तत्वात्, शक्तस्याधिकारादिति । \*अथवा—क्रिया-  
संबन्धाभिधानमुखेन विशिष्टसमर्पणे शब्दद्वयतात्पर्यकल्पनादधिकारनिमित्तस्य शाब्दत्वं न हन्यते । एवमपि  
विशिष्टस्य नाधिकारनिमित्ततेति चोदयति—\*ननु जाति-वयसी विशेषणमुपादेयस्येति\* ॥ अयमभिसन्धिः—  
उपादेयं नाम साक्षाद्वा परम्परया वा विधिविषयतयाऽनुष्ठेयं तद्विशेषणं च क्रिया-कारक-तद्गुणसमुदाय  
इत्यर्थः । ततोपादेयविशेषणानि “दण्डी प्रेषानन्वाह” “लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती”ति कर्तृविशेषणानि,  
“ब्रीहिर्भियजेते”त्यादौ बहुत्वादीनि करणविशेषणानि, “इन्द्राय स्वाराज्ञे” इत्यादीनि संप्रदानविशेषणानि । नचो-  
पादेयविशेषणमधिकारसंबन्धनिमित्तम् ; अनुष्ठेयकारकविशेषणतया विधिं प्रति गुणभूतत्वात्, अधिकारिणस्तु विधिं  
प्रति स्वामितया प्राधान्येनान्वयात् । कथं पुनरत्र माणवकस्योपादेयत्वमवगम्यते ? उच्यते ;—प्रयोजकव्यापारं  
प्रति माणवकस्य कर्मताभिधायिनी द्वितीया विभक्तिः स्वव्यापारं प्रति कर्तृत्वं गमयति ; कर्तृविषयत्वात् प्रयोजक-

## ऋजुविवरणम्

\*विधिपुरुषसंबन्धस्येति\* ॥ विधि-पुरुषसंबन्धस्य प्रवृत्तेर्वैति द्वयमेव स्वीकृतम्, ननु संबन्धनिमित्तस्वीकारः ;  
जाति-वयसोर्निमित्तभूतयोरुपादानात् । अत्र निमित्तभूतार्थस्वीकारे तयोरनिमित्तत्वप्रसङ्गादिति । \*ननु\*—वैशिष्ट्यं  
विशेषणयोरशाब्दं नाधिकारहेतुरित्युक्तमित्याशङ्क्याह—\*नच शाब्दमेव सर्वत्रेति\* ॥ “ननु जाति-वयसी”  
इत्यनेनोपादेयविशेषणत्वेन चोद्यं कृतम्, तदयुक्तम् ; माणवकस्य विधिप्रयुक्तयाऽनुष्ठेयत्वाभावादित्याशङ्क्याभिप्राय-  
माह—\*अयमभिसन्धिरुपादेयमिति\* ॥ भवतु नामोपादेयविशेषणत्वम्, तथाऽधिकारिविशेषणत्वमपि स्यात् ; व्यावर्तक-  
त्वाविशेषात्, इत्याशङ्क्याह—\*नचोपादेयविशेषणमिति\* ॥ \*अधिकारसंबन्ध इति\* ॥ कर्मण्यैश्वर्यरूपसंबन्ध-

## तत्प्रदीपनम्

वयोविशिष्टाया जातेर्नित्यत्वं कथमुक्तम् ? जीवनाभावे तदसंभवादित्याशङ्क्याह—\*नित्यमिति\* ॥ वैशिष्ट्यस्या-  
शाब्दत्वान्नाधिकारनिमित्तत्वमित्युक्तं निरस्यति—\*नच शाब्दमिति\* ॥ अपेक्षशाब्दस्येत्यनेनानुपङ्गः । सामर्थ्यस्य  
निमित्तत्वमुपादयति—\*शक्तस्येति\* ॥ शाब्दमेवाधिकारनिमित्तमित्यभिनिविशमानं प्रत्याह—\*अथवेति\* ॥  
\*शब्दद्वयेति\* ॥ अष्टवर्षेति ब्राह्मण इति शब्दद्वयमित्यर्थः ॥ \*ननु\* “जाति-वयसी” इत्यत्र जाति-वयसोरधिकार-  
निमित्तत्वं निषिध्यते, तदिष्टम् ; विशिष्टस्याधिकारनिमित्तत्वेष्टेरित्याशङ्क्य, मिलितयोरेवाधिकारनिमित्तत्वं  
प्रतिषिद्धयत इत्याह—\*एवमपीति\* ॥ माणवकस्य कथमुपादेयत्वम् ? उपादेयविशेषणस्य वा कथमधिकार-  
निमित्तत्वाभावः ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमभिसन्धिरिति\* ॥ नियोगविषयत्वेन साक्षादनुष्ठेयो धात्वर्थ उपादेयः,  
तथा नियोगनिर्वर्तकक्रियानिर्वर्तकः कर्त्रादिश्रोपादेयः, तथा कर्त्रादिविशेषणं चोपादेयम् । उपादेयशब्दार्थं संक्षिप्य  
दर्शयति—\*क्रियेति\* ॥ कारकविशेषणं तद्गुणशब्दार्थः । एवमुपादेयशब्दार्थं प्रदर्श्य प्रकृतोपयोगितयोपादेयकारक-  
विशेषणं दर्शयति—\*तत्रेत्यादिना\* ॥ क्रिया-कारक-तद्गुणानां मध्य इति यावत् । शिरोवेष्टनवस्त्रमुष्णीषशब्दार्थः ॥  
एवमुपादेयविशेषणं प्रदर्श्य तस्याधिकारनिमित्तत्वं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ विधिरधिकारशब्दार्थः ।  
क्रियाहेतुत्वात् कारकं तावद् गुणभूतम्, ततस्तद्विशेषणस्यापि गुणभूतत्वमित्यर्थः । भवतु गुणभूतत्वम्, तथाऽपि  
कथमधिकारनिमित्तत्वाभावः ? तत्राह—\*अधिकारिण इति\* ॥ माणवकस्यानुपादेयत्वात् तद्विशेषणयोर्जाति-वयसो-  
रधिकारनिमित्तत्वं घटत इति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ माणवकस्योपनयनकर्मत्वान्नोपादेयत्वमित्यर्थः । कर्तृत्वा-  
दुपादेयत्वं दुर्वारमित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ उक्तेऽयं हेतुमाह—\*कर्तृविषयत्वादिति\* ॥ कुर्वन्तं कारयति प्रयोजक  
इति प्रसिद्धेस्तस्य कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ माणवकस्य प्रयोजकव्यापारकर्मत्वेन कथं कर्तृत्वाभिधानम् ? “उपनयीते”त्यस्य



## पञ्चपादिका

विशेषणमुपादेयस्य, अनुपादेयविशेषणमधिकारहेतुरिति स्थितिः, \*सत्यमस्तीयं स्थितिः\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

व्यापारस्य । तत्र प्राप्तप्रयोजकव्यापारानुवादेन कर्तृव्यापारे विधिसंबन्धमात्रं परिणम्यते, न शब्दप्राप्तमाणवक-  
कर्तृत्वं पराक्रियते, इत्युपादेयमाणवकविशेषणस्य जातिविशिष्टस्य वयसो नाधिकारनिमित्ततेति । कस्य पुनरधि-  
कारनिमित्ततेति ? अत आह—\*अनुपादेयविशेषणमधिकारहेतुरिति\* ॥ विधिप्रयुक्तानुष्ठेय-तद्विशेषणव्यतिरेकेण  
विधिसंबन्धनमुपादेयः ; यथा जीवन् गृहदाहवान् स्वर्गकाम इति । अपसिद्धान्तेन परिहर्तुं नियोगपक्षमङ्गीकरोति—  
\*सत्यम् ; अस्तीयं स्थितिरिति\* ॥ \*अयं भावः\*—यत्र लिङादिपदेन नियोगो वाक्यार्थतया प्रतिपाद्यते, तत्र  
वाक्यार्थभूतनियोगाकाङ्क्षानिमित्तत्वात् पदार्थान्तरसंबन्धानां नियोगस्य च, कस्य ? कस्मिन् ? इति स्वरूपोपाधित्वे-

## ऋजुविवरणम्

निमित्तमित्यर्थः ॥ अथवा—अधिकारः, फलम्, इदं तदीयफलसाधनमित्येवंरूपसंबन्ध इत्यर्थः । \*ननु\*—प्रयोजकव्यापार-  
सामर्थ्यात् कर्तृत्वेन प्रतीतावपि यदा प्रयोजकव्यापारानुवादः स्वीकृतः, तदा तस्य कर्तृत्वं परित्यज्य व्यापारे विधि-  
संबन्धात् प्राधान्यमेवेत्याशङ्क्याह—\*तत्र प्राप्तप्रयोजकेति\* ॥ “सत्यमस्तीयं स्थितिरिति”त्यङ्गीकारो न युक्तः ;  
नह्यनुपादेयविशेषणमेवाधिकारहेतुरित्यत्र किञ्चित्प्रमाणमस्ति ; वैपरीत्यस्यापि संभवात्, “किन्तु कर्तुरिति”त्यप्यनुपपन्नम् ;  
नहि सकृत् श्रुतस्य विशेषणस्य कर्तृविशेषणत्वमधिकारिविशेषणत्वं चेति विरुद्ध्यर्थं न्याय्यम्, सिद्धान्ता-  
निर्णयश्चास्मिन् पक्षे, परिहारश्चायं “किञ्चे”त्यनेन पुनरुक्तः, “किन्त्वि”ति ग्रन्थेन च व्याहृतः ; पूर्वोक्तानुपादेय-  
विशेषणस्याधिकारहेतुत्वाङ्गीकारात्, उत्तरेणोपादेयविशेषणस्याधिकारहेतुत्वप्रदर्शनात् । “किन्त्वि”त्यस्योत्तरग्रन्थ-  
विरोधश्च ; उत्तरग्रन्थे हि “किञ्चे”त्यनेनानुपादेयत्वकीर्तनात्, स्वसिद्धान्तविरुद्धश्चायं परिहारः ; स्वसिद्धान्ते हि इष्ट-  
साधनस्याधिकारे सापेक्षत्वादित्याशङ्क्य विषयभेदेनावतारयति—\*अपसिद्धान्तेनेति\* ॥ अनेन विरोधपरिहारः कृतः ।  
“नियोगपक्षमिति”त्यनेन पौनरुक्त्यपरिहारः । “अपसिद्धान्तेने”त्यनेन नियोगपक्षाङ्गीकारे प्रयोजनमप्युक्तम् ।

\*ननु\*—यान्येवोपादेयविशेषणानि, तान्येव नियोगपक्षेऽनुपादेयविशेषणानीति कथं भेदः ? पक्षद्वयेऽपि सम-  
र्पकशब्दस्यैकत्वात्, तस्यैकस्यैवानुपादेयविशेषणसमर्पकत्वमुपादेयविशेषणसमर्पकत्वं चेति व्यवस्थापकाभावात्, पुरुष-  
स्यैकस्योभयथाऽन्वये प्रमाणाभावात्, प्रत्युत सर्वपक्षेषु कर्त्रन्वयाविशेषाद् यागादेः क्रियारूपत्वेन कर्त्रन्वयापेक्षत्वाद्  
उपादेयविशेषणानामेवाधिकारिविशेषणत्वमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयं भावो यत्रेति\* ॥ “अधिकारिविषये”त्य-  
न्नाधिकारिशब्दो नियोज्यपरः । यद्वा—स्वसंबन्धकार्यबोद्धा नियोज्यत्वेनान्वितः, स एवाधिकारित्वेनान्वेतीत्यभि-  
प्रेत्याह—अनुष्ठाननिबन्धनत्वादैश्वर्यस्येति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

त्वया प्रयोजकव्यापाराभिधायित्वानङ्गीकरणादित्याशङ्क्याह—\*तत्र प्राप्तेति\* ॥ \*तत्रेति\* ॥ “उपनयीते”ति वाक्य  
इत्यर्थः, कर्तृव्यापारप्रतिपत्ताविति वा । प्रयोजकव्यापारप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य तस्यान्यतः प्राप्तत्वेन विधिविषयत्वानुपपत्ते-  
र्माणवकव्यापारे विधिराश्रीयते, ततः प्रयोजकव्यापारकर्मत्वेन कर्तृत्वप्रतीतेरनपवादादुपादेयत्वमित्यर्थः । द्वितीयाविभक्तिः  
शब्दशब्दार्थः । किं तदनुपादेयमित्याकाङ्क्षायासाह—\*विधीति\* ॥ तदेवोदाहरणेन स्पष्टयति—\*यथेति\* ॥ नित्य-  
नैमित्तिक-काम्यभेदादुदाहरणभेद इत्यर्थः ॥ “सत्यमस्ती”त्यत्र कर्त्रन्वयपुरःसरोऽधिकारान्वय इत्यङ्गीकृत्य कर्तृविशेषण-  
स्याप्यधिकारनिमित्तत्वमुक्तम् ; तत्र घटते ; श्रेयःसाधनवाक्यार्थबादिना कर्त्रन्वयस्याधिकारान्वयपुरःसरत्वाङ्गीकरणात् ,  
इत्याशङ्क्याह—\*अपसिद्धान्तेनेति\* ॥ भाट्टसिद्धान्तेनेत्यर्थः । परिहर्तुमित्यत्र—“उक्तं चोद्यमि”त्यनुषङ्गः ॥

नियोगवादिमतेऽनुपादेयविशेषणस्याधिकारनिमित्तत्वम्, भावनावादे तूपादेयविशेषणस्येत्ययं विभाराः किं  
निबन्धनः ? इत्याशङ्क्यासाह—\*अयं भाव इति\* ॥ तथाऽपि कथमधिकार्यन्वयः ; इत्याशङ्क्याह—\*नियोगस्येति\* ॥  
स्वरूपोपाधित्वेन, नियोगप्रतिपत्तिनिमित्तत्वेनेति यावत् । समानपदोपात्तस्य धात्वर्थस्य विषयत्वेनान्वयाद् भिन्न-  
पदोपात्तोऽपि स्वर्गकामादिरधिकारित्वेनान्वीयत इत्यर्थः । नियोज्यान्वयपुरःसरः कर्त्रन्वय इति तदग्रन्थे लक्ष्यत इत्या-



## पञ्चपादिका

किन्तु कर्तुरधिकार इत्यपि स्थिता न्यायविदः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

नैवाधिकारिविषयसापेक्षत्वात्(१)स्वर्गकामादिनियोगाकाङ्क्षयाऽधिकारित्वेन संबध्यते—ममायं नियोग इति\* ॥ स्वामितयाऽन्वयित्वं नियोज्यत्वमधिकारित्वं नाम । तत्र प्रथमं 'ममायं नियोगः' इति प्रतिपद्य नियोगस्य कार्यतावगमादनुष्ठानाय धात्वर्थविषये पश्चात् कर्तृतयाऽन्वेति । नियोगो हि साध्यतयाऽवगम्यमानः प्रथमान्वयिनोऽधिकारिणो 'ममायं नियोगः' इति प्रतिपत्तुर्नियोगनिवृत्तिसमर्थे धात्वर्थे कर्तृन्वयमन्तरेणानुपपद्यमानस्तदन्वयमर्थापत्त्या प्रतिपादयति, इत्यधिकारान्वयपुरःसरः कर्तृन्वय इति प्राभाकरा मन्यन्ते । तत्र भवत्वनुपादेयविशेषणमधिकारहेतुः, भावनावादे तु पुनरुपादेयविशेषणमप्यधिकारहेतुरित्याह—\*किं तु कर्तुरधिकार इत्यपि स्थिता न्यायविद इति\* ॥ \*अयमाशयः\*—लिङादिप्रत्ययैर्यदा पुरुषप्रवृत्तिर्भावना वाक्यार्थतया प्रतिपाद्यते, तदा प्रधानाकाङ्क्षानिमित्तत्वात् संबन्धस्य, क्रियायाश्च स्वरूपोपाधित्वेन कर्तृ-करण-कर्मापेक्षणीयत्वात्, पुरुषार्थ-धात्वर्थयोश्च भाव्य-तत्करणत्वेनान्वयात् परिशेषात् स्वर्गकामादयः कर्तृत्वेनान्वीयन्ते । ततश्च कर्तृविशेषणतया तन्नियमार्थानि जीवन-गृहदाह-कामनादीनि । तत्र प्रथमं कर्तृत्वेनान्वयं प्रतिपाद्य कर्तुरेव फलसम्बन्धाद् 'मदीयमिदं फलसाधनं कर्मेति कर्म-स्वामित्वलक्षणमधिकारान्वयं पश्चादनुभवति । कर्मफलभोक्तृत्वमेव हि कर्मणि स्वाभ्यन्वय इति । ततश्च

## ऋजुविवरणम्

\*ननु—स्वरूपोपाधितया नियोज्यान्वयोऽङ्गीक्रियते, तत् कथं स्वरूपोपाधित्वेनाधिकारान्वय उच्यते ? इत्या-शङ्क्याह—\*ममायं नियोग इति । स्वामितयेति\* ॥ एवं तर्ह्यधिकारित्वेनान्वयात् कर्त्रन्वयाभावेनैव नियोग-सिद्धिर्न स्यादित्याशङ्क्याह—\*तत्र प्रथमं ममायमिति\* ॥ \*ननु\*—अधिकारिणः कर्तृत्वे किं प्रमाणम् ? नहि कर्तृबोधकः शब्दोऽस्ति, नापि प्रमाणान्तरम्, अतो न कर्तृत्वमित्याशङ्क्याह—\*नियोगो हीति\* ॥ अर्था-पत्त्या=उपादानेनेत्यर्थः । \*ननु\*—कथं कर्तुरधिकारः, विरोधात् ? नहि प्रथमं कर्तृत्वबोधकः शब्दोऽस्ति, नापि कर्तृत्वान्वये प्रमाणं न्यायो वा, नापि तदुत्तरकालमधिकारान्वयेऽपि कारणमस्ति ; अत उपादेयविशेषणयाधि-कारहेतुता कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ भवतु कर्तृत्वेनैवान्वयः, तथाऽपि तस्यैव स्वामित्वं कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*कर्तुरेवेति\* ॥ \*ननु\*—कथं कर्मणि स्वामित्वम् ? तत्फलसाधनं कर्मेति स्वफलसाधनत्वमात्र-

## तत्त्वदीपनम्

शङ्क्याह—\*ममायमिति\* ॥ कर्त्रन्वयाभावे नियोगानिष्पत्तेः सोऽप्येष्टव्य इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ लिङादि-श्रवण इति यावत् । \*प्रतिपद्येति\* ॥ अधिकार्यन्वयं प्रतिपद्येत्यर्थः । तत्र किं प्रमाणमिति ? अत आह—\*नियोग इति\* ॥ नियोगस्य कृतिसाध्यतया प्रतिपत्तेः साक्षाच्च कृतिसाध्यत्वासंभवाद् धात्वर्थस्य निर्वर्तनद्वारा कृतिसाध्यत्वम्, नच धात्वर्थे कर्तृत्वेनान्वयाभावे तन्निवृत्तिः, इति नियोगानुपपत्त्या कर्त्रन्वयसिद्धिरित्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*तत्रेति\* ॥ \*अनुपादेयेति\* ॥ स्वामित्वेनान्वयिनो विशेषणं विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तमित्यर्थः । कथं तर्ह्युपादेय-माणवकविशेषणस्याधिकारनिमित्तत्वम् ? तत्राह—\*भावेनेति\* ॥ तुशब्दो विशेषप्रदर्शनार्थः ॥

कर्त्रन्वयपुरःसरोऽधिकारान्वय इति ब्रुवतां न्यायविदामाशयं दर्शयति—\*अयमाशय इति\* ॥ भावनास्वरूप-माह—\*पुरुषप्रवृत्तिरिति\* ॥ कर्मशब्दो भाव्यपरः । फलितमाह—\*ततश्चेति\* ॥ तथाऽपि कथं कर्तुः स्वामित्वेना-न्वयः ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्र प्रथममिति\* ॥ 'मदभिलषितसाधनं कर्मेति फलस्वामित्वं प्रतीयते, न कर्मस्वामित्वम्, तत्राह—\*कर्मेति\* ॥ फलस्वामित्वमेव यत्, तत्साधनकर्मस्वामित्वमित्यर्थः । इतिशब्दो हेत्वर्थः । यस्माद् भोक्तृत्वं स्वाभ्यन्वयः, तस्मादधिकारान्वयमनुभवतीत्यन्वयः । फलितमाह—\*ततश्चेति\* ॥ प्रथमं कर्तृत्वेनान्वयो यस्मात्,

(१) अनुष्ठाननिबन्धनत्वादैश्वर्यस्य इति ऋजुविवरणाभिमतमधिकमत्र पदम् ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कर्तृविशेषणान्येव तस्यैव फलभोक्तृतया कर्मणि स्वाम्यन्वयं नियमयन्तीति कर्तुरधिकारस्थितिः । एवं भावना-  
वाक्यार्थोपादानेनापि माणवकस्याधिकारसिद्धिरिति भावः । \*अथवा\* यथा राजसूये राजत्वं कर्तृविशेषणमन्ये-  
नाधिकारिणा राजत्वस्य कर्तृविशेषणतया सम्पादयितुमशक्यत्वादधिकारिविशेषणमपि सम्पद्यते, तद्वदिहापि  
स्यादिति । \*ननु\*—नायं परिहार उपपद्यते ; श्रेयःसाधनस्य लिङ्गादिप्रत्ययैर्वाक्यार्थत्वेनाभिधीयमानत्वात् ,  
तस्य च प्रथममधिकारान्वयापेक्षत्वात्, कथम् ? श्रेयो हि भोक्तारमपेक्षते, अतस्तत्साधनमपि भोक्त्रन्वयि भवति ;  
'कस्येदं श्रेयःसाधनम् ? ममेदमभिलषितसाधनमिति च स्वाम्यन्वयाकाङ्क्षादर्शनात्, 'कस्यायं नियोगः' ममाय-  
मिति वत्, भावना तु क्रिया कर्त्ता-श्रयतयाऽवगम्यमाना तमपेक्षते । \*ननु\* कृतियोग्यमेव श्रेयःसाधनं विधिः ;  
कर्तुरिष्टाभ्युपायो विधिरित्यभ्युपगमात्, ततश्च कृतिः कर्तारमपेक्षत इति, \*तर्हि\* नियोगस्यापि कार्यतयाऽवगमात्  
कृतिनिमित्तकर्त्तृन्वय एव स्यात् । \*ननु\*—कृतिर्नियोगोपसर्जनतयैव शब्देनाभिधीयते ; नचोपसर्जनाकाङ्क्ष-  
या पदार्थान्वयः, किन्तु प्रधानकाङ्क्षया ; ततश्च प्रधाननियोगाकाङ्क्षया प्रथममधिकारान्वयः—इति, \*समान-  
मेतदिष्टसाधनेऽपि\* ; कृतेरुपसर्जनतयाऽभिधानात् । \*ननु\* श्रेयोऽप्युपसर्जनत्वात् तत्सामर्थ्यलभ्यं भोक्त्रन्वयः कथं  
साधनस्य स्यात् ? \*नैष दोषः\* ; साधनत्वस्वरूपोपाधित्वाञ्छेयसः, तस्य च नियमेन भोक्त्रन्वयात् कर्तृ-भोक्तृ-

## मृजुविवरणम्

प्रत्ययात्, इत्याशङ्क्याह—\*कर्मफलेति\* ॥ “अथवा—”इत्यनेन नियोगपक्ष एव क्वचिदुपादेयविशेषणस्याधिकारहे-  
तुत्वं दृश्यते । “तद्वदत्रापी”ति वदता “किन्तु कर्तुरिति”ति ग्रन्थो नियोगपक्ष एव योजितः । जात्यवच्छिन्नव्यक्तेः  
कर्तृत्वेन जातेरुपादेयविशेषणत्वम्, स्वर्गादिस्तु साध्यत्वेन प्रतीतस्य नियोज्यविशेषणत्वे सति भवति ; नान्यथेति  
दृष्टव्यम् ॥ \*ननु\*—श्रेयःसाधनत्वपक्षे नाधिकारत्वेनान्वयः ; साधनस्य प्रथममधिकाकाङ्क्षाकारणाभावात्,  
साधनस्य निष्पत्त्यपेक्षस्य कर्त्रन्वयापेक्षत्वादित्याक्षिपति—\*कथमिति । नैष दोषः साधनत्वस्वरूपोपाधित्वादिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

तस्मादित्यर्थः । कर्त्रन्वयपुरःसरोऽधिकारान्वय इति ब्रुवतः सिद्धान्तिनः किं फलम् ? इत्याशङ्क्याह—\*एवमिति\* ॥  
\*इति भाव इति\* ॥ मनीपेति यावत् ॥ अनुपादेयविशेषणमेवाधिकारनिमित्तमित्ययं नियमो गुरुणाऽपि वक्तुं न शक्यते,  
इत्याशयवानाह—\*अथवेति\* ॥ कर्तृविशेषणमपि राजत्वमधिकारिविशेषणं यथा संपद्यते, तद्वदिहापीति संबन्धः । तत्र  
हेतुमाह—\*अन्येनेति\* । कर्तृविशेषणतया स्थितस्य राजत्वस्य राज्ञोऽन्येन संपादयितुमशक्यत्वादिति संबन्धः । भावना-  
वाक्यार्थपक्ष उपादेयविशेषणस्याधिकारनिमित्तत्वेऽपीष्टसाधनवाक्यार्थवाद उपादेयविशेषणस्यानाधिकारनिमित्तत्व-  
मित्याह—\*ननु नायमिति\* ॥ साधनं साधकमपेक्षते, न भोक्तारम्, इत्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ साधनप्रतिपत्तेः  
श्रेयःप्रतिपत्तिसाकाङ्क्षात्वात् तस्याश्च भोक्तृसाकाङ्क्षत्वात् साधनस्यापि भोक्त्रन्वय एव प्रथमं युक्त इत्याह—\*श्रेय  
इति\* ॥ न केवलं युक्तितः साधनस्य भोक्त्रन्वयः, किंत्वनुभवतोऽपीत्याह—\*कस्येदमिति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—  
\*कस्यायमिति\* ॥ भावनावादेऽप्यधिकारान्वयप्राथम्यं किं न स्यात् ? तत्राह—\*भावेनेति\* ॥

शिशिरमरीचिमण्डलोदयादौ व्यभिचारादिष्टसाधनमात्रस्य लिङ्गत्वनुपपत्तेः कृतियोग्यश्रेयःसाधनस्य लिङ्गत्वं  
वक्तव्यम्, कृतेश्च कर्त्राकाङ्क्षत्वात् प्रथमं कर्त्रन्वय इति शङ्कते—\*ननु कृतीति\* ॥ प्रवर्तकं विधिशब्दार्थः । तत्र वृद्ध-  
संमतिमाह—\*कर्तुरिति\* ॥ कर्तुरिति विशेषणात् तत्साध्येष्टसाधनस्य विधित्वं युक्तमित्यर्थः । नियोगस्य कृतिसाध्यत्वेऽपि  
प्रथमं भोक्त्रन्वयवत् साधनस्यापि भोक्त्रन्वय एव, इत्यथेतत्रापि प्रथमं कर्त्रन्वयप्रसक्तिरिति शङ्कते—\*तर्हि नियोग-  
स्येति\* ॥ तत्र दृष्टान्तो विषम इत्याह—\*ननु कृतिरिति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*नचेति\* ॥ फलितमाह—  
\*ततश्चेति\* ॥ तुल्यमुत्तरमित्याह—\*समानमिति\* ॥

श्रेयस उपसर्जनत्वेऽपि तदाकाङ्क्षया यथा भोक्त्रन्वयः, तथा कृत्याकाङ्क्षया कर्त्रन्वयः किं न स्यात् ? इतरथा  
न भोक्त्रन्वयोऽपीति शङ्कते—\*ननु श्रेयस इति\* ॥ कृति-श्रेयोवैषम्याद् मैवमित्याह—\*नैष इति\* ॥ \*स्वरूपो-  
पाधित्वादिति\* ॥ साधनप्रतिपत्तिनिमित्तत्वादित्यर्थः । साधने प्रतिपत्ते तस्य प्रवर्तकत्वसिद्ध्यर्थं कृतिसाध्यताऽ-



## पञ्चपादिका

किंचेह न माणवको जाति-वयोविशिष्ट उपादेय उपनयने, किं तूपनयनमेव तदर्थं विधीयते ; संस्कारस्य संस्कार्योद्देशेन विधानात् । अतः संस्कार्यस्यावच्छेदकत्वं वयो-जात्यवच्छिन्नं सद् भवति नित्य-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

साधारणस्य साधनस्य स्वोपाधिश्रेयोऽनुसारेण भोक्त्रन्वयनियमसिद्धेः । तस्माद् ममाभिलषितसाधनमिति प्रथम-मधिकारान्वयो वाक्यार्थभूतेन विधिना श्रेयःसाधनेनापेक्ष्यते पश्चादभिलषितसाधनत्वस्याश्रये धात्वर्थविषये विधिसामर्थ्यादेव कर्त्रन्वयं प्रतिपद्यत इति ।

एवमपि तत्र न विरोध इत्याह—\*किंचेह न माणवको जाति-वयोविशिष्ट उपादेय इति\* ॥ यदैवोपनयनाध्ययनादिमाणवकव्यापारस्य सामान्येनाभिलषितसाधनत्वलक्षणो विधिः शब्देन प्रतिपाद्यते, तदा सामान्यस्य श्रेयोविशेषाकाङ्क्षायां परम्परया पुरुषार्थसाधनमुपनयनसंस्कारं माणवकगतं श्रेयोविशेषं परिकल्प्य तत्साधनत्वलक्षणो विधिर्माणवकव्यापारे प्रतिपादितो भवति ; ततः संस्कारफलभोक्तृतया विधौ माणवकः स्वामित्वेनान्वेति ; तत्र च स्वामिनियमार्थं ब्राह्मण्यादिविशेषणं तस्यैव पश्चादभिलषितसाधनत्वविषये माणवकव्यापारे कर्त्रन्वयं नियमयतीति ग्रन्थार्थः । \*ननु\* प्रयोजकव्यापारविषयतया कर्तृत्वेनैवान्वयो वाक्यात्प्रतिपन्नः, \*सत्यम्\*, तत्र विधिसंबन्धसामर्थ्याद् भोक्त्रन्वयं प्रतिपद्य कर्त्रन्वयनियमः कल्प्यते ॥

## ऋजुविवरणम्

स्वरूपनिरूपकत्वात् कस्य साधनं श्रेयस इति ॥ अयं भावः—साधनं तावद् न भोक्त्रन्वयं कर्त्रन्वयं वा नियमयति, साधारणत्वात्, अतोऽत्र श्रेयाश्रयणीये व्यवस्थापकान्तरे यद्यपि श्रेयसोऽप्युपसर्जनत्वम् ; तथाऽपि तन्निबन्धनो भोक्त्रन्वय एव स्यात् ; तस्य स्वरूपोपाधित्वेनान्तरङ्गत्वात्, कृतेस्तु विध्युपाधितया बहिरङ्गत्वादिति । किञ्चेह न माणवकः” इत्यनेन कथं विरोधः परिहृतः ? नहि माणवकस्योपादेयत्वं नास्तीति वक्तुं शक्यते ; ब्राह्मणकर्तृत्वप्रतीतेः । नहि प्रकारान्तरेण माणवकस्यान्वयप्रतीतिरस्ति, किन्तु उपनयनमेवेत्यप्युक्तम् ; उपनयनस्य तदर्थत्वबोधकप्रमाणाभावात्, उपनयनस्य तादर्थ्यं नाम तदीयफलसाधनत्वम्, नह्यस्य फलसाधनत्वप्रतीतिरस्ति, फलप्रतीत्यभावात्, “संस्कारस्ये”त्यनेन युक्तिरुक्ता । सापि न युक्ता ; नहि संस्कारस्य विधानमस्ति, नापि संस्कारस्य पुरुषार्थत्वमुपनयनस्य पुरुषार्थत्वसाधकम् ; व्यधिकरणत्वात्, नापि संस्कारजननेनोपगमनस्य तादर्थ्यम् ; संस्कारस्य पुरुषार्थत्वेनेष्टत्वाभावात्, तत्साधनस्य पुरुषार्थत्वायोगात्, “अतः संस्कारस्यैवे”त्यप्युक्तम् ; संस्कार्यत्वमात्रेण स्वामित्वाभावात्, तद्विशेषणस्याधिकारनिमित्तत्वाभावादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*यदैवोपनयनाध्ययनादीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

पेक्ष्यते, श्रेयस्तु साधनप्रतिपत्त्यर्थमिति वैषम्यमित्यर्थः । श्रेय इव साधनमपि भोक्त्रन्वयमाक्षिपतीति शङ्कां निरस्यति—\*कर्त्रिति\* ॥ श्रेयःसंबन्धात् साधनं भोक्त्रन्वयि, कृतियोग्यतासंबन्धात् कर्त्रन्वयि, न स्वरूपेण कर्त्राद्यन्वयि । तत्र च स्वप्रतिपत्तिनिमित्ततया श्रेयसोऽन्तरङ्गत्वात् तदनुसारेण भोक्त्रन्वय इत्यर्थः । ततश्च जाति-वयसोरुपादेयविशेषणयोरधिकारनिमित्तत्वाभिधानमयुक्तमितीति शब्दार्थः । अस्मन्मतेऽपि जाति-वयसोरुपादेयविशेषणत्वाभावादधिकारनिमित्तत्वं युक्तमित्याह—\*एवमपीति\* ॥ ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीतेति कर्तृत्वप्रतिपत्तेः कथमनुपादेयत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*यदैवेति\* ॥ उपगमनमुपनयनशब्दार्थः । कर्तृत्वेनानन्वये कथं प्रवृत्तिरिति ? तत्राह—\*तस्येति\* ॥ अभिलषितसाधनत्वलक्षणो विषयो यस्मिन्, स तथोक्तः ॥

लिङादिप्रतिपाद्यत्वं विषयशब्दार्थः । विषयशब्द आश्रयपरो वा । माणवकस्य प्रयोजकव्यापारविषयत्वात् कर्तृत्वम्, ततश्च जात्यादेः कर्तृविशेषणत्वान्नाधिकारनिमित्तत्वमिति शङ्कते—\*ननु प्रयोजकेति\* ॥ कर्तृत्वान्वयप्रतिपत्तिमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि पूर्वापरविरोधः, तत्राह—\*तत्र विधीति\* ॥ प्रयोजकव्यापारस्याविधेयत्वादि”तरत्र विधिसंबन्धो वक्तव्यः, तथाच लिङादिप्रतिपन्नश्रेयःसाधनविध्यनुरोधेन भोक्त्रन्वयप्रतिपत्तेरङ्गीकरणाद् न



## पञ्चपादिका

निमित्तं माणवकस्य संस्कार्यत्व इति । तदेवमुपनयनस्याध्ययनार्थत्वात् तस्य च साधिकारत्वात् तेन चाधिकारेण साधिकारोऽध्ययनविधिः । अक्षरग्रहणमात्रेण चाधिकारसिद्धिः, अर्थावबोधस्तु कारणान्तरादिति ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* एवमप्यध्ययनस्य न साधिकारतासिद्धिरिति, तत्राह—\*तदेवमुपनयनस्याध्ययनार्थत्वादिति\* ॥ प्रसिद्धं च सर्वस्मृतिशास्त्रेषूपनयनमध्ययनाङ्गमिति । वाजसनेयिनां चोपनयनं प्रकृत्याध्ययनं विधीयते । विधिद्वयसामर्थ्यं चोपादानप्रमाणदर्शितम् । इहापि “तमध्यापयति”त्युपनीतं तच्छब्देन परामृशति, अङ्गाङ्गिनोश्चैकाधिकारत्वादुपनीतो ब्राह्मणोऽधीयीतेति संपद्यते ; अङ्गाधिकारनिमित्तस्य कालस्य सर्वत्राङ्गिन्यन्वयनियमाभावाद् वयसो नाध्ययनाधिकारनिमित्ततेति । \*ननु\* नित्याधिकारेणाध्ययनविधिनाऽर्थावबोधो भाव्यतामिति, नेत्याह—\*अक्षरग्रहणमात्रेण चेति\* ॥ \*ननु\* सकृदध्ययनादेव नित्याध्ययनविधिसिद्धिरावृत्तिः केन लभ्यते ? अर्थावबोधफलपक्षे वा कथं लभ्यते ? फलावसानानुपपत्तेरिति चेत्, इहापि समानम् ; अक्षरवातेः फलत्वात् । \*ननु\* अदृष्टमेव विधिफलमित्युक्तम्, \*समानमर्थावबोधपक्षेऽपि\* ॥

\*ननु\*—अदृष्टसमवायिदृष्टं फलमर्थावबोधः, तस्य चाक्षरस्वीकरणविचाराद्यपेक्षत्वात् तदर्थमावृत्तिसिद्धिः—\*इति\*, \*न\* ; शाखान्तरीयपौरुषेयवाक्येभ्योऽप्यभ्यस्तीकृतेभ्योऽर्थावबोधदर्शनाद् न तदर्थमावृत्त्य-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—अङ्गाङ्गिनोरेकाधिकारत्वेनाष्टवर्षस्यैवाध्ययनमपि प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—\*अङ्गाधिकारनिमित्तस्येति\* ॥ कथमर्थावबोधसामर्थ्यसिद्धत्वमावृत्तेर्निराक्रियते ? त्वयाऽप्यङ्गीकरणीयत्वात्, अन्यथा वृत्तिर्निष्प्रमाणिकैव स्यादित्या-

## तत्त्वदीपनम्

विरोध इत्यर्थः । अध्ययनेऽधिकारनिमित्ताप्रतिपत्तेरध्ययनमेवेति शङ्कते—\*नन्वेवमिति\* ॥ अप्रतिपत्तिसिद्धेत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ अध्यापनार्थत्वमसिद्धमिति मन्वानं प्रति, उक्तं स्मारयति—\*प्रसिद्धमिति\* ॥ \*स्मृतिशास्त्रेषु\* स्मृतिषु तन्मूलश्रुतिषु चेत्यर्थः । स्मृतय एव शास्त्राणि स्मृतिशास्त्राणि, तेष्विति वा । तत्र साक्षात् श्रुतिरपि प्रमाणमित्याह—\*वाजसनेयिनामिति\* ॥ विधिद्वयानुपपत्तिश्चात्र प्रमाणमित्याह—\*विधिद्वयेति\* ॥ अध्यापनविधिरुपगमनविधिश्चेत्येतद् द्वयं विधिशब्दार्थः ॥

भवत्वङ्गाङ्गित्वम्, तथाऽपि कथमध्यापनस्य साधिकारत्वम् ? तत्राह—\*अङ्गाङ्गिनोरिति\* ॥ एकोऽधिकारो विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तं ययोस्तौ, एकाधिकारौ, तद्भावस्तत्त्वम् ; तस्मादिति विग्रहः । उपनयनाधिकारनिमित्तस्याध्ययनाधिकारनिमित्तत्वेऽष्टवर्षस्यैवाध्ययनं प्राप्तम्, इत्याशङ्क्याह—\*अङ्गेति\* ॥ अध्ययनविधेर्नित्याधिकारत्वमङ्गीकृत्य, अर्थावबोधे विधेः पर्यवसानं शङ्कते—\*ननु नित्येति\* ॥

स्वाध्यायासेर्भाव्यत्वं शब्दप्रतिपन्नं विहाय व्यवहिताप्रतिपन्नार्थावबोधस्य भाव्यत्वकल्पनमयुक्तमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ आवृत्त्यनुपपत्त्याऽर्थावबोधो भाव्यमिति शङ्कते—\*ननु सकृदिति\* ॥ अथवा—आवृत्त्यनुपपत्त्याऽध्ययनस्य काम्यत्वमिति शङ्कते—\*ननु सकृदिति\* ॥ आवृत्त्यसिद्धिस्तावदत्रापि तुल्येत्याह—\*अर्थावबोधेति\* ॥ तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्तमवहननवदावृत्तिर्घटत इत्याह—\*फलेति\* ॥ स्वाधीनोच्चारणक्षणमतालक्षणफलस्य सकृदध्ययनादसिद्धेरावृत्तिरास्थेयेत्याह—\*इहापीति\* ॥ अवासेः फलत्वमाक्षिपति—\*नन्वदृष्टमिति\* ॥ तत्रापीयमनुपपत्तिः समेत्याह—\*समानमिति\* ॥ अदृष्टफलस्याप्यङ्गीकरणान्न विधिवैयर्थ्यमिति शङ्कते—\*नन्वदृष्टेति\* ॥ \*अदृष्टसमवायीति\* ॥ अदृष्टविशिष्टमित्यर्थः । तथाऽपि कथमावृत्तिसिद्धिरिति ? अत आह—\*तस्य चेति\* ॥

अस्माभिरप्यदृष्टस्याङ्गीकरणादक्षरावासेः फलत्वं संभवतीत्यभिसन्धाय परपक्ष आवृत्त्यसंभवसाह—\*न शाखान्तरीयेति\* ॥ शाखान्तरीयाणि पौरुषेयाणि च यानि वाक्यानि, तेभ्य इत्यर्थः । इतोऽप्यस्मन्मत आवृत्तिर्युक्तेत्याह—



## पञ्चपादिका

\*ननु\*चैवमधीतो वेदो धर्मजिज्ञासाया हेतुर्ज्ञातः, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्यः, इति वेद एवाधीतोऽन्यनिरपेक्षो धर्मजिज्ञासाया हेतुरिति वदन्ति, \*सत्यम्\* ; तथैव तत्, को वाऽन्यथा वदति ? अधीतवेदो ह्यवश्यकरणीयानि नित्य-नैमित्तिकान्यकरणे प्रत्यवायजनकानि कर्माणि प्रति-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पेक्षा युक्ता, जप-स्वाध्यायविधिसामर्थ्याच्चाक्षरस्वीकरणायावृत्तिः कल्प्यते, नार्थावबोधसामर्थ्यात् । अध्ययन-शब्द एव वाऽधीयमानावाप्तिपर्यन्तव्यापारस्य मुख्यया वृत्त्याऽभिधायकः सकृदुच्चारणादौ, गौण इत्यावृत्ति-सिद्धिरिति । \*ननु\*—वेदस्यैवान्यनिरपेक्षतया विचारहेतुत्वं वदन् भाष्यकारोऽध्ययनविधेरेव विचारहेतुत्व-माहेति चोदयति—\*ननु चैवमधीतो वेद इति\* ॥ सत्यम्, विचारस्य प्रयोजकोत्तरविधिप्रदर्शनद्वारेण विचारहेतुः स्वाध्यायः, नाध्ययनविधिविधेयताद्वारेणेति परिहरति—\*सत्यम्; तथैव तदित्यादिना\* ॥ \*ननु\* स्वाध्यायादापातप्रतिपन्नोत्तरविधिरनिश्चितः कथं विचारं प्रयुङ्क्त इति ? तदाह—\*अधीतवेदो ह्यवश्यकरणीया-नीति\* ॥ आपातप्रतिपन्नानामुत्तरनित्यविधीनामनुष्ठेयनिर्णयज्ञानसापेक्षत्वात् तन्निर्णयाय विचारप्रयोजकत्वमिति ।

## ऋजुविवरणम्

शङ्क्याह—\*जप-स्वाध्यायेति\* ॥ \*ननु\*—एवमध्ययनविधिरक्षरग्रहणान्त इति यदुक्तम्, तन्न स्यात्, किञ्चादृष्टार्थश्च स्यादित्याशङ्क्याह—\*अध्ययनशब्द एवेति\* ॥ “सत्यमि”त्यङ्गीकारो न युक्तः ; अध्ययनविधेर्विचारप्रयोजकत्वस्य निरस्तत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*सत्यं विचारस्येति\* ॥ “अधीतो वेदः” इत्यनेनाध्ययनसामानात्रात्प्रतिपत्तिमुक्त्वाऽनन्तरं विचारः कर्तव्योऽनुष्ठानसिद्ध्यर्थमित्युक्तम्, अत्र पूर्वमेव प्रतिपन्ने कर्मणि कथं विचारकर्तव्यता ? अनुपपत्त्यभावेन प्रयोजका-भावादित्याशङ्क्याह—\*आपातप्रतिपन्नानामिति\* ॥ \*ननु\*—नित्यकर्मानुष्ठाने प्रत्यवायादनुष्ठानस्य च निर्णयपूर्व-

## तत्त्वदीपनम्

\*जपेति\* ॥ अध्ययनशब्दपर्यालोचनायामप्यावृत्तिसिद्धिरित्याह—\*अध्ययनशब्द इति\* ॥ सकृदुच्चारणादावप्य-ध्ययनशब्दप्रयोगो दृष्ट इत्याशङ्क्याह—\*सकृदिति\* ॥ ‘नास्मदधीतात्प्रमद्ये’दिति वाक्यादवाप्तिपर्यन्ताध्ययने मुख्यत्वप्रतिपत्तेरित्यर्थः । अध्ययनस्य स्वविधिप्रयुक्तिसंभवेऽध्यापनविधिप्रयुक्त्ययोगात् स्वविधिप्रयुक्तमध्ययनम्, तच्चाक्षरावासौ पर्यवसितम्, इति न कृत्स्नवेदार्थविचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्ततया त्रैवर्णिकाधिकारत्वं वेदस्य, ततश्चान-न्तर्याभिधानमुखेनावश्यापेक्षिताधिकारिविशेषणसमर्पणार्थत्वमथशब्दस्य युक्तमितीतिशब्दार्थः ॥

“ननु चे”त्यत्र वेदस्य कारणान्तरनिरपेक्षस्य धर्मजिज्ञासाहेतुत्वसंभवान्नाधिकारिविशेषणपुष्कलकारणपरत्वमथश-ब्दस्येत्युक्तम्, तत्र चाध्ययनविधिप्रयुक्तो विचार इति स्ववचनं विरुध्येतेत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु वेदस्येति\* ॥ अध्ययनविधिभाव्यस्वाध्यायफलभूतार्थावबोधस्य विचारमन्तरेणासंभवात् स आक्षिप्यते, इति स्वाध्यायस्य विचारप्रयो-जकत्वं शबरस्वामिनोक्तमिति न विरोध इत्यर्थः ॥

अध्ययनविधेर्विचारप्रयोजकत्वस्य निरस्तत्वात् कथं तदङ्गीकारः ? इत्याशङ्क्य, किं परम्परया विचारं प्रयोजयति स्वाध्यायः ? उत साक्षात् ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ अङ्गीकृतमंशमाह—\*विचारेति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नाध्ययनेति\* ॥ अनुपपत्त्यभावान्न प्रयोजकत्वमित्यर्थः । उत्तरविधेरनिश्चितार्थस्य यथा स्वविषयाननुष्ठा-पकत्वम्, तथा विचारार्दागनिश्चितार्थस्य कथं विचारानुष्ठापकत्वम् ? इति शङ्कते—\*ननु स्वाध्यायादिति\* ॥ “अधीतो वेदः” इत्यत्र कर्मणामवश्यकर्तव्यतामात्रं प्रतीयते, न तूत्तरविधेर्विचारप्रयोजकत्वम्, तथा कर्मणां प्रतिपत्तौ विचारवैयर्थ्यं चेत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*आपातेति\* ॥ अर्थनिश्चये जाते तत्र विचारानवसरात् संदिग्धार्थस्यैव विचारप्रयोजत्वं वक्तव्यम्, स्वविषयानुष्ठानं त्वर्थनिश्चयमन्तरेणानुपपन्नमिति विचारोऽर्थवानित्यर्थः ॥

नित्यकर्मणामवश्यानुष्ठेयत्वप्रतिपत्तौ जातायामनुष्ठानस्य च विचारमन्तरेणासंभवाद् विचारः कर्तव्यश्चेत्, कथं तर्हि



## पञ्चपादिका

पद्यते—तान्यनन्तरमेवावश्यविचारणीयानि, कथमेतान्यनुष्ठेयानीति । अतः प्रागध्ययनादप्रतिपत्तेर-  
योग्यत्वादधीतवेदत्वमेवान्यनिरपेक्षमर्थावबोधहेतुरिति गीयते । न तथा ब्रह्मज्ञानमवश्यकर्तव्यम्, अकरणे

## पञ्चपादिकाविवरणम्

काम्यवाक्यविचारमप्याधानवत् फलकामनैव प्रयुङ्क्ते । \*ननु\* अनेकविधिप्रयुक्तिकल्पनाद् वरमध्ययनविधिप्र-  
युक्तिकल्पनं विचारस्य, \*न\* ; विधेय-तदुपकारिव्यतिरिक्तस्य विचारस्याप्रयोजकत्वादध्ययनविधेरित्युक्तत्वाद्  
अर्थावबोधफलत्वाभावात्, अवघातावृत्तिवत् फलापेक्षयाऽपि न विचारविधिरित्युक्तत्वात्, उत्तरविधिविधेयोप-  
कारित्वाद् विचारस्य तत्प्रयुक्तिः सम्भवति । प्रतिवाक्यं निर्णयज्ञानभेदाच्च विधिभेदो न विरुध्यते ; अन्यथा  
यागाद्यनुष्ठानस्याप्यध्ययनविधिप्रयोज्यत्वं स्यात्, स्वर्गादिसिद्धिपर्यन्तत्वादध्ययनविधिफलस्य । \*ननु\*  
अध्ययनमप्युत्तरविधिप्रयुक्तं स्यात्, अध्ययनमन्तरेण विचारनिर्णायकत्वानुष्ठानाद्यसिद्धेरिति, तत्राह—\*अतः  
प्रागध्ययनादप्रतिपत्तेरिति\* ॥ प्रागध्ययनादुत्तरविधीनामप्रतिपत्तेर्नाध्ययनप्रयोजकत्वमित्यर्थः । अध्ययन-  
विधिश्च सन्ध्योपासनादिविधिवत् पित्रादिभ्यः श्रूयमाणः प्रवर्तयति । नच सकलोत्तरविधीनामध्ययनात् प्राक् श्रवणं  
सम्भवतीत्युक्तम् । अस्तु तर्हि ब्रह्मज्ञानस्यापि त्रैवर्णिकाधिकृतोत्तरनित्यविधिप्रयुक्त एव विचार इति,  
नेत्याह—\*न तथा ब्रह्मज्ञानमिति\* ॥ नच धर्म-ब्रह्मविभागसिद्ध्यर्थं नित्याग्निहोत्रादिविधिरेव ब्रह्म विचारयति ;

## अनुविवरणम्

कत्वाद् विचारानुष्ठानं भवतु ; काम्यवाक्यस्य तु विचारप्रयुक्तिः कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*काम्यवाक्येति\* ॥ \*ननु\*—  
अध्ययनविधेरक्षरस्वीकारस्यार्थावबोधपर्यन्तत्वादध्ययनविधिप्रयुक्तिरेव लाघवाद्ङीकर्तुं युक्ता ; अनेकविधिप्रयुक्ति-  
गौरवाश्रयणे कारणाभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*अन्यथा यागाद्यनुष्ठानस्येति\* ॥ \*ननु\*—अध्ययनविधिरध्ययनात्प्राग-  
प्रतिपन्नत्वेनोत्तरकृतुविधिवद् नाध्ययनप्रयोजक इत्याशङ्क्याह—\*अध्ययनविधिश्चेति\* ॥ अस्तु तर्ह्युत्तरविधीनामेव  
पित्रादिभ्यः श्रवणमित्याशङ्क्याह—\*नच सकलोत्तरेति\* ॥ \*ननु\*—नित्यविधय एव ब्रह्मविचारप्रयोजकाः ;  
स्वविषयानुष्ठानस्येतरेभ्यो भेदसापेक्षत्वात्, तस्य च विचारसापेक्षत्वादित्याशङ्क्याह—\*नच धर्म-ब्रह्मेति\* ॥ \*ननु\*

## तत्त्वदीपनम्

काम्यविचारः ? तदर्थस्यावश्यानुष्ठेयत्वाप्रतिपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*काम्येति\* ॥ कल्पनागौरवप्रसङ्गाद् नोत्तरविधिनि-  
बन्धनो विचार इति शङ्कते—\*नन्वनेकेति\* ॥ प्रयोजकान्तराभावाद् गौरवेऽप्युत्तरविधिप्रयुक्तत्वमेवोत्तररीकरणीयमित्याह—  
\*न विधेयेति\* ॥ विधेय-तदुपकारिव्यतिरिक्तावृत्तेर्यथाऽवहननविधिप्रयुक्तत्वम्, तद्वदत्रापीत्याशङ्क्यावहननस्य दृष्ट-  
फलत्वात् तदुदयपर्यन्तमनुष्ठानम्, न तथाऽत्रेत्याह—\*अर्थावबोधेति\* ॥ तर्ह्येवमेवोत्तरविधिप्रयोज्यत्वमपि न सिध्ये-  
दित्याशङ्क्याह—\*उत्तरेति\* ॥ धात्वर्थस्यानुष्ठानयोग्यस्य विधिविषयत्वादनुष्ठानस्य च विचाराधीनत्वाद् विधेयोपकार-  
कत्वं तस्येत्यर्थः । एकस्य विचारस्यानेकविधिप्रयोज्यत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—\*प्रतिवाक्यमिति\* ॥ विचार-  
स्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वेऽतिप्रसङ्गोऽपीत्याह—\*अन्यथेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*स्वर्गादीति\* ॥ अर्थावबोधस्य  
स्वरूपेणापुमर्थत्वात् स्वर्गादिफलपर्यवसायित्वम् । तच्च न यागाद्यनुष्ठानं विना, इति तदाक्षेपोऽपीत्यर्थः । त्वन्मतेऽप्यति-  
प्रसङ्गस्तुल्य इति शङ्कते—\*नन्वध्ययनमिति\* । तत्र हेतुमाह—\*अध्ययनेति\* ॥

“प्रागध्ययनादप्रतिपत्तेर”त्यत्र कस्याप्रतिपत्तिः ? इति वीक्षायामाह—\*प्रागध्ययनाविति\* ॥ तर्ह्यध्ययनविधेरपि  
प्रागध्ययनादप्रतिपत्तस्य कथमध्ययनप्रयोजकत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अध्ययनेति\* ॥ तर्ह्युत्तरविधीनामपि पित्रादि-  
वचनाधिगतानामध्ययनप्रवर्तकत्वं स्यादित्याशङ्क्यामाह—\*नचेति\* ॥ \*उक्तमिति\* ॥ \*‘ननु कथमर्थावबोधस्ये’-  
त्यत्रेत्यर्थः ॥ कर्मवाक्यार्थविचारस्योत्तरविधिप्रयुक्तत्ववद् ब्रह्मवाक्यार्थविचारस्यापि तथात्वम् । तथाच न पृथग्विचा-  
रारम्भः, इति प्रासङ्गिकाशङ्कामुत्थापयति—\*अस्तु तर्हीति\* ॥ अकरणे प्रत्यवायाभावाद् नोत्तरनित्यविधिप्रयुक्तिरित्याह—  
\*नेत्याहेति\* ॥ अधर्मव्यावृत्तधर्मसिद्ध्यर्थं यथा धर्मविचारः, तद्वद् धर्म-ब्रह्मविभागसिद्ध्यर्थमग्निहोत्रविधिर्ब्रह्मविचारं  
प्रयुङ्क्ते, इत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ उपसंहारद्वयस्यार्थभेदमाह—\*तस्मादिति\* ॥



## ऋजुप्रकाशिका

मथशब्दस्याधिकारार्थत्वे निरस्ते तस्य मङ्गलार्थत्वं शङ्कते—\*अथेति\* ॥ एवं च सति, इत्थं सूत्रार्थः संपद्यत इत्याह—\*तथाचेति\* ॥ यस्तु वाक्यार्थे समन्वययोग्यः, स एवाथेत्यस्य पदस्यार्थो वाच्यः, पदार्थस्य वाक्यार्थेऽ-

## पञ्चपादिका

प्रत्यवायहेतुरिति प्रमाणमस्ति । तस्मादधीतवेदेनावश्यकर्तव्या धर्मजिज्ञासा, नैवं ब्रह्मजिज्ञासा । तदेवं ब्रह्मजिज्ञासाया अधिकारानर्हत्वादहयोश्च ब्रह्म-तज्ज्ञानयोरनर्थ्यमानत्वाद् जिज्ञासाऽनुपपन्ना ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

आपातदर्शनेनैव विविक्तभूतवस्तुविषयत्वात् । “तस्मादि”त्यवान्तरप्रकरणोपसंहारः । “तदेवमि”ति महा-प्रकरणोपसंहारः ॥

\*ननु\*—“ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणो मुखात् । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिका-धुमौ ॥” इति मङ्गलार्थत्वादथशब्दस्य शास्त्रारम्भे च शिष्टाचारपरिपालनाय विघ्नोपशान्तये च मङ्गलाचरणं

## ऋजुविवरणम्

—अथशब्दस्य माङ्गल्यवाचित्वे सिद्धे तस्य वाक्यार्थेऽन्वयनिराकरणं युक्तम्, तदेव कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*ननु ओङ्कार इति\* ॥ \*ननु\*—माङ्गल्ये प्रयोगमात्रेण न स्वीकारः संभवति ; अनेकार्थेषु शब्देषु प्रकृतोपयोगपर्यालोच-नयाऽर्थो भवेत्, नतु प्रयोगमात्रेणेत्याशङ्क्याह—\*शास्त्रारम्भे चेति\* ॥ “वाक्यार्थे समन्वयाभावादि”त्युक्तम्, तत्र कथ-समन्वयाभावः ? इत्याशङ्क्य, किं वैयधिकरण्येनान्वयः ? उत सामानाधिकरण्येन ? इति विकल्प्य प्रथमपक्षे दूषणमाह—

## तत्त्वदीपनम्

“मङ्गलस्यापी”त्यत्राथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वं निरस्तम् ; तदनुचितमिव ; अथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वशङ्काया निर्मूलत्वा-दित्याशङ्क्याह—\*नन्वोङ्कार इति\* ॥ सकलशुभसंहरणविचक्षण-सकलशुभाकर-ब्रह्मकण्ठविनिस्सृतत्वादोङ्काराथशब्द-योर्मङ्गलार्थत्वमिति स्मृत्यर्थः । मङ्गलार्थत्वेऽपि न तन्निर्देशो युक्तः ; प्रमाणफलविधुरत्वादिति शङ्कायामाह—\*शास्त्रेति\* ॥ ग्रन्थारम्भे मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारपरिप्रापितत्वात् तस्य तत्र प्रामाण्यम् । नच तत्र मूलभावः ; अविगीतशिष्टाचारानुमितस्मृतेर्मूलत्वादित्यर्थः । अथशब्दस्यान्यत्र मङ्गलार्थत्वेऽप्यस्मिन् सूत्रे न तद्विषयप्रयोग इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ कथं समन्वयाभाव इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्, किमथशब्दस्य वैयधिकरण्येनान्वयः ? उत सामानाधि-

## वार्तिकम्

वैपरीत्यादित्युक्तम् । तस्मात् सुष्ठूक्तम्—ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वान्नाधिकारार्थोऽथशब्दः संभवतीति ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

अस्तु तर्हि मङ्गलार्थ इत्यत आह—\*मङ्गलस्य चेति\* ॥ \*वाक्यार्थे समन्वयाभावादिति\* ॥ जिज्ञासायाः कर्तृ-करणभावेन वाक्यार्थेऽन्वयासम्भवात्, कारकान्तराणां चाप्रसिद्धत्वात्, “जिज्ञासा मङ्गल-मि”ति सामानाधिकरण्येऽपि प्रशंसापरतया सूत्रस्यार्थवादत्वप्रसङ्गात्, जिज्ञासाया मङ्गलत्वस्य च लोकेऽप्र-

## प्रदीपः

\*ननु\* अधिकारार्थत्वाभावेऽपि मङ्गलार्थोऽथशब्दो भवत्विति शङ्कायामाह—\*मङ्गलस्य चेति\* ॥ न वा मङ्गलार्थ इत्यादिः । \*अयं भावः\*—“मङ्गलानन्तरारम्भे”ति कोशे मङ्गलमथशब्दार्थ इति सत्यमुक्तम् ; तथाऽपि ब्रह्मजिज्ञासा मङ्गलमिति वर्णनेन हि न सूत्रेण “तद्विजिज्ञासस्वे”ति विषयवाक्यार्थः संगृहीतः स्यात् । अनेन हि जिज्ञासायाः स्तुतिमालं क्रियते, नर्थ विचारप्रयोजनं ब्रह्मज्ञानमित्यादि सूच्यते, इति नात्र मङ्गलार्थोऽथशब्द इति भावः । अत्र “वाक्यार्थे” इति पदस्य विषयवाक्यार्थ इत्यर्थः ॥



## मङ्गलस्य (१) च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् ।

भामती

मङ्गलहेतुत्वात् प्रत्यहं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति सूत्रार्थः संपद्यत इत्यत आह—\*मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्\* ॥ पदार्थ एव हि वाक्यार्थः समन्वीयते । स च वाच्यो वा लक्ष्यो वा । नचेह

ऋजुप्रकाशिका

न्वयनियमात्, मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावाद् न मङ्गलार्थोऽथशब्द इत्याह—\*अत आहिति\* ॥ मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावमेव दर्शयति—\*पदार्थ एवेति\* ॥ ततः किम्? तत्राह—\*नचेहेति\* ॥

पञ्चपादिका

\*मङ्गलस्यापि वाक्यार्थे समन्वयाभावात् श्रुतिमात्रोपयोगाच्च साधूक्तम्—\*अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थ इति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

कर्तव्यम्, इति तदर्थोऽथशब्द इति, नेत्याह—\*मङ्गलस्यापीति\* ॥ न तावन्मङ्गलं ब्रह्मजिज्ञासायाः कर्तृ-करण-कर्मभावेन वाक्यार्थेऽन्वेति ; कर्ताद्यन्यतमभावे प्रमाणाभावात्, कारकान्तराणां विद्यमानत्वाच्च । नापि सामानाधिकरण्येनान्वयः—‘ब्रह्मजिज्ञासा मङ्गलमिति’ ; प्रशंसापरतयाऽर्थवादत्वप्रसङ्गात् । \*ननु\* कर्तव्यमेव मङ्गलाचरणमिति, तत्राह—\*श्रुतिमात्रोपयोगादिति\* ॥ \*ननु\* प्रकृतादर्थोदर्थान्तरविवक्षयाऽप्यथशब्दः

ऋजुविवरणम्

\*न तावदिति\* ॥ श्रुतमाङ्गलान्यथानुपपत्त्या कर्ताद्यन्यतमभावनिश्रय इत्याशङ्क्याह—\*कारकान्तराणामिति\* ॥ अथशब्दोपात्ताधिकारिणः कर्तृत्वम्, वाक्यानां करणत्वम्, ब्रह्मणः कर्मत्वमिति । द्वितीयपक्षे दूषणमाह—\*नापि

तत्त्वदीपनम्

करणेन ? इति, तत्र नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ देवदत्तादिपदार्थानां कर्त्रादिभावेनान्वयवद् नास्यान्वयः ; तत्त्वे प्रमाणाभावादित्यर्थः । आकाङ्क्षाभावाच्च न कर्त्रादिरूपेणान्वय इत्याह—\*कारकेति\* ॥ कारकान्तरशब्देन मुमुक्षु-तर्कादयः संगृह्यन्ते । द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ नवार्थवादत्वमास्थेयम् ; सूत्रस्य वाक्यार्थनिर्णयापेक्षित-म्यायसूचकत्वादित्यर्थः । मङ्गलाचरणस्यावश्यकत्वादन्वयस्य चाशीर्नमस्क्रियादेरत्रानिर्देशादथशब्दस्य तदर्थत्वम् । नच वाक्यार्थे समन्वयाभावोद्यम्, अन्वयभेदेष्टे, इति शङ्कते—\*ननु कर्तव्यमिति\* । वीणावेणुमृदङ्गादे रवस्या-न्यार्थत्वेऽपि श्रवणमात्रेण मङ्गलार्थत्ववद् अन्यविवक्षया प्रयुक्तस्याथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वमविरुद्धमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥

वार्तिकम्

अस्तु तर्हि मङ्गलार्थ इति, नेत्याह—\*मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावादिति\* ॥ चोऽप्यर्थः । अधिकारवन्मङ्गलस्यापि प्रधानपदार्थरूपवाक्यार्थे सम्यगन्वयाभावात्, शक्ति-लक्षणाभ्यां पदोपस्थापितपदार्थ-स्यैव वाक्यार्थान्वयित्वात् । नच मङ्गलमथशब्देन शक्त्या लक्षणाया वोपस्थाप्यते, येन तस्य तदन्वयित्वं स्यात्, स्वातन्त्र्येण मङ्गले तद्विनाभूते वा लोकेऽथशब्दप्रयोगादर्शनात् । नह्यधिकाराद्यर्थान्तरमविवक्षित्वा

भाष्यभावप्रकाशिका

सिद्धत्वादथशब्दस्य न मङ्गलार्थतेत्यर्थः ॥ अथवा—पदार्थस्यैव वाक्यार्थे समन्वयाद् मङ्गलस्य चाथ-शब्दवाच्यतया लक्ष्यतया वा पदार्थत्वाभावाद् न वाक्यार्थेऽन्वय इत्यर्थः ॥

प्रदीपः

वस्तुतस्तु—न मङ्गलमथशब्दाभिधेयम् ; किन्त्वर्थान्तरपरस्याथशब्दस्य श्रवणमेव मङ्गलमित्यथशब्दो मङ्गलप्रयोजनक एव, न

(१) मङ्गलस्यापीति पञ्चपादिकाप्रस्थानाभिमतः पाठः ।



## अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति ।

भामती

मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा, लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्खध्वनिवदथशब्दश्रवणमात्रकार्यम् । नच कार्य-ज्ञाप्ययोर्वीक्यार्थे समन्वयः शब्दव्यवहारे दृष्ट इत्यर्थः । तत्किमिदानीं मङ्गलार्थोऽथशब्दस्तेषु तेषु न प्रयोक्तव्यः ? \*तथाच\* “ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाबुभौ ॥” इति स्मृतिव्याकोप इत्यत आह—\*अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति\* ॥ अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः \*श्रुत्या = श्रवण-

ऋजुप्रकाशिका

तर्हि किं तदिति पृच्छति—\*किंत्विति\* ॥ उत्तरमाह—\*मृदङ्गेति\* ॥ “कार्यमि”त्यनन्तरं मङ्गलमित्यनुषङ्गः । अस्त्वथशब्दश्रवणकार्यं मङ्गलम्, तावता तस्य कुतो न वाक्यार्थसमन्वय इति ? अत आह—\*नच कार्येति\* ॥ अथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वाभावे तत्र तत्र मङ्गलार्थमथशब्दो न प्रयोक्तव्यः स्यात्, नचेष्टापत्तिः ; तथात्वे स्मृति-व्याकोपप्रसङ्गात्, इत्याशयेनाशङ्कते—\*तत्किमिति\* ॥ नहि मङ्गलार्थमेवाथशब्दः प्रयुज्यते, किन्तु अन्यार्थे प्रयुज्यमानोऽथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनोऽपि भवतीत्याह—\*अत आहेति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—

वार्तिकम्

मङ्गले तद्विनाभूते वाऽर्थान्तरे वृद्धव्यवहारेऽथशब्दस्य प्रयोगो दूष्टः । \*एतेन\*—चतुर्थेऽथशब्दो लोके प्रयुज्यत इति—\*प्रत्याख्यातम्\* ; मङ्गलार्थत्वासिद्धेः । \*ननु\*—मङ्गलेऽथशब्दो न प्रयुज्यते चेत्, कथं तस्य लोके स्मृतौ च माङ्गलिकत्वप्रसिद्धिः ? तथाच स्मृतिः—

“ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाबुभौ” ॥

इति, तत्राह—\*अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवतीति\* ॥ हि—यस्माद्

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* विघ्नोपशान्तये शिष्टाचारपरिपालनाय च शास्त्रारम्भे मङ्गलाचरणमनुष्ठेयम्, भवति च मङ्गलार्थोऽथशब्दः—“ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाबुभौ ॥” इति स्मृतेरित्याशङ्क्याह—\*अर्थान्तप्रयुक्त इति\* ॥ अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः \*श्रुत्या = श्रवणमात्रेण वीणादिध्वनिवदलङ्घुर्वन् मङ्गलप्रयोजनो भवति ; अन्यार्थ

प्रदीपः

मङ्गलाभिधेयः, इति न मङ्गलार्थत्वशङ्काया अवसरलेशोऽपीत्यभिप्रायेणाह—\*अर्थान्तप्रयुक्त एव हीति\* ॥ \*अर्थान्तरबोधनार्थमेव प्रयुक्तोऽथशब्दः\* \*श्रुत्या = श्रवणमात्रेण\* \*मङ्गलप्रयोजनो भवति\*—मङ्गलजनको भवति, मङ्गलं प्रयोजयति, इति नाथशब्दो मङ्गलार्थ इति विवरणमतानुसारि विवरणम् । तत्र प्रथमं दूषणं कृत्वाचिन्तया, द्वितीयन्तु वस्तुगतिमनुसृत्य । भामतीकारास्तु—न कृत्वाचिन्तयाऽपि मङ्गलमथशब्दवाच्यमिति पक्षमत्राभिप्रयन्ति, किन्तु मङ्गलमथशब्दप्रयोजनमिति पक्षमेव । तथाच वाक्यद्वये-नापि मङ्गलस्य नाथशब्दार्थत्वमित्येव बोध्यते । सति चैवं द्वितीयं वाक्यं प्रथमतः, प्रथमं वाक्यं चानन्तरमर्थक्रमाद् योजनीयम् । \*हि\*—यस्मात्, अर्थान्तप्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजन एव, न मङ्गलाभिधेयकः, तस्माद् मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावः । ततश्च न मङ्गलार्थोऽथशब्द इति योजना । “पदार्थ एव वाक्यार्थे समन्वेति, नच मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा” इति तु भामती । यत्तु—तात्पर्यचन्द्रिकायाम्—वाक्यार्थसमन्वयाभावाद् मङ्गलस्यापदार्थत्वम्, अपदार्थत्वेन च वाक्यार्थ-समन्वयाभावः, इति भामतीमतेऽन्योन्याश्रयदूषणमापादितम्, तदिदं भामतीकारैरपदार्थत्वे वाक्यार्थसमन्वयाभावस्य हेतुत्वावि-वक्षणाद् निरवसरम् । मङ्गलस्याथशब्दसाध्यत्वादपदार्थत्वम्, अपदार्थत्वाच्च न वाक्यार्थसमन्वयाभाव इति हि भामतीयोजनेति न कोऽपि दोषः ॥



## भामती

मात्रेण वेणु-वीणाध्वनिवद् मङ्गलं कुर्वन् मङ्गलप्रयोजनो भवति ; अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्, तेन न स्मृतिव्याकोपः । नचेहानन्तर्यार्थस्य सतो न श्रवणमात्रेण मङ्गलार्थतेत्यर्थः ॥

\*स्यादेतत्\*—पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दो भविष्यति, विनैवानन्तर्यार्थत्वम् । तद्यथेममेवाथशब्दं प्रकृत्य विमृश्यते—किमयमथशब्द आनन्तर्ये ? अथाधिकारे ? इति । \*अत्र विमर्शवाक्येऽथशब्दः

## श्रुतुप्रकाशिका

\*अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भवदिति\* ॥ स्मृतिव्याकोपं परिहरति—\*तेनेति\* ॥ प्रकृतेऽप्यथशब्दस्य तथात्वमित्याह—\*नचेहेति\* ॥ \*इह = “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्र । श्रवणमात्रेणेत्यतः प्राग् अथशब्दस्येति शेषः । \*एवमथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वं निरस्तम् ॥

तर्हि पूर्वप्रकृतापेक्षो भवत्वथशब्दः, नानन्तर्यार्थः, इति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ तदुदाहरति—\*तद्यथेति\* ॥ \*इममेव = “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्रत्यमेव । विमर्शमेवाह—\*किमयमिति\* ॥ \*अयम् = “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्रत्यः । विमर्शवाक्यस्याथशब्दस्य पूर्वप्रकृताथशब्दमपेक्षार्थान्तरे सववत् “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्रत्यस्याप्यथशब्दस्य पूर्वप्रकृतमपेक्षार्थान्तरपरत्वमेवेति वक्तुं विमर्शवाक्यस्थस्याथशब्दस्य तदाह—

## वार्तिकम्

अधिकाराद्यर्थान्तरे प्रयुक्त एव सन् अथशब्दः श्रुत्या=श्रवणमात्रेण, श्रोत्रेन्द्रियजन्यज्ञानविषयतयोपान्धापित इति यावत् । श्रोतुर्मङ्गलप्रयोजनो भवति=मङ्गलं प्रयोजनं कार्यं यस्य श्रयमाणस्य, स तथा ; मङ्गलजनको भवतीत्यर्थः । तथाचान्यार्थतया प्रयुक्तस्याथशब्दस्य श्रूयमाणत्वेन मङ्गलजनकत्वात् स्मृति-लोकयोर्मङ्गलिकत्वप्रसिद्धिः, न तदर्थतयेत्याशयः । अपिच अस्तु वाऽथशब्दस्य मङ्गलेऽपि प्रयोगः, तथाऽपि प्रकृतवाक्यार्थे न समन्वयः संभवति । \*ननु\*—उक्तं ब्रह्मजिज्ञासा मङ्गलम्, अतः प्रत्यहं सा कर्तव्येति कुतोऽसमन्वय इति—चेत्, \*न\* ; इच्छायाः पुरुषतन्त्रत्वाभावेन विधानानुपपत्तेरुक्तत्वात् तन्मङ्गलत्वख्यापनस्य वैयर्थ्यात् । अपिच ब्रह्मजिज्ञासाया मङ्गलत्वमतिसुप्रसिद्धम्, अतोऽपि न विज्ञापनीयमिति । “वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते”तिवत् प्रसिद्धानुवादेन स्तुतिरविरुद्धेति चेत्, न ; अस्य वाक्यस्य विधिपरत्वाभ्युपगमात्, स्तुतिपरत्वेऽपि कल्पमाने वाक्यभेदप्रसङ्गात् । रात्रिसत्तवाक्यवदुभयपरत्वमविरुद्धमिति चेत्, न ; तत्राप्यर्थवादवाक्येन विधिवाक्यानुमानादेकस्योभयपरत्वाभावात्, अन्यथा “अर्थकत्वादेकं वाक्यमि”ति न्यायविरोधापत्तेः । \*एतेन\*—“वसन्ताय कपिञ्जलानालभते”इति मन्त्रस्य विध्यर्थवादोभयपरत्वम्—\*प्रत्याख्यातम्\* ; तत्रापि विधि सामर्थ्यादेवार्थवादकल्पनात् । तस्मान्नाथशब्दस्य मङ्गलानुवादद्वारा स्तुतिपरत्वम् । अपिच यद्यथशब्दो मङ्गलमभिदध्यात्, तर्हाधिकारिणोऽलाभाद् नियोज्यरहितो विधिर्निरर्थक एव स्यात् । नच—मङ्गलमेवात्र प्रयोजनम्, तत्कामोऽधिकारी, इति कुतस्तदलाभ इति—वाच्यम् ; वेदान्तप्रयोजनस्यैवात्रान्वयात्, मङ्गलमात्रप्रयोजनात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । अभ्युपेत्यैतदुक्तम् । \*वस्तुतस्तु\*—मङ्गलं न स्वतः प्रयोजनम् ; अभिमतप्रतिबन्धनिरासिनि मङ्गलशब्दप्रयोगात् । \*ननु\*—जिज्ञासापदेन प्रयोजनसूचनात् तेनैवाधिकारिलाभो भविष्यतीति—चेत्, \*न\* ; सामान्यतस्तेन प्रयोजनसूचनेऽपि प्रयोजनविशेषालाभादधिकारिविशेषसिध्यनुपपत्तेः । तस्माद्यथशब्देनैवाधिकारिविशेषः सूचनीयः । तच्च मङ्गलार्थत्वेऽथशब्दस्य नोपपद्यत इति । \*ननु\*—मङ्गलमपि शास्त्रादावपेक्ष्यते, \*सत्यम्\* ; अत एव “श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवती”त्युक्तम् । सर्वथाऽप्यत्राथशब्दो न मङ्गलार्थ इति सिद्धम् ॥



## भामती

पूर्वप्रकृतमथमब्दमपेक्ष्य प्रथमपक्षोपन्यासपूर्वकं पक्षान्तरोपन्यासे । नचास्यानन्तर्यमर्थः ; पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासेन व्यवायात् । नच पूर्वप्रकृतानपेक्षः ; तदनपेक्षस्य तद्विषयत्वाभावेना-  
समानविषयतया विकल्पानुपपत्तेः । नहि जातु भवति—किं नित्य आत्मा ? अथानित्या बुद्धिः ?

## ऋजुप्रकाशिका

\*तत्र विमर्शवाक्य इति\*॥ आनन्तर्यपक्षोपन्यासः \*प्रथमपक्षोपन्यासशब्दार्थः\* । अधिकारपक्षोपन्यासः \*पक्षान्तरो-  
पन्यासशब्दार्थः\* । पक्षान्तरोपन्यास इत्यनन्तरं वर्तत इति शेषः । \*अस्य=विमर्शवाक्यस्थाथशब्दस्य । पूर्वप्रकृत-  
स्येत्यनन्तरम्—अथशब्दस्य विमर्शवाक्य इति शेषः । \*प्रथमपक्षोपन्यासेन आनन्तर्यपक्षोपन्यासेन । \*व्यवायात्=  
विच्छेदात् । तथाच विमर्शवाक्यस्थाथशब्दो नानन्तर्यार्थकत्वयोग्य इति भावः । पूर्वप्रकृतमनपेक्ष्यैवाथ-  
शब्दः पक्षान्तरोपन्यासे वर्तत इति कस्यचित्पक्षं निरस्यति—\*नच पूर्वप्रकृतानपेक्ष इति\* ॥ \*तदनपेक्षस्य =  
पूर्वप्रकृतानपेक्षस्य । \*तद्विषयत्वाभावेन=पूर्वप्रकृतविषयत्वाभावेन । अत एवाह—\*असमानविषयतयेति\* ॥  
\*विकल्पानुपपत्तेरिति\* । किमथशब्द आनन्तर्ये ? अथाधिकारे ? इत्युक्तविकल्पानुपपत्तेरित्यर्थः ।  
पूर्वप्रकृतानपेक्षत्वे भिन्नविषयतया विकल्पानुपपत्तिमेव व्यतिरेकमुखेन स्फोरयति—\*नहीति\* ॥ प्रकृतशङ्का-

## पञ्चपादिका

\*ननु\*—प्रक्रियमाणात् पूर्वप्रकृतमपि किञ्चिद् नियमेन प्रतीयतेऽथशब्दात्, ततस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रयुज्यते, यथाऽर्थान्तरेऽभिहितेऽर्थान्तरविवक्षया ब्रवीति—‘अथैवं मन्यसे ?’ इति, तदर्थोऽथशब्द इति चोदयति—  
\*ननु प्रक्रियमाणादिति\* ॥ हेतु-फलभावेनानन्तर्याभिधाने प्रकृतादर्थोदर्थान्तरत्वमन्तर्णीततया सिध्यति, इति न  
पृथग्वक्तव्यमिति परिहरति—\*नानन्तर्याद् व्यतिरिच्यत इति\* ॥ \*ननु\* अर्थान्तरत्वमेवाभिधायानन्त-  
र्यमन्तर्णीतं किमिति न गृह्यते ? इति चोदयति—\*कथमिति\* ॥ तत्र किं नियमेन पूर्ववृत्ततया हेतुभूतो वस्तु-  
विशेषोऽवद्योत्यते ? किं वा यत्किञ्चिद्वस्तु पूर्ववृत्तमपेक्ष्यत इति ? तत्र न तावत् प्रथमः कल्पः ; आनन्तर्याभि-

## ऋजुविवरणम्

सामानाधिकरण्येनेति\* ॥ “\*ननु\* प्रक्रियमाणादि”त्यनेन नियमेन पूर्ववृत्तं प्रतीयत इति चोद्यं कृतम्, तदयुक्तम् ;  
व्यभिचारादित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु प्रकृतादर्थोदिति\* ॥

“नैतदानन्तर्यादि”त्यसंबद्धम् ; व्यतिरेकस्य स्पष्टत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*हेतु-फलभावेनेति\* ॥ “नैतदा-  
नन्तर्यादि”त्यनेनानन्तर्यार्थस्वीकारे प्रकृतादर्थोदर्थान्तरत्वमपि गम्यते, अतो न पृथग्वक्तव्यमित्युक्तम्,—“कथमि”त्यनेन ;  
तदेव प्रश्नपूर्वकं प्रतिपाद्यत इति प्रतिभाति, तथा सति परिहारग्रन्थानाञ्जस्यमित्याशङ्क्यावतारयति—\*नन्वर्थान्तर-

## तत्त्वदीपनम्

मङ्गलाधिकारयोरथशब्दार्थत्वाभावेऽपि नानन्तर्यस्याऽथशब्दार्थत्वं, प्रकृतादर्थोदर्थान्तरस्यापि तदर्थत्वादित्युक्तम्  
ननु प्रक्रियमाणादित्यत्र, तदयुक्तम् ; अर्थान्तरत्वस्य तदर्थत्वे प्रमाणाऽभावादित्याशङ्क्याह—\*ननु प्रकृतादिति\* ।  
धर्मविचारात्प्रकृताद् ब्रह्मविचारस्याऽर्थान्तरत्वात्तद्विवक्षया अथशब्दप्रयोग इत्यर्थः । आनन्तर्यस्य प्रकृतादर्थोदर्थान्तरस्य  
च व्यतिरेकप्रसिद्धेर्न व्यतिरिच्यत इति कथमुक्तमित्याशङ्क्याह—\*हेतुफलेति\* । नानयोर्व्यतिरेको निह्न्यते,  
किं त्वानन्तर्यं निर्दिष्ट इतरस्याऽर्थसिद्धत्वाच्च पृथग् निर्देशापेक्षेत्यर्थः । वैपरीत्यं किं न स्यादिति शङ्कते—\*नन्वर्थान्तर-  
त्वमिति\* । अर्थान्तरस्य प्रकृतादर्थोदनिष्पत्तावपि ततो अर्थान्तरत्वसंभवादेवं तदित्यादिग्रन्थस्याऽसंगतिमाशङ्क्य  
विकल्पोत्तरत्वेन व्याख्यातुं विकल्पयति—\*तत्र किमिति\* । \*तत्र=लोक इति यावत् । कार्यान्नियतप्राक्क्षणा-  
वर्तितया प्रकृतं प्रकृतशब्दार्थः ? उत यत्किञ्चित् पूर्वप्रकृतमिति विकल्पार्थः । आनन्तर्याभिधानमित्यस्यैवोर्थः—  
नियतप्राक्क्षणवर्तीदमिति ज्ञान तदा स्यात्, यदा तदनन्तरं नियमेनार्थान्तरमुत्पद्येत, तथाचावश्यापेक्षितमानन्तर्यमथ-



## पञ्चपादिका

किमिति न गृह्यते ? \*उच्यते\*—नैतदानन्तर्याद् व्यतिरिच्यते । कथम् ? एवम्—तत् प्रक्रियमाणस्य नियमेन पूर्ववृत्तं भवति, यदि तस्यानन्तरं तन्मात्रापेक्षं तत्प्रक्रियेत, एवं सति प्रक्रियमाणस्य हेतुभूतोऽर्थः पूर्वनिर्वृत्तो भवति ; अन्यथा यस्मिन् कस्मिंश्चित् पूर्ववृत्तापेक्षायामनुवादादृष्टार्थत्वयोरन्यतरत्वप्रसङ्गात्,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

धानमन्तरेण हेतुतया पूर्ववृत्तवस्तुविशेषनियमासिद्धेरित्याह—\*एवम् तत्प्रक्रियमाणस्य नियमेन पूर्ववृत्तमिति\* ॥ \*अथोत्तरः कल्पः, तत्राह—\*अन्यथा यस्मिन् कस्मिंश्चिदिति\* ॥ \*ननु\* आनन्तर्येऽपि हेतुतया पूर्ववृत्तं नावगम्यते, \*सत्यम्\* ; पुष्कलकारणात् फलस्यानन्तर्यमेव मुख्यं भवति ; अव्यवधानात्, अव्यभिचाराच्च, अहेतु-फलयोस्त्वानन्तर्यं कदाचिद् व्यभिचरति कदाचिद् व्यवधीयते च, इति गौणमेव स्यात् । तस्माद् मुख्यानन्तर्याभिधानेन पूर्ववृत्ते पुष्कलकारणेऽवद्योतिते, अर्थान्तरभावोऽप्यन्तर्भवति, नार्थान्तराभिधाने मुख्यमानन्तर्यमन्त-

## ऋजुविवरणम्

न्तरत्वमेवेति\* ॥ \*नन्वानन्तर्येऽपीति\* ॥ आनन्तर्यमेवाथशब्दवाच्यम्, न हेतुत्वम् ; तथाच सति प्रकृतादर्थादर्थानन्तरत्वस्वीकारेऽप्यनन्तर्यं लभ्यत एव, नतु विशेष इति भावः ॥

“सत्यमि”त्यनेनैतदुक्तम्—आनन्तर्यमात्रस्वीकारे न हेतुत्वलाभः ; आनन्तर्यस्यापि गम्यमानत्वात्, नत्वानन्तर्यमात्रं शास्त्रादौ ; नैष्कल्यप्रसङ्गात्, वैपरीत्येऽप्यनन्तर्यसंभवात्, अतो हेतु-फलभावेनानन्तर्यमुपदेश-दृष्टार्थत्वाभ्यां

## तत्त्वदीपनम्

शब्देनाभिधीयताम् ; अर्थान्तरस्य चार्थात् सिद्धेरिति तदग्रहणं युक्तमित्यर्थः । \*एवं तदित्यादेरयमर्थः\*—प्रक्रियमाणस्य प्रारभ्यमाणस्य तत्पूर्वप्रकृतमेवं सति नियमेन पूर्ववृत्तं भवतीति योजना । एवंपदपरामृष्टमर्थमाह—\*यदीति\* ॥ \*तस्य=पूर्वप्रवृत्तस्य । \*तन्मात्रेति\* ॥ पूर्वप्रवृत्तमात्रापेक्षमित्यर्थः । \*एवं सतीति\* ॥ पुष्कलकारणादानन्तर्ये सतीत्यर्थः ॥

अथशब्दस्यानन्तर्यार्थत्वेऽपि न पुष्कलकारणानन्तर्यं सिध्यतीति शङ्कते—\*नन्वानन्तर्येऽपीति\* ॥ अपुष्कलकारणानन्तर्यस्याप्यथशब्दात् प्रतिपत्तेरित्यर्थः । अपुष्कलकारणानन्तर्यमपि प्रतीयत इत्युक्तमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि न विवक्षितसिद्धिरित्यत आह—\*पुष्कलेति\* ॥ सामग्रीक्षणादुत्तरक्षणे कार्यस्यावश्यंभावनियमाद् न कालव्यवहितत्वं व्यभिचारित्वं च, इतरत्र तु तद्वैपरीत्यम्, ततश्च हेतु-फलयोरेवानन्तर्यस्य मुख्यत्वात् तदेवाथशब्देनोत्सर्गतः प्रतीयते ; ‘गौण-मुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययादि’ति न्यायादित्यर्थः ॥

प्रकृतादर्थादर्थान्तरस्यानन्तर्यान्तर्भावोपक्रमात् स उपसंहरणीयः, नवोपसंह्रियते टीकायाम्, तत् कस्मात् ? इत्याशङ्क्याह—\*तस्मादिति\* ॥ पुष्कलकारणादानन्तर्यस्य मुख्यत्वं तच्छब्दार्थः । \*‘पूर्वप्रकृतापेक्षायाः’ इत्यस्या-यमर्थः\*—प्रकृतादर्थादर्थान्तरस्यानन्तर्याव्यतिरेकादानन्तर्यान्तर्भावादित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*पूर्वप्रकृतेति\* ॥

## प्रदीपः

\*ननु\* एवमपि—“अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरिति”त्यादौ प्रकृतादर्थादर्थान्तरत्वमथशब्दार्थ इति तन्त्रवार्तिकादौ व्यक्तमिति प्रकृतेऽपि प्रकृतकर्ममीमांसातोऽर्थान्तरत्वमेवाथशब्दार्थो भवत्विति शङ्कायामाह—\*पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्चेति\* ॥ पूर्वप्रकृतातिरिक्तत्वम् । अत्रापि नापि पूर्वप्रकृतापेक्ष इत्यादिः पूरणीयः । अयं भावः—पूर्वप्रकृतं यत्किंचिदपेक्षार्थान्तरत्वमथशब्दार्थः ? उत पूर्वप्रकृतं हेतुमपेक्षार्थान्तरत्वम् ? इति वक्तव्यम् । अथे त्वथशब्दवैयर्थ्यम् ; विनाऽप्यथशब्दं तत्प्रतीतिसंभवात्, हेतुमपेक्षार्थान्तरत्वं तु सत्यं संभवति ; तथाऽपि हेतु-हेतुमद्भावस्यानन्तर्यगमितत्वाद् आनन्तर्यार्थकत्वपक्ष एव लाघवाद् युक्त इति विवरणानुयायी पन्थाः ॥ यत्तु ‘तात्पर्यचन्द्रिकायाम्—यथाऽर्थान्तरत्व आनन्तर्यमप्यव्यभिचरितम्, एवमानन्तर्येऽप्यर्थान्तरत्वमव्यभिचरितम्, इति विनिगमनाविरहाद् नानन्तर्यार्थत्वावधारणसंभवो विवरणमत इति वर्णितम्, तदिदमर्थान्तरत्वं यत्र हेतुतः, तत्त्वानन्तर्याव्यभिचारः, न सर्वत्र, इति प्रकृते कारणान्तरैर्हेत्वानन्तर्यविवक्षादिव्यवस्थापनादिबहुतरकेशसाध्यत्वादर्थान्तरत्वपक्षस्य, आनन्तर्यार्थत्वपक्ष एव श्रेया-



## पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् ।

भामती

इति । तस्मादानन्तर्यं विना पूर्वप्रकृतापेक्ष इहाथशब्दः कस्मान्न भवतीति ? अत आह—\*पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्\* ॥ \*अस्यायमर्थः\*—न वयमानन्तर्यार्थतां व्यसनितया रोचयामहे,

ऋजुप्रकाशिका

मुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*इह\*—“अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्र । पूर्वप्रकृतापेक्षायाः फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्रत्योऽथशब्द आनन्तर्यार्थक एव वाच्य इत्याह—\*अत आहिति\* ॥ \*ननु\* पूर्वप्रकृतापेक्षायाः फलत आनन्तर्याव्यतिरेके पूर्वप्रकृतमेव कथ्यताम् ; तत एव तदानन्तर्य-सिद्धेः, किं व्यसनितयाऽथशब्दस्यानन्तर्यकथनेनेति ? अत आह—\*अस्यायमर्थ इत्यादिना\* ॥ “पूर्व-

पञ्चपादिका

अतो हेतुभूतोऽर्थोऽपेक्षितव्यः, तदेतदाह—\*पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकादिति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

भवतीत्युपसंहरति—\*अतो हेतुभूतोऽर्थोऽपेक्षितव्य इति\* ॥ उक्तेऽर्थे भाष्यमवतारयति—\*तदेतदाहेति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

फलतः कार्याद् यद् नियमेन पूर्वप्रकृतम्, तदपेक्षाया हेतोस्त्यर्थः । पुष्कलकारणाद् यदर्थान्तरम्, तदथशब्देन समर्प्यत इति पक्षे पुष्कलकारणानन्तरक्षणे कार्यजननं विना पुष्कलकारणस्य दुरधिगमत्वात् तदानन्तर्यमथशब्देन समर्पणीयम्, तथाच तत एवार्थान्तरस्यापि सिद्धत्वात् तन्निर्देशो वृथेत्यर्थः ॥

यतः कुतश्चिदर्थान्तरमथशब्देन समर्प्यत इत्येतच्चशब्देन व्यावर्त्यते । आनन्तर्याभिधानमुखेन पुष्कलकारणं

वार्तिकम्

अस्तु तर्हि पूर्वप्रकृतापेक्षायामथशब्दः, नेत्याह—\*पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकादिति\* ॥ \*इदमत्राकृतम्\*—अत्र हि यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा भवन्ती भवत्येव, तदसाधारणकारणमथशब्देन ज्ञापनीयम् ; तज्ज्ञानमन्तरेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, प्रवर्तकवाक्ये तदाकाङ्क्षावश्यकत्वात् ; अन्यथा तदज्ञापने साकाङ्क्षं सद्वाक्यमप्रमाणं स्यात् । एवंच सति पूर्वप्रकृतापेक्षामात्रवाचिनाऽथशब्देन न नियमेन तदसाधारणकारणमुपस्थापयितुं शक्यते ; व्यवहितस्याकारणस्यापि पूर्वप्रकृतस्यापेक्षादर्शनात् । तद्यथा—पूर्वकोटिव्यवहितमपि पूर्वप्रकृतं धर्मिणमुत्तरकोटिरपेक्षते, पूर्वप्रकृतमकारणभूतामपि प्रकृतिं

भाष्यभावप्रकाशिका

नीयमानोदकुम्भदर्शनवत् । अतो न स्मृतिविरोध इत्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि प्रकृतादर्थार्थान्तरोऽथशब्दः—“अथैवं मन्यसे ?” इत्यादाविवेति, तत्राह—\*पूर्वप्रकृतेति\* ॥

प्रदीपः

निति नानुपपन्नम् ॥ भामतीकारास्तु—पूर्वप्रकृतापेक्षायामथशब्दः कल्पान्तरपन्यासेऽपि भवति—आत्मा नित्योऽथानित्य इत्यादौ ; तदनुपन्यासेऽपि भवति—“अथैव ज्योतिरिति”त्यादौ । यत्र च कल्पान्तरानुपन्यासः, तत्रानन्तर्यार्थक एवाथशब्दो नार्थान्तरमात्रपरः, इति प्रकृते कल्पान्तरानुपन्यासाद् आनन्तर्यार्थकत्वपक्ष एव पर्यवसानम्, इति पूर्वप्रकृतापेक्षत्वमानन्तर्यार्थकत्वं चेत्यनर्थान्तरमेव, इति नानन्तर्यार्थकत्वपक्षविरोध्ययं पक्ष इति विवृण्वते । अत्र च मते “नापि पूर्वप्रकृतापेक्षत्वमिति”त्यादि पूरणं न कर्तव्यम् । एतन्मतरीत्या पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकाद् आनन्तर्यार्थः परिगृह्यत इत्यन्वयाद् आनन्त-



## भामती

किंतु ब्रह्मजिज्ञासाहेतुभूतपूर्वप्रकृतसिद्धये । सा च पूर्वप्रकृतार्थापेक्षत्वेऽप्यथशब्दस्य सिध्यति, इति व्यर्थं आनन्तर्यार्थत्वावधारणाग्रहोऽस्माकमिति । तदिदमुक्तम्—‘फलतः’ इति । \*परमार्थतस्तु\*—कल्पान्तरोपन्यासे पूर्वप्रकृतापेक्षा, नचेह कल्पान्तरोपन्यासः, इति पारिशेष्यादानन्तर्यार्थ एवेति युक्तम् ॥

## ऋजुप्रकाशिका

प्रकृतसिद्धये” इत्यनन्तरमानन्तर्यार्थतां ब्रूम इति शेषः । \*सा च=आनन्तर्यार्थता च । तथाच पूर्वप्रकृतापेक्षायाः फलत आनन्तर्याव्यतिरेकादानन्तर्यकथनेऽस्माकमाग्रहाभावेऽप्यानन्तर्यकथन आनन्तर्यप्रतियोगितया पूर्वप्रकृता-सिद्धेरानन्तर्यार्थकत्वमेवाथशब्दस्योचितमिति भावः । अत एव तथैवाभिप्रेत्य भाष्यकृतोक्तमित्याह—\*तदिदमिति\* ॥ अथशब्दस्य पूर्वप्रकृतापेक्षयाऽर्थान्तरपरत्वेऽप्यानन्तर्यमायातीत्यङ्गीकृत्योक्तम्, वस्तुतः पूर्वप्रकृतापेक्षैव नेत्याह—\*परमार्थतस्त्विति\* ॥ \*ननु\* आनन्तर्यार्थकत्व आनन्तर्यप्रतियोगि किञ्चिदवश्यं वक्तव्यम्, तत् किं यत्किञ्चित् ? यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति, तद्वा ? तत्र द्वितीयं परिशेषयितुमाद्यं

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* फलं चेद् दृश्यते, किं पुष्कलकारणावगमेन ? \*ननु\* ; अधिकारिविशेषणत्वेन फलपर्यन्तेच्छाया विचारादि-

## तत्त्वदीपनम्

समर्प्यत इत्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु फलं चेदिति\* ॥ विचाराद्यकार्यलिङ्गेन तत्पुष्कलकारणाधिगमाद् न तदर्थमथ-शब्दोपादानमित्यर्थः । “अवगमेने”त्यत्राथशब्देनेति शेषः । अथवा—अज्ञायमानस्यापि पुष्कलकारणस्य जनकत्व-संभवात् तत्प्रतिपत्त्यर्थोऽथशब्द इति शङ्कते—\*ननु फलमिति\* ॥ शास्त्रीयाधिकारिविशेषणप्रतिपत्तिमन्तरेण विचारप्रवृत्त्यसंभवात् तदर्थमथशब्दोपादानमुचितमित्याह—\*नाधिकारीति\* ॥ निदिध्यासनमादिशब्दार्थः । विचारादि-प्रवृत्तौ फलपर्यन्तेच्छया नित्यानित्यवस्तुविवेकादेरधिकारिविशेषणत्वेन प्रतिपत्त्यपेक्षत्वादिति योजना । नित्या-नित्यवस्तुविवेकादेः शास्त्रीयस्य विचाराधिकारिविशेषणत्वेन प्रतिपत्तौ जातायां विचारादौ प्रवृत्तिपर्यन्तेच्छा समुल्लेखे, नान्यथा ; अनधिकारिताबुद्ध्या प्रवृत्त्यनुदयापातात् । तस्मात् शास्त्रीयं विशेषणमथशब्देन निर्देष्टव्यमित्यर्थः ॥

धर्मविचारस्य यथा वेदाध्ययनं कारणम्, तथा ब्रह्मविचारस्यापीति तदानन्तर्यमथशब्दार्थ इति शङ्कते—

## वार्तिकम्

धर्मातिदेशार्थं विकृतिरपेक्षत इति । अथ सामान्यवाच्यप्यथशब्दो लक्षणया तद्विशेषेऽसाधारणकारण-रूपपूर्वप्रकृतापेक्षायां वर्तिष्यते ; तथाच तेनासाधारणकारणोपस्थापनमुपपद्यत इति । एवं च सत्य-साधारणकारणरूपपूर्वप्रकृतापेक्षाया अपि फलत आनन्तर्याव्यतिरेकादानन्तर्याभिधानमेवाथशब्देन मुखतो युक्तम् । \*ननु\*—आनन्तर्याभिधानपक्षेऽपि तुल्योऽयं दोषः । तथाहि—न तावदानन्तर्यमात्राभिधायिनाऽथ-शब्देन ब्रह्मजिज्ञासाया नियतपूर्ववृत्तमसाधारणकारणमत्रोपस्थापयितुं शक्यते ; तस्या यस्य कस्य-चिदन्यस्याप्यानन्तर्यसंभवात्, किञ्चित् कृत्वा किञ्चित् करणस्य पुरुषस्वाभाव्यात् । नचात्रोपपदावि-किञ्चित् श्रुतमस्ति, यतो नीलोत्पलादिवत् तेन वृत्तिसङ्कोचात् सामान्यवाचिनाऽपि विशेषलाभः स्यात्, अतो लक्षणयैव तदुपस्थितिः कार्या । तथाच पूर्वप्रकृतापेक्षाभिधानपक्षवदानन्तर्याभिधानपक्षेऽप्यथशब्दस्य

## भाष्यभावप्रकाशिका

हेतु-फलभावेनानन्तर्याभिधाने प्रकृतादर्थान्तरत्वमन्तर्णीततया सिध्यति, तेन न पृथग् वक्तव्यम्, अहेतुभूतपूर्वप्रकृतार्थापेक्षयाऽथशब्दप्रयोगे त्वनुवादाद्वैद्यार्थत्वयोरन्यतरप्रसङ्गः, अतो हेतुभूतपूर्वप्रकृता-पेक्षयाऽऽनन्तर्यमेव फलति ; हेतु-फलयोरेवाव्यभिचार्यत्वेनानन्तर्यस्य मुख्यत्वात्, तस्य च हेतुभूतस्याधि-कारिविशेषणत्वेन फलपर्यन्तेच्छाविचारादिप्रवृत्तौ प्रतिपत्त्यपेक्षाकल्पनापेक्षयाऽधिकारिविशेषणसाधन-



सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते,  
एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत् पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद् वक्तव्यम् ।

भामती

भवत्वानन्तर्यार्थः, किमेवं सतीति? अत आह—\*सति चानन्तर्यार्थत्व इति\* ॥ न तावद् यस्य कस्यचिदत्रानन्तर्यमिति वक्तव्यम्; तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात् । अवश्यं हि पुरुषः किञ्चित् कृत्वा किञ्चित् करोति । नचानन्तर्यमात्रस्य दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनं पश्यामः । तस्मात् तस्यात्रानन्तर्यं वक्तव्यम्—यद् विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति, यस्मिन् सति तु भवन्ती भवत्येव, तदिदमुक्तम्—\*यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते इति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

निरस्यति—\*न तावदिति\* ॥ यस्य कस्यचिदानन्तर्यमात्रकथने प्रयोजनमपि नेत्याह—\*नचानन्तर्यमात्रस्येति\* ॥ द्वितीयं परिशेषयति—\*तस्मादिति\* ॥ अमुमर्थं भाष्यारूढं करोति—\*तदिदमित्यादिना\* ॥ तर्हि

पञ्चपादिका

\*सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत् पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद् वक्तव्यम् । स्वाध्यायानन्तर्यन्तु समानमिति\* ॥ येन विना नियमेनानन्तरस्य न प्रक्रिया, स तादृशो हेतुः पूर्वनिर्वृत्तौ वक्तव्यः; यस्यानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा प्रक्रियते ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रवृत्तौ प्रतिपत्त्यपेक्षत्वादित्याह—\*सति चानन्तर्यार्थत्व इति\* ॥ \*ननु\* प्रज्ञातमेव पूर्ववृत्तं धर्मजिज्ञासा-

तत्त्वदीपनम्

\*ननु प्रज्ञातमिति\* ॥ वेदार्थविचारत्वसाम्यात् कारणसाम्यमिष्टम्, ततश्च भाष्य-टीकयोरसामञ्जस्यमित्याशङ्क्य, किं वेदाध्ययनस्य हेतुत्वमात्रम्? उत पुष्कलकारणत्वम्? इति विकल्पाद्ये न पृथग् निर्देशापेक्षेत्यभिप्रायेणाह—\*भाष्यार्थमिति\* ॥ येनेत्यादेरयमर्थः—येन विनाऽनन्तरस्य नियमेन न प्रक्रिया, यस्यानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा प्रक्रियते, स

वार्तिकम्

लक्षणादोषः समान इति—\*चेत्, नेत्याह—\*सति ह्यानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यमिति\* ॥

\*अयमाशयः\*—नानन्तर्यमात्रमथशब्दस्याभिधेयं कल्पयितुं युक्तम्; तस्यार्थसिद्धत्वात्, “किञ्चित् कृत्वा किञ्चित्करणस्य पुरुषस्वाभाव्यादि”ति त्वयैवोक्तत्वात्, आकृत्यधिकरणन्यायेनानन्यलभ्यस्यैव

भाष्यभावप्रकाशिका

चतुष्टयलक्षणपुष्कलकारणानन्तर्यप्रतिपत्त्यर्थ एवाथशब्द इति भावः ॥ भवत्वानन्तर्यार्थः, किमेवं सति? इत्याह—\*सति चेति\* ॥

प्रदीपः

यार्थोऽथशब्द इत्युपसंहारः फलति । सति चैवमानन्तर्यार्थक एवेति शेषपूरणमत्राभिप्रेतमिति गम्यते, इति “सति चानन्तर्यार्थत्वे” इत्युत्तरग्रन्थोऽपि स्वरसत उपपद्यते ॥

\*ननु\*—केवलानन्तर्यं निष्प्रतियोगिकं कुत्रापि नावगम्यते, इति पूर्ववृत्तस्य प्रतियोगिनो निरूपणमन्तरा नानन्तर्यार्थत्वपक्षः संभवति । पूर्ववृत्तं तु शब्दतोऽर्थतो वा निर्णयम् । शब्दतः पूर्ववृत्तन्तु हेतुहेतुमद्भावं विनाऽपि भवति; यथा “हृदयस्याग्रेऽवधलय जिह्वायाः” इत्यादौ । अर्थतश्च पूर्ववृत्तं हेतुहेतुमद्भावेनैव निर्णयम्—यथा “अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्यादौ वेदाध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा, प्रकृतेऽपि यद्यध्ययनविधिप्रयुक्तं एव ब्रह्मविचारोऽपि, तर्हि वेदाध्ययनानन्तरमिति विवक्षणमर्हतीति । यदि तु “तद्वि-



## भामती

स्यादेतत्—धर्मजिज्ञासाया इव ब्रह्मजिज्ञासाया अपि योग्यत्वात् स्वाध्यायानन्तर्यम्, धर्मवद्ब्रह्मणोऽप्याम्नायैकप्रमाणगम्यत्वात्, तस्य चागृहीतस्य स्वविषये विज्ञानाजननात्, स्वग्रहणस्य च “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इत्यध्ययनेनैव नियतत्वात् । तस्माद्वेदाध्ययनानन्तर्यमेव ब्रह्मजिज्ञासाया अप्यथ-

## ऋजुप्रकाशिका

धर्मजिज्ञासाया इव ब्रह्मजिज्ञासाया अपि स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यमस्त्विति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यहेतुमाह—\*योग्यत्वादिति\* ॥ योग्यतामेवाह—\*धर्मवद् ब्रह्मणोऽप्रीत्यादिना\* ॥ \*तस्मादित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥ \*तस्य च=आम्नायस्य च । वेद आम्नायशब्दार्थः । \*स्वविषय इति = धर्मे ब्रह्मणि चेत्यर्थः । \*स्वग्रहणस्य चेति\* ॥ आम्नायग्रहणस्य चेत्यर्थः । योग्यतामुपपाद्य योग्यत्वादुक्तं स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यस्योभयत्र समानत्वेन विशेषाभावाद् धर्ममीमांसयैव चरितार्थतया पृथग् ब्रह्ममीमांसा नारब्धव्या स्यात् । तस्मात् “अथाऽतो ब्रह्म-

## वार्तिकम्

शब्दार्थत्वकल्पनात् । तस्मादनन्यलभ्यत्वाद् नियतपूर्ववृत्तानन्तर्यमेवाथशब्देनाभिधातव्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् । एवंच सति यथा—“अथातो धर्मजिज्ञासे”त्यत्र धर्मजिज्ञासायां यद् नियमेन पूर्ववृत्तमपेक्षितं स्वाध्यायाध्ययनम्, तदानन्तर्यमथशब्देनाभिधीयते ; अनपेक्षिताभिधानस्य निरर्थकत्वेनायुक्तत्वात्, तद्वत्—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्रापि ब्रह्मजिज्ञासायां यद् नियमेन पूर्ववृत्तमपेक्षितम्, तदानन्तर्यमेवाथशब्देन वक्तव्यम् । अत आनन्तर्यपक्षे न लक्षणादोषोऽस्तीति । \*ननु\*—एवं तद्धानन्तर्यार्थत्वपक्षेऽप्यथशब्दो नियतपूर्ववृत्तापेक्षमैवार्थं ब्रूते, पूर्वप्रकृतापेक्षत्वपक्षेऽपीति नार्थभेदः स्यात्, \*नैष दोषः\* ; आनन्तर्यपक्षेऽव्यवहितमेव पूर्वप्रकृतापेक्षं ब्रूते, पूर्वप्रकृतापेक्षत्वपक्षे तु व्यवहिताव्यवहितसाधारणं पूर्वप्रकृतापेक्षं व्यवहितमेव वेत्यस्त्यर्थभेद इति । तथाचार्थान्तरासंभवात् सिद्धोऽत्रानन्तर्यार्थोऽथशब्द इति । यद्वा—\*ननु\*—अर्थान्तरासंभववदानन्तर्यार्थोऽप्यथशब्दस्य प्रकृते न संभवति ; तथा—सति ह्यानन्तर्यार्थत्वेऽथशब्दस्य, न यस्य कस्यचिदानन्तर्यं विवक्षितम् ; निष्प्रयोजनत्वात्, अर्थप्राप्तत्वाच्च । किं तर्हि ? यथा धर्मजिज्ञासायां यत् पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्ष्यते, तदानन्तर्यमथशब्देन धर्मजिज्ञासासूत्रेऽभिधीयते ; उक्तदोषद्वयाभावात्, तद्वत् प्रकृतेऽप्यथशब्दस्यानन्तर्यार्थत्वसिद्ध्यर्थं ब्रह्मजिज्ञासाया अपि यत् पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्ष्यते, अथवाऽनन्यलभ्यं भवति, तद् वक्तव्यं भवता । नच तद् वक्तुं शक्यते ; तादृशपदार्थस्य प्रमाणादनुपलब्धेरसंभवात् । अतोऽर्थान्तरवदानन्तर्यार्थत्वमप्यथशब्दस्य न संभवतीत्याशयेन पृच्छति—\*सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत् पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्\* ॥ सिद्धान्तिनेति शेषः । यद्वा—आनन्तर्यप्रतियोगिनमजानानस्तद्विस्तये पृच्छति—\*सति चानन्तर्यार्थत्व इत्यादिना\* ॥ यद्वा—स्वाभिलषितमधिकारं विविच्य दर्शयितुं प्रश्नमुत्थापयति—\*सति चानन्तर्यार्थत्व इत्यादिना\* ॥

## प्रदीपः

जिज्ञासस्त्व’ इति विधिमूलको ब्रह्मविचारः, तर्हि तु तद्वाक्यशेषावगतशर्म-दमादिकमानन्तर्यप्रतियोगि भवेत् । इदन्तु पूर्वोत्तरयोर्मीमांसयोर्भिन्नशास्त्रत्वमूरीकृत्य समालोचितम् । यदि तु पूर्वोत्तरयोर्मीमांसयोरभेद एव विवक्ष्यते, शब्दतः पूर्ववृत्ता, च पूर्वमीमांसा, तर्हि कर्मविचार एवानन्तर्यप्रतियोगितामर्हति । अर्थतः पूर्ववृत्तत्वमपि कर्मब्रह्म-विषयोहेतु-हेतुमद्भावात् तद्विचारयोरपि हेतु-हेतुमद्भावेन कर्मविचारस्य संभवदुक्तिकमेव । सति चैवानन्तर्यप्रतियोगिनिर्णयं विना नाथशब्दार्थनिष्कर्षसंभवः, इत्यतः शर्म-दमाद्यनन्तर्यमथशब्दार्थं व्यवस्थापयिष्यन् प्रथमं वेदाध्ययनानन्तर्यार्थत्वपक्षं निराकुरुते—



## स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम् ।

भामती

शब्दार्थ इति, अत आह—\*स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानं धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः\* ॥ अत्र स्वाध्यायेन विषयेण तद्विषयमध्ययनं लक्षयति । तथाच “अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्यनेनैव गतम्, इति नेदं सूत्रमारब्धव्यम् ; धर्मशब्दस्य वेदार्थमात्रोपलक्षणतया धर्मवद् ब्रह्मणोऽपि वेदार्थत्वाविशेषेण वेदा-

ऋजुप्रकाशिका

जिज्ञासा” इत्यत्राथशब्दस्य न स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यमर्थ इत्यभिप्रेत्य परिहरति—\*अत आहिति\* ॥ साम्य-मुक्तम्, कयोः ? इत्यपेक्षायामाह—\*धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरिति\* ॥ स्वाध्यायानन्तर्यमित्युक्तं भाष्ये, तत्र स्वाध्याय-पदं स्वाध्यायाध्ययनपरमित्याह—\*अत्र चेति\* ॥ साम्योक्तिफलमाह—\*तथाचेति\* ॥ \*नेदं सूत्रमारब्धव्य-मिति\* ॥ \*इदम्=“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इति सूत्रम् । \*नारब्धव्यं स्यादित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*धर्मशब्दस्येत्यादिना\*—\*चोदयतीत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥

पञ्चपादिका

स्वाध्यायाध्ययनन्तु \*समानम् = साधारणो हेतुर्धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः” । अतश्च—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति पुनरथशब्देन तन्मात्रापेक्षणं व्यर्थं स्यात् । \*अथवा\*—समानं नात्यन्तमपेक्षितम्, न स्वयमेव सामर्थ्यं जनयितुं प्रयोक्तुं च शक्तम् । अतः समानो हेतुः, नावश्यं निष्पादक इत्यर्थः ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

इत्याशङ्क्याह—\*स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं तु समानमिति\* ॥ भाष्यार्थं विवृणोति—\*येन विना नियमे-नेत्यादिना\* ॥ योजनान्तरमाह—\*अथवेति\* ॥ न पुष्कलकारणमित्यर्थः ॥

ऋजुविवरणम्

लभ्यत इति । \*मनु\*—हेतुत्वे सति कथमाक्षेपकत्वाभावः ? कथं च व्याख्यानान्तरत्वम् ? “समानो हेतुरिति ताव-न्मात्रोपजीवनात्, इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*न पुष्कलेति\* ॥ “नन्वेकाध्ययने”त्यस्य पूर्ववदेव विवक्षा द्रष्टव्या ।

तत्त्वदीपनम्

सादृशो हेतुर्वक्तव्य इति योजना । ततः किमिति ? अत आह—\*स्वाध्यायेति\* ॥ विचारप्रवृत्त्युपयोगितया पुष्कल-कारणानन्तर्यं वक्तव्यम्, वेदाध्ययनस्य चापुष्कलकारणत्वाद् न तदानन्तर्यमथशब्दार्थ इत्यर्थः । द्वितीयविकल्प-निराकरणपरत्वेन पुनस्तदेव भाष्यं व्याचष्ट इत्याह—\*योजनेति\* ॥ पूर्वोत्तरयोर्योजनयोरपौनरुक्त्यमाह—\*न पुष्कलेति\* ॥ वेदाध्ययनाभावे न तदर्थविचारसंभवः । नच तस्यैव प्रयोजकत्वम्; अधीतवेदस्याप्यमुमुक्षोः पाठकस्य ब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्त्यदर्शनात् । तस्माद् न तस्य पुष्कलकारणत्वमिति टीकार्थः । \*सामर्थ्यं जनयितुमिति\* ॥ अधिकारिण इत्यनुषङ्गः । अहेत्वानन्तर्यस्यावचनीयत्वाद् धर्मावबोधस्य चात्राहेतुत्वाद् न तदानन्तर्यमथशब्दार्थः,

वार्तिकम्

तत्र स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं धर्मजिज्ञासाया इव ब्रह्मजिज्ञासायाः कर्ममीमांसका वर्णयन्ति । कर्मावबोधानन्तर्यं चाचार्यैकदेशिनः । तदुभयं यथाक्रममाशङ्क्य निराकरोति—स्वाध्यायेत्यादिना\* ॥

तत्र धर्ममीमांसकास्त्वेवं मन्यन्ते—“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इत्यत्र तव्यप्रत्ययवाच्यशाब्दभावनारूपोऽ-

भाष्यभावप्रकाशिका

ननुक्तमेव—“अथातो धर्मजिज्ञासे”ति सूत्रे पूर्ववृत्तमित्यत आह—\*स्वाध्यायेति\* ॥ अत्र च स्वाध्यायपदेन तद्विषयमध्ययनं लक्षयति । \*समानम् = समानो हेतुर्धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः । अतो न

प्रदीपः

\*स्वाध्यायानन्तर्यन्तु समानमिति\* ॥ \*स्वाध्यायानन्तर्यमप्यतो नाथशब्दार्थ इति शेषः । स्वाध्यायशब्दः तदध्ययनपर्यन्तः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* एकाध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाध्यायाध्ययनस्यैकमोक्षप्रयोजनत्वे वक्तव्येऽध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाभावेऽपि कृत्स्नवेदार्थविचारस्यैकफलप्रयुक्तत्वाद् धर्म-ब्रह्मविचारयोरन्योन्योपकार्योपकारकभावेनैकफलशेषत्वादुपकारकधर्माव-

## तत्त्वदीपनम्

ततश्च टीकाऽसंगतिरित्याशङ्क्याशयमाह—\*नन्विति\* ॥ उपकार्यब्रह्मावबोधस्योपकारकधर्मावबोधानन्तर्यमथशब्दे-  
नोच्यत इति प्रथमं संबन्धः । तत्र हेतुः—\*“अध्ययनविधी”त्यारभ्य—प्रयुक्तत्वादित्यन्तेन\* ॥ विचारद्वयस्यैकविधि-  
प्रयुक्तत्वे नियतं पौर्वापर्यम्, न तु तदस्तीत्याशङ्क्याह—\*अध्ययनेति\* ॥ एकफलप्रयुक्तत्वं साधयति—\*एकाध्ययनेति\* ॥  
सकलस्वाध्यायाध्ययनस्यैकविधिप्रयुक्तत्वादेकपुरुषार्थपर्यवसायित्वं वक्तव्यम् । नच मोक्षादन्यस्य परमपुरुषार्थता, इति  
सोक्षफलत्वं कथनीयम् । नचार्थज्ञानमन्तरेण मोक्षः संभवति, अर्थज्ञानं च न विचारमन्तरेणेत्येकफलप्रयुक्तत्वं  
विचारद्वयस्येत्यर्थः ॥

पण्णां यागानामेकफलप्रयुक्तत्वेऽपि नोपकार्योपकारकता, तद्वदप्रापीति शङ्कां निरस्यति—\*धर्मेति\* ॥ “ब्रह्म  
वेद ब्रह्मैव भवति” “तरति शोकमात्मविदि”त्यादिवाक्यालोचनायां ब्रह्मविद्याया मोक्षहेतुत्वोपलम्भाद् विद्योपकारक-  
त्वेन धर्मस्य मोक्षोपयोगित्वं वक्तव्यम् । प्रयाजादीनां दशोद्युपकारकत्ववत्, ततश्च विचारद्वयस्यापि पौर्वापर्यं  
युक्तमित्यर्थः । केन प्रकारेण तयोरुपकार्योपकारकतेति ? अत्राह—\*धर्मेति\* ॥ अधिकारशब्दस्य विधि-पुरुषसंबन्ध-  
वार्तिकम्

ध्ययनविधिर्भाष्यादिस्वांशत्रयमपेक्षमाणः पुरुषप्रवृत्तिरूपामार्थी भावनां भाव्यत्वेन, स्वज्ञानं तत्करणत्वेन,  
पित्रादीनां घृत-कुल्याद्युपजीवनरूपस्तुतिमितिकर्तव्यतात्वेन गृह्णन् स्वभाव्याया अप्यार्थभावनायास्त्र्यंशत्वाद्  
अंशत्रयमपि स्वसिद्ध्यर्थमपेक्षमाण एकपदोपात्तस्याध्ययनस्य पदान्तरोपात्तस्य वा स्वाध्यायस्य स्वतः  
पुरुषानपेक्षितत्वेनापुरुषार्थत्वात् तद्भाव्यत्वानुपपत्तेः, शब्दानुपात्तमप्यर्थप्राप्तं पुरुषापेक्षितं च वाक्यार्थज्ञानं  
तद्भाव्यत्वेन, अध्ययनं करणत्वेन, प्राङ्मुखादिनियममितिकर्तव्यतात्वेनानुजानाति । नच पुरुषापेक्षितं  
निर्विचिकित्सं वाक्यार्थज्ञानं स्वाध्यायविचारमन्तरेणाक्षरग्रहणमात्राद् भवति, इत्यध्ययनविधिरेव तदनु-  
जानन् स्वाध्यायविचारमप्यनुजानाति । नच स विचारोऽध्ययनं विना भवति ; अध्ययनेन गृहीत-  
स्वाध्यायस्यैव विचार्यमाणत्वात्, अन्यथा विषयाभावाद् विचारानुपपत्तेः । तथाच विचारस्य  
नियमेनाध्ययनापेक्षत्वे सिद्धे यथा धर्ममीमांसा नियमेन पूर्ववृत्तं स्वाध्यायाध्ययनमपेक्ष्य प्रवर्तते,  
तथा ब्रह्ममीमांसाऽपि ; स्वाध्यायार्थविचारत्वाविशेषात्, अन्यथा अनधीतोपनिषत्कस्यापि तद्विचारा-  
पत्तेः । नचैतदिष्टम् ; अनभ्युपगमात् । तस्माद् यथा—“अथातो धर्मजिज्ञासे”त्यत्र स्वाध्यायविध्यपे-  
क्षितन्यायसूचकत्वात् सूत्रस्थाथशब्देन स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यमभिधीयते, एवं प्रकृतेऽप्यथशब्देन  
तदानन्तर्यमेवाभिधीयते ; तदपेक्षाया उभयत्र तुल्यत्वात्—इति, तदेतद् दूषयति—\*स्वाध्यायानन्तर्यं तु  
समानमिति\* ॥ तुशब्द उक्ताशङ्कानिरासार्थः । स्वेनाधीतः स्वाध्याय इति योगार्थपुरस्कारेण स्वाध्याय-  
शब्देनात्राधीतस्वाध्यायो विवक्ष्यते । तथाच न विषयेण विषयिलक्षणादोषः ॥ \*अयमभिसन्धिः\*—सत्यम्,  
यथा धर्मजिज्ञासा नियमेन स्वाध्यायाध्ययनं पूर्ववृत्तमपेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि ; अनधीतवेदान्तस्य ब्रह्म-  
जिज्ञासानुपपत्तेः, तथाऽपि तदानन्तर्यं न पुनरिहामिधातव्यम् ; “अथातो धर्मजिज्ञासे”त्यत्रानन्तर्याभि-  
धायिनाऽथशब्देन सूचितन्यायस्य तुल्यतया तेनैव प्राप्तत्वात् । तत्र ह्यानन्तर्याभिधायिनाऽथशब्देनायं न्यायः  
सूचितः—अधीतस्वाध्यायेनैव पुंसा धर्मजिज्ञासा कर्तव्या ; अन्यथा स्वाध्यायविध्यनुपपत्तेरिति । सच  
न्यायो ब्रह्मजिज्ञासायामपि तुल्यः, इति तत्रैव सूचनाद् न पुनरिह सूचनीयः ; तेनैव गतत्वात्, पौनरुक्त्याच्च ।



## वार्तिकम्

स्वाध्यायविधेः प्रामाण्यं हि प्रमाणलक्षणे तेन न्यायेन प्रतिपादितम् । नच तत्र यद् गतम्, तदत्र पुनः प्रतिपादनीयम् ; तथा सति द्वादशलक्षण्याः पुनरत्रावृत्तिप्रसङ्गात् । नच—अन्यस्यात्रोपयोगाभावाद् नावृत्तिरिति—वाच्यम् ; “सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि”ति न्यायेन विविदिषावाक्यगृहीततया सर्वस्यापि द्वादशलक्षणप्रतिपाद्यस्यात्रोपयोगसंभवात् । तस्मादिदमेवापेक्षितत्वेऽपि तदनभिधाने कारणं वाच्यम् । तथाच समानतन्त्रत्वात् तत्र गतं पुनरिह न वाच्यम् ; पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्—इति, तच्च स्वाध्यायविधिप्रामाण्यविचारेऽपि तुल्यमिति । \*ननु\*—यथा तत्रौत्पत्तिकसूत्रे सिद्धमपि वेदापौरुषेयत्वम्—“अत एव च नित्यत्वमि”ति पुनरत्राभिधीयते, तद्वत् स्वाध्यायाध्ययनविधिप्रामाण्यस्यापि पुनरभिधानं किं न स्यादिति—चेत्, \*ननु\* ; तत्र सिद्धस्यैवापौरुषेयत्वस्य प्रसङ्गादत्र—“अत एव च नित्यत्वमि”ति स्मारितत्वात् तत्प्रतिपादनासिद्धेः । नच—अत्रापि तद्वत् स्मरणमस्त्विति—वाच्यम् ; वक्ष्यमाणापूर्वार्थसंभवेनाथशब्दस्य स्मरणपरत्वकल्पनानुपपत्तेः । तदिदमुक्तम्—“स्वाध्यायानन्तर्यन्तु समानमि”ति । \*ननु\*—भवतु नामाध्ययनानन्तर्यं समानम्, तथाऽपि तदेवात्राथशब्देन स्मारणीयम् ; धर्मजिज्ञासायामिव ब्रह्मजिज्ञासायामपि वेदाध्ययनस्यैवाधिकारत्वात्, तदतिरिक्ताधिकारिविशेषणकल्पने प्रमाणाभावात्, अन्यथा धर्मजिज्ञासायामपि तद्विशेषणान्तरकल्पनप्रसङ्गात्, वेदाध्ययनानन्तर्यस्य धर्मजिज्ञासाया ब्रह्मजिज्ञासाया समानत्वात् । अपिच—अध्ययनविधेः फलपर्यन्तव्यापारात्, फलवदर्थवबोधस्य च तत्फलत्वात्, तत्सिद्ध्यर्थमध्ययनविधिप्रयुक्ततयैवाक्षरग्रहणानन्तरं यथा प्रवर्तमानो धर्मविचारो नाक्षरग्रहणातिरिक्ताधिकारिविशेषणमपेक्षते ; तदश्रवणात्, सामर्थ्यतोऽप्यलाभात्, तद्वद् ब्रह्मविचारोऽपि न विशेषणान्तरमपेक्षते ; अध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाविशेषादिति—चेत्, \*ननु\* ; विचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वासिद्धेः । भवेदयं दोषः—यदि विचारोऽध्ययनविधिप्रयुक्तः स्यात्, नचैतदस्ति ; स्वविधिप्रयुक्तत्वात् । \*ननु\*—उक्तमध्ययनविधेरर्थावबोधफलकत्वात् तद्विधिप्रयुक्तत्वं विचारस्येति—चेत्, \*ननु\* ; अध्ययनविधेरर्थावबोधफलकत्वासिद्धेः । भवेदध्ययनविधिना विचारप्रयुक्तिः, यदि तत्फलं फलवदर्थवबोधः स्यात्, नचैवमस्ति ; अक्षरावाप्तेरेव तत्फलत्वात् । नच साक्षादक्षरावाप्तिफलमादाय विधिपर्यवसाने संभवति परम्परया फलकल्पनेन तत्पर्यवसानं युक्तम् ; गौरवात् । नच—अध्ययनस्येवाक्षरावाप्तेरप्यपुरुषार्थत्वाच्च फलत्वमिति—वाच्यम् ; वाक्यार्थज्ञानेऽपि तुल्यपर्यनुयोगात् । यदि ब्रूयात्—वाक्यार्थज्ञानस्य स्वतः पुरुषार्थत्वाभावेऽपि तदर्थानुष्ठानद्वारा पुरुषार्थहेतुत्वादस्ति पुरुषार्थत्वमिति, तुल्यमेतत् स्वाध्यायावाप्तेरपि ; तस्या अपि वाक्यार्थज्ञानपूर्वकानुष्ठानद्वारा पुरुषार्थहेतुत्वात् । नच—एवं सत्येकपदोपात्ताध्ययनमेव फलमस्त्विति—वाच्यम् ; एकपदोपात्तत्वेऽपि यागवत् ‘कष्टं कर्मे’ति न्यायेन फलत्वेन तदन्वयानुपपत्तेः, करणत्वेनैव तदन्वयात्, पदान्तरोपात्तस्यापि स्वर्गादिवत् स्वाध्यायस्य पुरुषार्थत्वात् फलत्वेनान्वयोपपत्तेः ।

## भाष्यभावप्रकाशिका

पृथगिह वक्तव्यम् । अथवा. \*समानम् = नात्यन्तमनपेक्षितम्, नापि स्वयमेव प्रयोजकम् ; अतः \*समानम् = न पुष्कलकारणमित्यर्थः ॥ धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरन्योन्योपकारकभावेनैकफलशेषत्वादुपकारक-

## प्रदीपः

तुशब्दो हेत्वर्थः । तथाच वेदाध्ययनानन्तर्यं नाथशब्दार्थः, तु = यस्मात्, समानम् = साधारणम्, कर्म-ब्रह्ममीमांसयो-रिति शेषः । असाधारणहेत्वानन्तर्यमेव ह्यथशब्दमुख्यार्थः । वेदाध्ययनन्तु धर्ममीमांसायाऽप्यपेक्ष्यते, ब्रह्ममीमांसायाऽपि । अतस्तदानन्तर्यं नाथशब्दार्थः । सति चैवं नाध्ययनविधिमूलको ब्रह्मविचारः कर्मविचार इव ; अन्यथा हि—“अथातो धर्म-जिज्ञासे”त्यनेनैव ब्रह्मजिज्ञासाया अपि प्रतिज्ञातत्वाद् व्यर्थमिदम्—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति सूत्रमापद्यत । ततश्च पृथक्



## वार्तिकम्

नच—स्वाध्यायावाप्तेर्वाक्यार्थज्ञानद्वारा पुरुषार्थत्ववदध्ययनस्यापि स्वाध्यायावाप्तिद्वाराऽस्ति पुरुषार्थत्वम्, अतो न तत्फलत्वविरोध इति—वाच्यम् ; अध्ययनफलत्वपक्षे सकृद् गुरुमुखादनूच्चारणेनैव तत्सिद्धेरावृत्तेरश्रुतत्वादक्षरावाप्त्यसंभवात् तद्द्वारा पुरुषार्थत्वानुपपत्तेः, अक्षरावाप्तिफलकत्वेऽप्यध्ययनस्यावघातवद्दृष्टफलत्वेनार्थप्राप्तत्वादित्यास्ताम् । विस्तरस्त्वद्वैतामृतकन्देऽनुसर्तव्यः ॥

तस्मादध्ययनविधेरक्षरावाप्तिफलत्वाद् न वाक्यार्थज्ञानफलत्वम् । अत एव कात्यायनोऽप्यध्ययनात् पृथग् व्यापारं वाक्यार्थज्ञाने विधत्ते—“साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे”ति ; अन्यथाऽध्ययनविधेरेव तदर्थलाभाद् “ज्ञेयश्चे”ति तदर्थं पृथग्व्यापारविधानानुपपत्तेः ॥ मन्त्रवर्णोऽपि न्यायसिद्धमेवार्थमनुवदति—

“स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते स नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥” इति ;

अन्यथा वाक्यार्थज्ञानफलकत्वादध्ययनस्य तदन्तरेण पर्यवसानासिद्धेः—“अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थमि”ति वचनानुपपत्तेः । तस्मादध्ययनविधेरक्षरावाप्तिफलकत्वान्न विचारप्रयोजकत्वमिति ॥ ननु—अध्ययनविधेर्विचाराप्रयोजकत्वे कथं तदानन्तर्यं धर्मजिज्ञासाया नियमेन सिध्यतादिति—चेत्, \*नैष दोषः\* ; तदप्रयोज्यत्वेऽपि विचारस्य स्वाध्यायावाप्त्यधीनत्वादध्ययनेनैव तदवाप्तिनियमात् तदानन्तर्यसिद्धेः, अवाप्तस्वाध्यायो ह्यापातदर्शनेन सन्दिहानो धर्मं जिज्ञासते—किं “दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यज्जेते”त्यादिचोदनात् आपातप्रतीयमानः श्रेयःसाधनलक्षणोऽर्थो धर्मः ? किं वा चैत्यवन्दनादिवाक्यात् प्रतीयमानस्तादृग्लक्षणोऽर्थः ? इति ; लोके श्रेयःसाधनेऽर्थे धर्मशब्दप्रयोगात् । तदर्थं च किं स्वाध्यायाध्ययनविधिः प्रमाणम् ? प्रमाणं वा ? इति जिज्ञासते । तत्प्रामाण्येऽपि किं तेन ग्राहितः स्वाध्यायो दृष्टार्थः ? अदृष्टार्थो वेति ? यद्यदृष्टार्थः, तदा विश्वजिन्यायेनाध्याहारेण वा, रात्रिसत्रन्यायेनानुषङ्गेण वा फलकल्पना भविष्यति । यदा दृष्टार्थः, तदा त्वेवं जिज्ञासते—किं वेदवाक्यं सदोषम् ? किं वा निर्दोषम् ? इति । तदर्थं च किं पौरुषेयम् ? किं वाऽपौरुषेयमित्यादि । न चानवाप्तस्वाध्यायस्य पुंसस्तदुपपद्यते ; अतो नियतापेक्षिताध्ययनानन्तर्याभिधानमध्ययनविधेर्वाक्यार्थज्ञानफलकत्वाभावेऽपि तन्नोपपद्यते । नच—एवं वेदार्थत्वाविशेषेऽपि किमिति धर्ममेवाध्ययनानन्तरं जिज्ञासते सर्वो लोकः ? न ब्रह्मेति—वाच्यम् ; अपेक्षितत्वात् । यस्य हि यदपेक्षितम्, तत् स जिज्ञासते । अपेक्षितश्चाज्ञानतः सर्वस्य लोकस्य श्रेयःसाधनं धर्मः । तत्साध्यस्यैव स्वर्गादिः श्रेयस्त्वेन ग्रहाद् रागिणः पुरुषस्य धर्म एव जिज्ञासा, न ब्रह्मणीति । यस्य तु पुरुषधौरेयस्य वक्ष्यमाणसाधनसंपन्नस्यास्ति मुमुक्षा, तस्य तु धर्मजिज्ञासां विनैवाध्ययनानन्तरं भवति ब्रह्मजिज्ञासेति वक्ष्यते । \*ननु\*—एवं तर्हि धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानमित्यभिधानमयुक्तम् ; साधनान्तरेण व्यवायात्, ब्रह्मजिज्ञासाया धर्मजिज्ञासावत् स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्याभावादिति—चेत्, \*न\* ; यस्तु स्वाध्यायाध्ययनात् चरमं कारणान्तरं धर्मजिज्ञासाया ब्रह्मजिज्ञासायाश्च नाङ्गीकरोति, तं प्रत्येव साम्यापादनेनाथशब्दवैयर्थ्यस्योक्तत्वात्, सिद्धान्तिमते साम्याभावेऽपि तन्मते साम्यस्य विद्यमानत्वात्, धर्मजिज्ञासासूत्रे सूत्रिताथशब्देनैव समानतया तदानन्तर्याभिधानात् ॥

## प्रदीपः

सूत्रणान्यथाऽनुपपत्त्येवं विज्ञायते—यत् शास्त्रान्तरमेवेदं ब्रह्ममीमांसा नाम, या विध्यन्तरमूलैव युक्ता समाश्रयितुम्, नाध्ययनविधिमूलेति विवरणाद्यनुसारी पन्थाः । एतन्मते ब्रह्मविचारो नाध्ययनविधिमूलकः, किन्तु श्रवणादिविधिमूलक इति व्यक्तमुपरिष्ठात् । भामतीकारास्तु—अध्ययनविधेरेव ब्रह्मविचारमपि प्रयुङ्क्ते ; वेदान्तार्थविशेषविचारत्वाद् ब्रह्ममीमांसायाः,



## वार्तिकम्

यद्वा—“स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानमि”त्यत्र नानन्तर्यस्य साम्यं भाष्यकृता विवक्ष्यते ; किं तर्हि ? आनन्तर्यसूचितकार्य-कारणभावबोधकन्यायस्य साम्यमित्युक्तमेवाधस्तात् । कुतः ? अथ-शब्दस्य निष्प्रयोजनतयाऽऽनन्तर्यमात्रपरत्वाभावात् । नह्यमुक्तानन्तरममुक इति कथनमात्रस्य किञ्चित् प्रयोजनं लोके दृश्यते ; भुक्त्वा व्रजतीतिवत्, अपितु तन्मुखेनामुकोऽमुकस्य कारणम्, तस्मिन् सत्येव तदुत्पत्तिदर्शनादित्यभिहिते पुरुषस्य प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरप्रयोजनं दृश्यते । स च न्यायो धर्मजिज्ञासा-सूत्र एवाथशब्देन सूचितोऽविशेषेण धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः स्वाध्यायावाप्तेः कारणतां बोधयन्नपि पक्षधर्म-ताबलाद् बह्वेः पर्वतीयत्वादिवत् तदसाधारण्यमादाय धर्मजिज्ञासायां पर्यवस्यति ; तस्यां सत्यामन्यव-धानेनैव तद्भावदर्शनात्, न ब्रह्मजिज्ञासायाम् ; सत्यामपि स्वाध्यायावाप्तावव्यवधानेन तददर्शनात्, धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाध्यात् । अत एव धर्मजिज्ञासासूत्र एवानन्तर्याभिधायिनाऽथशब्देन स न्यायः प्रदर्श्यते, नात्र ; प्रकृते तदानन्तर्याभावेन तदभिधायिनाऽथशब्देन तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्, अव्यव-हितोत्तरभावस्यैवानन्तर्यार्थत्वात् ॥

\*वस्तुतस्तु\*—नियतापेक्षितपूर्ववृत्तानन्तर्याभिधायिनाऽथशब्देन धर्मजिज्ञासा-स्वाध्यायाध्ययनयोः कार्य-कारणभावग्राहको न्यायो न सूच्यते ; साक्षादेव तत्प्रतिपादनात् । \*तथाहि\*—धर्मजिज्ञासा, स्वाध्यायाध्ययनकरणिका, नियतापेक्षिततदानन्तर्यात्, संप्रतिपन्नवदिति । किं तर्हि ? स्वाध्यायाध्ययन-विधेः प्रामाण्यग्राहकन्यायः सूच्यते ; तमन्तरेण स्वार्थानुपपत्तेरित्युक्तमेव । तस्मादानन्तर्यसूचितन्याय-साम्याभिप्रायेणैवानन्तर्यसाम्याभिधानम्, न स्वरूपाभिप्रायेण, इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । \*ननु\*—अथ-शब्दभिहितेन न्यायेन नासाधारणकारणं प्रतिपादयितुं शक्यते ; हृदय-जिह्वावदानयोः कार्य-कारणभावा-भावेन तत्रैव व्यभिचारादिति—चेत्, \*न\* ; तत्र नियतक्रमस्यैव विधेयत्वेनोत्पाद्यतया पूर्ववृत्तहृदयाव-दानानपेक्षणाद् व्यभिचाराभावात्, केवलजिह्वावदानस्य हृदयावदानाजन्यत्वेऽपि नियतक्रमविशिष्टस्यैव तस्यैव तज्जन्यत्वात्, दोषस्य ज्ञानसामर्थ्यनन्तर्भावेऽप्यप्रामाण्यविशिष्टस्यैव तस्य दोषजन्यत्ववत् । तस्मान्न स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यार्थोऽथशब्द इति ॥

## प्रदीपः

सत्यं विचारसामान्यहेतुर्विचारविशेषस्यापि हेतुः, असाधारणकारणानन्तरमपि तु विशिष्य प्रतिज्ञान्तरसार्थक्यनियतं विवक्षणीयम् । न ह्यन्यथा सूत्रसार्थक्यं संभवति । “अथातः शेषलक्षणमि”ति तु विचार्यतया प्रतिज्ञातधर्मस्वभावविशेषविचारस्यैव प्रतिज्ञा । \*एतेन\*—अथातः क्रत्वर्थ-पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा” इति सूत्रमपि व्याख्यातम् ; तस्यापि धर्मगतक्रत्वर्थ-पुरुषार्थस्वरूपस्व-भावविशेषविचारप्रतिज्ञापरत्वात् । ततश्चासाधारणकारणानन्तरमपि यावदथशब्देन न विवक्ष्यते, तावत् प्रतिज्ञान्तरवैयर्थ्यमपरि-हरणीयमेव, इति न वेदाध्ययनानन्तर्यमथशब्दार्थ इति मन्यन्ते । “श्रोतव्यो मन्तव्यः” इत्यादयो न विधय इति हि भामती-मतमित्युपरिष्ठाद् व्यक्तीभविष्यति ॥

\*ननु\*—एवं सति पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकत्वाद् वेदाध्ययनानन्तर्यमिव कर्मविचारानन्तर्यमप्यथशब्दार्थ ऊरीक्रियताम्, अस्तु वा शास्त्रमेदः, एवमपि साधारणकारणापरित्यागेन “यज्ञेन दानेन”ति वाक्यावगतविशेषकारणमत्र संगृहीतं भविष्यतीति भावेनाशङ्कते—\*नन्विहेति\* ॥ \*इह\* = ब्रह्ममीमांसायाम् । \*विशेषः\* = असाधारणकारणम् । सत्यमपशूद्राधि-कारणेनानवीतवेदानां ब्रह्मविचारानधिकारव्यवस्थापनाद् वेदाध्ययनमपि कारणम्, परन्तु कर्मविचार एवासाधारणकारणम् ; यतः “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन”ति यज्ञादीनां स्पष्टं विविदिषोप-योगः प्रतिपाद्यते । इदमेवाभिप्रेत्य षोडशलक्षण्यनन्तरमेव चतुरध्याय्याः प्रवृत्तिरिति वृत्तिकारा वदन्ति, इति कर्मविचारा-नन्तर्यमेवाथशब्दार्थ इति शङ्काहृदयम् ॥ भामतीमते—उत्तरमीमांसायामपशूद्राधिकरणान्तरन्तु द्वादशलक्षण्यां विद्यमान-



## नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः ।

भामती

ध्ययनानन्तर्योपदेशसाम्यादित्यर्थः । चोदयति—\*नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः\*, धर्मजिज्ञासातो

ऋजुप्रकाशिका

कर्मावबोधानन्तर्यं विशेष इत्युक्तं भाष्ये, तत्र कुतः सकाशात् कस्या विशेषः ? इति वीक्षायामाह—  
\*धर्मजिज्ञासातो ब्रह्मजिज्ञासाया इति\* ॥ तथाच समानत्वाभावाद् धर्ममीमांसातः पृथगारम्भो ब्रह्ममीमांसाया  
युक्त इति शङ्कामिप्रायः । \*ननु\* सति हि विशेषे पृथक् तदारम्भः स्यात्, उक्तविशेष एव नेत्याशङ्क्य  
तद्विशेषं स्फोरयति—\*अस्यार्थ इत्यादिना\* ॥

पञ्चपादिका

\*नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः\* ॥ तथाच वृत्त्यन्तरे वर्णितम्—“कर्मणामधिकार-  
परम्परया शब्दतो वा संस्कारतया वा यथाविभागं तादर्थ्यावगमाद् निःश्रेयसप्रयोजनत्वाच्चानन्तर्यवचनोऽथ-  
शब्दोऽधिगतानन्तरमिति”ति । अन्यैरपि स्ववृत्तौ वर्णितम्—“तत्राथातःशब्दौ प्रथम एवाध्याये प्रथम-

पञ्चपादिकाविवरणम्

बोधानन्तर्यमुपकार्यब्रह्मावबोधस्योच्यत इति चोदयति—\*नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेष इति\* ॥ धर्म ब्रह्म-  
विचारयोरुपकार्योपकारकभावं दर्शयति—\*तथाच वृत्त्यन्तरे वर्णितमिति\* ॥ \*अधिकारः = प्रवृत्तिः ।  
\*संस्कारः = फलम् । प्रवृत्तिपरम्परया फलपरम्परया चेत्यर्थः । अथवा “संस्कारः” इति कर्मभिः पुरुषसंस्कारोऽ-

ऋजुविवरणम्

अधिकारशब्दस्यार्थत्रयं दर्शितं प्राक्, तत्रार्थद्वयशङ्कानिरासायाह—\*अधिकारः प्रवृत्तिरिति\* ॥ संस्कारपक्षस्योत्तरत्र  
निराकरिष्यमाणत्वादत्रापि संस्कारशब्दस्य मुख्यार्थत्वस्वीकारे पौनरुक्त्यं स्यात्, तदर्थं व्याचष्टे—\*संस्कारः फल-  
तत्त्वदीपनम्

निमित्तादावपि प्रसिद्धत्वाद् विवक्षितमर्थमाह—\*अधिकार इति\* ॥ संस्कारशब्दस्य वेगादिपरत्वं व्यावर्तयति—  
\*संस्कार इति\* ॥ अधिकारपरम्परया शब्दतो वा संस्कारतयेति मतत्रयमुपन्यस्तमिति भ्रमं निवारयति—\*प्रवृत्तीति\* ॥  
“परम्परये”तिपदं संस्कारतयेत्यत्राप्यनुषज्यत इति द्रष्टव्यम् । पूर्वपूर्वप्राप्तिं विनोत्तरोत्तरप्राप्तिवत् पूर्वक्षुद्रकर्मानुष्ठानं  
विनोत्तरकर्मानुष्ठानासंभवात् पूर्वपूर्वमनुष्ठायोत्तरोत्तरत्र व्यवतिष्ठत इत्येकः पक्षः । विषयकामुकस्य ब्रह्मज्ञानानव-  
ताराद् विषयोपभोगेन कामनिवृत्तौ ब्रह्मज्ञानेऽवतीर्णो भवतीति मतान्तरम् ॥

उपभोगेन कामोच्छेदासंभवमाशङ्क्य, संस्कारशब्दस्यार्थान्तरमाह—\*अथवेति\* ॥ नचोक्तेऽर्थे  
प्रमाणाभाव इत्याह—\*शब्दत इति\* ॥ “तमेतं वेदानुवचनेन” “यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः”

वार्तिकम्

एवं मीमांसकपक्षं निराकृत्यैकदेशिपक्षमुत्थापयति—\*नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः\* इति ॥  
\*इह\*—ब्रह्मजिज्ञासायाम्, कर्मावबोधानन्तर्यमसाधारणं प्रतीयते धर्मजिज्ञासातः । अतस्तदानन्तर्यमैवाथ-

भाष्यभावप्रकाशिका

त्वाच्च । धर्मावबोधानन्तर्यं ब्रह्मावबोधस्योच्यत इति चोदयति—\*नन्विहेति\* ॥ \*विशेषो\*  
धर्मजिज्ञासातो ब्रह्मजिज्ञासायाः ॥ धर्मब्रह्मजिज्ञासयोरुपकार्योपकारकत्वासंभवान्नैवमित्याह—\*न



## भामती

ब्रह्मजिज्ञासायाः\* ॥ अस्यार्थः—“विविदिषन्ति यज्ञेन” इति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादीनामङ्गत्वेन ब्रह्मज्ञाने विनियोगात्, ज्ञानस्यैव कर्मतयेच्छां प्रति प्राधान्यात्, प्रधानसंबन्धाच्चाप्रधानानां पदार्थान्तराणाम्, —तत्रापि च न वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तावङ्गभावो यज्ञादीनाम्; वाक्यार्थज्ञानस्य वाक्यादेवोत्पत्तेः, नच— वाक्यं सहकारितया कर्माण्यपेक्षत इति—युक्तम्; अकृतकर्मणामपि विदितपद-तदर्थसंगतीनां समधि-गतशब्द-न्यायतत्त्वानां गुण-प्रधानभूतपूर्वापरपदार्थाकाङ्क्षा-संनिधि-योग्यतानुसन्धानवतामप्रत्यूहं वाक्यार्थ-प्रत्ययोत्पत्तेः, अनुत्पत्तौ वा विधि-निषेधवाक्यार्थप्रत्ययाभावेन तदर्थानुष्ठान-परिवर्जनाभावप्रसङ्गः । तद्वोधतस्तु तदर्थानुष्ठान-परिवर्जने परस्पराश्रयः—तस्मिन् सति तदर्थानुष्ठान-परिवर्जनम्, ततश्च तद्वोधः— इति । नच—वेदान्तवाक्यानामेव स्वार्थप्रत्यायने कर्मापेक्षा, न वाक्यान्तराणामिति—साम्प्रतम्; विशेष-हेतोरभावात् । “तत्त्वमसि” इत्यादिवाक्यात् त्वंपदार्थस्य कर्तृ-भोक्तृरूपस्य जीवात्मनो नित्य-शुद्ध-बुद्धो-दासीनस्वभावेन तत्पदार्थेन परमात्मनैक्यमशक्यं द्रागित्येव प्रतिपत्तुमापाततोऽशुद्धसत्त्वैः; योग्यता-

## ऋजुप्रकाशिका

\*यज्ञेनेति तृतीयाश्रुत्या=“यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” इति तृतीयाश्रुत्या । “यज्ञादीनाम्” इत्यत्र दानादि-रादिशब्दार्थः । \*ननु\* “यज्ञेन विविदिषन्ति” इत्युक्ते ब्रह्मवेदनेच्छारूपायां ब्रह्मजिज्ञासायामेव यज्ञादीनामङ्ग-त्वेन विनियोगः, न ब्रह्मज्ञाने, इत्याशङ्क्य, ज्ञानकर्मकेच्छां प्रति ज्ञानस्य कर्मतया प्रधानत्वेन ज्ञान एव तेषा-मङ्गत्वेन विनियोगः, नेच्छायामित्यभिप्रेत्याह—\*ज्ञानस्यैवेति\* ॥ अस्तु ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, तावता यज्ञादि-पदार्थानामिच्छायां कुतो न विनियोग इति ? अत आह—\*प्रधानसम्बन्धाच्चेति\* ॥ \*ननु\* ज्ञाने यज्ञादीना-मङ्गतयोपयोगे किं वाक्यार्थज्ञानेऽपि यज्ञादीनामङ्गतयोपयोगः ? नेत्याह—\*तत्रापि चेति\* ॥ वाक्यार्थज्ञान-स्येति\* ॥ \*ननु\* न कर्म वाक्यार्थज्ञानाजनकमिति सिद्धम्, वाक्यसहकारितया कर्माण्यपि वाक्यार्थज्ञान-जनकान्येवेत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥ वाक्यार्थज्ञाने जनयितव्य इति शेषः । निराकरणप्रकार-मेवाह—\*अकृतकर्मणामित्यादिना—वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तेरित्यन्तेन\* ॥ वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ सामग्रीपौष्कल्यं दर्श-यति—\*विदितेत्यादिना\*—\*अप्रत्यूहमित्यतः प्राक्तनेन\* । तथाच कर्माणि विनाऽपि वाक्यार्थज्ञानोत्प-त्तेर्न कर्माणि वाक्यार्थज्ञानयोगीनीति भावः । कर्माणि विना वाक्यार्थज्ञानं नोत्पद्यत इत्युक्तौ बाधकमाह—\*अनुत्पत्तौ वेति\* ॥ “विधिनिषेधे”त्यतः प्राग् अकृतकर्मणामिति शेषः । \*तदनुष्ठानेति\* ॥ विहितकर्मा-नुष्ठान-निषिद्धकर्मपरिवर्जनयोर्विधि-निषेधवाक्यार्थप्रत्ययाधीनत्वात् तदभावे तदभाव इति भावः । \*ननु\* विधि-निषेधवाक्यार्थप्रत्ययादेव तदनुष्ठान-तत्परिवर्जने स्याताम्, को दोष इति ? अत आह—\*तद्वोधतस्त्विति\* ॥ तदर्थानुष्ठानं च परिवर्जनं च, तस्मिन् सतीत्यर्थः; द्वन्द्वैकवद्भावः । परस्पराश्रयदोषात् कर्मणां न वाक्यार्थज्ञान-हेतुत्वमिति द्रष्टव्यम् । \*ननु\* कर्मकाण्डस्थवाक्यानां स्वार्थज्ञाने जनयितव्ये कर्मसापेक्षत्वाभावेऽपि वेदान्त-वाक्यानां स्वार्थज्ञाने जनयितव्ये कर्मसापेक्षत्वमेवेत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥ “वेदान्तवाक्याना-मेवे”त्यत्रत्यस्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं स्वयमेव दर्शयति—\*न वाक्यान्तराणामिति\* ॥ कर्मकाण्डस्थानामिति शेषः । \*विशेष इति\* ॥ वेदान्तवाक्यानां कर्मसापेक्षत्वम्, इतरेषां तु नेत्येवंरूपे विशेषे । \*हेत्वभावात्= तद्वोधकप्रमाणाभावादित्यर्थः । विशेषे हेतुं शङ्कते—\*तत्त्वमसीत्यादीति\* ॥ \*ऐक्यमिति\* ॥ अविशुद्ध-सत्त्वैः—“तत्त्वमसी”ति वाक्यात् त्वंपदार्थस्य कर्तृ-भोक्तृस्वरूपस्य जीवात्मनो नित्य-शुद्ध-बुद्धोदासीनस्वभावेन तत्पदार्थेन परमात्मना सह ऐक्यमिति द्राक् प्रतिपत्तुमशक्यमेवेति योजना । तत्र हेतुमाह—\*योग्यताविरह-निश्चयादिति\* ॥ कर्तृ-भोक्तृस्वभावस्याकर्त्रभोक्तृस्वभावेन परमात्मना सहैक्ययोग्यता नेति निश्चयादित्यर्थः ।



## भामती

विरहनिश्चयात्, यज्ञ-दान-तपस्तनूकृतान्तर्मलास्तु विशुद्धसत्त्वाः श्रद्धाणा योग्यतावगमपुरःसरं तादात्म्य-मवगमिष्यन्तीति—चेत्, तत् किमिदानीं प्रमाणकारणकं योग्यतावधारणमप्रमाणात् कर्मणो वक्तुमध्यव-सितोऽसि ? प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तं वा कर्मापि प्रमाणम् ? वेदान्ताविरुद्धतन्मूलन्यायबलेन तु योग्यताव-धारणे, कृतं कर्मभिः । तस्मात् “तत्त्वमसि” इत्यादिना श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा, तन्मूलया चोपपत्त्या व्यवस्थाप्य, तदुपासनायां भावनाऽपराभिधानायां दीर्घकालनैरन्तर्यवत्यां ब्रह्मसाक्षात्कारफलायां यज्ञादीनामुपयोगः । यथाहुः—“स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः” इति । ब्रह्मचर्य-तपः-श्रद्धा यज्ञादयश्च सत्कारः । अत एव श्रुतिः—“तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः” इति । विज्ञाय = तर्कोपकरणेन शब्देन, \*प्रज्ञाम् = भावनां कुर्वीतेत्यर्थः । अत्र च यज्ञादीनां श्रेयःपरिपन्थिकरूपनिर्बहणद्वारेणोपयोग इति केचित् । पुरुषसंस्कारेणेत्यन्ये । यज्ञादिसंस्कृतो हि पुरुष आदर-नैरन्तर्य-दीर्घकालैरासेवमानोऽब्रह्मभावनामनाद्यविद्यावासनां समूलकापं कषति । ततोऽस्य प्रत्यगात्मा सुप्रसन्नः केवलो विशदीभवति । अत एव स्मृतिः—‘महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥’ ‘यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः’ इति च । अन्ये—ऋणतयापाकरणे ब्रह्मज्ञानोपयोगं कर्मणा-

## ऋजुप्रकाशिका

यज्ञादिकर्मभिश्चित्तनैर्मल्ये सति च तयोरैक्ययोग्यतानिश्चयात् तत्प्रतिपत्तिरस्तीत्याह—\*यज्ञ-दानेत्यादिना\* ॥ तथाच—अयमेव कर्मवाक्येभ्यो वेदान्तवाक्यानां विशेषहेतुरिति शङ्काभिप्रायः । शङ्काग्रन्थे कर्मसाध्यं तत्त्वाव-धारणमित्युक्तप्रायम्, तदयुक्तम् ; तत्त्वावधारणस्य प्रमाणसाध्यत्वेन कर्मसाध्यत्वायोगात्, इत्यभिप्रेत्य, अज्ञ-त्वारोपणेन दूषयति—\*तत्किमित्यादिना\* ॥ \*प्रमाणकारणकमिति\* ॥ एतद् योग्यतावधारणमित्यस्य विशेषणम् । कर्मण इति पञ्चमी । कर्मण इत्यनन्तरं जनितमिति शेषः । \*प्रत्यक्षादीति\* ॥ कर्मापीति\* ॥ \*कर्मापि प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तं प्रमाणमिति वा किं वक्तुमध्यवसितोऽसि ? इत्याद्याहारेणान्वयः । तथाचान्यत एव योग्यतावधारणात् तदवधारणाय न वेदान्तानां कर्मापेक्षेत्याह—\*वेदान्ताविरुद्धेति\* ॥ वाक्यार्थज्ञान उपयोगाभावे क्व तर्हि यज्ञादीनामुपयोगः ? इति वीक्षायामुपसंहारव्याजेन तदुपयोगमाह—\*तस्मादिति\* ॥ \*ज्ञानेनेति\* ॥ ज्ञायत इति ज्ञानम्, तेन ज्ञायमानेन “तत्त्वमसि” इत्यादिश्रुति-कदम्बेनेत्यर्थः । “व्यवस्थाप्ये”त्यत्र जीवात्मनः परमात्मभावमित्यनुषङ्गः । \*तदुपासनायाम्=जीवात्म-परमात्म-तादात्म्योपासनायाम् । \*ननु\* ब्रह्मसाक्षात्कारस्य निदिध्यासनफलत्वेनोपासनाफलत्वाभावाद् “ब्रह्मसाक्षात्कार-फलायामि”त्यग्रिमोपासनाविशेषणमयुक्तं स्यात्, तदर्थमाह—\*भावनापराभिधानायामिति\* ॥ निदिध्यासना-पराभिधानायामित्यर्थः । तथाच निदिध्यासनापराभिधानायास्तस्यास्तद्विशेषणं युक्तमित्यर्थः । \*ननु\* अना-दरमल्पकालं विच्छिद्य निदिध्यासनापरनाम्न्यामुपासनायां क्रियमाणायामपि न ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं फलम्, तत्राह—\*आदर-दीर्घकाल-नैरन्तर्यवत्यामिति\* ॥ उक्तार्थेऽभियुक्तोक्तिं प्रमाणयति—\*यथाहुरिति\* ॥ सत्कारासेवितो दृढभूमिरित्युक्तम् । \*दृढभूमिः=तत्त्वबुद्धौ दृढोपाय इत्यर्थः । तत्र सत्कारशब्दार्थमाह—\*ब्रह्मचर्येति\* ॥ आदर-दीर्घकाल-नैरन्तर्ययुक्त ईदृशसत्कारासेवितो भावनाख्यः पदार्थो दृढभूमिरित्यर्थः । तत्र श्रुतिप्रमाणमाह—\*अत एवेति श्रुतिरिति\* ॥ श्रुत्यर्थमाह—\*विज्ञायेति\* ॥ धीरः सन् तमेव जीवा-भिन्नं परमात्मानमेव विज्ञायेत्यर्थः । अत्र यज्ञादीनामुपयोगप्रकारं भङ्गिभेदेन कैश्चिदुक्तं दर्शयति—\*अहम् \*यज्ञादीनामिति\* ॥ पुरुषसंस्कारद्वारा यज्ञादीनामुपयोगोऽन्यैरुक्तः, तत्प्रकारं विशदयति—\*यज्ञादिसंस्कृतो हीति\* ॥ आसेवमान इति\* ॥ उक्तभावनामिति शेषः । अब्रह्मभावनामित्यस्य विवरणम्—\*अनाद्य-विद्यावासनामिति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*ततोऽस्येति\* ॥ तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—\*अत एव स्मृति-



## भामती

माहुः । अस्मिन् हि स्मृतिः—“ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्” इति । अन्ये तु “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन” इत्यादिश्रुतिभ्यस्तत्तत्फलाय चोदितानामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन ब्रह्मभावनां प्रत्यङ्गभावमाचक्षते, क्रत्वर्थस्येव खादिरत्वस्य वीर्यार्थताम् ; “एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वम्” इति न्यायात् । अत एव पारमर्ष सूत्रम्—“सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्” इति ॥ \*यज्ञ-तपो-दानादि\* सर्वम् ; तदपेक्षा ब्रह्मभावनेत्यर्थः । तस्माद् यदि

## ऋजुप्रकाशिका

रित्यादिना\* ॥ पुनरन्यैः कैश्चिदुक्तं तदुपयोगप्रकारं दर्शयति—\*अन्य ऋणत्वेति\* ॥ तत्पक्षेऽपि स्मृतिं प्रमाणयति—\*अस्मिन् हि स्मृतिरिति\* ॥ तत्र वेदानुवचन-यज्ञ-दान-तपसां प्रत्येकं तत्तत्फलाय चोदितानां “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” इत्यादिश्रुत्या संयोगपृथक्त्वन्यायेन ब्रह्मभावनां प्रत्युपयोगमाहुः—अन्ये, तन्मतमुपन्यस्यति—\*अन्ये त्विति\* ॥ तत्र अन्यार्थस्याप्यन्यार्थत्वे दृष्टान्तमाह—\*क्रत्वर्थस्येवेति वीर्यार्थतामिति\* ॥ क्रत्वर्थस्यापि खादिरत्वस्य वीर्यार्थतां यथाऽऽचक्षते, तथेत्यर्थः । कस्माद् न्यायाद् एवम् ? इत्यपेक्षायामाह—\*एकस्य त्विति\* ॥ चतुर्थे चिन्तितम्—“खादिरे पशुं वध्नाति”, “खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत” इति च श्रूयते । तत्र संशयः—किं खादिरं वीर्यकामस्य, इति वीर्यफल-श्रवणाद् अनित्या काम्यैव खादिरता ? किं वा पशुवन्धनार्थतया क्रत्वर्थे नित्ययूपे खादिरत्वश्रवणाद् नित्येति ? तत्र वीर्यफलार्थकत्वेन काम्यतयाऽनित्याया नित्यप्रयोगाङ्गतया नित्यता न युक्ता । यत्तु नित्येऽपि यूपे खादिरत्व-श्रवणाद् नित्या खादिरतेति, तन्न ; नित्ये तच्छ्रवणस्य काम्याया एव खादिरतायाः पशुवन्धप्रयुक्तयूपाश्रय-दानार्थत्वात् । तस्माद् न नित्या खादिरता, इति प्राप्ते राद्धान्तः—खादिरता क्रत्वर्थतया नित्या, पुरुषार्थतयाऽ-नित्या च । नच नित्यानित्यसंयोगविरोधः ; एकस्यैव खादिरत्वस्य “खादिरे पशुं वध्नाति” इति वचनेन क्रत्वर्थतायाः “खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत” इति वचनेन पुरुषार्थतायाश्च श्रूयमाणतया वचनद्वयबलेन क्रत्वर्थतया नित्यत्वस्य पुरुषार्थतयाऽनित्यत्वस्य च संयोगभेदात् संभवेन नित्यानित्यसंयोगविरोधाभावात् । नच—यूपाश्रयदानाय नित्यवाक्यमित्युक्तमिति—वाच्यम् ; सन्निधानबलादेवाश्रयलाभात् । तत उभयार्थतया नित्या चानित्या च खादिरतेति । क्रत्वर्थत्वेनावश्यकत्वं नित्यत्वम्, पुरुषार्थत्वेन काम्यतया कामनाविरहद-दशायामवस्थाननुष्ठेयत्वमनित्यत्वमिति द्रष्टव्यम् । “एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वमिति”त्यस्यैवमर्थः पर्य-वसन्नः—\*एकस्य = खादिरत्वस्य, वचनद्वयबलात् \*उभयार्थत्वे = क्रत्वर्थत्वे पुरुषार्थत्वे च, \*संयोग-पृथक्त्वम् = संयोगः = शेषत्वबोधनम्, तस्य पृथक्त्वम् = भेदः, क्रतुशेषत्वबोधनं फलशेषत्वबोधनं चेति । खादिरत्वदृष्टान्तेनान्यार्थत्वेन चोदितानामपि कर्मणां यज्ञश्रुत्या ब्रह्मोपासनायामुपयोग उक्तः, तत्र पारमर्ष सूत्रमुपपद्यमानकत्वेनोक्तम्—\*सर्वापेक्षेत्यादिना\* । तत्सूत्रस्यार्थमाह—\*यज्ञ-तपो-दानादि सर्वमिति\* ॥ ब्रह्म-भावनाया यज्ञ-तपो-दानादिसर्वापेक्षायां प्रमाणमुक्तं सूत्रे—\*यज्ञादिश्रुतेरिति\* ॥ “यज्ञेन दानेन”त्यादिश्रुते-रित्यर्थः । सूत्रे—अश्ववदिति\* ॥ तस्यायमर्थः—“अश्वेन जिगमिषामि” इत्यत्र यथाऽश्वस्य जिगमिषा-द्वारा परम्परया ग्रामप्राप्तावुपयोगः, तथा “विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन”त्यत्र विविदिषाद्वारा परम्परया यज्ञ-दानादीनां ब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षापराभिधानसाक्षात्कारहेतुब्रह्मोपासनायामुपयोग इति । उपसंहरति—

## वार्तिकम्

शब्देनात्रोच्यत इत्यर्थः ॥ \*ननु\*—उक्तम्—यद् नियमेन पूर्ववृत्तमपेक्षते, तदानन्तर्यमथशब्देन वक्तव्यमिति, नच

## प्रदीपः

स्यापशूद्राधिकरणस्य तदर्थविचाराधिकारमात्रनियामकत्वौचित्यात् शास्त्रान्तरे विचाराधिकारनियामकत्वासंभव इति शङ्का-



## भामती

श्रुत्यादयः प्रमाणम्, यदि वा पारमर्षं सूत्रम्, सर्वथा यज्ञादिकर्मसमुच्चिता विशेषणत्रयवती, अनाद्यविद्यातद्वासनासमुच्छेदक्रमेण ब्रह्मसाक्षात्काराय मोक्षापरनाम्ने कल्पते, इति तदर्थं कर्माण्यनुष्ठेयानि । नचैतानि दृष्टादृष्टसामवायिकारादुपकारहेतुभूतौपदेशिकातिदेशिकक्रमपर्यन्ताङ्गग्रामसहितपरस्परविभिन्नकर्म-स्वरूपतदधिकारिभेदपरिज्ञानं विना शक्यान्यनुष्ठानम् । नच धर्ममीमांसापरिशीलनं विना तत्परिज्ञानम् ; तस्मात् साधूक्तम्—‘कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः’ इति । कर्मावबोधेन हि कर्मानुष्ठानसाहित्यं भवति ब्रह्मोपास-

## ऋजुप्रकाशिका

\*तस्मादिति\* ॥ सूत्रमित्यत्र प्रमाणमित्यनुपङ्गः । \*विशेषणत्रयवतीति=आदर-दीर्घकाल नैरन्तर्यवती । विशेषणत्रयवतीत्यनन्तरं सा ब्रह्मभावनेति शेषः । \*तदर्थम्=ब्रह्मभावनाद्वारा साक्षात्कारार्थम् । \*ननु\*—अस्तूक्तविधया ब्रह्मभावनायां कर्मणामुपयोगः, तावता भाष्योक्तं ब्रह्मजिज्ञासायाः कर्मावबोधानन्तर्यं कथं घटते ? इत्यपेक्षायां तत्संघटयितुमाह—\*नचैतानीति\* ॥ कर्माणीत्यर्थः । दृष्ट उपकारस्तुपविमोकादिः, अदृष्ट उपकारः प्रोक्षणादिजः प्रयाजादिजश्च, स चासौ यथायोगं सामवायिकः क्रतुस्वरूपसमवायीति यावत् । आराद् दूरे फलापूर्वसिद्धौ उपकारश्च, तद्धेतुभूतो योऽयमौपदेशिकातिदेशिकक्रमपर्यन्तोऽङ्ग-ग्राम उपदेशतो लब्धः । अतिदेशतो लब्धक्रमेणाप्यवच्छिन्नश्चाङ्गग्राम इति यावत् । तत्सहितं परस्पर-भिन्नं कर्मस्वरूपं तदपेक्षिताधिकारिविशेषश्च, तयोः परिज्ञानं विना न शक्यानि कर्माण्यनुष्ठानमिति योजना । अस्तु कर्मानुष्ठानाय तत्परिज्ञानम्, तावताऽपि कथं कर्मावबोधानन्तर्यम् ? तत्राह—\*नच धर्ममीमां-सेति\* ॥ तथाच तत्परिज्ञानाय धर्ममीमांसापरिशीलने कर्मावबोधनं लब्धमिति कर्मावबोधानन्तर्यं तस्या विशेष इत्यर्थः । तदेतदुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ विशेष इति\* ॥ धर्मजिज्ञासातो ब्रह्मजिज्ञासाया इत्यर्थः । ब्रह्मजिज्ञासायाः कर्मावबोधानन्तर्यं सति कर्मावबोधेन कर्मानुष्ठानेऽनुष्ठितकर्मणां ब्रह्मभावनायामुपयोगः पूर्वोक्तः सक्तो भवत्येवेत्यभिप्रेत्याह—\*कर्मावबोधेन हीति\* ॥ \*कर्मानुष्ठानसाहित्यम्=अनुष्ठितकर्मोपयोगिकत्वम् । ब्रह्मोपासनायाः\* = ब्रह्मभावनायाः । “कर्मणामुपयोगः” इति प्रतिपादनेन ब्रह्ममीमांसायाः कर्मप्रतिपादकपूर्व-तन्त्रापेक्षोक्ता, तत् कथमिति चेत्, उच्यते—“औपदेशिकातिदेशिके”त्यनेन शेषलक्षणादारभ्योपरितनतन्त्र-स्यापेक्षोक्ता ; तत्रोपदेशातिदेशादिस्वरूपकथनात् । क्रमेत्यनेन पञ्चमनयस्यापेक्षिता दर्शिता ; तत्र क्रमादिस्वरूप-प्रतिपादनात्, “अङ्गग्रामे”त्यनेन तार्तीयस्यापेक्षा सूचिता ; “सहिते”त्यनेन चातुर्थिकस्य प्रयोज्य-प्रयोजकविचार-स्यापेक्षा कथिता ; “परस्परविभिन्ने”त्यनेन द्वितीयलक्षणार्थस्यापेक्षा प्रतिपादिता ; “तदधिकारी”ति षष्ठाध्याय-स्यापेक्षा द्योतिता ; “दृष्टे”ति संस्कारकर्मत्व-गुणकर्मत्वादिचिन्ताया द्वितीयाध्यायगताया अपेक्षता शापिता ;

## वार्तिकम्

कर्मावबोधं नियमेन पूर्ववृत्तं ब्रह्मजिज्ञासाऽपेक्षते, तद्व्यतिरेकेणाप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासासिद्धेरिति—चेत्, \*न\* ; तद्व्यतिरेकेण तत्सिद्धेरभावात् । विविदिषावाक्येन हि यज्ञादिकर्मणां ब्रह्मज्ञाने तत्फले वा हेतुत्वमुक्तम्—‘अश्वेन ग्रामं जिगमिषती’त्यनेनाश्वस्य ग्रामगमनसाधनत्ववत्, तत्प्राप्तिसाधनत्ववद्वा ॥

तत्र यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वपक्षे “यस्यैतेऽष्टावत्वारिंशत् संस्काराः” “इदं मेऽनेनाङ्गं संस्कियते” “महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुरि”त्यादिश्रुति-स्मृतिभ्यां संस्कारद्वारोपयोगं वदन्ति केचित् ॥ अन्ये तु “जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते” “ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानः पतत्यधः ॥” इति श्रुति-स्मृतिभ्यामृणापाकरणद्वारा तदुपयोगं वदन्ति । अन्ये तु शाब्द-बोधजनितभावनासहकारित्वेनेति । मोक्षहेतुत्वपक्षेऽपि केचित् प्रपञ्चविलयनद्वारा तदुपयोगं वर्णयन्ति ।



## पञ्चपादिका

सूत्रे वर्णितौ । अथेति पूर्वप्रकृतां धर्मजिज्ञासामपेक्ष्यानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासाप्रारम्भार्थः । अत इति पूर्व-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मिधीयते । “शब्दतः” इति च तत्र प्रमाणमुच्यत इति । \*अधिगतानन्तरम् = धर्माधिगत्यनन्तरमित्यर्थः । अस्मिन्नर्थे शास्त्रकारसंवादान्तरमाह—\*अन्यैरपि स्ववृत्तौ वर्णितमित्यादिना\* ॥ एकफलवत्त्वं तावत् तिष्ठतु, न

## ऋजुविवरणम्

मिति\* ॥ “अधिगतानन्तरम्”त्यत्र कर्मण्यपि निष्ठा संभवाज्ज्ञातार्थानन्तर्यमित्यपि प्रतीतिः स्यात्, तथा सति प्रक्रमविरोधः, “धर्मानुष्ठानानन्तर्यम्”त्यनेन पुनरुक्तं चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*धर्माधिगत्यनन्तरमिति\* ॥ “एक-फलत्वं तावदि”त्यनेनोत्तरत्र निराकरिष्यमाणत्वात् “फल-जिज्ञास्यभेदादि”त्यनेन, तेन नात्रानिराकरणमित्युक्तम्, “तत्र यः प्रथमसूत्रे” इत्यनेन न्यायद्वयसापेक्षत्वमङ्गीकृतम्, तदनुपपन्नम्, तस्य धर्मजिज्ञासान्तर्गतत्वेन तदानन्तर्यं धर्म-

## तत्प्रदीपनम्

“अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः । इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥”

इत्यादयः शब्दाः प्रमाणमित्यर्थः । अधिगतानन्तरमित्यत्राधिगतस्य धर्मस्यानुष्ठानानन्तरमिति भाति, तथाचावबोधानन्तरमित्युपक्रमविरोध इत्याशङ्क्याह—\*अधिगतेति\* ॥ निष्ठाप्रत्ययस्य भाव-कर्मणोरविशेषेण स्मरणादित्यर्थः । धर्मब्रह्मजिज्ञासयोरेकफलत्वाद् विना ब्रह्मजिज्ञासां धर्मजिज्ञासाऽसंभवाशङ्क्याह—\*एकफलत्व-मिति\* ॥ फलजिज्ञास्यभेदाच्चेत्यत्र एकफलत्वं निरसिष्यति, तदङ्गीकृत्योक्तविधयोपकार्योपकारकत्वं निरस्यतीर्थः ।

धर्मजिज्ञासाया अनुपकारकत्वस्य भाष्यार्थत्वाद्देवान्ताध्ययनस्याऽपुष्कलकारणत्वप्रदर्शनमनुपयोगीत्याशङ्क्याह—\*भाष्यमिति\* ॥ अथ वा वेदान्ताऽध्ययनस्य ब्रह्मजिज्ञासां प्रत्यपुष्कलकारणत्वाद् अधीतवेदान्तस्येत्यनुपपन्नम्,

## वार्तिकम्

केचित्तु ज्ञान-कर्मणोरग्नेयादिवत्समसमुच्चयं वदन्ति । अन्ये तु “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।” “कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।” इत्यादिश्रुतिस्मृतिवलात् कर्मण एव प्राधान्यमाहुः । सर्वथाऽपितु कर्मावबोधानन्तर्यं ब्रह्मजिज्ञासायाः सिध्यति ; कर्मणां ज्ञानहेतुत्वे तदनुष्ठानस्य पूर्वभावित्वेन तद्धेतुत्वबोधस्य सुतरां पूर्वभावित्वाद् अपेक्षितत्वाच्च “अग्निहोत्रं जुहोति” “यवागूं पचती”तिवत् सामर्थ्यात् तत्कर्मस्य प्राप्तत्वात्, मोक्षहेतुत्वपक्षेऽपि पाठ-प्रवृत्त्यादिभिस्तत्कर्मस्य सिद्धत्वादिति । तस्मिन् पक्षं निराकरोति

## प्रदीपः

वारणेन सफलम्, विवरणमते—पूर्वतन्त्रापशूद्राधिकारणमध्ययनविधिमूलकत्वात् पूर्वतन्त्रस्यानधीतवेदानधिकरोतीति युक्तम्, उत्तरतन्त्रविचारस्तु श्रोतव्यादिविधिवामूलकत्वाद् वेदान्तश्रवणादौ सर्वाधिकारशङ्कावारणार्थमिति विशेषोऽप्यत्रानुसन्धेयः ॥ \*अयं भावः\*—“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती”ति वाक्येन यज्ञादीनामात्मसाक्षात्कारसाधनत्वमवगतम् । प्रमाणपरतन्त्रश्चात्मसाक्षात्कारः, इति “कर्मणां तत्साधननिदिध्यासनापरपर्यायब्रह्मभावनादीर्घकालनैरन्तर्यादि संपादकतयोपयोगो वक्तव्यः । सर्वथा तु यज्ञादीनामात्मसाक्षात्कारप्रयोजकत्वात् कर्मविचारानन्तरं ब्रह्मविचार इति युक्तमेव ; नित्यकर्मणामेव भावनाङ्गत्वम्, संयोगपृथक्त्वन्यायेन नित्यकर्मसाधारण्येनेति त्वन्यदेतत् । ब्रह्मभावना हि ब्रह्मसाक्षात्कारं न कर्मसह-कारेण जनयति । न हि निदिध्यासनकाले कर्मानुष्ठानसंभवः । उपासनाऽपि श्रवणमननाधीना न स्वरूपोत्पत्त्यर्थमपि कर्मापेक्षते । “यज्ञेन दानेन”ति वाक्यन्तु विविदिषोत्पत्तिप्रयोजकचित्तशुद्धावेव कर्मणामुपयोगं गमयति । ततश्च जन्मान्तरीयकर्मवशेन स्वत एव विरुद्धसत्त्वाः संसारासारतादर्शनेन निष्पन्नवैराग्याश्च विनैव कर्मानुष्ठानं ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य विविदिषाद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारं संपादयितुमर्हन्ति, इति न ब्रह्मविचारः कर्मविचारपूर्वकालिक एवेति नियमः । अत एव स्वयंप्रतिभातवेदानां देवानां ब्रह्मविद्याधिकारः कर्मानधिकारिणामपि स्वत एव विशुद्धसत्त्वानां देवताधिकरणसाधित उप-



## न ; धर्मजिज्ञासायाः(१) प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ।

भामती

नाया इत्यर्थः । \*तदिदं निराकरोति\*—न ; कुतः ? कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ॥

ऋजुप्रकाशिका

इत्युत्तरमीमांसायाः पूर्वमीमांसापेक्षत्वमियता ग्रन्थेनोक्तमिति भावः । \*तदिदमिति\* ॥ यदिदं ब्रह्मजिज्ञासायाः कर्मावबोधानन्तर्यमुक्तम्, तदिदमित्यर्थः । \*कर्मावबोधात् प्रागपीति\* ॥ धर्ममीमांसापरिशीलनेन हि कर्मावबोधनं वाच्यम् ; तत्परिशीलनात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेर्न कर्मावबोधानन्तर्यं ब्रह्मजिज्ञासाया इत्यर्थः । \*ननु\*—ब्रह्मभावनया कर्मणामुपयोग इति पूर्वोक्ततया ब्रह्मभावनया कर्मण्यपेक्ष्यन्त

पञ्चपादिका

निर्दिष्टस्यैवार्थस्य हेतुतामाचष्टे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतीति । अत्राह—\*न ; धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति\* ॥ न वेदान्ताध्ययनं यद्यपि केवलं पुष्कलं कारणम् ; तथाऽपि न तेन विनोत्पद्यते ब्रह्मजिज्ञासा, उपपद्यते तु धर्मावबोधनं विनाऽपीत्यभिप्रायः । कथम् ? तत्र तावद् धर्मजिज्ञासायां त्वं वृत्तम्—द्वदशलक्षणे प्रतिपादितन्यायसहस्रम्, तदनुग्रहोपजातश्च वाक्यार्थनिर्णयः,

पञ्चपादिकाविवरणम्

तावद् धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरुपकारयोपकारकभाव इत्याह—\*न ; धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्येति\* ॥ भाष्यं विवृणोति—\*न वेदान्ताध्ययनं यद्यपीत्यादिना\* ॥ \*ननु\* धर्मजिज्ञासायां व्युत्पन्नवेदप्रामाण्य-पद-पदार्थ-वाक्यार्थ-तदपेक्षितन्यायस्यैव ब्रह्म विचारयितुं शक्यम्, इति चोदयति—\*कथमिति\* । अनुपकारं दर्शयितुं धर्मजिज्ञासां विभजते—\*तत्र तावद्धर्मजिज्ञासायां त्वं वृत्तमिति\* ॥ किं तदिति ? तदाह—\*द्वादश-

तत्त्वदीपनम्

इत्याशङ्क्योपकारकत्वमात्राभिप्रायेणेत्यभिप्रेत्याह—\*भाष्यमिति\* ॥ धर्मजिज्ञासाया अनुपकारकत्वमाक्षिपति—\*ननु धर्मेति\* ॥

उपकारकत्वे चोद्येऽनुपकारः प्रदर्शनीयः, नच स प्रदर्श्यते “तत्रे”त्यादिना, इत्यत आह—\*अनुपकारमिति\* ॥ जिज्ञास्यतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या न्यायसहस्रं जिज्ञासापदेनोच्यते, अथवा—जिज्ञासनं जिज्ञासेति भावव्युत्पत्त्या निर्णयः कथ्यते, अथवा—जिज्ञास्यत इति कर्मव्युत्पत्त्या कर्मेति विचारणीयमित्यर्थः । मीमांसाविभ-  
वार्तिकम्

—\*न ; धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति\* ॥ धर्मजिज्ञासापदेन तत्फलं कर्मावबोधो लक्ष्यते । \*अयमाशयः\*—यदुक्तं विविदिषावाक्याद् यज्ञादीनां ज्ञानहेतुत्वं प्रतीयत इति,

भाष्यभावप्रकाशिका

धर्मजिज्ञासाया इति\* ॥ वेदान्ताध्ययनमपि न केवलं पुष्कलं कारणम् ; तथाऽपि न तेन विना ब्रह्मजिज्ञासोपपद्यते, धर्मजिज्ञासायास्तु तस्यामनुपयोगः । \*तथाहि\*—धर्मजिज्ञासायां न्यायसमूहः, तन्निबन्धनश्च वाक्यार्थनिर्णयः, वाक्यार्थश्चाग्निहोत्रादिकं कर्मेति त्रयं वृत्तम् । तत्र स्वाध्यायस्यार्थावबोधोपयोगे तत्त्वेन स्वतःप्रामाण्यसिद्धौ च न्यायोऽपेक्षितोऽपि स्वाध्यायवदेव न पुष्कल-

प्रदीपः

पद्यते । तथाच कर्मविचारानन्तर्यं नाशब्दार्थः, इत्यभिप्रायेणोक्तामाशङ्कां समाधत्ते—न ; धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीत-

(१) “कर्मावबोधात् प्रागपी”ति भामतीप्रस्थानाभिमतः पाठः ।



## भामती

इदमत्राकृतम्—ब्रह्मोपासनया भावनापराभिधानया कर्माण्यपेक्ष्यन्त इत्युक्तम्, तत्र ब्रूमः—  
क पुनरस्याः कर्मापेक्षा ? किं कार्ये ? यथाऽऽग्नेयादीनां परमापूर्वे चरमभाविफलानुकूले जनयितव्ये  
समिदाद्यपेक्षा, स्वरूपे वा ? यथा तेषामेव द्विरवत्तपुरोडाशादिद्रव्याभिदेवताद्यपेक्षा ? न तावत् कार्ये ; तस्य

## ऋजुप्रकाशिका

इत्युक्तप्रायम् ; ततः कर्मावबोधानन्तर्यमायातमेवेत्यत आह—\*इदमत्राकृतमित्यादिना\* ॥ विकल्पासहत्वा-  
न्नायं पक्षः साधुरिति वक्तुं विकल्पार्थं पीठिकामारचयति—\*क पुनरिति\* ॥ \*अस्याः = ब्रह्मभावनायाः ।  
प्राथमिकं विकल्पमाह—\*किं कार्य इति\* ॥ जनयितव्य इति शेषः । कार्ये जनयितव्येऽपेक्षायां दृष्टान्त-  
माह—\*यथाऽऽग्नेयादीनामित्यर्थः\* ॥ आग्नेयादीनां षण्णां यागानामित्यर्थः । अथ द्वितीयं विकल्पमाह—  
\*स्वरूपे वेति\* ॥ स्वरूपेऽपेक्षायां दृष्टान्तमाह—\*यथा तेषामेवेति\* ॥ आग्नेयादीनां षण्णां यागानामि-  
त्यर्थः । \*द्विरवत्तेति\* ॥ आग्नेययागः स्वस्वरूपोत्पत्तये “द्वयवदानं जुहोती”ति वचनाद् “द्विहविषोऽ-  
वद्यति” इति विहितद्विरवत्तपुरोडाशद्रव्यमपेक्षते, एवमग्निदेवतामप्यपेक्षते । तावता कथं यागस्वरूपोत्पत्ति-  
रिति चेत्, द्रव्य-देवते हि यागस्य स्वरूपमित्यभियुक्तवचनादिति द्रष्टव्यम् । एवं सदृष्टान्तं विकल्प-  
द्रव्यमभिधाय तत्राद्यं निरस्यति—\*न तावदिति\* ॥ ब्रह्मभावनायाः स्वकार्ये जनयितव्ये कर्मापेक्षा  
नास्तीत्यर्थः । कुतो नास्तीति ? अत आह—\*तस्येति\* ॥ तत्कल्पस्येत्यर्थः । ब्रह्मभावनायाः कार्ये कर्मा-

## पञ्चपादिका

वाक्यार्थश्चाग्निहोतादिकं कर्म । तत्र यः प्रथमसूत्रेऽथशब्दोपादानसूचितो न्यायः स्वाध्याय-  
स्यार्थावबोधोपयोगप्रतिपत्तिहेतुः, यदप्यौत्पत्तिकसूत्रे शब्दार्थयोः सम्बन्धनित्यत्वेन वेदान्तानां चापौरुषेय-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

लक्षण इत्यादिना\* ॥ तत्र न्यायसहस्रस्यानुपकारं दर्शयितुं न्यायमपि विभजते—\*तत्र यः प्रथमसूत्र  
इत्यादिना\* ॥ अध्ययनविधेर्दृष्टार्थावबोधफलपर्यन्ततापेक्षितो न्यायोऽथशब्दसूचितः, प्रथमेन पादेन च  
यावान् वेदप्रामाण्यापेक्षितो न्यायः, स सर्वोऽपेक्ष्यताम्, प्रथमस्य पादस्य धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वान्न  
तदानन्तर्यं धर्मजिज्ञासानन्तर्यमित्यर्थः । \*ननु\* इहापि “शास्त्रयोनित्वात्” “अत एव च नित्यत्वमि”त्यादौ

## ऋजुविवरणम्

जिज्ञासानन्तर्यप्रसङ्गादित्याशङ्क्य व्याख्यानपूर्वकं तात्पर्यमाह—\*अध्ययनविधेरिति\* ॥ \*ननु\*—वाक्यशक्ति-

## तत्त्वदीपनम्

जनानन्तरमनुपयोगः प्रदर्शनीय इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ \*तत्र = त्रयाणामर्थानां मध्य इत्यर्थः ।  
उत्तरमीमांसायां प्रथमपदार्थस्यापेक्षणे धर्मजिज्ञासानन्तर्यमथशब्दार्थः स्यादित्याशङ्क्याह—\*अध्ययनेति\* ॥  
अपूर्वशेषत्वेन स्वाध्यायस्य विनियुक्तत्वादर्थविवक्षाशङ्कायां दृष्टसमवेतादृष्टसंभवे स्वतन्त्रादृष्टकल्पनाया अन्याय्य-  
त्वादर्थवबोधस्य च दृष्टत्वान्नाविवक्षितार्थत्वमित्यथशब्दसूचितो न्यायः ; विरुद्धार्थत्व-पौरुषेयत्वप्रयुक्ताप्रामाण्यव्युदासेन  
प्रामाण्यसिद्धौ च यो न्यायो निर्दिष्टः, तस्य च सर्वस्यापेक्षणेऽपि पुष्कलकारणत्वाभावात् तदानन्तर्यं समर्पणीय-  
मित्यर्थः । प्रथमपादीयवेदप्रामाण्योपयोगिन्यायापेक्षामाक्षिपति—\*नन्विहापीति\* ॥ उत्तरमीमांसायामित्यर्थः । ऋग्वेदा-  
दिलक्षणशास्त्रस्य योनिः कारणं निःश्वसितवद् न प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते, ततश्च शास्त्रकारणत्वाद् ब्रह्म सर्वज्ञम्,  
तेन न वेदाप्रामाण्यमिति तृतीयसूत्रार्थः । \*अत एवेति\* ॥ देवादिप्रपञ्चस्य वेदशब्दप्रभवत्वात् तस्य नित्यत्वम्,  
—“तामन्वविन्दन्नि”त्यवस्थिताया वाच उपलम्भप्रतिपत्तेर्नित्यत्वमित्यर्थः । “समान-नाम-रूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो  
दर्शनात् स्मृतेऽत्रे”त्येतदादिशब्दार्थः ।



## भामती

विकल्पासहत्वात् । तथाहि—ब्रह्मोपासनाया ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारः कार्यमभ्युपेयः, स चोत्पाद्यो वा स्यात्? यथा संयवनस्य पिण्डः, विकार्यो वा? यथाऽवघातस्य व्रीहयः, संस्कार्यो वा? यथा प्रोक्षणस्योत्सृज्यलादयः, प्राप्यो वा? यथा दोहनस्य पयः । न तावदुत्पाद्यः ; न खलु घटादिसाक्षात्कार इव जडस्वभावेभ्यो भिन्न इन्द्रियाद्याधेयो ब्रह्मसाक्षात्कारो भावनाऽऽधेयः संभवति ; ब्रह्मणोऽपराधीनप्रकाशतया तत्साक्षात्कारस्य तत्त्वाभावेन नित्यतयोत्पाद्यत्वानुपपत्तेः, ततो भिन्नस्य वा भावनाऽऽधेयस्य साक्षात्कारस्य प्रतिभासप्रत्ययवत् संशयाक्रान्ततया प्रामाण्यायोगात्, तद्विषयस्य तत्सामग्रीकस्यैव बहुलं व्यभिचारोपलब्धेः । न खल्वनुमानविबुद्धं वहिं भावयतः शीतातुरस्य शिशिरभरमन्थरतरकायकाण्डस्य

## ऋजुप्रकाशिका

पेक्षेति कल्पस्य विकल्पासहत्वमेव प्रतिपादयितुमादौ ब्रह्मभावनायाः कार्यमाह—\*तथाहीति\* ॥ \*ब्रह्मोपासनायाः = ब्रह्मभावनायाः । भावनाकार्ये ब्रह्मसाक्षात्कारे कर्मपेक्षा चेत्, तर्हि वक्तव्यम्—किं ब्रह्मसाक्षात्कारो ब्रह्माभिन्नः? तद्विन्नो वा? आद्ये ब्रह्मस्वरूपस्य साक्षात्कारस्य कर्मकार्यत्वमायातम् । अस्त्विदं चेत्, किमिदं ब्रह्मस्वरूपस्य साक्षात्कारस्य कर्मकार्यत्वम्?—कर्मोत्पाद्यत्वं वा? कर्मविकार्यत्वं वा? कर्मसंस्कार्यत्वं वा? कर्मप्यत्वं वा? इत्यभिप्रेत्य विकल्पयति—\*स चेति\* ॥ साक्षात्कारश्चेत्यर्थः । आद्ये दृष्टान्तमाह—\*यथा संयवनस्येति\* ॥ “पिण्डं संयौति” इति विहितसंयवनस्य यथा पिण्ड उत्पाद्यः, तथेत्यर्थः । द्वितीये दृष्टान्तमाह—\*यथाऽवघातस्येति\* ॥ “व्रीहीनवहन्ति” इति विहितावघातस्य यथा व्रीहयो विकार्याः, तथेत्यर्थः । तृतीये दृष्टान्तमाह—\*यथा प्रोक्षणस्येति\* ॥ “प्रोक्षति” इति विहितप्रोक्षणस्य यथोत्सृज्यलादिः संस्कार्यः, तथेत्यर्थः । चतुर्थे दृष्टान्तमाह—\*यथा गोदोहनस्य पय इति\* ॥ “गां दोग्धि” इति विहितगोदोहनस्य यथा पयः प्राप्यम्, तथेत्यर्थः । आद्यं निरस्यति—\*न तावदुत्पाद्य इति\* ॥ तदेवाह—\*न खल्विति\* ॥ यथा जडस्वभावेभ्यो घटादिभ्यो भिन्नो घटादिसाक्षात्कार इन्द्रियाधेयः संभवति, तथा ब्रह्मसाक्षात्कारः कर्मोपेतभावनाधेयो न खलु संभवतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ ब्रह्म उभयत्र तच्छब्दार्थः । तदनेन ब्रह्माभिन्नो ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार इत्याद्यपक्षे तत्साक्षात्कारस्योत्पाद्यत्वपक्षो निरस्तः । ततो भिन्नः साक्षात्कार इति द्वितीयपक्षे तस्योत्पाद्यत्वेऽपि तस्य संशयाक्रान्तत्वेन प्रामाण्यायोगादविद्यानिवर्तनक्षमत्वाभावेनाकिञ्चित्करत्वमित्यभिप्रेत्याह—\*ततो भिन्नस्येति\* ॥ ब्रह्मणः सकाशाद् भिन्नस्येत्यर्थः । \*प्रतिभासेति\* ॥ प्रतिभास एव प्रत्ययः प्रतिभासप्रत्ययः, तद्वत् ; अनभ्यासदशापन्नज्ञानवदित्यर्थः । तस्य हि प्रामाण्यसंशयाक्रान्तत्वं सर्वजनसिद्धम्, तद्वदस्यापि साक्षात्कारस्य प्रामाण्यसंशयाक्रान्ततयाऽप्रमाणत्वान्नाविद्यानिवर्तनक्षमत्वमित्यकिञ्चित्करत्वमित्यध्याहारेण योजनीयम् । संशयाक्रान्तत्वेऽपि प्रमाणान्तरसंवादात् प्रामाण्यमाशङ्क्याह—\*प्रामाण्यायोगादिति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*तद्विषयस्येति\* ॥ तादृग्विषयविषयकस्येत्यर्थः । \*तत्सामग्रीकस्य = भावनासामग्रीकस्य नष्टपुत्रसाक्षात्कारस्येत्यर्थः । \*बहुलं व्यभिचारोपलब्धेः = बहुलं विषयस्य व्यभिचारोपलब्धेरित्यर्थः । तथाचास्यापि साक्षात्कारस्य तादृक्त्वशङ्क्या न तत्संवादकं प्रमाणान्तरमस्ति । तथाच ब्रह्मभिन्नस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्य चक्षुरादिबहिरिन्द्रियाजन्यत्वात् कर्तृत्वादिविशिष्टात्मसाक्षात्कारस्यान्तरिन्द्रियमनोजन्यत्वेऽपि शुद्धब्रह्मसाक्षात्कारस्य तदजन्यत्वात्, “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” इति श्रुत्या शुद्धस्य तस्यावाङ्मनसगोचरत्वप्रतिपत्तेः, भावना-कर्मणोरप्रमाणत्वात्, शब्दस्य च परोक्षज्ञानजनकत्वात्, उत्पाद्यो ब्रह्मसाक्षात्कारो न प्रमा स्यादित्यभिसन्धिः । \*ननु\*—प्रमाणान्तरेणानुमानेन शुद्धिं गतं ब्रह्मलक्षणमर्थं भावयतः शब्दलक्षणप्रमाणान्तरेण तद्विषयसाक्षात्कारः प्रमारूपः संपाद्यत एवेत्याशङ्क्य, तदप्यन्यत्वाददर्शनाद् नेत्याह—\*न खल्विति\* ॥ “साक्षात्कारः” इत्यनन्तरं भावनाविषयविषयक



## भामती

स्फुरज्ज्वालाजटिलानलसाक्षात्कारः प्रमाणान्तरेण संवाद्यते ; विसंवादस्य बहुलमुपलम्भात् । तस्मात् प्रामाणिकसाक्षात्कारलक्षणकार्याभावाद् नोपासनाया उत्पाद्ये कर्मापेक्षा । नच कूटस्थनित्यस्य सर्वव्यापिनो ब्रह्मण उपासनातो विकार-संस्कार-प्राप्तयः संभवन्ति ॥ \*स्यादेतत्\*—मा भूद् ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पाद्यादिरूप उपासनायाः, संस्कार्यस्त्वनिर्वचनीयानाद्यविद्याद्वयापिधानापनयनेन भविष्यति ; प्रतिसीराऽपि-हिता नर्तकीव प्रतिसीरापनयद्वारा रङ्गव्यापृतेन, तत्र च कर्मणामुपयोगः, \*एतावांस्तु विशेषः\*—प्रतिसीरापनये पारिषदानां नर्तकीविषयसाक्षात्कारो भवति, इह त्वविद्यापिधानापनयमात्रमेव केवल-मुत्पाद्यमस्ति ; ब्रह्मसाक्षात्कारस्य ब्रह्मस्वभावस्य नित्यत्वेनानुत्पाद्यत्वात्, \*अत्रोच्यते\*—का पुनरियं ब्रह्मोपासना ? किं शाब्दज्ञानमात्रसंततिः ? आहो निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसंततिः ? यदि शाब्दज्ञानमात्रसंततिः, किमियमभ्यस्यमानमप्यविद्यां समुच्छेत्तुमर्हति ? तत्त्वज्ञानविनिश्चयस्तदभ्यासो वा सवासनं विपर्यासमुन्मूलयेत्, न संशयाभ्यासः, सामान्यमात्रदर्शनाभ्यासो वा । नहि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति वा, आरोहपरिणाहवद् द्रव्यमिति वा शतशोऽपि ज्ञानमभ्यस्यमानं 'पुरुष एवे'ति निश्चयाय पर्याप्तम् ; ऋते विशेषदर्शनात् ॥

## ऋजुप्रकाशिका

इति शेषः । तत्त्वमाह—\*विसंवादस्येति\* ॥ धूलिपटले धूमभ्रमाद् बह्वयनुमितौ जातायामपि तद्विषयक-भावनायां सत्यामपि तत्र प्रवृत्तस्य बह्वयभावदर्शनादित्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*उपासनायाः = भावनायाः । साक्षात्कार उत्पाद्ये कर्मापेक्षा नास्तीत्यर्थः । एवं ब्रह्मभिन्नसाक्षात्कारपक्षस्य सर्वात्मना निरस्तत्वाद् ब्रह्माभिन्नसाक्षात्कारे स्थिते तस्य चोत्पाद्यत्वकल्पे निरस्ते विकार्यत्व-संस्कार्यत्वाऽऽप्यत्वकल्पान् श्रीन् युगपन्निरस्यति—\*नच कूटस्थेति\* ॥ कूटस्थत्वं निर्विकारत्वम्, तच्च विकारासंभवे हेतुः । नित्यत्वं संस्कारासंभवे हेतुः ; ब्रह्माभिन्नसाक्षात्काररूपस्यानुभवस्य नित्यतया संस्कारानाधायकत्वात्, संस्कारस्यानुभवध्वंसपूर्वकत्वादिति भावः । सर्वव्यापित्वमाप्यत्वासंभवे हेतुः ; नित्यप्राप्तस्याऽऽप्यत्वायोगादिति भावः । तथाच विकारादिकार्येष्वपि न कर्मापेक्षेति स्थितम् । पुनः संस्कार्यत्वपक्षमाश्रित्य शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ \*ब्रह्मसाक्षात्कारः = ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारः । आदिपदाद् विकाराती गृह्येते । \*उपासनायाः = भावनायाः । आवरणमपिधानशब्दार्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—\*प्रतिसीराऽपिहितेति\* ॥ प्रतिसीरावृत्तेत्यर्थः । \*प्रतिसीरा = तिरस्करणी । \*रङ्गव्यापृतः = नटः । तत्र संस्कार्यतायां भावनापराभिधानयोपासनया कर्तव्यायां कर्मणामुपयोग इत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके दृष्टान्ताद् विशेषं दर्शयति—\*एतावांस्त्वित्यादिना\* ॥ तस्मादुपासनया संस्कार्यतायां कर्मापेक्षेति स्थितम् । अत्र संस्कारो न भावनाख्यः, येनानुभवध्वंसपूर्वकता स्यात्, किन्त्वभिव्यक्त्या विलक्षणोऽन्यादृश एवेति द्रष्टव्यम् । परिहरति—\*अत्रोच्यत इति\* ॥ \*ब्रह्मोपासना = ब्रह्मभावना । तां विकल्पयति—\*किमित्यादिना\* ॥ तत्राद्यं दूषयितुमनुवदति—\*यदीति\* ॥ दूषयति—\*किमियमिति\* ॥ इयमभ्यस्यमानाऽप्यनाद्यविद्यां किमुच्छेत्तुमर्हति ? नार्हत्येवेत्यर्थः । कुत इति ? अत आह—\*तत्त्वज्ञानविनिश्चय इति\* ॥ यत इति शेषः । “सवासनमि”त्यतः प्राग् अनाद्यविद्यामिति शेषः । “उन्मूलयेदि”-त्यतः प्राक् चकारोऽध्याहर्तव्यः । तथाच यतस्तत्त्वज्ञानाख्यविनिश्चयस्तदभ्यासो वाऽनाद्यविद्यां सवासनं विपर्यासं च समुन्मूलयेत्, अतः शाब्दज्ञानमात्रसन्ततिरभ्यस्यमानाऽपि नाविद्यां सवासनं विपर्यासं च समुच्छेत्तुमर्हतीत्यर्थः । \*ननु\* शाब्दज्ञानमात्राभ्यासस्यापि तत्त्वज्ञानाभ्यासरूपत्वात् कुतः समुच्छेत्तुं नार्हतीत्याशङ्क्य, शाब्दज्ञानमात्राभ्यासस्य संशयाभ्यासरूपत्वात्, संशय-निश्चयसाधारणसामान्यदर्शनमात्राभ्यासरूपत्वाद्वा न स तदुन्मूलनक्षम इत्याह—\*न संशयेत्यादिना\* ॥ तदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—\*नहीत्यादिना ऋते विशेष-



## भामती

\*ननु\*—उक्तं श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यत इति, तस्मान्निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसंततिरूपोपासना कर्मसहकारिण्यविद्याद्वयोच्छेदहेतुः । नचासावनुत्पादितब्रह्मानुभवा तदुच्छेदाय पर्याप्ता । साक्षात्काररूपो हि विपर्यासः साक्षात्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते, न तु परोक्षावभासेन ; दिङ्मोहालातचक्र-चलद्वृक्ष-मरुमरीचिसलिलादिविभ्रमेष्वपरोक्षावभासिष्वपरोक्षावभासिभिरेव दिगादितत्त्वप्रत्ययैर्निवृत्तिदर्शनात् । नो खल्वाप्तवचन-लिङ्गादिनिश्चितदिगादितत्त्वानां दिङ्मोहादयो निवर्तन्ते । तस्मात् त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः । एतावतैव त्वंपदार्थस्य दुःखि-शोकित्वादिसाक्षात्कारनिवृत्तिः, नान्यथा । नचैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम्, अपि तु प्रत्यक्षस्य ; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्, अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मान्निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्यातद्रूपनिषेधेन तत्पदार्थतामाविर्भावयतीति युक्तम् । नचायमनुभवो ब्रह्मस्वभावः, येन न जन्येत, अपि त्वन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः । नचैतावता ब्रह्मणोऽपराधीनप्रकाशता ।

## श्रुतप्रकाशिका

दर्शनादित्यन्तेन\* ॥ \*आरोहः = उच्छ्रायः । \*परिणाहः = विस्तारपरिमाणम् । द्वितीयं शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अनाद्यविद्या सवासनविपर्यासश्चाविद्याद्वयशब्दार्थः । \*ननु\* अभ्यस्यमाना निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसन्ततिरपि कथमविद्याद्वयमुच्छिन्नात् ? अविद्याद्वयस्यापरोक्षभ्रमरूपत्वेन परोक्षज्ञानादनुच्छेदादित्यत आह—\*नचासाविति\* ॥ \*असौ = निर्विचिकित्सा शाब्दज्ञानसन्ततिः । कुतो न पर्याप्ता ? इत्याशङ्क्य तदेतुं स्वयमेवाह—\*साक्षात्काररूपो हीति\* ॥ एवकारव्यवच्छेद्यं दर्शयति—\*नन्विति\* ॥ परोक्षज्ञानेन कुतो नोच्छिद्यत इति ? अत आह—\*दिङ्मोहेति\* ॥ नौस्थस्य तटगततरुषु चलद्वृक्षभ्रमः । तदुक्तम् “साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेषदर्शनं विरोधि” इति, इत्याह—\*अपरोक्षेति\* ॥ \*दर्शनादिति\* । अपरोक्षज्ञानस्यापरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वदर्शनमुपपाद्य, परोक्षज्ञानस्यापरोक्षभ्रमानिवर्तकत्वाददर्शनमप्युपपादयति—\*नो खल्विति\* ॥ तस्मादात्मन्यज्ञानतत्कार्यदुःखित्व-शोकित्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वाद्यपरोक्षभ्रमनिवर्तनाय त्वंपदार्थ-तत्पदार्थैक्यसाक्षात्कार एषितव्य इत्याह—\*तस्मादिति\* ॥ \*एतावतैव = त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थतासाक्षात्कारेणैव । \*नान्यथा = न प्रकारान्तरेण निवृत्तिरित्यर्थः । \*एष साक्षात्कारः = त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थतासाक्षात्कारः । \*शब्दस्य प्रमाणस्येति\* ॥ शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यादिति भावः । कस्य तर्हि फलम् ? इत्याकाङ्क्षामुद्गावयति—\*अपित्विति\* ॥ उत्तरमाह—\*प्रत्यक्षस्येति\* ॥ प्रत्यक्षप्रमाणस्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*तस्यैवेति\* ॥ प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव साक्षात्कारफलकत्वनियमादित्यर्थः । वैपरीत्ये बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ साक्षात्कारस्य प्रत्यक्षप्रमाणफलत्वमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*अन्तःकरणमन्तरिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः । \*अतद्रूपनिषेधेन = अभेदविरोधितया प्रतीयमानदुःखित्व-शोकित्व-कर्तृत्वादिभ्रमनिरासेनेत्यर्थः । \*आविर्भावयति = साक्षात्कारयति, तद्विषयकसाक्षात्कारमुत्पादयतीति यावत् । केवलान्तःकरणस्य शुद्धब्रह्मसाक्षात्काराजनकत्वेऽपि भावनानासंस्कृतस्य तस्य तदस्तीति हृदयम् । \*ननु\* अस्य साक्षात्कारस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे कथं तदुत्पाद इति ? अत आह—\*नचेति\* ॥ \*अनुभवः = साक्षात्कारः । कोऽयं तर्ह्ययं साक्षात्कार इति ? अत आह—\*अपित्विति\* ॥ \*वृत्तिभेद इति\* । अखण्डाकारवृत्तिलक्षण इत्यर्थः । \*ननु\* वृत्तिरूपसाक्षात्कारविषयत्वे ब्रह्मणः पराधीनप्रकाशतया स्वप्रकाशत्वं हीयेतेत्यत्राह—\*नचैतावतेति\* ॥ \*शाब्दज्ञानप्रकाश्यम् = शब्दजन्याखण्डाकारवृत्तिप्रकाश्यम् । अन्तःकरणजन्यायामखण्डाकारवृत्तौ शब्दस्यान्तःकरणसहकारित्वात् शाब्दज्ञानेत्युक्तम् । यद्यपि शब्दस्य स्वतोऽपरोक्षज्ञानजनकत्वं नास्त्येतन्मते ; तथाऽप्यपरोक्षज्ञानजनकान्तः-



## भामती

नहि शाब्दज्ञानप्रकाश्यं ब्रह्म स्वयंप्रकाशं न भवति । सर्वोपाधिरहितं हि स्वयंज्योतिरिति गीयते, न तूपहितमपि । \*यथाऽऽह स भगवान् भाष्यकारः—“नायमेकान्तेनाविषयः” इति ॥ नचान्तः-करणवृत्तावप्यस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिविनिर्मोकः ; तस्यैव तदुपाधेर्विनश्यदवस्थस्य स्वपरोपाधिविरोधिनो विद्यमानत्वात्, अन्यथा चैतन्यच्छायापत्तिं विनाऽन्तःकरणवृत्तेः स्वयमचेतनायाः स्वप्रकाशत्वानुपपत्तौ साक्षात्कारत्वायोगात् । नचानुमित-भावितवह्निसाक्षात्कारवत् प्रतिभासत्वेनास्याप्रामाण्यम् ; तत्र वह्निस्वलक्षणस्य परोक्षत्वात्, इह तु ब्रह्मरूपस्योपाधिकलुषितस्य जीवस्य प्रागप्यापरोक्ष्यात् । नहि शुद्ध-बुद्धत्वादयो वस्तुतोऽतिरिच्यन्ते । जीव एव तु तत्तदुपाधिरहितः शुद्ध-बुद्धादिस्वभावो ब्रह्मेति गीयते । नच तत्तदुपाधिविरहोऽपि ततोऽतिरिच्यते । तस्माद् यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहित-

## ऋजुप्रकाशिका

करणसहकारित्वमस्तीति द्रष्टव्यम् । \*स्वप्रकाशं न भवतीति\* ॥ “द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं नियमयतः” इति न्यायात् स्वप्रकाशं भवत्येवेत्यर्थः । शाब्दज्ञानप्रकाश्यत्वे कथं स्वप्रकाशत्वमिति ? अत आह—\*सर्वेति\* ॥ \*स्वयं-ज्योतिः = स्वप्रकाशम् । \*नत्विति\* ॥ यद्यप्युपहितमपि स्वरूपरूपेण स्वप्रकाशमेव ; तथाऽप्युपहितत्वविशिष्टवेपेण न स्वयंज्योतिः, किंतु वृत्तिप्रकाश्यमित्यर्थः । तत्र भाष्यकारसम्मतिमाह—\*यथाहेति\* ॥ \*अयम् = वस्तुतो ब्रह्माभिन्न आत्मा \*एकान्तेन = सर्वात्मना \*अविषयो न, किन्तु अहमाकारवृत्तिलक्षणास्मत्प्रत्ययविषय एवेत्यर्थः । अत एवोक्तं भाष्यकृता—\*अस्मत्प्रत्ययविषयत्वादिति\* ॥ \*ननु\* अखण्डाकारान्तःकरण-वृत्तिलक्षणसाक्षात्कारविषयस्य ब्रह्मणः सर्वोपाधिरहिततया स्वयंप्रकाशत्वेन वृत्तिप्रकाश्यत्वमयुक्तमित्यत आह—\*नचेति\* ॥ “अन्तःकरणवृत्तावि”त्येतत् “साक्षात्कारे” इत्यस्य विशेषणम् । \*अस्य = ब्रह्मणः । सर्वोपाध्य-विनिर्मोके हेतुमाह—\*तस्यैवेति\* ॥ अखण्डाकारान्तःकरणवृत्तिलक्षणसाक्षात्कारस्यैवेत्यर्थः । \*तदुपाधेः = ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बग्राह्युपाधेः । \*अन्यथेति\* ॥ उक्तोपाधेश्चैतन्यप्रतिबिम्बग्राहत्वाभाव इत्यर्थः । यत्तूक्तं यथाऽनुमितवह्निं भावयतो वह्निसाक्षात्कारो न प्रमाणान्तरेण संवाद्यते ; विसंवादस्य बहुलमुपलब्धेः, तथाऽ-त्तेति, तद् दूषयति—\*नचानुमितेत्यादिना\* ॥ परोक्षत्वादिति\* ॥ तथाच परोक्षवह्निगोचरसाक्षात्कारो जायमानोऽपि न प्रमाणमित्युचितमित्यर्थः । वह्नयनुमित्यनन्तरं तद्भावनानन्तरं च प्रवृत्तस्य वह्नयभावदर्शनेन विसंवादात् परोक्षानुमितिगोचरवह्निसाक्षात्कारः प्रमाभूतः प्रमाणान्तरेण नैव जायत इति वार्थः । न तथाऽत्रेत्याह—\*इह त्विति\* ॥ “जीवस्य प्रागप्यापरोक्ष्यादि”त्येतदविसंवादाच्चेत्यस्याप्युलक्षणम् । अस्तु जीव-स्यापरोक्ष्यमविसंवादश्च, तावता तद्भावनात् कथं शुद्ध-बुद्धाद्वितीयाखण्डानन्दब्रह्मसाक्षात्कारः ? ब्रह्मणस्ततो भिन्नत्वादिति शङ्कमानं प्रत्याह—\*नहि शुद्ध-बुद्धत्वादय इत्यादिना\* ॥ \*ततः = जीवचिन्मात्रस्वरूपात् । \*ननु\* तत्तदुपाधिविरहोऽपि किं सत्यः ? असत्यो वा ? अन्त्य उपाधिविरहस्यासत्यत्व उपाधेः सत्यत्वेन तस्य ब्रह्मणोऽतिरेकादद्वैतहानिः, आद्येऽपि उपाधिविरहस्य सत्यस्य ब्रह्मणो भेदेऽद्वैतहानिः, इत्याशङ्क्य, तत्तदुपाधिविरहः सत्य एव, नचाद्वैतहानिः ; तस्य ब्रह्मानतिरेकात्, इत्याह—\*नच तत्तदिति\* ॥ \*ततः = ब्रह्मणः । पूर्वोक्तशङ्कामुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ निषादर्षभ-गान्धार-षड्ज-

## भाष्यभावप्रकाशिका

कारणं ब्रह्मजिज्ञासायाम् ; यतः पुनरर्थनिर्णयः, सोऽप्यन्यविषयत्वान्नात्र प्रवृत्तौ हेतुः । नापि प्रतिपत्तौ धर्म-ब्रह्मणोः ; संबन्धानिरूपणाद्, नापि कर्मणामुपयोगः ; अधिकारपरम्परया सञ्चितपापविलयेन वोपयोगा-सम्भवात्, प्रमाणाभावाच्च, ऋणापाकरणद्वारेण वोपयोगसंभवेऽपि समानजन्मानुष्ठितानामेवोपयोग इति नियन्तुमशक्यत्वात्, ऋणापाकरणस्य “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि”त्यादिश्रुतिविरोधादेतज्जन्म-



## भामती

संस्कारसचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वरग्राममूर्च्छनाभेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहित-  
संस्कारो जीवस्य ब्रह्मभावमन्तःकरणेनेति । अन्तःकरणवृत्तौ ब्रह्मसाक्षात्कारे जनयितव्येऽस्ति तदुपास-  
नायाः कर्मापेक्षेति—चेत्, न ; तस्याः कर्मानुष्ठानेन सहभावाभावेन तत्सहकारित्वानुपपत्तेः । न  
खलु “तत्त्वमसि” इत्यादेर्वाक्याद् निर्विचिकित्सं शुद्ध-बुद्धोदासीनस्वभावमकर्तृत्वाद्युपेतमपेतब्राह्मणत्वा-  
दिजातिं देहाद्यतिरिक्तमेकमात्मानं प्रतिपद्यमानः कर्मस्वधिकारमवबोद्धुमर्हति । अनर्हश्च कथं कर्ता  
वाऽधिकृतो वा ? \*यद्युच्येत\*—निश्चितेऽपि तत्त्वे विषयाध्यासनिबन्धनो व्यवहारोऽनुवर्तमानो दृश्यते,  
यथा गुडस्य माधुर्यविनिश्चयेऽपि पित्तोपहतेन्द्रियाणां तिक्तावभासानुवृत्तिः ; आस्वाद्य थूक्तृत्य त्यागात्,  
तस्मादविद्यासंस्कारानुवृत्त्या कर्मानुष्ठानम्, तेन च विद्यासहकारिणा तत्समुच्छेदश्चोपपत्स्यते ।  
नच—कर्माविद्यात्मकं कथमविद्यामुच्छिनत्ति ? कर्मणो वा तदुच्छेदकस्य कुत उच्छेदकम् ? इति—  
वाच्यम् ; सजातीयानां स्व-परविरोधिनां भावानां बहुलमुपलब्धेः । यथा—पयः पयोऽन्तरं जरयति,  
स्वयं च जीर्यति ; यथा—विषं विषान्तरं शमयति, स्वयं च शाम्यति ; यथा वा—कतकरजो  
रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति ;  
एवं कर्माविद्यात्मकमप्यविद्यान्तराण्युपशमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति, \*अत्रोच्यते\*—सत्यम् ; “सदेव  
सोम्येदम्” इत्युपक्रमात् “तत्त्वमसि” इत्यन्ताच्छब्दाद् ब्रह्ममीमांसोपकरणादसकृदभ्यस्ताद् निर्विचि-

## ऋजुप्रकाशिका

मध्यमधैवत-पञ्चमाः स्वराः । एषां समूहो ग्रामः । मूर्च्छना त्वेषामारोहावरोहौ । “अन्तः-  
करणवृत्तावि”त्येतद् “ब्रह्मसाक्षात्कारे” इत्यस्य विशेषणम् । शङ्कामपनयति—\*तस्या इति\* ॥ उपासनाया  
इत्यर्थः । \*तत्सहकारीति\* ॥ कर्मसहकारीति ॥ तत्त्वानुपपत्तेरित्यर्थः । उपासनायाः कर्मानपेक्षत्वमेव  
ब्रूयति—\*न खल्विति\* ॥ “तत्त्वमसि” इत्यादेः इत्येतद् “वाक्यादि”त्यस्य विशेषणम् । \*प्रतिपद्यमानः =  
जानानः । नजोऽर्हतीत्यनेन संबन्धः । एवं जानानः कर्मस्वधिकारमेव बोद्धुं नार्हत्येवेत्यर्थः । अनर्हश्चेत्  
किम् ? तत्राह—\*अनर्हश्चेति । अधिकृतो वेति\* ॥ \*अधिकृतो वा कथमित्यर्थः । आत्मनः शुद्ध-बुद्ध-  
कर्तृत्वाधिकारित्वाद्यपेताद्वितीयब्रह्मतत्त्वरूपेण “तत्त्वमसि” इत्यादिवाक्यान्निश्चितत्वेन कर्तृत्वाधिकारित्वादि-  
विपर्यास-तद्व्यवहाराणामभावादिति भावः । \*ननु\* दृश्यत एव तत्त्वनिश्चयेऽपि दोषवशाद् विपर्यास-तद्व्यव-  
हारादिः, तथाऽत्रापि स्यादित्युमिप्रायेण शङ्कते—यद्युच्येतेत्यादिना\* ॥ “दृश्यते” इत्यनन्तरं दोष-  
वशादिति शेषः । दृश्यमानत्वमेवोदाहरणमुखेनाह—\*यथा गुडस्येति । पित्तोपहतेति\* ॥ पित्तदोषोपहते-  
त्यर्थः । तिक्तावभासानुवृत्तिमेव स्फोरयति—\*आस्वाद्येति\* ॥ त्यागादिति\* ॥ \*गुडादेरिति शेषः । उप-  
संहारव्याजेन प्रकृतेऽपि तदाह—\*तस्मादिति\* ॥ \*अविद्यासंस्कारानुवृत्त्या = तेनानुष्ठितकर्मणा । \*तत्स-  
मुच्छेदश्च = अविद्या-तत्संस्कार-कर्मसमुच्छेदश्च । \*ननु\* कर्मणोऽविद्यात्मकस्य कथमविद्यासमुच्छेदकत्वम् ? कथं  
च स्वोच्छेदकत्वमित्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥ निराकरणप्रकारमेवाह—\*सजातीयानामिति\* ॥ स्व-पर-  
विरोधिनां स्वपरोच्छेदिनामुपलम्भमेव दर्शयति—\*यथा पय इत्यादिना\* । तथा चोपासनायाः कर्मापे-  
क्षेति शङ्कायां स्थितायामस्याः शङ्कायाः परिहार उच्यत इत्याह—\*अत्रोच्यत इति\* ॥ यद्येवमुच्येत,  
तदाऽन्तोच्यते परिहार इत्यर्थः । तत्त्वनिश्चयेऽपि विपर्यासस्तन्निबन्धनो व्यवहारश्चानुवर्तमानो दृश्यत  
इत्युक्तमङ्गीकरोति—\*सत्यमित्यादिना व्यवहाराश्चेत्यन्तेन\* ॥ तर्हि तदुच्छेदकत्वेन तदापेक्षोपासनोक्ता न

## भाष्यभावप्रकाशिका

न्यवानुष्ठेयत्वकथनासंभवाज्जन्मान्तरानुष्ठितानामपि कर्मणामुपकारित्वसंभवात्, नैयोगिके फले काल-



भामती

किंत्सेऽनाद्यविद्योपादानदेहाद्यतिरिक्तप्रत्यगात्मतत्त्वबोधे जातेऽप्यविद्यासंस्कारानुवृत्तावनुवर्तन्ते सांसारिकाः प्रत्ययास्तद्व्यवहाराश्च ; तथाऽपि तानप्ययं व्यवहारप्रत्ययान् 'मिथ्ये'ति मन्यमानो विद्वान् न श्रद्धते, पित्तोपहतेन्द्रिय इव गुडं थूक्त्य त्यजन्नपि तस्य तिक्तताम् । तथाचायं क्रिया-कर्तृ-करणेति कर्तव्यता-फलप्रपञ्चमतात्त्विकं विनिश्चिन्वन् कथमधिकृतो नाम ? विदुषो ह्यधिकारः ; अन्यथा पशु-शूद्रादीनामप्यधिकारो दुर्वारः स्यात् । क्रिया-कर्त्रादिस्वरूपविभागं च विद्वस्यमान इह विद्वानभिमतः कर्मकाण्डे । अत एव भगवानविद्वद्विषयत्वं शास्त्रस्य वर्णयांबभूव भाष्यकारः । तस्माद् यथा राजजातीयाभिमानकर्तृके राजसूये न विप्र वैश्यजातीयाभिमानिनोरधिकारः, एवं द्विजातिकर्तृ-क्रिया-करणादिविभागाभिमानिकर्तृके कर्मणि न तदनभिमानिनोऽधिकारः । नचानधिकृतेन समर्थेनापि कृतं वैदिकं कर्म फलाय कल्पते ; वैश्यस्तोम इव ब्राह्मण-राजन्याभ्याम् । तेन दृष्टार्थेषु कर्मसु शक्तः प्रवर्तमानः प्राप्नोतु फलम् ; दृष्टत्वात्, अदृष्टार्थेषु तु शास्त्रैकसमधिगम्यं फलमनधिकारिणि न युज्यते, इति नोपासनायाः कार्ये कर्मापेक्षा ।

ऋजुप्रकाशिका

परिहृतेत्यत आह—\*तथापीति\* ॥ \*अयम् = विद्वान्, उक्तप्रत्यगात्मतत्त्वबोधवान् । तत्र दृष्टान्तमाह—\*पित्तेति\* ॥ गुडमाधुर्यतत्त्वनिश्चयवान् यथा पित्तदोषाद् गुडस्य तिक्ततामधिगत्य गुडं त्यजन्नपि न तिक्ततां श्रद्धते, एवमुक्तप्रत्यगात्मतत्त्वबोधवानविद्या-तत्संस्कारदोषाद् जायमानानपि सांसारिकप्रत्ययान् व्यवहारांश्च मिथ्येति मन्यमानस्तान् न श्रद्धत इत्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*तथाचेति\* ॥ \*अयम् = उक्तप्रत्यगात्मतत्त्वबोधवान् । सोऽप्यधिकृतोऽस्तु, को दोषः ? इत्याशङ्कते—\*विदुषो हीति\* ॥ \*अस्य सहकारिताप्रयोजकविद्वत्ता नास्तीत्यर्थः । अविदुषोऽप्यधिकारे किं बाधकम् ? इत्याशङ्क्याविदुषोऽधिकारे बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ अयमप्यधिकारित्वप्रयोजकविद्यावान् वा ? न वा ? इत्यत आह—\*क्रिया-कर्त्तादीति\* ॥ विद्वस्यमानः = अविद्वानेव विद्वान् भवन् विद्वस्यमानः ॥ “विद्वस्यमानः” इत्यनन्तरमुक्तप्रत्यगात्मतत्त्वमविद्वानिति शेषः । इहेत्यस्य विवरणम्—“कर्मकाण्डे” इति । अत एव कर्मकाण्डादिपूर्वमीमांसादिशास्त्रस्योक्तप्रत्यगात्मतत्त्वानभिज्ञाविद्वदधिकारित्वं भगवान् भाष्यकारोऽपि वर्णितवानित्याह—\*अत एव भगवानित्यादिना\* ॥ तस्मात् प्रत्यगात्मतत्त्वं विदुषः कर्ममिथ्यात्वनिश्चयेन कर्मसु श्रद्धाऽभावाद् न कर्मस्वधिकारः, इत्युपासनायाः कार्ये न कर्मापेक्षेत्यभिसन्धाय, अस्य तेष्वनधिकारं पूर्वोक्तं सहष्टान्तमुपसंहरति—\*तस्माद्यथेत्यादिना\* ॥ \*ननु\* अनधिकारित्वेऽपि समर्थेनानधिकारिणा कृतं कर्म फलाय भूयादेवेति शङ्कमान प्रत्याह—\*नचानधिकृतेनेति\* ॥ अनधिकारिणा । ‘अविधिना कृतमकृतमिति निर्णयादिति भावः । दृष्टान्तमाह—\*वैश्यस्तोमनामको यागो यथा फलाय नावकल्पते, तथेत्यर्थः । \*ननु\* दृष्टफलकेषु कर्मस्वनधिकारी शक्तः प्रवर्तमानो यथा फलं लभते, तथाऽदृष्टफलकेष्वपि कर्मस्वनधिकारी प्रवर्तमानो लभत एव फलम्, इति कस्यचित् पूर्वापरपर्यालोचनविधुरस्य शङ्कायामाह—\*तेनेत्यादिना\* ॥ \*अनधिकारिणि न युज्यत इति\* ॥ अनधिकारिणा कृतमकृतम्, तच्च फलाय नावकल्पत इति निर्णयादिति भावः । \*नोपासनायाः कार्ये कर्मापेक्षेति\* । उपासनया कर्ममिथ्यात्वनिश्चयेन कर्मश्रद्धाऽभावेन कर्मानुष्ठानाभावाद् न कर्माण्युपासनासमुचितान्युपासनाकार्ये साक्षात्कार उपयुज्यन्ते । नच—ब्रह्मभावनापराभिधानब्रह्मोपासनानन्तरं कर्मानुष्ठानाभावेऽपि तत्पूर्वमेतज्जन्मन्यनुष्ठितानां कर्मणां संस्कारद्वारोपासनाकार्ये साक्षात्कार उपयोगोऽस्त्विति—वाच्यम् ; तेषां कर्मणां संस्कारद्वारा विविदिषायां वा चित्तशुद्धौ बोपयोगेनोपासनाकार्यं उपयोगायोगादिति हृदयम् । ब्रह्मभावनापरिपक्वचित्तस्य मनुष्याभिमानाभावात् तस्य कर्मस्वनधिकार इति पूर्व-

भाष्यभावप्रकाशिका

नियमाभावात् । अतो ज्ञाताज्ञातानेकजन्मव्यवहितफलहेतुषु कर्मसु फलप्रवृत्तिसमकालप्रतिपत्त्यनपेक्षेण



भामती

\*स्यादेतत्\*—मनुष्याभिमानवदधिकारिके कर्मणि विहिते यथा तदभिमानरहितस्यानधिकारः, एवं निषेधविधयोऽपि मनुष्याधिकाराः, इति तदभिमानरहितस्तेष्वपि नाधिक्रियेत, पश्चादिवत् । तथाचायं निषिद्धमनुतिष्ठन् न प्रत्यवेयात् तिर्यगादिवत्, इति भिन्नकर्मतापातः, \*मैवम्\* ; न खल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः, किं त्वविद्यासंस्कारानुवृत्त्याऽस्य मात्रया केवलं तदभिमानोऽनुवर्तते । अनुवर्तमानं चायं 'मिथ्ये'ति मन्यमानो न श्रद्धान इत्युक्तम् । किमतो यद्येवम्? एतदतो भवति—विधिषु श्राद्धोऽधिकारी, नाश्राद्धः । ततश्च मनुष्याद्यभिमानेनाश्रद्धानो न विधिशास्त्रेणाधिक्रियते । तथाच स्मृतिः—“अश्रद्धया हुतं दत्तम्” इत्यादिका । निषेधशास्त्रं तु न श्रद्धामपेक्षते, अपि तु निषिध्य-

ऋतुप्रकाशिका

लोक्तप्रायम्, तत्रातिप्रसङ्गं शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ \*तदभिमानरहितस्य = मनुष्याभिमानरहितस्य । \*एवमिति\* ॥ विहितकर्माणि यथा मनुष्याभिमानवदधिकाराणि, एवं “न कलञ्जं भक्षयेत्”, “न सुरां पिबेत्”, इत्यादिनिषेधविधयोऽपि मनुष्याभिमानवदधिकारा इत्यर्थः । \*तदभिमानरहितः = मनुष्याभिमानरहितः । \*तेष्वपि = निषिद्धकर्मस्वपि ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—\*पश्चादिवदिति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*तथाचेति\* ॥ \*अयम् = भावनापरिपक्वचित्तो मनुष्याभिमानशून्यः । \*निषिद्धम् = निषिद्धकर्म । तत्रापि दृष्टान्तमाह—\*तिर्यगादिवदिति\* ॥ \*भिन्नेति\* । मनुष्याभिमान्यपेक्षया विलक्षणकर्मवत्तापत्तिरित्यर्थः । नचेष्टापत्तिः ; तथाऽ-ननुभवादिति भावः । समाधत्ते—\*मैवमिति\* ॥ \*अयम् = ब्रह्मभावनापरिपक्वचित्तः, \*अस्य = ब्रह्मभावना-परिपक्वचित्तस्य । \*मात्रया = लेशेन । \*तदभिमानः = मनुष्याभिमानः । केवलमित्येतद् “अनुवर्तते” इत्यनेन सम्बध्यते । तथाच केवलमनुवर्तते परम्, न विहितकर्मानुष्ठानपरः ; श्रद्धाभावात्तस्येत्यर्थः । तस्य श्रद्धाऽ-भाव उक्त एवेत्याह—\*अयमिति\* ॥ ब्रह्मभावनापरिपक्वचित्तो लेशतोऽनुवर्तमानं च मनुष्याभिमानं तत्सां-सारिकप्रत्ययकार्यं कर्मादि च मिथ्येति मन्यमानो न श्रद्धत इत्युक्तमित्यर्थः । \*किमत इति\* ॥ \*एवं यदि\* उपर्युक्तप्रकारं यतोऽतः किमिति योजना । अत एतद् भवतीत्याह—\*एतदिति\* ॥ एतच्छब्दार्थ-माह—\*विधिष्विति\* ॥ विहितकर्मस्वित्यर्थः । \*श्राद्धः = श्रद्धावान् । \*अश्राद्धः = अश्रद्धावान् । ततः किमिति ? अत आह—\*ततश्चेति\* ॥ तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—\*तथाच स्मृतिरिति\* ॥ विधिशास्त्राद् निषेधशास्त्रस्य वैषम्यमाह—\*निषेधशास्त्रमिति\* ॥ निषेधशास्त्रं प्रवर्तत इत्यत आह—\*अपित्विति\* ॥

वार्तिकम्

तदङ्गीकुर्मः । नैतावता कर्मावबोधानन्तर्यं ब्रह्मजिज्ञासायाः सिध्यति । कथम् ? इत्थम् ; चित्तदर्पण-मलापसारणद्वारैव हि कर्मणां ज्ञानसाधनत्वं वाच्यम्, न साक्षात् ; अदृष्टद्वारा वा ; प्रमाण-वस्तुभ्यामेव तदुत्पत्तिदर्शनात्, दृष्टसामग्र्यामदृष्टविलम्बेन दृष्टकार्यविलम्बादर्शनाच्च । नच—एवं “सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि”ति न्यायविरोधः ; पापक्षयद्वारैव सर्वापेक्षोक्तेस्तद्विरोधात् । \*एतेन\*—संस्कार-पक्षोऽपि—\*व्याख्यातः\* ; अन्तःकरणमलापसारणरूपसंस्कारस्यैव तेन शास्त्रेणामिहितत्वात् । \*एतेन\*—ऋणापाकरणद्वारम्—\*प्रत्याख्यातम्\* ; “ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्” “यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्” इत्यादिप्रत्यक्षशास्त्रविरोधेन “जायमानो वै ब्राह्मणः” इत्यन्यार्थदर्शनस्य देवताधिकरणन्यायेनापि स्वार्थ-परत्वासंभवेन “यजमानः प्रस्तरः” इतिवद् गुणवादत्वात्, अविरक्तमधिकृत्य प्रवर्तनाद्वा । यत्तु शाब्दबोधजनितभावनासहकारितया कर्मणां साक्षात्कारहेतुत्वमिति, तदपि मन्दम् ; स्वरूपसाक्षात्कारस्य

भार्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मज्ञानफलकविचारप्रवृत्त्यधिकारोपाधितया पूर्वक्षणेऽपि प्रतिपत्तव्याधिकारिविशेषणत्वायोगाच्च न तत्प्रति-पत्त्यर्थोऽथशब्द इति भावः ॥



## भामती

मानक्रियोन्मुखो नर इत्येव प्रवर्तते । तथाच सांसारिक इव श्रद्धावगतब्रह्मतत्त्वोऽपि निषेधमतिक्रम्य प्रवर्तमानः प्रत्यवैति, इति न भिन्नकर्मदर्शनाभ्युपगमः । तस्मान्नोपासनायाः कार्ये कर्मापेक्षा । अत एव नोपासनोत्पत्तावपि । निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालमनधिकारः कर्मणीत्युक्तम् । तथाच श्रुतिः—“न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः” । तत् किमिदानीमनुपयोग एव सर्वथेह कर्मणाम् ? तथाच “विविदिषन्ति यज्ञेन” इत्याद्याः श्रुतयो विरुध्येरन्, न ; आरादुपकार-कत्वात् कर्मणां यज्ञादीनाम् । तथाहि—तमेतम् = आत्मानं वेदानुवचनेन = नित्यस्वाध्यायेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति = वेदितुमिच्छन्ति, नतु विदन्ति ; वस्तुतः प्रधानस्यापि वेदनस्य प्रकृत्यर्थतया शब्दतो गुणत्वात्, इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात्, प्रधानेन च कार्येण संप्रत्ययात् । नहि ‘राजपुरुष-मानये’त्युक्ते वस्तुतः प्रधानोऽपि राजा पुरुषविशेषणतया शब्दत उपसर्जन आनीयते, अपितु पुरुष एव ; शब्दतस्तस्य प्राधान्याद् । एवं वेदानुवचनस्येव यज्ञस्यापीच्छासाधनतया विधानम् । एवं तपसोऽ-

## ऋजुप्रकाशिका

निषिध्यमानक्रियोन्मुखं नरं निषिद्धक्रियातो निवर्तयितुं प्रवर्तत इत्यर्थः । यत्तुक्तम्—‘निषिद्धमनुतिष्ठन्न प्रत्यवेयाद्’ इत्यादि, तदितो निरस्तमित्याह—\*तथाच सांसारिक इवेति\* ॥ श्रद्धाऽभावेऽप्युक्तविधया विदितब्रह्मतत्त्वस्यापि निषेधशास्त्रेऽधिकारादिति भावः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ उपासनायाः स्वरूपे कर्मापेक्षेति द्वितीयकल्पोऽप्यत एवापास्त इत्याह—\*अत एव नोपासनोत्पत्तावपीति\* ॥ कर्मापेक्षेत्यनुपङ्गः । अतः शब्दसूचितं हेतुमाह—\*निर्विचिकित्सेति\* ॥ किं निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानानन्तरभाविनां कर्मणां तादृशज्ञानाभ्यासलक्षणाया भावनापराभिधानाया उपासनाया उत्पत्तौ उपयोगः ? तत्पूर्वभाविनां वा ? नान्त्यः ; तेषां संस्कारद्वाराऽन्यतैवोपयोगस्योक्तत्वात्, नाद्यः ; निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानोत्तरकालं कर्मण्यनधिकारादित्युक्तत्वादित्यभिप्रायः । कर्मानपेक्षायां श्रुतिप्रमाणमप्याह—\*तथाच श्रुतिरित्यादिना\* ॥ संस्कारद्वारा विविदिषायां चित्तशुद्धौ वा कर्मणामुपयोगमुक्तमज्ञात्वा शङ्कते—\*तत्किमिति\* ॥ कर्मणां विविदिषादावुक्तमुपयोगं ज्ञापयन् परिहरति—\*न ; आरादित्यादिना\*—\*तथाहीत्यतः प्राक्तनेन\* ॥ \*आरात् = दूरे । उक्तविधया विविदिषादिद्वारा परम्परया यज्ञादीनां कर्मणामुपकारादित्यर्थः । एतदेव प्रपञ्चयति—\*तथाहीत्यादिना\* ॥ वेदानुवचन-यज्ञ-दानादिकर्मणां पुरुषसंस्काराधानक्षमाणां विविदिषाद्वारोपयोगे “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” इति श्रुतिः प्रमाणम् । तच्छ्रुत्यर्थमाह—\*तमेतमात्मानमित्यादिना\* ॥ \*वस्तुतः = अर्थतः । \*गुणत्वात् = अप्रधानत्वात् । अस्तु वेदनस्य शब्दतोऽप्राधान्यम्, इच्छायाश्च शब्दतः प्राधान्यम्, ततः किमिति ? अत आह—\*प्रधानेन चेति\* ॥ \*प्रधानेन = वेदनेच्छारूपेण । \*कार्येण संप्रत्ययात् = यज्ञानां करणत्वेनान्वयादित्यर्थः । अर्थतः प्रधानेन नान्वयः, किंतु शब्दतः प्रधानेनैवान्वय इत्येतन्निर्दर्शनमुखेन द्रढयति—\*नहीति\* ॥ \*वस्तुतः = अर्थतः । पुरुष एवेत्यनन्तरमानीयत इत्यनुपङ्गः । ‘तत्र हेतुमाह—\*शब्दत इति\* ॥ \*तस्य = पुरुषस्य । निदर्शनमुपपाद्य प्रकृते यज्ञादीनां प्रधानीभूतेच्छायां साधनतयाऽन्वयं दर्शयति—\*एवं च वेदानुवचनस्येवेत्यादिना\* ॥ तपः-

## वार्तिकम्

नित्यत्वेनाजन्यत्वात्, वृत्तिरूपसाक्षात्कारस्यापि प्रमाण-वस्तुजन्यतया कर्मसहकारिभावनाजन्यत्वानुपपत्तेः, अन्यथा योषित्यग्निभावनासाक्षात्कारवद् भावनामात्रजन्यत्वेनाप्रमाणत्वापत्तेः । शब्दप्रमाणमूलत्वाच्चैवमिति चेत्, नैवम् ; तत् किं शाब्दज्ञानं परोक्षम् ? अपरोक्षं वा ? यद्भावेनाऽपरोक्षात्मसाक्षात्कारं जनयति । नाद्यः ; परोक्षज्ञानभावनयाऽपरोक्षज्ञानोत्पत्तेरदर्शनात् । नहि बह्व्यनुमितिं प्रवाहीकुर्वन् तदनुमिति-प्रवाहेण तत्संस्कारैर्वा बहिः साक्षात्करोति कश्चित् । कुर्वन् वा श्रुतमात्रसाक्षात्कारवत् तत्प्रामाण्य-



## भामती

नाशकस्य । कामानशनमेव तपः । हित-मित-मेध्याशिनो हि ब्रह्मणि विविदिषा भवति, नतु सर्वथाऽ-  
नश्नतः ; मरणात्, नापि चान्द्रायणादितपःशीलस्य ; ततो धातुवैषम्यापत्तेः । एतानि च नित्यान्यु-  
पात्तदुरितनिवर्हणेन पुरुषं संस्कुर्वन्ति । तथाच श्रुतिः—“स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मेऽनेनाङ्गं  
संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपचीयते” इति । अनेनेति प्रकृतं यज्ञादि परामृशति । स्मृतिश्च—  
“यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः” इति । नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानप्रक्षीणकल्मषस्य च विशुद्धसत्त्वस्याविदुष  
एवोत्पन्नविविदिषस्य ज्ञानोत्पत्तिं दर्शयत्याथर्वणी श्रुतिः—“विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं  
ध्यायमानः” इति । स्मृतिश्च—“ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः” इत्यादिका । क्लृप्तेनैव  
च नित्यानां कर्मणां नित्येहितेनोपात्तदुरितनिवर्हणेन पुरुषसंस्कारेण ज्ञानोत्पत्तावङ्गभावोपपत्तौ संयोग-  
पृथक्त्वेन न साक्षादङ्गभावो युक्तः ; कल्पनागौरवापत्तेः । तथाहि—नित्यकर्मानुष्ठानाद् धर्मोत्पादः, ततः  
पाप्मा निवर्तते । स ह्यनित्याशुचि-दुःखरूपे संसारे नित्य-शुचि-सुखस्यातिलक्षणेन विपर्ययेन चित्तसत्त्वं  
मलिनयति । अतः पापनिवृत्तौ प्रत्यक्षोपपत्तिद्वारापावरणे सति प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारस्यानित्याशुचि-

## ऋजुप्रकाशिका

शब्दार्थमाह—\*कामानशनमेवेति\* ॥ हित-मित-मेध्याशनमेवेत्यर्थः । एवंविधस्य तपसो विविदिषायामुपयोगः  
स्फुट इत्याह—\*हित-मित-मेध्याशिनो हीति\* ॥ \*ननु\* सर्वथाऽनशनमेव तपोऽस्तु, तस्यैव विविदिषायामुप-  
योगोऽस्त्वित्याशङ्क्य, नेत्याह—\*नत्विति\* ॥ “अनश्नतः” इत्यनन्तरं विविदिषा भवेदित्यनुषङ्गः । सर्वथाऽ-  
नश्नतो विविदिषा न भवतीत्यत्र हेतुमाह—\*मरणादिति\* ॥ तर्हि चान्द्रायणादिकं तपः, तद्वतो विविदि-  
षेति शङ्कायामाह—\*नापीति\* ॥ चान्द्रायणादिकं तच्छब्दार्थः । \*धातुवैषम्येति\* ॥ अतस्तद्वतोऽपि  
न विविदिषेत्यर्थः । वेदानुवचनादीनां विविदिषादौ साक्षादनुपयोगात् संस्कारद्वारा स इत्यभिप्रेत्याह—  
\*एतानीति\* ॥ वेदानुवचन-यज्ञ-दान तपांसीत्यर्थः । तत्र श्रुतिप्रमाणमाह—\*तथाच श्रुतिरित्यादिना\* ॥  
\*अनेन=यज्ञादिकर्मणा, इदम्, मे = मम, \*अङ्गम् = अन्तःकरणम्, \*संस्क्रियते = क्षीणपापं क्रियते, \*अनेन  
= पुण्येन कर्मणा, इदम्, \*मे = मम, \*अङ्गमुपचीयते, इति यो विदित्वा कर्म चरति \*सः = आत्मशुद्ध्यर्थं  
यजन्नात्मयाजी, न तु देवयाजी । स काम्यकर्तुः श्रेयानिति शातपथश्रुत्यर्थः । श्रुतौ—“अनेने”ति पदं प्रकृतत्वाद्  
यज्ञादि परामृशतीत्याह—\*अनेनेतीति\* ॥ तथाच संस्कारकत्वं यज्ञादीनामिति भावः । स्मृतिश्चात्र प्रमाण-  
मित्याह—\*स्मृतिश्चेति\* ॥ श्रुत्यन्तरमाह—\*नित्येति\* ॥ आथर्वणश्रुत्या चित्तशुद्धिरपि कर्मणां फलमिति  
सूचितम्, तत्र स्मृतिमप्याह—\*स्मृतिश्चेति\* ॥ केचिद् ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादिनः कर्मणां ज्ञानसमुच्चितानां  
मोक्षहेतुत्वं वर्णयन्ति, तन्मतं प्रसङ्गादपाकरोति—\*क्लृप्तेनैव चेति\* ॥ \*संयोगपृथक्त्वेन = “एकस्य तूभयार्थत्वे  
संयोगपृथक्त्वम्”, तेन ; तन्न्यायेनेत्यर्थः । \*न साक्षादङ्गभावो युक्तः\* ॥ मोक्ष इति शेषः ।  
साक्षादङ्गभावे दोषमाह—\*कल्पनेति\* ॥ दुरितनिवर्हण एव कर्मणां साक्षादङ्गभावोपपत्तौ मोक्षेऽपि  
साक्षादङ्गभावकल्पने कल्पनागौरवापत्तिरित्यर्थः । तदेतत् प्रतिपादयति—\*तथाहीति\* ॥ अदृष्टविशेषो  
धर्मशब्दार्थः । पाप्मशब्दः पापार्थकः । \*ननु\* पाप्मा किमर्थं निवर्तनीयः ? अनिवृत्त एव पाप्माऽस्तु,  
स किं करिष्यतीति ? अत आह—\*स हीति\* ॥ पाप्मा हीत्यर्थः । अतः पाप्मा निवर्तनीय इति भावः ।  
तन्निवृत्तौ किमिति ? अत आह—\*अतः पापनिवृत्ताविति ॥ प्रत्यक्षोपपत्तीति\* ॥ संसारस्यासारत्वं  
दृष्टविषये प्रत्यक्षग्राह्यम्, अदृष्टे तूपपत्त्या । ईदृग्विषये प्रत्यक्षोपपत्त्योश्च प्रवृत्तिद्वारं चित्तगतं सत्त्वम्, तस्य

## वार्तिकम्

मनुभवति । नापि द्वितीयः ; भावनावैयर्थ्यात्, शब्दादेवापरोक्षज्ञानस्य जातत्वात् । नचैवं सति  
मनन-निदिध्यासनविधानवैयर्थ्यम् ; तयोरसंभावनानिरासित्वेन सार्थकत्वात्, ज्ञान-जनितयोर्व्यापारा



## भामती

दुःखरूपतामप्रत्यूहमवबुध्यते, ततोऽस्यास्मिन्ननभिरतिसंशं वैराग्यमुपजायते, ततस्तज्जिहासोपावर्तते, ततो हानोपायं पर्येषते, पर्येषमाणश्च-‘आत्मतत्त्वज्ञानमस्योपायः’ इत्युपश्रुत्य तज्जिज्ञासते, ततः श्रवणादिक्रमेण तज्जानाति, इत्यारादुपकारकत्वं तत्त्वज्ञानोत्पादं प्रति चित्तसत्त्वशुद्ध्या कर्मणां युक्तम् । इमं चार्थमनुवदति भगवद्गीता—“आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥” इति । एवं चाननुष्ठितकर्माऽपि प्राग्भवीयकर्मवशाद् यो विशुद्धसत्त्वः संसारासारतादर्शनेन निष्पन्नवैराग्यः, कृतं तस्य कर्मानुष्ठानेन वैराग्योत्पादोपयोगिना ; प्राग्भवीयकर्मानुष्ठानादेव तत्सिद्धेः । इममेव पुरुष-धौरेयभेदमधिकृत्य प्रवृत्ते श्रुतिः—“यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्” इति । तदिदमुक्तम्—“कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति” । अत एव न ब्रह्मचारिण ऋणानि सन्ति, येन तदपाकरणार्थं कर्मानुतिष्ठेत् । एतदनुरोधाच्च “जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते”

## ऋजुप्रकाशिका

पापकपाटनिवृत्त्या पापावरण उद्धाटिते सतीत्यर्थः । \*अस्य = प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारेऽशुचि-दुःखरूपत्वं जाना-नस्य । \*अस्मिन् = संसारे । \*अस्य = अशुचि-दुःखात्मकसंसारहीनस्य । \*उपश्रुत्य = “तरति शोकमात्म-वित्” इत्यादिश्रुत्या ज्ञात्वा । आत्माभिन्नं ब्रह्म तच्छब्दार्थः । “श्रवणादी”त्यत्र मनन-निदिध्यासने आदि-शब्दार्थः । \*तत् = स्वात्माभिन्नं ब्रह्म । \*आरात् = दूरे । परम्परयेति यावत् । \*युक्तमिति\* ॥ तथाच कर्मणां न ज्ञानेन समुच्चय इति भावः । अत्रार्थे भगवद्गीतावचनं प्रमाणयति—\*इमं चार्थमित्यादिना\* ॥ अनेन भगवद्गीतावचनेन कर्मणः परम्परयोपयोगः सूचितः, न साक्षात् ; अतस्तद्वचनं तत्र प्रमाणमिति भावः । \*ननु\* अस्मिन् जन्मन्यनुष्ठितयज्ञादिकर्मणो ब्रह्मचारिणोऽपि कर्मसंन्यासाद् वैराग्यसिद्धेर्ज्ञानोदयदर्शनेन परम्परया वा कर्मणः कथं ज्ञानोपयोग इति ? अत आह—\*एवंचेत्यादिना\* ॥ \*कृतम् = अलम् । “वैराग्योत्पादो-पयोगिने”त्येतत् “कर्मानुष्ठानेने”त्यस्य विशेषणम् । हेतुमाह—\*प्राग्भवीयेति\* ॥ \*तत्सिद्धेः\* ॥ \*इममेवेति\* ॥ प्राग्भवीयकर्मानुष्ठानलब्धवैराग्यमिममेव पुरुषधौरेयं ब्रह्मचारिमधिकृत्येत्यर्थः । संन्यासः प्रव्रजनशब्दार्थः । उक्तमर्थं भाष्यारूढं करोति—\*तदिदमित्यादिना\* ॥ कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासाप्रति-पादनेन तज्जन्मनि तस्य कर्मानुष्ठानराहित्यमुक्तमेव ; कर्ममीमांसापरिशीलनेन कर्मावबोधे सत्येव कर्मानुष्ठानात्, तदभावे तदभावात् । \*ननु\* “ऋणानि लीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्” इति वचनात् कर्मानुष्ठानेन ऋणापकरणपूर्वकं मोक्षार्थं प्रव्रजनं वाच्यम्, तथाचाननुष्ठितकर्मणो ब्रह्मचारिणः कथं प्रव्रजनम् ? इत्याशङ्क्य, यत एव “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति” श्रूयते, अत एव ब्रह्मचारिण ऋणानि न सन्तीत्याह—\*अत एवेति\* ॥ \*तदपाकरणार्थम् = ऋणक्षयापाकरणार्थम् । \*ननु\* ब्रह्मचारिण ऋणानि न सन्तीति कथम् ? “जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते” इति श्रुत्या ब्राह्मणमात्रस्य ऋणश्रवणेन ब्रह्मचारिणोऽपि ऋणसंभवादित्याशङ्क्य, तच्छ्रुतिर्गृहस्थविषयेत्याह—\*एतदनुरोधाच्चेति\* ॥ ब्रह्मचारिप्रव्रजनश्रुत्यनुरोधा-

## वार्तिकम्

भावादित्युक्तत्वात् । तस्माद् भावनाया एव ब्रह्मसाक्षात्कारजनने प्रमाणाभावाद् न तत्सहकारितया कर्मणां तज्जनकत्वे सुतरां प्रमाणमस्तीति । \*एतेन\*—\*कर्मणां साक्षाद् मोक्षहेतुत्वपक्षोऽपि—\*अपास्तः\* ; ज्ञान-कर्म-समुच्चयस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । विरोधाच्च न तयोः समुच्चयः । नहि क्रिया-कारकभेदशून्यतयाऽऽत्मनि विज्ञाते तत्र क्रियाकारकादिमत्त्वमध्यस्य कर्म संभवति ; तस्य तदध्यासाधीनत्वात्, अध्यासस्य च तज्ज्ञानेन नाशितत्वात् । \*एतेन\*—\*प्रपञ्चविलयनद्वारा कर्मणां मोक्षहेतुत्वमपि—\*अपास्तम्\* ; ज्ञाने-नैवाविद्यप्रपञ्चस्य नाशात् कर्मवैयर्थ्यात्, तेन सह कर्मणामविरोधाच्च । यथाच प्रपञ्चविलयोऽपि न



## भामती

इति गृहस्थः संपद्यमान इति व्याख्येयम् ; अन्यथा “यदि वेतरथा ब्रह्मयर्थादेव” इति श्रुतिर्विरुध्येत । गृहस्थस्यापि च ऋणापाकरणं सत्त्वशुद्धयर्थमेव । जरामर्यार्थवादो भस्मान्ततावादोऽन्त्येष्ट्यश्च कर्म-जडानविदुषः प्रति, न त्वात्मतत्त्वपण्डितान् । तस्मात् तस्यानन्तर्यमथशब्दार्थः—यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति, यस्मिंस्तु सति भवन्ती भवत्येव । नचेत्थं कर्मावबोधः । तस्माद् न कर्मावबोधानन्तर्यमथशब्दार्थ इति सर्वमवदातम् ॥

## ऋजुप्रकाशिका

चेत्यर्थः । गृहस्थविषयत्वमेव स्पष्टयति—\*गृहस्थः संपद्यमान इति\* । \*जायमानो वै ब्राह्मणो गृहस्थः संपद्यमानस्त्रिभिर्ऋणवा जायत इति श्रुतिवाक्यं व्याख्येयमित्यर्थः । श्रुतिस्थब्राह्मणशब्दस्य गृहस्थसाधारणत्व-संभवेन तथा व्याख्यानसंभवात्, “ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्” इत्यत्र तु ब्रह्मचर्यशब्दस्य विशेषवाचितया प्रका-रान्तरेण व्याख्यातुमशक्यत्वादिति भावः । अथवा—एतच्छ्रुत्यनुरोधेन तच्छ्रुतेस्तथाऽव्याख्याने बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ गृहस्थस्यापि वा किमृणापाकरणेनेति ? अत आह—\*गृहस्थस्यापीति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मभावना-नन्तरं निषेधेष्वधिकारेऽपि विधिषु नाधिकार इति पूर्वमुक्तम् ? तथात्वे जरादितो मरणकाले प्रायश्चित्तं कुर्यादिति विधिः, मरणानन्तरमयज्वविषये भस्मान्तं प्रदहेदिति विधिः, यज्वविषये भस्मान्तताविधिरन्त्येष्टिविधिश्च, इत्येतेषां विधीनामयोगप्रसङ्गात्, इत्याशङ्क्य, तेषां कर्मजडावविषयत्वमेव, नात्मवद्विषयत्वमित्याह—\*जरामर्यार्थवाद इति\* ॥ जरादितो मरणार्थे वाच्यते विधीयते प्रायश्चित्तमिति जरामर्यार्थवादः ; प्रायश्चित्तविधिरित्यर्थः । जरापदं व्याध्याद्युपलक्षणार्थम्, तदपि स्वरूपकथनार्थम् । वस्तुतस्तु ‘मर्यार्थवादः’ इत्येवालम् । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मा-दिति\* ॥ कस्यानन्तर्यमिति ? अत आह—\*यद्विनेति\* ॥ भवत्येवेत्यनन्तरं तस्यानन्तर्यमथशब्दार्थ इति योज-नीयम् । यच्छब्दनिर्दिष्टं यद्वस्तु, तस्यानन्तर्यमित्यर्थः । ब्रह्मजिज्ञासान्वय-व्यतिरेकानुविधायि यत्, तदा-नन्तर्यमिति फलितार्थः । ब्रह्मजिज्ञासान्वय-व्यतिरेकानुविधायी तु न कर्मावबोधः, येन तदानन्तर्यं स्यादित्यभि-प्रेत्याह—\*नचेत्थं कर्मावबोध इति\* ॥ तथाच न कर्मावबोधानन्तर्यमथशब्दार्थ इत्युपसंहरति—\*तस्मा-दिति\* ॥

## वार्तिकम्

कर्मसाध्यः, तथा वक्ष्यते । तस्मात् शुद्धिद्वारैव कर्मणां ज्ञान उपयोग इति स्थितम् । एवं च सति यस्याविरक्तस्य न शुद्धिरस्ति, तस्य शुद्ध्यर्थमस्मिन्नेव जन्मनि कर्मयोगापेक्षणात् तदर्थं कर्मावबोधोऽपि तत्पूर्वमपेक्ष्यत इति भवतु क्रमः । यस्य तु पुरुषधौरेयस्यानेकजन्मोपाजितसुकृतराशेर्ब्रह्मचर्यदशायामेव विवेक-वैराग्यादितत्कार्यदर्शनात् शुद्धिरुपलभ्यते, तस्य कर्मणामनपेक्षितत्वेन तदवबोधस्य तदर्थस्य सुतरामनपेक्षितत्वात् प्रागपि वेदान्तमात्राध्ययनवतो ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेर्न क्रमोऽस्ति । अतः क्रमनियमा-भावाद् न कर्मावबोधानन्तर्यमथशब्देन ब्रह्मजिज्ञासाया उच्यत इति ॥

अपिच श्रुतिप्रमाणमूलं होतुं सूत्रम् ; तदनुकूलन्यायग्रथनार्थत्वादित्युक्तमेवाधस्तात् । नचेह क्रमनियमप्रतिपादकानां श्रुत्यर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्तीनां षण्णां मध्य एकमपि प्रमाणमुपलभ्यते, येन तन्मूलकक्रमनियमाभिधाय्यस्मिन् सूत्रेऽथशब्दः स्यात् । तथाहि—किमत्र मूलभूतं प्रमाणम् ? किं “हृदयस्याग्रेऽपेक्ष्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्त्रसः” इतिवत् “अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति” “वेदं कृत्वा वेदिं करोति” इतिवच्च श्रुतिरेव ? अथशब्द-क्त्वाश्रुत्योनियतक्रमरूपानन्तर्याभिधायिकयो-र्विद्यमानत्वात्, किं वा “अग्निहोत्रं जुहोति” “यवागूं पचतीति”वत् सामर्थ्यम् ? अथवा “समिधो यजति” “तनूनपातं यजतीति”वत् पाठः ? यद्वा साद्यस्के सवनीयानीषोमीययोरिव स्थानम् ? किं वा



## पञ्चपादिका

त्वेन कारणेनानपेक्षत्वं नाम प्रामाण्यकारणमुक्तम्, तदुभयमिहाप्युपयुज्यते ; अपेक्षितत्वात्, इतरस्य पुनर्न्यायकलापस्य न ब्रह्मजिज्ञासायामुपयोगोऽस्ति, यतो न निरस्ताशेषप्रपञ्चं ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिज्ञातं तत्र । न तत्प्रतिपादने तत्प्रतिपादनसामर्थ्ये वा शब्दानां कश्चिद् न्यायोऽभिहितः । यत्पुनः प्रथमतन्त्र-सिद्धन्यायोपजीवनमस्मिन्नपि तन्त्रे, तत् सगुणविद्याविषयम् । तत्र च मानसी क्रियोपासना विधेयाऽनित्यफला धर्मविशेष एव । तदेवं न्यायकलापस्य न ब्रह्मजिज्ञासायामुपयोगः । अतो न

## पञ्चपादिकाविवरणम्

वेदप्रामाण्यापेक्षितो न्यायः सूचित एव, कुतः प्रथमपादापेक्षेति ? सत्यम् ; अङ्गीकृत्यैतदुक्तमिति न विरोधः । \*ननु\* श्रुति-लिङ्गादिप्रमाणानामिहाप्यपेक्ष्यमाणत्वादितरोऽपि न्यायः पूर्ववृत्ततयाऽपेक्षित इति, नेत्याह—\*इतरस्य तु पुनरिति\* ॥ उत्पत्ति-विनियोग-प्रयोगाधिकारविधिकार्यापेक्षितो हि न्यायस्तत्र प्रतिपादितः । नचाननुष्ठेयभूतवस्तुप्रतिपादनेऽसावुपयुज्यते ; कार्यार्थसाम्येऽपि प्रत्यध्यायमवान्तरप्रमेयभेदेन न्याय-भेदोऽपेक्ष्यते, किमु वक्तव्यमकार्यभूतवस्तुप्रमेयभेद इति भावः । श्रुत्यादयस्तु लोकप्रसिद्धा एवोपादीयन्ते । \*ननु\* कार्यशेषतया ब्रह्मापि तत्र निर्णीतमिति, नेत्याह—\*यतो न निरस्ताशेषेति\* ॥ अप्रतिज्ञातस्याप्यपेक्षितन्यायोऽन्यार्थत्वेन दर्शित इति, नेत्याह—\*न तत्प्रतिपादन इति\* ॥ \*ननु\* गुणोपसंहारेण विध्यपेक्षितोऽपि न्याय उपजीव्य इति, तत्राह—\*यत्पुनः प्रथमतन्त्रसिद्धेति\* ॥ \*ननु\* सगुणविद्याऽपि ज्ञानमेवेति ? अत आह—\*तत्र च मानसी क्रियेति\* ॥ तदेवमित्युपसंहारः\* ॥

## ऋजुविवरणम्

तात्पर्यनिर्णयापेक्षितो न्यायस्तत्र निरूपितः, तेनैवान्न निर्णयः कर्तव्यः, अतः कथमनुपयोगः ? इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*उत्पत्तिविनियोगेति\* ॥

\*ननु\*—प्रमेयभेदमात्रेण कथं न्यायान्तरसापेक्षत्वं वक्तुं शक्यते ? प्रमेयाभेदेऽपि तद्वर्शनेन तस्याप्रयोजकत्वात्, कथञ्चित्साम्यस्य वक्तुं शक्यत्वाच्चेत्याशङ्क्याह—\*कार्यार्थसाम्येऽपीति\* ॥ मा भूत् तत्रत्यन्यायसापेक्षत्वम्, श्रुत्यादि-सापेक्षत्वं त्वस्त्येवेत्याशङ्क्याह—\*श्रुत्यादय इति\* ॥ “यत्पुनरि”त्यनेन न्यायद्वयं केवलं न विचारप्रवृत्तिकारण-

## तत्त्वदीपनम्

वेदप्रामाण्योपयोगि न्यायसूत्रमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि प्रथमपादन्यायानामनपेक्षत्वम्, तत्राह—\*अङ्गीकृत्येति\* ॥ उत्तरत्र वेदप्रामाण्योपयोगिन्यायसूत्रं करेण पिधाय प्रथमपादापेक्षामभिदधावित्यविरोधः । प्रथमपादोक्तार्थमात्राङ्गीकारमाक्षिपति—\*ननु श्रुतीति\* ॥ वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या आदिशब्दार्थः । अपेक्ष्यमाणत्वमसिद्धमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अनपेक्ष्यत्वमेवाह—\*उत्पत्तीति\* ॥ \*विधिकार्येति\* ॥ विधिलक्षणकार्यैत्यर्थः । उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेनाह—\*अकार्येति\* ॥

\*ननु\* श्रुत्यादयस्तत्र तत्रोदाह्रियन्ते, ते च पूर्वोक्ता एव, इति पूर्वतन्त्रस्यापेक्ष्यत्वम्, तत्राह—\*श्रुत्यादय इति\* ॥ यथा पूर्वस्मिन्तन्त्रेऽनादिवृद्धप्रसिद्धानां श्रुत्यादीनामुपादानम्, तद्वदत्रापीत्यर्थः । धर्मविचारस्य ब्रह्मविचारं प्रत्युपकारकत्वं शङ्कैव नावतरति ; धर्मविचारविलक्षणब्रह्मविचारस्यैवाभावात्, इत्यन्यः कश्चिच्छङ्कते—\*ननु कार्येति\* ॥ धर्मोपाधौ विचारप्रतिज्ञानात् तत्र ब्रह्म विचारितमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अप्रतिज्ञातस्याप्यधर्मस्य विचारवद् ब्रह्मणोऽपि विचार इति शङ्कते—\*अप्रतिज्ञातस्येति\* ॥ \*अन्यार्थत्वेनेति\* ॥ अधर्मविविक्तधर्मस्वरूपप्रतिपादनायाधर्मनिरूपणवद् ब्रह्मविलक्षणधर्मप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मविचार इत्यर्थः । अनुपलम्भविरोधाद् नैतदिति परिहरति—\*नेत्याहेति\* ॥

विध्यपेक्षितन्यायस्योत्तरत्रानुपजीव्यत्वमित्युक्तम्—“इतरस्य तु पुनरि”त्यत्र, तदाक्षिपति—\*ननु गुणेति\* ॥ सगुणोपासनविद्यायामुपजीवनेऽपि न ज्ञान उपयोग इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ उपास्ति-ज्ञानयोरेकत्वात् तस्यान्यत्राप्युपजीवनमिति शङ्कते—\*ननु सगुणेति\* ॥ उपास्तेर्ज्ञानत्वमसिद्धमित्याह—\*अत आहेति\* ॥ विध्यपेक्षितन्यायस्या-



## पञ्चपादिका

तदपेक्षोऽथशब्दः । यत्पुनः स्वाध्यायस्यार्थावबोधोपयोगेऽनपेक्षत्वेन स्वतःप्रामाण्यसिद्धौ च न्याय-  
द्वयम्, तद् अपेक्षितमपि न केवलं ब्रह्मजिज्ञासाकारणम्; स्वाध्यायवदेव, तेन न तदपेक्षोऽथशब्दः ।  
यः पुनर्वाक्यार्थनिर्णयः, स न कथमपि ब्रह्मजिज्ञासायामुपयुज्यते । न ह्यन्यविषयं ज्ञानमन्यत्र  
प्रवृत्तौ हेतुः । प्रतिपत्तौ कदाचित् स्यादपि यथाऽनुमानादौ, तदपीह नास्ति; धर्म-ब्रह्मणोः  
सम्बन्धानिरूपणात्, अतः कर्मणामुपयोगः परिशिष्यते । तथाच तैरप्युक्तम्—कर्मणाम-  
धिकारपरम्परया शब्दतो वा संस्कारतया वा यथाविभागं तादर्थ्यावगमादि”ति । अत्रेदं निरूप्यते

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मा भूद् धर्मजिज्ञासानन्तर्यमथशब्दार्थः, वेदप्रामाण्यविचारानन्तर्यं स्यादिति, नेत्याह—यत्पुनः स्वाध्याय-  
स्यार्थावबोधोपयोग इति\* ॥ नच ‘वेदाः प्रमाणमि’त्येतावता ब्रह्मविचारेऽनेकायासबहुले कश्चित्प्रवर्तत इत्यर्थः ।  
तर्हि धर्मनिर्णयज्ञानं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुरिति, नेत्याह—\*यः पुनरिति\* ॥ उपयुज्यमानो धर्मनिर्णयो  
ब्रह्मविचारप्रवृत्त्युपयोगी स्यात् ? किं वा ब्रह्मनिर्णयोपयोगी ? इति वक्तव्यम् ? न तावत् प्रथमः कल्प इत्याह—  
\*न ह्यन्यविषयं ज्ञानमिति\* ॥ नापि द्वितीय इत्याह—\*तदपीह नास्तीति\* ॥ कार्य-कारणसंबन्धे प्रपञ्चेनापि  
ब्रह्मानुमानाद् न धर्मनिर्णयापेक्षेति भावः । परिशेषात् कर्मणामुपयोग इत्याह—\*अतः कर्मणामुपयोगः परि-  
शिष्यत इति\* ॥ तदपि न सम्भवति केषु चित्पक्षेष्विति भावः । तत्राधिकारपरम्परा ब्रह्मज्ञानोपकारश्च

## ऋजुविवरणम्

मित्युक्तम्, तदयुक्तम्; विचारे प्रामाण्यातिरिक्तकारणापेक्षायोगादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*नच वेदा इति\* ॥  
“धर्म-ब्रह्मणोः संबन्धानिरूपणादि”त्ययुक्तम्; ब्रह्मकार्यत्वात्, चेतनफलदातृसापेक्षत्वाद्वा । निर्णीतस्य चानुमापकत्वाद्  
निर्णयापेक्षेत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*कार्य-कारणेति\* ॥ “न तथेह ब्रह्मजिज्ञासां चिकीर्षोरिति”त्यनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वं तत्र  
प्रवृत्तिहेतुत्वं वा निरस्तमिति प्रतिभाति, तदयुक्तम्; उभयत्र प्रमाणसद्भावात्, असिद्धो हेतुः, पुनरुक्तं चानन्तरग्रन्थेन;  
तत्रापि तन्निराकरणात्, अप्रस्तुतं च तन्निराकरणम्; प्रवृत्तिपरम्परया हेतुत्वमिति चोदितत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—

## तत्त्वदीपनम्

नुपजीव्यत्वेऽपि प्रथमपादार्थस्योपजीव्यत्वात् तदानन्तर्यमथशब्दार्थ इति शङ्कते—\*मा भूदिति\* ॥ निरस्तस्यापि  
चोद्यस्य टीकायां परिहारं दर्शयितुं पुनरुत्थापनमिति द्रष्टव्यम् । प्रमाणाभावात् प्रामाण्यविचारस्य हेतुत्वकल्पनमित्याह—  
\*नेत्याहेति\* ॥ वेदस्य प्रामाण्याभावे तदर्थविचारस्यासंभवात् तस्य हेतुत्वमित्याशङ्क्य, किं तत् पुष्कल-  
कारणम् ? उत साधारणकारणम् ? नाद्यः; निर्जातवेदप्रामाण्यस्यापि कामुकस्य ब्रह्मजिज्ञासानवतारात्, न द्वितीयः;  
प्रवृत्त्युपयोगितया पुष्कलकारणमपि वक्तव्यमित्याशयेनाह—\*नचेति\* ॥ न्यायसहस्रस्यानुपयोगेऽपि तज्जन्यवाक्यार्थ-  
निर्णयस्योपयोग इति शङ्कते—\*तर्हीति\* ॥ न्यायवदेव ज्ञानस्याप्यनुपयोग इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ कथमनुप-  
योगः ? इति चेत्, तर्हि कुत्रोपयोग इति विचारणीयम्, इत्याह—\*उपयुज्यमान इति\* ॥ धर्मज्ञानं न ब्रह्मविचार-  
प्रवृत्तिं जनयितुमीष्टे, भिन्नविषयत्वादित्याह—\*न तावदिति\* ॥ तर्हि किमन्यज्ञानमन्यत्राहेतुरित्याशङ्क्योक्तम्—  
\*प्रतिपत्ताविति\* ॥ धूमध्वजसंबन्धस्य धूमस्य तद्बोधकत्ववद् धर्म-ब्रह्मणोरपि गम्य-गमकभावः संबन्धो वक्तव्यः;  
नच स समस्तीत्याशयेनाह—\*नापि द्वितीय इति\* ॥ धर्म-ब्रह्मणोः संबन्धाभावोऽसिद्धः; कार्य-कारणसंबन्ध-  
सद्भावात्, इत्याशङ्क्याह—\*कार्येति\* ॥ तर्हि परिशिष्टपक्ष आदीयताम्, तत्राह—\*तदपीति\* ॥ \*केषुचिदिति\* ॥  
शुद्धिद्वारव्यतिरिक्तपक्षेऽप्यित्यर्थः ॥

## वार्तिकम्

“सारस्वतौ भवतः सरस्वती च सारस्वतश्चे”त्यत्राङ्गक्रमे याज्या-पुरोऽनुवाक्यानिधमितमुख्यक्रम इव  
मुख्यक्रमः ? आहोस्वित् “सप्तदश प्राजापत्या भवन्ती”त्यत्रेव प्रवृत्तिरिति ? क्रमनियमे प्रमाणान्तरा-



## पञ्चपादिका

—केयमधिकारपरम्परा ? कथं वा तादर्थ्यमिति ? यथा तावत् प्रसादमारुरुक्षोः सोपानपरम्परा क्रमशः प्राप्यमाणा प्रासादारोहणहेतुः, न तथेह ब्रह्मजिज्ञासां चिकीर्षोः कर्माणि सहस्रसंवत्सरपर्यन्तानि तत्क्रियाहेतुतया स्थितानि ; प्रमाणाभावात् । अथ कामोपहतमनास्तदभिमुखो ब्रह्मजिज्ञासायां नावतरति, कर्मभिस्तु कामावाप्तौ तदुपशमाद् ब्रह्मजिज्ञासायामवतरति । तथाच सार्वभौमत्वाद्युत्तरोत्तरशतगुणोत्कर्षावस्थितान् ब्रह्मलोकावाप्तिपर्यन्तान् कामानवापयन्त्यधिकारपरम्परया कर्माणि ; ब्रह्मलोकात् परं कामयितव्याभावात्, निर्विषयस्य च कामस्यानुपपत्तेर्दग्धेन्धनाश्रिवत् कामोपशमे ब्रह्मजिज्ञासां करोति ; कर्मानुष्ठानान्तर्यं तर्हि वक्तव्यम् न \* धर्मावबोधानन्तर्यम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

न सम्भवतीत्याह—\*केयमधिकारपरम्परेति\* ॥ \*ननु\* अनुष्ठानपरम्परेयम्, तथाहि—संध्योपासनमारभ्य पूर्वपूर्वात्पतरकर्मप्रहाणेनोत्तरोत्तरमहत्तरकर्मोपादानात् सहस्रसंवत्सरैर्निरतिशये कर्मण्यवसितः परिशेषाद् ब्रह्मज्ञानेऽवतरतीति, नेत्याह—\*यथा तावत् प्रासादमारुरुक्षोरिति\* ॥ उत्तरकर्मोपादानात् पूर्वकर्मपरित्यागे परिशेषाद् ब्रह्मज्ञानावतारे च प्रामाणाभावादिति । तर्हि परम्परया कृत्स्नकर्मफलावाप्तौ, तत्र कामनाभावान्निरवृत्तकामः परमानन्दकामनया तत्रावतरतीत्याशङ्कते—\*अथ कामोपहतमना इति\* ॥ तदेव प्रपञ्चयति—\*तथाच सार्वभौमत्वादीति\* ॥ \*अधिकारपरम्परया=फलपरम्परयेत्यर्थः । परिहरति—\*कर्मानुष्ठानानन्तर्यं तर्हि वक्तव्यमिति\* ॥ कर्मानुष्ठानफलप्राप्त्यनन्तरभावित्वाद् ब्रह्मविचारस्य न मनुष्याधिकारं शास्त्रं स्यादित्यर्थः ।

## ऋजुविवरणम्

\*उत्तरकर्मोपादानादिति\* ॥ “कर्मणस्तु कामावाप्तौ तदुपशमादि”त्यसंबद्धम् ; कर्मभिः कामावाप्तावपि कामनान्तरदर्शनात्, “ब्रह्मजिज्ञासायामवतरती”त्यसंबन्धः ; कामोपशममात्रस्यान्यत्र प्रवृत्तिहेतुत्वाभावादित्याशङ्क्यावतारयति—\*तर्हि परम्परया कृत्स्नफलावाप्तादिति\* ॥ “कर्मानुष्ठानानन्तर्यं तर्हि”त्यसंबद्धम्, अवबोधहानेन भोगानन्तर्यस्य तेनैवोक्तत्वात्, तस्य चानुष्ठानसापेक्षत्वादेव तत्सिद्धेर्नैतद् दूषणमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*कर्मानुष्ठानफलप्राप्त्यनन्तरेति\* ॥ \*ननु\*—कर्मणामुपयोगो भवद्भिरङ्गीकृत एव, स च प्रकारान्तरासंभवात् कामोपशमद्वारेणैवाङ्गीकर्तव्यम्, मा

## तत्त्वदीपनम्

किंशब्दस्य प्रश्नाक्षेपयोः साधारण्यादाक्षेपार्थतामाह—\*तत्रेति\* ॥ अधिकारपरम्परोपभोगप्रविलयादीनां मध्य इत्यर्थः । किंशब्दस्य प्रश्नार्थतां मन्वानः शङ्कते—\*नन्वनुष्ठानेति\* ॥ तस्याः कथं ब्रह्मज्ञानोपकारकत्वम् ? इत्यत्राह—\*तथाहीति\* ॥ प्रमाणविधुरत्वान्नायं पक्ष आदेय इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ ब्रह्मजिज्ञासाचिकीर्षोर्न कर्म कर्तव्यम्, प्रमाणाभावादित्युक्तमयुक्तम् ; “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती”त्यादेस्तत्र प्रमाणत्वादि-त्याशङ्क्याह—\*उत्तरेति\* ॥

कामोपशमे ब्रह्मज्ञानेऽवतरतीत्युक्तम्—\*“अथ कामोपहतमनाः” इत्यत्र, तदनुपपन्नम्, मोक्षावस्थायाः सकलविषयविधुरतया तत्र कामनायोगादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तर्हीति\* ॥ अप्राप्तस्य स्मर्यमाणस्य स्रक्चन्दनादेः कामोद्बोधकत्वात् प्राप्तस्य निवर्तकत्वाद् उपभोगेन विषयकामनिवृत्तौ—“एषोऽस्य परमानन्दः” इत्यादिना ब्रह्मणः परमानन्दतया श्रूयमाणत्वात् तत्र कामोपपत्तिरित्यर्थः । एककामावाप्तौ विषयान्तरे कामसद्भावमाशङ्क्याह—\*तदेवेति\* ॥ अधिकारस्यानेकधा व्युत्पत्तिसंभवात् तं व्याचष्टे—\*अधिकारेति\* ॥ कर्मानुष्ठानानन्तर्यमथशब्दार्थ इत्युक्तत्वात्, कर्मानुष्ठानानन्तर्यं वक्तव्यमित्ययं परिहार आभास इत्याशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ सम्यक्परिहारमेव दर्शयति—\*कर्मानुष्ठानेति\* ॥ अल्पायुषः पुंसः सकलकर्मानुष्ठान-तत्फलभोगासंभवान्न तद्द्वारेण विद्यायामधिकार इत्यर्थः ।



## पञ्चपादिका

कथं वा कामाप्तिः कामोपशमहेतुः ? दृष्टान्तसामर्थ्यात्, यथा हविषा कृष्णवर्त्मा वर्धमानोऽपि सर्वहविःप्रक्षेपे सर्वं दग्ध्वा स्वयं शाम्यति, एवं विषयेन्धनः कामो यावद्विषयं वर्धमानोऽपि तत्क्षये क्षीणेन्धनाश्वित् स्वयं शाम्यतीति युक्तम्, सत्यं युक्तम् ; यदि हैरण्यगर्भो भोगो न क्षीयेत, क्षीयते तु कृतकत्वात् परिच्छिन्नविषयत्वाच्च ; तत्क्षये पूर्ववदनवाप्तोऽवाप्तव्यः, इति कामः समुल्लसत्येव । अतो विषयस्य क्षयादि-दोषदर्शनात् कामोपशमो हिरण्यगर्भस्यापि । तथाचोक्तम्—“ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्” ॥ इति । तस्मात् सर्वत्र कामस्य विषयदोषदर्शनमेवोच्छेद-कारणम्, नित्यवस्तुदर्शनं च ; “रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते” इति स्मृतेः । नचैवंलक्षण आगमोऽस्ति—हिरण्यगर्भोपभोगाद् निखिलविषयावाप्तौ कामोच्छेदो भवतीति । \*ननु\* कामावाप्तौ स्वस्थ-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

किञ्च कर्माण्यपि ब्रह्मज्ञानस्यान्यथोपकुर्वन्ति, न कामप्रविलयनद्वारेणेत्याह—\*कथं वा कामावाप्तिः कामोपशम-हेतुरिति\* ॥ \*सत्यमित्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः\* ॥

हैरण्यगर्भादिभोगानां प्रतिक्षणं क्षीयमाणत्वाद्नागतभोगनिचयकामनोपपत्तेर्न कामविलयनेन ब्रह्मज्ञानेऽवतार इत्याह—\*सत्यं युक्तम् ; यदि हैरण्यगर्भो भोग इति\* ॥ कुतस्तर्हि सर्वेषां कामविलय इति ? तदाह—\*अतो विषयस्य क्षयादिदोषदर्शनादिति\* ॥ “तस्मात् सर्वत्रे”त्युपसंहरति ॥

किञ्च निखिलविषयाप्तौ कामोपशमः शास्त्रसामर्थ्यादुच्यते ? किंवाऽन्वय-व्यतिरेकसामर्थ्यात् ? नाद्य इत्याह—\*नचैवंलक्षण आगम इति\* ॥ तर्ह्यन्वय-व्यतिरेकसामर्थ्यादिति चोदयति—\*ननु कामावाप्ताविति\* ॥

## अनुविर्णम्

भवतु मनुष्याधिकारत्वम्, अतः “कथं कामावासिः”ति ग्रन्थो न युक्तः, इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च कर्माण्यपीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

कर्माणां ज्ञानहेतुत्वं तावत् श्रुति-स्मृतिप्रसिद्धम्, नच साक्षात् कर्माणि ज्ञानहेतुः ; अप्रमाणत्वात् । तथाच काम-प्रविलयद्वारा कर्माणां तद्धेतुत्वमुपेयम् । तथाच मन्त्रौषधादिना—आयुः संपाद्यापि मुमुक्षुवः कर्मसु प्रवर्तन्, इति कथं न शास्त्रं मनुष्याधिकारम् ? तथाच “कथं वा कामावासिः” इत्यसंबद्धमित्याशङ्क्याह—\*किञ्चेति\* ॥ \*अन्यथेति\* ॥ शुद्ध्यादि-द्वारेणेत्यर्थः । हविःप्रक्षेपे हविर्भुजो वृद्धिवत्कामोपभोगेन कामवृद्ध्या न कामस्य क्षय इत्युक्तं इन्धनविनाशे दहनविनाश-वद् विषयविनाशे कामविनाश इति शङ्कामुद्भाव्य, \*‘सत्यं युक्तमि’त्यत्र\* हैरण्यगर्भभोगक्षये कामान्तरं समुल्लसेदिति समाधानमुक्तम्, तदयुक्तम् ; हिरण्यगर्भात्परं कामयितव्याभावादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*हैरण्यगर्भेति\* ॥ नच—महाप्रलयसमये हिरण्यगर्भलोकस्य नष्टत्वात् कथं कामान्तरमित्यपि—शङ्क्यम् ; तदाऽपि ज्ञानाभावे प्राग्भवीय-कर्मानुग्रहान्नाविधयोऽन्युत्पत्त्या कामसंभवात्, ज्ञानाभावे तत एव विमुक्तिर्न कामविलयनेनेत्यर्थः ॥

कामोपमर्दनमन्तरेण ब्रह्मज्ञानासंभवात् तद्धेतुर्वक्तव्य इति शङ्कते—\*कुत इति\* ॥ हेत्वन्तराभावादुपभोगस्या-हेतुत्वं सिषाधयिषितम् ? उत प्रश्नमात्रम् ? नाद्यः ; निरस्तत्वादित्यभिप्रेत्य द्वितीयस्योत्तरमाह—\*तदाहेति\* ॥ “रसोऽ-पी”त्यत्र कामो रसशब्दार्थः । कामावाप्त्या कामोपशमस्यानागमिकत्वं न प्रतिपाद्यम्, तस्यागममूलताया अप्रसक्तत्वा-दित्याशङ्क्य विकल्पपूर्वं व्याचष्टे—\*किञ्चेति\* ॥ अस्तु तर्हि भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण कर्मकाण्डस्य ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वम्, तथाहि—देहस्यात्मत्वे कालान्तरभाविस्वर्गसाधनयागादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, देहस्येह भस्मीभावात् ; तस्मात् “स्वर्गकामो यजेते”ति वाक्यं देहात्मभावविलयपरम् ; तथा “गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदि”ति वाक्यं दर्शपूर्णमासाधिकारिण एव गोदोहनाधिकारं बोधयदधिकारिभेदं विलापयति ; “अग्निहोत्रं जुहुयादि”त्यादिवाक्यं रागनिबन्धनप्रवृत्तिविलयपरम् ; एवं सर्वस्य वेदस्य भेदविलयपरत्वमिति शङ्कायामाह—\*वैदिकेति\* ॥ “स्वर्गकामो यजेते”ति वाक्यात् साध्य-साधनसंबन्धादि-प्रतिपत्तेर्न तस्य विलयपरत्वम्, अर्थाच्चोपलभ्यमानस्य शाब्दत्वे कामग्रन्थेः काठिन्यस्यापि शाब्दत्वं स्यादित्यर्थः ॥



## पञ्चपादिका

हृदयः कार्यान्तरक्षमो भवतीति सर्वेषां स्वसंवेद्यमेतत्, \*सत्यम्\* ; तदुत्कलिकोपशमात्, तदुत्कलिकोप-  
शमश्च तदा सामर्थ्यहानेः ; सति च सामर्थ्ये स्वच्छन्दोपभोगसम्भवात् । यदि पुनरेकान्ततो  
निवृत्तकामो भवेत्, न तं विषयं पुनः सङ्गोपायेत् । तस्माद् न कर्मणां कामनिवर्हणद्वारेण ब्रह्म-  
जिज्ञासायोग्यतापादनम् ; अतो न कर्मावबोधापेक्षोऽप्यथशब्दः ।

भवतु तर्हि संस्कारद्वारेण कर्मणां पूर्ववृत्तत्वम् ? “यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः, अष्टौ चात्म-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

परिहारग्रन्थस्तु स्पष्टार्थः\* ॥ वैदिकशब्दाः सर्वे संभूय देहात्मत्वादिप्रपञ्चप्रविलयप्रमितिपरा इति तृतीयोऽ-  
धिकारः । स च प्रतीतिविरोधादेव निरस्त इति ॥

\*ननु\* तर्हि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुरुषसंस्कारतया ब्रह्मज्ञानकार्याणि, अतो धर्मानुष्ठानानन्तरं ब्रह्म-  
जिज्ञासेति चोदयति—\*भवतु तर्हि संस्कारद्वारेणेति\* ॥ \*ननु\*—“सर्व एते पुण्यलोका भवन्ती”ति  
स्वतन्त्रपुरुषार्थसाधनानां कर्मणां कथं संस्कारकर्मतया प्रोक्षणादिवद् गुणकर्मता ? स्मृतिसामर्थ्यादिति चेत्,  
न ; श्रुतिविरोधात् । ननु—संस्कारो नाम गुणाधानं मलापकर्षो वा ? तत्र “धर्मेण पापमपनुदति” “योगिनः  
कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये” इति चात्मनि मलापकर्षसंस्कारः सिध्यति, विध्यन्यथानुपपत्त्या वाऽऽत्मन्य-  
पूर्वगुणाधानं गम्यते । अतः श्रुत्यवगतमेव संस्कारकर्मत्वम् ; “इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते” इति च श्रुतेः ।

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* अन्योऽप्यधिकारो वादिभिरङ्गीकृतः, स किमर्थं न निराकृतः ? इत्याशङ्क्याह—\*वैदिकशब्दा इति\* ॥ ब्रह्म-  
ज्ञानकार्याणीति\* ॥ ब्रह्मज्ञानं कार्यं येषाम्, तानि ब्रह्मज्ञानिकार्याणीति विग्रहः । “ननु सर्व एते” इति यत् स्वतन्त्र-  
फलसाधनम्, न तस्याङ्गत्वं संभवति ; “प्रधाने फलसंबन्धः” इति न्यायात्, अङ्गत्वे तु स्वतन्त्रफलसाधनत्वविरोधः,  
“अफलं तदङ्गमिति न्यायात्, उक्तं च जैमिनिना—“द्रव्यगुणसंस्कारेषु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादिति” ;  
अतो नाङ्गत्वाश्रयणं युक्तमिति भावः । \*न श्रुतिविरोधादिति\* ॥ विरुद्धार्थग्राहकत्वेन विरोधः, विरोधे च स्मृते-  
र्दुर्बलत्वात् संस्कारत्वमिति भावः । न केवलं मलापकर्ष इत्याह—\*विध्यन्यथानुपपत्तीति\* ॥ यद्वा—श्रुतिविरोध  
उक्त इत्याशङ्क्याह—\*विध्यन्यथानुपपत्तीति\* ॥ फलसाधनत्वेन विहितानां कर्मणां तेन विना फलसाधनत्वा-

## तत्त्वदीपनम्

संस्कारद्वारेण कर्मणां ज्ञानहेतुत्वस्य सिद्धान्तिनाऽप्यङ्गीकाराद् “भवतु तर्हि”ति चोद्यानुदयमाशङ्क्य तात्पर्यमाह—  
\*ननु तर्हि\* ॥ समानजन्मानुष्ठितकर्मणामेव संस्कारद्वारा ज्ञानहेतुत्वम्, ततो धर्मानुष्ठानानन्तर्यमथशब्दार्थ इति  
पूर्वपक्ष्यमिसन्धिः । कर्मणां संस्कारद्वारेण ज्ञानाङ्गत्वमुक्तम्, तदाक्षिपति—\*नन्विति\* ॥ एते सर्व आश्रमिणः  
पुण्यलोकाः । पुण्यो लोको येषां ते पुण्यलोका इत्यर्थः । स्वतन्त्रफलसाधनस्य दर्शपूर्णमासादेर्न संस्कारकर्मत्वम्,  
संस्कारकर्मणः प्रोक्षणादेः स्वतन्त्रफलसंबन्धादृष्टेः । तथाच कर्मणां स्वतन्त्रफलसाधनत्वप्रतिपत्तेर्न संस्कारकर्मत्वमित्यर्थः ।  
संस्कारकर्मतायाः प्रामाणिकत्वाद् नापलापोपपत्तिरिति शङ्कते—\*स्मृतीति\* ॥ “यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः”  
इत्यादिः स्मृतिशब्दार्थः । नच—श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्यमिति न तद्वलात्संस्कारकर्मत्वमिति—शङ्क्यम् ; स्मृत्य-  
नुमितश्रुत्या संस्कारकर्मतोपपत्तेः । श्रुत्योश्च प्राबल्य-दौर्बल्यनिमित्तानवगमादिति शङ्कितुरमिसन्धिः । प्रत्यक्षश्रुति-  
विरोधे संस्कारत्वग्राहिश्रुत्यनुमैव नोदेति, लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणादिद्वारा तज्जनकत्वादित्याह—\*न श्रुतीति\* ॥ प्रत्यक्ष-  
श्रुतिरेव संस्कारकर्मत्वे प्रमाणमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥

“धर्मेण पापमपनुदती”त्याद्यायाः श्रुतेः कथं संस्कारकर्मताग्राहित्वम् ? इति शङ्कायां तद् दर्शयितुं संस्कारद्वैविध्य-  
माह—\*संस्कार इति\* ॥ तत्र कर्मणां मलापकर्षहेतुत्वे प्रमाणं तावदाह—\*तत्र धर्मेणेति\* ॥ इतरत्र प्रमाणमाह—  
\*विधीति\* ॥ नित्यकर्मविधिर्विधिशब्दार्थः । “विविदिषन्ति यज्ञेने”त्यादिना श्रुत्यन्तरमुदाहरति—\*इदमिति\* ॥ अनेन



## पञ्चपादिकाविवरणम्

नच क्रत्वङ्गद्रव्यसंस्कारतया नित्यकर्मणामितिकर्तव्यतोच्यते, येन स्वतन्त्रफलविरोधः स्यात्, किन्तुं द्रव्यार्जन-विधिवदुपकारमात्रमिति, \*सत्यम्\* ; पापक्षयापूर्वलक्षणसंस्कारादभ्युदयफले श्रुत्यवगते न ब्रह्मज्ञानशेषता शक्याऽवधारयितुम् ; स्मृतिसामर्थ्यात्—\*इति\*, \*उच्यते\* ; नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठानैः संस्कृतस्यात्मनो यदि श्रवण-मनन-ध्यानाभ्यासादीनि ज्ञानसाधनानि सम्पद्यन्ते, तदा संस्कारकर्माणि सहकारिविशेषादात्मज्ञानमव-तारयन्ति, यदा तु सहकारिकारणविरहः, तदाऽभ्युदयफलमिति व्यवस्थोपपत्तेर्न श्रुति-स्मृत्योः परस्परविरोधः । \*ननु\* “यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः” इत्यतः “स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छती”ति सालोक्यलिङ्गाद्

## ऋजुविवरणम्

भावात्, अथवा नित्यकर्मविधानानुपपत्त्यैवापूर्वगुणाधानं निश्चीयते ; तदभावे विधानायोगादित्यर्थः । इतश्च संस्कारत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*इदं मेऽनेनाङ्गमिति\* ॥ \*ननु\*—संस्कारकर्मत्वे स्वतन्त्रफलसाधनत्वासंभवः ; इतिकर्तव्यतारूपत्वादित्याशङ्क्याह—\*नच क्रत्वङ्गेति\* ॥ \*द्रव्यार्जनविधिवदिति\* ॥ “द्रव्यसार्जयन् ब्राह्मणः प्रतिगृह्णीयादि”त्येवमादिना विधीयमानस्य वा द्रव्यार्जनस्य पुरुषार्थस्यैव क्रतूपकारित्वमुक्तं द्रव्यार्जनाधिकरणे, तद्वदित्यर्थः । “सत्यमि”त्यनेनोपकारकत्वपापक्षयापूर्व हेतुत्वमङ्गीकृत्य शेषत्वं निराकृतम् । तस्मादयमभिप्रायः—अत्र संस्कारशब्दसामर्थ्याच्छेषत्वं प्रतीयते, तदेव भवद्विर्वक्तव्यम् ; प्रासङ्गिकत्वेनानन्तर्थायोगात् तच्च न संभवति ; स्वतन्त्रफलसाधनत्वादिति । \*उच्यते नित्य-नैमित्तिकेति\* ॥ स्मृतिसामर्थ्याच्छेषत्वं तावत्प्रतीयते, कस्य-

## तत्त्वदीपनम्

कर्मणा समेदमङ्गं संस्क्रियते ब्रह्माभिव्यक्तियोग्यं क्रियत इत्यर्थः । संस्कारकर्मत्वे प्रोक्षणादिवत्तस्य न स्वतन्त्रफलसाधनत्व-मित्याशङ्क्य वैषम्यमाह—\*नचेति\* ॥ प्रोक्षणादीनां दर्श-पूर्णमासाङ्गव्रीहिसंस्कारत्वात् ‘संस्कारकर्मणः फलश्रुतिरर्थ-वादः’ इति न्यायात् स्वतन्त्रफलसाधनत्वं नोपेयते, अत्र तु क्रत्वङ्गद्रव्यसंस्कारत्वाभावात् स्वतन्त्रफलसाधनत्वमविरुद्ध-मित्यर्थः । तर्ह्यात्मज्ञानशेषत्वं कथमिति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ अन्यार्थस्याप्यन्यार्थतादर्शनाच्च विरोध इत्याह—\*द्रव्यार्जनविधिवदिति\* ॥ ब्राह्मणादेः प्रतिग्रहादिनोच्यमानं द्रव्यार्जनं क्रत्वर्थम् ? उत पुरुषार्थम् ? इति संदेहे धनं विना क्रत्वनुपपत्तेरधिकारविशेषाश्रवणाच्च क्रत्वर्थत्वमेवेति प्राप्य, राद्धान्तितम्—पुरुषार्थत्वमेवेति । अङ्गत्वप्रापकप्रकरणादेर-भावात्, क्रतोश्चान्यार्थसंचितद्रव्येणाप्युपपत्तेर्नकामस्य ब्राह्मणादेरधिकारिणः संभवाच्चेत्यभिसन्धिः ॥

संस्कारकर्मत्वमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ द्रव्यसंस्कारस्य स्वरूपेण फलत्वाद् ब्रह्मज्ञानशेषत्वम्, तत्राह—\*पापेति\* ॥ पापक्षयश्चापूर्वं चेति पापक्षयापूर्वं, ते लक्षणं यस्य संस्कारस्य, स तथोक्तः । “धर्मेण”त्यादिना संस्कारकर्म-तामात्राधिगतेस्तेषां ज्ञानशेषत्वेन विधिराश्रयणीयः, श्रुति-स्मृत्योर्विरोधे बाधकल्पनमयुक्तमित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ श्रुत्याऽभ्युदयफलत्वम्, स्मृत्या च ज्ञानार्थत्वम्, ततः कथमविरोधः ? तत्राह—\*नित्येति\* ॥ श्रवणं च मननं च ध्यानं चेति, तथा तेषामभ्यासः, तथा स आदिर्येषाम्, तानि ; तथोक्तानि ॥ कर्मणामात्मज्ञानद्वारा मुक्त्यर्थतायाः स्मृत्यर्थत्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*ननु यस्येति\* ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११-१४  
गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-विष्णुबलि-जातकर्म-नामकरणोपनिष्क्रमणान्नप्राशन-चौलोपनयनानि, चत्वारि वेदव्रतानि,  
१५-१८ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६  
देव-पितृ-भूत-मनुष्य-ब्रह्मयज्ञलक्षणाः पञ्च महायज्ञाः, अष्टका-पार्वणश्राद्ध-श्रावण्याग्रहायणी-प्रौष्ठपदी-चैत्र्याश्वयुजीति सप्त  
२७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४  
पाकयज्ञसंस्थाः, अग्न्याधेयान्निहोत्रदर्शपूर्णमासाग्रयण-चातुर्मास्य-निरुद्धपशुबन्ध-सौत्रामण्यः सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निहो-  
३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१  
मात्यग्निष्टामोक्थ्य-षोडशि-वाजपेयातिरात्रासौर्यामलक्षणाः सप्त सोमसंस्थाः, इत्येते चत्वारिंशत् संस्काराः । दद्यादाक्षिण्या-  
४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८  
नसूया-शौचानायास-मङ्गलाकार्पण्यास्पृहतालक्षणा अष्टावात्मगुणाः । पुनर्युक्तस्य ब्रह्मैक्यं समानलोकताप्राप्तिरित्यक्षरार्थः ॥



## पञ्चपादिका

गुणाः स ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छतीति “महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुरिति” “ज्ञान-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

हिरण्यगर्भावाप्तिः संस्कारकर्मणां फलं गम्यते, न परब्रह्मावाप्तिः, येन सहकारिसामर्थ्यात् कर्मणां पुरुषसंस्कार-  
द्वारेण मोक्षफलता स्यात्, \*उच्यते\* ;—संस्कारशब्दस्तावद् दधि-त्रीहिसंस्कारवत् स्वतन्त्रफलसाधनाङ्गभूत-  
द्रव्यशेषतां कर्मणां प्रतिपादयति । तत्र सर्वकर्मणां संस्कारतयाऽन्वयात् परिशेषार्थापत्त्या तत्त्वज्ञानशेषतया  
मोक्षफलता कल्प्यते ; “ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यमिति” च फलद्वयोपादानात् ; \*तथाहि भगवान्\*—  
“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः” इत्युपक्रम्य, “सिद्धिं प्राप्नोति यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति  
निबोध मे” इति चोक्त्वा, “बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च । ध्यानयोगपरो

## ऋजुविवरणम्

वित्कथञ्चिद्विरोधेन गतिसंभवे न सर्वथा विरोधेन बाधः कल्पयितुं युक्तः ; कांस्यभोजिनयविरोधादिति भावः ।  
भवतु संस्कारशब्दसामर्थ्यात् फलसाधनकर्माङ्गद्रव्यशेषित्वम्, तथाऽपि न ब्रह्मज्ञानशेषित्वम् ; कर्मान्तरद्रव्यशेषित्वेनापि  
संस्कारशब्दस्योपपत्तेर्न ब्रह्मज्ञानशेषित्वे प्रमाणमित्याशङ्क्याह—\*तत्र सर्वकर्मणामिति\* ॥ \*ननु\*—हिरण्यगर्भ-  
प्राप्तिहेतुत्वं कर्मणां प्रतीयते, अतः कथं ब्रह्मज्ञानशेषित्वम् ? द्रव्यशेषित्वेनापि संस्कारशब्दस्योपपत्तेः कथञ्चिद्विरोध-  
गर्भोपासनाशेषित्वं भवेत्, इत्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मणस्सायुज्यमिति\* ॥ नेदं वाक्यं फलपरम्, फलद्वयप्रतीतेः, तस्य च  
योगसिद्ध्यन्यायविरोधेनासंभवात्, अन्तःकरणशुद्धिद्वारेण ज्ञानशेषत्वमेव तत्र विवक्षितमिति भावः । \*ननु\*—  
संस्कारशब्दसामर्थ्यादन्यार्थत्वनिश्चयो भवेत्, न ज्ञानशेषत्वनिश्चयः ; प्रमाणाभावात्, पारिशेष्यासंभवस्यापि वक्तुं  
शक्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*तथाहि भगवानिति\* ॥ \*यद्वा\*—फलद्वयदर्शनादतत्परत्वं न निश्चेतुं शक्यते ; फल-  
द्वयस्याप्यायुरादेरविरोधिनः स्वीकारदर्शनादत्रापि तथा संभवात्, विकल्पेन वा फलद्वयसंभवात् तदेवाश्रयितुं युक्तम्,  
न त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारेण मोक्षफलत्वम्, तत्रापि फलद्वयप्रसङ्गात्, प्रमाणाभावाच्च । यच्चोक्तम्—“सहकारिप्राप्तौ ज्ञानद्वारा  
मोक्षसाधनत्वं तदभावेऽभ्युदयार्थत्वमिति” तदयुक्तम् ; प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह—\*तथाहि भगवानिति\* ॥

\*ननु\*—“स्वे स्वे कर्मणी”ति कर्ममात्रस्य सिद्धिसाधनत्वं प्रतीयते, न तु नित्य-नैमित्तिकानामित्याशङ्क्याह

## तत्त्वदीपनम्

\*ननु\* एवंविधाधिकारिणः श्रवणाद्यपौष्कल्ये हिरण्यगर्भाप्तिः फलम्, इतरथा परब्रह्माप्तिरिति विभागमाशङ्क्य,  
प्रमाणविधुरत्वान्नैवमित्याह—\*न परेति\* ॥ संस्कारशब्दस्यात्र प्रयोगानुपपत्त्या कर्मणां ज्ञानशेषत्वमित्याह—\*उच्यते  
इति\* ॥ ज्ञानशेषत्वाभावे संस्कारशब्दस्य काऽनुपपत्तिः ? इत्याशङ्क्य तत्प्रमेयं दर्शयति—\*संस्कारशब्द इति\* ॥  
दधिसंस्कारस्य तृप्तिसाधनभोजनाङ्गदधिशेषत्वम्, प्रोक्षणादेश्च स्वर्गसाधनदर्शपूर्णमासाङ्गत्रीहिशेषत्वम्, तत्र संस्कारशब्दः  
प्रसिद्ध इत्यर्थः । फलितं दर्शयति—\*तत्रेति\* ॥

हिरण्यगर्भोपासनशेषत्वसंभवात् कथमनुपपत्त्या तत्त्वज्ञानशेषत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ सायुज्यम्=  
सयुग्भावः, एकत्वम्, न च हिरण्यगर्भैक्यं संभवेत्, पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वाऽन्यस्यान्यात्मत्वासंभवात् । तस्माद् विद्ययाऽ-  
विद्यानिवृत्तौ ब्रह्मैक्यं सायुज्यम्, श्रवणाद्यभाव उपास्तिद्वारा सालोक्यमिति विभागः । कर्मणां संस्कारद्वारा मुक्त्यर्थत्वं  
भगवतोक्तमित्याह—\*तथाहीति\* ॥ ननु “स्वे स्वे कर्मणी”त्यत्र कर्मणां संसिद्धिशब्दवाच्यो मोक्षः साक्षात्साध्यः  
प्रतीयते, न ज्ञानद्वारेणेत्याशङ्क्य संसिद्धिशब्दार्थमाह—\*इत्युपक्रम्येति\* ॥ संसिद्धिशब्देनाभिधेयं विशुद्धमन्तःकरणं  
यस्य, स तथोक्तः । तथाऽपि कथं कर्मणां ज्ञानद्वारा मोक्षार्थत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*ध्यानेति\* ॥ ध्यानमेव योगो  
ध्यानयोगः । योगपदभिधेयैक्यसाधनत्वात् तस्य योगत्वमिति द्रष्टव्यम् । श्रवणादिरादिशब्दार्थः ॥

कर्मणां प्रतिनियतफलत्वात् कथं सिद्धिफलत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*स्वे स्व इति\* ॥ नित्यानां न फलान्तर-  
शेषत्वम्, शेषत्वेऽपि संयोगपृथक्त्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् संसिद्धिहेतुत्वं तद्विरुद्धमित्यर्थः । मुक्त्यर्थिना संसिद्धिहेतवः



## पञ्चपादिकाविवरणम्

नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥” इति च ब्रुवन् नित्यकर्मभिः संस्कृतस्य सिद्धिशब्दाभिधेयविशुद्धान्तःकरणस्य ध्यानयोगादिसहकारिसम्पत्तौ तत्त्वज्ञानजन्मद्वारेण मोक्षं—\*दर्शयति\* । “स्वे स्वे कर्मणी”ति च नित्यकर्माण्युच्यन्ते । संसिद्धिशब्देन चात्मवैमल्यं ब्रह्मज्ञानयोग्यतापत्तिरुच्यते ; परमसिद्धेरुत्तरत्राभिधानात्, “योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये” इत्युक्तत्वाच्च । तथा “महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः” “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः” “कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते” इति च । तस्मात् संस्कारशब्दसामर्थ्यात् स्मृत्यन्तराच्च नित्यकर्माणि मलापकर्ष-गुणाधानलक्षणपुरुषसंस्कारद्वारेणात्मज्ञानयोग्यतामापाद्य, तत्त्वज्ञानजनकतया मोक्षे ज्ञानेन सह समुच्चीयन्ते ; यथा व्रीहिप्रोक्षणादीनि संस्कारकर्माणि दर्श-पूर्णमासस्वरूपोत्पत्तिहेतुतया स्वर्गे समुच्चीयन्त इति ॥

\*ननु\* प्रोक्षणादिवदेकाधिकारितया गुणकर्मैव नित्यकर्मणां प्राप्ता, \*न\* ; ब्रह्मज्ञानस्याविधेयत्वात्, आत्मनः संस्क्रियमाणस्य विधेयकर्मगुणत्वाभावात् । \*न तर्हि\* संस्कारकर्मता ; विहिताङ्गद्रव्यसंस्कारकर्मसु तत्प्रसिद्धेः ; \*न\* ; अविहितभोजनाङ्गदधिसंस्कारप्रसिद्धेः । \*ननु\* विध्युद्देशे करणतया विहितानां नित्यकर्मणां करणताविरोधिनी दध्यादिसंस्कारवदात्मज्ञानेतिकर्तव्यता प्राप्ता, \*नैष दोषः\* ; “अग्निं चित्वा सौत्रामण्या

## ऋजुविवरणम्

—\*स्वे स्वे कर्मणीति चेति\* ॥ \*ननु\*—सिद्धिशब्देन परमपुरुषार्थरूपत्वान्मुक्तिरेवाभिधीयते, अतः कथमन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वं निश्चीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*सिद्धिशब्देनेति\* ॥ \*एकाधिकारितयेति\* ॥ दर्श-पूर्णमासाधिकारिण एवाधिकारः प्रोक्षणादौ, तद्वद् ब्रह्मज्ञानाधिकारिण एवाधिकारात् पृथगनुष्ठानाभावात् स्वतन्त्रफलसाधनत्वं न स्यादिति भावः । \*विहिताङ्गद्रव्येति\* ॥ विहिते कर्मणि यदङ्गद्रव्यम्, तत्रातिशयहेतौ संस्कारत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः । \*ननु\* विध्युद्देशे करणत्वेति\* ॥ फलसंबन्धि प्रधानम्, प्रधानसंबन्ध्यङ्गम्, न तदुभयं युज्यत इत्यर्थः । \*नैष दोषः ; अग्निं चित्वेति\* ॥ \*ननु\*—अत्र समानकर्तृकत्वमेव क्त्वाप्रत्ययवाच्यम्, तच्चैकप्रयोगे, स चाङ्गाङ्गित्वे, इत्यङ्गत्वेन बृहस्पतिसवविधिः, नच—अङ्गत्वेऽपि बृहस्पतिसवस्य कर्मान्तरविधेरुदाहरणीयत्वमिति—वाच्यम् ; धर्मलक्षणाभावात्,

## तत्त्वदीपनम्

कर्माणि कस्मादनुष्ठीयन्ते ? इत्याशङ्क्याह—\*संसिद्धीति\* ॥ चित्तमात्मशब्दार्थः । वैमल्यमेवाह—\*ब्रह्मेति\* ॥ “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि”त्युत्तरत्र मोक्षस्य कथनात् प्राक् सिद्धिशब्देन शुद्धैरेवाभिधानमित्यर्थः । वाक्यान्तराविरोधादप्येवमित्याह—\*योगिन इति\* ॥ स्मृत्यन्तरपर्यालोचनयाऽप्येवमेवैष्टव्यमित्याह—\*तत्रेति\* ॥ महायज्ञशब्देन पञ्चमहायज्ञाः कथ्यन्ते । दर्श-पूर्णमासादिविज्ञशब्दार्थः । \*ब्राह्मी=ब्रह्माभिव्यक्तियोग्या । सूक्ष्मशरीरं तनुशब्दार्थः । राग-द्वेषादिलक्षणे कषाये पक्के=परिणते, नष्टे इति यावत् । उक्तमर्थमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ तत्पदपरामृष्टमर्थमाह—\*संस्कारेति\* ॥

कर्मणां ब्रह्मज्ञानशेषत्वेऽधिकृताधिकारत्वप्रसङ्ग इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ दर्श-पूर्णमासाधिकारिणा प्रोक्षणादेरनुष्ठेयत्ववद् ब्रह्मज्ञानाधिकारिणा नित्यादीनामनुष्ठेयत्वाद् न स्वतन्त्रफलसाधनत्वमित्यर्थः । विधेयाङ्गद्रव्यसंस्कारकर्मणामधिकृताधिकारत्वाद् नित्यादीनां च तथात्वाभावान्मैवमित्याह—\*न ब्रह्मेति\* ॥ संस्कारकर्मताऽनुपपत्त्या ज्ञानस्य विधेयत्वं स्वीकार्यमिति शङ्कते—\*न तर्हीति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*विहितेति\* ॥ विहितकर्मणि यदङ्गभूतं द्रव्यं तद्वतातिशयहेतुकर्मस्य संस्कारकर्मत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः । नियमासिद्ध्या परिहरति—\*नाविहितेति\* ॥ कर्मणां फलसाधनत्वश्रुतिविरोधाद् ज्ञानाङ्गत्वमयुक्तमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ विधिभावना उद्दिश्यते यस्मिंस्तद्विध्युद्देशम्, तस्मिन्नित्यर्थः ॥

करणस्याङ्गत्वे किं वस्तुविरोधः ? उत प्रमाणविरहः ? नाद्य इत्याह—\*नैष इति\* ॥ अन्यत्र करणतया स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितयोरपि सौत्रामणि-बृहस्पतिसवयोः—“अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत” “बृहस्पतिसवेन यजेते”त्यस्मिन्



## पञ्चपादिकाविवरणम्

यजेत” “वाजपेयेनेष्टा बृहस्पतिसवेन यजेते”ति सौत्रामणी बृहस्पतिसवयोरन्यत्र करणतया स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितयोरग्निचयन-वाजपेयाङ्गतयेतिकर्तव्यतादर्शनात् । \*तत्र\* करणेतिकर्तव्यताविधिवाक्यप्रमाणभेदाद् युक्तं सौत्रामण्यादेरुभयथात्वमिति चेत्, \*सत्यम्\* ; अर्थविरोधाभावे सति नित्यविधिसामर्थ्यात् संस्कारस्मृत्यनुमितश्रुतिसामर्थ्याच्च करणतया संस्कारतया च स्वतन्त्रफलशेषताऽऽत्मज्ञानेतिकर्तव्यता चेत्युभयथात्वमिहापि कल्प्यताम् । नचान्यार्थद्रव्यसंस्कारमात्रत्वादितिकर्तव्यता ; आधानेऽदर्शनात् । संस्कृताग्नेरुद्देश्यत्वात् तत्रानङ्गतेति चेत्, इहापि संस्कृतं विशुद्धान्तःकरणं विरक्तं विविदिषुमुद्दिश्य ज्ञानसाधनविधानादविरोधः । प्रत्यक्षेण विशुद्धिं प्रत्यक्प्रवणतां च चित्तस्य कर्मफलमवगच्छन् जन्मान्तरानुष्ठितं कर्मानुमाय ज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनेषु प्रवर्तिष्यत इति । तस्माद् यथैव स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितद्रव्यार्जनस्य सहकारिकारणसम्पत्तिभेदात् क्रतु-भोगयोः शेषत्वम्, तद्वन्नित्यकर्मणामपि सहकारिभेदादात्मज्ञानाभ्युदययोः शेषत्वं न विरुध्यत इति । योऽपि कश्चित् सर्वसंस्कारवादी वेदान्तार्थसूक्ष्मदूरीकृतविज्ञानो वेदान्तार्थदूषको न संस्कारार्थानि नित्यानि कर्माणीति वक्ति, स शास्त्रार्थविभाग-

## ऋजुविवरणम्

ब्रह्मज्ञानाच्चोत्थापिताकाङ्क्षया तद्विधानस्यायुक्तत्वादिति भावः । विहितकर्माङ्गद्रव्यसंस्कारत्वाभावेऽप्यन्यार्थद्रव्यसंस्कारत्वमेव केवलेतिकर्तव्यतात्वस्य साधकमित्याशङ्क्याह—\*नचान्यार्थेति\* ॥ \*संस्कृताग्नेरिति\* ॥ “यदाहवनीये” इत्यत्रापूर्वसंज्ञादर्शनात् संस्कृताग्निप्रतीतिः, इति संस्कृतस्य विनियोग इत्यर्थः । एवं तर्हि ज्ञानसाधने प्रवृत्तिरेव न स्यात्, अन्तःकरणशुद्धेर्ज्ञातुमशक्यत्वादानुपगमान्न कर्मानन्तर्यमित्याशङ्क्याह—\*प्रत्यक्षेणेति\* ॥

\*ननु\*—एकस्यैव स्वतन्त्रविहितस्य सहकारिभेदादुभयत्र शेषत्वं न दृष्टमित्याशङ्क्य, सदृष्टान्तमुपसंहरति—\*तस्माद्यथैवेति\* ॥ “विविदिषन्ति यज्ञेने”ति श्रुतिरप्युदाहृता । सा किमर्थम् ? इति न ज्ञायते । नहि तत्र गुणाधान-

## तत्त्वदीपनम्

वाक्येऽग्निचयन-वाजपेयाङ्गतयेतिकर्तव्यतादर्शनादिति योजना । द्वितीयमनुवदति—\*तत्र करणेति\* ॥ \*उभयेति\* ॥ करणत्वमितिकर्तव्यतात्वं चोभयशब्दार्थः । दृष्टान्ते उभयार्थत्वमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तद्वन्नोभयार्थत्वग्राहिप्रमाणाभावाद् नित्यकर्मणां न ज्ञानाङ्गत्वमित्यत आह—\*अर्थविरोधेति\* ॥ नित्यविधिसामर्थ्यात् करणतया स्वतन्त्रफलशेषतासंस्कारस्मृत्यनुमितश्रुतिसामर्थ्यात् संस्कारकर्मतयाऽऽत्मज्ञानेतिकर्तव्यता चेति योजना । कर्मणामितिकर्तव्यतात्वमङ्गीकृत्य विरोधं निरस्य, वस्तुतस्तदपि नेत्याह—\*नचेति\* ॥ दर्श-पूर्णमासाद्यर्थाग्नि-संस्कारत्वेऽप्याधानस्य नाङ्गत्वम्, तद्वन्नपि न तावन्मात्रेणाङ्गत्वमित्यर्थः । दृष्टान्तो विषम इति शङ्कते—\*संस्कृतेति\* ॥ ब्रीहीणामङ्गत्वात् तत्संस्कारस्याप्यङ्गत्वम्, अग्नेस्तद्देश्यत्वान्नाङ्गत्वम् ; ततस्तत्संस्कारस्याप्यनङ्गतेत्यर्थः । साम्येन समाधत्ते—\*इहापीति\* ॥ संस्कृताग्नौ होमवत् संस्कृतान्तःकरणेन तेन श्रवणादिकमनुष्ठेयं यदि, तर्हि चत्वारिंशत्संस्कारोदयादवाक् श्रवणादेरनुष्ठानमापतितमित्यत आह—\*प्रत्यक्षेणेति\* ॥ कर्माणि न साक्षाद् ज्ञानं जनयन्ति, किंतु विशुद्धिप्रत्यक्प्रावण्यद्वारा, तच्च जन्मान्तरीयकर्मभिरपि संभवति, ततश्च सकलकर्मपरित्यागपूर्वकं श्रवणादौ प्रवृत्तिर्युक्त्यर्थः । विषयनैराश्र्यं विशुद्धिशब्दार्थः । उक्तमर्थं सदृष्टान्तमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ स्वतन्त्रविधिरनङ्गविधिः । तेन विहितस्य द्रव्यार्जनस्य क्त्वास्तिक्यादिबुद्धौ तच्छेषत्वम्, रागादिप्राबल्ये भोगशेषत्वम्, तथा च कर्मणामपि श्रवणादिसहकारिसंपत्तावात्मज्ञानार्थत्वम्, इतरथाभ्युदयार्थत्वमित्यर्थः ॥

कर्मणां संस्कारार्थत्वमुक्तममृष्यमाणः शङ्कते—\*योऽपीति\* ॥ “येन केनचन यज्ञेने”त्यादेः संस्कारार्थत्वप्रतिपत्तेः कथं निषेधः ? इत्याशङ्क्याह—\*वेदान्तेति\* ॥ “वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते” “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः” इत्यादिवाक्याद् नित्यकर्मणामावश्यकत्वप्रतिपत्तेर्न संस्कारद्वाराऽन्यार्थत्वकल्पनं युक्तमित्यर्थः ॥

विरक्ताविरक्तविषयत्वेन शास्त्रव्यवस्थोपपत्तेः कथं वेदान्तदूषणम् ? इत्याशङ्क्याप्रतिपत्तेः स्वाभाविकत्वान्न विरोध इत्याह—\*वेदेति\* ॥ पूर्वोत्तरपक्षज्ञानिनस्तथात्वादस्य चाताडकत्वान्न दूष्येतेत्याह—\*स शास्त्रेति\* ॥ “कुर्वन्नेवे-



## पञ्चपादिका

मुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथाऽऽदर्शितलप्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनी”ति च स्मृतेः ; “विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने”ति “येन केनचन यजेतापि दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवती”ति च श्रुतेः । वक्ष्यति च सूत्रकारः—“अत एवाश्रमकर्मापेक्षा” “सर्वापेक्षा च यज्ञादि-श्रुतेरश्वदि”ति च । सत्यमेवम् ; यदि समानजन्मानुष्ठितमेव कर्म संस्कुर्वद् ब्रह्मजिज्ञासायोग्यत्वहेतुः

## पञ्चपादिकाविवरणम्

ज्ञानशून्यत्वादुपेक्षणीय इति । \*अथवा\*—सर्वाण्येव कर्माण्युत्पत्तिविधिविहितानि संयोगभेदेन जीवन-कामनाद्यधिकारविध्यन्तरवद् ‘ब्रह्मानुभवकामो यज्ञादीन्यनुतिष्ठेदित्यधिकारान्तरविधिविधेयानि भविष्यन्तीत्याह—\*यज्ञेन दानेनेत्यादिना\* ॥

## ऋजुविवरणम्

लक्षणो मलापकर्षलक्षणो वा संस्कारः प्रतीयते । पुरुषसंस्कारलक्षणत्वञ्चात्र प्रदर्शयितुं प्रक्रमः कृतः ; अतस्तत्प्रतीत्यभावा-दनुदाहरणीयेत्याशङ्क्यावतारयति—\*अथवा—सर्वाण्येवेति\* ॥ \*ननु\*—उत्पन्नानां कर्मणामधिकारसंबन्धो युज्यते ; नचात्र कर्मणामुत्पत्तिरस्ति, नचान्येषामधिकारान्तरसंबन्धिनामधिकारान्तरसंबन्धो युज्यते ; विनियुक्तविनियोग-विरोधात्, इत्याशङ्क्याह—\*उत्पत्तिविधिविहितानीति\* ॥ कथमुत्पत्तिविधिविहितानामप्यधिकारान्तरसंबन्धः ? इत्याशङ्क्याह—\*संयोगभेदेनेति\* ॥ “एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वम्”—एकस्य कर्मण उभयार्थत्वे संयोग-पृथक्त्वम्=विनियोगनानात्वम्, इत्यनेन न्यायेनेत्यर्थः ॥

\*ननु\*—नात्रात्मज्ञानस्यापि साध्यतया प्रतीतिरस्ति ; इच्छोपसर्जनतयाऽवगमात्, अपुरुषार्थत्वाच्च । अतः कथं ज्ञानार्थत्वेन विनियोगः ? किन्तु साध्य-साधनभावावगतेरानर्थक्यपरिहाराय विधिपरत्वाद् विधौ च भावनापुरस्सर एव पदानामन्वयः । भावना च पुरुषार्थं भाव्यमपेक्षते, इति मोक्षो भाव्यः, ज्ञानं करणम्, तत्र करणोपकाराकाङ्क्षायां यज्ञादीनां सन्निपातित्वासंभवादारादुपकारकत्वं निश्चीयत इत्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ \*स्वर्गादिवदिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

त्यादीनामविरक्तविषयत्वम्, इतरेषां विरक्तविषयत्वमिति विभागं न बुद्ध्यते, परमहंसप्रद्वेषात् ; ततः स उपेक्षणीय इत्यर्थः । संस्कारद्वारेण कर्मणां जिज्ञासाहेतुत्वमभिधाय “तमेतमि”त्यादिवाक्यमुदाजहार, नच तेन संस्कारकर्मत्वं प्रतीयते, इत्यसंगतिमाशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अथवेति\* ॥ सर्वाण्येव कर्माण्यधिकारान्तरविधिविधेयानि भविष्यन्तीति संबन्धः । अधिकारान्तरविधिमेवाह—\*ब्रह्मानुभवेति\* ॥ अधिकारविधेरुत्पत्तिविधिपूर्वकत्वाद् अत्र च तदनुपलम्भाद् नाधिकारान्तरविधिरित्याशङ्क्याह—\*उत्पत्तीति\* ॥ उत्पत्तिविधिशब्देनाग्नेयादयः संगृह्यन्ते । “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्” “स्वर्गकामो यजेते”त्यादिना कर्मणामन्यत्र विनियुक्तत्वात् कथं ब्रह्मानुभवे विनियोगः ? तत्राह—\*संयोगेति\* ॥ एकत्र विनियुक्तस्यान्यत्र विनियोगः संयोगभेदः । तदुक्तम्—“एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वमिति”ति । अग्निहोत्रे श्रूयते “दध्ना जुहोति” “दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादि”ति । तत्र संशयः—किं दध्नाः काम्यता ? उत क्रत्वङ्गताऽपीति । तत्र “दध्नेन्द्रियकामस्ये”ति फलसंबन्धश्रवणाद् अधिकारविधिरुक्त्वात् काम्यतैवेति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तः—साकाङ्क्षयोर्हो-वाक्यत्वम्, अत्र चोभयोर्निराकाङ्क्षत्वान्नैकवाक्यत्वम् । “दध्ना जुहोती”त्यस्यापि प्रसिद्धहोमानुवादेन तत्र दधिगुण-विधायकत्वान्नैकसाकाङ्क्षत्वम् । ततश्च “दध्ना जुहोती”ति श्रवणान्नित्यत्वम्, “दध्नेन्द्रियकामस्ये”ति श्रुतेः काम्यत्वं चेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—\*जीवनेति\* ॥ “यावज्जीवं दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेते”त्यावश्यकतया विहितं कर्म यथा काम्योपायतां भजते तद्वदप्रापीत्यर्थः ।

“तमेतं विविदिषन्ती”त्यत्र यज्ञादीनां विविदिषायां विनियोगो लक्ष्यते, न त्वनुभवे ; इष्यमाणत्वात्, अनुभवेन



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कथम् ? आत्मतत्त्वापरोक्षानुभवस्तावदिष्यमाणतया स्वर्गादिवद्भावनासाध्योऽवगम्यते ; पुरुषार्थत्वात्, शब्दज्ञाने तु संजाते तत्कामनायोगात्, असंजाते विषयानवगमादेव तत्र कामनायोगात् शब्दावगतेऽपरोक्षज्ञानमिष्यत इति युक्तम् । तच्च प्रयत्नान्तरसाध्यमिति पुरस्ताद् दर्शितम् । तत्र यज्ञादीनामिच्छोपसर्जनतयाऽऽख्यातसमीरितभावनाकरणतयाऽवगतानां साध्येनैवान्वयाद् यज्ञादीनि ब्रह्मानुभवसाधनान्यवगतानि । ततश्च—‘आत्मानुभवकामो यज्ञादीन्यनुतिष्ठेदिति विधिः परिणम्यते । नचेच्छामात्रेण संयोगः ; तस्या असाध्यमानताव-

## ऋजुविवरणम्

यथा—“स्वर्गकामः” “पशुकामः” इत्यत्र काम्यमानत्वेनोपादानात् साध्यत्वम्, तद्वदिति । \*ननु\*—कथमत्रापरोक्षज्ञानमेवेष्ट्यमाणतया निश्चेतुं शक्यते ? “विविदिषन्ती”ति ज्ञानमात्रप्रतीतिः, नापि तत्र कर्मणां विनियोगः संभवति ; स्वसामग्रीमात्रसाध्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*शब्दज्ञान इति\* ॥ फलसाधनस्यापि भाव्यत्वम् । नच श्रुतहानेन साक्षात्प्रयोजनत्वलाभांन्मोक्षस्य भाव्यत्वम् ; पश्वादीनां भाव्यत्वाभावप्रसङ्गात्, अतो न फलोपकार्यतेति भावः । \*ननु\*—अपरोक्षस्यापि कथमिष्यमाणत्वम् ? कथं च तत्र कर्मणां विनियोगस्संभवति ? शब्दादेव प्रथममपरोक्षज्ञानोत्पत्तेः, अनुत्पत्तौ वाऽनन्तरमपि स्वसामग्रीजन्यत्वाभावादित्याशङ्क्याह—\*तच्च प्रयत्नान्तरमिति\* ॥ भवतु नाम ज्ञानस्य साध्यत्वेनेष्ट्यमाणत्वं तत्र, तथाऽपि कथमत्र कर्मणामिच्छान्वितानां तत्साधनत्वनिश्चयः ? इत्याशङ्क्याह—\*यज्ञादीनामिति\* ॥ \*अयमर्थः\*—“विविदिषन्ती”त्याख्यातेन भावनाऽभिधीयते । सा च भाव्यमपेक्षते । तस्यां ज्ञानस्य भाव्यत्वम् ; साध्यत्वेनोपादानात् । अनन्तरं करणाकाङ्क्षायां तृतीयया करणत्वप्रतीतिर्यज्ञादीनां करणत्वेनान्वयः, तच्च भावनाकरणत्वं भाव्यनिष्पादनद्वारेणेति ज्ञानेनान्वय इति । \*ननु\*—इच्छामात्रेण भावनान्वयो यज्ञाद्यन्वयश्च स्यादित्याशङ्क्याह—\*नचेच्छामात्रेणेति\* ॥ इच्छाया इष्यमाणनिष्ठत्वाद् धात्वर्थोपसर्जनेच्छायां सनो विधानादुपसर्जनेन चान्वयायोगात्, “अश्वेन जिगमिषती”त्यत्र धात्वर्थेनान्वयात्, वस्तुसौन्दर्यजन्यत्वादन्यप्रकरणत्वाच्चेति भावः । \*ननु\*—कथमत्र यज्ञादीनामनुष्ठेयत्वेन प्रतीतिः ? ज्ञाने करणत्वम् ? ज्ञानस्य च साध्यता ? वर्तमानापदेशविरोधात्, विधौ च सति भावनाप्रतीतौ साध्य-साधनतानिर्वाहः, नच तदस्तीत्याशङ्क्याह—\*नच

## तत्त्वदीपनम्

यज्ञादीनां संबन्धेऽपि ब्रह्मानुभवस्य शब्दादेवोत्पत्तिसंभवाद् न तदर्थं यज्ञाद्यनुष्ठेयमिति शङ्कते—\*कथमिति\* ॥ यद्यपीच्छायां विनियोगः प्रतीयते ; तथाऽपि तस्या अपुरुषार्थत्वात् तत्र विनियोगानुपपत्तेरनुभवे विनियोगो वक्तव्यः, शब्दस्य चानुभवस्यापुमर्थत्वात् तेन यज्ञादीनां संबन्धानुपपत्तेरप्रतिबद्धापरोक्षप्रत्ययस्यानुभवपदाभिधेयस्य श्रवणमात्रादसंभवात् तदर्थं यज्ञादेरनुष्ठानमुचितमित्याशयेनाह—\*आत्मेति\* ॥ \*भावनासाध्य इति\* ॥ वेदनभावनासाध्य इत्यर्थः । न केवलमपुमर्थत्वाच्छब्दज्ञानस्यासाध्यत्वम्, अपित्वसंभवाच्चेत्याह—\*शब्देति\* ॥ शब्दादेवापरोक्षप्रत्ययोपजनेन तदर्थत्वं तेषामित्याशङ्क्याह—\*तच्चेति\* ॥ असंभावनादिप्रतिबन्धसङ्गात्वात् प्रथमं शब्दस्य तजनकत्वम्, किं तु प्रतिबन्धविगमापेक्षयेत्यर्थः । \*पुरस्तादिति\* । अवाप्तिप्रकारश्च वेदान्तेष्वेव निर्दिष्ट इत्यस्य व्याख्या-नसमये इत्यर्थः ॥ अपरोक्षानुभवस्य भाव्यत्वेनान्वयेऽपि कथं यज्ञादीनां भावनाकरणत्वेनान्वितानां करणत्वेन संबन्धः ? तत्राह—\*तत्र यज्ञादीनामिति\* ॥ तत्रापरोक्षज्ञानस्य भाव्यत्वे सतीति यावत् । इच्छोपसर्जनतया निर्दिष्टेन ज्ञानेन यज्ञादीनामन्वयादिति योजना । इच्छोपसर्जनतया विशेषणतया इष्यमाणतयेति वा । विविदिषन्तीत्यत्राख्यातेन भावना तावत् प्रतीयते । तस्याश्च भाव्य-करणेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामिष्यमाणं वेदनं भाव्यत्वेन संबध्यते, यज्ञादयश्च करणत्वेन, शमादय इतिकर्तव्यतात्वेन, तत्र भाव्यनिवृत्तिद्वारेण करणस्य भावनाकरणत्वमिति यज्ञादीनां ब्रह्मानुभवकरणत्वेन संबन्ध इत्यर्थः । यज्ञादीनामिच्छासाधनत्वमेव किं न स्यादित्यत्राह—\*नचेति\* ॥ अश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वस्येष्ट्यमाण-गमनकरणत्ववद्यज्ञादीनामिष्यमाणवेदनकरणत्वम्, इच्छाया विषयसौन्दर्यजन्यत्वादित्यर्थः । विविदिषन्तीत्यत्र न



## पञ्चपादिकाविवरणम्

गमात् । नच 'विविदिषन्ती'ति वर्तमानताविरोधः, लेट्परिग्रहेण विधेरेवावगमात् । नच नित्य-काम्याधिकारान्तरविरोधः ; एकस्य कर्मणोऽनेकाधिकारविधिसम्बन्धावगमात् । \*ननु\* कुण्डपायिनामयने "मासमग्निहोत्रं जुहोती"त्यग्निहोत्रस्य प्रकरणान्तरत्वात् प्रसिद्धाग्निहोत्रात् कर्मान्तरत्ववद् विविदिषावाक्यस्य च प्रकरणान्तरत्वाद् न प्रसिद्धाग्निहोत्रादीनामत्र विनियोगः कल्पयितुं शक्यते ; अतः कर्मान्तराण्येवेहोत्पत्त्यधिकाराभ्यां सह विधीयन्ते, \*नैतद्युक्तम्\* ; कुण्डपायिनामयनेऽग्निहोत्रशब्दस्यालौकिकाभिधानत्वादाख्यातपरतन्त्रतया तदुक्तार्थाभिधायिनः स्वातन्त्र्येण प्रदेशान्तरविहिताग्निहोत्रपरामर्शकत्वानुपपत्तेराख्यातस्य च जुहोतेः सामान्यवाचिनः स्वसन्निहितकारकादिनिरूपितं कर्मान्तरं विहाय व्यवहिताग्निहोत्रपरामर्शित्वायोगात् कर्मान्तरमेव मासगुणविशिष्टं विधीयत इत्युक्तम्, इह त्वध्ययन-यज्ञ-दान-तपोऽनाशकशब्दानां लौकिकाभिधानतया स्वातन्त्र्यात् प्रदेशान्तरविहिताध्ययनादिपरामर्शोपपत्तेस्तान्येव कर्माणि संयोगभेदेन विधीयन्त इत्युपपद्यते ॥

## ऋजुविवरणम्

वर्तमानेति\* ॥ कथं कर्मणामधिकारान्तरसंबन्धः ? नित्यकाम्याधिकारान्तरसंबन्धिनामन्यसंबन्धविरोधात्, इत्याशङ्क्याह—\*नच नित्य-काम्येति\* ॥ \*‘नैतद्युक्तमि’त्यादेरयमर्थः\*—कुण्डपायिनामयने प्रकरणान्तरत्वमात्रं कर्मान्तरत्वनिमित्तं न भवति, किन्तु तत्राग्निहोत्रशब्दस्य प्रसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शकत्वायोगः, तदयोगश्चाख्यातोक्तार्थाभिधानात्, तच्चाख्यातपरतन्त्रत्वात्, पारतन्त्र्यञ्चालौकिकाभिधानत्वात् प्रवर्त्यमानत्वादिति । तर्ह्याख्यातमेव प्रदेशान्तरविहितकर्मपरामर्शकं भवत्विति, नेत्याह—\*आख्यातस्य चेति\* ॥ प्राप्तकर्मानुवादेनानेकगुणविधानादिति भावः । \*ननु\*—“विविदिषन्ती”त्यादिशास्त्राद् दृष्टसामग्रीजन्यत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य साधयति—\*सति प्रमाणकारण

## तत्त्वदीपनम्

भावना प्रतीयते, वर्तमानापदेशत्वात्, तेन यज्ञादीनां न वेदनकरणत्वेनान्वयः, तत्राह—\*न चेति\* ॥ ‘अग्निहोत्रं जुहोती’त्यत्र वर्तमानापदेशत्वेऽपि, अपूर्वार्थत्वात् लेट्परिग्रहेण यथा विधिपरत्वम्, तथा विविदिषन्तीत्यस्याप्यपूर्वार्थत्वादित्यर्थः । कर्मणां कथमनुभवकरणत्वेन संबन्धः ? नित्यकाम्याधिकारविध्यन्तरविरोधादिति, तत्राह—\*न चेति\* ॥ नित्यत्वेन विहितस्याप्यग्निहोत्रस्य यथा संयोगभेदात् काम्यत्वं तद्वदग्रापीत्याह—\*एकस्येति\* ॥ न चान्नाथवेत्यनेन पोन्नरुक्त्यम् ; संग्रहविवरणरूपत्वादस्येत्यर्थः ।

नित्यकाम्याधिकारविधिविहितानां कर्मणां संयोगभेदेन ब्रह्मानुभवविनियोग इत्यवादि, तदाक्षिपति—\*ननु कुण्डपायिनामिति\* ॥ ‘यज्ञेन विविदिषन्ती’त्यत्र यज्ञादिशब्देन प्रसिद्धाग्निहोत्रादि परामर्शं शक्यते, कर्मप्रकरणाद् व्युत्थितत्वात्, यथा ‘मासमग्निहोत्रं जुहोती’त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य न प्रसिद्धाग्निहोत्रशब्दाभिधायित्वम्, तस्य व्यवहितत्वात्, तथाऽग्रापीत्यर्थः । कर्मान्तरोत्पत्तिविध्यभावात्कथमधिकारविधिरित्याशङ्क्य सोऽपि कल्प्यत इत्याह—\*अत इति\* ॥ वैषम्येणोत्तरमाह—\*नैतदिति\* ॥

‘मासमग्निहोत्रं जुहोती’त्यत्र न कर्मान्तरं विधीयते, किं तु प्रसिद्धाग्निहोत्रमिति वदन् प्रष्टव्यः, किमग्निहोत्रशब्दात्तत्परामर्शः, उताख्यातात् ? नाद्य इत्याह—\*कुण्डपायिनामिति\* ॥ अग्निहोत्रशब्दस्य प्रदेशान्तरविहिताग्निहोत्रपरामर्शकत्वानुपपत्तेः कर्मान्तरं विधीयत इति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*आख्यातेति\* ॥ पारतन्त्र्ये हेतुमाह—\*अलौकिकेति\* ॥ प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थानभिधायित्वादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*आख्यातस्येति\* ॥ जुहोतेः कारकमात्रावच्छिन्नक्रियामात्राभिधायिनो विशेषमन्तरेणार्थवसानात् स्वप्रकरणगतकारकविशेषविशिष्टकर्मान्तरपरित्यागेन प्रसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शासंभवाद् अग्निहोत्रशब्दस्य तद्वै कथंचिद्वृत्तेः कर्मान्तरस्यैव मासगुणविशिष्टस्य विधानमित्यर्थः । ततो वैषम्यमाह—\*इह त्विति\* ॥ हितमितमेध्याशनमनाशकमितरत्स्पष्टार्थम् । केवलव्यतिरेकाभावाच्च-

## प्रदीपः

वेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति ॥ अत्रापिशब्दस्य काकाक्षिन्यायेन धर्मजिज्ञासायाः प्रागित्यनेनाधीतवेदान्तस्येत्यनेन च सम्बन्धः । तथाच केचन ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्ताः, कर्मावबोधात्प्राक्, केचन चानधीतवेदान्ता अपि वेदार्थकर्मविचारात्प्राग्



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* एवमपि ब्रह्मज्ञानं दृष्टप्रमाणसामग्रीजन्यत्वाद् नादृष्टमपेक्षते ; सति प्रमाणकारणे यज्ञाद्यभावाद् ज्ञानो-  
दयादर्शनाभावात्, \*नैतत्\*, दृष्टकारणकल्लसौ ह्यन्वय-व्यतिरेकप्रमाणान्तर्भूतत्वात् केवलव्यतिरेकस्य तदपेक्षा युज्यते,  
इह तु सुखस्य दृष्टकारणसम्पत्तौ केवलव्यतिरेकाभावेऽपि विधानादेवादृष्टसापेक्षत्ववत् सम्यग्ज्ञानेऽपि विधानादेवा-  
दृष्टसापेक्षत्वमुपपद्यते । \*ननु\*—कर्मणां विज्ञाने विनियोगद्वाराभावाद् विज्ञानफले मोक्षे विनियोगः कल्प्यते—  
\*इति\*, \*उच्यते\* ;—यथा यागादिकर्मणां स्वर्गाद्युद्देशेन विहितानां तदुपपत्तये विधिसामर्थ्यादेव मध्य-  
वर्त्यपूर्वाणि कल्प्यन्ते, एवमिहाप्यन्तःकरणशुद्धिचित्तैकाग्रयादिद्वारं कल्प्यतामिति । \*किञ्च\*—साक्षाच्छ्रुत-  
ज्ञानसाधनत्वानुपपत्तौ तत्फलसाधनत्वकल्पनाद् वरं परम्परयाऽपि तत्साधनत्वकल्पनम्, करणविभक्तेः ‘काष्ठैः

## ऋजुविवरणम्

इति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां कारणत्वनिश्चयः, अत्र तु कर्मणां व्यतिरेकादर्शनान्न कारणत्वमित्यर्थः । \*दृष्टकारण-  
कल्लसाविति\* ॥ दृष्टानां कारणत्वकल्लसावित्यर्थः । अथवा दृष्टम्-दर्शनम्, तेन कारणकल्लसौ कारणत्वकल्पन  
इत्यर्थः । \*केवलव्यतिरेकाभावेऽपीति\* ॥ केवलं दृष्टान्तेन व्यतिरेकादर्शनेऽपीत्यर्थः । दृष्टान्ताभावेन ज्ञानानुत्पत्ति-  
दर्शनेऽपीत्यर्थः । \*विनियोगद्वाराभावादिति\* ॥ अयमर्थः—न तावत् साक्षात् कर्मणां ज्ञानसाधनत्वं संभवति ;  
शब्दादेर्विद्यमानत्वात्, किन्त्वितिकर्तव्यतात्वम्, तत्र कर्मणां विनियोगे द्वारकार्यं वक्तव्यम् ; तदभावाच्च विनियोग  
इति । \*ननु\*—“यज्ञेने”ति साक्षात् साधनत्वं श्रूयते, तदसंभवे श्रुतसाक्षात्साधनत्वहानाय फल एव साक्षात् साधनत्व-  
कल्पनं युक्तमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च साक्षाच्छ्रुतेति\* ॥ कथं फलसाधनत्वे करणविभक्तेरयोगः ? फल एव  
करणत्वादित्याशङ्क्याह—\*नचास्मिन् वाक्ये इति\* ॥ मा भूद् मोक्षस्य साध्यत्वम्, आत्मनस्तु द्वितीयया साध्यत्वं

## तत्त्वदीपनम्

यज्ञादेर्ज्ञानहेतुत्वासंभव इति शङ्कते—\*नन्वेवमिति\* ॥ अधिकारान्तरविधिविहितानाम् अन्यत्र विनियोगसंभवेऽपी-  
त्यर्थः । प्रमाणपदं प्रमितिपरम्, दृष्टा या प्रमितिसामग्री, तज्जन्यत्वादित्यर्थ इति । असिद्धिं सन्धानं प्रत्याह—  
\*सतीति\* ॥ अदृष्टव्यतिरेकप्रमासामर्थ्यां सत्यामदृष्टाभावापराधेन ज्ञानोत्पत्त्यभावानुपलब्धेरित्यर्थः । विकल्पासह-  
त्वान्नैतच्चोद्यमित्याह—\*नैतदिति\* ॥

किं सर्वत्र कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाधीनमित्याश्रित्य व्यतिरेकाभावाददृष्टस्य ब्रह्मज्ञानहेतुत्वं निरस्यति, उतान्य-  
थाऽपि कारणत्वसिद्धिमङ्गीकृत्य ? आद्ये व्यतिरेकस्य प्रयोजकत्वं युक्तमित्याह—\*दृष्टेति\* ॥ अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वं  
दृष्टशब्दार्थः । द्वितीयेऽप्यस्य ज्ञानार्थत्वं न विरुद्धयत इत्याह—\*इह त्विति\* ॥ इहेति पदं “सम्यग्ज्ञाने” इत्यनेन  
संबध्यते, विषयेन्द्रियसंयोगादिलक्षणकारणसंभवेऽदृष्टाभावापराधेन सुखानुत्पत्त्यदर्शनेऽप्यदृष्टस्य हेतुत्वमाश्रित्य “पुण्यो  
वै पुण्येन कर्मणा” “धर्मात्सुखं चे”ति शास्त्रानुरोधेन ततो व्यतिरेकाभावेऽर्थदृष्टस्य ब्रह्मज्ञानहेतुत्वमविरुद्धमित्यर्थः ।  
विधान्तरेण कर्मणां ज्ञानहेतुत्वमाक्षिपति—\*ननु कर्मणामिति\* ॥ कर्मणां न साक्षाद् ज्ञानहेतुत्वम् ; अप्रमाणत्वात्, ततः  
परम्परया तद्वेतुत्वं वाच्यम्, न चात्र काचित् परम्परा लक्ष्यते । तस्मात् कर्मणां ज्ञानफले विनियोग इत्यर्थः । नच—  
शुद्धिद्वारस्य पुरोक्तत्वाद् द्वाराभावोऽसिद्ध इति—शङ्क्यम् ; तथा सति करणविभक्तेर्बाधापातादित्यभिसन्धिः ।  
विनियोगद्वाराभावोऽसिद्ध इत्याह—\*उच्यते इति\* ॥ क्षणभङ्गुरायाः क्रियायाः कालान्तरभाविफलसाधनत्वा-  
संभवात् तदुपपादनायाऽवान्तरापूर्वकल्पनवत् कर्मणां साक्षाद् ज्ञानहेतुत्वासंभवात् शुद्ध्युत्पादनद्वारा ज्ञानहेतुत्व-  
मित्यर्थः ॥

यद् यत्र करणत्वेन श्रुतम्, तदनुपपत्तौ तत्फलाकारणत्वस्य कल्पनमुचितम् ? उत प्रणाड्याऽपि तत्करणत्वस्य ? इति  
वीक्षायामन्त्य एव युक्त इत्याह—\*किंच साक्षादिति\* ॥ मुख्यार्थातिक्रमस्योभयत्र तुल्यत्वाद् अन्त्यस्यैव कथं समी-  
चीनत्वम् ? तत्राह—\*करणेति\* ॥ काष्ठानां ज्वालोत्पादनद्वारा पाकहेतुत्वेऽपि ‘काष्ठैः पचती’ति करणविभक्तेर्दर्शनात्

## प्रदीपः

ब्रह्मविचारं सप्रयोजनं कुर्वन्तो दृश्यन्ते । अत्रानवीतवेदान्तानामपि देवानां ब्रह्मविचाराधिकारज्ञापनेन नाध्ययनविधिमूलको



## पञ्चापादिकाविवरणम्

पचतीति परम्परया साधनेऽपि दर्शनात्, फलसाधनत्वेऽपि तदयोगात् । नचास्मिन् वाक्ये यज्ञादिसाध्यो मोक्षः श्रूयते, आत्मा तु ज्ञानकर्मतया तत्साध्योऽवगम्यते, न यज्ञादिसाध्यः । \*किञ्च\*—प्रमाणान्तरविरोधं परिहृत्यैव श्रुतपरित्यागेनाश्रुतकल्पना युक्ता, अस्ति च “नान्यः पन्था विद्यते” “न कर्मणा न प्रजये”त्यादिना कर्मणां मोक्षसाधनत्वनिषेधः । \*किञ्च\*—परम्परया साधनत्वकल्पना प्रमाणान्तरमप्यनुसरतीत्याह—\*येन केनचन यजेतेत्यादिः\* ॥ अन्तःकरणशुद्धिपरवाक्यजातोपलक्षणार्थः ।

\*ननु\*—विशुद्धिद्वारेण ज्ञानहेतुत्वे संस्कार-विविदिषापक्षयोः को विवेकः ? \*उच्यते\*—श्रवण-मनन-ध्यानाभ्यासादिसहकारिकारणसम्पत्तावेव संस्कारो विज्ञानं साधयति, तदभावे सत्यभ्युदयमेव, विविदिषायां तु विज्ञानस्य कर्मफलत्वात् फलपर्यन्तं साधनानि सम्पाद्यापि विज्ञानं जनयन्तीति विशेषः । अत्र कश्चिद्देवान्तेऽपि सर्वसंकरवादी भेदाभेदमुखरताजडवचनो विविदिषावाक्यादेव कर्मणां मोक्षसाधनत्वं कल्पयति, स च

## ऋजुविवरणम्

प्रतीयते, तत्प्राप्तिश्च मोक्षः, तत्रैव कारणत्वमित्याशङ्क्याह—\*आत्मा तु ज्ञानेति\* ॥ \*ननु\*—यद्यपि मोक्ष-साधनत्वं न श्रूयते ; तथाऽपि श्रुतकरणत्वनिर्वाहाय मोक्षसाधनत्वं कल्प्यते, इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च प्रमाणान्तरेति\* ॥ \*ननु\*—कर्मनिषेधकं केवलकर्मविषयमित्यपि वक्तुं शक्यते, दृश्यते तावत् कर्मणां विनियोगः, नासौ ज्ञाने परम्परयाऽऽश्रयणेऽपि ; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनासाम्यात्, प्रमाणविरोधस्य च तदवस्थत्वात्, अनुग्राहकाभावश्चाविशिष्टः, अत्र श्रुतकरणत्वनिर्वाहलाभात् तदेवाश्रयितुं युक्तम्, अपिच “येन केनचने”ति श्रुतिश्च व्यर्था, प्रकृतानुपयोगादित्याशङ्क्यावतारयति—\*किञ्च परम्परयेति\* ॥ \*ननु\*—नात्र परम्परया साधनत्वं प्रतीयते, अतः कथं प्रमाणान्तरं तदनुसरतीति निश्चीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्तःकरणेति\* ॥ \*ननु\*—सूत्रकारेण “अश्ववदि”त्युदाहरणाद् मोक्ष-साधनत्वं कर्मणां दर्शितमित्याशङ्क्याह—\*अश्वेन जिगमिषतीत्यत्रेति\* ॥ \*ननु\*—न—“अश्ववदि”त्युदाहरणे

## तत्त्वदीपनम्

शुद्धिद्वारा ज्ञानसाधनत्वपक्षेऽपि करणविभक्तेर्न विरोध इत्यर्थः । इतरत्र तु विरोधः स्यादित्याह—\*फलेति\* ॥ “विविदिषन्ती”तीष्यमाणज्ञानं प्रति ‘यज्ञेने’ति या करणविभक्तिः, सा फलकरणत्वपक्षे कुप्येतेत्यर्थः । मोक्षवाचकपदाभावादपि न कर्मणां तत्साधनत्वेनान्वय इत्याह—\*नचेति\* ॥ “तमेतमि”त्यत्रात्मा निर्दिष्टः, तद्भावश्च मोक्ष इति कथं तदश्रवणम् ? इत्याशङ्क्याह—\*आत्मेति\* ॥ \*तत्साध्यः\*—तत्प्रकाश्य इत्यर्थः । प्रमाणान्तरविरोधप्रसङ्गादपि न मोक्ष-करणत्वेन कर्मणामन्वय इत्याह—\*किं च प्रमाणेति\* ॥ अस्मन्मते कर्मणां कल्मषनिवर्तकतायाः श्रुत्यन्तरसिद्धत्वात् “तमेतमि”त्यत्रापि परम्परया साधनत्वकल्पनं युक्तमित्याह—\*किंचेति\* ॥ ‘कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः’ “हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते”इत्यादिवचनानुरोधेन कर्मणामपवर्गान्वयः किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्तःकरणेति\* ॥ सकलश्रुति-स्मृतिपर्यालोचनया कर्मणामन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वोपलम्भादितराण्यन्यथा नेयानीत्यर्थः ॥

संस्कारद्वारेण विविदिषाद्वारेण वा कर्मणां ज्ञानहेतुत्वमिति मतभेदः प्रदर्शितः, स नोपपद्यत इति चोदयति—\*ननु विशुद्धीति\* ॥ शुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वेऽप्यान्तरालिको भेदोऽस्तीत्याह—उच्यत इति\* । कर्मणां संस्कारार्थत्वे सहकारिसंपत्तौ ज्ञानहेतुत्वम्, इतरथा पुण्यलोकफलत्वम्, मतान्तरे तु कर्माणि श्रवणादिकं संपाद्यापि ज्ञानं जनयन्ति ; ज्ञानोद्देशेन कर्मविधानात्, स्वर्गोद्देशेन विहितकर्मणामपूर्वप्रणाड्याऽपि स्वर्गसाधनत्ववदित्यर्थः । ‘अश्वेन जिगमिषती’त्युक्ते इष्यमाणगमनद्वारा ग्रामप्राप्तावश्वस्य हेतुत्वोपलम्भवद् ‘यज्ञादिना विविदिषन्ती’त्यत्रापि यज्ञादीनामिष्यमाण-ज्ञानद्वारा मोक्षान्वय इति भास्करोक्तमनूद्य दूषयति—\*अत्रेत्यादिना\* ॥ मुक्तेः कर्मसाध्यत्वेऽनित्यत्वादिसङ्गो न्यायः, “नान्यः पन्था विद्यते”इत्यादिरागमः । तयोः सम्यक्परिचयाभावाद् नासौ दूष्यः, किंतु शोच्य

## प्रदीपः

ब्रह्मविचारः, किन्तु “उपनिषदमावर्तयेत्” इति विधिमूलक एव ब्रह्मविचार इत्यपि केचन मन्यन्ते । न हि कर्मणां ब्रह्मज्ञानापेक्षा, इति हि “अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा” इत्यादिभिरवगम्यते, इति “सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरिति”सूत्रं परम्परया कर्मोपयोगमेव विवक्षतीति



## पञ्चपादिका

स्यात् । न च नैयोगिके फले कालनियमोऽस्ति । तेन पूर्वजन्मानुष्ठितकर्मसंस्कृतो धर्मजिज्ञासां तदनुष्ठानं चाप्रतिपद्यमान एव ब्रह्मजिज्ञासायां प्रवर्तते, इति न नियमेन तदपेक्षोऽथशब्दो युज्यते । \*एतेन\*—

## पञ्चपादिकाविवरणम्

न्यायागमाभिज्ञानशून्यत्वादुपेक्ष्यत इति । ‘अश्वेन जिगमिषती’त्यत्राश्वस्य पुनरावृत्तिपर्यन्तताऽपि क्वचिद् दृष्टा, इति नासौ कर्मणां मोक्षसाधनत्वे दृष्टान्तः । न्यायागमाभ्यां तु ज्ञानमेव सद्धारं साध्यमित्युक्तम्, व्यवहितफलेषु कर्मसु न फलपर्यन्तमनुष्ठानप्राप्तिः ; चित्तस्य प्रत्यक्षप्रवणताद्वारफलमवगम्योपरमसिद्धेरित्येवं वर्णिते पूर्ववादिना, सिद्धान्तयति—\*सत्यमेवम्\* ; यदि समानजन्मानुष्ठितमेवेति\* ॥ \*अयमाशयः\*—प्रवृत्तिपर्यन्ते-च्छेदयप्रभृत्यनुभवपर्यन्तविषये प्रवृत्त्यधिकारोपाधितया पूर्वक्षणे प्रतिपत्तव्याधिकारिविशेषणप्रतिपादनाथोऽयमथ-शब्दः । तत्राज्ञाततयैवानेकजन्मव्यवहितफलहेतुषु कर्मसु फलप्रवृत्तिसमकालप्रतिपत्त्यनपेक्षेषु न तत्प्रतिपत्त्य-

## ऋजुविवरणम्

सर्वसाम्यं विवक्षितम्, किन्तु साधनत्वमात्रम्, न च तत्र पुनरावृत्तिपर्यन्तताऽनुमातुं शक्यते ; सिद्धे विनियोगात् साधनत्वे शास्त्रबलादेवापुनरावृत्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*न्यायागमाभ्यामिति\* ॥ यद्येवं वैयर्थ्यमेव कर्मणां प्राप्तम् ; साध्याभावात्साक्षाद् ज्ञानसाधनत्वाभावात्, अथवा—मोक्षसाधनत्वमेव ; अतो न विशेषः, इत्याशङ्क्याह—\*न्यायागमाभ्यामिति\* ॥ \*ननु\* एवं सति नानुष्ठाने विशेषः ; सर्वदा कर्मानुष्ठानस्यावश्यंभावित्वात्, चित्तशुद्धिहेतुत्वात्, अशुद्धेश्च यावद्देहभावित्वादित्याशङ्क्याह—\*व्यवहितफलेषु चेति\* ॥ “सत्यमि”त्यादिना कर्मफलस्यानियतकालत्वेन न तत्प्रतिपत्त्यर्थताऽथशब्दस्यैवेत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; न ह्येकजन्मानुष्ठितस्यैव कर्मणस्संस्कारद्वारेण हेतुत्वं जन्मान्तरकर्मसंस्कारस्याप्रतिपाद्यत्वे हेतुः, कर्ममात्रप्रदर्शनपरत्वमपि न निराकर्तुं शक्यम् ; वैयधिकरण्यात्, तस्यापि हेतुत्वेन प्रतिपत्तिसापेक्षत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्, यदि स्वाभिमतधिकारिविशेषणवत् तत्रापि कारणत्वात् प्रतिपत्तिसापेक्षत्वम्, तदिहाप्यविशिष्टम् ; अतो न विशेषणादन्यस्य विरोधः, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः प्रवृत्तिपर्यन्तेति\* ॥ \*प्रवृत्त्यधिकारोपाधितयेति\* ॥ \*अयमर्थः\*—प्रवृत्तिरेवाधिकारः प्रवृत्त्यधिकारस्तत्रोपाधितया, व्यवस्थापकतया, कारणतया वेति । “उपाधितये”त्यनेन संस्कारवैषम्यमुक्तम् ; उपाधिज्ञानस्यैवोपाधित्वनियमात् । यद्वा—प्रवृत्तावधिकारे वैयर्थ्यरूप इति विवक्षितम् ॥

\*ननु\*—“जायमानः” इत्यस्य कथमर्थवादत्वम् ? अपूर्वार्थत्वाद्विधित्वमेव, यद्वा—आर्थवादिकस्यापि

## तत्त्वदीपनम्

इत्यर्थः । तर्हि “यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्” इत्यश्वदृष्टान्तः कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अश्वेनेति\* ॥ अश्वस्य शीघ्रगमनसाधनत्ववद् ब्रह्मार्पणबुद्ध्या सम्यगनुष्ठितकर्माणि क्षिप्रं ब्रह्मबोधं जनयन्तीत्येतावन्मात्रमभिप्रेत्याश्वदृष्टान्तं सूत्रकृदबोचत्, तत्र विवक्षितांशपरित्यागेनाश्वस्य फलसाधनत्ववत् कर्मणामपि तथात्वकल्पनायां तस्य पुनरावृत्तिसाधनत्वं दृष्टम्, इति कर्मणामपि तथात्वं स्यादित्यनिर्माक्षप्रसङ्गः । तस्माद् विवक्षितांशो ग्राह्य इत्यर्थः । इतश्च विवक्षितांशो ग्राह्य इत्याह—\*न्यायेति\* ॥ अधहननस्य तण्डुलनिष्पत्तिफलकत्वाद् यावत्फलोदयमनुष्ठानवत् कर्माणि ज्ञानोदयपर्यन्तमनुष्ठेयानि, ततश्च न विविदिषासंन्याससिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*व्यवहितेति\* ॥ प्रत्यक्प्रावण्यादेः कर्मसाध्यत्वात् तत्सिद्धावुपरमसिद्धिरित्यर्थः । विविदिषाद्वारा कर्मणां ज्ञानहेतुत्वस्य सिद्धान्तिनाऽप्यभ्युपगमात् दूष्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*एवमिति\* ॥ अनभिमतांशस्य विद्यमानत्वाद् दूष्यत्वं युक्तमित्यर्थः । जन्मान्तरीयकर्मणां संस्कारद्वारेण ज्ञानहेतुत्वमिष्टं चेत्, तर्हि तदानन्तर्यमथशब्दार्थः स्यादिति, अत आह—\*अयमाशय इति\* ॥ उभयसंमतमर्थमाह—\*प्रवृत्तीति\* ॥ विषये विचार इति यावत् । प्रवृत्तिरेवाधिकारः प्रवृत्त्यधिकारः, प्रवृत्तावधिकारः स्वामित्वमिति वा । तदुपाधितया, तद्धेतुतयेत्यर्थः । फलितं दर्शयति—\*तत्रेति\* ॥

ऋणापाकरणस्य जन्मान्तरे कृतत्वाद् न तद्धेतुतया समानजन्मानुष्ठितकर्मावगमस्य जिज्ञासाहेतुत्वम्, ततश्च



## पञ्चपादिका

ऋणापाकरणद्वारेणापि नियमेन पूर्ववृत्तत्वम्—\*प्रत्युक्तम्\* ॥ तथाच श्रुति-स्मृती “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्” “तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवतः” इति ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

थोऽप्यथशब्द इति । \*ननु\*—समानजन्मानुष्ठितकर्मावगमोऽपि ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुर्भवति ; एतज्जन्म-प्रयुक्तत्वाद्यसम्बन्धस्य, अपाकृतर्णत्रयस्यैव च मोक्षाधिकारादिति, तत्राह—\*एतेन ऋणापाकरणद्वारेणापीति\* ॥ \*ननु\*—“ऋणानि लीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रजत्यधः” ॥ इति स्मर्यते, \*सत्यम्\* ; श्रुतिविरोधादपस्मृतिरित्याह—\*तथाच श्रुति-स्मृती “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव”ति\* ॥ \*ननु\*—“जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिमिर्ऋणवा जायते” इति श्रुतिरस्ति, \*सत्यम्\* ; अर्थवादो विधिश्रुतिविरोधे बाध्यते । \*किञ्च\* ऋणशब्देन पुत्र-यज्ञ-ब्रह्मचर्याण्येवोच्यन्ते ? किं वा तद्विधय इति ? न तावद् जायमानस्य पुत्रादिसम्बन्धो युज्यते ; योग्यानुपलब्धिविरोधात्, नापि तद्विधिसम्बन्धः ; विधिप्रतिपत्तिसामर्थ्यविकलस्याधिकाराभावात्, सामर्थ्यस्य चाधिकारिविशेषणत्वात् । गृहस्थो जायमानस्त्रिमिर्ऋणवा जायत इति चेत्, न ; तथा कल्पनायां “गृहात् प्रव्रजेदि”ति विधिविरोधात् । तत्रापि च पुत्रादिजन्मसम्बन्धितया गृहस्थजन्मनि योग्यानुपलब्धिविरोधः समानः । नच पुत्रादिविध्यनुष्ठानसामर्थ्याभावाद् गृहस्थजन्मसमये तद्विधिसम्बन्धो युज्यते । जन्मारभ्य पुत्राद्यधिकारसम्पत्तेः प्राग्विरोधिविध्यन्तरसम्बन्धपरि-

## ऋजुविवरणम्

स्वीकारः कस्मान्न भवति ? इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च ऋणशब्देनेति\* ॥ \*तथा कल्पनायामिति\* ॥ अविशेषण पारिव्राज्यविधानादित्यर्थः । कथं “गृह्णाती”ति श्रुतिविरोधः ? ऋणापाकरणानन्तर्येऽपि सङ्कोचमात्रम् ; कांस्य-भोजिनयात्, नैतावता तद्विरोधः, इत्याशङ्क्य, तत्रापि विकल्प्य दूषणमाह—\*तत्रापीति\* ॥ \*अथवा\*—तत्रापि विधिसंबन्धः ? पुत्रादिसंबन्धो वा ? इति विकल्प्य प्रथमकल्पे दूषणमाह—\*तथा कल्पनायामिति\* ॥ द्वितीयपक्षे पूर्वोक्तमेव दूषणमाह—\*तत्रापि चेति\* ॥ \*ननु\*—जायमानस्य विधिसंबन्धो मा भूत्, तदर्थानुष्ठानसामर्थ्याभावात्, गृहस्थजन्मसमये तु तद्विधिसंबन्धो युज्यते ; तदर्थानुष्ठानसामर्थ्यात्, इत्याशङ्क्याह—\*नच पुत्रादीति\* ॥ \*ननु\*

## तत्त्वदीयनम्

“एतने”ति ग्रन्थोऽनुपपन्नः, इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*नन्विति\* ॥ ऋणसंबन्धस्यैतज्जन्मप्रयुक्तत्वेऽपि तन्निराकरणं कस्मात् ? इत्याशङ्क्य प्रतिबन्धकत्वादित्याह—\*अपाकृतेति\* ॥ मानाभावाद्यसंबन्धमात्रनिराकरणस्य च जन्मान्तरीयकर्मभिः सिद्धत्वाच्च समानजन्मानुष्ठितकर्मापेक्षेत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ प्रमाणाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*ननु ऋणानीति\* ॥ स्मरणमात्रमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि स्मृतेः प्रमाणत्वाद् ऋणापाकरणानन्तरं मुक्त्यधिकार इत्याशङ्क्य प्रामाण्यासिद्धिमाह—\*श्रुतीति\* ॥ स्मृतेर्मूलभूता श्रुतिरप्यस्तीति शङ्कते—\*ननु जायमान इति\* ॥ \*त्रिमिरिति\* ॥ \*पुत्र-यज्ञ-ब्रह्मचर्यैरित्यर्थः\* ॥ श्रुतिसद्भावमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि तत्प्रामाण्यादादौ संन्यासासिद्धिरित्याह—\*अर्थवाद इति\* ॥ “हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः” इत्यवदानत्रयविधिशेषत्वेनार्थवादवाक्यस्य “ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि”ति विधिवचनविरोधेऽप्रामाण्यमित्यर्थः ॥

न्यायविरुद्धा चेयं श्रुतिरित्याह—\*किंचेति\* ॥ \*सामर्थ्यविकलस्येति\* ॥ अपरुढेन्द्रियतया ऋणविमोक्षकरणनियोगप्रतिपत्तावसमर्थस्येत्यर्थः । असामर्थ्येऽप्यधिकारः किं न स्यादिति मन्वानं प्रत्याह—\*सामर्थ्यस्येति\* ॥ ‘अर्थी समर्थो विद्वांश्चाप्युदस्तोऽधिकारी’ति प्रसिद्धेरित्यर्थः । जायमानशब्दस्य न यथाश्रुतोऽर्थः, येन तद्दूषणं भवेदिति शङ्कते—\*गृहस्थ इति\* ॥ कल्पनाया अबिरोधसापेक्षत्वाच्च च बिरोधान्न कल्पनेत्याह—\*न तथेति\* ॥ अपिच कल्पनायामपि किं पुत्रादिसंबन्धितया जन्म ? उत विधिसंबन्धितयेति विकल्पग्राह्यं दूषयति—\*तत्रापीति\* ॥ चरमं प्रत्याह—\*नच पुत्रेति\* ॥ श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानविलसितमेतद् दूषणमिति शङ्कते—\*जन्मारभ्येति\* ॥ प्रव्रज्या-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

हारार्थमिदं वचनमिति चेत्, न ; तथाकल्पनायां संन्यासविध्यन्तरविरोधात् । तस्मादर्थवादमात्रमेतत् ।  
 \*ननु\* “ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदि”ति विधिविरोधे कथं ब्रह्मचर्यादेव संन्यासो विधीयते ? न ;  
 विरक्तमुमुक्षुविषयत्वात् संन्यासस्य सामान्यविधिविरोधाभावात् । \*ननु\* कर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषयः  
 संन्यासः किं न स्यात् ? \*ननु\* ; “ब्रह्मचर्याद् गृहाद् वनाद्वा प्रव्रजेदि”त्यविशेषश्रवणात्, “अथ पुनरव्रती वा  
 व्रती वा अस्नातको वा स्नातको वोत्सन्नाग्निको वे”त्यनधिकारिणामाश्रमिभ्यः पृथगेव संन्यासाधिकारित्वेनोपा-  
 दानात्, अन्धादीनामपि पुत्र-पञ्चमहायज्ञादिकर्माधिकारादनधिकृतत्वासिद्धेः, अन्धादीनामप्यविरक्तानां संन्यासान-  
 धिकारात् तदेव संन्यासनिमित्तम् । “शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रु-  
 वम् ।” “अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमि”त्यादिनाऽऽत्मज्ञानाय शरीरेन्द्रियादिपाटवस्य प्रार्थ्यमान-  
 त्वात्, आत्मज्ञानशेषत्वाच्च संन्यासस्य “दृष्टिपूतं न्यसेत्पादमि”त्यादिस्मृतेश्च पटुतरेन्द्रियस्यैव संन्यासाधि-

## ऋजुविवरणम्

—अविशेषश्रवणस्यापि शास्त्रान्तरपर्यालोचनया विशेषविषयत्वं युक्तमेवेत्याशङ्क्याह—\*अथ पुनरिति\* ॥ \*ननु\*  
 —अस्मिन् वचने ये विशिष्योपात्ताः, तद्विषयमेवैतद्वचनम्, इतरदनुपात्तानधिकृतान्धादिविषयमेवेत्याशङ्क्याह—  
 \*अन्धादीनामिति\* ॥ \*ननु\*—वैदिककर्मानधिकृतत्वमधिकारनिमित्तम्, अस्ति चैतदन्धानाम् ; आज्यावेक्षण-विष्णु-  
 क्रमणाद्यङ्गानुष्ठानसामर्थ्याभावात्, सर्वाङ्गसंपादनसमर्थस्यैवाधिकारादित्याशङ्क्याह—\*अन्धादीनामपीति\* ॥ अथवा  
 —मा भूदविरक्तानामधिकारः, तथा नान्धानामधिकारः, विरक्तान्धानामधिकारात्, तद्विषयत्वाद्विधानस्येत्याशङ्क्याह—  
 \*तदेवेति\* ॥ अन्धत्वे सत्यपि केवलस्यानधिकाराद् वैराग्ये च सत्यधिकारात् तदेवाधिकारनिमित्तम्, यदागमन्याया-  
 दिति भावः । \*ननु\*—अनन्धस्याधिकारित्वे सिद्धे वैराग्यस्यैव हेतुत्वं भवेत्, तदेव कथम्, इत्याशङ्क्याह—  
 \*शरीरमिति\* ॥ \*ननु\*—व्यधिकरणोऽयं हेतुः ; नह्यात्मज्ञाने शरीरेन्द्रियादिपाटवसापेक्षत्वमन्धानां संन्यासा-  
 नधिकारं गमयतीत्याशङ्क्याह—\*आत्मज्ञानशेषत्वादिति\* ॥ उभयोरेकाधिकारित्वेन ज्ञाने च पटुतरेन्द्रियस्यैवा-

## तत्त्वदीपनम्

विधिर्विध्यन्तरशब्दार्थः । प्रत्यक्षश्रुतिविरोधान्नये कल्पनाऽवतरतीत्याह—\*न तथेति\* ॥ का तर्ह्यस्य गतिः ? इति  
 शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ \*अर्थवादमात्रमिति\* ॥ अवदानविधिस्तुतिमात्रमित्यर्थः । देवा-  
 दीन् प्रति पुत्रादिसंपादनेन निरस्तर्णसंबन्धस्य श्रुत्यर्थत्वान्नोक्तविकल्पनदूषणावकाश इति चेत्, मैवम् ; देवादिभिः  
 प्रत्तल्यार्थस्य सङ्गावे मानाभावात्, अत्य च सन्दिग्धार्थत्वात्, स्पष्टश्रुत्यन्तरपराहृतत्वाच्चेति द्रष्टव्यम् ॥

आदौ संन्यासविधेः श्रुत्यन्तराविरोधेन स्वार्थनिश्चायकत्वाद् न बाधकत्वं युक्तमिति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मचर्यमिति\* ॥  
 “गृही भवेदि”त्यादेरविरक्तविषयत्वेन सामान्यविषयत्वम्, इतरस्य च विरक्तविषयत्वम्, ततो नानयोर्विरोध इत्याह—  
 \*न विरक्तेति\* ॥ अधिकृतानधिकृतविषयत्वेनानयोः श्रुत्योरविरोध इत्यन्योक्तमनुवदति—\*ननु कर्मेति\* ॥ अधि-  
 कृतसंन्यासवचनविरोधान्नानधिकृतविषयत्वमित्याह—\*न ब्रह्मचर्यादिति\* ॥ अनधिकारिणां पृथक् संन्यासविधानादपि  
 नानधिकृतविषयत्वमित्याह—\*अथ पुनरिति\* ॥ अन्धादीनामनधिकृतत्वं चासिद्धमित्याह—\*अन्धादीनामिति\* ॥  
 अपिच संन्यासोऽन्धादिविषय इति वदन् प्रष्टव्यः—किमन्वादयो रागिणः संन्यासेऽधिक्रियन्ते ? उत विरक्ताः ?  
 नाद्य इत्याह—\*अन्धादीनामिति\* ॥ वैराग्याभावे शिखा-यज्ञोपवीतादित्यागासंभवादित्यर्थः । द्वितीये वैराग्यस्यैव  
 प्रयोजकत्वमापतितमित्याह—\*तदेवेति\* ॥ इतोऽपि नानधिकृतविषयः संन्यास इत्याह—\*शरीरं मे इति\* ॥  
 \*विचर्षणम् = विचक्षणमित्यर्थः । \*मधुमत्तमा = मधुरभाषिणी । देहोऽन्नशब्दार्थः । तथाऽपि कथं संन्यासस्यानधिकृत-  
 विषयत्वाभावः ? तत्राह—\*आत्मज्ञानेति\* ॥ “एतं वै लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती”त्यादिवाक्यपर्यालोचनया संन्यास-  
 स्यात्मज्ञानाङ्गत्वप्रतिपत्तेरात्मज्ञानस्य च शरीरेन्द्रियादिपाटवपूर्वकत्वाद् नानधिकृतविषयत्वमित्यर्थः । तत्रैव  
 हेत्वन्तरमाह—\*दृष्टिपूतमिति\* ॥ “संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानमि”ति वाक्यात् संन्यासस्य स्वतन्त्ररुल्लेखप्रतिपत्तेः कथं



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कारः । सर्वत्रात्मज्ञानप्रकरणे संन्यासस्य विहितत्वात् श्रवणाद्यङ्गतयाऽऽत्मज्ञानफलता च संन्यासस्य सिद्धा । कथं पुनः कर्मणां तत्त्यागस्य चात्मज्ञानफलता शक्याऽवधारयितुम् ? षोडशग्रहणाग्रहणयोरिव क्रत्वङ्गतयेति वदामः । क्रमेण वा कर्म-तत्त्यागयोरात्मज्ञानोपकारितया समुच्चयः कल्प्यते ; द्वारोपकारभेदात्, निर्वर्हणीयकल्म-षस्याचानन्तत्वात् । ब्रह्म-क्षत्रादिभेदेन वा व्यवस्था कल्प्यते ॥

## ऋजुविवरणम्

धिकारादनन्धानामेवाधिकार इति भावः ॥ \*ननु\*—कश्चिदात्मज्ञानशेषसंन्यासोऽस्ति, तत्र पटुतरेन्द्रियस्यैवा-धिकारो भवतु, इतरस्त्वन्धादिविषयो मोक्षार्थः फलार्थो वा, न तत्र पटुतरेन्द्रियापेक्षा, अथवा—नास्य ज्ञानाङ्गता ; प्रमाणाभावात्, उपकाराभावाच्च ; अतो विहितस्य फलाकाङ्क्षायां स्वातन्त्र्यमेव कल्पयितुं युक्तमित्याशङ्क्याह—\*सर्वत्रेति\* ॥ \*कथं पुनरिति\* ॥ भावाभावात्मकत्वेन विरेधात् समुच्चित्यानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्नैकज्ञानार्थतेति भावः । \*षोडशग्रहणाग्रहणयोरिति\* ॥ यथा—“अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती”ति षोडशग्रहणस्याङ्गत्वं प्रतीयते, तथा “नातिरात्रे” इति च श्रवणादग्रहणमप्यङ्गत्वेन गृह्यते ; तत्र भावनायां ग्रहणाग्रहणयोरैकस्मिन् प्रयोगेऽनुष्ठातु-मशक्यत्वाद्विकल्पेनानुष्ठानम्, एवमत्रापीत्यर्थः । कथं समविकल्पोऽङ्गीक्रियते ? कर्मणामसाधारण्येनान्तःकरण-शुद्धिहेतुत्वस्य दर्शितत्वात्, त्यागस्य च तद्धेतुत्वे प्रमाणाभावात्, अतुल्यार्थत्वे तु विकल्पाभावादित्याशङ्क्याह—\*क्रमेण वेति\* ॥ कथं समुच्चयः कल्प्यते ? कृतकर्मानुष्ठानोपकृतस्योपकारकान्तरानपेक्षणादित्याशङ्क्याह—\*द्वारोपकारभेदादिति\* ॥ द्वारभेदादुपकारभेदाच्चारुदुपकारकत्वादिति भावः ॥ यद्वा—द्वारस्योपकारभेदादित्यर्थः । \*ननु\*—कल्मषनिवृत्तिर्द्वारम्, तच्च कर्मभिः कृतम् ; निवृत्तकल्मषस्यैव संन्यासाधिकारात्, अतो द्वारलोपादननुष्ठान-मेव, नच समुच्चय इत्याशङ्क्याह—\*निर्वर्हणीयेति\* ॥ किञ्चित् कर्मनिवर्त्यम्, किञ्चित् त्यागनिवर्त्यम् ! नच कर्म-निवर्त्यमेव त्यागनिवर्त्यमिति भावः ॥ \*ननु\*—“कषाये कर्मभिः पक्वे” “धर्मेण पापमपनुदति” इत्यादिवचन-पर्यालोचनयाऽविशेषेण कर्मणां शुद्धिहेतुत्वं प्रतीयते, कथं तस्य विना कारणेन संकोचः क्रियते ? नच तेषामेव हेतुत्वमित्यपि निश्चेतुं शक्यते ; “न कर्मणा न प्रजया” “संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः” इत्यादिभिः कर्मनिषेधेन त्यागस्यैव सत्त्वशुद्धिहेतुत्वप्रमितेः, तत्सङ्कोचस्य चायुक्तत्वात् । नच विकल्पः ; अष्टदोषदुष्टत्वात्, नापि समुच्चयः ; तुल्यार्थत्वात्, शक्तिसङ्कोचस्य चायुक्तत्वात्, अतो न विकल्प-समुच्चयादित्याशङ्क्याह—\*ब्रह्म-क्षत्रादिभेदेन\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

ज्ञानाङ्गत्वम् ? तत्राह—\*सर्वत्रेति\* ॥ श्रुतौ स्मृतौ चेत्यर्थः । ज्ञानप्रकरणे संन्यासविधानानुपपत्त्या तस्य ज्ञानाङ्गत्वमित्यर्थः । तस्य किं स्वरूपोपकार्यङ्गत्वम् ? उत फलोपकार्यङ्गत्वम् ? इति वीक्षायामाह—\*श्रवणादीति\* ॥ आत्मज्ञानं फलमस्येत्यात्मज्ञानफलम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, श्रवणाद्यभावे आश्रममात्रधर्मानुष्ठानुर्बह्यस्थानप्राप्तिः ; अन्यथा त्यागस्यात्मज्ञानशेषत्वमित्यर्थः ॥

“तमेतमि”त्यादिवाक्यात् कर्मणां ज्ञानार्थत्वप्रतिपत्तेर्न तत्त्यागस्य ज्ञानार्थत्वम् ; विरोधात्, इति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ “अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती” “नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती”ति वाक्यात् पात्रविशेषग्रहणाग्रहणयोर्विकल्पेन क्रत्वङ्गत्ववत् कर्म-तत्त्यागयोरपि विकल्पेन ज्ञानहेतुत्वमविरुद्धमिति समाधत्ते—\*षोडशीति\* ॥ सति गत्यन्तरे विकल्पस्य न्याय्यत्वमित्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—\*क्रमेण वेति\* ॥ कर्मणां ज्ञानोपकारकत्वे त्यागो वृथा स्यादित्याशङ्क्याह—\*द्वारेति\* ॥ ज्ञानोत्पादने द्वारभूतस्योपकारस्य भेदादित्यर्थः । कल्मषनिरासातिरिक्तद्वारोपकारानिरूपणात् तस्य च—\*द्वारेति\* ॥ ज्ञानोत्पादने द्वारभूतस्योपकारस्य भेदादित्यर्थः । कल्मषस्यानन्त्यात् कस्यचित् त्यागेनोपमर्दः, कर्मभिः कृतत्वात् किं त्यागेनेति ? तत्राह—\*निर्वर्हणीयेति\* ॥ कल्मषस्यानन्त्यात् कस्यचित् त्यागेनोपमर्दः, कस्यचित् कर्मणेति द्वारोपकारभेदः । तथा कर्मणां शुद्धिर्द्वारम्, संन्यासस्य चानन्यव्यापारतया श्रवणाद्यनुष्ठानमित्यर्थः । पक्षान्तरमाह—\*ब्रह्मेति\* ॥ ब्राह्मणस्यैव संन्यासाधिकारात् तं प्रति त्यागस्य ज्ञानहेतुत्वम्, क्षत्रिय-वैश्यौ प्रति कर्माणि



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कियत्पुनरत्र परित्यज्यते? स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वम् । \*ननु\* उपवीतादि न त्यागमर्हति, न ; अग्निहोत्रादिभिरविशेषात् । \*ननु\* संन्यासकृत्वङ्गतया कर्मपरित्यागेऽप्युपवीतादि पश्चादुपादीयताम्, न ; जाबालश्रुतौ “प्रव्रजेदि”त्यग्निहोत्रादिभिरविशेषात् सहोपवीतादिना कृत्स्नपरित्यागं विधाय—“अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः” इत्याश्रमधर्मविधिसमये—“अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः” इति प्रश्नपूर्वकम्—“इदमेवास्य तद् यज्ञोपवीतं य आत्मे”त्येवकारेण बाह्ययज्ञोपवीतादि व्यावर्त्य, आत्मन एव यज्ञोपवीतत्वसम्पादनात् ॥

अत्र सर्वसङ्करवादी—पुरस्ताद् यज्ञोपवीतत्यागस्यानिर्दिष्टत्वात्—“ब्राह्मणः कथमयज्ञोपवीती”ति प्रश्नस्य प्रसङ्गाभावात् प्रक्षिप्तमिदं वाक्यमिति—जल्पति, तस्य तत्त्वदर्शन-तन्निष्ठपरमहंसपरिव्राजकद्वेष एवापराध्यते ; पुरस्ताद्विधिसामर्थ्यलब्धसर्वपरित्यागेनोपवीतादित्यागप्रसङ्गापरिज्ञानस्य स्वाभाविकत्वात् । तथाच—“अथ परिव्राडेकशाटीपरिवीतो मुण्डो दरपाऽपरण्यनित्यो भिक्षार्थी ग्रामं प्रविशेदासायं प्रदक्षिणेनाविचिकित्सं सार्व-वर्णिकं भैक्ष्यचर्यमभिशस्तपतितवर्जमयज्ञोपवीती शौचनिष्ठः काममेकं वैणवं दण्डमाददीते”ति परिव्राजक-मेवोद्दिश्य मैत्रायणी श्रुतिः । तथाच बोधायनोऽपि—“अत ऊर्ध्वं यज्ञोपवीतमासनं शिखा यष्टयः शिक्यं

## ऋतुविवरणम्

\*ननूपवीतादीति\* ॥ “विना यज्ञोपवीतेने”त्यादिस्मृतिपर्यालोचनया चावश्यकत्वप्रतीतेरिति ।

\*नाग्निहोत्रादिभिरिति\* ॥ अग्निहोत्रादीनामपि “वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते” इत्येवमादिभिरावश्यकत्व-श्रवणान्न तत्र विशेष इत्यर्थः । \*ननु संन्यासकृत्वङ्गतयेति\* ॥ स्मृत्यावश्यकत्वपर्यालोचनया पश्चादुपादानं कर्तव्य-मुपवीतादेः । नचाग्निहोत्रादेरपि परिग्रहः ; दारादिसाध्यत्वात्, तत्परिग्रहे च निषेधश्रवणात्, नचात्र निषेधश्रवण-मस्तीत्यर्थः । \*जाबालश्रुताविति\* ॥ यथाऽग्निहोत्रादीनामविशेषेण त्यागप्रतीतेर्नोत्तरकालमुपादानम्, एवमत्राप्यविशेषेण श्रुतौ स्मृतिबलान्न सङ्कोचः ; दुर्बलत्वात्, अतोऽत्र त्यागप्रतीतेर्न तत्कालीनत्वस्वीकार इत्यर्थः । \*ननु\*—अविशेष-श्रवणस्यापि शास्त्रान्तरपर्यालोचनया विशेषव्यवस्थापनं युक्तम् ; दुर्बलप्रमाणस्यापि कांस्यभोजिन्यायेनानुसरणीयत्वा-दित्याशङ्क्याह—\*सहोपवीतादिनेति\* ॥ यज्ञोपवीतत्यागे विवादः, नापि पुनः परिग्रहः, नापि श्रुतेः प्रक्षिप्तत्वशङ्का, श्रुति-स्मृत्योरस्यार्थस्य दर्शनादित्याह—\*तथाचेति\* ॥ “अथापि स्यादि”ति चोद्ये विशिष्टकर्मावबोधोपपक्षं न ब्रूम

## तत्त्वदीपनम्

ज्ञानहेतव इत्यर्थः । संन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वमङ्गीकृत्य न सकलकर्मत्यागस्य तदङ्गत्वमिति शङ्कते—\*कियत्पुनरिति\* ॥ “काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुरि”त्यादिवाक्यात् काम्यकर्मत्यागस्य ज्ञानहेतुत्वम्, न सकलकर्मत्याग-स्येत्यभिसन्धिः । “प्रव्रजेदि”त्यविशेषेण सकलकर्मपरित्यागाभिधायिवचनविरोधाद् भवमित्याह—\*स्वशरीरेति\* ॥

“अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः” इत्यादिनोपवीतादेरावश्यकत्वप्रतिपत्तेस्तदन्यस्य त्याग इति शङ्कते—\*ननूपवी-तेति\* ॥ “वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते” इत्यादिवचनादग्निहोत्रादेरावश्यकत्वप्रतिपत्तावपि त्यागवदुपवी-तादेरपि त्यागो युक्त इत्याह—\*नाग्निहोत्रेति\* ॥ \*ननु\* “प्रव्रजेदि”त्यादिवचनानुरोधात् सकलकर्मपरित्यागप्रतिपत्तावपि कौपीन-कन्थादिकं यथाऽऽदीयते, तद्गुपवीतादिकमप्यादेयमिति शङ्कते—\*ननु संन्यासेति\* ॥ क्रतुः संकल्पः, नच तेन न्यायेनाग्निहोत्राद्यादानम् ; दारसंश्लेषपूर्वकत्वादग्निहोत्रादेः, तस्य च संन्यासिनं प्रति निषिद्धत्वाद् नाग्निहोत्रादेः प्रतिप्रसवविधिप्रसक्तिरित्यर्थः । अनधीतचरणपरिचरणनिरतत्वात् त्रिदण्डिनां मतमुपेक्ष्यमित्याह—\*न जाबालेति\* ॥ “इदमेवास्य तद् यज्ञोपवीतम्” इत्यादेरवेदवचनत्वात् कथं तद्वलादुपवीतत्यागः ? इति भास्करः शङ्कते—\*अत्रेति\* ॥ “अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः” इत्यत्रोपवीतविधुरस्य ब्राह्मण्यं न संभवति ; आचमनादिसकलक्रियाङ्गत्वेनोपवीतस्य विहित-त्वादित्युच्यते । नच तदुपपद्यते ; उपवीतत्यागस्य प्रागनिर्दिष्टत्वात् प्रश्नाप्राप्तेरित्यर्थः । श्रुति-युक्तिशून्यत्वात् तज्जल्पन-मुपेक्ष्यमित्याह—\*तस्येति\* ॥ उपवीतत्यागस्याप्रसक्ततया तद्विधुरस्य ब्राह्मण्यप्रतिषेधानुपपत्तेरुक्तत्वात् कथं प्रद्वेष एवेत्युक्तमिति ? तत्राह—\*पुरस्तादिति\* ॥ उपवीतत्यागस्य वाक्यान्तरप्रापितत्वादपि नैतत्प्रक्षिप्तमित्याह—\*तथा-चेति\* ॥ तत्रैव स्मृतिं प्रमाणयति—\*तथेति\* ॥ \*अत ऊर्ध्वमिति\* ॥ पारमहंस्यप्राप्त्यनन्तरमित्यर्थः । अथशब्दस्य



## भामती

स्यादेतत्—मा भूदग्निहोत्र-यवागूपाकवदार्थः क्रमः, श्रौतस्तु भविष्यति ; “गृही भूत्वा वनी

## ऋजुप्रकाशिका

कर्मावबोध-ब्रह्मजिज्ञासयोर्हेतु-हेतुमद्भावस्योक्तविधयाऽभावेन हेतु-हेतुमद्भावप्रयुक्तस्य पौर्वापर्यस्य तयो-  
रभावेऽपि “गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्” इत्युक्त्या श्रुत्या प्रव्रजनस्य गार्हस्थ्यानन्तर्य-  
प्रतीतेः, प्रव्रजनस्य ब्रह्मजिज्ञासानियतत्वाद्, गार्हस्थ्यस्य च कर्मानुष्ठाननियतत्वात्, कर्मानुष्ठानस्य च कर्मावबोधं  
विनाऽभावादायातमेव क्त्वाश्रुतिमहिम्ना कर्मावबोध-ब्रह्मजिज्ञासयोः पौर्वापर्यमित्यभिप्रेत्य शङ्कते—\*स्यादेत-  
दिति\* ॥ \*अग्निहोत्र-यवागूपाकवदिति\* । पञ्चमे स्थितम्—अर्थाच्च । “अग्निहोत्रं जुहोति” “यवागूं  
पचति” इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं होम-यवागूपाकयोर्यथापाठं क्रमः ? उत पाक एव प्रथमः ? अनन्तरं  
होमः ? इति । तत्र होमस्य यवागूपाकानन्तर्ये नियामकश्रुत्यभावाद् “अग्निहोत्रं जुहोति” इति होमस्य प्रथमं पठित-  
त्वाद् यथापाठं होम एव प्रथमः ? अनन्तरं पाकः । नच—होमस्य होमद्रव्यसापेक्षत्वाद् होम्ययवागूद्रव्याय  
यवागूपाक एव प्रथम इति—वाच्यम् ; होमनिर्वृत्तेर्द्रव्यान्तरेणापि संभवात् । नच—एवं यवागूपाकस्य  
वैयर्थ्यमिति—वाच्यम् ; तस्यारादुपकारतयाऽदृष्टार्थत्वेनाप्युपपत्तेः । तस्माद्धोम एव प्रथम इति पूर्वपक्षे

## पञ्चपादिका

तस्मात् साधूक्तम्—\*धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति\* ॥

\*अथापि स्यात्\*—न हेतुत्वेनानन्तरवृत्तकर्मावबोधपेक्षमथशब्दं ब्रूमः, अपितु क्रमप्रतिपत्त्यर्थम् ;

## पञ्चपादिकाविवरणम्

जलपवित्रं कमण्डलुपात्रमि”त्येतानि वर्जयित्वाऽथ दण्डमादत्ते सखा मा गोपाये”ति संन्यासादूर्ध्वमेव दर्श-  
यति । तस्मादुक्त एवात्मज्ञानाङ्गभूतः संन्यासः । \*तस्मात्साधूक्तमिति\* भाष्योपसंहारः ॥

\*ननु\* नानन्तर्याभिधानमुखेनाधिकारिविशेषप्रतिपत्त्यर्थोऽयमथशब्दः, किं तु तदभिधानमुखेन क्रमप्रति-  
पत्त्यर्थ इति चोदयति—\*अथापि स्यान्न हेतुत्वेनेति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किं स्वयमेव क्रमं प्रतिपादयति ?

## ऋजुविवरणम्

इत्यनुवादो व्यर्थः, नाप्ययं निषेधः ; वैयर्थ्यबोधस्यैवाभावात्, नच तदभिधानमपि संभवति ; अथशब्दस्य तत्राव्युत्पत्तेः,  
तस्मादसंबन्धं चोद्यमित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु नानन्तर्येति\* ॥ “तदेतदयुक्तमिति”त्यनेन न्यायसूत्रत्वात् क्रम-  
प्रतिपत्त्यर्थता नास्तीत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; न्यायसूत्रस्यापि स्वार्थपरत्वात् क्रमस्यापि स्वार्थत्वे तत्परत्वसंभवात्,  
व्याहृतश्रायं ग्रन्थः ; उत्तरग्रन्थेऽपि हि न्यायसूत्रेऽपि क्रमप्रतिपादकत्वाङ्गीकारात्, नहि क्रमस्यापेक्षितत्वानपेक्षितत्वाभ्यां  
न्यायसूत्रस्य पक्षे सूत्रता भवति, तेन नायं हेतुः—न्यायसूत्रत्वादिति । ततश्चा“पिचे”त्यपि न युक्तं वक्तुम् ; पूर्वयुक्तेरपरि-  
निष्ठितत्वादित्याशङ्क्य विकल्प्यावतारयति—\*तत्र वक्तव्यमिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

चतुर्ष्वर्थेषु प्रसिद्धस्य कथं क्रमप्रतिपत्त्यर्थता ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु नानन्तर्येति\* ॥ अधिकारिविशेषस्या-  
प्रमितेरयुक्तेश्चेत्यर्थः । सूत्रस्य प्रतिपादकत्वप्रसिद्धेः प्रतिपादकत्वायुक्त्यभिधानमसंगतमित्याशङ्क्य, विकल्पपुरःसरं

## प्रदीपः

न कोऽपि दोषः । यावता च विनाऽपि कर्मविचारं कुत्रचन ब्रह्मविचारसंभवः, तावता नियतपूर्ववृत्तो न कर्मावबोधः, इति  
नाथशब्देन तदानन्तर्यं विवक्ष्यत इति निष्कर्षः । \*ननु\*—हेतु-हेतुमद्भावमादायैवानन्तर्यप्रतियोगिविवक्षायां, “हृदयस्याग्ने-  
वद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः” इति हृदयावदानानन्तर्यं जिह्वावदानस्य यत् प्रतिपादितम्, तद्विदमनुपपन्नं स्यात्, इत्यानन्तर्योक्ति-  
वशेन विनाऽपि हेतुत्वमानन्तर्यप्रतियोगिनिर्णयो युक्त एव । वर्तते ह्यत्रापि—“अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः । इष्ट्वा च



## भामती

भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्” इति जाबालश्रुतिर्गार्हस्थ्येन हि यज्ञाद्यनुष्ठानं सूचयति । स्मरन्ति च—  
“अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः । इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥” इति ।  
निन्दन्ति च—“अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान् । अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्

## ऋजुप्रकाशिका

प्राप्ते, राद्धान्तः—“अग्निहोत्रं जुहोति” इति होममनुष्ठापयन्नयं विधिर्होमस्य प्रयोजनमाकाङ्क्षते, प्रयोजनं विना विधेस्तदनुष्ठापकत्वायोगात् । एवं च प्रयोजनमाकाङ्क्षमाणोऽयं विधिः प्रयोजनोपयोगिनमर्थक्रममुपस्थापयति—  
“पक्त्वेव होतव्यम्” इति ; यवाग्वा होमेन प्रयोजनलाभात् । यत्तुक्तं द्रव्यान्तरेण होमनिर्वृत्तिसंभव इति, तदयुक्तम् ; तथा सति “यवागूं पचति” इति श्रुतयवागूद्रव्यवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नच—यवागूपाकस्यारादुपकारकत्वेनादृष्टार्थकत्वमुक्तमिति—वाच्यम् ; दृष्टार्थकत्वे संभवत्यारादुपकारकतयाऽदृष्टार्थकत्वस्य कल्पयितुमयुक्तत्वात्, यवाग्वा दृष्टहोमनिर्वृत्त्यनन्तरं च होमस्यादृष्टद्वारा प्रयोजनसम्पादकत्वसंभवात् । तस्माद् यवागूपाक एव प्रथमः, पश्चाद्धोम इत्यर्थः क्रम इति । तद्वदर्थक्रमाभावेऽपि प्रकृते कर्मावबोध-ब्रह्मजिज्ञासयोः श्रौतक्रमो भविष्यतीत्याह—\*श्रौतस्त्विति\* ॥ क्त्वाश्रुत्या श्रौतक्रममेवाह—\*गृही भूत्वेत्यादिना\* ॥ \*ननु\* एतावता प्रव्रजनस्य गार्हस्थ्यानन्तर्यं सूच्यते, न कर्मावबोध-ब्रह्मजिज्ञासयोः श्रौतः क्रमः स्यात्, इत्याशङ्क्य गार्हस्थ्येन कर्मानुष्ठानसूचनात् कर्मावबोधः सूचितः ; कर्मावबोधं विना कर्मानुष्ठानायोगात्, एवं प्रव्रजनेन ब्रह्मजिज्ञासा सूचिता ; ब्रह्म जिज्ञासोरिव प्रव्रजनात् । तथाच कर्मावबोध-ब्रह्मजिज्ञासयोरायात एव श्रौतः क्रम इत्यभिप्रेत्याह—\*गार्हस्थ्येनेति\* ॥ अत्र स्मृतिमप्याह—\*स्मरन्ति चेत्यादिना\* ॥ कर्मानुष्ठानं विना ब्रह्मजिज्ञासाऽविनाभूतमुमुक्ष्वधिकारे बाधकस्मृतिमप्याह—\*निन्दन्ति चेत्यादिना\* ॥ श्रौतक्रमोऽकिञ्चित्करः ; हृदयाद्यवदानानन्तर्यनियमवत् प्रकृते कर्मावबोधानन्तर्यनियमाभावात्, “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्”

## पञ्चपादिका

यथा “हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः” इति, \*तदेतदयुक्तम्\* ; न्यायसूत्रेऽपि चैक-  
कर्तृकाणां बहूनां युगपदनुष्ठानासम्भवादवश्यम्भाविनि क्रमे ब्रूयादपि तन्नियममथशब्दः । एक-  
कर्तृकत्वं च शेष-शेषिणोः शेषाणां च बहूनामेकशेषिसम्बद्धानामधिकारान्तरप्रयुक्त्युपजीविनां च भवति,  
नेतरथा । न हि धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरेतेषामन्यतमत्वे प्रमाणमस्ति, तदिदमाह—\*यथा च हृदयाद्य-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

आहोस्वित् प्रमाणान्तरप्रतिपन्नक्रमापेक्षितन्यायं सूचयति ? इति, न तावत् प्रथमः कल्प इत्याह—\*तदे-  
तदयुक्तम्—\*न्यायसूत्र इति\* ॥ आगमाभावादित्यर्थः । आगमत्वाभावादित्यर्थः । द्वितीये विकल्पे  
धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमापेक्षानिमित्तस्यैकविधिप्रयुक्त्यनुष्ठानत्वस्याभावान्न तदर्थं इत्याह—\*अपि चैककर्तृकाणा-

## तत्त्वदीपनम्

व्याचष्टे—\*तत्र वक्तव्यमिति\* ॥ अयुक्तत्वे हेतुमाह—\*आगमत्वाभावादिति\* ॥ किं दर्श-पूर्णमास-प्रयाजादीनामिवैक-  
विधिप्रयुक्तेरनुपपत्त्या क्रमः ? आहो द्वादशलक्षणवदेकप्रमेयत्वस्य ? आहो षड्यागवदेकफलत्वस्य ? इति विकल्प्याद्यं  
प्रत्याह—\*द्वितीय इति\* ॥ टीकायां शेष-शेषिणोरिति । प्रयाज-दर्शपूर्णमासयोरित्यर्थः । \*शेषाणामिति\* ॥ एकपरमा-  
पूर्वसाधनानां षण्णां यागानामित्यर्थः । \*अधिकारान्तरप्रयुक्त्युपजीविनामिति\* ॥ दर्श-पूर्णमासाधिकारप्रसक्त्युप-  
जीविनां गोदोहनादीनामित्यर्थः ॥

## वार्तिकम्

भावात् । तथाचोक्तम्—“श्रुत्यर्थ-पठन-स्थान-मुख्य-प्रावर्तिकक्रमः” इति । तत्र न तावत् प्रथमः पत्न



**यथाच हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः ; क्रमस्य विवक्षित-  
त्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः ।**

भामती

ब्रजत्यधः ॥” इति, अत आह—यथाच हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः । कुतः ? “हृदयस्याग्नेऽ-  
वद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः’ इत्याग्रशब्दाभ्यां क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो  
विवक्षितः ; श्रुत्या तथैवानियमप्रदर्शनात्, “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा” इति ।

ऋजुप्रकाशिका

अननुष्ठितयज्ञादिकर्मणामपि प्रव्रजनश्रवणात्, इत्याह—\*अत आहेति\* ॥ \*तत्राहेति\* ॥ आकाङ्क्षोद्भा-  
वनेनानन्तर्यनियमं दर्शयति—\*कुत इत्यादिना\* ॥ पशुपुरोडाशावदानकाले हृदयस्य प्रथममवदानम्, अनन्तरं  
जिह्वादेरित्याह—\*हृदयस्येति\* ॥ प्रकृते तथा नेत्याह—\*न तथेहेत्यादिना\* ॥ ब्रह्मचर्याद्वा गार्हस्थ्याद्वाऽ-

पञ्चपादिका

वदानानामानन्तर्यनियमः ; क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः ; शेषशेषित्वे(१)ऽधिकृता-  
धिकारे वा प्रमाणाभावाद् धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरिति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

मित्यादि\* ॥ उक्तेऽर्थे भाष्यमवतारयति—\*तदिदमाहेति\* ॥ अत्र कश्चित्—“धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरिति”ति  
विशेषोपादानमवगच्छन्नपि ज्योतिष्टोमोद्गीथज्ञानयोरधिकृताधिकारत्वं खलु विद्यत इति—प्रतिवक्ति, स खलु मन्द-  
भाग्य एव । उद्गीथाद्युपासनानां धर्मविशेषाणामेव निरूपितविधिचतुष्टयानां ब्रह्मप्रकरणे प्रत्ययत्वसाम्यात्

ऋजुविवरणम्

\*निरूपितविधिचतुष्टयानामिति\* ॥ निरूपितं विधिचतुष्टयम्—उत्पत्त्यादिकं कर्मकाण्डे येषामुपासनानामिति  
विग्रहः । अनेनान्यत्रैव निरूपितत्वं दर्शितवान्, अथवा—निरूपितं निरूपणमिति भावे निष्ठा, विधिचतुष्टयेन  
येषामुपासनानामिति धर्मत्वे हेतुः । \*ननु\*—तर्हि धर्मविशेषत्वे तन्निरूपणमत्र न युक्तमित्याशङ्क्याह—

तत्त्वदीपनम्

प्रमाणाभावोऽसिद्ध इति भास्करः शङ्कते—\*अत्र कश्चिदिति\* ॥ चोद्यानुवादसमय एव तस्याभासत्वं दर्शयति  
—\*धर्ममिति\* ॥ “यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवती”त्यादिवाक्यानुरोधाद् विद्या-कर्मणोरेका-  
धिकारत्वं प्रतीयत इत्यर्थः । ज्योतिष्टोमोद्गीथज्ञानयोरधिकृताधिकारत्वेऽपि न धर्म-ब्रह्मज्ञानयोरधिकृताधिकारत्वं  
कल्प्यत इत्याह—\*स खल्विति\* ॥ ज्ञानत्वाविशेषादन्नाप्यधिकृताधिकारत्वं कल्प्यतामित्याशङ्क्य, वैषम्येणोत्तरयति—  
\*उद्गीथेति\* ॥ धर्मविशेषत्वमेवाह—\*निरूपितेति\* ॥ धर्मप्रतिपादकत्वेन निरूपितं विधिचतुष्टयं विद्यते येषाम्, तानि

वार्तिकम्

इत्याह—\*यथाच हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः\* ; कुतः ? इत्याह—\*क्रमस्य विवक्षितत्वा-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* तर्ह्यानन्तर्याभिधानमुखेन क्रमप्रतिपत्त्यर्थो भवत्वित्याशङ्क्याह—\*यथेति\* ॥

प्रदीपः

शक्तितो देवान् मनो मोक्षे निवेशयेत्” इत्यानन्तर्योक्तिः, इति कर्मावबोधानन्तर्यं कथं नाथशब्दार्थः ? इत्याशङ्क्यामाह—\*यथाच  
हृदयाद्यवदानानामिति\* ॥ \*क्रमस्य विवक्षितत्वादिति च\* ॥ अयमाशयः—सत्यं विनाऽपि पूर्ववृत्तहेतुतामशब्दानानादि-

(१) शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात्, अधिकृताधिकारे वा धर्मब्रह्मजिज्ञासयोरिति भामत्यभिमतः पाठः । अत्र ‘प्रमाणाभावा-  
दि’त्यस्योत्तरवाक्ये ‘धर्मब्रह्मजिज्ञासयोरिति’त्यस्य पूर्ववाक्ये चानुषङ्गः ।



## भामती

एतावता हि वैराग्यमुपलक्षयति । अत एव “यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्” इति श्रुतिः । निन्दावचनं चाविशुद्धसत्त्वपुरुषाभिप्रायम् । अविशुद्धसत्त्वो हि मोक्षमिच्छन्नालस्यात् तदुपायेऽप्रवर्तमानो गृहस्थधर्ममपि नित्य-नैमित्तिकमनाचरन् प्रतिक्षणमुपचीयमानपाप्माऽधोगतिं गच्छतीत्यर्थः ।

## ऋजुप्रकाशिका

न्यतो वा प्रव्रजनं भवतु, सर्वथा वैराग्यमेवोपलक्षितमित्याह—\*एतावता हीति\* ॥ अत एव तदनुकूलां श्रुतिमाह—\*यदहरेवेति\* ॥ \*ननु\* तर्हि वैराग्यशालिनो यज्ञादिकर्मानुष्ठानशून्यस्यापि ब्रह्मचारिणो मोक्षेच्छया प्रव्रजने “अनधीत्य द्विजो वेदान्” इत्यादि निन्दावचनं व्याहृत्येत्यत आह—\*निन्दावचनं चाविशुद्धसत्त्वपुरुषाभिप्रायमिति\* ॥ अविशुद्धसत्त्वपुरुषाभिप्रायत्वमेव तस्यार्थतो द्रढयति—\*अविशुद्धसत्त्वो हीत्यादिना\* ॥ \*तदुपाये=मोक्षोपाये । अप्रवर्तमान इति च्छेदः ॥

## वार्तिकम्

दिति\* ॥ अथशब्दलक्षणपदश्रुत्येति शेषः । क्रमस्य त्वन्नापि नियतस्येति बोद्धव्यम् ; क्रममात्रस्यार्थप्राप्तत्वादिति । भवतु प्रकृतेऽपि तथा, नेत्याह—\*न तथेह क्रमो विवक्षित इति\* ॥ तद्विवक्षन्त्याः श्रुतेरेवाभावादित्याशयः । स्यातां तर्हि द्वितीय-तृतीयपक्षौ ; अर्थ-पठनान्यतरेणैव प्रकृतक्रमनियमसिद्धेः,

## भाष्यभावप्रकाशिका

“हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः” इत्याद्याग्रेशब्दाभ्यां क्रमस्य विवक्षितत्वादित्यर्थः । \*न-तथेति\* ॥ एककर्तृकाणां युगपदनुष्ठानासंभवे क्रमो भवति, एककर्तृत्वं त्वङ्गाङ्गिनोरङ्गानां च बहूनामेकाङ्गिसंबन्धिनामधिकारान्तरप्रयुक्त्युपजीविनां च भवति । नचात्रान्यतमसत्त्वे श्रुत्यादिप्रमाणमस्तीत्यर्थः ॥

\*ननु\* मा भूदेकविधिप्रयुक्त्यनुष्ठेयतया क्रमस्य विवक्षा, किंत्वेकफलप्रयुक्त्या, एकप्रमेयजिज्ञासाप्रयुक्त्या वा सा भवतु, अनुष्ठेये साधनतय फलैक्यादाभेयादाविव द्वादशलक्षण्यामिव च क्रमापेक्षणा-

## प्रदीपः

नाऽऽनन्तर्यविवक्षा संभवति ; यदि कर्तव्यानां बहूनां पौर्वापर्यरूपः क्रम आकाङ्क्षितो भवति, यथा बहूनामङ्गानामेकप्रधानोपकारकत्वं श्रुत्यादिभिरवगतम्, तेषां सर्वेषां च युगपदनुष्ठानासंभवात् किं प्रथमं कर्तव्यम् ? किं द्वितीयम् ? किं तृतीयम् ? इति क्रमाकाङ्क्षायाम्, अथशब्दादिभिः तत्तत्कर्तव्याङ्गजातानां क्रमनियमः क्रियते । तत्र क्रमाकाङ्क्षाप्रयोजकं हि क्रमिकाणामेकप्रधानाङ्गत्वम्, अथवाऽङ्गप्रधानभावः, प्रधानानामेव सतां समुदितरूपेणैकफलसाधनत्वावगमो वा, प्रधानाश्रयेणैवानङ्गस्याप्यपरस्य स्वतन्त्रफलान्तरसाधनत्वावधारणं वेति पूर्वतन्त्रनिर्णीतमिदम् । तद्यथा—पशुयागे होमार्थमेकादशवदानानां हृदयादिसम्बन्धिनां पशुयागाङ्गानां सर्वेषां मध्ये किं कर्तव्यं प्रथममिति संशये “हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः” इति क्रमवाचकायादिशब्दैः परस्परहेतु-हेतुमद्भावानापन्नानामप्यानन्तर्यबोधकैर्निर्णीयते ; यथावा तत्तैव प्रयाजाद्यङ्गानां पशुयागस्य चाङ्गप्रधानभावमापन्नानां प्रयाजाद्यनन्तरं प्रधानयाग इति निर्णीयते ; एवं दर्श-पूर्णमासयोस्त्रयाणां त्रयाणां पाठक्रमादिना प्रधानानामपि सतां समुदितरूपेण फलसाधनत्वस्य “दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते”ति वाक्येनावगमात् क्रमनियमः क्रियते ; तथा “गोदोहनेन पशुकामस्ये”ति स्वतन्त्रफलसाधनतयाऽवगतस्य गोदोहनस्य दर्श-पूर्णमाससम्बन्ध्यप्रणयनाश्रयणमावश्यकमिति दर्श-पूर्णमासीयाप्रणयनतः पूर्वमेवानुष्ठानमिति व्यवस्था, प्रकृते तु कर्म-ब्रह्मविचारयोर्नैकप्रधानोपकारकत्वेनाङ्गत्वम्, न वाऽङ्गाङ्गिभावः, नापि वा स्वतन्त्रयोरेव तयोरेकफलसाधनत्वावगमः, एकाश्रयेणैवापरस्य फलसाधनत्वावधारणं वा वर्तते, इति न क्रमाकाङ्क्षा, इति न “हृदयस्याग्रेऽवद्यती”त्यादाविवानन्तर्यार्थत्वावसायो युक्तः । “अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मेतः । इष्ट्वा च शक्तितो देवान् मनो मोक्षे निवेशयेत्” इति वाक्ये हि यज्ञादेर्मुमुक्षूपकारकत्वमात्रं बोध्यते, नाङ्गत्वम्, इति पूर्वोक्तप्रकारेण जन्मान्तरीय-



## भामती

स्यादेतत्—मा भूच्छ्रौत आर्थो वा क्रमः, पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्तिप्रमाणकस्तु कस्मान्न भवतीति? अत आह—

## ऋजुप्रकाशिका

प्रकारान्तरेण कर्मावबोधानन्तर्यं ब्रह्मजिज्ञासायाः शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ पाठ-स्थानेति\* ॥  
 “क्रमेण वा नियम्येत कर्त्तव्ये कर्त्तव्ये तदुपत्वात्” । “समिधो यजति । तनूनपातं यजति । इडो यजति । बर्हिर्यजति । स्वाहाकारं यजति ।” इत्येवं क्रमेण प्रयाजाः पठ्यन्ते । तत्र संशयः—किमुक्तक्रमेण पठितेषु प्रयाजेषु यथापाठमनुष्ठानक्रमः? उत नेति? तत्र “समिधो यजति” इत्यादिवाक्यानां स्वार्थमात्र-परत्वेन क्रमपरत्वाभावात् पठनस्यानियमेन यथेच्छमनुष्ठानमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते, राद्धान्तः;—यथैतानि वाक्यानि स्वार्थविधायीनि, तथाऽनुष्ठानापेक्षस्मृत्युपयोगीन्यपि भवन्ति, अस्मृतस्यानुष्ठानासंभवाद् अनुष्ठानस्य स्मृतिसापेक्षत्वम् । एवं च तानि वाक्यान्युक्तक्रमवत्तया “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इति स्वाध्यायाध्ययन-विध्यध्यापितानि सन्ति, स्मृतस्य चानुष्ठानमिति स्मरणक्रमेणानुष्ठानं नियम्यते । एवं च पाठक्रमेण स्मरणजनकतया दृष्टार्थः, इति पाठक्रमेणैवानुष्ठानक्रम इति नियमाद् न यथेच्छमनुष्ठानमिति । सूत्रार्थस्तु—  
 एकस्मिन् क्रतौ श्रूयमाणानां प्रयाजानां पाठक्रमस्यानुष्ठानक्रमो नियमयन्ति; तस्य पाठक्रमस्यानुष्ठानक्रम-गुणतया लोकेऽवगमाद्, यथा “स्नायादनुलिम्पेद् भुञ्जीत” इति । “स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात्” । ज्योतिष्टोमाधिकारे साद्यस्कसंज्ञे यागे “प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या” इत्यतिदेशतः प्राप्तेष्वग्निष्टो-मीय-सवनीयानुबन्ध्यपशुषु सहत्वगुणविधानार्थं वचनं श्रूयते—“सह पशूनालभते” इति; सहत्वविधानाच्च प्रथममग्नीषोमीयः, ततः सवनीयः, तत आनुबन्ध्य इत्येवंरूपः प्रकृतौ श्रूयमाणक्रमो निवर्तते । सहत्वं च सवनीयस्थाने सवनीय उपाकर्तव्ये तेन सहेतरयोरुपाकरणमिति । एवं च सति तयोरग्नीषोमीयानुबन्ध्ययो-स्तुल्यवत् स्वस्थानचलनं भवति; सवनीयश्चाश्विनग्रहणानन्तरकालः प्रकृतावाप्नोति—“आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति” इति । तत्र त्रयाणामेककालत्वलक्षणसहत्वासंभवाद् ईषत्कालभेदं पुरस्कृत्य क्रमेण त्रयोऽप्युपाकर्तव्याः । एवं क्रमेऽवश्यं भाविनि सति, कः प्रथमं प्रयोज्यताम्? किं त्रयाणां मध्येऽनियमेन यस्य कस्यचित् प्राथम्यम्? उत सवनीयस्य? इति संशयः । तत्र नियामकश्रुत्याद्य-भावादनियमे प्राप्ते, राद्धान्तः—सवनीयस्थान इतरयोः सहत्वमित्युक्ततया स्थानात् तत्सवनीयप्राथम्यं नियम्यते । उत्पत्तिसंयोगादपि सवनीयप्राथम्यं नियम्यत इत्याह सूत्रे \*उत्पत्तिसंयोगादिति\* ॥ सूत्रे चकार उत्पत्ति-संयोगादित्यनेन सम्बध्यते । प्रकृतौ हि सवनीयस्याश्विनग्रहणानन्तर्यमुत्पत्त्याऽवगतम्; अतो विकृतावपि तेनैव कालेन सवनीय उपस्थापितः । अग्नीषोमीयस्तु सहत्ववचनेन स्वस्थानाच्चालितः । ततः सवनीयस्यैव प्रथम-मुपाकरणादिप्रयोगः । इतरयोस्तु तत्साहित्यवचनादानन्तर्यम् । मिथस्त्वनियमः । अथवा इतरयोः प्रकृतिदृष्टपौर्वा-पर्यस्यासति बाधके त्यागायोगात् प्रथममग्नीषोमीयमुपाकृत्य, आनुबन्ध्य उपाकर्तव्य इति ॥

“मुख्यक्रमेण वाऽङ्गानां तदर्थत्वात्” । “सारस्वतौ भवतः । एतद्वै देव्यं मिथुनम् यत्सरस्वती च सरस्वांश्च” इति सरस्वतीदेवतं सरस्वदेवतं च युगपत् कर्मद्वयं श्रूयते । तत्र सरस्वतीदेवतस्य कर्मणः याज्यापुरोनुवाक्यायुगलं प्रथममाम्नायते, तदनन्तरं पुं देवतस्य । तत्र मन्त्राणां प्रयोगशेषत्वाद् याज्यानुवाक्यापाठक्रमेण प्रधानक्रमोऽवगतः, अङ्गविशेषे तु निर्वापादौ संशयः—किं अनियतोऽस्य निर्वापादेः क्रमः? उत प्रधानक्रमेण नियत इति? तत्र तत्र याज्यानुवाक्यापाठक्रमस्य प्रधानक्रमगोचरत्वाद् अङ्गानामनुष्ठानक्रमे श्रुत्याद्यभावाद् अनियत एव निर्वा-पादेरङ्गस्य क्रमः । नच—मुख्यक्रमादङ्गक्रमोऽवगन्तव्य इति—वाच्यम्; मुख्यक्रमस्य प्रमेयत्वेन प्रमाणत्वा-भावेन तस्य तदङ्गक्रमाप्रमाणकत्वात् । तस्मादनियत एव निर्वापादिकाङ्गक्रम इति प्राप्ते, राद्धान्तः—मुख्य-क्रमेणाङ्गानां क्रमो नियम्येत, \*तदर्थत्वात्—प्रधानार्थत्वादङ्गानाम् । \*ननु\*—मुख्यक्रमस्य नाङ्गक्रमप्रमापक-त्वम्; तस्य याज्यानुवाक्यापाठक्रमप्रमेयतयाऽप्रमाणत्वादित्युक्तमिति—चेत् \*न\* ; प्रमितस्य तस्य धूमादिवद् लिङ्गविधया प्रमाणत्वसंभवेन प्रमापकत्वसंभवात् । किंच कर्ममात्रबोधको विधिरूपत्तिविधिः, अधिकारसम्बन्ध-



## शेष-शेषित्वे प्रमाणाभावात्,

भामती

\*शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात् । शेषाणां समिदादीनाम्, शेषिणां चाग्नेयादीनाम्, एकफलवदुपकारोपनिबद्धानाम्,

ऋजुप्रकाशिका

बोधको विधिरधिकारविधिः, अङ्गत्वबोधको विधिर्विनियोगविधिः, साङ्गप्रधानकर्मानुष्ठापको विधिः प्रयोगविधिः, इत्येवं विधिचातुर्विध्यात् तन्मध्ये साङ्गप्रधानमनुष्ठापयन् प्रयोगविधिरवर्जनीयाद् व्यवधानादधिकं व्यवधानं न सहते, इति न निर्वापादेरङ्गस्यानियतः क्रमः ; अनियतक्रमेण प्रधानान्तरसन्निधौ प्रधानान्तराङ्गानुष्ठानव्यवधाना-  
पत्तेः । अतो मुख्यक्रमादङ्गक्रम इति ॥

“प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ।” वाजपेये—“सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते” इति सप्तदश यागा अङ्गत्वेन श्रूयन्ते । तेषां च “वैश्वदेवीं कृत्वा सह प्रचरन्ति” इति प्रयोग-  
साहित्यश्रवणाद् एकोपक्रमोपसंहारा एवावान्तरप्रयोगाः । तेषां चातिदेशतः प्राप्ता अङ्गभूताः प्रोक्षणादि-  
धर्माः सर्वे नैकैकत्र पशौ परिसमापनीयाः, किन्तु सर्वेषु पशुषु प्रथममेक एवाङ्गपदार्थः समापनीयः,  
पश्चात्ततोऽन्यः, पश्चात्ततोऽन्यः ; अन्यथैकैकस्मिन्नेव पशौ सर्वाङ्गानुष्ठाने प्रधानस्याङ्गैर्विप्रकर्षः स्यात् ।  
तत्र सर्वेषु पशुषु प्रथममेकाङ्गपदार्थानुष्ठाने विशेषतो वेदाभ्यनुज्ञाभावादित्येव नियामिका, तदेवं स्थिते  
द्वितीयादिकेऽङ्गपदार्थप्रयोगे संशयः—किं प्रथम इव द्वितीयेऽपीच्छेव नियामिका ? उत प्रथमाङ्गप्रवृत्तिर्यत्प्रका-  
रेण, तत्प्रकारेणैव द्वितीयादीतराङ्गप्रवृत्तिरिति ? प्रथमाङ्गप्रवृत्त्यैव नियम इति तत्र पूर्वपक्षः । न तावत्  
प्रथमाङ्गप्रवृत्तौ श्रुत्यादिकं नियामकमस्ति, किन्तु पौरुषेयी प्रथमाङ्गप्रवृत्तिः, अतः सा वेदेन नाभ्यनुज्ञायते ।  
तथाच न प्रथमाङ्गप्रवृत्तिनियता तदुत्तराङ्गप्रवृत्तिः । तेन प्रथमाङ्गप्रवृत्तौ यथेच्छा नियामिका, तथोत्तराङ्ग-  
प्रवृत्तावित्यनियम एव । प्रयोगसौकर्यं चैवं सति लभ्यते ; अन्यथा प्रथमप्रयोगानुसन्धानव्यग्रमनस उपरितनं  
च प्रयोगं प्रथमाङ्गप्रयोगादिं तन्वानस्य मतिक्लेशः स्यात् । तस्मादित्येव नियामिकेत्यनियम इति प्राप्ते,  
राद्धान्तः—एकप्रयोगतया तुल्यकालानां प्रोक्षणादिकाङ्गानां प्रवृत्त्या क्रमनियमः=प्रथमाङ्गप्रवृत्तिर्यत्क्रमेण तत्क्रमेणैव  
तदुत्तराङ्गानामपि प्रवृत्तिरित्यर्थः । तत् कुतः ? \*तदुपक्रमात्=प्रधानेनाङ्गानामुपक्रमात् ; तदेकप्रयोगत्वादित्यर्थः ।  
सप्तदशयागाङ्गानि सह प्रयोज्यानि प्रथमाङ्गानुष्ठाने सति द्वितीयादौ षोडशभिर्व्यवधानमभ्यनुजानन्ति,  
न ततोऽधिकम्, प्रवृत्तिक्रमाश्रयणे च सप्तदशसु प्रथमादिषु पशुषु प्रथमाङ्गानुष्ठाने द्वितीयो धर्मः प्रथमादिषु  
पशुषु क्रियमाणः षोडशभिरेव व्यवधीयते, क्रमान्तराश्रयणेऽधिकैरपि व्यवधानं स्यात् । अतोऽनुष्ठापकप्रयोगवचन-  
कोपपरिहाराय प्रथमाङ्गप्रवृत्त्या नियम इति । अङ्गाङ्गिभावो यत्, तत् तथात्वेऽपि प्रकृते कर्मावबोध-ब्रह्म-  
जिज्ञासयोरङ्गाङ्गिभावाभावेन न तथात्वमित्याह—\*अत आहेति\* ॥ \*शेष-शेषित्वे=अङ्गाङ्गित्वे । कर्मावबोध-  
ब्रह्मजिज्ञासयोरिति शेषः । \*शेषाणाम्=अङ्गानाम् । \*समिदादीनाम्\* प्रयाजादीनामिति शेषः । \*शेषिणां  
च=अङ्गिनां च । \*आग्नेयादीनामिति\* ॥ दर्शित्वं पौर्णमासत्रिकं चेत्याग्नेयादयः षड्यागाः ; तेषामित्यर्थः ।

वार्तिकम्

तयोरपि प्रकृतेऽभावाच्चेत्याह—\*शेष-शेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावाद् धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरिति\* ॥

धर्म-ब्रह्मज्ञानयोरित्यर्थः । “गोभिः श्रीणीत मत्सरमि”तिवत् कारणेन कार्यलक्षणात् । \*अयमभिप्रायः\*—

प्रदीपः

यज्ञानुष्ठानमादायाप्युक्तवाक्योपपत्तेर्न क्रमविवक्षायां तात्पर्यमित्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*शेषशेषित्वे प्रमाणाभावादिति\* ॥

शेषाश्च शेषिणश्च शेष-शेषिः, तेषां भावः शेष-शेषित्वम् । कर्म-ब्रह्मविचारयोर्हि न शेषत्वम्, न वा शेषित्वम्, शेष-शेषिभाव



## भामती

एकप्रयोगवचनोपगृहीतानाम्, एकाधिकारिकर्तृकाणाम्, एकपौर्णमास्यमावस्याकालसंबद्धानां युगपदनुष्ठाना-  
शक्तेः सामर्थ्यात् क्रमप्राप्तौ, तद्विशेषापेक्षायां पाठादयस्तद्वेदनियमाय प्रभवन्ति, यत्तु न शेष-शेषिभावः,  
नाप्येकाधिकारावच्छेदः, यथा; सौर्यार्यमण-प्राजापत्यादीनाम्, तत्र क्रमभेदापेक्षाभावाद् न पाठादिः क्रम-  
विशेषनियमे प्रमाणम्; अवर्जनीयतया तस्य तत्रागतत्वात् । नचेह धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः शेष-शेषिभावे  
श्रुत्यादीनामन्यतमं प्रमाणमस्तीति । \*ननु\* शेष-शेषिभावाभावेऽपि क्रमनियमो दृष्टः, यथा गोदोहनस्य

## ऋजुप्रकाशिका

अपूर्वमुपकारशब्दार्थः । स्वर्गः फलशब्दार्थः । “प्रयाजादिभिरुपकृत्य दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्”  
इति वचनमेकप्रयोगवचनशब्दार्थः । शेषाणां च क्रमापेक्षायां हेतुमाह—\*युगपदिति\* ॥ युगपदनु-  
ष्ठानप्राप्तौ क्रमः स्यात्, तदेव कुतः ? तत्राह—\*एकपौर्णमासीति\* ॥ एकत्वं पौर्णमास्यमावस्याकाल-  
विशेषणम् । षण्णां यागानां मध्ये त्रयः पौर्णमास्या सम्बद्धाः, त्रयोऽमावस्यया । पौर्णमास्यमावा-  
स्याकालैक्येऽपि यदि कर्तृभेदः स्यात्, तदा न क्रमोऽपेक्ष्यते, तद् मा भूद्, इत्याह—\*एकाधिकारीति\* ॥  
स्वामित्वेनाधिकारित्वम्, तस्यैवानुष्ठातृत्वेन कर्तृत्वम् । एकाधिकारिकर्तृकत्वे हेतुमाह—\*एकप्रयोग-  
वचनेति\* ॥ एकप्रयोगवचनपरिग्रहे हेतुमाह—\*एकफलवदिति\* ॥ एको योऽयं फलवत् उपकारः,  
तदुपनिबद्धानामित्यर्थः । \*तद्विशेषापेक्षायामिति\* ॥ क्रमविशेषापेक्षायामित्यर्थः । “पाठादयः” इत्यत्रा-  
दिशब्देन स्थान-मुख्य-प्रवृत्तयो गृह्यन्ते । शेष-शेषिभावाभावे एकाधिकारावच्छेदाभावे च दृष्टान्तमाह—  
\*यथा सौर्यार्यमणेति\* ॥

एकादशे स्थितम्—अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्वम् । “सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः”, “अर्यम्णे  
चरुं निर्वपेत् स्वर्गकामः”, “प्राजापत्यं चरुं निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्कामः”, इत्यादिषु  
चिन्ता—किमेते क्रतवः पाठक्रमेणैव प्रयोज्याः ? उतानियमेनेति । तत्र यथाऽङ्गानां समिदादीनामेकेन  
युगपत्करणाशक्तेः क्रमाकाङ्क्षायां पाठात् क्रमनियमः, एवमेतत्क्रतूनामपीति प्राप्तौ, राद्धान्तः—न वाऽसंब-  
न्धात् । ज्ञेयत्वेकप्रयोगवचनपरिग्रहादस्ति क्रमाकाङ्क्षा, एतत्क्रतुषु तु नानाफलकेषु नैकं प्रयोगवचन-  
मस्ति, येन तत्परिग्रहात् क्रमाकाङ्क्षायां पाठक्रमात् क्रमनियमः स्यात् । नच—क्रमनियमाभावे तेषां युग-  
पत् प्रयोगः स्यादिति—वाच्यम् ; तत्तत्फलकामिनां तत्तत्क्रत्वधिकारिणां भेदेन युगपत् प्रयोगात् ।  
तस्मादेषामेकप्रयोगवचनसम्बन्धाभावाद् नास्ति क्रमाकाङ्क्षा, अस्ति तु पुरुषस्य तदाकाङ्क्षा, तावता  
न तदाकाङ्क्षानुरोधेन विधयस्तत्क्रमेण नियमेन कर्माण्यनुष्ठापयन्ति । तस्मात् पुरुषेच्छयाऽनियमेनैव क्रमेण  
तदनुष्ठानमिति । नच—एवं पाठक्रमो मुधा स्यादिति—वाच्यम् ; तस्याध्ययनार्थत्वात्, युगपत् पाठा-  
संभवेनावर्जनीयतया पाठक्रमस्यावगतत्वात् । नच—युगपत्पाठासंभवे व्युत्क्रमेणाध्ययनं किं न स्यादिति—  
वाच्यम् ; तत्क्रमेणाध्ययनेऽदृष्टविशेषसंभवेन तथैवाऽध्येतव्यत्वात्, व्युत्क्रमेणाध्ययने प्रत्यवायप्रसङ्गाच्चेति ।  
\*तस्य=पाठक्रमस्य । प्रकृते तद्वैषम्यमाह—\*नचेहेति\* ॥ धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः=कर्मावबोध-ब्रह्मजिज्ञासयो-  
रित्यर्थः । धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः शेष-शेषिभावाभावेऽपि क्रमोऽस्तु, अन्यत्र शेष-शेषिभावाभावेऽपि क्रमस्य  
दर्शनादिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अन्यत्र शेष-शेषिभावाभावेऽपि क्रमदर्शनमुदाहरति—\*यथा गोदोहन-

## वार्तिकम्

तत्र हि अर्थतः क्रमनियमोऽध्यवसीयते, यत्र प्रमाणान्तरेण शेष-शेषिभावोऽवगतो भवति । तद्यथा “अग्नि-  
होत्रं जुहोति” “यवागूं पचती”त्यत्र यवागूद्रव्यस्य शेषत्वं शेषित्वञ्चाग्निहोत्रस्य । अत्र हि नीरूपस्याग्नि-  
होत्रस्य “अग्निहोत्रं जुहोती”त्युत्पत्तिवाक्ये श्रवणात् तदपेक्षायां “तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रमि”ति न्यायेन  
देवतालाभेऽपि द्रव्यालाभात् किं प्रकरणपठितयवागूद्रव्येण तदाकाङ्क्षा पूरणीया ? किं वा येन केनचिद्



## भामती

पुरुषार्थस्य दार्शपौर्णमासिकैरङ्गैः सह, यथावा “दर्श-पूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत” इति दर्श-पौर्णमास-

## ऋजुप्रकाशिका

स्येति\* ॥ सहेत्यनन्तरं क्रम इति शेषः । पुरुषार्थस्येत्येतद् गोदोहनस्येत्यस्य विशेषणम् ॥ गोदोहनस्य पुरुषार्थत्वं चतुर्थे चिन्तितम् । “यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थलक्षणाविभक्तत्वात्” । दर्श-पूर्णमासयोः “गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्” इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमिदं गोदोहनं क्रत्वर्थम् ? पुरुषार्थमपिचेति । “चमसेनापः प्रणयेत्” “गोदोहनेन पशुकामस्य” इति वाक्यात् पशुकामस्येति कामनाश्रुतिसमभिव्याहृतात् क्रत्वर्थ-पुरुषार्थत्वप्रतीतेरुभयार्थत्वम् । नच—पुरुषार्थत्वमेव न क्रत्वर्थत्वमिति—वाच्यम् ; अप्रणयनस्य क्रत्वर्थत्वं सिद्धमेव, गोदोहनविशिष्टाप्रणयनं तु कामनाश्रुतिबलात् पुरुषार्थमपीत्युभयार्थं गोदोहनमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते, राद्धान्तः—पुरुषार्थमेव गोदोहनम् ; पशुकामस्येति कामनाश्रुतिसमभिव्याहारात्, काम्यमानस्य फलत्वेन तदुक्त्या पुरुषार्थत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वात्, न क्रत्वर्थम् ; क्रत्वर्थत्वं हि क्रतुशेषत्वम्, क्रत्वङ्गत्वमिति यावत् । नच गोदोहनं क्रत्वङ्गम्, येन क्रत्वर्थं स्यात्, किंतु पञ्चङ्गमेव । नच—क्रत्वङ्गत्वाभावे क्रतूपकारकत्वं गोदोहनस्य न स्यादिति—वाच्यम् ; क्रत्वनङ्गस्यापि गोदोहनस्याप्रणयनद्वारा क्रतूपकारकत्वे विरोधाभावात् । तस्मात् पुरुषार्थमेव गोदोहनमिति । सूत्रार्थस्तु यस्मिन्निर्वृत्ते पुरुषप्रीतिः फलं भवति, तल्लिप्सा फलप्रयुक्ता, न विधिप्रयुक्ता, कुतः ? तस्य फलसाधनस्य प्रीत्याऽविभक्तत्वादिति । एवं च चमसेनाप्रणयनं यत्क्रमेण, तत्क्रमेणैव पशुकामस्य गोदोहनेनाप्रणयनमित्यङ्गाङ्गिभावाभावेऽपि यथा क्रमः, तथा धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरपीत्यखण्डवाक्यार्थः । अङ्गाङ्गिभावाभावेऽपि क्रमदर्शनमुदाहरणान्तरेणाप्याह—\*यथावेति\* ॥ चतुर्थे चिन्तितम्—“उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्” । “दर्श-पूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत” इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमिदमङ्गस्य विधायकम् ? उत कालस्येति ? तत्र इष्टेति क्त्वाश्रुतिबलादङ्गस्यैव विधायकम् । तच्चाङ्गत्वं ‘यजती’ति विधिप्रत्यासत्तिमहिम्ना सोमस्यैव, न दर्श-पूर्णमासयोः ; \*ननु\*—द्रव्यद्वारेणान्यत्र सोमयागस्य विहितत्वाद् विहितस्य प्रत्यभिज्ञानमात्रमिह ‘सोमेने’त्यनेन क्रियते, न तद्विधिरिति—चेत्, \*न\* ; तत्कार्यस्येहाप्रत्यभिज्ञानात्, “वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत” इतिवत् । \*ननु\*—दृष्टान्ते चान्यत्र विहितस्य बृहस्पतिसवस्य कार्यं “वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत” इत्यत्र किमिति न प्रत्यभिज्ञायत इति—चेत्, \*न\* ; तत्प्रत्यायकाभावात् । नह्यत्र बृहस्पतिसवकार्यब्रह्मवर्चसप्रत्यायकमस्ति । अतो बृहस्पतिसवो वाजपेयस्य, एवं सोमयागोऽपि दर्शपूर्णमासाङ्गत्वेन विधीयत इति प्राप्ते, राद्धान्तः—अस्मिन् कालाङ्गविधिसंशये कालो विधेयः स्यात् ; कुतः ? अस्य वाक्यस्य कालप्रधानत्वात् । “दर्श-पूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत” इत्यनेन दर्श-पूर्णमासानन्तरकालः सोमयागस्य विधीयते, न सोमयागो दर्श-पूर्णमासाङ्गत्वेन विधीयत इत्यर्थः । यदि सोमयागलक्षणाङ्गकर्मैव विधीयेत, तदा द्रव्यदेवते हि यागस्य स्वरूपमिति तत्स्वरूपभूताभ्यां द्रव्य-देवताभ्यां भवितव्यम् । नचेह तदस्ति ; देवताया अप्रतीतेः । अथाव्यक्तत्वेन “उद्भिदा यजेत” इत्यादौ यथाऽतिदेशतो देवता प्राप्यते, तथा सौमिकी देवताऽत्रातिदेशतः प्राप्यत इति—चेत्, तर्हि सोमोऽप्यतिदेशेनैव प्राप्यत इति ‘सोमेने’ति व्यर्थं स्यात् । अतः सोमेनेत्येतत् सोमयागप्रत्यभिज्ञानार्थमेव । तत्प्रत्यभिज्ञाने न सोमयागलक्षणाङ्गविधिसंभवः । \*ननु\*—एवं बृहस्पतिसवोऽपि वाजपेयाङ्गत्वेन न विधीयत इति—चेत्, \*अत्रोच्यते\*—बृहस्पतिसवप्रकरणाद् भिन्नवाजपेयप्रकरणे बृहस्पतिसवस्य श्रुतत्वेन प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मविधानसंभवात् । नच—बृहस्पतिसवनामधेयेनैव प्रसिद्धबृहस्पतिसवप्रत्यभिज्ञानाद् न बृहस्पतिसवाख्याङ्गकर्मविधिरिति—वाच्यम् ; तस्य यजिपरतन्त्रतया तत्प्रत्यभिज्ञानार्थत्वाभावात्, परं तु बृहस्पतिसवनान्ना प्रसिद्धबृहस्पतिसवधर्मा अत्र समाकृष्यन्ते । तस्माद् युक्तं



## पञ्चपादिका

अथापि स्यात्—यथाऽऽग्नेयादीनां षण्णां यागानामेकं फलं स्वर्गविशेषः, एवं धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयो-  
रप्येकं फलं स्वर्गः, ततः क्रमापेक्षायां तन्नियमार्थोऽथशब्द इति, यथावा द्वादशभिरपि लक्षणैर्धर्म एको  
जिज्ञास्यः, प्रतिलक्षणमंशान्तरपरिशोधनया, यथावाऽस्मिन्नपि तन्त्रे चतुर्भिरपि लक्षणैरेकं ब्रह्म जिज्ञास्यम्,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रासङ्गिकत्वेन भेदादिमात्रस्यैव निरूपितत्वात् शास्त्रतात्पर्यावगम्यस्य ब्रह्मज्ञानस्य कर्मण्यधिकृताधिकारित्वा-  
भावात् । \*ननु\* मा भूदेकविधिप्रयुक्त्यनुष्ठेयतयाऽऽक्षिप्तक्रमविशेषापेक्षितन्यायानुसरणपरोऽथशब्दः, किंत्वेक-  
फलप्रयुक्त्यनुष्ठेयतयैकप्रमेयजिज्ञास्यप्रयुक्त्यनुष्ठेयतया वा साधनद्वये कर्त्रेक्यात् क्रमस्याक्षेप इत्युत्तरभाष्यस्या-  
शङ्कामाह—\*यथाऽऽग्नेयादीनामित्यादिना\* ॥

## ऋजुविवरणम्

\*प्रासङ्गिकत्वेनेति\* ॥ \*‘‘प्रत्ययत्वसाम्यादि’’ति प्रसङ्गे हेतुः । \*ननु\*—निरूपितस्य निरूपणं व्यर्थमित्या-  
शङ्क्याह—\*भेदादिमात्रस्येति\* ॥ एवमप्यधिकृताधिकारत्वं विद्यत इत्याशङ्क्याह—\*शास्त्रतात्पर्यावगम्यस्येति\* ॥  
( मूले ) \*शेष-शेषिणोः=प्रयाज-दर्शपूर्णमासयोः । \*शेषाणाम्\*=प्रयाजादीनामिति । आदिशब्देन गोदोहनादयो  
विवक्षिताः । ‘‘अथापि स्यादि’’त्यनेनोत्तरभाष्यस्य शङ्काप्रदर्शनं कृतम्, तन्न युक्तम् ; नह्येकफलत्वमेकजिज्ञास्यत्वं  
वा क्रमाक्षेपम् ; अनुपपत्त्यभावात्, बहूनामेककर्तृत्वं हि क्रमाक्षेपम्, नच तदत्र विद्यते ; नापि तदेवात्र  
विवक्षितमिति शक्यते वक्तुम् ; पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्, एककर्तृत्वप्रयोजकाभावस्योक्तत्वादाशङ्काऽसंभवादित्याशङ्क्य,  
विषयभेदप्रदर्शनेन शङ्काधिक्यं दर्शयितुं वृत्तनिषेधेनावतारयति—\*ननु मा भूदिति\* ॥ \*ननु\*—‘‘फलभेदादि’’त्य-

## तत्त्वदीपनम्

निरूपितविधिविच्युष्ट्यानि ; तेषामित्यर्थः । उपासनानां धर्मत्वे ब्रह्ममीमांसायां कस्मात् प्रतिपादनम् ? इत्याशङ्क्याह—  
\*प्रासङ्गिकत्वेनेति\* ॥ प्रासङ्गिकत्वमेवाह—\*प्रत्ययत्वसाम्यादिति\* ॥

तथाऽपि निरूपितनिरूपणं वृथेत्यत्राह—\*भेदादीति\* ॥ चोदनाप्रमाणकत्वेनोपासनानां धर्मत्वमाश्रित्य  
प्रसङ्गाद् भेदाभेदौ निरूप्येते इत्यर्थः । धर्मस्य चोदनाप्रमाणकत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्यापि तादृक्त्वाद् धर्मतेत्याशङ्क्य  
हेत्वसिद्धिमाह—\*शास्त्रेति\* ॥ विधिविधुरं वेदवचनं शास्त्रशब्दार्थः । विचारयोरेकविधिप्रयुक्तत्वेन क्रमस्यात्र  
निराधिकीर्षितत्वात् फलाद्यैक्यं कस्मादुच्यते ? कल्पान्तरोत्थितावपि न क्रमसिद्धिः, कर्तृभेदेन साधनयोर्यौग-  
पद्योपपत्तेरित्याशङ्क्य, द्वितीय-तृतीयावुत्थापयतीत्याह—\*ननु मा भूदिति\* ॥ दर्श-पूर्णमासयोरेकफलसाधनयोर्यौग-  
पदनुष्ठानासंभवाद् यथा क्रमः, यथा चैकजिज्ञासानां द्वादशलक्षणानां युगपत् प्रवृत्त्यसंभवात् क्रमः, तद्वदत्रापीत्यर्थः ।

## वार्तिकम्

द्रव्यान्तरेणेति विषये, द्रव्यान्तरकल्पने प्रकरणे श्रुतस्य द्रव्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । नच—एवमस्त्विति—  
वाच्यम् ; तद्वाक्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्, ‘‘तुल्यं च सांप्रदायिकमि’’ति न्यायेन तस्य वक्तुमशक्यत्वात्,  
प्रयोजनान्तरकल्पने च प्रकरणवाधात्, दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेश्च प्रकृतयवागूद्रव्येणैव तदाकाङ्क्षा  
पूर्यते । यद्यपि ‘‘पयसा जुहोति’’ ‘‘दध्ना जुहोती’’ति द्रव्यान्तरमपि तत्प्रकरणे श्रुतम् ; तथाऽपि  
तस्योत्पन्नशिष्टत्वाविशेषात् समशिष्टतया व्रीहि-यववद् यवागूद्रव्येण विकल्प एव, न तेनामित्येव वाजिन-  
द्रव्यस्य यवागूद्रव्यस्य बाधः ; वैषम्यात्, तत्रोत्पत्तिशिष्टाया आमिक्षाया बलवत्त्वात् । एवं च प्रकरणात्  
सिद्धे यवागूद्रव्यस्याग्निहोत्रशेषत्वे सन्निपत्योपकारकत्वात् पुरोडाशश्रवणादिवत् पूर्वभावित्वं यवागूपा-  
कस्यार्थसिद्धम् । अतो भङ्क्त्वाऽपि पाठक्रमं प्रथमं यवागूपाकः क्रियते, पश्चादग्निहोत्रम्, इति तयोरा-  
नन्तर्यसिद्धिः । नचैवं धर्मज्ञान-ब्रह्मज्ञानयोः शेष-शेषित्वे श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यास्वन्यतमं  
प्रमाणमस्ति, येन तयोरार्थः क्रमः स्यात् ; तदनुपलब्धेः, विविदिषावाक्योपयोगस्य च दर्शितत्वात् ।



## अधिकृताधिकारे वा धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः ।

भामती

सोमयोरशेष-शेषिणोः, इत्यत आह—\*अधिकृताधिकारे वा\* ॥ प्रमाणाभावादिति योजना ॥ स्वर्गकामस्य हि दर्शपूर्णमासाधिकृतस्य पशुकामस्य सतो दर्शपूर्णमासकत्वर्थाप्प्रणयनाश्रिते गोदोहनेऽधिकारः । नो खलु गोदोहनं द्रव्यमव्याप्रियमाणं साक्षात् पशून् भावयितुमर्हति । नच व्यापारान्तराविष्टं श्रूयते, यतस्तदङ्गक्रममतिपतेत्, अप्रणयनाश्रितं तु प्रतीयते ; “चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्ये” ति समभिध्याहारात्, योग्यत्वाच्चास्यापां प्रणयनं प्रति । तस्मात् क्रत्वर्थाप्प्रणयनाश्रितत्वाद् गोदोहनस्य, तत्क्रमेण पुरुषार्थमपि गोदोहनं क्रमवदिति सिद्धम् । श्रुतिनिराकरणेनैवेष्टि-सोमक्रमवदपि

ऋजुप्रकाशिका

तत्र बृहस्पतिसवाख्याङ्गकर्मविधानमिति । एवं च तद्वद् “दर्श-पूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत” इत्यत्राङ्गाङ्गिभावाभावेऽपि यथा क्रमः, तथा धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरपीति शङ्कार्थः । दर्श-पूर्णमासाधिकारिण एव यथा गोदोहनेऽधिकारः, एवं दर्शपूर्णमासाधिकारिण एव सोमेऽधिकार इति, तत्र स्थलद्वयेऽप्यधिकृताधिकारत्वादङ्गाङ्गिभावाभावेऽपि क्रमो युक्तः, धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोस्त्वधिकृताधिकारत्वाभावाद् न क्रम इत्याह—\*अत आहेति\* ॥ दर्शपूर्णमास-गोदोहनयोरधिकृताधिकारत्वमेवाह—\*स्वर्गकामस्येति\* ॥ \*दर्शेति\* ॥ दर्शपूर्णमासकत्वर्थं यदप्प्रणयनं तदाश्रिते गोदोहन इत्यर्थः । गोदोहनस्याप्प्रणयनाश्रितत्वमेवोपपादयति—\*नो खल्विति\* ॥ \*गोदोहनं द्रव्यम् = गोदोहनपात्रमित्यर्थः ।\* पशून् = फलीभूतानिति शेषः । \*ननु\* गोदोहनस्याप्प्रणयनाश्रयणव्यतिरेकेण पृथग्व्यापारश्रवणे क्रत्वङ्गभूताप्प्रणयनक्रमातिपात एव, नेत्याह—\*नच व्यापारेति\* ॥ पृथग्व्यापाराश्रवणात् । किं तर्हि श्रूयत इति ? अत आह—\*अप्प्रणयनाश्रितं त्विति\* ॥ गोदोहनमिति शेषः । \*प्रतीयत इति\* ॥ श्रूयत इत्यर्थः । तच्छ्रवणमेवाह—\*चमसेनेत्यादिना\* ॥ न केवलमप्प्रणयनाश्रितत्वश्रवणं गोदोहनस्य, योग्यत्वादप्यप्प्रणयनाश्रितं तदित्याह—\*योग्यत्वाच्चेति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ उत्तरत्राप्प्रणयनं तच्छब्दार्थः । दर्शपूर्णमासेष्टिसोमयोर्धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोश्चाधिकृताधिकारत्वाभावाविशेषाद् इष्टि-सोमक्रमवदेव धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमः, इतीष्टि-सोमयोरधिकृताधिकारत्वाभावं भ्रमाद् मन्यमानो यो ब्रूयात्, तं प्रत्यङ्गीकृत्याह—\*श्रुतिनिराकरणेनेति\* ॥ “गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्” इति क्वाश्रुत्या धर्मजिज्ञासानियतगार्हस्थ्यस्य ब्रह्मजिज्ञासानियतप्रव्रजनस्य च क्रमनियमो नास्त्येव, “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्” इति ब्रह्मचर्यादपि प्रव्रजनश्रवणादिति निराकरणेनेत्यर्थः । शेष-शेषित्वा-

वार्तिकम्

तस्मान्न तयोरार्थक्रमः । अत एव न तयोः पाठक्रमोऽपि । अधिकृताधिकारे हि स भवति—यथा समिदादिषु, यथा चाऽऽग्नेयादिषु ; तत्र ह्येकेनाध्वर्युणा तेषामनुष्ठेयत्वात्, युगपदनुष्ठातुमशक्तेः क्रमानुष्ठाने प्राप्ते केन क्रमेणानुष्ठातव्यम् ? इत्यपेक्षायां पाठात् तत्क्रमो नियम्यते । नचैवं कर्म-ब्रह्मज्ञानयोरेकाधिकारिकर्तृकत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति, येन पाठेन तत्क्रमनियमः स्यात् । अधिकृताधिकारो हि द्विधा भवति—एकप्रयोजनकत्वात् ;

प्रदीपः

इति भावात् । नापि समुदितरूपेणैकफलसाधनत्वरूपं शेषित्वमिति न क्रमाकाङ्क्षेति भावः । न केवलं शेषत्वाद्यभावाद् न क्रमाकाङ्क्षा, किन्तु इतराश्रयेण स्वतन्त्रफलासाधनत्वादपीत्याह—\*अधिकृताधिकारे\* इति ॥ गोदोहनं हि द्रव्यरूपत्वाद् न क्रियाश्रयणं विना फलसाधनम्, इति युक्तम्—अधिकृतं प्राकरणिकमप्प्रणयनमाश्रित्य फलसाधनमिति दर्शपूर्णमासाभ्यां सम्बध्यते, कर्मविचारो ब्रह्मविचारो वा तु क्रियारूपत्वाद् न प्राकरणिकान्तरसम्बन्धमर्हतीति तु वस्तुस्थितिः । अधिकृते प्राकरणिकेऽधिकारः प्रकरणद्वारकः सम्बन्धः, तत्र प्रमाणाभावादित्यनुषङ्गेन योजना । \*ननु\*—अङ्गाङ्गिभावाभावेऽपि कथमुभयोर्भीमांसयोर्नैक-



## भामती

क्रमोऽप्यपास्तो वेदितव्यः । शेष-शेषित्वाधिकृताधिकाराभावेऽपि क्रमो विवक्ष्येत, यद्येकफलावच्छेदो भवेत्, यथाऽऽग्नेयादीनां षण्णामेकस्वर्गफलावच्छिन्नानाम् ; यदि वा जिज्ञास्यब्रह्मणोऽंशो धर्मः स्यात्, यथा चतुर्लक्षणीव्युत्पाद्यं ब्रह्म केनचित्केनचिदंशेनैकेन लक्षणेन व्युत्पाद्यते, तत्र चतुर्णां लक्षणानां जिज्ञास्याभेदेन परस्परसम्बन्धे सति क्रमो विवक्षितः, तथेहाप्येकस्य जिज्ञास्यतया धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमो विवक्ष्येत, नचै-

## ऋजुप्रकाशिका

भावेऽधिकृताधिकाराभावे च धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः पुनः क्रममाशङ्कमानं विरुद्धगतिकं प्रत्याह—\*शेष-शेषित्वेत्यादिना\* ॥ शेषशेषित्वाभावेऽपि भवेत् क्रमवचः, यदि तयोरेकं फलं स्यादित्याह—\*यद्येकेति\* ॥ शेष-शेषित्वाभावेऽप्येकफलकत्वे सति क्रमे दृष्टान्तमाह—\*यथाऽऽग्नेयादीनामिति\* ॥ परस्परशेष-शेषिभाव-शून्यानामिति शेषः ॥ एकादशे चिन्तितम्—“प्रयोजनाभिसंबन्धात् पृथक् तस्मादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात्” । आग्नेयादिषु संशयः—दर्शतिकं पौर्णमासतिकं चेत्याग्नेयादयः षड् यागाः । किं तेषां श्रूयमाणं फलमेकम् ? उत भिन्नम् ? इति । तत्र परस्परनिरपेक्षैरुत्पत्तिविधिभिः प्रत्येकं विहितानां तुल्यप्रधानानां पृथक्फलाकाङ्क्षत्वात् तत्सन्निधौ श्रूयमाणं फलं भेदेनैभिः सम्बध्यते । अतः प्रतिप्रधानं फलमेद इति पूर्वपक्षे प्राप्ते, \*राद्धान्तः\*—यद्यप्येषां पृथगुत्पत्तिविधिविहिततया पृथक्त्वम्, तथाऽप्यैककर्म्यम् । यद्यपि पृथगुत्पत्तिविहितत्वादेव पृथक्कर्मता, नैककर्म्यम् ; तथाऽप्येकफलकतालक्षणमैककर्म्यमित्यर्थः । कुतः ? प्रयोजनेन समुच्चितानां सम्बन्धाद्धेतोः । स एव कुतः ? एकशब्दाभिसंयोगात् । “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” इति दर्शपूर्णमासशब्देनैकेन हि समुदायवाचिना निर्दिश्य स्वर्गफले विधीयन्त आग्नेयादयः ; यथा ‘प्रामेणोदपानः खेयः’ इति समुदायशब्देन निर्देशात् समुदितैः पुंभिरुदपानः खन्यते, न पुनः प्रतिपुरुषं कूपमेदः, एवमिहापि ॥

\*ननु\*—“गणायानुलेपनमि”त्यादावेकशब्दनिर्दिष्टाय समुदिताय शब्दनिर्दिष्टमप्यनुलेपनादि प्रतिपुरुष-मावर्त्यते, तद्वत् किं न स्यादिति—चेत्, \*न\* ; युक्तमनुलेपनादेः संस्कारार्थत्वाद् दृष्टार्थत्वाच्च प्रतिसंस्कार्य-मावृत्तिः, इह तु फलमुद्दिश्य विधीयमानानामुपादीयमानानां चाग्नेयादीनां विवक्षितं साहित्यमिति फलमेकमेवेति ; एवं “धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः शेष-शेषिभावाभावेऽपि फलैक्ये सति क्रमः स्यात्, फलैक्यमपि नास्तीत्यभिसन्धिः । एवमधिकृताधिकाराभावे सत्यपि यदि जिज्ञास्यब्रह्मणो धर्मोऽंशः स्यात्, यदि जिज्ञास्यं ब्रह्मैव धर्म इत्येवं रूपेण जिज्ञास्याभेदः स्यात्, तदा क्रमो युज्येत, तदपि नेति वक्तुमाह—\*यदि वेत्यादिना\* ॥

\*चतुर्लक्षणीति\* ॥ चतुर्णां लक्षणानामध्यायानां समाहारश्चतुर्लक्षणी शारीरकमीमांसा, तद्व्युत्पाद्यमित्यर्थः । \*लक्षणेन = अध्यायेन । \*व्युत्पाद्यत इति\* ॥ प्रथमेनाध्यायेन वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयः, द्वितीयेन ब्रह्मण्य-विरोधः, तृतीयेन ब्रह्मप्राप्त्युपायज्ञानसाधनम्, चतुर्थेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं फलं व्युत्पाद्यत इत्यर्थः । तत्र जिज्ञास्य-ब्रह्मांशतया धर्मो न क्वापि प्रतिपाद्यते । तथाच धर्मो न जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणोऽंश इति भावः । \*लक्षणानाम् = अध्यायानाम् । \*एकस्य जिज्ञास्यतया = जिज्ञास्याभेदवत्तया । आग्नेयादिषु यादृशं फलैक्यम्, शारीरकमीमांसा-गतानां चतुर्णां लक्षणानां यादृशं जिज्ञास्यैक्यं तादृशं क्रमोपपादकम्, धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोर्नास्ति, येन क्रमः स्यादिति कण्ठरवेणाहेत्याह—\*नचैतदुभयमपि\* ॥ \*ननु\* धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः फलमेदस्य वक्तुं प्रकृततया कथं धर्म-ब्रह्म-

## वार्तिकम्

यथा समिदादीनाम्, भिन्नप्रयोजनत्वेऽप्येकमाश्रित्यापरस्य प्रवर्तनाद्वा ; यथा—दर्शपूर्णमासाङ्गाप्रण-यनमाश्रित्य प्रवर्तमानस्य गोदोहनस्य, धर्म-ब्रह्मज्ञानयोस्तु नैकप्रयोजनकत्वं समिदादिवदाग्नेयादि-वद्वाऽस्ति, येनैकाधिकारिकत्वं स्यात् ; तयोर्भिन्नप्रयोजनत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । नापि भिन्नप्रयोजनत्वेऽ-प्येकाधिकारमाश्रित्य गोदोहनवदपरस्य प्रवृत्तिः ; तयोर्ब्रह्मचारि-संन्यासिकर्तृकत्वेन भिन्नाधिकारत्वात् । “गोदोहनेनापः प्रणयेत् पशुकामस्ये”तिवत् तद्वोधकवाक्यप्रमाणाभावाच्च । तस्मात्प्रमाणाभावाच्च धर्म-



## फलजिज्ञास्यभेदाच्च ;—अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम् । तच्चानुष्ठानापेक्षम् ।

भामती

तदुभयमप्यस्तीत्याह—\*फल-जिज्ञास्यभेदाच्च\* ॥ फलभेदं विभजते—\*अभ्युदयफलं धर्मज्ञानमिति\* ॥ जिज्ञासाया वस्तुतो ज्ञानतन्त्रत्वाद् ज्ञानफलं जिज्ञासाफलमिति भावः । न केवलं स्वरूपतः फलभेदः, तदुत्पादनप्रकारभेदादपि तद्भेद इत्याह—\*तच्चानुष्ठानापेक्षम्\* ॥ ब्रह्मज्ञानं च नानुष्ठानान्तरापेक्षम्\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

ज्ञानयोः फलभेदः कथ्यते ? तत्राह—\*जिज्ञासाया इति\* ॥ ज्ञानेच्छायाः । ज्ञानफलमेव तत्फलमित्यर्थः ॥ फलभेदे वक्तव्ये कारणभेदकथनं भाष्येऽनुपयोगीत्याशङ्क्याह—\*न केवलमिति\* ॥ \*तच्चेति\* ॥ स्वर्गाद्यभ्यु-

पञ्चपादिका

तत्र क्रमनियमार्थोऽथशब्द इत्याशङ्क्याह—\*फल-जिज्ञास्यभेदाच्च\* ॥ धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरिति सम्बन्धः ॥ तमेव भेदं कथयति—\*अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तच्चानुष्ठानापेक्षम् । अभ्युदयः फलं धर्मज्ञानस्येति प्रसिद्धमेव, न कस्यचिद् विसंवादः । तदपि न ज्ञानस्य फलम्, अपितु ज्ञेयस्य, तस्यापि न ज्ञेयत्वादेव फलम् ;

वार्तिकम्

ब्रह्मज्ञानयोरर्थः क्रमः पाठक्रमो वाऽस्तीति ॥ अस्तु तर्हि स्थानाद् मुख्याद्वा तत्क्रमनियम इति ? नेत्याह—\*“फल-जिज्ञास्यभेदाच्चे”ति\* ॥ चकारादत्राप्यधिकृताधिकाराभावं हेतुत्वेन समुच्चिनोति । \*अयमाशयः\*—तत्रहि स्थानात् क्रमनियमो दृष्टः, यत्र द्वयोरेकफलत्वमेककर्तृकत्वञ्च दृष्टम् । यथा साद्यस्के सवनीयाग्नीषोमीययोरेककर्तुनिर्वृत्तिफलकत्वादेककर्तृकत्वाच्च क्रमादनुष्ठाने प्राप्ते, केन क्रमेण तत् कर्तव्यमित्यपेक्षायां स्थानात् क्रमो नियम्यते । नच तद्वदत्रैकफलत्वमेककर्तृकत्वं वाऽस्ति ; तयो-रभ्युदय-निःश्रेयसफलत्वेन भिन्नफलत्वात् । “अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानर्थे पुरुषं सिनीतः” इति श्रुतेः, कर्तृभेदस्य चोक्तत्वात् । अतो नानयोः स्थानात् क्रमनियमः । नापि मुख्यात् क्रमनियमः ; तत्र हि मुख्यात् क्रमो नियम्यते, यत्र जिज्ञास्यमेकरूपम् । यथा—आयुर्देवत्यकर्माङ्गानामनुष्ठेयत्वेन केन क्रमेणानु-ष्ठेयमिति जिज्ञासनाद् मुख्यक्रमात् तत्क्रमो नियम्यते, न तथेह जिज्ञास्यैकरूप्यमस्ति ; अनुष्ठेयाननुष्ठेयत्वेन जिज्ञास्ययो रूपभेदात् । अतस्तयोः क्रमापेक्षाया अभावाद् न तज्ज्ञानयोरपि मुख्यात् क्रमनियम इति ॥ तत्र कथं तयोः फलभेदः ? कथं वा जिज्ञास्यभेदः ? इति क्रमेण स्वयमेव दर्शयति—\*अभ्युदयफलमित्यादिना\* ॥ \*अभ्युदयः\*—स्वर्ग-पशु-पुत्र-ग्रामादिः, स एव फलं यस्य, धर्मज्ञानस्य ; तत् अभ्युदयफलम् । \*हि\*—यस्मादभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तस्मादस्ति ब्रह्मज्ञानफलादस्य फलभेदः । नित्यकर्मणामपि पितृलोक-फलत्वात् तदज्ञानेऽप्यभ्युदयफलत्वमस्त्येव । \*ननु\*—फलभेदेऽपि “दर्श-पूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेते”त्यत्र दर्शपूर्णमास-सोमयागयोः क्रमनियमदर्शनात् तदज्ञानयोः क्रमिकत्ववद् धर्म-ब्रह्मज्ञानयोरपि क्रमिकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य, फले वैलक्षण्यान्तरमाह—\*तच्चानुष्ठानापेक्षमिति\* ॥ \*तच्च\*—अभ्युदय-

भाष्यभावप्रकाशिका

दित्याशङ्क्याह—\*फल-जिज्ञास्यभेदाच्चेति\* ॥ धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरिति संबन्धः । तत्र फलभेदं कथ-

प्रदीपः

फलकत्वं ? कथं वा च वेदार्थरूपैकविषयप्रतिपादकत्वेन प्रतिपाद्यमेकं प्रत्युभयोरपि नाङ्गत्वम् ? इत्युभयशेषत्वस्य समुदितरूपेणैक-फलसाधनत्वस्य च सत्त्वात् कथं न क्रमाकाङ्क्षेति शङ्कायासाह—\*फलजिज्ञास्यभेदाच्चेति\* ॥ फलभेदात्, जिज्ञास्यभेदाच्चेत्यर्थः ।



**निःश्रेयस(१)फलं तु ब्रह्मज्ञानम्, नचानुष्ठानान्तरापेक्षम् । भव्यश्च धर्मोजिज्ञास्यो**

**भामती**

शाब्दज्ञानाभ्यासान्नानुष्ठानान्तरमपेक्षते ; नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठानसहभावस्यापास्तत्वादिति भावः । जिज्ञास्यभेदमात्यन्तिकमाह—\*भव्यश्च धर्म इति\* ॥ भविता भव्यः, कर्तरि कृत्यः । भविता च

**ऋजुप्रकाशिका**

दयलक्षणं धर्मज्ञानफलं चेत्यर्थः । धर्मज्ञानेन कर्मानुष्ठाने सत्येवाभ्युदयादन्यथा तदभावादनुष्ठानापेक्षेत्यर्थः । “ब्रह्मज्ञानं च नानुष्ठानान्तरापेक्षम्” इत्युक्तम्, तत्रानुष्ठानान्तरशब्दार्थमाह—\*शाब्दज्ञानाभ्यासादिति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*नित्येति\* ॥ भावनायाः स्वरूपे कार्ये च नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठानापेक्षाया निरस्तत्वादिति भावः । फलभेदमभिधाय जिज्ञास्यभेदमपि धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोरहेत्याह—\*जिज्ञास्येति\* ॥ \*ननु\* भवतेर-कर्मकत्वाद् भावार्थत्वेन च नपुंसकत्वप्रसङ्गाद् भव्यशब्देन कथं जिज्ञास्यभेदसिद्धिरिति ? अत आह—\*भवितेति\* ॥ \*ननु\* “तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः” इति कृत्यानां भाव-कर्मणोः स्मरणात् “अचो यत्”

**पञ्चपादिका**

किंत्वनुष्ठीयमानत्वात् । \*निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्, न चानुष्ठानान्तरापेक्षमिति\* ॥ ब्रह्मज्ञानस्य फल-मपवर्गः । स च नित्यसिद्धोऽव्यवहितः स्वसंवेद्यः, यतोऽविद्या संसारहेतुः । नचाविद्यामनिवर्तयन्ती विद्योदेति । तदेवमत्यन्तविलक्षणत्वात् प्रस्थानभेदाच्च न फलद्वारेणाप्येकोपनिपातः ; तेन न क्रमा-काङ्क्षा तन्त्रद्वयस्य । जिज्ञास्यं पुनरत्यन्तविलक्षणम्, यतः कार्यो धर्मः पुरुषव्यापारतन्त्रः स्वज्ञान-

**तत्त्वदीपनम्**

“स च नित्यसिद्धः” इत्यादिटीकाया एवोऽर्थः—अपवर्गस्यापि फलत्वेऽभ्युदयान्न किञ्चिदन्तरमित्याशङ्क्याह—\*स चेति\* ॥ “नित्यसिद्धः” इत्युत्पाद्यत्वं च निरस्यति । “अव्यवहितः” इति आप्यत्वप्रतिषेधः । स्वरूपेणास्तत्वेऽपि स्फुरण-विशिष्टतयाऽऽप्यत्वं नेत्याह—“स्वसंवेद्य इति” ॥ अनेन विशेषणेन गुणाधानलक्षणसंस्कारो निरस्यः । दोषस्य च परमार्थत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवाच्च तदपनयलक्षणसंस्कारोऽपीति द्रष्टव्यम् । \*ननु\* अपवर्गस्यैवंरूपत्वे संस्कारप्रथाऽ-स्तमित्यात्, तथा श्रवणादिवैयर्थ्यं चेत्यत्राह—“यत इति” ॥ वस्तुत एकरूपत्वेऽप्यविद्ययाऽन्यथा भानमित्यर्थः । अत एव न साधनवैयर्थ्यमपीत्याह—“न चाविद्यामिति” ॥ “प्रस्थानभेदादिति” ॥ साधनवैलक्षण्यादित्यर्थः । “एकोपनिपात इति” ॥ जिज्ञासाद्वयस्यैकस्मिन् कर्तरि कार्यत्वेनोपनिपातः संबन्ध इत्यर्थः । सुधामरीचिमण्डलोद-याद् वैलक्षण्यमाह—“पुरुषेति” ॥ कार्यशब्दार्थोऽपीदृश इत्याशङ्क्याह—“ज्ञानेति” ॥

**वार्तिकम्**

रूपधर्मज्ञानफलम् । तदर्थानुष्ठानापेक्षमित्यर्थः । \*यद्वा\*—\*तत्=धर्मज्ञानम् । स्वविषयानुष्ठानापेक्ष-मेवाभ्युदयफलम्, न केवलमित्यर्थः । तथाच दर्शपूर्णमास-सोमयागज्ञानयोरनुष्ठानापेक्षफलत्वेनानुष्ठान-क्रमादेव तत्क्रमोपपत्तिरिति भावः । अस्तु तर्हि ब्रह्मज्ञानस्याप्यनुष्ठानापेक्षाभ्युदयफलत्वम्, ततश्च न फलवैरूप्यमिति ? नेत्याह—\*निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्\* । \*नचानुष्ठानान्तरापेक्षमिति\* ॥ अन्तर-

**भाष्यभावप्रकाशिका**

यति—\*अभ्युदयेति\* ॥ \*धर्मज्ञानम् = धर्मजिज्ञासा । तस्याभ्युदयं फलमिति भावः । न केवलं स्वरूपतः फलभेदः, किन्तु तदुत्पादनप्रकारभेदादपि तद्वेद इत्याह—\*तच्चेति\* ॥ तच्चानुष्ठानान्त-

**प्रदीपः**

फलैक्यं हि कर्म-ब्रह्मविचारयोः ज्ञानकर्मसमुच्चयवादेनैव भवति, न तु ज्ञान-कर्मसमुच्चयो भवति ; विरोधादिति पूर्वमेव

१ “ब्रह्मज्ञानं च नानुष्ठानान्तरापेक्षमिति” भामिन्यामिमतः पाठः ।



## न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात् ; इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वाद् न पुरुषव्यापारतन्त्रम् ;

भामती

भावकव्यापारनिर्वर्त्यतया तत्तन्त्रः, इति ततः प्राग् ज्ञानकाले नास्तीत्यर्थः । \*भूतम्=सत्यम्, सदेकान्ततः, न कदाचिदसदित्यर्थः । न केवलं स्वरूपतो जिज्ञास्योर्भेदः, शापकप्रमाणप्रवृत्तिभेदादपि भेद इत्याह—

ऋजुप्रकाशिका

इति सूत्रविहितयत्प्रत्ययान्तस्य भव्यशब्दस्य कर्तृवाचित्वमयुक्तमित्यत आह—\*कर्तरि कृत्य इति\* ॥ “भव्य-गेये”त्यादिना सूत्रेण भावकर्मवाचितानियममपोद्य कृत्यप्रत्ययान्ता एव भव्यादिशब्दा विकल्पेन कर्तरि निपात्यन्ते ; अतो भवतीति व्युत्पत्त्या भव्यशब्दः कर्तृवाची । पक्षे च भाव-कर्मणोः । अस्य च भवते-रनुपसर्गत्वात् प्रातिवाचित्वाभावाच्च कर्माप्राप्तिः । भावे तु भव्यमनेनेति स्यात्, नेह सः ; पुंलिङ्गनिर्देशात्, उत्पाद्यधर्मापेक्षणाच्च ; अतः कर्तरि कृत्य इति । \*ननु\* भवितुः कथं ज्ञानकाले सत्त्वाभावः ? इत्याशङ्क्य, ज्ञानोत्तरभाविप्रयोजकव्यापारापेक्षणादित्याह—\*भविता चेति\* ॥ भवतिस्तर्ह्यसिद्धकर्तृकक्रियावाची, न पञ्चादिवत् सिद्धकर्तृकक्रियः, ततो भविता स्वतोऽसिध्यन् भावकव्यापारापेक्षनिष्पत्तिः, अर्थात् साध्यो भवतीति । अत एवाहुः—

“करोत्यर्थस्य यः कर्ता भवितुः स प्रयोजकः । भविता तमपेक्षयाथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते ॥” इति ॥ \*तत्तन्त्र इति = भावकव्यापारतन्त्र इत्यर्थः । \*ततः = भावकव्यापारात् । भाष्यस्थभूतशब्दस्यातीतत्व-वाचित्वभ्रमं निरस्यति—\*भूतं सत्यमिति\* ॥ \*ननु\* “चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च” इत्यनेन भाष्येण धर्मे ब्रह्मणि

पञ्चपादिका

कालेऽसिद्धसत्ताकः प्रथमे तन्त्रे जिज्ञास्यः, इह तु नित्यनिर्वृत्तं पुरुषव्यापारानपेक्षं ब्रह्म जिज्ञास्यम् ।

वार्तिकम्

शब्दो ज्ञानोपयोगिविचाराद्यनुष्ठानापेक्षया प्रयुक्त इति बोद्धव्यम् । तुशब्दस्तूक्ताशङ्कानिरासार्थः । यथाच निःश्रेयसफलत्वं ब्रह्मज्ञानस्य, यथावाऽनुष्ठानान्तरानपेक्षफलत्वम्, तथा“पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः” इत्यत्र वक्ष्यते । फलभेदं तयोः प्रद्वयं जिज्ञास्य-विषयभेदं दर्शयति—\*भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञान-कालेऽस्ति\* ; \*पुरुषव्यापारतन्त्रत्वादिति\* ॥ जिज्ञास्यो धर्मो न विचारसाध्यस्वज्ञानकालेऽस्ति, कुतः ? यतो \*भव्यः\*=भवनीयः भविष्यन्, उत्पत्तिप्रतियोगी ; भवतेरत्रोत्पत्तिवाचकत्वात् । तदपि कुतः ? \*पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्\*=पुरुषव्यापारो या आर्थी भावना, तत्साध्यत्वादित्यर्थः । तथाचोक्तम्—

“करोत्यर्थस्य यः कर्ता भवितुः स प्रयोजकः । भविता तमपेक्षयाथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते ॥” इति ॥

धर्मज्ञानस्य विषयस्वरूपमुक्त्वा ततो ब्रह्मज्ञानविषयस्य विलक्षणस्वरूपं दर्शयति—\*इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वाद् न पुरुषव्यापारतन्त्रमिति\* ॥ तुशब्दो वैलक्षण्यद्योतनार्थः । \*इह=वेदान्त-मीमांसायाम् । यद् जिज्ञास्यं ब्रह्म, तद् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्=अर्थभावनाया न साध्यसाधनान्यतरांशान्तः-पाति । कुतः ? यतो भूतम्=ज्ञानकाले विद्यमानम् । तदपि कुतः ? \*नित्यत्वात्\*=\*त्रिविधान्ता-प्रतियोगित्वात्\* ; “अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे” “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”

भाष्यभावप्रकाशिका

रापेक्षमिति\* ॥ शाननिष्ठा स्वव्यतिरिक्तानुष्ठानं नापेक्षत इत्यर्थः । जिज्ञास्यभेदमात्यन्तिकमाह—

\*भव्यश्चेति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

“चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्चे”त्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः\* ॥ अयमत्राशयः—न धर्म-ब्रह्मज्ञानयोरेक-फलत्वे प्रमाणमस्ति, अर्थोऽपि न युज्यते, कथम् ? न तावद् विविदिषावाक्यस्य शब्दसामर्थ्यन्याय-परीक्षायां समुच्चये प्रामाण्यमित्युक्तम् । नच “विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सहे”ति समुच्चयविधिः ; “अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते” इति फलभेदावगमात्, नापि “तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्वे”ति ज्ञान-कर्मणोरेकस्मिन् पुरुषे समुच्चयविधिः ; ब्रह्मवित्पुण्यकृतोः पुरुषयोर्मार्गं समुच्चयावगमात्, अन्वा-

## ऋजुविवरणम्

संबद्धम् ; कर्मणां निःश्रेयसफलत्वस्य श्रुति-स्मृतिसिद्धत्वात्, नचाभ्युदयफलमेव नियतं कर्मणाम्, विनियोगभेदेन मोक्षफलत्वस्यापि संभवात्, अतोऽसिद्ध इत्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ अर्थोऽपि न युज्यत इत्यर्थः । प्रयोजनं न युज्यते, न संबध्यते कर्मणेत्यर्थः । अथवा—अर्थोऽपि कर्मसाध्यो न युक्तो दृश्यत इत्यर्थः । \*ननु\*—“विविदिषन्ती”त्यादिशास्त्रमेव प्रमाणम्—प्रयोजनं च ब्रह्मप्राप्तिः, अतो हेतुद्वयमसिद्धमित्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ \*ननु\*—“विविदिषन्ती”त्यत्र विधिवाक्ये मोक्षफले ज्ञानस्य करणत्वं यज्ञादीनामङ्गत्वम्, तत्रापि सन्निपातित्वा-संभवेन फलोपकार्यङ्गत्वं प्रतीयते, “ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छती”ति लिङ्गात् फलोपकार्यङ्गत्वं प्रतीयते, पराशरोऽप्याह—“तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं कर्म चोक्तमिति” । “स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न ह्यस्य कर्म क्षीयते” इति स्वरसामङ्करस्य कर्मणोऽक्षयफलत्वेन नित्यत्वावगमात् समुच्चयः, ईशावास्ये च स्पष्टस्समुच्चय इत्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ विविदिषा-वाक्ये ज्ञानस्यैव भाव्यत्वं प्रतीयते । तत्र यज्ञादीनां पुरुषसंस्कारद्वारेण संयोगभेदाद् ज्ञानाङ्गत्वम् । तत्र संस्कार-श्रुतिसामर्थ्यात् पापक्षयद्वारेण ज्ञानाङ्गत्वप्रतिपादनात् सन्निपत्योपकारकत्वमित्युक्तमनुसन्धेयमित्याह—\*न तावदिति\* ॥ सा भूद् विविदिषावाक्यस्य समुच्चये प्रामाण्यम् ; “विद्यां चाविद्यां चे”ति समुच्चये प्रमाणम्, “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः” इति यावज्जीवमग्निहोत्रादिकर्म कर्तव्यमित्युक्त्वा “अन्धं तमः प्रविशन्ती”त्येकैकानुष्ठानं निन्दित्वा ‘सहे’ति समुच्चयप्रतिपादकत्वादित्याशङ्क्याह—\*नच विद्यामिति\* ॥ आद्यमन्त्रे वित्तादीनां मिथ्याभूतत्वेना-वर्तनात् स्वप्नादितुल्यत्वात् तत्प्रहाणेन पालनमभिधाय तत्रासमर्थस्य कर्म कर्तव्यमित्यभिधीयते, अतो नात्मज्ञाने समुच्चयः ; नह्यात्मविदो “जिजीविषेदि”ति विधानम्, “अन्धं तमः प्रविशन्ती”त्यादि च, अतो न समुच्चय इति भावः ॥ \*ननु\*—“तेनैती”ति श्रुत्या ज्ञानकर्मानुष्ठायिनामर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तिरुपदिश्यते ; अतः समुच्चयः, इत्याशङ्क्याह—

## तत्त्वदीपनम्

“फलजिज्ञास्यभेदाच्चे”त्यत्र धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः फलवैलक्षण्यमुक्तम्, तदनुपपन्नम्, धर्मजिज्ञासाया अभ्युदय-फलत्वेऽपि प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तत्वान्निःश्रेयसफलत्वमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अयमाशय इति\* ॥ धर्म-ब्रह्मज्ञानान्यां साध्यमेकं निरूपयितुं न शक्यत इत्याह—\*अर्थोऽपीति\* ॥ प्रमाणाऽसंभवप्रकारं पृच्छति—\*कथमिति\* ॥

तत्र किं विविदिषावाक्यं धर्म-ब्रह्मज्ञानयोरेकफलत्वे प्रमाणम् ? उत “विद्यां चाविद्यां चे”त्येतत् ? आहो “तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृदि”ति वाक्यम् ? अथवा “तान्याचरथे”त्येतत् ? उत “सत्येन लभ्यः” इति वाक्यम् ? किं वा नित्यकर्म-विधानानुपपत्तिः ? उत ब्रह्मज्ञानस्य करणतानुपपत्तिः ? इति विकल्प्याद्यं निरस्यति—\*न तावदिति\* ॥ “यज्ञेने”ति तृतीयाश्रुत्या कर्मणामिच्छमाणवेदनकारणत्वे शब्दसामर्थ्यम्, मानान्तरविरोधेन मोक्षान्वयकल्पनानुपपत्तिरन्यायः, ताभ्यां परीक्षायां तयोः परीक्षायामिति वेत्यर्थः । द्वितीयं निरस्यति—\*न चेति\* ॥ अविद्यापदवेदनीयकर्मणां मृत्युपदाभिधानी-यकल्मषनिरसन उपयोगः, विद्याया अमृतत्वमित्येवं फलभेदसिद्धिरित्यर्थः । नच—“सहे”त्यनुपपत्तिमिति—शङ्क्यम्, कर्मब्रह्मज्ञानयोरुपायोपेयभावस्य साहित्यगिरा विवक्षितत्वादित्यर्थः । तृतीयं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ \*तेन=देवयानेन पथा \*एति=गच्छति, ज्ञानं च कर्म चैकपुरुषाश्रितं सदेकरूपसाधनमिति न श्रुत्यर्थः, श्रुत्यन्तरविरोधात्, किंतु यो ब्रह्म विद्वान् यश्च पुण्यकृत् तावुभावप्येतेन पथा गच्छत इति मार्गसमुच्चयप्रतिपत्तिरित्यर्थः ॥

चोरव्याकुलं पथि बहूनां यथा सापेक्षतया मार्गं समुच्चयः, तथा चशब्दप्रयोगादनयोः समुच्चय इत्याशङ्क्याह—\*अन्वाचयेति\* ॥ अनु पश्चादाचीयते इति अन्वाचयः, नान्तरीयकतया प्रतीयमानोऽर्थः, सोऽर्थो यस्य, स तथोक्तः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

चयार्थेन च चकारेण प्रत्येकं निरपेक्षमार्गान्वयोपपत्तेः, पुण्यकृच्छब्देन चाऽमानवपुरुषादर्चिरादिना गच्छतां प्रतीकालम्बनानामभिधानात्, इष्टादिकारिणां धूमादिमार्गश्रवणाच्च ॥

नच “तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः” इति समुच्चयविधिरवगम्यते; केवलकर्मणामेव श्रवणात्, सत्यशब्देन च “एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः” इति वाक्यशेषात् सत्यलोकाभिधानात्, “प्लवा ह्येते अहदा यज्ञरूपा नास्त्यकृतः कृतेने”ति च कर्मनिन्दया “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदि”ति च विज्ञानविधानात् । “सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मे”ति न समुच्चयविधिः; तपःशब्दस्य ‘मनस-

## ऋजुविवरणम्

\*नापि तेनैतीति\* ॥ \*ननु\*—पुरुषद्वयसमुच्चयोऽत्र विवक्षितः, न ज्ञान-कर्मणोरेकस्मिन् पुरुषे ब्रह्मविदि समुच्चय इति कथं निश्चीयते? इत्याशङ्क्याह—\*अन्वाचयेति\* ॥ अनु पश्चादाचीयत इत्यन्वाचयः=नान्तरीयकतया प्रतिपाद्यमानः, स एवार्थो यस्यासावन्वाचयार्थः । \*ननु\*—ज्ञान-कर्मणोरेकत्रान्वयो विवक्षितो न भवति, किन्तु ब्रह्म-वित्पुण्यकृतोमार्गो समुच्चयोऽत्र विवक्षित इति कथं निश्चेतुं शक्यते? केवलकर्मणामर्चिरादिमार्गोऽन्वयाभावात्, अतः पुरुष एव समुच्चयोऽत्र विवक्षित इत्याशङ्क्याह—\*पुण्यकृच्छब्देनेति\* ॥ कथं पुण्यकृच्छब्देन प्रतीकालम्बनानां निर्देशः? न तु पुण्यकृतामेव, इत्याशङ्क्याह—\*इष्टादिकारिणामिति\* ॥ यद्वा—ज्ञान-कर्मणोरेकपुरुषान्वयाभावे “युक्त्यन्तरम्—इष्टादिकारिणामि”त्यनेनोक्तम् । नच—धूमादिमार्गश्रवणं केवलकर्मविषयमिति शक्यम्—वक्तुम्; समुच्चयग्राहकप्रमाणाभावे तथा कल्पनाऽयोगात् । \*ननु\*—“तान्याचरथे”त्यनया समुच्चयोऽवगम्यते; कर्मणां ब्रह्मप्राप्तौ साधनत्वावगमात्, इत्याशङ्क्याह—\*नच तान्याचरथेति\* ॥ \*ननु\*—केवलकर्मश्रवणेऽपि समुच्चयो निश्चेतुं शक्यते, कर्मणां तावन्मोक्षसाधनत्वं प्रतीयते, तत्र केवलयोर्ज्ञान-कर्मणोरन्यत्र निन्दाश्रवणात्, समुच्चयोऽपि निश्चीयत इत्याशङ्क्याह—\*सत्यशब्देन चेति\* ॥ इतश्च न समुच्चय इत्याह—\*प्लवा ह्येते इति\* ॥ \*ननु\*—

## तत्त्वदीपनम्

\*निरपेक्षेति\* ॥ निरपेक्षयोर्मार्गसंबन्ध इत्यर्थः । निर्गुणब्रह्मविद्यायाः कर्मणां च नैकफलसाधनत्वेन संबन्धो युज्यते; विरोधात् । नच चशब्दानुपपत्तिः । सगुणब्रह्मोपासकस्य कर्मिणश्चैकमार्गसमुच्चयेन चशब्दोपपत्तेरित्यर्थः । केवलकर्मिणामर्चिरादिमार्गसंबन्धस्य प्रतिषिद्धत्वात् समुच्चयो विवक्षित इत्याशङ्क्याह—\*पुण्यकृदिति\* ॥ आ अमानवपुरुषादिति पदच्छेदः । साधारणस्य शब्दस्य कथं प्रतीकोपासकविषयत्वमिति? तत्राह—\*इष्टादीति\* ॥ दत्त-पूर्त्त आदिशब्दार्थः । “अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ वापी-कूप-तटाकादि देवताय-तनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यर्हिसनम् । बह्विन्दे च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥”

इत्यत्र निर्दिष्टानीष्टादिशब्दार्थः । “ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्वात्रि”मित्यस्मिन् वाक्ये केवलकर्मणां पितृयान-मार्गश्रवणादित्यर्थः । अहंग्रहोपासका ब्रह्मविच्छेदार्थः । चतुर्थं निरस्यति—\*नच तानीति\* ॥ सत्यशब्दस्य परब्रह्मणि प्रसिद्धत्वात् तत्कामानां कर्म कर्तव्यतयोपदिश्यते, केवलस्य च प्रतिषिद्धत्वात् समुच्चय इति श्रुत्यर्थः ॥

किमेतत्साक्षात् समुच्चयप्रतिपादकम्? उतानुपाततः? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*केवलेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*सत्यशब्देनेति\* ॥ यद्यपि सत्यशब्दः परब्रह्मणि प्रसिद्धः, तथाऽपि वाक्यशेषाद् ब्रह्मलोकादिवाचित्वमित्यर्थः । सत्य-शब्दस्य प्रथमाश्रुतत्वेन वाक्यशेषात् प्राबल्यमाशङ्क्य, मुख्यार्थासंभवान्न सत्यशब्दस्य यथाश्रुत्यर्थ इत्याह—\*प्लवा इति\* ॥ यज्ञो रूप्यते यैस्ते यज्ञरूपाः षोडशर्त्विजः, यजमानः पत्नी चेत्यष्टादश प्लववत् प्लवाः । \*अहदाः=विनश्वरा इत्यर्थः । मोक्षस्य कर्मासाध्यत्वे वाक्यान्तरमुदाहरति—\*नास्तीति\* ॥ अकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्ति, न लभ्यत इत्यर्थः । पञ्चममपवादति—\*सत्येनेति\* ॥ तपःशब्दो ज्ञानपर्यायः, सत्यशब्दः सत्यवचनवाचीति पूर्वपक्षाभि-प्रायः । तत्र हेतुमाह—\*तपःशब्दस्येति\* ॥ ध्यानस्यैवाभिधानादिति संबन्धः । तप इति शब्दो यस्य स तपः-शब्दार्थः । ध्यानं तपःशब्दमित्यत्र प्रमाणमाह—\*मनसश्चेति\* ॥ इतेस्तपःशब्दस्येत्यनेन संबन्धः । अन्यत्र ध्यानस्य



## पञ्चपादिकाविवरणम्

श्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः” इति ध्यानस्यैवाभिधानात् । तस्मान्न समुच्चये प्रमाणमस्ति । प्रतिषेधाच्च ; “नान्यः पन्था विद्यतेयनाय” “नास्त्यकृतः कृतेन” “न कर्मणा न प्रजया धनेन” “नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा” “हित्वाऽविद्यां धियैवेयात् तद्विष्णोः परमं पदमि”ति च । केवलकर्मणां प्रतिषेध इति चेत्, न ; अविशेषात्, समुच्चयविधायिप्रमाणाभावे सर्वकर्मणां प्रतिषेधोपपत्तेश्च । ज्ञानाङ्गतया सर्वकर्मसंन्यासविधानाच्च न समुच्चयः । संन्यासाश्रमधर्मैः समुच्चय इति चेत्, न ; तद्धर्माणां ध्यानादीनां ज्ञानस्वरूपोपकारित्वात् । नित्यकर्मविधानानुपपत्तिरेव ज्ञानसहकारितया कर्मणां मोक्षफलत्वं कल्पयतीति चेत्, न ; नित्यकर्मणां फलनिरपेक्षत्वात्, सापेक्षत्वे च विश्वजिन्न्यायावतारात्, संस्कारद्वारेण

## ऋजुविवरणम्

“तपसा ह्येषः” इत्यनेन न समुच्चयः प्रतीयते ; तपोरूपस्य कर्मण आत्मनः प्राप्तिहेतुत्वात्, इत्याशङ्क्याह—  
\*सत्येनेति\* ॥ \*केवलकर्मणामिति\* ॥ “न हास्य कर्म क्षीयते” इति वचनादिति भावः । \*नाविशेषादिति\* ॥ अन्तः-  
करणशुद्धिद्वारेण प्रत्यक्प्रवणहेतुत्वेन मोक्षोपयोगित्वे संभवति कुत एष निश्चयः ? निषेधवाक्यानां केवलकर्मविषय-  
तया संकोचः, नतु तत्प्रापकवचनानाम् ; “अनङ्गुहा जीवामः” इतिवत्पारम्पर्येणात्र लक्षणेति “न हास्ये”त्यु-  
पासनाविषयम् ? यद्वा—“न हास्य कर्म विद्यते” इति निषेधः, क्षीयत इति च हेतुः, न च कर्मण उपसर्जनत्वम् ;  
क्षयेणानन्वयादिति भावः ॥ \*ननु\*—निषेधस्य प्राप्तिसापेक्षत्वेन दुर्बलत्वान्न पारम्पर्येण लक्षणाहेतुत्वम्, \*मैवम्\* ;  
ग्रहणाग्रहणयोरतुल्यत्वेन विकल्पाभावप्रसङ्गात् । अथ मोक्षसाधनत्वे प्राप्ते सर्वसाधनत्वहाने प्राप्तान्वयबाधः, निषेधस्य तु  
केवलकर्मविषयत्वे संकोचमात्रम्, नान्वयबाधः, तेन तदेव युक्तमित्याशङ्क्याह—\*समुच्चयविधायीति\* ॥ अत्रान्वयबाध  
एव ; “विविदिषन्ती”त्यादिशास्त्रपर्यालोचनयाऽन्यत्रैव विनियोगप्रतीतिरिति भावः ॥ यद्वा—अविशेषादिति हेतुना कथं  
केवलकर्मविषयत्वं निराक्रियते ? अविशेषेण शास्त्रस्यैव सर्वत्र विशेषव्यवस्थापनदर्शनात्, तेन विरुद्धो हेतुः ; अथवा—  
अविशेषात् सर्वकर्मनिषेधोऽपि निश्चेतुं न शक्यते, इत्याशङ्क्याह—\*समुच्चयविधायीति\* ॥ \*ननु\*—समुच्चयविधायि-  
प्रमाणाभावे सति सर्वकर्मप्रतिषेधे निश्चयः, सर्वकर्मप्रतिषेधनिश्चयाच्च समुच्चयाभावसिद्धिः, इतीतरेतराश्रयमित्या-  
शङ्क्याह—\*ज्ञानाङ्गतयेति\* ॥ यद्वा—मोक्षान्वयबाधे प्रमाणान्तरमाह—\*ज्ञानाङ्गतयेति\* ॥ “स्वरूपोपकारित्वा-  
दि”त्यनेन सन्निपातित्वमुक्तम्, सन्निपातित्वे च न समुच्चयः ; फलोपकार्यङ्गत्वाभावात् । \*ननु\*—नित्यतया  
विहितकर्मणां फलाकाङ्क्षायां मोक्षे साक्षाद् ज्ञानविनियोगात् तस्य चाङ्गाकाङ्क्षया तदङ्गतया मोक्षसाधनत्वम्, इति  
श्रुतार्थापत्तिरेव प्रमाणमिति चोदयति—\*नित्यकर्मैति\* ॥ कथं फलनिरपेक्षत्वम् ? फलाभावे प्रवृत्त्यभावात् तत्सापेक्ष-  
त्वम् । उक्तञ्च षष्ठाये—“असाधकन्तु तादर्थ्यादि”त्यत्राह—\*सापेक्षत्वे चेति\* ॥ “स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यवि-  
शिष्टत्वादि”त्यनेन न्यायेन स्वर्गफलत्वमेव स्यादित्यर्थः । कथं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गार्थता कल्प्येत ? ज्ञानार्थत्वेन

## तत्त्वदीपनम्

तपःशब्दाभिधेयत्वप्रसिद्धेरापि तत्तेनोच्यत इत्यर्थः । ज्ञानेऽपि तपःशब्दः प्रसिद्धः, तथा चात्मज्ञानं परिशिष्यत  
इत्याशङ्क्याह—\*प्रतिषेधाच्चेति\* ॥ \*अथनाय=गमनाय, मोक्षप्राप्तय इत्यर्थः । \*देवैः=इन्द्रियैरित्यर्थः ॥

उदाहृतश्रुतीनां केवलकर्मप्रतिषेधपरत्वात् समुच्चितानां मोक्षान्वय इति शङ्कते—\*केवलेति\* ॥ किमेतद्वचनं  
साक्षात् केवलकर्मप्रतिषेधं गमयति ? उतानुपपत्त्या ? नाद्य इत्याह—\*नाविशेषादिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*समुच्च-  
येति\* ॥ समुच्चयस्य प्रामाणिकत्वं कर्मप्रतिषेधस्य केवलविषयत्वं कल्प्येत ; अन्यथा संकोचकप्रमाणाभावात् प्रतिषेधस्य  
सर्वविषयत्वमित्यर्थः । किं च सकलाश्रमधर्माणां समुच्चयः ? उतोत्तमाश्रमविहितधर्माणाम् ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह  
—\*ज्ञानाङ्गतयेति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*संन्यासेति\* ॥ तेषां स्वरूपोपकार्यङ्गत्वसंभवे न फलोपकार्यङ्गत्वकल्पन-  
मुचितम् ; विप्रकर्षप्रसक्तेरित्याह—\*न तद्धर्माणामिति\* ॥ षष्ठं कल्पमुत्थापयति—\*नित्यकर्मैति\* ॥ किमेतत्प्राभा-  
करस्य चोद्यम् ? उत भाट्टस्य ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*न फलेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*सापेक्षत्व इति\* ॥ “स



## पञ्चपादिकाविवरणम्

च विनियोगस्य दर्शितत्वात्, कर्मणामेव च विध्यनुपपत्त्या मोक्षसाधनत्वकल्पनात् समुच्चयासिद्धेः, कर्मप्रतिषेधस्योदितहोमप्रतिषेधवज्ज्ञानस्तुत्यर्थत्वोपपत्तेर्ज्ञान-कर्मणोर्विकल्पेन मोक्षसाधनत्वप्रसङ्गात् । \*ननु\* ब्रह्मज्ञानमेवेतिकर्तव्यतया कर्मणां मोक्षसाधनत्वं कल्पयतीति चेत्, न ; शमादीतिकर्तव्यतान्तरभावात्, करणतया विध्युद्देशप्रसिद्धानां च कर्मणां विधिविरोधात् । अर्थश्च विरुध्यते । कश्च कर्मणां साध्योऽर्थ इति वक्तव्यम् ? न तावद् ब्रह्मात्मैकत्वम् ; तस्यासाध्यत्वात्, नाप्यविद्या-भेदांशाध्यास-कर्मणां निवृत्तिः ; “भिद्यते हृदयग्रन्थिः” “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्यादौ ब्रह्मदर्शननिवर्त्यत्वावगमात् । नहि—“तस्मिन् दृष्टे” इत्युक्ते कर्माणि सहकारित्वेनावगम्यन्ते ।

## ऋजुविवरणम्

विनियोगात्, तस्य च मोक्षसाधनत्वात्, अङ्ग-प्रधानयोरेकफलत्वात्, श्रुतमोक्षसाधनत्वे विश्वजिन्न्यायावताराभावात्, तस्याश्रुतफलविषयत्वादित्याशङ्क्याह—\*संस्कारद्वारेणेति\* ॥ \*ननु\*—व्यवधानेऽपि करणोपकारमात्रं न तदुत्पत्तिः, दूरतस्तत्साधनसंबन्धः ; केवलविद्यानिन्दानुपपत्तिप्रसङ्गात्, परम्परावचनानि तु न विरोधपरिहारार्थानि, अपितु सर्वथा सापेक्षत्वपराणीत्याशङ्क्याह—\*कर्मणामेवेति\* ॥ \*ननु\*—केवलकर्मणं मोक्षसाधनत्वं कल्पयितुं न शक्यते ; निषेधश्रुतिविरोधात्, इत्याशङ्क्याह—\*कर्मप्रतिषेधस्येति\* ॥ भवतु कर्मणां हेतुत्वम्, को दोषः ? इति चेत्, तत्राह—\*विकल्पेनेति\* ॥ \*ननु\*—ज्ञानस्य मोक्षे करणत्वं श्रूयते, करणं चेतिकर्तव्यताऽऽकाङ्क्षं सत् कर्मणामेवेतिकर्तव्यतात्वं कल्पयतीति चोदयति—\*ननु ब्रह्मज्ञानमेवेति\* ॥ \*ननु\*—शम-दमादिव्यतिरिक्तमितिकर्तव्यतान्तरमप्यपेक्षितं कल्पमनिवृत्तौ ; द्वारान्तरस्य विद्यमानत्वात्, शमादीनां विपरीतप्रवृत्तिदोषमात्रनिवारकत्वात्, अतः कर्मणामेवैतद् द्वारमित्याशङ्क्याह—\*करणतया विध्युद्देशेति\* ॥ ननु—“भिद्यते” इत्यादिश्रुतिषु ज्ञानस्य निवर्तकत्वावगमेऽपि कर्मणां तन्निवर्तकत्वं न विरुध्यते ; तेषां सहकारित्वेन निवेशोक्तेः, नहि ज्ञानप्रापकं कर्म निवर्तकम् ;

## तत्त्वदीपनम्

स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टः” इति न्यायाद् विश्वजिदादौ स्वर्गस्य फलत्वकल्पनवदत्रापि तस्यैव फलत्वसंभवाद् न श्रुत्या मुक्तिफलत्वं कल्प्यमित्यर्थः । विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गस्य फलत्वकल्पनं सिद्धान्तविरुद्धमित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह—\*संस्कारेति\* ॥ अस्मिन् पक्षे समुच्चयासिद्धिश्चेत्याह—\*कर्मणामिति\* ॥ फलमन्तरेणानुपपद्यमाननित्यकर्मविध्यनुपपत्त्या कर्मणां मुक्तिसाधनत्वं त्वयोपन्यस्यते । तथाच तेषामेव मुक्तिसाधनत्वोपपत्तौ न समुच्चयसिद्धिरित्यर्थः । कर्मप्रतिषेधेन स्तूयमानज्ञानस्यैव तत्साधनत्वमित्याशङ्क्य कदाचित् तदपि तत्साधनमित्याह—\*ज्ञानेति\* ॥ “न कर्मणे”त्यादिना कर्मणां प्रतिषिद्धत्वात् समुच्चयासिद्धिमाशङ्क्य प्रतिषेधमन्यथयति—\*कर्मप्रतिषेधस्येति\* ॥ उदितहोमप्रतिषेधवदित्यस्यायमर्थः—\*यथा “प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ती”त्यनुदितहोमनिन्दोदितहोमस्तुतये, यथा “अतिथये प्रदुताय शून्यायावसथायाहार्य हरन्ति तादृगेव तदि”त्यादिनोदितहोमनिन्दाऽनुदितहोमस्तुतये ; तद्वत् कर्मप्रतिषेधस्य ज्ञानस्तुत्यर्थतेति । फलितं दर्शयति—\*ज्ञानेति\* ॥ उतितानुदितहोमयोर्विकल्पवद् ज्ञान-कर्मणोरपि विकल्पेन मुक्तिसाधनत्वप्रसक्तं समुच्चय इत्यर्थः । सप्तमं कल्पमुत्थापयति—\*ब्रह्मज्ञानमिति\* ॥ ब्रह्मज्ञानं करणत्वादितिकर्तव्यमपेक्षते, इतिकर्तव्यान्तरस्यानिर्दिष्टत्वात् कर्माणीतिकर्तव्यतात्वमनुभवन्तीत्यर्थः । परिशेषोऽसिद्ध इत्याह—\*न शमादीति\* । किं च “तमेतं वेदानुवचनेने”त्यादिना कर्मणां ज्ञानकरणत्वाभिधानात् तदितिकर्तव्यतात्वं विरुद्धमित्याह—\*करणतयेति\* ॥ “अग्निहोत्रं जुहुयादि”त्यादिविध्युद्देशः, तत्र सिद्धानां कर्मणां योऽयं करणतया विधिः, तद्विरोधादिति योजना ॥ प्रमाणाभावं प्रपञ्चार्थाभावं प्रसञ्जयितुं प्रक्रमते—\*अर्थश्चेति\* ॥ दधि-गुडयोर्निरपेक्षकारणयोरपि समुच्चित्य कार्यान्तरजनकत्वदर्शनात् कथं विरोधः ? इत्याशङ्क्याह—\*कश्चेति\* ॥ किं ब्रह्मात्मैक्यं कर्मणा साध्यते ? उताविद्याया निवृत्तिः ? अथवा भेदांशस्य ? आहो मिथ्याज्ञानस्य ? किं वा कर्मणाम् ? उतोपाधिद्वयस्येति किंशब्दार्थः । आद्यं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ प्रागभाववद्भि साध्यम् ; अस्य तु प्रागभावशून्यत्वाद् न साध्यत्वमित्यर्थः । द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमकल्पान् निरस्यति—\*नाप्यविद्येति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानस्य निवर्तकत्वमात्रमत्र प्रतीयते, न केवलस्येत्याशङ्क्याह—\*नहीति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

नाप्युपाधिद्वयनिवृत्तिः कर्मणां फलम् । तथा “विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः” “एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती”ति च ब्रह्मदर्शननिवर्त्यत्वावगमात्, अज्ञानमात्रोपादानत्वस्य दर्शितत्वाच्च कर्मोपाधीनाम् । \*किञ्च\* समुच्चयवादिनो न विज्ञानसाध्यमपि फलमस्ति ; कर्मोपाधीनां सत्यवस्तुतया विज्ञाननिवर्त्यत्वात्, मिथ्याध्यासस्य च क्षणिकतया स्वयमेव निवृत्तेः, प्रवाहस्य च प्रवाहनिवृत्तिमन्तरेण पृथगुच्छेदाभावात्, अवस्तुत्वाच्च, मिथ्याज्ञानसंस्कारस्य शुक्तिकादितत्त्वज्ञानेनाविरोधदर्शनादनिवर्त्यत्वात्, ब्रह्मात्मभावस्य च स्वयंप्रकाशतया विज्ञानाप्रकाश्यत्वात्, तत्त्वज्ञानाभ्याससंस्काराच्च, मिथ्याज्ञानसंस्कारनिवृत्तौ

## ऋजुविवरणम्

धाक्यभेदादित्याशङ्क्याह—\*नहि तस्मिन् दृष्ट इति\* ॥ दर्शने सति नैरन्तर्येण तन्निवृत्तिप्रतीतेर्न कर्मणामिति-कर्तव्यतात्वं कल्पयितुं शक्यम् ; श्रुतिविरोधात्, कर्मणामभावाच्चेति भावः ॥ कथं ज्ञाननिवर्त्यत्वं कर्मणाम् ? विरोधाभावादित्याशङ्क्याह—\*अज्ञानमात्रेति\* ॥ अज्ञानमात्रस्याप्यन्यसहितस्योपादानत्वे तत्त्वज्ञानान्निवृत्तिर्न स्यात्, तदर्थमाह—\*मात्रोपादानत्वस्येति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मदर्शननिवर्त्यत्वमस्मत्पक्षविरोधि न भवति ; अङ्गीकृतत्वात्, किन्तु ज्ञानस्य तन्निवर्तकत्वं केवलस्य न संभवतीति कर्मणां सहकारितयाऽनुप्रवेश उच्यते ; अत आरादुपकारकत्वम् । नच सहकारिकर्मनिवृत्तिः ; ‘अतोऽन्या ह्येकेषामि’त्युक्तत्वात्, नच तस्य स्वरूपतः फलतो वा विरोधः ; सहकारिणो ज्ञानफलेनैव सफलत्वात् । नच नैरपेक्ष्यम् ; ज्ञानस्यैवाहदत्वात् । अतो ज्ञानस्य निवर्तकत्वे तत्सहकारित्वेन कर्मणामपि तत्फलत्वोपपत्तेर्न तन्निवर्तकत्वमुदाहरणीयमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च समुच्चयेति\* ॥ कर्मोपाधिनिवृत्तिर्विज्ञानफलमित्याशङ्क्याह—\*कर्मोपाधीनामिति\* ॥ \*ननु\*—मिथ्याज्ञानस्यानात्मन्यात्मबुद्धिलक्षणस्य निवृत्तिर्विज्ञानफलमित्याशङ्क्याह—\*मिथ्याध्यासस्य चेति\* ॥ मिथ्याज्ञानप्रवाहनिवृत्तिरेव ज्ञानफलमित्याशङ्क्याह—\*प्रवाहस्य चेति\* ॥ \*ननु\*—प्रवाहस्य पृथगुच्छेदो नास्तीति वक्तुं न शक्यते ; सत्यामपि प्रवाहनिवृत्तौ तन्निवृत्त्यदर्शनाद् उत्तरञ्च तद्वृत्तिभावात्, प्रवाहिव्यतिरिक्तत्वाच्च । नच प्रवाहिविनाशतन्त्रस्तन्नाशः ; तन्नाशे विनाशादर्शनात्, इत्याशङ्क्याह—\*अवस्तुत्वाच्चेति\* ॥ मिथ्यासंस्कारनिवृत्तिः फलमित्याशङ्क्याह—\*मिथ्याज्ञानेति\* ॥

\*ननु\*—ब्रह्मात्मतावभासो ब्रह्मज्ञानफलमित्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मात्मभावस्येति\* ॥ मा भूत् तत्त्वज्ञानाद् मिथ्याज्ञानसंस्कारनिवृत्तिः, सम्यग्ज्ञानसंस्कारात् भविष्यतीत्याशङ्क्याह—\*तत्त्वज्ञानाभ्यासेति\* ॥ \*ननु\*—

## तत्त्वदीपनम्

पृष्ठं दूषयति—\*नापीति\* ॥ स्थूल-सूक्ष्मशरीरद्वयमुपाधिद्वयशब्दार्थः । गङ्गादिनदीनां प्रातिस्विकनाम-रूप-परित्यागेनाम्भोधैक्यवत् साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वोऽपि विद्याबलाद्विनिर्मुक्तनाम-रूपो ब्रह्मभावं प्रतिपद्यत इति श्रुत्यर्थः । श्रुत्यन्तरविरोधमाह—\*एवमेवेति\* । नदीनां स्वस्वनामपरित्यागेन समुद्रावासिरेवंशब्दार्थः । \*षोडश कला इति\* ॥ पृथिव्यसेजो—वाय्वाकाश-प्राण-शब्देन्द्रिय-मनोऽन्न-वीर्य-तपो-मन्त्र-कर्म-लोक-नामानित्यर्थः । पुरुषोऽयं यासाम्, ताः पुरुषायणाः । कर्मनिवर्त्यत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—\*अज्ञानेति\* ॥ श्रुति-युक्तिभ्यां कर्मोपाधीनामज्ञानोपादानत्वेन ज्ञानमात्रनिवर्त्यत्वादन्यतो निवृत्त्यसंभव इत्यर्थः ॥ एवं कर्मसाध्याभावमभिधाय ज्ञानसाध्याभावमाह—\*किंचेति\* ॥ किं कर्मोपाधीनां निवृत्तिर्ज्ञानफलम् ? उत मिथ्याज्ञानस्य ? आहो तत्प्रवाहस्य ? अथवा मिथ्याज्ञानसंस्कारस्य ? अथवा ब्रह्मात्मतास्फुरणस्य ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*कर्मोपाधीनामिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*मिथ्याध्यासस्येति\* ॥ तृतीयं प्रत्याह—\*प्रवाहस्येति\* ॥ प्रवाहस्य प्रवाहिभ्यो भेदेनानिरूपणात् प्रवाहनिवृत्तौ निवृत्तिरित्यर्थः । इतोऽपि न प्रवाहनिवृत्तिरुक्तेत्याह—\*अवस्तुत्वादिति\* ॥

यद्यपि मिथ्याज्ञानं क्षणिकत्वात् स्वयमेव विनश्यति ; तथाऽपि सजातीयोत्पत्तेदुर्वारत्वान्मिथ्याज्ञानस्यात्यन्तो-च्छेदो ज्ञानसाध्य इति चेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात् । मिथ्याज्ञानं किं सत् ? उतासत् ? अथवाऽनिर्वचनीयम् ? नाद्यः ; सत्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवात्, न द्वितीयः ; तुच्छत्वेऽपरोक्षप्रथानुपपत्तेः ; तृतीयेऽविद्यात्मकत्वाद्विद्यामात्र-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्त्वज्ञानान्मुक्तिश्रुतिविरोधात् । तस्मात् सर्वानर्थोपादानानादिमिथ्याज्ञाननिवृत्त्यैव विज्ञानं फलवत्, इति न समुच्चयावकाशः ॥ \*तत्र सर्वसङ्करवादी\*—ब्रह्मविचारापेक्षिताधिकारमप्यजानन् समुच्चयसामर्थ्यादेव धर्मावबोधानन्तरं ब्रह्मावबोधं—\*जल्पति\* ॥ तत्र सति वा समुच्चये विपरीतं किं न स्यादिति निरूपणीयम् । \*तथाहि\*—ज्ञानवतैवानुष्ठितानि कर्माणि मोक्षं साधयन्ति, इति प्रथमं ब्रह्मावबोधमुत्पाद्य तद्वतैव ब्रह्मचारिणा धर्मविचारादि सर्वे स्वाश्रमधर्मानुष्ठानं कर्तुं युक्तम्, इति विपरीत एव क्रमः स्यात् ; अन्यथा त्वादावेव मुमुक्षोराधर्मविचारपरि-

## ऋजुविवरणम्

तर्हि त्वन्मतेऽपि न ज्ञानसाध्यं फलं दृश्यते ; एतेषां ज्ञानानिवर्त्यत्वात्, अतो न ज्ञानान्मोक्षः, फलान्तरं वा किञ्चित् कल्पमित्याशङ्क्याह—\*तस्मात्सर्वानर्थेति\* ॥ \*अथवा\*—त्वयाऽपि शास्त्रसामर्थ्याद् ज्ञानस्य सर्वोपाधिनिवर्तकत्वं वक्तव्यम्, शास्त्रं चाविद्या-काम-कर्म-लिङ्गनिवर्तकत्वं ज्ञानस्य दर्शयति, तच्च न केवलस्य, इति समुच्चयः, अफलत्वं वेति, तत्राह—\*तस्मादिति\* ॥ \*समुच्चयसामर्थ्यादिति\* ॥ तेषामिदं दर्शनम्—सूत्रकारो हि “सर्वोपेक्षे”त्यत्र समुच्चयं वक्ष्यति । स च कर्मण्यपरिज्ञाते न शक्यते ज्ञातुम् ; विभागानवगमात्, कर्मविचारे तु पूर्ववृत्ते काम्य-निषिद्ध-धर्जं ज्ञानेन समुच्चय इति ज्ञातुं शक्यते, इति विचारानन्तर्यमिति । “सति वा समुच्चये” इति वदतेदमुक्तम्—समुच्चय एव तावन्नास्ति, अतो न तत्सामर्थ्यादानन्तर्यसिद्धिः, इदानीमभ्युपगम्याप्युच्यत इति । \*ननु\*—समुच्चये कर्मावबोधानन्तर्यं कारणमुक्तमेव, कथं विपरीतक्रमापादनम् ? तत्र हेत्वभावादित्याशङ्क्याह—\*तथाहीति\* ॥ ज्ञानवताऽनुष्ठित-कर्मणां मोक्षसाधनत्वादानुष्ठानमेव पश्चाद् भवतु ; विचारस्तु पूर्वं क्रियतामित्याशङ्क्याह—\*धर्मविचारादिति\* ॥ \*ननु\* धर्मविचारानन्तरं ब्रह्मज्ञानं कृत्वा तज्ज्ञानयुक्तस्सन् धर्मानुष्ठानं करोतु, एवमपि ज्ञानवताऽनुष्ठितत्वलाभात् कर्मणां कर्मावबोधस्य वा पूर्ववृत्तत्वोपपत्तेः केन हेतुना ब्रह्मविचार एव पूर्वं क्रियते ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्यथा त्वादावेवेति\* ॥ \*ननु\*—न धर्मविचारात् प्राग् मुमुक्षुत्वं संभवति ; अतो नानर्थक्यं कर्मणाम्, मुमुक्षुत्वाभावेनैव तादर्थ्यनानुष्ठानाभाव-

## तत्त्वदीपनम्

निवर्त्यत्वं मिथ्याज्ञानस्याङ्गीकार्यमित्यर्थः । तुरीयं प्रत्याह—\*मिथ्याज्ञानेति\* ॥ रज्ज्वादिसाक्षात्कारेऽपि सर्पभ्रमादिसंस्कारात् पलायनादिप्रवृत्तिदर्शनाद् न संस्कारस्य ज्ञानोच्छेद्यत्वमित्यर्थः । पञ्चमं प्रत्याह—\*ब्रह्मात्मभावस्येति\* ॥ तत्त्वज्ञानस्य स्वरूपेण मिथ्याज्ञानसंस्काराविरोधेऽपि संस्कारद्वारा भ्रमसंस्कारनिवर्तकत्वमाशङ्क्याह—\*तत्त्वज्ञानेति\* ॥ उक्तन्यायेन तन्मतेऽपि ज्ञानमनर्थकं स्यादिति शङ्कामुपसंहारच्छलेन निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ अनाद्यनिर्वाच्याज्ञान-तत्कार्यनिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानफलमित्यर्थः । तर्ह्यस्मन्मतेऽप्येवमेव ज्ञानफलमिति शङ्कां निरस्यति—\*इति न समुच्चयेति\* ॥ ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्याविद्यात्मकत्वाद् विद्यायाश्चाविद्यामात्रनिवर्तकत्वाद् न कर्मणामुपयोगः, इति न समुच्चय इत्यर्थः । “सर्वोपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि”त्यत्र कर्मणामपेक्ष्यत्वाभिधानात् समुच्चयस्तावत् प्रतिभाति स च यज्ञादिपरिचय-मन्तरेणानुपपन्नः, इति यज्ञादिकं विचार्यम् ; तथाच धर्ममीमांसानन्तरं ब्रह्ममीमांसेति भास्करोक्तमनुवदति—\*तत्र सर्वेति\* ॥ अनुवादसमय एव चोद्यस्यावस्तुत्वमाह—\*ब्रह्मेति\* ॥ नित्यानित्यवस्तुविवेकादियुक्तस्यैव ब्रह्मविचारः संभवति, तस्मिन्नाश्रिते न धर्मावबोधानन्तर्यं युक्तम्, इतीदृशं विभागं न जानातीत्यर्थः । श्रुति-स्मृति-न्यायविरोधात् समुच्चय एव तावदसंभवी, तमङ्गीकृत्य दूषणमाह—\*तत्र सति वेति\* ॥ वैपरीत्यमेव दर्शयति—\*तथाहीति\* ॥ कर्मावबोधानन्तरं ब्रह्ममीमांसेति पक्षे दूषणमाह—\*अन्यथेति\* ॥ अथवा ब्रह्मज्ञाने जाते कर्मानुष्ठानासंभवात् कथं वैपरीत्यम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्यथेति\* ॥ \*आदाविति\* ॥ ब्रह्मवर्थाश्रम इत्यर्थः । किं कर्मणां भोगः फलम् ? उतापवर्गः ? नाद्यः ; मुमुक्षुत्वात्, द्वितीयेऽपि किं कर्मणां साक्षाद् मुक्तिसाधनत्वम् ? उतापूर्वद्वारेण ? नाद्यः ; तस्यामवस्थायां ज्ञानाभावेन समुच्चित्यसंभवात्, अन्त्ये तु जन्मान्तरीयकर्मणामप्यपूर्वद्वारोपकारकत्वसंभवाद् नास्मिन् जन्मनि कर्मावबोधस्य हेतु-

## प्रदीपः

सूचितम्—कर्मणो भेदज्ञानापेक्षा, ज्ञानस्य तु तद्विरोधित्वमित्याद्युपम्यासेन । तदेव मनसि निधायह—\*अभ्युदयफल-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

समातेरनुष्ठीयमानकर्मणामानर्थक्यप्रसङ्गात् । दृश्यन्ते च प्रथमाश्रम एव मुमुक्षवः । सर्वसाधारणत्वाद्विचार एव प्रथमः कर्तव्य इति चेत्, देवानांप्रिय ! न सर्वसाधारणं कर्तुमयं प्रवृत्तः, किन्तु काम्यमानसाधनमवश्यानुष्ठेयं वा निवर्तयितुं प्रवृत्तः । तत्र यदि विचारद्वयं काम्यमानमोक्षसाधनमिष्येत, तर्हि व्युत्क्रम एव श्रेयानित्युक्तम् । \*अथ\* नित्याध्ययनविधिः कर्मविचारं प्रयोजयति, अतोऽवश्यानुष्ठेयविचारानन्तरं काम्यमानब्रह्मविचारः प्रयुज्यत इति चेत्, \*नैतत् सारम्\* ; काम्यमानब्रह्मविचारानन्तरमपि नित्यधर्मविचारोपपत्तेः । \*ननु\* अध्ययनानन्तरं कर्मविचारानुष्ठाने प्रत्यवायः स्यात्, \*सत्यम्\* ; नित्यवदल्पानुष्ठानेऽपि प्रत्यवायपरिहारात् । \*किंच\* तावन्मात्रमुपेयताम् ; विदुषाऽनुष्ठीयमानब्रह्मचारिधर्माणामपि मोक्षसाधनत्वलाभात्, वेदानुवचनादिषु

### ऋजुविवरणम्

सिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*दृश्यन्ते चेति\* ॥ अत्र समुच्चयवादिभिर्युक्त्यन्तरमप्युक्तम् । अत्रोद्गीथाद्युपासनानि चिन्त्यन्ते—तेषां च कर्माधिकृतविषयत्वे धर्मविचारानन्तरं ब्रह्मविचारस्येति, तत्पुरस्तात्परिहृतमिति नेहोच्यते । युक्त्यन्तरमपि तेनोक्तम्—धर्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्तत्वे पूर्वं तु धर्मजिज्ञासा कर्तव्या, पुरुषमात्रविषयत्वादिति, तदनुवदति—\*सर्वसाधारणत्वादिति\* ॥ परिहरति—\*देवानांप्रियेति\* ॥ मूर्खेत्यर्थः ॥ भवतु काम्यमानसाधनं निवर्तयितुं प्रवृत्तिः ? तथाऽपि कथं धर्मविचारस्य पूर्ववृत्तत्वाभावः ? काम्यमानसाधनत्वेनैव पूर्वमनुष्ठानमिति वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*तत्र यदीति\* । अत्र युक्त्यन्तरमप्युक्तं पूर्ववादिना—स्वाध्यायविधेश्चार्थावबोधपर्यवसानादिति, तदनुवदति—\*अथ नित्याध्ययनेति\* ॥ \*ब्रह्मविचारानन्तरमपि नित्यधर्मविचारोपपत्तेरिति\* ॥ अयमर्थः—नित्यत्वं पूर्वानुष्ठानहेतुर्न भवति ; वैपरीत्येऽपि नित्यत्वाविधातादिति । \*ननु\*—नित्यत्वं पूर्वानुष्ठानहेतुर्भवति ; नित्यस्य पूर्वानुष्ठाने विरोधात्, इति चोदयति—\*नन्वध्ययनानन्तरमिति\* ॥ \*सत्यं नित्यवदिति\* ॥ अयं भावः—कृत्स्नधर्मविचारानन्तरं ब्रह्मविचारस्याभ्युपगतम् । तत् तावद् न सिध्यति ; अल्पानुष्ठानेऽपि विधेश्चरितार्थत्वादिति । \*ननु\*—नित्यत्वेन धर्मविचारस्य सिद्धेः पूर्वानुष्ठाने प्रवृत्तत्वात् तस्यैव सर्वस्यानुष्ठानं क्रियताम्, किं विचारान्तरेण ? इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च तावन्मात्रमिति\* ॥ \*ननु\*—नित्यवदनुष्ठानाङ्गीकारेऽपि धर्मविचारानन्तरं ब्रह्मविचारस्य सिद्धम् ; अनुष्ठितकर्मणां ज्ञाने हेतुत्वम्, अनुष्ठानं च कृत्स्नज्ञानपूर्वकम्, तच्च सकलविचारेण विना न सिध्यति ; अतः पूर्वानुष्ठानस्य प्रत्यवायपरिहारमात्रहेतुत्वम्, नतु ज्ञानार्थत्वम्, हेयोपादेयप्रतिपत्त्यभावात्, अतो विचारानन्तरमित्याशङ्क्याह—\*वेदानुवचनादिष्विति\* ॥ निरपेक्षकरणविभक्तिश्रवणं विकल्पे हेतुः । \*ननु\*—विकल्पपक्षेऽपि विचारस्तावन्नित्यत्वेन

### तत्त्वदीपनम्

त्वमित्यर्थः । \*ननु\*आदौ मुमुक्षव एव न सन्तीत्याशङ्क्याह—\*दृश्यन्त इति\* ॥ श्रुतौ स्मृतौ लोके चेति शेषः । धर्मविचारस्य प्राथमिकत्वे हेत्वन्तरमाशङ्कते—\*सर्वेति\* ॥ मुमुक्षवमुमुक्षुविषयत्वाद्विचारस्य प्राथम्यमित्यर्थः । सोपहासमुत्तरमाह—\*देवानामिति\* ॥ पशो ! इत्यर्थः । पशुत्वमेवाह—\*न सर्वेति\* ॥ ततः किमिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं धर्मविचारस्य ब्रह्मविचारवद् मुक्तिसाधनतयाऽनुष्ठेयत्वम् ? उत नित्यतयेति ? तत्राद्य उक्तं दूषणमित्याह—\*तत्र यदीति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—\*अथेति\* ॥ गूढाभिसन्धिरुत्तरमाह—\*नैतत्सारमिति\* ॥ यथाश्रुतमादाय शङ्कते—\*नन्वध्ययनेति\* ॥ कर्मविचारपुरःसरं तदननुष्ठाने प्रत्यवाय आपतेत्, तन्निरासार्थं प्रथमं कर्मविचार इत्यर्थः । प्रत्यवायप्रसक्तिमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि कर्मविचारस्य प्राथम्यं प्राप्तमित्याशङ्क्याह—\*नित्यवदिति\* ॥ धर्मविचारमल्पमल्पं विधाय प्राधान्येन ब्रह्मविचारमेव करोत्वित्यर्थः ।

किं कतिपयाश्रमधर्माणां समुच्चयः ? उत सकलाश्रमधर्माणाम् ? नाद्य इत्याह—\*किंचेति\* ॥ येन विना समुच्चयासिद्धिः, तावन्मात्रस्यानुष्ठेयत्वमाश्रीयतामित्यर्थः । तर्ह्यभिहोत्रादिकर्मणामननुष्ठेयत्वं प्राप्तमिति, तत्राह—विदुषेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*वेदानुवचनेति\* ॥ द्वितीयो विकल्प एतेन निरस्त इति द्रष्टव्यम् । तर्हि धर्मान्तरवैयर्थ्यम्, तत्राह—



## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रत्येकं निरपेक्षकरणविभक्तिश्रवणाद्वा, आश्रमकर्मणां विकल्पेन मोक्षसाधनत्वोपपत्तेः, ब्रह्मचर्यादेव संन्यास-विधानाच्च । धर्मावबोधो नित्यतयाऽनुष्ठितोऽपि न ब्रह्मविचारहेतुः, अननुष्ठेयश्च धर्मविचारः, अग्निहोत्रादिव्यति-रिक्तसंन्यासधर्माणामपि ज्ञाने समुच्चयाङ्गीकरणात् । \*किंच\* अध्ययनविधिः कर्मविचारं प्रयुञ्जानो ब्रह्म-विचारं किमिति न प्रयुञ्जे ? इति वक्तव्यम्, “श्रोतव्यः” इति विध्यन्तरश्रवणादिति चेत्, अश्रुतमीमांसावृत्तान्तो देवानांप्रियः, धर्मविचारे क्लृप्तप्रवर्तकभावेनानेनैवाध्ययनविधिना ब्रह्मविचारस्यापि प्रयोगसम्भवे श्रोतव्य इति विधेर्विनियोगाधिकार-प्रयोगविधिकल्पनया प्रवर्तकत्वकल्पनाऽयोगात् । ब्रह्मज्ञानस्य काम्यमानसाधनतया तद्विचार-स्यापि काम्यत्वाद् न नित्याध्ययनविधिप्रयुक्ततेति चेत्, कर्मविचारे काम्यमानकर्मवाक्यविचारस्याप्येतत्प्र-युक्तत्वप्रसङ्गः ॥

## ऋजुविवरणम्

कर्तव्यः, हेतुत्वञ्च तस्याग्निहोत्रादिधर्मानुष्ठानस्य तत्सापेक्षत्वात्, अतोऽनुष्ठानं विचारस्येत्याशङ्क्याह—\*अननुष्ठेय-श्रोति\* ॥ धर्मविचारसापेक्षाग्निहोत्रादिभिरेव समुच्चये विचारानुष्ठानमित्यर्थः ॥ अत्रान्यदपि नियमेन धर्मविचारस्य पूर्ववृत्तत्वे कारणमुक्तम्—नित्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वादधर्मविचारः कर्तव्यः, ब्रह्मविचारस्तु विध्यन्तरप्रयुक्तत्वात् पश्चा-दिति, तन्निराकरोति—\*किञ्चाध्ययनविधिरिति\* ॥ अनन्यलभ्यो हि विध्यर्थः । तत्र विध्यन्तरेणैव ब्रह्मविचार-संभवे नास्य प्रयोजकत्वमिति परमतमाशङ्कते—\*श्रोतव्य इति\* ॥ \*विध्यन्तरेति\* ॥ न विध्यन्तरश्रवणमात्र-मन्यस्याप्रयोजकत्वे कारणम्, किन्तु क्लृप्तविध्यन्तरश्रवणम्, नच तदत्रास्तीति परिहरति—\*अश्रुतमीमांसेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

\*आश्रमधर्माणामिति\* ॥ इतोऽपि न सकलाश्रमधर्मसमुच्चयो युक्त इत्याह—\*ब्रह्मचर्यादिति\* ॥ एकजन्मन्यनुष्ठितानां सकलाश्रमधर्माणां ज्ञानेन समुच्चय आदौ संन्यासविधानमयुक्तमित्यर्थः । विषयव्यासक्तचेतसां धर्मविचारोत्तरकालमपि श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तस्याप्रयोजकत्वमित्याह—\*धर्मेति\* ॥ धर्मविचारस्य नित्यतयाऽनुष्ठेयत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्म-विचारप्रयोजकत्वं निरस्तम्, संप्रत्यङ्गीकृतं परित्यजति—\*अननुष्ठेय इति\* ॥ कथं तर्हि समुच्चयः ? तत्राह—\*अग्निहोत्रेति\* ॥ किंच ब्रह्मविचारोऽपि कर्मविचारवद् नित्याध्ययनविधिर्नैव प्रयुज्यते ? उत विध्यन्तरेण ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*किंचेति\* ॥ ब्रह्मविचारस्य नित्याध्ययनविधिप्रयोज्यत्वे कर्मविचारवत् प्राथम्यं स्यात् ; अविशेषादित्यर्थः । द्वितीयपक्षमुत्थापयति—\*श्रोतव्य इति\* ॥ कल्पनागौरवप्रसङ्गाद् विध्यन्तरस्य प्रवर्तकत्वमनुपपन्नमित्याह—\*अश्रुतेति\* ॥ विधेः प्रवर्तकत्वप्रसिद्धेः श्रवणे च विधेः श्रवणात् कथं कल्पनागौरवम् ? इत्याशङ्क्याह—\*विनियोगाधिकारेति\* ॥ प्रयोगविधेः प्रवर्तकत्वात् श्रवणे च विनियोग-प्रयोगाधिकारविधीनां कल्प्यत्वादध्ययन-विधेश्च विनियोगादिकल्पनया प्रवर्तकस्य कर्मविचारे क्लृप्तत्वाद् न श्रवणविधिप्रयुक्तिरित्यर्थः । नित्या-नित्यसंयोगविरोधान्न ब्रह्मविचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्तिरिति शङ्कते—\*ब्रह्मज्ञानस्येति\* ॥ नित्यविधिप्रयुक्त-त्वादावभ्यक्तव्यम्, काम्यविचारत्वादनावश्यकत्वमिति विरोध इत्यर्थः । अतिप्रसङ्गेनोत्तरमाह—\*कर्मविचार इति\* ॥ ब्रह्मविचारस्य काम्यत्वेन नित्यविधिप्रयोगायोगे काम्यज्योतिष्टोमादिवाक्यार्थविचारस्यापि नित्यविधि-प्रयुक्तत्वं न स्यात् ; इतरथा तस्यापि स्यादित्यर्थः । प्रकारान्तरेण ब्रह्मविचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्तिमाक्षिपति—

## प्रदीपः

मित्यादिना\* ॥ धर्मज्ञानफलं, भावि तदनुष्ठानाधीनत्वात्, ब्रह्मज्ञानफलं तु नित्यम्, इति स्वरूपतः फलयोर्भेदो बोध्यते । न केवलं स्वरूपतः, किन्तुत्पादनप्रकारभेदादपि भेद इत्याह—\*तद्विधानुष्ठानापेक्षमिति\* ॥ तथाच धर्मज्ञानफलम्, अनु-ष्ठानानपेक्षब्रह्मज्ञानफलादिलक्षणम्, अनुष्ठानापेक्षत्वाद् इत्यनुमानप्रयोगः सूचितः । अनेन क्रमेण ब्रह्मज्ञानफलस्यापि स्वरूपत उत्पादनप्रकारतश्च भेदं प्रदर्शयति—\*निःश्रेयसफलन्त्विति\* ॥ जिज्ञास्यभेदमाह—\*भग्नश्च धर्म इति\* ॥ धर्मः, सिद्धब्रह्मविलक्षणः, साध्यत्वात्, इति भावः । \*भग्नः\* = भावी । कथं धर्मो भग्नः ? न तु सिद्ध एवेत्यत आह—\*पुरुषव्यापारतन्त्रत्वादिति\* ॥ पुरुषकृतिसाध्यत्वादित्यर्थः । \*इह तु भूतं ब्रह्मेति\* ॥ \*इह = एतच्छब्दे



### पञ्चपादिकाविवरणम्

\*स्यादेतत्\*—ब्रह्मविचारस्य वैराग्य-शम-दमोपसदनादिसाधनविशेषाणामङ्गत्वेन विधानादध्ययनविधेः कर्म-विचारे शमाद्यङ्गशून्यस्य ब्रह्मविचारे तदङ्गानामाक्षेपकत्वानुपपत्तेः साङ्गविध्यन्तरं कल्प्यत इति, \*सोऽयमनुरूपित-विधिव्यापारो वावदूकः\* ; स्वाध्यायविधिः खलु शिरोव्रत-भूभोजनाद्यङ्गविकलमेव वाक्यान्तराध्ययनं विदधानो मुण्डक कारीर्याद्यध्ययनं शिरोव्रताद्यङ्गाक्षेपपुरःसरमेव विदधाति । विचारं च प्रयुञ्जानः प्रतिवाक्यं दृष्टतयै-वाङ्गभूतान् न्यायभेदानाक्षिप्यैव विचारं प्रयुङ्क्ते । दर्शपूर्णमासविधिश्च नित्याधिकारो यथाशक्त्यङ्गानुष्ठानं प्रयुङ्क्ते, काम्याधिकारस्तु सर्वाङ्गानुष्ठानमिति । तथा स एव विधिरूपांशुयाजे कर्मण्याज्यावेक्षणाद्यङ्गमाक्षिपति, यागान्तरेष्ववघाताद्यङ्गमिति । एवमध्ययनविधिर्ब्रह्मविचारे शमाद्यङ्गमाक्षिपेत् नेतरत्रेति न विरुध्यते । नचा-धिकारिविशेषणत्वात् शमादीनामनुपादेयत्वादनाक्षेपः ; अध्ययनविध्यधिकारिण एव तत्प्रयुक्तविचारेऽप्यधि-

### ऋतुविवरणम्

\*स्यादेतदिति\* ॥ अस्यायमभिप्रायः—अध्ययनविधेर्विचारान्तरे शमादिनिरपेक्षं विधायकत्वस्य दर्शनादितरत्र तत्सापेक्षं विधायकत्वमिति न युज्यते वक्तुम् ; विधिवैषम्यप्रसङ्गादिति । \*दर्शपूर्णमासविधिश्चेति\* ॥ यावज्जीववाक्ये हि जीवने निमित्ते नैमित्तिकमवश्यं कर्तव्यं प्रतीयते । तद् यदि कस्यचिदङ्गस्यानुरोधाद् निमित्ते सत्यपि न क्रियेत, ततः प्राधान्यवाक्यविरोधः ; अतो यथाशक्त्युपसंहारः ; काम्ये तु यदा शक्यता, तदैव प्रवृत्तेर्न तु यथाशक्त्यन्यायः । नहि तत्राङ्गहानेः प्रमाणमस्ति ; प्रधानवाक्यस्य सर्वाङ्गोपसंहारेऽप्यविरोधात् । नहि तत्रावश्यकत्वं श्रुतम्, कामश्रुतिस्तु सर्वाङ्गोपसंहारसामर्थ्येऽपि वर्तमानाङ्गबाधाय न भवतीति भावः ॥ नियोगपक्षे तु विषयस्य सतः करणत्वम्, नित्ये तत्र कतिपयाङ्गहानेऽप्यपूर्वसिद्धिः ; विषयप्रत्यभिज्ञानात् । काम्ये तु फलकरणस्यापूर्वविषयता । सकलाङ्गग्रामसंपादितोप-कारस्य च करणता । तत्र कतिपयाङ्गहाने नाधिकारः, न वाऽपूर्वमिति सकलाङ्गोपसंहार इत्यनुसन्धेयम् । \*उपांशुयाज इति\* ॥ आज्यद्रव्यकत्वादिति भावः ॥ \*यागान्तरेष्विति\* ॥ आग्नेयामीषोमीयपुरोडाशयोर्ब्राह्मिप्रकृतिकत्वाद् अवघातप्रयुक्तिरिति भावः ॥ \*ननु\*—नाध्ययनविधेः शमाद्याक्षेपकत्वम् ; तेषामनुपादेयत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*नचाधिकारिविशेषणत्वादिति\* ॥ अध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाद् विचारस्याध्ययनविध्यधिकारिण उपनीतस्य तत्प्रयुक्त-विचारेऽप्यधिकारः, न शमादिषु तस्येति भावः ॥ अतोऽध्ययनविधेः शमाद्याक्षेपकत्वं नातीव क्लृप्तमित्युपसंहरति—

### तत्त्वदीपनम्

\*स्यादेतदिति\* ॥ अध्ययनविधेः कर्मविचारे शमाद्याक्षेपकत्वस्याक्लृप्तत्वाद् ब्रह्मविचारस्य च शमादिना विनाऽयोगात् साङ्गविध्यन्तरं प्रवर्तकमाश्रयणीयमित्यर्थः । कर्मविचारेऽध्ययनविधेः शमाद्यङ्गानाक्षेपत्वेऽपि ब्रह्मविचारे प्रापकत्वं किं न स्यादिति समाधत्ते—\*सोऽयमिति\* ॥ अनिरूपितविधिव्यापारत्वमेवाह—\*स्वाध्यायेति\* ॥ शिरोव्रतं नाम शिरस्यङ्गारपात्रधारणम् । यस्य यत्प्रयुक्तौ यदङ्गापेक्षा, न तस्य तदन्यप्रयुक्तौ तदङ्गापेक्षेत्यत्र निदर्शनान्तरमाह—\*विचारं चेति\* ॥ \*दृष्टयेति\* ॥ दृष्टफलरूपनिर्णयाद्योपकारद्वारेणेत्यर्थः । तत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह—\*दर्शपूर्णमासेति\* ॥ यावज्जीववाक्ये होमस्यावश्यकर्तव्यतोपलभ्यते, तथा कस्यचिदङ्गस्य वैकल्येन प्रधानानिर्वृत्तौ प्रधानवाक्यं विरुध्यते । तस्माद् नित्यविधिर्यथाशक्त्यङ्गोपसंहारेणानुष्ठापयति, काम्यविधिस्तु विपरीतः, यथाशक्त्यङ्गानुष्ठाने प्रमाणाभावात्, प्रधानवाक्यस्य च सकलाङ्गसंपत्तावनुष्ठानेऽप्यविरोधादित्यर्थः ॥

दृष्टान्तान्तरमाह—\*तथेति\* ॥ \*स एव विधिरिति\* ॥ दर्शपूर्णमासविधिरित्यर्थः । उपांशुयाजस्याज्य-हविष्कत्वात् तद्वेक्षण-पर्यग्निकरणादिसंस्कारं दर्शपूर्णमासविधिराक्षिपति, आग्नेयामीषोमीययोः पुरोडाशहविष्कत्वात् तत्प्रकृतिव्रीह्यादिष्ववघाताद्यङ्गमाक्षिपतीत्यर्थः । दृष्टान्तोक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके समर्थयति—\*एवमिति\* ॥ अध्ययनविधेः शमाद्याक्षेपकत्वमयुक्तम्, शमादेरधिकारिविशेषणत्वेनानुपादेयत्वात्, उपादेयस्यैव च विध्यनुष्ठेयत्वनियमात्, इत्या-शङ्क्याह—\*नचाधिकारीति\* ॥ \*अनुपादेयत्वात्=असाध्यत्वादित्यर्थः । विचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्तिं योऽङ्गीकुरुते, असावध्ययनविध्यधिकारिण एव विचाराधिकारमङ्गीकरोति, इति न शमादीनामधिकारिविशेषणत्वमित्यर्थः ॥ “शान्तो दान्तः” इत्यादिवाक्यालोचनयाऽऽत्मविचाराधिकारिणः शान्त्यादिगुणकत्वप्रतिपत्तेः कथमितरस्या-



## ऋजुप्रकाशिका

ष चोदनालक्षणप्रमाणभेदो दर्शितः, तत् कथम् ? धर्म-ब्रह्मणोश्चोदनामात्रप्रमाणकत्वाभावात्, अचोदना-  
नामप्यर्थवादादीनां चोदनैकवाक्यतया धर्मप्रमाणत्वसंभववदचोदनानामपि वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रमाणत्वसंभवात्,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

कारित्वात् । तस्मात् प्रधानविधिर्दृष्टादृष्टाङ्गानामुपकारविशेषापेक्षया यत्र कचन यत्किञ्चिदङ्गं प्रयोजयतीति सर्वत्र  
समधिगतमेतत् । तस्मादेकाध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाद् विचारद्वयस्य क्रमापेक्षायां ब्रह्मविचारानन्तरं धर्मविचारो  
युक्तः; विचारादीनामपि मोक्षसाधनत्वलाभात् । तस्माद् न फलैक्यादपि धर्मजिज्ञासानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासेति ॥  
प्रतिवाक्यं च तात्पर्यभेदात् प्रमेयभेदसिद्धिः ।

## ऋजुविवरणम्

\*तस्मात्प्रधानविधेरिति\* ॥ \*ननु\*—अध्ययनविधिप्रयुक्तिसाधनमप्रयोजनमिव दृश्यते ; प्रकृतानुपयोगात्, समुच्चय-  
निराकरणं ह्यत्र प्रकृतम्, नचास्य तत्रोपयोगः, नापि प्रकृतव्युत्क्रमस्योपयोगः ; अध्ययनविधिप्रयुक्तत्वस्य तद-  
साधकत्वात्, अतोऽनुपयुक्त इत्याशङ्क्याह—\*तस्मादेकाध्ययनविधीति\* ॥ एवं फलभेदं प्रसाध्य, जिज्ञास्यभेदं  
साधयति—\*प्रतिवाक्यञ्चेति\* ॥ “असति विषये प्रेरयितुमसमर्था सती विषयमप्यवबोधयती”त्युक्तं टीकाकारेण ;  
तद् व्यधिकरणम् ; असति विषये प्रवर्तकत्वासंभवे विषयसत्त्वं वक्तव्यम् ; नतु विषयावबोधकत्वं युक्तं दर्शयितुम् ।  
नच सत्त्वमेव तत्र विवक्षितम् ; सत्यपि प्रवृत्त्यदर्शनात् । नच विषयावबोधकत्वमपि संभवति । विषयशब्दो हि  
धर्मविषयः ? पुरुषप्रवृत्तिविषयो वा ? न तावत् प्रथमः कल्पः ; धर्मप्रमाणस्य हि धर्मो विषयः । स चासौ प्रवर्त-  
कत्वान्यथानुपपत्त्या बोध्यत्वेन निश्चीयते, किन्तु श्रेयःसाधनत्वमेव शब्दार्थः । नच तत्र प्रेरकत्वं संभवति ; अतो  
धर्मचोदना धर्मे प्रेरयतीत्यसंबन्धमुक्तम्, प्रेरकत्वाभावादेव, नापि द्वितीयः ; विषयो हि यागादिः ; पुरुषप्रवृत्तेः । नच  
तत्रापि प्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या बोधकत्वम्, वाचकस्य धातोर्विद्यमानत्वात् । अथवा “चोदना हि प्रेरयन्ती”त्ययुक्तम् ;  
चोदनाशब्देन प्रेरणोच्यते । नहि प्रेरणायाः प्रेरकत्वमस्ति । “अवबोधयती”त्ययुक्तम् ; तस्या अवबोधकत्वाभावात् ।  
नापि प्रमाणप्रवृत्तिभेदोऽपि ; सिद्धव्यापारस्याप्रमाणकत्वात् । तस्मादयुक्तोऽयं ग्रन्थः, इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—

## तत्त्वदीपनम्

धिकारः ? इति चेत्, मैवम् ; “पभ्येदि”त्यनूद्य शान्त्यादिगुणको भवेदिति विध्यभ्युपगमाद् नोक्तदोषप्रसक्तिरित्यभि-  
सन्धायोपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*दृष्टादृष्टाङ्गानामिति\* ॥ दृष्टादृष्टातिशयहेत्वङ्गानामित्यर्थः । ब्रह्मविचारस्याध्ययन-  
विधिप्रयुक्तिसमर्थनफलमाह—\*तस्मादिति\* ॥ अध्ययनविधिप्रयुक्तावनुपपत्त्यभावस्तच्छब्दार्थः । युक्तत्वमेवाह—  
\*विचारादीनामिति\* ॥ फलैक्यस्यासंभावितत्वात् प्रमाणविधुरत्वाच्च न धर्मजिज्ञासानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासेत्युक्तमुप-  
संहरति—\*तस्मादिति\* ॥ जिज्ञास्यैक्यमुक्तं निराचष्टे—\*प्रतिवाक्यमिति\* ॥ उपक्रमादिपर्यालोचनया पूर्वत्र धर्मस्य  
जिज्ञास्यत्वम्, उत्तरत्र ब्रह्मण इति प्रतीयत इत्यर्थः ॥

## वार्तिकम्

“एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये”त्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥ तस्मान्नास्त्यत्र मुख्यक्रमोऽपीति भावः ॥ अस्तु  
तर्हि प्रावृत्तिकः क्रम इति ? नेत्याह—\*चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्चेति\* ॥ चकारो भिन्नक्रमोऽप्यर्थो जिज्ञास्यभेदं  
दृष्टान्तत्वेन सूचयति । \*चोदनेति\*—श्रोतुर्हिताहितप्राप्ति-परिहारसाधनोपदेशकं वाक्यम् । \*प्रवृत्तिः\*—  
बोधनप्रकारः ॥ धर्म-ब्रह्मचोदनयोर्विषयभेदवत् प्रवृत्तेरपि भेदाद् न तज्ज्ञानयोः प्रावृत्तिकक्रमोऽपि संभवती-  
त्यर्थः ॥ \*अयमाशयः\*—यत्र हि चोदनाप्रवृत्त्यैक्यं दृष्टम्, तत्रैकचोदनागृहीतेष्वनेकपदार्थेषु युगपत्  
तदङ्गानुष्ठानप्रसक्तौ तदशक्तौ क्रमेणैव तदनुष्ठानं कर्तव्यमिति प्राप्तौ, केन क्रमेण कर्तव्यमिति वीक्षायाम्,



## चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च ।

भामती

\*चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च\* ॥ चोदनेति वैदिकं शब्दमाह ; विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात् । प्रवृत्तिभेदं

ऋजुप्रकाशिका

इत्याशङ्क्य, चोदनाशब्देन विशेषवाचिना सामान्यं वैदिकप्रमाणजातं लक्ष्यत इत्याह—\*चोदनेति\* ॥  
\*वैदिकशब्दमिति\* ॥ \*ननु\* आशाऽभ्यर्थनाऽनुज्ञानां लोके चोदनात्वात् कथं वेदे चोदनोक्तेति ? अत आह—

पञ्चपादिका

किंच चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च । इदमपरं प्रमाणोपाधि प्रमेयवैलक्षण्यम् । धर्मचोदना हि प्रेरयन्ती

पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्र हेत्वन्तरमाह—\*चोदनाप्रवृत्तिभेदादिति\* ॥ एतद् विवृणोति—\*इदमपरमित्यादिना\* ॥ चोदनेति शब्दभावनां कुर्वन्लब्धोऽभिधीयते । सा च चोदनाऽशत्रयविशिष्टार्थभावनां कुर्वती तस्मिन्ननवबुद्धे पुरुष-

ऋजुविवरणम्

\*चोदनेति\* ॥ \*शब्दभावनामिति\* ॥ कथं पुरुषेच्छाधीनत्वाभावः ? प्रतिज्ञामात्रेण तत्सिध्यभावात्, इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अनिच्छतोऽप्रयतमानस्येति ॥ \*ननु\*—यस्मिन् सति यत्र प्रवृत्तिर्भवति यस्मिन्नसति न भवति, तादृश-मन्वयव्यतिरेकसिद्धमधिकारिविशेषणत्वेन स्वीकृतं दृष्टं हरीतकीभक्षणादौ धिरेचकादेः, अत्रापि तादृशमधिकारि-

तत्त्वदीपनम्

“इदमपरमि”त्यत्रापि हेत्वन्तरमुपन्यस्यत इति शङ्का स्यात्, तां निराकरोति—\*एतदिति\* ॥ “चोदनाप्रवृत्ति-भेदादि”त्यत्र प्रमाणे वैलक्षण्यमुक्तम् न प्रमेये, इति वा शङ्कां निरस्यति—\*एतदिति\* ॥ “ब्रह्मचोदने”त्यत्र चोदना-शब्दस्य प्रमाणपरतया टीकाकृता व्याख्यातत्वाद् अत्रापि प्रमाणमात्रमुच्यत इति शङ्का स्यात्, तत्राह—\*चोदनेति\* ॥ ब्रह्मणि भावनाया असंभवात् चोदनाशब्दस्य प्रमाणपरत्वम्, अत्र तु तद्वैपरीत्याद् नैवमित्यर्थः । पुरुषस्य स्वतन्त्रत्वात् कथं चोदनाप्रेर्यत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—\*सा चेति\* ॥ यद्यपि पुरुषः स्वतन्त्रः ; तथाऽप्यर्थभावनायाः फलशिर-स्कत्वाद् धात्वर्थविषया प्रवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः ॥

अंशत्रयविशिष्टार्थभावनाऽप्रतिपत्तौ पुंसः प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्याम्—“असति विषये” इत्युक्तं टीकायाम्, तदसंभवि; अर्थभावनाप्रतिपत्त्या प्रवृत्त्यनुपपत्तिचोद्ये “अप्रतिपन्ने विषये” इति वक्तव्यम्, किमिदमुच्यते—“असती”ति ? विषयशब्दार्थश्च कः ? इति न ज्ञायते, तत्राह—\*तस्मिन्निति\* ॥ अर्थभावनारूपं भाव्यं विषयशब्दार्थः, “स च तस्मि-

वार्तिकम्

प्राथमिकाङ्गस्य नियामकाभावाद् यतः कुतश्चित् प्रवृत्तावपि द्वितीयाद्यङ्गानां प्रवृत्त्या क्रमो नियम्यते । तद्यथा—“सप्तदश प्राजापत्या भवन्ती”त्येकचोदनागृहीतेष्वेकदैवत्येषु सप्तदशपशुषु चोदकप्राप्तानां प्राथमि-काङ्गस्य नियामकाभावाद् यतः कुतश्चित् प्रवृत्तावपि द्वितीयाद्यङ्गानां प्रथमाङ्गपदार्थो येन क्रमेण प्रवृत्तः, तथैव प्रवृत्त्या क्रमो नियम्यतेऽधिकव्यवायपरिहारार्थम् । नचैवं धर्म-ब्रह्मणोरेकचोदनापरिगृहीतत्वमस्ति, येन तदङ्गभूतयोस्तज्ज्ञानयोः प्रवृत्त्या क्रमनियमः स्यादिति—वाच्यम् ; तच्चोदनयोः प्रवृत्तिभेदेनैव भेदावगमा-

भाष्यभावप्रकाशिका

प्रमाणद्वाराऽपि जिज्ञास्यभेदमाह—\*चोदनेति\* ॥ चोदनेति वैदिकशब्दमाह ; विशेषेण

प्रदीपः

प्रतिपाद्यं ब्रह्म भूतं नित्यवृत्तमिति योजना । ज्ञापकप्रमाणप्रवृत्तिभेदादपि कर्मब्रह्मणोजिज्ञास्ययोर्भेद इत्याह—\*चोदनाप्रवृत्ति-भेदाच्चेति\* ॥ सत्यं वेदार्थत्वेन धर्म-ब्रह्मणोरस्ति साम्यम् ; तथाऽपि प्रवर्तक-वाक्यार्थत्व-सिद्धार्थवाक्यार्थत्वाभ्यां वैलक्ष-



या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति ।

भामती

विभजते—\*या हि चोदना धर्मस्येति\* ॥ आज्ञादीनां पुरुषाभिप्रायभेदानामसंभवाद् अपौरुषेये वेदे

ऋजुप्रकाशिका

\*आज्ञादीनामिति\* ॥ उत्कृष्टस्य पुंसः स्वामिलषितोपायकार्यत्वाभिधानमाज्ञा, यथा गामानयेति ; एतदेव हीनस्याभ्यर्थना, यथा 'माणवकमध्यापय' इति, प्रवृत्तस्य प्रयोज्यस्य तदिष्टोपायोक्तिरनुज्ञा, तथा 'कुरु यथेष्टमि'ति ; एतासामपौरुषेये वेदेऽसंभवादुपदेशश्चोदनेत्युच्यत इत्यर्थः । उपदेशो वा वेदे कथमिति चेत्, उच्यते— उपदेशो नामाप्रवृत्तस्य नियोज्यस्य हितोपायकर्तव्यतोक्तिः, यथा लोके गोपालकादिषु सुपथकथनोक्तिः— 'अनेन पथा याही'ति, तथा वेदेऽपि तादृशोपदेशोऽस्त्येव—“ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” इत्यादिः । तत्र

पञ्चपादिका

पुरुषमसति विषये प्रेरयितुमसमर्था सती विषयमप्यवबोधयति । ब्रह्मप्रमाणं पुनर्बोधयत्येव केवलं नावबोधे पुरुषः प्रेर्यते । अवबोधो हि यथावस्तु यथाप्रमाणं चोदेति, न पुरुषस्येच्छा-मप्यनुवर्तते ; तत्र कुतः प्रेर्येत ? यथाऽक्षार्थयोः सन्निकर्षे सति तेन सन्निकर्षेणाक्षावगम्यार्थ-ज्ञाने पुरुषो न नियुज्यते, तद्वत् ; अनिच्छतोऽपि स्वयमुत्पत्तेः, ब्रह्मणि तु नित्यसिद्धत्वान्न प्रेरणा सम्भवति । “ब्रह्मचोदने”ति चोदनाशब्दो भाष्ये प्रमाणविवक्षया प्रयुक्तः, न प्रेरणाविवक्षया, तदाह—\*या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम्, सा स्वविषये विनियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति, ब्रह्मचोदना पुनः पुरुषमवबोधयत्येव

पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रवृत्त्ययोगादर्थभावनामपि प्रतिपादयतीति भावः । \*ननु\* ब्रह्मावबोधे भाव्ये पुरुषं प्रेरयन्ती चोदनाऽव-बोधव्यावृत्तां भावनां प्रतिपादयतीति, नेत्याह—\*नावबोधे पुरुषः प्रेर्यत इति\* ॥ \*ननु\* अवबोधः पुरुषप्रयत्नसाध्य इति, नेत्याह—\*अवबोधो हि यथावस्त्विति\* ॥ अनिच्छतोऽप्रयतमानस्यापि दुर्गन्धादिज्ञान-दर्शनादित्यर्थः ॥

तत्त्वदीपनम्

ज्ञि'त्यत्र तच्छब्देन निर्दिश्यते, असच्छब्दश्चानवबोधपर इत्यर्थः । प्रमाणत्वाविशेषाद् ब्रह्मचोदनाया अपि प्रेरकत्वं स्यात्, इतरथाऽन्यत्रापि तन्न स्यादिति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* । अवबोधव्यावृत्तामिति\* ॥ अवबोधविशेषितामित्यर्थः । अवबोधस्य भावनाविषयत्वमसिद्धम्, येनावबोधभावनायाः प्रतिपाद्यत्वमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ प्रागभाववत्त्वाद् यागवद् बोधस्यापि भाव्यत्वमिति शङ्कते—\*नन्ववबोध इति\* ॥ वैषम्येणोत्तरयति—\*नेत्याहेति\* ॥ टीकाऽपेक्षितं हेतुमाह—\*अनिच्छत इति\* ॥ अत एव प्रयत्नशून्य इत्याह—\*अप्रयतमानस्येति\* ॥

वार्तिकम्

दिति । तयोः प्रवृत्तिभेदे हेतुं दर्शयति—\*या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति, ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलमिति\* ॥ यस्माद् धर्मस्य प्रमाणं या चोदना

भाष्यभावप्रकाशिका

सामान्यस्य लक्षणात् । प्रवृत्तिभेदमाह—\*या हीति\* ॥ “यजेते”त्यादयः शब्दा अंशत्रय-

प्रदीपः

प्यमपरिहरणीयमेव । अत्र चोदनापदेन वेदमात्रं विवक्ष्यते, इति ब्रह्मचोदनेति नानुपपन्नम् । \*नियुञ्जानैव = प्रवर्त-यन्त्येव ॥ \*बोधयति\* = ज्ञापयति ॥ प्रवृत्तिसापेक्षफलसाधनज्ञानजनकानि कर्मवाक्यानि, ब्रह्मवाक्यानि तु प्रवृत्तिरपेक्ष-फलसाधनज्ञानजनकानि, इति न कर्म-ब्रह्मणोर्वैदार्थत्वमात्रेणैकत्वमित्यर्थः । \*ननु\*—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो



## ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम् ।

भामती

चोदनोपदेशः । अत एवोक्तम्—“तस्य ज्ञानमुपदेशः” इति । सा च स्वसाध्ये पुरुषव्यापारे भावनायां तद्विषये च यागादौ । स हि भावनाविषयः ; तदधीननिरूपणत्वात् प्रयत्नस्य भावनायाः, “षिञ् बन्धने” इत्यतो धातोर्विषयपदव्युत्पत्तेः, भावनायास्तद्द्वारेण च यागादेरपेक्षितोपायतामवगमयन्ती तत्रेच्छोपहारमुखेन पुरुषं नियुञ्जानैव यागादिधर्ममवबोधयति, नान्यथा, ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव

ऋजुप्रकाशिका

सूत्रकारसम्प्रतिमाह—\*अत एवोक्तमिति\* ॥ \*तस्य धर्मस्य = \*ज्ञानम् = ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं प्रमाणम्, विधिरूपदेश इति जैमिनीयसूत्रावयवार्थः । “सा चे”त्यत्र चोदना तच्छब्दार्थः । तथाच सा च चोदना तत्रेच्छोपहारमुखेन पुरुषं नियुञ्जानैव यागादिधर्ममवगमयति, नान्यथेति प्रथममन्वयः । तत्रेत्युक्तम्, कुतस्त्या-काङ्क्षायामाह—\*स्वसाध्ये पुरुषव्यापार इति\* ॥ चोदना स्वशब्दार्थः, ‘साध्ये’ इत्यस्य प्रतिपाद्ये इत्यर्थः, पुरुष-प्रवृत्तिः पुरुषव्यापारशब्दार्थः, भावना तच्छब्दार्थः । एवं च चोदना स्वप्रतिपाद्यपुरुषप्रवृत्तिलक्षणायामर्थ-भावनायां तद्भावनाविषये यागादौ तत्रेच्छोपहारमुखेनेत्यादिना संयोजनीयम् । \*ननु\* भवेदेवं यदि यागादेरर्थभावनाविषयत्वं स्यात्, तन्नाह—\*स हीति\* ॥ यागादिरित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*तदधीनेति\* ॥ यागाद्यधीनेत्यर्थः । \*प्रयत्नस्य भावनायाः = प्रयत्नरूपाया भावनाया इत्यर्थः । विषयपदव्युत्पत्तिसिद्धत्वा-दपि यागादेस्तद्भावनाविषयत्वमित्यभिप्रेत्याह—\*षिञ् बन्धने इति\* ॥ अस्तुवेवं भावनायां तद्विषये यागादौ तत्रे-च्छोपहारमुखेन पुरुषं नियुञ्जानैव यागादिधर्ममवगमयति नान्यथेति, तथाऽपि किं कुर्वती सत्येवमवगमयतीत्या-काङ्क्षायामाह—\*अपेक्षितोपायतामवगमयन्तीति\* ॥ इष्टसाधनतामवगमयन्तीत्यर्थः । कस्याः कस्य चापेक्षितोपायतामवगमयन्ती सतीति ? अत आह—\*भावनायास्तद्द्वारेण च यागादेरिति\* ॥ “तद्द्वारेणे”त्यस्य

वार्तिकम्

“दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः” इत्याद्या, सा ह्यर्थवाद्वाक्येनैकवाक्यतां गता सती \*स्वविषये= अनुष्ठेये धर्मे रागमुत्पाद्य पुरुषं प्रेरयन्त्येव स्वविषयमवबोधयति ; अप्रवृत्तप्रवर्तकत्वादज्ञातज्ञापकत्वाच्च तच्चोदनायाः, ब्रह्मचोदना पुनः पुरुषं प्रति स्वविषयमवबोधयत्येव केवलम् ; अज्ञातज्ञापकत्वात्, न पुनस्तत्र पुरुषं प्रवर्तयत्यपि ; स्वविषयस्याननुष्ठेयत्वात् तदशक्तेरित्यर्थः । \*ननु\*—मा भूद् ब्रह्मणि पुरुषस्य नियोगः ; तस्य नित्यत्वेनाननुष्ठेयत्वात्, तज्ज्ञाने तु भविष्यति ; अनुष्ठेयत्वात्, “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” “आत्मन्येवात्मानं पश्येदि”ति तद्विधिभ्रुतेश्च । तथाच धर्म-ब्रह्मचोदनयोर्न वैलक्षण्यमस्तीति, नेत्याह—\*अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यत इति\* ॥ यद्धि यच्चोदनाजन्यम्, न तथा चोदनया तत्र पुरुषो नियुज्यते ; पुरुषव्यापारात् पूर्वमेवोपस्थितचोदनात् एव तस्य जायमानत्वात् तत्र विनियोक्तुमशक्तेः । तद्यथा—“दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः” इत्यादिधर्मचोदना न स्वजन्यस्वार्थविषयकबोधे पुरुषं नियुङ्क्ते ; स्वोपस्थितिमात्रेण नियोगात् पूर्वमेव तदुत्पत्तेस्तदशक्तेः ; अन्यथा अन्योन्याश्रयापत्तेः—नियोगे सति तदुत्पत्तिस्तदुत्पत्तौ च नियोग इति । किं तर्हि ? स्वार्थं स्वयमेवोपस्थिता सती पुरुषं बोधयित्वा तस्मिन् स्वविषयेऽनुष्ठेयेऽर्थवादाद्विद्वारा रागमुत्पाद्य तं नियुङ्क्त इत्युक्तमेव ; तद्वद् निष्प्रत्यूहमुपस्थितमात्रब्रह्मचोदनात् एव तदवबोधस्य सिद्धत्वाद् न तथा तत्र पुरुषो नियोक्तुं शक्यते । नच—शाब्दबोधे नियोगासंभवेऽपि तत्साक्षात्कार एव नियोगो भविष्यतीति—वाच्यम् ; तस्यापि शब्दमात्रभ्रवत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । यथाच “द्रष्टव्यः” इत्यादेर्न ज्ञानविधिपरत्वम्,



**अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वाद् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते ;  
यथाऽक्षार्थसन्निकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत् ।**

भामती

केवलम्, नतु प्रवर्तयन्त्यवबोधयति ; कुतः ? \*अवबोधस्य प्रवृत्तिरहितस्य चोदनाजन्यत्वात्\* ॥ \*ननु\*  
“आत्मा ज्ञातव्यः” इत्येतद्विधिपरैर्वेदान्तैस्तदेकवाक्यतयाऽवबोधे प्रवर्तयद्भिरेव पुरुषो ब्रह्मावबोध्यते, इति  
समानत्वं धर्मचोदनाभिर्ब्रह्मचोदनानामित्यत आह—\*न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते\* ॥ अयमभिसन्धिः—  
न तावद् ब्रह्मसाक्षात्कारे पुरुषो नियोक्तव्यः ; तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारेण नित्यत्वात्, अकार्यत्वात् । नाप्यु-  
पासनायाम् ; तस्या अपि ज्ञानप्रकर्षे हेतुभावस्यान्वय-व्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् ।  
नापि शाब्दबोधे ; तस्याप्यधीतवेदस्य पुरुषस्य विदितपद-तदर्थस्य समधिगतशब्द-न्यायतत्त्वस्या-

ऋजुप्रकाशिका

भावनाद्वारेणेत्यर्थः । ईदृशी चोदना धर्मचोदना, ब्रह्मचोदना तु तद्विलक्षणेत्याह—\*ब्रह्मचोदना त्विति\* ॥ ब्रह्म-  
प्रतिपादकं वेदान्तवाक्यं त्वित्यर्थः । \*चोदनाजन्यत्वात् = ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तवाक्यजन्यत्वादित्यर्थः ।  
वेदान्तवाक्यस्यैव ब्रह्मचोदनाशब्दार्थत्वेन ब्रह्मणि पृथक्चोदनाया अभावादिति भावः । \*ननु\* “आत्मा  
ज्ञातव्यः” इत्यादिचोदना वेदान्तवाक्यैकवाक्यतापन्ना प्रवर्तयन्त्येवावबोधयति, इति न धर्मचोदनातो ब्रह्म-  
चोदनाया वैलक्षण्यमित्याशङ्कते—\*नन्विति\* ॥ \*तदेकवाक्यतया = विध्यैकवाक्यतया । वेदान्तानां  
विध्यैकत्वे विधेरपि वेदान्तवाक्यैकवाक्यत्वमुक्तप्रायमिति द्रष्टव्यम् । विधिश्चोदनेत्यनर्थान्तरम् । प्रवर्तयद्भि-  
रेवे”त्येतद्वेदान्तैरित्यस्य विशेषणम् । अक्षार्थसन्निकर्षजन्येऽवबोधे पुरुषो यथा न नियुज्यते, तथैवावबोधेऽपि  
पुरुषो न नियुज्यत एवेत्याह—\*अत आहिति\* ॥ \*न नियुज्यते = न प्रवर्तयत इत्यर्थः । \*ननु\* उक्तं  
विध्यैकवाक्यतापन्नैर्वेदान्तैः प्रवर्तयद्भिरेव पुरुषो ब्रह्मावबुध्यत इति, तत्राह—\*अयमभिसन्धिरिति\* । पुरुषो  
यद्यवबोधे नियुज्येत, तदा वक्तव्यम्—किं ब्रह्मसाक्षात्कारे पुरुषो नियुज्यते ? किं वा ब्रह्मोपासनायाम् ? किं वा  
ब्रह्मगोचरशाब्दज्ञाने ? तत्र नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ \*तस्य = ब्रह्मसाक्षात्कारस्य । द्वितीयं  
निरस्यति—\*नापीति\* ॥ \*तस्या इति\* ॥ भावनापराभिधानाया उपासनाया इत्यर्थः । \*अविधेयत्वा-  
दिति\* ॥ विधेय एव चोदनायाः प्रवर्तकत्वादिति भावः । तृतीयं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ \*तस्य =

पञ्चपादिका

केवलम् ; अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते ; यथाऽक्षार्थसन्निकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत् ॥

वार्तिकम्

तथा “तत्तु समन्वयादि”त्यत्र वक्ष्यते । तस्माद् ब्रह्मणीव तज्ज्ञानेऽपि नियोगासंभवादस्ति चोदना-  
प्रवृत्तिवैलक्षण्यमित्यर्थः । प्रमाणेन स्वजन्यबोधे पुरुषो न नियुज्यत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—\*यथाऽक्षार्थ-  
सन्निकर्षेणाक्षार्थावबोधे, तद्वदिति ॥ “न पुरुषो नियुज्यते” इति दृष्टान्तेऽप्यनुषजनीयम् । तस्मात् क्रमनियमे  
प्रमाणाभावात् धर्मावबोधानन्तर्यमप्यथशब्देन वक्तुं युक्तमिति भावः । एवं पक्षद्वयं निरस्य प्रश्नं निगमयति

भाष्यभावप्रकाशिका

वेदान्ता ब्रह्मावबोधव्यावृत्तां भावनां प्रतिपादयन्ति ; “ज्ञातव्यः” इत्यादिविधिवाक्यैः सत्यादिवाक्यानामेक-  
वाक्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*न पुरुष इति\* ॥ अयं भावः—न तावद् ब्रह्मापरोक्षे नियोगः ; तस्य सुख-

प्रदीपः

निदिध्यासितव्यः” इति ब्रह्मज्ञानमपि चोदनाजन्यमेव प्रतीयते, इति कथं ब्रह्मचोदनाऽपि न नियुज्जानैव बोधयतीति ? अत आह  
—\*अवबोधस्येति\* ॥ ज्ञानस्येत्यर्थः । \*चोदनाऽजन्यत्वात् = प्रेरणाऽविषयत्वात् । पुरुषतन्त्रेणैव चोदनायाः प्रवृत्तिः,



## तस्मात् किमपि वक्तव्यम्—यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति ।

भामती

प्रत्यूहमुत्पत्तेः । अत्रैव दृष्टान्तमाह—\*यथाऽक्षार्थेति\* ॥ दार्ष्टान्तिके योजयति—\*तद्वदिति\* ॥ अपिचात्मज्ञानविधिपरेषु नात्मतत्त्वविनिश्चयः शाब्दः स्यात् । नहि तदात्मतत्त्वपरास्ते, किन्तु तज्ज्ञानविधिपराः । यत्पराश्च ते, त एव तेषामर्थाः । नच बोधस्य बोध्यनिष्ठत्वादपेक्षितत्वाद् अन्य-परेभ्योऽपि बोध्यतत्त्वविनिश्चयः ; समारोपेणापि तदुपपत्तेः । तस्मान्न बोधविधिपरा वेदान्ता इति सिद्धम् । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मात्किमपि वक्तव्यमिति\* ॥ यस्मिन्नसति ब्रह्मजिज्ञासा न भवति,

ऋजुप्रकाशिका

शाब्दबोधस्य । \*अप्रत्यूहमिति\* ॥ \*अप्रत्यूहम् = नियोगं विनाऽप्युत्पत्तेरित्यर्थः । इतोऽपि वेदान्ता नात्म-ज्ञानविधिपराः, किन्तु ब्रह्माभिन्नात्मतत्त्वपरा एवेत्याह—\*अपिचेति\* ॥ वेदान्तेष्व्वात्मज्ञानविधिपरेषु त्वयोक्तेषु सत्स्वित्यर्थः । \*नात्मेति\* ॥ वेदान्तशब्देभ्य आत्मत्वनिश्चयो न स्यादित्यर्थः । कुत इति ? अत आह—\*नहीति\* ॥ त्वत्पक्ष इति शेषः । \*ते = वेदान्ता इत्यर्थः । \*तज्ज्ञानपराः = आत्मज्ञानविधिपरत्वादेव आत्मज्ञानविधिपरत्वमित्यर्थः । तावता कुत आत्मतत्त्वनिश्चयो वेदान्तशब्देभ्यो न स्यात् ? आत्मतत्त्वस्य शब्दार्थत्वादित्याह—\*यत्पराः इति\* ॥ त्वत्पक्ष आत्मज्ञानविधिपरा वेदान्ताः, अत आत्मज्ञानरूप एवार्थ-स्तेषां वेदान्तानामर्थ इत्यर्थः । अत आत्मतत्त्वबोधः शब्दान्न स्यात् त्वत्पक्ष इत्यर्थः । वेदान्त-नामात्मबोधविधिपरत्वेऽपि बोध्यात्मतत्त्वबोधः स्यादेवेत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नच बोधस्येति\* ॥ \*अन्य-विधिपरेभ्योऽपि = आत्मबोधविधिपरेभ्योऽपि । निराकरणमेवाह—\*समारोपेणापीति\* ॥ \*तदुपपत्तेः = आत्मबोधोपपत्तेः । अत आत्मबोधविधिपरत्वे तत्परेभ्यो वेदान्तेभ्य आत्मतत्त्वबोधो न स्यादेवेत्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ भवत्येवेत्यनन्तरं तत् किमपि वक्तव्यमिति योजनीयम् । \*तदाहेति\* ॥

पञ्चपादिका

तदेवं जिज्ञास्यैक्यनिबन्धनाऽपि न क्रमापेक्षा तन्त्रद्वयस्य ; येन तदपेक्षोऽथशब्दो व्याख्या-

वार्तिकम्

—\*तस्मात् किमपि वक्तव्यम्, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति\* ॥ \*तस्मात्—स्वाध्यायाध्ययन-धर्मा-

भाष्यभावप्रकाशिका

विशिष्टामर्थभावनां कुर्वन्तस्तदनवबोधे पुरुषस्य प्रवृत्त्ययोगाद् अर्थभावनामपि प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ॥ \*ननु\*—“आत्मा ज्ञातव्यः” इत्यादिविधिपरैर्वेदान्तैर्ब्रह्मावबोध्यते, तेन ब्रह्मावबोधे भाव्ये पुरुषं प्रेरयन्तो साक्षात्कारतया फलस्याविधिगोचरत्वात्, नाप्युपासनायाम् ; तस्या अपि ज्ञानप्रकर्षहेतुत्वस्यान्वय-व्यतिरेकसिद्धतयाऽविधेयत्वात्, नापिशब्दज्ञाने, तस्यापि साङ्गाध्ययनवतः स्वयमेवोत्पत्तेः, ज्ञानस्य चेच्छा-प्रयत्नानधीनत्वात्, प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वादनिच्छतोऽप्रयतमानस्यापि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनादिति । तदेवं जिज्ञास्यैक्यनिबन्धनतयाऽपि क्रमापेक्षाभावात्तत्त्वद्वयस्य, न तदर्थोऽथशब्दः ; अत उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

प्रदीपः

ज्ञानन्तु वस्तुतन्त्रमेव, न पुरुषतन्त्रम्, इति न तत्र विधिरिति भावः । व्यक्तीभविष्यति चेदं भाष्य एव समन्वयसूत्रे—\*“ननु\*—ज्ञानं नाम मानसी क्रिया, ने’लादिग्रन्थसन्दर्भे । वस्तुतन्त्रत्वमेव ज्ञाने विध्यप्रवृत्तौ कारणमित्युदाहरण-व्याजेन प्रदर्शयति—\*यथाऽक्षार्थेति\* ॥ घटज्ञानं हि इन्द्रियसंप्रयोगे स्वयं भवति, न तु पुरुषप्रयत्नस्तत्रापेक्ष्यते ॥

\*यतावता प्रपञ्चेन कर्म-ब्रह्मविचारयोर्विषयैक्येन फलैक्येन वाऽपि न क्रमाकाङ्क्षेति विवेचनेन कर्मविचारानन्तर्यं नाथशब्दार्थ इति विवेचितम्, सम्प्रति सिद्धान्ती स्वाभिमतमानन्तर्यप्रतियोगि वक्ष्यामीति तद् निर्दिशति—\*तस्मादित्यादिना\* ॥



## उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः,

भामती

सति तु भवन्ती भवत्येवेत्यर्थः । तदाह—\*उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यादि\* । \*नित्यः = प्रत्यगात्मा, \*अनित्याः = देहेन्द्रिय-विषयादयः । तद्विषयश्चेद्विवेको निश्चयः, कृतमस्य ब्रह्मजिज्ञासया ;

ऋजुप्रकाशिका

यस्मिन् सति ब्रह्मजिज्ञासा भवत्येव, तदाहेत्यर्थः । “नित्यानित्यवस्तुविवेकः” इति भाष्यमाक्षिपति—\*तद्विषय-  
श्चेदिति\* ॥ प्रत्यगादिभेदविषयकश्चेद्विवेक इत्यर्थः । किमयं विवेकः प्रमारूपो निश्चय इत्युच्यते ? किं वा विपर्ययः ?  
आहोस्वित् संशयः ? आद्यं निराकरोति—\*कृतमिति\* ॥ अलमित्यर्थः । \*ज्ञातत्वादिति\* ॥ प्रमितत्वादित्यर्थः ।

पञ्चपादिका

येत, अत उपसंहरति—\*तस्मात् किमपि वक्तव्यम्—यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति ॥ \*उच्यते  
—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, शम-दमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं चेति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*उच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः\* । शास्त्रीयस्य विधेः शास्त्रीयमेवाधि-  
कारनिमित्तं वक्तव्यमित्यभिप्रेत्याह—\*नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यादि\* ॥ “सोऽन्वेष्टव्य” इति विधिप्रकरणे—

ऋजुविवरणम्

विशेषणं विहाय किमर्थं नित्यानित्यवस्तुविवेकादयः कीर्तिताः ? इत्याशङ्क्यावतारयति—\*शास्त्रीयस्येति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

अध्ययन-धर्मजिज्ञासा-कर्मानुष्ठानानन्तर्यस्याथशब्दार्थत्वासंभवेऽपि दृष्टस्यैव यस्य कस्यचिदानन्तर्यमथशब्दार्थ  
इत्याशङ्क्याह—\*शास्त्रीयस्येति\* ॥ श्रवणविधेः शास्त्रीयत्वादधिकारनिमित्तमपि शास्त्रीयं वक्तव्यम्, अन्यस्य च

वार्तिकम्

बोधोदानन्तर्यासंभवात् । ताभ्यामन्यत् किमपि वक्तव्यमसाधारणसाधनम्, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदि-  
श्यते, “तद्विजिज्ञासस्व” “अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति श्रुतिसूत्राभ्यामित्यर्थः । इति शब्दः प्रश्नपरिसमाप्त्यर्थः ।  
तत्र च नास्ति प्रमाणमिति किमो निर्गर्वः । “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः  
कृतेन ॥” “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।” “तस्मै स विद्वानुप-  
सन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ।”  
“तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिष्ठः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति ।” “नाविरतो  
दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयादि”त्यादि श्रुतेरस्ति तादृशी  
साधनसंपत्तिः, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इत्युत्तरमाह—\*उच्यते इति\* ॥ कानि तानि साध-

भाष्यभावप्रकाशिका

शास्त्रीयस्य विधेः शास्त्रीयमेवाधिकारनिमित्तं वक्तव्यमित्यभिप्रेत्याह—\*उच्यते-नित्यानित्य  
वस्तुविवेक इति\* । साधनचतुष्टयस्य ब्रह्मविचारादिसाधने प्रवृत्तौ दृष्टहेतुतामव्ययतः साधयति

प्रदीपः

\*किमपि = पुष्कलकारणमिति शेषः । ब्रह्मज्ञाने प्रति पुष्कलकारणे हि वेदान्तवाक्यैकगम्यमेव किमपि वक्तव्यम् । तत्र  
यदि “तमेतमि”त्यादि न पुष्कलकारणबोधकम्, तर्हि कथं वा तदवगमः ; इति चेत्, वेदान्तविचारविधिवाक्यशेषगता  
एवाधिकारिगुणा पुष्कलकारणतया विवक्षणमर्हन्तीत्यभिप्रायेणाह—\*नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यादिना\* ॥ “तद्यथेह कर्म-



## भामती

ज्ञातत्वाद् ब्रह्मणः । \*अथ\* विवेको ज्ञानमात्रम्, न निश्चयः ; तथा सत्येष विपर्यासादन्यः संशयः स्यात् । तथाच न वैराग्यं भावयेत् । अभावयन् कथं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः ? तस्मादेवं व्याख्येयम्—  
नित्यानित्ययोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तु = तद्धर्माः । नित्यानित्ययोर्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेकः =  
नित्यानित्यवस्तुविवेकः । \*एतदुक्तं भवति\*—मा भूदिदं तद्वत् नित्यं, इदं तदनृतमनित्यमिति धर्मि-  
विशेषयोर्विवेकः, धर्मिसामान्ययोर्नित्यानित्ययोस्तद्धर्मयोश्च विवेकं निश्चिनोत्येव । नित्यत्वं सत्यत्वं  
तद्यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यम्, तथाचास्थागोचरः ; अनित्यत्वमसत्यत्वं तद्यस्यास्ति तदनित्यमनृतम् ।  
तथाचानास्थागोचरः । तदेतेष्वनुभूयमानेषु युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरेषु विषय-विषयिषु यद्वत् सुखं  
व्यवस्थास्यते, तदास्थागोचरो भविष्यति, यत्त्वनित्यमनृतं भविष्यति, तापत्रयपरीतं तत् त्यक्ष्यत इति ।  
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राग्भवीयादैहिकाद्वा कर्मणो विशुद्धसत्त्वस्य भवत्यनुभवोपपत्तिभ्याम् ।  
न खलु सत्यं नाम न किञ्चिदस्तीति वाच्यम् ; तदभावे तदधिष्ठानस्यानृतस्याप्यनुपपत्तेः, शून्यवादिना-

## ऋजुप्रकाशिका

न द्वितीयः ; तस्य ब्रह्मजिज्ञासां प्रत्यहेतुत्वात् । नच—लोके शुक्तिकादौ रजतादिविपर्ययस्यापीच्छा-  
हेतुत्वं दृष्टम्, तद्वदिहापीति—वाच्यम् ; तस्य तदुत्तरक्षणं बाध्यमानत्वेन दृढतरेच्छाहेतुत्वाभावात् । तृतीयं  
परिशेषयति—\*अथ विवेक इत्यादिना संशयः स्यादित्यन्तेन\* ॥ अस्तु ततः किमिति ? अत आह—\*तथाचेति\* ॥  
ततोऽपि किम् ? तत्राह—\*अभावयन्निति\* ॥ एवमाक्षेपे स्थिते समाधत्ते—\*तस्मादिति\* ॥ “नित्यानित्य-  
वस्तुविवेकः” इत्येतद् एवं व्याख्येयमित्युक्तम् । एवंशब्दसूचितं व्याख्यानप्रकारमेवाह—\*नित्यानित्ययोरिति\* ॥  
नित्यानित्ययोरिति सप्तमी । नित्यानित्ययोर्वसतो निर्दिशति—\*तद्धर्मा इति\* ॥ नित्यानित्यधर्मा इत्यर्थः ।  
एवंच एवं नित्यानित्यविवेकः पर्यवसन्न इत्यभिप्रेत्याह—\*नित्यानित्ययोर्धर्मिणोरिति\* ॥ पर्यवसानप्रकार-  
मेवाह—\*एतदुक्तं भवतीत्यादिना\* ॥ इदमृतं सत्यम् । \*नित्यम्\*, \*इदं\* \*अनृतम् असत्यम् । \*अनित्यम्,  
इत्येवंरूपे धर्मिविशेषयोर्विवेको मा भूत्, किं नश्छिन्नमित्यर्थः । तर्हीदृशविवेकाभावे कथं ब्रह्मजिज्ञासा ?  
इत्याशङ्क्य, तज्जिज्ञासानुकूलं विवेकं दर्शयति—\*धर्मिसामान्ययोरिति\* ॥ \*विवेकमिति\* ॥ अवान्तरभेद-  
मित्यर्थः । \*निश्चिनोत्येवेति\* ॥ स एव निश्चयो जिज्ञासाहेतुर्नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यर्थः । तन्निश्चय-  
प्रकारमेव विशदयति—\*नित्यत्वं सत्यत्वमित्यादिना अनास्थागोचर इत्यन्तेन\* ॥ \*ननु\* नित्यसत्यताऽ-  
मात्रेण कथमास्थागोचरत्वम् ? अनित्यासत्यतामात्रेण वा कथमनास्थागोचरत्वम् ? सुख-दुःखयोरेव यथाक्रम-  
मास्थानास्थागोचरत्वादित्याशङ्क्य, यन्नित्यं सत्यं तदेव सुखम्, यदनित्यमसत्यं तद् दुःखम् ; तथाचास्था-  
नास्थागोचरत्वं संभवतीत्याशयेनाह—\*तदेतेष्वित्यादिना\* ॥ तापत्रयपरीतं दुःखाक्रान्तमित्यर्थः ।  
\*त्यक्ष्यत इति\* ॥ अनास्थागोचरत्वादिति भावः । अयं नित्यानित्यवस्तुविवेको जन्मान्तरकृतपुण्यफलरूपो  
भवतीत्याह—\*सोऽयमिति\* ॥ दृष्टविषयेऽनुभवः, अदृष्टविषय उपपत्तिः, ताभ्यां भवतीत्यर्थः । \*ननु\*  
सत्यासत्ययोर्विवेकः कुतः ? यतः सत्यमेव नास्तीत्याशङ्क्य निराकरोति—\*न खल्विति\* ॥ सत्याभावं  
वदताऽसत्यमस्तीति वक्तव्यम्, सत्याभावेऽसत्यस्याप्यभाव एवेत्याह—\*तदभाव इति\* ॥ शून्यवादिमते

## प्रदीपः

चितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्” “समि-  
त्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्” “शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठतिश्रुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्” इति शाखामेदे-  
नाम्नाता ह्यधिकारिगुणाः समुच्चिता गुणोपसंहारन्यायेन मुमुक्षुया साकं विचारप्रयोजका विवक्ष्यन्ते । यशादिकं हि  
वैराग्यादिसाधनद्वारा परम्परया यद्यप्युपकरोति ; तथाऽपि विनाऽपीह जन्मनि कर्मानुष्ठानमधिकार उपपद्यते । वैराग्यादिकं  
हि विचारकाले नियतमपेक्षितम्, इति नित्यानित्यवस्तुविवेकाच्चानन्तर्यमेवावधारणार्थः । अत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकेन वैराग्यम्,



## भामती

मपि शून्यताया एव सत्यत्वात् । अथास्य पुरुषधौरेयस्यानुभवोपपत्तिभ्यामेवं सुनिपुणं निरूपयतः, आ च सत्यलोकाद् आ चावीचे: 'जायस्व प्रियस्व' इति विपरिवर्तमानम्, क्षण-मुहूर्त-यामाहोरात्रार्धमासा-मासर्तव्यन-वत्सर-युग-चतुर्युग-मन्वन्तर-प्रलय-महाप्रलय-महासर्गावान्तरसर्ग-संसारसागरोर्मिभिरनिशं मुह्यमानम्, तापत्रयपरीतमात्मानं च जीवलोकं चावलोक्य, अस्मिन् संसारमण्डलेऽनित्याशुचि-दुःखात्मकं प्रसंख्यानमुपावर्तते ।

## ऋजुप्रकाशिका

सत्यं नास्तीत्याशङ्कमानं प्रत्याह—\*शून्यवादिनाऽपीति\* ॥ ईदृशविवेकमात्रं न वैराग्यसम्पादकम्, किन्तु तदभ्यास इत्याह—\*अथास्येति\* ॥ \*अस्य पुरुषधौरेयस्य पुरुषश्रेष्ठस्य । \*अवीचिः\* नरकविशेषः । \*‘जायस्व प्रियस्वेति’\* । पुनः पुनः जायते प्रियते चेत्यर्थः । क्रियासमभिव्याहारे लोडिति पौनःपुन्ये सर्वलकारापवादेन लोटः स्वादेशस्य च विधानात् । आरभ्य ब्रह्मलोकमावीचिपर्यन्तं जननमरणाभ्यामावर्तमानमहोरात्राद्यवान्तरसर्गपर्यन्तैः कालैः संसारसागरस्योर्मिभूतैरनिशं मुह्यमानमितस्ततो नीयमानमात्मानमन्यं च

## वार्तिकम्

नानि ? यत्संपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासेति व्यपेक्षायाम्, तानि परस्परं साध्य-साधनभावेनोत्पद्यमानानि क्रमेण गणयित्वा दर्शयति—\*नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, शमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वञ्चेति\* ॥ इह हि संसारे स्वाभाविकाविद्यावासनापरिचोदितरागादिदोषदूषितान्तःकरणः प्रायेणाधर्ममैवाचिनोति सर्वोऽपि जनः, न तथा धर्मम् ; स्वाभाविकचित्तवृत्तेर्बलीयस्त्वात्, “ततः कानीयसा एव देवा ज्ञायसा असुरा” इति श्रुतेः, “स्वभावजेन कौन्तेय ह्रियते ह्यवशोऽपि सः” इति स्मृतेश्च । स चाधर्मः स्वोपादानमन्तःकरणस्य रजस्तमोऽंशं परिपुष्णाति अभिभवति च स्वविरोधि धर्ममूलं तत्सत्त्वांशम् । अभिभूते च तस्मिन्, रजस्तमसोः प्राबल्यात् ताभ्यां विमोहितः प्रत्यक्षोपपत्तिभ्याभेहिक-पारलौकिक-देशादिविषयं जन्म-विनाशादिमत्त्वेनानित्यतया, विण्मूत्र-श्लेष्मादिसङ्घातादिरूपेणाशुचितया, समुत्पाद-संरक्षणादिजनितबहुक्लेशनिदानत्वेन दुःखात्मकतया च पश्यन्नपि, तद्विपरीततया नित्य-शुचि-सुखात्मत्वेनाभिमन्यते । तथाचोक्तं भगवता पतञ्जलिना—“अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्ये”ति । सेयं कार्यरूपाऽविद्या स्वोपादानभूतमूलाविद्यायां पञ्चपर्वतमना घटीयन्मन्यायेनानिशमावर्तमाना पुरुषस्य विवेकरूपातिं प्रतिरुध्य स्वकारणमविद्यां पुष्णाति । एवमविवेकप्राबल्यात् संसारचक्रे बभ्रभ्यमाणो बीजाङ्कुरन्यायेन प्रायेण पुनःपुनरधर्ममैवोपचिन्वानस्तत्प्रतिबद्धस्वान्ततया न श्रेयोमार्गं प्रतिपद्यते लोकः ; तद्विपरीत्या पुनः संसरतीति कष्टं भो वत लोकानामावर्तते । तेषां च संसारचक्रे भ्रमतां मध्ये कदाचित् कस्यचित् पुरुषस्य कस्यचित् देवादनुष्ठितपुण्यकर्मणः परिपाकवशात् लब्धब्रह्मणः दिज्भनः सत्सङ्ग उपावर्तते । जाते च तस्मिन्

“संसारेऽस्मिन् क्षणाधोऽपि सत्सङ्गः शेषधिर्नृणाम् ।

तेषां स्वैरकथा यास्तु उपदेशा भवन्ति ताः ॥”

## प्रदीपः

वैराग्यात् शमदमादिः, तत्समवहितोक्तया मुमुक्षा तूक्तकारणत्रयाधीनित्यनुक्तमुमुक्षा माऽधिकारिविशेषणं भवत्विति नित्यानित्य-वस्तुविवेकादीनामपि ग्रहणम् । “शमदमादी”त्यादिपदेनैव नित्यानित्यवस्तुविवेकादीनामपि ग्रहणसंभवात् साधनचतुष्टयस्य पृथगत्र ग्रहणं, नित्यानित्यवस्तुविवेकादेः प्रत्येकं पृथक् पृथक् वाक्यान्तरावगतत्वमभिप्रेत्य । तथाच “शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठः” इति वाक्यावगतानां “शमदमादी”त्यादिपदेन ग्रहणौचित्याद् न तात्पर्यचन्द्रिकाकाराणामपत्तिः सावसरा । वस्तुतस्तु—नित्यानित्यवस्तुविवेकादेः पूर्वोक्तरीत्या पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वस्य विक्षणात् “शमदमादी”त्यादिपदेन सर्वेषां ग्रहणे



### पञ्चपादिकाविवरणम्

“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इति नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः ; “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्” “आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती”ति च ज्ञानश्रवणविधिप्रकरणे इहामुत्रार्थ-भोगविरागो दर्शितः ; “शान्तो दान्तः” इति च दर्शनविधिप्रकरणे शमादयो दर्शिताः ; “तद्विज्ञासस्वे”ति

### ऋजुविवरणम्

कथं शास्त्रीयत्वं नित्यानित्यविवेकादीनाम् ? इत्याशङ्क्य दर्शयति—\*सोऽन्वेष्टव्य इति\* ॥ \*विधिप्रकरण इति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

शास्त्रीयस्यासंभवात् साधनचतुष्टयं शास्त्रीयमथशब्देन समर्पणीयमित्यर्थः । साधनचतुष्टयस्य कथं शास्त्रीयत्वम् ? इति वीक्षायामाह—\*सोऽन्वेष्टव्य इति\* ॥ अन्वेष्टव्यं नाम शास्त्र-युक्तिभ्यामात्मतत्त्वनिर्धारणम् । साध्यस्वर्गादिरनित्यत्वे दृष्टान्त उच्यत इत्याह—\*तद्यथेति\* ॥ कर्मणा निर्मितान् लोकाननित्यत्वेन विचार्य वैराग्यमधिगच्छेदित्यर्थः । स्वचन्दनादिसाधनजातस्य स्वशेषतया प्रियत्वात् तस्मिन् प्रीतिर्गौणी, स्वस्मिन् मुष्येति स्वमेवाश्रयेदिति । वैराग्यम्—“आत्मनस्तु कामाये”त्यनेन दर्शितमित्यर्थः । \*शान्त इति\* ॥ अन्तरिन्द्रियव्यापारोपरमयुक्त इत्यर्थः । \*दान्त इति\* ॥ बाह्येन्द्रियव्यापारवर्जित इत्यर्थः । विशेषणत्रयस्य शास्त्रीयत्वेऽपि न मुमुक्षुत्वं शास्त्रीयम् ; तद्वाचकपदाभावात्, इत्या-

### वार्तिकम्

इत्यादिस्मृतेस्तदुपदिष्टमार्गेण फलरागोपहतचित्तत्वादिच्छन्नपि, तद्गीत्या, अहमपि शिष्टत्वेन गणनीयो भविष्यामीति दृष्टफलरागाद्वा प्रथमं प्रवर्तमानः काम्य-प्रतिषिद्धवर्जं केवलं नित्य-नैमित्तिकं कर्म निरभिसन्धिरदृष्टफलमनुतिष्ठति । एवं प्रथममस्वरसादपि प्रवृत्ते कर्मयोगे, कालेन तत्संस्कार-प्रावल्यात् काम्य-निषिद्धसंस्कारयोस्तनूकरणात् तत्रैव स्थास्यमनुवर्धते । वर्धते च तस्मिन् सर्वदा स्वारस्यात् तदेवानुतिष्ठति । काम्य-निषिद्धे तु मनसाऽपि न चिन्तयति ; तत्संस्कारलोपात् । सोऽयं कर्मणो योगो यथा यथा पुरुषस्य वर्धते, तथा तथा विधुनोत्यस्य सञ्चितं पापराशिम् । यथा यथा विधूयतेऽस्य पापराशिः, तथा तथा रजस्तमसोरभिभवात् सत्त्वस्योद्रेकाच्चावरणभङ्गाद् विवेको बलाद् वर्धते प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । यथा यथा च विवेको वर्धते, तथा तथा वैराग्यम्, यथा च वैराग्यम्, तथा शम-दमादिसंपत्, यथाच शम-दमादिसंपत्, तथा मुमुक्षुत्वम्, तथा विविदिषा ; साध्यरागप्रयुक्तत्वात् साधनरागस्य, इति क्रमेण कर्मयोगः पुरुषस्य विविदिषाहेतुर्भवति । तथाच श्रुतिः—“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने”ति । \*ननु\*—यज्ञ-दानादीनां किं प्रत्येकं विविदिषाहेतुत्वम् ? समुदायस्य वा ? नाद्यः ; अनुबन्धभेदेन भावना-भेदाद् वाक्यभेदप्रसङ्गात्, नित्यवत् श्रुतानां विकल्पप्रसङ्गाच्च । नच—एवमिष्यत एव, व्रीहि-यववदन्यथानुप-पत्तेरिति—वाच्यम् ; आचारविरोधात् । शिष्टैर्हि सर्वाण्याश्रमकर्माणि विविदिषार्थत्वेनानुष्ठीयन्ते, अतस्तद्विरोधः । नापि द्वितीयः ; समुदायहेतुत्वबोधकप्रमाणाभावात्, “यज्ञेने”त्यादिनिरपेक्षोत्पन्न-तृतीयायाः समुदायहेतुत्वबोधनाशक्तेः प्रत्येकहेतुत्वस्यैव तथा बोधनात्, “दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्ग-कामः” इत्यत्र समुदायद्वयोपर्येव तृतीयाश्रवणात् तत्र समुदायहेतुत्वोपपत्तेः । \*अत एव\*—निरपेक्षतृतीया-श्रुतिविरोधाद् यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीति वाक्यकलनमपि—\*परास्तम्\* ॥ तस्मात् कथं यज्ञादीनां विवि-दिषाहेतुत्वमिति—चेत्, न ; श्रुत्यनुसारेण प्रत्येकहेतुत्वपक्षस्यैव श्रेयस्त्वात् । नच—एवमेकेनैव साधनेन विविदिषासिद्धेर्द्वितीयसाधनानुष्ठानानर्थक्यमिति—वाच्यम् ; तदाधिक्यार्थत्वेनानर्थक्यभावात् । उक्तं हि यथा यथा कर्मभिः पापक्षयो भवति, तथा तथा विवेकादिद्वारा विविदिषा जायत इति । नहि विविदिषामात्रं स्वकार्याथालम्, किं तर्हि ? दृढभूमिः सा । नच तद्वाक्यं विवेकादिवाक्यं विना ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

विचारविधिप्रकरणे “वरुणं पितरमुपससारे”ति गुरूपसदनं दर्शितम् ; सर्वत्र च फलश्रुतयः कामनोत्पादनद्वारेण मुमुक्षोरधिकारप्रदर्शनार्थाः ; अन्यथा साधनानुष्ठानादेव फलसिद्धौ सङ्कीर्तनवैफल्यात् । ज्ञानस्याविधेयत्वात्

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—एवं मुमुक्षुत्वमधिकारिविशेषणं न स्यात् ; प्रापकप्रमाणाभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*सर्वत्र च फलश्रुतय इति\* ॥ \*ननु\*—फलश्रुतीनां फलवत्त्वज्ञापकत्वमेव प्रयोजनं दृश्यते, कथं तद्विहायाधिकारिविशेषणत्वज्ञापनार्थ-  
तेति ? तत्राह—\*अन्यथा साधनेति\* ॥ \*ननु\*—एवमपि कथं ब्रह्मविचाराधिकारहेतुत्वं केषाञ्चित् ? ज्ञानविधि-  
प्रकरणेऽपठितत्वात् ? इत्याशङ्क्याह—\*ज्ञानस्याविधेयत्वादिति\* ॥ एवमपि न सर्वेषामधिकारिविशेषणत्वम् ;

## तत्त्वदीपनम्

शङ्क्याह—\*सर्वत्रेति\* ॥ \*फलश्रुतय इति\* । “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” “तरति शोकमात्मवित्” इत्याद्याः । उक्तमर्थं विपक्षबाधकमुखेनोपपादयति—\*अन्यथेति\* ॥ “ब्रह्म वेदे”त्यादेः कामनोपनयनद्वाराऽधिकारनिमित्तप्रतिपदकत्वाभावे फलसङ्कीर्तनं वृथा स्यात् । ततश्चाधिकारनिमित्तसमर्पकत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । \*ननु\* “जिज्ञासस्वे”त्यादौ ज्ञानस्य विहितत्वात् कथं तत्प्रकरणपठितोपसदनादेर्विचारविध्यधिकारनिमित्तत्वम् ? तत्राह—\*ज्ञानस्येति\* ॥

## वार्तिकम्

नच विवेकादिदार्ढ्यमपि तत्प्रतिबन्धकाशेषपापक्षयं विना । नच तत्प्रतिबन्धकान्तपापानामेकेन केन-  
चिद् व्यापारेण निराकरणं युज्यते ; तस्य यत्किञ्चित्पापनिराकरणसामर्थ्येऽपि सर्वपापनिराकरणा-  
सामर्थ्यात्, सामर्थ्यस्य फलैकोद्देश्यत्वात् । कुतः ? अविवेकादितत्कार्यदर्शनेन तत्फलाभावादिश्रयात् ।  
नचैतावता विविदिषाहेतुत्वबोधकशास्त्रविरोधः ; उक्तरीत्या तद्विरोधात्, पापक्षयहेतुत्वमात्रे तच्छास्त्रस्य  
पर्यवसानात् । नच—एवमप्येकस्यैव साधनस्यावघातादिवदवृत्त्या सर्वपापक्षयित्वोपपत्तेः साधनान्तरं  
व्यर्थम्, विकल्पो वा स्यादिति—वाच्यम् ; भवेदेतदेवम्, यदि नैयमिकाग्निहोत्रात् कौण्डपायिनामयने  
“मासमग्निहोत्रं जुहोती”त्यत्र कर्मान्तरविधानवत् स्वाश्रमविहिताद् नित्य-नैमित्तिककर्मणः स्वतन्त्रं कर्मान्तरं  
विविदिषाहेतुत्वेन विधीयेत, नचैतदस्ति ; तस्यैव खादिरताया वीर्यहेतुत्ववत् संयोगपार्थक्येन विवि-  
दिषाहेतुत्वविधानात् । यथाचैतत् तथा तृतीये वक्ष्यते । तथाच स्वाश्रमविहितानां सर्वेषां नित्य-नैमित्तिक-  
कर्मणां स्वस्वकालेऽनुष्ठानप्राप्तौ, ‘कामनायां नित्य-नैमित्तिके विकृत्य काम्यं प्रविशती’ति न्यायात्, संयोग-  
पृथक्त्वेन तेषामेव काम्यत्वेनानुष्ठाने तन्त्रेणैव नित्य-नैमित्तिकसिद्धेः सर्वेषामविशेषेण विविदिषाहेतु-  
त्वाद् नैकस्यैव तदर्थतयाऽऽवृत्तिप्राप्तिः । अत एव न साधनान्तरवैयर्थ्यम्, विकल्पो वेति । \*एतेन\*—  
नित्यानामेव कर्मणां काम्यत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोध इति—\*अपास्तम्\*, वस्तुनि खलु स विरोधो  
भवति, न क्रियायाम् ; तस्याः पुरुषतन्त्रत्वेन षोडशिग्रहणाग्रहणवद् यथावचनं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं  
शक्यत्वात् । सर्वथाऽपि तु यज्ञ-दानादीनां सर्वेषां स्वस्वव्यापारद्वारा प्रत्येकं विविदिषाहेतुत्वेन स्वस्व-  
व्यापारे परस्परनिरपेक्षत्वेऽपि तद्दार्ढ्याय सर्वेषामुपयोग इति सिद्धम् ॥ तथाचोक्तं भगवता कविना—  
भक्तिः परे स्वानुभवो विरक्तिरन्यत्र, वैधे त्रिकयुक्तकालः ।

प्रपद्यमानस्य यथाऽऽनतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुद्रपायोऽनुघासम् ॥ इति ॥

\*ननु\* कर्मभिः शुद्धसत्त्वस्य कोटिशो विवेक उत्पद्यते ? \*उच्यते\* ; बहुजन्मानुष्ठितशुभकर्मापण-  
संसेवितभगवच्चरणारविन्दप्रसादबलापसारितान्तःकरणावरणपापमलः पुरुषः “कषाये कर्मभिः पक्वे ततो  
ज्ञानं प्रवर्तते” इति स्मृतेः प्रथमं तावद् दृष्टेन्द्रियविषयाणां रूपादीनां प्रत्यक्षेणैव स्वरूपमधिगच्छति—जन्म-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

तद्विधयोऽपि तत्साधनविधिपराः ; तत्र सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन विधीनामेकत्वोपपत्तेः । स चैको विधिरधिकारमीक्ष-

## ऋजुविवरणम्

शाखाभेदेन श्रवणात्, एवं च न संभूयाधिकारनिमित्ततेति, तत्राह—\*तत्र सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनेति\* ॥ स च न्याय एवम्—शाखाभेदेन श्रूयमाणं कर्माभिन्नं वा ? नवा ? इति विचारः । नेति तावत् प्राप्तम् ; नाम-रूप-पुनरुक्तत्वादिहेतवो ज्ञेयाः ; “एकं वा संयोग-रूप-चोदनाख्याऽविशेषादि”ति सिद्धान्तसूत्रम् ॥

एकं कर्म शाखाभेदेष्विति प्रतिज्ञा । वाशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । तस्यायमर्थः—\*संयोगाविशेषात्=फलसंबन्धा-विशेषादित्यर्थः । रूपाविशेषोऽपि हेतुः । रूपम्=द्रव्य-देवतम् ; निरूपकत्वात् । चोदनाऽविशेषात्=विधीनामेकरूपत्वा-दित्यर्थः । आख्या=संज्ञेति । एतैरेव हेतुभिरत्रापि विधिष्वेकत्वम् । \*ननु\*—प्रकरणसामर्थ्यात् सर्वेषामधिकारि-

## तत्त्वदीपनम्

भिन्नप्रकरणपठितानां विशेषणानां कथं संभूयाधिकारनिमित्तत्वम् ? तत्राह—\*तत्रेति\* ॥ \*तत्र=पूर्वस्मिन् तन्त्रे सर्वशाखाप्रत्ययाधिकरणनिर्दिष्टो यो न्यायः, तेनेत्यर्थः । \*सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनेति\* ॥ \*अयमर्थः\*—किं शाखान्तरेषु श्रूयमाणमग्निहोत्रादि भिद्यते ? उत न भिद्यते ? भिद्यत इति तावत् प्राप्तम् ; अभ्यासात्, अन्यथाऽभ्यास-वैयर्थ्यम् । तथा नामादेरपि भिन्नत्वम्, तथाचोक्तम्—“नाम-रूप-धर्मविशेष-पुनरुक्ति-निन्दाऽशक्ति-समाप्ति-प्रायश्चित्ता-न्यार्थदर्शनात् शाखान्तरे कर्मभेद इति, एवं प्राप्ते, राद्धान्तितम्—“एकं वा संयोग-रूप-चोदनाख्याऽविशेषादि”ति । \*अस्यायमर्थः\*—फलसंबन्धस्योभयत्राविशेषात् कर्मैक्यम् ; तथा द्रव्यस्य देवतोद्देशेन त्यागो यागस्वरूपम्, तदैक्या-च्चैक्यम् । तथा संज्ञैक्याद्=जुहुयादित्यादिचोदनैक्याच्चैक्यम्, यत्र चैतेषां हेतूनामभावः, तत्र क्रतुभेदः । तस्माच्छाखा-भेदोऽपि कर्मविधीनामैक्यम् । एवं भिन्नशाखागतविचारविधीनामप्यैक्यमिति । विध्यैक्येऽपि कथमुपसदनादेरधिकार-निमित्तत्वम् ? तत्राह—\*स चेति । \*अधिकारमिति\* ॥ विधि-पुरुषसंबन्धनिमित्तमित्यर्थः । एकेन विशेषणेन

## वार्तिकम्

विनाश-परिणामादिमत्तया त्वनित्यमेतत् ; विण्मूत्र-शुक-शोणिताद्यशुचिद्रव्यसङ्घातरूपतया, संस्कारा-हितशुद्धितया, भूतभौतिकतया, चाशुचि-परिणामविरसतयोत्पाद्-संरक्षणोदिवहुक्लेशनिदानतया च दुःखा-त्मकमिति । एवं प्रत्यक्षेण दृष्टविषयाणामनित्याशुचिदुःखात्मकत्वे निश्चिते, तदवष्टम्भेणादृष्टविषया-णामपि कृतकत्वाद्युपपत्त्या तथात्वमध्यवस्यति । तथाचाहेश्वरकृष्णः—\*“दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यवि-शुद्धिज्ञयातिशययुक्तः” इति ॥

\*ननु\*—न कृतकत्वाद्युपपत्तिरामुष्मिकविषयस्यानित्यत्वाद्यवगमयितुमलम् ; “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति” “अपाम सोमममृता अभूम” “यन्न दुःखेन संभिन्नं न च प्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं यत् तत् सुखं स्वःपदास्पदम्” ॥ इत्यादिश्रुत्या बाधित-विषयत्वादिति—चेत्, \*न\* ; उक्तश्रुतेर्विध्यन्तरार्थवादत्वेनान्यार्थतया स्वार्थपरत्वाभावादुक्तानुमान-बाधकत्वानुपपत्तेः, वैपरीत्यादनुमानस्यैवानन्यथासिद्धत्वेन तद्बाधकत्वात् । \*एतेन\*—देवताधिकरण-न्यायोऽपि—\*अपास्तः\* ; प्रमाणान्तराविरोधे सति तत्प्रसरात्, “विरोधे गुणवादः स्यादि”ति न्यायात् । अपिच नेयमुपपत्तिस्तार्किकसमयसिद्धेव लोकमात्रसिद्धा, येन व्यभिचारशङ्क्या प्रामाण्यं न लभेत । किं तर्हि ? श्रुतिसिद्धाऽपि । तथाच श्रुतिः—“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इति । न च स्वतःप्रमाणभूतया श्रुत्योपपादितव्यासौ व्यभिचारशङ्का कस्यचिदप्यास्तिकस्य जायते । अतोऽपि बलवतीयमुपपत्तिर्नान्यार्थदर्शनेन बाधितुं शक्यत इति ॥

\*एतेन\*—कृतकत्वानुमानं प्रध्वंसेऽनित्यत्वं व्यभिचरतीति—\*अपास्तम्\* ; उक्तश्रुतिविरोधेन स्वोपा-दानातिरिक्तस्य नित्यस्य परकल्पितस्य कृतकस्य कार्यस्यैवासिद्धेः, सिद्धे वा भावत्वावच्छिन्नकृतकत्वस्यैव



## पञ्चपादिकाविवरणम्

माणः प्रकरणसामर्थ्यात् सङ्कीर्तनवैफल्यपरिहाराच्च वर्णितं धर्मकलापमधिकारनिमित्तत्वेन स्वीकरोति ; निरधिकारस्य

## ऋजुविवरणम्

विशेषणत्वं न स्वीक्रियते, एकेन विशेषणेन विध्याकाङ्क्षानिवृत्तौ कथं सर्वेषामधिकारिविशेषणत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—  
\*संकीर्तनवैफल्यादिति\* ॥ \*ननु\*—संकीर्तनसाफल्यं प्रकारान्तरेण कर्तुं शक्यत एव ; कथमधिकारिविशेषणत्वेन स्वीकारनियमः ? इत्याशङ्क्याह—\*निरधिकारस्येति\* ॥ \*नन्वेषु वाक्येष्विति\* ॥ विचारवाचकशब्दाभावाद् न विधानम् ; अविधाने च न तदधिकारिविशेषणत्वमिति भावः ॥ \*ननु\*—श्रुतहानेनान्तर्णीतविचारविधानाश्रयणं न

## तत्त्वदीपनम्

विध्याकाङ्क्षालक्षणप्रकरणस्य चरितार्थत्वात् कथमितरेषामधिकारनिमित्तत्वम् ? तत्राह—\*संकीर्तनेति\* ॥ साधनचतुष्टय-  
स्याधिकारिविशेषणतया प्रवृत्तिनिमित्तत्वे सङ्कीर्तनवैफल्यापातादधिकारिविशेषणत्वमेष्टव्यमित्यर्थः । “प्रकरणसामर्थ्या-  
दि”त्युक्तं विवृणोति—\*निरधिकारस्येति\* ॥ विचारवाचकपदाभावाद् “जिज्ञासस्वे”त्यादीनां कथं विचारविधिपरत्वम् ?

## वार्तिकम्

हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नस्यापि साध्यत्ववद् हेतुत्वस्यापि दर्शनात् । अपिच कृतकत्वं  
नामाद्यक्षणे सत्तासंबन्धः । नच स ध्वंसे संभवति ; अभावत्वविरोधात् । तथाच न्यायवार्तिककारः—“कृत-  
कत्वमाद्यक्षणे सत्तासंबन्धः । अनित्यत्वं च विद्यमानसत्ताविरहः । तौ च न ध्वंस-प्रागभावयोः संभवतः”  
इति । लाघवादाद्यक्षणासंबन्ध एव कृतकत्वमिति चेत्, सत्यम् ; तस्यापि ध्वंसेऽसंभवात्, अभूतसत्तासंबन्ध-  
क्षणस्य कारणसंबन्धक्षणस्य वाऽऽद्यक्षणात्वात्, स्वसमानकालीनपदार्थप्रतियोगिकध्वंसानधिकरणक्षणत्वं  
सामग्र्यव्यवहितोत्तरक्षणत्वं वाऽऽद्यक्षणत्वमिति चेत्, अस्तु वा, तथाऽपि न ध्वंसे कृतकत्वं संभवति ;  
तादृशक्षणसंबन्धस्यापि तत्राभावत्वविरोधेन दुर्बलत्वात् । अपिच सामग्रीजन्यं हि कार्यं भवति ।  
सामग्री च त्रिविधकारणकलापसमवधानम् । नच ध्वंसे तदस्ति ; निरुपादानत्वात् । नच—भावकार्यं  
सामग्री नियता, नाभाव इति—वाच्यम् ; अभावकार्यत्वस्याद्याप्यसिद्धेः, अन्यथाऽन्योन्याश्रयापत्तेः । कथं  
तहि ध्वंसो जात इत्यादि लौकिकन्यवहारः ? निमित्तमात्रानुविधायित्वेनोपचारादिति वदामः । तस्माद्  
न कुत्राप्यस्ति कृतकत्वस्यानित्यत्वव्यभिचारः । एवं दुःखाशुचिमिथ्यात्वादीनपि न कृतत्वं व्यभिचरति ॥  
\*ननु\* ‘यन्न दुःखेने’ त्यादिना स्वर्गस्यादुःखविद्धत्वं प्रदर्शितमिति चेत्, \*न\* ; तस्यापि क्षयातिशयवत्त्वेन  
दुःखविद्धत्वात् । आनन्दमीमांसायां शतगुणतारतम्यप्रतिपादनेन तत्क्षयातिशयत्वस्य श्रुत्यैव दर्शनात् ।  
“यन्न दुःखेने”त्यादेरापेक्षिकदुःखवेधाद्यभावपरत्वाद् मर्त्यसुखवैलक्षण्ये तात्पर्यात्, अन्यथा स्वार्थपर-  
तत्तारतम्यप्रदर्शकश्रुत्यन्तरविरोधापत्तेः । एवं भोग्यत्वात्, दृश्यत्वात् परिच्छिन्नत्वात्, संहतत्वात्, परार्थ-  
त्वादित्यादयोऽपि हेतवोऽनित्याशुचि-दुःख-मिथ्यात्मकत्वादिसाधकाः शुक्तिरजत-गन्धर्वजागरस्वप्नादि-  
दृष्टान्तेनोपसंहर्तव्याः । \*ननु\* भोग्यत्वादयो जात्यादिष्वनित्यत्वं व्यभिचरन्ति, परिच्छिन्नत्वन्तु परमाणु-  
ष्विति चेत्, न ; तेषां पक्षान्तर्भूतत्वाद् व्यभिचारानुपपत्तेः । नच—एवं सति परमाण्वादेरसंहतत्वाद्-  
संहतत्वहेतुर्भागासिद्धः स्यादिति—वाच्यम् ; तस्यापि रूप-रसाद्यनेकात्मकत्वेन संहतत्वादसंहतत्वासिद्धेः ।  
जात्यादेरप्यनेकव्यक्त्याद्यात्मकत्वेन संहतत्वात् । \*एतेन\*—अविद्याया सत्यत्वनित्यत्वादिरूपम्—  
व्याख्यातम् ॥

तदेवंरूपेण प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां प्रपञ्चस्यानित्यत्वादिरूपमवगच्छति, आत्मनि तु प्रत्यक्षेणा-  
नित्यत्वादिरूपस्य ग्रहीतुमशक्तेस्तद्विपरीतरूपस्यैव ग्रहादुक्तहेतूनामन्यतमहेतोरभावात् तत्साधनस्यापि  
कर्तुमशक्तेर्नित्यत्वादिरूपमेवावधारयति । \*तथाहि\*—न तावदात्मनो जन्म-विनाशौ स्वयं प्रत्यक्षेण



## पञ्चपादिकाविवरणम्

विधेः प्रवृत्तिपर्यन्तत्वायोगात् । \*ननु\* एषु वाक्येषु विचारो विधीयत इति कथमवगम्यते ? \*उच्यते\*—  
“विजिज्ञासितव्यः” “विजिज्ञासस्वे”ति चान्तर्णीतो विचारो विधीयते ; इष्यमाणज्ञानस्येच्छायाश्च विधेयत्वा-  
योगात् । “श्रोतव्यः” इति च स्वयमेव विचारो विहितः ; “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदिति” ज्ञानस्य  
साध्यतावगमात् । गुरुपसदनविधानाच्च तत्साधनश्रवणादिविधिः कल्प्यते । “आत्मन्येवात्मानं पश्येदिति”  
ज्ञानविधानायोगात् तत्साधने विधिरुपादीयते, इति सर्वत्र मनन-निदिध्यासनाभ्यां सह श्रवणं नामाङ्गि  
विधीयत इति सिद्धम् ॥

## ऋजुविवरणम्

युक्तमित्याशङ्क्याह—\*इष्यमाणज्ञानस्येति\* ॥ तयोरपुरुषाधीनत्वादिति भावः ॥ एवमपि मनन-निदिध्यासन-  
सन्निधौ केषाञ्चिच्छ्रवणान्न सर्वेषां श्रवणाधिकारनिमित्तता, अथवा साधनचतुष्टयस्य श्रवणाधिकारनिमित्तत्वाद् मनन-  
निदिध्यासनयोर्निरधिकारनिमित्तत्वेन विधानाभावः, अधिकारान्तरं वा कल्प्येतेत्याशङ्क्याह—\*इति सर्वत्रेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

इति शङ्कते—\*नन्वेष्टेति\* ॥ नच “ज्ञानस्याविधेयत्वादि”त्यनेनास्य पौनरुक्त्यम् ; तद्विवरणरूपत्वादित्यर्थः ॥  
लक्षण्या विचारस्य गम्यमानत्वात् तद्विधिपरत्वं युक्तमित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ “अन्तर्णीतः” इति वाच्यार्थ-  
संबन्धो निर्दिष्टः । मुख्यार्थसंभवरूपं लक्षणाबीजमाह—\*इष्यमाणेति\* ॥ मुण्डके विचारविधिं दर्शयति—\*तद्विज्ञानार्थ-  
मिति\* ॥ साधनमन्तरेण ज्ञाननिष्पत्त्ययोगात् साधनविधिकल्पनमित्यर्थः । अङ्गविधिदर्शनाच्चाङ्गविधिरस्तीत्याह—  
\*गुरुपसदनेति\* ॥ तथा “शान्तो दान्तः” इत्यत्र विज्ञाने विध्यसंभवात् साधनविधिः कल्प्यत इत्याह—\*आत्मन्येवेति\* ॥  
साधनचतुष्टयस्य श्रवणाधिकारनिमित्तत्वेऽपि मनन-निदिध्यासनयोः कथं साधिकारत्वम् ? इत्याशङ्क्य, तयोः श्रवणाङ्ग-  
त्वात् तदधिकारनिमित्तमेव तत्प्रवृत्तिनिमित्तमित्याह—\*इति सर्वत्रेति\* ॥ मुमुक्षुत्वे सतीतरधर्माभावापराधेनाप्रवृत्त्य-

## वार्तिकम्

ग्रहीतुं शक्नोति ; तत्काले स्वस्यैवाभावात्, परो ग्रहीष्यतीति चेत्, न ; परस्याप्रत्यक्षत्वेन तज्जन्म-  
विनाशयोरप्यप्रत्यक्षत्वात् । देहादिरेव स्व-परप्रत्यक्ष आत्मैति चेत् ; तदात्मत्वस्य निराकरिष्य-  
माणत्वात् । अपिच आत्मा, देहादिविलक्षणः, तद्ग्राहकत्वात् ; यो यद्ग्राहको भवति, स तद्विलक्षणः,  
यथा घटादिग्राहकादित्यादिज्योतिः, देहादिग्राहकश्चात्मा ; तस्मात् तथा, इत्यनुमानादात्मनो देहादिभिन्नत्व-  
सिद्धिः । \*ननु\* सिध्यतु देहादिभिन्नत्वमुक्तानुमानेनात्मनः, तथाऽपि तस्य भौतिकत्वं सुदुर्वारम् ;  
भौतिकेनैवादित्यादिज्योतिषा भौतिकघटादिग्रहदर्शनात्, भौतिकं देहादिकं गृह्णन्नात्माऽपि भौतिक  
एव सिध्येदिति चेत्, कोऽभिप्रायः ? किं मदुक्तहेतुनैव तद्भौतिकत्वं साध्यते ? किंवा  
हेत्वन्तरेण ? नाद्यः ; उत्कर्षसमत्वात् । नहि यो यो भौतिकग्राहकः, स स भौतिक एवेति  
परं प्रति त्वया व्याप्तिर्दर्शयितुं शक्यते ; विपक्षबाधकाभावेनाप्रयोजकत्वात् । यद्यद् ग्राह्यं तत्तद्भौतिक-  
ज्योतिषैव ग्राह्यमिति हेत्वन्तरेण तत्सिद्धिरिति चेत्, न ; अस्यापि नियमस्य परं प्रत्यसिद्धेः ।  
तस्माद् यत् किञ्चिदेतत् । \*ननु\* तवापि हेतुः प्रदीपे साध्यं व्यभिचरति ; स्वेनैव दीपेन स्वात्मनो  
ग्रहादिति चेत्, \*न\* ; प्रदीपस्य स्वेन स्वग्रहासिद्धेः, येन हि यत्रागन्तुकः कदाचिदतिशयविशेष आधीयते,  
स तस्य ग्राहक इत्यभिधीयते ; यथाऽन्धकारावृतघटे प्रदीपेन कदाचित् प्रकाशातिशयाधानात् स तस्य  
प्रकाशक इत्युच्यते । नचैवं दीपेन कदाचित् कश्चिदतिशयः स्वस्मिन्नाधीयत इति प्रमाणमस्ति ; सर्वदा  
तदैकरूप्यदर्शनात् । तस्माद् न दीपः स्वात्मन्यतिशयमाधत्ते । तथाच न व्यभिचारः । \*एतेन—बुद्धेः स्व-  
ग्राहकत्वम्—\*अपास्तम्\* ; कर्तृ-कर्मविरोधाच्च । अत एव नात्मन्यपि तद्व्यभिचारः । कथं तर्हि तद्ज्ञानम् ?  
अन्यथा ग्राहकानवस्थानमिति चेत्, न ; तत्स्वप्रकाशत्वस्य दशितत्वेनोक्तदोषाभावात् । अनेनैवानुमाने-



## ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* फलसाधनविधौ फलकामनैव पुष्कलाधिकारनिमित्तं भवति, किमितरधर्मकलापेनेति ? \*सत्यम्\* ; शास्त्रीयेऽधिकारनिमित्तो सङ्कीर्तनादेव जीवन-गृहदाहादिवदधिकारनिमित्तमिति गम्यते । \*ननु\* साधनकलाप-

## ऋजुविवरणम्

उपसंहारो वा । \*फलकामनैवेति\* ॥ फलकामनायामसत्यामितरसाधने विद्यमाने प्रवृत्त्यदर्शनात् सत्यां च प्रवृत्ति-दर्शनात् सैव पुष्कलकारणमिति । \*सत्यम्\* ; शास्त्रीयेति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकतो यदि निमित्तनिरूपणं क्रियते, तर्हि सामर्थ्यमात्रपर्यालोचनं युक्तम्, अत्र तु न तथेति भावः ॥ \*जीवनगृहदाहादिवदिति\* ॥ “जीवन् जुहुयादि”त्यत्र जीवनस्य, गृहदाहस्य च क्षामवतीष्ठ्यामधिकारनिमित्तत्वम्, तद्वदिहापीति भावः ॥ \*ननु\*—न संकीर्तनादधि-कारनिमित्तता ; अङ्गत्वेनापि संकीर्तनोपपत्तेः, जीवनादौ न तथोपपत्तिरिति चोदयति—\*ननु साधनकलापस्येति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

दर्शनाद् विशेषणान्तरं वृथेति शङ्कते—\*ननु फलेति\* ॥ व्यतिरेकाभावमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि विशेषणा-न्तरवैयर्थ्यम्, तत्राह—\*शास्त्रीय इति\* ॥ यत्रान्वय-व्यतिरेकसिद्धमधिकारनिमित्तमिष्यते, तत्र केवलव्यतिरेकापेक्षा, यत्र शास्त्रादेवाधिकारनिमित्तावगमः, तत्र न व्यतिरेकोऽर्थते, यथा “जीवन् जुहुयात्” “गृहदाहवान् यजेते”त्यादौ व्यतिरेकविधुरस्यापि जीवनादेरधिकारनिमित्तत्वम्, तद्वदित्यर्थः ।

विशेषणचतुष्टयस्याधिकारनिमित्तत्वाभावेऽपि सङ्कीर्तनमुपपद्यत इति चोदयति—\*ननु साधनेति\* ॥ साधन-वार्तिकम्

नाज्ञानपर्यन्तविवेकसिद्धिः ; अज्ञानपर्यन्तानामात्मग्राह्यत्वात् । आत्मनस्तु तद्ग्राहकत्वात् तद्वैलक्षण्यसिद्धेः । \*एतेन\* आत्मनो दुःखाद्यात्मकत्वमपि—\*प्रत्युक्तम्\* ; दुःखादेस्तद्भास्यत्वात् । अत एव तेषां नात्मधर्मत्व-मपि ; ग्राह्य-ग्राहकभावानुपपत्तेः, आत्मानमगृहीत्वा स्वधर्मग्रहासंभवात्, स्वस्य स्वग्राह्यत्वस्य च प्रत्युक्तत्वात् । आत्मनोऽग्रहेऽपि श्रोत्रवत् स्वधर्मग्रहो भविष्यतीति चेत्, न ; दिक्परिणामभूतेन श्रोत्रेण देशान्तरवर्तिन एव शब्दस्य ग्रहात् स्वनिष्ठशब्दग्रहासिद्धेः, परकल्पनायाश्चाप्रामाणिकत्वात्, अन्यथा चक्षुरादिभिरपि स्वनिष्ठरूपादिग्रहापत्तेः, श्रोत्रम्, न स्वनिष्ठगुणग्राहि, इन्द्रियत्वात्, चक्षुरादिवदित्यनु-मानविरोधाच्च ।

\*एतेन\*—परिशेषानुमानादिच्छादीनामात्मधर्मत्वसाधनं पराभिमतम्—\*प्रत्युक्तम्\* ; इच्छादीनां दृश्यत्वेनात्मधर्मत्वानुपपत्तेः, “कामः सङ्कल्पः” इत्यादिश्रुतेस्तेषां मनोधर्मत्वावगमात् परिशेषा-सिद्धेश्च । तस्माद् न प्रत्यक्षेणात्मन्यनित्यत्वदुःखात्मकत्वादिसिद्धिः । अत एव न दृश्यत्व-संहतत्व-परिच्छिन्नत्वादिभिर्हेतुभिस्तत्सिद्धिः ; तेषामपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वात् । \*ननु\*—कर्तृ-कर्म-विरोधात् स्वकीयज्ञानविषयो मा भूदात्मा, परकीयज्ञानविषयस्तु भविष्यति ; उक्तविरोधाभावात्, तथाच दृश्यत्वहेतुर्नापक्षधर्म इति चेत्, \*न\* ; परात्मनः परप्रत्यक्षागोचरत्वात् । प्रत्यक्षागोचरत्वेऽ-प्यनुमानगोचरो भविष्यतीति चेत्, न ; तद्ग्राह्यत्वलिङ्गग्रहासंभवेन तदनुमानासिद्धेः । नच तद्ग्रहासंभवोऽ-सिद्धः ; अन्योन्याश्रयात्तत्सिद्धेः, परात्मग्रहे तद्व्याप्तलिङ्गग्रहः, तद्ग्रहे च परात्मग्रह इत्यन्योन्याश्रयः । \*ननु\*—उक्तान्योन्याश्रयात् साध्याप्रसिद्धेरन्वये व्याप्तिग्रहासंभवेऽपि व्यतिरेके तद्ग्रहो भविष्यति । तथाहि—सात्मकत्व-प्राणादिमत्त्वाभावयोर्हि व्याप्तिर्घटादौ गृह्यते, गृहीतायां च तयोर्व्याप्तौ “व्याप्य-व्यापकभावो हि भावयोर्याद्विगम्यते । तयोरभावयोस्तद्विपरीतः प्रतीयते” ॥ इति न्यायात्, जीव-च्छरीरे प्राणादिमत्त्वदर्शनेन सात्मकत्वं सेत्स्यतीति—चेत्, \*न\* ; घटादौ सात्मकत्वस्य प्रत्यक्षसिद्ध-त्वाद् निरात्मकत्वासिद्धेः, अन्यथा बन्ध्यापुत्रवन्निरात्मकत्वेन तुच्छत्वादप्रत्यक्षत्वापत्तेः । अपिच घटादौ प्राणादिमत्त्वाभावोऽपि कुतस्त्वया गृहीतः ? तत्कार्यवेष्टाद्यभावादिति चेत्, न ; कार्याभावस्य कार-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्यानुष्ठेयतया तत्र विधिं परिकल्प्य प्रयाजादिवत् फलोपकार्यङ्गत्वमेव कल्प्यताम् ? \*सत्यम्\* अङ्गस्यापि

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—उभयथा संभवे कथमङ्गत्वमेवेति निश्चेतुं शक्यते ? विशेषहेत्वभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*अनुष्ठेय-  
तयेति\* ॥ एवमपि कथमङ्गत्वम् ? विधानाभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*विधिं परिकल्प्येति\* ॥ \*ननु\*—  
अङ्गत्वं श्रवणे ज्ञाने वा न संभवति ; उपकारादर्शनादिति, तत्राह—\*प्रयाजादिवत्फलोपकार्यङ्गत्वमिति\* ॥ \*ननु\*  
अङ्गत्वमप्यधिकारिविशेषणत्वमप्यस्त्वित्याशङ्क्याह—\*अङ्गत्वमेवेति\* ॥ अङ्गत्वमनुष्ठेयतया, पूर्वप्रवृत्ततयाऽधिकारि-  
विशेषणत्वम्, तदेकस्य विरुद्धमित्यर्थः । \*सत्यमङ्गस्यापीति\* ॥ निशीष्यामङ्गस्य प्रदोषकालस्य यथाधिकारि-  
तत्त्वदीपनम्

कलापस्याङ्गत्वमेव कल्प्यतामिति संबन्धः । विहितमङ्गं भवति, अत्र च विध्यदर्शनात् कथमङ्गत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—  
\*तत्र विधिमिति\* ॥ जीवनादेवैलक्षण्यमाह—\*अनुष्ठेयतयेति\* ॥ ज्ञानस्वरूपं प्रत्युपकारानिरूपणात् कथमङ्गत्व-  
मिति ? अत आह—\*प्रयाजादिवदिति\* ॥ अङ्गत्वमात्रमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि नाधिकारिविशेषणत्वम्,  
तत्राह—\*अङ्गस्यापीति\* ॥

## वार्तिकम्

णाभावाव्याप्तत्वात् । नहि घटाभावाद् दण्डाभावोऽवगम्यते । नच—कार्याभावमात्रस्य कारणाभावागमकत्वे-  
ऽपि तदत्यन्ताभावो भवति तद्वमक इति—वाच्यम् ; वने दण्डे सत्यपि तत्कार्यघटात्यन्ताभावदर्शनात् ।  
तद्दण्डेन घटाजननेऽपि तज्जातीयेन दण्डान्तरेणास्ति तज्जनिरिति चेत्, एवं तर्हि घटादिनिष्ठप्राणादिना  
स्वकार्यचेष्टाद्यजननेऽपि जीवच्छरीरनिष्ठेन तज्जातीयेन प्राणादिना तज्जनिरस्त्येव, इति समः समाधिः ॥

अपिच वृत्तादौ चेष्टाद्यभावेऽपि प्राणादिमत्त्वसत्त्वाद् व्यभिचारः । तत्र चेष्टाया अभावेऽपि  
तत्कार्यान्तरोपचयादेर्दर्शनात् तदभावासिद्धेर्न व्यभिचार इति चेत्, न ; भवदभिमताप्राणादिमत्यपि  
पाषाणादावुपचयादिदर्शनात् तस्य तत्कार्यत्वमपि भवतः कल्पयितुमशक्तेः । अपिच चेष्टादिना प्राणा-  
दिकार्यत्वमपि त्वया कुतो गृहीतम् ? अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामिति चेत्, न ; प्राणादेरप्रत्यक्षत्वात् । अनुमाने-  
नेति चेत्, तथा सति लिङ्गान्तरासंभवात् कार्यमैव लिङ्गं वाच्यम्, नचैतद् युक्तम् ; आत्माश्रयात् ।  
तत्कार्यत्वज्ञानस्यैवानुमानानुमितत्वात् । अपिच “वायुर्वै गौतम सूत्रं वायुना खलु गौतम सूत्रेणायं च  
लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतानि संदध्यानि” “यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यमयति यं पृथिवी न  
वेदे”त्यादिश्रुतिभ्यो घटादावपि सात्मकत्व-प्राणादिमत्त्वयोरुपगमाद् न तद्विरोधात् तयोरभावग्रहोऽपि  
संभवति, दूरत एव तद्व्याप्तिग्रह इति । नच—जीवात्माध्यात्मप्राणाभावयोरैव घटादौ व्याप्तिग्रहाद्  
नास्त्युक्तश्रुतिविरोध इति—वाच्यम् ; “पृथिवीं न वेदे”ति तदज्ञानाश्रयतया पृथिव्याद्यभिमानिजीवस्यापि  
श्रुत्या दर्शितत्वात्, समष्टिसूत्रस्यैव वन-तद्गतवृत्तन्यायेन तत्तदध्यात्मभेदेन स्थितत्वस्यापि श्रुतिसिद्धत्वात्  
तत्र तयोरप्यभावासिद्धेः ॥

अपिच कार्य-करणसङ्घातातिरिक्तो जीवात्मोक्तानुमानात् पूर्व तव मते कुत्र सिद्धः ? यदभावो  
घटादौ ग्रहीष्यते ; प्रतियोगिप्रसिद्धिमन्तरेणाभावग्रहासंभवात् । न तावद् जीवच्छरीर एव तत्प्रसिद्धिः ;  
तथा सति व्याप्तिग्रहात् पूर्वमेव तत्प्रसिद्धेरनुमानवैयर्थ्यात् । नाप्यन्यत्र ; तद्धेतोरसत्त्वेऽसाधारण्यापत्तेः,  
सत्त्वे च केवलव्यतिरेकित्वहानेः । नच तत्प्रसिद्धौ प्रमाणमप्यस्ति ; प्रत्यक्षस्य निराकृतत्वात्, अनुमानस्य  
च व्याप्तिग्रहाभावादप्यसिद्धेः । श्रुत्या तत्प्रसिद्धिरिति चेत्, एवं तर्हि गतमनुमानकथया, श्रुत्यैव  
तत्सिद्धेः सिद्धसाधनात् । तदनुकूलतर्कतया त्वनुमानं भवत् तत्र न निवार्यते । अपिच श्रुत्या सिध्यन्न-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रदोषादिकालवदधिकारविशेषणत्वं न विरुध्यते ; शान्त्यादिगुणो भूत्वा पश्येदित्यादिलिङ्गात्, दीक्षाया अप्युत्तरकत्वधिकारनिमित्ततादर्शनात् । तस्माद् युक्तमुक्तम्—\*नित्यानित्यवस्तुविवेक इति\* ॥ “तेषु हि सत्स्वि”त्युत्तरं

## ऋजुविवरणम्

विशेषणत्वम् ; प्रदोषकालवतः कर्मविधानात्, कालप्रतीक्षया कर्मकरणादुभयरूपत्वम्, अत्र तु नाधिकारिविशेषणत्व-प्रापकमस्तीत्याशङ्क्याह—\*शान्त्यादिगुणो भूत्वेति\* ॥ \*ननु\*—कालस्याधिकारिविशेषणत्वं युक्तम् ; अनुपादेयत्वात्, साधनकलापस्य तूपादेयत्वान्नाधिकारिविशेषणत्वमित्याशङ्क्याह—\*दीक्षाया अपीति\* ॥ “उक्तं पुरस्तादि”त्यादिटीकाग्रन्थेनाधिकारार्थत्वेऽथशब्दस्य पूर्वोक्तदूषणमनुस्मारयति ; तस्याप्रसङ्गः प्रयोजनञ्च नोपलभ्यते, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*तेषु हि सत्सु\* इत्युत्तरमित्यादिना ॥ \*ननु\*—तत्र ब्रह्मज्ञाने प्रवृत्त्यभावप्रदर्शनाद् न भाष्य-

## तत्त्वदीपनम्

तत्र दृष्टान्तमाह—\*प्रदोषादीति\* ॥ प्रदोषकालवतः कर्मविधानात् तत्प्रतीक्षया कर्मकरणाच्चाङ्गस्यापि कालस्याधिकारिविशेषणत्वं यथा, तद्वदन्नाप्यङ्गत्वमधिकारिविशेषणत्वं चाविरुद्धमित्यर्थः । प्रमाणाभावाद् न साधनकलापस्याधिकारिविशेषणत्वमित्याशङ्क्याह—\*शान्त्यादीति\* ॥ तत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह—\*दीक्षाया इति\* ॥ दीक्षाया अङ्गत्वं “दीक्षितो जुहोती”त्यधिकारनिमित्तत्वं च दृश्यत इत्यर्थः । शास्त्रीयत्वेन साधनचतुष्टयाधिकारिविशेषणत्वसमर्थनमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

“उक्तं पुरस्तादि”त्यत्र शास्त्रारम्भस्य वैयर्थ्यस्यानुवादो वृथेत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तेषु हीति\* ॥ पूर्वत्र

## वार्तिकम्

प्यात्मा न त्वदभिमतप्रतिदेहभिन्नजीवात्मरूपेण सिध्यति, किं तर्हि ? सर्वभूतान्तरात्मत्वेनाद्वितीया-खण्डचिदेकरसत्वेनादृश्यत्वादिरूपेणेति । नचैवंरूपेणात्मसिद्धौ तदभावो घटादौ ग्रहीतुं शक्यते ; येनोक्तव्याप्तिग्रहस्तत्र स्यात् । सर्वथाऽपि नात्माऽनुमानग्राह्यः ॥

\*ननु\* मा भूदात्माऽनुमानग्राह्यः, श्रुतिग्राह्यस्तु भविष्यति, तथाच दृश्यत्वादनित्यत्वमात्मनः प्राप्तमिति चेत्, \*न\* ; अदृश्यत्वादिरूपेणैव श्रुत्या तत्प्रतिपादनादित्युक्तत्वात् । तथाच श्रुतिः “यत्तदद्रेष्यमग्राह्यम्” “एतदप्रमयं ध्रुवम्” “अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि” “अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्” “यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते” “यन्मनसा न मनुते, येन चाहुर्मनो मतम्” “यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सहे”त्यादिः । \*ननु\*—अदृश्यत्वादिरूपेणात्मा श्रुत्या प्रतिपाद्यते, अथ च न विषयीक्रियत इति विरुद्धमिति चेत्, \*न\* ;—तज्जनितान्तःकरणवृत्तेस्तद्ज्ञानप्रतिबन्धनिरासित्वमात्रेण तद्विषयत्वोपचारात् तत्प्रतिपाद्यत्वोपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् ; अन्यथा श्रुतेः स्वेनैव व्याघातात् स्वार्थासिद्धिः । तस्माद् न केनचित् प्रमाणेनात्मा सिध्यति । किं तर्हि ? स्वसंवेद्यतया स्वयं सिध्यन् स्वाध्यस्तानन्यानपि साधयति । तथाच श्रुतिः—“तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती”ति ॥

अपिच प्रमातृ-प्रमाणादीनामवस्थात्रयेषु व्यभिचारिणां येनाव्यभिचारिणाऽनुभवैकरसेन साक्षिणा भावाभावसिद्धिः, स कथं प्रमाणादिवेद्यः स्यात् ? नहि यदधीना यत्सिद्धिः, तत्सिद्धौ तदपेक्षा ; अन्योन्याश्रयापत्तेः । तथाच श्रुतिः—“न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः,” “विज्ञातारमरे केन विजानीयात्” “येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयादि”त्यादिः । तथाच सुरेश्वरः—

“प्रमाणञ्च प्रमाता च प्रमाभासस्तथैव हि । सिध्यन्ति यद्वलादेव तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते” ॥ इति ।

तस्माद् नैतादृशस्यात्मनोऽप्रमा-दृश्यत्वे स्वप्नेऽपि संभावयितुं शक्यते ; अतो नानित्यत्वमिति । \*एतेन\*



## पञ्चपादिका

उक्तं पुरस्ताद् अधिकारार्थत्वेऽथशब्दस्य शास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् ; प्रवृत्त्यभावादिति, प्रवृत्त्यभावे च कारणमुक्तम्, अखिलसुखभोगाद्विरण्यगर्भावाप्तिपर्यन्तान्निवर्तयति ब्रह्मजिज्ञासा क्रियमाणा, तेन तत उद्वेगो लोकस्य, कुतस्तत्र प्रवृत्तिरिति ? तस्माद् यावदस्य हिरण्यगर्भावाप्तिपर्यन्तस्य भोग-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

भाष्यं साधनकलापस्य ब्रह्मानुभवपर्यन्तविचारादिसाधनप्रवृत्तेरन्वय-व्यतिरेकसिद्धदृष्टहेतुतां प्रतिपादयति । तद् व्यावर्णयितुं मुमुक्षुत्वमन्तरेण तावन्न प्रवृत्तिरित्याह—\*उक्तं पुरस्तादधिकारार्थत्वं इत्यादिना\* ॥ तस्माद् मुमुक्षुत्वं तावद्विषयमाणसाधने प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः । \*ननु\* फलकामनायां सत्यामितरधर्माभावात् फलसाधने प्रवृत्त्यभावो न दृश्यते, \*सत्यम्\* ; पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरस्वरूपोपाधित्वेन प्रतिपन्नतया मुमुक्षुत्वोपाधित्वादधिकारनिमित्ततेत्याह—\*तस्माद् यावदस्य हिरण्यगर्भावाप्तिपर्यन्तस्येत्यादिना\* ॥ \*ननु\* सर्वम्, अनित्यमेव, सत्त्वात् ;

## ऋजुविवरणम्

वर्णनमनेन कृतम्, भाष्ये साधनप्रवृत्तौ धर्मकलापस्य हेतुत्वं प्रतिपाद्यते, नच तद्विवरणमनेन क्रियते ; मुमुक्षुत्वाभावे प्रवृत्त्यभावकीर्तनाभावात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*तस्मान्मुमुक्षुत्वमिति\* ॥ \*ननु\*—साधनकलापस्य हेतुत्वं प्रतिपादयितुं मुमुक्षुत्वस्योपयोगप्रतिपादकत्वेन—“उक्तं पुरस्तादि”ति टीकाग्रन्थस्योपयोग उक्तः ; उत्तरस्य तु “थावदस्ये”त्यादिटीकाग्रन्थस्योपयोगं न पश्यामः ; अव्यक्तार्थत्वात्, कथञ्चिदर्थनिरूपणेऽपि मुमुक्षुत्वे नित्यानित्यवस्तुविवेकादेहेतुत्वप्रतिपादनं दृश्यते, नच तदुपयुज्यते ; अप्रस्तुताभिधानात्, विचारादिसाधनप्रवृत्तौ सकलस्य हेतुत्वं वक्तुं प्रक्रमः, न तदनेन क्रियते ; अतो हेयोऽयं ग्रन्थ इत्याशङ्क्योपयोग्यर्थप्रतिपादकत्वं दर्शयितुं चोदयति—\*ननु फलकामनायामिति\* ॥ केवलव्यतिरेके हि कारणत्वनिश्चयः ; नान्वयमात्रात्, अत्र तु व्यतिरेको न दृश्यत इति भावः ॥ ग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमुक्त्वाऽवान्तरव्याख्यां करोति । \*तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेक एव न संभवति\* ; नित्यस्यैवाभावादिति चोदयति—\*ननु सर्वमिति\* ॥ “अन्यथा निरुपादानस्ये”-त्यनेनैतदुक्तम्—यदि निरवशेषो विनाशो भवेत्, तर्ह्युत्तरकार्योत्पत्तिर्न भवेत् ; तेन दृष्टान्तेन पूर्वस्यापि निरवशेषो विनाशो भवेत्, तथा सत्युपादानाभावाद् वर्तमानकार्यस्याप्यभावः स्यात्, नचैवम् ; कार्यस्य दृश्यमानत्वात्, अतः कार्यदर्शनानुपपत्त्या कूटस्थनित्यवस्तुपर्यन्तं विनाश इति नित्यानित्यवस्तुविवेकः कृतः, स न युक्तः, निरुपादानस्योत्पत्त्यसंभव इत्यसम्बद्धम् ; असिद्धत्वात्, तथा “पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरकार्योपादानत्वसंभवाद् न कूटस्थनित्यवस्तुसिद्धिः, अतोऽन्यथाऽप्युपपत्तिरर्थापत्तेः, तथा “विनश्यदपीदमि”त्यसंबद्धम् ; विनाशस्यैवाभावात्, सति वा विनाशे न कूटस्थ-नित्यवस्तुपर्यन्तता कार्यस्य ; घटादेः कार्यान्तरे मृदादौ

## तत्त्वदीपनम्

विशेषगचतुष्टयस्य शास्त्रीयत्वाद् न व्यतिरेकापेक्षेत्युक्तम्, अत्र त्वन्वय-व्यतिरेकगम्यत्वमाश्रित्य व्यतिरेकः समर्थत इति न पूर्वापरपराहत्याशङ्केत्यर्थः । मुमुक्षुत्वाभावे ब्रह्मविचारप्रवृत्त्यसंभवसाधनफलमाह—\*तस्मादिति\* ॥ मुमुक्षुत्वस्य हेतुत्वमाश्रित्य केवलव्यतिरेकाभावाच्चेतरस्य हेतुत्वमित्याह—\*ननु फलकामनायामिति\* ॥ नच “फलसाधनविधानमि”त्यनेन पौनरुक्त्यं शङ्क्यम् ; समाध्यन्तराभिधित्सायां पुरेरितस्यैवानुवादादित्यर्थः । केवलव्यतिरेकाभावाद् विशेषणत्रयस्य प्रवृत्त्यनिमित्तत्वमुक्तमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि तस्य वैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—\*पूर्वस्येति\* ॥ \*उपाधित्वेनेति\* ॥ हेतुत्वेनेत्यर्थः । नित्यवस्तुन एवाभावाद् न नित्यानित्यवस्तुविवेक इति शङ्कते—\*ननु

## वार्तिकम्

—परिच्छिन्नत्व-संहतत्व-परार्थत्वादयोऽपि हेतव आत्मन्यनित्यत्वसाधकाः—\*निरस्ताः\* ; आत्मनः सर्वसाक्षित्वेन तेषां तत्रासंभवात् । यत्तु ‘घटे मे ज्ञानमासीत्, न पटे’, ‘घटज्ञानं ममोत्पन्नम्’, ‘पटज्ञानं नष्टमि’त्यनुभवे परिच्छेद-जन्मादिदर्शनम्, तच्च नभसीवौपाधिकमेवेत्युपपादितमथस्तात् । अपिच सर्वं हि



## पञ्चपादिका

स्योत्पाद-परिच्छेदाभ्यां विनाशित्वादनित्यत्वं नावैति । विनश्यदपीदं कूटस्थनित्यवस्तुपर्यन्तमेव विन-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्वप्नवदिति, नेत्याह—\*विनश्यदपीदमिति\* ॥ नच निरुपादानं किञ्चित् कार्यमवगम्यते ; कार्यस्य च कार्यान्तरोपादानत्वे पूर्वेषां कृत्स्नकारणानामुत्तरस्मिन् कार्येऽन्वयः स्यात् ; अनन्वयिनोऽनुपादानत्वात्, अतः प्रतिकार्यप्रवाहमनादित्वादनाद्यनेकोपादानकल्पनाद् वरमेकस्यैवानादेः सर्वकार्योपादानत्वकल्पनम् । तच्चाविकारि कूटस्थम् ; अन्यथा कार्यत्वप्रसङ्गात् । तथा सर्वं कार्यम्, कदाचित् कात्स्न्येन विनश्यति, एकोपादानत्वात्, सुषुप्ता-

## ऋजुविवरणम्

विनाशदर्शनात्, अतो नानेन नित्यवस्तुसिद्धिरित्याशङ्क्योपपादयति—\*नच निरुपादानं किञ्चिदिति\* ॥ कार्यस्य कार्यान्तरोपादानत्वं यदाशङ्कितम्, तन्निराकरोति—\*कार्यस्य कार्यान्तरोपादानत्व इति\* ॥ \*ननु\*—कार्यस्योपादानत्वाभावेऽपि न भवदभिमतनित्यवस्तुसिद्धिः ; प्रतिकार्यप्रवाहमनेकनित्योपादानकल्पकत्वसामर्थ्यात्, इत्याशङ्क्याह—\*अतः प्रतिकार्येति\* ॥ भवतु नित्यता, कथं कूटस्थतेत्याशङ्क्याह—\*तच्चाविकारीति\* ॥ यच्चान्यदाशङ्कितम्—विनाश एवासिद्धः ; सति वा विनाशे कार्यान्तर एव स्यात्, अतो न नित्यवस्तुसिद्धिरिति, तत्राह—\*तथा सर्वं कार्यमिति\* ॥ एवमुत्पत्तिसामर्थ्याद् विनाशसामर्थ्याच्च कूटस्थं वस्तु साधितम्, अथवा—“विनश्यदपी”त्यस्य सकलग्रन्थस्योभयथा व्याख्या कृता, तत्र प्रथमम्—“नच निरुपादानस्ये”त्यादिना कार्यत्वप्रसङ्गादि”त्येवमन्तेन कार्योत्पत्तिसामर्थ्याद् नित्यवस्तुप्रतिपादकत्वमस्योक्तम्, तथा “सर्वं कार्यमि”त्यादिना “जन्माभावप्रसङ्गादि”त्यन्तेन तस्यैव पुनर्विनाशसामर्थ्याद् नित्यवस्तुप्रतिपादकत्वमुक्तम् ; उत्पत्तिपूर्वकत्वाद् विनाशस्य, प्रथममुत्पत्तिसामर्थ्यात् प्रतिपादकत्वमुक्तम्, अनन्तरं विनाशसामर्थ्यादिति । \*ननु\*—सर्वविनाशेऽपि न नित्यवस्तुसिद्धिः ; अभावस्यैवोत्पादकत्वसंभवात्, ततो यदुक्तं टीकाकारेण “निरुपादानस्य पुनरुत्पत्त्यसंभव एवे”ति, तदयुक्तम् ; अभावस्यैवोपादानस्य विद्यमानत्वात्,

## तत्त्वदीपनम्

सर्वमिति\* । सर्वं विमतमित्यर्थः । विपक्षबाधकतर्केण पराहतत्वादप्रयोजकमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ कार्यस्य सोपादानत्वे तत्पर्यन्तो विनाशः स्यात्, नच सोपादानत्वम्, प्रध्वंसे व्यभिचारादित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ प्रागसतः सत्त्वयोगित्वस्य कार्यत्वाद् न प्रध्वंसे व्यभिचार इत्यर्थः । तर्हि कार्यमेव किञ्चिदुपादानं स्यादित्याशङ्क्य, किं कार्यस्यान्विततयोपादानत्वम् ? उतानन्विततया ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*कार्यस्येति\* ॥ घटान्वयित्वेन यदा मृदुपलभ्यते, तदा तत्कारणमपि तत्रोपलभ्येत, एवं तत्कारणं तत्कारणमपीति सर्वस्यान्विततयोपलम्भः स्यादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—अनन्वयिन इति\* ॥ घटानन्वयिनो दण्डस्य तदनुपादानत्ववत् सुवर्णादेरप्यनन्वयित्वेन नोपादानत्वमित्यर्थः । तर्ह्यनाद्यनेकमुपादानं स्यादिति शङ्कां निरस्यति—\*अत इति\* ॥ अनाद्युपादानाभावे कार्यानुपपत्तिरतःशङ्कार्थः । यदनाद्येकमुपादानम्, तत्परिणामि, उपादानत्वात् ; क्षीरवदिति शङ्कां निरस्यति—\*तच्चेति\* ॥ कौटस्थ्यप्रतिपादकश्रुति-स्मृतिविरोधान्नेदमनुमानमुत्तिष्ठतीत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—\*कूटस्थमिति\* ॥ विपक्षे बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ \*ननु\* सर्वस्य विनाशे सिद्धे कूटस्थवस्तुपर्यन्तो विनाशः स्यात्, स एवासिद्ध इत्याशङ्क्याह—\*तथेति\* ॥ यथा कूटस्थवस्तुसिद्धिः, तथा सकलकार्यनाशोऽपीत्यर्थः । कदाचिन्नश्यतीत्युक्ते न सकलविलयसिद्धिः, तदर्थम्—“कात्स्न्येन”ति । एतावत्युक्ते

## वार्तिकम्

परस्परव्यभिचारितयाऽनित्यं सद् मिथ्याभूतं जगदधिष्ठानमपेक्षते ; निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः । नच तदसत् ; अध्यस्तेषु सत्त्वप्रथाऽनुपपत्तेः । नापि तज्जडम् ; तदध्यस्तानां स्वतो जडानां स्फुरणानुपपत्तेः । नाप्यनित्यं तत् ; अनित्यस्य मिथ्यात्वनियमादधिष्ठानानवस्थापत्तेः, अध्यस्तेषु सत्यत्वप्रथाऽनुपपत्तेश्च, कुत्रचिद् गत्वा नित्याधिष्ठानाङ्गीकारे तस्यैव सत्यतया सर्वत्र प्रथनात् सर्वाधिष्ठानत्वात् । नात एवानात्मभूतं



## पञ्चपादिका

श्यति ; अन्यथा निरुपादानस्य पुनरुत्पत्त्यसम्भवः, इति वर्तमानस्याप्यसम्भवादभावोऽभविष्यदिति

## पञ्चपादिकाविवरणम्

वात्मगतसुखादिवत्, इति सर्वस्य च विनाशस्तथाविधवस्तुपर्यन्त एव ; अन्यथा पूर्वकल्पस्य शून्यतापर्यन्तं विनष्टस्य स्वोपादानशेषतया स्वसंस्कारावस्थानाभावात् तत्सजातीयाकारेण पुनर्जन्माभाववद् वर्तमानस्यापि निरु-

## ऋजुविवरणम्

पुनरुत्पत्तिसंभवायोगात्, “वर्तमानस्याप्यसंभवादि”ति चायुक्तम् ; तेनैव संभवस्य सिद्धत्वात्, इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—  
\*अन्यथेति\* ॥ “निरुपादानस्ये”त्यस्य व्याख्या—\*स्वोपादानशेषतया संस्काराभावादिति\* ॥ “शून्यतापर्यन्तं विनष्टस्ये”ति संस्काराभावे हेतुः । “पुनरुत्पत्त्यसंभव एवे”त्यस्य व्याख्या—\*सजातीयाकारेण पुनर्जन्माभाव-  
वदिति\* ॥ “वर्तमानस्याप्यसंभवः” इत्यस्य व्याख्या—\*वर्तमानस्यापीति\* ॥ अथवा—उत्पत्तिसामर्थ्यादेव व्याख्यानद्वयेऽपि नित्यवस्तुसाधकत्वमस्य टीकाग्रन्थस्य दर्शितं शङ्काभेदनिराकरणेन, तत्र प्रथमव्याख्याने निरुपादानत्वेन भावरूपकारणान्तरेण वा कार्यसंभवशङ्कानिरासेन नित्यवस्तुप्रतिपादकत्वमुक्तम्, द्वितीयव्याख्याने तु शून्योपादानत्वे-  
नाप्युत्पत्तिशङ्कानिरासेन सजातीयोत्पत्तिसामर्थ्याद् नित्यवस्तुप्रतिपादकत्वमुक्तमिति भेदः । “यावच्चाभिमुखं विनाशे”-  
त्यादिग्रन्थोऽसङ्गतः परस्परानन्वित इव लक्ष्यते ; पूर्वग्रन्थे हि “यावन्न जायते” इत्युक्तम्, तस्य तावदर्थ आकाङ्क्षितः,  
नचात्र तावदर्थोऽस्ति “यावदस्ये”त्यर्थं च साकाङ्क्षः ; तावदिदमित्यनिरूपणात्, “यावच्चाभिमुखं विनाश-  
दर्शनादि”ति हेतुत्वं प्रतीयते, नच तस्य साध्यमस्ति, नच “भुञ्जानस्ये”त्यनेनान्वयः ; विनाशदर्शनस्य भोग-  
हेतुत्वाभावात्, नच पञ्चम्यन्तत्वास्वीकारेऽपि “भुञ्जानस्ये”त्यनेनान्वयः संभवति, यावच्छब्दोऽपि तावच्छब्द-  
साकाङ्क्षः, नच तेनान्वेतुं योग्यस्तच्छब्दोऽस्ति ; “भोगान्भुञ्जानस्ये”त्येतदप्यन्यसाकाङ्क्षम् ; “निर्वृतिमलभमानः”

## तत्त्वदीपनम्

स्थितिसमयेऽपि कात्स्न्येन विनाशप्रसाधनाद् बाधः, तदर्थम्—“कदाचिदि”ति विशेषणम् । प्रलयोपस्थापक-  
कर्मोद्बोध इत्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—इति सर्वस्येति\* ॥ विपक्षे दण्डमाह—\*अन्यथेति\* ॥  
\*पूर्वकल्पस्येति\* ॥ पूर्वकल्पीयस्येत्यर्थः । संस्काराभावे हेतुमाह—शून्यतेति\* ॥ \*सजातीयाकारेण पुनर्जन्मा-  
भाववदिति\* ॥ अयमर्थः—पूर्वकल्पीयस्य संस्कारसहितकारणावशेषाभावात् सजातीयाकारेण पुनर्जन्मासंभवः, एवमेव

## वार्तिकम्

तत् ; अनात्मत्वस्य मिथ्यात्वव्याप्ततया सत्यत्व-नित्यत्वाद्यनुपपत्तेः । अत एव नानेकम् ; वस्तुपरिच्छिन्नस्य  
मिथ्यात्वावश्यकत्वात् । \*एतेन\*—तस्य शुद्ध-मुक्तत्वादयोऽपि धर्माः—\*व्याख्याताः\* ; वैपरीत्येऽशुद्ध-  
त्वाद्यावश्यकत्वात् । तस्माद् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावं सत्यानन्ताद्वयमेकरसं सर्वात्मभूतं ब्रह्म श्रीराम-  
चन्द्रस्य भगवतो मम स्वरूपं प्रपञ्चाधिष्ठानमिति स्वानुभवसिद्धम् । तथाचैवंभूतं नित्यं वस्तु स्वयमेव  
विविच्य कविना गीतम्—

“किं करोमि ? क्व गच्छामि ? किं गृह्णामि ? त्यजामि किम् ? ।

आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाश्रुना यथा” ॥ इति ॥

सोऽयमुक्तप्रकारेण नित्यानित्यवस्तुविवेको भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य चरणारविन्दपरागावगुण्ठन-  
शुद्धान्तःकरणस्य पुंसो जायते । स्वानुभवेन विविच्य चैवमात्मतत्त्वं महास्तत्तद्विषयभोगेभ्यो विरज्यति ।  
तथाच स्मृतिः—

“यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते” ॥ इति ॥

श्रुतिरपि—“एतद् स्म वै पूर्वं ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो  
धैर्षां नोऽयमात्माऽयं लोकः” इति । “ते ह स्म पुनैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाश्च



## पञ्चपादिका

निरूपणाद् नित्यानित्यवस्तुविवेको यावन्न जायते । यावच्चाभिमुखविनाशदर्शनाद् भुञ्जानस्यापि भोगान् सक्-चन्दन-वस्त्रालङ्कार-भोगानिवाग्निप्रवेशार्थं भोगार्थव्यापारजनितदुःखानुभवाच्च तन्निमित्तं निर्वृतिमप्यलभमानो भोगाद् विरक्तः । ततो मुमुक्षुत्वं तत्साधनशम-दमोपरम-तितिक्षा-समाधानसम्पन्नो

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पादानतया जन्माभावप्रसङ्गादिति । भोगान् भुञ्जानस्य भोक्तुः सह भोगैरभिमुखविनाशदर्शनादिति योजना । \*अत्रैवमन्वयः\*—यावदनित्यत्वं नावैति, तावन्नित्यं वस्तु न प्रतिपद्यत इत्यध्याहारः । यावच्च नित्यानित्य-वस्तुविवेको न जायते, तावद्विरक्तो न जायत इत्यध्याहारः । “यावच्चाभिमुखविनाशे”त्यत्र यावच्छब्दो

## ऋजुविवरणम्

इति पुरुषसाकाङ्क्षत्वाद् “भुञ्जानस्ये”त्यत्र पुरुषस्योपात्तत्वादन्वय इति न युक्तम् ; विभिन्नविभक्तिकत्वेनान्वया-भावात्, भुञ्जान इति यदि स्यात्, ततो भुञ्जानो निर्वृतिमलभमान इति स्यादन्वयः, नचैवं समानविभक्ति-योगोऽस्ति । “भोगार्थव्यापारे” इत्यारभ्यानन्वयसंभवेऽपि व्याहृत इव प्रतीयते ; भोगार्थं योऽयं व्यापारः, तेन जनित-दुःखानुभवाच्च तन्निमित्तं सुखमलभमानः पुरुषो यत एव भोगाद्विरक्तः, ततो मुमुक्षुत्वं तत्साधनसंपन्नो भूत्वा यावन्नावलम्बत इत्यन्वयः प्रतिभाति । तत्र विरक्तो मुमुक्षुत्वं नावलम्बत इति विरोधाद्वैराग्ये सति तदभावा-योगात्प्रकृतासङ्गतः, पुनरुक्तश्च । अयमर्थः—प्रकृतं हि नित्यानित्यवस्तुविवेकादीनामुत्तरोत्तरं प्रति हेतुतयाऽधिकारि-विशेषणत्वम् । नचात्र तत् प्रतिपादितम् ; नित्यानित्यविवेकयोर्नामापि न गृहीतम्, वैराग्यस्य तु पूर्वस्वरूपमेव निर्दिष्टम्, नतु पूर्वसाध्यत्वमुत्तरसाधनत्वं वा निर्दिष्टम् । मुमुक्षुत्वस्य हेतुत्वं पूर्वमपि प्रतिपन्नमत्रापि प्रतिपाद्यत इति पौन-रुक्त्यम् ; “अतो यावदस्य हिरण्यगर्भे”त्यादि “ब्रह्मजिज्ञासां कः प्रतिपद्यते”त्येवमन्त आलूनविशीर्ण इत्याशङ्क्याह—\*भोगान् भुञ्जानस्येति\* ॥ अवाप्तरान्वयं दर्शयित्वा महावाक्यार्थान्वयं दर्शयति—\*अत्रैवमन्वय इति\* ॥ “यावदस्ये”ति टीकाग्रन्थस्य प्रकृतोपयोग्यार्थसिध्यर्थमध्याहृत्य योजनां दर्शयति—\*यावदनित्यं नावैति तावदिति\* ॥ “नित्यानित्यवस्तुविवेको यावन्न जायते” इत्यस्य साकाङ्क्षत्वात् प्रकृतोपयोगसिध्यर्थमध्याहृत्य योजनां दर्शयति—\*तावद्विरक्त इति\* ॥ \* “यावच्चाभिमुखमि”त्यस्मिन् ग्रन्थे नकाराध्याहारेण व्याहृतिरसङ्गतिरनुपयोगश्च परिहृतः ।

## तत्त्वदोषनम्

वर्तमानस्यापि निर्लेपनष्टत्वात् सजातीयाकारेण जन्म न स्यादिति । अभिमुखविनाशदर्शनाद्धेतोर्भोगान् भुञ्जानस्येति यथास्थित्यन्वयशङ्कां निरस्यति—\*भोगानिति\* ॥ “यावदस्ये”त्यादेः साकाङ्क्षत्वाद् दूरान्वयत्वाच्चान्वयं दर्शयति—\*अत्रेत्यादिना\* ॥ फलितं दर्शयति—\*साधनेति\* ॥

## वार्तिकम्

भिन्नावर्यं चरन्ति” । “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायाद् नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमि”त्यादि ॥

\*ननु\*—उक्तप्रकारेण स्वानुभवेनैवात्मतत्त्वं विविच्यादावेव भोगेभ्यो विरज्यति चेत्, हन्त तर्हि तद्विज्ञानार्थं पुनर्गुरूपसदनं पिष्टपेषणं स्यात् । नहि ज्ञाते वस्तुनि पुनर्जिज्ञासा संभवति । नच जिज्ञासां विना महत् कष्टमात्मनोऽङ्गीकृत्य बुद्धिपूर्वकारी गुरुमुपसीदतीति चेत्, \*सत्यम्\* ; जानात्येवात्मानं स्वानुभवेन विवेकी, तथाऽपि वस्तुनोऽतिदुरूहत्वात् किमेवंविधमेव वस्तु ? किं वाऽन्यथेति सन्दिहानः स्वानुभवे विश्वासं नोपैति । नचाविश्वस्तं ज्ञानं जातमपि स्वकार्यायालम् ; निष्प्रत्यूहस्यैव तस्य सकार्याविद्यानाशकत्वात् । अतः संशयमलनिरासेन स्वनिश्चयदाढ्यार्थमेव गुरूपसदनमुपपद्यते ; तदन्तरेण संशयमलनिरासासंभवात् । तथाच श्रुत्यन्तरम्—“आचार्यवान् पुरुषो वेदे”ति । स्मृतिरपि—



## इहामुत्रार्थ(१)भोगविरागः,

भामती

ततोऽस्यैतादृशाद् नित्यानित्यवस्तुविवेकलक्षणात् प्रसङ्ख्यानान्-\*इहामुत्रार्थभोगविरागो भवति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

जीवलोकमवलोक्येति योजना । \*प्रसङ्ख्यानं धीसन्ततिः । उपावर्तत इत्येतत् \*अस्य पुरुषधौरेयस्येत्यनेन\* सम्बध्यते । अस्तु पुरुषधौरेयस्येदृशनित्यानित्यवस्तुविवेकलक्षणप्रसङ्ख्यानम्, ततः किमायातमिति ? अत आह—\*ततोऽस्येति\* ॥ धीसन्ततिः प्रसङ्ख्यानशब्दार्थ इत्युक्तम् । अर्थशब्दस्य फलार्थकतामाह—

वार्तिकम्

“यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । तदा गन्ताऽसि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च” ॥

“तद्विद्धि प्रणिपातेन परिश्रमेण सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः” ॥ इति ॥

अत एव वासिष्ठे स्वयं ज्ञातज्ञेयस्यापि शुकस्य तत्र विश्वासमप्रतिपद्यमानस्य पितरमुपसंपद्य “संसारा-  
डम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो” इत्यादिना तत्त्वं पृच्छतस्तेनोपदिष्टमपि तत्त्वम्, मया यदेव स्वमनीषयाऽ-  
ध्वंसितम्, तदेव पित्राऽप्युपदिष्टं नाधिकमिति पुनरनध्यवस्यतः पितुराज्ञया जनकमभ्येत्य तत्राध्यवसानं  
स्मर्यते—तथाच तत्रैव श्रीरामं प्रति तदाख्यानं कथयता विश्वामित्रेणोक्तम्—

“अत्मोदन्तसमं राम वक्ष्यमाणमिदं मया । शृणु व्यासात्मजोदन्तं जन्मनामन्तकारणम् ॥

तस्य चिन्तयतो लोकयात्रामैवमिमां हृदि । तवेव किल सद्बुद्धेर्विवेक उद्भूदयम् ॥

तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः । विचार्य सुचिरं चारु यत् सत्यं तदवाप्तवान् ॥

स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः । इदं वस्त्विति विश्वासमसावात्मन्युपाययौ ॥

केवलं विररामास्य चेतो विगतचापलम् । भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥

तस्य व्यासतनूजस्य मलमात्रापमार्जनम् । यथोपयुक्तं ते राम तावदेवोपयुज्यते” ॥ इति ॥

तस्मादुपपन्नं स्वमनीषया लब्धतत्त्वस्यापि मलापमार्जनार्थं श्रुत्याचार्यानुसरणमिति । यस्य तु  
पुरुषधौरेयस्य नास्ति सर्वात्मना मलः, तस्य नास्त्वेतद्भवे श्रुत्याचार्यापेक्षा । यथा वामदेवस्य,  
यथा वा हिरण्यगर्भस्य । तथाच श्रुतिः—“तद्वैतत्पश्यन्नृषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चे”ति ॥  
“स हायमीक्षां चक्रे यन्मद्व्यव्नास्ति कस्मास्तु विभेमि” “तत एव भयं वीयाये”ति च । स्मृतिरपि  
“ज्ञानमप्रतिघ्नं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यञ्चापि धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्”इत्यादि ॥ तस्माद्  
मलावशेषवतोऽजायमानोऽपि नित्यानित्यवस्तुविवेकोऽविद्यानाशनासमर्थः केवलमिहामुत्रार्थफलभोग-  
विरागहेतुतया वतिष्ठते । अत एवोक्तप्रकारेण विवेकस्याप्रतिबद्धकार्यत्वं विवेक्तुमशक्नुवानाः पातञ्जलादय-  
स्तत्त्वज्ञानं वैराग्यमात्रहेतुः, न मोक्षहेतुरपि ; तस्मिन् सत्यपि तददर्शनाद् वैराग्यजननेन चान्यथासिद्धेः ।

प्रदीपः

तत्सूत्रनासंभवाद् नोक्तायाः शङ्काया अवसरलेशोऽपि । तदेवं नित्यानित्यवस्तुविवेकपदार्थो व्याख्यातः । सत्यम्, नित्या-  
नित्यविवेको भामत्यभिमतो विवरणाभिमतो वा ब्रह्ममीमांसातृतीयाध्यायाध्ययनसमनन्तरमेव भवति, ननु ततः पूर्वम्, इति  
विचारात्पूर्वमेव तत्सम्पत्तौ ब्रह्मविचारोऽनपेक्षितः, तथाऽपि पूर्वोक्तरीत्या साधनाध्यायस्यैवार्थक्रमात् प्रथमाध्यायत्वेन न ब्रह्मं  
सगुणत्व-निर्गुणत्वादिविचारवैयर्थ्यम्, न वा तृतीयाध्यायपर्यन्ताध्ययने नित्यानित्यवस्तुविवेकादिः, नित्यानित्यवस्तुविवेकादौ च  
तावदन्ताध्ययनमित्यन्योन्याश्रयशङ्काऽपि श्रीभाष्यकाराणामत्रावसरतीति सूचितम् । \*इहामुत्रार्थफलभोगविरागः = वैषयिक-

(१) अर्थफलभोगेति पाठो वार्तिकसम्मतः ।



## शम-दमादिसाधनसम्पत् ।

भामती

अर्थ्यते प्रार्थ्यत इत्यर्थः । फलमिति यावत् । तस्मिन् विरागोऽनाभोगात्मिकोपेक्षाबुद्धिः । ततः \*शमदमादिसाधनसंपत्\* ॥ रागादिकषायमदिरामत्तं हि मनस्तेषु तेषु विषयेषूच्चावचमिन्द्रियाणि प्रवर्तयत्, विविधाश्च प्रवृत्तीः पुण्यापुण्यफला भावयत्, पुरुषमतिघोरे विविधदुःखज्वालाजालजटिले संसारहुतभुजि जुहोति । प्रसंख्यानाभ्यासलब्धवैराग्यपरिपाकभग्नरागादिकषायमदिरामत्तं तु मनः पुरुषेण विजीयते वशीक्रियते, सोऽयमस्य वैराग्यहेतुको मनोविजयः 'शमः' इति 'वशीकारसंज्ञः' इति चाख्यायते । विजितं च मनः, तत्त्वविषयविनियोगयोग्यतां नीयते । सेयमस्य योग्यता दमः ; यथा दान्तोऽयं वृषभयुवा = हल-शकटादिवहनयोग्यः कृत इति गम्यते । आदिग्रहणेन च विषयतितिक्षा-तदुपरम-तत्त्वश्रद्धाः

ऋजुप्रकाशिका

\*अर्थ्यत इति\* ॥ \*तस्मिन् = भोगार्थे फले । ततोऽपि किम् ? तत्राह—\*तत इति\* ॥ वैराग्यहेतुको मनोविजयः शम इति वक्तुम्, मनोविजयः किमर्थं इति वीक्षायाम्, मनसोऽत्यन्तमनर्थकारित्वात् तद्विजयेन भाव्यमिति मत्वा, मनसोऽत्यन्तमनर्थकारितां तावद् दर्शयति—\*रागादिकषायेत्यादिना\* जुहोतीत्यन्तेन\* ॥ \*तेषु तेषु विषयेषूच्चावचमिन्द्रियाणि प्रवर्तयत् सत्, विविधाः प्रवृत्तीर्भावयच्च सत्, रागादिकषायमदिरामत्तं मनः पुरुषमतिघोरे विविधदुःखज्वालाजालजटिले संसारहुतभुजि जुहोतीति योजना । विविधाः प्रवृत्तिरित्युक्तम्, तत्र प्रवृत्तिवैविध्यं दर्शयति—\*पुण्यापुण्यफला इति\* ॥ एवं मनसोऽनर्थकारितामभिधाय तद्विजयलक्षणं शममाह—\*प्रसंख्यानाभ्यासेत्यादिना\*—\*विजितं च मन इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* । दमस्वरूपमाह—\*विजितं चेति\* ॥ \*अस्य=मनसः । सेयं योग्यता दम इत्यन्वयः । क्वचिदयमिति पाठः । तत्पाठे दमापेक्षयाऽयमिति पुंलिङ्गनिर्देशः । \*यथेति\* ॥ यथा दान्तोऽयं वृषभयुवा हल-शकटादिवहनयोग्यः क्रियते, तथा विजितं मनः, तत्त्वविषयविनियोगयोग्यतां नीयते, नियोगयोग्यं क्रियते ; सेयं योग्यता दम इति गम्यत इति योजनीयम् । "शमदमादिसाधनसम्पत्ति"त्यत्रादिशब्दो वर्तते, तस्यार्थमाह—\*आदिग्रहणेन चेति\* ॥

वार्तिकम्

वैराग्ये च वशीकरणसंज्ञाख्ये सति मोक्षदर्शनाद् वैराग्यमेव मोक्षहेतुरिति वर्णयमानाः "तमेव विदित्वा तिसृष्वप्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"त्यादिश्रुतिं बाधन्त इति ॥

\*एतेन\*—आत्मनि विविक्ततया विज्ञाते वैराग्यादिक्रमेण विविदिषा, विविदिषायां तु विविक्ततया तज्ज्ञानमित्यन्योन्याश्रयोऽपि—\*प्रत्युक्तो वेदितव्यः\* ॥ एतमेव कार्य-कारणभावमभिप्रेत्य विवेक-वैराग्ययोः क्रमेण निर्देशः कृतः—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविराग इति ॥ तदुक्तम्—लिङ्गे—"ज्ञानं धर्मोद्भवं साक्षाद् ज्ञानाद् वैराग्यसंभवः । वैराग्यात् परमं ज्ञानं परमार्थप्रकाशनम्" ॥ इति ॥ इह लोके परलोके च भोक्तव्यं यद् धर्मस्य फलं सुखं तत्साधनं च स्रगादि, तस्य भोगो विरागः=अनभिरतिरित्यर्थः । अनर्थशब्देनाधर्मोक्तेस्तद्विपरीतो धर्मोऽर्थशब्देनोच्यते । तथाच जैमिनिः—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति ॥ अनर्थफलभोगे

प्रदीपः

सुखवैराग्यम् । वैषयिकसुखानां अन्यत्वाद् अनित्यत्वेन वैराग्यसंभवः । \*शमदमादिसाधनसम्पत् = शमः = वैराग्यः हेतुको वशीकारसंज्ञो मनोविजयः, तत् एवान्तरिन्द्रियनिग्रह इति नामान्तरम् । \*दमो नाम = मनसो विजितस्थं तत्त्वग्रहणविनियोगयोग्यता, बाह्यकरणानुसारेण विषयेष्वप्रवृत्तिः । स हि बाह्यकरणोपरमाविनाभूतः, इति बाह्येन्द्रियोपरमो दम इति व्यपदिश्यते । \*उपरतिः = संन्यासः । शीतोष्णादिसहनं \*तितिक्षा\* ॥ निद्राऽऽलस्य-प्रमादत्यागेन मनः-स्थिरता \*समाधानम्\* ॥ गुरु-वेदान्तवाक्येषु विश्वासः \*श्रद्धा\* ॥ एतत्सम्पत्तिः शमदमादिसाधनसम्पत् ॥



## मुमुक्षुत्वं च ।

भामती

संगृह्यन्ते । अत एव श्रुतिः—“तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति” इति । तदेतस्य शम-दमादिरूपस्य साधनस्य संपत् = प्रकर्षः, शम-दमादि-साधनसंपत् । ततोऽस्य संसारबन्धनान्मुमुक्षा भवतीत्याह—\*मुमुक्षुत्वं च\*॥तस्य च नित्य-शुद्ध-मुक्त-सत्य-

ऋजुप्रकाशिका

उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति—\*अत एव च श्रुतिरित्यादिना\* ॥ सम्पच्छब्दस्य प्रकर्षार्थकत्वं वदन् शम-दमादि-साधनसम्पदं निगमयति—\*तदेतस्येति\* ॥ \*अस्य = शमदमादिसाधनसम्पन्नस्य । \*तस्य = शमादिसाधन-सम्पन्नस्य मुमुक्षोः । \*उपश्रुत्येति\* ॥ स्थितस्येति शेषः । तथाच—“ब्रह्मविदामोति परम्” इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानं मोक्षकारणमिति ज्ञात्वेत्यर्थः । \*तज्जिज्ञासा = ब्रह्मजिज्ञासा । \*ननु\* धर्मजिज्ञासानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा

पञ्चपादिका

भूत्वा यावन्नालम्बते, तावद् ब्रह्मजिज्ञासां कः प्रतिपद्येत ? कथंचिद् वा दैववशात् कुलूहलाद्वा बहुश्रुतत्वबुद्ध्या वा प्रवृत्तोऽपि न निर्विचिकित्सं ब्रह्म तत्त्वेनावगन्तुं शक्नोति ; यथोक्तसाधन-सम्पत्तिविरहात्, अनन्तर्मुखचेता बहिरेवाभिनिविशमानः । तस्माद् वार्ष्णेयवस्तुकलापान-

पञ्चपादिकाविवरणम्

नकारमध्याहृत्य विरक्तशब्देन संबध्यते, यावच्च न विरक्त इति । तावन्मुमुक्षुत्वं नालम्बत इत्यध्याहारः । यावच्च मुमुक्षुत्वं नालम्बते, तावद् ब्रह्मजिज्ञासां कः प्रतिपद्येत ? इति साधनकलापाभावे न विचारप्रवृत्तिरिति

वार्तिकम्

स्वत एव सर्वप्राणिनां वैराग्यसिद्धेर्न तस्य विवेकसाध्यत्वम्, अत उक्तम्—“\*अर्थफलभोगविरागः\*” इति ॥ एवमिहामुष्मिकसुख-तत्साधनभोगेभ्यो व्यावृत्तचेतसः शम-दमोपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धालक्षणा संपत्तिरुत्पद्यते । तत्र \*शमो नाम=अन्तःकरणस्य वशीकारः । \*दमस्तु=बहिरिन्द्रियाणां वशीकारः । \*उपरतिः=नित्य-नैमित्तिक-काम्य-निषिद्धक्रियात्यागः, संन्यास इति यावत् । तितिक्षा=दैवा-दुपेतशीतोष्ण-सुखदुःखादिद्वन्द्वोपनिपातेऽनुद्वेगकारणमुपेक्षाबुद्धिः । \*समाधानम्=चित्तस्य प्रत्यक्-प्रवणता । \*श्रद्धा=गुरु-शास्त्रवाक्येषु विश्वासः ॥ सेयं संपत्तिः शमदमादिरित्युच्यते । तथाच श्रुतिः—“शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् । “श्रद्धावित्तो भूत्वा” । “श्रद्धत्स्व सौम्य” । “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो नच प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिङ्गादि”त्यादि । स्मृतिरपि—“श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः” । इत्यादि ॥ एवं शम-दमादिसंपन्नस्त्यक्तैषणो विवेकी मुमुक्षति । मुमुक्षुश्च विविदिषुः सन्नाचार्यमुपसद्य वेदान्तविचारे प्रवर्तत इति युक्तम्—साधनवतुष्ट्यसंपत्त्या-

प्रदीपः

\*मुमुक्षुत्वम्\*—उक्तया मुमुक्षा, अहं संसारबन्धान्मुक्तः स्यामित्याकारा । यद्यप्यद्वैतमतेऽहमर्थो नात्मा ; तस्य श्वलरूपत्वात्, मुक्तौ ह्यहमर्थो विनश्यतीति खल्वद्वैतमतम्, तथाच मुक्तौ नाहमर्थान्वयः, इति कथम्—‘अहं मुक्तः स्यामि’-तीच्छोपपद्यते ? इति शङ्का प्रसरति ; तथाऽप्यहमर्थविशिष्टविनाशस्य “शिखी ध्वस्तः” इतिवद् विशेषणमात्रविनाशाभि-प्रायत्वेन शुद्धविशेष्यांशस्य मुक्तावप्यनुवृत्तेर्न मुक्तावात्मानान्वयः । \*एतेन\*—“अहमर्थविनाशश्चेद् मोक्ष इत्यध्यवस्यति । अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः ॥” इति द्वैत-विशिष्टद्वैतादिसम्प्रदायानुसारिणां शङ्काऽपि—\*परास्ता\* ; न हि इच्छाकालीनाः सर्वा अवस्थाः फलकालेऽनुवर्तन्त इति नियमः । न हि बालोऽहं त्रिंशवर्षे प्रधानाध्यापको भविष्यामीतीच्छयाऽध्ययने प्रवर्त-मानो बालः फलकालेऽपि बाल एवानुवर्तते । एतेन—ब्राह्मणोऽहं स्वर्गो स्यामिति प्रतीतिरपि व्याख्याता ; नहि ब्राह्मण एव सन्



तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये । तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते ।

भामती

स्वभावब्रह्मज्ञानं मोक्षस्य कारणमित्युपश्रुत्य तज्जिज्ञासा भवति धर्मजिज्ञासायाः प्रागूर्ध्वं च । तस्मात् तेषामेवानन्तर्यम्, न धर्मजिज्ञासाया इत्याह—\*तेषु हीति\* ॥ न केवलं जिज्ञासामात्रम्, अपि तु ज्ञानमपीत्याह—\*ज्ञातुं च\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

भवति चेत्, आयातं धर्मजिज्ञासानन्तर्यं ब्रह्मजिज्ञासायाः, इत्याशङ्क्य, पूर्वोक्तं स्मारयति—\*धर्मजिज्ञासायाः प्रागूर्ध्वं चेति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*तेषामेवानन्तर्यमिति\* ॥ विवेक-वैराग्य-शम-दमादि-सम्पन्नुमुक्षादीनामेवानन्तर्यम् । विवेकाद्यानन्तर्यमेव ब्रह्मजिज्ञासायाः, न धर्मजिज्ञासानन्तर्यमित्याहेत्यर्थः । भाष्ये—\*न विपर्यय इति\* ॥ नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावे ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न शक्यत इत्यर्थः । “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्राथशब्दस्य विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्त्यानन्तर्यमुक्तम्,

पञ्चपादिका

न्तर्यमभिप्रेत्याथशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः । तदाह भाष्यकारः—\*तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये । तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यत इति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

व्यतिरेकोऽयं दर्शितः । \*ननु\* नास्ति व्यतिरेकः, साधनकलापाभावेऽपि प्रवृत्तिदर्शनादित्याशङ्क्याह—\*कथंचिद्वा दैववशादिति\* ॥ शूद्रयागादिवत् फलपर्यन्तता न स्यादित्यर्थः । व्यतिरेकनियमादेवान्वयमपि सिद्धवत् करोतीत्याह—\*तस्माद्वर्णितवस्तुकलापानन्तर्यमिति\* ॥ उक्तेऽर्थे भाष्यमवतारयति—\*तदाह भाष्यकार इति\* ॥

ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—एवमपि न प्रकृतार्थसंबन्धः ; साधनकलापस्य विचारहेतुत्वं वक्तुं प्रक्रमोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्, नच तदत्र प्रदर्श्यते, इत्याशङ्क्याह—\*साधनकलापाभाव इति\* ॥ \*ननु\*—साधनकलापाभावेऽपि ज्ञानसाधन-विचाराद्यनुष्ठाने निर्विचिकित्सबोधानुत्पत्तिः कथमित्याशङ्क्याह—\*शूद्रयागवदिति\* ॥ “तस्माद्वर्णितवस्तुकलापा-

तत्त्वदीपनम्

व्यतिरेकमाक्षिपति—\*नन्विति\* ॥ श्रवणाद्यनुष्ठानेऽपि निर्विचिकित्सं ब्रह्म नाधिगच्छतीत्येतद्विरुद्ध-मित्याशङ्क्याह—\*शूद्रेति\* ॥ ‘अधिकारिणः फलपर्यवसायिप्रमितिजनको वेदः’ इति न्यायादित्यर्थः । अन्वय-मन्तरेण व्यतिरेकमात्राद्वेतुत्वासिद्धेरन्वयस्य चानिर्दिष्टत्वाद् “वर्णितवस्तुकलापानन्तर्यमिति”त्यसंगतमित्या-शङ्क्याह—\*व्यतिरेकेति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां साधनचतुष्टयस्य विचारहेतुतायाः समधिगतत्वात्

वार्तिकम्

नन्तर्यमैवाथशब्देनाभिधातुं युक्तम् ; अन्यतोऽप्राप्तत्वादिति । उपसंहरति—\*तस्मादथशब्देन यथोक्त-साधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यत इति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

\*तेष्विति\* ॥ व्यतिरेकमाह—\*न विपर्यय इति\* ॥ कथंचित् कुतूहलादिना ब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्त-

प्रदीपः

स्वर्गमनुभवतीत्यत्र प्रमाणमस्ति, इत्यहमर्थमुख्यानात्मवादिनामप्यद्वैतिनां न—‘अहं मुक्तः स्यामि’तीच्छाऽनुपपत्तिः । साधन-चतुष्टयमेव हेतुं पुनरप्यतःशब्दो हि “द्विर्वद्धं सुवद्धं भवती”ति न्यायेनानुवदति । अनेन च नित्यानित्यविवेकः, इहामुत्तार्थफल-



### पञ्चादिकाविवरणम्

तदेवं साधनकलापस्य विषेयतया विज्ञानाङ्गत्वेऽपि शास्त्र-युक्तिभ्यामधिकारिविशेषणत्वलाभाद् वर्णितसाधन-संपत्त्यनन्तरं ब्रह्मविचारे सिद्धेऽपि कश्चित्प्रमाणव्यापारवार्तानभिज्ञो देवानांप्रियः शास्त्रार्थप्रद्वेषदोषधूयमानचेताः सर्वसंकरवादी यत्किञ्चिदत्र जल्पति—विचारकर्तव्यतां प्रतिपद्यमानस्य किल सूत्रकारस्य शमादयो न बुद्धिसमा-रूढाः, नचाबुद्धिसमारूढमर्थमधिकारिविशेषणतयाऽथशब्देनोपादातुमर्हति ; धर्मविचारस्तु बुद्धिगतोऽधिकारि-विशेषणतयोपादीयत इति, \*नैतद्युक्तम्\* ; नहि पूर्वापरवाक्यपरामर्शप्रज्ञाविकलस्त्वमिव सूत्रकारः । \*तथाहि\*—श्रौतं विचारविधिं सूत्रयितुं प्रतिपद्यमाने विधिप्रयुक्तमधिकार्यनुबन्धमीक्षमाणः स्वप्रकरणपठितमन्वय-व्यतिरेक-प्रमाणगम्यं चाधिकारिविशेषणं प्रतिपद्याथशब्देन किमिति न सूत्रयेत् ? \*किञ्च\* साधनकलापस्याथशब्दोपादान-त्वाभावेऽप्यवश्यं ब्रह्मणि प्रवृत्त्यङ्गता तावद् वक्तव्या ; रागाद्याक्षितस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, अवश्यापेक्षणीयत्वे च

### ऋजुविवरणम्

नन्तर्यमि”त्युपसंहारो न युक्तः ; आनन्तर्यस्यासिद्धत्वात्, नहि व्यतिरेकमात्रेणान्वयं विना कारणत्वसिद्धिरित्या-शङ्क्याह—व्यतिरेकनियमादेवेति\* ॥ “न बुद्धिसमारूढाः” इति वदतोऽयमभिप्रायः—ब्रह्मधर्मत्वे हि कथञ्चिद् धीस्था भवेयुः, ते त्वन्तःकरणधर्माः । नच ते प्रकृताः, नच—तेषां वाचकशब्दोऽस्ति, इति भवतु पूर्वापरानुसन्धानप्रज्ञा; तथाऽपि कथमेषां सूत्रितत्वं वक्तुं शक्यते ? बुद्धिस्थताहेत्वभावादित्याशङ्क्याह—\*तथाहि श्रौतमिति\* ॥ “श्रौतं विचारविधि-मि”त्यधिकार्यनुबन्धधीस्थतायां हेतुः । “स्वप्रकरणमि”त्यादिप्रापकप्रमाणोपन्यासः । \*ननु\*—एषामधिकारि-विशेषणत्वं वक्तुं न शक्यते ; विचारात् प्राक् तेषामभावात्, भवतु वा कथंचिदुपाध्यायादिवचनतस्सिद्धिः, तथाऽपि नाधिकारिविशेषणत्वसंभवः ; तेषामनवस्थितत्वात् । निरतिशया वा तेऽधिकारिविशेषणं स्युः ? सातिशया वा ? न तावन्निरतिशयाः ; विचारसाध्यत्वात्, नापि सातिशयाः ; सर्वेषां कारणधर्मासंभवात् सर्वेषामधिकारः स्यात् ; अतो नैतेऽधिकारिविशेषणत्वेन सूत्रिता इति वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च साधनकलापस्येति\* ॥ \*अयमभिप्रायः\*—न सातिशय-निरतिशयविकल्पेन सूत्रितत्वनिराकरणम् ; स्वपक्षेऽपि तुल्यत्वादिति । \*ननु\*—अवश्यापेक्षणीयत्वेऽपि नाधिकारिविशेषणत्वम् ; अधिकारिविशेषणान्तरसद्भावात्, तेषान्त्वङ्गतयाऽपि गतिसंभवाद्

### तत्त्वदीपनम्

\*किलेति\* ॥ मा भूद् बुद्धिस्थत्वम्, तत्राह—\*नचेति\* ॥ बुद्धिसमारूढमर्थं परस्मै प्रतिपादयितुं तद्वाचकं शब्दं प्रयुङ्क्ते, शमादीनां चाबुद्धिस्थत्वात् कथं तत्प्रतिपत्तिसमये तत्प्रतिपिपादयिषयाऽथशब्दप्रयोग इत्यर्थः । परिशेषात् शमादिकमथशब्दोपात्तमिति शङ्का निरस्यति—\*धर्मविचार इति\* ॥ वेदैकदेशविचारस्य निर्वृत्तत्वाद् बुद्धिस्थत्वाद-धिकारिविशेषणत्वेनोपादानमथशब्देनेत्यर्थः । शमादीनामबुद्धिस्थत्वमसिद्धमित्याह—\*नैतद्युक्तमिति\* ॥ अयुक्तत्वं दर्शयितुं सूत्रकारस्यानुसन्धानकौशलमाह—\*नहीति\* ॥ विचारविधिसूत्रणसमये कथं तेषां बुद्धिस्थत्वम् ? तत्राह—\*तथाहीति\* ॥ निरधिकारस्य विचारविधेः प्रवर्तकत्वाभावादधिकार्यनुबन्धस्तावत् प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥ तदानन्तर्य-मथशब्दार्थ इत्युक्तम्, तत्र वृत्तानुवादपुरःसरं भास्करोक्तां शङ्कां निरस्यति—\*तदेवमित्यादिना\* ॥ \*तत्=तत्र ; अतीते ग्रन्थे । एवम्=उक्तेन प्रकारेण । कल्पने हेतुमाह—\*अनभिज्ञ इति\* ॥ अनभिज्ञत्वमुपपादयति—\*शास्त्रा-र्थेति\* ॥ जल्पनमेवाह—\*विचारकर्तव्यतामिति\* ॥ \*न बुद्धिसमारूढा इति\* । अत्र प्रमाणाभावादिति द्रष्टव्यम् । शास्त्रीयविधिप्रतिपत्तिसमये तदधिकारनिमित्तस्यापि बुद्धिस्थत्वज्ञानादिदं चोद्यमित्याह—\*तथाहीति\* ॥ तत्र सर्वेषामधिकारित्वाभावादधिकारिविशेषणमाकाङ्क्षमाणो विधिः प्रकरणपर्यालोचनयाऽन्वय-व्यतिरेकालोच-नया च साधनचतुष्टयमधिकारिविशेषणत्वेनाधिगम्य तत्सूचितवानिति न किञ्चनात्रावद्यमित्याह—\*स्वप्रकरणेति\* ॥ किञ्च धर्मविचारस्याथशब्दोपात्तत्वं वदतेदं विचारणीयम् ? किं साधनकलापस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वमिष्यते ? उत नेतीति ? तत्रान्त्यं प्रत्याह—\*किञ्चेति\* ॥ आद्येऽस्मदभिमतसिद्धिरित्याह—\*अवश्येति\* ॥ शास्त्रीयाधिकारिविशेषणं नास्तीत्याशङ्कायां फलपर्यन्तप्रवृत्त्यनुपपत्तौ तदुपपादनार्थमथशब्देनाधिकारिविशेषणज्ञापनमुचितमित्यर्थः । स्वमतं



## अतः शब्दो हेत्वर्थः ।

भामती

क्रमप्राप्तमतःशब्दं व्याचष्टे—\*अतःशब्दो हेत्वर्थः\* ॥ तमेवातःशब्दस्य हेतुरूपमर्थमाह—  
\*यस्माद्वेद एवेति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

सम्प्रत्यतःशब्दं व्याचष्टे इत्याह—\*क्रमप्राप्तमिति\* ॥ “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्याद्येत्यनन्तरम्—‘अतः’

पञ्चपादिका

\*अतःशब्दो हेत्वर्थ इति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

तदेवाधिकारिविशेषणं वक्तव्यम् । नच धर्मजिज्ञासा दृष्टद्वारेण वा शास्त्रीयतया वाऽधिकारिविशेषणता-  
मनुगच्छति ; प्रमाणाभावात् । अत एव न बुद्धिस्थाऽपि सा, अथशब्देन च नोपादानमर्हति ; व्यवहिताच्च  
बुद्धिस्थात् स्ववाक्यगतमेव संनिहिततरं बुद्धिस्थं च साधनचतुष्टयमुपादानमर्हति । तस्माद् यत्किंचिदेतदिति ॥

अतःशब्दो हेत्वर्थः । \*ननु\*—अथशब्द एवानन्तर्याभिधानमुखेन हेतुतया पूर्वनिर्वृत्तमेवार्थे

ऋजुविवरणम्

मिलितस्य वाऽधिकारिविशेषणत्वमित्याशङ्क्याह—\*नच धर्मजिज्ञासेति\* ॥ \*अथवा\* “किञ्चे”त्यनेन बलाद् विशेष-  
णत्वमापादितम्, “नच धर्मजिज्ञासे”त्यनेन नित्यानित्यविवेकादिवैषम्यमुक्तम्, तदुक्तहेतुभिरेव तस्याधिकारि-  
विशेषणत्वनिराकरणमिति दर्शयितुं “स्यादेतदि”त्यादिटीकाग्रन्थेन नित्यानित्यवस्तुविवेकाभावे विरागाभावः, तद-  
भावे न शमादिपरिग्रहः, नापि मुमुक्षुत्वम् ; अतो न साधनचतुष्टयस्य ब्रह्मविचारे प्रवृत्तिहेतुत्वमित्याक्षिप्य, तस्य  
हेतुत्वप्रदर्शनार्थोऽतःशब्द इत्युक्तम्, अतः परस्परव्याहतः, अतो “न तस्य ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्व”मित्युक्त्वा “तस्य  
हेतुत्वप्रदर्शनार्थः”इत्युक्तत्वात्, न हि हेतुत्वाभावे तत्प्रदर्शनमुपपद्यते, अथशब्दव्याख्यानविरोधश्चेत्याक्षिपति—  
\*नन्वथशब्द एवेति\* ॥ \*ननु\*—हेतुत्वं वाच्यं न भवत्यथशब्दस्य, तेन हेतुत्वसिध्यभावाद् नातःशब्दवैयर्थ्य-

तत्त्वदीपनम्

प्रसाध्य परमतं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकसिद्धस्य शास्त्रीयस्य चाधिकारिविशेषणत्वं दृश्यते ।  
धर्मजिज्ञासायाश्च विचाराधिकारिविशेषणत्वे न दर्शन-शास्त्रे स्त इत्यर्थः । धर्मविचारस्य बुद्धिस्थत्वमुक्तं निरस्यति—  
\*अत एवेति\* ॥ प्रमाणाभावोऽतःशब्दार्थः । \*न बुद्धिस्थाऽपीति\* ॥ अधिकारिविशेषणत्वेन बुद्धिस्थेत्यर्थः ।  
बुद्धिस्थत्वमङ्गीकृत्य दूषणमाह—\*व्यवहितादिति\* ॥

पुष्कलकारणानन्तर्यस्याथशब्दार्थत्वादतःशब्दो व्यर्थ इति शङ्कते—\*नन्वथेति\* ॥ अथशब्दस्यानन्तर्य-

वार्तिकम्

क्रमप्राप्तमतःशब्दं व्याकरोति—\*अतःशब्दो हेत्वर्थ इति\* ॥ प्रकृते पञ्चम्या अर्थान्तरासंभवादित्या-  
शयः । \*ननु\*—सर्वनाम्नः प्रकृतपरामर्शित्वात् प्रकृतं किञ्चित् तेनोपस्थाप्य पञ्चम्या तद्धेतुत्वं वाच्यम्,

भाष्यभावप्रकाशिका

स्यापि फलपर्यन्तज्ञानानुदयाद् न विपर्यय इत्युक्तम् । क्रमप्राप्तमतश्चशब्दं व्याचष्टे—\*अतश्शब्द  
इति\* ॥ यद्यप्यथशब्देनानन्तर्याभिधानमुखेन पूर्वनिर्वृत्तं पुष्कलकारणं तात्पर्यतः प्रतिपादितम् ;

प्रदीपः

भोगविरागो वा बाधित इति शङ्कानिवृत्तिः फलति ; अन्यथा हि—“अपाम सोमममृता अभूम” “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-  
याजिनः सुकृतं भवती”त्यादिवचनैः कर्मफलस्यापि नित्यत्वावगमाद् इहामुत्रार्थफलभोगविरागहेतुनित्यानित्यवस्तुविवेको बाधित  
इति शङ्का ह्यनिवारणीया समाप्यते । पुनरप्यतःशब्देन हेतुपरामर्शान्तु स्वर्गादिफलमक्षय्यादिवाक्यावगतमप्यनित्यमेव ; “तद्यथेह



भामती

अत्रैवं परिचोद्यते—सत्यं यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा भवति, सैव त्वनुपपन्ना ; इहामुत्रफलोपभोगविरागस्यानुपपत्तेः । अनुकूलवेदनीयं हि फलम् ; इष्टलक्षणत्वात्फलस्य । नचानुरागहेतावस्य वैराग्यं भवितुमर्हति । दुःखानुषङ्गदर्शनात् सुखेऽपि वैराग्यमिति चेत्, हन्त भोः सुखानुषङ्गाद् दुःखेऽप्यनुरागो न कस्माद् भवति ? तस्मात् सुख उपादीयमाने दुःखपरिहारे प्रयतितव्यम् । अवर्जनीयतया दुःखमागतमपि परिहृत्य सुखमात्रं भोक्ष्यते । तद्यथा—मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते ; यथावा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति, स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते । तस्माद् दुःखमयाद् नानुकूल-वेदनीयमैहिकं वाऽऽमुष्मिकं वा सुखं परित्यक्तुमुचितम् । नहि मृगाः सन्ति, इति शालयो नोप्यन्ते । भिक्षुकाः सन्ति, इति स्थालयो नाधिश्रीयन्ते । अपिच दृष्टं सुखं चन्दन-वनितादिसङ्गजन्म क्षयितालक्षणेन दुःखेनाप्रातत्वाद् अतिभीरुणा त्यज्येतापि, न त्वामुष्मिकं स्वर्गादि ; तस्याविनाशित्वात् । श्रूयते हि—“अपाम सोमममृता अभूम” इति । तथाच “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति” इति । नच कृतकत्वहेतुकं विनाशित्वानुमानमत्र संभवति ; नरशिरःकपालशौचानुमानवद् आभासबाधितविषय-त्वात् । तस्माद् यथोक्तसाधनसंपत्त्यभावाद् न ब्रह्मजिज्ञासेति प्राप्तम् ॥

ऋजुप्रकाशिका

इत्येतदपि शङ्कोत्तरत्वेन प्रवृत्तमिति व्याकर्तुं शङ्कामवतारयति—\*अत्रैवं परिचोद्यत इत्यादिना\* । \*सेयम् = ब्रह्मजिज्ञासैव । कुतोऽनुपपन्नेति ? अत आह—\*इहामुत्तेति\* ॥ साधनचतुष्टयसम्पत्त्यन्तर्गतस्येति शेषः । अनुपपत्तिमेवाह—\*अनुकूलेत्यादिना\* ॥ अनुकूलवेदनीयस्य फलत्वे हेतुमाह—\*इष्टलक्षणत्वादिति\* ॥ इच्छाविषयस्वरूपत्वादित्यर्थः । अस्त्वेवम्, ततः किमिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किम्—इह चामुत्र च भोग्ये सुखरूपे फले वैराग्यं ब्रवीषि ? किं वा तत्साधने ? अन्त्यं निरस्यति—\*नचानुरागहेतावस्येति\* ॥ \*अस्य = फलस्य सुखरूपस्य । रागहेतौ वैराग्यं भवितुं नार्हति । सुखहेतौ वैराग्यं भवितुं नार्हतीति निष्कृष्टार्थः । सुखहेतौ बहुलं प्रवृत्तिदर्शनादिति भावः । आद्यं शङ्कते—\*दुःखानुषङ्गादिति\* ॥ परिहरति—\*हन्त भोः सुखानुषङ्गादिति\* ॥ \*ननु\* दुःखानुषक्तं सुखं कथं भोक्तुमर्हम् ? इत्याशङ्क्योपसंहारव्याजेन तच्छङ्कां परि-हरति—\*तस्मादित्यादिना सुखमात्रं भोक्ष्यत इत्यन्तेन\* ॥ \*ननु\* सुख-दुःखयोः संमिलिततया समागतौ सत्यां कथमन्यतरस्योपादानेनान्यतरस्य परित्यागः ? इत्याशङ्क्य, तत्र लौकिकदृष्टान्तमाह—\*तद्यथा मत्स्यार्थीति\* ॥ दृष्टान्तान्तरमाह—\*यथावेति\* ॥ प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ अनिष्टसंमेलन-मयादिष्टं सुखं परित्यक्तुं नार्हमित्येतन्निदर्शयेन् द्रढयति—\*नहि मृगा इति\* ॥ \*किंच\* ऐहिकसुखे क्षयिष्णुत्वदुःखदोषेण कथंचिद्वैराग्येऽप्यामुष्मिकसुखे न वैराग्यमित्याह—\*अपिचेत्यादिना\* ॥ \*नत्वा-मुष्मिकमिति\* ॥ आमुष्मिकं स्वर्गादि सुखं न त्यज्यत इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*तस्येति\* ॥ कर्मफलस्या-विनाशित्वे प्रमाणाभावाद् हेत्वसिद्धिमाशङ्क्य, तदविनाशित्वे श्रुतिं प्रमाणयति—\*श्रूयते हीति\* ॥ श्रुत्यन्तर-माह—\*तथाचाक्षय्यं हीति\* ॥ \*ननु\* स्वर्गादि, विनाशि, कृतकत्वात् ; घटादिवत्, इत्यनुमानेन स्वर्गादेः क्षयिष्णुत्वसिद्धेरविनाशित्वहेतुरसिद्ध एवेत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥ निराकरणमेवाह—\*नरशिर इति\* ॥ नरशिरःकपालम्, शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत्, इत्यनुमानस्य यथा “नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्” इत्यागमेन बाधितता, तथा स्वर्गाद्यनित्यत्वसाधकानुमानस्याप्युक्त-श्रुतिद्वयेन बाधितविषयत्वमित्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*साधनसम्पत्त्यभावात् = उक्त-विधया साधनसम्पत्त्यन्तर्गतवैराग्याभावादित्यर्थः । तत्र सूत्रस्थम्—“अतः” इत्येतदुक्तशङ्कोत्तरत्वेनावतारयति—



## पञ्चपादिकाविवरणम्

गमयतीत्युक्तम्, \*ननु\* हेतुत्वमार्थिकम्, तन्नाभिधेयमथशब्दस्य, सत्यम्; आर्थिकार्थे तात्पर्यात्, आनन्तर्य-  
मात्रे वैफल्यात्, 'यत्परः शब्दः स वाक्यप्रयोगे शब्दार्थः' इत्यथशब्देनैव हेतुत्वसिद्धेर्नातशब्दोऽपेक्ष्यत इति ।  
अतःशब्दाभावे माङ्गल्यादीनामन्यतमार्थताऽथशब्दस्य प्रसज्यत इति चेत्, \*न\* ; निराकृतत्वात्, धर्म-  
मीमांसायां सत्यप्यथशब्देऽतःशब्देनाऽपि तस्य हेतुत्वमुक्तमिति चेत्, अन्धगोलाङ्गूलन्यायैकशरणोऽयं सर्व-  
संकरवादी । नह्यन्यत्र विद्यमानः पुनरुक्तिदोषोऽस्माभिरप्यनुसरणीयः ; तस्मादतःशब्दवैयर्थ्यमिति—प्रातम्,  
अत्राथशब्दपरिगृहीतस्यैव हेतुत्वस्य हेत्वन्तरेणापवादाशङ्कायां तन्निराकरणं पुनरथशब्दोक्तहेतुत्वाभिधायिनाऽ-  
तःशब्देन क्रियत इति दर्शितम्—\*यस्माद्वेद एवामिहोत्रादीनामित्यादिभाष्येण\* ॥ तत्र तामाशङ्कां

## ऋजुविवरणम्

मिति चोदयति—\*ननु हेतुत्वमिति\* ॥ कथं वाच्यार्थं विहायार्थिकार्थे तात्पर्यम् ? इत्याशङ्क्याह—\*आनन्तर्यमात्र  
इति\* ॥ \*ननु\*—हेतुत्वे तात्पर्येऽपि न तस्य शब्देन सिद्धिः ; शब्दवाच्यत्वाभावात्, शब्देन विना तात्पर्य-  
मात्रस्यासाधकत्वात्, तेनातःशब्दोऽपेक्ष्यत इत्याशङ्क्याह—\*यत्परः शब्द इति\* ॥ \*अतःशब्दाभाव इति\* ॥  
\*अयमर्थः\*—सिद्धे ह्यानन्तर्यार्थत्वे वैफल्यादिना हेतुत्वस्वीकारादतःशब्दवैयर्थ्यम्, तदेवानन्तर्यमतःशब्दनिबन्धनम्,  
अतःशब्दो हि हेतुत्ववाचकः पूर्ववृत्तमपेक्षते ; तेन विना हेतुत्वाभावात्, अत आनन्तर्यार्थतामाक्षिपति । तेनातः  
शब्दबोधयहेतुत्वनिबन्धनमानन्तर्यम्, नातःशब्दवैयर्थ्यापादकम् ; “न स्वनिमित्तं बाधते” इति न्यायात्, अतो हेतुत्व-  
योग्यतामात्रमतःशब्दार्थः, इति नातःशब्दवैयर्थ्यमिति\* ॥ \*न निराकृतत्वादिति\* ॥ अयं भावः—न माङ्गल्याद्य-  
र्थतानिरासोऽतःशब्दनिबन्धनः ; अन्वयाद्यभावेन पूर्वमेव निरस्तत्वादिति । एवमाक्षिप्य समाधत्ते—\*अत्राथ-  
शब्दपरिगृहीतस्येति\* ॥ \*ननु\*—तेनापवादशङ्का प्रदर्श्यते ; नहि कृतकत्वादेनैकान्तिकत्वं नित्यानित्य-

## तत्त्वदीपनम्

मात्राभिधायित्वादतःशब्दस्य हेत्वभिधायित्वान्न पौनरुक्त्यमिति शङ्कते—\*ननु हेतुत्वमिति\* ॥ अनभिधेयत्वमङ्गी-  
करोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि न पौनरुक्त्यम्, तत्राह—\*आर्थिकेति\* ॥ अभिधेये तात्पर्याभावे हेतुमाह—  
\*आनन्तर्येति\* ॥ जिज्ञासापुष्कलकारणास्तित्वप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसंभवादन्वयासंभवादिति तत्र तात्पर्यमित्यर्थः ।  
आर्थिकार्थतात्पर्येऽपि तस्यानभिधेयत्वान्न पौनरुक्त्यमित्यत्राह—\*यत्पर इति\* ॥ तात्पर्यगम्यस्य प्रमेयत्वात् तस्य  
चैकत्वात् पौनरुक्त्यमित्यर्थः ॥

आनन्तर्याभिधानमुखेन प्रतिपादितहेतुत्वस्फुटीकरणार्थोऽतःशब्द इत्येकदेशी शङ्कते—\*अतःशब्देति\* ॥  
मङ्गलार्थशङ्काया एवान्नानवतारान्न तन्निरासायाऽतःशब्दोऽर्थ्यत इत्याह—\*न निराकृतत्वादिति\* ॥ “मङ्गलस्य च  
वाक्यार्थे समन्वयाभावादि”त्यत्र निरस्तत्वादित्यर्थः । अथशब्देनैव हेतुत्वसिद्धेरतःशब्दवैयर्थ्यमित्युक्ते दृष्टान्तमाश्रित्य  
शङ्कते—\*धर्ममीमांसायामिति\* ॥ आनन्तर्याभिधानमुखेन स्वाध्यायाध्ययनस्य धर्मजिज्ञासाहेतुत्वमथशब्देनोक्तं  
यद्यपि ; तथाऽप्यतःशब्दो यथोपात्तस्तद्वदत्रापीत्यर्थः । दृष्टान्तासंमत्योत्तरमाह—\*अन्येति\* ॥ अन्धाया  
गोर्लाङ्गूलम्, तत्संबन्धी न्यायः, तथा स एव शरणं यस्य, स तथोक्तः । अन्धः पुमान् यथाऽन्धगोलाङ्गूलमाश्रित्य  
गच्छन्न स्वास्थ्यं लभते, तद्वत् पुनरुक्तिदोषदूषितसुत्रावष्टम्भेन संसादधानस्यापि तत्र न क्षेमप्राप्तिरित्यर्थः ॥

एवमेकदेशमतं निराकृत्य वैयर्थ्याशङ्कां पूर्वोक्तामुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ सर्वज्ञादरायणाचार्यनिर्दिष्ट-  
त्वादतःशब्दस्य वैयर्थ्यानुपपत्तेः स्वच्छान्तःकरणैस्तदर्थो निरूपणीयः । तत्र कोऽसावर्थः ? इति वीक्षायामपवादशङ्का-  
निरासद्वारा हेतुत्वदृढीकरणमर्थः, तस्मात्सूत्रकृद्वचोऽनवद्यमिति समाधत्ते—\*अत्रेत्यादिना\* ॥ अत्र सूत्रे शास्त्रान्वय-  
व्यतिरेकाभ्यां साधनचतुष्टयस्य हेतुतायाः समधिगतत्वात् कथमपवादशङ्का ? इत्याशङ्क्यामाह—\*तत्र तामिति\* ॥  
\*ननु\* कृतकं परिच्छिन्नं च किञ्चिन्नित्यं दृष्टम्—यथा ध्वंस-परमाण्वादि, किञ्चिन्नित्यं दृष्टम्—यथा घटादि, कर्मफलं



## पञ्चपादिका

स्यादेतत्—कृतकत्व-परिच्छेदौ नैकान्ततः क्षयिष्णुतां गमयतः ; परमाणुषु पाकजलोहितस्य कृतकस्य, तेषां च परिच्छिन्नानां नित्यत्वाभ्युपगमात्, वेदेऽपि “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति” “अपाम सोमममृता अभूमे”त्यादिपुण्यफलस्याक्षयित्वश्रवणात्, अतो

## पञ्चपादिकाविवरणम्

दर्शयति—\*स्यादेतत् कृतकत्व-परिच्छेदावित्यादिना\* ॥ यदा तु कृतकत्वाद्यनुमानमनैकान्तिकम्, तदा कर्मफलस्यापि कृतकस्यानित्यत्वनियमाभावान्नित्यपुरुषार्थकामिनस्तत्रापि प्रवृत्तिः स्यात् । अतो नित्यानित्यवस्तु-विवेको न ब्रह्मण्येव नियमेन प्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । \*ननु\* कर्मफलस्यैकान्ततोऽनित्यताऽभावेऽपि नित्यत्वे न प्रमाणमिति, तत्राह—\*वेदेऽप्यक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन इति\* ॥ \*ननु\* एवमपि ब्रह्मणि प्रवृत्तेः

## ऋजुविवरणम्

विवेकादेः प्रवृत्तिहेतुत्वविरोधि, येनापवादः स्यात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*यदा तु कृतकत्वादीति\* ॥ न नित्यत्वे प्रमाणमिति\* ॥ नित्यत्वे सिद्धे विरक्तस्यानित्यपुरुषार्थकर्मणीतरस्मिन् भवेत् प्रवृत्तिः, तदभावे न भवेत् प्रवृत्तिः ; तथा सति नापवाद इति चोद्याभिप्रायः । \*ननु\*—कर्मफलनित्यत्वेऽपि ब्रह्मणि प्रवृत्त्यभावः कथमिति चोदिते,

## तत्त्वदीपनम्

तु कं पञ्चमवलम्ब्यतामिति ? तत्राह—\*यदा त्विति\* ॥ कर्मफलस्य नित्यत्वसंभावनया तत्रापि प्रवृत्तेर्न ब्रह्मण्येव प्रवृत्तिरित्यर्थः । नित्यत्वे प्रमाणाभावान्न कर्मफले प्रवृत्तिरिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ प्रमाणाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ ग्रामार्थिनः सेवायां सांप्रहण्यां च प्रवृत्तिवद् नित्यपुरुषार्थकामिनो ब्रह्मजिज्ञासायामपि प्रवृत्तिः स्यादिति शङ्कते—\*नन्वेवमिति\* ॥ ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यानित्यत्वज्ञानमन्तरेण सकलदुःखविरोधिब्रह्मजिज्ञासायां न प्रवृत्तिरित्याह—\*तत्राहेति\* ॥

## वार्तिकम्

तत्र सूत्रकारेणार्थान्तरस्य पूर्वमनुक्तत्वात्, परिशेषादथशब्दोपात्तसाधनचतुष्टयमेव प्रकृतं ग्राह्यम् । \*ननु\* न पञ्चम्या तद्वेतुत्वकथनमुपपद्यते ; तदानन्तर्याभिधायिनाथशब्देनैव तद्वेतुत्वस्य लक्ष्यत्वादित्युक्तत्वात् पौनरुक्त्यापत्तेः, नच सूत्रेऽपौनरुक्त्यं वाच्यम् ; “स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् । अस्तोभ-मनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥” इति सूत्रलक्षणव्याघातात्, \*नैष दोषः\* ; अथशब्दोपात्ततद्वेतुत्व-समर्थनपरत्वादतःशब्दस्य पौनरुक्त्याभावात् । कथम् ? इत्थम् ? एवं हि तत्राशङ्क्यते—भवेदेवं साधन-चतुष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा, यदि साधनचतुष्टयसंपत्तिरेव भवेत् । न चैवमस्ति ; कुत्रचिद् वैराग्ये संभवत्यपि सर्वकर्म-तत्फलभ्यो वैराग्यासम्भवात् । क्षयिष्णुत्वदोषदर्शनाद्धि तत्र वैराग्यमभिहितम् । नच सर्वकर्मफलेषु तद्दर्शनं संभवति ; चातुर्मास्यसोमादिफलेषु तदसंभवात्, श्रुतिविरोधात् । तथाच श्रुतिः—“अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति” “अपाम सोमममृता अभूमे” “हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते”

## भाष्यभावप्रकाशिका

तथाऽपि तस्यैव हेत्वन्तरेणापवादशङ्कायां तन्निराकरणेन हेतुत्वं पुनरथशब्दोक्तहेत्वभिधायिनातःशब्देन स्थाप्यते ॥

## प्रदीपः

कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवांमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इति सोपपत्तिकेन प्रबलेन वचनान्तरेण कर्मफलानित्यत्वावगमाद्, “अक्षय्यादि”वाक्यं बहुकालस्थायित्वाभिप्रायमेव, न नित्यत्वाभिप्रायमिति सूच्यते । तथाचातःशब्देन “तस्यैव कर्मचितो लोकः”



## पञ्चपादिका

विषयभोगाद् न नियमेन विरागो विवेकिनामपि । नापि कूटस्थनित्यवस्त्ववष्टम्भेन मुमुक्षुत्वम् । ततश्च न शम-दमादिपरिग्रहः, यतो न तादात्म्यं भोक्तुः सम्भाव्यते । नापि तदवाप्तिः ; दुःखाभावेऽपि

## पञ्चपादिकाविवरणम्

किमायातमिति ? तत्राह—\*अतो विषयभोगान्न नियमेन विराग इति\* ॥ ततो न ब्रह्मणि प्रवर्तत इत्यर्थः । विरज्यन् वा चातुर्मास्यादिव्यतिरिक्तविषयाद् विरक्तस्तत्रैव प्रवर्तत इति । मा भूद् ब्रह्मण्येव प्रवृत्तिनियमः ; तत्रापि ब्रह्मण्यपि विकल्पेन प्रवृत्तिः स्यादिति, नेत्याह—\*नापि कूटस्थनित्यवस्त्ववष्टम्भेनेति\* ॥ \*ननु\* विरुद्धपदार्थतादात्म्याभावेऽपि संयोगलक्षणा ब्रह्मप्राप्तिः स्यादिति, नेत्याह—\*न तदवाप्तिरिति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मानन्दोपभोगो विद्यते, \*ननु\* ; स्वाश्रयसुखोपलब्धेरुपभोगत्वात्, नच ब्रह्मधर्मस्य सुखस्य जीवाश्रयतयोपलब्धिः संभवति । \*ननु\* सुखापरोक्ष्यमात्रमुपभोगः, न स्वाश्रयसुखापरोक्ष्यम् ; विशेषणयोगात्, तथाऽपि भेदेनावस्थाने जीव-ब्रह्मणोर्लोके पुरुषान्तरसुखस्य पुरुषान्तरं प्रत्यापरोक्ष्यादर्शनान्नोपभोगः । \*ननु\* आत्मैव सुखसंवित्स्वभावः, तद्रूपावस्थानं च मोक्ष इति, \*ननु\* ; योग्यानुपलब्धिविरोधात् । नच देवाद्यानन्दपरित्यागेन निरानन्दात्मनाऽवस्थानं मोक्षं कश्चित् प्रार्थयते । तस्मान्न साधनचतुष्टयसंपन्नस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तिः, किन्तु कर्मफल

## ऋजुविवरणम्

नियमेन विरागो नास्तीति परिहारो व्यधिकरण इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*ततो न ब्रह्मणीति\* ॥ विषयविरागो हि ब्रह्मणि प्रवृत्तिहेतुः ; तदभावादिति ॥ कथं वैराग्याभावः ? दोषदर्शनस्य वैराग्यहेतौ विद्यमानत्वात्, अतो वैराग्यमुपपद्यत एवेत्याशङ्क्याह—\*विरज्यन् वेति\* ॥ “नापि तदवाप्तिरिति” ग्रन्थे सुखभोगाभावाद् ब्रह्मप्राप्तेरपुरुषार्थत्वमित्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु ब्रह्मानन्दोपभोग इति\* ॥ \*ननु\*—ब्रह्मानन्दस्य जीवाश्रयत्वेनोपलब्धिरस्तु, इत्याशङ्क्याह—\*नच ब्रह्मधर्मस्येति\* ॥ \*विशेषणयोगादिति\* ॥ अयमर्थः—विशेषणम्—व्यवच्छेदकं सत्यामतिप्रसङ्गाशङ्कायाम्, अत्र तु सुखापरोक्ष्ये विद्यमानेऽपि स्वाश्रयविशेषणाभावेनापुरुषार्थत्वोपलब्धौ स्वाश्रयत्वविशेषणमुपादीयते, न तथा सुखापरोक्ष्यमपुरुषार्थत्वेऽपि दृष्टम्, अतो न विशेषणमिति । \*योग्यानुपलब्धीति\* ॥ सुखसंविद्रूपत्वमात्मनो न संभवति ; योग्यानुपलब्ध्या तदभावनिश्चयादिति भावः । “हेतुत्वप्रदर्शनार्थोऽतःशब्दः”

## तत्त्वदीपनम्

अपेक्षितं पूरयति—\*तत इति\* ॥ वैषयिकसुखेऽवद्यदर्शनात् ततो विरागो युक्त इत्याशङ्क्याह—\*विरज्यन् वेति\* ॥ चातुर्मास्यवदेव ब्रह्मज्ञानस्यापि नित्यफलत्वात् कदाचित् तत्साधने प्रवृत्तिर्युक्तेति शङ्कते—\*मा भूदिति\* ॥ प्रत्यग्ब्रह्मक्यस्यासंभावितत्वाच्च तदर्थिनां श्रवणादौ प्रवृत्तिरित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ न ब्रह्मैक्यं फलम्, किं तु तत्संयोग इति शङ्कते—\*ननु विरुद्धेति\* ॥ विमुक्तौ स्रक्चन्दनादिष्वोपायाभावाच्च तस्याः पुरुषार्थत्वमिति दूषयति—\*नेत्याहेति\* ॥ मुक्तौ वैषयिकसुखाभावेऽपि नित्यसुखसंभवात्पुमर्थत्वं युक्तमिति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ सुखस्य नित्यत्वमङ्गीकृत्य तस्य पुमर्थत्वं दूषयति—\*न स्वाश्रयेति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*नचेति\* ॥ प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदाद् ब्रह्मसुखस्य जीवाश्रयत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । सुखापरोक्ष्ये स्वाश्रयसुखापरोक्ष्याभावेनापुमर्थत्वाददर्शनान्न तस्य प्रयोजकत्वमिति शङ्कते—\*ननु सुखेति\* ॥ \*विशेषणयोगादिति\* ॥ \*अयमर्थः\*—व्यवच्छेदकं विशेषणं भवति, व्यवच्छेदकत्वं चातिप्रसक्तशङ्कायाम्, नच प्रकृते सा समस्तीति न विशेषणं संभवतीति । तत्र वक्तव्यम्—किं ब्रह्मसुखापरोक्ष्यं भोगः ? उत स्वरूपसुखापरोक्ष्यम् ? नाद्य इत्याह—\*तथापीति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*नन्वात्मेति\* ॥ आत्मा, सुखस्वरूपः, परमप्रेमास्पदत्वात्, व्यतिरेकेण दुःखवदित्यनुमानात् सुखस्वरूपत्वसिद्धिरित्यर्थः । अनुपलब्धिविरोधान्नैतदित्याह—\*न योग्येति\* ॥ मुक्तौ सुखभोगाभावेऽप्यात्यन्तिकदुःखोच्छित्तेः संभवात् पुमर्थत्वमिति, तत्राह—\*नचेति\* ॥ वैषयिकसुखे दुःखसंभिन्नत्वात् कथं तत्र प्रवृत्तिरिति शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ सकलसुखरहितावस्थाप्राप्तेर्वरं दुःखसंभिन्नस्यापि सुखस्य प्राप्तिः, तथा लोके दर्शनादित्यर्थः । अतःशब्दस्य हेतौ प्रसिद्धत्वात् “कथमिति” प्रश्नानवसर-



## पञ्चपादिका

सुखभोगाभावान्नानवद्यः पुरुषार्थः । अतोऽजीर्णभयाद्वाहारपरित्यागः, मिश्रभयान्न स्याद्या अनधि-  
श्रयणं दोषेषु प्रतिविधातव्यमिति न्यायः । अतो न तस्य ब्रह्मजिज्ञासायां हेतुत्वमित्यतस्तस्य हेतुत्व-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

इत्युपसंहरति—\*अतोऽजीर्णभयादित्यादिना\* ॥ तत्रोक्ताशङ्कानिराकरणहेतुवचनं भाष्यमवतारयितुमतःशब्देन  
साधनचतुष्टयस्य हेतुत्वाभिधायिना कथमाशङ्कानिराकरणहेतुभूतं प्रमाणं सूचितमिति पृच्छति—\*कथमिति\* ॥

तदाह—\*यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनामिति\* ॥ ब्रह्मव्यतिरिक्तपुरुषार्थजातस्यानित्यतां दर्शयतीत्यर्थः ।

## अनुविचरणम्

इत्युक्त्वा “कथमि”त्युक्तत्वात् कथं हेतुत्वप्रदर्शनमनेन क्रियते इत्युक्तमिव प्रतिभाति ? तत्र किं साधनचतुष्टयस्य कथं  
हेतुत्वमित्याक्षेपः क्रियते ? किं वातःशब्दस्य कथं हेत्वर्थतेति ? प्रथमपक्षे पौनरुक्त्यम् ; पूर्वमेवाक्षेपस्य कृतत्वात्,  
न चाक्षेपान्तरम् ; पूर्वस्य परिहाराभावेन तस्यानवसरात्, आक्षेपान्तरबीजाभावाच्च । नापि तत्रैव प्रश्नः ; आक्षेप-  
परिहारेण परिहारात्, उत्तरादर्शनाच्च । नापि द्वितीयः कल्पः ; हेत्वर्थतायाः प्रसिद्धत्वात्, उत्तराभावाच्च ।  
अतः पूर्वशङ्कापरिहारावसरे तामपरिहृत्य तद्भाष्यं चाव्याख्याय “कथमि”ति न युक्तं वक्तुमित्याशङ्क्याह—  
\*तत्रोक्ताशङ्केति\* ॥ \*ननु\*—अग्निहोत्रादीनामनित्यफलत्वमात्रेण न ब्रह्मणि प्रवृत्तिः ; पुरुषार्थान्तरे प्रवृत्तिसंभवात्,  
अतोऽग्निहोत्राद्यनित्यफलत्वे यदुदाहृतं प्रमाणम्, तेन साधनचतुष्टयस्य हेतुत्वप्रदर्शनाभावाद् अनुदाहरणीयमेतदित्या-  
शङ्क्य व्याचष्टे—\*ब्रह्मव्यतिरिक्तेति\* ॥ “ननु पुण्यस्ये”ति चोद्यं न नोदेति ; श्रुतिविरोधे नित्यत्वग्राहकत्वायोगात्,

## तत्त्वदीपनम्

माशङ्क्य, अभिप्रायं दर्शयति—\*तत्रोक्तेति\* ॥ अग्निहोत्रादीनामनित्यफलत्वे ब्रह्मणोऽपि तत्फलत्वादनित्यत्वमित्या-  
शङ्क्याह—\*ब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्मणः कर्मफलत्वमसिद्धम् ; कर्मणां विविदिषाफलत्वादित्यभिसन्धिः । “अक्षय्यं ह वै”

## वार्तिकम्

इत्यादिः । नचासामर्थवादत्वम् ; अर्थवादत्वेऽपि देवताधिकरणन्यायेन भूतार्थवादत्वात् ; अन्यथा स्वर्ग-देवतादि-  
सिद्धिरपि दुर्लभा स्यात् । तस्माद् न सर्वत्र कर्म-तत्फलेषु वैराग्यम्, तदभावाच्च न तत्फलं शम-दमादिसंपत्,  
मुमुक्षुत्वं च । नापि तत्साधनं विवेकः ; तस्य कार्योन्नेयत्वात् । तस्माद् वन्ध्यापुत्रवद् विवेकादिचतुष्टय-  
मेव नास्ति, दूरत एव तन्नतेव तस्य ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वम्, यदानन्तर्याभिधायिनाऽथशब्देन वक्तव्यम्—इति ।  
तामिमामाशङ्कं सूत्रकारोऽथशब्दोपात्तं हेतुत्वमतःशब्देन परामृशन् निराकरोति । तदेतदाशङ्कानिराकर-

## भाष्यभावप्रकाशिका

तथाहि—नित्यानित्यवस्तुविवेको न सम्भवति ; कृतकत्व-परिच्छिन्नत्वादीनामनित्यत्वसाधकतया  
विवक्षितानां पाकजरूप-परमाण्वादिष्वनैकान्तिकत्वेनानित्यत्वानुमापनायोगात्, “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-  
याजिनः सुकृतं भवति” इत्यादिश्रुतिविरोधेन कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । अत एवेहामुत्रार्थभोग-  
विरागानुपपत्तेः शम-दमाद्यसंभवाद् मोक्षे चार्थितानुपपत्तिरित्याशङ्कायां तन्निराकरणेन साधनचतुष्टयमुप-  
पाद्य तस्य हेतुत्वं प्रतिपादयत्यतःशब्दः ; ततो न पौनरुक्त्यमिति भावः । कथं तर्हि तन्निरा-

## प्रदीपः

वाक्योपस्थापनद्वारेणाथशब्दोपात्तानां श्रवणादिविधिप्रकरणगततत्तद्वाक्यावगतत्वं बोध्यत इति तत्प्रकरणगतवाक्यपरामर्शेन  
प्रकरणान्तरगताक्षय्यादिवाक्यदौर्बल्यं सूच्यत इति भावः । इममेवाशयं स्पष्टं विवेचयति भाष्यकारः—\*यस्मादित्यादिना\* ॥  
\*यस्मात्\*—“तद्यथेह कर्मन्वितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यन्वितो लोकः क्षीयते” इत्यादिवेदोऽग्निहोत्रादिकर्मणामनित्यफलतां



## यस्माद् वेद एवाग्निहोत्रादीनां(१) श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—

भामती

एवं प्राप्त आह भगवान् सूत्रकारः—\*अत इति\* ॥ तस्यार्थं व्याचष्टे भाष्यकारः—\*यस्माद्वेद एवेति\* ॥

अयमभिसन्धिः—सत्यं मृगभिक्षुकादयः शक्याः परिहर्तुं पाचक-कृषीवलादिभिः, दुःखं त्वनेक-विधानेककारणसंपातजं न शक्यपरिहारम्; अन्ततः साधनपारतन्त्र्य-क्षयितालक्षणयोर्दुःखयोः समस्तकृतक-सुखाविनाभावनियमात् । नहि मधुविषसंपृक्तमन्नं विषं परित्यज्य समधु शक्यं शिल्पिवरेणापि भोक्तुम् ।

ऋजुप्रकाशिका

\*एवं प्राप्त इति\* ॥ यत्तूक्तम्—मृगसत्त्वेऽपि तत्परिहारेण यथा शाल्यधिवापः ; यथा वा भिक्षुकसत्त्वेऽपि तत्परिहारेण स्थाल्यधिश्रयणम् ; तद्वद् दुःखपरिहारेण सुखभोगः संभवति, इति न सुखादैहिकादामुष्मिकाद्वा वैराग्यमिति, तदादौ परिहरति—\*अयमभिसन्धिरित्यादिना\*—\*न शक्यपरिहारमित्यन्तेन\* ॥ अशक्य-परिहारत्वे हेतुमाह—\*अन्ततः साधनपारतन्त्र्येत्यादिना\* ॥ \*अविनाभावनियमादिति\* ॥ तथाच सुखाद् दुःखं पृथक्कृत्य परिहर्तुमशक्यमिति भावः । सुखे भोक्तव्ये दुःखस्य परिहर्तुमशक्यत्वे निदर्शनमाह—\*नहि-मधुविषसंपृक्तमित्यादिना\* ॥ यत्तूक्तम्—स्वर्गादिफलं सुखम्, विनाशि, कृतकत्वात्; घटादिवत्, इत्यनुमानम्—“अयम सोमममृता अभूम्” “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति” इत्यादिश्रुत्या बाधितमिति, तदपि दूषयति—\*क्षयितानुमानेति\* ॥ तथाच “तद्यथेह”त्यादि श्रुतिवचनं बलवदिति भावः । तर्हि

पञ्चपादिका

प्रदर्शनार्थोऽतःशब्दः । कथम् ? \*यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* “तद्यथेह कर्मचितो लोकः” इति सामान्यश्रुतिश्चातुर्मास्यादिविशेषादन्यत्नैव वर्ततामिति चोदयति—

ऋजुविवरणम्

ग्राहकत्वे श्रुतिद्वयविरोधात् सन्देहः, सन्देहे च तत्र प्रवृत्त्यभावाद् ब्रह्मण्येव प्रवृत्तिसंभवादित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु तद्यथेहेति\* ॥ “न तस्ये”त्यनेनानुमानविरोधाद् नित्वत्वप्रतिपादकत्वं नास्तीत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; अर्थादस्याप्यती-

तत्त्वदीपनम्

इत्यादिवाक्यात् कर्मफलस्य नित्यत्ववत् “तद्यथे”ति वाक्यादनित्यत्वस्यापि प्रतिपत्तेर्न नित्यपुरुषार्थकामिनः कर्मफले प्रवृत्तिरिति चोद्यस्याभासत्वमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु तद्यथेति\* ॥ “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” “अग्नीषोमीयं पशुमालभेते”त्यनयोः सामान्य-विशेषविषयतया व्यवस्थितिबद् अत्रापि व्यवस्थोपपत्तेः कर्मफले प्रवृत्तिरुचितेत्यर्थः ॥ नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यस्यार्थादस्यानुमानविरोधान्न स्वार्थप्रतिपादकत्वम्, ततश्च न सामान्यादिविषयत्व-

वार्तिकम्

णार्थत्वमतःशब्दस्य हेत्वर्थत्वं व्याकुर्वन्नेव भगवान् भाष्यकारो दर्शयति—\*यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयतीति\* ॥ आदिशब्देन दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-सोम-हिरण्यदानादीनां

भाष्यभावप्रकाशिका

करणम् ? इति शङ्कायामतःशब्दस्य हेतुरूपमर्थमाह—\*यस्माद्वेद एवेति\* ॥ यद्यपि पुण्यस्याक्षय्य-फलत्वमपि श्रुतम् ; तथाऽपि वस्तुबलप्रवृत्तानुमानविरोधेऽन्यपरस्य वाक्यस्य तत्र प्रामाण्यायोगात्, पर-माण्वादीनां च नित्यत्वासंप्रतिपत्तेः, कृतकत्वादिहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वव्यभिचारित्वयोरभावान्नित्यानित्य-

(१) “अग्निहोत्रादीनां कर्मणामनित्यफलवत्तां दर्शयति” इत्युज्जुप्रकाशिकाभिमतः पाठः ।



“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इत्यादिः,

भामती

क्षयितानुमानोपोद्धलितं च “तद्यथेह कर्मचितः” इत्यादि वचनं क्षयिताप्रतिपादकम्—“अपाम सोमम्” इत्यादिकं वचनं मुख्यासंभवे जघन्यवृत्तितामापादयति । यथाहुः पौराणिकाः—“आभूतसंप्लवं स्थान-

ऋजुप्रकाशिका

अक्षय्यत्वप्रतिपादकवचनस्य का गतिः? इत्याशङ्क्य, “तद्यथेह” इत्यादिवलवच्छ्रुतिविरोधात् तद्वचनमुपचरितार्थमित्यभिप्रेत्याह—\*अपामेति\* ॥ तत्र पौराणिकसम्प्रतिमाह—\*यथाहुरिति\* ॥ \*संप्लवः = विनाशः । \*आभूतसंप्लवम् = भूतसंप्लवपर्यन्तमित्यर्थः । तथाच चिरकालावस्थायित्वपरमक्षय्यत्ववचनमिति भावः । \*ननु\* भाष्ये—“अतःशब्दो हेत्वर्थः” इत्यनन्तरम्—यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां श्रेयःसाधनानामनित्यफलवत्तां दर्शयति—“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इत्यादिः, तथा—ब्रह्मज्ञाना-

पञ्चपादिका

“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इत्यादिना\* ॥ \*ननु\*

ऋजुविवरणम्

निद्रयेऽर्थेऽनुमानाविषये विरोधाभावेन नित्यत्वसाधकत्वसंभवात्, भिन्नविषयत्वाच्च न विरोधेनासामर्थ्यप्रतिपादनं तत्त्वदीपनम्

मित्युक्तम्—“न तस्येत्यत्र” तदनुपपन्नम् ; वेदवचनविरोधेऽनुमानस्याभासत्वात्, अविद्यमानार्थवादत्वं चासिद्धमित्या-

वार्तिकम्

श्रौत-स्मार्तानां सर्वकर्मणां ग्रहणम् । वेदमैव दर्शयति—\*“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इत्यादिरिति । \*तत्=तस्मात् । इह=विद्यमानमनुष्यादिजन्मनि । कर्मचितः=कर्मसाध्यः । लोक्षयते बुध्यत इति लोकः शब्दादिविषयः, तत्साध्यं च सुखम् । अमुत्र भाविस्वर्गीयादिजन्मनोत्यर्थः । आदिशब्देन “नास्त्यकृतः कृतेन” “प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म” इत्यादेर्ग्रहणम् । यस्मादेते, प्लवाः विनश्वराः, तस्मात्, अदृढाः=अल्पकालस्थायिनः । के ते? येषु अवरम्=निकृष्टं यज्ञाख्यं कर्म, निकृष्टफलत्वात् । केषु? ये यज्ञरूपाः ; रूप्यते साध्यत एभिर्यज्ञ इति यज्ञरूपाः । \*अष्टादशसंख्यकाः=षोडशर्त्विजः, यजमानः पत्नी च । विनश्वराश्रितत्वेन कर्मणो नाशित्वात्, तत्फलमपि सुतरां विनाशीति श्रुतेराशयः । \*ननु\* कर्मफलस्य क्षयित्वेन निन्द्यत्वेऽपि ततोऽधिकपुरुषार्थभावात्

भाष्यभावप्रकाशिका

वस्तुविवेकोपपत्तेः, अत एवेतरसाधनानामपि संभवाद् हेतुत्वमुपपन्नमिति भावः ॥ मुमुक्षुत्वस्योप-

प्रदीपः

दर्शयति ; तथा “ब्रह्मविदामोति परमि”त्यादिवेदो ब्रह्मज्ञानात् परं पुरुषार्थं दर्शयति, \*तस्मात्=यथोक्तसाधनचतुष्टयसम्पत्ति-संभवस्य वेदबोधितत्वाद् यथोक्तसाधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरमित्यथशब्दविवरणम् । अनेन च स्पष्टमवगम्यते—यत् नित्या-नित्यवस्तुविवेकसंभवप्रतिपादनार्थमेवातःशब्द इति । अत्राक्षय्यादिवाक्यापेक्षया “तद्यथेह”तिवाक्यस्य प्राबल्ये “ब्रह्मविदामोति



## भामती

ममृतत्वं हि भाष्यते” इति । अत्र च ब्रह्मपदेन तत्प्रमाणं वेद उपस्थापितः । स च योग्यत्वात् “तद्यथेह कर्मचितः”—इत्यादिः—“अतः” इति सर्वनाम्ना परामृश्य हेतुपञ्चम्या निर्दिश्यते ।

## ऋजुप्रकाशिका

दपि परमपुरुषार्थं दर्शयति—“ब्रह्मविदामोति परमि”त्यादिरित्युक्तम्, तत् कथम् ? सूत्रे तच्छ्रुत्युपस्थापक-प्रमाणाभावादिति शङ्कमानं प्रति “तुष्यतु” इति न्यायेनाह—\*अत्र चेति\* ॥ \*तत्प्रमाणम् = परमतात्पर्येण ब्रह्मणि प्रमाणम् । वेदस्यापि ब्रह्मशब्दार्थत्वादिति भावः । \*उपस्थापित इति\* ॥ कश्च वेद उपस्थापितः ? इति वीक्षायामाह—\*सच योग्यत्वात् “तद्यथेह कर्मचितः” इत्यादिरिति—योग्यत्वादित्यन्तेन\* । इतरेषामपि वेदान्तानामत्र किमिति नोपस्थापनम् ? इति शङ्का व्यावर्तिता, प्रकृतयोग्यस्यैवोपस्थापनात् । आदिशब्देन “ब्रह्मविदामोति परम्” इत्यादिः संगृह्यते । स उभयविधोऽपि वेदः—“अतः” इति सर्वनाम्ना परामृश्य हेतुत्वेन पञ्चम्या निर्दिश्यत इत्याह—\*अत इतीति\* ॥

## पञ्चपादिका

पुण्यस्याप्यक्षय्यफलत्वं वेद एवाहेत्युक्तम्, \*न\* ; तस्य वस्तुबलप्रवृत्तानुमानविरोधेऽर्थवादस्य नित्यत्वप्रतिपादनासामर्थ्यात्, परमाणूनां पाकजस्य च तद्गुणस्य नित्यत्वात् । अतो भवत्यनित्यत्वदर्शनं विषयभोगानां सुमुक्षुत्वे हेतुः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु पुण्यस्येति\* ॥ तत्र तावच्चातुर्मास्यश्रुतिः सुकृतस्याक्षय्यत्वमाह, न तत्फलस्य ; सत्यपि सुकृते फलस्यानुपभोगवत् क्षयोपपत्तेः । तत्र वाक्यस्य श्रुतार्थं परित्यज्य फलाक्षयविषयत्वकल्पना प्रमाणविरुद्धेत्याह—\*न तस्य वस्तुबलप्रवृत्तेति\* ॥ व्याप्तिबलप्रवृत्तेत्यर्थः । अनुमानानुगृहीतश्रुतिविरोध इति योजयितव्यम् । “हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते” इति श्रुतिर्वर्तमानापदेशाद् योग्यानुपलब्धिविरुद्धा भवति । भजिष्यन्त इति

## ऋजुविवरणम्

समञ्जसमित्याशङ्क्यैकविषयत्वं दर्शयितुं प्रकारान्तरं निराकरोति—\*तत्र तावच्चातुर्मास्येति\* ॥ फलनित्यत्वाभावे ब्रह्मण्येव प्रवृत्तिर्भवेदिति भावः ॥ \*ननु\*—फलसाधनसुकृतनित्यत्वे तत्कार्यस्य कथं नित्यत्वाभावः ? साधने विद्यमाने सति तत्कार्यस्यानित्यत्वायोगादित्याशङ्क्याह—\*सत्यपि सुकृत इति\* ॥ तर्ह्येकविषयत्वसिद्ध्यर्थं फलाक्षयविषयत्वं कल्पयत इत्याशङ्क्य, तन्निराकरणपरत्वेनावतारयति—\*तत्र वाक्यस्येति\* ॥ “वस्तुबले”त्ययुक्तम् ; अतीन्द्रियाथैऽनुमानप्रवर्तकस्य वस्तुबलस्यैवाभावात्, नाप्यनुमानं वस्तुबलसापेक्षम् ; त्रैरूप्यमात्रापेक्षत्वात्, किञ्च तद् वस्तुबलमिति न ज्ञायते, तदर्थं व्याचष्टे—\*व्याप्तिबलेति\* ॥ \*ननु\*—अनुमानात् श्रुतिर्बलीयसी, तेन कथमनुमानविरोधेना-

## तत्त्वदीपनम्

शङ्क्य, वेदवचनस्यापि संदिग्धार्थत्वान्न बाधकत्वमित्याह—\*तत्र तावदिति\* ॥ \*तत्रेति\* ॥ “अक्षय्यम्” “हिरण्यदाः” “अपाम सोमम्” “स यः” इत्यादिवाक्यानां मध्य इत्यर्थः । किं सुकृतशब्दः कर्मपरः ? उत फलपरः ? तत्राद्येन फलनित्यत्वसिद्धिरित्याशयेनोक्तम्—\*सुकृतस्याक्षय्यत्वमाहेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*न तत्फलस्येति\* ॥ सुकृतशब्दस्य कर्मणि रूढत्वादित्यर्थः । सुकृतस्याक्षय्यत्वमनुपपद्यमानं फलनित्यत्वं कल्पयतीत्याशङ्क्याह—\*सत्यपीति\* ॥ “कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिव तिष्ठती”ति न्यायात् सत्यपि कर्मणि फलानुपभोगवत् तद्विनाशः किं न स्यादित्यर्थः । कर्मणां फलविनाशत्वात् फलोपभोगेऽपि सुकृतस्यावस्थानकल्पनमनुपपन्नम्, ततश्च फलमपि नित्यं कल्पयत इत्याशङ्क्याह—\*तत्र वाक्यस्येति\* ॥ “वस्तुबलप्रवृत्ते”त्यत्र किं तद् वस्तुबलमिति न ज्ञायते ? तत्राह—\*व्याप्तीति\* ॥ किञ्च नित्यत्वानित्यत्वप्रतिपादकयोः श्रुत्योरनित्यत्वप्रतिपादिकाया अनुमानानुगृहीतत्वात् प्राबल्यमित्याशयेनाह—\*अनुमानेति\* ॥ “हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते” इत्यस्माद् वाक्यादमृतत्वं कर्मसाध्यं प्रतीयत इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं यथाश्रुति श्रुत्यर्थः ? उतान्यथेति ? तत्राद्यस्तावदसमञ्जस इत्याह—\*हिरण्यदा इति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कल्पना पूर्ववत्प्रमाणविरुद्धा, अनुमानानुगृहीतदेवसर्ग-प्रलयश्रुतिविरुद्धा । “अपाम सोममि”ति श्रुतिः, “स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते” इति श्रुतिर्न फलस्य नित्यतां दर्शयति, वाक्यस्य फल-विषयत्वकल्पना तु पूर्ववत् प्रमाणविरुद्धा ; अविरोधापेक्षत्वात् कल्पनायाः । \*किञ्च\* “यदि ह वा अप्यनेव-विद् महत्पुण्यं कर्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयते” इत्युपक्रम्य “स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते” इति वचनादात्मोपासनाकर्मण एवापरोक्षानुभवद्वारेणाक्षयाविद्यानिवृत्तिफलत्वात्—“न कर्म क्षीयते” इत्युपासनाकर्मप्रशंसामात्रमेतदुपादीयते । अनेवविदः कर्मक्षयस्य श्रवणादेवविदाऽनुष्ठितस्याग्निहोत्रादेरेव मोक्षफल-

## अमृतविवरणम्

सामर्थ्यमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अनुमानानुगृहीतेति\* ॥ अथवा—“अनुमानविरोध” इति न युक्तम् ; श्रुति-विरोधस्योद्भावितत्वात् ; नचायं श्रुतिविरोध एवात्र विवक्षितः ; सामान्यविषयत्वेन दौर्बल्यादित्याशङ्क्याह—\*अनुमानानुगृहीतेति\* ॥ \*ननु\*—फलविषयत्वकल्पनायां श्रुतिविरोधो भवेत्, नतु तत् कल्प्यते ; “अमृतत्वं भजन्ते” इति श्रुतत्वादित्याशङ्क्याह—\*हिरण्यदा अमृतत्वमिति\* ॥ भजिष्यन्त इति कल्प्यत इति चेत्, तत्राह—भजिष्यन्त इति\* ॥ \*ननु\*—“अपाम सोमममृता अभूमे”त्यमृतत्वं श्रूयते, नच योग्यानुपलब्धिविरोधः ; योग्यत्वाभावादेवेत्याशङ्क्याह—\*अनुमानानुगृहीतेति\* ॥ \*ननु\*—श्रुतार्थपरत्वानुपपत्तिरर्थान्तरपरत्वकल्पनाहेतुः, अस्ति चानुपपत्तिरत्र ; अतः कथं विरोधेनार्थान्तरपरत्वकल्पनानिषेधः ? इत्याशङ्क्याह—\*अविरोधापेक्षत्वादिति\* ॥ \*ननु\*—विरोधेऽप्यर्थान्तरपरत्वकल्पनं युक्तमेव ; स्वार्थपरत्वासंभवात्, अध्ययनविध्युपात्तस्य निष्प्रयोजनत्वात्, फलाश्रयत्वव्यतिरेकेण विषयान्तराभावाच्च सिद्धमक्षय्यफलत्वं कर्मणाम्, केवलकर्मविषयप्रतिषेधप्रक्रमश्च फलविषय इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च यदि ह वा अप्यनेवमिति\* ॥ \*ननु\*—उपासनाकर्मणोऽपि नित्यफलत्वं नास्ति, कथं तत्परत्वमित्याशङ्क्याह—\*अनुभवद्वारेणेति\* ॥ एतदुक्तं भवति—उपासनाकर्मणः सन्निहितत्वात् तदेव कर्मशब्देन निर्विष्टमिति । \*अनेवविद इति\* ॥ समभिव्याहारादुपासनाविषयत्वं प्रतीयते, लिङ्गादग्निहोत्रादिविषयत्वम्, लिङ्गञ्च वाक्याद् बलवदित्यभिप्रायः । \*ननु\*—श्रुतं न ब्रह्मात्मभावं बोधयति ; अन्यस्यान्यात्मभावस्य लोकदृष्टविरुद्धत्वेन तत्परत्वा-

## तत्त्वदीपनम्

\*भजिष्यन्त इति\* ॥ “अपाम सोमममृता अभूमे”त्यत्रामृतत्वं कर्मसाध्यं श्रूयत इत्याशङ्क्य, किम्—अमृतभावो देवभावः ? उत ब्रह्मभावः ? नाद्य इत्याह—\*अनुमानेति\* ॥ नापि द्वितीयः ; “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती”ति ब्रह्मभावस्य स्वतःसिद्धत्वप्रतिपत्तेरिति द्रष्टव्यम् ॥

“न हास्य कर्म क्षीयते” इत्यत्रापि कर्मशब्दः किं पुण्यपरः ? उत फलपरः ? इति विकल्प्यान्त्यं प्रत्याह—\*स यं इति\* ॥ कर्मशब्दस्य फलेऽप्रसिद्धेरित्यर्थः । तथाऽपि तत्परत्वं कल्प्यत इत्याशङ्क्याह—\*वाक्यस्येति\* ॥ विरोधेऽपि कल्पनं किं न स्यादिति ? तत्राह—\*अविरोधेति\* ॥ आद्ये न फलनित्यत्वसिद्धिरिति द्रष्टव्यम् । उपासनास्तुति-परत्वादपि “न हास्ये”त्यादेर्न कर्मफलनित्यत्वप्रतिपादकत्वमित्याह—\*किंचेति\* ॥ \*अनेवविदिति\* ॥ ब्रह्म आत्मत्वेन यो न वेत्ति असावनेवविद । \*महदिति\* ॥ अश्वमेधादिकं कर्म । \*अन्तत इति\* ॥ फलोपभोगानन्तरमित्यर्थः । \*तत्रैषाऽक्षरयोजना\*—“न कर्म क्षीयते” इत्येतदुपासनाकर्मप्रशंसामात्रमुपादीयत इति तावत् संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*यदि ह वेत्ति\* ॥ ज्योतिष्टोमादेरुपासनाया अविशेषाद् “न कर्म क्षीयते” इति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य, अस्ति फलतो विशेष इत्याह—\*आत्मोपासनेति\* ॥ उपासनातः प्रत्यगेकाग्रचित्तस्योपदिष्टतत्त्वमस्यादिवाक्यात् साक्षात्कारजननादविद्यानिवृत्तेर्जननमित्यर्थः । फलत्वाद् ज्ञानफलमाक्षिपतीति शङ्कां निरस्यति—\*अक्षयेति\* ॥ प्रध्वंसत्वाद् न क्षयं इत्यर्थः । “न हास्य कर्म क्षीयते” इत्येतन्नोपासनास्तुतिपरम्, तद्वोधकशब्दस्याभावात्, ततश्चाग्निहोत्रादेर्ज्ञानसमुच्चितस्य फलनित्यताप्रतिपादकमेतत् स्यादिति शङ्कते—\*अनेवविद इति\* ॥ एवंविदाऽनुष्ठितस्याग्निहोत्रादेरेवाक्षयो विधीयत इति प्रथमं संबन्धः । \*ननु\* अत्रापि प्रामाण्याभावंस्तुल्य इत्यत्राह—\*अनेवविद इति\* ॥ ज्ञानाभावेऽश्वमेधादिकर्मक्षयं



तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति(१)—“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यादिः,

भामती

\*स्यादेतत्\*—यथा स्वर्गादेः कृतकस्य सुखस्य दुःखानुषङ्गः, तथा ब्रह्मणोऽपि, इत्यत आह—

\*तथा ब्रह्मविज्ञानादपीति\*॥ तेनायमर्थः—अतः स्वर्गादीनां क्षयिताप्रतिपादकात्, ब्रह्मज्ञानस्य च परम-

ऋजुप्रकाशिका

शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ तथाच विमतं ब्रह्मलक्षणं सुखम्, दुःखानुषङ्गि, सुखत्वात्, क्षयिता-  
लक्षणदुःखानुषङ्गिस्वर्गादिसुखवदिति । तथाच ब्रह्म न जिज्ञास्यमिति शङ्काभिप्रायः । “सत्यं ज्ञानमानन्दं  
ब्रह्म” इति श्रुत्या ब्रह्मरूपस्य सुखस्य नित्यत्वावगमाद् न क्षयिष्णुत्वादिलक्षणदुःखाक्रान्तता, इत्यभिप्रेत्याह—  
\*अत आहेति\* ॥ नित्यानन्दस्वरूपब्रह्मावातिलक्षणं परमपुरुषार्थं दर्शयतीति भाष्यार्थः । नच—  
नित्यानन्दस्य ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वाद् ब्रह्मज्ञानसाध्यत्वाभावेन कथं पुरुषार्थत्वमिति—वाच्यम् ; ब्रह्मज्ञानाद्  
ब्रह्मानन्दस्याप्राप्तत्वभ्रमनिवृत्तिसंभवेन तावतैव पुरुषार्थत्वादिति द्रष्टव्यम् । एवंच सति लब्धमाह—  
\*तेनेति\* ॥ अयमर्थ इत्युक्तम् । तमेव—“अतः” इति हेत्वर्थत्वेनाह—\*अतः स्वर्गादीनामित्यादिना—

पञ्चपादिका

यत्पुनर्मुमुक्षुत्वाभावे निमित्तमुक्तम्, तत्राह—\*तथा ब्रह्मज्ञाना(२)दपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—  
ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादि\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

तथाऽक्षयो विधीयत इति चेत्, \*न\* ; लिङ्गस्य “नान्यः पन्था विद्यते” “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि”त्यादि-  
निषेधश्रुतिविरोधात् । तस्माद् ब्रह्मव्यतिरिक्तपुरुषार्थेऽनित्यतया वैराग्यमुपपन्नमिति । \*ननु\* दोषस्य तुल्य-  
त्वान्न ब्रह्मण्यपि प्रवृत्तिकारणमेतदित्युक्तम्, तत्राह—\*यत्पुनर्मुमुक्षुत्वाभाव इति\* ॥ विरुद्धपदार्थतादात्म्यमनु-

तत्त्वदीपनम्

निर्दिश्य ज्ञाने कर्म न क्षीयत इत्युक्तेऽश्वमेधादेर्बुद्धिस्थत्वात् तस्यैव निर्देश इत्यर्थः । यद्यप्यश्वमेधादेर्बुद्धिस्थत्वम्,  
तथाऽपि मुक्तिफलतया तन्नित्यत्वप्रतिपादनमयुक्तम् ; श्रुत्यन्तरविरोधादित्याह—\*न लिङ्गस्येति\* ॥ कर्मफलनित्यत्वे  
प्रमाणाभावसमर्थनफलमाह—\*तस्मादिति\* ॥ नित्यपुरुषार्थकामिनः कर्मणीव श्रवणादावप्यप्रवृत्तिः ; ब्रह्मभावाद्य-  
संभवादिति यत्तुक्तम्, तदनुवदति—\*ननु दोषस्येति\* ॥ मुमुक्षुत्वमेतच्छब्दार्थः ॥

“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यत्र किं तत्संयोगः फलत्वेनोच्यते ? उताभेदः ? नाद्यः ; अनङ्गीकृतेः, अनुपयोगाच्चेति ।  
न द्वितीयः ; विरुद्धत्वाद् दहनतुहिनत्ववदित्याशङ्क्य, द्वितीयं कल्पमादायोत्तरयति—\*विरुद्धेति\* ॥ अबाधित-

वार्तिकम्

तत्रैवानुरागः स्यादिति, नेत्याह—\*तथा ब्रह्मविज्ञानादेव परमपुरुषार्थं श्रावयति ब्रह्मविदाप्नोति परम्”  
इत्यादिरिति\*॥ आदिशब्देन “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” “तरति शोकमात्मवित्” “तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,

भाष्यभावप्रकाशिका

पत्यन्तरमाह—\*तथा ब्रह्मविज्ञानादपीति\* ॥ परमपुरुषार्थमिति\* ॥ निरस्तसमस्तदुःखं निरतिशया-  
नन्दं नित्यमित्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ परिपूर्णो हेतुरवश्यं कार्यमुत्पादयतीति भावः ॥

प्रदीपः

परमि”ति वाक्यान्यथानुपपत्तिरपीति सूचनार्थम्—“तथा ब्रह्मविज्ञानादपी”त्यादिवाक्यशेषः ; अन्यथा समाने श्रुतित्वे कथं प्राबल्य-  
दौर्बल्यविवेकः ? इति शङ्का ह्यपरिहरणीया स्यादिति हृदयम् ॥

(१) “परमपुरुषार्थं श्रावयती”ति वार्तिकमिमतः पाठः । (२) ब्रह्मज्ञानादिति पाठान्तरम् ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

पपन्नम्, इत्यनुमानं “ब्रह्म वेदं ब्रह्मैव भवती” त्यादिश्रुतिविरुद्धम्; किन्तु विम्ब-प्रतिविम्बयोरिव तादात्म्यमुक्तम् । नच—सुखानुभवाभावादपुरुषार्थ इति—युक्तम्; ब्रह्मानन्दानुभवात् । \*ननु\* तादात्म्ये “अहं सुखमि”त्यनुभवः स्यात्, ‘नाहं सुखी’ति, ‘अहं सुखी’ति चानुभवो लोके पुरुषार्थ इति, \*नैष दोषः\* ; सुखापरोक्षमात्रस्य पुरुषार्थत्वात् । \*ननु\* स्वाश्रयं सुखमेव पुरुषार्थो न सुखापरोक्षमिति, \*न\* ; उपलब्धानामेव सुखसाधनानां पुरुषार्थत्वादिष्टत्वाविशेषात् सुखमप्युपलभ्यमानमेव पुरुषार्थ इति गम्यते । तत्र साधनपारतन्त्र्यानित्यत्वादिवद् विषयसुखस्यात्मनो भेदोऽप्यानुषङ्गिको नावभासतेऽहं सुखीति, न पुरुषार्थतया, इत्यतो ब्रह्मानन्दोऽप्यपरोक्षावभासः पुरुषार्थ इति । \*ननु\* नास्ति नित्यं सुखमिति नैयायिकादयः, \*सत्यम्\* ; नास्त्येव जन्यमपि सुखम् । \*ननु\* साधनोपादानाद् जन्यताऽवगम्यते, \*न\* ; सिद्धस्यैव सुखस्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्, अन्यथा सुखसन्तान-

## ऋजुविवरणम्

योगात्, अतो न श्रुतिविरुद्धताऽनुमानस्येत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*बिम्ब-प्रतिबिम्बयोरिवेति\* ॥ \*ननु\*—सुखानुभवाभावेनापुरुषार्थत्वमुक्तमित्याशङ्क्याह—\*नच सुखानुभवेति\* ॥ \*ननु\* तादात्म्य इति\* ॥ जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मज्ञानानन्दरूपत्वादिति भावः ॥ \*ननु\*—ब्रह्मानन्दानुभवो न पुरुषार्थः ; पुरुषार्थत्वप्रयोजकाभावात्, इति चोदयति—\*ननु स्वाश्रयमिति\* ॥ नोपलब्धानामेवेति\* ॥ अयं प्रयोगः—सुखं धर्मि, उपलभ्यमानमेव पुरुषार्थ इति साध्यो धर्मः, इष्टत्वाविशेषादिति हेतुः ; सुखसाधनवदिति निदर्शनम् । \*ननु\*—साधनत्वेनेष्टे तथा, सुखे तु न तथेत्याशङ्क्याह—\*उपलब्धानामेवेति\* ॥ अयमर्थः—उपलब्धत्वमेव पुरुषार्थत्वप्रयोजकम्, तथा दर्शनात्, ननु स्वाश्रयसुखत्वम् ; आपरोक्ष्ये विद्यमानेऽपि स्वाश्रयत्वाभावेन पुरुषार्थत्वाभावानुपलम्भान्न विशिष्टस्य प्रयोजकत्वमिति । \*ननु\*—केवलव्यतिरेकाभावेऽपि स्वाश्रयत्वस्यान्वयनियमादपि प्रयोजकत्वं कल्प्यते, इत्याशङ्क्याह—\*तत्र साधनेति\* ॥ स्थितिमात्रेण न कारणत्वम्, किन्त्वन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्, नचात्र व्यतिरेकोऽस्ति ; पुरुषान्तरसुखस्य स्वाश्रयत्वाभावादपुरुषार्थता ? किं वाऽऽपरोक्ष्याभावात् ? इति व्यतिरेकसन्देहादिति भावः । \*अथवा\*—कथं ब्रह्मानन्दानुभवमात्रस्य पुरुषार्थत्वं निश्चीयते ? लौकिकसुखस्य स्वाश्रयत्वेन भेदावभासो दृष्टः, तत्साम्येन ब्रह्मानन्देऽपि कल्प्यतामित्याशङ्क्याह—\*तत्र साधनपारतन्त्र्येति\* ॥ \*ननु\*—साधनानामुत्पादकत्वं विहायाभिव्यञ्जकत्वं कस्माद-

## तत्त्वदीपनम्

विषयत्वस्यानुमानसामर्थ्यन्तर्भावाद् अत्र च तदभावान्नानुमानोदय इत्यर्थः । योग्यतानुसारेण श्रुतिरर्थं बोधयति, प्रत्यग्-ब्रह्मणोश्च तादात्म्यानर्हत्वात् कथं तत्तादात्म्यं श्रुतिर्बोधयेत्, कुतस्तरां वा विरोधः ? इत्याशङ्क्य, विरोधांशपरित्यागेनैक्यबोधकत्वं युक्तमित्याह—\*किंत्विति\* ॥ तादात्म्यसंभवेऽपि न तस्य पुमर्थत्वम् ; सुखभोगाभावादित्युक्तमप्येवंदति—\*नचेति\* ॥ किं वैषयिकसुखस्याननुभवः ? उत ब्राह्मस्य ? तत्राद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं प्रत्याह—\*ब्रह्मेति\* ॥

स्वरूपसुखानुभवस्य पुरुषार्थत्वमाक्षिपति—\*ननु\* तादात्म्य इति\* ॥ आनन्दात्मब्रह्माभिन्नतया स्वस्याप्या-भन्दरूपत्वाद्दहं सुखमित्युपलम्भः स्यादित्यर्थः । व्यावर्त्यमंशमाह—\*नाहं सुखीति\* ॥ अस्तु को दोषः ? इत्य-ब्राह्—\*अहं सुखीति\* ॥ सुखापरोक्ष्यमात्रस्य पुरुषार्थत्वसंभवे सुखसंबन्धस्यापि पुरुषार्थत्वप्रयोजकत्वकल्पनायां गौरवाद् मैवमित्याह—\*नैष इति\* ॥ लाघवात् सुखापरोक्ष्यमात्रस्य पुरुषार्थत्वाश्रयणम्, तत् एव न परोक्षस्यापि पुमर्थत्वमिति शङ्कते—\*ननु स्वाश्रयमिति\* ॥ अनधिगतमन्दिरमध्यनिखातनिध्यादेः पुरुषार्थत्वाद्दृष्टेर्ज्ञानमानस्य पुरुषार्थत्वं वक्तव्यमित्याह—\*नोपलब्धानामिति\* ॥ सुखसंबन्धस्याप्यनुभूयमानत्वादेव पुरुषार्थत्वं वदन्तं प्रत्याह—\*तत्रेति\* ॥ अनुभवमात्रेण पुरुषार्थत्वे पारतन्त्र्यादेरपि पुरुषार्थत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । आगन्तुकसुखाभावेऽपि नित्यसुखानुभवान्मुक्तेः पुमर्थत्वमुक्तम्, तदाक्षिपति—\*नन्विति\* ॥ प्रमाणाभावादित्यर्थः । सुखस्यागन्तुकत्वे मानाभावाद् नित्यत्वं सेत्स्यतीत्याशयेनाह—\*सत्यमिति\* ॥ “नैयायिकादिभिर्मुक्तमित्येतत्सत्यमि”त्यत्राङ्गीकृतमिति दृष्टव्यम् । मानाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*ननु साधनेति\* ॥ नित्यत्वे साधनवैषम्याद् जन्यत्वमेष्टव्यमित्यर्थः ।



## तस्माद् यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या ।

### पञ्चपादिका

अत उपसंहरति—\*तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति\* ॥ यतः परिपूर्णो हेतुरनन्तरमवश्यं कार्यमारभते, अतः कर्तव्येत्यावश्यकतामाह भाष्यकारः । यतो द्वैतानुषङ्गादतितरामुद्विज-

### पञ्चपादिकाविवरणम्

जन्म-प्रतिभासयोग्यत्वयोः साधनाधीनताकल्पनागौरवात् साध्यान्तराशेषतया वाऽव्यभिचारित्वेन वा निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वेन वा सुख-दुःखावस्थयोरविशेषेण सुखरूप आत्मा प्रत्यक्षेणावभासते । यस्मादतःशब्देन शङ्कानिराकरणहेतुसूचनद्वारेण साधनकलापस्य हेतुत्वं समर्थितम्, तस्माद्यथोक्तसाधनेत्युपसंहारः । तत्वेच्छा-प्राधान्येन सूत्रवाक्यार्थो दर्शितः । साधनचतुष्टयस्यावश्यारम्भकत्वं व्यतिरेकमुखेन दर्शितम्, इदानीमन्वय-

### ऋजुविवरणम्

ङ्गीकृतम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्यथा सुखेति\* ॥ \*ननु\*—सिद्धे सुखस्वरूपास्तित्वे नित्यत्वे च साधनानामभिव्यञ्जकत्वं निश्चीयते, तदेव कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*साध्यान्तराशेषतयेति\* ॥ \*अथवा\*—सुखस्वरूपत्वमात्मनो नास्ति ; योग्यानुपलब्धिविरोधादिति यदुक्तम्, तत् परिहरति—\*साध्यान्तराशेषतयेति\* ॥ “तस्माद्यथोक्ते”त्युपसंहारो न युक्तः ; अतःशब्दस्य हेतुत्वसाधकत्वाभावात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*यस्मादिति\* ॥ \*ननु\*—साधनकलापस्यारम्भकत्वे विवक्षिते कर्तव्येति भाष्यविरोधः, तत्र विधिप्रतीतेरित्याशङ्क्य व्याख्या कृता टीकायाम्—“आवश्यकतामाहे”ति । “यतो द्वैतानुषङ्गादि”ति ग्रन्थः पुनरुक्तः ; पूर्वग्रन्थे “यावदस्य हिरण्यगर्भावासिपर्यन्तस्ये”त्यादिना साधनकलापस्य हेतुत्वप्रतिपादनात्, अत्रापि “यतः”इति हेतुत्वनिर्देशात्, अथ पूर्वग्रन्थवाक्यार्थप्रदर्शनम्,

### तत्त्वदीपनम्

साधनोपादानमन्यथापि घटत इत्याह—\*न सिद्धस्येति\* ॥ साधनस्याभिव्यञ्जकत्वं कस्मात् ? उत्पादकत्वमेव किं न स्यादिति ? अत्राह—\*अन्यथेति\* ॥ कल्पनागौरवपरिहाराय सुखसाधनस्याभिव्यञ्जकत्वमाश्रीयते चेत्, तर्हि दुःखसाधनस्यापि व्यञ्जकत्वमेव स्यादित्याशङ्क्य, दुःखनित्यत्वे मानाभावादितरत्र च तत्सद्भावाद् वैषम्यमित्याशयेनाह—\*साध्यान्तरेति\* ॥ आत्मा सुखरूपः प्रत्यक्षेणावभासत इति संबन्धः । सुखपरामर्शानुपपत्तिगम्य-सौप्तसुखानुभवः प्रत्यक्षशब्दार्थः । न केवलं प्रत्यक्षादात्मस्वरूपत्वम्, किं त्वनुमानादपीत्याह—\*निरुपाधिकेति\* ॥ आत्मा, सुखरूपः, निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वात्, व्यतिरेकेण दुःखवदित्यर्थः । निरुपाधिशब्दार्थमाह—\*साध्यान्तरेति\* ॥ \*साध्यान्तराशेषत्वम्\* ॥ अनन्यार्थत्वमित्यर्थः । तच्च विशेषणं सुखसाधनव्यावृत्त्यर्थम् । सुखरूपत्वे हेतुत्वन्तरमाह—\*अव्यभिचारितयेति\* ॥ तदुपपादयति—\*सुख-दुःखेति\* ॥ सुखावस्थायां च प्रेमास्पदतयाऽऽत्मनः सुखाव्यभिचारः । तथाच प्रयोगः—सुखम्, आत्मनो न भिद्यते, तदव्यभिचारित्वात्, यद् यदव्यभिचारि, तत् ततो न भिद्यते ; यथौष्ण्यमन्यव्यभिचारीत्यर्थः । तच्छब्दार्थमाह—\*यस्मादिति\* ॥ इच्छाया विषयसौन्दर्यलभ्यत्वाद् जिज्ञासा कर्तव्येति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ इच्छायाः प्राधान्यात् तामनतिक्रम्य विचारं च लक्षणयाऽऽदाय जिज्ञासा कर्तव्येत्युक्तवानित्यर्थः ॥

### वार्तिकम्

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये”त्यादेर्ग्रहणम् । यस्मादेवम्, तस्मात् साधनचतुष्टयसंपत्तेः संभवात् तत्संपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति वाक्यार्थान्वयित्वमतःशब्दार्थस्य दर्शयति—\*तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्य-

### भाष्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मजिज्ञासेतिपदस्य समासे दर्शयति—ब्रह्मण इति\* ॥ अवयवार्थभूतेच्छायाः कर्म-

### प्रदीपः

यतोवता चाधिकारिसंभवासंभवाभ्यां जिज्ञासाधिकरणस्य स्वरूपं संगृहीतं भवति । इतः परन्तु ब्रह्मपदव्याख्याना-



## पञ्चपादिका

मानेन ब्रह्मात्मत्वं च हस्तप्राप्तमिव मन्यमानेन प्रवर्तितव्यमेव ब्रह्मजिज्ञासायाम् ; प्रदीप्तशिरसेव जलराशौ, स्पृशतेव च सुस्वादु फलमङ्गुल्यग्रेणाग्रपादस्थेन । एवं सत्यर्थाद् धर्मजिज्ञासाया नियमेन पूर्ववृत्तत्वमथशब्देन पूर्वोक्तेन न्यायेन निराक्रियते ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मुखेन तदेव प्रतिपादयति—\*यतो द्वैतानुपङ्गादित्यादिना\* ॥ \*ननु\* साधनकलापवद् धर्मजिज्ञासाऽपि नियमेनारम्भिकेति, नेत्याह—\*एवं सत्यर्थादिति\* ॥ आगमार्थापत्तिभ्यामेव धर्मकलापस्यावधारणमभक्तवेऽसिद्धे तदुभयप्रमाणविकलस्य धर्मविचारस्य न हेतुतेत्यर्थः ॥

ब्रह्मणो जिज्ञासेति भाष्यम् । \*ननु\* धर्माय जिज्ञासेतिवत् चतुर्थीसमासः किं न स्यादिति ? अत्राह—

## ऋजुविवरणम्

तथाऽपि “यावदस्ये”त्यनेन पौनरुक्त्यं तदवस्थम् ; उत्तरत्रापि सूत्रवाक्यार्थकथनादपरं पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्रेच्छाप्राधान्येनेति\* ॥ \*अथवा\*—भाष्यकारेण “ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्ये”त्युक्तम्, टीकाकारेण तदन्यथा व्याख्यातम् ; “यतः परिपूर्णः” इत्यनेन साधनकलापस्य कार्यारम्भकत्वप्रदर्शनात्, किञ्च साधनकलापस्य हेतुत्वं प्रतिपाद्य, तदेव द्वोपसंहर्तुं युक्तम्, नान्यत् ; अनुक्तोपसंहारप्रसङ्गात्, तस्माद्युक्तोऽयं ग्रन्थः । “यतो द्वैतानुपङ्गादि”ति पुनरुक्तः ; साधनकलापस्य हेतुत्वं पूर्वमपि प्रतिपादितम्, अत्रापि तदेव प्रतिपाद्यते, नचार्थान्तरं प्रकृतसंबन्धमस्य दृश्यते, तेनायमप्ययुक्त इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेच्छाप्राधान्येनेति\* ॥

“एवं सत्यर्थादि”ति ग्रन्थेन धर्मजिज्ञासाया हेतुत्वमथशब्देनार्थान्निराकृतमित्युक्तम् ; तद्युक्तम् ; नहि साधनकलापस्य हेतुत्वं वदताऽथशब्देनेतरस्य हेतुत्वं निराक्रियते ; सामर्थ्याभावात्, अनुपपत्त्यभावाच्च । नहि समुच्चितयोर्हेतुत्वमनुपपन्नम् ; साधनचतुष्टयवदस्यापि हेतुत्वसंभवात्, नाप्यथशब्देन साधनचतुष्टयस्य हेतुत्वप्रतिपादनम्, येन तत्सामर्थ्यनान्यस्य हेतुत्वनिराक्रिया स्यात्, तस्माद्युक्तोऽयं ग्रन्थ इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*आगमार्थापत्तिभ्यामिति\* ॥ “अन्तर्णीते”त्यनेन जिज्ञासाशब्दस्य लाक्षणिकविचारार्थत्वे तेन ब्रह्मणोऽन्वय इति चतुर्थीसमासो भवेत्,

## तत्त्वदीपनम्

“यतो द्वैतानुपङ्गादि”त्यत्र साधनचतुष्टयस्य हेतुत्वं प्रतिपाद्यते, तच्च पूर्वोक्तमिति वृथाऽयं ग्रन्थ इत्याशङ्क्य, वृत्तानुवादपूर्वकं तात्पर्यमाह—\*साधनेनेति\* ॥ धर्मजिज्ञासोत्तरकालमनुष्ठितनित्य-नैमित्तिककर्मभिरुत्पन्नविविदिषस्य श्रवणादिप्रवृत्त्यङ्गीकरणाद् धर्मजिज्ञासाया अपि हेतुत्वमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ जन्मान्तरानुष्ठितधर्मजिज्ञासायाऽप्युक्तविधया प्रवृत्तिसंभवाद् न समानजन्मानुष्ठितधर्मजिज्ञासाया हेतुत्वमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ प्रमाणाभावादपि न धर्मविचारस्य हेतुत्वमित्याह—\*आगमेति\* ॥ “परीक्ष्य लोकान् कर्मवितानि”त्यादिरागमः । साधनचतुष्टयाभावे ब्रह्मवार्तिकम्

नन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति\* ॥ यानि तु श्रुतिवाक्यानि पूर्वपक्षिणोदाहृतानि, तेषां तु न्यायविरोधेनान्यपरत्वमस्माभिः पूर्वमैव व्याख्यातमिति नेह पुनर्व्याख्यायन्ते । ब्रह्मजिज्ञासायाः साधनसंबन्धेऽतःशब्देन समर्थिते, अर्थाद् विषय-प्रयोजनसंबन्धावपि समर्थितौ भवत इति द्रष्टव्यम् । यथा चैतत् तथा—“तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वे”त्यादिभाष्ये स्पष्टं भविष्यति ॥

## प्रदीपः

नन्तरं विषयसंभवासंभवाभ्यां विचारान्तरमारचयिष्यन् सौत्रं ब्रह्मजिज्ञासापदमवयवशो व्याख्यातुं साध्याहारं ब्रह्मजिज्ञासापदं निर्दिशति—\*ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति\* ॥ अत्र कर्तव्यपदाध्याहारः—विचारसाध्यज्ञानेच्छेप्यमाणस्य ज्ञानस्य विचारसाध्यत्वात् कर्तव्यं विचारस्याप्याक्षिपतीति सूचनार्थः, ननु ब्रह्मजिज्ञासापदार्थ एव विचार इत्यभिप्रायः । तेन न “ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादि”ति पूर्वग्रन्थविरोधः ; सति चैवं ब्रह्मज्ञानेच्छा भवतीति प्रतिज्ञां कृत्वा विचारार्था प्रवृत्तिः सूत्रकाराणां प्रतिज्ञाविरुद्धेति शङ्काया अपि नावकाशः ॥



## ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा ।

भामती

पुरुषार्थताप्रतिपादकाद् आगमाद् यथोक्तसाधनसंपत्, ततश्च जिज्ञासेति सिद्धम् । ब्रह्मजिज्ञासा-  
पदस्य व्याख्यानमाह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ षष्ठीसमासप्रदर्शनेन प्राचां वृत्तिकृतां 'ब्रह्मणे

ऋजुप्रकाशिका

आगमादित्यन्तेन\* ॥ तस्माद्धेतोः किं भवतीति ? अत आह—\*यथोक्तसाधनसम्पदिति\* ॥ ततोऽपि किम् ?  
तत्राह—\*ततश्चेति\* ॥ “ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्र स्वाभिमतं समासं भाष्यकार आहत्याह—\*ब्रह्म-  
जिज्ञासापदस्येति\* ॥ षष्ठीसमासप्रदर्शनेनान्येषामभिमतश्चतुर्थीसमासो निरस्त इत्याह—\*षष्ठीसमासेति\* ॥

पञ्चपादिका

\*ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेति\* ॥ अन्तर्णीतविचारार्थान्वये हि चतुर्थीसमासः स्यात्, न  
शब्दाभिधेय इत्यवयवार्थमङ्गीकृत्य षष्ठीसमासो दर्शितः ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*अन्तर्णीतविचारार्थान्वये हीति\* ॥ इच्छाप्राधान्ये हीच्छायाः कर्मप्रयोजनयोरैक्यात् प्राधान्यात् कर्मणि षष्ठीसमासः

ऋजुविवरणम्

ननु शाब्देच्छास्वीकारे ; तेन च ब्रह्मणोऽन्वय इति षष्ठीसमासपरिग्रहे कारणमुक्तम्, तदयुक्तम् ; विचारस्यापि  
सकर्मकत्वात् षष्ठीसमाससंभवात्, शब्दार्थत्वेऽपि प्रयोजनविवक्षया चतुर्थीसमाससंभवात्, अतो नार्थभेदः समासभेदे  
कारणमित्याशङ्क्याह—\*इच्छाप्राधान्ये हीति\* ॥ \*ननु\*—इच्छायाः कर्म-प्रयोजनयोरैक्येऽपि प्रयोजनाकारापेक्षया  
चतुर्थीसमासोऽपि वक्तुं शक्यत एवेत्याशङ्क्याह—\*प्राधान्यादिति\* ॥ कर्मणः प्राधान्यात् तदपेक्षितसमास एव भवे-

तत्त्वदीपनम्

जिज्ञासानुपपत्तिरर्थापत्तिः । षष्ठीसमासस्यासूत्रार्थत्वाद् ब्रह्मणो जिज्ञासेत्येतदभाष्यमित्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मण इति\* ॥  
आक्षेप-समाधानपूर्वकं भाष्यत्वं दर्शयितुमाक्षेपं तावदाह—\*ननु धर्मायेति\* ॥ षष्ठी-चतुर्थीसमासयोः संभवात् षष्ठी-समासः  
कस्मादाद्रियते ? प्राचि तन्त्रे चतुर्थीसमासपरतया सूत्रस्य व्याख्यातत्वादन्त्राप्येवमेव युक्तमित्यर्थः । प्राचस्तन्त्राद् वैषम्या-  
न्नैवमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ इच्छायाः प्राधान्येऽपि चतुर्थीसमास एव किं न स्यादिति ? तत्राह—\*इच्छेति\* ॥ जिज्ञासाया  
इच्छाप्राधान्य उपगते कर्मणि षष्ठीसमासः स्यादिति संबन्धः । तत्र हेतुः—\*इच्छाया इति\* ॥ इच्छायाः सकर्मकत्वाद-  
पेक्षितं कर्म षष्ठ्योच्यत इत्यर्थः ॥ प्रयोजनमपि वक्तव्यम् ; इतरथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, इत्याशङ्क्य, यदिष्यमाणं तदेव  
प्रयोजनमित्याशयेनाह—\*कर्म-प्रयोजनयोरिति\* ॥ \*ननु\* कर्म-प्रयोजनयोरैक्यमाश्रित्य कर्मणि षष्ठ्यङ्गीक्रियते चेत्,  
तर्हि प्रयोजनविवक्षया चतुर्थीसमासोपगमे किं न कर्म सिध्यति ? इति चतुर्थीसमासः किं न स्यात् ? इति शङ्कायामाह—  
\*प्राधान्यादिति\* ॥ इच्छायाः कर्मजन्यत्वात् प्रथमापेक्षितकर्मकारकनिष्पन्नस्य प्रयोजनापेक्षेति कर्मणः प्राधान्य-

वार्तिकम्

क्रमप्राप्तं ब्रह्मजिज्ञासापदं विगृह्य तद्विवक्षितार्थं दर्शयति—\*ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिना\* ॥

ब्रह्म-जिज्ञासयोः प्रकृति-विकारभावाभावाद् विवक्षितार्थाभावाच्च जिज्ञासाकर्मत्वस्य ब्रह्मणो विवक्षितत्वान्न

भाष्यभावप्रकाशिका

प्रयोजनयोरैक्यात् कर्मणश्च स्वरूपसिद्धिहेतुतया प्राधान्यात्, ननु चतुर्थीसमासः ; विचारप्राधान्ये तु

प्रदीपः

ब्रह्मजिज्ञासापदं समस्तं वृत्तिकाराः “ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासे”ति चतुर्थीसमासपरतया विभजन्ते । तत्र च प्रकृति-विकृति-  
भाव एव तादर्थ्यसमासो नान्यत्रेति नियमविरोधाद् न चतुर्थीसमासोऽत्र सावसर इति मत्वा षष्ठीसमासपरतया विगृह्णाति—  
\*ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेति\* ॥



## भामती

जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासे'ति चतुर्थीसमासः परास्तो वेदितव्यः ; “तादर्थ्यसमासे प्रकृति-  
विकृतिग्रहणं कर्तव्यम्” इति कात्यायनीयवचनेन यूपदार्वादिष्वेव प्रकृति-विकारभूतेषु चतुर्थी-  
समासनियमात्, अप्रकृति-विकारभूत इत्येवमादौ तन्निषेधात्, “अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भवि-  
ष्यन्ति” इत्यश्वघासादिषु षष्ठीसमासप्रतिविधानात्, षष्ठीसमासेऽपि च ब्रह्मणो वास्तवप्राधान्योपपत्ते-  
रिति । \*स्यादेतत्\*—ब्रह्मणो जिज्ञासेत्युक्ते, तल्लानेकार्थत्वाद् ब्रह्मशब्दस्य संशयः—कस्य ब्रह्मणो  
जिज्ञासेति ? अस्ति ब्रह्मशब्दो विप्रत्वजातौ—यथा “ब्रह्महत्ये”ति, अस्ति च वेदे—यथा. “ब्रह्मोज्ज-

## ऋजुप्रकाशिका

\*ननु\* षष्ठीसमासप्रदर्शनमात्रेण कथं चतुर्थीसमासनिरासः ? तत्रोपपत्तेरनुक्तेः, इत्यत आह—\*तादर्थ्येति\* ॥  
\*इत्येवमादौ = ब्रह्मणो जिज्ञासेत्येवमादौ । \*तन्निषेधात् = प्रकृति-विकारभावाभावेन चतुर्थीसमासनिषेधात् ।  
“यूपाय दारु” इत्यादिषु दारुशब्दार्थस्य प्रकृतित्वात् तक्षणाष्टाश्रीकरणविशिष्टस्य यूपशब्दार्थस्य विकृतित्वाच्च  
तत्र ‘यूपाय दारु’ ‘यूपदारु’ इति चतुर्थीसमासः संभवति, “ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यत्र तु ब्रह्म-जिज्ञासयोः प्रकृति-  
विकारभावाभावेन चतुर्थीसमासनिषेध इत्यर्थः । \*ननु\* जिज्ञासायाः कुतो न ब्रह्मविकारत्वमिति चेत्,  
ब्रह्मणोऽविकारत्वेन जिज्ञासायास्तद्विकारत्वायोगादिति द्रष्टव्यम् । एवं चात्र ‘अश्वस्य घासः, अश्वघासः’ इतिवद्  
‘ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासे’ति षष्ठीसमास एव । अश्वघास इत्यादौ वा कथं षष्ठीसमासः ? इत्याशङ्क्य, तत्र  
विधानादित्याह—\*अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भविष्यन्तीत्यादिना\* ॥ “ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्र षष्ठीसमासाश्रयणे  
चापरमप्यनुकूलं भवतीत्याह—\*षष्ठीसमासेऽपि चेति\* ॥ \*तत्रेति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्यानेकार्थत्वाद्  
“ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्र संशयो जायत इत्यर्थः । संशयमेवाभिनयति—\*कस्येति\* ॥ किं ब्राह्मणत्वजातेर्जिज्ञासा ?  
किं वा वेदस्य ? आहोस्विद् जीवस्य ? अथवा कमलासनस्य ? किं वा परमात्मरूपस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा ? इति किं-  
शब्दसूचितः संशय इत्यर्थः । \*ननु\* ब्रह्मशब्दस्य जाति-वेद-जीव-कमलासनादिवाचित्वे हि तथा संशयः, तदेव  
कुतः ? इत्याशङ्क्य, ब्रह्मशब्दस्य जीव-कमलासनवाचित्वं प्रसिद्धमिति हृदि निधाय जातिवाचित्वं तावदाह—  
\*अस्तीति\* ॥ ततोदाहरणमाह—\*यथेति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्य जातिवाचित्वमभिधाय वेदवाचित्वमाह—  
\*अस्ति चेति\* ॥ “वेदे” इत्यनन्तरं ब्रह्मशब्द इत्यनुषङ्गः । तत्रोदाहरणमाह—\*यथेति\* ॥ परमात्मन्यपि

## वार्तिकम्

चतुर्थीसमासः, षष्ठीसमासे तु तल्लभात् स एव युक्त इत्याशयः । \*ननु\*—ब्रह्मपदेन रूढेर्ब्राह्मणत्व-  
जातेः कमलासनस्य वा ग्रहणात्, तयोश्च प्रत्यक्ष-स्मृतिभ्यां सुप्रसिद्धत्वाद् जिज्ञासाकर्मत्वानुपपत्तेः,  
तत्संबन्धविवक्षायाश्च निष्प्रयोजनत्वात् षष्ठीसमासानुपपत्तेश्चतुर्थीसमास एव ग्राह्यः । नच प्रकृति-  
विकारभावानुपपत्तिः ; “स ब्राह्मणः केन स्यात् ? येन स्यात्, तेनेदं एव भवति” “वेदान्तगो ब्राह्मणः  
स्यादि”ति श्रुति-स्मृतिभ्यां ब्राह्मणत्वस्य तद्वेतुकत्वावगमात् प्रकृतिविकारभावोपपत्तेः । नच ब्राह्मणत्वं  
नित्यम्, येन तदसिद्धिः ; तत्पिण्डारम्भकभूतसूक्ष्मविशेषस्थैवोपचयापचयशीलस्यानित्यस्य तज्जातित्वा-  
भ्युपगमात् । अत एव स्मृतौ ब्राह्मणत्वादेर्हास-वृद्धिश्रवणमुपपद्यते । हिरण्यगर्भभावस्यापि तज्ज्ञानोपा-

## भाष्यभावप्रकाशिका

धर्मजिज्ञासेत्यादौ कर्म-प्रयोजनभेदात् चतुर्थीसमासोऽपि स्यात् । अतो ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेत्यवय-  
वार्थाङ्गीकारे षष्ठीसमासो युक्त इति भावः । \*अथवा\*—“तादर्थ्यसमासे प्रकृति-विकृतिग्रहणं कर्तव्य-  
मि”ति कात्यायनीयवचनेन यूपदार्वादिष्वेव प्रकृति-विकारभूतेषु चतुर्थीसमासनियमात्, इह च तथा-  
भावाभावात्, षष्ठीसमासेऽपि ब्रह्मणः प्राधान्योपपत्तेर्न वृत्त्यन्तराभिमतचतुर्थीसमास इति भावः ।



## ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम्—“जन्माद्यस्य यतः” इति ।

भामती

मि”ति, अस्ति च परमात्मनि—यथा “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इति, तमिमं संशयमपाकरोति—  
\*ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणमिति\* ॥ यतो ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय तज्ज्ञापनाय परमात्मलक्षणं प्रणयति,

ऋजुप्रकाशिका

ब्रह्मशब्दमाह—\*अस्ति चेति\* ॥ तत्रोदाहरणमाह—\*यथेति\* ॥ एवं ब्रह्मशब्दस्य नानार्थवाचित्वादुक्त-  
विधया संशये स्थिते, तमिमं संशयमपाकरोतीत्याह—\*तमिममिति\* ॥

\*ब्रह्मजिज्ञासामिति\* ॥ यतो भगवान् सूत्रकारः—“अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इति ब्रह्मजिज्ञासां  
प्रतिज्ञाय, तस्य परमात्मस्वरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञापनार्थं “जन्माद्यस्य यतः”—अस्य जगतो जन्मादि जन्म-स्थिति-भङ्गं

पञ्चपादिका

ब्रह्मशब्दस्यार्थनिर्देशावसरे प्राप्ते सूत्रकार एव निर्देक्ष्यतीति कथयति—\*ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं  
जन्माद्यस्य यत इति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

स्यात्, विचारप्राधान्ये तु कर्म-प्रयोजनभेदात् प्रयोजनविवक्षया तु चतुर्थीसमासोऽपि स्यादिति । \*ननु\* किं  
तद् ब्रह्म ? यदिच्छायाः प्रयोजनतया कर्मत्वेन वर्तत इति, तदाह—\*ब्रह्मशब्दस्यार्थनिर्देशावसर इति\* ॥

ऋजुविवरणम्

दित्यर्थः ॥ “ब्रह्म च वक्ष्यमाणमिति भाष्यकारेणोक्तम्, तदप्रस्तुतमित्याशङ्क्य टीकाकारेणोक्तम्—“ब्रह्मशब्दस्यार्थ-  
निर्देशावसरे प्राप्ते”इति, तद्व्युक्तम् ; प्राप्त्यभावात्, पूर्वं हीच्छायाः कर्मण एव सतः प्रयोजनत्वात् कर्मणः प्राधान्यात्  
षष्ठीसमासः समर्थितः ; कथमनन्तरं ब्रह्मशब्दार्थनिर्देशावसरः ? इत्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु किं तद् ब्रह्मेति\* ॥  
“तत्र यदन्यैरि”त्यादिना टीकाकारेण वृत्त्यन्तरे यदर्थान्तरमाशङ्क्य निरस्तम्, तन्न कर्तव्यमिति भाष्यतात्पर्यमुक्तम्,

तत्त्वदीपनम्

मित्यर्थः । तर्हि शबरस्वामिनाऽपि कर्मणि षष्ठी कस्मान्नाश्रिता ? तत्राह—\*विचारेति\* ॥ ‘विचारः कर्तव्यः’ इत्युक्ते  
कस्य ? इत्यपेक्षायां वेदविचार इति वेदः कर्मत्वेन संबध्यते, कस्मै ? इति वीक्षायाम्, धर्मायेति धर्मः प्रयोजनत्वेन  
संबध्यते, इत्येवं कर्म-प्रयोजनभेदात् प्रयोजननिर्देशं चान्तरेण क्लेशात्मके प्रवृत्त्यसंभवाच्च प्रयोजनविवक्षया (१)चतुर्थी-  
समास इत्यर्थः ॥ ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वमाक्षिपति—\*ननु किं तदिति\* ॥ \*बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति\* जीवस्य ब्रह्म-  
शब्दार्थत्वात् तस्य चासंदिग्धत्वान्न कर्मत्वमित्यभिसन्धिः । जगज्जन्मादिकारणस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वाद् जीवस्य  
चाताडकत्वान्न ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायेणाह—\*तदाहेति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थत्वं वृत्तिकृता निराकारि, तदनुचितम् ;

वार्तिकम्

सनाधीनत्वात् तद्विकारत्वोपपत्तिः । नच षष्ठीसमासेऽपि स्वाभिमतसिद्धिरस्ति ; तत्पक्षेऽपि ब्रह्मपदेन  
वेदग्रहणसंभवात्, तत्रापि तस्य रूढत्वात्, “रूढिर्योगमपहरती”ति न्यायात्, उपनिषदां विचारविषयत्वेन  
तत्कर्तृत्वोपपत्तेरिति, नेत्याह—\*ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं “जन्माद्यस्य यत इति”ति\* ॥ चस्त्वर्थ उक्ता-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\*—किं तद् ब्रह्म, यद् जिज्ञासायाः प्रयोजनतयैकत्वेन च विवक्ष्यत इति ? अत  
आह—\*ब्रह्मेति\* ॥ एवं च सति यत्—अन्यैर्वार्तिककारैर्जाति-जीव कमलासन-शब्दराशिविषयत्वं ब्रह्म-

प्रदीपः

ब्रह्मपदं षष्ठीविभक्तिकं जिज्ञासापदं चावयवशो व्याचष्टे—\*ब्रह्म चेति\* ॥ \*ननु\*—ब्रह्मशब्दस्य “यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं

(१) शबरभाष्यमर्थप्रदर्शनपरम्, नतु समासप्रदर्शनपरमिति वार्तिकादौ व्यक्तम् ।



## अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम् ।

### पञ्चपादिका

तत्र यदन्यैर्वृत्तिकारैर्ब्रह्मशब्दस्यार्थान्तरमाशङ्क्य निरस्यते । न खलु ब्राह्मणजातिरिह गृह्यते ; प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् जिज्ञास्यत्वाभावात्, नापि तत्कर्तृका जिज्ञासा ; त्रैवर्णिकाधिकारात्, नापि जीवपरिग्रहः ; तत्कर्तृत्वे विशेषणानर्थक्यात्, कर्मत्वे नित्यसिद्धत्वात्, न शब्दराशेर्ग्रहणम् ; तस्य धर्मजिज्ञासौत्पत्तिकसूत्राभ्यामर्थवत्त्वप्रमाणत्वयोर्निरूपितत्वात्, नापि हिरण्यगर्भस्य ; तदवाप्तेरपि विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपदेशात्, नापि तत्कर्तृकता ; ज्ञान-वैराग्ययोः सह सिद्धत्वात्—इति, तदपि न कर्तव्यमित्याह—\*अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यमिति\* ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

“तत्र यदन्यैरित्यारभ्य “ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी”त्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन जाति-जीव-कमलासन-शब्दराशीनां ब्रह्मशब्दामिधेयतया जिज्ञासां प्रति कर्तृत्वेन कर्मत्वेन वा प्रतिपादनानुपपत्तेरस्मिन् प्रयोगे न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थतेति दर्शितम् ॥

### ऋजुविवरणम्

तदयुक्तम् ; अर्थान्तरनिराकरणाभावे स्वाभिप्रेतार्थसिध्यभावात्, इत्याशङ्क्य समुदायतात्पर्यमाह—\*तत्र यदन्यैरित्यादिनेति\* ॥ “ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी”त्यादिना प्रधानपरिग्रह इतरेषामाक्षेपो हेतुत्वेनोक्तः, स इष्टविघातकारी ;

### तत्त्वदीपनम्

जात्यादावपि ब्रह्मशब्ददर्शनादित्याशङ्क्याह—\*तत्र यदन्यैरिति\* । जात्यादेर्न सर्वत्र ब्रह्मशब्दार्थत्वं निराक्रियते, किन्तु—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्र ब्रह्मशब्दस्य तदर्थत्वं निरस्तमित्यर्थः । कर्मणि षष्ठीसमासमाश्रित्य प्रधानब्रह्मजिज्ञासयाऽर्थादप्रधानजिज्ञासेत्युक्तम्, तत्र वैपरीत्यशङ्कां निरस्यति—\*तत्र ब्रह्मण इत्यादिना\* ॥ शेषषष्ठीपक्षेऽपि ब्रह्मणः

### वार्तिकम्

शङ्कां निवर्तयति, हेरथे वा । भवत्वेवं वक्ष्यमाणलक्षणं ब्रह्म, ततः किमिति ? अत आह—\*अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यमिति\* ॥ यतः, किंलक्षणं तद् ब्रह्म ? इत्यपेक्षायां स्वयमेव सूत्रकारः—“जन्माद्यस्य धतः” इति तल्लक्षणमभिधास्यति । अतोऽस्मिन् सूत्रे ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरं नाशङ्कितव्यमेव ; ब्राह्मणत्वादिजातेर्वक्ष्यमाणलक्षणासंभवादित्यर्थः । तथाचोपपन्नः षष्ठीतत्पुरुष इति

### भाष्यभावप्रकाशिका

शब्दस्याशङ्क्यते, तत् तेषां ब्रह्मजिज्ञासां प्रति कर्तृत्वेन कर्मत्वेन वा प्रतिपादनायोगाद् न तदर्थतेति निराकृतं न युक्तमित्याह—\*अत एवेति\* ॥ वृत्त्यन्तरे शेषलक्षणा षष्ठी व्याख्याता, तन्निरा-

### प्रदीपः

क्षे”त्यादौ ब्राह्मणजातौ, “ब्रह्म आयाती”त्यादौ जीवे, “स एनान् ब्रह्म गमयती”त्यादौ हिरण्यगर्भे, “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्यादौ निर्विशेषब्रह्मणि च प्रयोगेणानेकार्थत्वात् कथमत्र विनिगमनमिति ? अत आह—\*वक्ष्यमाणलक्षणमिति\* ॥

वाक्यशेषवशाज्जिज्ञास्यत्वसमन्वयवशाद्वा निर्विशेषमेव ब्रह्मात्र ब्रह्मपदार्थ इति भावः । \*अत एव च=निर्विशेषब्रह्मण एव वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । \*नाशङ्कितव्यम्=तात्पर्यानुसारेणैव पदार्थविनिर्णयस्यानेकार्थस्थले युक्तत्वाद् अन्यत्र तात्पर्य-ग्राहकप्रमाणाभावान्न जात्याद्यर्थान्तरपरत्वमिति भावः । षष्ठ्यर्थमाह—\*ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठीति ॥ शेषषष्ठ्यपि यद्यपि भवितुमर्हति ; तथाऽपि तस्या अकारकत्वात् कारकविभक्त्याश्रयणमेव युक्तम् ; सम्बन्धविशेषस्य शब्दत एवोपस्थापन-संभवादिति भावः । कर्मकारकविभक्तित्वमेवान्न विवरणाभिमतविषयवाक्यैकवाक्यतयाऽप्युपपन्नमित्यभिप्रायं प्रकटयिष्यन् जिज्ञासाऽ-



**ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे ; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः ।**

**भामती**

ततोऽवगच्छामः—परमात्मजिज्ञासैवेयम्, न विप्रत्वजात्यादिजिज्ञासेत्यर्थः । षष्ठीसमासपरिग्रहेऽपि नेयं कर्मषष्ठी, किन्तु शेषलक्षणा । संबन्धमात्रं च शेषः, इति ब्रह्मणो जिज्ञासेत्युक्ते ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेत्युक्तं भवति । तथाच ब्रह्मस्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-प्रयोजन-जिज्ञासाः सर्वा ब्रह्मजिज्ञासयाऽव-  
रुद्धा भवन्ति ; साक्षात् पारम्पर्येण च ब्रह्मसंबन्धात् । कर्मषष्ठ्यां तु ब्रह्मशब्दार्थः कर्म, स च स्वरूप-  
मेव, इति तत्प्रमाणादयो नावरुध्येरन् । तथाचाप्रतिज्ञातार्थचिन्ता प्रमाणादिषु भवेत्, इति ये मन्यन्ते,  
तान् प्रत्याह—\*ब्रह्मण इति कर्मणीति\* ॥ अत्र हेतुमाह—\*जिज्ञास्येति\* ॥ इच्छायाः

**ऋजुप्रकाशिका**

यतः सकाशात्, तद् ब्रह्म, इति लक्षणं प्रणीतवान्, ततोऽवगच्छामो ब्रह्मणः परमात्मन एव जिज्ञासा, न विप्रत्वजात्यादेर्जिज्ञासेत्यर्थ इत्यर्थः । तथाचोक्तसंशयनिरासः स्पष्ट इति भावः ॥

“शेषलक्षणे”त्यनन्तरं षष्ठीत्यनुषङ्गः । शेषशब्दार्थमाह—\*सम्बन्धमात्रं शेष इति\* ॥ अतः शेष-  
षष्ठ्याश्रयणे ‘ब्रह्मणो जिज्ञासे’त्युक्ते ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासेत्युक्तं भवतीत्यर्थः । एवमुक्तं भवतु, ततः किमिति ?  
अत आह—\*तथाचेति\* ॥ \*अवरुद्धा भवन्तीति\* । ब्रह्मजिज्ञासाप्रतिज्ञया स्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-फल-  
जिज्ञासाः सर्वा अपि प्रतिज्ञाता भवन्तीत्यर्थः । कुत इति ? अत आह—\*साक्षादित्यादिना ब्रह्मसम्बन्धादिति\* ॥  
स्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-फलानामिति शेषः । शेषषष्ठ्याश्रयणे साक्षात् परम्परया वा ब्रह्मसम्बद्धानां निरुक्तानां  
सर्वेषामपि जिज्ञासाः प्रतिज्ञाता भवन्तीत्यानुकूल्यं प्रतिपाद्य, कर्मणि षष्ठ्याश्रयणे नैवमित्याह—\*कर्मणि षष्ठ्यां  
त्वित्यादिना ॥ स चेति\* ॥ कर्मभूतो ब्रह्मशब्दार्थः । \*नावरुध्येरन्निति\* । तत्प्रमाणादिजिज्ञासाः प्रतिज्ञाता

**पञ्चपादिका**

**\*ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी\* ॥ वृत्त्यन्तरे तु शेषलक्षणा व्याख्याता, तां निरस्यति—\*न शेष  
इति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासाया इति\* ॥**

**पञ्चपादिकाविवरणम्**

तत्र \*‘‘ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी’’त्यारभ्य किञ्च शास्त्रप्रवृत्तिरेवेत्यतः\* प्राक्तनेन ग्रन्थेनाप्रधान-  
विचारान् शब्देन मुख्यया वृत्त्योपादाय प्रधानस्यार्थाक्षेपकल्पनाद् वरं मुखतः प्रधानविचारमेवोपादायाप्रधान-

**ऋजुविवरणम्**

सामान्यमुखेन विशेषस्यापि लाभसंभवादित्याशङ्क्य समुदायतात्पर्यमाह—\*ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठीत्यादिना\* ॥  
‘‘अप्रधानविचाराणामि’’त्यनादरे षष्ठी । \*ननु\*—शेषषष्ठीपरिग्रहेण प्रत्यवस्थानमेव न संभवति ; शेषशब्दस्य

**तत्त्वदीपनम्**

कर्मत्वं सिध्यति, संबन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वादित्युक्तं वृत्तिकृता, तदनुपपन्नम् ; ‘‘षष्ठी शेषे’’ इति शेषत्वं षष्ठ्या  
वार्तिकम्

भावः । षष्ठ्यामपि वृत्तिकाराणामर्थविप्रतिपत्तावाह—\*ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेष इति\* ॥  
कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे हेतुमाह—\*जिज्ञास्यापेक्षत्वाच्च जिज्ञासाया इति\* ॥ चकारो वक्ष्यमाणहेतुं समुच्चि-

**भाष्यभावप्रकाशिका**

सायाऽऽह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*जिज्ञास्यापेक्षत्वादिति\* ॥ इच्छायाः प्रतिपत्त्यनुबन्धो

**प्रदीपः**

पेक्षितजिज्ञास्यसमर्पकत्वाभावेनापि न शेषषष्ठीत्याह—\*जिज्ञास्यापेक्षत्वादिति\* ॥ \*ननु\*—शेषषष्ठ्यामपि सम्बन्धसामान्यस्य  
विशेषनिष्ठत्वाद् जिज्ञास्यापेक्षाऽपि शान्ता भविष्यतीत्याशङ्क्य, कल्पेन कर्मत्वेनान्वयस्यैव युक्तत्वाद् व्यर्थं तत्कारणमिति समाधत्ते—



## भामती

प्रतिपत्त्यनुबन्धि ज्ञानम्, ज्ञानस्य ज्ञेयं ब्रह्म । नो खलु ज्ञानं ज्ञेयं विना निरूप्यते । नच जिज्ञासा ज्ञानं विना, इति प्रतिपत्त्यनुबन्धत्वात् प्रथमं जिज्ञासा कर्मैवापेक्षते, न तु संबन्धिमात्रम् ; तदन्तरेणापि सति कर्मणि तन्निरूपणात् । नहि चन्द्रमसमादित्यं चोपलभ्य, कस्यायम् ? इति संबन्ध्यन्वेषणा भवति । भवति तु 'ज्ञानमि'त्युक्ते विषयान्वेषणा—किंविषयमिति ? तस्मात् प्रथममपेक्षितत्वात् कर्मत-

## ऋजुप्रकाशिका

न भवेयुरित्यर्थः । अस्तु, ततः किम् ? तत्राह—\*तथाचेति\* ॥ \*इच्छाया इति\* ॥ ज्ञानेच्छायाः=जिज्ञासाया इत्यर्थः । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इति जिज्ञासा प्रतीत्यनुबन्धिनी । प्रतीतिश्च ज्ञानमित्यर्थः । तथाच जिज्ञासा ज्ञानमपेक्षत इति भावः । ज्ञानं च ज्ञेयमपेक्षते, तच्च प्रकृतं ब्रह्मेत्याह—\*ज्ञानस्य ज्ञेयं ब्रह्मेति\* ॥ एवंच जिज्ञासाया जिज्ञास्यकर्मसापेक्षत्वम् । तदेतद् व्यतिरेकमुखेन द्रष्टव्यम्—\*नो खल्वित्यादिना—कर्मैवापेक्षत इत्यन्तेन\* ॥ तथाच जिज्ञासाया जिज्ञास्यसापेक्षत्वादिति हेतोरसिद्धिर्न शङ्कनीयेति भावः । जिज्ञासायाः सम्बन्धिमात्रसापेक्षत्वाच्छेषषष्ठीत्याशङ्कमानं प्रति सम्बन्धिमात्रसापेक्षत्वमसिद्धमित्याह—\*नतु सम्बन्धिमात्रमिति\* ॥ अपेक्षत इत्यनुषङ्गः । जिज्ञासा सम्बन्धिमात्रं नापेक्षत इत्यत्र हेतुमाह—\*तदन्तरेणापीति\* ॥ सम्बन्धिमात्रं विनाऽपीत्यर्थः । \*तन्निरूपणात् = जिज्ञासानिरूपणात् । जिज्ञासाकर्मणि ब्रह्मण्युपलभ्यमाने सति किंसम्बन्धिनी जिज्ञासा ? इति न भवतीत्यर्थः । तदेतन्निदर्शनमुखेन स्पष्टयति—\*नहीति\* ॥ किंविषयमिति=किंकर्मकमित्यर्थः । \*विषयान्वेषणा = कर्मान्वेषणा । एवं जिज्ञासेत्युक्ते किंकर्मिकेति कर्मान्वेषणा भवति, न सम्बन्धिमात्रान्वेषणा भवतीत्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

विचाराणामर्थोक्षेपकल्पनमिति कर्मणि षष्ठी दर्शिता । शेष इति संबन्धसामान्यमुच्यते, न कारकपञ्चक-व्यतिरिक्ताः संबन्धविशेषा उच्यन्ते । तत्र यथा देवदत्तस्य स्वमिति षष्ठी विशेषसंबन्धेऽप्यन्विताभिधानमर्हति, एवं 'देवदत्तस्य गच्छति' 'देवदत्तस्य गम्यते' इत्यादिकारकसंबन्धविशेषेऽप्यन्विताभिधानं नार्हति, किंत्वभिहितसंबन्धसामान्ये ; सामर्थ्यात्, क्वचित् कारकसंबन्धविशेषश्चार्थतोऽवगम्यत इति । एतावता "षष्ठी शेषे"

## ऋजुविवरणम्

कर्मादिव्यतिरिक्तसंबन्धविशेषवाचकत्वात्, विशेषवाचकत्वे च सामान्यमुखेन कर्मादीनां कर्मत्वलाभ इति यदुक्तम्, तदयोगात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*शेष इति संबन्धसामान्यमिति\* ॥ \*ननु\*—शेषशब्देन संबन्धसामान्य-स्वीकारे "षष्ठी शेषे" इत्यनुशासनं निष्प्रयोजनम् ; विशेषाणां सर्वेषामवाच्यत्वात्, सामान्यमुखेन च सर्वेषामाक्षेपा-विशेषात्, अतश्च संबन्धविशेषः स्वीकर्तव्यः । सामान्यमुखेन कर्मादीनां संबन्धानामाक्षेपाभावो वा ; इतरथा सूत्रविरोधात्, इत्याशङ्क्याह—\*तत्र यथा देवदत्तस्येति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

अभिधाय, कश्च शेषः ? इति वीक्षायाम्, कर्मादिभ्योऽन्यः स्व-स्वाम्यादिसंबन्धः शेष इत्यभिधानादित्याशङ्क्याह—\*शेष इति\* ॥ व्यावर्त्यमाह—\*न कारकेति\* ॥ कर्म-करण-संप्रदानापादानाधिकरणानि कारकपञ्चकशब्दार्थः ॥

संबन्धविशेषाणां स्व-स्वामिभावादीनां व्यभिचारित्वात् षष्ठ्यर्थत्वानुपपत्तेः संबन्धमात्रं शेषः, तस्मिन् षष्ठीति पक्षे स्व-स्वाम्यादिसंबन्धः शेषः, इति वृत्तिकृद्वचनं कथम् ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्र यथेति\* ॥ देवदत्तस्येति षष्ठ्या निर्दिष्टस्य संबन्धमात्रस्य विशेषाकाङ्क्षायां 'स्वमि'ति पदसमभिध्याद्वारात् षष्ठी स्व-स्वामिसंबन्धान्वितसंबन्धमात्रं यथाऽभिधत्ते, तथा 'देवदत्तस्य गच्छति'त्युक्ते न षष्ठ्या कारकसंबन्धविशेषसंसृष्टाभिधायित्वम् ; संबन्धविशेषस्य तत्राप्रतीते-रित्यर्थः । कथं तर्हि संबन्धविशेषप्रतिपत्तिः ? इति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ अपर्यवसानवृत्त्येत्याह—\*अभिहितेति\* ॥ अभिहितं यत् संबन्धसामान्यं तदेवार्थः, तद्वलादित्यर्थः ॥



## जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।

भामती

यैव ब्रह्म संबध्यते, न संबन्धितामात्रेण ; तस्य जघन्यत्वात् । तथाच कर्मणि षष्ठीत्यर्थः । \*ननु\* सत्यं न जिज्ञास्यमन्तरेण जिज्ञासा निरूप्यते, जिज्ञास्यान्तरं त्वस्या भविष्यति, ब्रह्म तु शेषतया संभन्त्यते, इत्यत आह—\*जिज्ञास्यान्तरेति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

तत्र हेतुमाह—\*तस्येति\* ॥ सम्बन्धिमात्रस्येत्यर्थः । सति कर्मणि तस्य जघन्यत्वमित्यर्थः । फलितमाह—\*तथाचेति\* ॥ ब्रह्मातिरिक्तं जिज्ञास्यान्तरं शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ जिज्ञास्यान्तरं यदि निरूप्यते, तदा परम्, एवं स्यात्, तदेव निरूपयितुं न पार्यत इत्याह—\*अत आहृति\* ॥ “व्यर्थः प्रयासः स्यादि”त्युक्तं भाष्ये, अस्तु प्रयासः, तावता को दोषः ? इत्याशङ्क्य, न्यायविरोध एव

पञ्चपादिका

अथापि स्यात्—अन्यद् जिज्ञास्यमिति, तदर्थमाह—\*जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्चेति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

इत्युक्तम्, नार्थादपि कारकसंबन्धाप्रतिभास इत्युक्तमिति पूर्ववादिनो मतम् । \*“किंच शास्त्रप्रवृत्तिरेवेत्यारभ्य\*

तत्त्वदीपनम्

“तद्विजिज्ञासस्वे”इत्यत्र कर्मविवक्षागमकाभावात् कथं तत्प्रतिपादकत्वेन सूत्रस्य श्रुत्या संगतिः ? इत्याशङ्क्य, तात्पर्यमाह—\*किंचेति\* ॥ अधिकारश्च विषयश्चाधिकार-विषयौ, ताभ्यां सह वर्तत इति स तथोक्तः । विचारविधेर्विषयं विनाऽनुपपत्तेर्ब्रह्मणः कर्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । श्रुतौ कर्मत्वविवक्षायामपि कथं सूत्रे तद्विवक्षा ? अत आह—

वार्तिकम्

नोति, तमपेक्षयैव विशेषसाधकत्वादस्य ; परिशेषानुमानापेक्षेच्छाद्यनुमानवत् । यथाहीच्छादयः, क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात् ; रूपादिवत्, इति सामान्यतोद्भूतं परिशेषानुमानमपेक्षयैव द्रव्यविशेष आत्मनि पर्यवस्यन्ति, न स्वतः ; द्रव्यान्तरमादायाप्यर्थान्तरत्वसंभवात्, तद्वद् ज्ञाधातोः सकर्मकत्वेन जिज्ञासायाः सकर्मकत्वात्—यत् सकर्मकम्, तत् कर्मसापेक्षम्, इति सामान्यतोद्भूतमपि परिशेषमपेक्षयैव जिज्ञासाया ब्रह्मकर्मत्वे पर्यवस्यति ; अन्यथा कर्मान्तरमादायापि तत्सिद्धेरर्थान्तरतापत्तेः, तत्संशयस्याप्यनुमितिप्रतिबन्धकत्वादिति । परिशेषमैव दर्शयति—\*जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्चेति\* ॥ अस्मिन् सूत्रवाक्ये इति शेषः । चकारः पूर्वोक्तसामान्यतोद्भूतं समुच्चिनोति ; तदन्तरेण परिशेषाप्रवृत्तेः । नच—अनिर्दिष्टमप्यध्याहर्तव्यम्, तथाच न परिशेषसिद्धिरिति—वाच्यम् ; निर्दिष्टेनाकाङ्क्षापूरणे संभवत्यध्याहारानुपपत्तेरित्याशयः ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

ज्ञानम्, ज्ञानस्य च ज्ञेयं ब्रह्म, ज्ञेयं विना ज्ञानस्यानिरूपणात्, ज्ञानं विना च जिज्ञासाया अनिरूपणात्, अतः प्रतिपत्त्यनुबन्धत्वात् प्रथमं जिज्ञासा कर्मैवापेक्षते, न संबन्धिमात्रम् ? तेन कर्मणि षष्ठीत्यर्थः । \*ननु\*—जिज्ञासायाः जिज्ञास्यमन्तरेणानुपपन्ननिरूपणत्वेऽपि जिज्ञास्यान्तरं भविष्यति, ब्रह्म तु शेषतया संबध्यतामित्यात्राह—\*जिज्ञास्यान्तरेति\* ॥ शेषषष्ठीवादी निगूढाशयश्चोदयति—

प्रदीपः

\*नन्वित्यादिना\*—\*प्रयासः स्यादित्यन्तेन\* ॥ \*ननु\*—शेषषष्ठीपरिग्रहे ब्रह्मविचारः तदपेक्षितविचारान्तराणि च शब्दतः



**\*ननु\*** शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते ; संबन्ध-  
सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य, सामान्य-  
द्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् ।

भामती

निगूढाभिप्रायश्चोदयति—**\*ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपीति\*** ॥ सामान्यसंबन्धस्य विशेषसंबन्धा-  
विरोधेन कर्मताया अविधातेन जिज्ञासानिरूपणोपपत्तेरित्यर्थः । निगूढाभिप्राय एव दूषयति—  
**\*एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मण इति\*** ॥ वाच्यस्य कर्मत्वस्य जिज्ञासया प्रथममपेक्षितस्य प्रथमसंबन्धाहस्य

अनुप्रकाशिका

द्रोष इत्यभिप्रेत्याह—**\*वाच्यस्येत्यादिना\*** ॥ **\*सम्बन्धः = अन्वयः ।** “सम्बन्धोजघन्यः” इत्यत्र

पञ्चपादिका

पुनः शेषषष्ठीवाद्याह—**\*ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते ; सम्बन्ध-  
सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वादिति\*** ॥ यद्यपि “शेषे षष्ठी”ति सम्बन्धमात्रे षष्ठी विहिता ; तथाऽपि  
व्यवहारो विशेषमवलम्बते, बहवश्च सम्बन्धविशेषाः, तत्रावश्यमन्यतमः प्रतिपत्तव्यः ; अन्यथा  
व्यवहारानुपपत्तेः । तत्र प्रकरणोपपदयोर्विशेषहेत्वोरभावादर्थद्विशेषक्रियोपादानात् कारकत्वेनैव  
सम्बन्धः । तत्रापि सकर्मिकायाः कर्मकारकमभ्यर्हितम्, इति कर्मत्वं ब्रह्मणो न विरुध्यते । एवमपि  
साधारणे शब्देऽभिप्रेतमर्थं विहायार्थान्तरं परिगृह्य, पुनस्तद्द्वारेणाभिप्रेतमर्थं प्रतिपद्यमानस्य व्यर्थः  
प्रयासः स्यात्, तदाह—**\*एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो  
व्यर्थः प्रयासः स्यादिति\*** ॥

वार्तिकम्

ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वमङ्गीकृत्य गूढाभिसन्धिः शेषषष्ठीवादी शङ्कते—**\*ननु—शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो  
जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते ; संबन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वादिति\*** ॥ उक्ताद् योऽन्यः, स शेष  
इत्युच्यते । उक्तानि च कर्त्रादीनि (१)षट् कारकाणि तृतीयादिविभक्तिभिः । यद्यपि ताभिः क्रियया स्वामि-  
धेयानां तत्तद्विशेषसंबन्धोऽप्युक्तः ; तदभिधानमन्तरेण तासां तत्तत्कारकविशेषाभिधानानुपपत्तेः, क्रिया-  
विशेषसंबन्धयुक्तस्यैव कर्त्रादित्वात् ; तथाऽपि तेषां क्रियया संबन्धसामान्यं नोक्तम् ; विशेषनिष्ठानां तृती-  
यादिविभक्तीनां तदसामर्थ्यात् । अतः संबन्धसामान्यं परिशिष्टत्वाद् शेष इत्युच्यते । तस्मिन् षष्ठीविभक्ति-  
रनुशास्यते पाणिनिना । नच कारकाणां संबन्धसामान्यं विशेषं विना संभवति, इति विशेषापेक्षाया-  
मर्थाद् योग्यतया कर्मत्वमादायैव पर्यवस्येदित्यर्थः । “शेष्ठे शास्त्रं प्रकुर्वीति”ति न्यायाद् गूढाभिसन्धिं पूर्व-  
पक्षिणमवलोक्य सिद्धान्त्यपि गूढाभिसन्धिः परिहरति—**\*एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्य-**

भाष्यभावप्रकाशिका

**\*ननु शेषषष्ठीति\*** ॥ यद्यपि “षष्ठी शेषे”इति संबन्धमात्रे षष्ठी ; तथाऽपि व्यवहारस्य व्यवहार्य-  
विशेषालम्बनत्वात् सकर्मिकायां क्रियायां कर्मकारकस्याभ्यर्हितत्वात् कर्मत्वं ब्रह्मणो न विरुध्यते ? तेन  
जिज्ञासायाः निरूपणप्युपपद्यत इत्यर्थः ॥ एवमपि साधारणशब्देऽभिप्रेतमर्थं विहायार्थान्तरं परिगृह्य  
पुनस्तद्द्वारेणाभिप्रेतमर्थं प्रतिपद्यमानस्य व्यर्थः प्रयासः स्यादिति परिहरति—**\*एवमपीति\*** ॥ प्रत्यक्षं

(१) प्रथमार्थस्याप्यभिहितकारकत्वमिति पक्षे षट् कारकाणीति ।



**न व्यर्थः ; ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेत्, न ; प्रधानपरिग्रहे तद-**

**भामती**

चान्वयपरित्यागेन पश्चात् कथंचिदपेक्षितस्य संबन्धिमात्रस्य संबन्धोऽजघन्यः प्रथमः, प्रथमश्च जघन्य इति सुव्याहृतमाहो न्यायतत्त्वम् । प्रत्यक्ष-परोक्षाभिधानं च प्राथम्याप्राथम्य-स्फुटतरत्वास्फुटतरत्वाभिप्रायम् । चोदकः स्वाभिप्रायमुद्घाटयति—\*न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषेति\* ॥ व्याख्यातमेतदधस्तात् । समाधाता स्वाभिसन्धिमुद्घाटयति—\*न प्रधानपरिग्रह इति\* ॥

**ऋजुप्रकाशिका**

अजघन्य इति छेदः । \*सुव्याहृतमिति\* ॥ जिज्ञासायाः सम्बन्धमात्रान्वयश्चरमोऽप्यजघन्यः, प्रथमोऽपि कर्मत्वान्वयो जघन्य इति वदतः सुव्याहृतं न्यायतत्त्वम् । \*आहो = इत्युपहासः । तथाच तथोक्तौ न्यायविरोध इति भावः । भाष्ये “प्रत्यक्षमि”ति “परोक्षमि”ति च पदद्वयं वर्तते, तदुभयतात्पर्यमाह—\*प्रत्यक्ष-परोक्षाभिधानं चेति\* ॥ कर्मत्वान्वयस्य प्राथम्यं सम्बन्धिमात्रान्वयस्याप्राथम्यम्, कर्मत्वान्वयस्य स्फुटतरत्वम्, सम्बन्धिमात्रान्वयस्यास्फुटतरत्वम्, इत्येतदभिप्रायकमित्यर्थः । व्याख्यायतां तर्हि तदिति ? अत आह—\*व्याख्यातमिति\* ॥ ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेत्युक्ते ज्ञानस्येच्छाविषयत्वमुक्तम्, तदाक्षिपति—\*स्यादेतद् न

**पञ्चपादिका**

\*ननु\* किमिति व्यर्थः ? शेषषष्ठीपरिग्रहे सामान्येन यत् किञ्चिद् ब्रह्मसम्बन्धि येन येन जिज्ञासितेन विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तत्सर्वं जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञातं स्यात् ; अतो न विशिष्ट-सम्बन्धो विवक्ष्यते ; सामान्ये तस्याप्यन्तर्भवादिति यद्युच्यते, तदाह—\*न व्यर्थः ; ब्रह्माश्रिताशेष-विचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेदिति\* ॥ स्वयमेव परोक्तमाशङ्क्योत्तरमाह—\*न ; प्रधानपरिग्रहे

**वार्तिकम्**

द्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यादिति\* ॥ \*प्रत्यक्षम् = साक्षात्, शब्दाभिहितमित्यर्थः । \*परोक्षम् = अर्थोक्तिमित्यर्थः । तदाह—\*सामान्यद्वारेणेति\* ॥ षष्ठ्या संबन्धसामान्यपरिग्रहे ब्रह्म-संबन्धिविचारमात्रप्रतिज्ञालाभात् तत्प्रमाण-युक्ति-साधन-फलानामपि ब्रह्मण इव विचारप्रतिज्ञाऽस्मिन् सूत्रे लभ्यते । एवं च सति चतुर्लक्षणी मीमांसाऽप्युपपद्यते ; प्रतिज्ञातार्थगोचरत्वात् । नच—शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि न प्रमाणादिविचाराणां लाभः ; तेषां साक्षाद् ब्रह्मसंबन्धित्वाभावादिति—वाच्यम् ; संबन्धमात्रस्य शेषत्वे-नोक्तत्वात्, साक्षात्संबन्धवत् परम्परासंबन्धस्यापि संबन्धत्वाविशेषात् । अतः “सप्तदशारत्निर्वाज-पेयस्य यूषो भवती”त्यत्र वाजपेयस्य यूषेन परम्परासंबन्धस्य षष्ठ्याऽभिधानवत्, ब्रह्मणः प्रमाणादि-द्वारेण परम्परासंबन्धस्यापि षष्ठ्याऽभिधानोपपत्तिः । तस्मात् सामान्यद्वारेण ब्रह्मणः परोक्षमपि कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् । तदाश्रितप्रमाणादिविचारप्रतिज्ञालाभार्थत्वात् तत्कल्पनाप्रयासस्येति पूर्व-पक्षी स्वाशयमुद्घाटयति—\*न व्यर्थः ; ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति\* ॥ सामान्यपरिग्रहेऽपि

**भाष्यभावप्रकाशिका**

वाच्यम्, परोक्षमर्थिकम् । अथवा प्रत्यक्षं प्रथमापेक्षां परोक्षमन्त्यम् ॥ इदानीं शेषवादी स्वाभिप्रायमाह—\*ब्रह्माश्रितेति\* ॥ शेषषष्ठीपरिग्रहे सामान्येन यत्किञ्चिद् ब्रह्मसम्बन्धिप्रमाण-युक्ति-

**प्रदीपः**

एव प्रतिज्ञायेरन्निति प्रयोजनमाशङ्क्य समाधत्ते—\*न व्यर्थ इत्यादिना\* ॥ \*न\* ; व्यर्थः = व्यर्थ एवेत्यर्थः । वैयर्थ्यमेवोप-पादयति सदृष्टान्तनिर्देशं—\*प्रधानपरिग्रह इति\* ॥ अङ्गविचारानामशब्दत्वेनैव निर्वाहः, अन्यथा जिज्ञास्येषु प्राधान्या-



पेक्षितानामर्थोक्षितत्वात् । ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानम् । तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं(१) न भवति, तान्यर्थोक्षितान्येव, इति न पृथक् सूत्रयितव्यानि । यथा 'राजाऽसौ गच्छती'त्युक्ते

पञ्चपादिका

तदपेक्षितानामर्थोक्षितत्वादिति\* । संक्षेपतो वस्तुसङ्ग्रहवाक्यम् । एतदेव प्रपञ्चयति—ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानम् । तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थोक्षितान्येव, इति न पृथक् सूत्रयितव्यानि । यथा 'राजाऽसौ गच्छती'त्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वदिति\* ॥

यस्माद् ब्रह्मावाप्तिः पुरुषार्थः, तेन तद् ज्ञानेनाप्तुमिष्ट तमम्, अतस्तदर्थत्वात् प्रवृत्तेः प्रधानं तत् । तस्मिन् प्रधाने जिज्ञास्यमाने, येन जिज्ञासितेन विना न सम्पूर्णा जिज्ञासा, तत् सामर्थ्यादेव तादर्थ्येन जिज्ञास्यते, न पृथगभिधानेन कृत्यमस्ति । यथा 'राजाऽसौ गच्छती'त्युक्ते यावता परिवारेण विना राज्ञो गमनं न सम्पद्यते, तावतो गमनमाक्षितमिति न पृथगभिधीयते लोके, तद्वदिहापि स्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-प्रयोजनानि ब्रह्मज्ञानपरिपूर्णतार्थमर्थादेव जिज्ञास्यत्वान्न पृथक् सूत्रयितव्यानि । किञ्च शास्त्र-प्रवृत्तिरेव कर्मणि षष्ठीं गमयति । कथम् ? एवं हि शास्त्रमारब्धव्यम् । "पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इत्यादि "श्रुतेर्न्यायतश्च पुण्यस्य क्षयदर्शनाद् विरक्तस्य ब्रह्मविदामोति परमि"त्यादिश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः परेति । अतस्तज्ज्ञातुमिच्छतः श्रुत्या "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्येवमाद्यया तत्प्रतिपादनपूर्वकं "तद्विजिज्ञासस्वे"ति साक्षादेव कर्मतया शेषत्वेनानुशासनं यत्, तदिदम्—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"ति सूचितम् । तेन कर्मषष्ठीपरिग्रहे श्रुति-न्यायसूचनपरं सूत्रं तदनुगतं भवति ; अन्यथा लक्ष्याननुगतम-

वार्तिकम्

ब्रह्मसंबन्धिप्रमाणादीनां विचारकर्मत्वमर्थादेवाभिधातव्यम्, न साक्षात् । तच्चास्मन्मतेऽपि तुल्यम् ; ब्रह्मकर्मत्वेऽभिहिते वक्ष्यप्रमाणरीत्या तदाश्रितप्रमाणादिकर्मत्वस्यार्थसिद्धत्वात् । अयं परमस्मन्मते विशेषः—यद् ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं साक्षादभिधीयते ; तत्र मते तु तदप्यर्थादिति सिद्धान्ती स्वाभिप्रायं स्पष्टीकरोति—\*न ; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थोक्षितत्वादिति\* ॥ संग्रहभाष्यं विभजते—

ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानम् । तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते, यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं ज्ञातं च न भवति, तान्यर्थोक्षितान्येवेति, न पृथक् सूत्रयितव्यानीति\* ॥ जिज्ञास्यत्वेनेति शेषः । हि शब्दो ब्रह्मण ईप्सिततमत्वे श्रुत्यनुभवप्रसिद्धिं द्योतयति । प्रधानपरिग्रहे तदुपसर्जनानामर्थात् परिग्रहो भवतीति । अस्मिन्नर्थे श्रोतुश्चित्तसमाधानार्थं लौकिकं दृष्टान्तमाह—\*यथा 'राजाऽसौ गच्छ-

भाष्यभावप्रकाशिका

साधनादि, येन येन जिज्ञासितेन विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तत् सर्वं जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञातं स्यात् । प्रतिज्ञातव्यं चैतत् ; अप्रतिज्ञातस्याविचार्यत्वात्, अतो न विशिष्ट एव संबन्धी विवक्ष्यते ; सामान्ये तस्यानन्तर्भावादिति भावः । सिद्धान्ती स्वाभिसन्धिमुद्घाटयति—\*प्रधानेति\* ॥ तदेव प्रपञ्चयति—\*ब्रह्म हीति\* ॥ अप्रधानविचाराणां मुख्यया वृत्त्या शब्देनोपादानम्, प्रधानविचारस्य चार्था-

(१) जिज्ञासितं ज्ञातं चेति वार्तिकाभिमतः पाठः ।



सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत् ; श्रुत्यनुगमाच्च । “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्याद्याः श्रुतयः “तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म” इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति । तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी ।

#### पञ्चपादिका

सम्बद्धं स्यात् । तदाह—\*श्रुत्यनुगमाच्चेति\* ॥ वस्तुसङ्ग्रहवाक्यम् । तत्प्रपञ्चः—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्याद्याश्च श्रुतयः—“तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति” प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति । तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी ॥

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासे”त्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन साधिकारविषयस्य विचारविधेः प्रतिपादके वाक्ये ब्रह्मणः कर्मकारकत्वं निर्दिष्टम्, सूत्रस्य च तदेकार्थत्वात् तत्रापि ब्रह्मणः कर्मत्वमेवमेव शब्देन वक्तव्यमिति दर्शितम् ॥

#### तत्त्वदीपनम्

\*सूत्रस्येति\* ॥ विचारविध्यपेक्षितन्यायप्रतिपादकत्वात् सूत्रस्य तदेकार्थत्वमित्यर्थः । ब्रह्मप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योस्तज्ज्ञा-  
वार्तिकम्

तीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवतीति\* ॥ परिवारमन्तरेण तस्य गमनासंभवात्, तावतैव श्रोतुर्निराकाङ्क्षत्वदर्शनादित्याशयः । एवं ‘ब्रह्म जिज्ञासितव्यमि’त्युक्ते, तत्प्रमाणाद्विजिज्ञासामन्तरेण तज्जिज्ञासाया असंभवादर्थत्वात् सपरिवारस्य तस्य जिज्ञास्यत्वमुक्तं भवति । नचार्थप्राप्तं पुनर्मुखतो वक्तव्यम् ; पौनरुक्त्यात्, सूत्रलक्षणव्याघाताच्चेति । दार्ष्टान्तिकमाह—\*तद्वदिति\* ॥ इतोऽपि कर्मणि षष्ठीपरिग्रहो युक्त इत्याह—\*श्रुत्यनुगमाच्चेति\* ॥ कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे हि सूत्रेण स्वविषयीभूतश्रुतेरनुगमो भवति, तत्र “तद्विजिज्ञासस्व” “श्रोतव्यो मन्तव्यः” इति साक्षात् कर्मत्वेन ब्रह्मणः परिग्रहादित्यर्थः । संग्रहवाक्यं विभजते—\*“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्याद्याः श्रुतयः “तद्विजिज्ञासस्व” “तद् ब्रह्मे”ति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति\* ॥ \*तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवतीति\* ॥ “इत्याद्याश्चे”त्यत्रेतिशब्देन प्रतीकग्रहणाद् “येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंवि-  
शन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मे”ति वाक्यशेषो गृह्यते । आदिशब्देन—“आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि” “आत्मानमेव लोकमुपासीत” “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यादीनि

#### भाष्यभावप्रकाशिका

क्षेपकल्पनं न युक्तमिति भावः ॥ प्रतिपादके वाक्ये ब्रह्मणः कर्मकारकत्वनिर्देशात् सूत्रस्य च तदेकार्थत्वात् सूत्रेऽपि ब्रह्मणः कर्मत्वमेव ग्राह्यमित्याह—\*श्रुत्यनुगमादिति\* ॥ तदेव दर्शयति—\*यतो वेति\* ॥

#### प्रदीपः

प्राधान्यविवेचनमेवाशक्यं स्यादिति हृदयम् । सूत्रस्य व्याख्येयस्य विषयवाक्यानुगुण्यमपि कर्मषष्ठीपक्ष एव स्वरसमित्याह—  
\*श्रुत्यनुगमाच्चेति\* ॥ कर्मषष्ठ्या इति शेषः ॥ \*प्रत्यक्षम्\* = साक्षात् ; विनैवाक्षेपमिति यावत् । कर्मणि षष्ठीपक्षमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ जिज्ञासाशब्दस्य कृद्रूपाकारप्रत्ययान्तत्वात् “कर्तृ-कर्मणोः कृती”ति कर्मणि षष्ठीप्राप्तिरिति भावः । “कर्मणि चे”ति षष्ठीसमासनिषेधस्तु, “उभयप्राप्तौ कर्मणी”ति प्राप्तषष्ठीमेव गोचरयति, न तु “कर्तृ-कर्मणोः कृती”ति सूत्रप्राप्तां षष्ठीम् । अत्र च “स्त्रीप्रत्यययोरोकाकारयोर्नायं नियमः” इति वार्तिकाद् जिज्ञासापदस्य स्त्रीप्रत्ययाकारान्तत्वान्नोक्तसूत्रप्रवृत्तिः, इत्यधिकारिणः कर्तुरध्याहारेऽपि “विमिर्त्सा रुद्रस्य जगतः” इतिवद् अधिकारिणो ब्रह्मजिज्ञासेत्येव प्रयोगस्य संभवात् न—“उभयप्राप्तौ कर्मणी”ति षष्ठीसमासनिषेधप्रसङ्गः । वस्तुतस्तु—कर्तृन्नाप्रयोगान्नोभयप्राप्तिरिति वस्तुस्थितिः ॥



## ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा ।

भामती

प्राधान्यं ब्रह्मणः । शेषं सनिदर्शनमतिरोहितार्थम् । श्रुत्यनुगमश्चातिरोहितः । तदेवमभिमतं समासं व्यवस्थाप्य जिज्ञासापदार्थमाह—\*ज्ञातुमिति\* ॥ स्यादेतत्\*—न ज्ञानमिच्छाविषयः । सुखदुःखावाप्ति-परिहारौ वा तदुपायौ वा तद्द्वारेणेच्छागोचरः । नचैवं ब्रह्मविज्ञानम् ; न खल्वेतदनुकूलमिति

ऋजुप्रकाशिका

ज्ञानमिच्छाविषय इति\* ॥ कस्तर्ह्येच्छागोचर इति ? अत आह—\*सुखेति\* ॥ सुखावाप्तिर्दुःखपरिहारो वा, सुखोपायो दुःखपरिहारोपायो वा सुखद्वारेण चेच्छागोचर इत्यर्थः । \*ननु\* तर्हि ब्रह्मज्ञानमेव तादृशं सदिच्छा-गोचरोऽस्तु, इत्यत आह—\*नचैवं ब्रह्मज्ञानमिति\* ॥ \*ब्रह्मज्ञानमेवं न भवति = सुखावाप्तिर्वा दुःखपरिहारो वा सुखोपायो वा दुःखपरिहारोपायो वा न भवति ब्रह्मज्ञानमित्यर्थः । कुतो न भवतीति ? अत आह—\*न

पञ्चपादिका

\*ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति\* जिज्ञासापदस्यावयवार्थं कथयतीच्छाप्रदर्शनार्थम् । ततश्चे-

पञ्चपादिकाविवरणम्

ज्ञातुमिच्छेत्यादि भाष्यम् । तत्रावगतविषयत्वादिच्छाया ब्रह्मण्यवगते तज्ज्ञानेच्छानुपपत्तेरनवगते सुतरा-मिति कथं ब्रह्मज्ञानेच्छेति ? अत आह—\*ततश्चेच्छायाः फलविषयत्वादिति\* ॥ का चेयमिष्यमाणाऽवगति-

तत्त्वदीपनम्

नकामनानुपपत्तेः “ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासे”ति भाष्यमनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—\*ज्ञातुमिच्छेति\* ॥ आक्षेपसमाधानपूर्वकं तदुपपादयितुमाक्षेपमाह—\*तत्रावगतेति\* ॥ \*तत्र-लोक इत्यर्थः । \*सुतरामिति\* ॥ इच्छाकारणसद्भावेऽपीच्छाया असंभवो यदा, तदा कारणाभावे कार्याभाव इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥

अवगति-ज्ञानयोर्भेदाभावाद् ज्ञातेऽप्यवगतिकामनेत्युक्तमनुपपन्नमिति चोदयति—\*का चेयमिति\* ॥ असिद्धो

वार्तिकम्

श्रुत्यन्तराणि गृह्यन्ते । ‘चे’न च “तद्विद्धि प्रणिपातेन”त्याद्याः स्मृतयः । केन वाक्यभागेन ताः प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति ? तत्राह—\*तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रहेतीति\* ॥ इतिशब्दः “श्रोतव्यः”इत्यादेः प्रदर्शनार्थः । भवतु, ततः किमिति ? अत आह—\*तच्चेति\* ॥ ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं साक्षात् श्रुतिनिर्दिष्टं तदा परामृश्यते । चोऽप्यर्थः ; विषय-विषयिणोरैकरूप्यस्य युक्ततरत्वादित्याशयः । परपक्षं निराकृत्य स्वपक्षमुपसंहरति—\*तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठीति\* ॥ \*तस्मात्\*—शेषषष्ठीपरिग्रहपक्षस्य निरुद्धत्वात् । “ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्र ब्रह्मण इति या लुप्ता षष्ठी, सा कर्मणीत्यर्थः ॥ तथाच प्राधान्याद् ब्रह्मणः शास्त्रविषयत्वं दर्शितं भवतीति द्रष्टव्यम् ।

मीमांसापरपर्यायताभ्रमं वारयन्नवशिष्टं जिज्ञासापदं व्याचष्टे—\*ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति\* ॥ ज्ञाधातोः सन्प्रत्ययस्य वाऽश्वकर्णशब्दवत् तत्समुदायस्य वा लोके विचारार्थत्वादर्शनादिति भावः । \*ननु\*—यत्

भाष्यभावप्रकाशिका

जिज्ञासापदस्यार्थं कथयति—\*ज्ञातुमिति\* ॥ ततश्चेच्छायाः फलविषयत्वाद् ज्ञानस्यावगतिः

प्रदीपः

जिज्ञासापदमवयवशो विभजते—\*ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति\* ॥ \*ननु\*—अत्र को नाम ज्ञाधात्वर्थः ? यदि ज्ञानमात्रम्,



**अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म ; फलविषयत्वादिच्छायाः ।**

भामती

वा प्रतिकूलनिवृत्तिरिति वाऽनुभूयते । नापि तयोरुपायः ; तस्मिन् सत्यपि सुखभेदस्यादर्शनात्, अनुवर्तमानस्य च दुःखस्यानिवृत्तेः । नच सूत्रकारवचनमात्रादिषिकर्मता ज्ञानस्य, इत्यत आह—\*अवगतिपर्यन्तमिति\* ॥ न केवलं ज्ञानमिष्यते, किंत्ववगतिं साक्षात्कारं कुर्वदवगतिपर्यन्तं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म । कस्मात् ? फलविषयत्वादिच्छायाः । तदुपायं फलपर्यन्तं गोचरयतीच्छेति शेषः । \*ननु\* भवत्ववगतिपर्यन्तं ज्ञानम्, किमेतावताऽपीष्टं भवति ? न ह्यनपेक्षणीयविषयमवगतिपर्यन्तमपि ज्ञान-

ऋजुप्रकाशिका

खल्विति\* ॥ एतत्=ब्रह्मज्ञानम् । \*तयोः=सुखावाप्ति-दुःखपरिहारयोः । \*उपायः\* ॥ ब्रह्मज्ञानमिति शेषः । कुत इति ? अत आह—\*तस्मिन् सत्यपीति\* ॥ ब्रह्मज्ञाने सत्यपीत्यर्थः । \*ननु\* “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इति सूत्रकारवचनानुरोधेन ब्रह्मज्ञानस्येच्छाविषयत्वं भविष्यतीत्यत आह—\*नच सूत्रकारेति\* ॥ तद्वचनस्य प्रशंसापरत्वेनाप्युपपत्तेर्न वस्तुतो ब्रह्मज्ञानस्येच्छाविषयत्वमिति भावः । अनवगतिपर्यन्तस्य तस्यातथात्वेऽप्यवगतिपर्यन्तस्य तज्ज्ञानस्य सुखावाप्ति-दुःखपरिहारोपायत्वेनेच्छाविषयत्वमविकलमेवेत्याह—\*अत आहेति\* ॥ साक्षात्कारोऽवगतिशब्दार्थः । \*इष्यते=इच्छया विषयीक्रियते । “अवगतिपर्यन्तमि”त्यनन्तरं ज्ञानमित्यनुषङ्गः । \*कर्म=विषय इत्यर्थः । \*ननु\* कथमवगतिपर्यन्तस्य वा ज्ञानस्येच्छाविषयत्वम् ? इति शङ्कते—\*कस्मादिति\* ॥ उत्तरमाह—\*फलविषयत्वादिति\* ॥ \*ननु\* इच्छायाः फलविषयत्वे ज्ञानफलत्वाभावात् कथमिच्छा ज्ञानं गोचरयेत् ? इत्याशङ्क्य शेषपूरणेन परिहरति—\*तदुपायमिति\* ॥ फलोपायज्ञानमित्यर्थः । \*फलपर्यन्तम् = फलनिष्पादकम् । \*ननु\* अवगतिपर्यन्तमपि ज्ञानं न फलोत्पादकम् ;

पञ्चपादिका

च्छायाः फलविषयत्वात् तज्ज्ञानस्यापवर्गपर्यन्तता सूचिता भवति । तदाह—\*अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म ; फलविषयत्वादिच्छाया इति\* ॥

वार्तिकम्

तर्हि विचारः कर्तव्यतया प्रतिज्ञाविषयो न स्यात् ; ज्ञानेच्छयोरेव जिज्ञासापदेनाभिधानात् तदलाभात् । नच तयोरेवान्यतरत् सौत्रप्रतिज्ञाविषयः ; तत्कर्तव्यताया असंभवेन बाधादित्युक्तत्वात्, योग्यतया विचारस्य कर्तव्यतान्वयादित्युक्तत्वाच्च । नच ज्ञानेच्छयोरन्यतराविनाभूतो विचारः, येन लक्षणया तदनुपपत्त्या वा लभ्येत ; विचारमन्तरेणापि तयोः सत्त्वात् । तस्माद् जिज्ञासापदेन विचारानभिधाने प्रतिज्ञैव व्याहृत्येतेति, नेत्याह—\*अवगतिपर्यन्तं च ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म ; फलविषयत्वादिच्छाया इति\* ॥

\*अवगतिः\*=सर्वात्मना साक्षाद्भावमापन्नाऽपरोक्ष ब्रह्मलक्षणा चितिः ; “यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म” “अयमात्मा सर्वान्तरः” इति श्रुतेः । सैव \*परि=समन्ताद् व्याप्यायः पिण्डमिवाग्निः, द्रतताम्रमिव मूषाम्,

भाष्यभावप्रकाशिका

फलपर्यन्ता सूत्रिता भवतीत्याह—\*अवगतिपर्यन्तमिति\* ॥ अत एव ब्रह्मण्यवगते तज्ज्ञानस्य

प्रदीपः

तर्हि तस्येव्यमाणत्वमनुपपन्नम्, कृतिसाध्यं खल्विष्यमाणं भवति । नच ज्ञानं कृतिसाध्यमित्यत आह—\*अवगतिपर्यन्तमिति\* ॥ विचारसाध्यसाक्षात्कारपर्यवसाय्यवबोधोऽत्र शाधात्वर्थः । तत्र चावबोधो यद्यपि न कृतिसाध्यः ; तथाऽपि विचारसाध्यत्वादिविशिष्टः स विचारस्य कृतिसाध्यत्वात् तादृश इति न दोषः । तदिदमाह—\*फलविषयत्वादिति\* ॥



पञ्चपादिका

अवगतिरिति साक्षादनुभव उच्यते । ज्ञानन्तु परोक्षेऽनुभवानारूढेऽपि सम्भवति । संनिहितेऽप्यसम्भावित-

पञ्चपादिकाचिवरणम्

रिति ? तदाह—\*साक्षादनुभव इति\* ॥ \*ननु\* प्रथममेवावगतिरुत्पद्यते, तत्राह—\*ज्ञानं तु परोक्ष इति\* । शब्दात् परोक्षतयाऽवगतेऽपरोक्षज्ञानमिष्यत इत्यर्थः । यदा पुनः शब्दादपरोक्षज्ञानमुत्पद्यते, तत्राह—\*सन्निहितेऽपीति\* ॥ \*प्रमाणेनावगन्तुमिति = अपरोक्षनिश्चयानुभवेनेत्यर्थः ॥

अनुविवरणम्

\*ननु—प्रथममेवेति\* ॥ ज्ञानप्राप्तविषयत्वादिच्छायाः प्रथममेव ज्ञानोत्पत्तौ नेष्यमाणत्वमित्यर्थः । “ज्ञानं तु परोक्षेऽपी”ति व्यर्थम् ; इष्यमाणत्वानुपपत्तेरपरिहृतत्वादित्याशङ्क्याह—सञ्ज्ञादिति\* ॥ “सन्निहितेऽपी”त्यनेन सन्निहिते वस्तुनि निर्धारितज्ञानोत्पत्तिकीर्तनमप्रस्तुतमित्याशङ्क्यावतारयति—यदा पुनरिति\* ॥ \*ननु\*—“प्रमाणेनावगन्तुमि”ति आप्यकारेण कथमुक्तम् ? पूर्वापरविरोधात्, अपरोक्षज्ञानस्येष्ट्यमाणत्वाभावप्रसङ्गाच्चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—अपरोक्षनिश्चयानुभवेनेति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

हेतुरित्याह—\*तदाहेति\* ॥ अपरोक्ष-परोक्षप्रत्यययोर्भेदः प्रसिद्ध इत्यर्थः । अपरोक्षे ब्रह्मणि शब्दादपरोक्षप्रथायाः प्रथममेवोत्पत्तेः सूत्रे कामनानुदय इति शङ्कते—\*ननु प्रथममिति\* ॥ शब्दस्य परोक्षज्ञानजननस्वाभाव्यात् कथं तत्परित्यागः ? इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ “ज्ञानं त्वि”ति टीकायां शब्दादिति द्रष्टव्यम् । परोक्ष इत्येतद् विवृणोति—\*अनुभवेति\* ॥ शब्दात् परोक्षप्रत्ययोत्पत्तिप्रतिपादनफलमाह—\*शब्दादिति\* ॥ अपरोक्षे परोक्षप्रत्ययजनकत्वे मिथ्याज्ञानजनकत्वेन शब्दस्याप्रामाण्यं स्यात्, तस्मादपरोक्षप्रत्ययजनकत्वमेष्टव्यम् । तथाच तत्र कामनाऽसंभव इति शङ्कते—\*यदा पुनरिति\* ॥ अपरोक्षतया प्रतिपन्नेऽप्यप्रतिब्रह्मापरोक्षप्रत्ययकामो युक्त इति परिहरति—\*तत्राहेति\* ॥ ज्ञानेनावगम्यते चेद् ब्रह्म, कथं तर्हि अपरोक्षज्ञानमिष्यत इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्यापरोक्षनिश्चयजननद्वाराऽवगम्यत

वार्तिकम्

\*अन्ते\*=अवसाने, स्वोत्पत्त्यनन्तरम्, यस्य तत्त्वप्रस्थादिवाक्यजनितान्तःकरणवृत्तिरूपप्रमाणज्ञानस्य, तद् अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्प्रत्ययाभिधेयाया इच्छायाः \*कर्म\*=विषयो भवति । न तद्ज्ञानमात्रम् ; \*फल-विषयत्वादिच्छायाः\* ॥ फले हि तावत् पुरुषस्य स्वरसत इच्छा भवति । याऽपि तत्साधनेच्छा, साऽपि तदुपाधितयैव, नान्यथा ; तथाऽनुभवात् । तदुपाधिता च साधनस्य फलपर्यवसान एव भवति । तद्यथा क्लेशुमिच्छतीत्युक्ते नेच्छा द्विदामात्रे पर्यवस्यति ; निरर्थकत्वात्, तस्येच्छाविषयत्वानुपपत्तेः, किं तर्हि ? द्वैधीभावपर्यन्तायां तस्यामिति । एवं प्रकृतेऽपि ब्रह्मज्ञानमिच्छतीत्युक्ते, न ब्रह्मज्ञानक्रियामात्रे तदिच्छा पर्यवस्यति ; तद्विषयसमूहपरोक्षज्ञानस्यापि संभवात्, तस्य च निष्फलत्वात्, किं तर्हि ? तदवगतिपर्यन्तायां तस्याम् ; तदवगतेः सुखसाक्षात्काररूपत्वेन, सर्वार्थनिवर्तकत्वेन, ब्रह्मरूपत्वेन, प्रमाणफलत्वेन चेष्टत्वात् । नच तादृशमवगतिपर्यन्तं ज्ञानं विचारमन्तरेण संभवतीत्युक्तम् । अतो ब्रह्मजिज्ञासायां प्रति-

## भाष्यभावप्रकाशिका

प्राप्तत्वादेव तदिच्छानुपपत्तैः, अनवगते च विशेषणापरिज्ञानात्, तद्विशेषितज्ञाने वाञ्छानुपपत्ते-  
र्निज्ञासा नोत्पद्यत इति शङ्का निराकरणीयेति भावः ॥ \*अवगतिरिति = साक्षादनुभव उच्यते ।

**प्रदीपः**

उपायसाध्यं हि फलम्, न तु नित्यसिद्धम्, इति विचारसाध्यत्वादिविशिष्टरूपेण ज्ञानविवक्षेवात्र, इति सन्प्रत्ययप्रयोगसामर्थ्येनेवाव-  
गम्यत इति भावः । \*अयं भावः\*—श्रवणमात्रेण ज्ञानं नेध्यमाणम्, अफलत्वात्, तदसाधनत्वाद्वा ; अतो मननाद्यङ्गक-  
श्रवणजन्यसाक्षात्कार एवेभ्यमाणतयाऽत्र विवक्षितः, इति ब्रह्म तद्विषयतयैव प्रयोजनरूपो भवति, इति ज्ञानद्वारकं ब्रह्मणोऽपीष्यमाणत्वं



ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म । ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः ;  
निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्हणात् ।

भामती

मिष्यते, इत्यत आह—\*ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म\* ॥ भवतु ब्रह्मविषयावगतिः, एवमपि कथमिष्टेति ? अत आह—\*ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः । किमभ्युदयः ? न, किंतु निःश्रेयसम् ? विगलित-निखिलदुःस्वानुषङ्गपरमानन्दघनब्रह्मावगतिर्ब्रह्मणः स्वभावः, इति सैव निःश्रेयसं पुरुषार्थ इति । \*स्यादे-तत्\*—न ब्रह्मावगतिः पुरुषार्थः । पुरुषव्यापारव्याप्यो हि पुरुषार्थः । नचास्या ब्रह्मस्वभावभूताया उत्पत्ति-विकार-संस्कारप्राप्तयः संभवन्ति ; तथा सत्यनित्यत्वेन तत्स्वाभाव्यानुपपत्तेः । नचोत्पत्त्याद्यभावे व्यापारव्याप्यता । तस्मान्न ब्रह्मावगतिः पुरुषार्थ इत्यत आह—\*निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थ-

ऋजुप्रकाशिका

उपेक्षणीयगोचरस्यावगतिपर्यन्तस्यापि ज्ञानस्य फलोत्पादकत्वाददर्शनात्, नह्युपेक्षणीयं ज्ञानमिष्यते ; तथाचाव-गतिपर्यन्तमपि ज्ञानं कथमिच्छागोचरः ? इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ \*इष्टम् = इच्छागोचरः । उपेक्षणीय-गोचरस्यावगतिपर्यन्तस्येच्छागोचरत्वाभावेऽप्यनुपेक्षणीयब्रह्मगोचरज्ञानस्यावगतिपर्यन्तस्येच्छागोचरत्वमेवेत्याह—\*अत आहेति\* ॥ \*अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म = ब्रह्मावगतिरिष्टेत्यर्थः । \*ननु\* अपुरुषार्थत्वाद् ब्रह्मावगतिर्वा कथमिष्टा ? इत्यभिप्रेत्य शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अपुरुषार्थत्वमसिद्धमित्याह—\*अत आहेति\* ॥ किं ब्रह्मावगति-रभ्युदयलक्षणः पुरुषार्थः ? किं वा निःश्रेयसलक्षणः ? इति विशये निर्णयमाह—\*किमभ्युदयः\* ? \*न, किंतु निःश्रेयसमिति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मावगतिः किमनानन्दः ? आनन्दो वा ? आद्ये च निःश्रेयसपुरुषार्थत्वम् ; तस्यानित्यत्वात्, अतो द्वितीयं परिशेषयति—\*विगलितेत्यादिना\* ॥ \*सैव = ब्रह्मावगतिरेव । \*ननु\* ब्रह्मावगतेर्ब्रह्मस्वरूपत्वेऽपि निःश्रेयसपुरुषार्थत्वमयुक्तमिति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ कुतो न पुरुषार्थत्व-मिति ? अत आह—\*पुरुषव्यापारेति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*नचास्या इति\* ॥ \*अस्याः = ब्रह्मा-वगतेः । “संभवन्ती”त्यतः प्राक् पुरुषव्यापारव्याप्या इति शेषः । संभवन्तु, को दोषः ? इत्यत आह—\*तथा सतीति\* ॥ ब्रह्म तच्छब्दार्थः । उत्पत्त्याद्यभावेऽपि पुरुषव्यापारव्याप्यतया पुरुषार्थत्वमाशङ्कमानं प्रत्याह—\*नचेति\* ॥ उत्पत्त्यादिमत एव पुरुषव्यापारव्याप्यत्वदर्शनादिति भावः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

पञ्चपादिका

विषयेऽनवसितरूपमित्युक्तं पुरस्तात् ; तदाह—\*ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म, ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः\* ॥ ब्रह्मरूपतासाक्षात्करणमित्यर्थः ।

वार्तिकम्

ज्ञातायाम्, अर्थाद् लक्षणया वा विचारोऽपि लब्धो भवतीति । तदेतद् दर्शयति—\*ज्ञानेन हि प्रमाणेनाव-गन्तुमिष्टं ब्रह्मेति\* ॥ हिशब्दः साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकार्यनुभवप्रसिद्धिं द्योतयति । कुत एतदिष्टम् ? तत्राह—\*ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थ इति\* ॥ तदपि कुतः ? तत्राह—\*निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्ह-णादिति\* ॥ तथेति शेषः । उपलक्षणमेतत् ; तस्याः परमानन्दसाक्षात्काररूपत्वादित्यपि बोद्धव्यम् । \*एतेन\*—साक्षात्कर्तव्यतया तिविषयत्वाद्भु मीमांसाया “अथातो ब्रह्ममीमांसे”त्येव मुखतस्तत्सूत्रकरणं



## भामती

निवर्हणात्\* ॥ ब्रह्मावगतौ ब्रह्मस्वभावे नोत्पत्त्यादयः संभवन्ति ; तथाऽप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्यावशाद् ब्रह्मस्वभावोऽपराधीनप्रकाशोऽपि प्रतिभासमानोऽपि न प्रतिभातीव, पराधीनप्रकाश इव, देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नोऽप्यभिन्न इव भासते, इति संसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्हणात् प्रागप्राप्त इव तस्मिन् सति प्रतिभान् प्राप्त इव भवति, इति पुरुषेणार्थ्यमानत्वात् पुरुषार्थ इति युक्तम् । अविद्यादीत्यादिग्रहणेन तत्संस्कारोऽवबुध्यते । अविद्यादिनिवृत्तिस्तूपासनाकार्यादन्तःकरणवृत्तिभेदात् साक्षात्कारादिति द्रष्टव्यम् । उपसंहरति—

## ऋजुप्रकाशिका

ब्रह्मण उत्पत्त्याद्यभावेऽपि ब्रह्म निश्शेषसंसारबीजभूताविद्यानाशात् प्रागप्राप्तमिव स्थितं साक्षात्कारात् प्राप्तमिव भवतीति तावतैव पुरुषार्थत्वं युक्तमित्याह—\*अत आहेति\* ॥ “ब्रह्मावगतावि”त्येतद्ब्रह्मस्वभाव इत्यस्य विशेषणम् ; ब्रह्मावगतिस्वरूपे ब्रह्मस्वभाव इत्यर्थः । \*नोत्पत्त्यादय इति\* ॥ उत्पत्ति-विकृति संस्कारास्तयो न भवन्तीति सत्यमित्यर्थः । तर्हि पुरुषव्यापारव्याप्यत्वाभावाद् न पुरुषार्थः, तत्राह—\*तथापीत्यादिना\* ॥ संसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्हणात् प्रागनिर्वचनीयानाद्यविद्यावशाद् ब्रह्मस्वभावो वस्तुतोऽपराधीनप्रकाशोऽपि पराधीनप्रकाश इव, वस्तुतः प्रतिभासमानोऽपि न प्रतिभातीव, वस्तुतो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नोऽप्यभिन्न इव, नित्यप्राप्तोऽप्यप्राप्त इव भासते । \*तस्मिन् सति = तन्निवर्हणे सति तु । \*प्रतिभान्\* अपराधीनप्रकाशः प्राप्त इव भवतीति पुरुषेणार्थ्यमानत्वात् पुरुषार्थ इति युक्तमिति योजना । आदिशब्दार्थमाह—\*अविद्यादीत्यादि-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* किमिह ज्ञानमित्युच्यते ? संवेदनमेव प्रमाणफलं विज्ञानमिति सुगत-प्रभाकर-वैशेषिक-नैयायिकाः ।

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—स्वरूपे विप्रतिपत्तिदर्शनाद् विशेषस्यानिरूपितत्वादनिरूपणे परोक्षपरोक्षविभागासिद्धिरित्यभिप्रायेण पृच्छति—\*ननु किमिहेति\* ॥ \*ननु—संवेदनस्य ज्ञानत्वमन्येऽपि वदन्ति, कथमेतेषामेव परिग्रह इति ? तत्राह—

## वार्तिकम्

सूत्रकारस्योचितम्, न जिज्ञासाद्वारा परोक्षत आक्षिप्ते ; अकौशलप्रसङ्गादिति—\*अपास्तम्\* ; जिज्ञासासूत्र-णस्य प्रयोजनलाभार्थत्वात् । नच मीमांसाभिधानेऽपि प्रयोजनलाभः ; तथा सति यागादिवद् धर्मविचार-वच्च सकृत् कृतेनैव तत्कर्तव्यतासिद्धेरुक्तफलनैयत्यासिद्धेः । इच्छायां त्वमिहितायां तत्कर्मतया फलपर्यन्त-ज्ञानसिद्धेस्तत्साधनतया विचार आक्षिप्तेऽवघातादिवद् द्वयार्थत्वात्—“आवृत्तिरसकृदुपदेशादि”ति न्यायेन फलपर्यन्तं तदावृत्तिसिद्धिरिति ॥ तस्मादभिमतप्रयोजनसिद्ध्यर्थमिच्छां प्रधानीकृत्य तदन्तर्णीततयैव विचारकर्तव्यतां प्रतिजानता ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं सूत्रकृतेति । जिज्ञासापदव्याख्यानमुपसंहरति—

## भाष्यभावप्रकाशिका

ज्ञानमेवावगतिः, तत् कथं भेदनिर्देशः ? इति शङ्कां निराकुर्वन्नेतदेव प्रपञ्चयति—\*ज्ञानेन हीत्यादिना\* ॥ ज्ञानावगतिशब्दाभ्यां साधक-फलयोरभिधानान्न दोष इति भावः ॥ \*ननु\* ब्रह्मावगतेरपि सुखावाप्ति-दुःखपरिहार-तदुपायरूपताभावान्नेच्छागोचरत्वमित्यत आह—\*ब्रह्मावगतिर्हीति\* ॥

## प्रदीपः

ज्ञानस्यैवंरूपस्य विवक्षायामेव संभवति, इत्यभिप्रायेण जिज्ञासापदार्थमुपसंहरति—\*ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिति\* ॥ मन-नाद्यङ्गकश्रवणं ज्ञानपदस्यार्थः । साक्षात्कारस्ववगतिपदार्थः । स चोपाधितः कृतिसाध्यत्वादिष्यमाणतामर्हति । कृतिसाध्यत्वेऽप्यस्याः सुस्वरूपत्वाभावेन कथं पुरुषार्थत्वम् ? इत्याशङ्काह—\*निःशेषेति\* ॥ \*अविद्याद्यनर्थनिवर्हणादिति\* ॥ यथाचानादित्वेऽ-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

नच संवेदन-फल-चतुष्टयसन्निकर्षादि सामग्र्यं चान्तरेण प्रमातृव्यापारो नाम ज्ञानमस्तीति । वार्तिककारीयाणां तु प्रमातृव्यापारः संविजनको ज्ञानमिति । क्षपणक-लोकायतिकानां चात्मचैतन्यमेव ज्ञानम् । साङ्ख्य-वेदान्तिनां करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानम्, भावव्युत्पत्त्या संवेदनमिति । तत्र न तावत् स्थायिन्यात्मनि संवित्फलोदयः कर्तृ-व्यापारमन्तरेणोपपद्यते । \*ननु\* यतः कारणात् कर्तृव्यापारजन्म, तत एवानुभवजन्म स्यात्, आत्मनः परि-स्पन्दव्यापारानुपपत्तेरिति । अयमत्र वक्तव्यः—किं लोके कर्तृव्यापारात् फलजन्म प्रत्यक्षेणावगतम् ? न वेति ? न चेद् व्याप्तिग्रहणाभावादप्रत्यक्षत्वाच्च न सर्वत्र कर्तृव्यापारावगमः स्यात् । अवगम्यते च लोके कर्तृव्यापारः । अथ लोके फलहेतुतया प्रत्यक्षसिद्धः कर्तृव्यापारः, तर्ह्यात्मन्यपि तदनुमीयते ; व्याप्तिनियमात् । \*ननु\* न परिणामो नाम व्यापारोऽस्ति, आरम्भाभ्युपगमादिति वैशेषिकादयः, \*तर्हि\* प्रयत्नव्यापारजन्यं फलमस्तु, कर्तृ-व्यापारव्याप्तिनियमात्फलस्य । \*ननु\* मनःसंयोगादेवासमवायिकारणाद् व्यापारमन्तरेण ज्ञानमुत्पद्यते, \*न\* ; करणसंयोगव्यतिरेकेण फलजन्मनि कर्तृव्यापारदर्शनात् । अत्र सर्वसङ्करवादी विलपति—पाकादिषु फलस्य कर्तृव्यापाराधीनतादर्शनात् तत्र तथाऽवगम्यताम्, इह तु तद्दर्शनाभावान्न कर्तृव्यापारः—इति, स चानुमान-

## श्रुतिविवरणम्

\*नच संवेदनमिति\* ॥ \*ननु\*—न संवेदनात् कर्तृव्यापारकल्पना ; व्याप्त्यभावात्, कारणानुमानेऽपि न व्यापारानुमा ; क्लृप्तकारणस्य विद्यमानत्वात्, व्यापारानुमाने बाधितविषयत्वप्रसङ्गादिति चोदयति—\*ननु यतः कारणादिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

इत्याह—\*प्रमाणेनेति\* ॥ ज्ञानशब्दार्थं विप्रतिपत्तिदर्शनात् तन्निर्णयार्थं चोद्यमुद्गाद्यति—\*नन्विति\* ॥ ज्ञानशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वाद् न विमर्शसंभव इत्याशङ्क्य, ज्ञानस्वरूपप्रसिद्धावपि तद्विशेषांशे विप्रतिपत्तेर्विमर्शो युक्त इत्याह—\*संवेदनमिति\* ॥ प्रमाणफलं संवेदनम्, तदेव विज्ञानमिति संबन्धः । संवेदनस्य फलत्वाद् ज्ञानस्य तज्जनकत्वात् कथं तयोरैक्यमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ आत्म-मनश्चक्षुराद्यर्थसन्निकर्षस्योभयसंसर्गत्वात् तत एव संविजननसंभवे कारणान्तरकल्पनमयुक्तमित्यर्थः ॥ मतान्तरमाह—\*वार्तिककारीयाणामिति\* ॥ 'जानामी'ति ज्ञानमात्माश्रयतयाऽनु-भूयते, स्फुरणं च घटधर्मत्वेन, ततः कथं तयोरैक्यमित्यर्थः । \*करणेति\* ॥ ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या वृत्तिर्ज्ञानम्, ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावव्युत्पत्त्या संविद् ज्ञानमिति विभागः । एवं विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य तन्निराकरणार्थमुपक्रमते—\*तत्र न तावदिति\* ॥ आत्मनोऽस्थायित्वात् कथं तत्र कर्तृव्यापाराधीनं फलम् ? इति मन्वानं सुगतं प्रत्याह—\*स्थायिनीति\* ॥ कल्पनागौरवप्रसङ्गान्न कर्तृव्यापार एष्टव्य इति शङ्कते—\*ननु यत इति\* ॥

किं व्यापारः परिस्पन्दः ? उत परिणामः ? नाद्यः ; आत्मनः सर्वगतत्वादित्याह—\*आत्मन इति\* ॥ न द्वितीयोऽपि ; तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः । प्रामाणिककल्पनाया अदोषत्वान्सैवमित्याशयेनाह—\*अयमत्रेति\* ॥ व्याप्ति-ग्रहणाभावमुपपादयति—\*अप्रत्यक्षत्वादिति\* ॥ चक्षुर्देन प्रमाणान्तराद् व्याप्तिग्रहणशङ्का निरस्यति । सा भूत् तर्हि कर्तृव्यापारावगम इत्यत्राह—\*अवगम्यत इति\* ॥ आद्यमनुवदति—\*अथेति\* ॥ द्वैधीभावस्य कर्तृव्यापारजन्यताया दृष्टत्वात् संविदोऽपि तज्जन्यत्वमनुमीयत इत्याह—\*तर्हीति\* ॥ आत्मनि व्यापारासंभव इत्युक्तमनुवदति—\*ननु न परिणाम इति\* ॥ व्यापारमन्तरेण फलोत्पत्तेरनुपलब्धेर्व्यापारोऽप्येष्टव्य इत्याह—\*तर्हीति\* ॥ फलमन्यथासिद्धमिति शङ्कते—\*ननु मन इति\* ॥ समवाय्यसमवायि-निमित्तकारणानुरोधात् फलस्योत्पत्तेः संभवाद् न कारणान्तरं मृग्यमित्यर्थः । कारणत्रितयात् कार्योत्पत्तेरुपलम्भाद् यथा त्रयस्याभ्युपगमः, तथा व्यापारोऽप्येष्टव्य इत्याह—\*न करणेति\* ॥ कुशर-वृक्षसंयोगं विनोद्यमनादिव्यापारादष्टेरित्यर्थः ॥

यत्र यद् दृश्यते, तत्र तदेष्टव्यम्, आत्मनि च तद्दर्शनाभावान्न तदेष्टव्यमित्यनुमानाचतुरश्रोद्यमुत्थापयति—\*अत्रेति\* ॥ अनुमानमात्रोच्छित्तिप्रसक्तैर्नैतच्चोद्यं शोभत इत्याह—\*स चेति\* ॥ इष्टसाधनताज्ञानपूर्विका प्रवृत्तिरिति तावत् सर्वजनीनम् । नच तत् त्वन्मते संभवति ; ओदनगतेष्टसाधनताया अप्रत्यक्षत्वात्, न चानुमेयत्वम् ;



### पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रक्रियायामनभिज्ञ इत्युपेक्ष्यते । सुगतानामपि नित्यात्मसाधनादेव संविदां कर्तृव्यापारापेक्षाऽनुमीयते । क्षपणकानामपि स्वरूपचैतन्यस्य निरुपाधिकस्य विषयावभासित्वे सर्वदा सर्वविषयावभासः स्यात् । लोकायतस्य च जन्यसंवेदनत्वात् तद्व्यापारानुमानम् । \*ननु\* सर्वगतस्य निरवयवस्यात्मनो न परिस्पन्द-परिणामौ युक्तौ, \*सत्यम्\* ; अध्यासपरिनिष्पन्नान्तःकरणसम्पिण्डितस्यात्मनो ज्ञानाकारपरिणामात् । नच संवेदनाकारेण परिणामः ; तस्य नित्यसिद्धत्वात् ; अतोऽन्तःकरणपरिणामविशेषश्चैतन्यस्य विषयावच्छेदोपाधिः करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम्, भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेवार्थप्रकाशो ज्ञप्तिर्ज्ञानमित्युच्यते । तत्रार्थोपाधि, अपरोक्षसंविदवच्छेदकं ज्ञानमपरोक्षम्, इति तत्रावयवार्थव्युत्पादनेनापरोक्षावगमेच्छाया वाक्यार्थत्वमुक्तम् ।

### मृजुविवरणम्

\*स चानुमेति\* ॥ प्रसिद्धानुमानोच्छेदादिति भावः । \*क्षपणकानामिति\* ॥ सोपाधिकस्यावभासकत्वे तदाकारे कर्तृव्यापारापेक्षेति भावः । \*ननु\*—संवेदनरूपेणैव परिणामोऽस्त्वित्याशङ्क्याह—\*नच संवेदनेति\* ॥ \*ननु\*—किमनेन व्यापारेण ? चैतन्यस्य विषयावभासकत्वात्, तस्य च नित्यत्वेन व्यापारानपेक्षत्वादित्याशङ्क्याह—\*चैतन्यस्य विषयावच्छेदोपाधिरिति\* ॥ कथं वृत्तेर्ज्ञानत्वमिति ? तदाह—\*करणव्युत्पत्त्येति\* ॥ कथं तर्हि संवेदनस्य ज्ञानत्वमिति ? तत्राह—\*भावव्युत्पत्त्येति\* ॥

कथं तर्हि परोक्षापरोक्षविभागः ? चैतन्यस्य सर्वदापरोक्षत्वाद् वृत्तेरपि तदवच्छेदकत्वेन सर्वदाऽपरोक्षत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*तत्रार्थोपाधीति\* ॥ “तदेतच्छास्त्रान्तर्भूतमि”त्यनेन सूत्रस्य शास्त्रान्तर्भूतत्वप्रतिपादनमयुक्तम् ; पूर्वोत्तरभाष्यव्याख्यानाभावात्, असङ्गतं चेत्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्रावयवार्थेति\* ॥ \*ननु\*—सत्यामाशङ्कायां तन्निराकरणं.

### तत्त्वदीपनम्

उक्तन्यायस्य तत्रापि प्रसरात्, ततो जीवनमेव दुर्लभमापतितमित्यर्थः । स्थायिमते फलस्य कर्तृव्यापारजन्यत्वेऽपि क्षणिकमते कथं तत्कल्पनम् ? इत्याशङ्क्य, क्षणिकत्वस्य निरस्तत्वाद् व्यापारानुमितिर्युक्तेत्याह—\*सुगतानामिति\* ॥ क्षपणकमते नित्यचैतन्यं स्वरूपेणावभासकम् ? उतागन्तुकज्ञानद्वारेण ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*क्षपणकानामिति\* ॥ द्वितीये कर्तृव्यापारसिद्धिरित्यभिप्रायः । लोकायतमते संवेदनस्यागन्तुकत्वात् तज्जनकव्यापार एष्टव्य इत्याह—\*लोकायतस्येति\* ॥ दूषणान्तराभिधित्सया पूर्वोक्तमेव चोद्यमुत्थापयति—\*ननु सर्वगतस्येति\* ॥ सर्वगतत्वाद् न परिस्पन्दः, निरवयवत्वान्न परिणामोऽपीत्यर्थः । आत्मनः परिस्पन्दो न संभवतीत्येतदङ्गीकुर्मः, परिणामानुपपत्तिरिति यदुच्यते, तन्न मृष्यामहे—किं तात्त्विकस्य परिणामस्यानुपपत्तिः ? उत काल्पनिकस्य ? तत्राद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*अध्यासेति\* ॥ अन्तःकरणसंपिण्डित आत्मा संविदाकारेण परिणमत इत्येवेष्ट्यताम्, किं ज्ञानपरिणामेन ? इति शङ्कायामाह—\*नचेति\* ॥ “न हि दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते” इति श्रुतेः संविदो नित्यसिद्धत्वमित्यर्थः ॥ बोधरूपात्मन एव विषयद्रष्टृत्वात् किं परिणामकल्पनया ? इति शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*अत इति\* ॥ विषयावच्छेदः=विषयसंबन्धः, तत्रोपाधिः=प्रयोजकः । स्वतोऽसङ्गस्य विषयसंबन्धासंभवात् तद्वेतुभूतं ज्ञानमेष्टव्यमित्यर्थः । परिणाम-तत्प्रतिबिम्बितसंविदोर्ज्ञानपदव्युत्पत्तिं दर्शयति—\*करणव्युत्पत्त्येति\* ॥ एवं संविज्ज्ञानभेदेऽपि परोक्षापरोक्षसंविद्वेदः कथम् ? तस्याः सदाऽपरोक्षत्वात् तदवच्छेदकवृत्तेश्च परोक्षत्वादित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ अर्थोपाधीति पदच्छेदः । अर्थ उपाधिः=जनको यस्य, तदर्थोपाधि, इन्द्रियसंयुक्तोऽर्थः स्वाकारां वृत्तिं जनयति, तस्यां च वृत्तौ अपरोक्षसंवित् प्रतिबिम्बिता भवति, ततश्चापरोक्षसंवित्प्रतिबिम्बाधारतया ज्ञानस्याप्यपरोक्षत्वम् । यत्र चेन्द्रियसंयुक्तार्थस्य वृत्तिजनकत्वाभावः, तत्र चापरोक्षसंविदो न प्रतिबिम्बभाव इति ज्ञानस्य पारोक्ष्यमित्यर्थः । अपरोक्षसंविदवच्छेदकत्वमुपपादयितुमर्थोपाधीति विशेषणम् ॥

उत्तरभाष्यव्याख्यां विहाय सूत्रस्य शास्त्रान्तर्भावः कस्मादुच्यते ? इत्याशङ्क्य, वृत्तानुवादपूर्वकं तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ अतीतग्रन्थ इत्यर्थः । \*अवयवार्थेति\* ॥ “ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासे”ति जिज्ञासाशब्दस्यावयवार्थव्युत्पादने-



## पञ्चपादिका

तदेतच्छास्त्रान्तर्भूतं सूत्रम् । अनेन च प्रयोज्य-संबन्धिन्योर्जिज्ञासा-मुमुक्षाक्रिययोरेकस्याः

## पञ्चपादिकाविवरणम्

इष्यमाणज्ञानफलोपदेशमुखेनान्तर्णीतं तत्साधनं विचारं कर्तव्यतया वाक्यार्थं प्रतिपादयत्युत्तरं भाष्यम् । तस्य तात्पर्यं दर्शयितुमाशङ्कान्तरं निवर्तयति । कथम् ? नास्य सूत्रस्य वाक्यार्थो वर्णनीयः । \*तथाहि\*—अस्य सूत्रस्य शास्त्रान्तर्भूतत्वे विचारारम्भकर्तव्यता । विचारसूत्रस्य केनारम्भः क्रियते ? स्वेनैव चेत्, आत्माश्रयतापत्तिः ; सूत्रान्तरेण चेत्, अनवस्थापातः, अथानन्तर्भूतम्, तर्हि प्रथमसूत्रस्याशास्त्रतयाऽनारम्भप्रसङ्ग इति, तत्राह—  
\*तदेतच्छास्त्रान्तर्भूतं सूत्रमिति\* ॥ आपातप्रतिपन्नोत्तरविचारविधिरेव स्वापेक्षितविचाराय प्रथमसूत्रमारम्भयति । विधौ च विचारिते विधिविषयविचारसूत्राणि पश्चादारम्भयतीत्येकशास्त्रत्वेऽपि नानवस्था । श्रोतव्यादिवाक्यानां स्वार्थे समन्वयद्वारेण विचार्यमाणवेदान्तवाक्यानामपि ब्रह्मणि समन्वयनिमित्तत्वासमन्वये च संबन्ध इति । अत्र च श्रुत्या किं प्रतिपादितमिति ? तदाह—\*अनेन चेति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

क्रियेत, नह्यस्य शास्त्रान्तर्भूतत्वशङ्का, नापि सूत्रव्याख्यानावसरे तत्प्रतिपादनं सङ्गतमित्यभिप्रेत्य पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ \*ननु\*—सकलसूत्रव्याख्याने प्रवृत्तत्वादस्यापि सूत्रत्वात् कथमव्याख्येयमित्याशङ्क्याह—\*तथा ह्यस्येति\* ॥ अन्तर्भूतत्वपक्षे स्वेनैव प्रयुक्तावात्माश्रयत्वम्, सूत्रान्तरेण चेदनवस्थानान्न प्रयुक्तिसंभव इति यदुक्तम्, तत्परिहरति—  
\*आपातप्रतिपन्नेति\* ॥ स्वापेक्षितविचारायेति\* ॥ अनुबन्धनिर्णयायेत्यर्थः । एकशास्त्रत्वेऽपि प्रयुक्तिसंभवान्नानवस्थेत्यर्थः । \*ननु\*—एवमपि न समन्वयाध्याये प्रयुक्तिः संभवति, संबन्धाभावादित्याशङ्क्याह—\*श्रोतव्यादीति\* ॥  
“एकस्याः” इत्यनेन न जिज्ञासानिर्देशः ; तस्य मुमुक्षाहेतुत्वाभावात्, नापि मुमुक्षानिर्देशः ; तावन्मात्रस्य हेतुत्वस्या-

## तत्त्वदीपनम्

नेत्यर्थः । इच्छाया वाक्यार्थत्वे विषयसौन्दर्यलभ्यत्वात् कर्तव्योपदेशानुपपत्तिः ; तथाच साकाङ्क्षत्वेन वैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—\*इष्यमाणेति\* ॥ अन्तर्णीतमित्यस्यायमर्थः—इष्यमाणज्ञानं प्रति साक्षादिच्छायाः साधनत्वासंभवादिच्छाऽनन्तरभावी ज्ञानात्प्राक्कालसंबन्धी विचारो लक्ष्यते ; तत्र ब्रह्मज्ञानस्यान्यत उत्पत्त्यसंभवाद् वेदान्तेभ्य एवोत्पत्तिर्वक्तव्या । नचानिर्णीतशक्तितात्पर्याणां वेदान्तानामप्रतिबन्धापरोक्षप्रत्ययजनकत्वम्, इति शक्तितात्पर्यविचारः कर्तव्यो मुमुक्षुणा, इत्याशङ्कान्तरसद्भावे तन्निराकरणं स्यात्, तदेव कथमिति शङ्कते—\*कथमिति\* ॥ शङ्कामाह—  
\*नास्येति\* ॥ किमेतत्सूत्रं शास्त्रान्तर्भूतम् ? उत न ? इति विकल्प्याद्यमुत्थापयति—\*अस्येति\* ॥ तत्रापि किमेतत्सूत्रारम्भ एतत्प्रयुक्तः ? आहोस्विदन्प्रयुक्तः ? इति विकल्पयति—\*विचारेति\* ॥ विचारारम्भकर्तव्यताया विचारो निरूपणं यत्स्मिन् सूत्रे तत्तथोक्तम्, तस्य=प्रथमसूत्रस्येत्यर्थः । आद्यमुत्थाप्य दूषयति—\*स्वेनेति\* ॥ स्वस्यारम्भसिद्धेस्तस्य प्रयोजकत्वमित्यात्माश्रयता । द्वितीयं दूषयति—\*सूत्रान्तरेणेति\* ॥ आद्यसूत्रारम्भस्य सूत्रान्तरप्रयोज्यत्वे तदारम्भस्यापि सूत्रान्तरप्रयोज्यत्वम्, तस्यान्यप्रयोज्यत्वमित्यनवस्थेत्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—\*अथेति\* ॥ वाक्यार्थनिर्णयायापेक्षितन्यायकलापप्रतिपादकशास्त्रबाह्यत्वादाद्यसूत्रं मुमुक्षुणा नारम्भमित्याह—\*तर्हीति\* ॥ अन्तर्भावपक्षस्यापि दुष्टत्वात् कथमुपादेयत्वम् ? तत्राह—\*आपातेति\* ॥ साङ्गाध्ययनविधिमपेक्ष्य “श्रोतव्यः” इति विधिं प्रतिपद्यत इति । विधिश्चानुबन्धत्रयमन्तरेणासंभाव्यमानोऽनुबन्धत्रयापेक्षितन्यायप्रतिपादकं सूत्रमारम्भयतीत्यर्थः । अध्ययनविधिमपेक्ष्य “श्रोतव्यः” इत्यादिविधिरुत्तरविधिशब्दार्थः । तत्राप्यस्य प्रथमारम्भः कस्मादित्यत्राह—\*विधाविति\* ॥ विधेर्विषयो विधिविषयः, स च विचारश्चेति विधिविषयविचारः, तद्विषयसूत्राणीत्यर्थः । तथाऽपि कथं समन्वयसङ्गतिः ? इत्याशङ्क्याह—  
\*श्रोतव्येति\* ॥ “श्रोतव्यो जिज्ञासितव्यः” इत्यादिवाक्यानां विचारविधौ समन्वयं तावदिदं सूत्रं प्रतिपादयति । अर्थाच्च विचारकर्तव्यतायां सिद्धायां वेदान्तानामपि ब्रह्मणि समन्वयनिमित्ततां भजत इति समन्वयसंबन्ध इत्यर्थः ॥ सूत्रेऽनुबन्धत्रयाप्रतिपत्तेः कथमस्य तत्प्रतिपादकत्वम् ? इति पृच्छति—\*अत्रेति\* ॥ \*अत्र=सूत्रे । श्रुत्या=



## पञ्चपादिका

कारणान्तरसिद्धायाः पूर्ववृत्ततया हेतुत्वमर्थोदुपात्तमितरस्यास्तदनन्तरं तत्प्रयुक्तायाः कर्तव्यता श्रुत्याऽभिहिता । तत्र जानात्येवासौ मयैतत् कर्तव्यमिति, उपायन्तु न वेद । ततस्तस्योपायः कथनीयः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*“प्रयोज्यः” इत्यधिकारी । \*एकस्या इति\* ॥ साधनकलापस्येति । तस्य कारणान्तरमदृष्टं यज्ञादि \*दृष्टञ्च\* व्याप्त्यनुसंधानादि । \*अर्थोदुपात्तमिति\* ॥ आनन्तर्याभिधानसामर्थ्यादिति । अतःशब्दस्य मुखतो हेतुत्वाभिधायिनोऽप्याशङ्कान्तरनिवृत्तौ तात्पर्यादर्थाद्देतुत्वमुक्तम्, इत्यनुवादे प्रयोजनाभावात् कर्तव्यपदमध्याहृत्य जिज्ञासा कर्तव्यतया श्रुत्याऽभिहिता । \*ननु\* इच्छासंयोगाद् ज्ञानस्य साध्यतावगमात् तदेव कर्तव्यमस्त्विति, नेत्याह—\*तत्र जानात्येवेति\* ॥ इष्यमाणस्य साध्यता स्वयं सिद्धा, न शब्दमपेक्षते; सुखसंवेदनत्वादित्यर्थः । किं तर्हि विधीयत इति ? तदाह—\*उपायं तु न वेदेति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

प्रतिपाद्यत्वात्पूर्वापरविरोधादित्याशङ्क्याह—\*एकस्या इति । साधनेति\* ॥ “कारणान्तरसिद्धायाः” इत्युक्तम्, किन्तदित्यपेक्षायामाह—\*तस्य कारणान्तरमिति\* ॥ \*ननु\*—हेतुत्ववाचिनोऽतःशब्दस्य विद्यमानत्वात् कथमर्थोदुपात्तमित्युक्तमिति ? तदाह—\*अतःशब्दस्येति\* ॥ \*ननु\*—“कर्तव्यता श्रुत्याऽभिहिते”ति न युक्तं वक्तुम्; कर्तव्येतिपदाभावे तदर्थस्य श्रौतत्वाभावादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अनुवादे प्रयोजनेति\* ॥ “जानात्येवे”ति कथमुक्तम् ? बोधकप्रमाणाभावे कर्तव्यताज्ञानायोगात्, तदेव कर्तव्यम्, न विचार इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*इष्यमाणस्येति\* ॥ \*ननु\*—उपाय एव तर्हि कर्तव्यः, नतु कर्तव्येतिपदाध्याहारेण कर्तव्यतानिरूपणं युक्तमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अनवगताभिलषितेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

मुख्यवृत्त्येत्यर्थः । अप्रतिपत्तिरसिद्धेत्याह—\*तदाहेति\* ॥ प्रयोज्यो निष्पाद्य इति शङ्कां निरस्यति—\*प्रयोज्य इति\* ॥ तथाचोक्तम्—“नियोज्यः स च कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुध्यते” इति । “एकस्याः” इत्यत्र किं जिज्ञासा निर्दिश्यते ? उत मुमुक्षा ? आद्ये तस्या जिज्ञासाहेतुत्वाभिधानायोगः, न द्वितीयः; पूर्वत्र साधनचतुष्टयस्य हेतुत्वमुक्तम्, अत्र चैकस्य हेतुत्वमुच्यत इति विरोधप्रसङ्गात्, तत्राह—\*एकस्या इति\* ॥ मुमुक्षाशब्दस्य विशेष(१)णत्रयोपलक्षणत्वाच्च विरोध इत्यर्थः । \*ननु\* अर्थोदुपात्तं हेतुत्वमिति कथमुक्तम् ? अथशब्देन तस्योपादानादित्याशङ्क्याह—\*अर्थोदिति\* ॥ आनन्तर्यमथशब्दस्याभिधेयार्थः, तद्वलाद्धेतुत्वप्रतिपत्तेरित्यर्थः । \*ननु\* अतःशब्देन हेत्वभिधायिनोपात्तमिति शङ्कां निरस्यति—\*अतःशब्दस्येति\* ॥

जिज्ञासायाः कर्तव्यत्वं श्रुत्यभिहितमिति कथमुक्तम् ? तद्वाचकपदाभावादित्याशङ्क्याह—\*अनुवाद इति\* ॥ विचारकर्तव्यताया असूत्रार्थत्वं शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ “अनधिगते शास्त्रमर्थवदि”ति न्यायविरोधाद् भवमिति दूषयति—\*नेत्याहेति\* ॥ ज्ञानकर्तव्यताया अधिगतत्वं कुतः ? अत्राह—\*इष्यमाणस्येति\* ॥ ज्ञानस्यासाध्यत्वे सन्वाच्याया इच्छायाः कर्तव्यत्वं प्राप्तमिति शङ्कते—\*किं तर्हि\* ॥ इच्छाया अपि स्वतः सिद्धत्वात् तत्र कर्तव्यतोपदेशानुपपत्तेरुपायं लक्षयित्वा तस्य कर्तव्यत्वमुच्यत इत्याह—\*तदाहेति\* ॥

\*ननु\* नियोगस्य प्रवर्तकत्वात् स कथनीय इति वक्तव्यम्, किमुपायः कथनीय इत्युच्यते ? इत्याशङ्क्य,

(१) यद्यपि साधनत्रयसाध्यमुमुक्षामात्रमधिकारिविशेषणम्, एवमपि साधनत्रयानुल्लेखे सवैसाधारणममुक्तमुमुक्षामात्रमधिकारिविशेषणतया विवक्षितमिति शङ्का स्यात् । अतः साधनत्रयोल्लेखोऽपि भाष्यकारागामत्रोपपद्यत इति । अयमाशयः—यथा ह्यनुक्तया मुमुक्षा नात्र विवक्षणीयेति सूचनार्थं शमदमीदसाधनसम्पदुल्लेख आवश्यकः, एवमनुक्तदृशमदमादेस्तादृशविरागस्य चात्राग्रहणसूचनेनेतरसाधनद्वयोल्लेखोऽपि सप्रयोजन एव । वैराग्यकारणतया भामत्यभिमतपरीक्षाधीनसत्यानृतवस्तुविनिर्णयात्मकनित्यानित्यवस्तुविवेकस्तु नानुक्तकटः प्रसिद्ध इति तत्साधनसाधनान्तरोल्लेखोऽत्रानपेक्षित एव । श्रुतिष्वपि विवरणोद्धतज्ञानश्रवणादिविधिप्रकरणेष्वेतेषामेवाधिकारिविशेषणतयाऽऽज्ञानमप्यत एवोपपद्यते ।



## तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम् ।

भामती

\*तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्\* ॥ उक्तलक्षणेन मुमुक्षुणा । न खलु तज्ज्ञानं विना सवासनविविध-  
दुःखनिदानमविद्योच्छिद्यते । नच तदुच्छेदमन्तरेण विगलितनिखिलदुःखानुषङ्गानन्दधनब्रह्मात्मता-

ऋजुप्रकाशिका

शब्देनेति\* ॥ अविद्याद्यनर्थनिवर्हणस्यावश्यकत्वमुक्तप्रायम् । निवर्हो नाम = निवृत्तिः । कथं तर्हि तन्नि-  
वृत्तिरिति ? अत आह—\*अविद्यानिवृत्तिस्त्विति\* ॥ भावनाख्यं निदिध्यासनमुपासनाशब्दार्थः । “तस्माद्  
ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्” इत्युक्तं भाष्यकृता, तत्रापेक्षितं पूरयति—\*उक्तलक्षणेन मुमुक्षुणेति\* ॥ नित्यानित्यवस्तु-  
विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्तिमतेत्यर्थः । \*ननु\* अविद्यानिवृत्तेर्ज्ञानादन्यत एव संभवाद् न ज्ञाना-  
वश्यकता, अत एव न ज्ञानेच्छालक्षणा जिज्ञासेत्यत आह—\*न खल्विति\* ॥ यतो ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तक-  
मित्यभियुक्तवचनाद् ज्ञानेनैवाज्ञाननिवृत्तिदर्शनाच्च ज्ञानैकनिवर्त्यत्वादविद्याया नान्यतस्तन्निवृत्तिरिति भावः ।  
\*ननु\*—माऽस्तु तर्ह्यविद्योच्छेदः, येन तदुच्छेदाय ज्ञानावश्यकता स्यादित्यत आह—न तदुच्छेदमन्तरे-

पञ्चपादिका

शास्त्रस्य च सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनानि वक्तव्यानि ; इतरथा प्रेक्षारहितमिव सर्वमापद्येत । अतोऽने-  
नैव सूत्रेणेदमपि सर्वं सूचितमिति कथयितुमाह—\*तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति\* ॥ अन्तर्णीत-

पञ्चपादिकाविवरणम्

अनवगताभिलषितोपाय एव विधिः प्रतिपाद्यत इत्यत इत्यर्थः । अदृष्टोपायत्वेऽप्यपरोक्षानुभवं  
प्रत्यदृष्टोपायताऽपि दर्शिता श्रवणादिविधेः । \*ननु\* पदार्थव्याख्यानादेव स्वयमेव वाक्यार्थं प्रतिपद्यते, किं  
वाक्यार्थकथनेन ? \*सत्यम्\* ; संबन्धादीनामर्थात् प्रतिभासो वाक्यार्थकथनेन भवतीत्याह—\*शास्त्रस्य

तत्त्वदीपनम्

प्रवर्तकत्वमपीष्टसाधनस्येत्यभिप्रायेणाह—\*अनवगतेति\* ॥ विचारस्य ज्ञानोपायताया अन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वात् तत्र  
विधिरनर्थक इत्याशङ्क्याह—\*दृष्टेति\* ॥ यथा “ब्रीहीनवहन्त्यादि”त्यत्र दृष्टार्थोऽप्यवहनने विधिराश्रीयते ; नियमा-  
दृष्टसंभवात्, तद्वदत्रापि । नच—तत्र नियमादृष्टसाध्यप्रधानापूर्वसंभवाद् विधेरर्थवत्त्वम्, अत्र त्वदृष्टसाध्यं नेत्यपि—  
शङ्कनीयम् ; आत्मसाक्षात्कारस्यादृष्टसाध्यत्वादित्यर्थः । “तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति”त्यादिभाष्यमाक्षिपति—  
\*ननु पदार्थेति\* ॥ प्रयोजनविशेषसंभवात् सोऽपि कथनीय इत्याह—\*सत्यमिति\* ॥ वाक्यार्थकथनभाष्ये संबन्धाद्य-  
प्रतिपत्तेरनर्थकमेतदित्याशङ्कते—\*मुमुक्षुणेति\* ॥ उत्तरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः । अत्रेदं विवक्षितम्—ब्रह्मज्ञानाय विचारः

वार्तिकम्

\*तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तमिति\* ॥ सूत्रकृतेति शेषः ॥ \*तस्मात्\*—उक्तप्रयोजनसिद्धेः कारणा-  
दित्यर्थः । तदेवं चतुर्भिः पदैरधिकारि-संबन्ध-विषय-प्रयोजनानि यथाक्रममर्थात् सूत्रकारेण विचारं  
प्रतिजानता सूत्रितानि श्रोतृणां प्रवृत्तिसिद्धये । \*ननु\*—एवं तर्हि सूत्रकारेण न तान्यभिधातव्यानि ;  
तस्मिन् गृहीतासभावानां स्वयमेव तद्वचसि विश्वस्य प्रयोजनादिमत्त्वं ज्ञात्वा वृत्त्युपपत्तेः । नहि परमाप्त-  
तया यैरर्थो गृहीतः, तैस्तत्प्रणीते शास्त्रे निष्प्रयोजनत्वम्, निरभिधेयत्वम्, निःसंबन्धत्वं वाऽध्यवसीयते ;

भाष्यभावप्रकाशिका

उपसंहरति—\*तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासितव्यमिति\* ॥

प्रदीपः

ध्यविद्यायां न निवृत्त्यनुपपत्तिः, तथा पूर्वमेव सूचितम् । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ अवगतेरविद्यानिवर्तकत्वेन वस्तुगत्या  
ब्रह्मभावात्मतासंभवात् । ब्रह्मजिज्ञासापदं “विजिज्ञासुस्वे”ति श्रुत्यर्थस्यैव संग्रहभूतमिति सूचनपूर्वकं ब्रह्मजिज्ञासापदविवरणं



## भामती

साक्षात्काराविर्भावो जीवस्य । तस्मादानन्दधनब्रह्मात्मतामिच्छता तदुपायो ज्ञानमेषितव्यम् । तच्च न केवलेभ्यो वेदान्तेभ्यः, अपि तु ब्रह्ममीमांसोपकरणेभ्य इतीच्छामुखेन ब्रह्ममीमांसायां प्रवर्त्यते, न तु वेदान्तेषु तदर्थविवक्षायां वा । तत्र फलवदर्थवबोधपरता स्वाध्यायाध्ययनविधेः सूत्रयता “अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्यनेनैव प्रवर्तितत्वात्, धर्मग्रहणस्य च वेदार्थोपलक्षणत्वेनाधर्मवद्ब्रह्मणोऽप्युपलक्षणाच्च यद्यपि धर्ममीमांसावद् मीमांसया ब्रह्ममीमांसाऽप्याक्षेप्तुं शक्यते ; तथाऽपि प्राच्या मीमांसया न

## ऋजुप्रकाशिका

नेति\*॥ आत्मनो विगलितनिखिलदुःखानुपङ्गं यदानन्दधनं ब्रह्मस्वरूपं तत्त्वेन तद्रूपेण \*साक्षात्काराविर्भावः = अनुभवाविर्भावः ; ब्रह्मानन्दाविर्भाव इति यावत् । स तदुच्छेदमन्तरेण न भवतीत्यर्थः । तथाच तदुच्छेद आवश्यक इति भावः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ज्ञानम् = ब्रह्मज्ञानम् । ततः किमिति ? अत आह—\*तच्चेति\* ॥ ब्रह्मज्ञानं चेत्यर्थः । \*अपितु ब्रह्मेति\* । ब्रह्ममीमांसोपकरणेभ्यः = वेदान्तेभ्य इत्यर्थः । \*इच्छामुखेन = ब्रह्मजिज्ञासामुखेनेति यावत् । तथाच ब्रह्ममीमांसारम्भाय ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति “अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इति सूत्रमारम्भणीयमिति स्थितम् । \*ननु\* धर्ममीमांसयैव ब्रह्ममीमांसाया आक्षिप्तत्वाद् न ब्रह्ममीमांसा पृथगारम्भ्या, अत एव न ब्रह्मजिज्ञासासूत्रमपि पृथगारम्भणीयम् ; पुनरुक्तत्वात्, इति पुनराशङ्क्य निराकरोति—\*तत्र फलवदर्थेत्यादिना—अपौनरुक्त्यमित्यन्तेन\*॥ अग्रे विद्यमानयद्यपीत्येतत्पदम्, आदौ तत्वेत्यनन्तरं प्रक्षेप्तव्यम् । स्वाध्यायाध्ययनविधेः फलवदर्थवबोधपरतां सूत्रयता जैमिनिना “अथाऽतो धर्मजिज्ञासा” इत्यनेनैव ब्रह्ममीमांसाया अपि प्रवर्तितत्वाद् धर्ममीमांसया ब्रह्ममीमांसाऽऽक्षेप्तुं शक्या, इत्यर्थाध्याहारेण प्रथममन्वयः । \*ननु\*—“अथाऽतो धर्मजिज्ञासा” इत्यत्र ब्रह्मपदाभावात् कथं धर्ममीमांसया ब्रह्ममीमांसाऽऽक्षेप्तुं शक्येति ? अत आह—\*धर्मग्रहणस्य चेति\* ॥ “अथाऽतो धर्मजिज्ञासा” इति सूत्रस्थधर्मग्रहणस्येत्यर्थः । \*धर्ममीमांसेति\* ॥ धर्मग्रहणस्याधर्मोपलक्षणत्वेन धर्ममीमांसया यथाऽधर्ममीमांसाऽऽक्षिता, एवं धर्मग्रहणस्य ब्रह्मोपलक्षणत्वेन धर्ममीमांसया ब्रह्ममीमांसाऽऽक्षेप्तुं शक्येत्यर्थः । \*ननु\* धर्मग्रहणस्य कथमधर्मब्रह्मोपलक्षकत्वम् ? इत्याशङ्क्य, तत्र हेतुमाह—\*वेदार्थत्वाद् धर्मग्रहणस्य तदुपलक्षणत्वमायातमिति भावः । \*ननु\* धर्मग्रहणस्य वेदार्थमात्रोपलक्षकत्वं वा कथमिति चेत्, \*तदुच्यते\*—धर्मवत्प्रमाणस्वरूपसाधन-फलानामपि विचार्यत्वात् तेषामवेदार्थत्वे तद्विचारयोगाद् धर्मग्रहणस्य तदुपलक्षणत्वेऽवश्यवक्तव्ये वेदार्थैकदेशलक्षकत्वापेक्षया वेदार्थमात्रोपलक्षकत्वस्य सामान्यत्वेन लघुत्वाद् वेदार्थमात्रोपलक्षकत्वं धर्मग्रहणस्येति द्रष्टव्यम् । फलवदर्थवबोधपरता स्वाध्यायाध्ययनविधेरुक्ता, तत् कथमिति चेत्, उच्यते—निखिलस्वाध्यायस्याक्षरावाप्तिमात्रपर्यन्तत्वे जपमात्रोपयोगितयाऽर्थवबोधाभावेऽनुष्ठानापर्यवसायिता स्यात् । तथाच कर्मानुष्ठानं लुप्येत, निखिलस्वाध्यायस्यार्थवबोधपर्यन्ततायामवश्यवाच्यायामन्तःपातिनः स्वाध्यायाध्ययनविधेरपि फलवदर्थवबोधपरत्वमिति बोध्यम् । \*ननु\*—अध्ययनविधेः फलवदर्थवबोधपरतां सूत्रयतेत्यनेनाध्ययनविधिगत-फलवदर्थवबोधपरता सूत्रेणाप्युक्ता, तत् कथम् ? “अथाऽतो धर्मजिज्ञासा” इत्यत्र तदप्रतीतेरिति—चेत्, \*उच्यते\*—मुखतः सूत्रणाभावेऽप्यर्थवबोधं विनोक्तविधयाऽनुपपत्तेरर्थात् सूत्रणं बोध्यम् । अत एव प्रमाण-

## प्रदीपः

समापयति—\*ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति\* ॥ विशिष्टसूत्रार्थस्तु—साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं साधनचतुष्टयसम्पत्तिः संभवात् मननाद्यङ्गकश्रवणसाध्यब्रह्मसाक्षात्कारेच्छा भवतीति । अत्र जिज्ञासेतीच्छामात्रविवक्षया विध्यविवक्षया च विषयवाक्येऽपि विधिरविवक्षित इति भामतीमतम्, विवरणमतन्तु विषयवाक्ये विधिर्विवक्षित, इति । “तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति”ति माष्यं विधिपक्षस्यानुकूलम्, समन्वयसूत्रमाष्यन्तु अविधिपक्षस्य । अविधिपक्षेऽपि तन्व्यप्रत्ययो न विरुद्ध इति समन्वयसूत्रमाष्य-विवरणावसरे स्पष्टीकरिष्यते ॥



## वार्तिकम्

तदासत्त्वभङ्गप्रसङ्गात्, अतस्तान् प्रति तदभिधानं व्यर्थम्; स्वयमेव तत्प्रणीते तद्ग्रहसंभवात् । नच—  
 अगृहीतासभावान् प्रति तदभिधानं सफलमिति—वाच्यम्; तच्छब्देऽपि तेषामविश्वासात् तत्र प्रवृत्त्यनुप-  
 पत्तेः । तर्हि तद्वचनादेव तद्वचने विश्वासोपपत्तिरिति चेत्, सत्यम्; गृहीतासभावानां तत्प्रणीते  
 शास्त्रे स्वत एव सामान्यत एव प्रयाजनादिमत्त्वप्रतीतिः, न विशेषतः; आसत्प्रणीतत्वस्य सामान्यत  
 एव तद्वत्त्वप्रत्यायकत्वात् । नच सामान्यतस्तद्वत्त्वज्ञानं प्रवृत्तावुपयुज्यते; स्वानभिलषितस्यापि प्रयो-  
 जनादेः संभवात्, स्वाभिलषितज्ञानादेव प्रवृत्तिदर्शनात् । नहि सप्रयोजनं सविषयं संबद्धं साधिकारिकं  
 च कर्मकाण्डं भवतीति कृत्वा गृहस्थवत् परिव्राजकोऽपि तत्र प्रवर्तते । कुतः? स्वाभिलषितप्रयो-  
 जनादेस्तत्राभावात् । अतः प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं तद्विशेषाभिधानं सूत्रकृता कर्तव्यम्, \*सत्यम्\* ; तथाऽपि  
 प्रयोजनमात्रमभिधीयताम्; तावतैव विषयादिलाभात् । नहि यत् सप्रयोजनम्, तद् निर्विषयमसंबद्ध-  
 मनधिकारिकं वा दृष्टम् । नहि द्वैधीभावप्रयोजनव्याप्तः कुटारो निर्विषयो वा, सविषयत्वेऽप्यसंबद्धो  
 वा, संबद्धत्वेऽपि निरधिष्ठितो वा संभवति, संभवे वा तत्प्रयोजनव्याप्तो भवति । अपिच न प्रयोजन-  
 विषययोर्भेदोऽस्ति; कर्तुरीप्सिततमस्यैव कर्मत्वात् । अत एव तत्संबन्धयोरपि नास्ति भेदः; प्रयोजन-  
 संबन्धस्यैव विषयसंबन्धत्वात् । \*ननु\*—विषय-फलयोरैक्ये कथमेकस्यां क्रियायामेकस्य साध्य-साधन-  
 त्वोपपत्तिः? विरोधात्, इति—चेत्, \*नैष दोषः\* ; अवस्थाभेदेन तदुपपत्तेः । य एव हि क्रियाविषयः,  
 स एव तत्फलविषय इति निर्विवादम्; क्रिया-फलयोः समानाश्रय-विषयकत्वनियमात् । तत्र यथैकैव  
 क्रिया सजातीय-विजातीयानेककारकव्यापाररूपा पूर्वापरीभावापश्चात् फल-करणेति कर्तव्यतारूपैः स्वांशैर्व्यव-  
 च्छिन्ना साध्य-साधनभावमनुभवतीति न विरुध्यते, एवमेकमपि कर्मकारकं तत्करणांशविषयत्वेन कार-  
 कत्वम्, तत्फलांशविषयत्वेन च साध्यत्वमनुभवति, इति नैकस्यैकस्यां क्रियायां साध्य-साधनभावविरोधः ।  
 तद्यथा—एक एव वृत्तः कुटारद्वारोद्यमन-निपातनलक्षणकर्तृव्यापारांशविषयतया साधनत्वं निगच्छति,  
 तद्विशिष्टकुटारस्य द्वैधीभावलक्षणव्यापारविषयतया तु फलत्वमिति । एवमन्यत्राप्युक्तम् । अपि च भवतु  
 नाम लोके यथा कथञ्चिदवस्थाभेदेनापि विषय-प्रयोजनभेदव्यवस्था, प्रकृते तु साऽपि न संभवति;  
 ज्ञानक्रियाविषयस्य ब्रह्मण एव चिद्रूपत्वेनाविशिष्टतया फलत्वात्, घटादाविव तस्मिन् फलत्वानङ्गी-  
 काराच्च, अङ्गीकारे वा जडत्वप्रसङ्गात् । तस्मान्न प्रयोजनात् पृथग् विषयाभिधानं कर्तव्यमिति, \*अत्रो-  
 च्यते\* ; सत्यं नास्ति प्रकृते विषय-प्रयोजनयोः परमार्थतो भेदः, तथाऽपि ज्ञानात् पूर्वं लोकवत् तयोः  
 सिद्ध्यसिद्धिभ्यां भेदं मत्वा पृथक् तज्ज्ञानमपेक्षतेऽधिकारी प्रवृत्त्यङ्गभावाय । तद्यथा—रज्जुतत्त्वादपृथग्भू-  
 ताधारोपितसर्पादिनिवृत्तिं ततः पृथग् मत्वा पृथगाकाङ्क्षति, तद्वत् । \*ननु\*—उक्तं लोकेऽपि नास्ति  
 तयोर्भेद इति, नच—धर्मिणोऽभेदेऽपि क्रियाजन्यातिशयानतिशयवत्त्वाभ्यामवस्थाभेदेन सिद्धासिद्धत्वा-  
 भ्यामस्ति तयोर्भेद इत्यप्युक्तमिति—वाच्यम्; असिद्धस्यापि घट-स्वर्गादेः—‘घटं कुरु स्वर्गं कुर्वित्यादौ  
 कर्मत्वदर्शनात्, तस्यैव च फलत्वात् । नचात्रास्त्यतिशयभेदः, येन तद्भेदादपि भेदकल्पनं स्यादिति—  
 चेत्, \*न\* ; स्वर्ग-घटादेर्भावनाकर्मत्वेऽपि धात्वर्थकर्मत्वाभावात्, मृदादेः सिद्धस्यैव तदुपादानस्य

## प्रदीपः

साधनंचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं निर्विशेषब्रह्मविचार एव सङ्गतः, नतु सगुणोपासनविधिविचारोऽपि; यतस्तत्र विरक्तानामेवाधि-  
 कारः, इति सगुणोपासनाविधिवाक्यानां कथं ब्रह्ममीमांसायां सङ्गतिरिति चेत्, अत्र प्रतिभाति—यत् सगुणोपासनस्यापि क्रममुक्तिद्वारा  
 हिण्यगर्भलोकाप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मविचाराधिकारप्रयोगकृत्वाधिकारिविशेषेषु साधनकोटौ प्रवेशाद् नित्यानित्यविवेक-वैराग्यादिसंभवादि-



भामह्यौ

तद् व्युत्पाद्यते, नापि ब्रह्ममीमांसाया अध्ययनमात्रानन्तर्यम्, इति ब्रह्ममीमांसारम्भाय नित्यानित्य-

ऋजुप्रकाशिका

स्वरूपसाधनफलानामपि जिज्ञास्यत्वमर्थात् सूत्रितमिति वदन्ति । एवम्—“अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्यत्र ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वमर्थात् सूत्रितमेवेति न ब्रह्मजिज्ञासा पृथगारभ्येति बोध्ये स्थिते, \*तथापीत्यादिः परिहारः ।

वार्तिकम्

धात्वर्थकर्मत्वात्, तत्कर्मण एव कारकत्वनियमात्, भावनाकर्मणोऽसिद्धत्वनियमेन कारकत्वासिद्धेः, इच्छा-कृत्योः समानविषयत्वात्, इच्छायास्त्वसिद्धविषयत्वनियमात् । अत एव “कर्तुरीप्सिततमं कर्म” इति भावनाकर्मणोऽनुशासनमुपपद्यते । तस्माद् धात्वर्थ-प्रत्ययार्थयोः सिद्ध-साध्यत्वरूपेण कर्मभेदादस्ति विषय-फलयोर्लोकेऽवस्थाभेदेन भेद इति । अपिच यत्रापि धात्वर्थोऽकर्मकः, तत्रापि प्रत्ययार्थस्य कर्म दृष्टम्; तस्य कर्माव्यभिचारित्वात् । तद्यथा—‘घटो भवती’त्यादौ; भवतेरकर्मकत्वात् । तत्कर्तुरेव घटस्य प्रत्ययार्थं कर्मत्वं घटं करोतीति । तथाचोक्तं शालिकानाथेन—“प्रत्ययार्थस्य यः कर्ता भवितुः स प्रयोजकः । भविता तमपेक्षयाथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते” ॥ इति ॥ तस्मादप्यस्ति धात्वर्थ-प्रत्ययार्थयोः कर्मभेद इति । तस्माद् लोकदृष्ट्या विषय-फलयोर्भेददर्शनात्, प्रकृते तदभावेऽप्यविद्वान् स्वप्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं भेदेन तदुभयं ज्ञातुमाकाङ्क्षति । अतस्तद्वुद्धिमनुसरता सूत्रकारेण पृथगेव तदुभयं निर्दिष्टमित्यदोषः । अपि च प्रयोजनाद् विषयः पृथग् भवतु, मा वा; तथाऽपि पृथक् ततो वक्तव्यः; अन्यथा नियमेन मुमुक्षुणामत्र प्रवृत्त्यसिद्धेः । तद्यथा—‘चिकित्साप्रयोजनं सुश्रुतमिति’ ज्ञाने सत्यपि न नियमेन तदर्थिनां तत्र प्रवृत्तिः, तत् कुतः? तत्प्रयोजनकस्य चरकादेरपि सत्त्वात् ततोऽपि तत्सिद्धेः । यथावाऽ-वघातादपि तण्डुला लभ्यन्ते, दलनादपि, इति न नियमेन तदर्थिनामवघाते दलने वा प्रवृत्तिः, तद्वत् । कथिते च विषये यथा—अर्जुनस्य विषयः, यद् रथचक्रादिभेदनमित्युक्ते न तत्समोऽन्योऽस्ति तत्कार्यकारोत्यध्यवसीयते । एवमत्रापि नान्योऽस्ति तत्प्रयोजनसाधकस्तत्सम इत्यध्यवसीयते, इति नियमेन मुमुक्षूणां प्रवृत्तिसिद्धिरिति । नचैतावताऽपि संबन्धज्ञानाद्वृत्ते तत्सिद्धिरस्ति । नहि शब्द-साधुत्वज्ञानार्थिनां व्याकरणोपस्थितेः पूर्वं सांख्यादिशास्त्रे न प्रवृत्तिरिति कृत्वा तदसंबन्धे वैद्यके प्रवृत्तिरस्ति । तस्मात् तदर्थं विषय-प्रयोजनादिसंबन्धोऽपि वक्तव्यः । अधिकारी तु तदर्थतया वक्तव्य एवेति पूर्वमेवोपपादितम् । तस्माद् युक्तमेव सूत्रकारस्य चतुर्भिः पदैरर्थादधिकार्यादिचतुष्टयाभिधानं प्रवृत्त्यङ्गभावायेति । यथाच वेदान्तविषय-प्रयोजनादिकमेव तद्विचारशास्त्रस्यापि परम्परया विषय-प्रयोजनादिकमिति, तथा पूर्वमेव प्रतिपादितमिति नेह पुनः प्रतिपाद्यते । \*एतेन\*—शास्त्रस्य वेदान्तवाक्य-विषयकत्वाद् न ब्रह्मविषयकत्वमित्याशङ्काऽपि निराकृता भवतीति—दृष्टव्यम् । एवं तावद् धर्मजिज्ञासोप-

प्रदीपः

विचार इव न ब्रह्ममीमांसायां नासम्बन्धम् । तथाच साधनकोटिप्रविष्टानामर्थक्रमेण प्रथमतो निवेशस्य पूर्वमुक्तत्वात् सगुणोपासनानामपि प्रथममेव निवेशो युक्तः, इति ब्रह्मलोकान्तवैराग्यसम्पत्त्यनन्तरमेव ब्रह्ममीमांसाधिकार इति स्थितेऽपि न काऽपि हानिः । अथवा—मुख्यब्रह्मविचाराधिकारिण एवाशब्देन निर्दिश्यन्ते? सगुणोपासनाविधिविचारस्तु प्रासङ्गिक इति न दोषः ॥ \*अयमत्र निष्कर्षः\*—“अत्र ब्रह्म समश्रुते” इति वर्णितेहमुक्त्यधिकारिविशेषणं साधनचतुष्टयसंपत्तिः, सगुणोपास-कास्तु—ब्रह्मणा सह मुच्यमाना नेह विनोक्तमणं मोक्षमर्हन्ति, इति सूत्र इहमुक्त्यर्थत्वेन विचारस्य प्रतिज्ञानाद् न कोऽपि विरोधः । सति चैवं द्वैतविशिष्टद्वैताद्यभिमतता मुक्तिरुत्क्रमणसापेक्षोपासनामात्राधीना, न तत्राद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारः कारणमिति नेदमद्वैतिना-मपि विप्रतिपन्नम् । उपासना-तत्फलादिविचारस्तु धर्ममीमांसायामेव गतः, इति ब्रह्ममीमांसारम्भान्तरसार्थक्यमद्वैतमत एव



## भामती

विवेकाद्यानन्तर्यप्रदर्शनाय चेदं सूत्रमारम्भणीयमित्यपौनरुक्त्यम् ।

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां प्रथमसूत्रार्थवर्णनं समाप्तम् ।

## ऋजुप्रकाशिका

\*प्राच्या मीमांसया\* धर्ममीमांसया । \*तत् = ब्रह्म । \*न व्युत्पाद्यते = विशिष्य प्रमाण-साधन-फलैः सह न प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । \*नातीति\* ॥ ब्रह्ममीमांसाया अध्ययनमात्मानन्तर्याभावस्योक्तत्वादिति भावः । \*अपौनरुक्त्यमिति\* । धर्ममीमांसया ब्रह्ममीमांसाया एकार्थत्वमित्यर्थः ।

इति भामतीव्याख्यायाऽऋजुप्रकाशिकायां प्रथमसूत्रार्थवर्णनं संपूर्णम् ॥

## पञ्चपादिका

विचारार्थविधेयत्वाङ्गीकारेण मीमांसितव्यमित्यर्थः । \*एतदुक्तं भवति\*—ब्रह्मज्ञानकामेनेदं शास्त्रं श्रोतव्यम्; यस्माद् ब्रह्मज्ञानमनेन शास्त्रेण निरूप्यते । तेन प्रयोज्यस्याभिमतोपायः शास्त्रम्, इत्यर्थात् शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनं कथितं भवति ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपञ्चपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां प्रथमसूत्रार्थवर्णनं नाम तृतीयवर्णकं समाप्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

संबन्धाभिधेयप्रयोजनानीति\* ॥ मुमुक्षुणा ब्रह्मानुभवाय विचारः कर्तव्य इति वाक्यार्थः । कथमत्रार्थात् संबन्धादिप्रतिपत्तिः ? तदाह—\*एतदुक्तं भवतीत्यादिना\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मज्ञानद्वारेण काम्यमानमोक्षसाधनं विचारः, इति फलसंबन्धे सिद्धेऽपि कथं विषयादिसिद्धिरिति ? तत्राह—\*अर्थाच्छास्त्रस्येति\* ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्यस्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ पञ्चपादिकाविवरणे प्रथमसूत्रार्थवर्णनं नाम तृतीयवर्णकं समाप्तम् ॥

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—श्रवणादीनामुपायत्वमन्वय-व्यतिरेकसिद्धं न शब्दमपेक्षते, इत्याशङ्क्याह—\*दृष्टोपायत्वेऽपीति । शेषं नेयमिति\* ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज-सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ ऋजुविवरणे प्रथमसूत्रार्थवर्णनं नाम तृतीयवर्णकं समाप्तम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

कर्तव्य इत्युक्ते, अनधिगतस्य ब्रह्मणः प्रमेयत्वम्, तस्यैव प्रमितस्य प्रयोजनत्वम्, शक्यप्रतिपाद्यतया संबन्धः, ज्ञानकामस्याधिकारित्वम्, इत्यनुबन्धचतुष्टयं लभ्यते । तस्मादनुबन्धचतुष्टयसंभवाद् विचारः कर्तव्य इति ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-दीपने प्रथमसूत्रार्थवर्णनं नाम तृतीयवर्णकं समाप्तम् ॥





### वार्तिकम्

न्यासमुखेन कर्मकाण्डविचारकर्तव्यतावद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यानां सविषया सप्रयोजना विचारकर्तव्यता भगवता सूत्रकारेण सूत्रिता ॥

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके प्रथमसूत्रार्थवर्णनं संपूर्णम् ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मज्ञानकामेन ब्रह्म विचारयितव्यम् । इदं शास्त्रं श्रोतव्यमित्यर्थः ॥

इति पूज्यश्रीचित्सुखमुनिवृत्तौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां  
भाष्यभावप्रकाशिकायां प्रथमसूत्रार्थवर्णनं संपूर्णम् ।

### प्रदीपः

संभवति । कार्यब्रह्मणा सह तु विचाराधिकारो देवताधिकरणसिद्ध एव क्लममुक्तिं गतानामपि । तेऽपि हि स्वतः प्रतिभातवेदा नित्यं साधनचतुष्टयसंपन्ना एवेति न वैषम्यलेशोऽपि । तथाच सगुणोपासनमप्यद्वैतमते नाविचारमर्हति ॥

इति शारीरकमीमांसाभाष्यटिप्पणे प्रदीपाख्ये प्रथमसूत्रार्थवर्णनं संपूर्णम् ।

इति तृतीयवर्णकं सम्पूर्णम् ॥









## अथ तुरीयं वर्णकम्

तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धं वा स्यात् ? अप्रसिद्धं वा ?

भामती

\*स्यादेतत्\*—एतेन सूत्रेण ब्रह्मज्ञानं प्रत्युपायता मीमांसायाः प्रतिपाद्यत इत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; विकल्पासहत्वा । चोदयति—\*तत्पुनर्ब्रह्मेति\* ॥ वेदान्तेभ्योऽपौरुषेयतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावेभ्यः

ऋजुप्रकाशिका

\*मीमांसायाः = मीमांसायाः । \*स्वत इति\* । स्वतःसिद्धः प्रमाणभावः प्रामाण्यं येषां ते तथोक्ताः, तेभ्य इत्यर्थः । तत्र हेतुः—\*अपौरुषेयतयेति\* ॥ अर्थज्ञानपूर्वकं विरचितत्वाभावोऽपौरुषेयत्वशब्दार्थः, नतु पुरुषाजन्यत्वम् ; “निःश्वसितमस्य वेदाः” इति परमपुरुषस्य परमात्मनो निःश्वसितमिव निःश्वसितं वेदाः, यत्नं विनाऽपि निर्गता इत्युक्तत्वादिति भावः । अर्थज्ञानपूर्वकं पुरुषरचितत्वे हि पुरुषस्य दोषसंभावनया भ्रान्तिसंभवे तद्वद् जन्यतया वेदानामप्रामाण्यं स्यात् ; नच तथात्वमिति द्रष्टव्यम् । वेदान्तानां तत्त्वावेदकप्रमाणत्वाच्च स्वतःसिद्धप्रमाणभावत्वं बोध्यम् ॥

पञ्चपादिका

तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धं वा स्यात् ? अप्रसिद्धं वा ? यदि प्रसिद्धम्, न जिज्ञासितव्यम् ; अथाप्रसिद्धम्,

पञ्चपादिकाविवरणम्

“तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमि”त्यादिभाष्यस्य तात्पर्यमाह—\*प्रयोजन-विषय-संबन्धानाक्षिपतीति\* ॥

ऋजुविवरणम्

आलोच्यमाने निगमादिनाऽर्थे ब्रह्मस्वरूपं वचनात् प्रसिद्धम् ।

प्रत्यक्स्वरूपत्व-विवक्षयेह नेयं विवादेन विचारयोग्यम् ॥

उपोद्धातं निरूप्यार्थं वाक्यार्थं च ततः परम् । प्रतिपादनमेतस्य चतुर्थे क्रियते पुनः ॥

“तत्पुनरि”ति भाष्यं टीकाकारेण व्याख्यातम्—“प्रयोजन-विषय-संबन्धानाक्षिपतीति, तदयुक्तम् ; भाष्ये तदाक्षेपप्रतीत्यभावात्, उत्तरग्रन्थेऽपि तदेव प्रदर्श्यते ; तेन पौनरुक्त्यमपीत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*तात्पर्यमाहेति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

अनुबन्धचतुष्टयं विचारप्रयोजकम्, तच्च सिद्धम्, इत्युत्तरग्रन्थवैयर्थ्यमिति चेत्, नैवम् ; विधान्तरेण तद-संभवोत्थितेः । \*तथाहि\*—वेदान्तशास्त्रं [विषयः, तत् किमारभ्यम् ? उत नारभ्यम् ? इति विषय-प्रयोजन-संभासंभवाभ्यां संदिह्यते । तत्रासंभावितविषय-प्रयोजनत्वादनारभ्यमिति तावत् प्राप्तमिति । नच हेत्वसिद्धिः ; ब्रह्मप्रसिद्धप्रसिद्धयोर्विषयादेरनिरूपणादित्यभिप्रेत्याह—\*तत्पुनरिति\* ॥ प्रसिद्धप्रसिद्धयोर्विषयाद्यसंभवस्योक्तत्वात्

वार्तिकम्

तामिदानीं ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वाभ्यां जिज्ञास्यत्वानुपपत्त्या समाक्षिपति—\*“तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धम्, न जिज्ञासितव्यम् । अथाप्रसिद्धम्, नैव शक्यं

भाष्यभावप्रकाशिका

इदानीं प्रकारान्तरेण प्रयोजन-विषय-संबन्धानाक्षिपति—\*तत्पुनरित्यादिना\* ॥ प्रसिद्ध-



## यदि प्रसिद्धम्, न जिज्ञासितव्यम्,

भामती

प्रसिद्धम् ? अप्रसिद्धं वा स्यात् ? \*यदि प्रसिद्धम्, वेदान्तवाक्यसमुत्थेन निश्चयज्ञानेन विषयीकृतम्, ततो न जिज्ञासितव्यम् ; निष्पादितक्रिये कर्मण्यविशेषाधायिनः साधनस्य साधनन्यायातिपातात्,

ऋजुप्रकाशिका

\*प्रसिद्धं वा स्यात् ? अप्रसिद्धं वा स्यादिति विकल्पः\* । तत्राद्यं दूषयितुमनुवदति—\*यदि प्रसिद्धमिति\* ॥ प्रसिद्धमित्येतद् विवृणोति—\*वेदान्तेति\* ॥ \*निश्चयज्ञानेन = निश्चयात्मकज्ञानेन । वेदान्तप्रमाणानां संशयाजनकत्वादिति भावः । दूषयति—\*तत इति\* ॥ निश्चितेऽर्थे पुनर्ज्ञानेच्छाया अभावादिति भावः । \*ननु\* निश्चितेऽप्यर्थे जिज्ञासायां विचारेण साधनेन पुनस्तत्र ज्ञानं संभवतु, को दोष इति ? अत आह—\*निष्पादितेति\* ॥ \*अविशेषेति\* । पूर्वजनितनिश्चयात्मकज्ञानापेक्षया पश्चाद् विचारसाधनजनितज्ञाने विशेषाभावादिति

पञ्चपादिका

नैव शक्यं जिज्ञासितुम्\* इति प्रयोजन-विषय-सम्बन्धानाक्षिपति । कथम् ? प्रसिद्धशब्देन प्रतिपन्नमुच्यते । तद् यदि प्रतिपन्नमन्येन केनचित्, तदाऽस्य शास्त्रस्य न विषयः ; कस्मात् ?

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* विधिसामर्थ्यादेव प्रयोजनादिष्ववगतेषु कथमाक्षेपः ? इति चोदयति—\*कथमिति\* ॥ परिहरति—\*प्रसिद्धशब्देनेत्यादिना\* ॥ \*ननु\* प्रतिपन्नं शब्देनानूद्य प्रतिपादयितुं शक्यत्वात् कथमविषयः ? इत्याह—\*कस्मादिति\* ॥

ऋजुविवरणम्

“प्रतिपाद्यत्वेन”त्यनेन प्रतिपन्नवस्तुन्यकिंचित्करत्वमुक्तम्, तदयुक्तम् ; प्रतिपत्त्यन्तरजनकत्वेन किञ्चित्करत्वादित्या-  
तत्त्वदीपनम्

“कथमि”ति प्रश्नानुपपत्तिरित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु विधीति\* ॥ विचारविधिर्विधिशब्दार्थः । विषयादेरसंभवात् श्रवणविधेः—“विष्णुरूपांशु यष्टव्यः” इत्यादिवदन्यार्थत्वमुपेयमित्यभिप्रायेणाह—\*परिहरतीति\* ॥

वार्तिकम्

जिज्ञासितुमिति”ति । कथम् ? इत्थम् । जिज्ञासा हि सप्रयोजने प्रमाणार्थं सन्देहादेव संभवति,

भाष्यभावप्रकाशिका

मिति प्रतिपन्नमुच्यते । तद्यदि जिज्ञासातः प्रागेव केनचित् प्रतिपन्नम्, तदैतच्छास्त्रप्रतिपाद्यतया नास्य विषयः स्यात्, अतोऽनेन नियतमनवगमाम्नास्य प्रयोजनमपि ब्रह्मावगतिः स्यात्, इति विषय-प्रयोजनयोराक्षेपः । \*अथाप्रसिद्धमिति\* ॥ यन्न कदाचिदपि बुद्ध्यावसमारूढविशेषम्, तस्य प्रति-

प्रदीपः

मुख्यतया तु निर्विशेषब्रह्मविचार एवात्र प्रतिज्ञायते ; न ह्यन्यथा ब्रह्मणस्तत्र तत्रात्माभेदप्रतिपादनमुपपद्यते । नहि मतान्तरे वेदान्तवाक्यावगते ब्रह्मणि जीवात्मभिन्ने संशयावसरः । संशयो हि विप्रतिपत्तिनिमित्तको वेदान्तप्रतिपन्नस्यैवान्यथाऽन्यथा-प्रतिपत्तिनिबन्धन एव भवति । स त्वात्माभेदवाद एव भवति, न तद्भेदवाद इत्यादि सूचयन् ब्रह्मणो विषयत्वं संभवति वा ? न वा ? इति विचाररूपं वर्णकान्तरमार्चयति—\*तत्पुनर्ब्रह्मेति\* ॥ \*तत्\*—जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मस्वरूपम् । \*असिद्धं वा\*—कुतश्चिदवगतं वा ? न वा ? यद्यवगतम्, तर्हि प्रमाणान्तरावगतत्वान्नास्य शास्त्रस्य ब्रह्म विषयः, यदि तु न कुतश्चिदवगतम्, तथाऽपि बुद्धावेवानारोहेण सुस्मिन्धत्वस्य दूरापेतत्वान्न ब्रह्मास्य शास्त्रस्य विषयः, इति विप्रतिपत्तौ कोटिद्वयस्य



## भामती

\*अथाप्रसिद्धम्\* वेदान्तेभ्यः, तर्हि न तद् वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति सर्वथाऽप्रसिद्धं \*नैव शक्यं जिज्ञासितुम्\* । अनुभूते हि प्रिये भवतीच्छा, न तु सर्वथाऽननुभूतपूर्वे । न चेप्यमाणमपि शक्यं ज्ञातुम् ; प्रमाणाभावात् । शब्द एव हि तस्य प्रमाणं वक्तव्यम्, यथा वक्ष्यति\*—“शास्त्रयोनित्वात्”\*

## ऋजुप्रकाशिका

भावः । तथाच साधनन्यायातिपात एतद्दोष इति भावः । द्वितीयं शङ्कते—\*अथेति\* । \*अप्रसिद्धमिति\* ॥ \*विदितपद-पदार्थसङ्गतिकेन = विदितशब्दन्यायतत्त्वेन पुंसा वेदान्तेभ्योऽनवगतमित्यर्थः । नचान्यतः प्रसिद्धिः ; अलौकिकस्य ब्रह्मणोऽन्यतोऽनवगमादिति भावः । दूषयति—\*तर्हीति\* ॥

अप्रसिद्धेऽपि जिज्ञासामाशङ्कमानं प्रत्याह—\*अनुभूत इति\* ॥ सामान्यतोऽनुभूत इत्यर्थः । प्रसिद्धय-प्रसिद्धिभ्यां जिज्ञासाया अयोग उक्तः, संप्रत्यप्रसिद्धस्य जिज्ञासामङ्गीकृत्यापि जिज्ञासितस्य ज्ञानायोगमाह—\*न चेप्यमाणमपीति\* ॥ ज्ञातुमशक्यत्वे हेतुमाह—\*प्रमाणाभावादिति\* ॥ कथं प्रमाणाभावः ? इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं शब्द एव तत्र प्रमाणम् ? अन्यद्वा ? आद्यमङ्गीकरोति—\*शब्द एव हीति\* ॥ तस्मिन् ब्रह्मणि शब्दप्रमाणकत्वं उपष्टम्भकमाह—\*यथा वक्ष्यतीति\* ॥ \*शास्त्रयोनित्वात् = शास्त्रप्रमाणकत्वादित्यर्थः । अस्तु शब्द एव तत्र प्रमाणमिति चेत्, स किं ब्रह्मावबोधयति ? उत न ? आद्ये शब्दजन्य-

## पञ्चपादिका

प्रतिपाद्यत्वेन हि विषयता, प्रतिपन्ने च तस्मिन्नकिञ्चित्करं शास्त्रम्, इति नास्य विषयः स्यात् । ततश्चानेनानवगमान्नास्य प्रयोजनं ब्रह्मावगतिः स्यात् । अतः प्रयोजनमप्याक्षिसम् । \*अथाप्रसिद्धं न शक्यं जिज्ञासितुम्\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

अनधिगतार्थताभावादिति परिहरति—\*प्रतिपाद्यत्वेनेति\* ॥ विषयावगमद्वारा प्रयोजनस्य पूर्वावगमेनैव

## ऋजुविवरणम्

शङ्क्यावतारयति—\*अनधिगतार्थतेति\* ॥ “ततश्च” इत्यनेन प्रयोजनमाक्षिसम्, तदयुक्तम् ; अनधिगतार्थत्वलक्षणे-विषयत्वाभावेऽपि शास्त्रजन्यत्वेन ज्ञानस्य तत्प्रयोजनत्वं संभवत्येवेत्याशङ्क्यावतारयति—\*विषयावगमद्वारेति\* ॥ “अथाप्रसिद्धमिति भाष्यग्रन्थः ? स्वग्रन्थो वा ? आद्ये पौनरुक्त्यम् ; पूर्वमेवानुभाषितत्वात्, स्वग्रन्थे तु वैयर्थ्यम् ; अधिकार्थाभावात्, कथञ्चिदुत्तरग्रन्थपर्यालोचनयाऽर्थाधिक्यप्रतीतावप्युपसंहारपर्यालोचनया संबन्धमानाक्षेपः प्रतीयते ;

## तत्त्वदीपनम्

प्रतिपन्नस्यापि विषयत्वे को दोषः ? इति शङ्कते—\*ननु प्रतिपन्नमिति\* ॥ अधिगतेऽप्यधिगत्यन्तरसंभवात् “प्रतिपन्ने तस्मिन्नि”ति न युक्तमित्याशङ्क्याह—\*अनधिगतेति\* ॥ प्रसिद्धपक्षे प्रयोजनाक्षेपो न युक्तः ; ज्ञानप्रयोजन-संभवादित्याशङ्क्य, ज्ञानस्य स्वरूपेणापुरुषार्थत्वादविद्यानिवर्तनेन पुरुषार्थत्वं वक्तव्यम्, अविद्यानिवृत्तेश्च प्रमाणान्तरेण सिद्धत्वात् प्रयोजनाक्षेपो युक्त इत्याह—\*विषयेति\* ॥ टीकायाम्—“अनेनानवगमादि”त्यन्नावधारणं विवक्षितमिति द्रष्टव्यम् । “नास्य ब्रह्मावगतिः प्रयोजनमिति”त्यत्र फलपर्यन्तेति शेषः । अप्रसिद्धेऽनधिगतार्थत्वसंभवाद् “न शक्यं

## प्रदीपः

प्रयोजननिर्देशः, इति विवरणानुसारिणी योजना ॥ भामत्यभिमतता तु—ब्रह्म वेदान्तेभ्यः प्रसिद्धं वा ? न वेति ? तत्रापि वेदान्ता-ध्ययनमात्रेण ब्रह्मस्वरूपे ज्ञाते विचारवैयर्थ्यम्, अनवगमे तु बुद्धेर्वेदान्तारोहेणाप्रतिपादकत्वाद्वेदान्तानाम्, न वेदान्तवाक्यानि

## वार्तिकम्

इति विचारं प्रयोजयति ; अजिज्ञासिते विचारादर्शनात् । \*ननु\*—प्रमाणसंग्रहवादिमते सन्देहं



## पञ्चपादिका

कथम् ? यद् न कदाचिदपि बुद्धौ समारूढविशेषम्, कथं तत् प्रतिपाद्येत ? अतः प्रतिपादनाशक्तेर्न तत् स्पृश्यत्यपि शास्त्रम् । \*प्रसिद्धं पुनर्यदि नामानेन प्रतिपाद्यते प्रसिद्धत्वादेव ; तथाऽपि न तेनार्थेन निरालम्बनम्, अप्रसिद्धं पुनरालम्बनमपि न स्यात् । अतो न केनचिदर्थेन सम्बद्धं शास्त्रम्, इति सम्बन्ध आक्षिप्तः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सिद्धत्वाद् नास्य प्रयोजनमपीत्याह—\*ततश्चानेनानवगमादिति\* ॥ “अथे”त्यप्रसिद्धपक्षे संबन्धं प्रयोजनं चाक्षिपति । \*ननु\* अनधिगतार्थ एव प्रमाणेन प्रतिपाद्यते, प्रयोजनं च तत्रैवेति चोदयति—\*कथमिति\* ॥ परिहरति—\*यन्न कदाचिदपीति\* ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्विचारानपेक्षैरत्यन्तानधिगत एव प्रतिपाद्यते । यत्र विचारापेक्षया प्रमाणेन वस्तु प्रतिपाद्यते, तत्राप्रतिपन्नमुद्दिश्य विचारानुपपत्तेः, प्रतिपन्ने विमर्शादर्शनान्न विचारा-

## ऋजुविवरणम्

सोऽपि न युक्तः ; संबन्धाभावे प्रयोजनाभावस्यापि वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अथेत्यप्रसिद्धपक्षे संबन्धमिति\* ॥ “यन्न कदाचिदपी”त्ययुक्तम् ; प्रत्यक्षादिवदप्रतिपन्नस्यैव प्रतिपादनसंभवस्योक्तत्वात्, अनधिगतार्थगन्तृत्वाच्चेत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*प्रत्यक्षादिप्रमाणैरिति\* ॥ कथं प्रत्यक्षादीनामनधिगतार्थग्राहकत्वमिति ? तदाह—\*विचारानपेक्षैरिति\* ॥ \*ननु\*—विचारापेक्षप्रमाणेनाप्यत्यन्तानधिगतवस्तुप्रतिपादनं कस्मान्नाङ्गीक्रियत इति ? तदाह—\*तत्राप्रतिपन्नमिति\* ॥ कथमप्रतिपन्ने विचारासंभव इति ? तदाह—\*प्रतिपन्न इति\* ॥ “प्रसिद्धं पुनरि”-

## तत्त्वदीपनम्

जिज्ञासितुमिति” कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्यास्मिन् पक्षे न विषयाक्षेप इति भाष्य-टीकयोस्तात्पर्यमाह—\*अथेति\* ॥ अनधिगतार्थगन्तृषु चक्षुरादिष्वर्थसंबन्ध-प्रयोजने दृश्येते, ततः कथमाक्षेप इति शङ्कते—\*नन्वनधिगतेति\* ॥ चक्षुरादिवत् प्रतिपादकत्वस्योक्तत्वाद् “यन्न कदाचिदि”त्यादेः परिहाराभासत्वमाशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ “यन्न कदाचिदि”त्यस्यायमर्थः—यत् कथमपि स्वतः परतो वा बुद्धावसमारूढविशेषम्, तत् कदाचिदपि न प्रतिपाद्यते, यत्कदाचिदपि बुद्धावसमारूढविशेषम्, तत् कथमप्यनुमानेन युक्त्या वा न प्रतिपाद्येतेति वा संबन्धः । अथ यद् बुद्धौ कदाचिदपि न स्वेनान्यरूपेण वा वर्तते, तदसमारूढविशेषं कथं प्रतिपाद्येतेति ? सम्यक् परिहारमेवाह—\*प्रत्यक्षादीति\* ॥ अनधिगतस्यैव प्रतिपादने हेतुमाह—\*विचारेति\* ॥ ततो वैषम्यमाह—\*यत्रेति\* ॥ प्रसिद्धपक्षे विषयासंभवस्याप्रसिद्धपक्षे च संबन्धासंभवस्योक्तत्वात् “प्रसिद्धं पुनरि”त्यत्रापि तस्यैव निर्देशे पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य, टीकाव्यावर्त्यां

## वार्तिकम्

विनाऽपि जिज्ञासा भवति । तथाचोक्तं तैरेव “प्रत्यक्षेणापि दृष्टे करिणि, चीत्कारेणानुमीयतेऽनुमानरसिकैः” इति । तथाच सन्देहादेवेति कथमवधार्यते ? इति—चेत्, न ; सिद्ध इच्छाविरहात्, लोके तथाऽनुभवाभावाच्च, प्रत्यक्षदृष्टे तदनुपपत्तेरित्युक्तत्वात्, उपपत्तावपि विचाराङ्गजिज्ञासायाः संशयमूलत्वनियमस्य तैरप्यङ्गीकारादुक्तावधारणोपपत्तेः, अन्यथा न्यायपूर्वाङ्गत्वेन “समानानेकधर्मदर्शनाद् विप्रतिपत्तेश्च उपलब्ध्यनुपलब्ध्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः” इति संशयसूत्रणानुपपत्तेः । तथाच तदीयभाष्यकारेणाप्युक्तम्—“नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, अपितु सन्दिग्धे” इति । तस्माद् युक्तमवधारणं विचाराङ्गजिज्ञासा संशयमूलैवेति ॥

सच संशयो निमित्तभेदात् त्रिधा भवति । \*एकस्तावत्\* समानधर्मदर्शनात्, तद्यथा—प्रांशुत्वादि-समानधर्मविशिष्टे दृष्टे धर्मिणि, तद्विशेषे चादृष्टे, तदपेक्षायां सत्यामुपलब्ध्यनुपलब्ध्यन्यतराव्यवस्थायां च भवति—स्थाणरथम् ? किं वा पुरुष इति ? द्वितीयस्त्वनेकधर्मदर्शनात् । अनेकधर्मा नामन्यः सपक्ष-विपक्षयो-



## अथाप्रसिद्धम्, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति ।

भामती

इति । स चेत् तन्नावबोधयति, कुतस्तस्य तत्र प्रामाण्यम् ? न च प्रमाणान्तरं ब्रह्मणि प्रक्रमते । तस्मात् प्रसिद्धस्य ज्ञातुं शक्यस्याप्यजिज्ञासनात्, अप्रसिद्धस्येच्छाया अविषयत्वाद् अशक्यज्ञानत्वाच्च न ब्रह्म जिज्ञास्यमित्याक्षेपः ।

ऋजुप्रकाशिका

बोधस्य निश्चयात्मकत्वेन निश्चिते जिज्ञासाऽयोगः, न द्वितीय आह—स चेन्नावबोधयतीति\* ॥ \*तत्र = ब्रह्मणि\* । \*तस्य = शब्दस्य । तथाच तस्य शब्दप्रमाणत्वाङ्गीकारविरोध इति भावः । शब्दव्यतिरिक्तं प्रमाणमिति द्वितीयं पक्षं निराकरोति—\*न च प्रमाणान्तरमिति\* ॥ जिज्ञासाक्षेपमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

पक्षप्रमाणेनानधिगतावगम इत्यर्थः । \*ननु\* अप्रसिद्धपक्षे संबन्धः कथमाक्षिप्तः ? न प्रसिद्धपक्ष इति ? तत्राह—\*प्रसिद्धं पुनर्यदि नामेति\* ॥

“अविज्ञाते तत्त्वे कारणोपपत्तितत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः” इत्यक्षपादसूत्रवचनात् सामान्यप्रतिपन्नस्य वा विशेषरूपेण विशेषतोऽप्यापातदर्शनगोचरस्य वा विशेषनिर्णयाय प्रमाणानुग्राहकस्तर्कः, इति ब्रह्मणोऽप्यनिश्चित-

ऋजुविवरणम्

त्यादिग्रन्थः पुनरुक्तः ; पूर्वोक्तस्यैव प्रसिद्धपक्षे संबन्धाक्षेपाभावस्याप्रसिद्धपक्षे संबन्धाक्षेपस्य च प्रतिपादनादित्या-  
शङ्कां दर्शयति—\*नन्वप्रसिद्धपक्ष इति\* ॥ टीकाकारेण “त्रितयमपि समाधत्ते” इत्युक्तम् ; इदमयुक्तम् ; न ह्यनेनास्तित्व-  
कीर्तनेन त्रितयं समर्थितं भवति ; न ह्यस्तित्वं तेन विनाऽनुपपन्नम्, असङ्गतं चास्तित्वकीर्तनम्, नाप्यस्तित्वमात्रेण  
विचारप्रवृत्तिः ; सतोऽप्यज्ञानस्य विचारानर्हत्वात्, ज्ञानत्वविवक्षायां विचारानर्थक्यम् ; ज्ञानार्थत्वात्तस्य, अतोऽसंबन्धं  
तात्पर्यकथनमित्याशङ्क्यावतारयति—\*अविज्ञाते तत्त्व इति\* ॥ “अविज्ञाते तत्त्वे” इत्युक्तम् ; तादृशे तर्काप्रवृत्तेरित्या-  
शङ्क्य व्याचष्टे—\*सामान्यप्रतिपन्नस्येति\* ॥ धर्मादौ विशेषरूपेण गृहीतस्य विचार्यत्वं दृश्यत इति व्याख्यानान्तर-  
माह—\*विशेषतोऽपीति\* ॥ प्रकृते तु कथं विचारयोग्यतेति ? तदाह—\*ब्रह्मणोऽपीति\* ॥ “एवमपी”त्यनेन प्रयोजन-  
मेव निर्दिश्यतामिति चोद्यं कृतम्, तदयुक्तम्, त्रितयस्यापि प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रतिपादनस्योक्तत्वादित्याशङ्क्या-  
तत्त्वदीपनम्

शङ्कामाह—\*नन्वप्रसिद्ध इति\* ॥ प्रसिद्धत्वपक्षे प्रतिपाद्यत्वयोग्यतारूपसंबन्धसंभवः, इतरत्र च तदभावात्संबन्धाक्षेप  
इत्याशयेनाह—\*तत्राहेति\* ॥

प्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योविषयादेराक्षेपात् प्रकारान्तरस्यासंभवात् “त्रितयं समाधत्ते”—इति कथमुक्तम् ? तत्राह—  
\*अविज्ञात इति\* ॥ “कारणोपपत्तितः” इत्यस्याविज्ञात इत्यनेन संबन्धः । कारणं चोपपत्तिश्चेति तथोक्ते, ताभ्यामिति  
विभागः । कारणशब्देन प्रमाणमुच्यते । विशेषतः प्रतिपन्ने कथं विचारप्रतिपत्तिरिति ? तत्राह—\*विशेषत इति\* ॥  
सामान्यन्यायं प्रस्तुते प्रसारयति—\*ब्रह्मण इति\* ॥ विधिविषयादेः शास्त्रत एव सिद्धत्वाद् भाष्यकृत्प्रयासो वृथेति  
वार्तिकम्

रेकतरधर्मत्वेन न निश्चितोऽसाधारणधर्म इति यावत् । तद्यथा—शब्दत्वविशिष्टशब्दे द्रष्टे नित्यानित्ययो-  
रेकतरस्मिन्नपि शब्दत्वाद्वृष्टेः, शब्दे च तद्विशेषापेक्षिण उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थायां भवति संशयः—किमयं  
शब्दो नित्यः ? अनित्यो वेति ? \*तृतीयस्तु\* विप्रतिपत्तिदर्शनात् । तद्यथा—शब्दो द्रव्यमिति मीमांसकाः,  
गुण इति वैशेषिकाः, इति वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात् तद्विशेषापेक्षिणां मध्यस्थानां भवति संशयः—किमयं  
शब्दो द्रव्यम् ? गुणो वेति ? सर्वथाऽपि विचारप्रयोजकजिज्ञासाहेतौ संशये धर्मिज्ञानमपेक्ष्यते । प्रकृते च  
ब्रह्म जिज्ञास्यत्वेन धर्मीति तत्प्रसिद्धिर्वाच्या । न च सूत्रकारोपात्तब्रह्मपदादेव तत्प्रसिद्धिः ; तस्या अपि



उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावम्,

भामती

परिहरति—\*उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावम्\* ॥ अयमर्थः\*—

भृजुप्रकाशिका

तदाक्षेपं परिहरतीत्याह—\*परिहरतीति\* ॥ “अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-शुद्धे”त्यादिभाष्यस्यार्थमाह—\*अयमर्थः\*  
इत्यादिना\* ॥

पञ्चपादिका

\*अस्ति तावद् ब्रह्म\* इत्यादिना त्रितयमपि समाधत्ते श्रोतृप्रवृत्त्यर्थम् । \*ननु\* प्रेक्षा-

पञ्चपादिकाविवरणम्

विशेषप्रतिभासगोचरतया विचारयोग्यत्वप्रदर्शनेन त्रितयमपि समाधत्त इति भाष्यस्य तात्पर्यमाह—\*अस्ति तावद् ब्रह्मेत्यादिनेति\* ॥ \*ननु\* समन्वयाध्यायनिरूपणेन ब्रह्मैव विषयः प्रतिपाद्यं चेति सिध्यति, फलाध्यायेन तु फलविशेषः, इति न त्रितयमत्र प्रतिपादनीयमिति, तत्राह—\*श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिति\* ॥ \*‘ननु प्रेक्षावते’-त्यादिचोद्य-परिहारौ स्पष्टौ\* ॥

तत्त्वदीपनम्

शङ्कते—\*ननु समन्वयेति\* ॥ स्वाभिलषितोपायज्ञानं विना ग्रन्थविशेषे प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तदर्थं विषयदेरादौ निर्देश इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ प्रयोजनविशेषनिर्देशं विना प्रवृत्त्यसंभवश्चेत्, तर्हि स एव निर्दिश्यतामित्युक्तम्—

वार्तिकम्

प्रमाणान्तरप्रसिद्धिसापेक्षत्वात्, अन्यथा सङ्गतिग्रहासंभवात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सा च न लौकिक-प्रमाणेन ; ब्रह्मणोऽलौकिकत्वाभ्युपगमात्, औपनिषदत्वश्रुतिव्याकोपाच्च । अत उपनिषत्प्रमाणेनैव तदुप-स्थितिर्वाच्या । नचैवं सति ब्रह्मणि जिज्ञासोपपद्यते ; नहुपनिषत्प्रमाणेन ब्रह्मोपस्थापयता सन्दिग्धतयो-पस्थाप्यते ; स्वतःप्रमाणत्वव्याहतेः । नच—स्वतःप्रमाणत्वेऽपि दोषवशात् चक्षुरादिवदन्यथाज्ञानजनना-विरोध इति—वाच्यम् ; अपौरुषेयत्वेनादुष्टत्वावधारणात् । अपिच धर्म्यशे हि सर्वं ज्ञानमभ्रान्तमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । एवं स्थितेऽस्थूलादिवाक्येन परमार्थतो निष्प्रकारे ब्रह्मण्युपस्थिते तस्मिन् प्रकारा-भावनिश्चयात् कुतः प्रकारकृतसंशयः स्यात् ? अतोऽपि न जिज्ञासितव्यम् । तदिदमुक्तं—\*यदि प्रसिद्धम्, न जिज्ञासितव्यमिति\* ॥ अनेनार्थात् पुनर्विषय-प्रयोजने अप्याक्षिप्ते भवत इति द्रष्टव्यम् । अप्रसिद्धे

भाष्यभावप्रकाशिका

पाद्यत्वासंभवाच्छक्यप्रतिपाद्यतया शास्त्रेण संबन्धो न स्यात् ; अप्रतिपाद्यत्वेन प्रयोजनमपि शास्त्रस्य तदवगतिर्न स्यादित्यर्थः । जिज्ञासायाः पूर्वं वेदान्तेभ्यः “प्रसिद्धम् ? अप्रसिद्धम् वा स्यादि”ति विकल्प्यत इति केचित् । “अविज्ञाते तत्त्वे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः” इति न्यायसूत्रवचनात् सामान्यतः प्रतिपन्नस्य विशेषतोऽप्यापातदर्शनेन प्रतिपन्नस्यानिर्णीतस्य वा निर्णयाय तर्क इत्यवगमाद् ब्रह्मणोऽप्य-निर्णीततया विशेषप्रतिभासागोचरत्वाद् विचारयोग्यत्वं युक्तमिति मन्वानः, त्रितयमपि समाधातुं प्रसिद्धत्व-प्रदर्शनेन शक्यप्रतिपाद्यतया संबन्धं समर्थयते—\*अस्ति तावदिति\* ॥

प्रदीपः

तत्पदार्थशोधनरूपाणि त्वंपदार्थशोधनरूपाणि चाभिन्ननिमित्तोपादानतया जाग्रदाद्यवस्थातीतत्वेन च चैतन्यस्वरूपं बोधयन्ति ब्रह्मस्वरूपमप्यापाततो बोधयन्ति । तथाच सर्वथा ब्रह्माप्रसिद्धिः, इति नायं पक्षोऽस्माभिः स्वीक्रियत इत्यभिप्रायेण समाधातुं प्रयतते—\*उच्यत इति\* ॥ तत्र प्रथमं तत्पदार्थब्रह्मप्रसिद्धिमुपपादयति—\*अस्ति तावद्ब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्मशब्द-



## भामती

प्रागपि ब्रह्ममीमांसाया अधीतवेदस्य निगम-निरुक्त-व्याकरणादिपरिशीलनविदितपद-तदर्थसंबन्धस्य “सदेव सौम्येदमग्र आसीत्” इत्युपक्रमात्, “तत्त्वमसि” इत्यन्तात् संदर्भाद् नित्यत्वाद्युपेत-ब्रह्मस्वरूपावगमस्तावदापाततो विचाराद् विनाऽप्यस्ति । अत्र च ब्रह्मेत्यादिनाऽवगम्येन तद्विषयमवगमं लक्षयति ; तदस्तित्वस्य सति विमर्शे विचारात्प्रागनिर्णयात् । \*नित्येति\* क्षयितालक्षणं दुःख-मपक्षिपति । \*शुद्धेति\* देहाद्युपाधिकमपि दुःखमपाकरोति । \*बुद्धे\*त्यपराधीनप्रकाशमानान्दात्मानं

## ऋजुप्रकाशिका

\*विचारादिनाऽप्यस्तीति\* ॥ तथाच विचारप्राक्कालीनं ज्ञानं वेदान्तजन्यमप्यापातरूपं न निश्चया-त्मकम्, इति न जिज्ञासानुपपत्तिरिति भावः । तदेव दर्शयति—\*अत्र चेति\* ॥ “ब्रह्मेत्यादिने”त्यनन्तरं शब्देनेति शेषः । \*तद्विषयम्=ब्रह्मविषयम् । \*अवगममिति\* ॥ अनिश्चयात्मकमिति भावः । अनिश्चया-त्मकत्वमेवाह—\*तदस्तित्वस्येति\* ॥ ब्रह्मास्तित्वस्येत्यर्थः । ब्रह्मणि नित्यत्वविशेषणप्रक्षेपफलमाह—\*नित्येतीति\* ॥ शुद्धत्वविशेषणप्रयोजनमाह—\*शुद्धेतीति\* ॥ \*बुद्धेत्यस्य\* विशेषणस्य कृत्यमाह—\*बुद्धेतीति\* ॥ “बुद्धे”त्यनेन अपराधीनप्रकाशताप्रदर्शनेऽप्यानन्दात्मताप्रदर्शनं कथमिति ? अत आह—

## पञ्चपादिका

वताऽविसंवादकेन प्रणीतं शास्त्रम् । नेदृशो निष्प्रयोजनं निर्विषयमसंबद्धं चारभते, इति तद्गौरवादेव प्रवर्तन्ते श्रोतारः ; किमनेन प्रयासेन ? \*सत्यं भवति सामान्येन प्रयोजनवत्त्वप्रतीतिः प्रणेतृ-गौरवात्\*, न तु तावन्मात्रेण प्रवृत्तिः । अभिप्रेतप्रयोजनाय हि प्रवर्तन्ते, न तद् निर्देशादृते शक्यतेऽ-वगन्तुम् । एवमपि प्रयोजनविशेष एव निर्दिश्यताम् । नच विषयभावमनापन्नमशक्यप्रतिपादनं

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* प्रयोजनविशेष एव प्रवृत्त्यङ्गं भवति, न विषय-संबन्धाविति चोदयति—\*एवमपि प्रयोजनविशेष एवेति\* ॥ \*ननु साधनमपि प्रवृत्तिविषयं शक्यसाध्यं चानवगम्य फलज्ञानात् कुत्र प्रवर्तत इति ? तत्राह—\*नच विषयभावमनापन्नमिति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

वतारयति—\*ननु प्रयोजनविशेष एवेति\* ॥ “नच विषयभावमि”त्यनेन प्रयोजनस्यैव विषयत्वं शक्यप्रतिपाद्यत्वं च प्रदर्शितम्, तदसङ्गतम् ; प्रवृत्त्यङ्गत्वाभावेन चोद्यमुपक्रम्य प्रयोजनान्तर्भावप्रतिपादनात्, परस्परविरुद्धश्चायं ग्रन्थः ; अन्तर्भावे प्रवृत्त्यङ्गत्वस्यापि सिद्धेरित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु साधनमपीति\* ॥ फलज्ञानात् साधने प्रवर्तमानस्तस्य विषयत्वादिकमपेक्षते, इति तावपि वक्तव्यावित्यर्थः । “नच विषयभावमि”त्यनेन फलस्य प्रवृत्तिविषयत्वमुक्त-मित्येतदुत्तरचोद्ये द्योतितम्, तथा सति संबन्धोऽपि तेनैवेति । \*ननु\*—वृक्षस्य केवलस्य विषयत्वम्, छिन्नस्य

## तत्त्वदीपनम्

“एवमपी”त्यत्र, किमवधारणमयोगं व्यवच्छेदयति ? उतान्ययोगम् ? आद्ये मदिष्टसिद्धिः—\*न द्वितीयः\* ; प्रवृत्त्यङ्गत्वेनेतरयोरपि वक्तव्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*ननु प्रयोजनेति\* ॥

प्रवृत्त्यव्यभिचारात् तयोरपि प्रवृत्त्यङ्गत्वे ततस्तन्निर्देशोऽपीति शङ्कते—\*ननु साधनमिति\* ॥ \*शक्यसाध्य-मिति\* ॥ प्रतिपादयितुं योग्यतालक्षणसंबन्धमित्यर्थः । फलाभेदात् तयोर्न पृथग् निर्देश इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥

## वार्तिकम्

धर्मिणि संशयाभावाद् जिज्ञासैव नोदियादित्युक्तम्, तदाह—\*अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति\* ॥ अस्मिन् पक्षेऽर्थात् संबन्ध आक्षिप्तः । सर्वात्मनाऽप्रसिद्धस्य नरविषाणायमानस्य जिज्ञासाविषयत्वानु-पपत्तेरसंबन्धार्थत्वं जिज्ञासाया इति । इतिशब्द आशङ्कासमाध्यर्थः । अधीतवेद वेदाङ्गस्य विदितपद-



## भामसी

दर्शयति ; आनन्द-प्रकाशयोरभेदात् । \*स्यादेतत्\*—मुक्तौ सत्यामस्यैते शुद्धत्वादयः प्रथन्ते, ततस्तु प्राग् देहाद्यभेदेन तद्धर्मजन्म-जरा-मरणादिदुःखयोगादित्यत आह—\*मुक्तेति\* ॥ \*सदैव मुक्तः, सदैव केवलः, अनाद्यविद्यावशात्तु भ्रान्त्या तथाऽवभासत इत्यर्थः । तदेवमनौपाधिकं ब्रह्मणो रूपं

## ऋजुप्रकाशिका

\*आनन्द-प्रकाशयोरिति\* ॥ “मुक्ते”ति विशेषणं शङ्कोत्तरत्वेनावतारयितुं शङ्कामाह—\*स्यादेतदिति\* ॥ \*अस्य= ब्रह्मणः । मुक्तेः प्राग् न प्रथन्त इति शेषः । ततः प्राक् कुतो न प्रथन्त इति ? अत आह—\*ततस्तु प्रागिति\* ॥ \*देहाद्यभेदेन=देहाद्यभेदाध्यासेन । मुक्तिप्राक्काल एव स नास्ति, नित्यमुक्तत्वादित्याह—\*अत आहिति\* ॥ \*ननु\*—सदा मुक्तश्चेत्, कथं तर्हि बद्धवद्भानम् ? तत्राह—\*अनाद्यविद्येति\* ॥ \*सर्वज्ञमिति\* । \*ननु\*—सर्वज्ञत्वादेः कथमविद्योपाधिकत्वमिति चेत्, \*उच्यते\*—ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वेन

## पञ्चपादिका

च प्रयोजनं भवति, छिदिक्रियाविषय एव वृक्षश्छिन्नः प्रयोजनमित्युच्यते, दण्डादेरपि मृद्विषयस्य मृदेव

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* फलसाधनं प्रवृत्तिविषयः, न फलमिति, तत्राह—\*छिदिक्रियाविषय एवेति\* ॥ प्रयोजन-समवायि वस्तु कर्मकारकतया विषयो भवति । ततश्च प्रयोजनप्रतिपत्तौ विषयोऽप्यन्तर्भवतीत्यर्थः । \*ननु\*—कुलाल-दण्डादिव्यापारो मृद्विषयः, घटश्च प्रयोजनम्, इति विषय-प्रयोजनयोर्भेद इति, तत्राह—दण्डादेर-

## ऋजुविवरणम्

प्रयोजनत्वमुक्तम्—“छिदि क्रियाविषय”इत्यनेन, तथा सति न फलस्य प्रवृत्तिविषयत्वम् । यद्यपि विषयगतं फलम् ; तथाऽपि फलातिरिक्तस्य विषयत्वाद् विषय-संबन्धयोः पृथग्वक्तव्यत्वं तदवस्थम्, अन्तर्भावोऽपि न सिध्येदित्याशङ्क्य

## तत्त्वदीपनम्

फलाभेदोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ तृप्तिसाधने प्रवृत्तिर्दृश्यते, न तु तृप्तावित्यर्थः । फलस्यापि विषयत्वं दृष्टमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ किं फलस्य विषयत्वव्यपदेशः ? उत फलमेव विषयः ? आद्यस्त्वङ्गीक्रियते, द्वितीयस्त्वनुपपन्नः ; केवलस्य विषयत्वात् ; क्रियाजनितातिशयविशिष्टस्य च फलत्वादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*प्रयोजनेति\* ॥ क्रियाजनितोऽतिशयः प्रयोजनम्, तच्छालिनो विषयत्वमित्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*ततश्चेति\* ॥ यद्यपि क्रियाजनितातिशयशालितया प्रयोजनत्वम्, ज्ञायमानातिशयविशिष्टतया विषयत्वमिति भेदः ; तथाऽपि फले ज्ञाते विषयोऽपि ज्ञातो भवेत्, इति न पृथग् निर्देशापेक्षेत्यर्थः ॥ विषय-फलयोरत्यन्तभेदोऽपि दृश्यत इति शङ्कते—\*ननु कुलालेति\* ॥ अत्यन्तभेद उपादानोपादेयभावस्यानुपपत्तेः स नेष्टव्य इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ विषय-संबन्धयोः प्रयोजनान्तर्गतत्वाद् न पृथग् निर्देश इति शङ्कायां “सत्यमि”ति तदङ्गीकारो

## वार्तिकम्

तदर्थस्याधिकारिणो विवेककाल एव पूर्वोक्तरीत्या श्रुत्यनुभवाभ्यां वक्ष्यमाणलक्षणो ब्रह्मणि प्रसिद्धे निश्चितेऽपि तस्मिन् स्वान्तःकरणदोषात् सन्देहोपपत्तेरुक्तत्वात् । जिज्ञासाविषयत्वाविरोधादिति प्रसिद्धपक्षमादाय परिहृति—\*उच्यत इति\* ॥ यद् भवता प्रसिद्धत्वपक्षमादाय जिज्ञासाविषयस्य ब्रह्मणो नास्तित्वमवधारितम्, तन्न तथा मन्तव्यम् । विपर्यासो हि सः ; “असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेदि”ति श्रुतेः । कथं तर्हि मन्तव्यम् ? तत्राह—\*अस्ति तावद्ब्रह्मेति\* ॥ तावच्छब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमः । ब्रह्मैवास्ति, नान्यदित्यर्थः ; “अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः” अस्तीत्येवोप-



## पञ्चपादिका

घटावस्था प्रयोजनम् ; \*सत्यमेवम्\* ; तथाऽपि यथा चिकित्साज्ञानस्य चरकसुश्रुतात्रेयप्रभृतीनि बहूनि, यथा वा तण्डुलनिष्पत्तिप्रयोजना अवघात-नखनिर्भेद-दलनक्रिया बहवः, तत् \*नावश्यमेकत्रैव प्रवृत्तिः\*, तथेहाप्यन्यस्मादपि कथंचिद् ब्रह्मावगतिसिद्धौ नावश्यमत्रैव प्रवृत्तिः ; अतोऽनन्यसाधारणो विषयो वक्तव्यः, यथाऽर्जुनस्यायं विषय इत्यनन्यसाधारणता प्रतीयते । तेनानन्यसाधारणत्वाय विषयो निर्देश्यः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पीति\* ॥ \*सत्यं प्रयोजनसमवायी विषयप्रयोजनबुद्धावन्तर्भवति\*, किंतु प्रयोजनं प्रति करणलक्षणस्य पुरुषव्यापारविषयस्यानन्यसाधारणतया शक्यप्रतिपाद्यतया च विषयभावे दर्शिते प्रयोजनसाधने नियमेन प्रवृत्तिर्भवति, नेतरथेति परिहरति—\*सत्यमेवं तथापीत्यादिना\* ॥ तत्र प्रवृत्तिनियमायानन्यसाधारणतया विचार-तज्जन्यज्ञानयोरनुभूयमानतया प्रयोजनमपि ब्रह्म स्वरूपेण विषयतया पृथग् वक्तव्यमिति दर्शयितुं

## ऋजुविवरणम्

व्याचष्टे—\*प्रयोजनसमवायीति\* ॥ सत्यमित्यङ्गीकारो न युक्तः, विषयसंबन्धनिरूपणं न कर्तव्यम् ; प्रयोजनान्तर्गत-त्वादिति चोद्यस्य कृतत्वात् तदङ्गीकारायोगात्, अङ्गीकारे चोत्तरत्र तन्निरूपणसाधनस्य व्याहृतत्वप्रसङ्गादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*सत्यं प्रयोजनेति\* ॥ \*ननु—प्रयोजनसमवायिनो विषयत्वम्, तच्च प्रयोजनबुद्ध्यन्तर्गतं न पृथग् वक्तव्य-मित्युक्तम्, प्रवृत्तिविषयत्वं च प्रयोजनस्य नान्यस्य, अतः किं साधनविषयादिनिरूपणेन ? इत्याशङ्क्याह—\*किन्तु प्रयोजनमिति\* ॥ \*ननु—प्रयोजनसाधनेनैव पुरुषः प्रवर्तते, विषयोऽपि तस्य सिद्ध एव, किं निर्देशेन ? इत्या-शङ्क्याह—\*अनन्यसाधारणतयेति\* ॥ \*ननु\*—सति विषये पुरुषः प्रवर्तते ; किमनन्यसाधारणत्वेनेति ? तत्राह—\*नियमेनेति\* ॥ \*ननु\*—चरकादिदृष्टान्तो विषम इवाभाति ; विषयत्वेन विना प्रवृत्त्यभावं वक्तुं प्रकृत्य प्रयोजना-नियमे सति दृष्टान्तेन नियमेन प्रवृत्त्यभावसाधनात्, विषयत्वनिर्देशसाधनमपि व्यर्थम् ; विचार-ज्ञानयोर्ब्रह्मनिष्ठत्वेन तद्विषयत्वसिद्धेरित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र प्रवृत्तिनियमायेति\* ॥ \*ननु\*—साधुशब्दपरिज्ञानोपन्यासो न युक्तः ; संबन्धाभावे प्रवृत्त्यभावमात्रसाधनात्, तस्य च विषयत्वनिर्देशे तस्यान्तर्गर्भितसंबन्धत्वेन पृथगुक्तेः साधितत्वात् तत्र

## तत्त्वदीपनम्

न युक्तः ; पृथग् निर्देशस्य साध्यमानत्वादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*सत्यमिति\* ॥ अङ्गीकृतमेवांशमाह—\*प्रयोजनेति\* ॥ द्विविधं विषयत्वम्—क्रियाफलशालित्वम्, अनन्यसाधारणत्वं चेति । तत्राद्यः प्रयोजनप्रतिपत्तौ प्रतिपन्नो भवतीत्यर्थः । कथं तर्हि विवादः ? इति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ अनन्यसाधारणतालक्षणस्य विषयस्य प्रयोजनानन्तर्भावात् पृथग् वक्तव्यत्वमित्याह—\*प्रयोजनमिति\* ॥ ब्रह्मणोऽनन्यसाधारणतया शक्यप्रतिपाद्यतया च प्रयोजनत्वम्, प्रकरणस्य पुरुषव्यापारविषयस्य श्रवणादेर्विषयस्याभावे दर्शिते साधने नियमेन प्रवृत्तिर्भवतीति योजना । व्यापारविषयस्येति षष्ठी कर्मणि द्रष्टव्या ॥

ब्रह्मणोऽनन्यसाधारणतारूपं विषयत्वं चिकित्सादृष्टान्तेन समर्थ्यत इति तस्यासंगतिमाशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्र प्रवृत्तीति\* ॥ अनुभूयमानतया विचार-तज्जन्यज्ञानयोः प्रयोजनमपि ब्रह्म विषयतया पृथग् वक्तव्यमिति दर्शयितुं दृष्टान्तमाहेति संबन्धः । विषयतयेत्येतद्विवृणोति—\*अनन्यसाधारणतयेति\* ॥ कथं तस्यानन्यसाधारणता ? सर्व-प्रत्ययवेद्यत्वाभ्युपगमादिति शङ्कां व्यावर्तयति—\*स्वरूपेणेति\* ॥ सदाकारेण सर्वप्रत्ययवेद्यत्वेऽप्यद्वैतानन्दाद्याका-रस्य मानान्तरागोचरत्वादनन्यसाधारणत्वमित्यर्थः । विषयस्य पृथगवक्तव्यत्वे हेतुमाह—\*तत्र प्रवृत्तीति\* ॥ विचारनियतप्रवृत्तिसिद्धय इत्यर्थः । \*अनुभूयमानतयेति\* ॥ विचार-तज्जन्यज्ञानसाध्यानुभवफलाश्रयतयेत्यर्थः ॥

## वार्तिकम्

लब्धव्यः” इत्यादिश्रुतेरित्याशयः । किंलक्षणं तद्ब्रह्मास्तित्वेन विवेकेन प्रसिद्धमित्यपेक्षायां वक्ष्यमाण-तत्स्वरूप-तदुत्थलक्षणे दर्शयति—\*नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितमिति\* ॥ यथा-



## पञ्चपादिका

प्रवृत्त्यङ्गत्वेन । सम्बन्धोऽपि वक्तव्यः प्रवृत्त्यङ्गत्वेनैव । यथा साधुशब्दपरिज्ञानं व्याकरणारम्भात् प्राग् न केनचित्साध्यते, तेन न केनचित् सम्बद्धम् ; अतस्तदर्थी न क्वचित् प्रवर्तते, यथा बौदन-निष्पत्तिरेकक्रिया नियताऽपि न गमनाद्येकक्रियासाध्या, तेन न तथा सम्बन्धः । ततश्च न गमनादि-क्रियायामोदनार्थी प्रवर्तते, तेन पुरुषार्थरूपताऽनन्यसिद्धता तत्प्रतिपाद्यता चेति भिद्यन्ते विषय-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

विपक्षे दृष्टान्तमाह—\*यथा चिकित्साज्ञानस्येति\* ॥ विषयस्य संबन्धिरूपतयाऽन्तर्गर्भितसंबन्धत्वाद् न पृथक्संबन्धो वक्तव्य इति, तन्माह—\*संबन्धोऽपि वक्तव्य इत्यादिना\* ॥ तत्रानन्यप्रतिपाद्यत्वात् साधनान्तर-निवृत्तिरूपान्यत्वात् संबन्धस्य, सोऽपि पृथग्वक्तव्य इति दर्शयितुं विपक्षे दृष्टान्तमाह—\*यथा साधुशब्दपरिज्ञान-मित्यादिना\* ॥ अयमर्थः—व्याकरणारम्भात् प्राक् चिकित्साव्यापाराद् व्यापारान्तरैसाध्यमपि साधुशब्दज्ञानं न चिकित्साव्यापारस्य विषयः ; संबन्धाभावात्, किंतु व्याकरणेन संबन्धात्तस्य विषयो भवति । \*अतस्तदर्थी न क्वचिदिति\* ॥ चिकित्साव्यापार इत्यर्थः । \*ननु\* एवमप्यन्यतमाभिधानेनान्यतमस्यार्थसिद्धत्वान्न पृथगभिधानेन

## ऋजुविवरणम्

विषयत्वभावेनैवाप्रवृत्तेर्वक्तुं शक्यत्वात्, इत्याशङ्क्योपयोगमाह—\*तत्रानन्यप्रतिपाद्यत्वादिति\* ॥ \*ननु—साधुशब्द-परिज्ञाननिर्दर्शनमप्रयोजनम् ; व्यापारान्तराणां सर्वेषामपि विषयत्वेनैव तत्राप्रवृत्तेर्वक्तुं शक्यत्वात्, संबन्धाभिधाने हेतुत्वाभावात्, “न केनचित्साध्यमि”त्यसाध्यत्वकीर्तनमप्यसङ्गतम् ; अत्र व्यापारविशेषेषु विषयत्वे सत्यप्य-संबन्धादप्रवृत्तिर्वक्तव्या, सा च नोक्ता ; अतो न युक्त इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थः—\*व्याकरणारम्भादिति\* ॥ “तदर्थी न क्वचिदि”त्यविशेषोक्तिरनर्थिका ; व्याकरणे प्रवृत्तेरन्यत्राविषयत्वेनैवाप्रवृत्तिर्नासंबन्धहेतुकेत्याशङ्क्याह—\*न क्वचिदिति । चिकित्साव्यापार इति\* ॥ “भिद्यन्ते” इति व्यधिकरणम् ; अभिधानेनान्यसिद्धेरपरिहारात्,

## तत्त्वदीपनम्

विपक्ष इति । अनन्यसाधारणविषयाप्रतिपत्तौ साधनप्रवृत्तिनियमाभाव इत्यर्थः । \*दृष्टान्तस्यायमर्थः\*—चिकित्साज्ञान उद्देश्ये चरकमुश्रुतात्रेयप्रभृतीनि बहूनि साधनानि विद्यन्ते, तेषां मध्य एकत्रैव नावश्यं प्रवृत्तिः, सर्वेषां साधनत्वाविशेषात् । तत्रैव लौकिकं दृष्टान्तमाह—\*तथेति\* ॥ उक्तेश्चैवमाह—\*यथेति\* ॥ निषातकवचवधादेर-जुनेनैव साध्यत्वादनन्यसाधारणत्वमित्यर्थः । तस्मात् साधनविशेषप्रवृत्तिनियमाय साधानान्तरारूपृष्टत्वं वक्तव्य-मित्युपसंहरति—\*तेनेति\* ॥ विषयनिर्देशमङ्गीकृत्य संबन्धमाक्षिपति—\*विषयस्येति\* ॥ अनन्यप्रतिपाद्यत्वे सत्येतत्प्रतिपाद्यो विषयः, तथाच संबन्धो न पृथग् निर्देष्टव्य इत्यर्थः । संबन्धरूपत्वमसिद्धमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ कथमसिद्धिः ? इति वीक्षायामाह—\*तत्रेति\* ॥ संबन्धस्यानन्यप्रतिपाद्यत्वादन्यत्वात् सोऽपि वक्तव्य इति संबन्धः । अन्यत्वं दर्शयितुमनन्यप्रतिपाद्यत्वमेव विशिनष्टि—\*साधनान्तरेति\* ॥ संबन्धाभावे प्रवृत्तिनियमाभाव इत्यत्र दृष्टान्त-प्रदर्शनपर उत्तरग्रन्थ इत्याह—\*इति दर्शयितुमिति\* ॥

साधुशब्दपरिज्ञानस्य व्याकरणसंबन्धत्वं विषयत्वं च, ततः कथं व्यतिरेकदृष्टान्त इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ “तदर्थी न क्वचिदपि प्रवर्तते” इत्युक्तम् ; व्याकरणे प्रवृत्तिसंभवात्, तत्राह—\*अत इति\* ॥ प्रयोजन-ज्ञानमेव विषयादिज्ञानमित्यसंभवेऽपि तदविनाभावादितरसिद्धिरिति शङ्कते—\*मन्वेवमपीति\* ॥ अर्थसिद्धत्वमसिद्ध-

## वार्तिकम्

चैतल्लक्षणं ब्रह्माधिकारिणः प्रसिद्धम्, तथा विवेकप्रतिपादनकाल एव प्रदर्शितमिति नेह पुनः प्रतिपाद्यते । \*ननु\*—विवेकदशायामेव चेदेतादृशं ब्रह्माधिकारिण उपस्थितम्, हन्त तर्हि तस्य तदाकाङ्क्षाया अभावात् किमिति सूत्रकारेण “जन्माद्यस्य यतः” इति तल्लक्षणं वक्ष्यते ? \*नैष दोषः ; तदुपस्थितावपि स्वाशयदोषात् तदनध्यवसायादित्युक्तत्वादाकाङ्क्षासत्त्वात्तत्सूत्रोपपत्तेः । \*ननु\*—भवतु नाम विवेकिनस्तादृशब्रह्मा-



### पञ्चपादिका

सम्बन्ध-प्रयोजनानि । तानि च त्रीण्यपि प्रवृत्त्यङ्गम् ; नापुरुषार्थे काकदन्तपरीक्षायां तुषकण्डने वा प्रवर्तते प्रेक्षावान् । नापि पुरुषार्थे चिकित्साज्ञाने सुश्रुतादिसिद्धे, चरके नियमेन प्रवर्तते । नापि तण्डु-  
लेषु दलनसिद्धेष्ववघाते । नाप्यनन्यसिद्धेऽपि साधुशब्दपरिज्ञाने पुरुषार्थे, अतत्साधने वैद्यकादौ कश्चित् प्रवर्तते, गमने वाऽनोदनसाधने । तत्र विप्रतिपत्त्यैकान्ततः प्रसिद्धतामप्रसिद्धतां च निरस्य शक्य-  
प्रतिपाद्यमानतामनन्यसिद्धतां च दर्शयन् विषय-सम्बन्धौ समर्थितवान्, “निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते”  
इति च प्रयोजनम् ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

कृत्यमिति, नेत्याह—\*तेन पुरुषार्थरूपतेत्यादिना\* ॥ \*मिद्यन्त इति\* पृथग्वक्तव्यानीत्यर्थः । नचान्यतमेनान्य-  
तमस्य सिद्धिः ; सत्यप्येकस्मिन्नितराभावस्य दर्शितत्वादिति । \*ननु\* स्वरूपभेदे पृथगभिधानापेक्षायामपि कथं  
क्षितयं सम्भूय न प्रवृत्त्यङ्गमिति ? तत्र व्यतिरेकमुखेन प्रवृत्तिहेतुत्वं दर्शयति—\*तानि च त्रीण्यपि प्रवृत्त्यङ्गम् ;  
नापुरुषार्थ इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* वक्तव्यमपि क्षितयं प्रसिद्धाप्रसिद्धपक्षयोरनुपपन्नमित्युक्तमिति, तत्परिहारायोत्तर-  
भाष्यस्याऽऽधिकरणपरिसमाप्तेस्तात्पर्यमाह—\*तत्र विप्रतिपत्त्यैकान्ततः प्रसिद्धतामित्यादिना\* ॥ तत्र प्रसिद्धिमात्रेण  
विचारविधानोपपत्तिः; उद्देशनसम्भवात्, एकान्तप्रसिध्यभावादिचारजन्यज्ञानस्यानन्यसाधारणतेति । विप्रति-  
पत्तिशब्दो ब्रह्मशब्दव्युत्पत्तेरप्युपलक्षणार्थः । \*ननु\* एवमपि विचारशास्त्रस्य विषय-संबन्धौ न समर्थिताविति

### श्रुतिविवरणम्

सिद्धसाधनश्रेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*पृथग्वक्तव्यानीति\* ॥ \*ननु\*—नान्तरीयकसिद्धेर्न पृथगभिधानमित्युक्त-  
मित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*न चान्यतमेनेति\* ॥ “तानि च त्रीण्यपि”त्यादिग्रन्थः पुनरुक्तः । पूर्वमेव भेदस्य  
प्रवृत्त्यङ्गत्वस्य च साधितत्वात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु स्वरूपभेद इति\* ॥ \*ननु\*—प्रवृत्तिहेतुत्वं वक्तुं  
प्रक्रम्यान्यतमाभावे प्रवृत्त्यभावमात्रकीर्तनमयुक्तम् ; तावता हेतुत्वासिद्धेः, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र व्यतिरेक-  
मुखेनेति\* ॥ \*ननु\*—क्षितयस्य प्रवृत्तिहेतुत्वेन वक्तव्यत्वमभिधाय तत्प्रतिपादनमनन्तरभाष्यस्य व्याख्यानं वा  
कर्तव्यम्, ननु सकलभाष्यतात्पर्यकथनमुपयुज्यते ; “अस्ति तावदित्यनेन क्षितयमपि समाधत्ते” इत्यनेन पौनरुक्त्या-  
दित्याशङ्क्याह—\*ननु वक्तव्यमपीति\* ॥ \*ननु\*—एकान्तप्रणिध्यभावे न विचारविधानसंभवः, संबन्धाभावात्,  
प्रमाणसिद्धत्वादेव प्रसिद्धौ तु विषयत्वासंभवः, अतः कथं समर्थिताविति ? तत्राह—\*तत्र प्रसिद्धिमात्रेणेति\* ॥  
\*ननु\*—भाष्यकारेण ब्रह्मशब्दव्युत्पत्त्या प्रसिद्धिरुक्ता, तेनैव संबन्धादिसमर्थनमपि कृतम्, इतरदभ्युच्चयत्वेनोक्तम् ।  
टीकाकारेण विप्रतिपत्तिमात्रेण समर्थनं कृतमिति भाष्याभिप्राय उक्तः, स भाष्यविरुद्धः ; अयुक्तं च ; अप्रतिपत्ते  
विप्रतिपत्त्यभावादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*विप्रतिपत्तिशब्द इति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

मित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ मिद्यन्त इति कथमुक्तम् ? तेनापि तथाऽभ्युपगमादित्याशङ्क्याह—\*मिद्यन्त इति\* ॥ तत्र  
हेतुमाह—\*न चान्यतमेनेति\* ॥ चशब्दोऽवधारणार्थः सिद्धिपदेन संबध्यते । उक्तमर्थमनङ्गीकृत्य प्रवृत्त्यङ्गत्वमाक्षि-  
पति—\*ननु स्वरूपेति\* ॥ प्रमाणाभावादिति द्रष्टव्यम् । प्रमाणाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तत्रेति\* ॥ ब्रह्मणः सामान्यतः  
प्रसिद्ध्यादेरसंभवाद् न विषयादि निर्देष्टव्यमित्युक्तमनुवदति—\*ननु वक्तव्यमिति\* ॥ एकान्ततः प्रसिद्धयप्रसिद्धयोः  
प्रतिपत्त्यनुपपत्त्या प्रसिद्धतामात्रं सिध्यति, कथं विषयादिः ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्र प्रसिद्धीति\* ॥

न केवलं विप्रतिपत्त्यनुपपत्त्या ब्रह्मसिद्धिः, अपि तु ब्रह्मशब्दव्युत्पत्त्याऽपीत्याह—\*विप्रतिपत्तीति\* ॥ ब्रह्मणः  
शास्त्रविषयत्वं कथं प्रतिषिध्यते ? वेदान्तानामेव शास्त्रत्वादित्याशङ्क्य, शास्त्रशब्देन वाक्यनिर्णयापेक्षितन्यायप्रति-  
पादको ग्रन्थो निर्दिष्यत इत्यभिप्रायेणाह—\*तत्रेवेमिति\* ॥ ब्रह्मणः शास्त्राविषयत्वं सूत्रपराहतमिति शङ्कते—



## पञ्चपादिका

\*ननु\* ब्रह्म वेदान्तानां विषयः, शास्त्रं च तेषां ब्रह्मप्रतिपादनानुसरणोपायन्यायविषयम्, तत् कथं शास्त्रस्य विषय-सम्बन्धौ भवतः ? प्रयोजनन्तु कदाचित् स्यादपि प्रणाड्या धर्मार्थविषययोरिव शास्त्रयोः

## पञ्चपादिकाविवरणम्

चोदयति \*ननु ब्रह्म वेदान्तानामिति\* ॥ \*ननु\* “ब्रह्मजिज्ञासे”ति शास्त्रस्यापि स एव विषयो निर्दिष्टः, नेत्याह—\*शास्त्रं च तेषामिति\* ॥ सूत्रवाक्यानि न्याया विषयाणि, न्यायाश्च प्रमाण-प्रमेय-सम्भावनादि-विषयाः । \*ननु\* सम्भावनावगम एव तर्हि प्रयोजनमिति, नेत्याह—\*प्रयोजनं त्विति\* ॥ प्रणाड्येति परम्परयापीत्यर्थः । धर्मार्थाभ्यां सुखमेव प्राप्यत इति तयोस्तत्परता ।

\*ननु करणेतिकर्तव्यतयोरेकमेव प्रयोजनमिति निर्णीतं प्रथमे तन्त्रे, \*तथाहि\* “आग्नेयोऽष्टाकपालः” “उपांशुयाजमन्तरा यजति” “अग्नीषोमीयमेकादशकपालमिति” पौर्णमास्यां कर्मत्वम्, तथा “आग्नेयोऽष्टाकपालः” “ऐन्द्रं दधि” “ऐन्द्रं पयः” इति दर्शे त्रयमित्याग्नेयादयः षड्यागाः । तेषां करणभूतानां द्विविधान्यङ्गानि निरूपितानि—अर्थकर्माणि संस्कारकर्माणि चेति । फलोपकार्यङ्गानि प्रयाजादीन्यारादुपकारकाण्यर्थ-

## ऋजुविवरणम्

\*संभाषनावगम इवेति\* ॥ प्रयोजनमपि न समर्थितमित्यभिप्रायः । विषयत्वं त्वव्यवहितस्यैवेति भावः ॥ प्रणाड्येत्यस्य व्याख्या—\*परम्परयाऽपीति\* ॥ कथं धर्मार्थशास्त्रयोर्धर्मार्थसिद्धिप्रयोजनयोः कासावासिः प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*धर्मार्थाभ्यामिति\* ॥ \*तत्परतेति\* ॥ धर्मार्थपरतेत्यर्थः । परम्परयाऽपि सुखावासि-दुःख-परिहाराभावेऽव्यवहितमपि न प्रयोजनमित्युक्तं भवति । \*अथवा\*—“तत्परते”त्यत्र सुखपरत्वं विवक्षितम् ; परम्परया तस्यैव पुरुषार्थत्वादिति । “नन्वाग्नेयादीनामिति” त्यादिना ग्रन्थेन प्रयाजादिदृष्टान्तेन मीमांसाया इतिकर्तव्यताभावेन वेदान्तेन समानविषयत्वमिति चोद्यं कृतम्, तदुक्तम्, वैषम्यात्, नह्याग्नेयादियागविषयः प्रयाजादीनामपि विषयः ; अकर्मकत्वात्, सकर्मकत्वे वा वाच्यभेदाद्भिन्नविषयत्वात्, नाप्येतद्दृष्टान्तबलादेकप्रयोजनत्वं साध्यम् ; वैयर्थ्यात्, विषयसंबन्धयोराक्षेपः पूर्वं कृतः, न प्रयोजनस्य । नच संबन्धादि साधन उपयुज्यते, नापि करणेतिकर्तव्यतयोरेकप्रयोजनत्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । तथा के त आग्नेयादयः ? के च प्रयाजादय इति ? तत्सर्वं निरूपयति—\*ननु करणेतिकर्तव्यतयोरिति\* ॥ कथमाग्नेयादीनां प्रयाजादय इतिकर्तव्यताभावं ययुः ? अविशेषात्, आग्नेयादीनामेव तदपेक्षत्वे कारणाभावात्, इतरेषामितिकर्तव्यतात्वे प्रमाणभावादित्याशङ्क्याह—\*करणभूतानामिति\* ॥ “प्रयाजादी”त्यादिशब्दगृहीतं सन्निपातवर्गं दर्शयति—\*द्विविधानीत्यादिना\* ॥ साजात्यादारादुपकारकमात्रपरिगृहे द्विविधस्यापि तर्कस्य ब्रह्मविषयत्वं न सिध्येत्, तथा सति शक्तितात्पर्यं हेतुतर्कस्यापेक्षितविषयत्वाभावेन तस्यारम्भो न भवेदिति । \*आरादु=दूर इत्यर्थः ; करणशरीरनिर्वर्तकत्वाभावात् ।

## तत्त्वदीपनम्

\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ प्रतिभासविरोधान्मैवमिति परिहरति—\*नत्याहेति\* ॥ न्यायानां ब्रह्मविषयत्वात् शास्त्रमपि तद्विषयमित्याशङ्क्याह—\*सूत्रेति\* ॥ विषय-संबन्धयोरेवाक्षेपे को हेतुः ? इति शङ्कते—\*ननु संभावनेति\* ॥ शास्त्रस्य संभावनाविषयत्वात् तज्ज्ञानं प्रयोजनम्, न मुक्तिरित्यर्थः । संभावनाज्ञानस्य सुख-दुःखप्राप्ति-निवृत्त्यन्यतरत्वाभावाच्च स्वरूपेण पुमर्थत्वमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ प्रकृष्टा नाडी प्रणाडीति शङ्कां निरस्यति—\*परम्परयेति\* ॥

ब्रह्माऽवाप्तिः शास्त्रप्रयोजनत्वेन निर्दिष्टेति शङ्कां निरस्यति—\*धर्मार्थाभ्यामिति\* ॥ “आग्नेयादीनामिति”त्यत्र करणेतिकर्तव्यतयोरेकविषयत्वमुक्तम्, तत्र के त आग्नेयादयः ? कथं वैकविषयत्वम् ? प्रकृते वा कथम् ? इति वीक्षायां तत्सर्वमाह—\*ननु करणेति\* ॥ तत्र प्रथमं करणस्वरूपमाह—\*तथाहीति\* ॥ “दर्श-पूर्णमासाभ्यामिति” तृतीयाश्रुत्या यगिनां समप्राधान्यमुपेयमित्याह—\*तेषामिति\* ॥ किं तदितिकर्तव्यम् ? इति वीक्षायामाह—\*द्विविधानीति\* ॥

अर्थकर्माणि दर्शयति—\*फलेति\* ॥ \*आरादु=दूरे इत्यर्थः । आरादुपकारकत्वं दर्शयति—\*फलेति\* ॥ संस्कार-



## सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम् ।

भामती

दर्शयित्वाऽविद्योपाधिकं रूपमाह—\*सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्\* ॥ तदनेन जगत्कारणत्वमस्य दर्शितम्, शक्तिज्ञानभावाभावानुविधानात् कारणत्वभावाभावयोः । कुतः पुनरेवंभूतब्रह्मस्वरूपावगति-

ऋजुप्रकाशिका

तद्वोचरज्ञानत्वादिलक्षणसर्वज्ञत्वादेरप्यविद्याकल्पितत्वादविद्योपाधिकत्वं बोध्यम् । ब्रह्मणः सर्वज्ञत्व-सर्वशक्ति-मत्त्वादिना किमिति ? अत आह—\*तदनेनेति\* ॥ \*अस्य=ब्रह्मणः । सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्त्वमात्रेण कथं जगत्कारणत्वप्रदर्शनम् ? तत्राह—\*शक्तिज्ञानेति\* ॥ जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानकारणता कारणताशब्दार्थः । \*एवंभूतेति\* ॥ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-भूतेत्यर्थः ।

पञ्चपादिका

कामावाप्तिः । \*ननु\* आग्नेयादीनां स्वर्गफलानां प्रयाजादीतिकर्तव्यतावद् वेदान्तानामप्यर्थमवबोधयता-मितिकर्तव्यता मीमांसा, तेनार्थावबोधे वेदान्तानामुपकारकत्वाद् भवति शास्त्रमपि तद्विषयम् । नहि शालि-

पञ्चपादिकाविवरणम्

कर्माणि, प्रोक्षणादीनि तु द्रव्यद्वारेण यागस्वरूपोपकारितया सन्निपत्योपकारकाणि संस्कारकर्माणि । तन्नोभय-विधानामप्यङ्गानां प्रधानापूर्वद्वारेण स्वर्गसिद्धिरेव प्रयोजनमिति । एवं शब्दशक्तितात्पर्यविचारस्य संस्कारकर्म-वच्छब्दप्रमाणस्वरूपोपकारितया, अर्थस्वरूपब्रह्मविचारस्य च ब्रह्मावगमफलोपकारितया, अवगम्यमानब्रह्म-विषयत्वमुभयविधविचारस्य युज्यत इत्यपसिद्धान्ती चोदयति—\*ननु आग्नेयादीनामित्यादिना\* ॥

ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—एकप्रयोजनत्वेऽपि न समानविषयत्वलाभः ; तथा सत्येकप्रयोजनत्वसाधनं व्यर्थमिति यच्चोदितम्, तत् परिहरति—\*ब्रह्मावगमफलोपकारितयेति\* ॥ अवगमस्य सकर्मकत्वात् तज्जनकस्यापि तेन समानविषयत्वम्, तेन

तत्त्वदीपनम्

कर्मस्वरूपमाह—\*प्रोक्षणादीनीति\* ॥ सन्निपत्योपकारकत्वमाह—\*द्रव्येति\* ॥ करणेतिकर्तव्ययोः स्वरूपमभिधाय तयोरेव विषयमाह—\*तत्रेति\* ॥ अङ्गेषु पृथक्फलाश्रवणाद् यत्र च फलं श्रूयते, तस्यार्थावदत्वात्, करणफलमेव फलमित्यर्थः । दार्ष्टान्तिकमाह—\*एवमिति\* ॥ निर्णीतशक्तितात्पर्यविशिष्टस्य शब्दस्य करणत्वात् शक्तितात्पर्य-निर्णयस्य विचाराधीनत्वात् स्वरूपोपकार्यङ्गत्वम्, प्रमेयविचारस्य त्वारभ्यावगमादिनिवृत्तिरेव फलोपकारत्वमित्यर्थः । विचारस्य प्रतिबन्धनिवर्तकत्वाङ्गीकरणाद् ब्रह्मविषयत्वाभिधानं सिद्धान्तविरुद्धमित्याशङ्क्याह—\*अपसिद्धान्तीति\* ॥

वार्तिकम्

स्तित्वप्रसिद्धिः, तथाऽपि तादृशं तदभिमतं जिज्ञास्यं कथं सौत्रब्रह्मपदेनोपस्थाप्यताम् ? ब्रह्मपदस्य भाष्यभावप्रकाशिका

\*अस्तीति\* ॥ प्रसिद्धमित्यर्थः । कीदृशं तदिति ? तदाह—\*नित्यशुद्धेति\* ॥ निरुपाधिकं

ब्रह्मरूपमभिधाय सोपाधिकं रूपमाह—\*सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितमिति\* ॥

\*ननु\* न ब्रह्म सामान्येनापि लोके प्रतिपन्नम् ; प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्, नाप्यागमवाक्यात् ; वाक्ये प्रयुज्यमानब्रह्मशब्दस्यागृहीतसंबन्धत्वात्, अत एव न पदमात्रादपि तत्सिद्धिः ; जात्या-

प्रदीपः

महिम्नैव नित्यम्, व्यापकम्, शुद्धम्, चिद्रूपम्, सुखस्वरूपं च ब्रह्म सामान्यतः किञ्चिद् शायत एव । बृहधातोर्हि व्याप्तिरर्थः । व्यापकत्वं देशतः कालतो वस्तुतश्चावच्छेदशून्यत्वं नित्यत्वं शुद्धत्वं बुद्धत्वं च मुक्तत्वं विना नोपपद्यते । अशुद्धत्वेऽपि तु दोषवत्त्वान्निरतिशयं महत्त्वं न स्यात्, इत्यविद्यादिदोषशून्यस्वरूपं शुद्धत्वं बन्धकालेऽपि स्वतो बन्धशून्यत्वा-



## पञ्चपादिका

बीजस्याङ्कुरं जनयतः सहकारिणो जलादेरङ्कुरो न कार्यम् । तेन यद्यपि वेदान्ता एव ब्रह्मावबोधे कारणम्, मीमांसा चेतिकर्तव्यताभागं पूरयति ; तथाऽपि ब्रह्मविषयैव । न हि छेतुरुद्यमन-निपातन-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* वेदान्ता एव ब्रह्मावगतिसमर्थाः, तत्र कथमितिकर्तव्यस्यावगमफलतया ब्रह्मविषयतेति ? तत्राह—  
 \*तेन यद्यपि वेदान्ता एवेति\* ॥ \*ननु\* कथं संभावनाबुद्धिहेतुतया तद्विषयस्य विचारस्य ब्रह्मावगमजनक-  
 तया तद्विषयता ? न ह्यन्यविषयो व्यापारोऽन्यविषय इति, तत्राह—\*नहि छेतुरिति\* ॥ द्विविधं हि कर्मकारकम्—  
 किञ्चिदव्यवधानतया व्यापारजन्यातिशयवत्, यथोद्यमन-निपातनव्यापारस्योर्ध्वाधोदेश-संयोगविभागातिशय-  
 विशिष्टः कुठारः कर्तृव्यापारस्याव्यवधानेन कर्मकारकं भवति, किञ्चिदुद्देश्यफलतया करणव्यापारव्यवधानेन  
 कर्म भवति ; यथा द्वैधीभूतो वृक्ष इति । तत्र कर्तृव्यापारः करणव्यापारव्यवहितोऽपि वृक्षाद्वैधीभावफल  
 उच्यते ; 'वृक्षं छिनत्ती'ति कर्तृव्यापारस्य तत्कर्मतावगमात्, स एव वृक्षः कुठारव्यापारस्य साक्षात्कर्म भवति ;  
 अव्यवधानात् । \*ननु\* करणस्य कुठारस्य कथं कर्तृतेति ? \*उच्यते\*—सर्वाणि खलु स्वव्यापारापेक्षया

## ऋजुविवरणम्

समानविषयत्वे करणेनापि समानविषयत्वमिति भावः । \*नह्यन्यविषय इति\* ॥ एतदुक्तं भवति—ब्रह्मावगम-  
 जनकत्वेन ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, जनकत्वञ्च तद्विषयत्वेन ; तदत्रान्यविषयत्वेन न संभवति, तथा सति न तत्फलत्वमिति  
 भावः । “न हि छेतुरुद्यमने”त्यनेन देवदत्तव्यापारस्य वृक्षविषयत्वमुक्तं तादर्थ्येन, तदयुक्तम् ; परशुविषयत्वेन  
 व्यवहितस्य तद्विषयत्वायोगात्, अनन्यसाधारणत्वेनाव्यवहितवस्तुन्यतिशयजनकत्वं तद्विषयत्वम्, नेह तथा ; नच  
 तदर्थत्वेन व्यवहिततयापि तद्विषयत्वम् ; अतो न देवदत्तव्यापारो वृक्षविषय इत्याशङ्क्याह—\*द्विविधं हीति\* ॥  
 कथमुद्यमन-निपातनव्यापारस्य कुठारविषयता ? तदाश्रयत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*कर्तृव्यापारस्येति\* ॥ कुठारव्यापार-  
 हेतुभूतो व्यापारो विवक्षित इति । \*ननु\*—सिद्धे कर्तृव्यापारस्य द्वैधीभावफलत्वे वृक्षविषयत्वं सिध्येत्, नच  
 तदस्ति ; व्यवहितत्वात्, फलान्तरस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह—\*तत्र कर्तृव्यापार इति\* ॥ \*ननु\*—  
 व्यवहितस्य विषयत्वमेव न भवेत्, उद्देश्यतयाऽन्यविषयव्यापारस्यान्योद्देशेन प्रवृत्त्यसंभवात्, \*अथवा\*—परशु-  
 विषयत्वमप्येवमेव व्यवधानेनेति वक्तव्यम्, एवं व्यवधानपरम्परया न देवदत्तव्यापारविषयत्वमित्याशङ्क्याह—\*स एव  
 वृक्ष इति\* ॥ \*ननु\* करणस्येति\* ॥ कुठारस्य न व्यापारोऽङ्गीकर्तुं शक्यते ; कर्तृत्वापत्तेः करणत्वविरोधाच्च । अतो न  
 तस्य व्यापारः, तदभावे न तद्व्यवधानेन वृक्षविषयत्वं वक्तुं शक्यत इति भावः ॥ \*उच्यते सर्वाणीति\* ॥ सर्व-  
 कारकाणां स्वव्यापारे कर्तृत्वमविशिष्टम्, अतो न करणे विशेषेण चोद्यमिति भावः ॥ \*ननु\*—स्वव्यापारे कर्तृत्वे  
 करणादिभावो न भवेत्, अन्यव्यापारसाध्यस्याभावात्, व्यापारस्य व्यापारान्तराहेतुत्वाच्च । नापि फलजनकत्वेन  
 यद्गतं फलम्, तद्व्यापारजन्यत्वान्न व्यापारान्तरजन्यता, स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वात्, अतो न स्वव्यापाराङ्गीकारो

## तत्त्वदीपनम्

एकदेशीय इत्यर्थः । वेदान्ताः किं ब्रह्म बोधयितुमीशते ? उत न ? इति विकल्पान्त्ये विचारस्याप्यनपेक्ष्यत्वमित्यभि-  
 प्रेत्याद्यं दूषयति—\*ननु वेदान्ता इति\* ॥ समर्थस्याप्यन्यापेक्षा दृष्टेत्याह—\*तत्रेति\* ॥

प्रकारान्तरेण ब्रह्मविषयत्वमाक्षिपति—\*ननु कथमिति\* ॥ अन्यविषयस्याप्यन्यविषयत्वं दृष्टम्, ततो न विरोध  
 इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ उद्यमनादिव्यापारस्य वृक्षेऽतिशयजनकत्वात् कथं परशुविषयत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*द्विविध-  
 मिति\* ॥ द्वैविध्यमेवाह—\*किञ्चिदिति\* ॥ \*कर्तृव्यापारस्येति\* ॥ तस्योद्यमननिपातनव्यापारस्येत्यनेन संबन्धः ।  
 उद्देश्यं फलं यस्य स उद्देश्यफलः, तस्य भावस्तत्ता, तथेत्यर्थः । उद्यमनादेः करणव्यापारस्य च वृक्षविषयत्वमिति  
 वीक्षायामाह—\*तत्रेति\* ॥ कुठारव्यापारस्यापि व्यवधानेन वृक्षविषयत्वम्, अन्यथेतरत्रापि व्यवधानं न स्यादि-  
 त्याशङ्क्य व्यवधानानुभवान्मैवमित्याह—\*स एवेति\* ॥ कुठारकर्तृव्यापारस्य वृक्षविषयत्वमुक्तम्, तदनुचितमिति



## पञ्चपादिकां

लक्षणो व्यापारः परशुविषयो न वृक्षविषयः ; तदर्थत्वात्, करणस्य च द्वारत्वात् ; अन्यथाऽन्यत्र

## पञ्चपादिकाविवरणम्

कर्तृणि । सर्वकारकव्यापाराणां च फलं कर्मतया साध्यम् । तत्र कर्तृ-करण-कर्मभेदोऽवान्तरभेदापेक्षया भवति । तत्र कर्ता साधननियोगेन वा धातुना विशेष्यव्यापारतया वा स्वतन्त्रव्यापारः । करणं फलं प्रति सन्निपत्योप-कारकम् । फलसमवायि कर्मकारकमिति । ‘काष्ठानि पचन्ती’त्यादिव्यपदेशः स्वव्यापारकर्तृत्वापेक्षया, नावान्तर-भेदापेक्षयेति । तस्मात् कर्तृव्यापारस्य करणव्यापारव्यवधानेन वृक्षकर्मता ; एवं विचारव्यापारस्यापि प्रमाण-प्रमेयसम्भावनावगमद्वारेण ब्रह्मावगमोद्देश्यत्वाद् अवगमहेतोरवगम्यविषयत्वाद् ब्रह्मकर्मता न विरुध्यते ।

## ऋजुविवरणम्

युक्त इत्याशङ्क्याह—\*सर्वकारकव्यापाराणामिति\* ॥ \*ननु\*—सर्वकारकव्यापारसाध्ये फले न करणादिविभागः ; अविशेषादित्याशङ्क्याह—\*तत्र कर्तृ-करण-कर्मभेद इति\* ॥ \*अथवा\*—न सर्वेषां व्यापारः, व्यापारस्यानन्य-साध्यत्वात् कारकत्वस्य क्रियान्वयरूपत्वात् तस्य चाविशेषान्न करणादिविभाग इत्याशङ्क्याह—\*सर्वकारकेति\* ॥ \*ननु\*—अवान्तरव्यापाराणां हेतुत्वसाम्यान्नाधान्तरभेद इत्याशङ्क्याह—\*तत्र कर्तेति\* ॥ स्वतन्त्रव्यापारः कर्ता, स्वातन्त्र्यञ्च साधनविनियोगेनेत्यर्थः । \*धातुना विशेष्येति\* ॥ विशेष्यो यस्येति विग्रहः । प्राधान्येन धातुना यस्य व्यापारोऽभिधीयते, स वा कर्तेति विषयव्याप्त्यर्थः पक्षान्तरपरिग्रहः । सर्वकारकव्यापाराणां धातुवाच्यत्व-मविशिष्टम्, तदर्थम्—“विशेष्यव्यापारतया वे”त्युक्तम् । उपकारकं करणमित्युक्ते, कर्त्रादेरपि करणत्वं स्यात्, तदर्थमाह—\*फलं प्रतीति\* ॥ \*ननु\*—अवान्तरभेदापेक्षयाऽपि न कर्तृत्वव्यवस्था भवति ; “काष्ठानि पचन्ती”ति कर्तृत्व-व्यपदेशदर्शनादित्याशङ्क्याह—\*काष्ठानि पचन्तीत्यादीति\* ॥ “विषम उपन्यासः” इत्याद्युक्तो ग्रन्थः ; यस्मा-च्छक्तितत्पर्यविचारस्य करणोपकार्यङ्गत्वम्, फलोपकार्यङ्गत्वे च न तद्विषयत्वमुक्तम्, अतस्तदपेक्षास्त्येवेत्याशङ्क्या-तत्त्वदीपनम्

चोदयति—\*नन्विति\* ॥ करणत्व-कर्तृत्वयोरेकत्र व्याघातादित्यर्थः । विकल्पासहृत्वाच्चैतच्चोद्यमित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ किमेकविषययोर्विरोधः ? उत भिन्नविषययोः ? तत्राद्येऽभ्युपगमः, द्वितीयस्त्वनुपपन्न इत्याह—\*सर्वाणीति\* ॥ करणस्यापि कारकत्वात् क्रियाकारिणश्च कारणस्य स्वव्यापारं प्रति कर्तृत्वमित्यर्थः ॥

करणस्य स्वव्यापारकर्तृत्वेऽपि न वृक्षविषयत्वम्, द्वैधीभावातिरिक्तफलस्यानिरूपणात्, द्वैधीभावस्य चान्यफल-त्वादिति शङ्कायामाह—\*सर्वेति\* ॥ \*कर्मतयेति\* ॥ उद्देश्यतयेत्यर्थः । करणस्यापि कर्तृत्वे कर्ता करणं चेति भेद-व्यपदेशो निर्विषयः स्यादित्याशङ्क्याह—\*तत्र कर्तेति\* ॥ भेदमेवाह—\*तत्र कर्तेति\* ॥ तत्र तेषां कर्त्रादीनां मध्ये स्वतन्त्रव्यापारः कर्तेति संबन्धः । स्वतन्त्रव्यापारत्वमेवाह—\*साधननियोगेनेति\* ॥ साधारणप्रेरणेनेत्यर्थः । लक्षणा-न्तरमाह—\*धातुनेति\* ॥ ‘गच्छति पचती’त्यादौ धातुना प्राधान्येन विशेष्यो वाच्यो व्यापारो यस्य स तथोक्तः । धातुशब्देन तदर्थो विवक्षितः । करणस्वरूपमाह—\*करणमिति\* ॥ उपकारकं करणमित्युक्ते कर्त्रादिषु प्रसक्तिः, तदर्थम्—“सन्निपत्ये”ति । करणसन्निपातिषु व्यभिचारं व्यावर्तयितुमाह—\*फलमिति\* ॥ कर्म लक्षयति—\*फलसमवा-यीति\* ॥ अत्र च परसमवेतक्रियाफलसमवायीति द्रष्टव्यम्, इतरथा गमनक्रियाफलशालिनि कर्तरि व्यभिचारः स्यादित्यर्थः । धातुना विशेष्यव्यापारस्य कर्तृत्वे काष्ठादीनामपि तादृक्त्वात् कर्तृत्वमित्याह—\*काष्ठादीनीति\* ॥ पाकोत्पादनानुकूलव्यापारकर्तृत्वात् तथा व्यपदेश इत्यर्थः । \*नावान्तरभेदेति\* ॥ प्रधानक्रियाकर्तृत्वाभिप्रायेण न व्यपदेश इत्यर्थः । कारणस्य व्यापारवत्त्वं तच्छब्दार्थः । दाष्टान्तिकमाह—\*एवमिति\* ॥ \*विचारव्यापारस्येति\* । विचारलक्षणव्यापारस्येत्यर्थः । विचारव्यापारस्यापि प्रमाण-प्रमेयसंभावनावगमद्वारेण ब्रह्मकर्मता न विरुध्यत इति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*ब्रह्मावगमस्येति\* ॥ तथाऽपि कथं तद्विषयत्वम् ? तत्राह—\*अवगमेति\* ॥

परशुविषयस्य व्यापारस्यापि वृक्षविषयत्ववत् संभावनाविषयस्यापि विचारस्य ब्रह्मविषयत्वमुक्तम् ; तत्र दृष्टान्ता-



## पञ्चपादिका

कर्तृव्यापारोऽन्यत्र फलमिति वैयधिकरण्यं स्यात्, \*उच्यते\* ;—विषम उपन्यासः ; युक्तं यत्र यदुप-  
कारमन्तरेण फलोत्पत्तिरेव न सिध्यति, तस्यापि तद्विषयत्वं, इह पुनर्विनाऽपि मीमांसया सम्बन्ध-  
ग्रहण-तदनुस्मरण-बुद्धिसन्निधानमात्रोपकृतं वाक्यमर्थमवगमयति, नापरमपेक्षते । \*ननु\* संशय-  
विपर्यासनिरासद्वारेण निर्णयहेतुत्वान्निर्णयस्य च निर्णयप्रधानत्वाद्ववति निर्णयं वस्तु निर्णयहेतो-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

अथाव्यवहितमेव कर्म, नोद्देश्यमिति, तत्राह—\*अन्यथाऽन्यत्र कर्तृव्यापार इति\* ॥ अत्रेतिकर्तव्येषु  
द्विविधं प्रमाणम्—आगमोऽन्वय-व्यतिरेकौ च । प्रयाजादीनामागमात्, मृत्कुलालादीनां कर्तृव्यापारस्य  
चाङ्कुरकुम्भद्वैधीभावाङ्गताऽन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्, अत्र तु शब्दोपलब्धिसंबन्धज्ञानसंस्कारसहकृताच्छब्दादर्थव-  
गमे सति विचारस्याङ्गता नान्यतरप्रमाणेनाप्यवगता ; शब्दादेव विचारानपेक्षादवगमजननादित्यप-  
सिद्धान्तिनं परिहरति पूर्ववादी—\*विषम उपन्यास इति\* ॥ \*ननु\* यथा चक्षुरादयः सम्यग्ज्ञानहेतवोऽपि  
द्रोषसंयोगात्संशय-विपर्यासौ जनयन्ति, पुनः सम्यग्ज्ञानजन्मनि च दोषापकर्षमपेक्षन्ते ; एवं शब्दः शक्तितात्प-  
र्याज्ञानतद्विपर्ययज्ञानदोषात् संशयादिज्ञानमुत्पादयति, तत्र दोषापनयनेन विपर्यासादिनिवृत्तये शक्तितात्पर्य-  
विचारोऽङ्गभावमश्नुत इति चोदयति—\*ननु संशय-विपर्यासनिरासद्वारेणेति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

वतारयति—\*अत्रेतिकर्तव्येष्विति\* ॥ \*ननु\*—अङ्गत्वं ब्रह्मविषयत्वञ्च सिद्धान्तिनाप्यङ्गीक्रियते, प्रमाणञ्च तत्रास्ति ;  
तेन नात्र परिहारेहेतुः, नाप्ययं पक्षः परिहर्तव्यः, इत्याशङ्क्याह—\*शब्दादेवेति\* ॥ “ननु संशय-विपर्यासे”त्यनेन  
निर्णयहेतुत्वेन ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, तत्किमर्थम् ? अङ्गत्वाभावेन हि तदपेक्षा नास्तीत्युक्तम्, नतु ब्रह्मविषयत्वाभावेन ।  
नच विपर्यासनिवर्तकत्वेन निर्णयहेतुत्वं संभवति ; व्यधिकरणत्वात् ; शब्दस्य सम्यग्ज्ञानहेतोस्तज्जनकत्वात् । अतः  
शब्दस्वरूपे फले वाऽनुपकारकत्वेनाङ्गत्वमन्यत्वं वा । अतः शब्दस्य विचारानपेक्षत्वेन ज्ञानजनकत्वे सति न विचारस्य  
तद्विषयत्वेन निर्णयहेतुत्वप्रदर्शनं युज्यत इत्याशङ्क्य साभिप्रायमवतारयति—\*ननु यथा चक्षुरादय इति\* ॥  
“नैतत्सारं यत्र ही”त्यनेन बहुषु ज्ञानेपूतपत्रेषु विचारवशादेकस्यैव प्रमाणत्वम्, नेतरस्येति निर्णये सति इतराण्यप्रमाणत्वेन  
निश्चीयन्ते, तेन निर्णयज्ञानोत्पत्त्यहेतुत्वादब्रह्मविषयत्वादनादर इत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; प्रतिबन्धनिरासनेन च निश्चलस्य  
स्वरूपस्य तदधीनत्वादुपेक्षणीयो विचारः स्यात्, नाप्येकदेशिपक्षनिरास इति शक्यं वक्तुम् ; “अत्रोच्यते” इत्यनेनास्यैव

## तत्त्वदीपनम्

सिद्धिमाशङ्कते—\*अथेति\* ॥ \*अव्यवहितमिति\* ॥ व्यवधानं विना व्यापारजन्यातिशयवदित्यर्थः । \*नोद्देश्यमिति\* ॥  
द्वैधीभावादिकलविशिष्टमित्यर्थः । तद्विषयत्वाभावे तरावतिशयजनकत्वं न स्यादित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ “विषम  
उपन्यासः” इत्यत्र दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुक्तम्, तदनुपपन्नम् ; मीमांसाया इतिकर्तव्यत्वेनोपकारत्वस्याविशेषः  
स्यादित्याशङ्क्य, इतिकर्तव्यत्वमसिद्धम् ; मानाभावादिति दर्शयितुमितिकर्तव्ये प्रमाणं तावदाह—\*अत्रेति\* ॥ लोक-  
वेदयोरित्यर्थः । शब्दस्य करणत्वादितिकर्तव्यतापेक्षया मीमांसेतिकर्तव्यतात्वेन संबध्यते, इत्याशङ्क्येतिकर्तव्यान्तर-  
संभवान्नास्या इतिकर्तव्यतात्वमित्याह—\*अत्र त्विति\* ॥ “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन  
शक्तितात्पर्यविचारलक्षणं श्रवणं “श्रोतव्यः” इत्यनेन विधीयते, ततः कथं विचारस्यानङ्गत्वमित्याह—\*शब्दादिति\* ॥  
विचारापेक्षया शब्दार्थबोधकत्वे स्वतस्त्वबङ्गः स्यादित्यर्थः । शब्दस्य बोधजनने विचारानपेक्षायामपि प्रतिबन्धनिरासे  
तदपेक्षेत्युक्तम्—“ननु संशये”त्यत्र, तदनुपपन्नम् ; शब्दस्य प्रमाणत्वात् संशीत्याद्यजनकत्वात् ; अन्यस्य च ब्रह्मणि  
तज्जनकस्यानुपलम्भादित्यर्थमाह—\*ननु यथेति\* ॥ शक्तितात्पर्ययोरज्ञानं शक्तितात्पर्याज्ञानम्, तयोर्विपर्यासज्ञानम्,  
स एव दोषः, शक्तितात्पर्याज्ञानतद्विपर्यासज्ञानदोषः, तस्मादिति विग्रहः ॥

अज्ञानादेः स्वाभाविकत्वात् कथं निरासः ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ शक्तितात्पर्यविचारजनितज्ञानस्य



### पञ्चपादिका

विषयः, \*नैतत्सारम्\* ; यत् ह्यनेकं विज्ञानं वाक्यश्रवणे सति जायते मीमांसानिरपेक्षमेव, तत्रैकं वाक्यजन्यम् ; एकार्थनियतत्वादेकस्मिन् प्रयोगे वाक्यस्य, इतराणि पुनः सामान्यतोदृष्टनिबन्धानि ।

### पञ्चपादिकाविवरणम्

तत् किं शब्द एव दोषवशादन्यथाज्ञानं जनयति, विचारश्च तदपनयनेन तथा प्रमितिहेतुतां प्रतिपद्यते ? किं वा शब्दः सम्यग्ज्ञानस्यैव हेतुः, कारणान्तरादन्यथाज्ञानम्, विचारश्च प्रतिबन्धमालं निराचष्टे, निवृत्ते च प्रतिबन्धे शब्दादेवार्थनिर्णय इति ? तत्र न तावद् विपर्यासादिनिरासेनार्थनिर्णयहेतुता विचारस्येत्याह—  
\*नैतत्सारम्\* ; यत्र ह्यनेकमिति\* ॥ \*अयमाशयः\*—न शब्दसमवायी कश्चिदोपोऽस्ति, पुरुषेन्द्रियसमवायित्वाद् दोषाणाम् । अतः शब्दो न विपर्यासादिज्ञानहेतुः, किन्तु शब्दानां प्रयोगान्तरेष्वन्यथान्यथाशक्तीतात्पर्योन्नयन-दर्शनादिहापि तथा तथा विदित्वा सामान्यतो दर्शनेनार्थविरोधिबुद्ध्या च पुरुषदोषेणान्यथाज्ञानान्युत्पद्यन्ते । शब्दाच्च तत्त्वज्ञानमेवोत्पद्यते । ततश्च शब्दात् पुरुषदोषाच्च बहुषु परस्परविरोधिषु ज्ञानेषु जातेषु शब्दशक्ती-तात्पर्यावधारणं पुरुषदोषापनयनेन प्रतिपक्षज्ञानान्तरमालं निवर्तयति, निवृत्ते च प्रतिबन्धे शब्दादेव तत्त्वज्ञानं जायते, जातं वा निश्चलमवतिष्ठते । तस्मान्न विचारः करणेतिकर्तव्यतया ब्रह्मविषय इति ॥

### ऋजुविवरणम्

पक्षस्य कीर्तनात्, नच स्वपक्षे परिहारस्यापि निर्वाहः ; आधिक्यादर्शनात्, अतश्चानिराकरणीयस्य निरासाद् दूषणानु-त्थानम् ; अतोऽयुक्तो ग्रन्थ इत्याशङ्क्याह—\*तत्र किं शब्द एवेति\* ॥ “यत्र ह्यनेकमि”त्यादिना टीकाग्रन्थे-नेदमुक्तम्—शब्दः सम्यग्ज्ञानमेव जनयति, ज्ञानान्तराणि तु सामान्यतोदृष्टवशादुत्पद्यन्ते, विचारश्च दोषापनयनेन प्रतिपक्षमात्रं निवर्तयति, नतु सम्यग्ज्ञानहेतुः—इति, तदयुक्तम् ; इन्द्रियादिवद् दोषवशाद् भ्रान्तिहेतुत्वस्योक्तत्वात्, किञ्च शब्दस्याहेतुत्वे ज्ञानान्तरोत्पत्तिरेव न संभवेत्, सामान्यतोदृष्टस्यादर्शनादनुमानत्वेन प्रमाणत्वप्रसङ्गाच्च । अतश्चानेकज्ञानसिद्ध्यर्थं शब्दस्यैव सदोपस्य भ्रान्तिज्ञानजनकत्वम्, तद्विगमे सम्यग्ज्ञानहेतुत्वमिति वक्तव्यम् ; एवञ्च दोषनिवर्तनेन विचारस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वमिति प्रमाणेतिकर्तव्यो विचार इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अय-माशयो न शब्दसमवायीति\* ॥ “अत्रोच्यते” इत्यादिः पुनरुक्त इवाभाति ; पूर्वस्यैव प्रतिपादनात्, पूर्वग्रन्थे प्रतिपक्षमात्रं निवर्तयति, नतु तत्त्वज्ञानं जनयतीत्युक्तम्, इहापि तदेवोच्यते ; नचैवं सति पूर्वदूषणनिर्वाहः ; अतो

### तत्त्वदीपनम्

तदज्ञानादिविरोधित्वात् तन्निवर्तकत्वं युक्तमित्यर्थः । शास्त्रस्य निर्णयज्ञानकारणतायाः पुराऽयुक्तत्वात् कथं तत्प्रतिषेधः ? इत्याशङ्क्य, विकल्पपूर्वकमुत्तरग्रन्थमवतारयति—\*तत्र किमिति\* ॥ दोषसहितस्य शब्दस्यान्यथाज्ञानजनकत्वम्, विचारस्य च दोषनिरासेन प्रमितिहेतुत्वमिति किं युक्तम् ? उत शब्दस्य सम्यग्ज्ञानजनकत्वं स्वाभाव्यम्, दोषाच्चान्यथा ज्ञाने समुत्पन्ने विचारेण च निवृत्ते शब्दादेव निर्णय इति वेति योज्यम् ; अन्यथा विकल्पानुत्थानात्, शब्दस्य दोषसहितस्यान्यथाबोधकतायास्तेनाभिहितत्वादित्यर्थः ॥

चक्षुर्वद् दोषोपेतः शब्दो विपर्यासादिजनक इत्युक्तम्, कथमेकस्य वाक्यजनितत्वं निर्दिष्टमित्याशङ्क्य तात्पर्य-माह—\*अयमाशय इति\* ॥ रागादिदोषः ? उत काचादिः ? उभयथाऽप्यसंभव इत्याह—\*पुरुषेति\* ॥ दोषाभाव-प्रतिपादनफलमाह—\*अत्रेति\* ॥ \*प्रयोगान्तरेष्विति\* ॥ \*अयमर्थः\*—अस्मिन् ग्रामे अयमेक एवाद्वितीय इत्यादौ भिन्नेऽपि प्राधान्यविवक्षया एकादिशब्दप्रयोगवद् वेदान्तेष्वप्येकादिशब्दानां तथात्वकल्पनया विपर्यासादिर्जायत इत्यर्थः । भेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधादप्यन्यथामतिरित्याह—\*अर्थेति\* ॥ विरुद्धज्ञानद्वयोत्पत्तौ कथं निर्णयः ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्तश्चेति\* ॥ पूर्वमेव शब्दात् तत्त्वज्ञानस्योदितत्वात् पश्चादुत्पद्यत इति कथम् ? इति शङ्कायामाह—\*जातं वेति\* ॥ विरोधिसंबन्धनन्तरेण तज्ज्ञानस्य दृष्टतायां तन्निरासेन दृढतया तद् व्यतिष्ठत इत्यर्थः ॥

विचारस्य प्रतिबन्धनिवर्तकत्वप्रतिपादनफलमाह—\*तस्मादिति\* ॥ \*करणेति\* ॥ करणेतिकर्तव्ययोरेक-



## पञ्चपादिका

तत्र मीमांसया लोकप्रसिद्धशब्दशक्त्यनुसारिण्येदं शब्दजनितं ज्ञानमिति तदालम्बनं वेदार्थ इति ज्ञात्वाऽन्यदुपेक्षते, न पुनर्निर्णयज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः शास्त्रस्य । यथा चक्षुः कुतश्चिन्मिचित्तात्संप्रयुक्तेऽपि स्थाणुः पुरुषो वेति संशयात्मकं पुरुष एवेति वा विपर्ययस्वरूपं ज्ञानमुत्पाद्य पुनर्निमित्तान्तरानुगृहीतं सन्निर्णयात्मकं सम्यग्रूपं ज्ञानमुत्पादयति, नैवं शब्दो मीमांसायाः प्राक् संशयितं विपर्यस्तं वा ज्ञानमुत्पाद्य पुनस्तदनुग्रहान्निर्णयात्मकं सम्यग्ज्ञानं वा जनयति ; किन्तु प्रागेव मीमांसानुग्रहात् स्वसामर्थ्यजन्यं ज्ञानमजीजनदेव । तस्मान्न ब्रह्मविषयं शास्त्रम्, \*अत्रोच्यते\*—यद्यपि वाक्यार्थज्ञानं शास्त्रानुग्रहात्प्रागेवोदेति ; तथाऽपि स्वोत्पत्तिसमकालसमुत्थेन तत्र सामान्यतोदृष्टनिबन्धनेनार्थान्तरनिवेशिना समकक्षाभिमतं ज्ञानेन विरोधादुन्मज्जन-निमज्जनमिवानुभवदस्यामवस्थायां संशयज्ञानकोटिनिक्षिप्तं सद् मीमांसया शब्दशक्त्यनुसरणे सति प्रतिपक्षज्ञानस्यानुत्पत्तौ निमज्जनाभावाच्चिथलं निर्णयज्ञानमिव

## पञ्चपादिकाविवरणम्

एवमपसिद्धान्ते निरस्ते पूर्ववादिना, सिद्धान्तयति—\*अत्रोच्यते यद्यपि वाक्यार्थज्ञानमित्यादिना\* ॥ \*तत्र सामान्यतोदृष्टनिबन्धनेनेति\* ॥ \*प्रयोगान्तरेष्वन्यथान्यथाशक्तितात्पर्यदर्शनादिहापि तथाभावबुद्ध्या तथाविधार्थस्य च लोकेऽन्यथाभावदर्शनादिहाप्यन्यथाभावबुद्ध्येत्यर्थः । \*अयमाशयः\*—प्रतिबन्धनिवृत्तौ सत्यामेवार्थनिर्णयात् प्रतिबन्धनिरासिनोऽप्युपचारेण ब्रह्मनिर्णयहेतुत्वाद्विचारस्य ब्रह्मविषयतेति । \*अत्रेदं विचार्यम्\*—किं तात्पर्यमर्थप्रमितिहेतुः ? किं वा प्रतिबन्धनिरासहेतुरिति ? केचित्प्रमितिहेतुतामाहुः । तत्र

## ऋजुविवरणम्

हेयोऽयं ग्रन्थः “तदेवं लक्षणये” त्येवमन्तः ; तेन तु स्वपक्षोपयोगः प्रदर्श्यते । “अत्रोच्यते” इति चायुक्तम् ; पूर्व-सौद्यस्यापरिहृतत्वात्, चोद्यान्तरस्याभावात्, परिहारे चास्य प्राचुर्येण प्रयोगादित्याशङ्क्यावतारयति—\*एवमपसिद्धान्ते निरस्त इति\* ॥ सामान्यतो दृष्टनिबन्धनस्य शब्दज्ञानेन समकक्षादुन्मज्जनहेतुत्वमुक्तम्, तदयुक्तम् ; सामान्यतोदृष्टस्य दुर्बलत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*तत्र सामान्यतोदृष्टनिबन्धनेनेति\* ॥ \*ननु\*—प्रतिपक्षनिवर्तकस्य नैतिकर्तव्यत्वम् ; ज्ञानानुत्पादकत्वात्, नापि ब्रह्मविषयत्वम्, अतो विषयाभावस्तदवस्थ एवेत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*प्रतिबन्धनिवृत्ताविति\* ॥ \*ननु\*—अज्ञानस्य हेतुत्वेऽपीन्द्रियगतगुणादिविचारवत्तदवगतिफलविचारानपेक्षत्वं

## तत्त्वदीपनम्

विषयत्वस्य पुरोक्तत्वाद् “यद्यपी”त्यादिना तदभावप्रतिपादने विरोधः स्यादित्याशङ्क्य मतभेदेनाविरोधमाह—\*एवमिति\* ॥ “यद्यपी”त्यादिटीकाया अयमर्थः—वाक्यार्थज्ञानं शास्त्रानुग्रहात् प्रागेवोदपादि यद्यपि ; तथाऽपि मीमांसया निर्णयः क्रियत इति लक्षणयोच्यत इति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*सामान्यत इति\* ॥ सामान्यतोदृष्टनिबन्धनेन ज्ञानेन विरोधादुन्मज्जन-निमज्जनमिवानुभवाद् व्यवतिष्ठत इति संबन्धः । रज्जुतत्त्वज्ञानेन सर्पभ्रमवन्निवृत्त्याशङ्का निरस्यति—\*स्वोत्पत्तीति\* ॥ तथाऽप्येकविषयत्वेऽविरोधः, तत्राह—\*अर्थान्तरेति\* ॥ चन्द्रद्वित्वसमकालीनेन तदेकत्वज्ञानेन तन्निवृत्तिवत् शब्दज्ञानेनेतरज्ञाननिवृत्तिशङ्का निराकरोति—\*समेति\* ॥ वस्तुतस्तु न समकक्षत्वमपीत्याह—\*अभि-मतेनेति\* ॥ तर्हि संशयज्ञानोपमस्य कथं प्रामाण्यमित्याह—\*अस्यामिति\* ॥ मीमांसाया निर्णयहेतुत्वमेव किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याप्रमाणत्वान्मैवमित्याह—\*न पुनरिति\* ॥ \*“सामान्यतोदृष्टनिबन्धनेने”त्यस्यार्थमाह\*—\*प्रयोगान्तरेष्विति\* ॥ सामान्यतोदृष्टशब्दस्यार्थान्तरमाह—\*तथाविधेति\* ॥ चित्रनिम्नोन्नतादिग्राहिचाक्षुषप्रत्ययस्य प्रमाणान्तरसंबन्धाभावेऽप्रामाण्यवदप्रामाण्यबुद्ध्येत्यर्थः ॥

शब्दस्य स्वतःप्रमाणत्वाद् मीमांसाया लक्षणयाऽपि कथं ब्रह्मविषयत्वम् ? तत्राह—\*अयमाशय इति\* ॥ विचाराधीनतात्पर्यावगमेन प्रतिबन्धे निवृत्ते शब्ददेव निर्णयो जायत इत्युक्तम्, संप्रत्युक्तस्य दृढीकरणार्थं विचारमारभते—\*अत्रेदमिति\* ॥ पूर्वपक्षमाह—\*केचिदिति\* ॥ पुरुषाभिप्रायस्तात्पर्यम्, तदर्थप्रमितिजनकमित्यर्थः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

किं विज्ञातं तात्पर्यं प्रमितिहेतुः ? अविज्ञातं वा ? न तावदविज्ञातं प्रमितिहेतुः ; तात्पर्यावगमफलविचारानपेक्षत्व-  
प्रसङ्गात्, तात्पर्यविषयादन्यत्र बुध्यनुत्पादप्रसङ्गाच्च । तथाच कश्चित् स्थानजिघृक्षया कञ्चिदुत्थापयन्नाह  
'पित्रा त्वमाहूतः' इति । स च पितुराह्वानं प्रतिपन्नं समुत्तिष्ठति, इतरस्तु तत्र निविशते, समुत्थितश्च सन्नितरो  
जानाति स्थानजिघृक्षयेदमुक्तमिति । \*ननु\*—न पितुराह्वाने तात्पर्यहीने संसर्गबुद्धिरिति—चेत् ; \*न\* ;  
उत्थानादिप्रवृत्तिदर्शनात्, प्रवृत्तेश्च संसर्गज्ञानपुरःसरत्वाभावे प्रवृत्त्या संसर्गं शब्दशक्तितात्पर्यकल्पनायोगात् ।  
\*ननु\* शब्दो न मिथ्याज्ञानमुत्पादयति, \*नैष दोषः\* ; सत्यपि पितुराह्वाने तथाभूतज्ञाने च तात्पर्यं वक्तु-  
रन्यत्रेत्येतावद्वर्शितम् । तस्मान्नाज्ञाततया तात्पर्यं प्रमितिहेतुः । अथ ज्ञाततया ? तर्हि कुत्र तात्पर्यमवगम्यते ?  
शब्दस्यात्र तात्पर्यमित्याश्रय-विषयसापेक्षत्वात्तात्पर्यस्य । न तावत्पदार्थेषु तात्पर्यम् ; वाक्यार्थज्ञानेऽनुपयोगात् ।  
संसर्गश्चानवगतो न तात्पर्यविशेषणतयाऽवगन्तुं शक्यते ॥

## ऋजुविवरणम्

न भवतीत्याशङ्क्याह—\*तात्पर्यविषयादिति\* ॥ \*ननु\*—तात्पर्यविषयादन्यत्र बुध्यनुत्पादो न दृश्यते ; अतोऽन्यत्र  
बुध्यनुत्पादो न दूषणमित्याशङ्क्याह—\*तथाच कश्चिदिति\* ॥ \*ननु\*—उत्थानादिप्रवृत्त्या कथं संसर्गज्ञाननिश्चयः ?  
प्रवृत्तेः संसर्गज्ञानपुरस्सरत्वे प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह—\*प्रवृत्तेः संसर्गज्ञानेनेति\* ॥ \*ननु\*—मिथ्याज्ञाने हि  
हेतुत्वं नास्ति शब्दे ; दोषाभावादित्युक्तम्, तद्विरोधो ज्ञानोत्पत्तौ स्यादिति चोदयति—\*ननु शब्द इति\* ॥  
वाक्यार्थेऽपि तात्पर्यावगमो न संभवति ; वाक्यार्थस्याज्ञातत्वेन नागृहीतन्यायेन तात्पर्यावगमायोगादित्याह—

## तत्त्वदीपनम्

विकल्पासहत्वाच्चैतन्मतं साध्वित्याह—\*तत्र किमिति\* ॥ तात्पर्यावगमः फलं यस्य स तात्पर्यावगमफलः, स  
विचारश्चेति तात्पर्यावगमफलविचारः, तस्मिन्नपेक्षाराहित्यप्रसङ्गादित्यर्थः । तत्रैव दोषान्तरं समुच्चिनोति—\*तात्प-  
र्येति\* ॥ अज्ञाततात्पर्यस्य प्रमितिजनकत्वे तदगोचरे शब्दाद् बुद्धिर्न जायेतेत्यर्थः ॥

तात्पर्यागोचरे बुध्यनुत्पाद इष्ट इत्याशङ्क्याह—\*तथाचेति\* ॥ तात्पर्यागोचरेऽपि बुध्यनुत्पाददर्शनाद्यथाऽनिष्ठापत्तिः,  
तथोपपादयतीत्यर्थः । तद्वाक्यादर्भकस्य पित्राह्वानप्रतिपत्तिरिति कथं व्यज्ञायीति ? तत्राह—\*स चेति\* ॥  
समुत्थानकार्यदर्शनात् तत्प्रतिपत्तिनिश्चय इत्यर्थः । तात्पर्यमपि तद्गोचरमेव किं न स्यादिति ? अत्राह—\*इतरस्त्विति\* ॥  
तथाऽपि कथं स्थानजिघृक्षायां तस्यां तात्पर्यपरिज्ञानम्, निवेशनस्यान्यथाऽप्युपपत्तेः, तत्राह—\*समुत्थित इति\* ॥  
मुखविकसनादिकं दृष्ट्वा स्थानजिघृक्षेत्यमुक्तवानित्यर्भको निश्चिनोतीत्यर्थः । 'पित्रा त्वमाहूतः' इत्यादेरन्यपरस्यान्य-  
बोधकत्वे किं मानमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ उत्थानं त्वन्यथाऽपि घटत इत्यभिसन्धिः । विवादाध्यासिता प्रवृत्तिः,  
संसर्गज्ञानपूर्विका, प्रवृत्तित्वात्, संप्रतिपन्नवदित्यनुमानविरुद्धं संसर्गबुद्ध्यभावमभिधानमिति समाधत्ते—\*नोत्थान-  
मिति\* ॥ अप्रयोजकत्वशङ्का निरस्यति—\*प्रवृत्तेरिति\* ॥ 'अर्भक ! समिधमाह' इत्याचार्यवाक्यश्रवण-  
समनन्तरमुपजायमानमध्यमनरप्रवृत्तिं निरीक्ष्य व्युत्पत्तिरित्यमनुमिमीते—अयं नरः, संसर्गबोधवान्, संसृष्टप्रवृत्ति-  
त्वात् ; संप्रतिपन्नवदिति । संसृष्टप्रत्ययमनुमाय तस्य कारणविशेषापेक्षायां शब्दान्वय-व्यतिरेकाभ्यां शब्दस्य तत्र  
सामर्थ्यं कल्पयति । तच्च तत्र न स्यात् ; प्रवृत्तेः संसर्गज्ञानव्यासत्वादित्यर्थः । शब्दस्यायथार्थबोधकत्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च  
संसर्गबोधकत्वमिति शङ्कते—\*ननु शब्द इति\* ॥ अयथार्थबोधकत्वमसिद्धमित्याह—\*नैष इति\* ॥ कथमस्य  
वाक्यस्य यथार्थत्वम् ? स्थानजिघृक्षया प्रयुक्तत्वादित्याशङ्क्याह—\*सत्यपीति\* ॥ आद्यमनुवदति—\*अथेति\* ॥  
किं तात्पर्यमात्रस्य ज्ञानं प्रमितिहेतुः ? उतार्थविशेषितस्य ? द्वितीये कोऽसावर्थः ? इति विवेचनीयमित्याह—  
\*तर्हीति\* ॥ किं पदार्थस्तात्पर्यम् ? उत संसर्गः ? इत्यर्थः । तात्पर्यमात्रस्य हेतुत्वोपगमाद्विकल्पानवसर  
इत्याशङ्क्याह—\*अत्रेति\* ॥ आश्रयसापेक्षत्वं दृष्टान्ततयोक्तमिति द्रष्टव्यम् । निर्विषयतात्पर्यासंभवे पदार्थविषयं  
तात्पर्यं प्रमितिजनकमिति द्वितीयाद्यं निरस्यति—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयेऽपि किं तात्पर्यप्रतिपत्तिसमये



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*स्यादेतत्\*—पदावगतेषु पदार्थेषु परस्परान्वययोग्यतानिमित्तः संसर्ग उत्प्रेक्षयाऽवगम्यते । तद्विषया च तात्पर्यावगतिरिति । न तावत् स्मृति-संशय-विपर्यासानामन्यतमः संसर्गबोधः । तत्र परिशेषाच्छब्दजन्य-तया संसर्गबोधः प्रमाणमेव स्यात् । नच शक्तिरिव सामान्योपाधौ तात्पर्यम् ; प्रतिवाक्यं विशेषतात्पर्य-भेदात् । \*किंच\* पदार्थवत्संसर्गेऽपि शक्तिमात्रनिबन्धनावगमः, न तात्पर्यनिबन्धन इत्यनुमातुं शक्यते । शब्दानां च पदार्थप्रदर्शनमुखेन तात्पर्योपाध्युपयोगितयाऽन्यथासिद्धत्वात् तात्पर्यमात्रावगमाधीनः संसर्गबोधो

## ऋजुविवरणम्

\*संसर्गश्चेति । स्यादेतदिति\* ॥ संभूय समुच्चरितपदार्थानां संसर्गेण भवितव्यम्, तथा दर्शनात्, अन्यथा सहप्रयोगानुपपत्तेः, अतो नूनं संसर्गोऽस्तीत्यवगच्छतीत्यर्थः । \*न तावत्स्मृतीति\* ॥ अनधिगतार्थगन्तृत्वान्न स्मृतिः, कोटिद्वयाभावाच्च संशयः, बाधाभावाच्च विपर्यय इत्यर्थः । \*ननु\*—एवमपि प्रमाणसामग्रीविरहात् तर्कज्ञानवदप्रामाण्यमेव स्यादित्याशङ्क्याह—\*तत्र परिशेषादिति\* ॥ \*ननु\*—संसर्गमात्रे तात्पर्यम्, तस्य ज्ञातत्वात् तात्पर्यविशेषणत्वं संभवेदित्याशङ्क्याह—\*नच शक्तिरिवेति\* ॥ \*ननु\*—विशेषे तात्पर्यभेदेऽपि सामान्योपाधौ ज्ञातस्य सामर्थ्याद् विशेषलाभ इति वक्तुं शक्यते व्याप्ताविव, तेन च संसर्गो ज्ञायते ; अतः कथं तात्पर्यभेदेन सामान्योपाधौ ज्ञानं निराक्रियते ? इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च पदार्थवदिति\* ॥ \*ननु\*—संसर्गबोधस्य शब्दमात्र-निबन्धनत्वमनुमातुं शक्यते ; शब्दानन्तर्यस्य तदभावेऽभावस्य चान्यथासिद्धत्वादित्याशङ्क्याह—\*शब्दानां पदार्थेति\* ॥ \*अथवा\*—पूर्वं संसर्गस्याज्ञातस्य विशेषणत्वं न संभवति, ज्ञातत्वे तु न तात्पर्यज्ञेयत्वं संभवतीति युक्त्या प्रसाध्यानुमानमाह—\*किञ्च पदार्थवदिति\* ॥ “शब्दानाञ्चे”त्यनेन विपक्षे बाधकमाह—\*ननु\*—संसर्गबोधे पदान्वय-व्यतिरेकौ स्तः, तत् कथं तात्पर्यमात्रनिबन्धनत्वं वक्तुं शक्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*तात्पर्योपाध्युपयोगितयेति\* ॥ \*अथवा\*—न संसर्गबोधः शब्दमात्रनिबन्धन इत्यनुमातुं शक्यते ; शब्दमात्रस्यासामर्थ्याद् अनवधृततात्पर्यं बोधानु-त्पादात्, बाधितविषयत्वादित्याशङ्क्याह—\*शब्दानाञ्चेति\* ॥ एतदुक्तं भवति—यदि केवलपदानां संसर्गबोधकत्वा-

## तत्त्वदीपनम्

विशेषणीभूतः संसर्गोऽनधिगतः ? उताधिगतः ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*संसर्ग इति\* ॥ “नागृहीत-विशेषणा विशेष्ये बुद्धि”रिति न्यायादित्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—\*स्यादेतदिति\* ॥ किमुत्प्रेक्षाया अप्रमितित्वम् ? उत प्रमितित्वम् ? आद्येऽपि किं स्मृतिः ? उत संशयः ? आहो विपर्यासः ? सर्वथाऽप्यसंभव इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ स्मृतेर्गृहीतप्राहित्वात्संसर्गस्य च पूर्वं श्रोत्राऽनधिगतत्वान्न तद्ज्ञानं स्मृतिः, नापि संशयः ; द्रव्याकारत्वाभावात्, नापि विपर्ययः ; बाधकानुपलम्भादित्यर्थः । द्वितीयेऽपि किं प्रसिद्धप्रमित्यन्तर्भूता ? उतान्या ? नाद्यः ; चक्षुरादि-संयोगाजन्यत्वान्न प्रत्यक्षान्तर्भावः संभवति, नाप्यनुमितौ ; व्यासिलिङ्गाजन्यत्वात्, नाप्यर्थापत्तौ ; अनुपपत्त्यदर्शनात्, उपमित्यन्तर्भावित्वं तु दूरापास्तम् । तस्माच्छब्दजन्यतयोत्प्रेक्षायाः प्रमाणत्वं वक्तव्यम् । तथा च तात्पर्यं प्रमिति-हेतुरिति पक्षक्षतिरित्याशयेनाह—\*तत्र परिशेषादिति\* ॥ प्रमाणाभावाच्च प्रमित्यन्तरूपताऽपीति द्रष्टव्यम् ॥

शब्दात् संसर्गमात्रे प्रतिपन्ने तद्विषयतात्पर्यं संसर्गविशेषबोधकम् ; गवादिशब्दानां सामान्ये शक्तिप्रतिपत्तावपि वाक्याद्विशेषप्रतिपत्तिवदित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ नदीतीरफलसत्ताद्यर्थविशेषमभिप्रेत्योत्तमवृद्धः शब्दं प्रयुङ्क्ते, न सामान्यम् ; तेन फलाभावादित्यर्थः । एवं तात्पर्यप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योरसाधारणं दोषमभिधाय साधारणं दूषणमाह—\*किंचेति\* ॥ संसर्गबोधः, शक्तिमात्रनिबन्धनः, शब्दत्वात्, पदार्थबोधनवत्, नच शक्तिमात्रनिबन्धनस्य तात्पर्यहेतुत्वमपि शङ्कास्पदम् ; शक्तिशब्देन शब्दतात्पर्यरूपशक्तिविशेषस्य विवक्षितत्वात् । नच साध्ये वैकल्यम् ; शक्तिजन्यत्वमात्रस्य तत्रापि सद्भावादित्यर्थः ॥

पुरुषाभिप्रायरूपतात्पर्याजन्यत्वे प्रमाणमाह—\*न तात्पर्येति\* ॥ विमतो बोधः, पुरुषाभिप्रायाजन्यः, शास्त्रत्वात्, पदार्थज्ञानवदित्यर्थः । संसर्गबोधस्य पुरुषाभिप्रायजन्यत्वे शब्दाप्रामाण्यं चेत्याह—\*शब्दानामिति\* ॥ संसर्गबोधो न शब्दनिबन्धनः, किंतु तात्पर्यमात्रावगमाधीनः स्यादिति संबन्धः । शब्दान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्द-



## पञ्चपादिका

जातमिति लक्षणया मीमांसया निर्णयः क्रियत इत्युच्यते, न पुनः साक्षान्निर्णयज्ञानहेतुत्वात् । तदेवं लक्षणया वेदान्तानां ब्रह्मविषयाणां सहकारिकारणं मीमांसा इति ब्रह्मज्ञानविषयं शास्त्रमभिधीयते । तच्चेदं त्रयमप्यवश्यं वक्तव्यम्—प्रयोजनं विषयः सम्बन्धश्च शास्त्रादौ श्रोतुः प्रवृत्त्यङ्गत्वेन । यद्यपि प्रणेतृगौरवादेव सप्रयोजनत्वं शास्त्रस्य ; तथाऽपि न प्रयोजनविशेषसिद्धिस्तत्प्रत्ययमात्रेण निर्देशाद्वते । तस्मात्तन्निर्देश्यम् । निर्दिष्टेऽपि तस्मिन्स्तस्याशक्यप्रतिपादनतां मन्वानो विहतश्चन्द्रत्वान्न प्रवर्तेतेति साध्यो निर्देश्यः । शक्यप्रतिपादनप्रतिपत्तावप्यन्यतःसिद्धेऽर्थे निर्दिष्टे नैव प्रवृत्तिरित्यनन्यसाध्योऽपि निर्देश्यः । तदेतत् त्रयमेकत्र समवेतं विभक्तं चोपलभ्यत इत्यलमतिविस्तरेण ॥

“अस्ति तावद् ब्रह्मे”त्यादिना प्रसिद्धत्वप्रदर्शनेनाप्रसिद्धतां निराकुर्वञ्छक्यप्रतिपाद्यतया सम्बन्धं

## पञ्चपादिकाविवरणम्

न शब्दनिबन्धनश्च स्यात् । तस्मात् पदानामेव संसर्गप्रतिपादनसामर्थ्यान्मुख्यलक्षणाद्वारेण प्रमाणान्तराविरुद्धे संसर्गे प्रतिपन्ने दोषान्तरनिमित्तसंशय-विपर्ययासादिज्ञाननिराकरणाय तात्पर्यावगम इति सिद्धम् । \*तच्चेदं त्रयमप्यवश्यमिति\*त्यारभ्य—अलमतिविस्तरेणेत्यतः\* प्राक्तनेन ग्रन्थेनोक्तमर्थं निगमयति समर्थनं प्रदर्शयितुम् । अस्ति तावदिति स्पष्टार्थः॥ \*ननु\*—न ब्रह्म सामान्येनापि लोके प्रतिपत्तुं शक्यम्, प्रमाणान्तरागोचरत्वात् ; नाप्यागमसामर्थ्यात्, तत्र प्रयुज्यमानस्य ब्रह्मशब्दस्यानवधृतार्थत्वात्, नच पदमात्रादेवार्थान्तरसिद्धिः ; जात्याद्यर्थान्तरेषु

## ऋजुविवरणम्

सामर्थ्यात् तात्पर्यस्यापि हेतुत्वम्, तर्हि पदान्वय-व्यतिरेकयोरन्यथासिद्धेस्तात्पर्यमात्रनिबन्धनत्वं स्यात्, शब्दस्य हेतुत्वं च न स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थं शब्दस्य सामर्थ्यं हेतुत्वञ्चाङ्गीकर्तव्यम्, तदङ्गीकारे च न तात्पर्यं हेतुत्वमिति । “तच्चेदं त्रयमिति”त्यादिग्रन्थः पुनरुक्तः ; उक्तार्थस्यैव कीर्तनादित्याशङ्क्यावतारयति—\*उक्तमर्थं निगमयतीति\* ॥ उपसंहारप्रयोजनमाह—\*समर्थनमिति\* ॥ व्यवहितत्वादनन्तरं कर्तुं परामृश्यत इति भावः । “कथं ब्रह्मशब्दस्तावदि”त्यनेन सौत्रब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरत्वनिराकरणानुवादो व्यर्थः ; तेनाप्रसिद्धत्वापरिहारात्, नच प्रयोगानुपपत्तिदर्शनार्थम् ; असिद्धे पदार्थे पदप्रयोगस्यासाधकत्वात्, अपौरुषेयप्रयोगस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वेन

## तत्त्वदीपनम्

निबन्धनत्वप्रतिपत्तेः कथं संसर्गबोधस्याशब्दत्वम् ? इत्याशङ्क्य तयोरन्यथासिद्धिमाह—\*शब्दानामिति\* ॥ शब्दानां पदार्थप्रदर्शनमुखेनान्यथासिद्धत्वादित्यर्थः । पदार्थप्रदर्शनं कस्मात् ? इत्याशङ्क्याह—\*तात्पर्येति\* ॥ तात्पर्यस्योपाधिर्विशेषणं तदुपयोगितयेति यावत् । त्वन्मतेऽपि किं तात्पर्यमज्ञातं प्रमितिहेतुः ? उत ज्ञातम् ? तत्र आद्ये विचारवैयर्थ्यम्, द्वितीये विचारात् प्राक् शब्देभ्यः प्रतिपत्तिर्न स्यादिति शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ अज्ञाततात्पर्यविशेषितशब्देभ्योऽर्थप्रतिपत्तिर्मुख्यलक्षणानिमित्तोपजायते । तत्र च पुंदोषात् संशयादावुत्पन्ने विचाराधीनतात्पर्यावगमेन च निवृत्ते तत्त्वनिर्णयजननान्न विचारवैयर्थ्यम् । तस्माल्लक्षणया करणेति कर्तव्यतयोरेकविषयत्वमित्यर्थः ॥ विषयादेरवश्यवक्तव्यताया उक्तत्वात् “तच्चेदमिति”त्यादि पुनरुक्तमित्याशङ्क्याह—\*तच्चेति\* ॥ निगमनप्रयोजनमाह—\*समर्थनमिति\* ॥ ब्रह्मणोऽस्तित्ताभिधानं प्रकृतासङ्गतमित्याशङ्क्य, प्रसिद्धत्वप्रतिपादनद्वारा विषयादि समर्थ्यत इत्युक्तम्, तदनुपपन्नम् ; प्रसिध्यसंभवादिति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ किं ब्रह्म सामान्येन लोकतोऽधिगम्यते ? उतागमात् ? नाद्यः ; रूपादिहीनतया प्रत्यक्षाविषयत्वात् ॥ अत एव नानुमाया अपि तत्र प्रवृत्तिरित्यर्थः । द्वितीयेऽपि किं पदगम्यं ब्रह्म ? उत वाक्यगम्यम् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*नापीति\* ॥ ब्रह्मणः प्रमाणान्तरागोचरत्वान्न तत्र सङ्गतिग्रहणम्, ततो न पदगम्यत्वमित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—\*नचेति\* ॥ पदार्थानामेव संसृष्टानां



## पञ्चपादिका

समर्थितवान् । कथम् ? ब्रह्मशब्दस्तावज्जाति-जीव-कमलासन-शब्दराशीनां नान्यतमाभिप्रायेण सूत्रे प्रयुक्तः ; अनुपपत्तेरित्युक्तम् ; अतो नूनमन्यदेव किञ्चिदभिधेयमभिप्रेत्यायं प्रयुक्त इति गम्यते । तेन स्वर्गापूर्व-देवताद्यर्थवत्पदप्रयोगादेव कश्चिदर्थोऽस्तीत्यवसीयते । \*नैतत्सारम्\*—नहि पदं चक्षुरादि-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रसिद्धत्वात्, तस्मान्न प्रसिद्धमुद्दिश्य विचारविधानोपपत्तिरिति चोदयति—\*कथमिति\* ॥ तत्र श्रुति-सूत्रयोर्ब्रह्म-शब्दप्रयोगसामर्थ्यादेव जात्यादिव्यतिरिक्तं किञ्चिद् वस्तु प्रतिपत्तुं शक्यत इत्यत आह—\*ब्रह्मशब्दस्ताव-दित्यादिना\* ॥ \*ननु\* अर्थान्तरसद्भावे किं प्रमाणमिति ? प्रयोगार्थापत्तिः, इत्याह—\*अतो नूनमन्य-देवेति\* ॥ \*ननु\* श्रौतप्रयोगानुपपत्तिर्नापूर्वमर्थं गमयति; लौकिकप्रयोगाधीनत्वाच्छ्रौतप्रयोगस्येति, तत्राह—\*तेन स्वर्गापूर्वदेवतेति\* ॥ ‘अपूर्वमिति’ “तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्नि”त्यादौ वेदे धर्मशब्दप्रयोगोऽ-भिप्रेयते । \*ननु\* वाक्ये प्रयुक्तं पदं प्रमाणान्तरानधिगतमर्थं न प्रतिपादयति, पदार्थोऽशेऽनुवादमात्रत्वा-दित्याह—\*नैतत्सारमिति\* ॥ न प्रत्यक्षवत्, संबन्धग्रहणाभावाच्चानुमानादिवचेत्यर्थः । \*ननु\* दर्शितं स्वर्गादिवदिति, नेत्याह—\*स्वर्गाद्यर्थोऽपीति\* ॥ सन्निहितानेकवाक्यार्थसामर्थ्यलभ्यः स्वर्गादिपदार्थ इत्यर्थः ।

## ऋजुविवरणम्

निश्चायकत्वात्, विषमश्च दृष्टान्त इत्याशङ्क्याह—\*तत्र श्रुतिसूत्रयोरिति\* ॥ \*ननु\*—वेदेऽपूर्वशब्द एव नास्ति, कथं तस्य प्रयोगादेवार्थप्रतिपत्तिरित्युच्यते ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अपूर्वमिति\* ॥ \*तानीति\* ॥ “नैतत्सारमिति” चोद्यं नोदेति ; नहि पदस्यानधिगतार्थप्रतिपादकत्वमुक्तम्, किन्तु प्रयोगानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*श्रुतिसूत्रयोरिति\* ॥ \*ननु वाक्य इति\* ॥ \*ननु\*—अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणानां दृश्यते, तद्वत्पदस्यापि स्यात्, कथं सिद्धवदनधिगतार्थ-गन्तृत्वं निराक्रियते ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रत्यक्षवदिति\* ॥ संबन्धग्रहणसापेक्षत्वं हेतुः कथं स्वर्गाद्यर्थस्य पदप्रयोग-

## तत्त्वदीनम्

वाक्यार्थत्वाद् ब्रह्मणश्च पदार्थत्वान्न वाक्यमपि तत्र प्रमाणमित्याशयेनाह—\*तस्मादिति\* ॥ सौत्रब्रह्मशब्दस्य जात्यादिविषयत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मबोधकत्वमित्युक्तम् ; जात्यादिविलक्षणब्रह्मप्रतिपत्तिमन्तरेण पौरुषेयशब्दप्रयोगायोगादित्या-शङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्यान्यार्थत्वसिद्धावित्यर्थः । “तद् ब्रह्म” “तद्विजिज्ञासस्वे”त्यादौ ब्रह्मप्रयोगादेव जात्यादिविलक्षणं वस्तु प्रतिपाद्य तदपेक्षितन्यायनिरूपणार्थं सूत्रकारस्य ब्रह्मशब्दप्रयोगः संगच्छते । ततश्चास्माकमपि सौत्राद् ब्रह्मशब्दात् तत्प्रतिपत्तिर्घटत इति न काचन दोषकलेत्यर्थः ॥

ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यविषयत्वमात्रेण कथं ब्रह्मविषयत्वमिति शङ्कते—\*नन्वर्थान्तरेति\* ॥ पूर्वत्र समुदाय-तात्पर्यस्योक्तत्वात् चोद्योत्थितिरित्यर्थः । प्रमाणाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*प्रयोगार्थापत्तिरिति\* ॥ प्रयोगानुपपत्तिरित्यर्थः । गृहीतसंगतिकानां शब्दानां तावदर्थबोधकत्वम्, संगतिग्रहणं च लौकिकप्रयोगाधीनम्, इति न ब्रह्मशब्दादपूर्वसिद्धिः, तथाच कथं सौत्रादपि न तत्सिद्धिः ? इति शङ्कते—\*ननु श्रौतेति\* ॥ लौकिकप्रयोगाधीनत्वमसिद्धमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ वेदेऽपूर्वशब्दाभावमाशङ्क्याह—\*अपूर्वेति\* ॥ “नैतत्सारमिति”त्यत्र पदस्यानधिगतबोधकत्वं निरस्तम्, तदयुक्तम् ; वाक्यवदेव पदस्याप्यनधिगतबोधकत्वसंभवादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*नन्विति\* ॥ प्रमाणान्तरेणार्थ-मधिगम्य तस्मिन् गृहीतसंगतिकस्य पदस्यार्थस्मारकत्वान्नानधिगतविषयत्वम् । वाक्यं च संगतिग्रहणनिरपेक्षमिति वैषम्यमित्यर्थः ॥ “चक्षुरादी”त्यत्रादिपदवैयर्थ्यमाशङ्क्य किमक्षवत्पदं बोधकम् ? उत लिङ्गवत् ? नाद्यः ; संबन्धग्रहण-सापेक्षत्वादित्यभिप्रेत्य चक्षुर्वदित्युक्तमित्याह—\*न प्रत्यक्षवदिति\* ॥ नापि लिङ्गादिवद्वोधकत्वमित्याह—\*संबन्ध-ग्रहणेति\* ॥ टीकायां “चक्षुरादिवदि”त्यादिशब्देनाऽनुमानातिरिक्तमुपात्तमित्युक्तं भवतीत्यर्थः । सङ्गतिग्रहणसापेक्षस्य पदस्य बोधकत्वनियमोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*ननु दर्शितमिति\* ॥ स्वर्गादेः पदमात्रगम्यत्वमसिद्धमिति परिहरति—



## पञ्चपादिका

वदप्रतीतपूर्व एवार्थे झटिति विज्ञानं जनयति, येनापूर्वमन्यतोऽसिद्धमर्थं पदप्रयोगादेव प्रतीमः ; स्वर्गाद्यर्थोऽपि नैव पदप्रयोगादेव सिद्धः, \*अत्रोच्यते\* ;—यस्मिन् वाक्य एकं पदं मुक्त्वेतरेषां पदानामर्थः प्रसिद्धः, स किमेकपदार्थानवगमापराधेन त्यज्यताम् ? उत बहुपदार्थप्रसिद्धिबलेनाप्रसिद्धोऽपि कथंचिदवगम्येतेति ? तत्र निगम-निरुक्त-व्याकरणानामेवंरूपपदार्थानुगमहेतूनां विद्यमानत्वात् तद्वलेनार्थमनुगम्य वाक्यार्थावगतिर्युक्ता, न पुनरेकाप्रसिद्ध्या प्रसिद्धपदार्थसंसर्गस्त्यक्तं युक्तः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्र वाक्यार्थप्रमिति-विवक्षया प्रसिद्धार्थैः पदान्तरैः सहाप्रसिद्धार्थपदप्रयोगानुपपत्तिरेव प्रतिपाद्येन संबन्ध-ग्रहणानपेक्षया पूर्वपदार्थं पदवाच्यत्वेन प्रतिपादयतीति परिहरति—\*यस्मिन् वाक्य एकं पदमिति\* ॥ विप्रलम्भ-भ्रान्त्यादिदोषरहितवेद-सूत्रवाक्यार्थनिर्णयस्यावश्यलभ्यत्वादिति भावः । \*ननु\* सहप्रयोगानुपपत्ति-नियामकाभावाद् यं कश्चिदर्थमुपस्थापयतीति, तत्राह—\*तत्र निगमनिरुक्तेति\* ॥ निगमो नाम प्रसिद्धार्थ-तदवयवौ परित्यज्य शब्दस्य शब्दैकदेशानुगमेनार्थान्तरे वृत्तिः, यथा देहात्मादिशब्दानामुपचितवस्तु-सन्ततगमन-वत्पदार्थादावेकदेशानुगमेन वृत्तिः ; प्रसिद्धार्थतदवयवोपादानेनार्थान्तरवृत्तौ लक्षणा-गुणवृत्तिप्रसङ्गात् ।

## ऋजुविवरणम्

मात्रादेव प्रतीतिर्निराक्रियते ? तत्प्रतीतेर्दर्शनात्, अन्यस्य च ग्राहकस्यादर्शनादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*सन्निहितानेकेति\* ॥ “यस्मिन् वाक्ये” इत्यादिप्रत्ययेनानेकपदार्थप्रसिद्धिबलेनाप्रसिद्धस्यापि प्रतीतिरुक्ता, सा न युक्ता ; बहुपदार्थप्रसिद्धेरन्याग्राहकत्वात्, प्रमाणान्तरस्य चानुक्तत्वात्, एकपदार्थप्रतिपत्तावपि लोके वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनादित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र वाक्यार्थेति\* ॥ “अप्रसिद्धार्थपदप्रयोगानुपपत्तिरेव” इत्युक्त एकपदप्रयोगानुपपत्त्याऽपि पदार्थप्रतीतिः स्यात्, न तथा दृश्यते, तदर्थमाह—\*पदान्तरैस्सहेति\* ॥ तथाऽप्यप्रसिद्धार्थपदान्तरैः सह प्रयोगेऽपि न प्रतीतिर्दृश्यते, तदर्थमाह—\*प्रसिद्धार्थैरिति\* ॥ तथाऽपि यादृच्छिकपदेनार्थप्रतीतिर्दृश्यते, तदर्थमाह—\*वाक्यार्थप्रमिति-विवक्षयेति\* ॥ प्रयोगानुपपत्तिमात्रान्नार्थनिश्चयः, तदर्थम्—\*वाक्यार्थप्रमितिः\* । एवमपि सर्वपदार्थाप्रसिद्धौ नार्थप्रतीतिः, तदर्थमाह—\*प्रसिद्धार्थैरिति\* ॥ इतरद् व्यक्तम् । \*ननु\*—एवंभूतपदान्तरैस्सह प्रयोगेऽपि नार्थनिश्चयो दृश्यते विप्रलम्भादिप्रणीते, अतो नात्रापि निश्चयः, यद्वा—नैवंभूतप्रयोगत्वनिश्चय इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*विप्रलम्भ-भ्रान्त्यादीति\* ॥ \*ननु\*—शब्दैकदेशानुगमेनार्थान्तरे वृत्तिरित्येवालम्, किमर्थम्—“प्रसिद्धार्थ-तदवयवौ परित्यज्ये”ति विशेषणमुपादीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रसिद्धार्थतदवयवोपादानेनेति\* ॥ \*ननु\*—

## तत्त्वदीपनम्

\*नेत्याहेति\* ॥ कुतस्तत्सिद्धिः ? इत्याशङ्क्याह—\*सन्निहितेति\* ॥ “यन्न दुःखेन संमित्रं न च प्रस्तमनन्तरम्” इत्यादौ सकलोपद्रवविधुरे सुखे स्वर्गशब्दः प्रयुक्तः, तथा “स्वर्गकामो यजेते”ति स्वर्गकामपदसमभिव्याहाराच्छिडादेर-पूर्वपरत्वम् । एवं देवताशब्दात् तदर्थप्रतिपत्तिरित्यर्थः । “अत्रोच्यते” इत्यत्र बहुप्रसिद्धिबलेनाप्रसिद्धोऽनुगम्यत इत्युक्तम्, तदसमञ्जसम् ; व्याप्त्यादिकं विनाऽन्यप्रसिद्धेरसाधकत्वादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ पदान्तराणामप्यप्रसिद्धार्थत्वेन तत्समभिव्याहारादपूर्वसिद्धिः, तदर्थम्—“प्रसिद्धार्थैरिति”ति विशेषणम् । अनाप्तादिप्रयोगाद्वैलक्षण्यमाह—\*विप्रलम्भेति\* ॥ प्रयोगानुपपत्त्याऽर्थप्रतिपत्तिसंभवेऽप्यर्थविशेषप्रतिपत्तिः कथमिति शङ्कते—\*ननु सहेति\* ॥ हेत्वसिद्ध्या परिहरति—\*तत्राहेति\* ॥ निगमाद्यनुरोधेनार्थविशेषप्रतिपत्तिरित्युक्तम्, तत्र के ते निगमरूपाः ? तत्राह—\*निगमो नामेत्यादिना\* ॥ “शब्दैकदेशानुगमेने”त्यस्यायमर्थः—प्रकृतिलक्षणशब्दैकदेशार्थस्यार्थान्तरेऽनुगमेन शब्द-स्यार्थान्तरेऽनुगमे शब्दस्यान्यत्र वृत्तिनियमः । “प्रसिद्धार्थ-तदवयवौ परित्यज्ये”ति विशेषणकृत्यमाह—\*प्रसिद्धार्थेति\* ॥ प्रसिद्धार्थोपादानेनार्थान्तरवृत्तावजहल्लक्षणा स्यात् । लक्षणा च गुणवृत्तिश्चेति लक्षणा-गुणवृत्ति । मुख्यवृत्त्यन्यत्वेन लक्षणाया गुणवृत्तित्वमुक्तम् । अथवा—प्रसिद्धोपादानेनार्थान्तरप्रवृत्तौ लक्षणावृत्तिः, तदवयवस्य तद्गुणस्योपादाने-



## पञ्चपादिका

न हि प्रसिद्धिप्रसिध्या त्यज्यते ; प्रसिद्धिबलेनाप्रसिद्धमपि कल्प्यत इति न्यायात् । \*ननु\* निगमादिवशेनार्थानुगमे सर्वत्रैव कथंचिदर्थान्वयस्यानुगन्तुं शक्यत्वादव्यवस्थितः पदार्थः स्यात् ; ततश्च वाक्यार्थो नावधार्येत, \*न तर्हि\* निगमादीनामर्थवत्ता । भवत्यर्थवत्ता, यत्र स्वार्थादन्यत्रापि विनियोगात् प्रयोगस्तत्र कथमभिदध्यात् ? इत्यपेक्षायां तद्वतस्यैवावयवार्थान्वयलेशस्यानुगमात् । एवं

## पञ्चपादिकाविवरणम्

निरुक्तं नाम शब्दस्य सर्वावयवार्थानुगमेन प्रसिद्धादर्थान्तरं वृत्तिः, यथा सोमशब्दस्य पार्वतीसहितमहेश्वरे वृत्तिः । \*व्याकरणम्\*—प्रत्ययविधानसामर्थ्यादर्थनिश्चयः, यथा वादीति ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययविधानसामर्थ्याद्वदनशीलो गम्यते । \*ननु\* प्रसिद्धिबलेनाप्रसिद्धमुपादीयते, नचाप्रसिद्धेन प्रसिद्धं त्यज्यत इत्यत्र को विशेष इति ? तत्राह—\*नहि प्रसिद्धिप्रसिध्येति\* ॥ अप्रसिद्धिर्नैसर्गिकप्रागभावः । प्रसिद्धपदार्थैः सह वाक्यार्थनिर्णयाय प्रयोगानुपपत्तिरेवागन्तुकी तस्य प्रागभावस्य निवृत्तिहेतुरिति भावः । \*ननु\* अवयवार्थसामान्यानुगमानां सर्वतो विप्रसृतिसम्भवादुपादेयार्थनियमायोगाद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिनियमो न स्यादिति चोदयति—\*ननु निगमादिवशेनेति\* ॥ अत्र (१) निगूढाभिसन्धिरुत्तरमाह—\*न तर्हि निगमादीनामिति\* ॥ रूढिसामर्थ्यादेव सर्वत्र वाक्यार्थनियमे लोकप्रसिद्धं वृत्त्यन्तरमनर्थकं स्यादिति भावः । पूर्ववादी निगमादीनामर्थवत्तामाह—\*भवत्यर्थवत्तेति\* ॥ स्वार्थादन्यत्तेति=अर्थान्तरविवक्षयेत्यर्थः । \*विनियोगादिति\* ॥ वाक्यार्थसंसर्गं निमित्ती-

## ऋजुविवरणम्

प्रसिद्धबलेनाप्रसिद्धपदोपादानमेव न्याय्यमिति कथं निर्णीयते ? विशेषस्यानुक्तत्वात्, “प्रसिद्धबलेन”त्यप्ययुक्तम् ; अन्यप्रसिद्धिमात्रस्यान्याप्रसिद्धिनिवर्तकत्वाभावादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अप्रसिद्धिर्नैसर्गिकेति\* ॥ “सर्वत्रैवे”त्यनेन सर्ववाक्यस्थपदेष्वनुगमसंभवोऽनवधारणहेतुत्वेनोक्तः, व्यधिकरणस्सः ; नह्यन्यत्र पदार्थज्ञानसंभवोऽन्यानवधारणकारणम्, विरूपश्च ; प्रसिद्धत्वेऽपि व्यवस्थासंभवात्, कथञ्चिदर्थान्वयस्यानुगन्तुं शक्यत्वादित्ययुक्तम् ; अर्थशब्देन सन्निहितत्वात्पदार्थ एव निर्दिश्येत, नच तस्यानुगन्तुं शक्यत्वम्, एवञ्च न पदार्थं व्यवस्था ; तदभावे वाक्यार्थानवधारणम् । अपिचानेकार्थपदेष्वपि वाक्यार्थव्यवस्था दृश्यते, अतः कथमेतदनवधारणम् ? इत्याशङ्क्यावतारयति—\*नन्ववयवार्थेति\* ॥ “न तर्हि निगमादीनामिति” परिहारो न युक्तः ; चोदिताव्यवस्थादूषणस्यापरिहतत्वात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*निगूढाभिसन्धिरिति\* ॥ \*ननु\*—अव्यवस्थापादकेनानर्थक्यमङ्गीकृतमेव, तेन तस्यानर्थक्यापातनं न दोषायेत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*रूढिसामर्थ्यादेवेति\* ॥ “न तर्हि”त्यनेन निगमादीनामर्थवत्त्वमुक्तं भवति, “अर्थवत्ते”त्यनेनापि तदेवोच्यते, अतः पुनरुक्तम् । अथ तत्र दूषणमात्रमापादितम्, उत्तरेणार्थवत्त्वप्रतिपादनमित्युच्येत, तथाऽपि पौनरुक्त्यमेव स्यात्, तदनङ्गीकारे पूर्वापरविरोधप्रसङ्गादित्याशङ्क्यावतारयति—\*पूर्ववादीति\* ॥ “स्यार्थादन्यत्रे”त्ययुक्तम् ; अन्यत्र प्रयोगानुपपत्तेः, अभिधायकत्वञ्च निगमादिवशेन न संभवेत्,

## तत्त्वदीपनम्

नान्यत्र वृत्तौ गुणवृत्तिरित्यर्थः । \*प्रत्ययविधानेति\* ॥ अस्मिन्नर्थेऽयं प्रत्ययो भवतीति विधिसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ एकाप्रसिध्या न प्रसिद्धपरित्याग इत्युक्तं टीकायाम्, तत्र हेतुं पृच्छति—\*ननु प्रसिद्धेति\* ॥ हिशब्दसूचितं हेतुमाह—\*प्रसिद्धिरिति\* ॥ “प्रयोगानुपपत्तिरिति”त्यनुपपत्तिप्रभवा प्रसिद्धिरुच्यते । पदार्थ-वाक्यार्थयोरव्यवहितत्वमिष्टमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*नन्ववयवेति\* ॥ एकस्मिन् प्रयोगे पदार्थ-वाक्यार्थयोर्व्यवहितत्वं वाच्यम्, तच्च न सिध्येत्, निगमादिवृत्त्या शङ्क्य सर्वतः प्रवृत्तिसंभवादित्यर्थः । निगमादीनामानर्थक्ये चोदिते तस्यैवाभिधानमयुक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अत्रेति\* ॥ कोऽसौ गूढाभिसन्धिरित्याह—\*रूढीति\* ॥ आनर्थक्यप्रसङ्गनस्यानिष्टपर्यवसायितामाह—\*लोकेति\* ॥ “न तर्हि”त्यत्राप्यर्थवत्ताया विवक्षितत्वादितरत्रापि



## पञ्चपादिका

तर्हि, एकार्थनियमाय प्रयोगपरतन्त्रता मृग्यते, तदन्तरेणापि प्रयोगमेकार्थनियम एव कथंचिन्निगमादि व्याप्रियेतेति न कश्चिद् दोषः । तदत्र ब्रह्मशब्दे व्युत्पाद्यमाने बृहतेर्धातोर्वृद्धिकर्मणोऽर्थानुगमात्, प्रयोगानुगमे चासति विशिष्टार्थविषयस्यापेक्षिकमहत्त्वस्यापरिग्रहात् सर्वतो निरवग्रहमहत्त्वसम्पन्नं वस्तु वाक्यार्थान्वयि ब्रह्मपदादनुगम्यते । ततश्च कालकृतावच्छेदनिमित्तस्याल्पत्वस्याभावात् सदा सत्त्वान्नित्यं

## पञ्चपादिकाविवरणम्

कृत्येत्यर्थः । \*अयं भावः\*—वाक्यार्थनिर्णयं निमित्तीकृत्य पदान्तरैः सह प्रयोगानुपपत्तिरेव निगमादिवशेनार्थमाददाना सन्निहितपदार्थसंसर्गयोग्यतया प्रयोजनपर्यन्तमेव पदार्थमादते, इति वाक्यार्थनियमसिद्धिरिति । सिद्धान्ती निगूढामिसन्धिं विवृणोति—\*एवं तर्ह्येकार्थनियमायेति\* ॥ प्रथमप्रयोगानुपपत्तिर्निगमाद्यनुगृहीता फलपर्यन्तवाक्यार्थान्वयिपदार्थाकाङ्क्षानुगृहीता च नियतपदार्थोपादानहेतुभावे रूढेन विशिष्यत इत्यर्थः ।

## ऋजुविवरणम्

संभवे च “स्वार्थादन्यत्रे”त्ययुक्तम् ; तस्यैव स्वार्थत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अर्थान्तरविवक्षयेति\* ॥ “विनियोगादि”ति संसर्गहेतुः प्रयोग इति प्रतीयेत, तच्च संसर्गस्य सिद्धस्याभावान्न युज्यते ॥ कश्चात्र संसर्ग इति च न ज्ञायते, तदर्थं व्याचष्टे—\*संसर्गं निमित्तीकृत्येति\* ॥ ल्यब्लोपे पञ्चमीत्युक्तं भवति । “तद्वत्तस्यैवावयवार्थान्वयलेशस्यानुगमादि”त्वेनेन हेतुरुक्त इति प्रतिभाति ; “कथमभिदध्यादित्यपेक्षायामि”ति हेतुत्वाकाङ्क्षायाः प्रदर्शितत्वात्, अन्यस्य चाभावात् । एवञ्च नार्थवत्त्वं निगमादेः ; व्यवस्थितार्थप्रतीतिहेतुत्वाभावेन वाक्यार्थनियमस्यापरिग्रहात्, नापि तदनुगृहीता प्रयोगानुपपत्तिर्व्यवस्थितार्थग्राहिका ; तस्या अप्यव्यवस्थितवस्तुप्राहकत्वेन मिलितयोरपि न वाक्यार्थनियामकत्वमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयं भावो वाक्यार्थनिर्णयमिति\* ॥ “एवं तर्ही”त्यनेन निगमादीनामर्थवत्त्वमुच्यते, तत् पूर्वग्रन्थेन पुनरुक्तमित्याशङ्क्यावतारयति—\*सिद्धान्तीति\* ॥ \*ननु\*—सिद्धान्तिनाऽपि “न तर्ही”त्यनेनोक्तमेवार्थवत्त्वं निगमादीनाम्, अतो नायं सिद्धान्तिनः ; पौनरुक्त्यञ्चेत्याशङ्क्याह—\*निगूढामिसन्धिं विवृणोतीति\* ॥ “एवंतर्ही”त्यनेन प्रयोगं विना नियमे निगमादीनां व्यापार उक्तः, स न युक्तः ; प्रयोगमनादृत्य निगमादेर्नियामकत्वायोगात्, पूर्वापरविरोधश्च ; पूर्वं निगमादिसहकृतप्रयोगानुपपत्तिर्मित्यर्थनियामकत्वस्योक्तत्वात्, इदानीं निगमादीनामेवानियतार्थनियमे व्यापारस्योक्तत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*प्रयोगानुपपत्तिरिति\* ॥ “रूढेन विशिष्यते” इत्यनेन “तदन्तरेणापि प्रयोगमिति” व्याख्यातम् । तत्रेयं शङ्का निरस्यते—कथं निगमादीनां व्यवस्थितार्थसिद्धिः प्रमाणान्तरेणैतदर्थं प्रयोगस्य निश्चिते तत्समर्पणसामर्थ्यप्रदर्शनात्क्रियते ? ननु तदभावा इति । “तदत्र ब्रह्मशब्दे” इत्यादिना व्युत्पत्तिसामर्थ्याद् बुद्धत्वादीनामवगतिरुक्ता, अप्रस्तुता सा ; प्रसिद्धत्वमिह

## तत्त्वदीपनम्

पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याह—\*पूर्वेति\* ॥ यद्विषयः प्रयोगः, तस्यापि स्वार्थत्वात् स्वार्थादन्यत्रेति कथमुक्तम् ? तत्राह—\*स्वार्थादिति\* ॥ “विनियोगादि”त्यत्र कोऽसौ विनियोगः ? इति न ज्ञायते, पञ्चम्या अपादाने विधानात्, साऽपि कथम् ? इत्याशङ्कायामाह—\*विनियोगादिति\* ॥ “जाड्याद् बद्धः” इत्यादौ यथा पञ्चम्या निमित्तार्थत्वम्, तद्वदन्नापीत्यर्थः ॥ अवयवार्थान्वयलेशस्य सर्वत्रानुगमसंभवात् कथं ततो निश्चयः ? इत्याशङ्क्याह—\*अयं भाव इति\* ॥ “निगमादिवशेने”त्यर्थज्ञानोपाय उक्तः, अथ विशेषोपादाने हेतुमाह—\*सन्निहितेति\* ॥ सर्वस्यायोग्यत्वाच्चिफलत्वान्नोपादानमित्यर्थः । पौनरुक्त्यं निरस्यति—\*गूढेति\* ॥ “एवं तर्ही”त्यनेन प्रयोगस्यैकार्थनियामकत्वमभिधाय “तदन्तरेणापी”त्यत्रानियामकत्वं चोक्तम्, ततो विरोध इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*प्रयोगेति\* ॥ प्रसिद्धपदसमन्विताहारः प्रथमप्रयोगशब्दार्थः । “तदन्तरेणापि प्रयोगमिति”त्यत्र प्रयोगशब्देन रूढिगृह्यते, अतो न विरोध इत्यर्थः । निगमाद्यनुगृहीतप्रयोगानुपपत्त्या ब्रह्मप्रसिद्धिमात्रमत्रोपपादनीयम्, किं नित्य-शुद्धादिप्रतिपादनेन ? इत्याशङ्क्याह—\*नन्वेवमिति\* ॥ ब्रह्मशब्दाद् ब्रह्मप्रतिपत्तिसंभवेऽपीत्यर्थः ॥



## पञ्चपादिका

किञ्चिद्वस्तु ब्रह्मपदात् प्रतीयते । तथा रूपान्तरसद्भावे तद्रूपविकल्पात् तदवच्छेदकृतमल्पत्वं स्यात्, तच्च ब्रह्मपदादेवापास्यते । तस्मादेकरसमद्वैतं वस्तु ब्रह्मपदात् प्रतीयते । \*एतेन\*—देशकृतोऽपि परिच्छेदो निराकृतो—\*वेदितव्यः\* ॥ वस्त्वन्तरसद्भावे हि तदपेक्षयैतावति सद्भावः, नातः परमस्ति, इति स्यात्—एतस्माद् व्यावृत्त इति, तदभावे न परिच्छिन्नबुद्धिर्भवति । बुद्धत्वं च बृहत्पर्यायान्वयादेव कथम् ?

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* एवमपि कथं ब्रह्मशब्दस्य जात्यादिविलक्षणे निरतिशयपुरुषार्थे मुमुक्षोर्जिज्ञासायोग्ये वस्तुनि निगम-  
वशाद् वृत्तिरिति ? तदाह—\*तदत्र ब्रह्मशब्दे व्युत्पाद्यमान इति\* ॥ \*ननु\* एवमपि यत्किञ्चिदापेक्षिक-  
मंशत्वसंपन्नं वस्त्वनुगम्यतामिति, नेत्याह—\*प्रयोगानुगमे चासतीति\* ॥ तत्र हेतुः—\*वाक्यार्थान्वयीति\* ॥  
तत्तात्पर्यत्वं नाम वस्तुनो देश-काल-वस्तुपरिच्छेदः, तद्व्यावृत्तिर्निरतिशयमहत्त्वम्, तत्तोपपदादिसङ्कोचकाभावे  
जिज्ञास्यस्य पुरुषार्थतया वाक्यार्थान्वयसम्भवे च तदपि ब्रह्मपदेनानुगम्यत इत्याह—\*ततश्च कालकृता-  
वच्छेदनिमित्तस्येत्यादिना बुद्धत्वं चेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥ भाष्ये नित्यशब्देन त्रिविधमपि महत्त्वं  
दर्शितमित्यर्थः । \*ननु\* बुद्धत्वादयो गुणा न ब्रह्मत्वोपयोगिनः, तत् कथं ब्रह्मपदादनुगम्यन्ते ? इति चोदयति—

## ऋजुविवरणम्

जिज्ञासायोग्यत्वसिद्ध्यर्थं प्रदर्शनीयम्, नान्यदित्यादिशङ्कानिवृत्त्यर्थमवतारयति—\*नन्वेवमपि कथमिति\* ॥ जात्यादि-  
विलक्षणेऽप्यपुरुषार्थे न जिज्ञासा, तदर्थम्—\*निरतिशयपुरुषार्थ इति\* ॥ पुरुषार्थेऽप्यन्यार्थिनोऽन्यत्राप्रवृत्तिः, अयोग्ये च,  
तदर्थम्—\*मुमुक्षोर्जिज्ञासायोग्य इति\* ॥ \*अथवा\*—\*पुरुषार्थेऽपि ज्ञातेऽत्यन्ताज्ञाते च न प्रवृत्तिः, तदर्थमाह—  
\*मुमुक्षोर्जिज्ञासायोग्य इति\* ॥ “प्रयोगानुगमे चासती”ति टीकाग्रन्थस्यायमर्थः—प्रयोगानुगमनं नास्ति ;  
प्रमाणान्तरेणेदंपरत्वे प्रयोगस्य निश्चिते तदनुरोधेन वर्तते, तदभावे नेति तदेव हेतुर्निरवग्रहमहत्त्वप्रतीताविति ।  
“ततश्च कालकृते”त्यादिना काल-वस्तु-देशपरिच्छेदनिराकरणमनुगमसामर्थ्यादित्युक्तम्, तन्न युज्यते ; महत्त्वस्यासत्त्व-  
व्यवच्छेदकत्वादप्यव्यवच्छेदकत्वाभावात्, किञ्चापेक्षिकेऽपि निगमादिना वृत्तिर्दृश्यते, तद्वाने न कारणमस्ति । नच  
तादृशमहत्त्वे नानुपपत्तिः ; तदभावे विशिष्टमहत्त्वपरिग्रहो न भवेदित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्राल्पत्वं नामेति\* ॥  
\*ननु\*—नित्यतामात्रं भाष्योक्तम्, तेनान्यदुद्भाष्यमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*भाष्ये नित्यशब्देनेति\* ॥ “अबोधा-  
नपेक्षत्वे बोधकत्वमेव न स्यादित्याशङ्क्याह—\*शब्दावयवसामर्थ्यादिति\* ॥ \*ननु\*—उत्तरसूत्र-श्रुतिसूचनद्वारेण

## तत्त्वदीपनम्

जात्यादिविलक्षणस्याप्यपुरुषार्थत्वेनाजिज्ञास्यत्वम्, तत्राह—\*निरतिशयेति\* ॥ नित्यशुद्धादिरूपस्य जिज्ञा-  
स्यत्वात् तदन्तरेण ब्रह्मशब्दार्थस्यापरिपूर्णत्वाच्च तत्सिद्धिरित्याह—\*तदाहेति\* ॥ बृहतिधातोर्महत्त्वसिद्ध्युपपत्तेर्न  
निरवग्रहत्वसिद्धिरिति शङ्कते—\*नन्वेवमिति\* ॥ संकोचकाभावात् तत्सिद्धिरित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ प्रयोगानुगमो  
नाम यस्मिन्नर्थे बृद्धाः शब्दं प्रयुज्यते, तादृशशब्दानुसरणम्, तस्मिन्नर्थे सतीत्यर्थः । लोकव्युत्पत्त्यनुसारेण ब्रह्म-  
शब्दार्थप्रतिपत्त्यवगमे यथा व्युत्पत्तिः, तथा ग्राह्येति नियमः, अन्यथा तु शब्दबलात् प्रतीयमानं न त्यक्तव्यमित्यर्थः ।  
आपेक्षिकमहत्त्वपरिग्रहकारणाभावेऽपि निरवग्रहमहत्त्वमादेयमित्यत्र को हेतुरिति ? तत्राह—\*तत्र हेतुरिति\* ॥ निरव-  
ग्रहत्वस्य ब्रह्मशब्दात् प्रतिपत्तावपि त्रिविधपरिच्छेदव्यावृत्तिप्रतिपत्तौ हेत्वभावात् “ततश्चे”त्यादिग्रन्थासामञ्जस्यमित्या-  
शङ्क्याह—\*अत्राल्पत्वमिति\* ॥ भवतु निरतिशयमहत्त्वमेतादृशम्, तथाऽपि कथं ब्रह्मपदार्थप्रतिपत्तिः ? तत्राह—  
\*तत्रेति\* ॥ प्रकरणादिशब्दार्थः । न केवलमत्र बाधकाभावः, किंतु साधकमस्ति चेत्याह—\*जिज्ञास्यस्येति\* ॥  
एतेनेत्यस्यायमर्थः—एतेन वस्तुपरिच्छेदनिरासेन कथं देशपरिच्छेदव्यावृत्तिः ? तत्राह—\*वस्त्वन्तरेति\* ॥ देशाख्यस्य  
वस्त्वन्तरस्यास्तित्वेऽस्मिन् देशेऽस्ति, अस्मिन्नेतीति व्यावृत्तत्वम्, तस्याभावे कुतो व्यावृत्तिरित्यर्थः । स्यादिति  
संबन्धः । बृहत्पर्यायस्य बद्धत्वमन्तरेणानुपपत्त्यभावात् कथं तत्प्रतीतिः ? इति शङ्कते—\*ननु बद्धत्वेति\* ॥ अनुपपत्त्यभावोऽ-



## पञ्चपादिका

अबोधात्मकं हि वस्तु भोग्यम्, अतो भोक्तारं प्रति शेषत्वान्निकृष्टम् । चेतनः पुनर्न कस्यचिद्गुण-  
भावमेति । तेनोत्कृष्टं सर्वस्माद् बुद्धस्वरूपं किञ्चित्, इति बृहत्त्यर्थान्वयमेवानुसृत्य गम्यते । “मुक्तमिति”  
चाविद्या-काम-कर्मपरतन्त्रस्तैरितश्चासुतश्च पशुवन्नीयमानो निकृष्टो भवति । ब्रह्मशब्दस्तु स्वार्थप्रक्षेपेण वाच्यं  
किञ्चिद्भयन् सदैवाविद्यादिसंसारवीजानाकलिततया तस्योत्कृष्टमहत्त्वमावेदयति । “सर्वज्ञं सर्वशक्ति-  
समन्वितं च तदि”ति ब्रह्मशब्दादेवावगम्यते । कथम् ? यदि किञ्चिदविदितं तेन, कुतश्चिद्वा  
कार्याद् व्यावर्तते शक्तिः, आपेक्षिकस्तदोत्कर्षः स्यात् । न तद्युक्तमन्यतोऽसिद्धस्य वस्तुनः पदप्रयोगादेव  
प्रतिपत्तौ । सिद्धे हि वस्तुनि प्रयोगे तस्य यथासिद्धमेव महत्त्वं निरुच्यते । शब्दादेव तदर्थान्वय-  
प्रतीतौ निरङ्कुश एवार्थोऽभ्युपेतव्यः । एवं च बृहत्तेरर्थः परिपूर्णो भवति, यदि सर्वमस्य साक्षादेव  
संविद्गोचरे वशे च वर्तेत, तदेतदाह—\*अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभावं सर्वज्ञं सर्व-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*कथमिति\* ॥ \*नैष दोषः\* ; गुणतोऽपकृष्टेऽप्यल्पबुद्धिदर्शनात् । \*तथाहि\*—गुणहीनं दोषभूयिष्ठं च  
वस्त्वल्पमविद्यमानसमं मन्यन्ते, गुणभूयिष्ठं दोषहीनं च महान्तं कथयन्ति । अतो गुणतोऽल्पत्वनिराकरणेन  
महत्त्वं दर्शयितुं बोधगुणहीनस्य गुणतोऽपकृष्टतयाऽल्पत्वाद् बुद्धत्वमनुगम्यत इत्याह—\*अबोधात्मकं वस्त्वित्या-  
दिना\* ॥ तथा चेतनस्यापि संसारित्वे दोषभूयिष्ठत्वाद् गुणतोऽपकर्षाभिरतिशयमहत्त्वासिद्धेः सर्वदोषरहिततया  
मुक्तत्वोत्कर्षोऽप्यनुगम्यत इत्याह—\*मुक्तमिति चाविद्याकामकर्मपरतन्त्र इति\* ॥ चेतनस्यापि मुक्तस्य सर्व-  
कार्यनियमनादिशक्त्यभावे च परिशिष्टज्ञेयकार्यविषयज्ञाननियमनशक्त्यभावात् ततोऽपकर्षादल्पता स्यात्, तद्-  
व्यावृत्त्यर्थमाह—\*सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं च तदित्यादिना\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मशब्दप्रयोगेऽपि जाति-जीव-  
कमलासन-शब्दराशिषु नैतावानर्थः प्रतीयते, तत्र कथमनुगमादप्येतादृशस्यार्थस्य प्रतिपत्तिरिति ? तदाह—  
\*सिद्धे हि वस्तुनि प्रयोग इति\* ॥ प्रमाणान्तरगृहीतेऽर्थे प्रयोगसामर्थ्यादेवार्थप्रतिपत्तावत्त्वं वा महद्वा यथा  
प्रमाणान्तरेण प्रतिपद्यते, तथैव शब्दार्थः प्रतिपत्तव्यः । यदा पुनः प्रयोगसामर्थ्यमनपेक्ष्य शब्दावयवसामर्थ्या-  
देवार्थोऽनुगम्यते, तदा प्रमाणान्तरोपपद-प्रकरणानां सङ्कोचहेतूनामभावाद् यथासामर्थ्यं मुख्य एवार्थः प्रति-  
पत्तव्य इति भावः । उक्तेऽर्थे भाष्यमवतारयति—\*तदेतदाहेति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

\*महत्त्वं ही”त्यादिना निकृष्टत्वपरिहाराय बुद्धत्वाद्यनुगम उक्तः, स न युक्तः ; ब्रह्मत्वानुपयोगापरिहारादित्याशङ्क्याह—  
\*नैष दोषो गुणत इति\* ॥ “सिद्धे हि वस्तुनि प्रयोगः” इत्ययुक्तम् ; नहि सिद्धिर्निष्पत्तिर्विवक्षिता, निष्पन्नेऽपि  
नियमेन यथानिष्पत्ति प्रतीत्यदर्शनात्, ज्ञातत्वे विवक्षिते नानेन ज्ञातत्वं विवक्षितम् ; इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्, प्रमाणान्तरे  
च विवक्षिते “यथासिद्धमेव निरुच्येते”त्ययुक्तम् ; शब्दात्प्रतीतौ निर्वचनं स्यात्, ननु यथाप्रतीतस्वीकारे । अतो न  
युक्तः । किञ्च नात्र विशेषो दृश्यते ; उभयत्र शब्दादेव स्वीकारे “क्वचित्संकुचितं क्वचिन्निरङ्कुश एव”त्यप्ययुक्तम् ; सर्वत्र  
निगमादीनां निरङ्कुशार्थस्वीकारप्रसङ्गात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*प्रमाणान्तरगृहीतेऽर्थे इति\* ॥ तर्हि “शब्दा-  
देवे”ति व्यर्थम् ; सर्वत्र शब्दादेव प्रतीतेरित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*प्रयोगसामर्थ्यमनपेक्ष्येति\* ॥ \*ननु\*—प्रयोगा-

## तत्त्वदीपनम्

सिद्ध इत्याह—\*नैष इति\* ॥ “तथाही”त्यारभ्य प्रमाणान्तरे”त्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः । भाष्ये तु शुद्धपदेनाविद्या-  
दिव्यावृत्तिरुच्यते, “मुक्तस्वभावमि”त्यनेन मुक्त्यवस्थायामविद्याराहित्यमितरत्र तद्वत्त्वशङ्का निरस्यत इति भेदः ॥

सिद्धत्वस्योभयत्राविशेषात् कथं वैषम्यम् ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*प्रमाणान्तरेति\* ॥ पूर्वोक्तस्यार्थस्यात्र  
स्पष्टीकरणान्न पौनरुक्त्यमित्यर्थः । निगमाद्यनुगृहीताद् ब्रह्मशब्दाद् ब्रह्मप्रतिपत्तिरित्युक्तम्, तत्प्रकारान्तरेणाक्षिपति—



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\*—सौत्रस्य शब्दस्यार्थोऽनुगम्यते ? किं वा श्रौतस्य ? न तावत् सौत्रस्य ; पौरुषेयप्रयोगस्य प्रमाणान्तरापेक्षत्वात्तदभावात्, नापि श्रौतस्य ; “सत्यं ज्ञानम्” “यतो वा इमानी”त्यादिशास्त्रे निर्णयमानार्थत्वादनुगमानपेक्षणात्—इति, \*नैष दोषः\* ; श्रुतिप्रमाणावगतविषयतया तन्मूलस्यैव सौत्रस्य ब्रह्मशब्दप्रयोगस्योत्तरसूत्रप्रतिपाद्यश्रुतिप्रमाणगम्यब्रह्मस्वरूपमनपेक्ष्यैवार्थानुगममुखेनार्थोपादानात्, उत्तरसूत्रसाध्यसिद्धवत्कारेणार्थोपादानानुपपत्तेश्च । श्रौतस्य वाऽयं ब्रह्मशब्दस्यार्थानुगमो वर्ण्यते, वाक्यार्थान्वयितया प्रयुक्तस्य ब्रह्मशब्दस्य वाक्यप्रमाणमनपेक्ष्यैवान्यतः सिद्धेर्वक्तव्यत्वादनुगमापेक्षणात् । \*ननु\* तर्हि पदानुगमस्य वर्णितविशिष्टार्थविषये सम्भावनामात्रबुद्धिहेतुत्वात्प्रमाणान्तरानधिगतस्य पदार्थस्य कथं वाक्यार्थान्वयितया तत्र निर्णयहेतुत्वम् ? इति

## ऋजुविवरणम्

ब्रह्मस्वरूपे निश्चिते स एवास्यापि ब्रह्मशब्दस्यार्थो निश्चितो लभ्यते, किं निगमेन ? इत्याशङ्क्याह—\*उत्तरसूत्रसाध्येति\* ॥ प्रतिज्ञातस्य प्रतिपादनम्, ननु प्रतिपाद्यं पर्यालोच्य प्रतिज्ञातार्थनिश्चयः ; इतरेतराश्रयात्, अपरिज्ञाते लक्षणादिजिज्ञासाभावादुत्तरसूत्रानारम्भादिति भावः । \*ननु\*—श्रौतेऽपि नानुगमापेक्षा ; वाक्यसामर्थ्यादेव तत्सिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*वाक्यार्थान्वयितयेति\* ॥ “नन्वेवमपि व्युत्पत्त्यनुसरणेन” इत्यादिना वस्तुसिद्धिर्नास्ति ; पदमात्रस्याप्रमाणत्वादित्युक्तम्, तदयुक्तम् ; सर्वपदार्थेष्वविशेषात्, पदस्याप्रामाण्यात् । नच तावता किञ्चिद्दीयते ; वाक्यार्थबोधोत्पत्तेः संशयादिरूपत्वाभावे पारिशेष्यात्प्रामाण्यासिद्धेः । वाक्यार्थबोधोत्पत्तौ वान्वितत्वेन प्रमितिर्भविष्यति, विमृष्टस्यैवापूर्वस्य ; अतः कथमसिद्धिः ? इत्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु तर्हीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

\*ननु सौत्रस्येति\* ॥ प्रमाणान्तरेणोपलब्धेऽर्थे तद्वाचकः शब्दो विचारयितव्यः, नच नित्यशुद्धत्वादिरूपे वस्तुनि प्रमाणान्तरं समस्ति, ततः कथं तत्र शब्दविरचनम् ? तस्मान्न सौत्रशब्दपर्यालोचनयाऽर्थसिद्धिरित्यर्थः । कल्पद्वयेऽपि न विरोध इति समाधत्ते—\*नैष इति\* ॥ प्रथममाद्यं पक्षमाश्रित्याविरोधमाह—\*श्रुतीति\* ॥ सौत्रस्य ब्रह्मशब्दप्रयोगस्यार्थानुगममुखेनार्थोपादानादिति संबन्धः । निर्मूलत्वान्न सूत्रशब्दार्थप्रतिपत्तिरित्युक्तं निरस्यति—\*तन्मूलस्येति\* ॥ श्रुतिमूलस्येत्यर्थः । तदेवाह—\*श्रुतिप्रमाणेति\* ॥ श्रुतिप्रमाणेनावगतो विषयः, तस्य भावस्तत्ता, तयेत्यर्थः । \*ननु\* सूत्रं श्रुतिमूलं चेत्, तर्हि श्रुतेरुत्तरसूत्रनिर्णीतार्थत्वात् तन्मूलं सूत्रमपि निर्णीतविषयमेवेति नानुगमापेक्षा, तत्राह—\*उत्तरेति\* ॥ यद्यपि श्रुतिप्रमाणादर्थप्रतिपत्तिः ; तथाऽपि तां करेण पिधाय प्रकारान्तरेण सूत्रार्थो वर्ण्यत इत्यर्थः । प्रकारान्तरेणोपपादनं कस्मात् ? श्रुतित एवोक्तार्थसिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*उत्तरसूत्रेति\* ॥ अनुबन्धवतुष्टयवतो विचारकर्तव्यतायामनेन सूत्रेण सिद्धायामुत्तरविचारप्रवृत्तिः, ततः कथमुत्तरसूत्राधीनश्रुत्यर्थोपेक्षयाऽस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः । द्वितीयकल्पाङ्गीकारेऽपि न विरोध इत्याह—\*श्रौतस्येति\* ॥ श्रुतित एवार्थसिद्धेरनुगमवैयर्थ्यमिति यत्तूक्तम्, तन्निरस्यति—\*वाक्यार्थेति\* ॥ इदमुक्तं भवति—पदैः पदार्थेषु प्रतिबुद्धेषु तत्संसर्गलक्षणोऽर्थो वाक्यात् प्रतीयत इति वक्तव्यम्, ततश्च वाक्यं विना ब्रह्मपदार्थप्रतिपत्त्यर्थमनुगमापेक्षणं युक्तमित्यर्थः । ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वमङ्गीकृत्याप्रामाणिकत्वादजिज्ञास्यत्वमुक्तम्, तत्राप्रामाणिकत्वमसिद्धम् ; ब्रह्मशब्दानुगमस्यापि प्रमाणत्वात्, अप्रामाणिकत्वेऽपि जिज्ञास्यत्वं युज्यते प्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु तर्हीति\* ॥ पदमात्रस्याप्रामाणिकतायाः सर्वैरुपेयत्वात् प्रमाणत्वं तावदसिद्धम्, नच पदानुगमवैयर्थ्यम् ; विशिष्टविषयसंभावनाहेतुत्वादित्यर्थः ।

प्रतीतिमात्रसंभवाजिज्ञास्यत्वमुक्तं निरस्यति—\*प्रमाणेति\* ॥ संसृष्टपदार्थानां वाक्यार्थत्वात् पदार्थस्य चामानतयाऽवस्तुत्वान्न वाक्यार्थनिर्णयहेतुत्वमित्यर्थः । “सत्यमेवमि”त्यत्राप्रामाणिकत्वमङ्गीकृत्य जिज्ञास्यत्वमुक्तम्,

## भाष्यभावप्रकाशिका

धर्मान्तरेषु तस्य प्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्य, श्रुति-सूत्रयोर्ब्रह्मशब्दप्रयोगोऽन्यथाऽनुपपद्यमानो निगमाद्यनुगृहीतः फलपर्यन्तवाक्यार्थान्वयिपदार्थाकाङ्क्षानुगृहीतस्य नियतपदार्थोपादानहेतुतया विशिष्टे ब्रह्मणि



**ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः  
प्रतीयन्ते ; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् ।**

भामती

रित्यत आह—\*ब्रह्मशब्दस्य हीति\* ॥ न केवलं “सदेव सौम्येदम्” इत्यादीनां वाक्यानां पौर्वा-  
पर्यालोचनयेत्यंभूतब्रह्मावगतिः, अपितु ब्रह्मपदमपि निर्वचनसामर्थ्यादिममेवार्थं स्वहस्तयति ।  
निर्वचनमाह—\*बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्\* ॥ वृद्धिकर्मा हि बृहतिरतिशयने वर्तते । तच्चैदमति-  
शयनमनवच्छिन्नं पदान्तरावगमितं नित्य-शुद्ध-बुद्धत्वाद्यस्याभ्यनुजानातीत्यर्थः । तदेवं तत्पदार्थस्य

अनुप्रकाशिका

\*ब्रह्मशब्दस्य हीति\* ॥ “सदेव सौम्य” इत्यादिवेदान्तसन्दर्भस्थस्येत्यर्थः । \*व्युत्पाद्यमानस्य=  
पौर्वापर्यपर्यालोचनया व्युत्पाद्यमानस्येत्यर्थः । न केवलं “सदेव सौम्येदमग्र आसीत्” इत्यादिवेदान्त-  
वाक्यानां पौर्वापर्यपर्यालोचनयेद्ब्रह्मावगतिः, अपितु ब्रह्मपदनिर्वचनसामर्थ्यादपीत्याह—\*न केवल-  
मित्यादिना—स्वहस्तयतीत्यन्तेन\* ॥ कथं तन्निर्वचनम् ? इत्याकाङ्क्षायां तन्निर्वचनमाहेत्याह—\*निर्वचन-  
मिति\* ॥ \*नित्येति\* ॥ तथाच ब्रह्मपदनिर्वचनसामर्थ्याद् ईदृशब्रह्मावगतिरुक्ता जातेति भावः ।  
\*तत्पदार्थस्येति\* ॥ “तत् त्वमसि” इति महावाक्यस्थं यत् तत्पदम्, तदर्थस्येत्यर्थः । \*त्वंपदार्थ-  
स्येति\* ॥ उक्तमहावाक्यस्थं यत् त्वंपदम्, तदर्थस्येत्यर्थः । “सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिरिति”

पञ्चपादिका

शक्तिसमन्वितम् । ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते ; बृहतेर्धातोरर्थानु-  
गमादिति\* ॥

वार्तिकम्

जात्याद्यर्थान्तरे रूढत्वादित्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः  
प्रतीयन्ते इति\* ॥ यस्माद् ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयः पूर्वोक्ता अर्थाः प्रतीयन्ते,  
तस्माद् युक्तं ब्रह्मशब्देन तदभिलषितजिज्ञास्यसूत्रणमित्यर्थः । कुत एतदध्यवसीयते—ततो व्युत्पाद्यमाना  
नित्य-शुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते इति ? तत्राह—\*बृहतेर्धातोरर्थानुगमादिति\* ॥ यतो बृहतेर्धातो-  
र्वृद्धिकर्मणोऽर्थमनुगच्छन्त्येतेऽर्थाः ; अविनाभावित्वात्, तत एवानुगम्यन्ते वा । अतस्तेषां तदर्थ-  
नान्तरीयकतया प्रतीतेरुपपन्ना तदर्थता । यो ह्यर्थो यस्माच्छब्दादुच्चरितात् शक्त्या लक्षणयाऽर्थाद्वा प्रतीयते,  
स सर्वोऽपि तदर्थ इति शब्दार्थविदां समयस्थितेरित्यर्थः । \*अयमभिप्रायः\*—ब्रह्मशब्दस्यात्र रूढ्या  
जात्याद्यर्थान्तरपरिग्रहो न युज्यते ; तस्य प्रकृताधिकारिजिज्ञासाकर्मत्वानुपपत्तेर्वाधात् । अतो बलवती-  
मपि रूढिवृत्तिरित्युच्यते तद्योग्यो निगमादिवलेन योगार्थोऽन्वेषणीयः । तत्र निगमो नाम शब्दैकदेशार्था-

भाष्यभावप्रकाशिका

संभावनाबुद्धिहेतुर्भवति, इति प्रसिद्धत्वं युक्तमित्याह—\*ब्रह्मशब्दस्य हीति\* ॥ प्रकरणोपपदयोः  
सङ्कोचकयोरभावे वृद्धिकर्मणो बृहतेर्निर्ङ्कुशमहत्त्वबोधसामर्थ्याद् देशतः कालतो वस्तुतश्चानव-  
च्छेदेन सिद्धो नित्यः ; नित्यपदस्यावच्छेदत्रयशून्यतापरत्वात्, दोषभूयिष्ठे गुणहीने लोकेऽल्पताबुद्धि-  
दर्शनादशुद्धत्वम्, ब्रह्मणि तु दोषदवीयस्त्वाच्छुद्धत्वम् । अत एव जाड्यरहिततया बुद्धत्वम् । अत  
एवाविद्या-काम-कर्मपारतन्त्र्यरहिततया मुक्तत्वम्, कचिदप्यव्यावृत्तज्ञानशक्तित्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च  
ब्रह्मणः सिध्यति ; अनेवंभूतेऽल्पताबुद्धिदर्शनादिति भावः । तदेवं तत्पदार्थस्य नित्यशुद्धत्वादि-



## पञ्चपादिका

\*ननु\* एवमपि व्युत्पत्त्यनुसरणेन भवत्येवमात्मके वस्तुनि प्रतीतिः, न पुनरेतावता तस्य सिद्धिः, पदमात्रस्याप्रमाणत्वात्, \*सत्यमेवम्\* ; अत एव जिज्ञासा धर्मस्येव लोकाख्यप्रमाणाभाससिद्धस्य ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

चोदयति—\*ननु एवमपि ॥ \*व्युत्पत्त्यनुसरणेनेति\* ॥ तत्र जिज्ञासापदस्य सन्निहितस्यानिर्णीतजिज्ञास्यवस्तु-  
सापेक्षत्वात्तदपेक्षितार्थसमर्पणस्य ब्रह्मशब्दस्यानिर्णीतप्रतिपन्नवस्तुमालसमर्पणेन वाक्यार्थनिर्णयहेतुत्वं न  
विरुध्यत इति परिहरति—\*सत्यमेवम्, अत एवेति\* ॥ \*सर्वस्यात्मत्वाच्चेति\* भाष्यतात्पर्यार्थमाह—\*इद-  
मपरं ब्रह्मशब्दार्थस्येति\* ॥ \*ननु\* आत्मन्यपि न प्रमाणम्, प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्, प्रामाणिकस्य च द्वि-

## ऋजुविवरणम्

\*नन्वात्मन्यपीति\* ॥ अनेन ब्रह्मवदग्रापि न प्रमाणान्तरमस्ति, अत आत्मत्वेनापि न ब्रह्मप्रसिद्धिरित्युक्तम् ।  
“सर्वो ह्यात्मास्तित्वमि”त्यनेन प्रतीतिस्तावदस्ति ; साऽऽत्मानुभूतिरूपाऽन्या वा भवतु, सर्वथा सिद्धिरस्तीत्युक्तम् ।

## तत्त्वदीपनम्

तदसंगतम् ; अप्रामाणिकस्य वाक्यार्थनिर्णयहेतुत्वायोगादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ \*तत्र=सूत्र इत्यर्थः ।  
तेनापेक्षितस्यार्थस्य समर्पणं येन स तथोक्तः । प्रतिपन्नत्वे सत्यप्रामाणिकत्वापराधेन जिज्ञास्यत्वाददर्शनात् प्रतिपन्नत्व-  
मात्रं जिज्ञास्यत्वप्रयोजकम् ; इतरथा जिज्ञासावैयर्थ्यमित्यर्थः । ब्रह्मप्रतिपत्तौ शब्दानुगमस्यैकस्य हेतोरभिधानादिदमपरं  
कारणमिति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्येदमा पुरोक्तं नोच्यत इत्याह—\*सर्वस्येति\* ॥ सर्वस्य ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः, ब्रह्मणः  
प्रत्यक्स्वरूपत्वादिति भाष्यार्थः ।

आत्मन एवाप्रसिद्धत्वात् कथं तदभेदेन ब्रह्मप्रसिद्ध्युपपादनम् ? इति शङ्कते—\*नन्वात्मनीति\* ॥ प्रत्यक्षाद्य-  
विषयत्वादिति\* ॥ न तावदात्मनि बाह्यप्रत्यक्षं संभवति ; रूपादिविधुरत्वात्, नाप्यर्थान्तरम् ; कर्तृ-कर्मविरोधात्,  
नानुमानम् ; तद्व्यासलिङ्गानिरूपणात्, नाप्यागमः ; विप्रतिपत्तेः, प्राकृताप्रतिपत्तेश्च, नाप्यर्थापत्तिः ; अनुपपत्त्यदर्शनात्,  
उपमानाभावौ तु दूरापास्तावित्यर्थः । अस्तु तर्ह्यप्रामाणिकत्वम् ? तत्राह—\*अप्रामाणिकस्येति\* ॥ अनुभवविरो-

## वार्तिकम्

नुगमेन तत्र विशिष्टशब्दप्रवृत्तिः । लभ्यते चात्रोक्तनिगमेन तादृशोऽर्थः । तथाहि—“बृहि वृद्धौ” इत्यनु-  
शिष्टस्य बृहतेर्वृद्धिकर्मणो मनङ्प्रत्ययान्तस्य ब्रह्मेतिरूपं निष्पन्नम् । तत्र प्रकृति-प्रत्ययाभ्यां विशिष्टशब्द-  
निष्पत्तेः प्रत्ययार्थानुगमाभावेऽपि प्रकृत्यर्थस्य योग्यस्य निरतिशयमहत्त्वस्यानुगमाद् भवति तत्र विशिष्टशब्द-  
प्रवृत्तिरिति । न च—धातोर्ब्रह्ममात्रप्रतीतावपि न निरतिशयमहत्त्वलाभ इति—वाच्यम् ; उपपदादि-  
सङ्कोचकप्रमाणाभावे निरतिशयमहत्त्व एव तदर्थस्य विश्रान्तत्वात्, “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिषु  
ब्राह्मणादिशब्दार्थवत् । एवंच निरतिशयमहत्त्वस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वे सत्यर्थात् तस्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्ता-  
नन्दाद्वितीयस्वभावत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च सिध्यति । नह्यनित्यो निरतिशयमहान् भवति ;  
कालपरिच्छेदात्, नाप्यशुद्धः ; अधर्माद्यशुद्धियोगे लोके महतोऽप्यमहत्त्वव्यपदेशात्, नाप्यबुद्धः ; जडस्य  
परार्थत्वनियतत्वेनामहत्त्वध्रौव्यात्, नाप्यमुक्तः ; अमुक्तस्य परवशत्वे चामहत्त्वात्, नाप्यानन्दः ;  
अनानन्दस्यापुरुषार्थत्वाद् महत्वानुपपत्तेः । अत एव न स द्वितीयः ; वस्तुपरिच्छेदात्, भयसंभवाच्च,  
“द्वितीयाद्वै भयं भवती”त्यादिश्रुतेः । अत एव सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च ; असर्वज्ञस्यासर्वकर्तुश्च निरतिशय-  
महत्वानुपपत्तेः, कुण्डज्ञानेच्छाशक्तित्वादिति ॥ तस्मादुपपन्नं ब्रह्मपदेन प्रकृताधिकारिजिज्ञासाविषया-

## प्रदीपः

दिरूपं लभ्यत इत्याह—\*नित्य-शुद्धेत्यादिना—बृहतेर्धातोरर्थानुगमादित्यन्तेन\* ॥ तथाच न केवलं तत्पदार्थशोधकवाक्यैस्तदेक-  
देशब्रह्मादिपदमालेण च ब्रह्मप्रसिद्धिः, किन्तु त्वंपदार्थशोधकवाक्यैः, तदेकदेशात्मादिपदमालेणापि जिज्ञास्यब्रह्मप्रसिद्धिरित्याह—



**सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति ।**

भामती

शुद्धत्वादेः प्रसिद्धिमभिधाय त्वंपदार्थस्याप्याह—\*सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः\* ॥ \*सर्वस्य = पांसुलपादकस्य हालिकस्यापि ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः, कुतः ? आत्मत्वात् । एतदेव स्पष्टयति—\*सर्वो हीति\* ॥ प्रतीतिमेवाप्रतीतिनिराकरणेन द्रढयति—\*न नेति\* ॥ न न प्रत्येत्यहमस्मीति, किन्तु प्रत्येत्येवेति योजना । \*ननु\* अहमस्मीति च ज्ञास्यति, मा च ज्ञासीदात्मानमित्यत आह—

ऋजुप्रकाशिका

भाष्यं व्याचष्टे—\*सर्वस्य पांसुलपादकस्येति\* ॥ “नाहमस्मीति प्रतीयात्” इति भाष्यं व्यत्यासेन योजयति—\*अहमस्मीति न प्रतीयादिति\* ॥ एवंचाहमस्मीति च ज्ञास्यति, मा च ज्ञासीदात्मानम्, इत्युक्तशङ्कानिरास-

पञ्चपादिका

इदमपरं ब्रह्मशब्दार्थस्य सिद्धत्वे कारणमुच्यते साध्यत्वसिध्यर्थम्—\*सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धि-रिति\* ॥ तदेव दर्शयति—\*सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

चन्द्रादिवदवस्तुत्वादिति, तत्राह—\*सर्वो ह्यात्मास्तित्वमिति\* ॥ \*ननु\* शून्य एवायमात्मा प्रतिभासते,

तत्त्वदीपनम्

धान्नात्मापलापो युक्त इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ सर्वो लोक आत्मास्तित्वं प्रत्येति । प्रत्ययमेवाह—\*न नाहमिति\* ॥ ‘अहं नास्मी’ति न प्रत्येति, किं त्वहमस्मीति प्रत्येतीत्यर्थः ॥ अनुभवोऽन्यथासिद्ध इति शङ्कते—\*ननु शून्य इति\* ॥ योऽयमात्मा प्रतिभासते, स शून्य एवेति संबन्धः । किमात्मनः शून्यत्वमनुभवबलात् ? उत

वार्तिकम्

भिधानम् । तथाचोपपद्यते ब्रह्मपदेन तत्प्रसिद्धिरिति । \*एतेन\*—सूत्रमूलश्रुतितोऽधिकारिणोऽध्ययन-काल एवानयैव दिशा ब्रह्मप्रसिद्धिरुक्ता भवतीति—\*द्रष्टव्यम्\* ॥ एवं श्रौतीं प्रसिद्धिं ब्रह्मणि प्रदर्श्यानु-भवप्रसिद्धिं दर्शयति—\*सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिरिति\* ॥ चकारो “बृहतेर्धातोर्धानुगमा-दि”ति श्रौतप्रसिद्धिप्रतिपादकोक्तहेतुं समुच्चिनोत्यनुभवप्रसिद्धिदार्ढ्याय ; अन्यथा तदनपेक्षणे सर्वात्मत्व-मेवास्य न सिध्येत्, दूरत एव तत्त्वेनानुभवप्रसिद्धिरिति । \*ननु\*—भवतु नाम सर्वस्यात्मा ब्रह्म, तथाऽपि नानुभवात् तदस्तित्वसिद्धिः ; आत्मन एवासत्त्वात्, सुषुप्तावभावशेषस्य जगतो दृष्टत्वात्,

भाष्यभावप्रकाशिका

रूपेण प्रसिद्धिमभिधाय त्वंपदार्थरूपेणाप्यस्य प्रसिद्धिमाह—\*सर्वस्यात्मत्वाच्चेति\* ॥ \*ननु\* आत्माऽपि न प्रसिद्धः ; प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*सर्वो हीति\* ॥ उक्तमेवार्थमात्मनोऽप्रतीतिनिरा-करणेन द्रढयति—\*न नेति\* ॥ न न जानात्यहमस्मीति, किन्तु जानात्येवेति योजना ॥ \*ननु\*

प्रदीपः

\*सर्वस्यात्मत्वाच्चेति\* ॥ जिज्ञास्यं हि ब्रह्म क्वचित् त्वंपदार्थात्मस्वरूपबोधकात्मादिपदैरपि विज्ञायते, यत आत्मपदमपि तु ब्रह्मपद-मिव निरतिशयमहत्त्वरूपव्यापकत्वार्थकमेव, इति तादृशमेव ब्रह्म प्रसिद्धमेव वेदान्तेभ्यः प्रागपि ब्रह्ममीमांसायाः । त्वंपदार्थोऽप्या-त्मा “तत्त्वमसी”त्येव, न सर्वथाऽप्रसिद्धत्वमिति भावः । त्वंपदार्थो हि न केवलं वेदान्तेभ्यः, किन्तु सर्वानुभवसिद्धत्वादपि प्रसिद्ध इत्यभिप्रायेणाह—\*सर्वो हीति\* ॥ \*आत्मास्तित्वम्\*—आत्मस्वरूपास्तित्वम् । अहमस्मीति न प्रत्येति—जानात्येव । हिशब्दस्याव-धारणार्थस्य जानातिनाऽन्वयः । ‘जानात्येवे’त्यवधारणसूचितं प्रत्ययाभावनिषेधमनुवदति—\*न नाहमस्मीति\* ॥ अहमस्मीति



यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति  
प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म ।

भामती

\*यदीति\* ॥ अहमस्मीति न प्रतीयात्\* ॥ अहंकारास्पदं जीवात्मानं चेद् न प्रतीयात्, अह-  
मिति न प्रतीयादित्यर्थः । \*ननु\* प्रत्येतु सर्वो जन आत्मानमहंकारास्पदम्, ब्रह्मणि तु किमायात-  
मिति ? अत आह—\*आत्मा च ब्रह्म\* ॥ तदस्त्वमा सामानाधिकरण्यात् । तस्मात् तत्पदार्थस्य शुद्ध-  
बुद्धत्वादेः शब्दतः, त्वंपदार्थस्य च जीवात्मनः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः, पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाच्च वाक्यार्थ-

ऋजुप्रकाशिका

मर्थत आह—\*अहंकारास्पदं जीवात्मानमिति\* ॥ आत्मनो ब्रह्मत्वे हेतुमाह—\*तद इति\* । तत्पदस्य  
त्वंपदेन सामानाधिकरण्यादित्यर्थः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः शाब्दसामानाधिकरण्य-  
मित्यभ्युपगमाद् आत्मन एव ब्रह्मत्वमित्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*उपपद्यत इति\* ॥ तथा-

पञ्चपादिका

\*यदि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्मेति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

कथमात्मास्तित्वप्रसिद्धिः ? इति शून्यवादमाशङ्क्याह—\*यदि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यादिति\* ॥ \*ननु\* आत्म-  
पदार्थे प्रत्यक्षावगते कथं ब्रह्मपदार्थस्य प्रसिद्धिरिति ? अत आह—\*आत्मा च ब्रह्मेति\* ॥ \*ननु\* अनादिवृद्ध-

ऋजुविवरणम्

\*नन्वात्मपदार्थे प्रत्यक्षावगत इति\* ॥ अत्रानुवादमुखेन व्यक्तं प्रमाणमुक्तम् ; विषयत्वञ्च प्रत्यभिज्ञाग्रन्थ इति । “आत्मा  
च ब्रह्मे”त्यनेनैतदुक्तम्—आत्मन एवात्र जिज्ञास्यत्वं विवक्षितम्, अतस्तस्यैव प्रसिद्धिरुच्यत इति ॥

तत्त्वदीपनम्

प्रमाणान्तरात् ? नाद्यः ; तथाऽननुभवात्, नापि द्वितीयः ; तदनिरूपणादिति समाध्यभिप्रायः । आत्म-  
प्रसिद्धावपि न ब्रह्म सिध्येत्, न खलु कलशप्रसिद्ध्याऽऽकाशप्रसिद्धिर्दृष्टेति शङ्कते—\*नन्वात्मेति\* ॥

आकाश-कलशयोर्भेदादेकप्रतिपत्तावन्यासंप्रतिपत्तिरपि घटते, अत्र तु तद्वैपरीत्यमित्याह—\*अत आहृति\* ॥  
ब्रह्माऽऽत्मनोरभेदमाक्षिपति—\*नन्वनादीति\* ॥ ब्रह्मात्मनोरभेद आत्मन्यपि ब्रह्मशब्दः स्यात्, नच तथा लोके

वार्तिकम्

पुनर्जागरे तत एव समुद्भवात् । अतोऽसत् पव ध्रौव्येणात्मत्वान्न तदस्तित्वमनुभवितुं शक्यत इत्याशङ्क्य,  
असद्वादिनः सर्वानुभवविरुद्धवादित्वात् तेनैव स निराकृत इत्याह—\*सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न  
नाहमस्मीतीति\* ॥ यस्मादहमस्मीति सर्वो लोक आत्मनोऽस्तित्वमेव सर्वदा प्रत्येति, न नाहमस्मीति  
कदाचिदपि तदस्तित्वाभावम्, अतः सर्वानुभवविरुद्धवादित्वादुपेक्षणीयोऽयं शून्यपिशाचगृहीतः

भाष्यभावप्रकाशिका

शून्य एवात्मा प्रतिभासते, न तस्यास्तित्वमिति शून्यवादमाशङ्क्याह—\*यदीति\* ॥ \*नाहमस्मीति\* ॥

अहमस्मीति न प्रतीयादित्यर्थः । भवतु, तथाऽपि ब्रह्मणः कथं सिद्धिरिति ? अत आह—\*आत्मा चेति\* ॥

एवं तर्हि प्रत्यक्षगोचरत्वादात्मनः शास्त्रैकसमाधिगम्यताऽभावाच्छास्त्रविषयत्वं न स्यादित्याक्षिपति—

प्रदीपः

न प्रत्येतीति न । एवकारस्य धात्वर्थेन योगे ह्ययोगव्यवच्छेद एव प्रतीयते, प्रतीतमेव प्रत्ययायोगं शब्दतोऽपि व्यवच्छिन्नतीति



यदि तर्हि लोके ब्रह्माऽऽत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम् ।

भामती

ज्ञानस्य, त्वंपदार्थस्य ब्रह्मभावावगमः—“तत्त्वमसि” इति वाक्यादुपपद्यत इति भावः ॥

आक्षेपा प्रथमपक्षाश्रयं दोषमाह—\*यदि तर्हि लोक इति\*॥ अध्यापकाध्येतृपरम्परा लोकः । तत्र “तत्त्वमसि” इति वाक्याद् यदि ब्रह्माऽऽत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति । आत्मा ब्रह्मत्वेनेति वक्तव्ये “ब्रह्माऽऽत्मत्वेन” इत्यभेदविवक्षया गमयितव्यम् ॥

ऋजुप्रकाशिका

चात्मनो ब्रह्मताऽवगमसंभवादप्रसिध्यभावेन ब्रह्मजिज्ञासोपपद्यत इति द्रष्टव्यम् । \*प्रथमपक्षाश्रयमिति\* ॥ प्रसिद्धत्वपक्षाश्रयमजिज्ञास्यत्वदोषमित्यर्थः । \*ननु\* पामराणामपि लोकत्वात् तेषां “तत् त्वमसि” इत्यादि-वाक्याध्ययनाभावात् कथं पामरलोके “तत् त्वमसि” इत्यादिवाक्यतो ब्रह्मत्वप्रसिद्धिः ? इत्याशङ्क्य लोकशब्दार्थ-माह—\*अध्यापकेति\* ॥ “अस्ती”त्यनन्तरम्—“अजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नमि”ति भाष्यस्थं वाक्यं योजनीयम् । \*ननु\* “त्वं तदसि” इति वाक्ययोजनाद् आत्मा ब्रह्मत्वेन प्रसिद्धोऽस्तीति वक्तव्ये ब्रह्माऽऽत्मत्वेन प्रसिद्धोऽस्तीति कथमुक्तम् ? तत्राह—\*आत्मेति\* ॥

पञ्चपादिका

कथं पुनरात्मा ब्रह्म ? वेदान्तेष्व्वात्मनि ब्रह्मशब्दप्रयोगात् । आत्मानमेव च लोकः—अहमिति व्यपदिशति । तदेवमहंप्रत्यय एव ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वाद् नाप्रसिद्धिशङ्का ॥

\*यदि तर्हि लोके ब्रह्माऽऽत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नमिति\* विषय-

पञ्चपादिकाविवरणम्

व्यवहारे ब्रह्मशब्दस्यात्मनि प्रयोगादर्शनात् कथं ब्रह्मशब्देनात्मा जिज्ञास्यत्वेनोपादीयते ? इति चोदयति—\*कथं पुनरात्मा ब्रह्मेति\* ॥ लौकिकप्रयोगाभावेऽपि वैदिकप्रयोगसामर्थ्यात् “स वा अयमात्मा ब्रह्मे”त्यादौ ब्रह्म-शब्देनात्मा जिज्ञास्यत्वेनोपादीयत इति परिहरति—\*वेदान्तेष्विति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मशब्दाभिधेयोऽयमात्मा नाहंप्रत्ययवेद्यः, किंत्वागमैकसमधिगम्य इति, नेत्याह—\*आत्मानमेवेति\* ॥ ततश्च प्रतिपन्नमुद्दिश्य विचार-सम्भवाच्छक्यप्रतिपाद्यता सिद्धेत्याह—\*तदेवमहंप्रत्यय एवेति\* ॥ \*ननु\*—वेदान्तेषु सञ्ज्ञापरतया

ऋजुविवरणम्

ब्रह्मत्वरूपनिर्णयविवक्षयेति\* ॥ एतदुक्तं भवति—जीवस्यैव निर्ज रूपं ब्रह्म, नतु व्यतिरिक्तम् ; तन्निर्णयाय प्रसिद्ध-

तत्त्वदीपनम्

दृश्यत इत्यर्थः । आहवनीयापूर्वादेर्लौकसिद्धत्वेऽपि त्रय्यनुरोधाद् यथोपगमः, तद्वदित्याह—\*लौकिकेति\* ॥ ब्रह्मात्मनोरभेदादात्मप्रसिद्धया ब्रह्मप्रसिद्धिरित्युक्तम्, तत्र वक्तव्यम्—किमशनायादिमदात्मप्रसिद्ध्या ब्रह्मप्रसिद्धिः ? उत विलक्षणात्मप्रसिद्ध्या ? नाद्यः ; तयोर्भिन्नत्वात् तत्प्रसिद्धब्रह्मप्रसिद्धत्वासंभवादित्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ अशनायाद्यतीतस्याननुभवाद् विपरीतस्य चानुभवादित्यर्थः । विलक्षणस्याहंप्रत्ययावेद्यत्वे कुतः सिद्धिः ? इति शङ्कते—\*किंत्विति\* । “योऽशनाया-पिपासे” इत्याद्यागमादित्याह—\*आगमेति\* ॥ ततश्च लोक आत्मनः प्रतिद्धत्वात् तदभेदेन ब्रह्मप्रसिद्धिरित्युपक्रमक्षतिरिति चोदयितुरभिमानः । अशनायादिरहित एव आत्मा कल्पनया तद्विपरीततयाऽवभासते, ततश्चात्मप्रसिद्ध्या ब्रह्मप्रसिद्धिरित्युक्तं युक्तमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ “तदेवमि”ति टीकायामपेक्षितं पूरयति—\*ततश्चेति\* ॥ ब्रह्मशब्दव्युत्पत्त्या, आत्मप्रसिद्ध्या च ब्रह्मप्रसिद्धिरित्येतत् “ततः” इत्यनेन परा-दृश्यते । लोक आत्मनि ब्रह्मशब्दप्रयोगाभावेऽपि “स वा अयमात्मा ब्रह्मे”त्यादावात्मनि ब्रह्मशब्द इत्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु वेदान्तेष्विति\* ॥ ह्रस्व-करशब्दयोरिवैकसंज्ञात्वं आत्मा ब्रह्मेति सहप्रयोगानुपपत्तिः ; तस्मान्न



## न ; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः ।

भामती

परिहरति ; \*न\* कुतः ? तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः\* ॥ तदनेन विप्रतिपत्तिः साधक-

ऋजुप्रकाशिका

\*ननु\* “तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेरित्येतत् कथं परिहारः ? संशयस्यैव जिज्ञास्यत्वोपपादकत्वेन विप्रतिपत्तेरुत्पत्त्यात्, तत्राह—\*तदनेनेति\* ॥ विप्रतिपत्तेः संशयबीजत्वेन प्रसिद्धत्वादिति भावः ।

पञ्चपादिका

माक्षिपति । असिद्धं हि वस्तु साध्यमानं विषयः, सिद्धं तु न पुनः साध्यते, इति न शास्त्रस्य विषयः ॥

\*न तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः\* इति विषय-सम्बन्धौ समर्थ्येते ।

सत्यमहमित्यात्मनि प्रत्ययः, आत्मा च ब्रह्म, किन्तु तस्मिन्नेव विप्रतिपत्तयः—अयमसौ, अयमसाविति ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

नात्मनि ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते, किंत्वात्मनो ब्रह्मशब्दार्थतादात्म्याभिप्रायेण ; ततश्चातिरिक्तार्थत्वाद् ब्रह्मशब्दे-  
नात्मोपादीयत इत्युक्तम्—इति, \*नैष दोषः\* ; अतिरिक्तब्रह्मस्वरूपनिर्णयविवक्षया प्रसिद्धांशस्य ब्रह्म-  
शब्देनोपादानात्, एकस्मिन्नप्यर्थे विभ्वप्रतिविम्बादिषु प्रतिभासाप्रतिभासोपपत्तेः ॥

एवं तर्हि प्रत्यक्षगोचरतयाऽनन्यसाधारणत्वाभावाद् विषयत्वं न सिध्यतीत्याक्षिपति—\*यदि तर्हि लोके

ऋजुविवरणम्

\*ननु ब्रह्मशब्दाभिधेय इति\* ॥ अनेनाहंप्रत्ययवेद्यत्वाभावेनाप्रसिद्धत्वेनाविचार्यत्वमित्युक्तम् । \*अतिरिक्त-  
रूपोद्देशात् । \*ननु\*—एकस्मिन् वस्तुनि कथं प्रतिभासाप्रतिभाससंभवः ? तत्राह—\*एकस्मिन्नप्यर्थ इति\* ॥ “यदि  
तर्हि लोके” इत्यनेन प्रसिद्धत्वे जिज्ञास्यत्वं नास्तीत्युक्तम्, तद्युक्तम् ; निगमादिप्रसिद्धे जिज्ञास्यत्वमित्युक्तं पूर्वम्,  
तद्वदुपपत्तेरित्याशङ्क्यावतारयति—\*एवं तर्हि प्रत्यक्षगोचरतयेति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

संज्ञापरत्वमित्यर्थः । कथं तर्हि सामानाधिकरण्यम् ? इति पृच्छति—\*किंत्विति\* ॥ अभेदस्यापि भावादित्याह—  
\*आत्मन इति\* ॥ फलितं दर्शयति—\*तत इति\* ॥ ब्रह्मात्मनोर्वस्तुत एकेऽपि काल्पनिकभेदसंभवात् तन्निरासाय  
शब्दद्वयप्रयोगः । यथा ‘सोऽयं देवदत्तः’ इत्यत्र देवदत्तस्वरूपैकेऽपि कल्पितभेदनिराचिकीर्षया शब्दद्वयप्रयोगः, तथाऽत्रा-  
पीत्याह—\*नैष इति\* ॥ \*अतिरिक्तेति\* ॥ अतिरिक्तत्वेन भासमानं यद् ब्रह्म, तस्य प्रत्यक्त्वेन निर्णयविवक्षयेत्यर्थः ।  
विमतौ, वस्तुतो भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहन-तुहिनवदित्याशङ्क्य, व्यभिचारान्मैवमित्याह—\*एकस्मिन्नपीति\* ॥  
ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वे शक्यप्रतिपाद्यत्वसंभवात् कथमजिज्ञास्यत्वमुक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*एवं तर्हि\* ॥ अनेनैव

भाष्यभावप्रकाशिका

\*यदीति\* ॥ समाधत्ते—\*न तद्विशेषमिति\* ॥ यद्यप्यहमित्यात्मा सिद्धः ; तथाऽपि तद्विशेषेषु  
विप्रतिपत्तेः, तस्याश्च वस्तुतो ब्रह्मविषयत्वात्, सामान्यतः प्रसिद्धत्वेऽपि विशेषतोऽसिद्धत्वात्,  
विशेषसिद्धिहेतोः शास्त्रस्य भवति विषयः । सामान्यतः सिद्धत्वाच्च शक्यते विशेषतः प्रतिपादयितु-

प्रदीपः

भावः । अत्र प्रथमवाक्येऽहमस्मीत्यस्यानुषङ्गः, द्वितीयवाक्ये तु द्वितीयनशब्दान्तरं प्रत्येतीलस्यानुषङ्गः । अहमस्मीति  
प्रत्ययाकारस्यैव निर्देशः । कर्ता तु वाक्यद्वयेऽपि सर्व एव । तथाच—“सर्वो लोकोऽहमस्मी”त्यात्मास्तित्वं प्रत्येत्येव,  
अहमस्मीति न प्रत्येतीति नेति विशिष्टवाक्यार्थः । अनेन च सर्वेषामहमस्मीति प्रतीत्यनुभवद्वाराऽत्मा सर्वदा सर्वेषां  
प्रलक्षसिद्ध इति नात्माप्रसिद्धिः । अस्यैवात्मनो ब्रह्मरूपत्वान्न वा ब्रह्मणोऽप्यप्रसिद्धिरिति तु निष्कर्षः । अत्र प्रथम-  
वाक्येन ‘अहमस्मीति प्रत्येत्येवे’ति याऽऽत्मप्रसिद्धिरुक्ता, तस्या एवोपपादनार्थमाह—\*यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिरिति\* ॥



## भामती

बाधकप्रमाणाभावे सति संशयबीजमुक्तम् । ततश्च संशयाद् जिज्ञासोपपद्यत इति भावः । विवादाधिकरणं धर्मी सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धोऽभ्युपेयः ; अन्यथाऽनाश्रया मित्राश्रया वा विप्रतिपत्तयो न स्युः । विरुद्धा हि प्रतिपत्तयो विप्रतिपत्तयः । नचानाश्रयाः प्रतिपत्तयो भवन्ति ; अनालम्बनत्वापत्तेः । नच मित्राश्रया विरुद्धाः । न ह्यनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति प्रतिपत्तिविप्रतिपत्ती । तस्मात्तत्पदार्थस्य शुद्धत्वादेर्वेदान्तेभ्यः प्रतीतिः, त्वंपदार्थस्य च जीवात्मनो लोकतः सिद्धिः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।

## ऋजुप्रकाशिका

विशेषे विप्रतिपत्तिं स्पष्टयितुं धर्मिण्यविवादं दर्शयति—\*विवादेति\* ॥ सर्वेषां विप्रतिपन्नानां मत एको विवादाधिष्ठानभूतो धर्म्यवश्यमभ्युपेय इत्यर्थः । \*ननु\* एकः किमर्थमभ्युपेयः ? अनाश्रया वा मित्रमित्राश्रया वा विप्रतिपत्तयो भवन्तु, को दोष इति ? अत आह—\*अन्यथेति\* ॥ एकमधिकरणं विनेत्यर्थः । कुतो न स्युरित्याशङ्क्य, विप्रतिपत्तिलक्षणाभावादनाश्रया वा मित्रमित्राश्रया वा विप्रतिपत्तयो न भवन्तीति वक्तुं विप्रतिपत्तिलक्षणमाह—\*विरुद्धा हीति\* ॥ एवंच सति तत्र तल्लक्षणाभावमाह—\*नचानाश्रया इत्यादिना\* ॥ विरुद्धप्रतिपत्तित्वाभावाद् मित्राश्रया विप्रतिपत्तिर्न भवतीत्येतद् दर्शयति—\*नहीति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*वेदान्तेभ्यः प्रतीतिरिति\* ॥ तथाच तद्विशेषे विप्रतिपत्तावपि तत्पदार्थत्वेन सामान्यतः सर्वाविप्रतिपन्नः कश्चिद् विवादधर्म्यस्तीति भावः । \*सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति\* ॥ तद्विशेषे विप्रतिपत्तावपि त्वंपदार्थत्वेन सामान्यतः सर्वाविप्रतिपन्नोऽहंप्रतीतिविषयः कश्चिद् विवादधर्म्यस्तीति भावः । उक्तविधया धर्मिणि विप्रतिपत्त्यभावात् तद्विशेषेषु विप्रतिपत्तयः

## पञ्चपादिकाविवरणम्

ब्रह्मात्मत्वेनेति\* ॥ समाधत्ते—\*न ; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेरिति\* ॥ भाष्यार्थं विवृणोति—\*सत्यम् ; अहमित्यात्मनि प्रत्यय इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* अन्यस्मिन् विप्रतिपन्ने कथमन्यन्निर्णीयत इति ? तदाह—\*ताश्च वस्तुत इति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

\*ननु—अन्यस्मिन्निति\* ॥ आत्मनि विप्रतिपन्ने तन्निर्णयो युक्तः, नतु ब्रह्मनिर्णय इति चोद्यामिप्रायः ।

## तत्त्वदीपनम्

प्रतिपाद्यत्वं विषयत्वं च न ब्रह्मणि, अन्यतः सिद्धत्वादित्यर्थः । \*प्रतिपन्नेऽपि विप्रतिपत्त्यनुपपत्तेरप्रतिपन्नत्वं\*, ततश्चाविचार्यत्वेन समाध्याभासत्वमित्याशङ्क्याह—\*समाधत्त इति\* ॥ सामान्यप्रतिपत्तेर्विशेषप्रतिपत्त्यविरोधित्वाद् विप्रतिपत्त्युपपत्तिरित्यर्थः ॥ आत्मनो विषयत्वाक्षेपे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनेन विषयत्वमुपपादनीयं टीकाकृता, “आत्मनोऽपी”त्यभिधानं तु भाष्यानुसारीत्याशङ्क्याह—\*भाष्यार्थमिति\* ॥ विप्रतिपत्त्युपपिपादयिषया प्रतीतिमात्रं भाष्यकृतोऽभिप्रेतम्, तत्प्रदर्श्यते टीकाकृतेति न विरोध इत्यर्थः । “द्वा सुपर्णे”त्यादिना भेदस्योपलब्धेरात्मविप्रतिपत्तिदर्शनस्य ब्रह्मजिज्ञासानुपयोगित्वं शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अनन्यथासिद्धश्रुत्येतरविरोधाद् “द्वा सुपर्णे”त्यादेर्न वास्तवभेदप्रतिपादकत्वम्, किंतु काल्पनिकभेदानुवादित्वम् ; ततश्च विप्रतिपत्तिरिति परिहरति—\*तदाहेति\* ॥

## वार्तिकम्

परलोकार्थमिरित्यर्थः । अनुभवविरोधमेव व्यतिरेकमुखेन स्पष्टीकृत्य दर्शयति—\*यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयादिति\* ॥ यद्वा—“सर्वो ही”त्यादिभाष्येण परं प्रति प्रयोगः सूचितः । तथाहि—आत्मा, सन् भवितुमर्हति, अस्तीति सर्वजनीनाबाधितप्रतीतिविषयत्वात्, यन्नैवम्, तन्नैवम् ; यथा परकल्पितो भाव इति । विपक्षे दण्डमाह—\*यदि हीत्यादिना\* ॥ सिध्यता-



## पञ्चपादिका

ताश्च वस्तुतो ब्रह्मपदार्थविषया एव ; तदेकार्थत्वाद् ब्रह्मशब्दस्य । ततः सामान्यतः प्रसिद्धमपि विशेषतोऽसिद्धेः सिद्धकल्पमेव, इति भवत्यस्य विशेषसिद्धिहेतोर्विषयः ; सामान्यतः सिद्धत्वाच्च शक्यते विशेषतः प्रतिपादयितुम्, इति भवति तस्य शास्त्रं साधनम्, इति सम्बन्धोऽपि समर्थितः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* प्रसिद्धे पदार्थे कथं विप्रतिपत्तिरिति ? तदाह—\*ततः सामान्यतः प्रसिद्धमपीति\* ॥  
 \*ननु\* अप्रतिपन्नविशेषं वस्तु स्वयमप्रतिपन्नमेवेति कथमुद्दिश्यविधानाभावे शक्यप्रतिपाद्यतेति ? तत्राह—  
 \*सामान्यतः सिद्धत्वाच्च शक्यत इति\* ॥ \*ननु\* नास्ति ब्रह्मणि सामान्य-विशेषभावः, \*सत्यम्\* ;

## ऋजुविवरणम्

\*नन्वप्रतिपन्नविशेषमिति\* ॥ अनेन साधारणाकारस्य पदार्थान्तरेष्वपि भावान्न तत्स्वरूपम्, नापि प्रतिपाद्यम् ; विशेषरूपस्य प्रतिपाद्यस्याप्रतिपन्नत्वान्न तेन संबन्धः, तदभावे न प्रतिपाद्यत इत्युक्तम् ॥

\*सामान्यतस्सिद्धत्वाच्चेति\* ॥ अनेनैतदुक्तम्—सामान्यतस्सिद्धे वस्तुनि संबन्धज्ञानं सर्वत्र, ननु विशेषतस्सिद्धे प्रतिपादनम् ; वैयर्थ्यात्, विषयत्वाभावाच्चेति । विशेषतस्सिद्धेऽपि जिज्ञास्यत्वमस्ति ; धर्मादौ—प्रतीत्यभावात्, सोऽपि प्रकारः पूर्वमुक्तो निगमादिप्रसिद्धिदर्शनेन । \*ननु नास्तीति\* ॥ एतदुक्तं भवति—सामान्य-विशेषवति वस्तुनि प्रसिध्यप्रसिद्धी, ननु निर्विशेषे ब्रह्मणि, विप्रतिपत्तिश्च न संभवति ; तदभावे न विचार इति । परागव्यावृत्तः प्रत्यग्धर्मः, तेनानुगमस्तद्धर्मयुक्ता । अथवा—परागव्यावृत्तः प्रत्यग्धर्मश्चेति विग्रहः ।

## तत्त्वदीपनम्

सामान्य-विशेषयोरभेदात् सामान्यप्रतिपत्तौ विशेषोऽपि प्रतिपन्न इत्यजिज्ञास्यत्वमिति शङ्कते—\*ननु प्रसिद्ध इति\* ॥ अभेदोऽसिद्ध इत्याह—\*तदाहेति\* ॥ विशेष-सामान्ययोर्भेदे विशेषप्रतिपत्तौ न सामान्यप्रतिपत्तिः 'विशेषे न सामान्यमिति' न्यायादिति शङ्कते—\*नन्वप्रतिपन्नेति\* ॥ विशेषानवगतावपि सामान्यावगतिरनुभूयते, इतरथा भवन्मते न विचारसिद्धिरित्यभिप्रायेणाह—\*तत्राहेति\* ॥ ऐकरस्यविरोधान्न सामान्यप्रतिपत्ति-विशेषाप्रतिपत्तिसंभव इति शङ्कते—\*ननु नास्तीति\* ॥ किं वस्तुतोऽसंभवः ? उत कल्पनया ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥

## वार्तिकम्

दात्मास्तित्वम्, ब्रह्मणः किमायातम् ? अत आह—\*आत्मा च ब्रह्मेति\* ॥ वस्तुगत्येति शेषः । चोऽवधारणार्थः । श्रुति-स्मृति-विद्वदनुभवसिद्धत्वाद् ब्रह्मत्वस्येत्याशयः । अत एव ब्रह्मणो वस्तुगत्या सर्वा-प्रदीपः

नशब्दस्य "प्रतीयादि"त्यनेन सम्बन्धः । एवमुत्तरवाक्येऽपि "नाहमस्मी"ति वाक्यगतनशब्दस्य प्रत्येतील्यनेन सम्बन्धः । तथाचाहमस्मीति प्रत्ययाभावापत्त्या नात्माऽप्रसिद्धिरिति भावः । आत्मास्तित्वप्रसिद्धभावेऽहमस्मीति प्रत्ययाभाव आपद्येतेति विशिष्टवाक्यार्थः । \*ननु\*—भवतु नामात्मप्रसिद्धिः, ब्रह्मप्रसिद्धौ किमायातमिति ? अत आह—\*आत्मा चेति\* ॥ एतावता पूर्वपक्षिणां प्रथमविकल्पं स्वाभिमतमुपपाद्य विचारवैयर्थ्यं पूर्वपक्ष्यापादितं परिहरिष्यन् तद्वैयर्थ्यदूषणमनूद्य निषेधति—\*यदि तर्हीति । नेति च ॥ \*लोके ब्रह्माऽऽत्मत्वेन प्रसिद्धम्\*—आत्मत्वेन हेतुना ब्रह्म प्रसिद्धं यदि, इति योजना । यथाश्रुते लोके ब्रह्मण आत्मत्वेन प्रसिध्यभावान्नोपपत्तिः । यदि लोकशब्देनाध्यापकाध्येतुपरम्परा गृह्यते, तर्हि वेदान्ताध्ययनकालिकं ब्रह्मण आत्मत्वेन ज्ञानमादाय यथाश्रुतयोजनापि साध्वी । लोकतो वेदान्ततत्त्वात्मप्रसिद्धावपि नासन्दिग्धब्रह्मप्रसिद्धिः, प्राग्ब्रह्मामीमांसात इति सूत्रयन् संशयकारणं विप्रतिपत्तिं प्रदर्शयति—\*तद्विशेषमिति\* ॥ \*विप्रतिपत्तेः\* = विरुद्धप्रतिपत्तेः । अन्यथाऽन्यथा बहुभिरात्मस्वरूपं ज्ञातमिति त्वंपदार्थशोधकवाक्यैरपि न ब्रह्मनिर्णयः । तत्पदार्थस्यापि कारणस्य ब्रह्मणोऽन्यथाऽन्यथा दार्शनिकैः स्वीकारेण तदनुगुणवेदान्तवाक्यानां योजनात्, तत्पदार्थशोधकैरपि न ब्रह्मनिर्णयः सम्भवति, इति ब्रह्मविचारं आवश्यकः ; ब्रह्मणो विषयत्वसंभवादिति भावः । प्रसिद्धिपक्षानुवादावसरे तत्पदार्थशोधकवाक्यैर्ब्रह्मप्रसिद्धिपक्षस्य प्रथमत उपादानेऽप्यन्तिमस्य त्वंपदार्थशोधकवाक्यादितो ब्रह्मप्रसिद्धिपक्षस्यैव बुद्धिसन्निहितत्वात् त्वंपदार्थविप्रतिपत्तीः प्रथमतो



देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः ।

भामती

तदाभासत्वानाभासत्व-तत्तद्विशेषेषु परमत्र विप्रतिपत्तयः । तस्मात्सामान्यतः प्रसिद्धे धर्मिणि विशेषतोविप्रतिपत्तौ युक्तस्तद्विशेषेषु संशयः ॥ तत्र त्वंपदार्थे तावद्विप्रतिपत्तीर्दर्शयति—\*देहमात्रम्\* इत्यादिना—

ऋजुप्रकाशिका

इत्याह—\*तदाभासत्वेत्यादिना\* ॥ प्रतीतिस्तच्छब्दार्थः । तत्पदार्थस्य ब्रह्मणस्त्वंपदार्थेन जीवेन सह “तत् त्वमसि” इत्यादिमहावाक्यादभेदप्रतीतौ सत्यां तत्प्रतीत्याभासत्वानाभासत्वे, तत्पदार्थे त्वंपदार्था-भिन्नत्व-भिन्नत्वे, अहंप्रतीतिविषयस्य त्वंपदार्थस्य देहेन्द्रियाद्यनतिरिक्तत्वे विप्रतिपत्तयः, इत्येवं क्रमेण तत्तद्विशेषेषु विप्रतिपत्तय इत्यर्थः । एवं संशयबीजभूतविप्रतिपत्तिसंभवे जिज्ञास्यत्वोपपादकः संशयोऽस्त्ये-वेत्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

तत्रादौ भाष्यकार एव त्वंपदार्थे विप्रतिपत्तिप्रभेदं स्वयं दर्शयतीत्याह—\*त्वंपदार्थ इति\* ॥ \*तत्र = “तत्

पञ्चपादिका

विप्रतिपत्तिं दर्शयति—\*देहमात्रमित्यादि\* ॥ तद्यथा गोशब्दस्य व्यक्त्याकृति-जाति-क्रिया-गुण-

पञ्चपादिकाविवरणम्

शरीरेन्द्रिय-मनो-बुद्धि-शून्य-कर्तृ-भोक्तृ-सर्वज्ञ-ब्रह्मात्मनां परागव्यावृत्तप्रत्यग्धर्मानुगमेन सिद्धिः सामान्यम्, तत्र प्रत्यग्धर्मानुगमेन सिध्यन् विशुद्धस्वरूपोऽपि सामान्यतः सिद्ध इत्युच्यते । ततः प्रत्यक्त्वानुरक्तविशेषान्तरैर्विप्रति-पद्यते । तत्र विशेषान्तरानुरागविरोधिनाऽसाधारणस्वरूपेण निर्णयत इति । कथं विप्रतिपत्तिः ? तां दर्शयति—\*देहमात्रमित्यादिना\* ॥ कथं पुनः प्रत्यक्षसिद्धपदार्थे जायमानस्य प्रयुज्यमानस्याहंप्रत्ययस्य

तत्त्वदीपनम्

द्वितीयं दृषयति—\*शरीरेति\* ॥ परागव्यावृत्तश्च प्रत्यग्धर्मश्चेति परागव्यावृत्तप्रत्यग्धर्मः, तस्यानुगमेनेति विभागः । धत इति धर्मोऽधिष्ठानम्, अहमिति प्रतीयमानं प्रत्यक्त्वं सामान्यम्, तदुल्लसिततया शरीरादयो भासन्त इत्यर्थः । यथै-कस्मिन् देवदत्ते प्रतियोगिभेदापेक्षं पितृत्वादिकं भासते, तथैकस्यां चित्यात्मत्वेन व्यावर्त्यमानपरागभूतसापेक्षं प्रत्यक्त्वम् । तच्च शरीरेन्द्रियादिसाधारणं प्रथते, शरीरादयस्तु व्यावृत्ताः, इति सामान्य-विशेषभावसिद्धिरित्यर्थः । चितो ब्रह्मस्वभाव-त्वादात्मसिद्धिर्विशेषसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ विद्यमानमपि ब्रह्मणो रूपं नावभासते, इत्यविद्यमानकल्पम्, इतरत्तु भासत इति सामान्यसिद्धिरित्यर्थः ॥

सामान्यसिद्धिमभिधाय विशेषप्रतिपत्तिमाह—\*तत इति\* ॥ शरीरं प्रत्यग् इन्द्रियं चेत्येवमाकारेण विप्रति-पत्तिविषयं ब्रह्मेत्यर्थः । निर्णयप्रकारमाह—\*तत्रेति\* ॥ \*असाधारणस्वरूपेणेति\* ॥ नित्यशुद्धत्वादिस्वरूपेणे-त्यर्थः । विप्रतिपत्तिप्रकारं पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ चक्षुष्मतां स्फीतालोकमध्यस्थकलशदौ विमत्यभाववद् देह-स्यात्मत्वेनानुभूयमानत्वान्न विप्रतिपत्तिरिति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ अनेकार्थसन्निधावहंशब्दस्य प्रयुज्यमानत्वाद्

भाष्यभावप्रकाशिका

मिति संबन्धोऽपि संभवतीति भावः । विप्रतिपत्तिं दर्शयति—\*देहमात्रमित्यादिना\* ॥ मात्रशब्देन देहातिरिक्तं चैतन्यं स्वतन्त्रमन्यविशेषणं वा नास्ति, किन्तु किण्वादिषु मदशक्तिवद्

प्रदीपः

निर्दिशति—\*देहमात्रमिति\* ॥ त्वंपदार्थजीवस्वरूपमेव यदि ब्रह्म, तर्हि चार्वाकैस्तदेकदेशिभिश्च शरीरम् अन्तःकरणम्, इन्द्रि-



## पञ्चपादिका

साक्षाद्यनेकार्थसंनिधौ प्रयुज्यमानस्य कैश्चिज्जातिः, अन्यैर्व्यक्तिः, इत्याद्यभिधेयं प्रतिपन्नम्, एवं सचेतन्य-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तच्छब्दस्य चानेकार्थसाधारण्याशङ्कया विप्रतिपत्तिरिति ? तत्र दृष्टान्तमाह—\*तद्यथा गोशब्दस्येति\* ॥ जातिवैदकैः प्रतिपन्ना, व्यक्तिः सांख्यादिभिः, उभयं वैयाकरणैः, आकृतेरवयवसंस्थानमार्हतादिभिः, त्रितयमपि नैयायिकैः, क्रिया-गुण-संस्थानादयोऽपि यथादर्शनम्, इति यथा गोशब्दप्रयोगे जात्यादीनामन्वय-व्यतिरेकनियमादेकस्यापि व्यभिचाराभावाच्छब्दार्थत्वाशङ्का, तथा शरीरादीनामन्वय-व्यतिरेकनियमादात्मत्वा-शङ्केति भावः ॥

## ऋजुविवरणम्

\*यथादर्शनम्=दर्शनानुसारेण\* वाच्या इत्यर्थः । \*अथवा—यथादर्शनमिति\* ॥ येषां मते यद्वाच्यम्, तद्दर्शनानु-सारेणानुसन्धेयमिति । \*ननु\*—अयुक्तं टीकायामुदाहृतम्, नहि सन्निधिमन्त्रेणानेकार्थत्वशङ्का गोशब्दे संभवति ; सन्निधानस्याकिञ्चित्करत्वात्, अतिप्रसङ्गाच्च ; अतो न तेन दृष्टान्तेन प्रकृतेऽप्यनेकार्थत्वं साधयितुं शक्यमित्या-शङ्क्याभिप्रायमाह—\*यथा गोशब्दस्येति\* ॥ \*ननु\*—देहमारभ्योपन्यासे किं कारणम् ? सर्वेषां निराकरणा-विशेषात्, हेत्वन्तरादर्शनाच्चेत्याशङ्क्याह—\*स्पष्टमूर्ताकारकतयेति\* ॥ “सशिरस्कपिण्डाभिप्रायमि”ति कथमुक्तम् ? शरीरवाचित्वात्, तस्य सर्वावयवरूपसहितत्वात्, तस्य च सशिरस्कत्वनियमाभावात्, सुतरां जातिवाचित्वपक्षे,

## तत्त्वदीपनम्

विप्रतिपत्त्युपपत्तिं सदृष्टान्तमाह—\*तत्रेति\* ॥ आकृतिशब्दार्थमाह—\*यथेत्यादिना\* ॥ देहमारभ्य विप्रतिपत्ति-वार्तिकम्

तत्त्वादित्यथा ब्रह्मत्वासिद्धेरात्मनोऽस्तित्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् सिद्धं लोकानुभवतोऽपि ब्रह्मारितत्व-मिति । तदेवं ब्रह्मण आत्मत्वेन लोकतः प्रसिद्धिरुक्ता, नत्वात्मनो ब्रह्मत्वेन प्रसिद्धिरित्येतद् विपर्ययेण गृहीत्वा पुनर्जिज्ञासामाप्तिपति—यदि हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नमिति\* ॥ \*यद्वा\*—ब्रह्मणो हि सर्वात्मत्वसिद्ध्यर्थं सर्ववेदान्तारम्भः । तच्चेदात्मत्वेन लोके सर्वैः स्वानुभवेनैवावगतम्, किमर्थं पुनस्तदारम्भः ? जिज्ञासाऽभावात् । नच—आत्मत्वेन तद्ग्रहे सत्यपि ब्रह्मत्वेनात्मनोऽग्रहात् तदर्थस्तदारम्भो भविष्यतीति—वाच्यम् ; ब्रह्मण आत्मत्वभान आत्मनो ब्रह्मत्वभानस्याप्यर्थसिद्धत्वादित्याप्तिपति—\*यदि तर्हीत्यादिना\* ॥ सत्यमेवं भवेत्, यद्यात्माऽनात्मभ्यो विविकतया स्वरूपेण सर्वेषां लोके भायात्, नचैवमस्ति ; तथा सति घटवत् तद्विशेषं प्रति वादि-विप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । न हि सर्वेषां विवेकतः सिद्धे घटादिवस्तुनि कश्चिद्विप्रतिपद्यते—एवमयं भवति, न वेति । अस्ति चात्मनि ब्रह्मणि च वक्ष्यमाणा विप्रतिपत्तिः । अतोऽधिकारिणोऽपि पूर्वोक्तरीत्या तद्विवेक-सत्त्वेऽपि वादिविप्रतिपत्त्यादिभिः संशयेन तस्य प्रतिकृद्कार्यत्वादुपपन्नैव ब्रह्मजिज्ञासेति परिहरति—\*न ; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेरिति\* ॥

\*तयोः=आत्म-ब्रह्मणोरुभयोरपि पदार्थयोर्विशेषमित्यर्थः । तयोर्विशेषे विप्रतिपत्तिमेव दर्शयति—\*देहमात्रमित्यादिना\* ॥ विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि विप्रतिपत्तिरित्युच्यते । तत्र “देहमात्रमि”त्यादिना “भोक्तैव केवलम्, न कर्तृत्येक” इत्यन्तेनात्मनि सा प्रदर्श्यते, शिष्टेन च ब्रह्मणीति विभागः । तत्र स्थूल-सूक्ष्म-क्रमेणासिकोशन्यायेन प्रत्यगात्मनो विवेकुं शक्यत्वात् प्रथममतिस्थूलं देहात्मवादमुत्थापयति—\*देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मैति प्राकृता जनाः, लोकायतिकाश्च प्रतिपन्ना इति\* ॥ \*प्राकृताः\*=गोपालाङ्गनाजाविपाला-दयः । \*लोकायतिकाः\*=चार्वाकविशेषाः । मृतशरीरेऽहमित्यभिमानादर्शनाद् नात्मत्वम्, अत



## पञ्चपादिका

कार्य-कारणसंघातसन्निधावहंप्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य कैश्चित् किञ्चिदालम्बनं प्रतिपन्नम्, तदाह—\*देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्ना इति । तथाहि\*—‘मनुष्योऽहमि’त्यात्मनि मनुष्यत्वाभिमानो ‘गच्छामी’ति च गन्तृत्वाभिमानो देहविषयत्व उपपद्यते । “देहमात्रमि”ति सशिरस्कपिण्डाभिप्रायं द्रष्टव्यम् । मात्रशब्देन न देहातिरिक्तं स्वतन्त्रं चैतन्यमन्यविशेषणं वा, किन्तु देहाकारपरिणतभूतचतुष्टयान्तर्भूतमेवेति दर्शयति । \*आत्मेति\* = अहंप्रत्ययालम्बनमित्यर्थः । \*प्राकृता इति\* ॥ शास्त्रोपदेशासंस्कृतमतयो दृष्टमात्राविकल्पितव्यवहारिण इत्यर्थः । लोकायतिका इति भूतचतुष्टयतत्त्ववादिनः प्रसिद्धाः ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्पष्टमूर्ताकारतया स्थूलमूर्ततारतम्यान्निरासक्रमसिद्धेश्च शरीरमारभ्य विप्रतिपत्तिं दर्शयति—\*तदाह देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमिति\* ॥ शरीरस्यात्मत्वशङ्कायां प्रत्यक्षं प्रमाणमाह—\*तथाहि मनुष्योऽहमिति\* ॥ देहशब्दार्थमाह—\*देहमात्रमितीति\* ॥ त्वगिन्द्रियस्य निरपेक्षाधारः शरीरं नाम । तत्रावयवान्तरेषु छिद्यमानेष्वपि प्रायेण त्वगिन्द्रियं तिष्ठति, न शिरश्छेद इत्यभिप्रायेण सशिरस्केत्युच्यते । \*ननु\* भूतचतुष्टयतत्त्ववादिनां पञ्चमं चैतन्यं तत्त्वमवशिष्यत इति, तन्निवृत्त्यर्थमाह—\*मात्रशब्देन देहातिरिक्तमित्यादिना\* ॥

## ऋजुविवरणम्

इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*त्वगिन्द्रियस्येति\* ॥ “इन्द्रियाणामि”त्यादिना ग्रन्थेन ज्ञानस्येन्द्रियव्यतिरेकाच्चेतनत्वमुक्तम्, तदयुक्तम् ; ज्ञानाश्रयत्वं चेतनत्वम्, नच तावन्मात्रेणाश्रयत्वसिद्धिः । यदि चान्वय-व्यतिरेकौ विवक्षितौ, तत्त्वदीपनम्

प्रदर्शन उपपत्तिमाह—\*स्पष्टेति\* ॥ स्पष्टो मूर्ताकारो यस्य तत् स्पष्टमूर्ताकारम्, तस्य भावस्तत्ता, तथेत्यर्थः । इन्द्रियादिष्वपि साऽविशिष्टेत्यत्राह—\*स्थूलेति\* ॥ तरतमभावस्य प्रकटत्वात् प्रथमं शरीरात्मतानिरसनमित्यर्थः । \*निरासक्रमसिद्धेरिति\* ॥ अयमर्थः—शरीरे प्रथममात्मत्वबुद्धौ जातायां दृश्यत्वेन तस्यात्मत्वे निरस्ते, ततः सूक्ष्म आत्मबुद्धिर्जायते, एवमितरत्रापीति । शरीरात्मवादस्य प्रमाणविधुरतया न तदुपन्यास उचित इत्याशङ्क्याह—\*शरीरस्येति\* ॥ देहस्यावयवसंघातत्वादेकावयवाभाव आत्मबुद्धिर्न स्यादित्याशङ्क्याह—\*देहेति\* ॥ सशिरस्केति विशेषणं कस्मात् ? इत्याशङ्क्य विशेषणकृत्यं दर्शयितुं शरीरस्वरूपमाह—\*त्वगिन्द्रियेति\* ॥ इन्द्रियाधार इत्युक्ते चक्षुर्गोलकयोः शरीरत्वप्रसङ्गः, तदर्थम्—“त्वगि”ति विशेषणम् । एवावत्युक्तेऽङ्गुल्यादौ व्यभिचारः, तदर्थम्—“निरपेक्षे”ति । अङ्गुल्यादीनामितरावयवसहितानामाधारत्वान्न व्यभिचार इत्यर्थः । फलितं दर्शयति—\*तत्रेति\* ॥ मर्मभेदे त्वगिन्द्रियापगमो दृष्टः, तदर्थम्—“प्रायेणे”त्युक्तम् । मात्राया स्वतन्त्रचैतन्यं निरस्यत इत्युक्तम्, तत् कस्मात् ? इत्याशङ्क्य, तद्व्यावर्त्यां शङ्कायाह—\*ननु भूतेति\* ॥ “पृथिव्यप्तेजो-वायवस्तत्त्वानी”ति लौकायत-सूत्रात् तेषां चतुष्टयमेव तत्त्वम्, ततः स्वतन्त्रचैतन्योपगमे तत्त्वातिरेकः ; इतरथा व्यवहारासिद्धिरिति शङ्कार्थः ।

## वार्तिकम्

उक्तम्—\*चैतन्यविशिष्टमिति\* ॥ मात्रशब्देन तदतिरिक्तेन्द्रियादिवारणम् ; प्रत्यक्षमात्रस्य प्रमाणत्वात् । तेन चाहं मनुष्यः, गौरः, स्थूलः, कृशः, इत्यादि देहधर्मसामानाधिकरण्येनाहन्त्वप्रतीतेः स एवात्मेति तेषामाशयः ॥

अन्ये तु चार्वाका मन्वते—येषु सत्सु जागरे चैतन्यं दृश्यते, असत्सु च स्वापे मृतशरीरे च न दृश्यते, इत्यतस्तान्येव देहव्यतिरिक्तानि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि चेतनान्यात्मानः ; ‘अहं काणः’, ‘वधिरः’, ‘मूकः’, इत्याद्यात्मप्रत्ययानां तेषु दर्शनात् । देहे चात्मप्रत्ययश्चैतन्यदर्शनं च तदुपाधिकमेव ;



## इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरं ।

पञ्चपादिका

\*एवम्—\*इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरं\* ॥ इन्द्रियाणां चक्षुरादिमनःपर्यन्तानामेकैकस्मिन्-  
सत्यपि शरीरे रूपादिज्ञानानामभावात् तेषामेव व्यस्तानां चेतनत्वमहंप्रत्ययविषयत्वं च मन्यन्ते,

पञ्चपादिकाविचरणम्

पक्षान्तरमाह—\*इन्द्रियाण्येवेति\* ॥ \*ननु\* यस्मिन् विज्ञानमुत्पद्यते, स चेतनः । नहीन्द्रियाश्रयं विज्ञान-  
मुत्पद्यते ; 'मनुष्योऽहं जानामी'त्यवगमात् । तत्र कथं तेषां चेतनत्वमिति ? तत्राह—\*इन्द्रियाणां चक्षुरादिमनः-  
पर्यन्तानामिति\* ॥ \*अयमाशयः\*—सत्यपि शरीरे विषयज्ञानानामिन्द्रियैरन्वय-व्यतिरेकवत्त्वात् करणतयाऽ-  
न्वय-व्यतिरेकवत्त्वकल्पनादाश्रयताऽन्वयव्यतिरेककल्पनस्याभ्यर्हितत्वादिन्द्रियाण्येव विज्ञानाश्रयाणीति । \*ननु\*  
एकस्मिन् शरीरे बहूनामिन्द्रियाणां चेतनत्वे 'रूपमद्राक्षम्' 'इदानीं शृणोमी'ति प्रत्यभिज्ञा न स्यात्, भोक्तृत्वं

भृजुविचरणम्

तथाऽपि करणत्वविषयौ तौ नाश्रयत्वसाधकावित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*सत्यपि शरीर इति\* ॥ "वरगोष्ठीवदि"ति  
विषयो दृष्टान्तः ; तत्र भोक्तृत्वैकत्वात्क्रमेण भोगः, इह भोक्तृत्व भोक्तृणाञ्च भेदे सति न क्रमसंभवः ; अतश्चैक्य-

तत्त्वदीपनम्

देहाकारपरिणतभूतेषु चेतन्याभ्युपगमान्न तत्त्वातिरेकः, नापि व्यवहारासिद्धिरिति समाधानग्रन्थार्थः । आत्मलक्षण-  
विधुरत्वाद् नेन्द्रियाणामात्मत्वमिति शङ्कते—\*ननु यस्मिन्निति\* ॥ असिद्धो हेतुरित्याह—\*तत्राहेति\* ॥  
चक्षुरादीनां ज्ञानकरणत्वात् तद्व्यतिरेकोऽन्यथासिद्ध इत्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ \*अभ्यर्हितत्वादिति\* ॥  
उत्पत्तिसमय उत्पत्तेरुच्चं चोपादानस्यावदयाश्रयणीयत्वात् तद्विषयत्वमन्वय-व्यतिरेकयोर्युक्तमित्यर्थः ॥

प्रत्यभिज्ञाविरोधान्नेन्द्रियाणामात्मत्वमिति शङ्कते—\*नन्वेकस्मिन्निति\* ॥ मैत्रेण दृष्टे चैत्रस्य प्रत्यभिज्ञाऽ-  
दर्शनादित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—\*भोक्तृत्वमिति\* ॥ इन्द्रियाणां प्रत्येकमात्मत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च युग-

वार्तिकम्

अयसि दग्धत्वादिप्रत्ययवदिति । तदाह—\*इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपर इति\* ॥ स्वप्न इन्द्रिया-

भाष्यभावप्रकाशिका

देहाकारपरिणतभूतचतुष्टयान्तर्भूतमेवेति दर्शयति—\*आत्मेति\* ॥ अहंप्रत्ययालम्बनमित्यर्थः ।  
\*प्राकृता इति\* ॥ शास्त्रोपदेशासंस्कृतमतयो दृष्टमात्राविकल्पितव्यवहारिण उच्यते । \*लोकायतिका  
इति\* भूतचतुष्टयवादिनः । तत्र देहशब्देन त्वगिन्द्रियस्य निरपेक्षाधारः शरीरमुच्यते ।  
तत्र—'अहं मनुष्यः' इत्यनुभव एव प्रमाणमिति । तेषामेव पक्षान्तरमाह—\*इन्द्रियाण्येवेति\* ॥ सती-  
न्द्रिये—'अहं रूपं पश्यामी'ति रूपादिविज्ञानानां जागरे भावात्, सूक्ष्मशरीरे चक्षुरादौ चासति सुषुप्त्यादौ  
रूपादिविज्ञानानामभावात् तेषामिन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वादिन्द्रियाणामेव चेतनत्वावगमात्,  
वरगोष्ठीवदितरेतरगुणभावेन च तेषां क्रमेण भोगोपपत्तेः, एकदेहाश्रितत्वेनैकत्वाभावेऽपि 'य एवाद्राक्षं  
स एव शृणोमि'इत्यादिप्रत्यभिज्ञानसंभवात्, 'अहं शृणोमी'तीन्द्रियेष्वहंबुद्धिदर्शनाद् युक्तं तेषामात्मत्व-  
मिति भावः ॥

प्रदीपः

याणीत्यव्यवस्थितमेकैकात्मवादस्वीकारात्, किं शरीरमेवाहंपदेन ग्राह्यमाणं ब्रह्म ? उत मनः ? आहोस्विदिन्द्रियाणि ? अथवा  
क्षणिकं विज्ञानम् ? शून्यं वा ? तथा देहादिव्यतिरेकः कर्तृत्वादिविशिष्टः कश्चनात्मा ? तादृशो भोक्तृत्वमात्रविशिष्टः कर्तृत्व-



## मन इत्यन्ये ।

### पञ्चपादिका

क्रमेण वरगोष्ठीवदितरेतरगुणभावम् । तथाचेन्द्रियधर्मसामानाधिकरण्यमहंप्रत्ययस्य दृश्यते—  
'काणोऽहं मूकोऽहमि'त्यादि ॥ मन एव चेतनमहंप्रत्ययस्य विषयमन्ये मन्यन्ते । दृश्यते हि स्वप्न  
इन्द्रियदशकोपरमेऽपि मनस एव—'अहमि'ति सर्वव्यवहारास्पदत्वमिति वदन्तः ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

च रूप-रसादिषु युगपत् स्यात्, न क्रमेणेति, तदाह—\*क्रमेण वरगोष्ठीवदिति\* ॥ एकशरीराश्रयत्वमेव प्रत्यभिज्ञा-  
क्रम-भोगयोर्निमित्तम्, नैकत्वमित्यर्थः । \*ननु\*—चेतनत्वेऽप्यहंप्रत्ययालम्बनस्यैवात्मत्वम्, तदभावाच्चेन्द्रियाणा-  
मात्मत्वमिति, तत्राह—\*तथाचेन्द्रियधर्मसामानाधिकरण्यमहंप्रत्ययस्येति\* ॥ शरीरस्याप्यहंप्रत्ययालम्बनत्व-  
विज्ञानान्वय-व्यतिरेकयोरिन्द्रियात्मनामाश्रयत्वेनाप्युपपत्तेरिति भावः ॥

पक्षान्तरमाह—\*मन एव चेतनमिति\* ॥ किमत्र प्रापकं प्रमाणमिति ? तदाह—\*दृश्यते हि  
स्वप्न इति\* ॥ \*अयमर्थः\*—स्वप्ने चक्षुराद्यभावेऽपि केवले मनसि विज्ञानालम्बनत्वाहंप्रत्ययविषयत्वयो-

### ऋजुविवरणम्

मेवेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*एकशरीराश्रयत्वमिति\* ॥ \*ननु\*—शरीरस्याप्यहंप्रत्ययालम्बनत्वमिन्द्रियवद् ज्ञानान्वय-  
व्यतिरेकौ च दृश्येते, तत् कथं तस्यात्मत्वं निराक्रियते ? इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*शरीरस्यापीति\* ॥ कथं  
मनस एवात्मत्वं निश्चेतुं शक्यते ? इन्द्रियाणामप्यात्मत्वसाधकप्रमाणस्योक्तत्वादित्याशङ्क्य, बाधकं प्रमाणमुक्तम्,  
प्रमाणस्य चान्यथासिद्धिं दर्शयति—\*स्वप्ने चक्षुराद्यभावेऽपीति\* ॥ \*ननु\*—चक्षुरादीनां रूपादिविज्ञानस्या-

### तत्त्वदीपनम्

पक्षेदप्रसङ्ग इत्यर्थः । स्वातन्त्र्येऽपि क्रमभोगस्य दृष्टत्वादविरोध इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ एकोद्वाहसमयेऽन्येषा-  
मुपसर्जनत्वमिति टीकार्थः । प्रत्यभिज्ञाविरोधं निरस्यति—\*एकशरीरेति\* ॥ एकस्य द्रष्टृभावान्न तस्य भोक्तृत्व-  
मित्येवकारार्थः । वरगोष्ठ्यामपि न केषांचिदितरगुणभावः ; विरोधात्, तद्वदिति निराकर्तुमाह—\*क्रमेति\* ॥  
शरीराधिष्ठानानामेवेन्द्रियाणां भोक्तृत्वम् ; अन्यत्रादर्शनात्, तत्रापि विरोधे विरुद्धाभिप्रायतयाऽनेकस्यापि भोगः । तस्मा-  
दितरेतरगुणभावो युक्त इत्यर्थः । इन्द्रियाणां चेतनत्वमङ्गीकृत्यात्मत्वमाक्षिपति—\*ननु चेतनत्व इति\* ॥ अहमित्यु-  
पलभ्यमानस्यात्मत्वम्, इन्द्रियाणां चानीहशत्वान्नात्मत्वमित्यर्थः ॥ स्वरूपेणेन्द्रियाणामहमाऽसामानाधिकरण्येऽपि  
काणत्वादिधर्मविशिष्टानामहमा सामानाधिकरण्यम्, 'अहं शरीरमि'त्यहंप्रत्ययानालम्बनत्वेऽपि मनुष्यत्वादिधर्मविशिष्टस्य  
शरीरस्याहंप्रत्ययालम्बनत्ववदिति सिद्धान्तयति—\*तत्राहेति\* ॥ न चेन्द्रियवदेव देहस्याप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां  
ज्ञानाधारतयाऽहंप्रत्ययालम्बनत्वस्य च संभाव्यमानत्वादात्मत्वम्, इत्याशङ्क्याह—\*शरीरस्येति\* ॥ प्रमाणाभावाद् न  
मनस आत्मत्वमिति शङ्कते—\*किमत्रेति\* ॥ प्रमाणाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तदाहेति\* ॥ स्वप्ने बाह्येन्द्रियाभावे  
व्यवहारास्पदतया मनोऽस्तीत्येतत् कुतः सिद्धम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ मनसः करणत्वे विज्ञाना-  
लम्बनत्वमन्येत्याशङ्क्य, मनस उभयसंसर्गत्वादन्यत्र च विमतेमैवमित्याह—\*केवल इति\* ॥

### वार्तिकम्

भावेऽपि चैतन्यदर्शनादेकस्मिन् देहेऽनेकात्मनां संहत्य भोगानुपपत्तेर्मन एवात्मेत्यपरे चार्वाकाः ।  
तन्मतमुत्थापयति—\*मन इत्यन्य इति\* ॥ आत्मेत्यनुषङ्गः । एवमुत्तरत्रापि ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

पक्षान्तरमाह—\*मन इति\* ॥ सुप्ते चक्षुराद्यभावेऽपि केवले मनसि विज्ञानदर्शनात्, अहं-  
प्रत्ययाविकलतयोपलब्धेः, चक्षुराद्यन्वय-व्यतिरेकयोश्च रूपादिविज्ञानानां तद्धर्मताभावेऽपि तेषामेक-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

रविकलयोर्दर्शनात्, रूपादिविज्ञानानां चक्षुराद्याश्रयत्वे तदभावे केवले मनसि रूपादिस्मृत्यनुपपत्तेः, आश्रयान्तरे चासिद्धे चक्षुरादीनां ज्ञानान्वय-व्यतिरेकयोः करणविषयतयाऽप्युपपत्तेः, अहंप्रत्ययस्य च देह इव करणे कतृत्वोपचारात् सिद्धे, प्रत्यभिज्ञायाः शरीरादाविवैकत्वनिबन्धनत्वात्, एकाश्रयत्वात्प्रत्यभिज्ञायामेकप्रासाद-समाश्रितानामपि तत्प्रसङ्गात् । तस्माच्चक्षुरादिकरणशरीराधारं मन एवात्मेति ॥

### ऋजुविवरणम्

श्रयत्वम्, मनसश्च स्मरणाश्रयत्वं भवेत्, ननु तेषामात्मत्वनिराकरणमित्याशङ्क्याह—\*रूपादिविज्ञाना-  
नामिति\* ॥ अनुभवितुरेव स्मर्तृत्वादिति भावः । रूपादिदृष्टप्रत्यभिज्ञाऽपि न संभवेदित्याह—\*शरीरादाविति\* ॥  
“वर्णत्रयातिरिक्तं नावभासते” इत्युक्तम्, तदव्याख्यानम् ; विज्ञानस्यात्मत्वाभावप्रसङ्गात्, अनुभवविरोधश्चेत्याशङ्क्य

### तत्त्वदीपनम्

उपचरितत्वशङ्कां निरस्यति—\*अविकलयोरिति\* ॥ बाधाभावादित्यर्थः । स्वप्ने रूपादिस्मरण-  
मात्रम्, न रूपाद्यनुभवः, ततश्चानुभवाश्रयं चक्षुराद्येवात्मेत्याशङ्क्याह—\*रूपादिविज्ञानानामिति\* ॥ अनुभवितृ-स्म-  
र्त्रोरेकत्वनियमाद् मनसश्चानुभवितृत्वे न स्मर्तृत्वं स्यात्, अस्ति च तत्, तस्मान्मनस एवानुभवितृत्वमित्यर्थः ।  
अन्वय-व्यतिरेकवत्त्वादिन्द्रियाणामेवात्मत्वमित्युक्तम्, तत्राह—\*आश्रयान्तर इति\* ॥ \*असिद्ध इति\* ॥ अत्रोक्तन्यायेनेति  
शेषः । इन्द्रियाणामहंप्रत्ययविषयत्वमन्यथयति—\*अहंप्रत्ययस्येति\* ॥ इन्द्रियाणामनात्मत्व उपपत्त्यन्तरमाह—\*प्रत्य-  
भिज्ञाया इति\* ॥ पूर्वैद्युर्दिदं शरीरमस्वस्थमभूत्, तदेव संप्रति स्वस्थम्, ‘प्रातःसमये राजाङ्गणे दृष्टो यः करीन्द्रः,  
सोऽयमि’त्यादौ प्रत्यभिज्ञाया एकत्वविषयत्वं दृष्टम्, तद्वद् ‘योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं शृणोमी’ति प्रत्यभिज्ञाया एकत्व-  
विषयत्वमुचितमसति बाधक इत्यर्थः । विपक्षे दण्डं पातयति—\*एकाश्रयत्वादिति\* ॥ \*इन्द्रियाणामेकशरीराश्रय-  
त्वादिति\* ॥ इन्द्रियाणामेकशरीराश्रयत्वेन प्रत्यभिज्ञाङ्गीकरणे एकप्रासादस्थवैश्रादीनामप्येकत्वप्रत्यभिज्ञा स्यादित्यर्थः ।  
उक्तमर्थमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

### वार्तिकम्

प्रत्ययातिरिक्तमनोमात्रे प्रमाणाभावात् क्षणिकालयविज्ञानसन्तान एवात्मेति बौद्धाः । तन्मतं-  
भाष्यभावप्रकाशिका

शरीराश्रयत्वेन प्रत्यभिज्ञायामेककुञ्जराखण्डानामपि तत्प्रसङ्गाद् युक्तं मनस एवात्मत्वमिति भावः । योगा-

### प्रदीपः

शून्यः कश्चनात्मा ब्रह्म ? इति संशयस्त्वंपदार्थविषये वर्तते ; एवं तत्पदार्थविषयेऽपि—जीवव्यतिरिक्त ईश्वरः, तदभिन्न एव स इति  
मतमेदात् संशयो वर्तते एव—कीदृशं वा रूपं तत्पदार्थस्य च वेदान्तवाक्यार्थः ? किं जीव-ब्रह्मणोर्भेदः ? उताभेदः ? इत्यादिकं हि  
ब्रह्ममीमांसारम्भं विना न संभवतीति ब्रह्ममीमांसारम्भ आवश्यक एवेति निष्कर्षः । देहमात्रमात्मेतिवादः प्राकृतानाम् ।  
तत्रासन्नुद्धानां मनआत्मतावादः, एवं तत्रासन्नुद्धानामुत्तरोत्तरवादाभिमानः । तत्र पूर्वपूर्वसिन् मतेऽसन्तोषकारणानि  
वेदान्तसारे व्यक्तानि । शरीरात्मतादिवादः सर्वेऽपि वेदान्तवाक्येभ्योऽवगम्यन्ते । तत्र देहात्मवादः—“स वा एष  
पुरुषोऽन्नरसमयः” इति वेदान्तवाक्यमूलः । इन्द्रियात्मतावादः—“तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः” इति वाक्या-  
धीनः । मनआत्मतावादः क्षणिकविज्ञानात्मतावादः शून्यात्मतावादश्च क्रमेण—“तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयाद् अन्योऽन्तर-  
आत्मा मनोमयः” “तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः,” “असद्वा इदमग्र आसीत्” इति  
वेदान्तवाक्येभ्यः प्रसिध्यन्ति । देहातिरिक्तकर्तृत्व-भोक्तृत्वादिविशिष्टस्वात्मा “ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते”ति वाक्येन  
उल्लान्ति-गत्यागतिनिरूपणपरैर्वाक्यैः “स एनान् ब्रह्म गमयती”त्यादिभिर्वाऽवगम्यते । तादृश एवात्मा न कर्ता, किन्तु भोक्तेति  
वांस्तु—“असङ्गो ह्ययं पुरुषः” इति वाक्यात्प्रतीयते । जीवव्यतिरिक्त-सर्वज्ञत्वादिविशिष्टेश्वरनिरूपणपराणि तु “यः सर्वज्ञः  
सर्वविद्” “पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च,” “द्वा सुपणी सयुजा सखाया” इत्यादीनि



## विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके ।

### पञ्चपादिका

\*विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येक इति\* मात्रग्रहणेन नाहमित्याकारादिवर्णत्रयातिरिक्तं किञ्चिदवभासते, यदहंप्रत्ययस्य विषयः कल्प्येत । तेन विज्ञानमेव स्वरसभङ्गुरमविरतोदयमखिललोकयात्रानिलयमनुभव-भग्नपक्षान्तरमहमित्युत्पद्यत इत्यन्ये मन्यन्ते ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

पक्षान्तरमाह—\*विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येक इति\* ॥ वर्णत्रयशब्देन वर्णत्रयाभिधेयं विज्ञानमात्र-मुच्यते । तेन च विज्ञानाश्रयस्यात्मनोऽभाव उच्यत इति । कथम् ? शरीरेन्द्रियाणां तावद्विज्ञेयत्वादविज्ञान-स्यानात्मत्वाद् मनसश्च समनन्तरप्रत्ययव्यतिरेकिणोऽभावादाश्रयान्तरादर्शनादिति । कस्तर्ह्यस्मेति ? तदाह—\*तेन विज्ञानमेवेति\* ॥ तर्हि सांख्यादीनामिव विज्ञानमेवानादिनिधनमास्मेति, तदाह—\*स्वरस-भङ्गुरमिति\* ॥ कथं तर्हि प्रत्यभिज्ञानेनैकत्वावगम इति ? तदाह—\*अविरतोदयमिति\* ॥ ज्वालाया-

### ऋजुविवरणम्

व्याचष्टे—\*वर्णत्रयाभिधेयमिति\* ॥ अकार-हकार-मकारात्माहंसञ्जल्प इति । विशेषणव्याचर्त्यं दर्शयति—\*तेन चेति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानस्याश्रय आत्मा साधितः, तेन न तदभावसाधनमित्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ “विज्ञेयत्वाद-विज्ञानत्वाच्चे”ति हेतु बौद्धमतेनापरसाधनमेव ; ज्ञानमात्रमेत्यभ्युपगमात् । कथम्—“अविरतोदयमिति”त्यनेन प्रत्यभिज्ञोप-पत्तिः ; एकत्वविषयत्वात्तस्याः, निरन्तरघट-पटादावदर्शनाद्देश्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*ज्वालायामिवेति\* ॥ सदृशेषु व्यवधानेनोत्पन्नेषु न प्रत्यभिज्ञा, तदर्थम्—\*सन्ततेति विशेषणम्\* ॥ सन्ततेषु घट-कपालेषु न प्रत्यभिज्ञा, तदर्थम्—“सादृश्यादि”ति ॥ “हेतुफलसन्ताने”त्यनेन यो विज्ञानक्षणः कर्म करोति, तत्सन्ततिवति तस्यैव तन्निमित्तो भोग इत्येकसन्तानोपाधिना कृतनाशाकृताभ्यागमादिदोषपरिहार उक्तः । “अनुभवभग्ने”त्यनेन स्थायिनो प्रतीतिरुक्ता ।

### तत्त्वदीपनम्

अकार-हकार-मकाररूपवर्णत्रयातिरिक्तं नावभासत इत्युक्ते वर्णानामेवात्मत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—\*वर्णत्रयेति\* ॥ मात्रचो व्याचर्त्यमाह—\*तेनेति\* ॥ मात्रचेत्यर्थः । शरीराद्यन्यतमस्य ज्ञानाश्रयत्वेनात्मत्वसंभवात् कथं निरसनमिति शङ्कते—\*कथमिति\* ॥ \*अविज्ञानत्वादिति\* ॥ विज्ञानव्यतिरेकत्वादित्यर्थः । मनसा विज्ञानान्यत्वमङ्गीकृत्या-नात्मत्वमुक्तम्, नच तदपीत्याह—\*मनस इति\* ॥ शरीरेन्द्रिय-मनोव्यतिरिक्तस्य ज्ञानाश्रयस्यात्मत्वं कणभुगा-दयः प्रतिपेदिरे, तान् प्रत्याह—\*आश्रयेति\* ॥ स किं ज्ञानव्यतिरिक्तः ? उताव्यतिरिक्तः ? आद्ये घटादिबद्धनात्मत्वम्, द्वितीयेऽस्मदिष्टसिद्धिरित्यभिप्रायः ॥

आत्मत्वप्रसिध्यनुपपत्त्याऽऽश्रयान्तरमेष्टव्यमिति शङ्कते—\*कस्तर्हीति\* ॥ प्रसिद्धिमन्यथयति—\*तदाहेति\* ॥ ज्ञानातिरिक्तात्मनि मानाभावस्तच्छब्दार्थः । विज्ञानं किं स्थिरम् ? उत न ? आद्य इष्टापत्तिः, द्वितीये प्रत्यभिज्ञा-विरोध इति शङ्कते—\*तर्हीति\* ॥ द्वितीयपक्षाङ्गीकारेणाह—\*तत्राहेति\* ॥ प्रत्यभिज्ञाविरोधान्न तस्यात्मत्व-मित्युक्तमनुवदति—\*कथमिति\* ॥ प्रत्यभिज्ञाऽन्यथाऽपि घटत इति दूषयति—\*तदाहेति\* ॥ नैरन्तर्येण ज्ञानोदयेऽपि भिन्नत्वान्न प्रत्यभिज्ञेत्याशङ्क्य, भिन्नयोरपि प्रत्यभिज्ञा दृष्टेत्याह—\*ज्वालायामिति\* ॥ संततानि च विज्ञानाभि-धेति सन्ततविज्ञानानि, तान्येवोदया उदीयन्त इति तेषां सादृश्यं तथोक्तम् । बन्धादिव्यवस्थानुपपत्त्या स्थाव्या-त्मैवेष्टव्य इति शङ्कते—\*कथं तर्हीति\* ॥ कर्तुरेव सुख-दुःखभोगलक्षणो बन्धः, ज्ञानवतो मुक्तिः, बद्धस्य च सेत्येव-

### वार्तिकम्

माह—\*विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येक इति\* ॥ विज्ञानमात्रस्याप्यभावाधिष्ठानत्वात् सुषुप्तावभावशेषत्व-

### भाष्यभावप्रकाशिका

चारस्य मतमाह—\*विज्ञानमात्रमिति\* ॥ मात्रशब्देनाश्रयमात्मानं व्यावर्तयति । \*अयं भावः\*—



## शून्यमित्यपरे ।

### पञ्चपादिकाविवरणम्

मिव संततविज्ञानोदयसादृश्यात् प्रत्यभिज्ञेत्यर्थः । कथं तर्हि कर्म-ज्ञान-बन्ध-मोक्षाश्रयत्वं क्षणिकस्येति ? तदाह—  
\*अखिललोकयात्रानिलयमिति\* ॥ विज्ञानानां हेतु-फलसन्तानमात्रादेव कर्मफलसम्बन्ध इत्यर्थः । \*ननु\*

स्थायिन्यात्मन्येकस्मिन् सर्वमेतन्मुख्यमुपपन्नमिति, तत्राह—\*अनुभवभग्नपक्षान्तरमिति\* ॥  
पक्षान्तरमाह—\*शून्यमिति\* ॥ विज्ञानव्यतिरिक्तानां तावदात्मत्वं विज्ञेयत्वात् प्रत्याख्यातम् । न च

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—विषयावभासेन विना ज्ञानं सुषुप्त इति ; तत्राह—\*निरालम्बनेति\* ॥ “\*अविशेषानुमानादिति\* ॥

एतदुक्तं भवति—सौषुप्तिकत्वं विशेषकं न भवति ; दृष्टान्ताभावात्, अविशेषस्त्वनुमातुं शक्यते ;  
ज्ञानत्वस्य व्यासहेतोर्विद्यमानत्वादिति । अस्मर्यमाणं विज्ञानं यस्मिन्सुषुप्तौ, तदस्मर्यमाणविज्ञानम् ; तस्य भाव  
इति । सुषुप्तिकालो धर्मज्ञानशून्य इति साध्यो धर्मः, अस्मर्यमाणविज्ञानत्वादिति हेतुः । \*किञ्च सविकल्पकस्येति\* ॥  
अयं प्रयोगः—उत्थानप्रत्ययो धर्मि, शून्यालम्बन इति साध्यः, आलम्बनत्वञ्च तद्धेतुत्वम्, सत्प्रत्ययत्वं हेतुः ।  
प्रत्ययत्वमात्रे हेतावसदवभासे व्यभिचारः, यद्वा—घटावभासे, तदर्थम्—सत्प्रत्ययत्वविशेषणम् । तच्च स्वद्विषय-

### तत्त्वदीपनम्

मादिव्यवस्था क्षणिकात्मवादे नोपपद्यते ; अकृताभ्यागमदोषप्रसक्तेरित्यर्थः । व्यवस्थाऽन्यथोपपन्नेत्याह—\*तदाहेति\* ॥  
तदेव कथमिति वीक्षायामाह—\*विज्ञानानामिति\* ॥ एकसंतानोपाधिना सकलव्यवहारोपपत्तिरित्यर्थः ॥

कर्मफलसंबन्धादेरौपाधिकत्वकल्पनातः स्वाभाविकत्वकल्पनं युक्तमिति शङ्कते—\*ननु स्थायिनीति\* । मुख्य-  
स्यासंभवादौपाधिकत्वमेव युक्तमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ स्थाय्यात्मनः सकलप्रमाणागोचरत्वात् त्वन्मतमनुभव-  
पराहतमित्यर्थः । शून्यत्वमित्यपि सकलप्रमाणपराहतमित्याशङ्क्य तत्त्वान्तरानिरूपणादिदेव तत्त्वं परिशिष्यत  
इत्याह—\*विज्ञानेति\* ॥ विज्ञानं तर्ह्यात्मेत्यत्राह—\*नचेति\* ॥ अव्यभिचारित्वमित्याचक्षते वृद्धाः, ज्ञानं च  
व्यभिचारीति शून्यं तत्त्वमित्यर्थः । व्यभिचारित्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*विद्यत एवेति\* ॥ सौषुप्तं ज्ञानं किं  
सविषयम् ? उत निर्विषयम् ? नाद्य इत्याह—\*न विषयेति\* ॥ सुषुप्तौ विषयावभासोपगमे सुषुप्तत्वं व्याहन्येते-  
त्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*निरालम्बनेति\* ॥ विमतं ज्ञानम्, सविषयम्, ज्ञानत्वात् ; संमतवदित्युक्ते  
साकारज्ञानत्वमुपाधिरिति शङ्कते—\*साकारेति\* ॥ संदिग्धव्यतिरेकत्वेन दूषयति—\*न विशेषेति\* ॥ विमतं ज्ञानम्,  
निर्विषयम्, निराकारत्वादिति व्यतिरेकः संदिग्ध इत्यर्थः । कस्यचिद् ज्ञानस्य निराकारत्वम् कस्यचित् साकारत्व-  
मित्यत्र विशेषाभावादित्यक्षरार्थः । साधनव्यापकश्चायमित्याह—\*अविशेषेति\* ॥ विमतं ज्ञानम्, साकारम्, ज्ञानत्वात् ;  
संमतवदित्यर्थः । सुषुप्तौ ज्ञानाभावे युक्त्यन्तरमाह—\*उत्थितेनेति\* ॥ अस्मर्यमाणं विज्ञानं यस्मिन् सुषुप्ते तदस्मर्य-

### वार्तिकम्

दर्शनात् तत एव विज्ञानोद्भवदर्शनाच्चाव्यभिचारितया शून्यमेवात्मेति माध्यमिका मन्यन्ते । तन्मतमाह—  
\*शून्यमित्यपर इति\* ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

शरीरादेर्विज्ञेयत्वाद् घटादिवदात्मत्वायोगात्, मानसस्य समनन्तरप्रत्ययव्यतिरेकेणाभावात्, आश्र-  
यान्तरस्यादर्शनात्, क्षणिकविज्ञानेष्वपि सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानोपपत्तेः, बन्ध-मोक्षयोरपि सन्तानाश्रय-  
त्वोपपत्तेश्च युक्तं विज्ञानस्यात्मत्वमिति ॥ माध्यमिकस्य मतमाह—\*शून्यमिति\* ॥ सुषुप्ते विज्ञान-  
स्याप्यभावादकस्मादेवाऽहमिति प्रत्ययस्य समुदयादसदभाव एवायमहंप्रत्यय इति भावः ।



## पञ्चपादिका

\*शून्यमित्यपर इति\* ॥ सुषुप्ते विज्ञानलेशस्याप्यभावादकस्मादेवामिति समुदयदर्शनादकारणस्य कादाचित्कस्य परमार्थवस्तुत्वाभावादसदवभास एवाहङ्कार इत्यपरे सङ्गिरन्ते ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

भावात्, निरालम्बनज्ञानायोगाच्च । साकारज्ञानानामेव सालम्बनत्वं न सौषुप्तिकानामिति चेत्, न ; विशेषाभावात्, अविशेषानुमानाच्च । उत्थितेनास्मर्यमाणविज्ञानत्वाच्च सुषुप्ते विज्ञानाभावः । किञ्च सविकल्पकस्य स्वविषयविपरीतनिर्विकल्पकालम्बनत्ववन्निर्विकल्पकस्यापि सत्प्रत्ययत्वात् स्वविषयविपरीतशून्यालम्बनत्वानुमानादुत्थानप्रत्ययः शून्यालम्बन इति गम्यते । तदेतदाह—\*सुषुप्ते विज्ञानलेशस्याप्यभावादिति\* ॥ मा भूद्विज्ञानलेशः, ततः किमिति ? तदाह—\*अकस्मादेवेति\* ॥ उत्थानप्रत्ययस्य पूर्वसमनन्तरप्रत्ययशून्यतया कारणशून्यता स्यादिति भावः । मा भूत् कारणमिति चेत्, तदाह—\*अकारणस्य कादाचित्कस्येति\* ॥ तस्माच्छून्यालम्बनोऽसदवभासोऽयमिति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

ज्ञानत्वम् । “किञ्च सविकल्पकस्ये”त्यनेन व्याप्तिप्रदर्शनम् । यद्वा—प्रत्ययत्वं हेतुः, स्वविषयविपरीतालम्बनत्वमेव साध्यम्, नतु शून्यालम्बनत्वम् ; साध्यविकल्पत्वप्रसङ्गात् । सदिति विशेषणन्तु—विपरीतालम्बनत्वेऽपि साध्ये शून्यालम्बनत्वमभिमतं सिध्यति ; तस्यैव स्वरूपविपरीतत्वादिति दर्शयितुम् । “अकस्मादेवे”त्ययुक्तम् ; विज्ञानलेशाभावे किं दूषणमिति पृष्टेऽकस्मादेव समुदायदर्शनादिति हेतोर्व्यधिकरणत्वात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*उत्थानप्रत्ययस्येति\* ॥ “अहमुल्लेखशून्यस्य भोक्तृत्वस्यादर्शनादि”त्ययुक्तम् ; भोक्तृत्वस्याहमुल्लेखाभावादेव । नहि भोक्तृत्वेऽहमिति प्रतिपत्तिः, नापि भोक्तृत्वेऽहमुल्लेख्यरूपत्वम् । “तस्य च प्रत्यभिज्ञानादि”त्ययुक्तम् ; “तस्ये”ति भोक्तृत्वस्य सन्निधानान्निर्देशः । नच तस्य प्रत्यभिज्ञायां निर्देश्यत्वं प्रतीयते । अथ—“अहमि”त्यवभासशून्यस्य

## तत्त्वदीपनम्

माणविज्ञानम्, तस्य भावस्तत्त्वम् ; तस्मादिति विग्रहः । अत्र नियमेनेति पदं द्रष्टव्यम् । सुषुप्तौ यदि ज्ञानं स्यात्, तदा तदनुभूयेत ; स्वप्रकाशत्वादिति वक्तव्यम्, तथा चोत्थितस्य तत्त्वमर्थेत् । नच तत्कदाचिदपि स्मर्यते, परामर्शस्तु विभ्रमत्वेनाप्युपपद्यत इत्यभिसन्धिः । अत्रैव युक्त्यन्तरं समुच्चिनोति—\*किंचेति\* ॥ \*सविकल्पकस्येति\* ॥ संज्ञासंज्ञिसंबन्धविशिष्टवस्तुलक्षणो यो विषयः, तस्य विपरीतं यन्निर्विकल्पकं ज्ञानम्, वैपरीत्यं च वस्तुमात्रप्राद्वित्वेन, तदालम्बनं कारणं यस्य, तस्य भावस्तत्त्वम् ; तद्वदित्यर्थः । “स्वविषयविपरीतशून्ये”त्यस्यायमर्थः—निर्विकल्पकज्ञानस्य विषयः सन्मात्रम्, तस्य विपरीतं यच्छून्यम्, तदालम्बनं कारणं यस्य, तथोक्तम्, तस्य भावस्तत्त्वम् । तदनुमानादित्यर्थः ॥

\*उत्थानप्रत्यय इति\* ॥ उत्थानसमनन्तरमुत्पद्यमानो निर्विकल्पकप्रत्यय इत्यर्थः । तथाच प्रयोगः—यः सत्प्रत्ययः, स स्वविषयविपरीतजन्यः, तथा सविकल्पकप्रत्ययः, सत्प्रत्ययश्चायमिति । सुषुप्तौ ज्ञानाभावमभिधाय सहसा ज्ञानोदयमभिधानः कथमव्यापारः स्यादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—उत्थानेति\* ॥ \*अकस्मादिति\* ॥ कारणं विनोत्पद्यत इत्युक्तं भवतीत्यर्थः । कारणमन्तरेणापि जायमानस्य तत्त्वं किं न स्यादिति शङ्कते—\*मा भूदिति\* ॥

## वार्तिकम्

शून्यस्य निरात्मकत्वाभ्युपगमेनात्मत्वव्याघातात्, कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च, सामिहृतस्य दिनान्तरेऽनुष्ठानदर्शनात्, अभोक्तू रागाभावेन कर्तृत्वानुपपत्तेरस्ति देहादिशून्यपर्यन्तव्यतिरिक्तः, संसारी, प्रदीपः

बहूनि वाक्यानि सगुणविद्यापराणि ब्रह्ममीमांसायामेव विचार्यमाणानि दृश्यन्ते । “आत्मा स भोक्तुः” इति पक्षस्तु “तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्मास्मि,” “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,” “अयमात्मा ब्रह्म”, इति महावाक्यतात्पर्यानुसारी, इति सर्वेऽपि पक्षा वेदान्तप्रमाणाध्ययनकाले प्रतीयन्त इति वेदान्तवाक्यैरेवान्यथाऽन्यथाऽऽत्मतत्त्वं प्रतिपाद्यत इति विप्रतिपत्तीनां



## अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे ।

### पञ्चपादिका

\*अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपर इति\* ॥ अहमुल्लेखशून्यस्य भोक्तृत्वस्या-

### पञ्चपादिकाविवरणम्

विप्रतिपत्त्यन्तरमाह—\*अस्ति देहादिव्यतिरिक्त इति\* ॥ कथं पुनर्विज्ञानशून्यव्यतिरिक्तस्यात्मनः सिद्धिरिति ? तदाह—\*अहमुल्लेखशून्यस्य भोक्तृत्वस्येति\* ॥ \*अयमाशयः\*—अहमित्यवभासमानो विषय-संविदाश्रयत्वेन भोक्ता न कदाचिदपि ममप्रत्ययालम्बनो भोक्तृत्वमनुभवति । स चावाधितप्रत्यभिज्ञागोचरो न सुषुप्तेऽभावमनुभवितुमर्हति । ततः शून्य-क्षणिकविज्ञानव्यतिरिक्तो भोक्ता ; प्रत्यभिज्ञया सुषुप्तेऽपि सत्ता-वगमात्, ज्ञानेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख दुःखेषु चाश्रयैकत्वावगमात् । \*तथाहि\*—प्रवृत्तिनिमित्तभूतमभिलषित-

### ऋजुविवरणम्

भोक्तृत्वादर्शनादिति ग्रन्थार्थः, तथाऽपि व्यर्थम् ; इतरपक्षेऽप्यविशेषादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अहमित्यवभासमान इति\* ॥ कथं ज्ञानादिष्वाश्रयस्य स्थायित्वसिद्धिः ? प्रतीत्यनुपपत्त्योरभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*तथाहि प्रवृत्तिनिमित्त-भूतमिति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

स्वोचितसामग्रीं विनोत्पद्यमानस्य हस्त्यादेरपरमार्थत्वं दृष्टम्, तद्वदग्रापीत्याह \*तदाहेति\* ॥ असदवभासरूपत्व-मुपसंहियत इति भाति, तत्प्रक्रमाननुगुणमित्याशङ्क्याह—\*तस्मादिति\* ॥ असतोऽवभासो यस्मिन् प्रत्यये, असावसदवभासः, इति व्याख्यातम् । उक्तेऽर्थे हेतुं पृच्छति—\*कथं पुनरिति\* ॥ शून्यपदं देहेन्द्रियादीनामुप-लक्षणार्थम्, तदुत्तरत्वेनोत्तरं ग्रन्थमवतारयति—\*तदाहेति\* ॥

अहमुल्लेखशून्यस्य भोक्तृत्वस्येत्यनयोः षष्ठ्योः किं सामानाधिकरण्यम् ? उत वैयधिकरण्यम् ? नाद्यः ; भोक्तृत्वेऽहमुल्लेखाभावात् ; न खलु भोक्तृत्वेऽहमिति प्रतिपत्तिर्हस्यते, अङ्गीक्रियते वा ; नापि द्वितीयः ; अहमित्यवभासमान-स्यात्मतया परैरभ्युपगतत्वादित्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ षष्ठ्योर्वैयधिकरण्यपक्षमभिप्रेत्याह—\*अहमिति\* ॥ गुरुमतमनुसृत्य भोक्तृत्वस्वरूपमाह—\*विषयेति\* ॥ व्यावर्त्यमाह—\*न कदाचिदिति\* ॥ \*ममप्रत्ययालम्बन इति\* ॥ ममेति प्रतिभासमान इत्यर्थः । अथ ममप्रत्ययालम्बनं यस्य घटादिप्रत्ययस्य, स ममप्रत्ययालम्बन इति । ममेति प्रतिभासमान इत्यर्थः । 'मम घटज्ञानमस्ती'ति देवदत्ताश्रितत्वेन प्रतिभासमानज्ञानस्यात्मत्वमनुभवविरुद्धम्, नचाल्यज्ञानमात्मा, न घटज्ञानमित्यपि—शङ्कास्पदम् ; 'जानामी'त्यात्मनो ज्ञानाश्रयत्वेन स्फुरणादित्यर्थः ।

एवं संविद आत्मत्वं निराकृत्य शून्यवादिनं निराकरोति—\*स चेति\* ॥ 'य एवाहं पूर्वद्युर्हस्तिनमद्राक्षं स एवाहं संप्रति तुरगमुपलभे' इत्येवमादिप्रत्यभिज्ञानुरोधात् सप्तौ सत्त्वमास्त्येयमित्यर्थः । ज्वालाप्रत्यभिज्ञातो वैलक्षण्यमाह—\*अवाधितेति\* ॥ फलितमाह—\*तत इति\* ॥ एतदेव विवृणोति—\*प्रत्यभिज्ञयेति\* ॥ विधान्तरेण क्षणिकत्वं निरस्यति—\*ज्ञानेति\* ॥ हिताहितसाधनतानुमानज्ञानं ज्ञानशब्दार्थः । हितसाधनतानुमानस्यैवानङ्गीकारात् कुतस्तद्वलेनाश्रयैकत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*तथाहीति\* ॥ प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्येऽसाधनताज्ञानमाश्रयणीयमित्यर्थः ।

### वार्तिकम्

कर्ता भोक्तात्मैति वैशेषिकादयः । तन्मतमाह—\*अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपर

### भाष्यभावप्रकाशिका

नैयायिकादिमतमाह—\*अस्तीति\* ॥ शून्यव्यतिरिक्त इत्यर्थः । 'अहमस्मी'त्यनुभवादहं प्रत्य-यालम्बनस्यैव चात्मत्वात्, तस्य प्रत्यभिज्ञायाः स्थायित्वावगमात्, निर्विकारस्य च क्रियाफलाश्रयत्वात्, क्रियाविशेषात्मत्वाच्च कर्तृत्वस्य, एवमात्मत्वाच्च संसारस्य, युक्तमेवंरूपत्वमात्मन इति भावः ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

साधनज्ञानमुत्पद्यमानमित्युत्पद्यते—प्रथमं वस्तुनि दृष्टे, तदुपभोगानन्तरं सुखसंवेदने च द्वितीये सञ्जाते, पुनर्वस्त्वन्तरदर्शने तृतीये समुत्पन्ने, चतुर्थे च दृष्टस्य वस्तुनः पूर्वसुखसाधनसामान्यासंधाने, पञ्चम्यामवस्थायाम्—इदं सुखसाधनमिति ज्ञानमुत्पद्यते । ततः पञ्चस्ववस्थास्वेकमात्मानमन्तरेणेदं ज्ञानमनुपपन्नम् ; अन्यदृष्टेऽन्यस्य सुखानुभवाभावात्, अन्यानुभूतेऽन्यस्य व्याप्यनुसंधानाभावात्, अन्यानुसंहितेऽन्यस्य सुखहेतुज्ञानाभावात्, संतानमेदेध्वदर्शनात् । तथा दुःखहेतुज्ञानमपि पञ्चावस्थमात्मानं कल्पयति । तथा हिताहितज्ञानपूर्वकौ राग-द्वेषौ षष्ठावस्थौ षडवस्थमात्मानं कल्पयतः । राग-द्वेषाभ्यां च हानोपादानप्रयत्नो जायमानः सप्तावस्थमात्मानं कल्पयति । तथा प्रयत्नानन्तरमष्टम्यामवस्थायां सुखदुःखे जायमाने अष्टावस्थमात्मानं कल्पयतः । नच क्षणिकेष्व्वात्मसु संतानमेदेध्विवायं व्यवहारः सम्भवति । तथा नाहं ज्ञानमित्यहमुल्लेखो विज्ञानेषु, किं तु मम ज्ञानमिति । नच ममात्मेतिवदुपचारः ; बाधाभावात्, इतरत्र संबन्धप्रत्ययस्यात्मशब्देन बाधात् । तस्मादहमुल्लेख-प्रत्यभिज्ञाभ्यां शून्यविज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा । तथा ताभ्यामेव हेतुभ्यां मनोऽपि नात्मा ; सुषुप्ते मनसोऽभावेऽप्यात्मनि प्रत्यभिज्ञानात्, ‘अहं मनः’ इत्यनवगमात्, ‘मम मनः’ इति च प्रतिभासात्, ज्ञानायौगपद्येन करणतयैव तस्य कल्पनात् । तथा ताभ्यामेव हेतुभ्यां नेन्द्रियाण्यप्यात्मानः ; रूप-रसादिविज्ञानपञ्चके द्रष्टुः प्रत्यभिज्ञानात्, स्वप्ने चक्षुरादिव्यवहाराभावेऽप्यहमित्यात्मनि

### ऋजुविवरणम्

\*तथा दुःखहेतुज्ञानमिति\* ॥ तत्रापि पूर्वं एव प्रकारः—प्रथमं वस्तुदर्शनम्, अनन्तरं द्वितीयं दुःखज्ञानम्, पुनर्वस्त्वन्तरदर्शनं तृतीयम्, ततो दृष्टस्य वस्तुनो दृष्ट-दुःखसाधने सामान्यानुसन्धानं चतुर्थम्, ततः पञ्चम्यामवस्थायामिदं दुःखसाधनज्ञानमुत्पद्यत इति तथैवानुपपत्तिरुक्ता । \*ननु\*—ममात्मेत्यत्रापि बाधाभावोऽविशिष्ट इत्याशङ्क्याह—\*इतरत्र संबन्धेति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

इत्थंशब्दसूचितमर्थमाह—\*प्रथममिति\* ॥ \*वस्तुनीति\* ॥ कदलीफलादावित्यर्थः । \*द्वितीय इति\* ॥ द्वितीयक्षण इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । वस्त्वन्तरशब्देन सजातीयमुच्यते । \*सुखसाधनेति\* ॥ अनुभूतकदलीफलादिना सामान्यं तजातीयत्वम्, तस्यानुसंधान इत्यर्थः । फलितमाह—\*तत इति\* ॥ एकात्मानमन्तरेण ज्ञानस्य काऽनुपपत्तिः ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्येति\* ॥ तथा व्यासिक्षणेऽप्यनुभवितुरवस्थानमाश्रयणीयमित्याह—\*अन्येति\* ॥ तथाऽनुमानक्षणेऽपीत्याह—\*अन्यानुसंहित इति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*संतानेति\* ॥ उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—\*तथेति\* ॥ इच्छाऽद्वेषपर्यालोचनयाऽप्यात्मनः स्थायित्वमित्याह—\*तथा हितेति\* ॥ प्रयत्नजन्मानुपपत्त्यापि स्थायित्वमित्याह—\*रागेति\* ॥ फलोदयानुपपत्तिरपि तत्र प्रमाणमित्याह—\*तथा प्रयत्नेति\* ॥ आत्मनो ज्ञानव्यतिरेकं प्रत्यभिज्ञया प्रसाध्याहमुल्लेखपर्यालोचनया तत् साधयति—\*तथा नाहमिति\* ॥ ‘ममात्मे’ति संबन्धस्योपचरितत्ववद् ‘मम ज्ञानमि’त्ययमपि संबन्धप्रत्यय उपचरित इत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ बाधाभाव इतरत्रापि तुल्य इत्याशङ्क्याह—\*इतरत्रेति\* ॥ भिन्नयोर्हि संबन्धः, नैकस्मिन्, अतः संबन्धस्योपचरितत्वमित्यर्थः । उक्तमर्थमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ अहमुल्लेखादेरन्यथासिद्धिस्तच्छब्दार्थः । उक्तमन्यत्राप्यतिदिशति—\*तथेति\* ॥ हेतुद्वयं स्पष्टयति—\*सुषुप्त इति\* ॥ ‘एतावन्तं कालं किमपि नावेदिषमि’त्युत्थितस्य प्रत्यभिज्ञादर्शनादित्यर्थः । मनस्यहमुल्लेखाभावमाह—\*अहमिति\* ॥ इतोऽपि न मन आत्मेत्याह—\*मम मन इति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मनस आत्मत्वमाशङ्क्याऽन्यथासिद्धिमाह—\*ज्ञानेति\* ॥ करणत्वोपपादनार्थम्—‘ज्ञानायौगपद्येन’ति विशेषणम् । आत्मेन्द्रिय-विषयसमवधानेऽपि युगपदनेकज्ञानानुपलम्भात् क्रमकारि साधारणकरणं मन इत्यर्थः ॥

इन्द्रियात्मवादं निरस्यति—\*तथेति\* ॥ व्यभिचारित्वादपि नेन्द्रियाणामहंप्रत्ययालम्बनत्वमित्याह—



### पञ्चपादिकाविवरणम्

परिपूर्णप्रत्ययात्, 'ममेन्द्रियाणी'ति चावगमात्, इन्द्रियाणामहमुल्लेखव्यतिरेकात् । तथा शरीरमपि नात्मा ; स्वप्ने शरीराकारावभासाभावेऽप्यहमित्यात्मनि परिपूर्णप्रत्ययात्, अहमुल्लेखव्यतिरेकात्, शरीराकारसंसर्ग-  
शून्येऽप्य'हमि'ति द्रष्टरि प्रत्ययः शरीरादात्मनो भेदे प्रत्यक्षप्रत्ययो भवति ; 'मम शरीरमि'ति च व्यतिरेकप्रत्ययात् ।  
\*ननु\* 'अहं काणोऽहं मनुष्यः' इति च शरीरेन्द्रियेष्वहमुल्लेखादुपचारो भेदप्रत्ययः, अहमुल्लेख एवोपचारः किं  
न स्यात् ? कस्तर्हि निर्णयः ? अहमुल्लेखस्यैवोपचारो युक्तः ; व्यतिरेकेऽप्यात्मन्यध्यासनिबन्धनत्वोपपत्तेः ।  
नचाध्यासाद् द्विचन्द्रादिवद् भेदप्रत्ययः, द्वितीयेऽपि चन्द्रे चन्द्राकारवत् स्वप्नेऽपि 'पशुरहमि'ति प्रतिभासे मनुष्य-  
शरीराद्याकारप्रत्ययप्रसङ्गात् । तथा जातमात्रस्य जन्तोर्भय-हर्ष-शोकादिरूपद्यमानो दृष्टनिमित्ताभावेऽस्मदादि-

### ऋजुविवरणम्

\*शरीराकारावभासाभावेऽपीति\* ॥ अनेन यद्यपि शरीरस्थितिरस्ति ; तथाऽपि प्रतीतौ व्यतिरेकोऽस्तीत्युक्तम् ।  
सिद्धे भेदेऽहमुल्लेखस्य व्यतिरेकस्सिध्येत्, तदभावे तत्रैवाहमुल्लेख इत्याशङ्क्याह—\*शरीराकारेति\* ॥ \*ननु\*—  
शरीरस्यात्मन्यध्यस्तत्त्वादहमुल्लेख इति कस्मादुच्यते ? भेदस्यैवाध्यस्ततया प्रतीतिरिष्यतामिति, नेत्याह—  
\*नचाध्यासादिति\* ॥ \*ननु\*—नानेन नित्यत्वसिद्धिः ; स्थिरस्याऽपि कालान्तरे विनाशदर्शनादिति चोदयति—

### तत्त्वदीपनम्

\*स्वप्न इति\* ॥ इतोऽपि नेन्द्रियाणामात्मत्वमित्याह—\*ममेति\* ॥ 'अहं चक्षुरि'त्याद्यनवगमादप्यनात्मत्वमित्याह—  
\*इन्द्रियाणामिति\* ॥ इन्द्रियादीनामनात्मत्वप्रसाधनमिष्टम् ; देहस्यात्मत्वादित्याशङ्क्याह—\*तथा शरीरमिति\* ॥  
किमवस्थात्रयेऽप्येक आत्मा ? उत बहवः ? नाद्य इत्याह—\*स्वप्न इति\* ॥ जाग्रति मनुष्यशरीराकारपरिणतभूतानामहं-  
प्रत्ययविषयत्वात्तत्रैव स्वप्नेऽप्यहमिति प्रत्ययः स्यात्, नचायमस्ति, 'देवोऽहमि'त्यपि प्रतिभासदर्शनात् । द्वितीये  
प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरित्यर्थः । 'अहं शरीरमि'त्यनुपलम्भाच्च न देहस्यात्मत्वमित्याह—\*अहमुल्लेखेति\* ॥ नच-मनुष्यत्व-  
धर्मविशिष्टे शरीरेऽहमुल्लेख इत्यपि—शङ्क्यम् ; जाग्रदादौ मनुष्य-देवशरीरभेदेऽप्यहंप्रत्ययस्यानुवर्तमानत्वादानुवृत्तमा-  
लम्बनं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ किं देहातिरिक्तात्मनि प्रत्यक्षं मानम् ? उतानुमानम् ? नाद्यः ; अनुपलम्भात्, न द्वितीयः ;  
तस्य मानत्वासिद्धेः, इत्याशङ्क्याह—\*शरीरेति\* ॥ अपिस्त्वर्थः । शङ्कां व्यावर्तयति । द्रष्टव्यमिति यः प्रत्ययः  
शरीरादात्मनोर्भेदे प्रत्यक्षप्रत्ययो भवतीति संबन्धः । अहमिति प्रत्ययस्य शरीरविषयत्वोपगमात् कथं भेदविषयत्वम् ?  
तत्राह—\*शरीरेति\* ॥ तादात्म्यं संसर्गशब्दार्थः ॥ शरीराकारः किं जडः ? उताजडः ? जडत्वे न तस्य द्रष्टृत्वम् ;  
रूपादिवत्, न द्वितीयः ; रूपादिमत्त्वेन जडतानुमानात्, ततोऽहंप्रत्ययस्यातिरिक्तविषयत्वसिद्धिरित्यर्थः । समुच्चयार्थो  
वाऽपिशब्दः, प्रत्यक्षप्रत्ययोऽपि भवतीति । नच—अनुमानस्याप्रमाणत्वादपिशब्दानुपपत्तिरिति—शङ्क्यम्, अनुमान-  
प्रामाण्यानाश्रयण इष्टसाधनतानुमानपुरःसरं भोजनादिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नचानुमानासंभवः ; देहः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृकः,  
दृश्यत्वात्, घटवदित्यादिप्रयोगसंभवादित्यर्थः । भेदविषयं प्रत्यक्षान्तरमाह—\*मम शरीरमिति\* ॥ सामानाधिकरण्य-  
प्रत्ययविरोधाद् व्यतिरेकप्रत्ययस्योपचरितत्वं शङ्कते—\*नन्वहमिति\* ॥ इन्द्रियेष्वहमुल्लेखो दृष्टान्तत्वेनोक्त इति  
द्रष्टव्यम् । वैपरीत्यं किं न स्यादित्याह—\*अहमुल्लेख इति\* ॥ विनिगमनकारणाभावाच्च देहस्यानात्मत्वसिद्धिरिति  
शङ्कते—\*कस्तर्हीति\* ॥ असिद्धो हेतुरित्याह—\*अहमुल्लेखस्येति\* ॥ अत्र शरीर इत्यनुपपन्नः । दूरस्थयोस्तत्त्वोर्भेदेऽप्येकोऽयं  
तरुतिथैक्यप्रभवद् देहात्मनोर्व्यतिरेकेऽप्यहं मनुष्य इत्यहमुल्लेखः समारोपरूपो युज्यत इत्यन्यथासिद्धत्वमित्यर्थः ॥

\*ननु\* एकस्मिन्नपि शीतांशौ भेदप्रत्ययः समारोपितो दृष्टः, तथा मम शरीरम्, इत्यस्याप्युपचरितत्वं युक्तमित्या-  
शङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ जलभाजनभेदेन भिन्नतया प्रतिभासमानेऽपि चन्द्रेऽयं चन्द्रोऽयं चन्द्र इत्यधिष्ठानचन्द्र-  
स्फुरणवद् मनुष्यशरीराख्यात्मनि स्वप्रावस्थायां पशु-देवादेः कल्पितत्वाद् मनुष्यशरीरस्यापि तत्र स्फुरणं स्यात् । नच  
—आत्ममात्रं तत्रापि भातीत्यपि—शङ्कनीयम् ; सर्वत्रानुवर्तमानस्यैकस्यात्मनोऽनङ्गीकरणादित्यर्थः । अहमुल्लेखपर्या-  
लोचनया देहस्यानात्मत्वमुक्त्वा प्रत्यभिज्ञयाऽपि तदाह—\*तथेति\* ॥ हर्षः, प्रियार्थप्रतीतिजन्यः, हर्षत्वात्, संप्रति-



### पञ्चपादिका

दर्शनात्, तस्य च प्रत्यभिज्ञानात् स्थिरत्वसिद्धेः, स्थिरस्य चावधिहेत्वानुपलब्धेर्नित्यत्वम् । निर्विकारस्य च भोगासंभवात्, विकारस्य च क्रियाफलत्वात्, क्रियावेशात्मकत्वाच्च कर्तृत्वस्य, एवमात्मकत्वाच्च संसारित्वस्य, देहादेश्च बुद्धिपर्यन्तस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेः, तद्व्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ताऽहंप्रत्यय-विषय इत्यपरे प्रतिजानते । कथं पुनस्तद्व्यतिरिक्तत्वं मन्यन्ते । तस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेरित्युक्तम् ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

वत्पूर्वानुभूतनिमित्तानुस्मृतिं कल्पयति । ततश्चास्यैवात्मनो भयादिनिमित्तदर्शनवत्तया पूर्वजन्मसंबन्धसिद्धिः ; प्रत्यभिज्ञानात् । तदेवमहमुल्लेख-प्रत्यभिज्ञाभ्यां शरीरेन्द्रिय-मनो-बुद्धि शून्यव्यतिरिक्त आत्मा सिद्धः ॥

\*ननु\* स्थायित्वेऽपि कदाचिदभावः स्यात्, \*न तावत्परतो विनाशः\* ; निरवयवस्य हेतूपरागाभावात्, स्वसंसर्गिणश्च स्वकर्मफलसाधनतयोपात्तस्य फलहेतुतयाऽऽत्मनः स्थितिहेतुत्वादविनाशकत्वात्, नापि स्वत इत्याह—\*स्थिरस्य चावधिहेत्वानुपलब्धेरिति\* ॥ स्वसत्ताप्रयुक्तविनाशहेतुत्वानुपपत्तेः, क्षणिकस्यैव तद्भावादित्यर्थः । कथं पुनस्तस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वे इति ? तत्प्रतिपादयति—\*निर्विकारस्य भोगासंभवादि-त्यादिना\* ॥ “कथं पुनस्तद्व्यतिरिक्तत्वमिति”ति स्पष्टार्थः\* ॥

\*तत्र नैयायिका मन्यन्ते\*—पार्थिवाऽऽप्य-तैजस-वायव्यानि भूम्यन्तरिक्ष-स्वर्ग-ब्रह्मलोकेषु व्यवस्थया

### अनुविवरणम्

\*ननु\* स्थायित्वेऽपीति\* ॥ \*ननु\*—शरीरादिसंसर्गोऽस्ति, तदेव विनाशकं भवेदित्याशङ्क्याह—\*संसर्गिणश्चेति\* ॥ “स्थिरस्यावधिहेत्वानुपलब्धेरिति”त्युक्तम् ; स्थिरस्याऽपि नाशहेतुत्वदर्शनात्, स्थिरत्वस्य वैषम्यमात्रत्वाच्चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*स्वसत्ताप्रयुक्तेति\* ॥ सत्त्वप्रयुक्तविनाशहेतुत्वं नास्ति ; विद्यमानेऽपि सत्त्वेऽनन्तरं क्षणिकस्यैव विनाशदर्शनादिति भावः । \*ननु\*—“भूतसङ्घातस्तावदि”ति व्यर्थम् ; पूर्ववादिनाऽप्यङ्गीकारादित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र नैयायिका इति\* ॥ \*ननु\*—गन्धदर्शनेन पार्थिवत्वे भूतान्तरगुणादीनां रूपादीनामुपलब्धेस्तदारब्धत्वमपीत्या-

### तत्त्वदीपनम्

पन्नवत्, तथा शोकोऽप्रियार्थप्रतीतिजन्यः ; शोकत्वात् ; संप्रतिपन्नवदित्यादिप्रयोगाद् हर्षादेस्तन्निमित्तत्वमधिगतम् । तच्च निमित्तं किं तत्कालीनम् ? उत जन्मान्तरीयम् ? नाद्य इत्याह—\*जातमात्रस्येति\* ॥ अपरुढेन्द्रियस्येत्यर्थः । तस्माद् द्वितीयः परिशिष्यत इत्याह—\*पूर्वानुभूत इति\* ॥ अस्तु को दोष इति, अत आह—\*ततश्चेति\* ॥

अन्यानुभूतेऽन्यस्य स्मरणसंभवादनुभवितुः स्मारकत्वं वक्तव्यम्, तच्च शरीरात्मवादेऽनुपपन्नम् ; शरीरभेदस्य प्रत्यक्षत्वात्, तस्माद् देहातिरिक्त आत्मा सिद्ध इत्यर्थः । नास्तिकमतनिराकरणमुपसंहरति—\*तदेवमिति\* ॥ आत्मनो देहातिरेकं स्थायित्वं चोपगम्य नित्यत्वमाक्षिपति—\*ननु स्थायित्व इति\* ॥ सर्वदा सत्त्वे प्रमाणाभावात् प्रलयावस्थायामभाव इत्यर्थः । किमात्मनो नाशः सहेतुकः ? उत निर्हेतुकः ? नान्त्यः ; स्थित्यवस्थायामपि नाश-प्रसक्तेः, आद्येऽपि स्वनाशः किं स्वतः ? उत परतः ? न तावत्परत इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ सावयवद्रव्यस्य हेतूपरागाद्विनश्वरत्वं दृष्टम् । आत्मा निरवयव इति कथं ततो नश्येदित्यर्थः । किं च तन्नाशकं दृष्टं देहादि ? उतान्यत् ? नाद्य इत्याह—\*संसर्गिण इति\* ॥ नापि द्वितीयः ; तदतिरूपणादित्यर्थः ॥

स्वयमेव स्वनाशकमिति पक्षं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ अपेक्षितं हेतुं दर्शयति—\*स्वसत्तेति\* ॥ स्वयं स्वनाशकं चेत्, तदा स्वसत्तायामपि नाश आपद्येत । स्वसत्ताक्षणादुत्तरक्षणे नाशकं चेत्, तदा क्षणिकत्वापत्ति-रित्यर्थः । देहादिव्यतिरिक्तत्वं नित्यत्वमङ्गीकृत्य तस्य कर्तृत्वादिकमाक्षिपति—\*कथं पुनरिति\* ॥ असंसारि-ब्रह्मैक्यानन् कर्तृत्वादिसंभव इत्यर्थः । ब्रह्मैक्यमेवासिद्धमित्याशङ्क्याह—\*तत्प्रतिपादयतीति\* ॥

भूतसंघातस्तावच्छरीरमिति व्यर्थम् ; सर्वैरपि तथोपगमादित्याशङ्क्य विप्रतिपत्तिं दर्शयति—\*तत्रेति\* ॥ भूमौ शरीरं पार्थिवम्, अन्तरिक्षे च वरुणलोके आप्यम्, स्वर्गे तैजसम्, ब्रह्मलोके वायव्यमित्वेवं व्यवस्था कस्मादित्या-



## पञ्चपादिका

कथं तस्य भोक्तृत्वानुपपत्तिरिति ? उच्यते ;—भूतसङ्घातस्तावत् शरीरम् । तत्र व्यस्तानां

## पञ्चपादिकाविवरणम्

शरीराणि, नानैकैर्मूतैरेकं शरीरमारब्धमिति । तत्रास्मदादिशरीरं पार्थिवमेव ; “पार्थिवगुणान्तरोपलब्धेरित्य-  
क्षपादसूत्रात्, शरीरे गन्धविशेषोपलब्धेरित्यर्थः । नच रूप-रस-स्पर्शा भूतान्तरसमवायं गमयन्ति ; पार्थिव-  
स्यापि तेषां गुणत्वात् । \*ननु\* क्लेदन-पाचन-व्यूहनावकाशानां शरीरे दर्शनाद् भूतपञ्चकारब्धत्वं शरीर-  
स्येति, \*ननु\* ; दृतिवस्त्रोदकादिवद् भूतान्तरसंयोगादपि व्यूहनाद्युपपत्तेः । श्रुतिश्च “पृथिवीं शरीरमि”ति  
पार्थिवत्वमेव शरीरस्य दर्शयति । \*वैशेषिकास्तु\*—प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यत इति,  
वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं शरीरमप्रत्यक्षं स्यात्, तस्मात्पार्थिवमेव शरीरमिति—\*कल्पयन्ति\* ॥  
तान् प्रत्याह—\*भूतसंघातस्तावच्छरीरमिति\* ॥ वस्ते क्लेदनस्य, जले पाकस्य, द्रवौ व्यूहनस्य, जलाग्निपवन-

## ऋजुविवरणम्

शङ्क्याह—\*नच रूप-रसेति\* ॥ इदानीमसाधारणगुणदर्शनेन चोदयति—\*ननु क्लेदन-पचनेति\* ॥ \*ननु\*—  
निश्चिते पार्थिवत्वे संयोगजत्वं क्लेदनादीनाम्, तदेव कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*श्रुतिश्चेति\* ॥ “भूतसङ्घातस्ता-  
वदि”त्युक्तम् ; भूतपञ्चकारब्धत्वग्राहकाभावात्, शरीरक्लेदनादीनां संयोगजत्वेनाप्युपपत्तेरिति यदुक्तम्,  
तन्निराकरोति—\*वस्ते क्लेदनस्येति\* ॥ \*ननु\*—श्रुतिरुदाहृता, तत् कथं पञ्चात्मकत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—

## तत्त्वदीपनम्

शङ्क्याह—\*नानेकैरिति\* ॥ कल्पनागौरवप्रसङ्गान्नेकेहेतुकल्पनमित्यर्थः । तथाऽपि पृथिव्यां पार्थिवमेवेति  
व्यवस्था किंनिबन्धना ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ उक्तेऽर्थे न्यायसूत्रं प्रमाणयति—\*पार्थिवेति\* ॥ पृथिव्याश्रय-  
गुणविशेषस्य शरीर उपलम्भादिति सूत्राक्षरार्थः । किं तद् गुणान्तरमिति वीक्षायामाह—\*शरीर इति\* ॥  
पृथिवीगुणोपलम्भाद् यथा पृथिवीसमवायिकारणत्वम्, तद्वदितरगुणोपलम्भादितरारभ्यत्वं किं न स्यादित्या-  
शङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ भूतान्तराणां कारणत्वेन शरीरे न समवायं संश्लेषं गमयन्तीत्यर्थः । तेषां रूपादीनां  
पृथिवीगुणत्वात् पार्थिवस्यापि शरीरस्य तद्गुणत्वं युक्तमित्यर्थः ; अवाद्यसाधारणगुणदर्शनाद्वाद्यारब्धं शरीरमिति  
शङ्कते—\*ननु क्लेदनेति\* ॥ व्यूहनम्—बृंहणमित्यर्थः । गुणान्तरदर्शनमन्यथासिद्धमिति समाधत्ते—\*न दृतीति\* ॥  
दृतेः पार्थिवत्वेऽपि वायुसंयोगाद् व्यूहनवदपां योगाद् वस्ते क्लेदनवदग्निसंयोगादुदकौष्ण्यवच्छरीरस्य पार्थिवत्वेऽप्यवाद्य-  
पटम्भवशाद् व्यूहनादिकं युक्तमित्यर्थः । “दृतिवस्त्रोदकादि”वदित्यत्रादिशब्देन पृथिवीसंयोगात्सुवर्णे गुरुत्ववदि-  
त्येतदुच्यते । श्रुतिपर्यालोचनायामपि शरीरस्य पार्थिवत्वमेवेत्याह—\*श्रुतिश्चेति\* ॥ “पृथिवीं शरीरमि”त्यत्र प्रलय-  
समये पृथिव्यां लय उक्तः, स नोपपद्यते पृथिव्यनुपादानत्वे, तस्मात्पार्थिवत्वम् ; इतरलयानभिधानाद् इतरानारब्धत्व-  
मित्यर्थः ॥

वैशेषिकशास्त्रपर्यालोचनायामपि शरीरस्य पार्थिवत्वमेवेत्याह—\*वैशेषिका इति\* ॥ वैशेषिकास्त्वित्थं  
कल्पयन्तीति संबन्धः । कल्पनामेवाह—\*प्रत्यक्षेति\* ॥ प्रत्यक्षं चाप्रत्यक्षं चेति प्रत्यक्षाप्रत्यक्षे, तयोर्वृत्तिवर्तनं यस्य  
स तथोक्तः, तस्येति विग्रहः । के ते प्रत्यक्षाप्रत्यक्षे ? तत्र वर्तमानस्य शरीरस्य वा कथमप्रत्यक्षत्वम् ? तत्राह—  
\*वाच्येति\* । अप्रत्यक्षत्वादित्येतत् प्रसङ्गपरतया व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् । विप्रतिपन्नम्, अवाक्षुषम्, रूपिद्व्य-  
त्वात्, मनोवत्, इत्यनुमानाद्वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षत्वम् ; तथाच शरीरं न प्रत्यक्षाप्रत्यक्षारब्धम्, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षार-  
ब्धत्वेऽप्रात्यक्षत्वप्रसङ्गात्, वायु-वनस्पतिसंयोगवत् । प्रत्यक्षं च ततः । तस्मान्न प्रत्यक्षाप्रत्यक्षारब्धमित्यर्थः ॥

पञ्चानां भूतानामसाधारणगुणदर्शनात् पञ्चभूतारब्धं शरीरमिति समाधत्ते—\*तान्प्रतीति\* ॥ असाधारण-

## प्रदीपः

बृहन्नामवसरो वर्तत इति वेदान्तेभ्यः प्रसिद्धोऽप्यात्मा विप्रतिपन्नरूप एव प्रतिपद्यत इति भावः । \*ननु\*—यदि सर्वेऽपि  
वादा युक्ति-वेदान्तप्रमाणसिद्धाः, तर्हि सर्वेषामेषां प्रामाणिकत्वात् परस्परविरोधे वेदवाक्यानां ग्रहणाग्रहणयोरिव सर्व-



CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.



## पञ्चपादिका

अस्तु तर्हि क्रमेण विरोधाद् वरगोष्ठीवदिति, नैतदेवं युक्तम्; तत्र भोग्यस्यासाधारणत्वात्, असाधारणत्वञ्च प्रतिपुरुषनियमात्, इह पुनर्विपरीतम्; बहूनां सन्निधौ साधारणे च भोग्ये प्रतिनियतभोग्यवस्थाहेत्वसम्भवात् । \*अस्तु\* तर्हि समूहस्य; तिलज्वालावच्चेतनासमन्वयोपपत्तेः,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

अस्तु तर्हि क्रमः । \*ननु\* क्रमपक्षेऽपि भोक्तृणां न संघातापत्तिरिति, तत्राह—\*विरोधाद् वरगोष्ठीवदिति\* ॥ परिहर्तुं दृष्टान्ताद् वैषम्यमाह—\*नैतदेवमिति\* ॥ दार्ष्टान्तिकं विभजते—\*इह पुनरिति\* ॥ \*अयमत्राशयः\*—यदि तावद् रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानामन्यतमोऽपि चर्तुणां भोक्तृणां विषयः, तदा साधारणे विषये क्रमभोगे कारणं नास्ति, यदि रूपादिषु प्रत्येकं भूतानां भोक्तृत्वविषयव्यवस्था, तदाऽपि युगपत् सर्वविषयसन्निधाने क्रमानुपपत्तिः । यथैकस्मिन् मुहूर्ते प्रत्येकं भोग्यकन्यावस्तुनि सन्निहिते वराणां गुणप्रधानतया संघाताभावः, तद्वद् भोक्तृषु च प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरिति । अस्तु तर्हि समूहस्य भोक्तृत्वम् । \*ननु\* एकस्मिन् भूतेऽविद्यमानं चैतन्यं कथं संघाते जन्यत इति ? तदाह—\*तिलज्वालावदिति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किं संहतानां भोक्तृत्वम् ? आहोस्विद् भोक्तृणां संहतिरिति ? संघातस्यावस्तुत्वाद् भोक्तृत्वानुपपत्तेः, वस्तुत्वेऽपि भूतेभ्यो भेदे पञ्चमतत्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्, अभेदे भूतान्येव संघात इति तेषामेव भोक्तृत्वात् । तत्र संहतानां भोक्तृत्वे संहतिहेतुर्वक्तव्यः । आगामी भोग इति चेत्, तं प्रति भूतानां समानत्वाद् गुण प्रधानभावेन संघातानुपपत्तिरित्याह—

## ऋजुविवरणम्

क्रमसम्भवादेकस्मिन् सर्वोपभोग्ये व्यवस्थोपपत्तिर्वरगोष्ठीवदेव, नतु साधारणत्वम् । सङ्घातोऽपि निरस्तः, अतोऽयुक्तं दूषणमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*यदि तावद्रूपरसेति\* ॥ कन्यावस्तुवन्नासाधारण्यम्; एकस्मिन् गन्धादावनेकेषां भोगदर्शनादिति भावः ॥ “नैतदेवम्; भोगेष्वि”त्यादिना टीकाग्रन्थेन समूहो न संभवति, भोक्तृणां प्राधान्यादित्युक्तमिव प्रतिभाति, तदयुक्तम्; समूहस्य भोग इति चोदितत्वात् तेषां भोक्तृत्वानुवादानुपपत्तेः, समूहभोगस्यानिरस्तत्वाच्च “समूहिनां भोगः” इति वक्तुमशक्यत्वात्, असिद्धं पूर्वं भोक्तृत्वं प्राधान्यञ्चेत्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र वक्तव्यं किं संहतानामिति\* ॥ समूहपक्षहानेनैव निराकरणे कारणमाह—\*सङ्घातस्यावस्तुत्वादिति\* ॥ अन्योन्यं गुण-

## तत्त्वदीपनम्

व्यवस्थाऽनुपपन्नेत्युक्तम्; भोग्यस्य साधारण्यासिद्धेरित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अयमत्राशय इति\* ॥ किं भूतानि प्रतिनियतविषयाणि ? उत न ? इति विकल्प्य द्वितीयं दूषयति—\*यदि तावदिति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*यदीति\* ॥ उक्तं दृष्टान्तं प्रतिदृष्टान्तेन विधटयति—\*यथेति\* ॥ भूतानां प्रत्येकमात्मत्वे ‘य एवाहं रूपमद्राक्षं स एवेदानीं शृणोमी’ति प्रत्यभिज्ञानुदयश्चेत्याह—\*भोक्तृषु चेति\* ॥ मिलितानां भोक्तृत्वकल्पमुत्थापयति—\*अस्तु तर्हीति\* ॥ \*समूहस्येति\* ॥ संहत्युपाधिकस्येत्यर्थः । एकैकस्य शालिबीजस्य यवाङ्कुरजननासमर्थस्य मेलनेऽपि तदजनकत्ववद् भूतानामपि मिलितानां न भोक्तृत्वमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ \*एकस्मिन्निति\* ॥ एकैकस्मिन्नित्यर्थः । संघात इति सतिसप्तमी । दृष्टत्वान्न विरोध इत्याह—\*तदाहेति\* । विकल्पासहत्वान्नायमपि साधुरित्याह—\*तत्र वक्तव्यमिति\* ॥ \*संहतानामिति\* ॥ संघातविशिष्टानामित्यर्थः । भूतानामेव भोक्तृत्वम्, संघातस्तूपलक्षणमिति द्वितीयविकल्पार्थः ॥ संघाते निरस्ते तद्विशिष्टे भोक्तृत्वं निरस्तं भवतीत्यभिप्रेत्य संघातं दूषयति—\*संघातस्येति\* ॥ संघातः किमसन् ? उत सन् ? असत्त्वे विशिष्टस्य भोक्तृत्वासंभव इत्याह—\*संघातस्येति\* ॥ द्वितीयेऽपि नये तस्य भूतेभ्यो भिन्नत्वम् ? अभिन्नत्वं वा ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*वस्तुत्वेऽपीति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*अभेद इति\* ॥ “तेषामेव भोक्तृत्वादि”त्यत्र संघाताभावे शरीरादन्यत्रापि भोक्तृत्वप्रसङ्ग इति शेषः । संघातनिमित्ताभावादपि न संघात इत्याह—\*तत्र संहतानामिति\* ॥ नच हेतुर्निरूपयितुं शक्यत इत्यर्थः । भोगौ हेतुरिति शङ्कते—\*आगामीति\* ॥ भोगस्य निमित्तत्वमङ्गीकृत्य संघातं दूषयति—\*तं प्रतीति\* ॥ भूतानां भोक्तृतया भोगं प्रति प्राधान्यस्य समानत्वात्



## पञ्चपादिका

मा भूत् प्रत्येकं युगपत् क्रमेण वा—\*नैतदेवम्\* ; भोगेषु समूहासंभवात् । कथमसंभवः ? भोक्तुर्भोगं प्रति प्राधान्यात् । \*ननु\* भोगेऽपि समूहो दृष्टः—यथा स्त्रीपुंसयोः, \*नैतत् सारम्\* ; सन्दिग्धत्वात्, समूहस्य ? उत तद्व्यतिरिक्तस्येति । तिलज्वालायान्तु विपरीतम् ; समूहकार्ये समूहिनां गुणभावोपपत्तेः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*नैतदेवं भोगेषु समूहासम्भवादिति\* ॥ \*ननु\* भोगान्वयात् प्राग् भूतानां कर्तृत्वात् कर्तृणां भोगे गुणभावेन संघातोपपत्तिरिति चोदयति—\*कथमसंभव इति\* ॥ अन्योन्यं गुण-प्रधानत्वाभावाद् भोगं प्रत्यपि प्राधान्याद् भोक्तृणां न संघात इति परिहरति—\*भोक्तुर्भोगं प्रति प्राधान्यादिति\* ॥ \*ननु\* भोगे शेषिणि तादर्थ्येन समूहो दृश्यत इति चोदयति—\*ननु भोगेऽपीति\* ॥ तत्र शरीरव्यतिरिक्तयोरेवात्मनोभोक्तोस्तादर्थ्येन शरीरयोगुण-प्रधानभावेनान्वयः, न भोक्तोरेवेत्यभिप्रेत्य परिहरति—\*नैतत्सारमिति\* ॥ \*ननु\* ज्वालायां तिलानां गुणभाववद् भोगे संघात इति, नेत्याह—\*तिलज्वालायां तु विपरीतमिति\* ॥ अत एव भोक्तृणामेव संहतिपक्षोऽनुपपन्नः ।

\*ननु\* कोऽयं संघातो नाम ? नच वनवदेकदेशतामात्रम् ; तद्व्यापिनां भूतानां सर्वत्र विद्यते, इति सर्वत्र

## ऋजुविवरणम्

प्राधान्याभावेऽपि पण्णां यागानामन्वयो दृष्टः, तद्वत् स्यादित्याशङ्क्याह—\*भोगं प्रत्यपि प्राधान्यादिति\* ॥ अयमर्थः—स्वार्थत्वेन भोगो निर्वर्त्यः, तेन तु भोग आत्मानं लभतामिति ; अतः प्राधान्यमिति । “\*ननु\* भोगेऽपी”त्युक्तम् ; प्रधानानामन्वयासंभवात् समूहमात्राविरोधित्वादित्याशङ्क्याह—\*ननु भोगे शेषिणीति\* ॥ “नैतत्सारम्, सन्दिग्धत्वादि”ति परिहारो न युक्तः ; समूहस्य भोग इति चोदितत्वात्, सन्देहोपन्यासे प्रयोजनाभावात् । नच—भोगार्थं समूहनिराकरणमनेन क्रियत इति—युक्तम् ; व्यधिकरणत्वापत्तेरित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र शरीरव्यतिरिक्तयोरिति\* ॥ “न तत्रापि कस्ये”त्यनवधारणत्वमुक्तम्, तदयुक्तम् ; यस्य सन्निधिर्यत्संबन्धीयभोगस्तस्येत्यवधारणसिद्धेरित्याशङ्क्या-

## तत्त्वदीपनम्

कस्यचिद्गुणत्वं कस्यचित्प्राधान्यमित्यत्र हेत्वभावात् संघात इत्यर्थः । भोगेष्विति निमित्तसप्तमी । प्राधान्यमसिद्धमिति शङ्कते—\*ननु भोगेति\* ॥ कर्तुः क्रियां प्रति गुणत्वं सर्वसंमतमित्यर्थः । भोगापेक्षया भूतानां गुणत्वेऽपि न परस्परमङ्गाङ्गीभाव इत्याह—\*अन्योन्यमिति\* ॥ स्वातन्त्र्येण प्राधान्याविशेषादित्यर्थः । भोग इत्युक्ते कस्य भोग इति स्वाम्यन्वयाकाङ्क्षादर्शनात् प्राधान्येन भूतानामन्वय इत्याह—\*भोगमिति\* ॥ गुणप्राधान्याभावेऽपि संघातः स्यादिति शङ्कते—\*ननु भोग इति\* ॥ पण्णां यागानामेकं फलं प्रति समुच्चयवद् भूतानामपि भोगं प्रति समुच्चयो युक्त इत्यर्थः । स्त्री-पुंसयोश्चेतनयोरिव भोगे समूह इति चोदिते किं तत्रापि भोगः समूहस्य ? उत तद्व्यतिरिक्तस्य ? इति संदिग्धत्वादिसमाधानमनुचितम्, सर्वत्र चेतनस्य भोक्तृतायाः संभवादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ \*तत्र दृष्टान्त इत्यर्थः । भोक्तोरिति सतिसप्तमी । समत्वेऽपि संघातो दृष्टः, तद्वदत्रापि शङ्कते—\*ननु ज्वालायामिति\* ॥ ज्वालायाः कार्यत्वात् तत्र तिलानां गुणभावेनान्वयेऽप्यात्मनां न तत्र गुणभावेन संघात इत्याशयेनाह—\*नेत्याहेति\* ॥

संघातविशिष्टानां भोक्तृत्वपक्षं निराकृत्य स्वतो भोक्तृणां भोगे संघातसहकार्यपक्षेति पक्षं प्रतिक्षिपति—\*अत एवेति\* ॥ गुण-प्राधान्यभावासंभवोऽतःशब्दार्थः । समस्तानां भोक्तृत्वपक्षे दोषान्तरं समुच्चिनोति—\*ननु कोऽयमिति\* ॥ किमेकदेशस्थत्वमात्रं संघातः ? उत एकोऽवयवी ? आहो एकद्वयबुध्यालम्बनयोग्यतापत्तिः ? अथवा एकार्थक्रियायां युगपदन्वितत्वम् ? किंवा संश्लेषमात्रम् इति किंशब्दार्थः । आद्यं दूषयति—\*नच वनवदिति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*तद्व्यापिनामिति\* ॥ एकदेशस्थतामात्रं तच्छब्दार्थः । एकदेशस्थत्वं संघात इति पक्षे देहाद् बहिरपि



## पञ्चपादिका

अस्त्वेकस्य तर्हि नियतो भोगः, न ; तत्रापि कस्यैकस्येत्यनवधारणात् । किमवधारणेन ?

## पञ्चपादिकाविवरणम्

चैतेन्य-भोगयोः प्रसङ्गात् । नचावयव्यारम्भः ; तस्य भूतेभ्यो भेदे तत्त्वसंख्यातिरेकात्, अभेदे च भूतमात्र-  
तया संघाताभावात्, भेदाभेदानङ्गीकरणात् । \*ननु\* स्वतन्त्रं भूतचतुष्टयमेव ; अवयव्यादीनां पारतन्त्र्यात्  
संख्यातिरेकाभावात्, \*तर्हि\* न भूतानां भोक्तृत्वम्, किंत्ववयविन एव । तत्र भूतव्यापारानपेक्षया स्वयमेव  
भोक्तुरवयविनः परतन्त्रताऽभावात् संख्यातिरेकः स्यात्, जलादेश्च पृथिव्यादितन्त्रत्वान्मूना च संख्या  
स्यात् । नचैकद्रव्यबुध्यालम्बनयोग्यतापत्तिः संघातः ; अर्थस्वभावेनैकत्वापत्त्ययोगात्, अनेकेष्वेकत्वबुद्धेर्भ्रम-  
त्वात् । नचैकार्थक्रियायां युगपदन्वयः संघातः ; काष्ठान्श्रेण वह्निना वायुसमुद्भूतेन जले दह्यमानेऽपि  
संघाताद् भोगप्रसङ्गात् । नचाग्न्यः पिण्डवत्संश्लेषः संघातः ; शरीरे वायोस्तथा संश्लेषाभावात्, वह्निव्याप्ते  
चायः पिण्डे समापीतजले वायुसंयुक्ते च भोगप्रसङ्गात् । तस्मान्नास्ति भोगनिमित्तः संघात इति ॥

एवं तर्ह्येकस्यैव भूतस्य भोग इत्याह—\*अस्त्वेकस्य तर्हि नियत इति\* ॥ रूप-रस-गन्ध-स्पर्शेषु  
भोग्येषु कठिनमृदुपाकचलनगुणवति भूतसंघाते च भोगान्वयिनि परिदृश्यमाने कस्यैकस्य भोग इत्यनवधारितो

## ऋजुविवरणम्

वतारयति—\*रूप-रस-गन्ध-स्पर्शेष्विति\* ॥ “यद्येवमि”त्यादिना समत्वेन गुणभावानुपपत्तेः कार्यात्मकेषु भोक्तृत्वं

## तत्त्वदीपनम्

भूतानामेकदेशस्थत्वसंभवात् तत्र चैतन्योत्पत्त्या भोक्तृत्वसंभवादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*नचेति\* ॥ अवयवी  
चासावारम्भश्चेत्यवयव्यारम्भः । आरभ्यत इत्यारम्भः, आरब्धोऽवयवीत्यर्थः ॥

किं तस्यावयवेभ्योऽन्यत्वम् ? उतानन्यत्वम् ? अथवाऽन्यानन्यत्वम् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*तस्येति\* ॥  
पृथिव्यसेजोवायवश्चत्वारि तत्त्वानीति लौकायतिकेनाङ्गीक्रियते, ततस्तदतिरिक्तावयव्यङ्गीकरणे सिद्धान्तक्षतिरित्यर्थः ।  
द्वितीयेऽपि किं संघातस्य भूतान्तर्भावः ? उत भूतानां संघातः ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*अभेद इति\* ॥ द्वितीये  
भूतासिद्धिरिति द्रष्टव्यम् । तृतीयं प्रत्याह—\*भेदाभेदेति\* । भूतेभ्यो भिन्नोऽवयवी, नच संख्यातिरेकः ; स्वतन्त्र-  
त्वानङ्गीकृतेः, इति शङ्कते—\*ननु स्वतन्त्रमिति\* ॥ गुणादय आदिशब्दार्थः । अस्मिन् पक्षे भूतात्मवादप्रसङ्ग  
इत्याह—\*तर्हि\* ॥ भूततन्त्रावयविभोक्तृत्वमेव भूतभोक्तृत्वम्, इति न सिद्धान्तक्षतिरित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥  
अवयविन आत्मत्वे भूततन्त्रत्वं न स्यात्, इतरथाऽऽत्मत्वानुपपत्तिरिति संख्यातिरेकस्तदवस्थ इत्यर्थः । पारतन्त्र्यं  
किमन्यतया प्रतीयमानत्वम् ? उतान्यारभ्यत्वम् ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*जलादेरिति\* ॥ द्वितीये पृथिव्या  
जलारभ्यतया न्यूनतापत्तिरिति द्रष्टव्यम् । तृतीयं दूषयति—\*नचेति\* ॥ एकमिदं द्रव्यमिति बुद्धिं प्रत्यालम्बनयोग्यत्वं  
न संघात इत्यर्थः । बुद्धिशब्देन किं प्रमाणज्ञानं विवक्षितम् ? उतेतरत् ? नाद्य इत्याह—\*अर्थेति\* ॥ \*अर्थस्वभावेनेति\* ॥  
परमार्थत इत्यर्थः । भूतानां वस्तुत एकरायोगादेकमिदं द्रव्यमिति ज्ञानस्य प्रामाण्यं न घटत इत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति  
—\*अनेकेष्विति\* ॥ न वास्तवः संघातः स्यादिति शेषः । चतुर्थं प्रत्याह—\*नचेति\* ॥ एकार्थक्रियायामिति ॥  
प्रमातृत्वादिक्रियायामित्यर्थः । क्रमेणैकार्थक्रियासाधनानि व्यावर्तयति—\*युगपदिति\* ॥ काष्ठानलानिल-जलानां  
दहनहेतुतया तत्र चैतन्यभोगप्रसङ्ग इत्यर्थः । पञ्चमं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ अतिव्याप्तिश्चेत्याह—\*वह्नीति\* ॥  
भोगाभावेऽपि संघातसंभवान्न तन्निरसनमित्याशङ्क्याह—\*तस्मादिति\* ॥ अप्रयोजकत्वमितरस्येत्यर्थः । चतुर्णां  
भूतानां भोक्तृत्वाविशेषेणैकस्य भोग इत्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—\*एवं तर्हि\* ॥ किं चतुर्णां प्रत्येकमात्मत्वम् ?  
उतैकस्य ? इति विकल्पेऽन्त्योऽनूदित इति द्रष्टव्यम् । भूतविषयसन्निध्यनुरोधेन भोगव्यवस्थामाशङ्क्य, सर्वेषां  
विषयाणां भूतानां च सन्निधेर्न भोगव्यवस्थेत्याह—\*रूपसेति\* ॥ “भोगान्वयिनी”ति कथमुक्तम् ? भूतानां  
भोक्तृत्वादर्शनादिति चेत्, मैवम् । भोगान्वयित्वेनाभिमत इत्यर्थात् । विवक्षितार्थोपपत्तेरित्यत्र कोऽसौ



## पञ्चपादिका

विनाऽपि तेन विवक्षितार्थोपपत्तेः ? यद्येवम्, समेषु केषाञ्चिद्गुणभावानुपपत्तेरयुक्तः कार्यात्मकेषु । एवं कारणात्मकेष्वपि समानश्चर्चः ; भूतस्वाभाव्याविशेषात् । तथोभयात्मके समूहे । तस्माद् देहादिव्यतिरिक्तमहं प्रत्ययविषयं मन्यन्ते ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

भोगः स्यादिति दूषयति—\*न तत्तापीति\* ॥ \*ननु\* यस्य कस्यचिद् भोगः स्यात्, तावदेव शरीरव्यतिरिक्तभोक्तुरभावो विवक्षितः सिद्ध इत्याह—\*किमवधारणेनेति\* ॥

परिहरति—\*यद्येवमिति\* ॥ चतुर्णां भोगान्वयदर्शनाद् विशेषनिर्धारणाभावाच्चतुर्णुं भोक्तृषु संघातानुपपत्तेरयुक्तं शरीरात्मकेषु भूतेषु भोक्तृत्वमिति । इन्द्रियाण्येव भूतात्मकान्यात्मेति लोकायतभेदः, तन्नोक्तं दूषणजातमिति दिशति—\*एवं कारणात्मकेष्वपीति\* ॥ यद्येकैकभूतारब्धान्येकैकेन्द्रियाणि, तत्र प्रत्यभिज्ञानाभावादयो दोषाः । यदि भूतचतुष्टयारब्धमेकैकेन्द्रियम्, तदा संघातानुपपत्त्यादयो दोषाः, इति कार्य-करणात्मकः संघातो भोक्तृत्वान्ये लोकायतिकाः, तत्राह—\*तथोभयात्मक इति\* ॥ प्रत्यभिज्ञासंघातानुपपत्तेरिति ॥

\*ननु\* कानीन्द्रियाणि नाम ? गोलकमात्राणीति सुगताः ; तच्छक्तय इति मीमांसकाः ; तदव्यतिरिक्तानि द्रव्यान्तराणीत्यन्ये सर्वे । न तावद्गोलकमात्रम् ; सर्पादीनां तद्विरहिणामपि शब्दार्थोपलब्धेः, “शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः” । “तस्मात्पश्यन्ति पादपाः” इत्यादिशास्त्राद् वृक्षादीनां गोलकविरहिणां कर्मफलभोगस्थाना-

## ऋजुविवरणम्

नास्तीत्युक्तम्, तदप्रस्तुतम् ; एकस्य भूतस्यानिर्धारितस्य भोक्तृत्वमिति चोद्यस्यापरिहृतत्वात्, तत्परिहारेण विना प्रकृतोपसंहारायोगान्नायं परिहार इत्याशङ्क्यापाद्यैतदुक्तमित्याह—\*चतुर्णां भोगान्वयेति\* ॥ \*ननु\*—सर्वकारकाणां क्रियान्वयेऽपि नैकरूपत्वम्, एवमत्राप्येकस्यैव भोक्तृत्वम्, नेतेरपामित्याशङ्क्याह—\*विशेषनिर्धारणाभावादिति\* ॥ सति भोगान्वये विशेषानिर्धारणे च सर्वेषामेव भोक्तृत्वं भवेदिति भावः ॥ “एवं कारणात्मकेष्वपी”ति कथमतिदेशः कृतः ? तत्र व्यस्त-समस्तविकल्पादिना सङ्घातानुपपत्त्यादयो दोषा उक्ताः, न तेषामत्रावसरः ; एकैकस्थैव भोक्तृत्वे विकल्पदूषणानवतारात्, इत्याशङ्क्य विविच्य दर्शयति—\*यद्येकैकभूतारब्धानीति\* ॥ आरम्भकभेदादिति भावः । \*सङ्घातानुपपत्त्यादय इति\* ॥ आरम्भकभूतसंसर्गो न भवेदित्यर्थः । आदिशब्देन क्रमभेदादिपरिग्रहः । प्रसङ्गात् स्वतन्त्रोपयोगादिन्द्रियस्वरूपनिरूपणार्थमाह—\*ननु कानीन्द्रियाणीति\* ॥ गोलकाभावादेव तच्छक्ति-

## तत्त्वदीपनम्

विवक्षितार्थः ? इति न ज्ञायते, तत्राह—\*ननु यस्येति\* ॥ अनिर्धारितविशेषस्यैकस्य भोक्तृत्वशङ्कायां तन्निरसनं विहाय समेषु गुणभावानुपपत्तिप्रदर्शनं कस्मात् ? ततः परिहाराभासः, इत्याशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* । सम्यक्परिहारमेवाह—\*चतुर्णामिति\* ॥ तत्रैकस्य प्राधान्यम्, इतरेषां तु सहकारित्वम्, ततश्चतुर्णां भोगान्वयदर्शनं युक्तमित्याशङ्क्याह—\*विशेषेति\* ॥ एकस्य प्राधान्यम्, इतरेषां गुणत्वम्, इत्यत्र नियामकाभावादित्यर्थः । अतिदिष्टं न्यायं स्पष्टयति—\*यद्येकेति\* ॥ व्यस्तानां समस्तानां च भोगासंभव आदिशब्दार्थः । \*संघातानुपपत्त्यादय इति\* ॥ अत्रारम्भकभूतसंसर्गस्य क्रमभोगादेश्चासंभवानुपपत्तिरित्यादिशब्दार्थः । इन्द्रियाणामात्मत्व-निरासप्रसङ्गनेन्द्रियस्वरूपं निरूपयितुं प्रश्नमुत्थापयति—\*ननु कानीति\* ॥ इन्द्रियाणां प्रसिद्धतया प्रश्नानवसरमाशङ्क्य विप्रतिपत्तेः संदेहादस्त्यवसर इत्याह—\*गोलकेति\* ॥ मात्रावाधिष्ठात्रिन्द्रियं व्यावर्त्यते । “तदव्यतिरिक्तानी”त्यत्र गोलक-शक्ती तच्छब्दार्थः । गोलक-तच्छक्तिव्यतिरिक्तमिन्द्रियमिति वक्तुमाद्यं पक्षं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ वृक्षादिरादिशब्दार्थः ।

इतोऽपि न गोलक-मात्रमिन्द्रियमित्याह—\*शरीरजैरिति\* ॥ “स्थावरतां नरः” इत्येतस्माच्छास्त्रात् कर्मफल-भोगस्थानतावगमेन वृक्षादीनां शब्दाद्युपलब्ध्यभ्युपगमान्न गोलकमात्रमिन्द्रियमिति निश्चीयते । “तस्मात् पश्यन्ती”त्या-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

वगमेन शब्दार्थोपलब्ध्यभ्युपगमात्, वृक्षादिहिंसाप्रतिषेधाच्च प्राणित्वावगमात् । अत एव न तच्छक्तयः ; शक्तिमद्द्रव्यान्तरकल्पनाल्लघीयः प्रतिपन्नस्थानेषु शक्तिकल्पनमिति चेत्, तर्ह्यात्मन एव सर्वज्ञानसामर्थ्यं क्रमकारि कल्प्यताम् ; सर्वगतस्याप्यात्मनः शरीरप्रदेशे ज्ञानपरिणामवद्गोलकप्रदेशेषु ज्ञानपरिणामात्, गोलक-प्रदेशेषु ज्ञानपरिणामाद् गोलकानां ज्ञानान्वयव्यतिरेकोपपत्तेः, अनिन्द्रियत्वेऽपि शरीरवत् । सन्तु तर्हीन्द्रियाणि गोलकव्यतिरिक्तानि शक्तिमन्ति द्रव्याणि स्थानविशेषसम्बन्धाच्चक्षुरादिशब्दवाच्यानि, न ; तेषु प्रमाणाभावात् । रूपाद्युपलब्ध्य एव कर्तृव्यापाराः करणानुमाने लिङ्गमिति चेत्, न ; स्वव्यापारकर्तृषु करणेषु करणान्तरा-भावादनेकान्तिकत्वात्, करणविषये च तत्प्रेरणालक्षणे कर्तृव्यापारे करणान्तराभावात् । “सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती”त्यागमगम्यानीन्द्रियाणीति चेत्, न ; आगमसंस्कारविरहिणामपीन्द्रियप्रतिपत्तेः । नच मनोवत्साक्षि-वेद्यानीन्द्रियाणि ; कार्यभावाभावव्यतिरेकेणेन्द्रियभावाभावानवगमात् । तस्मान्न सन्तीन्द्रियाणि ।

## ऋजुविवरणम्

त्वमपि न सम्भवतीत्याह—\*अत एव न तच्छक्तय इति\* ॥ \*ननु\*—आत्मशक्तित्वे सर्वगतत्वादात्मनः सर्वप्रदेशे ज्ञानं भवेत्, ततश्च गोलकान्वय-व्यतिरेकविरोधाद् गोलकशक्तित्वमित्याशङ्क्याह—\*सर्वगतस्यात्मन इति\* ॥ \*रूपा-द्युपलब्ध्य इति\* ॥ रूपाद्युपलब्ध्यो धर्मिण्यः, करणसाध्या इति साध्यो धर्मः, कर्तृव्यापारत्वादिति हेतुः, व्यापार-मात्रे हेतौ करणव्यापारेऽनेकान्तिकता, तदर्थम्—\*कर्तृव्यापारेति\* ॥ \*ननु\*—सर्वकारकोपसंहर्तृत्वलक्षणं यस्य कर्तृत्वम्, तद्व्यापारत्वं हेतुः, अतो नानैकान्तिकः ; व्यापारशून्यत्वात् करणादीनामित्याशङ्क्याह—\*करणविषये च तत्प्रेरणेति\* ॥ \*ननु\*—कथमसिद्धता ? द्रव्यत्वेन परिमाणे निश्चिते परिमाणान्तरायोगान्मध्यमपरिमाण-

## तत्त्वदीपनम्

देस्तु साक्षात् तेषां शब्दाद्युपलब्धत्वमुपगतमिति विभागः । \*ननु\* प्राणवतां सुखादिभोगाद् वृक्षादीनां च तद्विधुरत्वात् कथं भोगः ? इत्याशङ्क्याह—\*वृक्षादीति\* ॥ द्वितीयं निरस्यति—\*अत एवेति\* ॥ शक्तिमतां गोलकानां वृक्षेष्व-भावात् तच्छक्तीनामपि नेन्द्रियत्वमित्यर्थः । गोलके तच्छक्तेरिन्द्रियत्वं प्रतिषेधता शक्तिमद् द्रव्यान्तरमिन्द्रिय-मित्युपपन्नमिति मत्वा शङ्कते—\*शक्तिमदिति\* ॥ शक्तिः शक्तिमच्चेति द्वितयं कल्प्यं तव, अस्माकं तु शक्तिरेव, इति लाघवात् शक्तीनामिन्द्रियत्वमित्यर्थः । लाघवानुरोधेन शक्तीनामिन्द्रियत्वकल्पनायामतिप्रसङ्ग इत्याह—\*तर्हीति\* ॥ वृक्षादिषु गोलकं तच्छक्तिश्चेति द्वयं कल्प्यम्, अन्यत्र तु संप्रतिपन्नात्मनि सामर्थ्यमात्रं कल्प्यमिति लाघवमित्यर्थः ॥

तर्हि युगपद् ज्ञानोदयः स्यादिति शङ्कां निरस्यति—\*क्रमेति\* ॥ तर्ह्यात्मनः सर्वगतत्वात् सर्वत्र ज्ञानजनिः स्यात्, तथा गोलकान्वय-व्यतिरेकविरोधचेत्याशङ्क्याह—\*सर्वगतस्येति\* ॥ शक्तिमद् द्रव्यान्तरमिन्द्रियमिति मतमुत्थापयति—\*सन्तिवति\* ॥ द्रव्यान्तरत्वे ‘इदं मम चक्षुरि’त्यादिव्यवहारः कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*स्थानेति\* ॥ किमनुमानं तत्र प्रमाणम् ? उतागमः ? उभयथाऽप्यसंभव इत्याह—\*न तेष्विति\* ॥

रूपाद्युपलब्धिः, करणपूर्विका, कर्तृव्यापारत्वात् ; संमतवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वाद् असिद्धो हेतुरिति शङ्कते—\*रूपादीति\* ॥ करणव्यापारव्यावृत्त्यर्थं कर्तृविशेषणम् । किं कर्तृव्यापारत्वमात्रं हेतुः ? उत प्राधानकर्तृव्यापारत्वम् ? इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—\*न स्वव्यापारेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*करणेति\* ॥ नच—करणप्रेरणे स्वप्रयत्नः करणमिति—शङ्क्यम् ; प्रयत्ने व्यभिचारात् । नच तत्रापि मनः करणम् ; मनःप्रेरणे करणान्तरभावाभावाभ्यामुक्तदोषा-निस्तारादित्यर्थः । द्रव्यान्तरास्तित्व आगमः प्रमाणमिति शङ्कते—\*सर्वे प्राणा इति\* ॥ इन्द्रियाणां गोलक-तच्छक्तित्वे शरीरेण सह गमनं न स्यात्, अस्ति च सह गमनम्, तस्मादतिरिक्तेन्द्रियसिद्धिरित्यर्थः । प्राकृतानाम-पीन्द्रियप्रतिपत्तेर्नागमगम्यत्वमित्याह—\*नागमेति\* ॥ आगमजनितार्थज्ञानसंस्कारविधुराणामित्यर्थः ॥

साक्षिप्रत्यक्षमिन्द्रियास्तित्वे प्रमाणमित्याशङ्क्याह—\*नच मनोवदिति\* ॥ रूपाद्युपलब्धिसत्त्वासत्त्वाभ्यां विना न साक्षिप्रासादादेवेन्द्रियसत्त्वादिसिद्धिरित्यर्थः । कार्यभावाभावौ विहाय नेन्द्रियभावाभावौ प्रतीम इत्यर्थः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*उच्यते—आगमावगमात्प्राक् स्थानविशेषेषु चक्षुरादीन्द्रियव्यवहारः प्रवर्तते, मण्डलादिध्वादित्यादिव्यवहारवत्, आगमावगतौ तु स्थानविशेषाधिष्ठातृणि चक्षुरादीन्द्रियाण्यादित्यादिदेवतात्मवदित्यवगम्यते । तानि पुनर्व्यतिरिक्तान्यप्याहङ्कारिकाणीति सांख्याः, तदयुक्तम् ; प्रमाणाभावात् । न तावदध्यात्माहङ्कारजन्यानीन्द्रियाणीत्यन्वयव्यतिरेकावागमो वा दृश्यते । नच कृत्स्नकार्यव्यापी भूतेन्द्रियाणां प्रकृतिः कश्चिदहङ्कारो विद्यते ; मानाभावात् । आतवचनं मानमिति चेत्, न ; अतीन्द्रियत्वात् । \*ननु\* पुराणवाक्यान्वेव सन्ति, \*सत्यम्\* “अन्नमयं हि सौम्य मनः” इत्यादिभूतविकारार्थे मयट्श्रुतिविरोधादहङ्काराधीनतामात्रमिन्द्रियाणां तत्र कल्प्यत इति न विरोधः ॥

भौतिकानीन्द्रियाणीति वैशेषिकादयः, तदप्ययुक्तम् ; मानाभावात् । भौतिकानि, इन्द्रियाणि, मध्यमपरिमाणत्वेन सावयवत्वात् ; घटादिवत्, इति चेत्, न ; हेतोरसिद्धत्वात्, अणुपरिमाणत्वोपपत्तेरिन्द्रियाणाम् । तर्ह्यणुपरिमाण एव विषयावभासः स्यात् ? न ; अणुपरिमाणेन मनसा विस्तृतात्मादिवस्तुदर्शनात् । \*ननु\* भौतिकानि, इन्द्रियाणि, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानां नियमेनाभिव्यञ्जकत्वात् ; प्रदीपास्योदक-हिङ्गवादिद्रव्यव्यजन-

## ऋजुविवरणम्

मित्याशङ्क्याह—\*अणुपरिमाणत्वोपपत्तेरिति\* ॥ सर्वभूतारभ्यत्वे स्वसिद्धान्तविरोधः, साध्यविकलत्वमनैकान्ति-

## तत्त्वदीपनम्

“तमुत्क्रामन्तं सर्वं प्राणा अनूत्क्रामन्ती”त्यागमाद् इन्द्रियसिद्धिरिति सिद्धान्तयति—\*उच्यत इति\* ॥ आगमपरिचयविधुराणामपीन्द्रियप्रतिपत्तेर्न तद्रम्यत्वमिति यत्तूक्तम्, तत्राह—\*आगमेति\* ॥ कथं तर्ह्यतिरिक्तेन्द्रियसिद्धिः ? तत्राह—\*आगमेति\* ॥ इन्द्रियस्वरूपं प्रसाध्य तत्प्रकृतिविशेषनिरूपणाद्योपक्रमते—\*तानि पुनरिति\* ॥ किमिन्द्रियाणामाध्यात्मिकावहंकाराद् जन्म ? उताधिदैविकात् ? उभयथाऽप्यनुपपत्तिरित्याह—\*तदयुक्तमिति\* ॥ प्रमाणाभावादिति च\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किमाध्यात्मिकाहंकाराजन्यत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ प्रमाणम् ? उतागमवचनम् ? नोभयथाऽपीत्याह—\*न तावदिति\* ॥ आधिदैविकाहङ्कारजन्यत्वमपि मानमित्याह—\*नच कृत्स्नेति\* ॥ मानाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*आप्तवचनमिति\* ॥ मानान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्र शब्दं विरचयन्नाह इत्युच्यते, नचात्र मानमस्ति । किं तत्प्रत्यक्षम् ? उतान्यत् ? नाद्य इत्याह—\*नातीन्द्रियत्वादिति\* ॥ द्वितीयेऽपि किं तदनुमानम् ? उत पुराणवचनम् ? नाद्यः ; व्यासलिङ्गानिरूपणादित्यभिप्रेत्य द्वितीयमुत्थापयति—\*ननु पुराणेति\* ॥

“त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत । इन्द्रियाणां ततः सृष्टिर्गुणद्वारा महामुने ॥”

इत्यादिपुराणवचनानि द्रष्टव्यानि । पुराणवचनसत्त्वमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि तत् एवार्थसिद्धिरित्याशङ्क्य, प्रत्यक्षश्रुतिविरोधान्मैवमित्याह—\*अन्नमयं हीति\* ॥ \*तर्हीति\* । तर्हि स्मृतीनां हेतुत्वम्, नेत्याह—\*अहङ्कारेति\* ॥ सांख्यमतं निराकृत्य कणभुगादिमतमुत्थापयति—\*भौतिकानीति\* ॥ दूषयति—\*तदपीति\* ॥ हेत्वसिद्धिं शङ्कते—\*भौतिकानीति\* ॥ हेतुं समर्थयते—\*मध्यमेति\* ॥ मध्यमपरिमाणत्वमसिद्धमित्याह—\*न हेतोरिति\* ॥ द्रव्यत्वादिन्द्रियाणां परिमाणवत्त्वं तावत्सिद्धम् । तत्र च परिमाणान्तरानुपलब्ध्या तत्सिद्धिः ? उतान्यथा ? नान्त्यः ; अनुपलब्धेः, नाग्रिमोऽपीत्याह—\*अण्विति\* ॥ महत्परिमाणत्वं तावदनुपपन्नम् ; सर्वत्र कार्यदर्शनाभावात् । नच शरीरपरिमाणत्वम् ; मनुष्यशरीरव्यापिनामिन्द्रियाणां पुत्तिकाशरीरे व्याप्त्यसंभवात् । तस्मादणुत्वमिन्द्रियाणामित्यर्थः ॥

इन्द्रियाणामणुत्वे विषयस्य साकल्येनावभासानुपपत्तेर्नाणुत्वेमाश्रयणीयमित्याह—\*तर्हीति\* ॥ अन्यथाऽपि विषयावभासः साकल्येन संभवतीत्याह—\*नाणुपरिमाणेति\* ॥ भौतिकत्वे प्रमाणान्तरमाशङ्कते—\*ननु भौतिकानीति\* ॥ चक्षुः, तैजसम्, रूपादीनां मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् ; प्रदीपवत् । रसनम्, आप्यम्, रसादीनां मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, लालावत्, इत्येवं सर्वत्र प्रयोगो द्रष्टव्यः । स्पर्शनेन्द्रियव्यावृत्त्यर्थम्—“रूपस्ये”ति



## पञ्चपादिकाविवरणम्

वायुवत्, इत्यनुमानान्तरेण प्रत्येकभूतारब्धानि प्रत्येकेन्द्रियाण्यनुमीयन्त इति, \*न\* ; शब्दामिव्यञ्जके श्रोत्रे शब्दगुणवदाकाशानारब्धेऽनैकान्तिकत्वात्, कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशमात्रस्य श्रोत्रत्वाभ्युपगमादनारब्धत्वात् । मनसश्च भूतचतुष्टयारब्धत्वप्रसङ्गः ; तदभिव्यञ्जकत्वात् । आत्माकाशादीनामपि साधारणत्वान्मनसो न भूतारब्धत्वमिति चेत्, संख्या-परिमाण-संयोग-विभाग-जाति-विशेष-समवायादीनामपि साधारणत्वादिन्द्रियाणां न भूतारब्धत्वसिद्धिः । असाधारणविषयारब्धाणीन्द्रियाणीति चेत्, तर्ह्यैवमारब्धं मनः स्यात् ; असाधारणविषयत्वात् । एकद्रव्यारब्धं न द्रव्यमिति चेत्, न ; सावयवमनेकद्रव्यारब्धमित्येतावत्, निरवयवं तु मनो निरवयवात्माऽऽमारब्धं किं न स्यात् ? तस्मादागमादेव भौतिकत्वसिद्धिः ॥

तानि सर्वगतानीति योगाः प्रतिपेदिरे, तदपि मानहीनम् । आत्मेन्द्रिय-मनांसि, सर्वगतानि, सर्वत्र दृष्टकार्यत्वादाकाशवदिति चेत्, \*न\* ; हेतोरसिद्धत्वात् । यत्र शरीरम्, तत्र सर्वत्र दृष्टकार्यत्वादिति चेत्, शरीरेऽनैकान्तः । परोपाधिगमनत्वादाकाशवदिति चेत्, \*न\* ; शरीरावयवानामपि परोपाधिगमनात्, सर्वगतत्वे च

## ऋजुविवरणम्

कत्वञ्च, तन्निवृत्त्यर्थमाह—\*प्रत्येकभूतारब्धानीति\* ॥ एवं प्रयोगः—घ्राणं धर्मि, पार्थिवमिति साध्यम्, नियमेन गन्धस्याभिव्यञ्जकत्वात् ; द्विजवदिति । एवमितरत्रापि भवतु—श्रोत्रम्, शब्दगुणवदाकाशारब्धमित्याशङ्क्याह—

## तत्त्वदीपनम्

विशेषणम् । मनो व्यावर्तयितुम्—“एवे”ति । असिद्धिपरिहारार्थम्—“रूपादीनामि”ति विशेषणम् । विपक्षबाधक-तर्काभावादप्रयोजको हेतुरित्याह—\*नेति\* ॥ तद्रव्यज्ञकत्वानुपपत्तिर्बाध इत्याशङ्क्याह—\*शब्देति\* ॥ श्रोत्रस्य ग्राह्यसजातीयविशेषगुणवद्द्रव्यारब्धत्वाभावेऽपि शब्दे व्यञ्जकत्वं यथा, तद्वदत्रापीत्यर्थः । श्रोत्रस्य आकाशानारब्धत्वं कथम् ? अत्राह—\*कर्णशङ्कुलीति\* ॥ सजातीयानामनेकद्रव्याणामारम्भकत्वादाकाशस्य चैकद्रव्यत्वान्नारम्भकत्वमित्यर्थः । नियमेनाभिव्यञ्जकत्वं व्यञ्जकत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमित्यादावतिप्रसक्तिमाह—\*मनस इति\* ॥ मनसः सर्वार्थग्राहकत्वाद् ग्राह्यसजातीयगुणवदारब्धत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । मनः, न भूतचतुष्टयारब्धम्, साधारणकारणत्वात् ; दृष्टवत्, इति शङ्कते—\*आत्मेति\* ॥ अतिप्रसङ्गपराहतो हेतुरित्याह—\*संख्येति\* ॥ यस्य योऽसाधारणो विषयः, स तदारब्धः, इत्यभ्युपगमाद् भूतचतुष्टयस्य च साधारणविषयत्वान्न तदारब्धत्वं मनस इति शङ्कते—\*असाधारणेति\* ॥ आत्मनो बाह्येन्द्रियाग्राह्यतयाऽसाधारणविषयत्वात्, तदारब्धत्वं मनसः स्यादित्याह—\*तर्हीति\* ॥ आत्मा, न द्रव्यारम्भकः, एकद्रव्यत्वाद्, गगनवदिति शङ्कते—\*एकेति\* ॥ सजातीयानां बहूनां तन्तूनां पटारम्भकत्वं दृष्टम्, आत्मनश्चैकद्रव्यत्वान्नारम्भकत्वमित्यर्थः । पटस्य सावयवतयाऽनेकद्रव्यारब्धत्वेऽपि मनसो निरवयवत्वादात्मारब्धत्वं स्यात्, गगनस्य संदिग्धसाध्यतया न दृष्टान्तत्वं चेत्याशयेनाह—\*न सावयवमिति\* ॥ \*ननु\*—मनसोऽकार्यत्वात् कथमारब्धत्वम् ? नच हेत्वसिद्धिः ; मनः, अकार्यम्, निरवयवद्रव्यत्वात्, आत्मवदिति—चेत्, मैवम् ; गुणवत्त्वादिलक्षणस्य द्रव्यत्वस्यात्मन्यभावाद् दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वम्, विशेषणासिद्धिश्चेति द्रष्टव्यम् । इन्द्रियाणां भौतिकत्वनिरसनं सिद्धान्तविरुद्धमित्याशङ्क्य, तत्र प्रमाणविशेषं निराकुर्महे, न भौतिकत्वमित्याह—\*तस्मादिति\* ॥ अत्र द्वितीयः कल्पोऽङ्गीकृतो मन्तव्यः ॥ एवं कारणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य परिमाणविप्रतिपत्तिं निराकर्तुं पूर्वपक्षमाह—\*तानीति\* ॥ मानाभावेन दूषयति—\*तदपीति\* ॥ असिद्धो हेतुरित्याह—\*आत्मेति\* ॥ यद्यप्यत्रेन्द्रियाणां सर्वगतत्वं साध्यते ; तथाऽप्यात्मादौ व्यभिचारशङ्कानिरासार्थं तस्यापि पक्षत्वं निर्दिष्टमित्यर्थः । घटादिव्यावृत्त्यर्थं सर्वत्रेति विशेषणम् । किं सर्वत्र दृष्टकार्यत्वं हेतुः ? उत यत्र शरीरे तत्र ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*न हेतोरिति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—\*यत्रेति\* ॥ यस्मिन् देशे शरीरं विद्यते, तस्मिन् देशे तस्य शरीरस्य स्वीचितकार्यकारित्वात् तत्र व्यभिचार इत्याह—\*शरीर इति\* ॥ हेत्वन्तरमाशङ्कते—\*परोपाधीति\* ॥ व्यभिचारेण दूषयति—\*न शरीरेति\* ॥ अवयवगमन-अवयवविगमनाधीनम् । न चावयवानां सर्वगतत्वम्, इति तत्र व्यभिचार इत्यर्थः ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

युगपत् सर्वविषयोपलब्धिश्च स्यात् । शरीर एव वृत्तिलाभाच्चेति चेत्, तर्हि बहिरिन्द्रियसद्भावकल्पना न प्रमाण-  
प्रयोजनवती ॥

तान्यप्राप्यकारीणीति सुगताः, तदयुक्तम् ; दूरत एव स्पर्श-रस-गन्धोपलब्धिप्रसङ्गात् । योग्यदेशावस्थान-  
मपेक्षितमिति चेत्, न ; इन्द्रियदेशप्राप्तिव्यतिरेकेण योग्यदेशानिरूपणात् । स्पर्शन-रसन-प्राणेन्द्रियवत् चक्षुः-  
श्रोत्रयोरपि प्राप्यकारित्वमनुमीयते, तेजसश्चातिदूरशीघ्रगमनदर्शनाच्चक्षुषो ध्रुवादिप्राप्तिरविरुद्धा । शब्दस्य च  
दूरदेशोपलब्धेर्न वीचीसन्तानवत् परम्परया श्रोत्रसमवायः । तस्माद् भौतिकानि परिच्छिन्नानि प्राप्यकारीणीन्द्रिया-  
णीति सिद्धम् ॥ किं तर्हि मनो नाम ? नित्यं निरवयवमणुपरिमाणमिति वैशेषिकादयः संगिरन्ते । न तावन्नित्यम् ;  
परिच्छिन्नत्वात् । निरवयवद्रव्यत्वादात्मवन्नित्यमिति चेत्, न ; करणत्वेनेन्द्रियवत् सावयवत्वानुमानात्,

### अनुविवरणम्

\*कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नेति\* ॥ स्पर्शन-रसन-प्राणानामेव प्राप्यकारित्वदर्शनान्न तत् चक्षुः-श्रोत्रयोरित्याशङ्क्याह—\*स्पर्शन-  
रसन-प्राणेन्द्रियवदिति\* ॥ \*ननु\*—अर्थस्येन्द्रियदेशप्राप्तिः, इन्द्रियस्य तु तद्देशगमनं न सम्भवति ; विलम्बापत्तेः,  
नहि युगपद् ज्ञानं व्यवहिते स्यादित्याशङ्क्याह—\*तेजसश्चातिदूरेति\* ॥ शब्दस्य तु वीचीसन्तानन्यायेन श्रोत्र-  
देशागमनमिति वैशेषिकादयः, तान्निराकरोति—\*शब्दस्य दूरदेशेति\* ॥ अभिव्यञ्जकवायुभिः स्तिमितवायुनिरासेन

### तत्त्वदीपनम्

इन्द्रियव्यापित्ववादिना चेदमालोचनीयम्—किमिन्द्रियाणां कार्यजननयोग्यत्वं शरीरादन्यत्रापि ? उत शरीर एव ?  
आद्येऽतिप्रसङ्गबाधमाह—\*सर्वगतत्व इति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*शरीर एवेति\* ॥ कार्यजननयोग्यत्वं वृत्तिलाभ-  
शब्दार्थः । रूपाद्युपलब्धेरिन्द्रियाणि कल्पन्ते, सा शरीरावच्छिन्नेन्द्रियेषु, इत्यन्यत्र तत्सत्त्वकल्पकाभावात् तदित्याह—  
\*तर्हीति\* ॥ रूपादिदर्शनाख्यप्रयोजनशून्यत्वात् प्रमाणशून्यत्वमित्यर्थः । इन्द्रियाणां परिच्छिन्नत्वमङ्गीकृत्य केचिदप्राप्य-  
कारित्वमाचक्षते, तदनुवदति—\*तान्यप्राप्येति\* ॥ विषयदेशमप्राप्य शरीरदेश एव स्थितानां कार्यकत्वमित्यक्षरार्थः ।  
अप्राप्यकारित्वेऽतिप्रसङ्ग इत्याह—\*तदयुक्तमिति\* ॥ सहकार्यभावात्प्राप्तिप्रसङ्ग इति शङ्कते—\*योग्येति\* ॥  
किमिन्द्रियेण संसर्गयोग्यदेशावस्थानं सहकारि ? आहो अन्यत् ? इति विकल्प्याद्ये मदिष्टसिद्धिरित्यभिप्रेत्य द्वितीयं  
दूषयति—\*नेन्द्रियेति\* ॥ स्पर्शनादीनां प्राप्यकारित्वेऽपि न चक्षुः-श्रोत्रयोः प्राप्यकारित्वम् ; अदर्शनात्, इत्याशङ्क्याह  
—\*स्पर्शनेति\* ॥ चक्षुः-श्रोत्रे, प्राप्यकारिणी, बहिरिन्द्रियत्वात् ; स्पर्शादिवदित्यर्थः । योजनशताद्यन्तरितस्यापि ध्रुवा-  
देर्नयनसमुन्मीलनमात्रादुपलम्भान्न प्राप्यकारित्वं चक्षुष इत्याशङ्क्याह—\*तेजस इति\* ॥ सहस्रांशोरुदयाद्यभ्युप-  
गममात्रेण तत्किरणानां सकलावनितलव्यासिबच्चक्षुषोऽपि तेजस्त्वाद झटिति दूरवर्तिदर्शनं युक्तमित्यर्थः । दण्ड-भेरी-  
संयोगाद् गगनसमवायी कश्चिच्छब्दः संजायते, स चासमवायिकारणतया शब्दान्तरमारभते, एवं सोऽपि, इति परम्परया  
श्रोत्रपथमवतीर्णस्य शब्दस्य श्रोत्रेणोपलम्भ इति तार्किकप्रक्रियां मिरस्यति—\*शब्दस्येति\* ॥ 'तत्र शब्दः' इति  
प्रत्ययात् 'अत्र शब्दः' इति प्रत्ययाभावाच्च नायं पक्षः साधुः । दूरदेशाभिव्यक्तस्य शब्दस्याभिव्यञ्जकवायुभिः स्तिमित-  
वायुनिरासे श्रोत्रेऽप्यभिव्यक्तिरित्यर्थः । बाह्येन्द्रियनिरूपणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

मनस्यपि विप्रतिपत्तेर्दर्शनात्पृच्छति—\*किं तर्हीति\* ॥ मनः, नित्यम्, भावत्वे सति कारणशून्यत्वात् ;  
आत्मवत्, मनः, निरवयवम्, मूर्तेनाप्रतिबध्यमानत्वात् ; गगनवत्, मनसो मध्यमपरिमाणत्वे स्थूल-सूक्ष्मशरीरयोर-  
विशेषेण वृत्तिर्न स्यात्, सर्वगतत्वे युगपद् ज्ञानोत्पादः स्यात्, तस्मादण्वित्यर्थः । तत्र नित्यत्वं तावदयुक्त-  
मित्याह—\*न तावदिति\* ॥ मनः, अनित्यम्, परिच्छिन्नत्वात् ; घटादिवत् । नच परमाणुषु व्यभिचारः ; तदसंप्रति-  
पत्तेः । नच—मनः, विभु, सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् ; कालवत्, इत्यनुमानादपरिच्छिन्नत्वसिद्धिरित्यपि—शङ्क्यम् ;  
तमसि व्यभिचारादित्यर्थः । अनित्यत्वानुमानस्य प्रत्यनुमानविरोधं शङ्कते—\*निरवयवेति\* ॥ घटादिव्यावृत्त्यर्थं  
\*निरवयवेति\* विशेषणम् । गुणादिव्यावृत्त्यर्थम्—\*द्रव्यत्वादिति\* विशेषणम् । विशेषणासिद्धौ हेतुरित्याह—\*न



## पञ्चपादिकाविवरणम्

अन्नमयत्वश्रुतेश्च । मूर्तद्रव्यानभिघातान्निरवयवमिति चेत्, न ; मनसो बहिर्निर्गमनाभावात् । उत्क्रान्तिरिन्द्रियाणामपि समाना । संयोगविभागवत्त्वान्न घटादिवदणुपरिमाणता । सर्वगतत्वे च युगपत् सर्वेन्द्रियसंयोगात् सर्वज्ञानप्रसङ्गः । मध्यमपरिमाणत्वेन सावयवत्वेऽवयवोपचयापचयसम्भवान्न स्थूल-सूक्ष्मदेहप्रतिपत्तिविरोधः । समनन्तरप्रत्यय एवोत्तरज्ञानकारणतया मन इति शाक्याः प्रतिपेदिरे, तन्न ; ज्ञानस्य ज्ञानान्तरहेतुत्वे व्याप्तिसापेक्षत्वात् । शाब्दज्ञानमपि व्याप्तिजन्यमिति ते मतम् । विशिष्टज्ञानमपि संयोगजन्यं न विशेषण

## ऋजुविवरणम्

श्रोत्रपर्यन्तमभिव्यक्त्येति भावः ॥ \*ननु\*—उत्क्रान्तिसमये मनसो निर्गमनमस्ति, नचाभिघातः, अतो निरवयवमित्याशङ्क्याह—\*उत्क्रान्तिरिन्द्रियाणामिति\* ॥ \*संयोगविभागवत्त्वादिति\* ॥ अयं प्रयोगः—मनो धर्मि, अणुपरिमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः, संयोगविभागवत्त्वादिति हेतुः । सर्वगतत्वं निराकरोति—\*सर्वगतत्वे चेति\* ॥ \*ननु\*—मध्यमपरिमाणत्वे नियतपरिमाणवस्तूपलब्धिः स्यात्, न त्वनियतवस्तुप्रतीतिरिति, तत्राह—\*मध्यमपरिमाणत्वेनेति\* ॥ \*ननु\*—ज्ञानस्य ज्ञानान्तरहेतुत्वे कथं व्याप्तिसापेक्षत्वम् ? शाब्दज्ञाने व्यभिचारात्, तस्य शब्दज्ञानजन्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*शब्दज्ञानमपीति\* ॥ \*ननु\*—विशिष्टज्ञानम्, विशेषणज्ञानजन्यम्, नच तन्न व्याप्तिरस्तीत्याशङ्क्याह—\*विशिष्टज्ञानमपीति\* ॥ \*ननु\*—समनन्तरप्रत्ययस्य तज्जनकत्वं नास्ति, किन्त्वाकारसमर्पकत्वमेव ; अतो न व्याप्त्यपेक्षेति चोदयति—\*समनन्तरप्रत्ययादिति\* ॥ \*ननु\*—सर्वशरीरेष्वात्मन एकत्वे

## तत्त्वदीपनम्

कारणत्वेनेति\* ॥ मनः, सावयवम्, द्रव्यत्वे सति करणत्वात् ; नयनवत् । नच व्यर्थविशेषणत्वम् ; नयनार्थसन्निकर्षव्यावृत्त्यर्थत्वात् । मनस्त्वम्, सावयववृत्ति, मूर्तवृत्तित्वात् ; घटत्ववदित्यर्थः । नित्यत्वानित्यत्वग्राहकयोरनुमानयोः समबलत्वान्नानित्यत्वनिश्चय इत्याशङ्क्याह—\*अन्नमयेति\* ॥ सावयवत्वसाधकानुमानस्य प्रत्यनुमानविरोधं शङ्कते—\*मूर्तद्रव्येति\* ॥ मूर्तद्रव्येणाप्रतिबध्यमानत्वादित्यर्थः । अनभिघातोऽन्यथासिद्ध इत्याह—\*मनस इति\* ॥ “सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती”त्यादिनेन्द्रियाणामुत्क्रान्तिश्रवणान्निर्गमनाभावोऽसिद्ध इत्याशङ्क्याह—\*उत्क्रान्तिरिति\* ॥

इन्द्रियाणामुत्क्रान्तावप्यनुपधातो यथा, तद्वद् मनस इत्यर्थः । अणुत्वमुक्तं निरस्यति—\*संयोगेति\* ॥ मनः, नाणु, संयोगित्वविभागित्वात् ; घटवदित्यर्थः । नच परमाणुषु व्यभिचारः ; अणुकारितिरिक्तपरमाण्वभावादित्यर्थः । सर्वगतत्वं निरस्यति—\*सर्वगतत्व इति\* ॥ मध्यमपरिमाणत्वमनुपपन्नम् ; पुत्तिकादिशरीरेषु मनसो वृत्त्यनुपपत्तेः, तत्राह—\*मध्यमेति\* ॥ ज्ञानव्यतिरिक्तमनसोऽभावाच्च तत्परिमाणचिन्तावसर इति शङ्कते—\*समनन्तरेति\* ॥ अतीतानन्तरप्रत्यय इत्यर्थः । विकल्पासहत्वान्नैतदित्याह—\*तत्रेति\* ॥

किं व्याप्तिमपेक्ष्य पूर्वप्रत्ययस्योत्तरोत्तरप्रत्ययजनकत्वम् ? उतानपेक्ष्य ? नाद्यः ; तयोर्व्याप्त्यभावादित्यभिसन्धाय द्वितीयं दूषयति—\*ज्ञानस्येति\* ॥ धूमाग्न्योर्व्याप्तौ सत्यां धूमज्ञानमग्निज्ञानजनकं दृष्टमित्यर्थः । ज्ञेयव्याप्तिं विनाऽपि शाब्दज्ञानस्यार्थज्ञानजनकत्वं दृष्टमित्याशङ्क्य, भवन्मते शब्दस्यानुमानान्तर्भावान्न व्यभिचार इत्याह—\*शब्देति\* ॥ व्याप्त्यभावेऽपि विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वं दृष्टमित्याशङ्क्य, यत्रैकेन्द्रियग्राह्योर्विशेषण-विशेष्यभावः, तत्रेन्द्रियसन्निकर्षजं विशिष्टज्ञानमित्याह—\*विशिष्टेति\* ॥ ‘सुरभि चन्दनमि’त्यादौ विशेषण-विशेष्ययोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वान्न विशिष्टज्ञानं संप्रयोगजन्यमिति चेत्, मैवम् ; तत्र विशिष्टस्य साक्षिवेद्यत्वोपगमात्, विशेषणज्ञानसंस्कारसहितेन्द्रियसंप्रयोगाद्वारा विशिष्टज्ञानजनिरित्यर्थः ॥

समनन्तरप्रत्ययस्योत्तरज्ञानजनकत्वानभ्युपगमान्न व्याप्त्यपेक्षेति शङ्कते—\*समनन्तरेति\* ॥ अधिपति-सहकारि-समनन्तरप्रत्ययालम्बनप्रत्ययानुरोधाद् ज्ञानजन्मोपेत्यते, तत्र चक्षुर्लक्षणाधिपतिप्रत्ययाद् ज्ञानस्वरूपं निष्पद्यते, आलोकलक्षणसहकारिप्रत्ययात् तत्स्पष्टता, आलम्बनप्रत्ययाद् घटाद्याकारता, पूर्वप्रत्ययाद् बोधाकारता जायत इत्यर्थः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

ज्ञानजन्यम् । समनन्तरप्रत्ययादुत्तरस्य ज्ञानाकारलाभ इति चेत्, न ; वस्तुस्वभावस्यानन्याधीनत्वात् । तस्मात्सावयवमन्यदेव मन इति ॥

कश्चायमात्मा ? सर्वगतो जड इति केचित् । न तावत्सर्वत्र दृष्टकार्यत्वं सर्वगतत्वे हेतुरित्युक्तम् । व्यवहितदेशेऽदृष्टनिमित्तनृत्यादिक्रियारम्भात् तस्य चादृष्टवदात्मसंयोगापेक्षत्वात्सर्वगत इति चेत्, न ; अत्र समवेतादृष्टस्य स्वर्गे भोगोदयाददृष्टवत्प्रदेशसंयोगात्, केवलात्मप्रदेशसंयोगस्य फलहेतुत्वात् । तस्मादागमादेव सर्वगतत्वसिद्धिः । नच जाड्यम् ; स्वयंप्रकाशतावगमात् । प्रत्यक्षस्तावत्सुषुप्तेऽवभासः । अनुमानमपि—स्वयंप्रकाशः, अयमात्मा, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकाभावात्, प्रदीपसंवेदनवत् । आत्मा, स्वयंप्रकाशः, विषय-प्रकाशकर्तृत्वात् ; प्रदीपवत् । तथा आत्मा, स्वयंप्रकाशः, विषयप्रकाशाश्रयत्वात् ; आलोकवत् । अजन्य-प्रकाशगुणश्चात्मा, प्रकाशगुणत्वात् ; आदित्यादिवत् । आत्मा, स्वयंप्रकाशः, अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्य-परोक्षत्वात् ; संवेदनवत् । आगमश्चात्र दर्शितः ।

## तत्त्वदीपनम्

ज्ञानमेवाकारो ज्ञानाकार इति विग्रहः । आकारस्याऽऽकार्यभिन्नत्वान्न तज्जनकातिरिक्तजन्यत्वमित्याह—\*न वस्त्विति\* ॥ शाक्य-वैशेषिकमतनिराकरणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ एवं हेयस्वरूपं निरूप्योपादेयरूपं निरूपयितुं विमृशति—\*कश्चायमिति\* ॥ किं सर्वगतो जड आत्मा ; उत तद्विपरीतः ? इति विमर्शार्थः । पूर्वपक्षमाह—\*सर्वगत इति\* ॥ तत्र किमनुमानं मानम् ? उतार्थापत्तिः ? आहो आगमः ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ \*उक्तमिति\* ॥ हेतोरसिद्धत्वादित्यत्रेत्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*व्यवहितेति\* ॥ \*अयमर्थः\*—परसमवेतनृत्यादिक्रिययाऽन्यत्र सुखं तावद् जायते । नचैतददृष्टानार्जितत्वे नृत्तक्रियाया एतत्सुखहेतुत्वम् ; एतददृष्टजन्यत्वं चैतत्सम्बन्धं विनाऽनुपपन्नमिति । नापि विनाऽदृष्टवदात्मसंयोगादन्यत्र क्रियोत्पाद इत्यनुपपत्त्या सर्वगतत्वमिति । किं यस्मिन् प्रदेशेऽदृष्टं जायते, तत्प्रदेशवदात्मसंयोगस्य हेतुत्वम् ? उतात्ममात्रसंयोगस्य ? नाद्य इत्याह—\*नात्रेति\* ॥ मनुष्यदेहावच्छिन्नात्मप्रदेश इत्यर्थः । अत्रादृष्टस्येत्यत्र फलत्वेनेत्यध्याहारः । अदृष्टवन्मनुष्यशरीरावच्छिन्नात्मप्रदेशसंसर्गाभावेऽपि मेरुपृष्ठे सुखजनेनानुपपत्त्या सर्वगतत्वमित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—\*केवलेति\* ॥ सर्वदा सर्वेषां सुखाद्युपभोगप्रसक्तैर्नैवमित्यर्थः । परिच्छिन्नत्वेऽनित्यत्वप्रसक्तेः सर्वगतत्वं त्वयाऽभ्युपेयमित्याशङ्क्य, नास्माभिः सर्वगतत्वं निद्रूयते, किंतु तत्प्रमाणविशेष इत्याशयेनाह—\*तस्मादिति\* ॥ “आकाशवत् सर्वगतश्चे”त्यादिरागमः । जडत्वमुक्तम्, तदाक्षिपति—\*नचेति\* ॥ स्वप्रकाशत्वं समर्थयते—\*प्रत्यक्ष इति\* ॥ ‘सुखमहमस्वाप्समि’ति सुप्तोत्थितस्य परामर्शस्तावद् दृष्टः, परामर्शस्य च सुषुप्तावनुभवमन्तरेणानुपपत्तेरनुभवो ग्राह्यः, तस्य चान्याधीनत्वायोगात् स्वतस्त्वमित्यर्थः ॥

सजातीयप्रकाशप्रकाश्यत्वे प्रतिपिद्धेऽर्थाद्वेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहृतियोग्यत्वं सिध्यतीत्यभिप्रेत्याह—\*स्वयंप्रकाश इति\* ॥ स्वसत्तायां प्रकाशाभावशून्यत्वादिति हेत्वर्थः । व्यतिरेकाभावादित्युक्ते प्रदीपादेर्विनाशित्वात् साधनवैकल्यम्, तदर्थम्—“प्रकाशे”ति विशेषणम् । तथाऽपि नष्टप्रदीपे प्रकाशव्यावृत्तेः साधनवैकल्यम्, तदर्थम्—“स्वसत्तायामि”ति । नच हेत्वसिद्धिः ; जाग्रत्स्वप्नयोस्तत्प्रतिभासस्तावत्सिद्धः ; सुषुप्तावात्मप्रकाशस्तु ‘सुखमहमस्वाप्समि’त्यादिपरामर्शानुपपत्त्या सिद्धः । नच सुखादौ व्यभिचारः, ‘द्रव्यत्वे सति’ इति विशेषणात् । इदमत्र विवक्षितम्—आत्मा, सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यः, द्रव्यत्वे सति स्वसत्तायां प्रकाशाभावविधुरत्वात् ; प्रदीपवत् । आत्मा, स्वयंप्रकाशः, संविदितरात्मविशेषगुणव्यतिरिक्तत्वे सति स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकशून्यत्वात्, संवेदनवत् इति । “प्रकाशकर्तृत्वादि”त्युक्ते बाध्यसिद्धिः ; अत्मनः प्रकाशस्वरूपत्वात्, इत्यत आह—\*विषयेति\* ॥ प्रकाशस्यागन्तुत्वासिद्धिर्मन्वानं प्रत्याह—\*अजन्येति\* ॥ सति धर्मिण्यजन्यप्रकाशगुण इति द्रष्टव्यम् ; अन्यथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापातात् । प्रभाकरं प्रत्याह—\*आत्मेति\* ॥ \*अपरोक्षत्वादिति\* ॥ अपरोक्षव्यवहृतिविषयत्वादित्यर्थः । घटादिकं



## भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके ।

भामती

\*भोक्तैव केवलं न कर्ता\* इत्यन्तेन । तत्र देहेन्द्रिय-मनः-क्षणिकविज्ञानचैतन्यपक्षे न तत्पदार्थ

ऋजुप्रकाशिका

त्वमसि” इत्यादिवाक्यात् त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थेन जिज्ञास्येनाभेदः प्रतीयत एव, स चास्मदभिमतस्य देहेन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यहंकाराद् व्यतिरिक्तस्यैव त्वंपदार्थस्य, ननु तत्तदभिमतस्य देहेन्द्रिय-मनः-क्षणिकविज्ञानादिलक्षणस्य, तस्य तत्पदार्थनित्यत्व-शुद्धत्व-बुद्धत्वादेरनन्वयेन तत्पदार्थाभेदायोगात्, इत्यभिप्रेत्याह—\*तत्र देहेन्द्रियेत्यादिना\*॥

पञ्चपादिका

\*भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येक इति\*॥ पूर्वोक्तस्यैव देहादिव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वमतस्त्वभावं मन्वाना

पञ्चपादिकाविवरणम्

स चैकः ; सर्वशरीरेषु सर्वत्राहमित्येकाकारप्रत्यक्षवेदनीयत्वात् ; गोत्ववत् । शरीरभेदादेवातीतशरीरा-दाविव न भोगानुसन्धानप्रसङ्गः । नचैकस्मिन्नपि परिमाणभेदात्प्रतिक्षणं शरीरभेदो युक्तः ; प्रत्यभिज्ञा-विरोधात् ; अननुसन्धानप्रसङ्गाच्च, ज्वालायां सूक्ष्मदर्शने प्रत्यक्षत एव भेदादर्शनात् । तस्मादेकः स्वयंप्रकाश आत्मेति सिद्धम् । \*तस्मादित्युपसंहारः\* ।

पक्षान्तरमाह—\*भोक्तैव केवलमिति\* ॥ कर्तृत्वं हि क्रियावेशः । नच सर्वगतस्य निरवयव-

ऋजुविवरणम्

भोगानुसन्धानादिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—\*शरीरभेदादेव नातीतेति\* ॥ \*ननु\*—शरीरभेदादननुसन्धानमिति न वक्तुं शक्यते ; एकस्मिन्नपि जन्मनि परिमाणभेदेन शरीरभेदादननुसन्धानाभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह—\*नचैकस्मिन्नपि परिमाणभेदादिति\* ॥ परिमाणभेदादित्यनुमानं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितम् ; तस्य प्राबल्यादिति । \*ननु\*—प्रत्यक्षस्याप्यनुमानेन बाधो दृश्यते, ज्वालाप्रत्यभिज्ञाया प्रभावितत्वा, इत्याशङ्क्याह—\*ज्वालायां सूक्ष्मदर्शन इति\* ॥

कथं कर्तृत्वस्यातत्त्वभावत्वम् ? इत्याशङ्क्योपपादयति—\*कर्तृत्वं हि क्रियावेश इति\*॥ \*ननु\*—सर्वगतत्वेन

तत्त्वदीपनम्

व्यावर्तयति—\*अनिन्द्रियेति\* ॥ धर्मादिकं व्यावर्तयति—\*अपरोक्षत्वादिति\*॥ श्रुतिरपि स्वप्रकाशत्वे मानमित्याह—\*आगम इति\* ॥ “अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति”त्यादिरागमः । स्वयंप्रकाशत्वेऽप्यात्मनोऽनेकत्वमिति सांख्याः, तान् प्रत्याह—\*स चेति\* ॥ सर्वेऽहंप्रत्ययाः, एकविषयाः, एकाकारप्रत्ययत्वात् ; गौर्गौरिति प्रत्ययवत् । विमता अहंप्रत्ययाः, एतदात्मविषयाः, अहंप्रत्ययत्वात् ; एतदीयाहंप्रत्ययवदित्यर्थः । सर्वत्रात्मैक्ये भोगानुसन्धानमापद्यते स्वशरीर इव । नचैतदुपलभ्यत इत्यप्रयोजकत्वमाशङ्क्य, किमनवच्छिन्नस्यानुसन्धानमापाद्यते ? उतावच्छिन्नस्य ? आद्य इष्टापत्तिरित्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*शरीरेति\* ॥ एकस्मिन्नपि शरीरे पादावच्छिन्नस्य नेतरत्रानुसन्धातृत्व-मित्यभिप्रेत्यादिग्रहणम् ॥ \*ननु\* अननुसन्धानं न शरीरभेदनिबन्धनम् ; शरीरभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनात् । तथाहि—बाल्य-कौमार-यौवनावस्थागतशरीरनिष्ठे न्यूनाधिकपरिमाणे, भिन्नाश्रये, न्यूनाधिकपरिमाणयोरन्यतरपरिमाणत्वात्, घटशरीरादिपरिमाणवदित्यनुमानात् शरीरभेदसिद्धावप्यनुसन्धानवद् देहभेदेऽप्यपि स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तासिद्धिमाह—\*नचेति\* ॥ किंच शरीरान्तरवदेव शरीरभेदेऽनुसन्धानं न स्यादित्याह—\*अननुसन्धानेति\* ॥ शरीरैकत्वप्रत्यभिज्ञाया अन्यथासिद्धिं निरस्यति—\*ज्वालायामिति\* ॥ आत्मसमर्थनमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ प्रसङ्गागतमात्माऽ-नात्मविवेकं समाप्य टीकाव्याख्यानं प्रस्तौति—\*तस्मादिति\* ॥ कर्तृत्वस्यातत्त्वभावत्वमुक्तम्, तत्र हेतुमाह—\*कर्तृत्वमिति । क्रियावेश इति\* ॥ क्रियाश्रयत्वमित्यर्थः ।

वार्तिकम्

इति\* ॥ आत्मनः कर्तृत्वादेः स्वभाविकत्वेऽनिर्मात्तप्रसङ्गात्, बुद्धिवृत्त्यविविक्तचैतन्यस्यैव भोगत्वेन



## पञ्चपादिका

भोक्तैव केवलोऽहंप्रत्ययविषय इत्येके प्रस्थिताः । करोमि, जानामि, भुञ्जे चेति न सर्वदाऽहंप्रत्ययेनानु-  
षङ्गः, तेन नायं तद्विषयः । यदि स्यात्, न तदुल्लेखविकल उदियात् । \*ननु\*—भोक्तापि  
तर्हि नासौ ; तदुल्लेखाभावात्, \*नैतदेवम्\* ; अहमिति चेतनत्वसमुल्लेखात्, तदर्थत्वात्सर्वस्य,  
तदात्मकमेव भोक्तृत्वम्, इति भोक्तैव केवलमिति युक्तं मन्यन्ते ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्यात्मनः परिस्पन्द-परिणामलक्षणक्रियान्वयः सम्भवति । नच बुद्धेः कर्तृत्वमात्मनो भवति ; तादात्म्याध्यासा-  
भावात्, अख्यातिवादित्वात् । हेत्वन्तरमाह—\*करोमि जानामि भुञ्जे चेति\* ॥ न चैतन्यवत्  
क्रियावेशोऽप्यात्मनः स्वभावधर्मश्चेत्, आत्मप्रतिभासं न व्यभिचरेत्, नचागन्तुको निरवयवद्रव्यस्य  
हेतूपरागेण कश्चिद्धर्म उत्पादयितुं शक्यत इति ॥

\*ननु\* आत्मप्रतिभासव्यभिचारात्कर्तृत्ववद् भोक्तृत्वमपि न स्यादिति चोदयति—\*ननु  
भोक्तापीति\* ॥ परिहरति—\*नैतदेवमिति\* ॥ दृश्यावभासमात्रं भोक्तृत्वम्, न सुख-दुःखान्वयः ।  
ततश्चावस्थात्रयेऽपि दृश्यावभासव्यभिचाराभावाद् भोक्तैव केवलमिति ॥

## भ्रजुविवरणम्

परिस्पन्दो मा भूत्, निरवयवत्वेन परिणामश्च, तथाऽप्यन्तःकरणस्य कर्तृत्वेनात्मन औपाधिकं कर्तृत्वमित्याशङ्क्याह—  
\*नच बुद्धेः कर्तृत्वमिति\* ॥ कथं तादात्म्याध्यासाभाव इति ? तदाह—\*अख्यातिवादित्वादिति\* ॥ सांख्य-  
स्येत्यर्थः । 'करोमि' 'जानामी'त्यादिना कर्तृत्वस्यात्मप्रतिभासव्यभिचारादात्मधर्मत्वं नास्तीत्युक्तम्, तद्युक्तम् ;  
आत्मव्यभिचारिणोऽपि धर्मत्वसम्भवात्, तथा दर्शनादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*चैतन्यवत्क्रियावेशोऽपीति\* ॥ मा  
भूत् स्वाभाविकः, आगन्तुको भविष्यतीत्याशङ्क्याह—\*नचागन्तुक इति\* ॥ "तदुल्लेखाभावादि"त्यसम्बद्धम् ;  
भोक्तृत्वप्रतीतिदर्शनात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*नन्वात्मप्रतिभासेति\* ॥ "नैतदेवमि"ति परिहारे चेतनत्वप्रतीतेः  
सर्वस्य चेतनार्थत्वात् तदात्मकत्वमेव भोक्तृत्वमित्युक्तम्, तद्युक्तम् ; सुख-दुःखसाक्षात्कारत्वाद्भोगस्य । किञ्चात्र तदा-  
त्मकत्वमिति निर्दिश्यते । न तावच्चेतनत्वं भोक्तृत्वम् ; मुक्तस्यापि प्रसङ्गात्, नापि सर्वशेषित्वम् ; तस्यापि तज्जन्य-  
भोगवत्त्वव्यतिरेकेणानिरूपणादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*दृश्यावभासमात्रमिति\* ॥ साकाङ्क्षत्वाद् व्यवहितत्वा-

## तत्त्वदीपनम्

परिस्पन्दाद्यभावे हेतुमाह—\*नच सर्वगतस्येति\* ॥ परिणामाभावे हेतुमाह—\*निरवयवस्येति\* ॥ एवं-  
भूतेऽप्यात्मनि कर्तृत्वं यथा वेदान्तिनाम्, तद्वदत्रापीत्याशङ्क्य वैषम्यमाह—\*नचेति\* ॥ अध्यासाभावमाह—  
\*अख्यातीति\* ॥ सांख्यस्यापीति शेषः । 'करोमी'त्यत्रापि कर्तृत्वस्यातत्त्वभावत्वमुच्यत इति पौनरुक्त्यमित्या-  
शङ्क्याह—\*हेत्वन्तरमिति\* ॥ कर्तृत्वादेर्व्यभिचारित्वेऽपि तद्धर्मत्वं किं न स्यादिति ? अत्राह—\*अवमिति\* ॥  
किं तस्य स्वभावधर्मत्वम् ? उताऽऽगन्तुकत्वम् ? नाद्य इत्याह—\*न चैतन्यवदिति\* ॥ द्वितीयेऽपि किं सहेतुः ?  
उत निर्हेतुः ? द्वितीये मुक्तावपि प्रसक्तिरित्यभिप्रेत्याद्यं दूषयति—\*नचेति\* ॥ \*आगन्तुकः=प्रागभाववान् ।  
भोक्तृत्वोल्लेखस्यानुभूयमानत्वात् तदुल्लेखाभावासिद्धिमाशङ्क्याह—\*नन्वात्मेति\* ॥ सुखादेरागन्तुकत्वाद् भोक्तृत्व-  
मपि व्यभिचारीत्यर्थः । चिदात्मकं भोक्तृत्वमिति कथमुक्तम् ? भोक्तृत्वस्य व्यभिचारित्वात्, इत्याशङ्क्य तात्पर्य-  
माह—\*दृश्येति\* ॥ सुषुप्तावप्यज्ञानसुषुप्तिद्वयमस्तीत्यव्यभिचार इत्यर्थः ॥

## वार्तिकम्

व्यपदेशात्, तस्य चाग्नैरौष्ण्यवत् स्वाभाविकत्वात्, भोक्तैव केवलमात्मा, न कर्तेति सांख्या यौगाश्च ।  
तन्मतमाह—\*भोक्तैव केवलम्, न कर्तेत्येक इति\* ॥



## भामती

नित्यत्वादयस्त्वंपदार्थेन संबध्यन्ते ; योग्यताविरहात् । \*शून्यपक्षेऽपि सर्वोपाख्यारहितमपदार्थः कथं तत्त्वमोर्गोचरः । \*कर्तृगोचरस्वभावस्यापि परिणामितया\* तत्पदार्थनित्यत्वाद्यसंगतिरेव । \*अकर्तृत्वेऽपि भोक्तृत्वपक्षे\* परिणामितया नित्यत्वाद्यसंगतिः । \*अभोक्तृत्वेऽपि\* नानात्वेनावच्छिन्नत्वादनित्यत्वादि-प्रसक्तावद्वैतहानाच्च तत्पदार्थासंगतिस्तदवस्थैव । त्वंपदार्थविप्रतिपत्त्या च तत्पदार्थेऽपि विप्रतिपत्तिर्दर्शिता । वेदाप्रामाण्यवादिनो हि लौकायतिकादयस्तत्पदार्थप्रत्ययं मिथ्येति मन्यन्ते । वेदाप्रामाण्यवादिनोऽप्यौपचारिकं तत्पदार्थमविवक्षितं वा मन्यन्त इति । तदेवं त्वंपदार्थविप्रतिपत्तिद्वारा तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिं

## ऋजुप्रकाशिका

त्वंपदार्थ आत्मा चैतन्यशब्दार्थः । अपदार्थत्वादेव न तत्त्वंपदयोरर्थ इत्याह—\*कथं तत्त्वमोरिति\* ॥ तत्त्वंपदयोरित्यर्थः । कर्तृ-भोक्तृस्वभावस्त्वंपदार्थ इति पक्षे स किं परिणामी ? उत न ? अन्त्ये तस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वाद्यसिद्धिः, \*अपरिणामित्वे\* तस्य निर्विकारित्वेन कर्तृत्वाद्ययोगः; तस्य निर्विकारस्यास्मदभिमतपदार्थत्वेन तस्य तत्पदार्थभेद इष्टापत्तेश्चेत्यभिप्रेत्य, आद्यं दूषयति—\*कर्तृ-भोक्तृस्वभावस्यापीत्यादिना\*—अभोक्तृत्वेऽपीत्यतः प्राक्तनेन\* ॥ कर्तृ-भोक्तृस्वभावस्य विचारणायां मनो-बुद्धिमात्रपर्यवसन्नतया परिणामित्वम् । नच—मनसोऽजन्यनित्यतया परिणामित्वमयुक्तमिति—वाच्यम् ; “तन्मनोऽसृजत” इत्यादिना मनसो जन्यत्वश्रवणादिति द्रष्टव्यम् । अकर्तृकत्वेऽपि भोक्तृत्वपक्षे दूषणान्तरमाह—\*अभोक्तृत्वेऽपीति\* ॥ अनित्यत्वादिप्रसक्तावेकस्यां दूषकतायां सत्यामेवाद्वैतहानलक्षणदूषणान्तरप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः । \*तत्पदार्थासङ्गतिस्तदवस्थैवेति\* । तत्पदार्थभूतं ब्रह्म तदभेदासङ्गतिस्तदवस्थैवेत्यर्थः । नचेष्टापत्तिः ॥

“उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥”

इत्यनेनोक्तषड्विधतात्पर्यलिङ्गैः “तत् त्वमसि” इत्यादीनां सर्वेषां वेदान्तानामद्वितीयब्रह्मण्येव तात्पर्यनिर्णयेनोप-चरितार्थत्वकल्पनायोगादिति भावः । \*त्वंपदार्थविप्रतिपत्त्येति\* । त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थप्रतिद्वन्द्वत्वादिति भावः । दर्शितेत्युक्तम्, कथं दर्शितेत्यत आह—\*वेदाप्रामाण्यवादिन इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* एवं त्वं-

## भाष्यभावप्रकाशिका

तदेवं त्वंपदार्थविप्रतिपत्तिद्वारा तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिं सूचयित्वा साक्षात् तद्विषयामपि विप्रति-

अत्र विप्रतिपत्तिधर्मितया किं विवक्ष्यत इति विचारणायां—ब्रह्माऽऽत्मत्वेन प्रसिद्धमिति वाक्यव्याख्यानावसरे—आत्मा ब्रह्मत्वेनेति वक्तव्ये ब्रह्माऽऽत्मत्वेनेत्यभेदविवक्षया गमयितव्यमिति विवरणात्, कल्परौ च—“अभेदविवक्षयेत्युक्तभामतीग्रन्थाव-तरणानन्तरम् अन्यत्र हि वाक्यार्थबोधोत्तरं पदार्थानामुद्देश्यविधेयभावो न व्यावर्तते, अत्र त्वखण्डसाक्षात्कारे स बाध्यत इति द्योतयितुमात्मशब्दस्थाने ब्रह्मपदं ब्रह्मपदस्थान आत्मपदं प्रयुक्तमिति विवेचनादखण्डाकारसाक्षात्कारविषयनिविशेषचैतन्यमेवात्र विप्रतिपत्तिधर्माति स्पष्टमेव निरूपितम् ॥

एतेन—भामत्यां कल्पतरौ वा चिन्मात्रस्य विप्रतिपत्तिधर्मित्वं नोक्तमिति चन्द्रिकामण्डनोक्तं भामतीकल्पतरुग्रन्थानव-लोकं गमयतीति—सूचितम् ॥

यत्त्वत्रत्यभामत्यां—“त्वंपदार्थे विप्रतिपत्तिमुक्त्वा तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिमाहे”त्यादिवाक्ये त्वम्पदार्थपदम्, तस्यापि ब्रह्माभेदयोग्यस्वरूपचैतन्यमेवार्थः, नाहङ्कारविशिष्टम् । तथाचाद्वैत्यभिमतमेव जीवस्वरूपं केचन शरीरमिति ; परं इन्द्रिया-णीति, इतरे मन इत्येवमादि मन्यन्ते, इति तदभेदो ब्रह्मणो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावताविधातक इत्यद्वैतप्रतिकोटितया त्वंपदार्थाव-लम्बनेनैका विप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता ॥

एतेन—अद्वैत्यभिमततत्पदार्थ एव “अस्ति तावत्तद्व्यतिरिक्तः सर्वज्ञः” इत्यादिना विप्रतिपत्त्यन्तरमपीति—सूचितम् ॥



## अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् ।

भामती

सूचयित्वा साक्षात् तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिमाह—\*अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्\* । तदिति जीवात्मानं परामृशति । न केवलं शरीरादिभ्यः, जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरिक्तः ।

ऋजुप्रकाशिका

पदार्थविप्रतिपत्त्यैव तत्पदार्थविप्रतिपत्तिप्रदर्शने भाष्यकारः, तर्हि किमर्थम्—\*अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः\* इत्यादिना तत्पदार्थे पृथग्विप्रतिपत्तिमाहेत्यत आह—\*तदेवं त्वंपदार्थेत्यादिना\* ॥ यद्यपि त्वंपदार्थविप्रतिपत्तिद्वारा तत्पदार्थविप्रतिपत्तिः प्रदर्शितैव ; तथापि साक्षाद्विप्रतिपत्तिर्वक्तव्येति मन्यमानान् प्रति साक्षात् तत्पदार्थविप्रतिपत्तिमाहेत्यर्थः । \*तद्व्यतिरिक्तः\* इत्यत्र तच्छब्दः कं परामृशति ? इति वीक्षायामाह—\*तदिति\* ॥ \*जीवात्मानमिति\* ॥

पञ्चपादिका

\*अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचिदिति\* ॥ तस्मादपि देहादिव्यतिरिक्तादहं-प्रत्ययविषयादन्यः सर्वस्येशिता, ततश्चेशितव्यस्य सर्वात्मना वेत्ता, नियमनशक्तिसम्पन्नश्च शरीरिणां मन-

पञ्चपादिकाविवरणम्

पक्षान्तरमाह—\*अस्ति तद्व्यतिरिक्त इति\* ॥ भाष्यं व्याचष्टे—\*तस्मादपि देहादिव्यतिरिक्तादन्यः सिद्ध ईश्वर इत्युत्तरेण सम्बन्धः\* ॥ अत्रेश्वरे वैशेषिकानुमानं दर्शयति—\*शरीरिणां मनसाऽपीत्यादिना\* ॥ विवादगोचरापन्नं भूत भौतिकलक्षणं तनुभुवनविरचनकार्यम्, स्वरूपोपादान-संप्रदान-प्रयोजनोपकरणादिविषयविज्ञानवत्कर्तृपूर्वकम्, विविधविन्यासरूपकार्यत्वात् ; प्रासादादिवत्, इति कल्पनालाघवादेककर्तृत्वोपादानात् सर्वशत्वादिसिद्धिरिति ।

ऋजुविवरणम्

दुक्तस्यान्वयं दर्शयति—\*सिद्ध ईश्वर इत्युत्तरेणेति\* ॥ \*ननु\*—नानेन सर्वज्ञत्वसिद्धिः, अनेकेषामप्यङ्गभेदेन कर्तृत्व-सम्भवादित्याशङ्क्याह—\*कल्पनालाघवादिति\* ॥ तरतमभावेनोत्कृष्यमाणत्वहेतौ संयोगेनैकान्तस्तदर्थम्—

तत्त्वदीपनम्

प्रतिज्ञामात्रेण तदस्येश्वरासिद्धिमाशङ्क्य, भाष्यव्याख्यानच्छलेन प्रमाणं दर्शयतीत्याह—\*भाष्यमिति\* ॥ “अहं-प्रत्ययविषयादन्ये” इत्यस्य साक्षाद्व्यतिरिक्तादहं व्यतिरिक्तान्वयं दर्शयति—\*सिद्ध ईश्वर इति\* ॥ \*सर्वस्येति\* ॥ \*अयमर्थः\*—ईश्वर इति न नाममात्रमित्याह—\*सर्वस्येति\* ॥ सर्वज्ञत्वं विना ईशानानुपपत्तेः साऽप्यास्येयेत्याह—\*नियमनेति\* ॥ श्रुतित एवेश्वरसिद्धेः किं “शरीरिणामि”त्यादिना ? इत्याशङ्क्य, श्रुतेरनुमानान्तर्भावादुक्तमेतदित्याह—\*अत्रेति\* ॥ विवादगोचरापन्नम्, स्वरूपादिविज्ञानवत्कर्तृपूर्वकम्, इति साध्यनिर्देशः । भूत-भौतिकेत्यादिविशेषणं धर्मिस्पर्ष्टीकरणार्थम् । अद्वष्टद्वारा जीवस्य कर्तृत्वात् सिद्धसाध्यत्वं व्यावर्तयति—\*स्वरूपेति\* ॥ जीवाः संप्रदानम्, जलाहरणादि प्रयोजनम् । उन्मत्तकार्यग्रावृत्त्यर्थं “विविधे”ति विशेषणम् । विमतम्, अनेककर्तृकम्, विचित्रकार्यत्वात्, प्रासादवत् ; इत्यप्रसङ्गबाधं निरस्यति—\*कल्पनेति\* ॥ एकस्यैव सकलजगन्निर्माणसंभवेऽनेकाङ्गीकारे गौरवम्, इतरत्र लाघवम्, इति सर्वज्ञेश्वरसिद्धिरित्यर्थः । ईश्वरगतज्ञादिशक्तीनां सर्वविषयज्ञानादिशक्त्यविनाभावसाधने बाधः, तदर्थम्—

वार्तिकम्

एवं त्वंपदार्थे विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य तत्पदार्थे तामाह—\*अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचिदिति\* ॥ \*तद्व्यतिरिक्तः\*—भोक्तृस्वरूप इत्यर्थः । \*केचित्\*—तार्किकादय इत्यर्थः ।

भाष्यभावप्रकाशिका

पत्तिमाह—\*अस्ति तद्व्यतिरिक्त इति\* ॥ देहादिव्यतिरिक्ताद् भोक्तुरपि व्यतिरिक्त इत्यर्थः । स्वमत-



## पञ्चपादिका

साप्यचिन्त्यरूपात् तनु-भुवनविरचनकार्यात् प्रेक्षावत्कर्तृकत्वमन्तरेणासम्भाव्यमानात्, कुलालादिरिव घटादिकार्यात्प्रतिपन्नः सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः परिणामानामुपलब्धा । सातिशयञ्च ज्ञानम्, अतः क्वचित् काष्ठां प्राप्तं सर्वविषयमिति सर्ववित्, सर्वदा सिद्धः, ईश्वरः प्रतिपन्नो ब्रह्मशब्दार्थ इति

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सांख्य-योगानुमानं दर्शयति—सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिरिति । विवादगोचरापन्ना ज्ञानैश्वर्यशक्तयः, क्वचित्सर्वविषय-ज्ञानैश्वर्यशक्त्यविनाभूताः, तरतमभावेनोत्कृष्यमाणविषयव्यापिधर्मत्वात् ; स्वविषयदेशव्यापिपरिमाणधर्मवदिति । काष्ठाप्राप्तिरसर्वविषयत्वेऽपि सम्भवतीति सर्वविषयमिति वेत्युक्तम् ; अनुमाने तथैव दर्शितत्वात् सदा सिद्ध ईश्वर इति । नैयायिकाद्यनुमानं दर्शयति—विवादगोचरापन्नानि धर्माधर्मफलानि, कर्म-तत्फल-संप्रदानोपकरणादि-विज्ञानवता प्रदीयमानानि, व्यवहितकर्मफलत्वात् ; सेवादिफलवदिति । तस्मात्सिद्ध ईश्वरः ॥

\*ननु\* प्रत्यगात्मनो विप्रतिपत्त्यालम्बनस्य सम्बन्धितया स्कन्धभेददर्शनं विप्रतिपत्तिः ; नच व्यतिरिक्त ईश्वरः प्रत्यगात्मनो विशेषस्कन्धः ; अतोऽसौ न शरीरादिवत् स्कन्धविशेषतया प्रतिपादनीय इति

## ऋजुविवरणम्

\*विषयव्यापिधर्मत्वादिति\* ॥ अथवा—धर्मत्वादिति हेतौ संयोगेऽनेकान्तः, तदर्थम्—\*विषयव्यापीति\* ॥ तथाऽपि रूपादावनैकान्तिकता, तदर्थम्—\*तरतमभावेनेति\* ॥ “सर्वविषयमिति” वेति पक्षान्तरपरिग्रहे कारणमाह—\*काष्ठा-प्राप्तिरसर्वेति\* ॥ कर्मफलत्वादिति हेतौ क्रियानन्तरभाविभोजनमर्दनफलेऽनेकान्तिकता, तदर्थम्—\*व्यवहितेति\* विशेषणम् । “नन्वहमिति सर्वो लोकः” इति चोद्यमनुपपन्नम् ; ब्रह्मविप्रतिपत्तिं हि दर्शयितुमात्मविप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता, आत्मनो ब्रह्मत्वादीश्वरे ब्रह्मत्वविप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया, अनहंप्रत्ययविषयत्वेनात्मत्वादिति हेतोर्व्यधि-करणत्वात्, ब्रह्मविप्रतिपत्तिं दर्शयितुं प्रक्रान्तमिति प्रक्रमानुवादादेवेश्वरविप्रतिपत्तेर्दर्शनीयत्वलाभात्, ब्रह्मविप्रतिपत्ति-प्रदर्शनलाभात्, ततोऽनुपपन्नमित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु प्रत्यगात्मन इति\* ॥ अहंप्रत्ययविषयविप्रतिपत्तिद्वारा ब्रह्मविप्रतिपत्तिं दर्शयितुं प्रक्रमः ; ननु साक्षाद् ब्रह्मविप्रतिपत्तिप्रदर्शनप्रक्रम इति टीकाग्रन्थो व्याख्यातः । “उच्यते ब्रह्मणि विप्रतिपत्तिरिति” परिहारो व्यधिकरण इव प्रतिभाति ; नहि ब्रह्मविप्रतिपत्तिदर्शन ईश्वरस्य जीवाद्भेदप्रदर्शन-

## तत्त्वदीपनम्

“विवादे”ति । ‘धर्मत्वादि’त्युक्ते संयोगे व्यभिचारः, तदर्थम्—\*“विषयव्यापी”ति\* ॥ शौचल्यादिकं व्यावर्तयति—\*तरतमभावेनेति\* ॥ भावेनोत्कृष्यमाणधर्मत्वादित्युक्ते, एकाभावो द्वयाभाव इत्येवंप्रतीयमानतरतमभावे व्यभिचारः, तदर्थम्—\*“विषयव्यापी”ति\* ॥ अभावस्य न प्रतियोगिविषयाश्रयत्वमिति न व्यभिचार इत्यर्थः । स्वविषय एव देशः स्वविषयदेशः, तत्र व्यापी यः परिमाणधर्मः, तद्वदित्यर्थः ॥

\*ननु\* एतदनुपपन्नम्, किं सर्वविषयज्ञानैश्वर्यशक्तीनामन्यत्र प्रसिद्धत्वम् ? उत न ? प्रसिद्धत्वेऽनुमानवैयर्थ्यम्, अप्रसिद्धत्वेऽप्रसिद्धविशेषणत्वम्, तथा दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वम्, “विषयव्यापी”त्यत्र च विषयशब्दः किं कर्मपरः ? उताश्रयपरः ? आद्ये साधनवैकल्यम्, द्वितीयेऽसिद्धिरिति । तत्रेदमभिधीयते—ज्ञानैश्वर्यशक्तयः, क्वचित् परां काष्ठां प्राप्ताः, सातिशयत्वात् ; परिमाणवत् । ततश्च ज्ञानैश्वर्यशक्त्युत्कर्षतरतमभावस्य विश्रान्त्यधिकरणत्वेन सर्वज्ञे-श्वरसिद्धिरिति विवक्षितम् । “सर्वविषयमिति वे”ति पक्षान्तरपरिग्रहनिमित्तं दर्शयति—\*काष्ठेति\* ॥ साध्यविशेषो-पादानेन धर्मविशेषसिद्धावपि ततः स्पष्टीकरणार्थ—“धर्माधर्म”ति विशेषणम् । विज्ञानवता दीयमानानीत्येतावत्युक्ते न जीवातिरिक्तसर्वेश्वरसिद्धिः, तदर्थमाह—\*कर्मतत्फलेति\* ॥ भोजन-मर्दनफलव्यावृत्त्यर्थम्—\*व्यवहितेति\* ॥ आत्म-विप्रतिपत्तिमुपक्रम्यानात्मभेदेहेन्द्रियादिविप्रतिपत्तिदर्शनेऽविरोधवदनात्मेश्वरविप्रतिपत्तावप्यविरोध इति शङ्कायामभि-प्रायमाह—\*ननु प्रत्यगिति\* ॥ ‘अहं मनुष्योऽहं काणः’ इत्येवमहंप्रत्ययालम्बनसमानाधिकृततथोपलम्भाद् वेदादावात्मत्वविप्रतिपत्तिरुच्यते, नच तथाऽत्र, इतीश्वरविप्रतिपत्तिप्रदर्शनमसङ्गतमित्यर्थः ॥



## पञ्चपादिका

केचित् प्रतिपेदिरे । \*ननु\*—“अहमिति सर्वो लोक आत्मानं प्रत्येति । आत्मा च ब्रह्मे”त्यहं-प्रत्ययविषयस्यात्मनो ब्रह्मत्वेन तद्विप्रतिपत्तौ ब्रह्मविप्रतिपत्तिं दर्शयितुं प्रक्रान्तम्, तत् कथमनहं-प्रत्ययविषयेऽनात्मनीश्वरे ब्रह्मत्वविप्रतिपत्तिः प्रदर्श्यते ? \*उच्यते\* ; ब्रह्मणि विप्रतिपत्तिप्रदर्शनस्य प्रक्रान्तत्वादहंप्रत्ययविषयविप्रतिपत्त्यापि प्रणाड्या ब्रह्मविप्रतिपत्तिरेव निर्दिश्यते । यतो नाहंविषयविप्रतिपत्तिप्रदर्शनेन किञ्चित् कृत्यमस्ति । तस्मात् साध्वेतत् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

चोदयति—\*नन्वहमिति सर्वो लोक इत्यादिना\* ॥ \*उच्यत इत्यादिपरिहारस्यायमर्थः\*—ब्रह्म हि विप्रतिपत्त्या-लम्बनम् । तच्च प्रत्यगात्मव्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वेति विप्रतिपत्तिं दर्शयितुं व्यतिरिक्तेश्वरपक्षोऽपि दर्शनीयः । किमिति तर्ह्यात्मनि विप्रतिपत्तिः प्रदर्श्यत इति ? तदाह—\*अहंप्रत्ययविषयविप्रतिपत्त्याऽपीति\* ॥ किमिदमुक्तं भवति ? प्रत्यगात्मा तावत् प्रमाणान्तरेणोद्दिश्य शरीरेन्द्रिय-मनो-बुद्धि-शून्य-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिविशेषपर्युदासेना-द्वितीयज्ञानानन्दस्वभावेन प्रतिपाद्यते ; एवं प्रतिपादने संसारनिवृत्तेः पुरुषार्थलाभाच्च । अतः प्रत्यगात्मा सर्वज्ञत्वादिगुणकाद् ब्रह्मणोऽन्योऽन्यो वेति विप्रतिपत्तिं दर्शयितुं तदव्यतिरिक्त ईश्वरः साधितः ; विप्रतिपत्तिस्कन्धत्वात् ॥

\*अत्र कश्चिदाह\*—नेह प्रत्यगात्माऽसाधारणस्वभावविवक्षया ब्रह्मशब्देन जिज्ञास्यत्वेनोद्दिश्यते,

## ऋजुविवरणम्

मुपयुज्यत इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*उच्यत इत्यादिपरिहारस्येति\* ॥ \*ननु\*—एतत्प्रतिपादनं पूर्वापरविरुद्धमिव प्रतिभाति, पूर्वं जीव एव ब्रह्मशब्देन जिज्ञास्यत्वेनोपक्षिप्तः, विशेषस्वरूपनिर्णयाय तस्य जिज्ञासायोग्यत्वसिद्ध्यर्थं विप्रतिपत्तिप्रदर्शनमित्युक्तम्, इह त्वहंप्रत्ययविषयविप्रतिपत्तिप्रदर्शनं उपयोग एव नास्तीत्युक्तत्वादित्याशङ्क्याह—\*किमिदमुक्तं भवतीति\* ॥ अत्र शास्त्रे प्रत्यगात्मन एव निजं स्वरूपं व्युत्पाद्यम्, तस्यैव च ब्रह्मशब्दव्युत्पत्तिमुखेन प्रसिद्धत्वेन जिज्ञासायोग्यत्वमुक्तम्, तस्यैव च सामान्यप्रसिद्धिविशेषविप्रतिपत्त्या जिज्ञासायोग्यत्वमुच्यत इति न पूर्वापरयोर्भिन्नविषयत्वम्, नापि विरोध इति भावः । जगत्कारणत्वं लक्षणत्वेनोक्तं भवतु, कथं प्रत्यगात्मनो

## तत्त्वदीपनम्

ब्रह्मणि विप्रतिपत्तिप्रदर्शनस्य प्रक्रान्तत्वादिति कथम् ? “तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेरि”त्यभिधानादित्या-शङ्क्याह—\*उच्यत इति\* ॥ ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वसिद्ध्यर्थं प्रतिपन्नतया सन्दिग्धत्वं वक्तव्यम्, नान्यस्येत्यर्थः । तर्हि तद्विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया, न तु व्यतिरिक्तं प्रदर्शनीयम्, तत्राह—\*तच्चेति\* ॥ ब्रह्मविप्रतिपत्तेर्दिदर्शयित्वत्वं आत्मविप्रतिपत्तिप्रदर्शनमनुपयोगीति शङ्कते—\*किमिति\* ॥ प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यात् प्रत्यग्विप्रतिपत्तेर्ब्रह्मविप्रतिपत्तौ पर्यवसानमित्याशयेनाह—\*तदाहेति\* ॥ प्रणाड्या ब्रह्मविप्रतिपत्तिप्रदर्शनं कस्मात् ? इति शङ्कायामात्मविप्रतिपत्ति-प्रदर्शनप्रयोजनाभावादित्युक्तमयुक्तम्, आत्मनिर्णयस्य फलत्वादिति शङ्कते—\*किमिदमिति\* ॥ श्रोत्रपेक्षितं शास्त्र-प्रतिपाद्यम्, ब्रह्मणश्चान्यत्वे तत्प्रतिपादनं विफलं स्यात्, ततश्च प्रत्यगात्मानमुद्दिश्य तत्स्वभावविशेषः प्रतिपाद्यत इत्याह—\*प्रत्यगिति\* ॥ प्रमाणान्तरेण प्रत्यगात्मानमुद्दिश्य स एव ज्ञानानन्दस्वभावेन प्रतिपाद्यत इति संबन्धः ॥

शरीराद्यात्मनो भासमानस्य कथं ज्ञानादिरूपत्वम् ? तत्राह—\*शरीरेति\* ॥ प्रतिपादने हेतुमाह—\*एवमिति\* ॥ न केवलं दुःखनिवृत्तिः फलम्, किंतु निरतिशयानन्दाविर्भावश्चेत्याह—\*पुरुषार्थेति\* ॥ तर्हि स एव प्रतिपाद्यताम्, किं व्यतिरिक्तेश्वरसाधनेनेति ? अत्राह—\*अत इति\* ॥ प्रत्यगात्मनः स्वभावविशेषप्रतिपादनस्य पुरुषार्थपर्यवसायित्व-मतःशब्दार्थः । प्रत्यगात्मनोऽद्वितीयत्वादिरूपेणाजिज्ञास्यत्वमुक्तमसहमानः शङ्कते—\*अत्र कश्चिदिति\* ॥ ब्रह्मात्म-शब्दयोरैक्यार्थे पर्यायतया सह प्रयोगायोगाद् भवमित्यर्थः । द्वितीयसूत्रपर्यालोचनायामपि न प्रतीचो जिज्ञास्यत्वमुचित-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

किंत्वीश्वर एव ब्रह्मशब्देनोद्दिश्य विचार्यते ; जन्मादिसूत्रे जगत्कारणत्वलक्षणाभिधानात् । न हि प्रत्यगात्मन्येतदलक्षणमुपपद्यते । तस्मादात्मविप्रतिपत्तिप्रदर्शनमसम्भजसमिति, \*उच्यते\* ; यदि ब्रह्मशब्देनेश्वरोऽभिधीयते, किमिति तर्हि जगत्कारणे विप्रतिपत्तिं दर्शयसि—प्रधानमेके, परमाणूनपर इत्यादिना । नहीश्वरेऽर्थान्तरे जिज्ञासाकर्मणि ब्रह्मशब्दोपादानेऽर्थान्तरे जगत्कारणे विप्रतिपत्तिर्युक्ता दर्शयितुम् । जगत्कारणादीश्वरस्याभिन्नत्वात् तद्विप्रतिपत्तिरीश्वरविप्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हीश्वरः प्रधानं परमाणुवेति विप्रतिपत्तिर्दर्शिता स्यात् । न तथा संशेरते जनाः । युज्यते तु प्रत्यगात्मनो ब्रह्मशब्दाभिधेयविशेषस्वरूपस्य शरीरेन्द्रेयादिषु संशयः ; तेषामात्मनि तादात्म्यावभासात् । किञ्च प्रत्यगात्मानमुद्दिश्य तस्य विशेषस्वरूपे ब्रह्मणि जिज्ञास्यमाने यद् जगज्जन्मादिकारणम्, तद् ब्रह्मेत्युक्ते विधूतशरीरादिभेदः प्रत्यगात्मा जगत्कारणतया सर्वात्मभूतः प्रतिपादितो भवति । जगत्कारणे तु विप्रतिपद्यमाने किं तज्जगत्कारणमिति वीक्षायाम्—यद् ब्रह्म तज्जगत्कारणमिति ब्रह्मोद्देशेन जगत्कारणत्वं विधेयं स्यात्, न जगत्कारणमुद्दिश्य ब्रह्मविधानमिति वैपरीत्यमापद्यते । ब्रह्मशब्देन जगत्कारणम-

### ऋजुविवरणम्

जिज्ञास्यताभाव इति ? तदाह—\*नहि प्रत्यगात्मन्येतदिति\* ॥ जगत्कारणे विप्रतिपत्तिप्रदर्शने कृते यदीश्वरे प्रधानत्वादिविप्रतिपत्त्यापादानेन तन्निराकरणं क्रियते, तर्हि तत्रापि विप्रतिपत्तिर्न स्यात् ; यतस्त्वत्पक्षे प्रत्यगात्मविशेषरूपं शरीरमिन्द्रियादि वेति विप्रतिपत्तौ ब्रह्म शरीरमिन्द्रियमेवेति विप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता भवेत्, न तथा विप्रतिपत्तिरिति वक्तुं शक्यत्वात्, अथवा प्रत्यगात्मनो ब्रह्मस्वरूपस्य न शरीरादिरूपेण संशयस्सम्भवति ; तस्य वस्तुवन्तरत्वात् । जगत्कारणे विप्रतिपत्तिस्तु युक्ता ; अस्य ब्रह्मत्वात्, अत एतदपि संशयदर्शनमनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—\*युज्यते च प्रत्यगात्मन इति\* ॥ \*ननु\*—एवमपि न विशेषः, त्वत्पक्षेऽपि न साक्षात्प्रतिपाद्यरूपे ब्रह्मणि विप्रतिपत्तिः, अपि तु तदभिन्नप्रत्यगात्ममुखेन, अस्मत्पक्षे तु तदभिन्नजगत्कारणमुखेन, इत्युभयथा ब्रह्मप्रतिपादने सम्भवति सति नान्यतरपरिग्रहे विशेष इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च प्रत्यगात्मानमिति\* ॥ लक्षणानुपपत्तिरप्यनेन ग्रन्थेनार्थात्परिहृता । \*अथवा\*—नात्र प्रत्यगात्मविचारो युज्यते ; उत्तरसूत्रे तन्निरूपणाभावात्, ब्रह्मनिरूपणस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह—\*किञ्च प्रत्यगात्मानमिति\* ॥ ब्रह्म प्रतिपाद्यं प्रतिज्ञातं प्रथमसूत्रे, तदनुवादेनान्यप्रतिपादने तद्विरोध इति भावः । \*ब्रह्मशब्देनेति\* ॥ सूत्रगतेन ब्रह्मशब्देन जगत्कारणमेव जिज्ञास्यत्वेनोपक्षिप्तम्, अतस्तत्प्रतिपादनं

### तत्त्वदीपनम्

मित्याह—\*जन्मादीति\* ॥ लक्षणाभिधानमात्रेण कथमजिज्ञास्यत्वम् ? तत्राह—\*न हीति\* ॥ विप्रतिपत्त्यनुपपत्तिसाम्यान्नेश्वरो जिज्ञास्य इत्याह—\*उच्यते इति\* ॥ कात्रानुपपत्तिः ? इत्याशङ्क्य, जगत्कारणेश्वरशब्दयोर्भिन्नार्थत्वम् ? उत न ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*न हीश्वर इति\* ॥ ब्रह्मशब्देनोपादानं यस्य स तथोक्तः । विप्रतिपन्नत्वेन सन्दिग्धत्व-जिज्ञास्यत्वे एकत्र वक्तव्ये, अन्यथाऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*जगत्कारणादिति\* ॥ कारणस्येश्वरान्तर्भावे कारणे विप्रतिपत्तिर्न स्यादित्याह—\*तर्हीति\* ॥ ईश्वरस्य कारणान्तर्भावे किमीश्वरः कारणम् ? उत प्रधानादि ? इति विप्रतिपत्तिर्न स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥

कारणेश्वरयोरभेदे विप्रतिपत्त्यसंभववत् प्रतीचो ब्रह्मैक्येऽपि विप्रतिपत्तिर्न स्यात्, न खलु ब्रह्म शरीरमिन्द्रियमिति संशेरत इत्याशङ्क्याह—\*युज्यते इति\* ॥ प्रत्यक्त्वस्य साधारणाकारत्वात् शरीरेन्द्रियादीनां च विशेषरूपत्वात्तत्र संशयोपपत्तिरित्यर्थः । प्रतीचो जिज्ञास्यत्वे द्वितीयसूत्रमननुगुणं स्यादिति यत्तु तत्राह—\*किंचेति\* ॥ स्वमते द्वितीयसूत्रानुगुण्यमभिधाय परमते तदभावमाह—\*जगत्कारण इति\* ॥ सन्दिग्धस्य विधेयत्वाद् जगत्कारणस्य च विप्रतिपन्नतया सन्दिग्धत्वेन वक्तव्यं विधेयत्वमित्यर्थः । व्यावर्त्यमाह—\*न जगद्विति\* ॥ अस्तु को दोषः ? इत्यत आह—\*इति वैपरीत्यमिति\* ॥ ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र ब्रह्मणो विधेयत्वं प्रतिज्ञातम्, तच्च ब्रह्मोद्देशेन जगत्कारणत्वस्य विधाने भज्येतेत्यर्थः । उपक्रमे कारणस्यैव निर्दिष्टत्वान्न विरोध इति शङ्कते—\*ब्रह्मशब्देनेति\* ॥ अन्यत्



## भामती

स च सर्वस्यैव जगत ईष्टे । ऐश्वर्यसिध्यर्थं स्वाभाविकमस्य रूपद्वयमुक्तम्—\*सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति\*॥  
तस्यापि जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरेकाद् न त्वंपदार्थेन सामानाधिकरण्यमिति स्वमतमाह—

## ऋजुप्रकाशिका

\*ऐश्वर्यसिध्यर्थम्=ईश्वरत्वसिध्यर्थम् । \*तस्यापि=ईदृशेश्वरस्यापि । \*न त्वंपदार्थेन\*॥ शाब्दसामानाधिकरण्ययोगाद् जीवातिरिक्तेश्वरस्य न त्वंपदार्थेन जीवेन सहामेद इति “तत् त्वमसि” इत्यादिवाक्यव्याकोप इत्यर्थः । स्वमताभिमतं तत्पदार्थमाहेत्याह—\*स्वमतेति\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

भिधीयत इति चेत्, न ; ईश्वरोऽभिधीयत इति स्ववचनेन विरोधात् । किञ्च—ईश्वरे जगत्कारणे प्रतिपादिते पुरुषस्य किमायातम् ? उपासनमिति चेत्, न ; आरोपितरूपेणापि सम्भवात्प्रतिपादनवैयर्थ्यात् । तस्मात् प्रत्यगात्मानमुद्दिश्य तस्य वेदान्तविहितब्रह्मशब्दाभिधेयबुभुक्षायां यज्जगज्जन्मादिकारणं सत्यज्ञानानन्ददिलक्षणं तत्प्रत्यगात्मभूतं ब्रह्मेति प्रतिपादयितुमात्मनि विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं युक्तम्, इति जगत्कारणे विप्रतिपत्तिः संप्रदायपरिचयशून्यतया शास्त्रार्थप्रद्वेषात् सर्वसङ्करवादिना दर्शितेति ।

## ऋजुविवरणम्

युक्तमिति भावः । \*ननु\*—त्वत्पक्षेऽपि जीवस्य निजं ब्रह्मरूपं जिज्ञास्यमिति दर्शयितुं यथा ब्रह्मशब्देन जीवो जिज्ञास्यत्वेनोपक्षिप्तः, एवमस्मत्पक्षेऽपीश्वरस्वरूपभूतं जगत्कारणमत्र व्युत्पाद्यमिति दर्शयितुमीश्वराभिधानेन तत्परत्वं तत्र विवक्षितमीश्वरस्वरूपत्वेन तदभिधीयत इति दर्शयितुं तथा व्याख्यातम् । ईश्वरशब्देन जगत्कारणमभिधीयते, अतो न तद्विरोध इत्याशङ्क्य, प्रयोजनाभावादपि न जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्यमित्याह—\*किञ्चेश्वरे जगत्कारण इति\* ॥ \*यद्वा\*—विप्रतिपन्नं हि जिज्ञास्यम् । तच्च जगत्कारणम्, नेश्वरः ; तेन कारणे जिज्ञासा स्यात् । तथा सति वस्तुत ईश्वरस्य तेन रूपेण प्रतिपादनमिति दर्शयितुं तद्व्याख्यानं त्वत्पक्ष इवेत्याशङ्क्याह—\*किञ्चेश्वरे जगत्कारण इति\* ॥ किमिति जगत्कारणे विप्रतिपत्तिः प्रदर्शितेति ? तदाह—\*जगत्कारणे विप्रतिपत्तिरिति\* ॥

\*सः=ईश्वरो भोक्तुरात्मा स्वरूपमिति भाष्यार्थः । तत्र तयोरेकत्वे प्रमाणं दर्शयितुं समानस्वभावतां दर्शयति हेतोरसिद्धिपरिहाराय—\*यथाच सत्यज्ञानानन्दमिति\* ॥ तत्र विवादगोचरापन्नो जीवो धर्मी, ब्रह्मव सन्नुपाधिपरिच्छिन्नविभाग इति साध्यो धर्मः, ब्रह्मणा समानस्वभावतयेत्यादिहेतुः । तत्र विशेषणोपयोगस्त्वेवम्—

“परिच्छेदावभासो हि घटादावपि विद्यते । साध्यहीनेऽपि पक्षे तु उपाधीत्यादिकीर्तनम् ॥

स्फटिकप्रतिबिम्बस्थरूपादौ हेतुवर्तनम् । सति द्रव्यत्व इत्येतद् व्यवच्छेत्तुं विशेषणम् ॥

एतावानपि यो हेतुः खे घटस्थे विवर्तते । न साध्यं तन्निवृत्त्यर्थमनंशत्वविशेषणम् ॥

घटाकाशे च जीवे च हेतुरेषोऽपि दृश्यते । विपक्षे तन्निवृत्त्यर्थं स्वभावैक्यं विशेषणम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

सन्धित्सतोऽन्यद्गतमित्याह—\*नेश्वर इति\* ॥ ईश्वरशब्देन कारणस्याभिधानान्न विरोध इत्याशङ्क्याह—\*किं चेति\* ॥ पुरुषस्याभिलषितं प्रतिपाद्यम्, न चार्थान्तरप्रतिपादनेऽभिलषितं सिद्ध्यतीत्यर्थः । अर्थान्तरसिद्धौ तदुपासनयाऽभिलषितं सेत्स्यतीति शङ्कते—\*उपासनमिति\* ॥ ‘वाचं धेनुमुपासीते’त्यादावर्थाभावेऽप्युपास्तितत्फलवदत्रापि तत्संभव इत्याह—\*नारोपितेति\* ॥ प्रत्यगात्मनः सत्यादिरूपेण जिज्ञास्यत्वात्तद्विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं युक्तमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ कथं तर्हि जगत्कारणे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं वेदव्याख्यातृणामित्याशङ्क्य स्वबुद्धिदोषादित्याह—\*जगत्कारण इति\* ॥ ऐक्यशास्त्रप्रद्वेषश्च विप्रतिपत्तौ मूलमित्याह—\*शास्त्रेति\* ॥ ब्रह्मणः प्रत्यगमेदा-



## आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ।

भामती

\*आत्मा स भोक्तुरित्यपरे\* ॥ भोक्तुर्जीवात्मनोऽविद्योपाधिकस्य स ईश्वरस्तत्पदार्थ आत्मा, तत ईश्वरादभिन्नो जीवात्मा, परमाकाशादिव घटाकाशादय इत्यर्थः ।

ऋजुप्रकाशिका

“आत्मा स भोक्तुः” इत्येतद् व्याचष्टे—\*भोक्तुर्जीवात्मन इत्यादिना\* ॥ अविद्योपाधिकस्येति छेदः । \*तत्पदार्थ इति\* ॥ अविद्योपाधिकस्य भोक्तुर्जीवात्मनस्त्वंपदार्थस्य योऽयमीश्वरः स तत्पदार्थ आत्मा इत्यपरे वदन्तीत्यर्थः । एतत्पक्षे “तत् त्वमसि” इत्यादिवाक्यार्थतो जीवात्म-परमात्मनोरभेदः किं लभ्यते ? लभ्यत एवेत्याह—\*तत ईश्वरादभिन्नो जीवात्मेति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—\*परमाकाशादिवेति\* ॥

पञ्चपादिका

\*आत्मा स भोक्तुरित्यपर इति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

पक्षान्तरमाह—\*आत्मा स भोक्तुरित्यपर इति\* ॥ यथा सत्यज्ञानानन्दं निरवयवं ब्रह्म, प्रत्यगात्माऽपि तथा । तत्र विवादगोचरापन्नो जीवः, ब्रह्मैव सन्नुपाधिपरिच्छिन्नविभागः, ब्रह्मणा समानस्वभावतया निरवयव-द्रव्यत्वे सत्युपाधिपरामर्शाधीनपरिच्छेदप्रतिभासत्वात् ; यद् येन समानस्वभावतया निरवयवद्रव्यत्वे सत्युपाधिपरामर्शाधीनपरिच्छिन्नप्रतिभासम्, तत्तदात्मकत्वे सत्युपाधिपरिच्छिन्नभेदं दृष्टम्, यथा घटाकाशमिति । भाष्यं व्याचष्टे—\*योऽयमिति\* ॥ \*ननु\* संसारिणः कथमसंसारिणैकत्वमिति ? तत्राह—\*तस्याहंप्रत्ययसिद्ध इति\* ॥

ऋजुविवरणम्

ब्रह्मैक्यरहिते व्योम्नि हेतुरेषोऽपि दृश्यते । सापेक्षं च स्वभावैक्यं ब्रह्मणेति निरूपितम् ॥  
अभिप्रेतस्य साध्यस्य नान्यथाऽस्ति निरूपणम् ।”

तत्त्वदीपनम्

संभवात् त्वन्मतमुपेक्ष्यमित्याशङ्क्य तत्संभवमाह—\*यथेति\* ॥ प्रतीचोऽसत्यत्वे सत्प्रत्ययव्याकोपः, ज्ञानान्यत्वे चानात्मत्वम्, अनानन्दत्वे परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिः, सावयवत्वे कार्यत्वेनाकृताभ्यागमादिप्रसक्तिः, तस्मात्सत्यादिरूपत्वं प्रतीचोऽप्येष्टव्यमित्यर्थः । संभावितेऽर्थे प्रमाणमाह—\*तत्रेति\* ॥ जीव इति स्वरूपनिर्देशः । भेदाभेद-वादिनां मते सिद्धसाध्यतां निरस्यत्येवकारेण । ब्रह्मणा समानस्वभावतयेति हेतुनिर्देशः । विमतः, ब्रह्मैव, तत्समानस्वभावत्वात्, यद्येन समानस्वभावम्, तत्तदात्मकम्, यथा घटाकाश इत्यर्थः ॥ ब्रह्मैक्ये मन्तुमन्तव्यादि-व्यवहारः कथमित्याशङ्क्याह—\*उपाधीति\* ॥ जीवः, उपाधिपरिच्छिन्नविभागः, उपाधिपरामर्शाधीनपरिच्छेद-प्रतिभासत्वात्, यदुपाधिपरामर्शाधीनपरिच्छिन्नप्रतिभासं तदुपाधिपरिच्छिन्नभेदं यथा घटाकाशमित्यर्थः । \*उपाधि-परिच्छिन्नविभाग इति\* ॥ उपाधिकृतविभाग इत्यर्थः । अप्रयोजकत्वं निराकर्तुं निरवयवद्रव्यत्वे सतीत्युक्तम् । निरवयवत्वं वस्तुनो निर्भागत्वम्, वस्तुनो निर्भागत्वे घटादिवदात्मत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । जीवब्रह्मणी, भिन्ने, विरुद्धस्वभावत्वात्, संभववदिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ किं परमार्थतो विरुद्धस्वभावत्वम् ? उत प्रतीतितः ? आद्येऽसिद्धिः, द्वितीये प्रतिविम्बादौ व्यभिचार इत्याशङ्क्याह—\*तत्राहेति\* ॥ प्रत्यगाकारस्यानुवृत्त्या विशेषसाकाङ्क्ष-

वार्तिकम्

स्वमतमाह—\*आत्मा स भोक्तुरित्यपर इति\* ॥ \*सः\*—वेदान्तप्रतिपाद्यस्वरूप ईश्वर इत्यर्थः । एवमन्येऽपि बहवो वैष्णव-पाशुगत-हैरण्यगर्भादयः पुरुषोत्तम-पशुपति-हिरण्यगर्भादिभेदेन विकारावयवादिभेदेन च

भाष्यभावप्रकाशिका

माह—\*आत्मा स इति\* ॥ भोक्तुर्जीवात्मनस्त्वंपदार्थस्याहंप्रत्ययगोचरस्य । स तत्पदार्थ आत्मा-स्वरूपम् ; बृहत्पर्यायानुगमेन वस्तुनोऽनवच्छिन्नस्य दर्शितत्वात् त्रिविधभेदासंभवात् “तत्त्वमसी”त्यादि-



## पञ्चपादिका

योऽयमहमित्युल्लिख्यमानश्चेतनो भोक्ता, स ब्रह्मेति कैश्चित्प्रतिपन्नः, तस्याहंप्रत्ययसिद्धो भोक्तृत्वाभासः । स मिथ्यैवानिर्वचनीयानाद्यविद्याविलसितः । परमार्थतस्तु यः सर्वज्ञ ईश्वरोऽहंप्रत्ययेऽनन्तर्भूतः प्रमाणान्तरानवसितः, सोऽस्यात्मा स्वरूपम् । एवमसौ बृंहत्यर्थान्वयाद् ब्रह्मशब्दाभिधानीयतां लभते ; इतरथा तद्रूपविकलस्य न निरङ्कुशं बृहत्त्वम्, इति न ब्रह्मशब्दाभिधेयः

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* एवमहमिति सामान्यतः प्रतिपन्नस्य शरीरादिविशेषमिथ्यात्वे परमार्थभूतो विशेषो वक्तव्योऽहमित्यंभूत इति, तदाह—\*परमार्थतस्त्विति\* ॥ ‘अहं ब्रह्मैवे’ति विशेषोपसंहारः । न शरीरादीत्यत्र किं प्रमाणमिति ? तदाह—\*एवमसौ बृंहत्यर्थान्वयादिति\* ॥ \*ननु\* जीवेभ्यो भेदेऽपि बृंहत्यर्थलाभः ; देशकालव्यापित्वादिति, तदाह—\*इतरथा तद्रूपविकल्पस्येति\* ॥ उपसंहरति—\*एवं बहव इति\* ॥ \*किञ्चित्=शरीरादि\* ॥ \*ब्रह्मेति\*=प्रत्यगात्मेति, विप्रतिपन्ना इत्यर्थः । \*ननु\*—न विप्रतिपत्तिमात्राद् जिज्ञास्यं भवति, किन्तु प्रमाणमूला हि

## ऋजुविवरणम्

नच—एवं सति दृष्टान्तस्योभयविकलत्वम्, ब्रह्मत्वस्याभावादिति—वाच्यम् ; सामान्यमात्रस्यैव व्याप्त्यङ्गीकारात्, अन्यथा धूमानुमानस्यापि साध्य-साधनविकलत्वस्य शङ्कितुं शक्यत्वात्, धूमानुमानेऽप्यग्निमान्पर्वतः साध्यः, धूमवान्पर्वतो हेतुः ॥ तदुक्तम्—“एकदेशविशिष्टश्च धर्मो वाऽत्रानुमीयते । असिद्धेनैकदेशेन गम्यस्सिद्धेन बोधकः ॥” “स एव चोभयात्मे”त्यादिना । नहि दृष्टान्तेऽग्निमान्पर्वतो धूमवान्वा पर्वतो हेतुरस्ति ; अतस्सामान्योपाधावेव व्याप्तिरित्यनवद्यम् । नचात्राग्निमात्रं संबन्धमात्रं वा साध्यम् ; सिद्धसाध्यत्वापत्तेः, हेत्वभावात्, पक्षलक्षणं च न स्यात् । नाप्यग्निपर्वतसंबन्धस्साध्यः ; अपक्षत्वापत्तेः, साध्यविकलत्वं च । अतस्तद्वान्पर्वत एव साध्यः । हेतावपि न धूममात्रस्य संबन्धमात्रस्य वा हेतुत्वम् ; व्यधिकरणस्याहेतुत्वाद् विशिष्टसंबन्धपक्षेऽपि व्यधिकरणत्वम्, साधनविकलत्वञ्च । अतस्तद्वान्पर्वतो हेतुः । मतुवादिषु द्रव्यस्यैव वाच्यत्वम्, संबन्धस्य गम्यमानत्वमित्यपि साधितमरुणाधिकरणे । अतो न संबन्धस्य साध्यत्वं हेतुत्वं वा । एवं च तत्र यथा व्याप्तिः, स्तथात्रापीत्यनवद्यम् । \*अहं ब्रह्मैवेतीति\* ॥ ब्रह्मणो जीवत्वाप्रतिपत्त्यभावात् जीवे ब्रह्मत्वविप्रतिपत्तिरिति भावः । “ब्रह्मेति विप्रतिपन्नाः” इत्ययुक्तम् ; ब्रह्मत्वप्रतिपत्त्यभावादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*प्रत्यगात्मेति\* ॥ \*विप्रतिपन्ना इति\* ॥ \*ननु\*—

## तत्त्वदीपनम्

त्वाच्छरीरादेश्चातद्विशेषत्वाद्विशेषान्तरं वक्तव्यम्, नच ब्रह्म विशेषान्तरम्, अहं ब्रह्मेत्यप्रतिपत्तेरित्याशङ्कते—\*नन्वेवमिति\* ॥ ब्रह्मणः प्रतीतितस्त्रद्विशेषत्वाभावेऽपि वस्तुतस्तद्विशेषत्वम्, यथा शुक्तेरिदमाकारं प्रति विशेषत्वं तद्वदित्याह—\*तदाहेति\* ॥ बाधकप्रत्ययोत्तरकालमियं शुक्तिरित्युपलम्भात्तत्र तथात्वम्, अत्र तु नैवम्, मानाभावादिति शङ्कते—\*अहमिति\* ॥ \*विशेषोपसंहार इति\* ॥ विशेषपर्यवसानमित्यर्थः । विशेषोपसंहार इत्यत्र किं प्रमाणमित्यन्वयः । प्रमाणं विनाप्युपसंहारे शरीरादावपि पर्यवसानं किं न स्यादित्यभिप्रायेणाह—\*न शरीरादीति\* ॥ ‘अहं शरीरादि न’ इत्यत्र किं प्रमाणमिति संबन्धः । प्रमाणाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तदाहेति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्यान्यथापि संभवमाशङ्कते—\*ननु जीवेभ्य इति\* ॥ संकोचकप्रमाणाभावे निरवग्रहत्वमादेयमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ किञ्चिदित्यस्यार्थमाह—\*शरीरादीति\* ॥ ननु शरीरादि ब्रह्मेति प्रतिपन्ना इति कथम् ? शरीरादौ तत्त्वप्रतिपत्त्यभावादिति, तत्राह—\*ब्रह्मेति\* । विप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य तस्याजिज्ञास्यत्वप्रयोजकत्वमाक्षिपति—\*ननु न विप्रतिपत्तीति\* ॥ विप्रतिपत्तेः प्रमाणादिमूलत्वे तन्निराकरणानुपपत्तेस्तदाभासमूलत्वं वक्तव्यम्, तद्वदत्राप्यस्तीत्याह—



## एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः ।

भामती

विप्रतिपत्तीरूपसंहरन् विप्रतिपत्तिबीजमाह—\*एवं बहव इति\* ॥ युक्ति-युक्त्याभास-वाक्य-वाक्याभास-समाश्रयाः सन्त इति योजना । \*ननु\* सन्तु विप्रतिपत्तयः, तन्निमित्तश्च संशयः, तथाऽपि किमर्थं

पञ्चपादिका

स्यात् । \*एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्ति-वाक्य-तदाभाससमाश्रयाः सन्तः\* इत्युपसंहरति । \*एवम्= उक्तेन प्रकारेण=केचित् किञ्चिद् ब्रह्मेति प्रतिपन्नाः । किमेवमेव मनोरथमात्रेण ? नेत्याह— युक्तिं प्रमाणानां स्वविषयनिश्चयेऽनुग्राहिकां तर्कशब्दपर्यायाम्, वाक्यञ्च प्रतिवेदान्तं यथावद् ब्रह्म-स्वरूपप्रतिपादनपरमालोचयन्तः । “आत्मा स भोक्तुरिति युक्ति-वाक्याभ्यामन्त्यं पक्षं निश्चितवन्तः

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*तत्त्वज्ञानादिति\* ॥ ब्रह्मतत्त्वज्ञानं च ब्रह्ममीमांसाविचारजन्यमिति ब्रह्ममीमांसाऽऽवश्यकृत्यर्थः ॥ विप्रतिपत्तिर्निराकर्तव्येति, तत्रोत्तरम्—“युक्ति-वाक्ये”त्यादि भाष्यम्, तद् व्याचष्टे—\*युक्तिं प्रमाणानामित्यादिना\* ॥ कस्मिन् पक्षे युक्ति-वाक्ये, क वा तदाभासाः ? इति विभजते—\*युक्ति-वाक्याभ्यामन्त्यं पक्षं निश्चितवन्त इति\* ॥

\*ननु\* यथा बृंहत्यर्थान्वयाद् युक्ति-वाक्याभ्यां च ब्रह्मैव मोक्ता, तथा सुख-दुःखतत्साधनप्रपञ्चोऽपि ब्रह्मैवेत्यपुरुषार्थतया न जिज्ञास्यं ब्रह्म स्यात् । नहि कतिपयसुख-दुःख-तत्साधनसंसर्गमप्यसहमानो

ऋजुविवरणम्

दुःख-तत्साधनात्मकत्वेऽपि नाऽपुरुषार्थता ; ब्रह्मणस्सर्वात्मकत्वात्, तस्य ब्रह्मात्मकत्वेनापुरुषार्थत्वापादकत्वाभावात्, अग्न्यौष्ण्यवत् ; अतोऽऽजिज्ञास्यं ब्रह्मेत्याशङ्क्याह—\*नहि कतिपयसुख-दुःखेति\* ॥ दुःखापरोक्ष्यमपुरुषार्थत्वप्रयोजकम्

तत्त्वदीपनम्

\*तत्रोत्तरमिति\* ॥ वाक्यावष्टम्भेनार्थसिद्धेः किं युक्त्येत्याशङ्क्य भाष्यव्याख्यानेन युक्तेरुपयोगमाह—\*तद् व्याचष्ट इति\* ॥ युक्तिवाक्यसमाश्रयत्वे तदाभासाश्रयत्वमनुपपन्नम्, केषांचिद्युक्त्याश्रयत्वं केषांचिदाभासाश्रयत्वमिति चेत्, मैवम्, अस्यापि विभागस्य दुरधिगमत्वादिति शङ्कते—\*कस्मिन् पक्षे इति\* ॥

ब्रह्मपदव्युत्पत्तिबलात् प्रत्यग्ब्रह्मैक्यवत् प्रपञ्चैक्यस्याभ्युपगन्तव्यत्वाद् ब्रह्मणोऽजिज्ञास्यत्वं प्राप्तमिति शङ्कते—\*ननु यथेति\* ॥ “समानस्वभावत्वादि”त्यादियुक्तेस्तत्त्वमस्यादिवाक्याच्च यथा प्रतीचो ब्रह्मत्वम्, तथा “इदं सर्व-मि”त्यादिवाक्यात्प्रपञ्चस्यान्यत्वे ब्रह्मशब्दार्थानुपपत्तेश्चानन्यत्वमित्यजिज्ञास्यत्वं ब्रह्मणः स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेनाह—\*न हीति\* ॥ सर्वेषां सुखार्थित्वाद् ब्रह्मण आनन्दानन्यात्मकत्वाद् जिज्ञास्यत्वं युक्तमिति शङ्कते—

वार्तिकम्

तत्पदार्थे त्वंपदार्थे च विप्रतिपन्ना इत्याह—\*एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्ति-वाक्य-तदाभाससमाश्रयाः सन्त इति\* ॥ यद्वा—तेषामपि पक्षाणां तदस्येश्वरपक्षग्रहणेनैव ग्रहणात्, पूर्वोक्तानामैव पक्षाणाम्—“एवं बहवः” इत्यनेन परामर्श इति । युक्तिश्च वाक्यं च युक्ति-वाक्ये, युक्ति-वाक्ये च तदाभासौ च युक्ति-वाक्य-तदाभासाः, त एव सम्यगाश्रयो यथायोगं विप्रतिपत्तौ येषाम्, ते युक्ति-

भाष्यभावप्रकाशिका

श्रुतेत्येति भावः । विप्रतिपत्तीरूपसंहरति—\*एवं बहव इति\* ॥ \*ननु\*—न विप्रतिपत्तिमात्रात् पूर्व-पक्षता, किन्तु प्रमाण-युक्तिमूलतयेत्याशङ्क्याह—\*युक्तिवाक्येति\* ॥ युक्तिवाक्याश्रया इति विभागः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

निखिलदुःखादिमत्तामङ्गीकुर्यात् । \*ननु\*—वक्ष्यमाणज्ञानानन्दादिलक्षणेन पुरुषार्थतया जिज्ञास्यमेव किं न स्यात् ? \*न\* ; क्षुन्नितृत्तिसाधनतया पुरुषार्थेऽपि विषमिश्रितेऽन्नेऽनर्थहेतुतया प्रेक्षापूर्वकारिणामुपेक्षादर्शनात् । “न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः” इत्यादिशास्त्रान्नापुरुषार्थतेति चेत्, न ; “आत्मैवेदम्” इत्यादिसर्वतादात्म्यश्रुतेरुपादानकारणत्वाच्च । सर्वज्ञतयाऽज्ञानमिथ्याज्ञानाभावाद् नानर्थसम्बन्ध इति चेत्, न ; तत्त्वत एव प्रपञ्चतादात्म्यादज्ञानाद्यनपेक्षणात् । कर्मनिमित्तसुखदुःखादिसम्बन्धः, तदभावाद् न ब्रह्मण्यनर्थसम्बन्ध इति चेत्, न ; कर्मव्यतिरेकेणापि स्वभावादेवाखिलसुखदुःखादितत्साधनानां स्वान्वयितया ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वात्, कर्मादीनामपि तावन्मात्रहेतुत्वात् । नहि दुःखाद्यापरोक्ष्यव्यतिरेकेण संसारोऽन्यो दृश्यते ; कर्माविद्यादीनामपि वृंह्यर्थान्वयादेव ब्रह्मणि तादात्म्यात् तन्निमित्तोऽपि संसारः सुतरामुपपन्न इति । ब्रह्मणि

## ऋजुविवरणम्

न व्यतिरिक्तदुःखापरोक्ष्यम् ; आपरोक्ष्ये विद्यमानेऽपि भिन्नत्वाभावेनापुरुषार्थत्वाभावानुपलम्भात् केवलव्यतिरेकाभावे प्रयोजकत्वभावादिति भावः । “न लिप्यते” इति श्रुत्या संबन्धः प्रतीतिर्वा न निराक्रियत इति परिहरति—\*आत्मैवेदमित्यादीति\* ॥ कर्मनिमित्तस्यैवानर्थापादकत्वम्, न स्वरूपभूतस्येति । \*अथवा\*—न दुःखादियोगो ब्रह्मणः ; तन्निमित्तकर्माभावादिति चोदयति—\*कर्मनिमित्तसुखदुःखादीति\* ॥ जीवे स्वतो दुःखाभावात्कर्मापेक्षा, न ब्रह्मणि तदपेक्षेति भावः । \*ननु\*—कर्मनिमित्तत्वमपुरुषार्थत्वे हेतुरित्याशङ्क्याह—\*कर्मादीनामपीति\* ॥ नहि कार्यवैलक्षण्यभावे कारणभेदेन पुरुषार्थत्वमपुरुषार्थत्वमिति शक्यते वक्तुम्, कर्मनिमित्तत्वं तु केवलव्यतिरेकाभावेन नापुरुषार्थत्वे प्रयोजकमिति भावः । \*ननु\*—आपरोक्ष्यमात्रं कर्मभिर्न जायते, किन्त्वधिकं तद्भोगः, तेनैव चापुरुषार्थत्वम्, ब्रह्मणि तु तदभावात्त्रापुरुषार्थतेत्याशङ्क्याह—\*न हि दुःखाद्यापरोक्ष्येति\* ॥ कर्मादिनिमित्ताभावेऽपि ब्रह्मण्यपुरुषार्थत्वमुपपादितम् । इदानीमङ्गीकृत्यापि तन्निमित्तत्वमपुरुषार्थत्वं स्यादित्याह—\*कर्माविद्यादी-

## तत्त्वदीपनम्

\*नन्विति\* ॥ बाह्यसुखस्यानर्थसंभित्वान्न तत्र प्रवृत्तिरिति सदृष्टान्तमाह—\*न क्षुन्नितृतीति\* ॥ किंच ब्रह्मण्यनर्थसंबन्धाभावः किं शास्त्रात् ? उत तद्वैतज्ञानाद्यभावात् ? अथवा धर्माद्यभावात् ? आहो तद्विरोधितत्त्वज्ञानात् ? इति विकल्प्याद्यमुत्थापयति—\*न लिप्यत इति\* ॥

परमात्मा, न जीवगतदुःखेन संस्पृश्यते, तत्र हेतुमाह—\*बाह्येति\* ॥ आनन्दरूपत्वाद् दुःखस्य मिथ्यात्वाच्च न तत्संस्पर्शयोग्य इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरविरोधाद् मैवमित्याह—\*नात्मेति\* ॥ ब्रह्मोपादानत्वादप्यस्य प्रपञ्चस्य तत्तादात्म्यं तत्त्वमित्याह—\*उपादानेति\* ॥ मृज्जस्य कलशादेर्मृदात्मकत्वं दृष्टम्, तद्वज्जगतोऽपि ब्रह्मोपादानत्वात्तादात्मकत्वमाश्रयणीयमित्यर्थः । अनात्मनि देहादावात्माभिमानादज्ञानाच्च तस्य तत्स्पर्शजं दुःखं क्षेत्रज्ञस्य दृष्टम्, ब्रह्मणश्च तद्वैपरीत्यान्मैवमिति द्वितीयं कल्पं शङ्कते—\*सर्वज्ञतयेति\* ॥ जीवस्य वस्तुतो देहव्यतिरिक्तत्वात् तदध्यासाद् दुःखसंबन्धो युक्तः, प्रकृते त्वनन्यत्वात्स्वतो दुःखं स्यादित्याह—\*तत्त्वत इति\* ॥ “पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन” इत्यादिवाक्यात् सुखदुःखसंबन्धस्य कर्माधीनत्वमधिगतम् ; ब्रह्मणि तदभावाद् न दुःखसंबन्ध इति तृतीयं शङ्कते—\*कर्मैति\* ॥ यस्य स्वतो न दुःखादिसंबन्धित्वम्, तस्य तत् कर्माधीनम्, यस्य दुःखादि स्वत एव, तत्र कर्माकिंचित्करमित्याह—\*न कर्मैति\* ॥

तदापरोक्ष्येऽपि तदपेक्षेत्याह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ तदापरोक्ष्येऽपि तस्यानर्थत्वसिद्ध्यर्थं कर्मापेक्षेत्याशङ्क्य, दुःखाद्यापरोक्ष्यमनर्थत्वाच्च स्वतोऽस्तीति किं कर्मणेत्याह—\*कर्मादीनामिति\* ॥ \*तावन्मात्रेति\* ॥ दुःखाद्यापरोक्ष्यहेतुत्वादित्यर्थः । तथाऽपि कथं संसारित्वम् ? तत्राह—\*न हीति\* ॥ अनर्थसंबन्धः कर्माधीन एवेत्यभिनिविशमानं प्रत्याह—\*कर्माविद्यादीनामिति\* ॥ सायावी स्वगतव्याघ्रत्वादिकं पर्यन्तपि यथा न शीचति, तद्वद् ब्रह्मापीति तुरीयं शङ्कते—\*ब्रह्मणीति\* ॥ बाधितत्वमसिद्धमित्याह—\*न प्रपञ्चेति\* ॥ प्रपञ्चात्मभावस्य “सर्वकर्म” इत्यादिवाक्यप्रमितत्वात्



## पञ्चपादिका

सम्यग्दर्शिनः । इतरे तु—युक्तय इवावभासन्त इति युक्त्याभासाः, न परमार्थतो युक्तयः, ताः समाश्रित्य, वाक्यानीवावभासन्ते, न तानि वाक्यानि ; अतत्परत्वात् ; तानि वाक्याभासानि परिगृह्य,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्त्वज्ञानेन बाधितत्वान्नानर्थसंबन्ध इति चेत्, न ; प्रपञ्चात्मभावस्यापि तात्त्विकत्वात् । नच कारणाकारण-ब्रह्मभेदेन कार्यकारणब्रह्मभेदेन वा संसारविमुक्त्यवस्था; बृंहत्यर्थान्वयाभावप्रसङ्गात् । तस्माद् बृंहत्यर्थान्वयेनाद्वितीय-सर्वज्ञत्व-जीवत्वाद्यपगमेनाजिज्ञास्यं ब्रह्म प्राप्तम्, \*उच्यते\* ; सत्यपि सर्वस्यापरोक्षतया ब्रह्मसंबन्धे मायानिमित्ततया प्रतिबिम्बदयामत्वादिवद् मायाविगतव्याघ्रत्वादिवच्च तत्त्वज्ञानेन बाधितत्वात्, बिम्बस्थानीयब्रह्माणो नित्यसर्वज्ञतया तत्त्वज्ञाननियमान्न तत्रात्मानुबन्ध इति । विशुद्धिवाक्यानामेव च बलवत्तरत्वं वक्ष्यामः । युक्ति-वाक्याभासमूलता कस्येति ? तदाह—\*इतरे तु युक्तय इवेत्यादिना\* ॥

कथं पुनर्युक्त्याभासता शरीरात्मभावस्येति ? तदाह—\*युक्त्याभासत्वमिति\* ॥ \*ननु\*

## ऋजुविवरणम्

नामपीति\* ॥ \*ननु\*—द्विविधं हि ब्रह्माभ्युपगम्य संसारविशुद्धिव्यवस्था कल्प्यत इत्याशङ्क्याह—\*नच कारणाकारणेति\* ॥ \*ननु\*—प्रपञ्चात्मकत्वमपि शास्त्रादेव प्रतीयते, निष्प्रपञ्चत्वमपि, नचानयोर्विशेषोऽवगम्यते ; अतस्सप्रपञ्चत्वमपि सत्यमेवेति न तत्त्वज्ञानबाध्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*विशुद्धिवाक्यानामिति\* ॥ “जिज्ञासापदेऽन्तर्णीता मीमांसे”त्ययुक्तम् ; न ह्येकपदतदवयववाच्यत्वहीनस्य पदेऽन्तर्णीतत्वमुपपद्यते । “प्रारभ्यते” इति

## तत्त्वदीपनम्

तात्त्विकत्वमित्यर्थः । भिन्नविषयत्वेन श्रुत्योर्व्यवस्थामाशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ अशुद्धिवाक्यानामविद्योपहितकारण-विषयत्वम्, शुद्धिवाक्यानां निरुपाधिब्रह्मविषयत्वं हिरण्यगर्भमायोपहितविषयत्वं चेति न वाच्यम्, निरवग्रहमहत्त्वप्रतिपादकब्रह्मशब्दकोपादित्यर्थः । पुण्यापुण्यनिबन्धनदेहाद्यभिमानवतोऽनर्थसंबन्धित्वं तावत् प्रसिद्धम्, ब्रह्मणि त्वेतदभावात् कथमनर्थसंबन्धप्रयासः ? इत्याह—\*उच्यत इति\* ॥ दुःखाद्यापरोक्ष्यमनर्थः, तच्च स्वतो नास्तीत्युक्तमङ्गीकरोति—\*सत्यपीति\* ॥ न तर्हि जीवादस्य विशेष इत्याशङ्क्याह—\*मायेति\* ॥ “इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते” “मायां तु प्रकृतिं विद्यादि”त्यादिवाक्याद् भेदप्रपञ्चस्य मायाविलसितत्वं प्रतीयत इत्यर्थः । जीवगतकर्तृत्वाद्यसंस्पर्शं दृष्टान्तमाह—\*प्रतिबिम्बत्वेति\* ॥ प्रपञ्चासंस्पर्शं दृष्टान्तमाह—\*मायावीति\* । प्रत्यगभेदाद् ब्रह्मण्यपि तत्त्वज्ञानवैधुर्यमित्याशङ्क्याह—\*बिम्बस्थानीयेति\* ॥ बिम्ब-प्रतिबिम्बयोरभेदेऽपि श्यामत्वादिव्यवस्थावत् तत्त्वज्ञानादिव्यवस्थेत्यर्थः ॥ “बलवद्वाक्यानुरोधेन दुर्बलं नेयमि”ति न्यायाद् विशुद्धिवाक्यानां च तात्पर्यलिङ्गवत्तया प्राबल्यम्, इतरेषां च तद्वैपरीत्याद् दुर्बल्यम्, ततश्च ब्रह्मणि न दुःखसंस्पर्श इत्याह—\*शुद्धीति\* ॥ द्वितीयसूत्र इति शेषः । तस्मादन्त्यं मतं युक्तिवाक्यमूलमिति सिद्धम् । \*ननु\* इतरेषामपि तन्मूलत्वम् ; आभासमूलत्वे तन्निराकरणवैयर्थ्यादिति शङ्कते—\*युक्तिवाक्येति\* ॥ प्रतीतितो युक्त्यादेरनाभासत्वम्, वस्तुतस्त्वाभासत्वमितीतरनिराकरणं युक्तमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ ‘अहं मनुष्यः, काणोऽहमि’त्यादिरूपेणानुभूयमानत्वात् कथमाभासत्वम् ? इति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ \*युक्त्याभासतेति = युक्त्याभाससिद्धतेत्यर्थः ॥ ‘मम शरीरमि’त्यादिव्यतिरेकप्रत्ययविरोधाच्छरीराद्यात्मभावस्याभासत्वमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ अनुभवस्योभयत्राविशेषाद् व्यतिरेकप्राहि प्रमाणान्तरं वाच्यम्, इतरथा नाभासत्वसिद्धिरिति शङ्कते—\*ननु नैतावतेति\* ॥

## वार्तिकम्

वाक्य-तदाभाससमाश्रया इत्यर्थः । तत्र सिद्धान्तपक्षिणो युक्ति-वाक्यसमाश्रयत्वम्, इतरेषां तु तदाभाससमाश्रयत्वमिति विभागः । यथा चैतत्, तथा समन्वयाविरोधलक्षणाभ्यामुपपादयिष्यते ।



## पञ्चपादिका

पक्षान्तरेषु विप्रतिपन्नाः । युक्त्याभासत्वं लेशतो दर्शितमेव देहादिव्यतिरिक्तात्मपक्षं दर्शयद्भिः । इतरेषां युक्त्याभाससिद्धत्वं स्वावसरे दर्शयिष्यामः । दर्शितं च लेशत उत्तरोत्तरपक्षग्रहणकारण-प्रदर्शनेन, वाक्याभासतां तु तत्र तत्राधिकरणे सिद्धान्तयिष्यन्तः प्रदर्शयिष्यामः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

नैतावता युक्त्याभासत्वसिद्धिर्देहादिष्विति, तत्राह—\*इतरेषां युक्त्याभाससिद्धत्वमिति\* ॥ किञ्च दर्शिता एव युक्त्याभासाः, न तत्रान्यापेक्षेत्याह—\*दर्शितञ्च लेशत इति\* ॥ \*ननु\*—“स वा एव पुरुषोऽन्नरसमयः” “स वा अयमात्मा ब्रह्म” “पृथिवीमय आपोमयस्तेजोमयो वायुमयः” इत्यादीनि शरीरात्मवादे वाक्यानि । “ते ह वाचमूचुः, तेभ्यो वागुदगायदि”त्यदीनीन्द्रियात्मवादे । “मन उदगायदि”ति मनोवादे । “कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः” इत्यादि विज्ञानवादे । “असद्वा इदमग्र आसीत्” “असदेवेदमि”ति शून्यवादे । “अनुमन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मे”ति कर्त्तात्मवादे ; “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति” बुद्धिविषयत्वात् । “अनश्नन्नन्यः” इति भोक्त्रात्मवादे । “य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयती”ति व्यतिरिक्तेश्वरवादे वाक्यानि विद्यन्ते । कथं निर्मूलता पक्षान्तराणामिति ? तत्राह—\*वाक्याभासतां त्विति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

प्रमाणान्तराभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ “देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमि”त्यादिभाष्यटीकाव्याख्यानावसर आभासत्वमस्माभिरभिहितमित्याह—\*किंचेति\* ॥ भवदमिमत्वेदान्तेभ्य एव देहाद्यात्मभावस्य प्रतिपत्तेर्नाभासत्वमिति शङ्कते—\*ननु स वेति\* ॥ \*अन्नरसमय इति\* ॥ अन्नाकारपरिणतपृथिवीविकार इत्यर्थः । एतच्च भूतान्तरविकारत्वस्योपलक्षणार्थम् । न केवलं तैत्तिरीयकश्रुतेर्देहस्यात्मत्वम्, किं तु बार्हदारण्यकवाक्याच्चेत्याह—\*स वा अयमिति\* ॥ इन्द्रियादेरात्मत्वे क्रमेण प्रमाणं दर्शयति—\*ते हीत्यदिना\* ॥ आत्मनो भोक्तृत्वमेवेत्यत्र मानमाह—\*तयोरिति\* ॥ “तयोरन्यः पिप्पलमत्ती”ति कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्य लक्ष्यते, कथं निरसनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*बुद्धीति\* ॥ “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्वमि”ति पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेन बुद्धिपरतया वाक्यं व्याख्यातमित्यर्थः । \*ननु\* अनश्नन्निति भोगकर्तृताऽभावः प्रथत इत्याशङ्क्य, कर्मफलभोक्तृत्वलक्षणाशानाभावेऽपि तद्द्रष्टृतया भोक्तृत्वं युज्यते, “भोगश्चिदवसानते”ति सांख्योक्तेरित्याशयेनाह—\*अनश्नन्निति\* ॥

वाक्यानामन्यपरत्वान्नोक्तेऽर्थे प्रामाण्यमिति सिद्धान्तयति—\*तत्राहेति\* ॥ \*अयमर्थः\*—स्थूलबुद्धीनां देहव्यतिरिक्तात्मनि चित्तानवतारात्प्राकृतबुद्ध्यनुरोधेन “स वा एषः” इत्यनेन देहस्यात्मत्वमुपदिश्य रूपित्वादिना तस्यानात्मत्वशङ्कायां तस्मादान्तरप्राणाद्यात्मत्वोपदेशपरम्परया पञ्चकोशविलक्षणात्मप्रतिपादनेन वाक्यतात्पर्यं निर्धार्यते । अनश्नन्त्यास्ताराया अश्नन्तीत्वमुपदिश्य मुख्याश्नन्ती यथोपदिश्यते, तद्बुद्ध्यापि । “स वा अयमात्मे”त्यादिष्वात्मनः पृथिव्याद्युपाधित्वं कथ्यते, न तद्विकारत्वम् ; इतथा “अस्थूलमि”त्यादिवाक्यव्याकोपात् । “ते ह वाचमूचुरि”त्यत्र वागाद्यभिमानिनी देवतोच्यते, न करणमात्रं प्रदीपादिवत् ; आत्मत्वासंभवात् । “कतम आत्मा” इत्यत्र तु सुगताभिमतं ज्ञानं न विवक्षितम् ; “नहि द्रष्टुर्दृष्टेरि”त्यादिना प्रतिषेधात् । “असद्वा इदमग्र आसीत्” इत्यत्रानभिभ्यक्तनामरूपत्वात् सत्येवासच्छब्दः प्रयुक्तः, न निरुपाख्ये ; “तत्सदासीदि”त्यनेन विरोधात् । “अनुमन्ता बोद्धा” इत्यत्र किं पारमार्थिकं कर्तृत्वमुच्यते ? उत काल्पनिकम् ? नाद्यः ; मुक्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयस्त्वङ्गीक्रियते “अनश्नन्नि”त्यत्र परमार्थतः कर्तृत्वाभावे सिद्धसाध्यता ; आरोपितकर्तृत्वाद्यभावेऽन्यस्य बन्धः, अन्यस्य मुक्तिरिति वैयधिकरण्यात् । नच बुद्धिगतावेव बन्ध-मोक्षौ ; आत्मनि बन्धादिप्रतिपादकश्रुति-स्मृतिविरोधात् । “आत्मनि तिष्ठन्नि”त्यादिभेदव्यपदेशस्य चोपाधिकभेदविषयत्वेनोपपत्तेः, इति विप्रतिपत्तीनां समूलत्वेऽपि न विचारप्रवृत्तिः ; फलाभावात्, इति शङ्कते—\*नन्वेव-



तत्राविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् ।

भामती

ब्रह्ममीमांसाऽऽरभ्यत इति ? अत आह—\*तत्राविचार्येति\* ॥ तत्त्वज्ञानाच्च निःश्रेयसाधिगमः, नातत्त्व-  
ज्ञानाद्भवितुमर्हति । अपिच अतत्त्वज्ञानान्नास्तिक्ये सत्यनर्थप्राप्तिरित्यर्थः । सूत्रतात्पर्यमुपसंहरति—

पञ्चपादिका

\*तत्राविचार्य यत् किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थञ्चेयादिति\* ॥ तत्रैवं स्थिते  
मुमुक्षुर्ब्रह्मज्ञानेन परं निःश्रेयसमाप्तुकामोऽविचार्य = एतच्छास्त्रमश्रुत्वा प्रवर्तमानोऽन्त्यपक्षादर्वाचीनं कञ्चित्

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\*—एवमपि यस्य यस्मिन् रुचिरुत्पद्यते स तं पक्षमाश्रित्य पुरुषार्थं साधयेत्, किं विचारेणेति ?  
तत्राह—\*तत्राविचार्य यत्किञ्चिदिति\* ॥ भाष्यं व्याचष्टे—\*तत्रैवं स्थित इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* मा

तत्त्वदीपनम्

मपीति\* ॥ अपुरुषार्थसाधने पुरुषार्थसाधनबुद्ध्या प्रवृत्तस्य वस्तुतस्तदनिष्पत्तेर्न पुरुषार्थत्वसंभवः, ततश्च विचारोऽर्थवा-  
नित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ अन्त्यमतपरिग्रहेण वेदान्तशास्त्रे प्रवृत्तस्य पुरुषार्थसंभवाद् यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानः प्रति-  
हन्येतेति कथमुक्तम् ? इति शङ्कां व्याख्यानच्छेदेन निरस्यतीत्याह—\*भाष्यमिति\* ॥ पुरुषार्थसाधनाभावे न पुरुषार्थ-  
संभव इति युक्तम्, “अनर्थं चेयादि”त्ययुक्तमिति शङ्कते—\*ननु मा भूदिति\* ॥ अज्ञानाद्युच्छेदस्य तत्त्वज्ञानाधीन-  
त्वात् तदभावे तदनुपपत्तेरज्ञानादिनिबन्धनोऽनर्थो दुर्वारः स्यादित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ “अन्धं तमः  
प्रविशन्ती”त्यत्राज्ञानस्यानर्थहेतुत्वमुक्तमाक्षिपति—\*नन्वात्मेति\* ॥ अप्रतिपत्तिवाचकपदाभावादिति शेषः ॥  
हिंसायां प्रसिद्धस्यापि शब्दस्यामुख्यया वृत्त्याऽप्रतिपत्तावपि प्रवृत्तिर्युक्तेत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ वेदान्त-

वार्तिकम्

भवतु तावत् तेषां विप्रतिपत्तिः—तावताऽपि विचारकर्तव्यतायाः किमिति ? तत्राह—\*तत्राविचार्य  
यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थञ्चेयादिति\* ॥ \*तत्र\*—विप्रतिपत्तौ सत्याम् ;  
एषु पक्षेऽस्ति वाऽर्थः । \*अविचार्य\*—वक्ष्यमाणविचारमकृत्वा, स्वोहेन वा, वादिभिर्भिन्नमतितया  
वा निःश्रेयसकामः पुमान् सिद्धान्तपक्षं परित्यज्य परकल्पितेषु यत्किञ्चिदात्मत्वेन प्रतिपद्यमानो  
मोक्षमार्गात् प्रतिहतत्वाद् न तमधिगच्छेत् । न केवलं तदप्राप्तिरेव, अनर्थं च प्राप्नुयात् ; “असूर्या  
नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः” ॥ इति  
श्रुतेरित्यर्थः । तस्मादात्मत्वेन सामान्यतो लोके ब्रह्मणः सिद्धावपि तदध्यस्तानात्मदेहादिविधिततया  
स्वस्वरूपेणाप्रसिद्धेस्तज्ज्ञास्यत्वोपपत्तेः, स्वतः सामान्य-विशेषभावाभावेऽप्यनात्माध्यासानध्यासकृत-  
तद्भावोपपत्तेरुपपन्नं सूत्रकारस्य ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यानां विचारकर्तव्यतासूत्रणमित्युप-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* एवमपि किं विचारारम्भेण ? यस्य यस्मिन् पक्षेऽभिरुचिः, स तमाश्रित्य पुरुषार्थं साधये-  
दित्यत्राह—\*तत्राविचार्येति\* ॥ अन्योन्यविरुद्धार्थज्ञानेषु कस्यचिदेव तत्त्वदर्शनवत्त्वात्, तस्य  
च विचारसाध्यत्वात्, तद्दर्शनरहितस्य तत्त्वदर्शनविकलत्वाद् न मुच्यत इत्यर्थः ॥ अपि चातत्त्व-

प्रदीपः

साधुत्वस्यैव स्वीकरणीयत्वाच्च निष्प्रयोजनैवेयं ब्रह्ममीमांसेत्याशङ्क्याह—\*तत्राविचार्येति\* ॥ अयं भावः—सत्यं सर्वेऽपि  
वादा वेदान्तप्रमाणसिद्धाः, युक्तिसिद्धाश्च ; तावताऽपि वस्तुनि विकल्पासंभवाद् का वा युक्तिः प्रवला ? का वा



**तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधि-  
तर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥**

भामती

**\*तस्मादिति\*** ॥ वेदान्तमीमांसा तावत्तर्क एव, तदविरोधिनश्च येऽन्येऽपि तर्का अध्वरमीमांसायां न्याये च वेद-प्रत्यक्षादिप्रामाण्यपरिशोधनादिषूक्ताः, उपकरणं यस्याः सा तथोक्ता ॥

पञ्चपादिका

पक्षं परिगृहीयात्, तदा मोक्षस्य सम्यग् ज्ञानफलत्वात्, तस्य चातथाभावान्निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत = मोक्षफलं न प्राप्नुयात् । अनर्थश्च प्रतिपद्येत ; “अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः” इति श्रुतेः । अनात्मदर्शनेनात्मनोऽसत्कल्पत्वापादनमात्महननम् । एवंप्रत्यक्षात्महननस्य कृतत्वात्, अन्यथाऽऽत्मनो हननासम्भवात्, प्राणत्यागस्य प्रकृतानुपयोगादिति ॥

**\*तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना**

पञ्चपादिकाविवरणम्

भूदन्त्यात्पक्षादवाचीनेषु पक्षेषु तत्त्वज्ञानाभावाद निःश्रेयसलाभः, अनर्थः किमिति प्राप्यत इति ? तत्राह—\*अन्धं तमः प्रविशन्तीति\* ॥ \*ननु\* आत्महननं तत्रानर्थहेतुरुक्तो न तत्त्वाप्रतिपत्तिरिति, तत्राह—\*अनात्मदर्शनेनात्मनोऽसत्कल्पत्वापादनरूपस्येति\* ॥ सूत्रवाक्यार्थमुपसंहरति—\*तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेनेति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

वाक्यमीमांसारम्भस्य सूत्रे निर्दिष्टत्वात् कथं मीमांसा प्रस्तूयत इत्युक्तम् ? इति शङ्कां व्याख्यानेन निरस्यतीत्याह—\*भाष्यमिति\* ॥ प्रकृतिप्रत्ययात्मकजिज्ञासापदे मीमांसाया अन्तर्णीतत्वमनुपलब्धमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—

वार्तिकम्

संहरति—\*तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयस-प्रयोजना प्रस्तूयत इति\* ॥ अत्र मीमांसापदेन विचारात्मकश्रवणापरपर्यायवेदान्तवाक्यशक्तितात्पर्य-विषयस्तर्कोऽभिधीयते । तदविरोधितर्कपदेन च तत्फलवाक्यार्थावधारणानुकूलतत्प्रमेयबोधको मनना-परपर्यायस्तर्क इति । तस्य च श्रवणसहकारित्वमुक्तमधस्तात् । अत एवाभियुक्तैरप्येतदुक्तम्—“मनन-

भाष्यभावप्रकाशिका

ज्ञानान्नास्तिक्ये सत्यनर्थं प्राप्नुयादित्याह—\*अनर्थं चेयादिति\* ॥ सूत्रतात्पर्यमुपसंहरति—\*तस्मा-दिति\* ॥ ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेनेच्छाप्रदर्शनव्याजेन विचारपरं सूत्रमित्यर्थः । अथवा जिज्ञासा-

प्रदीपः

दुर्बलः ? किं च वेदान्तवाक्यं प्रबलम् ? किं च दुर्बलमित्यादि विचार्य, प्रबलप्रमाणावगतं तत्त्वम्, दुर्बलप्रमाणाव-गतन्तु न तत्त्वमिति निर्णयः कर्तव्यः । तत्र च जीवात्मभावादिपक्षस्यैव यदि प्रामाण्यम्, तर्हि तदविरोधेनैव सर्वे वेदान्ता नेयाः, यदि तु जीवातिरिक्तेश्वरवादस्य, तर्हि तदविरोधेनान्येषां नयनम्, यदि तु जीवब्रह्मैक्यपक्षस्य, तदा तु तदानुगुण्येनान्येषां नयनम्, इति पक्षविशेषाणां पूर्वपक्षरूपेण सिद्धान्तरूपेण च समालोचनं विना न तत्त्वनिर्णयो भवितु-मर्हति । अनिर्णीते च तत्त्वे न निःश्रेयसप्राप्तेरवकाशः ; अन्यथागृहीते चानर्थप्राप्तेरवसरो भवति, इति यथावदग्रहणा-दिनिरासेन यथावद् ग्रहणव्यवस्थापनार्थं विचार आवश्यक इति । \*ननु\*—अस्तु नाम विचारावश्यकता, एवमपि प्रत्यग-भिन्नं ब्रह्मैवात्र सूत्रकारैर्जिज्ञास्यतया गृहीतमिति कथमवगम्यते ? कथं वा न जीवः शरीरादिरूपः ? तद्वतिरिक्तेश्वर एव वात्र न जिज्ञास्यं ब्रह्मेत्यत आह—\*ब्रह्ममीमांसोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसेति\* ॥



### पञ्चपादिका

प्रस्तूयत इति\* ॥ ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासव्याजेन जिज्ञासापदेनान्तर्णीतमीमांसा वेदान्तवाक्यानामारभ्यते ।  
\*अथवा\*—ब्रह्मज्ञाने कर्तव्यतयोपदिष्टे तज्ज्ञानाय प्रवृत्तेभ्योऽर्थादेव तत्प्रतिपादनं प्रतिज्ञातम्, इति  
तदर्थं वेदान्तमीमांसाऽऽरभ्यते । किंप्रयोजना? किमुपकरणा चेति? उच्यते—\*तदविरोधितकौपकरणा  
निःश्रेयसप्रयोजना चेति\* ॥ तैः वेदान्तैः, अविरोधी तर्कः ; = युक्तिः, \*उपकरणम्\* = इतिकर्तव्यता,

### पञ्चपादिकाविवरणम्

भाष्यं व्याचष्टे—\*ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासव्याजेनेति\* ॥ जिज्ञासापदेनान्तर्णीतं विचारमुपलक्ष्य तत्कर्तव्यता-  
परं सूत्रमित्युक्तं भवति । योजनान्तरमाह—\*अथवेति\* ॥ जिज्ञासा कर्तव्येत्युक्ते ज्ञानमिष्यमाणं साध्यतया  
कर्तव्यमिति सूत्रार्थः संपद्यते । तत्र ज्ञाने कर्तव्येऽप्यर्थात् तत्साधनकर्तव्यताप्यवगम्यते । अतोऽर्थसिद्ध-  
विचारकर्तव्यतापरसूत्रमिति । \*किंप्रयोजनेत्यादिः स्पष्टार्थः\* ॥

कथं पुनर्विचारस्य निःश्रेयसं प्रयोजनम्, विचारजन्यब्रह्मावबोधसाध्यत्वादिति चेत्, किं  
तन्निःश्रेयसम्? कर्तृत्व-भोक्तृत्व-दोषसंयोगाध्यासप्रवाहोपादानस्याज्ञानस्य निवृत्तिरिति चेत्, न ; निवृत्तेऽप्यज्ञाने

### ऋजुविवरणम्

चायुक्तम् ; तद्वाचकपदाभावात्, उत्तरसूत्रार्थत्वाभावेनोपसंहारस्य प्रतिपादनविरोधादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*जिज्ञासा-  
पदेनान्तर्णीतमिति\* ॥ “अथवा—ब्रह्मज्ञाने कर्तव्यतयोपदिष्टे” इत्युक्तम् ; ज्ञाने कर्तव्यत्वोपदेशायोगात्,  
उपसर्जनत्वेन न तत्कर्तव्यत्वं प्रतिपाद्यम्, कथञ्चित्सन्वाच्येच्छाकर्तव्यत्वं सूत्रार्थो भवेत्, तथा “तज्ज्ञानाय  
प्रवृत्तेभ्योऽर्थादेव तत्प्रतिपादनमि”त्यत्र सन्निहितत्वात्तच्छब्देन ज्ञानं निर्दिश्येत, तथा सति “अर्थादि”त्य-  
युक्तम् ; “तत्कर्तव्यतयोपदेशः” इति वाचनिकत्वाभिधानात्, तेन विनाऽनुपपद्यमानार्थाभावाच्च । नापि  
“तत्प्रतिपादनमि”ति तच्छब्देन ब्रह्म विवक्षितम् ; पूर्वव्याख्यानेऽपि विवक्षितत्वाद्वाचनिकत्वानुपपत्तेश्च । नापि  
ब्रह्मास्मिन् शास्त्रे प्रतिपाद्यमित्येवं सूत्रार्थो दर्शितः ; अर्थसिद्धत्वेन प्रतिपादनवैयर्थ्यात्, पूर्वव्याख्यानेऽपि सिद्धत्वात्,  
विध्यध्याहारस्य साधितत्वात्, तस्य चानन्वयप्रसङ्गात्, अनुक्तोपसंहारश्च । नाप्यन्याऽत्र कर्तव्यता ; असन्निधाना-  
दित्याशङ्क्योपपादयति—\*जिज्ञासा कर्तव्येत्युक्त इति\* ॥ विचारजन्यत्वाभावादित्यभिप्रायेण बोधयति—\*कथं पुन-  
र्विचारस्येति\* ॥ “किं तन्निःश्रेयसम्” इति पृच्छतोऽयमभिप्रायः—निःश्रेयसस्यैवानिरूपितत्वेनाभावाच्च तत्प्रयोजन-  
त्वमिति । \*न निवृत्तेऽप्यज्ञान इति\* ॥ \*अयमाशयः\*—अनर्थहेतुत्वादज्ञानस्य तन्निवृत्तेः प्रयोजनत्वमुच्येत, न

### तत्त्वदीपनम्

\*जिज्ञासापदेनेति\* ॥ प्रकृतिप्रत्ययाभिहितयोर्ज्ञानेच्छयोरन्तर्णीतं विचारं जिज्ञासापदेनोपलक्ष्येति संबन्धः । पूर्वत्रा-  
ख्या पक्षान्तरपरिग्रहशङ्कां निरस्यति—\*योजनान्तरमिति\* ॥

ज्ञानकर्तव्यतासंभवस्य विचारकर्तव्यतायाश्चोभयत्राविशेषात् कथं मतभेदः? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*जिज्ञा-  
सेति\* ॥ पूर्वस्मिन् व्याख्याने जिज्ञासापदेन विचारं लक्षयित्वा तत्कर्तव्यतापरं सूत्रमित्युक्तम्, अत्र तु जिज्ञासा-  
शब्दस्य न विचारलक्षकत्वम्, किंत्विष्यमाणज्ञान-तत्कर्तव्यताभिधानद्वारा साधारणविचारकर्तव्यतापरत्वमित्यार्थिकार्थत्वं  
विचारकर्तव्यताया इति भेदः । वेदान्तमीमांसाया निःश्रेयसप्रयोजनत्वमुक्तम्, तदाक्षिपति—\*कथं पुनरिति\* ॥  
विचारस्य निःश्रेयसं साक्षात् प्रयोजनम्? उत परम्परया? नाद्यः ; तस्य ज्ञानफलत्वादित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—  
\*विचारेति\* ॥ निर्णीतशक्तितात्पर्यवेदान्तवाक्येभ्यो ब्रह्मावबोधजन्म, ततो निःश्रेयसमित्यर्थः । स्वरूपावस्थानम्=निःश्रेय-  
यसम्, तस्य च नित्यत्वान्न ज्ञानसाध्यत्वमित्याशयेनाह—\*किं तदिति\* ॥ स्वरूपावस्थानस्यासाध्यत्वेऽप्यज्ञान-  
निवृत्तेः साध्यतया ज्ञानफलत्वमिति शङ्कते—\*कर्तृत्वेति\* ॥ कर्तृत्वं च भोक्तृत्वं च दोषसंयोगश्चेति तथा, त  
एवाध्यासः । अध्यस्यत इत्यध्यासः । स एव प्रवाहः । प्रोह्यते न विच्छिद्यत इति तदुपादानस्येत्यर्थः ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

द्वैतदर्शनस्यानपायात् । न हि पृथिव्यादिप्रपञ्चः कर्तृत्वाद्यध्यासनिवृत्तिमात्राविवर्तते, \*उच्यते\*—सत्त्वपि पृथिव्यादिष्वन्तःकरणाध्यासनिवृत्तौ प्रमातृत्वाभावादात्मचैतन्यस्य स्वतो विषयोपरागाभावाद् द्वैतदर्शनं न प्राप्नोति ; अनिन्द्रियस्यैव रूपादिदर्शनमित्येकः पक्षः । इतरस्तु सर्वद्वैतनिवृत्तिपक्षः समन्वयसूत्रे वक्ष्यते ।

## अज्ञानविवरणम्

चाज्ञाने निवृत्ते द्वैतदर्शननिवृत्तिः ; तदनिवृत्तौ तन्निमित्तसुख-दुःखतद्दर्शनस्य चानिवृत्तेर्नाज्ञाननिवृत्तेः प्रयोजनत्वमिति । \*ननु\*—पृथिव्यादिकृत्स्नप्रपञ्चस्यापि प्रतीत्यभावेन कर्तृत्वादिनिवृत्तौ निवृत्तत्वादप्रतीतेर्वाज्ञाननिवृत्तेर्निःश्रेयसत्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह—\*न हि पृथिव्यादिप्रपञ्च इति\* ॥ कर्तृत्वाद्युपादानस्य निवृत्तत्वात् तन्निवृत्तिः, न पृथिव्यादेः ; तदुपादानस्यानिवृत्तेरप्रतीतेरपि न संभव इति भावः । \*ननु\* अध्यासनिमित्तप्रमातृत्वाभावेऽपि चैतन्यस्य सर्वगतस्य विद्यमानत्वात् सर्वविषयावभासः, सुख-दुःखयोगश्च प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—\*आत्मचैतन्यस्य स्वतः

## तत्त्वदीपनम्

अज्ञाननिवृत्तिमङ्गीकृत्य तस्याः पुरुषार्थत्वमाक्षिपति—\* निवृत्तेऽपीति\* ॥ अज्ञाननिवृत्तौ पृथिव्यादेरपि निवृत्तेः कथं द्वैतदर्शनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*न हीति\* ॥ पृथिव्यादेः पारमार्थिकत्वान्नाज्ञाननिवृत्त्या निवृत्तिः, अपारमार्थिकत्वेऽप्यविद्यात्मकं कर्तृत्वादि निवर्तते, न मायात्मकं पृथिव्यादि, अन्यथैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । मतभेदेन मुक्तिं समर्थयते—\*उच्यते इति\* ॥ अन्तःकरणैक्याध्यासात् प्रमातृत्वमनुभवस्य, आत्मज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावन्तःकरणस्यापि निवृत्तत्वाच्च सुखाद्यनुभवतीत्यर्थः । स्वरूपचैतन्यस्य सर्वगतत्वेन सकलविषयसंबन्धित्वाद् द्वैतदर्शनसंभवमाशङ्क्याह—\*आत्मचैतन्यस्येति\* ॥ सकलश्रुति-स्मृति-युक्त्याचार्यसमतं पक्षमाह—\*इतरस्त्विति\* ॥

## वार्तिकम्

निदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां श्रवणं नामाङ्गं विधीयत इति । \*ननु\*—प्रमाणस्य खलु सहकारी तर्कोऽभ्युपगम्यते, न तर्कस्य ; अनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाच मीमांसाख्यतर्कस्य सहकारी कथं मननाख्यस्तर्कः स्यात् ? इति—चेत्, \*सत्यम्\* ; प्रमाणसहकारी तर्कः, तथाऽपि मीमांसासंज्ञकतर्कस्तात्पर्यावधारणद्वारा प्रमाणस्वरूपोपकारकः । स उपक्रमोपसंहारादिरूपत्वात् श्रुतिप्रमाणमेव फलतो भवति ; तात्पर्यलिङ्गविधया प्रवृत्तत्वेऽपि प्रमैये श्रुतिरूपत्वात् । अत एव श्रवणमित्याचक्षते । एतदेवाभिप्रेत्य तन्ववार्तिककारेणाप्युक्तम्—“मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः । सोऽतो वेदो लुमाप्राप्तकाष्ठादिलवणं यथा” ॥ इति ॥ \*ननु\*—एवं तर्हि मननस्यापि मृल्लोहितादिदृष्टान्तरूपत्वेन श्रौतत्वात् श्रुति-

## भाष्यभावप्रकाशिका

कर्तव्येत्युक्ते ज्ञानस्येष्ट्यमाणस्य कर्तव्यताकथनात् तदुपायविचारः कर्तव्य इत्युक्तं भवतीत्यर्थः । किमुपकरणा किंप्रयोजना चेति ? अत आह—\*तदविरोधीति\* ॥ वेदान्तवाक्याविरोधीत्यर्थः ॥ यद्यपि वेदान्तमीमांसाऽपि

## प्रदीपः

शरीरादिकमहमर्थजीवो वा न वेदान्तवाक्यगम्यः, ईश्वरस्तु वेदान्तगम्योऽपि स्वोपाधिप्रकृतिपदवाच्यमायाभिन्नत्वाद् न निरतिशयमहत्त्वमर्हतीति न ब्रह्मपदार्थः, इति वेदान्तवाक्यमीमांसेयं प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयिण्येव युक्ता । अत एव हि—आनन्दमयाधिकरणमारभ्य जीवपरत्वं वेश्वरपरत्वं वेति, “अत्ता चराचरग्रहणात्” इत्यादिभिः “यत्र सः” इति यच्छब्दाभिधेये ब्रह्मणि तच्छब्दवाच्योऽन्य ईश्वर एवेति विचारादिकं चोपपद्यते । न केवलमेतावत्, किन्तु स्पष्टमेव “न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि” इत्यादौ ब्रह्मनिर्विशेषत्वव्यवस्थापनम्, “मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वादि”त्यादौ स्वात्मिकमायिकत्वव्यवस्थापनपूर्वकं जीवस्य परमार्थगत्या ज्ञापदाद्यवस्थासम्बन्धराहित्यप्रतिपादनं चोपपद्यते । यथाच सूत्राणामुपरितनानां सर्वेषां निर्विशेषब्रह्मतावाद एव स्वारस्यम्, तथा तत्तत्सूत्रभाष्यविवरणावसरे व्यक्तीकरिष्यते । \*निःश्रेयसप्रयोजना\* = मोक्षप्रयोजनकेत्यर्थः । मोक्षपदव्यवहारो ह्यात्यन्तिकनिःश्रेयसस्य बन्धनिवृत्त्युपलक्षितं स्वरूपमेव मुक्तिरिति गमयति । इदं च निर्विशेषब्रह्मतावाद एव समञ्जसम् । तथाचापातदृष्ट्येव-



## इति जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ।

### भामती

तस्मात् परमनिःश्रेयससाधनब्रह्मज्ञानप्रयोजना ब्रह्ममीमांसाऽऽरब्धव्येति सिद्धम् ॥ \*इति जिज्ञासाधिकरणम्\* ॥ १ ॥

इति. श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ।

### मृजुप्रकाशिका

प्रस्तुतां ब्रह्ममीमांसां सप्रयोजनां सविषयां चोपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ ब्रह्ममीमांसा=ब्रह्मविषयिणी जिज्ञासेत्यर्थः ।

इति भामतीव्याख्यामृजुप्रकाशिकायां जिज्ञासाधिकरणं संपूर्णम् ॥

### वार्तिकम्

प्रमाणेऽन्तर्भावः स्यात्, तथाच कुतस्तत्सहकारित्वमिति चेत्, \*न\* ; वैषम्यात्, “सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि”त्युपक्रमादिश्रुतिस्तु तात्पर्यलिङ्गं भवन्त्यपि स्वार्थं साक्षादेव श्रुतिविधया गमयति, मृलोहादिदृष्टान्तस्य श्रौतत्वेऽपि लिङ्गविधयैव तत्प्रतिपादकत्वमिति । अपिच ताद्रूप्यविवक्षायां मननस्याप्यस्त्येव विचारेऽन्तर्भावः ; तस्योपपत्तिरूपषड्विधलिङ्गेऽन्तर्भावात्, षड्विधलिङ्गानुसन्धानस्यैव विचाररूपत्वादित्युक्तत्वात् । अत एव चतुर्लक्षण्यां मीमांसायामविरोधलक्षणं मननमित्याचक्षते । नच—एवं सत्येकत्वात् तयोरङ्गाङ्गिभावविरोधः ; यथामतं पञ्चावयववाक्यरूपस्य त्र्यवयववाक्यरूपस्य वा न्यायस्य प्रतिज्ञाद्यङ्गकत्ववत्, अङ्गद्वययोगस्य यमाद्यङ्गकत्ववच्चाभेदेऽपि भागकल्पनयाऽङ्गाङ्गिभावाविरोधात् । दृष्टान्तेऽवान्तरव्यापारभेदाद्विभागकल्पनमिति चेत्, सत्यम् ; अत्रापि तस्य तुल्यत्वात् । समुदायापन्नस्य महातात्पर्याविधारणद्वारा प्रमाणस्वरूपे व्याप्रियमाणस्य श्रवणम्, उपपत्तिरूपेण तत्त्वमर्थशोधकतया तत्फलसिद्ध्यर्थं प्रवर्तमानस्य तदेकदेशस्य मननत्वमिति व्यापारभेदाद्विभागसिद्धेः । \*ननु\*—एवं तर्हि शास्त्राद् बहिर्मननं न स्यात् ; तथाच पाण्डित्यात् पृथग् बाल्यविधानानुपपत्तिरिति—चेत्, \*न\* ;

### प्रदीपः

रस्वरूपबोधकानामपि वाक्यानां देहाद्यात्मतापराणां वाक्यानामिव तत्त्रं पदवाच्यार्थसमर्पणोपयोगेऽपि तत्रैव न पर्यवसानम्, किन्तु शुद्धस्वरूपचैतन्य एवोपक्रमाद्यवगत इति निष्कर्षः । सर्वं चेदं विचारारम्भं विना न सिध्यतीति विचार आरभ्यत इत्याह—\*प्रस्तूयत इति\* ॥

\*इति जिज्ञासाधिकरणमिति\* ॥ जिज्ञासाशब्दघटितं जिज्ञासाप्रतिज्ञापरं वाऽधिकरणं जिज्ञासाधिकरणम् । अधिकरणं नाम “विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥” इति वचनसिद्धं विषयादिपञ्चकमेव ॥

इदमत्र जिज्ञासाधिकरणशरीरम्—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति वाक्यं विषयः । इदम्, आत्मविचारावश्यकतापरम्, न वेति. संशयः । आत्मनो जिज्ञास्यस्य शरीरादिरूपत्वात् तस्य च निर्णीतत्वाद् विचारो न कर्तव्य इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु शरीरादेरनात्मत्वाद् वेदान्तमात्रसमधिगम्यत्वाच्चात्मनो वेदान्तविचारः कर्तव्य इति ॥ ब्रह्मविचारप्रतिज्ञापरत्वात् शास्त्रसङ्गतिः । “श्रोतव्यः” इति वाक्यस्य ब्रह्मणि समन्वयव्यवस्थापनादध्यायसङ्गतिः । पादसङ्गतिश्च ब्रह्मलिङ्गस्यात्र श्रोतव्यत्वादिरूपस्य विद्यमानत्वात् सुलभैव । स्पष्टब्रह्मलिङ्गत्वादिपरिष्करणं तु—निर्णयवाक्योपक्रमगतसंभाव्यमानस्वारस्य-



## पञ्चपादिका

सहकारिकारणमिति यावत् । \*अथवा\*—\*तर्कः\* = अनुमानम्, वेदान्तैरविरुद्धम् ; तदर्थप्रतीतेरेव दृढत्वहेतुतयोपकरणमस्या इत्यर्थः ॥ १ ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपद्मपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां  
विषय-प्रयोजनाक्षेपपरिहारवर्णनं नाम तुरीयवर्णकं समाप्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तस्मान्निरस्तसकलकर्तृत्वाद्यध्यासम्, अपाकृतद्वैतदर्शनम्, अनतिशयानन्दप्रकाशमानब्रह्मस्वरूपावस्थानं निःश्रेयसं वेदान्तविचारस्य प्रयोजनमिति रमणीयम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्यस्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ  
पञ्चपादिकाविवरणे विषय-प्रयोजनाक्षेपपरिहारनिरूपणं नाम  
तुरीयवर्णकं समाप्तम् ॥

## ऋजुविवरणम्

इति\* ॥ अनर्थनिवृत्तिमात्रस्य निरतिशयपुरुषार्थत्वाभावात् सकलपुरुषार्थत्वमुपसंहरति—\*तस्मान्निरस्तसकलेति\* ॥ 'ब्रह्मस्वरूपावस्थानं निःश्रेयसमि'त्युक्ते प्रकाशमानत्वाभावे पुरुषार्थता न स्यात्, तदर्थम्—\*प्रकाशमानेत्युक्तम्\* ॥ प्रकाशमानस्याप्यानन्दस्यापुरुषार्थत्वम्, तन्निवृत्त्यर्थम्—\*अनतिशयेति\* ॥ एवंभूतब्रह्मस्वरूपावस्थानमपि द्वैतदर्शन-सन्निहितमपुरुषार्थम्, तन्निवृत्त्यर्थम्—\*अपाकृतद्वैतदर्शनमिति\* ॥ द्वैतदर्शनाभावे निरस्तसकलकर्तृत्वाद्यध्यासत्वं हेतुः । सत्यध्यासे तद्दर्शनान्नान्यथा यतः । “अथवा निरस्तेत्यादिना” “अध्यासनिवृत्तिरपाकृतद्वैतदर्शनमि”त्यनेन स्वरूप-चैतन्येनावभासाभाव इति ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज-सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ  
ऋजुविवरणे विषय-प्रयोजनाक्षेपपरिहारनिरूपणं नाम तुरीयवर्णकं समाप्तम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

वर्णकार्थमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ अत एव न द्वैतदर्शनप्रसङ्ग इत्याह—\*अपाकृतेति\* ॥ सुख-साक्षात्कारमन्तरेणानर्थनिवृत्तिमात्रान्न पुरुषार्थसिद्धिरिति शङ्कां निरस्यति—\*अनतिशयानन्देति\* ॥ अप्रतीयमानस्या-पुरुषार्थत्वं निरस्यति—\*प्रकाशमानेति\* ॥ सातिशयत्वादानन्दस्यात्मस्वरूपत्वमनुपपन्नमिति शङ्कां निरस्यति—\*अनतिशयेति\* ॥ औपाधिकोऽतिशयप्रतिभास इत्यर्थः । अनुबन्धचतुष्टयसंभवाद् वेदान्तविचारकर्तव्यता युक्ते-त्यधिकरणार्थमुपसंहरति—\*इति रमणीयमिति\* ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-दीपने विषयप्रयोजनाक्षेपपरिहारनिरूपणं नाम तुरीयवर्णकं समाप्तम् ॥





## वार्तिकम्

गुरु-शास्त्राभ्यां श्रुतवतस्तन्निरपेक्षतया स्वानुभवसिद्ध्यर्थं पुनः शास्त्राद्विहितदुपपत्तेः । तथाच श्रुतिः—  
“तस्मात्पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्” “यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा” “विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीते”-  
त्यादिः । सर्वथाऽप्युपपन्नं मननस्य श्रवणाद्गत्वमिति । यदा मीमांसापदेन “तत्तु समन्वयादि”त्यादि-  
व्यवयववाक्यं परार्थानुमानरूपं न्यायापरपर्यायमुच्यते ; तस्य च तात्पर्यावधारणे प्रमाणत्वात् , तर्ह्यनु-  
मानस्येवानुकूलतर्कापेक्षा न विरुध्यते ॥

वेदान्तवाक्यमीमांसा कार्या वा नेति संशये ।  
न कार्या स्यान्निरर्थत्वाद् गतार्थत्वाद् न चोदिते ॥  
प्रयोजनादिसद्भावात् कार्या पूर्वोक्तयुक्तिः ।  
पूर्वतन्वाऽगतार्थत्वाच्चेति सूत्रार्थसंग्रहः ॥

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके जिज्ञासाधिकरणं  
संपूर्णम् ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

तर्क एव ; तथापि कर्ममीमांसा न्यायेषु वेदप्रत्यक्षादि-प्रमाणपरिशोधनादिषु ये न्यायास्तदुपकरणं  
यस्याः सा तथोक्ता । निःश्रेयसप्रयोजनेति । निःश्रेयससाधनब्रह्मज्ञानप्रयोजनेत्यर्थः ॥ १ ॥

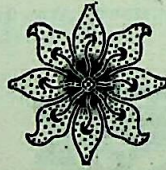
इति पूज्यश्रीचित्सुखमुनिकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां  
भाष्यभावप्रकाशिकायां जिज्ञासाधिकरणं संपूर्णम् ॥

## प्रदीपः

जीवलिङ्गाभिभूतब्रह्मलिङ्गकत्वमस्पष्टब्रह्मलिङ्गत्वम्, तद्भिन्नत्वं स्पष्टब्रह्मलिङ्गत्वमिति शंकरपादभूषणादौ व्यक्तम् । अत्र च प्रसङ्गे  
व्यासरायकृततात्पर्यचन्द्रिकादूषणान्यपि विशदं परिहृतान्यसदीयाद्वैतदीपिकायामिति तत एवाधिगन्तव्यमधिकम् ।

इति प्रदीपे जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ॥

इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ।





## अथ पञ्चमं वर्णकम्

### द्वितीयं जन्माधिकरणम्

#### जन्माद्यस्य यतः ॥

भामती

तदेवं प्रथमेन सूत्रेण मीमांसारम्भमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसामारभते—\*जन्माद्यस्य यतः\* ॥ एतस्य

#### ऋजुप्रकाशिका

\*ब्रह्ममीमांसारम्भमुपपाद्येति\* ॥ ब्रह्ममीमांसारब्धव्यत्वमुपपाद्येत्यर्थः । \*ननु\*—“अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा” इति सूत्रेण प्रथमेन ब्रह्मजिज्ञासाया एवोपपादनात् कथं तेन ब्रह्ममीमांसारब्धव्यत्वमुपपादितमिति चेत्, \*उच्यते\* ; “ब्रह्मजिज्ञासे”त्यत्र ‘साकाङ्क्षं वाक्यं पदं वाऽनर्थकमि’ति न्यायेनाऽऽकाङ्क्षोपशामकं पदं किञ्चिदध्याहर्तव्यम् । तत्राप्ययोग्यस्य पदस्याध्याहारानर्हत्वाद् योग्यकर्तव्येतिपदमध्याहर्तव्यम् । तत्र ब्रह्मजिज्ञासायाः कर्तुमशक्यत्वेन जिज्ञासापदेन ब्रह्मज्ञानसाधनीभूतब्रह्ममीमांसाविचारो लक्ष्यते, इति प्रथमसूत्रेण ब्रह्ममीमांसारब्धव्यत्वमुपपादितमिति द्रष्टव्यम् । \*जन्माद्यस्य यतः\* ॥ स्वयं “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रस्य सामान्यतोऽ-

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

जगज्जन्म-स्थिति-ध्वंसा यतः सिध्यन्ति कारणात् ।

तत् स्वरूप-तटस्थान्यां लक्षणाभ्यां प्रदर्श्यते ॥

#### ऋजुविवरणम्

निजं निरन्तरं शान्तं स्फुरन्तं निर्विकल्पकम् । आनन्दमन्दिरं दूरे कल्पनाया गुरुं नमः ॥

किमनेन सूत्रेण व्युत्पाद्यते ? न तावलक्षणम् ; अनाकाङ्क्षितत्वात्, ज्ञाते स्वरूपे लक्षणाकाङ्क्षा ? अज्ञाते वा ? नाऽज्ञाते ; किमस्य लक्ष्यस्य लक्षणमित्याकाङ्क्षानुदयात्, अस्येदं लक्षणमिति लक्ष्यलक्षणसंबन्धापरिज्ञानाच्च । नापि न ज्ञाते ; वैयर्थ्यात् । किञ्च स्वरूपलक्षणं वोच्यते ? तदस्थं वा ? नाद्यः ; जन्मादिकारणत्वस्य सप्रतियोगिकस्य स्वरूपत्वायोगात्, सविशेषत्वप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः ; स्वरूपलक्षणेन विना तदस्थलक्षणमात्रेण स्वरूपप्रतीत्य-योगात्, तस्य चाप्रतीतेः । अतिव्याप्तिश्च लक्षणस्य ; प्रधानादावपि जगत्कारणत्वस्य संभवात्, अतो नास्य लक्षण-सूत्रत्वम्, तदभावे “स्वरूपस्याभ्यर्हितत्वादि”त्यादिस्वरूपपरत्वप्रतिपादनपरो ग्रन्थोऽसङ्गत इत्याशङ्क्य, सूत्रस्य तात्पर्यमाह—\*जगज्जन्मेति\* ॥ \*ननु\*—अस्य भाष्यस्यानेकार्थसंभवात्किमर्थमेवं व्याख्यायते ? इत्याशङ्क्याह—

#### तत्त्वदीपनम्

श्रीमद्रत्नाचलोद्भूतबोधशैलधुरद्रमम् । भजे संततसंतपनिर्वाणविचक्षणम् ॥

किमेतत्सूत्रं स्वरूपलक्षणं प्रतिपादयति ? उतोपलक्षणम् ? नाद्यः ; कारणत्वस्य स्वरूपतानुपपत्तेः, नेतरोऽपि ; स्वरूपाद्विर्भूततया गमकस्योपलक्षणत्वात्स्वरूपलक्षणं वाच्यम्, नच तत्प्रतिपाद्यत इत्यसामञ्जस्यमित्याह—\*जग-दिति\* ॥ आनन्दात्मकब्रह्मणो मायाविनः कारणत्वप्रतिपादकत्वादुभयपरत्वमस्येत्यर्थः । ‘ग्रामो गन्तव्यः’ इत्युक्ते

#### प्रदीपः

लक्षण-प्रमाणान्यां हि वस्तुसिद्धिः । जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञाते च ब्रह्मणि लक्षणं प्रमाणं च निर्देशमर्हति । न ह्यन्यथा तद्



## ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेति ? अत आह भगवान्

भामती

सूत्रस्य पातनिकामाह—\*ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म ?\* ॥ अत्र यद्यपि

ऋजुप्रकाशिका

वतारिकामुक्त्वा विशिष्य तस्य सूत्रस्य भाष्यकारोऽवतारिकामाहेत्याह—\*एतस्य सूत्रस्येति\* ॥ “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रस्येत्यर्थः । अवतारिका = पातनिकाशब्दार्थः । \*ननु\*—“ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्, किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मे”त्यादिना ब्रह्मस्वरूपं ज्ञानमेवाक्षिप्य “जन्माद्यस्य यतः” इत्यादिना तदेव समाधीयते । तत्किमर्थम् ? प्रधानभूतब्रह्मस्वरूपज्ञानप्रतिज्ञया तदज्ञानां प्रमाणादीनामपि प्रतिज्ञातत्वादङ्गभूतप्रमाणान्येव प्रथममाक्षिप्य समाधीयन्तामित्याशङ्क्य निराकरोति—\*यद्यपीत्यादिना समर्थ्यत इत्यन्तेन\* ॥ यत् प्रधानं

पञ्चपादिका

\*ब्रह्म जिज्ञासितव्यमि’त्युक्तम्\* इति ब्रह्मज्ञानकामेनेदं शास्त्रं श्रोतव्यमित्युक्तम् ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

वृत्तसङ्कीर्तनभाष्यस्यान्तर्णीतं विचारार्थोपादानेनार्थं कथयति—\*ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तमित्यादिना\* ॥

ऋजुविवरणम्

\*वृत्तसंकीर्तनभाष्यस्येति\* ॥ अस्य वक्ष्यमाणार्थोपयोगादिति भावः । \*ननु\*—साध्यसिद्धिहेतुत्वं साधनस्योक्तम्,

तत्त्वदीपनम्

गमनस्य यथा साध्यत्वम्, नान्यस्य ; तद्वदत्रापि प्रकृति-प्रत्ययार्थयोरन्यतरस्यासाध्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*वृत्तेति\* ॥ प्रतीयमानस्यार्थस्य पुनन्त्रत्वाभावाद्विचारलक्षणया तत्कर्तव्यतापरं भाष्यमित्यर्थः । अथवा ज्ञानकर्तव्यतापरत्वस्याश्रितव्यत्वात् कथं शास्त्रं श्रोतव्यमित्यर्थाभिधानम् ? इत्याशङ्क्याद्यपक्षाभिप्रायेणेत्याह—\*वृत्तेति\* ॥ लक्षण-विचारस्य प्रतिज्ञाननुसारित्वमाशङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ प्रतिज्ञातं प्रतिपाद्यं नाप्रतिज्ञातम्, ब्रह्मविचारश्च प्रतिज्ञातः, स एव प्रतिपाद्य इत्यर्थः ॥ किं तेषां मुख्यतोऽप्रतिज्ञातत्वम् ? उतार्थात् ? इति विकल्प्याद्याङ्गीकारेण द्वितीयं दूषयति—\*अत आहेति\* ॥ लक्षणविचारस्य प्रतिज्ञामाश्रित्य तस्य प्राथम्यमाक्षिपति—\*ननु पञ्चानामिति\* ॥

वार्तिकम्

उत्तराधिकरणमवतारयन् पूर्वसूत्रार्थमनूद्य तेन तस्याच्चेपिकीं सङ्गतिं दर्शयति—\*ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेतीति\* ॥ तथाहि—सङ्गतिर्नाम पूर्वापरवाक्यैकवाक्यताप्रयोजकाकाङ्क्षा-

जनकज्ञानविषयविशेषः । सा चाधिकरणानामवान्तरप्रयोजकरूपभेदात् षड्विधा भवति ।

भाष्यभावप्रकाशिका

तदेवं प्रथमसूत्रेण वेदान्तमीमांसारम्भमुपपाद्य तामारभते—“\*जन्माद्यस्य यत इति\* ॥” एतत्सूत्रस्य पातनिकामाह—\*ब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्मज्ञानकामेनेदं शास्त्रं श्रोतव्यमित्युक्तम्, जिज्ञासा-पदस्यान्तर्णीतविचारोपलक्षकत्वं ज्ञानेच्छोपक्षेपेण स्वार्थापरित्यागेनाङ्गीकृत्येति भावः ॥ यद्यपि प्रधानस्य जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञया तदज्ञान्यपि प्रमाणादीनि प्रतिज्ञातानि ; तथाऽपि स्वरूपस्य प्राधान्यात् तदेव प्रथमं विचार्यमित्यभिप्रेत्याह—\*किंलक्षणमिति\* ॥ पदच्छेदः पदार्थकथनं पदविग्रह इति

प्रदीपः

विचारपदमर्हति । लक्षणन्तु द्विविधम्—तटस्थलक्षणं स्वरूपलक्षणमिति । सर्वथाऽज्ञायमानं हि वस्तु प्रथमतस्तटस्थलक्षणेनाऽऽपाततः, अनन्तरं स्वरूपलक्षणेन प्रतिपद्यते—यथा ‘शाखायै चन्द्रः’, ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इति । तत्र तटस्थलक्षणेनात्यन्तविजातीय-व्यावृत्तिमात्रं क्रियते, सदृशविजातीयव्यावृत्तिस्तु स्वरूपलक्षणेन । तथाच यल्लक्षणं स्वाश्रयभिन्नजातीयबहुपदार्थसाधारणम् ;



## भामती

ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य प्रधानस्य प्रतिज्ञया तदज्ञान्यपि प्रमाणादीनि प्रतिज्ञातानि ; तथाऽपि स्वरूपस्य प्राधान्यात् तदेवाक्षिप्य प्रथमं समर्थ्यते । तत्र यद्यावदनुभूयते, तत्सर्वं परिमितमविशुद्धमबुद्धं विध्वंसि,

## ऋजुप्रकाशिका

तदेव प्रथममाक्षिप्य समाधेयम्, नोपसर्जनम् ; प्रथमातिक्रमे कारणाभावादिति भावः । “किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मे”त्यत्र किंशब्द आक्षेपार्थः । आक्षेपाभिप्रायमेव दर्शयति—\*तत्र यद्यावदनुभूयत इत्यादिना\* ॥ यद् यल्लक्षयति तदेव तल्लक्षणं वाच्यम् ; तत्र किमनुभूयमानं जगद् ब्रह्म लक्षयति ? किं वा नित्यत्व-शुद्धत्वबुद्ध-त्वादिधर्मः ? किं वा “तत्त्वमसि” इत्यादिशब्दः ? तत्राद्यं निरस्यति—\*यद्यावदनुभूयते तत्सर्वमित्यादिना

## वार्तिकम्

उपोद्धातोऽथ दृष्टान्तः प्रसङ्गश्चापवादिकी । प्रत्युदाहरणात्तेषां पविता सा षड्विधा मता ॥ प्रवृत्तं हृदये कृत्वा पूर्वं तद्धेतुचिन्तनम् । यदुपोद्धातमाहुस्तं तच्च पूर्वमवादिषम् ॥ पूर्वदृष्टश्च सिद्धान्तं कृत्वा साधर्म्यमात्रतः । प्रत्याख्यानमाहुर्यद् दृष्टान्तं सङ्गतिं बुधाः ॥ या जातिरुच्यते न्याये प्रतिदृष्टान्तसंज्ञिनी । सर्वत्र सुलभा चेयं सङ्गतिः पण्डितैर्मता ॥ स्मृताऽनुपेक्षायोग्यत्वं प्रसङ्गं पण्डिता विदुः । सा च देवाधिकरणे दर्शनीया प्रयत्नतः ॥ सामान्यन्यायसंसिद्धो बलवद्भिरपोद्यते । प्रमाणैः सोऽपवादः स्यादपशुद्रे च सा मता ॥ यद्ययं यदभिप्रेतो न भवेदिति मन्यसे । भवताऽभिमतोऽर्थोऽपि न भवेत् सा क्रियासमा ॥ प्रत्युदाहरणञ्चैतद्या मदुक्ता क्रियासमा । सर्वत्र प्रविशेत् साऽपि सङ्गतिर्जातिरूपतः ॥ पूर्वसिद्धान्तमालिप्य प्रवर्तेत यदोत्तरम् । आक्षेपसङ्गतिः साऽत्र विज्ञेया पण्डितोत्तमैः ॥

एवं सङ्गतिषाड्विध्यं विज्ञेयं सर्वतन्त्रगम् ।

ननु—कार्यावसराकारणभादयोऽपि भवन्ति सङ्गतयः, तत् कथं षाड्विध्यमेव सङ्गतीनां प्रदर्श्यत इति चेत्, न ; षाड्विध्यप्रदर्शनेनैव तासामप्यर्थात् प्रदर्शनात् । कथम् ? कारणप्रतिदापनं ह्युपोद्धातः, तस्मिन् प्रदर्शितेऽर्थात् तत्कार्येण सह तस्य कार्य-कारणभावसङ्गतिर्लिभ्यते । एवमुक्तान्यतरसङ्गतिज्ञानजनिता-काङ्क्षाप्रतिरुद्धाकाङ्क्षाणामनवसरदर्शनात्, प्रतिबन्धनिरूपणेनैव प्रतिबद्धस्यावसरस्यार्थान्निरूपणम्, इति । यथा, अत्रैवाक्षेपसङ्गतिजनितया ब्रह्मलक्षणाकाङ्क्षयाऽप्रतिरुद्धत्वाद् न विचारावसरः, निवृत्तायां

## प्रदीपः

यथा शाखायं नक्षत्रचन्द्रसाधारणम्, तदसाधारणलक्षणान्तरोपस्थापनपर्यन्तं न स्वलक्ष्यनिर्णायकम्, न वा वस्तुगत्या लक्ष्यगतं च भवति, तदेव तदस्थलक्षणमिति किञ्चिद्रूपेण वस्तूपस्थापनपूर्वकमज्ञातवस्तुनिर्णायकं प्रकरणं सर्वमपि यत्र विचारपदमर्हति, न तु तल्लक्षणवाक्यमात्रम्, तत्सर्वं तदस्थलक्षणरूपस्य सूत्रस्य विषय इति वक्तव्यम् । तथाच स्वप्रतीतिदशायां बहुसाधारणतया प्रतीयमानः सामान्यतो लक्ष्यस्वरूपमात्रोपस्थापकश्च धर्मस्तदस्थलक्षणम् । लक्ष्यसम्बन्धस्तु तस्य कल्पितोऽपि न दोषाय । यथाच शाखा चन्द्रस्य विशिष्टसम्बन्धाभावेऽपि तदस्थलक्षणम् । प्रकृष्टप्रकाशो हि चन्द्रं नक्षत्रादिव्यावृत्तं निष्कृष्य शापयति, स्वयं च नक्षत्रादिव्यावृत्त इति सर्वविदितमिदम् । ब्रह्म तु जिज्ञास्यं न तदस्थलक्षणेन, न वा स्वरूपलक्षणेन लक्षयितुं शक्यम् । वेदान्तवाक्यानि हि जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति जीवव्यतिरिक्तमेव तत्प्रतिपादयन्ति, न तु तदभिन्नम् । जीवो हि किञ्चिज्ज्ञो न कथमपि, “यः सर्वज्ञः सर्ववित्” इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यतामर्हति । \*एतेन\*—“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे”ति वाक्यगम्य-सत्त्वचित्त्वादिकमपि न ब्रह्मलक्षणमिति—\*व्याख्यातम्\* ; एतद्राक्योपात्तमेव हि ब्रह्मस्वरूपमुपरितनेषु वाक्येषु गुहानिहितत्वे-नात्रमयादिरूपत्वेन च वर्ण्यते । अन्नमयादिस्तु जीवात्मैव, न परमात्मेति तेषामपि जीवस्वरूपलक्षणत्वमेव भवति, न जीवा-भिन्नब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वम् । तथाच जीवलक्षणस्य ब्रह्मणि, ईश्वरलक्षणस्य जीवे चाविवक्षाया एवावगतत्वात् किमपि लक्षणं नात्र संभवतीत्याक्षेपसङ्गत्योत्तरसूत्रप्रवृत्तिं सूचयति—\*किंलक्षणमिति\* ॥ \*तद् ब्रह्म\* जीवामिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः ।



## भामती

न तेनोपलब्धेन तद्विरुद्धस्य नित्य-शुद्ध-बुद्धस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वरूपं शक्यं लक्षयितुम् । नहि जातु कश्चित् कृतकत्वेन नित्यं लक्षयति । नच तद्वर्मेण नित्यत्वादिना तल्लक्ष्यते ; तस्यानुपलब्धचरत्वात् । प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति, नात्यन्ताप्रसिद्धम् । एवंच न शब्दोऽप्यत्र प्रक्रमते ; अत्यन्ताप्रसिद्धतया

## ऋजुप्रकाशिका

लक्षयतीत्यन्तेन\* ॥ द्वितीयं निरस्यति—\*नच तद्वर्मेणेत्यादिना\* ॥ “नित्यत्वादिने”त्यत्र शुद्धत्व-बुद्ध-त्वादिरादिशब्दार्थः । तस्य नित्यत्वादेरनुपलब्धत्वेऽपि लक्षणत्वम् । भवत्वित्यत आह—\*प्रसिद्धं हीति\* ॥ तृतीयं निरस्यति—\*एवंच न शब्दोऽप्यत्र प्रक्रमत इति\* ॥ \*अत्र = ब्रह्मणि \*अवाक्यार्थत्वादिति\* ॥ तथाच

## वार्तिकम्

तस्याम्—“तत्तु समन्वयादि”त्यारभ्य प्रवर्तिष्यते । सेयं “तत्तु समन्वयादि”त्यस्य पूर्वेणावसरसङ्गतिः । एवमन्यत्राप्युह्यम् । तस्मात् षाड्विध्यप्रदर्शनेनैव हेतुहेतुमद्भावावसरादयोऽप्यर्थात्प्रदर्शिताः, इति न पृथक् प्रदर्श्यन्ते । कथं प्रकृत आक्षेपः ? उच्यते, यद् भवता प्रत्यक्षापि ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति, तद् न युक्तम् ; ब्रह्मलक्षणासम्भवात् । उद्दिष्टं लक्षितञ्च वस्त्वत्र प्रमाणमस्ति ? न वा ? इति परीक्ष्यते । नह्यनुद्दिष्टं लक्षयितुं शक्यते ; उद्दिश्य लक्षणविधानात्, नह्यलक्षितं परीक्षितम् ; गगनारविन्दस्येव बुद्धावनुल्लिखितस्य लक्षणशून्यस्य प्रमाणजिज्ञासानुपपत्तेः । तथाचोक्तं वात्स्यायनेन न्यायभाष्यकृता—“त्रिविधा च शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चे”ति ; अन्यथा शास्त्रत्वव्याघातात् । तत्रोद्देशो नाम=नाममात्रेण वस्तु-सङ्गीर्तनम् । तच्च प्रथमसूत्रे ब्रह्मपदेन कृतम् । \*ननु\*—लक्षणमपि तन्निर्वचनात् सिद्धमेव, सत्यम् ; तदेवासम्भवित्वेनाक्षिप्यते । कथमसम्भवः ? \*उच्यते\* ;—लक्षणं नामासाधारणो धर्मः, यथा गोः सास्ना । तद्वचनञ्च लक्षणशास्त्रमाहुर्लक्षणविदः । तत्र यद्युद्दिष्टस्य ब्रह्मणो नामनिर्वचनवलात् प्रत्यक्ष-ज्ञानगम्यत्वादयोऽसाधारणा धर्माः सन्ति ब्रह्मणि, तर्हि वस्तुपरिच्छेदेन ब्रह्मत्वव्याघातादलक्षणमैतत् । अथ न सन्ति, तथाऽपि स्वरूपासिध्याऽसंभवेव । सेयमुभयथा पाशारज्जुः । अतो बन्ध्यापुत्रवदसम्भवि ब्रह्मलक्षणम् । तद् यथा बन्ध्यापुत्रस्य सत्त्वे स्वाश्रयवन्ध्वैव नास्ति, कस्याः पुत्रः स्यादिति बन्ध्यापुत्रत्वमेव तस्यासम्भवि, स्वरूपासत्त्वे च सुतरामिति, तद्वत् । \*ननु\*—ब्रह्मस्वरूपव्याघाताद् मा भूद्धर्मलक्षणमेतत्, स्वरूपलक्षणन्तु भविष्यति । तथाच न व्याघात इति—चेत्, न ; तस्य धर्मादिलक्षणाविनाभवित्वात् । त्रिविधं हि वस्तुलक्षणम्—धर्मलक्षणम्, स्वरूपलक्षणम्, उपलक्षणं चेति । तानि च परस्परविनाभूतानि दृष्टानि । तद् यथा—घटे घटत्वं धर्मलक्षणम् ; कम्बुग्रीवादिमती व्यक्तिः स्वरूपलक्षणम्, जलाहरणादिकार्य-मुपलक्षणम् । एवं सर्वत्र । नहि निर्धर्मस्यार्थक्रियाशून्यस्य वा स्वरूपमुपपद्यते ; बन्ध्यापुत्रस्यापि स्वरूप-

## प्रदीपः

सत्यं “यः सर्वज्ञः सर्वविदि”ति वाक्येन सर्वज्ञ एव जगत्कारणमिति प्रतिपाद्यते ; “सत्यं ज्ञानमि”ति वाक्यगम्य-सत्त्वचित्त्वादि चान्नमयादिपदवाच्यजीवात्मधर्मे एव प्रतीयते, तथापीदमेवात्रालोचनीयम्—यत् सर्वज्ञत्वमीश्वरस्यान्नमयादित्वं च जीवस्य, किं तत् पारमार्थिकम् ? उतौपाधिकम् ; अथि ब्रह्मणि ज्ञानानन्दाद्याश्रयत्वमेव, न तु ज्ञानानन्दादिरूपत्वम्, द्वितीये तु ज्ञानानन्दादिरूपत्वम् । \*एतेन\*—जीवस्वरूपमपि—व्याख्यातम्\* ॥

किमत्र युक्तम् ? सर्वज्ञत्वं पारमार्थिकमिति मतमेव । न हि “यः सर्वज्ञः” इति वाक्यप्रकरणे तदौपाधिकत्वं कथमप्यवगच्छाम इति हि शङ्कितुराशयः । इदन्तु प्रतिमांति—सर्वज्ञत्वादि न पारमार्थिकम्, किन्त्वौपाधिकमेवेति ; “सत्यं ज्ञानमि”ति ज्ञानरूपं हि ब्रह्म प्रक्रम्य कथमन्यथा “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इति ज्ञानस्वरूपमात्रस्य कारणत्वमुक्तमुपपद्यते । तर्हि ज्ञातुरेव कर्तृत्वं लोके दृष्टमिति ज्ञानपदमत्रत्यमन्यथा नेयम् ? उत कर्तृत्वं कारणत्वं वाऽऽत्मनः कल्पितमेव, न पारमार्थिकमिति कार्यमुखेन ज्ञायमानं ब्रह्म ज्ञानरूपमेवेति सर्वज्ञपदमेवान्यथा नेयम् ? अयमेवात्र निष्कर्षः—



**सूत्रकारः—\*जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥\* इति ।****भामती**

ब्रह्मणोऽपदार्थस्यावाक्यार्थत्वात् । तस्माल्लक्षणाभावान्न ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्याक्षेपाभिप्रायः । \*तमिममाक्षेपं भगवान् सूत्रकारः परिहरति\*—\*जन्माद्यस्य यतः\* इति ॥ मा भूदनुभूयमानं जगत् तद्धर्मतया तादात्म्येन

**ऋजुप्रकाशिका**

न ब्रह्म बोध्यते, न लक्ष्यत इति भावः । आक्षेपाभिप्रायमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ “जन्माद्यस्य यतः” इत्यादिना परिहार उक्तः, तत्र परिहाराभिप्रायं विशदयति—\*मा भूदित्यादिना\* ॥ धर्मतया न लक्षणं

**पञ्चपादिका**

यदैवेदमित्युक्तम्, तदैव ब्रह्मणो लक्षणं प्रमाणं युक्तिः साधनं प्रयोजनमिति सर्वं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातम् । तत्र स्वरूपस्याभ्यर्हितत्वात् तत् प्रथमं वक्तव्यम्—किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेति, अत आह भगवान्—\*जन्माद्यस्य यत इति\* ॥

**पञ्चपादिकाविवरणम्**

\*ननु\* ब्रह्मविचारप्रतिज्ञायां साधनादिविचाराणामप्रतिज्ञातत्वादसाध्यतेति, अत आह—\*यदैवेदमित्युक्तमित्यादिना\* ॥ \*ननु\* पञ्चानां विचाराणां प्रतिज्ञातत्वे किमिति स्वरूपमेव प्रथमं विचार्यते ? फलभूततया प्राधान्यादिति चेत्, न ; साधनाद्यधीनत्वात्साध्यसिद्धिस्तेषामेव प्रथमं विचारः क्रियतामिति, अत आह—\*तत्र स्वरूपस्याभ्यर्हितत्वादिति\* ॥ ब्रह्मप्रमाणं ब्रह्मयुक्तिर्ब्रह्मसाधनं ब्रह्मफलमिति विशिष्टविचाराणां ब्रह्म-विशेषणसापेक्षत्वाद् ब्रह्मस्वरूपनिर्णयस्य चानन्यापेक्षत्वात्, प्राधान्येन साध्यत्वाच्चेत्यर्थः ॥

वृत्तं सङ्कीर्त्योत्तरेणाकाङ्क्षापुरःसरं सम्बन्धमाह—\*किंलक्षणं तदिति\* ॥ जिज्ञास्यपुरुषार्थब्रह्मस्वरूप-प्रदर्शननिमित्तमाचार्यं पूजयति—\*भगवानिति\* ॥ \*ननु\* अस्येदं लक्षणमिदं वाऽनेन लक्ष्यमिति लक्ष्य-लक्षणयो-

**ऋजुविवरणम्**

अतः ; कथं स्वरूपस्याभ्यर्हितत्वेन प्रथमविचार्यत्वम् ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*ब्रह्मप्रमाणमिति\* ॥ \*ननु\*—स्वरूपस्य प्रमाणापेक्षत्वमस्तीत्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मस्वरूपनिर्णयस्येति\* ॥ व्यावृत्तेरित्यर्थः । \*ननु\*—प्रमाणलक्षणस्यैव निर्णायकत्वेन तत्सापेक्षत्वमनिष्टमित्याशङ्क्य, प्रकारान्तरेणाभ्यर्हितत्वं दर्शयति—\*प्राधान्येनेति\* ॥ अपिशब्देन

**तत्त्वदीपनम्**

प्राथम्यहेतुं शङ्कते—\*फलभूततयेति\* ॥ विचाराधीनशक्तितत्पर्यवद्वाक्योत्थज्ञानाधीनाविद्यानिवृत्तिविशिष्टतया ब्रह्मत्वरूपस्य फलत्वमित्यर्थः । फलत्वमप्रयोजकमित्याह पूर्ववादी—\*न साधनेति\* ॥ साधनाभावे साध्यानिष्पत्तेः साधनादेः प्राथम्यमित्यर्थः । साध्यस्य साधनाधीनत्वमङ्गीकृत्य साधनादिविचारस्य प्राथम्यं दूषयति—\*अत आहिति\* ॥ साधनादेः साध्यसिद्धिहेतुत्वात् तस्यैव प्राथम्यम्, न साधनस्येत्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मप्रमाणमिति\* ॥ ब्रह्मज्ञानसाधन-मित्यर्थः । \*ब्रह्मफलमिति\* ॥ ब्रह्मज्ञानफलमिति यावत् । विशिष्टविचारप्रतिपत्तेर्विशेषणब्रह्मप्रतिपत्तिसापेक्षत्वात् प्रथममस्य स्वरूपनिर्णय इत्यर्थः । स्वरूपनिर्णयस्यापि प्रमाणादिसापेक्षत्वमविशिष्टमित्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मस्वरूपेति\* ॥ प्रमाणादिप्रतिपत्तेर्ब्रह्मप्रतिपत्तिसापेक्षत्ववन्निर्दिष्टस्वरूपप्रतिपत्त्याख्यनिर्णयस्य न युक्त्यादिप्रतिपत्त्यपेक्षत्वमिति वैषम्य-मित्यर्थः । स्वरूपविचारस्य प्राथम्ये हेत्वन्तरमाह—\*प्राधान्येनेति\* ॥ प्रमाणादिविचाराणां साध्यत्वमन्यार्थम्, न तथा ब्रह्मस्वरूपविचारस्येत्यर्थः । पूर्वोत्तरसूत्रयोर्लुत्थापकलक्षणः संबन्ध इत्याह—\*वृत्तमिति\* ॥ भगवत्प्रयोगस्यार्थमाह—\*जिज्ञास्येति\* ॥ “उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति” । एष भगवच्छब्दार्थः । सूत्रस्य स्वरूपपरत्वमाक्षिपति—\*नन्वस्येति\* ॥ इदमस्य लक्षणमित्यव्याप्तिपरिहारेण लक्ष्य-



## भामती

वा ब्रह्मणो लक्षणम् ; तदुत्पत्त्या तु भविष्यति, देशान्तरप्राप्तिरिव सवितुर्ब्रज्याया इति तात्पर्यार्थः ।

## ऋजुप्रकाशिका

जगत् ; तस्य वस्तुतोऽब्रह्मधर्मत्वात्, नापि तादात्म्येन लक्षणं जगत् ; जडस्य जगतोऽजडब्रह्मतादात्म्यायोगादित्यर्थः । ब्रह्म तच्छब्दार्थः । तथाच “तदुत्पत्त्या त्वि”त्यनेन जगदुत्पादकत्वं जगत्कारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं भविष्यतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—\*देशान्तरेति\* ॥ दृष्टान्तेऽपि तथैव लक्षणं योजनीयम् ।

## वार्तिकम्

लाभप्रसङ्गात् । नच ब्रह्मणः स्वरूपाविनाभाविधर्मार्थक्रियोरन्यतरस्यापि सम्भवोऽस्ति ; ब्रह्मत्वव्याहतेरित्युक्तत्वात् । तस्मान्नास्ति ब्रह्मणो लक्षणम् । तदभावाच्च बन्ध्यापुत्रवदजिज्ञास्यमिति प्राप्तम् । तदेतदभिप्रेत्याह—\*किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेति\* ॥ तामिमामाशङ्कां सूत्रोपात्तन्यायेन परिहर्तुं सूत्रमवतारयति—  
\*अत आह भगवान् सूत्रकारो जन्माद्यस्य यत इतीति\* ॥ ‘भगवानि’ति विशेषणेन सूत्रकारस्य शिष्याश्यामिज्ञतां दर्शयति ; “उत्पत्तिं च विपत्तिञ्च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥” इति स्मृतेः । भगवत्त्वं च तस्य सर्वपुराणप्रसिद्धम् । तथाचाह पराशरः—“कृष्णद्वैपायनो व्यासः साक्षान्नारायणो ह्यसौ । को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ॥” इति ॥ अनेन सूत्रेण ब्रह्मणो जगत्कारणत्वरूपोपलक्षणे न्यायः सूच्यते । सर्वज्ञत्वादिरूपधर्मलक्षणे तु “शास्त्रयोनिव्यादि”त्युत्तरसूत्रेण । तेन ब्रह्मणोऽप्युपलक्षण-धर्मलक्षणयोः सत्त्वान्न बन्ध्यापुत्रस्येव ब्रह्मशब्दनिर्वचनवल्लभ्यस्वरूपलक्षणाय-सम्भवः । \*ननु\*—कथं न सम्भवः ? यत उपलक्षण-धर्मलक्षणयोः सत्त्वे वस्तुपरिच्छेदादुक्ताखण्डवस्तुस्वरूपस्य व्याहतेरित्युक्तत्वादिति—चेत्, \*सत्यम्\* ; तयोः पारमार्थिकत्वे स्यादेव

## प्रदीपः

यदि कारणवाक्यानां ज्ञानधर्मिसमर्पण एव तात्पर्यम्, “यः सर्वज्ञः” इत्यादिवाक्यमेव च मुख्यं लक्षणवाक्यम्, तर्हि सर्वज्ञकारणतापक्ष एव युक्तः, जीवव्यतिरिक्तं च ब्रह्म वेदान्तवाक्यसमधिगम्यम् । यदितु न मुख्यं लक्षणवाक्यम्, तर्हि तु कारणस्य ज्ञानस्वरूपपर्यवसानपक्ष एव युक्तः, जीवाभिन्नं च ब्रह्म वेदान्तवाक्यसमधिगम्यमिति । किमत्र सूत्रकारो मन्यते ? कारणत्वमन्नादिसाधारणं तदस्थलक्षणतयाऽऽनन्दस्वरूपबोधनार्थमेव वेदान्तेषु विवक्षितम्, न तु तात्पर्यत इत्येव सूत्रकारो मन्यते ; अन्यथा हि कथं “यः सर्वज्ञः” इत्यादिलक्षणवाक्यं न सूत्रितम् । सर्वज्ञो हि सूत्रकारो “यः सर्वज्ञः” इत्यादि वाक्यम्, मन्यामहे, कारणवाक्यानां स्वार्थे तात्पर्यभ्रमो बहूनां स्यादिति भ्रममपसारयितुं नात्र संगृह्णाति, किन्तु जन्मादिवाक्यमेव । अनेन हि सर्वं भृगुवल्लीप्रकरणमुपस्थापितं भवति । भृगुवल्ली हि ब्रह्मवल्लीव्याख्यानरूपा । ब्रह्मवल्ली तु ब्रह्मस्वरूपं “यो वेद निहितं गुहायामि”ति गुहानिहिताभिन्नं निर्दिश्यान्नान्तं जीवाभिन्नस्यैव ब्रह्मणः कार्यं परामृशति—“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इति । कथं च जीवामेदः सत्यज्ञानादिरूपस्य ब्रह्मणः ? इति शङ्कावारणार्थम्—“अन्नात् पुरुषः” इत्याद्यारभ्यान्नमयाद्यात्मस्वरूपं निष्कृष्य बोधयति । तथाच कार्य-कारणयोरभेदाच्छरीरोपहितमन्त्रोपहितम्, किं बहुना ? स्थूल-सूक्ष्मशरीरोपहितं जीवस्वरूपं तत्कारणसूक्ष्मभूतोपहिताभिन्नमिति जीवब्रह्मामेदो न बाधितः । तदैवं कारणोपहितं ब्रह्म किं ज्ञानाद्याश्रयं धर्मिरूपम् ? उत ज्ञानानन्दादिरूपमात्रमिति निर्णयार्थमेव तु भृगुवल्ली प्रवृत्तेति, तत्र—“आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्” इत्यानन्दरूपतयैव ब्रह्मस्वरूपपर्यवसानस्य व्यवस्थापनाद् विशदं भृगुवल्ली ज्ञानमात्रात्मस्वरूपवादं तस्य च वस्तुगत्या प्रत्यगभिन्नब्रह्मवाद एव पर्यवसानं च गमयति, इति भृगुवल्लीप्रकरणस्यात्र लक्षणतया संग्रहात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मतावादमेव सूत्रकारो मन्यत इति सूचयन्नाह—\*अत आह भगवान् सूत्रकार इति\* । \*जन्माद्यस्य यत इति\* ॥ एतेन—कारणवाक्यानां सर्वेषां भृगुवल्लीस्थकारणवाक्यैकवाक्यतया प्रवृत्तिरिति—ज्ञापनात् “कारणत्वमपि ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमेव, न तु तदस्थलक्षणमिति” शङ्काऽप्यनवसरेति—\*सूचितम्\* ॥



वार्तिकम्

ब्रह्मस्वरूपस्य व्याहृतिः, शुक्तौ रजतवदविद्याकल्पितत्वेन नायं दोषः । नह्यविद्याकल्पितं रजतं स्वाधिष्ठानं शुक्तिस्वरूपमुपलक्ष्यदपि शुक्तिस्वरूपमन्यथयति, भिनत्ति वा । \*एतेन\* सत्ययोरेव घटादिषु धर्मोपलक्षणत्वदर्शनात्, कथमसत्ययोर्जगत्कारणत्व-सर्वज्ञत्वयोर्ब्रह्माधिष्ठितत्वं स्यात्—\*इत्यपास्तम्\* ; दर्शनासिद्धेश्च । न हि घटादिषु घटत्वादिधर्मः सत्यः कुत्रचिन्निरूपयितुं शक्यते । निर्विकल्पकं हि स्वतो घटादिस्वरूपमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । तच्च सत्यमित्यपि । \*ननु\*—विज्ञानवादि-शून्यवादिभ्यां बहिःपदार्थानङ्गीकरणात् कथं घटादिस्वरूपं सत्यमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्ततयोपादीयते ? \*नैष दोषः\* ; ब्रह्मवादिनेव ताभ्यामपि घटादिस्वरूपानपलापात्, परन्तु ब्रह्मव्यतिरेकेणैव विज्ञान-शून्यस्वरूपव्यतिरेकेण पृथक् तत्स्वरूपं नास्तीत्यभ्युपगम इत्यन्यदेतत् । सर्वथाऽपि निर्विकल्पकं सत्यञ्च स्वतो घटादिस्वरूपमिति सर्वतन्त्रसिद्धम् ।

तच्च घटत्वादिभिर्धर्मैर्विकल्प्यत इत्यपि सर्वतन्त्रसिद्धम् । नच तद् विकल्पितं रूपं सत्यम् ; अन्योपाधिकृतत्वेन द्विचन्द्रादिवद् मिथ्यात्वात् । अन्योपाधित्वेऽपि स्वधर्मोपाधित्वान्न मिथ्येति चेत्, न ; औपाधिकत्वस्यैव लाघवान्मिथ्यात्वप्रयोजकत्वात्, स्वधर्मकृतस्य रजतादिरूपस्वधर्मकृतशुक्त्यादिविकल्पे व्यभिचाराच्च । सत्यः स्वधर्मो विवक्षित इति चेत्, न ; तस्याद्याप्यसिद्धेः । सिद्धे हि विकल्पितरूपस्य सत्यत्वे सत्यः स्वधर्मः सिध्यति । तच्चेत् सत्यधर्मोधीनसिद्धिः स्यात्, कथं नान्योन्याश्रयो दुर्वारः स्यात् ? अवाधाद् विकल्पितरूपं सत्यमिति चेत्, न ; शुक्तित्व-रजतत्वयोरिवैकस्मिन् युगपद् विकल्पाविकल्परूपयोरसम्भवेन निर्वाहादवाधासिद्धेः । नच—एवमविकल्परूपस्यैव बाधः किं न स्यादिति—वाच्यम् ; तस्य विकल्पाधिष्ठानत्वादनिरपेक्षत्वाच्च शुक्तिवदवाधानुपपत्तेः, विकल्पस्यैव वैपरीत्याद्रजतवदवाधोपपत्तेः । इतश्च सविकल्परूपस्य मिथ्यात्वम् ; वाचारम्भणत्वात्, विकारत्वात्, संहतत्वाच्च । नच विकारत्वं निर्विकल्पे व्यभिचारि ; तस्य विकारत्वे प्रमाणाभावात् । न हि निर्विकल्पकं घटादि जगत्स्वरूपं जायत इति किञ्चित् प्रमाणमस्ति ; व्याघाताच्च । यद्धि जायते, तत् संहतमेव भवति । नच निर्विकल्पकं भवति संहतम् ; विरोधादिति व्याघातः । वाचामगोचरत्वादपि न निर्विकल्पमुत्पद्यते ; कार्यस्य वागगोचरत्वनियमात् । तथाच श्रुतिः “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” इति । निर्विकल्पस्य तु शक्तिग्रहासम्भवाद् न तद्गोचरत्वम् । अत एव वृद्धा आकृतौ शब्दशक्तिं ब्रुवते ; विकल्पत्वादाकृतेः । धर्मिणो भेदाभेदाभ्यामनिरूपणादपि न धर्माः पारमार्थिकाः ।

प्रदीपः

लिपदमिदं सूत्रम्—जन्मादि, अस्य, यत इति । \*अस्य=जगतः, \*जन्मादि=उत्पत्त्यादि \*यतः=यद्धेतुकम्, तद्ब्रह्मेति वाक्यार्थाद् जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणमिति सूचितम् । यथाचैतत् तदस्थलक्षणमेव, न तु स्वरूपलक्षणम्, तथा भाष्य एवोपरिष्ठात् सूचयिष्यते । अनेन सूत्रेण ‘अस्य’ पदस्य ‘यतः’ पदस्य ‘जन्म’ पदस्य च साक्षात् प्रकृतिमात्रेण वा विषयवाक्यगतानां तेषां पदानामुपस्थापनद्वारा जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणतया—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ती”ति वाक्यं परामृश्यते । इदं च वाक्यं भृगुबलयां पञ्चकृत्वोऽभ्यस्यत इति किंपर्यायगतं तदत्र विवक्षितम् ? इत्यत्र विनिगमनाविरहात् तेन वाक्येनोपक्रान्तं सर्वं प्रकरणमत्र विषयवाक्यतया विवक्ष्यते । तथाच जगत्कारणत्वमुखेनैतत्प्रकरणप्रतिपाधानन्दस्वरूपत्वं जिज्ञास्यब्रह्मस्वरूपलक्षणम् । इदं हि प्रत्यगमेदं विना ब्रह्मणि न संभवति ? इति जिज्ञास्यं ब्रह्म प्रत्यगमित्रं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावमेव, न तु जगत्कारणत्वादिविशिष्टम् । तथाचाध्यारोपापवादन्यायेन वेदान्तसारसंग्रहणपरमेवेदं सूत्रम् । ‘अनेन’ च सर्वोऽपि वेदान्तसारः “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा”, “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रद्वयार्थसंग्रहात्मक इति फलति । सति चैवं ब्रह्मणः कारणत्वं कल्पितम्, न पारमार्थिकमिति स्वीकारादविद्यापरिणासात्मकस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्तत्वमपीति वा, अविद्या निमित्तम्, ब्रह्म विषयतोपादानमात्रमिति वा निष्कर्षः पर्यवसन्नः ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

ख्याप्यतिव्याप्तिपरिहारेणाविनाभावः प्रमाण-युक्तिव्यतिरेकेण न सिध्यति ? तत्कथं स्वरूपलक्षणपरमेव सूत्रमिति ?

## तत्त्वदीपनम्

लक्षणयोरविनाभावः, इदमेवानेन लक्ष्यमित्यतिव्याप्तिपरिहारेणेति योजना । प्रमाणयुक्त्यभावोऽसिद्ध इत्याह—

## वार्तिकम्

तस्माद्विद्याकल्पिता एव धर्मिणि निर्विकल्पक एकस्मिन् ब्रह्मणि घटत्वादयो धर्मा इति सिद्धम् । एवमर्थक्रियाकारित्वमपि सर्वत्र काल्पनिकम् ; निर्विकल्पके परमार्थतस्तदसम्भवात् । विस्तरेणैतद्विरोधे दर्शयिष्यामः । तस्मात् सर्वत्र धर्मोपलक्षणयोः कल्पितत्वात्, तत्सत्यत्वदर्शनासिद्धेर्ब्रह्मण्यप्यविद्याकल्पिते एव धर्मोपलक्षणे अविराधाद् भविष्यतः । तथाच तदुभयकल्पनाधिष्ठानतया ब्रह्मस्वरूपलक्षणसिद्धिः, इति न काचिदनुपपत्तिः । तत्र ब्रह्मणस्तदस्थलक्षणं जगत्कारणत्वं यत्, तदस्मिन् सूत्रे प्रतिपाद्यते, धर्मलक्षणं तु सर्वज्ञत्वादि यत्, तद्वक्ष्यमाणसूत्रे प्रतिपादयिष्यते ॥

\*ननु\*—किमिति धर्मलक्षणं परित्यज्य प्रथममुपलक्षणं प्रतिपाद्यते ? \*नैष दोषः\* ; एतत्सिध्यधीनत्वात् सर्वज्ञत्वसिद्धेः । अनेन पूर्वोत्तराधिकरणयोः कार्य-कारणभावसङ्गतिरपि सिद्धा भवति । \*ननु\* अनेन सूत्रेण ब्रह्मण उपलक्षणे को वा न्यायः सूत्रितः ? \*उच्यते\* ; इदं जगत्, सोपादानम्, सकर्तृकं च, जन्मादिमत्त्वात् ; घटवदिति न्यायः । नच जन्मादिमत्त्वमसिद्धम् ; एकदेशे तद्दर्शनेन सर्वत्र तदनुमानात् । यो ह्येकदेशे नोत्पत्त्यादिमान् दृष्टः, स सर्वोऽपि सर्वात्मनोत्पत्त्यादिमान् भवतीत्यपि दृष्टम्, यथा घटादि । इदं च जगदेकदेशेनोत्पत्त्यादिमद् दृष्टम्, इति सर्वात्मनाप्युत्पत्त्यादिमद् भवतीत्यनुमीयते ; अव्यभिचारदर्शनात् । \*ननु\* अनेन न्यायेन किं प्रमाणमनुग्राह्यते ? \*उच्यते\* ; “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ; येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मे”त्यादि शास्त्रम् ; श्रुत्यनुकूलन्यायसूचकत्वात् सूत्रस्य, स्वतन्त्रन्यायसूचनानुपपत्तेः । नचास्मिन्नर्थे न्यायस्य स्वातन्त्र्यं सम्भावयितुमपि शक्यते ; परकल्पितप्रधानाद्यादायाप्यर्थान्तरत्वसंभवात्, श्रुत्यनुकूलत्वे तु श्रुत्या यस्येदं लक्षणमुच्यते, तदेव न्यायस्य विषय इति नार्थान्तरतागन्धोऽप्यस्ति ॥

\*ननु\*—कस्येदं लक्षणमुच्यते ? न तावत् शुद्धस्य ; तत्र जगत्कारणत्वाभावात्, कल्पितस्यापि तस्य तत्र सत्त्वे शुद्धत्वव्याघातात्, परस्पराध्यासाङ्गीकारात् । अथ सोपाधिकस्य ? न ; तस्याब्रह्मत्वात्, तल्लक्षणस्यानाकाङ्क्षितत्वाच्च ; अतः पुनरप्यसम्भवीदं ब्रह्मलक्षणं प्राप्तमिति—चेत्, \*न\* ; अज्ञातस्य सर्वान्तर्यामिणो जिज्ञास्यतया लक्षणाभिधानात् । यद्वि जिज्ञास्यमधिकारिणा, तल्लक्षणमाकाङ्क्ष्यते । अतस्तदेवाभिधातव्यम् । जिज्ञास्यश्च सर्वान्तर्यामितया व्यवस्थितमज्ञातं ब्रह्म ; ज्ञाते तस्मिन् किमयं भोक्तुरात्मा न वेति संशयाभावाज्जिज्ञासानुपपत्तेः । अत एव भाष्यकारः “ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्, किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मे”ति जिज्ञास्यलक्षण एवाकाङ्क्षां दर्शयामास । \*नच\*—एतावता ब्रह्मलक्षणमेतन्न भवतीति—वाच्यम् ; तस्यैवाज्ञातस्य स्वरूपविज्ञापनार्थमेतल्लक्षणकरणात् । कथम् ? धर्मिज्ञानाधीनं हि निरूपणं तस्य ; तस्य धर्मिज्ञानसाध्यत्वात् । तच्च न धर्मिज्ञानमात्रम् । किं तर्हि ! धर्मितावच्छेदकावच्छिन्नधर्मिज्ञानम् ; पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसामानाधिकरण्यस्य निरूप्यमाणत्वात्, तदवच्छेदकस्य निरूपणात् पूर्वं ज्ञानापेक्षणात् ; अन्यथा पक्ष एव साध्यसिद्धिनियमो न स्यात् । निरूपणधर्मितावच्छेदकं तु प्रकृते जगज्जन्मादिकारणत्वमेव ; अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वात् । अत एव ब्रह्मणो विशेषस्वरूपास्पर्शित्वात् तदस्थलक्षणमेतदित्याहुर्वद्धाः । \*ननु\*—एतदवच्छेदेन विशेष-



## जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ।

भामती

सूत्रावयवान् विभजते—\*जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति\*॥ लाघवाय सूत्रकृता जन्मादीति नपुंसकप्रयोगः कृतः,

ऋजुप्रकाशिका

“जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रे जन्मादीतिपदस्य व्युत्पत्तिः—जन्म=उत्पत्तिः, आदिरस्येति । जन्मेत्यस्य व्याख्या=उत्पत्तिरिति । ‘उत्पत्तिरादिरस्ये’ति व्युत्पत्त्यन्तर्गतस्य ‘अस्ये’त्यस्य स्थिति भङ्गद्वयमर्थः । भाष्ये—“तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः” इत्युक्त्या जन्मनोऽपि संग्रह उक्तः ; अन्यथा स्थिति-भङ्गयोरेव संग्रहणमिति स्यात् । \*ननु\*—सूत्रकृता ‘जन्म-स्थिति-भङ्गा ‘अस्य यतः’ इति वक्तव्ये एकवचनपूर्वकं “जन्मादी”ति नपुंसकप्रयोगः किमर्थं कृत इति ? अत आह—\*लाघवायेति\* ॥ \*तदुपपादनाय=लाघवोपपादनाय । शङ्कते

पञ्चपादिका

युक्तिरपि लक्षणनिर्णयेऽर्थात् सूत्रितैव । \*जन्म=उत्पत्तिः, आदिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति\* पदच्छेदः पदार्थः पदविग्रह इत्येतत् त्रितयमपि व्याख्यानाङ्गं संपादयति ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्राह—\*युक्तिरपि लक्षणनिर्णयेऽर्थादिति\* ॥ अपिशब्दात् प्रमाणमपीत्यर्थः । अत्र तु सूत्रितयोर्ब्रह्मणि प्रमाण-युक्तयोरध्यायद्वयेन निर्णयः क्रियते । \*जन्मोत्पत्तिरित्यारभ्य तृतीयलिङ्गेत्यतः प्राकृतनः स्पष्टार्थः\* ॥ \*तद्गुणसंविज्ञान इति\* ॥ विशेष्यैकदेशमेव विशेषणं कृत्वा समास इत्यर्थः । \*ननु\* एवमपि जन्म-स्थिति-

ऋजुविवरणम्

स्वरूपसमुच्चयाशङ्काव्युदासायाह—\*अपिशब्दादिति\* ॥ \*ननु\*—अत्रैव प्रमाण-युक्तयोः सूचितत्वे तद्विषयमध्यायद्वयमनपेक्षितं स्यादिति, तत्राह—\*अत्र तु सूत्रितयोरिति\* ॥ कथं तद्गुणसंविज्ञानपक्षे जन्मनस्समासार्थत्वम् ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*विशेष्यैकदेशमेवेति\* ॥ तस्य विशेषणस्य गुणस्य विशेष्यत्वेन संविद् ज्ञानं यस्मिन्निति विग्रहः । एकस्यैव विशेष्यत्व-विशेषणत्वविरोधं परिहरति—\*एकदेशमिति\* ॥ कथं समाहारप्राधान्यम् ?

तत्त्वदीपनम्

\*तत्राहेति\* ॥ युक्तिवदेव प्रमाणमपि लक्षणनिर्णयोपयोगि, तत्सूत्रणं कस्मान्नोक्तम् ? इत्याह—\*अपिशब्दादिति\* ॥ प्रमाण-युक्तयोरत्र सूत्रण उत्तरग्रन्थवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—\*अत्रेति\* ॥ वेदवाक्यानामन्यपरत्वव्युदासेन ब्रह्मण्येव तात्पर्यं समन्वयार्थः । प्रत्यक्षादिविरोधाद् वेदान्तानां ब्रह्मण्यप्रामाण्यमिति शङ्कायां तद्विरोधनिराकरणमविरोधार्थः । बहुव्रीहिर्द्विविधः—तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञानश्चेति । तत्रायं तद्गुणसंविज्ञान इत्युक्तं भाष्ये, तस्यार्थमाह—\*विशेष्येति\* ॥ ‘लम्बकणो देवदत्तः’ इत्यत्र देवदत्तैकदेशमेव विशेषणं कृत्वा देवदत्तो बोध्यते, स तद्गुणसंविज्ञान इत्यर्थः । अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहेरनङ्गीकृतौ को हेतुः ? इत्याशङ्क्योक्तं टीकाकृता—“\*तद्गुणेति\* ॥ चित्रा गावो यस्य स चित्रगुरित्युक्ते न चित्रगां समासार्थत्वम्, किंतु देवदत्तस्य, तथाचात्रातद्गुणसंविज्ञानस्वीकारे स्थिति-भङ्गयोः समासार्थत्वम्, न जन्मन इत्यापद्येत, तथाच जन्मकारणमन्यत्, इति न जन्म-स्थिति-भङ्गकारणं ब्रह्म सिध्येदित्यर्थः । जन्म-स्थिति-भङ्गमित्येकवचनमाक्षिपति—\*नन्वेवमपीति\* । तद्गुणसंविज्ञानस्वीकारेऽपीत्यर्थः ।

वार्तिकम्

स्वरूपसाधनात् कथं तदस्पर्शित्वमस्येति—चेत्, \*नैष दोषः\* ; साध्यदशायां खलु तदवच्छेदकत्वमभ्युपगम्यते, न सिद्धदशायाम्, संशयादिवत् तद्विरोधेन तत्काले तस्यानवस्थितेः । अतो युक्तं ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य सत्यज्ञानानन्दादिस्वरूपास्पर्शित्वमिति । अक्षरार्थस्तु सूत्रस्य भाष्यव्याख्यानानेन प्रदर्श्यते—

भाष्यभावप्रकाशिका

व्याख्यानाङ्गं त्रितयमपि संपादयति—\*जन्मोत्पत्तिरिति\* ॥ \*तद्गुणसंविज्ञान इति\* ॥ विशेष्यैक-



## वार्तिकम्

\*जन्म=उत्पत्तिः, आदिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति\* ॥ द्विविधो हि बहुव्रीहिः—तद्गुण-  
संविज्ञानाऽतद्गुणसंविज्ञानश्चेति । तत्र विगृह्यमाणपदार्थस्यान्यपदार्थोपसर्जनतया समासार्थेऽन्तर्भाव्य  
विज्ञानं यत्र भवति, स तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिर्नाम भवति । तद्यथा—लम्बकणो देवदत्त इति ।  
तमनन्तर्भाव्य तद्विज्ञानं यत्र, सोऽतद्गुणसंविज्ञानः—यथा चित्रगुर्देवदत्त इति । प्रकृते च जन्मपदार्थ-  
मन्तर्भाव्यैव समासार्थविज्ञानाद् भवति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । अतद्गुणसंविज्ञाने तु स्थिति-भङ्गयो-  
रेव समासार्थत्वाद् नाभिमतभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूपब्रह्मलक्षणसिद्धिः । कथम् ? तदुच्यते ? यदि  
तावद् व्याकृतजगत्स्थिति-भङ्गहेतुत्वं ब्रह्मलक्षणं विदध्यात्, तदा तन्निमित्तत्वविवक्षायां दृष्टादौ, उपादान-  
त्वविवक्षायां तु परकल्पितप्रधानादावतिव्याप्तं स्यात्, उभयरूपहेतुत्वविवक्षायां मिलितयोरदृष्ट-प्रधानयो-  
र्ब्रह्मत्वप्रसक्तिः । नच—निमित्तत्वमत्र कर्तृत्वं विवक्षितम्, येन नोक्तातिव्याप्तिरिति—वाच्यम् ;  
स्थिति-प्रलययोः कर्तृनिमित्तत्वाददर्शनात्तद्विवक्षानुपपत्तेः ॥ न हि घटादेरुत्पत्तौ कुलालादितन्त्रत्वे दृष्टेऽपि  
स्थिति-प्रलययोस्तत्तन्त्रत्वं दृष्टम्, येन तद्धेतुत्वमात्रात् तत्कर्तृत्वलाभः स्यात् ; अप्रामाणिकत्वेनासम्भव-  
प्रसङ्गात् । तस्मात् तल्लभार्थं जन्मग्रहणं कर्तव्यम् ; तस्य कर्तृनियतत्वदर्शनेनासम्भवासम्भवात् । नच  
—एवमप्यसम्भवीदं लक्षणम् ; घटाद्युत्पत्तौ कर्तृतन्त्रत्वे दृष्टेऽप्यभिन्नकर्तृपादानत्वस्यादर्शनादिति—  
वाच्यम् ; तत्र तददर्शनेऽपि लूतातन्त्रत्वादिषु तददर्शनाददर्शनासिद्धेः । अस्तु तर्हि जगदुत्पत्तिहेतुत्वमेव  
तल्लक्षणम् ; न ; तावता परकल्पिततटस्थेश्वरेऽतिव्याप्त्यपरिहारात् । नच—उत्पत्तिहेतुत्वमित्यनेन  
कर्तृत्वोपादानत्वयोर्लाभान्नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम् ; एकस्य पदस्य गुणपदुभयार्थोपस्थापकत्वानुपपत्तेः ।  
नच—सामान्यशब्दत्वादुभयोपस्थापकत्वमविरुद्धमिति—वाच्यम् ; सामान्यस्यापि वाक्ये विशेषार्थमादा-  
यैव पर्यवसानात् । एवं तर्हि—उत्पत्ति-प्रलययोरेव ग्रहणमस्तु ; ताभ्यामेव कर्तृत्वोपादानत्वयोर्लाभादिति  
—चेत्, सत्यम् ; तथाऽपि विज्ञान-शून्यवादिनो विज्ञान-शून्ययोरतिव्याप्तेस्तल्लक्षणं स्यात् ; तद्वारणार्थं  
स्थितिग्रहणस्यावश्यकत्वात् । विज्ञानवादि-शून्यवादिभ्यां क्षणिकविज्ञान-शून्ययोरजगत्कर्तृत्वोपादानत्वाङ्गी-  
कारेऽपि तत्स्थितिहेतुत्वानङ्गीकारात्, असम्भवाच्च । न हि क्षणिकविज्ञानं स्वकार्यस्य स्थितिहेतुः  
सम्भवति ; तत्काले स्वस्यैवासत्त्वात् ; अन्यथा क्षणिकत्वव्याधातात् । कार्यस्यापि विज्ञानस्य क्षणिकत्वेन  
स्थित्यनङ्गीकाराच्च । अत एव न शून्यमपि तद्धेतुः ; असत्त्वाच्च शून्यस्य, कार्यस्यान्तर्यामितया सत्त्वहेतु-  
त्वानुपपत्तेः । अस्तु तर्ह्युत्पत्ति-स्थितिहेतुत्वं ब्रह्मलक्षणम्, न ; परकल्पिततटस्थेश्वरेऽतिव्याप्तेस्तद्वारणार्थं  
प्रलयग्रहणोपपत्तेः । \*ननु\*—तटस्थेश्वरस्यापि परैर्यहेतुत्वमङ्गीकृतम्, तत् कथं तेन तद्वारणमिति—  
चेत् ? \*नैष दोषः\* ; अधिकरणतया लयहेतुत्वस्य विवक्षितत्वात् । नच कालेऽतिव्याप्तिः ; अविद्यात्म-  
सम्बन्धमन्तरेण सर्वकार्याधिकरणकालानङ्गीकारात् । नह्यनुपादाने कार्यं लीयते । तथाच श्रुतिः “यत्प्रय-  
न्त्यभिसंविशन्ती”ति । अतो लयहेतुत्वेनोपादानत्वस्य विवक्षितत्वाद् न तटस्थेश्वरेऽतिव्याप्तिः । तस्मात्

## प्रदीपः

जन्मादिपदं सूत्रगतमवयवशो विभजते—\*जन्मेति\* ॥ “उत्पत्तिरिति” जन्मपदविवरणम् । जन्मादिरस्येति बहुव्रीहि-  
समास इति योजना । बहुव्रीहिसमासो द्विविधः—तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञानश्च । तस्य समासस्य गुणानामवयवा-  
नामप्यन्यपदार्थवत् क्रियान्वयार्थं विज्ञाने तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः, अन्यथा त्वपरः । विवक्षातश्चास्य समासस्य निर्णयः—  
कुत्रचित् चित्रगुमानयेति वाक्यस्य चित्रगोभिः साकमानयनविवक्षायां प्रयोगो भवति, कुत्रचित् नेति हि वस्तुरिति । न हि



## जन्म-स्थिति-भङ्गं समासार्थः ।

भामती

तदुपपादनाय समाहारमाह—\*जन्म-स्थिति-भङ्गमिति\* ॥ \*‘‘जन्मनश्चे’’त्यादिः—‘‘कारणनिर्देशः’’

पञ्चपादिका

तद्गुणसंविज्ञाने प्रयोजनमाह—\*जन्म-स्थिति-भङ्गं समासार्थं इति\* ॥ तृतीयलिङ्गनिर्देशात् संहति-  
प्रधानं समासार्थः । \*ननु\* आदिः पूर्वकालकोटिमतो भवति, तदभावे प्रपञ्चस्य को नामाऽऽदिः ?

पञ्चपादिकाविवरणम्

भङ्गास्त्रयोऽपि विशेष्याः, तत्कथमेकत्वनिर्देश इति ? अत आह—\*तृतीयलिङ्गेति\* ॥ जन्मादीनामादिमध्याव-  
सानमाक्षिपति—\*ननु आदिरिति\* ॥

ऋजुविवरणम्

इत्याशङ्क्योक्तम्—\*तृतीयलिङ्गेति\* ॥ प्रपञ्चस्यादिरनुक्तः कथमाक्षिप्यते ? इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*जन्मादीना-

तत्त्वदीपनम्

‘‘द्वेयकयोर्द्विवचनैकवचने’’ इति सूत्राद् द्वित्वविवक्षायां द्विवचनम्, एकत्वविवक्षायामेकवचनमिति न्यायविरोधादेकत्व-  
निर्देशानुपपत्तिरित्यर्थः । भिन्नेष्वपि तरुषु संहत्युपाधौ वनव्यपदेशवदत्रापि समाहारोपाधावेकवचनं युज्यत इति, अत  
आह—\*अत आहेति\* ॥ संहतिप्रधानत्वगमकमाह—\*तृतीयेति\* ॥ नपुंसकलिङ्गनिर्देशादित्यर्थः ॥

‘‘प्रपञ्चस्य को नामादिरि’’त्यत्र किमुत्पत्तिः प्रतिषिध्यते ? उत प्राधान्यम् ? आद्ये प्रतिवचनस्याननुरूपत्वम्,  
द्वितीयेऽप्यनुक्तोपालम्भ इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*जन्मादीनामिति\* ॥ पूर्वकालकोटिः प्रागभावः, तद्वत् आदिर्भवति,  
प्रपञ्चस्य पूर्वकालकोटिविहीनत्वान्न तज्जन्म-स्थिति-भङ्गानामन्यतमस्य प्राधान्यमिति टीकार्थः । जन्मनश्चादित्वमिति  
चशब्दप्रयोगाद् हेत्वन्तरसमुच्चयार्थत्वं लक्ष्यते, नच तथा ; तस्य प्रागनिर्दिष्टत्वात्, इत्याशङ्क्य शङ्काव्यावृत्तिश्चशब्दार्थ

वार्तिकम्

लक्षणसिद्ध्यर्थमुत्पत्त्यादित्रितयस्य विवक्षितत्वात् प्रागभिहितम्—‘‘तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति ।  
\*ननु\*—तद्गुणसंविज्ञानपरिग्रहेऽपि न त्रितयं लभ्यते ; जन्मादीत्येकवचनपरिग्रहात्, स्थितिहेतुत्वस्यै-  
वादिपदार्थत्वात्, प्रलयस्यापि तदन्तर्भावे द्विवचनपरिग्रहापत्तेः । तद्ग्रहेऽपि न त्रितयलाभः ; उत्पत्ति-  
स्थित्योरेव लाभात् । तथाचातिव्याप्तिस्तदवस्थैवेति, नेत्याह—\*जन्म-स्थिति-भङ्गं-समासार्थं इति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

देशमेव विशेषणं कृत्वा समास इत्यर्थः । तद्गुणसंविज्ञाने प्रयोजनमाह—\*जन्म-स्थिति-भङ्गमिति\* ॥  
नपुंसकलिङ्गनिर्देशात् संहार-स्थितिप्रधानं धर्मजातं विवक्षितमिति द्रष्टव्यम् ॥

प्रदीपः

समवायसम्बन्धेन गुणपदार्थस्यान्यपदार्थेनान्वयस्थले ‘लम्बकर्णमानये’त्यादावेव तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिरिति वैयाकरणनियमः  
समादरमर्हति । तथाच जन्मपदार्थस्य स्थित्यादिभिः साकं समवायसम्बन्धेनान्वयेऽपि तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिरत्र युज्यत एव ।  
यद्यप्यत्रापि जन्मादिपदार्थसमुदायेन जन्मनः समवायसम्बन्धोऽपि न बाधितः, तथाऽपि प्रकृते पृथक् तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-  
व्यवस्थापनात् समुदायाविवक्षया, प्रत्येककारणतालक्षणतावादोऽपि भाष्यकारैः सूच्यत इव । इममेव सूचितं पक्षमादाय  
सिद्धान्तलेशसंग्रहे जन्मादिप्रत्येकलक्षणतावादाभिप्रायेण नव ब्रह्मलक्षणानीत्यादि विवेचितम् ॥

वस्तुस्थितिस्तु—लक्षणत्रयविवक्षणे ब्रह्मत्रितयशङ्का स्यादिति त्रितयकारणत्वमेकं लक्षणमित्येव युक्तम् । अत एव—‘‘यतो वा  
इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ती’’ति वाक्यत्रये यच्छब्दत्रयेऽपि ‘‘तद्ब्रह्मे’’ति वाक्यशेष  
एक एव तच्छब्द उपपद्यते ; अन्यथा प्रत्येकलक्षणत्वे तच्छब्दत्रयमत्रापथेतेत्यभिप्रायेणाह—\*जन्म-स्थिति-भङ्गं समासार्थं इति\* ॥



जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देशस्तावत्—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्म-स्थिति-प्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि—जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थिति-प्रलयसंभवात् ।

#### पञ्चपादिका

इत्याशङ्क्याह—\*जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं चेति\* ॥ यदनेन सूत्रेण लक्षितं ब्रह्म, तत्स्वरूपकथनपरं वाक्यम् । तत्रादौ जन्म निर्दिष्टमिति तस्यादित्वम् । वस्तुस्वभावापेक्षमपि । नहि प्रलीय तिष्ठति । स्थित्वा वा जायते । नापि जनित्वैव प्रलीयते ; क्षणिकत्वनिराकरणात् । अतो जनित्वा स्थित्वा प्रलीयते । एवमादिरयं प्रपञ्चः । “अस्य” इति भाष्येण पदभागस्येदमः प्रकृति-मात्रस्यार्थनिर्देशः । तथाहि—सर्वत्र सर्वनाम प्रक्रमादिकारणान्तरबलेन कतिपयाभिधेयपरम्, तद-

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

परिहरति—\*जन्मनश्चादित्वमिति\* ॥ भाष्यं व्याचष्टे—\*यदनेन सूत्रेणेति\* ॥ \*ननु\* सर्वं जनित्वैव नश्यति, न किञ्चित्कालं तिष्ठति ; स्वसत्ताप्रयुक्तत्वाद्दिनाशस्येत्यत आह—\*क्षणिकत्वनिराकरणादिति\* ॥ \*अतो जनित्वेत्यादिः स्पष्टार्थः\* ॥ \*ननु\* इदंशब्दः किञ्चिदेव सन्निहितं गमयति नाखिलं जगदित्यत आह—\*तथाहि सर्वत्रेति\* ॥ \*ननु\*

#### श्रुतिविवरणम्

मिति\* ॥ कथं श्रुतिनिर्दिष्टत्वमात्रेण सूत्रे तदपेक्षते ? इत्याशङ्क्य, तन्निवृत्तौ तात्पर्यमाह—\*भाष्यं व्याचष्ट इति\* ॥

#### तत्त्वदीपनम्

इत्याह—\*परिहरतीति\* ॥ श्रुतौ निर्देशः श्रुतिनिर्देश इत्यर्थः । श्रुतौ जन्मन आदित्वनिर्देशेऽपि सूत्रे तस्यादित्वं कस्मात् ? इत्याशङ्कां परिहरिष्यन्नाह—\*भाष्यमिति\* ॥ “यतो वे”त्यादिवाक्यार्थनिरूपणायेदं सूत्रं प्रवृत्तम्, ततश्च श्रुतौ जन्मन आदित्वस्य निर्दिष्टत्वात् सूत्रेऽपि तथा भवितव्यम् ; अन्यथा श्रुति-सूत्रयोरननुरूपतापातादिति टीकार्थः ॥

जनित्वा स्थित्वा नश्यतीति न नियन्तुं शक्यमिति शङ्कते—\*ननु सर्वमिति\* ॥ विद्युदादौ स्वसत्ता-लाभानन्तरं विनाशदर्शनादत्रापि तथात्वमिति न जन्म-स्थिति-भङ्गानां क्रम इत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञाविरोधान्नैषा शङ्का समुत्तिष्ठतीत्याह—\*अत आहृति\* ॥ प्रकृतिप्रत्ययात्मकमेकं पदम्, तत्र प्रकृत्येदमा प्रत्यक्षादिसन्निधापितं जगन्निर्दिश्यत इत्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*नन्विदंशब्द इति\* ॥ ‘अयं घटः’ इत्यादाविदंशब्दस्य पुरोऽवस्थितवस्तुमात्रविषयत्वदर्शनादि-दमः सकलजगत्परामर्शित्वमयुक्तमित्यर्थः । सर्वनाम्नः प्रसिद्धवस्तुमात्रपरामर्शित्वं स्वभावः, अपवादे त्वन्यथात्व-मित्याशयेनाह—\*अत आहृति\* ॥ “अस्येत्यत्र प्रत्ययस्य संबन्धोऽर्थ इत्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु जन्मादीना-मिति\* ॥ किं सतो जन्मादिसंबन्धः ? उतासतः ? नाद्यः ; जन्मनः प्राक् सत्त्वासंभवात्, सतो नाशानुपपत्तेश्च । नाप्यसतो जन्म-नाशादिसंभवः संभवी ; नृशृङ्गवत्, नापि स्थितिसंबन्धः ; तस्य भेदादिनाऽनिरूपणादिति चोद्यार्थः ।

#### वार्तिकम्

“जन्मादी”ति नपुंसकलिङ्गनिर्देशात् समाहारद्वन्द्वार्थान्यपदार्थं बहुव्रीहिः । तथाचैकवचनसत्त्वेऽपि द्वयोरन्य-पदार्थत्वाविरोध इत्याशयः ॥ तथाऽपि जन्मन आदित्वं किमिति सूत्रकृता निर्दिष्टम् ? यतः सन्तत्या-रूढानां जगज्जन्म-स्थिति-भङ्गानां घटीयन्त्रन्यायेनानादित्वात् किं कस्यादिः स्यादिति ? तत्राह—\*जन्मन-श्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षञ्चेति\* ॥ चस्त्वर्थत्वेनाशङ्कानिवृत्त्यर्थः । सत्यम् ; अनादित्वाद्

#### भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* आदौ कथं जन्मन आदित्वमिति ? अत आह—\*जन्मनश्चेति\* ॥ एतत्सूत्रलक्षितवाक्ये

#### प्रदीपः

“जन्मादी”त्येकवचननिर्देशात् समुदितरूपेण लक्षणत्वं विवक्षितम्, न केवलमेतावतैव, किन्तु एकस्यैव “यतः” इति यच्छब्दस्य



भामती

इत्यन्तः संदर्भो निगदव्याख्यातः । \*स्यादेतत्\*—प्रधान-काल-ग्रह-लोकपाल-क्रिया-यदृच्छा-स्वभावामा-  
वेषूपप्लवमानेषु सत्सु सर्वज्ञं सर्वशक्तिस्वभावं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमिति कुतः संभावनेति ? अत आह—

ऋजुप्रकाशिका

—\*स्यादेतदिति\* ॥ प्रधानं च कालश्च ग्रहाश्च लोकपालाश्च क्रिया च यदृच्छा च स्वभावश्चाभावश्च,  
ते तथोक्ताः ; तेषु जगत्कारणत्वेन शङ्क्यमानेषु = उपप्लवमानेषु सतिस्वत्यर्थः । निरुपाख्यं शून्यमभाव-  
शब्दार्थः । तेषां वक्ष्यमाणविधया जगज्जन्मादिकारणत्वासंभवात् सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्मैव जगज्जन्मादि-

वार्तिकम्

नास्ति तेषां क्रमः । न हीदं प्रथमं जगद् जातमस्ति, येन तत्पूर्वं स्थिति-प्रलययोरभावाद् जन्मनस्तदा-  
दित्वमवधार्येत ; अनादिजगत्प्रवाहप्रतिपादकश्रुति-न्यायविरोधापत्तेः । \*एतेन\*—स्थिति-प्रलययोरदित्वम्  
—\*प्रत्याख्यातम्\* ॥ तथाऽपि सूत्रकृता यद् जन्मन आदित्वं निर्दिष्टम्, तत् समिदादीनामिव सूत्रविषय-  
श्रुतिपाठापेक्षम् । नच—तत्पाठक्रमस्य पूर्वोक्तरीत्या बाधात् त्यागो युक्त इति—वाच्यम्, ; वस्तुवृत्ता-  
पेक्षत्वेनाबाधात् त्यागानुपपत्तेः । वस्तु च लोके घटादि जनित्वा स्थित्वा नश्यतीति दृष्टम्, न वैपरीत्येन,  
नवा स्थित्वा जनित्वा नश्यतीति । तस्मादनादित्वेन क्रमनियमासम्भवेऽपि वस्तुवृत्तदर्शनानुसारेण  
श्रुतिनिर्देशाधीनक्रमनियमोपपत्तेरुपपद्यते जन्मन आदित्वम्—इति ॥ तदेतद् दर्शयति—\*श्रुतिनिर्देशस्ताव-  
दित्यादिना\* ॥ श्रुतिनिर्देशस्तावदादौ जन्मनो भवति । तत्र हेतुः—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते”  
इत्यस्मिन् वाक्ये जन्म-स्थिति-प्रलयानां क्रमदर्शनादिति\* ॥ तत्र बीजमाह—\*वस्तुवृत्तमपि जन्मना  
लब्धात्मकस्य धर्मिणः स्थिति-प्रलयसम्भवादिति\* ॥ यद्यपि सत्कार्यवादिनां जन्मनः पूर्वमपि कार्यं

भाष्यभावप्रकाशिका

जन्माऽऽदौ निर्दिष्टं यस्मात्, यस्माच्च वस्तुनो वृत्तं स्वभावोऽपि जनित्वा स्थित्वा प्रलीयत इत्येवंभूतः,  
अलब्धात्मकस्य जन्मना स्थिति-प्रलययोरसंभवात्, अतो जन्मन आदित्वमित्यर्थः । “अस्ये”ति सूत्र-

प्रदीपः

निर्देशेनापीति भावः । \*ननु\*—त्रितयकारणत्वेऽवश्यविवक्षणीये जन्मन एवादित्वनिर्देशः सूत्रे किञ्चिद्वन्धनः ? इत्याशङ्क्याह—  
\*जन्मनश्चेति\* ॥ श्रुत्यर्थसंप्रदाहत्मकत्वात् सूत्रस्य श्रुतिनिर्देशमनुसृत्य वस्तुस्थितिमनुसृत्य च तथा निर्देश इति भावः ।  
वस्तुस्थितिमेवोपपादयति—\*जन्मनेति\* ॥ अस्यपदेन श्रुतिगतेऽपदार्थपरामर्शात् तस्य च भूतविशेषणत्वेन तत्र प्रत्यक्षोप-  
स्थापितभूतमरत्वम् । सति चैवं “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इति श्रुत्येकवाक्यताऽपि “यतो वे”ति वाक्यस्य  
सूच्यते, इति प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवात्र लक्ष्यमिति शायते । \*इदमा\* “यतो वे”ति वाक्ये विशेषणेनाप्यत्र विशेष्यपरित्यागेन  
सूत्रे प्रयोगाद् विशेष्यपर्यन्तपरत्वादस्यपदघटकेनेदंशब्देन प्रत्यक्षसन्निधापितस्य धर्मिणो विशेष्यस्य परामर्श इति भावः ।  
यद्यपि सर्वेषां भूतानां न प्रत्यक्षसन्निधापितत्वमिति नेदंशब्देन विशेषणं सर्वभूतसाधारणं भवति ; तथाऽपि भूत्वा छत्रिन्यायेन  
प्रत्यक्षादिसन्निधापितानां निर्देशो नानुपपन्नः । अमुमेवार्थं सूचयितुम्—“प्रत्याक्षीदी”त्यादिपदम् । \*ननु\*—प्रत्यग-  
भिन्नं ब्रह्म यदि जगतः कारणम्, तर्हि पूर्वोक्तप्रकारेणाभिन्ननिमित्तोपादानमित्येव वक्तव्यम् । इदं च ब्रह्मण एव प्रपञ्चभावः,  
इति कार्यत्वं कारणत्वं चेति कल्पनेनैव भवति । तत्र च परिणामिकारणत्वे ब्रह्मणोऽपि जन्मसम्बन्धः स्यादिति विकार्यत्वा-  
पत्तिरित्याशङ्क्यायां जन्मसम्बन्धो जगत एव विवक्षितः, न तु ब्रह्मणोऽपीत्याह—\*षष्ठीति\* ॥ प्रत्यक्षादिसन्निधापितस्येत्यनु-  
पपन्नाद् जगत एव जन्मसम्बन्धः न निर्धर्मकस्य ब्रह्मण इति भावः । अयं च भावः, \*जन्मादिधर्मेति\* धर्मपदप्रयोगेण सूच्यते ॥

\*ननु\*—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति श्रुतौ “यतः” इति प्रकृतावेव पञ्चमी ; “जनिकर्तुः प्रकृतिरिति”  
प्रकृतावेव पञ्चम्याः साधुत्वशापनात् । प्रकृतित्वं च कर्तृभिन्नस्यैव मृदादौ दृष्टम्, इति पातञ्जलमतानुसारेणेश्वराधिष्ठितप्रकृति-



“अस्ये”ति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्म-  
संबन्धार्थः । यत इति कारणनिर्देशः ।

#### पञ्चपादिका

भावे स्वमहिम्ना प्रमाणविषयमात्राभिधायकम्, तेनाह—\*प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देश इति\* ॥ \*षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्थेति\* । सर्व एवेह सम्बन्धः संभवति, न तद्विशेष आदरणीय इति

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

जन्मादीनां जगतश्च कः सम्बन्धः षष्ठ्या विवक्षित इति ? तदाह—\*सर्व एवेति\* ॥ \*ननु\* जगज्जन्म-  
स्थिति-भङ्गं किं सम्बन्धितया लक्षणं भवति ? न तावत् काकवल्लक्ष्यसम्बन्धितया ; जगदाश्रयत्वाद्धर्माणामिति,  
कारणसम्बन्धितयेत्याह—\*यत इति कारणनिर्देश इति\* ॥

\*ननु\* जगज्जन्मादिकारणत्वमपि लक्षणान्तर्गतम् ? आहोस्विल्लक्ष्यस्वरूपान्तर्गतम् ? इति यत्तव्यम् । \*ननु\*

#### श्रुतिविवरणम्

जन्मादीनां लक्षणत्वमेव न संभवतीत्यभिप्रायेण चोदयति—\*ननु जगज्जन्म-स्थिति-भङ्गमिति\* ॥ जगद्गतानां लक्ष्य-  
संबन्धाभावादलक्षणत्वमिति भावः । कारणसंबन्धिनोऽपि लक्षणत्वं न संभवतीत्यभिप्रायेण चोदयति—\*ननु  
जगज्जन्मादिकारणत्वमिति\* ॥ लक्ष्यान्तर्गतत्वे जन्मादेर्लक्षणत्वायोगाद् लक्षणान्तर्गतत्वेऽप्यसंभव एव ; कारणत्वस्य

#### तत्त्वदीपनम्

अनिर्वचनीयत्वादस्मिन् मते सर्वोऽपि संबन्धः संभवतीत्याह—\*तदाहेति\* ॥ लक्षणनिरूपणार्थं सूत्रमित्युक्तम् । तत्र  
जन्मादिकं लक्षणम् ? उत तत्करणत्वम् ? इति विकल्प्याद्येऽपि निरूप्यमित्याह—\*ननु जगज्जन्मेति\* ॥ किं संबन्धिनो  
जन्मादेर्लक्षकत्वम् ? उतासंबन्धिन इति किंशब्दार्थः । संबन्धित्वे लक्षकत्वमेवानुपपन्नमित्यभिप्रेत्य संबन्धपक्षं दूषयति—  
\*न तावदिति\* ॥ जगतो जन्मादेश्च स्वतोऽसंभवात्कारणाधीनत्वम्, ततश्च कारणत्वस्य लक्षणताश्रयणाज्जन्मादेर्लक्षणत्व-  
निरसनमित्याह—\*कारणेति\* ॥ कारणत्वस्यापि न लक्षणत्वं युज्यत इत्याह—\*नन्विति\* ॥ लक्षणान्तर्गतमित्युप-  
लक्षणमित्यर्थः । न तावत् कारणत्वस्य लक्ष्यस्वरूपत्वम् ; सप्रतियोगित्वात्, नापि लक्षणान्तर्गतत्वम् ; ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वा-

#### वार्तिकम्

लब्धात्मकमेवास्ति ; तथाऽपि लोकदृष्ट्याऽलब्धात्मकत्वमित्यतोऽनादिप्रवाहारूढानामपि तेषां जन्मन  
आदित्वम्, न स्थिति-प्रलययोरित्याशयः ॥ “अस्ये”तिपदस्य प्रातिपदिकार्थमाह—\*अस्येति प्रत्यक्षादि-  
संनिधापितस्य धर्मिणो निर्देश इति\* ॥ सर्वनाम्नो हि बुद्धिस्थमात्रे शक्तिः । यत्रोपपदप्रक्रमादि तत्स-

#### भाष्यभावप्रकाशिका

पदस्य प्रातिपदिकार्थं निर्दिशति—\*अस्येति\* ॥ सङ्कोचकरणाभावात्प्रत्यक्षादिसंनिधापितं समस्तं गृह्यत  
इत्यर्थः ॥ \*ननु\* जन्मादीनां जगतश्च कः संबन्धः ? इत्यपेक्षायां सर्व एव संबन्धः संभवतीत्याह—  
\*षष्ठीति\* ॥ \*ननु\*—जन्मादि लक्ष्यसंबन्धितया लक्षणं न भवति ; जगदाश्रयत्वात्तेषाम्, इत्याशङ्क्य,  
कारणसंबन्धित्वाद् लक्षणमित्याह—\*यत इति\* ॥ प्रकृतौ पञ्चमीविधानाद् “यतः” इति प्रकृतिग्रहण-  
मिति भावः । \*ननु\* प्रधान-काल-लोकपाल-यदृच्छा-स्वभावादिषु जगत्कारणेषु संभाव्यमानेषु जगज्जन्मा-

#### प्रदीपः

परिणामवाद एव श्रौत इति गम्यते ; अथवा जीवसंनिधानमालेखेन प्रकृतिः परिणमते, इति सांख्यमतमेवात्र श्रौतं प्रतीयते,  
न तु चेतनं प्रत्यगभिन्नं वा ब्रह्मेति, अत आह—\*यत इति कारणनिर्देश इति\* ॥ “जनिकर्तुः प्रकृतिरिति सूत्रस्थापादान-  
संज्ञाविधायकत्वाद् अपादानसंज्ञाप्रयुक्तपञ्चमीविवक्षास्थल एव प्रकृतित्वमात्रं पञ्चम्या विवक्ष्यते । हेतावपि पञ्चमीविधानाद्  
हेत्वर्थे पञ्चमीविवक्षायान्तु नायं नियमः, किन्तु कारणमात्रनिर्देशः । तच्च कारणत्वं यथायोगं केवलप्रकृतित्वपरित्यागेन



### पञ्चपादिकाविवरणम्

गृहस्य काकाधिकरणत्वं नाम धर्मः कस्मिन्नन्तर्भवति ? लक्ष्य इति चेत्, काकाधिकरणत्वं च गृहशब्दार्थः स्यात् । ततश्च काकविगमे गृहैकदेशभङ्गबुद्धिः स्यात् । लक्षणान्तर्गतमिति चेत्, कारणत्वमपि तथा । नहि नानाविध-  
कार्यक्रियावेशात्मकत्वं तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्वं वा जिज्ञास्यविशुद्धब्रह्मान्तर्गतं भवितुमर्हति । तस्माद् जगज्जन्मादि-  
कारणत्वमेवोपलक्षणमिति ॥ \*ननु\* निमित्तकारणत्वमुपादानकारणत्वमुभयं वोपलक्षणत्वेनोच्यते ? न तावन्निमित्त-  
कारणत्वमेव ब्रह्मोपलक्षणम् ; जगदभिन्नस्योपादानकारणस्य भेदेनावस्थानाद् ब्रह्मशब्दस्य स्वार्थान्वयाभाव-  
प्रसङ्गात् । नाप्युपादानकारणत्वमुपलक्षणम् ; निमित्तकारणस्य सर्वज्ञस्य भेदेनावस्थानाद् “यतः सर्वज्ञात् सर्व-  
शक्तेरिति” व्यपदेशो न स्यात् ; उपादानकारणस्य लोकेऽचेतनत्वात् । “सत्यं ज्ञानमनन्तमिति” च स्वरूपलक्षण-  
स्योभयत्रायोगात् । नाप्युभयकारणत्वं ब्रह्मोपलक्षणम् ; एकस्योभयकारणत्वे प्रमाणाभावात् । प्रमाणान्तर-  
सिद्धं हि लक्षणमनधिगतलक्ष्यस्वरूपाधिगमायालम् । न तावदेकस्य जगन्निमित्तोपादानत्वमनुमानेनावगन्तुं  
शक्यम् ; दृष्टान्ते भेददर्शनात् । महाभूतपञ्चकव्यतिरिक्तेषु पदार्थेषु नानाविधनिमित्तोपादानदर्शनाच्च

### अनुविवरणम्

लक्षकत्वात्, किमिति कारणत्वं लक्ष्यं नेष्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*न हि ननाविधेति\* ॥ कथं तर्हि लक्षणसंबन्धिनो  
जन्मादेर्लक्षणत्वम् ? इत्याशङ्क्योपलक्षणत्वादित्याह—\*जगज्जन्मादीति\* ॥ अथवाऽन्यतरवैयर्थ्यं परिहरति—\*तस्मा-  
जगज्जन्मादीति ॥ \*ननु\*—निमित्तकारणस्य भेदेनावस्थानेऽप्युपादानमपि तथैवाङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्याह—\*उपा-  
दानकारणस्येति\* ॥ \*ननु\*—स्वरूपलक्षणसहकृतं ब्रह्मत्वं चेतनत्वं वा कस्मान्न गमयति ? इत्याशङ्क्याह—\*सत्यं  
ज्ञानमिति\* ॥ \*ननु\*—लक्षणस्य प्रमाणत्वात्किं प्रमाणप्रसिद्ध्या ? लक्षणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, यद्वा—किं प्रसिद्ध्याऽ-  
पेक्षितम् ? इत्यत आह—\*प्रमाणान्तरसिद्धं हीति\* ॥ एतदपि प्रसिद्धलक्षणमिति चेत् ; किमनुमानेन ? शब्देन  
वा ? न तावत्प्रथम इत्याह—\*न तावदेकस्येति\* ॥ कथं दृष्टान्ते भेददर्शनम् ? सुखादेर्दृष्टान्तत्वेनोपादानात्,  
मेवम् ; तथाऽपि किं भूत-भौतिकजगत् पक्षीक्रियते ? भूतमात्रं वा ? प्रथमपक्षे त्वंशे बाधितविषयत्वमित्याह—\*महा-  
तत्त्वदीपनम्

दिति काका सूच्यते ॥ प्रतिबन्धोत्तरं वक्तुं तामाह—\*ननु गृहस्येति\* ॥ अधिकरणस्य किं स्वरूपत्वम् ? उतोपलक्षणत्वम् ?  
इति किंशब्दार्थः । आद्यमनूय दूषयति—\*लक्ष्य इत्यादिना\* ॥ \*द्वितीयमनुवदति\*—\*लक्षणेति\* ॥ तुल्य-  
मुत्तरमित्याह—\*कारणत्वमिति\* ॥ कारणत्वस्य लक्षणान्तर्गतत्वमुपपादयति—\*न हीति\* ॥ \*क्रियावेशात्मकत्वम्=  
क्रियाश्रयत्वमित्यर्थः । कारणत्वस्य न ब्रह्मलक्षणत्वम् ; तस्य निर्धर्मकत्वात्, इत्युक्तमुपसंहारव्याजेन निरस्यति—  
\*तस्मादिति\* ॥ “आत्मन आकाशः संभूतः” इत्यादिना ब्रह्मणः कारणत्वप्रतिपत्तेरित्यर्थः । प्रकारान्तरेण लक्षण-  
भाक्षिपति—\*ननु निमित्तेति\* ॥ उपादानकारणस्य निमित्तकारणाद् भेदेनावस्थानाद् ब्रह्मशब्दस्य स्वार्थान्वयाभाव-  
प्रसङ्गादिति संबन्धः । न केवलमुपादानकारणपृथक्त्वाद् ब्रह्मशब्दार्थसंभवः, किं तु कार्यस्यापि पृथग्भावादित्याह—  
\*जगदिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ निमित्तकारणस्य पृथग्भावेऽपि ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादिरूपत्वाद् व्यपदेश-  
संभव इत्याशङ्क्याह—\*उपादानेति\* ॥ पक्षद्वयेऽपि साधारणं दूषणमाह—\*सत्यं ज्ञानमिति\* ॥ “निमित्तत्वेऽ-  
नन्तमिति”त्यनुपपन्नं स्यात् ; उपादानस्य पृथग्भावात्, तथा केवललोपादानत्वेऽप्यनन्ततानुपपत्तिस्तुल्या ; निमित्तस्य  
पृथग्भावात् । तथा ज्ञानमिति चानुपपन्नम् ; उपादानस्य चैतन्यत्वादित्यर्थः । तृतीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ उभय-  
कारणत्वस्य लक्षणतया प्रमाणत्वात् तत्र प्रमाणाभावो न दोषायेत्याशङ्क्याह—\*प्रमाणान्तरेति\* ॥ प्रमाणान्तराधिगतं  
गन्धवत्त्वादिकं पृथिव्यादिकं लक्षयति ; अन्यथाऽऽश्रयासिद्धेरित्यर्थः । तर्हि सिद्धमेव लक्षणमस्त्वित्याशङ्क्य, किमनु-  
मानतः सिद्धम् ? उतागमात् ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ घटादौ निमित्तोपादानयोर्भेदोपलम्भात् सपक्षा-  
भाव इत्याह—\*दृष्टान्त इति\* ॥ किं भूत-भौतिकपक्षीकारेणाभिन्ननिमित्तोपादानत्वं साध्यते ? उत भूतमात्रं  
पक्षीकृत्य ? नाद्य इत्याह—\*महाभूतेति\* ॥ निमित्तोपादानभेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधान्नेत्यमनुमानमुदेतीत्यर्थः ।



## पञ्चपादिका

कथयति । \*यत इति कारणनिर्देश इति\* प्रकृतित्वनिबन्धना हि पञ्चमी, नान्यनिबन्धनेति दर्शयति ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तदनुवादेन ब्रह्म विधातुं शक्यम् । भूतपञ्चकनिमित्तोपादानत्वमेकस्याप्रसिद्धमिति, तत्राह—\*प्रकृतित्वनिबन्धना पञ्चमीति\* ॥ निमित्तत्वस्याप्युपलक्षणमेतत् ; उभयत्र पञ्चमीविधानात् । भूतपञ्चकस्य तावदेका प्रकृतिरनुमीयते ; सद्रस्त्वेकस्वभावानुगमात् ॥

\*तथाहि\*—महाभूतानि, सद्रस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति, विविधविकारत्वात् ; मृदनुस्यूतघटादिवत् । द्रव्यत्वाद्यभेदा अपि प्रकृतिस्वभावा एव सामान्यवदवभासन्ते, सद्रस्तु पुनः सर्वानुगमात्सर्व-

## ऋजुविवरणम्

भूतपञ्चकव्यतिरिक्तेष्विति\* ॥ \*न तदनुवादेनेति\* ॥ एकस्यैवोभयथा कारणत्वमनुवदितुं न शक्यते ; अप्रसिद्धत्वादिति भावः ॥ द्वितीयपक्षे भौतिकेष्वनैकान्तिको हेतुर्गमक एव न भवति, अतो न तस्याप्यनुवाद इत्यभिप्रायेणाह—\*भूतपञ्चकेति\* ॥ तथा शब्दप्रसिद्धिपक्षेऽपीदमेवोत्तरम्—\*महाभूतपञ्चकव्यतिरिक्तेष्विति\* ॥ शब्दस्यापि ब्रह्मपरत्वाल्लक्षणांशेऽनुवादो वक्तव्यः । तत्र भौतिकेषुपादान-निमित्तयोर्भेददर्शनान्नैकत्वमनुवदितुं शक्यम्, भूतांशे प्रसिद्धत्वादेव नानुवाद इति भावः । कथमेकस्यार्थद्वयमिति ? तदाह—\*उभयत्रेति\* ॥ \*ननु\*—एकस्योपादानत्वं निमित्तत्वञ्चाप्रसिद्धम् ? इत्याशङ्क्य विवृणोति—\*तथाहि महाभूतानीति\* ॥ \*ननु\*—द्रव्यत्वाद्यनुगमेऽपि न तदुपादानत्वम् ; अतो नैकान्तिकमित्याशङ्क्याह—\*द्रव्यत्वाद्यभेदा अपीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

किं चाभिन्ननिमित्तोपादानस्याप्रामाणिकत्वाच्च तदनुवादेन ब्रह्मप्रतिपादनमित्याह—\*न तदिति\* ॥ न द्वितीय इत्याह—\*भूतेति\* ॥ भूतपञ्चकस्य कार्यत्वेनाभिन्ननिमित्तोपादानत्वं नानुमेयम् ; भौतिकेषु व्यभिचारादित्यर्थः । नाप्यागमात् तत्सिद्धिः ; उभयकारणत्वसाधकागमानुपलब्धेरिति द्रष्टव्यम् । टीकायामुपादानमात्रमुपलक्षणमुक्तमिति प्रतिभातीत्याशङ्क्याह—\*निमित्तत्वस्यापीति\* ॥ \*नान्यनिबन्धनेति\* ॥ नान्यनिबन्धनैवेत्यर्थः । पञ्चम्या उपादानार्थत्वे न निमित्तार्थत्वम्, निमित्तार्थत्वे नोपादानार्थत्वमित्याशङ्क्याह—\*उभयत्रेति\* ॥ “जनिकर्तुः प्रकृतिरिति सूत्रे प्रकृतौ, “हेतावि”ति निमित्ते पञ्चम्या विधानं लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ एकस्य निमित्तोपादानत्वमप्रसिद्धमिति न लक्षणमित्युक्तं निरस्यति—\*भूतेति\* ॥ सद्रस्त्वनुगममात्रेण कथमेकप्रकृतिकत्वमनुमीयते ? जीवादौ व्यभिचारादित्याशङ्क्याह—\*तथाहीति\* ॥ महाभूतानि, स्वानुगतोपादानानि, भावत्वे सति विकारत्वात् ; घटादिवदिति विवक्षितम् । प्रध्वंसव्यावृत्त्यर्थम्—“भावत्वे सती”त्युक्तम् । आत्मव्यावृत्त्यर्थम्—“विकारत्वादि”ति । विकारत्वमुपपादयितुम्—“विविधे”त्युक्तम् । \*विविधत्वम्\*—विभक्तत्वमित्यर्थः । किं तदनुगतमुपादानमिति वीक्षायां ‘सन् घटः’ ‘सन् पटः’ इति सदनुरक्ततया घटादेः प्रतीयमानत्वात् सदेवानुगतमुपादानमित्यभिप्रायेण सद्रस्तुप्रकृतिकानीत्युक्तमाचार्येणेति द्रष्टव्यम् ॥

सत्त्ववद् द्रव्यत्वादीनामप्यनुगतानां तत्रोपलम्भात् किमत्रोपादानमिति न ज्ञायते, तदर्थमाह—\*द्रव्यत्वादीति\* ॥ द्रव्यत्वादय एवाभेदा द्रव्यत्वाद्यभेदाः । न भिद्यन्त इत्यभेदाः, अनुवृत्ता इत्यर्थः । द्रव्यत्वावान्तरजातीयपृथिवीत्वादिकमादिशब्दार्थः । द्रव्यत्वादीनामपि विभक्तत्वात् समानाधिकृतत्वोपलम्भाच्च न पृथगनुगतिर्युज्यते, किंतु तदध्यस्ततयेत्यर्थः । सत्तासामान्यस्यापि व्यभिचारित्वादानुपादानत्वमिति शङ्कां निरस्यति—\*सद्रस्त्विति\* ॥ सच्छब्देन न पराभिमतं सामान्यं विवक्षितम्, किन्तु सद्रद्रव्यम्, सन्तो गुणाः, सन्ति कर्माणि, सत्त्वं सत्, विशेषाः सन्तः, सन् समवायः, इत्यादिरूपेण सर्वत्र प्रथमानः सच्छब्दार्थः, तच्चोपादानमित्यर्थः । भौतिकानां भूतोपादानताया अनुभवंसिद्धत्वात्सद्रस्तु सर्वप्रकृतिरिति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य, भूतानां सदुपादानतया

## प्रदीपः

प्रकृतित्वनिमित्तत्वोभयरूपं वा ? अथवा केवलनिमित्तत्वमात्रं वा भवितुमर्हति । प्रकृते त्भयविधमपि विवक्ष्यत इति न पूर्वोक्तमतद्वयस्य, ब्रह्मणः केवलनिमित्तकारणत्वमात्रम्, परमाणवादिकमेव समवायिकारणमिति न्यायवैशेषिकमतयोश्चावसर इति



### पञ्चपादिकाविवरणम्

विकारप्रकृतिः । भौतिकानां च भूतोपादानत्वं दृश्यमानं मूलप्रकृत्यधीनतामेव सर्वस्य गमयति । अतः सर्वकार्योपादानमेकमेव लाघवात्, इति न्यायानुगृहीतानुमानेन सिद्धम् । तस्यैव च निमित्तकारणत्वमनुमानेन कल्प्यते । तथाचेदं जगत्, अभिन्ननिमित्तोपादानं भवितुमर्हति, प्रेक्षापूर्वजनितकार्यत्वात् ; आत्मगतसुख-दुःख-राग-द्वेषादिवत् । नच घटादिष्वनैकान्तिकता ; तत्राप्यभिन्ननिमित्तोपादानत्वकल्पनात् । अदृष्टादिनिमित्त-भेदो दृश्यत इति चेत्, न ; उपादानाधिष्ठात्रोरेवैकत्वानुमानात् । तस्मादनुमानेनैव प्रसिद्धमेकस्योभयकारणत्वं लक्षणत्वेन निर्दिश्यते । सृष्टिवाक्यप्रसिद्धं चैकस्योभयकारणत्वं लक्षणत्वेन निर्दिश्यते ॥

तत्र केचित्परिणामवादमवतारयन्ति । तैस्तत्र प्रमाणं वक्तव्यम् । सृष्टिश्रुतय इति चेत्, न ; तत्र परिणाम-शब्दाश्रवणात् । सत्यतोऽन्यथाभावः परिणामो ब्रह्मणोऽपि सत्यतः प्रपञ्चापत्तिं प्रतिपादयतीति चेत्, न ; तासु सत्यशब्दाश्रवणात् । स्वतःप्रामाण्यात् तथाभूतैव सृष्टिरिति चेत् ? किमिदं तथाभूतत्वं नाम ? सत्यत्वमिति

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—भौतिकेषु सद्ब्रह्मत्वगुमेऽपि भूतोपादानत्वं दृश्यते, अतोऽनैकान्तिकम्, यद्येवं भूतकारणत्वमेव लक्षणं स्यादित्याशङ्क्याह—\*भौतिकानाञ्चेति\* ॥ भूतानुगतं सद्ब्रह्मत्वोपादानम् ; भूतानि तु द्वारमात्रमित्यर्थः । किमिति द्वारमात्रत्वम् ? भूतानामेवोपादानत्वं कस्मान्न भवति ? इत्याशङ्क्याह—\*अतस्सर्वकार्योपादानमिति\* ॥ अथत्रो-भयस्योपादानत्वं कस्मान्न भवति ? इत्याशङ्क्याह—\*अतस्सर्वकार्योपादानमिति\* ॥ पूर्वोक्तमनैकान्तिकत्वं परिहरति—\*नच घटादिष्विति\* ॥ बाधितविषयत्वमुक्तमनुवदति—\*अदृष्टादिनिमित्तेति\* ॥ श्रुतिप्रसिद्धपक्षेऽप्युक्तदूषणं परि-हरति—\*सृष्टिवाक्यप्रसिद्धं चेति\* ॥ \*ननु\*—न मायात्मकत्वे समानत्वम् ; सोपाधिके व्यभिचारात्, इत्याशङ्क्याह—

### तत्त्वदीपनम्

सदात्मकत्वाद् भौतिकानामपि सत्प्रकृतिकत्वमस्वलितमित्याह—\*भौतिकानामिति\* ॥ व्यावृत्तस्य कारणत्व-कल्पनायां गौरवम्, इतरत्र लाघवम्, अतोऽप्येकमेवोपादानमित्याह—\*अत इति\* ॥ भवत्वेकस्य सकलोपादानत्वम् ; तथाऽपि कथमभिन्ननिमित्तोपादानत्वम् ? तत्राह—\*तस्येति\* ॥ प्रेक्षा पूर्वं कारणमस्येति प्रेक्षापूर्वम्, तच्च जनितं चेति प्रेक्षापूर्वजनितम् । जनितपदं तु स्पष्टीकरणार्थम् । प्रेक्षापूर्वमसिद्धमिति शङ्कां निराकर्तुम्—“कार्यत्वादि”त्युक्तम् । घटादिषु व्यभिचारमाशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ मृदाद्यवस्थचैतन्यस्योपादानत्वात् कुलालाद्यवस्थचैतन्यस्य निमित्त-त्वात् तयोश्चैक्यान्न व्यभिचार इत्यर्थः । सुखाद्युत्पत्तावात्मोपादानम्, अदृष्टादि निमित्तम्, ततश्च साध्यविकलो दृष्टान्त इति शङ्कते—\*अदृष्टादीति\* ॥ अदृष्टादिलक्षणनिमित्तस्यात्मलक्षणोपादानाद् भेद इत्यक्षरार्थः । साध्यशब्दार्थो-नभिज्ञो भवानित्याह—\*नोपादानेति\* ॥ अभिन्नोपादानाधिष्ठातृकत्वस्य साध्यत्वान्न साध्यवैकल्यमित्यर्थः । अनुमानस्य निरवयवतासाधनफलमाह—\*तस्मादिति\* ॥ न केवलमनुमानादुभयकारणत्वसिद्धिः, किंतु श्रुतितो-पोत्याह—\*सृष्टीति\* ॥ “तदात्मानं स्वयमकुरुत” “बहु स्यां प्रजायेये”त्यादिवाक्यादुपादानत्वम् । “तदैक्षते”ती-क्षणपूर्वकस्रष्टृत्वश्रवणादधिष्ठातृत्वं च लक्ष्यत इत्येकस्योभयकारणत्वं सिद्धमित्यर्थः । परिणामिनः क्षीरादेरचेतनत्व-दर्शनादुपादानस्याधिष्ठातृत्वं विरुद्धमित्येकदेशिमतमुत्थापयति—\*अत्रेति\* ॥ ब्रह्मणः परिणामित्वस्यैवासिद्धेर्न विरोध इत्याह—\*तैरिति\* ॥ प्रमाणाभावाच्च परिणामित्वमित्यर्थः । प्रमाणाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*सृष्टीति\* ॥ किं तत्र मुख्यतः परिणामप्रतिपत्तिः ? उतानुपपत्त्या ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*न तत्रेति\* ॥ द्वितीय-मनुवदति—\*सत्यत इति\* ॥ विवर्तव्यावृत्त्यर्थम्—\*सत्यत इति\* विशेषणम् । “तदात्मानं स्वयमकुरुत” “सच्च त्यच्चाभवदि”त्याद्याः श्रुतयो ब्रह्मणो वस्तुतो जगदापत्तिं कथयन्तीत्यर्थः । उदाहृतश्रुतिषु ब्रह्मणोऽन्यथाभावमात्रं प्रतीयते, न वस्तुतः, अन्यथाभावमात्रं विवर्तपक्षेऽपि संगच्छत इत्याह—\*न तास्विति\* ॥ अश्रवणमप्रयोजकमिति शङ्कते—\*स्वत इति\* ॥ वेदान्तास्तावत्प्रमाणम्, प्रमाणत्वं च सम्यगनुभवसाधनत्वम्, ततश्च वेदान्तगम्यसृष्टेस्त-थाभूतत्वमाश्रयणीयम् ; इतरथा तेषामप्रामाण्यापातादित्यर्थः । विकल्पासहत्वात् तथाभूतत्वमेव न निरूपणपथ-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

चेत्, न ; 'मिथ्येदं रजतमि'ति विशिष्टेऽर्थे प्रमाणगम्ये स्वप्नसृष्टावपि सत्यबुध्यभावात् । स्वोपाधौ स्वविषयाभाव-  
विरोधितेति चेत्, न ; मायात्मकत्वेऽपि समानम् । सृष्टेश्च स्वोपाधावभावव्यावृत्तत्वात् सर्वे च सोपाधिकधर्माः  
स्वाश्रयोपाधावबाध्यतया सत्या भवन्ति, सृष्टिरपि स्वरूपेण न बाध्यते, किन्तु परमार्थसत्यत्वांशेन ॥

\*ननु\* मिथ्यासृष्टिविषयत्वे वाक्यस्याप्रामाण्यं स्यात्, \*न तत्\* ; प्रमाणव्यापारानभिज्ञो देवानां प्रियः ।  
प्रमाणं हि प्रमेयाभावं न सहते, नाप्रमेयाभावम् । नच सृष्टिश्रुतिः परमार्थसत्यतां प्रमिमीते ; तदभिधाना-  
भावात् । यथा 'घटः' इत्युक्ते भावाभावयोः साधारणोऽवभासते, अन्यतराभिधानाभावात्, तद्वत् । न हि

### ऋजुविवरणम्

\*सर्वे च सोपाधिका धर्मा इति\* ॥ यद्वा—तन्मते न स्वोपाधावभावव्यावृत्तत्वमित्यस्यातिप्रसङ्गमाह—\*सर्वं  
चेति\* ॥ निषिद्धसृष्टेः कथं विषयाभावविरोधित्वमित्याशङ्क्याह—\*सृष्टिरपि स्वरूपेणेति\* ॥ सृष्टेः सत्यत्वाभावे  
तद्विषयश्रुतिविरोधस्स्यादिति चोदयति—\*ननु मिथ्यासृष्टिविषयत्वमिति\* ॥ कथमनभिज्ञत्वमित्याह—\*प्रमाणं  
हीति\* ॥ \*ननु\*—सत्यत्वस्य प्रमेयत्वात् तदभावं न सहत इत्याशङ्क्याह—\*नच सृष्टिश्रुतिरिति\* ॥ पदार्थस्यैव  
वाक्यार्थत्वादिति भावः । \*ननु\*—सदसत्त्वे विहाय प्रतीतिरेव न संभवेत् ; अतोऽनभिहितस्यापि प्रतीतिरङ्गी-  
कर्तव्येत्याशङ्क्य, नेति दृष्टान्तमाह—\*यथा घट इत्युक्त इति\* ॥ \*ननु\*—पदस्य स्मारकत्वात् तस्य च सदसद्वस्तु-  
साधारणत्वम्, इह तु शब्दस्य प्रमाणत्वात् सत्यत्वेनैव प्रमातव्यमित्याशङ्क्य व्यभिचारं दर्शयति—\*न हि स्वप्न-  
विषयेति\* ॥ \*ननु\*—स्वप्नश्रुतेर्मिथ्याविषयत्वम्, तत्र हि तादृशकारणाभावात्सत्यविषयस्वरयंज्योतिरूपरत्वेन

### तत्त्वदीपनम्

मवतरतीत्याह—\*किमिदमिति\* ॥ तथाभूतत्वं नाम किं सत्त्वम् ? आहो स्वोपाधौ नास्तित्वाविरोधित्वम् ? इति  
किंशब्दार्थः । आद्यमनुवदति—\*सत्यत्वमिति\* ॥ प्रमाणगम्यस्य व्यभिचारित्वान्सैवमित्याह—\*न मिथ्येति\* ॥  
\*विशिष्टेऽर्थे इति\* ॥ मिथ्यात्वविशिष्टरजत इत्यर्थः । इतोऽपि न प्रमाणगम्यत्वं सत्यत्वमित्याह—\*स्वप्नेति\* ॥  
“अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते” इति स्वाप्नसृष्टेः श्रौतत्वेऽपि सत्यत्वाभावादित्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—  
\*स्वोपाधाविति\* ॥ स्वोपाधौ=स्वाधिष्ठाने इति यावत् । सृष्टेर्मायाविलासत्वेऽप्येवंविधसत्यत्वसंभवान्न परिणाम-  
सिद्धिरित्याह—\*न मायेति\* ॥ साम्यमेवाह—\*सृष्टेरिति\* ॥ इतोऽपि न स्वोपाधौ नास्तित्वाविरोधित्वं सत्यत्व-  
मित्याह—\*सर्वं इति\* ॥ स्फटिकादिगताहनिमादयोऽन्यलक्तकाद्युपाधौ नास्तित्वाविरोधितया सत्याः स्वयं  
स्युरित्यर्थः । \*स्वाश्रयोपाधाविति\* ॥ स्वाश्रये स्फटिकादिलक्षणे धर्मिणि सति=जपाकुसुमलक्षणे उपाधौ सतीत्यर्थः ।  
“नेति ने”त्यादिना ब्रह्मणि निषिद्धायाः सृष्टेः कथं तन्नास्तित्वाविरोधित्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*सृष्टिरपीति\* ॥ प्रतिभास-  
विरोधाद् न स्वरूपनिषेधो युक्त इत्यर्थः । निषेधश्रुतेस्तर्हि का गतिरित्याह—\*किं त्विति\* ॥ ब्रह्मणो यादृशं  
सत्त्वम्, तादृशसत्त्वाभावो विषय इत्याह—\*परमार्थेति\* ॥ सृष्टेः सत्यत्वाभावेऽसद्विषयत्वेन सृष्टिश्रुतेरप्रामाण्या-  
पत्तिरिति शङ्कते—\*ननु मिथ्येति\* ॥ अरजतं रजततया यद् बोधयति तदप्रमाणम्, न सद्व्रजतबोधोऽपीति प्रसिद्धम् ।  
तथाच श्रुतिः सत्यां सृष्टिमसत्यतया बोधयन्त्यप्रमाणं स्यात्, न त्वसत्यं तथा बोधयन्तीत्याशयवानाह—\*नच  
प्रमाणेति\* ॥ अनभिज्ञत्वं स्पष्टयति—\*प्रमाणमिति\* ॥ फलितं दर्शयति—\*नचेति\* ॥ सदसत्त्वं विना प्रतीति-  
रेवानुपपन्नेत्याशङ्क्याह—\*यथेति\* ॥ यदि घटपदेनैव तदस्तित्वं बोध्यते, घटोऽस्तीति पौनरुक्त्यं स्यात्, यदि घटपदं  
नास्तित्वमेव ब्रूयात्, तदा घटोऽस्तीति व्याघातः, घटो नास्तीति पौनरुक्त्यं च । तथाच कीर्तितं धर्मकीर्तिना—

“घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि घटो यतः । नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात्सदसत्त्वयोः ॥” इति ।

तथाच घट इति साधारणाकारप्रतिपत्तिवत् सृष्टेरपि तथा प्रतिपत्तिं को निवारयेदित्यर्थः । प्रमाणगम्यत्वं न  
सत्यत्वप्रयोजकम् ; स्वाप्नसृष्टौ व्यभिचारादित्युक्तमयुक्तम्, तस्या अपि प्रमाणागम्यतया सत्यत्वादिति मन्वानं  
प्रत्याह—\*न हीति\* ॥ “अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते” इति सृष्टेः श्रवणेऽपि न सत्यत्वम्, “न तत्र रथाः”



### पञ्चपादिकाविवरणम्

स्वप्नविषया सृष्टिश्रुतिस्तत्सत्यतां प्रतिपादयति । प्रयोजनशून्यतया तात्पर्यहीनत्वाच्च न ब्रह्मणः प्रपञ्चापत्तिं प्रतिपादयति ; अनर्थहेतुत्वाच्च दुःख-तत्साधनपरिणामस्य । नच कर्मकाण्डस्य प्रत्यक्षादेर्वा सिद्धिः प्रयोजनम् ; जगन्नित्यतयाप्युपपत्तेः, सृष्टिश्रुत्यवगमात्प्रागेव सिद्धत्वाच्च । अभेदस्यापि सत्त्वादिरूपेण सिद्धत्वान्न शब्दा-पेक्षेति चेत्, केयमतिव्याकुलता सर्वसंकरवादिनः । न हि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-निरतिशयानन्द-प्रकाशमान-सर्वज्ञाऽद्वितीय-प्रत्यगात्मभूतं ब्रह्मावगमात् प्रागेव सिध्यति । किं तर्हि ? सृष्टिश्रुतेः प्रयोजनम् । प्रत्यक्षादि सिद्धप्रपञ्चस्य ब्रह्मण्येवोत्पत्ति-विनाशवत्तयाऽन्यत्ताभावमुपवर्ण्य, तत्रापि प्रतिषिध्य, मिथ्यात्वापादनेन प्रमाणान्तरा-

### ऋजुविवरणम्

तदप्रतिपादनम्, इह तु सृष्टिप्रतिपादनपरत्वेन तत्सत्यत्वमपि प्रतीयत इत्याशङ्क्याह—\*प्रयोजनशून्यतयेति\* ॥ यद्वा—“न तत्र रथाः” इति स्ववाक्यशेषपर्यालोचनया स्वप्नश्रुतेर्मिथ्याविषयत्वम्, अत्र तु तादृशकारणाभावात्सत्य-विषयत्वमित्याशङ्क्याह—\*प्रयोजनशून्यतयेति\* ॥ \*ननु\*—कर्मकाण्डस्य प्रत्यक्षादेस्सत्यवस्तुसापेक्षत्वेन तदपेक्षित-समर्पणमेव प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—\*नच कर्मकाण्डस्येति\* ॥ कथं नित्यतयोपपत्तिः ? कार्यत्वेनानित्यत्वात्, तस्य च शून्यविलक्षणतयोपादानमपेक्ष्यत इत्याशङ्क्याह—\*सृष्टिश्रुत्यवगमादिति\* ॥ प्रागेव तदव्यवहारस्य सिद्धत्वादित्यर्थः ॥ \*अथवा\*—प्रागेवानुमादिना सृष्ट्यवगमादिति\* ॥ सप्रयोजनत्वाय सत्यविषयत्वमित्यभिप्रायेण पृच्छति—\*किं तर्हि सृष्टिश्रुतेरिति\* ॥ \*ननु\*—अद्वैतश्रुत्या प्रतीयमानाद्वैतसिद्धिः कथं सृष्टिश्रुतिप्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रमाणान्तरा-विरुद्धेति\* ॥ प्रमाणान्तराविरुद्धाद्वैतसिद्धिः सृष्टिश्रुत्यधीनेति भावः । \*ननु\*—अद्वैतश्रुतेर्विरोधशङ्कैव कथमिति ? तदाह—\*प्रत्यक्षादिप्रसिद्धप्रपञ्चस्येति\* ॥ तर्हि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात्प्रपञ्चस्य कथमविरोध इति ? तदाह—\*मिथ्यात्वा-पादनेनेति\* ॥ विषयमिथ्यात्वेन तदपि तथैवेति भावः । कथं सृष्टिश्रुत्या प्रत्यक्षादिविषयमिथ्यात्वसिद्धिरिति ? तदाह—\*प्रत्यक्षादिसिद्धेति\* ॥ निषेधसहकृता मिथ्यात्वं साधयतीति भावः । तर्हि निषेधवाक्यैरेव मिथ्यात्व-सिद्धेः किं सृष्टिश्रुत्या ? \*मैवम्\* ; निरुपाधिकनिषेधाभावात्, ब्रह्मणि निषेधे चान्यत्र सत्यत्वप्रसङ्गादिति । कथं

### तत्त्वदीपनम्

इत्यादिवाक्यात्प्रत्यक्षाच्च बाधादित्यर्थः । स्वप्नसृष्टिश्रुतेः स्वयंज्योतिष्परत्वाद् न सत्यतायां प्रामाण्यमित्याशङ्क्य, तात्पर्यवैधुर्यमत्रापि सममित्याह—\*प्रयोजनेति\* ॥ न केवलं सृष्टेः फलराहित्यम्, किं त्वनर्थोऽपीत्याह—\*अनर्थेति\* ॥ प्रपञ्चसृष्ट्यभावे कर्मकाण्डस्य प्रत्यक्षादेश्च प्रामाण्यं न स्यात्, अस्ति च प्रामाण्यमिति सृष्टेः सत्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ सोमांसकमतावष्टम्भेन प्रामाण्यं समर्थयते—\*जगदिति\* ॥

जगदुत्पत्त्यादेः श्रुत्यादिप्रसिद्धत्वान्नित्यत्वमयुक्तम्, तथाच प्रत्यक्षादिप्रामाण्यानुपपत्त्या सृष्टिश्रुतेः सृष्टिपरत्व-मित्याशङ्क्याह—\*सृष्टीति\* ॥ सृष्टिश्रुत्या यः सृष्ट्यवगमः, तं विनाऽपि सृष्टेः सिद्धत्वान्न तत्र शब्दप्रामाण्यमित्यर्थः । सृष्टेरन्यतः सिद्धत्वाद् यथा न शास्त्रप्रतिपाद्यत्वम्, तद्वदभेदस्यापीति शङ्कते—\*अभेदस्यापीति\* ॥ अप्रमेयत्वमादि-शब्दार्थः । सोपहासमुत्तरमाह—\*केयमिति\* ॥ व्याकुलतामेवाह—\*न हीति\* ॥ अध्ययनविध्युपात्ततया सृष्टि-श्रुतेरानर्थक्यासंभवात्परमार्थविषयत्वं वक्तव्यमित्याह—\*किं तर्हीति\* ॥ परमार्थप्रपञ्चविषयत्वं विनापि सृष्टिश्रुतेः साफल्यमित्याह—\*प्रत्यक्षादीति\* ॥ सृष्टिश्रुतेरद्वितीयसिद्धिः प्रयोजनमिति संबन्धः । श्रुत्यैव तत्सिद्धेः किं सृष्टि-श्रुत्या ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रमाणान्तरेणेति\* ॥ सृष्टिश्रुतेर्विरोधनिरासद्वारा तत्प्रयोजनत्वम्, इतरस्य तु साक्षादित्यर्थः । विरोधशङ्कायां तन्निरासः, सैव कथमिति ? अत्राह—\*प्रत्यक्षादीति\* ॥ कथं तर्हि विरोधनिरासः ? तत्राह—\*मिथ्या-त्वेति\* ॥ मिथ्यात्वापादनं वा कथमिति ? अत्राह—\*ब्रह्मण्येवेति\* ॥ “यतो वे”त्यादिना वाक्येन जगदुत्पत्ति-स्थिति-विनाशानां ब्रह्मतन्त्रत्वं तावत्प्रतीयते । तथाच सृष्ट्यतिरेकेण घटाद्यसत्त्वद् ब्रह्मव्यतिरेकेण जगन्न स्यात् । नच तत्रापि सत् स्यात् ; कूटस्थासङ्गस्वरूपविरोधात् । ततश्च प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वाद् जगतो मिथ्यात्वमित्यर्थः ।



### पञ्चपादिकाविवरणम्

विरुद्धतयाऽद्वितीयब्रह्मस्वरूपसिद्धिः प्रयोजनम् ; तेनैकवाक्यत्वात्, अन्यथा शेषिविरोधात् । सृष्ट्याभासत्वाद् रजताभासवत् तज्ज्ञानस्याप्रामाण्यमिति चेत्, न ; सत्यरजतवन्मुख्यसृष्ट्यन्तराभावात्, तस्या एव मुख्य-सृष्टित्वात् तज्ज्ञानवत् प्रामाण्यात् । “देवदत्तो व्याघ्रोऽभवत्” “माया ह्येषा मया सृष्टे”त्यादौ मिथ्याकार्येऽपि तद्भाव-सृष्टिशब्दयोः श्रवणात् ॥

कुतः पुनः सत्य-मिथ्यासाधारण्यां सृष्टौ मिथ्यात्वे पक्षपातः ? “नासदासीन्नो सदाऽऽसीत्तम आसीत्” “आसीदिदं तमोभूतम्” “मायां तु प्रकृतिमि”त्यादौ सदसद्विलक्षणानिर्वचनीयप्रकृतित्वश्रवणात् तदात्मकत्वाच्च विकारस्य “तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंशितः । अविद्या पञ्चपर्वेषा प्रादुर्भूता महात्मनः” ॥ इति स्मृतेः, तमोऽविद्या मायानां पर्यायत्वात् । तदेवं श्रुत्यवगतायां मिथ्यासृष्टौ सत्यत्वकल्पनायां श्रुतिबाधप्रसङ्गात् । तथाच ‘अस्ति घटः’ इत्यस्त्यर्थोपाधौ प्रतिपन्नस्य घटस्य तदुपाधावेव नास्तीति प्रत्यक्षेणैव बाधो दृश्यते, देश-कालयोर्देश-

### ऋजुविवरणम्

प्रतीतिहानेनाप्रतीतपरत्वमिति ? तदाह—\*तेनैकवाक्यत्वादिति\* ॥ कथं पृथक् समभिव्याहृतार्थप्रतीतावेकवाक्यत्व-मिति ? तदाह—\*अन्यथा शेषीति\* ॥ तस्यैव सप्रयोजनत्वादिति भावः । \*ननु\*—ब्रह्मण एव तद्भावश्रुतेः सृष्टिशब्दप्रयोगाच्च सत्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*देवदत्तो व्याघ्र इति\* ॥ \*ननु\*—उदाहृतश्रुति-स्मृतिभ्यां तमसोऽ-निर्वचनीयत्वं प्रतीयते, न मायाऽविद्ययोरित्याशङ्क्याह—\*तमो मोह इति\* ॥ \*ननु\*—देश-कालयोस्तदुपाधिके वाऽस्त्यर्थे निषेधो न निरुपाधिक इत्याशङ्क्याह—\*देश-कालयोरिति\* ॥ देश-कालयोर्निषेध उपाधिभूतदेशकालाद्य-भावात् तयोर्निरुपाधिकनिषेधप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीयपक्षेऽपि देश-कालयोर्निषेधे तद्विशिष्टोपाध्यभावात् तयोर्निरुपा-धिकेऽस्त्यर्थे निषेधादितरत्रापि तस्यैवोपाधित्वमनुगतोपाधिलाभादिति भावः । \*ननु\*—उक्तदूषणमस्त्यर्थेऽपि समान-

### तत्त्वदीपनम्

अद्वितीयसिद्धिस्तत्प्रयोजनमित्यत्र किं गमकम् ? तत्राह—\*तेनेति\* ॥ उपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया सृष्टिश्रुत्यैक-वाक्यात् तत्फलमेव फलमित्यर्थः । भवत्वेकवाक्यत्वं परमार्थविषयत्वं च, तत्राह—\*अन्यथेति\* ॥ परमार्थविषयत्वेऽ-द्वैतप्रमित्यनुपपत्तेः सृष्टिश्रुतेर्मिथ्याविषयत्वमित्यर्थः । सृष्टेशासत्वे रजताभासवत् तद्विषयश्रुत्युत्थज्ञानस्याप्रामाण्य-मिति शङ्कते—\*सृष्टीति\* ॥ किममुल्यत्वमात्रमाभासत्वम् ? उत मिथ्यात्वम् ? नाद्य इत्याह—\*न सत्येति\* ॥ नापि द्वितीयः ; स्वप्रसङ्गातकामिनीदर्शनवत् प्रामाण्यसंभवादित्यर्थः । प्रपञ्चस्यासत्यत्वे “सच्च त्यच्चे”ति तद्भाव-वचनम्, “इदं सर्वमसृजते”ति सृष्टिवचनं चानुपपन्नं स्यादित्याशङ्क्य, तयोरन्यथासिद्धिमाह—\*देवदत्त इति\* ॥ सृष्टिश्रुतौ सत्त्वशब्दाश्रवणवन्मिथ्याशब्दस्याश्रवणान्न मिथ्यात्वमपीति शङ्कते—\*कुतः पुनरिति\* ॥ श्रुत्यन्तर-पर्यालोचनया प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतिपत्तेः सृष्टिश्रुतिरसत्यविषयेत्यध्यवसीयत इत्याह—\*नासदिति\* ॥ कारणस्य मिथ्यात्वेऽपि जगति किमायातम् ? इत्यत्राह—\*तदात्मकत्वादिति\* ॥ कारणत्वेन निर्दिष्टतमसो ज्ञाननिवर्त्याविद्या-सामानाधिकरण्यादपि मिथ्यात्वमित्याह—\*तम इति\* ॥ तमो-मोहादिशब्दैरविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः संगद्यन्ते । क्वचित् तमसः कारणत्वम्, क्वचिदविद्यादेरिति कारणवैलक्षण्यमित्याशङ्क्याह—\*तमोऽविद्येति\* ॥ मिथ्यात्वे प्रमाण-सद्भावात् सत्यत्वे तदभावाच्च परिणामसिद्धिरित्युपसंहरति—\*तदेवमिति\* ॥ न केवलं मिथ्यात्वे श्रुतिः प्रमाणम्, किन्तु प्रत्यक्षं चेत्याह—\*तथाचेति\* ॥ अस्त्यर्थ एवोपाधिरस्त्यर्थोपाधिस्तस्मिन्नित्यर्थः । प्रतिपन्नोपाधौ निषेध्यत्वे मिथ्यात्वम्, तच्च घटेऽप्यस्तित्वोपाधौ प्रतिपन्नस्य तस्मिन्निषेधाद् इदमि प्रतिपन्नरजतस्य तत्र निषेधवदित्यर्थः । एकदेश-कालसंसर्गितया प्रतिपन्नघटस्य देश-कालान्तरसंसर्गो निषिध्यते, न स्वरूपमित्याशङ्क्याह—\*देश-कालयोगिति\* ॥ ‘देशो नास्ति’ ‘कालो नास्ति’ इत्ययं प्रतिषेधः किं देशाद्युपाधौ ? अस्त्यर्थोपाधौ वा ? नाद्यः ; देशान्तराद्यभावात् । नच—तत्राप्युपाधिविशिष्टतया भेदसंभव इत्यपि—शङ्क्यम् ; उपाधिनिषेधेऽप्यस्य न्यायस्य सास्यात्, उपाध्यन्तरकल्पनायां



### पञ्चपादिकाविवरणम्

कालान्तराभावात्तयोर्द्वयोर्निरुपाधिकनिषेधात्, अस्त्यर्थस्यानुयायिनो निषेधाभावात् । अतो देश-काल-तदुपाधि-घटानामस्त्यर्थे ब्रह्मस्वरूपे प्रतिपन्नोपाधौ प्रत्यक्षेणैव बाधान्मिथ्यात्वसिद्धिः । एवं सर्वभावप्रत्ययगोचरे ब्रह्मणि स्वरूपोपाधावस्त्यर्थे कालाद्युपाधिभिः सहाभावप्रत्यक्षेण बाधान्मिथ्यैवेति सिद्धम् । अन्याभावविशिष्टवस्त्वन्तरज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात् ॥

अनुमानमपि—सर्वे विकाराः, स्वानुस्यूत एकस्मिन् वस्तुनि परिकल्पिताः, प्रत्येकमेकस्वभावानु-विद्धत्वे सति विभक्तत्वात् ; चन्द्रभेदवत् । जडत्वात्, कार्यत्वात्, भेदत्वात् ; रजतवत्, चन्द्रभेदवच्च । प्रतिपन्नो-पाधावस्थूलादिवाक्यैः प्रतिषिध्यमानत्वात् ; देहात्मभाववत् । विरोधिकारणस्वभावानुपमर्देन विरोधिकार्या-पत्तिलक्षणत्वात् ; मायाव्याघ्रवत् । प्रलयावस्थायां सह कालेन स्वोपाधौ शून्यत्वात् ; देहात्मभाववत् ॥

### ऋजुविवरणम्

मित्याशङ्क्याह—\*अस्त्यर्थस्येति\* ॥ उक्तप्रकारं सर्वत्रातिदिशति—\*एवं सर्व इति\* ॥ ब्रह्मणोऽप्रतीतेः कथं तत्र निषेधः ? इत्याशङ्क्याह—\*सर्वभावप्रत्ययेति\* ॥ \*स्वरूपोपाधिरिति मृदाद्युच्यते, भूतलादि च । \*ननु\*—अभावनिषेध्यव्यतिरेकेण तृतीयं न प्रतीयते, इत्याशङ्क्याह—\*अन्याभावविशिष्टेति\* ॥ 'जडत्वादिति' चैतन्ये कल्पितत्वे हेतुः, 'कार्यत्वादित्यकार्ये', 'भेदत्वादित्यद्वैते कल्पितत्वे हेतुः । यद्वा—पूर्वं वस्तुविशेषे कल्पितत्वमुक्तम्, अत्र तु कल्पितत्वमात्रमिति विवेकः । \*ननु\*—प्रतिपन्नोपाधौ बाध एव मिथ्यात्वे हेतुरित्याशङ्क्यानुमानान्तर-माह—\*प्रतिपन्नोपाधाविति\* ॥ यद्वा—ब्रह्मण्येव कल्पितत्वेऽनुमानमाह—\*प्रतिपन्नेति\* ॥ ब्रह्मकार्यस्य कथं प्रतिषेधः ? इत्याशङ्क्य तद्योग्यत्वं साधयति—\*विरोधिकारणस्वभावेति\* ॥ विवर्तत्वसाधनं वा क्रियत इति भेदः । देशादीना-मुपाधित्वेन मिथ्यात्वात् तदर्थम्, यद्वा—सर्वमिथ्यात्वेऽनुमानम्—\*प्रलयावस्थायामिति\* ॥ \*ननु\*—प्रतिषिध्य-

### तत्त्वदीपनम्

चानवस्था स्यादित्यर्थः । \*निरुपाधिकनिषेधादिति\* ॥ देशाद्यनुपहितास्त्यर्थनिषेधादित्यर्थः । द्वितीये देशादेर्मिथ्यात्वं स्यादित्यर्थः । रजतनिषेधोत्तरकालमियं शुक्तिरितीदमः प्रतिपत्तेरिदमि निषेधो युक्तः, न च तथा घटनिषेधोत्तरकालमस्त्य-र्थोपाधिः, इति सोऽपि निषेध्य इत्याशङ्क्याह—\*अस्त्यर्थस्येति\* ॥ निषेधाभावे हेतुमाह—\*अनुयायिन इति\* ॥ भवत्वस्त्यर्थनिषेधः, तथाऽपि कथं ब्रह्मणि प्रतिषेधः ? तत्राह—\*अत इति\* ॥ तावेवोपाधी येषां ते तदुपाधयः, ते च घटाश्चेति तदुपाधिघटाः ; तेषामित्यर्थः । उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—\*एवमिति\* ॥ अभावस्य षष्ठप्रमाण-गम्यत्वात् कथं प्रत्यक्षत्वम् ? इत्याशङ्क्य, धर्मिणः प्रत्यक्षतया तद्विशेषणत्वेनाभावोऽपि प्रत्यक्ष इति तार्किकमतमनु-सृत्याह—\*अन्याभावेति\* ॥ सर्वे विकारा इति\* ॥ विमता इत्यर्थः । परिकल्पिता इत्युक्ते शून्यवादिनः सिद्ध-साध्यता, तदर्थं 'वस्तुनी'त्युक्तम् । व्यावृत्तज्ञानेषु विषयस्य कल्पितत्वाङ्गीकाराद् बौद्धं प्रत्ययान्तरता; तदर्थमाह—\*एकस्मिन्निति\* ॥ एतावत्युक्ते यस्मिन् कस्मिंश्चित्परिकल्पिततया सति परिकल्पितत्वासिद्धिः, तदर्थम्—“स्वानुस्यूते” इति । प्रत्येकमेकस्वभावानुविद्धत्वाद् विभक्तत्वाच्चेति हेतुद्वयम् । वनस्वभावानुविद्धतरुव्यावृत्त्यर्थम्—“प्रत्येकमि”ति विशेषणम् । न हि प्रत्येकं तरुषु वनमिति मतिः ; किन्तु मिलितेष्वित्यर्थः । विभक्तत्वं च धर्मिसत्तासमानसत्ताक-भेदवत्त्वमित्यर्थः । \*चन्द्रभेदवदिति\* ॥ चन्द्रविशेषवदित्यर्थः । तत्र हेत्वन्तरमाह—\*जडत्वादिति\* ॥ भेदमिथ्या-त्वमभिधाय भेदमिथ्यात्वे हेतुमाह—\*भेदत्वादिति\* ॥ हेत्वन्तरमाह—\*प्रतिपन्नेति\* ॥ विमतम्, मिथ्या, प्रतिपन्नोपाधौ निषिध्यमानत्वात् ; देहात्मभाववत् । असिद्धिं निरस्यति—\*अस्थूलेति\* ॥ 'अहं मनुष्यः' इत्यहं-प्रत्ययालम्बने प्रतिपन्नस्य देहात्मभावस्य 'नाहं मनुष्यः' इति तत्रैव निषेधाद् न साधनवैकल्यमित्यर्थः । अनुमाना-न्तरमाह—\*विरोधीति\* ॥ विमतम्, सदसद्विलक्षणम्, विवर्तत्वात्, मायाव्याघ्रादिभाववदिति विवक्षितं हेतुस्वरूपं विरोधीत्यनेन ग्रन्थेन विवृतमित्यर्थः । प्रलयाङ्गीकारवादिनं प्रत्यनुमानान्तरमाह—\*प्रलयेति\* ॥ स्वोपाधौ शून्यत्वं समर्थयते—\*प्रलयावस्थायामिति\* ॥ अत्र च कार्यमात्रं धर्मि ; अन्यथाऽन्यतरासिद्धिप्रसङ्गात् । कथं तर्हि काले



### पञ्चपादिकाविवरणम्

अर्थापत्तिरपि—प्रपञ्चजन्म-विनाशानुपपन्नौ तस्य मिथ्यात्वमन्तरेण ; अमिथ्याभूतयोर्ब्रह्म-शून्ययो-  
रजन्म-विनाशित्वात् । नच ब्रह्मज्ञानस्यापि प्रपञ्चज्ञानवन्मिथ्यात्वानुमानम् ; “तत्सत्यं स आत्मे”ति वचन-  
विरोधात् । नचास्थूलादिवाक्यैः स्थूलादिभ्योऽन्यत्वमात्रमुच्यते ; कार्य-कारणतादात्म्ये सत्येवंप्रतिषेधानुपपत्तेः ।  
यथा शुक्लायां गव्यन्यत्वविवक्षयाप्यशुक्ला गौरिति प्रतिषेधो न दृश्यते ; तथाच प्रतिषेधे शुक्लतास्वरूपमात्र-  
निषेधदर्शनात् । तर्काप्रतिष्ठानान्न मिथ्यात्वानुमानमिति चेत्, न ; विचारशास्त्रानारम्भप्रसङ्गात् । शब्दमूलत्वाद्  
ब्रह्मणि न विरोधबुद्धिरिति चेत्, तर्हि—“असद्वा इदमग्र आसीत्” “सदेव सौम्येदमग्र आसीदि”त्यादि-  
श्रुतिद्वयसामर्थ्यात् कारणस्य सदसत्त्वे स्याताम् । श्रुत्यर्थस्य तर्कागोचरत्वात् सर्वशक्तित्वाद् ब्रह्मणः सर्वमुपपन्न-  
मिति चेत्, न ; ब्रह्मणि विरोधपरिहाराय विचारानारम्भप्रसङ्गात् । अत एवासत्यतापि ब्रह्मणः कदाचित्  
किं न स्यात् । तस्मात्प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वावगमात् प्रशान्तत्वाच्च ब्रह्मणो

### ऋजुविवरणम्

मानत्वमसिद्धम् ; अस्थूलादितिवाक्यानामन्यप्रतिपादकत्वादित्याशङ्क्याह—\*नचास्थूलादीति\* ॥ अन्यत्रान्य-  
त्वाभिप्रायेण प्रतिषेधादर्शनेऽप्यस्यान्यत्वामिप्रायेण कथं निवृत्तिः कल्प्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*तथाच प्रतिषेध इति\* ॥  
\*शब्दमूलत्वादिति\* ॥ \*अयमर्थः\*—अद्वैतसिद्ध्यर्थं न मिथ्यात्वं साधनीयमिति । \*ननु\*—घटेऽस्त्यर्थः प्रतीयते,  
अतो घटमिथ्यात्वे तद्विरोध इत्याशङ्क्याह—\*श्रुत्यर्थस्येति\* ॥ \*ननु\*—ब्रह्मण एव परिणामसंभवात्कथं मिथ्यात्व-  
संभवः ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रशान्तत्वादिति\* ॥ “अस्य जगतः” इत्यनेन स्वरूपलक्षणकथनमिति”त्युक्तम्, तदयुक्तम् ;

### तत्त्वदीपनम्

निषेधः ? इत्याशङ्क्याह—\*सह कालेनेति\* ॥ अविद्यावत्स्थायां कालसत्त्वेऽपि तन्निवृत्तौ निवृत्तिरित्यर्थः । अर्था-  
पत्तिं प्रमाणयति—\*अर्थापत्तिरपीति\* ॥ मिथ्यात्वे प्रमाणमित्यनुपङ्गः । तामेवाह—\*प्रपञ्चेति\* ॥ मिथ्यात्व-  
मन्तरेणानुपपन्नौ जन्म-विनाशौ मिथ्यात्वं गमयत इत्यर्थः । अन्यथोपपत्तिं निरस्यति—\*अमिथ्येति\* ॥ प्रत्यक्षा-  
नुमानागमार्थापत्तिभिः प्रपञ्चो मिथ्येत्युक्तम्, तत्र ज्ञानत्वाविशेषात् प्रपञ्चज्ञानवद् ब्रह्मज्ञानस्यापि मिथ्यात्वमापते-  
दित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ किं तस्य स्वरूपमिथ्यात्वं साध्यते ? उत विषयमिथ्यात्वम् ? आद्येऽप्यागन्तुकं  
ज्ञानं धर्मि ? उत अनागन्तुकम् ? आद्यस्त्वङ्गीक्रियत इत्यभिप्रेत्य परिशिष्टपक्षद्वयं प्रतिक्षिपति—\*तत्सत्यमिति\* ॥  
तत्=ब्रह्म, सत्यम्=अवितथस्वरूपम्, आत्मान्यत्वात् ; घटादिवत् । वैतथ्यशङ्कां निरस्यति—\*आत्मेति\* ॥  
अस्थूलादिवाक्येन स्वयं प्रपञ्चो निषिध्यत इत्युक्तमयुक्तम् ; तस्य स्थूलादिव्यतिरेकप्रतिपादनपरत्वादित्याशङ्क्याह—  
\*नचेति\* ॥ किमात्यन्तिकान्यत्वं प्रतिपाद्यते ? उत कथञ्चिदिति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*कार्येति\* ॥ द्वितीयं  
प्रत्याह—\*यथेति\* ॥ एवंविधोऽपि प्रतिषेधः क्वचिद् दृश्यत इत्याशङ्क्याह—\*तथाचेति\* ॥

तर्ककुशलेनैकेनोत्प्रेक्षितमप्यपरेण नाङ्गीक्रियते, ततश्च मिथ्यात्वानुमानस्याप्रतिष्ठितत्वम् ? उत तर्कविशेषस्य ?  
तत्र द्वितीयाङ्गीकारेणाद्यं दूषयति—\*न विचारेति\* ॥ न तर्कं प्रदर्शयितुं विचारशास्त्रं प्रवृत्तम्, किन्तु परोत्प्रेक्षित-  
तर्काणामद्वैतश्रुतिविरोधादाभासत्त्वद्योतनायेति शङ्कते—\*शब्देति\* ॥ तर्कमन्तरेण श्रुत्यर्थव्यवस्थाऽसंभवात् तर्कोऽपि  
वक्तव्य इत्याह—\*तर्हीति\* ॥ सदसत्त्वे एकस्य विरुद्धे इत्याशङ्क्याह—\*श्रुत्यर्थस्येति\* ॥ श्रौतेऽर्थे विरोधशङ्काया  
एवानुदयादित्यर्थः । सदसत्त्वप्रसङ्गनमिष्टमिति शङ्कते—\*सर्वेति\* ॥ अस्मिन् पक्षे विरोधनिराकरणं निष्फलं  
स्यादित्याह—\*न ब्रह्मणीति\* ॥ तर्कमन्तरेणाप्यर्थसिद्ध्यङ्गीकारे ब्रह्मण आत्यन्तिकासत्त्वं प्रसज्येतेत्याह—\*अत  
एवेति\* ॥ प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ इतिपदपरामृष्टं हेतुमाह—\*प्रत्यक्षेति\* ॥ ब्रह्मणः कूटस्थत्वादपि  
न तात्त्विकपरिणामसिद्धिरित्याह—\*प्रशान्तत्वादिति\* ॥ फलविधुरत्वादपि न तस्य सत्यत्वं प्रतिपाद्यमित्युक्तं

### वार्तिकम्

ङ्कोचकमुपलभ्यते, तत्र तद्वशाद् द्रव्यादिशब्दवत् सामान्यवाचकमपि सर्वनाम बुद्धिस्थविशेषेऽवधार्यते,



### पञ्चादिकाविवरणम्

निष्प्रयोजना न सृष्टिश्रुतिर्विवर्त एवेति । नच सद्बुध्यनुगमविरोधः ; अधिष्ठानत्वात्तस्य । घटादिविशेषाणा-  
मेव मिथ्यात्वादिति सिद्धम् ॥

### तत्त्वदीपनम्

स्मारयति—\*निष्प्रयोजनेति\* ॥ विवर्तशब्देन विवर्तविषयत्वं विवक्षितमिति द्रष्टव्यम् । 'सन् घटः' इति प्रत्यक्षेण  
घटस्य सत्त्वप्रतीतिः कथं मिथ्यात्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ अपुरोवर्तिनोऽपि रूप्यस्य पुरोवर्तितया भानवद्  
घटादेरपि सति समारोपितत्वात् सदात्मना प्रतिभानमविरुद्धमित्यर्थः । विशेषमिथ्यात्वे सदापि मिथ्या स्यात् ;  
'निर्विशेषं न सामान्य'मिति न्यायादित्याशङ्क्य, सत्तायाः सामान्यरूपत्वानङ्गीकृतेमैवमित्याह—\*घटादीति\* ॥  
स्वरूपलक्षणं कथयितुम्—“अस्य जगतः” इत्यादिभाष्यमित्युक्तम्, तदनुपपन्नम् ; उक्तस्यैव लक्षणस्य तत्र प्रतिपत्तेः,

### वार्तिकम्

नान्यथा ; सर्वनामत्वव्याघातात्, प्रकृते तूपपदप्रकरमादितत्सङ्कोचकाभावादविशेषेण प्रत्यक्षादिभिः  
षड्भिः प्रमाणैस्तदाभासैश्चोपस्थापितं बुद्धौ सन्निधीयमानं प्रपञ्चमात्रमिदमा निर्दिश्यते । \*यतेन\*—  
इदमः सन्निकृष्टाभिधायित्वात्, सर्वस्याकाशादिप्रपञ्चस्यासन्निकृष्टत्वात् कथमिदमा निर्देशः स्यात् ? \*इति\*  
—\*अपास्तम्\* ; इन्द्रियासन्निकर्षेऽपि बुद्धिसन्निकर्षात् । अत एवात्यन्तपरोक्षेऽपि धर्मादौ—अयं धर्मः  
सर्वेषां भूतानामस्त्वित्यादीदमा निर्देशः श्रुतौ दृष्टः । लेकेऽपि 'देवदत्तस्येयमिच्छा' 'देवदत्तस्यायं धर्मः'  
इति । अस्ति च तदेकदेशेषु पृथिव्यप्तेजःस्विन्द्रियसन्निकर्षोऽपि ; तावतैव माषराशिवत् सङ्घातप्रत्यक्षत्वो-  
पपत्तेर्जगतः संहतत्वाद्विदमा निर्देशाविरोधात् । अत एव विषयवाक्येऽपि—“इमानि भूतानी”त्युक्तम् ।  
नचैवं सूत्रेऽप्यमीषामिति बहुवचननिर्देशो युक्तः ; सूत्रत्वव्याघातादिति । तद्विदमुक्तम्—प्रत्यक्षादिसन्नि-  
धापितस्य धर्मिणः । इदमा निर्देश इति\* ॥ धर्मिणं जन्मादेर्धर्मस्येति शेषः ॥ विभक्त्यर्थं दर्शयन्  
तस्याः पूर्वसूत्रवदत्र विशेषपरत्वं वारयति—\*षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्थेति\* ॥ प्रातिपदिकार्थ-  
स्येति शेषः । जन्मादिना जगतः सर्वसम्बन्धसम्भवात्, पूर्ववत् तद्विशेषविवक्षायां प्रमाणाभावादि-  
त्याशयः । तसेरर्थान्तरपरत्वं वारयति—\*यत इति कारणनिर्देश इति\* ॥ अर्थान्तरस्यायोग्यत्वाद-

### भाष्यभावप्रकाशिका

दिकारणं ब्रह्मेति कथं संभाव्यते, इत्याशङ्क्य जगत्कारणत्वमुपलक्षणमुपपादयन् स्वरूपलक्षणं कथयति—

### प्रदीपः

सूच्यते । अत एव—“आनन्दाद्वैद्यव खल्विमानि भूतानि जायन्ते” इति कारणस्थानन्दरूपत्वं बोधितमुपपद्यते । अनेन हि—  
कारणातिरिक्तो न भोक्ता, नवा कर्तेति सूच्यते । आनन्दभोक्ता हि यद्यपरः स्यात्, तर्हि तत्रैव कारणश्रुतेः पर्यवसानं  
भृगुवल्त्या अनुपपन्नम् । ततश्च निमित्तकारणमपि स एवेति सूचितम् । इममेवार्थं मनसि निधायोक्तम्—\*कारणनिर्देश  
इति\* ॥ कारणत्वसामान्यविवक्षा, न प्रकृतित्वमात्रविवक्षेत्यर्थः । \*ननु\*—जनिधातुयोगे विशिष्य प्रकृतिमात्रविवक्षायामेव  
पञ्चमीप्रयोगस्य व्यवस्थापनाद् “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति वाक्ये कथमुक्तानियमपरित्यागः ? तथाच प्रधानादि-  
कारणवाद एवात्र विवक्षित इत्याशङ्क्य, “इमानि भूतानी”ति व्याकृतकार्यप्रपञ्चस्य प्राणिमात्रस्य च कार्यत्वनिर्देशात् केवला-  
चेतनकारणत्वस्य नात्र संभव इति सूचयन् सूत्रार्थं निष्कृष्य प्रतिपादयति—\*अस्य जगत इति\* ॥ अस्येत्यस्य विवरणं जगतं  
इति । जगतो विवरणम्—“नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्येत्यादि रचनारूपस्येत्यन्तम् । \*यतः\* इत्यस्य विवरणम्—“सर्वज्ञादि-  
त्यादि—कारणादि”त्यन्तम् । जन्मादीलस्य विवरणम्—“जन्म-स्थिति-भङ्गमिति । भवतीत्यादि तु वाक्यशेषः सौत्रवाक्यस्य  
पूर्णार्थमध्याहृत इति योजना ॥

अत्र कारणस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्ववर्णनेन जीवकारणत्वं व्युदस्यते । अनेन च जीवामित्रस्य ब्रह्मणः कारणत्वविव-  
क्षायामपि न जैवेन रूपेण कारणत्वम्, किन्त्वैश्वरेणैव रूपेणेति सूच्यते । सत्यपि च जैवेनैश्वरेण च रूपेण मेदे स्वरूपतं



## अस्य जगतो नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्य,

भामती

\*अस्य जगत इति\* ॥ अत्र \*नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्य\* इति चेतनभावकर्तृकत्वसंभावनया प्रधा-

श्रुतप्रकाशिका

कारणं वाच्यमित्यभिप्रेत्याह—\*अत आहेति\* ॥ “नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”ति जगद्विशेषणवलादचेतन-  
प्रधान-काल-क्रिया-निरुपाख्यकारणकत्वं जडव्यावर्तितमित्याह—\*अत्र नाम-रूपाभ्यामिति\* ॥ प्रधानादीत्यत्र

पञ्चपादिका

\*अस्य जगतः\* इत्यादिना भाष्येण लक्ष्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं कथयितुमुपक्रमते । द्विविधं  
हि लक्षणम्—उपलक्षणं विशेषलक्षणं च । तत्रेदं लक्षणं प्रपञ्चधर्मत्वात् पृथग्भूतमेव कारणमुपलक्षयति

पञ्चपादिकाविवरणम्

लक्षणमनूद्य लक्ष्यस्वरूपं कथयितुमुत्तरं भाष्यमित्याह—\*अस्य जगत इति\* ॥ \*ननु\* न तावदिदं  
विशेषणलक्षणम् ; प्रपञ्चजन्मादिकारणत्वस्य प्रपञ्चोपाधित्वात्, निरुपाधिकब्रह्मस्वरूपलक्षणकथनमन्तरेण  
सोपाधिकधर्मप्रतिपत्त्ययोगात्, नाप्युपलक्षणमेतत् ; लक्ष्यस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वायोगादवच्छेदादिति, तत्राह—  
\*द्विविधं हि लक्षणमित्यादि\* ॥ उपलक्षणत्वेऽपि नाद्वितीयस्वरूपलक्षणविरोधः ; यद्रजतमित्यभात् सा शुक्ति-

श्रुतविवरणम्

लक्षणस्योक्तत्वाद् वैयर्थ्यात्स्वरूपलक्षणे ब्रह्मणोऽनुवाद्यत्वप्रसङ्गादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*लक्षणमनूद्येति\* ॥ \*ननु\*—  
जन्मादिकारणत्वं तथाभूतलक्षणत्वेनानूद्यते ? किं स्वरूपलक्षणत्वेन ? किं वा तदस्थलक्षणत्वेन ? नाद्य इत्याह—\*ननु  
न तावदिति\* ॥ \*ननु\*—औपाधिकस्यापि तादात्म्यात्स्वरूपलक्षणत्वमिति, तत्राह—\*निरुपाधिकब्रह्मेति\* ॥  
धर्मेण प्रतीत्यभावात् । यद्वा—धर्मस्यैव प्रतीतिर्न भवतीत्यर्थः । मिथ्याभूतस्य तादात्म्यमेव दुरवसेयम्, कथञ्चि-  
द्विद्यमानेऽपि स्वरूपप्रतीतिसापेक्षत्वमिति भावः । द्वितीयपक्षे लक्षणत्वं निराकरोति—\*नाप्युपलक्षणमिति\* ॥  
\*अवच्छेदादिति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

इत्याशङ्क्याह—\*लक्षणमिति\* ॥ जगत्कारणत्वस्य लक्षणत्वासंभवात् तदनुवादो व्यर्थ इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥  
किमेतत्स्वरूपलक्षणम् ? उतोपलक्षणमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*न तावदिति ॥ प्रपञ्चोपाधित्वादिति\* ॥ प्रपञ्च-  
सापेक्षत्वादित्यर्थः । भवतु कारणत्वस्य सापेक्षत्वम्, तथाऽपि कथं न विशेषलक्षणम् ? तत्राह—\*निरुपाधिकेति\* ॥  
सापेक्षस्य निरपेक्षत्वरूपत्वासंभवात्तद्धर्मत्वं वक्तव्यम्, नच स्वरूपप्रतीतिमन्तरेण धर्मप्रतिपत्तिर्युक्तेति लक्षणान्तरं  
वाच्यमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ तदस्थलक्षणस्य सत्यत्वे लक्षणत्वानुपपत्तिः ; लक्ष्य-लक्षणयोः  
परस्परव्याघातात्, लक्षणस्यासत्यत्वे बाष्पादिवद् गमकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । \*ननु\*—“तस्माज्जगज्जन्मादिकारणत्व-  
मुपलक्षणमित्यत्रोपलक्षणमित्युक्तत्वाद्विकल्पे तद्दूषणानुपपत्तिरिति—चेत्, \*मैवम्\* ; उपलक्षणस्यापि सावद्यत्वं  
दर्शयितुं पुनर्विकल्पादेः संभवादिति द्रष्टव्यम् । कारणत्वस्य सत्यत्वे चोपलक्षणत्वानुपपत्तिरिति वक्तव्यमिति  
यदुक्तम्, तत्राह—\*उपलक्षणत्वेऽपीति\* ॥ विरोध इत्यत्रासत्यत्वादित्यनुषङ्गः । असत्यत्वे कारणत्वस्य लक्षणत्वं  
न संभवति, असत्यस्य लक्षणत्वाद्दृष्टेरिति शङ्कां निरस्यति—\*यद्रजतमिति\* ॥ यद्रजतमभादित्यत्र पुरोवर्तिद्रव्यस्य

भाष्यभावप्रकाशिका

\*अस्य जगत इति\* ॥ कार्यप्रपञ्चस्य बाह्याभ्यन्तरादिभेदेनानेकधा विकल्पितत्वात् श्रुतिसिद्धं स्वसिद्धान्तं  
द्वैराश्यं कृत्वाऽऽह—\*नाम-रूपाभ्यामिति\* ॥ इत्थंभावे तृतीया । घटादौ स्वनामरूपगर्भं विकल्पपूर्विका  
व्याक्रिया स्वसंवेद्या ; अतो जगत्कार्यस्यापि तथाभावादचेतनाभावकर्तृकत्वं न संभवतीति भावः । तर्हि



### भामती

नाद्यचेतनकर्तृकत्वं निरुपाख्यकर्तृकत्वं च व्यासेधति । यत्तु खलु नाम्ना रूपेण च व्याक्रियते, तच्चेतन-  
कर्तृकं दृष्टम् ; यथा घटादि, विवादाध्यासितं च जगद् नाम-रूपव्याकृतम् । तस्माच्चेतनकर्तृकं संभाव्यते ।  
चेतनो हि बुद्धावालिख्य नाम-रूपे—घट इति नाम्ना, रूपेण च कम्बुग्रीवादिना, बाह्यं घटं निष्पा-  
दयति । अत एव घटस्य निर्वर्त्यस्याप्यन्तःसंकल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारकभावः—घटं करोतीति ।

### ऋजुप्रकाशिका

काल-क्रिये आदिशब्दार्थः । \*व्यासेधतीति\* ॥ निषेधतीत्यर्थः । कथं व्यासेधतीति ? अत आह—  
\*यत्तु खल्विति\* ॥ प्रधानादीनां चाचेतनत्वाद् व्यासेध इति भावः । यन्नाम-रूपाभ्यां व्याकृतम्,  
तत् चेतनकर्तृकमित्यत्र दृष्टान्तमाह—\*यथा घटादीति\* ॥ अस्तु घटादेर्नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्य चेतनकर्तृक-  
त्वम्, जगतश्चेतनकर्तृकत्वे किमायातमिति ? अत आह—\*विवादाध्यासितमिति\* ॥ तथाचेत्यनुमानम्—  
विवादाध्यासितं जगत्, नाम-रूपाभ्यां व्याकृतम्, दृश्यत्वात् ; घटवदिति । तस्माद् जगतश्चेतनकर्तृकत्व-  
मित्याह—\*तस्मादिति\* ॥

तदेव निदर्शनपूर्वकं द्रवयति—\*चेतनो हीति\* ॥ नाम-रूपे बुद्धावालिख्येत्यन्वयः । कम्बुग्रीवादिना  
रूपेण चेत्यन्वयः । तत्रोपष्टम्भकमाह—\*अत एवेति\* ॥ यत एव नाम-रूपे बुद्धावालिख्य चेतनो  
नाम-रूपाभ्यां व्याकरोति घटादीति ; अत एवेत्यर्थः । एवं च सृष्टेः पूर्वं कारणात्मना स्थितं सदेव जगन्नाम-  
रूपाभ्यां करोति । नाम-रूपे मायावृत्त्याख्यबुद्धावालिख्य ब्रह्मेति सत्कार्यवादः । अनिर्वचनीयं प्रकृते  
सच्छब्देनोच्यते, नतु सत्यम् ; जगतो मिथ्यात्वेन सत्यत्वायोगात् । नच—असदेव व्याक्रियत

### पञ्चपादिका

न विशेषणत्वेन । अतः पृथक् स्वलक्षणकथनम् । \*नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्येति\* ॥ कार्यप्रपञ्चं

### पञ्चपादिकाविवरणम्

रिति वद् मिथ्याभूतेनापि प्रपञ्चकारणत्वेनोपलक्षणयोगात् । असाधारणसंबन्धो हि लक्षणनिमित्तम्,—न लक्षण-  
सत्यत्वम् ; काकादीनामसंबद्धानां गृहोपलक्षणत्वदर्शनादिति । \*कार्यप्रपञ्चं केचिदिति\* ॥

\*अयमर्थः\*—नाम-रूपकर्मात्मकमिति वेदान्तिनः । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्यात्मकमिति वार्तिककारीयाः ।

### ऋजुविवरणम्

भिन्नस्यैव लक्षणत्वादिति भावः ॥ सत्यस्यैव लक्षणत्वं दृष्टमित्याशङ्क्याह—\*असाधारणसंबन्ध इति\* ॥  
आसन्नं कर्मोच्यते । संवरस्समाधिः । निर्जरस्तप इति । कथं पूर्वं विकल्प्य व्याकरणम् ? धर्मिसहभावित्वाद्धर्म-  
विकल्पस्येत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ भवतु कारणत्वं कूटस्थलक्षणम्, तदनूय स्वरूपलक्षणं कथ्यते  
तत्त्वदीपनम्

रजततया भानमेव सत्यं शुक्तिलक्षणम्, न रजतमित्याशङ्क्याह—\*असाधारणेति\* ॥ नच—संबन्धः सत्यत्वं चेत्युभय-  
मपि प्रयोजकमिति—शङ्क्यम् ; संबन्धे सति सत्यत्वाभावापराधेनालक्षणत्वादृष्टेः । ज्ञानं लक्षकमित्येतच्च निरूपणीयम्—  
ज्ञानमात्रं लक्षकम् ? उतार्थविशेषितम् ? नाद्यः ; अतिप्रसक्तेः । द्वितीये मिथ्याभूतस्य लक्षकत्वासिद्धिरित्यर्थः ।  
अचेतनकर्तृकत्वव्यासेधार्थम्—“नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”त्युक्तं भाष्यकृता, तस्यायमर्थः—घटादिव्याक्रियाया  
नाम-रूपगर्भविकल्पपूर्विकाया दृष्टत्वाद् जगद्व्याक्रियाया अपि तथात्वं कल्प्यते, इति चेतने भावकर्तृकत्वमास्थेयमिति ।  
“नाम-रूपाभ्यामिति”ति विशेषणं परकीयप्रक्रियानिरासार्थमिति—त्युक्तम्, काऽसौ परकीयप्रक्रिया ? स्वप्रक्रिया वा कथम् ?  
इति शङ्कायामाह—\*कार्यप्रपञ्चमिति\* ॥ “नाम-रूपकर्मात्मकमिति”त्यत्र नाम-रूपशब्दाभ्यां शब्दार्थौ कथ्येते, तयोः  
संबन्धः कर्मशब्दार्थः । गुणवद् द्रव्यम्, सामान्यवानचलनात्मकः समवायिकारणताविधुरो गुणः, संयोग-विभागयोरन-  
पेक्षकारणं कर्म, नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमिति चत्वारि तत्त्वानि वार्तिककारीयाणाम् । कार्यं सहदादि,



## पञ्चपादिका

केचित् स्वप्रक्रियानुसारेण विभजन्ति, तद्व्युदासाय प्रसिद्धार्थानुवादश्रुतिबलेन द्वैराश्यं कृत्वाऽऽह—  
\*नाम-रूपाभ्यामिति\* ॥ इत्थंभावे तृतीया । व्याक्रियमाणं हि वस्त्वभिधेयरूपं स्वनामगर्भं विकल्प-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

कार्य-कारण-योग-विधि-दुःखान्ताः पञ्चेति शैवाः । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाः षडिति वैशेषिकाः । जीवाजीवास्व संवर-निर्जर बन्ध-मोक्षाः सप्तेति क्षपणकाः । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-शक्ति-पारतन्त्र्य-नियोगा इत्यष्टौ प्राभाकराः । प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानि षोडशेति नैयायिकाः । ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-भूत-तन्मात्र-महाभूत-मनोऽहङ्कार-महद्व्यक्त-पुरुषा इति सांख्या इति । कस्तर्हि सिद्धान्तः ? तदाह—\*तद्व्युदासायेत्यादि\* ॥ यद्यपि रूप्यत इति रूपेणेत्यंभूतं जगद् व्याक्रियते । कथं नाम्ना रूपितमुत्पाद्यत इति ? तत्राह—\*व्याक्रियमाणं हि वस्त्विति\* ॥ \*अयमर्थः\*—लोके घटं चिकीर्षुः कुलालः प्रथमं घटशब्दविकल्पितं पृथु-बुध्नोदराकाररूपविकल्पितं च स्वबुद्धा-वाविर्भावयति, पश्चाद् यथाविर्भूतं घटशब्दालम्बनयोग्यं पृथु-बुध्नोदराकाररूपितं च घटं निर्वर्तयति । एवमेव मूलकारणमपि नाम-रूपाभ्यां स्वबुद्धावाविर्भूतमेव सर्वं पश्चाद्व्यनक्ति, इति नाम-रूपाभ्यामित्यंभूतं व्याकृतमित्यु-च्यते । “अनेक-कर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्ये”त्यारभ्य नन्वन्येऽपि परिणामादयो भावविकारा इत्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः । \*ननु\* किमत्रोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमुच्यते । नच स्वरूपलक्षणमन्तरेण कस्यचिद्वस्तुनः प्रति-

## ऋजुविवरणम्

इति यदुक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु किमत्रेति\* ॥ \*ननु\*—किं स्वरूपलक्षणकथनेन ? तथा तदस्येनैव प्रतीतिसिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*नच स्वरूपेति\* ॥ प्रत्यक्षादिप्रवृत्तिमङ्गीकृत्य सर्वज्ञत्वं नास्ति ; सर्वापरोक्ष्य-

## तत्त्वदीपनम्

कारणमीश्वरः, संयोगः समाधिः, विधिक्षिप्रवणस्तानादिः, दुःखान्तो मोक्षः । नित्यद्रव्येष्वेव ये वर्तन्ते, ते विशेषाः, नित्यः संबन्धः समवायः । जीवश्चेतनः, अजीवोऽचेतनः परमाण्वादिः, ज्ञानोत्पादनद्वारा पुरुषं विषय आस्त्रावयती-तीन्द्रियप्रवृत्तिरास्त्रवः, इन्द्रियप्रवृत्तिं संवृणोतीति शम-दमलक्षणा प्रवृत्तिः संवरः, नितरां जरयति कल्मषमिति तप्त-शिलारोहणादिर्निर्जरः, बन्धः कर्मक्षयः, मोक्षः सततोर्ध्वगमनम् । पारतन्त्र्यं समवायः, प्रमासाधनं प्रमाणम्, प्रमाविषयः प्रमेयम्, अनवधारणज्ञानं संशयः, उद्देश्यं प्रयोजनम्, व्यासिद्देनस्थानं दृष्टान्तः, प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगमः सिद्धान्तः, अवयवाः प्रतिज्ञादयः, व्यासिबलादनिष्टप्रसङ्गकस्तर्कः, तर्कपूर्वस्तत्त्वाध्यवसायो निर्णयः, वीतरागकथा वादः, प्रत्येकसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः, स्वपक्षस्थापनविधुरा विजिगीषुकथा वितण्डा, अहेतवो हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः, विपरीतार्थकल्पनोपपत्त्या वचनविघातश्छलम्, स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः, कथकाशक्तिसूचकं निग्रह-स्थानम् । ज्ञानेन्द्रियं त्वक्चक्षुर्नासिका-जिह्वा-श्रोत्रलक्षणम्, कर्मेन्द्रियं वाक्पाणि-पाद-पायूपस्थाख्यम्, तन्मात्रशब्देन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः कथ्यन्ते, महाभूतानि पृथिव्यादीनि, महत् प्रकृतेराद्यं कार्यम्, अव्यक्तं प्रकृतिः, पुरुष आत्मा । कस्तर्हि प्रामाणिकः पक्षः ? इत्याह—\*कस्तर्हीति\* ॥ “तन्नाम-रूपाभ्यामेव व्याक्रियते”ति श्रुत्यनुसारित्वाद् नाम-रूपात्मकं तत्त्वमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ कर्मपदाभिधेयस्य शब्दार्थसंबन्धस्य संबन्धान्तर्भावमङ्गीकृत्य नाम-रूपाभ्यामित्युक्तम् । उत्पद्यमानस्याभिधेयत्वाद् रूपात्मनोत्पत्तिमङ्गीकृत्य नाम-रूपात्मनोत्पत्तिमाक्षिपति—\*यद्य-पीति\* ॥ तृतीयार्थमाह—\*इत्थंभूतमिति\* ॥ अथवेत्थंभूतमिति दृश्यमित्यर्थः । नामात्मनोत्पत्तौ प्रमाणा-भावादिति द्रष्टव्यम् । आधुनिकस्य कार्यस्य स्वनामगर्भविकल्पव्याकृतिपूर्वकत्वेऽप्याद्यकार्यं कथं तत्सिध्यति ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ \*विकल्पितमिति\* ॥ विशेषितमित्यर्थः । कारणत्वं तदस्थलक्षणमित्यङ्गीकृत्य स्वरूपलक्षणमाक्षिपति—\*नन्विति\* ॥ किं सर्वशक्तित्वं स्वरूपलक्षणम् ? उत सर्वज्ञत्वम् ? अथ वोभयत्वम् ? इति



## अनेक-कर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्य,

भामती

\*यथाहुः\*—“बुद्धिसिद्धं तु न तदसत्” इति । तथाचाचेतनो बुद्धावनालिखितं करोतीति न शक्यं संभावयितुमिति भावः । \*स्यादेतत्\*—चेतना ग्रहा लोकपाला वा नाम-रूपे बुद्धावालिख्य जगज्जनयिष्यन्ति, कृतम् उक्तस्वभावेन ब्रह्मणेति, अत आह—\*अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्येति\* ॥ केचित् कर्तारो भवन्ति—यथा सूदृत्विगादयः, न भोक्तारः । केचित् भोक्तारः—यथा श्राद्ध-वैश्वानरी-येष्ट्यादिषु पितृ-पुत्रादयः, न कर्तारः, तस्मादुभयग्रहणम् ।

अनुप्रकाशिका

इति—वाच्यम् ; असतो बुद्धावालिखनायोगात् । नह्यसद् नरशृङ्गादि बुद्धावालिख्य व्याक्रियते ; बुद्धि-सत्त्वेऽसत्त्वायोगाच्च । तत्र वृद्धसंमतिमाह—\*यथाहुरिति\* ॥ फलितमाह—\*तथाचेति\* ॥ तथाच जगतो नाचेतनप्रधानादिकर्तृकत्वमिति द्रष्टव्यम् । \*ननु\*—माऽस्तु तर्ह्यचेतनानां प्रधानादीनां जगत्कारणत्वम्, चेतनानां ग्रह लोकपालानां जगत्कारणत्वमस्तु, किं ब्रह्मणा ? इति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ \*उक्तस्वभावे-नेति\* ॥ सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्त्वेनेत्यर्थः । “अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्येति”ति जगद्विशेषणादीदृशजगन्निर्मातृत्वं न ग्रह-लोकपालानामित्याह—\*अत आहेति\* ॥ अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तत्वं जगत उपपादयति—\*केचि-दित्यादिना\* ॥ सृज्यमानजगन्मध्य इति शेषः । तदुदाहरति—\*यथेति\* ॥ सूदृत्विगादयः कर्तार एव परम्, न भोक्तार इत्याह—\*भोक्तार इति\* ॥ केचिद् भोक्तार एव, न कर्तार इत्याह—\*केचिदिति\* ॥ \*यथेति\* ॥ \*वैश्वानरेष्ट्यादिष्विति\* ॥ चतुर्थे चिन्तितम्—\*“फलसंयोगस्त्वचोदितेन स्यादशेषभूतत्वात्\* ॥ “वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते” इत्युपक्रम्य “यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्य-न्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति” इति श्रूयते । तत्र संशयः—पूतत्वादि पितुः फलम् ? उत पुत्रस्येति ? तत्र फलस्य कर्तृगामित्वनियमाद् अन्यथा प्रेरणानुपपत्तेः पितुरेव तत्फलम्, इति प्राप्ते राद्धान्तः—“यस्मिन् जाते निर्वपति स पूतः” इति पूतत्वफलस्य जातगामित्वेनाप्राप्तात् फलभोक्तृत्वेनाचोदिते पितरि फलसंयोगो न स्यात् ; वचनस्य तं प्रत्यशेषभूतत्वात् । यत्तु फलभागिनो न प्रेरणेति, तन्न ; पूतत्वादिगुणकपुत्रवत्तयैव प्रीत्युत्पत्तेः प्रेरणाकल्पनात् । अतः पुत्रगामिफलमिति ॥ अत्र “अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्येति”ति जगद्विशेषणाद् जगन्मध्यपतितजीवानां सृज्यकोटिनिविष्टत्वेन ग्रह-लोकपालानां जगत्कर्तृत्वायोग्यतोक्ता । “मनसाऽप्यचिन्त्यरचना-रूपस्ये”त्यनेन जगतस्तान् प्रति कार्यत्वायोग्यतोक्ता । अत एव यहच्छा-स्वभावयोरपि नैतादृशजगत्कारणत्व-योग्यतेति द्रष्टव्यम् । “व्याकृतस्ये”त्यनेन पूर्वमनमिव्यक्तस्य कारणात्मना स्थितस्य जगतोऽभिव्यक्त्यभिधानात् परमाणवः पूर्वमसद् व्यणुकादिकमारभन्त इति मतं निरस्तम् । \*उभयग्रहणमिति\* ॥ कर्तृ-भोक्तृग्रहणमित्यर्थः । केचित् कर्तारो भोक्तारश्चेत्युभयविधा भवन्ति, तदर्थं वोभयग्रहणम् ।

पञ्चपादिका

पूर्वमेव व्याक्रियत इति स्वसंवेद्यमेतत् । \*अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्येति\* कर्तृत्व-भोक्तृत्वमपि नाम-

पञ्चपादिकाविवरणम्

पत्तिरस्ति । नच यत्र शाखाग्रं स चन्द्र इत्येतावता प्रकृष्टप्रकाशात्मप्रतिपत्तिमन्तरेण चन्द्रावगतिरस्ति । न

भाष्यभावप्रकाशिका

चेतना भावरूपाश्च ग्रहा लोकपाला अन्येऽपि वा जीवा नाम-रूपे बुद्धावालिख्य जगज्जनयिष्यन्ति, किं ब्रह्मणेति ? अत आह—\*अनेककर्तृ-भोक्तृ-संयुक्तस्येति\* ॥ केचित्कर्तारोऽपि सूदृत्विगादयो न भोक्तारः ।



## प्रतिनियत देश-काल-निमित्त-क्रिया-फलाश्रयस्य,

भामती

‘देश-काल-निमित्त-क्रिया-फलानि’ इतीतरेतरद्वन्द्वः । देशादीनि च प्रतिनियतानि चेति विग्रहः । तदाश्रयो जगत्, तस्य । \*केचित्खलु\* प्रतिनियतदेशोत्पादाः—यथा कृष्णमृगादयः । केचित्प्रतिनियतकालोत्पादाः—यथा कोकिलारवादयः । केचित्प्रतिनियतनिमित्ताः—यथा नवाम्बुदध्वानादिनिमित्ता बलाकागर्भादयः । केचित्प्रतिनियतक्रियाः—यथा ब्राह्मणानां याजनादयः, नेतरेषाम् । एवं प्रतिनियतफलाः—यथा केचित्सुखिनः, केचिद् दुःखिनः, एवं य एव सुखिनस्त एव कदाचिद् दुःखिनः । सर्वमेतदाकस्मिकापरनाम्नि यादृच्छिकत्वे च स्वाभाविकत्वे चासर्वशक्ति-

श्रुतप्रकाशिका

\*इतरेतरद्वन्द्व इति\*॥ देशश्च, कालश्च, निमित्तं च, क्रिया च, फलं च देश-काल निमित्त क्रिया-फलानीतीतरेतरद्वन्द्वः । तानि च तानि प्रतिनियतानि चेति विग्रह इत्यर्थः ; तेषामाश्रयस्येति योजना । तथाच केचित् प्रतिनियतदेशोत्पादाः ; केचित् प्रतिनियतकालोत्पादाः ; केचित् प्रतिनियतनिमित्ताः ; केचित् प्रतिनियतक्रियाः ; केचित् प्रतिनियतफला इत्यायातम् । तादृग्रूपाश्रयस्य जगतो न यादृच्छिकत्वम्, न वा स्वाभाविकत्वम्, न वा चेतनकर्तृत्वम्, न वाऽसर्वज्ञाऽसर्वशक्तिकर्तृत्वं संभवतीत्युक्तं भवति, तदेतत् सनिदर्शनमाह—\*केचित् खल्वित्यादिना

पञ्चपादिका

रूपात्मकत्वात्प्रपञ्चानुयायीति दर्शयति—\*प्रतिनियत-देश-काल-निमित्त-क्रियाफलाश्रयस्येति\*॥ प्रतिकर्म फलोपभोगे नियतो देशः—स्वर्गफलस्य मेरुपृष्ठम्, ग्रामादिफलस्य भूमण्डलम् । कालोऽपि—स्वर्गफलस्य देहपातार्ध्वम्, पुत्रफलस्य बालभावात् । निमित्तमपि—उत्तरायणादिमरणमस्य ।

वार्तिकम्

नाकाङ्क्षणाच्च जन्मादिनाऽन्वयानुपपत्तेरित्याशयः । एवं विग्रहादिपूर्वकं पदार्थानुक्त्वाऽऽकाङ्क्षितपद-पूरणेन वाक्यं योजयंस्तदर्थमाह—\*अस्य जगतो नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेश-काल-निमित्त-क्रिया-फलाश्रयस्य मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्म-स्थिति-भङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणान्भवति, तद्वद्भवेति वाक्यशेष इति\* ॥ “नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”त्यनेन द्वैराश्र्यं कृत्वा

भाष्यभावप्रकाशिका

केचिद्वोक्तारोऽपि श्रोत्रिया श्राद्धादौ, वैश्वानरीयेष्ट्यादौ च पुत्रादयो न कर्तारः ; तस्मादुभयग्रहणम् । तदेवं कर्तृत्व-भोक्तृत्वमपि नाम-रूपात्मकत्वात् कार्यप्रपञ्चान्तर्गतमिति जीवकर्तृकत्वमपि निरस्तम् । व्यवहितफलत्वात् कर्मफलस्यैश्वर्यप्रदातृतानुमानात् कर्मफलात्मकं जन्म नाकस्मिकम्, नवा स्वभावस्य कर्तृत्वमित्याह—\*प्रतिनियतेति\* ॥ प्रतिनियतानि देश-काल-निमित्तानि यस्य क्रियाफलस्य तदा-

प्रदीपः

एवामेदविवक्षणाच्च कोऽपि दोषः, अनेन च ‘यतो वे’ति वाक्यं कारणतया जीवमेव गोचरयति ; तत्त्वमसीति ब्रह्माभेदस्य तत्र वर्णनेन कारणवाक्यानां सर्वेषां जीवपरत्वावगमात् । सति चैवं जीवस्याहमर्थस्यासन्दिग्धत्वाद्विचारो न कर्तव्य इति पूर्वपक्ष-निरासः सूच्यते । \*अयमाशयः\*—सत्यं जीव-ब्रह्मणोरभेदं वेदान्तवाक्यानि गमयन्ति ; परन्तु न तद् जैवेन रूपेण, किन्तु स्वरूपचेतन्यमात्रेण, कारणत्वेन रूपेण चैतन्यमीश्वरपदव्यपदेशस्यैवार्हमिति सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमपि रूपं न जैवमिति । तथाच तदस्थलक्षणलक्ष्यतया तत्पदवाच्यतयाऽपि च न जीवो वेदान्तेषु बोध्यत इति सिद्धान्तः पर्यवसन्नः ; सति चैवं जीवस्वरूपमीश्वर-स्वरूपं वाऽऽपाततो वेदान्तवाक्याधिगतं न मुख्यब्रह्मशब्दार्थ इति भृगुवल्लीप्रकरणप्रतिपाद्यं तद्विचारैकसमधिगम्यमिति, न ब्रह्म-



वार्तिकम्

प्रपञ्चं विशेषयन् वादिभिः परिकल्पितपदार्थपरिभाषाः प्रतिक्षिपति । द्रव्य-गुण-कर्मैत्यादिषट्पदार्थादिपरिभाषाणां लोकवेदबहिर्भूतत्वेन 'नदी'-वृथ्यादि'वत् स्वकपोलकल्पितत्वाद् नाम-रूपसंबन्धोश्च श्रुतिसिद्धत्वात्, "तन्नाम-रूपाभ्यां व्याक्रियत" "आकाशे वै नाम-रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मे"ति श्रुतेः । "नाम-रूपाभ्यामि"तीत्यंभावे तृतीया । नामरूपात्मनेत्यर्थः ; अव्याकृतदशायामिदं नामैदं रूपमिति व्यवहारानास्पदत्वात् । "अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्ये"त्यनेन कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोरपि प्रपञ्चान्तःपातित्वं दर्शयति । यथाचैतत्, तथा पूर्वमैवाध्यासभाष्ये प्रदर्शितम् । "प्रतिनियतदेश-काल-निमित्त-क्रियाफलाश्रयस्ये"त्यनेन क्रिया-तत्फलयोः प्रतिनियतदेश-काल-निमित्तानि दर्शयन् स्वभाववादं निराकरोति । तन्निराकरणं च लक्षणस्यास्यासम्भवेतिवारणार्थम् ; अन्यथा स्वतो जगदुत्पत्तेः कारणापेक्षाया अभावात्, "यतः" इत्यनेनान्ययानुपपत्तेर्लक्षणासम्भव एव स्यात् । कथं तन्निराकरणम् ? इत्थम्—स्वतः कारणनिरपेक्षात्, भावः=उत्पत्तिः स्वभाव इति हि स्वभाववादमतम् । नच क्रिया-तत्फलयोः स्वत उत्पत्तौ प्रतिनियतदेश-काल-निमित्तपेक्षा तस्या युज्यते ; तदपेक्षत्वे स्वत उत्पत्तिव्याघातात् । दृश्यते च तयोः स्वोत्पत्तौ तदपेक्षा । तथाहि—क्रिया तावत् चतुर्विधा—विहिता, प्रतिषिद्धा, अविहिता, अप्रतिषिद्धा चेति । तत्र विहिता तावद् दर्श-पूर्णमासादिक्रिया । "समै यजेते"त्यादिश्रुतेः प्रतिनियतः समादिदेशः । "प्रातरहो वै देवानामि"त्यादिश्रुतेः प्रतिनियतः प्रातरादिकालः । "यावज्जीवं दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेते"त्यादिश्रुतेर्जी-

भाष्यभावप्रकाशिका

श्रयस्य । तथाहि—\*प्रतिनियतो देशः स्वर्गफलस्य कर्मणो मेरुपृष्ठम्, ग्रामादिफलस्य भूमण्डलम् । \*कालोऽपि\* स्वर्गफलस्य देहपातादूर्ध्वम्, पुत्रफलस्य बालभावात् । \*प्रतिनियतं निमित्तम्—उत्तरायणादिमरणं स्वर्गादिफलस्य । \*अथवा\*—देश-काल-निमित्त-क्रिया-फलानीतीतरेतरद्वन्द्वः । देशादीनि च तानि प्रतिनियतानि च, तानि देशादीनि च विग्रहः ; तदाश्रयो जगत्, तस्य । तथाहि—\*प्रतिनियतदेशजन्मानः\* कृष्णमृगादयः ; \*प्रतिनियतकालोत्पादाः\* कोकिलारावादयः ; \*प्रतिनियतनिमित्ताः\* नवाम्बुदनादसंभवा बलाकागर्भवत्त्वादयः ; \*प्रतिनियतक्रियाः\* ब्रह्मणानां याजनादयः ; \*प्रतिनियतफलम्\* ब्रह्मलोके सुखम्, नरके दुःखमिति । तदित्यंरूपस्य जगत आकस्मिकत्वं स्वाभाविकत्वं वा जीवकर्तृकत्वं वा न युक्तमिति भावः ॥ विचित्रकार्यत्वाच्च जगतो विशिष्टविज्ञानवत्कर्तृकत्वं

प्रदीपः

विचारानावश्यकत्वाक्षेपस्यात्रावसरो वर्तते ॥ \*ननु\*—"यतो वे"ति वाक्यतो न जैवेन रूपेण ब्रह्मणः कारणत्वम्, किन्त्वैश्वरेणैव रूपेणेति कथमवगम्यते ? नह्यत्र सर्वज्ञादिपदं वर्तत इत्यत आह—\*अनेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्येति\* ॥

केचन कुत्रचन कर्तार एव ; यथा जातेष्ट्यादौ पित्रादयः, अथवा लेके सेनादयः । केचन तु भोक्तार एव ; यथा श्राद्धे पित्रादयः, लोके च राजादयः । केचन च कर्तारो भोक्तारश्च ; यथा ज्योतिष्टोमादिषु कर्तारः, लोके च स्ववलेन स्वक्रियैव च प्रभवः । एतादृशाश्च बहवः प्रपञ्चे वर्तन्त इति, "इमानि भूतानी"ति भूतपदेन सर्वेषामेव तेषामपि कार्यकोटौ प्रवेशो गम्यते । न च जैवरूपेण कार्यस्यैव ब्रह्मणस्त्वेनैव रूपेण कारणत्वमपीति, रूपान्तरेणैव कारणत्वमिति विशदमवगम्यते । तत्तु रूपम्—"यः सर्वज्ञः सर्वविदि"ति वाक्यान्तरसमधिगम्यमिति । वाक्यान्तरैकवाक्यतामपि मत्वा भाष्ये "यतः" इति "सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरिति च विवृतमिति न कोऽपि दोषः । अनेन च—"यः सर्वज्ञः" इत्यस्यैव तत्पदवाच्यार्थसमर्पणविधया "यतो वे"त्यनेनोपसंहारः, न तु तेन सह "यतो वे"त्यस्यापीति पूर्वोक्तमेव स्फुटीकृतं भवति । यद्यपि भूतपदस्य पञ्चभूतान्येव मुख्योऽर्थः, तथापीमानिपदैकवाक्यतया प्रत्यक्षयोग्यम्, किं बहुना ? दृश्यं कार्यमात्रमुपस्थापितम् । जीवा अपितु—"एतस्मादात्मनः सर्वे आत्मानः समुच्चरन्ती"ति वाक्यात् कार्यतयाऽवगम्यन्ते । जीवानादित्ववादोऽविद्योपहितो जीव इति पक्षाभिप्रायेणाऽथवा प्रवाहतोऽनादित्वेनेति न विरोधः । भूतपदकृत्यं "यतो वे"ति वाक्ये जीवकारणत्वनिरास इति तु सारांशः ।



**मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्म-स्थिति-भङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः  
कारणाद् भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः ।**

भामती

कर्तृकत्वे च न घटते ; परिमितज्ञानशक्तिभिर्ग्रह-लोकपालादिभिर्ज्ञातुं कर्तुं चाशक्यत्वात् । तदिद-  
मुक्तम्—\*मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्येति\* ॥ एकस्या अपि हि शरीररचनाया रूपं मनसा  
न शक्यं चिन्तयितुं कदाचित्, प्रागेव जगद्रचनायाः, किमङ्ग पुनः कर्तुमित्यर्थः । सूत्रवाक्यं  
पूरयति—\*तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः\* ॥ स्यादेतत्—कस्मात् पुनर्जन्म-स्थिति-भङ्गमात्रमिहादि-

ऋजुप्रकाशिका

किमङ्ग पुनः कर्तुमित्यर्थ इत्यन्तेन\* ॥ \*ननु\*—“यतो वे”त्यादिश्रुतौ “तद् ब्रह्मे”ति वाक्यस्य विद्यमानत्वात्  
कथं भाष्यकृता ‘तद् ब्रह्मे’ति वाक्यशेषपूरणं कृतमिति ? अत आह—\*सूत्रवाक्यमिति\* ॥ सूत्रे तत्पूरणम्, न  
श्रुतावित्यर्थः । \*ननु\*—“जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रस्थेनादिग्रहणेन वृद्धिपरिणामापक्षयानामपि ग्रहणे वक्तव्ये  
तेन जन्म-स्थिति-भङ्गमात्रग्रहणं कथं कृतम् ? इति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ वृद्धि-परिणामापक्षयानां जन्म-स्थिति-

पञ्चपादिका

\*मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्येति\* ॥ न ह्यर्वागदर्शी कचिद्ब्रह्मलोकसन्निवेशप्रकारमध्यात्मं च  
प्रतिनियतार्थक्रियासमर्थावयवशिराजालसन्निवेशं निरूपयितुमपि समर्थः, किं पुनर्विरचयितुम् ॥ \*जन्म-  
स्थिति-भङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्यशेष इति\* साकाङ्क्षस्य  
सूत्रवाक्यस्याकाङ्क्षितपदपूरणम्, उपलक्षितब्रह्मस्वरूपं लक्षणं च दर्शयति ॥

वार्तिकम्

वनादि निमित्तं प्रतिनियतम्—इति । एवमन्यत्राप्युच्यते । \*प्रतिषिद्धा—ब्रह्महत्यादिः । तत्रापि  
तद्धननयोग्यदेश-कालापेक्षा, तन्निमित्तक्रोधाद्यपेक्षा च । \*अविहिता—भोजनादिः ; रागपरिप्राप्तत्वात् ।  
तत्रापि नियतलिप्त-सायं-प्रातः-क्षुदादिदेश-काल-निमित्तापेक्षा । अप्रतिषिद्धा च—जीवनहेतुकदेहावयवादि-  
चेष्टा ; तस्या अपि प्रतिनियतदेश-काल-निमित्तापेक्षत्वात्, अन्यथा वृथाचेष्टात्वेन निषिद्धत्वापत्तेः ।  
क्रियाफलमपि त्रिविधम्—जात्यायुर्भोगलक्षणं विशिष्टदेश-काल-निमित्तापेक्षं भवति । तद्यथा—विहितफलस्य  
स्वर्गादिः प्रतिनियतमेवादिपृष्ठदेश-मरणोत्तरकाल-प्रारब्धक्षयादिनिमित्तापेक्षा । एवमन्यत्राप्युच्यते । तस्मान्न  
स्वभाववादो युक्तः । प्रतिनियतानि देश-काल-निमित्तानि ययोः क्रिया-तत्फलयोः, ते प्रतिनियतदेश-काल-  
निमित्तक्रियाफले ; तदाश्रयस्य तदात्मकस्येत्यर्थः । \*एतेन\*—अचेतनकारणवादोऽपि निराकृतो—  
द्रष्टव्यः ; अचेतनस्यानभिज्ञत्वेन प्रतिनियतदेश-काल-निमित्तापेक्षक्रियाफलात्मकजन्मादिहेतुत्वानुपपत्ते-  
रिति । “मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्ये”त्यनेन जीवकर्तृत्वं वारयति । यो हि यस्य कर्ता भवति, स

भाष्यभावप्रकाशिका

चित्रादिवदनुमातुं शक्यमित्याह—\*मनसाऽपीति\* ॥ एकस्यापि शरीरस्य रचनायां विविधसिराजालादि-  
सन्निवेशविशिष्टतया रूपं मनसा न शक्यं चिन्तयितुम्, दूरे जगद्रचनायाः ; तत्कथमसर्वज्ञः कुर्यादि-  
त्यर्थः । “सर्वज्ञादि”त्यादिना स्वरूपलक्षणमाह । सूत्रवाक्यं पूरयति—\*तद्ब्रह्मेति\* ॥

प्रदीपः

इमानिपदकृत्यन्तु व्याकृतानां भूतानामुपस्थापनद्वारा व्याकरणशक्तिमत्तैश्चैतनस्यैव कारणत्वम्, नत्वचेतनस्य प्रधानस्य परमाणूनां  
स्वभावस्याभावस्य वेति सूचनमेवेति सूचयन् इमानिपदविवक्षितानि जगद्विशेषणानि निर्दिशति—\*नामरूपाभ्यां व्याकृत-  
स्येति\* ॥ अतो “नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”त्यनेनाचेतनकारणतावादनिरासः । “प्रतिनियतदेश-काल-निमित्त-क्रिया-फलाश्रय-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

तावत्सर्वशक्तित्वं ब्रह्मासाधारणलक्षणम् ; प्रधानादीनामप्यविशेषात् । सर्वज्ञत्वमिति चेत्, न ; तस्य सर्वोपाधिकधर्मत्वान्निरुपाधिकब्रह्मस्वरूपाप्रतिपत्तिः ॥

कथं चेदं सर्वज्ञत्वमिति वक्तव्यम्—न तावत्प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्यभावप्रमाणैः सर्वं वेत्ति ; तेषामयुगपत्प्रवृत्तेः सर्वस्य च प्रत्यक्षताहानात्, सत्स्वपि तेष्वस्माकं सर्वज्ञताऽभावात्, इन्द्रियाणां च देश काल-वस्तुविप्रकृष्टार्थाग्राहित्वाभावात्, संयुक्तसमवायात् संयुक्तसंयोगात् संयुक्तविशेषणतया वा सर्वार्थप्रत्यक्षत्वेऽस्माकमपि प्रसङ्गात् । मानसमपि ज्ञानमात्मनोऽन्यत्वेन्द्रियादिसापेक्षम्, इति सर्वं न मानसप्रत्ययगम्यम् । नच धर्मातिशयवशादपीन्द्रियैरयोग्यं वस्तु गृह्यते ; मार्जारादिदृष्टीनामपि योग्यरूपादिष्वेवातिशयवत्त्वदर्शनात् । नच कृत्स्नपरिभावनासंस्काराजन्यं मानसं सर्वज्ञज्ञानं कृत्स्नार्थं ग्राहयति, प्रथमं कृत्स्नार्थग्रहणाभावे तत्र परिभावनाऽयोगात् तज्जन्यकृत्स्नग्राहिज्ञानायोगात् । परिभावनायाः प्रागपि कृत्स्नार्थग्रहणेऽ-

## मृजुविवरणम्

लक्षणत्वात्तस्येत्याह—\*सर्वस्येति\* ॥ \*ननु\*—सर्वं जानातीति ज्ञानमात्रमेवोच्यते, नापरोक्ष्यमित्याशङ्क्याह—\*सत्स्वपीति\* ॥ युगपत्प्रवृत्त्यभावं द्रव्ययति । यद्वा—युगपत्सर्वेन्द्रियप्रवृत्तावपि सर्वज्ञत्वाभावं दर्शयति—\*इन्द्रियाणामिति\* ॥ देशतो विप्रकृष्टो मेवादिः, कालतो विप्रकृष्टोऽतीतादिः, स्वरूपतश्चरमादिः । संबन्धत्वमेवाविप्रकृष्टत्वम्, तदस्तीति वर्तमानसर्वग्रहणमित्याशङ्क्याह—\*संयुक्तेति\* ॥ \*ननु\*—धर्मातिशयान्मार्जारादिदृष्टीनामतिशयवत्त्वं दृश्यते, इत्याशङ्क्याह—\*मार्जारादीति\* ॥ \*ननु\*—मायापरिणामनिमित्तं सर्वविषयज्ञानं कल्प्यते, यद्वा—क्रमेण

## तत्त्वदीपनम्

किंशब्दार्थः । स्वरूपलक्षणापेक्षायां तज्जिज्ञासा स्यात्, सैव कुतः ? इत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ तर्हि उपलक्षणमेव स्वरूपलक्षणम्, तत्राह—\*नच यत्रेति\* ॥ चन्द्रस्वरूपप्रतिपत्त्यभाव उपलक्षणेनापि तत्प्रतिपत्त्यदर्शनादित्यर्थः । एवं प्रश्नप्राप्तिमभिधायार्थं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयमुत्थाप्य दूषयति—\*सर्वज्ञत्वमिति\* ॥ \*सर्वोपाधिकत्वादिति\* ॥ सर्वापेक्षधर्मत्वात् सर्वज्ञत्वस्येत्यर्थः । तृतीयोऽप्येतेनापास्त इति । इतोऽपि न सार्वज्ञ्यं स्वरूपलक्षणमित्याह—\*कथं चेति\* ॥ किं षड्भिः प्रमाणैः सर्वं जानातीति सर्वज्ञः ? उत प्रत्यक्षेण ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ किं युगपत् प्रत्यक्षादिना सर्वं जानाति ? उत क्रमेण ? नाद्य इत्याह—\*तेषामिति\* ॥ अचिन्त्यमहिम्नीश्वरे प्रत्यक्षादीनां युगपत् प्रवृत्तिमाशङ्क्याह—\*सर्वस्येति\* ॥ क्रमपक्षं दूषयति—\*सत्स्वपीति\* ॥ किं चित्प्रत्यक्षेण जानाति, किंचिल्लिङ्गेन, किंचिदितरेण, इत्येवं प्रत्यक्षादिप्रवृत्तावपि न यथाऽस्माकं सार्वज्ञ्यम्, तथेश्वरस्यापीत्यर्थः । प्रत्यक्षेणेश्वरो जानातीत्यत्रापि वाच्यम्—किं बाह्यप्रत्यक्षेण सर्वं जानाति ? उतान्तरेण ? आहो साक्षिणेति ? तत्राद्यस्तावदसङ्गत इत्याह—\*इन्द्रियाणामिति\* ॥ ईश्वरस्य सर्वं सन्निहितम्—किञ्चित्संयोगेन, किञ्चित् संयुक्तसमवायेन, किञ्चिदन्यथेत्याशङ्क्याह—\*संयुक्तेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*मानसमिति\* ॥ \*आत्मनोऽन्यत्रेति\* ॥ आत्मनस्तद्वर्माच्चान्यत्रेत्यर्थः । बहिः परतन्त्रं मनः ; अन्यथाऽस्माकमपि तेन सर्वदर्शित्वं स्यादित्यर्थः । इन्द्रियमात्रस्य विप्रकृष्टार्थाग्राहित्वेऽपि विशिष्टस्येन्द्रियस्य विप्रकृष्टग्राहित्वमुचितमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ तथाचोक्तम्—

“यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरात्सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥” इति ।

किंच सहकारिणश्चादपि नेश्वरस्याशेषग्रहणम् ; धर्मलक्षणसहकार्यभावादित्यभिसन्धिः । अस्मच्छुष आलोकसहकृतस्यैव रूपग्रहणयोग्यत्वेऽपि मार्जारादिवक्षुष आलोकनिरपेक्षस्य यथा रूपग्राहकत्वम्, तथाऽस्मदयोग्यमीश्वरो जानातीत्याशङ्क्याह—\*मार्जारेति\* ॥ अखिलपरिभावनासंस्कारसहकृतं मनः सर्वग्राहकमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ भावनाऽपि किं ज्ञाते ? उताज्ञाते ? न तावदज्ञात इत्याह—\*प्रथममिति\* ॥ आद्यं प्रत्याह—\*परि-

## प्रदीपः

स्ये”ति स्वभावकारणतानिरासः । “मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्ये”ति तु समष्टिजीवरूपहिरण्यगर्भकारणतानिरासः । \*प्रतिनियतेति\* ॥ किञ्चित्कार्यं प्रतिनियतदेशकम्, देशविशेष पदोत्पद्यते ; यथा कृष्णमृगादि । किञ्चित्प्रतिनियतकालकम् ;



### पञ्चपादिकाविवरणम्

स्माकमपि प्रसङ्गात् । अतीतानागत-वर्तमानार्थानामित्यन्तानवधारणाच्च सर्वग्रहणानुपपत्तिः । एतावदिदम्, नातः परमस्यज्ञातमित्यन्तानवधारणात् । नच स्वरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञता ; तस्य प्रदीपप्रभावदतीतानागतार्थग्राहित्वाभावात् । तस्मान्नास्ति सर्वज्ञ इति ॥

\*उच्यते\*—सर्वस्य कर्तृत्वादेव वर्तमानस्वकार्यसर्वविषयज्ञता तावत् सिद्धा । एवं तत्कालेऽतीतसर्वविषयावगमादनुभूतविषयाऽसंप्रमोषा स्मृतिः स्वमायापरिणामोपाधिरनावरणा सर्वविषया कल्प्यते । तथा सृष्टेः प्रागपि सृज्यमानपदार्थावधारणस्य कुलालादिषु दृष्टत्वाद् आगामिसर्वविषयज्ञानं स्वमायापरिणामोपाधि कल्प्यत इति युक्ता सर्वज्ञता । “यः सर्वज्ञः सर्वविदि”ति च जगत्कारणे सर्वज्ञपदप्रयोगात्सर्वज्ञानं प्रमीयत इति श्रुति-युक्तिभ्यां युक्ता सर्वज्ञता । \*ननु\* सोपाधिकधर्मत्वान्न स्वरूपलक्षणमित्युक्तम्, \*न\* ; अनेन सर्वज्ञ-

### ऋजुविवरणम्

सर्वग्रहणात्परिभावनमित्याशङ्क्याह—\*अतीतेति\* ॥ अवधारणमप्यनेनैव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—\*एतावदिति\* ॥ अनन्तत्वादवधारणं न संभवतीति भावः । कथमतीतसर्वविषयं ज्ञानमिति ? तदाह—\*असंप्रमोषा स्मृतिरिति\* ॥ प्रमोषहेत्वभावादिति भावः । कथमीश्वरस्य स्मरणम् ? इत्याशङ्क्याह—\*स्वमायेति\* ॥ \*ननु\*—अज्ञाने विद्यमानेऽपि नात्माकमेतादृशस्मरणं दृश्यते, कथं तस्यापीत्याशङ्क्याह—\*अनावरणेति\* ॥ \*ननु\*—एवमपि संभावनामात्रं न निश्चय इत्याशङ्क्याह—\*यः सर्वज्ञ इति\* ॥ सर्वावभासक्षमत्वे कथमनौपाधिकमित्याशङ्क्याह—

### तत्त्वदीपनम्

भावनया इति\* ॥ इतोऽपि न कृत्स्नपरिभावेनेत्याह—\*अतीतेति\* ॥ अनवधारणमेवाह—\*एतावदिति\* ॥ \*अनवधारणादिति\* ॥ अवधारणयोग्यताभावादित्यर्थः । तृतीयं दूषयति—\*नचेति\* ॥ प्रदीपः स्वसंसृष्टं यथा ग्राहयति, न भविष्यदादि, तथाऽऽत्मस्वरूपस्यापि वर्तमानमात्रसंसर्गित्वात् तद्ग्राहित्वमित्यर्थः । बाह्येन्द्रियेण मनसा वा ब्रह्मणः सर्वदर्शित्वं यद्यपि न घटते ; तथाऽपि स्वरूपज्ञानेन सर्वदर्शित्वं घटत इत्याह सिद्धान्ती—\*उच्यत इति\* ॥ स्वरूपज्ञानस्य संसृष्टवर्तमानमात्रग्राहित्वाद् न सर्वग्राहित्वमित्युक्तं निरस्यति—\*सर्वस्येति\* ॥ चैतन्योपाधिभूता अखण्डसत्त्वप्रधाना माया वर्तमानसकलविषयाकारेण परिणमते, तस्मिन् परिणामे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं सर्वं पश्यति ; आध्यासिकसंबन्धात्, ततश्च वर्तमानसकलविषयत्वं सिद्धमित्यर्थः । \*ननु\*—एवमप्यतीतविषयज्ञानाभावात् कथं सर्वदर्शित्वम् ? तत्राह—\*एवमिति\* ॥ स्मृतिमूलत्वेनाभिमितानुभवस्य नित्यत्वात् कथं तत्संस्कारोत्थ-स्मृत्युपपत्तिः ? इत्याशङ्क्याह—\*स्वमायेति\* ॥ स्वमायायाः परिणामः स्वमायापरिणामः, स उपाधिर्यस्याः, सा तथोक्ता । चैतन्यस्य विषयदर्शने हेतुत्वात्तदुपाधित्वम् । मायापरिणामप्रतिबिम्बितं चैतन्यं स्मृतिशब्देनाभिलप्यते । वर्तमानकाले मायापरिणामावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयसाधकत्वात् परिणामनाशे तदवच्छिन्नचैतन्यस्यापि नाशात् संस्कारसहकृता मायाऽतीतविषयाकारेण परिणमते, तस्मिन् परिणामे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं सर्वं पश्यतीत्यतीतसर्वदर्शित्वमित्यर्थः । अस्मदादिष्वनुभूतविषयस्य नियमेनानुपलब्धिवदनुपलब्धिमाशङ्क्याह—\*अनुभूतेति\* ॥ असंप्रमोषे हेतुमाह—\*अनावरणेति\* ॥ “पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः” “स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे”त्याद्यागमादनावरणज्ञानत्वं निश्चीयत इत्यर्थः । आगामिसर्वविषयत्वमुपपादयति—\*तथेति\* ॥

\*ननु\* संभावनामात्रमेतत्, नच प्रमाणं पश्याम इत्याशङ्क्याह—\*यः सर्वज्ञः सर्वविदिति\* ॥ सामान्यरूपेण सर्वज्ञत्वं विशेषरूपेण सर्ववित्त्वम् । सर्वज्ञत्वस्य सप्रतियोगिकत्वान्न स्वरूपत्वमित्युक्तमनुवदति—\*ननु सोपाधिकेति\* ॥ सोपाधिकत्वमसिद्धमित्याह—\*नानेनेति\* ॥ अनेन सर्वज्ञशब्देन च विज्ञसिमात्रं विवक्षितमिति संबन्धः । कर्तृत्व-

### प्रदीपः

यथा कोकिलारावादि । किञ्चित्प्रतिनियतनिमित्तकम् ; यथा बलाकागमादि । किञ्चित् प्रतिनियतक्रियकम् ; यथा ‘ब्राह्मणानामेवं ज्योतिष्टोमादि । किञ्चित् प्रतिनियतफलकम्—यथा केचित्सुखिनः, केचिदुःखिनः, इति देशविशेषम्, कालविशेषम्,



पञ्चपादिका

\*ननु\* अन्येऽपि परिणामादयो भावविकाराः सन्ति, ते किमिति न संगृह्यन्ते ? इत्याशङ्क्याह—

पञ्चपादिकाविवरणम्

शब्देन सर्वावभासक्षमं विज्ञप्तिमात्रमादित्यादिप्रकाशवदविषयोपाधिकं विज्ञानमेव ब्रह्मस्वरूपलक्षणं विवक्ष्यत इत्यविरोधः । \*ननु\* अन्येऽपीत्यादिः स्पष्टार्थः\* ॥

ऋजुविवरणम्

\*आदित्यादीति\* ॥ “न कश्चिद्वस्तुनः” इत्यनेनावस्थाविशेषाणां जन्मादियुक्तत्वाद्यन्तर्भाव इत्युक्तम्, तत्र जन्मादिकारणत्वेन भावविकाराणां जन्मादिसंभवात् तत्कारणे परिगृहीते जन्मादिष्वेवान्तर्भावः, न जन्मादितुल्यतेति भावः । \*ननु\*—जन्मादितुल्यतैव तेषाम् ; जन्मव्यतिरेकेण जनिव्यापारादर्शनात्, अन्यथा जन्मादीनामपि जन्मादि-

तत्त्वदीपनम्

मत्रोपचरितम्, न मुख्यमित्याह—\*मात्रमिति\* ॥ सप्रतियोगिकत्वं निरस्यति—\*अविषयेति\* ॥ प्रकाशस्य स्वभाव-  
त्वेऽपि यथा सविता प्रकाशत इति व्यपदेशः, तद्वदित्यभिप्रायेणाह—\*आदित्यादीति\* ॥ ज्ञप्तेर्निष्प्रतियोगिकत्वे  
कथं सकलदर्शित्वम् ? तन्नाह—\*सर्वैति\* ॥ ज्ञप्तिज्ञानमिति व्युत्पत्त्यङ्गीकाराद् न ज्ञानं सप्रतियोगिकं यद्यपि ;  
तथाऽपि विषयस्य संसर्गं भासकमादित्यवत्, ततः सकलदर्शित्वाभिधानं युक्तमित्यर्थः । आनन्दस्यापि स्वरूपत्वात् कथं  
न स्वरूपद्वयम् ? इत्याशङ्क्याह—\*विज्ञानमिति\* ॥ आनन्द-ज्ञानयोरभेदाद् न स्वरूपद्वयप्रसक्तिरित्यर्थः । अथवा—  
सर्वज्ञशब्देनाविषयोपाधिकं यद्विज्ञानम्, तदेव ब्रह्मस्वरूपलक्षणं विवक्ष्यत इति संबन्धः । ज्ञानेनेति ज्ञानस्य सप्रतियोगिक-  
त्वप्रतिपत्तेर्न स्वरूपत्वमित्याशङ्क्य, कारणव्युत्पत्त्यनङ्गीकरणान्मैवमित्याह—\*विज्ञप्तीति\* ॥ यणां विकाराणां न  
वार्तिकम्

तदुपादान-तन्निमित्त-तदाकारविन्यासाभिज्ञो द्रष्टुः, यथा गृहरथादेः स्थपत्यादिः । नच—जीवोऽसर्वज्ञत्वात्  
स्वकीयशरीररचनामपि मनसाऽपि विचिन्तयितुं शक्नोति—इत्थंभूतोऽयं मम शरीरसन्निवेश इति, किं पुनः  
कर्तुमिति ? एवं स्थितेऽतिदूरमेवैतत्—यत् तादृशानन्तभेदभिन्नस्यानीश्वरेण मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य  
जगता विन्यासं स करिष्यतीति । पूर्वमनुक्तं “यतः” इत्यस्य प्रातिपदिकार्थं लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नतया  
दर्शयति—\*सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरिति\* ॥ सर्वज्ञत्वेन निमित्तत्वं प्रातिपदिकार्थस्य व्यवच्छिन्नत्ति, सर्व-  
शक्तित्वेन चोपादानत्वमिति विभागः, तेनाभिन्ननिमित्तोपादानत्वं भगवतः सिद्धं भवति । \*ननु\*—  
सर्वज्ञत्वादेर्धर्मलक्षणत्वं वक्तव्यम्, तत् कथं लक्ष्यतावच्छेदकं तदिति—चेत्, \*नैष दोषः\* ; धर्मलक्षणस्यैव  
सर्वत्रोपलक्ष्यतावच्छेदकत्वात् । यद्यपि जगज्जन्मादिकारणत्वमपि भवति भगवतो धर्मः ; तथाऽपि तस्य  
जगन्निष्ठजन्मादिघटितत्वात्, जन्माद्येकैककाले त्रितयकारणत्वाभावाच्चैकैकारणत्वस्यातिव्यापकत्वादि-  
त्युक्तत्वात्, काकवदुपलक्षणमेवैतत्, न विशेषणलक्षणम् । सर्वज्ञत्वादिकं तु त्रिषु कालेषु भावाविशेषण-  
लक्षणमिति समञ्जसम् । अस्तु वा जगज्जन्मादिकारणत्वमपि ब्रह्मणो धर्मलक्षणम् ; तन्निष्ठधर्मत्वात्,  
घटरूपादिवत् सर्वदाऽसत्त्वेऽपि विशेषणत्वाविरोधात् ; तथाऽपि जगज्जन्माद्येवोपलक्षणं भविष्यति ;  
कार्यनिष्ठधर्मत्वेन व्यधिकरणत्वात्, कारणचिद्रूपत्वेनोपलक्षणम् ; चित्वाच्च तस्योपलक्षणत्वोपपत्तेरिति ।  
\*ननु\*—जगतो जन्म-स्थिति-भङ्गलक्षणविकाराश्चेद्ब्रह्मणः कारणस्य लक्षणम्, ततो विशेषेण जनि-स्थिति-  
विपरिणाम-वृध्यपक्षय-विनाशरूपाः षडेव तद्विकारा उपलक्षणत्वेनोपादानमुचिताः, न त्रय एव, तत्परित्यागे

प्रदीपः

निमित्तविशेषम्, क्रियाविशेषम्, फलविशेषं चाश्रितानि बहुविधानि कर्माणि दृश्यन्त इति ॥ “जायते, अस्ति, वर्धते,  
परिणमते, अपक्षीयते, नश्यति” इति यास्कपरिपठितानां मध्ये परिणामस्य जन्मनि, वृद्धेः सत्तायां जन्मनि वा, अपक्षयस्य च  
मांसेऽन्तर्भावाद् जन्मादित्रयकारणत्वेन तत्कारणत्वस्याप्यर्थत एव सिद्धिरित्याह—\*अन्येषामिति\* ॥ \*भावविकाराणामिति\* ॥



अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्म-स्थिति-नाशानामिह ग्रहणम् ।

भामती

ग्रहणेन गृह्यते, नतु वृद्धि-परिणामापक्षया अपीति? अत आह—\*अन्येषामपि भावविकाराणां=वृद्ध्या-  
दीनां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति\* ॥ वृद्धिस्तावदवयवोपचयः । तेनाल्पावयवादवयविनो द्वितन्तुकादेरन्य

अनुप्रकाशिका

भङ्गेष्वेवान्तर्भावान्न तेषां पृथक्त्वेन ग्रहणमित्याह—\*अत आहति\* ॥ प्रथमतो वृद्धेरुत्पत्तौ जन्मापरनाम्न्या-  
मन्तर्भावं दर्शयति—\*वृद्धिस्तावदित्यादिना\* ॥ “अल्पावयवादि”त्येतस्य स्वरूपकथनम्—\*द्वितन्तुकादेरिति\* ॥

पञ्चपादिका

\*अन्येषामपीति\* ॥ न कचिद्वस्तुनो ह्यवस्थाविशेषो विनाशरहितः, नाप्यनिर्वृत्तजन्मनोऽस्थित-  
वार्तिकम्

कारणाभावात् ; तथाच निरुक्तकारवत् सूत्रकारेणापि जन्मादीत्यनेन षण्णामपि भावविकाराणां ग्रहणाद्  
“जन्म-स्थिति-भङ्गं समासार्थः” इति व्याख्यानमनुचितमिति केचित्, तन्न ; जन्म-स्थितिभङ्गानामेवेह-  
सूत्रे ग्रहणं युक्तम्, न विपरिणाम-वृध्यपक्षयाणामपि ; तेषामेष्वन्तर्भावेणार्थलभ्यत्वात्, जन्मनि स्थितौ  
वा विपरिणाम-वृध्योऽन्तर्भावः, लये स्थितौ वाऽपक्षयस्य । \*ननु\*—किमित्यन्तर्भावेण तद्ग्रहणम् ? न  
यास्कवत् पृथगिति—चेत्, \*न\* ; वैषम्यात् । अत्र हि श्रुत्यर्थसङ्ग्रथनार्थत्वात्सूत्राणामित्युक्तम् ।  
श्रुतौ तु त्रयाणामेवोपन्यासः—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य-  
भिसंविशन्ती”ति । किमत्र कारणम् ? त्रितयेनैवाव्यभिचारितया ब्रह्मलक्षणसिद्धेरित्युक्तत्वाद्द्विक-  
ग्रहणवैयर्थ्यात्, यास्केन तु देहादिभावेषु प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरपरिदृष्टजन्मादिषड्विकारा वैराग्यार्थं तेषु  
प्रदर्श्यन्त इति भिन्नविषयत्वाद्वैषम्यम् । नच तेऽत्र ग्रहीतुमपि शक्यन्ते ; तथा सति तेषां जगत्स्थिति-  
कालेऽपि देहादिभावेषु दर्शनात् तद्वेतुभूतपृथिव्यादिभूतेषु लक्षणातिव्याप्तेर्मूलकारणपरिग्रहानुपपत्तेः ।  
अतो ब्रह्मणो मूलकारणाद् जगतो या जनिः, या च स्थितिः, यश्च प्रलयो “यतो वे”त्यादौ श्रुताः,  
त एवात्र ब्रह्मोपलक्षणतया परिगृह्यन्ते, नान्ये । नच—तदपि कुत्रचिदित्यप्यपकमिति—शङ्क्यम् ;  
न हि यथोक्तविशेषणवतुष्टयविशिष्टस्य जगतः सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं भगवन्तं त्यक्त्वाऽन्यतः  
प्रधानादेरचेतनाद् जीवाद्वाऽनीश्वरात् स्वभावाद्वोत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यत इत्याह—\*अन्येषामपि  
भावविकाराणामि”त्यादिना, “नच स्वभावतः ; विशिष्टदेशकालनिमित्तोपादानादि”त्यन्तेन भाष्येण\* ॥  
विशिष्टानि देश-काल-निमित्तोपादानानि यस्य स्वभावस्य तस्मादित्यर्थः । तेषु विद्यमानेषु स्वभावाद्  
भवतीति व्याघाताद् वक्तुमप्यशक्तेरित्याशयः । \*एतेन\*—आद्यस्य जन्म यतो भवति, तद् ब्रह्मेति

भाव्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* अन्येऽपि परिणामादयो भावविकाराः सन्ति, ते किमित्यादिग्रहणेन न गृह्यन्त इति ?  
अत्राह—\*अन्येषामपीति\* ॥ वस्त्ववस्थाविशेषानामपि जन्मादिव्यतिरेकानिरूपणानां त्रिष्वेवान्तर्भाव  
इत्यर्थः ॥ यद्यपि वृद्ध्यादयो जन्मादिषु नान्तर्भवन्ति ; तथाऽपि जन्म-स्थिति-भङ्गमेवोपादातव्यम्, तथा

प्रदीपः

परिणाम-वृध्यपक्षयानामित्यर्थः । \*ननु\*—तर्हि जन्मादिषट्कारणत्वमेव कथमत्र न विवक्षितम् ? तथाचैतत्सूत्रमपि  
निरुक्तमूलकमेव, न वेदान्तवाक्यमूलकमिति शङ्कायामाह—\*यास्कपरिपठितानान्विति\* ॥ यास्कमुनिर्हि स्थितिकालीनान् भूताना-  
मेव विकारान् निरुक्तं संगृह्णाति, इति निरुक्तमूलकत्वे सूत्रस्यादिकारणे सन्दोहो न निवृत्तः स्यात्, एवं जीवकर्तृत्वेऽपि जन्मादि-  
कारणत्वोपपत्त्या सूत्रकाराणामहमर्थजीवजिज्ञास्यतायामेव तात्पर्यं पर्यवस्येदिति प्रत्यगभिन्नब्रह्मजिज्ञास्यताऽनुपपन्ना स्यादिति भावः ॥



भामती

एव महान् पटो जायत इति जन्मैव वृद्धिः । परिणामोऽपि त्रिविधो धर्म-लक्षणावस्थालक्षण उत्पत्तिरेव । धर्मिणो हि हाटकादेर्धर्मलक्षणः परिणामः कटक-मुकुटादिस्तस्योत्पत्तिः । एवं कटकादेरपि प्रत्युत्पन्नत्वादिलक्षणपरिणाम उत्पत्तिः । एवमवस्थापरिणामो नव-पुराणत्वादिरूपत्तिः । \*अपक्षयस्त्ववयवहासो नाश एव । तस्माद् जन्मादिषु यथास्वमन्तर्भावाद् वृद्ध्यादयः पृथग् नोक्ता इत्यर्थः । अथैते वृद्ध्यादयो न जन्मादिष्वन्तर्भवन्ति, तथाऽप्युत्पत्ति-स्थिति-भङ्गमेवोपादातव्यम् ; तथा सति हि तत्प्रतिपादके “यतो वा इमानि भूतानि” इति वेदवाक्ये बुद्धिस्थीकृते जगन्मूलकारणं ब्रह्म लक्षितं भवति, अन्यथा तु “जायतेऽस्ति वर्द्धते” इत्यादीनां ग्रहणे तत्प्रतिपादकं नैरुक्तवाक्यं बुद्धौ भवेत् । तच्च न मूलकारणप्रतिपादनपरम् ; महासर्गादूर्ध्वं स्थितिकालेऽपि तद्वाक्योदितानां जन्मादीनां भावविकाराणामुपपत्तेः,

ऋजुप्रकाशिका

इदमवयविन इत्यस्य विशेषणम् । \*महान् = अभिवृद्धः । एवं वृद्धेरुत्पत्तावन्तर्भावमभिधाय परिणामस्य त्रैविध्यं दर्शयन्नेव तस्योत्पत्तावन्तर्भावं दर्शयति—\*परिणामोऽपीति\* ॥ धर्मपरिणामलक्षणः, लक्षणपरिणामलक्षणः, अवस्थापरिणामलक्षणः । त्रिविधोऽपि परिणाम उत्पत्तिरेवेत्यर्थः । तदेतत् क्रमेण दर्शयति—\*धर्मिणो हीति\* ॥ \*तस्य=कटक-मुकुटादेः । \*एवं कटकादेरपीति\* ॥ \*प्रत्युत्पन्नत्वम्=वर्तमानत्वम् । आदिपदाद् भविष्यत्वम् । एवंप्रकारः कटकादेर्यो लक्षणपरिणामः, सोऽप्युत्पत्तिरित्यर्थः । \*नवत्व-पुराणत्वादिरिति\* ॥ कटक-मुकुटादेरिति शेषः । अस्यावस्थापरिणामस्योत्पत्तावन्तर्भावो दर्शितः । अथवा—स्थितौ वाऽस्यान्तर्भावो द्रष्टव्यः । अपक्षयस्य भङ्गापरपर्याये नाशोऽन्तर्भावं दर्शयति—\*अपक्षयस्त्विति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ वृद्ध्यादीनां जन्मादिष्वन्तर्भावमङ्गीकृत्योक्तम्, सम्प्रति तदनङ्गीकारेऽपि जन्मादिसूत्रे जन्म-स्थिति-भङ्गमेवोपादातव्यम्, न वृद्ध्यादीत्याह—\*अथैते इत्यादिना—उपादातव्यमित्यन्तेन\* ॥ तदुपादाने किं भवतीति ? अत आह—\*तथा सति हीति\* ॥ जन्मादिसूत्र आदिग्रहणेन जन्म-स्थिति भङ्गोपादाने सति हीत्यर्थः । \*तत्प्रतिपादके=जन्म-स्थिति-भङ्गप्रतिपादके । जन्मादिसूत्रे जन्म-स्थिति-भङ्गमात्रानुपादाने जायते, अस्ति, वर्द्धते, इत्यादीनां भावविकाराणामप्युपादानशङ्का स्यादित्याह—\*अन्यथा त्विति\* ॥ अन्यथेत्यस्य विवरणम्—\*जायतेऽस्ति वर्द्धत इत्यादीनां ग्रहण इति\* ॥ \*तत्प्रतिपादकमिति\* ॥ जायते, अस्ति, वर्द्धते, इत्यादिभावविकारप्रतिपादकमित्यर्थः । अस्तु, ततः किमिति ? अत आह—\*तच्चेति\* ॥ नैरुक्तं वाक्यं चेत्यर्थः । कुतो न मूलकारणप्रतिपादनपरमिति ? अत आह—\*महाभूतसर्गादिति\* ॥ नैरुक्तं वाक्यं तद्वाक्यशब्दार्थः । वृद्ध्यादिरादिशब्दार्थः । \*उपपत्तेरिति\* ॥ तथाच जगज्जन्म-स्थिति-भङ्ग-मूलकारणपरं तन्नैरुक्तवाक्यमित्यर्थः । तथाच वृद्ध्यादिभावविकारग्रहणे मूलकारणब्रह्मलक्षणं न स्यादिति शङ्का स्यादिति भावः । एतच्छङ्कानिराकरणार्थमेव—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति वेदान्तवाक्योदितजन्म-

वार्तिकम्

सूत्राक्षरयोजनाऽपि—\*प्रत्याख्याता\* ॥ “आद्यस्ये”ति पदेन हिरण्यगर्भग्रहे तत्कारणापञ्चीकृतभूतेष्वतिव्याप्तेः । सर्वकार्यप्रपञ्चग्रहेऽपि तज्जन्ममात्रस्य पूर्वोक्तरीत्याऽन्यतोऽपि परकल्पितात्सम्भवादतिव्याप्तेरावश्यकत्वात्—इति ॥ तदनेन प्रकारेण सूत्रस्याक्षरार्थो दर्शितः ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

सति तत्प्रतिपादके “यतो वा इमानि भूतानि” इति वेदान्तवाक्ये बुद्धिस्थे कृते, जगज्जन्म-स्थिति-भङ्गकारणतया ब्रह्म लक्षितं भवति ; अन्यथा तु “जायते” इत्यादीनां ग्रहणे निरुक्तवाक्यमेव बुद्धिस्थं भवेत् । तच्च न मूलकारणप्रतिपादनपरम् ; महाभूतसर्गादूर्ध्वं स्थितिकाले तद्वाक्योक्तानां “जायतेऽस्ती”त्यादीनाम्



यास्कपरिपठितानां तु “जायतेऽस्ति” इत्यादीनां ग्रहणे, तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्ति-स्थिति-नाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणः, तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते ।

### भामती

इति शङ्कानिराकरणार्थं वेदोक्तोत्पत्ति-स्थिति-भङ्गग्रहणमित्याह—\*यास्कपरिपठितानां त्विति\* ॥ \*ननु\*—एवमप्युत्पत्तिमात्रं सूच्यताम्, तन्नान्तरीयकतया तु स्थिति-भङ्गं गम्यत इति, अत आह—\*योत्पत्ति-ब्रह्मणः कारणादिति\* ॥ त्रिमिरस्योपादानत्वं सूच्यते । उत्पत्तिमात्रं तु निमित्तकारणसाधारणमिति नोपादानं सूचयेत् । तदिदमुक्तम्—\*तत्रैवेति\* ॥ पूर्वोक्तानां कार्य-कारणविशेषणानां प्रयोजनमाह—

### ऋजुप्रकाशिका

स्थिति-भङ्गग्रहणमावश्यकमित्याहेत्याह—\*इति शङ्कानिराकरणार्थमित्यादिना\* ॥ \*भाष्ये\*—“मूलकारणादि”-त्यनन्तरं ब्रह्मण इति शेषः । \*भाष्ये\*—तन्मा शङ्कीतीति । गृह्यन्त इत्यन्वयः । \*ते=उत्पत्ति-स्थिति-प्रलया इत्यर्थः\* । \*ननु\*—जगत उत्पत्ति-स्थिति-लयानां त्रयाणां ग्रहणं किमर्थम् ? जगतो मूलकारणाद् ब्रह्मणः सकाशादुत्पत्तिमात्रं गृह्यताम् ; तावतैव ब्रह्मणो जगत्कारणत्वसिद्धेः, स्थिति-भङ्गं तु नान्तरीयकतया सिध्यत्वित्याशङ्कते—\*नन्वेवमपीति ॥ भाष्ये\*—“ब्रह्मणः” इत्यनन्तरं ब्रह्मण इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वभ्रमं वारयन्नपेक्षितं पूरयति—\*कारणादिति\* ॥ ब्रह्मण इति पञ्चमी । तथाच ब्रह्मणः कारणादित्यर्थः । \*त्रिमिः=उत्पत्तिः-स्थितिः-प्रलयैः\* । \*अस्य=ब्रह्मणः\* । \*ननु\*—उत्पत्तिमात्रेणैवोपादानत्वं सूच्यताम्, नेत्याह—\*उत्पत्तिमात्रं त्विति\* ॥ त्रिमिरुपादानत्वसूचने गमकमाह—\*तदिदमिति ॥ तत्रैव=ब्रह्मण्येव । तथाचोत्पत्ति-स्थिति-लयाधारत्वमुपादानत्वम्, इत्युपादानत्वसूचनाय त्रितयग्रहणमिति भावः । अत एवोक्तं भाष्ये—\*ते गृह्यन्त इति\* ॥ कार्य-कारणविशेषणानामिति\* ॥ “नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्ये”त्यादीनि कार्यस्य जगतो

### पञ्चपादिका

स्वभावस्य विनाशः । अतस्त्रिष्वेवान्तर्भावान्न पृथगुपन्यासस्तेषाम् । \*ननु\*—षड् भावविकारा इति नैरुक्ताः । तेषां ग्रहणेऽन्तर्भावोक्तिप्रयासोऽपि परिहृतः स्यादित्याशङ्क्याह—\*यास्कपरिपठितानां तु जायतेऽस्तीत्यादीनामिति\* ॥ पृथिव्यप्तेजःसु जगद्रचनारूपस्थितेषु तन्मयानामेव ते सम्भाव्यन्ते ।

### पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* निरुक्तवाक्यमेव मूलीकृत्य सूत्रेऽपि षड् भावविकारा गृह्यन्तामिति चोदयति—\*ननु\* षड् भावविकारा इति । \*यास्कपरिपठितानामित्यादेः परिहारस्यायमर्थः\*—\*आर्षेयस्य वाक्यस्य मूलप्रमाणं प्रत्यक्षम्, आगमो

### ऋजुविवरणम्

प्रसङ्गात्, अतो नान्तर्भावः, ननु जन्मादिप्रभेदत्वेनान्तर्भावादनपन्यास इत्याशङ्क्याह—\*ननु षड् भावविकारा इति\* ॥ \*ननु\*—भूतानामपि भावविकारसंभवात् कथं “तन्मयानामेव ते सम्भाव्यन्ते” इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*यास्कपरिपठितानामित्यादेरिति\* ॥ अतद्गुणसंविज्ञानः । यद्वा भाष्येऽपि तेषामेव जगतः स्थितिकाले संभव उक्तः,

### तत्त्वदीपनम्

सूत्रे ग्रहणं युक्तम् ; तन्मूलश्रुतौ तेषामप्रतिपत्तेः, इत्याशङ्क्य, श्रुतिमूलत्वमसिद्धमित्याह—\*ननु निरुक्तेति\* ॥ स्थितेर्जन्मोत्तरकालत्वात् कथं जगतः स्थितिकाले जन्मादिसंभावना भाष्यकृतोक्ता ? इत्याशङ्क्यामुक्तम्—\*पृथिव्यप्तेजःस्वित्यादि\* ॥ तत्र भौतिकवद्भूतानामपि जन्मादिसंभवात् तद्भूतत्वेन ब्रह्मकल्पनेत्याशङ्क्य, भूतमात्रकारणत्वेन तत्कल्पनम् ? उतोभयकारणत्वेन ? उभयथाऽप्यसंभव इति दर्शयति—\*यास्कपरिपठितानामिति\* ॥ सूत्रमूलं यास्कवाक्यम् । यदनु-



### पञ्चपादिका

ततस्तद्ग्रहणे तेषामेव ब्रह्मत्वेन लक्षितत्वाशङ्का स्यात्, नच तद्युक्तम् ; अतः सूत्रार्थवत्त्वाय श्रुति-  
निर्दिष्टा एवोत्पत्त्यादयो गृह्यन्ते ; तदर्थनिर्णयार्थत्वात्सूत्राणाम् । अतो यदवष्टम्भो विश्वो विवर्तते  
प्रपञ्चः, तदेव मूलकारणं ब्रह्मेति सूत्रार्थः ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

वा भवति ; अनुमानादेरस्माकमपि प्रवृत्तेर्वाक्यानपेक्षणात् । तत्र प्रत्यक्षमूलत्वे यास्कवाक्यस्य भौतिकधर्मा  
एव भावविकाराः प्रत्यक्षेणावगन्तुं शक्यन्ते, न महाभूतविषयाः । तत्र भौतिकविकारकारणे ब्रह्मणि गृह्यमाणे  
भूतपञ्चकमेव ब्रह्म गृहीतं स्यात्, श्रुतौ तु मूलप्रमाणानपेक्षत्वाद् यत्किञ्चिद्भवनधर्मवत् तस्य मूलकारणं ब्रह्म  
ग्रहीतुं शक्यत इति । किंच श्रुत्यर्थपस्त्वात् सूत्राणां श्रुतिरेव जन्मादिसूत्रमूलमित्याह—\*तदर्थनिर्णयार्थत्वादिति\* ॥

\*ननु\* भूत-भौतिकमूलकारणं न ब्रह्मेति प्रतिपत्तुं युक्तम् ; मायाया अपि मूलकारणत्वात्, “मायां तु  
प्रकृतिमि”ति श्रुतेः । प्रक्रियतेऽनयेति प्रकृतिरिति करणमालं मायेति चेत्, न ; प्रकृतिशब्दस्योपादाने रूढत्वाद्

### ऋजुविवरणम्

तेन सहानुपपत्तिं परिहरति—\*अनुमानादेरिति\* ॥ \*अयमर्थः\*—सूत्रस्यापि वाक्यमनपेक्ष्य तदेव मूलं भवेदिति । \*न  
महाभूतविषया इति\* ॥ अतीन्द्रियत्वादित्यर्थः । तर्हि यास्कद्वाराऽस्तु श्रुतिमूलत्वं सूत्रस्येत्याशङ्क्याह—\*किञ्चेति\* ॥  
कथं माया करणमिति ? तदाह—\*मायान्विति\* ॥ तुल्यत्वेऽपि विरोधादन्यतरस्येहोपयोगसंभवान्माया-

### तत्त्वदीपनम्

सानादिमूलमिष्यते, तदेवास्य सूत्रस्य मूलमस्तु, किमनुमानादिमूलनिरुक्तवाक्यस्य मूलकल्पनया ? इत्यर्थः । तस्मा-  
दाद्यः परिशिष्यत इत्याह—\*तत्रेति\* ॥ भूतानामपि विकारसंभवात् तदधिगमोऽपि प्रत्यक्षेण किं न स्यादिति ? अत्राह—  
\*न महाभूतेति\* ॥ अपञ्चीकृतभूतानामतीन्द्रियत्वात् तद्विकारा अस्मिन्प्रत्यक्षतां भजेरन्नित्यर्थः । तर्हि प्रत्यक्ष-  
योग्यविकाराणामेव ग्रहणम्, तत्राह—\*तत्रेति\* ॥ भूतोत्पत्त्यादीनां प्रत्यक्षयोग्यत्वात् कथं त्वन्मतेऽपि तत्कारण-  
विषयसूत्रप्रणयनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*श्रुताविति\* ॥ अस्मिन्मते सूत्रमूलायाः श्रुतेरपौरुषेयत्वादनपेक्षत्वमित्यर्थः ।  
सूत्रस्य यास्कवाक्यमूलत्वे हेत्वन्तरमाह—\*किञ्चेति\* ॥ किं सर्वेषां सूत्राणां यास्कवाक्यमूलत्वम् ? उतास्यैव ?  
नाद्य इत्याह—\*श्रुत्यर्थेति\* ॥ उत्तरसूत्रेषु श्रुतिवाक्यानामेवोदाहृत्य विचार्यमाणत्वात् तन्मूलत्वमित्यर्थः । द्वितीयं  
दूषयति—\*श्रुतिरेवेति\* ॥ श्रुतेरनन्यापेक्षत्वात्तन्मूलत्वकल्पनया चैकरूप्यम् ; इतरथा कस्यचित्सापेक्षमूलत्वम्, कस्य  
चिदन्यथात्वमिति वैरूप्यं स्यादित्यर्थः । उपलक्षणस्यातिव्याप्तिं शङ्कते—\*ननु भूतेति\* ॥ अभिन्ननिमित्तो-  
पादानत्वस्य ब्रह्मलक्षणत्वाद् मायायाश्चाधिष्ठातृत्वाभावात् कथमतिव्याप्तिः ? इत्यपि न वाच्यम् ; उपादानत्वमात्रं  
लक्षणमित्यादायातिव्याप्तेः शङ्क्यमानत्वादित्यर्थः ॥

मूलकारणत्वमेव कथं मायायाः ? तत्राह—\*मायां त्विति\* ॥ प्रकृतिशब्दोऽन्यथाऽपि घटत इति शङ्कते—  
\*प्रक्रियत इति\* ॥ ‘रुद्धियोगमपहरती’त्युत्सर्गः, अपवादात्त्वन्यथात्वमिति शङ्कते—\*आत्मन इति\* ॥ निरपेक्ष-

### भाष्यभावप्रकाशिका

भावविकाराणामुपपत्तेः । अत उक्तशङ्कानिराकरणार्थं वेदोक्तानां जन्मादीनामेव ग्रहणमित्याह—  
\*यास्केति\* ॥ अथवा—पौरुषेयवाक्यस्य मूलप्रमाणपेक्षत्वात्, अनुमानादेस्तन्मूलत्वेनास्यास्माक-  
मपि प्रवृत्तेस्तद्वाक्यानपेक्षणात्, प्रत्यक्षमूलताङ्गीकारे भौतिकधर्मविकाराणामेव प्रत्यक्षेणावगन्तुं शक्य-  
त्वात्, आकाशादिमहाभूतस्य समस्तस्य ब्रह्मकर्तृकस्य प्रत्यक्षेण श्रुतिं विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्,  
भौतिकविकारकारणे महाभूतपञ्चक एव ब्रह्मबुद्धिः स्यात् ; अतः श्रुतिनिर्दिष्टा एव जन्मादयो गृह्यन्त  
इत्याह—\*यास्केति\* ॥ \*ननु\* एवमप्युत्पत्तिरेव सूच्यताम्, तन्नान्तरीयकतया तत्स्थिति-भङ्गं ज्ञास्यत



### पञ्चपादिकाविवरणम्

व्युत्पादनायोगात् । “आत्मन आकाशः” इति प्रकृत्यन्तरश्रवणाद् व्युत्पाद्यत इति चेत् न ; तुल्यश्रुतित्वान्माया-  
प्रकृतित्वविरोधात्, निमित्तेऽपि पञ्चमी प्रयोगात्, दृश्यमानजाड्यानुसारेण च मायोपादानत्वनियमोपपत्तेः । “इन्द्रो  
मायाभिरिति” तृतीयैव श्रूयत इति चेत्, \*सत्यम्\* आत्मनो बहुत्वापत्तौ करणता भवति ; प्रपञ्चोपादानत्वे  
का हानिः, निरपेक्षप्रकृतिद्वयानुपपत्तिरिति चेत्, तर्हि परस्परविशिष्टतया द्विसूत्ररज्जुवत्प्रकृतिता स्यात् ।  
अतो जगत्कारणे ब्रह्मणि मायाया अपि ब्रह्मत्वं लक्षितं स्यात् । \*मायेति प्रज्ञाऽभिधीयते । सा च ब्रह्मचैतन्य-  
मेवेत्यविरोध इति चेत्, \*न\* ; अन्वय-व्यतिरेकविरोधात् । परिदृश्यमानहस्त्यश्व-रथादौ प्रतिपन्नोपाधौ बाधिते च  
वृद्धव्यवहारेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मायाशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । लोकसंवेदनविरोधाच्च । नहि प्रज्ञातिशयवन्तं

### श्रुतिविवरणम्

प्रकृतित्वहानमित्याह—\*मायाप्रकृतित्वविरोधादिति\* ॥ \*ननु\*—योगसंभव उक्त इति, तत्राह—\*निमित्तेऽपीति\* ॥  
प्रकृतिशब्दस्योपादानमेव वाच्यम् ; पञ्चम्यास्तु साधारणत्वादिति भावः । ब्रह्मण एव तद्भावापत्तिविरोधान्मायैवोपा-  
दानमिति कथं नियम इति ? तदाह—दृश्यमानजाड्यानुसारेणेति\* ॥ \*इन्द्रो मायाभिरिति\* ॥ अन्यत्र करणत्व-  
श्रवणाद्व्यक्तेरन्यायेनात्रापि करणत्वमिति भावः ॥ वैलक्षण्येऽपि कार्य-कारणभावदर्शनात् जाड्येन नियमः, अतो  
ब्रह्मणः कारणत्वाद्विरोध इति चोदयति—\*निरपेक्षेति\* ॥ \*ननु\*—अन्यत्र लोके प्रयोगेऽपि शब्दस्यानेकार्थत्व-  
दर्शनादत्रापि प्रयोग इत्याशङ्क्याह—\*लोकसंवेदनेति\* ॥ न हि लोकसंवेदनमर्थान्तरं प्रतिषेधति, कथं तद्विरोधः ?  
इत्याशङ्क्याह—\*न हि प्रज्ञातिशयवत्त्वमिति\* ॥ विद्यमानेऽर्थेऽप्यप्रयोगदर्शनात्कथमेतावता विरोध इत्याशङ्क्याह—

### तत्त्वदीपनम्

प्रकृतिद्वयानुपपत्तेः प्रकृतिशब्दस्य करणपरत्वमित्यर्थः । श्रुत्योर्दौर्बल्य-प्राबल्यनिमित्तभावाद् न प्रकृतिशब्दोऽन्यथयितुं  
शक्यत इत्याह—\*न तुल्येति\* ॥ प्रकृतिश्रुत्यनुरोधेन पञ्चम्येव कस्माद् नान्यथा व्याख्यायते ? इत्यत्राह—\*मायेति\* ॥  
‘सावकाश-निरवकाशयोर्निरवकाशं बलवदि’ति न्यायात् प्रकृतिशब्दस्य च सावकाशत्वात् स एवान्यथाक्रियत इत्या-  
शङ्क्य, सावकाशत्वमितरत्रापि तुल्यमित्याह—\*निमित्तेऽपीति\* ॥ एवं श्रुत्योः साम्यमभिधाय प्रकृतिश्रुतौ विशेष-  
माह—\*दृश्यमानेति\* ॥ समानजातीययोरुपादानोपादेयभावनियमात् चिदचितोश्च विजातीयत्वादुपादानोपादेयभावा-  
नुपपत्तेर्माया-जगतोस्तत्त्वनिश्चय इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरे मायायाः करणत्वप्रतिपत्तेः प्रकृतिशब्दोऽपि करणपर इति  
शङ्कते—\*इन्द्र इति\* ॥ नच—मायाया एकत्वात् तत्र बहुवचनानुपपत्तिरिति—शङ्क्यम् ; अवस्थाभेदापेक्षया  
तदुपपत्तेः । नच विजातीययोरात्म-जगतोरुपादानोपादेयतानुपपत्तिः ; गोमय-वृश्चिकादेर्विजातीयत्वेऽपि तथाभावदृष्टे-  
रित्यर्थः । तृतीयाश्रवणमात्रमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि मायायाः करणत्वादनुपादानत्वमित्याशङ्क्याह—  
\*आत्मन इति\* ॥ “आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं स्यात्” “बहु स्यां प्रजायेये”त्याद्यनेकवाक्यपर्यालोचनयाऽऽत्मन  
उपादानत्वप्रतिपत्तेस्तद्विरुद्धं मायाया उपादानत्वमित्याशयेन शङ्कते—\*निरपेक्षेति\* ॥ बहूनां तन्तूनां पटं प्रत्यु-  
पादानत्वं दृष्टम्, ततो विशेषमाह—\*निरपेक्षेति\* ॥ यथा द्वयोः सूत्रयोरेकरज्जुद्रव्यं प्रत्युपादानत्वम्, तथा  
माया-ब्रह्मणोरपि मिलितयोरुपादानत्वे न किंचिदवयवमस्तीत्याह—\*तर्हीति\* ॥ मायाया उपादानत्वप्रतिपादन-  
फलमाह—\*अत इति\* ॥ ब्रह्मोपादानवादिसते मायाशब्दः प्रज्ञायां वर्तते ? उत बुद्धौ ? आहो मन्त्रादौ ? अथवाऽ-  
न्यत्र ? इति विकल्प्याद्यमुत्थापयति—\*मायेति\* ॥ “माया प्रज्ञा तथा मेधे”त्यत्र मायाशब्दस्य प्रज्ञापरत्वेनाज्ञाना-  
दित्यर्थः । तर्हि प्रज्ञायामेवातिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह—\*सा चेति\* ॥ “प्रज्ञानं ब्रह्मे”त्यादिश्रुतेरित्यर्थः । माया-  
शब्दस्य प्रज्ञापरत्वमन्वय-व्यतिरेकविरुद्धमित्याह—\*नान्वयेति\* ॥ कौ तावन्वय-व्यतिरेकाविति ? अत्राह—\*परिदृश्य-  
मानेति\* ॥ प्रतिपन्नोपाधिबाधिते स्वप्नप्रपञ्च इत्यर्थः । इतोऽपि न माया प्रज्ञेत्याह—\*लोकसंवेदनेति\* ॥ विरोधं



### पञ्चपादिकाविवरणम्

मायाविनं वदन्ति । गर्हन्ति च विदुषि मायाशब्दप्रयोगम् । बुद्धिविषयत्वान्मायाशब्दस्य न ब्रह्मचैतन्यप्रज्ञायां प्रसङ्गः । स्वप्नादिविविधमायाकारप्रतिभासनाद्वा बुद्धेः कार्यवादिनो मायाशब्दस्योपचारात्करणे प्रयोग इत्यन-  
वद्यम् । अपि च \* “भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः\* “मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते” “देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया” “माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।” इति निवर्त्य-तर्तव्यत्व-गुणमयत्व-  
ज्ञानावरणत्वलिङ्गाच्च न ब्रह्मचैतन्यं माया । बुद्धिरेव मायेति चेत्, न ; प्रकृतिशब्दविरोधात् । मन्त्रौषधादि मायेति चेत्, न ; दृश्यमानगन्धर्वनगरादौ मायाशब्दप्रयोगात्, मन्त्रौषधादौ तदप्रयोगात् । तथाऽपि जडात्मिका मायाशक्तिः पारमार्थिकीति चेत्, न ; “नासदासीन्नो सदासीत्तम आसीदि”ति जगत्प्रागवस्थायाः सदसद्विलक्षणा-  
निर्वचनीयत्वश्रवणात् । लोके च हस्त्यश्चरथादिषु व्यभिचारिषु मिथ्यावस्तुमात्रेऽनुयायिनि मायाशब्द-  
प्रयोगात् । “तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥” इति मायाऽविद्ययोः सामानाधिकरण्याच्च । तस्मादनिर्वचनीयमायाविशिष्टं कारणं ब्रह्मेति प्राप्तम्, तत्राह—\*अतो यदवष्टम्भो विश्वो विवर्तत इति\*॥ तैविध्यमत्र सम्भवति-रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवन्मायाविशिष्टं ब्रह्म कारणमिति वा, “देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि”ति श्रुतेर्मायाशक्तिमत्कारणमिति वा, जगदुपादानमायाश्रयतया ब्रह्म

### ऋजुविवरणम्

\*गर्हन्ति चेति\* ॥ \*ननु\* यास्कप्रयोगस्य लोकप्रयोगतुल्यत्वाद् ज्ञानवाचित्वमपीत्याशङ्क्याह—\*बुद्धिविषयत्वा-  
च्चेति\* ॥ \*ननु\* बुद्धावपि ज्ञानरूपे प्रयोगः, तदिहास्तीत्यत्रापि प्रयोगः स्यादित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह—  
\*स्वप्नादिविवेधेति\* ॥ अत्रोपचारनिमित्तं नास्तीति भावः । इदानीं यास्कप्रयोगसामर्थ्याद् ज्ञाने मुख्यत्वमौप-  
चारिकत्वं वा मायाशब्दस्य ; तथाऽप्ययं न चैतन्ये प्रयुक्त इत्याह—\*अपि चेति\*॥ मन्त्रादौ प्रयोगादिति चेत्, तत्राह—  
\*लोके चेति\* ॥ \*ननु\* हस्त्यादिरूपस्य व्यभिचारेऽपि कार्यत्वमनुगतं विहाय मिथ्यावाचित्वं कथं निश्चीयत इति ? तदाह—\*तरत्यविद्यामिति\* ॥ \*ननु\* उत्तरपक्षयोर्ब्रह्मणः कारणत्वमेव नास्ति, कथं लक्षणम् ? इत्या-

### तत्त्वदीपनम्

व्यनक्ति—\*तर्हीति\* ॥ प्रज्ञावति मायाशब्दप्रयोगस्य निन्द्यमानत्वादपि न प्रज्ञापरत्वमित्याह—\*गर्हन्तीति\* ॥  
मायाशब्दस्य प्रज्ञापरत्वेऽपि न ब्रह्मप्रज्ञापरत्वमित्याह—\*बुद्धीति\* ॥ “मनो महान्तमतिर्ब्रह्मा भूबुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।  
माया प्रज्ञे”त्यत्र हैरण्यगर्भबुद्धिपर्यायत्वेन मायाशब्दस्मरणादित्यर्थः । मायाशब्दस्य बुद्धौ रुदिमाश्रित्योक्तम्,  
संप्रति तस्यामप्युपचारात् प्रयोग इत्याह—\*स्वप्नेति\* ॥ इतोऽपि न ब्रह्मचैतन्यवाची मायाशब्द इत्याह—\*अपि  
चेति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*बुद्धिरेवेति\* ॥ बुद्धेरनुपादानत्वाच्च तत्रातिव्याप्तिरित्यभिसन्धिः ।

किं बुद्धिशब्दः परिणामपरः ? उत परिणामिपरः ? उभयथाऽप्यसंभव इत्याह—\*न प्रकृतीति\* ॥ \*कार्यत्वे-  
नोभयोरपि प्रकृतित्वायोगात् प्रकृतिशब्दसमानाधिकृतस्य मायाशब्दस्य न बुद्धिपरत्वमित्यर्थः । तृतीयमनुवदति—  
\*मन्त्रेति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकविरोधान्न मन्त्रादेर्मायाशब्दवाच्यत्वमित्याह—\*न दृश्यमानेति\* ॥ तुरीयेऽपि तदन्यत्  
किं परमार्थसत् ? उतानिर्वचनीयम् ? इति विकल्प्याद्यमवतारयति—\*तथापीति\*॥ मायाशक्तेः परमार्थत्वात् शक्ति-शक्ति-  
मतोश्चाभेदान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कार्थः । परमार्थत्वमसिद्धमित्याह—\*न नासदिति\* ॥ प्रागवस्थाया अनिर्वचनीयत्वेऽपि  
न तद्विषयो मायाशब्दः संभवेत्, हस्त्यश्च-रथादिषु तत्प्रयोगादित्याशङ्क्याह—\*लोक इति\* ॥ ज्ञाननिवर्त्या-  
विद्यासामानाधिकरण्यादपि न माया सत्यमित्याह—\*तरत्यविद्यामिति\* ॥ यस्मिन् परमेश्वरे हृदि निवेशिते योगी  
कार्यरूपेण विततां मायां तरति, तस्मै नम इति संबन्धः । द्वितीये तत्रातिव्याप्तिर्दुर्वोरत्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥  
अतिव्याप्तिशङ्कायाः कः समाधिः ? इत्याशङ्क्य मतभेदं दर्शयति—\*त्रैविध्यमिति । अत्रेति\* ॥ जगत्कारण इत्यर्थः ।  
त्रैविध्यमेवाह—\*रज्ज्वा इति\* ॥ संयुक्तसूत्रद्वयं रज्ज्वा यथोपादानम्, तथा मायाविशिष्टं ब्रह्म कारणमित्येकः पक्षः ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कारणमिति वेति । तत्र विशिष्टपक्षे तथैव ब्रह्मत्वेनोपलक्षितस्य ज्ञानानन्दादिस्वरूपलक्षण-  
द्वयेन विशुद्धब्रह्मसिद्धिः । उत्तरपक्षयोस्तु मायाया ब्रह्मपरतन्त्रत्वात्तत्कार्यमपि ब्रह्मपरतन्त्रं भवति ; यथाऽऽशुतन्त्र-  
तन्त्रवारब्धोऽपि पटोऽशुतन्त्रः प्रतीयते । ततश्चोत्पद्यमानकार्यस्य यद् आश्रयोपाधि ज्ञानानन्दलक्षणं च, तद्  
ब्रह्मेति शुद्धब्रह्मलाभ इति, तदाह यदवष्टम्भ इति ।

केचित्तु—ब्रह्मैव जगदाकारेण परिणमते मृदिव घटाकारेणेति—वदन्ति, तद् व्यावर्तयति—\*विश्वो विवर्तत  
इति\* ॥ एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य पूर्वविपरीतासत्यानेकरूपावभासो विवर्तः । एकस्य पूर्वरूपपरित्यागेन  
सत्यरूपान्तरापत्तिः परिणामः, तत्र ब्रह्म न विवर्तते, किंतु परिणमत एवेति तैस्तत्र प्रमाणं वक्तव्यम् ।  
सृष्टिश्रुतेः परिणमत इति चेत्, सा खलु सृष्टिश्रुतिः ज्ञानानन्द-सत्य-निरवयवापरिच्छिन्न-ब्रह्मस्वरूपस्य पूर्व-  
सिद्धस्य परित्यागेन जड-दुःख-मिथ्या-सावयवपरिच्छिन्नकार्यापत्तिं ब्रह्मणो ब्रवीति ? आहोस्वित्पूर्वसिद्धरूपापरि-  
त्यागेनैव तद्विपरीतकार्यरूपापत्तिं ब्रह्मणो ब्रवीति ? इति वक्तव्यम् । तत्र पूर्वपरित्यागे ब्रह्मस्वरूपोच्छेदात्कार्यमात्र-  
मेव स्यात् । पुनः प्रलयावस्थायां ज्ञानानन्दादिरूपेण परिणमत इति चेत्, अनिमोक्षप्रसङ्गात् । “अज आत्मा  
महान् ध्रुवः” “न जायते चे”त्यादिश्रुतिविरोधश्च स्यात् । अथ पूर्वविपरीतब्रह्मस्वरूपापरित्यागेनैव कार्यरूपापत्तिं  
ब्रूयात् सृष्टिश्रुतिः, एवं तर्हि विवर्तं प्रतिपादयति ; शुक्तिकारजत-मायाव्याघ्रादिषु विवर्तस्य तल्लक्षणत्वात् ।  
अथ सृष्टिश्रुतिः सृष्टिमात्रविषया, न पूर्वस्वरूपपरित्यागापरित्यागयोर्व्याप्रीयत इति चेत्, तथाऽपि व्यवस्थित-

## ऋजुविवरणम्

शङ्क्याह—\*उत्तरपक्षयोरिति\* ॥ तत्र “ज्ञानानन्दे”त्यादि विशेषणोपादानं कथञ्चिद् रूपमात्रपरित्यागस्य वक्तुं शक्यत्वात्  
तावता परिणाम इति दर्शयितुम् । \*अनिर्मोक्षेति\* ॥ प्रपञ्चसंबन्धस्यापरिहार्यत्वादित्यर्थः ॥ \*ननु\* प्रपञ्च-  
संबन्धेऽपि शास्त्रान्मुच्यत इत्याशङ्क्य, परिहारान्तरमाह—\*अज आत्मेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

पक्षान्तरमाह—\*देवात्मेति\* ॥ \*स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोलक्षणैरित्यर्थः । पूर्वत्र माया-ब्रह्मणोः समप्राधान्यम्, अत्र  
तु ब्रह्मणः प्राधान्यम्, मायायाश्चोपसर्जनत्वमित्यर्थः । सकलजगदाकारेण विवर्तमानमायाधिष्ठातृत्वं ब्रह्मलक्षणमिति  
पक्षान्तरमाह—\*जगदुपादानेति\* ॥ एवं मतभेदमभिधायातिव्याप्तिं निरस्यति—\*तत्रेति\* ॥ भवतु परतन्त्रत्वम्,  
ततः किमिति ? अत आह—\*ततश्चेति\* ॥ आश्रयोपाधीति\* ॥ आश्रयस्याज्ञानस्य सत्ताहेतुरित्यर्थः । विवर्तत इत्येत-  
द्व्यावर्त्यां शङ्कामाह—\*केचित्त्विति\* ॥ परिणाम-विवर्तयोर्भेदासिद्धौ ब्रह्मविवर्तो विश्वं न परिणाम इति कथमुक्तम् ?  
इत्याशङ्क्याह—\*एकस्येति\* ॥ पूर्वस्वभावे स्थिते कथं तद्विपरीतरूपावभास इति ? अत्राह—\*असत्येति\* ॥ भवत्वेवं  
भेदः, ततः किमिति ? अत आह—\*तत्रेति\* ॥ किं विवर्तस्य प्रामाणिकत्वम् ? उत परिणामस्य ? इति विमर्शार्थः ।  
परिणाम एव प्रामाणिक इत्याह—\*सृष्टीति\* ॥ श्रुत्यर्थमेव विविच्य ब्रूहीत्याह—\*सा खल्विति\* ॥ पूर्वरूपपरित्यागं  
विना रूपान्तरापत्त्यभावं दर्शयितुं “ज्ञानानन्दे”त्यादि विशेषणम् । ज्ञानानन्दादेः स्वभावत्वात् त्यागानुपपत्तिरित्यर्थम-  
भिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—\*आहोस्विदिति\* ॥ आद्यं प्रत्याह—\*तत्रेति\* ॥ वस्तु स्यादिति\* ॥ मुक्तौ कार्यरूपा-  
भावात् शून्यताप्रसक्तिरिति शेषः । स्वकस्य स्वस्तिकाकारपरिणामवत् कार्यस्य ज्ञानाद्याकारेण परिणामान्न शून्यता-  
प्रसक्तिरिति शङ्कते—\*सृष्टीति\* ॥ स्वस्तिकस्यापि पुनरन्यथाभावदानन्दादिरूपस्याप्यन्यथाभावशङ्का दुष्परिहरेत्याह—  
\*अनिर्मोक्षेति\* ॥ अन्यथाभावस्य निमित्ताधीनत्वाद् मुक्तौ च निमित्ताभावात् कथमन्यथात्वशङ्का ? इत्याशङ्क्य,  
परिणाम एवानुपपन्न इत्याह—\*अज आत्मेति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—\*अथेति\* ॥ तर्हि, अस्मदिष्टसिद्धिरित्याह—  
\*एवं तर्हीति\* ॥ विवर्तवाचकपदाभावात्कथं तत्प्रतिपादकत्वं श्रुतेः ? इत्यत आह—\*शुक्तिर्केति\* ॥ \*तल्लक्षणत्वा-  
दिति\* ॥ पूर्वरूपापरित्यागेन रूपान्तरापत्तिलक्षणत्वाद्विवर्तस्येत्यर्थः । सृष्टिश्रुतेः सृष्टिमात्रोपक्षीणत्वान्न विवर्तसिद्धिरिति  
शङ्कते—\*अथेति\* ॥ वाक्यान्तरपर्यालोचनया सृष्टेर्विवर्तत्वं निश्चयं इत्याह—\*तथापीति\* ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

ब्रह्मवाक्यैरेकवाक्यत्वात् तत्स्वरूपापरित्यागेनैव कार्यरूपापत्तिं ब्रह्मणो ब्रुवाणा विवर्तमेव दर्शयतीत्यनवद्यम् ॥ योऽपि कश्चिदाह निरवयवमपि परिणमत इति । तथाहि—हेमद्रव्ये रुचकाकारेण परिणममाने तदवयवा अपि परिणमेरन् ? नवा ? इति वक्तव्यम् । यदि परिणमेरन्, तर्हि तदवयवा अपि तथा, इति निरवयवपर्यन्तः परिणामः स्यात् । अथ न परिणमेरन्, तर्ह्यवयवी न परिणमेत ; आश्रयविकारमन्तरेणाश्रितविकारायोगात् । तस्माद् यथा संयोगोऽवयव्येकदेशसमवेतः परम्परया निरवयवपरमाणुसंयोगपुरःसरः, तथा निरवयवपरिणाम-पुरःसरोऽवयवपरिणाम इति ॥

स वक्तव्यः—कश्चायं परिणाम इति ? यदि तावत् स्वावयवानां पूर्वसंयोगात् संयोगान्तरापत्त्या वाऽवयवान्तरसंयोगेन वा समूर्च्छितावयवत्वं परिणामः, न तर्हि निरवयवे परिणामः ; स्वावयवाभावाच्चिरवयवस्य । नचावयवानां संयोगान्तरेण समूर्च्छितत्वमन्तरेणावयविनः परिणामोऽवस्थान्तरं वाऽन्यथाभावो वा निरूपयितुं शक्यते । नच वस्तुनो वस्त्वन्तरसंयोगो वा परिस्पन्दो वा गुणान्तरोदयो वा परिणामः ; ब्रह्मणि तेषामभावात् । आकाशे च वस्त्वन्तरसंयोगिनि परिस्पन्दमाने च भ्रमरे लौहियोदये च घटे द्रव्ये परिणामबुद्ध्यभावात् । अथ तदनुषक्तद्रव्यान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति, तत्र किं हेमावयवानां रुचकरूपेणैव परिणामः ? किं वा द्रव्यान्तररूपेण ? न तावद् द्रव्यान्तररूपेण ; तत्र रुचकद्रव्यातिरिक्तकार्यद्रव्यादर्शनात्, नापि रुचकाकारेणैव ; तस्यावयवपरिणामत्वात्, अवयवानां च रुचकानुगमस्य रुचकानुगतावयव्यनुगमेनैवान्यथासिद्धत्वात् । नच रुचकावस्थाव्यतिरेकेण हेमावयवानामवस्थान्तराणि

### ऋजुविवरणम्

व्यवस्थितब्रह्मवाक्यैरिति\* ॥ अयमर्थः—व्यवस्थितमजं नित्यं ब्रह्मेति प्रतिपादयन्ति वाक्यानीत्यर्थः ॥

### तत्त्वदीपनम्

\*व्यवस्थितब्रह्मवाक्यैरिति\* ॥ कूटस्थत्व-नित्य-निरवयवत्वादिप्रतिपादकवाक्यैरित्यर्थः ॥ निरवयवस्यापि परिणामित्वोपलम्भाद् ब्रह्मणोऽपि परिणामित्वमिति शङ्कते—\*योऽपीति\* ॥ सावयवमृदादेः स्वपरिणामोपलम्भात्कथं निरवयवस्यापि परिणामः ? तत्राह—\*तथाहीति\* ॥ उक्तमर्थं सदृष्टान्तमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ परिणामो दुर्निरूप इत्याह—\*स वक्तव्य इति\* ॥ किं पूर्वरूपे स्थिते परिणामः ? उत नष्टे ? न तावदाद्यः ; तथाभावविरोधात्, द्वितीये पूर्वस्य नष्टत्वात् कस्य परिणामः ? किं मूर्च्छितावयवत्वं परिणामः ? आहो वस्त्वन्तरसंयोगः ? उत परिस्पन्दः ? उत गुणान्तरोदयः ? किंवा पूर्वरूपानुषक्तद्रव्यान्तरोदयः ? इति वाच्यम् । आद्येऽपि किं स्वावयवानां संयोगान्तरापत्त्या समूर्च्छितावयवत्वम्, उतावयवान्तरसंयोगेन ? इति विकल्प्योभयमप्यनूद्य दूषयति—\*यदि तावदित्यादिना\* ॥ अस्मिन्पक्षेऽवयविनः परिणामासिद्धिश्चेत्याह—\*नचावयवानामिति\* ॥ अवयवानां संयोगान्तरेण तत्समूर्च्छितत्वम्, तदन्तरेण परिणामो निरूपयितुं न शक्यत इति योजना । परिणामावस्थान्तरादिशब्दाः पर्याया इति द्रष्टव्यम् । द्वितीय-तृतीय-चतुर्थोन्निरस्यति—\*नचेति\* ॥ प्रतिज्ञातार्थं हेतुमाह—\*ब्रह्मणीति\* ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—\*आकाश इति\* ॥ पञ्चममुत्थापयति—\*अथेति\* ॥ उपादानकारणं तच्छब्दार्थः । हेस्मि द्रव्यान्तरोदयसंदर्शनात् तस्य परिणामित्वेऽपि तदवयवपरिणामः कीदृश इति वचनीयमित्याह—\*तत्र किमिति\* ॥ अन्त्यं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*नापि रुचकेति\* ॥ रुचकस्योभयपरिणामित्वं किं न स्यात् ? तत्रोभयानुगमदर्शनात्, इत्याशङ्क्याह—\*अवयवेति\* ॥ रुचकेऽनुगमनम्, तस्येत्यर्थः । रुचकेऽनुगतो योऽयं हेमावयवी, तस्मिन्नवयवानामनुगमाद् रुचकेऽनुगमप्रतिभास इत्यर्थः । अवस्थान्तरप्राप्तिरेव परिणाम इति शङ्कां निरस्यति—\*नच रुचकेति\* ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

इत्यत आह—\*योत्पत्तिरित्यादि\* ॥ उत्पत्तिमात्रं निमित्तकारणादपि संभवति, ततस्त्रिभिरस्योपादानत्वं सूच्यते ; अनुपादाने स्थिति-लयासंभवादिति भावः । कारणत्वे या युक्तिरनेन सूत्रेण



## पञ्चपादिकाविवरणम्

दृश्यन्ते येन परिणामभेदः स्यात्, । नच संयोगभेद एवावयवपरिणाम इत्युक्तम् । नचावयवि द्रव्यं विना हेमावयवा रुचकाकारेण परिणमन्त इति युक्तम् ; आरम्भवादप्रसङ्गात् । अथादृश्यमानोऽप्यवयव-परिणामोऽवयवपरिणामानुपपत्त्या कल्प्यते ; आश्रयविकारमन्तरेणाश्रितविकारानुपपत्तेः, \*नैतत्सारम्\* ; अवयविजन्म-विनाशयोरवयवानामपि तत्तन्त्राणां जन्म-विनाशप्रसङ्गात्, अवयविगमनेऽवयवानां गमनवत् । परिणामोऽपि भविष्यतीति चेत्, न ; अवयविनि घटत्वजातिसमवायिन्यवयवानां घटत्वजातिसमवाया-भावात् । \*ननु\* अवयवानामन्यथाभावमन्तरेण कथमवयविनोऽन्यथाभावः ? न हि द्रव्यस्यावस्थान्तरद्रव्यान्तरा-पत्तिवद् नैव्यं गुणान्तरमापद्यतेऽवस्थान्तरं वा । नचावयविकार्यव्यतिरेकेणावयवानां कार्यं दृश्यत इत्युक्तम् । न हि पटे कार्यान्तरावभासेऽपि तन्त्वोऽतन्त्वात्मनाऽवभासन्ते । पटकार्ये तन्त्वनुगमः स्वानुगतानुगमादन्यथा-सिद्ध इत्युक्तम् । किंच अवयवपरिणामोपाधावेवावयवपरिणामो दृष्टः, इति न निरुपाधिनिरवयवात्म-परिणामसिद्धिः ॥ यत्तु निरवयवसंयोगवत्परिणाम इति, तत्रापि दृश्यमानोऽवयविसंयोगो न परमाणुसमवेतः ; तद्वतरूपादिवदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । नाप्यवयव्येकदेशसंयोगेन निरवयवे संयोगः कल्पयितुं शक्यते ; अवयविन्येव जातिसमवायवदवयवसंयोगमन्तरेणावयविन्येव संयोगोपपत्तेः । अवयवानां संयोगानुगमस्यावयव्यनुगमे-नान्यथासिद्धत्वात् । अवयवेष्वेव संयोगो नावयविनीति चेत्, न ; अवयविभ्यामसंयुक्ताभ्यां कार्यान्तरा-नारम्भप्रसङ्गात् । तस्मादवयविन्येव संयोगो नावयवेषु । अवयविसमवाये संयोगस्य कृत्तृत्तिता संयोगस्य

## तत्त्वदीपनम्

संयोगभेद एव परिणाम इत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ संयोगे सत्यप्याकाशे परिणामबुद्ध्यदर्शनादित्यर्थः ।

रुचकस्यावयवपरिणामत्वमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ अवयवपरिणामस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धावप्यनुपपत्त्या तत्कल्पन-मिति शङ्कते—\*अथेति\* ॥ अनुपपत्तिं स्पष्टयति—\*आश्रयेति\* ॥ विकल्पासहत्वान्नैतदित्याह—\*नैतत्सारमिति\* ॥

किमाश्रितविकल्पमात्रस्याश्रयविकारपुरःसरत्वम् ? उत विकारविशेषस्य ? नाद्य इत्याह—\*अवयवीति\* ॥ वस्तुतोऽवयवानामवयव्यनधीनत्वेऽपि प्रतिभासमाश्रित्य तत्तन्त्राणामित्युक्तम् । द्वितीयमनुवदति—\*अवयवीति\* ॥

जन्म-विनाशव्यतिरिक्तो योऽवयवविकारः, स आश्रयविकारपुरःसर इत्यर्थः । घटावयवेषु घटत्वजातिसमवायं विनाऽप्यवयविनि तद्भाववत् परिणामोऽपि किं न स्यात् ? इत्याह—\*नावयविनीति\* ॥ अवयवावयविनोरभेदाद् अवयवपरिणामावस्थायामवयवेष्वपि परिणाम आश्रयणीय इति शङ्कते—\*नन्ववयवानामिति\* ॥ अन्यथोपपत्त्या दूषयति—\*जातीति\* ॥ दृष्टान्तं विवृणोति—\*न हीति\* ॥ अनुपलब्धश्चावयवपरिणाम इत्याह—\*नचेति\* ॥ अदर्शनमेव स्पष्टयति—\*नहीति\* ॥ \*कार्यान्तरावभास इति\* ॥ पटसाध्यरज्जुद्रव्यलक्षणकार्यान्तरावभास इत्यर्थः । \*अतन्त्वात्मनेति\* ॥ अन्यथाभावाद्यकार्यात्मनेत्यर्थः । तन्तूनां पटसाध्यरज्जुद्रव्येऽनुगमादर्शनाद् रज्जुद्रव्यमेव तत्कार्यमित्याशङ्क्यान्यथासिद्धिमुक्तां स्मारयति—\*पटकार्य इति\* ॥ अवयवानां पृथक् परिणाम-मङ्गीकृत्य ब्रह्मणः परिणामं दूषयति—\*किंचेति\* ॥ निरुपाधिकत्वमुपपादयति—\*निरवयवेति\* ॥ अवयविसंयोग-पुरःसरत्वादवयवपरिणामस्यावयवपरिणामपुरःसरत्वमित्युक्तमनुवदति—\*यत्त्विति\* ॥ अलक्तकनिष्ठारुग्निः स्फटिके भानवत् संयोगो वस्तुतोऽवयवसमवेतः सन्नवयविनि भातीत्युच्यते ? किं वा तत्र संयोगान्तरमुत्पाद्य तेनेति ? तत्राद्यं दूषयति—\*तत्रापीति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ पट-रज्ज्वोः संयोगसमवायेऽवयवानामपि संयोगित्वं दृष्टमित्याशङ्क्याह—\*अवयवानामिति\* ॥ अवयवानामवयव्यनुगमेन हेतुना संयोगानुगमयान्यथासिद्धत्वादिति योजना । अवयविसंयोगेऽवयवानामपि संयोगित्वभानं संयोगानुगमः, तस्येत्यर्थः । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वाद-वयविनिष्ठ एव संबन्ध इति शङ्कते—\*अवयवेध्विति\* ॥ कार्योदयान्यथानुपपत्त्या संयोगस्यावयविनिष्ठत्वमाश्रयणीय-मित्याह—\*नावयविभ्यामिति\* ॥ अवयविनिष्ठत्वे बाधकं शङ्कते—\*अवयविसमवाये इति\* ॥ अवयविन्यारम्भ-



पञ्चपादिका

\*ननु\*—श्रुतिनिर्दिष्टग्रहणे सूत्रमर्थशून्यं स्यात् ; न हीमां पृथिवीं जायमानां पश्यामः, नापो न तेजः, कथं सिद्धवल्लक्षणत्वेनोपादीयेतेति ? \*उच्यते\*—तेजसस्तावदरणिनिर्मथनादिषु दृश्यते जन्म, इन्धनापाये विनाशः । अपामपि चन्द्रकान्तादिषु जन्म, क्रमेण च शोषः । पृथिव्या अप्यवयवसंयोग-विभागदर्शनात् तन्निमित्तौ जन्म-विनाशावनुमीयेते । दृश्येते चाद्याऽप्यवयवसंयोग-विभागकृतौ पृथिव्यैकदेशस्य जन्म-विनाशौ । वाय्वाकाश-काल-दिशामपि “यावद्विकारं तु विभागो लोकवदि”ति

पञ्चपादिकाविवरणम्

प्राप्नोतीति चेत्, तर्हि निरवयवसंयोगेऽपि कृत्स्नवृत्तेः प्रचयाभावप्रसङ्ग इति । कथं पुनर्ब्रह्मणो निरवयवत्व-लभः ? उच्यते ; अवयवावयविनोः स्वयंप्रकाशत्वे सतीतरेतराविषयत्वाच्च सावयवत्वं ब्रह्मणा स्वात्मन्यनुभवितुं शक्यम् । अन्यतरस्यास्वयंप्रकाशत्वेऽन्यतरेण वेद्यत्वाद् घटात्मनोरिव नांशांशिभावसिद्धिः । श्रुतिश्च “निष्कलं निष्क्रियं शान्तमि”ति क्रियावयवशून्यतामाह । नियन्तृत्वादिक्रियाऽपि श्रूयत इति चेत्, तर्हि परस्पर-विरोधे सति मायया तत्त्वातत्त्वव्यवस्था कल्पनीया । “मायाभिः पुरुरूप ईयते” इति प्रवृत्तेर्मायानिवन्धनत्व-श्रवणात् चेतनस्य सुषुप्ते पुरुषार्थत्वावगमाद् ब्रह्मणः स्वतः प्रवृत्तिप्रयोजनाभावाच्च विपरीतस्वरूपापरित्यागेन विपरीतकार्यापत्तेश्च विवर्त एवेति सिद्धम् ॥

\*ननु\* जगदुत्पत्तिकारणत्वं न सिद्धवद् ब्रह्मलक्षणत्वेनोपादातुं शक्यम्, भूतपञ्चकस्य कार्यत्वासिद्धेः, भौतिकानां च भूतोपादानत्वादिति चोदयति—\*ननु\* श्रुतिनिर्दिष्टग्रहण इत्यादिना\* ॥ “उच्यते” इत्यादेः परिहारस्यायमर्थः । पृथिव्यसेजो-वायवो विवादपदानि, जन्मविनाशवन्तः, पृथिव्यसेजो-वायु-बुद्धिगोचरत्वात् ;

ऋजुविवरणम्

\*ननु\*॥ भूतद्वारेण ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, तच्च न संभवति ; भूतानामकार्यत्वादिति चोदिते भूतानामेव जन्मादि दर्शनीयम्, नैकदेशानामित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*उच्यत इत्यादेरिति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

कातिरिक्तावयवास्वीकारादित्यर्थः । \*ननु\* अनुपपत्तिरत्रापि समेत्याह—\*तर्हीति\* ॥ निरवयवे परिणामानुपपत्तिश्चेत्, तर्हि ब्रह्मापि सावयवमेष्टव्यम् ; अन्यथा “तदात्मानं स्वयमकुरुते” त्यादेरसंभवादिति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ विकल्यासहत्वाच्चैतदित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ किमवयवावयविनोरुभयोरपि स्वप्रकाशत्वम् ? उतान्यतरस्य ? नाद्य इत्याह—\*अवयवेति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*अन्यतरस्येति\* ॥ श्रुतिविरोधादपि नांशांशिभाव इत्याह—\*श्रुति-चेति\* ॥ श्रौतत्वात् क्रियादिविधुरताया अभ्युपगमश्चेत्, तर्हि तत एव क्रियादिमत्त्वमप्येष्टव्यमिति शङ्कते—\*नियन्तृत्वादीति\* । “यः पृथिवीमन्तरो यमयती”ति नियन्तृत्वं श्रूयते । “पादोऽस्य विश्वा भूतानि” “चतुष्पाद-ष्टशः” इत्यादौ सावयवत्वमित्यर्थः । सक्रियत्व-निष्क्रियत्वादिप्रतिपादकश्रुत्योर्विरुद्धत्वाद् यथार्थत्वानुपपत्तरेकस्यास्ता-त्त्विकविषयत्वमिति व्यवस्थाऽऽस्थेयेत्याह—\*तर्हीति\* ॥ तत्त्वं क्रियावत्त्वम्, अतत्त्वं क्रियाशून्यत्वम् । मायया क्रियावत्त्वादि, वस्तुतस्तद्वैपरीत्यमित्यर्थः । वैपरीत्यं किं न स्यादिति ? अत्राह—\*मायामिरिति\* ॥ क्रियावत्त्वाद्य-भ्युपगमे प्रयोजनाभावादितरत्र प्रयोजनसंभवादपीत्यमेव व्यवस्थेयेत्याह—\*चेतनस्येति\* ॥ इतोऽपि न परिणामः प्रतिपाद्यत इत्याह—\*विपरीतस्वरूपेति\* ॥ “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि”त्यत्र सर्गोत्तरकालं प्रवेशः श्रूयते, परिणामपक्षे पूर्वरूपस्य नष्टत्वात् कस्य प्रवेशो निर्दिश्येतेत्यर्थः । “योऽपि कश्चिदि”त्यारभ्ये“ति सिद्धमि”त्यतः प्राक्तनग्रन्थः प्रक्षिप्त इति केचित् ॥

पृथिव्याद्युत्पत्त्याद्यदर्शनान्न पृथिव्यादिकारणत्वं लक्षणमित्युक्तं टीकायाम्, तदनुपपन्नम् ; पृथिव्याद्यात्मकस्य घटादेरुत्पत्त्यादिदर्शनादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*नन्विति\* ॥ तर्हि भौतिककारणत्वं लक्षणमित्यत्राह—\*भौति-कानामिति\*॥ भूतानां कार्यत्वाभावे चोद्ये तत्रैव कार्यत्वं प्रदर्शनीयम्, नान्यत्रेत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*उच्यत इत्यादे-



न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानाद् अचेत-  
नात्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वोत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम् ।

भामती

\*न यथोक्तेति\* ॥ तदनेन प्रबन्धेन प्रतिज्ञाविषयस्य ब्रह्मस्वरूपस्य लक्षणद्वारेण संभावनोक्ता । तत्र प्रमाणं

ऋजुप्रकाशिका

विशेषणानि, सर्वज्ञ-सर्वशक्तित्वादीनि कारणस्य ब्रह्मणो विशेषणानीति द्रष्टव्यम् । \*भाष्ये\*—“प्रधानादि”-  
त्येतत् कालस्याप्युपलक्षणम् । \*भाष्ये\*—“अभावादि”ति\* ॥ निरुपाख्याच्छून्यादित्यर्थः । \*भाष्ये\*—  
“स्वभावतः” इत्येतत् यदृच्छात इत्यर्थकम् । तत्र हेतुमाह—भाष्ये—\*विशिष्टेति\* ॥ प्रतिनियतदेश-काल-  
निमित्त-क्रियोपादानादित्यर्थः । तादृगाश्रयस्य जगतः स्वभावतो यदृच्छातो वाऽसंभव इति भावः ।  
\*लक्षणद्वारेणेति\* ॥ जगज्जन्म-स्थिति-भङ्गकारणत्वरूपलक्षणद्वारेणेत्यर्थः । \*तत्र=ब्रह्मणि । \*प्रमाणं वक्तव्य-  
मिति\* ॥ लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धेर्लक्षणेन संभावितस्य वस्तुनः प्रमाणेन सिद्धेरिति भावः । तत्र

पञ्चपादिका

वक्ष्यमाणेन न्यायेन स्त एव जन्म-विनाशौ । \*न यथोक्तविशेषणस्येत्यादिना\* भाष्येण युक्तिरपि  
ब्रह्मस्वरूपनिर्णयायानेनैव सूत्रेण तन्त्रेणावृत्त्या वा \*जन्माद्यस्य यतः\* सम्भवतीति सूत्रितेति दर्शयति ।  
\*अस्य जगतो नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्येत्याद्यभिहितविशेषणचतुष्टयस्य, यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वेति =

पञ्चपादिकाविवरणम्

एकदेशपृथिव्यतेजो-वायुवदिति । \*ननु\* प्रत्यनुमानमस्ति—पृथिव्यादयः, न जायन्ते, महाभूतत्वात् ; आकाश-  
वत्, आकाशश्च, न जायते, निरवयवद्रव्यत्वात् ; आत्मवदिति विशेषतो दर्शनमेव बलीय इत्यनवद्यम् । “न  
यथोक्तविशेषणस्येत्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—\*युक्तिरपि ब्रह्मस्वरूपनिर्णयेत्यादिना\* ॥

ऋजुविवरणम्

उत्तरग्रन्थेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह—\*न यथोक्तेति\* ॥ \*व्याचष्टे=अक्षरार्थं कथयतीत्यर्थः । अज्ञाते  
कल्पनाप्रकारे निराकरणानुपपत्तेस्तं दर्शयति—\*नान्यत इत्यादिना\* ॥

तत्त्वदीपनम्

रिति\* ॥ पृथिवी, जन्म-विनाशवती, पृथिवीत्वात् ; एकदेशपृथिवीवत् । एवमबादिषु प्रयोगो द्रष्टव्यः । हेतुं साधयितुं  
बुद्धिगोचरत्वादित्युक्तम् । प्रत्यनुमानविरोधं शङ्कते—\*ननु प्रत्यनुमानमिति\* ॥ साध्यविकलो दृष्टान्त इत्याशङ्क्याह—  
\*आकाश इति\* ॥ घटादिव्यावृत्त्यर्थम्—“निरवयवे”त्युक्तम् । गुणादिव्यावृत्त्यर्थम्—“द्रव्यत्वादि”ति । आकाश-  
नित्यत्वानुमानस्य श्रुतिविरुद्धत्वं साधनवैकल्यं च दृष्टान्तस्य स्पष्टमित्युपेक्ष्य दूषणान्तरमाह—\*सत्यमिति\* ॥ प्रत्यनु-  
मानसद्भावोऽङ्गीकृतश्चेत्, तर्हि उत्पत्त्यादिकारणं न सिध्यतीत्याशङ्क्याह—\*महाभूतत्वादिति\* ॥ सामान्य-विशेष-  
विषयशास्त्रयोर्विशेषशास्त्रं बलीयः, सामान्यशास्त्रं दुर्बलमिति न्यायाद् विशेषस्योत्पत्त्याद्यनुमानस्य बलीयस्त्वम् ।  
तथाचोक्तम्—प्रसिद्धावयवं यत्स्याद्विशेषे च प्रतिष्ठितम् । तत्साध्याङ्गकसामान्यदृष्टाच्च बलवत्तरम् ॥

बाधः सामान्यशास्त्रस्य विशेषविषयाद् यथा । अनुमानान्तरैरेवमनुमानस्य साधनम् ॥ इति ।

“अस्य जगतः” इत्युत्तरग्रन्थेन पौनरुक्त्यं निरस्यति—\*न यथोक्तेति\* ॥ अक्षरव्याख्यानकथनपर उत्तरो ग्रन्थ

भाष्यभावप्रकाशिका

सूत्रिता, तामाह—\*ननु यथोक्तेति\* ॥ “नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्येत्याद्यभिहितविशेषणचतुष्टयस्येत्यर्थः ।  
\*यथोक्तविशेषणमिति\* ॥ सर्वज्ञं सर्वशक्तिकमित्यर्थः । \*प्रधानादिति\* ॥ सर्वे विकाराः, सुख-

प्रदीपः

“न यथोक्तविशेषणस्येत्यादिभाष्यम्—“नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्येत्यादि”विशेषणप्रयोजनपरमिति पूर्वमेव सूचितम् । अत्र  
\*प्रधानादित्याद्यभावाद्वा इत्यन्तं दृष्टान्तार्थम्, “संसारिणो” वेति प्रकृतसिद्धान्तनिरसनीयमूर्वपक्षार्थमिति विवेकः । “प्रतिनियते”ति



### भामती

वक्तव्यम् । यथाहुरनैयायिकाः—“संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना । न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्प-

### ऋजुप्रकाशिका

सम्प्रतिमाह—\*यथाहुरिति\* ॥ लक्षणेन संभावितं यत्साध्यम्, तद्वत्त्वेन प्रतिज्ञातः पक्षो हेतुना लिङ्गेन साध्येतेत्यर्थः । लक्षणं विना केवलं हेतुभिरेव वस्तुसिद्धिमाशङ्क्याह—\*न तस्येति\* ॥ \*तस्य=लक्षणेन संभा-

### पञ्चपादिका

सर्वशं सर्वशक्तिं विहाय \*नान्यतः = परपरिकल्पितात्प्रधानादेरचेतनात्, चेतनादपि परिच्छिन्नज्ञान-क्रियाशक्तेः संसारिणो हिरण्यगर्भादुत्पत्त्यादि सम्भावयितुमपि शक्यम्\* ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

अस्य जगत इत्यादि भाष्यं व्याचष्टे—\*नान्यतः परपरिकल्पितात् प्रधानादेरिति\* ॥ \*अयमर्थः\*—सर्व एव ह्याध्यात्मिका भावाः, सुख-दुःख-मोह-सामान्यप्रकृतिकाः, सुख-दुःख-मोहसामान्येन नियमेनान्वित-स्वभावत्वात् ; ये विकारा यदन्वितस्वभावास्ते तत्प्रकृतिका दृष्टाः, यथा मृदन्विताः शरावादयः । तथा सर्वे विकाराः, अविभक्तैकप्रकृतिकाः, परिमितानेकविकारत्वात् ; ये परिमितानेकविकाराः, तेऽविभक्तैकप्रकृतिकाः, यथा मृत्पिण्डप्रकृतिकाः शरावादयः, इति जगन्मूलकारणं प्रधानमनुमिमते सांख्याः । तथाऽणुवादिनश्चानु-मिमते—सर्वे कार्यद्रव्यम्, स्वपरिमाणादणुतरपरिमाणसंयोगसचिवसमानजातीयानेकद्रव्यारब्धम्, कार्यद्रव्य-त्वात् ; यत्कार्यद्रव्यम्, तत्तथा, यथानेकद्रव्यारब्धः पटः, इति निरवयवपरमाणुपर्यन्तमनुमानप्रवृत्तेः परमाणवो मूलकारणमिति । तथा शून्यवादिनश्च—सर्वे कार्यम्, अभावपुरःसरं भवितुमर्हति, योग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानपूर्वा-वस्थत्वात् ; यथा परपरिकल्पित आत्मेति शून्यालम्बनत्वं सर्वत्र—वदन्ति । योगाः शैवाश्च—हिरण्यगर्भे पशुपतिं चागमसामर्थ्याजगत्कारणं कल्पयन्ति । तान् पक्षान् व्यावर्तयति—\*नान्यतः परपरिकल्पितादित्यादिना\* ॥

तत्र प्रथमं तावत् प्रमाणपूरणं सम्भावयति—\*अचेतनात्तावदित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* । कथम् ?

### ऋजुविवरणम्

“नान्यतः” इत्यस्या “चेतनत्वादि”त्यनेन विषयभेदमाह—\*तत्र प्रथमं तावदिति\* ॥ \*ननु\*—नान्तरत्व-प्रतीत्या सुखाद्यात्मकत्वं घटादीनाम् ; विरोधात्, न घटादेस्सुखाद्यात्मकत्वासिद्धौ भेदो नच संभवतीति वाच्यम् ;

### तत्त्वदीपनम्

इत्याह—\*अस्येति\* ॥ अस्य जगत इत्यनेन भाष्यं व्याचष्ट इत्यन्वयः । “अस्य जगतः” इत्यत्र “न यथोक्तविशेषण-त्ये”त्यादिभाष्याक्षरव्याख्यानं क्रियते, अत्र तु तात्पर्यं कथ्यत इत्यपौनरुक्त्यमित्यर्थः । परकल्पनाप्रतिपत्तौ तन्निरसनं सुकरमिति तत्कल्पनामाह—\*नान्यत इति\* ॥ सुख-दुःख-मोहात्मकमनुगतं सामान्यपदवेदनीयं यद्वस्तु, सा प्रकृतिर्येषां ते तथोक्ताः । यद् यदन्वितम्, तत् तत्प्रकृतिकमित्युक्ते संयोगाद्यन्वितघटादिषु व्यभिचारः, तदर्थम्—\*नियमेनेति\* ॥ अनु-मानान्तरमाह—\*तथेति\* ॥ “एकप्रकृतिकाः” इत्युक्ते ब्रह्मप्रकृतिकतया सिद्धसाधनत्वम्, तदर्थम्—\*अविभक्तेति\* । संसृष्टत्वमविभक्तशब्देन विवक्षितमित्यर्थः । तावत्युक्ते संसृष्टपरमाणुप्रकृतिकतया सिद्धसाध्यत्वम्, तदर्थम्—\*एकेति\* । परिमितत्वादानेकत्वाद्विकारित्वाच्चेति हेतुत्रयम् । विवादाध्यासितं कार्यद्रव्यम्, स्वपरिमाणादणुपरिमाणारब्धम्, कार्य-द्रव्यत्वात् ; संमतवदिति विवक्षितम् । संयोगस्यासमवायिकारणत्वं दर्शयितुम्—“संयोगसचिवे”ति ॥ विजातीयस्या-नारम्भकत्वमाह—\*समानजातीयेति\* ॥ अनेकेषामारम्भकत्वे नियममाह—\*अनेकेति\* ॥ गुणादिव्यावृत्त्यर्थम्—\*द्रव्यत्वादिति\* ॥ नित्यद्रव्यव्यावृत्त्यर्थम्—\*कार्येति\* ॥ तथाऽपि कथं परमाणुकारणवादः ? तत्राह—\*निरवय-वेति\* ॥ “अनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वादि”त्युक्त आत्मनि व्यभिचारः, तदर्थम्—\*योग्यत्वे सतीति\* ॥ पौनरुक्त्यं निरस्यति—\*तत्र प्रथममिति\* ॥ उत्तरत्र प्रमेयदूषणं कथ्यत इत्यपौनरुक्त्यम् । प्रमाणदूषणप्रकारं पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ घटादयो बाह्यत्वेन, सुखादयस्त्वान्तरत्वेनेत्यसिद्धिरित्यर्थः । सुखाद्यात्मतायाः प्रामाणिकत्वाद्देहोपलम्भो विभ्रस इति



### पञ्चपादिकाविवरणम्

सांख्यानुमाने तावत्सुख-दुःख-मोहान्वयो भावानामसंप्रतिपन्नः ; अन्तर्बहिर्भावेनोपलब्धेः । \*स्यादेतत्\*—सर्वे विकाराः, सुख-दुःख-मोहात्मकाः, चित्तोपरक्तत्वे सति तत्र तदाकारप्रतिभासहेतुत्वात्; दर्पणोपरक्ततया मुखाकार-प्रतिभासहेतुविम्बवदिति भावानां सुख-दुःख-मोहान्वयोऽनुमीयत इति, न ; अन्तर्बहिर्भावभेदप्रत्यक्षविरोधात्, एकं च शब्दमुपलभमानानां प्रत्येकं सुख-दुःख-मोहत्रितयोपलम्भप्रसङ्गाच्च, अदृष्टेन च वस्तुसामर्थ्यनियमायोगात्, अतोऽसिद्धो हेतुः, अनैकान्तिकश्च ; गुणसामान्यैरप्यप्रकृतिभिर्द्रव्याणां समन्वयात् । यत्तु परिमितत्वादिति, तत्रापि वस्तुतः परिमितत्वे हेतोरगुण-पुरुषेष्वनैकान्तिकता । देश-कालपरिमितत्वे घट-हिम-करकादिषु प्रत्यक्ष-दृष्टभिन्नप्रकृतिष्वनेकान्तः । वैशेषिकानुमानेऽपि स्वपरिमाणादणुतरपरिमाणारभ्यत्वे दीर्घविस्तीर्णदुकूलैः क्रिय-माणरज्जुद्रव्यस्य ह्रस्वस्यापि कार्यत्वदर्शनादनैकान्तिको हेतुः, प्रत्यनुमानदुष्टश्च । न किञ्चिदपि कार्यद्रव्यम्, निरवयवद्रव्यसंयोगपुरस्सरम्, प्रचयात्मकत्वात्, यत् प्रचयात्मकम्, न तद् निरवयवद्रव्यसंयोगपुरस्सरम्, यथा घटः । शून्यानुमानेऽपि घटस्य पूर्वावस्था, प्रत्यक्षदृष्टा, मृदित्यनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वात्, इत्यसिद्धो

### ऋजुविवरणम्

मानसद्भावादित्याह—\*स्यादेतदिति\* ॥ तदाकारप्रतिभासहेतुत्वे विवक्षिते प्रदीपादावनैकान्तिकोऽसिद्धश्च, तदर्थमाह—\*तत्रेति\* ॥ तथाऽपि तदुपलब्ध्यादिप्रतिभासहेतुत्वादानमनैकान्तिकम्, तदर्थम्—\*निमित्तोपरक्तेति\* ॥ \*ननु\*—कथं बहिर्भाव-प्रतीत्या सुखाद्यात्मकत्वाभावः ? विषयगतसुखाच्चित्तगतस्यान्यत्वेनापि संभवात्, यद्वा—औपाधिक्यन्यत्र प्रतीतिरित्या-शङ्क्याह—\*एकमेवेति\* ॥ \*ननु\* अदृष्टवशादेकस्यैवोपलब्धिद्विरित्याशङ्क्याह—\*अदृष्टेन चेति\* ॥ कथं रज्ज्वामनेका-न्तिकत्वम्; दुकूलानामन्त्यावयवित्वेनारम्भकत्वादित्याशङ्क्य पारिभाषिकमप्यङ्गीकृत्याह—\*प्रत्यनुमानेति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ स्वाभिव्यञ्जकोपाधौ तदाकारप्रति भासहेतुत्वादिति हेत्वर्थः । असिद्धिनिरासार्थम्—“स्वाभिव्यञ्जके”ति विशेषणम् । प्रत्यक्षविरोधादनुमानमेव नोत्तिष्ठतीत्याह—\*नान्तर्बहिरिति\* ॥ नच प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वाद् बाधकत्वं शङ्क्यम् ; बाधकप्रत्ययवेद्यत्वं भ्रान्तित्वम् । नच बाधकप्रत्यय उपलभ्यते । न चास्मादनुमानाद् बाधः ; परस्परश्रयप्रसङ्गादित्यर्थः । विपक्षबाधकर्तृपराहतश्च हेतुरित्याह—\*एकमिति\* ॥ एकैकस्य त्रयात्मकत्वेऽपि यदुपलब्धिहेतोरदृष्टस्योद्बोधः, तस्योपलम्भः, नेतरस्येति व्यवस्थामाशङ्क्याह—\*अदृष्टेनेति\* ॥ वस्तुनि प्रतीय-मानेऽपि तदभिन्नसुखाद्यदृष्टाभावान्नोपलभ्यत इति न वक्तव्यम् ; वस्तुनोऽप्यनुपलम्भापातात्, अदृष्टव्यतिरिक्तपुष्कलकारणे सत्यदृष्टाभावेन कार्याभावाददर्शनाच्च नादृष्टस्य नियामकत्वमित्यर्थः । द्वितीयानुमानस्यादुष्टत्वे सिद्धे “तदन्वितत्वादि”ति हेतोरसिद्धिस्तदवस्थेत्याह—\*अत इति\* ॥ \*गुणसामान्यैरिति\* ॥ नील-पीतादिगुणैर्घटत्वादिसामान्यैश्चेत्यर्थः । “परिमितत्वादि”त्यत्र किं वस्तुतः परिमितत्वम् ? आहो देशतः ? उत कालतः ? नाद्य इत्याह—\*तत्रापीति\* ॥ द्वितीय-तृतीयौ दूषयति—\*देश-कालेति\* ॥ घटादिषु परिमितत्वं वर्तते, नचैकप्रकृतिकत्वम् ; घटस्य मृदुपादानकत्वात्, हिम-करकादेश्चोदकोपादानत्वाद् द्वितीय-तृतीयहेतोरप्यत्रैव व्यभिचारः स्पष्ट इत्युपेक्षितम् । दुकूलयोरन्त्यावयवित्वान्न रज्जु-द्रव्यारम्भकत्वम्, किन्तु संयोगमात्रमिति नानैकान्तिकत्वमिति चेत्, मैवम् ; पटस्यापि तन्तुसंयोगमात्रत्वम्, न कार्या-न्तरत्वमित्यपि प्रसक्तेरित्यर्थः । आत्मनि सिद्धसाध्यत्वं निराकरोति—\*कार्येति\* ॥ गुणादिकं व्यावर्तयति—\*द्रव्यमिति\* ॥ प्रचयात्मकत्वात्सावयवत्वादित्यर्थः । संयोगपुरःसरत्वं पूर्वपक्षिणोच्यते, तस्य प्रतिषिध्यमानत्वान्न दिक्कालादिसंयोगपुरस्सरत्वाभावेन सिद्धसाध्यत्वमित्यर्थः । सर्वं कार्यम्, अभावपुरस्सरम्, इत्यत्र किं घटादेरपि धर्मि-त्वम् ? उत तद्व्यतिरिक्तस्य ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*शून्यानुमान इति\* ॥ नापि द्वितीयः ; क्वचित् सत्कारणत्व इतरत्रापि तदनुमानसंभवादित्यर्थः । “प्राधानादेरचेतनत्वादि”त्यादेरचेतनकारणत्वादस्य निरस्तत्वात्पौनःस्यमित्या-शङ्क्याह—\*इदानीमिति\* ॥



### भामती

तन्नेव यो हतः ॥” “यथा च वन्ध्या जननी” इत्यादिरिति । इत्थं नाम जन्मादिसंभावनाहेतुः, यदन्ये वैशेषिकादय इत एवानुमानादीश्वरविनिश्चयमिच्छन्तीति ।

### ऋजुप्रकाशिका

वनाविरहितस्य नाध्यारोपोऽपीत्यर्थः । तत्त दृष्टान्तमाह—\*यथा च वन्ध्येति\* ॥ तथाच जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मलक्षणं ब्रह्मसंभावनाहेतुरिति निगमयति—\*इत्थं नामेति\* ॥ तथाचेत्थलक्षणेन संभावितस्य ब्रह्मणो हेतुनाऽनुमानप्रमाणेन सिद्धिः, अनुमानं तु इत्थम्—पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं जगत्, सकारणकम्, जन्म-स्थिति-संहारवत्त्वात् ; घटादिवदिति ॥

### पञ्चपादिका

अचेतनात्तावदचेतनात्वादेवानुपपन्नम् । चेतनादपि ; परिच्छिन्नज्ञान-क्रियाशक्तित्वात् । अभावात्

### पञ्चपादिकाविवरणम्

हेतुरिति । इदानीमर्थदूषणमभिप्रेत्याह—\*अचेतनात्तावदचेतनत्वादेवेत्यादिना\* ॥ मा भूदनीश्वरात् प्रधानाद् विचित्रकार्यरचना, परमाणुवादे तु पुनरधिष्ठातृश्वरस्य विद्यमानत्वात् तदबुद्धिसामर्थ्यदेव विचित्र-जगत्कार्यरचना भविष्यति, इत्याशङ्क्याह—\*चेतनादपीति\* ॥ \*अयमर्थः\*—कुलालादिदृष्टान्तेनानुमीय-मानस्येश्वरस्य शरीरेन्द्रियपरिच्छिन्नज्ञानशक्तित्वात् तेनैव दृष्टान्तेन परिच्छिन्नज्ञानशक्तेश्च जगद्रचनानुपपत्तिः, इति घटादिषु कर्तृद्वयप्रसङ्गाद् मूलकारणेऽपि तदनुमानमिति ॥

यत्तु शून्यालम्बनं जगदिति, तत्राह—\*अभावात्पुनरिति\* ॥ नच निरुपाख्योपादानता जगतः ; सदन्वयादिति । किंच निरुपाख्यस्य कारणत्वे पूर्वकल्पस्य निरन्वयविनाशात् संस्काराभावात् पुनः सजा-

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वेनाङ्गीकारादसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमर्थ इति\* ॥ \*ननु\*—एकस्य कर्तृत्वेऽर्थात् सर्वज्ञत्वमपि भविष्यतीत्याशङ्क्याह—\*घटादिषु चेति\* ॥ निरुपाख्यस्यैवोपादानत्वं कस्मान्न भवतीत्या-शङ्क्याह—\*नच निरुपाख्येति\* ॥ कथं सदन्वयेन निरुपाख्योपादानता निराक्रियते ? काल्पनिकत्वेनाप्युपपत्तेः, ‘अतीते’ति व्यर्थम् ; पूर्वैर्गैवाभावहेतुत्वस्य निरस्तत्वात्, असिद्धश्च ; उपादानत्वस्य संस्काराभावहेतुत्वाभावात्, तथा सत्युत्तरस्यापि सादृश्यं वक्तुं शक्यते, मा भूत् सादृश्यम्, कथं यादृच्छिकत्वम् ; नियमाभावो वा ? यथोत्पन्नेनैव नियमादिसिद्धेरित्या-

### तत्त्वदीपनम्

चेतनकारणतायाः सिद्धान्तिनोऽपि संमतत्वात् कथं निरसनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*मा भूदिति\* ॥ “परिच्छिन्नत्वादि”त्यत्र किं देशतः परिच्छिन्नत्वं विवक्षितम् ? उत कालतः ? आहो वस्तुतः ? प्रथम-द्वितीययो-र्हेत्वसिद्धिः, नापि तृतीयः ; वस्तुतः परिच्छिन्नस्याप्यधिष्ठातृत्वोपपत्तेः । ततश्च “परिच्छिन्नत्वादि”त्येतदसङ्गत-मित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अयमर्थ इति\* ॥ इतोऽपि नाधिष्ठातृश्वरवादो युक्त इत्याह—\*घटादिष्विति\* ॥ विवादाध्यासितम्, द्विकर्तृकम्, कार्यत्वाद् ; घटादिवत् । नच जीवेश्वरकर्तृद्वयाङ्गीकारादिपत्तिरिति—वच्यम् ; घटादौ जीवेश्वरकर्तृकत्वस्य तदतिरिक्तकुलालादिकर्तृकत्वस्य च दृष्टत्वात् पृथिव्यादावपि कर्तृत्रयप्रसङ्गात् । नचान्तोत्कर्ष-समत्वं शङ्क्यम् ; अव्याप्तधर्मप्रसङ्गस्योत्कर्षसमतत्वात् । नचात्र तथात्वम् ; घटादेः कर्तृत्रयव्याप्तत्वादित्यर्थः । निरुपाख्य-त्वाच्च शून्यस्य कारणत्वमित्युक्तम्, तदयुक्तम् ; निरुपाख्यकारणवादिनं प्रति “निरुपाख्यत्वादि”ति हेत्वभिधानायोगा-दित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ यद् यदनुविद्धम्, तत् तदुपादानं दृष्टम्, घटादेश्च निरुपाख्यानन्वितत्वाच्च शून्योपादान-

### भाष्यभावप्रकाशिका

दुःख-मोहसामान्यप्रकृतिकाः, तदन्वितस्वभावत्वात् ; ये विकारा यदन्वितस्वभावांस्ते तत्प्रकृतिका दृष्टाः, यथा मार्तिकाः शरावादयः । \*तथा\*—सर्वे विकाराः, अविभक्तैकप्रकृतिकाः, परिमितत्वात्, अनेक-



## पञ्चपादिका

पुनर्नचेतनत्वादेव केवलादनुपपत्तिः, अपितु निरुपाख्यत्वादतीतकल्पसंस्काराभावात्, पूर्वकल्पैकरूपो वर्तमानोऽपि कल्प इति प्रमाणाभावात्, सर्व एव व्यवहारो यादृच्छिक इति न क्वचित् कश्चिन्नियमोऽभ-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तीयकार्योत्पादनियामकाभावाद् विशिष्टसंस्थानपञ्चादिकामितयाऽनुष्ठितकर्मणां कल्पान्तरे तथाविधपञ्चाद्यनुपपत्तेः, शब्दार्थ-सम्बन्ध-तद्व्यवहारिणां च “नाकस्य पृष्ठे तं कालं दिवि सूर्य इव रोचते । ततः कृतयुगस्यादौ ब्रह्म-पूतो महाशयाः । सर्वशो धृतिमानृषिः पुनराजायते स्मरन् ॥” इत्यादिश्रुतिप्रतिपन्नानां निरन्वयविनाशात्, कल्पान्तरे पूर्वकल्पव्यवहारानुसन्धानेन व्यवहारप्रवृत्त्यभावाद् अपूर्वसङ्केते च, धर्मस्य प्रमाणान्तरागोचरत्वाद् गोपदार्थस्यापूर्वसाधनत्वं प्रमाय तत्र च गोशब्दं प्रयुज्य “गवा यजेत” इति वाक्यरचनानुपपत्तेश्च कर्म-तत्फल-तत्प्रमाणव्यवहारोच्छेद इत्याह—\*अतीतकल्पसंस्काराभावादित्यादिना\* ॥

## ऋजुविवरणम्

शङ्क्यावतारयति—\*किञ्च निरुपाख्यस्येत्यादिना\* ॥ कथमतीतसंस्काराभावः ? इत्याशङ्क्योपपादयति—\*पूर्वकल्प-स्येति\* ॥ मा भूत् संस्कारः, ततः किमिति ? तदाह—\*सजातीयेति\* ॥ अस्य हेतोः “कर्मादिव्यवहारोच्छेदः” इत्युत्तरे-णान्वयः । मा भूत् सजातीयकार्योत्पादः, तथाऽपि कथं व्यवहारोच्छेदः ? तादृशेनैव व्यवहारसिद्धेः, इत्याशङ्क्य कर्म-तत्फलव्यवहारस्तावन्नोपपद्यत इत्याह—\*विशिष्टसंस्थानेति\* ॥ तथा गतागति-प्रभवागममूलकर्मतत्फलेष्वपि समानमिति भावः । भवतु कर्म-तत्फलव्यवहारोच्छेदः, प्रमाणव्यवहारोच्छेदः कथमिति ? अत आह—\*शब्दार्थेति\* ॥ अपूर्व एव व्यवहारो भवत्वित्याशङ्क्याह—\*अपूर्वसङ्केते चेति\* ॥ स्वभाववादः शङ्कनीय एव न भवति; निर्वीजत्वात्, इत्याशङ्क्य,

## तत्त्वदीपनम्

त्वमित्यर्थः । इतोऽपि न जगच्छून्योपादानमित्याह—\*किञ्चेति\* ॥ निरुपाख्यस्य कारणत्वे कर्म-तत्फल-तत्प्रमाणव्य-वहारोच्छेद इति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*पूर्वकल्पस्येति\* ॥ मा भूत् सजातीयकार्योत्पाद इति मन्वानं प्रत्याह—\*विशिष्टेति\* ॥ इतोऽपि न निरुपाख्यकारणवाद इत्याह—\*शब्दार्थेति\* ॥ शब्दार्थ-संबन्ध-तद्व्यवहारिणां निरन्वय-विनाशात् प्रमाणव्यवहारोच्छेद इति संबन्धः । तद्व्यवहाराणां सत्त्वं एव किं मानमिति ? अत्राह—\*नाकस्येति\* ॥ मेरुपृष्ठादेरुपरीत्यर्थः । \*त-कालम्-आकर्मक्षयादित्यर्थः । \*ब्रह्मपूत इति\* ॥ वेदपूत इत्यर्थः । ब्रह्मभूत इति पाठे विराड्भावमापन्न इत्यर्थः । \*स्मरन्निति\* ॥ प्राक्तनशब्दार्थसंबन्धाभावेऽप्यपूर्व एव शब्दार्थसंबन्धः संकेत्यत इति शङ्कां निरस्यति—\*अपूर्वेति\* ॥ प्रधानादीनां कारणत्वं न चेत् स्वभावः, कारणसापेक्षत्वं नियन्तुं शक्यते, सामर्थ्यां

## भाष्यभावप्रकाशिका

त्वात्, विकारत्वाच्च ; शरावादिवदिति सांख्याः—प्रधानमनुमिमते । \*अणुवादिनश्च\* सर्वं कार्यं द्रव्यम्, स्वपरिमाणादणुतरपरिमाण-संयोगसचिव-समानजातीयानेकद्रव्यारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात् ; घटादिवदिति, निरवयवपरमाणुपर्यन्तमनुमानप्रवृत्तेः परमाणवो मूलकारणमिति—\*कल्पयन्ति\* ॥ \*शून्यवादिनश्च\*—सर्वं कार्यम्, अभावपुरस्सरम्, योग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वात् ; यदेवं न भवति, न तदेवम्, यथा परकल्पित आस्मेति—\*मन्यन्ते\* ॥ \*योगिनश्च\*—हिरण्यगर्भं संसारिणमागमसामर्थ्याद् जगत्कारणम्—कल्पयन्ति, तान् व्यावर्तयति—\*संभावयितुमिति\* ॥ अयं भावः—अन्तर्बहिर्भावभेदेन सुख-दुःख-मोहानां घटादिविकाराणां च प्रत्यक्षेण भेदग्रहणादेरेक-पदार्थोपलम्भे चैकस्यैव सुखाद्यात्मत्वेन युगपद् ग्रहणप्रसङ्गात्, अदृष्टेन च वस्तुसामर्थ्यनियमायोगाद-सिद्धः सांख्यानां हेतुः, अनैकान्तिकश्च ; शौकल्यादिगुणैर्घटादीनां परापरसामान्यैश्च द्रव्याणाम-प्रकृतिभिरप्यनुमानात् । परिमितत्वस्य च न हेतुत्वम् ; वस्तुतः परिमितत्वाङ्गीकारे पुरुषेष्वनेकान्तः ।



## नच स्वभावतः ; विशिष्टदेश-काल-निमित्तानामिहोपादानात् ।

### पञ्चपादिका

भविष्यत् । \*नच स्वभावतः, विशिष्टदेश-काल-निमित्तोपादानादिति\* ॥ स्वभावो नामान्यानपेक्षा ।

### पञ्चपादिकाविवरणम्

अत्र स्वभाववादी जल्पति—न कारणापेक्षमिदमुत्पद्यते । \*ननु\* स्वयमेव स्वस्य निमित्तमित्युक्तं भवति ? किंवा निर्निमित्तमुत्पद्यत इति ? निर्निमित्तमिति ब्रूमः । \*ननु\* तर्हि घटस्य भावाभावौ युगपत् स्याताम् ; क्रमकारिनिमित्तनिरपेक्षत्वात्, \*उच्यते\* ; कारणस्य क्रमकारित्वं स्वभाव इति चेत्, स्वभाववादप्रसङ्गः, निमित्तान्तरापेक्षत्वेऽनवस्थापातः । कालभेदेन क्रमकार्यवस्थेति चेत्, स कालक्रमः स्वाभाविकश्चेत्, स्वभाववादः, निमित्तान्तरापेक्षत्वेऽनवस्था । तस्मात् सर्वं कार्यं विचित्रं क्रमवर्ति च यथादर्शनं स्वभावेनैव जायत इति, तत्राह—\*न स्वभावत इत्यादिना\* ॥

### ऋजुविवरणम्

तन्मतं दर्शयति—\*अत्र स्वभावेति\* ॥ त्वत्पक्षेऽपि कथम् ? निमित्तोपादानकारणसामर्थ्यस्य सह जन्यत्वादित्याशङ्क्या-  
तत्त्वदीपनम्

व्यभिचारादित्यर्थः । विकल्पासहत्वात्स्वभाववादोऽपि न युक्तिसह इत्याह—\*ननु स्वयमेवेति\* ॥ कर्तृ-कर्मविरोधात् स्वस्य निमित्तत्वानुपपत्तेर्नाद्यो युज्यते । नान्त्योऽपि ; कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गादित्यभिसन्धिः ।

अन्तिमं पक्षमाश्रित्याह पूर्ववादी—\*निर्निमित्तमिति\* ॥ निरपेक्षत्वेन कार्यजनमाश्रयणेऽतिप्रसङ्गादित्या-  
शङ्क्याह—\*ननु तर्हि घटस्येति\* ॥ नच—युगपद् भावाभावप्रसङ्गनमिष्टमित्यपि—शङ्क्यम् ; विरोधात्, प्रवृत्ति-  
निवृत्त्ययुक्तेश्चेत्यर्थः । विकल्पासहत्वान्न हेतुवादोऽपीत्याह—\*उच्यत इति\* ॥ किं सदसत्प्रसङ्गनमात्रमेतत् ? उत  
सहेतुकत्वं सिषाधयिषितम् ? नाद्यः ; अनुभवविरोधादित्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*कारणस्येति\* ॥ द्वितीयं पक्षमादाय  
शङ्कते—\*कालभेदेनेति\* ॥ कालभेदस्य स्वाभाविकत्वात् पूर्वापरीभूतकाले क्रमापेक्षया कार्यजननम् । नच काले  
चोद्यमवतरति ; तस्य नित्यत्वादित्यर्थः । कालस्य नित्यत्वेऽपि तस्य पूर्वापरीभावः स्वाभाविकः ? उत सहेतुकः ? नाद्य  
इत्याह—\*स कालेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*निमित्तान्तरेति\* ॥ नचानवस्थाप्रसङ्गनमिष्टमित्यपि शङ्क्यम् ;  
निमित्तभेदस्यानुभवबाधितत्वादित्यर्थः । त्वत्पक्षे क्रमकार्योदयस्याकस्मिकत्वमित्याशङ्क्य, तत्रापि स्वभाव एव हेतु-  
रित्याह—\*तस्मादिति\* ॥ एवं सोपपत्तिकं स्वभाववादमभिधाय तदुत्तरत्वेनोत्तरग्रन्थमवतारयति—\*तत्राहेति\* ॥  
तैलाद्यर्थिनां देशादिनिमित्तापेक्षादर्शनाच्च स्वभावतो जन्मेत्युक्तम्, तत्रेदं विवेक्तव्यम्—किमसमर्थस्यान्यापेक्षा ? उत  
समर्थस्य ? आद्ये न सहकार्यपेक्षयाऽपि कार्यकरत्वम् ; शिलाशकलादेरुदकादिसहकृतस्यापि कार्यकरत्वाददर्शनात्, द्वितीये

### भाष्यभावप्रकाशिका

देश-कालाभ्यां परिमितत्वाङ्गीकारे च करकादिषु प्रत्यक्षदृष्टभिन्नप्रकृतिष्वनेकान्तः । अनेकत्वहेतुश्च  
पुरुषेष्वनेकान्तः । अथानेकत्वसंख्यागुणत्वं हेतुः, अथापि सत्त्वाभावेऽनेकान्तः । विकारत्वहेतुरपि  
घट-करकादिष्वनेकान्तः । अणुवादिनोऽपि दीर्घविस्तीर्णोर्णादुकूलैः क्रियमाणरज्जुद्रव्यस्य भास्वरस्यापि  
कार्यत्वदर्शनादनेकान्तो हेतुः । शून्यवादिनोऽपि घटस्य पूर्वावस्था स्यात् “प्रत्यक्षोपलब्धे”त्यसिद्धो  
हेतुः । आगमस्तु हैरण्यगर्भादीनां वेदविरोधादप्रमाणमिति । स्वभाववादमतं व्यावर्तयति—  
\*नच स्वभावत इति\* ॥ अयं भावः—स्वभावादुत्पद्यत इति किं स्वयमेव स्वस्य निमित्तमित्युच्यते ?  
किं वा निर्निमित्तमुत्पद्यत इति ? आद्ये आत्माश्रयता, द्वितीये पटस्य भावाभावौ निर्निमित्तत्वा-  
विशेषाद् युगपत् स्याताम् । स्वतस्सिद्धसामर्थ्यानां च भावानां परस्परोपकार्योपकारकभावस्य प्रत्यक्ष-



## एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः ।

भामती

संभावनाहेतुतां द्रढयितुमाह—\*एतदेवेति\* ॥

पञ्चपादिका

तेनापेक्षैवानुपपन्ना, कुतो नियमसम्भवः ? अतो युक्त्याऽपि वस्त्वन्तरस्य कारणत्वसंभावना-  
निराकरणेन पारिशेष्यात्पूर्वोक्तविशेषण ईश्वर एव कारणमिति सिद्धम् ॥

\*एतदेवानुमानमिति\* ॥ येयं युक्तिरभिहिता—यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा नान्यतो जगतो  
जन्मादि सम्भवतीति, एतदेव स्वतन्त्रमनुमानमीश्वरसिद्धौ सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तित्वसिद्धौ च तस्य प्रमाणम्, किं  
वेदवाक्यैः ? इतीश्वरकारणिनः=कणादप्रभृतयो मन्यन्ते ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

स्वतःसिद्धसामर्थ्यानामपि भावानां परस्परपकार्योपकारकभावः प्रत्यक्षसिद्ध इत्यर्थः । \*अत इत्युप-  
संहारः । \*ननु\* अनुमानेनैव यथोक्तविशेषणमीश्वरं तार्किका व्यवस्थापयन्ति, किं युक्तिसहितेनागमेनेति ? अत  
आह—\*एतदेवानुमानमित्यादिना\* ॥ युक्तिर्हि संभावनावुद्धिमात्रमुत्पादयति, अनुमानं पुनरर्थं निश्चाप-  
यति । व्याप्त्यनुपपत्त्याभास उदाहरणमात्रप्रदर्शनं युक्तिः, अव्यभिचारिणी व्याप्तिरनुमानम् । तत्र कुलालादि-  
दृष्टान्तेन सर्वेश्वरकारणत्वं निश्चेतुं शक्यते ; विपरीतोदाहरणसंभवात्, किन्तु प्रमाणान्तरे सति कुलालादि-

अनुविवरणम्

मिप्रायमाह—\*स्वतःसिद्धसामर्थ्यानामिति\* ॥ युक्तेरप्यनुवादत्वात्कथं मन्यन्त इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्य, नेदममित्याह—  
\*युक्तिर्हीति\* ॥ \*ननु\*—युक्तेरपि हेतुपरत्वेन गमकत्वादनुमानवन्निश्चायकत्वमेवेत्याशङ्क्याह—\*व्याप्त्यनुपपत्त्याभास  
इति\* ॥ एवं सत्यप्यत्र युक्तिरेव सूत्रितेति कथं गम्यत इति ? तदाह—\*तत्र कुलालादीति\* ॥ कथं तैरनुमानमित्युक्त-

तत्त्वदीपनम्

सहकार्यपेक्षैवानुपपन्नेत्याशङ्क्य द्वितीयपक्षमादाय समाधत्ते—\*स्वतःसिद्धेति\* ॥ किञ्च प्रतिज्ञातेऽर्थे हेतुरुपन्यस्यते ?  
उत न ? आद्ये निर्हेतुकत्वादक्षतिः, द्वितीये ज्ञातार्थासिद्धिरिति द्रष्टव्यम् । प्रधानादीनां कारणत्वासंभवाद् “यतो वे”त्या-  
दिवाक्यालोचनयेश्वरः कारणमित्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*नन्वनुमानेनेति\* ॥ विवदाध्यासितं कर्म, प्रयत्नाधारजम्,  
कर्मत्वात्; संमतवदित्यनुमानादीश्वरसिद्धेः कृतं वाक्येनेत्यर्थः । युक्त्यनुमानयोर्भेदासिद्धेर्नायं विभागः साधरिति, अत्राह—

वार्तिकम्

संप्रति तस्य तात्पर्यार्थं परमतवैलक्षण्येन दर्शयितुं तन्मतमनादेयत्वेनोपन्यस्यति—\*एतदेवेति\* ॥  
यदेतत् सूत्रकारेण जगज्जन्मादिरूपं ब्रह्मण उपलक्षणमभिहितम् . तदेव श्रुतिनिरपेक्षं संसारिव्यतिरिक्तेश्वर-

भाष्यभावप्रकाशिका

सिद्धत्वादन्यनिरपेक्षस्वभावस्य न कारणत्वमिति । तदनेन प्रबन्धेन जगत्कारणे ब्रह्मणि संभावना, उत्तरत  
प्रमाणमुक्तम् । यथाहुः—

“संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना । न तस्य हेतुमिस्त्राणमुत्पत्तत्वेन यो हतः” ॥ इति ॥

इदानीमिममेव संभावनाहेतुमन्येऽनुमानरूपतया निश्चयहेतुं मन्यन्त इति संभावनाहेतुतां  
दर्शयितुमाह—\*एतदेवेति\* ॥ येयं युक्तिरभिहिता, “न यथोक्तविशेषणस्ये”त्यादि, एतदेव

प्रदीपः

विशेषणव्यावर्त्यपक्षमाह—\*नच स्वभावत इति\* ॥ \*ननु\*—जगत्कारणत्वं सर्वज्ञं ब्रह्म विहायान्यत्र नास्तीति वर्णनं  
नोपपन्नम् ; यतः कुलालादिनानाजीवसाधारणम्, जीवसमष्टिहिरण्यगर्भसाधारणं वा तत्, इत्याशङ्काम्—न केवलं वेदान्तिनः,



CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.



\*ननु\* इहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे,

# भामती

चोदयति—\*नन्विहापीति\* । एतावतैवाधिकरणार्थे समाप्ते वक्ष्यमाणाधिकरणार्थमनुवदन् सुहृद्भावेन

पञ्चपादिका

जन्मादिसूत्रलक्षितान्यपि वाक्यानि “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादीनि परार्थानुमानवाक्यसमानि दृश्यन्त इति वदन्तः । \*नन्विहापि तदेवोपन्यस्तमिति\* ॥ यथा

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* वाक्येषु सत्सु किमित्यनुमानप्रयास इति ? अनुमानसिद्धार्थानुवादकत्वादित्याह—\*जन्मा-  
दीति\* ॥ \*ननु\* सूत्रेऽप्येतान्येवानुमानानि स्वातन्त्र्येणार्थनिश्चायकत्वेन सूत्रितानि, तत् कथमागमगुणभूतेयं  
युक्तिः ? इति चोदयति—\*नन्विहापि तदेवोपन्यस्तमित्यादिना\* ॥

## ऋजुविवरणम्

\*ननु सूत्रेऽप्येतान्येवेति\* ॥ अयं भावः—“चोदनालक्षणः” इत्यत्र यथा लक्षणस्यैव प्रमाणत्वम्, तथाऽ-

तत्त्वदीपनम्

क्रिकाणामिति शङ्कते—\*ननु वाक्येष्विति\* ॥ न वाक्यस्वरूपं निराक्रियते, किन्तु तत्प्राप्ताण्यमित्याह—\*अनु-  
नमिति\* ॥ संभावनाबुद्धिहेतुत्वेनाऽनुमानोपन्यासस्याङ्गीकारात् । “नन्विहापी”ति चोद्यमनर्थकमित्याशङ्क्य,  
तात्पर्यमाह—\*ननु सूत्र इति\* ॥ वाक्यानामप्यनुमानरूपत्वाद् वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वादित्येतन्नानिष्टमित्याशङ्क्य,

वार्तिकम्

शङ्कते—\*नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्र इति\* ॥ \*तदेव=अस्मद्भिप्रेतं श्रुतिनिरपेक्षं ब्रह्मविषय-  
मनुमानमित्यर्थः । \*ननु\* “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादिश्रुतिरपि तद्विषया दृष्टा, \*सत्यम्\* ;  
“वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते”त्यादेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादकत्ववत् तस्या अनुमानसिद्धब्रह्मानुवादकत्वं भविष्यति ;  
“अनन्यलभ्यो हि शः” इति न्यायात्, \*सत्यं परार्थानुमानरूपाणि सूत्राणि\*, परन्तु तानि न ब्रह्म-

## भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\*—सूत्रेऽप्यनुमानमेवोपन्यस्तम् तत्कथमाह—मानानुगुणभूतेयं युक्तिः ? इति चोदयति—  
\*नन्विहापीति\*॥

**प्रदीपः**

किन्तु वैशेषिकादयोऽप्यनुमानप्राप्त्यन्वादिनः जगत्कारणत्वमुक्तविधेश्वरस्यैवासाधारणं मन्यन्ते, इति नान्यत्रोक्तलक्षणस्य-  
संभावनालेशोऽपि ; अन्यथा क्षित्यङ्कुरादिकम्, सकर्तृकम् ; कार्यत्वात्, इत्यनुमानस्यापि जीवकर्तृकत्वं नानाजीवसमष्टिरूप-  
हिरण्यगर्भकर्तृकत्वं वाऽऽद्याथार्थान्तरमापद्येत, इति नान्यत्रास्य संभावनामात्रमपि, किन्तु ब्रह्मण्येवास्य संभावनेत्यभिप्रायेण परि-  
हरति—\*एतदेवेति\*॥ \*ईश्वरकारणिनः=ईश्वरमेव कारणं मन्यमाना वैशेषिकादयः । \*एतदेव = जगत्कारणत्वमेव । संसारिव्यति-  
रिक्तेश्वरसाधनरूपमनुमानं मन्यन्ते । संभावनामात्रस्यानुमानत्वव्यपदेशो वैशेषिकाणां विश्रमजिवन्धन इति भावः । अत्राय-  
ननुमानप्रयोगः—ईश्वरः, संसारिव्यतिरिक्तः, जगत्कारणत्वात् ; व्यतिरेकेण कुलालादिवदिति । तद्यदि जगत्कारणत्वं जीव-  
समष्टिर्भोऽपि स्यात्, तर्हि तत्र व्यभिचारादिदमुक्तविधेश्वरसाधकमेव न स्यादिति जगत्कारणत्वं ब्रह्मलक्षणमिति युक्तमेव । तथाच  
न केवलं “यतो वे”त्यादि वेदान्तवाक्यमेव जगत्कारणे ब्रह्मणि प्रमाणम्, किन्तु तदविरोध्यनुमानमपीति, ब्रह्म जगत्कारण-  
मित्यस्मिन्नंशे वैशेषिकादिमतस्यान्यमपि वर्तत इति भावः ॥

\*ननु\*—यदि वैशेषिकमताद् वेदान्तमतस्याविशेषः, तर्हि सूत्रकारैरपि संसारिव्यतिरिक्तेश्वरसाधनमनुमानमेवात्र सूत्रितम्, न तु वेदान्तवाक्यार्थः, इति कथमिदं सूत्रं तदस्थलक्षणविधया प्रत्यगभिन्नब्रह्मलक्षकम् ? इति प्रत्यगभिन्नब्रह्मजिज्ञास्यतावादादसंभव-  
दुक्तिकः, किन्तूपास्यसगुणब्रह्मजिज्ञास्यतावाद एवोचित इत्यभिप्रायेण शङ्कते—\*नन्विहापि तदेवेति\* ॥ \*इह = ब्रह्ममीमांसायाम्।  
\*जन्मादिसूत्रे = “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रे । अपिशब्दस्यानेनान्वयाद् जन्मादिसूत्रेऽपीत्यर्थः । \*तदेव\* संसारिव्यतिरिक्ते-



## \*न\* ; वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् ।

भामती

परिहरति—\*न ; वेदान्तेति\* ॥ वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थतामेव दर्शयति—\*वेदान्तेति\* ॥ विचार-  
स्याध्यवसानं सवासनाविद्याद्वयोच्छेदः । ततो हि ब्रह्मावगतेर्निर्वृत्तिरविर्भावः । तत् किं ब्रह्मणि  
शब्दाद्वते न मानान्तरमनुसरणीयम् ? तथाच कुतो मननम् ? कुतश्च तदनुभवः साक्षात्कार इति ?

पञ्चपादिका

धूमविशेषस्यागरुसम्भवत्वम्, तथा प्रपञ्चसन्निवेशविशेषस्य सर्वज्ञत्वादिगुणकारणकत्वमिति । \*न

पञ्चपादिकाविवरणम्

परिहरति—\*न वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वादित्यादिना\* ॥ किञ्चानुमानमात्रात् कारणसद्भावमात्रं सिध्यति,  
नाधिकम्, इह तु सत्य-ज्ञानानन्त-सर्वज्ञ-प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिर्विवक्षिता । नचागममात्रेण सामान्य-

ऋजुविवरणम्

त्रापीति । \*ननु\*—अनुमानेनापि कारणसिद्धेः कथं वेदान्तसूचकत्वं सूत्रस्येत्याशङ्क्याह—\*किञ्चानुमानमात्रा-

तत्त्वदीपनम्

प्रतिज्ञाद्यवयवानुपलब्धेर्नानुमानत्वमित्यभिप्रायेणाह—\*परिहरतीति\* ॥ वेदान्तानामनुमानसिद्धानुवादकत्वं यदुक्तम्,  
तदप्यसङ्गतमित्याह—\*किञ्चेति\* ॥ \*अनुमानमात्रादिति\* ॥ आगमासहकृतादित्यर्थः । तथाऽपि कथं वाक्यस्यानु-  
वादकत्वम् ? तत्राह—\*इह त्विति\* ॥ पञ्चविधतात्पर्यल्लिङ्गैर्वेदान्तानां सत्यादिरूपे ब्रह्मणि तात्पर्यं निश्चीयत इत्यर्थः ।  
भूतस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वाद् ब्रह्मणोऽपि प्रमाणान्तरगम्यत्वम्, अत्राह—\*नचेति\* ॥ इन्द्रियायोग्यत्वेन विशेषतोदृष्ट-

वार्तिकम्

विषयाणि ; ब्रह्मणः प्रमाणान्तराविषयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । किं तर्हि ? उपक्रमोपसंहारादिलिङ्गोप-  
स्थापनद्वारैकार्थत्वावधारणेनैकैवाक्यताविषयाणि वेदान्तवाक्यानाम् । तथाचोक्तम्—“अर्थैकत्वादेकं  
वाक्यं साकाङ्क्षञ्चेद्विभागे स्यादिति परिहरति—\*न ; वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वात् सूत्राणामिति\* ॥ वेदान्त-  
वाक्यानां ग्रथनम्—एकवाक्यता, सैवार्थो येषां तानि, वेदान्तवाक्यग्रथनार्थानि, तद्भावः, तत्त्वम् ; तस्मा-

भाष्यभावप्रकाशिका

परिहरति—\*न वेदान्तेति\* ॥ विचारस्याध्यवसानं नाम शब्दज्ञानानुसारिभिर्न्यायैर्ब्रह्मणि वेदान्तानां

प्रदीपः

श्वरसाधनमनुमानमेव । तथाच नाद्वैतसिद्धिरिति निगूढो भावः । उक्तमाक्षेपं निरस्यति—\*नेति\* ॥ सत्यं “यतो वा  
इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादिवाक्यानि संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वसाधनमनुमानं चैकार्थान्येव । परन्त्वियान् विशेषः—यत्,  
अनुमानमिदं वैशेषिकाणां पर्यवसितबोधजनकम्, “यतो वे”त्यादिवाक्यन्तु न पर्यवसितबोधजनकम् । इदं हि अवान्तरवाक्य-  
मेव, न प्रधानवाक्यम् । तथाचापर्यवसितबोधकालिङ्गी दशां “यतो वेत्यादिवाक्यजातस्य गृहीत्वाऽनुमानसाम्यं विवक्षितम्,  
नतु स्वप्रधानवाक्यैकवाक्यतादशां गृहीत्वाऽपि । तदाहि—“यतो वे”त्यादिवाक्यं स्थूलारुन्धतीन्याये प्रथममियमरुन्धतीति  
वाक्यमिवाविवक्षितार्थमेव भवतीति तदस्थलक्षणपरमेव । तथाचानुमानस्य तदस्थलक्षणस्य च संसारिव्यतिरिक्तेश्वरसाधनत्वमात्रेण  
कथमद्वैतासिद्धिः । अद्वितीयं हि ब्रह्म कारणवाक्यप्रतिपाद्यमिति नायमद्वैतसिद्धान्तः । कारणवाक्यमुखेन तत्पदार्थोपस्थापन-  
पूर्वकं प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपबोधकवेदान्तवाक्यसमधिगम्यं ह्यद्वैततत्त्वमद्वैतिनो मन्यन्ते । सति चैवमवान्तरतात्पर्यविषयेऽर्थं वैशेषि-  
कादिभिः साम्येऽपि महातात्पर्यविषयेणाथेन तैरसाम्यात्, प्रत्युत विरोधाच्च, न वैशेषिकानुमानमेवात्र सूत्रकारेण जिज्ञास्यब्रह्मोप-  
स्थापकतया विवक्षितम्, किन्तु भृगुवल्लीप्रकरणं सर्वमपीति वक्ष्यमाणं मनसि निधाय, वेदान्तवाक्यमूलकमेव सूत्रम्, वेदान्त-  
वाक्यानि च वक्ष्यमाणान्यभिन्ननिमित्तोपादानं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव प्रतिपादयन्तीति, न पूर्वोक्तायाः शङ्काया अवसर इत्याशयेनाह—  
\*वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वादिति\* ॥ \*ननु\*—कथं वेदान्तवाक्यानामेव ब्रह्ममीमांसायामुपक्षेपो नानुमानादीनामपि ? ब्रह्ममीमांसा  
हि प्रारम्भमाणा स्वोपकरणतया तर्कमपि समादत्त इति हि—“वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितकौपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना



वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते । वाक्यार्थविचार(१)णाध्यवसान-  
निर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता । सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु  
जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि  
प्रमाणं भवद् न निवार्यते ; श्रुत्यैव सहायत्वेनात्मनः(२) तर्कस्याभ्युपेतत्वात् ।

### भामती

अत आह—\*सत्सु तु वेदान्तवाक्येष्विति\* ॥ अनुमानं वेदान्ताविरोधि तदुपजीवि चेत्यपि द्रष्टव्यम् ।  
शब्दाविरोधिण्या तदुपजीविण्या च युक्त्या विवेचनं मननम् । युक्तिश्चार्थापत्तिरनुमानं वा ॥

### पञ्चपादिका

वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वात् सूत्राणामिति\* ॥ सत्यं तदेवोपन्यस्तमुपकरणत्वेन, न तत्र तात्पर्यम्,  
तात्पर्यन्तु वेदवाक्यग्रथने । तदेव प्रपञ्चयति—\*वेदान्तवाक्यानीति\* ॥ समन्वयसूत्रप्रमुखोपात्तैः  
शब्दशक्त्यनुसारिभिर्न्यायैर्वाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्याध्यवसाननिर्वृत्ता ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तर-  
निर्वृत्ता । सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु तदविरोध्यनुमानमपि प्रमाणं भवन्न निवार्यते ; श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्या-  
भ्युपेतत्वात्\* ॥ तथाहि—“श्रोतव्यो मन्तव्यः” इति श्रुत्या यथा श्रवणं ब्रह्मावगतिहेतुरनूद्यते, तथा

### पञ्चपादिकाविवरणम्

मात्रविषयानुमानादेव विशिष्टार्थसिद्धिरित्याह—\*समन्वयसूत्रप्रमुखोपात्तैरित्यादिना\* ॥ न तर्हि युक्तिरत्र  
सूत्रिता ; आगमेनैव विशिष्टार्थसिद्धेरिति, तत्राह—\*सत्सु त्विति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

स्याप्रसरात्सामान्यतोदृष्टस्य च कारणमात्रविषयत्वाद्विशिष्टं ब्रह्मागमैकगम्यमित्यर्थः । ब्रह्मावगतेरनुमानानिर्वृत्तत्वे  
तत्सूत्रगमनर्थकमिति शङ्कते—\*न तर्हीति\* ॥ अनुमानस्वातन्त्र्यमेव निरस्यते, न सहकारित्वमित्याह—  
\*तत्राहेति\* ॥

### वार्तिकम्

द्वित्यर्थः । संग्रहवाक्यं विभज्यते—\*वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्त इति\* ॥ \*ननु\*—  
ब्रह्म जिज्ञासूनां सूत्रोपात्तन्यायेन ब्रह्माविचार एव युक्तः, न वेदान्तवाक्यविचार इति, नेत्याह—\*वाक्यार्थ-  
विचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्तेति\* ॥

अनुमानादिप्रमाणान्तराविषयत्वं तु ब्रह्मणः समन्वयसूत्रे वक्ष्यते । तथाच यथा स्वर्गेषूनां साक्षात्  
तत्कर्तव्यतानुपपत्तौ तत्साधनं यागादि कृत्वा कृतकृत्यता, एवं ब्रह्म जिज्ञासूनां साक्षात्प्रमाणतर्काविषय-

### भाष्यभावप्रकाशिका

तात्पर्यनिश्चयः, तन्निर्वृत्ता ब्रह्मावगतिः, ब्रह्मसाक्षात्कार इत्यर्थः । \*एतदुक्तं भवति\*—अनुमानमात्रात्  
कारणसद्भावमात्रं सिध्यति, ननु सत्य-ज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म ; नच कारणस्यैकत्वम् । तदवगतिश्चेह विवक्षिता  
नागमं विना सिध्यतीति ॥

\*ननु\*—तर्हि शब्दादेव ब्रह्मावगतेर्मननविधानं युक्तिसूत्रं वाऽनर्थकं स्यादित्यत आह—\*सत्स्विति\* ॥

(१) तात्पर्याध्यवसाननिर्वृत्ता ब्रह्मावगतिरिति पञ्चपादिकाऽऽभिमतः पाठः । (२) “सहायत्वेन” इति पदवर्जं वार्तिकाभिमतः पाठः ।



तथाहि—‘श्रोतव्यो मन्तव्यः’ (बृह० २।४।४) इति श्रुतिः ‘पण्डितो मेधावी गान्धारानेवोपसंपद्येत, एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद’ (छान्दो० ६।१।४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति ।

### पञ्चपादिका

मननस्यापि सिद्धवदनूद्यमानत्वात् । तथाऽपरा श्रुतिः—‘पण्डितो मेधावी’त्यादिः—‘आचार्यवान् पुरुषो

### वार्तिकम्

त्वाद् ब्रह्मणो विचारानुपपत्तौ तदवगतिसाधनं श्रुतिप्रमाणं विचार्यैव कृतकृत्यता, इति न काचिदनुपपत्तिरित्याशयः । अत एव यदुक्तमनुमानेन ब्रह्मास्तित्वं प्रतिपाद्यते, श्रुतिस्तु तदनुवादिकेति, तन्न ; वैपरीत्यादित्याह—\*सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यत इति\* ॥ \*प्रमाणम्\* तर्कत्वेन श्रुत्यर्थविधारणानुकूलं भवदित्यर्थः । तत् कुत इति ? अत आह—\*श्रुत्यैव तर्कस्याभ्युपेतत्वादिति\* ॥ स्वसहायत्वेनाङ्गीकृतत्वादित्यर्थः । तदङ्गीकारं श्रुतेर्दर्शयति—\*श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुतिरित्यादि\* ॥ श्रुतिरितिपदं ‘पुरुषो वेदेत्य’तोऽनन्तरमप्यनुपजनीयम् । \*ननु\*—यथा धर्मः श्रुति-लिङ्ग-वाक्यादिभिरेव श्रौतैः प्रमाणैर्जिज्ञास्यते, कुतः ? अपूर्वत्वेन प्रमाणान्तरागोचरत्वाद्धर्मस्य, एवं ब्रह्माप्यपूर्वत्वाविशेषेण तैरेव जिज्ञास्यताम् ? न

### प्रदीपः

प्रस्तूयते” इति जिज्ञासाधिकरणोपसंहारभाष्ये व्यक्तम् । तद् यत्रानुमानस्य नावसरः उपास्यहिरण्यमयत्वादौ, तत्र वेदान्तवाक्यान्येव समालोच्यन्ताम्, जगत्कारणस्वरूपे त्वनुमानस्याप्यस्त्यवसरः, अविरोधश्च वेदान्तवाक्यैर्वर्तते, इति कथं नानुमानस्यैवात्र नोपक्षेप इत्यत आह—\*वाक्याथेति\* ॥

अयं भावः—यदि जगत्कारणस्वरूपमात्रमेव वेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यम्, न तदतिरिक्तस्वरूपबोधने वेदान्तानां तात्पर्यम्, तर्हि वेदान्तवाक्यमात्रमूलतावादोऽप्रयोजनः, यदितु वेदान्तवाक्यानि स्वरूपान्तरमेव पारमार्थिकं ब्रह्मणः प्रतिपादयन्ति, तर्हि तु जिज्ञास्यं ब्रह्मानुमानगम्यमेवेत्यस्य वादस्य वेदान्तवाक्यविरुद्धत्वान्नानुमानोपक्षोपो विकल्पसहः । वस्तुस्थितिस्तु—जिज्ञास्यं ब्रह्म नानुमानगम्यम् । व्यक्तीकरिष्यते चेदमुपरिष्ठात् । केवलं तत्त्वमसीतिमहावाक्यजन्य एव हि ब्रह्मसाक्षात्कारो मोक्षस्य साधनम् । न चानुमानजन्यः साक्षात्कारः । तथाच न जिज्ञास्यं ब्रह्मानुमानमूलकमत्रोपक्षेपमुर्हतीति भावः ॥ \*ब्रह्मावगतिः = ब्रह्मसाक्षात्कारः । तथाच साक्षात्कर्तव्यं ब्रह्मानुमेयमिति विरुद्धमिति भावः । तदेवाह—\*नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्तेति\* ॥ \*ननु\* एवं सति पूर्वापरविरोधः, यतः—‘एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वसाधनं मन्यन्ते’ इत्यनुमानगम्यं जगत्कारणं ब्रह्मेति निरूप्यानुपदमेवास्मिन् जगत्कारणतया ब्रह्मलक्षणपरे सूत्रे “नानुमानोपपत्त्यासः” इति वर्ण्यते, इत्यत आह—\*सत्स्विति\* ॥ \*जन्मादिकारणवादिष्विति\* ॥ तत्पदवाच्यार्थसमर्पणपरवान्तरवाक्यार्थनिर्णय एवानुमानापेक्षा, जन्मादिसूत्रन्तु नावान्तरवाक्यार्थनिर्णयार्थमेव सूत्रितम्, किन्तु मुख्यब्रह्मनिर्णयार्थमपीति, अंशतोऽनुमानापेक्षावर्णन एव पूर्वतनग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्याद् मुख्याथेऽनुपयोगेन ‘सूत्रमनुमानमूलकमेवेति न युक्तमि’त्युत्तरग्रन्थतात्पर्याच्च न पूर्वापरविरोधः ; यतो यस्मिन्त्रंशे वाच्यार्थनिर्णयेऽविरोधः, तत्र तर्कोऽप्युपयुज्यते, यत्र तु मुख्याथे विरोधः, तत्र तर्को नोपयुज्यत इति भावः । सति चैवं जगत्कारणत्वाद्यंशस्यानुमानगम्यत्वादेव वेदान्तवाक्यानां न तत्र मुख्यप्रामाण्यसंभवः, इति तत्पदवाच्यार्थो न वेदान्तार्थः, किन्तु लक्ष्यार्थ एवेति निष्कर्षोऽपि सिद्ध्यति ॥

\*ननु\*—सगुण ईश्वरोऽप्यनुमानगम्यो वैशेषिकाणां न वेदान्तवाक्यैरपि बोध्यते, वेदान्तवाक्यानि ह्यस्मिन्नितिोपादानं ब्रह्म बोधयन्ति ; न चैतदनुमानेनावगन्तुं शक्यते । तथाच सगुणमपि ब्रह्म जगत्कारणे वेदान्तमात्रावगम्यमिति, न प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मलक्षणमेवोक्तसूत्रमिति युज्यते । तथाहि—ब्रह्म, नानुमानगम्यम्, वेदार्थत्वात् ; धर्मवद् इत्याशङ्क्य, मुख्यं ब्रह्म यदि पक्षः, तर्हि सिद्धसाधनमिति वक्ष्यन् गौणब्रह्मपक्षतायां नोक्तानुमानस्य प्रसर इति सूचयितुं मन्तव्यतयाऽनाम्नायमानत्वमुपाधि ब्रह्मणो मन्तव्यत्वान्मानप्रदर्शनेन सूचयति—\*श्रुत्यैव चेति\* ॥ सत्यं धर्मं दृष्टान्ते न मन्तव्यत्वनिर्देशः, इति साध्यव्याप्तिरपि,



## न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम् ;

भामती

स्यादेतत्—यथा धर्मे न पुरुषबुद्धिसाहाय्यम्, एवं ब्रह्मण्यपि कस्मान्न भवतीति ? अत आह—  
\*न धर्मजिज्ञासायामिवेति\* ॥ श्रुत्यादय इति\* ॥ श्रुतीतिहास-पुराण-स्मृतयः प्रमाणम् । अनुभवोऽन्तः-  
करणवृत्तिभेदो ब्रह्मसाक्षात्कारः, तस्याविद्यानिवृत्तिद्वारेण ब्रह्मस्वरूपाविर्भावः प्रमाणफलम् । तच्च फलमिव  
फलमिति गमयितव्यम् । यद्यपि धर्मजिज्ञासायामपि सामग्र्यां प्रत्यक्षादीनां व्यापारः ; तथाऽपि साक्षान्नास्ति,

पञ्चपादिका

वेदे”ति पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति । यदाचार्येण श्रुत्यनुसारिणा स्फटिकादिनिदर्शनेन शिष्येभ्यः  
प्रत्ययदार्ढ्यापादनम्, तदाचार्यवान् पुरुषो वेदेत्यनूद्यते । \*न धर्मजिज्ञासायामिवेत्यादिना\* युक्ति-  
साहाय्यापेक्षणे कारणमाह । \*श्रुत्यादय इति\* ॥ श्रुतिः पदान्तरनिरपेक्षः शब्दः । आदिशब्देन  
लिङ्ग-वाक्यादयः शब्दप्रकारा गृह्यन्ते ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*न धर्मजिज्ञासायामि”त्यादिः स्पष्टार्थः\* ॥ \*श्रुतिः\* पदान्तरनिरपेक्षः शब्दः । \*लिङ्गम्\* श्रुतस्यार्थ-  
स्यार्थान्तरेणाविनाभावः । अनेकपदसामर्थ्यं \*वाक्यम्\* ॥ वाक्यद्वयासामर्थ्यमारभ्याधीतविषयं  
\*प्रकरणम्\* ॥ क्रमवर्तिनां पदार्थानां क्रम वर्तिभिः पदार्थैर्यथाक्रमं सम्बन्धः \*स्थानम्\* ॥ संज्ञासामान्यं

तत्त्वदीपनम्

श्रुत्यादिस्वरूपमाह—\*श्रुतिरिति\* ॥ शब्दः श्रुतिरित्युक्ते वाक्ये व्यभिचारः, तदर्थम्—\*पदेत्यादि\* ॥  
“पदान्तरानपेक्षः” इत्युक्ते धूमस्यापि श्रुतित्वं स्यात्, तदर्थमाह—\*शब्द इति\* ॥ “ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते” इत्यत्र  
तृतीयाश्रुत्या “ऋदाचन स्तरीरसीत्यैन्द्रया गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः प्रतीयत इति श्रुतेर्विनियोग इत्यर्थः । लिङ्ग-  
स्वरूपं दर्शयति—\*लिङ्गमिति\* ॥ श्रुतिसामर्थ्यं लिङ्गमिति यावत् । “बहिर्देवसदनं दामी”त्यत्र बहिर्देवनलक्षणार्थ-  
स्य श्रुतिप्रतिपन्नस्यानुपपत्त्या तत्प्रकाशनसमर्थाया ऋचो बहिर्देवने विनियोगः प्रतीयते, इति श्रुतिकल्पनया लिङ्गस्य  
विनियोजकत्वमित्यर्थः । वाक्यस्वरूपमाह—\*अनेकेति\* ॥ लिङ्गव्यावृत्त्यर्थम्—“अनेके”ति विशेषणम् । आकाङ्-  
क्षाद्यनुरोधेनानेकपदानां विशिष्टैकार्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः । “इमामगुग्गुन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते”  
इति ब्राह्मणाक्यादश्वरशनादाने मन्त्रस्य विनियोगः प्रतीयत इत्यर्थः । प्रकरणस्वरूपमाह—\*वाक्यद्वयेति\* ॥ प्रति-

वार्तिकम्

तत्र पुरुषबुद्धिलक्षणमननाद्यपेक्षा ; मननादिश्रुतेश्च ब्रह्मज्ञानस्तुतिमात्रपरत्वेनाप्युपपत्तेरित्याशङ्क्य, धर्म-  
ब्रह्मणोर्भूतत्वाभूतत्वकृतविशेषेण तज्जिज्ञासयोरपि वैषम्यादुपपद्यते तदपेक्षानपेक्षे इत्युपपादयति—  
\*न धर्मजिज्ञासायामिवेत्यादिना\* ॥ \*अनुभवः=प्रत्यक्षम् । आदिशब्देनानुमानादिगृह्यते । \*यथा  
सम्भवमिति\* ॥ अनुभवस्य जिज्ञास्यब्रह्मस्वरूपे व्यापारः, अनुमानादेश्च तद्विपक्षकोटिनिराकरण इति ।

भाष्यभावप्रकाशिका

श्रुत्यैव तर्कस्य स्वसहायत्वेन स्वीकृतत्वात् ॥ तथाहि—कुतः तर्कोऽपेक्ष्यते ? इत्यत्राह—  
\*श्रोतव्य इति\* ॥ आत्मनः=स्वस्या इत्यर्थः । युक्तिसाहाय्यापेक्षणे कारणमाह—\*न धर्मजिज्ञासा-  
मिवेति\* ॥ “श्रुत्यादयः” इत्यादिग्रहणेन लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या गृह्यन्ते । श्रुतिः =  
पदान्तरनिरपेक्षः शब्दः । लिङ्गम् = श्रुतस्यार्थान्तराविनाभावः । अन्यान्याकाङ्क्षेसन्निधि-योग्यतावन्ति



## अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मविज्ञानस्य(१) ।

भामती

ब्रह्मजिज्ञासायां तु साक्षादनुभवादीनां संभवः, अनुभवार्था च ब्रह्मजिज्ञासेत्याह—\*अनुभवावसानत्वात्\*॥ अनुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारः परमपुरुषार्थः ; निर्मृष्टनिखिलदुःख-परमानन्दरूपत्वादिति । \*ननु\* भवतु ब्रह्मानुभवार्था जिज्ञासा, तदनुभव एव त्वश्यकः, ब्रह्मणस्तद्विषयत्वायोग्यत्वादित्यत आह—\*भूतवस्तु-विषयत्वाच्च ब्रह्मविज्ञानस्य\* ॥

अनुप्रकाशिका

\*साक्षादिति\* ॥ ब्रह्मणो नित्यापरोक्षत्वेन तद्गोचरान्तःकरणवृत्तेः प्रत्यक्षानुभवरूपत्वात् तस्य च जिज्ञासायामुपयोगादिति भावः । \*ननु\* अनुभवे सति जिज्ञासाया वैयर्थ्यमिति शङ्कायां तत्राहेत्याह—\*अनुभवार्था चेति\* ॥ निर्विचिकित्सानुभवार्थेत्यर्थः । विचारप्राक्कालीनानुभवस्य तु जिज्ञासोपयोग इति भावः । ब्रह्मज्ञानस्यानुभवावसानत्वे ब्रह्मजिज्ञासाया अप्यनुभवावसानत्वमायातमेवेति भावः । अनुभवस्वरूपमाह—\*अनुभव इत्यादिना परमपुरुषार्थ इत्यन्तेन\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*निर्मृष्टेति\* ॥ जिज्ञासाया ब्रह्मानुभवार्थ-त्वमङ्गीकृत्य, अनुभवस्याशक्यत्वं शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अशक्यत्वे हेतुमाह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ ब्रह्मणो विषयितया ज्ञानविषयत्वायोग्यत्वादित्यर्थः । तथाच ब्रह्म-तत्साक्षात्कारयोर्विषय-विषयिभाव एव नास्तीति भावः । तद्विषयत्वायोग्यत्वमसिद्धमित्याह—\*अत आहेति\* ॥ \*ननु\* उक्तं विषयीभूतस्य ब्रह्मणस्त-

पञ्चपादिका

न त एव ब्रह्मणि प्रमाणम्, किन्वनुभवादयोऽपि । तत्र हेतुमाह—\*अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तु-विषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्येति\* ॥ सिद्धे वस्तुनि सम्भवत्यनुभवः, तदवसाना आकाङ्क्षानिवृत्तिर्यतः ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*समाख्या\* ॥ \*ननु\* शब्देन ब्रह्मस्वरूपेऽवधारिते नानुभवेन कृत्यमस्ति । नच शब्दप्रमेयमनुभवावितुं शक्यमिति, तत्राह—\*अनुभवावसानत्वादित्यादिना\* ॥

तत्त्वदीपनम्

पञ्चवाक्यभावानां पदानां वाक्यान्तराभिसंबन्धः प्रकरणमिति यावत् । वाक्यान्तराभिसंबन्धे हेतुमाह—\*आरम्भाधी-तेति\* ॥ प्रयोजनाकाङ्क्षाया संबन्ध इत्यर्थः । “दर्श-पूर्णमासाभ्यामि”ति तृतीयाश्रुत्या दर्श-पूर्णमासयोः करणत्वे प्रति-पन्ने करणस्य चेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रधानवाक्यस्य समिदादिसंबन्धः, समिदादिवाक्यस्य फलविधुरस्य तदाकाङ्क्षायां प्रधानवाक्येन संबन्ध इति प्रकरणविनियोग इत्यर्थः । स्थानस्वरूपमाह—\*क्रमवर्तिनामिति\* ॥ दर्श-पूर्णमासप्रक-रणे कानिचित्कर्माण्युपांशुयाजप्रभृतीनि “दधिरसी”त्यादयः केचन मन्त्राश्च समान्नायन्ते, तत्र यस्य कर्मणः क्रमेण यो मन्त्रः समाप्नातः, तेन तस्य संबन्ध इति स्थानरूपक्रमप्रमाणाद् मन्त्रविशेषाणां क्रमविशेषस्य च संबन्धः । तथा काम्येष्टीनां याज्यानुवाक्यानां च मन्त्राणां क्रमात् संबन्ध इत्यर्थः । सामाख्यास्वरूपमाह—\*संज्ञेति\* ॥ यथा—आ ध्व-र्यवसंज्ञानां मन्त्राणामाध्वर्यवसंज्ञे कर्मणि संज्ञासाम्येन विनियोग इति ॥

धर्मेऽनुभवाद्यनपेक्षावद् ब्रह्मण्यप्यनपेक्षां शङ्कते—\*ननु शब्देनेति\* ॥ असंभवी चानुभव इत्याह—\*च शब्देति\* ॥ धर्मस्य शब्दप्रमेयस्य यथाऽनुवादयोग्यत्वम्, तद्वदस्यापीत्यर्थः । वैषम्येणोत्तरयति—\*तत्राहेति\* ॥

वार्तिकम्

तत्र हेतुः—\*अनुभवावसानत्वात्, भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्येति\* ॥ यद्धि लोकेऽनुभवयोग्यं भूतं वस्तु जिज्ञास्यते, तस्येव्यमाणं विज्ञानमनुभवावसानं यावद् जिज्ञासोर्नोत्पद्यते, तावदाकाङ्क्षाया अनुपरमाह

(१) ब्रह्मज्ञानस्येति वार्तिक-पञ्चपादिकादिसम्मतः पाठः ।



## भामती

व्यतिरेकसाक्षात्कारस्य विकल्परूपो विषय-विषयिभावः । \*नत्वेवं धर्मज्ञानमनुभवा-  
वसानम् ; तदनुभवस्य स्वयमपुरुषार्थत्वात्, तदनुष्ठानसाध्यत्वात् पुरुषार्थस्य, अनुष्ठानस्य च

## ऋजुप्रकाशिका

द्विषयत्वायोग्यत्वाद् विषय-विषयिभावो नास्तीति, तत्राह—\*व्यतिरेकसाक्षात्कारस्येति\* ॥ व्यतिरेकादं  
प्रपञ्चाभावपरम् । तथाच प्रपञ्चाभावोपलक्षितब्रह्मसाक्षात्कारस्य प्रपञ्चाभावरूपब्रह्मसाक्षात्कारस्य वेत्यर्थः । तस्य  
ब्रह्मणा सह विषय-विषयिभावो \*विकल्परूपः=कल्पित इत्यर्थः । वास्तवविषय-विषयिभावामावेऽपि कल्पितो  
विषयविषयिभावोऽस्तीति भावः । तस्यानुभवावसानत्वमुक्त्वा धर्मज्ञानस्य तन्नेत्याह—\*नत्विति\* ॥ तत्र  
हेतुमाह—\*तदनुभवस्येति\* ॥ धर्मानुभवस्येत्यर्थः । कथमपुरुषार्थत्वमिति ? अत आह—\*तदनुष्ठानेति\* ॥  
धर्मानुष्ठानेत्यर्थः । \*ननु\* धर्मानुष्ठानमपि धर्मानुभवसाध्यम्, तथाचायातं परम्परया धर्मानुभवस्यापि  
पुरुषार्थत्वमित्याशङ्क्य, अनुष्ठानस्यानुभवं विना शाब्दज्ञादध्युपपत्तेर्न परम्परयाऽपि तस्य पुरुषार्थत्वमित्याशय-  
वानाहेत्याह—\*अनुष्ठानस्येति\* ॥ धर्मसाक्षात्कारलक्षणानुभवमङ्गीकृत्य, शाब्दज्ञानादेवानुष्ठाननिर्वाहादनु-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* धर्मजिज्ञासायामित्यादिः स्पष्टार्थः\* । किमिति धर्मस्यानुभवानपेक्षेति चोदयति—

## तत्त्वदीपनम्

सिद्धत्वेन ब्रह्मणोऽनुभवयोग्यत्वात् तदनुभवं विना पुरुषाकाङ्क्षाऽनिवृत्तेऽनुभव एव व्यर्थ इत्यर्थः । अनुभवमन्तरेणा-  
प्याकाङ्क्षाया निवृत्तिर्दृष्टा धर्मजिज्ञासायाम्, तद्वदन्नापीति साम्यमाशङ्क्यानुष्ठानद्वारा धर्मस्य पुमर्थसाधनत्वादनुष्ठानस्य  
च ज्ञानमात्रेण संभवान्नानुभवापेक्षा, अत्र नैवम् ; तद्वैपरीत्यादित्येवंरूपौ चाक्षेप-परिहारौ स्पष्टावित्याह—\*ननु धर्मेति\* ॥  
\*कर्तव्ये हि विषय इति\* ॥ अत्र हेतुगर्भविशेषणमुक्तमज्ञानानः शङ्कते—\*किमिति धर्मस्येति\* ॥

## वार्तिकम्

जिज्ञासितमेव तद्ववतीति, तावत् तैस्तैः प्रमाणैर्जिज्ञास्यते, यावन्निराकाङ्क्षमनुभवावसानं विज्ञानं  
भवतीति दृष्टम्, यथा पुत्रादि प्रियं वस्तु, ब्रह्मापि भूतमुपलब्धियोग्यञ्च । अत इष्यमाणतद्विज्ञानस्यानु-  
भवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च यथासम्भवं यथाव्यापारं चास्ति प्रमाणान्तरापेक्षेत्यर्थः । दृष्टान्ते

## भाष्यभावप्रकाशिका

पदानि वाक्यम् । वाक्यद्वयसामर्थ्यमारभ्याधीतविषयं प्रकरणम् । क्रमवर्तिनां पदार्थानां क्रम-  
वर्तिभिः पदार्थैर्यथाक्रमं संबन्धः=स्थानम् । संज्ञासाम्यम्=समाख्या ॥

अपरे तु “श्रुत्यादयः” इति श्रुतीतिहास-पुराण-स्मृतयो गृह्यन्त इत्याचक्षते । अनुभवोऽन्तः-  
करणवृत्तिमेदो ब्रह्मसाक्षात्कारः फलतः, तत्र हेतुमाह—\*अनुभवावसानत्वादिति\* ॥ अनुभवं विनाऽ-  
काङ्क्षाया अनिवृत्तेरित्यर्थः । नचैतदशक्यानुष्ठानविषयमित्याह—\*भूतवस्तुविषयत्वादिति\* ॥

\*ननु\*—अनुभवनिरपेक्षफलपर्यन्तज्ञानजनकत्वदर्शनात् कर्मवाक्यानाम्, ब्रह्मवाक्यानामपि तथाभूत-

## प्रदीपः

ब्रह्मजिज्ञासायान्तु = जिज्ञास्यब्रह्मणि तु न साधनव्याप्तिरित्याह—\*न धर्मजिज्ञासायामिवेति\* ॥ व्यधिकरणदृष्टान्तोऽयम् ।  
धर्मजिज्ञासापदं ब्रह्मजिज्ञासापदं च ‘कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते’ इति न्यायेन जिज्ञास्यधर्मपरं तादृशब्रह्मपरं चेति मन्तव्यम् ।  
तथाच जगत्कारणं शोऽनुमेयत्वेऽपि न विरोध इति भावः । श्रुत्यतिरिक्तप्रमाणापेक्षा ब्रह्मणि युक्ता, न धर्म, इत्यत्र युक्त्यन्तर-  
मप्याह—\*अनुभवावसानत्वादिति\* ॥ ज्ञानमात्रेण फलोपयोगित्वादित्यर्थः । फलजनकं हि ब्रह्मज्ञानं साक्षात्काररूपमेवेति,  
प्रत्यगमेदपक्षविरोधिश्चानां प्रपञ्चमिथ्यात्वासंभवादिपराणां निरासार्थमनुमानाद्यपेक्षाऽपि वर्तते । अत एव “श्रोतव्यो मन्तव्यः”



**कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्ति, इति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं  
स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य ।**

**भामती**

विनाऽप्यनुभवं शाब्दज्ञानमात्रादेव सिद्धेरित्याह—\*कर्तव्ये हीत्यादिना\* ॥ नचायं साक्षात्कारविषयता-  
योग्योऽपि ; अवर्तमानत्वात्, अवर्तमानश्च ; अनवस्थितत्वादित्याह—\*पुरुषाधीनेति\* ॥ पुरुषाधीनत्व-

**ऋजुप्रकाशिका**

भवापुरुषार्थतोक्ता, संप्रति धर्मस्य साक्षात्कारविषयत्वयोग्यतैव नास्तीत्याहेत्याह—\*नचायमित्यादिना\* ॥  
अयम्=धर्मः । कर्तव्यं कार्यशब्दार्थः ।

**पञ्चपादिका**

\*ननु\* धर्मजिज्ञासायां विनाऽप्यनुभवेन शब्दशक्त्यनुसरणमात्रेणैव निराकाङ्क्षं फलपर्यन्तं ज्ञानं भवति,  
न तर्कगन्धमप्यपेक्षते, तथेहापि स्यात् ; प्रमाणत्वाविशेषाद्वेदान्तवाक्यानाम्, इत्याशङ्क्य विशेषमाह—  
\*कर्तव्ये हि विषय इत्यादिना\* ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वादित्यन्तेन भाष्येण\* ॥

कथम् ? कर्तव्यं हि कर्तव्यत्वादेवासिद्धस्वभावं नानुभवितुं शक्यमिति न तदाकाङ्क्षा, इह तु सिद्धस्य

**पञ्चपादिकाविवरणम्**

\*कथमिति\* ॥ धर्मस्यानुभवायोग्यत्वादनपेक्षितानुभवत्वाच्च न शब्दादन्यापेक्षेति दर्शयति—\*कर्तव्यं  
हीत्यादिना\* । \*ननु\* सिद्धस्वभावस्यानुभवयोग्यत्वेऽपि किमित्यनुभवोऽपेक्ष्यत इति ? तत्राह—\*इह

**तत्त्वदीपनम्**

अभिसन्धि विवृणोति—\*धर्मस्येति\* ॥ साध्यकस्वभावत्वाद्धर्मस्य साक्षात्कर्तुमयोग्यत्वमित्यर्थः । ज्ञानमात्रादेव धर्म-  
इव ज्ञेयनिश्चयलक्षणपुरुषार्थसिद्धेः तत्साक्षात्करणं वृथेति शङ्कते—\*ननु सिद्धस्वभावस्येति\* ॥ साक्षात्कारमन्तरेणा-  
प्यनुष्ठानसंभवाद्धर्मं साक्षात्कारानपेक्षत्वम्, इह त्वपरोक्षत्वम्, अस्यापरोक्षज्ञानं विना निवृत्त्यनुपपत्तेस्तददृष्टव्यमित्याह—  
\*तत्राहेति\* ॥ कर्म-ज्ञानकाण्डयोः कार्यपरत्वसाम्यादनुभवादावपि साम्यमिति शङ्कते—\*ननु वेदेति\* ॥ कार्यपरत्व-

**वार्तिकम्**

तद्व्यतिरेकं साधयति—\*कर्तव्ये हीत्यादिना\* ॥ \*ननु\* कर्तव्यविषये जिज्ञासाया अप्यनुभवविषयत्वं  
किं न स्यात् ? असम्भवाच्चैवमित्याह—\*पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्येति\* ॥ चकारोऽवधारणार्थः ।

जिज्ञासानन्तरं हि पुरुषप्रवृत्तेस्तदात्मलाभः ; अतो जिज्ञासाकाले वस्तुनोऽसत्त्वात् तदनुभवासम्भवाच्च

**भाष्यभावप्रकाशिका**

ज्ञानजनकत्वम् ; वेदप्रमाणत्वाविशेषात् स्यात्, इत्याशङ्क्य विशेषमाह—\*कर्तव्ये हीति\* ॥ धर्म-  
स्यानुभवोऽयोग्यत्वात् तदनुष्ठानस्य च विनाप्यनुभवं शाब्दज्ञानमात्रादेव सिद्धेर्नास्त्यनुभवा-  
पेक्षेति भावः । अनवस्थितस्वभावत्वाच्चानुभवायोग्यं कर्मेत्याह—\*पुरुषाधीनेति\* ॥ पुरुषाधीनत्व-

**प्रदीपः**

इति मननविधिरुपपद्यते । तथाच ब्रह्म, प्रमाणान्तरापेक्षसाक्षात्कारविषयः, भूतवस्तुत्वात् ; घटादिवदिति सत्प्रतिपक्षानुमान-  
बाधितं पूर्वोक्तं वेदार्थत्वेन ब्रह्मप्रमाणान्तराविषयत्वानुमानमिति भावः । ज्ञानमात्रेण फलोपयोगित्वन्तु न धर्मस्य वर्तत इति  
दृष्टान्तवैषम्यसूचनद्वारा ज्ञानमात्रेण फलानुपयोगित्वेन सोपाधिकत्वमपीति सूचयन्नाह—\*कर्तव्ये हीति\* ॥ \*नानुभवापेक्षा =  
न साक्षात्कारापेक्षाऽस्ति ; यतोऽनुष्ठानमात्रेण फलसाधनत्वम्, अनुष्ठानं च परोक्षज्ञानमात्रेण भवति । अनुष्ठिते च कर्मणि  
साक्षात्कारयोग्यत्वेऽपि यागादीनां गोदोहनादीनां वा न साक्षात्कारद्वारैव फलसाधनत्वमिति न साक्षात्कारापेक्षेति भावः ।  
\*श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यम्\* । यागादिस्वर्गसाधनत्वं हि न प्रत्यक्षगम्यम् । अदृष्टद्वारैव फलसाधनत्वेन तस्य च साक्षात्कार-



## पञ्चपादिका

साक्षाद्रूपेण विपर्यासगृहीतस्य सम्यग्ज्ञानेन साक्षात्करणमन्तरेण न मिथ्याज्ञानोदयनिवृत्तिः ; द्वि-  
चन्द्रादिषु तथा दर्शनात् । नहि कर्तव्य-सिद्धार्थनिष्ठयोः प्रमाणत्वसाम्यादवबोधनप्रकारेऽपि साम्यम् ।  
यदि स्यात्, पुरुषेच्छावशनिष्पाद्यत्वमपि स्यात् । ततो विधि-प्रतिषेध-विकल्प-समुच्चयोत्सर्गापवाद-बाधा-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तु सिद्धस्येति\* ॥ \*ननु\* वेदप्रमेयत्वाविशेषान्मनन-निदिध्यासनानुभवेषु धर्मवद् ब्रह्मण्यपि मा भूदपेक्षा,  
ब्रह्मवद्वा धर्मेऽपि स्यादपेक्षेत्यत आह—\*नहि कर्तव्य-सिद्धार्थनिष्ठयोरिति\* ॥ अस्तु पुरुषेच्छावश-  
निर्वर्त्यत्वमपीति, तत्राह—ततो विधिप्रतिषेधेति\* ॥ यजेत न भक्षयेदिति वद् ब्रह्मणो विधेयत्वं प्रतिषेध्यत्वं  
चेत्यर्थः । \*विकल्पेति\* ॥ “व्रीहिभिर्यवैर्वैति वद् ब्रह्म वा स्थाणुर्वैतीच्छाविकल्पः । \*समुच्चयेति\* ॥  
षड्यागसमुच्चयः, इह ब्रह्म स्थाणुश्चेत्यर्थः । \*उत्सर्गापवादेति\* ॥ “न हि स्यात्सर्वा भूतानि”  
“अग्नीषोमीयं पशुमालाभेत” “आहवनीये जुहोति” “पदे जुहोती”तिवत् सामान्यप्रतिपन्नब्रह्मणो  
विशेषेऽपवादः । \*बाधाभ्युच्चययेति\* ॥ प्रकृतेरतिदिष्टानां कुशमयबर्हिषां विकृतावुपदिष्टशरमयबर्हिषां विधिवद्  
ब्रह्मणोऽपि क्वचिद् प्राप्तस्य पदार्थान्तरेण बाधः । प्राकृतानां पञ्चनारिष्टहोमानां वैकृतैरुपहोमैः समुचित्यानु-  
ष्ठानवद् ब्रह्मणोऽप्यतिदिष्टस्योपदिष्टेन समुचित्यानुष्ठानमभ्युच्चयः । “पञ्च प्रयाजान् यजती”तिप्रकृतेर्विकृता-

## अनुविवरणम्

दिति\* ॥ \*पञ्च प्रयाजान् यजतीत्यादि\* ॥ \*ननु\*—कथं प्राकृत-वैकृतप्रयाजेषु समुचित्यानुष्ठानमुच्यते ? वैकृत-  
वाक्ये प्रयाजानामविधेयत्वाद् भेदासंभवात् संख्यागुणो विधीयते । तत्र संख्यायाः पृथक्त्वनिवेशित्वेन प्रत्येकं संवन्धा-  
भावात्समुदायसंबन्धो वक्तव्यः । तत्राभ्यासं विना समुदायानुपपत्तेः प्राकृतानामेवाभ्यासेन संख्यापूरणमुक्तम्, तत्कथं  
समुच्चयस्योदाहरणम् ? \*सत्यम्\* ; प्राकृतक्रमानुरोधाय दण्डकलितवदावृत्तिं विहाय स्वस्थानविवृध्यैव संख्यापूरणत्वा-  
कृतक्रम-वैकृतसंख्ययोः समुच्चयो विवक्षितः । ग्रन्थोऽप्येवं योज्यः—“एकादश प्रयाजान् यजती”त्यत्र प्रकृतावुपदिष्टेन  
क्रमेण वैकृतसंख्यायाः समुचित्यावृत्त्यानुष्ठानात् स्वस्थानविवृध्या षोडशप्रयाजानुष्ठानम्, षोडशत्वनिषेधे त्वेकादशानु-  
ष्ठानम्, अन्यथा प्राकृतक्रमानुरोधाय स्वस्थानविवृध्यैव संख्यापूरणमसमञ्जसं भवेत् । प्राकृत-वैकृतप्रयाजयोरभेदनैव संख्या-  
विरोधाद् अविरोधाभावात् स्वस्थानविवृद्धिर्न्यायः प्रत्युधीयेत ; “अत्राप्यावृत्त्ये”ति वदतेदमेव दर्शितम् ; भेद आवृत्त्य-  
योगात् । एकस्यैव पुनः पुनरनुष्ठानमावृत्तिरित्युच्यते यतः । यद्वा—“मासमग्निहोत्रमि”त्यत्र होमान्तरविधानवदत्रापि  
प्रयाजान्तरविधानम् । नच रूपाभावादविधानम् ; अतिदेशतो मन्त्रवर्णतश्च द्रव्यदेवतालाभात्, नचातिदेशतः प्राप्ति-  
विधानपरिपन्थिनी । एवञ्च न प्रत्यभिज्ञानादविधानम् । नच समुच्चयासंभवः ; अदृष्टार्थत्वात् । नच प्रयाजभेदादावृत्त्य-  
संभवात् संज्ञाया अभेदात् क्वचिद् द्रव्य देवताऽभावाच्चौपचारिककर्मैक्यमङ्गीकृत्यावृत्तिशब्दप्रयोगः कृतः, अतिदेशतो  
रूपलाभद्योतनार्थं वचनस्य प्रयोगः । नच—प्रत्यभिज्ञानादविधानम् ; कौण्डपायिने त्वनेकगुणविधानेन वाक्यभेदात्  
कर्मान्तरविधानमिति वाच्यम् ; नाराशंसप्रभृतिषु संज्ञान्तरदर्शनेन प्रत्यभिज्ञाया असिद्धत्वात् । इतश्च प्रयाजभेदः ;  
अनुमन्त्रणप्रकारदर्शनपरे वाक्ये “प्राकृतैरादितः” इति विशेषणसामर्थ्यात्प्रयाजानामप्राकृतत्वं प्रतीयते ; इतरथा  
प्रयाजानामनुमन्त्रणमन्त्राणाञ्च प्राकृतत्वात्—“अनुमन्त्रणं प्राकृतैरिति”ति विशेषणमसमञ्जसं स्यात् । नचानुमन्त्रणप्रकार-

## तत्त्वदीपनम्

मसिद्धमित्याह—\*न हीति\* ॥ अनिष्टपर्यवसायित्वं दर्शयितुं प्रश्नमुत्थापयति—\*अस्तित्वमिति\* ॥ व्यवस्थितविकल्पाद्-  
वैषम्यमाह—\*इतीच्छेति\* ॥ उत्सर्गापवादयोरुदाहरणान्तरमाह—\*आहवनीय इति\* ॥ “आहवनीये जुहोती”त्यु-  
त्सर्गः, ‘पदे जुहोती’त्यपवादः, अथस्य पदविन्यासदेशे जुहोतीत्यर्थः । \*प्रकृतेरिति\* ॥ प्रकृतौ श्रुतानां कुशमयबर्हिषां  
‘प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्ये’त्यतिदिष्टानाम् । विकृतावुपदिष्टशरमयबर्हिषां निरवकाशत्वादित्यर्थः । अभ्युच्चयमुदा-  
हरति—\*प्राकृतानामिति\* ॥



कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाऽऽवेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति । तथा “अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति” “नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति” “उदिते जुहोति” “अनुदिते जुहोति” इति ।

भामती

मेव लौकिक-वैदिककार्याणामाह—\*कर्तुमकर्तुमिति\* ॥ लौकिकं कार्यमनवस्थितमुदाहरति—\*यथाऽऽवेनेति\* ॥ लौकिकेनोदाहरणेन सह वैदिकमुदाहरणं समुच्चिनोति—\*तथाऽतिरात्र इति\* ॥ “कर्तुमकर्तुमि”त्यस्येदमुदाहरणमुक्तम् । कर्तुमन्यथा वा कर्तुमित्यस्योदाहरणमाह—\*उदित इति\* ॥ \*स्यादेतत्\*—

पञ्चपादिका

भ्युच्चय-व्यवस्थितविकल्पादयोऽपि प्रसज्येरन् । न वस्तुनि युक्तमेतत् ; निःस्वभावत्वप्रसङ्गात् । तथाचैकस्मिन् वस्तुनि स्याणुः पुरुषो वेति विकल्पः, न वैकल्पिकद्रव्यत्यागवद् सम्यग्ज्ञानं भवति स्याणु-

पञ्चपादिकाविवरणम्

वतिदिष्टानां विवृतौ—“एकादश प्रयाजान् यजती”त्युपदिष्टेन समुच्चित्यावृत्त्या षोडशप्रयाजानुष्ठानवद् ब्रह्मणोऽप्यतिदिष्टस्योपदिष्टेन समुच्चित्यानुष्ठानमभ्युच्चयः । \*व्यवस्थितविकल्प इति\* ॥ “उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति”ति शाखाभेदेन व्यवस्थावत् क्वचिद् ब्रह्म भवति न भवतीति व्यवस्था । अस्त्वेवं धर्मसाम्यं ब्रह्मण इति चेत्, नेत्याह—\*न वस्तुनीति\* ॥ तदेव प्रपञ्चयति—\*तथाचैकस्मिन्निति\* ॥

ऋजुविवरणम्

भेदप्रदर्शनमेवानेन मन्त्रेण क्रियत इति युक्तं वक्तुम् ; अतिदेशेन सर्वेषु प्राप्तेषु प्राकृतग्रहणव्यवच्छेदाद्यदर्शनात्, प्रयाजभेदे त्वनुमन्त्रणमात्रापेक्षायामतिदेशप्राप्तेर्न मन्त्रान्तरापेक्षेति दर्शयितुं प्राकृतग्रहणं युक्तम् । एवं समुच्चयमापाद्योदाहरणं दर्शितमिति द्रष्टव्यम् । यत्र वा समुच्चयस्तद्विषयोदाहरणम् । \*ननु\*—निःस्वभावत्वमुक्त्वा “तथाचैकस्मिन्” इत्यनेन ज्ञानस्य सम्यक्त्वमुक्तम्, तदसङ्गतमित्याशङ्क्याह—\*तदेव प्रपञ्चयतीति\* ॥ कथमिन्द्रियाविषयत्वम् ? स्वरूपेण

तत्त्वदीपनम्

विध्यादिप्रसक्तेरनिष्टपर्यवसायित्वं दर्शयितुं प्रश्नमुत्थापयति—\*अस्त्विति\* ॥ सिद्धत्वान्नैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ पौनरुक्त्यं व्यावर्तयति—\*तदेवेति\* ॥ विचारमन्तरेणासंभावनानिवृत्त्यसंभवात् कथं विचारानर्थक्य-

वार्तिकम्

तस्यास्तदवसानत्वमित्याशयः । पुरुषाधीनात्मलाभमेव कर्तव्यस्योपपादयति—\*कर्तुमकर्तुमित्यादि\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

मेव लौकिक-वैदिककर्मणामाह—\*कर्तुमकर्तुमिति\* ॥ तत्र लौकिकमुदाहरति—\*यथाऽऽवेनेति\* ॥ लौकिकेनोदाहरणेन सह वैदिकमुदाहरणं समुच्चिनोति—\*तथाऽतिरात्र इति\* ॥ “कर्तुमकर्तुमि”त्यस्योदाहरणमुक्तम् । कर्तुमन्यथा वा कर्तुमित्यस्योदाहरणमाह—\*उदित इति\* ॥ अयं व्यवस्थित-

प्रदीपः

योग्यत्वेन यागादिधर्मत्वं श्रुत्येकसमधिगम्यम् । तथाच यागप्रत्यक्षत्वेऽपि तद्धर्मत्वं श्रुत्येकसमधिगम्यमिति भावः । \*ननु\* ब्रह्मवत् धर्मोऽपि ज्ञानमात्रेण फलोपयोगि भवत्विति शङ्कायामाह—\*पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्चेति\* ॥ अनुष्ठानेन हि कर्तव्यस्य यागादेः स्वरूपसिद्धिः, न तु ततः पूर्वम्, इति ब्रह्मवदनुभवसाधनत्वे भूतवस्तुत्वेऽपि चानुष्ठानवैयर्थ्यमापद्येतेति भावः । धर्मस्य साध्यत्वमेव, न तु सिद्धत्वमितीममर्थं लौकिक-वैदिकदृष्टान्तमुखेनाह—\*कर्तुमिति\* ॥ लौकिकं वैदिकं च कर्म कर्तुं शक्यम्, अकर्तुं शक्यम् ; कर्तुं शक्यमन्यथा कर्तुं च शक्यमिति कर्तुमित्यस्यावृत्त्या वाक्यमिदं योजनीयम् । यत्तु कर्तुमकर्तु-च शक्यम्, तत् पुरुषाधीनात्मलाभम्, न तु सिद्धम् । लौकिकं कर्म कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं च शक्यं निदर्शयति—\*यथाऽऽवेनेति\* ॥ अथेन गच्छति, न गच्छति इति, कर्तुं शक्यमकर्तुं शक्यमिति प्रदर्शनार्थम् । पञ्चां गच्छति, अन्यथा (रथादिनेति-



**विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च । न तु वस्तु—एवम्,**

**भामती**

पुरुषस्वातन्त्र्यात् कर्तव्ये विधि-प्रतिषेधानामानर्थक्यम्; अतदधीनत्वात् पुरुषप्रवृत्ति-निवृत्त्योरिति, अत आह—  
\*विधि-प्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः\* ॥ “गृह्णाती”ति विधिः, “न गृह्णाती”ति प्रतिषेधः । उदितानुदित-  
होमयोर्विधी । एवं नारास्थिस्पर्शननिषेधो ब्रह्मध्वज तद्धारणविधिरित्येवंजातीयका विधि-प्रतिषेधा अर्थवन्तः ।  
कुत इति ? अत आह—\*विकल्पोत्सर्गापवादाश्च\* ॥ चो हेतौ । यस्माद् ग्रहणाग्रहणयोरुदितानुदित-

**अनुप्रकाशिका**

\*अतदधीनत्वात् = विधि-प्रतिषेधानधीनत्वात् । उदाहृतेषु विधि-प्रतिषेधान् दर्शयति—\*गृह्णाती-  
त्यादिना\* ॥ स्वयं विधि-प्रतिषेधौ दर्शयति—\*एवं नारास्थीति\* ॥ “नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं सवासा  
जलमाविशेत्” इति नारास्थिस्पर्शननिषेधः, “शिरःकपाली ध्वजवान् भिक्षाशी कर्म वेदयन् । ब्रह्महा-  
द्वादशाब्दानि मितभुक् शुद्धिमाप्नुयात्\* ॥ इति ब्रह्महन्तुः शशशिरसो नारास्थनो ध्वजत्वेन धारणविधिः  
कुतो हेतोरिति शङ्कयाम्—“विकल्पोत्सर्गापवादाश्चे”त्युक्तम्, तत्र हेतूपन्यासो न स्फुरतीति, अत आह—  
\*चो हेताविति\* ॥ हेतुमेवोपपादयति—\*यस्मादिति\* ॥

**वार्तिकम्**

\*विधि-प्रतिषेधाश्चात्रेति\* ॥ \*अत्र=कर्तव्यस्य पुरुषाधीनात्मलाभत्वे सतीत्यर्थः । विध्यस्तावत्—  
“यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती”त्यादयः । प्रतिषेधाः—“न कलञ्जं भक्षयेद्”त्यादयः । विकल्पः—“अतिरात्रे

**भाष्यभावप्रकाशिका**

विकल्पः । ब्रीहिभिर्वा यवैर्वेतीच्छाविकल्पः । अस्त्वेवं धर्मसाम्यं ब्रह्मण इति, नेत्याह—  
\*न त्विति\* ॥ \*ननु\*—दृश्यन्ते वस्तुन्यपि विकल्पा इति, तत्राह—\*विकल्पना इति\* ॥

**प्रदीपः**

शेषः ) वेति कर्तुमन्यथा कर्तुमिति प्रदर्शनार्थम् । तथाच वाक्यद्वयं कर्तुमकर्तुं शक्यमिति प्रदर्शनार्थम्, अपरं वाक्यद्वयं  
कर्तुमन्यथा कर्तुं शक्यमिति प्रदर्शनार्थमिति चत्वारि वाक्यान्यत्र विवक्षितानि । लौकिककर्मावद् वैदिकं कर्मापि कर्तुमकर्तुं शक्यम्,  
कर्तुमन्यथा कर्तुं शक्यमिति प्रदर्शनार्थं तत्रापि वाक्यचतुष्टयं वाक्यद्विकरूपं विधि-निषेधाद्यात्मकं संगृह्णाति—\*अतिरात्र इति\* ॥  
अत्रा—“तिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति,” “नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती”ति वाक्यद्विकेन कर्तुमकर्तुं च वैदिकं कर्म शक्यमुदाहरति ।  
“उदिते जुहोति,” “अनुदिते जुहोति” इति वाक्यद्विकेन कर्तुं शक्यमन्यथा वा कर्तुं शक्यमुदाहरति । यत्रावश्यकर्तव्यताऽ-  
वगता, तत्रान्यथाकरणस्यापि सति विधावत्सरोऽस्ति, नत्वेवं ब्रह्मणि वर्तते, इति ब्रह्मधर्मवैलक्षण्यमर्थसिद्धमेवेति भावः ।  
\*ननु\*—वैकल्पिकानां कर्मणां भवतु पुरुषाधीनात्मलाभत्वम्, नित्यानां कर्मणामवश्यकर्तव्यानां न पुरुषाधीनात्मलाभत्व-  
मित्याशङ्क्य, वैकल्पिकदृष्टान्तेन नित्यानामपि कर्मणां पुरुषाधीनात्मलाभत्वमेवेति प्रदर्शनार्थमाह—\*विधिप्रतिषेधाश्चेति\* ॥  
तथाच ज्योतिष्टोम-कलजभक्षणादयोऽपि, पुरुषाधीनात्मलाभाः, विधि-प्रतिषेधविषयत्वात्, वैकल्पिकादिवदित्यनुमानप्रयोगोऽत्र  
विवक्षितः । असति च पुरुषाधीनात्मलाभत्वे नित्यकर्मादेर्विधिवैयर्थ्यमापद्यते । तथाच यथा विधि-प्रतिषेधा अपि विकल्पो-  
त्सर्गापवादा इव सार्थकाः स्युः, तथा व्यवस्थापनं पुरुषाधीनात्मलाभत्वमन्तरा कर्मणां नोपपद्यते, इति न किमपि कर्म सिद्धं  
ब्रह्मवदिति निष्कर्षः । \*विकल्पोत्सर्गापवादाश्चेति\* ॥ चशब्द इवार्थकः । स्युरित्याशंसायां लिङ्, न तु संभावनायाम् ।  
यदि पुरुषाधीनात्मलाभत्वं कर्मणां स्यात्, तर्हीत्यध्याहारेण वाक्यं योजनीयम् । विकल्पादिस्थले नित्यस्थले च कर्मणि पुरुष-  
स्वातन्त्र्यं समानमेव । इयान्विशेषः—विकल्पस्थले करणाकरणयोः फलविशेषः, नित्यस्थले तेषां करणे गुणः, अकरणे तु प्रत्ययः  
इति । सर्वथा तु नित्यमपि कर्म पुरुषेच्छां विना नात्मानं लभते ; अन्यथाऽकरणेऽपि प्रत्यवायानापत्तेरिति भावः । भामत्यां  
तु—ग्रहणाग्रहणादेः पुरुषस्वातन्त्र्ये कथं न विधिवैयर्थ्यम्, यतो विध्यभावेऽपि विकल्पो भविष्यतीत्याशङ्क्य समाधानार्थम्—  
\*विधिप्रतिषेधाश्चेति\* ॥ सत्यं विधिद्वयस्थले विधि-प्रतिषेधस्थले च पुरुषस्वातन्त्र्यं वर्तते ? तथाऽपि तदुपस्थापनेन विधीनां  
साफल्यमिति न दोष इत्याह—\*विकल्पोत्सर्गापवादाश्चेति\* ॥ विकल्पोत्सर्गापवादरूपत्वेन सत्यपि स्वातन्त्र्ये साफल्यमिति भावः



नैवम्, अस्ति, नास्तीति वा विकल्प्यते । विकल्पनास्तु पुरुषबुध्यपेक्षाः ।

भामती

होमयोश्च विरोधात् समुच्चयासंभवे तुल्यबलतया च बाध्य-बाधकभावाभावे सत्यगत्या विकल्पः । नारास्थि-स्पर्शननिषेध-तद्धारणयोश्च विरुद्धयोरतुल्यबलतया न विकल्पः, किंतु सामान्यशास्त्रस्य स्पर्शननिषेधस्य धारणविधिविषयेण विशेषशास्त्रेण बाधः । एतदुक्तं भवति—विधि-प्रतिषेधैरेव स तादृशो विषयोऽना-गतोत्पाद्यरूप उपनीतः, येन पुरुषस्य विधि-निषेधाधीनप्रवृत्ति-निवृत्त्योरपि स्वातन्त्र्यं भवतीति । भूते वस्तुनि तु नेयमस्ति विधेत्याह—\*न तु वस्त्वेवं नैवमिति\*॥ तदनेन प्रकारविकल्पो निरस्तः । प्रकारविकल्पं निषेधति—\*अस्ति नास्तीति\* ॥

\*स्यादेतत्\*—भूतेऽपि वस्तुनि विकल्पो दृष्टः—यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति, तत् कथं न वस्तु विकल्प्यत इति ? अत आह—\*विकल्पनास्त्विति\* ॥ पुरुषबुद्धिः = अन्तःकरणम्, तदपेक्षा

ऋजुप्रकाशिका

अतुल्यबलतया न विकल्प इति\*॥ न विकल्पश्चेत्, किं तर्हि ? इति पृच्छति—\*किंत्विति\*॥ बाध्य-बाधक-भावविधयेत्युत्तरयति—\*सामान्यशास्त्रस्येति\* ॥ तथाच—“उत्सर्गः” इत्यस्य बाधकैकापोद्य इत्यर्थः । उक्त-सामान्य-विशेषशास्त्रस्थले विशेषशास्त्रस्यैव बाधकत्वाद् विकल्पस्यापवाद इति भावः । यत्तुक्तम्—पुरुषप्रवृत्ति-निवृत्त्योर्विधि-प्रतिषेधाधीनत्वाद् विधि-प्रतिषेधानर्थक्यम्—इति, तत्राह—\*एतदुक्तं भवतीति\* ॥ \*येन विधि-प्रतिषेधोपनीतेन विषयेणेत्यर्थः । स्वातन्त्र्येण कर्तुं समर्थोऽपि पुरुषो हिताहितोपायत्वमजानन् हिताहितोपायत्व-बोधकविधि-निषेधसापेक्ष इत्यर्थः । तथाच विधि निषेधसार्थक्यमिति भावः । \*भूते वस्तुनि = परिनिष्ठिते सिद्धे वस्तुनि । \*नैवमस्तीति\* ॥ कर्तव्ये वस्तुनि यादृश्युक्ता विधा, तादृग्विधा भूते वस्तुनि नास्तीत्याहेत्यर्थः । \*अनेनेति\* ॥ वस्त्वेवं नैवमिति न विकल्प्यत इत्यनेनेत्यर्थः । \*अस्ति नास्तीति\* ॥ अस्ति, नास्तीति वा न विकल्प्यत इत्यनुषङ्गः ।

वार्तिकम्

षोडशिनं गृह्णाति” “नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यादिः । उत्सर्गः—“आहवनीये जुहोती”त्यादिः । अपवादः “पदे जुहोतीत्यादिः । \*एवं नैवमिति\* वस्तुनः प्रकारविकल्पाभावः प्रदर्श्यते । \*अस्ति नास्तीति\* स्वरूपविकल्पाभाव इति । \*ननु\* वस्तुन्यपि कर्तव्य इव विकल्पो दृष्टः ; यथा स्थाणौ—‘स्थाणुर्वा पुरुषो वे’ति, नेत्याह—\*विकल्पनास्त्विति\* ॥ यद्वा—\*ननु\* यथा क्रियाया विकल्पादिरूपत्वेन पुरुषतन्त्रत्वाद्

प्रदीपः

इति विवृतम् । तथाच कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यत्वेऽपि विकल्पस्थले ज्ञानद्वयमपि प्रमैव कर्मणीति भावः । \*ननु\*—यदि विकल्प्यमानत्वमात्रं पुरुषाधीनात्मलाभत्वप्रयोजकम्, तर्हि वस्तुन्यपि विकल्पस्य दर्शनाद् ब्रह्मणि पुरुषाधीनात्मलाभत्व-प्रसङ्गः, इति धर्मावैलक्षण्यात् कथं ब्रह्मणि प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः ? इत्याशङ्क्याह—\*न तु वस्त्वेवमिति\* ॥ वस्तु “एवम्” “नैव-मि”ति न विकल्प्यते, वस्तु “अस्ति” “नास्ती”ति वा न विकल्प्यत इति योजना । तत्र प्रथमेन वाक्येन करणान्यथाकरणान्तर-विकल्पो निरस्यते, द्वितीयेन तु करणाकरणरूपो विकल्पः । यथा हि स्वरूपतो विशिष्य सम्यग् ज्ञायमानमेव कर्म सत्यपि निषेधेऽ-बाधितं सदेव विकल्प्यते, एवं वस्तुनि स्वरूपतो विशिष्य ज्ञायमाने सत्यपि निषेधेनावहितं सद् न विकल्प्यत इति भावः । तथाच प्रमात्मकः विकल्पविषयत्वमेव पुरुषाधीनात्मलाभत्वप्रयोजकमिति न धर्मावैलक्षण्यं ब्रह्मण इति निष्कर्षः । विधितन्त्रेणैव हि विकल्प-प्रमाणान्यत्र ॥ \*ननु\*—दृश्यन्ते वस्तुन्यपि विकल्पाः—‘आत्मा अस्ति वा ? न वा’ ‘स्थाणुर्वा पुरुषो वे’त्यादिरूपा इत्याशङ्क्य, षोडं दृश्यन्ते विकल्पा वस्तुन्यपि, परन्तु न ते विधितन्त्राः, किन्तु सवासनबुद्धितन्त्राः, इति विधितन्त्रविकल्पविषयत्वेनैव धर्मावैलक्षण्य-साधनान्न दोष इत्याह—\*विकल्पनास्त्विति\* ॥ संशय-विपर्यासादिरूपास्तु । पुरुषबुद्धिः = सवासनमन्तःकरणम् । तथाचैतेषां



न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुध्यपेक्षम् । किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत् । नहि

भामती

\*विकल्पनाः = संशय-विपर्यासाः । सवासनमनोमात्रयोनयो वा, यथा स्वप्ने, सवासनेन्द्रिय मनोयोनयो वा, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति स्थाणौ संशयः, पुरुष एवेति वा विपर्यासः ; अन्यशब्देन वस्तुतः स्थाणोरन्यस्य पुरुषस्याभिधानाद्, न तु पुरुषतत्त्वं वा स्थाणुतत्त्वं वापेक्षन्ते ; समानधर्म-धर्मि-दर्शनमात्राधीनजन्मत्वात् । तस्मादयथावस्तवो विकल्पना न वस्तु विकल्पयन्ति वाऽन्यथयन्ति वेत्यर्थः । तत्त्वज्ञानं तु न बुद्धितन्त्रम्, किंतु वस्तुतन्त्रम् ; अतस्ततो वस्तुविनिश्चयो युक्तः, न तु विकल्पनाभ्य इत्याह—\*न वस्तुयाथात्म्येति\*

ऋजुप्रकाशिका

“विकल्पनास्तु पुरुषबुध्यपेक्षाः” इति भाष्यं व्याचष्टे—\*पुरुषबुद्धिरन्तःकरणमित्यादिना— अभिधानादित्यन्तेन\* ॥ संशय-विपर्यासलक्षणा विकल्पना अन्तःकरणसापेक्षा द्विविधाः—सवासन-मनोमात्रयोनयः, सवासनेन्द्रिय-मनोयोनयश्चेति । तदुभयप्रकारं सनिर्दर्शनं दर्शयति—\*सवासनेत्यादिना\* ॥ उभयत्र वाशब्दश्चार्थः । “स्वप्ने” इत्यनन्तरं संशयो विपर्यासश्चेति शेषः । “स्थाणावित्यतः प्राग् जाग्रदवस्थायामिति शेषः । “विपर्यासः” इत्यत्र हेतुः—\*अन्यशब्देनेति\* ॥ पुरुषशब्देनेत्यर्थः । “अपेक्षन्ते” इत्यनन्तरं विकल्पनाः संशय-विपर्यासा इत्यनुषङ्गः । कुतो नापेक्षन्त इति ? अत आह—\*समानेति\* ॥ संशये समानधर्मदर्शनं साधारणधर्मदर्शनम्, विपर्यये तु सादृश्यदर्शनमिति बोध्यम् । उपसंहरति—\*तस्मादिति ॥ \*अयथावस्तवः\* ॥ यथावस्तुत्वं वस्त्वनुसारित्वं यासां नास्ति ताः, अयथावस्तवः ; तादृग्भूता विकल्पना वस्तुतत्त्वानपेक्षाः पुरुषबुद्धिमात्रसापेक्षाः सिद्धं वस्तुतत्त्वं न विकल्पयन्ति, नवाऽन्यथयन्तीत्यर्थः ; संशया वा विपर्यया वा न वस्तुतत्त्वगोचरा इति यावत् । तथाच न वस्तुतन्त्रा विकल्पाः, किंतु बुद्धितन्त्रा एव, तत्त्वज्ञानं तु तद्विपरीतमित्याहेत्याह—\*तत्त्वज्ञानं त्विति\* ॥ \*ततः=तत्त्वज्ञानाद् । \*भूतवस्तुविषयाणाम्=सिद्धवस्तुविषयाणाम् ; अकर्तव्यविषयाणामित्यर्थः ॥

वार्तिकम्

तज्ज्ञासाऽनुभवावसाना, एवं वस्तुज्ञानस्यापि स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादिविकल्परूपत्वदर्शनेन पुरुषबुद्धितन्त्र-त्वाद्भानुभवावसानत्वमिति, नेत्याह—\*विकल्पनास्त्विति\* ॥ तत्राज्ञानस्योपाधित्वात्, संशयस्य तत्त्व-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\*—साम्यज्ञानाधीनत्वाद्वस्तुनः, तस्य च पुरुषाधीनत्वाद् स्वपि पुरुषाधीनमिति, नेत्याह—  
\*न वस्त्विति\* ॥

प्रदीपः

विकल्पानां प्रमाणानधीनानां न प्रमात्वम्, यतो न वस्तुतत्त्वमपेक्षन्त इमे विकल्पा इति भावः । पुरुषबुध्यपेक्षत्वेऽपि कथं वस्तुविकल्पानां न प्रामाण्यमिति ? अत आह—\*न वस्तुयाथात्म्यज्ञानमिति\* ॥ अवाधितवस्तुज्ञानं वस्तुतत्त्वमेवापेक्षते, न तु सवासनमन्तःकरणम् । यस्य हि शीतोष्णादिवासनैव नास्ति, तस्येन्द्रियसंपर्कमात्रेण विनापीच्छां तज्ज्ञानं भवतीत्यनुभवसिद्धमिति भावः । पुरुषबुध्यपेक्षे वस्तुविकल्पेऽप्रमात्वमुदाहरणमुखेन प्रदर्शयति—\*नहीति\* ॥ एकस्मिन् स्थाणौ ‘स्थाणुर्वा पुरुषो वे’ति संशयज्ञानं न हि तत्त्वज्ञानमिति योजना । ‘पुरुषोऽन्यो वे’त्यत्रान्यो वेत्यस्यैव विवरणम्—पुरुषो वेति, न ज्ञानान्तरविवक्षा । \*ननु\*—संशयज्ञाने स्थाणोरपि प्रतीयमानत्वे तदंशे प्रमात्वस्य विद्यमानत्वात् कथं न संशयज्ञानं प्रमेति ? अत आह—



स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति । तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम् । स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानम् ; वस्तुतन्त्रत्वात् । एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् । तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव ; भूतवस्तुविषयत्वात् ।

भामती

एवमुक्तेन प्रकारेण भूतवस्तुविषयाणां ज्ञानानां प्रामाण्यस्य वस्तुतन्त्रतां प्रसाध्य, ब्रह्मज्ञानस्य वस्तु-  
तन्त्रतामाह—\*तत्रैवं सतीति\* ॥

पञ्चपादिका

रेवेति निश्चितैकार्थता परमार्थे । यतो वस्तुस्वभावपरतन्त्रं सिद्धवस्तुज्ञानम्, न ज्ञानपरतन्त्रं वस्तु । यदि स्यात्, शुक्तिरजतमपि तथा स्यात् । कर्तव्यज्ञानं पुनर्वैपरीत्येऽपि सम्यगेव ; “योषा वाव गौतम अग्निरि”त्यादिषु दर्शनात् । \*तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्\* । अतो युक्तो युक्तेरनु-  
प्रवेशः, अनुभवापेक्षा च नेतरत्र ॥

वार्तिकम्

ज्ञानभिन्नत्वादित्याशयः । भवतु, ततः किमिति ? अत आह—\*तत्रैवं सतीति\* ॥ ब्रह्मज्ञानस्य भूतवस्तुविषयत्वात् स्वविषयसम्भावनार्थमस्ति प्रमाणान्तरापेक्षा । तथाच श्रुत्यर्थावधारणानुकूलतयैव सूत्रकारेण जन्मादिसूत्रे न्यायः सूत्रितः, न स्वातन्त्र्येण ब्रह्मविषयप्रमाणतयेत्यभिप्रायः । एवमाशयमविद्वान् श्रुतत्वेन ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमभिहितमिति भ्रान्तो व्याघातमाशङ्कते—\*नन्विति\* ॥ निर्विषय-  
त्वादित्याशयः । यद्वा—\*ननु\* ब्रह्मज्ञानस्य भूतवस्तुविषयत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेव प्राप्नोति, न वेदान्तविषयत्वम् ; सर्वस्य वेदस्य कर्तव्यमात्रविषयत्वात्, तथाच ब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारणाऽ-

भाष्यभावप्रकाशिका

तदेव दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति—\*नहीति\* ॥ उक्तन्यायं सर्वत्र प्रसारयति—\*एवमिति\* ॥  
दार्ष्टान्तिकं निगमयति—\*तत्रेति\* ॥ अतोऽनुभवापेक्षा, युक्त्यनुप्रवेशश्च सिद्ध इति भावः । कथं

प्रदीपः

विकल्पज्ञानं मिथ्याज्ञानमेव, इति नेदं विरुद्धमिति भावः । एतत्प्रकरणस्थमंशमेदेन प्रमात्वाप्रमात्वपक्षमादायैव वेदान्तपरिभाषादा-  
वेकस्मिन् ज्ञाने प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्वादिकं विवरणमतानुसारेण प्रतिपादितम् । भामतीमतेऽपि तु नेयं प्रक्रिया विरुद्धेति तु निष्कर्षः ।  
प्रकृतमुपसंहरति—\*तत्रैवं सतीति\* ॥ \*तत्र=कर्म-ब्रह्मज्ञानयोः । \*एवं सति=कर्म पुरुषतन्त्रम्, भूतवस्तुज्ञानं तु वस्तुतन्त्र-  
मिति स्थिते सति । ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमित्यादि निगदव्याख्यातम् । तथाच कर्मण इव ब्रह्मणः श्रुत्येकगम्यत्वस्याभावाद्  
जगत्कारणे ब्रह्मण्यनुमानप्रमाणस्याप्यवसरो न दुष्ट इति पर्यवसन्नमिति निष्कर्षः ॥

एतावता प्रपञ्चेन ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वयोग्यत्वसाधनेन जगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तविरोध्यनुमानप्रमाणप्रवृत्तेरप्यौचित्यं  
व्यवस्थापितम्, सति चैवमाशङ्का समुदेति—यत्, अनुमानाविरोधेन किं वेदान्तप्रामाण्यम् ? उत वेदान्ताविरोधेनानुमान-  
प्रामाण्यमिति ? तत्राद्ये मूलकारणमनुमानमेव “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रेणोपक्षिप्यत इति वेदान्तानामपि जगत्कारण एव  
पर्यवसानम्, न तु प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि । द्वितीये तु वेदान्तावान्तरतात्पर्यविषयमेवानुमानं गोचरयति, न तु मुख्यतात्पर्य-  
विषयमिति, सर्वांशे नानुमानप्रमाणप्रवृत्तिः सूत्रकाराभिमतता प्रतीयते । किमत्र युक्तमिति शङ्कायामनुमानप्राधान्यवादी शङ्कते—  
\*ननु भूतवस्तुत्व इति\* ॥

ज्योतिष्टोमादिवाक्यानि हि धर्मस्य प्रमाणान्तरविषयत्वात्—‘अर्थं बुद्ध्वा शब्दरचनेति न्यायस्य तत्राप्रसराद-  
पौरुषेयाणीति युक्तम्, वेदवाक्यमीमांसैव च धर्ममीमांसेति । वेदान्तवाक्यानि तु प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य रचितत्व-  
कल्पनासंभवात् पौरुषेयाणि, इति मूलप्रमाणपरीक्षाया एव युक्तत्वाद् वेदान्तवाक्यविचारणाऽयुक्ता निष्प्रयोजना चेति भावः ।



**\*ननु\* भूतवस्तुत्वे(१) ब्रह्मणः, प्रमाणान्तरविषयत्वमेव, इति वेदान्तवाक्यविचार-**

भामती

अत्र चोदयति—**\*ननु भूतेति\***॥ यत् किल भूतार्थं वाक्यम्, तत् प्रमाणान्तरगोचरार्थतयाऽनुवादकं दृष्टम्—यथा नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति ; तथा च वेदान्ताः । तस्माद् भूतार्थतया प्रमाणान्तरदृष्टमेवार्थ-  
मनुवदेयुः । उक्तंच ब्रह्मणि जगज्जन्मादिहेतुकमनुमानं प्रमाणान्तरम् । एवंच मौलिकं तदेव परीक्षणीयम्, ननु  
वेदान्तवाक्यानि तदधीनसत्यत्वानि, इति कथं वेदान्तवाक्यग्रथनार्थता सूत्राणामित्यर्थः । परिहरति—

श्रुतप्रकाशिका

\*भूतार्थं वाक्यम् = भूतार्थप्रतिपादकवाक्यम् । \*प्रमाणान्तरगोचरार्थतया = प्रमाणान्तरसिद्धार्थगोचरतयाऽनु-  
वादकं दृष्टमित्युक्तम्, तदुदाहरति—\*यथेति\*॥ अस्तु, प्रकृते किमायातम् ? तत्राह—\*तथाच वेदान्ता इति\*॥  
विमता वेदान्ताः, प्रमाणान्तरसिद्धार्थगोचरतयाऽनुवादका भवितुमर्हन्ति, भूतार्थप्रतिपादकवाक्यत्वात्, यदेवं  
तदेवम् ; यथा “नद्यास्तीरे पञ्च भूतानि सन्ति” इति वाक्यम्, तथाचैते, एवमुपनयान्तानवयवान् मन्यमानो  
निगमयति—\*तस्माद् भूतार्थतयेति\* ॥ “अनुवदेयुरि”त्यनन्तरं वेदान्ता इति शेषः । \*ननु\* ब्रह्मणः  
प्रत्यक्षप्रमाणायोग्यत्वात् कथं ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तानां प्रमाणान्तरदृष्टार्थकताऽनुवादकतोच्यते ? इत्याशङ्क्य,  
ब्रह्मणि प्रत्यक्षप्रमाणाभावेऽप्यनुमानप्रमाणमुक्तमित्याह—\*उक्तं चेति\* ॥ \*मौलिकं तदेवेति\* । ब्रह्मप्रति-  
पादकं मौलिकप्रमाणमेव परीक्षणीयमित्यर्थः । \*तदधीनेति\* ॥ उक्तविधया प्रमाणान्तराधीनसत्यत्वानीत्यर्थः ।  
\*कथमिति\* ॥ सूत्राणां वेदान्तवाक्यग्रथनार्थता पूर्वोक्ता कथंचिदिति शङ्क्यार्थ इत्यर्थः । वेदान्तानां माना-  
न्तरसिद्धब्रह्मप्रतिपादकत्वेनानुवादकत्वमाशङ्कितम्, तदनुपपन्नम् ; ब्रह्मणो मानान्तरविषयत्वं प्रत्यक्षविषयत्वम-

पञ्चपादिका

अपरः परिचोदयति—**\*ननु भूतवस्तुविषयत्व इत्यादिना\*** ॥ अयमभिप्रायः—भूतत्वाद् युक्तेरपि  
चेदनुप्रवेशः, तथा सति किं वेदवाक्यैर्विचारितैः ? यथाहुरीश्वरकारणिनः, तथा भवतु पूर्वसूत्रेण प्रतिज्ञा-

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*अपरः परिचोदयतीत्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः\* । पुनरनुमानवादिनश्चोदयन्ति—**\*ननु\*** भूतवस्तुविषयत्व  
इति\* ॥ \*ननु\* अनुमानसूचनपरं सूत्रं न प्रतिभातीति, अत आह—\*पूर्वसूत्रेणेति\* ॥ ज्ञानानन्द-

तत्त्वदीपनम्

मित्याशङ्क्यानुमानान्तर्भूतत्वाद् वाक्यं न पृथग्विचारणीयमित्याह—\*पुनरनुमानवादिन इति\* ॥ प्रतिज्ञाद्य-  
प्रतिपत्तेः कथमनुमानसूचकं सूत्रमित्याशङ्कते—\*नन्वनुमानेति\* ॥ सद्रूपेण ब्रह्मणो मानान्तरविषयत्वान्नेन्द्रियादि-  
विषयत्वमित्यादिग्रन्थोऽसमञ्जस इत्याशङ्क्याह—\*ज्ञानानन्देति\* ॥ युक्तीनां ब्रह्मविषयत्वाभावात् तत्र कथमसंभावना-

भाष्यभावप्रकाशिका

न प्रत्यक्षगम्यमिति ? अत्राह—**\*इन्द्रियेति\*** ॥ नानुमानादिगम्यतेत्याह—**\*संबन्धेति\*** ॥ तत्  
प्रपञ्चयति—**\*स्वभावत इति\*** ॥ मा भूदेवं प्रत्यक्षता, अनुमेयता तु किं न स्यादिति ? अत

वार्तिकम्

नर्थिकैव प्राप्तेति शङ्कते—**\*नन्विति\*** ॥ प्रमाणान्तरविषयत्वासम्भवाद् ब्रह्मणो वेदान्तविषयत्वमेवेति  
परिहरति—**\*नेत्यादिना\*** ॥ \*ननु\* यथा पक्षे धूममात्रग्रहादनुमितिर्न तत्र तत्सम्बन्धग्रहापेक्षा, एवं

प्रदीपः

\*तत्र पुरुषोऽन्यो वेति\* ॥ संशयज्ञाने कोट्यन्तरज्ञानमेव पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्, ननु स्थाणुकोटिज्ञानमपीति तदंश एव विकल्पनात्वाद्  
\*अनर्थिकैव प्राप्तेति\* ॥ अनुमानेनैव ब्रह्मस्वरूपस्य निर्णयत्वादिति शेषः । वेदान्तानामनुवादमात्रत्वम्, न स्वतः

(१) “भूतवस्तुविषयत्वे” इति पञ्चपादिकाभिमतः पाठः ।



गानर्थिकैव प्राप्ता, न ; इन्द्रियादिविषयत्वे संवन्धाग्रहणात् । स्वभावतो विषय-  
विषयाणोन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि । सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा  
संबद्धं कार्यमिति गृह्येत । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणम्—किं ब्रह्मणा संबद्धम्, किम-  
न्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्या-

भामती

\*न ; इन्द्रियविषयत्व इति\* ॥ कस्मात् पुनर्नेन्द्रियविषयत्वं प्रतीच इति ? अत आह—\*स्वभावत इति\* ॥

अत एव श्रुतिः—“पराञ्चि खानि व्यवृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्” इति । \*सति

श्रुतप्रकाशिका

मनुमानविषयत्वं वा वाच्यम् ; नच तत् संभवति ; ब्रह्मण इन्द्रियादिविषयत्व इदं कार्यं गृह्यमाणं ब्रह्मणा  
सम्बद्धमिति गृह्येत । तस्मात् सम्बन्धाग्रहणाद् नेन्द्रियविषयः । यद्यप्यनुमानेन गृह्यते ब्रह्मेति वक्तुं  
शक्यम् ; तथाऽप्यनुमानमपि “यतो वे”त्यादिवेदान्तमुपजीव्यैव प्रवर्तते, न स्वतः ; अतः स्वतो नानुमान-  
विषयोऽपि ब्रह्मेति गूढाभिसन्धिः परिहरतीत्याह—\*परिहरतीति\* ॥

“न ; इन्द्रियादिविषयत्वे संवन्धाग्रहणादि”ति भाष्ये पाठः । क्वचित्—“न ; इन्द्रियविषयत्वे सम्बन्धा-  
ग्रहणादि”ति पाठः । सम्बन्धमभिसन्धिमजानानः शङ्कते—\*कस्मात् पुनर्नेन्द्रियादिविषयत्वं प्रतीच इति\* ॥

“कस्मात् पुनर्नेन्द्रियविषयत्वं प्रतीचः इति क्वचिद् वाचस्पत्ये पाठः । स सम्यक् । अभिसन्धिमुद्धाटयन्नाहेत्याह—  
\*अत आहेति\* ॥ भाष्ये \*न ब्रह्मविषयाणी”ति ॥ ब्रह्मणोऽविषयत्वेन विषयत्वाभावादिति भावः । ब्रह्मा-

पञ्चपादिका

निर्देशोऽनेन च हेत्वभिधानमिति । उत्तरमाह—\*नेन्द्रियादिविषयत्वे सम्बन्धाग्रहणादित्यादिना\* ॥ इन्द्रि-  
याणि प्रपञ्चमात्रं गृह्णन्ति, न तत्कारणम् । यदि तद्ग्रहणमपि स्यात्, नानुमानोपन्यासेन कृत्यमस्ति ।  
सामान्यतोदृष्टमपि न प्रमाणमतीन्द्रिये ब्रह्मणि, अत उपसंहरति—तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्,

पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रत्यग्भूतब्रह्मणश्चक्षुरादिना सामान्यमात्रविषयानुमानैश्च भूतवस्तुत्वेऽपि नानुभावः कर्तुं शक्यत इति परिहरति—  
\*नेन्द्रियादिविषयत्व इत्यादिना\* ॥ \*अतः इत्युपसंहारः\* ॥

वार्तिकम्

ब्रह्मकार्यग्रहात् तदनुमितिर्न विरोत्स्यत इति, नेत्याह—\*कार्यमात्रमेवेति\* ॥ धूमस्यापि महानसे वह्नि-  
सम्बन्धग्रहाद् नागृहीतविशेषसम्बन्धं कार्यं कारणविशेषं निश्चाययितुं शक्नोति, सामान्यतस्तत्सम्भावना-  
हेतुस्तु भवत्येवेत्याशयः । यथाच वेदान्तानां भूतवस्तुविषयत्वमेव, न कार्यविषयत्वम्, तथा वक्ष्यते ।  
प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

प्रदीपः

प्रामाण्यमिति निष्कर्षः । सत्यमनुमानसिद्धजगत्कारणस्वरूपमात्र एव वेदान्तानां तात्पर्यं वेदान्तविचारोऽनर्थक एव, परन्तु  
नेयं वस्तुस्थितिः ; वेदान्तवाक्यानि हि कारणस्वरूपमनूय तस्यैव निर्विशेषस्वरूपत्वबोधनार्थमेव प्रवृत्तानि, न तु कारण-  
स्वरूपमात्रबोधनेन निराकाङ्क्षाणि । तत्तु स्वरूपं नानुमानप्रमाणस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य वा कथमपि विषयः । तच्चिद् वाच्यार्थ-  
प्रतीतिमात्रमनुमानमूलमभिप्रेयते, तर्हि तु नेयमनिष्ठापत्तिः ; यतस्तत्र न मुख्यं तात्पर्यमर्थवादानामिव वाच्यार्थेषु । यथाच  
प्रमाणान्तरप्राप्तार्थबोधकानामपि—“अग्निहिमस्य मेघजमि”त्यादिनां नाप्रामाण्यम्, तथा देवताधिकरणभामत्यां व्यक्तम् ।  
व्यक्तीकरिष्यते चेदं समन्वसूत्रभाष्योपक्रमेऽपि । तथाचानुमानाद्यनुगृहीतांशानां बोधनार्थं वेदान्तशक्त्यानामपेक्षितत्वेऽपि  
तेषामर्थं बुध्वा शब्दरचने’ति न्यायेन पौरुषेयत्वसाधनासंभवात्, “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रेण भृगुवत्स्याः सर्वस्या एव



## सार्थम्, किं तर्हि ? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम् ।

भामती

हीन्द्रियेति\* ॥ प्रत्यगात्मनस्स्वविषयत्वमुपपादितम् । यथाच सामान्यतोदृष्टमप्यनुमानं ब्रह्मणि न प्रवर्तते, तथोपरिष्ठान्निपुणतरमुपपादयिष्यामः । उपपादितं चैतदस्माभिर्विस्तरेण न्यायकणिकायाम् ।

ऋजुप्रकाशिका

भिन्नस्य प्रतीचोऽविषयत्वे श्रुतिमप्याह—\*अत एव श्रुतिरित्यादिना\* ॥ पराञ्चि खानि=पराचीनानि यानि खानि =इन्द्रियाणि व्यतृणत्=हिसितवान्, तस्मात् पराङ् पश्यति लोकः, नान्तरात्मानमित्यर्थः । \*उपपादितमिति\* ॥ “अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेरित्येत्यर्थः ।

\*ननु\* अनुमानप्रमाणमुक्तं ब्रह्मणि, तत्राह—\*यथाच सामान्यत इति\* ॥ \*उपरिष्ठात्= तर्कपादे\* । \*उपपादितं चैतदिति\* । विमतम्, धीमत्कर्तृकम्, कार्यत्वात्, कुम्भवत्, इत्यनुमानाद् नेश्वरसिद्धिः ; धीमतो जीवस्याप्यदृष्टद्वारा जगत्कर्तृत्वेन जीवकर्तृकत्वे सिद्धसाधनात् । नच— उपकरणाभिज्ञकर्तृकत्वं साध्यम् ; जीवस्यातथात्वाद् न सिद्धसाधनमिति—वाच्यम् ; किं कतिपयोप-

पञ्चपादिका

किं तर्हि ? \*वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थमिति\* युक्तिमपि तदुपकरणां तदर्थानुभवप्रयोजनां सूचयतीत्युक्तम् ॥

\*नन्वेवं सति\* कथं युक्तिरब्रह्मविषया सती तद्विषयाणां वाक्यानामुपकरणं भवति ? \*उच्यते\*— ब्रह्मपरेषु मृदादिदृष्टान्तरैर्युक्तय उपन्यस्यन्ते । ताश्च विधि-प्रतिषेधवाक्ययोः प्रवर्तकत्व-निवर्तकत्वाकाङ्क्षि-

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* एवं सतीति स्पष्टार्थः\* ॥ \*उच्यत इत्यादेः परिहारस्यायमर्थः\*—ज्ञानानन्द-सर्वज्ञ-प्रत्यगात्मभूतं ब्रह्म निश्चापयितुमसमर्था अपि युक्तयः शब्दावगते ब्रह्मणि सामान्यद्वारेण संभावनावुद्धिहेतवो भवन्ति । कथम् ? जगदुपादानेऽद्वितीयशब्दावगते मृदादिदृष्टान्तरूपादानव्यतिरेकेण कार्यस्यानिरूपणादद्वितीयता संभाव्यते । स्पष्टिकलौहित्यप्रतिविम्ब-रज्जुसर्प-घटाकाशदृष्टान्तरैरात्मनि कर्तृत्वादेरापितत्वं जीवब्रह्मैक्यं ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्च-

ऋजुविवरणम्

ब्रह्मणः प्रत्यक्षत्वादित्याशङ्क्य, साभिप्रायमवतारयति—\*ज्ञानानन्दप्रत्यगिति\* ॥ “उच्यते” इत्यादिना युक्तेः संभावनाहेतुत्वमुक्तम्, तदसंबन्धम् ; ब्रह्मविषयत्वाभावेन तत्संभवहेतुत्वाभावात्, तथा निश्चायकत्वाभावाच्चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*उच्यत इत्यादेरिति\* ॥ सामान्यद्वारेणेत्यनेनैकविषयत्वमुक्तम् ॥

तत्त्वदीपनम्

बुद्धिहेतुत्वमभिहितम् ? इत्याशङ्क्याह—\*उच्यत इत्यादेरिति\* ॥ सामान्यद्वारेण संभावनावुद्धिहेतुत्वप्रकारं पृच्छति— \*कथमिति\* ॥ तत्प्रकारमेवाह—\*जगदिति\* ॥ किंशब्दस्य प्रश्ने क्षेपे च साधारणस्य क्षेपार्थतामाह—\*किं

भाष्यभावप्रकाशिका

आह—\*सति हीति ॥ \*ननु\*—किं ब्रह्मसंबन्धमिदं कार्यमिति ग्रहणेन ? कार्यमेव परिदृश्यमानं ब्रह्मावगमयिष्यतीति, नेत्याह—\*कार्यमात्रमिति ॥

प्रदीपः

विषयवाक्यत्वंविवक्षणात्, तथा च सर्वथा प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपस्यैव प्रतिपादनाच्च न वेदान्तवाक्यविचारोऽनर्थक इत्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*नेति\* ॥ निर्विशेषेण हि ब्रह्म साध्यहेतुसम्बन्धाद्यभावानुमानगम्यं वेदान्तगम्यमात्मतत्त्वमिति नशब्देन विवक्ष्यते । तदेवाह—\*इन्द्रियादिविषयत्वे सम्बन्धाग्रहणादिति\* ॥ तथाच हेतु-साध्ययोः साहचर्यरूपव्याप्तिग्रहाभावात् पक्षधर्मताज्ञानाभावाच्च न निर्विशेषे ब्रह्मण्यनुमानप्रमाणं प्रवर्तत इति भावः । \*विषयविषयाणीति\* ॥ अनेन—“पराञ्चि-खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्”ति वाक्यमुपस्थाप्यते । ततश्च ज्ञेयं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नमित्यपि सूच्यते,



## किं पुनस्तद् वेदान्त(१)वाक्यम्—यत् सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् ?

### पञ्चपादिका

तस्तुति-निन्दार्थवादवत् स्वरूपवाक्यस्य फलपर्यन्तापेक्षितसम्भावनार्थवादतां प्रतिपद्यमानास्तत्र श्रुति-साहाय्ये वर्तन्त इत्युच्यते । \*किंपुनस्तद् वेदवाक्यं यत् सूत्रेणेह लिलक्षयिषितमिति\* ॥ सर्वत्र वेदान्तवाक्ये ब्रह्मपदस्याप्रसिद्धत्वान्न स्वार्थं विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा वाक्यार्थं समर्पयितुमल-मित्याक्षिपति । येषां वेदान्तवाक्यानां येन संनिवेशक्रमेण ब्रह्मप्रतिपादने समन्वयः स्वाध्यायपादे स्थितः, तल्लक्षणार्थं सूत्रद्वयमिति ।

### पञ्चपादिकाविवरणम्

स्वातन्त्र्याभावोऽसङ्गत्वद्वारेण विशुद्धाद्वितीयप्रत्यगात्मता च संभाव्यत इति । किं पुनस्तद् वेदवाक्यमिति भाष्यस्याक्षेपार्थमाह—\*सर्वत्र वेदान्तवाक्ये ब्रह्मपदस्येत्यादिना\* ॥

\*येषां वेदान्तवाक्यानामित्यादेः परिहारस्यायमर्थः\*—सत्य-ज्ञानानन्दप्रत्यगात्माद्वितीय-ब्रह्मपदार्थोऽप्रसिद्धोऽ-

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\*—ब्रह्मपदार्थस्य प्रमाणान्तराप्रसिद्धत्वात्तदुद्दिश्य लक्षणकथनं नोपपद्यत इत्याक्षिप्ते “येषामि”त्यनेनोदा-हरणप्रदर्शने विवक्षा प्रदर्शिता, तथा कारणस्य प्रसिद्धत्वेन तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगादनवच्छिन्नस्य शब्दार्थत्वं गम्यत इत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; चोदितानन्वयदोषस्यापरिहृतत्वात्, अनुपपन्नत्वाच्च ; ब्रह्मोद्देशेन हि लक्षणं वक्तव्यम्, उद्देशकपदार्थत्वाच्च तस्यैव प्रसिद्धिर्वक्तव्येत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*येषां वेदान्तवाक्यानामिति\* ॥ निगमादि-

### तत्त्वदीपनम्

पुनरिति\* ॥ ब्रह्मणस्तावन्न पदार्थत्वम् ; अगृहीतसंबन्धत्वात्, नापि वाक्यार्थत्वम् ; पदार्थस्यैव पदार्थान्तरसंसृष्ट-त्वेन वाक्यार्थत्वाद्, ब्रह्मणश्चापदार्थत्वाच्चैवमित्याक्षेपग्रन्थार्थः । उक्तचोद्यस्य—“येषामि”त्यादिना परिहारात् प्रतिवचनस्य प्रश्नानुसारित्वमाशङ्क्याह—\*येषामिति\* ॥ किं ब्रह्मपदार्थस्य विशेषतोऽप्रसिद्धत्वम् ? उत सामान्यतः ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यज्ञानेति\* ॥

### वार्तिकम्

\*ननु\* यस्य विषयसंभावनार्थं न्यायप्रदर्शनद्वारा ग्रथनमनेन सूत्रेण क्रियते, किं पुनस्तद् वेदान्त-वाक्यम् ? इति पृच्छति—\*किं पुनरिति\* ॥

### प्रदीपः

इति न प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म जगत्कारणतयाऽनुमानगम्यं भवतीति भावः । अनेन भाष्यसन्दर्भेण संसारिव्यतिरिक्तस्यापीश्वरस्य कारणत्वं नानुमानगम्यमिति न विवक्ष्यते ; यतो जीवाद्यजन्यं क्षियङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वादित्यनुमानेन सगुणेश्वरसाधने न व्याप्तिग्रहादिसंभव इति । तथाच भाष्यकाराणां वेदान्ताविरोधिर्नैकेष्वश्वरानुमानसाधनं न पूर्वापरविरुद्धम् । तदयं निष्कर्षः—ब्रह्म द्विविधम्—सगुणम्, यद्वेदान्तवाक्यावान्तरतात्पर्यविषयः, निर्विशेषम्—यद् वेदान्तवाक्यमुख्यतात्पर्यविषयः । सगुणो-पस्थापनद्वारा निर्गुणपर्यवसायित्वाद् निर्विशेषांशे चानुमानप्रसराद् नानुमानमूलानि सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि, “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रं वेति । इदमेवाभिप्रेत्याह—\*तस्माज्जन्मादिसूत्रमिति\* ॥ यस्माद् नानुमानगम्यं मुख्यं ब्रह्मैवात्र जिज्ञास्यमुप-क्षेप्यम्, तस्मात् ॥ \*ननु\*—“श्रुतिनिर्देशस्तावत्—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति भाष्ये प्रकृतविषयवाक्यम् “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्यभिसंविशन्ति” इति वाक्यजातमिति ज्ञापितम् । तत्र च सगुणमेव बोध्यत इति भवतामपि मतम् । सति चैवं कथं जन्मादिसूत्रं निर्विशेषब्रह्मपर्यन्ताभिप्रायम् ? इति गूढाभिप्रायः शङ्कते—\*किं पुनस्तद् वेदान्तवाक्यमिति\* ॥ निर्विशेषब्रह्मपर्यवसायि वेदान्तवाक्यजातं किं सूत्रकारेण विवक्षितमिति शङ्कया ह्ययं भावो गम्यते—यत्, सूत्रकारा हि विषयवाक्यमपि प्रायेण सर्वत्र सूचयन्ति । अत्रापि तु यदि तत्सूच्यते, तर्हि “यतो वा इमानी”त्यादि-वाक्यजातमेव विवक्ष्यत इति वक्तव्यम् । सति चैवम्—“आनन्दो ब्रह्मे”त्यादिवाक्यानां सूत्रेणानुपस्थापनात् कथं निर्विशेषमपि



“भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति” इत्युपक-  
स्याह—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभि  
संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति” (तैत्ति० ३।१) ।

### पञ्चपादिका

तथैवोदाहरणमाह—\*भृगुर्वै वारुणिरिति\* । अथशब्दोपात्तन्यायेन प्रथमसूत्रस्योदाहरणम्—

### पञ्चपादिकाविवरणम्

पि बृहत्त्वमात्रस्य प्रसिद्धत्वात् तदनुवादेन सन्निहितपदार्थसंसर्गसामर्थ्याद् विशिष्टब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यते, इति  
ब्रह्मप्रतिपादनपरं सत्यादिवाक्यम्, अर्थात्तदेव लक्षणम्, इति न सत्य-ज्ञानानन्द-ब्रह्मस्वरूपलक्षणस्य सिद्धानुवाद-  
प्रसङ्ग इति । \*ननु\* स्वाध्यायपाठक्रमेण नार्थप्रतिपत्तिः, किन्तु वैपरीत्येन ; ‘प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धम्’ इति  
न्यायात् । तथाच कारणस्य प्रसिद्धत्वात् यस्मादाकाशः संभूतः स आत्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति  
वाक्यप्रवृत्तिः ; तथा यस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते, स सर्वज्ञः सर्वविदिति ; तथा यस्मात्प्राणादि  
जायते, स दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुष इत्यादि ; तथा यो भूतयोनि, तदद्रेक्ष्यमग्राह्यमित्यादि ; यस्मात्तेजोवन्नानि  
जायन्ते, तत्सद्वितीयमणिमा तत्त्वमसीत्यादिकारणमात्रानुवादेन तद्विशेषः प्रतिपाद्यत इति, \*सत्यम्\* ;  
अधिकारिज्ञानकर्तव्यताब्रह्मात्मप्रतिपादनानां क्रममभिप्रेत्येदमुक्तम्, तदाह—\*तथैवोदाहरणमिति\* ॥

### श्रुतुविवरणम्

वशात्प्रतीतेरुक्तत्वात्सत्यादिरूपेणाप्रसिद्धेरप्रमितिरभिप्रेता ; अनिर्धारितविशेषसामान्यप्रसिद्धिरस्तीत्यर्थः । जिज्ञासा-  
शब्दस्वारस्यादुत्तरानपेक्षत्वेन प्रसिद्धिरस्तीति तथोक्तम्, इह तु विशेष्यस्यान्यतो लाभात्पदार्थप्रमित्यपेक्षत्वात्ताव-  
न्मात्रप्रसिद्धिर्वक्तव्येति द्रष्टव्यम् । कथं तर्हि निर्धारितविशेषप्रमितिरिति ? तदाह—\*सन्निहितेति\* ॥ \*ननु\*—  
सन्निहितानां स्वरूपलक्षणपरत्वात् कथं तत्र प्रमितिरिति ? तदाह—\*प्रतिपादनपरमिति\* ॥ तर्हि स्वरूपलक्षणा-  
भावः ; अनुवादकत्वाल्लक्षणस्य, इत्याशङ्क्याह—\*अर्थादिति\* ॥ \*अयं भावः\*—प्रमाणविधाबुद्ध्यस्य प्रमाण-  
सिद्धिमात्रमपेक्षितम्, नतु प्रमितिः । तदुक्तम्—\*“धर्मं सामान्यतत्सिद्धे इति”\* ॥ तथा यत्र त्वनूद्य प्रमाणरूपं  
विधीयते, तत्रानूद्यमानस्य प्रमाणान्तरात् प्रसिद्ध्या प्रयोजनमाह—आहवनीयादिष्विति ॥ येषां वेदान्तवाक्या-  
नामित्यादिग्रन्थमाक्षिपति—\*ननु स्वाध्यायेति\* ॥ अयमेवाभिप्राय इति कथं गम्यते ? इत्याशङ्क्योत्तरग्रन्थसंवाद-  
माह—\*तदाहेति\* ॥ \*ननु जगत्कारण इति\* ॥ प्रसिद्धं हि लक्षणम्, एकत्वञ्च न प्रसिद्धमिति भावः ।

### तत्त्वदीपनम्

द्वितीयं दूषयति—\*बृहत्त्वमात्रस्येति\* ॥ सन्निहितपदार्थसंसर्गसामर्थ्यादिति\* ॥ सत्य-ज्ञानादिपदार्थसंसर्ग-  
सामर्थ्यादित्यर्थः । प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य गन्धवत्त्वादेर्लक्षकत्वं दृष्टम्, तथाच सत्य-ज्ञानानन्दादेरपि लक्षण-  
त्वात्प्रमाणान्तरप्रसिद्धत्वं वक्तव्यम्, ततश्च सत्यादिवाक्यं न प्रमाणमित्याशङ्क्याह—\*अर्थादिति\* ॥ प्रतिपन्नं  
सकलानात्मवगाद् ब्रह्मणि व्यावृत्तबुद्धिं जनयति । प्रमाणान्तरागोचरत्वेऽपि सत्यादेर्लक्षकत्वं युज्यत इत्यर्थः ।  
“येषां वेदान्तवाक्यानामि”त्यादिटीकामाक्षिपति—\*ननु स्वाध्यायेति\* ॥ “अग्निहोत्रं जुहोति” “यवागूं  
पचती”त्यादौ पाठक्रमस्याप्रयोजकत्वादित्यर्थः । “समिधो यजती”त्यादौ पाठक्रमस्य प्रयोजकत्वं दृष्टमित्याशङ्क्य,  
प्रस्तुते वैषम्यमाह—\*प्रसिद्धेति\* ॥ तथाच स्वाध्यायपाठक्रमेण “भृगुर्वै वारुणिः” “यतो वा इमानी”त्यादि-  
वाक्यस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वं भाष्यकृतोदाहृतम्, तच्च तद्व्याख्यानं वासमज्जसमितीतिशब्दार्थः । ‘प्रसिद्धानुवादेनाप्र-  
सिद्धं प्रतिपाद्यते’इत्येतदङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि भाष्य-टीकयोरनुपपत्तिः, अत्राह—\*अधिकारीति\* ॥

### वार्तिकम्

पठति—\*भृगुर्वै वारुणिरित्यादि\* ॥ \*ननु\*—अनुमानवदेतदपि वाक्यं तत्समानतविषयत्वेन



पञ्चपादिका

“यतो वा इमानि भूतानी”ति जन्मादिसूतस्य । कथम्? पूर्वोक्तेन न्यायेन पृथिव्यादीनां जन्मादिदर्शनात् तत्कारण एकत्व-नानात्वयोरन्यतरावगमे प्रमाणाभावाद् बुद्धिमत्कारणपूर्वतामात्रे पञ्चपादिकाविवरणम् ।

\*ननु\* जगत्कारणे नानात्वस्यापि प्रतिपत्तेः कथं तदनुवादेन ब्रह्म प्रतिपादनीयमिति चोदयति—  
\*कथमिति\* ॥ परिहरति—\*पूर्वोक्तेनेत्यादिना\* ॥

अयमर्थः—जगत्कारणमात्रानुवादेऽपि तस्य नानात्वशङ्कायाम्—“यतः” इत्येकत्वनिर्देशादेकत्वमपि प्रतीयते । \*ननु\* अनुवादे प्रमितिरनुपपन्ना, \*ननु\* ; जगत्कारण एकत्वपुरोवादाभावादननुवादसामर्थ्यादेवैकत्वं प्रतीयते ; अन्यथाऽनुवादवैयर्थ्यात् । \*ननु\* एकत्वे ब्रह्मलक्षणे च प्रतीयमाणे वाक्यभेदः स्यात्, \*ननु\* ; एकत्वस्य ब्रह्मप्रतिपत्तिगुणभूततयैकवाक्यत्वात् । \*अथवा\*—एकत्वमपि लक्ष्यान्तर्गतमेव भवति, न लक्षणान्तर्गतम् । \*तथाहि\*—जगत्कारणमात्रानुवादेनैकं ब्रह्म विधीयत इति । ततः किमायातमिति ?

श्रुतिविवरणम्

“एकत्वनिर्देशात्” “तदर्थमात्रस्य च विधित्सितत्वादि”ति च हेतुमात्रं निर्दिष्टम्, न साध्यम् ; नचास्योत्तर-साध्यान्वयासिद्धत्वालक्षणत्वेन विधित्सितत्वायोगादित्याशङ्क्यावतरयति—\*अयमर्थ इति\* ॥ “दध्ना जुहोती”तिवदप्राप्तमेकत्वं प्रतीयत इति भावः । गुणवाक्ये विधेयान्तराभावाद् गुणपरत्वम्, इह तु विधेयान्तर-भावात् कथमेकत्वप्रमितिः ? इति चोदयति—\*नन्वनुवाद इति\* ॥ विधेयान्तरभावेऽप्येकत्वं विना कारणत्वमात्रस्य लक्षणत्वायोगात्कारणविषयानुमानवदत्र प्रमाणान्तराभावादत्रैव प्रतीयत इति परिहरति—\*जगत्कारण इति\* ॥

\*अनुवादसामर्थ्यादिति\* ॥ अन्यपरवाक्ये प्रतीतिसामर्थ्यादित्यर्थः । \*अनुवादेति\* ॥ \*वैयर्थ्यम्—प्रयोजन-शून्यत्वमित्यर्थः ॥ \*ननु\*—उभयलक्ष्यत्वेऽपि वाक्यभेदस्समान इति, तत्राह—\*तथाहीति\* ॥ “तत्र ब्रह्मशब्द-तत्त्वदीपनम्

मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानं कर्तव्यमित्युक्ते किं तद् ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणोक्तेरवसरः, ततश्चाकाङ्क्षाक्रमेण “श्रुतुर्वै”-इत्यादिवाक्यं प्रथमं विचारितम्, “यतो वा” इत्यादिवाक्यमनन्तरमित्यर्थः । पटादीनामनेकतन्त्राद्युपादानदर्शनाद् यज्जगत्कारणं तद् ब्रह्मेति प्रतिपात्तुमशक्यम् ; व्याघातादिति शङ्कते—\*ननु जगत्कारण इति\* ॥ अनवच्छिन्नस्य ब्रह्मशब्दार्थ-त्वात् कारणस्य व्यावृत्तत्वाद् व्याघात इत्यर्थः । ऐकप्रत्ययशङ्कां निरस्यति—\*परिहरतीति\* ॥ “प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धं प्रतिपाद्यते”इति न्यायाद् “यतो वा” इत्यादिवाक्यस्य कारणप्रतिपादकस्यानुवादकत्वम् ; तथाच कथं प्रमापकत्वाभिधानमित्याशङ्क्याह—\*जगत्कारणेति\* ॥ जगत्कारणमात्रानुवादेऽपि तस्यैकत्वं प्रतीयत इति संबन्धः । अपरिवधारणे । \*प्रतीयत एवेति\* ॥ “यतो वे”त्येकवचनिर्देशात् कारणत्वं निश्चेतुं शक्यम् ; तसिल्प्रत्ययस्य बहुत्वैकत्वसाधारणत्वादि-त्याशङ्क्याह—\*नानात्वेति\* ॥ “येन जातानि जीवन्ती”ति वाक्यशेषात् तसिल्प्रत्ययस्यैकत्वविषयत्वं निर्धार्यत इत्यर्थः । यच्छब्दस्य प्रसिद्धानुवादित्वान्नैकत्वप्रमितिहेतुत्वमिति शङ्कते—\*नन्वनुवाद इति\* ॥ किं प्रत्ययार्थस्यैकत्वादनुद्यमान-त्वम् ? उत कारणमात्रस्य ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*न जगत्कारण इति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*अनुवादेति\* ॥ प्रकृत्या कारणमनूद्य प्रत्ययेन तस्यैकत्वं प्रतीयत इत्यर्थः । सामर्थ्यमेवाह—\*अन्यथेति\* ॥ अनवच्छिन्नं ब्रह्म निरूपयितुं जगत्कारणत्वलक्षणमनूदितम्, इतरथा विधेयासिद्धेरनुवादस्य नैष्कल्यं स्यादित्यर्थः ॥ एकत्वं ब्रह्मरूपं चेत्युभयं न प्रमेयम्, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति शङ्कते—\*नन्वेकत्व इति\* ॥ स्वतन्त्रस्यार्थद्वयस्याप्रमेयत्वाच्चैतदित्याह—\*नैकत्वस्येति\* ॥ यज्जगज्जन्मादिकारणं तदेकमित्यवान्तरवाक्येन प्रतिपाद्यम्, यदेकं कारणम्, तत्सत्यानन्द-रूपमिति प्रतिपादनाच्च वाक्यभेद इति वाक्यार्थः । विधान्तरेण वाक्यभेदाभावमाह—\*अथेति\* ॥ एकत्व-स्यात्मधर्मत्वात् कथं लक्षणान्तर्गतत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*तथाहीति\* ॥ भेदाभावोपलक्षितं स्वरूपमेकमित्युच्यत इत्यर्थः । \*ननु\*—तथाऽपि “तद् ब्रह्मे”ति कथम् ? प्रधानस्यापि तादृक्त्वादिति शङ्कते—\*तत इति\* ॥



## पञ्चपादिका

प्रतिपत्ते “यतो वा इमानी”ति कारणस्यैकवचननिर्देशात्तदर्थमात्रस्यैव विधित्सितत्वादर्थोत्सर्वज्ञं सर्वशक्तिं जगत्कारणमिति कारणविशेषो वाक्यादवगम्यते । पुनस्तद्विजिज्ञासस्वेत्यनूद्य तद् ब्रह्मेति तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगाद् बृहत्पर्यायत्वेन सर्वतोऽनवच्छिन्नस्वभावं जगत्कारणं ब्रह्मपदार्थ इति गम्यते ।

## पञ्चपादिकाविचरणम्

तदाह—\*अर्थात्सर्वज्ञमिति\* ॥ न संज्ञा-संज्ञिसंबन्धपरं वाक्यम्, किंत्वर्थप्रतिपादनपरम् । आर्थिकस्तु संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध इत्याह—\*पुनस्तद्विजिज्ञासस्वेत्यादि\* ॥ एकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वतोऽनवच्छिन्नं च जगत्कारणम्, तच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयमित्यर्थः ॥

\*ननु\* निरुपाधिकब्रह्मस्वरूपकथनमन्तरेण सोपाधिकानां सर्वज्ञत्वादीनां कस्यचिद् धर्मतया प्रतिपत्तिर्न युक्ता, \*तन्न\* ; ‘यत् सुषिरं तदाकाशम्’ ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इत्यादिवत् स्वरूपलक्षणमेव किञ्चिद् वक्तव्यम् । ब्रह्मशब्दाभिधेयमेव स्वरूपलक्षणमिति चेत्, न ; बृहत्त्व-धर्ममात्राभिधानात् । महान् घट इत्युक्ते महत्त्वस्य निरुपाधिघटो धर्मितया प्रतीयते, तथेहापि वक्तव्यं सच्छब्दाभिधेयं लक्षणमिति चेत्, न ; महासामान्यमात्राभिधानात् । सन्नित्युक्ते घट इत्यवान्तरसामान्यव्यक्तिर्महासामान्यपर्यवसानत्वेनापेक्ष्यते, तथेहाप्यवान्तरसामान्यव्यक्तिर्वक्तव्या । विज्ञानमेव बृहत्त्व-सर्वज्ञत्वादिधर्मवत्तया निरुपाधि ब्रह्मस्वरूपलक्षणमिति चेत्, न ; तस्य

## ऋजुविचरणम्

प्रयोगादि”त्यनेन संज्ञान्तरकथनं प्रतिभाति, तथा सति बृहत्पर्यायानुगमो न भवेत्, ब्रह्मप्रतिपादकत्वञ्च न स्यादित्याशङ्क्य साभिप्रायमवतारयति—\*न संज्ञा-संज्ञीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

ईक्षणपूर्वकस्तद्वत्त्वश्रवणात् कारणस्य चेतनत्वम्, सर्वेक्षितृत्वाच्च सर्वज्ञत्वमित्याशयेनाह—\*तदाहेति\* ॥ ब्रह्मशब्दप्रयोगमात्रेण कथं जगत्कारणस्यानवच्छिन्नत्वनिश्चयः ? संज्ञा-संज्ञिसंबन्धपरत्वाद् ब्रह्मशब्दप्रयोगस्येत्याशङ्क्याह—\*न संज्ञेति\* ॥ संबन्धप्रतिपादने फलाद्यभावादित्यर्थः । किंपरं तर्हीदं वचनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*किन्त्वर्थेति\* ॥ उपक्रमादिकारणस्यानवच्छिन्नत्वप्रतिपत्तेर्न संज्ञामात्रत्वं ब्रह्मपदस्येत्यर्थः ॥

ब्रह्मशब्दादनवच्छिन्नत्वप्रतिपत्तेः कथमसंज्ञात्वमिति ? अत्राह—\*आर्थिक इति\* ॥ “पुनस्तदि”त्यादेरयमर्थः—इतोऽपि प्रधानादिविलक्षणपरं लक्षणवाक्यमित्याह—\*पुनरिति\* ॥ “तद्विजिज्ञासस्वे”त्यत्र जिज्ञास्यत्वोपदोशादित्यध्याहारः । जगत्कारणस्य जिज्ञास्यत्वोपदेशादनवच्छिन्नस्वभावं जगत्कारणमित्यर्थः । ब्रह्मशब्दप्रयोगोऽप्यमुमेवार्थं गमयतीत्याह—\*अनूद्येति\* ॥ तत्पदेन जगत्कारणमनूद्य, ब्रह्मेति जगत्कारणे ब्रह्मपदप्रयोगादित्यर्थः । एतावता कथं विलक्षणप्रतिपत्तिः ? तत्राह—\*बृहत्पर्येति\* ॥ “अस्ति तावद् ब्रह्मे”त्यत्र सर्वज्ञत्वादेरपि ब्रह्मपदात्प्रतिपत्तिरभ्यभाषि, अत्र त्वनवच्छिन्नमात्रप्रतिपत्तिरुच्यत इति विरोधः, तत्राह—\*एकमिति\* ॥ अनवच्छिन्नशब्दस्योपलक्षणार्थत्वाच्च विरोध इत्यर्थः । सर्वज्ञत्वादेः स्वरूपलक्षणत्वासंभवात् स्वरूपलक्षणं वक्तव्यम्, नच निरूपयितुं शक्यत इत्याह—\*ननु निरुपाधिकेति\* ॥ सर्वज्ञत्वादेः सप्रतियोगित्वान्न स्वरूपत्वमित्यर्थः ॥

ब्रह्मत्वं स्वरूपलक्षणमिति शङ्कते—\*ब्रह्मेति\* ॥ बृहत्त्वस्य धर्मिसापेक्षत्वादप्यन्यद्विस्वरूपं वक्तव्यमित्याह—\*न बृहत्त्वेति\* ॥ \*निरुपाधिघट इति\* ॥ निरपेक्ष इत्यर्थः । स्वरूपलक्षणान्तरमाशङ्कते—\*सच्छब्देति\* ॥ सच्छब्दस्य महासामान्यवाचित्वात् तत्पर्यवसानाय व्यक्तिस्वरूपापेक्षणात् तद्वक्तव्यमित्याह—\*न महासामान्यमिति\* ॥ विज्ञानव्यक्तिर्महासामान्यव्यक्तिकेति शङ्कते—\*विज्ञानमिति\* ॥ सुख-दुःखादीनामपि ज्ञानभेदत्वेन गुरुणाऽभ्युपगतत्वाद् ज्ञानत्वस्य महासामान्यत्वम्, ततश्च तद्व्यञ्जकं वक्तव्यमित्याह—\*न तस्येति\* ॥ आनन्दस्य सर्वज्ञत्वादि-

## भाष्यभावप्रकाशिका

“भृगुर्वै वारुणिरिति\* ॥ यद्यपि “भृगुर्वै वारुणिरिति”ति वाक्यं पूर्वसूत्रस्यैवोदाहरणम् ;



तस्य च निर्णयवाक्यम्—“आनन्दाद्वैयव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।  
आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति” ( तैत्ति० ३।६ ) ।

भामती

नच भूतार्थतामात्रेणानुवादतेत्युपरिष्ठादुपपादयिष्यामः । तस्मात् सर्वमवदातम् । श्रुतिः—“यतो  
वा” इति जन्म दर्शयति । “येन जातानि जीवन्ति” इति जीवनं स्थितिम्, “यत्प्रयन्ति” इति तत्रैव  
लयम् । \*तस्य च निर्णयवाक्यम् = \*अत्र च प्रधानादिसंशये निर्णयवाक्यम्—“आनन्दाद्वैयव” इति ।

अनुप्रकाशिका

करणाद्यभिज्ञकर्तृकत्वम् ? सर्वज्ञकर्तृकत्वं वा ? नाद्यः ; पूर्वोक्तविधया जीवकर्तृकत्वेनैव सिद्धसाधनात्,  
अनेनानुमानेन सिध्यतो जगत्कर्तुः सर्वज्ञत्वासिद्धिप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः ; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्, कुम्भ-  
कर्तुरसर्वज्ञत्वात् । नच—कुम्भकारोऽपि कुम्भोपकरणादि सर्वाणि जानात्येवेति—वाच्यम् ; कुम्भकारेण—  
‘अयं कुम्भोऽनेन कृतव्यः’ इत्यज्ञानात् । किंच जगत्कर्तुर्मनःसंयोगाधीनाया धियोऽयोगेन धीमत्कर्तृकत्व-  
साधने बाधः । नच—अमनस्कस्यापि जगत्कर्तुरीश्वरत्वादेव धीसंभव इति—वाच्यम् ; तर्हीश्वरत्वादेव  
धियं विनैव जगन्निर्माणसंभवाद् धीमत्कर्तृकत्वस्यैव विलोपेन ‘वृद्धिमिच्छतो मूलस्यैव छेदः’ इति न्यायापात  
इति न्यायकणिकायामुपपादितमित्यर्थः । \*ननु\* ब्रह्मणि वेदान्तव्यतिरिक्तप्रमाणान्तराप्रवृत्तावपि ब्रह्मणो  
भूतार्थतया तत्प्रतिपादकत्वेन वेदान्तानामनुवादकतैवेत्यत आह—\*नच भूतार्थतेति\* ॥ \*उपरिष्ठात्=  
समवयसूत्रे । जन्मादिसूत्रे “यतो वे”त्यादिवाक्यलक्ष्यं विषय इति भाष्य उक्तम्, तदर्थं श्रुति-सूत्रयोरैकार्थ्यं  
दर्शयति—\*श्रुतिर्यतो वेतीति\* ॥ अत्र जगज्जन्म-स्थिति-लयकारणत्वं ब्रह्मणः तटस्थं लक्षणमिति जन्मादि-  
सूत्रेणोक्तम्, स्वरूपलक्षणपरत्वं चास्य सूत्रस्यास्तीति दर्शयितुम्—“तस्य चे”ति भाष्यं प्रवृत्तम्, तद् व्याचष्टे—  
\*अत्र चेति\* ॥ प्रधानादीनां जगत्कारणत्वसंशये तद्व्युदासपूर्वकं निर्णयवाक्यमित्यर्थः । “नाम-रूपाभ्यां

पञ्चपादिका

\*तस्य च निर्णयवाक्यमानन्दाद्वैयव खल्विति\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

मुख दुःख राग-द्वेषादिमहासामान्यत्वात् तस्याप्यवान्तरसामान्यव्यक्तौ पर्यवसानं वक्तव्यमिति, तदाह—\*तस्य च  
निर्णयवाक्यमानन्दाद्वैयवेति\* ॥ आनन्द एव हि ब्रह्मत्व-सर्वज्ञत्व-कारणत्वादिधर्मवत्तया निरुपाधि ब्रह्मस्वरूपं

तत्त्वदीपनम्

धर्मव्यक्तित्वाच्चैतच्चोद्यमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ “आनन्दाद्वैयवे”त्यत्रानन्दस्य कारणत्वं प्रतीयते, न ब्रह्मस्वरूप-  
मिति शङ्कायामाह—\*आनन्द एवेति\* ॥ निरपेक्षोपादानद्वयानुपपत्त्याऽऽनन्दो ब्रह्मैवेत्यर्थः । श्रुतितोऽप्यानन्दो ब्रह्मो-

वार्तिकम्

सामान्यविषयत्वात् न कारणविशेषनिश्चायकमिति—चेत्, \*नैष दोषः\* ; “अक्ताः शर्करा उप-  
दधाती”ति वत्, वाक्यशेषबलादस्य तद्विशेषनिश्चायकत्वोपपत्तेरित्याह—\*तस्य च निर्णयवाक्यमिति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

तथाप्येतत्सूत्रोदाहरणवाक्यादौ पाठादत्रैवोदाहरत् । “इत्युपक्रम्याहे”ति च पृथक् कुर्वतैतदेव  
सूचितम् । ब्रह्मस्वरूपलक्षणपरं वाक्यमाह—\*तस्य चेति\* ॥

प्रदीपः

सूत्रारूढम् ? इति चेत्, सर्वाऽपि भृशवह्नी सूत्रे लिलक्षयिषितेति, न शङ्काऽवसर इत्याह—\*भृशुर्वै वारुणिरित्यादिना—  
संविशन्तीत्यन्तेन\* ॥ अत्र “तस्य च निर्णयवाक्यमि”त्यनेन “यतो वे”ति वाक्यमानन्दस्वरूपपर्यवसानं विनाऽनिर्णायकमेवेति



### पञ्चापादिकाविवरणम्

निर्णीयते । तथाहि—“यत्र नान्यत्पश्यती”त्यारभ्य “यो वै भूमा तत्सुखमि”ति सुखस्यैव बृहत्त्वधर्मवत्तामाह । विज्ञानं तर्हि निरुपाधिकब्रह्मगुण इति चेत्, किं विज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्यं नीलोत्पलवद् गुण-गुणिभावात् ? किं वा द्रव्यं घट इतिवत्परापरसामान्यभावादिति ? न तावद् गुण-गुणिभावात् ; “साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे”ति श्रुतेः “एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ती”ति च गुण-गुणिभावभेदप्रतिषेधात्, गुणस्य गुणिनोऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूपणात् ॥

अत्र सर्वसङ्करवादी न निर्गुणं द्रव्यमस्तीति जल्पति । मा भून्निर्गुणं द्रव्यम्, ब्रह्म तु न द्रव्यम् ; प्रमाणाभावात् । समवायिकारणत्वाद् द्रव्यमिति चेत्, न ; आरम्भवादानभ्युपगमात् । उपादानकारणत्वाद् द्रव्यमिति चेत्, न ; गुणादीनामपि ग्रहणधर्मत्वादिधर्मोपादानत्वात् । न निर्गुणं वस्त्विति चेत्, अन्त्यगुणेष्वनेकान्तः । तस्मात्तत्त्वज्ञानप्रद्वेषमात्रमेतद् न निर्गुणं ब्रह्मेति । तस्माद् ‘द्रव्यं घटः’ ‘सन् घटः’ इतिवत्परापरसामान्यनिबन्धनं विज्ञानमानन्दमिति सामानाधिकरण्यम् । तस्माद् विज्ञानसामान्यालम्बनमानन्दविशेषो ब्रह्मेति । तत्र सर्वज्ञाद्वितीयत्वादिधर्माणां प्रपञ्चोपाधितयाऽनिर्वचनीयत्वान्न तैर्ब्रह्म सगुणं सद्वितीयं वा

### ऋजुविवरणम्

\*विज्ञानं तर्हीति\* ॥ नीलोत्पलवत्सामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सामान्यव्यक्तिभाव इति भावः । \*ननु\*—अत्यन्तभेदनिवृत्तिपरं “नेह नाने”ति वचनमित्याशङ्क्याह—\*गुणस्येति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

त्याह—\*तथाहीति\* ॥ आनन्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे ज्ञानस्य गुणत्वमाश्रयणीयम्, स्वरूपद्वयानुपपत्त्येति शङ्कते—\*विज्ञानमिति\* ॥ ज्ञानानन्दयोरितरेतरमभेदाद् ज्ञानस्वरूपत्वं युक्तमिति प्रतिपादयितुं विचारमारभते—\*किं विज्ञानेति\* ॥ इतोऽपि न गुण-गुणिभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यमित्याह—\*गुणस्येति\* ॥ गुण-गुणिनोर्भिन्नत्वे घटादिवद् गुण-गुणिभावः, अनन्यत्वे घटं प्रति घटस्यैव गुण-गुणिभावासंभवः, अन्यत्वानन्यत्वं तु दुर्निरूपमित्यर्थः ॥

निर्गुणत्वमुक्तमसहमानः शङ्कते—\*अत्र सर्वेति\* ॥ द्रव्यस्य गुणवत्त्वनियमात् ; इतरथा द्रव्यत्वक्षतिः । तथाच प्रयोगः । ब्रह्म, गुणवद्, द्रव्यत्वात्, संमतवदित्यर्थः । असिद्धयोत्तरयति—\*मा भूदिति\* ॥ प्रमाणाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*समवायिकारणत्वादिति\* ॥ ब्रह्म, द्रव्यम्, समवायित्वात्, संमतवदिति । असिद्धो हेतुरित्याह—\*नारम्भेति\* ॥ यत्, स्वसमवेतद्रव्यारम्भकम्, तत् समवायिकारणम् ; ब्रह्मणश्चानारम्भकत्वादसिद्धिरित्यर्थः । हेत्वन्तरमाशङ्कते—\*उपादानेति\* ॥ व्यभिचारेण दूषयति—\*न गुणादीनामिति\* ॥ द्वित्वादिरादिशब्दार्थः । तार्किकमुद्गानद्गीकारवादिनः शङ्कामुद्गावयति—\*न निर्गुणमिति\* ॥ किं सर्वेषां गुणानां गुणवत्त्वम् ? उत केषांचित् ? आद्ये गुणानवस्था, अनुपलब्धिविरोधश्चेत्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*अन्त्यगुणेष्विति\* ॥ तस्माद् द्वितीयः पक्षः परिशिष्यत इत्याह—\*तस्माद् द्रव्यमिति\* ॥ ‘द्रव्यं घटः’ इत्युक्ते घटव्यक्तेर्द्रव्यत्वालम्बनत्ववद् विज्ञानत्वसामान्यालम्बनमानन्द इत्यर्थः । सर्वज्ञत्वादिधर्मक आनन्दविशेषो ब्रह्म चेत्, तर्हि सगुणत्वं सद्वितीयत्वं च दुर्वारमित्यत्राह—\*तत्र सर्वज्ञेति\* ॥ प्रपञ्चोपाधिकतयेति\* ॥ प्रपञ्चप्रतियोगितयेत्यर्थः । समारोपितसर्वज्ञत्वादिव्युदासेन चिन्मात्रस्य लक्ष्यमाणत्वान्न तेन सगुणत्वं सद्वितीयत्वं चेत्यर्थः । विज्ञानशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य विज्ञानत्वस्य सत्त्वेऽद्वितीयत्वं व्याहन्येत, असत्त्वे न विज्ञानशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वमित्याशङ्क्याह—\*विज्ञानसामान्येति\* ॥ नच—अनिर्वचनीयत्वेऽपि तस्य विज्ञानशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिभाव इत्यपि—वाच्यम् ; यद्भजतमभात् सा शुक्तिरितिबद् मिथ्याभूतस्यापि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यर्थः । विज्ञानशब्दवाच्यस्यानिर्वचनीयत्वेन ब्रह्मगुणत्वम्,

### प्रदीपः

सूचनाद् “यतो वेति” । वाक्यस्य कारणस्वरूपेऽवान्तरं तात्पर्यमेवेति सूच्यते । युक्तं चैतत्—अत एव हि “तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वे”त्यानन्दस्वरूपबोधपर्यन्तं पुनःपुनर्विचारोपदेश उपपद्यते ॥



## अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावसर्वज्ञ-

प्रदीपः

\*ननु\*—सूत्राणां न्यायविशेषमात्रनिर्णयार्थत्वात् सर्वाणि कारणवाक्यानि प्रकृतसूत्रविषय इति वक्तव्यम् । सति चैवं—“यः सर्वज्ञः सर्वविद्”त्यादिवाक्यानामपि विषयवाक्यत्वे तेषां संसारिव्यतिरिक्तेश्वरपरत्वमेव युक्तमिति कथं कारण-वाक्यानि सर्वाणि प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपपराणीति ? अत आह—\*अन्यान्यप्येवंजातीयकानीति\*॥ “सदेव सोम्येदमग्र आसीद्” इति “तदैक्षते”त्यादिना कारणं सर्वज्ञादिरूपमुपक्षिप्य “एकमेवाद्वितीयम्” इति द्वितीयनिषेधद्वारा प्रत्यगभिन्नस्वरूपचेतन्य एव पर्यवस्यति । “अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमाद्यामगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सुसङ्गमं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः” इति वाक्यं भूतयोनिमनूषाद्रेश्यत्वाद्युपन्यासेन “यः सर्वज्ञः सर्वविद्” इति वाक्यमपि तद्वाक्यघटकभूतयोनिस्वरूपोपस्थापनद्वारा न सगुणमात्रपर्यवसायि, किन्तु निर्विशेषपर्यवसायेवेति गमयति ॥

तदेवं गुणोपसंहारन्यायेन सर्वेषामपरेषामपि कारणवाक्यानां वाच्यार्थसमर्पणेन तत्तदवान्तरतात्पर्यमेव स्वीकर्तव्यमिति न कोऽपि दोष इति भावः । अन्यथा तु संसारिव्यतिरिक्तेश्वरकारणपरत्वे सर्वेषां वेदान्तानामनुवादत्वापत्त्या न वेदान्तानां मूलप्रमाणत्वमापद्येतेति, भाष्यकाराः—ब्रह्मणो जीवभेदे वेदान्तवाक्यानि पौरुषेयाणीति न्यायमत एव प्रवेशापत्तिः, सूत्राकारास्तु द्वितीयाध्याये न्याय-वैशेषिक-सांख्य-पातञ्जलादिमतनिरासार्थं तन्मतानुसरिण इति न तन्मतस्थानुगुणाः—इति ज्ञापयन्ति । \*एतेन\*—ब्रह्मसूत्राणां जीवभिन्नब्रह्मबोधन एव स्वरस्यमिति वादा न सूत्रारूढा इति—\*ज्ञाप्यते\* ॥ यद्यप्यनेन सूत्रेण सूत्रकाराः—ब्रह्मणो जीवभेदसंभवोपयोगि कारणत्वं न विशदं सूत्रयन्ति ; तथाऽपि समन्वयाध्यायान्ते—“प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-वृष्टान्तानुपरोधात्” इति सूत्रेणाभिन्ननिमित्तोपादानं तत् सूत्रयन्ति । तच्च प्रत्यगभेदं विना ब्रह्मणो नोपपद्यते, इति जिज्ञास्यं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नमेव, सगुणं तु ब्रह्म संसारिव्यतिरिक्तं जिज्ञास्यमपि न वेदान्तवाक्यावान्तरतात्पर्याविषयोऽपीति निष्कर्षः । \*इति जन्माद्य-धिकरणमिति\*॥ अत्रेदं विषयादिपञ्चकम्—तद्यथा—भृगुवह्नी विषयः, किं सा जीवं जीवातिरिक्तमीश्वरं वा कारणं प्रतिपादयति ? उत प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मेति संशयः । जीवो जगत्कारणतया भृगुवह्नीप्रतिपाद्यः ; ब्रह्मवह्नीगतानन्दमयसमानपर्यायत्वात्, “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्” इत्यत्रानन्दमयपदमिवानन्दपदमपि जीवपरमेव युक्तम् ; तल्लैव कारणवाक्यानां पर्यवसानस्यौचित्यादिति पूर्वपक्षः । अथवा—आनन्दवाक्यस्य मण्डपरित्यागेन प्रवृत्तस्य जीवातिरिक्तविषयत्वस्यैवौचित्येऽप्यनन्दप्रदवेध्यं ब्रह्म जीवातिरिक्तमेव ; तल्लैव ह्यनुमानेनाप्येकवाक्यता भवति । भूतवस्तुत्वाद्ब्रह्मणः प्रमागान्तरगम्यत्वमावश्यकमिति वेदान्त-वाक्यान्यनुमानमूलकान्येवेति युक्तम् । सति चैवं न प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपजिज्ञासेति फलमिति पूर्वपक्षान्तरम् । सिद्धान्तस्तु—पूर्वोक्तप्रकारेण निर्विशेषब्रह्मणोऽनुमानाविषयत्वाद् वेदान्तानामनुमानानपेक्षयैव प्रामाण्याच्च प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव जगत्कारणत्वादि-लक्षणमुखेन प्रतिपाद्यमिति, प्रत्यगभिन्नब्रह्मजिज्ञासासिद्धिरिति । शास्त्राध्याय-पाद-सङ्गतयः पूर्ववदेव । अनन्तरा त्वाक्षेपसङ्गति-रिति सूचितमेव ॥

अत्र “भृगुर्वै वारुणिः” इत्यारभ्य “सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता” इत्यन्तं विषयवाक्यतया विवक्षितम् । उपक्रमोपसंहारयोरभिन्ननिमित्तोपादानस्यैव विषयस्य प्रथमाध्याय उपस्थापनात् सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं ब्रह्मैव वेदान्तमुख्यतात्पर्यविषय इत्यत्र सूत्रकाराणामाशयोऽवगन्तुं न शक्यते, इति शरीरि ब्रह्मैव विषय इति वादो न सूत्रारूढः । जगत्का-रणत्वं चेदं प्रकृतित्वरूपमपीति स्पष्टं सूत्रे बोधनात् पूर्वोक्तरीत्या केवलनिमित्तकारणत्वे जिज्ञासादिवैयर्थ्यापाताच्च नैयायिकादि-मतस्य श्रीमदानन्दतीर्थाचार्यमतस्य च न सौत्रत्वम् । ब्रह्मपरिणामवादः सूत्रारूढो वा न वेति विषयस्तु—“प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-वृष्टान्तानुपरोधात्,” “परिणामात्,” “तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः,” “कृत्प्रसक्तिर्निर्वयवत्वशब्दकोपो वा” इत्यादिसूत्र-भाष्यावसरे विशिष्य समालोचयिष्यते ॥ सामन्यतस्तु प्रकृताधिकरणोपसंहारे विवरण एव तन्मतस्य निरसनाद् न सोऽपि वादः सूत्रारूढ इति सूच्यते ॥

यत्तु श्रीभाष्ये—“ये तु निर्विशेषं वस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति, तन्मते “ब्रह्मजिज्ञासा” “जन्माद्यस्य यतः” इत्यसङ्गतं स्यात् । निरतिशयं बृहत् ब्रह्मेति निर्वचनात्, तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमिति वचनाच्च । एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणेषु चेक्षणाद्यन्यददर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम् । तर्कश्च साध्यधर्माव्यभिचारिसाधन-धर्मान्वितवस्तुविषयत्वान्न निर्विशेषे ब्रह्मणि प्रमाणम् । “जगज्जन्मादिभ्रमो यतः, तद्ब्रह्मे”ति स्वोत्प्रेक्षापक्षेऽपि न निर्विशेषवस्तु-सिद्धिः । अग्रमूलमज्ञानम्, अज्ञानसाक्षि ब्रह्मेत्यभ्युपगमात् । साक्षित्वं हि प्रकाशमानतयैवोच्यते, प्रकाशत्वं जडाद् व्यावर्तकं भवति । तथाच सति सविशेषत्वम् । तदभावे प्रकाशतैव न स्यादिति श्रुति-सूत्रादीनां नाद्वैतमते स्वरस्यमिति—\*प्रति-



स्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥ इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणात् ॥

भामती

\*एतदुक्तं भवति\*—यथा रज्ज्वज्ञानसहितरज्जुपादाना धारा रज्ज्वां सत्यामस्ति, रज्ज्वामेव च लीयते, एवमविद्यासहितब्रह्मोपादानं जगद् ब्रह्मण्येवास्ति, तत्रैव च लीयत इति सिद्धम् ॥ २ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां जन्माद्यधिकरणं समाप्तम् ।

मृजुप्रकाशिका

व्याकृतस्येत्यादिजगद्विशेषणैः पूर्वं निर्णयेऽपि श्रुतित इह निर्णीयते । कारणं ब्रह्मानूद्य वाक्येनानन्दत्वविधानात् स्वरूपलक्षणसिद्धिः । आनन्दः सत्यादेरप्युपलक्षणार्थम् ; सत्यानन्दादेरपि ब्रह्मस्वरूपत्वात् । \*ननु\* आनन्दादे-  
र्ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वमुक्तम्, तत्र वक्तव्यम्—किमानन्दादिर्ब्रह्मणो भिन्नः ? अभिन्नो वा ? नाद्यः ; आनन्दादे-  
र्ब्रह्मणो भेदे ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वायोगात्, द्वितीये ब्रह्माभिन्नानन्दादिस्वरूपस्याखण्डस्य स्वरूपलक्षणवाक्याद्  
वाक्यार्थतया प्रमितिवक्तव्या । नच तत् संभवति ; गुणभूतपदार्थविशिष्टस्य प्रधानपदार्थस्य वा गुण-प्रधान-  
पदार्थसंसर्गस्य वा प्रधानपदार्थद्वयसंसर्गस्य वा वाक्यार्थत्वादिति—चेत्, \*उच्यते\* ; यत्र वाक्यार्थप्रमितेः  
पूर्वमनेकपदार्थप्रमितिः, तत्रान्यतरपदार्थविशिष्टत्वेनान्यतरपदार्थः, अन्यतरपदार्थसंसर्गो वा वाक्यार्थत्वेन  
प्रतिपाद्योऽस्तु, यत्न तु वाक्यार्थप्रमितेः पूर्वमनेकपदार्थप्रमितिः, तत्रान्यतरेणान्यतरो विशिष्टतया वा संसर्गितया  
वा न प्रमितियोग्यः ; विशिष्टप्रमितौ विशेषणप्रमितेः संसर्गप्रमितौ संसर्गप्रमितेश्च त्वन्मते कारणत्वात्, किन्तु  
तत्र वाक्येनाखण्ड एव प्रमेयः । वाक्यादखण्डप्रमितौ च तत्रैव वाक्यस्य परिसमाप्तेर्न विशिष्टपरत्वम्, न  
संसर्गपरत्वं वा । नच—सत्यानन्दादिवाक्यस्थले सत्यत्वानन्दत्वादिविशिष्टानेकपदार्थप्रमितेर्विशिष्टः संसर्गो वा  
तत्रापि वाक्यार्थः, नाखण्ड इति—वाच्यम् ; सत्यत्वानन्दत्वादिविशिष्टस्य सत्यानन्दाद्यखण्डस्वरूपत्वेऽखण्डस्य  
वाक्यार्थत्वक्षतिः, तदतिरिक्तत्वे तस्य मिथ्यात्वेन तद्गोचरप्रमित्ययोगाद् “विशिष्टानेकपदार्थप्रमितिः” इत्युक्ते-  
रसङ्गतिः । एवं चारिमन् ज्योतिर्मण्डले “कश्चन्द्रः” इति चन्द्रप्रातिपदिकाखण्डार्थमात्रप्रश्ने ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’  
इत्युत्तरवाक्यं यथा प्रकर्षप्रकाशद्वाराऽखण्डचन्द्रमात्रार्थं प्रतिपादयति, एवं सत्यानन्दादिवाक्यमप्यखण्ड-  
मग्नानन्दादिस्वरूपमर्थं प्रतिपादयतीत्यखण्ड एव वाक्यार्थः । एतच्च मत्कृतरत्नकोशप्रकाशिकायां सम्यक् प्रपञ्चितं  
तत्रानुसन्धेयम् । \*इति सिद्धमिति\* ॥ एवंच यद् जगज्जन्म-स्थिति-लयकारणम्, तदानन्दस्वरूपं ब्रह्मेति  
स्वरूपलक्षणपरतयाऽपि जन्मादिसूत्रं योजितमिति द्रष्टव्यम् ।

इति भामतीव्याख्यामृजुप्रकाशिकायां जन्माद्यधिकरणं संपूर्णम् ॥

वार्तिकम्

चोऽवधारणार्थः । \*तस्यैव\*—“यतो वा” इत्यादिवाक्योपात्तकारणस्यैवेत्यर्थः ।

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके जन्माद्यधिकरणं संपूर्णम् ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

एवमन्यत्रापि जगत्कारणानुवादेन सर्वज्ञमानन्दरूपं ब्रह्म प्रतिपाद्यत इत्याह—\*अन्यान्यपीति\* ॥

इति पूज्यश्रीचित्सुखमुनिकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां

भाष्यभावप्रकाशिकायां जन्माद्यधिकरणं संपूर्णम् ॥



### पञ्चपादिका

प्रसिद्धावद्योतकेन हिशब्देन संयुक्तमानन्दावद्योतकमुपपद्यते । अनानन्दात्मके हि जगत्कारणे ब्रह्मशब्दप्रयोगो न युज्यते । न हि तस्योपेक्षणीये विषये स्वार्थप्रक्षेपेण वृत्तिः समञ्जसा । तस्माद् ब्रह्मपरे वाक्ये जन्मादिधर्मजातस्योपलक्षणत्वाद् ब्रह्मसंस्पर्शाभावात् सर्वज्ञं सर्व-शक्तिसमन्वितं परमानन्दं ब्रह्मेति जन्मादिसूत्रेण ब्रह्मस्वरूपं लक्षितमिति सिद्धम् ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपञ्चपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां  
जन्माद्यधिकरणं नाम पञ्चमवर्णकं समाप्तम् ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

भवति । विज्ञानसामान्यमपि दुःख-रागादिप्रपञ्चोपाधितयाऽनिर्वचनीयं सद् ब्रह्मणि विज्ञानशब्दप्रवृत्तिमात्र-हेतुर्भवति । विज्ञानगुणत्वाभावे न विज्ञानं ब्रह्मेति चेत्, न ; विज्ञानसामान्यालम्बनस्य विज्ञानव्यवहार-गोचरत्वात्, विज्ञानप्रयुक्तार्थक्रियाकारित्वाच्च । सामान्यास्याभासत्वात् तदालम्बनं ब्रह्मज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति चेत्, न ; मुख्यसामान्यान्तराभावात्, अस्यैव च मुख्यत्वात् । तस्माद्विज्ञानस्वभाव आनन्दो ब्रह्मेत्यानन्दस्यैव ब्रह्मतां प्रतिपादयति—\*प्रसिद्धावद्योतकेनेत्यादिना\* ॥ तस्मात् सर्वेषु वेदान्तवाक्येषु पाठव्यत्यासेन जगत्कारण-मात्रानुवादेन तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्युपसंहरति—\*तस्माद् ब्रह्मपर इति\* ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्यस्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ  
पञ्चपादिकाविवरणे जन्माद्यधिकरणं नाम पञ्चमवर्णकं समाप्तम् ॥

### ऋजुविवरणम्

\*विज्ञानगुणत्वाभाव इति\* ॥ अयं भावः—सामान्यानां कल्पितत्वान्न तेन ज्ञानरूपतेति न गुणत्वं प्रयोजकमिति । \*न विज्ञानेति\* ॥ अयं भावः—सामान्याधारत्वमेव प्रयोजकम्, न सत्यसामान्याधारत्वम् ; सामान्याधारे विद्यमानेऽपि तस्मै सत्यत्वाभावापराधेन ज्ञानत्वाभावानुपलम्भादिति । यथा मिथ्यारजतसंभिन्नशुक्ले रजतव्यवहारगोचरत्वम्, तद्वदत्रापि, इति चोदयति—\*सामान्यस्याभासत्वादिति\* ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज-सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ  
ऋजुविवरणे जन्माद्यधिकरणं नाम पञ्चमवर्णकं समाप्तम् ॥

### तत्त्वदीपनम्

ततश्च तत्सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरित्युक्तमनुभाषते—\*विज्ञानेति\* ॥ “खण्डो गौरि”त्यादौ गुण-गुणिभावाभावेऽपि यथा सामानाधिकरण्यम्, तद्वदत्रापि—\*न विज्ञानेति\* ॥

औपाधिको वाऽयं विज्ञानशब्द इत्याह—\*विज्ञानप्रयुक्तेति\* ॥ सामानाधिकरण्यस्य जातिनिबन्धनत्वमुक्त-माक्षिपति—\*सामान्यस्येति\* ॥ किं गौणत्वमाभासत्वम् ? उत समारोपितत्वम् ? नाद्य इत्याह—\*मुख्येति\* ॥ द्वितीये विज्ञानस्य समारोपितत्वेऽप्यज्ञानविरोधित्वाल्लक्षण्या विज्ञानशब्दप्रयोग इत्याह—\*तस्मादिति\* ॥ न केवलमेकस्यामेव शाखायां कारणानुवादेन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, किं तु सर्वत्रापि—\*सर्वेष्विति\* ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-

दीपने जन्माद्यधिकरणं नाम पञ्चमवर्णकं समाप्तम् ॥

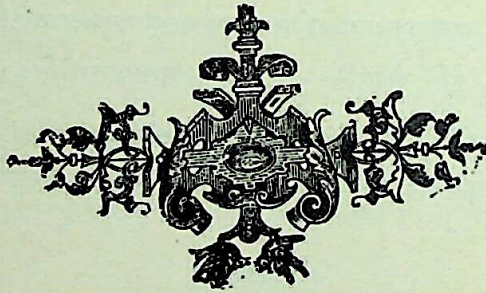


## प्रदीपः

पादयन्ति\*, तत्र पूर्वोक्तप्रकारेण निर्विशेषात्मस्वरूपेऽपि “बृहत्वात् बृंहणत्वाच्चात्मैव ब्रह्मेति गीयते” इत्युक्तीत्या ब्रह्मशब्द-  
निर्वचनसंभवात् “जन्माद्यस्य यतः” इत्यादिसूत्र-तदुदाहृतश्रुतिनां तत्पदवाच्यार्थजगत्कारणतायामेव तात्पर्यस्य प्रतिपादनेन  
तर्कस्यापि सगुणविषयत्वस्यैव भाष्य एव व्यवस्थापनेन च जन्मादिसूत्र-तद्विचारणीयश्रुतिवाक्यानामवान्तरतात्पर्यमादायैव  
जगत्कारणत्वव्यवस्थापनेन निर्विशेषस्य कारणत्वानुमानगम्यत्वादीनामनङ्गीकारात्, जगज्जन्मादीनां बाधितत्वं पर्यवसानतो वाक्यान्तर-  
गम्यमेवात्र विवक्ष्यते, न तु जगज्जन्मादिभ्रमाधिष्ठानत्वं ब्रह्मलक्षणमिति “जन्मादिभ्रमो यतः” इति विवरणस्यासदनभिमतत्वाच्च,  
नोक्तानां दूषणानामवसरः । न हि वाच्यार्थेऽपि कारणत्वं बाधितमित्यस्माकं सिद्धान्तः, किन्तु बाधितस्यापि स्वाधिष्ठानशापकत्वेन  
तटस्थलक्षणत्वं न विरुद्धमित्येव ‘यदिदं रजतमभात् सेयं युक्तिरि’त्यादिवाक्येन बोध्यते, न तु शुक्तिलक्षणं रजतमिति ।  
न हि तटस्थलक्षणलक्ष्यमाणं तेन लक्षणेन परमार्थतः सधर्मकं कुत्रापि दृष्टम् । साक्षित्वमप्यज्ञानोपहितचैतन्यत्वमन्तःकरणो-  
पहितचैतन्यत्वं वेति न शुद्धचैतन्यमद्वैतमते साक्षिपदार्थः, इति ब्रह्मसविशेषत्वापादनमिदं निरवकाशमेव । यथाच जगज्जन्मादि-  
कारणत्वं स्वरूपलक्षणमेव, न तटस्थलक्षणमिति श्रीमध्वसम्प्रदायानुसारितात्पर्यचन्द्रिकासिद्धान्तोऽनवसरः, तदीयमधिकरण-  
शरीरं चानुपपन्नम् । सर्वथा तु नाद्वैतिनामधिकरणद्वयमपि निर्विशेषब्रह्मवादविरोधीति दिक् ।

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यटिप्पणे प्रदीपं जन्माद्यधिकरणं समाप्तम् ।

इति पञ्चमवर्णकं समाप्तम् ॥





## अथ षष्ठं वर्णकम्

### ✽ शास्त्रयोनित्वात् ॥ ✽

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्, तदेव द्रव्यन्नाह—  
\*शास्त्रयोनित्वादिति\* ॥

भामती

सूत्रान्तरमवतारयितुं पूर्वसूत्रसंगतिमाह—जगत्कारणत्वप्रदर्शनेनेति ॥ न केवलं जगद्योनित्वादस्य भगवतः सर्वज्ञता, शास्त्रयोनित्वादपि बोद्धव्या ।

ऋतुप्रकाशिका

“शास्त्रयोनित्वात्” इति सूत्रं जन्मादिसूत्रानन्तरं प्रवृत्तम्, तत्र जन्मादिसूत्रेण का सङ्गतिः ? इति वीक्षायां तेन सङ्गतिमाहेत्याह—\*सूत्रान्तरमिति\* ॥ “सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्” इति भाष्यम् । असर्वज्ञस्य जगत्कारणत्वासंभवादिति भावः । \*भाष्ये\*—तदेव=सर्वज्ञत्वमेव ॥ \*ननु\*—उक्तविधया जगत्कारणत्वेन जगद्योनित्वेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वसिद्धौ किं शास्त्रयोनितया सर्वज्ञत्वप्रतिपादनेन ? इत्याशङ्क्य, न केवलं जगद्योनित्वेनैव तत्त्वम्, किन्तु शास्त्रयोनित्वेनापीत्यभ्युच्चयार्थं तदित्यभिप्रेत्याह—\*न केवलमिति\* ॥ अस्तु शास्त्र-

पञ्चपादिकाविवरणम्

शब्दोपादानभावाद् ध्वनिगतविषयद्योतनाः शक्तयोऽमू-  
ब्रह्मण्येवासुरग्नेर्विषयविषयिणी दीपशक्तिः खलूच्चैः ।

ऋतुविवरणम्

\*“शब्दोपादाने”त्यस्यायमर्थः\*—ब्रह्म धर्मि, शब्दगतार्थावभासनशक्तियुक्तम्, तदुपादानत्वात्; अश्वित्, अथवा—ध्वनिगतशक्तयो धर्मिण्यः, ब्रह्मगता इति साध्यो धर्मः, तत्कार्यगतत्वात् । \*ननु\* यदि शब्दगतविषयाव-  
तत्त्वदीपनम्

शास्त्रस्य जगदन्तःपातित्वात् तत्कारणत्वकथनेन शास्त्रकारणत्वमपि निर्दिष्टम्, इति तत्कथनं मुधेत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*शब्दोपादानेति\* ॥ इह सूत्रेऽपरं सर्ववित्त्वं साध्यत इति संबन्धः । साधनप्रकारमाह—\*ध्वनि-  
गतेति\* ॥ ध्वनिगतविषयद्योतनाः शक्तयः सुप्रसिद्धा इति यावत् । भवतु शब्देषु विषयप्रकाशनशक्तिः, प्रस्तुते किमायातमिति ? अत आह—\*ब्रह्मणीति\* ॥ विषयद्योतनाः शक्तयो ब्रह्मण्येवास्तरिति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—  
\*शब्दोपादानेति\* ॥ ब्रह्मणः शब्दोपादानत्वात् । तत्र दृष्टान्तमाह—\*अग्नेरिति\* ॥ या विषयविषयिणी दीप-

वार्तिकम्

व्याख्यातं तावदुपलक्षणसाधनपरं जन्मादिसूत्रम्, संप्रति विशेषणलक्षणसाधनपरं सूत्रमवतारयितु-  
माक्षिपति—\*जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तमिति\* ॥ येनैव पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः श्रुत्युपात्त-

भाष्यभावप्रकाशिका

सूत्रान्तरमवतारयन् पूर्वसूत्रसङ्गतिमाह—\*जगत्कारणत्वेति\* ॥ न केवलं जगत्कर्तृत्वाद्

प्रदीपः

“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातं निर्विशेषं ब्रह्म “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रेण जगत्कारणद्वारोप-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

द्रष्टुश्च ज्ञानशक्तिर्ननु न करणता, किन्तु दीपप्रभावत्

संयुक्तद्योतनैवेत्यपरमिह पुनः साध्यते सर्ववित्त्वम् ॥

ब्रह्मणो लक्षणद्वयाभिधानपरतऽपि सूत्रे सर्वज्ञत्वं प्रधानादिकारणवैलक्षण्यस्य सिद्धये जगद्विरचनोपपत्तये च श्रुति-युक्तिभ्यां प्राधान्येन प्रदर्शितम् । तदेव हेत्वन्तरेण साधयति ; प्राधान्यात्, अथवा—सर्वजगत्कारणत्वेन

### ऋजुविवरणम्

भासकत्वशक्तिर्ब्रह्मण इत्युच्यते, तर्हि कारणत्वशक्तिरेव स्यात्, तथा सति न सर्वज्ञतेत्याशङ्क्याह—\*द्रष्टुश्च ज्ञान-शक्तिरिति\* ॥ द्रष्टुश्च ज्ञानशक्तिस्साध्या ; ननु करणतेत्यन्वयः । यद्वा—“द्रष्टुश्चेति” भाष्यकारीयानुमान-प्रदर्शनम् । \*ननु\* कार्यशक्तिः स्वरूपकारणानुमेया, कार्यं कारणशक्तिर्दृष्टा, नान्या ; नच साऽनुमेया, अतः तत्कथ-भनुमानम् ? इत्याशङ्क्याह—\*किन्तु दीपप्रभावदिति\* ॥ संयुक्तद्योतना—द्योतकत्वशक्तिः कार्यगता कारणेऽप्यनुमीयत इत्यर्थः । \*दीपप्रभावदिति\* ॥ यथा प्रभाया न प्रदीपवद् द्योतकत्वम्, अपि तु संयुक्तद्योतकत्वम् ; एवमत्रापीति युक्तम् । “अयमपरः” इत्युक्तम् ; पूर्वसूत्रे सर्वज्ञत्वसाधनादर्शनादित्याशङ्क्यावतारयति—\*ब्रह्मण इति\* ॥ \*ननु\* पूर्वसूत्रोक्तार्थान्तरं विहाय सर्वज्ञत्वमेव किमिति प्रतिपाद्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रधानेति\* ॥ \*ननु\* लक्षणद्वयाभिधानपरत्वं सूत्रस्योक्तम्, कथं प्राधान्येन सर्वज्ञत्वं प्रदर्शितमित्युच्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*लक्षण-द्वयाभिधानेनेति\* ॥

\*ननु\* साधितस्य पुनः साधनं पुनरुक्तमित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह—\*अथवेति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मणस्सर्वज्ञत्वं तत्त्वदीपनम्

शक्तिः, साऽजनेरेवोत्पद्यमाना तद्गततादृशशक्तिपूर्विका दृष्टेत्यर्थः । उपादानकारणं कार्यावस्थमित्यङ्गीकरणात् कार्य-कारण-शक्त्योरेकत्वमुभयत्र विवक्षितमिति वार्थः । विमता शक्तिः, कारणगततादृशशक्तिपूर्विका, कार्यगतप्रकाशनशक्तित्वाद्, दीपगतशक्तिवदिति । शब्देऽर्थप्रकाशकारणेऽपि तादृश्येव शक्तिः स्यादित्यतिप्रसङ्गबाधकमाशङ्क्याह—\*द्रष्टुश्चेति\* ॥ चशब्दः शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । द्रष्टृज्ञानशक्तिः साध्या, न करणतेत्यन्वयः । “नन्वि”त्यथशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः । ज्ञानशक्तिर्ज्ञातृत्वशक्तिरिति यावत् । आत्मनो ज्ञातृत्वेन प्रसिद्धत्वात् तद्विरुद्धं कारणशक्तिमत्त्वप्रसाधनमित्यर्थः । दीपस्याऽऽवरणशक्तिमत्त्वाद् दृष्टान्तसंगतिरिति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ विवक्षितसाम्यसंभवाद् दृष्टान्तत्वं युक्तमि-त्याह—\*दीपेति\* ॥ यथा प्रदीपप्रभा स्वसंयुक्ताशेषवस्तुद्योतिका भवति, तद्वद् ब्रह्मणः सर्वोपादानतया संसर्गिणः स्वसंयुक्ताशेषप्रकाशकत्वं तद्गताज्ञातृत्वनिवर्तकत्वेनेत्यर्थः ॥

जन्मादिसूत्रे कारणत्वमेव प्रतीयते, न सार्वज्ञ्यम्, तथाच सर्वज्ञत्वे हेत्वन्तरमुपन्यस्यत इत्यसंगतमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ प्रधानादिकारणवैलक्षण्यस्य, स्वरूपलक्षणेनैव सिद्धत्वात् किं सर्वज्ञत्वनिर्देशेनेति ? तत्राह—\*जगदिति\* ॥ “यः सर्वज्ञः सर्वविद्”त्यादिश्रुतिः । स्रष्टव्यज्ञानं विना स्रष्टृत्वानुपपत्तिरित्याद्या युक्तिः ॥ सकलजगत्कारणत्वमुररीकृत्य सर्वज्ञत्वं प्रादर्शि, संप्रति वेदकारणत्वेनापि सुसाधमित्याह—\*तदेवेति\* ॥

पूर्वाधिकरणशेषत्वेन सूत्रं व्याख्यायाधिकरणान्तरत्वेन व्याचष्टे—\*अथवेति\* ॥ आक्षेपलक्षणां संगतिमाह—\*सर्वेति\* ॥ “अस्य महतो भूतस्य निःश्रसितमेतदहमवेदः” इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वं साधयति ? उत न साधयति ? इति सापेक्षत्वप्रसङ्गभावाभावाभ्यां संदेहः । पूर्वोत्तरपक्षयोरन्यतर एव भाष्यकृता निर्देष्टव्यः, किमिदमुच्यत प्रदीपः

क्षिप्तम् । जगत्कारणं हि ब्रह्मोपाधिभूतमायाया विलये चैतन्यस्वरूपमात्रं तदैव भविष्यति, यदि सर्वज्ञं तत् । उपाधितः सर्वज्ञानाश्रयत्वम्, स्वरूपतस्तु चैतन्यमात्रमिति । इदं च सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणो “यतो वे”ति वाक्येऽपि कारणत्वान्यथाऽनुपपत्त्या सूचितमेव । “यः सर्वज्ञः” इति वाक्ये तु स्पष्टमप्युपन्यस्तम् ; तथाऽपि “यतो वेत्या”दिवाक्ये न तत् स्पष्टीकृतमिति केवलं सर्वज्ञत्वमाक्षिपगम्यमित्येव वक्तव्यम् । तदिदमाह—\*जगत्कारणत्वप्रदर्शनेनेति\* ॥ यद्यपि निर्विशेषब्रह्मविचारे न सविशेष-



## वार्तिकम्

जगत्कारणत्वमवधारितम्, तेनैव तस्य सर्वज्ञत्वमपि सिद्धं भवति । कुतः ? जगत्कारणत्व-सर्वज्ञत्वयोः समव्याप्तत्वेन परस्पराविनाभूतत्वादित्युक्तमधस्तात् ; अधिकरणसिद्धान्तस्याप्यङ्गीकारात् । तस्मात् ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वसिद्ध्यर्थं न पृथग् न्यायान्तरं सूत्रणीयम् ; सिद्धसाधनत्वमिति, \*सत्यम्\* तेनैव सर्वज्ञत्वमपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्ववदुपपन्नितम् ; तथाऽपि सिद्धस्यैव तस्य दाढ्यार्थं सूत्रकारो न्यायान्तरं दर्शयति स्म । किं पुनर्दाढ्यम् ? कुचोद्यनुद्येन शिष्यस्य विश्वासः । कुचोद्यश्चाचेतनजगदुपादानस्य न चेतनत्वसम्भव इत्यादि । अत एव न सिद्धसाधनत्वम् ; शिष्यं प्रति तस्यादोषत्वात्, तयोः समानबलत्वेनैकेनान्यस्यान्यथा-सिध्यसम्भवाच्च । तस्मादुपपद्यते सूत्रकारस्याधिकरणसिद्धान्ततया जगत्कारणत्वसाधकन्यायेन सिद्ध-स्यापि ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वस्य दाढ्यार्थं न्यायान्तरसूत्रणमिति परिहरन् सूत्रमवतारयति—\*तदेव द्रढयन्नाह—शास्त्रयोनित्वादिति\* ॥

अत्र शास्त्रशब्देन मनोमयकोश उच्यते ; “तस्य यजुरेव शिरः । ऋग् दक्षिणः पद्मः । सामोत्तरः पद्मः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठे”ति तदवयवत्वेन सर्वस्य वेदस्य मनोमयकोशान्तर्भावश्रुतेः । आदिश्यते=उपदिश्यतेऽनेनेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसाधनमित्यादेशः=अष्टविधब्रह्मणवाक्यम् । \*ननु\* काम-सङ्कल्पादिपरिणामात्मकं मनः ; “कामः सङ्कल्पो विचिकित्से”त्यादिश्रुतेः, शास्त्रन्तु वर्णात्मकम् ; “वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्धः” इति वक्ष्यमाणन्यायात् । तथाच तयोरत्यन्तभेदात् कथमैक्यम् ? “तस्य यजुरेव शिरः”इत्यादिवाक्यस्य तूपासनार्थं कल्पनापरत्वेनाऽप्युपपत्तिरिति—चेत्, \*न\* ; “ब्रह्मविदामोति परमि”त्युपक्रमाद् वस्तुप्रतिपादनप्रक्रियायामुपासनाऽसम्भवात्, शिर आदिरूपत्वस्य प्रदीपः

सर्वज्ञत्वस्पष्टीकरणं साक्षादुपयुक्तम् ; तथाऽपि पूर्वोक्तप्रकारेणाध्यारोपापवादाभ्यां वस्तुतत्त्वनिर्णये तदुपयुक्तमेवेति भावः । \*जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन\* ॥ कारणत्वं चात्र कर्तृत्वरूपमेव । अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेऽपि तु ब्रह्मणः कर्तृत्वमपि वर्तते एव ॥ तथाच तेनैव कर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिश्चाधेसिद्धमेति भावः । \*तदेव द्रढयन्निति\* ॥ तद् द्रढयन्नेवेत्येवकारस्य मित्र-क्रमेण योजना । यतोऽत्र सर्वशक्तित्वदृढीकरणमपि विवक्ष्यते । तेन “निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च”त्युत्तरग्रन्थो न विरुद्धः ॥

सर्वज्ञत्वमिव सर्वशक्तिमत्त्वमप्यर्थसिद्धं चेदपि तदर्थं पृथक्सूत्रान्तररचनापत्तिरिति शङ्का तु चन्द्रिकाकाराणां तदैवावसरेत्, यदि तदपि न दृढीकृतम् । परिमले हि तदप्युक्तसूत्रेण दृढीकृतमेवेति निरूपितम् । तदुक्तम्—\*“ननु\* पूर्वसूत्रे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्ववत् सर्वशक्तित्वमर्थलभ्यम्, तत्किमिति केनचिद्धेतुना न दृढीकृतम् ? तदप्युक्तशङ्कानिवारणक्षमम्, \*सत्यम्\*, तदपि निःश्रसितश्रुत्युदाहस्येन दृढीकृतमेव । “अस्य महतो भूतस्य निःश्रसितमेतद्वेदो यजुर्वेदः” इत्युपक्रम्य “अयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्येतस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्रसितानीति नामरूपात्मकस्य सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य निःश्रसितवदप्रयत्नसाध्यब्रह्मकार्यत्वोक्तेरिति ॥ किं बहुना ? “निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिश्चे”ति भाष्यकारैरेव स्पष्टमेव सर्वशक्तित्वमप्यर्थसिद्धमत्र दृढीकृतमेवेति सूच्यत इत्यनुक्तोपादाम्भनमेवेदम् ॥

सर्वज्ञत्वं येन वाक्येन गम्यते, तेनैव सर्वशक्तित्वमपि गम्यत इत्युक्तश्रुतिपर्यालोचनेन स्पष्टमेव प्रकाशते । तदिदं भविष्येत्यैवोक्तम्—सर्वज्ञत्वदृढीकारेण तत्समनियतसर्वशक्तित्वस्यापि दृढीकृतप्रायत्वादि”ति । उक्तश्रुतौ च प्रथमतः शास्त्रयोनित्वमनन्तरं भूतयोनित्वं च बोधितमिति “शास्त्रयोनित्वा”दिति प्रथमतः सार्वज्ञ्यस्फोरणमप्युपपन्नमेव । \*एतेन\*—मुखतः सार्वज्ञ्यस्यैव स्फोरणे निमित्ताभावात् सर्वशक्तित्वदृढीकारे तत्समनियतसार्वज्ञ्यस्यापि दृढीकृतप्रायत्वात्” इति चन्द्रिका प्रकाशोक्तम्—\*अपास्तम्\* ॥

\*द्रढयन्\*—दृढीकुर्वन् । जगत्कारणत्वेन केवलं तत्तदुपादानगोचरज्ञानवत्त्वमात्रं बोधितं भवति, भाविपदाधे-गोचरं तु ज्ञानं न साधितं स्यादिति शास्त्रयोनित्वसूत्रेण तस्यापि साधनाद् दृढीकरणमिति भावः । एतावता च पूर्वाधिकरणे-नैकत्रिपयत्वमवान्तरसङ्गतिः सूच्यते ॥



## पञ्चपादिका

अयमपरः प्रपञ्चकारणस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वे हेतुः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सर्वज्ञत्वं न सम्भवति ; वेदानामकर्तृकत्वादित्याशङ्क्य, सम्बन्धमाह—\*अयमपर इति\*॥ वेदस्य तावत् सर्व-

## ऋजुविवरणम्

दर्शयितुमुपक्रम्य वेदस्य सर्वप्रकाशनसामर्थ्यप्रदर्शनमसङ्गतमित्याशङ्क्यावतारयति—\*वेदस्येति\* ॥ \*अधिकतर-  
विषयविज्ञानवत्प्रणीत इति\* ॥ \*अयमर्थः\*—यद्यपि वेदाविषयीकृतं नास्ति ; तथाऽपि सत्यर्थं ज्ञानसामर्थ्यं प्रसाध्यत  
इति न विरोधः । \*अथवा\*—वेदस्य किञ्चित् सामान्यरूपेण विषयः ; किञ्चिद् विशेषरूपेण विषयः, अस्य तु सर्वं

## तत्त्वदीपनम्

वेदः सर्वज्ञ इति ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*वेदस्येति\* ॥ पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राणि चत्वारि, शिक्षा-  
कल्पौ निरुक्तं व्याकरणं छन्दो ज्यौतिषमिति षडङ्गानि, चत्वारो वेदा इति चतुर्दश विद्यास्थानानि । अनेकशः=नाना-  
वार्तिकम्

काल्पनिकत्वेऽपि मनआत्मकत्वस्याकाल्पनिकत्वात् । नच—तयोरत्यन्तवैलक्षण्यमुक्तमिति—चाच्यम् ;  
वर्णानामपि कामादिवत् मनोवृत्तिरूपत्वात्, “प्रजापतिर्वा इदमग्र असीत्, स आत्मानमैक्षत, स मनोऽ-  
सृजत, तन्मन एवासीत्, तदात्मानमैक्षत, तद्वाचमसृजते”ति श्रुतेः, “इत्येतत् सर्वं मन एवे”त्यत्रेतिशब्दस्य  
प्रकारार्थत्वात्, परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपेण चतुर्धा शब्दोत्पत्तिश्रवणाच्च । अत एव मानसमन्त्र-  
जपविधानमप्युपपद्यते ; अन्यथा मनोवृत्त्यावृत्तौ मन्त्रावृत्तिर्न स्यात् ; तयोर्भेदात् । विहिता च मन्त्रा-  
वृत्तिः, “त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुक्तमामि”ति ॥ एतच्चोक्तश्रुतिभाष्य एव स्फुटमिति नातीव शास्त्रस्य मन-  
आत्मकत्वसाधने यत्नः क्रियते ॥ एवमेव मनोमयमात्मानं सर्वविषयज्ञानशक्तिरूपत्वात् वेदपुरुष इति  
हिरण्यगर्भ इति चाहुर्वेदविदः ॥

तदेतद्भवेदादिसमुदायलक्षणं सर्वविषयज्ञानशक्तिरूपं हिताहितप्राप्ति-परिहारोपायशासनात् शास्त्रमित्यु-  
च्यते । तस्य शास्त्रस्य योनिः=कारणम् । यद्यपि योनिशब्दः स्त्रीव्यञ्जने रूढः ; तथाऽपि तस्य गुणयोगात्  
कारणान्तरे प्रयोगो युक्तः ; स्वार्थस्य गर्भं प्रति निमित्तोपादानभावस्य दर्शनात् । भवति हि गर्भं प्रति  
योनिर्निमित्तम् ; तत्क्षेत्रत्वात्, उपादानञ्च ; तदवयवैस्तदारम्भादिति । यदा योनिशब्दः कारणमात्र  
उपादानकारणे वा रूढः ; श्रुति-स्मृतिषु लोके च तत्र तत्र प्रयोगदर्शनात्, तदा स्त्रीव्यञ्जने सास्नादिमिति  
गोशब्दवत्, तामरसे षड्जशब्दवच्च प्रयोगबाहुल्यात् ऋकारणाद्यनपेक्ष्य भट्टिति प्रत्यायकत्वं तस्य, अन्यत्र  
च तदभावात् प्रकरणादिसापेक्षत्वमविरुद्धम् । तथाच “यद्वै किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपमि”ति श्रुतेः सर्वज्ञापक-  
रूपस्य वाङ्मनोमिथुनात्मकस्य त्रयीलक्षणस्याभिव्यञ्जकतया चिदुपाधिभूतस्योपादानत्वाद् निमित्तत्वाच्च  
भवति सर्वज्ञं ब्रह्म । नह्युपादानस्य ब्रह्मणोऽचेतनत्वे तत्कार्यं चैतन्योपरागः सम्भवति ; अरूपकार्य इव  
रूपोपरागः । न वा तस्यासर्वविषयत्वे तत्कार्यस्य सर्वविषयत्वम् ; परिणामवादे विवर्तवादे च कारणस्य  
कार्यापेक्षया व्यापकत्वनियमात् । नच ब्रह्मणः शास्त्रकारणत्वमसिद्धम् ; “अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-  
मेतद्यद्वैश्वेदो यजुर्वेदः” इत्यादिश्रुतेस्तत्कारणत्वसिद्धेः ॥

नचैतावता वेदस्य पौरुषेयत्वापत्तिः ; किं तावत् पौरुषेयत्वमापाद्यते भवता ? यदस्माकमनिष्टं स्यात् ।  
यदि तावत् परमात्माभिन्नमितित्तोपादानकतया सर्गादावाकाशादिवदुत्पद्यमानत्वम् ? तदिष्टमेवास्माकम्,  
नानिष्टम् ; तदनभ्युपगमे द्वैतापत्तेरद्वैतहानात् । तथाच श्रुतिः—“अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमि”त्यादि-  
कदाहूतैव । \*अयं\* प्रमाणान्तरेण स्वार्थमुल्लङ्घ्य विरचितत्वं तदिति—वेत्, \*न\* ; अनभ्युपगमात् ।



## पञ्चपादिका

अनेकनानाविधविषयविद्यास्थानोपबृंहितस्य वेदाख्यस्यापि शास्त्रस्य प्रपञ्चान्तःपातित्वात् तत एव

## पञ्चपादिकाविवरणम्

विषयसामर्थ्यं दर्शयति तदुपादानतया ब्रह्मणोऽपि तद् दर्शयितुम्—\*अनेकनानाविधविषयविद्यास्थानेति\* ।  
\*ननु\* नास्ति वेदस्य सर्वज्ञता ; अर्थज्ञानकरणतयोपयोगादिति, \*सत्यम्\* ; अत एव कल्पप्रत्ययप्रयोग इति ।

## तत्त्वदीपनम्

विधिशब्देनोच्यन्ते । वेदेनाविषयीकृतार्थाभावाद्देवः सर्वज्ञ इत्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु नास्तीति\* ॥ सर्वं जाना-  
तीति सर्वज्ञ इत्युच्यते, वेदस्य च करणत्वान्न सर्वज्ञत्वमित्यर्थः । करणत्वमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि न  
वेदस्य सार्वज्ञ्यमित्याशङ्क्याङ्गीकारेणोत्तरयति—\*अत एवेति\* ॥

## वातिकम्

नहि तादृशं पराभ्युपगतं पौरुषेयत्वं वेदस्यास्माभिरभ्युपगतम्, येनापूर्वविषयत्वव्याहतेरनिष्टप्रसङ्गः स्यात् ।  
तदनभ्युपगम उक्तहेतोर्नेशस्य सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति—चेत्, न ; सर्वविषयकविज्ञानशक्तिलक्षणवेदोपादानत्व-  
मात्रेणापि तत्सिद्धेः, उपादानस्वरूपानुसारित्वात् कार्यस्य, पराभ्युपगतपौरुषेयत्वकल्पने प्रमाणाभावाच्च,  
भारतादाविव कर्त्रस्मृतेः, “ऋचः सामानि जज्ञिरे” इत्यादिमन्त्रस्यास्मदभिप्रेतोत्पत्त्यभिप्रायेणाप्युपपत्तेः ;  
अन्यथा “निःश्वसितमि”ति ब्राह्मणश्रुतिव्याकोपापत्तेः । अत्र हि पराभिमतपौरुषेयत्वशङ्कानिरासार्थमेव  
“निःश्वसितमि”त्युक्तम् । यथाहि लौकिकपुरुषस्य निःश्वासादिप्राणव्यापारो न तद्विषयविशेषविज्ञान-  
प्रयत्नादिसापेक्षः क्रियान्तरवत्, अपितु चेतनावच्छरीरिणोऽधिष्ठानमात्रादेवोत्पद्यत इति लोकसिद्धम् ;  
एवमुद्देशादिलक्षणं ब्रह्मणः कार्यं न कबिकाव्यलक्षणलौकिकवाक्यान्तरवदपूर्वसंसर्गविशेषविज्ञानविवक्षादि-  
पूर्वकम् । किं तर्हि ? निःश्वासवदेव सामान्यतः सर्वविषयचेतनावदधिष्ठानमात्रादुत्पद्यत इति । तदिद-  
मुक्तम्—\*निःश्वसितमिति\* ॥

निःश्वसितमिव निःश्वसितमित्यर्थः । तर्हि निःश्वासश्रुत्यनुग्रहाद् निःश्वास एवास्तु ब्रह्मण ऋग्वेदादिः ;  
अन्यथा गुणकल्पनापत्तेरिति, नेत्याह—\*श्रुतिर्महतो भूतस्येति\* ॥ \*महतः\*—देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदत्रय-  
शून्यस्येत्यर्थः ; तदसत्त्वे सत्तया जगद्भानं न स्यात् ; “सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः”  
“तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती”त्यादिश्रुत्यन्तरादित्याशयः । तथाच तादृशस्य  
महतो भूतस्याशरीरत्वात् “अशरीरं वावसन्तमि”तिश्रुतेर्निश्वासासम्भवात्, शरीरवत् एव परिच्छिन्नस्य  
तद्दर्शनात्, निःश्वासकल्पत्वमेव वेदस्य युक्तम्, न निःश्वासत्वमित्यभिप्रायः ॥

\*एतेन\*—वेदः, पौरुषेयः ; वाक्यत्वात्, भारतादिवदिति सामान्यतोदृष्टम्—\*अपास्तम्\* ; श्रुति-  
विरोधात्, शरीरजन्यत्वस्योपाधित्वाच्च । नच—लाघवाद् व्यभिचाराभावाच्च जन्यत्वमात्रं प्रयोजकम्, न  
शरीरजन्यत्वम् ; गौरवात्, व्यर्थविशेषणत्वाच्च, तथाच साधनव्यापकतेति—वाच्यम् ; निःश्वसितमिति  
श्रुतिविरोधेन जन्यत्वमात्रस्य तदप्रयोजकत्वात्, विशेषणसार्थक्यात् । तस्मान्न वेदस्याकाशादिवद्  
ब्रह्मजत्वेऽपि पराभिमतपौरुषेयत्वप्राप्तिः । यथा चैतन्, तथा विस्तरेण प्रतिपादितमस्माभिर्वेदान्तमन्दा-  
किन्याम्, नात्र विस्तार्यते ; पूर्वतन्त्रसिद्धत्वाच्च । प्रकृतमनुसरामः ॥

## प्रदीपः

\*शास्त्रयोनित्वादिति\* ॥ शास्त्रकर्तृत्वादित्यर्थः । अत्र ब्रह्मेति पक्षस्य सर्वज्ञमिति साध्यस्य चाध्याहाराद् ब्रह्म,  
वेदविषयादधिकविषयकज्ञानवत्, तत्कर्तृत्वात्, व्याकरणादिकर्तृपाणिन्यानिबदित्यनुमानप्रयोगो विवक्षितः । अनेन चानुमानेन  
सर्वज्ञत्वं साधयितुं वेदस्य सर्वज्ञकल्पत्वमुपपादनीयमिति सौत्रशास्त्रपदार्थं तत्तद्विशेषणविशिष्टं निर्दिश्य, तद्वेत्तुत्वं ब्रह्मणि पक्षधर्म-  
CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.



## महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य,

भामती

शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञतासाधनत्वं समर्थयते—\*महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्येति\* ॥ चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य च यथायथं निषेकादिश्मशानान्तासु ब्रह्ममुहूर्तोपक्रमप्रदोषपरिसमापनीयासु नित्य-नैमित्तिक-काम्यकर्मपद्धतिषु च ब्रह्मतत्त्वे च शिष्याणां शासनात् शास्त्रम्=ऋग्वेदादि । अत एव महाविषयत्वाद् महत् । न केवलं महाविषयत्वेनास्य महत्त्वम्, अपि त्वनेकाङ्गोपाङ्गोपकरणतयाऽपीत्याह—

\*अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य\* ॥ पुराण-न्याय-मीमांसादयो दश विद्यास्थानानि, तैस्तया तथा द्वारोप-कृतस्य । तदनेन समस्तशिष्टजनपरिग्रहेणाप्रामाण्यशङ्काऽप्यपाकृता । पुराणादिप्रणेतारो हि महर्षयः शिष्टाः, तैस्तया तथा द्वारा वेदान् व्याचक्षाणैस्तदर्थं चादरेणानुतिष्ठद्भिः परिगृहीतो वेद इति ॥

ऋजुप्रकाशिका

योनित्वम्, तावताऽपि कथं सर्वज्ञत्वम् ? इत्याशङ्क्य, शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञत्वसाधकत्वं समर्थयत इत्याह—  
\*शास्त्रयोनित्वस्येति\* ॥ \*ननु\* सूत्रसन्दर्भस्यैव शास्त्रत्वात् कथं भाष्ये—“ऋग्वेदादेः शास्त्रस्ये”त्युक्तम् ? इत्याशङ्क्य, शासनाच्छास्त्रमिति व्युत्पत्त्यग्वेदादेः शास्त्रत्वमस्तीत्याह—\*चातुर्वर्ण्यस्येत्यादिना—शासना-च्छास्त्रमृग्वेदादीत्यन्तेन\* ॥ केषां शासनम् ? तत्राह—\*शिष्याणामिति\* ॥ कुल विषये शासनं शिष्याणाम् ? तत्राह—\*नित्य-नैमित्तिक-काम्यकर्मपद्धतिषु ब्रह्मतत्त्वे चेति\* ॥ नित्य-नैमित्तिक-काम्यकर्म-पद्धतीर्विशिनष्टि—\*ब्रह्ममुहूर्तोपक्रमेति\* ॥ पुनः कीदृग्भूताः कर्मपद्धतयः ? इति वीक्षायां ता एव प्रकारान्त-रेणापि विशिनष्टि—\*यथायथं निषेकादिश्मशानान्तास्विति\* ॥ निरुक्तकर्मपद्धतीनां सम्बन्ध्यपेक्षायामाह—  
\*चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य चेति\* ॥ एवं शासनात् शास्त्रत्वमृग्वेदादेरुक्त्वा, भाष्ये—“महतः” इत्यादिना ऋग्वेदादेर्महत्त्वमप्युक्तम्, तदप्यत एवेत्याह—\*अत एवेति\* ॥ “अत एवे”त्यस्य विवरणम्—\*महाविषय-त्वादिति\* ॥ \*अस्य=ऋग्वेदादेः । “अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य” इत्येतद् व्याचष्टे—\*पुराणेति\* ॥ \*पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राणि षडङ्गानि च दश विद्यास्थानानि, तैस्तया तथा द्वारोपकृतस्येति\* ॥ अयमर्थः—दशविद्यास्थानैर्यत्र यत्र यथा यथोपकर्तव्यः, तेन तेन प्रकारेणोपकृतस्येत्यर्थः । “अनेकविद्या-स्थानोपबृंहितस्येत्यनेन महत्त्वं दर्शितम् । अनेनान्या शङ्काऽप्यृग्वेदादेर्निरस्तेत्याह—\*तदनेनेति\* ॥ विशिष्ट-स्वरूपमाह—\*पुराणादीति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*तैरिति\* ॥ \*परिगृहीत इति\* ॥ तथाच न वेदेऽप्रामाण्यशङ्कालेशोऽपीति भावः ।

वार्तिकम्

तथाचैवं प्रयोक्तव्यम्—ब्रह्म, सर्वज्ञं भवितुमर्हति, सर्वविषयज्ञानशक्तिलक्षणग्वेदादिकारणत्वात् ; यन्नैवम्, तन्नैवम् ; यथा घटादीति व्यतिरेकि, यद्वा—ब्रह्म, ऋग्वेदादिविषयापेक्षयाधिकविषयज्ञानवत् ; तत्प्रणेतृत्वात्, यो यद्व्याक्यप्रणेता, स तद्विषयापेक्षयाऽधिकविषयज्ञानवान् द्रष्टुः, यथा भारतादिप्रणेता व्यासादिस्तद्विषयापेक्षयाऽधिकविषयज्ञानवानिति सामान्यतोद्घष्टम् । पक्षधर्मताबलाच्च ब्रह्मणः सर्वज्ञत्व-सिद्धिः ॥ तदेतत् सर्वमाह भाष्यकारः—\*महत ऋग्वेदादेरित्यादिना\* ॥ महत्त्वञ्च परिमाणतो विषयतश्च ।

भाष्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वम्, किन्तु शास्त्रयोनित्वादपीति दृढीक्रियते । सर्वज्ञत्वं युक्त्यन्तरेणेत्यर्थः । शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञतासाधनत्वं समर्थयितुं शास्त्रं विशिनष्टि—\*महत इत्यादिना\* ॥ महाविषयत्वाद्ऋग्वेदादि शास्त्रं महत्, न केवलं महाविषयत्वेनास्य महत्त्वम्, अपि त्वनेकाङ्गोपाङ्गोप-



प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति ।

भामती

नचायमनवबोधकः, नाप्यस्पष्टबोधकः, येनाप्रमाणं स्यादित्याह—\*प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः\* ॥ सर्वमर्थजातं सर्वथाऽवबोधयन् नानवबोधकः, नाप्यस्पष्टबोधक इत्यर्थः । अत एव \*सर्वज्ञ-कल्पस्य = सर्वज्ञसदृशस्य । सर्वज्ञस्य हि ज्ञानं सर्वविषयम्, शास्त्रस्याप्यभिधानं सर्वविषयमिति सादृश्यम् । तदेवमन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—\*नहीदृशस्येति\* ॥ सर्वज्ञस्य गुणः सर्वविषयता, तदन्वितं शास्त्रम् ; अस्यापि सर्वविषयत्वात् ।

ऋजुप्रकाशिका

\*अयम् = वेदः । सर्वज्ञसादृश्यं दर्शयति—\*सर्वज्ञस्य हीति\* ॥ \*शास्त्रस्यापि=ऋग्वेदादिलक्षण-शास्त्रस्यापि । सर्वज्ञगुणं दर्शयन् तदन्वितत्वं शास्त्रस्य दर्शयति—\*सर्वज्ञस्य गुणः सर्वविषयतेति\* ॥ कथमिति ? अत आह—\*अस्यापीति\* ॥ शास्त्रस्यापीत्यर्थः । तथाचेदृशस्य शास्त्रस्यासर्वज्ञाद-संभवादेव व्यतिरेकः । एवंचान्वय-व्यतिरेकाभ्यामीदृशशास्त्रकारणं ब्रह्म सर्वज्ञमेवेत्यभिप्रायः । तदेव

पञ्चपादिका

जन्म । न च तेनाविषयीकृतस्य सद्भावे प्रमाणमस्ति । अतः सर्वविषयत्वात्सर्वज्ञं तत् । कल्पप्-

वार्तिकम्

तदेव दर्शयति—\*अनेकविद्यास्थानोपबंहितस्येति\* ॥ सगुण-निर्गुण-देवता-कर्मादिविषयभेदादनेका विद्याः, तासां स्थानानि=प्रकरणानि ; प्रकरणविशेषत्वात् स्थानस्य, तैरुपचितस्येत्यर्थः । ग्रन्थतो महत्त्वमुक्त्वाऽर्थ-तस्तदाह—\*प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिन इति\* ॥

यद्यपि प्रदीपस्य रूपवन्मात्रावद्योतकत्वम् ; तथाऽपि स्वगोचरसर्वावभासकत्वमात्रेणायं दृष्टान्त इति मन्तव्यम् । “सर्वज्ञकल्पस्ये”त्यनेन सर्वविषयज्ञानशक्तिलक्षणमनआत्मकत्वमृग्वेदादेर्दर्शयति ; तस्या-चेतनत्वेऽपि स्ववृत्त्या सर्वज्ञानोपाधित्वेन सर्वज्ञस्थानेऽभिषिक्तत्वात् सर्वज्ञकल्पत्वोपपत्तेः । अत एव कल्पशब्दप्रयोगोऽपि युक्ततरः ; अराजनि भद्रसेने राजकार्यकारित्वेन राजकल्पोऽयं भद्रसेन इतिवत् ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

करणतयाऽपीत्याह—\*अनेकविद्येति\* ॥ पुराण-न्याय-मीमांसादयो दश विद्यास्थानानि, तैस्तया तथा द्वारोपकृतस्येत्यर्थः । तदनेन विशिष्टजनपरिग्रहेणाप्रामाण्यशङ्काऽप्यर्थादापाकृता ; पुराणादि-प्रणेतृभिर्महर्षिभिस्तथा तथा वेदान् व्याचक्षाणैस्तदर्थं चादरेणानुतिष्ठद्भिः परिगृहीतो वेद इति । अवोधकत्वास्पष्टबोधकत्वयोरभावादपि नाप्रमाणं वेद इत्याह—\*प्रदीपवदिति\* ॥ \*अत एव सर्वज्ञकल्पस्य = सर्वज्ञसदृशस्य सर्वविषयत्ववच्छास्त्रस्याप्यभिधानं सर्वविषयमिति । व्यति-रेकमाह—\*न हीदृशस्येति\* ॥

प्रदीपः

तोपपादनव्याजेनाह—\*महत् इति\* ॥ सूत्रे शास्त्रपदेनैवर्ग्वेदादिकं विवक्ष्यते । “तस्य महतो भूतस्ये”ति वाक्यनिर्दिष्टम् । तस्य च चातुर्वर्ण्य-चातुराश्रम्यादिवहुविधपदार्थभूयिष्ठत्वान्महत्त्वमिति भावः । \*अनेकविद्यास्थानोपबंहितस्य=“पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश” ॥ इति याज्ञवल्क्यवचनसिद्धचतुर्दश-विद्यास्थानोपबंहितस्येत्यर्थः । पुराणादयो हि विधिवाक्यानां प्रवर्तकत्वेन धर्मपर्यवसानार्थं बहूपकुर्वन्ति वेदप्रामाण्यरक्षणेनेति



यद्यद् विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके ।

भामती

उक्तमर्थं प्रमाणयति—\*यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात् संभवति, सः = पुरुषविशेषः \*ततोऽपि\* शास्त्रात् \*अधिकतरविज्ञानः\* इति योजना । अद्यत्वेऽप्यस्मदादिभिर्मित्समीचीनार्थ-विषयं शास्त्रं विरच्यते, तत्रास्माकं वक्तृणां वाक्याद् ज्ञानमधिकविषयम् । नहि ते तेऽसाधारण-धर्मा अनुभूयमाना अपि शक्या वक्तुम् । न खल्विक्षु-शीर-गुडादीनां मधुररसभेदाः शक्याः सरस्वत्याऽप्याख्यातुम् । विस्तरार्थमपि वाक्यं न वक्तृज्ञानेन तुल्यविषयमिति कथयितुं विस्तरग्रहणम् ।

ऋजुप्रकाशिका

सप्रमाणकं विशदयतीत्याह—\*उक्तमर्थमिति\* ॥ भाष्यं शिष्यबुद्धिसौकर्याय योजयति—\*यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मादित्यादिनेति\* ॥ योजनेति\* ॥ प्रसिद्धं लोक इति योजना । लोके प्रसिद्धमित्युक्तम्, लोकप्रसिद्धमुदाहरति भाष्ये—\*व्याकरणादीति\* ॥ ज्ञेयैकदेशार्थं व्याकरणादि यतः पाणिन्यादेर्भवति, पाणिन्यादिस्ततो व्याकरणादेरधिकतरज्ञान इति लोके प्रसिद्धमित्यर्थः । अमुमर्थं विशेषतोऽप्याह—\*अद्यत्वेऽपीति\* ॥ आधुनिकत्वेऽपीत्यर्थः । \*वाक्यात्=विरच्यमानशास्त्रात्मकाद् वाक्यात् । \*ननु\* यद्यदनुभूयते, तत् सर्वं विरच्यते ; तथाच वक्तृणां ज्ञानस्य विरच्यमानवाक्यात् समानविषयतया कथमधिकविषयत्वमिति ? अत आह—\*नहीति\* ॥ अनुभूयमानानां वक्तुमशक्यत्वमेव स्फुटयति—\*न खल्विति\* ॥ “मधुररसभेदाः” इत्यनन्तरम्—“अनुभूयमानाः” इति शेषः । भाष्ये—“विस्तरार्थं शास्त्रमित्युक्तम्, तत्र विस्तरपदस्य प्रयोजनमाह—\*विस्तरार्थमपि वाक्यमिति\* ॥ विमतः, सर्वप्रकाशनशक्तिमत ऋग्वेदादेशास्त्रस्य योनिः, ततोऽप्यधिकतरविज्ञानवत्प्रणेतृत्वात्, यो यत्प्रणेत, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञानः ; यथा

वार्तिकम्

व्यतिरेकव्याप्तिमाह—\*नहीदृशस्येति\* ॥ सर्वज्ञगुणः=सर्वविषयत्वम्, सर्वज्ञानाकरत्वं वा । अन्वयमाह—\*यद्यद्विस्तरार्थमिति\* ॥ एतद्व्याप्तिद्वयसूचितप्रयोगद्वयं पूर्वमेव प्रदर्शितमस्माभिः । “सर्वज्ञानाकारस्ये”त्यनेन सर्वविषयज्ञानशक्त्यात्मकत्वमाह ; आकारशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः । \*ननु\*—प्रयत्नाभावे

भाष्यभावप्रकाशिका

सर्वज्ञस्य गुणः, सर्वविषयज्ञता, तदन्वितं शास्त्रम् ; अस्यापि सर्वविषयत्वात्, इदानीं प्रमाणं रचयति—\*यद्यद्विस्तरार्थमिति\* ॥ अथवा—पूर्वं व्यतिरेकमभिधायाऽन्वयव्याप्तिमभिधत्ते—\*यद्यदिति\* ॥ \*अधिकतरविज्ञान इति\* ॥ इक्षु-शीर-गुडादिमधुरस्य तद्भेदस्य च वचनागोचरस्याप्रनुभवगोचरत्वाद् वाक्याद् ज्ञानमधिकविषयमित्यर्थः ।

प्रदीपः

विद्यास्थानान्युपबृंहकानि मन्यन्ते । \*सर्वज्ञकल्पस्य=वेदेषु पुराणादिषु च विद्यास्थानेष्वनुक्तमिदानीन्तनं भावि च हस्तगतवराटिकमेव किञ्चिद् वेदेन न बोध्यत इति किञ्चिदूनं सर्वज्ञत्वं वेदस्येति भावः । तथाच सर्वज्ञकल्पकर्ता सर्वज्ञ इति युक्तमेव । सामान्यतोऽन्वयव्याप्तिं सोदाहरणनिर्देशं वक्ष्यन् व्यतिरेकव्याप्तिमाह—\*न हीदृशस्येति\* ॥ सर्वज्ञादन्यतः=सर्वज्ञकल्पात् ततोऽपि न्यूनाद्वा संभवतीत्यर्थः । अन्वयव्याप्तिं दर्शयति—\*यद्यदिति\* ॥ यद्यदिति विभक्तिप्रतिरूपकमन्वयं यच्छब्दपर्यायम् । विस्तरशब्दस्य कर्मणि प्रत्ययान्तत्वेन विस्तीर्णपरत्वम् । तथाचाधिकार्थकमिति फलितम् । तथाचाधिकार्थकं यत् शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषाद् भवति, स पुरुषस्ततोऽप्यधिकतरार्थज्ञानवानिति सामान्यव्याप्तिः प्रदर्शिता भवति । दृष्टान्तस्य पाणिने-



किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देव-तिर्यङ्-मनुष्य-वर्णाश्रमादिप्रविभाग-  
हेतो ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकर(१)स्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्

भामती

\*सोपनयं निगमनमाह—\*किमु वक्तव्यमिति\* ॥ वेदस्य यस्माद् महतो भूताद् योनेः  
संभवः, तस्य महतो भूतस्य ब्रह्मणो निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च किमु वक्तव्यमिति  
योजना । \*अनेकशाखेति\* ॥ अत्र चानेकशाखाभेदभिन्नस्येत्यादिः संभव इत्यन्त उपनयः ।  
तस्येत्यादि सर्वशक्तित्वं चेत्यन्तं निगमनम् । \*अप्रयत्नेनैवेति\* ॥ ईषत्प्रयत्नेन, यथाऽलवणा  
यवागूरिति । देवर्षयो हि महापरिश्रमेणापि यत्राशक्ताः, तदयमीषत्प्रयत्नेन लीलैव करोतीति  
निरतिशयमस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं चोक्तं भवति ।

ऋजुप्रकाशिका

व्याकरणादिप्रणेता पाणिन्यादिः, इति प्रतिशब्दाहरणान्तानवयवान् सिद्धवत्कृत्य सोपनयं निगमनमाहेत्याह—  
\*सोपनयमिति\* ॥ तत्रापि भाष्यं योजयति—\*वेदस्येति\* ॥ \*सर्वेति\* ॥ सर्वप्रकाशनशक्तिमत इत्यर्थः ।  
अत्रोपनयांश-निगमनांशविभागमाह—\*अत्र चानेकेत्यादिना—निगमनमित्यन्तेन\* ॥ \*ननु\* वेदस्य  
निःश्वसिततुल्यत्वेऽपि निःश्वसितवदीषत्प्रयत्नसापेक्षत्वेन भाष्ये—“अप्रयत्नेने”ति कथमुक्तमिति ? अत  
आह—\*ईषत्प्रयत्नेनेति\* ॥ यद्यप्यप्रयत्नस्य ब्रह्मणः प्रयत्नलेशोऽपि नास्त्येव ; तथाऽपि मायावृत्त्यात्मके-  
क्षणवन्मायावृत्त्यात्मकस्य तस्य संभवे बाधकाभाव एवेति द्रष्टव्यम् । ईषत्प्रयत्नसाध्यत्वे दृष्टान्तमाह—  
\*यथाऽलवणा यवागूरितीति\* ॥ ईषत्प्रयत्नसाध्यत्वमेवायं वेदादिशास्त्रस्य दर्शयति—\*देवर्षयोऽपीति\* ॥  
अयम्=ईश्वरः । \*अस्य=ईश्वरस्य, ब्रह्मरूपस्य । \*ननु\* वेदस्य परमपुरुषब्रह्मजन्यत्वे सकर्तृकत्वेन सापेक्ष-  
त्वात् सापेक्षत्वलक्षणमप्रामाण्यं स्यादिति—चेत्, \*तत्र वक्तव्यम्\*—किं सापेक्षत्वं पुरुषनिर्वर्त्यत्वमात्राद्वा ?  
अभिनवानुपूर्वीविरचनाद्वा ? मानान्तरोपलब्धार्थविषयकवचनरचनाद्वा ? एकपुरुषकर्तृकत्वप्रतिभानेना-  
नाश्वासाद्वा ? नाहः ; वर्णनित्यतावादिनस्तवापि मते पदवाक्याद्यात्मकस्य वेदस्य भावरूपस्यानित्यतया

वार्तिकम्

तत्कर्तृत्वमैव भगवतो न सिध्येत्, कुतस्तस्य तदुपादानत्वमिति ? अत आह—\*लीलान्यायेनेति\* ॥ नञ्  
ईषदर्थत्वादित्यभिप्रायः । वेदसृष्टौ प्रयत्नस्येपत्वं “निःश्वसितमि”ति श्रुतिव्याख्यान एव पूर्वं दर्शितम् ।

भाष्यभावप्रकाशिका

इदानीमनुमिनोति—\*किमु वक्तव्यमिति\* ॥ अयं प्रयोगः—वेदः, स्वविषयादधिकतर-  
विषयविज्ञानवत् उत्पन्नः, वाक्यप्रमाणत्वात् ; पाणिन्यादिवाक्यवत्, इति । एवंविधस्य वेदस्य  
यस्मान्महतो भूताद् योनेः संभवः, तस्य महतो भूतस्य ब्रह्मणो निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च  
किमु वक्तव्यमिति योजनात् पक्षधर्मताबलात् शास्त्रकारणस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञता सिध्यतीति  
भावः ॥ अन्येतु—\*अनेकशाखाभेदभिन्नस्य वेदस्येत्यादि “संभवः” इत्यन्तमुपनयः, “तस्ये”-  
त्यादि “सर्वशक्तित्वं चे”त्यन्तं निगमनमिति—वर्णयन्ति । ग्रन्थतो महत्त्वमाह—\*अनेकशा-  
खेति\* ॥ अर्थतो महत्त्वमाह—\*देव-तिर्यगादीति\* ॥ अत एव ज्ञानाकारस्येत्युक्तम् । इदानीं  
पौरुषेयत्वाशङ्कां व्यावर्तयति—\*अप्रयत्नेनेति\* ॥



यस्माद् महतो भूताद् योनेः संभवः, “अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्वेदः (बृह० २।४।१०।) इत्यादिश्रुतेः, तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं

भामती

\*अप्रयत्नेनास्य वेदकर्तृत्वे श्रुतिरुक्ता—\*अस्य महतो भूतस्येति\* ॥ येऽपि तावद्

वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत, तैरपि पद-वाक्यादीनामनित्यत्वमभ्युपेयम् । आनुपूर्वीभेदवन्तो हि वर्णाः पदम् । पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम् । व्यक्तिधर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः ; वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यायोगात् । व्यक्तिश्चानित्या ? इति कथं तदुपगृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या ? पदानित्यतया च वाक्यादीनामप्यनित्यता व्याख्याता । तस्मान्नृत्तानुकरणवत् पदाद्यनुकरणम् । यथाहि यादृशं गात्रचलनादि नर्तकः करोति, तादृशमेव शिक्ष्यमाणाऽनुकरोति नर्तकी, ननु तदेव व्यनक्ति, एवं यादृशीमानुपूर्वी वैदिकानां करोत्यध्याप-

ऋजुप्रकाशिका

कृतकत्वेन पुरुषनिर्वर्त्यताया अवश्याभ्युपेतव्यत्वादित्यभिप्रेत्याह—\*येऽपि तावदिति\* ॥ कथमभ्युपेतव्यम् ? तत्राह—\*आनुपूर्वीति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*व्यक्तिधर्मश्चेति\* ॥ अभिव्यक्तिर्व्यक्ति-शब्दार्थः । कुतो न वर्णधर्मः ? तत्राह—\*वर्णानामिति\* ॥ तथाचानुपूर्व्याः पौर्वापर्यलक्षणत्वेन वर्ण-धर्मत्वायोग इति भावः । अस्त्वानुपूर्व्या व्यक्तिधर्मत्वम्, तावताऽपि कथं पद-वाक्यानामनित्यतालाभ इति ? अत आह—\*व्यक्तिश्चानित्येति\* ॥ \*तदुपगृहीतानाम्=अभिव्यक्तानामित्यर्थः । “कथ-मि”त्येतन्नित्येत्यनेन सम्बध्यते । कथं नित्या ? न नित्या, किं त्वनित्यैवेत्यर्थः । पदानित्यत्वे वाक्यानित्यत्वं तत एव व्याख्यातमित्याह—\*पदानित्यतया चेति\* ॥ द्वितीये क्रमवत्त्वमात्रमभिनवत्वम् ? विसदृशकमत्वं

भाष्यभावप्रकाशिका

प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वाभावात् तदुपादानत्वेऽपि वेदस्य नापौरुषेयता, पूर्व-पूर्व-सदृशोत्तरोत्तरक्रमविशिष्टस्यैव ब्रह्मोपादानतया प्रवाहरूपेण नित्यत्वम्, सर्वार्थप्रकाशनसमर्थतया

प्रदीपः

व्याकरणाधिकज्ञानवत्त्वमुपपादयति—\*यथेति\* । द्वैयैकदेशार्थमिति\* ॥ पाणिनिना ज्ञातुं योग्येषु बहुषु केचनैव पाणिनिना स्वीये व्याकरणे सूत्रिताः, न तु सर्वं तदीयं ज्ञातमिति भावः । अपीत्यतः पूर्वं चेदित्यादिः । तथाच व्याकरणादि द्वैयैकदेशार्थं चेदपि पाणिनिरधिकज्ञानवानिति योजना । \*अधिकतरविज्ञानः=सर्वज्ञकल्प इत्यर्थः । तथाच पाणिनेरेव सर्वज्ञकल्पत्वे ब्रह्मणः पङ्क्त्यव्याकरणाद्युपवृंहितगवेंदादिकर्तुः सर्वज्ञत्वं कैमुतिकन्यायसिद्धमित्याह—\*किमु वक्तव्यमिति\* ॥ पूर्वोक्तं महत्त्वमेव हेतुनिर्देशेन विवृणोति—\*अनेकशाखाभेदेत्यादिना\* ॥ प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः\* ॥ सर्वज्ञकल्पस्येत्यस्य विवरणम्—\*सर्वज्ञानाकरस्येति\* ॥

\*एतेन\*—अचेतनस्य वेदस्य कथं सर्वज्ञकल्पत्वमिति शङ्कायाः—अनवसरः । \*ननु\*—अर्थं बुध्वा शब्दरचना । तथाच वेदकर्तृत्वं प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमन्तरा न संभवति ; सति चैवं प्रमाणान्तरपरतन्त्रत्वाद् वेदवाक्यानां पौरुषेयत्वमापद्येत । सति चैवमप्रमाणमपि प्रमाणं मत्वाऽपि वेदवाक्यानां रचनं संभवतीति ब्रह्मणोऽपि सर्वज्ञत्वं निरतिशयं बाधितं स्यात् । \*एतेन\*—सर्वशक्तित्वमपि बाधितम् । नहि सर्वशक्तिः प्रमाणान्तरमपेक्षत इति संभवतीत्याशङ्क्याह—\*अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेनेति\* ॥ तथाच गतकल्पीयं वेदं स्मृत्युपदिशतीत्येतावतैवोपपत्तौ प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य वेदरचयितृत्वकल्पनानुपपत्तेरनेकविद्यास्थानोप-वृंहितगवेंदादिकर्तृत्वम् “धाता यथा पूर्वमकरूपयत्” इति वचनानुसारेण तथैव सर्वव्यवस्थापकत्वं वा सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिं च विना नोपपद्यत इति सर्वशत्वमर्थसिद्धमेव ॥

इदमत्र केचिन्मन्यन्ते—यत् शास्त्रयोनिवपदेनार्थमुपलभ्य रचयितृत्वरूपं प्रणेतृत्वं न विवक्ष्यते ; वेदपौरुषेयत्वापातात्, अध्यापकवदुच्चारयितृत्वमात्रं तु प्रणेतृत्वं न सार्वज्ञसाधकम्, अप्रयोजकत्वात् । तावता हि महोपाध्यायसाम्यमेव स्यात्,



## पञ्चपादिका

प्रत्ययप्रयोगो भाष्ये बोद्धृत्वाभावादीपदपरिसमाप्त्या । ततश्च कारणं तद्विषयादप्यधिकतरग्रहणसमर्थं गम्यते । दृश्यते ह्यद्यापि शास्त्रकाराणां तथाभावः । \*ननु\* एवं सति बुद्धिपूर्वत्वात्सापेक्षं स्यात् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* वेदस्य सर्वविषयज्ञानसामर्थ्येऽपि ब्रह्मणः कथं सर्वज्ञतेति ? अत आह—\*ततश्च तस्य कारणमिति\* ॥ दृश्यत इत्यादि दृष्टान्तः । अयं प्रयोगः—वेदः, स्वविषयादधिकतरविज्ञानवत्प्रणीतो भवति, वाक्यप्रमाणत्वात् ; पाणिन्यादिशास्त्रवदिति । \*ननु\* किमन्तानुमानेन प्रसाध्यते ? यदि तावदुपाध्यायस्याध्यापनोच्चारण-वच्छास्त्रशब्दोपलक्षितानां सर्वेषां शब्दानां ब्रह्मण्यप्युच्चारणं साध्यते ? तदा नोपाध्यायवत् सर्वज्ञं ब्रह्म भविष्यति । अथ सकलवाक्यार्थं प्रमाणान्तरेणोपलभ्य तत्प्रतिपत्त्यर्थं परस्मै वाक्यं विरचयति ? प्राप्तं तर्हि पौरुषेयत्वम् ; तल्लक्षणत्वात्पुरुषवचसाम्, इति चोदयति—\*नन्वेवं सतीति\* ॥

\*अत्र केचित्परिहारमाचक्षते\*—प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विवक्षित्वा परस्मै विरचितः शब्दः पौरुषेय इत्युच्यते । तत्रेदमनेन कर्तव्यमिति वक्तुरभिप्रायभेदो रागः पुरुषवचसामर्थः । द्विविधश्च रागः—नित्योऽ-नित्यश्च । तत्रानीश्वराणामभिलषितसाधनज्ञानस्यानित्यतया तज्जन्यरागस्याप्यनित्यत्वात् तद्विषयाणां पुरुष-वचसां प्रमाणान्तरसापेक्षतया पौरुषेयत्वमङ्गीक्रियते, ईश्वरस्य पुनर्निखिलेष्टसाधनविषयज्ञानानां नित्यतया तन्मूल-रागस्यापि नित्यत्वादीश्वरप्रणीतानामपि वैदिकवचसां नित्यरागविषयतया पौरुषेयता न जेगीयते—इति, \*नैतत्सारम्\* ; ईश्वरे सकलामिलपितसाधनज्ञाननित्यत्वे प्रमाणाभावात्, अनुमानानां चातद्गोचरत्वस्य

## ऋजुविवरणम्

सर्वात्मना विषयः, अतोऽधिकतरविषयविज्ञानवत्प्रणीतत्वं वेदस्य । “नच तेने”ति ग्रन्थस्सामान्याभिप्रायेणेति द्रष्टव्यः ॥ पौरुषेयत्वेन प्रामाण्येऽविशिष्टे किं तन्निराकरणेन ? इत्याशङ्क्य, मतभेदं दर्शयति—\*प्रमाणान्तरेणेति\* ॥ \*ननु\* अनपेक्षबोधकत्वं वेदे तावद् दृश्यते, कथं पौरुषेयस्यानपेक्षता ? इति तन्निर्वाहकत्वेन नित्येन वा समूलत्वं

## तत्त्वदीपनम्

सर्वविषयप्रकाशनसामर्थ्यमङ्गीकृत्य ब्रह्मणि तदाक्षिपति—\*ननु वेदस्येति\* ॥ प्रमाणाभावादिति शेषः । असिद्धौ हेतुरित्याह—\*अत आहिति\* ॥ वेदो विज्ञानवत्प्रणीत इत्युक्ते न सर्वज्ञप्रणीततासिद्धिः, तदर्थम्—\*स्वविशेषणम्\* ॥ नच—वेदस्य सकलविषयत्वात् स्वविषयादधिकतरविषयविज्ञानवत्प्रणीतत्वं बाधितमित्यपि—शङ्क्यम् ; इक्षु-क्षीर-गुडादिमाधुर्यवैषम्यस्याभिधानाविषयीकृतत्वेऽपि प्रमाणान्तरविषयत्वं दृष्टम्, ततश्च वेदस्य स्वविषयादधिकतरविषय-विज्ञानवत्प्रणीतत्वं संभवतीत्यर्थः । प्रत्यक्षं व्यावर्तयति—\*वाक्येति\* ॥ अनाप्तोक्तिं व्यावर्तयति—\*प्रमाणत्वादिति\* ॥ विकल्पानुपपत्तेर्नैतत्साध्यं साध्वित्याह—\*ननु किमन्नेति\* ॥ प्रणीतत्वं नाम किमुच्चारणमात्रम् ? उत बुद्धिपूर्वकृतत्वम् ? इति किंशब्दार्थः । आद्यमनूद्य दूषयति—\*यदि तावदित्यादिना\* ॥ \*अध्यापनोच्चारणवदिति\* ॥ अध्यापनायो-च्चारणवदित्यर्थः । द्वितीयमुत्थाप्य दूषयति—\*अथेति\* ॥ उभयत्रापि विषयबोधककर्तृपराहृतत्वेनाप्रयोजको हेतुरिति द्रष्टव्यम् ॥ वेदस्य बुद्धिपूर्वकृतत्वमङ्गीकृत्यैवानपेक्षत्वं केचित् कथयन्ति, तत्प्रक्रियां दर्शयति—\*अत्र केचिदिति\* ॥ द्वितीयपक्षाङ्गीकारेण समाधानं दर्शयन् पौरुषेयस्वरूपमाह—\*प्रमाणान्तरेणेति\* ॥ पौरुषेयत्वे कथमनपेक्षत्वम् ? इत्याशङ्क्य, वाक्यप्रमेयं तावद् दर्शयति—\*तत्रेति\* ॥ लौकिक-वैदिकबोध्यां रागस्य प्रमेयत्वे सापेक्षत्वानपेक्षत्वा-विभागः कुतस्त्यः ? इत्याशङ्क्य, तदर्थं रागभेदमाह—\*द्विविध इति\* ॥ रागत्वाविशेषे नित्यत्वानित्यत्वविभागः कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*तन्नानीश्वराणामिति\* ॥ ततो वैषम्यमाह—\*ईश्वरस्येति\* ॥ \*पौरुषेयता न जेगीयत इति\* ॥ सापेक्षता नोच्यत इत्यर्थः । वेदवचसां नित्यज्ञानमूलरागविषयतया शब्दस्यानपेक्षत्वमित्युक्तम्, तत्र रागस्य नित्यज्ञानमूलत्वमसिद्धमित्याह—\*नैतत्सारमिति\* ॥ किमनुमानं नित्यज्ञानेश्वरे प्रमाणम् ? उत शब्दः ? नाद्य इत्याह—\*अनुमानानामिति\* ॥ सर्वं कार्यं स्वरूपोपादानविज्ञानवत्कर्तृकमित्यारभ्य नित्यज्ञानवदीश्वरागोचरत्वानुमानं दर्शि-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

दर्शितत्वात् । शब्द इति चेत्, न ; इतरेतराश्रयापातात्—नित्यज्ञानमूलनित्यरागजन्यत्वे शब्दस्थानपेक्षं प्रामाण्यम्, अनपेक्षे च शब्दे नित्यज्ञानसिद्धिरिति । 'रागश्च नित्यः', 'नित्याभिलषितसाधनज्ञानमूलः' इति च व्याहन्यते । कुतश्चैतद् लब्धम्—नित्यानित्याभिप्रायभेदेन पुरुषवचसामपि सतां सापेक्षत्वानपेक्षत्वविभागो विद्यत इति ? नच पुरुषाभिप्रायः शब्दार्थे इति च वक्ष्यते । तस्मादसमञ्जसमेतत् ॥

अन्ये तु सङ्गिरन्ते—व्यासाद्यभिप्रायभेदतात्पर्यवतामपि भारतवचसामिदानीन्तनवाचकवदध्ययन-विधितात्पर्यवतामेव वेदानां सृष्टिकाले समुच्चारणमीश्वरस्य वेदप्रणयनं नाम । ततश्च रागतात्पर्याभावाद् वेद-प्रामाण्यमीश्वरस्य सर्वज्ञता चेति, अत्र वयं पृच्छामः—सृष्टिसमये किं प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य वेदवाक्यं व्यनक्ति ? यथा पाणिन्यादिः, आहोस्विदुपाध्यायवत् पूर्वसिद्धवाक्यमुच्चारयति ? तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे पौरुषेयताऽऽ-पत्तिः, उत्तरस्मिन्नुपाध्यायवदेवासर्वज्ञतापत्तिः । अभिप्रायतात्पर्याभावादपौरुषेयतेति चेत्, उपलभ्य रचनायां कुतो रागतात्पर्याभावः ? पूर्वमेव विधितात्पर्यादिति चेत्, तथापीतरन्न विहन्यते । न चोभयतात्पर्यमुपपद्यते ;

### ऋजुविवरणम्

क्लृप्यते, अतो न तेनेतरेतराश्रयमित्याशङ्क्याह—\*रागश्च नित्य इति\* ॥ \*ननु\* रागस्य ज्ञानविषयसापेक्षत्वेन तन्मूलत्वम्, ननु तज्जन्यत्वेन ; अतो विरोधात्तद्विषयस्यानपेक्षतेत्याशङ्क्याह—\*कुतश्चैतल्लब्धमिति\* ॥ \*ननु\* पौरुषेयत्वेनाभिप्रायविषयत्वे निश्चिते, नित्यानित्याभिप्रायभेद एवानपेक्षत्वादिहेतुरिति विकल्प्यत इत्याशङ्क्याह—\*नच पुरुषेति\* ॥ पूर्वमेवाध्ययनविधितात्पर्यं कथमीश्वरप्रणयनम् ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—\*व्यासाद्यभिप्रायेति\* ॥ \*अध्ययनविधितात्पर्यवतामिति\* ॥ अयमर्थः—अध्ययनविधिरध्ययनं प्रयुञ्जानो वेदस्य विवक्षितार्थत्वं बोधयति ; अन्यथाऽध्ययनासिद्धेरिति । \*तथापीतरदिति\* ॥ अयमर्थः—शब्दं प्रयुञ्जानो विवक्षितवैव प्रयुङ्क्त इति । \*ननु\* उभयथा तात्पर्येऽपि विधितात्पर्यस्य पूर्वभावित्वादनपेक्षतेति, नेत्याह—\*नचोभयतात्पर्यमिति\* ॥ अध्ययनविधेरपि

### तत्त्वदीपनम्

तमित्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—\*शब्द इति\* ॥ प्रामाण्यासिद्धेर्न तत ईश्वरसिद्धिरित्याह—\*नेति\* ॥ नित्यराग-विषयतया शब्दस्थानपेक्षप्रमाणत्वमाशङ्क्याह—\*इतरेतराश्रयादिति\* ॥ तदेव व्यनक्ति—\*नित्यज्ञानेति\* ॥ नित्यज्ञानमङ्गीकृत्य दूषयति—\*रागश्चेति\* । रागो नित्यश्चेति व्याहन्यते, लोके रागस्यानित्यत्वनियमादित्यर्थः । नित्यश्च ज्ञानकार्यश्चेत्येतच्च व्याहतम्, नित्य इत्युक्ते सर्वकालसंन्यधित्वं प्रतीयते, कार्य इत्युक्ते कदाचिदसत्त्वमिति व्याघात इत्यर्थः । रागद्वैविध्यमाश्रित्य नित्यरागविषयत्वेनानपेक्षत्वम्, इतरस्य सापेक्षत्वमित्येतदयुक्तमित्याह—\*नचेति\* ॥ \*वक्ष्यत इति\* ॥ समन्वयसूत्र इत्यर्थः । वेदवचसां पौरुषेयत्वेऽपि नित्यरागविषयतयाऽनपेक्षत्वमिति तन्निराकरणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

मतान्तरमुत्थापयति—\*अन्ये त्विति\* ॥ अध्ययनविधिरध्ययनं प्रयुञ्जानो वेदस्य विवक्षितार्थतां गमयति ; अन्यथाऽध्ययनासिद्धेः । तत्पौरुषेयत्वेऽपि विधितात्पर्यवतां वेदानां प्रामाण्यमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—\*भारतेति\* ॥ इदानीन्तनो वाचको भारतादिवचांसि यथोच्चारयति, तद्वदित्यर्थः । दृष्टान्ते पुरुषाभिप्रायतात्पर्यवैषम्यमाशङ्क्याह—\*व्यासादीति\* ॥ उच्चारणमात्रलक्षणविवक्षितांशसाम्यसंभवाद् दृष्टान्तत्वं युक्तमित्यर्थः । अस्मदादिष्वभिनवश्लोक-विरचनपूर्वकं समुच्चारणं प्राक्सिद्धोच्चारणं नेति । ततश्च विकल्पोपपत्तिरित्यर्थः । नच—वेदबलात्सार्वज्ञ्यमित्यपि—शङ्क्यम् ; वेदस्रष्टृत्वेन सार्वज्ञ्योपपादनप्रक्रमविरोधादित्यर्थः । वेदस्य बुद्धिपूर्वकृतत्वेऽपि न सापेक्षत्वमिति शङ्कते—\*अभिप्रायेति\* ॥ असिद्धो हेतुरित्याह—\*उपलभ्येति\* ॥ विमतम्, रागतात्पर्यवत्, उपलभ्य रचितत्वात्, संमतव-दित्युक्ते, विमतम्, न रागतात्पर्यवत्, विधितात्पर्यवत्त्वात् ; व्यतिरेकेण पुंवचोवदिति शङ्कते—\*पूर्वमेवेति\* ॥ \*पूर्व-मिति\* ॥ रागतात्पर्यात्प्रागित्यर्थः । अप्रयोजकत्वेन हेतुं दूषयति—\*तथापीति\* ॥ \*इतरदिति\* ॥ रागतात्पर्य-मित्यर्थः । उपलभ्य रचितत्वाविशेषादिति द्रष्टव्यम् । रागमात्रतात्पर्यवत्त्वं सापेक्षप्रयोजकम्, वेदवचनां च विधि-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

सत्यपि विधितात्पर्येऽवगम्यार्थं रचनैव सापेक्षत्वे निमित्तं समधिगतम् । नचोपलभ्य रचनायां विधितात्पर्य-  
मुपपद्यत इति यत्किञ्चिदेतत् ॥

\*अपरे तु मन्यन्ते\*—निर्विकल्पज्ञानपूर्वकाणि किल वेदवाक्यानि न सापेक्षत्वदोषमश्नुवते ; ब्रह्मस्वरूप-  
ज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वात्, लौकिकवचसां तु सविकल्पज्ञानपूर्वत्वात्सापेक्षता—इति, \*नायमपि विभागः  
सिध्यति\* ; उपलभ्य रचनाया एव सापेक्षत्वनिमित्तत्वात्, स्वरूपज्ञानस्याप्यभिलषितसाधनोपरागे सविकल्प-  
कत्वात् । तस्मान्नैते परिहाराः ॥

स्यात्तर्हि वेदानां पौरुषेयता ? \*ननु\* अपौरुषेयो वेदः ; अविच्छिन्नव्यवहारे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् ;  
आत्मवदित्यपौरुषेयतानुमीयत इति, \*न\* ; चिरवृत्तेष्वपीदानीमनुमानप्रमीयमाणकर्तृकेष्वनैकान्तिकत्वात् ,

## ऋजुविवरणम्

संख्यमानत्वेन तात्पर्यमिति । अथ तमप्यभिप्रायं स्मृत्वा भारतोच्चारणतात्पर्यवत्कल्पान्तरीयविधिं स्मृत्वा सृजती-  
त्यपेक्षेत्याशङ्क्याह—\*सत्यपि विधितात्पर्यं इति\* ॥ \*ननु\* विधितात्पर्याभावे सति पौरुषेयत्वं सापेक्षत्वे  
निमित्तम्, अत्र तु तदभावाच्च सापेक्षतेत्याशङ्क्याह—\*नचोपलभ्येति\* ॥ अध्ययनविधितात्पर्यगृहीतानामेव प्रणयने  
प्रमाणाभावात् तात्पर्यादिपरिज्ञाने च प्रमाणाभावात् स्थानान्तरमेव भवेदित्यर्थः ॥ \*निर्विकल्पेति\* ॥ गृहीतेऽर्थं  
विवक्षया शब्दप्रयोगे विवक्षानिश्चायकमूलपेक्षा, निर्विकल्पकपूर्वं तु विवक्षाऽभावाद् न सापेक्षतेति भावः । कथमत्र  
निर्विकल्पकपूर्वत्वमिति ? तदाह—\*स्वरूपेति\* ॥ \*उपलभ्येति\* ॥ रचनाया उपलब्धिपूर्वकत्वमूलप्रमाणानिश्चये  
न प्रामाण्यमिति भावः । \*ननु\* न निर्विकल्पकपूर्वके 'घटोऽयमि'त्यादौ सापेक्षता ; विवक्षया प्रयोगाभावात्,  
तद्वदत्रापि निर्विकल्पकपूर्वक इत्याशङ्क्याह—\*अभिलषितसाधनोपराग इति\* ॥

तार्किकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते—\*स्यात्तर्हि\* ॥ तान् प्रति सीमांसकश्चोदयति—\*नन्वपौरुषेय इति\* ॥ कथं  
चिरवृत्तेष्वनैकान्तिकत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अनुमानप्रमीयमाणेति\* ॥ \*स्रगताद्यनुसारिणामिति\* ॥ स्रगता-  
तत्त्वदीपनम्

रागतात्पर्यपरत्वादनपेक्षत्वमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ एकत्र तात्पर्यं संभवत्युभयत्र तात्पर्यकल्पनायोगादित्यर्थः ।  
अङ्गीकृत्य दूषणमाह—\*सत्यपीति\* ॥ \*विधितात्पर्यं इति\* ॥ विधिरागतात्पर्यं इत्यर्थः । उपलभ्य रचितत्वस्य  
सापेक्षत्वव्यापकत्वात्सापेक्षत्वं स्यादित्यर्थः । विधितात्पर्यविधुरत्वे सत्युपलभ्य रचितत्वस्य सापेक्षत्वव्यापकत्वाद्  
वेदवचसि च तदभावाच्च सापेक्षत्वमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ विमतम्, न विधिपरम्, उपलभ्य रचितत्वात् ;  
समतवदित्यनुमानात् सापेक्षत्वं दूवारं स्यादित्यर्थः ॥

सविकल्पकज्ञानपुरःसरत्वस्य सापेक्षत्वव्यापकत्वम्, तथाच व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या व्याप्याभाव इति मतान्तर-  
मुत्थापयति—\*अपरे त्विति\* ॥ निर्विकल्पकज्ञानपूर्वकत्वे किं मानमिति ? अत्राह—\*ब्रह्मस्वरूपेति\* ॥ ईक्षण-  
पूर्वकं सकलस्रष्टृत्वं श्रयते । ईक्षणं च निर्विकल्पकम्, इति वेदस्य तत्पूर्वकत्वमित्यर्थः । सविकल्पकज्ञानपूर्वकत्वस्य  
सापेक्षत्वव्यापकत्वं कुत इति ? अत आह—\*लौकिकेति\* ॥ तदेतन्निराकरोति—\*नायमिति\* ॥ सापेक्षत्व-  
सविकल्पकज्ञानपूर्वकत्वयोर्व्यभिचारित्वादित्यर्थः । ज्ञानपूर्वकत्वे सविकल्पकज्ञानपूर्वकत्वाभावापराधेन सापेक्षत्वा-  
नुपलब्धेर्नोक्तप्रयोजकसिद्धिरित्याह—\*उपलभ्येति\* ॥ सविकल्पकज्ञानपूर्वकत्वस्य व्यापकविरुद्धोपलब्धिं निरस्यति—  
\*स्वरूपज्ञानस्येति\* ॥ विशेषविषयज्ञानस्य सविकल्पविषयत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्यापि विशेषविषयत्वेन सविकल्पकत्व-  
मित्यर्थः । एकदेशिमंतनिराकरणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

अपौरुषेयत्वनिरसनमाकर्ण्य तार्किकः प्रत्यवतिष्ठते—\*स्यात्तर्हि\* ॥ वेदः, पौरुषेयः, वाक्यत्वात् ; कालि-  
दासादिवाक्यवत्, इत्यर्थः । प्रत्यनुमानप्रतिरोधं शङ्कते—\*नन्वपौरुषेय इति\* ॥ अविच्छिन्नव्यवहारत्वे सत्य-  
स्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यनुक्ते विच्छिन्नव्यवहारेषु जीर्णकूपादिषु व्यभिचारः स्यात्, तन्निरासार्थमाह—\*अविच्छिन्नेति\* ॥  
पौरुषेयागमादिव्यावृत्त्यर्थम्—\*“अस्मर्यमाणे”ति\* विशेषणम् । व्यभिचारित्वान्नायं हेतुः साधुरित्याह—\*न



## पञ्चपादिकाविवरणम्

वेदानां च कर्तुर्नुमानागमाभ्यां प्रतीयमाणत्वात् । तथाहि विशिष्टबहुज्ञपुरुषप्रणीतः, वेदः, बह्वर्थविषयवाक्य-  
प्रमाणत्वात् ; भारतवत्, “इदं सर्वमसृजत” “ऋचो यजूंषि सामानी”त्यागमः । तस्मात्पौरुषेयो वेद  
इति । \*अत्र पृच्छामः\*—कथं पौरुषेये वेदे प्रामाण्यं लभ्यते कपिल-कणादाक्षपादानामिति ? सर्वज्ञप्रणीत-  
तयेति चेत्, न तावदनुमेयः सर्वज्ञ इत्युक्तम् । आगमाच्चेत्सिद्धिः, न ; इतरेतराश्रयात्—सर्वज्ञे सिद्धे  
तत्प्रणीततया वेदप्रामाण्यम्, ततश्च सर्वज्ञसिद्धिरिति । स्यादेतत्—महाजनपरिग्रहाद् वेदप्रामाण्यमिति, न ;  
सुगताद्यागमानुसारिणामेव देशविशेषेष्वनन्त्यश्रवणात् । नच देहात्मभाव-चन्द्रप्रादेशत्वादीनां महाजन-  
परिगृहीतानां प्रामाण्यं दृश्यते । नच महाजनपरिग्रहः प्रमाणपक्षपाती । तस्मान्न प्रामाण्यलाभः ॥

किञ्च पुरुषो वा केन प्रमाणेनोपलभ्य धर्माधर्मौ, वेदवाक्यं विरचयेत् ? न तावदिन्द्रियपञ्चकेन ; रूप-  
रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तत्तत्समवेत-विशेषग्राहित्वात्, वर्तमानग्रहणनियमाच्च, धर्मस्य च साध्यत्वात् । \*ननु\*

## ऋजुविवरणम्

गमस्य महाजनपरिग्रहेऽपि न प्रामाण्यमिति भावः । \*ननु\* यदाचारो वेदानुमापक उक्त आचाराधिकरणे—“के  
शिष्टा ये सदाचाराः” इति, तत्परिग्रहः प्रामाण्ये कारणमित्याशङ्क्याह—\*नच देहात्मभावेति\* ॥ \*ननु\* देहात्म-  
भावादपि तेषामेव बाधान्न महाजनपरिगृहीतत्वमित्याशङ्क्याह—\*नच महाजनेति\* ॥ व्यभिचारित्वाद् ज्ञानस्वरूपे  
प्रामाण्ये वा न हेतुरिति भावः ॥

\*ननु\* तादृशो महाजनपरिग्रहस्य प्रामाण्यहेतुत्वाभावेऽपि, यत्र महाजनपरिग्रहः, तत्र प्रामाण्यमिति  
नियमादनुमापकत्वमित्याशङ्क्य, बाधितविषयत्वं दर्शयति—\*किञ्चेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

चिरेति\* ॥ चिरवृत्तेष्विति विशेषणेन हेतोस्तत्र प्रवृत्तिं दर्शयति । साध्याभावमाह—\*इदानीमिति\* ॥ विमतम्,  
सकर्मकम्, साध्यवत्त्वात् ; संमतवदित्यर्थः । कालात्ययापदिष्टश्च हेतुरित्याह—\*वेदानामिति\* ॥ भण्डादि-  
प्रणीततयाऽर्थान्तरत्वं व्यावर्तयति—\*विशिष्टेति\* ॥ वैशिष्ट्यमुपपादयति—\*यदुज्जेति\* ॥ ईश्वरप्रत्यक्षं व्यावर्त-  
यितुम्—“वाक्ये”ति विशेषणम् । असर्वज्ञवाक्यप्रमाणव्यावृत्त्यर्थम्—“बह्वर्थविषये”त्युक्तम् । तावत्युक्ते ईश्वरज्ञाने  
व्यभिचारः, तदर्थम्—“वाक्ये”ति । विप्रलम्भकवाक्यव्यावृत्त्यर्थम्—“प्रमाणत्वादि”ति । प्रत्यनुमानस्याभासत्वे  
पौरुषेयत्वानुमानं सुस्थमित्याह—\*तस्मादिति\* ॥ पौरुषेयत्वे प्रामाण्यानुपपत्तिबाधकतर्कपराहृतत्वादप्रयोजको हेतु-  
रित्याह—\*अत्र पृच्छाम इति\* ॥ पौरुषेयस्योन्मत्तवाक्यस्य यथाऽप्रामाण्यम्, तद्वदस्यापीत्यर्थः । तत्र विशेषं शङ्कते—  
\*सर्वज्ञेति\* ॥ सर्वज्ञेश्वर आनुमानिकः, उताऽऽगमिकः ? उभयथाऽप्यसंभव इत्याह—\*न तावदित्यादिना\* ॥  
सर्वज्ञप्रणीततामन्तरेणापि प्रामाण्यस्याधिगन्तुं शक्यत्वान्न तदाश्रयत्वमिति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ किं कतिपय-  
महाजनपरिगृहीतत्वम् ? उत सर्वमहाजनपरिगृहीतत्वम् ? इति विकल्पोभयथाऽसंभव इत्याह—\*न सुगतेति\* ॥  
आद्ये बौद्धागमे व्यभिचारः, द्वितीयेऽसिद्धिः, बौद्धपरिगृहीतत्वादित्यर्थः । सदाचारानुष्ठानतरो महाजनाः, तत्परिगृहीतत्वं  
प्रामाण्यप्रयोजकमित्याशङ्क्याह—\*नच देहेति\* ॥ किञ्च महाजनपरिग्रहः किं प्रत्यक्षाद्यन्तर्भूतः ? उत बहिर्भूतः ?  
नाद्य इत्याह—\*नचेति\* ॥ अतिरिक्तप्रमाणानिरूपणाद् न द्वितीयोऽपीत्याह—\*तस्मादिति\* ॥

वेदस्य पौरुषेयत्वे मूलभूतं प्रमाणं वक्तव्यम्, नच तन्निरूपयितुं शक्यमित्याह—\*किञ्चेति\* ॥ किं प्रत्यक्षं  
मूलम् ? उतान्यत् ? इति किंशब्दार्थः । आद्येऽपि किं बाह्यं प्रत्यक्षम् ? उताऽऽन्तरम् ? नाद्य इत्याह—  
\*न तावदिति\* ॥ चक्षू रूपं रूपवन्तं च यथा गृह्णाति, तद्वत् तत्समवेतं तद्विशेषणं समवायं च गृह्णाति ; एवं रसनादिकं  
रसादीन् तत्समवेतान् विशेषणं च गृह्णातीत्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—\*वर्तमानेति\* ॥ ततः किमिति ? अत

## प्रदीपः

वस्तुतस्तु—शास्त्रयोनित्वं सार्वज्ञविरुद्धम् । न हि स्वव्यतिरिक्तोपदेश्यपुरुषगोचरभ्रमं भ्रान्तिसिद्धशरीरादिकं च विनोचारयितुत्वं  
संभवति, इति शास्त्रयोनित्वमसार्वज्ञहेतुरेव स्यादिति ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

आत्मसमवायी धर्मस्तद्ग्रहणेनैव ज्ञानेन तद्गुणतया मनसैव चक्षुरादिना वा गृह्यत इति, किमिति तर्हि न गृह्णीमः ? नच विशिष्टः पुरुषो गृह्णाति ; तदिन्द्रियाणामप्येतादृशत्वात्, योगजधर्मसामर्थ्याद्विशिष्टानि तदिन्द्रियाणीति चेत्, तथाऽपि मार्जारादिदृष्टिवत्स्वविषयेऽतिशयमात्रं गृह्णीयुः, नाविषयं धर्मम् । “दिव्यं चक्षुर्ददाम्यहम्” “प्रादात्तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः” इति स्मरणादस्ति योगिनां दिव्यं चक्षुरिति चेत्, न ; तस्यापि विश्वरूपादिस्वविषयातिशयदर्शित्वात् । न चात्मसमवेततयाऽपि धर्मो वर्तमानो भवति, येन प्रत्यक्षः स्यात् । कल्पान्तरीयोऽनुष्ठितो धर्मोऽस्मिन् कल्पादौ वर्तत इति चेत्, न ; कल्पान्तरीयधर्मोपदेशा-योगात् । ततोऽपि कल्पान्तरानुष्ठितधर्मं प्रत्यक्षेणोपलभ्योपदिशतीति चेत्, अन्धपरम्परा स्यात् । तस्मान्न प्रत्यक्षमूलो वेदः । नापि शब्दमूलः ; अनवस्थानात् । तस्मात्प्रामाण्यहानान्न पौरुषेयो वेद इति ॥

मा भूत् प्रामाण्यमिति सुगताहताः । तैरिदं वक्तव्यम्—प्रत्यक्षानुमानदृष्टव्यतिरिक्तः कर्मफलसंबन्धो विद्यते ? नवेति ? विद्यते चेत् कथमपौरुषेयागममन्तरेण तस्य सिद्धिः ? सर्वज्ञसुगतप्रणीतागमादिति चेत्,

### अनुविवरणम्

किञ्चावर्तमानत्वादप्रत्यक्षत्वम् । नचात्मधर्मतयाऽपि वर्तमानत्वमित्याशङ्क्याह—\*नचात्मसमवेततयेति\* ॥ \*किं कपिलादय इति\* ॥ येन हेतुना कपिलादीनां सर्वज्ञत्वनिराकरणम्, तेनैव ब्रुवादेरपि सर्वज्ञत्वं निराकर्तुं शक्यत इति भावः । \*ननु\* न विवादः ; यत् उदितानुदितद्वयोमवत्प्रमाणत्वेनाप्युपपद्यते, अतः सर्वं सर्वज्ञप्रणीता इत्याशङ्क्याह—

### तत्त्वदीपनम्

आह—\*धर्मस्येति\* ॥ द्रव्यग्राहकं चक्षुरादि यथा रूपादिकं च गृह्णाति, तद्वदात्मग्राहकं मनोऽपि तद्वर्मादिकं किमिति न गृह्णीयात् ? इति शङ्कते—\*नन्वात्मेति\* ॥ चक्षुरादि चेति दृष्टान्तनिर्देशः । चक्षुः-स्पर्शानाभ्यां द्रव्यग्राहकान्यां यथा तद्गुणग्रहणम्, तद्वदित्यर्थः । किं मनोमात्रेण धर्मादिग्रहणम् ? उत विशिष्टेन ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*किमिति\* ॥ \*तर्हीति\* ॥ “तस्मिन्नि”ति पाठे मनसि सतीत्यर्थः । द्वितीयं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ \*एतादृशत्वादिति\* ॥ अस्मदिन्द्रियसदृशत्वादित्यर्थः । यद्यपि मन एवात्र निराचिकीर्षितम् ; तथाऽपि चक्षुरादिना समानयोगक्षेमं दर्शयितुमितरनिरसनमित्यर्थः । सदृशत्वमसिद्धमिति शङ्कते—\*योगजेति\* ॥ वैशिष्ट्यमङ्गीकृत्य धर्मग्राहित्वं निरस्यति—\*तथाऽपीति\* ॥ \*अतिशयमात्रमिति\* ॥ दूरदेशवर्तित्वमित्यर्थः ॥ चक्षुषि दिव्यशब्द-प्रयोगानुपपत्त्याऽविषयग्राहित्वं योगिचक्षुषो निश्चीयत इति शङ्कते—\*दिव्यमिति\* ॥ अस्मच्चक्षुषः कतिपयरूप-ग्राहित्वम्, इतरस्य निखिलरूपावभासकत्वमिति दिव्यशब्दप्रयोगो घटत इत्याह—\*न तस्यापीति\* ॥ रूपवदादि-शब्दार्थः । किञ्च किमिन्द्रियस्य सकलधर्मग्राहित्वम् ? उत वर्तमानग्राहित्वम् ? इति विकल्प्याद्यं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ भविष्यद्धर्मस्य न वर्तमानस्यापि चक्षुर्ग्राह्यत्वमित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*कल्पान्तरीय इति\* ॥ त्वन्मते सर्वानुष्ठानमेव दुर्लभमित्याह—\*न कल्पान्तरीयेति\* ॥ पूर्वस्मिन् कल्पे धर्मोपदेशे सत्यनुष्ठानम्, अनुष्ठितस्य प्रत्यक्षम् । नचोपदेशसंभवः, तदा धर्माभावेन प्रत्यक्षयोगादुपदेशानुपपत्तेरित्यर्थः । \*ननु\* परम्पराया अनादित्वात् प्राक् सञ्चितमुपलभ्योपदिशतीति शङ्कते—\*ततोऽपीति\* ॥ अप्रामाणिकत्वाच्चेयं कल्पना शोभत इत्याह—\*अन्येति\* ॥ पक्षान्तरं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ धर्मादिग्राहकशब्दप्रामाण्यसिद्धौ तेनार्थमुपलभ्य शब्दान्तरं रचयतीति युज्यते, तदेवानुपपन्नम् ; तन्मूलप्रमाणान्तराभावेन शब्दप्रामाण्यासिद्धेः । नच तत्रापि शब्दान्तरत्वम् ; अनवस्थितेः । नचानवस्थितिरास्थातव्या ; तस्यां प्रामाण्यशून्यत्वादित्यर्थः । अप्रयोजकत्वसमर्थनमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

वेदाप्रामाण्यप्रसङ्गं नानिष्टमिति शङ्कते—\*मा भूदिति\* ॥ शब्दाप्रामाण्ये कर्मणामामुष्मिकफलसाधनत्व-प्रतिपत्तिर्न स्यादित्यभिप्रेत्य विकल्पयति—\*तैरिति\* ॥ प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दृष्टो यः कर्मणामैहिकफलसंबन्धः, ततोऽतिरिक्त इत्यर्थः । आद्येऽपि किमस्मत्संसृतादागमात्तत्सिद्धिः ? उत त्वत्संसृतात् ? नाद्यः ; तत्प्रामाण्य एव विवादात्, इतरथाऽसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—\*विद्यते चेति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—\*सर्वज्ञेति\* ॥ पौरुषेयागमानां



### पञ्चपादिकाविवरणम्

किं कपिलादयः सर्वज्ञा न भवन्ति ? सर्वे तीर्थकराः सर्वज्ञा इति चेत्, धर्माधर्मयोर्विवादः कथं स्यात् ? नचैकः सर्वज्ञो नेतर इति प्रमाणमस्ति । नच सर्वे सर्वज्ञप्रणीता धर्मा एवेति युक्तम् ; अन्योन्यधर्म-निराकरणात् । नचापौरुषेया एव सुगताद्यागमा इति युक्तम् ; अनुस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् । अपौरुषेयत्वे च न विवदामः—उदितानुदितहोमवद् व्यवस्थोपपत्तेः ॥

आह लोकायतः—मा भूत् प्रत्यक्षदृष्टातिरिक्तः कर्मफलसंबन्धः, पौरुषेयता तु वेदस्यानुमानसिद्धा न निवार्यत इति । स वक्तव्यः—किं लौकिकवचांसि प्रमाणानि ? न वेति ? न चेत्, न मया ते वादो युक्तः ; शब्दैरेव परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनरूपत्वादस्य । अथ लौकिकवचांसि प्रमाणानि, वेदवचोभिस्तर्हि किमपराद्धम् ? \*ननु\* पौरुषेयत्वं वेदस्यानुमानात् तस्य च मूलप्रमाणाभावादप्रामाण्यमुक्तम्, \*न\* ; स्वाभाविकत्वाच्छब्दानामर्थवबोधसामर्थ्यस्य पुरुषप्रत्ययानुसारित्वाभावात्, अन्यथा सागरं विवक्षन्मरुशब्दं ब्रूयात् । स्वभावसिद्धशब्दसामर्थ्यानुसारेण हि लौकिकाः शब्दं प्रयुज्जते, \*सत्यम्\* ; कदाचित्सर्वाभिधान-

### ऋजुविवरणम्

\*नच सर्व इति\* ॥ \*ननु\* कर्तृस्मरणं पाठकवत्प्रवचनेन परिहार्यमित्याशङ्क्याह—\*अपौरुषेयत्वे चेति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

परस्परविरुद्धार्थत्वादप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्याह—\*किं कपिलादय इति\* ॥ सुगतवत्कपिल-कणभुगादयोऽपि सर्वज्ञाः ? आहो सुगत एव सर्वज्ञः ? इति किंशब्दार्थः । आद्यमनुवदति—\*सर्व इति\* ॥ सर्वेषां सर्वज्ञत्वात् तदागमानामपि प्रामाण्यम्, तथाच तत्प्रतिपादितानां सर्वेषामपि धर्मत्वान्न विप्रतिपत्तिः स्यादित्याह—\*धर्माधर्मयोरिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नचेति\* ॥ मन्वन्नि-पराशरवत्कपिलादीनामपि प्रामाण्यम्, ततश्च तदुक्तः सर्वोऽपि धर्म एव । नच विवादानुपपत्तिः ; उदितानुदितहोमवद्विवादसंभवादित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ “उदिते जुहोती”त्यादेर्विप्रति-पत्तावप्यनपेक्षतया प्रामाण्याच्छाखाभेदेन व्यवस्था घटते, नच तथाऽत्रेति वैपस्यादित्यर्थः । सुगताद्यागमानामप्य-पौरुषेयतया प्रामाण्याद् व्यवस्थितविषयत्वमिति स्व-परपक्षविभागप्रतिपत्त्यकुशलस्य शङ्कां प्रत्याह—\*नचेति\* ॥ अनादित्वेऽपि काठकं तैत्तिरीयकमिति काठादिप्रोक्ततया कर्तृस्मरणवत् स्मरणमुचितमित्याशङ्क्याह—\*अपौरुषेयत्व इति\* ॥ “न विवदामः” इत्यत्र प्रामाण्यं प्रतीति शेषः । विरुद्धार्थानां कथं प्रामाण्यम् ? इति शङ्कां निरस्यति—\*उदितेति\* ॥ अधिकारिभेदेनात्रापि व्यवस्थोपपत्तेरित्यर्थः । एतच्च प्रौढ्यबलम्बेनोक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥

आमुष्मिकफलसाधनधर्माभावाद् न तत्प्रतिपत्त्यर्थं शब्दप्रामाण्यमेष्टव्यमिति शङ्कते—\*आह लोकायत इति\* ॥ \*ननु\* अतिरिक्तः कर्मफलसंबन्धः कथं निरस्यते ? “स्वर्गकामो यजेते”त्यादिना तत्प्रतिपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*पौरुषेयतेति\* ॥ पौरुषेयवेदप्रामाण्यस्य मूलप्रमाणं विनाऽनुपपत्तेः । नचापौरुषेयत्वमनुमानस्य ; कपिलादिमते प्रमाणतया ततः पौरुषेयत्वसिद्धेः । तथाच न प्रत्यक्षाद्युपलब्धादतिरिक्तकर्मफलसंबन्ध इत्यर्थः । लौकिकवचोवद् वैदिकवचसामपि प्रमाणत्वात्कर्मफलसंबन्धसिद्धिरिति प्रतिपादयितुं लौकिकं वचो निरूपयति—\*स वक्तव्य इति\* ॥ शब्दानामर्थानवबोधकत्वे परप्रयुक्तशब्देभ्योऽर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्तेर्न वादाधिकार इत्यन्तं दूषयति—\*न चेदिति\* ॥ आद्यमनुवदति—\*अर्थेति\* ॥ अबाधितानाधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वाद् वेदप्रामाण्यमेष्टव्यमित्याह—\*वेदवचोभिरिति\* ॥ मूलभूतप्रमाणाभावाद् वेदस्याप्रामाण्यमित्युक्तमनुवदति—\*ननु पौरुषेयत्वमिति\* ॥ किं शब्दस्य कार्यत्वमात्रं पौरुषेयत्वम् ? उत शब्दसंबन्धस्य साङ्केतिकत्वम् ? इति विकल्प्याऽऽद्ये सिद्धसाध्य-तेत्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*न स्वाभाविकत्वादिति\* ॥ विपक्षे दण्डमाह—\*अर्थेति\* ॥ अर्थान्तरप्रसिद्ध-स्यापि गङ्गाशब्दस्यार्थान्तरविवक्षया गङ्गाशब्दप्रयोगो दृष्ट इत्यत्राह—\*स्वभावसिद्धेति\* ॥ गङ्गाशब्दस्य प्रवाहज्ञानजननसामर्थ्यमनतिक्रम्य लक्षणया गङ्गाशब्दस्तीरे प्रवर्तते, तेन न वाचकतयेत्यर्थः । शब्दार्थसंबन्धस्य सर्गादावीश्वरेण सङ्केतितत्वात्तदनुगोपेनास्माभिर्व्यवहियत इति शङ्कते—\*सत्यमिति\* ॥ “सत्यमि”त्यत्र शब्दा-



## पञ्चपादिका

\*न स्यात्\* ; ब्रह्मवदनादित्वात् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सङ्केतसामर्थ्यात् । इदानीं व्यवस्थयाऽभिधानमिति चेत्, तन्न ; विवादगोचरापन्नः पूर्वतनशब्दार्थसंबन्धव्यवहारः, तथाविधपूर्वपूर्वव्यवहारपरम्परानिवन्धनः ; अभिधानाभिधेयव्यवहारत्वात् ; इदानीन्तनतद्व्यवहारवत्, इत्यनादिदानुमानात् । साङ्केतिकशब्देष्वनैकान्तिक इति चेत्, न ; अभिधानाभिधेयविषयत्वादनुमानस्य । जातिमात्राभिधायिनो वा सर्वदेशेष्वभिधानतया संप्रतिपन्ना वा यस्मिन्नुत्पद्यमाने क्वचिद् गृहीतसंबन्धा एवोपरज्यन्ते शब्दाः, तानि चाभिधानानि, नैवं साङ्केतिकाः शब्दा इति । मा भूत् तर्ह्यभिधानसङ्केतः, वेदवाक्यरचना तु पुरुषनिबन्धनैवेत्यत आह—\*न स्याद् ब्रह्मवदनादित्वादिति\* ॥ विवादगोचरापन्नं सृष्टिकालीनं वेदाध्ययनम्, पूर्वपूर्वतथाविधवेदाध्ययनानुस्मृतिनिबन्धनं भवितुमर्हति, वेदाध्ययनत्वात्, इदानीन्तनवेदाध्ययनवदिति विशेषतोऽदृष्टानुमानेन वाक्यत्वाद्भारतवदिति सामान्यतोदर्शनाद् वलीयसा वेदस्यानादित्वसिद्धेः कुतः पौरुषेयता ? \*ननु\* सर्वेष्वपि ग्रन्थेष्वभिधानादित्वानुमानमनुविशति, न ; तैरेव ग्रन्थैस्तत्तत्कर्तृणां प्रतिपादनात्तदागमविरोधात्, इहापि श्रुत्यैव वेदस्य कर्ता प्रतिपाद्यत इति चेत् ; न तावत् “स तथा वाचेदं-सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानी”ति श्रुतिः प्रजापतिविषया सती तस्य प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य शब्दरचनां ब्रवीति ; “यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै” इति श्रुतौ प्रागेव वेदसद्भावावगमात् । “अस्य महतो भूतस्ये”ति श्रुतिरीश्वरविषयाऽपि सती प्रकरणसामर्थ्याद्देवोपादानत्वमेव ब्रवीति ॥

## तत्त्वदीपनम्

नामस्मदभिप्रायाननुसारित्वमङ्गीकृतमिति द्रष्टव्यम् । सङ्केतितत्त्वमसिद्धमित्याह—\*तन्नेति\* ॥ इदानीन्तनव्यवहारे सिद्धसाध्यत्वं निराकर्तुं विशिनष्टि—\*विवादेति\* ॥ सर्गकालीन इत्यर्थः । \*व्यवहारपरम्परानिवन्धन इति\* ॥ प्राक्सिद्धसंबन्धानुस्मृतिनिमित्तपूर्वव्यवहारस्मृतिनिबन्धन इत्यर्थः । कल्पान्तरीयस्वव्यापारे व्यभिचारमाशङ्क्य पञ्चतुल्यत्वान्मैवमित्याह—\*इत्यनादितेति\* ॥ साङ्केतिकशब्देषु हेतोरेवाभावान्न व्यभिचार इत्याह—\*नाभिधानेति\* ॥ अभिधाऽभिधेयशब्देन किं चित्रक्षितमित्याह—\*जातिमात्रेति\* ॥ आकाशादिशब्दानामभिधानत्वसिद्धयर्थं लक्षणान्तरमाह—\*सर्वं देशेष्विति\* ॥ लक्षणान्तरमाह—\*यस्मिन्नुत्पद्यमान इति\* ॥ पृथक्पृथक् प्रयोगस्य चित्रक्षितत्वाच्च भागासिद्धिशङ्केत्यर्थः । शब्दार्थसंबन्धस्य स्वाभाविकत्वेऽपि वाक्यस्योपलभ्य विरचितत्वमेष्टव्यम्, कालिदासादिवाक्यवदिति शङ्कते—\*मा भूत्तर्हीति\* ॥ प्रतिज्ञामात्रेणार्थसिद्धिशङ्कायामाह—\*विवादेति\* ॥ उक्तमेव स्पष्टयति—\*सृष्टिकालीनमिति\* ॥ विवादगोचरापन्नमध्ययनं पूर्वाध्ययनानुस्मृतिनिबन्धनमित्येतावत्साध्यत्वेन चित्रक्षितम् ; इतरत् स्पष्टीकरणार्थम् । भारताध्ययने बाधव्यावृत्त्यर्थम्—“विवादे”ति विशेषणम् । कल्पान्तरीय-वेदाध्ययनस्य पुरुषकृतत्वं व्यावर्तयितुम्—\*“पूर्वेति\* ॥ भारताध्ययने व्यभिचारं व्यावर्तयति—\*वेदेति\* ॥ असिद्धिं निराकर्तुम्—“अध्ययनत्वादि”त्युक्तम् । वेदः, पौरुषेयः, वाक्यत्वात् ; भारतवदित्यनुमानाद् वेदस्य कार्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*इति विशेषेति\* ॥ अतिप्रसङ्गलक्षणबाधकपराहतिं शङ्कते—\*ननु सर्वेष्विति\* ॥ भारताध्ययनम्, गुर्वध्ययनपूर्वकम्, अध्ययनत्वात्, संमतवत्, इत्यनुमानाद् भारतादेरप्यपौरुषेयत्वप्रसक्तिरित्यर्थः । कर्तृप्रतिपादकवचनविरुद्धत्वान्नयं प्रसङ्गः साधुरित्याह—\*तैरेवेति । तदागमविरोधादिति\* ॥ कर्तृप्रतिपादकागमविरोधादित्यर्थः । कर्तृप्रतीतिविरोधोऽत्रापि तुल्य इत्याह—\*इहापीति\* ॥ किं हिरण्यगर्भकर्तृकसृष्टिश्रुत्या विरोधः ? उतेश्वरसृष्टिश्रुत्या ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ तथेति\* ॥ “तन्नाम करोदि”त्यनया वाचा इत्यर्थः । हेतुमाह—\*यो ब्रह्माणमिति ॥ प्रागेवेति\* ॥ प्रजापतिमृष्टेः पुरेत्यर्थः ॥ सिद्धस्य प्रदानसंभवात् प्रजापत्युत्पत्तेः प्राक् तत्सिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*अस्येति ॥ प्रकरणसामर्थ्यादिति\* ॥ कार्यमात्रप्रकरणबलादित्यर्थः । उपलभ्य रचितत्वव्यावृत्तिरवधारणार्थः ॥

## प्रदीपः

अलेदमद्वैतिनो मन्यन्ते—वेदवर्तुष्वपि हीदं साङ्केतिकशब्दं प्रयोजयितुं न शक्यं । तन्नाम करोदि”त्यनया वाचा इत्यर्थः । हेतुमाह—\*यो ब्रह्माणमिति ॥ प्रागेवेति\* ॥ प्रजापतिमृष्टेः पुरेत्यर्थः ॥ सिद्धस्य प्रदानसंभवात् प्रजापत्युत्पत्तेः प्राक् तत्सिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*अस्येति ॥ प्रकरणसामर्थ्यादिति\* ॥ कार्यमात्रप्रकरणबलादित्यर्थः । उपलभ्य रचितत्वव्यावृत्तिरवधारणार्थः ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

किं चेदं पौरुषेयत्वं साध्यते ? यदि तावत्पुरुषनिर्वर्त्यतामात्रम्, संप्रतिपन्नमेव ; तत्तत्क्रमविशिष्टानामेव वर्णानां वेदशब्दाभिधेयत्वात् क्रमस्य तूच्चारणोपलब्ध्योरन्यतरस्य प्रतिक्षणनिर्वर्त्यतया तद्विशिष्टवर्णानामपि प्रत्युच्चारणं जन्यत्वात्, पूर्वपूर्वक्रमानुसरणेन तत्सदृशोत्तरोत्तरक्रमनिवर्तनात्, क्रमसादृश्यपरम्परायाश्चानिदं प्रथमतया तद्विशिष्टवर्णनित्यत्वाभिधानात् । अथ वेदः स्वार्थप्रवृत्तप्रमाणान्तरजन्यत्वात्पौरुषेय इति, तत्र प्रत्यनुमानमुच्यते—वेदः, स्वार्थप्रवृत्तप्रमाणान्तरजन्यो भवति, असर्वज्ञवचनत्वाभावे सति धर्माधर्मब्रह्मप्रमाणत्वात् ; परपरिकल्पितेश्वरबुद्धिवदिति । अध्ययनस्येदं प्रथमता वेदस्य पौरुषेयतेति, न ; अध्ययनस्यानादित्वानुमानस्य दर्शितत्वात् । तस्मान्नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वमिति ॥

\*ननु\* आतेन प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य परप्रतिपत्तये तत्र प्रयुज्यमानः शब्दः प्रमाणं भवति, तदभावादानासवाक्यवदप्रमाणं वेदः प्रसज्यते, \*ननु\* अनातेन भ्रान्त्योत्प्रेक्षया वाऽर्थाभासमुपगम्य परप्रवृत्तये तत्र प्रयुज्यमानः शब्दः प्रामाण्यात्परिहीयते, तदभावादासवाक्यवद्वेदः प्रमाणं किं न स्यात् ? \*ननु\* आसवाक्यमनासप्रणीतत्वाभावात्प्रमाणम् ? किं वाऽसप्रणीतत्वात् ? इति विवेक्तव्यम्, नोभयथाऽपीति

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\* ब्रह्मोपादानत्वमपौरुषेयत्वं च विरुद्धमित्याशङ्क्याह—\*किञ्चेदमिति\* ॥ कथमपौरुषेयत्ववादिना वेदस्य निर्वर्त्यत्वमङ्गीक्रियते, इत्याशङ्क्य, सर्वापौरुषेयत्ववादिनामिदं समानमित्याह—\*संप्रतिपन्नमिति\* ॥ \*ननु\* वर्णां वेदशब्दभाजः, ते च नित्या एव, कथं संप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याह—\*तत्तत्क्रमविशिष्टानामिति\* ॥ क्रमविशिष्टानामेव नित्यत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह—\*क्रमस्य त्विति\* ॥ तर्हि क्रमस्य पौरुषेयतेत्याशङ्क्याह—\*पूर्वपूर्वेति\* ॥ वेदस्य नित्यत्वमभिधीयत इति, तदाह—\*क्रमसादृश्येति\* ॥

\*नन्वासेनेति\* ॥ अयं प्रयोगः—वेदो धर्मी, अप्रमाणमिति साध्यो धर्मः, आसेनाप्रणीतत्वात् ; अनासवाक्यवत् । \*नन्वनासेनेति\* तत्र प्रत्यनुमानमुच्यते—वेदः, प्रमाणं भवितुमर्हति, अनासेनाप्रणीतत्वात्, आसवाक्यवदिति । \*नन्वासवाक्यमिति\* ॥ अयं भावः—आसप्रणीतत्वनिश्चयेनैव लोके प्रामाण्यनिश्चयदर्शनाद् वेदे

### तत्त्वदीपनम्

वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वे पौरुषेयत्वं त्वयाऽप्याश्रितं स्यादित्याशङ्क्याह—\*किञ्चेति\* ॥ किं पुरुषनिर्वर्तितत्वमात्रं पौरुषेयत्वम् ? उत विसदृशोत्पद्यमानक्रमत्वम् ? आहो स्वार्थप्रवृत्तप्रमाणान्तरजन्यत्वम् ? इति किंशब्दार्थः । आद्यं दूषयति—\*यदि तावदिति\* ॥ \*क्रमविशिष्टानामपीति\* । तथाऽपि कथमनित्यत्वमिति ? तत्राह—\*क्रमस्य त्विति\* ॥ उच्चारणेति\* ॥ अध्यापकाध्येतृसमवेतयोरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*पूर्वेति\* ॥ विमतो वेदक्रमः, तथाविधानुस्मृतिनिबन्धनः, वेदक्रमत्वात्, संमतवत्, इत्यनुमानात्पूर्वक्रमसदृशक्रमोदय इत्यर्थः । तर्हि कथं वेदनित्यत्वगी ? तत्राह—\*क्रमसादृश्येति\* ॥ तृतीयमुत्थापयति—\*अथेति\* ॥ नच हेतोः साध्याविशिष्टत्वम् ; लक्षणलक्ष्यरूपत्वादित्यर्थः । जन्यो न भवतीत्युक्ते बाधः, तदर्थम्—“प्रमाणान्तरे”ति । अन्यविषयप्रमाणाजन्यत्वस्य सिद्धतया सिद्धसाध्यत्वं व्यावर्तयति—\*स्वार्थेति\* ॥ असर्वज्ञवचनत्वानधिकरणत्वे सति धर्माधर्म-ब्रह्मान्यतमप्रमाणत्वादित्यर्थः । नदीतीरफलसत्तावाक्यव्यावृत्त्यर्थम्—“धर्माधर्मब्रह्मे”ति विशेषणम् । मन्वादिवचनव्यावृत्त्यर्थम्—“असर्वज्ञे”ति । स्मृतिं व्यावर्तयति—“प्रमाणत्वादि”ति । भागासिद्धिनिरासार्थम्—“धर्माधर्म”ति विशेषणम् । भारताध्ययनस्येदं प्रथमत्वे वेदस्य पौरुषेयत्वमिति शङ्कते—\*अथेति\* ॥ अध्ययनानादित्वसाधकानुमानविरोधान्मैवमित्याह—\*नाध्ययनस्येति\* ॥ दर्शितत्वादिति ॥ “विवादगोचरापन्नमि”त्यत्र दर्शितत्वादित्यर्थः ॥

वेदवचनमासप्रणीतम् ; इतरथाऽप्रमाणत्वप्रसङ्गादुन्मत्तवाक्यवदित्याशयेन शङ्कते—\*नन्वासेनेति\* ॥ अनासवाक्याप्रामाण्ये भ्रान्त्यादिमूलत्वं प्रयोजकम्, तदभावाद् वेदस्य प्रामाण्यमित्याह—\*नन्वनासेनेति\* ॥ संदिग्धाप्रयोजको हेतुरिति—\*नन्वासवाक्यमिति\* ॥ प्रमाणत्वेन संमते वचसि भ्रान्त्याद्यमूलत्वमासवाक्यत्वं च विद्यते, तत् कस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वम् ? इति न शक्यत इत्यर्थः । अन्यदेव प्रयोजकमित्याह—\*नोभयथापीति\* ॥ आस-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

ब्रूमः । कथम् ? शब्दानां तावत्संस्पृष्टार्थवबोधनसामर्थ्यं स्वारसिकमेव मध्यमवृद्धप्रयोग-प्रत्ययाभ्यामाप्ता-  
नासप्रत्ययव्यतिरेकेणावगतम् । तत्रानासस्य भ्रान्त्युत्प्रेक्षाज्ञाने तन्मूलविरचितशब्दकारणदोषतया शब्देऽपि  
दोषं प्रसज्यतः । ततश्च दुष्टकारणजन्यविज्ञानमयथार्थमप्रमाणम्, इति स्वतःसिद्धशब्दसामर्थ्यप्रयुक्त-  
प्रामाण्यस्य प्रतिबन्धकतयाऽनासज्ञानमवतिष्ठते । आसप्रमाणं च प्रतिबन्धभ्रान्त्युत्प्रेक्षादिदोषनिरासितया  
संपद्यते । ततश्चासत्वज्ञानं न शब्दप्रामाण्यहेतुः, वेदे तु पुरुषसंबन्धाभावात् प्रतिबन्ध-तन्निरासापेक्षा, इति  
नासप्रणीतत्वमलोपयुज्यते । \*ननु\* आसप्रयोगानपेक्षत्वेऽपि पर्वत-तत्सम्बन्ध-शब्देषु स्मर्यमाणेषु तेभ्य  
एवाग्निमान्पर्वत इति प्रमितिरुत्पद्येत, \*सत्यम्\* ; पर्वतस्याग्निमत्तामात्रं प्रमीयत एव, पुरोवर्तिनि तु प्रमाणान्तर-  
विरोधान्न प्रमीयत इति । अथवा—द्विविधः प्रयोगः प्रामाण्यहेतुः,—अर्थोपलब्धिनिबन्धनः पौरुषेये,  
पूर्वप्रयोगानुस्मृतिनिमित्तो वेदे, तदुभयाभावात्सुतादिवाक्येष्विववाप्रामाण्यमिति, अथवा—तात्पर्याभावात् केव-

### ऋजुविवरणम्

तदभावादप्रमाणत्वमिति । \*ननु\* आसप्रणीतत्वस्यानासेनाप्रणीतत्वस्य च प्रामाण्येनान्वय-व्यतिरेके सति कथं  
तदहेतुत्वम् ? इत्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ \*शब्दानां तावदिति\* ॥ अयं भावः—अनासेनाप्रणीतत्वस्यान्वय-  
व्यतिरेकेण प्रतिबन्धकाभावविषयतयाऽन्यथासिद्धावासप्रणीतत्वस्य चान्वय-व्यतिरेकौ प्रामाण्यप्रतिबन्धनिरासि-  
तयाऽन्यथासिद्धाविति । तदुक्तम्—“अप्रामाण्यनिवृत्त्यर्थं दोषाभावोपवर्णनम् ।” इति । वेदेऽपि तद्भासप्रणीतत्वं प्रति-  
बन्धनिरासायोपयुज्यतामिति, नेत्याह—\*वेदे त्विति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

प्रणीतत्वेनानासप्रणीतत्वेन च प्रामाण्यमित्यर्थः । उभयोरपि प्रामाण्यान्वय-व्यतिरेकवत्त्वात् कथं प्रयोजकत्वनिषेधः ?  
इति शङ्कते—\*कथमिति\* ॥ उक्तान्वय-व्यतिरेकयोरन्यथासिद्धत्वात् ताभ्यां प्रयोजकत्वनिश्चय इत्याह—\*शब्दाना-  
मिति\* ॥ शब्दानां संस्पृष्टार्थवबोधनसामर्थ्यं स्वारसिकमवगतमिति संबन्धः । अवगमोपायमाह—\*मध्यमवृद्धेति\* ॥  
मध्यमवृद्धसंबन्धित्वेन यौ प्रयोग-प्रत्ययौ, ताभ्यामित्यर्थः । मध्यमनरप्रवृत्तिलिङ्गेन तस्यार्थप्रत्ययमनुमाय तस्य  
हेत्वाकाङ्क्षायां शब्दप्रयोगान्वय-व्यतिरेकाभ्यां शब्दस्य तत्र हेतुत्वं निश्चीयते, न त्वासप्रत्ययस्य भ्रान्त्याद्यमूलत्वस्य  
वा निश्चायकत्वमधिगतमित्यर्थः । \*आसनासप्रत्ययव्यतिरेकेणिति\* ॥ असासनासयोः प्रत्ययः प्रयोगहेतुः, तं विनेति  
विग्रहः । आसप्रत्ययस्य मूलत्वेन शब्दप्रमितिहेतुत्वम् ; इतरथा नेत्येतन्नावगतं व्युत्पत्त्यवस्थायामित्यर्थः । का तर्ह्यन्वय-  
व्यतिरेकयोर्गतिः ? इत्याशङ्क्यानासप्रत्ययमूलत्वस्य प्रामाण्यप्रतिबन्धकत्वात् तदभावविषयत्वेनान्वय-व्यतिरेकयोरन्यथा-  
सिद्धिमाह—\*तत्रेति\* ॥ अनासस्य भ्रान्त्युत्प्रेक्षाज्ञाने शब्देऽपि दोषं प्रसज्यत इति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*तन्मू-  
लेति\* ॥ शब्दस्य कारणं यः प्रयोक्ता, तद्रूपदोषत्वादित्यर्थः । अथवा दोषप्रसज्जनहेतुमाह—\*कारणदोषतयेति\* ॥  
कारणत्वमाह—\*तन्मूलेति\* ॥ ते एव मूलं तन्मूलम्, तेन विरचितः शब्दो यस्यानासस्य, स तथोक्तः । फलितमाह—  
\*ततश्चेति\* ॥ अप्रामाण्यस्य पुरुषदोषाधीनत्वे प्रामाण्यं गुणाधीनं स्यादित्याशङ्क्य, प्रतिबन्धनिरासितया  
गुणस्यान्यथासिद्धिमाह—\*आसत्वज्ञानमिति\* ॥ अन्यथासिद्धिप्रतिपादनफलमाह—\*ततश्चेति\* ॥ प्रतिबन्धनिरासितया  
वक्तृज्ञानं प्रमितावुपयुज्यते चेत्, तर्हि वेदेऽपि तदेष्टव्यं प्रतिबन्धनिरासायेत्याशङ्क्याह—\*वेदे त्विति\* ॥ प्रका-  
रान्तरेणासप्रणीतत्वस्य प्रमितिहेतुत्वं शङ्कते—\*नन्वासेति\* ॥ प्रमितिजननायेति शेषः । संबन्धशब्देना‘मिमानि’त्यत्र  
मतुबुध्यते । अनुपलब्धशब्दानां प्रमितिहेतुत्वाभावादुपलब्धत्वं वाच्यमित्याह—\*स्मर्यमाणेष्विति\* ॥ किमग्नि-  
सत्तामात्रप्रतीतिरापाद्यते ? उत पुरोवर्तिनी ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ अङ्गीकृतमेवांश-  
माह—\*पर्वतस्येति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*पुरोवर्तिनीति\* ॥ प्रतिबन्धानिवर्तकत्वेन प्रयोगस्यान्यथासिद्धिमभिधाय  
तात्पर्यलक्षणप्रामाण्यजनकतया चान्यथासिद्धिमाह—\*अथवेति\* ॥ द्वैविध्यमाह—\*अथवेति\* ॥ हेतुमाह—\*तदुभ-  
येति\* ॥ अथवा—वेदस्य नित्यत्वे सुषुप्तिप्रलयादिषु कथं प्रामाण्यम् ? इति शङ्कयामाह—\*तदुभयेति\* ॥ उपलब्ध-



### पञ्चपादिका

कूटस्थनित्यत्वाच्च ॥ कथं पुनस्ततो जन्म ? तत्परतन्त्रत्वात्, रज्जुसर्पवत् । तथाच श्रुतिः—  
“निःश्वसितमेतदि”ति । यथाऽपेक्षारहितैव लोके\* निःश्वासप्रवृत्तिः, तथाऽस्यापीति न सापेक्षतादोषः ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

लेभ्यः शब्देभ्यो नार्थप्रमितिः, वेदे पुनरध्ययनविधितात्पर्यादासप्रयोगाभावेऽपि प्रमितिरूप्यते ; अध्ययन-  
विधिवान्वयस्यापि स्वेनैव तात्पर्यसिद्धेः । अतोऽनादिर्वेद इति । अनादित्वेऽपि पुराणवाक्यवदन्यथा-  
सन्निवेशप्रणयनमाशङ्क्याह—\*कूटस्थनित्यत्वादिति\* ॥

अनादिवेदस्य कथं ब्रह्मकारणता ? इति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ अत्र शास्त्रशब्दोपलक्षितसर्व-  
शब्दानां वर्णानामेकपदार्थबुद्ध्यवच्छेदकवर्णनियामकक्रमविशिष्टपदानां वाक्यार्थबुद्ध्यवच्छेदकवाक्यनियामक-  
क्रमविशिष्टवाक्यानां महावाक्यार्थबुद्ध्यवच्छेदकवाक्यनियामकक्रमविशिष्टप्रकरणानां परिपूर्णपुरुषार्थसाधन-  
बुद्ध्यवच्छेदकानेकप्रकरणनियामकक्रमविशिष्टशास्त्राणां च प्रवाहरूपेण ब्रह्मोपादानतया कार्यत्वमस्तीत्याह—  
\*तत्परतन्त्रत्वादित्यादिना\* ॥

### ऋजुविवरणम्

\*मनु\* अध्ययनविधिविषयेऽन्यतात्पर्याभावादप्रामाण्यमिति, नेत्याह—\*अध्ययनविधीति\* ॥ अत्र स्फोटः  
शब्द इति विवक्षित इति प्रतिभाति, तस्यैकत्वात्, तथा सति तस्य ब्रह्मकार्यत्वाभावात् ब्रह्मणस्सर्वार्थप्रकाशन-  
सामर्थ्यमिति । नच तद्व्यतिरिक्तमेकं शास्त्रं निरूपयितुं शक्यम् । नच बोधकत्वं तदुपादानत्वेन सर्वज्ञत्वं  
धा । नच वर्णसमुदायातिरिक्तं शास्त्रशब्दाभिधेयमस्ति, यदुपादानत्वेन सर्वज्ञत्वं भवेत् । कथं च परतन्त्रत्वमनै-  
कान्तिकं हेतुः ? इत्याशङ्क्यावतारयति—\*अत्र शास्त्रशब्दोपलक्षितेति\* ॥ तत्रार्थप्रत्यायनसमर्थपदाद्युपादानत्वेन  
विना ब्रह्मणस्सर्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यं न सिध्यति, इत्युपादानत्वं पदादिस्फोटविलक्षणपक्षादिनिरूपणेनाह—\*एकपदार्थ-  
त्यादिना\* ॥ \*प्रवाहरूपेणेति\* ॥ स्वरूपतोऽनादित्वाभावादित्यर्थः ।

### तत्त्वदीपनम्

तुल्यमिति निमित्तयोः प्रयोगयोरभावादित्यर्थः । प्रामाण्यस्य जन्यत्वमाश्रित्यैतदुक्तमिति द्रष्टव्यम् । प्रलय-मूच्छादिरा-  
दिशब्दार्थः । तात्पर्यस्य जन्यत्वमाश्रित्य मतान्तरमाह—\*अथवेति\* ॥ आसज्ज्ञानेनाव्यवधानेन ज्ञायमानतात्पर्यो-  
पेतशब्दस्यार्थप्रमितिहेतुत्वं दृष्टम्, ततश्च तादृशतात्पर्याभावादानुसङ्गादप्येभ्यो नार्थप्रमितिर्नित्यः । कथं तर्हि वेदे  
प्रमितिः ? तत्राह—\*वेद इति\* ॥ \*अध्ययनविधितात्पर्यादिति\* ॥ अध्ययनविधिज्ञापितस्वाभाविकतात्पर्या-  
दित्यर्थः । वैदिकविधिशब्दानां तात्पर्यमध्ययनविधिनिबन्धनं चेत्, तर्हि विधितात्पर्यं किंनिबन्धनम् ? इति विवेक्तव्यम्  
—किं स्थानिबन्धनम् ? उत्तान्यनिबन्धनमिति ? आद्य आत्माश्रयता, द्वितीयेऽनवस्था, इत्याशङ्क्याह—\*अध्ययन-  
विधीति\* ॥ नचात्माश्रितत्वम् ; शब्द इत्ययं शब्दो यथा स्वातिरिक्तान् शब्दानभिदधदात्मानमप्यभिदधाति,  
तद्वदित्यर्थः । वर्णनित्यत्वमङ्गीकृत्य क्रमविशिष्टवर्णनमकवेदस्य कल्पान्तरेऽन्यथाप्रणयनमाशङ्कते—\*अनादि-  
त्वेऽपीति\* ॥ यथा पूर्वस्मिन् कल्पे वर्णानां सन्निवेशविशेषः, तथाऽत्राप्येतत् कूटस्थनित्यशब्देन विवक्षितम् ॥

वेदस्य नित्यत्वं कार्यप्रतिपादकश्रुतिविरुद्धमिति शङ्कते—\*अनादीति\* ॥ “तत्परतन्त्रत्वादि”त्यत्र ब्रह्माधीन-  
त्वमुक्तम्, तदनुपपन्नम् ; पारतन्त्र्यमात्रस्य सामान्यादौ व्यभिचारित्वेन कार्यताऽसाधकत्वात् । नच कार्यत्वं तत्तन्त्रत्व-  
मित्यपि शङ्कनीयम् ; मीमांसकमते हेत्वसिद्धेः । तथा शास्त्रशब्देन वर्णानामभिधानात्पदवाक्यादिविभाग आकस्मिकः  
स्यादित्याशङ्क्याह—\*अत्र शास्त्रेति\* ॥ अत्र सूत्र इति यावत् । एकैकस्य मिलितस्य वा वर्णल्यार्थबोधकत्वयोगाद-  
तिरिक्तस्य स्फोटस्य बोधकत्वं वक्तव्यम्, नच तस्य कार्यत्वमित्याशङ्क्य, पदार्थबोधकत्वोपाधौ वर्णानां पदत्वमित्याह—  
\*एकपदार्थेति\* ॥ पदार्थबुद्धेर्जनका ये वर्णाः, तेषां नियामको यः क्रमः, तेन विशिष्टानां पदानामित्यर्थः ।  
उत्तरत्राप्येवमेव योज्यम् । “प्रवाहरूपेणे”त्यत्र वर्तमानानामित्यध्याहार्यम् ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* “रज्जुसर्पवदि”ति वेदस्य मिथ्यात्वं कथं निदर्शयते ? \*ननु\* कोऽयं वेदो नाम ? न तावद् वर्णमात्रम् । क्रमविशेषवन्तो वर्णा इति चेत्, नास्ति देश-कालनिबन्धनो वर्णक्रमः ; नित्यतया सर्वगतत्वात्, नापि वस्तुनिबन्धनक्रमः ; विरोधात्, न ह्येकदैव राजा जरेति जकारस्य रेफात्पूर्वापरीभावो युक्तः । उच्चारणसमवेत एव क्रमो वर्णेषूपरज्यत इति चेत्, न ; अप्रत्यक्षत्वादुच्चारण-तत्क्रमयोः, प्रत्यक्षस्तु क्रमविशिष्टवर्णात्मा वेदः । अथोपलब्धिक्रमवन्तो वर्णा वेदशब्दभाज इति, न ; अन्यक्रमस्यान्य-धर्मत्वानुपपत्तेः । अथोपलब्धिधर्म एव क्रमो वर्णेषु समारोप्यत इति चेत्, तर्ह्यख्यातिवादिनः क्रममात्रस्य वर्णमात्रस्य वेदशब्दानर्हत्वाद् विशिष्टप्रत्ययाभावादविवेकमात्रमेव वेद इत्यर्थावबोधो न स्यात्, अन्यथाख्यातौ पुनर्विशिष्टप्रत्ययमात्रत्वाद् विशिष्टार्थाभावाद्दिशानातिरिक्तो वेदो न स्यात् । नच—उपलब्धिक्रमोपलक्षिता वर्णा वेदः, न विशिष्टा इति—युक्तम् ; क्रमविशिष्टवर्णप्रत्ययस्य प्रत्यक्षत्वात् । अनिर्वचनीये तु पुनर्विशिष्टार्थ-तत्प्रत्यययोर्भावाद् विज्ञानव्यतिरेकेणार्थस्यानिर्वचनीयत्वेऽप्यर्थक्रियासमर्थतया तुच्छव्यावृत्त्यभ्युपगमादस्त्येवार्थाव-बोधसमर्थो वेद इति निरवद्यम् ॥

## ऋजुविवरणम्

\*क्रमविशिष्टेति\* ॥ क्रमानुरक्तप्रत्ययादित्यर्थः । तदुक्तम्—“स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम्”—इति ॥ \*ननु\* अनिर्वचनीयपक्षेऽप्यर्थबोधसमर्थवेदाभाव इति, तत्राह—\*अनिर्वचनीये त्विति\* ॥ \*ननु\* अनिर्वचनीयत्वादेव कथमर्थावबोधनसमर्थत्वमिति ? तत्राह—\*अनिर्वचनीयत्वेऽपीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

सर्पादिर्यथाऽज्ञातरज्ज्वादिविवर्तत्वम्, तद्वद् वेदोऽप्यज्ञातब्रह्मविवर्त इत्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*ननु रज्जुसर्पवदिति\* ॥ वेदस्य मिथ्यात्वे रज्जुसर्पज्ञानवदप्रामाण्यप्रसक्तिरित्यभिप्रायः । मिथ्याभूतस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सर्वसंमतमिति वक्तुं विवृणोति—\*ननु कोऽयमिति\* ॥ किं वर्णमात्रं वेदः ? उत क्रमवन्तो वर्णाः ? इति किंशब्दार्थः । अद्य दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ अक्रम-व्युत्क्रमोच्चारितवर्णेषु पदबुद्धयभावादित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*क्रमविशेषेति\* ॥ कोऽयं वर्णक्रम इति विवेचनीयम्—किं देशनिमित्तः क्रमः ? उत कालनिमित्तः ? आहो वस्तुनिमित्तः ? किं वोच्चारणनिमित्तः ? अथवोपलब्धिनिमित्तः ? इति विकल्प्य प्रथम-द्वितीयौ दूषयति—\*नास्तीति\* ॥ कालनिबन्धनत्वाभावे हेतुमाह—\*नित्यतयेति\* ॥ इतरत्र हेतुमाह—\*सर्वगतत्वादिति\* ॥ तृतीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ विरोधमेव व्यनक्ति—\*न हीति\* ॥ उभयोरेकस्मिन् काले राजा जरेति प्रयोगसमय एकस्य रेफस्य रेफात् पूर्वत्वमुत्तरत्वं चैकदा विरुद्ध-मित्यर्थः । चतुर्थमुत्थापयति—\*उच्चारणेति\* ॥ अस्मिन् पक्षे वेदाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इत्याह—\*नाप्रत्यक्षत्वादिति\* ॥ पाठकगतोच्चारण-तत्क्रमयोरश्रोत्रग्राह्यत्वेन तद्विशिष्टवेदस्यापि श्रोत्रग्राह्यत्वं न स्यादित्यर्थः । पञ्चममुत्थापयति—\*अथेति\* ॥ उपलब्धिक्रमवन्त इति ॥ श्रोत्रगतोपलब्धिक्रमवन्त इत्यर्थः । किमुपलब्धिगतक्रमस्य वस्तुतो वर्णधर्मत्वम् ? उत समारोपात् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*नान्यक्रमस्येति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*अथेति\* ॥ किमख्या-तिवादिनश्चोद्यम् ? उतान्यथाख्यातिवादिनः ? न तावदाद्य इत्याह—\*तर्हीति\* ॥ वर्ण-क्रमयोस्तादात्म्यस्यानङ्गी-करणात् क्रममात्रं वर्णमात्रपाठ इदमित्यापद्येत, नचेत्थं घटत इत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*अन्यथेति\* ॥ नच ज्ञान-मात्रं वेदः, वर्णविज्ञाने क्रमविज्ञाने च वेदबुद्धयभावादित्यर्थः । क्रमविशिष्टा वर्णा वेद इति पक्षं निराकृत्य, क्रमोपलक्षिता वर्णा वेद इति पक्षं निरस्यति—\*नचोपलब्धीति\* ॥ कदाचित्संबन्धिन उपलक्षकत्वाद् वेदस्य च सर्वदा क्रमवत्त्वेनोप-लम्भाच्च क्रमस्योपलक्षणत्वमित्यर्थः । त्वन्मतेऽप्युक्तयुक्त्या क्रमनिरूपणाद् न वेदसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*अनिर्वचनीये त्विति\* ॥ भावादित्यस्यास्त्येवेत्यनेन संबन्धः । तन्मतेऽपि विशिष्टस्यानिर्वचनीयत्वाद् नार्थप्रसिद्धिहेतुत्वम्, तत्राह—\*विज्ञानव्यतिरेकेणेति\* ॥ देहात्मभावस्यामिथ्यात्वेऽपि यथार्थक्रियाकारित्वम्, तद्वदित्यर्थः ॥



## पञ्चपादिका

\*ननु\* एवं सति कथं सर्वज्ञता ? तस्यैव ज्ञानशक्तिविवर्तात्मकत्वाद् नामप्रपञ्चस्य ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* पाणिन्यादिदृष्टान्तेन यदि सर्वशब्दोपादानतैव ब्रह्मणो वेदस्य पौरुषेयत्वपरिहाराय गीयते, तदा कथं तावता सर्वज्ञत्वम् ? इति चोदयति—\*नन्वेवं सति कथं सर्वज्ञतेति\* ॥ परिहरति—\*तस्यैव ज्ञानशक्तिविवर्तात्मकत्वान्नामप्रपञ्चस्येति\* ॥ अस्ति तावद् वर्णानां क्रम-संख्यादिभेदभाजां मुख्यलक्षणादिद्वारेण सर्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यम् ; अव्यपदेश्यस्य वस्तुनोऽभावात् । तत्र कार्यगतमर्थप्रकाशनसामर्थ्यमुपादानकारणधर्म एव भवति ; प्रदीपगतप्रकाशनसामर्थ्यस्य वह्निधर्मत्वदर्शनात्, कार्योपादानयोः शक्तिद्वयकल्पनाऽयोगात् । एवं सर्वार्थप्रकाशनसमर्थत्वात् सर्वज्ञं ब्रह्म । \*ननु\* समर्थस्यापि नित्यवज्ज्ञानसंयोगो न भवति, \*नैष दोषः\* ; यथा प्रकाशद्रव्यस्य प्रदीपस्य स्वसन्निहिताशेषवस्तुप्रकाशिता, एवं प्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणः सर्वोपादानतया सर्वसंसर्गिणः स्वसन्निहिताशेषवस्तुप्रकाशिता नित्यवद् भवतीति युक्तं सामर्थ्यानुसारेण सर्वज्ञत्वम् । कथं करणसामर्थ्यानि कर्तृसामर्थ्यानि भवन्तीति चेत्, न ; ब्रह्मणो विषयावगमं प्रति शब्दस्य करणताऽभावात् । \*ननु\* स्वयंप्रकाशतया सर्वसंसर्गित्वादेव सर्वज्ञता सिध्यति, न ; वाय्वाकाशरसगन्धादि-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* वेदस्य ज्ञानशक्तिविवर्तत्वेऽपि कथं ब्रह्मणस्सर्वज्ञत्वम् ? उपलभ्य रचनाया एवाभावादित्याशङ्क्याह—\*अस्ति तावदिति\* ॥ \*ननु\* कार्यशक्त्या कारणे शक्तिः कल्प्यते, नतु सैव कारणस्य वैलक्षण्यमित्याशङ्क्याह—\*कार्योपादानयोरिति\* ॥ शब्दस्य करणत्वान्न तच्छक्तिः ; करणस्य तस्य कर्तृत्वात्, अथवा करणशक्तिरेव कारणस्यापि

## तत्त्वदीपनम्

वेदसत्ताया ब्रह्मपरतन्त्रत्वाद् ब्रह्म वेदोपादानं चेत्, तर्हि न सर्वज्ञः स्यादिति शङ्कते—\*ननु पाणिन्यादीति\* ॥ वेदस्य पौरुषेयत्वपरिहाराय ब्रह्मणः सर्वशब्दोपादानता यदि गीयते, तदा पाणिन्यादिदृष्टान्तेन यत्सर्वज्ञत्वमुक्तम्, तत्तावता कथं स्यादिति योजना । \*तावता\* ॥ उपादानत्वमात्रेणेत्यर्थः । अर्थमुपलभ्य शब्दविरचितरि पाणिन्यादौ शब्दविषयादधिकविषयज्ञानमुपलब्धम्, ब्रह्मणश्चानिदृष्टत्वाद् न सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्यर्थः । एकग्रन्थशङ्कां निरस्यति—\*परिहरतीति\* ॥ वेदस्य ज्ञानशक्तिविवर्तत्वेऽप्युपलभ्य विरचितत्वाभावात्कथं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*अस्ति तावदिति\* ॥ “मुख्यलक्षणादिद्वारेण”त्यस्यायमर्थः—केषांचिन्मुख्यया वृत्त्या, केषांचिल्लक्षणया, केषांचिद्रौण्याऽर्थप्रकाशनसामर्थ्यमिति । फलिमाह—\*तत्रेति\* ॥ \*ननु\* कार्यशक्त्याकारेण शक्तिमात्रकल्पनमुचितम्, न तु तयोरैक्यमित्याशङ्क्याह—\*कार्येति\* ॥ ज्ञानजनने समर्थमपि चक्षुर्यथा न सर्वदा ज्ञानं जनयति, तद्वद् ब्रह्मापीति शङ्कते—\*ननु सर्वसमर्थस्यापीति\* ॥ \*न नित्यवदिति\* ॥ सर्वदैवेत्यर्थः । \*ज्ञानसंयोग इति\* ॥ ज्ञानसंबन्ध इत्यर्थः । अप्रतिबन्धप्रकाशपुष्कलकारणस्य सदाऽभावात् सर्वज्ञत्वं घटत इत्याह—\*नैष इति\* ॥ कार्योपादानयोरेकं सामर्थ्यमित्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*कथं करणेति\* ॥ शब्दस्य ज्ञानं प्रति करणत्वादात्मनश्च कर्तृत्वात् कथं करण-कर्तृसामर्थ्यैक्यमित्यर्थः । किं शब्दस्य ब्रह्म प्रति करणत्वम् ? उत जीवं प्रति ? नाद्य इत्याह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ नित्यबोधरूपत्वेन ब्रह्मणः करणनिरपेक्षत्वादित्यर्थः । नापि द्वितीयः ; शब्द-ब्रह्मणोरभेदाद् ब्रह्मगता प्रकाशनशक्तिः शब्देऽप्यन्वेति । तथा जीवस्याऽऽगन्तुकज्ञानत्वात् प्रकाशनशक्तिमान् शब्दस्तं प्रति करणतां भजत इति नावद्यमस्तीति द्रष्टव्यम् । प्रकाशरूपात्मसंबन्धेनैव सकलस्य प्रकाशसंभवे किं शास्त्रोपादानत्वेन सर्वज्ञत्वकल्पनया ? इति शङ्कते—\*ननु स्वयंप्रकाशतयेति\* ॥ संसर्गित्वमात्रमप्रयोजकमित्याह—\*न वाय्वाकाशेति\* ॥ कथं तर्हि प्राप्तविषयसिद्धिः ? इति शङ्कासुपसंहारव्याजेन



## भामती

यिता, तादृशीमेवानुकरोति माणवकः, नतु तामेवोच्चारयति ; आचार्यव्यक्तिभ्यो माणवकव्यक्तीनामन्यत्वात् । तस्मान्नित्यवर्णवादिनां लौकिक-वैदिकपदवाक्यादिपौरुषेयत्वेऽविवादः, केवलं वेदवाक्ये पुरुषस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये विप्रतिपत्तिः । यथाहुः—“यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता” । तत्र सृष्टि-प्रलयमनिच्छन्तो जैमिनीया वेदाध्ययनं प्रत्यस्मादृशगुरु-शिष्यपरम्परामविच्छिन्नामनादिमाचक्षते । वैयासिकं तु मतमनुवर्तमानाः श्रुति-स्मृतीतिहासादिसिद्धसृष्टिप्रलयानुसारेणानाद्यविद्योपधानलब्धसर्वशक्ति-ज्ञानस्यापि परमात्मनो नित्यस्य वेदानां योनेरपि न तेषु स्वातन्त्र्यम् ; पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण तादृश-

## ऋजुप्रकाशिका

वा ? आद्यपक्षो भवद्विरप्यङ्गीकृतः, चरमस्तु नास्माभिरपि स्वीकृत इत्याह—\*तस्मान्नृत्तेति\* ॥ दृष्टान्त-मुपपादयति—\*यथाहीति\* ॥ \*नत्विति\* ॥ नर्तकी नर्तकानुकृतसदृशमनुकरोति पदम्, नतु नर्तकानु-कृतमेवानुकरोति, नर्तकचेष्टातो नर्तकीचेष्टाया अन्यत्वादिति भावः । दार्ष्टान्तिकमुपपादयति—\*एवमिति\* ॥ \*अध्यापयिता=आचार्यः । \*नतु तामेवेति\* ॥ अध्यापकोच्चारितानुपूर्वीमेव माणवको नोच्चारयतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*आचार्यव्यक्तिभ्य इति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ कुत्र तर्हि तेषां विवादः ? तत्राह—\*केवलं वेदवाक्य इति\* ॥ \*विप्रतिपत्तिः=विवाद इत्यर्थः । अत एव वेदवाक्ये पुरुषस्य स्वातन्त्र्यमेव निराक्रियते, न पौरुषेयत्वम् ; परमपुरुषजन्यत्वलक्षणपौरुषेयताया अङ्गीकारादिति भावः । तत्र संमतिमाह—\*यथाहुरिति\* ॥ वेदापौरुषेयत्ववादिनो जैमिनीयास्तु परं वेदे सृष्टिं प्रलयं च नेच्छन्ति । \*ननु\* वेदस्य तन्मतेऽनादित्वे कथं वेदाध्ययनं प्रत्यस्मादृशगुरुशिष्यपरम्परेति ? अत आह—\*अत्रेत्या-दिना\* ॥ \*अनादिमिति\* ॥ प्रवाहानादिमित्यर्थः । मानान्तरोपलब्धार्थविषयकवचनरचनात् सापेक्षत्व-मिति यस्तृतीयः कल्पः, सोऽनभ्युपगमनिरस्त इत्याह—\*वैयासिकं त्विति\* ॥ \*न तेषु स्वातन्त्र्यमिति\* ॥ वेदेषु स्वातन्त्र्यं नेत्याचक्षत इत्यर्थः । तथाच न सापेक्षत्वम् ; मानान्तरोपलब्धार्थविषयकवचनान्मम भातोऽयमर्थ एतस्य स्फुरत्वित्येवं बुद्धिपूर्वकं परमपुरुषेण वेदस्याविरचनात्, किंतु निःश्वासवद् वेदस्य निर्गत-त्वादिति भावः । \*ननु\* परमात्मनो वेदेषु स्वातन्त्र्याभावे तत्तत्सर्गेषु वेदस्थानुपूर्वीमेदः स्यादिति, अत आह—\*पूर्वपूर्वेति\* ॥ \*ननु\* वेदानामविद्योपहितब्रह्मविवर्तताया उक्तत्वेन यादृच्छिकत्वापत्तौ पूर्वपूर्वसर्गानु-पूर्व्यनुसारेणैवोत्तरोत्तरसर्गानुपूर्वीविरचनं कुतः ? व्युत्क्रमस्यापि संभवात्, इत्याशङ्क्य, यथा यागस्या-विद्योपहितब्रह्मविवर्तत्वेऽपि सर्वेषु सर्गेषु स्वर्गाद्यर्थहेतुत्वमेव, न कस्मिंश्चित् सर्गेऽनर्थहेतुत्वम् ; यथा वा ब्रह्महत्याया अविद्योपहितब्रह्मविवर्तत्वेऽपि सर्वेषु सर्गेष्वनर्थहेतुत्वमेव, न कस्मिंश्चित्सर्गेऽर्थहेतुत्वम् ; तद्वद्

## प्रदीपः

इदमेव हि भाट्टानामपि संमतम् । इदं च न महोपाध्यायादिसाधारणम् । जातिसराणामपि हि प्रथमजातौ वक्त्रन्तराधीनानु-पूर्वीकवेदोच्चारयितृत्वमेव, न तदनपेक्षमुच्चारयितृत्वमिति न दोषः ॥

\*एतेन\*—अध्यापकेऽपि पूर्वसदृशानुपूर्वीरचयितृत्वसंभवात्, स्वेच्छया वेदरचयितृत्वस्य ब्रह्मण्यप्यभावात्, अध्यापक-त्वादधिकस्य शास्त्रयोनित्वस्य तावताऽप्यसिद्धत्वेन सार्वज्ञसाधनासंभवाद् महोपाध्यायेऽपि तत्तदर्थानुसन्धानपूर्वकसजातीयो-च्चारणापेक्षोच्चारयितृत्वसत्त्वादित्यादि—परास्तम् ; अध्यापक-महोपाध्यायादीनां पूर्वोक्तरीत्या वक्त्रन्तराधीनानुपूर्वीरचयितृत्व-सत्त्वेऽपि तदनधीनतत्कर्तृत्वाभावेनादोषात् । यद्यपि जगत्कारणस्थेश्वरस्य भ्रान्तिसिद्धमसदादिशरीरसदृशं शरीरं न संभवति ; एवमपि मायाख्यं शरीरं वर्तते एवेति न दोषः । अघटितघटनापटीयस्या मायाया विनाऽपि करचरणाद्यवयवं शरीरकार्यकारित्वं कथं न संभवति ?

\*एतेन\*—लोक उच्चारणस्य भोगोत्पादकशरीरपटुकरणत्वव्याप्यतया दृष्टत्वेनाशरीरस्यापटुकरणस्य चेश्वरस्योच्चारणा-संभवात्, अज्ञानविशेषरूपतया भवदभिमतमायाया उच्चारणप्रयोजकशरीररूपताया बाधितत्वात् कर-चरणाद्यवयवत्वस्यैव शरीर-



## भामती

तादृशानुपूर्वीविरचनात् । तथाहि—यागादिब्रह्महत्यादयोऽर्थानर्थहेतवो ब्रह्मविवर्तो अपि न सर्गान्तरे विपरियन्ति । नहि जातु कचित् सर्गे ब्रह्महत्याऽर्थहेतुः, अनर्थहेतुश्चाश्वमेधो भवति । अग्निर्वा क्लेदयति । आपो वा दहन्ति, तद्वत् । यथाऽत्र सर्गे नियतानुपूर्व्यं वेदाध्ययनमभ्युदय-निःश्रेयस-हेतुः ; अन्यथा तदेव वाग्वज्रतयाऽनर्थहेतुः, एवं सर्गान्तरेष्वपि, इति तदनुरोधात् सर्वज्ञोऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण वेदान् विरचयन् न स्वतन्त्रः । पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रं चापौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि, तच्चास्माकमपि समानम् ; अन्यत्राभिनिवेशात् । नचैकस्य प्रतिभानेऽनाश्वास इति युक्तम् । नहि बहूनामप्यज्ञानां विज्ञानां वाऽऽशयदोषवतां प्रतिभाने युक्त आश्वासः । तत्त्वज्ञानवतश्चापास्त-समस्तदोषस्यैकस्यापि प्रतिभाने युक्त एवाश्वासः । सर्गादिभुवां प्रजापति-देवर्षीणां धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्य-

## ऋजुप्रकाशिका

वेदानां तथात्वेऽपि सर्वेषु सर्गेष्वेकानुपूर्वीकत्वमेव, नत्वानुपूर्वीभेद इत्याह—\*यथाहि यागादीत्यादिना\* ॥ \*न सर्गान्तरे विपरियन्तीति\* ॥ सर्गान्तरे विपरीता न भवन्तीत्यर्थः । तदेतदाह—\*नहीति\* ॥ \*अग्निर्वेति\* ॥ क्वचित् सर्ग इत्यनुषङ्गः । \*आपो वेति\* ॥ अत्रापि क्वचित्सर्ग इत्यनुषङ्गः । दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयति—तद्वदिति\* ॥ \*यथात्र सर्ग इत्यादिना\* ॥ \*अभ्युदयेति\* ॥ यथा कर्मप्रतिपादकवेदाध्ययनं नियतानुपूर्व्यमत्र सर्गेऽभ्युदयहेतुः, यथा वा ब्रह्मप्रतिपादकवेदाध्ययनं नियतानुपूर्व्यं सदत्र सर्गे निःश्रेयसहेतुः ; तथा सर्वसर्गेष्वपि नियतानुपूर्व्यं सदेवोक्तं वेदाध्ययनमभ्युदयहेतुर्निःश्रेयसहेतुश्चेत्यर्थः । अत्र सर्गे वेदाध्ययनस्यानियतानुपूर्व्यत्वे बाधकमाह—\*अन्यथेति\* ॥ \*तदेव=अनियतानुपूर्व्यमध्ययनमेव । \*वाग्वज्रतयेति\* ॥

“मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥”

इति स्वरानुपूर्व्यादिभङ्गेऽनर्थश्रवणादि(१)त्यर्थः । \*एवं सर्गान्तरेष्वपीति\* ॥ सर्गान्तरेष्वप्येवमेवानुपूर्व्यम् ; अन्यथाऽनर्थ इत्यर्थः । एवं च वेदेषु ब्रह्मण ईश्वरस्यास्वतन्त्रत्वेऽपि यतो नियतानुपूर्वीभङ्गाभावः, अतो वेद ईश्वरस्य नास्वातन्त्र्यच्युतिरित्याह—\*इति तदनुरोधादिति\* ॥ \*ननु\*—वेदस्योक्तविधया पुरुषजन्यत्वे कथं वेदापौरुषेयत्वं वेदान्तिभिर्गुणैर्माभिर्वर्ण्यते ? इत्याशङ्क्य, जैमिनीयमतेऽपि वेदे पुरुषस्यास्वातन्त्र्यमेव वेदस्यापौरुषेयत्वम्, तच्चास्माकमपि समानमिति वेदापौरुषेयत्वमस्माभिर्वेदान्तिभिरुच्यत इत्यभिप्रेत्याह—\*पुरुषास्वातन्त्र्यं चेति\* ॥ \*अन्यथेति\* ॥ अद्वैत एवेत्यर्थः । वेदपौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोरभिनिवेशाभावादिति भावः । चतुर्थं कल्पं निराकरोति—\*नचैकस्येति\* ॥ कर्तुरिति शेषः । “नचे”त्येतत्—“युक्तमि”त्यनेन सम्बध्यते । एकेन यथोक्तम्, तथा पुरुषान्तरेणाप्युक्तं चेद् विश्वास इति तथाऽस्मिमानः, तन्न ; लोकेऽपि सर्वस्यापि वाक्यस्यैककर्तृकत्वेनैकस्मिन् नानाकर्तुरभावेन

## प्रदीपः

पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन मायायास्तदभावेन शरीरत्वानुपपत्तेर्नैश्वर्यकर्तृत्वमिति—\*अपास्तम्\* ; न हि कर-चरणाद्यवयवस्वरूपैव शरीर-पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वे वृक्षादिशरीरताव्यवहार उपपद्यते । न हि वृक्षादौ करचरणाद्यवयवविशेषोपलब्धिः कस्यापि वर्तते । चेष्टा-वदन्त्यावयवित्वादिकं खलु शरीरपदप्रवृत्तिनिमित्तं सर्वेऽपि ग्रामाणिका मन्यन्ते । आधिकारिकपुरुषाणां वसिष्ठादीनामिव मिथ्या-शरीरस्यापि परमात्मनोऽप्युपदेशकत्वं संभवत्येव । आत्यन्तिकनिवृत्तिस्तु परमात्मनः सगुणस्य तदैव स्यात्, यदि तदुपाधिभूत-

(१) त्वष्टुः पुत्रो विश्वरूपः शक्रेण हतः । स त्वष्ट्रेन्द्रस्य हन्तारं पुत्रं लिप्सुस्तदर्थं सोमयागमनुतिष्ठन् भागलिप्सुमपि इन्द्रं नाजुहाव । इन्द्रः स्वयमेवागत्य प्रसह्य सोमरसं पपौ । त्वष्टा सोमपालेऽवशिष्टं सोमरसमिन्द्रस्य शातयिता पुत्रो भूयादित्याशंसमानः ‘स्वाहेन्द्रशत्रुर्वधस्वे’ति मन्त्रेण जुहाव । तदेन्द्रशत्रुरिति शब्दस्तत्पुरुषस्वरं विहाय बहुव्रीहिस्वरेण प्रयुक्तः । तेन स्वरापराधेन तत्रोत्पन्नस्य वृत्रासुरस्य शक्र एव शातयिताऽभूदिति “त्वष्टा हतपुत्रः” इत्यादितैत्तिरीयश्रुत्यर्थोऽत्र निबद्धः ।



**सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति । इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणे प्रथमवर्णकम् ॥**

**भामती**

संपन्नानामुपपद्यते तत्स्वरूपावधारणम्, तत्प्रत्ययेन चार्वाचीनानामपि तत्र संप्रत्ययः, इत्युपपन्नं ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वम्, शास्त्रस्य चापौरुषेयत्वम्, प्रामाण्यं चेति ।

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

**भृजुप्रकाशिका**

नानाकर्तृकत्वप्रतिभानस्य विश्वासाप्रयोजकतया निर्दुष्टैककर्तृकत्वप्रतिभानस्यैव विश्वासप्रयोजकत्वादिति भावः । दूषणान्तरमाह—\*नहि बहूनामिति\* ॥ \*प्रतिभाने=कर्तृत्वप्रतिभाने । \*तत्त्वज्ञानवत इति\* ॥ अभ्रान्त-स्येत्यर्थः । यत् एवापास्तसमस्तदोषत्वम्, अत एवाभ्रान्तत्वं बोध्यम् । \*प्रतिभानेन=कर्तृत्वप्रतिभानेन\* ॥ \*ननु\* एतावता निर्दुष्टेश्वरकर्तृके वेदे विश्वास इत्यायातम्, तदनुपपन्नम् ; अस्माभिरीश्वरस्यैवाज्ञानात्, इत्यत आह—\*सर्गादिभुवामिति\* ॥ \*तत्स्वरूपावधारणम्=ईश्वरस्वरूपावधारणम् । अन्ततोऽस्माभिरेव तत्स्वरूप-मवधारितम् ; अतस्तत्कर्तृकत्वप्रतिभाने वेदे नानाश्वासो युक्त इति भावः । अस्तु सर्गादिभुवां युष्माकं चेश्वरप्रत्ययनम्, अर्वाचीनानां कथमिति ? अत आह—\*तत्प्रत्ययने चेति\* ॥ पूर्वोक्तमुपसंहरति—\*इत्युपपन्नमित्यादिना\* ॥ \*ननु\* अनविच्छिन्नसंप्रदाये वेदे विश्वासः, अविच्छिन्नसंप्रदायत्वं च वेदस्य नानावक्तृकत्वे, नत्वेकवक्तृकत्वे ; तथाच वेदस्य ब्रह्मैककर्तृकत्वे कथं तत्ताश्वासः ? इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं वेदस्य नानावक्तृकत्वं संप्रदायाविच्छेदाय वक्तव्यमित्युच्यते ? किं वा नानाकर्तृकत्वम् ? आद्य इष्टापत्तिः ; अध्यापकानामध्येतृणां च बहूनां वक्तृणां सत्त्वात्, न द्वितीयः ; वेदापौरुषेयत्ववादिना त्वयैकस्यापि वेदकर्तुरनङ्गीकारेण नानाकर्तृकत्वस्य सुतरामनङ्गीकारात्, एकस्यैव सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतो वेद-कर्तृकत्वसंभवे नानाकर्तृकत्वमादायाविच्छेदासंभवाच्च । तस्माद् वेदकर्तुरेव ब्रह्मणो वेदोपादानत्वाद् ऋग्वेदादिलक्षणशास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणः सिद्धम् ॥

इति भामतीव्याख्यायामृजुप्रकाशिकायां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे प्रथमं वर्णकं संपूर्णम् ।

**वार्तिकम्**

**वाक्यापरिसमाप्तावेवास्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—\*अस्य महतो भूतस्येति\* ॥ वाक्यं पूरयति—\*तस्येति\* ॥**

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके शास्त्रयोनित्वाधिकरणे प्रथमं वर्णकं संपूर्णम् ॥

**भाष्यभावप्रकाशिका**

स्वोपादानगतसर्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुमापकता न विरुध्यते ; प्रदीपादिगतप्रकाशनशक्तेः स्वकारणामि-शक्त्यनुमापकतादर्शनादिति भावः ॥

इति पूज्यश्रीचित्तुखमुनिश्रुतौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां भाष्यभावप्रकाशिकायां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे प्रथमं वर्णकं संपूर्णम् ॥



## पञ्चपादिका

रूपप्रपञ्चस्यापि तदाश्रित्य विवर्तनात् तज्जन्मता ; नासतः ; प्रादुर्भावात् ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपञ्चपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां

ब्रह्मणः सर्वशक्तनिरूपणं नाम षष्ठं वर्णकं समाप्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

व्यापिनोऽपि सवितृकिरणस्य तत्प्रकाशनायोग्यत्वदर्शनात् । तस्मात् सर्वार्थप्रकाशनसमर्थसर्वशब्दोपादानतया सर्वज्ञं ब्रह्म । तदेतदाह—\*नासतः प्रादुर्भावादिति\* ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्य-स्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ

पञ्चपादिकाविवरणे ब्रह्मणः सर्वशक्तनिरूपणं नाम षष्ठं वर्णकं समाप्तम् ॥

## ऋजुविवरणम्

भवेदित्याक्षिपति—\*कथं करणेति\* ॥ \*न ब्रह्मण इति\* ॥ औपाधिकं कारणत्वम्, न स्वरूपप्रयुक्तमिति भावः ।

\*ननु स्वयंप्रकाशेति\* शब्दोपादानत्वसाधनं व्यर्थमिति भावः ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज-सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ

ऋजुविवरणे ब्रह्मणः सर्वशक्तनिरूपणं नाम षष्ठं वर्णकं समाप्तम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ \*रूपप्रपञ्चस्यापीति टीकाया अयमर्थः\*—\*रूपप्रपञ्चकारणत्वम्=सत्तात्फूर्तिप्रद-  
त्वम् । तद्वन्नामप्रपञ्चकारणत्वमपीत्याह—\*रूपप्रपञ्चस्येति\* । \*तदाश्रित्य विवर्तनादिति\* ॥ कस्मादसन्नेव प्रपञ्च  
उल्लसति ? इत्याशङ्क्याह—\*नासत इति\* ॥ रूपप्रपञ्चो जडो यथा ब्रह्मण्यसन् नाविर्भवति, तथा नामप्रपञ्चोऽपी-  
त्याशङ्कायामुक्तम्—\*रूपेति\* ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-

दीपने ब्रह्मणः सर्वशक्तनिरूपणं नाम षष्ठं वर्णकं समाप्तम् ॥

## प्रदीपः

सर्वजीवाश्रिताविद्याविनाशो भवेत्, इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । इयान् विशेषः—यद् ईश्वरो न मायासंस्कारवशः, आधिकारास्तु  
तत्संस्कारवशा इति ; आधिकारिकाणामपि हि विक्षेपशक्तिमात्रमवशिष्टं नावरणशक्तिरिति समानत्वात् ॥

\*एतेन\*—ब्रह्मणो भ्रान्तत्वापत्तिरपि—परास्ता ; तूलाविद्यापरिणामरूपभ्रमाख्यवृत्तिमत्त्वस्यैव भ्रान्तत्वप्रयोजकत्वा-  
दिति । अनेन ह्यावरणशक्तिसमवहितमायावृत्तिमत्त्वमेव भ्रान्तत्वव्यवहारप्रयोजकतया विवक्षितमिति जगत्कारणस्य ब्रह्मणो  
नोक्तव्यपदेश आपद्येत । किञ्च ब्रह्मणो भ्रान्तत्वापत्तिरित्यनेन किमत्र विवक्षितम्—किं जीवस्यैव कल्पितत्वापत्तिः ? आहो  
भ्रान्त इति व्यवहारापत्तिरिति ? आद्य इष्टापत्तिः, जगत्कारणस्य मिथ्यात्वेनैवाद्वैतिभिरङ्गीकारात् । द्वितीये तु—“अहं भ्रान्तः”  
इति ब्रह्मण एव व्यवहार आपद्येतेति विवक्षितम् ? उतास्मदादीनां ब्रह्म भ्रान्तमिति व्यवहार आपद्येतेति ? उभयत्रापि बाध-  
शानानन्तरं वोक्तव्यवहारः ? उत तत्पूर्वमिति ? द्वितीयस्तु न युक्तः ; बाधशानं विना रज्जुसर्पादिज्ञानस्यापि भ्रान्तत्व-  
व्यवहाराभावात्, अन्यथा बाधशानात्पूर्वं भयकम्पाद्यनुवृत्त्यनुपपत्तेः । बाधशानानन्तरस्तु भ्रान्तत्वव्यवहार इष्ट एवेति भ्रान्तत्वा-  
पादनमिदमापातरमणीयमेव । ईश्वरस्यातीतादिविषयमपि ज्ञानमद्वैत्यमिमं साक्षिज्ञानरूपमेव ; “सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया  
वा साक्षिभास्यमि”ति वचनात् । तत्र चेश्वरसाक्षी मायोपहितचैतन्यमेवेति परिभाषादावेव व्यक्तम् । तथाच विना मनोऽ-  
तीतादिपदार्थज्ञानमीश्वरस्य संभवत्येव । ईक्षत्यधिकरणभाष्ये “नासाक्षिका वृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते” इत्येवोक्तम्, नामनो-  
निबन्धनेति । सर्वथा चोपहितस्य जगत्कारणस्य शास्त्रयोनित्वेन सर्वशक्तसाधनं न कथमप्यनुपपन्नम् ॥

यत्तु विवरणे—ब्रह्म, वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः, वेदोपादानत्वात्, दीपगतप्रकाशनशक्त्याधारः, दीपी-  
पादानाश्रितत्वं, इत्युक्तम्, तदपि नानुपपन्नम् । सति चैवं “\*वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्या-



दधुनाध्ययनं या—” इति वचनसिद्धपूर्वपूर्वक्रमापेक्षोच्चारविषयत्वाद्, वेदवाक्यानां वर्णनित्यत्वे पदनित्यत्वेऽपि वाक्यानामानुपूर्वी-  
विशेषविशिष्टपदसमुदायरूपाणामनित्यत्वेन प्रावाहिकं नित्यत्वमीश्वरकृतत्वमुभयमुपपन्नत इति न विरोधः ॥

\*एतेन\*—शाख्योनित्यसूत्रेण शाख्यस्यादिमत्त्वम्—“अत एव च नित्यत्वमिति सूत्रेण नित्यत्वं च परस्परविरुद्धं  
निर्दिष्टमिति शङ्काऽप्यनवसरेति—\*सूचितम्\* ; एतादृशमेव शाख्योनित्यं ब्रह्मणो विवक्षितमित्यत्र श्रुतिमेव प्रमाणयति—  
“\*अस्य महतो\*” इति\* ॥ अस्य “महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्वेदः” इति श्रुतेः, “यस्माद् महतो भूताद् अनेकशाखामेद-  
मिन्द्रादिरूपस्य सर्वज्ञानाकरस्यैवैवादेः संभवः” इति ज्ञायत इति शेषः । तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं  
चार्थसिद्धमिति योजना ॥

\*इति प्रथमवर्णकमिति\* ॥ “तस्य महतो भूतस्ये”ति वाक्यं विषयः । किमिदं वाक्यं वेदकर्तृत्वं ब्रह्मणो बोधयति ?  
न वा ? इति संशयः । “वाचा विरूपनित्यये”ति श्रुत्या वेदस्य नित्यत्वावगमाद् न वेदकर्तृत्वमनेन वाक्येन ब्रह्मणो बोधयितुं  
शक्यत इति पूर्वपक्षः । पूर्वपक्षप्रयोजनं निखिलजगत्कर्तृत्वेनेश्वरस्य सर्वज्ञत्वं बाधितमिति नेश्वरकर्तृत्वे “यतो वे”ति वाक्य-  
तात्पर्यमिति जीवकारणतायां प्रधानकारणतायां वैव वेदान्तानां पर्यवसानमिति नाद्वैतसिद्धिरिति । सिद्धान्तस्तु—“अत एव  
च नित्यत्वमिति”त्युपरितनेन सूत्रेण प्रावाहिकनित्यताबोधन एव “वाचा विरूपनित्यये”ति श्रुतेस्तात्पर्यव्यवस्थापनात्, “वाचा  
विरूपनित्यये”त्यस्य सामान्यतः प्रवृत्तस्य वर्ण-पदरूपशब्दविषयत्वेन सार्थक्ये वेदविषयत्वस्यापि कल्पने प्रमाणाभावाच्च “तस्य  
निःश्वसितमिति”ति विशिष्यवैवादिकर्तृत्वबोधकश्रुतिप्राबल्येन ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वनिर्णय एवोचितः । सति चैवं वेदकर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वादिसिद्ध्या  
“जन्माद्यस्य यतः” इति न जीवपरं प्रधानपरं वेति, न पूर्वोक्तप्रकारेणाद्वैतासिद्धिः ॥

या तु चन्द्रिकायां श्रुतीनां परस्परविरोधपरिहाराय ब्रह्मातिरिक्तसर्वमिथ्यात्वस्य वियत्पादे वक्ष्यमाणतया तत्रैव शाख्यो-  
नित्वस्य वक्तुं सुसङ्गतत्वेनेह तदुक्त्ययोग इति शङ्का कृता, सेयं परिमलेऽनूद्यैव परिहृता—“पूर्वसूत्राक्षिप्तसर्वज्ञत्वदृढीकरणार्थतयेह  
वेदकर्तृत्वं व्यवस्थापनीयम्, तेनार्थाद् ब्रह्मणः सर्वकारणत्वमनुपपन्नम् ; वेदस्य नित्यत्वात्, इति शङ्कानिवारणमपि लभ्यत इत्या-  
नुपङ्गिकार्थकथनपरोऽयं श्लोकः । आनुपङ्गिके चाथे न पृथक् सङ्गत्यपेक्षे”ति ॥

अयं भावः—यथा रुद्रादिजगत्कारणत्वनिषेधं वक्ष्यमाणमपि सिद्धवत्कृत्य शाख्योनित्वादिसूत्रं चन्द्रिकाकारादीनाम्,  
एवं वेदानित्यत्वं साधयिष्यमाणं सिद्धवत्कृत्य तत्कर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वसाधनमेवात्र क्रियते, न तु वेदानित्यत्वम्, येन वियत्पाद एव  
संगतिः स्यात् । किंच “वेदानित्यत्वस्य वियत्पादसंगतिरिति”त्यनेन किं विवक्षितम्—किं तत्रैव तदनित्यव्यपदेशो हेतुतयाऽ-  
धिकर्तव्य इति वा ? साध्यतयाऽधिकर्तव्य इति वा ? आद्ये न तत्र सङ्गतिः ; तत्र तत्साध्यताया एव विवक्षितत्वात् ।  
द्वितीये तु वियदाद्यनित्यत्वसाधनेन तस्यापि सिद्ध्या पृथक् तदनित्यत्वं कुत्रापि न वक्तव्यमिति शाख्योनित्यसूत्रवैयर्थ्यमेवा-  
पादनीयम्, न तस्य वियत्पादे सङ्गतिः । अधिकाशङ्कानिवारणेन कथमपि तत्र सङ्गतिर्वैते, इति यदि तस्य तत्रैव करणापत्ति-  
रित्युच्यते, तर्ह्यत्र हेतुत्वविवक्षया तन्निर्देशस्य को विरोधः ? एवं च वियत्पादसंगतिर्हेतुतया विवक्षितस्य वेदानित्यत्वस्य  
कथमपि न भवतीति सूचितम् ।

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यटिप्पणे प्रदीपे शाख्योनित्वाधिकरणे प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

इति षष्ठं वर्णकं समाप्तम् ॥





## अथ सप्तमं वर्णकम्

—:0:—

अथवा—यथोक्तमृगवेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्

भामती

वर्णकान्तरमारभते—\*अथवेति\* ॥ पूर्वेणाधिकरणेन ब्रह्मस्वरूपलक्षणासंभवशङ्कां व्युदस्य

ऋजुप्रकाशिका

\*ननु\*—\*“शास्त्रयोनित्वात्”\* इति सूत्रेण ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वं शास्त्रकारणत्वं वर्णितम्, “अथवे”-  
त्यादिना ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं वर्ण्यते, तत् किमिति ? “अथवे”त्यारभ्य “कथं पुनरि”त्यतः प्राक्तनस्य  
भाष्यस्य वृत्तानुवादपूर्वकं निष्कृष्टमर्थमाह—\*पूर्वेणाधिकरणेनेति\* ॥ “जन्माद्यस्य यतः” इत्यनेनेत्यर्थः ।

पञ्चपादिका

\*अथवा यथोक्तमृगवेदादीत्यादिना\* सूत्रस्य प्रमाणप्रतिज्ञामर्थान्तरमाह ; अपेक्षितत्वात् ॥ कथं  
पुनरेकस्य सूत्रस्यार्थद्वयम् ? सूत्रत्वादेव । तथाच पौराणिकाः—

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*अथवेत्यादिद्वितीयवर्णकविवरणं स्पष्टार्थम्\* ॥ तस्माज्जन्मादिनिमित्तोपादानकारणं सर्वज्ञं ब्रह्मेति

ऋजुविवरणम्

सूत्रद्वयार्थमुपसंहरति—\*तस्माज्जन्मादीति\* ॥ मायाऽविद्याप्रतिबिम्बितमिति वदतेदमुक्तम्—पूर्वस्मिन् ग्रन्थे  
मायाऽविद्याभेदमङ्गीकृत्योक्तम्, ब्रह्मणश्च न प्रतिबिम्बिता, अत्र तु मायाऽविद्ययोरैक्यं प्रतिबिम्बभावश्च ब्रह्मण इति ।

तत्त्वदीपनम्

\*अथवेत्यादिवर्णकान्तरस्यायमर्थः—“तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी”त्यादिवाक्यं ब्रह्मणो वेदैकगम्यत्वं समर्थ-  
यति ? उत न ? इति कार्यत्वलिङ्गस्य कारणविशेषपर्यवसानापर्यवसानाभ्यां संदिह्यते । तत्र कार्यलिङ्गस्य  
कारणविशेषपर्यवसानाद् न ब्रह्मणो वेदैकगम्यत्वमिति प्राप्तम् । तथाहि—विमतम्, कल्पितकारकशक्तिकर्तृपुर-  
सरम्, कार्यत्वात् ; घटवत् । स च कर्तैकः ; कल्पनालाघवात्, इति प्राप्ते प्रतिविधीयते ;—कार्यमात्रस्य कर्तृमात्र-  
गमकत्वात् । नच लाघवादेकत्वनिश्चयः ; विचित्रप्रासाददेनेककर्तृकत्वस्य शरीरिकर्तृत्वस्य च दृष्टत्वात् । तथा  
कार्यलिङ्गस्य सर्वज्ञे सर्वशक्तिमत्येकस्मिन्नपर्यवसानात्कारणविशेषस्य वेदैकगम्यत्वमिति ॥ अधिकरणार्थमुपसंहरति—  
\*तस्माज्जन्मादीति\* ॥

वार्तिकम्

“चोद्नालक्षणोऽर्थो धर्मः” इतिवद् लक्षण-प्रमाणोभयसूचनपरमेतत् सूत्रमित्यभिप्रेत्य वर्णकान्तरमाह—  
\*अथवेत्यादिना\* ॥ यद्वा—सर्वज्ञत्वस्य पूर्वसूत्रेणैवाधिकरणसिद्धान्तन्यायेन सिद्धेरुक्तत्वात् प्रमाण-  
प्रदर्शनपरमेवैतत् सूत्रमित्याह—\*अथवेति\* ॥ प्रमाणे हि प्रदर्शिते तत्र वादिविप्रतिपत्त्याऽग्रे विचारः प्रवर्तिष्यते  
—“तत्तु समन्वयादि”ति ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

इदानीं वर्णकान्तरे सूत्रस्य प्रमाणप्रतिज्ञालक्षणमर्थान्तरमाह—\*अथवेति\* ॥ अस्मिन् व्याख्याने  
पूर्वसूत्रशेषस्याप्यस्य सूत्रस्य पृथक्करणं वर्णकान्तरेण प्रपञ्चान्तःपातिशास्त्रस्यापि हेतुत्वेन सर्वज्ञत्वमुपपाद-

प्रदीपः

\*ननु\* “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रे सर्वभूतकारणत्ववर्णनेन वेदकारणत्वमपि सूचितमेव । परन्तु—“अत एव



स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभि-  
प्रायः । शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादि ।  
किमर्थं तर्हीदं सूत्रम् ? यावता पूर्वसूत्र एवैवजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं

### पञ्चपादिका

“अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥” इति ॥

विश्वतोमुखमिति नानार्थतामाह । अतोऽलङ्कार एव सूत्राणां यदनेकार्थता नाम ॥ \*ननु\*  
पूर्वसूत्रे शास्त्रमुदाहरता ब्रह्मावगमे शास्त्रं प्रमाणं प्रतिज्ञातमेव । सत्यमेतत्सूत्रवलेन तदुदा-  
हृतम् ; अन्यथा सूत्रे शास्त्रोपादानाभावादनुमानाशङ्कयाम्—“यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाज्जगतो

### पञ्चपादिकाविवरणम्

सिद्धम् । तत्र विम्बस्थानीयं ब्रह्म मायाशक्तिमत् कारणम्, जीवाश्च प्रत्येकमविद्यानुबद्धा इति केचित् ।  
मायाऽविद्याप्रतिविम्बितं ब्रह्म जगत्कारणम् । विशुद्धं ब्रह्मामृतत्वालम्बनम्, जीवाश्चाविद्याबद्धा इत्यन्ये ।  
जीवा एव स्वाविद्यया प्रत्येकं प्रपञ्चाकारेण ब्रह्माविर्भवन्ति, सादृश्याच्च प्रपञ्चैकताभिसोऽनेकैरवगतद्वितीय-

### तत्त्वदीपनम्

एकमेव ब्रह्माऽविद्यया जगदाकारेण विवर्तते चेत्, तर्हि विद्ययाऽविद्याया व्यावर्तितत्वात् सकलमुक्त्यापात  
इत्याशङ्क्य, मतभेदं दर्शयति—\*तत्रेति\* ॥ वेदान्तव्याख्यातृणां मध्य इत्यर्थः । प्रतिजीवमविद्याभेदान्नातिप्रसङ्ग  
इत्यर्थः । मतान्तरमाह—\*मायेति\* ॥ पूर्वत्र मायाऽविद्ययोर्भेदः, अत्र त्वभेद इत्यर्थः । पक्षान्तरमाह—  
\*जीवा एवेति\* ॥ प्रतिजीवमविद्याया भिन्नत्वात् कार्यप्रपञ्चस्यापि भेदादेकमुक्तौ न सर्वद्वैतनिवृत्तिरित्यर्थः । प्रतिजीवं  
वार्तिकम्

\*ननु\* प्रमाणमपि पूर्वं दर्शितमेव विषयतया—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादि, \*सत्यं  
दर्शितं भाष्यकृता, नतु सूत्रकृता । \*ननु\*—सूत्रकारेणापि दर्शितमेव ; वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वात्सूत्रा-  
णाम् ; अन्यथा निर्विषयन्यायसूत्रणानुपपत्तेरिति—चेत्, \*सत्यं निर्विषयतर्काप्रवृत्तेर्वेदान्तवाक्यग्रथ-  
नार्थत्वं सूत्राणाम्, किन्तु तदेवाद्यापि न सिद्धम् । यावद्वचनेन सूत्रेण शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणो न  
सिध्यति, तावद् न सूत्राणां वेदान्तवाक्यविषयत्वं निर्णेतुं शक्यते ; प्रमाणान्तरविषयत्व-निर्विषयत्व-

### प्रदीपः

च नित्यत्वमिति सूत्रेण स्वरूपतो नित्यत्वमपि वेदस्य साधितं स्यादिति शङ्कावारणार्थं “शास्त्रयोनित्वादि”ति शास्त्रस्यापि  
कार्यत्वं सिद्धवदनूयते, इति तन्महिम्ना वेदस्यापि कार्यकोटौ प्रवेशः सिद्धयतीति खलु प्रथमवर्णकेन विवक्षितम् । इदं च शेषस्य  
ब्रह्मणः प्रत्यगभेदविवक्षयैव गतार्थम् ; अन्यथा हि वेद-तत्कारणयोरुभयोरपि ब्रह्मवत्सत्यत्वापत्त्या नाद्वैतसिद्धिः, इति व्यर्थमिदं योजन-  
मित्यस्वरसादाह—\*अथवेति\* ॥ योनिपदस्य कारणपरस्यापि शास्त्रपदसामानाधिकरण्येन बहुव्रीहिसमासाश्रयणे प्रमाणपरत्व  
एव पर्यवसानमिति सर्वसम्मतमिदम् । तथाच शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्मेति चोदनालक्षण इत्यत्रैव सूत्रार्थ इत्याह—\*शास्त्रं योनिरिति\* ॥

\*ननु\* पूर्वाधिकरणेनापि ब्रह्मकारणतापरसर्ववेदान्तप्रतिपाद्यमित्येव व्यवस्थापितम्, अत्रापि तु तदेव प्रतिपाद्यत इति  
प्रकृतसूत्रवैयर्थ्यमापद्येतेत्याशङ्क्य, प्रकृते शास्त्रपदं न केवलकारणवाक्यपरम्, किन्तु कर्मोपासनाकाण्डादिसाधारणसर्ववेद-  
परमिति “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती”ति सिद्धान्तव्यवस्थापनार्थमेवेदं सूत्रमित्यभिप्रायेण शास्त्रपदविवक्षितमाह—\*यथोक्त-  
मृत्वेदादीति\* ॥ कर्मवाक्यानां परम्परया श्रवणविधिशेषतया त्वंपदार्थशेषतया वा, उपासनावक्यानामपि चित्तैकाग्रयादि-  
सम्पादनेन निदिध्यासनविधिशेषतया तत्पदार्थशेषतया वाऽन्यथा सर्वेषां वेदवाक्यानां प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मण्येव पर्यवसानम् ।  
यथाच जीवपराणां कर्मकाण्डवाक्यानां देहातिरेकमात्रविवक्षया चरितार्थानामपि वस्तुगत्याऽऽनन्दारूपत्व एव तात्पर्यम्,



ब्रह्मणो दर्शितम्, उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रवृत्ते—

### वार्तिकम्

शङ्क्योर्जागरूकत्वात् । अत एव जन्मादिसूत्रस्य स्वतन्त्रानुमानविषयत्वं तार्किकैः शङ्कितम् । अतः सकलतन्त्रोपोद्घातमेतत्सूत्रमिति युक्तं प्रमाणसूत्रमिति । तदत्राशङ्कते—

\*ननु\*—ब्रह्मणो जन्मादिकारणत्वम्—“एष बन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः । कूर्मलोमपटच्छन्नः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥” इति न्यायमुदाहरति ; प्रमाणाभावेनासत्त्वावधारणस्योभयत्र तुल्यत्वात्, नास्ति चोक्तलक्षणे ब्रह्मणि प्रमाणम् ; प्रत्यक्षादेरगोचरत्वस्य त्वयैवाङ्गीकृतत्वात्, शास्त्रस्य च कार्यमात्रैकगोचरत्वात् तत्परत्वानुपपत्तेः, “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादेश्वोपासनाविधिषेत्वेनार्थवादमात्रत्वात्, अतो मास्तूक्तलक्षणं ब्रह्म ; प्रमाणाभावात्, अत एवाह श्रुतिः—“असदेवेदमग्र आसीदि”त्यादिरिति—चेत्,

### प्रदीपः

एवं कारणवाक्यानामपि कल्पितकारणत्वादिपरित्यागेन चैतन्यस्वरूपमात्र एव पर्यवसानमित्यवान्तरतात्पर्यपराण्येव कर्मोपासनाविषयः सृष्टिवाक्यानि च । सति चैवं प्रत्यक्षसिद्धं देहात्मवादं निरस्य यथा कर्मकाण्डवाक्यानां प्रामाण्यम्, एवमनुमानसिद्धं कारणस्वरूपं निरस्य चैतन्यमात्रे तद् व्यवतिष्ठते । इदं च यथावत्स्वरूपाधिगमे शास्त्रमेव प्रमाणम्, नानुमानादि, इति निरूपणमन्तरा न संभवति, इति शास्त्रप्रामाण्याधिकरणमिदं प्रवर्तते । अन्यथाऽनुमानसिद्धं “यतो वे”त्यवान्तरवाक्यगम्यं च स्वरूपमेव यथावत्स्वरूपमिति शङ्का स्यात्, इति संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वमेव शास्त्रार्थ इति स्यादिति भावः । तमिमं भावमध्याहृतेन पदेन सूचयति—\*यथावत्स्वरूपाधिगम इति\* ॥ पर्यवसितं वाक्यार्थमाह—\*शास्त्रादेवेति\* ॥ नानुमानादित्यर्थः । अधिगम्यत इत्यस्यानन्तरं यथावदिति शेषः ॥

तथाच यद् जन्मादिकारणमनुमानसिद्धं ब्रह्म, तत् शास्त्रादेव प्रमाणाद् यथावदध्यारोपापवादन्यायेनाधिगम्यत इति योजना । अनेन च “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादिवाक्यानि केवलमनुवादरूपाणि, निर्णायकं त्वानन्दवाक्यमिति, तावदन्तेन निर्णयं स्वरूपमेव यथावद् ब्रह्मस्वरूपम्, न तु “यतो वे”ति वाक्यमात्रसमधिगम्यमिति सूच्यते । इदमेव स्वमुखेनाह भाष्यकारः—\*शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—“यतो वा” इत्यादीति\* ॥ आनन्दवाक्यान्तमिति शेषः । \*ननु\* एवं सति भवन्मतेऽपिदं सूत्रं वितथमिति शङ्कते—\*किमर्थमिति\* ॥ निष्प्रयोजनमिदं सूत्रं स्यादित्यर्थः ॥

सत्यं जन्मादिसूत्र इवाऽऽनन्दवाक्यान्तमेव विषयवाक्यमिति विवक्षायामेतत्सूत्रवैयर्थ्यमापद्यते, परन्तु नेदं कारणस्वरूपेऽवान्तरतात्पर्यमेवेति निर्णयं विना संभवति, इति तत्सूत्रनार्थमिदं सूत्रमपेक्षितमित्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*उच्यत इति\* ॥ महावाक्यमेव पर्यवसितार्थबोधकं शास्त्रं नाम ; तस्यैव फलपर्यवसायित्वात्, नत्ववान्तरवाक्यमपि । तथाच “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रे “यतः” “अस्य” “जन्मादी”ति पदत्रयस्यैव विद्यमानत्वात्, “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादि-सृष्टि-स्थिति-संहारपराण्येव वाक्यान्यवान्तराणि विषयवाक्यतया विवक्षितानीति शङ्का स्यात्, इति तद्वारणार्थमिदं सूत्रमित्याह—\*पूर्वसूत्राक्षरेणेति\* ॥ \*शास्त्रस्यानुपादानात्\* ॥ आनन्दवाक्यान्तस्यानुपादानात् । \*केवलमनुमानमिति\* ॥ अनुमानैकविषयसंसारिव्यतिरिक्तेश्वरस्वरूपमात्रबोधकारणवाङ्मात्रमित्यर्थः । \*उपन्यस्तम्\*—सूत्रकारतात्पर्यविषयः । यथाच संसारिव्यतिरिक्तसर्वेश्वरोऽनुमानस्य विषयः, तथा भाष्य एव प्रथमतो व्यक्तमिति न पिष्टमेव पेययामः ॥

अत्र भाष्यकारा अभिन्ननिमित्तोपादानपक्षपातिनोऽपि कारणस्वरूपं विशिष्टमनुमानगम्यमेव, चैतन्यांशस्तु निमित्तमेव ; उपाधिभूतमायाया एवोपादानत्वम्, उपाधिगतमेवोपादानत्वं परस्पराध्यासाद् ब्रह्मनिष्ठमपि कल्प्यत इति सूचनद्वारा

“\*अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।

अज्ञानम्, तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते\* ॥”

इति वार्तिकसिद्धान्तं सूचयन्ति ॥ तेन च विशिष्टोपादानत्वसूचनार्थं न सूत्रान्तरापेक्षेति ज्ञाप्यते, यतस्तदपि कल्पितम्, इति न शास्त्रस्य तत्रापि तात्पर्यम् । इदमेव मतं भाष्यकारसूचितमादाय सिद्धान्तमुक्तावलीकारमतं सिद्धान्तलेशसंगृहीतं प्रवृत्तम् ।



## \*शास्त्रयोनित्वादिति\* ॥ ३ ॥ इति तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥

भामती

लक्षणसंभव उक्तः, तस्यैव तु लक्षणस्यानेनानुमानत्वाशङ्कामपाकृत्यागमोपदर्शनेन ब्रह्मणि शास्त्रं प्रमाणमुक्तम् । अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः ॥ ३ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे द्वितीयं वर्णकं समाप्तम् ।

ऋजुप्रकाशिका

\*तस्यैव लक्षणस्य=ब्रह्मस्वरूपस्यैवेत्यर्थः । \*अनेनेति\* ॥ शास्त्रयोनित्वाधिकरणेनेत्यर्थः । “अनुमानत्वा-शङ्कामि”त्यतः प्राक्—“सर्वावद्योतनशक्तिमदृग्वेदादिलक्षणशास्त्रकारणत्वेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वप्रदर्शन-पूर्वकमिति” शेषः । \*अनुमानत्वाशङ्कामिति\* ॥ “जन्माद्यस्य यतः” इत्यनेनानुमानप्रमाणमुपन्यस्त-मित्याशङ्कामित्यर्थः । अपाकृत्य=“शास्त्रयोनित्वादि”त्यस्य शास्त्रप्रमाणकत्वयोजनयाऽपाकृत्येत्यर्थः । \*आगमोप-दर्शनेन=“यतो वे”त्येवंजातीयकागमोपदर्शनेनेत्यर्थः । \*अक्षरार्थस्त्विति\* ॥ “अथवे”त्यारभ्य “कथं पुनरि”त्यतः प्राक्तनभाष्याक्षरार्थस्त्वित्यर्थः ॥ इति सप्तमं वर्णकम् । शास्त्रयोनित्वाधिकरणं च समाप्तम् ॥

इति भामतीव्याख्यामृजुप्रकाशिकायां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे द्वितीयं वर्णकं समाप्तम् ।

पञ्चपादिका

जन्मादि भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः” इत्यस्योपस्कारस्याप्रमाणत्वप्रसङ्गः । प्रतिप्रपञ्चं पृथक्कारण-जन्यताया अपि सम्भवात् सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तित्वासिद्धेः, लोके च जगत्कारणे ब्रह्मशब्दप्रयोगादर्शनात् । अतो “जन्माद्यस्य यतः”, ‘शास्त्रप्रमाणमिति’त्येतावदिदं सूत्रं सदसंदिग्धमनुमानशङ्कानिवृत्तेः पृथक्करणम्—प्रपञ्चान्तःपातिनः शास्त्रस्यापि हेतुत्वेन सर्वज्ञत्वं सुसम्पादमिति व्याख्यानान्तरेण कथयितुम् ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपञ्चपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं नाम सप्तमं वर्णकं समाप्तम् ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

चन्द्रवत् । स्वरूपापेक्षया च ब्रह्म सर्वजगत्कारणमित्यपरे । ब्रह्मैकमेव स्वाविद्यया जगदाकारेण विवर्तते स्वप्नादिवदिति मतान्तरम् । तस्माद् ब्रह्मैव स्वमाययाऽविद्याया विवर्तते इति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्य-स्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ

पञ्चपादिकाविवरणे ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं नाम सप्तमं वर्णकं समाप्तम् ॥

ऋजुविवरणम्

“जीवा एवे”त्यनेन ब्रह्म मायाविशिष्टं तत्प्रतिबिम्बितं वा न जगत्कारणमित्युक्तम् । कथं ब्रह्म जगत्कारणमिति ? तदाह—\*स्वरूपेति\* ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ

ऋजुविवरणे ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं नाम सप्तमं वर्णकं समाप्तम् ॥

तत्त्वदीपनम्

प्रपञ्चभेदे कथमैक्यप्रतिभासः ? तत्राह—\*सादृश्यादिति\* ॥ कथं तर्हि ब्रह्मकारणत्वादित्यः श्रुतयः ? तत्राह—\*स्वरूपेति\* ॥ सिद्धान्तरहस्यमाह—\*ब्रह्मेति\* ॥ किं तद्ब्रह्मपादेयमिति ? अत्राह—\*तस्मादिति\* ॥ नचैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः ; इष्टापत्तेः । शिष्टमिष्टसिद्धौ द्रष्टव्यम् ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-

दीपने ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं नाम सप्तमं वर्णकं समाप्तम् ॥



## वार्तिकम्

\*नैतदेवम्\* ; अस्ति तावदुक्तलक्षणं ब्रह्म ; शास्त्रप्रमाणकत्वात्, धर्मवदित्याह सूत्रकारः—\*शास्त्रयोनित्वादिति\* ॥ तदेतद् भाष्यकारो व्याचष्टे—\*यथोक्तमृगवेदादिशास्त्रं योनिः=कारणम्—ब्रह्मण इत्यादि\* ॥ किमर्थमित्यादिचोद्य-परिहारभाष्ये पूर्वमेव व्याख्याते ॥ ३ ॥

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके शास्त्रयोनित्वाधिकरणे द्वितीयं वर्णकं संपूर्णम् ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

यितुं शक्यमिति दर्शयितुम्, तदैव द्वितीयसूत्रेण ब्रह्मस्वरूपलक्षणासंभवाशङ्कां व्युदस्य लक्षणसंभव उक्तः । तस्यैव तु लक्षणस्यानुमानत्वाशङ्कामपाकृत्यागमिकत्वोपदर्शनेन ब्रह्मणि शास्त्रं प्रमाणमुक्तम्—\*शास्त्रयोनित्वादिति\* ॥ इति तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ।

इति पूज्यश्रीचित्सुखमुनिवृत्तौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां भाष्यभावप्रकाशिकायां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे द्वितीयं वर्णकं संपूर्णम् ॥

## प्रदीपः

ब्रह्मकारणताविषये मतान्तराणामपि ब्रह्मणि कारणत्वस्य कल्पितत्वेनैव प्रवृत्तत्वाद् नानेन मतेन विरोधो भविता । सति चैवमभिन्ननिमित्तोपादानत्वबोधनार्थं “शास्त्रयोनित्वादि”ति सूत्रमिति कल्पनाया अपि नावसरः ॥

\*एतेन\*—बोधयनादिवृत्तिकाराणाम्—“जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रगम्यं कारणमनुमानगम्यं कर्तृत्वविशिष्टमेव नोपादानस्वरूपमपि । “यतो वा इमानि भूतानी”ति वाक्यमंशतोऽनुमानगम्यमंशतः श्रुतिगम्यं चोपादानं बोधयतीति न युक्तम्, इति नामिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मेति पूर्वपक्षनिरासार्थं शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रम्, अनेन चामिन्ननिमित्तोपादानमेवानुमानविरोधेनापि शास्त्रेण बोध्यत इति सूचनान्न कोऽपि दोषः” इति विवरणं निष्प्रयोजनमिति सूच्यते । अयमेव पूर्वपक्षः श्रीभाष्यकारैः सिद्धान्ततया गृहीत इति, तदीयभाष्यत एव स्पष्टीभविष्यति । श्रीभाष्यमते हि “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रेऽपि “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति वेदान्तवाक्येनैव ब्रह्मस्वरूपनिर्णयात् तस्य चानुमानविरोधेनाभिन्ननिमित्तोपादानबोधने तात्पर्यकल्पनाऽसंभवाद् व्यर्थमेवेदं सूत्रं पुनरुक्तम् ; अथवा—“शास्त्रयोनित्वादि”ति सूत्रेणैव गतार्थत्वाद् व्यर्थं “जन्माद्यस्य यतः” इति वा सूत्रम् । अद्वैतमते त्वधारोपापवादन्यायेन ब्रह्मस्वरूपनिरूपणस्य विवक्षितत्वात् कारणवाक्यान्यधारोपमाश्रित्य, यथावच्चैतन्यमात्रवाक्यानि त्वपवादमाश्रित्य प्रवृत्तानीति सूचनार्थत्वादुभयसार्थक्यमवचनसिद्धमेव ॥

यत्तु—माध्वानां “शास्त्रयोनित्वादि”ति सूत्रेणानुमानिकेश्वरकारणतावादनिरासः, पाशुपतागमप्राप्तरुद्रकारणतावादनिरासश्च क्रियत इति मतम्, तत्र पूर्वसिन्नेव सूत्रे “अस्यानुवादकत्वेऽपि श्रुतिप्राप्तकारणतापरत्वादि”त्यादिनाऽऽनुमानिकेश्वरकारणतानिरासस्य श्रुत्यमूलगमप्राप्तरुद्रकारणतावादनिरासस्य च सिद्धत्वाद् व्यर्थमेतदधिकरणमापद्यते । कुमारिलपादा हि “हेतुदर्शनाच्चे”ति सूत्रे सांख्य-योग-पाशुपत-पाञ्चरात्राणां सर्वेषामपि त्रयोविद्धिरपरिगृहीतत्वादप्रामाण्यं स्पष्टमेव निरूपयन्ति, इति यदि शैवागमो न शास्त्रम्, तर्हि पाञ्चरात्रमपि न शास्त्रमेव, इति तदनुसारेण सिद्धान्तकरणं सर्वथा दुष्टमेव ॥ यथाच “पत्युरसामञ्जस्यात्” इति सूत्रेण पाशुपतमतस्य निरासः, तथा “नैकस्मिन्नसंभवादि”ति पाञ्चरात्रस्यापि निरासः । शाक्तमतनिराकरणपरतयोक्ताधिकरणयोजनं तु शाक्तमतस्य महाजनापरिगृहीतत्वाद् निरर्थकम् । सर्वथा तु शास्त्रयोनित्वाधिकरणमिदमपवादप्रक्रियया ब्रह्मस्वरूपनिष्कर्षार्थमेवेति सिद्धम् ॥

इति तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥

इति सप्तमं वर्णकं समाप्तम् ॥



## अथ अष्टमं वर्णकम्

❀ तत्तु समन्वयात् ॥ ❀

### पञ्चपादिकाविवरणम्

ज्ञानानन्दैकरूपं निखिलजगदुपादानमीशं प्रभूणाम्  
सर्वज्ञं ब्रह्म नित्यं विशदमतितरां निर्गुणं निष्क्रियं च ।  
एतत्कार्यावमृष्टिं निखिलभववतीं सम्यगुद्भूय विद्ध्वा  
त्वप्रामाण्यं श्रुतीनां श्रुतिमिरिदमजं ज्ञेयमित्युच्यतेऽस्मिन् ॥

### ऋजुविवरणम्

वक्ष्यमाणार्थं श्लोकेन संगृह्णाति—\*ज्ञानानन्दैकरूपमित्यादिना\* ॥ अस्मिन् सूत्रे श्रुतिभिर्ब्रह्म ज्ञेयमित्युच्यते  
इत्यन्वयः । पूर्वमुक्तं लक्षणद्वयमनुवदति—\*ज्ञानानन्दैकरूपमिति\* ॥ “ईशं प्रभूणामि”त्यनेन निमित्तत्वनिर्देशः ।  
“सर्वज्ञं ब्रह्म”त्यनेन सूत्रद्वयोक्तसर्वज्ञत्वानुवादः । “नित्यमि”त्यनेनोपादानत्वेऽपि परिणामित्वाभावात् जगदमैर्ब्रह्म  
दुष्येदित्युक्तम् । “विशदमतितरामि”त्यनेन नित्यत्वमुपजीव्यासङ्गत्वमुक्तम् । निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वञ्च तद्वैतुकमेव,  
अथवा—जगदुपादानत्वेन सक्रियत्वं सगुणत्वं च वदन्ति, तन्निरासः—“निर्गुणं निष्क्रियञ्चेति”ति । तथा परिणामित्वे  
निरस्ते विशदत्वं निर्मलत्वं नित्यत्वमविनाशित्वञ्च सिध्यति । अथवा—“नित्यमि”त्यादिविशेषणमेतत्सूत्रसाध्यत्वेन  
निर्दिष्टमिति । \*एतत्कार्यावमृष्टिमिति\* ॥ एषा चासौ कार्यावमृष्टिश्चेति विग्रहः । \*निखिलभववतीमिति\* ॥  
निखिलो भवो यस्याः सा, तथोक्ता ; उत्पत्त्यादिद्युक्त्यर्थः । एतदुक्तं भवति—“क्रियानुप्रवेशनिरासेन विशुद्धब्रह्मणो  
ज्ञेयत्वमुच्यते ; क्रियानुप्रवेशे ह्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गादिति । अयं द्वितीयवर्णकार्थः । \*मनु\* पूर्वसूत्रेणैवैतदुक्तम्,  
किं सूत्रान्तरेण ? इत्याशङ्क्याह—\*विद्ध्वा त्वप्रामाण्यमिति\* ॥ अप्रामाण्यनिरासेन तदेव साध्यत इत्यर्थः ।  
\*अयं प्रथमवर्णकार्थः\* ॥ यद्वा एतद् ब्रह्म ज्ञेयमित्युच्यत इत्यन्वयः । \*कार्यावमृष्टिं निखिलभववतीमिति\* निखिलां

### तत्त्वदीपनम्

तृतीये सूत्रे ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तम्, अत्रापि तदेवोच्यत इति पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—  
\*ज्ञानेति\* ॥ अस्मिन्नधिकरणे श्रुतीनामप्रामाण्यं विद्ध्वा, इदं ब्रह्म श्रुतिभिर्ज्ञेयमित्युच्यत इति संबन्धः । इदमां  
परामृष्टमर्थमाह—\*ज्ञानेति\* ॥ स्वरूपलक्षणमनूद्य तदस्थलक्षणमनुवदति—\*निखिलेति\* ॥ विरिञ्चयादीनामपि जग-  
दुपादानत्वप्रतिपत्तेः कथं ब्रह्मैव जगदुपादानमिति ? अत्राह—\*ईशमिति\* ॥ निखिलेशित्वं चाह—\*ईशमिति\* ॥  
ईश्वरत्वमुपपादयति—\*सर्वज्ञमिति\* ॥ अप्रामाण्येऽपि विधिशेषत्वेन प्रामाण्यमित्याशङ्क्य, द्वितीयवर्णकार्थमनुवदति  
—\*एतदिति\* ॥ एतत्कार्यावमृष्टिं च सम्यगुद्भूय ज्ञेयमित्युच्यत इति संबन्धः । एतस्मिन् ब्रह्मणि कार्यावमृष्टिः  
कार्यसंस्पर्शः, तमिति यावत् । उत्पत्त्यादीनां विधिफलत्वप्रसिद्धेस्तेषां चात्रानुपलम्भात् विधिरित्याह—\*नित्य-  
मित्यादिना\* ॥ संस्कारो द्विविधः—दोषापनयनलक्षणो गुणाधानलक्षणश्चेति, तत्राद्यं निरस्यति—\*नित्यं विशदमति-  
तरामिति\* ॥ \*नित्यम्\*—सदेति यावत् । “विशद”शब्देनानागन्तुकस्य दोषस्य निरासः । “अतितरामि”त्यनेनानाग-  
न्तुकस्य दोषस्यात्मन्यसंभवाद न तन्निरवृत्तिः ; अनागन्तुकदोषसंभवेऽपि न क्रियानिवर्त्यत्वमित्यर्थः । द्वितीयं निर-  
स्यति—\*निर्गुणमिति\* ॥ विकार्यत्वं निरस्यति—\*निष्क्रियमिति\* ॥ उत्पाद्यत्वं निरस्यति—\*अजमिति\* ॥  
सर्वगतत्वादनाप्यत्वं च । विधेः सातिशयानित्यफलकत्वदर्शान्मुक्तेरपि विधिसाध्यत्वे तथात्वं स्यादित्याह—  
\*निखिलेति\* ॥ निखिलो भवः साध्यत्वेन धर्तते यस्यां सा, निखिलभववती ; ताम् । \*सम्यगिति\* ॥ अबाधितोप-  
पत्तिभिरित्यर्थः । तृतीयसूत्रे प्रतिज्ञात्, प्रामाण्यं चतुर्थसूत्रे आक्षिप्य समाधीयत इत्यपौनरुक्त्यमित्यर्थः ॥



कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? यावता “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-  
मतदर्शनानाम्” (जै० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् ।

भामती

शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं ब्रह्मणः प्रतिज्ञामात्रेण, तदनेन सूत्रेणोपपादनीयम्, इत्युत्सूत्रं पूर्वपक्षमारचयति  
भाष्यकारः—\*कथं पुनरिति\* ॥ किमित्याक्षेपे । शुद्ध-बुद्धोदासीनस्वभावतयोपेक्षणीयं ब्रह्म ; भूतमभि-

ऋजुप्रकाशिका

\*शास्त्रेति\* ॥ ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्, न प्रतिपादितमित्यर्थः । प्रतिपाद्यतां  
तर्हि ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्, तत्राह—\*तदनेनेति\* ॥ \*तत्=शास्त्रप्रमाणकत्वम् ॥ \*अनेन  
सूत्रेण=समन्वयसूत्रेण । \*उपपादनीयमिति\* ॥ सिद्धान्तत्वेनोपपादनीयमित्यर्थः । उत्सूत्रम्=सूत्रं विना ।  
भाष्ये—“कथं पुनरिति”त्यत्र किंशब्दो न प्रश्नार्थः ; किंत्वाक्षेपार्थ इत्याह—\*किमित्याक्षेप इति\* ॥  
ब्रह्म न वेदान्तशास्त्रप्रमाणकमित्याक्षेपः कुतः ? इत्याशङ्क्य, वेदान्तप्रमाणैः सिद्धब्रह्मप्रतिपादने प्रयोजना-  
भावादिति हेतुमाह—\*शुद्धेत्यादिना\* ॥ न केवलं वेदान्तानां सिद्धब्रह्मप्रतिपादनेऽप्रयोजनत्वम्,

पञ्चपादिका

\*कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? यावताऽऽम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनानामिति  
क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो वेदान्तानामानर्थक्यमक्रियार्थत्वात्\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

जगतो जन्मादिकारणं ज्ञानानन्दं ब्रह्मेति च लक्षितम् । तत्र वेदान्ताः प्रमाणमिति प्रतिज्ञातम् ।  
तत्रेदं निरूपणीयम्—किं भूतेऽप्यर्थे शब्दः प्रमाणम् ? न वेति ? नेति तावदाह—\*कथं पुनर्ब्रह्मण इति\* ॥  
\*ननु\* आक्षेपः किंनिबन्धनः ? सूत्रप्रामाण्यादित्याह—\*यावताऽऽम्नायस्येति\* ॥

ऋजुविवरणम्

चासौ भवती चेति विग्रहः । एतदुक्तं भवति—अर्थगतं सविशेषत्वं स्वरूपप्रयुक्तं कार्यं हेतुकं च पराकृत्य शब्दगतस-  
प्रामाण्यं च निरस्य ज्ञेयत्वं व्युत्पाद्यत इति ॥

एतद्वर्णकद्वयोक्त्यर्थसमाधानरूपत्वात् तृतीयवर्णकार्थोऽप्यत्रैवोक्तः । अस्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सङ्गतिं वक्तुं वृत्तकीर्तनं  
करोति—\*जगतो जन्मादिकारणमिति\* ॥ “प्रतिज्ञातमिति”ति वदता न तत्र प्रामाण्यं साधितम्, अतो नास्य सूत्रस्य  
वैयर्थ्यमित्युक्तम् । सूत्रकारवचनसामर्थ्यान्नाक्षेपः ; तस्यान्यार्थत्वस्य दर्शितत्वादिति चोदयति—\*नन्वाक्षेप इति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

पूर्वस्मिन्नधिकरणे ब्रह्मणो वेदकारणत्वं तत्प्रमाणकत्वं चोपन्यस्तं वर्णकद्वयेन, तत्र द्वितीयवर्णकेनाक्षेपलक्षणां  
सङ्गतिमभिधाय वर्णप्राधान्य-संशय-पूर्वपक्षानाह—\*जगत इति\* ॥ प्रामाण्यसंभवासंभवौ च संशयकारणमिति द्रष्टव्यम् ।  
ज्ञानकाण्डस्यापि वेदत्वाविशेषान्न प्रामाण्यप्रतिक्षेप इति शङ्कते—\*नन्वाक्षेप इति\* ॥ न खलु वेदत्वमात्रेण प्रामाण्यं

वार्तिकम्

समन्वयसूत्रमवतारयितुं हेत्वसिद्धिमाशङ्कते—\*कथं पुनरित्यादिना\* ॥ तेन पूर्वोत्तरसूत्रयोराक्षे-

भाष्यभावप्रकाशिका

तदिदं प्रतिज्ञातं शास्त्रप्रमाणकत्वं सूत्रेणोपपादयितुमुत्सूत्रं पूर्वपक्षयति भाष्यकारः—\*कथं  
पुनरिति\* ॥ काऽऽनुपपत्तिरिति ? अत आह—\*यावतेति\* ॥ अध्ययनविधिपरिगृहीतानामानर्थक्यम-

प्रदीपः

\*मनु\*—जगत्कारणं संसारिव्यतिरिक्तमुपासनादिक्रियासम्बन्धयोग्यमेव “जन्माद्यस्य यतः”, “शास्त्रयोनित्वादि”ति-



### भामती

दधतां वेदान्तानामपुरुषार्थोपदेशिनामप्रयोजनत्वापत्तेः, भूतार्थत्वे च प्रत्यक्षादिभिः समानविषयतया लौकिकवाक्यवत् तदर्थानुवादकत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न खलु लौकिकानि वाक्यानि प्रमाणान्तरविषय-मर्थमवबोधयन्ति स्वतःप्रमाणम्, एवं वेदान्ता अपि, इत्यनपेक्षत्वलक्षणं प्रामाण्यमेषां व्याह्रयेत् । नच तैरप्रमाणैर्भवितुं युक्तम्, नचाप्रयोजनैः ; स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वनियमात् । तस्मात् तत्तद्विहितकर्मपेक्षितकर्तृ-देवतादिप्रतिपादनपरत्वेनैव क्रियार्थत्वम् । यदि त्वसंनिधानात् तत्परत्वं न रोच-यन्ते, ततः संनिहितोपासनादिक्रियापरत्वं वेदान्तानाम् । एवं हि प्रत्यक्षाद्यनधिगतगोचरत्वेना-नपेक्षतया प्रामाण्यं च प्रयोजनवत्त्वं च सिध्यतीति तात्पर्यार्थः । पारमर्षसूत्रोपन्यासस्तु पूर्वपक्ष-दार्ढ्याय । आनर्थक्यं चाप्रयोजनवत्त्वम्, सापेक्षतया प्रमानुत्पादकत्वं च ; अनुवादकत्वादिति ॥

### ऋजुप्रकाशिका

कित्वप्रामाण्यप्रसङ्गश्चेत्याह—\*भूतार्थत्वे चेति\* ॥ भूतार्थकत्वे चेत्यर्थः । वेदान्तानामिति शेषः । \*प्रत्यक्षादिभिरिति\* ॥ भूतार्थस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वनियमादिति भावः । \*तदर्थानुवादकत्वेन= प्रत्यक्षादिसिद्धार्थानुवादकत्वेन । \*अप्रामाण्यप्रसङ्गादिति\* ॥ मानान्तरसापेक्षत्वात् सापेक्षत्वलक्षणा-प्रामाण्यप्रसङ्गादित्यर्थः । “न खल्वि”त्यतः प्राक् चकारोऽध्याहर्तव्यः । अप्रामाण्यप्रसङ्गमेव द्रढयति—\*न खल्विति\* ॥ \*एषाम्= वेदान्तानाम् । अप्रामाण्यप्रसङ्गेऽप्रयोजनत्वापत्तौ चेष्टापत्तिमा-शङ्क्याह—\*नचैतैरिति\* ॥ \*एतैः= वेदान्तैः । “अप्रयोजनैरिति”त्यत्र भवितुं युक्तमित्यनुषङ्गः । कुतो न युक्तमिति ? अत आह—\*स्वाध्यायेति\* ॥ अध्ययनविध्युपात्तनिखिलस्वाध्यायमध्येऽक्षरमात्रस्याप्यानर्थक्या-योगादप्रामाण्यायोगाच्चेति भावः । किं तर्हि वेदान्तानामप्रामाण्यमेव ? नेत्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*क्रियार्थत्वमिति\* ॥ तथाच विहितक्रियाशेषत्वेनैव वेदान्तानां प्रामाण्यम्, नतु सिद्धब्रह्मप्रतिपादकत्वेनेति भावः । \*ननु\*—ब्रह्मकाण्डपठितानां वेदान्तानां कथमसन्निहितकर्मकाण्डपठितक्रियाशेषत्वेन प्रामाण्यमुच्यत इति ? अत आह—\*यदि त्वसंनिधानादिति\* ॥ क्रिया तच्छब्दार्थः । \*एवं हीति\* ॥ सन्निहितोपा-सनाक्रियापरत्वे हीत्यर्थः । किमर्थं तर्हि “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनानाम्” इति पारमर्षसूत्रोप-न्यासः ? क्रियापरत्वेन वेदान्तानामर्थवत्ताया उक्तत्वादिति, अत आह—\*पारमर्षेति\* ॥ \*आम्नायस्य= वेदराशेः, \*क्रियार्थत्वात्= कार्यार्थत्वात्, \*अतदर्शनानाम्= अकार्यार्थानामित्यर्थं धृत्वा सूत्रस्थस्यानर्थक्य-शब्दस्यार्थमाह—\*आनर्थक्यं चेति\* ॥ तस्यैव प्रकारान्तरेणार्थमाह—\*सापेक्षतयेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*अनुवादकत्वादिति\* ॥

### प्रदीपः

सूत्रद्वयप्रतिपाद्यम्, न तु निर्विशेषं प्रत्यगभिन्नं वा स्वरूपचैतन्यमात्रमुपासनादिक्रियासम्बन्धयोग्यम् । \*तदयं निष्कर्षः\* ॥ ब्रह्म न स्वप्राधान्येन शास्त्रसमधिगम्यम् ; प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरानुपयोगित्वात्, आर्थवादिकवायुक्षेपिष्ठत्वादिवत् । सिद्धपदार्थस्य हि प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरशेषत्वं विधेयक्रियाशेषत्वेन, तदशेषत्वेऽप्याश्रयक्रियाद्वारा स्वफलसाधनत्वेन वा भवति । आद्यं ब्रीह्यादीनाम्, द्वितीयं गोदोहनादीनाम्, इति कर्माङ्गकर्तृत्वाकं ब्रह्मत्वेन जीवोपासनापरमेव वा वेदान्तशास्त्रमिति स्वीकर्तव्यम् । तत्र च ब्रह्मपदार्थ एव पारमार्थिकः कश्चन स्वतन्त्रोऽप्रसिद्धः, इति जिज्ञास्यं ब्रह्म न प्रत्यगभिन्नं भवति । प्रत्यगभिन्नं हि ब्रह्म प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगम्यम्, इति मानान्तराधीनमेव सिद्धार्थबोधकत्वेऽपि वेदान्तवाक्यानां लौकिक-वाक्यानामिव प्रामाण्यमापद्येत । ततश्च वेदान्तानां प्रामाण्यमपि वैदिकविधिवाक्यानामिव क्रियाद्वारकमेव वक्तव्यम्, इति कथं ब्रह्म शास्त्रगम्यम् ? इत्यभिप्रायेणाशङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ \*एतेन\*—पूर्वाधिकरणेनास्याक्षेपिका सङ्गतिरिति सूच्यते । शास्त्रपदं प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्व-प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरशेषत्वयोः स्वविषय एवोपस्थापनेन पूर्वपक्षकोट्युपस्थापकमिति निष्कर्षः । जिज्ञास्यत्वं शास्त्रयोनित्वमुभयं च परस्परविरुद्धमिति कोटिद्वयोपस्थापनात् संशयः । शास्त्रपदसूचिताः पूर्वपक्षयुक्तीः



## पञ्चपादिका

यद्यपि प्रदर्शितानि वाक्यानि सर्वज्ञत्वादिगुणकं ब्रह्म जगत्कारणं प्रतिपादयन्ति ; तथाऽपि पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* वेदान्तानामानर्थक्यमुच्यते ? किं वा क्रियापरत्वमिति ? न तावत्क्रियापरत्वम् ; आदिमध्यावसानेषु तात्पर्येण ब्रह्मैक्यपर्यवसानादिति, तत्राह—\*यद्यपि प्रदर्शितानीति\* ॥ तथाऽपि तत्र न सम्भवति प्रामाण्यमित्यर्थः ।

\*ननु\* यत्र शब्दस्य शक्ति-तात्पर्ये विद्येते, तत्र शब्दः प्रमाणम्, न विषयविशेषापेक्षं शब्दस्य प्रामाण्यम् ;

## ऋजुविवरणम्

सूत्रकारवचनं यद्यपि क्रियाप्रकरणपठितवाक्यविषयम् ; तथाऽपि हेतुसामान्यादाक्षेपः । तत्र तद्वचनादेकदेशविषयत्वं विचारस्योक्तम्, अत्राप्रामाण्यम् । “यद्यपी”त्यनेन प्रतिपादकत्वमङ्गीकृत्यासंबादादप्रामाण्यमुक्तम्, तदयुक्तम् ; आनर्थक्य-स्योक्तत्वात्, पुनः शङ्काकारणाभावात्, व्यर्थश्च ; तेनैवाप्रामाण्यसिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*ननु वेदान्तानामिति\* ॥ “न तावदि”त्यनेन द्वितीयपक्षस्यादौ निराकरणं कृतम् ; सन्निहितत्वात्, प्रथमपक्षस्य निरस्तत्वादिति ॥

## तत्त्वदीपनम्

निश्चेतुं शक्यम् ; “आदित्यो यूयः” इत्यादौ व्यभिचारात्, किं तूपक्रमादिसमधिगततात्पर्येण ; तात्पर्यं च कार्य एवेति सकलवेदतात्पर्यविज्जैमिनिवचनमेव विविच्यतामित्याह—\*ननु वेदान्तानामिति\* ॥ अध्ययनविध्युपात्तत्वेना-नर्थक्यानुपपत्तिमभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ अपेक्षितं पूरयति—\*तथाऽपीति\* ॥ ब्रह्मणः सिद्ध-त्वात् तत्र पर्यवसानानुपपत्तिरित्यर्थः । सिद्धत्वमप्रयोजकमिति शङ्कते—\*ननु यत्रेति\* ॥ वर्तमानविषयापेक्षया प्रत्य-

## वार्तिकम्

पिकी सङ्गतिर्दर्शिता भवति । \*ननु\*—जन्मादिसूत्रेणावसरसङ्गतिरस्य वर्णिता ; सत्यं वर्णिता प्रथमसूत्रेण, “शास्त्रयोनित्वादि”त्यनेन चाक्षेपसङ्गतिरेवेत्यदोषः । अयमभिप्रायः—भवेत् शास्त्रप्रमाणकमुक्त-लक्षणं ब्रह्म, यदि शास्त्रेण प्रतिपाद्येत, नचैतदस्ति ; भूतत्वेन शास्त्राविषयत्वात् । अनधिगतार्थगन्तुं हि शास्त्रम् । अनधिगतार्थगन्तुं च वाक्यं तदेव भवति, यत् पुरुषस्य प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरोपदेशकम्, नान्यत् । कुतः ? तयोः प्रमाणान्तरानधिगतत्वात्, भूतवस्तुनः प्रमाणान्तरयोग्यस्य तद्विषयत्वध्नौव्यादपूर्वत्वा-भावात्, तदयोग्यस्य च बन्ध्यापुत्रवदसत्त्वाच्छास्त्रविषयत्वानुपपत्तेः । तथाचोक्तम्—

“प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति कथ्यते ॥” इति ॥

\*एतेन\*—उपनिषदां ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन शास्त्रत्वम्—\*प्रत्याख्यातम्\* ; अक्रियार्थत्वात्तात्तासां । अत एवार्थवादाधिकरणे जैमिनिना—“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते” इति पूर्वपक्षयता सिद्धवत्कारेण—“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि”ति तत्र हेतुं वदता समग्रस्य शास्त्रस्य क्रियापरत्वं दर्शितम् ; अन्यथाऽन्यतरासिद्धत्वाद् हेतुतया तदुपन्यासानुपपत्तेरिति, तदिदमुक्तम्—\*यावताऽऽम्ना-यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानामिति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितमिति\* ॥

## प्रदीपः

सप्रमाणं निर्दिशति—\*यावतेति\* ॥ शास्त्रस्य क्रियापरत्वम्—“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि”ति सूत्रेण प्रदर्शितमिति ‘सूत्रेण’-पदाध्याहारेण योजना । \*आम्नायस्य=वेदस्य, \*क्रियार्थत्वात्=साध्य-साधनेतिकर्तव्यतान्यतमपर्यवसायित्वनियमात्, \*अत-दर्शानाम्=साध्य-साधनेतिकर्तव्यतान्यतमाबोधकानामर्थवादानाम्, \*आनर्थक्यम्=अबोधकत्वम् अप्रमाणत्वमिति यावदिति सूत्रार्थः । इदं च सूत्रं वेदान्तवाक्येष्वपि यदि साक्षाद्योजनीयम्, तर्हि कर्माङ्गकर्तृ-देवतास्तावकं वेदान्तशास्त्रम्, इति वेदान्तानामर्थवादतया प्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे पर्यवसानम् । सति चार्थवादत्वे—“विधिना स्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युरि”ति विधेय-तदुपकारा-न्यतरस्तावकतयाऽर्थवादानामपि सतां वेदान्तानां नाप्रमाणाता भविष्यति, इति वेदान्तानामर्थवादत्वमेव युक्तमिति मीमांसकमतेन पूर्वपक्षः । तदुक्तं तन्त्रवार्तिकेऽर्थवादाधिकरणे—\*“एतेन\* उपनिषदो व्याख्याताः” इति । तमिमं पूर्वपक्षं दर्शयिष्यन्



अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्; अक्रियार्थत्वात्, कर्तृ-देवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा

वार्तिकम्

\*ननु\*—भवतु नाम “सोऽरोदीत्” इत्याद्यर्थवादवाक्यानामक्रियार्थत्वेनानर्थक्यादप्रामाण्यम्, उपनिषदां तु, “अत्मेत्येवोपासीत” “आत्मानमेव लोकमुपासीत” “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्याद्यानां क्रियार्थत्वदर्शनान्नानर्थक्यमित्यत आह—\*अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्; अक्रियार्थत्वादिति\* ॥ समानाधिकरणे पञ्चम्यौ ॥

अयमभिप्रायः—भवतु नाम “स्वर्गकामो यजेते”त्यादिवाक्यवद् “आत्मानमेव लोकमुपासीते”त्यादि-वाक्यानां क्रियार्थत्वेन सार्थक्यम्, तथाऽपि वयाखननादिवाक्यवत् “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,” “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्मास्मी”त्यादिवाक्यानामानर्थक्यमेव; आख्यानादिरूपत्वेनानित्यसंयोगदर्शनाच्च । नच “आत्मानमेव लोकमुपासीते”त्यादिवाक्यानामपि क्रियार्थत्वं सम्भवति; फलाश्रवणात्, जीवनादि-निमित्ताश्रवणाच्च । एतेन प्रायश्चित्तरूपताऽपि प्रत्युक्ता; दोषसंयोगाश्रवणात् । आत्मन ईप्सिततमत्वश्रुते-स्तत्संस्कार एव फलमिति चेत्, न; अनुपयोगात् । तदेव हि संस्क्रियते, यदुपयुक्तम्, उपयोक्ष्यमाणं वा । तद्यथा “व्रीहिभिर्यजेते”तिवाक्येन विनियुक्तानां व्रीहीणां “व्रीहीन् प्रोक्षती”ति संस्कारो विधीयते । यथा वा—“आहवनीये जुहोती”ति वाक्यान्तरेण विनियोक्ष्यमाणस्य संस्कारविशिष्टस्याग्नेः संस्कारो “वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीते”ति । नचैवं केनचिद् वाक्येन कस्मिंश्चित् कर्मण्यात्मा विनियुक्तो विनियोक्ष्यमाणो वा, येनोपासनया तत्संस्कारः स्यात् ॥

आख्यातोपस्थितभावनया कर्तुराक्षेपाद् विनियुक्तः कर्तेति चेत्, सत्यम्; तथाऽपि विनियोजका-भावेनोपासनायास्तत्संस्कारत्वानुपपत्तेः, “आत्मानमेव लोकमुपासीते”त्यादेरनारभ्याधीतत्वात् । अनार-भ्याधीतत्वेऽपि वाक्येन जुहुद्वारा पर्णत्ववदात्मद्वारोपासनान्वय इति चेत्, न; जुहुवदात्मनः कत्वव्य-भिचाराभावात्, लौकिकक्रियायामपि कर्तृत्वात् तद्द्वारा कत्वन्वयानुपपत्तेः । \*एतेन\*—सकुवाक्यवद् विनियोगभङ्गाद् भावनाप्राधान्यम्—\*प्रत्युक्तम्\* ; फलाश्रुतेः । रात्रिसत्रवदर्थवादगतमोक्षफलेनान्वयान्न फलाश्रवणमिति चेत्, न; मोक्षस्य क्रियासाध्यत्वेऽनित्यत्वापत्तेस्तत्फलत्वानुपपत्तेः । अस्तु तर्हि विश्व-जिन्यायेनानित्यस्वर्गफलाभ्याहार इति चेत्, न; वैषम्यात् । “विश्वजिता यजेते”त्यत्र भावनायाः प्राधान्य-श्रवणात् कस्यचित् प्रकरणेऽपाठात्, जीवनादिनिमित्ताश्रवणाच्चाङ्गत्वनित्यत्वानुपपत्तेः, किमंशापूरणात्, तत्पूरणापेक्षायां “स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशेषादि”ति न्यायेन तत्पूरणं क्रियते । अत्र तु भावनाया अथत्र गुणीभावाद् न स्वातन्त्र्येण किमंशापेक्षाऽस्तीति न तत्कल्पनावकाशः । तस्मात् “जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्” “विष्णुरूपांशु यष्ट्योऽज्जामित्वाये”त्यादि वाक्यवद् “आत्मानमेव लोकमुपासीते”त्यादिवाक्याना-मपि विधिसरूपत्वादर्थवादमात्रत्वम् । तथाचानर्थक्यम् । अतः सर्ववेदान्तानामक्रियार्थत्वेनानर्थक्यात् सम्यगभिहितम्—\*अतो वेदान्तानामानर्थक्यमक्रियार्थत्वादिति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

युक्तमित्यत आह—\*कर्त्रिति\* ॥ अतत्प्रकरणपठितानां कथं तच्छेषतेति ? अताह—\*उपासनेति\* ॥

प्रदीपः

सिद्धान्ते वेदान्तानामानर्थक्यमापादयति—\*अत इति\* ॥ क्रियार्थत्वस्यावश्यकत्वाद् वेदान्तानां प्रत्यगभिन्नब्रह्मार्थत्वे \*आनर्थक्यम्\* = अप्रामाण्यं स्यादिति योजना; कुत इति ? अत आह—\*अक्रियार्थत्वादिति\* ॥ \*ननु\* तर्हि का



## वार्तिकम्

एवं तावदर्थवादाधिकरणपूर्वपक्षमाश्रित्याऽऽनर्थक्यमुपनिषदामभिहितम्, संप्रति तत्सिद्धान्तमाश्रित्य तासां क्रियार्थत्वेन सार्थक्यमाह—\*कर्तृ-देवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तर-विधानार्थत्वं वेति\* ॥ अयमभिसन्धिः—“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इति स्वाध्यायाध्ययनविधेरध्ययनगृहीत-स्वाध्यायस्यार्थज्ञानहेतुत्वेन दृष्टार्थतया प्रामाण्यमुपपादितम्—“अथातो धर्मजिज्ञासे”त्यत्र । तत्र यदि ताव-दधीतस्वाध्यायस्यान्तरमात्रमपि निरर्थकं स्यात्, तदा तावतैव स्वाध्यायविधेरप्रामाण्यप्रसक्तौ विधिवाक्येऽ-प्यनाश्वासः स्यात् । अतस्तत्प्रामाण्यमभ्युपगच्छता “तुल्यं” तु “सांप्रदायिकमि”ति न्यायेन स्वाध्यायात्तर-मात्रस्याप्यानर्थक्यं नाशङ्कनीयम् ॥ \*ननु\*—उक्तमर्थवादादिवाक्यानां प्रवृत्ति-निवृत्तिशून्यपरिनिष्ठित-वस्त्वभिधायकत्वेनाक्रियार्थत्वान्नार्थवत्त्वमिति, \*नैष दोषः\* ; विधिवाक्यवत् साक्षात् क्रियार्थत्वाभावेऽप्येषां परम्परया तदर्थत्वोपपत्तेः, तत्रार्थवादानामधिकारविधेः प्रवर्तकत्वांशकथंभावपूरणेन क्रियार्थत्वम् ॥

अस्ति च विधे रूपद्वयं सङ्क्षेपतः, विस्तरतस्तु रूपचतुष्टयमिति । तत्र सङ्क्षेपेण रूपद्वयं तावत्—अज्ञातज्ञापकत्वम्, अप्रवृत्तप्रवर्तकत्वं च । प्रथमं तावदज्ञातां त्र्यंशामार्थी भावनां ज्ञापयति पुरुषम्—एतत्-फलिका, एतत्करणिका, एतदितिकर्तव्यताका त्वदीया कृतिरिति । तदेतदज्ञातज्ञापकत्वमुच्यते । पश्चात् तद्वोधेन फलरागं सम्पाद्य तस्यां पुरुषं प्रवर्तयति ; तदेतदप्रवृत्तप्रवर्तकत्वमुच्यते—यां प्रवर्तनाख्यां शाब्दी भावनां विधे रूपमाहुः । साऽप्यप्रवृत्तप्रवर्तकत्वलक्षणा शाब्दी भावना त्र्यंशैव—किम् ? केन ? कथमिति ? तत्र किमंश अर्थभावनया पूर्यते । करणांशस्तु ‘मामेवं वेदो ज्ञापयती’ति तज्ज्ञानेन । कथमंशस्तु प्राशस्त्य-बोधेन रागोत्पत्तिद्वारेति । प्राशस्त्यबोधश्चार्थवादैर्लक्षणया जन्यत इत्युपपद्यतेऽर्थवादानां क्रियार्थत्वम् । तथाचोक्तमभियुक्तैः—

“लिङोऽभिधा सैव च शाब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः ।

सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥” इति ॥

तदेव च विधे रूपद्वयमुत्पत्ति-विनियोगाधिकार-प्रयोगलक्षणव्यापारभेदात् चतुर्था व्यपदिश्यते—तत्र कर्मस्वरूपमात्रं ज्ञापयन् विधिरुत्पत्तिरित्युच्यते ; तस्याङ्गसम्बन्धं ज्ञापयन् स एव विधिर्विनियोगः ; स एव च फलसम्बन्धं ज्ञापयित्वा तत्र पुरुषं प्रवर्तयन्नधिकारः ; क्रमान्तं सर्वमुपसंहृत्यानुष्ठापयन् प्रयोग इति । तत्र प्रयोगविधौ कथमंशो मन्त्रेण पूर्यते—अनुतिष्ठेत्, किम् ? क्रमान्तं साङ्गं कर्म, केन ? पदार्थानां स्मरणेन, कथम् ? मन्त्रैरिति । नामधेयैस्त्वधिकारविधौ कारणांशविशेषपूरणम् । भावयेत्, किम् ? स्वर्गम् ; केन ? यागेन, केन तेन ? ज्योतिष्टोमेनेति । अतो मन्त्र-नामधेययोरपि क्रियार्थत्वं सिद्धम् ॥ उपनिषदां तु क्रियार्थत्वे द्वारं वक्तव्यमवशिष्यते । तद्वक्तव्यम्, तत्राह—\*कर्तृ-देवतादिप्रकाश-नार्थत्वेन वा क्रियाशेषत्वमिति\* ॥ वाशब्दो वक्ष्यमाणपक्षान्तरापेक्षया । “योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतमि”त्यादिवाक्यानां प्रयोगविध्यपेक्षितकर्माङ्गकर्तृप्रति-पादकत्वम् ; “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” “यः सर्वज्ञः सर्वविद्”त्यादीनां तु तदपेक्षितदेवताप्रतिपादकत्वम् ; “सोऽश्नुते सर्वान् कामानि”त्यादीनां च तत्फलप्रतिपादकत्वम् ; अत उपपन्नमुपनिषदामपि क्रियार्थ-

## प्रदीपः

गतिरिति ? अतः प्रथमं पूर्वपक्षं मीमांसकदृष्ट्या निर्दिशति—\*कर्तृ-देवतादीति\* ॥ भाट्टमते ह्यध्ययनविधिर्नाक्षरग्रहण-पर्यवसायी, किन्त्वर्थज्ञानपर्यवसायीति सर्वविदितमिदम् । न ह्यपुरुषार्थोऽक्षरग्रहणं फलतामर्हतीति तदाशयः । सति चार्थ-ज्ञानार्थत्वे तस्य प्रयोजनवत्त्वनिर्वाहार्थमात्मज्ञानमपि कर्माङ्गकर्तृत्वावकतया प्रयोजनवदिति स्वीकर्तव्यमिति भावः । ये तु



## वार्तिकम्

त्वमिति ॥ तदसत् ; कर्तुर्लोक-वेदक्रियासाधारणत्वेन क्रतुव्यभिचारित्वादित्युक्तम् । कर्तृमात्रस्य व्यभिचारेऽपि देहव्यतिरिक्तः कर्ता न व्यभिचरति ; देहात्मनैव द्वयार्थं लौकिकक्रियोपपत्तेः, वैदिक्यास्त्वद्वयार्थत्वात्तद्व्यतिरिक्तकर्त्रपेक्षणादिति—चेत्, न ; “वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत”, “ग्रीष्मे राजन्यः”, “शरदि वैश्यः” इति ब्राह्मणत्वादिविशिष्टस्यैवाधानकर्तृत्वश्रवणात् तत्कर्तुरेव यागकर्तृत्वात्, देहव्यतिरिक्तात्म-कर्तृत्वासिद्धेः, क्रियामात्रस्य काय-वाङ्मनःसङ्घातनिष्ठत्वाच्च । कृत्याश्रयस्य कर्तृत्वविवक्षायां न नातिरिक्तकर्तृत्वसिद्धिः ; कृतेरपि सङ्घातनिष्ठत्वात् । तदतिरिक्तनिष्ठत्वेऽपि लोक-वेदसाधारण्येन व्यभिचारावश्यक्यमभावात्, “ब्राह्मणो यजेते”त्यादिशास्त्रविरोधाच्च ॥

\*ननु\*—न वयं ब्राह्मणादिदेह आत्माभिमानरहितस्य यागकर्तृत्वं ब्रूमः ; तदात्माभिमानवत् एव तच्छ्रुतेः, किं तर्हि ? यथा विधिः पुरुषप्रवृत्तौ जनयितव्यायां स्वेतिकर्तव्यतया प्राशस्त्यज्ञानमपेक्षते, तद्वदिहलोकमात्रस्थायिदेहव्यतिरिक्तपरलोकसम्बन्धिताज्ञानमपि ; तज्ज्ञानमन्तरेण परलोकसम्बन्धिफलभोगेच्छानुपपत्तेः, स्वतन्त्रस्य पुरुषस्याप्रवृत्तेः, अतस्तदर्थमुपनिषदां विनियोग इति—चेत्, न ; तज्ज्ञानस्य विधिसामर्थ्यादेव सिद्धेरुपनिषदां तत्र विनियोगानुपपत्तेः । यदि ब्रूयात्—यथा “वसन्ताय कपिञ्जलानालभते” इत्यादौ विधिसामर्थ्यात्प्राशस्त्यलाभेऽपि “वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः” इत्यादावर्थवादादेव प्राशस्त्यज्ञानं कल्पते, न विधिसामर्थ्यात्, कुत एतत् ? श्रुतादेव तत्सिद्धौ सामर्थ्यस्य दुर्बलत्वेनाकल्पकत्वात्, अन्यथाऽर्थवादवैयर्थ्यात्, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनापत्तेः, तदुपनिषदां सार्थकत्वाय विधिसामर्थ्याद् देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं सत्यपि तस्मिन् कल्पत इति—चेत्, न ; वैषम्यात् । प्रकरणस्था हार्थवादश्रुतिर्विधिसामर्थ्यं बाधते, नाप्रकरणस्था ; अन्यथा कपिञ्जलवाक्येऽप्यप्रकरणस्थयाऽर्थवादश्रुत्या विधिसामर्थ्यबाधापत्तेः । तथाऽप्रकरणस्थेन विध्यन्तेन कथमित्याकाङ्क्षापूरणात् चोदकबाधापत्तेश्च । अतोऽप्रकरणस्थेनोपनिषद्वाक्येन न विधिसामर्थ्यबाधो युक्तः ॥

अस्तु वैषम्यं, तथाऽपि “योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतमि”त्यादिवाक्यानामेव तथात्वं भवेत्, नत्वशनायाद्यतीतात्मतत्त्वप्रतिपादकानां भूयसाम् ; विरोधात् । नहि परलोकसम्बन्धिकर्मफलभोक्तृबोधनार्थं प्रवृत्तानां तत्प्रातिकूल्येन तद्भोक्तृत्वबोधनं युक्तम् ; तद्बोधने वा “विषं भुङ्क्ष्वे”तिवत् तद्विपरीतपरत्वम् ; अतिप्रसङ्गात्, प्रवृत्तिप्रातिकूल्यध्नौ व्याच । \*एतेन\*—देवतापरत्वं तद्वाक्यानाम्—\*प्रत्याख्यातम्\* ; तेषां चात्मपरत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अभोक्तृत्वादिगुणस्य कर्तृत्ववद्देवतात्वानुपपत्तेश्च । हविर्भोक्तृत्वात्तासाम्, “तमशनायपिपासाभ्यामन्व-वार्जन्, ता एनमब्रुवन्नायतनं नो देही”त्यादिश्रुतेश्च । तस्माद् नोपनिषदां कर्तृ-देवतादिप्रकाशनेन = क्रिया-

## प्रदीपः

पुनरध्ययनविधेरक्षरग्रहणपर्यवसायित्वमेव, अर्थज्ञानं तु “ज्ञेयश्चे”ति विध्यन्तरबोध्यमेवेति वदन्ति, तन्मतेऽर्थज्ञानं न क्रतोरङ्गम्, इति न वेदान्तानामात्मज्ञानद्वारा कर्माङ्गत्वम्, किन्तु स्वतन्त्रोपासनाविधिपरत्वमेव । तत्र च जीवो ब्रह्मत्वेनोपास्य इत्या-रोपितं ब्रह्मत्वमुपास्यतया “मनो ब्रह्मेत्युपासीते”त्यादि स्थल इव विवक्षितम् । सर्वथा तु जीवातिरिक्तब्रह्मबोधने वेदान्तानां तात्पर्यमित्येव फलतीत्यभिप्रायेण पूर्वपक्षान्तरं संगृह्णाति—\*उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वेति\*॥ ब्रह्मत्वेन जीवोपासनादिक्रिया-परत्वं वेत्यर्थः । “अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते” इत्युत्तरग्रन्थे तु पारमार्थिकस्वतन्त्रब्रह्मोपासनाविधिरेव पूर्वपक्षिणोपक्षिप्यत इति विवेकः । तथाच सिद्धवस्तुबोधकत्वेनैव यदि विधिसम्बन्धोऽङ्गीकर्तव्यः, तर्ह्यर्थवादत्वम्, अन्यथा तु सिद्धवस्तुबोधकत्वं विधित्वं च विरुद्धमेव । सति चैवमज्ञातज्ञापकत्वेन वेदान्तानां प्रामाण्यं यदि स्वीकर्तव्यम्, तर्ह्यनर्थवादत्व उपासनाविधिपरत्वमेव युक्तमिति प्रथमपूर्वपक्षप्रकारद्वयनिष्कर्षः । \*ननु\* सिद्धार्थत्वेऽप्यज्ञातज्ञापकत्वरूपं विधित्वं कथं न संभवतीति ? अत आह—



क्रियाशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा । नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति; प्रत्यक्षादिविषयत्वात् परिनिष्ठितवस्तुनः । तत्प्रतिपादेन च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अत एव “सोऽरोदीत्” इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति “विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः” (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वे-

भामती

\*अत इत्यादि वाऽन्तं ग्रहणकवाक्यम्\* । अस्य विभागभाष्यम्—\*नहि—इत्यादि उपपन्ना वा इत्यन्तम्\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

\*ग्रहणकवाक्यमिति\* ॥ सङ्ग्रहवाक्यमित्यर्थः । \*विभागभाष्यम्=अस्यैव विवरणभाष्यमित्यर्थः । \*ननु\* किमिति वेदान्तानामर्थवादवद् विधिपदैकवाक्यतोच्यते ? मन्त्रवत् पार्थगर्थमेवोच्यतामित्याशङ्क्य, तर्हि तद्वद् विधिभिर्वाक्यैकवाक्यता स्यादित्याह—\*भाष्ये—मन्त्राणां चेति\* ॥

वार्तिकम्

कर्तृ-देवतादिप्रकाशनेन क्रियाशेषत्वमध्यवसातुं शक्यत इत्यस्वरसेन पक्षान्तरमाह—\*उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वेति\* ॥ आदिशब्देनोपनिषत्पठितप्रवर्ग्यश्रीमन्थ-पुत्रमन्थादिक्रिया गृह्यन्ते । अन्तरशब्दो ज्योतिष्टोमादिकर्मकाण्डपठितक्रियाऽपेक्षया ॥

\*ननु\*—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे”त्यादिवाक्यानामुपासनादिक्रियाप्रकरणेऽपाठात् तत्र तद्वाचकपदाभावाच्च कथमुपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वमपि स्यात् ? अतः स्वार्थपरत्वमैवैषां वाक्यानामिति, नेत्याह—\*नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं सम्भवति ; प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः । तत्प्रतिपादेन च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावादिति\* ॥ यदि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनेऽपि पुरुषार्थपर्यवसानं स्यात्, तर्ह्यर्थवादानामपि स्वार्थपरत्वं स्यात् । नचैतदस्ति ; अर्थवादाधिकरणसिद्धान्तविरोधादित्याह—\*अत एव ‘सोऽरोदीत्’त्यादीनामानर्थक्यं मा भूदिति “विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरिति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तमिति\* ॥ \*अत एव=परि-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* वेदान्तानां क्रियापरत्वमुपक्रमादिलिङ्गावगतेन सिद्धवस्तुबोधनतात्पर्येण विरुद्धमिति, तत्राह—\*नहीति\* ॥ प्रत्यक्षादिसंवादेऽनुवादकतया तद्विसंवादे चित्त-निष्क्रान्तादिविषयचाक्षुष-

प्रदीपः

\*नहीति\* ॥ केवलपरिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं निष्प्रयोजनत्वादनुपपन्नमिति भावः । \*ननु\* परिनिष्ठितस्यापि वस्तुनो ज्ञापनार्थं शास्त्रमपेक्षितमेवेत्यत आह—\*प्रत्यक्षेति\* ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेणापि परिनिष्ठितवस्तुज्ञानसंभवात् शास्त्रवैयर्थ्यमपरिहरणीयमेवेति भावः । \*ननु\* पुरुषार्थोपयोगिसिद्धार्थज्ञानजनकत्वेन वेदान्तानां प्रामाण्यमित्यत आह—\*तत्प्रतिपादने चेति\* ॥ प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरसाध्यत्वात्पुरुषार्थस्य प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरायोग्यवस्तुज्ञानं न पुरुषार्थाय कल्पत इति भावः । \*तत्प्रतिपादने = परिनिष्ठितवस्तुज्ञापने, \*हेयोपादेयरहिते = स्वसाध्यज्ञानद्वारकप्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरायोग्यगोचरे, \*पुरुषार्थाभावात् = प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरसाध्यफलाभावात्, न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवतीति योजना । चशब्दस्य पुरुषार्थाभावादित्यनेन सम्बन्धः । तथाच परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनाभावे हेतुद्वयं विवक्षितम्—परिनिष्ठितवस्तुनः प्रत्यक्षादिविषयत्वम्, हेयोपादेयरहिते तस्मिन् पुरुषार्थाभावश्चेति । \*ननु\* यदि—“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते” इति सूत्रेणार्थवादानामानर्थक्यं वर्णितम्, तर्ह्यर्थवादत्वपक्षे वेदान्तानामप्यानर्थक्यमेव युक्तम्, इति कथं कर्मापेक्षितकर्तृस्तावकतया प्रामाण्यमपि न तत्सङ्गविरुद्धमिति ? अत आह—\*अत एवेति\* ॥ सिद्धवस्तुप्रतिपादने प्रयोजनाभावादे-



**नार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च “इषे त्वा” इत्यादीनां क्रिया-तत्साधनाभिधायित्वेन**

**भामती**

स्यादेतत्—अक्रियार्थत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपविधिपरा वेदान्ता भविष्यन्ति, तथाच “विधिना त्वेकवाक्य-  
त्वात्”—इति राद्धान्तसूत्रमनुग्रहीष्यते । न खल्वप्रवृत्तप्रवर्तनमेव विधिः ; उत्पत्तिविधेरज्ञात-

**ऋजुप्रकाशिका**

“इषे त्वे”त्यत्र “छिनत्ती”त्यध्याहाराच्छास्त्राभेदः क्रिया भाति, क्वचिच्च “अग्निर्मूर्धे”त्यादौ तत्साधनं देवता  
विभातीति । मन्त्राः श्रुत्यादिभिः क्रतौ विनियुक्ताः । ते किमुच्चारणमात्रेणादृष्टं कुर्वन्तः क्रतावुपकुर्वन्ति ?  
उत दृष्टेनैवार्थप्रकाशेन ? इति सन्देहे, तत्र न तावद् दृष्टार्थत्वमेव मन्त्राणां शक्यं वक्तुम् ; उपायान्तरेणापि  
मन्त्रार्थस्य स्वाध्यायकालावगतस्य चिन्तादिना प्रयोगसमये स्मृतिसंभवात्, तावन्मात्रार्थत्वे च मन्त्राणां नित्य-  
वदान्नानवैयर्थ्यात् । अथ मन्त्रैरेवार्थप्रत्यायननियमाददृष्टं कल्प्येत, तदुच्चारणादेव कल्प्यताम् ; तस्य  
पुंव्यापारगोचरत्वात्, स्वव्यापारे च पुरुषस्य नियोगात् तत्र फलाकाङ्क्षायात्, इति पूर्वपक्षं प्रापम्य, प्रमाण-  
लक्षणे सिद्धान्तितम्—

“यस्य दृष्टं न लभ्येत तस्यादृष्टप्रकल्पना ।

लभ्यतेऽर्थस्मृतिर्दृष्टा मन्त्रोच्चारणतस्त्विह ॥

अर्थस्मृतिः प्रयोगार्था प्रयोगाच्च फलोदयः ।

इति दृष्टार्थसंपत्तौ नादृष्टमिह कल्प्यते ॥”

यस्तु मन्त्रैरेव स्मर्तव्य इति नियमः, तस्य किंचिददृष्टमस्तीत्यदृष्टं कल्प्यते । तस्माद् दृष्टार्था मन्त्रा  
इति । तद्यपि “सोऽरोदीत्” इत्यादिवाक्यानामानर्थक्यपरिहाराय स्तावकत्वेन विध्येकवाक्यतयाऽर्थवत्त्ववद्  
वेदान्तानामप्युपासनाविध्यपेक्षितकर्त्तादिस्तावकत्वेन विध्येकवाक्यतयाऽर्थवत्त्वमुक्तमेव ; तथाऽप्यक्रियार्थानामपि  
वेदान्तानां ब्रह्मणि विधिपरत्वमेवास्त्विति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ एवंचापरमप्यनुकूलं भवतीत्याह—  
\*तथाचेति\* ॥ \*ननु\*—अप्रवृत्तप्रवर्तनं विधिः, तच्च कार्य एव ; तथाच सिद्धे ब्रह्मणि कथं विधिरिति ?  
अत आह—\*न खल्विति\* ॥ किं त्वज्ञातज्ञापनमपीति शेषः । कुत इति ? अत आह—\*उत्पत्तिविधे-  
रिति\* ॥ तथाच प्रयोगविधेरेवाप्रवृत्तप्रवर्तकत्वेन कर्ममात्रबोधकोत्पत्तिविधेरप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाभावेन विधित्वं न

**वार्तिकम्**

निष्ठितवस्तुप्रतिपादने पुरुषार्थाभावादेवेत्यर्थः । न केवलमर्थवादाधिकरणविरोधः, किन्तु मन्त्राधिकरण-  
विरोधश्चेत्याह—\*मन्त्राणाञ्च त्वा इत्यादीनां क्रिया-तत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तमिति\* ॥

चकाराज्ञामधेयाधिकरणविरोधोऽपि सूचितः, उक्तहेत्वनुषङ्गश्च ॥

\*ननु\*—भवतु नामार्थवाद-मन्त्र-नामधेयानां क्रियाप्रकरणपठितत्वात् परम्परयाऽपि तदर्थत्वम्,  
‘सत्यमि’त्यादिवाक्यानां त्वनारभ्याधीतत्वात् स्वप्रकरणे च क्रियाभावाद् न क्रियार्थत्वमित्युक्तमिति—

**भाष्यभावप्रकाशिका**

ज्ञानस्येव स्पर्शनज्ञानविरोधे प्रामाण्यायोगादिति भावः । किंच प्रयोजनशून्यतया तात्पर्यायोगादवस्तु-

**प्रदीपः**

वेत्यर्थः । \*सोऽरोदीदित्यादीनामानर्थक्यं मा भूदिति\* ॥ अयं भावः—“आज्ञायस्य क्रियार्थत्वा”दिति पूर्वपक्षसूत्रम्,  
न तु सिद्धान्तसूत्रम् । तथाच क्रियार्थत्वेनाप्रामाण्यस्य पूर्वपक्षसम्मतस्य निराकरणाय प्रवृत्तम्, यत्—“विधिना त्वेकवाक्य-  
त्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरि”ति सूत्रम्, ततो हि वेदवाक्यानां सर्वेषां “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इति परिगृहीतानामप्रामाण्या-  
योगादर्थवादानामप्यानर्थक्यं मा भूदिति विधिसम्बन्धित्वावकतया प्रामाण्यस्य व्यवस्थापनाद् वेदान्तवाक्यानामप्यर्थवादत्वेनैव



## पञ्चपादिका

तत्र परिनिष्ठिते वस्तुनि प्रत्यक्षादीनामपि प्रवृत्तिसम्भवात् तैरसंवादे न प्रामाण्यं प्रतिलभन्ते ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

विषयस्य शाब्दप्रामितिहेतुत्वाभावादिति, तत्राह—\*तत्र परिनिष्ठिते वस्तुनीति\* ॥ अभूदस्ति भविष्यतीत्यव-  
गम्ये वस्तुनि, असाध्यस्वभावे वा वस्तुनीत्यर्थः । \*ननु\* परिनिष्ठितोऽपि रसो न चक्षुषा गृह्यते; नापि जिह्वया  
गन्धः, तद्वत्परिनिष्ठिते ब्रह्मणि प्रमाणान्तरानधिगम्यतया शब्दैकगम्यत्वं किं न स्यात् ? \*न\* ; चक्षुरादी-  
नामितरेतरविषयव्यभिचारवदागमव्यतिरिक्तप्रमाणानां परिनिष्ठिते वस्तुनि व्यभिचारदर्शनाद् भूतं चेत्प्रमाणा-  
न्तरगम्यमेवेति निश्चीयते । \*ननु\* तुच्छव्यावृत्तेऽपि वस्तुनि प्रमाणान्तरगम्यताया व्यभिचाराभावात्  
कार्यमपि प्रमाणान्तरगम्यं किं न स्यात् ? \*न\* ; साध्यस्वभावतया प्रत्यक्षानधिगम्यतया सम्बन्धाग्रहणात्,  
अनुमानादीनामनवगम्यत्वात् तुच्छव्यावृत्तं प्रमाणान्तरयोग्यमिति च ग्रहणाद् वरं भूतं वस्तु प्रमाणान्तरयोग्य-  
मिति ग्रहणम् ; प्रयोजकस्य निरुपाधिकत्वलाभात् ।

## ऋजुविवरणम्

“परिनिष्ठितमि”त्ययुक्तम् ; उत्पत्तेः प्रागसिद्धत्वात्, पश्चात् परिनिष्ठितत्वस्य सर्वत्रैवाविशेषादित्याशङ्क्याह—  
\*अभूदस्तीति\* ॥ तदपि न कारणम् ; कार्येऽपि समानत्वादित्याशङ्क्याह—\*असाध्यस्वभावे चेति\* ॥ तत्र टीका  
—\*प्रत्यक्षादीनामपीति\* ॥ अयं प्रयोगः—ब्रह्म धर्मि, प्रमाणान्तरयोग्यमिति साध्यो धर्मः, परिनिष्ठितवस्तुत्वात् ;  
घटादिवत् । \*तैरसंवाद इति\* ॥ अयं प्रयोगः—वेदान्तशास्त्रं धर्मि, प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः, प्रमाणान्तर-  
योग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानार्थत्वात् ; स्पर्शगोचरचित्रनिम्नतादिज्ञानवत् । शङ्कितोपाधिरनुकूलतर्को वा नास्यास्तीति  
चोदयति—\*ननु परिनिष्ठितोऽपीति\* ॥ परिनिष्ठितत्वेन हेतुना यथा चक्षुरादिग्राह्यत्वं रसादीनां साधयितुं न शक्यते,  
तथा प्रमाणान्तरग्राह्यत्वमपि न सम्भवति ; विशेषाभावादित्यर्थः । \*ननु\* किमिति पूर्वहेतोरप्रयोजकत्वम् ? अनु-  
गतत्वात्तदेव प्रयोजकमस्तु, को दोषः ? इति चेत्, कार्ये प्रसङ्गादिष्टविधात इति भावः । \*ननु\* व्यावर्त्यत्वेन हेतुना  
न कार्यस्य मानान्तरयोग्यत्वानुमानम् ; बाधितविषयत्वादित्याह—\*साध्यस्वभावतयेति\* ॥ नत्वेवं ब्रह्मण्यप्यनुमान-  
मबाधितविषयम् ; केनचिद्रूपेण तूभयत्राविशिष्टम्, अतो व्यापिन एव प्रयोजकत्वमिति ॥

## तत्त्वदीपनम्

क्षस्य प्रामाण्यं दृष्टमित्याशङ्क्याह—\*विषयस्येति\* ॥ प्रत्यक्षज्ञानं प्रति विषयस्य कर्मकारकतया जनकत्वाद् विषया-  
धीनं प्रत्यक्षं प्रमाणं भवतु, परोक्षज्ञानस्य तद्विषयाजन्यत्वान्न तदधीनं प्रामाण्यमित्यर्थः ॥

लोके शब्दप्रामाण्यं संवादकप्रमाणाधीनमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ भविष्यद्वृत्त्यादावपि प्रमाणान्तरप्रवृत्तेर्दृष्ट-  
त्वात् परिनिष्ठितविशेषणमनर्थकमित्याशङ्क्याह—\*अभूदिति\* ॥ कालत्रयान्यतमसंस्पर्शित्वं परिनिष्ठितशब्दार्थः ।  
अर्थान्तरमाह—\*असाध्येति\* ॥ पराभिमतकार्यविपरीतं परिनिष्ठितशब्दार्थः । ब्रह्म, प्रमाणान्तरगम्यम्, परिनिष्ठि-  
तत्वात् ; घटादिवत् । ततश्च प्रमाणान्तरसंवादे शब्दस्यानुवादकत्वम् ; अन्यथा विसंवादादिलक्षणमप्रामाण्यं प्रस-  
ज्येतेत्युक्ते परिनिष्ठितत्वमस्तु, प्रमाणान्तरगम्यत्वं च मा भूत्, ततश्चाप्रयोजको हेतुरिति शङ्कते—\*ननु परिनिष्ठित  
इति\* ॥ रसादीनां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वादिन्द्रियान्तरगम्यत्वेऽपीन्द्रियान्तरविषयत्वं यथा, तद्वद् ब्रह्मणः प्रमा-  
णान्तराविषयत्वेऽपि शाब्दत्वमविरुद्धमित्यर्थः । दृष्टान्तो विषम इत्याह पूर्ववादी—\*न चक्षुरादीनामिति\* ॥  
अतिप्रसङ्गलक्षणबाधकतर्कपराहति शङ्कते—\*ननु तुच्छेति\* ॥ विमतम्, प्रमाणान्तरगम्यम्, तुच्छव्यावृत्तत्वात्,  
घटादिवदित्युक्ते प्रमाणान्तरयोग्यत्वमुपाधिः । नच साधनव्यापकत्वम् ; असंभवादित्याह—\*न साध्येति\* ॥  
प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वात् कार्यस्य च साध्यत्वान्न प्रत्यक्षत्वमित्यर्थः । कार्यस्य लिङ्गादिना संबन्धाप्रतिपत्तेर्न  
लिङ्गादिगम्यत्वमपीत्याह—\*संबन्धाग्रहणादिति\* ॥ तुच्छव्यावृत्तत्वमप्रयोजकं चेत्याह—\*तुच्छेति\* ॥ तुच्छव्या-  
वृत्तत्वस्य प्रतियोग्यधीनसिद्धित्वात्तस्य प्रयोजकत्वे गौरवम्, ततो भूतत्वमेव प्रयोजकमित्यर्थः । \*निरुपाधिकत्व-  
लाभादिति\* ॥ निरपेक्षत्वलाभादित्यर्थः ॥



### पञ्चपादिका

\*ननु\* अपौरुषेयत्वात् तज्जन्यं स्वार्थपरिच्छेदेऽनपेक्षं कथमप्रमाणम् ? सत्यम् ; तथाऽपि यथा चाक्षुषं स्पर्शनगोचरचित्रनिम्नोन्नतज्ञानं तेनासंवादादप्रमाणम्, तथेहापि स्यात् । किञ्च पुरुषार्थ-

### पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* रूपादिहीनत्वाद् ब्रह्मापि प्रमाणान्तरानधिगम्यमेव, \*तथाऽपि\* परिनिष्ठितवस्तुत्वात् प्रमाणान्तर-योग्यत्वाशङ्का न व्यावर्तते । अस्ति च प्रमाणान्तरं ब्रह्मस्वरूपविज्ञानम् ; अतस्तत्संवादादप्रमाणं वेदान्ताः ॥

\*ननु\* पुरुषवचांसि प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात् तत्संवाद-विसंवादाभ्यां प्रामाण्यमप्रामाण्यं वाऽऽनुवाते, वेदवचसां तु पुरुषसम्बन्धाभावात् प्रमाणान्तरानधिगम्यविषयतया चक्षुरादिवदनपेक्षमेव प्रामाण्यमिति चोदयति—\*नन्वपौरुषेयत्वादिति\* ॥ परिहरति—\*सत्यं तथापीति\* ॥ \*अयमर्थः\*—अनपेक्ष-प्रमाणयोरपि चक्षुःस्पर्शनयोरर्थे विसंवादादन्यतरस्याप्रामाण्यवत्, ब्रह्मैकत्वश्रुतेः “अहं मनुष्यः” इति प्रत्यक्षस्य च परस्परव्याघातात् शब्दस्याप्रामाण्यमिति । किञ्चातः खलु लोके प्रमाणान्तरेणार्थमवगम्य परस्मै शब्दं प्रयुज्जानः श्रोतुः साक्षाद्वा परम्परया वा प्रयोजनपर्यन्तमर्थं विवक्षित्वा प्रयुङ्क्ते ; प्रयोजनानभिसन्धाने तात्पर्यादर्शनात् । तच्च प्रयोजनं साध्यस्वभावम्, इति परिनिष्ठितं वस्तु स्वयं न प्रयोजनम्, नापि क्रियामनपेक्ष्य प्रयोजनसाधनम्, इति न तत्र तात्पर्यहीनः शब्दः प्रामाण्यमऽनुत इत्याह—\*किञ्च पुरुषार्थशून्यत्वादित्या-

### श्रुतिविवरणम्

\*ननु\* “अपौरुषेयत्वादि”ति हेतुर्व्यर्थः ; पूर्वं पौरुषेयत्वेन न सापेक्षत्वमुक्तं यतः, सिद्धार्थत्वेन संवादापेक्षत्वं च न परिहृतम् ; अतोऽनुपपन्न इत्याशङ्क्याह—\*ननु पुरुषवचांसीति\* ॥ “सत्यं तथापी”त्यनेनासंवादादप्रामाण्यवत् प्रकृतेऽप्यसंवादादप्रमाणमित्युक्तम्, तदयुक्तम् ; नहि तत्रासंवादादप्रामाण्यम्, नापि प्रकृते ; अनपेक्षत्वाविशेषादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अनपेक्षप्रमाणयोरिति\* ॥ \*ननु\* “अहं मनुष्यः” इति प्रत्यक्षेण शब्दस्य बाधो न संभवति ; दोषजन्यत्वेन बाधकत्वानुपपत्तेः, नच शब्दप्रामाण्यसापेक्षमहङ्काराप्रामाण्यम्, तदभावे शब्दस्य प्रामाण्यम्, इति शक्यं वक्तुम् ; अनुमानादिना बाधादित्याशङ्क्य परिहृतम्—\*“किञ्च पुरुषार्थशून्यत्वादि”ति\*, तदयुक्तम् ; नहि सप्रयोजनत्वं प्रामाण्ये प्रयोजकम्, येन तदभावादप्रामाण्यं भवेत्, उपेक्षणीये दर्शनात्, “तौ च सिद्धत्वादि”ति व्यर्थम् ; अत्र पुरुषार्थत्त्रत्य तद्वेतुत्वस्य वा वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*किञ्चातः खलु लोक इति\* ॥ \*ननु\* न तात्पर्यं प्रमितिहेतुः, येन तदभावे व्युत्पन्नं ज्ञानमज्ञानसंशय-विपर्ययरहितत्वात्प्रमाणमेव भवेत्, अतत्परादप्यबाधितबोधदर्शनात्, नापि प्रयोजनाभावादतत्परत्वेनाप्रामाण्यमिति युक्तं वक्तुम् ; प्रयोजनहीनेऽपि तात्पर्यदर्शनात्, उभयाभावेऽपि प्रामाण्यं युज्यत एव ; अनधिगतबोधलक्षणत्वात्तस्य, सति च बोधे प्रयोजनं च कल्पयितुं शक्यत एवेत्याशङ्क्य परिहृतम्—\*किञ्च

### तत्त्वदीपनम्

कार्यवद् ब्रह्मणोऽप्ययोग्यत्वान्न मानान्तरगम्यत्वमिति शङ्कते—\*ननु रूपादीति\* ॥ भूतेऽर्थे प्रमाणान्तर-प्रसरदर्शनाद् ब्रह्मण्यपि तथात्वशङ्कायामप्रामाण्यशङ्का दुर्वारित्याह—\*तथापीति\* ॥ कार्येऽपि प्रमाणान्तर-योग्यत्वशङ्काऽपरिहार्येत्याशङ्क्याह—\*अपिचेति\* ॥ तर्हि प्रमाणान्तरसंभवादहं वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्यानुवादकत्वेन प्रामाण्यं प्रसज्येतेत्याह—\*अत इति\* ॥ एतच्च मूलग्रन्थाद् बहिरेवेति द्रष्टव्यम् । संवादप्रमाणाभावे पुंवाक्यवत् श्रुतीनामप्रामाण्यमित्युक्तम्—“तैरसंवादेन प्रामाण्यं प्रतिलभन्ते”इत्यत्र, तत्र वैषम्यं शङ्कते—\*ननु पुरुषेति\* ॥ प्रमाणान्तरसंवादेऽप्यनपेक्षतया प्रामाण्यसंभवात् परिहारस्याभासत्वमाशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ सम्यक् परिहारमेवाह—\*अयमर्थ इति\* ॥ समताग्राहिणा स्पर्शनप्रत्यक्षेण विसंवादे चित्र-निम्नोन्नतताग्राहिज्ञानं यथा बाध्यते, तथा ब्रह्मात्मतां बोधयन्ती जाड्य-जन्मादिधर्मवतो देहस्य प्रतीचैक्यं बोधयन्त्युपजीव्यजातीयकेन प्रत्यक्षेण बाध्यत इत्यर्थः । पुमर्थाभावेऽप्युपेक्षाज्ञानवत् प्रामाण्यसंभवात् “किञ्चे”त्युक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*किञ्चेति\* ॥ \*साक्षादिति\* । दुग्धादीनां साक्षात् प्रयोजनपर्यन्तत्वम्, पञ्चादीनां



कर्मसमवायित्वमुक्तम् । न कचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टो-

पञ्चपादिका

शून्यत्वादप्यप्रामाण्यम् । पुरुषार्थो हि नाम सुखावासिर्दुःखपरिहारश्च । तौ च सिद्धत्वाद् हानोपादान-  
विषयौ न सिद्धवस्तुन्यक्रियाशेषे सम्भवतः । ततो न कचिद् वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थ-  
वत्ता दृष्टोपपन्ना वा\* ॥ किञ्च प्रत्यक्षाद्यविषये न शब्दमात्रस्य प्रामाण्यम् । शास्त्रस्यैष स्वभावो  
यदनवगतार्थबोधकत्वम् । शब्दमात्रस्य पुनः प्रमाणान्तरगृहीतार्थप्रकाशन एव सामर्थ्यं दृष्टम्,  
नानवगतार्थप्रकाशने । तस्मादनर्थका वेदान्ताः ; न तेषां ब्रह्मणि प्रामाण्यमिति । अत एव  
‘वेदोपरा वेदान्ताः’ इति केषांचिदुद्धारः ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

दिना\* ॥ “ततो न कचिदि”त्युपसंहरति । किञ्च विधायकपदव्यतिरिक्तानां पदानां सम्भूय प्रमाणान्तरा-  
नधिगतवस्तुप्रतिपादनं न सम्भवति ; प्रमाणान्तरानधिगतविषये सम्बन्धग्रहणात्, यथासम्बन्धग्रहणमर्थप्रति-  
पादनात्, कार्यस्य तु प्रमाणान्तरानवसेयतया तत्संसृष्टपदार्थानामतद्गोचरत्वाद् युक्ता शब्देभ्यः पूर्वार्थप्रमिति-  
रिति दर्शयति—\*किञ्च प्रत्यक्षाद्यविषय इत्यादिना\* ॥ यस्मात् सूत्रकारवचनाद् भूतवस्तुप्रतिपादनायोगात्  
प्रयोजनशून्यत्वाद् अनधिगतार्थताऽभावाच्च न ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणम्, तस्मादनर्थका वेदान्ता इत्युप-  
संहरति—\*तस्मादिति\* ॥

ऋजुविवरणम्

प्रत्यक्षाद्यविषय इति\* ॥ तत्र किं शब्दमात्रं नाम ? कथं वा तस्याप्रतिपादकत्वम् ? कारणाभावात्, शक्त्या हि बोधकत्वं,  
नतु विषयस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वेन ; अतिप्रसङ्गादित्याशङ्क्यावतारयति—\*किञ्च विधायकपदेति\* ॥ \*ननु\* प्रमाणान्तर-  
गृहीते भवतु संबन्धग्रहणम्, प्रतिपादनञ्च केवल एव भवत्वित्याशङ्क्याह—\*यथासंबन्धग्रहणमिति\* ॥

\*ननु\* तर्हि विधायकपदसन्निहितेष्वपि नानधिगतार्थप्रतिपादनं संभवति ; गृहीत एव संबन्धग्रहणात्, कथञ्चि-  
द्विधायकपदार्थस्याज्ञातत्वेऽपीतरपदार्थानां गृहीतत्वादित्याशङ्क्याह—\*कार्यस्य तु प्रमाणान्तरेति\* ॥ \*‘प्रकरणान्तर-  
भयादि’ति\* किमर्थमुक्तम् ? अयोग्यत्वेनानन्वयसिद्धेः, कर्मप्रकरणगतत्वस्य च वक्तुं शक्यत्वात्, तदभावे चाव्यभि-

तत्त्वदीपनम्

परम्परयेति विभागः । शब्दमात्रस्य प्रत्यक्षाद्यगोचरे न प्रामाण्यम्, शास्त्रस्य तु वैपरीत्यमित्युक्तं टीकायाम्,  
तदसंभवि ; विशषाभावात्, “शब्दमात्रमि”त्यनेनापि किमुच्यत इति न ज्ञायत इति, तत्राह—\*किञ्चेति\* ॥  
संबन्धग्रहणं वा कस्मात् ? इत्याशङ्क्याह—\*यथा संबन्धेति\* ॥ संबन्धग्रहणं विनाऽप्यर्थप्रतिपत्तावपूर्वशब्दग्रहणेऽ-  
प्यर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नच तथेत्यर्थः । त्वन्मतेऽप्यनधिगतवस्तुप्रकाशकत्वं तुल्यमित्याशङ्क्याह—\*कार्यस्य  
त्वेति\* ॥ नच संबन्धग्रहणाभावात् कार्यवाक्यस्याप्रामाण्यमित्यपि ; आहवनीयादिवदलौकिकत्वेऽपि तत्र सङ्गति-  
ग्रहणसंभवादित्यर्थः । “तस्मादनर्थकाः” इत्येतदपेक्षितमर्थं दर्शयति—\*तस्मादिति\* ॥

वार्तिकम्

चेत्, तत्राह—\*न कचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वेति\* ॥ उपपत्त्यभावस्तुक्तं

भाष्यभावप्रकाशिका

योगादवस्तुनिष्ठतेत्याह—\*एवेति\* ॥ \*ननु\* विधिस्तावकत्वमन्तरेणापि प्रामाण्यं मन्त्राणामिव

प्रदीपः

तेव न्यायेन कर्मापेक्षितकर्तृस्तावकतया प्रामाण्यमेव युक्तमिति । तमिममर्थं विशदयन्नाह—\*विधिना त्वेकवाक्यत्वादिति\* ॥  
\*विधीनाम् = विधेय-तदुपकारकादीनाम्, \*स्तुत्यर्थेन = स्तुतिरूपार्थबोधनद्वारेण, विधिना लिङ्गप्रवर्तनया सहैकवाक्यात्,



पञ्चपादिका

यत्पुनर्भाष्यकारेण कर्तृ-देवतास्वरूपप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानां प्रकरणान्तरभयाद्-

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*यत्पुनर्भाष्यकारेणेत्यादेरयमर्थः\*—न तावद् वेदान्ताः कस्यचित्कर्मविशेषस्य प्रकरणे समधिगताः, येन “सोऽरोदीदि”त्यादिवद् विधिसमन्वयः स्यात् । \*ननु\* सर्वकर्मविधायिवेदैकदेशत्वात् सर्वकर्मप्रकरणं स्यात्, \*न\* ; सर्वेण वेदवाक्येनैकस्य वस्तुनः प्रतिपादनाभावादेकवाक्यताऽयोगात्, धर्मसामान्यस्याप्रतिपाद्यत्वात् । अस्तु तर्हि पर्णमयीवाक्यवत् कर्तृद्वारेण सर्वक्रतुशेषभूतोऽर्थवाद इति, नैतद्युक्तम् ; स्तुतौ प्रतिपादने चोपयोगो नास्ति ; विपरीतं च । न हि कर्मणां कर्ता नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावो निर्गुणो निष्क्रियोऽनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति स्तवः, प्रतिपादनं वा कर्मसु प्रवृत्तावुपकरोति ; विपरीतं च स्यात् । तस्मान्न कर्मसु वेदान्तानां समन्वयः, किंतु स्वप्रकरणगतसगुणोपासनासु सम्बन्ध इति भाष्यार्थमनूयाक्षिपति—

ऋजुविवरणम्

चरितकर्तृप्रतिपादनेन सर्वशेषोऽर्थवाद इति वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*न तावद् वेदान्ता इति\* ॥ सर्वेण वेदवाक्येनेति\* ॥ अयमर्थः—यदि सर्वो वेद एकवाक्यतयैकं कर्म प्रतिपादयेत्, तर्हि तत्प्रकरणात् तदेकवाक्यता भवेत्, न च तदस्तीति ॥ \*ननु\* धर्ममात्ररूपेण प्रतिपाद्यस्यैकत्वात् तत्प्रतिपादकस्याऽप्येकवाक्यत्वेन तदेकवाक्यता वेदान्तवाक्यानामित्याशङ्क्याह—\*धर्मसामान्यस्येति\* ॥ \*पर्णमयीवाक्यवदिति\* ॥ “यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती”ति वाक्यस्य यथा जुहूप्रकृतिभूतपर्णतासमर्पणेन जुहूमदपूर्वार्थत्वम् ; जुह्वाः प्रकृतिमन्नाव्यापेक्षितत्वेनास्य तत्समर्पकत्वात्, अव्यभिचरितक्रतुसंबन्धेन सर्वार्थत्वम्, एवमिहाप्यात्मनः सर्वकर्माथत्वत्वात् तद्वद्वारेण सर्वशेषत्वम् ; आत्मनः कर्मभिरपेक्षितत्वात्, अस्य च तत्समर्पकत्वादिति । स्तुतौ प्रतिपादने चोपयोगो नास्तीत्युक्तम्, तद्युक्तम् ; अङ्गस्तुतेः प्रवृत्तावुपयोगित्वात्, प्रतिपादनञ्चोपयोगि ; कर्मणां कर्त्रा विनाऽनुपपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*नहि कर्मणामिति\* ॥ न कर्तृमात्रप्रतिपादनपरं वेदान्तवाक्यम्, किन्तु निर्विशेषस्वरूपप्रदर्शनपरम् । न च तत्कर्मसूपयुज्यत इति भावः । \*ननु\* एतद्वाक्यबलादेव कश्चिदुपकारः कल्प्यत इति, नेत्याह—\*विपरीतञ्चेति\* ॥ “तद्युक्तमि”त्यादिना जगत्कारणे सर्वज्ञत्वादिसिद्धिर्नास्तीति कथमुक्तम् ? स्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात्, अप्रस्तुतञ्चेत् ; उपास्यब्रह्मसमर्पणेनोपासनाशेषत्वं तेनोक्तम्,

तत्त्वदीपनम्

वेदान्तानां न विधिशेषत्वम् ; तत्प्रकरणानाम्भानात्, इत्युक्तम् ; तद्युक्तम् ; तत्र वेदान्तानां विधिशेषत्ववादिनं प्रति “तत्प्रकरणानाम्भानादि”ति हेत्वभिधानानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*यत्पुनरिति\* । किं कर्मविशेषापेक्षितप्रतिपादनेन तच्छेषत्वम् ? अथवा कर्ममात्रशेषत्वम् ? इति विकल्पग्रहं प्रत्याह—\*न तावदिति\* ॥ वेदान्तानां कर्मविशेषापेक्षितार्थानभिधायित्वादेतत्प्रकरणत्वं सिद्धमित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*ननु सर्वेति\* ॥ किं विधिवत् तदभिधानेन तच्छेषत्वम् ? आहो तदपेक्षितप्रतिपादनेन ? आद्येऽपि किं सर्वत्रैकाग्रयः साधनव्यक्तिः प्रतिपाद्यते ? उतैकं सामान्यम् ? नाद्य इत्याह—\*न सर्वेणेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*धर्मेति\* ॥ श्रेयःसाधनत्वमात्रस्य लोकप्रसिद्धत्वेनाप्रतिपाद्यत्वादित्यर्थः । जुह्वाः क्रतुसंबन्धित्वात् तद्वद्वारा पर्णताया अपि क्रतुसंबन्धवत् कर्तुः सकल-क्रतुसंबन्धित्वादात्मप्रतिपादनेन वेदान्तानामपि क्रतुसंबन्धोऽविरुद्ध इति शङ्कते—\*अस्तु तर्हीति\* ॥ “जुह्वा जुहोती”ति होमाङ्गत्वेन श्रुताया जुह्वाः प्रकृतिद्रव्याकाङ्क्षापरिपूर्णेन पर्णतायाः क्रतुनुपप्रेक्षित्वे सिद्धे “न स पापं श्लोकं शृणोति” इत्यादेरर्थवादत्वं युक्तम्, इह त्वात्मस्तुतौ तत्प्रतिपादने च फलाभावाद् मैवमित्याह—\*नैतदिति\* । देहाद्यतिरिक्तमात्मानमन्तरेण पारलौकिकप्रवृत्त्यनुपपत्तेरनोपकाराभावः कथम् ? इत्याशङ्क्याह—\*न हीति\* । विनियोजकप्रमाणाभावाच्च कर्मशेषत्वमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* । वेदान्तानां न कर्मशेषत्वम्, नापि स्वार्थपरत्वं चेत्, तर्हि किम् ? आनर्थक्यम्, इति शङ्कते—\*किं त्विति\* ॥ क्रियाविधिशेषत्वाभावेऽप्युपास्तिविधिशेषत्वात्प्रामाण्यम् ; इतरथाऽध्ययनविधिविरोधादित्याह—\*स्वप्रकरणेति\* ॥ उपास्तेरुपास्यसाकाङ्क्षत्वात् तदभाव उपास्यसंबन्ध इत्याह—\*भाष्येति\* ॥ उपास्यभावेनोपास्यनुपपत्तिविवक्षा चेत्, तदुपास्याभाव एव प्रतिपाद्यः, किमिदमुच्यते—



## पञ्चपादिका

नभ्युपगम्य स्ववाक्यगतोपासनाकर्मपरत्वमुक्तम्, तदयुक्तम् ; उपासनाविधिशेषत्वेऽपि संवादाभावाद् जगत्कारणे न सर्वज्ञत्वादिसिद्धिः । \*सत्यम्\* ; अनुमानतोऽनिर्दिष्टविशेषे तस्मिन्नवगते समारोपितैर्धर्मैरुपासनानियोगः सेत्स्यति । एवं चाध्ययनविधिग्राहितानां वेदान्तानामेकान्ततो नानर्थक्यं भविष्यतीत्यभिप्रायः । फलं च तत्र कल्प्यमार्थवादिकम् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*तदयुक्तमिति\* ॥ तथाऽपि विशिष्टब्रह्मस्वरूपासिद्धिरित्यर्थः । न खलूपासनाशेषतया ब्रह्मस्वरूपसिद्धिर्भाष्येऽभिप्रेता, किन्तूपास्ये गुणप्रक्षेपद्वारेण वेदान्तानां समन्वयो विवक्षित इति परिहरति—\*सत्यमनुमानेति\* ॥ \*ननु\* वेदान्तवाक्यानां सगुणोपासनप्रकरणादपि व्युत्थितानां स्वरूपमात्रपर्यवसितानां नोपासनासम्बन्धः, नापि स्वात्मन्युपासना कल्पयितुं शक्यते ; अश्रुतत्वादिति, तत्राह—\*एवं चाध्ययनविधीति\* ॥ \*फलं चेति\* ॥ रात्रिसत्राणामिवेति शेषः ॥

## ऋजुविवरणम्

तद्विहाय जगत्कारणे सर्वज्ञत्वादिगुणनिराकरणादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*तदाऽपि विशिष्टब्रह्मेति\* ॥ “सत्यमनुमानतः” इति परिहारो न युक्तः ; नह्युपासनानियोगसिद्धिमात्रप्रदर्शनमुपयुज्यते, किन्तु वेदान्तानां तादर्थ्यम् । नच तदस्मिन् पक्षे संभवत्यनुमानसिद्धम् ; धर्मोपेणोपासनाकीर्तनात्, तावता वेदान्तानां तादर्थ्यासिद्धेरुपास्यसमर्पकत्वाभावात्, अतो भाष्यविरोध इत्याशङ्क्यावतारयति—\*न खलूपासनेति\* ॥

\*ननु वेदान्तवाक्यानामिति\* ॥ यथा कर्मशेषत्वं वेदान्तानां निराक्रियते प्रकरणपाठाभावात्, तथा सगुणोपासनाप्रकरणेऽपि पाठाभावाच्चैतच्छेषत्वमित्यर्थः । \*ननु\* प्रकरणपाठाभावेऽपि प्रयोजनाकाङ्क्षत्वात् तच्छेषत्वं निश्चीयते, तदपेक्षितोपास्यसमर्पणसामर्थ्यात्, विधेश्च समर्पणपेक्षितत्वात्, तदुभयाकाङ्क्षयाऽन्वय इत्याशङ्क्याह—\*स्वार्थमात्रपर्यवसितानामिति\* ॥ अनन्याकाङ्क्षितवस्तुप्रतिपादकत्वादित्यर्थः । अथवा—प्रकरणादुत्थितत्वं स्वार्थमात्रपर्यवसाने हेतुः, मा भूदुपासनान्तरसंबन्धः, स्ववाक्य एवोपासना कल्प्यते सप्रयोजनत्वसिद्ध्यर्थमित्याशङ्क्याह—\*नापि स्वात्मनीति\* ॥ \*अश्रुतत्वादिति\* ॥ व्यधिकरणो हेतुः ; अश्रुतत्वस्य कल्पनानिवर्तकत्वाभावात्, इष्टविधातकारी चायं हेतुः ; तस्य कल्पनाहेतुत्वादिति ॥ \*अयमभिप्रायः\* ॥ नात्र विधिः कल्पयितुं शक्यते ; कल्पकाभावात्, न तावद्देदान्तानां तादर्थ्यबोधकं प्रमाणमस्ति, नापि तेन विनाऽनुपपद्यमानस्य श्रवणमस्ति, नापि फलश्रवणमस्ति ; तदभावेऽऽधिकार्यभावाद् नोपासनाकल्पनम्, इत्यतो निरर्थका वेदान्ता इति चोद्याभिप्रायः । \*रात्रिसत्राणामिवेति\* ॥ “य एता

## तत्त्वदीपनम्

न सर्वज्ञत्वादिसिद्धिरिति ? तत्राह—\*तथापीति\* ॥ सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं ब्रह्मोपास्यत्वेन श्रूयते, नच तदुपपद्यते ; तत्संवादकप्रमाणाभावादित्यर्थः । आरोपितसर्वज्ञत्वादिविशिष्टतयोपास्यं ब्रह्मेत्युक्तम्—“सत्यमि”त्यत्र, उपासनाविधिशेषत्वेन वेदान्तप्रामाण्यस्य भाष्ये निर्दिष्टत्वादित्याशङ्क्याह—\*न खल्विति\* ॥ वाक्यस्योभयपरत्वासंभवादित्यर्थः । कथं तर्हि वेदान्तानां प्रामाण्यम् ? इत्याशङ्क्याह—\*किंत्विति\* । कार्यलिङ्गानुमितकारणे सर्वज्ञत्वादिकं समारोप्य तदुपास्तित्विधीयते वेदान्तैरित्यर्थः । “सत्यं ज्ञानमि”त्यादिवाक्येषूपपास्तित्वविधिपदाश्रवणादुपास्तित्वप्रकरणव्युत्थितत्वाच्च न तदङ्गत्वमपीति शङ्कते—\*ननु वेदान्तेति\* ॥ प्रयोजनाकाङ्क्षया प्रकरणान्तरपठितविधिसंबन्धमाशङ्क्याह—\*स्वरूपेति\* ॥ आत्मज्ञानमात्रेण पुंसः कातार्थ्यं सर्वेषां तत् स्यात्, नच तदस्तीति फलान्तरं वाच्यम् ; तथाच “पूषा प्रपिष्टभागः” इत्यादाविव विधिपदं कल्प्यत इत्याह—\*नापीति\* ॥ द्रव्यदेवतासंबन्धस्य यागाविनाभूतत्वाद् यागस्य च नियोगाविनाभावाद् विधिपदं कल्प्यत इति युक्तं तत्र, नच तथाऽत्र किंचित् कल्पकं श्रुतमस्तीत्यर्थः । अध्ययनविध्युपात्तत्वानुपपत्तिर्विधिपदकल्पिकेत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ अधिकारिफलाभावाद् विधिपरत्वं सत्यादिवाक्यानामिति शङ्कानिरासायोक्तं टीकाकृता—“फलं च तत्रे”ति । “एतावदरे खल्वमृतत्वम्” “ब्रह्मविदाप्नोती”त्यादि-



**पपन्ना वा । नच परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति ; क्रियाविषयत्वाद्**

**भामती**

ज्ञापनार्थत्वात्, वेदान्तानां चाज्ञातं ब्रह्म ज्ञापयतां तथाभावादित्यत आह—\*नच परिनिष्ठित इति\*॥  
अनागतोत्पाद्यभावविषय एव हि सर्वो विधिरूपेयः ; अधिकार-विनियोग-प्रयोगोत्पत्तिरूपाणां परस्परा-  
विनाभावात्, सिद्धे च तेषामसंभवात् तद्वाक्यानां त्वैदंपर्यं भिद्यते । यथा “अग्निहोत्रं जुहु-  
यात्स्वर्गकामः” इत्यादिभ्योऽधिकार-विनियोग-प्रयोगाणां प्रतिलम्भाद् “अग्निहोत्रं जुहोति” इत्युत्पत्ति-  
मात्रपरं वाक्यम्, नत्वत्र न विनियोगादयः सन्ति ; सन्तोऽप्यन्यतो लब्धत्वात् केवलमविवक्षिताः ।  
तस्माद् भावनाविषयो विधिर्न सिद्धे वस्तुनि भवितुमर्हतीति । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

**ऋजुप्रकाशिका**

स्यादिति भावः । एवंचाज्ञातज्ञापनमपि विधिरिति वाच्यम्, इति वेदान्तानामपि तथात्वाद् विधिपरत्व-  
मेवेत्याह—\*वेदान्तानां चेति\* ॥ तथाभावात्=विधिपरत्वसद्भावादित्यर्थः । क्वचित्तदभावादिति पाठः ।  
तस्याविधिपरत्वाभावादित्यर्थः । अधिकार-विनियोग-प्रयोगोत्पत्तिविधीनां परस्परमविनाभूतत्वात् सिद्धे विध्य-  
योगः, किन्तु कार्य एवेत्याह—\*अत आहेति\* ॥ सर्वस्यापि विधेरनागतोत्पाद्यविषयत्वे हेतुमाह—  
\*अधिकारेति\* ॥ तथाच प्रयोगविधेः कार्यविषयत्व इतरेषामपि विधीनां तथात्वमावश्यकमिति न सिद्धे  
विधिसंभव इति भावः । अत एवाह—\*सिद्धे चेति\* ॥ तेषाम्=उक्तानां चतुर्णां विधीनाम् । तर्ह्यन्य-  
तरेणैवोपपत्तावन्यतरवैयर्थ्यम्, तत्राह—\*तद्वाक्यानां त्विति\* ॥ अधिकार विनियोग-प्रयोगोत्पत्तिविधि-  
वाक्यानां त्वित्यर्थः । “अग्निहोत्रं जुहोति” इत्युत्पत्तिविधिवाक्यमुत्पत्तिमात्रपरमित्यर्थः । एवमधिकार-  
विधिवाक्यमधिकारिणः कर्मसम्बन्धमात्रपरम् । एवं विनियोगविधिवाक्यमङ्गानां प्रधानसम्बन्धमात्रपरम् ।  
एवं प्रयोगविधिवाक्यं साङ्गकर्मानुष्ठापनमात्रपरमिति द्रष्टव्यम् । तथाचैकतात्पर्यकत्वे न ह्यन्यतरवैयर्थ्यशङ्काऽपि ।  
अत्र तात्पर्यभेदाद् नान्यतरवैयर्थ्यमिति भावः । अन्यतरवैयर्थ्याभावमेवाह—\*नत्वत्र न विनियोगादयः  
सन्तीति\* ॥ ‘द्वौ नजौ प्रकृतमर्थं गमयतः’ इति न्यायात् सन्त्येवेत्यर्थः । सन्तोऽपि तेऽन्यतः स्वतात्पर्य-  
विषयत एव लब्धार्थत्वात् स्वतात्पर्याविषयेऽविवक्षिता इत्याह—\*सन्तोऽपीति\* ॥ क्वचित्—“नत्वत्र विनि-  
योगादयः सन्ति, सन्तोऽप्यन्यतो लब्धत्वात् केवलमविवक्षिताः” इति पाठः । तत्रेत्यं योजना—किं कार्य इव  
ब्रह्मण्यपि विनियोगादयश्चत्वारो विधयः सन्ति ? उत न सन्ति ? इति विकल्प्य, अन्त्यमङ्गीकारेण परिहरति—  
\*नत्वत्र विनियोगादयः सन्तीति\* ॥ तथाच ब्रह्मणि विध्यभावे विधिपरा एव वेदान्ता इति शङ्का व्याहतेति  
भावः । आद्यं दूषयति—\*सन्तोऽपीति\* । अपिशब्दस्वारस्याद् न सन्त्येव, सन्तोऽप्यन्यथा प्रकारान्तरेण  
लब्धत्वात्मकत्वाच्च ब्रह्मणि विधयो विवक्षिता इत्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ उक्तरूपे ब्रह्मणि=

**ऋजुविवरणम्**

रात्रीरुपयन्ती”त्यत्राधिकारस्तावद् न श्रूयते, अतः कल्प्यः । तत्रान्तरङ्गत्वेऽपि न जीवनं कल्प्यम्, अपि  
तु प्रयुक्तिलाघवाय कामाधिकारित्वम् । तत्रापि “सः स्वर्गस्त्यादि”त्यनेन न्यायेन स्वर्गो वा कल्प्यताम् ?  
आर्थवादिकं वा ? इति विशये “श्रुतमात्रेण निर्देशादि”त्यनेन न्यायेनैकवाक्यताऽनुरोधादर्थवादिकफलस्वीकारः,  
तद्वदिहापि “एतावदरे खल्वमृतत्वमि”त्याद्यर्थवादप्रतीतामृतत्वस्वीकार इति ।

**वार्तिकम्**

एवाधस्तात् । स्वार्थ एव तर्हि तेषां विधीयताम्, नेत्याह—\*न हि परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः  
सम्भवति ; क्रियाविषयत्वाद्विधेरिति\* ॥ विधेः क्रियाविषयत्वं भावार्थाधिकरणन्यायेन सिद्धम् ॥

**भाष्यभावप्रकाशिका**

स्यादित्यत आह—\*मन्त्राणामिति\* ॥ कर्मकाण्डपठितानां विधिशेषत्वेन प्रामाण्येऽपि वेदान्त-



विधिः । तस्मात् कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूप-देवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम् । अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथाऽपि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वम् ।

भामती

अत्रारुचिकारणमुक्त्वा पक्षान्तरमुपसंक्रामति—\*अथेति\* ॥ एवंच सत्युक्तरूपे ब्रह्मणि शब्दस्या-  
तात्पर्यात् प्रमाणान्तरेण यादृशमस्य रूपं व्यवस्थाप्यते, न तच्छब्देन विरुध्यते ; तस्योपासनापरत्वात्,  
समारोपेण चोपासनाया उपपत्तेरिति । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मान्नेति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

सिद्धे ब्रह्मणि । \*शब्दस्यातात्पर्यादिति\* ॥ शब्दस्याकार्यब्रह्मपरत्व आनर्थक्यादिति भावः । \*ननु\*—  
वेदान्तानामुपासनाविधिशेषत्वे “तत्त्वमसि” इत्यादिशब्दान्तरप्रमाणेन जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादनविरोध इति, अत  
आह—\*प्रमाणान्तरेणेति\* ॥ यादृशं जीवब्रह्मैक्यलक्षणं स्वरूपं व्यवस्थाप्यते, तत्स्वरूपं शब्देनोपासना-  
विधिपरेण शब्देन न विरुध्यत इत्यर्थः । कुतो न विरुध्यत इति ? अत आह—\*तस्येति\* ॥ “तत्त्वमसि”  
इत्यादिवाक्यस्येत्यर्थः । त्वन्मते जीव-ब्रह्मैक्याभावात् कथं तदैक्योपासना तवेति ? अत आह—\*समारोपे-  
णेति\* ॥ “तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति” भाष्ये “शास्त्रयोनित्वमिति”त्यस्य शास्त्रप्रमाणकत्वमित्यर्थः ।

वार्तिकम्

तथाच प्रयोगः—विवादगोचरापन्नं वेदवाक्यम्, न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणं भवितुमर्हति,  
वेदवाक्यत्वात्, अर्थवादादिवाक्यवदिति । तस्मात् प्रतिष्ठावाक्यवद् “ब्रह्मविदाप्नोति परमि”ति  
स्वप्रकरणगतार्थवादावाक्यादुपासनाविधिं ज्ञानविधिं वा कल्पयित्वा तद्गुणसमर्पकत्वेन सत्यादिवाक्यानां  
तच्छेषत्वोपपत्तेर्न काचिदनुपपत्तिरित्याशयेनोपसंहरति—\*तस्मात् कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूप-देवतादिप्रकाशनेन  
क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम् । अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथाऽपि स्ववाक्यगतोपासनादि-  
कर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

वाक्यानां स्वार्थबोधकत्वेन प्रामाण्यं स्यादित्यत आह—\*न कचिदिति\* ॥ कल्प्यतां तर्हि विधिः  
“पूषा प्रविष्टभागः” इत्यादिष्विवेत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥  
अत्रारुचिकारणमुक्त्वा पक्षान्तरमुपसंहरति—\*तस्मान्नेति\* ॥ सूत्रेण सिद्धान्तयति—\*एवं प्राप्ते उच्यते  
तत्तु समन्वयादिति\* ॥

प्रदीपः

\*स्युः = अर्थवादाः प्रमाणं स्युरित्यध्याहारेण सूत्रयोजना । \*ननु\* स्तुत्यर्थत्वेन प्रामाण्यमानर्थक्येन समानमेवेति  
मन्त्रवदेव प्रामाण्यं भवत्विति चेत्, तत्राह—\*मन्त्राणामिति\* ॥ प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैव मन्त्राणां प्रामाण्याद् मन्त्राणा-  
मपि क्रियासम्बन्धं विना न प्रामाण्यमिति भावः । \*ननु\* अप्रवृत्तप्रवर्तनमेव न विधिः, किन्त्वज्ञातज्ञापनमपि । अत  
एव—“अग्निहोत्रं जुहोती”त्यादिकर्मस्वरूपविधिरुपपद्यते, तथाचोत्पत्तिविधिवद् वेदान्ता ब्रह्मस्वरूपविधिपरा भवन्त्विति, अत आह  
—\*नच परिनिष्ठित इति\* ॥ उत्पत्तिविधावपि विनियोग-प्रयोगादयोऽस्पष्टरूपेण प्रतीयन्ते । तथाच यत्राप्रवृत्तप्रवृत्त्यादियोग्यता  
तत्र कर्मस्वरूप एवोत्पत्तिविधिः संभवति, नतु ब्रह्मस्वरूपे, तस्य विनियोग-प्रयोगादिविधियोग्यत्वाभावादिति भावः । तदे-  
तदाह—\*क्रियाविषयत्वादिति\* ॥ प्रकृतपूर्वपक्षप्रकारद्वयमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ननु\* विधिसन्निधिपठितानामेवार्थ-  
वादानां विधिनैकवाक्यत्वम्, न तु प्रकरणान्तरपठितानाम् । वेदान्ताश्च न कर्मविधिप्रकरणे वर्तन्ते, इति प्रकरणान्तरस्थत्वं



इति प्राप्ते, उच्यते—\*तत्तु समन्वयात्\* ॥ तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः ।  
\*तत्=ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्ति-स्थिति-लयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवाव-  
गम्यते । कथम् ? \*समन्वयात्\* ॥

भामती

सूत्रेण सिद्धान्तयति—\*एवं प्राप्त उच्यते—तत्तु समन्वयात्\* ॥ तदेतद् व्याचष्टे—\*तुशब्द इति\* ॥  
यदित्युत्तरपक्षप्रतिज्ञां विभजते—\*तद् ब्रह्मेति\* ॥ पूर्वपक्षी कर्कशाशयः पृच्छति—\*कथम्\* ॥ कुतः  
प्रकारादित्यर्थः । सिद्धान्ती स्वपक्षे हेतुं प्रकारभेदमाह—\*समन्वयात्\* ॥ सम्यगन्वयः समन्व-  
यः, तस्मात् । एतदेव विभजते—\*सर्वेषु हि वेदान्तेष्विति\* ॥ वेदान्तानामैकान्तिकीं ब्रह्मपरता-  
माचिख्यासुर्वह्नि वाक्यानुदाहरति—\*सदेवेति\* ॥ 'यतो वा इमानि भूतानि' इति तु वाक्यं

ऋजुप्रकाशिका

सूत्रेण=समन्वयसूत्रेण । \*तत्तु समन्वयात् तदेतदिति\* ॥ "तत्तु समन्वयात्" इत्येतदित्यर्थः । भाष्ये—  
\*तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थ इति\* ॥ ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं नेति यः पूर्वपक्षः, तद्व्यावृत्त्यर्थ इत्यर्थः । \*तदित्युत्तरपक्ष-  
प्रतिज्ञां विभजत इति\* ॥ भाष्यकारः । तदित्यादिनोत्तरपक्षप्रतिज्ञाम् = \*उत्तरे=समाधाने सिद्धान्ते कर्तव्ये सति  
\*पक्षे प्रतिज्ञां पक्षविभागपूर्वकं प्रतिज्ञां विभजते=पक्ष-साध्ये निर्दिशतीति फलितार्थः । \*भाष्ये- "तद् ब्रह्म सर्वज्ञं  
सर्वशक्ति जगदुत्पत्ति-स्थिति-लयकारणमिति" पक्षनिर्देशः । \*"वेदान्तशास्त्रादवगम्यते" इति साध्यनिर्देशः ।  
वेदान्तशास्त्रादवगम्यत इत्यस्य वेदान्तशास्त्रप्रमाणकमित्यर्थः । सिद्धान्ते पक्ष-साध्ये निर्दिश्य हेतुं निर्देष्टुं पूर्वपक्षि-  
मुखेन हेत्वाकाङ्क्षामवतारयतीत्याह—\*पूर्वपक्षीति\* ॥

पञ्चपादिका

\*तत्तु समन्वयात्\* तत्=ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिगुणकं वेदान्तशास्त्रात्प्रतीयत इति प्रतिजानीते ।  
हेतुं चाचष्टे—\*समन्वयादिति\* । तत्र तात्पर्येण वेदान्तवाक्यानां समन्वयादित्यर्थः ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

सूत्रं व्याचष्टे—\*तद् ब्रह्म सर्वज्ञत्वादीत्यादिना\* ॥ \*तत्र तात्पर्येणेति\* ॥ अयमर्थः—

ऋजुविवरणम्

कथं समन्वयमात्रेण ब्रह्मप्रमाणकत्वम् ? व्यभिचारात्, इत्याशङ्क्य व्याख्यातम्—"तात्पर्यंऽपी"ति, तदयुक्तम् ;  
तात्पर्यस्य पुरुषधर्मत्वेनापौरुषेये वेदेऽभावादित्याशङ्क्य, व्याचष्टे—\*तात्पर्यं नामेति\* ॥ कथं शब्दधर्मता, सत्यपि शब्दे

तत्त्वदीपनम्

वाक्यात् प्रतीयमानममृतत्वं साध्यत्वेन परिणमय्य तत्काम उपासीतेति कल्पनाद् न कोऽपि दोष इत्यर्थः ॥  
समन्वयो नाम वेदान्तानां ब्रह्मप्रामितिजनकत्वम्, तदेव प्रतिज्ञातार्थ इति साध्याविशिष्टत्वम्, इत्याशङ्क्य,  
वार्तिकम्

एवमुत्सूत्रं पूर्वपक्षयित्वा तदुत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति—\*इति प्राप्ते उच्यते तत्तु समन्वयादिति\* ॥  
सर्वाणि वेदान्तवाक्यान्वस्य सूत्रस्य विषयः । संशयस्तु पूर्वोत्तरपक्षप्रदर्शनेनैव दर्शितो भवतीति पृथग्  
भाष्यभावप्रकाशिका

तदेतद् व्याचष्टे—\*तुशब्द इति\* ॥ तदित्युत्तरपक्षप्रतिज्ञां विभजते—\*तद्ब्रह्मेति\* ॥  
पूर्वपक्षे दुष्टाभिसन्धिः पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ कुतः प्रकारादित्यर्थः । सिद्धान्ती स्वपक्ष-  
हेतुप्रकारभेदमाह—\*समन्वयादिति\* ॥ सम्यगन्वयः समन्वयः, तस्मात् । सम्यक्त्वं चापुन-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

तात्पर्यं नाम तदर्थप्रमितिशेषता शब्दधर्मः । कथम् ? विवक्षातात्पर्यमिति चेत्, अर्थप्रमितिं विवक्षित्वा तादर्थ्येन प्रयुज्यमानत्वं शब्दधर्म एव । तत्रापि तात्पर्यं न विवक्षामात्रम् । तच्च तात्पर्यं यस्मिन्नर्थे वाक्यस्योपक्रमोपसंहारैकरूपम्, यस्य चार्थस्य पुनःपुनरभ्यासः, यस्मिन्नर्थे फलविशेषसङ्कीर्तनम्, अपूर्वार्थप्रमेयता च, यत्र चार्थवादोपादानमुपपत्तिमिरूपपादनं चेत्यादीनि लिङ्गानि भवन्ति, तस्य वाक्यस्य तस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति गम्यते । नच प्रमेयस्य साध्यतैव तात्पर्यलिङ्गम् ; “पुत्रस्ते

## ऋजुविवरणम्

पुरुषहीने तात्पर्यशब्दप्रयोगाभावात्, सति तु तस्मिन् तत्प्रयोगात्पुरुषधर्मत्वमेवेत्याशङ्क्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ किं तर्हि तात्पर्यमिति ? तदाह—\*विवक्षातात्पर्यमिति\* ॥ अयं भावः—विवक्षित्वा प्रयुक्ते शब्दे तात्पर्यशब्दप्रयोगो दृश्यते लोके ; तदभावे नास्ति ; अतो तदागमन्यायेन विवक्षायास्तत्त्वमिति परिहरति—\*अर्थप्रमितिमिति\* ॥ यद्यपि विवक्षित्वा प्रयुक्ते शब्दे तच्छब्दप्रयोगः ; तथाऽपि न विवक्षामात्रं तात्पर्यम् ; सत्यामपि विवक्षायां तादर्थ्येनाप्रयुक्ते शब्दे तात्पर्यादर्शनात्, नापि विवक्षापूर्वकतादर्थ्येन प्रयोगस्तात्पर्यम् ; सत्यपि तादर्थ्ये विवक्षाऽभावापराधेन तात्पर्याभावादर्शनात्, विवक्षाया विद्यमानस्थलेऽप्यप्रयोजकत्वात् । तादर्थ्यं तु विवक्षारहितमपि तात्पर्यं भवत्येव प्रयोग-प्रतिपत्तिभ्याम् । तस्माच्छब्दधर्म एवेति भावः । भवतु शब्दधर्मता, तथाऽपि तात्पर्येण समन्वयादिति विशेषणासिद्धो हेतुः ; तात्पर्य-ज्ञापकाभावात्, अज्ञातस्य प्रमाजनकत्वाभावाद् ज्ञातत्वं वक्तव्यम् । प्रमालक्षणकार्यात् तज्ज्ञान इतरेतराश्रयप्रसङ्गाद् न तात्पर्येण प्रमाजनकत्वनिश्चयः, भवतु वा कथञ्चित्तात्पर्येण निश्चयः, तथाऽपि नात्र तात्पर्यमिति निश्चेतुं शक्यत इत्याशङ्क्याह—\*तच्च तात्पर्यं यस्मिन्निति\* ॥ “तस्य वाक्यस्य तस्मिन्नर्थे” इत्यनेन तात्पर्यज्ञापकलिङ्गमर्थविशेषनिष्ठत्वादर्थविशेषनिष्ठमेव तात्पर्यं ज्ञापयतीत्युक्तम् । \*ननु\* नैतानि लिङ्गानि तात्पर्यं, साध्यतैव तु प्रमेयगता तात्पर्यलिङ्गम् ; वाक्यान्तरे दर्शनात्, अत्र तु तदभावान्न तात्पर्यनिश्चय इत्याशङ्क्याह—\*नच प्रमेयस्येति\* ॥ \*ननु\* तत्रापि न सिद्ध्यते

## तत्त्वदीपनम्

समन्वयशब्देन तात्पर्यवत्त्वं विवक्षितम्, शास्त्रप्रमाणकत्वमात्रं च प्रतिज्ञाविषय इत्यर्थभेद इत्युक्तम्—“तत्र तात्पर्येणेत्यत्र, तदुक्तम् ; वेदान्तेष्वपौरुषेयेषु पुरुषधर्मतात्पर्यानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*तत्र तात्पर्येणेति\* ॥ तात्पर्यं शब्दधर्म इति संबन्धः । शब्दधर्मत्वं संभावयितुमाह—\*तदर्थप्रमितिशेषतेति\* ॥ प्रतीयमानो योऽर्थः, तत्प्रमितिजननसामर्थ्यं तात्पर्यम्, तस्य शब्दधर्मत्वमुचितमित्यर्थः । स चासावर्थश्चेति तदर्थः, तत्प्रमितिशेषत्वमिति वा । शब्दधर्मत्वमाक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ तात्पर्यस्य तदर्थप्रमितिशेषतारूपत्वात् कथमाक्षेपः ? इत्याशङ्क्याह—\*विवक्षेति\* ॥ विवक्षायां शब्दप्रामाण्यदर्शनात्, इतरथा चादर्शनाद्विवक्षा तात्पर्यम् । तस्याश्च पुरुषसंबन्धित्वान्न शब्दधर्मत्वमित्यर्थः । विवक्षाया अर्थप्रमित्युद्देशेन प्रवृत्तत्वादर्थप्रमितिशेषत्वमेव तात्पर्यमित्याह—\*अर्थप्रमितीति\* ॥ भवतु प्रयुज्यमानत्वस्य शब्दधर्मत्वम् ; तथाऽपि कथं तात्पर्यस्य शब्दधर्मत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्रापीति\* ॥ तत्र=लोक इति यावत् । लोकेऽपि तात्पर्यं न विवक्षामात्रम्, किं तु तदर्थप्रमितिशेषत्वम्, इतरथाऽपौरुषेये वचसि तात्पर्यासंभवादप्रामाण्यं दुर्वारं स्यादित्यर्थः । तात्पर्यस्य विवक्षाऽतिरिक्तत्वेऽपि तद्रूपत्वं तावदाश्रयणीयम्, तथाच ज्ञापकाभावाद् वेदे न तात्पर्यसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*तच्चेति\* ॥ तच्च तात्पर्यमिति गम्यत इति संबन्धः । इतिपदपरामृष्टमर्थमाह—\*यस्मिन्नर्थे इति\* ॥ सर्वशाखाप्रत्ययत्वमादिशब्दार्थः । उपक्रमोपसंहारादि न तात्पर्यज्ञापकम्, किं तु प्रमेयस्य कार्यत्वम् ; ततश्च भूतनिष्ठस्य वचसोऽप्रामाण्यमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ तत्रापि कार्यनिष्ठतयैव तात्पर्यमित्याशङ्क्य, किं ज्ञातं तात्पर्यं प्रमितिजनकम् ? उताज्ञातम् ?

## प्रदीपः

वेदान्तानामुपपन्नं स्यात्, इति तद्व्याख्यानार्थवादन्यायस्यात्र प्रसर इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह—\*अथेति\* ॥ \*प्रकरणान्तरभयात्=वेदान्तवाक्यानां प्रकरणान्तरत्वात् ततो भीतेरित्यर्थः । \*स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वम्=स्वप्रकरणस्योपासनार्थत्वमित्यर्थः ।



## पञ्चापादिकाविवरणम्

जातः” इत्यादिषु तात्पर्यदर्शनात्, साध्यस्य च प्रमेयत्वे तात्पर्यसिद्धिः, तात्पर्यं सिद्धे साध्यस्य प्रमेयतेतीतरेतराश्रयात् । साध्येऽर्थे प्रमिते प्रतिबन्धनिरासितया पञ्चात्तात्पर्यमवगम्यत इति चेत्, तथाऽपि साध्यता न तात्पर्यलिङ्गम्; “जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयादि”त्यादिष्वदर्शनात् । तस्मादुक्तानि तात्पर्यलिङ्गानि वेदान्तानां ब्रह्मणि दृश्यन्ते । तथाहि—“सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी”त्युपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्येण प्रत्यगात्माद्वितीयरूपं ब्रह्मावगम्यते । तथा—“ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी”ति नवकृत्वोऽभ्यस्यते । प्रमाणान्तरेण चानधिगतमद्वितीयं ब्रह्मात्मत्वं प्रतिपाद्यते । “आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये” इति च निरतिशयपुरुषार्थात्रातिब्रह्मविज्ञानफलमवगम्यते । “अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य” “येनाश्रुतं श्रुतमि”त्यादिब्रह्मण्यर्थवादश्चोपादीयते । मृद्धोहततपरशुग्रहणादिदृष्टान्तैः स्वपितिनामनिर्वचनेन च सृष्टि-स्थिति-संहारैश्च ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिपाद्यत इति ॥

## ऋजुविवरणम्

तात्पर्यम्, अपितु कार्य एव; अतस्तदेव तात्पर्यलिङ्गमित्याशङ्क्याह—साध्यस्य च प्रमेयत्व इति\* ॥ \*ननु\* नेतेतराश्रयः, यस्मान्न तात्पर्यादर्थबोधः, अपित्वन्यत एवेति चोदयति—साध्येऽर्थे प्रमित इति\* ॥ तस्मादुक्तानि तात्पर्यलिङ्गानि । तानि चात्र दृश्यन्त इत्यर्थः ॥ लिङ्गप्रदर्शनं निगदव्याख्यातम् ।

## तत्त्वदीयनम्

इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—साध्यस्येति\* ॥ साध्ये प्रमिते तत्प्रमितिजननसामर्थ्यरूपतात्पर्यसिद्धिः, तत्प्रमितौ च तदुपेताच्छब्दात् साध्यार्थप्रमितिरितीतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—साध्य इति\* ॥ अज्ञाततात्पर्योपेताच्छब्दात्साध्यप्रमित्यङ्गीकारे तात्पर्यावधारणं कृत्वा स्यादित्याशङ्क्याह—प्रतिबन्धेति\* ॥ “विषं भुङ्क्ष्वे”त्यादेः स्वार्थतात्पर्यशून्याद्विषभोजनप्रमित्यनुत्पत्तिदर्शनात्सर्वत्रापि प्रमित्यनुत्पत्तिशङ्कायां तन्निरासार्थं तात्पर्याधिगमो युक्त इत्यर्थः । अज्ञायमानतात्पर्यवच्छब्दस्य प्रमितिजनकत्वम्, तात्पर्यज्ञानं च प्रतिबन्धनिवर्तकमित्यङ्गीकृत्य प्रमेयसाध्यत्वं तात्पर्यज्ञापकमित्युक्तमित्याह—तथापीति\* ॥ \*जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्\* इत्यादेर्न स्वार्थं तात्पर्यम्, किं त्वर्थवादत्वमित्यर्थः । विवक्षा-साध्यत्वयोस्तत्तात्पर्यलिङ्गत्वनिरसनफलमाह—तस्मादिति\* ॥ तस्मादुक्तान्येव तात्पर्यं लिङ्गानि । तानि च दृश्यन्त इति योजना । तात्पर्यलिङ्गानि स्पष्टयति—“सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि”त्युपक्रम्य “ऐतदात्म्य”मित्यादिरूपसंहारः । अभ्यासलक्षणतात्पर्यलिङ्गमाह—तथेति\* ॥ अनधिगतार्थगन्तृतालक्षणं लिङ्गान्तरमाह—प्रमाणान्तरेति\* ॥ ब्रह्मप्रतिपादने फलोपलम्भादपि तत्र तात्पर्यमित्याह—आचार्यवानिति\* ॥ आचार्योपदिष्टशब्दजनितज्ञानवान् मनन-निदिध्यासनाभ्यामसंभावनादिप्रतिबन्धे निवृत्ते ब्रह्म प्रत्यक्षेण यः साक्षात्कुस्ते, तस्य तावानेव विदेहकैवल्ये विलम्बः, यावत् प्रारब्धकर्मणामुपभोगेन परिसमाप्तिरिति श्रुत्यर्थः । ब्रह्मणोऽप्रतिपाद्यत्वे “अनेन जीवने”त्याद्यर्थवादोपादानं न स्यात्, अस्ति च तत्, तस्मादपि प्रतिपाद्यमित्याह—अनेनेति\* ॥ प्रसिद्धेन प्राणधारणात्मना तेजोऽब्रह्मलक्षणा देवता अनुप्रविश्य नामरूपे व्यक्तीकरोतीत्यर्थः । अश्रुतं श्रवणविषयो भवति, तत् कस्मादिति चेत्, ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यस्याभावात्, तज्ज्ञानेनेतरज्ञानमुचितमित्यर्थः । उपपत्तितोऽप्येकं ब्रह्म प्रतिपाद्यमित्याह—मृद्धोहेति\* ॥ मृदि ज्ञातायां यथा तन्मयं शरावादि प्रतीयते, यथा वा लोहस्वरूपे ज्ञाते तन्मयस्य सूच्यादर्शनात्; तथा ब्रह्मकारणज्ञानेन तत्कार्यमपि ज्ञातं स्यादित्यर्थः । यथाऽसत्यं ब्रुवतस्तत्स्वरूपस्य बन्धः, इतरस्य मुक्तता, तद्वदसत्यं जगत् सत्यं मन्यमानस्य बन्धः, इतरस्य मुक्तेति तत्परशुदृष्टान्तश्रुत्यर्थः । \*स्वपितिनामनिर्वचनेनेति\* ॥ “सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वं हपीतो भवती”त्यादिना जाग्रत्स्वप्नभोगोपस्थापककर्मभावे स्वस्वरूपे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः । तज्ज्ञानात्तत्त्वज्ञानात्तदन्तत्वाच्च ब्रह्मव्यतिरेकेण जगतोऽभावः, ततश्च तत् पूर्णमित्याह—सृष्टीति\* ॥

## प्रदीपः

सर्वथा तु न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति\* ॥ सिद्धान्तसूत्रमवतारयति—इति प्राप्त इति\* ॥



## पञ्चपादिका

सम्यगन्वयः समन्वयः । अथ केयं सम्यक्ताऽन्वयस्य ? पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थानामनन्या-  
काङ्क्षाणामव्यतिरिक्तैकरसप्रातिपदिकार्थमात्रान्वयः ;

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तथा तैत्तिरीयके—“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” “स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः” इत्युपक्रमोप-  
संहारयोः प्रत्यगद्वितीयं ब्रह्मावगम्यते । तथा “सच्च त्यच्चाभवद् यदिदं किंच तदात्मानं स्वयमकुरुत यतो  
वाचो निवर्तन्ते” इति च प्रत्यगद्वितीयं ब्रह्माभ्यस्यते । प्रमाणान्तरेणानधिगतं च प्रतिपाद्यते । “स सर्वान्  
कामान् समश्नुते” इत्यादि च फलं ब्रह्मविज्ञानेऽवगम्यते । सृष्टिश्रुतयश्चाद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थवादभूता  
दृश्यन्ते । तथा कोशपञ्चकोपन्यासेन प्राणनादिव्यापारलिङ्गैश्च ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिपाद्यत इति । एवं सर्वेषु  
वेदान्तेषु ब्रह्मात्मैकत्वप्रमितौ तात्पर्यलिङ्गानि द्रष्टव्यानि । एवं तात्पर्येण समन्वयाद् ब्रह्मैव वेदान्तप्रमेयमिति ॥

सम्यगन्वय इत्यादिना सूत्रभागं व्याचष्टे । पदानामन्वय इति सम्यन्धः । तत्र क्रिया-कारकसंसर्ग  
विषयतया पदानामन्वयं व्यावर्तयति—\*परस्परानवच्छिन्नार्थानामिति\* ॥ ततोद्भिदादिशब्दस्य यजति-  
सामानाधिकरण्येनोद्भिद्यागमात्रवर्तिनोरुद्भिद्यागशब्दयोरनवच्छिन्नार्थत्वेऽपि नियोगाकाङ्क्षा विद्यते, तथेहापि  
स्यादिति, नेत्याह—\*अनन्याकाङ्क्षाणामिति\* ॥ एवं शब्दानां क्रियावाक्येभ्यो वैलक्षण्यमुक्त्वाऽर्थवैलक्षण्यं  
दर्शयितुं तत्र क्रिया-कारक-संसर्गभ्यो वैलक्षण्यमाह—\*अव्यतिरिक्तेति\* ॥ \*ननु\* नीलोत्पलवद् भेदा-  
भेदविषयतयाऽप्यभिधेयाव्यतिरेक इति, नेत्याह—\*एकरसेति\* ॥ ततोद्भिद्यागशब्दयोर्यागविशेषैकरसार्थ-  
वर्तिनोरप्यर्थस्य नियोगाकाङ्क्षावदिहाप्यन्याकाङ्क्षेति, नेत्याह—\*प्रातिपदिकार्थेति\* ॥ तत्रापि लिङ्गसंख्ययो-  
रवस्थाभ्युपगमनीयतेति, नेत्याह—\*मात्रान्वय इति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

\*सच्च त्यच्चेति\* तदित्यर्थः ॥ अभावप्रपञ्चोऽत्र त्यच्छब्देन विवक्षितः । \*प्राणनादिव्यापारलिङ्गैश्चेति\* ॥ “को  
ह्येवान्यात् कः प्राण्यादि”तिविवक्षितो व्यापारः प्राणनादिव्यापारः । “एष ह्येवानन्दयाति” इत्यादिशब्दपरिगृहीतश्च ।  
प्रातिपदिकार्थस्य सत्तामात्रत्वान्नान्याकाङ्क्षा ; क्रियाकारकाणामेव तदपेक्षेति भावः । \*तत्रापीति\* ॥ लिङ्ग-  
संख्याविशिष्टस्यैव वाक्यार्थत्वाच्चेतरवाक्यार्थवैलक्षण्यमिति भावः । कथमेवंविधवस्तुप्रतिपादनं संभवति ? सर्वत्र प्रसि-

## तत्त्वदीपनम्

सर्वशाखाप्रत्ययत्वं दर्शयितुं शाखान्तरीयं तात्पर्यलिङ्गमाह—\*तथा तैत्तिरीयक इति\* ॥ पृथिव्यादिभूतत्रयं सत्,  
वाय्वादिभूतद्वयं त्यत् । अभावप्रत्ययवेद्यं त्यदिति वा । तद् ब्रह्मस्वरूपं मायया जगदाकारेण परिणम्य, स “स्वयमि”ति  
निमित्तान्तरनैरेपेक्ष्यमाह । काम्यन्त इति कामाः, तानित्यर्थः । \*सृष्टिश्रुतय इति\* ॥ “यतो वे”त्याद्या इत्यर्थः ।  
उपपत्तितोऽप्येकं ब्रह्मेत्याह—\*तथेति\* ॥ अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाः कोशपञ्चकशब्दार्थः । “को  
ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेव आकाश आनन्दो न स्यादि”त्यादिना प्राणनादिव्यापारहेतुभूतं ब्रह्मास्तीति निश्चीयत  
इत्यर्थः । तथाच संग्रहश्लोकः—

१ २ ३ ४ ५ ६

“उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये” ॥ इति ।

“तत्र तात्पर्येणे”ति टीकार्थमुपसंहरति—\*एवमिति\* ॥ पदानामित्यस्य व्यवहितान्वयं दर्शयति—\*पदाना-  
मिति\* ॥ \*अर्थवैलक्षण्यमिति\* ॥ क्रियावाक्यार्थात्सत्यादिवाक्यार्थस्य वैलक्षण्यं दर्शयतीत्यर्थः । सामान्येन  
तात्पर्यमभिधाय प्रतिपदमर्थमाह—\*तत्रेति\* ॥ क्रिया-कारकसंसर्गस्याभेदव्यासत्वाद्वा च तदभावान्मैवमित्युक्तम्—  
\*अव्यतिरिक्तेति\* ॥ “उदरमन्तरं कुरुते”इत्यत्र भेदमात्रस्य प्रतिषेधान्न तादात्म्यं वाक्यार्थ इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥  
नियोगसाध्याभावान्न तदाकाङ्क्षेत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

निर्धर्मकतिविरोधधाम्न लिङ्गादेस्तत्रान्वय इत्याह—\*नेत्याहेति\* । जगत्कारणत्वधर्मिणो ज्ञानादिगुणप्रति-



### पञ्चपादिकाविवरणम्

जगत्कारणसामान्यानुवादेन तत्र ज्ञानानन्दशब्दावानन्दविशेषं गमयतः । एक-सत्यानन्तशब्दा भेदमिथ्यात्व-  
द्वैताभावाभिधानद्वारेण तत्र लक्षणया वर्तन्ते । “सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति”त्यादिशब्दाश्चानिर्वचनीयप्रपञ्चोपाधितया  
तत्र वर्तन्ते । “अयमात्मा तत्त्वमसी”त्यादिशब्दाश्च मुख्यलक्षणाभ्यां ब्रह्मण्येव वर्तन्त इति ॥

### ऋजुविवरणम्

द्वार्थानुवादेनाप्रसिद्धार्थप्रतिपादनं क्रियते । नच तदत्र संभवति ; निर्विशेषत्वप्रतिज्ञानात् । यदि शब्देन विना प्रसि-  
द्धिरङ्गीक्रियते ; प्रतिपादनवैयर्थ्यमेव स्यात् । नाप्येवंविधेऽनेकशब्दप्रवृत्तिः संभवति ; प्रवृत्तिनिमित्ताभावात्, भावे वा  
विशिष्टस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्, अतो नैवंविधे पदानामन्वयस्संभवतीत्याशङ्क्याह—\*जगत्कारणसामान्येति\* ॥ \*एतदुक्तं  
भवति\*—“न जगत्कारणमत्र प्रतिपाद्यम्, किन्त्वन्वयम् ; प्रसिद्धत्वात्, तच्च सामान्येन प्रसिद्धम्, न विशेषत इति प्रति-  
पादनसाफल्यमिति ॥ \*ज्ञानानन्दशब्दाविति\* ॥ अनेनैतदुक्तम्—यजगत्कारणमित्यन्वयं तत्र ज्ञानानन्दशब्दप्रयोगाद् ज्ञान-  
त्वाधारसुखविशेषसिद्धिः । एकैकपदप्रयोगे ज्ञानत्वाधारव्यक्तिमात्रम्, सुखमात्रं वा प्रतीयेत, मिलितयोस्तु प्रयोगे सुख-  
ज्ञानशब्दोऽन्तःकरणवृत्तौ प्रतिबिम्बितचैतन्ये व्युत्पन्नोऽपरिच्छिन्नसत्यसामानाधिकरण्यायोगादानन्दैक्यविरोधाद् ज्ञान  
विशेषे प्रसिद्धो जन्मादिभेदप्रतिभासहेतुतयाऽध्यस्तान्तःकरणवृत्तिं तद्रूपसामान्यं च विहायापरिच्छिन्नचैतन्यं लक्षयति ।  
आनन्दशब्दोऽपि शुद्धसात्त्विकान्तःकरणवृत्तौ चैकतयाऽध्यस्तानन्दे व्युत्पन्नोऽपरिच्छिन्नसत्यज्ञानैक्यायोगाद् व्युत्पन्नैक्यं  
तन्निमित्तभेदोत्पत्तिज्ञेयत्वमानन्दत्वसामान्यानि च परित्यज्याद्वयानन्दं लक्षयति । सत्यशब्दस्सर्वात्मकजाड्याभिन्न-  
सदाकारे व्युत्पन्नो ज्ञानानन्दैक्यविरोधाद् जाड्यं परित्यज्यापरिच्छिन्नसत्याकारं लक्षयति । अनन्तशब्दोऽपि जाड्यात्  
पृथक्कृत्य ज्ञानात्मैकत्वप्रतिपादनेन सत्यात्पृथग् जडवर्गोपस्थानेन च वस्तुपरिच्छेदं व्यावर्तयति ॥

\*अथवा\*—सत्याकारस्य जाड्यात्पृथक्करणे जडस्य मिथ्यात्वसिद्धावपि स्वरूपभेदेन सांख्यभ्रमसिद्धवस्तुपरिच्छेदं  
व्यावर्तयति । \*ननु\* एक-सत्यादिशब्दाः कथं ब्रह्मणि वर्तन्ते ? संख्या-सामान्य-परिमाणाभावादित्याशङ्क्याह—  
\*एकसत्यानन्तेति\* ॥ \*ननु\* सामान्याभावोपाधीनां प्रवृत्तिनिमित्तानामङ्गीकारे भेदः स्यादित्याशङ्क्याह—

### तत्त्वदीपनम्

पादनात्कथमुक्तं समन्वयसिद्धिः ? इत्याशङ्क्याह—\*जगदिति\* ॥ तत्र वेदे ज्ञानानन्दशब्दौ जगत्कारणसामान्यानु-  
वादेनानन्दविशेषं गमयत इत्यन्वयः । कारणत्वस्य लोकसिद्धत्वान्न श्रुतिप्रतिपाद्यत्वम् । ज्ञानत्वम्, आनन्दनिष्ठम्,  
ज्ञाननिष्ठत्वात् ; सत्तावत्, इत्यनुमानाद् ज्ञानव्यक्तेरानन्दव्यक्त्यभेदप्रतिपत्तेरानन्दस्य च ब्रह्मस्वभावत्वान्न समन्वयविरोध  
इत्यर्थः । \*आनन्दविशेषमिति\* ॥ दुःख-जाड्यविरोधिव्यक्तिमित्यर्थः । एकादिशब्दैरेकस्य प्रतिपादने पर्यायत्वं  
स्यादित्याशङ्क्य वाक्यभेदान्नैवमित्याह—\*एकेति\* ॥ मिथ्याशब्दोऽपह्नववाची । द्वैतशब्देन च विज्ञातीयो भेदः  
कथ्यते । \*लक्षणयेति\* ॥ वाच्यव्युदासेनेत्यर्थः । ब्रह्मणि भेदाद्यभावश्चेत्, कथं तर्हि सर्वज्ञादिशब्दाः ? इत्याश-  
ङ्क्याह—\*सर्वज्ञ इति\* । \*प्रपञ्चोपाधितयेति\* ॥ प्रपञ्चापेक्षयेत्यर्थः । गङ्गापदलक्षिततीरस्यागङ्गात्ववदात्मादि-  
पदेन लक्षितं ब्रह्मानात्मादिरूपं स्यादित्याशङ्क्याह—\*अयमात्मेति\* ॥ \*मुख्यलक्षणाभ्यामिति\* । जहदजहलक्षण-

### प्रदीपः

उच्यते=प्रत्युच्यत इत्यर्थः । सूत्रावयवान् विभज्य व्याचष्टे—\*तुशब्द इति । पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः=पूर्वपक्षनिषेधार्थः ।  
तत्पदेन जिज्ञास्यं “यतो वे”ति वाक्यलक्षितं विवक्ष्यत इत्याह—\*तद्वद्भेदोति । सर्वज्ञमिति\* ॥ अनेन च प्राथमिकसूत्रद्वयार्थः  
परामृश्यते । शास्त्रयोनिवनिर्णयात् पूर्वं “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रस्यानन्दवाक्यान्तविषयत्वकल्पनाऽसंभवाद “यतो वे”त्यादि-  
कारणवाक्यमात्रगम्यस्यैव ब्रह्मणो विवक्षणीयत्वाच्चात्र “सर्वज्ञं सर्वशक्ती”ति सगुणमात्रपरामर्शः । अनेन पूर्वपक्षनिर्देशः  
क्रियते । शास्त्रयोनिपदानुर्कर्षणलभ्यं साध्यमाह—\*वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यत इति\* ॥ तथाच ब्रह्म आनन्दादिनिर्विशेष-  
रूपेण वेदान्तशास्त्रसमधिगम्यमिति योजना । हेतुनिर्देशं विना सूत्रेण न्यायस्वरूपं न प्रदर्शितं भवतीति हेतुं पृच्छति—  
\*कथमिति\* ॥ कुत इत्यर्थः । समन्वयादिति पदम्, उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यग्राहकप्रमाणावगततात्पर्यविषयत्वादित्यर्थ-  
परतया व्याचष्टे—\*सर्वेषु वेदान्तेष्विति\* ॥ सर्वासु ब्रह्मविद्यासु । \*वाक्यानि=कर्म-सुष्ठुपासना-प्रपञ्चनिषेधपराणि वाक्यानि ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

सर्वे जगत्कारणविषयाः शब्दा मुख्यलक्षणोपाधिभिरेकरसमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति । नचानिर्वचनीयभेदाभावयोः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तयोः परमार्थसत्यैकरसभेदनिमित्ततेति ॥

## ऋजुविवरणम्

\*नचानिर्वचनीयेति\* ॥ \*ननु\* सत्यादिशब्दानां कथमखण्डैकरसे वृत्तिर्निश्चीयते ? भिन्नार्थत्वात्, एकार्थत्वे वा सहप्रयोगानुपपत्तिः ; पर्यायत्वादेव, पर्यायेण बोधका इति पर्यायता प्रसिद्धा । तदुक्तम्—

“पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते । पर्यायेणैव ते यस्माद्वदन्त्यर्थं न संहताः ॥” इति ॥

यदप्युक्तम्—सच्चिदानन्दशब्दाः परापरसामान्यद्वारेणैकामानन्दव्यक्तिं लक्षयन्तीति, ‘तदपरामृष्टलक्षणावृत्तेरितीरितम् ; यतः प्रमाणान्तरयोग्यस्य कार्ययोगितया क्लृप्तस्याव्यभिचरितस्य लक्ष्यत्वं दृष्टं तीरादेः, नचात्र तत् संभवति ; वाच्यस्य च वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम् । नच तदप्यस्ति ॥

\*ननु\* निर्विशेषत्वं ब्रह्मणः श्रूयतेऽद्वितीयास्थूलनिर्गुणश्रुतिभिः, अतो गुणादिविशिष्टस्य वाक्यार्थत्वायोगाद् लक्षणाश्रयणम्, \*मैवम्\* ; अत्यन्तभेदशुद्धादिगुणनिवर्तकत्वोपपत्तेः, लक्षणाश्रयणे च लक्ष्यस्य तावन्मात्रत्वे सहप्रयोगानुपपत्तिः, आधिक्ये तु वैयर्थ्यम्, पर्यायता च । किञ्चापर्यायशब्दा एते ज्ञानानन्दादयः । नचापर्यायाणामखण्डार्थता ॥

गुरुकारण्यसंलब्धतत्त्वबोधप्रसादतः । अखण्डैकरसे वृत्तिः पदानामिह वर्ण्यते ॥

“तत्त्वमसि” “सत्यं ज्ञानमनन्तमि”ति सामानाधिकरण्यं प्रतीयते । तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यमिति लक्षणम् । तत्रार्थशब्दो न पुरुषार्थवचनः ; ‘अयं दुर्गन्धः’ इत्यादिषु सामानाधिकरण्यदर्शनात्, अभिधेयवचनत्वमपि न संभवति ; अभिहितत्वे विवक्षित आत्माश्रयत्वप्रसङ्गः, योग्यवचनत्वमपि न संभवति ; अयोग्ये वृत्तिप्रसक्त्यभावात्, योग्ये वृत्तिरिति न युक्तम् ; व्यर्थविशेषणत्वात् । अतः प्रवृत्तिनिमित्तभेदे सत्येकस्मिन् वृत्तिः, इति लक्षणे प्राप्ते, वस्तुवाचिनाऽर्थशब्देन विशेषितत्वात्प्रवृत्तिनिमित्तस्यासत्यत्वे सत्येकमेव सत्यं प्रमेयमिति लक्षणतः सिद्धम् । तथाच “यतो वाचो निवर्तन्ते” इति श्रुतिर्जाति-गुण-क्रियोपाधि-संबन्धान्यतमभावात्पुरुषार्थब्रह्मप्रतिपादने प्रवृत्ताऽपि ततो व्यावृत्तेत्याह । “औपनिषदं पुरुषमि”त्युपनिषदभ्यो विज्ञेयतां दर्शयत्यपरो श्रुतिः । अत उभयविध-श्रुतिसामर्थ्याद् वाचकत्वहानेन लक्षणत्वं निश्चीयते । भिन्नाभिन्नत्वं च श्रुत्या निषिध्यते—“नेति नेति” इति । अत्र “द्वे वा व ब्रह्मणो रूपम्” इति सर्वात्मकत्वप्रतिपादनादत्यन्तभेदनिवृत्तेः प्राप्तत्वादभेदसहिष्णुभेदं निषेधति प्रथमो नेतिशब्दः, द्वितीयस्तु तद्योग्यतानिषेधकः ; नष्टे पदार्थे भेदनिवृत्तावपि तद्योग्यतादर्शनात् । अथवा—भावनिषेधकः प्रथमः, द्वितीयस्त्वभाववर्गविलापकः ; स्थूल-सूक्ष्मवासना-तदितरादिविषयत्वेन वा द्रष्टव्यम् । अतः श्रुति-लक्षणाभ्यामेकरसस्य प्रमेयत्वं निश्चीयते । तथा परमार्थत्वसामर्थ्यादप्यैक्यं प्रतीयते ।

तथाहि—चिदानन्दयोरन्योन्यव्यभिचाराच्छून्यविरोधित्वप्रयोजकत्वायोगात्, सत्तासंसर्गनिबन्धने च शून्यविरोधित्वे सत्तायां व्यभिचारात्, सत्तासंसर्गे च शून्यविरोधः शून्यविरोधित्वे सत्तासंसर्ग इत्यन्योन्याश्रयात् सदैक्यमशून्यत्वाय कल्पनीयम् । एवञ्चिदाकारादन्यत्वे सदानन्दयोरस्फुरणाच्छून्यता स्यात्, ज्ञानसंसर्गनिबन्धने प्रकाशे, संसर्ग-प्रकाशे सति संसर्गप्रकाशसंसर्गप्रकाशपुरस्सरं संसर्गप्रकाश इत्यन्योन्याश्रयाद् ज्ञानैक्यमशून्यत्वाय कल्पनीयम् । एवमत्यन्तैक्याद् न वाच्यता । तथा पुरुषार्थत्वसामर्थ्यादप्यैक्यं प्रतीयते ।

तथाहि—पुरुषार्थत्वं नानन्दत्वेन संभवति ; अदर्शनात्, आनन्द-तत्संसर्गयोरन्योन्यव्यभिचारात्पुरुषार्थत्वप्रयो-

## तत्त्वदीपनम्

येत्यर्थः । गङ्गापदस्य तीरे जहल्लक्षणया वृत्तेरात्मादिशब्दानां च जहदजहल्लक्षणयेति वैषम्यमित्यर्थः । \*मुख्यलक्षणोपाधिभिरिति\* । \*अयमर्थः\*—मुख्यवृत्त्या लक्षणावृत्त्या जहदजहल्लक्षणया उपाधिना चेति विभागो द्रष्टव्यः । ज्ञानानन्दशब्दौ व्यक्त्यंशापरित्यागेन मुख्यवृत्त्या वर्तन्ते, एकादिशब्दास्तु जहल्लक्षणया, तत्त्वमस्यादयो जहदजहल्लक्षणया,

## प्रदीपः

\*तात्पर्येण=उपक्रमाद्यवगततात्पर्येण । \*एतस्यार्थस्य=प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपार्थस्य । \*प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि ॥ दृश्यन्त



### ऋजुविवरणम्

जक्तवायोगादानन्दैक्यं पुरुषार्थत्वाय कल्पनीयम् । तस्याप्यप्रकाशमानस्यापुरुषार्थत्वाच्चैतन्यरूपता, चैतन्यसंसर्गनिबन्धने प्रकाश इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्—प्रकाशसंसर्गं प्रकाशिते संसर्गिप्रकाशः, संसर्गिप्रकाशपुरस्सरः संसर्गप्रकाश इति, अतस्तद्रूपत्वमङ्गीकर्तव्यम् । एवमसतोऽपि पुरुषार्थत्वायोगात् सत्तासंसर्गस्य तद्वत्त्वस्य वा सत्त्वव्यवच्छेदकत्वाभावात्स-  
दैक्यमशून्यत्वाय कल्पनीयम् । एवं परस्परैक्यमूहम् । किञ्च सच्चिदानन्दानामौपाधिक आभासश्च भेदः ; स्वतोभिन्नत्वेऽ-  
नित्यत्वादिदोषोत्पत्तेः, ब्रह्मणश्चिदाकारादन्यत्वे चिद्गुणत्वं न संभवति ; जडत्वात् ; पटवत् चिदानन्दयोस्समानाश्रयत्वे  
चौष्ण्य-प्रकाशयोरिव विषय-विषयित्वायोगात्, ब्रह्मानन्दोऽननुभूतोऽपुरुषार्थः स्यात् । यत् प्रमाणान्तरयोग्यत्वम्,  
क्लृप्तकार्योपयोगित्वमविनाभूतत्वं च लक्ष्यत्वे प्रयोजकमिति, तद्वचः ;

न मानान्तरयोग्यत्वं प्रतीतिस्तु प्रयोजिका । प्रतीतेस्तदभावेन न लक्ष्यत्वे पराक्रिया ॥

लक्ष्यस्य सर्वत्र प्रतीत्या भवितव्यम्, ननु मानान्तरयोग्यत्वम् ; वाच्येन संबन्धितया गृहीते वाच्यस्यान्वेतुम-  
योग्यत्वे सति संबन्धिनः प्रमाणान्तराग्राह्यत्वेनालक्ष्यत्वानुपलम्भात् । लक्ष्यत्वं विद्यमानस्थलेऽप्यप्रयोजकम् ;  
विशिष्टस्य वाच्यत्वे स्वरूपस्यापि स्वप्रकाशत्वेन सिद्धत्वाद् वेद्यत्वाभावापराधेन मानान्तरवेद्यत्वाभावेन वा सिद्धे  
लक्ष्यत्वाभावानुपलम्भाद्वेद्यत्वं मानान्तरवेद्यत्वं च विद्यमानस्थलेऽप्यप्रयोजकम् ॥

यद्वा—विशिष्टस्य वाच्यत्वात् तस्य च मानान्तरवेद्यत्वे स्वरूपस्यापि मानान्तरवेद्यत्वात् साहचर्याच्च लक्षणा-  
संभवः । किञ्च वाच्यस्य वाक्यार्थेनान्वेतुमयोग्यत्वं योग्यार्थलक्षणाकारणम्, ननु लक्ष्यस्य मानान्तरवेद्यत्वम् ;  
वाच्यस्यान्वयायोग्यत्वे सति लक्ष्यस्य मानान्तरयोग्यत्वाभावेनालक्ष्यत्वानुपलम्भात्, मानान्तरयोग्यत्वं विद्यमान-  
स्थलेऽप्यप्रयोजकम्, किञ्च संस्कारवाक्यैरपूर्वविब्रीहिलक्षणेऽप्येते । नच मानान्तरवेद्यता । एवं बहुशो मानान्तरावेद्ये  
दीक्षणीयादौ लक्षणा द्रष्टव्या । नच लक्ष्यस्य तत्संबन्धस्य वा सत्यत्वं लक्षकत्वप्रयोजकम् ; असत्यस्याप्यसंबन्धस्य  
लक्षकत्वात् संबन्धवत्त्वं न लक्षकत्वस्य प्रयोजकम् ; संबन्धे विद्यमाने तयोस्सत्यत्वाभावापराधेनालक्षकत्वानुपलम्भात्  
सत्यत्वमप्यप्रयोजकम् ॥

### वार्तिकम्

नाक्तः । तेन पञ्चाङ्गताऽस्याधिकरणस्य दर्शिता भवति ; तदेकाङ्गविकलस्याधिकरणत्वानुपपत्तेः । तथा  
चोक्तम्—“विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्” ॥  
इति । चतुर्भिः सूत्रैर्वा ब्रह्मजिज्ञासासमर्थनादेकमधिकरणमिति ॥

### प्रदीपः

इति योजना । प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकत्वरूपतात्पर्यवन्ति सर्वाणि वाक्यानीति भावः । अनेन च पक्षे हेतुसमन्वयः  
समर्थितः । अत्र ‘तात्पर्येण समनुगतानी’ति वाक्येन तात्पर्यविषयत्वमेव वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे तन्त्रम्, न तु तात्पर्यविषय-  
संसर्गत्वमिति सूच्यते, इति तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वं व्याख्यातम् । अत्र विवक्षितानि महावाक्यानि मुख्यानि  
“तत्त्वमसि” (छा-) “प्रज्ञानं ब्रह्म” (ऐतरेय-) “अयमात्मा सर्वानुभूः” (बृहदा-) “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” (मुण्डक) इति ॥

\*ननु\*—अस्तु नाम वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे तात्पर्यविषयत्वमेव तन्त्रम्, एवमपि “तत्त्वमसी”ति वाक्यस्याखण्डार्थत्वं  
न संभवति । तथाहि—जीवब्रह्माभेदो हि न शास्त्रार्थः, “नाहं सर्वज्ञः” इत्यनुभवेन भेदसिद्ध्या प्रमाणसिद्धस्य तस्य  
बाधयोगात्, अबाधेनोपपत्तौ बाधकल्पनं हि न युक्तम् । \*एतेन\*—जीवेश्वरौ, मित्रौ, परस्परविरुद्धभौधिकरणत्वात् ;  
दहनतुहिनवत्, इत्यनुमानमपि—\*व्याख्यातम्\* । नच—अयं भेदो न तात्त्विकः, किन्तु कल्पित एवेति—वाच्यम् ;  
भेदस्यापि षड्विधातात्पर्यलिङ्गोपेत “द्वा सुपर्णा”दिश्रुतिगम्यस्यातात्त्विकतायोगात्, एकतरबाधे च कर्तव्ये सखण्डवाक्यानां  
बहुत्वाद् ‘विप्रतिषेधे भूयसां स्यात् स्वधर्मत्वमिति’ न्यायेनाभेदबाध एव युक्तः ॥

तथाहि—आथर्वणे “द्वा सुपर्णे”त्युपक्रमः “परमं साम्यमुपैती”त्युपसंहारः, “तयोरन्यः पिप्पलम्” “अनश्नन्नन्यः”  
इत्यन्यशब्दाभ्यासः, शास्त्रैकगम्येश्वरप्रतियोगिकभेदस्यापूर्वत्वम्, “पुण्य-पापे विधूये”ति फलम्, “अस्य महिमानमिति  
वीतशोकः” इति स्तुतिरूपोऽर्थवादः, “अस्ति,” “अनश्नन्नि”ति भेदे युक्तिश्च विद्यन्ते । अत्रोपक्रमे द्विशब्दो हि यदि



### ऋजुविवरणम्

\*ननु\* लक्ष्यस्यैकत्वेन पर्यायत्वं वैयर्थ्यञ्चेति, तदसत् ; लक्ष्यस्यैकरसत्वेऽपि कुतस्तद्वृणद्वयम् ? यद्यप्येकमेव वस्तु, तच्च सर्वविरोध्याकाररूपम्, तथाऽपि नैकेन पदेन तत्तादृशं लभ्यते ॥

तथाहि—सन्नित्युक्ते जाड्यानन्दविरोधिचिदानन्दरूपत्वं न लभ्यते । लोके सत्त्वप्रतीतावपि चिदानन्दरूपत्वादर्शनात्, तदात्मकत्वं प्रतिपादनीयम् । तथा चैतन्येऽपि सदानन्दत्वं प्रतिपादनीयम् ; ज्ञानाकारस्यासत्त्वादनान्दनिवर्तकत्वाभावात्, व्यभिचारात् । तथाऽऽनन्देऽपि सद्गुरुत्वं प्रतिपादनीयम् ; केवलस्य व्यभिचारादेव ।

\*ननु\* लक्ष्यस्वरूपस्यैकत्वात् तस्य चैकेन पदेन सिद्धेः पदान्तरप्रयोगस्तल्लक्ष्यैकत्वप्रतिपादनञ्च व्यर्थम्, \*मैवम्\* ; लक्षणाबुद्धीनामपुनरुक्त्यर्थं तत्तदभ्रमविरोधिधर्माः कल्पिताः । तत्कल्पने च तद्वर्मोपाधिकत्वेन स्वरूपस्य भेदभ्रमप्राप्तौ तदुपादाननिवृत्त्यर्थं विरोधिधर्मोपलक्षितस्य सत्याकारस्य चिद्रूपत्वमानन्दरूपत्वञ्च चिद्रूपस्याप्यानन्दसन्मात्रत्वमानन्दरूपस्य सच्चिन्मात्रतेत्यैक्यप्रमितिर्जायते । तदुत्पत्तौ विरोधिधर्म-तन्निबन्धनभेद-तदुपादानाज्ञानस्य च निवृत्तिः । सर्वभ्रमनिवृत्त्यर्थं तत्तदभ्रमविरोधिधर्माः कल्पिताः ; विरोध्यधिष्ठानप्रमितेरेव बाधकत्वोक्तेः । नचैतत्पदसामानाधिकरण्येन लभ्यात्यन्तैक्यबलादेतत्पदवैयर्थ्यापादनं युक्तम् ; एतत्पदनिबन्धनवाक्यार्थज्ञानवत् एव तद्वाक्यानन्तरं वैयर्थ्यात्, पूर्वन्तु वाक्यार्थज्ञानाभावादेव न वाक्यप्रयोगो वैयर्थ्यं वा ॥

\*ननु\* विरोधिधर्मस्यारोपितत्वेन प्रमित्यभावात्कथं विरोध्यधिष्ठानप्रमितेर्बाधकत्वम्, \*मैवम्\* ; विरोधिधर्मस्य प्रतीतिमात्रमपेक्षितम्, न प्रमितिः ; प्रतीयमानविरोधित्वधर्मेण लक्षितस्य प्रमितत्वे सति विरोधिधर्मस्य प्रमितत्वाभावापराधेनोत्पन्नाधिष्ठानप्रमितेरबाधकत्वानुपलम्भात्, भ्रमविरोधित्वेन प्रतीतधर्मोपलक्षितस्वरूपप्रमितिर्वाधिता ; तस्यैवाधिष्ठानत्वात्, भ्रमोपादानाविद्याविषयत्वाच्च लक्ष्याव्यतिरिक्तपदार्थैरेक्यस्य कदाचिदपि सत्त्वासिद्धेः प्रतियोग्यभावात्तन्निषेधोऽपि न प्रामाणिकः । अतोऽन्यैक्यनिषेधेनाऽऽरोपितेनैव लक्ष्यत्वम्, भ्रमनिवृत्तिश्चैष्टव्या ॥

\*ननु\* ज्ञानादिशब्दैर्न स्वरूपस्य लक्ष्यत्वम्, आनन्दाद्भिन्नं हि विज्ञानशब्देन लक्ष्यम् । एवमानन्दादिशब्दैरपि ; तथा सति भिन्नत्वे गृहीते नैकत्वं संभवति ; स्वरूपत्वे स्वरूपग्रहणेन गृहीतत्वात् प्रमितिरैकैवोच्यते ।

### वार्तिकम्

अत्र तुशब्दः परपक्षनिषेधार्थः ; अव्ययानामनेकार्थत्वात् । सर्वत्र चैवं प्रायेण तुशब्द-वाशब्दौ सूत्रे परपक्षनिषेधार्थौ ज्ञातव्यौ । सर्वनाम्नोक्तलक्षणं ब्रह्म शास्त्रं वा विप्रतिपन्नं परामृश्यते । सम्यग्

### प्रदीपः

भेदवाचको यदि वा द्वित्वसंख्यावाचकः, उभयथाऽपि भेदस्योपक्रमो वर्तते । एतेन—उपसंहारोऽपि व्याख्यातः ; सादृश्यस्य भेदमन्तरेणानुपपत्तेः । पारम्यविशेषणन्तु बहुभिर्धर्मैः सादृश्यं गमयितुम् । ‘अन्योऽन्यः’ ‘अन्यमि’त्यभ्यासोऽप्यन्यशब्दस्य भिन्नपरत्वाद् भेदविषय एव । एवं च षड्विधतात्पर्यल्लिङ्गोपेतत्वं भेदश्रुतेः सिद्धमेव ॥

\*एतेन\*—अन्तर्यामिब्राह्मणमपि व्याख्यातम् ; “वेत्थ नु त्वं गार्ग्ये”त्युपक्रमस्य, “एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” इत्युपसंहारस्य, “एष त आत्माऽन्तर्यामी”त्येकविंशतिकृत्वोऽभ्यासस्य, अन्तर्यामित्वस्य प्रमाणान्तरानधिगततयाऽपूर्वत्वस्य, “स वै ब्रह्मवित्सर्वविदि”ति फलस्य, “तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यती”ति निन्दारूपार्थवादस्य “यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेदे”त्युपपत्तेश्चान्तर्यामितात्त्विकतायां तात्पर्यग्राहकाणां विद्यमानत्वात् ॥

“तत्त्वमसी”ति वाक्यन्तु न जीवब्रह्मभेदपरम् । तथाहि—“सदेव सौम्येदमि”त्यादिसन्दर्भो नाद्वितीयब्रह्मपरः ; “उत तमादेशमप्राक्ष्यः” “सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः” “एतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी”त्युपक्रम-मध्यपरामर्शोपसंहाराणां सविशेषब्रह्मपरत्वात् । न हि जीवनियमनानुकूलव्यापाररूपशासनकर्तृत्वं निर्विशेषे संभवति । नापि प्रजाशब्दोदितानां जीवानां निर्विशेषब्रह्मणश्च मूल-मूलभावः संभवति । नापि वा “तत्सत्यसि”ति प्रपञ्चसत्यत्वावधारणं संबोध्य-संबोधकभावेन श्वेतकेतूहालकयोर्भेदप्रतिपादनावगतं जीवनानात्वं निर्विशेषात्मवादे युज्यते । अतः “तत्त्वमसी”तिवाक्यं “यतो वा” “ब्रह्मणे त्वा महस आत्मानं युजीते”ति श्रुत्यनुसारेण “तस्मै त्वम्” “तस्मात् त्वमि”ति वा, “स कारणं करणाधिपाधिपः” इति श्रुत्यनुसारेण “तस्य त्वम्” इति वा, “सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः” इति श्रुत्यनुसारेण “तस्मिन्स्त्वम्” इति वा, अन्तर्यामिब्राह्मणानुसारेण शरीरशरीरिभावपरतया वा योजनीयम् । एकविशानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा



## अनुविवरणम्

ज्ञानस्वरूपत्वं ज्ञानशब्देन लक्ष्यत्वप्रयोजकम्, नानन्दाद्देवत्वम् ; ज्ञानस्वरूपे विद्यमानेऽन्यस्माद्देवाभावापराधेना-  
लक्ष्यत्वानुपलम्भात् ॥ एवमानन्देऽपि । नच ज्ञानबुद्ध्याऽभेदस्य गृहीतत्वम् ; विज्ञानं भिन्नमिति पुनरुक्तिप्रसङ्गात् ॥  
\*ननु\* भेदाप्रतीतावानन्दरूपस्य ज्ञाने प्रतीतिस्स्यात्, स्वरूपस्यैकत्वात्, व्यवस्थापकाभावात्, \*मैवम्\* ;  
आनन्दबुद्धौ ज्ञानस्वरूपस्याभासार्थमौपाधिकभेदाभासाङ्गीकारात् ॥

\*ननु\* गङ्गाशब्दलक्ष्यस्य न गङ्गात्वम्, तद्वदानन्दादिशब्दलक्षणायामुल्यानन्दादिरूपत्वाद् न मुल्यानन्दादि-  
रूपता भवेत् ; \*मैवम्\* ; वाच्यस्य ज्ञानादिरूपता लक्ष्यस्वरूपैक्याध्यासात्, न स्वरूपतः ; अतो यदधीनमस्य  
ज्ञानादिरूपत्वम्, तस्यैवार्थतो मुख्यज्ञानादिरूपता । गोलकानुप्रविष्टचक्षुरादीनां चक्षुरादिशब्दवाच्यत्वेऽपि शुद्धस्वरूप-  
स्यैवार्थस्य मुख्यत्ववदिति वदामः । गङ्गात्वन्तु गङ्गाया न तीरेक्याध्यासनिबन्धनम्, किन्तु स्वत एव ; तेन न  
तीरस्य गङ्गात्वमिति भेदः ॥

\*ननु\* वाच्यत्वेन सिद्धस्यान्यत्र लक्ष्यत्वं दृष्टम्, तदभावाद् नात्र लक्षणा, \*मैवम्\* ; नान्यत्र वाच्यत्वमत्र  
लक्ष्यत्वप्रयोजकम्, किन्तु वाक्यार्थेनान्वय एव । यदप्युक्तम्—“अखण्डार्थताऽनुपपन्नेति, केनैतद् दूषणमीरितम् ?  
न तावद् वैयाकरणेन, स हि प्रातिपदिकार्थस्य प्रथमाविभक्तेश्चाव्यतिरिक्तार्थतामाह । बौद्धा अपि विज्ञानं  
क्षणिकमित्यव्यतिरिक्तार्थतामाहुः । प्राभाकरास्तु स्वरूपं भेदः “निर्घटं भूतलमि”त्यादीनामखण्डार्थतामाहुः । स्वरूप-  
भेदादीनां सर्वेषामेतदेवोदाहरणीयम् । धर्मभेदादीनां भेदो भिन्न इति प्रयोगदर्शनात् । अतः पर्यनुयोग एव कर्तुं  
न शक्यते ॥

## वार्तिकम्

अन्वयः=सम्बन्धः समन्वयः । शास्त्रेण ब्रह्मणोऽनधिगतस्य शक्ति-तात्पर्याभ्यां ततोऽधिगम्यमानत्वम्,  
तेन च शास्त्रस्य ताभ्यामेव तदधिगन्तृत्वसामर्थ्यम्, तत्त्वेनैकवाक्यत्वापन्नत्वमिति वा ॥

तेन तदोपात्तमुक्तलक्षणं ब्रह्म विप्रतिपन्नं शास्त्रं वा पक्षः । तुशब्दोपात्तं परपक्षप्रतिषेधलक्षणम्—न  
शास्त्राप्रमाणकम्, नोक्तलक्षणब्रह्माविषयकमिति वा साध्यम् । यत्र सूत्रे साध्यनिर्देशकं पदान्तरं न  
श्रूयते, तत्र सर्वत्रैवं परपक्षनिरासितुशब्दादिरेव तन्निर्देशक इति बोद्धव्यम् । अनधिगतत्वे सति शक्ति-  
प्रदीपः

यद्यपि कार्यस्वरूपाणां विशेषाकारेण कारणोद्भेदेन द्वैतिनां मते न संभवति ; तथाऽपि तदवस्थाविशिष्टं कारणमेव कार्यमित्या-  
रम्भणाधिकरणे निरूप्यमाणां कार्यकारणानन्वयत्वं स्वीकृत्य ब्रह्मणि ज्ञात उपादानतया कार्यानुप्रविष्टो ब्रह्माकारो भवतीति सद्ब्रह्मण  
उपादानतानिरूपणपरं “यथा मृत्पिण्डेने”त्यादिवाक्यमिति मन्तव्यम् । नच—“एकमेवाद्वितीयमि”ति वाक्यानुपपत्तिः ;  
“असिद्धितीयोऽनुचचार पाण्डवः” इत्यत्र द्वितीयशब्दस्य सहायपरत्वेन “एके मुख्यान्व-केवलाः” इति कोशानुसारेणैकशब्दस्या-  
न्यपरत्वाङ्गीकारेण चासहायत्वेनान्यत्वेन चैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् । नच—“तत्त्वमसी”तिवाक्यस्य शरीर-शरीरि-  
भावपरत्वे जीवशरीरः परमात्मैतत्त्वस्यैव विवक्षणीयत्वात् त्वंपदार्थस्य क्रियायामनन्वयाद् “असी”ति मध्यमपुरुषप्रयोगानु-  
पपत्तिरिति—वाच्यम्, युष्मच्छब्दसामानाधिकरण्यमात्रेण संबोध्यार्थपरत्वाभावेऽपि परम्परया क्रियान्वयमादायापि तदुपपत्तेः ।  
विस्तृतं चैतत् पाराशर्यविजय इति तत एव द्रष्टव्यम् ।

\*एतेन\*—“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”ति वाक्यमपि—\*व्याख्यातम्\* ; ब्रह्मैवेत्येवकारो हि नावधारणार्थः, “इव-वत्—  
वैवे”त्येवकारस्यापीवपर्यायत्वात् । अन्यत्र सादृश्येनाभेदे “सोऽयं देवदत्तः” इत्यत्र तात्पर्यानुसारेणाखण्डार्थाविवक्षायां  
स्ववधारणार्थोऽपि न विरोधी । एवं च सर्वेषामपि वेदान्तानां सद्वितीयब्रह्मण्येव तात्पर्याद् न तत्त्वमस्यादिनाक्यमखण्डार्थ-  
मित्यत आह—\*तात्पर्येणेति\* ॥

\*अयं भावः\*—न हि वेदान्तानां जीव-ब्रह्मभेदे तात्पर्यम्, “नाहं सर्वज्ञः” इत्यनुभवो ह्यन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य  
भावावच्छिन्नचैतन्यभेदमवगाहते, नतु शुद्धचैतन्यस्य विगलितान्तःकरणादिनिखिलोपाधिकचैतन्यभेदम्, इति जीव-ब्रह्मभेदे “नाहं  
सर्वज्ञः” इति प्रत्यक्षं न प्रमाणम् । प्रत्यक्षं हि भेदं न वयं निषेधामः, किन्तु तत्तात्त्विकत्वमेव । न हि प्रत्यक्षबाधमन्तराऽ-  
द्वितीयादिश्रुतिप्रामाण्यं सिद्धयतीत्यपच्छेदन्यायेन बाध्यमेव प्रत्यक्षमूरीकुर्मः । परीक्षितं हि प्रत्यक्षं न बाध्यं नापरीक्षितम् ।



## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* सर्वपदानाञ्चेलक्षणावृत्तिरिष्यते । न लक्ष्ये व्यवहारस्स्यात् साक्षाद्वि हेत्वभावतः ॥  
 उच्यते ब्रह्मशब्दस्तु संशोक्तं ब्रह्मसंज्ञितम् । पराशरेण तेनात्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥  
 इत्येवं सर्ववेदान्तपदानां निर्विशेषणे । सिद्धा लक्षणया वृत्तिरात्मनि ब्रह्मरूपणे ॥  
 प्रत्यग्ब्रह्मणि शब्दानां वृत्तिरेकरसे कथम् । भिन्नार्थानां विशिष्टे हि वाक्यार्थे वृत्तिरिष्यते ॥  
 एकार्थत्वे प्रयोगोऽपि तेषां नो युगपद्भवेत् । लक्षणावृत्तिमाश्रित्य यद्येकार्थत्वमिष्यते ॥  
 गुण इत्यन्वये वाक्यं मेये सति न लक्षणा । वाच्यस्यानन्वये मेये लक्ष्ये तद्योगिनि श्रिते ॥  
 मानान्तरगृहीतस्य लक्ष्यत्वं दृश्यते यतः । निर्विशेषस्य बोध्यत्वमेतस्मिन्निति वाक्यतः ॥  
 ज्ञायते लक्षणा तेन, ननु सर्वपदे श्रिता । निषिध्यते प्रपञ्चस्य स्थूलादिः शुद्धकारणे ॥  
 नानिष्टं तद्गुणाश्चात्र निषेध्या रोपिता यतः । ननु सर्वत्र वाक्यार्थे लक्ष्यत्वं तदभावतः ॥  
 नैतत्स्यादन्वितामानु वाचकत्वं यतः स्थितम् । इतरस्मिंस्तु लक्ष्यत्वे विशिष्टस्यैव मेयता ॥  
 तेनोभयत्र वाक्यार्थे विशिष्टत्वं व्यवस्थितम् । तेनात्रापि विशिष्टस्य वाक्यमेयत्वमिष्यताम् ॥  
 अत्र लक्षणाश्रयणे लक्ष्ये भेदो नवाऽस्ति वा । पर्यायता च वैयर्थ्यमाद्ये वैयर्थ्यमुत्तरे ॥

## वार्तिकम्

तात्पर्यतस्ततोऽधिगम्यमानत्वात् शक्तितात्पर्यतस्तदधिगन्तृत्वसामर्थ्यात्, तत्त्वेनैकवाक्यत्वाद्धेति समन्वय-  
 पदोपात्तो हेतुः ; यदेवम्, तदेवम्, यथा धर्मः, तच्छास्त्रं वेत्युदाहरणावयवो बहिरेवोपसंहर्तव्यः ॥

“अग्निहिंसस्य भेषजमि”त्यादौ व्यभिचारो मा भूदित्यत उक्तम्—\*अनधिगतत्वे सतीति\* ॥

तथाऽपि ग्रावप्लवनदादौ व्यभिचारो मा भूदित्यत उक्तम्,—\*तात्पर्यत इति\* । नच—तात्पर्यतस्ततोऽधि-  
 गतत्वादित्येतावतैवाग्निहिंसमेषज्यादिवारणमिति—वाच्यम् ; तन्मन्त्रस्य प्रास्ताविकत्वेनानुवाद एव  
 तात्पर्यात्, अश्वविवसनस्थान ऋत्विजां परस्परसंवादे तस्य विनियोगात् । आर्थिकार्थे व्यभिचार-  
 वारणाय शक्तीत्युक्तम् । नचाश्रयासिद्धिः ; ब्रह्मपदव्युत्पत्त्या तत्प्रसिद्धेरुभयवासिद्धत्वादिति ।  
 नापि साध्याविशेषत्वम् ; भावाभावकृतरूपभेदात्, सामान्य-विशेषरूपभेदाच्च । समितिर्विशेषणात् स्वपक्षे

## प्रदीपः

यथाच काम-संकरप-दुःखादिकं नात्मधर्मः, किन्त्वन्तःकरणधर्मः, तथा पूर्वमेव निरूपितमिति विगलितोपाधिशुद्धचैतन्ययोजीव-  
 ब्रह्मणोर्विरुद्धधर्माधिकरणत्वाभावात्—“जीवेश्वरौ, भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्” इत्यनुमानमपि हेत्वसिद्धिदूषितं न प्रयोजक-  
 मिति बोध्यम् । अदृष्टत्वेऽपि वा तात्त्विकमेदस्य दृष्टान्तेऽदृष्टत्वेन साध्यवैकल्याद् भेदमात्रसाधने च सिद्धसाधनान्नादैत-  
 विरोधीदमनुमानम् ।

नच—“द्वा सुपर्णे”ति षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतश्रुतिसिद्धस्य भेदस्य कल्पितत्वायोग इति—वाच्यम् ; आथर्वणे  
 प्रथममुण्डके “कस्मिन्नु भगवो विशाते सर्वमिदं विशातं भवती”ति शौनकप्रश्नानन्तरं “द्वे विद्ये वेदितव्ये” इति विद्याद्वयमवतार्य  
 ऋग्वेदादिरूपामपरां विद्यामुक्त्वा, “अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेश्यमग्राह्यमश्रोत्रमवर्णमि”त्यादिना परविद्या-  
 विषयत्वमक्षरस्य वर्णितम् । अक्षरशब्दस्तु “अक्षरमम्बरान्तधृतेरि”त्यत्र निर्गुणब्रह्मपरतया भगवत्पादैर्व्यवस्थापितः, इत्युपक्रमोऽ-  
 भेदपरः । एवं द्वितीयमुण्डके “पुरुष एवेदं विश्वं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठमि”ति मध्येऽभेद एव परामृष्टः । तथा तृतीय-  
 मुण्डकेऽप्यन्ते “परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति । स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्यभेद एवोपसंहृतः, इत्युपक्रम-  
 परामशोपसंहारैर्मुण्डकत्रयात्मिकाया उपनिषद ऐक्यपरत्वं निर्णयते । एवं च यथा “त्वीन् प्रयाजानिष्ट्वा, समानयते जुह्वामौप-  
 श्रुतमि”ति प्रयाजाङ्गविशेषं विधाय, “अभिक्रामञ्जुहोती”ति विहितमभिक्रमणम्—“यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद प्र प्रजया पशुमि-  
 मिथुनैर्जायते समिधो बह्वीरिव यजति तनूनपातमेकमिव मिथुनम्” इत्यादिना “यत्प्रयाजानिष्ट्वा हवींष्यभिधारयती”ति पुनरपि  
 प्रयाणधर्माभ्यानात्संदंशंयायेन प्रयाजाङ्गमेव, अत एव “तन्मध्यपतितस्तद्ब्रह्मणेन गृह्यते” इति वैयाकरणपरिभाषां, एवं  
 पूर्वोत्तराभेदवाक्याविरोधेनैव “द्वा सुपर्णे”ति वाक्यस्य योजनीयतया व्यावहारिकभेदपरत्वमेवावस्य वाक्यस्याङ्गीकरणीयम्, ननु



### ऋजुविवरणम्

किञ्चापर्यायशब्दाः स्युर्ज्ञानानन्दादयस्ततः । निर्विशेषे स्वरूपे ते वर्तितुं नैव शक्नुयुः ॥  
अत्र वेदान्तसिद्धान्तसंप्रदायानुरूपतः । न्यायेन च समस्तानामेकार्थत्वमिहोच्यते ॥  
लक्षणाश्रयणे नैतद्वर्ण्यते तावदत्र तु । कारणं वचनेनैव वाचकत्वं निवारितम् ॥  
एतावता प्रवृत्तिस्तु न शक्या वर्णितुं यतः । निश्चितार्थत्वनिर्देशात् तद्विश्रुतिदर्शनात् ॥  
तेनोभयं समालोच्य लक्ष्यत्वमिह वर्णितम् । “यदा ह्येवे”ति वाक्येन भेदादि च निवारितम् ॥  
अत्यन्तभेदो नतु वार्यतेऽत्र पूर्वेण वाक्येन हि लभ्यतेऽसौ ।

नह्यन्यथा तत्र भयापहारो भेदो हि तद्वेतुतया प्रसिद्धः ॥

उद्विशेषणमप्यर्थम्, ‘अरमि’त्यल्पवाचकम् । तेनाभ्यां भेदमात्रस्य निषेधः शक्तिः कृतः ॥  
‘नेति नेती’ति वाक्याच्च सविशेषत्ववारणम् । गुण-जाति-क्रियोपाधियोगो वाच्ये न विद्यते ॥  
तेनाशैव न कर्तव्या शुक्लादिगुणवारणे । अतोऽपि निर्विशेषत्वाल्लक्षणैव समाश्रिता ॥  
सामानाधिकरण्याच्च निर्विशेषेऽत्र वस्तुनि । वृत्तिः कल्पितवाच्यस्य त्यागेनैव प्रतीयते ॥  
एवं शास्त्रेण बौद्धस्य निर्विशेषत्वनिश्चये । लक्षणाऽऽश्रीयते नात्र भेदाभेदनिबन्धनम् ॥

सामानाधिकरण्यं स्यात् तन्निमित्तवियोगतः ।

### वार्तिकम्

श्रुतेस्तात्पर्यं वदन् परपक्षे तदभावं दर्शयति भगवान् सूत्रकारः । यथा चैतत्, तथा भाष्यव्याख्यानं  
एव दर्शयिष्यामः । तदेवं फलितमर्थं भाष्यकारः सूत्रपदादि व्याख्याय दर्शयति—\*तुशब्द इत्या-  
दिना\* ॥ शास्त्रादवगम्यत इति साध्यनिर्देशं कुर्वता । तच्छब्दार्थेन तुशब्दार्थस्यान्वयः प्रदर्शितः ।  
तात्पर्येणाऽप्युपसर्गार्थप्रदर्शनम्—\*तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानीति\* ॥ शास्त्रनिष्ठतया  
समन्वयपदार्थं व्याकुर्वन् शास्त्रपक्षकमपि न्यायं सूचयति । तेन हेतोर्न व्यधिकरणताशङ्काऽपि । \*ननु\*

### प्रदीपः

तात्त्विकभेदपरत्वम् । “तयोरन्यः” “अनश्नन्नन्यः” इत्यादिकमपि न तात्त्विकभेदपरम् । एतेन—अन्तर्यामिब्राह्मणमपि  
व्याख्यातम् ; “आत्मेत्येवोपासीते”ति सूक्ष्मब्रह्मविधाविवरणरूपायां चतुरध्याय्यां “अनेन ह्येतत् सर्वं वेदे”त्येकविज्ञानेन सर्व-  
विज्ञानं प्रतिज्ञाय, “ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी”त्युपक्रमेण षष्ठाध्यायान्ते मैत्रेयीब्राह्मणे “यत्र त्वस्य  
सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्” इत्याद्युपसंहारेण चाभेदपरत्वनिर्णये सति पूर्वोक्तरीत्या सन्दर्शन्यायेनाभेदाविरोधेनैव  
नेयत्वात् । एतेन—“भेदव्यपदेशश्चे”त्यादिसूत्राविरोधोऽपि—व्याख्यातः । “अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति निर्विशेषब्रह्मविचारो-  
पक्रमेण “अनावृत्तिः शब्दादि”ति निर्गुणब्रह्मात्मभावप्रयुक्तानावृत्तिनिरूपणेनाभेदोपसंहारेण च सूत्राणामप्यद्वैत एव तात्पर्या-  
वगमात् ।

एतेन—तत्त्वमसीति वाक्यमपि—व्याख्यातम् ; “उत तमादेशः” इत्यत्र ह्यादेशशब्दार्थ उपदेशमात्रगम्यत्वं  
निर्विशेष एव संभवति । अत एव—“आचार्यवान् पुरुषो वेदे”त्युपसंहारोऽप्युपपद्यते । “सदेव सौम्येदमग्र आसीदि”त्यत्रापि  
निष्प्रपञ्चात्मतत्त्वमेवोपक्षिप्यते । अत्र हि सच्छब्दो न सत्ताश्रयतयेदपदार्थं पर्यवसितः, किन्तु ब्रह्मणि ; “ओं तत्सदिति  
निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः” इति स्मृतेः “सन्मूलाः सौम्ये”ति सच्छब्देन ब्रह्मण एव परामर्शश्च । नच—अयं सच्छब्दः  
सविशेषपर इति—वाच्यम् ; “सदेवेदमि”ति वाक्योपक्रमे “एकमेवाद्वितीयमि”ति विशेषणेन निर्विशेषपरत्वावगमात् ।  
सदेवेतीदंतादात्म्यं सद्रूपस्य ब्रह्मणो यत्प्रतिपादितम्, तत्—इदं रजतमि’त्यादाविव बाधायां सामानाधिकरण्येनैव गमनीयम्, इति  
तदेकवाक्यतामुसारेणैकपदस्यापि भेदशून्यपरतयैव व्याख्यानं युक्तम्, न तु भेदपरतया । एतेनाद्वितीयपदमपि व्याख्यातम् ।  
द्वितीयपदेन सहायविवक्षा न शक्या, किन्तु गौण्येति मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थकल्पनं न युक्तम् । अस्तु वा द्वितीयपदस्य  
सहायार्थेऽपि मुख्यता, एवमपि प्रकृत एकपदैकवाक्यतया सजातीयशून्यपरतैवाऽऽस्थेया । “आत्मा वा इदमग्र आसीदि”ति  
श्रुत्यन्तरे सत्पदस्थान आत्मशब्दप्रयोगोऽप्यत एवोपपद्यते । एवं च “सदेवे”त्येवकारार्थप्राधान्येन “नेति नेती”ति निर्गुण-



## ऋजुविवरणम्

जात्यादियोगो नहि तत्पदार्थे तत्त्वपदार्थे न तदीयहेतुः ।

नांशांशिभावोऽत्र निवारितत्वाद् वदन्ति यत्पञ्चसु नान्यथा तत् ॥

सामानाधिकरण्यं च सोऽयमित्यादिवाक्यवत् । एकस्मिन्नेव मुख्यं स्याद् नान्यथा तत्प्रकल्पते ॥  
 पुरुषार्थत्वसामर्थ्यादत्यन्तैक्यं प्रतीयते । सुखत्वञ्च सुखित्वञ्च नैकैकं स्यात्प्रयोजकम् ॥  
 अन्योन्यव्यभिचारेण तदैक्यं स्यात् प्रयोजकम् । तस्याचैतन्यरूपत्वे नच स्यात् पुरुषार्थता ॥  
 चित्सङ्गान्न प्रतीतिः स्यादन्योन्याश्रयदोषतः । चिद्रूपत्वमतस्तस्य पुरुषार्थत्वसिद्धये ॥  
 तद्रूपत्वं च तस्यैवं पुरुषार्थत्वहेतुकम् । असन्न पुरुषार्थं स्यान्न चासत्त्वं निवारकम् ॥  
 सत्ता-तद्योग-तद्वत्त्वं नैकैकं तन्निवर्तकम् । तेन तद्रूपता तस्य तेन स्यात् पुरुषार्थता ॥  
 परमार्थत्वसामर्थ्यादेवमैक्यं प्रतीयते । ज्ञानानन्दौ न तावद्धि सन्निषेधविरोधिनौ ॥  
 एकैक्यव्यभिचारेण नचान्यत्तन्निषेधकृत् । सत्ता-तद्योग-तद्वत्त्वं नैकैकं तन्निषेधकृत् ॥  
 तेन यद्रूपता तस्य तेन स्यात्पुरुषार्थता । व्यभिचारान्न सत्तायास्तद्वत्ता दृश्यते यतः ॥  
 योगेनैवाऽस्ति तद्योगः सद्रूपत्वं घटादिषु । सन्निषेधविरोधित्वे सद्योगस्यात्तथा सति ॥  
 सद्योगात्तद्विरोधित्वमन्योन्याश्रयता भवेत् । अन्यस्मिन्नेवमेवातः सदैक्यं तन्निषेधकृत् ॥  
 सदानन्दौ च चिन्मात्रमन्यथा शून्यता भवेत् । अभानान्नान्यथा भानं चित्संयोगनिबन्धनम् ॥  
 तत्रोक्तं दूषणं पूर्वं स्फुरणैक्यमतस्तयोः । यद्यदर्थं प्रयुज्येत तत्तदैक्ये विवक्षिते ॥  
 प्रयोजकत्वसिद्धिस्त्यात्सर्वत्रैक्यं तथा सति । एवं सर्वप्रकारेण न भेदावसरः क्वचित् ॥  
 तदभावे च शब्दानां वाचकत्वं कथं भवेत् । निर्विशेषे च शब्दानामेवं तात्पर्यनिश्चये ॥  
 लक्षणाश्रयणं युक्तं वस्तुसिद्धिमभीप्सता । इत्येभिः कारणैस्सिद्धे लक्षणाश्रयणे सति ॥  
 नान्यकारणराहित्याच्चोद्यस्यावसरो भवेत् । परिहारोऽपि तच्चोद्ये विभवेनाभिधीयते ॥  
 अन्वयानुपपत्तिस्तु वाच्यस्यार्थस्य साधिका । निर्विशेषे हि वाक्यार्थं न तेषामन्वयो भवेत् ॥

## वार्तिकम्

—एवमपि न ब्रह्मपदकहेतुसिद्धिः ; तात्पर्येणैतस्यार्थस्याप्रतिपादकत्वादिति\* । अत एवार्थात्तात्पर्येण तत्प्रतिपाद्यत्वादिति हेतोर्लाभात् समनुगतानि-समर्थानि, परस्परमेकवाक्यतां गतानीति वाऽर्थः ।

## प्रदीपः

सिद्धार्थेकथनपूर्वकं प्रलयनिरूपणं प्रलयकालस्य तदाधेयसूक्ष्मप्रपञ्चस्य च वस्तुसत्तां निराकर्तुमेव । प्रलयोपक्षेपस्तु प्रपञ्चः कदाचित् सूक्ष्मावस्थः कदाचित् स्थूलावस्थ इत्यनेकविकारात्मकत्वादभूत इति ज्ञापनार्थः । यदाहुः—“मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥” इति ।

एतेन—वाचारम्भणादिश्रुतिरपि—व्याख्याता ; अत एव—

“वस्त्वस्ति किं कुत्र चिदादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।

यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तथा तस्य कुतो हि तत्त्वम् ॥

मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः ।

जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मबोधैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु ॥

सद्भावं एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ॥” ।

इत्यादिविष्णुपुराणवचनान्धुपपद्यन्ते । मृदादिदृष्टान्तास्तूपादानस्वरूपे ज्ञाते तदात्मनोऽर्थादर्थं ज्ञातं भवतीत्यभिप्रायाः । एवं चोपक्रमे तावदुपदेशैकगम्यं निष्प्रपञ्चात्मतत्त्वं प्रतिपादितमिति सिद्धम् ; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अन्यथाऽनुपपत्तेः । “अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी”ति मध्यपरामर्शोऽपि जीव-परमात्मनोरभेदस्यैव । सगुणवाक्यान्यप्यध्या-  
 रोपापवादन्यायेन निष्प्रपञ्चात्मपराण्येव । “सन्मूलाः” इति तु व्यावहारिकभेदेनोपपद्यते । \*एतेन\*—“तत्सत्यमि”ति



### श्रुतिविवरणम्

फलसत्त्वञ्चास्ति शुद्धस्य शुद्धेनान्वयदर्शनात् । मानान्तरागृहीतत्वं लक्षणाकारणं कथम् ॥  
सत्येतस्मिन्द्वये तेन विना नालक्षणा यतः । अप्रसिद्धे न लक्ष्यत्वमिति कश्चिद् ब्रवीति चेत् ॥  
पदवाच्ये विशिष्टेऽपि स्वरूपं तत्र गृह्यते । स्वप्रकाशतया चाऽस्य ग्रहणं तेन लक्षणा ॥  
विशिष्टस्यैव सर्वत्र वाक्यमेयत्वमीरितम् । तत्सोऽयमिति वाक्यार्थनिरूपणनिवारितम् ॥  
यत्तु लक्ष्येऽपि भेदादिविकल्पेन त्वदीरितम् । दूषणं तत्र लक्ष्ये नो भेदलेशोऽस्ति तत्र तु ॥  
व्यवच्छेदस्य भिन्नत्वात्प्रत्यात्मपरिवर्तिनः । तेन यद्दूषणं पूर्वमीरितं नैव तद्भवेत् ॥  
नचैकेन पदेनात्र सर्वव्यावृत्तिसंभवः । सच्छब्दः केवलो जाड्याद्भिन्नसत्त्वं न बोधयेत् ॥  
केवलानन्दशब्दोऽपि नाभिप्रेतं समर्पयेत् । जन्यानन्दे प्रसिद्धत्वाद् ज्ञानशब्दस्तथैव च ॥  
एवमन्योऽपि नैकैकः स्वाभिप्रेतं समर्पयेत् । सामानाधिकरण्येन लौकिकाकारवर्जनम् ॥  
शब्दान्तरेण तेनैते सर्वे स्युः स्वप्रयोजनाः । साफल्यत्पदजातं च तेन सर्वं प्रयुज्यते ॥  
अपर्यायतया नात्र वर्तनं संभवेदिति । ईरितं सोऽयमित्यादि वाक्यादर्शनहेतुजम् ॥  
ननु ते लक्षणं नात्र संबन्धस्य न सत्यता । तदभावे कथं तस्य लक्षकत्वं भवेद्विद् ॥  
मैवं लक्षणसत्यत्वं संबन्धस्याथवा भवेत् । लक्षकत्वे निमित्तं नो केवलम्यभिचारतः ॥  
संबन्धे विद्यमानेऽपि लक्षकत्वं न चेद्भवेत् । सत्यत्वेन विना तत्स्यात्सत्यत्वमपि कारणम् ॥  
नच तेन न सत्यत्वं लक्षकत्वप्रयोजकम् । ननु लक्ष्यस्य सर्वत्र वाच्यस्यादन्यरूपता ॥  
दृष्टा गङ्गादिलक्ष्येषु प्रकृतेऽपि तथा भवेत् । अज्ञानत्वमसत्यत्वमुत्थानन्दरूपता ॥

लक्ष्यैकहीने यदि वाच्यरूपे ज्ञानादिरूपत्वमिह प्रसिध्येत् ।

मुख्यं ततो लक्ष्यममुख्यरूपं तेनेह मुख्यं कथमत्र न स्यात् ॥

लक्ष्यन्ते नात्र मुख्यं स्यान्मण्डलाद्यभिमानिषत् । तदैक्याच्छब्दवाच्येऽपि ज्ञानानन्दादिरूपता ॥  
तत्र तत्रोक्तमेवैतद् ग्रन्थकारेण यद्यपि । संगृह्येह सुबोधार्थं दिङ्मात्रं सारमीरितम् ॥  
विश्वावष्टम्भमेकं निरतिशयसुखं शब्दवाच्यं न यत्तद् जातियोगो गुणादिर्न युतिमुपगतस्तेन वेद्यत्वमेव ।  
व्यावर्त्यात्तत्स्वरूपं निखिलजडगतं चित्सदानन्दशब्दा जाड्यासत्त्वासुखत्वं परपरिकल्पितं पर्यवस्यन्ति तस्मिन् ॥  
स्वस्माद्धेदं मितत्वन्तिवह परिहरतस्तावनन्तात्मशब्दौ वाच्यं वाच्यापहारे सहचरितमितौ लक्षणा तेन युक्ता ।  
यद्वा सामान्यमुख्यं भ्रमसमयमितं वाच्यभेदं प्रकल्प्य ब्रह्मात्मैकत्वनिष्ठा पदनिकरजधीलक्षणावृत्तिभेदात् ॥

### प्रदीपः

सामानाधिकरण्यमपि—\*व्याख्यातम्\* ; 'इदं रजतमि'त्यत्रैव बाधायामेवेदं सामानाधिकरण्यमित्यङ्गीकारात् । एवं च तत्त्व-  
मसीति वाक्यं जीवब्रह्माभेदपरतयैव व्याख्येयम् ।

“तस्मै त्वमि”त्यादिविवरणे हि त्वंपदार्थस्यैकदेशस्यासिपदेनान्वयासंभवः । \*एतेन\*—शरीराशरीरिभावेन सामानाधि-  
करण्यमपि—\*परास्तम्\* ; न हि शरीरवाचकानां पदानां शरीरिपर्यन्तत्वं प्रमाणान्तरसिद्धम्, सिद्धावपि तस्य नियमस्य  
शरीरवाचकानां विशेषणत्व एव प्रवृत्तिः, न तु विशेष्यत्वे ; 'शरीरं नष्टमि'त्यत्रापि शरीरिणो ग्रहणप्रसङ्गात्, 'तत्त्वमसी'त्यत्र तु  
शरीरवाचकं त्वमिति पदं न विशेषणम् ; आख्यातसामानाधिकरण्यासंभवेनासीति मध्यमपुरुषैकवचनासाधुताप्रसङ्गात् । न हि  
परम्परया क्रियान्वयेऽपि शुभत्पदसामानाधिकरण्यमात्रेण मध्यमपुरुषप्रयोगः ? 'त्वमहमस्मि' इत्यत्रापि तदापत्तेः । एवं च  
जीवब्रह्माभेदपरत्वमेवोक्तवाक्यस्याङ्गीकरणीयम्, शुद्धचैतन्यपरत्वेऽपि त्वंपदस्य मध्यमपुरुषप्रयोगोपपत्तिस्तु सिद्धान्ते वाच्याथौन्वय-  
मादायोपपादनीयम् । शक्यार्थमादाय खलु 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदाद्वाबुपत्तिः संपद्यते । सर्वथा च “तत्त्वमसी”ति  
वाक्यम्,—“सदेव सौम्येदमग्र आसीदि”त्युपक्रमेण, “तत्त्वमसी”त्युपसंहारेण, “तत्त्वमसी”ति, नवकृत्वोऽभ्यासेन, “येनाश्रुतं  
श्रुतं भवती”त्यर्थावादेन, तसलोहपरश्चादिदृष्टान्तपूर्वकयोपपत्त्या, “आचार्यवान्पुरुषो वेदे”ति फलवचनेन च जीवब्रह्माभेदपरमिति  
सिद्धम् । शब्दान्तरादिकं तु कर्मभेदस्यैव साधकम्, न तु ब्रह्माभेदस्य । तथाच तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थत्वे नानुपपत्ति-



## पञ्चपादिका

“सोऽयमि”त्यादिवाक्यस्थपदानामिव ।

### पञ्चपादिकाविवरणम्

अनेकेषां पदानां लक्षणादिद्वारेणैकरसवृत्तितायामुदाहरणमाह । तत्र द्विविधा वाक्यप्रवृत्तिः—एका ब्रह्मात्मनोरेकत्वविषया, अपरा सत्यज्ञानादिलक्षणब्रह्मविषया । तत्र प्रथमं ब्रह्मात्मैकत्वे दृष्टान्तमाह—  
\*सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदानामिवेति\* ॥ तत्र “सोऽयं देवदत्तः” इति पदत्रयस्यैकस्मिन्देवदत्ते पर्यवसानं दृश्यते ॥

तथाहि—प्रत्यभिज्ञायामधिगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपादयति—‘सोऽयं देवदत्तः’ इति । तत्र न तद्देश-  
कालयोरेतद्देशकालयोश्च परस्परैक्यं प्रत्यभिजानाति ; भेदप्रत्ययात् । अत एव विशिष्टयोरप्यैक्यं न प्रत्यभि-

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\* टीकाकारेण “सोऽयमि”त्यादिवाक्यमुदाहृतम्, तत्किमर्थम् ? नहि तत्रैकरसे वृत्तिरस्ति, तदेवात्र सन्नि-  
हितत्वादुदाहरणेन साधनीयम्, अतो नेदमुदाहरणीयमित्याशङ्क्यावतारयति—\*अनेकेषां पदानामिति\* ॥ \*ननु\*  
एकेनोदाहरणेनाखण्डैकरसे वृत्तिसिद्धेः किमुदाहरणद्वयेन ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्र द्विविधेति\* ॥

\*ननु\* एकेनैव “तत्त्वमसी”तिवाक्येन प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वसिद्धेः किं सत्यादिवाक्येन ? यद्वा—सत्यादिवाक्ये-  
नैवाद्वितीयैकरसवस्तुसिद्धेः किं “तत्त्वमसी”तिवाक्येन ? \*मैवम्\* ; तत्पदार्थस्यालौकिकत्वात्तत्प्रतिपादनपूर्वकमेव  
“तत्त्वमसी”तिवाक्यं प्रवर्तते । नच—तेनैवालमिति—वाच्यम् ; सत्यादिवाक्यम्, पदार्थान्तरनिरासेन तत्तद्भेदनिवर्तकम्,  
तेन ब्रह्मस्वरूपेणानिवर्त्यात्मब्रह्मभेदायोगात् ; अन्योन्यात्मत्वस्य विधेयत्वात्, प्रमेयतयाऽऽत्मब्रह्मस्वरूपं परित्यज्यौ-  
पाधिकभेदाभासनिरासेनैक्यप्रमित्यर्थं “तत्त्वमसी”त्यादिवाक्योपादानम् । \*ननु\* भेदबाधेऽन्यतरस्वरूपस्य बाधो  
दृष्टः ; तद्वज्जीवब्रह्मणोरपि बाधस्स्यात् ; मैवमौपाधिकत्वाद्भेदस्य, बिम्बप्रतिबिम्बभेदवत्स्वरूपाबाधेऽपि बाधोपपत्तेः  
किमर्थं तर्हि “तत्त्वमसी”तिवाक्योदाहरणं नानन्तरमुदाहृतम् ? तस्य सत्यादिवाक्यसापेक्षत्वात् सत्यमेवात्र क्रमो  
विवक्षितः, अनास्थयैवमुदाहृतम् ; अथवा—प्रत्यग्ब्रह्मप्रतिपादनपरत्वाच्छास्त्रस्य “तत्त्वमसी”तिवाक्यस्येव महावाक्य-  
त्वेन प्राधान्यात् तत्समर्थनमेवादौ कृतमित्यदोषः । \*ननु\* प्रत्यभिज्ञाया न स्वरूपैक्यं प्रतीयते ; विशिष्टशब्दसंज-  
ल्पात्, अत एव प्रत्यभिज्ञाधिगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपाद्यत इति वक्तुं न शक्यते, सोऽयमिति पदान्यां समर्पितयोरैक्यं  
प्रतिपादनीयम्, तथा सति न प्रकृतोपयोगिता दृष्टान्तस्य, नापि तत्संभवति, अतो नेदमुदाहरणमित्याशङ्क्योपपादयति—  
\*तत्र न तद्देशकालयोरिति\* ॥ \*स्वार्थैकदेशपरित्यागेनेति\* ॥ देशकालपरित्यागेनेत्यर्थः ॥ \*एकदेशलक्षणयेति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

सर्वज्ञादयस्तुपाधित इत्यर्थः । भेदाद्यभावाभिधानद्वारेण ब्रह्मण्येकादिशब्दानां वृत्तिपक्षे भेदादेर्व्यावर्त्यसद्भावादद्वैत-  
विहृतिमाशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥

\*ननु\* ‘सोऽयमि’त्यादिवाक्यस्थपदानामुक्तेऽर्थेऽनुगमाभावात् तदुदाहरणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—  
\*अनेकेषामिति\* ॥ उक्तार्थानुगमाभावेऽप्यखण्डार्थानुगमादुदाहरणत्वमुचितमित्यर्थः । एकेनोदाहरणेन विवक्षित-  
सिद्धेः किमुदाहरणान्तरेण ? इत्याशङ्क्य, तस्य प्रयोजनं दर्शयितुं वाक्यवृत्तिद्वैविध्यमाह—\*तत्रेति\* । \*तत्र=

वेदान्तेष्वित्यर्थः । तत्त्वमस्यादिवाक्यम्, अखण्डार्थम्, अकार्यकारणद्रव्यमात्रवृत्तित्वे सति समानाधिकरणवाक्य-  
त्वात्, ‘सोऽयं देवदत्तः’ इत्यादिवाक्यवदित्युक्ते साध्यविकलो दृष्टान्त इत्याह—\*तत्रेति\* ॥ तत्र मूल इत्यर्थः ॥  
मूलप्रमाणाभावात् ‘सोऽयमि’त्यादेस्तत्र प्रामाण्यमित्याशङ्क्य समूलत्वमाह—\*तथाहीति\* ॥ प्रत्यभिज्ञाया  
अपि विशिष्टविषयत्वात्तन्मूलवाक्यस्यापि तद्विषयत्वमित्याशङ्क्य, प्रत्यभिज्ञाया न विशिष्टैक्यमालम्बनमिति वक्तुं  
विशेषणैक्याभावं तावदाह—\*तत्रेति\* ॥ तत्फलमाह—\*अत एवेति\* ॥ तदेतद्देशकालविशिष्टयोरैक्यासंभवश्चेत्, तर्हि



### पञ्चपादिकाविवरणम्

शायते, किन्तु सोऽयमिति विशिष्टद्वयोपलक्षितः प्रत्यभिज्ञागोचरः । प्रत्यभिज्ञातं चार्थं परस्मै 'सोऽयमि'ति विशिष्टाभिधायिभ्यां पदार्थ्यां स्वार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशलक्षणया देवदत्तस्वरूपैक्यमेव प्रतिपादयति । \*ननु\* 'सोऽयमि'ति पदार्थयोर्थदैक्यम्, तदेव वाक्येनापि प्रतिपाद्यते चेत्, अनुवादप्रसङ्गः । नच देवदत्तस्यैक्य-द्वयमस्ति, येन वाक्यप्रमेयमपरमैक्यं स्यात्, \*प्रत्यभिज्ञायां तर्हि कथम्\* ? न ह्यभिज्ञयोरवगतदेवदत्तैक्य-मस्ति । एकस्य कालद्वयसंबन्धः प्रत्यभिज्ञागोचर इति चेत्, कालद्वयसंबन्धिपदार्थाभिज्ञयोरेव सिद्धेः परि-शेषात्तदैक्यं प्रत्यभिज्ञाविषयः । तत्र चानुवादो दर्शितः ॥

\*स्यादेतत्\*—क्षणिकत्वपरिहाराय तत्प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यं तावद् वक्तव्यम् । तत्र कालद्वयपरामर्शेन तत्संबन्धिपदार्थैक्ये प्रत्यभिज्ञाविषयेऽपि पदार्थभेदप्रतिभासविरोधितैव प्रमाणफलम्, नाज्ञातार्थाधिगतिः । अतः कालद्वयपरामर्शेन तत्संबन्धिपदार्थैक्यमेवावलम्बमाना पदार्थभेदप्रतिभासविरोधितया प्रामाण्यमश्नुते प्रत्यभिज्ञा । एवं तर्हि 'सोऽयमि'ति वाक्यस्याप्येवमेव प्रामाण्यं भविष्यति ॥ तथा तत्त्वमसिवाक्यस्यापि त्वंपदार्थैकदेशपरि-

### भृशुविवरणम्

देवदत्तस्वरूपलक्षणयेत्यर्थः ॥ \*तथा तत्त्वमसिवाक्यस्यापीति\* प्रामाण्यमुपपद्यत इत्यन्वयस्त्वंपदेन, लक्षणयान्वय-माह—\*एकदेशपरित्यागेनेति\* ॥ त्वम्पदेनान्तःकरणावृत्तिविषयसंबन्धसाक्ष्यं जानामीति प्रतीयमानो 'न जाना-मी'त्यज्ञानसाक्षित्वेन च प्रतीयमानः परिच्छिन्नो वाच्यतया प्रतीयते, स च प्रेमास्पदत्वेन प्रतीत्या सुखस्वरूपः, तस्य च नान्तःकरणाद्यात्मकत्वं संभवति ; साक्ष्यस्य साक्ष्यात्मकत्वायोगात् । नापि भेदशून्यत्वसंभवः, इत्यनुसन्धानेन "अक्रायमव्रणमि"त्यादि त्वंपदार्थपरिशोधकवाक्यैश्चाज्ञानादिप्रपञ्चं विलाप्यापरिच्छिन्नसच्चिदानन्दलक्षणस्य, तत्पदेनाऽपि पारोक्ष्यपरित्यागेन सच्चिदानन्दस्वरूपं लक्षयित्वा तदैक्यं प्रतिपाद्यत इति ॥ \*ननु\* इह भिन्नयोरैक्यं प्रतिपाद्यं न

### तत्त्वदीपनम्

तद्देशकालोपलक्षितस्यैतद्देशकालविशिष्टस्य वैक्यं प्रत्यभिज्ञागोचर इति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ उपलक्षित-विशिष्टयो-रैक्ये विशिष्टस्वरूपमन्यत्रापि स्यात्, न तथा दृश्यत इत्याशयेनाह—\*सोऽयमिति\* ॥ प्रत्यभिज्ञाया अखण्डार्थत्व-मभिधाय तन्मूलवाक्यमपि तथेत्याह—\*प्रत्यभिज्ञातमिति\* ॥ \*स्वार्थैकदेश इति\* ॥ \*स्वार्थस्यैकदेशस्तदेतद्देश-कालवैशिष्ट्यलक्षणः, तस्य परित्यागेनेत्यर्थः । \*एकदेशलक्षणयेति\* ॥ देवदत्तस्य स्वरूपलक्षणयेत्यर्थः । प्रकारान्तरेण "सोऽयमि"त्यादेरखण्डार्थत्वमाक्षिपति—\*नन्विति\* । एकैकस्मात् पदात् प्रथमाविभक्त्यन्तात्प्रतीयमानं यदैक्यम्, तदेव वाक्यप्रमेयम् ? उतान्यत् ? नाद्य इत्याह—\*सोऽयमिति\* ॥ पदार्थयोर्थत्वेक्यमैक्यमेकैकपदाभिधेयम्, न तस्य वाक्यप्रमेयता ; अनधिगतार्थवैधुर्येणानुवादकत्वप्रसक्तेरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*नेति\* ॥ नच—तदे-तद्देशादिविशिष्टयोरितरेतरैक्यं वाक्यप्रमेयमिति—शङ्क्यम् ; उत्तरत्र निरस्यमानत्वादिति । प्रतिबन्धा समाधत्ते—\*प्रत्यभिज्ञायामिति\* ॥ किमभिज्ञायामवगतं यदैक्यं तदेव प्रत्यभिज्ञाया प्रत्यक्षेण बोध्यते ? उतान्यत् ? न तावत्तदेव ; वैयर्थ्यापातादित्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*न ह्यभिज्ञयोरिति\* ॥ प्रमेयान्तरमाशङ्कते—\*एकस्येति\* ॥ अभिज्ञाया-मनवगतस्यैव प्रत्यभिज्ञाप्रमेयत्वम्, एकस्य कालद्वयसंबन्धश्च नाभिज्ञायाः, इति कालद्वयसंबन्धिपदार्थस्य तदैक्यस्य वा प्रत्यभिज्ञाप्रमेयत्वं वक्तव्यम्, नच तदुभयं संभवीत्याह—\*कालद्वयेति\* ॥

विकल्पासहत्वाच्चेतदिति शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ किं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षप्रामाण्यमेव निराचिकीर्षितम् ? अथवा प्रत्यभिज्ञाया असाधारणं प्रमेयं जिज्ञासितम् ? नाद्यस्तावत्संगच्छत इत्याह—\*क्षणिकत्वेति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*तत्रेति\* ॥ कथं तर्हि तत्प्रामाण्यम् ? तत्राह—\*पदार्थेति\* ॥ फलसमर्थनफलमाह—\*अत इति\* ॥ साम्येनोत्तरमाह—\*एवं तर्हीति\* ॥ दृष्टान्तोक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके समर्थयति—\*तथेति\* ॥ तत्त्वमसिवाक्यस्यापि प्रामाण्यमुपपद्यत इति संबन्धः । प्रत्यग्ब्रह्मणोर्विरुद्धत्वान्न तदैक्यपरत्वं वाक्यस्येत्याशङ्क्याह—\*त्वंपदेनेति\* ॥ एकदेशपरित्यागेन लक्ष्यमाणद्वयस्वरूपस्य ब्रह्मस्वरूपक्य इति संबन्धः । \*एकदेशपरित्यागेनेति\* ॥ कर्तृत्वाद्यंश-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

त्यागेन त्वंपदेन लक्ष्यमाणद्रष्टृस्वरूपस्य पारोक्ष्यपरित्यागेन तत्पदाभिधेयब्रह्मस्वरूपैक्ये वाक्यजन्यज्ञानगोचरेऽपि जीव-ब्रह्मपदार्थप्रतीतिसमये प्रतिपन्नैक्यविषयतयाऽनुवादप्राप्तावपि भेदप्रतिभासविरोधितया प्रामाण्यमुपपद्यत इति ॥

\*ननु\* पदार्थयोः प्रत्येकमसाधारणमैक्यं पदार्थप्रत्ययगोचरः, पदार्थयोरितरेतरैक्यं वाक्यगम्यम्, इत्यस्त्येव प्रमेयभेदः, \*नैतत् सारम्\* ; भिन्नद्रव्ययोरैक्यप्रतिपादने तथा स्यात् । यदैकमेव द्रव्यं भिन्नोपाधिपरिकल्पित-भेदप्रतिभासव्युदासेन प्रतिपाद्यते, तदा निवर्त्यविशेषादेव प्रामाण्यम्, न प्रमेयविशेषात् । तदुक्तम्—“सिद्धं तु निवर्तकत्वादि”ति । इह तु कार्य-कारणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति द्रव्याभिधायिपदयोः सामानाधिकरण्यं ‘सोऽयमि’तिवदेकस्य द्रव्यस्योपाधिपरिकल्पितभेदव्युदासेनैकद्रव्यपर्यवसायीत्यवगम्यते । \*ननु\* तत्त्वंपदाभ्यां लक्ष्यमाणपदार्थयोरपि भेदो विद्यते ? न वा ? विद्यते चेत्, ऐक्यप्रमितिर्न स्यात् । न चेद् भेदः, वाक्यार्थ एव पदार्थः स्यात्, \*सत्यम्\* ; वाक्यार्थ एव पदार्थः । स च लक्षणया प्रतिपाद्यते ; मुख्याभिधेयैक्यायोगात् । तस्मात् तत्त्वंपदाभ्यामेकमेव ब्रह्मोपाधिपरामर्शेन प्रतिपाद्यत इति सिद्धम् ॥

\*अत्र केचिदाहुः\*—लक्ष्यमाणयोरपि जीव-ब्रह्मणोर्भेदाभेदविषयं सामानाधिकरण्यम् ; अन्यथा पदार्थ-वाक्यार्थयोः साङ्कर्यात् । अस्ति जीव-ब्रह्मणोर्भेदोऽपि ; “य आत्मनि तिष्ठन्नि”त्यादिलिङ्गात्, \*नैतद्युक्तम्\* ;

## अनुविवरणम्

भवति, किन्तुपाधिपरिकल्पितभेदव्युदासेन स्वरूपमेव प्रतिपाद्यत इति कथं निश्चीयते ? इत्याशङ्क्य प्रमाणमाह—\*इह तु कार्यकारणद्रव्येति\* ॥ अयं प्रयोगः—तत्त्वमसिवाक्यं धर्मि, एकस्य द्रव्यस्योपाधिपरिकल्पितभेदव्युदासेनैक-द्रव्यपर्यवसायीति साध्यो धर्मः, कार्य-कारणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति द्रव्याभिधायिपदयोः सामानाधिकरण्यत्वात्, ‘सोऽयं देवदत्तः’ इतिवत् । अखण्डैकरसवृत्तित्वमप्येतदेव ; मुख्याभिधेयैक्यायोगादिति लक्षणाबीजम् । अतो वाक्यार्थस्यैव पदार्थत्वदोषोद्भावनेन चोद्यवादिनः पदाभिधेयैक्यमेव विवक्षितम्, तदपि परिहृतमिति भावः ॥

## तत्त्वदीपनम्

परित्यागेनेति यावत् । ब्रह्मणः परोक्षत्वात्कथं तदभेदः ? इत्याशङ्क्याह—\*पारोक्ष्येति\* ॥ विरुद्धांशपरित्यागाभावे तत्त्वंपदसामानाधिकरण्यानुपपत्तिरित्यर्थः । तर्हि तस्मान्नस्य पदाभ्यां प्रतिपन्नत्वात् किं वाक्येन ? इत्याह—\*जीव-ब्रह्मेति\* ॥ तत्त्वंपदार्थयोः परस्परैक्यस्य पदमात्रादप्रतिपत्तेस्तद्वोधकत्वेन वाक्यमर्थवदिति शङ्कते—\*ननु पदार्थयोरिति\* ॥ किं पदार्थयोः कियानपि भेदो विवक्षितः ? आहो अत्यन्ताभेदः ? नाद्य इत्याह—\*नैतत्सारमिति\* ॥ “प्रतिपादने”इत्यत्र श्रुत्या क्रियमाण इति शेषः । \*तथा स्यादिति\* ॥ ऐक्यं प्रमेयं स्यादिति यावत् । प्रत्यग्ब्रह्मणोरतिरेके प्रमाणाभावान्नयं पक्षः साधुरिति काका सूच्यते । द्वितीयं प्रत्याह—\*यदेति\* ॥ नचैवं सत्यपसिद्धान्तोऽपीत्याह—\*तदुक्तमिति\* ॥ अधिगतप्रमितिजनने प्रामाण्यशङ्कां तुशब्देन व्यावर्तयति । कथं तर्हि प्रामाण्यम् ? इत्याह—\*निवर्तकत्वादिति\* ॥ अज्ञाननिवर्तकत्वाद्देदप्रामाण्यं सिद्धमित्यर्थः । ‘नीलोत्पलमि’त्यादेः संसर्गबोधकत्वेन प्रामाण्यम्, ‘सोऽयमि’त्यादेरखण्डबोधकत्वेन, ततश्च तत्त्वमस्यादिवाक्यं कं पक्षमवलम्ब्यतामिति ? तत्राह—\*इह त्विति\* ॥ विधान्तरेणाखण्डवाक्यार्थमाक्षिपति—\*ननु तत्त्वमिति\* ॥ तत्त्वंपदलक्षितरूपे किमित्यन्तं भिन्ने ? उत न ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*तत्त्वंपदाभ्यामिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नचेदिति\* ॥ पदार्थ-वाक्यार्थयोरैक्ये वाक्यं व्यर्थं स्यात्, लक्षिते रूपे औपाधिकभेदस्याप्यभावादित्यर्थः । लक्षितरूपे अत्यन्तमभिन्ने । नच पदार्थ-वाक्यार्थयोः साङ्कर्यप्रसङ्गः ; इष्टापत्तेरित्याह—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि पदद्वयवैयर्थ्यम्, तत्राह—\*स चेति\* ॥ लक्षणानिमित्तमाह—\*मुख्येति\* ॥ त्वंपदस्य वाच्यार्थपरित्यागेन विलक्षकत्वं तत्पदसामानाधिकरण्ये सति घटते, तथा तत्पदस्यापि वाच्यांशपरित्यागेन विलक्षकत्वं त्वंपदसामानाधिकरण्ये, इति न पदद्वयवैयर्थ्यमित्यर्थः । अखण्डवाक्यार्थसमर्थनमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ निरस्तमिति पक्षं दूषणान्तराभिधित्सया पुनरुत्थापयति—\*अत्र केचिदिति\* ॥ व्यतिरेकमुखेनोक्तमर्थमुपपादयति—\*अन्यथेति\* ॥ श्रुतितोऽपि भेदसिद्धिरित्याह—\*य आत्मनीति\* ॥ नचात्मशब्देन बुद्धिरभिधीयत इति



### पञ्चापादिकाविवरणम्

भेदाभेदविषयेण वाक्यजन्यज्ञानेन तदभ्यासजन्यापरोक्षज्ञानेन वा स भेदो निवर्त्यते वा ? न वेति ? निवर्त्यते चेत्, कथं विज्ञानस्य स्वविषयनिरासिता ? तृतीयज्ञानेनाभेदमात्रविषयेण भेदो निवर्त्यत इति चेत्, न ; यथाप्रमाणमभ्यासजन्यस्यापि ज्ञानस्य भेदाभेदविषयत्वात्, अन्यथाप्रमाणेऽन्यथाभ्यासजन्यज्ञाने च भेदाभेद-प्रमाणवैकल्यात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वेन भेदस्यापि विद्यावन्मिथ्यात्वमपि स्यात् । ज्ञानेनाज्ञानं निवर्त्यते, भेदस्तु कर्मभिर्विनश्यतीति चेत्, न ; “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”ति ज्ञानप्रयुक्तत्वादेवकाराभिधेयभेद-निरासस्य । येनैव चाकारेण जीवस्य भेदः, तेनैव चेदभेदोऽपि, भेदनिवृत्तावभेदोऽपि निवर्तते । आकारा-न्तरेण चेदभेदः, तदा निरवयवद्रव्यस्यैकदेशो न कर्मणा निवर्तयितुं शक्यते, इति भिन्नाभिन्न एव मुक्तावपि

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\* यावत्प्रमाणेन गृहीतं वस्तु, तावदेवाभ्यासेन भवितव्यमिति नियमो नास्ति, तेनाभेदज्ञानस्यैवाभ्यास इत्याशङ्क्याह—\*अन्यथा प्रमाण इति\* ॥ \*ननु\* यथा स्थितं वस्तु, तथा शास्त्रं प्रतिपादयति, ननु प्रयोजनवशात्, अभ्यासे तु भेदांशस्य नाभ्यासः ; प्रयोजनशून्यत्वात्, निवर्त्यत्वाच्चेत्याशङ्क्याह—\*ज्ञाननिवर्त्यत्वेनेति\* ॥ तथा सति न शास्त्रप्रमेयत्वमिति भावः । \*ननु\* नेदमसाधारणं कर्म निवर्तकम् ; साङ्गस्यैव फलसाधनत्वात्, कर्मणाञ्च मोक्षहेतुत्वप्रतीतिरस्ति, ज्ञानस्य चाज्ञानमिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वम्, तन्निमित्तरागादीनामपि तत् एव नाशः, ननु भेदस्य ; अतो न भेदस्य मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याह—\*येनैव चाकारेणेति\* ॥ \*ननु\* शास्त्रमेव भेदाभेदं प्रतिपादयद् भेदनिवृत्ति-

### तत्त्वदीपनम्

शङ्क्यम् ; “यो विज्ञानेतिष्ठती”त्यादिना बुद्धेर्निर्दिष्टत्वादित्यर्थः । विकल्पासहृत्वाच्चैतन्मतं साधित्याह—\*नैतदिति\* ॥ मुक्त्यवस्थायां भेदांशस्य निवृत्तिः ? उत न ? आद्येऽपि किं ज्ञानेन ? उत कर्मणा ? ज्ञाननिवर्त्यत्वेऽपि विवेचनीयम्—किं वाक्योत्थज्ञानं निवर्तकम् ? उताभ्याससमुत्थम् ? अथवा तृतीयं ज्ञानम् ? इति विकल्प्य, आद्यप्रथम-द्वितीयौ दूषयति—\*भेदाभेदेति\* ॥ घटज्ञानस्य घटनिवर्तकत्वाददर्शनादित्यर्थः । तृतीयमुत्थापयति—\*तृतीयेति\* ॥ शब्दज्ञानाभ्या-सजनितज्ञानापेक्षया तृतीयज्ञानेनेत्यर्थः । तस्यापि भेदाभेदविषयत्वान्न भेदनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्याह—\*अभेदमा-त्रेति\* ॥ तृतीयत्वं वा साधयति—\*अभेदेति\* ॥ तयोर्भेदाभेदगोचरत्वादस्य चाभेदमात्रगोचरत्वात् तृतीयत्वं युक्त-मित्यर्थः । अभेदमात्रविषयत्वमसिद्धमित्याह—\*न यथेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—अन्यथेति\* ॥ शब्दं ज्ञानम्, भेदा-भेदगोचरम्, तदभ्यासोत्थं त्वभेदमात्रविषयमित्यङ्गीकारे शब्दज्ञानवैफल्यं स्यात्, तयोर्भिन्नगोचरयोजन्य-जनकतानुपपत्ते-रित्यर्थः । इतोऽपि न ज्ञाननिवर्त्यो भेद इत्याह—\*ज्ञाननिवर्त्यत्वेनेति\* ॥ विकल्पान्तरमुत्थापयति—\*ज्ञानेनेति\* ॥ भेदस्य कर्मनिवर्त्यत्वे ज्ञानवैयर्थ्यमित्यपि न शङ्क्यम् ; ज्ञाननिवर्तकत्वेनार्थवत्त्वसंभवादित्याशयेनोक्तम्—\*ज्ञानेनेति\* ॥ श्रुतिविरोधेनोत्तरयति—\*न ब्रह्म वेदेति\* ॥ “ब्रह्मैव भवती”त्यत्रैवकारेणाभिधीयमानस्य भेदनिरासस्य ज्ञानमात्रप्रयो-ज्यत्वं श्रुतम्, तद्विरुद्धं कर्मनिवर्त्याभिधानमित्यर्थः । “कारकाभिधेयभेदनिरासस्ये”ति पाठे “ब्रह्म वेद”त्यत्र द्वितीया-विभक्ति-छट्प्रत्ययाभ्यामभिधेयो यः कर्म-कर्तृकारणरूपेण भेदः, तन्निरासस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वादित्यर्थः । प्रत्यग्ब्रह्मणो-र्भेदाभेदावङ्गीकृत्य न भेदांशमिदृशिरित्युक्तम्, संप्रति पक्ष एवायमसंगत इत्याह—\*येनेति\* ॥ भेदकाकारस्याभेदकाकारा-दभेदः ? उत भेदः ? आद्ये भेदकाकारनिवृत्त्या भेदनिवृत्तिसमयेऽभेदस्यापि निवृत्तिः स्यात् ; इतरथा भेदोऽपि न निवर्ततेत्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*आकारान्तरेणेति\* ॥ भेदकमाकारान्तरं किं तात्त्विकम् ? उतातात्त्विकम् ? उभयथाऽप्यसंभव इत्याह—\*तदेति\* ॥ “निरवयवद्रव्यस्ये”ति विशेषणेनाकारान्तराभावाभिदधौ, भावेऽपि तस्य तात्त्विकत्वान्न निवृत्तिरित्याह—\*निवर्तयितुं शक्यत इति\* ॥ अतात्त्विकत्वेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वमसंभवीत्याह—\*कर्मणेति\* ॥ सा भूत् तर्हि भेदनिवृत्तिरिति विकल्पान्तरमाशङ्क्याह—\*इति भिन्नाभिन्न इति\* ॥ ततश्च न संसारा-

### प्रदीपः

लेशोऽपीति सूचयन् “सदेवे”लाद्युपक्रमवाक्यमात्रमत्रानुसन्धत्ते—\*सदेवेति\* ॥ \*अग्ने=सृष्टेः पूर्वम्, \*इदम्\*—इदंतादात्म्या-



## पञ्चपादिका

प्रकृष्ट-प्रकाशशब्दयोरिव चन्द्रपदाभिधेयार्थकथनेन । तथाच व्यक्तिविशेषः कश्चिच्चन्द्रप्रातिपदि-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

जीवः स्यात् । नच भेदाभेदौ शास्त्रेण प्रतिपादनीयौ ; लोकसिद्धसामान्यतो दर्शनेनैव सिद्धेः । यदि च भेदाकारविशिष्टो जीवः, तन्नाशेन नश्येत् । अथ भेदविनिर्मुक्तो जीवः, ब्रह्मस्वरूपमेव जीवः, इत्येकद्रव्यनिष्ठं सामानाधिकरण्यं स्यात् । अथ विशिष्टो जीवो विशेषणनाशेऽपि स्वरूपावस्थानान्मुच्यत इति, तर्हि यो मुक्तिमनुभवति, स एव पूर्वमपि जीवः संसारी, इत्येकमेव वस्तु सामानाधिकरण्यालम्बनमित्युक्तं स्यात् । तस्मादभिधेयपरामर्शेनैकस्मिन् वस्तुनि लक्षणया वृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति । योऽपि लक्ष्यमाणजीव-ब्रह्मणोरतिरेकनिमित्तं पदार्थापौनरुक्त्यं कल्पयति, तस्यातिरेको भेदवन्निराकर्तव्यः; “एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नाने”ति श्रुतेः । तस्मादेकस्य द्रव्यस्योपाधिजनितभेदावभासपरामर्शेनैकद्रव्यपर्यवसायि सामानाधिकरण्यमित्येकरसं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

इदानीं सत्यज्ञानादिवाक्यस्योदाहरणमाह—\*प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोरिवेति\* ॥ तयोरेकार्थनिष्ठतामेव दर्शयति—\*तथाच व्यक्तिविशेष इति\* ॥ \*अयमर्थः\*—प्रकाशशब्दः सामान्याभिधानमुखेन व्यक्तिविशेषे वर्तते । प्रकृष्टशब्दश्च लक्षणया प्रकर्षगुणाभिधानमुखेन प्रकाशविशेषे वर्तते । तत्र गुणसामा-

## अनुविवरणम्

मपि प्रतिपादयति, अतः शास्त्रसामर्थ्यादुभयमप्यङ्गीकर्तव्यमित्याशङ्क्याह—\*नच भेदाभेदाविति\* ॥ \*ननु\* जीव-ब्रह्मणोस्सामानाधिकरण्यमत्रैव प्रतीयते, तेन च भेदाभेदनिश्चयः, इत्याशङ्क्य ‘सोऽयं देवदत्तः’ इतिवदेकद्रव्यनिष्ठमेव सामानाधिकरण्यम्, भेदाभेदविषयमिति दर्शयति—\*यदि भेदाकारविशिष्ट इति\* ॥ \*ननु\* एकस्यैवालम्बत्वे सामानाधिकरण्यमेव न स्यादित्याशङ्क्याह—\*तस्मादभिधेयपरामर्शेनेति\* ॥ तथाच “व्यक्तिविशेषः”इत्यनेन प्रकृष्ट-प्रकाश-चन्द्रशब्दानामैकार्थ्यमुक्तम्, तत् कथम् ? प्रकर्षवाचिनस्सामान्यवाचिनश्च चन्द्राभिधायकत्वाभावात् । नहि प्रतिवचनत्वानुपपत्तिस्तदर्थत्वाभाव इति तदर्थत्वसाधिकेत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थः प्रकाशशब्द इति\* ॥ \*गुणसामान्ययोरिति\* ॥ प्रकर्षगुणो न चन्द्रपदाभिधेयः ; प्रकृष्टं तम इति प्रयोगात्, खद्योतेऽपि प्रकाशगुणदर्शनादिति । अत्रापि

## तत्त्वदीपनम्

वस्थातो मुक्तेर्विशेष इति द्रष्टव्यम् । अत्यन्तभेदे तत्त्वमस्यादिशास्त्रस्यानुपपत्तिः ; अत्यन्ताभेदे च “य आत्मनि तिष्ठन्नि”त्यादेः, तथाच भेदाभेदौ शास्त्रत एव सिद्धौ कथं निहूयेते ? तन्नाह—\*नचेति\* ॥ सत्त्वादिरूपेणाभेदस्य विशेषरूपेण भेदस्य च लोकप्रसिद्धत्वात् तद्दृष्टान्तेन ब्रह्मण्यपि भेदाभेदयोः सिद्धेर्न शास्त्रप्रतिपाद्यत्वमित्यर्थः । किंच त्वत्पक्षे जीवोऽपि कीदृशः ? इति विवेचनीयम्—किं भेदकाकारविशिष्टः ? उत तदुपलक्षितः ? नाद्य इत्याह—\*यदि चेति\* ॥ नच—जीवनाशप्रसङ्गनमिष्टमित्यपि—शङ्क्यम् ; फल्यभावे फलाभावप्रसक्तेरित्यर्थः । द्वितीयमुत्थाप्य दूषयति—\*अथेति\* ॥ दण्डपाये तद्विशिष्टनिवृत्तावपि चैत्रस्य स्वरूपस्थितिबद्ध विशेष्यचैतन्यस्थितेर्मुक्त्युपपत्तिरिति शङ्कते—\*विशिष्ट इति\* ॥ चिन्मात्रस्य मुक्त्यनुभवितृत्वे तस्यैव बन्ध-मोक्षवैयधिकरण्यापत्तिः, ततश्चास्मन्मतसिद्धिरित्याह—\*तर्हीति\* ॥ एकस्मिन् वस्तुनि सामानाधिकरण्यं विरुद्धमिति शङ्कामुपसंहारव्याजेन निरस्यति—\*तस्मादिति\* ॥ वाच्यभेदसंभवात् सामानाधिकरण्यं युक्तमित्यर्थः । मतान्तरमनूय दूषयति—\*योऽपीति\* ॥ भेदतावन्मात्रविरोधित्वमतिरेकशब्दार्थः । अतिरेकविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य वा जीवत्वासंभवादतिरेकानिरूपणाच्च नैतत्साधित्यर्थः । श्रुतिविरुद्धश्चायं पक्ष इत्याह—\*एकधेति\* ॥ तस्मादस्मदुक्तमेव परिशिष्यत इत्याह—\*तस्मादिति\* ॥

“प्रकृष्टप्रकाशयोरिव”त्यनेन तत्त्वमस्यादिवाक्य एवोदाहरणान्तरं निर्दिष्टमित्याशङ्क्य, महावाक्यस्याखण्डार्थत्वमभिधायोऽत्रान्तरवाक्यस्य तदाहेत्याह—\*इदानीमिति\* ॥ प्रकृष्टादिवाक्यस्य विशिष्टबोधकत्वाद् दृष्टान्तासंगतिरित्याशङ्क्याह—\*तयोरिति\* ॥ प्रकृष्ट-प्रकाशशब्दयोरैकार्थत्वे पर्यायत्वं स्यादित्यत्राह—\*अयमर्थ इति\* ॥ वाक्यभेदान्न पर्यायत्वमित्यर्थः । उभाभ्यां पदाभ्यामेकव्यक्तेर्लक्ष्यमाणत्वे पदान्तरमनर्थकमित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ \*गुण-



**सर्वेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि—“सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” ( छा० ६।२।१ )**

भामती

पूर्वमुदाहृतं जगदुत्पत्ति-स्थिति-नाशकारणमिति चेह स्मारितमिति न पठितम् । येन हि वाक्यमुप-

भृजुप्रकाशिका

\*तदेवेति = सम्यगन्वयादित्येतदेवेत्यर्थः । तात्पर्यं सम्यगुक्तम् । भाष्ये—\*एतस्यार्थस्य = ब्रह्मस्वरूपार्थस्य । अत एव भामत्यामुच्यते—\*वेदान्तानामैकान्तिकीं ब्रह्मपरतामिति\* ॥ \*ननु\*—“सदेव” इत्यनिष्फलानि वाक्यान्युदाहरता “यतो वा इमानि” इत्यादिवाक्यं किमिति नोदाहृतमिति ? अत आह—\*यतो वा इमानीति तु वाक्यमिति\* ॥ \*न पठितमिति\* ॥ “तद् ब्रह्म सर्वज्ञम्” इत्यादिभाष्ये “यतो वा” इत्यादिवाक्य-

पञ्चपादिका

काभिधेयः केनचित् पृष्ठः—“अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रो नाम ? इति तस्य प्रतिवचनम्—‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इति । तदेवं प्रतिवचनं भवति—यदि यथा चन्द्रपदेनोक्तम्, तथाऽऽभ्यामपि पदाभ्यामुच्येत । एवं च सति नीलोत्पलवदयुतसिद्धपरस्परावच्छिन्नविशेषण-विशेष्यभावेनाप्यन्वयो दुर्लभः । कुतः पृथक्सिद्धः क्रिया-कारकलक्षणः सम्बन्धः ? तथाविधान्युदाहरति—\*सदेव सौम्येदमग्र इत्यादीनि\* ॥

\*ननु\* जन्मादिसूत्रोदाहरणेणैव प्रामाण्यं दर्शनीयम्, किमुदाहरणान्तरेण ? \*वाढम्\* ; अस्त्य-त्वाभिप्रायो भाष्यकारस्य । तत्र ब्रह्मणो लक्षणं वक्तव्यमिति तदस्थस्यैव ब्रह्मणो निरूपकाणि वाक्या-न्युदाहृतानि, इह तु “तत्त्वमसी”ति जीवस्य ब्रह्मात्मतावगतिपर्यन्तानि वेदान्तवाक्यानि न तदस्थमेव

पञ्चपादिकाविवरणम्

न्योश्चन्द्रपदाभिधेयत्वाभावाज्जल्लक्षणाया तदुभयं व्युदस्य तत्समवायिप्रकाशविशेष एव चन्द्रपदाभिधेयतया समर्प्यते, इति प्रकृष्ट-प्रकाश-चन्द्रशब्दानामेकार्थवृत्तिता सिद्धा । \*ननु\* गुण-गुण्यन्वयः क्रिया-कारकान्वयो वा किं न स्यादिति ? तत्राह—\*एवं च सति नीलोत्पलवदिति\* ॥ “एकमेवाद्वितीयमेकधैवानुद्वेष्टव्यं नेह नाना-स्ति किञ्चन” “उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवती”त्यादिप्रतिषेधादित्यर्थः । \*तथाविधान्युदाहरती”त्यारभ्य

भृजुविवरणम्

लिङ्ग-सङ्ख्ययोरविवक्षा द्रष्टव्या ; अपरुषार्थनिरूपणस्यायुक्तत्वात् । अत एकरसार्थत्वसिद्धिः । “उदरमन्तरमिति चोच्छब्दोऽप्यर्थः, अरमल्पमपि भेदं यः कुरुते इत्यर्थः ।

“तद्गूपाद्यसंभवादिति”त्यनेन ब्रह्मण इन्द्रियादिगोचरत्वं नास्तीत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; प्रमाणान्तराभावेन मिथ्यात्वा-

तत्त्वदीपनम्

सामान्ययोरिति\* ॥ प्रकर्ष-प्रकाशत्वयोरित्यर्थः । प्रकृष्टशब्दान्न चन्द्रप्रातिपदिकार्थसिद्धिः ; प्रकृष्टं तम इति प्रकर्ष-शब्दस्य प्रकृष्टसंतमसेऽपि प्रयोगदर्शनात्, तथा प्रकाशशब्दादपि न तत्सिद्धिः ; खद्योतादावपि तत्प्रयोगदर्शनात् । तथाच वाच्यार्थप्रतियागेनाप्रकर्षाप्रकाशविरोधी चन्द्रप्रातिपदिकार्थः पदद्वयेन प्रतिपाद्य इत्यखण्डार्थत्वसिद्धिः ; इतरथा चन्द्र-प्रातिपदिकार्थमात्रप्रश्नोत्तरतया विशिष्टमर्थं बोधयतो वक्तुरनवधेयवचनत्वं स्यात् । तथाच विमतम्, अखण्डार्थम्, लक्षणवाक्यत्वात्, ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इति वाक्यवदिति सिद्धमित्यर्थः । तत्रोक्तेहोतोरप्रयोजकत्वमाशङ्कते—\*ननु गुणीति\* ॥ ब्रह्मणो निर्भेदत्वान्नैवविधोऽन्वय इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ निर्भेदत्वमेव कुतः ? इति वीक्षायामाह—\*एकमेवेति\* ॥ \*एकधैवेति\* ॥ एकरूपेणेत्यर्थः । कारणे ब्रह्मणि नानाभूतस्य निषेधेऽन्यत्र स्थित्यसंभवाद् निर्भेद-त्वमित्यर्थः । उत अरमिति च्छेदः । ब्रह्मण्यत्यर्थं भेदं यः कुरुते, तस्य भेदवादिनो भयं भवति । अथशब्द आन-न्तर्यामिधानमुखेन भेदज्ञानस्य हेतुत्वप्रतिपादनार्थ इत्यर्थः । प्रमाणान्तराभावाद् ब्रह्मणि वेदान्तानामप्रामाण्ये चोदिते



## पञ्चपादिका

जगत्कारणं प्रतिपाद्य पर्यवस्यन्ति, इत्यतस्तथाभूतान्येव वाक्यान्युदाहृतानि—“सदेव सौम्येदमग्र आसीदि”त्येवमादीनि । यत्पुनः सिद्धे वस्तुनि प्रत्यक्षादिसम्भवात् तदभावे मिथ्यात्वाशङ्काया-  
मप्रामाण्यमिति, तद् रूपाद्यभावाद् नेन्द्रियगोचर इति प्रत्युक्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

“यत्पुनरि”त्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः\* । “यत्पुनः सिद्धे वस्तुनी”त्युक्तार्थमनुवदति । परिहरति—\*तद्रूपा-  
द्यसंभवादिति\* ॥ अयमाशयः—किं प्रमाणान्तरयोग्यत्वे सति तदनुत्पत्तौ विषयस्याभावे निश्चिते तत्र शब्दस्य  
मिथ्यात्वमाशङ्क्यते ? किं वा प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थविषयत्वात्पौरुषेयवचोवत्सापेक्षं प्रामाण्यमिति ? किं वा प्रमाणा-  
न्तरयोग्यार्थविषयत्वात् तत्सिद्धार्थानुवादाशङ्केति ? तत्र न तावत् प्रथमः कल्पः ; प्रमाणेन हि प्रमीयमाण-  
स्यार्थस्य प्रमाणान्तरानुत्पादो मिथ्यात्वं नावहति ; सर्वप्रमाणानामनधिगतार्थगन्तृत्वात्, अन्यथा चक्षुषा  
गृह्यमाणस्य रूपस्य द्रव्यस्य वा स्पर्शेनाग्रहणान्मिथ्यात्वशङ्का स्यात् । कथंचित्सापेक्षप्रमाणस्य पुरुषवचसः  
प्रमाणान्तराभावे मिथ्यात्वाशङ्का स्यात्, न त्वपौरुषेयस्य वेदवचसः ; अनपेक्षत्वात् ॥

नापि द्वितीयः कल्पः ; प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थताऽभावात् । भूतार्थविषयत्वेन नदीतीरफलसत्तावाक्यवत्  
प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थतेति चेत्, न ; पौरुषेयवचनप्रयुक्तत्वात् सम्भेदस्य । भूतार्थत्वप्रयुक्तत्वे प्रत्यक्षादीनामपि

## ऋजुविवरणम्

शङ्कायाः परिहाराभावादित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयः, किं प्रमाणान्तरेति । संभिन्नार्थेति\* ॥ \*ननु\* प्रमाण-  
गृहीते संवादाभावेनाप्रामाण्यशङ्का स्यात् । दृश्यते च, अतः कथं सेत्याशङ्क्याह—\*कथञ्चित्सापेक्षप्रमाणस्येति\* ॥  
\*भूतार्थविषयत्वेनेति\* ॥ अयं प्रयोगः—वेदान्तवाक्यं धर्मि, प्रमाणान्तरसाध्यो धर्मः, भूतार्थविषयत्वात् ; नदीतीर-  
फलसंबन्धफलवाक्यवत् । नायं हेतुरप्रयोजक इति परिहरति—\*न पौरुषेयवचनेति\* ॥ कथं पौरुषेयत्वस्य प्रयोजकत्वम् ?  
न भूतार्थस्येत्याशङ्क्यातिप्रसङ्गदूषणमाह—\*भूतार्थत्वप्रयुक्तत्वं इति\* ॥ \*ननु\* पौरुषेयवचनत्वमपि न प्रयोजकम् ;

## तत्त्वदीपनम्

प्रमाणान्तराभावाऽभिधानमसंगतमित्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ \*मिथ्यात्वमिति\* अप्रामाण्यमित्यर्थः ॥  
अबोधकतालक्षणमप्रामाण्यं प्रथमविकल्पार्थः । गृहीतसंगतिकस्य पुंसः सत्यादिवाक्यश्रवणे अबाधितानधिगतार्थप्रमिति-  
दर्शनादबोधकत्वमसंगतमित्याह—\*तत्र न तावदिति\* ॥ अर्थस्येति । अर्थसंबन्धि यत्प्रमाणान्तरं तस्यानुत्पाद इत्यर्थः ।  
मिथ्यात्वमित्यत्र शब्दस्येत्यनुपङ्गः । विपक्षे दण्डमाह—\*अन्यथेति\* ॥ \*द्रव्यस्येति\* ॥ नक्षत्रध्रुवादेरित्यर्थः ।  
नदीतीरफलसत्तावाक्ये प्रमाणान्तराभावादप्रामाण्यमित्याशङ्क्याह—\*कथंचिदिति\* ॥

प्रमाणान्तरसंभिन्नोऽर्थो विषयो यस्य स प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थः, तस्य भावस्तत्ता, तस्या अभावादित्यर्थः ।  
असिद्धो हेतुरिति शङ्कते—\*भूतार्थेति\* ॥ विमतं प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थम्, भूतार्थवाक्यत्वात्, नदीतीरफलसत्तावाक्य-  
भाष्यभावप्रकाशिका

रुक्तानेकशब्दानामखण्डैकरसार्थपर्यवसायित्वम् । तदेव दर्शयति—\*सर्वेषु हीति ॥ वेदान्ता-  
नामेकान्ततो ब्रह्मपरत्वं दर्शयितुं बहूनि वाक्यान्युदाहरन्ति—\*सदेवेत्यादिना\* ॥ \*ननु\*—तेषा-

## प्रदीपः

पञ्चमेव सदासीत् । यद् वस्तुगत्यैकमेवाद्वितीयम्—स्वगतधर्मशून्यम्, विजातीयमेदरहितम्, सजातीयमेदरहितं चेति  
सजातीय विजातीय-स्वगतमेदशून्यं ब्रह्मैकमेव पारमार्थिकमित्युपक्रमः । अत्रोपक्रमवाक्योक्तं सत्तादात्म्यं बाधायां सामानाधिकरण्य-  
मेवेत्युपसंहारवाक्येन—“एतदात्म्यमिदं सर्वमि”त्यनेनापि बोध्यते । अनेन हि सर्वस्य प्रपञ्चस्य सद्रूपात्मस्वरूपातिरेकेण  
स्वरूपान्तरं नास्तीति बोधात् शुक्तिव्यतिरेकेण रजताभाववद् ब्रह्मव्यतिरेकेण प्रपञ्चाभावज्ञापनाद् अध्यारोपापवादस्यायेनैव सर्वाणि  
वेदान्तवाक्यानि प्रवृत्तानीति विज्ञायत इति प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव वेदान्ततात्पर्यविषय इति भावः । न केवलं तत्त्वमसीति वाक्यम्,  
किन्तु “प्रज्ञानं ब्रह्म” इति वाक्यमपि तादृशमेवेति सूचनार्थं तदीयमत्युपक्रमवाक्यमात्रमनुसन्धेत्—\*आत्मा वेति\* ॥ अत्रापि-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

संभेदः स्यात् । \*ननु\* भूतार्थस्मृतौ संभेदो दृश्यत इति चेत्, \*तर्हि\* स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यता संभेदहेतुः ; कार्य-भूतार्थनिष्ठयोर्लौकिकवचसोस्तथा दर्शनात् । पुरुषो हि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तन्निमित्तं परस्मै शब्दं विरचयति, ननु वेदवचसः प्रमाणान्तरजन्यता, इत्यनपेक्षता । \*किञ्च\* तुच्छव्यावृत्तमात्रं प्रमाणान्तरयोग्यम्, इति विधिवाक्यानामपि संभिन्नार्थतया सापेक्षता स्यात् ; लौकिकविधीनां प्रमाणान्तरयोग्यता-दर्शनात्, अयोग्यत्वे वा तत्र संबन्धाग्रहणाद् वेदेऽप्यर्थप्रतिपत्तिर्न स्यात् । \*ननु\* कार्यस्य साध्यस्वभाव-त्वान्न प्रमाणान्तरगम्यतेति, ब्रह्मापि तर्हि रूपादिहीनत्वान्न प्रमाणान्तरेण गम्यते । स्वरूपज्ञानमेव प्रमाणान्तर-

## श्रुतिविवरणम्

व्यभिचारात्, इति चोदयति—\*ननु भूतार्थस्मृताविति\* ॥ \*ननु\* लौकिकवचसां पुरुषजन्यत्वात् कथं प्रमाणान्तर-जन्यत्वं संभेदेहेतुत्वेनोच्यते ? तथा वेदेऽपि स्वार्थप्रवृत्तप्रमाणजन्यत्वं वक्तुं शक्यते, इत्याशङ्क्याह—\*पुरुषो हि प्रमाणान्तरेणेति\* ॥ \*ननु\* भूतार्थस्य प्रमाणान्तरयोग्यत्वं दृष्टम्, प्रमाणान्तरयोग्ये वर्तमानः शब्दस्तदनुसारेण वर्तते, अतः संभिन्नार्थतया सापेक्षत्वम्, अतो न स्वार्थप्रवृत्ते प्रमाणान्तरजन्यत्वमुपाधिः ; तस्याप्यनेन हेतुना साधयितुं शक्यत्वात्, अथवा—स्वार्थप्रवृत्तप्रमाणान्तरजन्यत्वं संभेदप्रयोजकं न भवति ; प्रमाणान्तरयोग्यत्वे विद्यमाने तज्जन्यत्वाभावेनासंभेदानुपलम्भादित्याशङ्कायामपि सोपाधिक इत्याह—\*किञ्च तुच्छव्यावृत्तिमात्रमिति\* ॥ अयं प्रयोगः—कार्यं धर्मि, प्रमाणान्तरयोग्यमिति साध्यो धर्मः, तुच्छव्यावृत्तत्वात् ; नदीतीरफलसंबन्धवत् ॥ \*ननु\* नानेन हेतुना योग्यत्वमनुमातुं शक्यते ; विधीयमानत्वस्य प्रमाणान्तरयोग्यत्वबाधकत्वादित्याशङ्क्य, व्यभिचारमाह—\*लौकिकविधीनामिति\* ॥ कथं लौकिके विधीयमानस्य मानान्तरयोग्यता वक्तुं शक्यते ? कार्यं तेषामसामर्थ्यादित्याशङ्क्याह—\*अयोग्यत्वे चेति\* ॥ \*ननु\* कार्यस्य साध्यस्वभावत्वादिति\* ॥ न तावत्कार्यं प्रत्यक्षम् ; वर्तमानविषयत्वात्प्रत्यक्षस्य, तत्पूर्वकत्वादनुमानादेषां न गोचरः । न चैवं कार्यं व्युत्पत्त्यभावः ; प्रमाणान्तरगम्यत्वाभावेऽपि वेद एव कार्यं व्युत्पत्तिर्न संभवात्, अतो बाधितविषयमनुमानमिति भावः । \*ब्रह्मापि तर्हीति\* ॥ अनेन “भूतत्वादि”ति हेतोर्बाधितविषयत्वमुक्तम् । \*ननु\* कथं बाधित-विषयत्वम् ? अनुमानाद्यभावेऽप्यवभासकान्तरस्य विद्यमानत्वादिति चोदयति—\*स्वरूपज्ञानमेव प्रमाणान्तरमिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

वदित्यर्थः । अप्रयोजको हेतुरित्याह—\*नेति\* ॥ किं तर्हि मानान्तरसंभेदप्रयोजकमिति ? अत्राह—\*पौरुषेयेति\* ॥ किमत्र विनिगमनकारणमिति ? अत्राह—\*भूतार्थेति\* ॥ पौरुषेयवचनत्वमप्रयोजकं व्यभिचारादिति शङ्कते—\*ननु भूतेति\* ॥ पौरुषेयवचनत्वं च तत्र नेति शेषः । अन्यदेव तर्हि प्रयोजकम्, इत्याह—\*तर्हीति\* ॥ लौकिक-वाक्यस्य स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यत्वमेव कथम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—\*पुरुषो ह्येति\* ॥ वेदवचसोऽतिवाक्य-त्वात् स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यत्वम्, ततश्च मानान्तरसंभेदः, तत्राह—\*न त्विति\* ॥ “अस्य महतो भूतस्य निःश्व-सितमेतदि”त्यादिश्रुतिविरोधाद् न वेदस्य प्रमाणान्तरजन्यत्वमित्यर्थः । अतिप्रसङ्गलक्षणबाधकतर्कपराहतश्चायं हेतु-रित्याह—\*किंचेति\* ॥ विधिवाक्यार्थः, प्रमाणान्तरयोग्यः, तुच्छव्यावृत्तत्वात् ; घटादिवत्, ततश्च विधिवाक्यसाम्य-मित्यर्थः । ननु तुच्छव्यावृत्तत्वं न प्रयोजकम्, अपि त्वविधनार्थत्वमिति शङ्कायामाह—\*लौकिकेति\* ॥ विपक्षे दण्डमाह—\*अयोग्यत्वे चेति\* ॥ प्रमाणान्तरगृहीते संबन्धग्रहणदर्शनाधीनां च मानान्तरायोग्यत्वान्न तत्र संगतिग्रहणम्, तथाच वैदिकलिङ्गादिश्रवणादप्यर्थबोधो न स्यादित्यर्थः । वैदिकलिङ्गादीनां प्रमाणान्तरागोचरकार्यविषयत्वान्न सापेक्षत्वम् । नच संगतिग्रहणानुपपत्तिः ; तत्र प्रवर्तकाकारमात्रे संगतिग्रहणात् । ततश्च स्वर्गकामपदसमन्विताहारा-नुपपत्त्याक्रियाविलक्षणनियोगसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—\*ननु कार्यस्येति\* ॥ साम्येनोत्तरमाह—\*ब्रह्मापीति\* ॥ बाधित-विषयत्वमप्रयोजकत्वं वा हेतोरित्यर्थः । ब्रह्मणि प्रत्यक्षदेरप्रवृत्तावपि प्रमाणान्तरमत्र क्रमत इत्याह—\*स्वरूपज्ञान-मिति\* ॥ प्रमितिप्रमाणमिति व्युत्पत्त्या स्वरूपज्ञानस्य प्रमाणत्वमुक्तमिति द्रष्टव्यम् । किमवच्छिन्नचैतन्यं प्रमाणम्,



## पञ्चपादिका

\*ननु\* इन्द्रियागोचरत्वादेव प्रत्यक्षाद्यविषयत्वान्न शब्दमात्रस्य तत्र प्रामाण्यमित्युक्तम्, \*उच्यते\*;

## पञ्चपादिकाविवरणम्

मस्ति, अतस्तत्संभिन्नतया सापेक्षतेति चेत्, न; शब्दजन्यविषयस्थचैतन्यतया प्रमाणफलरूपत्वात्, चैतन्यज्ञानसंभिन्ने वा ब्रह्मणि शब्दस्यानपेक्षप्रामाण्यसिद्धिः । पुरुषान्तरतत्संवेदनविषयं पुरुषान्तरानुमानं स्वयंप्रकाशविषयमपि संभिन्नार्थतया न सापेक्षमिति । तस्मादनपेक्षमपौरुषेयं वचः ॥

नापि तृतीयः कल्पः; स्पर्शज्ञानयोग्यद्रव्यविषयस्य चक्षुषोऽनुवादकत्वाददर्शनात् । शब्दविषयोऽयं नियम इति चेत्, विधिवाक्यस्यापि स्यात्; तस्यापि लौकिकस्य मानान्तरयोग्यत्वात्, शब्दावगतस्य वा प्रमाणान्तरमनुवादः किं न स्यात्? तस्माद् भूतार्थनिष्ठमपि वैदिकं वचोऽनपेक्षं प्रमाणमिति । तत्र चोदयति—\*नन्विन्द्रियागोचरत्वादिति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

अत्र प्रमाणशब्दोऽवभासाभिप्रायो द्रष्टव्यः । कथं चैतन्यस्य प्रमाणफलता? चिद्रूपस्य वस्तुनोऽविषयत्वात् । न हि विषयस्य फलता । यद्यपि चैतन्यस्यैव केनचिदवच्छेदेन फलत्वम्; तथाऽपि चैतन्यमात्रस्य फलत्वाभावात् तत्संभिन्नतया सापेक्षत्वमित्याशङ्क्याह—\*ज्ञानसंभिन्ने वा ब्रह्मणीति\* ॥ कथं विज्ञानात्मकब्रह्मविषयत्वे सापेक्षत्वाभावः, स्वेनैव प्रकाशितस्य विषयत्वादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—\*पुरुषान्तरसंवेदनेति\* ॥ कथं विधिवाक्येऽनुवादकत्वमापद्येत? मानान्तरयोग्यविषयत्वाभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*तस्यापि लौकिकस्येति\* ॥ प्रमाणान्तरगृहीतग्राहित्वाभावेऽपि यदि योग्यत्वमात्रादनुवादकत्वमुच्येत, तर्हि वैपरीत्यमापद्यत इत्याह—\*शब्दावगतस्य वा प्रमाणान्तरमिति\* ॥ यद्वा भवतु प्रमाणान्तरयोग्यार्थस्यानुवादकत्वम्, किं तेन चिन्नम्? इत्याशङ्क्याह—\*शब्दावगतस्य वेति\* ॥ शब्द एवायं नियम इति निष्प्रमाणकमिति भावः । स्पष्टमपि चोद्यमव-

## तत्त्वदीपनम्

उतानवच्छिन्नम्? आद्येऽपि किं वृत्तिविषयानवच्छिन्नम्? उत वृत्त्यवच्छिन्नम्? उत वृत्तिमदवच्छिन्नम्? नाद्य इत्याह—\*न शब्देति\* ॥ शब्दजन्यं च तद् ज्ञानं चेति शब्दजन्यज्ञानम्, तस्य विषयः शब्दजन्यज्ञानविषयः, तस्मिन् स्थितं चैतन्यं शब्दजन्यज्ञानविषयस्थचैतन्यम्, तद्रूपतयेति विग्रहः । अत्र विषयशब्देन ब्रह्मोच्यते । चैतन्यस्य तत्स्थत्वं चोपचरितम्; राहोः शिर इतिवत् । तथाच विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणफलरूपत्वान्न तत्सापेक्षत्वं दोषमावहतीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—\*चैतन्यज्ञानेति\* ॥ चैतन्यविषयं ज्ञानं चैतन्यज्ञानम्, तत्संभिन्नमिति यावत् । शब्दजनितवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य शब्दप्रमाणत्वान्न तेन वेदस्य सापेक्षत्वम् । तथा वृत्तिमदवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृकोटावन्तर्भावादप्रमाणत्वम्, ततो न तेनापि सापेक्षत्वमिति विकल्पद्वयं बहिरेव निराकृत्यानवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमेयत्वाद् न तेनापि सापेक्षत्वमित्याह—\*चैतन्यज्ञानेति\* ॥ चैतन्यं च तद् ज्ञानं चेति चैतन्यज्ञानम्, तेन संभिन्ने अभिन्न इत्यर्थः । चिद्रूपात्मविषयप्रमाणस्य न चित्स्वरूपमात्रेण सापेक्षत्वमित्यत्र सांख्य-गुरुमतानुसारिणौ प्रति दूषणान्तरमाह—\*पुरुषान्तरेति\* ॥ पुरुषान्तरस्यानुमानं स्वयं प्रकाशविषयमपि न सापेक्षमिति सांख्यं प्रति, परसंवेदनविषयमनुमानं स्वप्रकाशविषयमपि न सापेक्षमिति प्राभाकरं प्रत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । द्वितीयकल्पनिराकरणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ प्रमाणान्तरयोग्यार्थविषयत्वात्तत्सिद्धानुवादकत्वमिति विकल्पं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ किं प्रमाणान्तरयोग्यविषयस्य प्रमाणमात्रस्यानुवादकत्वम्? उत शब्दस्य? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*स्पशेति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*शब्देति\* ॥ तत्रापि वक्तव्यम्, किं शब्दमात्रस्यैव स्वभावः? उत भूतार्थविषयशब्दस्य? आद्येऽतिप्रसङ्ग इत्याह—\*विधिवाक्यस्यापीति\* ॥ अनुवादकत्वमिति शेषः । तत्र हेतुमाह—\*तस्यापीति\* ॥ विधिस्तच्छब्दार्थः । लौकिकार्थस्य मानान्तरयोग्यत्वेऽपि वैदिकार्थस्य मानान्तरयोग्यत्वादनपेक्षत्वं तुल्यमित्यभिसंधाय, समाधानान्तरमाह—\*शब्दावगतस्येति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*शब्देति\* ॥ मानान्तरयोग्ये भूते वर्तमानस्य शब्दस्यानुवादकत्ववत्, शब्दसिद्धबोधिना मानान्तरस्यानधिगतविषयत्वाभावादप्रामाण्यं कस्मान्न स्यादित्यर्थः । नच प्रमाणान्तरस्य



भामती

क्रम्यते, येन चोपसंह्रियते, तदेव वाक्यार्थ इति शाब्दाः । यथोपांशुयाजवाक्येऽनूचोः पुरोडाशयोर्जामितादोषसंकीर्तनपूर्वकोपांशुयाजविधाने तत्प्रतिसमाधाने तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे 'चापूर्वोपांशुयाजकर्मविधिपरतैकवाक्यता बलादाश्रिता, एवमत्रापि 'सदेव सौम्येदम्' इति ब्रह्मोपक्रमात् 'तत्त्वमसि' इति च जीवस्य ब्रह्मात्मनोपसंहारात् तत्परतैव वाक्यस्य । एवं वाक्यान्तराणामपि पौर्वापर्यपर्यालोचनया

ऋजुप्रकाशिका

स्य कीर्तनात् तत्प्रमाणं बुद्धिस्थं भवतीति नोदाहृतमित्यर्थः । वेदान्तानां ब्रह्मात्मैकत्व उपक्रमोपसंहारैक्य तात्पर्यलिङ्गम् । तच्च सदृष्टान्तमाह—\*येनेति\* ॥ भेदलक्षणे चिन्तितम् । “पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात्” ॥ “जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावुपांशुयाजमन्तरा यजति विष्णुरुपांशु यष्ट्व्योऽजामित्वाय प्रजापतिरुपांशु यष्ट्व्योऽजामित्वायाग्नीषोमावुपांशु यष्ट्व्योऽजामित्वाय” इति श्रूयते । तत्र “उपांशुयाजमन्तरा यजति” इत्येतद् विष्णु-प्रजापत्यग्नीषोमदेवतानामुक्तानामुपांशुयागानां समुदायानुवादकम् ? किं वाऽपूर्वयागविधिः ? इति संशये, यथाऽऽग्नेयादीनां षण्णां यागानां “य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते” “य एवं विद्वानमावास्यां यजते” इति च समुदायानुवादः, एवम्—“उपांशुयाजमन्तरा यजति” इत्येतदपि विष्ण्वादिवाक्यविहितानां निरुक्तानां त्रयाणां यागानामनुवादः, नापूर्वयागविधिः ; अन्तरावाक्ये द्रव्य-देवता-ख्ययागस्वरूपस्याश्रवणात्, विष्णादिवाक्येषु च विष्ण्वादिदेवताः श्रूयन्ते । नच—द्रव्यं न श्रूयत इति—वाच्यम् ; “सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायाऽऽमाज्यम्” इत्याज्यद्रव्यस्य सिद्धेः, तव्यप्रत्ययाश्च विधायकाः श्रूयन्ते । अतस्तत्र विष्ण्वादिवाक्यैर्विधिः संभवति । अन्तरावाक्ये विधायकवचनं च नास्ति । अतो न विधिः । नच—यजतीति वचनं तत्र विधायकमिति—वाच्यम् ; तस्य वर्तमानापदेशत्वेनाविधायकत्वात् । तदुक्तम्—

“यागान् विष्ण्वादिसंयुक्तान् विहितान् रूपवत्तया । अरूपमन्तरावाक्यमगत्यैवावलम्ब्यते ॥”

इति पूर्वः पक्षः । एतदधिकरणसिद्धान्तमाह—\*अनूचोरिति\* ॥ निरन्तरयोरग्नेयाग्नीषोमीययोः पुरोडाशयोः करण आलस्यं स्यात्, इति 'जामि वे'त्यादिना दोषं सङ्कीर्त्य तदपनयार्थम्—“उपांशुयाजमन्तरा यजति” इत्युपांशुयाजमाज्यद्रव्यकं विधाय, अनन्तरम् “अजामित्वाये”ति तद्विधानलब्धं जामितादोषसमाधानमुपसंहरति । \*अतः सार्थवादोपक्रमोपसंहारैकरूप्यादेकमिदं वाक्यम् । एकवाक्यता चोपांशुयाजविधौ लभ्यते । नेतरत्रानेकयागविधाविति\* ॥ \*ननु\* “विष्णुरुपांशु यष्ट्व्यः” इत्यादितव्यप्रत्ययविहितयागानां समुदायानुवादोऽयकयागविधाविति\* ॥ \*ननु\* “विष्णुरुपांशु यष्ट्व्यः” इत्यादितव्यप्रत्ययविहितयागानां समुदायानुवादोऽयमित्युक्तम्, तत्राह—\*अपूर्वेति\* ॥ तथाहि—“यष्ट्व्यः” इति कर्मप्राधान्यं विष्ण्वादिवाक्यैः प्रतीयते । यागस्तूपसर्जनम्, तत्र कर्मत्वमप्रधानीकृत्य यागप्राधान्यं लक्षणीयम् । कर्मतया च देवतात्वम्, अतो गुरुतरा कल्पना, अन्तरावाक्ये तु श्रुतं यागप्राधान्यम्, विधिश्च पञ्चमलकाररूपः । यत्तु “रूपाभावः” इति, तत्र ; प्रौवाज्यलाभात् । आग्नेयादीन् यागान् क्रमेणाम्नाय मन्त्रकाण्डे तत्क्रमेणैव याज्यानुवाक्या आम्नाताः । ततोपांशुयाजस्थाने वैष्णव-प्राजापत्याग्नीषोमीयास्तिस्रो वर्तन्ते ; ताभिस्तुल्यार्थत्वेन विकल्प्यमानाभिर्विष्ण्वादिदेवतानां समर्पितत्वात् । तस्माद् द्रव्य-देवताख्ययागस्वरूपलाभाद् अपूर्वं उपांशुयाजो विधेयः । विष्ण्वादिवाक्यानि त्वर्थवादाः—इत्थं महीयान् उपांशुयाज इति, तत्परतैवोक्तैकवाक्यताबलाद् आश्रितेति । दार्ष्टान्तिकमाह—\*एवमत्रापीति\* ॥ \*एवं वाक्यान्तराणामपीति\* ॥ ऐतरेये—“आत्मा वा इदमेक एव” इत्युपक्रम्य, “एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्” इति तमेव ब्रह्मात्मानमभिप्रायसमाप्तौ च “प्रज्ञानं ब्रह्म” इत्युपसंहृतम् । वाजसनेयकेऽपि—“अहं ब्रह्मास्मि” इत्युपक्रम्य, “अयमात्मा ब्रह्म” इत्युपसंहृतम् । आथर्वणेऽपि—“कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती”ति सर्वात्मकं ब्रह्मेत्युपक्रम्य, “ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्” इति तदेवोपसंहृतम् । तथाच वाक्यान्तरेष्वप्येवमेवोपक्रमोपसंहारैकवाक्यताबलाद् ब्रह्मपरत्वमवगन्तव्य-



“आत्मा वा इदमग्र आसीत्” ( ऐत० २।१।१।१ ) “तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमन्तरम-  
बाह्यम्” “अयमात्मा सर्वानुभूः” ( बृह० २।५।१४ ) “ब्रह्मैवेदमृतं पुरस्तात्”  
( मुण्ड० २।२।११ ) इत्यादीनि । नच तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते  
समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता ; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । नच  
तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरताऽवसीयते ; “तत् केन कं पश्येत्” ( बृह० २।४।१३ )  
इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः । नच परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि

भामती

ब्रह्मपरत्वमवगन्तव्यम् । नच तत्परत्वस्य दृष्टस्य सति संभवेऽन्यपरताऽदृष्टा युक्ता कल्पयितुम् ;  
अतिप्रसङ्गात् । न केवलं कर्तृपरता तेषामदृष्टा, अनुपपन्ना चेत्याह—\*नच तेषामिति\* ॥ सापेक्ष-  
त्वेनाप्रामाण्यं पूर्वपक्षबीजं दूषयति—\*नच परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपीति\* ॥ \*अयमभिसंधिः\*

श्रुतप्रकाशिका

मित्यर्थः । एवमुक्तविधया तत्परत्वं दृष्टं परित्यज्यादृष्टमन्यतरत्वं कल्पयितुमयुक्तमित्याह—\*नचेत्यादिना\* ॥  
दृष्टपरित्यागेनादृष्टकल्पने दोषमाह—\*अतिप्रसङ्गादिति\* ॥ \*तेषाम् = वेदान्तानाम् ॥ \*ननु\* तावता  
वेदान्ताः, भूतार्थकत्वेन प्रत्यक्षविषयविषयकतया सापेक्षाः, वाक्यत्वात् ; पुंवाक्यवदिति पूर्ववादिना सूचितानु-  
मानस्य किं दूषणमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य, वाक्यत्वरूपपक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकेन पक्षे साधनाव्यापकेन  
पौरुषेयत्वेनोपाधिना सोपाधिकमिदमनुमानमिति दूषणमुक्तं भवतीत्यभिप्रेत्याह—\*अयमभिसन्धिरिति\* ॥  
वाक्यत्वरूपसाधनपक्षधर्मतावच्छिन्नं सापेक्षत्वरूपं पौरुषेयत्वोपाधिप्रयुक्तमेव ; न भूतार्थकत्वप्रयुक्तमिति स्पष्टयितुं

वार्तिकम्

प्रयोगद्वयं तु पूर्वमेव दर्शितमस्माभिः । क्रमेण वेदचतुष्टयगतवाक्यानि दर्शयति—\*सदेवेत्यादिना\* ॥  
\*ननु\*—उक्तं क्रत्वपेक्षितकर्तृ-देवतादिप्रतिपादकत्वेनापि सम्यगन्वयस्तेषां भविष्यतीति, नेत्याह—\*नच  
तद्गतानां पदानामिति\* ॥ अनेन शक्तिरपि पदानां ब्रह्मोपस्थापकत्वे दर्शिता भवतीति द्रष्टव्यम् । किं  
दूषणम् ; तत्राह—\*श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गादिति\* ॥ एतदेव कुतः ? इत्याशङ्क्य, किं कर्तृपरत्व-  
मेव विधीनां वाक्यानामभ्युपगम्यते ? किं वा देवतापरत्वम् ? आहोस्वित् प्रकरणगतोपासनाशेषत्वम् ?  
इति विकल्पाद्यं प्रत्याह—\*नच तेषामिति\* ॥ कुतो नेति ? अत आह,—\*तत् केन कमिति\* ॥  
केनेति करणकारकं निषिद्धम्, कमिति कर्मकारकम्, पश्येदिति कर्तृकारकं क्रिया तत्फलं चेति ।  
एवं “केन कं जिघ्रेदि”त्यादावपि बोद्धव्यम् । तदभावे हेतुः श्रुत्या स्वयमेवोपन्यस्तः “यत्र त्वस्य  
सवमात्मैवाभूदि”ति । \*ननु\*—उक्तं क्रियाऽसंस्पर्शिपरिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं वेदवाक्यानां न सम्भवति ;  
शास्त्रत्वव्याहतेः, तस्य प्रत्यक्षादिगोचरत्वेनापूर्वविषयत्वाभावात्, हेयोपादेयशून्यत्वेन निष्प्रयोजनत्वा-  
च्चेति ; अतः स्वारस्येन तद्वाक्यानां क्रत्वपेक्षितकर्तृप्रतिपादकत्वेऽपि “देवस्य त्वा सवितु”रित्यादि-  
पदानां निर्वापप्रकाशकत्ववद् यथा कथञ्चित् तत्प्रतिपादकत्वमेव तेषामुचितमित्याशङ्क्य, किं ब्रह्मणोऽ-

भाष्यभावप्रकाशिका

मपि द्रव्यादिप्रकाशनेन विधिशेषत्वमेव ; विधिव्यतिरेकेण प्रामाण्यायोगात्, इत्यत आह—  
\*नचेति\* ॥ \*ननु\*—विधिशेषत्वेऽपि “सोऽरोदीदि”त्यादीनामिव श्रुतहान्याश्रुतकल्पने न भवत  
इत्याशङ्क्याह—\*नच तेषामिति\* ॥ सापेक्षत्वेनाप्रामाण्यं पूर्वपक्षोक्तमनूद्य दूषयति—\*नच परि-



## भामती

पुंवाक्यनिदर्शनेन हि भूतार्थतया वेदान्तानां सापेक्षत्वमाशङ्क्यते । तत्रैवं भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्,— किं पुंवाक्यानां सापेक्षता भूतार्थत्वेन ? आहो पौरुषेयत्वेन ? यदि भूतार्थत्वेन, ततः प्रत्यक्षादीनामपि परस्परापेक्षत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः । तान्यपि हि भूतार्थान्येव । अथ पुरुषबुद्धिप्रभवतया पुंवाक्यं सापेक्षम्, एवं तर्हि तदपूर्वकाणां वेदान्तानां भूतार्थानामपि नाप्रामाण्यम् ; प्रत्यक्षादीनामिव नियतेन्द्रियलिङ्गादिजन्मनाम् । यद्युच्येत सिद्धे किलापौरुषेयत्वे वेदान्तानामनपेक्षतया प्रामाण्यं सिध्येत्, तदेव तु भूतार्थत्वेन न सिध्यति ; भूतार्थस्य शब्दानपेक्षेण पुरुषेण मानान्तरतः शक्य-ज्ञानत्वाद् बुद्धिपूर्वविरचनोपपत्तेः, वाक्यत्वादिलिङ्गकस्य वेदपौरुषेयत्वानुमानस्याप्रत्युहमुत्पत्तेः । तस्मात् पौरुषेयत्वेन सापेक्षत्वं दुर्वारम्, नतु भूतार्थत्वेन । कार्यार्थत्वे तु कार्यस्यानर्थस्य मानान्तरागोचरतयाऽ-त्यन्तानुभूतपूर्वस्य तत्त्वेन समारोपेण वा पुरुषबुद्ध्यावनारोहात् तदर्थानां वेदान्तानामशक्यरचनतया पौरुषेयत्वाभावादनपेक्षं प्रमाणत्वं सिध्यति, इति प्रामाण्याय वेदान्तानां कार्यपरत्वमातिष्ठामहे ॥

## अनुप्रकाशिका

विकल्पयति—\*किं पुंवाक्यानामिति\* ॥ अयं दूषयति—\*यदीति\* ॥ अनुमानमादिशब्दार्थः । अनुमानं प्रत्यक्षमपेक्षते क्वचित्तव मते । अनुमानोपनीतप्रत्यक्षमप्यनुमानमपेक्षते । एवं परस्परापेक्षत्वेन सापेक्षत्वलक्षणाप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यर्थः । त्वदुक्तं सापेक्षत्वप्रयोजकं भूतार्थकत्वं तत्रास्तीत्याह—\*तान्यपि हीति\* ॥ प्रत्यक्षादीन्यपि हीत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—\*अथेति\* ॥ दूषयति—\*एवं तर्हीति\* ॥ \*अतत्पूर्वकाणाम् = अबुद्धिपूर्वकाणाम् । एवं चार्थबुद्धिपूर्वकविरचितत्वलक्षणपौरुषेयत्वस्य व्यापकस्य वेदान्तेष्वभावात् सापेक्षत्वलक्षणव्याप्यस्याभावः, इति न सापेक्षत्वलक्षणमप्रामाण्यं वेदान्तानामित्यर्थः । अप्रामाण्याभावे दृष्टान्तमाह—\*प्रत्यक्षादीनामिवेति\* ॥ तथाच पौरुषेयत्वोपाधिप्रयुक्तमेव सापेक्षत्वमिति भावः ॥ \*ननु\* वेदान्तानामपौरुषेयत्वे सिद्धे खलु सापेक्षत्वादप्रामाण्यं सिध्येत्, अपौरुषेयत्वमेव भूतार्थकत्वे न सिध्यतीति शङ्कते—\*यद्युच्येतेति\* ॥ तदेव = अपौरुषेयत्वमेव । \*ननु\*—भूतार्थस्य मानान्तरेण ज्ञाने तत्प्रतिपादकवचनस्य बुद्धिपूर्वकं विरचनसंभवेन पौरुषेयत्वम्, तदेव नेत्यत आह—भूतार्थ-स्येति\* ॥ एवं च वेदः पौरुषेय एव । नच मानाभावः ; वाक्यत्वलिङ्गकस्यानुमानप्रमाणस्य सत्त्वादित्याह—\*वाक्यत्वादिलिङ्गकस्येति\* ॥ वेदवाक्यानि, पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् ; कालिदासवाक्यवत्, इति वेदपौरुषेय-ताऽनुमानस्याप्रत्युहं व्युत्पत्तेरित्यर्थः । एवंच पौरुषेयतया सापेक्षत्वं दुरुद्धरमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ वेदान्तानां पौरुषेयत्वप्रयुक्तमेव सापेक्षत्वम्, न भूतार्थत्वप्रयुक्तम्, पौरुषेयत्वं तु भूतार्थकत्वप्रयुक्तमित्यभिप्रेत्याह—\*नत्विति\* ॥ तथाच पूर्वोक्तानुमाने न पौरुषेयत्वमुपाधिः ; पक्षे साधनव्यापकत्वादिति भावः । वेदान्तानां कार्यार्थकत्वे तु पौरुषेयत्वप्रयुक्तसापेक्षत्वलक्षणाप्रामाण्यप्रसङ्गदोषो नेत्याह—\*कार्यार्थत्वे त्विति\* ॥ तत्त्वेन = अनारोपितरूपत्वेन । तदर्थानाम् = कार्यार्थानाम् । \*अशक्यरचनयेति\* ॥ कार्यस्य मानान्तरादनुपल-म्भेन तत्प्रतिपादकत्वपक्षे वेदान्तानां कार्यबुद्धिपूर्वकं रचयितुमशक्यतयेत्यर्थः । इतीति हेतौ । यतः

## वार्तिकम्

पूर्वत्वाभावात् शास्त्राविषयत्वम् ? किं वा निष्प्रयोजनत्वात् ? तत्राद्येऽपि किं परिनिष्ठितवस्तुत्वमेव प्रमाणान्तरविषयत्वप्रयोजकम् ? उत ब्रह्मणोऽपूर्वत्वाभावः ? किं वा तदप्रयोजकत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रमा-णान्तरविषयत्वं दृष्टमिति ? तत्र नाद्य इत्याह—\*नच परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्व-

## भाष्यभावप्रकाशिका

निष्ठतेति\* ॥ अयं भावः—भूतार्थत्वेऽपि वेदान्तानां प्रत्यक्षादीनामिवानपेक्षत्वोपपत्तेः पुंवाक्यवत्पुरुष-



## भामती

\*अत्र ब्रूमः\*—किं पुनरिदं कार्यमभिमतमायुष्मतः, यदशक्यं पुरुषेण ज्ञातुम् । अपूर्वमिति चेत्, हन्त कुतस्त्यमस्य लिङाद्यर्थत्वम् ; तेनालौकिकेन संगतिसंवेदनविरहात्, लोकानुसारतः क्रियाया एव लौकिक्याः कार्याया लिङादेरवगमात् । “स्वर्गकामो यजेत” इति साध्यस्वर्गविशिष्टो नियोज्योऽवगम्यते । स च तदेव कार्यमवगच्छति, यत्स्वर्गानुकूलम् । नच क्रिया क्षणभङ्गुराऽऽमुष्मिकाय स्वर्गाय कल्पते, इति पारिशेष्याद् वेदत एवापूर्वं कार्यं लिङादीनां संबन्धग्रह इति चेत्, हन्त चैत्यवन्दनादिवाक्येष्वपि स्वर्गकामादिपदसंबन्धादपूर्वकार्यत्वप्रसङ्गः । तथाच तेषामप्यशक्यरचनत्वेनापौरुषेयत्वापातः । स्वप्नदृष्टेन पौरुषेयत्वेन वा तेषामपूर्वार्थत्वप्रतिषेधे वाक्यत्वादिना लिङ्गेन वेदानामपि पौरुषेयत्वमनुमितमित्यपूर्वार्थता न स्यात् । अन्यतस्तु वाक्यत्वादीनामनुमानाभासत्वोपपादने कृतमपूर्वार्थत्वेनात्र तदुपपादकेन । उपपादितं चापौरुषेयत्वमस्माभिर्न्यायकणिकायाम्, इह तु विस्तर-

## ऋजुप्रकाशिका

कार्यार्थकत्वे वेदान्तानामनपेक्षत्वलक्षणं प्रामाण्यं सिध्यति, अत इत्यर्थः । एवं शङ्कायां समाधत्ते—\*अत्र ब्रूम इति\* ॥ प्रामाण्याय वेदान्तानां कार्यपरत्वमुक्तम्, तत्र किं कार्यम् ? यद् मानान्तरेण पुरुषेण न ज्ञातुं शक्यमित्युक्तम्, किं कृतियोग्यं कार्यम् ? किं वा अलौकिकमपूर्वम् ? इति दूषयितुं विकल्पयति—\*किं पुनरिदं कार्यमिति\* ॥ किंशब्द उक्तविकल्पार्थः । नाद्यः ; भावार्थस्य कर्मणोऽपि कृतियोग्यत्वेन मानान्तरयोग्यत्वेन मानान्तरेण ज्ञातुमशक्यमित्युक्तमिति भावः । द्वितीयं शङ्कते—\*अपूर्वमिति\* ॥ तर्हि मानान्तरायोग्ये तस्मिन् लिङादेः सङ्गतिग्रहाभावात् । लिङादेस्तदबोधकत्वापात इति दूषयति—\*हन्तेति\* ॥ अस्य = अपूर्वस्य । तेन = अपूर्वेण “लोकानुसारः” इत्यतः प्राग् लिङादेरिति शेषः । \*ननु\*—“यजेत” इति श्रुतेः कार्यता भाति, अतोऽपूर्वसिद्धिरिति, तत्राह—\*लोकानुसारत इति\* ॥ तथाच नापूर्वसिद्धिरिति भावः । स्वर्गकामपदसमभिव्याहारसंज्ञकतर्कानुगृहीतवेदादेव क्रियाविलक्षणापूर्वं लिङादेः सङ्गतिग्रह इति शङ्कते—\*स्वर्गकाम इति\* ॥ नियोज्य उपगम्यताम्, ततः किमिति ? अत आह—\*यत्स्वर्गानुकूलमिति\* ॥ क्रियैव स्वर्गानुकूलाऽस्तु, तामेव नियोज्यः कार्यतयाऽवगच्छत्वित्यत आह—\*नच क्रियालक्षणभङ्गुरेति\* ॥ एवं चापूर्वस्यैव पारिशेष्यात् स्वर्गानुकूलत्वात् तत्रैव लिङादेर्वेदतः सङ्गतिग्रह इत्याह—\*पारिशेष्यादिति\* ॥ सम्बन्धग्रहः स्वर्गकामपदसमभिव्याहारसंज्ञकतर्कस्य “चैत्यं वन्देत्” इत्यादिवाक्येऽपि सत्त्वादपूर्वकार्यत्वप्रसङ्ग इति दूषयति—\*हन्त चैत्येति\* ॥ अस्तु ततः किम् ? तत्राह—\*तथाचेति\* ॥ तेषामपि = चैत्यवन्दनादिवाक्यानामपि । \*अशक्यरचनत्वेन\* = अपूर्वकार्यकत्वेऽपूर्वस्य मानान्तरागम्यतया तद्बुद्धिपुरस्सरं विरचयितुमशक्यत्वेनेत्यर्थः । \*तेषाम्\* = चैत्यवन्दनादिवाक्यानाम् । \*अपूर्वार्थत्वप्रतिषेध इति\* ॥ चैत्यवन्दनादिवाक्यानि, नापूर्वकार्यकाणि, स्मर्यमाणकर्तृकत्वेन स्पष्टदृष्टपौरुषेयत्वात्, इत्येवमपूर्वार्थत्वप्रतिषेध इत्यर्थः । \*वाक्यत्वादिनेति\* ॥ वेदवाक्यानि, पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात्, कालिदासवाक्यवदिति वेदानामपि पौरुषेयत्वमनुमितम्, इति तेषामप्यपूर्वकार्यार्थता न स्यादित्यर्थः । \*ननु\* वेदवाक्यानि, अपौरुषेयाणि, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यादितः पौरुषेयत्वसाधकवाक्यत्वादिलिङ्गानामाभासत्वं शङ्कते—\*अन्यत इति\* ॥ तर्हि वेदान्तानामप्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेनापौरुषेयत्वसिद्धावपौरुषेयत्वम् ; अत एव चानपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यसिद्धौ तेषां प्रामाण्यायापूर्वकार्यार्थत्वमुक्तं व्यर्थमित्याह—\*कृतमपूर्वार्थत्वेनेति\* ॥ \*तदुपपादकेन\* = प्रामाण्योपपादकत्वेनोक्तेन । क्वचित् “तदनुपपादकेने”ति पाठः । तस्यायमर्थः—उक्तविधया वेदान्तानामपौरुषेयत्वे तत एवानपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यसिद्धौ प्रामाण्यानुपपादकेनापूर्वार्थत्वेन । \*कृतम्\* = अलमित्यर्थ इति । \*न्यायकणिकायामिति\* ॥ अर्थज्ञानपूर्वकं विरचितत्वं पौरुषेयत्वम् ॥



प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः ; “तत्त्वमसि” (छान्दो० ६।८।७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् । यत्तु—हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति,

भामती

भयान्नोक्तम् । तेन पौरुषेयत्वेऽसिद्धे भूतार्थानामपि वेदान्तानां न सापेक्षतया प्रामाण्यविघातः । नचानधिगतगन्तृता नास्ति, येन प्रामाण्यं न स्यात् ; जीवस्य ब्रह्मताया अन्यतोऽनधिगमात् । तदिदमुक्तम्—\*नच परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपीति\* ॥ द्वितीयं पूर्वपक्षबीजं स्मारयित्वा दूषयति—\*यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादिति\* ॥ विध्यर्थावगमात् खलु पारम्पर्येण पुरुषार्थप्रतिलम्भः । इह तु

अनुप्रकाशिका

तच्च लौकिकवाक्येषु संभवति, न वैदिकेषु । नच—वेदवाक्यान्यपि सर्वाण्यर्थज्ञानपूर्वकमेव परमेश्वरो विरचितवानिति—वाच्यम् ; तथा सति “निःश्वसितमेतद्यद्वेदः” इति श्रुतिव्याकोपापत्तेः । अतो बुद्धिपूर्वकमेव विरचितत्वं वेदानाम्, इति बुद्धिपूर्वकविरचितत्वान्यत्वलक्षणमपौरुषेयत्वमिति न्यायकणिकायामुपपादितमित्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*तेनेति\* ॥ \*ननु\* अपौरुषेयतयाऽनपेक्षत्वेऽपि “अग्निर्हिमस्य भेषजम्” इतिवद् मानान्तरगृहीतग्राहित्वाद् वेदान्तानामप्रामाण्यमित्याशङ्क्य, \* “तत्त्वमसि” इति “ब्रह्मात्मभावस्ये”ति\* भाष्यशेषेण परिहृतमित्याह—\*नचाधिगतेत्यादिना\* ॥ अस्मिन्नर्थे भाष्यं संवादयति—\*तदिदमिति\* ॥

भाष्ये—\*हेयेति\* ॥ हेयोपादेयरहितत्वाद् ब्रह्मणस्तदुपदेशानर्थक्यम् ; तत्प्रतिपादने पुरुषार्थाभावादित्यर्थः । पुरुषार्थाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*विध्यर्थाधिगमात् खल्वित्यादिना\* ॥ \* “सर्वज्ञेश-

वार्तिकम्

मिति\* ॥ स्वर्ग-यूपाहवनीयादौ व्यभिचारादित्याशयः । नच—स्वर्गादेः परिनिष्ठितत्वेऽपि क्रियान्वयित्वाद्पूर्वत्वमविरुद्धमिति—वाच्यम् ; क्रियान्वयित्वेऽपि व्यभिचारावारणात् । अपिच क्रियान्वयमन्तरेणैव स्वर्गादिपदार्था “यन्न दुःखेने”त्यादिशास्त्रेण प्रतिपाद्यन्ते ; पदार्थावबोधपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थबोधस्य, अन्यथाऽन्योन्याश्रयात्—स्वर्गादिपदार्थोपस्थितौ क्रियान्वयबोधः, तदुपस्थितौ च स्वर्गादिपदार्थोपस्थितिरिति । \*एतेन—न कचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वेति—प्रत्युक्तम्\* ; स्वर्गस्य फलत्वेनाविधेयस्य प्रतिपादकवाक्यस्यार्थवत्तादर्शनात् । नापि द्वितीय इत्याह—\*तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वादिति\* ॥ “तत्त्वमसी”ति प्रतिपाद्यमानस्य कर्तुर्ब्रह्मात्मभावस्येत्यर्थः । संसारिस्वरूपस्य प्रत्यक्षादिगोचरत्वादर्थतोऽप्यसंसारिब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रैकगम्यत्वेन प्रत्यक्षादिगोचरत्वदर्शनाभावादित्यभिप्रायः । हेयोपादेयशून्यत्वेन ब्रह्मणो निष्प्रयोजनत्वाच्च शास्त्रविषयभाष्यभावप्रकाशिका

बुद्धिप्रभवत्वाभावाद् मूलप्रमाणानपेक्षत्वात्, परिनिष्ठितविषयत्वेऽपि न संवादविसंवादाभ्यामप्रामाण्यमिति । द्वितीयं पूर्वपक्षबीजमनुभाष्य दूषयति—\*यत्त्विति\* ॥ यच्चोपासनाविधिशेषत्वं वेदान्तानामुक्तम्, तत्किं कतिपयानाम् ? उत सर्वेषाम् ? यद्याद्यस्तावदङ्गीक्रियते, इत्याह—\*नेति\* ॥ द्विती-

प्रदीपः

पूर्ववद् इदंशब्दविशेषणत्वेनेदंतादात्म्यापन्न आत्मैवाय आसीदित्येव योजनस्य विवक्षितत्वादध्यारोपेणोपक्रमः, “नान्यत्किंचन मिषत्” इतीतरप्रपञ्चनिषेधपुरःसरः सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वोपसंहारपूर्वं प्रवृत्तस्य “प्रज्ञानं ब्रह्म”ति वाक्यास्याद्वितीयब्रह्मपरतायां गमक इति निष्कर्षः । बृहदारण्यकद्वितीयोऽध्यायगतम्—“अयंमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूते”ति वाक्यमपि तादृशमेवेत्यपि सूत्रनार्थ



## भामती

“तत्त्वमसि” इत्यवगतिपर्यन्ताद्वाक्यार्थज्ञानाद् बाह्यानुष्ठानायासानपेक्षात् साक्षादेव पुरुषार्थप्रतिलम्भो ‘नायं सर्पो रज्जुरियमि’ति ज्ञानादि वेति । सोऽयमस्य विध्यर्थज्ञानात् प्रकर्षः ॥

\*एतदुक्तं भवति\*—द्विविधं हीप्सितं पुरुषस्य—किंचिदप्राप्तं ग्रामादि, किंचित्पुनः प्राप्तमपि अमवशाद्-प्राप्तमित्यवगतम्, यथा स्वग्रीवावनद्धं ग्रैवेयकम् । एवं जिहासितमपि द्विविधम्—किंचिदत्यक्तं जिहासति यथा वलयितचरणं फणिनम् । किंचित्पुनर्हीनमेव जिहासति ; यथा चरणाभरणे नूपुरे फणिनमारोपितम् । तत्राप्राप्तप्राप्तौ चात्यक्तत्यागे च बाह्योपायानुष्ठानसाध्यत्वात् तदुपायतत्त्वज्ञानादस्ति पराचीनानुष्ठानापेक्षा ।

## ऋजुप्रकाशिका

प्रहाणादि”ति\* ॥ भाष्यस्थप्रशब्दार्थमाह—\*सोऽयमिति\* ॥ \*ननु\* वेदान्तानां न कार्यपरत्वम्, किंतु ब्रह्मपरत्वमेवेत्युक्तम्, वेदान्तजन्याद् ब्रह्मज्ञानात् सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धिरित्युक्तम्, एतावताऽनिष्टपरिहार एव फलमुक्तं भवति, किमनेष्टप्राप्तिलक्षणः पुरुषार्थो नास्ति ? इत्याशङ्क्य, उभय-विधः पुरुषार्थोऽत्रास्तीति सनिदर्शनमाह—\*“एतदुक्तं भवती”त्यादिना—“यत्त्वात्मेत्येवे”त्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥ \*ग्रैवेयकम्=कण्ठभूषणम् । \*अत्यक्तं जिहासतीति\* ॥ त्यक्तुमिच्छतीत्यर्थः । \*हीनमेव=त्यक्तमेव । \*ननु\* ज्ञानमात्रादेवाप्राप्तप्राप्तिः, अत्यक्तत्यागोऽपि भवतु, किं तदुपायानुष्ठानापेक्षयेति ? अत आह—

## वार्तिकम्

त्वमिति द्वितीयपक्षं दूषयितुमनुवदति—\*यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किं यद्यद् हेयोपादेयव्यतिरिक्तविषयं वचनम्, तन्निष्प्रयोजनमेवेति नियमदर्शनाद्धेयोपादे-यशून्यब्रह्मप्रतिपादकवचनानामपि तथात्वं स्यादित्युच्यते ? किं वा तादृशवस्तुप्रतिपादके ‘सप्त-द्वीपा वसुमती’त्यादावुपदेशे कुत्रचिद्यथा—फलाभावो दृष्टः, तथा ब्रह्मप्रतिपादनेऽपीति तद्वैयर्थ्यमिति ? तत्र नाद्यः ; “नायं सर्पो रज्जुरेवेयमि”त्यादौ व्यभिचारादित्यभिप्रेत्याह—\*नैव दोष इति\* ॥ न द्वितीय इत्याह—\*हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेरिति\* ॥ एवकारेणान्य-योगव्यवच्छेदकेन साधनान्तरसमुच्चयं वारयति ; “तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमिति नान्यः पन्था विद्यतेऽय-नाये”तिश्रुतेः । एतेन—तत्फलभावदर्शनम्—\*प्रत्युक्तम्\* ; तत्फलस्य श्रुति-स्मृति-न्याय-विद्वदनु-सिद्धत्वात् । तस्माद् नायमपि पक्षः साधोवीन इति भावः । तस्मान्न कृत्वङ्कर्तृप्रतिपादनपरत्वं वेदान्त-वाक्यानामिति । अस्तु तर्हि देवता-फलादिप्रतिपादकत्वमुपनिषदामिति द्वितीयः पक्ष इत्याशङ्क्य, किं कृत्वपेक्षितदेवतादिप्रतिपादकमुच्यते ? किं वा स्ववाक्यगतोपासनापेक्षितदेवतादिप्रतिपादकत्वमिति ? तत्र नाद्यः ; स्ववाक्यगतदेवतादिनैव तदाकाङ्क्षायाः पूरणात् कृत्वपेक्षाया अभावात् । आमिक्षा-वाजिनयो-रिवोत्पत्तिशिष्टोत्पन्नशिष्टयोर्विकल्पानुपपत्तेश्च । द्वितीयेऽपि किमुपासनावाक्यगतवस्वादिदेवताप्रतिपाद-कानां तत्फलप्रतिपादकानां च वाक्यानां तथात्वमुच्यते ? किं वा निर्गुणब्रह्मप्रतिपादकानां वाक्यानामिति ?

## प्रदीपः

तत्प्रथमाध्यायगतं “नैवेह किंचनाग्र आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत्” इत्युपक्रमवाक्यं मनसि निधाय तदेकवाक्यतापन्न-मुपसंहारवाक्यमात्रमनुसंधत्ते—\*तदेतदिति\* ॥ इदमुपसंहारवाक्यम् । मुण्डकोपनिषदोऽप्यद्वैत एव स्वारस्यमिति निरूपणेन “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती”ति वाक्यस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मपारमार्थिकताबोधन एव स्वारस्यमिति वर्णयितुम्—\*“अथ परा यया तदक्षर-मधिगम्यते, यत्तद्रेड्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः” इति निर्विशेषोपक्रमेण प्रवृत्तम्, विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः” इति प्रपञ्चमिथ्यात्वोपसंहारेण च



नैष दोषः ; हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः ।  
देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः, नतु तथा

भामती

न जातु ज्ञानमात्रं वस्त्वपनयति । नहि सहस्रमपि रज्जुप्रत्यया वस्तुसन्तं फणिनमन्यथयितुमीशते ।  
समारोपिते तु प्रेप्सित-जिहासिते तत्त्वसाक्षात्कारमात्रेण बाह्यानुष्ठानानपेक्षेण शक्येते प्राप्तुमिव हातुमिव ।  
समारोपितजीविते हि ते । समारोपितं च तत्त्वसाक्षात्कारः समूलघातमुपहन्तीति, तथेहाप्य-  
विद्यासमारोपितजीवभावे ब्रह्मण्यनन्दे वस्तुतः शोक-दुःखादिरहिते समारोपिताविद्यानिबन्धनस्तद्भावः—  
“तत्त्वमसि” इति वाक्यार्थतत्त्वज्ञानादवगतिपर्यन्तान्निवर्तते । तन्निवृत्तौ प्राप्तमप्यानन्दरूपमप्राप्तमिव  
प्राप्तं भवति, त्यक्तमपि शोक-दुःखाद्यत्यक्तमिव त्यक्तं भवति, तदिदमुक्तम्—ब्रह्मात्मावगमादेव जीवस्य  
सर्वक्लेशस्य सवासनस्य विपर्यासस्य । स हि क्लिश्नाति जन्तूनतः क्लेशः, तस्य प्रकर्षेण हानात्  
पुरुषार्थस्य = दुःखनिवृत्ति-सुखप्राप्तिलक्षणस्य सिद्धेरिति । यत्तु—“आत्मेत्येवोपासीत” “आत्मानमेव  
लोकमुपासीत” इत्युपासनावक्यगतदेवतादिप्रतिपादनेनोपासनापरत्वं वेदान्तानामुक्तम्, तद् दूषयति—  
\*देवतादिप्रतिपादनस्य तु आत्मेत्येतावन्मात्रस्य स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः\*॥ यदि न  
विरोधः, सन्तु तर्हि वेदान्ता देवताप्रतिपादनद्वारेणोपासनाविधिपरा एवेति, अत आह—\*नतु तथा

ऋजुप्रकाशिका

\*न जात्विति ॥ वस्त्विति\* ॥ अनारोपितं वस्त्वित्यर्थः । तदेवाह—\*नहीति\* ॥ आरोपिते तु तत्त्व-  
साक्षात्काररूपं ज्ञानमेवात्म, नोपायानुष्ठानापेक्षेत्याह—\*समारोपितं त्वित्यादिना—हातुमिवेत्यन्तेन\* ॥  
समारोपस्याधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारनिवर्त्यताया बहुशो दर्शनादिति भावः । \*समारोपितजीविते हि ते इति\* ॥  
ते=प्राप्त-त्यक्ते समारोपेणाप्राप्तात्यक्ते इव तिष्ठत इत्यर्थः । समारोपश्च तत्त्वसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यः, नोपाया-  
नुष्ठानापेक्षः ; इत्युक्तमर्थं द्रढयति—\*समारोपं चेति\* ॥ सामान्यतः प्रतिपाद्य, प्रकृते योजयति—  
\*तथेहापीति समारोपितेति\* ॥ समारोपिता अविद्या, तन्निबन्धनः=तत्कारणकः । \*तद्भावः=जीवभावः ॥  
\*तन्निवृत्तौ अविद्यानिवृत्तिपूर्वकजीवभावनिवृत्तौ । संमतिमाह—\*तदिदमुक्तमिति\* ॥ क्लेशशब्दार्थं  
व्युत्पत्तितो दर्शयति—\*स हि क्लिश्नाति जन्तून्, अतः क्लेश इति\* ॥ तस्येति\* ॥ सवासनविपर्यासस्य  
जीवभावस्य, क्लेशस्य चेत्यर्थः । \*आत्मानमेव लोकम्=चैतन्यम् । देवता=सगुणब्रह्म । आदिशब्दान्ता  
प्रामाण्यादि गृह्यते । \*ननु\* विरोधाभावात्तर्हि वेदान्ता उपासनाविधिपरा एव ब्रह्मपराः, इत्यभिप्रेत्य  
शङ्कते—\*यदीति\* ॥ हेयोपादेयशून्ये ब्रह्मण्युपासनाविध्यसंभवाद् नोपासनाविधिपरत्वं वेदान्तानामित्याह—

वार्तिकम्

तत्राद्यस्त्विष्ट एवेत्याह—\*देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्वाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोध इति\* ॥  
द्वितीयस्तु न जाघटीतीत्याह—\*नतु तथा ब्रह्मण उपासनाशेषत्वं सम्भवति ; देवतादिरूपेणेति शेषः\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

यस्तु न संभवतीत्याह—\*नत्विति\* ॥ अस्तु तर्हि तथाभूतविज्ञानोत्तरकालमुपासनमिति, तत्राह—

प्रदीपः

प्रवृत्तं “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”ति वाक्यन्तु वृत्तिमुण्डकस्य “द्वा सुवर्णा सयुजा सखाया” इति भेदोपक्रमेण  
प्रवृत्तत्वेऽपि पूर्वोक्तप्रकारेण नाद्वैतविरोधीति ज्ञापयितुमुपक्रमोपसंहारानुगुणं मध्यपरामर्शमत्रानुसन्धत्ते—\*ब्रह्मैवेदमिति\* ॥



ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति ; एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रिया-  
कारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः । न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य

भामती

ब्रह्मण इति\* ॥ उपास्योपासकोपासनादिभेदसिद्धयधीनोपासना न निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चे वेदान्तवेद्ये  
ब्रह्मणि संभवति, इति नोपासनाविधिशेषत्वम् ; वेदान्तानां तद्विरोधित्वादित्यर्थः ॥

\*स्यादेतत्\*—यदि विधिविरहेऽपि वेदान्तानां प्रामाण्यम्, हन्त तर्हि “सोऽरोदीत्” इत्यादीनामप्यस्तु

ऋजुप्रकाशिका

\*अत आहेति\* ॥ वेदान्तमध्यपठितानां कतिपयानां वाक्यानां देवतादिप्रतिपादनद्वारेणोपासनाविधिपरत्वे  
विरोधाभावेऽपि न ब्रह्मप्रतिपादकानां कृत्स्नवेदान्तानामुपासनाविधिशेषत्वम् ; अद्वितीयब्रह्मण्युपास्योपासकादि-  
भेदसिद्धयधीनोपासनाया अयोगादिति भावः । \*वेदान्तानां तद्विरोधित्वादिति\* ॥ उपक्रमोपसंहारादिभिर-  
द्वितीयब्रह्मपरत्वेनावगतानां वेदान्तानामुपास्योपासकादिभेदगर्भोपासनाविरोधित्वादित्यर्थ इत्यर्थः । यदवादि  
पूर्ववादिना—\*“न कचिदपि वेदवाक्यानां विधिमन्तरेणार्थवन्ते”ति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—यदि वेदान्ता  
विधिमन्तरेण न प्रमाणम्, तर्ह्यर्थवादा अपि तथा स्युरिति किं प्रतिबन्धमिति ? किं वा वेदवाक्यस्य  
सिद्धपरस्यान्यत्रादर्शनाद्याप्त्यभावेन न वेदान्तानां सिद्धपरत्वमिति ? तत्राद्यमर्थवादाधिकरणपूर्वपक्षं संगृह्यन्  
शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ “सोऽरोदीद् इत्येवमादीनाम्” इत्यनन्तरं निन्दार्थवादानामिति शेषः ।  
\*ननु\*—कथमेषां निन्दार्थवादत्वमिति चेत्, \*उच्यते\* ; रुदतो यदश्रु अवशीर्यत, तद्रजतमभवत्,

वार्तिकम्

अनेन—स्वप्रकरणगतोपासनाशेषत्वं ब्रह्मण इति तृतीयपक्षोऽपि—\*प्रत्याख्यातो द्रष्टव्यः\* ॥ कुतो नेत्या-  
काङ्क्षायां विरोधादित्याह—\*एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेरिति\* ॥  
\*उपपत्तेः=आपत्तेरित्यर्थः । ज्ञातस्य हि ब्रह्मण उपासनायां विनियोगो देवतादिरूपेण वक्तव्यः ; अज्ञा-  
तस्य विनियोगासम्भवात् । तथाच तस्मिन् ज्ञाते सर्वक्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेरुपासनानुप-  
पत्तिः ; “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येद्” इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । एतदेव स्पष्टीकृत्य दर्शयति  
—\*न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रति-  
पद्येतेति । \*ननु\*—उक्तं न कचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवन्ता दृष्टोपपन्ना वा । नच

भाष्यभावप्रकाशिका

\*नह्येकत्वेति\* ॥ \*ननु\* वेदान्ताः, स्वार्थेऽप्रमाणम्, विधिरहितवाक्यत्वात् ; “सोऽरोदीत्” इत्यादि-

प्रदीपः

आदिपदेन “सत्यं ज्ञानमि”त्याद्युपक्रमादिवाक्यानां परामर्शः । अत्र भाष्यकाराः कुत्रचनोपक्रमवाक्यम्,  
कुत्रचनोपसंहारवाक्यम्, कुत्रचन मध्यतनवाक्यं चानुसन्दधाना उपसंहारादिवाक्यानि स्वयं संग्रहणीयानि  
मन्यन्त, इति तान्यपि यथासंभवं संगृहीतानि । तदेवं सूत्रार्थवर्णनव्याजेन ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यवर्णनेन  
ब्रह्मात्रविवक्षेति सूचनात् कार्यार्थतया ब्रह्मणो वेदान्तेषु परामर्श इति पूर्वपक्षानवसरोऽप्यर्थसिद्ध इत्याह—  
\*न च तद्वतानामिति\* ॥ तात्पर्यविषयार्थबोधकत्वमेव वाक्यानां प्रामाण्यप्रयोजकम्, न तु क्रियार्थत्वम् । अर्थवादानामपि  
तात्पर्यविषयप्राशस्त्यबोधकत्वेनैव प्रामाण्यम् । विधिना तु सहार्थवादानां वाक्यैकवाक्यत्वमेव, न तु पदैकवाक्यत्वम् ;  
तथाऽपि सत्यामेव परस्परापेक्षायां वाक्यैकवाक्यत्वस्य युक्तत्वाद् वेदान्तवाक्यानां स्वरूपचैतन्यबोधनमात्रेण निराकाङ्क्षत्वाद् न  
वाक्यान्तरैकवाक्यता सार्थक्यार्थमपेक्षिता, इति न क्रियासम्बन्धः कल्पनीय इति भावेनाह—\*अर्थान्तरकल्पनेति\* ॥  
प्रयोजनान्तरकल्पनेत्यर्थः । अर्थवादानां प्राशस्त्यजनकत्वेनैव न सप्रयोजनत्वम्, किन्तु प्रवर्तकत्वेनापीति प्रयोजनान्तरं



## प्रदीपः

कल्प्यते, न त्वत्र तथा प्रयोजनान्तरं कल्पनीयमिति भावः । \*ननु\* तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वरूपचैतन्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव, न तु शक्येति खलु भवतां मतम् । तत्र च श्रुतहान्यश्रुतकल्पना प्रसज्यते । कार्यविधिशेषत्वे तु वाच्यार्थ-कल्पनयैव निर्वाहान्न श्रुतहान्यश्रुतकल्पने इति चेत्, केयं श्रुतहान्यश्रुतकल्पना नाम ? प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरकल्पनमिति चेत्, वेदान्तार्थवादत्वपक्षेऽपि समानमेतत् । तत्रापि हि प्राशस्त्यलक्षणैव विवक्षिता । \*ननु\* तात्पर्यविषयत्वात् प्राशस्त्यस्य न लक्षणा दोषः, किन्तु गुण इति चेत्, आयातं मार्गेण ; यतस्तात्पर्यविषयार्थबोधकत्वे न श्रुतहानिर्न वाऽश्रुतकल्पना, तात्पर्यविषयाबोधन एव श्रुतहानिरश्रुतकल्पना च दोष इति स्वीकारात् । किमतः ? इदमतो भवति, यद् अद्वितीयस्वरूप-चैतन्य एव वेदान्तानां तात्पर्यस्यावगमाद् अन्यत्र चातात्पर्यावगमात् पूर्वपक्षिणामेव मते श्रुतिहानिरश्रुतकल्पना च, नास्माकं मते, इति श्रुतहान्यादिवारणं कामयतां सर्वेषामस्मन्मतादरणमेव युक्तमित्यभिप्रायेणाह—\*श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गादिति\* ॥

अन्यथेत्यादिः । कर्त्तादिस्तावकत्वेऽपि तात्पर्याविशेषात् कथमस्मन्मते श्रुतहान्यादिः, किन्त्वप्रसिद्धवाक्यार्थव्यवस्थापनाद् भवतामेवेति शङ्का-तत्समाधाने आह—\*नचेति\* ॥ नचावसीयत इत्यन्वयः । कुत इत्यत आह—\*तत्केनेति\* तत्=विद्याकाले \*कः=कर्ता \*केन=करणेन \*कम्=विषयं पश्येत् ? इति श्रुतेरर्थः । अनेन च ज्ञानकाले कर्ता, करणम्, विषयः, कर्म वा नास्तीति कर्त्तादिनिराकरणमेव ज्ञानकार्यं गम्यते, न तु कर्त्तादिस्तुतिः, इति वेदान्तानामात्मज्ञानपराणां कर्त्तृस्तावक-तयाऽन्वयो बाधित एव, इति स्वरूपचैतन्यपरतापक्ष एव समुचित इति भावः । \*ननु\* एवमपि सिद्धब्रह्मबोधकत्वे वेदान्तानामनुवादत्वापत्तिरित्याशङ्काह—\*नच परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपीति\* ॥ अत्रापिशब्दप्रयोगाद् न प्रमाणान्तरवेद्यत्वं परिनिष्ठित-त्वप्रयुक्तम्, किन्तु वस्तुस्वभावप्रयुक्तमिति सूच्यते । तेन च वेदान्ताः, प्रमाणान्तरसापेक्षाः, भूतार्थविषयवाक्यत्वात्, इति, पूर्वपक्षिणामनुमानैः प्रयोजकत्वशङ्का प्रदर्शिता भवति । सत्यं लौकिकेषु वाक्येषु भूतार्थपरेषु प्रमाणान्तरसापेक्षत्वं दृश्यते ; परन्तु पौरुषेयत्वप्रयुक्तमेव तत्, न भूतार्थवाक्यत्वप्रयुक्तम्, पौरुषेयेष्वेव हि वाक्येषु “अर्थं बुद्ध्वा शब्दरचने”ति न्यायात् प्रमाणान्तरसापेक्षासंभवः । तथाच भूतार्थत्वेऽपि वेदान्तानामपौरुषेयाणां न प्रमाणान्तरसापेक्षत्वप्रसङ्गः ; अन्यथा लौकिकेषु पाकादिक्रियापरेष्वपि वाक्येषु प्रमाणान्तरसापेक्षत्वं वर्तते, इति क्रियार्थत्वोपरीकरणेऽपि प्रमाणान्तरसापेक्षत्वमापद्यते, इति ब्रह्म मानान्तरायोग्यत्वाद् न प्रमाणान्तरगम्यं भवति । ततश्च तत्पराणां वेदान्तवाक्यानामपि नानुवादकत्वमिति भावः ॥

\*ननु\* जन्माद्यधिकरणे जगत्कारणं ब्रह्मानुमानादिप्रमाणान्तरस्यापि विषय इत्यनुपदमेव भवद्विर्वाणितम्, कथमिदानीं ब्रह्मणः प्रमाणान्तराविषयत्वमुच्यते ? इति पूर्वापरविरोधापत्तिरित्याशङ्क्य समाधत्ते—\*तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मभाव-स्येति\* ॥ मुख्यतात्पर्यविषये ब्रह्मणि प्रमाणान्तराविषयत्वमत्रोक्तम्, पूर्वं त्ववान्तरतात्पर्यविषय एवानुमानावसरः प्रति-पादितः, इति न पूर्वापरविरोध इति भावः । यथा प्रत्यगभिन्ने महावाक्यार्थे नानुमानादिप्रमाणावसरः, तथा जन्माद्यधिकरण एव प्रपञ्चितम् । \*तत्त्वमसीति\* ॥ तत्त्वमसीतिवाक्यगम्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपस्येत्यर्थः । \*शास्त्रमन्तरेणेति\* ॥ वेदान्त-शास्त्रमतिरिच्य शास्त्रान्तरेणानवगम्यत्वादित्यर्थः ॥ अनेन च मानान्तरायोग्यत्वं ब्रह्मणो विशदीक्रियते ॥

ब्रह्मणो निष्प्रयोजनत्वान्न स्वरूपेण विना क्रियासम्बन्धं वेदार्थत्वसंभव इति शङ्कान्तरं पूर्वतनमनुवदति—\*यत्निति\* ॥ ब्रह्मणः प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरद्वारेति च शेषः । तथाच ब्रह्मणः प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरद्वारा हेयोपादेयरहितत्वाद् उपदेशानार्थक्यमिति योजना । प्रवर्तकवाक्यानां हि प्रवर्तकत्वमात्रेण न प्रामाण्यम् ; प्रतारकविधिवाक्यानामपि प्रामाण्यापत्तेः, किन्तु सफलप्रवृत्तिजनकत्वेन । तथाच प्रवृत्तिप्रयोजनकत्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकम् ? अथवा सप्रयोजनत्वमेव विधिवाक्यानां प्रामाण्यप्रयोजकमिति स्थिते, वयं मन्यामहे—सप्रयोजनत्वमेव वाक्यानां प्रामाण्य-प्रयोजकम् । तच्च केवलज्ञानद्वारकम्, अथवा ज्ञान-प्रवृत्त्युभयद्वारकमिति तु विशेषो न विवक्ष्यते, इति वेदान्तवाक्यानामपि ज्ञानद्वारा विनैव प्रवृत्तिं सकलसंसारबन्धनिवर्हणत्वेन सप्रयोजनत्वान्न प्रामाण्यमविरुद्धमिति भावेन समाधत्ते—\*नैष दोष इति\* ॥ \*एषः=हेयोपादेयाभावः, \*न दोषः\*, न दूषणम् ; किन्तु भूषणमेवेति भावः । तमेव भूषणप्रकारं दर्शयति—\*हेयोपादेयशून्येति\* ॥ \*अवगमादेव=विना प्रवृत्तिमित्येवकारेण प्रवृत्तिर्नार्थते । परम्परया सप्रयोजनस्यापि सप्रयोजनत्वादेव प्रामाण्यात् साक्षात् सप्रयोजनस्य प्रामाण्यमयत्नसिद्धम्, इति हेयोपादेयशून्यत्वं भूषणमेव, नतु दूषणमिति भावः । \*ननु\* “अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयमश्रुः” इत्यादिसर्गुणवाक्यानामपि ब्रह्मस्वरूपमात्रे पर्यवसानेनापि वेदान्तप्रामाण्यसंभवात् तेषामपि न क्रियाशेषतयाऽन्वयोपपत्तिः, इत्यन्तर्यामिब्राह्मणादिसिद्धं शरीर-शरीरिभावादिकं सत्यकामत्वादिकं वा सर्वं पारमार्थिकं स्यात्, इति नाद्वितीयब्रह्मासिद्धिरित्याशङ्काह—\*देवतादिप्रतिपादनस्य त्विति\* ॥ उपासनावाक्यानां



पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिद्वेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत । यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टम् ; तथाऽप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वात् तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् ।

भामती

स्वतन्त्राणामेवोपेक्षणीयार्थानां प्रामाण्यम् । नहि हानोपादानबुद्धी एव प्रमाणस्य फले ; उपेक्षाबुद्धेरपि तत्फलत्वेन प्रामाणिकैरभ्युपेतत्वात्, इति कृतम्—“बर्हिषि रजतं न देयम्” इत्यादिनिषेधविधिपरत्वेनैतेषामिति, अत आह—\*यद्यपीति\* ॥ स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणतया हि सर्वो वेदराशिः पुरुषार्थतन्त्र

ऋजुप्रकाशिका

रजतमदक्षिण्यमभवत्, इति निन्दा । \*तस्माद्=“बर्हिषि रजतं न देयम्” इति निषेधात् । \*ननु\*—यत्फलीभूतप्रमाकरणम्, तदेव प्रमाणम् ; फलीभूतप्रमा च हानोपादानप्रमैव, नोपेक्षणीयप्रमा, तथाचोपेक्षणीयप्रमाजनकानां “सोऽरोदीत्” इत्यादीनां न प्रमाणत्वमिति, अत आह—\*नहीत्यादिना\* ॥ \*कृतम्=अलम् । \*एतेषाम्=“सोऽरोदीत्” इत्यादीनाम् । प्रामाण्यमित्यनुषङ्गः । माऽस्तु तेषां विधिपरत्वेनैव प्रामाण्यम्, किन्तु स्वतन्त्रतयैव तदस्त्वित्यर्थः । निषेधविधेर्निन्दार्थवादसापेक्षत्वाद् निन्दार्थवादस्य च निषेधविधिसापेक्षत्वाद् निषेधविधिपरत्वेनैव तेषां प्रामाण्यमावश्यकमित्यभिप्रेत्याह—\*अत आहिति\* ॥ तदेतद्विशदयति—\*स्वाध्यायाध्ययनेत्यादिना पुरुषार्थतन्त्र इत्यवगतमिति\* ॥ अध्ययनविध्युपात्तनिखिल-

वार्तिकम्

परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति ; क्रियाविषयत्वाद्विधेरिति, तत्राह—यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टम् ; तथाऽप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वाद् न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुमिति\* ॥ ब्रह्मात्मस्वरूपादन्यत्र विषये वायुक्षेपिष्ठत्वादौ देवतादौ च युक्तं

भाष्यभावप्रकाशिका

वाक्यवदित्याशङ्क्य, स्वार्थे फलशून्यत्वं तत्रोपाधिरित्याह—\*यद्यपीति\* ॥ \*ननु\* वेदान्ताः,

प्रदीपः

स्वरूपवाक्यानां च विरोधे कल्पितेनापि गुणेनोपासनोपपत्त्योभयाविरोधेनोपपत्त्यर्थमुपासनावक्यानि कल्पितगुणपराणीत्यङ्गीकारात्, तेषामुपास्यब्रह्मपरतैव युक्ता ; तावता स्वरूपचैतन्यवाक्यानामपि तु नाप्रामाण्यम् ; न वोपासनाविधिशेषतयैवान्वय इत्यभिप्रायः ॥ सगुणवाक्यानामपि निर्गुणवाक्यशेषत्वस्य स्वीकाराद् विरोधो न हि प्रसज्यत इति भावः । तदिदमाह—\*न विरोध इति\* ॥ \*ननु\* विनिगमनाविरहात् स्वरूपचैतन्यपराणामेवोपासनाविधिशेषतयाऽन्वयेन विरोधः परिह्रियताम्, किमिति सगुणवाक्यानामेव निर्गुणवाक्यशेषतयाऽन्वयेन विरोधः परिह्रियते ? इत्याशङ्क्याह—\*न तु तथेति\* ॥ \*तथा=सगुणवाक्यानां निर्गुणवाक्यशेषत्ववदित्यर्थः । \*ब्रह्मणः=स्वरूपचैतन्यस्य निर्गुणवाक्याधिगम्यस्येत्यर्थः । \*उपासनाविधिशेषत्वम्\* ॥ उपास्यविशेषां शोपस्थापनद्वारेणेति शेषः । नचात्र विनिगमनाविरहः ; यतो ब्रह्मणो उपासनाविधिशेषता बाधितेत्याह—\*एकत्वं इति\* ॥ निर्विशेषं प्रत्यगभिन्नं वा चैतन्यं ज्ञानमालेखेन सर्वकारकोपमर्दकम्, इति तज्ज्ञानदशायां नोपासक उपासनोपास्यं वा, इति नोपासनायां प्रत्यगभिन्नस्य स्वरूपचैतन्यस्यान्वयः, इति बाधितत्वात् विनिगमनाविरह इति भावः । \*ननु\* ब्रह्मज्ञानदशायामुपासनाविधानं न विवक्ष्यते, येन तदानीमुपास्योपासकादिभेदनिर्वाहोऽनुपपन्नः, किन्तु ज्ञातस्य तस्य कालान्तर उपासनया साकमन्वयेनोपास्यता स्वीक्रियतामित्यत आह—\*न ह्येकत्वविज्ञानेनेति\* ॥ तथाचोपास्योपासकादिभेदसम्बन्धायोग्ये ब्रह्मणि नोपासनाक्रियाशेषत्वं संभवदुक्तिकम्, इति प्रत्यगभिन्नस्वरूपबोधेनैव वेदान्तानां पर्यवसानमिति निष्कर्षः । \*ननु\* प्रवृत्त्ययोग्यस्वरूपपरं वाक्यं कुत्रापि वेदे न दृष्टम्, इति कथं वेदान्तानामपि वैदिकानां तादृशस्वरूपपरत्वमित्याशङ्कामनूद्य परिहरति—\*यद्यपीति\* ॥ क्रियार्थत्वं वेदप्रामाण्यव्यापकमिति शङ्काहृदयम् । सप्रयोजनत्व-



### भामती

इत्यवगतम् । तत्रैकेनापि वर्णेन नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तम्, किं पुनरियता 'सोऽरोदीत्' इत्यादिना पदप्रबन्धेन ॥ नच वेदान्तेभ्य इव तदर्थवगममात्रादेव कश्चित्पुरुषार्थ उपलभ्यते । तेनैष पदसन्दर्भः साकाङ्क्ष एवास्ते पुरुषार्थमुद्गीक्षमाणः । "बर्हिषि रजतं न देयम्" इत्ययमपि निषेधविधिः स्वनिषेध्यस्य निन्दामपेक्षते । तेन ह्यन्यथा ततश्चेतनः शक्यो न निवारयितुम् । तद् यदि दूरतोऽपि न निन्दामवाप्स्यत्, ततो निषेधविधिरेव रजतनिषेधे च निन्दायां च दर्विहोमवत् सामर्थ्यद्वयमकल्पयिष्यत् । तदेवमुक्तस्योः "सोऽरोदीत्" इति च "बर्हिषि रजतं न देयम्" इति च पदसन्दर्भयोर्लक्ष्यमाणनिन्दाद्वारेण नष्टाश्व-दग्धरथवत् परस्परं समन्वयः, नत्वेवं वेदान्तेषु पुरुषार्थपेक्षा ; तदर्थवगमादेवानपेक्षात् परमपुरुषार्थलाभा-दित्युक्तम् । \*ननु\* विध्यसंस्पर्शिनो वेदस्यान्यस्य न प्रामाण्यं दृष्टम्, इति कथं वेदान्तानां तदस्पृशां

### ऋजुप्रकाशिका

स्वाध्यायमध्येऽक्षरमात्रस्याप्यानर्थक्यायोगादिति भावः । तदेतदाह—\*तत्र केनापीति\* ॥ \*प्रबन्धेनेति\* ॥ ईदृशेन बहुलपदसन्दर्भेण प्रबन्धेनापुरुषार्थेन भवितुं न युक्तमित्यत्र किमु वक्तव्यमित्यर्थः । तथाच "सोऽरोदीत्" इत्यादेर्नोपेक्षणीयार्थकत्वमिति भावः । एवंच सति निन्दाद्यर्थवादानां वेदान्तानां चावश्यं विधिसापेक्षत्व-तदनपेक्षत्वाभ्यां स्वार्थत्रोधजननद्वारा मोक्षलक्षणपरमपुरुषार्थाप्रयोजकत्व-तत्प्रयोजकत्वाभ्याम्, अन्यतश्च महतो भेदस्य विद्यमानत्वान्न प्रतिबन्दीत्यभिप्रेत्याह—\*नच वेदान्तेभ्य इवेति\* ॥ \*पुरुषार्थः\* इत्यनन्तरं परम इति शेषः । \*एष पदसन्दर्भः\*="सोऽरोदीत्" इत्यादिनिन्दाद्यर्थवादपदसन्दर्भः । \*पुरुषार्थम्\* = अर्थावबोधलक्षणं जघन्यम् । उद्गीक्षमाणः = साकाङ्क्षः । निषेध-विधिसाकाङ्क्ष आस्ते इत्यन्वयः । निषेधविधिश्च निन्दासाकाङ्क्ष आस्ते इत्याह—\*बर्हिषीति\* ॥ निषेधविधेर्निन्दानपेक्षत्वे बाधकमाह—\*तेन ह्यन्यथेति\* ॥ अन्यथा = निषेध्यनिन्दाभावे, तेन = निषेधविधिना, \*ततः\* = निषेध्यात्, चेतनो निवारयितुं न शक्य इति योजना\* ॥ \*ननु\*—निषेध एव निषेध्यस्यानर्थहेतुत्वान्यथानुपपत्त्या निन्दां कल्पयिष्यति, नेत्याह—\*तद्यदीति\* ॥ अन्यथानुपपत्ति एव निन्दालाभे निषेधकस्य निषेधे निन्दायां च तात्पर्यकल्पनमङ्गीकृतं भज्येतेत्यर्थः । फलितमाह—\*तत इति\* ॥ \*ननु\* "सोऽरोदीत्" इति वाक्ये निन्दा न भाति, किंतु भूतार्थानुवाद इत्याशङ्क्य, मुख्यार्थे प्रयोजनाभावाद् निन्दा लक्ष्यत इत्याह—\*लक्ष्यमाणेति\* ॥ \*नष्टाश्वदग्धरथवदिति\* ॥ युद्धे कस्यचिद् रथिकस्य रथः स्थितः, अश्वा विनष्टाः ; कस्यचिद्रथिकस्य त्वश्वाः स्थिताः, रथो दग्धः ; एवं सति तयोर्युद्धकरणासामर्थ्ये प्राप्ते परस्परसापेक्षत्वेन विद्यमानरथेन विद्यमानानश्वान् संयोज्य परस्परांस्त्वयेन रथारूढयोस्तयोर्युद्धकरणसामर्थ्यं दृष्टम्, तद्वत् "सोऽरोदीत्" इति, "बर्हिषि रजतं न देयम्" इति च पदसन्दर्भयोर्लक्ष्यमाणनिन्दाद्वारेण परस्परापेक्षतया परस्परांस्त्वयात् कार्यकारित्वमित्यर्थः । वेदान्तेषु तु नैवमित्याह—\*नत्वेवं वेदान्तेष्विति\* ॥ कुत इति ? अत आह—\*पुरुषार्थापेक्षेति\* ॥ \*अनपेक्षादिति\* । इतरानपेक्षादित्यर्थः । तथाच न विधिपरत्वं वेदान्तानामिति भावः । द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति—\*नन्वित्यादिना—अत आहेत्यन्तेन\* ॥ तच्च स्वत

### वार्तिकम्

वेदवाक्यानामर्थवाद-मन्त्र-नामधेयानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणाप्रामाण्यमानर्थक्यलक्षणम् । कुतः ? हेयो-पादेयशून्यतज्ज्ञानमात्रेण पुरुषार्थपर्यवसानादर्शनात्, नैवं ब्रह्मात्मैकत्वे तत्प्रतिपादकानां वाक्याना-मानर्थक्यलक्षणमप्रामाण्यं विधिसंस्पर्शाभावापराधेन शक्यं वक्तुम् ; तदात्मविज्ञानादेव परमपुरुषार्थसिद्धे-र्दृष्टत्वादित्यर्थः । तथाच पूर्वोक्तानुमानं विद्वदनुभव-श्रुति-स्मृति-न्यायविरोधात् कालात्ययापदिष्टमित्य-भिप्रायः । अपिच शास्त्रस्य सार्थकत्वलक्षणं प्रामाण्यं नानुमानगम्यम् ; तथात्वे विधिवाक्यानामप्या-



## नचानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत ।

भामती

तद्विष्यतीति ? अत आह—\*नचानुमानगम्यमिति\* । अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्, तच्च स्वत इत्युपपादितम् । यद्यपि चैषामीदृग्बोधजनकत्वं कार्यार्थापत्तिसमधि-

ऋजुप्रकाशिका

इत्युपपादितमिति\* ॥ न्यायकणिकायामिति शेषः । \*ननु\*—प्रमया कार्येण प्रमाणानां तज्जनकत्वमनु-  
मेयम्, तथाच कथं नानुमानगम्यमिति भाष्यम् ? इत्याशङ्कते—\*यद्यपीति\* ॥ \*एषाम्=वेदान्तानाम् ।

वार्तिकम्

नर्थक्यापत्तेः । कथम् ? लोके हि स्वाव्यवहितफलैव सर्वा क्रिया दृश्यते । नच तैलपानादौ व्यभिचारः ; तत्फलस्य धातुसाम्यस्य तत्कालीनत्वेन व्यभिचाराभावात्, पुष्ट्यादेश्चाहारपरिणामकार्यत्वात्, तत्फलत्वा-  
भावात्, धातुसाम्यद्वारत्वेन तत्फलत्वोपचारात् । तथाच वैदिक्या अपि दर्शादिक्रियायाः क्रियात्वात्  
स्वाव्यवहितफलत्वमनुमेयम्, तद्विरोधाच्च विधिवाक्यानामानर्थक्यम् । इतोऽपि नानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्य-  
मित्यभिप्रेत्याह—\*नचानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

सिद्धबोधकाः, प्रमाणभूतवेदवाक्यत्वात्, संप्रतिपन्नवाक्यवदित्याशङ्क्याह—\*नचानुमानेति\* ॥  
अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं प्रमाणत्वम्, नतु (१)विधिबोधकत्वमिति भावः । पूर्वं

प्रदीपः

मेव वेदप्रामाण्यव्यापकम्, नतु क्रियार्थत्वम् । तच्च वेदान्तेष्वविशिष्टमित्युक्तमेव सारयन् समाधानमनुसन्धत्ते—  
\*तथापीति\* ॥ यत्र यत्र वेदार्थत्वम्, तत्र तत्र क्रियार्थत्वमिति नायमुत्सर्गः, किन्तु नियमः । पक्ष एव हि व्यभिचारेणो-  
त्सर्गत्वसाधनं न युक्तम्, यावदन्यत्र व्यभिचारो न प्रदर्श्यते । तथाच वेदान्ताः, क्रियार्थाः, वेदवाक्यत्वादित्यनुमानाद्  
वेदान्तवाक्यानामपि क्रियार्थत्वमेवोरीकर्तव्यम् ; अन्यथा वेदवाक्यत्वमेव न स्यादिति वेदान्तानामप्रामाण्यमापेक्ष्येत्याशङ्क्या-  
माह—\*नचानुमानगम्यमिति\* ॥ स्वतः प्रामाण्याद् अनुमानाधीनं न वेदप्रामाण्यमिति लौकिकवाक्यदृष्टान्तेन प्रमाणान्तर-  
सापेक्षत्वमिव वैदिकवाक्यैकदेशदृष्टान्तेन क्रियार्थत्वसाधनमपि न संभवदुक्तिकम् । सति चैवं तात्पर्यविपर्ययबोधकत्वेनैव  
वेदप्रामाण्याद् वेदान्तानां प्रत्यग्ब्रह्मपरत्वमेवोपपन्नम्, न जीवस्तावकत्वेनार्थवादत्वम्, ब्रह्मत्वेन जीवोपासनाविधिपरत्वं वा,  
इति न ब्रह्मणः शास्त्राप्रमाणकत्वम् । तथाच शास्त्रयोनित्वाद् जगत्कारणत्वद्वारा लक्षितं 'ब्रह्मैव जिज्ञास्यमिति न दोष इति  
निष्कर्षः । वर्णार्थमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ वेदान्तानामपि विधिवाक्यवत् सप्रयोजनत्वेन विनाऽपि विधिशेषत्वं  
प्रामाण्यसंभवादित्यर्थः । \*ब्रह्मणः\* ॥ केवलस्येति शेषः । शास्त्रप्रमाणकत्वं शास्त्रयोनित्वं सिद्धमिति योजना ॥

अत्र सर्वाणि निर्विशेषवाक्यानि विषयः । तेषां निर्विशेषबोधकत्वं भवति, न वेति संशयः । उपक्रमादितात्पर्यग्राहकसत्त्वाद्  
भावकोटेः, आम्नायस्य क्रियार्थत्वनियमादभावकोटेश्चोपस्थितिरिति संशयोपपत्तिः । आम्नायस्य 'क्रियार्थत्वनियमात्, सिद्धार्थत्वे  
वेदान्तानामनुवादकत्वापत्तेः, स्वरूपमात्रबोधे हेयोपादेयराहित्यात् चैतन्यमात्रबोधकत्वं न युक्तमिति पूर्वपक्षः । आम्नायस्य  
सप्रयोजनत्वनियमेऽपि क्रियार्थत्वस्यानियमात्, सिद्धार्थत्वेऽपि वेदान्तानामपौरुषेयत्वेन प्रामाण्यसंभवात्, हेयोपादेयराहित्येऽपि  
ज्ञानमात्रेण पुरुषार्थोपयोगित्वाच्च सिद्धेऽपि स्वरूपचैतन्ये वेदान्ताः प्रमाणमिति सिद्धान्तः । पूर्वाधिकरणसिद्धशास्त्रयोनित्वस्या-  
क्षेप-समाधानाभ्यां व्यवस्थापनादक्षेपसङ्गतिरन्तरसंगतिः । अध्यायादिसङ्गतयस्तु पूर्ववत् । तत्, शास्त्रयोनि, उपक्रमाद्य-

(१) स्वतो ग्राह्यं हि प्रामाण्यं प्रत्यक्षादिसाधारणम् । नच प्रत्यक्षादेर्विधिबोधकत्वम् ; शब्दमात्रगम्यत्वाद् विधेः । वाक्य-  
प्रामाण्यं तु पृथग् विधिबोधकत्वेन यदि कल्प्यते, तर्हि तु गौरवम् । अर्थश्च प्रमेयो विधिर्वा निषेधो वा सिद्धो वेति न  
विशेषोऽत्र समाद्रियते ।



## CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.



## पञ्चपादिका

अतो न प्रतिपत्तुर्ज्ञानान्तरासिद्धार्थबोधकत्वं सामर्थ्यावगमकालेऽवगतम् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

अयमर्थः—व्युत्पत्ता तु प्रत्यक्षादिव्यवहारे प्रवर्तितव्यार्थमात्रज्ञानात् प्रवर्तमानमात्मानं पश्यति ; न प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थज्ञानात् । ततश्च स्वेनैव दृष्टान्तेन श्रोतुः प्रवृत्तिलिङ्गादर्थमात्रज्ञानमनुमनीते । न वक्तुः प्रमाणस्य विषयविशेषणतयाऽवगम्यत्वेन प्रवृत्तिहेतुतां कल्पयति ; दृष्टान्ताभावात् । अतः प्रमाणान्तरस्य विषयविशेषणत्वेनानवगम्यमानतया प्रवृत्तिं प्रत्यनिमित्ततया परिशुद्धः श्रोतुर्व्यवहारः केवलार्थज्ञानजन्य इत्यर्थः । ततः शब्दस्यार्थमात्रज्ञाने सामर्थ्यप्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तरसंभिन्नः शब्दार्थ इत्याह—\*अतो न प्रतिपत्तुर्ज्ञानान्तरासिद्धार्थबोधकत्वमिति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

“स च श्रोतुरिति” ग्रन्थे श्रोतुरिति पदस्य ज्ञानपदेनान्वयः प्रतिभाति—श्रोतुर्ज्ञानान्तरेति, तथा सति परिहारी व्यधिकरणस्यात् ; वक्तृप्रमाणसंभेदस्य चोदितत्वात्, तस्य चापरिहृतत्वात्, पुनरुक्तता च । अथैवमन्वयः—स च श्रोतुर्व्यवहार इति, तथाऽपि ज्ञानान्तरानिमित्ततेत्यनन्वयः । अथाऽनिमित्तमन्वय इति व्याख्यायेत, हेतोरसिद्धता स्यात् ; ज्ञानान्तरनिमित्तत्वं चोद्यसमये दर्शितं यतः, नापि परिशुद्धत्वं निरूपयितुं न शक्यते ; अतो नानेन ग्रन्थेन वक्तृप्रमाणसंभिन्ने शक्तिनिराकरणं क्रियते, इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थो व्युत्पत्ता त्विति\* ॥ कथं तर्हि टीकाकारेण ज्ञानान्तरानिमित्ततापरिशुद्ध इति निमित्तत्वमात्रनिराकरणं क्रियते ? ज्ञान एव प्रयोगस्योक्तत्वात्, तदभावे प्रयोगस्यैवानुपपत्तेर्निमित्ताभावादित्याशङ्क्य प्रयोजनान्तरं दर्शयति—\*अतः प्रमाणान्तरेण विषयविशेषणत्वेनेति\* ॥ परिशुद्ध इत्यस्य व्याख्या—\*केवलार्थेति\* ॥

अयं प्रयोगः—श्रोता धर्मी, प्रवर्तितव्यार्थमात्रज्ञानात्प्रवर्तत इति साध्यो धर्मः, प्रवर्तमानत्वात् ; यथा—‘अहमि’ति । अतो न “प्रतिपत्तुरिति” ग्रन्थेन ग्रन्थेन ज्ञानान्तरसिद्धावबोधकत्वज्ञानं व्युत्पत्तिसमये नास्तीत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; वक्ता प्रतिपन्न इति ज्ञातत्वात् तस्यैव प्रतिपादनात् । अप्रस्तुतञ्चैतत् ; विशिष्टे शक्तिनिराकरणस्य प्रस्तुतत्वात् । व्यधिकरणश्चात इति हेतुः । नहि केवलार्थजन्यव्यवहारस्य सामर्थ्यावगमहेतुत्वं ज्ञानान्तरसिद्धावबोधकत्वं निरुणद्धि, तेनासमञ्जस इत्याशङ्क्यावतारयति—\*ततः शब्दस्यार्थमात्रज्ञान इति\* ॥ ज्ञाने सतीत्यर्थः । यद्वार्थमात्रज्ञाने सामर्थ्यप्रतिपत्तेस्तदुत्पादकत्वमित्यर्थः । अतो व्याख्या कृता । यद्वा—“स च श्रोतुरिति” ग्रन्थेन ग्रन्थेन पुनरुक्त इवाभाति ; तत्र प्रमाणसंभिन्ने वस्तुनि शब्दप्रतिपत्तिर्न भवतीत्युक्तम्—“अतः” इति, अनेनापि प्रमाणसंभिन्नार्थबोधकज्ञानं नास्तीत्युक्तत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*ततः शब्दस्यार्थमात्रज्ञान इति\* ॥ “तेनानवगम्ये”ति

## तत्त्वदीपनम्

नुपपन्नम्, ज्ञानान्तरानिमित्तत्वे हेतुं च न पश्याम इत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ \*प्रत्यक्षादिव्यवहार इति\* ॥ प्रत्यक्षादिपुरःसरस्तन्यपानादिव्यवहार इत्यर्थः । स्तन्यपानादिविशेषज्ञानात् प्रवृत्तेरनुभवात्कथमर्थमात्रज्ञानादित्युक्तम् ? इत्याशङ्क्य मात्रचोऽर्थमाह—\*न प्रमाणान्तरेति\* ॥ फलितमाह—\*ततश्चेति\* ॥ प्रयोगानुपपत्त्या तन्मूलं ज्ञानमपि कल्प्यत इत्याशङ्क्य, न तस्य प्रवर्तकत्वनिश्चय इत्याह—\*वक्तुः प्रमाणस्येति\* ॥ विषयविशेषणतया वक्तृप्रमाणस्यावगम्यत्वेन प्रवृत्तिहेतुतां बालो न कल्पयतीति संबन्धः । शब्दादुत्पद्यमानं यत् श्रोतृसमवेतं ज्ञानम्, तस्य यो विषयः, तद्विषयतयेत्यक्षरार्थः । अक्षरार्थकथनेन प्रश्न-प्रतिषेधनयोर्वैयधिकरण्यमुक्तं निरस्यति—\*अत इति\* ॥ \*प्रमाणान्तरस्य=वक्तृसमवेतस्येत्यर्थः । परिशुद्धशब्दार्थमाह—\*केवलेति\* ॥ श्रोत्रपदस्य व्यवहारपदेन संबन्धान्न वैयधिकरण्यमित्युक्तं भवतीत्यर्थः । इत्यर्थ इत्यत्रेतिपदं द्रष्टव्यम् । नदीतीरफलसत्ताविषयं यद् वक्तृज्ञानम्, तद्गोचरेण श्रोत्रसमवायिज्ञानेन प्रवृत्तिर्न जन्यत इति टीकार्थः । ज्ञाते शब्दस्य प्रयोग इति नियमाद् ज्ञानान्तरसिद्धार्थबोधकत्वं नेतीति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत इति\* ॥ व्यवहारेणेत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—\*शब्दस्येति\* ॥ ज्ञानान्तरसिद्धोऽ-



## पञ्चपादिका

तेनानवगम्यैव तद्विषयं ज्ञानं सामर्थ्यावगमः, यथाऽवगमं च विज्ञानोत्पत्तिः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* मा भूच्छ्रोतुः प्रमाणान्तरसंभिन्नोऽर्थः प्रतिपन्नः, तथाऽपि व्युत्पत्त्या संभिन्नेऽर्थे शब्दसामर्थ्यं प्रतिपद्यत इति, नेत्याह—\*तेनानवगम्यैव तद्विषयमिति\* ॥ प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषयतया स्वात्मानुमानेनानवगतस्य मानान्तरस्य न शब्दसामर्थ्यविषयता प्रतिपत्तुं शक्यत इत्यर्थः । \*ननु\* अर्थमात्रे सम्बन्धग्रहणेऽपि व्युत्पत्त्युत्तरकालं संभिन्नोऽर्थो बोध्यत इति, नेत्याह—\*यथावगमं चेति\* ॥ \*ननु\* कार्यविषयाद्वाक्यादसंभिन्नेऽर्थे युक्तः सम्बन्धग्रहः, कार्यपदव्यतिरिक्तस्य तु शब्दमात्रस्य संभिन्नेऽर्थे सम्बन्धग्रह इति, \*ननु\* ; तेषामपि कार्यवाक्येऽर्थमात्रसम्बन्धग्रहणात् । अत्र केचिदाहुः—अर्थासंस्पर्शा शब्द इति । तथाहि—“अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते” इत्यादौ न कश्चिदर्थः प्रमीयते । यत्र च प्रमीयते, तत्रापि मानान्तरनिबन्धना प्रमितिर्न शब्दनिबन्धनेति ॥

## मृजुविवरणम्

ग्रन्थः पुनरुक्त इवाभाति, पूर्वत्रापि ज्ञानान्तरसंभिन्नत्वज्ञानेन विनाऽर्थमात्रे व्युत्पत्तिरित्युक्तम् ; अनेनापि ग्रन्थेन तद्विषयज्ञानावगमेन विनाऽव्युत्पत्तेरुक्तत्वादित्याशङ्क्य विषयभेदं दर्शयति—\*ननु मा भूच्छ्रोतुरिति\* ॥ \*संभिन्नेऽर्थे इति\* ॥ संभेदस्याव्यभिचारे स्थिते सोऽपि शब्दार्थ इति भावः । “तेनानवगम्ये”त्यनेन कथं विशिष्टे शक्तिनिराकरणं कृतम् । नहि तद्विषयज्ञानेन विनैव सामर्थ्यमवगन्तव्यमित्यत्र कश्चिद्धेतुरस्ति । नच “तेनानवगम्ये”त्यत्रानवगतत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम् ; असिद्धत्वप्रसङ्गाच्छब्दप्रयोगसामर्थ्यात्, तद्विषयज्ञानस्य निश्चितत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषयतयेति\* ॥

\*ननु\* अर्थमात्रे संबन्धग्रहणमिति वक्तुं न शक्यते ; संबन्धस्यैवाभावादिति चोदयति—\*अत्र केचिदाहुरिति\* ॥ कथमर्थासंस्पर्शिता शब्दस्य निश्चीयते ? शब्दार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्, असंसृष्टत्वे तद्विषयकत्वायोगादित्याशङ्क्योपपादयति—\*तथा ह्यङ्गुल्यग्र इति\* ॥ एतदुक्तं भवति—“अङ्गुल्यग्रादिवाक्ये स्वसामर्थ्यनार्थं तिरस्कृत्य बोधकत्वं दृष्ट्वाऽर्थासंस्पर्शित्वान्निश्चीयते, तत्सामान्यादितरवाक्येष्वप्ययथार्थबोधकत्वमर्थासंस्पर्शश्च निश्चीयत इति ॥ \*ननु\* चक्षुरादीनामयथार्थबोधकत्वं दृष्टम्, नत्वर्थासंस्पर्शिता, अतो यथार्थबोधकत्वमनैकान्तिकम्, \*मैवम्\* ; नेन्द्रियाणां तत्त्वदीपनम्

यमर्थ इत्येवंविधमवबोधं शब्दः प्रतिपत्तुर्जनयतीति सामर्थ्यावगमकाले व्युत्पत्तिस्तुना नावगतमित्यर्थः । उत्तमवृद्धप्रयुक्तशब्दान्मध्यमवृद्धेनार्थमात्रं प्रतिपन्नमित्युक्तम्, तदङ्गीकृत्य संगतिग्रहणं विशिष्टविषयमेवेति शङ्कते—\*ननु मा भूदिति\* ॥ अर्थवदेव मानसंभेदस्याप्यव्यभिचारित्वात्सामर्थ्यविषयत्वमित्यर्थः । अव्यभिचारित्वेऽपि न तस्य शक्तिविषयत्वमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ ज्ञानमनवगम्यैव सामर्थ्यावगम इत्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—\*प्रवृत्तीति\* ॥ सामान्ये गृहीतसंगतिकगवादिशब्देभ्यो विशेषप्रतिपत्तिवत् समयान्तरे मानसंभेदप्रतिपत्तिः स्यादित्याशङ्कते—\*नन्वर्थमात्रेति\* ॥ सामान्यस्य विशेषं विनाऽपर्यवसानाद्विशेषप्रतिपत्तिर्न घटते, अत्र तु नैवम्, मानसंभेदस्यार्थविशेषत्वाभावादित्यभिसन्धायाह—\*नेत्याहेति\* ॥ मानसंबन्धग्रह इत्युक्तम्, तत्र किं कार्य इति ? उतेतरत्र ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*ननु कार्येति\* ॥ कार्यस्य मानान्तरागोचरत्वात् तत्संभिन्ने संगतिग्रहणमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*कार्यपदेति\* ॥ सिद्धनिष्ठे वाक्ये प्रवृत्त्या संगतिग्रहणानुपपत्तेरुपदेशादिना संगतिग्रहणं वक्तव्यम्, ततश्च संभिन्ने संगतिरित्यर्थः । योग्येतरान्वितस्यार्थस्य सकलपदशक्तिविषयत्वात् तत्रापि शङ्का दुर्वारा स्यादित्याह—\*न तेषामिति\* ॥ कार्यवाक्येऽपि तेषां शब्दानामर्थैः संबन्धग्रहणादिति योजना ॥ अर्थमात्रे संबन्धग्रहणमित्युक्तमाक्षिपति—\*अत्र केचिदिति\* ॥ \*ननु\* शब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्तिदर्शनात् कथमर्थासंस्पर्शित्वम्, तत्राह—\*तथाहीति\* ॥ अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानां प्रमित्यहेतुत्वादितरेषामपि तथात्वम्, प्रतीतिस्त्वाभासरूपेत्यर्थः । नदीतीरफलसत्तावाक्यादर्थप्रमितिरपि दृष्टेत्याशङ्क्याह—\*यत्र चेति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

अत्र केचित्परिहारमाचक्षते—पुरुषवचसां तु नार्थसंसर्गः प्रमेयः, किन्तुवेवमयं वेदेति वक्तृज्ञानमेव प्रमीयते, प्रमीयमाणवक्तृज्ञानसामर्थ्याच्चार्यो निश्चीयते । सर्वत्र चाङ्गुल्यग्रादिवाक्येषु भ्रान्तिमुत्प्रेक्षां प्रमाणं

## ऋजुविवरणम्

विपर्ययज्ञानहेतुत्वम्, किन्तु दोषस्यैव ; तदभावे सत्यपीन्द्रिये भ्रान्तिज्ञानाभावात् । \*ननु\* शब्देऽप्यनासप्रणीतत्व-  
दोषादप्रमाणज्ञानस्योत्पत्तिः ; न शब्दमात्रात्, \*मैवम्\* ; अनासप्रणीतेऽप्यङ्गुल्यग्रादिवाक्ये बोधदर्शनात् । \*ननु\* ईदृशं  
वाक्यं कथमासप्रणीतं भवितुमर्हति ? तेन दोषस्यैव कारणत्वमिति वक्तुं युक्तम् \*मैवम्\* ; यदीदृशं वाक्यमासो न  
प्रयुज्यते, तर्हि दोषजन्यत्वं ज्ञानस्य निश्चेतुं न शक्यते ; प्रयुक्ते शब्दे दोषाभावेन ज्ञानानुत्पादादर्शनात्, व्यतिरेका-  
भावाच्छब्दे हेतुत्वं निश्चेतुं शक्यम् ; सत्यपि दोषे शब्दप्रयोगाभावे ज्ञानानुत्पादात् । अपिचासप्रयोगोऽपि दृश्यते—  
नेदृशं वचः प्रयोक्तव्यम्, यथा लोके ङ्गुल्यादिवाक्यं दृश्यते ।

बहूनि स्वार्थहीनानि गन्धमादनवर्णने । रचितानि स्वबुद्ध्याऽतः कविभिर्दृश्यते मतिः ॥

“तेन शब्देऽस्य सर्वत्र हेतुता भ्रान्तिबोधने ।”—इति ॥

अपिच बाधकज्ञानजननेऽपि शब्दो मिथ्याज्ञानमुत्पादयति, नतु चक्षुरादिवदुदास्ते, तेनार्थसंस्पृशीं शब्दः ।  
तदुक्तम्—“विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाश्चार्थयोनयः । तेषामन्योन्यसंबन्धान्नार्थान्छब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥” इति ।

\*ननु\* शब्दादर्थप्रतीतिरपि दृश्यते, तत् कथमर्थसंस्पृशीं अनुमीयते ? बाधितविषयत्वप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह—  
\*यत्र च प्रमीयत इति\* ॥ \*अत्र केचित्परिहारमाचक्षत इति\* ॥ अयमभिप्रायः—संबन्धे सत्यन्यस्यान्यत्र प्रामाण्यं  
भवेत्, नचात्र शब्दस्यार्थेन संबन्धः स्वभावलक्षणः कार्यलक्षणो देशादिनियमो वाऽस्ति ; वक्तृज्ञानेन तु कार्य-कारण-  
लक्षणसंबन्धोऽस्ति, तेन तत्र प्रामाण्यमिति । \*ननु\* शब्दस्य कथं कार्यतोच्यते ? प्रत्यक्षादिनाऽर्थं प्रतिपद्य विवक्षित्वा  
वक्ता पदरचनां करोति, तेन च प्रत्येति श्रोता, एवं परम्परया वक्तृज्ञानकार्यत्वं पदरचनात्मकस्य वाक्यस्य दृश्यते, तेन  
तत्र प्रामाण्यम् । \*ननु\* शब्दादर्थप्रतीतिरपि दृश्यते, तत्कथं वक्तृज्ञान एव प्रामाण्यम् ? \*उच्यते\* ; यद्यप्यर्थः  
प्रतीयते, तथाऽपि वक्तृज्ञान एव प्रामाण्यं नार्थं ; तन्नियमस्य तदधीनत्वात् । किञ्च लोके व्यवहारसामर्थ्यादपि वक्तृज्ञान  
एव प्रामाण्यं प्रतीयते । तथाहि कश्चिदेवमाह—कथमयमर्थोऽवधारित इति ? सोऽपि प्रतिवदति—स एव जानाति,  
येन मे कथितमिति । अतो ज्ञानादेवार्थो निश्चीयते, तेन सर्वत्र तत्परता । \*ननु\* भवतु वक्तृज्ञाने प्रामाण्यम्,  
अर्थेऽपि प्रतीयमाने कथं परित्यज्यते प्रामाण्यम् ? तेन तद्द्वारेणाऽर्थेऽपि प्रामाण्यम्, \*मैवम्\* ; वक्तृज्ञानेन व्यव-  
हितेऽर्थबोधोदासीन एव शब्दो न बाह्येऽर्थे प्रामाण्यं भजते । यदि वक्तृज्ञाने प्रामाण्यं शब्दस्य, कथं तर्हि बाह्यार्थत्वम् ?  
तथा तद्धेतुकश्च व्यवहारः ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रतीयमाने वक्तृज्ञानसामर्थ्यादिति\* ॥

\*ननु\* वाक्यात्प्रथमे वार्थं प्रतिपन्ने पश्चात्तदर्थविषयवक्तृज्ञानप्रतीतिः, तत्कथं ज्ञानेनान्तरितत्वम् ? तत्रैव वा  
प्रामाण्यं चेति ? \*उच्यते\* यद्यप्यर्थः पूर्वं प्रतीयते ; तथाऽपि तन्नियमो वक्तृज्ञानप्रामाण्यप्रतीतिपूर्वक एव । अतोऽर्थ-  
निश्चयस्य ज्ञाननिश्चयपूर्वकत्वाद् ज्ञानान्तरितत्वम्, तेन चार्थनिश्चयसिद्धेर्नार्थेऽपि प्रामाण्यमिति । \*ननु\* यथार्थ-  
व्यभिचारान्नार्थपरत्वं शब्दस्य ; वक्तृज्ञानेनापि व्यभिचारान्न तत्परत्वं शब्दस्य संभवतीत्याशङ्क्याह—\*भ्रान्तिमुत्प्रेक्षां  
प्रमाणं वेति\* ॥ \*ननु\* “तयोस्सत्तां प्रतिपद्यते” इति न युक्तं वक्तुम् ; प्रतीत्यङ्गीकारे पारिशेष्यात्तेनैव संबन्धाच्छब्दत्व-

## तत्त्वदीपनम्

गुरुमतानुसारेण समाधानं तावदाह—\*अत्र केचिदिति\* ॥ किं पुरुषवचोभिः साक्षादर्थो न प्रतीयत इत्युच्यते,  
उतार्थादपि ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*पुरुषवचसामिति\* ॥ तस्यार्थसंस्पृशीत्वमित्याशङ्कते—\*किं त्विति\* ॥  
वक्तृज्ञानस्यैवार्थत्वान्मैवमित्याह—\*वक्तृज्ञानमिति\* ॥ कथं तर्हि स्वार्थसिद्धिः ? तत्राह—\*प्रमीयमाणेति\* ॥  
निर्विषयज्ञानानुपपत्त्याऽर्थसिद्धिरित्यर्थः । अर्थवदेव वक्तृज्ञानस्यापि व्यभिचारान्न शब्दस्य तत्परत्वमपीत्याशङ्क्य, न  
ज्ञानमात्रलक्षणस्य प्रमेयस्य व्यभिचार इत्याह—\*सर्वत्रेति\* ॥ शब्दः सर्वत्र वक्तृज्ञानलक्षणं प्रमेयं न व्यभिचरतीति  
संबन्धः । ज्ञानमेवाह—\*भ्रान्तिमिति\* ॥



### पञ्चपादिका

यदा पुनर्व्युत्पन्नः स स्वयं प्रयुयुक्षते परप्रतिपत्तये, तदा ज्ञानान्तरसन्निधापितं स्वसाक्षिकं विवक्षन् सामर्थ्यावगमकालेऽपि तयोः सत्तां प्रतिपद्यते केवलम्, न ज्ञानोत्पत्तौ तथोरुपयोगम् । तस्मान्न शब्दस्य प्रमाणान्तरगृहीतार्थप्रकाशने सामर्थ्यं व्युत्पत्तिकालेऽवगतम्, किन्तु चक्षुरादिवदन्यनिरपेक्षो यथा-वगतसामर्थ्यञ्च शब्दो विज्ञानं जनयति । तस्मान्न प्रमेयस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वं शब्दस्य विज्ञानजनन उपयुज्यते । अपि चापौरुषेये शब्दे चक्षुषीव विज्ञानोत्पत्तावनपेक्षे कथमप्रामाण्यमाशङ्क्यते ?  
\*ननु\* उक्तमाशङ्काकारणं स्पर्शनगोचरचित्रनिम्नोन्नतविषयस्य चाक्षुषस्य प्रत्ययस्य तत्संवादा-

### पञ्चपादिकाविवरणम्

वा वक्तृज्ञानं शब्दः प्रमेयं न व्यभिचरति । तस्मादर्थसंस्पर्शी शब्द इति, तदयुक्तम् ; वक्तृज्ञानस्यानुमानगम्यत्वाच्छब्दप्रमेयत्वाभावादित्याह—\*यदा पुनर्व्युत्पन्नः सन्निति\* ॥ अयमर्थः—गृहीतसम्बन्धोऽपि सन् प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विवक्षित्वा परस्मै शब्दं प्रयुज्जानमात्मानं पश्यति । तेन दृष्टान्तेन पूर्वमपि मध्यम-वृद्धेभ्यः प्रयोक्तारः प्रयुज्जानाः प्रमाणान्तरेणोपलभ्य विवक्षित्वा प्रयुज्जत इत्यनुमिमीते । \*नन्वेवमपि\* शब्दसामर्थ्यविषयतयैव प्रमाणान्तरमनुमिमीत इति, नेत्याह—\*केवलमिति\* ॥ शब्दप्रयोगनिमित्ततामेव विवक्षा-मानान्तरयोः स्वात्मनि पश्यन्नन्यत्वापि तथैवानुमिमीत इत्यर्थः । प्रकरणार्थमनूद्योपसंहरति—  
\*तस्मान्न शब्दस्येत्यारभ्य—अपिचेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥

किंच यदि लौकिकवचांसि वक्तृज्ञानमेव गमयन्ति, तदा संसृष्टार्थप्रतिपादनसामर्थ्याप्रतिपत्तेर्वेदे शब्दादर्थ-

### ऋजुविवरणम्

प्रसङ्गात् । अथवा—वक्तृज्ञानेन बोधकत्वं शब्दस्याङ्गीकार्यम् ; तेन विनाऽर्थनिश्चयायोगात्, तदङ्गीकारे च नार्थ-परत्वकल्पना, एवं शब्दमेत्ये निश्चिते नानुमेयत्वकल्पना, नापि लिङ्गमस्तीत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थो गृहीत-संबन्धोऽपीति\* ॥ यद्वा—अनुमेयत्वं वक्तुं न शक्यते ; अर्थेनैव शब्दस्य संबन्धग्रहणे तदनुमाने लिङ्गाभावात्, प्रयोजना-भावाच्चेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थो गृहीतसंबन्धोऽपीति\* ॥ सत्ताऽनुमानमिति वक्तुं न शक्यते ; भावधर्मस्या-भावधर्मस्योभयधर्मस्य वा हेतुत्वेऽसिध्यादिदोषप्रसङ्ग इति न्यायविद आहुः ; अनुपयोगाच्च न सत्तामात्रानुमानसंभव इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*शब्दप्रयोगनिमित्ततामिति\* ॥ “तस्माच्च शब्दस्ये”त्यादेः पौनरुक्त्यं परिहरति—\*प्रकरणार्थ-मनूद्येति\* ॥ \*ननु\* लौकिकवचांसि नैव वक्तृज्ञानानपेक्षाण्यर्थनिश्चायकानि, किन्तु वक्तृज्ञानद्वारेण ; ततश्च तस्यैव शब्दार्थत्वम्, अर्थस्य तु वक्तृज्ञानाधीना सिद्धिः, अतो न प्रयोगमात्रनिमित्तत्वमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च यदि लौकिक-वचांसीति\* ॥ \*ननु\* पौरुषेयवचनत्वप्रयुक्तं वक्तृज्ञानप्रतिपादकत्वम्, नच वेदे तदस्ति, नच संसृष्टार्थप्रतिपादन-सामर्थ्यभावेन, अतो वेदे संसृष्टार्थप्रतिपादनसामर्थ्याभावः ; लोकेऽपि पदानां संसृष्टार्थप्रतिपादनसामर्थ्याविशेषात्, निश्चयस्तु तैर्न संभवतीति वक्तृज्ञानप्रतिपादकत्वम्, अतो न दोष इति, तत्राह—\*किञ्च न तावद्वक्तृज्ञानमात्रमिति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

कस्तर्हि पूर्वपक्षाद्विशेषः ? तत्राह—\*तस्मादिति\* ॥ पूर्वत्र शब्दस्य प्रमेयमेव नेत्युक्तम्, अत्र तु वक्तृज्ञानलक्षणं प्रमेयमित्युच्यत इति विभागः ॥ अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वाद्वक्तृज्ञानस्यान्यथासिद्धत्वाच्च शब्दार्थत्वमित्याह—\*तद-युक्तमिति\* ॥ कथमानुमानिकत्वं तस्येति शङ्कायामाह—\*अयमर्थ इति\* ॥ देवदत्तोऽर्थज्ञानपुरःसरं शब्दं प्रयुङ्क्ते ; प्रयोक्तृत्वात्, मद्बदित्यनुमानेनैव मानसिद्धिरित्यर्थः । वक्तृज्ञानस्यानुमेयत्वमङ्गीकृत्य मध्यमवृद्धज्ञानवच्छक्तिविषयत्वे नैवानुमानमिति शङ्कते—\*नचैवमिति\* ॥ शक्तिविषयत्वकल्पकाभावान्सैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकयोस्तर्हि का गतिः ? इत्याशङ्क्याह—\*शब्दप्रयोगेति\* ॥ पौनरुक्त्यशङ्कां निरस्यति—\*प्रकरणेति\* ॥ मानसंभेदस्य शक्तिविषयत्वकल्पकाभावस्तच्छब्दार्थः । वक्तृज्ञानं शब्दप्रमेयम्, तद्वलादर्थसिद्धिरिति पक्षे वेदाप्रामाण्यं चेत्याह—\*किं च यदीति\* ॥ एतच्च मूलग्रन्थाद् बहिरेव द्रष्टव्यम् ।



## पञ्चपादिकाविवरणम्

धिगमो न स्यात् । किञ्च न तावद्वक्तृज्ञानमात्रं शब्दार्थः ; अर्थे व्यवहारानुदयप्रसङ्गात् । नाप्यर्थ-  
व्यावृत्तं ज्ञानम् ; अर्थस्यैव शब्दप्रमेयत्वप्रसङ्गाद् ज्ञानस्यानुमेयतयाऽन्यथासिद्धेः । ज्ञानाभिधायिशब्दा-  
भावाच्च न तस्य वाक्यार्थता ; पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वात् । \*ननु\* पदेभ्यः पदार्थाः प्रतीयन्ते, संसर्गश्चोत्-  
प्रेक्षयाऽवगम्यते । तेन च व्यावृत्तं वक्तृज्ञानं शब्दार्थ इति, तदिदं श्रोतुः संसर्गज्ञानं वक्तृज्ञानविशेषणार्थ-

## भृजुविवरणम्

\*यद्वा\*—लौकिकवचसां नार्थसंसर्गः प्रमेयः, किन्तु वक्तृज्ञानं प्रमेयम्, तेन विनाऽर्थनिश्चयाभावाद्वाह्यार्थ-  
व्यभिचारात्, लोकेऽप्यर्थतथात्वे वक्तृज्ञानस्यैव निर्देशदर्शनात्, अतो न व्युत्पत्तिसमयेऽवगतं वक्तृज्ञानपरत्वम्,  
उत्तरकालीनस्वप्रवृत्त्या प्रयोगमात्रनिमित्ततानुमानम् ? स्वस्यापि स्वज्ञानख्यापनाय वाक्यप्रयोगादित्याशङ्क्याह—  
\*किञ्च यदि लौकिकवचांसि वक्तृज्ञानमिति\* ॥

\*ननु\* लोकेऽपि पदानां संसृष्टार्थप्रतिपादनशक्तिरस्त्येव ; तथाऽपि पौरुषेयवाक्यान्नार्थप्रमितिः ; वक्तृप्रमाणा-  
भावे तदभावात्, वेदे तु कथं संसर्गप्रमित्यभावः ? अपौरुषेयत्वेन वक्तृज्ञानापेक्षाभावात्, सामर्थ्यस्य च विद्यमानत्वात् ।  
अतो लोके वक्तृज्ञानपरतेति चेत्, \*तत्राऽपि\* किं ज्ञानमात्रे प्रामाण्यम् ? अर्थव्यावृत्तौ वा ? न तावत्प्रथमः कल्प  
इत्याह—\*किञ्च न तावद्वक्तृज्ञानमात्रमिति\* ॥ नापि द्वितीय इत्याह—नाप्यर्थव्यावृत्तमिति\* ॥ 'नागृहीत-  
विशेषण'न्यायेनार्थाप्रतीतौ तद्व्यावृत्तज्ञानाप्रतीतेरर्थस्यैव शब्दार्थत्वमिति भावः । \*ननु\* विशेषणग्रहणेन विना  
विशेष्यप्रतीत्यभावेन तस्य शब्दार्थत्वनिश्चयेऽपि कथं तस्यैव शब्दार्थत्वनिश्चयः ? ज्ञानस्यापि प्रतीतेरविशेषाच्छब्दार्थत्व-  
मिति, तत्राह—\*ज्ञानस्यानुमेयतयेति\* ॥ अनन्यथासिद्धकार्यदर्शनाच्छब्दत्वम्, नेह तथेति भावः । \*ननु\* शब्दा-  
नन्तर्येण शब्दत्वे संभवति सति कथमनुमेयत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*ज्ञानाभिधायिशब्देति\* ॥ मा भूत्तदभिधायि-  
पदम्, तथाऽपि पदेभ्यः प्रतीयमानस्य वाक्यार्थत्वमित्याशङ्क्याह—\*पदार्थस्यैवेति\* ॥ अनन्वितपदार्थकत्वं  
धावतीत्यत्र पदस्यापि वाक्यार्थत्वञ्च भवेदित्यर्थः । कथमत्र संसर्गस्य विशेषणत्वेनादौ गृहीतत्वम्, तेन च शब्दत्वं  
तस्यैव निर्णयित इति शक्यते वक्तुम् ? तस्याप्यन्यथासिद्धेरिति चोदयति—\*ननु पदेभ्यः पदार्था इति\* ॥ संसर्ग-  
श्चोत्प्रेक्षयेति\* ॥ संभूय समुच्चरितपदार्थानां नूनं संसर्गेण भवितव्यमिति प्रतीतिर्भवति । स एव व्यावर्तको नार्थमात्रम्,  
येन नागृहीतविशेषणन्यायेनार्थस्य शब्दार्थत्वं भवेत्, प्रमित्यर्थञ्च वाक्यप्रयोगः, तत्रापि नार्थप्रमितिस्संभवति, अतो  
वाक्यवैयर्थ्यपरिहाराय वक्तृज्ञानपरत्वं निश्चीयत इति भावः । “\*तदिदं श्रोतुरिति\* ॥ न स्मृतिः ; अनधि-  
गतार्थगन्तृत्वात्, संस्कारजन्यत्वाभावात् । कोटिद्वयावलम्बित्वाभावाद् न संशयः, बाधकाभावाद् न विपर्ययः । तेन  
प्रमाणत्वे सिद्धेऽक्षादिकारणान्तराभावात्पारिशेष्याच्छब्दज्ञानमेव भवेत्, तथा सति वक्तृज्ञानस्य न शब्दप्रमेयता, अर्थ  
एव शब्दस्य चरितार्थत्वादिति भावः ॥

## तत्त्वदीपनम्

किं वक्तृज्ञानमात्रं शब्दप्रमेयम् ? उतार्थव्यावृत्तम् ? इति विकल्पयति—\*किंचेति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*न  
तावदिति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*नापीति\* ॥ 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायादर्थप्रतीतिर्वक्तव्या ।  
तस्याश्च कारणान्तरानिरूपणात् शब्द एव कारणमित्याह—\*अर्थस्येति\* ॥ अर्थज्ञानयोरपि प्रतिपत्तेरविशेषे कथमर्थ-  
स्यैवेत्यवधारणम् ? तत्राह—\*ज्ञानस्येति\* ॥ शब्दरूपकार्यलिङ्गेन तत्करणभूतज्ञानानुमानमिति ज्ञानस्यान्यथासिद्धि-  
रित्यर्थः । किं ज्ञानस्य पदार्थत्वम् ? उत वाक्यार्थत्वम् ? नाद्य इत्याह—\*ज्ञानेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*न  
तस्येति\* ॥ तत्र हेतुः—\*पदार्थस्येति\* ॥ “विषं भुङ्क्ष्वे”त्यादिवाक्यव्यतिरिक्तस्थलेष्विति शेषः । विशेषणभूतार्थ-  
ज्ञानकारणान्तरानिरूपणाच्छब्दः कारणमित्युक्ते, तत्र कारणाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*पदेभ्य इति\* ॥ \*उत्प्रेक्षयेति\* ॥  
आकाङ्क्षा-सन्निधि-योग्यतावन्तः प्रायेण संसृष्टा इति ज्ञानेनेत्यर्थः । विकल्पासहत्वान्नैतच्चोद्यं संगच्छत इत्याह—\*तदि-  
दमिति\* ॥ उत्प्रेक्षाज्ञानं किं स्मृतिः ? उत संशयः ? आहो विपर्ययः ? अथवा प्रमाणम् ? तत्र न तावत्स्मृतिः ;  
तद्विषयस्य प्रागनवगतत्वात्, नापि संशयः, कोटिद्वयावलम्बित्वाभावाद् न संशयः, बाधानुपलब्धेः, ततश्च प्रमिता-



### पञ्चपादिका

भावादप्रमाणत्वम्, \*न तत्साधूक्तम्\* ; अदुष्टकारणत्वादस्य, तस्य च तदभावात् । तथाहि—शब्द-  
स्तावदपौरुषेयत्वाददुष्टः । प्रमेयस्य पुनर्ज्ञानहेतुत्वे न प्रमाणमस्ति ; शब्दस्यैव तदेकनिष्ठत्वेन

### पञ्चपादिकाविवरणम्

विशिष्टतया प्रथमोत्पन्नं स्मृति संशय-विपर्ययायोगात्प्रमाणज्ञानमेव परिशिष्यते, शब्दानां च पदार्थज्ञानोपक्षयाद्वक्तृ-  
ज्ञानाधीनैव संसर्गप्रमितिरिति वेदे संसर्गः शब्दाद्यो न स्यात् । तस्माच्छब्दी संसर्गप्रमितिः, वक्तृज्ञानं  
त्वनुमेयमिति सिद्धम् । कस्तर्हि शब्दानामर्थसंस्पर्शस्य परिहार इति ? उच्यते—प्रत्यक्षेऽपि तुल्यमेतच्चोद्यम् ;  
शुक्तिरजतादिज्ञानानामर्थव्यभिचारात् । अदुष्टकारणजन्यज्ञानानामर्थसंस्पर्श इति चेत्, शब्देऽपि योग्येतरसंस्पृष्टा-  
भिधायिन्यर्थनियमो विद्यते ; अङ्गुल्यग्रादीनां संसर्गायोग्यत्वादिति । \*किञ्च\* अपौरुषेयस्य शब्दस्यानपेक्षमाणत्वा-  
न्मानान्तरसंवाद-विसंवादाभ्यां न किञ्चित्परिहीयत इत्याह—\*अपिचापौरुषेय इति\* ॥ \*ननु\* उक्तमिति  
स्पष्टार्थम् ॥ \*न तत्साधूक्तमिति\* परिहारग्रन्थस्यायमर्थः—निरपेक्षज्ञानयोरपि परस्परविरुद्धयोरन्यतरस्य कारण-

### श्रुतिविवरणम्

\*ननु\* संसर्गं प्रमितिः कथं निश्चीयते ? वाक्यं तावद्वक्तृज्ञानपरमेव ; वक्तृविवक्षाज्ञानानिश्चयेऽर्थमिच्छयादर्शनात्,  
पदानि च पदार्थमात्रोपक्षीणानि न संसर्गं बोधयन्ति, अत औत्प्रेक्षिकत्वेन न प्रमारूपत्वमित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गमाह—  
\*शब्दानाञ्च पदार्थज्ञानोपक्षयादिति\* ॥ वेदे संसर्गप्रमितिमिच्छता लोके संसर्गबोधकत्वमङ्गीकर्तव्यमित्युपसंहरति—  
\*तस्मादिति\* ॥ शब्दानन्तर्याच्छब्दत्वम्, कारणदोष-बाधकप्रत्ययाभावात्प्रमाणत्वम्, वक्तृज्ञानापेक्षे तु पौरुषेयत्वेना-  
प्रामाण्यशङ्का भवेत्, स स्मृत्यादिवन्मूलज्ञानेन निवार्यत इति । कथं तर्हि वक्तृज्ञानप्रतीतिरिति ? तदाह—\*वक्तृ-  
ज्ञानमिति\* ॥ यदि वक्तृज्ञानपरत्वं निराक्रियते, तर्ह्यर्थस्य व्यभिचारित्वेन संबन्धाभावाद् नार्थासंस्पर्शः परिहृतुं शक्यत  
इत्यभिप्रायेण पृच्छति—\*कस्तर्ह्यर्थासंस्पर्शस्येति\* ॥ यदि क्वचिद् व्यभिचारादन्यत्राप्यर्थासंस्पर्शोऽनुमीयेत, इष्टविघात-  
लक्षणविरुद्धता स्यादित्यभिप्रायेण प्रतिबन्धा परिहरति—प्रत्यक्षेऽपीति\* ॥ \*ननु\* शुक्तिकाविज्ञाननिदर्शनेन न  
घटादिज्ञानानामर्थसंस्पर्शित्वमनुमातुं शक्यते ; अप्रयोजकत्वादिति चोदयति—\*अदुष्टकारणजन्यज्ञानानामिति\* ॥  
“न तत्साधूक्तमि”त्यादिना दोषजन्यस्य बाध्यत्वमुक्तम्, तदयुक्तम् ; प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन शब्दबाधकत्वात्, बाधाधीन-  
त्वाद् दोषकल्पनाया न तेन बाधनिश्चय इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*परिहारग्रन्थस्यायमर्थ इति\* ॥ कथं द्वैताभावस्यैव

### तत्त्वदीपनम्

वन्तर्भावो वक्तव्यः । तत्राप्यक्षादिकरणत्वे शब्दवैयर्थ्यम् ; शब्दकारणत्वे चास्मन्मतसिद्धिरित्यर्थः । वक्तृज्ञानं शब्द-  
प्रमेयमित्यत्र दूषणान्तरमाह—\*शब्दानामिति\* ॥ परमतं निराकृत्य स्वमतं निगमयति—\*तस्मादिति\* ॥ शब्द  
एव संसर्गप्रमितौ समर्थश्चेत्तर्हि वक्तृज्ञानान्वेषणं वृथेत्याशङ्क्य प्रतिबन्धनिरासायेत्यभिप्रेत्याह—\*वक्तृज्ञानमिति\* ॥  
अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानामर्थसंस्पर्शनात्कथं शब्दानां संसर्गबोधित्वम् ? इति शङ्कते—\*कथं तर्हीति\* ॥ कस्यचिदर्थ-  
संस्पर्शित्वमात्रेण सकलशब्दानामपि तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गः स्यादित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ समीचीनप्रत्यक्ष इत्यर्थः ।  
रजतमित्यादिज्ञानानां दुष्टकारणजन्यत्वादयथार्थत्वम्, इतरेषां च तद्वैपरीत्यान्मैवमित्याह—\*शब्देऽपीति\* ॥ शब्दमात्रस्य  
संस्पृष्टप्रमित्यजनकत्वेऽप्याकाङ्क्षा-सन्निधि-योग्यतासहकृतस्य संस्पृष्टप्रमितिजनकत्वं युक्तमित्यर्थः । तस्माच्छब्दानामर्थ-  
संस्पर्शित्वात् तन्मात्रे संबन्धग्रहणं न मानान्तरसंभिन्न इत्युक्तं युक्तमितीतिशब्दार्थः ।

लौकिकवाक्यस्य भूतार्थस्य मानान्तराधिगते प्रामाण्यसंभवेऽपि न वेदवचसस्तथात्वमित्युक्तम्, “अपिचे”त्यत्र  
तत्रानपेक्षः शब्द इति कथमुक्तम् ? सङ्गतिप्रहणाद्यपेक्षादर्शनादित्याशङ्क्याह—\*किं चापौरुषेयस्येति\* ॥ प्रमाणान्तर-  
मनपेक्ष्य शब्दोऽर्थप्रमितिं जनयतीत्युच्यते, न सहकारिणमप्यनपेक्ष्येत्यर्थः । बाधकप्रत्ययकल्प्यत्वात्—“एकमेवा-  
द्वितीयमि”त्यादेश्च प्रत्यक्षादिपराहृतत्वात् तत्र दोषः कल्प्यत इत्याशङ्क्याह—\*न तत्साधूक्तमिति\* ॥ अद्वैताव-  
भासस्यैव दुष्टकारणजन्यत्वं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्य, किं शब्ददोषात्तज्जनिः ? उत प्रमेयदोषात् ? अथवा



## पञ्चपादिकाविवरणम्

दोषसंभावनया बाधो निरूप्यते । तत्राद्वितीयप्रत्यगात्मप्रतिपत्तेरात्मनि द्वैतप्रत्यक्षस्य च विरोधे द्वैतावभासस्य देहात्मप्रत्ययवद् दुष्टकारणजन्यत्वं कल्प्यते ; शब्दस्य स्वयंदोषरहितत्वात्, द्वैतावभासहेतूनां चक्षुरादीनां संभावितदोषत्वात्, “इन्द्रो मायाभिः” “मायां तु प्रकृतिम्” “अविद्यायामन्तरे” इत्यादिदोषजन्यत्वश्रवणाच्च, स्वप्नदोषजन्यत्वेऽपि व्यवहाराविसंवादात् प्रामाण्यलाभात्, शब्दे तु पुनर्दोषकल्पनायां व्यवहारातीतविषयत्वाद् दोषवत्तया च तत्त्वात्प्रच्युतेरुभयविधमपि प्रामाण्यं न स्यात् । नच द्वैतावभासस्य दोषजन्यत्वाच्छुक्तिरजतज्ञानवद् व्यवहारविसंवादः कल्पयितुं शक्यः ; प्रत्यक्षविरोधात्, आगमेन च द्वैतस्य तत्त्वांशबाधात्, व्यवहाराबाधाभावात्, अद्वितीयात्मप्रतिपत्तेश्च शब्दादीनामर्थक्रियासामर्थ्यलभ्यत्वात् । तस्मादद्वितीयात्मप्रमितिरपरोक्षप्रत्ययरूपा च देहात्मप्रत्ययमिव द्वैतावभासं बाधते ; अन्यथा देहात्मभावस्याप्यबाधप्रसङ्गादिति । \*ननु\* प्रमेय-

## ऋजुविवरणम्

मिथ्यात्वम् ? न त्वात्मप्रतीतेरिति निश्चयः ? तत्राह—\*शब्दस्य स्वयं दोषेति\* ॥ \*ननु\* संभावितत्वमात्रेण न चक्षुरादिषु दोषसिद्धिः ; प्रमाणाद्यत्त्वादित्याशङ्क्याह—\*इन्द्रो मायाभिरितीति\* ॥

\*ननु\* दोषजन्यत्वे सति द्वैतावभासस्य प्रामाण्याभावाद् व्यवहार एव न स्यादित्याशङ्क्याह—\*स्वप्नदोषजन्यत्वेऽपीति\* ॥ \*ननु\* तर्हि शब्देऽपि दोषः कल्प्यताम्, प्रामाण्यञ्च द्वैतावभासवत्, किं दोषत्वनिराकरणेन ? इत्याशङ्क्याह—\*शब्दे तु पुनर्दोषकल्पनायामिति\* । \*ननु\* द्वैतावभासो धर्मी, व्यवहारविसंवादीति साध्यो धर्मः, दोषजन्यत्वात् ; शुक्तिरजतज्ञानवदित्यनुमातुं शक्येतेत्याशङ्क्याह—\*नच द्वैतावभासस्येति\* ॥ मा भूत्प्रत्यक्षबाधादनुमानम्, आगमेन बाधो निश्चीयते, इत्याशङ्क्याह—\*आगमेन द्वैतस्य तत्त्वांशेति\* ॥ \*ननु\* विशेषेण बाधप्रतीतौ कथमतत्त्वांशविषयत्वं कल्प्यत इति ? तत्राह—\*अद्वितीयात्मप्रतिपत्तेश्चेति\* ॥

\*ननु\* प्रत्यक्षत्वमात्रेण प्राबल्येन नित्यं शब्दस्य बाध्यत्वे संभवति सति, किमिति देहात्मप्रत्ययस्य बाध्यत्वं निश्चीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*अन्यथा देहात्मभावस्येति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

प्रमातृदोषात् ? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*शब्दस्येति\* ॥ अपौरुषेयत्वेनानास्रप्रणीतत्वासंभवादित्यर्थः । प्रपञ्चग्राहिचक्षुरादावपि दोषादर्शनं तुल्यमित्याशङ्क्याह—\*द्वैतेति\* ॥ चक्षुरादौ काचादिदोषस्य कचित्सिद्धत्वादितरत्र तच्छङ्का, अपौरुषेये तु शब्दे कचिदपि दोषो न दृष्ट इत्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—\*इन्द्र इति\* ॥ प्रपञ्चस्याविद्यादोषजन्यत्वात् तद्व्याप्तिगोऽप्रामाण्यम्, न तथा ब्रह्मणो दोषजन्यत्वम्, इति न शब्दस्य तद्दोषादप्रामाण्यमित्यर्थः । अथवा प्रत्यक्षादौ न केवलं दोषस्य संभावना, प्रत्युत तन्निश्चयश्चेत्याह—\*इन्द्र इति\* ॥ सावकाशानवकाशयोः सावकाशं दुर्बलम् ; अनवकाशं प्रबलमिति न्यायः । तथाच द्वैतावभासस्य सावकाशत्वाद् दौर्बल्यमित्याह—\*स्वप्नवदिति\* ॥ अथवा द्वैतप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वेऽप्रामाण्याद् व्यवहारासिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*स्वप्नवदिति\* ॥ शब्दस्यानवकाशत्वेन प्राबल्यमाह—\*शब्द इति\* ॥ शब्दस्य किं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् ? उत तत्त्वावेदनलक्षणम् ? नाद्य इत्याह—\*व्यवहारातीतेति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*दोषवत्तयेति\* ॥ दोषोत्थस्वप्नज्ञानवद् द्वैतावभासस्य व्यवहाराविसंवादः ? आहो शुक्तिरूप्यज्ञानवद्विसंवादः ? इति शङ्कायामाह—\*नचेति\* ॥ ब्रह्मसाक्षात्कारोदयपर्यन्तमप्रतिहतव्यवहारदृष्टेर्न तद्विसंवादः शङ्क्य इत्यर्थः ॥ “इयं शुक्तिरिति ज्ञानोत्तरकालम्—“इदं रजतमिति”त्यादिज्ञानोचितव्यवहाराभाववद्द्वैतप्रतिपत्तौ न द्वैतावभासोचितव्यवहारः स्यादित्याशङ्क्याद्वैतसाक्षात्कारादवाक् पारमार्थिकांशस्यैवोपमर्द इत्याह—\*आगमेनेति\* ॥ प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकस्य च सत्त्वस्य न बाधः ; प्रत्यक्षविरोधादित्याह—\*व्यवहारेति\* ॥ प्रपञ्चस्यातात्त्विकत्वे तदन्तःपातिशास्त्राचार्यादेरप्यतात्त्विकत्वाद् बाष्पस्वप्नवन्न प्रमितिजनकत्वमित्याशङ्क्याह—\*अद्वितीयेति\* ॥ बाष्पस्य त्वव्यासत्वात्प्रमित्यहेतुत्वम्, नासत्यत्वादित्यर्थः । कदाचिदपि तर्हि न व्यवहारोपमर्दः, इत्याशङ्क्याह—\*तस्मादिति\* ॥ यथा ‘नाहं मनुष्यः’ इत्यपरोक्षप्रत्ययो



## पञ्चपादिका

तन्नियमात्, चित्रस्य तु चाक्षुषज्ञाने सामग्र्यन्तःपातिनः श्यामादिरेखासन्निवेशविशेषो दोषः ; तदभावे तिमिराभाव इव सम्यग्दर्शनोत्पत्तेः । अतः प्रवर्तमानमपि प्रमाणं संवादकमेव, इति नाप्रामाण्यमावहति । नच संवादलक्षणं प्रामाण्यम्, अपि तु बोधलक्षणमिति प्रमाणविदां स्थितिः । अतो यथैव विधिवाक्यानां स्वार्थमात्रे प्रामाण्यम्, एवं स्वरूपवाक्यानामपि ; अनवगतार्थपरिच्छेदसामान्यात् ॥

\*ननु\* विधिवाक्यानामेव प्रामाण्यं युक्तम् ; क्रियार्थत्वादात्मन्यस्य, \*न\* ; इतरेतराश्रयत्वात् । विधिवाक्यानामेव हि प्रामाण्ये सिद्धे क्रियार्थत्वमात्रायस्य सिध्येत्, क्रियार्थत्वे च सिद्धे तेषामेव प्रामाण्यमितीतरेतराश्रयत्वं स्यात्, न ह्येकमप्यन्यतः सिद्धम् ; अतो यदवगमयत्यात्मन्यस्तदर्थः सः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

गतदोषादेव चित्रनिम्नोन्नतादिज्ञानवद् ब्रह्मज्ञानमपि सिध्येति, नेत्याह—\*प्रमेयस्य पुनर्न ज्ञानहेतुत्व इत्यादिना\* ॥ \*अतः\* इत्युपसंहरति ॥ अपिच भूतार्थनिष्ठत्वात्प्रमाणान्तरविरोध उच्यते ? संवादो वाऽपेक्ष्यत इति ? विरोधेऽन्यतरस्य बाधो दर्शितः । संवादोऽपेक्षित इति चेत्, नेत्याह—\*नच संवादलक्षणमिति\* ॥ अज्ञातार्थावगम एव प्रमाणलक्षणमित्यर्थः । ततः किमायातमिति ? तदाह—\*अतो यथैव विधिवाक्यानामिति\* ॥ \*ननु\* सूत्रवचनविरोध इति चोदयति—\*ननु विधिवाक्यानामेवेति\* ॥ “नेतरेतराश्रयत्वादि”ति परिहारः । \*ननु\* सूत्रकारप्रामाण्यादेवात्मन्यस्य क्रियार्थत्वं सिद्धमिति, नेत्याह—\*नह्येकमप्यन्यत इति\* ॥ कस्तद्ध्याम्यायार्थ इति ? तदाह—\*अतो यदवगमयतीति\* ॥ \*ननु\* प्रमेयविशेषादेव प्रामाण्यम्, नावबोधात्, न ;

## श्रुतिविवरणम्

\*नच संवादलक्षणमिति\* ॥ प्रामाण्यस्वरूपं कथम् ? अप्रस्तुतम् ; प्रसङ्गाभावात्, पुनरुक्तञ्च ; पूर्वमप्युक्तत्वादित्याशङ्क्य, पूर्ववादिनाऽपि निष्फलत्वमप्रामाण्यहेतुत्वेनोक्तम्, तद्विकल्प्य निराक्रियत इति दर्शयति—\*अपिच भूतार्थनिष्ठत्वादिति\* ॥ कथं बोधलक्षणत्वं प्रामाण्यस्य ? बोधरूपत्वस्यातिव्यापकत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अज्ञातार्थावगम एवेति\* ॥ “उच्यते पुरुषः” इत्यादिना पुरुषेच्छाविषयनिरूपणं न प्रस्तुतम् ; प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यप्रयोजनाभावे सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यं न संभवतीति चोद्यस्यापरिहारादित्याशङ्क्य समुदायमवतारयति—  
तत्त्वदीपनम्

देहात्मप्रत्ययं बाधते, तथाऽयमित्यर्थः । द्वैतावभासस्यानेककालप्रवृत्तत्वाच्च बाध्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*अन्यथेति\* ॥ रेखासन्निवेशादिप्रमेयदोषवशाद् यथा चित्रनिम्नोन्नतज्ञानं ज्ञायमानमप्रमाणम्, तथा ब्रह्मज्ञानमपीति शङ्कते—\*ननु प्रमेयेति\* ॥ अत्र च भूतत्वादिः प्रमेयदोष इति द्रष्टव्यम् । प्रमेयस्य च प्रत्यक्षज्ञानं प्रति कर्मकारकत्वात् तद्वत्तदोषस्य हेतुत्वं युक्तम्, न तथा प्रकृत इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ “प्रावाणः प्लवन्ते” इत्यादौ विरोधादप्रामाण्यं दृष्टम्, तन्निरासार्थं विधिशेषत्वम् ? आहो भूतार्थं संवादापेक्षादर्शनात्तन्निरासार्थं वेति विकल्पार्थः । आद्यं दूषयति—\*विरोध इति\* ॥ अन्यतरस्य प्रत्यक्षादेरिति यावत् । स्वतःप्रामाण्याद् वेदस्य न संवादापेक्षेत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ बोधलक्षणं प्रामाण्यमिति पक्षे स्मृत्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गः, अत्राह—\*अज्ञातेति\* ॥ अनधिगतार्थबोधकत्वेन भूतवचसामपि प्रामाण्याद् विधिवाक्यानामेव प्रामाण्यमित्युक्तमित्याशङ्क्याह—\*ननु तत्रेति\* ॥ अज्ञातार्थबोधकत्वमात्रेण प्रामाण्यं सर्वज्ञैर्भिनियचनविरुद्धमित्यर्थः । क्रियार्थत्वं विनाऽप्यनपेक्षत्वेन प्रामाण्यसिद्धेर्नेतरेतराश्रयत्वमित्याशङ्क्याह—\*नेतरेति\* ॥ भूतवाक्यानां प्रामाण्यं क्रियार्थत्वेन वक्तव्यम्, ततश्चेतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः । विधिवाक्यप्रामाण्यमन्तरेणापि क्रियार्थसिद्धेर्नेतरेतराश्रयत्वमिति शङ्कते—\*ननु सूत्रकारेति\* ॥ समन्वयसूत्रविरोधेन प्रामाण्यमेवासिद्धमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ क्रियार्थत्वस्याप्रयोजकत्वंवद् भूतार्थत्वमप्यप्रयोजकम् ; व्यभिचारादित्याशयेन शङ्कते—\*कस्तर्हीति\* ॥ येन यत्प्रमीयते, स तस्यार्थ इति नियमाद् धर्म-ब्रह्मणोरन्यतरस्याम्यायार्थत्वमित्याह—\*तदाहेति\* ॥

शास्त्रस्य प्रवर्तकनिष्ठत्वात्कार्यबोधितमप्रामाण्यमिति शङ्कते—\*ननु प्रमेयेति\* ॥ \*नावबोधादिति\* ॥



## पञ्चपादिका

तस्माद् यथाकार्यमवगमयंस्तदर्थः, एवमैकात्म्यमप्यवगमयंस्तदर्थो भवितुमर्हति । प्रतीतिकृतत्वात्प्रामा-  
ण्यस्य, प्रतीतिस्तु कार्यैकात्म्ययोस्तुल्या । प्रत्यक्षादिष्वप्येतदेव प्रमाणवृत्तम्, यदनवगतमवगम्यते ॥

आह—युक्तं प्रत्यक्षादीनां तावत् प्रामाण्यम् ; अपेक्षान्तराभावात्, आम्नायस्य त्वध्ययनविधि-  
नोपादापितस्य न पुनः पुरुषार्थमप्राप्य पर्यवसानं लभ्यते ; विधानानर्थक्यप्रसङ्गात् । तस्मादैकात्म्य-  
वाक्यानां स्वार्थमात्रनिष्ठता न युक्ता ; \*उच्यते\* ;—पुरुषो हेतावदपेक्षते—इष्टं मे स्यादनिष्टं मे मा  
भूदिति, न त्वित्यमन्यथा वेति । नचास्य स्वयमीष्टे । द्विविधं चेष्टं प्रेप्सति—किञ्चित्प्राप्यम् ;

## पञ्चपादिकाविवरणम्

कार्यस्याप्यवबोधनिबन्धनत्वादित्याह—\*तस्माद्यथा कार्यमिति\* ॥ न तर्हि ब्रह्मणि शब्देभ्यः प्रतीतिरिति,  
नेत्याह—\*प्रतीतिश्चेति\* ॥ \*ननु\* प्रवर्तनालक्षणं प्रामाण्यम्, न बोधलक्षणमिति, नेत्याह—\*प्रत्यक्षादि-  
ष्वपीति\* ॥ \*ननु\* भिन्नमेव प्रमाणलक्षणं प्रत्यक्षादिषु वस्तुमात्रावबोधप्रामाण्यलक्षणम्, प्रवृत्ति-निवृत्ती तु  
वस्तुस्वभावानुरोधिन्यौ न प्रमाणफलम्, शब्दे तु पुनः प्रवृत्ति-निवृत्तिफलपर्यन्त एव प्रमाणव्यापारः ; श्रोतुः  
पुरुषार्थमुद्दिश्य शब्दप्रयोगात् । अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिज्ञान्ये भूते वस्तुनि न शब्दप्रामाण्यमित्याह—\*युक्त-  
मित्यादिना—उच्यत इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥ \*उच्यते\* इत्यादिः परिहारः\* ॥

\*इदं निरूपणीयम्—पुरुषः खल्विष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारमात्रं प्रार्थयते ? किं वा तयोः प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्यता-  
मपीति ? तत्र प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारप्रार्थनाकल्पनाल्लघीयसी हिताहितप्राप्तिपरिहारप्रार्थना-  
कल्पनेत्याह—\*पुरुषो हेतावदपेक्षत इति\* ॥ \*ननु\* सर्वो वाध्यस्वभावमेव पुरुषार्थं प्रार्थयत इति,  
नेत्याह—\*न त्वित्यमन्यथा वेति\* ॥ फलमेव हि मुख्यं प्रार्थयते, नान्तरीयका साधनप्रार्थनेत्यर्थः\* ॥  
\*ननु\* साध्यासाध्यावपि पुरुषार्थो साध्यावेष करोतीति, नेत्याह—\*न चास्य स्वयमीष्ट इति\* ॥ \*ननु\*

## ऋजुविवरणम्

\*उच्यत इत्यादिरिति\* ॥ “पुरुषो हेतावदि”त्यादेरिच्छात्वरूपकथनस्यासङ्गतिं परिहरति—\*इदं निरूपणीयमिति\* ॥  
\*ननु\* अनेन साधनेनेदं फलं भवतु, एतत्फलसाधनं वा मम संपाद्यतामिति साधनेऽपि प्रार्थना दृश्यते, अतः  
कथमुक्तम्—“न त्वित्यमन्यथा वा ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*फलमेव हीति\* ॥ पूर्वं प्रत्यक्षादीनामनधिगतार्थगन्तृत्वेन

## तत्त्वदीपनम्

नावबोधमात्रादित्यर्थः । प्रवर्तकनिष्ठत्वमसिद्धमित्याह—\*न कार्यस्येति\* ॥ कार्यपदस्येत्यर्थः । बोधकत्वेनापि न  
मित्यबोधे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति शङ्कते—\*न तर्हीति\* ॥

अनुभवविरोधान्नैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ नित्यबोधेऽपि तदाकारवृत्त्युत्पादनेन वेदान्तानां प्रामाण्यं घटत इत्या-  
शयः । “चोदना हि क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमि”त्यभिधानान्न विधेर्बोधकत्वमात्रेण प्रामाण्यमिति शङ्कते—\*ननु प्रवर्त-  
नेति\* ॥ प्रवर्तनालक्षणं गमकं यस्य प्रामाण्यस्य, तत् ; तथोक्तम् । व्यभिचारित्वान्नैतल्लक्षणमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

प्रत्यक्षाधिगतेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् प्रवर्तकत्वलक्षणमेव सर्वत्र प्रामाण्यम्, ततश्चाहेत्यादिरयुक्त इत्याशङ्क्याह—  
\*ननु भिन्नमेवेति\* ॥ उपेक्षणीयज्ञानस्य प्रवर्तकत्वाव्यभिचारादित्यर्थः । प्रवृत्ति-निवृत्त्योस्तर्ह्यौ कस्मिन्कत्वम्, तत्राह—  
\*प्रवृत्ति-निवृत्ती इति\* ॥ वस्तुभि प्रतिपन्ने तस्य हिताहितसाधनत्वानुरोधेन प्रवृत्त्यादिसंभवादित्यर्थः । शब्देऽपि  
तर्हि तादृशं प्रामाण्यम् ? तत्राह—\*शब्दे त्विति\* ॥ ततः किम् ? इत्यत आह—\*अत इति\* ॥ फलविधुरत्वाद् भूत-  
वाक्यानामप्रामाण्ये शङ्कितेऽपेक्षागोचरत्वनिरूपणमसङ्गतमिव प्रतिभातीत्याशङ्क्याह—\*उच्यत इत्यादेरिति\* ॥  
सम्यक्परिहारं दर्शयितुं विकल्पयति—\*इदमिति\* ॥ द्वितीयदूषणपुरःसरमाद्यमङ्गीकरोति—\*तत्रेति\* ॥ हिताहित-  
प्राप्तिपरिहारमात्रस्य पुरुषार्थत्वसंभवे साध्यत्वविशेषणं व्यर्थमित्यर्थः ॥

सिद्धे प्रार्थनाऽभावात्साध्यत्वमपि प्रयोजकमिति गूढाभिसन्धिः शङ्कते—\*ननु सर्व इति\* ॥ यथाश्रुतमादा-



## पञ्चपादिका

यथा ग्रामादि । किञ्चित्प्राप्तमपि ; यथा भ्रान्त्या हस्तगतमेव विस्मृतसुवर्णादि । अनिष्टमपि द्विविधं परिजिहीर्षति किञ्चित्परिहृतमपि ; यथा भ्रान्त्या रज्ज्वादि सर्पादिबुद्धिगृहीतम् । तत्र प्राप्य-परिहार्ययोः साधनज्ञानायत्तत्वात्पुरुषार्थस्य विधि-प्रतिषेधार्थवन्तौ । इतरयोस्तावद् भ्रान्तिमात्र-व्यवहितत्वान्न तदपनयादन्यत् पुरुषार्थमनुमन्यत एव पुरुषः, सुतरां चाभिनन्दति । साधनायत्तो ह्यायासाहभ्येत, ज्ञानाय त्वायासोऽपि परिहियते । तेनानेकानर्थकलुषितमिवात्मानं मन्यमानस्य भ्रान्तस्य

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सर्वः साध्य एव पुरुषार्थः, न तु सिद्धस्वभावः ; प्रेप्सागोचरत्वाभावादिति, तत्राह—\*द्विविधं चेष्टमिति\* ॥ \*ननु\* द्विविधेऽपि पुरुषार्थसाध्यस्वभावता न व्यावर्तत इति, नेतीति विभज्य दर्शयति—\*तत्र प्राप्त-परिहार्ययोरिति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानमात्रसाध्यः पुरुषार्थो न लभ्यत इति; तत्राह—\*इतरयोस्तु भ्रान्ति-मात्रव्यवहितत्वादिति\* ॥ \*ननु\* हस्तगतविस्मृतसुवर्णस्य तत्त्वज्ञानात्प्राप्तिमारोपितसर्पादिभावस्य तत्त्व-ज्ञानान्निवृत्तिं पुरुषार्थतया नानुमन्यते ; क्रियासाध्यस्यैव पुरुषार्थताप्रसिद्धेरिति, नेत्याह—\*एवमपि लभ्यमान-मिति\* ॥ साधनसाध्याज्ज्ञानलभ्यस्यातिशयेन पुरुषार्थतामाह—\*सुतरां चाभिनन्दतीति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मात्मैकत्वे प्रतिपाद्यमाने न क्रियासाध्यः पुरुषार्थः, नापि ज्ञानलभ्य इति, तत्राह—\*अनेकानर्थकलुषितमिवेति\* ॥

\*किंच\* शब्दस्य प्रामाण्यं प्रत्यक्षादिवत्प्रमेयमात्रावबोधनियन्धनं किं न स्यात् ? नच प्रवृत्ति-निवृत्ती साक्षात् फलम् ; अवगते वस्तुनि प्रयोजनाद्यनुस्मृतिनिबन्धनत्वात्प्रवृत्ति-निवृत्त्योः । नच ते पुरुषार्थतयाऽकाङ्क्षिते ;

## ऋजुविवरणम्

प्रामाण्यम्, शब्दे तु प्रवृत्त्यादिसाध्यफलपर्यन्त एव व्यापारः, तदभावे न प्रामाण्यमिति चोद्ये कृते प्रयोजनपर्यन्तत्व-मङ्गीकृत्य परिहृतम्, इदानीं शब्देऽपि न प्रवृत्तिपर्यन्तता प्रामाण्यस्येति दर्शयति—\*किञ्च शब्दस्य प्रामाण्यमिति\* ॥ \*ननु\* निष्प्रयोजनत्वेऽध्ययनविध्युपात्तत्वायोगाद् बोधमात्रस्याप्रयोजनत्वात्प्रवृत्तिपर्यन्ततेति, नेत्याह—\*नच प्रवृत्ति-निवृत्तीति\* ॥ \*ननु\* अभिलषितसाधनत्वाद्यनुसन्धानव्यवधानेऽपि प्रवृत्ति-निवृत्त्योरपेक्षितत्वात्पुरुषार्थतेति, नेत्याह—\*नच ते पुरुषार्थतयेति\* ॥ \*ननु\* सुखावासि-दुःखपरिहारयोः फलत्वेऽपि तत्साधनत्वेन प्रवृत्ति-निवृत्त्यो-

## तत्त्वदीपनम्

याह—\*नेत्याहेति\* ॥ साधनेऽपि प्रार्थनादर्शनात् कथमुक्तं पुरुषो ह्येतावदिति ? तत्राह—\*फलमेव हीति\* ॥ इष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारयोः पुरुषार्थत्वमङ्गीकृत्य साध्यत्वं तु सर्वत्राविशिष्टमिति शङ्कते—\*ननु साध्येति\* ॥ नच—सिद्धस्य साध्यत्वं व्याहृतमित्यपि—शङ्क्यम् ; दध्यादिवत्साध्यत्वसंभवादित्यर्थः । दध्यादेर्भावार्थोपरक्ततया साध्यत्वम्, न स्वरूपेणेत्याशयवानाह—\*नेत्याहेति\* ॥ संप्रति गृह्यामिसन्धिमाविष्करोति—\*ननु सर्व-इति\* ॥ सिद्धेऽपि प्रेप्सादर्शनान्मैवमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ प्राप्तप्राप्तादेरपि पुमर्थत्वात्साधनाधीनत्वं तुल्यमिति शङ्कते—\*ननु द्विविध इति\* ॥ स्वभावविरोधान्मैवमित्याह—\*नहीति\* ॥ प्राप्तप्राप्ति-परिहृत-परिहारयोः क्रियासाध्यत्वाद् ज्ञानसाध्यत्वं वक्तव्यम् । नच तदुपपद्यते ; ज्ञानस्य ज्ञेयनिश्चायकत्वादित्याशयेन शङ्कते—\*ननु ज्ञानेति\* ॥ किं तत्र मुख्यसाध्यत्वस्यासंभवश्चोद्यते ? उतामुख्यस्य ? आद्यस्त्वङ्गीक्रियत इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ द्वितीये तु नोपपत्तिरित्यमिसन्धिनोक्तम्—\*तदपनयनादिति\* ॥ दृष्टान्तमाशङ्कते—\*ननु हस्तगतेति\* ॥ अनुभवविरोधान्मैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ दृष्टान्तोक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके समर्थयितुमाक्षिपति—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्मणः स्वभावत्वात् तद्भास्यस्य क्रियासाध्यत्वम्, नापि ज्ञानलभ्यत्वम्, ज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थादृष्टेः, स्वप्रकाशासङ्गे ब्रह्मणि विपर्ययासंभवाच्चेत्यर्थः । तत्त्वसाक्षात्कारस्य भ्रमविरोधित्वात् तद्दर्शनस्य चान्यथासिद्धेर्बन्ध-माणत्वाद् वस्तुतोऽसङ्गस्याप्यविद्यानिमित्तानर्थसंबन्धसंभवाच्च ब्रह्मज्ञानात्पुरुषार्थो युक्त इत्यभिप्रायेणाह—\*तत्राहेति\* ॥ पुरुषार्थपर्यन्तं प्रामाण्यमित्यङ्गीकृत्योक्तं पूर्वत्र, नच तदपीत्याह—\*किं च शब्दस्येति\* ॥



## तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ।

### भामती

गम्यम् ; तथाऽपि तद्वोदोपजनने मानान्तरं नापेक्षन्ते, नापीमामेवार्थापत्तिम् ; परस्पराश्रयप्रसङ्गादिति स्वत इत्युक्तम् । ईदृग्वोधजनकत्वं च कार्ये इव विधीनां वेदान्तानां ब्रह्मण्यस्ति, इति दृष्टान्तानपेक्षं तेषां ब्रह्मणि प्रामाण्यं सिद्धं भवति ; अन्यथा नेन्द्रियान्तराणां रूपप्रकाशनं दृष्टम्, इति चक्षुरपि न रूपं प्रकाशयेदिति । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं समाप्तम् ।

### मृजुप्रकाशिका

कार्यलिङ्गकानुमानं कार्यार्थापत्तिशब्दार्थः । समाधत्ते—\*तथापीति\* ॥ \*नापेक्षन्ते\* ॥ वेदान्ताः, इति शेषः । \*तेषाम्=बोधकानामित्यर्थः ॥

इति भामतीव्याख्यायामृजुप्रकाशिकायां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं संपूर्णम् ॥

### वार्तिकम्

हेतुसमर्थनमुपसंहरति—\*तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमिति\* ॥

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं संपूर्णम् ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

सिद्धार्थे शब्दानां प्रामाण्यं न संभवतीति ये मन्यन्ते, तन्मतं निरस्तम् ।

इति पूज्यश्रीचित्सुखमुनिकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां भाष्यभावप्रकाशिकायां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं नाम प्रथमं वर्णकं संपूर्णम् ॥

### प्रदीपः

वगतशास्त्रतात्पर्यविषयत्वादिति सूत्रार्थः । “\*सर्वेषु वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानी\*”ति\* भाष्येणोक्तविधं समन्वयस्वरूपमेव बोध्यते ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यटिप्पणे प्रदीपे वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं समाप्तम् ।





## पञ्चपादिका

सर्वानर्थशून्यात्मतत्त्वप्रतिपादनादेव पुरुषार्थसिद्धेरैकात्म्यवाक्यानां स्वार्थमात्रनिष्ठत्वेऽपि न विध्यनर्थक्य-  
प्रसङ्गः । तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणत्वम् ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपञ्चपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां  
वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं नामाष्टमं वर्णकं समाप्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सुख-दुःखप्राप्तिपरिहारलक्षणत्वात् प्रयोजनस्य । ततश्च नित्य-नैमित्तिकवाक्यानां प्रयोजनशून्यतया प्रामाण्यं न  
स्यात् । अकरणे प्रत्यवायपरिहारः प्रयोजनमिति चेत्, न ; प्रत्यवायस्यापि तन्निबन्धनत्वात् । ततश्च नित्य-  
विधयोऽनुष्ठानाननुष्ठानयोरनर्थमेव प्रापयन्तीति न तद्वाक्यानां प्रामाण्यं युक्तम् । अतो बोधलक्षणमेव प्रामाण्यम्,  
न प्रवृत्तिलक्षणमिति । \*तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणत्वमिति\* ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्य-स्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ पञ्चपादिकाविवरणे  
वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं नामाष्टमं वर्णकं समाप्तम् ॥

## ऋजुविवरणम्

शाकाङ्क्षितत्वात्तत्परतेत्याशङ्क्य बाधकं दर्शयति—\*ततश्च नित्य-नैमित्तिकेति\* ॥ यद्वा—भवतु सुखावाप्ति-दुःख-  
परिहारफलत्वम्, ततः किमिति ? तदाह—\*ततश्च नित्य-नैमित्तिकेति\* ॥ \*तदकरणे प्रत्यवायपरिहार इति\* ॥ तेषां  
वाक्यानां कर्मणां वा योग्यमकरणे प्रत्यवायः ; तत्परिहारः प्रयोजनमित्यर्थः । \*प्रत्यवायस्यापि तन्निबन्धनत्वादिति\* ॥  
अयमर्थः—प्रत्यवायस्यास्तित्वं विधित्वेन प्रामाण्ये सिद्धे, तदस्तित्वे च विधित्वसिद्धिरस्तीतीतरेतराश्रयत्वम्, अथवा  
प्रत्यवायस्य दुरितस्य योऽयं परिहारः, तन्निबन्धनो दुःखसाधनत्वनिबन्धनः, न साक्षात्, तच्च दुःखं तत्करणेऽप्य-  
विशिष्टम् ; अतो न सप्रयोजनत्वम् ॥ यद्वा—प्रत्यवायस्यापि दुःखस्य तन्निबन्धनत्वादनुष्ठानदुःखस्याप्यनुष्ठानहेतु-  
त्वात्तत्परिहारवत् तेन न तस्य प्रयोजनत्वम्, यद्वा प्रत्यवायस्य दुरितस्यापि पुण्यवत् तन्निबन्धनत्वादनुष्ठाननिबन्धन-  
त्वान्नाकरणनिबन्धनत्वम्, “कथमसतः सजायेत” “नासतो विद्यते” इति दर्शनात् । केचित् प्रत्यवायस्याप्य-  
तन्निबन्धनत्वादकरणनिबन्धनत्वादिति—व्याचक्षते ॥ सर्वथा नित्य-नैमित्तिकानां निष्प्रयोजनत्वेन तद्वाक्यानां  
प्रामाण्यमिति ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज-सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ

ऋजुविवरणे वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं नामाष्टमं वर्णकं समाप्तम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

प्रवृत्ति-निवृत्त्युद्देशेन वाक्यप्रयोगात् तत्पर्यन्तं तत्प्रमाणमित्याशङ्क्य, किं प्रवृत्ति-निवृत्त्योः साक्षात्फलत्वम् ?  
उत फलानुगुणतया ? नाद्य इत्याह—\*नचेति\* ॥ साधनमादिशब्दार्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—\*नच ते इति\* ॥  
द्वितीये प्रयोजनपर्यन्तं प्रामाण्यमिति किं गुरुमतानुसारिणोच्यते ? उत भाट्टमतानुसारिणा ? नाद्य इत्याह—\*ततश्चेति\* ॥  
\*तत इति\* ॥ प्रयोजनपर्यन्तं प्रामाण्यमिति पक्ष इत्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*अकरण इति\* ॥ परस्पराश्रय-  
प्रसक्तैर्नैतदित्याह—\*न प्रत्यवायस्येति\* ॥ तन्निबन्धनत्वादिति\* ॥ विधিনিबन्धनत्वादित्यर्थः । विहितत्वसिद्धौ तद-  
करणनिमित्तप्रत्यवायनिवृत्तिलक्षणं फलं सिध्यति, तस्मिन् सिद्धे तदुद्देशेन विहितत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः ।  
इतोऽपि न पुरुषार्थपर्यन्तं प्रामाण्यमित्याह—\*ततश्चेति\* ॥ प्रत्यवायनिवृत्त्यसंभवस्तच्छब्दार्थः । अनुष्ठाने बहुतरवित्त-  
व्ययायासाद्यनर्थप्राप्तिः, अननुष्ठानेऽनेकबहिष्करणाद्यनर्थ इत्यप्रामाण्यं नित्यादिवाक्यानामित्यर्थः । अवान्तरप्रमेय-  
मुपसंहरति—\*अत इति\* ॥ वर्णकार्थमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-

दीपने वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं नामाष्टमं वर्णकं समाप्तम् ॥

इति अष्टमं वर्णकं समाप्तम् ॥







## अथ नवमं वर्णकम्

### पञ्चपादिकाविवरणम्

लोके पदानां योग्येतरसंसृष्टस्वार्थप्रतिपादने सामर्थ्यमङ्गीकृत्य भूतेऽप्यर्थे प्रामाण्योपगमेन लौकिकवचसां भूतेऽर्थे प्रमाणान्तरानुसारेण प्रयोजनपर्यन्तं प्रामाण्यमङ्गीकृत्य वेदवचसां तु प्रमाणान्तराभावाद्विध्यनुसारेणैव प्रयोजनपर्यन्तं प्रामाण्यं वक्तव्यमित्याशङ्क्य नेति प्रतिपादितम् । इदानीं कार्यसंसृष्टस्वार्थे शब्दसामर्थ्यमिति

### ऋजुविवरणम्

“अत्रापरे” इत्याक्षेपो नोदेति, परिहृतत्वात्, पूर्ववर्णकेऽपि प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्यप्रयोजनोद्देशेन शब्दप्रयोगो दृष्टः, वेदेऽपि तथाविधप्रयोजनाभावे सिद्धे वस्तुनि न प्रामाण्यम्, अध्ययनविध्युपात्तत्वाच्च वेदस्य । तस्य च निष्प्रयोजनत्वेनाक्षरग्राहकत्वाभावात्, प्रयोजनस्य च प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्यत्वात्, तयोश्च विध्यायत्तत्वात् केवलस्वरूपे प्रामाण्यं नास्तीत्याक्षिप्य समर्थनं कृतम्, अत्रापि स एवाक्षेपः । नच सिद्धे वस्तुनि सामर्थ्याभावेनाक्षेपाद्भेदः ; पूर्वत्रापि तस्या-विशेषात् तस्यैवानुक्तत्वाच्च । नच लोकेऽपि सिद्धवस्तुप्रतिपादनादर्शनाद् वेदेऽपि न संभवतीत्याक्षेपाद् भेदः ; पूर्वमपि तस्यैवाक्षेपहेतुत्वात्, नचान्यदाक्षेपबीजं प्रागनुक्तमिहोक्तं दृश्यते, परिहारश्च । उपक्रमेऽपि वर्णकस्यास्य कारणं नोपलभ्यते ; अतो नारम्भणीयं वर्णकान्तरमित्याशङ्क्य विषयभेदं दर्शयति—\*लोके पदानामिति\* ॥ प्रामाण्यस्यैवाक्षेपः पूर्ववर्णके, तदङ्गीकृत्याक्षेपात्क्रम इत्युक्तम् । हेतुः “पुरुषेच्छासमुत्थापितो ह्री”त्यादिना कीर्तितः । “अयथा शब्दप्रयोगानुपपत्तेरि”त्युक्तम् ; नह्ययं ग्रन्थो वेदविषयः, तस्य लोकव्युत्पत्त्यनुसारित्वात् कथं विधिसंस्पर्शो निश्चीयते ? “पुरुषेच्छासमुत्थापितो ह्री”त्यादिरपि विरुध्यते ; अपौरुषेयत्वेन पुरुषेच्छानिबन्धनत्वाभावात्, नापि लौकिकप्रयोगविषयः ; तस्य प्रयोगप्रत्ययदर्शनात्, तदधीनत्वाद् व्युत्पत्तेर्व्युत्पत्त्यधीनत्वादुत्तरप्रयोगस्येति परिहृतत्वात्, शक्तित्वात्पर्यज्ञानं यत्र शब्दस्य भवति, तत्र प्रामाण्यम्, तदभावे च प्रयोगानुपपत्तिः । नच तदप्यस्ति ; अतो नानु-

### तत्त्वदीपनम्

भूतार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्सापेक्षत्वप्रसङ्गाच्च विधिशेषतयैव वेदस्य प्रामाण्यमित्येतत्पूर्वत्र प्रत्यक्षेपि, अत्रापि विधिशेषत्वशङ्का प्रतिक्षिप्यत इति पौनरुक्त्यमाशङ्क्य, वृत्तानुवर्णनपुरःसरं प्रमेयभेदं दर्शयति—\*लोक इत्यादिना\* ॥ सिद्धे संगतिग्रहणादेवाबोधकत्वं नेत्याह—\*भूत इति\* ॥ अबोधकत्वाभावेऽपि भूते प्रयोजनाभावादपुरुषार्थतालक्षणमप्रामाण्यमित्याशङ्क्याह—\*लौकिकवचसामिति\* ॥ \*प्रमाणान्तरानुसारेणेति\* ॥ \*वक्त्रनुमानानुसारेणेत्यर्थः । \*प्रमाणान्तराभावादिति\* ॥ अपौरुषेयत्वेन मूलभूतवक्त्रनुमानाभावादित्यर्थः । प्रत्यक्षादिना स्वर्गाद्यनुपलब्धावपि वेदस्य विधिनिष्ठत्वाद्विधेश्च कालान्तरभाविफलोत्पादानुकूलमप्रामाण्यं युक्तमित्यर्थः ।

### वार्तिकम्

एवं तावत् सूत्राक्षरव्याख्यानेनात्यन्तबहिर्मुखान्निराकृत्य हेत्वसिद्धिः परिहृता । संप्रति तत्तात्पर्यतो विधिसंस्पर्शमन्तरेणैव वेदान्तानां ब्रह्मबोधकत्वमित्यस्मिन्नर्थे विप्रतिपन्नैकदेशिनो भाष्यभावप्रकाशिका

इदानीं कार्यान्वित एव स्वार्थे पदानां सङ्गतिग्रहात् शास्त्रप्रमाणकमपि ब्रह्म कार्यशेषतयैव प्रामा-

### प्रवीपः

एतावता वेदान्तवाक्यार्थवादत्वाक्षेपः, जीवस्य ब्रह्मत्वेनारोपितेनोपास्यतापक्षो वा सिद्धेऽपि वाक्यानां बोधकत्वमूरीकृत्य पूर्वपक्षिणोपक्षिणो निवारितः, साम्प्रतं तु आचार्यदेशीयानां सिद्धसंगतिग्रहासंभवेन कार्यपराणामेव वाक्यानां प्रामाण्यं लोक-वेदयोरुभयोरपीति पक्षमनुसृत्य स्वतन्त्रब्रह्मोपासनं मोक्षप्रयोजनं वेदान्तेषु विधीयते । निर्विशेषचैतन्यस्वरूपबोधकानि तु



## अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—

भामती

आचार्यदेशीयानां मतमुत्थापयति—\*अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्त इति\* ॥ तथाहि—

“अज्ञातसंगतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया । मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद्ब्रह्मनिश्चयः ॥”

न खलु वेदान्ताः सिद्धब्रह्मरूपपरा भवितुमर्हन्ति ; तत्राविदितसंगतित्वात् । यत्र हि शब्दा लोकेन न प्रयुज्यन्ते, तत्र न तेषां संगतिग्रहः । नचाहेयमनुपादेयं रूपमात्रं कश्चिद्विवक्षति प्रेक्षावान् ; तस्याबुभुत्सितत्वात्, अबुभुत्सितावबोधने च प्रेक्षावत्ताविधातात् । तस्मात् प्रतिपित्सितं प्रतिपिपादयिषन्नयं लोकः प्रवृत्ति-निवृत्तिहेतुभूतमेवार्थं प्रतिपादयेत् । कार्यं चावगतं तद्धेतुः, इति तदेव बोधयेत् । एवंच वृद्धव्यवहारप्रयोगात् पदानां कार्यपरतामवगच्छति । तत्र किञ्चित्साक्षात्कार्या-  
मिधायकम्, किञ्चित्तु कार्यार्थस्वार्थमिधायकम्, नतु भूतार्थपरता पदानाम् । अपिच नरान्तरस्य व्युत्पन्नस्यार्थप्रत्ययमनुमाय तस्य च शब्दभावाभावानुविधानमवगम्य शब्दस्य तद्विषयबोधकत्वं निश्चेतव्यम् ।

ऋजुप्रकाशिका

\*नतु भूतार्थपरतेति\* ॥ नतु भूतार्थमात्रपरतेत्यर्थः । तथाच न सिद्धार्थब्रह्ममात्रपरा वेदान्ता इति भावः । किञ्च—इतोऽपि न सिद्धब्रह्ममात्रपरा वेदान्ता इत्याह—\*अपिचेति\* ॥ अव्युत्पन्नस्य शब्दादर्थप्रत्ययाजननादाह—\*व्युत्पन्नस्येति\* ॥ \*तस्य = अर्थप्रत्ययस्य । \*शब्देति\* ॥ शब्दान्वय-व्यतिरेकाभ्यां शब्दजन्यत्वमवगम्येत्यर्थः । \*तद्विषयेति\* ॥ प्रत्ययविषयेत्यर्थः । सङ्गतिर्वाचकत्व-

पञ्चपादिका

\*अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते\*—यद्यपि शास्त्रेण प्रतीयते ब्रह्म ; तथाऽपि विधिसंस्पर्शिना, न तद्वहितेन । कस्मादेवम् ? अन्यथा शब्दप्रयोगानुपपत्तेः ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

मन्वानाः कार्यशेषतयैव भूतेऽप्यर्थे प्रामाण्यमिति प्रत्यवतिष्ठन्त इत्याह—\*अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्त इति\* ॥ \*ननु\* लौकिकवचसां भूतेऽप्यर्थे प्रयोगप्रत्ययदर्शनात् तदनुसारेण च योयेतरसंसृष्टे शब्दसामर्थ्यप्रतिपत्तेः कुतो विधिसंस्पर्श इत्याक्षिपति—\*कस्मादेवमिति\* ॥ परिहरति—\*अन्यथा शब्दप्रयोगानुपपत्तेरिति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

“सदेवे”त्यादिवाक्यं किं कार्यसंसृष्टे ब्रह्मणि प्रमाणम् ? उत शुद्धे ? इति सिद्धे पदानां व्युत्पत्तिसंभवासंभवाभ्यां सदेहे पूर्वपक्षः प्रदर्श्यत इत्यर्थः । कार्यसंसृष्टस्वार्थस्य पदशक्तिविषयत्वमाक्षिपति—\*ननु लौकिकेति\* ॥ लौकिकवचसां कुतो विधिसंस्पर्श इति संबन्धः । \*प्रयोगप्रत्ययदर्शनादिति\* ॥ उत्तमवृद्धप्रयोगस्य मध्यमवृद्धप्रत्ययस्य च दर्शना-  
दित्यर्थः । एकग्रन्थत्वशङ्कां निरस्यति—\*परिहरतीति\* ॥ सिद्धेऽप्यर्थे प्रयोगदर्शनात्कथमनुपपत्तिरिति शङ्काया-

वार्तिकम्

निराकर्तुमुत्थापयति—\*अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्त इति\* ॥ \*अत्र = विधिसंस्पर्शमन्तरेणैव वेदान्ता ब्रह्मणि प्रमाणमित्यस्मिन्नर्थे ॥ \*अपरे = एकदेशिनः\* ॥ \*प्रत्यवतिष्ठन्ते = प्रतिकूलाश्रया अवतिष्ठन्ते ;

भाष्यभावप्रकाशिका

णिकमिति मतान्तरमुत्थापयति—\*अत्रापर इति\* ॥ \*ननु\* विधिपरत्वे न ब्रह्मपरता स्याद्वेदे ; वाक्य

प्रदीपः

वेदान्तवाक्यान्नुपास्यविशेषसमर्पणविधयोपासनाविधिपराण्येवेति मतमनुसृत्य पूर्वपक्षमुत्थापयति—\*अत्रापर इति\* ॥ आचार्य-  
देशीयत्वादेव प्रत्यगमिन्नं ब्रह्म सत्यमेव मन्यते, परन्तु न तज्ज्ञानमात्रेण मुक्तिः, किन्तुपासनादेवेति भगवत्पादसिद्धान्ताद्विशेषः ।



### भामती

नच भूतार्थरूपमात्रप्रत्यये प्रनरवर्तिनि किञ्चिल्लिङ्गमस्ति, कार्यप्रत्यये तु नरान्तरवर्तिनि प्रवृत्ति-निवृत्ती स्तो हेतू, इत्यजातसंगतित्वाच्च ब्रह्मरूपपरा वेदान्ताः। अपिच वेदान्तानां वेदत्वाच्छास्त्रत्वप्रसिद्धिरस्ति। प्रवृत्ति-निवृत्तिपराणां च संदर्भाणां शास्त्रत्वम्। यथाहुः—“प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥” इति ॥ तस्माच्छास्त्रत्वप्रसिद्ध्या व्याहृतमेवां स्वरूपपरत्वम्।

अपिच न ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपराणामेषामर्थवत्त्वं पश्यामः। नच ‘रज्जुरियं न भुजङ्गः’ इति यथाकथंचिल्लक्षणया वाक्यार्थतत्त्वनिश्चये यथा भय-कम्पादिनिवृत्तिः, एवं ‘तत्त्वमसि’ इति वाक्यार्थाव-गमाच्चिद्वृत्तिर्भवति सांसारिकाणां धर्माणाम्; श्रुतवाक्यस्यापि पुंसस्तेषां तादवस्थ्यात् ॥

अपिच यदि श्रुतब्रह्मणो भवति सांसारिकधर्मनिवृत्तिः, कस्मात् पुनः श्रवणस्योपरि मननादयः श्रूयन्ते? तस्मात्तेषां वैयर्थ्यप्रसङ्गादपि न ब्रह्मस्वरूपपरा वेदान्ताः, किंत्वात्मप्रतिपत्तिविषयकार्यपराः। तच्च कार्यं स्वात्मनि नियोज्यं नियुञ्जानं नियोग इति च मानान्तरापूर्वमिति चाख्यायते।

### ऋजुप्रकाशिका

शब्दार्थः। निश्चेतव्यं व्युत्पत्सुना तटस्थेनेति शेषः। प्रयोजकवृद्धोदितवाक्यश्रवणानन्तरं तटस्थः प्रयोज्यवृद्धो व्यवहारमाकलयन् तद्व्यवहारेण तदीयं ज्ञानमनुमाय तज्ज्ञानस्य शब्दान्वय-व्यतिरेकाभ्यां शब्दजन्यत्वमवगत्य तस्य तज्ज्ञानविषयेऽर्थे शक्तिं गृह्णातीत्यस्य सकललोकसिद्धत्वादिति भावः। एवं सति तत्र परकीयप्रत्ययेऽनुमेये सति तत्र वक्तव्यम्—किं नरान्तरवर्तितप्रत्ययसिद्धार्थमात्रप्रत्ययरूपः? किं वा कार्य-प्रत्ययरूपः? आद्ये तदनुमापकलिङ्गमेव नास्तीति न तदनुमानमित्यभिप्रेत्याह—\*नचेति\* ॥ द्वितीये तु लिङ्ग-सद्धावात् कार्य एव शब्दस्य सङ्गतिग्रह आयातः, इति न सिद्धब्रह्ममात्रपरा वेदान्ताः, इत्यभिप्रेत्याह—कार्यप्रत्यये त्विति\* ॥ लिङ्गं हेतुशब्दार्थः ॥

कारिकायाम्—“अज्ञातसङ्गतिवेने”ति व्याख्याय शास्त्रत्वेनेत्येतद् व्याचष्टे—\*अपिच वेदान्तानामिति\* ॥ अस्तु वेदान्तानां शास्त्रत्वप्रसिद्धिः, ततः किमिति? अत आह—\*प्रवृत्ति-निवृत्तिपराणां चेति\* ॥ तत्र संमतिमाह—\*यथाहुरिति\* ॥ \*एषाम् = वेदान्तानाम्। तथाच वेदान्तानां सिद्धब्रह्ममात्रपरत्वे शास्त्रत्व-प्रसिद्धिव्याहतेः कार्यपरत्वं वाच्यमिति भावः। कारिकायाम्—“अर्थवत्तया” इत्येतद् व्याकरोति—\*अपिच न ब्रह्मस्वरूपेति\* ॥ \*एषाम् = वेदान्तानाम्। सिद्धब्रह्ममात्रपरत्वे वेदान्तानां कुतो नार्थवत्तयाशङ्क्य, निराकरोति—\*नचेति\* ॥ ‘रज्जुरियं न भुजङ्गः’ इति शब्दाद् रज्जुत्वभुजङ्गाभावत्वविशिष्टयोरैक्यवाक्यार्थ-तत्त्वनिश्चयाभावात् सिद्धान्तिमते रज्जुद्रव्यस्यारोपितभुजङ्गभावस्वरूपरूपत्वेऽपि तदभावत्वानधिकरणत्वात्। अतो लक्षणयेत्युक्तम्। यद्यपि रज्जुरियमिति शब्दजन्यप्रतीत्यैव भयकम्पादिनिवृत्तिर्वक्तुं युक्ता; तथाऽपि रज्ज्वारोपितभुजङ्गभ्रमजन्यभय कम्पादेर्भुजङ्गाभावाभेदनिश्चयसाध्यत्वं वक्तव्यमिति तथोक्तम्। एवं “तत्त्वमसि” इति लक्षणजन्यवाक्यार्थावगमाद् निवृत्तिर्नच भवति सांसारिकधर्माणामिति योजना। कुतो निवृत्तिर्न भवतीत्यत आह—\*श्रुतवाक्यस्यापीति\* ॥ \*तेषाम् = सांसारिकधर्माणाम्। तस्माद्वेदा-न्तानां कार्यपरत्वेनैवार्थवत्तया केवलब्रह्मपरत्व उक्तविधयाऽर्थवत्त्वाभावाद् न केवलब्रह्मपरा वेदान्ताः। कारिकायां मननादिप्रतीत्या चेत्येतद् व्याचष्टे—\*अपिच यदीति\* ॥ वेदान्तश्रवणजन्यब्रह्मज्ञानवतोऽपि सांसारिकधर्मनिवृत्तिः, ततश्चार्थवत्तयेत्युच्येत। तथा श्रवणानन्तरं मननादिविधिवैयर्थ्यं स्यात्। तस्मात् कार्यपरत्व एवार्थवत्त्वसंभवादिधैयप्रतिपत्तिविषयात्मलाभाय मननादिसंभवाच्चात्मप्रतिपत्तिविषयकार्यपरा एव वेदान्ताः, न केवलब्रह्मपरा इत्यर्थः। \*ननु\* कार्यपरत्वमुक्तं वेदान्तानाम्, किं तत्कार्यम्? तत्राह—\*तच्च कार्यमित्यादिना—अपूर्वमिति चाख्यायत इत्यन्तेन\* ॥



## भामती

नच विषयानुष्ठानं विना तत्सिद्धिः, इति स्वसिद्ध्यर्थं तदेव कार्यं स्वविषयस्य करणस्यात्मज्ञानस्यानुष्ठान-  
माक्षिपति । यथाच कार्यं स्वविषयाधीननिरूपणमिति ज्ञानेन विषयेण निरूप्यते, एवं ज्ञानमपि स्वविषय-  
मात्मानमन्तरेणाशक्यनिरूपणम्, इति तन्निरूपणाय तादृशमात्मानमाक्षिपति, तदेव कार्यम् । यथाहुः—  
“यत्तु तत्सिद्ध्यर्थमुपादीयते = आक्षिप्यते, तदपि विधेयमिति तन्त्रे व्यवहारः” इति । विधेयता च  
नियोगविषयस्य ज्ञानस्य भावार्थतयानुष्ठेयता, तद्विषयस्य त्वात्मनः स्वरूपसत्ताविनिश्चितिः । आरोपित-  
तद्भावस्य त्वन्यस्य निरूपकत्वे तेन तन्निरूपितं न स्यात् । तस्मात्तादृगात्मप्रतिपत्तिविधिपरेभ्यो वेदान्ते-  
भ्यस्तादृगात्मविनिश्चयः ।

## ऋजुप्रकाशिका

\*ननु\*—प्रतिपत्तिविषयकं कार्यं चेत्, तदेवानुष्ठेयं स्यात् किमर्थं तर्हि प्रतिपत्त्यनुष्ठानम् ? प्रति-  
पत्तेर्विधेयतया तदनुष्ठानं स्यादित्याशङ्क्य, स्वविषयप्रतिपत्तेरनुष्ठानं विना कार्यमेव न सिद्ध्यतीति कार्यं  
स्वसिद्ध्यर्थं स्वविषयप्रतिपत्त्यनुष्ठानमाक्षिपतीत्याह—\*नचेति\* ॥ कार्यं स्वशब्दार्थः । \*ननु\*—एता-  
वताऽनुष्ठेयत्वेन ज्ञानसिद्धावपि वेदान्तानामात्मब्रह्मपरत्वाभावे कथमात्मसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*यथाच  
कार्यमिति\* ॥ \*तन्निरूपणाय = ज्ञाननिरूपणाय । तादृशज्ञानविषयत्वसिद्ध्यर्थं यदाक्षिप्यते, तद्विषयमेव  
कार्यमित्यत्र संमतिं वक्तुं तदेव कार्यमित्याह—\*तदेव कार्यमिति\* ॥ संमतिमाह—\*यथाहुरित्यादिना\* ॥  
उपादीयत इत्यस्य विवरणम्—\*आक्षिप्यत इति\* ॥ \*ननु\*—कार्यं नियोगः, तद्विषयस्य ज्ञानस्य  
विधेयत्वमुक्तम्, ज्ञानद्वारा तद्विषयस्यात्मनो विधेयत्वमुक्तप्रायम्, तत्र ज्ञानस्य का नाम विधेयता ? इत्यत  
आह—\*विधेयता चेति\* ॥ अत्र ज्ञानस्योपासनारूपत्वेन भावार्थतया कर्मतयाऽनुष्ठेयत्वमस्तीति भावः ।  
तद्विषयस्यात्मनः का नाम विधेयतेति ? अत आह—\*तद्विषयस्यात्मनः स्वरूपसत्ताविनिश्चितिरिति\* ॥  
विधेयतेत्यनुषङ्गः । अज्ञातशक्तिर्विधेयतेत्यङ्गीकारादिति भावः । \*ननु\* वाग्धेनूपास्यादाविवारोप्यस्य  
विधेयविशेषणत्वं किं न स्यादिति ? अत आह—\*आरोपितेति\* ॥ ‘ब्रह्माहमस्मी’ति ज्ञाने यादृगर्था  
भाति, तद्भाव आरोपितो यस्य स तथोक्तः । \*तस्य = अन्यस्य । निरूपकत्वे \*तेन = प्रतिभासमानार्थेन ।  
\*तत् = ज्ञानं निरूपितं न स्यात् ; अनारोपिततद्भावस्यैव तन्निरूपकत्वे संभवत्यारोपिततद्भावस्य  
तन्निरूपकत्वकल्पनायोगादिति भावः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

अयं भावः—श्रोतुः साध्यमेव किञ्चित्प्रयोजनमुद्दिश्य प्रवृत्तिं विवक्षित्वा प्रवर्तकज्ञानाय प्रयोक्ता शब्दं  
प्रयुङ्क्ते । ततः प्रवर्तकनिष्ठं वाक्यं श्रोतुः प्रवर्तकज्ञानमेव जनयति । प्रवर्तकज्ञानेन च शब्दसमनन्तर-

## ऋजुविवरणम्

पपत्तिरित्याशङ्क्य, प्रयोगप्रत्ययव्युत्पत्तिसामर्थ्यादेवानुपपत्तिर्निश्चीयत इत्यभिप्रायमाह—\*अयं भावः—श्रोतुः साध्य-  
मेवेति\* ॥ यद्यपि प्रयोगः प्रवर्तकविषयः, प्रतिपत्तिरपि तथेति कथं निश्चीयत इत्याह—\*ततः प्रवर्तकनिष्ठमिति\* ॥

\*ननु\* प्रवर्तकज्ञानजननेऽपि तन्निष्ठत्वेनैव व्युत्पत्तिरिति कथं निश्चीयते ? शक्तिविषयादन्यत्रापि बोधजनकत्व-  
दर्शनादित्याशङ्क्याह—\*प्रवर्तकज्ञानेन शब्दसमनन्तरेति\* ॥ \*ननु\* प्रवर्तके व्युत्पत्तावपि न कार्यनिष्ठता निश्चेतुं

## तत्त्वदीपनम्

माह—\*अयं भाव इति\* ॥ प्रवृत्त्यभावे प्रयोजनासंभवात्सा संपादनीयेत्यभिसन्धायाह—\*प्रवृत्तिमिति\* ॥ प्रवृत्तेश्च  
प्रवर्तकज्ञानं विनाऽसंभवात्तदपि निष्पादनीयमित्याह—\*प्रवर्तकेति\* ॥ प्रयोगस्य प्रवर्तकविषयत्वमभिधाय प्रत्यय-  
स्यापि तद्विषयत्वमाह—\*तत इति\* ॥ प्रवर्तके सङ्गतिग्रहणात्कथं शब्दात्प्रवर्तकत्वबोधोदयः ? इत्याशङ्क्य, संगते-  
स्तद्विषयत्वमुपपादयति—\*प्रवर्तकज्ञानेनेति\* ॥ भवतु प्रवर्तके सङ्गतिग्रहः, तथाऽपि कथं कार्यं सङ्गतिग्रहः ? तत्राह—



### पञ्चपादिकाविवरणम्

भाविनाऽनन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकाभ्यां शब्दस्य संबन्धं व्युत्पत्ता प्रतिपद्यते । तच्च प्रवर्तकं प्रत्यक्षादि-व्यवहारेषु शब्दव्युत्पत्तेः प्राक् कार्यमिति ज्ञानात्सर्वत्र प्रवर्तते, इति कार्यमेव श्रोतुः शब्दज्ञानगोचरं कल्पयति । तत्र कार्यसंसृष्टेषु पदार्थेषु पदसमुदायस्य प्रथमं सामर्थ्यं कल्पयित्वा पुनः प्रयोगान्तरेष्वावापोद्भाष्यामेकैकस्य पदस्य कार्यसंसृष्टस्वार्थेषु संबन्धं प्रतिपद्यते ; प्रथमप्रयोगे कार्यसंसृष्टपदार्थेषु सामर्थ्यप्रतिपत्तेः । \*ननु\* बालस्य स्वव्यवहारेऽभिलषितसाधनताज्ञानात्प्रवृत्तिः, न कार्यज्ञानात् । ततश्च श्रोतुः शब्दसामर्थ्यविषयतया-

### ऋजुविवरणम्

शक्यते ; प्रवर्तक एव बहुधा वादिविवाददर्शनात्—केचिन्नावाथ एव प्रवर्तक इत्याहुः, अपरे फलं साधनज्ञानं वा, अन्ये रागम्, अन्ये प्रत्यक्षादिव्यवहारे यत्र यस्य प्रवर्तकत्वं दृश्यते, तत्र तस्य प्रवर्तकता, शब्दव्यवहारे तु लिङ्गादय एव प्रवर्तका इत्याहुः, इतरे शब्दव्यापारमेवामिधेयानभिधेयत्वविभागेन प्रवर्तकत्वेन प्रतिपन्नाः, अतः कार्यनिष्ठता कथं निश्चीयत इति ? तन्नाह—\*तच्च प्रवर्तकं प्रत्यक्षादीति\* ॥ न तावच्छब्द-तद्व्यापारयोः प्रवर्तकत्वम् ; प्रत्यक्षादिव्यवहारेऽदर्शनात् । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि स्वव्यापारे यस्य प्रवर्तकत्वं दृष्टम्, तस्यैवान्यत्र कल्पयति । नच शब्दे तदस्ति ; अव्युत्पन्नानामपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

“प्रवर्तकं यद् व्यवहारकाले बालस्य पूर्वं तदिहापि कल्प्यम् ।

कार्येतरन्नैव तदस्ति दृष्टं शब्देऽपि तेनेदमेवेहि हेतुम् ॥”

तेन कार्यं व्यवहारेहेतुः । पक्षान्तरेषु चायं दोषः समानः । दोषान्तरं व्यक्तत्वाद् नेह कीर्तितं विस्तरभयात् ।

\*ननु\* तर्हि सर्वपदानां कार्यमात्रे शक्तिप्रतिपत्तेः पदान्तरप्रयोगः पर्यायतया न स्यात्, नच प्रातिस्विकपदार्थं प्रथमं शक्तिज्ञानकारणमस्ति । नच प्रथमं कार्यं गृहीतशक्तीनां पश्चात्स्वायं शक्तिग्रहणं युक्तम् ; प्रथमप्रतिपत्तिविरोधादित्या-शङ्क्याह—\*तत्र कार्यसंसृष्टेषु पदार्थेष्विति\* ॥ यदि प्रथमं पदसमुदायस्य शक्तिः कल्पिता स्यात् ; प्रतिपदमर्थभेदो न स्यात् ; समुदायस्यैव शक्तिप्रतिपत्तेः, तद्ज्ञानस्य चायुक्तत्वादित्याशङ्क्याह—\*पुनः प्रयोगान्तरेष्विति\* ॥

\*ननु\* आवापोद्भाराभ्यामेकैकस्य पदस्य पश्चात्सामर्थ्यं कल्प्यते यदि, तर्हि सर्वपदानां पदार्थमात्रे शक्तिस्स्यात्, न कार्यान्विते ; अन्वय-व्यतिरेकाविशेषालाघवादित्याशङ्क्याह—\*प्रथमप्रयोगे कार्यसंसृष्टेति\* ॥ पदसमुदायाभावाच्च तस्य शक्तिः ; अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामवयवार्थदर्शनाद् भेददर्शनाच्च नास्य शक्तिः, किन्तु पदानामेव ; प्रथमप्रयोगेऽपि सर्वेषां पदानां शक्तिरिति कल्पनया समुदायस्येत्युक्तम्, नतु व्यतिरिक्तसमुदायमिप्रायेण ; कार्यान्वितत्वस्य प्रथमप्रति-तत्त्वदीपनम्

\*तच्चेति\* ॥ प्रत्यक्षादिनिमित्तव्यवहारेषु तच्च प्रवर्तकं कार्यमिति संबन्धः । व्यवहारस्य प्रत्यक्षादिनिमित्तत्वमु-पपादयति—\*शब्दव्युत्पत्तेरिति\* ॥ कार्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपपादयति—\*कार्यमिति\* ॥ ज्ञानादिति\* ॥ तथाऽपि कथं परकीयप्रवर्तकविशेषसिद्धिः ? इत्याशङ्क्याह—\*श्रोतुरिति\* ॥ श्रोतुः शब्दज्ञानगोचरं प्रवर्तकमपि कार्यमेवेति संबन्धः । स्वप्रवृत्तिहेतुत्वे तत्समधिगतं कार्यं विहायान्यत्रान्यस्य हेतुत्वकल्पकानुपलब्धेरित्यर्थः । पदसमुदायस्य कार्यं शक्तिग्रहश्चेत् तर्हि पर्यायत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ कार्यं संसर्गिणि शक्तिग्रहेऽपि कथं पदविशेषस्यार्थविशेषे शक्तिः ? इत्याशङ्क्याह—\*पुनरिति\* ॥ तुरगपदस्य प्रक्षेपे तदर्थस्यापि क्षेपः, तदुद्धरणे उद्धार इत्यर्थविशेषस्य सङ्गतिरित्यर्थः । आवापोद्भाराभ्यामपीतरमात्रान्विते शक्तिर्गृह्यताम्, तन्नाह—\*प्रथमेति\* ॥ समुदायस्य शक्तिग्रहणवेलायामित्यर्थः । इतरान्वितमात्रे वा पदविशेषस्य शक्तिग्रहणपक्षे प्राथमिककार्यसंसृष्टस्वार्थप्रतिपत्तिविरोध इत्यर्थः । कार्यज्ञानस्याभिक-प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धौ तदनुसारेणान्यत्रापि तत्कल्पनं स्यात्, नच तत्सिद्धमिति शङ्कते—\*ननु बालस्येति\* ॥ अनिष्टसाधने प्रवृत्त्यदृष्टेऽसाधनताज्ञानं प्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । तद्बुभयमपि कारणं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—\*न कार्येति\* ॥ कल्पनागौरवप्रसक्तोभयहेतुत्वमित्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*ततश्चेति\* ॥ प्रवृत्तिलिङ्गानुमिते प्रवृत्तिहेतोः सामर्थ्यग्रहणम्, कार्यस्य च प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाच्च तत्र शक्तिग्रहणमित्यर्थः ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

भिलषितसाधनज्ञानमेव प्रवृत्त्याऽनुमिमीते, न कार्यज्ञानमिति, \*नैतद्युक्तम्\* ; अभिलषितसाधनेऽपि कार्यमिति-ज्ञानस्य प्रवृत्त्यानन्तर्यात्तदेव प्रवर्तकमनुमीयते । नचेष्टसाधनज्ञानं प्रवर्तकम् ; अतीतानागतवर्तमानेष्टसाधन-ज्ञानानामप्रवर्तकत्वात् । तस्मात्कार्यसंसृष्टस्वार्थेषु शब्दसामर्थ्यमिति । \*ननु\* सर्वत्र कार्यव्यभिचाराभावे-संसृष्टस्वार्थेषु शब्दसामर्थ्यमिति युक्तं प्रतिपत्तुम्, कार्यसंसृष्टस्वार्थ इति विशेषणयोगात्, अन्यथा प्रमाणान्तरगृहीतकार्यसंसृष्टस्वार्थ इत्यव्यभिचारात्कल्प्येत, \*नैतद् युक्तम्\*, संसृष्टस्वार्थ इत्युक्ते केन संसृष्टः ? इत्यपेक्षायां कार्यसंसृष्ट इति विशेषप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रयोजकस्यानिरूपणात्प्रमाणान्तरगृहीतत्वस्य शब्दसामर्थ्य-प्रतिपत्तिकालेऽप्रतिपत्तेर्न तत्र शब्दसामर्थ्यमित्युक्तम् । \*ननु\* कार्यसंसृष्ट इत्युक्ते कार्यस्य कार्यान्तराभावात् कार्यपदस्यान्यसंसृष्ट इति प्रयोजकभेदो वक्तव्यः स्यात्, \*न\* ; धात्वर्थस्यापि कार्यत्वात्तत्संसृष्टनियोगे कार्य-पदसामर्थ्यात् । \*ननु\* लोकेऽतीतानागत-वर्तमानार्थनिष्ठवाक्येभ्योऽतीताद्यर्थप्रतिपत्तिकार्यदर्शनात् तदनु-सारेण संसृष्टस्वार्थे सामर्थ्यं नियम्यत इति, \*न\* ; सम्बन्धग्रहणाधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेस्तया सम्बन्धग्रहण-

## ऋजुविवरणम्

पक्षेऽव्यभिचारात् तत्स्वीकारे बाधकाभावाच्च तदन्विते शक्तिरिति भावः । \*विशेषणयोगादिति\* ॥ अयमर्थः—लाघवात्प्रयोजकस्य केवलत्वमङ्गीकर्तुं युक्तम् ; केवलव्यभिचारे हि विशेषणापेक्षायां विशिष्टस्य प्रयोजकता, तदभावे न विशेषणत्वमिति भावः । \*ननु\* संसृष्टपदार्थहानेन पदार्थमात्रे शक्तिसंभवेऽप्यव्यभिचारात्संसृष्टत्वस्वीकारः, तथा कार्यसंसृष्टेऽपि शक्तिः कल्प्येत, व्यभिचारादित्याशङ्क्याह—\*अन्यथा प्रमाणान्तरगृहीतेति\* ॥

\*ननु\* अनियतस्य न प्रयोजकत्वं युक्तम् ; नियतप्रयोजकसद्भावे । नच कार्यसंसृष्टत्वमव्यभिचारि ; कार्यपदे व्यभिचारात्, अन्यान्वितं त्वव्यभिचारात्प्रयोजकमिति चोदयति—\*ननु कार्यसंसृष्ट इत्युक्त इति\* ॥ यद्यर्थप्रतिपत्तिः

## तत्त्वदीपनम्

इष्टसाधनताबोधस्य प्रवर्तकत्वे नित्य-नैमित्तिककर्मसु प्रवृत्तिर्न स्यात् ; तेषां फलसाधनत्वाभावात्, ततश्च कार्यज्ञान-मेव प्रवर्तकमित्याशङ्क्य, नित्यादीनामपि फलवत्त्वान्न व्यभिचार इत्याशयेनाह—\*न कार्येति\* ॥ विकल्पासहत्वा-न्नैतदित्याह—\*नैतदिति\* ॥ इष्टसाधनताज्ञानं किं कार्यं बोधमुत्पाद्य प्रवृत्तिं जनयति ? उत साक्षात् ? नाद्य इत्याह—\*अभिलषितेति\* ॥ अव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिनः कारणत्वात् कार्यज्ञानस्य तादृक्त्वादितरस्य चानीदृक्त्वात् कार्यज्ञानमेव प्रवर्तकमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*नचेति\* ॥ कार्यज्ञानस्यापीष्टसाधनताज्ञानं विना प्रवर्तकत्वमनुपपन्नमित्या-शङ्क्य, तस्य कार्यज्ञानं प्रति हेतुतयाऽन्यथासिद्धत्वात्कार्यमेव प्रवर्तकम्, तदन्विते च पदसामर्थ्यमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ योग्येतरान्वितस्वार्थस्य कार्यसंसृष्टत्वाभावेन शक्त्यविषयत्वाददर्शनात् तस्यैव प्रयोजकत्वमिति शङ्कते—\*ननु सर्वत्रेति\* ॥ \*विशेषणयोगादिति\* ॥ संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवत्, अत्र चान्वितमात्रस्य व्यभिचारा-भावाच्च तन्निरासाय विशेषणमुचितमित्यर्थः । कार्यस्यान्वयित्वमात्रेण हेतुत्वकल्पनायां दण्डमाह—\*अन्यथेति\* ॥ केवलव्यतिरेकाभावेऽप्यन्वयमात्राद् यथा गगनादेर्हेतुत्वम्, तद्वदत्राप्यित्याह—\*नैतदिति\* ॥ तर्ह्यतिप्रसक्तिरित्युक्त-मित्याशङ्क्य दैर्घ्यमाह—\*संसृष्टेति\* ॥ इतोऽपि न प्रमाणान्तरगृहीतत्वमित्याह—\*प्रमाणान्तरेति\* ॥ प्रतिपन्ने शक्तिकल्पना, मानान्तरगृहीतत्वस्य चाप्रतिपन्नत्वान्न संगतिग्रहणमित्युक्तम्—“श्रोतृव्यवहारो ही”त्यादिग्रन्थ इत्यर्थः ।

कार्यसंसृष्टस्वार्थस्यापि शक्तिविषयकत्वमयुक्तमित्याह—\*नन्विति\* ॥ किं सर्वेषां पदानां कार्यसंसृष्टस्वार्थे शक्तिः ? आहो कार्यपदव्यतिरिक्तानाम् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*ननु कार्यसंसृष्ट इति\* ॥ एकस्मिन् प्रयोगे कार्य-स्यैकत्वान्न तदन्वितस्य स्वार्थे सामर्थ्यसिद्धिरित्यर्थः । नापि द्वितीयः ; प्रयोजकभेदप्रसङ्गादित्याह—\*कार्यपदस्येति\* ॥ आद्यं पक्षमाह—\*पूर्ववादी नेति\* ॥ तर्हि कार्यपदस्य व्युत्पत्त्यसंभव इत्युक्तम्, तत्राह—\*धात्वर्थस्यापीति\* ॥ प्रकारान्तरेण प्रयोजकभेदापत्तिं शङ्कते—\*ननु लोक इति\* ॥ “निधिमानेष भूभागः” इत्यादिवाक्यादर्थप्रतिपत्तिस्ता-वत्सर्वजनीना, नच सिद्धे सामर्थ्यग्रहणमन्तरेण तदुपपत्तिः, इति सिद्धेऽपि सामर्थ्यमाश्रयणीयमिति प्रयोजकभेदा-पत्तिरित्यर्थः । परस्पराश्रयप्रसङ्गाच्चैतच्चोद्यं शोभत इत्याह—\*तत्संबन्धेति\* ॥ सिद्धार्थे संबन्धग्रहणसिद्धौ गृहीत-



## पञ्चपादिका

पुरुषेच्छासमुत्थापितो हि शब्दप्रयोगः । सा चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारविषया । नच पारम्पर्येणापि सुख-दुःखे विहायेष्टानिष्टे सम्भवतः । नच विस्मृतसुखवर्णारोपितसर्परशनाप्रतिपत्ताविव तदनन्तरं शास्त्रादपि ब्रह्मात्मप्रतिपत्तौ सुखावाप्तिर्दुःखपरिहारश्च दृश्यते ; पूर्ववत् संसारित्वोपलब्धेः, प्रतीयुत्तर-

पञ्चपादिकाविवरणम्

नियमायोगात् । अतीतादिवक्तव्यानां चैवमवधार्यतामिति नियोगनिष्ठत्वात् । तस्मान्न कार्यसंस्पर्शमन्तरेण भूतेऽप्यर्थे शब्दप्रामाण्यमिति ॥ अपि च—प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्यप्रयोजनमन्तरेण वाक्यप्रयोगानुपपत्तेः प्रयोजनस्य नियोगसामर्थ्या-  
धीनत्वाद् नियोगपर्यवसितमेव वाक्यमित्याह—\*पुरुषेच्छासमुत्थापितो हीति\*॥ \*ननु\* नेदं कालान्तरभावि नैयोगिकं  
फलम्, येन नियोगाधीना फलप्रतिपत्तिः स्यात्, किन्तु सम्यग्ज्ञानफलं प्राप्तब्रह्माप्तिलक्षणमविद्यानिवृत्तिलक्षणं च  
हस्तगतविस्मृतसुवर्णप्राप्तिवदन्वयव्यतिरेकसिद्धमिति, नेत्याह—\*नच विस्मृतसुवर्णारोपितसर्परश्चानाप्रातिपत्ताविवेति\*॥  
\*ननु\* अन्वय-व्यतिरेकविरुद्धमेतत्, यद् ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानाद् ब्रह्मप्राप्त्यनर्थनिवृत्ती न स्त इति, न ; प्रत्यक्षविरोधा-  
दित्याह—\*पूर्ववत्संसारित्वोपलब्धेरिति\*॥ अपि च—शब्दज्ञानव्यतिरेकेण ब्रह्मात्मनि ज्ञानसाधनान्तरविधानात्

## ऋजुविवरणम्

संबन्धग्रहणाधीना, कथं तर्ह्यतीतादिविषयवाक्यादर्थप्रतिपत्तिः ? अतोऽन्यान्विते शक्तिग्रहणमित्याशङ्क्याह—\*अतीता-  
दिवाक्यानामिति\* ॥ कार्यान्विते शक्तिः पूर्वप्रमिता, नोत्तरकालीनतदधीनकारणेन बाधितुं शक्तेत्यर्थः । “पुरुषेच्छास-  
मुत्थापितो ह्री”ति पुनरुक्त इवाभाति ; पूर्वग्रन्थेऽपि साध्यप्रयोजनमुद्दिश्य प्रवर्तकज्ञानाय शब्दप्रयोगात्कार्यनिष्ठतेत्युक्तम्,  
उत्तरग्रन्थेऽपि साध्यप्रयोजनस्य प्रवृत्त्यादिसाध्यत्वात् प्रवर्तकनिष्ठत्वमित्युक्तत्वात्, यद्वा “पुरुषेच्छासमुत्थापितो ह्री”ति  
हिशब्दप्रयोगात्पूर्वग्रन्थविचरणमिव प्रतिभाति, तथा सति विरोधः ; पूर्वं प्रवर्तकज्ञानाय शब्दप्रयोगात् प्रवर्तकस्य  
कार्यत्वात्तन्निष्ठतेत्युक्तम्, इह तु साध्यत्वात्प्रयोजनस्य नियोगेन विना तत्सिध्यनुपपत्तेस्तन्निष्ठतेत्युक्तत्वादित्याशङ्क्य  
विषयभेदं दर्शयति—\*अपिच प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्येति\* ॥ तथाऽपीति टीकाग्रन्थेनेदमुक्तम्—यद्यपि सूत्रकारेण

तत्त्वदीपनम्

संगतिकाच्छब्दादर्थप्रतिपत्तिः ; तस्यां च तत्र संगतिग्रहणमितीतराश्रयत्वमित्यर्थः । कथं तर्ह्यतीतादिवाक्यादर्थप्रतिपत्ति-  
रित्याशङ्क्य कार्यपदाध्याहारादिनेत्याह—\*अतीतादीति\*॥ संगतिग्रहणपर्यालोचनया शब्दस्य कार्यपरत्वमेव युक्तमित्युप-  
संहरति—\*तस्मादिति\* ॥ “पुरुषेच्छासमुत्थापितः” इत्यस्य शब्दप्रयोगस्य प्रयोजनवद्विषयत्वमुक्तम्, तदस्मत्पक्षेऽपि  
संगच्छत इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अपि चेति\*॥ अथवा “पुरुषेच्छासमुत्थापितः” इति ग्रन्थस्य पूर्वग्रन्थेनैकग्रन्थशङ्कां  
निराकुर्वन्तात्पर्यमाह—\*अपिचेति\*॥ तत्राऽपि कथं नियोगपर्यवसायित्वम् ? तत्राह—\*प्रयोजनस्येति\*॥ प्रवृत्ति-निवृत्त्यो-  
नियोगाधीनत्वान्तत्साध्यप्रयोजनमपि नियोगाधीनमित्यर्थः । प्रयोजनस्य प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्यत्वनियमोऽसिद्ध इति शङ्कते—  
\*ननु नेदमिति\* ॥ इदं वेदान्तोत्थज्ञानफलं न कालान्तरभावि, नापि नैयोगिकमित्यक्षरार्थः । कालान्तरभाविकत्वस्य  
क्रियान्यत्वसंभवान्नियोगाधीनत्वम्, इदं च न तथेत्यर्थः । \*अन्वयव्यतिरेकेति\* ॥ कण्ठस्थचामीकरतत्त्वज्ञानाद्विस्मृत-  
सुवर्णप्राप्तिस्तदविद्यानिवृत्तिश्च दृष्टा, एवं ब्रह्मासाक्षात्कारस्यापि साक्षात्कारत्वादविद्यानिवृत्तिहेतुत्वमित्यर्थः ।  
ब्रह्मासाक्षात्कारोऽविद्यानिवृत्तिः, इतरथा नेत्येवंलक्षणार्थप्रतिपादकं ‘यत्र द्वी’त्यादिवाक्यम्, तत्सिद्धमित्यर्थः । अनुभव-  
विरोधान्मैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

तत्त्वज्ञानेऽपि पुमर्थो नोपलभ्यत इत्येतत्—“यत्र ही”त्यादिवचनविरुद्धमिति शङ्कते—\*नन्वन्वयेति\* ॥  
श्रुतिरन्यपरेत्याह—\*न प्रत्यक्षेति\* ॥ इतोऽपि न ज्ञानमात्रायत्तः पुरुषार्थ इत्याह—\*अपिचेति\* ॥ किं शाब्दज्ञान-  
मात्रात् पुरुषार्थः ? उत साक्षात्कारात् ? नाद्य इत्याह—\*शाब्देति\* ॥ नापि द्वितीयः ; शब्दात् चक्षुरादेर्वा  
सदनुपपत्तेरिति द्रष्टव्यम् । भूतार्थनिष्ठानामपि कुतूहलादिनिवृत्तिफलानां वचसासुपलम्भान्न विधিনিष्ठत्वनियम इति



## पञ्चपादिका

कालं च ध्यानोपदेशात् । तस्मात् सन्तु नाम लोके विधिरहितान्यपि पुरुषार्थपर्यन्तानि वाक्यानि, वेदे तु न तद्रहितानां तत्पर्यन्तता ।

तस्माद् यद्यपि जिज्ञास्यवैलक्षण्यं धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोः सिद्ध-साध्यविषयत्वेन ; तथाऽपि “सोऽन्वेष्टव्यः” “स विजिज्ञासितव्यः” इत्यादि विधिषु कोऽसावात्मेत्याकाङ्क्षायां सर्व एव ब्रह्मस्वरूप-परः पदसमन्वयस्तत्समर्पकत्वेनोपयुक्तः, न स्वतन्त्रमेव ब्रह्म प्रतिपादयितुमलम् । अतो विधीयमान-ज्ञानकर्मकारकत्वेनैव ब्रह्म प्रतिपाद्यत इति ॥ यः पुनः “तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति भाष्ये पूर्वपक्षोपसंहारः, प्रमाणात्मक इतरो वा ब्रह्मसंस्पर्शित्वेन विधेयः कैश्चित् कथञ्चित् कल्पितः, तस्य सर्वस्य संग्रहार्थो द्रष्टव्यः ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रयत्नान्तरसाध्यं प्रयोजनं न ज्ञानमात्रसाध्यमित्याह—\*प्रतीत्युत्तरकालं चेति\* ॥ \*ननु\* लोके भूतार्थनिष्ठतया प्रयोजनपर्यन्तता दृश्यते, तद्विहापि स्यादिति, नेत्याह—तस्मात्सन्तु नाम लोक इति\* ॥

\*ननु\* धर्मजिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेति च जिज्ञास्ययोर्धर्म-ब्रह्मणोः सिद्ध-साध्यभेदेन वैलक्षण्यं दर्शितम्, नच ब्रह्मणि जिज्ञासाकर्मणि शब्दप्रतिपत्ति-विध्यादयः शास्त्रेण प्रतिपाद्या इति युक्तं प्रतिपत्तुम्; सूत्रविरोधात्, इत्यत आह—\*तस्माच्चयपीति\* ॥ तथाऽपि प्रतिपत्त्यादिविधिशेषतयैव ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यर्थः । कथं पुनर्ब्रह्मप्रतिपादनपराणां वाक्यानां ब्रह्मप्रतिपत्तिविधिशेषतया समन्वय इति ? तदाह—\*सोऽन्वेष्टव्य इत्यादि\* ॥ \*यः पुनस्तस्मादित्यादिः स्पष्टार्थः\* ॥ तत्र नियोगमुखेन ब्रह्मणोऽवगतिमिच्छतो नियोग-ब्रह्मणी न प्रमाणेन प्रमातुं शक्येते, इत्येतत् प्रथमं

## ऋजुविवरणम्

सिद्धब्रह्मजिज्ञासाप्रतिज्ञा कृता ; तथाऽपि ब्रह्मणो विधिभिरपेक्षितत्वात्तच्छेषभूतस्यैव प्रतिपादनमिति, तन्न युज्यते ; विध्यनपेक्षितत्वेन चोद्याभावात्तत्प्रदर्शनस्यासङ्गतत्वात्, व्यधिकरणं च ; न ह्यन्यानपेक्षितत्वं प्राधान्येन जिज्ञासाप्रतिज्ञा-विरोधं परिहर्तुमलम् । यद्विरोधेन च चोद्यं कृतम्, तत्परिहाराभावादयुक्तम्, इत्याशङ्क्य पूरयति—\*तथाऽपि प्रति-पत्त्यादीति\* ॥ केवलसिद्धप्रतिपादनासंभवे कारणमुक्तमेव पूर्वम्—तदन्विते शक्तिज्ञानम्, अतो न हेतूपन्यासोऽत्र कृतः ।

“यद्वोचकत्वं द्विविधं प्रसिद्धं तन्नेह जात्यादिविशेषहीने ।

ज्ञाता हि कार्यान्वितशक्तिरेषा तदन्वयो ब्रह्मणि नैव युक्तः ॥

कारकादिविशेषाणां कार्येणान्वय इष्यते । तथैवाऽन्वय इष्टश्चेत् सविशेषं प्रसज्यते ॥”

“अत्रोच्यते” इत्यादिटीकाग्रन्थे विधेयस्वरूपनिराकरणं कृतम्, तदयुक्तम् ; कार्यान्विते व्युत्पत्तिसामर्थ्यात्साध्य-प्रयोजनसामर्थ्यात्कार्यान्वित एव प्रामाण्यमिति चोदिते कार्ये व्युत्पत्तिस्तत्साध्यत्वं वा प्रयोजनस्य निराकरणीयम्, नान्यत् ; तदसङ्गतत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र नियोगमुखेनेति\* ॥ \*एतदुक्तं भवति\* अत्राक्षेपवादिनो

## तत्त्वदीपनम्

शङ्कते—\*ननु\* लोक इति\* ॥ दृष्टान्तत्वात्तत्र तथात्वम्, अत्र तु नैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ तत्रापि विधिनिष्ठत्वमेवेति पूर्वपक्षामिसन्धिः । वेदान्तानां ज्ञानविधिपरत्वं सूत्रविरुद्धमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ ततः किम् ? अत आह—\*नचेति\* ॥ शब्दगृहीत इति\* ॥ सौत्रब्रह्मशब्दगृहीत इत्यर्थः । \*सूत्रविरोधादिति\* ॥ ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वप्रतिपादकसूत्रविरोधादित्यर्थः । सूत्रविरोधदोषस्य कः समाधिरित्याशङ्क्य, विधिशेषत्वेन वेदान्तैर्ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वान्न विरोध इत्याशयेनाह—\*तथापीति\* ॥ सत्यादिवाक्येषु विधेरनुपलम्भात्कथं तच्छेषत्वं तेषामिति शङ्कते—\*कथं पुनरिति\* ॥ प्रतिपत्तिविध्याकाङ्क्षितविषयसमर्पणेन तच्छेषत्वमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ सर्वेषां पदानां कार्यान्वित एव व्युत्पत्तेस्तत्रैव प्रयोजनसंभवाच्च विधिनिष्ठत्वे वेदस्य चोदिते सिद्धे अपि व्युत्पत्ति-प्रयोजने प्रतिपादनीये, किमिदं ब्रह्मकर्मकम् ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ \*तत्र=वेदान्तेष्विति यावत् ।



## पञ्चपादिका

\*अत्रोच्यते\*—किमिदं ज्ञानं ब्रह्मकर्मकं विधीयते ? न तावच्छब्दजन्यम् ; स्वाध्यायपाठादेव तत्सिद्धेः, अथ शब्दजन्यस्यैव ज्ञानस्याभ्यासो विधीयत इति, न तस्य प्रयोजनं पश्यामः ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

दर्शयति—\*अत्रोच्यत इति\* ॥ तत्र विधेयाभावात्तद्व्यावृत्तो विधिः प्रमातुं न शक्य इत्याह—\*किमिदं ज्ञानमिति\* ॥ तत्र तावच्छब्दं ब्रह्मविषयं विज्ञानं विधातुं न शक्यत इत्याह—\*न तावच्छब्दजन्यमिति\* ॥ गृहीतपद-पदार्थस्याधीयमानाद्वाक्याद्विधाक्यादिव विध्यर्थे ब्रह्मणि विज्ञानमुत्पद्यते, तदेव च विचारेण प्रतिष्ठाप्यत इति । न चानन्यथासिद्धकार्यमन्तरेण नियोग उपपद्यते । शब्दावगते ब्रह्मणि तत्समानजातीयस्मृतिसन्तानो विधीयतामिति शङ्कते—\*अथ शब्दजन्यस्यैवेति\* ॥ तत्र स्मृतिसन्तानविधेः प्रयोजनं न तावददृष्टम् ; स्वर्गादिवन्मोक्षस्य कर्मजन्यत्व-प्रसङ्गात्, दृष्टफलत्वेऽपि न किञ्चित्फलं निरूप्यत इत्याह—\*न तस्य प्रयोजनं पश्याम इति\* ॥ \*ननु\* मर्दनमुखवत्

## श्रुतिविवरणम्

ब्रह्मासिद्धिरभिप्रेता, तदङ्गीकारे नैवमाक्षेपो युक्तः, स्वाभिमतमेव विहन्यते यतः, अतो ब्रह्मासिद्धिमङ्गीकुर्वता तेनापि कार्यनिष्ठत्वं निराकार्यमित्यभिप्रायेण तत्प्रमित्यभावो वर्ण्यत इति ॥

\*ननु\* नियोगप्रमितिनिराकरणमत्र न दृश्यते, किन्तु ज्ञानस्य विधेयत्वमात्रम्, तत्कथं नियोगप्रमितिनिराकरणं क्रियत इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र विधेयाभावात्तद्व्यावृत्त इति\* ॥ कथं स्वाध्यायपाठे तज्ज्ञान-सिद्धिरुक्ता ? अधीतवेदमात्रस्यार्थबोधहेतुत्वायोगादित्याशङ्क्यामिप्रायमाह—\*गृहीतपद-पदार्थस्येति\* ॥

\*ननु\* पाठमात्रेण प्रतीतिमात्रं निश्चायकमुत्पद्यते, न च तेन प्रयोजनमस्ति ; अतो निश्चितं ज्ञानमनन्यलभ्यं वा विधीयत इत्याशङ्क्याह—\*तदेव च विचारेणेति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानस्यान्यतस्सिद्धिसंभवेऽपि विधीयत इत्याशङ्क्याह—\*नचानन्यथासिद्धेति\* ॥ यद्वा—शब्दस्यैव विधानमित्याशङ्क्याह—\*नचानन्यथासिद्धेति\* ॥ “अथ शब्दजन्यस्यैव” इत्युक्तम् ; शब्दादुत्पन्नस्य ज्ञानस्याभ्यासायोगात्, अथ शब्दसाधनाभ्यासेन तदभ्यासविधानम्, मैवम् ; तस्यापि स्वाध्यायाभ्यासेनैव सिद्धेः, पौनस्त्यञ्चास्मिन् पक्षे भवेत् ; पूर्वग्रन्थ एव तस्यापि लब्धत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*शब्दावगते ब्रह्मणीति\* ॥ “न तस्य प्रयोजनमित्युक्तम्, मोक्षफलस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*तत्र स्मृतिसन्तानविधेरिति\* ॥ “दृष्टाधिकारः” इत्यत्राधिकारशब्देन फलमभिधीयते, अधिक्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या, यद्वा—अधि उपरि, करणं यस्मिन् फले सति भवति सोऽधिकार इति, “मा भूच्छब्द-

## तत्त्वदीपनम्

अथापीत्यतः प्राक्तनेन टीकाग्रन्थेन नियोगासिद्धिरभिधीयते, तत आरभ्य ब्रह्मासिद्धिः, सिद्धे व्युत्पत्त्यादिकं चेत्यभिप्रायः । \*ननु\* अत्र ज्ञानस्य विधेयत्वनिराकरणं लक्ष्यते, न नियोगनिराकरणमित्याह—\*तत्र विधेयेति\* ॥ ब्रह्मणि तिस्रः प्रतिपत्तयः संभवन्ति, शब्दी, भावनात्मिका, साक्षालक्षणा चेति, तत्र कीदृशं ज्ञानं विधीयते ? इति किंशब्दार्थः । आद्यस्तावदुक्त इत्याह—\*तत्र तावदिति\* ॥ अधीतस्वाध्यायस्यापि पाठकस्य ज्ञानादृष्टेः स्वाध्याय-पाठात्तत्सिद्धिरित्युक्तमयुक्तमित्यशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*गृहीतपदेति\* ।

शब्दज्ञानमात्राद् ज्ञानोत्पत्तौ दृष्टान्तमाह—\*विधिवाक्यादिति\* ॥ वाक्यादेव ज्ञानोत्पत्तौ विचारानर्थक्य-मित्याशङ्क्यासंभावनादिनिरासे तस्योपयोग इत्याह—\*तदेवेति\* ॥ विचारवैयर्थ्यमिति शब्दार्थः । शब्दात्तज्ज्ञानो-त्पत्तिसंभवेऽपि विधिः किं न स्यादिति ? अत्राह—\*नचेति\* ॥ अप्राप्ते शास्त्रस्यार्थवत्त्वाद् ज्ञानस्य चान्यतः सिद्धत्वाच्च विधिरित्यर्थः । ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्तदभ्यासविध्यसंभवमाशङ्क्याह—\*शब्दावगत इति\* ॥ मोक्षः प्रयोजनमित्य-संगतमित्याशङ्क्य, तददृष्टं प्रयोजनम् ? उत दृष्टम् ? नाद्य इत्याह—\*तत्र स्मृतीति\* ॥ \*तत्र=दृष्टादृष्टप्रयोजनयोर्मध्य इत्यर्थः । नापि द्वितीयः ; अनुपलब्धेरित्याह—\*दृष्टेति\* ॥ अनुपलब्धिरसिद्धेति शङ्कते—\*ननु मर्दनेति\* ॥ विधेर्न मोक्षः प्रयोजनम्, किं तु साक्षात्कार इत्युक्तम्, इति न ज्ञायत इति, तत्राह—\*तर्हीति\* ॥ विधेर्न मोक्षः प्रयोजनम्, किं तु साक्षात्कार इत्युक्तम्,



## पञ्चपादिका

\*ननु\* इष्टविषयस्य ज्ञानसन्तानस्य सुखसन्तानहेतुत्वं दृश्यते, \*यद्येवम्\* तद्वदेव विध्यानार्थक्यम् ।  
 \*अथ\* पुनः साक्षात्करणाय ज्ञानसन्तानविधिरुच्यते, \*नैतद्युक्तम्\* ; न हि दृष्टाधिकारो विधिरसम्भावित-  
 दृष्टफलो भवति । न हि लैङ्गिकोऽर्थो लिङ्गजन्मनैव ज्ञानेन सहसशोऽप्यभ्यस्यमानेन साक्षात्क्रियते । \*मा\*  
 भूत् शाब्दज्ञानादेवाभ्यस्यमानात्साक्षाद्भावः, तज्जन्मनो ज्ञानान्तराद्विष्यति, \*नेत्यम्भावे प्रमाणमस्ति\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रत्यक्षं सुखमित्याह—\*ननु इष्टविषयस्येति\* ॥ तर्ह्यन्वय-व्यतिरेकसिद्धसाधनत्वान्मर्दनादिवत् स्मृतिसन्तानो न  
 विधेय इत्याह—\*यद्येवमिति\* ॥ अस्तु तर्हि स्मर्यमाणस्य साक्षात्करणं स्मृतिसन्तानविधेः प्रयोजनमिति शङ्कते  
 —\*अथ पुनरिति\* ॥ किं साक्षात्करणं स्मृतिसन्तानस्यादृष्टं प्रयोजनम् ? दृष्टं वा भवति ? नचादृष्टम् ; वस्त्वा-  
 परोक्षस्य चक्षुरादिप्रमाणसामग्रीसाध्यत्वाददृष्टमात्राजन्यत्वात् । अदृष्टसहकृताज्जन्मान्तरीयप्रमाणकारणाज्जन्यत  
 इति चेत्, तर्हि जन्मान्तरे यथा शब्दादिप्रमाणकारणं विधिमन्तरेण ब्रह्मावगतिं जनयिष्यति, तथेहापि स्यात् ।  
 अथ दृष्टमेव ब्रह्मसाक्षात्करणं प्रयोजनमिति, न ; अनुपलब्धेरित्याह—\*नैतद्युक्तमिति\* ॥ अनुपलब्धि-  
 विरोधमेव दर्शयति—\*नहि लैङ्गिकोऽर्थ इति\* ॥ शाब्दज्ञानस्मृतिसन्तानान्नापरोक्षज्ञानमात्रमुत्पद्यते, किं  
 तु तज्जन्मनसमर्थं विज्ञानान्तरमुत्पद्यते । तद्विज्ञानफलाय स्मृतिसन्तानो विधीयत इति शङ्कते—\*मा भूच्छाब्द-  
 ज्ञानादेवेति\* ॥ तदप्यपरोक्षफलं विज्ञानं नादृष्टतया विधिफलम् ; प्रमाणाधीनत्वादवगमस्य, नापि दृष्टतया ;  
 स्मृतिसन्तानस्य प्रमाणत्वाभावात्, नापि तद्विधिज्ञानफलत्वे प्रमाणमस्तीत्याह—\*नेत्यम्भावे प्रमाणमस्तीति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

ज्ञानादि'त्युक्तो ग्रन्थः ; पूर्वमेव तत्पक्षहानेन पक्षान्तरस्य प्रदर्शितत्वादिदानीं मा भूदिति वक्तुमयुक्तत्वात्, नापि  
 शाब्दज्ञानाभ्यासपक्षः पूर्वमुक्तः, तावदुक्तं वा निर्देष्टव्यम्, नतु व्यवहितमेकदेशमात्रम्, "तज्जन्मनो ज्ञानान्तरादि"ति  
 तु पुनरुक्तम् ; तज्जन्मनस्मृतिसन्तानस्यापरोक्षज्ञानहेतुत्वस्य निरस्तत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*शाब्दज्ञानस्मृति-  
 सन्तानादिति\* ॥ शाब्दज्ञाने यत्स्मृतिसन्तानम्, तस्मादित्यर्थः । अनेन शाब्दज्ञानादभ्यस्यमानादिति सामानाधि-  
 करण्यं न भवति, किन्तु शाब्दज्ञानहेतुको योऽभ्यासस्तस्मादिति व्याख्यातम् । यद्वा—शाब्दज्ञानात्स्मृतिसन्तानादिति  
 द्वन्द्वो विवक्षितः, तस्मिन् पक्षे टीकाग्रन्थ एवं व्याख्यातव्यः शाब्दज्ञानादेव, नापरोक्षानुभवः, नाभ्यस्यमानादिति ।

\*ननु\* विधिसामर्थ्याद् लभ्ये फले तत्सामर्थ्यादेवोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—\*नापि तद्विधिविज्ञानफलत्वं इति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

तत्र कस्य साक्षात्कार इत्याकाङ्क्षायामाह—\*अस्तु तर्हीति\* ॥ साक्षात्कारस्य दृष्टरूपताया अनुक्तत्वाच्चैतदिति  
 समाधानमनुचितमित्याशङ्क्य विकल्पपूर्वं व्याचष्टे—\*किं साक्षात्कारणमिति\* ॥ \*अदृष्टमिति\* ॥ विध्यर्थानु-  
 ष्ठानाद् यदपूर्वमुत्पद्यते, तत्साध्यमित्यर्थः । आद्यं दूषयति—\*नचेति\* ॥ "यज्ञेन विविदिपन्ती"त्युक्तत्वात्कथंम-  
 दृष्टाजन्यत्वम् ? इत्याशङ्क्य, किमदृष्टमात्रं जनकम् ? उत कारणान्तरसहकृतम् ? नाद्य इत्याह—\*अदृष्टेति\* ॥  
 तस्याप्रमाणत्वादित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*अदृष्टेति\* ॥ ब्रह्मध्यानादिना जनितं यददृष्टं प्राग्जन्मनि, तत्सहकृता-  
 ष्छब्दाज्जन्मान्तरे साक्षात्कारोदय इत्यर्थः । अनवगते निदिध्यासनानुपपत्तेर्निदिध्यासनसिद्ध्यर्थं यथा शब्दादवगति-  
 जनिराश्रिता, तद्वच्छब्दान्तःकरणेण शब्दश्रवणादपरोक्षविद्याऽपि किं न स्यादित्याह—\*तर्हीति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—  
 \*अथेति\* ॥ किं संतानविधिः साक्षात् साक्षात्कारं प्रसूते ? उत परम्परया ? नाद्य इत्याह—\*नानुपलब्धेरिति\* ॥ परोक्ष-  
 ज्ञानाभ्यासादपरोक्षज्ञानजन्मनोपलब्धमित्युक्तमयुक्तम् ; तत्रार्थस्य परोक्षत्वादपरोक्षत्वानुपपत्तेः, अत्र तु ब्रह्मणोऽपरोक्ष-  
 त्वादपरोक्षज्ञानं स्यादिति चेत्, मैवम् ; अपरोक्षवस्तुन्यपि परोक्षज्ञानाभ्यासादपरोक्षप्रथाया अदृष्टत्वादित्यभिसन्धिः ।  
 द्वितीयमुत्थापयति—\*शाब्दज्ञानेति\* ॥ साक्षात्कारफलकं विज्ञानं किमदृष्टद्वारा जायते ? उत दृष्टद्वारा ? नाद्य इत्याह—  
 \*तदपीति\* ॥ अपरोक्षज्ञानं फलं यस्य, तत्तथोक्तम् । द्वितीयं दूषयति\* ॥ \*नापि दृष्टतयेति\* ॥ साक्षात्कारफलक-



### पञ्चपादिका

अस्तु तर्हि शब्दात् प्रतिपन्नस्य यथाप्रतिपत्तिं ध्यानं नाम मनोव्यापारो विधीयत इति, \*किमर्थं तस्य विधानम्\* ? ध्येयसाक्षात्काराय चेत्, न तस्य सम्भवः । न हि परोक्षं ध्यायमानं साक्षाद्भावमापद्यमानं दृष्टम् । \*ननु\* दृष्टं परोक्षमपि ध्यायमानं साक्षाद्भावमापन्नं कामाद्युपप्लवे, \*मैवम्\* ; न तद् ध्यायमानम्, अपित्वविद्यात्मकम्, अन्यथा बाधो न भवेत् ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

मा भूत् स्मृतिसन्तानविधिः, शब्दावगते ब्रह्मणि ध्यानं विधीयते । \*ननु\* को विशेषः स्मृतिसन्तानाद् ध्यानस्य ? तत्र स्मृतिसन्तानो नाम प्रमाणावगते वस्तुनि तत एव प्रमाणात्सजातीयप्रत्ययप्रवाहो वस्तुतत्त्वविषयः । ध्यानं नाम वस्तुतत्त्वमनपेक्षारोपितविषयतयाऽपि मनःसंकल्पप्रवाहः, स विषेय इत्याह—\*अस्तु तर्हि शब्दात् प्रतिपन्नस्येति\* । \*ननु\* तस्याप्यदृष्टं दृष्टं वा प्रयोजनं वक्तव्यम् । न तावददृष्टम् ; नैयोगिकत्वेन स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात्, नापि दृष्टं दृश्यत इत्याक्षिपति—\*किमर्थमिति\* ॥ \*ननु\* ध्येयसाक्षात्करणाय तदपि नादृष्टं फलम् ; प्रमाणजन्यत्वादर्थानुभवस्य, दृष्टं फलं चेत्, न ; अनुपलब्धिविरोधादित्याह—\*न तस्य सम्भव इत्यादि\* ॥ \*ननु\* ध्यानाभ्यासप्रचयसामर्थ्याद्विनष्टपुत्राद्यापरोक्ष्यं दृश्यत इति चोदयति—\*ननु दृष्टमिति\* ॥ न हि विनष्टपुत्रादीनामिदानीमविद्यमानत्वात्तदापरोक्ष्यं सम्भवति, किंतु यत्पुरोदेशे पुत्राद्यवभासते, तद् बाध्यमानत्वादविद्यात्मकम्, अतो न वस्त्वापरोक्ष्यमिति परिहरति—\*मैवम्\* ; न तद् ध्यायमानमिति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मात्मनि ध्यायमाने ध्यानप्रकर्षाद् ध्येयापरोक्ष्यं तावत् पुत्रादिवत्सिध्यति, ध्येयस्य च वस्तुत्वं शब्दप्रमाणात्सिध्यति, अतो वस्त्वापरोक्ष्यं ध्यानात्फलसिध्यति, यथा स्वप्ने चतुष्पथे हस्तिज्ञानमुत्पन्नं तथाभूतजागरणसंवादेन सम्यग् ज्ञानं भवतीति, \*नैतत्सारम्\* ; अपरोक्षज्ञानस्य शब्दप्रमाणसामर्थ्यात्तथाभूतज्ञानत्वेन संवादात्प्रामाण्यं स्यात् । नच स्वप्नज्ञानं प्रमाणम् ; अविद्यात्मकत्वात्, संवादस्तु सादृश्यभ्रमादिति । न हि चक्षुरादिप्रवृत्तिमन्तरेण वस्तुदर्शनं सम्भवति ॥

### तत्त्वदीपनम्

ज्ञानान्तरजनकोऽभ्यास इत्येतच्च विमानमित्याह—\*नापीति\* ॥ भावनात्मिकायां प्रतिपत्तौ विधिरित्यत्रैव विशेषं शङ्कते—\*मा भूदिति\* ॥

स्मृतिसन्तान-ध्यानयोर्विशेषाभावान्न शङ्कोत्यितिरित्याह—\*ननु को विशेष इति\* ॥ विशेषाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*तत्र स्मृतिसन्तान इति\* ॥ प्रमेयतोऽपि भेदमाह—\*वस्तुतत्त्वविषय इति\* ॥ “किमर्थमिति”त्यत्र किंशब्दस्याक्षेपार्थत्वमाह—\*ननु तस्यापीति\* ॥ आद्यं निरस्यति—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीये किं साक्षात्करणम् ? उतान्यत् ? न तावद् द्वितीय इत्याह—\*नापि दृष्टमिति\* ॥ आद्यमुत्थापयति—\*ननु ध्येयेति\* ॥ तदपि किमदृष्टम् ? उत दृष्टम् ? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—\*तदपि नेत्यादिना\* ॥ ध्यानस्य साक्षात्कारहेतुत्वमदृष्टमित्याशङ्क्य, ध्यानोत्कर्षस्य तद् दृष्टमित्याह—\*ननु ध्यानेति\* ॥ ध्यानमेवाभ्यासो ध्यानाभ्यासः, तस्य प्रचयसामर्थ्यादित्यर्थः । ध्यायमानस्य नापरोक्ष्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—\*विनष्टेति\* ॥ तर्ह्यनुभवविरोध इति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ अनुभवोऽन्यविषय इत्याह—\*यत्पुरोदेश इति\* ॥

अविद्यामयस्यापि ध्यानादेवापरोक्ष्यसिद्धेः कथं ध्यानस्यातत्साधनत्वमित्याशङ्क्याह—\*अत इति\* ॥ ध्यानोत्थस्याप्यपरोक्षप्रत्ययस्य संवादकप्रमाणानुग्रहात्प्रामाण्यसिद्धिरिति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मात्मनीति\* ॥ संवादादयथार्थत्वेन दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्तत्रैतच्चोद्यमित्याह—\*नैतत्सारमिति\* ॥ \*तथाभूतज्ञानत्वं इति\* ॥ यथार्थज्ञानत्वं इति यावत् । नच संवादाधीनं प्रामाण्यम् ; अनवस्थाप्रसक्तैरित्यर्थः । दृष्टान्तोऽप्यसंप्रतिपन्न इत्याह—\*नचेति\* । कथं तर्हि संवादः ? इत्याशङ्क्याह—\*संवादस्त्विति\* ॥ उचितसामग्रीशून्यत्वादप्रामाण्यमित्याह—\*न हीति\* ॥ ध्यानस्य साक्षात्कारः फलमित्येतत्पुरस्तादेव निरस्तम्, किमिति पुनस्तदुत्थितिः ? इत्याशङ्क्य



## पञ्चपादिका

\*ननु\* “द्रष्टव्यः” इति दर्शनमनूद्य “निदिध्यासितव्यः” इति ध्यानं दर्शनफलं विधीयते, \*उक्तमेतद्\* न दृष्टाधिकारो विधिरसम्भावितदृष्टफलो भवतीति । न हि ध्यानं ध्येयसाक्षाद्भावहेतुः कचिद् दृष्टम् । अथापि भवतु नाम ध्यानाद् ध्येयसाक्षाद्भावो ध्येयस्य, तथात्वे किं प्रमाणम् ? शब्दस्तावत्साक्षात्करणोपायोपासनविधाने पर्ययवसितो न तत्सद्भावे, सत्यम् ; तथाऽपि तत्त्वं सिध्यति वक्ष्यमाणेन देवताविग्रहवत्त्वन्यायेन । \*विषम उपन्यासः\*, तत्र हि न तथात्वे साधकं बाधकं वेति प्रतीतिशरणैस्तथाऽभ्युपेयते ; न तथेह सर्वस्यात्मत्वे ; प्रत्यक्षादिविरोधात्, आरोपितरूपेणापि ध्यानोपपत्तेः । पूर्वोक्तेष्वपि ज्ञानविधिपक्षेऽप्येव दिशा वस्तुतथात्वसिद्धिर्निराकार्या ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* विध्युद्देशसामर्थ्यादेव ध्येयसाक्षात्करणं ध्यानफलं गम्यते, किमन्वय-व्यतिरेकाभ्यामित्याह—\*ननु द्रष्टव्य इति\* ॥ तत्रापि किं नैयोगिकं फलम् ? आहोस्विद् दृष्टमिति ? नैयोगिकत्वे स्वर्गादिवदुपचयापचयात्मको मोक्षः स्यात्, दृष्टं फलं चेत्, तदाह—\*उक्तमेतदिति\* ॥ विधेयसद्भावमङ्गीकृत्य शब्दानां ध्यानविधिपरत्वे ब्रह्मात्मैकत्वं न सिध्यतीत्याह—\*अथापि भवतु ध्यानादिति\* ॥ \*ननु\* शब्दो ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिपादयतीति, नेत्याह—\*शब्दस्तावदिति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानविधिवाक्यव्यतिरिक्तानामवान्तरवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयाद्वस्तुसिद्धिरित्याह—\*सत्यं तथाऽपि तत्त्वं सिध्यतीति\* ॥ परिहरति—\*विषम उपन्यास इति\* ॥ तस्माद्विधिपरत्वे नास्ति वस्तुसिद्धिरिति । सर्वविधिभेदेष्वतिदिशति—\*पूर्वोक्तेष्वपीति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

“किमन्वय-व्यतिरेकाभ्यामि”त्यनेन यद्यप्यन्यत्र ध्येयसाक्षात्कारहेतुत्वं न दृष्टम् ; तथापीह भविष्यतीत्युक्तमयुक्तम् ; “नहि दृष्टाधिकारः” इत्युक्तः परिहारः ; दृष्टफलत्वेन चोद्याकरणादित्याशङ्क्य विकल्प्यावतारयति—\*तत्रापि किं नैयोगिकमिति\* ॥ “तथाऽपि तत्त्वं सिध्यती”ति न युक्तम् ; नह्येकेन विधिवाक्यगतेन शब्देन तत्त्वसिद्धौ देवताधिकरणे कश्चिन्न्यायोऽप्युदाहृतोऽस्ति । नापि ध्येयनिर्देशचरितार्थस्य तथाविधवस्त्वग्राहकत्वमित्याशङ्क्यावतारयति—\*ननु ज्ञानविधिवाक्यव्यतिरिक्तानामिति\* ॥ त्रिविधमन्यपरं वाक्यम् ; प्रमाणान्तरविरुद्धार्थम्, गृहीतार्थम्, अनधिगतार्थं च ।

## तत्त्वदीपनम्

तात्पर्यमाह—\*ननु विधीति\* ॥ विधिरुद्दिश्यते यस्मिन्वाक्ये, तद्विध्युद्देशम् ; तत्सामर्थ्यादित्यर्थः । “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति साक्षात्कारमनूद्य निदिध्यासनं विधीयते । ततश्च ध्यानस्य साक्षात्कारफलत्वं युक्तमिति शङ्कार्थः ॥

ध्यानस्य दृष्टफलताया अनुक्तत्वात्तन्निरसनमनुचितमिवेत्याशङ्क्य, विकल्पोत्तरत्वेन व्याचष्टे—\*तत्रापि\* ॥ साक्षात्कारस्य नियोगसाध्यतयोपचितापचितरूपत्वात्तत्साध्यस्यापि तादृक्त्वं स्यादित्याह—\*नैयोगिकत्व इति\* ॥ भवतु नाम, एतावतैवालम्, किमथापीत्यनेनेत्याशङ्क्य, विधेयाङ्गीकारस्तेन निर्दिश्यते, साक्षात्कारफलं त्वनेनेति विभागमभिसन्धाय—\*विधेयेति\* ॥ किं शब्दः प्रमाणम् ? आहोस्विदन्यः ? इति किंशब्दार्थः । आद्यमुत्थापयति—शब्द इति\* ॥ किं शब्दस्य महातात्पर्यम् ? उतावान्तरतात्पर्यम् ? नाद्य इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

न्यायमात्रस्य प्रमित्यहेतुत्वात् कथं “तथापि तत्त्वं सिध्यती”त्युक्तमित्याशङ्क्य, विकल्पान्तरपरतयाऽवतारयति—\*ननु ज्ञानविधीति\* ॥ प्रत्यक्षादीनामाभासत्वात् तद्विरोध इति परिहारस्याभासत्वमाशङ्क्याह—\*परिहरतीति\* ॥ बलवत्प्रमाणेन बाधमन्तरेण न प्रत्यक्षादेराभासत्वम्, नचान्नायस्य बाधकत्वम् ; तस्य विधिपरत्वादित्यर्थः । \*ननु\* “श्रोतव्यः” इत्यादेर्विधिपरत्वेऽपि वस्तुतत्त्वसिद्धिराश्रिता, तत्राह—\*तस्मादिति\* ॥ “सत्यं ज्ञान”मित्यादीनां ब्रह्मणि तात्पर्यात् तत्रैव “निदिध्यासितव्यः” इत्यादेरपि तात्पर्यम्, विधौ त्ववान्तरतात्पर्यमिति न विधिपराद् वाक्याद् वस्तुसिद्धिरित्यर्थः । ध्यानविधिपक्षोक्तदूषणस्यातिदेशः कृतः “पूर्वोक्तपक्षेऽपि”ति, सं नोपपद्यते ; पक्षद्वयस्यैवोक्तत्वात्, पक्षेऽपि बहुवचनानुपपत्तेरित्याशङ्क्य, तयोरवान्तरभेदाभिप्रायेण बहुवचनमित्याह—\*सर्वेति\* ॥



पञ्चपादिका

\*यत्पुनः कैश्चिदुच्यते\*—शाब्दज्ञानादन्यदेव ज्ञानान्तरमलौकिकं वेदान्तेषु कर्तव्यत्वेन विधीयत इति, \*तत्र वदामः\*—तत्पुनः किंसाधनं किं कर्म चेति वक्तव्यम् । न ह्यनवगतकर्मकारकं ज्ञानं विधातुं शक्यम् ; अवगते च तस्मिन् विधानानर्थक्यम् । साधनमपि न विहितम् ; तेन विना साकाङ्क्षं वचन-मनर्थकं भवेत् । “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती”त्यादिना वचनेन साधनं वेदानु-वचनादि विहितमेवेति चेत्, प्रमाणान्तरस्य तर्हि प्रमाणं शब्दो नात्मतत्त्वस्य, \*नैतदुपपद्यते\* ; कार्यगम्यं हि प्रामाण्यं न विधिगम्यम् ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

स्मृतिसन्तान-ध्यानयोर्नियोगो निराकृतः, इदानीं तृतीयशानेऽपरोक्षफले नियोगमाशङ्कते—\*यत्पुनः कैश्चिदुच्यते इति\*॥ \*तत्र वदामः\*—विधीयमानज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमान-शब्दजन्यत्वाभावाद् दर्श-पूर्णमासवदलौकिककरणेति-कर्तव्यताविषयविधानैः सह दर्शनं विधेयम्, न तद् दृश्यत इत्याह—\*तत्पुनः किंसाधनमित्यादिना\* ॥ शङ्कते \*तमेतं वेदानुवचनेनेति\*॥ श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः करणैर्वेदानुवचन-यज्ञ-दान-तपोऽनशन-शम-दमाद्यनुगृहीतै-र्मोक्षकामो ब्रह्मण्यपरोक्षफलं ज्ञानं कुर्यादित्यर्थः । परिहरति—\*प्रमाणान्तरस्य तर्हि प्रमाणमिति\* ॥ अयमर्थः । सेतिकर्तव्यं साधिकारं च ब्रह्मण्यपरोक्षफलं विज्ञानं प्रमाणान्तरम् । तत् कर्तव्यतया शब्दैः प्रमीयते चेत्, न ब्रह्मणि प्रमाणं शब्दः, किंतु ब्रह्मप्रमाणे प्रमाणम् । ततश्च कल्पनालाघवाद् ब्रह्मण्येव प्रामाण्यं युक्तमिति । \*ननु\* विधिविषयमन्तरेण ब्रह्ममात्रे प्रामाण्यं न युक्तमिति, नेत्याह—\*कार्यगम्यमिति\* ॥ गृहीतसम्बन्धस्य

श्रुतिविवरणम्

तत्राद्ययोः प्रामाण्यं नास्त्येव । अत्रापि विरोधादप्रामाण्यमित्युक्तम्, “शाब्दज्ञानादन्यदि”ति चोद्यं पुनरुक्तम् ; पूर्वमपि तदन्यस्य विधानमिति चोद्यस्य कृतत्वाद् निराकृतत्वाच्चेत्याशङ्क्यावतारयति—\*स्मृतिसन्तान-ध्यानयोरिति\* ॥ \*ननु\* ज्ञानस्य साधनादि प्रसिद्धमेव, किं तद्विधानेनेत्याशङ्क्यावतारयति—\*विधीयमानज्ञानस्येति\* ॥ \*ननु\* “विविदिषन्ती”ति वाक्ये भवदभिमतज्ञाने साधनविधानं न भवति, किन्त्विच्छायां, ज्ञानस्यैव विवक्षितत्वे वा वेदानुवचनादिजन्यस्य न प्रमाणत्वमपरोक्षफलत्वं वा लभ्यते, नापि करणादिविभागोऽधिकारी च लभ्यते, नह्यतैर्विना लौकिकसाधनमात्रेण विधिः, तत् कथं विधानमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*श्रवण-मनन-निदिध्यासनैरिति\*॥ “प्रमाणान्तरस्य तर्हि प्रमाणमित्य”युक्तम् ; किमत्र प्रमाणम् ? कथं तत्र प्रामाण्यम् ? नहि शब्दः प्रमाणान्तरास्तित्वं बोधयति, नात्मतत्त्वस्येत्यदूषणम् ; आत्मनः प्रमाणान्तरसिद्धत्वेन तदप्रामाण्येऽनिष्टाभावात्, “नैतदुपपद्यते” इत्यप्ययुक्तम् ; अनुपपत्तिकारणाभावात्, अथात्मशब्देन ब्रह्म विवक्षितम्, तथाऽपि नानुपपत्तिः ; विध्यपेक्षितत्वे ब्रह्मण्यपि प्रामाण्य-सिद्धेरित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थः सेतिकर्तव्यमिति\* ॥ कार्यगम्यं प्रामाण्यं न विधिगम्यमिति विरुद्धम-मिहितम् ; कार्यगम्यत्वे विधिगम्यत्वं सिद्धमेव ; तयोरभेदादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*गृहीतसम्बन्धस्य वेदान्त-तत्त्वदीपनम्

“यत्पुनरिति”त्यत्र शाब्दज्ञानादन्यद् ज्ञानान्तरं विधीयत इत्युक्तम्, तत्र संभवति ; अस्य चोद्यस्य निरस्तत्वादित्या-शङ्क्याह—\*स्मृतिसन्तानेति\* ॥ अपरोक्षं च तत्फलं चेति विग्रहः । ज्ञानस्य साधन-कर्मणोः प्रसिद्धत्वात् कथं चोद्य-मित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्रेति\* ॥ “तमेतमि”त्यादेः पूर्वग्रन्थशेषत्वं निरस्यति—\*शङ्कते इति\* ॥ आत्मज्ञानस्य शब्दैककरणत्वात् कथं वेदानुवचनादिकरणत्वमित्याशङ्क्याह—\*श्रवणेति\*॥ “प्रमाणान्तरस्ये”त्यत्र किं तत्प्रमाणान्तरं निर्दिष्टम् ? कथं वा शब्दस्य तत्र प्रामाण्यप्राप्तिः ? इत्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\* ॥ निर्विषयप्रमाऽसंभवाद् ब्रह्म-विशेषितप्रमाणे प्रामाण्यं वक्तव्यम्, तथाच कथं ब्रह्मासिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*ततश्चेति\* ॥ प्रामाणिकत्वकल्पना न दोषायेति शङ्कते—\*ननु विधिविषयमिति\* ॥ भावसाधनो निर्देशः । यद् येन प्रमीयते, तत्तत्र प्रमाणम् ; नियोगस्य चात्रानुपलभ्यमानत्वान्न तत्र प्रामाण्यमिति परिहरति—\*नेत्याहेति\* ॥ अङ्गुल्यग्रादिवाक्येष्वर्थप्रतीतिकार्यं इष्टम्, नच तस्य प्रमाणत्वम्, तद्वदत्रापीत्यत आह—\*गृहीतसम्बन्ध-



## पञ्चपादिका

तदुक्तम्—“गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वादि”ति । तदेवमयुक्तमेतत्—विधि-  
समन्वये शास्त्रप्रमाणत्वं ब्रह्मणः ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

वेदान्तवाक्येभ्यो ब्रह्मणि निश्चितप्रमितिकार्यगम्यं वेदान्तप्रामाण्यम् । तत्र प्रमितिजननाद् विषयस्य विधेय(१)त्वगम्ये  
प्रामाण्येऽग्निहोत्रवाक्यं दर्श-पूर्णमासविधिनिष्ठं किं न स्यात् ? तत्र शब्दसामर्थ्याभावात्प्रमित्यनुदयादिति चेत्,  
इहापि “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” “तत्त्वमसी”त्युक्तेन विधौ सामर्थ्यप्रमितिर्वा गम्यत इति ब्रह्माण्येव प्रामाण्यं  
युक्तमिति । \*ननु\* लौकिकं प्रामाण्यं कार्यगम्यमेव, शास्त्रीयं तु विधिगम्यमिति, नेत्याह—\*तदुक्तमिति\* ॥ अत्र  
लौकिकानां शब्दानां मुख्यार्थाभिधानमुखेन वैदिकार्थप्रतिपादनासम्भवे किं वेदे पृथक्सम्बन्धं गृह्णीमः, किं वा  
वृत्त्यन्तरद्वारेणापि लौकिकादेव सम्बन्धादर्थं प्रतिपाद्यामह इति विशये लौकिकमेव प्रतिपत्तुं युक्तम् ; अलौकिक-  
कल्पनादित्याह—\*गुणाद्वाप्यभिधानं स्यादिति\* ॥ एवं लौकिकमेव प्रामाण्यं युक्तम् ; अलौकिककल्पनादित्यर्थः ।  
तस्मान्न दृष्टफलतया नियोगपर्यवसितानि वेदान्तवाक्यानि ॥

## ऋजुविवरणम्

वाक्येभ्य इति\* ॥ कथमर्थप्रमितिलक्षणकार्यगम्यत्वं प्रामाण्यस्य, न विधिगम्यत्वमित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गमाह—\*विषयस्य  
विधिगम्ये प्रामाण्य इति\* ॥ प्रमितिमात्रस्य प्रयोजकत्वसंभवाच्च विशिष्टस्य प्रयोजकत्वमिति परिहाराभिप्रायः ॥

\*ननु\* लोकप्रसिद्धसंबन्धेनैव वेदेऽप्यर्थप्रतिपत्तिः, नतु संबन्धान्तरं वेदे कल्पयितुं युक्तमिति “गुणाद्वे”ति  
सूत्रेणोक्तम्, तत्किमर्थमत्रोदाहृतम् ? तत्र प्रामाण्यस्य लौकिकत्वानुक्तेरित्याशङ्क्याह—\*एवं लौकिकमेव प्रामाण्य-  
मिति\* ॥ “तस्मान्न दृष्टफलतये”त्युपसंहारः कृतः ; अदृष्टफलत्वस्योत्तरत्र निराकरिष्यमाणत्वात् । उक्तं शास्त्रप्रमाणत्वं  
ब्रह्मणो नोपपद्यते—

कार्यान्वितार्थता येन पदानामिह गम्यते । प्रयोग-प्रतिपत्तिभ्यां बालव्युत्पत्तिदर्शनात् ॥  
बुद्धाः प्रवर्तकं किञ्चिद्विवक्षित्वा प्रयुज्यते । तज्ज्ञानेन ततः श्रोता शब्दात्तं प्रतिपद्यते ॥  
तज्ज्ञानेन प्रवृत्तं तमुपलभ्य तु बालकः । प्रवर्तकेन संबन्धमन्वय-व्यतिरेकतः ॥  
प्रतिपद्य ततस्तच्च कार्यमेवेति बुद्ध्यते । स्वकीयव्यवहारे हि कार्यं येन प्रवर्तकम् ॥  
कार्यसंसृष्ट एवार्थे पदानां शक्तिकल्पना । आवापोद्धारभेदेन पदानां च पृथक् पृथक् ॥  
स्वार्थे कार्यान्विते शक्तिमात्रज्ञानानुसारतः । बुद्ध्यते ननु बालस्य नैव कार्यं प्रवर्तकम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

स्येति\* ॥ अबाधितानधिगतासंदिग्धप्रमितिर्निश्चितप्रमितिशब्दार्थः । विधिनिष्ठत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वे दण्ड-  
माह—\*विषयस्येति\* ॥ \*विधेयत्वगम्य इति\* ॥ विषयस्य विधेयत्वेन हेतुना प्रामाण्ये प्रतीयमान इत्यर्थः ।  
दर्श-पौर्णमासविधिः=दर्शपौर्णमासनियोग इत्यर्थः । येन वाक्येन यो नियोगः प्रतीयते, तत्तत्र प्रमाणम्, अग्निहोत्रवाक्ये  
दर्श-पौर्णमासनियोगाप्रतीतेर्न तत्र प्रामाण्यमिति शङ्कते—\*तत्रेति\* ॥ तुल्यमुत्तरमित्याह—\*इहापीति\* ॥ निरस्त-  
मपि चोद्यं प्रकारान्तरेण निराकर्तुं तदनुवदति—\*ननु लौकिकमिति\* ॥ प्रत्यक्षादिगतमित्यर्थः । \*शास्त्रीयमिति\* ॥  
शास्त्रनिष्ठमित्यर्थः । सूत्रविरोधान्नायं विभागो युज्यत इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

किंपरिमितं सूत्रमिति न ज्ञायते ? इत्याशङ्क्यार्थमाह—\*अत्रेति\* ॥ लौकिकानामिति\* ॥ प्रस्तरादिशब्दाना-  
मित्यर्थः । लौकिकानां शब्दानां मुख्यवृत्त्या वेदेऽर्थाभिधानानुपपत्तौ गुणादमुख्यवृत्त्याऽप्यर्थाभिधानं युक्तम्, तत्र हेतुमाह—  
\*संबन्धस्येति\* ॥ लोकप्रतिपन्नसंबन्धविलक्षणसंबन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् शास्त्रार्थनिर्णयाहेतुत्वादित्यर्थः । फलितमाह—  
\*एवमिति\* ॥ टीकापेक्षितमवान्तरप्रमेयनिराकरणोपसंहारं दर्शयति—\*तस्मादिति\* ॥ \*दृष्टफलतयेति\* ॥

(१) विधिगम्ये इत्यृजुविवरणाभिमतः पाठः ।



## ऋजुविवरणम्

विमतिर्वहुधा दृष्टा प्रवर्तकनिबन्धना । भावार्थ-फल-तद्हेतुबोधानन्ये लिङादिकम् ॥  
 वाच्यावाच्यत्वभेदेन तद्व्यापाराभिधा तथा । प्रवर्तकत्वसामर्थ्याच्छक्तिः कार्यान्विते कथम् ॥  
 उच्यते फल-धात्वर्थौ नैव तावत्प्रवर्तकौ । अदृष्टेर्वर्तमानापदेशादौ च न दृश्यते ॥  
 फलसाधनतायां च नैव तद्हेतुता कुतः । भूतादौ व्यभिचारेण शब्दव्यापारयोस्तथा ॥  
 व्यवहारे स्वकीये यो हेतुरध्यवसीयते । शाब्देऽपि हेतुता तस्य शब्दव्यापारयोः कथम् ॥  
 शब्दश्रवणमात्रेण सर्वेषां च प्रवर्तनम् । भवेत्, तेन न तद् दृष्टं व्यापारे च न हेतुता ॥  
 अभिधेयत्वपक्षे च तस्यान्येनाभिधेयता । तस्याप्यन्येन तत्रैवमनवस्थानमाश्रयेत् ॥  
 व्यापारे तदभावश्चेदर्थे चास्तित्वधीः कथम् । व्यापारोऽपि न युज्येत शब्दे मूर्तिविवर्जिते ॥  
 गुणत्वाद् द्रव्यपक्षे च विभुत्वेन न संभवेत् । कार्यस्याव्यभिचारेण स्तन्यपाने प्रवर्तते ॥  
 तेन शाब्देऽपि तस्यैव हेतुत्वं परिकल्पितम् । एवं स्वव्यवहारेण लोके कार्यान्वितेऽभिधा ॥  
 तेन वेदेऽपि लिङ्वाच्यं कार्यमेव प्रपद्यते । अभिधेयं लिङादीनां कार्यं स्यादितरान्वितम् ॥  
 कामवाक्ये लिङादीनामादौ शक्तिः प्रकल्प्यते । स्वर्गकामपदेनेह नियोज्यस्तु समर्प्यते ॥  
 कार्यबोद्धव्यरूपोऽयं पृष्ठाद्ये निपुणं स्थितः । काम्यत्वात्साध्यरूपोऽयं स्वर्गः स्यात्तद्विशेषणम् ॥  
 तद्विशिष्टस्य तस्यापि तस्मिन् कार्यं नियोज्य तम् । ईप्सितोपायता यस्य तत्रैवास्यान्वयो भवेत् ॥  
 उपायत्वं क्रियाया न क्षणभङ्गस्वरूपतः । आमुष्मिकत्वं स्वर्गस्य पृष्ठाद्येनैव सिद्ध्यति ॥  
 क्रियातो भिन्नमेवातस्तन्न मानान्तरान्वितम् । तेनापूर्वं तदित्युक्तं कार्यत्वेन प्रतीयते ॥  
 नियोग इति तैरुक्तं कार्यत्वेन मितं यतः । नियुङ्क्ते स्वात्मनीत्येवं कार्यस्येह नियोगता ॥  
 तदुक्तम्—क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं वेद्यं मानान्तरैर्न तत् । अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमभिधीयते ॥  
 कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ । नियोग इति मीमांसानिष्ठातैरभिधीयते ॥  
 इति साध्यप्रधानत्वं लक्षणं तस्य वर्ण्यते । ननु स्वामिफलोत्पादादपूर्वस्य प्रधानता ॥  
 न युज्यते तथात्वे च प्राधान्यं नैव लक्षणम् । उच्यते स्वार्थसिद्ध्यर्थं नियोज्यस्येप्सितं फलम् ॥  
 कुरुते, तत्प्रधानत्वं न हि तेन प्रहीयते । स्वामी दासस्य संरक्षां नित्यमेव करोति सः ॥  
 न शेषः, स्वार्थमेवास्य संविधानं करोत्ययम् । वेदवाक्यानुसारेण लोकव्युत्पत्तिरेव तु ॥

प्रस्ताऽपूर्वपर्यन्तं विमर्शाद्योग्यताबलात् ।

तदुक्तम्—व्युत्पत्तिरपि कार्यार्थे व्यवहारानुसारिणी । किन्तु निर्धारणामात्रं वेदवाक्यविमर्शजम् ॥  
 वाक्यशेषानुसारेण यवाद्यर्थस्य निर्णयः । नियोज्यवाचकेनेह स्वर्गकामपदेन तु ॥  
 अपूर्वं कार्यमेवाह सममिव्याहतो हि लिङ् । विमृश्यैवमपूर्वं हि ज्ञात्वा वाच्यत्वनिश्चयः ॥  
 तर्कान्तर्गत एवायं तेनास्यानतिरेकता । यद्वाऽस्य स्मृतिकोटित्वं सापेक्षा तु स्मृतिर्भवेत् ॥  
 भूतानुभवसापेक्षा भाविन्यनुभवे तथा । अनुसंहितयागादिस्तद्द्वारेणैव साधनम् ॥  
 तन्मार्गमेवमालोच्य संक्षेपोऽयं निरूपितः । ख्यापनाय यथातत्त्वं नाज्ञाते दूषणं यतः ॥  
 अत्र वेदान्तसिद्धान्तसारमालोच्य यत्नतः । सिद्धे व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थं प्रवर्तकविवेचनम् ॥  
 प्रवर्तकत्वमन्येषां यन्नेति प्रतिपादितम् । तदङ्गीकृतमेवेष्टं साधनस्य तु वर्ण्यते ॥  
 प्रवर्तकत्वं सर्वत्र तस्य येन प्रतीयते । प्रवर्तते कदाचिन्नो श्रेयःसाधनतां विना ॥  
 अध्येषणादीनां यातु तद्धीहेतुतयैव सा । यस्त्वत्र व्यभिचारोऽपि भूतेषादौ प्रदर्शितः ॥  
 अयुक्तः स यतो येन गृहीता कार्यहेतुता । तेनाप्यभिमतो वायं हेतुताधीनिबन्धना ॥  
 कार्यधीरभ्युपेतव्या स्वत्ताद्वैश्वदेवो यतः । कार्यत्वं नोपपद्येत श्रेयःसाधनतां विना ॥



## श्रुतिविवरणम्

इष्टोपायधियो यद्वत्कार्यधीहेतुतोच्यते । तत्र यः परिहारः स्यात्स नोऽत्रापि भविष्यति ॥  
 कृत्युद्देश्यत्वमेवेह भूतादिभ्यो विशेषकृत । इष्टसाधनता बुद्धिर्द्विविधा खलु दृश्यते ॥  
 भूतादिका तथाऽन्या तु कार्याकारा प्रदृश्ये । कार्याकारा च या तत्र गीयते सा प्रवर्तिका ॥  
 नन्विष्टोपायधीवेद्यमेवं कार्यं प्रसृज्यते । इष्टोपायत्वबुद्ध्या तु ज्ञाप्यत्वं भवदीप्सितम् ॥  
 इष्टसाधनतोलेखात् कार्यधीहेतुतेष्यते । इष्टसाधनताज्ञाप्यं कार्यत्वं तेन गीयते ॥  
 यथा खल्वेकधीवेद्यजातिधीहेतुता श्रिता । व्यक्तिबुद्धेस्तथाऽत्र स्यादिष्टबुद्धेश्च हेतुता ॥  
 इष्टसाधनताऽप्येवं द्विप्रकारा प्रतीयते । भूताद्याकाररूपा सा कृतिसाध्यगता तथा ॥  
 कृतिसाध्यार्थसंयुक्ता प्रवृत्तौ हेतुरिष्यते । नेष्टसाधनतामात्रमन्यानुष्ठितकर्मणि ॥  
 वृष्ट्यादौ मा प्रसङ्गः स्यात्प्रवृत्तेरिति वर्ण्यते । फलादौ व्यभिचारेण न कार्यं स्यात्प्रवर्तकम् ॥  
 कृतिसाध्यार्थसंयुक्ता श्रेयःसाधनता ननु । कृतार्था रागमुत्पाद्य प्रवृत्तौ नैव कारणम् ॥  
 तत्र रागस्य हेतुत्वं केवलस्योच्यतेऽथवा । साधनेनानुरक्तस्य प्रथमस्तु न युज्यते ॥  
 अदृष्टेः फलरागस्य साधनेनास्य हेतुता । अज्ञाते फलहेतुत्वे नैव कश्चित्प्रवर्तते ॥  
 साधनत्वे च विज्ञाते तदेव स्यात्प्रवर्तकम् । ननु भागीरथीस्नाने श्रेयःसाधनलक्षणे ॥  
 कृतिसाध्ये प्रवृत्तिर्नो रागस्तेन प्रवर्तकः । तन्नेप्यमाणमेव स्यात्फलमत्र तदिष्यताम् ॥  
 स्नानसाध्ये न चेदीप्सा न स्नानं हितसाधनम् । प्रवर्तकं च यल्लोके कृतियोग्येष्टसाधनम् ॥  
 नन्वीप्सागोचरस्यैव साधनस्येह हेतुता । कार्यैकार्थेन संयोगोऽप्यर्थस्तेन प्रकल्पितः ॥  
 उच्यते स्रुतारम्भे सन्तस्य स्पृहा भवेत् । इन्दूदये प्रवृत्तिस्तु नैव तत्रोपजायते ॥  
 तेन स्यात्कृतिसाध्यार्थसमवायो विशेषणम् । ननु कार्यं ममेदं स्यादिति मत्वा प्रवर्तते ॥  
 कृतियोग्यत्वमात्रन्तु विषयो नास्य युज्यते । अनिष्टसाधने योग्ये कार्यता नैव दृश्यते ॥  
 नेष्टसाधनता कार्यबुद्धेरालम्बनं भवेत् । भूतादौ व्यभिचारेण सुखसाधनतां विना ॥  
 फलेऽपि कार्यताज्ञानं साधने च न दृश्यते । मण्डलोदय इत्युक्तं तेनान्यस्येह कस्यचित् ॥  
 स चायं कार्यरूपोऽर्थः कृतिसाध्यत्वलक्षणः । कृत्युद्देश्यत्वरूपश्च मानसज्ञानगोचरः ॥  
 उच्यते नेदृशी बुद्धिरभिलाषातिरेकिणी । कर्तुमिच्छैव सर्वेषां स्वसंवेद्योपजायते ॥  
 मनसा साक्षिमात्रेण गृह्यतेऽन्यत्ततो न हि । सिद्धयति ग्राहकाभावादुक्तं बिम्बोदये ननु ॥  
 चिकीर्षा नाभिलाषोऽपि तत्रान्यत्कारणं शृणु । चिकीर्षा कृतियोग्ये स्यात् साधने केवले ननु ॥  
 चिकीर्षा कार्यबुद्ध्या स्यादिति भेदो निरूपितः । इष्टसाधनबोधेन कृत्युद्देश्यनिरूपणम् ॥  
 क्रियते यादृशेनेह कृतियोग्येन तेन मे । जायते कर्तुमिच्छातः कार्यं नैव निरूप्यते ॥  
 प्रवर्तकत्वे कार्यस्य निरस्ते सङ्गतिग्रहः । निरस्त एव कार्यस्य ग्रहणं नैव विद्यते ॥  
 कार्याभिधायिता लोके लिङादीनां भवेद्यदि । तथाप्यपूर्ववादित्त्वं वेदे तेषां कथं भवेत् ॥  
 ननूक्तं स्वर्गकामादिपदाद्वेदे नियोगधीः । साध्यः स्वर्गविशिष्टस्तु नियोज्यस्तत्र भङ्गिनीम् ॥  
 क्रियां कार्यतया ज्ञातुं कथमुत्सहते नरः । उत्पादनानुकूलत्वं फले नास्योपपद्यते ॥  
 यस्मिन् सति भवेत् स्वर्गः कर्म तावच्चिरङ्गतम् । तेनान्यस्यैव कार्यत्वमयोग्यत्वाद्दिनाशिनः ॥  
 क्रियायाः साधनत्वं किमयोग्यं प्रतिपत्तितः । अथवा वस्तुतस्त्वाद्ये प्रतिबन्दिरिहोच्यते ॥  
 षण्णामपूर्वं हेतुत्वं प्रतिपत्तिरिहोदिता । स्वर्गहेतुत्वधीरेवं नेष्यते केन हेतुना ॥

विशेषो व्यवधाने हि नानयोर्विद्यते यतः ।

तुपपक्का भवन्तीति कथं कामेषु हेतुता । उपपादकसद्भावो नोभयत्र विशिष्यते ॥



## ऋजुविवरणम्

“सर्वेभ्यः” इति वाक्येन दर्शोदः संप्रतीयते । नापूर्वहेतुता तेषां तद्विहेतोरभावतः ॥  
 अत्राप्यपूर्वहेतुत्वं फलस्य परिकल्प्यते । तद्वदेवेति चेद् ब्रूयादन्योन्याश्रयता भवेत् ॥  
 अयोग्यत्वमपूर्वं नो शाब्दां बुद्धौ प्रतीयते । तस्यान्यकालता येन तदानीं न प्रतीयते ॥  
 स्वर्गोऽप्यस्य समानत्वाद्वैषम्यं नैव तद्वेत् । आमुष्मिकत्वं स्वर्गस्य यतस्तेन न मीयते ॥  
 अर्थवादात्प्रतीयेत सहितं बोधकं यतः । यो वदेदिति तं ब्रूयादत्राप्येतत्प्रकल्प्यते ॥  
 यदा कर्म प्रतीयेत नाम्ना तद्विन्नकालजम् । प्रतीयेत तथाच स्याद्विन्नकालीनसाध्यता ॥  
 एवं साधनता हेया पण्णां व्यवहितेऽपि वा । पृष्ठव्या साधनत्वे धीः स्वर्गोऽप्येवं भविष्यति ॥  
 अर्थवादाच्च नाम्नः स्याद्विध्युद्देशेऽन्तरङ्गता । अयोग्ये त्वप्रतीतिश्चेत्कार्यं नैव प्रतीयते ॥  
 प्रयत्नव्याप्यता साक्षाद्येन नास्ति नचान्यथा । साध्यत्वं तस्य वक्तुं हि शक्यं स्यादप्रतीतितः ॥  
 अयोग्येऽपि प्रतीतिश्चेन्निर्वाहापेक्षया यदि । अन्योन्याश्रयमेव स्यात्पूर्वधीहेत्वभावतः ॥  
 धीमात्रं चेदुपेयेत तथा सर्वं भविष्यति । निर्वाहोऽपि तथैव स्यादिति मन्त्रान्तरं पुनः ॥  
 विधिसामर्थ्यलभ्यं यत्कर्मण्यैश्वर्यमीरितम् । स्वर्गकामस्य नैश्वर्यमतत्साधनकर्मणि ॥  
 तत्कृतिव्याप्यता चास्य न तत्साधनतां विना । करणत्वानुसन्धानं न नैयोगिकमादितः ॥  
 अयोग्यत्वे निरस्ते च विमर्शोऽपि न लभ्यते । व्युत्पत्तिहेतुता नास्य तत्स्वरूपानिरूपणात् ॥  
 प्रमाणं वाऽप्रमाणं वा ? नाद्यः ; संख्यातिरेकतः । अन्तर्भावोऽपि नैवास्य शब्दादन्येषु संभवेत् ॥  
 वृत्तिमानान्तरायोग्ये येन तस्य न संभवेत् । हेतुकत्वान्न शाब्दत्वं संभवि स्वेन चोद्भूते ।  
 अनिश्रयान्न चाप्यस्य लिङ्गादाविष संभवः । शब्दादर्थोच्च सामर्थ्यात्संभवो नास्य विद्यते ॥  
 अन्तर्भावोऽपि तेनास्य न तस्मिन्नुपपद्यते । द्वितीये त्वप्रमाणत्वाच्चदृष्टीतेऽपि वस्तुनि ॥  
 व्युत्पत्तिर्नैव युज्येत वस्तुसिद्धेरभावतः । स्मृतित्वमपि तेनास्य संस्कारो विद्यते यतः ॥  
 सापेक्षत्वं स्मृतेः शक्यं लक्षणं नैव वर्णितम् । उत्पत्ति-ज्ञप्तिपक्षाभ्यां स्यादतिव्यासिदूषणम् ॥

कार्यस्वरूपं न विरुद्धयते तत्प्रयत्नसाध्यत्वमपीह नैकम् ।

असंभवित्वं व्यभिचारिता च दोषो भवेत्लक्षण ईदृशे हि ॥

प्राधान्यमपि नैवास्य तत्स्वरूपानिरूपणात् । प्राधान्यं चेदुपेयोऽत्र कृत्युद्देश्यत्वलक्षणम् ॥  
 नापूर्वस्योपपद्येत नहि तत्फलमिष्यते । कृत्याद्यपेक्षया तच्चेत्स्यादतिव्यासिदूषणम् ॥  
 सर्वान् प्रति प्रधानत्वं कस्यचिन्नैव विद्यते । अन्यशेषत्वराहित्यं नापूर्वस्योपपद्यते ॥  
 पुरुषापेक्षितं स्वर्गं कुर्वत्तच्छेषतामियात् । आत्मसिद्ध्याऽऽनुकूल्येन साधनत्वं न दोषभाक् ॥  
 यो वदेद्विद् तस्यापि गर्भदासेऽपि तद्वेत् । नहि स्वाभ्युपकाराय केवला तत्क्रिया भवेत् ॥  
 आत्मार्थत्वानुसन्धानात्प्रवृत्तिस्तस्य दृश्यते । यागादौ पुरुषस्यापि न भवेच्छेषता पुनः ॥  
 तत्सिद्धिमात्रमुद्देश्यं न हि स्यात्तत्कृतेरिह । तेन नैतत्प्रधानत्वं शक्यं नान्यन्निरूपितम् ॥  
 प्राधान्यं कृतिसाध्यत्वं मिलितं च न लक्षणम् । असंभवत्वदोषेण प्राधान्ये तन्निरूपितम् ॥  
 व्यापारे कृतिसाध्यत्वम्, नास्य व्यापाररूपता । कालत्रयानवच्छेदो यश्च कार्यं निरूपितः ॥  
 प्रातीतिकः स चेद्विषः सर्वकार्ये प्रसज्यते । वस्तुतश्चेद्वेत्तस्य कार्यत्वं हीयते ततः ॥  
 भविष्यत्कालयोगे हि कार्यत्वं सर्ववस्तुनः । एवं नियोज्यता वार्या दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ॥

मेयं न तेऽन्यस्य न तेन तस्य योगे गृहीते न हि गृह्यतेऽसौ ।

हीनो न तेनायमुपैति हित्वा श्रेयःस्वरूपं श्रुतिमात्रागम्यम् ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* कोऽयं नियोगो नाम ? \*ननु\* आचार्यनियोग इत्यादौ प्रसिद्धः, सत्यम् ; तत्रोक्तस्य पुरुषस्या-  
वरपुरुषप्रेरणात्मकोऽभिप्रायभेदो नियोगः, नासावपौरुषेये वेदे बालस्य प्रत्यक्षादिव्यवहारे च संभवति ।  
\*ननु\* कार्यबुद्धिगम्यं वस्तु नियोग इत्याख्यायते प्रवर्तकत्वसामान्यादिति, किमिदं कार्यं नाम ? यदि  
कृतियोग्यतामात्रम्, न ततः प्रवृत्तिः ; प्रागभाववतां सर्वेषां कृतियोग्यत्वात् । अथ कृतिसंसृष्टं कार्यम्,  
न ; कृतिसंसर्गस्यैव निमित्तत्वोपगमात्कार्यबुद्धेः । अथ कृतियोग्यमेवालौकिकं किञ्चिद्वस्तु कार्यमिति,  
तर्ह्यव्युत्पन्नस्य घटेनोदकाहरणं कर्तव्यमित्यादिप्रत्यक्षव्यवहारे क्रिया-कारकव्यतिरिक्तमलौकिकं किञ्चित्प्रतिपन्नम् ?  
न वा ? इति वक्तव्यम् । प्रतिपन्नं चेत्, नालौकिकं किञ्चिदिति । निदर्शनीयं च शब्दान्तरेणेदमित्यमिति ।  
\*ननु\* कार्यमिति प्रतिपद्य प्रवर्तते । ततश्च प्रवर्तकाकारता कार्यस्य क्रिया-कारक फलेभ्यो वैलक्षण्यमिति, \*न\* ;  
धात्वर्थस्यैवाभिलषितसाधनतया प्रवर्तकत्वात् तस्यैव च कार्यबुद्धिगोचरत्वात् । \*ननु\* अन्यत् कार्यमन्यदभि-

### अनुविवरणम्

तत्र नियोगस्यैवाप्रसिद्धत्वात्कथं तन्निष्ठेति चोदयति—\*ननु कोऽयमिति\* ॥ \*ननु\* नियुङ्क्त इति नियोग  
इति प्रवर्तकस्य नियोगत्वं प्रतीयते, कार्यज्ञानाच्च प्रवृत्तिर्दृश्यते, अतः कार्यमेव नियोग इति चोदयति—\*ननु कार्यं बुद्धि-  
गम्यमिति\* ॥ परामितकार्यस्याप्यनिरूपितत्वाच्चान्मुखेनापि न नियोगनिरूपणमिति परिहरति—\*किमिदं कार्यमिति\* ॥  
\*ननु\* कृतिसंसर्गस्येति संसृष्टतया प्रतीतिः ? संसर्गो वा, नाद्यः ; कृतिसंसर्गो हि कार्यबुद्धौ निमित्तमित्यभ्युपगम्यते ।  
नच कार्यबुद्धौ निमित्तस्यैव नैमित्तिकबुद्धिविषयत्वम् । द्वितीयेऽपि कार्यबुद्धेस्तत्र निमित्तता, न कार्यान्तरत्वं तस्येति  
भावः ॥ \*नन्वन्यत्कार्यमिति\* ॥ न धात्वर्थस्याभिलषितसाधनत्वेन प्रवर्तकत्वम् ; भूतवर्तमानादावभावात् न तस्य  
कार्यत्वम् ; अतोऽन्यदेव ममेदं कार्यमिति बुद्धेरालम्बनमिति भावः । \*सत्यमभिलषितसाधनमेवेति\* ॥ यद्यपि नेष्ट-  
साधनमात्रं कार्यम् ; व्यभिचारादिष्टसाधनेऽपीन्द्रयादौ, तथाऽपि न ततो भेदः ; कृतियोग्यस्यैतस्यैव कार्यत्वोपपत्तेरिति  
भावः । \*ननु\* एवमपि नेष्टसाधनमेव कार्यम्, कृतिसाध्यन्तु कार्यम्, श्रेयस उत्पादकन्तु साधनम्, नच तयोर्विरुद्धाकार-

### तत्त्वदीपनम्

साक्षात्कारलक्षणदृष्टफलत्वेनेत्यर्थः । नियोगस्वरूपानिरूपणादपि न तत्पर्यवसितत्वं वेदान्तानामित्याह—\*ननु  
कोऽयमिति\* ॥ स्वरूप-प्रमाणयोरनिरूपणादित्यर्थः । लोकप्रसिद्धत्वाच्च तत्स्वरूपं निराकार्यमित्याह—\*नन्वा-  
चार्येति\* ॥ प्रसिद्धिमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ कथं तर्हि तदनिरूपणमित्याशङ्क्य, तस्य वैदिकलिङ्गाद्यर्थ-  
त्वासंभवं वक्तुं लौकिकनियोगस्वरूपमाह—\*तत्रेति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*नासाविति\* ॥ असंभवे  
हेतुमाह—\*अपौरुषेय इति\* ॥ तर्ह्यन्य एव वेदे लिङ्गाद्यर्थ इत्याशङ्क्याभिप्रायभेदस्य लोकेऽपि न प्रवर्तकत्व-  
मित्याह—\*बालस्येति\* ॥ अभिप्रायभेदस्य व्यभिचारित्वान्न प्रवर्तकत्वम्, नापि लिङ्गाद्यर्थत्वमित्युक्तम्, तत्रान्यदेव  
प्रवर्तकमिति शङ्कते—\*ननु कार्येति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*प्रवर्तकत्वसाम्यादिति\* ॥ अभिप्रायभेदात् कार्यस्यापि  
प्रवर्तकत्वान्नियोगशब्दवाच्यत्वमित्यर्थः । कार्यमेव तर्हि विचारयेत्याह—\*किमिदमिति\* ॥ किं कृति-  
योग्यतामात्रं कार्यम् ? उत कृतिसंसृष्टम् ? आहो कृतियोग्यत्वे सत्यलौकिकत्वम् ? उत प्रवर्तकाकारः ? इति  
किंशब्दार्थः । आद्यं शङ्कते—\*यदीति\* ॥ दूषयति—\*नेति\* ॥ कृतियोग्यतामात्रज्ञानात्प्रवृत्तौ दुःखसाधनानामपि  
कृतियोग्यत्वात् तज्ज्ञानादपि प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*अथेति\* ॥ परस्पराश्रयप्रसङ्गाच्चैत-  
दित्याह—\*न कृतीति\* ॥ कार्यबुद्धौ जातायां तन्निबन्धनः कृतिसंस्पर्शः, तस्मिन् सति कार्यबुद्धिरितीतरेतराश्रयत्व-  
मित्यर्थः । तृतीयमुत्थापयति—\*अथ कृतियोग्यमिति\* ॥ अलौकिकमिति\* ॥ कृत्युद्देश्यमित्यर्थः । विकल्पासह-  
त्वाच्चैतदित्याह—\*तर्हीति\* ॥ द्वितीये संगतिग्रहणानुपपत्तिरित्यभिप्रेत्याद्यं दूषयति—\*प्रतिपन्नमिति\* ॥ निर्देष्टव्यं  
चेत्याह—\*निदर्शनीयमितीति\* ॥ नच कृतिसाध्यं तदुद्देश्यमिति निर्देष्टुं शक्यम् ; फलस्यापि तादृक्त्वादित्यर्थः ।  
चतुर्थमुत्थापयति—\*ननु कार्यमिति\* ॥ तथाऽपि कथं तस्य क्रियावैलक्षण्यम् ? तत्राह—\*तत इति\* ॥ कार्यज्ञानोत्तरकालं  
प्रवृत्तिनियमात् प्रवर्तकाकारः कार्यमित्यर्थः । अतिव्याप्त्या दूषयति—\*नेति\* ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

लघितसाधनम्, \*सत्यम्\* ; अभिलषितसाधनमेव कृतियोग्यतया प्रवर्तकं कार्यमुच्यते । नच श्रेयःकृतिप्रतियोगि-  
भेदमात्रादुभयबुध्यालम्बनं साधनं भिद्यते । नच कृतियोग्येष्टसाधनव्यतिरिक्तं कार्यं नाम प्रवृत्तिनिमित्तं  
पश्यामः । \*ननु\* फलमपि कार्यतया प्रवृत्तिसमर्थं दृश्यते, \*न\* ; विशिष्टप्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्फलकार्यत्वस्य ।  
अभिलषितसाधनं कार्यमेव सम्बन्धग्रहणलिङ्गभूतायाः प्रवृत्तेर्हेतुः ; फलस्य त्विच्छामात्रहेतुत्वात् । नच  
कार्यं नामालौकिकं किञ्चिल्लोके दृश्यते । न तावत्प्रत्यक्षेणावगन्तुं शक्यम् ; असिद्धस्वभावत्वात् । सम्बन्धा-

### ऋजुविवरणम्

योरैक्यमित्याशङ्क्याह—\*नच श्रेयःकृतिप्रतियोगीति\* ॥ असाधारणधर्मभेदो हि भेदकः, न प्रतियोगिमात्रमिति भावः ॥  
\*ननु\* प्रवर्तकं कार्यम् ; ममेदं कार्यमिति ज्ञानात्प्रवृत्तिदर्शनात्, नच कृतियोग्यत्वेन कार्यतेति युक्तम् ;  
अनिष्टसाधने व्यभिचारात् । नच श्रेयःसाधनत्वेन कार्यता ; तस्यापि व्यभिचाराद्भूतादौ । नच कृतियोग्येष्टसाधनत्वेन  
कार्यत्वम् ; जाह्नवीज्ञाने कृतियोग्येष्टसाधनत्वे विद्यमानेऽपि कार्यत्वाददर्शनात्, फलस्य तादृशसाधनत्वेन विना कार्यत्वमिति  
वक्तुं न शक्यते । दृश्यते च कार्यबुद्धिः सर्वेषाम्, तेनान्यदेव कृतिसाधनं तद्बुद्धिगोचरः, इत्याशङ्क्याह—\*न च कृतियो-  
ग्येष्टसाधनेति\* ॥ नचेच्छाऽभावे ज्ञानस्येष्टसाधनत्वमिति भावः । यद्वा प्रतियोगिमात्रभेदमाश्रित्य साधनस्यैव प्रवर्तकत्वं  
कस्मादाश्रीयते ? व्यतिरिक्तमेव प्रवर्तकं कार्यमिष्यतामित्याशङ्क्याह—\*नच कृतियोग्येष्टेति\* ॥ \*ननु\* इष्टसाधनव्यति-  
रिक्तमपि प्रवर्तकं कार्यं दृश्यते फलमिति चोदयति—\*ननु फलमपि कार्यतयेति\* ॥ \*विशिष्टप्रवृत्तिहेतुत्वाभावादिति\* ॥  
अयमर्थः—फलं स्वात्मनि प्रवृत्तिं जनयति ? साधने वा ? नात्मनि ; अयोग्यत्वात्, नापि साधने ; अज्ञाते साधने प्रवृत्त्य-  
दर्शनात्, ज्ञाते च साधनज्ञानमेव प्रवर्तकम् ; फलज्ञानस्य व्यवहितत्वात् फलस्यापि प्रवर्तकत्वं दृश्यत इत्याशङ्क्याह—  
\*फलस्य त्विच्छामात्रेति\* ॥ \*ननु\* कार्यप्रतीतिरङ्गीकृतैव भवता नामान्तरेण, तत्कथं निराक्रियते ? इत्याशङ्क्याह—  
\*नच कार्यं नामेति\* ॥ “नच कृतियोग्येष्टसाधने”त्यनेन प्रवर्तकत्वं व्यतिरिक्तस्य निरस्तम्, अनेनालौकिकस्य प्रवृत्ति-  
निरस्तेत्यपुनरुक्तिः ॥ यद्वा पूर्वं प्रवर्तकत्वं कार्यस्य निरस्येष्टसाधनस्य साधितम्, इदानीं कार्यस्य तदीयस्य शब्द-  
वाच्यत्वमपि न संभवति ; तस्यागृहीतत्वेन संबन्धग्रहणाभावादित्याह—\*नच कार्यं नामेति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

धात्वर्थमात्रस्य न प्रवर्तकत्वम्, दुःखसाधने व्यभिचारात्, इत्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—\*अभिलषितसाधनतयेति\* ॥  
कार्यबुद्धिगोचरत्वे सति प्रवर्तकत्वं लिङ्गं इत्याशङ्क्याह—\*तस्यैवेति\* ॥ शिशिरमरीचिमण्डलोदयादेरभिलषित-  
साधनत्वेऽपि न कार्याधीनत्वमिति तद्भेद इति शङ्कते—\*नन्वन्यत् कार्यमिति\* ॥ किमिष्टसाधनमात्रस्य कार्यधीनोचरत्वं  
निरस्यते ? उत तद्विशेषस्य ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*अभिलषितेति\* ॥  
एकस्या व्यक्तेः साधनत्वं कार्यत्वं चानुपपन्नम् ; कार्यस्य साध्यतारूपत्वात्, साधनस्य चोत्पादकत्वादित्याशङ्क्याह—  
\*नच श्रेय इति\* ॥ कृति-श्रेयसोर्भिन्नत्वात्ताभ्यां विशेष्यमाणं कथमेकं स्यादिति वाऽऽशङ्क्याह—\*नच श्रेय इति\* ॥

यागादिव्यक्तिषु कृतिसाध्यत्वस्य श्रेयःसाधनत्वस्य च भावान्नैतावता भेद इत्यर्थः । कृतियोग्येष्टसाधनव्यति-  
रिक्ते कार्ये प्रमाणं च नेत्याह—\*नचेति\* ॥ अदर्शनमसिद्धम् ; फलस्य प्रवर्तकतयाऽनुभवादित्यन्वयः । कश्चित्  
शङ्कते—\*ननु फलमिति\* ॥ साधनस्य प्रवृत्तिव्यभिचारित्वात् तदपि प्रवर्तकमिति वा शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ किं  
तद्वाह्यप्रवृत्तेर्हेतुः ? उतान्तरप्रवृत्तेः ? नाद्य इत्याह—\*न विशिष्टेति\* ॥ बाह्यप्रवृत्तिर्विशिष्टप्रवृत्तिशब्दार्थः । फलज्ञानं  
विना विशिष्टप्रवृत्त्यसंभवात्तद्देतुरित्याशङ्क्य, तस्मिन् सत्यपि साधनज्ञानाभावे प्रवृत्त्यसंभवात् तदेव हेतुरित्याह—  
\*अभिलषितेति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*फलस्येति\* ॥ एवं प्रासङ्गिकं चोद्यं निरस्य, कार्ये प्रमाणं नेत्येतत्प्रपञ्चयति—  
\*नच कार्यमिति\* ॥ कथमदर्शनमिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं प्रत्यक्षं तत्र मानम् ? उतानुमानम् ? आहो आगमः ?  
किं वाऽनुपपत्तिः ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ प्रत्यक्षस्य वर्तमानविषयत्वात्कार्यस्य च तद्वैपरीत्यान्न प्रत्यक्षत्व-  
मित्यर्थः । द्वितीयं निरस्यति—\*संबन्धेति\* ॥



### पञ्चपादिकाविवरणम्

ग्रहणानुमानेन । अव्युत्पन्नत्वान्नागमेन । अलौकिककार्यमन्तरेणानुपपत्त्यभावान्नाथोपस्था कार्यमवगन्तुं शक्यम् । प्रवर्तकत्वमनुपपन्न इति चेत्, न ; कृतियोग्यादभिलषितसाधनादपि प्रवृत्तेः । नच साधनत्वमपि कार्यवत्प्रमाणशून्यम् ; तत्फलोदयान्वय-व्यतिरेकाभ्यामवगमात्, अननुभूतेऽपि सामान्यतोदर्शनेन साधनत्व-सिद्धेः । नचातीतादिसाधनेषु प्रवृत्तिप्रसङ्गः ; कृतियोग्येष्टसाधन इति विशेषणात् । तस्मादव्युत्पन्नस्य व्यवहारे प्रमाणान्तरेण यत्प्रवर्तकतया वर्तते, तदेव श्रोतुरपि शाब्दबुद्धिगोचरतया प्रवर्तकमनुमीयत इति सिद्धम् । तत्र ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने विधिसम्बन्धो नाम फलसाधनसामर्थ्यम् । तन्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेण मोक्ष-फलस्याभावात्तस्य चान्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वात्तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमन्वय-व्यतिरेकगम्यं न शब्दप्रमेयमिति ब्रह्मण्येव प्रमाणं शब्द इति सिद्धम् । इदानीं जीव-ब्रह्मणोर्भेदमङ्गीकृत्य ब्रह्मणश्च प्रदेशान्तरवर्तित्वं सर्वगतत्वं

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\* प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या कार्यं गम्यते ; तस्यैव स्तन्यपानादौ प्रवर्तकत्वात्, इति चोदयति—\*प्रवर्तकत्वमिति\* ॥ अर्थापत्तेरन्यथाऽप्युपपत्तेरिति परिहरति—\*न कृतियोग्यादिति\* ॥ \*ननु\* साधनस्यापि ज्ञापकाभावात्कथं प्रवृत्तिहेतुत्वं शब्दवाच्यत्वं वा संभवतीत्याशङ्क्याह—\*नच साधनत्वमपीति\* ॥ \*तत् फलोदयान्वयेति\* ॥ तस्य साधनस्य येन फलोदयेनान्वय-व्यतिरेकौ, तस्मिन् सति फलोत्पत्तिरसति चानुत्पत्तिरित्येवंरूपौ, ताभ्यां साधनत्वधीरित्यर्थः । \*ननु\* एवमपि न साधनस्य प्रवर्तकत्वम् ; अननुभूतस्य प्रवर्तकत्वाभावात्, अनुभूते फलस्य निष्पन्नत्वान्न प्रवर्तकत्वमित्या-शङ्क्याह—\*अननुभूतेऽपीति\* ॥

\*ननु\* मा भूत् कार्यस्य विधेयता, तथाऽपि न ब्रह्मणि प्रामाण्यं युज्यते ; वेदान्तानामिष्टसाधनविधिपरत्वेन ज्ञानस्य विधेयत्वेन तन्निष्ठत्वस्य वेदान्तानां दुष्परिहरत्वादित्याशङ्क्याह—\*तत्र ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान इति\* ॥ सर्वं चैतद्व्यक्तमुद्ग्राहणिकायामिति नेहोच्यते । अथवा—“अथ यदतः” इत्यादिग्रन्थेन प्रपञ्चातिरिक्तब्रह्मोपासनं मोक्षाय विधीयते, मोक्षश्च ब्रह्मप्राप्तिलक्षण इत्युक्तम्, तदयुक्तम्, नहि प्रपञ्चातिरिक्तत्वं ब्रह्मणः संभवति ; सर्वात्मकत्वाद्, व्यर्थं च तत्कीर्तनम् । नच प्राप्तिलक्षणो मोक्षः संभवति ; आत्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वात्, पुनरुक्तं च ; पूर्वमेवोपासनाविधान-माशङ्क्य निरस्तत्वादित्याशङ्क्यावतारयति—\*इदानीं जीव-ब्रह्मणोरिति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

तृतीयं प्रत्याह—\*अव्युत्पन्नत्वादिति\* । चतुर्थं प्रत्याह—\*अलौकिकेति\* ॥ अनुपपत्त्यभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*प्रवृत्तिरिति\* ॥ अन्यथोपपत्त्या दूषयति—\*न कृतियोग्येति\* ॥ प्रमाणविधुरत्वाद्विष्टसाधनवाक्यार्थोऽपि नादेश इत्यत्राह—\*नच साधनत्वमिति\* ॥

तर्हि फलोत्पत्तेः पुरा साधनत्वस्य दुरधिगतत्वात्कथं ततः प्रवृत्तिरिति ? अत्राह—\*अननुभूत इति\* ॥ इदमेतत्सा-धनमेतज्जातीयत्वादमुक्तवदित्यनुमानात्साधनत्वसिद्धिरित्यर्थः । कृतियोग्येष्टसाधनमिति सविशेषणप्रयोजकाङ्गीकाराद् गौरवम्, इतरत्र लाघवमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ “संभवे व्यभिचारे च स्याद्विशेषणमर्थवदि”ति न्यायाद्विशेषण-कल्पनं न दोषाय । नच—निर्विशेषणप्रयोजकसंभव इतरकल्पनमयुक्तमिति—वाच्यम् ; इष्टसाधनज्ञानं विना कार्यबुद्धि-स्तावन्न संभवति ; इष्टसाधनज्ञानमात्रस्य स्वकार्यज्ञानाहेतुत्वात् कतिपयेष्टसाधनज्ञानस्य हेतुत्वं वक्तव्यम्, तथाच तादृग्विष्टसाधनस्यैव प्रवर्तकत्वमस्तु, किं तज्जन्यकार्यबुद्धेयत्यर्थः । प्रकृतं निगमयति—\*तस्मादिति\* ॥ वेदान्तानां कार्यपरत्वाभावेऽपि विधिपरत्वम् ; एतत्साधनताया एव विधित्वादित्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ अस्तु को दोषः ? तत्राह—\*तत्राविधेति\* ॥

“अथापी”त्यादिना ग्रन्थेनोपासनाविधिपरत्वं वेदान्तानां शङ्कितम्, तदयुक्तम् ; पूर्वत्राप्युपासनाविधेर्निरस्त-त्वादित्याशङ्क्य मतभेदाभिप्रायेणेदं चोद्यमित्याह—\*इदानीमिति\* ॥ विकारासंसृष्टत्वात्प्रदेशान्तरवर्तित्वम्, विभुत्वेन



### पञ्चपादिका

अथापि—“अथ यदतः परो दिवो ज्योतिरिति” प्रपञ्चातिरिक्तब्रह्माभ्युपगमे देवताविग्रह-  
वत्त्वन्यायसंभवाद् मोक्षकामस्य ब्रह्मोपासनं विधीयते, तथाच श्रुतिः—“विद्यया तदारोहन्ती”ति, नच  
साध्यत्वेऽप्यन्तवत्त्वम् ; शब्दगम्यत्वादानावृत्तेः—“न च पुनरावर्तते” इति । न ह्येष तर्कगम्यः, येन  
तर्केणास्य तत्त्वं व्यवस्थाप्येत, शब्दगम्यस्य तु शब्दादेव तत्त्वव्यवस्थेति मन्वानस्योत्तरमाह भाष्य-

### पञ्चपादिकाविवरणम्

चाभ्युपगम्याहं ब्रह्मास्मीत्यारोपितरूपेण विधीयमानादुपासनाद् यागादिव स्वर्गो मोक्षः फलिष्यतीति ये मन्यन्ते,  
तन्निरासायोत्तरं भाष्यमित्याह—\*अथाप्यथ यदतः परो दिवो ज्योतिरित्यादिना\* ॥ \*ननु\* एवमभ्युपासना-  
विधिपरत्वे शब्दस्य ब्रह्मस्वरूपासिद्धिरित्यत आह—\*देवताविग्रहवत्त्वन्यायेति\* ॥ नच प्रमाणान्तरविरोधः ;  
विकारासंस्पर्शित्वाद्, ब्रह्मणः सद्वितीयत्वात् । \*ननु\* नैयोगिकफलत्वे मोक्षस्य स्वर्गादिवदनित्यतेति, नेत्याह—  
\*नच साध्यत्वेऽपीति\* ॥ \*ननु\* श्रुतिरनित्यत्वानुमानविरुद्धा कथमनावृत्तिं साधयेदिति ? अत आह—\*न ह्येष  
इति\* । \*ननु\* अनुमानागमयोर्विरुद्धाव्यभिचारित्वात्संशयहेतुत्वमिति, तत्राह—\*शब्दगम्यस्येति\* ॥

### ऋजुविवरणम्

\*ननु\* न देवताधिकरणन्यायेन वस्तुसिद्धिः ; तस्य प्रमाणान्तराविरोधसापेक्षत्वात्, इह सर्वगतस्य न प्राप्यत्वं  
संभवति । नहि गन्तु-गन्तव्यभेदोऽपि तस्मिन्नुपपद्यते, सर्वगतत्वे च सर्वविकारसंबन्धेन विकारित्वम्, तथा सत्य-  
विकारित्वप्रतिपादकागमस्य तद्विरोधः, प्राप्तत्वे वा परिच्छिन्नत्वम्, इत्याशङ्क्याह—\*नच प्रमाणान्तरेति\* ॥ तथा  
सति सावयवत्वेनानित्यत्वं, “विरुद्धाव्यभिचारित्वादि”ति समकक्षत्वम् न परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वं विवक्षितम् ;  
विरुद्धेनार्थान्तरेणाव्यभिचारादित्यर्थः । “नह्येष तर्कगम्यः” इत्ययं परिहारो व्यधिकरण इव लक्ष्यते ; विरुद्धाव्यभिचारि

### तत्त्वदीपनम्

सर्वगतत्वं चेत्यर्थः । भेदोपासनं कथमित्याशङ्क्याह—\*अहं ब्रह्मेति\* ॥ “वाचं धेनुमुपासीते”त्यादाविवेत्यर्थः ।  
वाग्धेन्वोरन्यत्र प्रसिद्धत्वात्समारोप्योपासनं युक्तम्, ब्रह्मणस्त्वप्रसिद्धत्वाद् वेदान्तानां च विधिपरत्वान्न तत्र प्रामाण्य-  
मित्यनुपास्यत्वं ब्रह्मण इति शङ्कते—\*नन्वेवमपीति\* ॥ समारोप्योपासनेऽपीत्यर्थः । प्रमाणान्तरविसंवादाभावे  
देवताधिकरणन्यायोऽवतरति, अत्र च प्रमाणान्तरविरोधान्न वस्तुसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ सद्वितीयत्व-  
मुपपादयति—\*विकारेति\* ॥ “अथ यदतः परः” इत्यादिना ब्रह्मणो विकारेण संबन्धोपलब्धेस्तस्य पृथक्त्वेनावस्थानम्,  
तथाच वेदान्तानामपि भेदपरत्वान्न मानान्तरविरोध इत्यर्थः ।

फलाभावाद्भोपासनविधिपरत्वमिति शङ्कते—\*ननु नैयोगिकफलत्वेति\* ॥ नित्यग्राहकप्रमाणविरोधान्नानित्य-  
त्वमनुमेयमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ नित्यत्वग्राहि प्रमाणमसिद्धमिति शङ्कते—\*ननु श्रुतिरिति\* ॥ ब्रह्मात्मभाव-  
लक्षणस्य मोक्षस्य मानान्तरागोचरत्वात्कथं तदनित्यत्वानुमानम् ? इत्याह—\*अत आहेति\* ॥ यत् कृतकं तदनित्य-  
मिति व्याप्त्या कृतकस्यानित्यत्वसिद्धावर्थाद् मोक्षानित्यत्वसिद्धेर्न त्वदभिमतसिद्धिरित्याह—\*नन्वनुमानेति\* ॥  
\*विरुद्धाव्यभिचारित्वादिति\* ॥ सत्प्रतिपक्षसाधनानुमानसदृशत्वादित्यर्थः ॥

### प्रदीपः

तथाच निर्गुणोपासनान्मुक्तिरिति पूर्वपक्षे, निर्गुणसाक्षात्कारादेव मुक्तिरिति सिद्धान्ते च प्रयोजनभेदोऽपि निरूपितप्रायः  
तथाच यत्तोपासनाविधिर्न वृश्यते, तत्रापि तत्कल्पनं कर्तव्यमिति पूर्वपक्षहृदयम् । एतन्मते हि जीव-ब्रह्मणोरभेद इव भेदोऽपि  
वर्तते, इति भेदाभेदवादस्वीकाराद् न ज्ञानमात्रात् क्रिया-कारकादिनिवृत्तिः, इति वेदान्तविज्ञातस्यापि निर्गुणस्योपास्यत्वं न  
विरुद्धम् । तथाचात्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्त इति शास्त्रयोनित्वाक्षेपेण न वर्णकान्तरमिदम्, किन्तु “तत्तु समन्वयादि”ति सूत्रस्य  
योजनान्तरपरं वृत्तिकारमतमेव निरसनार्थमनूद्यते ; यथा आनन्दमयाधिकरणे, इति पूर्वपक्षनिरूपणावसरे पूर्वमुपक्षिप्ता एव  
युक्तयोऽत्रापि पुनरुक्ताश्चेदपि न पौनरुक्त्यम् । यतोऽत्र विशदरूपेण ता एव युक्तय उपक्षिप्यन्ते विशदरूपेण च सम्यग्



यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म ; तथाऽपि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते । यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत् ।

भामती

तदेतत्सर्वमाह—\*यद्यपीति\* ॥ विधिपरैभ्योऽपि वस्तुतत्त्वविनिश्चय इत्यत्र निदर्शनमुक्तम्—  
\*यथा यूपेति\* ॥ “यूपे पशुं बध्नाति” इति बन्धनाय विनियुक्ते यूपे, तस्यालौकिकत्वात् कोऽसौ यूपः ? इत्यपेक्षिते “खादिरो यूपो भवति” “यूपं तक्षति” “यूपमष्टाश्रीकरोति” इत्यादिभिर्वाक्यैस्तक्षणादिविधिपरैरपि संस्काराविष्टं विशिष्टसंस्थानं दारु यूप इति गम्यते । एवमाहवनीयादयोऽप्यवगन्तव्याः । प्रवृत्ति-निवृत्तिपरस्य शास्त्रत्वम्, न स्वरूपपरस्य, कार्य एव च संबन्धो न स्वरूपे, इति हेतुद्वयं भाष्यवाक्ये-

ऋजुप्रकाशिका

स्वोक्तमर्थं भाष्यारूढं करोति—\*तदेतत् सर्वमाहेति\* ॥ \*तस्येति = यूपस्येत्यर्थः । “तक्षणादी” इत्यत्र अष्टाश्रीकरणमादिशब्दार्थः । एवमाहवनीयादयोऽपि “यदाहवनीये जुहोति” इति विहिते क आहवनीय इति वीक्षायां “वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत” इत्यादिश्रुतिभिः संस्कारविशिष्टाग्निराहवनीय इति गम्यत इत्येवं रूपेणाहवनीयादयोऽवगन्तव्या इत्यर्थः । कारिकोक्तं शास्त्रत्वेनार्थवत्तयेति हेतुद्वयं भाष्येण सङ्गमयति—\*प्रवृत्ति-निवृत्तिपरस्येत्यादिना\* ॥ \*कार्य एवेति\* ॥ अत एवार्थवत्त्वमित्यर्थः । “तद्भूता-

वार्तिकम्

प्रतिकूला भवन्तीति यावत् । तेषामेकदेशित्वं दर्शयन् प्रत्यवस्थानप्रकारमाह—\*यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथाऽपि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यत इति\* ॥ तथाच सिद्धार्थैकदेश-स्वीकारात् सिद्धमैकदेशित्वमिति भावः । यद्यपि वेदान्तानामानर्थक्यासम्भवात् शास्त्रप्रमाणकत्वम् ; तथाऽपि न विधिसंस्पर्शमन्तरेण शास्त्रेण तत् प्रतिपादयितुं शक्यते ; प्रवृत्ति-निवृत्ति-प्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तत्वात् । अत “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति प्रतिपत्तिविधौ, कोऽसावात्मैति भाष्यभावप्रकाशिका

भेदप्रसङ्गादित्यत आह—\*यथा यूपेति\* ॥ “यूपे पशुं बध्नाति” इति बन्धनाय विनियुक्ते यूपे तस्यालौकिकत्वात् कोऽसौ यूपः ? इत्याकाङ्क्षायां “खादिरो यूपो भवति” “यूपं तक्षति” “यूपमष्टाश्रीकरोति” इत्यादिभिर्वाक्यैस्तक्षणादिविधिपरैरपि संस्काराविष्टसंस्थानं दारु यूप इति गम्यते, एवं यज्जुहोति, तदाहवनीये जुहोतीत्यादिवाक्यैर्विधिपरैराहवनीयादयोऽप्यवगम्यन्ते, तद्वद् विधिपरैरपि विशिष्टं-ब्रह्मावबोध्यत इत्यर्थः ॥

प्रदीपः

निरसनार्थमिति वस्तुस्थितिः । तमिमं भावं सूचयन् वृत्तिकाराणां मतमुपक्षिपति—\*यद्यपि शास्त्रप्रमाणकमिति\* ॥ तथाचानेन विवरणेन शास्त्रप्रमाणकत्वमाक्षिप्यते, तस्याङ्गीकारादिति नास्य वर्णकान्तरत्वमिति भावः । \*ब्रह्म\* = निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्यर्थः । शास्त्रप्रमाणकत्वे समानेऽपि नोपास्यता तस्येति नेदमङ्गीकारयोग्यमिति वृत्तिकारमतस्य स्वमताद्विशेषमाह—\*प्रतिपत्तिविधिविषयतयैवेति\* ॥ उपास्यतयैवेत्यर्थः । \*शास्त्रेण\* = निर्विशेषबोधकवाक्यजातेन । उपासनाप्रकरणपठितानां तु नोपास्य-स्वरूपपरत्वं विप्रतिपन्नमिति न सगुणवाक्यशेषतयैव निर्गुणवाक्यानामप्यन्वय इति भावः । तथाच निर्गुणं ब्रह्मोपास्यतयैव वेदान्त-प्रतिपाद्यम्, उपासनाविधिपरोपक्रमादिलिङ्गकतात्पर्यविषयत्वात्, इति सूत्रार्थो विवक्षितः । \*ननु\* वेदान्तानां निर्विशेषोपासना-विधिपरत्वे निर्विशेषस्य प्रमाणान्तरेणाप्रसिद्धस्यापि बोधनमावश्यकमित्युभयविधाने वाक्यभेदाद् निर्विशेषं न प्रामाणिकम्, न वोपासनं विवक्षितमिति वक्तव्यमिति कथं निर्विशेषोपासनाविधिरिति ? अत आह—\*यथेति\* ॥ विधिवाक्यानि हि प्रमाणान्तरप्रसिद्धप्रति-



### वार्तिकम्

तद्विषयापेक्षायाम्—“एवं वा अरे महद्भूतमपारमनन्तमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनमेवे”त्यादिवाक्यानां तद्विषयतयैव ब्रह्मसमर्पकत्वम् । तथा “ब्रह्मविदाप्नोति परमि”त्यर्थवादोऽस्तीति प्रतिपत्तिविधौ किं तद् ब्रह्मेति तद्विषयापेक्षायां “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे”त्यादिवाक्यानां तद्विषयतयैव तत्समर्पकत्वम् । एवं वेदान्तान्तरेष्वप्युक्तम्—इति ।

नच—एवं विधिषेष्टत्वे योषिदग्न्यादिवाक्यवदारोपेणापि तद्विषयसिद्धेः स्वार्थं प्रमाणं न स्यादिति—वाच्यम् ; वैषम्यात् । उपासना हि मानसी क्रिया, न प्रमाणम् । अतो यथाविषयमारोपेणापि तत्सिद्धिः, प्रतिपत्तिस्तु प्रमाणं वस्तुविषयैव । अतस्तद्विषयस्यालौकिकत्वात्, सङ्गति-ग्रहाभावाद् विधिवाक्यस्थात्मब्रह्मादिपदात्तदनुपस्थितौ कोऽसावात्मादिपदोपस्थाप्यः ? यो विधेय-प्रतिपत्तेर्विषयः, इत्यपेक्षायां यूपहवनीयादिवदलौकिकस्यापि तस्य—“एवं वा अरे महद् भूतमपारम्” “सत्यं ज्ञानमनन्तमि”त्यादिवाक्यान्तरैस्तत्समर्पणादुपपद्यते स्वार्थप्रामाण्यम् । यथा हि “यूपे पशुं बध्नीत” “आहवनीये जुहोति” “स्वर्गकामो यजेते”त्यादिविधौ श्रयमाणयूपहवनीय-स्वर्गादिपदार्थानामलौकिकत्वेन तत्पदेभ्योऽनुपस्थितौ केऽमी यूपहवनीय-स्वर्गादिपदार्थाः ? इत्यपेक्षायां “यूपं तक्षति” “खादिरो यूपो भवति” “यूपमष्टाश्रीकरोति” “वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत” “यन्न दुःखेने”त्यादिवाक्यान्तरैस्तत्समर्पणे-नापेक्षापूरणात् तत्र तेषां विधेयवाक्यतया प्रामाण्यम्, तद्वत् ।

\*ननु\* आत्मपदार्थो लौकिक एव, \*सत्यम्\* ; न स विधेयप्रतिपत्तिविषयः ; तस्य स्वभावसिद्ध-प्रत्यक्षविषयत्वेन तद्विषयत्वानुपपत्तेः । अतस्तदन्यथानुपपत्त्याऽपूर्वोऽस्त्यात्मा तच्छब्दाधिगम्य इत्यध्य-वस्यति । तथा चोपपद्यते तदाकाङ्क्षेति न कश्चिद् दोषः । तस्माद् विधेयप्रतिपत्तिविषयसमर्पकत्वेनैव ब्रह्मबोधकवेदान्तानां प्रामाण्यम्, न स्वातन्त्र्येण । एवं च सति शास्त्रतात्पर्यविदामपि वचनमुपपन्नं भवति । अन्यथा तद् विरुध्येत, यतः सर्वोऽप्याम्नायोऽविशेषेण क्रियाबोधनपर एव, इति तद्वचनार्थोऽध्यवसीयते । तथाच शबरस्वामिवचनम्—“दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्” “चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमिति”\*॥

### प्रदीपः

पादकार्थमादाय तत्साधनत्वमात्रं तत्साध्यत्वमात्रं वा कानिचन निरूपयन्ति, कानिचन तु प्रातिपदिकार्थस्य प्रमाणान्तराप्रसिद्धत्वे तत्स्वरूपतत्साधनत्वाद्युभयसाधकानि दृश्यन्ते, यथा “व्रीहीन् प्रोक्षति,” “दध्ना जुहोती”त्यादौ दध्यादीनां प्रमाणान्तराप्रसिद्धानां साधनत्वादिमात्रं विवक्ष्यते, “अध्वर्युं वृणीते,” “यूपं तक्षत्यष्टाश्रीकरोति,” “अग्नीनादधीत” इत्यादिवचनैस्तु दृष्टादृष्टोभय-रूपाध्वर्यादिस्वरूपं तेषां वरणादिसंस्कार्यत्वमुभयं च बोध्यते । तत्र च सममिव्याहारादिना पदार्थनिर्णयोऽपि क्रियत इति वस्तुस्थितिः । सति चैवं तेन न्यायेन सत्यज्ञानादिवाक्यानुपासनाविधिपराण्यपि ब्रह्मपदार्थमपि प्रमाणान्तराप्रसिद्धं सत्यज्ञानादि-पदसममिव्याहारादिना बोधयन्तीति न कोऽपि विरोध इत्यभिप्रायः । \*यूपहवनीयादीनीति\* ॥ “यूपे पशुं बध्नीति” इत्यत्र बन्धनाधिकरणतया निर्दिश्यमानो यूपपदार्थः, “यदाहवनीये जुहोती”त्यत्र होमाधिकरणतया निर्दिश्यमान आहवनीयपदार्थः, “देन्द्रं दधी”त्यादिस्थले दध्यादिद्रव्योद्देश्यतया बोधितेन्द्रपदार्थश्च न लौकिकः । न हि स्तम्भमात्रं यूपपदार्थः, किन्तु संस्कृत-स्तम्भविशेषः, एवमग्निसामान्यं नाहवनीयपदार्थः, किन्तु संस्कृताग्निविशेषः, इति यूपेणसिद्धपदार्थां दृष्टादृष्टोभयरूपास्तत्तत्संस्कार-विधायकानां वाक्यानां “यूपं तक्षती”त्यादीनां पर्यालोचनेन निर्णयः । तत्र च यूपहवनीयादिपदार्थाप्रसिद्धावपि संस्कारविध्यन्याऽ-नुपपत्त्या संस्कृतस्तम्भविशेषादिकमेव तदर्थं इति निर्णीयत इति वस्तुस्थितिः । तत्र यूपपदार्थो दृष्टादृष्टरूपः, आहवनीयरूपः केवलादृष्टरूपः, इन्द्रादिदेवतास्वरूपमपि तु तादृशमेव । अत एव “न देवताभिक्रियमदृष्टार्थत्वादि”त्याहवनीय-देवतयोः प्रतिनिधिनिरास उपपद्यते । अदृष्टरूपमपि देवतादिस्वरूपं “वज्रहस्तः पुरन्दरः” इति वाक्यगतगुणविशेषसमालोचनेन तादृशगुण-विशिष्टः कश्चनादृष्टः पुरुषविशेष इति निर्णीयत इति वेदान्तिनो मन्यन्ते । अतस्तेषामलौकिकत्वमस्ति भावः । \*विधि-



कुत एतत् ? प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य । तथाहि शास्त्रतात्पर्यविद्  
आहुः—“दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्” इति । “चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं  
वचनम्” । “तस्य ज्ञानमुपदेशः”—(जै० सू० १।१।५) “तद्भूतानां क्रियार्थेन समा-  
म्नायः”—(जै० सू० १।१।२५) “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्”—  
(जै० सू० १।२।१) इति च । अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चि-  
द्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम् । तच्छेषतया चान्यदुप युक्तम् ; तत्सामान्याद्  
वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात् ।

भामती

नोपपादितम्—\*प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रयोजनत्वात्\* इत्यादिना \*तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं

ऋजुप्रकाशिका

नामि”ति भाष्यस्थसूत्रोदाहरणेन कार्यान्वितेऽर्थशब्दस्य सङ्गतिः, न सिद्ध इत्युक्तम् । भाष्ये—“आम्नायस्य”  
इत्येतद्विहायेतरवाक्यैः प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिपरस्य शास्त्रत्वमुक्तम्, तेन च सिद्धपरस्य न शास्त्रत्वमित्युक्तम् । भाष्ये  
“दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्” इत्यस्यार्थः—\*तस्य=वेदस्य, \*कर्मावबोधनम्=नियोगज्ञानम्, दृष्टोऽर्थः=दृष्टं  
प्रयोजनमिति । “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” इति सन्निहितसूत्रस्थचोदनाशब्दार्थमाह—\*भाष्ये चोदनेति  
क्रियाया इति\* ॥ तथाच प्रवर्तकवचनैकवाक्यत्वमेव सर्ववाक्यस्येति भावः । भाष्ये—\*तद्भूतानां  
क्रियार्थेन साम्नाय इति\* ॥ अस्यार्थः—\*तत्=तेषु पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानां क्रिया=कार्यं  
तदर्थत्वेन साम्नायः=मुच्चारणमिति । भाष्ये—“तस्य ज्ञानमुपदेशः” इत्यत्र कार्यं तच्छब्दार्थः ।  
एवं च कार्यपरत्वं वेदान्तानां स्थितम्, कार्यपरत्वं विधिपरत्वमित्यनर्थान्तरम्, कार्यं च नियोज्यमधिकारिण-

वार्तिकम्

जैमिनिवचनञ्च—“तस्य ज्ञानमुपदेशः” “तद्भूतानां क्रियार्थेन साम्नायः” “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि”ति ।  
वार्तिकवचनमपि—“प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति  
कथ्यते ॥” तस्मात् क्वचिद् विषयविशेषे पुरुषं प्रवर्तयत् कुतश्चिद् विषयविशेषाच्च निवर्तयदर्थवच्छास्त्रं  
भवति । यच्चायर्थवादादिवाक्यं साक्षात् पुरुषस्य प्रवृत्ति-निवृत्तिजनकम्, तदपि तच्छेषतयैव तयोरुप-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* “निधिमामेष भूभागः” इत्यादिवाक्येषु निर्धिं विनाऽपि प्रयोग-प्रत्ययौ दृष्टौ, तद्वदिहापि  
स्यादित्याक्षिपति—\*कुत इति\* ॥ “प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत  
तच्छास्त्रमभिधीयते ॥” इति वचनाद्वेदान्तानां शास्त्रवाचकनिष्ठत्वमङ्गीकर्तव्यमिति परिहरति—\*प्रवृत्तीति\* ॥  
\*तस्य ज्ञानमुपदेश इति\* ॥ \*तस्य = धर्मस्य, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्, प्रमाणम्, उपदेशः = उप  
दिश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या विधिवाक्यम् ॥ \*तद्भूतानामिति\* ॥ तस्माद्भूतानामपरिनिष्ठितानामर्थानामित्यर्थः ॥

\*ननु\* भवत्वेवं कर्मकाण्डगतानाम्, वेदान्तवाक्यानां तु किमायातमिति ? अत आह—\*तत्सामान्या-

प्रदीपः

शेषतया = “यूपं तक्षती”त्यादिविशेषतया । \*शास्त्रेण=तत्क्षणमादिविधिपरेणैव शास्त्रेण । \*ननु\* किमिति वेदान्तानां ब्रह्मोपासना-  
विधिपरत्वमङ्गीकर्तव्यम् ? कुतो वा ज्ञानमात्रेण न पर्यवसानम् ? इत्याशयेन शङ्कते—\*कुत एतदिति\* ॥ उपासनाविशेषत्वं  
ब्रह्मणः कुत इत्यर्थः । समाधत्ते—\*प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वादिति\* ॥ शास्त्रत्वं हि प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरप्रयोजनकवाक्यत्व-  
मेव । तद्यदि वेदान्तानां प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुपयोगित्वम्, तर्हि शास्त्रत्वमेव न स्यात् । शास्त्रयोनित्वादिति च सूत्रकारः  
शास्त्रत्वं वेदान्तानां सूत्रयन् विधिपरतयैव प्रामाण्यमभिप्रेतीति शास्त्रत्वान्यथानुपपत्तिरेव कारणं वेदान्तानां विधिपरत्वे ।



सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादि साधनं विधीयते,  
एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम् ।

भामती

स्याद् इत्यन्तेन\* ॥ नच स्वतन्त्रं कार्यं नियोज्यमधिकारिणमनुष्ठातारमन्तरेणेति नियोज्यभेदमाह—  
\*सति च विधिपरत्व इति\* ॥ “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इति सिद्धवदर्थवादादवगतस्यापि ब्रह्म-  
भवनस्य नियोज्यविशेषाकाङ्क्षायां ब्रह्मबुभूषोर्नियोज्यविशेषस्य रात्रिसत्त्वन्यायेन प्रतिलम्भः । पिण्ड-

मृजुप्रकाशिका

मनुष्ठातारमन्तरेण न स्वतन्त्रतया भवतीति नियोज्यभेदमाहेत्याह—\*नच स्वतन्त्रं कार्यमिति\* ॥  
नियोगस्य स्वकीयत्वेन बोद्धा नियोज्यः कर्मणि स्वामी अधिकारी तल्लैव कर्ता अनुष्ठाता इति भेदः ।  
“स्वर्गकामो यजेत” इत्यादिबद्धं “अमृतत्वकामो जानीयात्” इत्यश्रवणान्नियोज्यासिद्धिमाशङ्क्याह—\*ब्रह्म  
वेदेति, रात्रिसत्त्वेति\* ॥ चतुर्थे चिन्तितम्—“क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् कार्णाजनिः” । “प्रति-  
तिष्ठन्ति ह वा एता रात्रीरुपयन्ति” इति श्रूयते । तत्र रात्रिशब्देन “आयुर्जुहोति” इत्यादिवाक्यविहिताः  
सोमयागविशेषा उच्यन्ते । किमत्र स्वर्ग एवाधिकारिविशेषणम् ? उत प्रतिष्ठेति संशयः । तत्र प्रतिष्ठाकाम इति

वार्तिकम्

युक्तमित्युक्तमधस्तात् । अतोऽर्थवादादिवाक्यसमानयोगक्षेमत्वाद् वेदान्तवाक्यानामपि प्रतिपत्तिविधिशेष-  
तयैवार्थवत्त्वमुचितं स्यात् ॥ \*ननु\*—उक्तं हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मैकत्वबोधादेव वेदान्तेभ्यः पुरुषार्थसिद्धेर्न तेषां  
विधिशेषत्वकल्पनं युक्तमिति, \*न\* ; श्रवणादिमतोऽपि पूर्ववत् संसारस्योपलम्भात्, अन्यथा ज्ञानिनः सद्यः  
शरीरपातप्रसङ्गात् । ततः पुरुषार्थाभावादानर्थक्यमेव स्यात् । \*ननु\*—तत्प्रतिपत्तिश्चेन्न फलोपलब्धिः, हन्त  
तर्हि विधिपक्षेऽप्ययं तुल्यो दोषः ; विधितः सम्पाद्य प्रतिपत्तेरुर्ध्वमपि मोक्षाभावदर्शनस्य तुल्यत्वादिति—चेत्,  
\*नायं दोषः ; अस्मन्मतेऽग्निहोत्रादिवत् प्रतिपत्तेर्वैधत्वे दृष्टफलाभावेऽप्यदृष्टफलस्य सम्भवादित्यभिप्रेत्याह—  
\*सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादि स्वर्गादिसाधनं विधीयते, एवममृतत्वकामस्य  
ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तमिति\* ॥ \*ननु\*—भूत-भव्यभेदेन नित्यानित्यभेदेन च धर्म-ब्रह्म-

भाष्यभावप्रकाशिका

दिति\* ॥ \*ननु\*—विधेयभावार्थाभावाद् नियोज्याभावाच्च कथं विधिरिति ? अत आह—\*सति चेति\* ॥

प्रदीपः

शास्त्रत्वं क्रियाबोधकत्वेनैवेत्यत्र शबरस्वामिनां वाक्यमुपष्टम्भयति—\*तथाहीति\* ॥ \*शास्त्रतात्पर्यविदः = शबरस्वामिनः ।

\*चोदनेति\* ॥ वेद इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् । अत्र चोदनापदेनापि वेदपरेण शास्त्रमेव विवक्ष्यते ॥ \*तस्य = धर्मस्य,  
\*ज्ञानम् = ज्ञापकप्रमाणम्, उपदेशः = उपदेशो नाम वेदः शास्त्रमेव । एतैर्हि वाक्यैः प्रवर्तकत्वेनैव वेदवाक्यानां प्रामाण्यमिति  
व्यवस्थापनात् प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरप्रयोजनत्वं शास्त्रत्वमिति विशदीक्रियते । न केवलं वेदे, किन्तु लोकेऽपि कार्यपराणामेव  
वाक्यानां प्रामाण्यमित्यत्र प्रमाणमाह—\*तद्भूतानामिति\* ॥ पदार्थेषु विद्यमानानां पदार्थबोधकानामेव पदानां क्रियार्थेन = कार्यार्थेन  
समाश्रयः = विशिष्टः प्रयोग इति तद्भूतानामिति सूत्रार्थः । अनेन हि वाक्यमात्रं क्रियार्थेनैव प्रमाणमिति व्यवस्थाप्यते, इति  
कथं वा वेदस्यापि क्रियार्थत्व इदं सूत्रं न प्रमाणम् । \*आश्रयस्येति\* ॥ व्याख्यातमेतत् । अयं भावः—वाक्यानां  
प्रामाण्यं हि सप्रयोजनत्वेनैव । प्रयोजनन्तु न सिद्धम्, किन्तु साध्यमेवेति न प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं वा विना कस्यापि वाक्यस्य  
प्रामाण्यम् । तथाच शास्त्रत्वं एतादृशस्यैवार्थवत्त्वस्य प्रयोजकत्वाद् वेदान्तानामपि सार्थक्यमन्यथा नोपपद्यते, इति विधिपरत्वमेव  
युक्तमिति । तदिदमाह—\*अत इति\* ॥ विधि-निषेधपरवाक्यस्यैव शास्त्रत्वादित्यर्थः । द्रव्यादिपदान्यपि वैदिकानि परम्परया



# भाषती

पितृयज्ञन्यायेन तु स्वर्गकामस्य नियोज्यस्य कल्पनायामर्थवादस्यासमवेतार्थतयाऽत्यन्तपरोक्षा वृत्तिः स्यादिति । ब्रह्मभावश्चामृतत्वमित्यमृतत्वकामस्येत्युक्तम् । अमृतत्वं चामृतत्वादेव, न कृतकत्वेन शक्यमनित्यमनुमातुम् ; आगमविरोधादिति भावः । उक्तेन धर्म-ब्रह्मज्ञानयोर्वैलक्ष्येण विध्य-

## अनुप्रकाशिका

कामपदसमभिव्याहारेणाश्रवणाद् विधिशक्तिलभ्यः स्वर्ग एवाधिकारिविशेषणम्, नच “प्रतितिष्ठन्ती”ति वाक्यशेष-  
बलात् प्रतिष्ठैवाधिकारिविशेषणं लभ्यत इति वाच्यम् ; “सन्देहे हि वाक्यशेषस्वीकारः, न निश्चये”इत्यभ्युप-  
गमात् । निश्चितश्चात्र सर्वाभिलषितस्वर्गोऽधिकारिविशेषणत्वेन ; विधिसामर्थ्यात् । नचैवं “प्रतितिष्ठन्ती”ति  
प्रतिष्ठाविषयश्रुतेर्व्याकोप इति वाच्यम् ; तस्या अपि लक्षणया स्वर्गपरत्वकल्पनौचित्यात् । नच—रत्निसत्र-  
क्रतोः प्रधानत्वेनाङ्गत्वाभावात् सूत्रे कथं क्रतौ फलार्थवादमङ्गवदित्यङ्गफलार्थवादोदाहरणमिति—वाच्यम् ;  
अङ्ग आर्थवादिकफलवदिहाप्यार्थवादिकं प्रतिष्ठाफलं न विवक्षितमित्येतावन्माल उदाहरणत्वान्न दोषः । एवं  
प्राप्ते अभिधीयते—“फलमात्रे यो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्” “प्रतितिष्ठन्ती”ति प्रतिष्ठाफलस्य निर्देशात्  
प्रतिष्ठाफलमेवाधिकारिविशेषणम्, यत्तु—विधिशक्त्या स्वर्ग एवाधिकारिविशेषणमित्यनुमीयते—इति, तन्न ;  
मुख्यार्थस्तुतिपदानुगुण्येन विधिशक्तौ पर्यवसितायामनुमानिकस्वर्गकल्पनायोगात् । तस्माद्वाक्यशेषस्थमेव  
प्रतिष्ठालक्षणं फलमित्येवंरूपेण रत्निसत्रन्यायेन प्रकृतेऽपि “ब्रह्मविदामोति परम्” इत्यार्थवादिकं ब्रह्मभवन-  
लक्षणममृतत्वं फलमित्यमृतत्वकामस्य नियोज्यस्य सिद्धिः । \*ननु\*—पिण्डपितृयज्ञन्यायेन स्वर्गकाम-  
स्येव नियोज्यस्यात्र कल्पनया प्रतिलम्भो भवत्वित्यत आह—\*पिण्डपितृयज्ञन्यायेन त्विति\* ॥ यद्यपि  
विश्वजिज्ञासेनापि स्वर्गकामस्य नियोज्यस्य कल्पयितुं शक्यत्वाद् विश्वजिज्ञासेनेत्येव वक्तुं युक्तम्, न पिण्डपितृ-  
यज्ञन्यायेनेति ; तथापि विश्वजिति नैमित्तिकाधिकारे फलकल्पना कृत्वाचिन्तयेति पिण्डपितृयज्ञः स्थिरोदाहरण-  
त्वेनोदाहृत इति द्रष्टव्यम् । \*अर्थवादस्यासमवेतार्थतयेति\* ॥ “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इत्यर्थ-  
वादस्याश्रूयमाणस्वर्गार्थकतया ब्रह्मभवनशब्देन श्रुतब्रह्मभवनपरित्यागेनाश्रुतस्वर्गं लक्षणायां वक्तव्यायामत्यन्त-  
परोक्षवृत्तिता स्यादित्यर्थः । एवं च श्रुतब्रह्मभावश्चामृतत्वमेवेत्यमृतत्वकामस्येत्युक्तं भाष्यकृतेत्याह—  
\*इति ब्रह्मभावश्चेति\* ॥ मोक्षोऽमृतत्वशब्दार्थः । तथाच पिण्डपितृयज्ञन्यायो नात्र प्रसरतीति भावः ।

पिण्डपितृयज्ञन्यायश्चतुर्थे चिन्तितः—“पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गः स्यात्” । “अमावास्यायामपराह्णे पिण्ड-  
पितृयज्ञेन चरन्ति” इत्यत्रानारभ्याधीतवाक्ये श्रुतः पिण्डपितृयज्ञः कत्वर्थः ? पुरुषार्थो वा ? इति संशये कर्म-  
वाच्यामावास्याशब्दोऽपराह्णशब्दसमानाधिकृत इह कालपर एव । नच साधारण्यम् ; काले रूढत्वात्, कर्मणि च  
तत्संबद्धे लाक्षणिकत्वात् । तस्मात् कर्मसमभिव्याहाराभावाद् विश्वजिन्यायेन स्वर्गकामनियोज्यकल्पनया स्वर्गफल  
पिण्डपितृयज्ञ इति । ब्रह्मभवनस्यामृतत्वमुक्तम्, तत्रामृतत्वं कुत इति ? अत आह—\*अमृतत्वमिति\*॥ नित्यत्व-  
मित्यर्थः । नच—कृतकत्वेनानित्यत्वमनुमातुं शक्यमिति--वाच्यम् ; “सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इति ब्रह्मणो नित्य-  
त्वप्रत्यायकश्रुतिबाधेनानित्यत्वानुमानानवतारात्, कृतकत्वस्यासिद्धत्वाच्च । नच—मुक्तेः साध्यत्वात् कृतकत्वं  
न सिद्धमिति--वाच्यम् ; ब्रह्मणोऽप्राप्तत्वभ्रमनिवृत्तिमात्रसाध्यत्वेनाप्युपपत्तेरिति भावः । \*विध्यविषयत्वमिति\* ॥  
ब्रह्मज्ञानस्य तद्द्वारा ब्रह्मणश्चेति शेषः \*भाष्ये\* विलक्षणं ब्रह्मज्ञानं फलमिति । तथाचानुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणत्वेऽ-

**प्रदीपः**

प्रवृत्त्युपयोगीन्येवेति न दोष इत्याह—\*तच्छेषतयेति\* ॥ सिद्धवस्तु = द्रव्यादि । तमेव न्यायं पूर्वोक्तप्रकारेणात्रातिदिशति वेदान्तानामपि विधिपरत्वमुपपादयितुम्—\*तत्सामान्यादिति\* ॥ ज्योतिष्टोमादिविधिवाक्येषु स्वर्गकामपदवदत्रापि नियोज्योऽपेक्षित इत्यत आह—\*सति चैति\* ॥ धर्मपराणां वाक्यानां दृष्टान्तेन वेदान्तानां कार्यपरत्वं पूर्वमेव निरस्तं जिज्ञासासूत्रे जिज्ञास्यवैलक्षण्यप्रतिपादनेनेत्युक्तमेव स्मारयन् वेदान्तानामविधिपरत्वमाशङ्कते—\*नन्विहेति\* ॥ अनेन हीदमेव विवक्ष्यते,



\*ननु\* इह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्, कर्मकाण्डे भाव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति, तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति, \*नार्हत्येवं भवितुम्\* ; कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” (बृह० २।४।५) इति ।

भामती

विषयत्वं चोदयति—\*नन्विति\* ॥ परिहरति—\*नार्हत्येवमिति\* ॥ अत्र चात्मदर्शनं न विधेयम् । तद्धि दृशेरुपलब्धिवचनत्वात् श्रावणं वा स्यात् ? प्रत्यक्षं वा ? प्रत्यक्षमपि लौकिकमहं-प्रत्ययो वा ? भावनाप्रिकर्षपर्यन्तजं वा ? \*तत्र श्रावणं न विधेयम् ; स्वाध्यायविधिनैवास्या प्रापित-

ऋजुप्रकाशिका

नुष्ठानानपेक्षत्वमायातम् ? इति न विधेयत्वमित्यर्थः । अङ्गीकारेण परिहरतीत्याह—\*परिहरतीति\* ॥ ज्ञान-स्थाविधेयत्वाङ्गीकारं स्फोरयति—\*अत्र चात्मदर्शनं न विधेयमिति\* ॥ यदि विधेयं तदाह—\*तद्धीति\* ॥ दृशेरुपलब्धिवचनत्वाद् दर्शनम् उपलब्धिः । ज्ञानं तच्छ्रावणं वा प्रत्यक्षं वेति विकल्पार्थः । प्रत्यक्षमित्य-त्नापि विकल्पयति—\*प्रत्यक्षमपीति\* ॥ \*अहमिति\* ॥ अहंप्रत्ययरूपं लौकिकप्रत्यक्षं वेत्यर्थः । तत्र श्रावणमिति पक्षमाद्यं निरस्यति—\*तत्र श्रावणं न विधेयमिति\* ॥ कुत इति ? अत आह—\*स्वाध्यायेति\* ॥ “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इत्यध्ययनविधिनाऽधीतस्वाध्यायस्य विदित-पदपदार्थसङ्गतिकस्य शब्दश्रवणादात्म-

वार्तिकम्

जिज्ञासयोः फल-जिज्ञास्यभेदस्योक्तत्वाद् नाग्निहोत्रादिज्ञानवद् ब्रह्मज्ञानस्यानुष्ठानापेक्षमदृष्टं फलं कल्पयितुं युक्तम् । किं तर्हि ? रज्जुज्ञानात् सर्पनिवृत्तिवत् तज्ज्ञानादेवानुष्ठाननिरपेक्षाद् नित्यमेवानर्थनिवृत्ति-लक्षणं मोक्षाख्यं दृष्टं फलं भवितुमर्हति ; अन्यथा मोक्षस्यानित्यत्वापत्तेरिति सिद्धान्ती शङ्कते—\*नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तमित्यादिना\* ॥ कार्यान्वितस्यैव ब्रह्मणो वेदान्तैः प्रतिपाद्यमानत्वात्, अन्यथा तेषां प्रमाणान्तरसंवाद-विसंवादाभ्यामप्रामाण्यात्तत्प्रतिपादनानुपपत्तेः कार्य एव तयोरभावेन शब्दस्य प्रामाण्यात् फल-जिज्ञास्यभेदोऽसिद्ध इत्याशयेनैकदेशी परिहरति—\*नार्हत्येवं भवितुमिति\* ॥ के तावत्

भाष्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मज्ञानस्य नित्यसिद्धविषयतयाऽसाध्यफलत्वादग्निहोत्रादिवन्न विधेयत्वमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ स्वरूपेणासाध्यत्वेऽपि विधेयक्रियोपकारकतया ब्रह्मणोऽपि साध्यत्वाद् भैवमिति परिहरति—\*नार्ह-तीति\* ॥ कार्यविधिः = कृतियोग्यभावार्थनियोगः । \*ननु\* विधिरेव वेदान्तेषु न श्रूयते, कथं तच्छेषतया ब्रह्मसिद्धिरिति ? अत आह—\*आत्मेति\* ॥ स्वरूपप्रतिपादकानां सत्यादिवाक्यानां कथमन्वय इति ? अत

प्रदीपः

यत्, विनाऽपि प्रवर्तकत्व-निवर्तकत्वादि सप्रयोजनत्वं वेदान्तानां ज्ञानमात्रेण पुरुषार्थपर्यवसायिनां भविष्यतीति शास्त्रत्वेनार्थवत्त्वं न वेदान्तानां विधित्वप्रयोजकमिति । यदि सिद्धस्य वस्तुनो विना क्रियासम्बन्धं वेदान्तवाक्यैरवबोधः स्यात्, तर्हि युक्तं विनाऽपि प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं वा सप्रयोजनत्वं संभवतीति । पदानां तु कार्यान्वित एव शक्तिग्रहात् सिद्धे च वस्तुनि शक्तिग्रहा-भावाच्च न वाक्येन सिद्धपदार्थज्ञानमेव भवतीति कार्यान्वितपदार्थशक्तिवादिनां मतेन समाधानमाह—\*नार्हत्येवमिति\* ॥ कार्य-विधिप्रयुक्तस्यैव विधिकार्यकार्यान्वितत्वेन ब्रह्मणः सिद्धस्य प्रतिपाद्यमानत्वात् = प्रतिपादनयोग्यत्वादित्यर्थः । अनेन च ब्रह्मणः कार्यान्वये वाक्यगम्यत्वमेव न भविष्यतीति बोध्यते । तदेवं वेदान्तानां विधित्वेनैव पर्यवसाने द्वितीयं कारणं निर्दिष्टम्—यत्, सिद्धे पदार्थमात्रे संगतिग्रहासंभव इति । ब्रह्मणो विधिप्रयुक्तत्वं दर्शयितुं तद्विधिपराण्येव वेदान्तवाक्यानि निर्दिशति—\*आत्मेति\* ॥ अत्र “द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः” इति च न विधिः, साक्षात्काररूपस्य दर्शनस्याहंप्रत्ययस्वरूपस्य मनोज-



“य आत्माऽपहतपाप्मा—सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः” (छान्दो० ८।७।१) । “आत्मेत्येवोपासीत” (बृ० १।४।७) “आत्मानमेव लोकमुपासीत” (बृ० १।४।१५) “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” (मुण्ड० २।२।९) इत्यादिविधानेषु सत्सु, कोऽसावात्मा ? किं तद् ब्रह्म ? इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्य-शुद्ध मुक्त-स्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्येवमादयः ।

भामती

त्वात्, धर्मश्रावणवत् । \*नापि लौकिकं प्रत्यक्षम्\* तस्य नैसर्गिकत्वात् । \*नचौपनिषदात्मविषयं भावनाधेयवैशद्यं विधेयम् ; तस्योपासनाविधानादेव वाजिनवदनुनिष्पादितत्वात् । तस्मादौपनिषदात्मोपासनाऽमृतत्वकामं नियोज्यं प्रति विनीयते । ‘द्रष्टव्यः’ इत्यादयस्तु विधिसरूपा न विधय इति ।

ऋजुप्रकाशिका

दर्शनस्य प्राप्तत्वेन प्राप्ते विध्ययोगादित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—\*धर्मश्रावणवदिति\* ॥ श्रूयमाणधर्मप्रतिपादकशब्दजन्यज्ञानवदित्यर्थः ॥ प्रत्यक्षमिति\* पक्षमाद्यं निरस्यति—\*नापीति नैसर्गिकत्वादिति\* ॥ स्वभावसिद्धत्वादित्यर्थः । सिद्धे विध्ययोगादिति भावः । प्रत्यक्षमिति पक्षे द्वितीयं निरस्यति—\*नचौपनिषदेति\* ॥

भावनयाऽऽधेयं जन्यं वैशद्यं यस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य, तत्तथोक्तम् । \*वाजिनवदिति\* ॥ यथा आमिक्षार्थविहितदध्यानयनाद् वाजिनमप्रयोजकमानुषङ्गिकतया जायते, एवमदृष्टरूपामृतत्वाय विहितादुपासनात् साक्षात्कारो नान्तरीयकतया जायत इति दर्शनं न विधेयमित्यर्थः । चतुर्थे चिन्तितम्—“एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥” “तस्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्” इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमामिक्षैव दध्यानयनं प्रयुज्यते ? उत वाजिनमपीति ? तत्र एकस्माद् दध्यानयनात् पयसः सकाशाद्वाऽऽमिक्षावाजिनयोर्निष्पत्तेरामिक्षादि सर्वं दध्यानयनप्रयोजकम्, नामिक्षामात्रमिति प्राप्ते राद्धान्तः—\*संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात्\* । तत्र दधिसंसृष्टपय एव देवतासंबन्धि निर्दिश्यते । तथाचाऽऽनयनसंस्कार्या दधिसंसृष्टपयोलक्षणाऽऽमिक्षैव दध्यानयनप्रयोजिका, न वाजिनमपि तत्प्रयोजकं स्वीकार्यम् । \*ननु\*—यदि दधिसंसृष्टं पय एव दधि-पयसो रूपमेदेऽमिक्षाभूत्वादध्यानयनं प्रयुज्यते, तर्हि वाजिनमपि दधिसंयुक्तं पय एवेति तदपि दध्यानयनं प्रयुज्यतेति चेत्, न ; संसर्गरसनिष्पत्तेः = दधिसंसृष्टस्य पयसो यो रसः, तस्यामिक्षायामुपलम्भाद् रूपमेदेऽप्यामिक्षायां दधिसंसृष्टं पयोऽस्तीत्यनुमीयते ; दधिसंसृष्टस्य पयसो यादृशो रसः स वाजिने नोपलभ्यते ; वाजिनस्य कटुतिक्तरसत्वात् । तथाचात्र न तदनुमानम्, इत्यामिक्षैव दध्यानयनप्रयोजिका, न वाजिनमिति । \*ननु\*—उक्तविधया ज्ञानविधिनिषेधे कथं भाष्ये—“अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते” इत्यादिना प्रतिपत्तिविधिपरं वेदान्तशास्त्रमिति द्योतितम् ? इत्याशङ्क्य प्रतिपत्तिशब्देनोपासनैव विवक्षितेत्यभिप्रेत्योपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ननु\*—आत्मोपासनाया एव विधेयत्वे कथं तर्हि “द्रष्टव्यः” इत्याद्या ज्ञानविधय इति ? अत आह—\*द्रष्टव्य इत्यादयस्त्विति\* ॥ उपासनैव विधेया, इत्येतद् भाष्यकारेण

भाष्यभावप्रकाशिका

आह—\*कोऽसाविति\* ॥ \*ननु\*—तत्फलं दृष्टम् ? अदृष्टं वा ? दृष्टं चेत्, विधिरनर्थकः, अदृष्टं चेत्, किं

प्रदीपः

न्यत्वात्, वेदान्तश्रवणस्याप्यध्यानविधिप्रयुक्तत्वेनात्र विधानासंभवाद् न दर्शनादिकं यद्यपि विधेयम् ; तथाऽपि “निदिध्यासितव्यः” इति ध्यानविधानाद् न ब्रह्मणि विध्यसंभवः । एवं सोऽन्वेष्टव्य इत्यादावप्युहनीयम् । “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,” “तत्स्वमसी”त्यादौ तु फलवाक्यत्वाद् रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादान्यथानुपपत्त्या विधिकल्पनान्न दोषः । “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः”



तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्तव्यविध्यननु-  
प्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् 'ससद्गोपा वसुमती' 'राजाऽसौ  
गच्छती'त्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् ।

भामती

तदुक्तम्—\*तदुपासनाच्चेति\* ॥ "अर्थवत्तया मननादिप्रतीत्या चे"त्यस्य शेषः प्रपञ्चो निगद-  
व्याख्यातः ।

ऋजुप्रकाशिका

कण्ठरवेणोक्तमित्याह—\*तदुक्तं तदुपासनाच्चेतीति\* ॥ आत्मा तच्छब्दार्थः । तदुपासनात् । विधीयमानादिति  
शेषः । हेतुद्वयविवरणेन पूर्वकृतेनोत्तरग्रन्थस्य व्याख्यातत्वमाह—\*अर्थवत्तयेति\* ॥

वार्तिकम्

कार्यविध्यः ? कथं वा ब्रह्मणस्तत्प्रयुक्तत्वम् ? कथं वा वेदान्तानां तत्प्रयुक्तं ब्रह्मप्रतिपादनम् ? के वा  
ते वेदान्ताः ? इत्यपेक्षायां क्रमेणाह—\*आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादि\* ॥ \*ननु\* एवमपि विधि-  
वाक्यान्वितवेदान्तवाक्यश्रवणसमनन्तरमेव ब्रह्मप्रतीतेर्जायमानत्वात् किमन्यत् कार्यमवशिष्यते ? यदनु-  
ष्ठानाद् अग्निहोत्राद्यनुष्ठानात् स्वर्गादिफलवददृष्टो मोक्षो भविष्यतीत्यत आह—\*तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो  
मोक्षः फलं भविष्यतीति\* ॥ \*अयमभिप्रायः\*—न ब्रह्मप्रतिपत्तिमात्रात् पुरुषार्थसिद्धिः ; तद्वतोऽपि  
पूर्ववत् संसारोपलब्धेः, अतस्तद्विधिसामर्थ्याद् "आत्मानमेव लोकमुपासीते"ति साक्षात् तदुपासनाविधि-  
श्रवणाच्च विज्ञातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययसन्तानलक्षणस्य ब्रह्मोपासनस्य विधीयमानस्याऽऽ-  
मरणमनुष्ठानाददृष्टोऽपि मोक्षो वैधत्वेन शास्त्रदृष्टत्वात् फलं भविष्यति । तथाच न फल-जिज्ञास्यवैलक्षण्य-  
मिति । एवं स्वपक्षमुपपाद्य सिद्धान्तिपक्षे दोषमाह—\*कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे त्विति\* ॥ वस्तुमात्रकथनेना-

भाष्यभावप्रकाशिका

तत्र प्रमाणमिति ? तत्राह—\*तदुपासनादिति\* ॥ विपक्षे दोषमाह—\*कर्तव्येति\* ॥ श्रवणोत्तरकालं मनन-

प्रदीपः

इत्यादीनां तूपास्यगुणपरतया यथासंभवमन्वयः, इति सर्वेषां वेदान्तानां विधिपरत्वे न कोऽपि दोषः । \*ननु\* वेदान्तानां ब्रह्मो-  
पासनापरत्वे तज्जन्यो मोक्षोऽनित्यः स्यात्, क्रियाजन्यत्वात् स्वर्गादिवत्, इत्यत आह—\*तदुपासनाच्चेति । शास्त्रदृष्ट इति\* ॥  
सत्यं क्रियाजन्यत्वेन मोक्षानित्यत्वमनुमीयते, परन्तु प्रबलप्रमाणशास्त्रबाधितत्वाद् नेदमनुमानं प्रमाणमिति न मोक्षानित्यत्वापत्तिः ;  
अन्यथा केवलद्वैतमते प्रत्यक्षविरोधात् प्रपञ्चमिथ्यात्वश्रुतिरप्यप्रमाणं स्यादिति भावः । वस्तुतस्तु—यत्रानुमान-श्रुत्योरुभयोरपि  
प्रमाणत्वावसरः, तत्रैवानुमानेन व्यवस्था कर्तव्या, मोक्षे तु न श्रुतिं विहाय प्रमाणान्तरस्य धर्म इवास्त्यवकाश इत्याह—  
\*अदृष्ट इति\* ॥ प्रमाणान्तराविषय इत्यर्थः । अन्यथा लौकिकेषु मर्दनादिषु तत्कालिकमेव सुखं दृष्टमिति चित्रादियागस्यापि  
तात्कालिकमेव फलमनुमीयेतेति वेदप्रामाण्यमेव निरवकाशं स्यात् चित्राक्षेपन्यायेनेति भावः । \*ननु\* एवं सति उपासना-  
फलमपि स्वर्गादितुल्यं सातिशयसुखविशेष एव स्यादित्यत आह—\*मोक्ष इति\* ॥ आत्यन्तिकदुःखध्वंसपूर्वकसुखविशेषो  
निरतिशयो मोक्षः फलमिति भावः । तदेवं विधित्वाङ्गीकारे प्रयोजनमुक्त्वा विपक्षे बाधकमाह—\*कर्तव्यविध्यननुप्रवेश  
इति\* ॥ \*आनर्थक्यमेव = प्रतिपाद्यार्थशून्यत्वमापद्येतैवेत्यर्थः । वृद्धव्यवहारेणैव शक्तिग्रहात् तस्य च 'गामानये'त्यादिकर्तव्यविधि-  
मूलमेव प्रवृत्त्या च वस्तुमात्रे शक्तिग्रहोपायाभावात् सिद्धवस्तुबोधकं वाक्यं सर्वमनुमानविधयेव प्रमाणं न शब्दविधयेति  
ब्रह्मापि न वेदान्तवेद्यम्, किन्त्वनुमानगम्यमेवेति स्यात् । ततश्च शास्त्रप्रमाणकत्वं बाधितमिति भावः । \*ननु\* वृद्ध-  
व्यवहारादेव संगतिग्रहे यद्यपि वृद्धव्यवहारस्य प्रथमस्य विधिवाक्यमुखेन प्रवृत्तत्वेन विधिसंस्पर्शमन्तरेण न कस्यापि पदस्य  
शक्तिग्रह इति युक्तम्, परन्तु 'पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी'त्यादिसिद्धार्थबोधनपरादपि वाक्यात् श्रोतुः सुख-दुःखादि-



\*ननु\* वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनित-  
भीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टम्, तथैहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्ति-  
निवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्, \*स्यादेतदेवम्\* ; यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः,  
संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तते, ननु निवर्तते ; श्रुतब्रह्मणोऽपि  
यथापूर्वं सुख-दुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-  
सितव्यः" (बृह० २।४।५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनन-निदिध्यासनयो-  
र्विधिदर्शनात् । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युप-  
गन्तव्यमिति ।

### वार्तिकम्

नर्थक्यं 'नायं सर्पो रज्जुरेवेयमि'त्यादौ व्यभिचरति ; तत्र वस्तुमात्रकथनत्वे सत्यप्यानर्थक्याभावात् ।  
अतोऽसिद्धोऽयं नियमः ; सत्प्रतिपत्तिसम्भवाच्चेत्याशङ्कते—\*ननु\*—वस्तुमात्रकथनेऽपीति\* ॥ अदृष्ट-  
फलत्वे सति वस्तुमात्रकथनत्वस्य प्रयोजकत्वोक्तेर्व्यभिचाराभावात्, परानुमानस्य चानुपलब्धिविरोधात्,  
श्रवणोत्तरं मनन-निदिध्यासनविधिविरोधाच्च दृष्टफलत्वोपाधिपराहतत्वाच्च नैवमिति परिहरति—  
\*स्यादेतदेवमिति\* ॥ एकदेशी स्वमतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ अनेन—धर्म-ब्रह्मविद्ययोरधिकार-

### भाष्यभावप्रकाशिका

निदिध्यासनयोर्विधानान्यथानुपपत्तिरपि न वाक्यार्थज्ञानमात्रात् कृतकृत्यतेति गमयतीत्याह—\*श्रोतव्य  
इति\* ॥ अयं भावः—अज्ञातसङ्गतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया । मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः ॥  
इति उपसंहरति—\*तस्मात्प्रतिपत्तीति\* ॥

### प्रदीपः

दर्शनेन संगतिग्रहो दृश्यत एव । तथाच ज्ञानमालेण विनाऽपि प्रवृत्तिं सप्रयोजनानि वाक्यानि बहूनि दृश्यन्ते । अत एव  
'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वाक्याद् ज्ञानमालेण भय-कम्पादिनिवृत्तिरनुभूयते, इति सिद्धेऽपि वस्तुनि सङ्गतिग्रहे व्याकरणोपमान-  
कोशादयो बहवो हेतवो वर्तन्ते इति न दोषः । तथाच वेदान्तैरपि सिद्धवस्तुबोधसंभवाद् विनापि विधित्वं सप्रयोजनत्वं  
भवत्येवेति कथं विधित्वम् ? इत्याशयेन शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ सत्यं सिद्धवस्तुन्यपि वाक्यानां सप्रयोजनत्वे विधित्वमन्तरापि  
बोधकत्वं भवति, परन्तु वेदान्तवाक्यानां श्रवणमात्रेण सप्रयोजनज्ञानसाधनत्वाद् विधित्वमेव स्वीकर्तव्यमित्याशयेन समाधत्ते—  
\*स्यादेतदेवमिति\* ॥ \*एतत् = कार्यान्वयं विनाऽपि सिद्धेऽपि वस्तुनि प्रामाण्यम् । \*एवम् = ज्ञानमालेण फलजनकत्वे । स्यात् =  
वेदान्तानामपि भवेत् ; कदा ? यदि वेदान्तश्रवणमालेण संसारभ्रान्तिर्नानुवर्तते । तथाच वेदान्तानां विधित्वेनान्वययोऽपि नापेक्षणीय  
एव । \*ननु\* तर्हि कथं विधित्वं स्थाप्यत इति ? अत आह—\*न निवर्तते इति\* ॥ संसारभ्रान्तिर्न निवर्तते इत्यर्थः । \*ननु\*  
शास्त्रे श्रवणविधिर्वर्तते । तस्य च प्रयोजनमवश्यं स्वीकर्तव्यम् । तच्च संसारभ्रमनिवृत्तिरेवेति कल्प्यते, इति कथं श्रवणं  
निष्प्रयोजनमिति ? अत आह—\*श्रुतब्रह्मणोऽपीति\* ॥ ब्रह्म श्रुतवतोऽपि संसारोऽनुवर्तते इति संसारनिवृत्तिर्न श्रवणफलम् ।  
तथाच श्रवणांशे दर्शनांश इव तव्यप्रत्ययोऽविवक्षित एवेति भावः । \*ननु\* सम्यक्श्रवणस्यैव संसारनिवृत्तिः प्रयोजनम्,  
तथाच येषां ब्रह्मश्रवणानन्तरमपि संसारोऽनुवर्तते, ते न सम्यग् ब्रह्म श्रुतवन्त इत्यनुमीयते । तथाच श्रवणस्यापि संसार-  
निवृत्तिः फलमेवेति कथं वेदान्तानामुपासनाविधित्वमिति ? अत आह—\*श्रोतव्यो मन्तव्य इति\* ॥ अयं भावः—श्रवणानन्तरं  
मनन-निदिध्यासने अपि विधीयते । तद्यदि श्रवणेन संसारभ्रमनिवृत्तिः, तर्हि मननादिविधिवैयर्थ्यमापद्येत । तथाच मननादि-  
विध्यन्यथानुपपत्तिस्तृतीयं निमित्तं वेदान्तानां विधिपरत्वे । तदेवं कार्यार्थादेव वेदान्ताद् ब्रह्मनिश्चय इति वृत्तिकारणां मतम् ।  
तत्र शास्त्रत्वेनार्थवत्त्वम्, सिद्धार्थेऽज्ञातसङ्गतित्वम्, मननादिविध्यन्यथानुपपत्तिरिति त्रीणि निमित्तानि, यानि भाष्य एव  
विशदीकृतानि । तदत्र भामतीसंग्रहश्लोकः—“अज्ञातसङ्गतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया । मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद्ब्रह्म-



अत्राभिधीयते—न ; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुति स्मृतिसिद्धं धर्माख्यम्—यद्विषया जिज्ञासा “अथातो धर्म-

भामती

तदेकदेशिमतं दूषयति—\*अत्राभिधीयते—न ; एकदेशिमतम् । कुतः ? \*कर्म-ब्रह्म-विद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । पुण्यापुण्यकर्मफले सुख-दुःखे । तत्र मनुष्यलोकमारभ्याऽऽब्रह्मलोकात्सुख-

ऋजुप्रकाशिका

तदेकदेशिमतमिति\* ॥ “अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते” इत्यादिना यदाऽऽचार्यैकदेशिमतमुपपादितं तदित्यर्थः । भाष्ये तद् व्याचष्टे—\*नैकदेशिमतमिति\* । एकदेशिमतं न युक्तमित्यर्थः । तत्र हेत्वाकाङ्क्षामुद्भावयति—\*कुत इति\* ॥ भाष्योक्तं हेतुमाह—\*कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादिति\* ॥ “शारीरं वाचिकं मानसं चे”त्यारभ्य “तथाच श्रुतिरित्ये” तदन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यार्थमाह—\*पुण्याऽपुण्यकर्मणोरित्यादिना तात्पर्यार्थ इत्यन्तेन\* ॥ सुखदुःखे इत्येतद्यथाक्रममन्वेति—पुण्यकर्मफलं सुखम्, अपुण्यकर्मफलं दुःखमित्यर्थः ।

पञ्चपादिका

कारः—\*न कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादिति\* ॥ वस्तुसंग्रहवाक्यमेतत् ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

अनुमानादागमो बलवानित्यर्थः । अस्य परिहारत्वेन भाष्यमवतारयति—\*न कर्मब्रह्मविद्याफलयोरित्यादिना\* ॥

ऋजुविवरणम्

चोद्यस्यापरिहृतत्वात्, विरुद्धा इतः परं वा ; अनुमानविरोधेन चोद्यस्य कृतत्वान्न तर्कविरोधेनेत्याशङ्क्य व्याचष्टे—

तत्त्वदीपनम्

टीकापेक्षितं हेतुमाह—\*अनुमानादिति\* ॥ निरपेक्षत्वे सति उत्तरभाविप्रमाणत्वादाज्ञायस्य प्राबल्यमित्यर्थः ।

वार्तिकम्

भेदोऽप्याक्षितो—\*वेदितव्यः\* ॥ धर्म-ब्रह्मविद्याफलयोरनुष्ठानापेक्षत्वेनादृष्टफलत्वेन चावैलक्षण्याद् विधि-शेषतयैव वेदान्तानां ब्रह्मबोधकत्वमित्येकदेशिनाऽभिहिते हेत्वसिद्ध्या सिद्धान्ती तन्मतमपाकरोति—\*अत्राभिधीयते, न ; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादिति\* ॥ यद् भवता फलवैलक्षण्याद्विशेषेण विद्य-योर्नियोगशेषत्वमभिहितम्, तन्न वदामः—नैतदेवम् ; तयोः फलवैलक्षण्यास्य सत्त्वात् । तद्वैलक्षण्यामेव प्रपञ्चयन् प्रथमं तावद् जिज्ञास्यकर्म-तत्फलाधिकारिणां तरतमभावेन विद्यमानानां सातिशयत्वमत एव क्षयित्वं च दर्शयति—\*शारीरमित्यादिना\* ॥ \*ननु\* एवं तर्हि जिज्ञासाया विशेषविषयत्वात् प्रतिषेध-

भाष्यभावप्रकाशिका

तदेतदेकदेशिमतं दूषयति—\*अत्राभिधीयत इति\* ॥ नेत्युक्तस्य निषेधः । तत्र हेतुः—\*कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादिति\* ॥ फलवैलक्षण्यं दर्शयितुं कर्मणः स्वरूपमाह—\*शारीरमिति\* ॥ उपासनमपि कर्मेत्याह—\*मानसमिति\* ॥ उपासनातत्फलयोरपि वेदान्तेषु प्राधान्येन विचार्यत्वं धर्म-मीमांसयैवार्थाद्विचारितत्वादित्यभिप्रेत्याह—\*यद्विषयेति\* ॥ अप्रतिज्ञातत्वादुपासनस्यापि जिज्ञास्यत्व-

प्रदीपः

निश्चयः ॥” इति । अज्ञातसङ्गतित्वेनेत्यस्य भाष्ये द्वितीयतयोल्लेखेऽपि वृत्तानुगुण्यबुद्ध्या प्रथमतया निर्देशः । तदेव-मुपासनाविधिशेषतयैव वेदान्तानामन्वय इति वृत्तिकारीयं मतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ननु\* सर्वमेतद् उपसना-जन्यत्वेऽपि मोक्षस्य नित्यत्वासिद्धौ संभवति । अत इदमेवात्रालोचनीयम्—कर्मजन्यस्य शास्त्रदृष्टस्याप्यदृष्टस्य फलस्य



जिज्ञासा” ( जै० सू० १।१।१ ) इतिःसूत्रिता ; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेध-  
चोदनालक्षणत्वाद् जिज्ञास्यः परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थोदर्थयोर्धर्मा-

भामती

तारतम्यमधिकाधिकोत्कर्षः । एवं मनुष्यलोकमारभ्य दुःखतारतम्यमाचावीचिलोकात् । तच्च  
सर्वं कार्यं च विनाशि च । आत्यन्तिकं त्वशरीरत्वमनतिशयं स्वभावसिद्धतया नित्यमकार्यमात्म-  
ज्ञानस्य फलम् । तद्धि फलमिव फलम् ; अविद्यापनयमात्रेणाविर्भावात् । \*एतदुक्तं भवति\*—  
त्वयाप्युपासनाविधिपरत्वं वेदान्तानामभ्युपगच्छता नित्य-शुद्ध-बुद्धत्वादिरूपब्रह्मात्मता जीवस्य स्वाभा-  
विकी वेदान्तगम्याऽऽस्थीयते । सा चोपासनाविषयस्य विधेर्न फलम् ; नित्यत्वादकार्यत्वात् । नाप्य-  
नाद्यविद्यापिधानापनयः ; तस्य स्वविरोधिविद्योदयादेवाविर्भावात् । नापि विद्योदयः ; तस्यापि

ऋजुप्रकाशिका

आमनुष्यादाब्रह्मलोकात् सुख-तारतम्यमुक्तं भाष्यकृता, तत्र सुखतारतम्यशब्दार्थमाह—\*सुखतारतम्य-  
मधिकाधिकोत्कर्ष इति\* । “दुःखतारतम्यदर्शनादि”त्युक्तं भाष्ये, तत्र दुःखतारतम्यमपि मनुष्यलोक-  
मारभ्यावीचिलोकादधिकाधिकोत्कर्ष एवेत्यभिप्रेत्याह—\*एवमिति\* ॥ अस्तु, एतावता किमिति ? अत  
आह—\*तच्चेति\* ॥ उक्तविधवा तारतम्येन विद्यमानं सुखं दुःखं च सर्वमित्यर्थः । कर्मविद्याफलं निरुक्तं  
सुखदुःखं सर्वं कार्यमनित्यं चेत्युक्त्वा ततो विलक्षणं ब्रह्मविद्याफलमित्याह—\*आत्यन्तिकं त्वित्यादिना\* ॥  
आत्मैव ब्रह्मेत्यात्मज्ञानस्य फलम् ; ब्रह्मज्ञानस्य फलमित्यर्थः । \*ननु\*—अशरीरत्वस्य ब्रह्मभावलक्षणस्या-  
साध्यत्वात् कथं ब्रह्मज्ञानफलत्वम् ? तत्राह—\*तद्धि फलमिव फलमिति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*अविद्येति\* ॥  
ब्रह्मज्ञानसाध्याविद्यापनयमात्रेणेत्यर्थः । \*ननु\*—\*वेदान्तानामुपासनाविधिपरत्वनिराकरणे प्रकृते सति, अप्रकृत-  
मन्यदेवेयता ग्रन्थेन कथमुक्तमिति ? अत आह—एतदुक्तं भवतीत्यादिना\* ॥ वेदान्तगम्या आस्थीयताम्,  
तावता किमित्यत आह—\*सा चेति\* ॥ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-ब्रह्मात्मस्वरूपतेत्यर्थः । तथाच फलाभावाच्चोपासना-  
विधिपरत्वं वेदान्तानामिति भावः ॥ \*ननु\*—उपासनाविधेः कथं फलाभावः ? अन्यदेव फलं भविष्यतीति  
चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किमनाद्यविद्यापिधानापनयः फलम् ? किं वा विद्योदयः ? अथवा विश्वजिन्यायात् स्वर्गः  
फलम् ? आद्यं दूषयति—\*नापीति\* ॥ तस्य = अविद्यापिधानापनयस्य । \*स्वविरोधीति\* ॥ अविद्याविरोधी-  
त्यर्थः । \*आविर्भावादिति = जननादित्यर्थः । तथाच नोपासनाविधिफलत्वमविद्यापिधानापनयस्येति भावः ।

वार्तिकम्

चोदनार्थो न विचारितः स्यादिति, नेत्याह—\*अधर्मोऽपीति\* ॥ त्रिविध इति शेषः । तथाच जिज्ञासा-  
सूत्रे धर्मपदं विधि-निषेधचोदनार्थमात्रोपलक्षणपरम् । चोदनासूत्रे त्वर्थग्रहणसामर्थ्यादेव तत्प्रतियोगि-  
तयाऽनर्थो लभ्यत इति । तमेतमर्थं विशेषणद्वयेन धर्माधर्मौ विशिषन् दर्शयति—\*तयोश्चोदनालक्षणयो-  
र्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोरिति\* ॥ कर्मसाधनस्यैव शरीरादेर्भोगसाधनत्वान्नात्मनि स्वतो भोगोऽस्तीति दर्श-

भाष्यभावप्रकाशिका

मित्याशङ्कामनुवदति—\*अधर्मोऽपीति\* ॥ अथवा धर्मस्वरूपनिर्णये कारणमभिधायाधर्मस्वरूप-  
निर्णयेऽपि कारणमाह—\*अधर्मोऽपीति\* ॥ कर्मफलस्वरूपमाह—\*तयोरिति\* ॥ अत्र  
विशेषणैर्ब्रह्मविद्याफलत्वात् कर्मफलस्य वैलक्षण्यं प्रदर्श्य, तरतमभावादपि विलक्षणमित्याह—

प्रदीपः

नित्यत्वं भवितुमर्हति वा ? न वेति ? आद्ये तु ज्योतिष्टोमादिजन्यसुखविशेषस्य हिंसादिजन्यनरकविशेषस्य धर्माधर्मप्रयुक्तस्य



## पञ्चपादिका

अस्यैव प्रपञ्चः—\*अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्त इत्येतदन्तं भाष्यम्\* ॥ अस्यायमर्थः—  
संक्षेपतः श्रुतितो न्यायतश्च मोक्षस्य नित्यसिद्धत्वप्रतीतेर्न क्रियासाध्यो मोक्ष इति । कथम् ? यदि

## पञ्चपादिकाविवरणम्

भाष्यस्य तात्पर्यार्थमाह—\*अस्यायमर्थः संक्षेपत इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* नास्ति फलवैलक्षण्यम् ;  
मोक्षस्याप्युपासनासाध्यतया कर्मजन्यत्वात्, ततश्चोपचयापचयशरीरेन्द्रियादिमत्ताऽपि स्यादित्यत आह—  
\*श्रुतितो न्यायतश्चेति\* ॥ “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” “विद्ययाऽमृतमश्नुते” “ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति”  
“अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव”त्यादिश्रुतितो ब्रह्मात्मताऽशरीरामृतत्वलक्षणो मोक्षो दर्शितः । न्यायतश्च

## ऋजुविवरणम्

फलवैलक्षण्यमसिद्धमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ शरीराद्युपभोग्यफलकं कर्म, मुक्तेश्च शरीराद्यसङ्गित्वाच्च कर्मफलत्व-  
मित्याशङ्क्याह—\*तत इति\* ॥ श्रुति-न्यायाभ्यां नित्यत्वप्रतिपत्तिरित्युक्तम्, तत्र श्रुतिं दर्शयति—\*ब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्म  
नित्यसिद्धम्, तदेव विद्याफलम्, न तदतिरिक्तमैक्यमिति श्रुत्यर्थः । न्यायत इत्युक्तम्, तद्विवृणोति—\*न्यायत इति\* ॥

## प्रदीपः

नित्यत्वमापद्येत । न केवलमेतावत्—किन्तु एकैककर्मजन्यस्यापि जन्मान्तरीयतिर्यग्भावादिहिरण्यगर्भभावपर्यन्तस्य कर्मजन्य-  
त्वात् समानत्वमापद्येतेति तरतमभावो निर्मूल एव स्यात् । तत्र च तिर्यग्भावादिब्रह्मभावपर्यन्तेषु तरतमभावः किन्निबन्धनं  
इति वक्तव्यम् । यदि धर्माधर्मतारतम्यनिबन्धनः, तर्हि कथं शास्त्रदृष्टत्वाविशेषे सर्वेषां धर्माधर्माणाम्, तेषामेव तरतमभावः ?  
अधिकारिभेदेन यदि धर्माधर्मादितारतम्यम्, तर्हिदं वक्तव्यं समापतति—यत् धर्माधर्माद्यनुष्ठानस्य शरीर-बाह्यमनोऽभिमान-  
निमित्तत्वात् तत्फलमपि शरीरविशेषाद्यभिमाननिबन्धनमेवानुभूयत इति । ततश्चेदमेवात्र पर्यवस्यति—यत् शरीरबाह्यनोभिरूप-  
भुज्यमानत्वमनित्यत्व-सातिशयत्व-तारतम्यादिप्रयोजकमिति । तद्यद्युपासनासाध्योऽपि मोक्षः शरीरबाह्यनोभिरूपभुज्यते, तर्हि  
सातिशय एव स्यात् ; अन्यथा तु निमित्तं वक्तव्यम्—उपासनस्यापि धर्मत्वाविशेषात् कथं तत्फलमात्रं नानित्यं भवतीति । यदि  
नित्यत्वश्रवणात् श्रुतिप्रामाण्येन व्यवस्था, तर्हि “अपाम सोमममृता अभूम” “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवती”ति  
श्रुतिप्रमाणैः स्वर्गस्यापि नित्यत्वमवगतमिति मोक्षविशेषः स्वर्गः स्याद् इति समापद्येत । अथ यदि “तस्य तावदेव चिरं यावच्च  
विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्यादिश्रुतिप्रामाण्याद् अशरीरत्वमेव मोक्षाख्यमुपासनासाध्यमिति, तर्हिदं  
विवेचनीयम्—यत्, कथमुपासना शरीरबन्धं निवर्तयति—किं दृष्टविधया ? उतादृष्टविधया ? यद्यदृष्टविधया, तर्हि स्वर्गादिकमपि  
कथं नाशरीरत्वम् । शरीरं हीदं भौतिकं नष्टमिति कथं तत्रापि नाशरीरत्वमदृष्टाधीनं न भवति । अविद्यावशत्वात् स्वर्गिणां न तथा  
क्लृप्तमिति चेत्, उपासकानां कथमविद्योच्छेदः ? ज्ञानाधीना ह्यज्ञाननिवृत्तिः, न धर्माधीना । कथमन्यथा स्वर्गादिभोगकालेऽपि  
नाविद्योच्छेदः । तथाच मोक्षानित्यत्वापत्त्या नोपासनापरतयैव वेदान्तानां पर्यवसानमित्यभिप्रायेण प्रतिविधत्ते—  
\*अत्राभिधीयत इति । न ; कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादिति\* ॥ कर्मफलं विद्याफलं च विलक्षणमवगम्यते । इदं च  
वैलक्षण्यं ब्रह्मविद्याया अपि धर्म-विशेषरूपोपासनासाध्यत्वे नोपपद्येत इति भावः । तत्र प्रथमं कर्मफलं सातिशयं विवेचयितुं  
कर्मपदार्थमाह—\*शरीरमिति\* ॥ शरीर-बाह्यनोभिमनोपभोगार्हत्वं ब्रह्मविद्याफलाद् विशेषं द्योतयन् कर्मफलानि तरतमभावा-  
पन्नानि निर्दिशति—\*तयोश्चेति\* ॥ भिन्नभिन्नशरीरबाह्यनोभिरूपभुज्यमानत्वं साधयितुं कर्तृतारतम्यं कर्मसु नियतं  
प्रतिपादयति सत्यामपि प्रयोजनेच्छायां सत्यपि चार्थज्ञाने सत्यपि वाऽग्निमन्त्रे राजसूये ब्रह्म-वैश्ययोः, वैश्यस्तोमे  
ब्रह्म-क्षत्रयोः, वसन्तकालिक आधाने क्षत्रिय-वैश्ययोर्वा नाधिकार इति हि वस्तुस्थितिः । ब्रह्मविद्यायां त्वधीतवेदान्ताः साधन-  
चतुष्टयसम्पन्नाश्च सर्वेऽधिकारिण इति नाधिकारतारतम्यं वर्तते, इति ब्रह्मविद्यायां न स्वरूपतः, न नाधिकारतस्तारतम्यं वर्तते ।  
\*ननु\* कर्मसु शरीराद्यपेक्षेयविविधतारतम्यसत्त्वेऽपि नोपासनासु स्वरूपतोऽधिकारतः फलतो वा तारतम्यं स्वीक्रियत इत्यु-  
पासनाख्यधर्मसाध्यत्वे नोक्तायाः शङ्काया अवसर इत्यत आह—\*तथाच यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिवशादिति\* ॥ अत्र  
विद्यावशादिति वर्णनेनोपासनाविशेषस्यापि स्वफलानुभवार्थं धर्मविशेषस्येव लोकान्तरगमनापेक्षाया उपक्षेपाद् धर्मान्तरसाम्यमेवो-  
पासनानामिति सूच्यते । \*इष्टापूर्तेति\* ॥



### पञ्चपादिका

सन्ध्योपासनवन्मानसं ब्रह्मकर्मकमुपासनं नाम धर्मो मोक्षफलः स्वर्गादिफल्यागवद्विधीयते, तथा सति शरीरवतैव तत्फलं भोक्तव्यम्, इति—“अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” इत्यशरीरमोक्षानुवादो योग्यप्रियाप्रियस्पर्शनाभावानुवादश्च निरालम्बनौ स्याताम् । नचाशरीरत्वमेव धर्मकार्यम् ; स्वाभाविकत्वात्तस्य । तेनानुष्ठेयविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं स्वभावसिद्धं नित्यमिति सिद्धम् ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

मोक्षस्य नित्यत्वं गम्यते, पुनरावृत्तौ पुनर्वन्धान्मोक्षशब्दस्योपचरितार्थताप्रसङ्गाद् अभ्युदयनिःश्रेयसयोश्च भेदप्रतिपत्तेः । अनादित्वमपि श्रुति—न्यायाभ्यामवगतम् । “विमुक्तश्च विमुच्यते” “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती”ति श्रुतेः, सादित्वे चान्तवत्त्वं स्यादिति न्यायात् । ततश्च न क्रियासाध्यो मोक्ष इति । क्रियासाध्यत्वेऽभ्युदयफलवच्छरीरेन्द्रियादिसम्बन्धक्षयिष्णुतोपचयापचयवत्त्वं च मोक्षस्य स्यादित्याह—\*यदि सन्ध्योपासनवदित्यादिना\* ॥ \*ननु\* यथैवोपचयापचयवत्क्षयिष्णु शरीरेन्द्रियादिभोग्यं च कर्मफलम्, एवं तद्विपरीतमशरीरामृतब्रह्मलक्षणं च निःश्रेयसं कर्मफलमेव स्यात्, कर्मणां पश्चादिविविधफलहेतुत्वदर्शनादिति, अत आह—\*न चाशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति\* ॥

किमिदं स्वाभाविकमशरीरत्वम् ? किं वा नैमित्तिकमिति ? शरीरात्मनोर्मिथ्याज्ञानसम्बन्धव्यतिरिक्तस्य सर्वप्रकारसम्बन्धस्यात्यन्तिकाभावः स्वाभाविकमशरीरत्वम्, मिथ्याज्ञानसम्बन्धान्नैमित्तिकं शरीरित्वमिति । तत्र सम्यग्ज्ञानसाध्यस्य मिथ्याज्ञानसम्बन्धनिवृत्तिलक्षणस्याशरीरत्वस्य कर्मसाध्यत्वाभावात् सम्बन्धान्तरनिवृत्ति-

### श्रुतिविवरणम्

न्यायमेवाह—\*पुनरावृत्ताविति\* ॥ मुक्तेरनित्यत्वेऽभ्युदयाद्भेदोऽपि न स्यादित्याह—\*अभ्युदयेति\* ॥ अभूत्वा भाविनः साध्यत्वम्, मुक्तेस्तद्विपरीत्यादसाध्यत्वमित्याह—\*अनादित्वमिति\* ॥ श्रुति-न्यायौ क्रमेणाह—\*विमुक्तश्चेति\* ॥ बाह्यक्रियासाध्यतयैवोपचयादिमत्त्वम्, मुक्तेश्चान्तरक्रियासाध्यत्वान्नित्यत्वमित्याशङ्क्य, व्यर्थविशेषणत्वात् साध्यत्वमात्रमनित्यत्वप्रयोजकमित्याशयेनाह—\*क्रियासाध्यत्व इति\* । सशरीरत्वस्यापि धर्मकार्यत्वादशरीरत्वमेवेति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य, न चाशरीरत्वमित्येतद्व्यावर्त्यां शङ्कामाह—\*ननु यथैवेति\* ॥ एवकारस्य “धर्मकार्यमि”त्यनेन संबन्धः । ‘अथायमशरीरः’ इत्यादिनाऽशरीरत्वस्य कार्यत्वप्रतिपत्तेरसिद्धं स्वाभाविकत्वम्, तथा सशरीरत्वानुभवविरोधश्चेति शङ्कते—\*किमिदमिति\* ॥ यदिदमशरीरत्वम्, तर्हि स्वाभाविकम् ? उत नैमित्तिकम् ? इति विमर्शार्थः । शरीरसंबन्धस्य परमार्थसतो ब्रह्मणि कालत्रयेऽप्यनुपपत्तेरशरीरत्वमित्याह—\*शरीरेति\* ॥ सशरीरत्वानुभवविरोध इत्युक्तं निरस्यति—\*मिथ्येति\* ॥ आगन्तुकमपि सशरीरत्वं न वस्तुसदिति दर्शयितुम्—“मिथ्याज्ञाने”ति विशेषणम् ॥ ‘अथायमि’त्यादिनाऽशरीरत्वस्य साध्यत्वं प्रतीयते, इत्याशङ्क्य, किं मिथ्याज्ञानसंबन्धध्वंसलक्षणस्य ? आहो संबन्धान्तरध्वंसलक्षणस्य ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*तत्रेति\* ॥ कर्मशब्देनोपासनाऽभिधीयते । तत्र हेतुमाह—\*सम्यग्ज्ञानेति\* ॥ प्रमाणज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यविरोधित्वाद्युपासनस्य चानीदृशत्वमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—

### तत्त्वदीपनम्

\*अनुमानादागम इति\* ॥ तर्कशब्देनानुमानमुक्तमिति व्याख्यातम् । \*अभ्युदयनिःश्रेयसयोरिति\* । न केवलं मोक्षशब्दस्यानुपचरितार्थत्वसामर्थ्यान्नित्यत्वम्, अभ्युदयनिःश्रेयसयोः फलयोर्भेदसामर्थ्यादित्यपि भेदः प्रतीयते—अनित्यं फलमभ्युदयः, नित्यो मोक्ष इति । नचैतद्विहायान्यद्भेदकमित्यर्थः । स्वाभाविकत्वमशरीरत्वस्य कथमुक्तम् ? सशरीरत्वप्रतीतेः स्वाभाविकत्वे फलत्वकीर्तनमपि न युज्येत, तेन व्याहृतोऽयं ग्रन्थः—स्वाभाविकत्वमुच्यते, ज्ञानकार्यत्वं च ; अतः फलत्वेन साध्यत्वात्कर्मसाध्यत्वमपीत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*किमिदं स्वाभाविकमिति\* ॥ \*ननु\* स्वाभाविकागन्तुकभेदेन कथमशरीरत्वं विकल्प्यते ? भेदासिद्धेः । नहि सशरीरस्य स्वाभाविकमशरीरत्वं निरूपयितुं शक्यते, इत्याशङ्क्य भेदकं दर्शयति—\*शरीरात्मनोरिति\* ॥



## पञ्चपादिका

तथापि कथंचित्परिणामि नित्यं स्यात्, स्यादपि कदाचिद्धर्मकार्यम् । इदन्तु कूटस्थनित्यं ब्रह्म जिज्ञास्यत्वेन प्रकान्तम्, यत्स्वरूपावगमो जीवस्य मोक्षोऽभिप्रेयते । तत्र यदि हस्तगतविस्मृतसुवर्णादि-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

लक्षणस्याशरीरत्वस्य स्वाभाविकत्वान्न धर्मसाध्यो मोक्ष इति । \*ननु\* यदिदमशरीरामृतब्रह्मलक्षणं फलम्, तदन्यथा कर्मभिः परिणम्यत इति, नेत्याह—\*तथापि कथंचिदित्यादिना\* ॥ \*ननु\* भवतु स्वाभाविकाशरीरामृतध्रुवलक्षणो मोक्षः सदैकरूपः ; तथाऽप्युपासनासन्तानाद् विधीयमानाद् विध्यति ; ज्ञानलक्षणत्वादुपासनस्येत्यत्राह—\*तल यदि हस्तगतविस्मृतसुवर्णवदित्यादिना\* ॥

\*ननु\* किमिति यागफलवदुपासनासाध्यत्वे मोक्षस्योपचयापचयक्षयिष्णुताशरीरसम्बन्धः स्यात् ? \*उच्यते\*—मोक्षफलाय विधीयमानस्योपासनस्य स्वरूपतः कालतः सङ्ख्यातो वा परिमितिरस्ति वा ? न वा ? इति वक्तव्यम् । अस्ति चेत्, साङ्गदर्श-पूर्णमासपरिमितिवदेतावदिदमित्युपासनापरिमितिः प्रदर्शनीया । नच तथा दृश्यते । नापि सङ्ख्यातः परिमाणमस्ति ; सहस्रं लक्षं वा प्रत्ययानां मोक्षसाधनमिति नियामकादर्शनात् । नापि कालतः परिमाणमस्ति ; एकं शतं सहस्रं वा संवत्सराणामुपासीनस्य मोक्ष इति नियमे प्रमाणाभावात् । मरणमेवावधिरिति चेत्, तथाऽपि दर्श-पूर्णमासवदेकाकारसाधनपरिमितिर्न लभ्यते ; एकेन दशभिः शतेन सहस्रेण वा कालेन कस्यचिन्मरणात्पुरुषभेदेऽप्युपासनोपचयापचयप्रसङ्गात् । उपास्यापरोक्ष्यमवधिरिति चेत्, तथाऽपि कस्यचित्केनचित्कालेनापरोक्षात्साधनोपचयापचयौ तदवस्थौ । अतो नोपासनलक्षणमोक्षसाधनैकरूप्यं लभ्यते । नचारोपितापरोक्षानुभव एव मोक्षसाधनम् ; अविहितत्वान्मिथ्याज्ञानत्वाच्च । अथ मा भूदैकरूप्यम्, देश-काल-सङ्ख्या-परिमाणभेदादग्निहोत्राभ्यासवत्पुरुषभेदेषु साधनोपचयापचयात्मता भविष्यतीति, न तर्हि सर्वेषामेकरूपो मोक्षः स्यात् ; काष्ठोपचयाद् ज्वालोपचयवदग्निहोत्रोपचयात्

## ऋजुविवरणम्

\*संबन्धान्तरेति\* ॥ सत्त्वादीनामनादित्वेऽपि यथा परिणामः, तद्वन्मुक्तेरपीति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ कूटस्थनित्यताप्रतिपादकश्रुत्यादिबिरोधानमैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ कौटस्थ्यमङ्गीकृत्य तत्रोपास्तेरनुप्रवेशं शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ 'सदैकरूपः' 'भविष्यतीति च विरुद्धमिति, अत्राह—\*ज्ञानेति\* ॥ ज्ञानस्य तावत्तन्नानुप्रवेशोऽङ्ग्यकारि, उपास्तेश्च ज्ञानत्वात्कथं निषेध इत्यर्थः । अविद्या-तत्कार्यनिवृत्तिमात्रं ज्ञानफलम्, तद्विहाय मुक्तेर्ज्ञानसाध्यत्वाङ्गीकारे स्वर्गादिसमत्वं स्यादित्याह—\*अत्राहेति\* ॥ कर्मणामुपचितापचितरूपत्वात्तत्फलस्वर्गादेरपि तथात्वं युक्तम्, न तथाऽन्योपासनायाः ; एकविधत्वादिति शङ्कते—\*ननु किमिति\* ॥ विकल्पासहत्वान्नैतदित्याह—\*उच्यते इति\* ॥ "उच्यते" इत्यारभ्य "मरणमेवे"त्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः । "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् । तं तमेवे"त्यादिवाक्यपर्यालोचनयोपासनस्यावधिः प्रतीयत इति शङ्कते—\*मरणं वेति\* ॥ आयुर्नियमाभावात्साधनैकरूप्यं न सेत्स्यतीत्याह—\*तथापीति\* ॥ परिमितिभावाभावमेवाह—\*एकेनेति\* ॥ अवध्यन्तरमाशङ्कते—\*उपास्येति\* ॥ अस्मिन्नपि पक्षे साधनैकरूप्याभावस्तदवस्थ इत्याह—\*तथापीति\* ॥ \*ननु\* उपासना न मोक्षसाधिका, येन तदुपचयादिना मुक्तेरपि तथात्वमापद्येत, किं तूपासनजनितः साक्षात्कारो मुक्तिहेतुरित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ किं विहितत्वेन साधकत्वम् ? उतान्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वेन ? नाद्य इत्याह—\*विहितत्वादिति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*मिथ्याज्ञानत्वादिति\* ॥ प्रमाणज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वमन्वय-व्यतिरेक-

## तत्त्वदीपनम्

\*ननु किमिति यागफलवदिति\* ॥ नोपासनासाध्यस्याप्युपचितापचितत्वं निरूपयितुं शक्यते । नह्येकस्मिन्नुपासनासाध्ये मोक्षे कारणमुपचितापचितत्वे संभवतीत्यर्थः । \*साङ्गदर्श-पूर्णमासपरिमितिवदिति\* ॥ चतुर्दश-पूर्णमास आहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशमावास्यायामिति वदित्यर्थः ॥



## भामती

श्रवण-मननपूर्वकोपासनाजनितसंस्कारसचिवादेव चेतसो भावात् । उपासनासंस्कारवदुपासनाऽपूर्वमपि चेतःसहकारीति चेत्, दृष्टं च खलु नैयोगिकं फलमैहिकमपि, यथा चित्रा-कारीर्यादिनियोगानाम-नियत-नियतफलानाम्, न ; गान्धर्वशास्त्रोपासनावासनाया इवापूर्वानपेक्षायाः षड्जादिसाक्षात्कारे

## ऋजुप्रकाशिका

द्वितीयं निरस्यति—\*नापि विद्योदय इति\* ॥ \*तस्यापि = विद्योदयस्यापि । निदिध्यासनमुपासनाशब्दार्थः । शङ्कते—उपासनासंस्कारवदुपासनापूर्वमपीति\* ॥ \*तथाचोपासनाविधिरिति\* शङ्काभिप्रायः । \*ननु\* चित्तस्यापूर्वसहकारिकत्वे कथं विद्योदयलक्षणदृष्टफलकत्वमिति ? अत आह—\*दृष्टं च खल्विति\* ॥ ऐहिकमपि दृष्टमपि नैयोगिकमपूर्वजं फलं दृष्टं खल्वित्यन्वयः । क्व दृष्टमित्याशङ्क्य, तदुदाहरति—\*यथा चित्रेति\* ॥ पशु-सस्यसंजीवनयोर्दृष्टयोश्चित्रा-कारीरीविनियोगफलत्वादित्यभिप्रायः । समाधत्ते—\*न गान्धर्वेति\* ॥ यथा षड्जादिसाक्षात्कारेऽपूर्वानपेक्षाया गान्धर्वशास्त्रोपासनायाः सामर्थ्यम्, तथा ब्रह्मभावसाक्षात्कारेऽपूर्वानपेक्षाया

## पञ्चपादिका

वद् भ्रान्तिमात्रव्यवहितं मोक्षं प्रत्याख्याय, ब्रह्मविषयध्यानक्रियातो देवताविषययागादिवत्प्रीतिविशेषो भोग्यो मोक्षः कल्प्येत, ततस्तेष्वेव तारतम्यावस्थितेषु यागफलेष्वयमपि तथाभूतः स्यात् । ततः—“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवासुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इति लिङ्गदर्शनोपबृंहितन्याया-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

स्वर्गोपचयवचोपासनोपचयान्मोक्षोपचयापचयोपपत्तेः । अथ साधनवैषम्येऽपि फलैकरूप्यमुच्येत, अनुष्ठानवैफल्यं स्यात् । \*अथ\* उपासनाऽपि विधीयमाना नियामकाभावादुपचयापचयरूपिणी, फलं च शास्त्रादेकरूपमिति ; \*नैतत्सारम्\* ; उपासनातोऽविद्या-तत्संस्कार-काम-कर्मसु क्षीयमाणेषु चित्तैकाग्र्यादपरोक्षसम्यग्ज्ञानोदयोपपत्तेः, क्षीयमाणकर्मादिवैषम्यादपरोक्षज्ञानोपपत्तेश्च । तस्मात् स्वर्गादिफलवदुपचयापचयरूपिणी मुक्तिः स्यात्, इति

## ऋजुविवरणम्

सिद्धम्, नाप्रमाणस्येत्यर्थः । द्वितीयं पक्षमुत्थापयति—\*अथ मा भूदिति\* ॥ अस्मिन् कल्पे पूर्वोक्तमेव दोषं स्मारयति—\*न तर्हीति\* ॥ उपासनोपचयादिना तत्फलेऽप्युपचयादिरित्युक्तम्, तत्र विपक्षे बाधकाभावं शङ्कते—\*अथेति\* ॥ बाधाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*अनुष्ठानेति\* ॥ उपचितापचितसाधनानुष्ठानान्तरमपि फलसाम्येऽनुपचितसाधनानुष्ठानं विफलं स्यादित्यर्थः । एकरूपफलोद्देशेन विधिरूपोपासनाविधानात्फलैकरूप्यं सिद्धमिति शङ्कते—\*अथेति\* ॥ \*नियामकाभावादिति\* ॥ मरणापेक्षादेरनियतत्वात्साधनैकरूप्यस्य नियामकं न पश्याम इत्यर्थः ॥

न्यायाविरुद्धे श्रुत्यर्थे संभवति विरुद्धेऽर्थान्तरे तात्पर्यं न कल्प्यमिति समाधत्ते—\*नैतत्सारमिति\* ॥ मिथ्या-ज्ञानमविद्याशब्दार्थः । एकाग्रचित्तस्यापरोक्षज्ञानं जायते, आत्मप्रपञ्चमिथ्याज्ञानादिप्रतिबन्धनिवृत्तौ, तन्निवृत्तिश्चोपासनाधीनेति प्रणाड्या मुक्त्युपयोगसंभवे न साक्षात्तस्यास्तत्साधनत्वं श्रुत्यादिविरुद्धं कल्प्यमित्यर्थः । उपासनाया उपचितादिरूपत्वात्फलेऽप्युपचितापचितरूपत्वमिति यत्तूक्तम्, तत्राह—\*क्षीयमाणेति\* ॥ निवृत्त्याविद्यादितरतमभावात् साधनेऽपि तरतमभाव उचित इत्यर्थः । पापादिनिवृत्तेर्दुरधिगमत्वात् संततमुपास्त्यनुष्ठानं स्यादित्यत्राह—\*अपरो-

## तत्त्वदीपनम्

\*ननु\* सेवादौ साधनवैषम्येऽपि फलैक्यं दृश्यते, तद्वदिहापि स्यादिति चोदयति—\*अथ साधनवैषम्येऽपीति\* ॥ \*अनुष्ठानवैफल्यमिति\* ॥ अयमर्थः—न लोकसाधर्म्येण वैदिकार्थनिश्चयः ; तत्र भिन्नसाधनेषु फलैक्यं दृष्टत्वादङ्गीकृतम्, इह तु कल्प्ये फले न साधनोपचयापचये फलैक्यं युक्तमित्यर्थः । अत्रापि शास्त्रसामर्थ्याद्विधीयमानस्योपासनस्यैकरूपं फलं प्रतीयतेऽपरोक्षज्ञानम्, तद्वद्वारा मोक्षश्च । नव तत्रोपचयापचयौ संभवत इति दर्शयति—\*अथोपासनाऽपीति\* ॥ एतदुक्तं



## भामती

वेदान्तार्थोपासनावासनाया जीव-ब्रह्मभावसाक्षात्कारेऽनपेक्षाया एव सामर्थ्यात् । तथाचामलभावं प्रत्य-  
हेतुत्वादुपासनापूर्वस्य, नामृतत्वकामस्तत्कार्यमवबोद्धुमर्हति । अन्यदिच्छत्यन्यत्करोतीति हि विप्रति-  
षिद्धम् । नच—तत्कामः क्रियामेव कार्यमवगमिष्यति नापूर्वमिति—सांप्रतम् ; तस्या मानान्तरादेव  
तत्साधनत्वप्रतीतिर्विधेर्वैयर्थ्यात् । नचावघातादिविधितुल्यता ; तत्रापि नियमापूर्वस्यान्यतोऽनवगतेः ।  
नच ब्रह्मभूयादन्यदमृतत्वमार्थवादिकं किञ्चिदस्ति, येन तत्काम उपासनायामधिक्रियेत । विश्वजिन्यायेन

## अनुप्रकाशिका

एव वेदान्तार्थोपासनायाः सामर्थ्यान्नोपासनाविधिरिति भावः । एवं च सति फलितमाह—\*तथाचेति\* ॥  
\*अमलभावं प्रति = अमृतत्वं प्रति ; मोक्षं प्रतीति यावत्\* । तत्कार्यम् = उपासनाकार्यम्, उपासनानियोगम् ;  
अपूर्वमिति यावत् । तत्कर्तव्यत्वमवबोद्धुं नार्हतीत्यर्थः । इतीति हेतौ । यतो नावबोद्धुमर्हति, अत उपासना-  
संस्काराहितचित्तजन्यात्मसाक्षात्कारपूर्वकममृतत्वमिच्छन् विधित उपासनापूर्वकं करोतीति विप्रतिषिद्धं  
व्याहृतमित्यर्थः । तथाच विध्ययोगाद् अपूर्वं न साक्षात्कारोपयोगीति भावः । अपूर्वं चेद् न साक्षात्कारोपयोगि,  
तर्ह्युपासनाक्रियैव तदर्थं विधीयताम्, नेत्याह—\*नच तत्काम इति\* ॥ अमृतत्वं तच्छब्दार्थः । \*क्रियामेव =  
उपासनाक्रियामेव । तस्याः = उपासनाक्रियायाः\* । मानान्तरादेव = अन्वय-व्यतिरेकसन्धीचीनप्रत्यक्षादेवेत्यर्थः ।  
\*तत्साधनत्वप्रतीतिः\* ॥ गान्धर्वशास्त्रोपासनाक्रियाया अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां षड्जादिसाक्षात्कारसाधनत्वस्य दृष्ट-  
त्वाद् वेदान्तशास्त्रार्थोपासनाया अपि तथात्वात् साक्षात्कारहेतुत्वाद् अन्वय-व्यतिरेकसिद्धे विध्ययोगादात्मोपा-  
सनाविधिवैयर्थ्यमित्यर्थः । \*ननु\*—अवघातस्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यां तुषविमोकसाधनत्वेऽप्यवघाते विधि-  
र्हस्यते—“व्रीहीनवहन्यात्” इति, तद्वद् अत्रास्त्वित्यत आह—\*नचावघातेति\* ॥ \*अन्यतोऽनवगतेरिति\* ॥  
तथाच तल विधिर्युक्त इति भावः । \*ननु\*—अवघातवद् उपास्तावप्यस्तु नियमापूर्वम्, नेत्याह—\*नच ब्रह्म  
भूयादिति\* ॥ यथा—अवघातादिस्थले नियमापूर्वसाध्यं परमापूर्वमस्ति, तथा नेहनियमापूर्वसाध्यं परमापूर्वमस्ति;  
अतो नात्र विधिसंभव इत्यर्थः । तृतीयं दूषयति—\*विश्वजिन्यायेनेति\* ॥ “विश्वजिता यजेत” इति श्रूयते—  
तत्रैवंविधकामोऽधिकारीति न श्रूयत इत्यधिकार्याकाङ्क्षा । नच—सामर्थ्यलिङ्गाद् प्रकरणाद्वा तत्राधिकारिकल्पन-  
मिति—वाच्यम् ; निषेध एव प्रवृत्तिक्रियस्य सामर्थ्यादधिकारित्वकल्पनात्, यथा “न सुरां पिवेत्” इत्यत्र प्रवृत्त-  
सुरापानक्रियस्य सामर्थ्यादधिकारित्वकल्पनम्, अङ्गेष्वेव प्रकरणादधिकारित्वकल्पनम् ; यथा “समिधो यजति”  
इत्यादौ दर्श-पूर्णमासप्रकरणात् स्वर्गकामस्याधिकारित्वकल्पनम् । नचात्र प्रकरणात् सामर्थ्याद्वाऽधिकारिकल्पनम्,  
इत्यधिकार्याकाङ्क्षायां संशयः—अधिकार्यध्याहियताम् ? नवा ? इति । तत्र लोके ‘द्वारमि’त्यादौ क्रियया विना द्वारमिति  
कर्मकारकाभिधानापर्यवसानात् ‘पिधेही’ति क्लियाध्याहारो युक्तः, इह तु यजिक्रियादिविषयेण यागेन कार्यस्या-  
न्विताभिधानपर्यवसानाद् यागः कार्यः कृतिविषय इत्यन्विताभिधानपर्यवसानात्, अनध्याहारे प्राप्ते—उच्यते  
अत्राप्यभिधेयापर्यवसानद्वारा कार्यस्यान्विताभिधानापर्यवसानमेव । तथाहि—कार्यं हि साध्यत्वेन कृतिनिरूप्यम्,  
कृतिश्च नरव्यापाररूपा । सा च कृतिर्यथा स्वसाध्यधात्वर्थनिरूप्या, एवं स्वाश्रयनरनिरूप्या च भवति । एवंच  
कृतेः कर्ताऽपि कार्ये कृतिद्वारा सम्बन्धत्वेन निरूपकः, इति नरमन्तर्भाव्यैव नियोगधीः । नचासावबुद्ध्वात्मनः  
कार्येण सम्बन्धं स्वतस्तेन सम्बध्यते । स्वसम्बन्धिकार्यबोद्धा च नियोज्यः, इति सोऽध्याहार्य इति स्थिते, चिन्ता  
—किं सर्वेषामध्याहारः ? उतैकस्येति ? तत्राविशेषात् सर्वेषामध्याहारे प्राप्ते, उच्यते—एकेनैवाऽऽकाङ्क्षा-  
शान्तरेकस्यैवाध्याहार इति । एवं स्थिते, पुनर्विचारः—किं यस्य कस्यचिद् नियोज्यस्याध्याहारः ? उत  
स्वर्गकामस्येति ? तत्राविशेषादनियमः, इति प्राप्ते, उच्यते—“सः स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यवशिष्टत्वात् ।”  
स्वर्गकाम एवाध्याहार्यः । स्वर्गकामाध्याहार एवोचितश्च ; पुरुषाणां सुखाभिलाषित्वात्, दुःखनिवृत्तेरपि  
तत्रैवान्तर्भावात् । दुःखनिवृत्तिस्तु न सुखाविनाभूता ; सुषुप्तावस्थां सत्यामपि सुखजन्मादर्शनात्,



धर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुख-दुःखे शरीर-वाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसं-  
योगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे । मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु  
सुखतारतम्यमनुश्रूयते । ततश्च तद्वेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते । धर्मतारतम्या-  
दधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्धं चार्थित्व-सामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथाच  
यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्या-समाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनम्, केवलैरिष्टापूर्तं दत्त-  
साधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं  
च शास्त्राद् “यावत् संपातमुषित्वा” ( छान्दो० ५।१०।६ ) इत्यस्माद्गम्यते । तथा  
मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तार-  
तम्येन वर्तमानः । तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्वेतोर-

## वार्तिकम्

यितुम्—\*शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने इत्युक्तम्\* ॥ तत्र शरीरेण तावत् शुभाशुभस्पर्शादिना सुख-  
दुःखभोगः । वाचा च शुभाशुभाध्ययनादिना । मनसा च शुभाशुभाभिमानादिनेति—बोद्धव्यम् ।  
तत्र धर्मफलस्य सुखस्य तारतम्यं श्रुतिसिद्धं दर्शयन् तन्मूलधर्म-तदधिकारिणोस्तारतम्यमनुमानेनाह—  
\*मनुष्यत्वादारभ्येति\* ॥ अनुश्रूयते—“अथ ये ये शतं मनुषाणामानन्दाः । स एको गन्धर्वलोकेष्वानन्दः”  
इत्याद्यानन्दमीमांसायामिति शेषः । अनुग्रहणं सुखतारतम्यस्य वैदिकत्वसूचनार्थम् । उक्तानुमानं  
प्रमाणान्तरेणानुगृह्णाति—\*प्रसिद्धञ्चेति\* ॥ “यदेव विद्ययोपनिषदा करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवती”त्यादि-  
श्रुतिसिद्धमित्यर्थः । तन्मार्गगतावशिष्टेष्वप्यवान्तरतारतम्यमाह—\*तत्रापीति\* ॥ एवं धर्म-तत्फल-  
तदधिकारिणां तारतम्यमुक्त्याऽधर्म-तत्फल-तदधिकारितारतम्यं दर्शयति—\*तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु चेति\* ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

\*मनुष्यत्वादिति\* ॥ साधनतोऽपि वैलक्षण्यमाह—\*ततश्चेति\* ॥ अधिकारितोऽपि वैलक्षण्य-  
माह—\*धर्मेति\* ॥ न केवलं प्रसिद्धत्वादधिकारितारतम्यम्, किन्तु दक्षिणोत्तरमार्गगमनश्रवणानुप-  
पत्त्याऽपीत्याह—\*तथाचेति\* ॥ संपतत्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकमिति संपातः = कर्म । एवं  
सुखस्योत्कर्षात् तारतम्यमभिधायपकर्षतारतम्यमाह—\*तथेति\* ॥ इदानीं—दुःख-तत्साधन-तदनु-  
ष्ठातृणां तारतम्यमाह—\*तथोर्ध्वगतेष्विति\* ॥ कर्मफलं ब्रह्मविद्याफलवैलक्षण्याय प्रपञ्चितमुपसंहरति

## प्रदीपः

“अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥

वापीकूपतटाकादिदेवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् । बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥”

इति वचनलक्षितानीष्टापूर्तदत्तलक्षणानि साधनानि । तैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैरित्यर्थः । तथाचोपासनाफलस्यापि  
मार्गप्राप्यत्वाद् मोक्षोऽपि ब्रह्मोपासनाफलत्वे मार्गप्राप्य एव स्यादिति स्वर्गवदनित्यत्वापत्तिरिति भावः । \*ननु\*  
मार्गप्राप्यत्वेऽपि मोक्षस्य नानित्यत्वम्; पुनरावृत्तिश्चूयत्वात्, नित्यदेवादिभावापत्त्या न कोऽपि दोष इत्यत आह—  
\*तत्रापि सुखतारतम्यमिति\* ॥ देवादिभावेऽपि सुखतारतम्यं वर्तत एवेति भावः । संप्रति धर्माधर्मफलं संसाररूप-  
मेवेति प्रकृतमुपसंहरति—\*एवमिति\* ॥ धर्माधर्मफलस्य संसाररूपत्वे कारणमाह—\*अविद्यादिदोषवतामित्यादिना\* ॥ तथाचा-  
विद्यानिरासं विना न शरीरादिनिवृत्तिरिति नोपासनायाः क्रियारूपायास्तन्निवर्तकत्वमिति सिद्धान्तयुक्तिः सूच्यते । स्पष्टीकरिष्यते  
चेयमुपरिष्ठात्—“दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये पूर्वपूर्वापायादपवर्गः” इति काणादसूत्राद्यवलम्बनेन ।



धर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादि-  
दोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुख-दुःखतारतम्यमनित्यं  
संसाररूपं श्रुति-स्मृति-न्यायप्रसिद्धम् । तथाच श्रुतिः—“न ह वै सशरीरस्य सतः  
प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति” इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति । “अशरीरं वाव  
सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” ( छान्दो० ८।२।१ ) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधा-  
च्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते । धर्म-

भामती

तु स्वर्गकल्पनायां तस्य सातिशयत्वं क्षयित्वं चेति न नित्यफलत्वमुपासनायाः । तस्माद्ब्रह्मभूयस्या-  
विद्यापिधानापनयमात्रेणाविर्भावात्, अविद्यापनयस्य च वेदान्तार्थविज्ञानादवगतिपर्यन्तादेव संभवात्,  
उपासनायाः संस्कारहेतुभावस्य च साक्षात्कारोपजनने मनःसाचिव्यस्य च मानान्तरसिद्धत्वात्, आत्मे-  
त्येवोपासीत’ इति न विधिः, अपितु विधिसरूपोऽयम् । यथोपांशुयाजवाक्ये ‘विष्णुरूपांशु यष्टव्यः’  
इत्यादयो विधिसरूपा न विधय इति तात्पर्यार्थः । श्रुति-स्मृति-न्यायसिद्धमित्युक्तम्, तत्र श्रुतिं दर्शयति  
—\*तथाच श्रुतिरिति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

अनवच्छिन्नस्य च सुखस्य स्वर्गत्वात्, तस्य च सर्वसुखविशेषान् प्रत्यवशिष्टत्वात्, विशेषे च माना-  
भावात् स्वर्ग एव नियोज्यविशेषणं स्यादिति । कृत्वाचिन्तेयम् । “यः सत्रायाऽवगुरते स विश्वजिता यजेत”  
इति श्रूयते । नच तत्राधिकारिविरहः ; सत्रप्रवृत्तस्यावगोरणोपरमे निमित्ते प्रायश्चित्ततया विहितत्वेन साधिकारि-  
त्वात् । अधिकारी चोक्तविधया स्वर्गकाम एवेति । सोऽयं विश्वजिन्यायः । नचानेन न्यायेन स्वर्गफल-  
कल्पनमत्र युक्तम् ; स्वर्गस्य सातिशयत्वेन क्षयिष्णुत्वेन चात्मोपासनाफलत्वायोगात्, आत्मोपासनावादिनाप्युपा-  
सनाया ब्रह्मभावलक्षणमोक्षफलकत्वस्य वक्तव्यत्वात् । नच ब्रह्मभावस्तस्याः फलं संभवति ; नित्यत्वादकार्य-  
त्वाच्चेत्युक्तम्, तथाच फलाभावान्नोपासनाविधिसंभवः । तदेतदुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ अनुमानं न्याय-

वार्तिकम्

तारतम्यप्रदर्शनस्य फलमाह—\*एवमविद्यादिदोषवतामिति\* ॥ एवं विधि-प्रतिषेध-चोदनालक्षणफलस्य  
सर्वस्याविद्यात्मकत्वं संसाररूपत्वमनित्यत्वञ्च दर्शयित्वा मोक्षस्य तद्वैलक्षण्यं दर्शयन् चोदनालक्षणधर्म-  
कार्यत्वं निराकरोति—\*अशरीरं वाव सन्तमिति\* ॥ शङ्कते—\*अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेदिति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

—\*एवमिति\* ॥ “शरीरजैः कर्मदोषैरि”त्याद्या स्मृतिः । न्यायश्च दृष्टहेतुसाम्येऽपि सुख-दुःखादि-  
फलवैचित्र्यं कार्यं तथाभूतमेवालौकिकं हेतुं कल्पयति । विद्याफलं दर्शयति—\*अशरीरमिति\* ॥

प्रदीपः

शरीरवाङ्मनोभिरुपभुज्यमानं दुःखमिश्रं सुखमेवेति प्रदर्शयति—\*तथाच श्रुतिरिति\* ॥ \*ननु\* मोक्षेऽपि शरीरं वर्तत इति  
शङ्कायामाह—\*अशरीरं वावेति\* ॥ तथाच श्रुतिविरुद्धमिदम्—उपासनासाध्यो मोक्षः, इति शास्त्रदृष्टत्वाद् अनुमानवाधेनापि  
मोक्ष उपासनासाध्यश्च नित्यश्चेति शङ्काऽप्यनवसरेति सूचितम् । \*ननु\* अशरीरत्वमपि ब्रह्मोपासनाकार्यं भवत्विति शङ्कते—  
\*अशरीरत्वमेवेति\* ॥ स्यादेतदेवं यद्यशरीरत्वं साध्यम्, नत्वेतदस्ति । स्वाभाविकं ह्यशरीरत्वमाप्तायोऽनुवदति ।  
अतश्च नोक्ताशङ्काऽत्रावसरीत्याह—\*न ; तस्य स्वाभाविकत्वादिति\* ॥ अनया श्रुत्या शरीरावस्थानकालेऽप्यशरीरस्य  
व्यवस्थापनाद् अशरीरत्वं स्वाभाविकमिति गम्यते । श्रुत्यन्तराण्यपि मुक्तस्य ब्रह्मभावमापन्नस्याशरीरत्वनिरूपणपराण्युदाहरति—



कार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते । अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेत्, न ; तस्य स्वाभाविकत्वात् । “अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति” ॥ ( कठ० २।२।२१ ) । “अप्राणो ह्यमनाः” ( मुण्ड० २।१।२ ) । “असङ्गो ह्ययं पुरुषः” ( बृह० ४।३।१५ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

### वार्तिकम्

अयमभिप्रायः—भवेदेषा मोक्षस्य धर्मकार्यत्वे प्रियाप्रियस्पर्शप्रतिषेधानुपपत्तिः, यदि सुखमात्रं धर्मकार्यं स्यात्, अशरीरत्वानुपपत्तिश्च ; सुखस्य शरीरद्वयसाध्यत्वात् । नचैवमस्ति ; सुख-तत्साधनवद् दुःख-तत्साधनाभावयोरपीष्टत्वेन धर्मकार्यत्वात्, इष्टसाधनत्वस्य तद्विषयनिश्चयस्य वा विधित्वात् । तथाच मोक्षस्य दुःख-तत्साधनलक्षणशरीरद्वयाभावकार्यतया नित्यत्वोपपत्तेर्धर्मकार्यत्वमविरुद्धम् । अतः—“अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः” इति शरीरप्रतिषेधः, प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधश्च मोक्षे धर्मकार्यत्वेऽप्युपपन्न इति, न ; तस्याशरीरत्वस्य स्वतः सिद्धत्वाद् धर्मकार्यत्वानुपपत्तेः । “अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति” ॥ “अप्राणो ह्यमनाः” “परतः परः” । “अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्” । “स पर्यगाच्छुक्लकामयमव्रणमस्त्राविरं शुद्धमपाप-विद्धमि”त्यादिश्रुतिशतेभ्यो हि शरीरावस्थानकालेऽपि तदभावं वदन्तीभ्यः स्वाभाविकं मोक्षस्याशरीरत्वं सिद्धम् । \*ननु\* अशरीरत्वं शरीरद्वयध्वंसः, स कथमात्मनः स्वभावः स्यात् ? तस्याभावरूपत्वात्, जन्यत्वाच्चेति—चेत्, \*न\* ; आरोपिताभावस्याधिष्ठानैकस्वरूपत्वादभावत्वासिद्धेः । \*एतेन\*—तस्य

### भाष्यभावप्रकाशिका

कथम् ? अनुपपत्त्येत्याह—\*धर्मकार्यत्व इति\* ॥ कर्मणो विचित्रपथादिफलत्वदर्शनाद् अशरीरत्वमपि धर्मकार्यं किं न स्यादिति शङ्कते—\*अशरीरत्वमिति\* ॥ मिथ्याज्ञानलक्षणत्वात् शरीरत्वस्य तन्निवृत्तिर्न धर्मकार्यम् ; विद्यामात्रसाध्यत्वात्, पारमार्थिकस्तु शरीरसंबन्धाभावः स्वभावत एव सिद्धत्वादसाध्य इत्याह—\*न तस्येति\* ॥ स्थूलशरीराभावे प्रमाणमाह—\*अशरीर-मिति\* ॥ सूक्ष्मशरीराभावे प्रमाणमाह—\*अप्राण इति\* ॥

### प्रदीपः

\*अप्राण इति\* ॥ वस्तुतस्तु मोक्षदशायां भोक्तृत्वमेव नास्तीत्याह—\*असङ्ग इति\* ॥ प्रकृतमशरीरत्वाख्यमोक्षनित्यत्वमुपसंहरति—\*अत एवेति\* ॥ स्वाभाविकत्वादेव । \*ननु\* नित्यत्वं न जन्यत्वविरुद्धम् ; यत आकाशादिकं जन्यमपि श्रुतौ नित्यतया व्यवहियते—“आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” इति—चेत्, किमिदं नित्यत्वमाकाशादीनाम् ? यदि पुनः पुनरेकेनैकेन रूपेणावस्थापनम्, तर्हि मोक्षस्यापि रूपभेदेन विपरिवृत्तिराप्येत । एकरूपो हि नित्यो मोक्षः सर्वैर्वादिभिरभ्युपगम्यते । यतश्च नाकाशादिवद् न जन्यत्वं नित्यत्वं चोभयमत्र विरुद्धं संभवतीति निरूपयिष्यन् नित्यं विभज्य दर्शयति—\*तत्वेति\* ॥ परिणामिनित्यं कूटस्थनित्यं च नित्यं द्विविधम् । तदेवेदमिति बुद्धिविषयत्वं विक्रियमाणत्वेऽपि यस्य, तत्परिणामिनित्यम् । एकरूपत्वे सति तदेवेति बुद्धिविषयत्वं कूटस्थ-नित्यत्वमिति विवेकः । अशरीरत्वं तु कूटस्थपारमार्थिकनित्यमेवेत्याह—\*इदन्विति\* ॥ पारमार्थिकमिति\* ॥ परिणामिनित्यता हि न पारमार्थिकी ; अनिर्वचनीयत्वादिति भावः । \*कूटस्थमिति\* ॥ कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थम् । कूटः स्वर्णकारैः स्वर्णादीनां ताडनेन प्रथनार्थमाधारतया रक्ष्यमाणमयःपिण्डं स्वर्णादीनां विकारेऽपि स्वयं न विकुरुत इति ब्रह्माध्यस्ताविद्यादिपरिणामेऽपि न ब्रह्म विकुरुत इति भावः । इदमेव कूटस्थपदं गृहीत्वा ब्रह्मविवर्तोपादानतापक्षस्योत्थितिः । अनेन हि ब्रह्मापि स्वतन्त्रमभेदप्रतीतियोग्यमित्युपस्थापनात् तस्य च कार्य-कारणभावमन्तराऽसंभवाद् ब्रह्माप्यपरिणामिकारणं चेति स्वीकरणीयत्वे विवर्तोपादानतायां पर्यवसानं भवति । \*ननु\* “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” इति ब्रह्मण आकाशतुल्यस्यैव



## वार्तिकम्

जन्यत्वमप्यसिद्धम् । शरीरद्वयमात्मनः पारमार्थिकमेव, नारोपितमिति चेत्, न ; उदाहृतश्रुतिशतविरोधात्, आरोपितत्वस्याध्यासभाष्य उपपादितत्वाच्च । नच तत्पारमार्थिकत्वमङ्गीकुर्वतो मोक्ष उपपद्यते ; तन्निराकरणकारणाभावात् । धर्म एवोक्तस्तन्निराकरणकारणमिति—चेत्, न ; धर्मस्य शरीरद्वयहेतुत्वनियतत्वेन वैपरीत्यात्तद्वेतुत्वानुपपत्तेः ॥ \*ननु\* उक्तमिष्टमात्रस्य धर्मो हेतुः । इष्टं च द्विविधम्—सुखम्, दुःखाभावश्च । तत्र यदा सुखमुद्दिश्य धर्मः क्रियते, तदा तद्भोगायतनतया शरीरद्वयमपि तेन धर्मेणोपजन्यते ; तदन्तरेण तत्फलभोगानुपपत्तेः । अत एव 'जात्यायुर्भोगलक्षणं कर्मफलमि'त्याहुः । यदा तु स एव धर्म आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिमुद्दिश्य क्रियते, तदा शरीरद्वयनिवृत्तिमन्तरेणात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेस्तत्फलस्यासम्भवात्, "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरुपहतिरस्ती"ति श्रुतेः, तन्नान्तरीयकतया शरीरद्वयाभावोऽपि तेन धर्मेण जन्यत इति । अत एव 'एकविंशतिप्रभेदं दुःखमि'त्याहुः । नच—धर्मस्यात्यन्तिकदुःखाभावसाधनत्वे नास्ति मानमिति—वाच्यम् ; "धर्मं व्याख्यास्यामः" इति प्रतिज्ञाय, को धर्मः ? इत्यपेक्षायां "यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिरिति तल्लक्षणं वदतः कणादस्य स्मृतेरेव तन्मानत्वादिति—चेत्, \*न\* ; सुख-तत्साधनान्यतरमुद्दिश्यैव सर्वत्र वेदे धर्मविधानस्य दर्शनात्, तन्नान्तरीयकतयैव दुःखाभावस्य ततः सिद्धत्वात्, स्वातन्त्र्येण तत्साधकत्वे प्रमाणाभावात् । नच—कणादस्मृतिरेव तत्र प्रमाणमिति—वाच्यम् ; तत्स्मृतेः साधर्म्य-वैधर्म्यलक्षणधर्माभिप्रायत्वात्, विविदिषाद्वारा ज्ञानोत्पादेन परम्परया धर्मस्य मोक्षसाधकत्वाभिप्रायत्वाद्वा ततो धर्मस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वासिद्धेः ॥ \*एतेन\*

—इष्टमात्रमुद्दिश्य धर्मो विधीयत इति—\*अपास्तम्\* ; स्वर्गादीष्टविशेषोद्देशेनैव तत्तद्धर्मविशेषाणां विधानात् । आत्मोपासनाख्यो धर्मविशेषो मोक्षोद्देशेन विधीयत इति—चेत्, न ; तद्विधेर्निराकरिष्यमाणत्वात् । अपिच नाभावः कर्मसाध्यः ; तस्य कर्म-तत्फलनिरासरूपत्वात् । स्वस्वफलनिरासस्य कर्मसाध्यत्वाभ्युपगमे वा कदाऽपि संसारो न स्यात् । कर्मान्तरसाध्यत्वाभ्युपगमे चानवस्थानात् कदापि संसारनिवृत्तिर्न स्यात् । तस्मात् स्वापादिवत् कर्मोपरमे स्वयमेव संसारोपरमो वाच्यः, न कर्मसाध्यः ; अन्यथा स्वाप-प्रलययोरपि कर्मसाध्यत्वापत्तेः । कारणे कार्यल्यो न कर्मसाध्यः ; तदुपरमसाध्यत्वात् । सह कारणेन तु कार्यल्यो धर्मसाध्यो भविष्यतीति—चेत्, न ; कारणल्यहेतोरेव तल्लयसिद्धेः पृथग् धर्मस्य तद्वेतुत्वकल्पनानुपपत्तेः । अस्त्वेवम्, तथाऽपि धर्म एव कारणलये हेतुरिति—चेत्, न ; विकल्पासहत्वात् ।

तथाहि—तत् किं कारणमविद्या ? किं वान्यत् ? नाद्यः ; तस्य ज्ञानैकनाश्व्यत्वेन धर्मनाश्व्यत्वानुपपत्तेः । अन्यत्वेऽपि सादि ? अनादि वा ? नाद्यः ; दत्तोत्तरत्वात्, तस्य स्वतः कारणनाशाद्वा लयसिद्धेरित्युक्तत्वात् । द्वितीयोऽपि किं भावः ? अभावो वा ? इति । भावत्वेऽपि किमनिर्वचनीयः ? सत्यो वा ? इति । नाद्यः ; तस्याविद्यात्मकत्वेन तदन्यत्वासिद्धेः, सिद्धौ वा तस्याप्यविद्यासमानयोगक्षेमत्वेन ज्ञानैकनाश्व्यत्वात् । न द्वितीयः ; तादृशपदार्थे प्रमाणाभावात्, सत्यस्यानादिभावस्य नित्यत्वनियमविरोधाच्च । न द्वितीयः ; तस्य प्रतियोग्येकनाश्व्यत्वाद् धर्मनाश्व्यत्वानुपपत्तेः, अभावस्य जगत्कारणत्वानुपपत्तेश्च । आद्येऽपि किमात्मा ? अन्यो वा ? नोभयथाऽपि तस्य धर्मनाश्व्यत्वमुपपद्यते ; नित्यत्वव्याघातात् । तस्माद्वार्तमेतत्, यद् धर्मनिबन्धनमात्मनोऽशरीरत्वम् । अतो नित्यमेवात्मनो मोक्षाख्यमशरीरत्वं सिद्धमिति । तदिदमाह भगवान् भाष्यकारः—\*न\* ; तस्य स्वाभाविकत्वादित्यादिना ॥ \*ननु\* आत्मैकस्वभावत्वेनाशरीरत्वाख्यस्य मोक्षस्य नित्यत्वेऽपि पराभिमतपृथिव्यादिवत्



अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किञ्चित्परिणामि नित्यम्—यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि 'तदेवेदमि'ति बुद्धिर्न विहन्यते ;

भामती

न्यायमाह—\*अत एवेति\* ॥ यत्किल स्वाभाविकम्, तन्नित्यम् ; यथा चैतन्यम् । स्वाभाविकं चेदम्, तस्मान्नित्यम् । \*परे हि द्वयीं नित्यतामाहुः\*—कूटस्थनित्यतां परिणामिनित्यतां च । तत्र नित्यमित्युक्ते मा भूदस्य परिणामिनित्यतेत्यत आह—\*तत्र किञ्चिदिति\* ॥

परिणामिनित्यता हि न पारमार्थिकी । तथाहि—तत् सर्वात्मना वा परिणमेत ? एकदेशेन वा ? \*सर्वात्मना परिणामे\* कथं न तत्त्वव्याहतिः ? \*एकदेशपरिणामे वा\* स एकदेशस्ततो भिन्नो वा ? अभिन्नो वा ? \*भिन्नश्चेत्\* कथं तस्य परिणामः ? न ह्यन्यस्मिन्परिणममानेऽन्यः परिणमते ; अतिप्रसङ्गात् ।

ऋजुप्रकाशिका

शब्दार्थः । विमतं मोक्षाख्यमशरीरत्वम्, नित्यम्, अनुष्ठेयफलविलक्षणत्वात् ; संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । अथवा विमतमशरीरत्वम्, नित्यम्, स्वाभाविकत्वात् । तत्र व्याप्तिप्रदर्शनपूर्वकमुदाहरणमाह—\*यत्किल स्वाभाविकं तन्नित्यम्, यथा चैतन्यमिति\* ॥ उपनयप्रदर्शनपूर्वकं निगमनमाह—\*स्वाभाविकं चेदमिति\* ॥ अर्थान्तरवारणं दर्शयति—\*तत्र नित्यमित्युक्ते मा भूदस्य परिणामिनित्यतेत्याहेत्यनेन\* ॥ \*ननु\*—परिणामिनित्यता किमर्थं व्यवच्छेद्या ? सैव नित्यताऽस्यास्त्वित्यत आह—\*परिणामिनित्यता हीति\* ॥ अशरीरस्य ब्रह्मणो निरवयवत्वाद् निर्विकारत्वाच्च न परिणामितेति, नास्य परिणामिनित्यता पारमार्थिकीत्यर्थः । भङ्ग्यन्तरेणाप्यपारमार्थिकत्वमुपपादयति—\*तथाहीति\* ॥ परमतेऽशरीरस्य ब्रह्मणः परिणामिनित्यतां वदता ब्रह्म प्रपञ्चरूपेण परिणमत इति वाक्यम् ; तत्र किं तद् ब्रह्म सर्वात्मना परिणमते ? एकदेशेन वा ? इति विकल्पयति—\*तत्सर्वात्मनेत्यादिना\* ॥ आद्ये दूषणमाह—\*सर्वात्मना परिणाम इति\* ॥ ब्रह्मस्वरूपत्वं तत्त्वशब्दार्थः । क्षीरस्य सर्वात्मना दध्याकारेण परिणामे क्षीरत्वव्याहतिवदित्यर्थः ; परिणामस्य पूर्वरूपरित्यागेन रूपान्तरावाप्तिरूपत्वादिति भावः । द्वितीयं दूषयति—\*एकदेशेति\* ॥ स इति\* ॥ परिणममान एकदेश इत्यर्थः । तत एकदेशान्तरायेत्यर्थः । \*तस्येति\* ॥ एकदेशान्तरस्येत्यर्थः । तदेव द्रढयति—\*नहीति\* ॥ नच—एकदेशान्तरे ब्रह्मणोऽपरिणाम एवास्त्विति—वाच्यम् ; त्वदुक्तपरिणामिनित्यताव्याहतिप्रसङ्गादिति भावः । अभेदपक्षं दूषयति—

वार्तिकम्

परिणामि नित्यं तद् भविष्यति । तथाच तत्परिणामस्य धर्मसाध्यत्वादुपपद्यते मोक्षस्य धर्मकार्यत्वम् । अत एव नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरित्याशङ्क्य, “अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद्वद ॥” “अज आत्मा महान् ध्रुवः ।” “एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य । न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्” इत्यादिश्रुतिशतेभ्यस्तस्य कूटस्थनित्यत्वसिद्धेर्नैवमित्याह—\*तत्र किञ्चित् परिणामिनित्यमित्यादिना\* । \*तत्र=नित्येषु मध्य इत्यर्थः । \*जगन्नित्यत्ववादिनाम्=मीमांसकानामिति यावत् । \*गुणाः\*=सत्त्वरजस्तमांसि साम्येन वैषम्येण च परिणममाना नित्या एवेति ।

भाष्यभावप्रकाशिका

फलितमाह—\*अत इति\* ॥ नित्यत्वेऽपि विक्रियावत्त्वाद् विधेयक्रियानुप्रवेश इत्याशङ्क्य परिणामिनित्यतां दर्शयितुमाह—\*तत्र किञ्चिदिति\* ॥

प्रदीपः

नित्यत्वस्याज्ञानात् कथं ब्रह्मणि न परिणामिनित्यत्वमिति ? अत आह—\*व्योमवत्सर्वव्यापीति\* ॥ आकाशवदिति वाक्ये



## भामती

\*अभेदे वा\* कथं न सर्वात्मना परिणामः ? \*भिन्नाभिन्नं तदिति\* चेत्, तथाहि—तदेव कारणात्मनाऽभिन्नम्, भिन्नं च कार्यात्मना ; कटकादय इवाभिन्ना हाटकात्मना, भिन्नाश्च कटकाद्यात्मना । नच—भेदाभेदयोर्विरोधान्नैकत्र समवाय इति—युक्तम् ; विरुद्धमिति नः क संप्रत्ययः ? यत्प्रमाणविपर्ययेण वर्तते । यत्तु यथा प्रमाणेनावगम्यते, तस्य तथाभाव एव । कुण्डलमिदं सुवर्णमिति सामानाधिकरण्यप्रत्यये व्यक्तं भेदाभेदौ चकास्तः । तत्र ह्यात्यन्तिकेऽभेदेऽन्यतरस्य द्विरवभासप्रसङ्गः । भेदे वाऽऽत्यन्तिके न सामानाधिकरण्यम् ; गवाश्ववत् । आधाराधेयभाव एकाश्रयत्वे वा न सामानाधिकरण्यम्, नहि भवति कुण्डं बदरमिति । नाप्येकासनस्थयोश्चैत्र-मैत्रयोश्चैत्रो मैत्र इति । सोऽयमबाधितोऽसंदिग्धः सर्वजनीनः सामानाधिकरण्यप्रत्यय एव कार्य-कारणयोर्भेदाभेदौ व्यवस्थापयति । तथाच कार्याणां कारणात्मत्वात्, कारणस्य च सद्रूपस्य सर्वत्रानुगमात्, सद्रूपेणाभेदः कार्यस्य जगतः, भेदः कार्यरूपेण गो-घटादिनेति । \*यथाहुः—“कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना । हेमात्मना

## ऋजुप्रकाशिका

\*अभेदे वेति\* ॥ एकदेशान्तरस्य परिणममानभिन्नत्वे तस्यापि परिणममानस्वरूपत्वात् कथं न सर्वात्मना परिणाम इत्यर्थः । तर्हि भिन्नाभिन्नमस्त्विति शङ्कते—\*भिन्नाभिन्नमिति\* ॥ प्रपञ्चरूपेण परिणममानभिन्नत्वात् परिणामिनित्यताभिन्नत्वाच्च न तत्त्वव्याहतिरिति शङ्काभिप्रायः । कार्यप्रपञ्चरूपेण परिणममानाभिन्नत्वं चेत्युक्त्वा कार्यप्रपञ्चात् परिणममानब्रह्मणो भिन्नत्वमभिन्नत्वं चोक्तप्रायम् । तदेव स्पष्टयितुं प्रतिपादयति—\*तथाहीत्यादिना—अतोच्यत इत्यन्तेन\* ॥ \*तदेव=प्रपञ्चात्मकं कार्यमेव, \*कारणात्मना=कारणीभूतब्रह्मात्मना, अभिन्नम् । कार्यगो-घटादिविविधप्रपञ्चात्मना तु भिन्नमित्याह—\*भिन्नं च कार्यात्मनेति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—\*कटकादय इवेत्यादिना—भिन्नाश्च कटकाद्यात्मनेत्यन्तेन\* ॥ परस्परविरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रावस्थानमयुक्तम्, इत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥ विरोध एवासिद्ध इति तन्निराकरणमाह—\*विरुद्धमिति\* ॥ \*नः क संप्रत्यय इति\* ॥ यदिति\* ॥ यद्विरोधाख्यं वस्तु प्रमाणविपर्ययेण वर्तते, अप्रामाणिकत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । तथाच भेदाभेदयोर्विरोधस्याप्रामाणिकत्वाद् न विरोधोऽस्तीति भावः । तयोर्विरोधो न प्रामाणिकः, प्रत्युत भेदाभेदयोरविरोध एव प्रामाणिक इत्याह—\*यत्त्विति\* ॥ यद्वस्तु त्वित्यर्थः । \*तस्य=तद्वस्तुनः । अस्त्वेवम्, भेदाभेदविरोधस्य प्रमाणसिद्धत्वे किमायातमिति ? अत आह—\*कुण्डलं सुवर्णमिति\* ॥ तदेवाह—\*तत्र हीति\* ॥ किं कुण्डल सुवर्णयोरात्यन्तिकभेदः ? आत्यन्तिकभेदो वा ? आद्य आह—\*आत्यन्तिकेऽभेद इति\* ॥ कुण्डल-सुवर्णयोरात्यन्ताभेदे कुण्डलं कुण्डलमिति सुवर्णं सुवर्णमिति च कुण्डलं सुवर्णमिति वत् सामानाधिकरण्यप्रत्ययस्य द्विरवभासत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तथाच तयोरात्यन्ताभेदे यथा कुण्डलं कुण्डलमिति सुवर्णं सुवर्णमिति च प्रत्ययो नास्ति, तथा कुण्डलं सुवर्णमिति सामानाधिकरण्यप्रत्ययः सकलजनसिद्धो न स्यादिति तात्पर्यार्थः । द्वितीयं दूषयति—भेदे वाऽऽत्यन्तिक इति\* ॥ अत्यन्तभेदे सामानाधिकरण्यप्रत्ययाभावे दृष्टान्तमाह—\*गवाश्ववदिति\* ॥ नहि गौरश्च इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययोऽस्तीति भावः । \*ननु\*—भेदपक्षे कुण्डल-सुवर्णयोराधाराधेयभावं वैकाधिकरणकत्वं वा पुरस्कृत्य सामानाधिकरण्यप्रत्ययोऽस्त्वित्यत आह—\*आधारेत्यादिना\* ॥ आधाराधेयभाव एकाधिकरणकत्वे वा सामानाधिकरण्यप्रत्ययाभावमेव दर्शयति—\*नहि भवतीत्यादिना—सोऽयमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥ तथाचात्यन्ताभेदेऽत्यन्तभेदे वा सामानाधिकरण्यप्रत्ययायोगाद् विद्यमानोऽसंदिग्धोऽबाधितः ‘कुण्डलं सुवर्णमिति’ सामानाधिकरण्यप्रत्ययः कुण्डल-सुवर्णयोर्भेदाभेदौ व्यवस्थापयतीत्याह—\*सोऽयमिति\* ॥ अस्त्वन्यत्र भेदाभेदौ, प्रपञ्च-ब्रह्मणोर्भेदाभेदप्रतिपादने किमायातमिति ? अत आह—\*तथाचेति\* ॥ सद्रूपस्येत्यनन्तरं ब्रह्मण इति शेषः । \*सर्वत्रानुगमादिति\* ॥ \*सद्रूपघटादि सामानाधिकरण्यप्रत्ययादिति भावः\* ॥ सद्रूपकारणरूपेणाभेदमभिधाय कार्यरूपेण



## भामती

यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥” इति । \*अत्रोच्यते\*—कः पुनरयं भेदो नाम ? यः सहा-  
भेदेनैकत्र भवेत् । परस्पराभाव इति चेत्, किमयं कार्य-कारणयोः कटक-हाटकयोरस्ति ? न वा ? न  
चेत्, एकत्वमेवास्ति, नच भेदः । अस्ति चेत्, भेद एव, नाभेदः । नच भावाभावयोरविरोधः ;  
सहासंभवात् । संभवे वा कटक-वर्धमानकयोरपि तत्त्वेनाभेदप्रसङ्गः ; भेदस्याभेदाविरोधात् ।  
\*अपिच कटकस्य हाटकादभेदे यथा हाटकात्मना कटक-मुकुट-कुण्डलादयो न भिद्यन्ते, एवं कटकात्म-  
नापि न भिद्येरन् ; कटकस्य हाटकादभेदात् । तथाच हाटकमेव वस्तुसन्न कटकादयः ; भेदस्याप्रति-  
भासनात् । अथ हाटकत्वेनैवाभेदो न कटकत्वेन, तेन तु भेद एव कुण्डलादेः । यदि हाटकादभिन्नः  
कटकः, कथमयं कुण्डलादिषु नानुवर्तते ? नानुवर्तते चेत् कथं हाटकादभिन्नः कटकः ? ये हि यस्मिन्न-  
नुवर्तमाने व्यावर्तन्ते, ते ततो भिन्ना एव ; यथा सूत्रात् कुसुमभेदाः । नानुवर्तन्ते चानुवर्तमानेऽपि

## ऋजुप्रकाशिका

भेदमाह—\*भेदः कार्यरूपेणेति\* ॥ अत्र संमतिमाह—\*यथाहुरिति\* ॥ \*कार्यरूपेण = गो-घटादिविविध-  
प्रपञ्चकार्यरूपेण । \*कारणात्मना = सद्रूपेण । तत्र दृष्टान्तमाह—\*हेमात्मना यथा भेद इत्यादिना\* ॥ सिद्धान्ती-  
परकीयं भेदाभेदपक्षं प्रतिपाद्य दूषयितुमुपक्रमते—\*अत्रोच्यते इति\* ॥ यद्यपि स्वपक्षेऽपि भेदाभेदौ स्त  
एव ; तथाऽपि स्वपक्षेऽभेदः पारमार्थिकः, भेदोऽपारमार्थिकः ; परपक्षे तु भेदाभेदावुभावपि पारमार्थिकौ,  
अतस्तन्निराकरणमुच्यते इत्यर्थः । भेदे शङ्कते—\*परस्परेति\* ॥ दूषयितुं विकल्पयति—\*किमयमिति\* ॥  
\*अयम्=परस्पराभावलक्षणो भेदः । द्वितीयमनूय दूषयति—\*नचेदित्यादिना—न भेद इत्यन्तेन\* ॥ तथाच  
कटक-हाटकयोर्भेदव्यवहारो लोकसिद्धो न स्यादिति भावः । आद्यमनूय दूषयति—\*अस्ति चेदित्यादिना  
—नाभेद इत्यन्तेन\* ॥ समानसत्ताकयोर्भेदाभेदयोरेकत्र विरोधादिति भावः । अभेदो भावः, भेदोऽ-  
भावः, तयोरविरोधमाशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति ॥ \*सहासंभवादिति\* ॥ समानसत्ताकयोर्भेदाभेदयो-  
रेकत्र विरोधादित्येतद् न विस्मर्तव्यमिति भावः । समानसत्ताकयोरपि भेदाभेदयोरेकत्राविरोधेन संभव-  
माशङ्क्याह—\*संभवे चेति\* ॥ कटक-वर्धमानकयोर्भेदाभेदसंभवे वेत्यर्थः । आभरणविशेषो वर्धमानक-  
शब्दार्थः । \*तत्त्वेन=कटक-वर्धमानकत्वेन ; कटकाभिन्नहाटकाभिन्नत्वाद् वर्धमानकस्येति भावः । अभेदप्रसङ्गे  
स्वयं हेतुमाह—\*भेदस्येति\* ॥ कटक-वर्धमानकयोर्भेदेऽप्यभेदस्य तदविरोधवादिना त्वया वक्तुं शक्यत्वा-  
दित्यर्थः । इतोऽपि कटक-हाटकयोर्न समानसत्ताकौ भेदाभेदावित्याह—\*अपिचेति\* ॥ न भिद्येरन्निति\* ॥  
हाटकाभिन्नमुकुट-कुण्डलादय इत्यर्थः । हेतुमाह—\*कटकस्येति\* ॥ फलितमाह—\*तथाचेति\* ॥ वस्तु-  
सदित्यनन्तरं स्यादिति शेषः । तत्र हेतुमाह—\*अभेदस्येति\* ॥ अभेदप्रतीतिमति विरोधेन भेदस्या-  
प्रतिभासनादित्यर्थः । अविरोधे कटकत्वेन मुकुट-कुण्डलादेरभेदप्रसङ्ग इत्युक्तदोष इति भावः । मुकुट-  
कुण्डलादेः कटकत्वेन भेदं शङ्कते—\*अथेति\* ॥ \*तेन तु=कटकत्वेन तु । उक्तशङ्कामपनयति—  
\*यदीति\* ॥ \*अयम्=कटकः । “नानुवर्तते”त्यतः प्राग् हाटकवदिति शेषः । कथं नानुवर्तते ?=अनुवर्ततेवेत्यर्थः ।  
यदि नानुवर्तते तदाह—\*नानुवर्तते चेदित्यादिना\* ॥ \*अभिन्न इति\* ॥ कटक इति शेषः । \*ये हीति\* ॥  
\*ये हि=कटकादयः, \*यस्मिन्=हाटके, कुण्डलादिष्वनुवर्तमाने सत्येव व्यावर्तन्ते ते=कटकादयः । ततः=हाटकात्,  
भिन्ना एवेत्यर्थः । अभेदे हाटकवत् कुण्डलादिषु तेषामनुवर्तमानता स्यात् । तथाच भिन्न एवेति भावः । दृष्टान्त-  
माह—\*यथेति\* ॥ सूत्रे कुसुमेष्वनुवर्तमानेऽपि कुसुमप्रभेदाः कुसुमेषु नानुवर्तन्ते, अतः सूत्राद् भिन्नाः  
कुसुमप्रभेदा यथा, तथेत्यर्थः । दृष्टान्तमभिधाय स्वयं दार्ष्टान्तिकमाह—\*नानुवर्तन्ते चानुवर्तमानेऽपि हाटके  
कुण्डलादिषु कटकादय इति\* ॥ यद्वा—योजयति दार्ष्टान्तिकं—\*ये हीत्यादिना\* ॥ पूर्वं सामान्यतो व्याप्ति-



## यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम्, यथाच साङ्ख्यानां गुणाः ।

भामती

हाटके कुण्डलादिषु कटकादयः । तस्मात्तेऽपि हाटकाद्विन्ना एवेति । सत्तानुवृत्त्या च सर्ववस्त्वनु-  
गमे, इदमिह नेदम्, इदमस्मान्नेदम्, इदमिदानीं नेदम्, इदमेवं नेदम्, इति विभागो न स्यात् ;  
कस्यचित् कचित् कदाचित् कथंचिद्विवेकहेतोरभावात् । \*अपिच\* दूरात्कनकमित्यवगते न तस्य  
कुण्डलादयो विशेषा जिज्ञास्येरन् ; कनकादभेदात्तेषाम्, तस्य च ज्ञातत्वात् ॥

\*अथ भेदोऽप्यस्ति कनकात् कुण्डलादीनामिति, कनकावगमेऽप्यज्ञातास्ते । \*ननु\* अभेदोऽप्य-  
स्तीति किं न ज्ञाताः ? प्रत्युत ज्ञानमेव तेषां युक्तम् ; कारणाभावे हि कार्याभाव औत्सर्गिकः, स  
च कारणसत्तयाऽपोद्यते । अस्ति चाभेदे कारणसत्ता, इति कनके ज्ञाते ज्ञाता एव कुण्डलादय इति  
तज्जिज्ञासाज्ञानानि चानर्थकानि स्युः । तेन यस्मिन् गृह्यमाणे यन्न गृह्यते, तत्ततो भिद्यते—यथा करभे  
गृह्यमाणेऽगृह्यमाणो रासभः करभात् ; गृह्यमाणे च दूरतो हेम्नि न गृह्यन्ते तस्य भेदाः कुण्डलादयः ।  
तस्मात्ते हेम्नो भिद्यन्ते । कथम् तर्हि हेम कुण्डलमिति सामानाधिकरण्यम् ? इति चेत्, नद्याधाराधेय-  
भावे समानाश्रयत्वे वा सामानाधिकरण्यमित्युक्तम् । अथानुवृत्ति-व्यावृत्तिव्यवस्थाः च, हेम्नि ज्ञाते  
कुण्डलादिजिज्ञासा च कथम् ? न खल्वभेद ऐकान्तिकेऽनैकान्तिके भेदे चैतदुभयमुपपद्यत इत्युक्तम् ।

ऋजुप्रकाशिका

पूर्वमभिहितमिदानीं विशेषतोऽभिधीयत इति न पौनरुक्त्यमिति द्रष्टव्यम् । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*तेऽपि\*  
कटकादयोऽपि, मुकुट-कुण्डलादिषु हाटकानुवृत्त्या सह भिन्नकटकानुगमेन तदभेदस्वीकारे तद्वदेव सर्वत्र  
सत्तानुगमात् सत्तावदयः कनका भिद्यन्ते ; अभेदे बाधकसद्भावात् । अभेदे बाधकमेवाह—\*अपिचेत्या-  
दिना\* ॥ तस्य कनकस्य विशेषाः कुण्डलादयो न जिज्ञास्येरन्, इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—\*कनकादिति\* ॥  
अभेदे किमिति ? अत आह—\*तेषामिति\* ॥ कनकाभेदे दूरात् कनके ज्ञाते \*तस्य=कनकस्य, \*तेषाम्\*  
तदभिन्नकुण्डलादीनां च ज्ञातत्वात्, ज्ञाते जिज्ञासाभावाद् इत्यर्थः । कुण्डलादीनां कनकाद् भेदस्यापि  
सत्त्वात् तमादायाज्ञातत्वं जिज्ञास्यत्वं चेति शङ्कते—\*अथेति\* ॥ तर्हि तत्पक्षे कुण्डलादीनां कनका-  
भेदस्यापि सत्त्वात्तमादाय ज्ञातत्वमजिज्ञास्यत्वं च स्यादिति समाधत्ते—\*नन्वभेदोऽपीति\* ॥ प्रत्युत  
कुण्डलादीनां कनकाभेदे तेषां ज्ञानमेव युक्तम्, नापोद्यमित्याह—\*प्रत्युतेति\* ॥ कथं युक्तमित्याशङ्क्य,  
कारणसद्भावादिति वक्तुं कारणाभावात् कार्याभावमाह—\*कारणाभाव इति\* ॥ \*औत्सर्गिक  
इति\* ॥ बाधकाभावसिद्ध इत्यर्थः । प्रकृते च कार्याभावः कारणसत्तया बाधकेनापोद्यत इत्याह—  
\*स चेति\* ॥ ज्ञानलक्षणकार्याभाव इत्यर्थः । कारणसत्तामेवाह—\*अस्तीति\* ॥ अभेदे कारणसत्तामु-  
पपाद्य ज्ञानलक्षणकार्यसत्तामाह—\*कनके ज्ञात इति\* । ततः किमिति ? अत आह—\*इति तज्जिज्ञासेति\* ॥  
यद् ज्ञानम्, न तज्जिज्ञास्यं न पुनर्ज्ञातव्यं च ; प्रयोजनाभावादित्यर्थः । तस्मात् कनके गृह्यमाणेऽपि कुण्डलादयो  
न गृह्यन्त इत्येव वक्तव्यमिति भावः । फलितमाह—\*तेन यस्मिन्निति\* ॥ करभादित्यनन्तरं भिद्यत  
इत्यनुषङ्गः । प्रकृतमाह—\*गृह्यमाणे चेति\* ॥ \*तस्य=हेम्नः । \*ननु\* कुण्डलादीनां हेम्नो भेदे पूर्वोक्तसामा-  
नाधिकरण्यप्रतीत्यनुपपत्तिः ; अत्यन्तभेदे सामानाधिकरण्यप्रतीत्ययोगादित्यभिप्रेत्य शङ्कते—\*कथं तर्हीति\* ॥  
आधाराधेयभावं वा समानाश्रयत्वं वाऽऽदाय तत्प्रतीत्युपपत्तिमाशङ्क्य पूर्वोक्तं तन्निराकरणं सारयति—  
\*नहीति\* ॥ तथाचात्यन्तभेदोऽनुपपन्न इति शङ्काभिप्रायः । कुण्डलादिषु हेम्नोऽनुवृत्तादपि कुण्डलादीनां  
व्यावृत्तेः कुण्डलादीनां हेम्नः सकाशाद् भेद एव, अभेदे हेम्नि ज्ञाते कुण्डलादीनामपि ज्ञातत्वात् कुण्डलादीनां  
तद्विशेषाणां जिज्ञासा न स्यादिति पूर्वोक्तं समाधानं सारयति—\*अथेत्यादिना—इत्युक्तम् इत्यन्तेन\* ॥



इदं तु पारमार्थिकम्, कूटस्थनित्यम्, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्,

भामती

तस्माद्भेदाभेदयोरन्यतरस्मिन्नभ्युपेयेऽभेदोपादानैव भेदकल्पना, न भेदोपादानाऽभेदकल्पनेति युक्तम् ; भिद्यमानतन्त्रत्वाद्भेदस्य, भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात्, एकात्वाभावे चानाश्रयस्य भेदस्यायोगात्, एकत्वस्य च भेदानधीनत्वात्, नायमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वात्, एकत्वग्रहस्य चान्यानपेक्षत्वात्, अभेदोपादानैवानिर्वचनीयभेदकल्पनेति सांप्रतम् । तथाच श्रुतिः—“मृत्तिकेत्येव सत्यम्” इति । तस्मात् कूटस्थनित्यतैव पारमार्थिकी, न परिणामिनित्यतेति सिद्धम् । \*व्योमवत्\* इति च दृष्टान्तः परसिद्धः ; अस्मन्मते तस्यापि कार्यत्वेनानित्यत्वात् । अतःच \*कूटस्थनित्यम्\* इति निर्वर्त्यकर्मतामपाकरोति । \*सर्वव्यापि\* इति प्राप्यकर्मताम् । \*सर्वविक्रियारहितम्\*

भृशुप्रकाशिका

\*कथमिति\* । अभेदपक्षे कथम् ? न कथंचिदित्यर्थः । \*‘‘कथं तर्ह्युपपत्तिरिति पूर्ववादिना पृष्ठे भेदाभेदयोः समानसत्ताकत्वे पूर्वोक्तविधया विरोधादभेदः पारमार्थिकः, भेदस्तु कल्पित इति स्वीकार्यमित्यभिप्रेत्य सिद्धान्त्युपसंहारव्याजेनाह—\*तस्मादिति\*॥ अन्यतरस्मिन् अभ्युपेय इति\*॥ उक्तविरोधपरिहारायान्यतरस्मिन् कल्पितत्वेनाभ्युपेये सतीत्यर्थः । अभेदोपादाना भेदकल्पनेत्यत्र हेतुमाह—\*भिद्यमानेति\* ॥ तावता कथमभेदोपादानत्वं भेदकल्पनाया इति ? अत आह—भिद्यमानानां चेति ॥ \*प्रत्येकमेकत्वादिति\* ॥ प्रत्येकमभेदत्वादित्यर्थः । न भिद्यत इत्यभेदः । अस्तु, एतावताऽपि कथं तदिति ? अत आह—\*एकात्वाभावे चेति\* ॥ \*ननु\*—एक्यं विना भेदासिद्धौ भेदं विनाऽपि नैकत्वसिद्धिः, इत्यन्योन्याश्रयमाशङ्कमानं भ्रान्तं प्रत्याह—\*एकत्वस्येति\* ॥ भेदग्रहस्यैकत्वप्रतियोगिग्रहाधीनत्वम्, एकत्वग्रहस्य च भेदग्रहाधीनत्वमित्यन्योन्याश्रयाभावायैवाह—\*नायमित्यादिना\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ एवंच भेदस्य भिद्यमानतन्त्रत्वात्, भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात्, प्रत्येकमेकत्वस्य च कल्पितत्वात्, एकत्वस्याभेदरूपत्वात्, केवलाभेदतन्त्रत्वं भेदस्यायातमित्यभिप्रेत्याभेदस्य पारमार्थिकत्वम्, भेदस्य च कल्पितत्वम् । नच भेदस्यापि सत्यत्वम् ; उभयोः सत्यत्वे समानसत्ताकयोस्तयोर्विरोधात् । अतो भेदस्यैव कल्पितत्वमित्यभिसन्धिः । भेदस्याभेदकारणतन्त्रत्वेनाभेदकारणस्यैव सत्यत्वमुक्तम्, तत्र कारणसत्यतायां श्रुतिमाह—\*तथाच श्रुतिरिति\* ॥ “यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वमिदं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” इति श्रुतिः कारणसत्यतामाहेत्यर्थः । परमप्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ननु\*—“कूटस्थनित्यमि”त्यत्र भाष्ये व्योमवदिति दृष्टान्त उक्तः, स चानुपपन्नः ; अस्मन्मते व्योमः कार्यत्वेनानित्यत्वादित्याशङ्क्य, इमामेवानुपपत्तिं स्फोरयन् पररीत्याऽयं दृष्टान्त इत्याह—\*व्योमवदितिचेत्यादिना-अनित्यत्वादित्यन्तेन\* ॥ भाष्ये—कूटस्थनित्यं सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावमिति विशेषणानि दत्तानि । तेषां विशेषणानां क्रमेण प्रयोजनमाह—\*अत्र च कूटस्थनित्यमित्यादिना\* तदेवमित्यतः प्राक्तनग्रन्थेन\*॥ “प्राप्यकर्मतामि”त्यनन्तरम्—“अपा-

भाष्यभावप्रकाशिका

परिस्पन्दक्रियाऽभावमाह—\*व्योमवदिति\* ॥ फलार्था विक्रिया न कल्प्या ; तृप्ति-

प्रदीपः

आकाशसाम्यं व्यापकत्वांशमादायैव, न तु नित्यत्वांशमादायेति नाकाशवत्परिणामिनित्यब्रह्मस्वरूपाभिन्नो मोक्ष इति भावः । तदेवोपपादयति—\*सर्वविक्रियारहितमिति\* ॥ कथं वा न ब्रह्म परिणमत इति ? अत आह—निरवयवमिति\* ॥ \*ननु\* यदि ब्रह्म न परिणामिकारणम्, तर्हि प्रपञ्चः कस्य परिणामः, कथं च तर्हि ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वोपपत्तिरिति ? अत आह—\*स्वयंज्योतिःस्वभावमिति\* ॥ अनेन च चैतन्यस्वरूपत्वबोधनेन—“आश्रयत्वविषयत्वभाषिणी निर्विभागचित्तिरेव केवला”



नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । “अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृता-  
कृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च” (क० २।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

### भामती

इति विकार्यकर्मताम् । \*निरवयवम्\* इति संस्कार्यकर्मताम् । त्रीहीणां खलु प्रोक्षणेन संस्का-  
राख्योऽशो यथा जन्यते, नैवं ब्रह्मणि कश्चिदंशः क्रियाधेयोऽस्ति ; अनवयवत्वात्, अनंशत्वादित्यर्थः ।  
पुरुषार्थतामाह—\*नित्यतृप्तमिति\* । तृप्त्या दुःखरहितं सुखमुपलक्षयति । क्षुद्रुःखनिवृत्तिसहितं  
हि सुखं तृप्तिः । सुखं चाप्रतीयमानं न पुरुषार्थ इत्यत आह—\*स्वयंज्योतिरिति\* ॥ तदेवं  
स्वमतेन मोक्षाख्यं फलं नित्यं श्रुत्यादिभिरुपपाद्य क्रियानिष्पाद्यस्य मोक्षस्यानित्यत्वं प्रसज्यति—

### ऋजुप्रकाशिका

करोतीत्यनुषङ्गः । ‘विकार्यकर्मतामि’त्यत्राप्यपाकरोतीत्यनुषङ्गः । एवं ‘संस्कार्यकर्मतामि’त्यत्राप्यनुषङ्गो द्रष्टव्यः ।  
संस्कार्यकर्मतापाकरणप्रकारमेवाह—\*त्रीहीणां खल्वित्यादिना\* ॥ क्रियाधेयो नास्तीत्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—  
\*अनवयवत्वादिति\* ॥ एतद् व्याचष्टे—\*अनंशत्वादित्यर्थे इति\* ॥ \*ननु\* नित्यतृप्तमित्युक्ते कथं पुरुषार्थोक्तिः ?  
दुःखरहितसुखस्यैव पुरुषार्थत्वादित्यत आह—\*नित्यतृप्तमिति\* ॥ दुःखरहिते सुखे लक्षणया तृप्तिपदप्रयोगे  
दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ भाष्ये—“अनित्य एव त्वन्मते विमोक्षः स्यादि”त्युक्तम्, तत् कथम् ? मोक्षस्य  
नित्यत्वप्रतिपादकागमविरोधादित्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचागमविरोध इति\* ॥ निराकरणमेवाह—  
\*आगमस्येति\* ॥ अक्रियानिष्पाद्यमोक्षाभिप्रायेणागमस्योपपत्तेरित्यर्थः । इतोऽपि न नैयोगिको मोक्ष इत्याह—

### वार्तिकम्

\*ननु\*—उदाहृतश्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽशरीरस्य धर्माद्यतीतत्वेन कूटस्थनित्यता प्रतिपाद्यते, न मोक्षाख्यस्या-

### भाष्यभावप्रकाशिका

फलस्य सदा भावादित्याह—\*नित्यतृप्तमिति\* ॥ परिणामायोग्यतामाह—\*निरवयवमिति\* ॥  
प्रकाशार्थाऽपि विक्रिया नास्तीत्याह—\*स्वयंज्योतिः\* ॥ अथवा \*कूटस्थनित्यमिति\* निर्वर्त्यकर्मता-  
मपाकरोति । \*सर्वव्यापीति\* प्राप्यकर्मताम् । \*सर्वविक्रियारहितमिति\* विकार्यताम् । \*न निरवय-  
वमिति\* संस्कार्यकर्मताम् । क्रियासाध्यः संस्कारो यत इति । नित्यतृप्तमिति दुःखरहितं सुखमुप-  
लक्षयति । पुरुषार्थत्वं दर्शयितुम् । दुःखनिवृत्तिसहिते सुखे तृप्तिशब्दप्रयोगात् । सुखं च प्रतीयमानं न  
पुरुषार्थ इत्यत आह—\*स्वयंज्योतिरिति\* ॥ धर्माधर्मयोः सकार्ययोः ब्रह्मधर्मतानिषेधादपि न धर्म-  
कार्यत्वं मुक्तेरित्याह—\*यत्रेति\* ॥

### प्रदीपः

इति सिद्धान्तोपक्षेपद्वारा चैतन्याश्रिताविद्यापरिणामत्वं प्रपञ्चस्य, ब्रह्मणश्च तादृशाविद्यावृत्तत्वाद्विवर्तोपादानत्वं तदध्यासाधिष्ठानत्वे-  
नेति सूच्यते । एतादृशे च मोक्षस्वरूपे न धर्माधर्मयोरवसरलेशोऽपीति श्रुतिरेवाहेत्याह—\*यत्र धर्माधर्मविति\* ॥ अन्यत्र  
धर्मादिति च\* । कृताकृतात्\* ॥ कृतं चाकृतं चानयोः समाहारः । कृताकृताच्च भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः । शशशृङ्गवैलक्षण्यं  
द्योतयितुमकृतभेदोऽपि दर्शितः । \*भूताच्चेति\* ॥ यद्यपि ब्रह्म भूतं सिद्धरूपमिति पूर्वमुक्तम् ? तथाऽपि व्यवहारदृष्ट्यैव  
भूतत्वव्यवहारोऽपीति भावः । अनेन च—“परिनिष्ठितस्वरूपत्वेऽपी”ति भाष्यं कृत्वाचिन्तयैव प्रवृत्तमिति द्योत्यते । अपि-  
शब्दोऽपि तत्रत्योऽत एव सम्यगुपपद्यते । वस्तुगत्या तु ब्रह्मणि सिद्धरूपत्वस्याप्यभावाद् न मानान्तरशङ्काया अवसरलेशोऽपीति



अतस्तद् ब्रह्म, यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता । तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात् । तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत । नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते । अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः ।

### भामती

\*तद्यदीति\* ॥ नचागमबाधः; आगमस्योक्तेन प्रकारेणोपपत्तेः । \*अपिच\* ज्ञानजन्यापूर्व-  
ऋजुप्रकाशिका

\*अपिचेति\* ॥ \*ननु\* तर्हि त्वन्मतेऽपि तत्त्वविद्यासाध्यत्वान्मोक्षस्यानित्यत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य, विद्याया दुःखात्माविद्याद्वयप्रतिबन्धमात्रनिरास एवोपयोगः, न स्वतो मोक्षसाधनत्वम्, नवाऽपूर्वोत्पादनद्वारा मोक्षसाधनत्वम्, पञ्चपादिका

गतानित्यत्वो मोक्षः प्रसज्येत । नच तथाभ्युपगमो मोक्षवादिनाम् । \*अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्त इत्युपसंहारः\* ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

विधीयमानोपासनासाध्यत्वात् सुख-दुःखस्येव शरीरेन्द्रियादिदृष्टसामग्रीसाध्यत्वं साधनक्षयात्क्षयिष्णुता च स्यादित्युपसंहरति—\*अतो न कर्तव्यशेषत्वेनेति\* ॥

### ऋजुविवरणम्

भवति—यद्यपि साक्षात्साधनपरिमाणं न श्रूयते, तथाऽपि ज्ञानावधित्वप्रतीतेर्न साधनोपचयापचयौ संभवत इति । यत्पुनः—“नच पुनरि”त्युक्तार्थानुवादः कृतः, स न युक्तः; आगमस्याप्यनित्यत्वसाधकस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्या-

### तत्त्वदीपनम्

क्षेति\* ॥ स्वमते मुक्तेरैकरूपत्वमुपपाद्य परमते तद् दुर्लभमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ इतिशब्दो विचारसमाप्त्यर्थः । तथाचोक्तं दूषणं तदवस्थमित्याह—\*विधीयमानेति\* ॥ मुक्तेरुपचितापचितत्वमभिधाय शरीरेन्द्रियादिभूतत्वं दर्शयति—\*छत्वेति\* ॥ लौकिकसुख-दुःखयोर्यथा शरीरादिसाध्यत्वं विनाशित्वं च, तथा मुक्तेरपि तादृशत्वं

### वार्तिकम्

शरीरत्वस्य । तथाच तस्य परिणामिनित्यत्वाद् धर्मसाध्यत्वे किं बाधकमिति ? नेत्याह—\*अतस्तद् ब्रह्मेति\* ॥ जिज्ञास्यब्रह्मण एवाशरीरत्वलक्षणमोक्षत्वात्, तस्य च कूटस्थनित्यत्वात्, मोक्षस्य तद्रूपत्व-

### भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\*—ब्रह्मणि क्रियानुप्रवेशाभावेऽपि जीवस्य विकारित्वात्तस्यानन्दाविर्भावलक्षणे मोक्षे क्रियानुप्रवेशः किं न स्यादिति ? अत आह—\*तद् ब्रह्मेति\* ॥ \*ननु\*—कर्मणां विविधसस्यादि-फलत्वदर्शनान्निःश्रेयसमपि कर्मफलं किं न स्यादिति ? अत आह—\*तद्यदीति\* ॥ भवत्वनित्यता, अनित्यस्यापि स्वर्गादेः पुरुषार्थत्वदर्शनादित्यत आह—\*तत्रेति\* ॥ भवत्वेवमपीति चेत् ; तत्राह—\*नित्य इति\* ॥ ब्रह्मविद्या-तत्फलयोः समकालीनत्वस्य श्रूयमाणत्वं नैयोगिकज्ञानापूर्वजन्यत्वे न

### प्रदीपः

“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति सुष्ठु सूचितमिति प्राप्तावसरः सूचयति—\*अतस्तद् ब्रह्मेति\* ॥ \*जिज्ञासा प्रस्तुतेति\* । वेदान्त-विचारं विना नोक्तरूपस्य ब्रह्मणो निर्णय इति भावः । सति चैव “अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति जिज्ञास्यत्वप्रतिशामाक्षेणापीदमेव



## पञ्चपादिका

यत्पुनः—“नच पुनरावर्तते” इति शास्त्रावगतं नित्यत्वं न तर्केणापनेतुं युक्तमिति, तदयुक्तम् ;

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* श्रुत्यनुमाने सामान्यावलम्बिनी—“तद्यथेह कर्मचितः” “यत् कृतकम्, तदनित्यमिति”, अपुनरावृत्तिश्रुतिस्तु मोक्षविषया बलीयसीत्युक्तार्थमनुवदति—\*यत्पुनर्न च पुनरावर्तत इति\* ॥ तत्र

## ऋजुविवरणम्

वतारयति—\*ननु श्रुत्यनुमान इति\* ॥ “तदयुक्तं वर्तमानापदेशत्वेन”त्यनेन वर्तमानापदेशत्वेन प्रमाणान्तरसापेक्षत्वमुक्तम्, अयुक्तं तत् ; तस्य मानान्तरापेक्षत्वे कारणत्वाभावात्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*तत्र तावद्विधिपरत्वं

## तत्त्वदीपनम्

दुर्वारमित्यर्थः । शास्त्रावगतं मुक्तिनित्यत्वं न तर्कनिरस्यमित्युक्तम्—“यत्पुनरि”त्यत्र, तदसंभवि ; तर्कनिग्राहस्यानित्यत्वसाधकस्य “तद्यथेह”त्यादेर्दर्शनादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु श्रुतीति\* ॥ श्रुत्यनुमाने एव दर्शयति—\*तद्यथेत्यादिना\* ॥ ‘सामान्य-विशेषविषयप्रमाणयोर्विशेषविषयस्य बलीयस्त्वम्, इतरस्य दौर्बल्यमिति’ न्यायमाश्रित्याह—\*अपुनरावृत्तीति\* ॥ “तदयुक्तम्” इत्यत्र ‘स न पुनरावर्तते’ इति शास्त्रस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वमुक्तम्, तत् कस्मात् ? नच वर्तमानापदेशत्वं सापेक्षत्वप्रयोजकम् ; “औदुम्बरो यूपो भवती”त्यादिषु तददर्शनादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तत्र तावदिति\* ॥

## वार्तिकम्

सिद्धेरित्यभिप्रायः । \*ननु\*—भवतु नाम मोक्षारूपमशरीरं कूटस्थनित्यम्, न कर्तव्यविध्यनुपवेशि ; धर्माद्यतीतत्वात् । जिज्ञास्यं ब्रह्म तु परिणामिनित्यत्वात् कर्तव्यविध्यनुपवेशि भविष्यतीति—नेत्याह—\*अतस्तद्ब्रह्मेत्यादि\* ॥ यत एवं धर्माद्यतीतत्वेन कूटस्थनित्यतया स्वयंज्योतिष्पादिरूपेण च मोक्षारूपमशरीरं सिद्धम्, अतस्तदेव प्रस्तुतं जिज्ञास्यं ब्रह्म भवितुमर्हति ; तादृशादन्यत्र ब्रह्मत्वासिद्धेरित्यर्थः । भवत्वेष्वम्, तावताऽपि परस्य किमनिष्टं स्यात् ? तत्राह—\*तद्यदीत्यादिना\* ॥ \*तत्—जिज्ञास्यत्वेन प्रस्तुतमुक्तलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । तथाचोदाहृतश्रुतिशतविरोध इति भावः । न केवलं श्रुतिविरोध एव, सर्वतन्त्रसिद्धान्तविरोधश्चेत्याह—\*नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरभ्युपगम्यत इति\* ॥

नच—पृथिव्यादिवत् परिणामिनित्यत्वं ब्रह्मणः, येन नित्यसुखाभिव्यक्तिलक्षणो मोक्षः क्रियातो भविष्यतीति—वाच्यम् ; दृष्टान्तासिद्धेः । नहि परिणामि, अथ च नित्यमिति सम्भवति ; विरोधात् । परिणामो हि वस्तुनस्तत्त्वतोऽन्यथाभावः । नच पूर्वरूपापरित्यागे वस्तुनस्तत्त्वतोऽन्यथाभावः सम्भवति । नहि दुग्धरूपमपरित्यजद् दुग्धं दधिभावमनुभवति ? बीजरूपमपरित्यजद्वा बीजं वृक्षभावम् ; प्रत्यक्षविरोधात्, दुग्धादिनित्यत्वापाताच्च । अपिच स्वरूपमनवहायापि चेद्वस्तुनोऽन्यथाभावोऽङ्गीक्रियते शुक्तेरिव रजतभावः, तर्हि विवर्तवादापत्तिः । \*ननु\* यद्धि वस्त्वन्यथाऽन्यथा परिणमते, अथ च तत्र तत्र स्वबुद्धिव्यपदेशौ न जहाति, तत् परिणामि नित्यमित्युच्यते ; पृथिव्यादिमहाभूतानि च तथा, यतो वृक्ष-घट-गवादिरूपेणान्यथा परिणममानान्यपि न पृथिवीत्यादिबुद्धिव्यपदेशौ जहाति । नचैवं दुग्धादि ; दधिबुद्धिव्यपदेशकाले तद्बुद्धिव्यपदेशाभावात् । अत एव न तन्नित्यत्वापत्तिः । नापि प्रत्यक्षविरोधः । न चैवं विवर्तवादापत्तिः ; बाधाभावाद् इति—चेत्, \*न\* ; एवमपि सुवर्णादेः परिणामिनित्यत्वप्रसङ्गात् । सुवर्ण-देहादीनां स्वस्तिकरुचक-बाल्य-कौमारादिभेदेन परिणममानानां तत्र तत्र स्वबुद्धिव्यपदेशापरित्यागात् । नच—एवमस्तु

## प्रदीपः

विशयते—यद् शेषमेव ब्रह्म, नीपास्यम्, इति नीपास्यसमर्पणार्थं वेदान्तशास्त्रं ब्रह्ममीमांसा वेति निष्कर्षः । \*ननु\* “अथातो



## पञ्चपादिकाविवरणम्

तावद्विधिपरत्वे वेदान्तानां फलश्रुतयोऽर्थवादाः ; पर्णमयीत्वादिवत्, नचार्थवादैरपुनरावृत्तिः प्रमातुं शक्यते ; द्रव्य-गुणसंस्कार-कर्मफलश्रुतिवत् । \*ननु\* नार्थवादत्वात्फलश्रुतयः प्रामाण्यं जहति, किंतु वर्तमानापदे-  
शित्वेन योग्यानुपलब्धिविरोधात्, \*इहापि\* तर्हि “नच पुनरावर्तते” इत्यप्राप्तप्रतिषेधान्नार्थवादानां

## ऋजुविवरणम्

इति\* ॥ \*ननु\* अर्थवादत्वेऽप्यपुनरावृत्तिप्रतिपादकत्वमित्याशङ्क्याह—\*नचार्थवादैरिति\* ॥ द्रव्ये फलश्रुतिः—  
“यस्य पर्णमयी”ति “वर्म वा एतद्यज्ञस्ये”ति क्रियायाम्,—\*“यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्ये”ति तु संस्कारे ॥

## तत्त्वदीपनम्

वेदान्तानां विधित्वे तत्र वेदान्तेषु याः फलश्रुतयः, ता अर्थवादा इति संबन्धः । अर्थवादत्वमस्मदनुकूलम्, न  
प्रतिकूलम् ; अर्थं वदन्तीत्यर्थसाधकत्वात्, इत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ अर्थबोधकत्वमात्रं नार्थवादशब्दार्थः, किंतु  
विध्यपेक्षितस्तुतिनिन्दार्थवादित्वम् । नच तादृशस्य प्रतीयमानेऽर्थे प्रामाण्यसंभव इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—  
\*द्रव्येति\* ॥ “यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती”त्याद्या द्रव्ये फलश्रुतिः, “यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते” इत्याद्या  
गुणेषु फलश्रुतिः, “वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते” इत्याद्या कर्मस्य, इति विभागः । दृष्टान्ते फलश्रुतीनामप्रामाण्येनार्थवादत्वं  
हेतुरिति शङ्कते—\*ननु नार्थेति\* ॥ अर्थवादादपि विग्रहवदेवतादिसिद्ध्युपगमादित्यर्थः । किं तर्ह्यप्रामाण्य-  
कारणमिति शङ्कते—\*कित्वेति\* ॥ प्रमाणान्तरविरोधित्वमित्याह—\*विवर्तमानेति\* ॥

प्रतिषेधस्य प्रसक्तिपुरःसरत्वं दृष्टम्, अत्र च प्रसक्त्यभावान्न प्रतिषेधश्रुतेः प्रामाण्यमित्याह—\*इहापीति\* ॥  
तर्हीहापि नार्थवादानां प्रामाण्यमिति संबन्धः । तत्र हेतुः—\*न च पुनरावर्तत इति\* ॥ संयोगस्य विप्रयोगावसान-

## वार्तिकम्

तन्नित्यत्वमिति—वाच्यम् ; भौतिकत्वविरोधात्, अपसिद्धान्ताच्च, देहात्मवादप्रसङ्गाच्च । देहस्य परिणामि-  
नित्यत्वाभ्युपगमे तेनैवात्मना स्वर्गाद्युपभोगोपपत्तौ तदतिरिक्तपरिणामिनित्यात्मकल्पने प्रमाणाभावात् ।  
‘अहं मनुष्यः’ इत्यादिप्रत्यक्षविरोधेन, “ब्राह्मणो यजेते”त्यादिशास्त्रविरोधेन च कल्पनाया अप्रसराच्च ।  
\*अथैवं मन्यसे\* औषधादिना सुवर्णे भस्मीकृते परिणते च देहे भस्मीभूते तद्बुद्धिव्यपदेशौ व्यभिचरतः,  
नैवं पृथिव्यादौ ; सर्वदा सर्वावस्थायां तयोः सत्वादिति—चेत्, \*न\* ; तददृष्टान्तेन महाभूतेष्वपि कदाचित्  
तयोरभावस्यानुमानात्, तेषु तद्व्यभिचाराभावासिद्धेः । तथाहि—पृथिव्यादिमहाभूतानि, कदाचित्  
स्वबुद्धिव्यपदेशानर्हाणि, भूतत्वात्, परिणामिद्रव्यत्वाद्वा ; देहादिवत् । नचैवं भौतिकत्वमुपाधिः ;  
लाघवाद् भूतत्वस्यैव प्रयोजकत्वेन साध्याव्यापनात्, मन्वार्थवाद-पुराणेतिहासाद्यनुग्रहाच्च । तेभ्यो हि—  
इदं जगदग्रे नामरूपरहितमव्याकृतमासीत्, पश्चान्नाम-रूपाभ्यां व्याक्रियतेति स्वर्गसतोऽवगम्यते । अतस्तै-  
रिदमनुमानमनुगृहीतं भवति ; अन्यथा तेषां बाधापत्तेः । अपिच भूत-भौतिकयोरभेदस्याप्यङ्गीकाराद्  
भौतिकनाशे भूतनाशोऽप्यावश्यक एव ; अन्यथा तयोरत्यन्तभेदाद् गवाश्ववत् कार्य-कारणभावानुपपत्तेः ।  
तस्मात् श्रुति-स्मृति-न्यायविरोधात् परिणामिनः पृथिव्यादेर्नित्यत्वं मनसाऽपि न चिन्तयितुं शक्यम्,  
दूरत एव प्रतिपादयितुमिति ॥

\*एतेन\*—सांख्यानां गुणनित्यत्वमपि—\*प्रत्यारूपातम्\* ॥ तस्मान्न पृथिव्यादिदृष्टान्तेन मोक्षस्य  
परिणामिनित्यत्वाभिधानं युक्तम् ? इति । अपिच का तावन्नित्यसुखाभिव्यक्तिरुच्यते, यस्याः  
परिणामिनित्यत्वमभ्युपगतं भवता । किं नित्यस्य सुखस्याभिव्यक्तिः ? किं वानित्या सुखस्या-  
भिव्यक्तिरिति ? अभिव्यक्तिरपि किमुत्पत्तिः ? क्षतिर्वा ? तत्र न तावद् नित्यस्य सुखस्याभि-  
व्यक्तिः ; अभिव्यक्तिश्चोत्पत्तिरिति ; नित्यस्योत्पत्तिविरोधात् । ध्वंसवदविरोध इति—चेत्,



## पञ्चपादिका

वर्तमानापदेशत्वेन तथाभावे प्रमाणापेक्षणात् । नच कार्यस्य नित्यत्वे प्रमाणमस्ति ; परमाणूनां पाकजो गुणो नित्यत्वे नोदाहरणम् ; प्रक्रियामात्रसिद्धत्वात् । किंच तेषामिह न पुनरावृत्तिः ;

## पञ्चपादिकाविवरणम्

नच प्रामाण्यम् । तथाहि—“ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते नच पुनरावर्तते” इत्यभिसंपत्तिसमये पुनरावृत्तिरप्राप्ता प्रतिषिध्यते । \*ननु\* पुनरावर्तिष्यत इति भाविनी पुनरावृत्तिः प्रतिषिध्यत इति वाक्यार्थः कल्प्यत इति चेत्, \*न\* ; श्रुतार्थपरित्यागेनाश्रुतार्थकल्पनायाम्—यत्कृतकम्, तदनित्यम्, “तद्यथेह कर्मचितः” इति श्रुत्यनुमान-विरोधात् । एवमपुनरावृत्तिवाक्यान्तरेषु योजयितव्यम् । तस्मादर्थवादमात्रमेतत् ॥

सामान्यश्रुत्यनुमानाभ्यां साध्यस्य मोक्षस्यानित्यता दर्शिता, इदानीमपुनरावृत्तिविशेषणसामर्थ्यादेवान्त-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* प्राप्तस्य पुनर्निषेधो दृष्टः, अतः कथमप्राप्तप्रतिषेधः ? इत्याशङ्क्य विवृणोति—\*तथाहि—ब्रह्मलोक-मिति\* ॥ प्रमाणान्तरविरोधपरिहारेणाश्रुतार्थकल्पना दृष्टाऽन्यत्र, नेह तथेत्यभिप्रायेण परिहरति—\*न श्रुतार्थपरित्यागे-नेति\* ॥ “किञ्च तेषामि”ति कस्मिन्नर्थे युक्त्यन्तरमुच्यते ? न तावत्पूर्वग्रन्थार्थः ; तत्रार्थवादत्वेन प्रामाण्यमेव नास्ती-त्युक्तम् । प्रमाणान्तराभावोऽप्युक्तः, नतु सावधिकवृत्तिप्रतिपादकत्वमुक्तम्, अतो भिन्नविषयत्वाच्च युक्त्यन्तरमित्या-शङ्क्यावतारयति—\*सामान्यश्रुत्यनुमानाभ्यामिति\* ॥ श्रुतिसामान्यादेकत्वादियमेव तत्राप्यनावृत्तिः प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥

## तत्त्वदीपनम्

त्वात् कथमावृत्तिप्रसक्तिः ? तत्राह—\*तथाहीति\* ॥ “न स पुनरावर्तते” इत्यस्य किं यथाश्रुतोऽर्थः ? उतान्यथा ? आद्यं दूषयति—\*ब्रह्मलोकमिति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*नच पुनरावर्तिष्यत इति\* ॥ अविरोधमपेक्ष्य कल्पना प्रसरति, अत्र च विरोधान्न कल्पनेत्याह—\*श्रुतार्थेति\* ॥ उक्तन्यायमन्यत्रातिदिशति—\*एवमिति\* ॥ “एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त नावर्तन्ते” इत्यादीनि वाक्यान्तरशब्देन सङ्गृह्यन्ते । अस्मिन् कल्प आवृत्त्य-भावस्य पुराऽनुक्तत्वात् “किंचेत्यु”क्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याह—\*सामान्येति\* ॥ \*विशेषणसामर्थ्यादिति\* ॥ इममिहेति विशेषणसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ विशेषणबलादस्मिन् कल्प आवृत्त्यभावप्रतिपत्तावपि कल्पान्तर आवर्तिष्यन्त इत्यत्र किं

## वार्तिकम्

न ; नित्यभावस्योत्पत्तिविरोधात्, ध्वंसस्याभावत्वाच्च । समाकारेण परिणाम एव नित्यसुखस्योत्-पत्तिरिति—चेत्, न ; नित्यस्य परिणामप्रतिषेधात्, संसारदशायामपि तत्परिणामप्रसङ्गाच्च । अविद्यादिप्रतिबन्धान्न तस्यां तत्परिणाम इति चेत्, माऽऽस्तां परिणामः, नित्यसुखं तु कूटस्थमुपलभ्येत । तदुपलम्भोऽप्यविद्यादिप्रतिबन्धाच्चेति चेत्, तर्हि मोक्षेऽपि तदुपलम्भकेन्द्रियादेरभावादेव तदनुपलम्भः स्यात् । तदनुपलम्भेऽपि तत्परिणाम उपलभ्यत एवेति—चेत्, न ; तुल्ययोगक्षेपत्वात् । करणाद्यभावे उपलम्भानुपपत्तिस्तुल्यो दोषः । परिणामानुपपत्तिश्चाधिकः । मोक्षकाले स्वप्रकाशं तत् सुखमिति चेत्, सत्यम् ; संसारदशायामपि तत्प्रसङ्गात् । नह्यग्निः कदाचिदुष्णस्वभावः कदाचिच्च शीतस्वभाव इति घटते ; स्वभावहानापत्तेः । संसारदशायां स्वप्रकाशमपि मेघावृतादित्यवदविद्यावृतत्वाच्च प्रकाशत इति चेत्, न ; तत्प्रतिबन्धकल्पने भवतां प्रमाणाभावात् । “न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्यष्माक-मन्तरं बभूवे”त्यादिश्रुतिरेव संसारदशायां स्वप्रकाशनित्यात्मस्वरूपसुखप्रतिबन्धे प्रमाणमिति चेत्, \*सत्यम्\* ; आगतं तर्हि भवता श्रौतमार्गे । एवंच सति ज्ञानेन प्रतिबन्धनिरासे स्वयंप्रभनित्यसुखानुभवे श्रौते सिद्धे इष्टासौ निष्प्रामाणिकी निर्युक्तिका वाऽश्रौती तत्परिणामकल्पना भवतः । \*एतेन\*—नित्या सुखस्य ज्ञप्तिः, नित्या वा सुखस्योत्पत्तिः, ज्ञप्तिर्वेति पक्षा अपि प्रत्याख्याता—\*वेदितव्याः\* ; तेष्वपि पक्षे-षक्तदोषानतिवृत्तेः । तथाहि—नित्यसुखस्य ज्ञप्तिर्यदि नित्या, तदा संसारदशायामपि तत्प्रसङ्गः । प्रति-



अपिच “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” ( मुण्ड० ३।१।९ ) “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

भामती

जनितो मोक्षो नैयोगिक इत्यस्यार्थस्य सन्ति भूयस्यः श्रुतयो निवारिका इत्याह—\*अपिच ब्रह्म वेदेति\* ॥ अविद्याद्वयप्रतिबन्धापनयमात्रेण च विद्याया मोक्षसाधनत्वम्, न स्वतोऽपूर्वोत्पादेन चेत्य-

मृजुप्रकाशिका

नचात्र प्रमाणाभावः; श्रुतीनामेवान्न प्रमाणत्वादित्यभिप्रेत्याह—\*अविद्याद्वयेत्यादिना\* ॥ \*मोक्षसाधनत्वम् = मोक्षसाधनत्वव्यपदेशः। विद्याया प्रतिबन्धनिरासे चापरिच्छिन्नानन्दस्वभावस्य ब्रह्मण आविर्भावाद् मोक्ष इति भावः।

पञ्चपादिका

“इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते” इति श्रुतिरिहेममिति विशेषणादस्मिन् कल्पेऽनावृत्तिं दर्शयति, नानवधिका-मनावृत्तिम् । \*अपिच\* अभ्युपेत्य ब्रह्मणः क्रियानुप्रवेशं मोक्षस्यानित्यत्वदोष उक्तः, नतु क्रियानु-प्रवेशं क्षमते वेदान्तवाक्यगतः पदसमन्वयः । तथाच “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्याद्याः श्रुतयो ब्रह्म-विद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति ; वेदन-ब्रह्मभवनयोरेककालत्वनिर्देशात् । अतो न विदितस्य क्रियायां विनियोगः ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

वत्तामाह—\*किंच तेषामिहेति\* ॥ “इममिहे”ति विशेषणं मानवान्तरे स्वतः प्राप्तामावृत्तिं दर्शयति । \*ननु\* अस्मिन् कल्पेऽनावृत्तिं प्रतिपादयतो वाक्यस्य कल्पान्तरे पुनरावृत्तिप्रतिपादने द्वैयर्थ्याद्वाक्यभेदः स्यादिति, \*अनभिज्ञोऽयं\* सर्वसङ्करवादी देवानां प्रियः, यतः सर्वेषां सविशेषणवाक्यानामिदं चोद्यमवतरति । \*अथ\* सविशेषणं वाक्यं विशिष्टमर्थं मुखतः प्रतिपादयति, अर्थान्तु विशेष्यान्तरव्यावृत्तिः प्रमीयत इति न वाक्यभेदः, \*तर्हि\* इहाप्येतत्कल्पविशेषिताऽनावृत्तिर्मुखतः प्रतिपाद्यते, अर्थोदपुनरावृत्तिरस्य कल्पान्तरे निवार्यते, इति न वाक्यभेदः । \*ननु\* कल्पान्तरेऽपि श्रुतिसामान्यादिह न पुनरावृत्तिरिति प्रतिषेधस्तुल्यः, \*सत्यम्\* अस्माकं तावदस्मिन् कल्पे प्रतिपन्नानां कल्पान्तरे पुनरावृत्तिर्विशेषणसामर्थ्यात्प्रमीयत इदानीम्, कल्पान्तरप्रतिपत्तृणामपि तस्मिन्ननावृत्तिप्रमितिश्चेत्, \*स्यात्\* इत्थं व्यवस्था कल्प्यते;—अस्मिन् कल्पे प्रतिपन्नानां कल्पान्तरे पुनरावृत्तिः, कल्पान्तरे प्रतिपन्नानां तत्रानावृत्तिरिति ; अन्यथा विशेषणवैकल्यादिति ॥

तत्त्वदीपनम्

मानम् ? इत्याशङ्क्याह—\*इममिहेति\* ॥ वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च कल्पान्तरावृत्तिसाधकत्वमिति शङ्कते—\*नन्वस्मिन् कल्पे इति\* ॥ \*सोपहासमुत्तरयति\*—\*अनभिज्ञ इति\* ॥ ‘नीलमुत्पलमि’त्यादिवाक्यान्नीलत्वविधावरुणत्वव्यावृत्तिसिद्धिरित्याह—\*यत इति\* ॥ उत्पलस्य नैल्यसंसर्गं बोधयद्वाक्यमर्थोदितरव्यावृत्तिः बोधयति, कुतो वाक्यभेदः ? इत्याह—\*अथेति\* ॥ तुल्यमन्नापीत्याह—\*तर्हीति\* ॥ अस्मिन्कल्पेऽनावृत्तिः, कल्पान्तरे त्वावृत्तिरित्यस्माद्वाक्यान्निश्चेतुमशक्यम्, तत्कल्पवर्ति-श्रुतिसामर्थ्यात्तत्राप्यनावृत्तिप्रतीतेरिति शङ्कते—\*मनु कल्पान्तर इति\* ॥ \*श्रुतिसामान्यादिति\* । इममित्यादिश्रुतेरु-भयत्रैकरूपत्वादित्यर्थः । श्रुत्येकत्वमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्ह्यावृत्त्यसिद्धिरिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—अस्मिन् कल्पे ये ब्रह्म प्राप्ताः, तेषां कल्पान्तरेऽनावृत्तिः ? उतान्येषाम् ? नाद्य इत्याह—\*अस्माकमिति\* ॥ \*प्रतिपन्नानामिति\* ॥ अत्र ब्रह्मेत्यस्यानुषङ्गः । द्वितीयं प्रत्याह—\*इदानीमिति\* ॥ \*कल्पान्तरप्रतिपत्तृणामिति\* ॥ कल्पान्तरे ब्रह्मप्रतिपत्तृणा-मित्यर्थः । इत्थंशब्दसूचितमर्थमाह—\*अस्मिन् कल्पे इति\* ॥ व्यवस्थायां हेतुमाह—\*अन्यथेति\* ॥

वार्तिकम्

बन्धकल्याणयां चास्मन्मतप्रवेशः । नित्या चेत्, मोक्षकरणाभावादसम्भवः । तथा यदि नित्योत्पत्तिः, व्याघातः, उत्पत्तिश्च नित्या चेति व्याहन्यते । सन्तानरूपेण व्याघात इति चेत्, न ; सन्तानस्यातिरिक्तस्य



तस्मिन् दृष्टे परावरे” (मुण्ड० २।२।८)। “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न विभेति कुतश्चन” (तेत्ति० २।९) “अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि” (बृह० ४।२।४)। “तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवन्” (वाजसनेयिब्राह्मणोप० १।४।१०) “तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । तथा “तद्वैतत्पश्यन् नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च” (बृह० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शन-सर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तर-

#### पञ्चपादिका

तथा “तद्वैतत्पश्यन् नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे” इति ब्रह्मदर्शन-सर्वात्मभावयोरेककालत्वनिर्देशाद् मध्ये क्रियान्तरं वारयति पश्यन्निति शत्रुप्रत्ययः ; “लक्षण-हेत्वोः क्रियायाः” इति क्रियाहेतुभूताद्धातोः शत्रुप्रत्ययस्मरणात्, क्रियायाश्चाव्यव्यवहिते हेतुमति हेतुत्वात् ।

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

अपिच “अभ्युपेत्ये”त्यारभ्य “तथा तद्वैतदि”त्यतः प्राक्तनग्रन्थस्यायमर्थः—शब्दादवगते ब्रह्मणि सुख-संवेदनत्वादभ्यासेनापरोक्षीकृते विधिमन्तरेण यत्साक्षात्कारणम्, तद् ब्रह्मवेदनमित्युच्यते । तस्मिन्नुत्पन्नेऽ-नन्तरमेवाविद्यादिदोषनिवृत्तेर्युक्तं ब्रह्मसंवेदेनैव समानकालत्वं फलस्य । यदा पुनरुपासनैवाध्यारोपितात्म-विषया विधीयमाना ब्रह्मसंवेदनमुच्यते, तदा नैयोगिकफलस्य कालान्तरभावित्वान्न युक्तः समानकालता-

#### ऋजुविवरणम्

“अपि चाभ्युपेत्ये”त्यनेनैतदुक्तम्—वेदान्तवाक्यान्त्येव क्रियानुप्रवेशं निराकुर्वन्तीति, तत्र ब्रह्मवेदनं विवक्षितं प्राथमिकम् ? अपरोक्षं वा ? न तावत्प्राथमिकज्ञान-ब्रह्मभवनयोर्मध्ये क्रियानुप्रवेशनिराकरणम् ; अभ्यासेन विनाऽऽ-परोक्ष्यानुपपत्तेः, तस्य च विधानसापेक्षत्वात् । नापि द्वितीयः ; विहिताभ्यासजन्यापरोक्षज्ञान-ब्रह्मभवनयोर्मध्ये क्रियानु-प्रवेशनिराकरणे न किञ्चित्प्रयोजनम् ; ब्रह्मणः क्रियानुप्रवेशस्य सिद्धत्वात् । नहि क्रियानुप्रवेशवादिनापि सर्वदा क्रियानु-प्रवेशोऽङ्गीकृतः, तेन हेयो ग्रन्थ इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अपि चाभ्युपेत्येत्यारभ्येति\* ॥

#### तत्त्वदीपनम्

“अपिचे”त्यत्र विद्यानन्तरं मोक्ष इत्युक्तम्, तत्र वक्तव्यम्—किं शब्दज्ञानं विद्या ? उतापरोक्षम् ? अथवोपासनम् ? नाद्यः ; अनिष्टेः, अनुपलब्धेश्च । नापि द्वितीयः ; साक्षात्कारहेतुत्वेनाभ्यासे विधेराश्रयणीयत्वात्, नापि तृतीयः ; तस्या अप्रमाणत्वादित्याशङ्क्याह—\*अपि चाभ्युपेत्येति\* ॥ अन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वान्नाभ्यासे विधिरित्याह—\*सुखसंवेद-नत्वादिति\* ॥ उपासनैव वेदनं किं न स्यादित्यत्राह—\*यदा पुनरिति\* ॥ स्वमतं निगमयति—\*अत इति\* ॥ \*लक्षणहेत्वोरित्यादेरयमर्थः\*—क्रियायाः क्रियान्तरं प्रति लक्षणत्वे हेतुत्वे च गम्यमाने लक्षणहेतुभूतक्रियावाचकाद्धातो-रु-परि शत्रुप्रत्ययः स्मर्यत इत्यर्थः । \*क्रियाहेतुभूतादिति\* ॥ क्रियाहेतुभूतवाचकाद्धेतोरित्यर्थः । “तिष्ठन् गायती”त्यत्र

#### भाष्यभावप्रकाशिका

संभवति ; नैयोगिकफलस्य समकालीनताऽसंभवात् । अतो ब्रह्मज्ञानमविधेयम्, तत्फलं च दृष्टमेव मोक्षाख्य-मशरीरत्वम् ; \*ब्रह्मदर्शन-सर्वात्मभावयोर्मध्य इति\* ॥ क्रियाहेतुभूतार्थाद्धातोः शत्रुप्रत्ययस्य स्मरणाद-व्यवहिते च हेतुमति क्रियाहेतुत्वात् पश्यन्निति शत्रुप्रत्ययः कालान्तरभावित्वं सर्वात्मभावस्य वारयती-त्यर्थः । यद्यपि न स्थितिक्रियासामर्थ्याद् गीतिक्रिया, किन्तु प्रयत्नान्तरात् मध्ये शब्दतः क्रियान्तरं न प्रतीयत इत्याह—\*तिष्ठन् गायतीति\* ॥ किंच ब्रह्मविद्यायामविद्यानिवृत्तिफलत्वश्रवणादुपा-

#### वार्तिकम्

सन्तानिभ्योऽसत्त्वात्, सत्त्वे वा तस्यैव वक्तव्यत्वात्, मोक्षदशायां करणाद्यभावेन सुखोत्पत्तिसन्तानस्या-



वारणायोदाहार्यम् । यथा “तिष्ठन् गायती”ति तिष्ठति-गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं

भामती

त्रापि श्रुतीरुदाहरति—\*त्वं हि नः पितेति\* ॥ न केवलमस्मिन्नर्थे श्रुत्यादयः, अपित्वक्षपादाचार्य-

पञ्चपादिका

यथा “तिष्ठन् गायती”ति तिष्ठति-गायत्योर्मध्ये क्रियान्तराभावः प्रतीयते, तद्वत् । अत्र न स्थितिक्रियासामर्थ्यादेव गीतिक्रियानिर्वृत्तिः, अपि तु प्रयत्नान्तरात् । शब्दतो न तयोर्मध्ये क्रियान्तर-प्रतीतिरित्येतावतोदाहरणम् । इह पुनर्न सर्वात्मभावस्य ब्रह्मदर्शनातिरेकेण प्रयत्नान्तरापेक्षा विद्यते ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

निर्देशः । अतः शब्दादपि विदितस्य ब्रह्मणः स्वयमेवापरोक्षज्ञानाय प्रवृत्तेः फलजननात्प्राङ् न कार्यानुप्रवेश इति । “तथा तद्वैतत्पश्यन् षिर्वामदेवः” इत्यादिः “किञ्चे”त्यतः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः ॥

अपि च ब्रह्मविद्याफलमविद्यानिवृत्तिं दर्शयन्ति । स चापरोक्षाध्यासलक्षणतत्त्वापरोक्षज्ञानमन्तरेण न निवर्तते । यदा पुनरुपासनैवारोपितरूपा तत्त्वज्ञानं स्यात्, न तेनाविद्या निवर्तते । अतस्तत्त्वज्ञानमेव प्रमाण-

ऋजुविवरणम्

\*ननु\* टीकाकारेण “तिष्ठन् गायती”ति कथमुदाहृतम्? विषमत्वात्, नहि स्थितिक्रिया गानहेतुः, अव्यवहितश्च हेतुरत्र निदर्शनीयः ; अतः स्थितेर्गानहेतुत्वम्? ब्रह्मदर्शनस्य वा सार्वार्थ्यहेतुत्वाभावः? इत्याशङ्क्य स्वयमेव परिहरति—\*अत्र न स्थितिक्रियेति\* ॥ किञ्च “तस्मै मृदितकषायाये”त्यनेन तमोनिवृत्तिरूपं मोक्षं दर्शयति । न क्रियासाध्यमित्युक्तम्, तत्र ज्ञानातिरिक्तक्रिया निषिध्यते? तदूपा वा? नाद्यः ; पूर्ववादिनाप्यङ्गीकृतत्वात्, न द्वितीयः ; शास्त्रत एव प्रतीतेः, नहि विधेयोपासनातिरिक्तज्ञानप्रतीतिः शास्त्रे ; तरति शोकमात्मविदिति ज्ञानमात्र-प्रतीतेः । अतोऽविद्यानिवृत्तिफले न क्रियासाध्यत्वाभावनश्च इत्याशङ्क्यावतारयति—\*अपि च ब्रह्मविद्येति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

स्थितिक्रियाया गीतिक्रियाहेतुत्वाभावादुद्घाततो विषम इत्याशङ्क्याह—\*न स्थितिक्रियेति\* ॥ “न क्रियासाध्यमि”त्यत्र किं ज्ञानक्रियासाध्यत्वम्? उत तदतिरिक्तक्रियासाध्यत्वम्? नाद्यः ; “तरति शोकमात्मवित्” “ब्रह्म वेदे”त्यादौ ज्ञानक्रियासाध्यत्वप्रतीतेः । न द्वितीयः ; तदनङ्गीकृतेरित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अपि च ब्रह्मविद्येति\* ॥ अथवा—“तरति शोकमात्मविदि”त्युपक्रम्य “तमसः पारं दर्शयती”त्यभिधानादात्मज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वमुप-लभ्यते, नच तदुपपद्यते ; अनुपलब्धेः । तथाच ब्रह्मज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वश्रुतिविरोधश्च । न चात्मविद्या ब्रह्मविद्येत्यपि शङ्क्यम् ; ब्रह्मविद्यायां सत्यामप्यविद्यानिवृत्त्यनुपलम्भादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अपिचेति\* ॥ ब्रह्मविद्यायां सत्यामप्यात्मन्यविद्या न निवर्तत इत्युक्तं चोद्यं निरस्यति—\*स चेति\* ॥ विधीयमानोपास-नाया एवाविद्यानिवर्तकत्वं किं न स्यादिति? तत्राह—\*यदा पुनरिति\* ॥ \*तत्त्वज्ञानमिति\* ॥ आत्मज्ञानमित्यर्थः । अतत्त्वज्ञानमिति वा छेदः । “तमसः पारं दर्शयती”त्यत्र तमसः पारदर्शनमात्रं लक्ष्यते, यथा देवनद्याः पारं दर्शयती-

वार्तिकम्

सम्भवाच्च । नित्या ज्ञप्तिरिति पक्षस्तु प्रत्याख्यात एवेत्यास्ताम् । सर्वथाऽपि मोक्षो न ज्ञानातिरिक्तं साधनान्तरमपेक्षते ; ज्ञान-तत्फलमोक्षयोरव्यवहितानन्तर्यश्रवणादित्याह—\*अपि च ब्रह्म वेदेत्यादिना\* ॥

व्यापारवद्दीपतमोनिवृत्तिवत्तत्समकालत्वश्रवणादपि न मध्ये व्यापारान्तरकल्पनमित्याह—\*तथा “तद्वैतत् पश्यन् षिर्वामदेवः प्रतिपेदे”इत्यादि\* ॥ \*ननु\*—मोक्षस्य साध्यत्वोक्तेर्न ज्ञानमात्रात्तत्सिद्धिः ;

प्रदीपः

धर्मेजिज्ञासे”ति जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञातोऽपि धर्मो यथा कर्तव्यशेष एव, एवं ब्रह्मापि कर्तव्यशेष एव भवितुमर्हति, जिज्ञासाशब्द-पूर्वकमेव स्वविचारस्य प्रतिज्ञायमानत्वादित्याशङ्क्य, अनुष्ठानापेक्षफलकत्व-तदनपेक्षफलकत्वाभ्यां धर्म-ब्रह्मजिज्ञासयोर्वैलक्षण्य-



कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते । “त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि” (प्र० ६।८) “श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु” (छान्दो० ७।१।३) “तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः” (छान्दो० ७।२६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति ।

#### पञ्चपादिका

\*किंच\*—“तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयती”त्याद्याः श्रुतयस्तमसो मिथ्याज्ञानस्य मोक्षव्यवधायिनोऽपनयनमात्रं दर्शयन्ति, न मोक्षं क्रियासाध्यम् ।

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

जनितमविद्यानिवर्तकम्, इत्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणाद् ब्रह्मात्मनि वेदान्ताः प्रमाणमित्याह—\*किंच तस्मै मृदित-  
\*कषायायेत्यादि\* ॥ \*ननु\* अविद्यानिवृत्तिरिह न श्रूयते, \*नैष दोषः\* ; “तरति शोकमात्मविदि”ति शोक-  
तरणनिमित्तमात्मज्ञानं प्रक्रम्य “तमसः पारं दर्शयती”त्युपसंहरन् यदि तमोनिवृत्तिमेव न ब्रवीति, तदा शोकाद्य-  
ध्यासनिवृत्त्युपक्रमो न स्यात् । अतः शोकाद्युपादानानाद्यविद्यानिवृत्तिरेव “तमसः पारं दर्शयती”त्युक्तेति गम्यते ।  
तथा “अविद्यायाः परं पारं तारयसी”त्यविद्यातिक्रमेण ब्रह्मप्राप्तिं ब्रुवन्नतिक्रमानुपपत्तेर्निवृत्तिमेव दर्शयतीति श्रुत्यनु-  
सारेणाविद्यानिवृत्तिफलसिद्धये तत्त्वज्ञाननिष्ठं वेदान्तप्रमाणमित्युक्तम् ॥

#### ऋजुविवरणम्

\*अविद्यानिवृत्तिरिति\* ॥ तमसः पारदर्शनमात्रश्रवणात् । नचोपक्रमसामर्थ्यादपि तत्प्रतीतिः ; शोकतरण-  
मात्रप्रतीतेरिति भावः । \*नैष दोष इत्यादेरयमर्थः—शोकतरणमात्रं ज्ञानेन भवतीति श्रूयते । नच ज्ञानस्य  
साक्षात्तन्निवर्तकत्वं संभवति ; विरोधाभावात्, अतोऽज्ञानद्वारेण तन्निवर्तकत्वं प्रक्रान्तम्, उपसंहारेऽपि तदेव  
प्रतीयत एकरूपत्वायेति । अविवेकनिमित्तो विभ्रमोऽविद्या । तयाऽहमस्मीति बुद्धिरित्यनुसन्धीयते, इत्यनुसन्धान-

#### तत्त्वदीपनम्

त्युक्ते परकल्पप्रदर्शनमात्रं लक्ष्यते, तद्वत् । नच—“तरति शोकमात्मविदि”त्युपक्रमसामर्थ्यान्निवृत्तिरेवोच्यत इत्यपि—  
शङ्कनीयम् ; अत्रापि दुःखतरणमात्रोपलम्भादित्याशयेन शङ्कते—\*नन्वविद्येति\* ॥ उपक्रमे निवृत्तेः श्रुतत्वादुपसंहारोऽपि  
तद्विषय इत्याह—\*नैष इति\* ॥ ततः किमिति ? अत आह—\*यदीति\* ॥ शोक-तमसोर्भिन्नत्वाच्छोकनिवृत्त्युप-  
क्रममात्रेण कथं तमोनिवृत्तेर्निश्चयः ? इत्युक्तं दूषयति—\*अत इति\* ॥ ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधप्रसिद्धेः शोकस्य चाज्ञाना-  
त्मकत्वात्तन्निवृत्तिमन्तरेण निवृत्त्यनुपपत्तेः शोकतरणेऽज्ञाननिवृत्तेरेवोपक्रम इति निश्चीयते, ततस्तदनुरोधेनोपसंहारेऽ-  
प्यविद्यानिवृत्तिरुक्तेति निश्चिनुम इत्यर्थः । “अविद्यायाः पारं तारयसी”त्यत्राविद्यानिवृत्तिः पारतरणत्वेनोक्ता, तथाच  
“तमसः पारं दर्शयती”त्यत्राप्यविद्यानिवृत्तिर्निर्दिष्टेत्याह—\*तथेति\* ॥ इतश्च “एतदेवमि”त्यत्र मिथ्याज्ञाननिवृत्त्या  
दुःखनिवृत्तिरिति प्रतिज्ञामात्रमुपन्यस्तमित्याशङ्क्याह—\*श्रुत्यनुसारेणेति\* ॥ मिथ्याज्ञाननिवृत्त्या दुःखनिवृत्ति-

#### वार्तिकम्

तस्याभिव्यञ्जकत्वेन कारकत्वानुपपत्तेरित्यत आह—\*“त्वं हि नः पिता”त्यादि\* ॥ तथाच ज्ञानादविद्याप्रति-  
बन्धनिवृत्तिमात्रेण मोक्षस्य साध्यत्वोपचारः, न परमार्थतस्तस्य साध्यत्वमस्ति ; अनाद्यन्तत्वादिति भावः ।  
तत्त्वज्ञानादपि केवलाद् मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रेणैव मोक्षः, न ततो व्यापारान्तरमपेक्षते, इत्येतावत्यर्थं गौत-

#### भाष्यभावप्रकाशिका

सनात्मकत्वे चाप्रमाणतया तदयोगात् प्रमाणज्ञानमेव ब्रह्मविद्या वेदान्तवाक्येभ्यो जायत इत्याह—\*त्वं  
हीत्यादिना\* ॥



तथाचाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—“दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्या-ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः” (न्यायसू० १।१।१) इति ।

भामती

सूत्रमपि न्यायमूलमस्तीत्याह—\*तथाचाचार्यप्रणीतमिति\* ॥ आचार्यश्चोक्तलक्षणः पुराणे\*—“आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥” इति । \*तेन हि प्रणीतं सूत्रम्—“दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः” इति । पाठापेक्षया कारणमुत्तरम्, कार्यं च पूर्वम्, कारणापाये कार्यापायः; कफापाय इव कफोद्धवस्य ज्वरस्या-

ऋजुप्रकाशिका

\*अस्मिन्नर्थे = प्रतिबन्धदुःखनिरासे विद्याया उपयोग इत्यर्थे । आचार्यस्वरूपमेवाह—\*आचार्यस्तूक्तलक्षणः पुराण इत्यादिना\* । \*तेन हीति\* ॥ उक्ताचार्यलक्षणलक्षितेनाक्षपादेन हीत्यर्थः । तथाच तद्वचनं प्रमाणमिति हृदयम् । तेन प्रणीतं सूत्रमेव पठति—\*दुःखेति\* ॥ \*पाठापेक्षया कारणमुत्तरमिति\* ॥ पाठापेक्षयोत्तरोत्तरं कारणं पूर्वपूर्वं कार्यमित्यर्थः । न्यायसूत्रे दोषः = रागादिः, प्रवृत्तिः = कर्म । दार्ष्टान्तिकं वक्तुं दृष्टान्तमाह—\*कफापाय

पञ्चपादिका

इतश्चैतदेवम्, अन्येऽपि न्यायविदो मिथ्याज्ञानापाये तदनन्तरं दुःखाभावं निर्वाणं दर्शयन्ति ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

इदानीं तर्कशास्त्रानुसारेणापि मिथ्याज्ञाननिवृत्तिफलं तत्त्वज्ञानमिति दर्शयति—\*इतश्चैतदेवमिति\* ॥ अयमर्थः

वार्तिकम्

मप्रणीतं सूत्रं प्रमाणयति—\*तथाचाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रमिति\* ॥ इदं हि न्यायशास्त्रस्य प्रयोजन-परीक्षापरं द्वितीयं सूत्रम् । प्रथमसूत्रेण हि प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-कल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाभिः श्रेयसाधिगमः” इत्यनेनात्मतत्त्व-साक्षात्काराद् मोक्षप्राप्तिर्भवतीति प्रयोजने सूचिते, मेवम् ; कृतात्मसाक्षात्कारस्यापि व्यासादेः पूर्ववत्सं-

भाष्यभावप्रकाशिका

एतावता श्रुत्यनुसारेणाविद्यानिवृत्तिफलत्वात् तत्त्वज्ञानं ब्रह्मविद्येत्युक्तम्, इदानीं तर्क-शास्त्रानुसारेणापि तथैवाभ्युपेयमित्याह—\*तथाचेति\* ॥ \*ननु\*—तर्कशास्त्रानुसारेण भेददर्शन-

प्रदीपः

मनुष्यं विवेचयिष्यन् उपासनासाध्यत्वपक्षे प्रथमं दूषणमाह—\*तद्यदीति\* ॥ \*कश्चिदतिशय इति\* । मोक्षनित्यत्वश्रुतिः “अक्षयं ह वै” इत्यादि श्रुतिरिव बहुकालावस्थायित्वपरतयैव नेया स्यादिति भावः । एतावतोपपत्तितः कर्तव्यविध्यननुपवेशं मोक्षे निरूप्य, श्रुतिरपि स्पष्टं कर्तव्यविधिसम्बन्धं मोक्षस्य प्रतिपादयतीत्याह—\*अपिचेति\* ॥ कथं वोक्तश्रुतयः कर्तव्यविधिसम्बन्धं मोक्षस्य वारयन्तीति ? अत आह—\*ब्रह्मविद्याऽनन्तरमिति\* ॥ \*ननु\* उक्तश्रुतिषु कथं वा कर्तव्यव्यापारान्तरस्य वारणं क्रियत इति ? अत आह—\*यथा तिष्ठन्निति\* ॥ मोक्षप्राप्तिरज्ञाननिवृत्तिमात्रापीनेत्यत्र न केवलं श्रुतयः, किन्तु गौतमसूत्रमपि प्रमाण-मित्याह—\*तथाचेत्यादिना—अपवर्ग इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण\* ॥ अत्र प्रकरण उदाहृताः श्रुतयो न्यायनिर्णये विशदं व्याख्याता इति तदीयमेव विवरणमत्र संगृहीतम्—

भरद्वाजादयः षड् ऋषयः परविद्याप्रदं पिप्पलादं गुरुं विद्यानिष्कर्षार्थमन्यमनुरूपमपश्यन्तः पादयोः प्रणम्योच्चिरे—त्वं खल्वस्माकं पिता; ब्रह्मदेहस्याजरामरस्य विद्याया जनयितृत्वात्, इतरौ पितरौ देहमेव जनयतः । जनयितृत्वमपि सिद्धस्यैवाविद्या-निरासादित्याह—यस्त्वमस्मानविद्यामहोदधेः परम्, अपुनरावृत्तिरूपं पारं तारयसि प्रापयसि विद्याप्लवेनेति । प्रश्नोपनिषद-मुक्त्वा सनत्कुमारनारदसंवादात्मिकां छान्दोग्योपनिषदं पठति—\*श्रुतं हीति\* ॥ तत्र ‘तारयतु’ इत्यन्तमुपक्रमस्थम्, शेषमुप-



## पञ्चादिकाविवरणम्

—दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति । आत्म-शरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखापवर्गेषु द्वादशसु पदार्थेषु यदिदमनादिप्रवृत्तं मिथ्याज्ञानम्, तस्यात्मपरमात्म-शरीरेन्द्रियादिद्वादशपदार्थतत्त्वदर्शनवैमल्यादपाये तेषु राग-द्वेष-मोहा नोत्पद्यन्ते । ततः प्रवर्तकाभावात्सुख-दुःख-फले प्रवृत्ति-निवृत्ति नोपजायेते । ततः प्रवृत्ति निवृत्तिद्वारोपचितशुभाशुभव्यामिश्रकर्मशून्यतया ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु योनिभेदेषु न जायते ; शरीरसम्बन्धं न प्रतिपद्यत इत्यर्थः । ततः शरीराभावे सुख-दुःखे नोत्पद्येते, इति मिथ्याज्ञानापायमेव मोक्षं दर्शयति । तथा वैशेषिकैरपि द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायेषु सालक्षण्य-वैलक्षण्याभ्यां तत्त्वापरिज्ञानादनादिप्रवृत्तं मिथ्याज्ञानं तत्त्वपरिभावनया निवर्त्यते ; ततश्चोत्तराभावादपवर्ग इत्युक्तम् । तथा सांख्ययोगैरपि दर्शितम्—द्रष्टृ-दृश्याविवेकलक्षणाऽविद्याऽनादिप्रवृत्ता तत्त्वज्ञानेन निवर्त्यते । ततश्चाविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः प्रहीयन्ते । ततः प्रक्षीणक्लेशस्य प्रवृत्त्यनुदया-दपवर्ग इति । सुगतैरप्युक्तम्—अनुसन्धानकल्पनया राग-द्वेषादिदोषैः प्रवृत्ति-तत्फलोदयपर्यन्तैर्विषयविभ्रमैश्च दूषितानि विज्ञानानि । तेषु च तत्त्वपरिभावनया निवृत्तेषु विभ्रमेषु, विशुद्धविज्ञानचरमक्षणोदयो मोक्ष इति । तदेवमविद्यानिवृत्तौ मोक्षे प्रमाणजनितं तत्त्वज्ञानं विहाय कथमुपास्तिक्रिया मोक्षसाधनं कल्प्यत इति ?

## ऋजुविवरणम्

स्थायित्वम्, तेन कल्प्यन्त इति कल्पना द्रव्यत्वादयः । अथवा अनुसन्धानं कल्पना चेत्यनुसन्धानकल्पना । यद्वा—अनुसन्धानेन कल्पनेति । एतत्सर्वं क्षणभङ्गे व्यक्तमिति नेह प्रतन्यते । \*असंप्रज्ञातसमाधीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

प्रतिपादकं न्यायकृद्वचनमुदाहरति—\*अयमर्थ इति\* ॥ दुःखं च जन्म च प्रवृत्तिश्च दोषश्च मिथ्याज्ञानं चेति दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानि, तेषां मध्ये मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलरागद्वेषादिदोषनिवृत्तिः, तथाच त्रिविधप्रवृत्त्युपरमः, प्रवृत्त्युपरमे च तन्निमित्तपुण्यपापाभावाज्जन्माभावः, ततो निवृत्तिरिति सूत्रार्थः ॥

मनु तैरनादिभावरूपाज्ञान-तन्निवृत्ति नोपेयेते, कथं तदुदाहरणादभिलषितसिद्धिः ? इत्याशङ्क्य, मिथ्याज्ञान-निवृत्तिमात्रं स्वीकृतमित्याशयेन मिथ्याज्ञानशब्दार्थमाह—\*आत्मेति\* ॥ अर्थशब्देन पृथिव्यादयो निर्दिश्यन्ते । \*मरणम्=प्रेत्यभावः । \*फलम्=सुखम्\* । किं तस्य निवर्तकम् ? तत्राह—\*तस्येति\* ॥ आत्मनो नित्यत्वाज्जन्माप्रसक्तेः कथं न जायत इत्युक्तमिति ? तत्राह—\*शरीरसंबन्धमिति\* ॥ मिथ्याज्ञानापाये मोक्ष इत्येतत्तन्त्रान्तरपर्यालोचनयाऽप्यवसीयत इत्याह—\*तथेति\* ॥ तद्वृत्तित्वे सति तदितरवृत्तित्वं सालक्षण्यम्, तद्वृत्तित्वे सति तदितरावृत्तित्वं वैलक्षण्यम्, देहादावात्मबुद्धिरविद्या, अहमस्मीत्यभिमानविशेषोऽस्मिता । \*अनुसन्धानकल्पनयेति\* ॥ अनुसन्धीयत इत्यनुसन्धानम्, स्थायित्वम् ; तत्कल्पनयेत्यर्थः । दोषानेव विशिनष्टि—\*प्रवृत्तीति\* ॥ \*तत्त्वपरिभावनयेति\* ॥ क्षणिक-शून्य-स्वलक्षण-दुःखपरिभावनया निवृत्तेष्वित्यर्थः । विशुद्धं च तद्विज्ञानं चेति विशुद्धविज्ञानम्, तच्च चरमक्षण इति विशुद्ध-विज्ञानचरमक्षणः, तदुदय इत्यर्थः । तत्त्वज्ञानस्याविद्यानिवर्तकतायां सर्ववादिसंमतत्वादुपास्तेर्न मुक्तिसाधनत्वमित्युप-संहरति—\*तदेवमिति\* ॥

## प्रदीपः

संहारस्थमिति मेदः । मम भगवत्तुल्येभ्यः श्रुतमेवेदं यत्तरति शोकं मनस्तापम्, अकृतार्थबुद्धिमात्मविदिति । सोऽहमनात्म-वित्वाच्छोचामि । अतस्तं मां शोचन्तं शोकसागरस्य पारमन्तं तारयतु भगवानात्मविज्ञानोपदेशेनेति नारदेन प्रार्थितः सनत्कुमारस्त-स्मै वैराग्यादिना निरस्तसमस्तदोषाय योग्याय तमसोऽविद्यासागरस्य पारं परमार्थतत्त्वं दर्शितवानित्यर्थः । आदिशब्देन “यो वेद निहितं गुहायाम्” इत्याद्याः श्रुतयो गृहीताः, तासां तात्पर्यमाह—\*मोक्षेति\* ॥ विद्याफलमविद्याध्वस्तिः श्रुता । नचामानात्तद्वृत्तिः । तथाचोपास्तेरन्या मानमेव ब्रह्मधीर्न विषेया, तत्फलं च मुक्तिर्न वैधीत्यर्थः । श्रुत्यनुसारेणाविद्याध्वस्ति-फलत्वाद् ब्रह्मधीस्तत्त्वधीरित्युक्तम् ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* प्रदर्शितमन्यदेव मिथ्याज्ञाननिवर्तकं तत्त्वज्ञानम् । तथाहि—द्वादशपदार्थेषु तत्त्वपरिभावनाजनितेन सम्यग्ज्ञानेनाविद्या निवर्त्यते । पूर्वोपचितानि च कर्माणि तत्त्वपरिभावनाजनितसंकलेशेन तत्प्रकर्षजनितेनानन्देन वर्तमानस्य चोपभोगेन निवर्त्यन्ते । ततश्च कैवल्यमिति नैयायिकैरुक्तम् । वैशेषिकैरपि पदार्थषट्कपरिभावनाजनितेन तत्त्वज्ञानेनेश्वराभिधानानुगृहीतेन मिथ्याज्ञानं निवर्त्यते, ततो रागादयः क्रमेण परिहीयन्ते, ततश्च पूर्वोपचितदुरितानां पदार्थपरिभावनापरिक्लेशफलानामत्यन्तोच्छेदः, सुकृतानां च तत्त्वदर्शनवैमल्यनन्देन निवृत्तिः, ततः कैवल्यमिति दर्शितम् । योगास्तु प्रतिपेदिरे—असंप्रज्ञातसमाधिजनितेन प्रकृति-पुरुषविवेकज्ञानेन पुरुषाकारमात्रपर्यवसितेनाविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशेषु क्षीयमाणेषु पूर्वोपचितकर्मसु चैकभविकन्यायेन क्षीयमाणेष्वपवृज्यत इति । सुगतैः प्रतिपन्नम्—क्षणिक-स्वलक्षण-दुःखमार्गासत्य-भावनाजनितविशुद्धज्ञानलक्षणचरमक्षणोदयेन हीयमानेषु स्थायित्वाकार्यत्व-प्रवृत्ति-विषयविभ्रमेषु सन्तानोच्छेदो

## ऋजुविवरणम्

समाधिर्द्विविधः—संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । ध्यातृ-ध्येय-ध्यानानुसन्धानसहितः संप्रज्ञातः, तद्ग्रहितोऽसंप्रज्ञात इति । \*ऐकभविकन्यायेनेति\* ॥ सोऽयं ग्रन्थ एकस्मिन्नेव जन्मन्यनेकशरीरोपभोग्यानि कर्माण्यनेकशरीरग्रहणेन क्षयं

## तत्त्वदीपनम्

तत्त्वज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वमङ्गीकृत्य प्रत्यग्रहैक्यज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वमाक्षिपति—\*ननु प्रदर्शितमिति\* ॥ \*अन्यत्=अन्यदेव मिथ्याज्ञाननिवर्तकं तत्त्वज्ञानं प्रदर्शितमिति संबन्धः । यादृशं तत्त्वज्ञानं निवर्तकमिति, येनाभिधीयते, ततोऽन्यथाऽन्येनेति निवर्तकस्य नैकरूप्यमित्यर्थः । \*द्वादशपदार्थेष्विविति\* ॥ आत्मशरीरादिष्वित्यर्थः । अविद्यानिवृत्तावपि कर्मणां भावात् कथं मुक्तिः ? इत्याशङ्क्याह—\*पूर्वोपचितानीति\* ॥ द्विविधं कर्म—पुण्यं पापं चेति, तत्रापुण्यस्य निवृत्तिमाह—\*तत्त्वपरिभावनेति\* ॥ इतरनिवृत्तिमाह—\*तत्प्रकर्षेति\* ॥ तत्त्वपरिभावना तच्छब्दार्थः । सहाय्यं तृतीया । तथाच क्लेशेनानन्देन च सह वर्तमानस्य पुंसः प्राक् संचितानि कर्माणि क्लेशानन्दोपभोगेन निवर्तन्त इत्यर्थः । कथं तर्हि कर्मणां निवृत्तिः ? तत्राह—\*ततश्चेति\* ॥ मिथ्याज्ञान-तन्मूलरागादीनां निवृत्तेः कर्मान्तरानुदय इत्यभिप्रेत्य प्राक्संचितनिवृत्तिमाह—\*पूर्वोपचितेति\* ॥ पदार्थानां परिभावना, तन्निमित्तः परिक्लेशः=फलं येषां तानि, तेषामित्यर्थः । द्विविधः समाधिः—संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । प्रत्ययोपरमे तत्संस्कारमात्रावशेषतया चित्तल्यावस्थानमसंप्रज्ञातः समाधिः—\*पुरुषाकारेति\* ॥ प्रकृतिसम्बन्धं विहाय चिन्मात्रमित्यर्थः । \*ऐकभविकन्यायेनेति\* ॥ प्रयाणसमयेऽभिव्यक्तं सत्कर्मजातमेकं शरीरमारभत इति तस्मिन् शरीरे प्रारब्धफलस्योपभोगेन क्षयः, काम्य-निषिद्धयोस्त्वन्नुष्ठानान्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानेन तदकरणमिति प्रत्यवायाभावः, ततश्च मुक्तिरित्यर्थः । स्वलक्षणम्=सङ्गि । अज्ञानव्यतिरिक्तं सर्वं दुःखसाधनमित्येतद् दुःखमार्गशब्देनोच्यते । \*असत्यम्=तुच्छमित्यर्थः । क्षणिक-भावनाविपरितरूपमाह—\*स्थायित्वेति\* ॥ स्वलक्षणविपरीतस्वरूपमाह—\*कार्यत्वेति\* ॥ दुःखसाधनभावनाविपरीत-

## वार्तिकम्

सारोपलब्धेर्न तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्याशङ्क्य, मैवम् ; तत्त्वज्ञानिनां पूर्ववत्संसारोपलब्ध्यसिद्धेः, तत्त्वज्ञानेन हि मिथ्याज्ञानं निवर्तते, इति सर्वानुभवसिद्धम्, तन्निवृत्तौ हि तन्निबन्धन-रागद्वेषादिनिवृत्तिः, देहादावहं-ममाभिमानलक्षणमिथ्याज्ञाननिबन्धनत्वाद्वाग-द्वेषादेः, तदपाये च धर्माधर्मलक्षणप्रवृत्त्यपायः ; निर्दुष्टपुरुषे धर्मानुत्पत्तेः, दोषमूलत्वात्तयोः, प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः ; तस्य धर्माधर्ममूलत्वात्, तदपाये च दुःखापायः ; तस्य शरीरमूलत्वात्, व्यासादेश्च प्रारब्धाधिकारनिबन्धनत्वात् शरीरस्थितेस्तदपाये चापवर्गसिद्धिरित्याह—“दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामिति\* ॥ दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्या-

## प्रदीपः

इदानीं तर्कशास्त्रानुसारेणापि तथैवेत्याह—\*तथाचेति\* ॥ दुःखं प्रतिकूलवेदनीयम्, बाधा, पीडा, ताप इत्यनेकविधम् ।



## भामती

पायः । जन्मापाये दुःखापायः । प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः । दोषापाये प्रवृत्त्यपायः । मिथ्याज्ञानापाये दोषापायः । मिथ्याज्ञानं चाविद्या, रागाद्युपजनितक्रमेण दृष्टेनैव संसारस्य परमं निदानम् । सा च तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनावगतिपर्यन्तेन विरोधिना निवर्त्यते । ततोऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्म-  
रूपाविर्भावो मोक्षः, नतु विद्याकार्यस्तज्जनितापूर्वकार्यो वेति सूत्रार्थः । तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञाना-  
पाय इत्येतावन्मात्रेण सूत्रोपन्यासः, नत्वक्षपादसंमतं तत्त्वज्ञानमिह संमतम् । तदनेनाचार्यान्तरसंवादे-  
नायमर्थो दृढीकृतः । \*स्यादेतत्\*—नैकत्वविज्ञानं स्थितवस्तुविषयम्, येन मिथ्याज्ञानं भेदावभासं  
निवर्तयन्न विधिविषयो भवेत्, अपितु संपदादिरूपम् । तथाच विधेः प्रागप्राप्तं पुरुषेच्छया कर्तव्यं  
सद् विधिगोचरो भविष्यति । यथा वृत्त्यनन्तत्वेन मनसो विश्वदेवसाम्याद्विश्वान्देवान्मनसि संपाद्य  
मन आलम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा प्राधान्येन संपाद्यानां विश्वेषामेव देवानामनुचिन्तनम्, तेन चानन्त-  
लोकप्राप्तिः ; एवं चिद्रूपसाम्याज्जीवस्य ब्रह्मरूपतां संपाद्य जीवमालम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा प्राधा-  
न्येन ब्रह्मानुचिन्तनम्, तेन चामृतत्वफलप्राप्तिः । अध्यासे त्वालम्बनस्यैव प्राधान्येनारोपिततद्भावस्यानु-  
चिन्तनम् ; यथा—“मनो ब्रह्मेत्युपासीत” “आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः” । एवं जीवमब्रह्म “ब्रह्मेत्युपासीत”  
इति । क्रियाविशेषयोगाद्वा—यथा “वायुर्वाव संवर्गः” । बाह्या खलु वायुदेवता वह्न्यादीन्

## ऋजुप्रकाशिका

इवेति\* ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—\*जन्मापाय इत्यादिना\* ॥ मिथ्याज्ञानस्वरूपमाह—\*मिथ्याज्ञानं चेति\* ॥  
\*सा चेति\* । संसारनिदानभूताऽविद्या चेत्यर्थः । \*नतु विद्याकार्य इति\* ॥ मोक्ष इत्यनुषङ्गः । विद्या तच्छ-  
ब्दार्थः । विद्याजनितापूर्वकार्यो वा मोक्षो न भवतीत्यर्थः । तथाच मोक्षस्य नानित्यत्वप्रसङ्ग इति भावः ।  
\*ननु\* तत्त्वज्ञानाद् मिथ्याज्ञानापायमात्रस्य प्रकृतत्वात् तावतोऽक्षपादसूत्रस्योपन्यासो व्यर्थः, अक्षपादसंमतं च  
षोडशपदार्थतत्त्वज्ञानं नेह सम्मतम् ; एतन्मते निर्विचिकित्सब्रह्मात्मैकत्वज्ञानस्यैव तत्त्वज्ञानत्वात्, अतोऽसङ्गतमेत-  
दित्यत आह—\*तत्त्वज्ञानादित्यादिना दृढीकृत इत्यन्तेन\* । अयमर्थ इति\* ॥ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाय  
इत्यर्थः । तत्त्वज्ञानं चात्र ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । तत्र शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ यथास्थितवस्तुविषयं न  
भवति चेत्, किंरूपं तर्हि तदिति ? अत आह—\*अपित्विति\* ॥ संपदादिरूपत्वे किमायातं तावता ? इत्या-  
शङ्क्य विधेयत्वमायातमित्याह—\*तथाचेति\* ॥ दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ \*विश्वदेवसाम्यादिति\* ॥ विश्वेषां  
देवानामप्यनन्तत्वाद् मनसोऽप्यनन्तवृत्तिं मत्वा तदनन्तत्वेन विश्वदेवसाम्यं मनस इत्यर्थः । मनसो विश्वदेव-  
साम्यात् किमिति ? अत आह—\*मनसीति ॥ अनुचिन्तनमिति\* ॥ \*तच्च = संपद्रूपं विधेयमित्यर्थः । तेन  
किमिति ? अत आह—\*तेनेति\* ॥ दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिकं स्पष्टमाचष्टे—\*एवं चिद्रूपसाम्यादिति\* ॥  
जीवस्य चिद्रूपत्वाद् ब्रह्मणोऽपि चिद्रूपत्वात् चिद्रूपत्वेन जीवस्य ब्रह्मसाम्यमित्यर्थः । ततः किमिति ? अत  
आह—\*ब्रह्मानुचिन्तनमिति\* ॥ तत् = संपद्रूपं विधेयगोचर इत्यर्थः । तेन किमिति ? अत आह—\*तेन  
चेति\* ॥ आरोप्यप्रधाना संपद् नालम्बनलक्षणाधिष्ठानप्रधाना । अध्यासस्त्वधिष्ठानलक्षणालम्बनप्रधानः, नारोप्य-  
प्रधानः, इति संपदध्यासयोर्भेदो द्रष्टव्यः । तमिमं भेदमाह—\*अध्यासे त्विति\* ॥ आरोपिततद्भावस्येति\* ॥  
आरोपितस्तद्भावो यस्य, स तथोक्तः । तस्य जीवस्यानुचिन्तनम्, अध्यासरूपं विधेयमित्यर्थः । दृष्टान्तमाह—  
\*यथेति\* ॥ दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकं पुनः स्पष्टयति—\*एवमिति\* ॥ संपद्रूपमध्यासरूपं च विधेय-  
मभिधाय प्रकारान्तरमप्याह—\*क्रियाविशेषयोगाद्वेति\* ॥ संवर्गदर्शने विधेयं किंचिदस्तीति शेषः । उदा-  
हरति—\*यथेति\* ॥ “वायुर्वाव संवर्गः” इत्युक्तम्, तत् स्पष्टयति—\*बाह्या खल्विति\* ॥ बाह्यदेवतात्मकौ



## मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति ।

### पञ्चपादिका

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति, न क्रियातः । कथं गम्यते ? “इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते” इति मिथ्यैव भेदावभासः, तस्य प्रतिपक्षादभेदावभासादपनय इति गम्यते ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

मोक्ष इति ; तदेवं भिन्नविज्ञानसाध्यो मोक्ष इति, तत्राह—\*मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानादिति\* ॥ \*ननु\* प्रदर्शिततत्त्वदर्शनेष्वपि मिथ्याज्ञाने प्रतिपक्षेषु ब्रह्मविज्ञानमेव किमिति निवर्तकं गृह्यते ? इति चोदयति—\*कथं गम्यत इति\* ॥ भेददर्शनस्य मिथ्याज्ञानविलसितत्वेन तत्प्रतिपक्षेणाद्वितीयब्रह्मात्मदर्शनेनैव तन्निवृत्तिः, न यथोक्तभेददर्शनैरिति परिहरति—\*इन्द्रो मायाभिरित्यादिना\* ॥ \*ननु\* अद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वपरं न शास्त्रम् ; तत्र तात्पर्याभावात्, किन्तु जीवविलक्षणे प्रमाणान्तराविरुद्धे ब्रह्मणि शास्त्रप्रतिपक्षे संपदादिविषयाणि

### ऋजुविवरणम्

नयतीति । एकस्मिन् भवे जन्मनि भवतीति व्युत्पत्तिः । अथवा “स्यादि”त्यादिनैकत्वविज्ञानस्य परमार्थवस्तुविषयत्वं नास्ति, किन्तु संपदादिरूपत्वमिति चोद्यं कृतम्, तदनुपपन्नम् ; परमार्थैकत्वविषयत्वाभावे कारणाभावात् । नच संपदादिरूपत्वमपि संभवति सिद्धे हि वस्तुद्वये संपदादिसंभवः ; अत्र प्रमाणाभावेन ब्रह्मसिद्धेरभावादित्याशङ्क्यावतारयति—\*नन्वद्वितीयब्रह्मात्मैकत्व इति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

स्वरूपमाह—\*प्रवृत्तीति\* ॥ असत्यभावनाविपरीतस्वरूपमाह—\*विषयेति\* ॥ पूर्वपक्षमुपसंहरति—\*तदेवमिति\* ॥ उक्तेऽर्थे हेतुं पृच्छति—\*ननु प्रदर्शितेति\* ॥ ब्रह्मज्ञानस्य मिथ्याभूतस्य यथा भेदावभासनिवर्तकत्वम्, तथा तस्यापि निवर्तकत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—\*भेददर्शनस्येति\* ॥ अस्मन्मते ज्ञानस्य स्वरूपेण मिथ्यात्वेऽपि विषयस्य सत्यत्वात् तन्निवर्तकत्वम्, भेददर्शनस्य तु विषयतोऽपि मिथ्यात्वान्न निवर्तकत्वमित्यभिप्रायः । “अथापि स्यादि”त्यत्रैकत्वज्ञानस्य निवर्तकत्वमङ्गीकृत्य संपदादिरूपत्वमुक्तम्, तत् कस्मात् ? इति शङ्कायामाह—\*नन्वद्वितीयेति\* ॥ अध्ययनविध्युपात्तत्वाद् नैरर्थक्यानुपपत्तस्तच्छास्त्रं तत्परमेष्ठ्यमिति शङ्कते—\*किंत्विति\* । विधान्तरेणार्थवत्त्वमाह—\*जीवेत्यादिना\* ॥ वस्तुद्वयसिद्धावन्यस्यान्यत्र दृष्टिर्घटेत, न तथा वस्तुद्वयं समस्ति ; प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह—\*जीवेति\* ॥ “य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति” “द्वा सुपर्णे”त्यादिवाक्यं शास्त्रशब्देन निर्देष्टव्यम् । विधिपरस्य कार्यब्रह्मपरत्वमित्याशङ्क्याह—\*प्रमाणान्तरेति\* ॥ प्रमाणविरोधसहकृततात्पर्याभावस्य प्रयोजकत्वम् ?

### वार्तिकम्

ज्ञानानामुत्तरोत्तरत्वं तु मिथ्याज्ञानादेः सौत्रपाठक्रमेण, तदनन्तरत्वं च दोषादेरिति बोद्धव्यम् ॥ तर्हि किं गौतमाभिप्रेततत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापायोऽभ्युपेतः ? नेत्याह—\*मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भव-

### भाष्यभावप्रकाशिका

मेव मिथ्याज्ञाननिवर्तकम्, न तत्त्वज्ञानमित्यत आह—\*मिथ्याज्ञानेति\* ॥ भेददर्शनस्याज्ञानविलसितत्वेन तत्प्रतिपक्षत्वाभावादद्वितीयब्रह्मात्मदर्शनमेव तन्निवर्तकमिति भावः । \*ननु\*—

### प्रदीपः

जन्म देहेन्द्रियादीनां निकायविशिष्टः प्रदुर्भावः । प्रवृत्तिसाध्यौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिपदार्थः । रागद्वेषेर्ष्याऽमृया-मान-लोभादयो दोषाः । मिथ्याज्ञानमतस्मिंस्तद्वृद्धिः । तेषां पाठक्रम उत्तरोत्तरस्यापाये तदनन्तरस्य पूर्वस्य पूर्वस्यापायाद् विनाशाद् अपवर्गो निःश्रेयसम् । अत्र मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता अविच्छिन्नाः संसारपदार्थः । सति चैवं तत्त्वज्ञानाद् मिथ्याज्ञानमपैति, ततो हेत्वभावे फलाभावाद् दोषापायः, तदपाये प्रवृत्तिसाध्यधर्माधर्माभावः, तदपाये जन्मापायः, तदपाये दुःखापायः, इति तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रेण मोक्ष इति गौतमसुवार्थः । अनेनापि हि मोक्षोऽज्ञाननिवृत्तिमात्रं ज्ञाना-



## भामती

संवृङ्क्ते । स महाप्रलयसमये हि वह्न्यादीन्संवृज्य संहृत्यात्मनि स्थापयति । \*यथाह द्रविडाचार्यः\*—‘संहरणाद्वा संवरणाद्वा सात्मीभावाद्वायुः संवर्गः’ इति । अध्यात्मं च प्राणः संवर्ग इति । स हि सर्वाणि वागादीनि संवृङ्क्ते । प्रयाणकाले हि स एव सर्वाणीन्द्रियाणि संगृह्योत्क्रामतीति । सेयं संवर्गदृष्टिर्वायौ प्राणे च दशाशागतं जगद् दर्शयति यथा, एवं जीवात्मनि बृंहणक्रियया ब्रह्मदृष्टिरमृतत्वाय फलाय कल्पत इति । तदेतेषु त्रिष्वपि पक्षेष्व्वात्मदर्शनोपासनादयः प्रधानकर्माणि ; अपूर्वविषयत्वात्, स्तुतशस्त्रवत् ।

## ऋजुप्रकाशिका

वायुः कथं संवर्ग इति ? अत आह—\*स हीति\* ॥ वायुर्हीत्यर्थः । “वह्न्यादीनि”त्यत्रादिशब्दात् सूर्यचन्द्रापौ गृह्यन्ते, “संहृत्ये” तस्य विवरणम् “संवृज्ये”ति ॥ “संवृज्ये”त्यनन्तरं वाशब्दो वाऽध्याहर्तव्यः । संवृज्य वेत्यर्थः । \*आत्मनि स्थापयतीति\* ॥ अतो वायुः संवर्ग इत्युच्यत इत्यर्थः । तत्र सम्मतिमाह—\*यथा हीति\* ॥ “प्राणो वाव संवर्गः” इत्युक्तम्, तत् स्पष्टयति—\*अध्यात्मं च प्राणः संवर्ग इति\* ॥ कथं संवर्ग इति ? अत आह—\*स हीति\* ॥ प्राणो हीत्यर्थः । “वागादीनि”त्यत्रादिशब्देन चक्षुःश्रोत्रमनांसि गृह्यन्ते ; अग्न्यादेरुपलक्षणत्वात् । सर्वाश्रयत्वं वायु-प्राणयोरुपास्यमित्याह—\*सेयमिति\* ॥ \*दशाशागतम् = दशदिग्गतम् । संवर्गदृष्टान्तं निगमयति—\*यथेति\* ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—\*एवमिति\* ॥ \*बृंहणक्रियया = देहादिपरिणमनक्रियया । \*त्रिष्वपि पक्षेषु = संपदध्यास-संवर्गदृष्टिपक्षेषु त्रिष्वपीत्यर्थः । \*आत्मदर्शनोपासनादय इति\* ॥ \*दर्शनम् = प्रमितिः । एतच्च प्रमाणज्ञानं विधेयमिति मतमवलम्ब्योक्तम् । आदिशब्दो दृष्टान्तभूतमनआशुपास्त्यर्थः । \*स्तुतशस्त्रवदिति\* ॥ मेदलक्षणे स्थितम्—“स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो-

## वार्तिकम्

तीति\* ॥ श्रुतिविरोधेन तदभिप्रेतं ज्ञानं तत्त्वज्ञानमेव न भवति, भान्त्या तु तत्र तत्त्वज्ञानत्वाभिमानः ।

अतो न ततो मिथ्याज्ञाननिवृत्तिरित्याशयः ॥

\*ननु\* अभियुक्ताभिमततत्त्वज्ञानविरोधादिदमेव ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमतत्त्वज्ञानं किं न स्यात् ? नचैवं श्रुतिविरोधः स्यादिति वाच्यम् ; तद्विज्ञानस्य संपदादिरूपत्वेनापि श्रुत्युपपत्तेः । दृष्टानि हि श्रुतौ तादृशानि संपदादिलक्षणानि बहूनि विज्ञानानि । तथाहि—संपन्नाम यत्किञ्चिद्धर्मसामान्येनान्यस्य रूपं संपाद्य चिन्तनम् । तद्यथा—“अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवाः” इति मनसो विश्वदेवानां चानन्तत्वधर्मसामान्याद् मनसि विश्वदेवत्वं संपाद्य चिन्तनं विधीयते ; एवं “तत्त्वमसी”त्यादावपि चेतनत्वादिधर्मसामान्यादात्मनि ब्रह्मत्वं संपाद्योपासनं संपद्रूपं भविष्यति, \*अध्यासो वा भविष्यति\* । अध्यासो नाम स्वरूपातिरस्कारेणान्यस्मिन्नन्यतामारोप्य चिन्तनम् । तद्यथा—“मनो ब्रह्मेत्युपासीत,” “आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः” इत्यादौ मनआदित्याद्यधिष्ठानरूपमतिरस्कृत्यैव तस्य ब्रह्मत्वेनानुचिन्तनम् । तद्वज्जैवं रूपमात्मनोऽतिरस्कृत्यैवाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मत्वमारोप्य चिन्तनं भविष्यति । एतेनाध्यास-संपद्रुपासनयोर्भेदो दर्शितः । यत्किञ्चिद्धर्मसामान्यापुरस्कारेणाधिष्ठानप्राधान्येनाध्यासः प्रवर्तते । यथा शालग्रामस्य यद्रूपं तदेव विष्णो रूपमिति । यत्किञ्चिद्धर्मसामान्यपुरस्कारेणाधिष्ठानरूपं तिरस्कृत्याधिष्ठेयरूपप्राधान्येन च संपत् प्रवर्तते, यथा विश्वे देवा एव मनः ; उभयमनन्तगुणकमिति । विशिष्टक्रियायोगनिबन्धनं वा जीवब्रह्माभेददर्शनं भविष्यति ; यथा “वायुर्वाव संवर्गः” इत्यत्र विश्वसंवर्णक्रियायोगाद्वायु-प्राणयोरभेदेनोपासनम्, तद्वज्जीवस्यापि स्वादृष्टद्वारा ब्रह्मवज्जगत्समृद्धत्वात् तादृशक्रियायोगेनाभेदेनोपासनं तयोरविरुद्धमिति । \*फलं न श्रुतमिति चेत् = \*अथैवं मन्यसे ‘अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति’



भामती

आत्मा तु द्रव्यं कर्मणि गुण इति संस्कारो वात्मनो दर्शनं विधीयते । यथा दर्श-पूर्णमास-प्रकरणे—“पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति” इति समाप्नातम्, प्रकरणिना च गृहीतमुपांशुयागाङ्गभूताज्य-द्रव्यसंस्कारतयावेक्षणं गुणकर्म विधीयते, एवं कर्तृत्वेन क्रत्वङ्गभूत आत्मनि “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति दर्शनं गुणकर्म विधीयते । \*यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत\*

ऋजुप्रकाशिका

याज्यावहेवताभिधानत्वात्” । “आज्यैः स्तुवते” “प्रउगं शंसति” इति स्तुत-शस्ते समाप्नाते । आज्य-प्रउगशब्दौ स्तोत्र-शस्त्रविशेषनाम्नी । प्रगीतमन्त्रसाध्यं देवतादिगुणसम्बन्धाभिधानं स्तोत्रम्, अप्रगीतमन्त्रसाध्यं शस्त्रम् । ते किं देवताप्रकाशनाख्यसंस्कारार्थत्वेन गुणकर्मणी ? उतापूर्वार्थत्वेन प्रधानकर्मणी ? इति संन्देहे—गुणसम्बन्धाभिधानाद् गुणिन्या देवताया अभिधानेन याज्यावत्कृतूपयोगिदेवतास्मरणस्य दर्शनाद् गुणकर्मत्वे प्राप्ते—सिद्धान्तः ; “अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौति-शंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्” । स्तुतिरिह विहिता श्रूयते—स्तौति-शंसती इति । स्तुतिश्च गुणाभिधानम्, न स्वरूपप्रकाशनम्, यथा—‘विशालवक्षाः क्षत्रिययुवे’ति । यत्राभिधानविवक्षा, न तत्र स्तुतिं प्रतीमः ; यथा यो ‘विशालवक्षाः, तमानये’ति । तस्मात् स्तौति शंसती श्रौतार्थलाभाय प्रकरणेऽपूर्वोत्पत्तिं प्रति स्तोत्र-शस्त्रे विदध्याताम्, इति स्तोत्र-शस्त्रे अपूर्वार्थत्वात् प्रधानकर्मणी, एवमिहात्मोपासनं प्रधानकर्म, आत्मा तु भूतो भव्यशेष इति । आत्मोपासनं प्रधानकर्मैत्युक्तम्, संप्रति संस्कारार्थत्वेन क्रत्वर्थत्वेन वाऽऽत्मदर्शनं गुणकर्म वा भवितुमर्हतीत्याह—\*संस्कारो वेति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—\*एवं कर्तृत्वेनेति\* ॥ द्रव्यसंस्कारकस्य गुणकर्मत्वे जैमिनीयसूत्रमुदाहरति—\*यैस्त्विति\* ॥ \*यैः=अवधातादिभिः, \*द्रव्यं चिकीर्ष्यते=संस्कर्तुमिष्यते, \*गुणस्तत्र प्रतीयेत=तत्र द्रव्ये गुणभूतं कर्म प्रतीयेतेत्यर्थः । “स्यादेतदि”त्यादिनेयता प्रबन्धेन या शङ्कोक्ता, तामपाकरोति—

पञ्चपादिका

अथापि स्यान्नैकत्वविज्ञानं यथावस्थितवस्तुविषयम्, येन मिथ्यारूपं भेदावभासं निवर्तयेत्, अपितु संपदादिरूपम् ; विधितः पुरुषेच्छया कर्तव्यमिति । संपन्नामाल्पमपि वस्त्वालम्बनीकृत्य केनचित्सामान्येन दर्शनमात्रान्महद्वस्तुसम्पादनम् । ततश्च तत्फलावाप्तिः, फलस्यैव वा संपादनम् ; यथा—मनसो वृत्त्यनन्तत्वसामान्येनानन्तविश्वदेवसंपादनं कृत्वाऽनन्तलोकजयः । एवं जीवस्य चिद्रूपसामान्येन ब्रह्मरूपसंपादनं कृत्वा ब्रह्मफलमवाप्यत इति । अध्यासस्त्वब्रह्मणि मन-आदित्यादौ ब्रह्म-दृष्ट्योपासनम्, जीवस्यापि ब्रह्मदृष्ट्योपासनम् । संपदि—आलम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा संपाद्यमानस्यैव प्राधान्येन मनसाऽनुचिन्तनम्, अध्यासे त्वालम्बनस्यैव प्राधान्येनानुचिन्तनम्, क्रियायोगो वायोरग्न्यादीनां संहरणात्सर्वगुणत्वेनोपासनम् । एवं जीवस्य स्वगतेन बृंहत्यर्थयोगेन ब्रह्मेत्युपासनम् । कार्यान्तरेण गुणभूतस्य ब्रह्मदृष्टिः संस्कार आज्यस्यैवावेक्षणम् ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

तादात्म्यवाक्यानीति पूर्वपक्षयति—\*अथापि स्यादित्यारभ्यात्रोत्तरमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* । ग्रन्थस्तु स्पष्टार्थः । तत्वेदं वक्तव्यम्—किं प्रमाणान्तरविरोधात्संपदादिपरः पदसमन्वयः ? किं वाऽर्थे तात्पर्याभावादिति ? न

तत्त्वदीपनम्

उत तात्पर्याभावमात्रस्येति विकल्पयति—\*तत्र वक्तव्यमिति\* । नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ जीव-परयोर्वि-पयीकरणमन्तरेण प्रमाणान्तरं कथं तद्विरोधं गोचरयतीत्यर्थः ॥ तर्हि संसार्यसंसार्यादिभावेन भेदप्रतिभासः कथं निर्वहेत् ?

वार्तिकम्

इत्यादौ संपदाद्युपासने फलं स्वप्रकरणे श्रुतम्, नैवम्—‘अहं ब्रह्मास्मी’त्युपासने फलं स्वयोग्यं किञ्चित्स्व-



नचेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपदूपम् ; यथा “अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति” (बृह० ३।१।९) इति । नचाध्यासरूपम् ; यथा “मनो ब्रह्मेत्युपासीत” (छान्दो० ३।१।८।१) “आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः” (छान्दो० ३।३।९।१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम्—“वायुर्वाव संवर्गः” (छान्दो० ४।३।१,३) इतिवत् । नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम् । संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने “तत्त्वमसि” (छान्दो० १।८।७) “अहं

भामती

इति न्यायात्, अत आह—\*नचेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमिति\* ॥ कुतः ? \*संपदादिरूपे हि ब्रह्मा-

ऋजुप्रकाशिका

\*अत आहिति\* ॥ उक्तशङ्कापकरणं कुतः ? इत्याकाङ्क्षामुद्भावयति—\*कुत इति\* ॥ भाष्योक्तेनोत्तरमाह—\*संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान इतीति\* ॥ “संपदादी”त्यत्राध्यास आदिशब्दार्थः । संवर्गः संपच्छब्दार्थः ; संपदध्यासानामारोपरूपत्वात् “तत्त्वमसि”, “अहं ब्रह्मास्मि” इत्येवमादिवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयेन तज्जन्य-ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानस्यानारोपरूपत्वाद् ब्रह्मण्यारोपरूपत्वे, “मिथ्यते हृदयग्रन्थिरि”त्यादिना ब्रह्मज्ञानस्य श्रूयमाणा-

पञ्चपादिका

अत्रोत्तरम्—\*संपदादिरूपे हीत्यादिना\* ॥ तथा सति तत्त्वमस्यादिवाक्यानां निरुपचरितब्रह्मात्मैकत्वा-

पञ्चपादिकाविवरणम्

तावत्प्रमाणान्तरविरोधः ; तयोस्तदगोचरत्वात् । भेदावभासेऽपि बिम्ब-प्रतिबिम्बन्यायावतारात् । नच तात्पर्याभावादर्थपरत्वाभाव इत्याह—\*संपदादिरूपे हीत्यादिना\* ॥

ऋजुविवरणम्

\*तयोरिति\* जीव-ब्रह्मणोर्निर्देशः ; जीवस्यापि स्वरूपेण मानान्तरवेद्यत्वात् । भेदस्तावज्जीव-ब्रह्मणोः प्रतीयते, तत्कथमेकत्वप्रतिपादनम् ? इत्याशङ्क्याह—\*भेदावभासेऽपीति\* ॥ \*ननु\* तात्पर्याभावे सति यदिदमुदाहृतं

तत्त्वदीपनम्

इत्याशङ्क्योपाधित इत्याह—\*भेदावभास इति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*न चेति\* ॥ \*अर्थपरत्वाभाव इति\* ॥ अर्थ-प्रामाण्याभावः ; इतरथा साध्यावैशिष्ट्यमित्यर्थः ॥

वार्तिकम्

प्रकरणे श्रुतम् ; अतो व्यर्थाऽसावुपासनाकल्पनेति चेत्, \*न\* ; स्वप्रकरणपठितार्थवादगतमोक्षफलसद्भावात्तदश्रवणासिद्धेः । \*तद्योग्यं तत्फलमिति चेत्, आह—भवेदर्थवादगतं फलं तस्य, यदि तद्योग्यं भवेत्, नचैवम् ; क्रियाफलस्यानित्यत्वोक्तेः, मोक्षस्य नित्यत्वोक्तेश्चेति चेत्, \*एवं तर्हि\* विश्वजिज्ञासेन फलं तद्योग्यं स्वर्गः कल्प्यताम् । \*अस्तु वाऽऽज्यावेक्षणन्यायेन क्रियाङ्गकर्तृसंस्कारो मदभिप्रेततत्त्वज्ञानाङ्गकर्तृ-संस्कारो वा ; यथा “पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवती”त्यत्र पत्न्यवेक्षणेन क्रियाङ्गमाज्यं संस्क्रियते, तथा ‘ब्रह्माहम-स्मी’त्युपासनाविज्ञानेन क्रियाङ्गं तत्त्वज्ञानाङ्गं वा कर्ता संस्क्रियत इति । तस्मान्नास्त्यार्थतत्त्वज्ञानस्य

भाष्यभावप्रकाशिका

एकत्वविज्ञानमपि न प्रमाणजन्यम् ; वेदान्तानां तत्र प्रमाणान्तरविरुद्धे तात्पर्यासंभवात्, किन्तु संपदादिरूपमित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ संपन्नास—अल्पे वस्तुन्यालम्बने केनचित् सामान्येन

प्रदीपः

पेक्षमपेक्षते, नतु कमेति सूच्यते । यतः, धर्माधर्मापायमेव मोक्षार्थं गौतमोऽप्यपेक्षते, न तु धर्माधर्मौ, इति ब्रह्मोपासनारूप-



## भामती

तमैकत्वविज्ञान इति\* ॥ दर्श-पूर्णमासप्रकरणे हि समान्नातमाज्यावेक्षणं तदङ्गभूताज्यसंस्कार इति युज्यते । नच “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यादि कस्यचित्प्रकरणे समान्नातम् । नचानारभ्याधीतमपि “यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति” इत्यव्यभिचरितक्रतुसंबन्धजुहूद्वारेण जुहूपदं क्रतुं स्मारयद्वाक्येन यथा पर्णतायाः क्रतुशेषभावमापादयति, एवमात्माऽव्यभिचरितक्रतुसंबन्धः, येन तद्दर्शनं क्रत्वङ्गं सदात्मानं क्रत्वर्थं संस्कुर्यात् । तेन यद्ययं विधिः, तथाऽपि ‘सुवर्णं भार्यम्’ इतिवद् विनियोगभङ्गेन प्रधानकर्मैव ;

## ऋजुप्रकाशिका

विद्यानिवृत्तिफलकत्वस्यायोगाद् वस्तुतो जीवचिन्मात्रस्वरूपस्य ब्रह्मस्वरूपरूपत्वेन जीवचिन्मात्रे ब्रह्मभावस्यानारोप्यत्वाद् न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमिति भावः । यत्तुक्तम्—“पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति” इत्याज्यावेक्षणवदात्मदर्शनं गुणकर्मतया विधीयत इति, तद् विधायति—\*दर्शपूर्णमासप्रकरणे हीति\* ॥ \*तदङ्गभूतेति\* ॥ दर्श-पूर्णमासाङ्गभूतेत्यर्थः । संस्कारकर्म संस्कारशब्दार्थः । \*न कस्यचिदिति\* ॥ न कस्यचित् क्रतोः प्रकरणे समान्नातमित्यर्थः । अतः क्रत्वङ्गभूत आत्मन्यात्मदर्शनं गुणकर्मतया विधीयत इति यदुक्तम्, तदयुक्तमिति भावः । \*ननु\* “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यादेः क्रतुप्रकरणानाम्नातत्वाद् मा भूत् प्रकरणबलात् क्रत्वङ्गभूतमात्मयाथाम्यदर्शनं गुणकर्म, वाक्यबलाद् गुणकर्म स्यादित्याशङ्क्य, निराकरोति—\*नचानारभ्येति\* ॥ अनारभ्याधीतवाक्यमप्यत्र नेत्यर्थः । नच—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति वाक्यमेवानारभ्याधीतवाक्यमिति—वाच्यम् ; तस्यात्मप्रकरणपठितत्वेनानारभ्याधीतत्वाभावादिति भावः । अनारभ्याधीतवाक्यस्थले तु क्रतुशेषत्वमस्तीति दृष्टान्ततयोपपादयति—\*यस्येति\* ॥ दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके तद्वैषम्यमाह—\*एवमात्मेति\* ॥ अतः “नचे”त्यनुषज्यते ॥ तथाचात्मा । \*एवम् = अव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धेनेत्यर्थः । क्रतुसंबन्धशून्यस्य कस्यचिदेवदत्तात्मनः संभवादिति भावः । \*ननु\* “द्रष्टव्यः” इति विधिः श्रूयते, अतो विधानादात्मदर्शनं गुणकर्मैत्याशयवानाशङ्क्य निराकरोति—\*यद्यपीत्यादिना—\*न गुणकर्मैत्यन्तेन\* ॥ “सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्” इतिवदिति\* ॥

शेषलक्षणे स्थितम्—“अद्रव्यत्वात् क्रतुशेषः स्यात् ।” “तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यं सुवर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति” इत्यनारभ्याधीते संशयः—किं शोभनवर्णहिरण्यधारणं क्रत्वङ्गम् ? उत पुरुषकर्मतया प्रधानकर्मैति ?

प्रधानकर्मत्वे फलस्य वक्तव्यत्वात्, तस्य च कल्पनीयत्वात्, अङ्गकर्मणः फलनैयत्याभावात् क्रत्वङ्गमेव । नच “दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति” इति वाक्यं भ्रातृव्यदौर्वर्ण्यं फलं श्रावयतीति फलसद्भावात् प्रधानकर्मैवेति—वाच्यम् ; तद्वचनस्य “एवं कामः” इति कामवचनाश्रवणेन फलपरत्वाभावात् । नच—“प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यात्” इतिवत् भ्रातृव्यदौर्वर्ण्यकामः सुवर्णं हिरण्यं विभृयात्” इति विपरिणामो भविष्यति, अतः प्रधानकर्मैवेति—वाच्यम् ; क्रत्वङ्गत्वेन गतिसंभवे विपरिणामत्वकल्पनायोगात् । रात्रिसत्रस्थले तु गत्यन्तराभावाद् विपरिणामकल्पनम् । तस्मादुक्तहिरण्यधारणं क्रत्वङ्गमिति प्राप्तम् । \*अद्रव्यत्वात् = द्रव्य-देवतासम्बन्धराहित्याद् न स्वतन्त्रं कर्म, किंतु क्रतुशेष इति सूत्रार्थः ॥

सिद्धान्तस्तु—“अप्रकरणे तु तद्वर्मस्ततो विशेषात्” ॥ तद्वर्मः = “तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्” इत्येवंजातीयं यतोऽप्रकरणे समान्नातम्, अतो हिरण्यधारणं पुरुषधर्मः । \*ननु\* प्रकरणाधीतोऽपि तद्वर्मोऽस्तीति चेत्, अस्तु तथा, अयं तु पुरुषधर्मः प्रकरणाधीतात् तद्वर्माद्विशिष्यते । अत एवोक्तं सूत्रे—“ततो विशेषादि”ति । तथाच प्रधानकर्मैव हिरण्यधारणम्, न क्रत्वङ्गम्, तथाऽपि यदि क्रत्वङ्गमित्युच्यते, तदा वक्तव्यम्—किम् “आहवनीये जुहोति” इति होमानुवादेनाहवनीयविधानवत् क्रत्वनुवादेन हिरण्यधारणं क्रत्वङ्गमित्युच्यते ? किं वाऽव्यभिचरितक्रतुसंबन्धहिरण्यधारणप्रतिपादकवाक्याद्विरण्यधारणं क्रत्वङ्गमित्युच्यते ? नायः ; क्रत्वनुवादेन हिरण्यधारणाविधानात्, न द्वितीयः ; क्रत्वसंबन्धहिरण्यधारणस्यापि



## भामती

अपूर्वविषयत्वात्, न गुणकर्म, इति स्थवीयस्तथैतद्दूषणमनभिधाय, सर्वपक्षसाधारणं दूषणमुक्तम् । तदतिरोहितार्थतया न व्याख्यातम् ।

## ऋजुप्रकाशिका

लोके दर्शनादव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धाभावात्, “यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति” इत्यत्र त्वव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धि-जुहूद्वारा पर्णतायाः क्रतुसम्बन्धस्तद्वाक्यादस्ति । तस्मात् क्रतौ विनियोगभङ्गेन हिरण्यधारणं न क्रत्वङ्गम्, इति “दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति” इति वाक्यशेषावगतभ्रातृव्यदौर्वर्ण्यफलाय विधीयमानं हिरण्यधारणं पुरुषधर्मः = प्रधानकर्मैव ; एवमिहाप्यमृतत्वफलाय विधीयमानमात्मदर्शनं प्रधानकर्मैवेति ॥

\*अपूर्वविषयकत्वादिति\* ॥ अपूर्वं विषयो जन्यमस्येत्यपूर्वविषयकम्, तस्य भावस्तत्त्वम् ; तस्मादित्यर्थः । प्रधानकर्मैवेत्युक्तम्, तत्रैवकारव्यवच्छेद्यं दर्शयति—\*न गुणकर्मैति\* ॥ \*ननु\*—एतद् दूषणमनभिधाय कथं भाष्यकृताऽन्यदेवोक्तमिति ? अत आह—\*स्थवीयस्तथेति\* ॥ तर्हि व्याख्यायतां तदित्यत आह—\*तदिति\* ॥ आत्मविषयकदर्शनविधानमङ्गीकृत्य तद्दर्शनस्य गुणकर्मत्वं निराकृतम्, वस्तुतस्तत्त्वात्मदर्शनम्=आत्मज्ञानं न विधेयमेव । यदि विधेयम्, तर्ह्यात्मनोऽपि ज्ञानक्रियाविषयत्वं विहितप्रायम् । अस्त्विति चेत्, ब्रह्माभिन्नस्यात्मनो ज्ञानक्रियाविषयत्वविधानं श्रुतिविरोधादनुपपन्नमित्यभिप्रेत्या-

## भाष्यभावप्रकाशिका

महावस्तुदर्शनम्, यथा मनसोऽनन्तत्वसामान्येन विश्वदेवत्वदर्शनम्, एवं जीवस्यापि चिद्रूपसामान्येन ब्रह्मरूपतासंपादनम् । अध्यासे त्वालम्बनस्यैवेति विशेषः । \*न विशिष्टेति\* ॥ अग्न्यादीनां संहरणाद्वायोः संवर्गत्वम्, वागादीनां च संहरणात् प्राणस्य संवर्गत्वम् ; एवं जीवात्मनि बृंहणक्रियाया ब्रह्मदृष्टिरित्यर्थः । \*नाप्याज्यावेक्षणेति\* ॥ यथा दर्श-पूर्णमासप्रकरणे “पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति” इति सामाम्नातं प्रकरणिना च गृहीतमुपांशुयागाङ्गभूताज्यद्रव्यसंस्कारतयाऽवेक्षणं गुणकर्म विधीयते, एवं कर्तृत्वेन क्रत्वङ्गभूत आत्मनि—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति दर्शनं गुणकर्म विधीयत इत्यर्थः ॥

अत्र किं प्रमाणान्तरविरोधात् संपदादिपरत्वं कल्प्यते ? किं वा वेदान्तानां स्वार्थे तात्पर्याभावात् ? न - तावदाद्यः ; जीव-ब्रह्मणोः प्रमाणान्तरगोचरतया तद्भेदस्यापि प्रमाणान्तरगोचरत्वात् ।

## प्रदीपः

धर्मसाध्यो मोक्ष इति दर्शनान्तरसम्मतमपि नोचितमिति भावः । एवं च मोक्षानित्यत्वापत्त्या न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शारत्वेण ब्रह्म समर्प्यत इति प्रतिपत्तिविधिविषयत्वे ब्रह्मणो मोक्षानित्यत्वापत्तिरेकं दूषणम् । परमार्थतस्तु निर्विशेषं ब्रह्मोपास्यमिति वाद एव न क्षोदक्षमः । उपासनं हि सम्पद्रूपम्, प्रतीकालम्बनमिति द्विविधम् । तत्रापि संपद्रुपासनं किञ्चित्कर्माङ्गम्, किञ्चित् स्वतन्त्रफलसाधनमिति वस्तुस्थितिः । तत्र स्वतन्त्रं संपद्रुपासनमेकगुणकत्वेन साम्यप्रयुक्तम् । यथा वायोः संवर्गरूपेणोपासनम्, मेनसो वाऽनन्तत्वगुणयोगेन विश्वदेवत्वोपासनम् । इदन्तु सगुणस्यैव ब्रह्मणः संभवति, न निर्विशेषस्येति न संभवदुक्तिकमपीत्याह—\*न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमिति\* ॥ प्रत्यगभिन्ननिर्विशेषोपासनमित्यर्थः । संपद्रूपम् = गुणसाम्यप्रयुक्तद्रूपोपासनमित्यर्थः । निर्विशेषत्वं गुणसाम्यप्रयुक्ततदात्मभावश्च विरुद्ध इति भावः । प्रतीकोपासनत्वमप्यत्र बाधितमित्याह—\*नाप्यध्यासरूपमिति\* ॥ मनसि ब्रह्मत्वमिव जीवे ब्रह्मत्वमारोपितमिति हि तदा स्यात्, तत्र च ब्रह्मैव बाधिते स्यादिति प्रतीकपदस्थानेऽध्यासपदप्रयोगेण सूच्यते । गुणसाम्यप्रयुक्तमिव क्रियासाम्यप्रयुक्तमपि संपद्रुपासनं नात्र प्रसरतीत्याह—\*नापि विशिष्टक्रियेति\* ॥ प्रत्यगभिन्ने हि ब्रह्मणि क्रियालेशस्याप्यसंभवाद् नोक्तरूपमप्युपासनमत्र भवति । उद्गीथोपासनादिवत् कर्माङ्गमिदमुपासनं सम्पद्रूपम्, अत्र च न गुणसाम्यं क्रियासाम्यं वा नियतमिति शङ्काऽपि न सावसरा, यतः कर्माङ्गत्वं सन्निपत्योपकारकत्वरूपं न



ब्रह्मास्मि” (बृह० १।४।१०) “अयमात्मा ब्रह्म” (बृह० २,५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्यते । “भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः” (मुण्ड० २।२।८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफल-श्रवणान्युपपद्येरन् । “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” (मुण्ड ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् । तस्मान्न संपदादि-रूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या ।

#### पञ्चपादिका

वगमपरः पदसमन्वयो विना कारणेन स्वेच्छामात्रेण संपदादिपरः परिकल्प्येत । तदवगमनिमित्तं च मिथ्याज्ञानापायपूर्विका विस्मृतहस्तगतसुवर्णावासिवद्ब्रह्मावाप्तिः फलमनुभवारूढमपहूयेत । “नेह नानास्ति किंचने”ति च भेदाभावश्रुतिरुपपद्येत । तस्मान्न संपदादिवत्पुरुषव्यापारपरतन्त्रा ब्रह्मविद्या, किन्तु प्रत्यक्षादिजनितज्ञानवदपरामृष्टहानोपादानवस्तुस्वरूपमात्रनिष्ठेत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

तथाहि—“तत्त्वमसी”ति नवकृत्वोऽभ्यस्तस्य “अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्ये”त्यैकात्म्यसिद्धयेऽर्थवादो गृह्यते । “अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षयलोका भवन्ती”ति भेददर्शनं निन्द्यते । तथा—“अहं ब्रह्मास्मी”त्यस्य “स एष इह प्रविष्टः” इत्याद्यर्थवादः । “अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमि”त्यादिभेदप्रतिषेधश्च तात्पर्यहेतुरुपादीयते । तथा—“एष त आत्मे”ति बहुकृत्वोऽभ्यस्तस्य “नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे”त्यादिभेदापवादेन तात्पर्यं शायते । तथा—“स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक” इत्यस्य तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशति”त्यर्थ-वादः । तथा “उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवती”ति भेददर्शनापवादः । तथा—“एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यति”त्यस्य “स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यते”त्यर्थवादः ॥ तदेवं सर्ववेदान्तेषु तत्र तत्रावस्थात्रयपर्युदासेन ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिपाद्यमानं द्रष्टव्यम् । न हि भेददर्शनापवादेन ब्रह्मण एव जीवात्मना प्रवेशार्थवादेन च ब्रह्मात्मैकत्वं तत्र तत्राभ्यस्यावस्थात्रयसंबन्धविरोधनिराकरणेन च । प्रतिपाद्यमानं तात्पर्यहीनमिति युक्तं वक्तुमिति । \*किंच\* अविद्यानिवृत्तिर्ब्रह्मात्मभावश्च विद्याफलं श्रूयते । नच संपदादिपरत्वे तदुपपद्यते ; -अन्यस्यान्यात्मताविरोधात्, अप्रमाणत्वाच्च । अतः फलवचनसामर्थ्यादपि ब्रह्मात्मैकत्वपरः पदसमन्वय इत्याह—\*तदवगमनिमित्तं चेति\* ॥ उपसंहरति—\*तस्मान्न संपदादिवदिति\* ॥

#### ऋजुविवरणम्

भेददर्शननिषेधादि, तेनापि न वस्तुसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*नहि भेददर्शनापवादेनेति\* ॥ \*ननु\* न ब्रह्मण एव

#### तत्त्वदीपनम्

ब्रह्मैक्यपरत्वमेव कुतः समधिगतम् ? इत्याशङ्क्योपक्रमादिनेत्याह—\*तथाहीति\* ॥ शाखान्तरपर्यालोचनयाऽपि प्रत्यग्ब्रह्मैक्यपरं शास्त्रमित्याह—\*अथेति\* ॥ अत्रैव बृहदारण्यकगतं वाक्यान्तरं पठति—\*तथैव इति\* ॥ तैत्तिरीय-कवाक्यमुदाहरति—\*तथा स य इति\* ॥ तत्रैव भेददर्शनस्यापोद्यमानत्वादपि शास्त्रस्य तत्र तात्पर्यमित्याह—\*तथो-दरमिति\* ॥ ऐतरेयकवाक्यमुदाहरति—\*तथैतमेवेति\* ॥ “ततममि”त्यत्र मकारश्छान्दसः । ततमित्यर्थः । \*सीमान-मिति\* ॥ मूर्द्धन्यनाडीमित्यर्थः । शाखान्तरीयवाक्यानि चैक्यपराणि द्रष्टव्यानीत्याह—\*तदेवमिति\* ॥ तात्पर्य-लिङ्गास्तित्वे च तात्पर्यप्रत्याख्यानमशक्यमित्याह—\*नहीति\* ॥ इतोऽप्यैक्यपरं शास्त्रं न संपत्परमित्याह—\*किं चेति\* ॥ “अविद्यायाः परं पारं तारयसि” “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्यादिवाक्यादविद्यानिवृत्त्यादिसिद्धिरित्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*नचेति\* ॥ पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वाऽन्यस्यान्यात्मकत्वं विरुद्धमित्यर्थः । अविद्यानिवृत्त्यसंभवे हेतुसाह—\*अप्रमाणत्वादिति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

अत्र कश्चिदाह—ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नोऽयं जीवः । ततश्च ब्रह्मणो नित्यमुक्तता जीवस्य च नित्यवद्धता व्यवस्थामश्नुते, अत्यन्ताभेदे तु ब्रह्मैव स्वसंसाराय कथं जगदुत्पादयेत् ? विरुद्धा च विशुद्धस्याशुद्धता-प्रतिपत्तिरिति, \*अलोच्यते\* ; किमात्मिकेयं भिन्नाभिन्नता ? न तावज्जातिव्यक्ति-गुणगुणि-कार्यकारण-विशिष्ट-स्वरूपांशांशिभावनिबन्धना ; जीव-ब्रह्मणोस्तेषामभावात्प्रकारान्तरेण भेदाभेददर्शनात् । “ममैवांशो जीवलोकः” इति स्मृतेरंशांशितेति चेत्, न ; “निष्कलं निष्क्रियमि”ति श्रुतिविरोधात् । “पादोऽस्य सर्वा भूतानी”ति चाल्प-तामात्रविवक्षयोक्तम् ; वाक्यस्य ब्रह्मानन्त्यप्रतिपादनपरत्वात्, सांशत्वे च पटादिवदवयवारभ्यत्वप्रसङ्गात् । \*ननु\* स्वाभाविकी निरवयवता, बुध्याद्युपाधिनिमित्तं सांशत्वमिति चेत्, न तावदुपाधिना विदार्य पृथक्क्रियते जीवः ; खङ्गधारासमाविद्धेऽप्याकाशे निरवयवे भेदनादर्शनात् । उपाधिभिश्च स्वात्मानं विदार्य संसारमनु-

## ऋजुविवरणम्

संसारः, अपित्वविद्याविशिष्टस्य चैतन्यस्य, न स्वसंसाराय जगदुत्पादकत्वमित्याशङ्क्याह—\*विरुद्धा चेति\* ॥ असङ्गस्य संसारासंबन्धात् तस्मिन् प्रतीतिर्न युज्यत इत्यर्थः ॥ \*ननु\* “पादोऽस्य सर्वा भूतानी”ति श्रुत्यैव सांशत्वं प्रतीयत इत्याशङ्क्याह—\*पादोऽस्येति\* ॥ कथं श्रुतेर्भागे मुख्याया आनन्त्यमात्रपरत्वम् ? मुख्यार्थहाने कारणा-भावादित्याशङ्क्याह—\*सांशत्वे चेति\* ॥ \*ननु\* स्वाभाविकीति\* ॥ औपाधिके तु सांशत्वे न तदारभ्यत्वम्, नापि श्रुतिविरोधः ; व्योमादावदर्शनादिति भावः । एवं भेदाङ्गीकारेऽपि बन्ध-मोक्षव्यवस्था स्वपक्ष इति यदुक्तम्, तदपि न संभवति ; स्वसंसाराय जगदुत्पादकत्वे विशुद्धस्याशुद्धत्वविरोधस्त्वत्पक्षेऽपीत्याह—\*उपाधिभिश्चेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

प्रत्यग्रह्यैक्यमङ्गीकृत्यात्यन्ताभेदमाक्षिपति—\*अत्र कश्चिदिति\* ॥ उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह—\*ततश्चेति\* ॥ सृष्ट-त्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—\*अत्यन्तेति\* ॥ इतोऽपि नात्यन्ताभेद इत्याह—\*विरुद्धा चेति\* ॥ यद्यप्यौपाधिक-भेदेनोक्तव्यवस्थासंभवः, तथाऽपि दूषणान्तरविवक्षया भेदाभेदपक्षः समुत्थापित इति द्रष्टव्यम् । प्रत्यग्रह्यणोः काल्प-निकभेदसंभवात्सृष्टेरविद्यात्मकत्वाच्च न दोषगन्धोऽपीत्याह—\*अत्रोच्य इति\* ॥ दुर्निरूपश्चायं पक्ष इत्याह—\*किमात्मिकेयमिति\* ॥

प्रत्यग्रह्यणोः किं जातिव्यक्ति-गुणगुणि-कार्यकारण-विशिष्टस्वरूपांशांशितान्यतमत्वेन भिन्नाभिन्नत्वम् ? उत प्रका-रान्तेणेति किंशब्दार्थः । आद्यं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ प्रत्यग्रह्यणोर्द्रव्यत्वान्न जातिव्यक्तिता, गुणगुणिता वा संभवति । नापि कार्यकारणता ; जीवस्यानादित्वात् । नापि विशिष्टस्वरूपभावः ; दण्ड्यादिवत्पारतन्त्र्याप्रतिपत्तेः । नाप्यंशांशिता ; तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*प्रकारान्तरेणेति\* ॥ जीव-ब्रह्मणोर्भेदाभेदादंशांशिता-निबन्धनौ, नच तत्र प्रमाणाभाव इत्याह—\*ममैवेति\* ॥ श्रुति-स्मृत्योः श्रुतेः प्राबल्यात्तद्विरोधेन स्मृतेः प्रामाण्य-मित्याह—\*न निष्कलमिति\* ॥ श्रुत्यनुगृहीतस्मृत्यांशांशिभावसिद्धिमाशङ्क्याह—\*पादोऽस्येति\* ॥ “गायत्री वा इदं सर्वं भूतमि”त्युपक्रम्य ब्रह्मणः पूर्णताप्रतिपादनान्न भाग-भागिता । पुरुषसूक्तेऽपि “उतामृतत्वस्येशानः” इत्यनवच्छिन्न-वस्तुप्रतिपत्तेर्नांशांशिभावविवक्षेत्यर्थः । किंच ब्रह्मण्यंशित्वं किं स्वाभाविकम् ? उतोपाधिनिमित्तम् ? नाद्य इत्याह—\*सांशत्वं इति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*नन्विति\* ॥ निरंशस्य स्वाभाविकत्वादंशांशितायाश्चोपाधिनिमित्तत्वाद् न स्मृतेः श्रुतिविरोध इत्यर्थः ॥ औपाधिकोऽप्यंशांशिभावः किं तात्त्विकः ? उत कल्पितः ? नाद्य इत्याह—\*न तावदिति\* ॥ किंच किं ब्रह्मोपाधिं सृष्ट्वा स्वयं संसारमनुभवति ? आहो अन्यस्य ससारिणः संसारमापादयति ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*उपाधिभिरिति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*नचोपाधीनामिति\* ॥ उपाधिसृष्टेः प्रागौपाधिक-

## प्रदीपः

प्रामाणिकम्, भिन्नप्रकरणस्थत्वादित्याह—\*नाप्याज्यावेक्षणादिवदिति\* ॥ आज्यावेक्षणं दर्शपूर्णमासप्रकरणे “पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवती”ति विहितमुपांशुयागाङ्गभूताज्यसंस्कारतया गुणकमेति याशिका मन्यन्ते । तेन न्यायेन प्रत्यगभिन्नपरमात्मस्वरूपज्ञानमपि क्रत्वङ्गकर्तृसंस्कारकतया गुणकर्म भवतु, इति सन्निपत्योपकारकतामात्मज्ञानस्याशङ्क्य निरासार्थमिदं वाक्यं प्रवृत्तम् । अत्रापि



## पञ्चपादिकाविवरणम्

भावयता ब्रह्मणा स्वात्मनि व्यामोह एव प्रकटितः स्यात् । नचोपाधीनामन्यार्थतया सृष्टिः ; अन्याभावात्, प्रागभिन्नानां जीवानामन्यत्वाभावात्, द्रव्येणैव द्रव्यविदारणात्कर्माविद्यासंस्काराणां सतामप्यनुपाधित्वात् ॥

अथ भेदोऽनिष्पन्नोऽप्यौपाधिको व्यज्यत इति, तर्ह्यनादिरेव भेदः । स च जाति-व्यक्तिभावादिनिबन्धनो ब्रह्मणि जीवे च न स्यात् । नील-पीतादिवत्स्वाभाविको भेदो द्रव्यत्वादिजातिनिबन्धनश्चाभेद इति चेत्, तर्हि तद्वदेव—“अयमात्मा ब्रह्मे”ति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, तस्यैव प्रवेशश्रुतयश्च बाध्येरन् । एकत्वानुमानं च दर्शितम् । न निष्पन्नः, नाप्यनादिः, किंतूपाधिनिबन्धनस्तत्र प्रकाशते भेद इति चेत्, स तर्ह्यतस्मिन्-स्तदारोपो विभ्रम एव स्यात् । नच प्रत्यक्षादिभिर्जीवब्रह्मभेदो गृह्यत इत्युक्तम् । आगमश्च “नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे”ति भेदं प्रतिषेधति । अभेदवचनानि तानीति चेत्, मैवम् ; “एष त आत्मे”त्यादिनाऽभेदं प्रतिपाद्यैव पुन-भेदस्य तत्रैव प्रतिषेधात्, कथं वा सत्यप्यभेदेऽविद्या-काम-कर्मव्यवस्था ? न ह्याकाशं घटेनावच्छिद्य तदन्तर्धूमादि-समावेशने सत्याकाशस्य धूमादियोगः परिहर्तुं शक्यते । \*ननु\* भेदाद् व्यवस्थाऽपि विद्यते, तर्हि ब्रह्मण्य-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* जीव-संसारयोरुपाधिसंसर्गः, अतो न दोष इत्याशङ्क्याह—\*नचोपाधीनामिति\* ॥ \*ननु\* जीवो ब्रह्मणो भिन्नः, अतः कथमन्याभावः ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रागभिन्नानामिति\* ॥ \*ननु\* उपाधिसृष्टेः प्रागपि नाभिन्नत्वम् ; प्रागप्युपाधीनां कर्माविद्यादीनां भेदकानां विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह—\*द्रव्येणैव द्रव्येति\* ॥ औपाधिकः =

## तत्त्वदीपनम्

जीवरूपाभावान्न तदर्थमुपाधिसृष्टिरित्याह—\*अन्याभावादिति\* ॥ ब्रह्मणो भावात्तदभिन्नो जीवोऽप्यस्तीत्या-शङ्क्याह—\*प्रागभिन्नेति\* ॥ जीवस्य ब्रह्मात्रत्वे वस्तुतस्तदन्यत्वं न स्यात्, न खलु कलशस्य स्वस्मादन्यत्वं दृष्टमित्यर्थः । किमन्तःकरणं भेदकम् ? उत कर्म ? आहो मिथ्याज्ञानम् ? अथवा तत्संस्कारः ? नाद्यः ; सुषुप्तौ तदभावादित्यभिप्रेत्य पक्षान्तराणि निरस्यति—\*द्रव्येणेति\* ॥ द्रव्येण परश्चादिना वृक्षादीनां विदारणं दृष्टम्, कर्मादीनां चाद्रव्यत्वाच्च विदारकत्वमित्यर्थः । विदारणात्प्राग् जीवाभावान्न तदाश्रितं कर्म । यद्यस्ति, तर्हि नौपा-धिकमित्यभिप्रेत्योक्तम्—\*सतामपीति\* ॥

“औपाधिकः” इत्यनेन शब्दोपाधितो जायमानत्वं नोच्यते, किं तूपाधिप्रयुक्तत्वम्, यथा द्रव्यत्वस्य गुणवत्त्व-प्रयुक्तत्वम्, तद्वदिति शङ्कते—\*अथ भेद इति\* ॥ अनिष्पन्न इति छेदः । द्रव्यत्ववद्भेदस्याप्यनादित्वं स्यादित्याह—\*तर्हीति\* ॥ अस्तु, को दोष इति ? अत्राह—\*सचेति\* ॥ जाति-व्यक्त्यादिभावाभावेऽपि नील-पीतयोर्यथा व्यावृत्तत्वम्, तद्वदिति शङ्कते—\*नीलपीतेति\* ॥ अत्यन्तभेदशङ्कां निरस्यति—\*द्रव्यत्वेति\* ॥ भिन्नयोर्द्रव्ययोर-भेदस्य घटादावदृष्टत्वात्प्रत्यग्ब्रह्मणोरपि तदनुपपत्तिरित्याह—\*तर्हीति\* ॥ किं च “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि”त्यादौ ब्रह्मण एव बुद्ध्याद्यनुप्रवेशेन संसारित्वेन प्रतिपत्तेर्भेदाभेदादित्याह—\*तस्येति\* ॥ श्रुत्यनुग्राहकमनुमानमप्यस्ती-त्याह—\*एकत्वेति\* ॥ अलक्तकाद्युपाधिसंसर्गजनितस्फटिकलोहितताप्रतिभासवद् भेदप्रतिभासोऽपि भ्रम इति पक्षान्तर-मुत्थापयति—\*न निष्पन्न इति\* ॥ दृष्टापत्त्योत्तरयति—\*स तर्ह्यतस्मिन्निति\* ॥ किंच स्वाभाविके भेदे किं प्रत्यक्षादि प्रमाणम् ? उतागमः ? नाद्य इत्याह—\*नचेति\* ॥ “तयोः प्रत्यक्षागोचरत्वादि”त्यत्रोक्तमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*आगम इति\* ॥ चशब्दस्त्वर्थः । आगमस्य न भेदे प्रामाण्यम्, किं तु तन्निषेध इत्यर्थः । निषेध-वचनान्यन्यविषयाणीति शङ्कते—\*अभेदेति\* ॥

अभेदप्रतिपादनात् पृथग्भेदस्य निषिध्यमानत्वाद् न निषेधस्याभेदविषयत्वमित्याह—\*न हीति\* ॥ \*अत्यन्ताभेदमिति\* ॥ “द्वा सुपर्णे”त्यादिना भेदस्यापि प्रतिपत्तेर्नात्यन्ताभेद इत्याशङ्क्याह—\*कथं वेति\* ॥ अव्यवस्थायां हेतुमाह—\*नहीति\* ॥ अत्यन्ताभेदाभावाद् व्यवस्था सिध्यतीति शङ्कते—\*ननु भेदादिति\* ॥ अत्यन्तभेदाभावाद्भवस्यापि स्यादित्याह—\*तर्हीति\* ॥ अविद्यासंसृष्टे ब्रह्मणि न तत्संसर्गः संभवेत् ; विरुद्धत्वात्,



## पञ्चपादिकाविवरणम्

विद्यादिसंसर्गोऽसंसर्गश्चेत्युभयमपि स्यात् । \*ननु\* विरुद्धमिदमापाद्यते, कोऽयं भेदाभेदवादिनो विरोधो नाम ? एकोपाधावेकस्यैव भावाभावोपगमादभेदो नाभावः, किन्त्वैक्यमेव धर्मान्तरमिति चेत्, तथाऽपि—‘अहं मनुष्यो’ ‘द्वौ चन्द्रावि’त्यादावैक्यभेदयोर्भेदैक्यज्ञानाभ्यां बाधदर्शनाद्भेदाभेदौ विरुद्धावेकत्राभ्युपगच्छता किमिति भावाभावाविदानीं ब्रह्मणि नाभ्युपगम्येयाताम् ? \*किंच\* प्रत्येकं देहपटावयवेषु मलसंसृष्टेषु मलिनः पटोऽहं मलिन इति वाऽवयविनि मलसंसर्गनिश्चयात् फलवचनानां च वर्तमानापदेशिनां प्रत्यक्षविरुद्धतयाऽर्थवादत्वात्, सत्यपि भेदे जीवसमवायिभिर्मलैरवयवि ब्रह्म मलभूयिष्ठमेवेति निश्चीयेत । \*किंच\* ब्रह्मण्यविद्यादिमलसंसर्गमप्यसहमानोऽतिभक्तिविलसितान्तःकरणः कथं तैरेव मलैरभेदं सहते !!! निरवद्यश्रुतिविरोधान्नाभेद इति चेत्, न ; सर्वात्मत्वश्रुतेः । अत एव पापीयानयं पक्ष इत्युक्तम् । \*ननु\* उपाधिभेदेन व्यवस्थाप्यते, \*न\* ; अर्थतो भेदनाभावे परमार्थसत्यस्य संसारसम्बन्धस्या-

## ऋजुविवरणम्

उपाध्यधीन इत्यर्थः । \*तर्हि तद्वदेवेति\* ॥ नीलं पीतमिति यथा सामानाधिकरण्यं नास्ति, तद्वदत्रापि न भवेदित्यर्थः । अर्थतो भेदं निराकृत्य भेदे प्रमाणमपि नास्तीत्याह—\*नच प्रत्यक्षादिरिति\* ॥ यद्वा प्रमाणसिद्धे कथमारोपितत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*नच प्रत्यक्षादिभिरिति\* ॥ एवं स्वरूपतः प्रमाणतश्च ‘भेदं निराकृत्येदानीं व्यवस्थाऽपि न संभवति, यद्वा—“य आत्मनी”ति भेदस्यापि प्रतिपादनादत्यन्तं भेद इत्याशङ्क्याह—\*कथं वा सत्यपीति\* । \*अभेदो नाभाव इति\* ॥ न भेदाभेदवादिना भावाभावावेकत्राङ्गीकृतौ ; अभेदशब्दस्य भेदाभावावाचकत्वादित्यर्थः । \*तथाप्यहं मनुष्य इति\* ॥ अयमर्थः—यद्यप्यभेदशब्देन न भेदाभावाभिधानम् ; तथाऽपि न तदन्यवाचकत्वम्, किन्तु विरोधिधर्मान्तरम् ; विरुद्धयोरपि चेदेकत्र स्थितिः, भावाभावयोरपि स्यादिति ॥ \*ननु\* सति भेदे भिन्नाकारसमवेतानामविद्या-काम-कर्मणां कथं ब्रह्मसंबन्धापादनम् ? अभिन्नाकारसंबन्धाभावात्, नापि संसर्गोऽसंसर्गविरोधोऽस्ति, इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च प्रत्येकमिति\* ॥

\*ननु\* जीवाद् ब्रह्म मलभूयिष्ठम् ; मलानां ब्रह्मात्मकत्वादित्याशङ्क्याह—\*किञ्च ब्रह्मण्यविद्यादीति\* ॥ “निरवद्ये”त्यविद्याराहित्यं प्रतीयते ; ब्रह्मणो मलसंसर्गाङ्गीकारे तद्विरोधादित्यर्थः । अत एव पापीयानिति निरवद्यश्रुतावन्यतत्संबन्धो निषिद्धः, भेदाभेदे तदुभयं भवेदिति पापीयानित्युक्तम् । मा भूद् भेदमात्राद् व्यवस्था, उपाधिना व्यवस्थाभावदर्शनाद् अत्रापि सा भविष्यतीति चोदयति—\*ननूपाधिभेदेनेति\* ॥ “परमार्थसत्यस्येत्यनेन व्यवहारिकसत्यतत्त्वदीपनम्

वह्नौ शैत्यवदिति शङ्कते—\*ननु विरुद्धमिति\* ॥ त्वन्मते विरोध एवासिद्ध इत्याह—\*कोऽयमिति\* ॥ कथं विरोधाभावः ? इत्याशङ्क्य किमभेद इत्यत्र नजा भेदाभावो विकल्प्य विधीयते ? उत तदन्य इति ? आद्ये विरोधासिद्धिरित्याह—\*एकेति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*अभेद इति\* ॥ \*ननु\* अभेदस्याभावे मुख्यत्वान्नार्थान्तराभिधायित्वं घटते, तथाऽपि तदङ्गीकृत्याह—\*तथापीति\* ॥ ‘अहं मनुष्यः’ इत्यैक्यस्य भेदज्ञानेन बाधः, ‘द्वौ चन्द्रावित्यत्र भेदस्यैक्यज्ञानेन बाधो दृश्यते, तथाऽत्रापि भेदाभेदयोरिति । अंशांशित्वपक्षे दोषान्तरमाह—\*किंचेति\* ॥ “निश्चयादि”त्यस्य जीवसमवायिभिर्मलैरवयवि ब्रह्म मलभूयिष्ठमिति निश्चीयत इत्यनेन संबन्धः । \*ननु\* जीवस्यैव मलवत्त्वमसिद्धम् ; “लिप्यते न स पापेने”त्यादिना मलसंबन्धराहित्यप्रतिपत्तेरित्याशङ्क्याह—\*फलवचनानामिति\* ॥ इतोऽपि ब्रह्मणि मलसंसर्गो दुर्वार इत्याह—\*किं च ब्रह्मणीति\* ॥ “अतिभक्ती”त्यत्र भेदाभेदयोरिति शेषः । “न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः” इत्येतद्विरोधान्न मलाभिन्नं ब्रह्मेति शङ्कते—\*निरवद्येति\* ॥ निरवद्यत्वेऽपि श्रुतिविरोधस्तुल्य इत्याह—\*न सर्वात्मत्वेति\* ॥ \*विरुद्धत्वे त्विति\* ॥ विरुद्धत्वादुभयोः प्रामाण्यमयुक्तमित्याशङ्क्य भेदाभेदेऽन्यतरप्रामाण्याङ्गीकरणे कारणाभावात्पक्ष एवायं त्याज्य इत्याशयेनाह—\*अत एवेति\* ॥ व्यवस्थितविषयत्वात् श्रुतिद्वयमप्यविरुद्धमिति शङ्कते—\*ननूपाधीति\* ॥ \*उपाधिभेदेनेति\* ॥ उपाधिकृतभेदेनेत्यर्थः । औपाधिकभेदस्य किं परमार्थत्वम् ? उत न ? नान्त्य इत्याह—\*नार्थत इति\* ॥ नापि प्रथमः ;



## पञ्चपादिकाविवरणम्

भेदे सति व्यवस्थानुपपत्तेः । मिथ्याभेदेन तु मिथ्यासंसारव्यवस्था युज्यते; बिम्ब-प्रतिबिम्बयोस्तथा दर्शनात् ।  
 \*किंच\* ब्रह्म सर्वान् जीवानात्मत्वेन पश्यति वा ? न वा ? न चेत्, सर्वज्ञताहानिः । पश्यति चेत् स्वात्मन्येव  
 संसारं पश्येत् । \*ननु\* भेदमपि पश्यति, तर्हि ब्रह्माऽऽत्मनि संसारं पश्यति, न पश्यतीति स्यात् । \*किंच\*  
 सत्यपि भेददर्शने मिथ्यातादात्म्याभिमानाद् देहधर्मानात्मनि पश्यति, किमु वक्तव्यं सत्येनाभेदाभिमानेनेति ? न  
 ह्यभेदापरोक्ष्ये सति भेदोऽप्यपरोक्षोऽवभासमानो दृष्टः ॥

\*किंच\* सर्वं च सत्यतयैवात्मन्यपरोक्षतया सर्वाधारस्य सर्वज्ञस्य पश्यतो ब्रह्मणः सर्वसंसारसम्बन्धः  
 स्यात् । \*किंच\* ज्ञान-ध्यान-समाधिभिरेकस्मिन्नुपाधावेकस्य जीवस्य प्रलीयमानेऽपि न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति ;  
 परिशिष्टसर्वोपाधितद्धर्मसंबन्धप्रतिभासनात् । नच सर्वोपाधिविनिर्मोक्षः केनचिदपि कर्तुं शक्यते । मम

## ऋजुविवरणम्

व्यवच्छेदः कृतः । \*ननु\* त्वत्पक्षेऽपि कथं व्यवस्था ? इत्याशङ्क्य दर्शयति—\*मिथ्याभेदेन त्विति\* ॥  
 \*ननु\* संसारसंबन्धेऽपि न संसारित्वम्, किन्तु स्वगतत्वेन दर्शनम्, नच ब्रह्मणि तदस्ति, अतो न संसारित्व-  
 मित्याशङ्क्याह—\*किञ्च ब्रह्म सर्वान् जीवानिति । \*ननु भेदमपीति\* ॥ भेददर्शनस्य विद्यमानत्वाज्जीवगतत्वेन  
 पश्यतीत्यर्थः । \*ननु\* संसारित्वासंसारित्वं ब्रह्मणो न संभवति, किन्त्वसंसारित्वमेव ; तद्वेतोभेददर्शनस्य सर्वदा  
 विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह—\*किञ्च सत्यपि भेददर्शन इति\* । \*ननु\* देहधर्माध्याससमये भेददर्शनाभावात्तद्धर्म-  
 दर्शनमत्र ; सर्वदा भेददर्शनात्, न जीवसंसारस्य स्वात्मनि दर्शनमित्याशङ्क्याह—\*नह्यभेदापरोक्ष्ये सतीति\* ॥  
 परोक्षस्तु नापरोक्ष्यनिमित्तकार्यप्रतिबन्धक इति भावः ॥ \*ननु\* भ्रान्तस्य भेदस्याभेदापरोक्ष्ये नापरोक्ष्यम्, सत्यस्य  
 तु भेदस्याभेदापरोक्ष्येऽप्यापरोक्ष्यात्स्वात्मगतत्वेन संसारदर्शनाभावान्न संसारित्वमित्याशङ्क्याह—\*सर्वाधारस्येति\* ॥  
 सर्वस्यात्मतापरोक्ष्यं संसारित्वे हेतुः, आपरोक्ष्ये च सर्वज्ञत्वं हेतुः । “सत्यत एवात्मनी”त्यत्र सर्वाधारत्वं हेतुः ॥  
 यद्वा—पूर्वं संसारित्वमात्रं जीवाभेदेनापाद्येदानीं सर्वसंसारसंबन्धो हेत्वन्तरेणापाद्यत इति, एवं सति निष्प्रयोजनतया  
 शास्त्रमनारम्भणीयं स्यादित्याह—\*किञ्च ज्ञानध्यानेति\* ॥ \*ननु\* सर्वोपाधिविलयेन मोक्षो भवत्वित्या-  
 शङ्क्याह—\*नच सर्वोपाधीति\* ॥ \*ननु\* त्वत्पक्षेऽपि समानोऽयं दोषः ; एकोपाधिविगमेऽपीतरसंसारस्य

## तत्त्वदीपनम्

औपाधिकस्य स्फटिकलौहित्यवत् परमार्थत्वासंभवादित्यर्थः । त्वयाप्यौपाधिकभेदेन व्यवस्थाऽऽस्थितेत्या-  
 शङ्क्याह—\*मिथ्येति\* ॥ प्रत्यग्ब्रह्मणोरभेदाद् ब्रह्मण्यपि संसार इत्युक्तम्, तत्र संसार्यभिमानाभावान्न ब्रह्मणः  
 संसारित्वमित्याशङ्क्याभेदे सोऽपि दुर्वार इत्याह—\*किंच ब्रह्मति\* ॥ द्वितीयेऽपीदं निरूपणीयम्—किमभेदवद्  
 भेदमपि पश्यति ? उत नेति ? तत्रान्त्यं दूषयति—\*न चेदिति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*पश्यति चेदिति\* ॥  
 द्वितीयाद्यमुत्थापयति—\*ननु भेदमपीति\* ॥ विरोधापातान्मैवमित्याह—\*तर्हि ब्रह्मेति\* ॥

इतोऽप्यात्मनि संसारसंबन्धोऽपरिहार्य इत्याह—\*किं च सत्यपीति\* ॥ \*सत्येनेति\* ॥ परमार्थत एवा-  
 भेदाभिमाने सतीत्यर्थः । दृष्टान्ते भेदज्ञानस्य परोक्षत्वात् तस्मिन् सत्यप्यभेदाभिमानोचितकार्यं स्यात्, इह तु  
 भेदज्ञानस्यापरोक्षत्वात् तदुचितकार्योपपत्तिरित्याशङ्क्याह—\*न हीति\* ॥ शुक्तिकां साक्षात्कुर्वतस्तद्विपरीतरूप्य-  
 साक्षात्कारवदभेदं करतललग्नविल्वफलवदपरोक्षतया पश्यतस्तद्विपरीतभेदापरोक्ष्यानुपपत्तिरित्यर्थः । रजतस्य समा-  
 रोपितत्वादधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेऽनवभासनं युक्तम्, इह तूभयोरपि सत्यत्वान्मैवमित्याशङ्क्याह—\*किं च  
 सर्वेति\* ॥ संबन्धाभावान्न सर्वदर्शनं संभवतीति शङ्कां निरस्यति—\*सर्वाधारस्येति\* ॥ संबन्धाभावेऽपि  
 तज्ज्ञानाभावान्न संसारित्वमित्यत्राह—\*सर्वज्ञस्येति\* ॥ भ्रान्तदृष्टिवैलक्षण्यमाह—\*सत्यतयैवेति\* ॥

एवं भेदाभेदमते संसाराव्यवस्थामभिधाय मुक्त्यवस्थामाह—\*किं चेति\* ॥ किमेकोपाधिप्रविलयान्मुक्तिः ?  
 उत सकलोपाधिविलयात् ? नाद्य इत्याह—\*ज्ञानध्यानेति\* ॥ ज्ञानं प्रसिद्धम्, ध्यानं सजातीयप्रत्ययप्रवाहः,  
 तस्यापि प्रविलये तत्संस्कारमात्रावस्थानं समाधिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*न च सर्वेति\* ॥ त्वन्मतेऽ-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

पुनरेकोपाधिपरित्यागेन विम्बभूतब्रह्मात्मतापरोक्षावभासिनोऽपि प्रतिविम्बश्यामत्वादिभिरिव जीवसंसारैर्न संबन्धः; मिथ्यात्वेन तत्त्वज्ञानप्रतिहतत्वात् । स्वप्नादिवच्च तत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधिविनिर्मोक्षश्च युज्यते ; वामदेवादिमुक्त्येदानीं संसारानुपलब्धिः स्यादिति चेत्, एकैकमुक्तावप्यनन्तैरेव युगैरनन्तानां जीवानां मुक्तत्वात्तुल्येदानीं संसारानुपलब्धिः । इदानीं संसारदर्शनं तु परस्यापि तुल्यम् । अनुपपत्तिश्चावयोः समाना । अतो निरुपाधिक-चैतन्ये त्वयि ब्रह्मणि प्रत्यक्षे बन्धावभासे सोपाधिकचैतन्येषु तव मुक्तावभासो विभ्रमः । तद्विषयश्रुत्यादीनां

## ऋजुविवरणम्

स्वगतत्वेन दर्शनात् सर्वोपाधिविनिर्मोक्षस्याशक्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*मम पुनरिति\* ॥ नानाजीवजपक्षाश्रयणेन व्यवस्थामुपपाद्यैकजीवपक्षाश्रयेण सर्वोपाधिक्षयोऽप्युपपद्यत इत्याह—\*स्वप्नादिवदिति\* । यथा स्वप्नेऽनन्तोपाधिदर्शिनः परमार्थभूतस्यैकस्य प्रबोधे यत्किञ्चिदुपाधिजातं दृष्टम्, तस्य सर्वस्य प्रलये एवमत्राप्येक एव संसारी भ्रान्त्यानेकान् पश्यति, तस्य च तत्त्वज्ञाने सति तदज्ञानविजृम्भितं सर्वं प्रलीयत इत्यर्थः । \*ननु\* एकजीवपक्षे तस्य मुक्तत्वात्संसारानुपलब्धिः स्यादिति चोदयति—\*वामदेवादीति\* ॥ यच्चोद्यमुभयोः समानं न तत्रैकः पर्यनुयोज्यः, अत्र तु तत्रैव दूषणम् ; यत एकस्यैव बन्धः, तथात्वे च कस्यैकस्य बन्ध इति व्यवस्था न स्यात्; अनेकेषां प्रतीयमानत्वात्, अस्यैवेति निश्चयायोगात् । तदाभावे च शास्त्रे प्रवृत्तिर्न स्यात्; फलभाक्त्वानिश्चयात्, अथ यः सर्वान्,

## तत्त्वदीपनम्

प्युक्तानुपपत्तिस्तुल्येत्याशङ्क्य जीवभेदं तावदाश्रित्याह—\*मम पुनरिति\* ॥ \*जीवसंसारैरिति\* ॥ जीवान्तरसंसारैरित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*मिथ्यात्वेनेति\* ॥

जीवभेदेन व्यवस्थासंभवेऽप्येकजीववादे कथं सेत्याशङ्क्याह—\*स्वप्नादिवदिति\* ॥ सकलोपाधीनामविद्यात्मकत्वात्तस्याश्रयक्याद्विद्यया निवृत्तौ सर्वविलयोपपत्तिरित्यर्थः । एकजीववादे किमितः प्राक् केषाञ्चिन्मुक्तिरस्ति ? उत न ? द्वितीये 'वामदेवो मुक्तः' इत्यादिश्रुत्या विरोधः स्यादित्यभिप्रेत्याद्यं दूषयति—\*वामदेवेति\* ॥ त्वत्पक्षेऽप्ययं दोषः सम इत्याह—\*एकैकेति\* ॥ इदानीं संसारस्योपलभ्यमानत्वात्प्राग् न सर्वमुक्तिरित्याशङ्क्याह—\*इदानीं संसारेति\* ॥ यद्यपि संसारो दृष्टः ; तथाप्यनुपपन्नः स इत्याशङ्क्याह—\*अनुपपत्तिरिति\* ॥ पक्षद्वयेऽप्यनुपपत्तिसाम्ये कथमन्यतरपरिग्रहः ? तत्राह—\*निरुपाधिकेति\* ॥ अनवच्छिन्नचैतन्यं ब्रह्माऽविद्यातत्कार्यानुरागाद्बद्धम्, तथाचोपाधिभेदाज्जीवरूपं भिन्नत्वेन व्यवहियते, यथोदभाजनभेदेन सूर्यप्रतिबिम्बम् । ततश्चाविद्यानिवृत्तिमन्तरेण वामदेवादेर्मुक्तेरनुपपत्तेः साऽऽश्रयणीया, न च साऽऽस्थातुं शक्यते, इदानीन्तनसंसारोपलभ्यविरोधात्, तथा च वामदेवादेर्मुक्तिप्रतिभासो विभ्रम इत्यर्थः । तर्हि तन्मुक्तिश्रुत्यादिविरोध इति यदुक्तम्, तत्राह—\*तद्विषयेति\* ॥

## वार्तिकम्

श्रुतिविरोधेनातत्त्वज्ञानत्वमिति । तदेतत्सर्वमाशङ्कितं प्रत्याह—\*नचेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपदूपमित्यादिना\* ॥ कुतो नैते पक्षा भवेयुरिति ? तत्राह—\*संपदादिरूपत्वे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्म्ययमात्मा ब्रह्मे"त्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयो बाध्येतेति\* ॥

एतानि हि "तत्त्वमसी"त्यादीनि वाक्यानि महावाक्यानि भवन्ति ; सर्वेषामवान्तरपदार्थप्रतिपादकानां वाक्यानामेतदाकाङ्क्षयैतैरेकवाक्यतापन्नत्वात्, यथा समिदादिवाक्यानां दर्श-पौणमासवाक्येन तदाकाङ्क्षयैकवाक्यतापन्नत्वाद् भवति "दर्श-पौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः" इति वाक्यं तेषां महावाक्यमिति, तद्वत् । तथाच सर्वोऽपि वेदान्तगतो ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमुदाय एतेषामैव



## वार्तिकम्

“तत्त्वमसी”त्यादिमहावाक्यानां भवतीत्यतो वस्तुप्रकाशकसर्ववेदान्तभागस्यापि पीडाऽनेन दर्शिता भवति । वस्तुग्रहणेनारोपितब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादनपरत्वं वारयति ॥

कथं पुनः—“तत्त्वमसी”त्यादिवाक्यैकवाक्यतापन्नपदसमन्वयस्य ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादनपरत्वमवधार्यते ? उपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गादिति ब्रूमः । तथाचोक्तम्—“उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये” ॥ इति । तदेव हि लोके वेदे वाऽतत्परमित्युच्यते, योऽर्थो येन न विवक्ष्यते ; यथा विषभोजनवाक्यम्, यथा वा वायुक्षेपिष्ठादिवाक्यम् ; स्वार्थस्याविधित्सितत्वात् । विधित्सितत्वाविधित्सितत्वे एव हि विवक्षितत्वाविवक्षितत्वे इति मन्तव्यम् । एतच्च प्रहाधिकरणवार्तिके सुविस्पष्टम् । विधित्सितत्वमप्यज्ञातज्ञापनमेवेत्यवधार्यम् । तथाच तत्प्रतीतिशेषत्वमेव लोकवेदसाधारणं तात्पर्यमुक्तं भवति । वक्ष्यमाणरीत्या प्रमाणान्तरसंवादाद्यभावो वा तात्पर्यमित्यन्यदेतत् ॥

अविवक्षा तु तत्रैव भवति; यत्र प्रमाणान्तरसंवाद-विसंवादौ प्रयोजनाभावो वा, यत्र यद्वस्तु लोके वेदे वोपक्रम्य मध्ये वा परामृशन्ति, उपसंहरन्ति च, तत्र प्रमाणान्तरसंवादाविसंवादौ प्रयोजनाभावो वा नान्यतरोऽपि दृष्टः, यथा ज्वरितस्य कषायपानादौ, यथा वा स्वर्गकामस्य ज्योतिष्टोमादाविति स्वाभाविकप्रतिबन्ध-प्रहादुपक्रमोपसंहारौ भवति तात्पर्यस्य लिङ्गम् । एवमभ्यासादावपि । तत्रैव तदभावेन व्याप्तिर्द्रष्टव्या । न ह्यतात्पर्यविषयं वस्तु पुनः पुनः कथ्यते । न वा तदपूर्वम्, नापि फलवत्, नच श्रूयते, नाप्युपपत्ति-भिरुपपाद्यते, इति कुत्रचिल्लोके वेदे वा दृष्टचरमिति ॥

उपक्रमोपसंहारयोस्तु नैकैकस्य तात्पर्यलिङ्गत्वम् ; व्यभिचारात् । दर्श-पौर्णमासवाक्ये व्रतेनोपक्रम-दर्शनात्, छान्दोग्य-मुण्डकयोगार्हस्थ्याश्रमशरोव्रताभ्यामुपसंहारदर्शनादिति । तथाचैकैकमप्येतेषां यत्रास्ति, तत्र नातात्पर्यं वक्तुं शक्यते, किमु वक्तव्यमेतानि लिङ्गानि यत्र संभूय वर्तन्ते इति । वर्तन्ते चैतानि संभूय ब्रह्मणि श्रुतेस्तात्पर्यलिङ्गानि ॥

तथाहि—छान्दोग्यषष्ठप्रपाठके—“सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि”मि तदुपक्रमः । “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीति”तस्यैवोपसंहारः । तस्यैव “तत्त्वमसीति”नवकृत्वोऽभ्यासः । अपूर्वत्वन्तुतस्य प्रमाणान्तरानधिगतत्वात् सुप्रसिद्धमेव । तद्विज्ञानफलकीर्तनं च—“आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये”इति । “येनाश्रुतं श्रुतं भवती”त्याद्यर्थवादः । उपपत्तिप्रदर्शनं च “यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि”त्यादि ॥

बृहदारण्यकेऽपि मैत्रेयीब्राह्मणे “नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यात्मन उपक्रमः । “विज्ञातारमरे केन विजानीयादि”ति तस्यैवोपसंहारः । “आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते” “अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा” “सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे”त्यादिस्तस्यैवाभ्यासः । अपूर्वत्वं तु सुप्रसिद्धमेव । “यत्र त्वस्य

## प्रदीपः

शुक्तिस्त्वन्तस्य स्वरूपव्याक्रियैव पराक्रियैवेति न्याय एव । न हि कर्माङ्गकर्ता प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मेति तज्ज्ञानं नाज्यावेक्षणवत् सन्निपत्योपकारकतामर्हतीति भावः । तदेतदाह—\*संपदादिरूपे हीति\* ॥ ‘तत्त्वमसि’ ‘अहं ब्रह्माऽस्मि’ ‘अयमात्मा ब्रह्म’ ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ इत्यादिवाक्यानि हि निर्विशेषमेव बोधयन्तीति वदन्तो हि वृत्तिकारा न गुणक्रियानिमित्तं संपदाद्युपासनरूपं



## वार्तिकम्

सर्वमात्मैवाभूदिति सर्वात्मभावलक्षणफलकीर्तनम् । “एतावदरे अमृतत्वमि”त्यर्थवादः । “यथा दुन्दुभे-  
र्हन्यमानस्ये”त्याद्युपपत्तिः । एवमन्यत्राप्युक्तम् । एवंच सति षड्भिलिङ्गैर्विद्वान्तवाक्यानां पदसमन्वयस्य  
ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरत्वावधारणात्संपदादिरूपत्वे तद्विज्ञानस्य कल्प्यमाने स्यादेव तद्विरोधः ॥

\*न\* स्यात् ; तद्वाक्याद् ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुविषयप्रमाया एवानुत्पद्यमानत्वात्, पदार्थयोः परस्परा-  
न्वययोग्यताविरहात् । तथाहि—“तत्त्वमसी”तिवाक्ये तावत्तत्त्वपदयोरेकविभक्त्येकवचनान्तत्वेन सामानाधि-  
करण्यात्तत्पदार्थयोर्विशेषण-विशेष्यभावेनान्वयो वाच्यः । स च न तादात्म्यं समवायो वा नीलोत्पला-  
दाविव ; अकार्यकारणद्वययोस्तदसंभवात्, नाप्यभेदः ; विरुद्धयोस्तदयोगात्, सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं हि  
सत्पदवाच्यं पूर्वोक्तं परोक्षं तदा परामृश्यते, त्वमा तु तद्विपरीतगुणको जीवः श्रोतुरात्माऽपरोक्षोऽ-  
भिधीयते । नचैवंविधयोरेक्यं शीतोष्णयोरिव संभावयितुमपि शक्यम् ; किं पुनः श्रुतिप्रमाणेन प्रमाणयितु-  
मिति !! विरुद्धधर्मवत्त्वस्य भेदव्याप्तत्वात् । \*एतेन\*—लक्षणया विरुद्धांशं परित्यज्याविरुद्धयोर्विशेष्ययो-  
रैक्यप्रतिपादनमिति—\*अपास्तम्\* ; विरुद्धधर्मयोरेक्यासंभवादेव । \*ननु\* न तयोर्विरुद्धधर्मत्वं  
पारमार्थिकम् ; अविद्याकृतत्वादित्युपपादितमधस्तात् । तथाच तयोः परमार्थत एकस्वभावत्वात्तदैक्यो-  
पपादनं श्रुतेर्लक्षणयोपपन्नमिति चेत्, न ; अन्योन्याश्रयात् । उक्तविधया श्रुत्या तदैक्यसमर्पणे सति  
भेदकधर्माणामविद्यात्मकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च श्रुत्या तदैक्यसमर्पणमिति ।

\*स्यादेतत्\*—महावाक्यं होतृद्वान्तरवाक्यैः पदार्थशोधकैरेकवाक्यतां गच्छद्भिर्द्वैतत्वाद्युक्तहेतु-  
मिश्रोपाधीनामविद्यात्मत्वप्रदर्शनेन षड्विधैर्लिङ्गैर्वस्तुपरत्वावधारणेन च शोधिततत्त्वपदार्थयोरेक्यं  
लक्षणया बोध्यन्नान्योन्याश्रयमावहतीति चेत्, \*सत्यम्\* ; तथाऽपि लक्षणैव न संभवति । लक्षणावृत्तिर्हि  
द्विधा भवति—जहदजहत्स्वार्थभेदात् । तत्र जहत्स्वार्था नाम—स्वार्थं हित्वा तदविनाभूते वृत्तिः । तद्यथा  
—“क्वत्रिणो गच्छन्ती”त्यत्रैकसार्थवाहित्वलक्षणेन प्रवृत्तिनिमित्तान्तरेणाच्छत्रिच्छत्रिसमुदाये क्वत्रिशब्दस्य  
वृत्तिः । \*एतेन\*—स्वार्थविनाभावो न सर्वत्र लक्षणायापेक्ष्यते ; “क्वत्रिणो गच्छन्ती”त्यत्र व्यभिचारा-  
दिति तार्किकडिम्भभाषितम्—\*अपास्तम्\* ॥ सामीप्यबदेकसार्थवाहित्वस्याविनाभूतत्वात् । तथाचाहुः—  
“अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते” इति । एवं “काकेभ्यो ध्वि रक्ष्यतामि”त्यादावपि दध्युपघातक-  
त्वादिनिमित्तेनाजहत्स्वार्था बोद्धव्या । नचैतयोरेकतरलक्षणाऽपि प्रकृते संभवति ॥

तथाहि—न तावत्तत्त्वपदाभ्यां जहल्लक्षणया जीवेश्वरत्वरूपैक्यं बोधयितुं शक्यते ; तयोः स्वार्थैक-  
देशत्वात्, नाप्यजहल्लक्षणया ; अंशतो विरोधादिति । जहदजहल्लक्षणया बोध्यतामिति चेत्, न ;  
तादृशलक्षणवृत्त्यन्तरकल्पने प्रमाणाभावात् । “सोऽयं देवदत्तः” इत्यादौ प्रत्यभिज्ञामूलके वाक्ये  
क्लृप्ता सेति चेत्, न ; असिद्धेः । तत्तेदन्ताविशिष्टयोः पदार्थत्वाद्विशेषणयोश्च परस्परविरोधादन्वयानु-  
पपत्तेः । भागलक्षणायास्तु विशेष्यमात्रयोस्तत्सद्भावात्कथमसिद्धिरिति चेत्, न ; विशेषणयोस्तत्तेदन्तयोः  
पदार्थत्वावच्छेदकत्वेन प्रधानान्वयाप्रतियोगित्वाद्विरोधाभावात् ; अन्यथा ‘गामानय’ ‘गौर्गच्छति’  
‘राजपुरुषमानये’त्यादावपि लक्षणापत्तेः ; गोत्वस्यामूर्तत्वेनानयनाकर्मत्वात्, राज्ञश्चानयनान्वये द्वन्द्व-  
समासापत्तेस्तत्पुरुषाभावप्रसङ्गात् । तस्माद्भागलक्षणाया अभावाद् लक्षणान्तरासंभवाद्विरुद्धयोस्तत्त्वं  
पदार्थयोरेक्यासंभवात्संपदादिविज्ञानविधानपरमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यमिति ।

\*मैवम्\* ; “सोऽयं देवदत्तः” इत्यादावेव भागलक्षणायाः क्लृप्तत्वात् । तथाहि—“सोऽयमि”त्य-  
भिलापमूलप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण तावन्न तत्तेदन्ताविशिष्टयोर्भेदो विषयीकर्तुं शक्यते ; विरोधादतिप्रसङ्गाच्च ।



## वार्तिकम्

बाधाद् भ्रान्तित्वापत्तेः, किन्तर्हि ? तदुपलक्षितदेवदत्तस्वरूपमात्रयोः ; अबाधात् । एवं च सति तन्मूलप्रत्य-  
भिज्ञाप्रत्यक्षेण यदभेदो विषयीकृतः, वाक्येनापि परप्रत्यायनार्थेन स एव विषयीकर्तव्यः ; अन्यथा मूल-  
मूलिनोर्भिन्नविषयत्वेन वाक्याप्रामाण्यापत्तेः, तद्वक्तुः प्रतारकत्वापत्तेश्च, स्वयमन्वया प्रतीत्य  
परं प्रत्यन्यथोक्तत्वात् । नच “सोऽयमि”ति पदाभ्यां तत्तेदन्ताविशिष्टवाचकाभ्यां लक्षणांमन्तरेणाविशिष्ट-  
देवदत्तमात्राभेद उपस्थापयितुं शक्यते ; पदोपस्थितपदार्थसंसर्गस्यैव वाक्यार्थत्वात् । नच—ताभ्यां  
विशिष्टोपस्थापनेऽपि योग्यतया विशेष्ययोरेवाभेदप्रतियोगित्वम्, न तद्विशेषणयोः, पदार्थावच्छेदकत्वेनैव  
तयोरन्वयादिति—वाच्यम् ; योग्यता हि पदार्थयोरेवान्वय उपयुज्यते, नापदार्थयोः ; अतिप्रसङ्गात्,  
सर्वत्र लक्षणाभावप्रसङ्गाच्च, “गङ्गायां घोषः प्रतिवसती”त्यादौ शब्दात्प्रतीयमानप्रवाहान्निवृत्तरेण  
योग्यतया घोषवसतेरन्वयात्, गङ्गायास्तु तीरावच्छेदकत्वेन योग्यतयान्वयापत्तेर्लक्षणाबीजाभावात् ।  
तस्माद्येन रूपेण पदाभ्यां पदार्थावुपस्थितौ, तयोः पदार्थयोरेवान्वयबोधे जनयितव्ये योग्यतायां तद्वोधः,  
असत्यां च तद्याग्यतायां बाधः, लक्षणाया वा तद्योग्यपदार्थान्तरं कल्पयित्वा तद्वोध इति वक्तव्यम्,  
प्रकृते च तत्तेदन्ताविशिष्टावेव पदशक्त्योपस्थितौ पदार्थौ, न विशेष्यमात्रौ ; पदार्थैकदेशस्यापदार्थत्वात्,  
अन्यथा ‘ग्रामो दग्धः’ ‘पटो दग्धः’ इत्यत्रापि लक्षणाया अभावप्रसङ्गात् ; तत्रैव भागलक्षणायाः सर्व-  
रङ्गीकरणावश्यकत्वात् । अपिच तत्तेदन्तयोः किं पदार्थत्वावच्छेदकत्वात् पदार्थशरीर एव न प्रवेशोऽ-  
स्तीत्युच्यते, तथाच न विरोधः ? किं पदार्थशरीरे प्रवेशोऽपि न वाक्यार्थशरीरे प्रवेशः, ततश्च न विरोध  
इति ? नाद्यः ; पदार्थत्वावच्छेदकत्वस्यापि पदार्थत्वाङ्गीकारात्, अन्यथा घटत्वादेरपदार्थत्वप्रसङ्गात् ।  
अपि च तदेव हि पदार्थत्वावच्छेदकम्, यच्छब्दप्रवृत्तौ निमित्तम् । निमित्तं च तदेव भवति, यद्वधारणं  
शब्दादन्यतस्तत्काले न नियमेन संभवति ; अन्यथातिप्रसङ्गात् । तथाच यच्छब्दत्ववशाद् व्यक्तीनां  
शक्यत्वावधारणम्, स एव कथमपदार्थः स्यात् ? उपजीव्यविरोधात् । \*एतेन\*—तदुपलक्षिते शब्द-  
शक्त्यवधारणमिति—\*अपास्तम्\* ; उपस्थितस्यैवोपलक्षणत्वात्, प्रमाणान्तरस्योपस्थापकस्यासंभवोक्तेः  
शब्दादुपस्थितावुपलक्षणत्वासिद्धेः । \*ननु\* शब्दशक्त्योपस्थितस्याप्यवच्छेदकधर्मस्योपलक्षणमवि-  
रुद्धम् ; नहि विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा शक्त्या तदुपस्थितिः, किन्तर्हि ? स्वरूपेण शक्त्या  
तदुपस्थितौ पश्चाद् योग्यतया विशेषणतयोपलक्षणतया वाऽन्वय इति चेत्, न ; विशेषण-विशेष्य-  
भावेनैव शब्दशक्त्या तदुपस्थितेः, अन्यथा तस्य शब्दशक्त्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः । अपिच विशेषण-  
विशेष्यभावं विना स्वातन्त्र्येण घटपदाद् घट-घटत्वयोरुपस्थितौ गवादिशब्दवत्तस्यापि नानार्थत्व-  
प्रसङ्गः । नचैतदिष्टम् ; लोक-वेदविरोधात्, अपसिद्धान्तप्रसङ्गाच्च । प्रवृत्तिनिमित्ताभेदान्नैवमिति  
चेत्, न ; स्वातन्त्र्येण घटत्वाभिधाने तस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्यैवायोगात् । अपिच यदि स्वरूपेण  
घटादिशब्दाद्धर्म-धर्मिणोरुभयोरुपस्थितिः, न विशेषण-विशेष्यभावेन, तर्हि घट-घटत्वशब्दयोः पर्याय-  
तापत्तिः, नियमेन ताभ्यां यथासङ्ख्यं घटत्वविशेषण-विशेष्यकप्रतीत्योरनुपपत्तिश्च स्यात् । नच—  
घटत्वशब्देन धर्ममात्रमभिधीयते, न तद्विशेषणतया धर्म्यपीति—वाच्यम् ; प्रकृति-प्रत्ययाभ्यामुभयार्थो-  
पस्थापकत्वात्, प्रत्ययस्य च प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वात् ॥

\*एतेन\*—योगो नाम न रुढितो वृत्त्यन्तरमस्ति, विशिष्टार्थोपस्थितिस्तु वाक्यादेवेति—\*निरस्तम्\* ;  
सर्वप्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वस्य स्वशक्त्या तेनाप्यङ्गीकारात्, अन्यथा वाक्यार्थस्या-  
पूर्वत्वात्तद्व्यतिरिक्तं विनैव तदुपस्थितिप्रसङ्गात्, व्याकरणादिवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । अवयवशक्तिग्रहार्थमेव



## वार्तिकम्

व्याकरणादि, न विशिष्टशक्तिग्रहार्थमिति चेत्, न ; वृद्धव्यवहारदेव तत्सिद्धेः । वृद्धव्यवहारसिद्धस्यैवा-  
पशब्दाद्विवेकार्थं व्याकरणादीति चेत्, न ; रुढितोऽप्रसिद्धशब्दस्यापि व्युत्पादनार्थत्वाद् व्याकरणादेः ;  
अन्यथा व्याकरणमित्यादिसंज्ञाव्याघातापत्तेः । प्रकृत्यर्थस्य लोकतः प्रसिद्धत्वेऽपि प्रत्ययार्थोऽप्रसिद्धः,  
अतो व्युत्पाद्य तत्प्रदर्शनार्थं व्याकरणादीति चेत्, अस्त्वेवम् ; तथाऽपि प्रकृत्यन्विततयैव तदर्थान्वित-  
स्वार्थोपस्थापकत्वात् सर्वप्रत्ययानामित्युक्तत्वात्, अन्यथा साधुत्वार्थापत्तेः, विशिष्टपदस्य विशिष्टार्थशक्ते-  
रावश्यकत्वात् । \*ननु\*—प्रत्ययस्य विशिष्टार्थवाचकत्वे प्रकृतिरनुवादिका सती साधुत्वार्था स्यात्,  
तथाच विशिष्टशब्दस्य विशिष्टार्थवाचकत्वमसिद्धम् । विशेष्यस्य प्रकृतेरवाचकत्वादिति—चेत्, \*न\* ;  
वैश्वदेवीपदलब्धद्रव्यस्यामिक्षापदेनेव प्रकृत्या तद्विशेषोपस्थापकत्वान्मिलित्वाभिधानान्तरसिद्धिरित्या-  
स्ताम् । अपिच पङ्कजमित्यत्र योगरूढिलक्षणं वृत्तिद्वयं तैरेवाङ्गीकृतम् । अतः स्ववचनविरोधादपि  
योगो नास्तीत्यभिधानं साहसमात्रमिति । सर्वथाऽपि प्रकृति-प्रत्ययाभ्यां विशिष्टार्थापस्थितेर्न घटत्वशब्देन  
धर्ममात्रमभिधीयते । किं तर्हि, घटविशेषणकस्तदसाधारणो धर्मः, घटशब्देन च घटत्वविशेषणको घट इति  
वाच्यम् ; अन्यथा पर्यायतापत्तिरपरिहार्या स्यात् । अतोऽस्ति तदवच्छेदकतयोपस्थितस्याप्यवश्यं  
तत्पदार्थकोटावन्तर्भाव इति । अथ पदार्थकोटावन्तर्भावेऽपि पदार्थतावच्छेदकधर्मस्य न वाक्यार्थकोटा-  
वन्तर्भावः ; तत्त्वादेवेति द्वितीयः पक्षः, सोऽपि न ; संसृष्टपदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वात्, पदार्थकोटावन्तर्भावा-  
वश्यकत्वात् । “सोमेन यजेते”त्यादिविशिष्टविधानाभावप्रसङ्गाच्च, सोमस्य यागान्वयित्वेन भावना-  
न्वयायोगात् । अपिच द्रव्यावच्छेदकस्याप्यारुण्यगुणादेः क्रियान्वयायोग्यस्य निरपेक्षतृतीयाश्रुत्या  
क्रियाकरणत्वं श्रुतम्—“अहण्या पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाती”ति, तच्च तव मते विरुध्येत ; पदार्था-  
वच्छेदकत्वेन क्रियान्वयासंभवात् । तत्र च साक्षात्क्रियान्वयायोग्यस्यारुण्यगुणादेः कारकावच्छेदकत्वेन  
कारकत्वाभ्युपगमेऽन्यत्रापि न तदण्डवारितं स्यात् । एवं पर्णत्वादिजातेरपि जुह्वाद्यवच्छेदकत्वेन क्रिया-  
न्वयित्वमुदाहर्तव्यम् । \*एतेन\*—‘गामानय’ ‘गौर्गच्छती’त्यादौ लक्षणाप्रसक्तिरपि—\*निरस्ता\* ;  
गोत्वस्य पर्णत्ववद् द्रव्यावच्छेदकत्वेन क्रियान्वयोपपत्तेरनुपपत्त्यभावात् । नचैवं सति “गौर्नित्ये”त्य-  
त्रापि लक्षणाया अभावप्रसङ्गः ; जातिमात्रशब्दार्थत्वपक्षे तु व्यक्तेः कथञ्चिदपि नित्यत्वान्वयायोग्यत्वाद्  
लक्षणावश्यंभावात् । यदप्युक्तम्—पदार्थावच्छेदकस्य प्रधानान्वयप्रतियोगित्वे “राजपुरुषमानये”त्यत्र  
राज्ञोऽप्यानयनान्वयित्वं स्यात्—इति, तदपि मन्दम् ; नह्यवच्छेदकमात्रस्य प्रधानान्वयान्वयित्वमस्माभि-  
रुच्यते, येनोक्तप्रसक्तिः स्यात्, किं तर्हि ? विशेषणतयावच्छेदकस्य । नच राज्ञोऽत्र पुरुषविशेषणत्वम् ;  
पुरुषं प्रति प्राधान्येन तदुपसर्जनत्वानुपपत्तेः । किं तर्हि ? स्वसंबन्धोपलक्षणत्वम् ; राजपदेन षष्ठ्यर्थस्य  
लक्षितत्वात्, तत्संबन्धस्यैव पुरुषविशेषणत्वात्, तस्य चावच्छेदकत्वेन क्रियान्वयित्वाविरोधात् ।  
अत एव कर्मधारयातिरिक्तसमासे सर्वत्र लक्षणाङ्गीकृता तद्विद्धिः । नचैवं सति “सोऽयमि”ति  
वाक्येऽपि लक्षणां विनैव तत्तेदन्तयोरुपलक्षणतया तदवच्छेदकत्वम् ; विशिष्टे पदशक्तेरुक्तत्वात् । तस्मात्—  
“सोऽयमि”त्यत्र पदोपस्थितयोस्तत्तेदन्ताविशिष्टयोर्विरोधादभेदबोधानुपपत्तेस्तदुपलक्षितयोस्तु विरोधेन  
तत्सिद्धयर्थमवश्यमकामेनापि भागलक्षणाऽङ्गीकरणीया । तथाच तद्वत्—“तत्त्वमसी”त्यादिवाक्येऽपि  
साऽविरुद्धा भविष्यति ॥

यत्तु हठी(१) लक्षणां विनैव “सोऽयमि”ति वाक्येऽभेदान्वयमविरुद्धं मन्यते, अस्तु नाम, नास्माकं

(१) अयं तु हठी वेदान्तपरिभाषायां “वयं तु ब्रूमः” इत्यारभ्य स्वपक्षत्वेन विना लक्षणां ‘तत्त्वमसि’वाक्यार्थ-



## वार्तिकम्

काचित् क्षतिरस्ति ; “तत्त्वमसि” वाक्येऽपि तद्वदेवान्वयोपपत्तेः । नह्यस्माभिर्लक्षणा तत्र व्यसनितया स्वीक्रियते, अपितु विरोधपरिहारार्थम् । स चेद्विरोधो लक्षणां विनैव तार्किकेण निराकृतः, न तादृशं तार्किकशिष्यं प्रत्यस्माभिर्महावाक्ये लक्षणा प्रदर्शनीयेति । अथ कस्तत्त्वंपदयोर्वाच्योऽर्थः, को वा लक्ष्य-माणां इति ? \*उच्यते\*—आकाशादिभौतिकजगत्कारणं सर्वज्ञं “सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तत्तेजोऽसृजत,” “सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः,” “एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्, स आत्मे”त्यादिश्रुतिप्रकाशितं मायासंवलितं परोक्षं ब्रह्म तच्छब्दस्य वाच्योऽर्थः । कार्यकारणसङ्घातात्मा-भिमान्यविद्याविशिष्टस्तद्धर्मेषु कृतात्मधर्मत्वाभिमानः सन् सुखी, दुःखी, कामी, काणः, कुण्ठः, रोगी, गौरः, स्थूलः, मनुष्यः, ब्राह्मणश्चण्डालोऽज्ञो मूढोऽभिज्ञः, शास्यः, जीवः, इत्याद्यभिमानशताकुलोऽपरोक्षो जीवस्त्वंपदस्य वाच्योऽर्थः । मायाविद्ययोस्तु भेदो गुणवैषम्यकृत उक्तोऽधस्तात् । “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “नेति नेति” “अस्थूलमनण्वहस्वमि”त्यादिवाक्यप्रकाशितं ब्रह्म तत्पदस्य लक्ष्योऽर्थः । “दृष्टेर्द्रष्टा, श्रुतेः श्रोता, मतेर्मन्ता, विज्ञातेर्विज्ञाता, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्”, “तत् केन कं पश्येत् ?” “स वा अयं महानज आत्माऽजरोऽमरोऽभयः” इत्यादिश्रुतिप्रकाशितनिष्कृष्टोपाधिकं साक्षिचैतन्यं त्वंपदस्य लक्ष्योऽर्थ इति ॥

\*ननु\* तत्त्वंपदयोर्लक्ष्येऽर्थे “सत्यमि”त्यादिपदान्यभिधया वर्तन्ते ? लक्षणया वा ? नाद्यः ; “यतो वाचो निवर्तन्ते” इति श्रुतिविरोधात् । अवाधितत्वज्ञानत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तेन च लोके सत्य-ज्ञानादि-शब्दप्रवृत्तेः, शुद्धे च तदनङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः ; पदान्तराभिहित एव लक्षणया लोके शब्दप्रवृत्ति-दर्शनादिति चेत्, \*न\* ; असिद्धेः, मीमांसकनये पदान्तरानभिहितेऽपि वाक्यार्थे लक्षणादर्शनात् । नहि नाना-पदार्थघटितोऽपूर्वो वाक्यार्थः केनचित् पदेनाभिधातुं शक्यते । न वा तद्वाचकं पदमस्ति ; तदशब्दत्वव्याघातात्, तार्किकादिनयेऽपि गुडमाधुर्यादिजातिविशेषे पदान्तरानभिधेयेऽपि लक्षणया मधुरादिसामान्यशब्दप्रयोगदर्शनात् । नच—सामान्यशब्दाद् विशेषस्याभिधेयवोपस्थितिरिति—वाच्यम् ; सामान्याकारेण तथा तदुपस्थितावपि विशेषाकारेण तन्मात्रविवक्षया लक्षणां विनोपस्थित्य-नुपपत्तैस्तैरप्यङ्गीकारात् । तस्माद् न लोके पदान्तराभिहित एव लक्षणेति नियमसिद्धिरिति । अपिच सर्वत्र लोके वेदे चाभिधेयाविनाभूते लक्षणेति सामान्यनियमः । तच्चाविनाभूतं पदान्तराभिहितं भवतु, मा वा भूत, इति नात्रादरः क्रियते ; पदान्तरादुपस्थितेऽप्युक्तनियमसत्त्वे लक्षणप्रवृत्तिसंभवात् । प्रकृते चास्त्यविनाभावः ; ज्ञानत्वादिविशिष्टाविनाभूतत्वात् शुद्धचिन्मात्रस्वरूपस्य । यद्यपि ज्ञानत्वं नाम सामान्यं न शुद्धचिन्मात्रे सम्भवति ; व्यक्तेरभेदात्, अन्तःकरणवृत्तीनां च बहुत्वेनाज्ञानत्वात्, ज्ञानोपाधित्वेन च ज्ञानत्वोपचारात् ; तथाऽप्यविद्यैकस्यापि चिन्मात्रस्य विषयसम्बन्धोपाधिभेदान्नाना-व्यक्तित्वेन तदनुगतत्वेन च सामान्यत्वेन प्रतीतेराध्यासिकं तदस्त्येवेति न काचिदनुपपत्तिः । \*एतेन\*—सत्तासामान्यमपि—\*व्याख्यातम्\* ॥ तथाच यथा ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इत्यत्र प्रकर्षगुणप्रकाशत्व-सामान्यवाचकाभ्यां प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां जाति-गुणादिमात्रशब्दार्थत्वपक्षे जहल्लक्षणया, विशिष्टशब्दार्थत्वपक्षे च जहदजहल्लक्षणया चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रं बोध्यते ; तद्वत् सत्य-ज्ञानपदाभ्यामप्यत्र लक्षणया ब्रह्मस्वरूपं

व्यवस्थापनाद् यदि परिभाषाकार एव, तर्हि परिभाषाकारसमयो वार्तिकसमयतः पूर्वतन इति १६श शतकस्यारम्भसमयोऽन्ततः परिभाषाकारसमय इति । परिभाषाकारा श्रीमदप्यव्यदीक्षितेभ्योऽपि प्राचीना इति प्रतिभाति । सति चैवमसदीयवेदान्त-परिभाषाभूमिकायां सूचनमिदमपि योजनीयं संस्करणान्तरे योज्येतेति निवेदयामः ।



## वार्तिकम्

बोध्यत इति श्रिष्टम् ॥ अनन्तपदे च 'नास्ति अन्तस्त्रिविधः परिच्छेदो यस्येति' बहुव्रीहिसमासान्निषेध-  
मुखेनान्यपदार्थलक्षणार्थतयाऽस्यैव लक्षणेति न पृथग् विभाव्यते । एवं "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्यादि-  
वाक्येऽपि पूर्वोक्तरीत्या लक्षणा द्रष्टव्या ॥

यदपि तत्र केनचिद् मन्देन वेदार्थानभिज्ञेनोक्तम्—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्यत्र विज्ञानशब्दो न  
भावसाधनः ; द्रव्य-गुणयोरभेदानुपपत्तेः, किं तर्हि ? अधिकरणसाधनः ; तयोराश्रयाश्रयिभावसंभवात्,  
आनन्दशब्दोऽपि मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तः ; उक्तहेतोः, क्लीबलिङ्गतादर्शनाच्च, गुणवचनत्वे तु नित्यपुंलिङ्गत्वात्  
तदनुपपत्तेः—इति, तदयुक्तम् ; भाने विज्ञानशब्दस्य रूढत्वात्, गच्छतीति "गौः" इतिवद् व्युत्पत्त्य-  
नादरात् । नच—द्रव्य-गुणयोरभेदासंभवेन रूढ्यनाश्रयणमिति—वाच्यम् ; पूर्वप्रतिज्ञातस्य प्राधान्याद्  
गुणत्वासिद्धेः, दृश्यस्य दर्शनार्थत्वात्, वैशेषिकपरिभाषायाश्चावैदिकत्वेनानादरणीयत्वात्, आश्रया-  
श्रयितया प्रतीतेश्च सुखात्मनोः परस्परव्याप्तिनिवन्धनत्वादित्युक्तत्वात्, "विज्ञानघन एव" इत्यादिश्रुति-  
शतविरोधाच्च । \*एतेन\*—सुखरूपत्वमपि ब्रह्मणोऽनुपपन्नम् । वदति च—"आनन्दमयोऽध्यासादि"-  
त्यत्र । नच क्लीबलिङ्गानुपपत्तिः ; लिङ्गव्यत्यासस्य श्रुतिषु बहुधा दर्शनात्, "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्"  
इत्यत्रैव तस्योभयवासिद्धत्वात्, नहि तत्र परेण मत्वर्थीयाच्प्रत्ययोऽङ्गीकृतः ; गुणाभिप्रायेणैव तेन  
तत्राऽऽनन्दपदस्याङ्गीकरणात् । तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् ॥

\*ननु\*—एकेन पदेन लक्षणयोक्तलक्षणब्रह्मसिद्धेः पदान्तरोपादानं निरर्थकम् ; नह्युक्तज्ञानलक्षणं  
ब्रह्माऽऽनन्दादिलक्षणं व्यभिचरति, नाप्यानन्दलक्षणं ज्ञानादिलक्षणम्, एवमन्यत्राप्युहम् ; नच—तद्विरुद्ध-  
व्यावृत्तिरेव प्रयोजनमिति—वाच्यम् ; तस्या अप्यर्थसिद्धत्वादिति—चेत्, \*सत्यम्\* ; तथाऽपि शाब्दी  
ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते, इति न्यायात् श्रुतशब्देनैव तदाकाङ्क्षापूर्णं युक्तम्, अर्थतस्तु कल्पनायाः  
पृथक्त्वेनाप्रसरात् । यावन्ति पदानि, तावन्ति वा सन्तु ब्रह्मलक्षणानि ; अनेकलक्षणाभिमानस्य  
तत्त्वसंवादात् ॥

\*ननु\*—चिन्मात्रात्मके ब्रह्मणि लक्ष्यतावच्छेदकाभावात् कथं लक्षणाप्रवृत्तिः स्यादिति—चेत्,  
\*न\* ; अनियमात् । यत्र हि लक्ष्यमनेकम्, तत्र लक्ष्यतावच्छेदकमपेक्ष्यते—यथा कृष्यच्छत्रिसमुदाये,  
यत्र त्वेकं लक्ष्यम्, तत्र न ; यथा "गभस्तिभिः सविताऽभ्यधावत्" । यथा घटादिशब्दोऽभिधेयानेक-  
त्वात्प्रवृत्तिनिमित्तं घटत्वादिकमपेक्ष्यैव स्वार्थमभिधत्ते, न तथाऽऽकाशशब्दोऽभिधेयैव ; तेनाऽऽनन्त्य-  
व्यभिचारादिदोषाभावात् तत्कल्पनस्याप्रसरात्, असंभवाच्च । आकाशत्वं संभवति तदिति चेत्,  
न ; व्यक्त्यभेदेनाऽऽकाशत्वजातेरसंभवात् । शब्दाश्रयत्वमुपाधिराकाश इति चेत्, न ; आकाशत्वाव-  
च्छेदेन शब्दाश्रयत्वग्रहात् तस्य तत्त्वानुपपत्तेः । तस्मात् 'पुरुषस्य चैतन्यमि'तिवद् आकाशस्वरूपमेव  
व्यवहारार्थं तथा व्यपदिश्यत इति वाच्यम् । तथाच न तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तं परमार्थतो भवति ।  
तस्मादभिधावल्लक्षणायामपि प्रवृत्तिनिमित्तनियमभावात् तदभावेऽप्युपपन्ना ब्रह्मणि लक्षणेति ॥

\*ननु\*—एवं तर्हि शुद्धतत्त्वपदार्थोपस्थापकावान्तरवाक्यैरेव ब्रह्मात्मबोधादनुवादकत्वेन महावाक्य-  
मनर्थकं स्यात्, अखण्डार्थाभ्युपगमेन पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वादिति—चेत्, \*न\* ; महावाक्यस्य भेदभ्रम-  
निरासित्वेन सार्थकत्वात् । अविद्या होकमपि तत्त्वमाश्रय-विषयभावेन व्यवच्छिद्य भेदभ्रमरूपापन्ना  
संसारकारणमित्युक्तम् । स च भेदभ्रमो द्विवद्भ्रमवद् एकचन्द्रसाक्षात्कारात् तयोरैक्यसाक्षात्कारादेव  
निवर्तते, नान्यथा ॥



## वार्तिकम्

तत्साक्षात्कारश्च “दशमस्त्वमसी”ति वाक्यवद् महावाक्यादेव भवति । यथाहि—कश्चिन्महामना दशभिर्मिलित्वाऽरण्यं गतः । तत्र स्वीयानां व्याघ्रादिनाऽपहरणशङ्कया गणनां कुर्वन् एक-द्वि-त्रिक्रमेण नवपर्यन्तगणनया नवसंख्यकानां ज्ञान आत्मानं पश्यन्नपि न दशमत्वेन प्रतिपद्यते । अप्रतिपद्यैव सहाय-सङ्गस्थो दशमश्चोरेण व्याघ्रेण वा हत इति मन्यमानः शिरस्ताडमाक्रन्दति । तं चाक्रन्दन्तमनु सर्वे तत्सङ्गस्था आक्रन्दन्ति । एवं परस्परमभिवीक्ष्याक्रन्दमानेषु तेषु तदाक्रन्दं श्रुत्वा कश्चिदुपगत्य प्रधानं रोदनकारणं पृष्ठवान् । तेन चोत्तरितस्तद्भ्रान्तिं बुद्ध्वा ‘दशमस्त्वमसी’त्युपदिदेश । तदुपदेशाच्च साक्षादात्मानं दशमत्वेन प्रतिपद्यते । प्रतिपन्नश्च भ्रमकृतक्रन्दनादीन् जहाति ॥

\*एतेन\*—शब्दश्रवणानन्तरं चक्षुषा मनसा वा तस्य दशमत्वविषयकसाक्षात्कारः, नतु शब्दात्, ततः सर्वक्लेशान् जहाति । शब्दस्य परोक्षज्ञानजननस्वभावादिति—अपास्तम् ; तत्पूर्वमपि विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षे सत्यपि चक्षुर्मनोभ्यां ज्ञानादर्शनात्, तदुत्तरकाले च तद्दर्शनादन्वय-व्यतिरेकाभ्यामुपदेशस्यैव तज्ज्ञापकत्वात्, अनुभवविरोधाच्च । ब्रवीति चैवं स एव भ्रान्त एवैवमर्थमनुभूय—“अहमेतावन्तं काल-मात्मानं विस्मृत्याऽसम्, त्वदुपदेशाच्चात्मानं साक्षादुपलभ्य गतमोहसुखं संवृत्तोऽस्मीति । स चानुभव-स्त्व मते विरुद्धेयत । नच तस्य भ्रान्तित्वं कल्पयितुं शक्यते ; अवाधात् ॥ शब्दस्य परोक्षज्ञानजनन-स्वाभाव्याद् युक्त्या तद्वाध इति चेत्, न ; प्रत्यक्षेणैव युक्तेर्वाधोपपत्तेर्वैपरीत्यात् । बलवता हि दुर्बलं बाध्यते, नतु दुर्बलेन बलवत् । प्रत्यक्षं तु युक्त्यपेक्षया बलवदिति वैपरीत्यात् । दुर्बलयापि युक्त्या देहात्मप्रत्यक्षं बाधितं दृष्टमिति चेत्, न ; असिद्धेः । नहि श्रुतिप्रमाणनिरपेक्षया देहादि-व्यतिरिक्तात्मसिद्धिरित्युक्तमेवाधस्तात् । श्रुतिप्रमाणं तु दोषशङ्कारहितत्वात् सर्वापेक्षया बलव-दित्युक्तमेव ॥

अत एव न परोक्षज्ञानजननस्वाभाव्यनियमः शब्दप्रमाणस्य ; परोक्षविषय एव तन्नियमात्, अन्यथान्यथा नियममन्यथा दर्शयतोऽप्रामाण्यापत्तेः । परोक्षत्वापरोक्षत्वे ह्यात्मानात्मवस्तुस्वभाव-लक्षणे एव भवतः । स चात्मवस्तुकृतोऽविद्यात्मकत्वेन ; नित्यपरोक्षस्वाभाव्याया अविद्यायाः साक्षात्त्वान्तरायत्तत्वेन नित्यपरोक्षत्वरूपत्वात्, “अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव नीहारेण प्रावृताः” “तमसा गूढम्” इत्यादिश्रुतेः । आत्मवस्तु तत्त्वमित्यपरोक्षस्वाभाव्यम् ; विद्यास्वरूपत्वात्, “यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म” इति श्रुतेश्च । तत्रैवं सति यत्रात्मन्यपि ब्रह्मणि परोक्षत्वं भासते, तद् अविद्यया तदनात्मत्वापादना-देव, यत्र वा देहान्तःकरणादावनात्मनि नित्यापरोक्षत्वम्, तत्र तत् तथा तदात्माभेदसंपादनादेव । एवंच घटादौ पराविषये नित्यपरोक्षस्वभावेऽपरोक्षस्वभावत्वमन्तःकरणादिद्वाराऽऽत्माभेदादेवेत्यवोचाम प्रतिकर्मव्यवस्थायाम् ॥

तत्रैवं सत्यनात्मनि नित्यपरोक्षे प्रवर्तमानं शब्दादि प्रमाणं प्रत्यक्षवदन्तःकरणादिद्वाराऽऽत्माभेदेन बोधयितुमशक्यत्वात् स्वस्वरूपेण परोक्षतया वा बोधयदप्रमाणत्वं जहाति ; अनात्मवस्तुस्वरूपस्य तादृक्त्वात्, आत्मनि तु नित्यापरोक्षस्वभावे प्रवर्तमानं परोक्षत्वेनान्यथारूपेण शुक्तिकां रजतत्वेनेव तं बोधयत् कथं नाप्रमाणं भवेत् ? अतः प्रत्यक्षवद् यत्प्रमाणमात्मनि शब्दो वाऽनुमानं वाऽर्थापत्तिर्वा प्रवर्तते, तत्सर्वमन्यत्र परोक्षजननसामर्थ्येऽपि तस्मिन् स्वप्रामाण्यायापरोक्षबोधमेव जनयतीति श्लिष्टम् । तथाच “दशमस्त्वमसि” इति वाक्यादात्मविषयापरोक्षज्ञानमैवोत्पद्यते, न परोक्षज्ञानम्, अन्यथा तस्मादपरोक्षभ्रमो-च्छेदानुपपत्तेरिति । एवं “सत्यमि”त्यादिवाक्यादुक्तविषयाऽनवच्छिन्नावखण्डौ तत्त्वपदार्थौ पश्यन्नपि



## वार्तिकम्

महावाक्याद्विना भेदभ्रमतिरोहितनेत्रत्वाद् न तयोरभेदमध्यवस्यति ; भेदभ्रमबीजं तु तयोः परोक्षत्वा-  
परोक्षत्वे इत्यवोचाम । तथाच 'दशमस्त्वमसि' इति वाक्यादात्मनो दशमत्वज्ञानेनादशमत्वबोधनिवृत्ति-  
वत् "तत्त्वमसि" इति वाक्याद् ब्रह्मण आत्मत्वबोधेनैव तदनात्मत्वबोधो निवारणीयो भवति, नान्यथा ;  
लक्षणवाक्यतो ब्रह्मबोधेऽप्यनात्मत्वभ्रमानिरासादिति सर्वानुभवसिद्धत्वात् ॥

\*ननु\*—ब्रह्मणो लक्षणवाक्यादात्मत्वानध्यवसाने ब्रह्मत्वसिद्धिरेव न स्यात्, अनात्मनोऽब्रह्मत्वा-  
दिति चेत्, \*सत्यमध्यवस्यति\* ; किन्तु पारोक्ष्येऽप्यपरोक्षत्वभ्रमप्राकट्याद् नाध्यवस्यतीव । यस्य तु  
पुरुषधौरेयस्य तत एव परोक्षभ्रमनिवृत्तिः, तस्य तु न महावाक्यापेक्षा । किं बहुना ? यस्य तु वामदेहादेः  
स्वानुभवादेव जन्मान्तरीयसंस्कारपाकाद् वस्त्वध्यवसानम्, तस्य तु न लक्षणवाक्यस्याप्यपेक्षेत्यवोचाम—  
'नित्यानित्यवस्तुविवेकवार्तिके' । नचैवमेकं पुरुषं प्रति श्रुतिवाक्यं निरर्थकमिति कृत्वाऽन्यं प्रत्यपि निरर्थकं  
भवति, येन तस्याप्रामाण्यप्रसक्तिः स्यात् । नहि सर्वं वाक्यमुपदेष्टारं प्रति निरर्थकमित्युपदेश्यं प्रत्यपि  
निरर्थकं भवति ; तथा सति शब्दप्रमाणोच्छेदापत्तेः ॥

\*एतेन\*—तत्त्वपदार्थौ वाक्यार्थाद् भिन्नौ ? अभिन्नौ वा ? आद्येऽखण्डार्थत्वहानिः, द्वितीय एकेनैव  
पदेन तत्सिद्धेर्वाक्यं व्यर्थमिति—\*अपास्तम्\* ; वाक्येनैव भेदभ्रमनिरासिज्ञानजननात्, पदमात्रस्य स्वार्थ-  
स्मारकत्वेनाप्रमाणत्वाच्च । नच—पदार्थ-वाक्यार्थयोरेकत्वे वाक्यार्थापूर्वत्वव्याहतेर्वाक्यस्याप्यप्रमाणत्वं  
तुल्यमिति—वाच्यम् ; पदार्थ-वाक्यार्थयोरेकत्वेऽपि "भेदो भिन्नः" "प्रमेयत्वं प्रमेयम्" इत्यादावपूर्वबोध-  
दर्शनात् प्रामाण्यात्तेः ॥

\*एतेन\*—अखण्डवाक्यार्थत्वं न कुत्रापि दृष्टमित्यपि—\*निरस्तम्\* ; "भेदो भिन्नः" इत्यादावेव  
तद्दर्शनात्, एकस्य कल्पनया विशेषण-विशेष्यभावेनाप्यखण्डत्वाव्याहतेः । प्रकृतेऽपि वाक्यार्थबोधात्पूर्वं  
कल्पनायाः सत्त्वाद् उत्तरकाले तदसत्त्वस्यादोषकरत्वादित्यास्तां विस्तरः ॥ तस्मादुपपन्नस्तत्त्वपदार्थयो-  
रैक्यबोध इति ॥

\*अस्त्वेवम्\* ; तथाप्यसिपदं किमर्थम् ? नच—"सर्वं वाक्यं क्रियाया परिसमाप्यते" इति  
न्यायाद् वाक्यपरिसमाप्त्यर्थं तदिति—वाच्यम् ; प्रकृते क्रियाया असंभवेन तदनुपपत्तेः, उक्त्यायस्य  
क्रियापरवाक्याभिप्रायत्वादिति—चेत्, \*न\* ; सर्वशब्दसंकोचे प्रमाणाभावात् । नच—सिद्धार्थ-  
प्रतिपादके क्रियाया असंभव एव तत्संकोचे मानमिति—वाच्यम् ; धात्वर्थस्य क्रियात्वेनाभिमतत्वात्,  
अस्त्यर्थसिद्धार्थप्रतिपादनेऽपि संभवात् ॥

कोऽस्तेरर्थः ? "अस् भुवि" इत्यनुशासनात् सत्ता ॥ \*ननु\* प्रकृतेऽसि सा कस्य सत्ता प्रति-  
पाद्यते ? \*मध्यमपुरुषनिर्देशादुपदेश्यस्य ब्रह्मात्मैकत्वसत्तेति ब्रूमः । \*ननु\*—तत्सत्ता ततो भिन्ना ?

## प्रदीपः

ब्रह्मविज्ञानं स्वीकर्तुं शक्नुवन्ति । तन्मते हि ज्ञानगुणयोगाद् वृद्धिक्रियायोगाद् "तत्त्वमसी"ति गौणो व्यवहार इति खलु वक्तव्यम् ।  
तत्र च मुख्याभेदतात्पर्यमुपक्रमाद्यवगतं परित्यक्तव्यमेव स्यात्, तच्च न युक्तमिति भावः । स्पष्टीकृतश्चायमेव भाष्यकारैरपि  
"ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्यते"ति वदद्भिः । गौणत्वे ह्यस्य वाक्यसमुदायस्य जीवातिरिक्तं ब्रह्मैवासिद्धं  
स्यादिति ब्रह्मोपासनमिदमन्ततो गत्वाऽध्यासरूपमेव स्यादिति भावः । \*ननु\* भवतु तदध्यासरूपमेव ब्रह्मोपासनमित्यत  
आह—\*भिद्यत इति\* ॥ अविद्यानिवृत्तिफलश्रवणादिति\* ॥ अविद्यानिवृत्तिर्हि तत्त्वज्ञानसाध्या, नाध्याससाध्येति न प्रती-  
कोपासनमध्यासरूपमत्र विवक्षणमप्यर्हतीति भावः । एतावता च निर्गुणोपासनमेवाप्रसिद्धमिति प्रतिपत्तिविधिविषयता न ब्रह्मण  
इति विवेचितम् । तथाच ब्रह्मण उपासनाविधिविषयत्व उपासनस्वरूपनिर्वचनासंभवो द्वितीयं दूषणं सूचितं भवति ।



## वार्तिकम्

अभिन्ना वा ? भिन्ना चेत्, अखण्डार्थत्वव्याहतिः ; अभिन्ना चेत्, अभिन्नत्वे तत्त्वंपदाभ्यामेव तदुपस्थितेः पुनरपि प्राप्तमसिपदवैयर्थ्यमिति—चेत्, \*मैवम् ; एकार्थत्वोपपत्तेः ॥

यथाहि—तत्त्वंपदयोरेकार्थत्वेऽपि भेदभ्रमनिरासार्थत्वाद् नैकेनान्यवैयर्थ्यम्, तद्वत् “तत् त्वमि”त्येतावत्युक्ते किं तदहमासमित्युपदिशति ? किं वाऽतदप्यहं संपदाद्युपासनाया वा तदहं भविष्यामीति । किं वा त्रिष्वपि कालेषु तदहमस्मि ? इति संशयात्तदर्थप्रतिपत्तेः, असिपदोपादाने तु तत्संशयोच्छेदात् सर्वदा संसारासंसारदशायां तदैक्यं प्रतिपाद्यते ; नित्ययोरैक्यसत्तायास्सर्वकालीनत्वात्, इति भिन्नप्रयोजनत्वाद् “असिपदं सार्थकमिति\* ॥

एवम्—“अहं ब्रह्मास्मी”त्यादि वाक्यं व्याख्येयम्, परंतु “तत्त्वमसी”त्युपदेशवाक्यम्, “अहं ब्रह्मास्मी”त्यनुभववाक्यमिति भेदः । तस्मादुक्तविधया तत्त्वमस्यादिवाक्यानां वस्तुपरत्वे संपदादिपरत्वानुपपत्तेः सम्यग्गमिहितम्—\*संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने “तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्मास्मी”त्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्व-वस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येतेति\* ॥

अपिच यदि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपदादिरूपं स्यात्, तर्हि ततः सकार्याऽविद्यानिवृत्तिः फलं प्रतीयमानं बाध्येत ; तस्याः सम्यग्ज्ञानफलत्वेन तत्फलत्वानुपपत्तेः । नच स्तुतिमात्रत्वम् ; श्रुतिव्याकोपापत्तेरित्याह—\*भिद्यते हृदयग्रन्थिरिति\* ॥ आदिशब्देन—“तरति शोकमात्मवित्” “तमसः परं पारं तारयति भगवान् सनत्कुमारः” “तस्याभिध्यानाद्याजनात्तत्त्वभावाद भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः” इत्यादीनि श्रवणानि गृह्यन्ते ॥

अपिच “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति” इत्येवमादीनि हि वचनानि ब्रह्मभावापत्तिं तद्विद्वां दर्शयन्ति । तानि च संपदादिपक्षे सामञ्जस्येन न सङ्गच्छेरन् । न ह्यन्यस्यान्यथाभावः शतधा चिन्त्यमानोऽपि भवितुमर्हति ; स्वभावविरोधात् । शास्त्रप्रामाण्याद् भविष्यतीति चेत्, न ; शास्त्रस्याकारकत्वात् । नहि शास्त्रं विरुद्धस्वभावामपि योषितं बलादग्निं करोति ; तस्य दीपवद् वस्तुयाथात्म्यव्यञ्जकत्वेनाकारकत्वात् । \*ननु\* शास्त्रस्यातथात्वेऽपि तद्विहितोपासिक्रियाया अस्ति तथा सामर्थ्यम्, यदन्यस्यान्यरूपसमर्पकत्वम् । तथाच तद्विधेयं शास्त्रम्—“तं यथा यथोपास्ते” “तस्य तस्य तदनु तद्देवतासायुज्यं तत्सारूप्यं तत्सालोक्यं वा फलं भवती”ति । तच्च यागादिफलान्न विशिष्यते ; मरणोत्तरकालीनतत्तद्देहादिप्राप्तिसामान्यात् । यथाहि—यागेनेन्द्रादिदेहं तत्सलोकतां फलं तत्कारी मृत्वाऽनुभवति, यथा वा ब्रह्मवधादिना निषिद्धेन कर्मणा श्व-सूकरादिदेहं मृत्वा तत्कार्यनुभवति, एवमग्न्यादिदेवतोपासकः सगुणब्रह्मोपासको वा तद्देहसायुज्यादिफलमनुभवतीत्यविशिष्टम् । नचान्यस्यान्यभावलक्षणे विरोधोऽस्ति ; स्वस्वभावमपरित्यज्यैव मनुष्यादिशरीरपरित्यागेन देवादिशरीरपरिग्रहात् । अत एव सगुणब्रह्मोपासकानामपि जगद्व्यापारवर्जसावग्रहैश्वर्यं न्यायेन व्युत्पादयिष्यते । तस्माद् नोपासिक्रियातः संसारिणामसंसारिब्रह्मभावसिद्धिः, तत्त्वज्ञाने तु मिथ्याकल्पितान्यभावस्य निवृत्तेस्तद्भावसिद्धिः स्यादेवेत्यभिप्रेत्याह—\*ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे सामञ्जस्येन नोपपद्येरन्निति\* ॥ ब्रह्मात्मैकत्वविद्यायास्संपदादिरूपतानिराकरणमुपसंहरति—

\*तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमिति\* ॥ \*तस्मात्—उदाहृतश्रुतिविरोधादित्यर्थः ॥

## प्रदीपः

अन्तस्त्वशरीरत्वाख्यनिलमोक्षस्य ब्रह्मोपासनाफलत्वानुपपत्तिरूपं मुख्यं, द्रव्यसमृद्धिहरणीयमवतिष्ठति । एवेत्युपसंहरसौकर्यार्थ-



किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद् वस्तुतन्त्रा । एवंभूतस्य  
ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिदुक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् ।

वार्तिकम्

माऽस्तु संपदादिरूपम् ; तस्याभावात्, किं तव सिद्धमिति ? अत आह—\*अत इति\* ॥ प्रत्यक्षादि-  
प्रमाणस्य विषयो यद् घटादिवस्तु, तस्मिन् तज्जन्यज्ञानवदित्यर्थः । ब्रह्मविद्यायाः पुरुषतन्त्रत्वाभावे  
फलितमाह—\*एवं भूतस्य च ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य चेति\* ॥ यद्वाऽऽज्यावेक्षणवत् संस्कारकर्मत्वपक्षं  
निराकरोति—\*एवंभूतस्य च ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य चेति\* ॥ अशनायाद्यतीत-सत्यज्ञानानन्तादिरूपस्य  
ब्रह्मणः पुरुषातन्त्रस्य च तादृशब्रह्मज्ञानस्य चेत्यर्थः । एकश्चकारस्समुच्चयार्थः, अपरस्तूभयत्र एवंभूत-  
पदानुषङ्गार्थः ॥

\*कयाचिदुक्त्या="आत्मानमेव लोकमुपासीत" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्याद्युक्त्येत्यर्थः ।  
"कयाचिदुक्त्ये"ति पाठे पूर्वोक्तयुक्तीनामन्यतमया युक्त्येत्यर्थः । यद्वा—\*ननु\* "आत्मानमेव लोक-  
मुपासीत" इत्यादिश्रुतेर्ब्रह्म-तज्ज्ञानयोः कार्यानुप्रवेशात् कथमपुरुषतन्त्रा ब्रह्मविद्येति ? नेत्याह—  
\*एवंभूतस्य चेति\* ॥ कार्यानुप्रवेशित्वे वस्तुसिद्धिरेव न स्यादित्युक्तम्, विधिश्रुतेस्तु वक्ष्यमाणरीत्योप-

भाष्यभावप्रकाशिका

बिम्ब-प्रतिबिम्बयोरिव भेदावभाससंभवात् । अथ तात्पर्याभावात्, अत्राह—\*संपदादीति\* ॥ "तत्त्व-  
मसी"ति नवकृत्वोऽभ्यासात्—"अनेन जीवेने"ति चार्थवादोपादानात्—"अथ येऽन्यथा ते विदु-  
रि"ति भेददर्शननिन्दनात्, अन्यत्रापि—"अहं ब्रह्मास्मि" "स एष इह प्रविष्टः" "योऽन्यां देवता-  
मि"त्यादिश्रवणाद् एकत्वे वेदान्तानां तात्पर्यमवगम्यत इत्यर्थः । किंच विद्यायां अविद्यानिवृत्ति-  
ब्रह्मात्मभावफलकत्वश्रवणाद् न संपदादिरूपा ब्रह्मविद्येत्याह—\*मिथ्य इति\* ॥ संपदादिरूपविज्ञानस्या-  
प्रमाणत्वादविद्यानिवर्तकताऽयोगात् परमार्थतो मिथ्यस्यात्मनो ब्रह्मात्मताऽसंभवात् तस्य नष्टस्य पर-  
मात्मतायोगाच्चेति भावः । यतो न संपदादिरूपा, अतो न पुरुषतन्त्रेत्याह—\*अत इति\* ॥  
\*ननु\*—प्रयोजनाभावादविधिसंबन्धः ? किं वा ब्रह्मकारकत्वाभावात् ? न तावद्विधिसंबन्धे प्रयो-  
जनाभावः ; मोक्षफलश्रवणात्, नापि कारकत्वाभावः ; विदिक्रियायाः कर्मकारकत्वादित्याह—

प्रदीपः

मुपक्षिपति—\*ब्रह्म वेदेति\* ॥ तदेवमुपासनाविधिविषयत्वमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ननु\* तर्हि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः  
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "आत्मेत्येवोपासीते"त्यद्वितीयात्मनो विशदं विधिविषयत्वनिर्देशानुपपत्तिः, यद्युपासना-  
विधिरपि न विवक्षित इत्यत आह—\*अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रेति\* ॥ यथा हि वृत्तिकाराः—द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्य  
इति च तव्यप्रत्यये सत्यपि न दर्शनादिविधय इति मन्यन्ते, एवं वयं निदिध्यासितव्य इत्यपि श्रवण-मननादिनिर्वर्त्यप्रत्ययप्रवाह-  
रूपं निदिध्यासनमभ्यस्यमानसाक्षात्कारधारैव स्वीक्रियत इति न ब्रह्मविद्या परा कथमपि विधेयेति न तव्यप्रत्ययाद्यनुपपत्त्या  
ब्रह्मज्ञानविधिः कल्पयितुं शक्यते । तत्र ध्यानपदप्रयोगस्तु विजातीयनान्तरितत्वसाम्याद् धारावाहिकज्ञानवदिति न दोषः ।  
ज्ञानस्य पुरुषातन्त्रत्वे कथमुत्पत्तिरित्याशङ्कते—\*किं तर्हीति\* ॥ तर्हि किन्तन्त्रे ज्ञानमित्यर्थः । वस्तुतन्त्रैव ब्रह्मविद्या,  
प्रमात्वात्, घटादिज्ञानवदित्याह—\*प्रत्यक्षादीति\* ॥ अयं भावः—स्वाकारवृत्त्यवच्छिन्नं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेव ब्रह्मविद्या ।  
तत्र चैतन्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम् । वृत्तिरपि तु प्रमाणजन्यैव, न पुरुषजन्या । सत्यामपीच्छायामिन्द्रियाद्यसंप्रयोगे  
ज्ञानं कदापि नोदेति, एवमनिच्छायामपि सत्यामिन्द्रियसंप्रयोगे दुर्गन्धादिज्ञानमवर्जनीयमेवेति न वृत्तिर्न वा चैतन्यं पुरुषव्यापार-  
तन्त्रमिति । सति चैवं किं वृत्तिविधिरत्र विवक्ष्यते ? उत ब्रह्मविधिः ? इति विकल्प्य नोभयविधिरपि संभवेतीत्याह—\*एवं



## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रत्यक्षविरुद्धतयाऽर्थवादत्वाद् निरुपाधिकचैतन्यप्रतिभासे त्वयि सोपाधिकचैतन्यभेदानां कल्पितत्वात् कस्यैकस्य बन्ध-मोक्षाविति तव तावत्संदेहो न जायते ; सोपाधिकचैतन्येषु मुक्तताभ्रमात्, तद्वचनानां चार्थवादत्वात् । एवं प्रत्येकमात्मनो न संदेहः । तस्मात्सर्वसङ्करवादिनो विभ्रमोऽयमस्मत्पक्षे व्यवस्थेति ।

## ऋजुविवरणम्

पश्यति भावान्, तत्र सर्वस्य कल्पितत्वाद्युज्येते बन्ध-मोक्षौ, तत्र तत्र च प्रवृत्तिरिति, मैवम् ; अन्येषामपीतरसर्व-दर्शित्वेन स्वस्यापीतराज्ञानकल्पितत्वसन्देहानिवृत्तेः सर्वेषां सत्यत्वमसत्यत्वं वा ॥

\*ननु\* एकस्यैव बन्ध-मोक्षनिश्चय इत्याशङ्क्याह—\*निरुपाधिकचैतन्येति\* ॥ अत्र त्वदज्ञानपरिगृहीतत्वं कल्पितत्वमिति त्वन्मदादिशब्दैः परिच्छिन्नं चैतन्यमभिधीयते ? किं वा विगलितनिखिलभेदं चैतन्यमिति ? प्रथमपक्षे परिच्छिन्नानामविद्याश्रयत्वमवस्तुत्वान्न युज्यत इति न तदविद्याविजृम्भितत्वम्, द्वितीये तु ब्रह्मैवेति तदविद्याविजृम्भितत्वं सर्वेषामस्ति । तस्य चैकत्वान्न सन्देहः । “निरुपाधिकचैतन्यप्रतिभासे त्वयि”त्यनवच्छिन्नचैतन्यविवक्षयोक्तम् । निरुपाधिकत्वनिर्देशान्न पूर्वोक्तदोष इति भावः । कथं तर्हि सोपाधिकेषु मुक्तिरिति ? तदाह—\*भ्रमादिति\* ॥ कथं भ्रान्तत्वं शास्त्र एव प्रतीतेरिति ? तदाह—\*तद्वचनानामिति\* ॥ अत्रादौ निरुपाधिकचैतन्ये त्वयि ब्रह्मणीति ग्रन्थान्तरं पठन्ति, तत्रैवं व्याख्यानम्—वामदेवस्य न मुक्तता ; त्वयि संसारप्रतीतेः, तन्मुक्तिवचनस्यार्थवादत्वादिति ॥

\*ननु\* व्यधिकरणमेतत्, न ह्यन्यत्र संसारोपलब्धिस्तन्मुक्तिविरोधिनी । न च सर्वस्यार्थवादता ; बन्ध-मोक्षोपपत्तेरित्याशङ्क्य बन्धत्वं निराकरोति—\*निरुपाधिकचैतन्येति\* ॥ अनन्तरशङ्कां परिहरति—\*कस्यैकस्येति\* ॥ \*ननु\* मुक्तिसामर्थ्याद्वन्धनिश्चय इत्याशङ्क्याह—\*सोपाधिकेति\* ॥ \*ननु\* न भ्रान्तत्वं वचनात्, एवञ्च बद्धोऽपीत्याशङ्क्याह—\*तद्वचनानामिति\* ॥ एवं सति प्रत्येकं यः सन्देहो आपाद्यते, यथैकः स्वाज्ञानपरिकल्पितत्वमितरेषां पश्यति, तथेतेऽपि स्वाज्ञानपरिकल्पितत्वं ज्ञास्यन्तीति सन्देहः स्यादिति, तदपि परिहृतमित्याह—\*एवं प्रत्येकमात्मन इति\* ॥ एकस्यैवाविद्याया सर्वदर्शित्वादितरेषां तद्विशिष्टाभावादित्यर्थः । एतच्च सर्वं स्वप्ननिदर्शनेनोद्दिष्टम् ॥

यत्पुनरुत्पन्नविद्यस्य कथं शिष्यत इति ? न कथञ्चिदित्येवोत्तरम् । कथमुपदेश इति चेत्, न ; कथञ्चित् ; यावद्भ्रमं व्यवहाराः स्वप्नवत्, तदभावे न व्यवहाराः । \*यत्पुनरत्र चोद्यमनुत्पन्नज्ञानस्य कथं विद्योदेति ? उपदेष्टुरात्मान्तरस्याभावात्, न च गुरुणा विना ज्ञानोत्पत्तिः ; “आचार्यवान् पुरुषो वेदे”ति श्रुतेः, \*तदपि\* प्रयोजकाज्ञानविजृम्भितम्—यतो मायाविनिर्मितभेदाश्रयेण गुरुशिष्यव्यवस्था स्वप्नवदेव । यच्चोत्पन्नज्ञानस्य भ्रान्त्यभावाच्छिष्यसङ्गत्ययोग इति, तदपि न छन्दरम् ; गुरोरपि शिष्याविद्याविजृम्भितत्वात् । तर्हि कल्पितस्य तत्त्वदर्शनाभावादुपदेष्टृत्वानुपपत्तिः, \*मैवम्\* ; विद्यावत्त्वेनैव कल्पितत्वादुपदेष्टृत्वं स्वप्नवत् । यदि मदविद्याविजृम्भितो मदगुरुस्त्वदविद्याविजृम्भितश्च त्वद्गुरुः, सर्वे च मदविद्याविजृम्भितास्त्वदविद्याविजृम्भिता वेति संशयः पुनर्भवेत्, तन्न ; त्वन्मदादिशब्दैः परिच्छिन्नं चैतन्यमभिधीयते ? अपरिच्छिन्नं वा ? नाद्यः ; कल्पितस्याविद्याश्रयत्वाभावात् । द्वितीये त्वद्वितीयत्वात् चैतन्यस्य न दूषणं किञ्चित् । कल्पितगुरुपदेशे ज्ञानानुदय इति, स्वप्ननिदर्शनेनैव पराहृतम् । एवमादि सर्वं मनसि निधायाह—\*एवं प्रत्येकमिति\* ॥ विस्तरभयाच्च प्रदर्श्यत इति\* ॥ “तत्पदार्थैकतामि”त्यनेन तत्त्वं तत्त्वदीपनम्

\*ननु\* एकमुक्तौ सर्वमुक्तावपि कस्यैकस्य मुक्तिरिति विनिगमनाभावादायासबहुले श्रवणादौ न प्रवृत्तिर्घटत इति, तत्राह—\*निरुपाधिकेति\* ॥ प्रष्टुस्तव तावदज्ञत्वं स्पष्टम्, त्वदज्ञानपरिकल्पिताश्रिते चैतन्यभेदाः ; स्वप्नद्रष्टृविद्याकल्पितनरान्तरवत्, ततश्च मुक्त्यवस्थानुयायिनस्तवैव बन्धो नेतरेषामित्यर्थः । अन्योऽप्येवमेव ब्रवीतीत्याशङ्क्याह—\*एवमिति\* ॥ अन्यशब्देन किं निरुपाधिकं चैतन्यं विवक्षितम् ? उतावच्छिन्नम् ? आद्ये तस्यैकत्वान्न संशीतिः, द्वितीये त्ववच्छिन्नस्य तत्संशयादेश्च विदविद्यामूलत्वान्न मुक्त्यादिसंदेह इत्यर्थः ॥

एवमतस्य निर्वचयतामभिधाय परमतस्य सावधत्वमुक्तमपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ प्रसङ्गागतं चोद्यं



नच विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः ; “अन्यदेव तद्विदितादथो

भामती

किंच ज्ञानक्रियाविषयत्वविधानमस्य बहुश्रुतिविरुद्धमित्याह—\*नच विदिक्रियेति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

हेत्याह—\*किंचेति\* ॥ “नन्वि”त्यादिशङ्कासूचकपदाभावादशङ्कात्वभ्रमं निरस्यति—\*शङ्कत इति\* ॥

पञ्चपादिका

तत्रैवं सति कथं ब्रह्म प्रतिपत्युत्तरकालं कर्मकारकतां नीयेत ? तत्तज्ज्ञानं वा तदधिगमफलपर्यन्तं सद् विधिविषयो भवेत् ? अतो मिथ्यैव भेदावभासः । तस्य प्रतिपक्षादभेदावभासादपनयः । तस्माद् मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रं मोक्ष इति श्रुति-न्यायाभ्यां सिद्धम् ॥

\*ननु\* विदिक्रियाकर्म तावद्भवति ब्रह्म, ततः क्रियासम्बन्धे संभाविते भवति विधेरवसर इत्या-  
शङ्क्याह—\*नच विदिक्रियाकर्मत्वेनेत्यादि\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

तदेवं ब्रह्मावगमे विधिमन्तरेणैवापरोक्षफलपर्यन्ते साध्यान्तराभावात्त विधिसम्बन्ध इत्याह—\*तत्रैवं सतीति\* ॥ किं तर्हि प्रमाणफलमिति ? तदाह—\*अतो मिथ्यैवेति\* ॥ \*ननु\* प्रयोजनाभावाद् ब्रह्म न विधिकर्म भवति ? आहोस्वित् कारकत्वाभावादिति ? प्रयोजनं तु साध्यो मोक्षो वक्ष्यते, न कर्मकारकत्वाभावात्, विदिक्रिया-कारकत्वादित्याह—\*ननु\* विदिक्रियाकर्ममिति\* ॥ न चेति भाष्यमेव परिहारः । \*ननु\* विदिक्रियाकर्मत्वाभावे

तत्त्वदीपनम्

निरस्य टीकाव्याख्यामेव प्रस्तौति—\*तदेवं ब्रह्मेति\* ॥ शाब्दज्ञानसवगमशब्दार्थः । ब्रह्मणोऽपरोक्षस्वरूपत्वान्ना-परोक्षस्य फलत्वमिति शङ्कते—\*किं तर्हीति\* ॥ अज्ञानान्तरतत्कार्यनिवर्तकशुद्धबुद्धिप्रतिबिम्बिततया तस्य फलत्वव्यपदेश इत्याह—\*तदाहेति\* ॥ फलाभावाद् विधौ निरस्ते, पुनः कथं तच्चोद्यम् ? इत्याशङ्क्य विकल्पपूर्वं व्याकरोति—\*ननु प्रयोजनेति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*प्रयोजनं त्विति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*न ; कर्मकारकत्वा-भावादिति\* । न विधिसम्बन्ध इति शेषः । भाष्यकारेणैव निरस्तं चोद्यम्, नास्माभिः प्रयतितव्यमस्तीत्याह—\*भाष्यमेवेति\* ॥ ज्ञानविषयत्वाभावेऽपि शास्त्रकारणत्वसंभवादाहेति चोद्यानुपपत्तिमाशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु विदिक्रियेति\* ॥ अविद्यानिवर्तकत्वेन शास्त्रप्रामाण्यमुक्तम्, तदसंभवि, तद्विषयत्वमन्तरेण तदविद्यानिवर्तकत्वासंभवादित्या-

वार्तिकम्

पक्षेरिति भावः । \*ननु\* उक्तं विदिक्रियाकर्मत्वेन ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशः, अवान्तरवाक्यैश्च यूपाहव-नीयादिवत्तत्सिद्धिरिति न कश्चिद् विरोध इत्याशङ्क्याह—\*न चेति\* ॥ किम्—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यादिवाक्यबलाद् विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशित्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ? किं वा—“आत्मानमेव लोकमुपासीत” इत्येवमादिवाक्यबलादुपास्तिक्रियाकर्मत्वेन ? नाद्य इत्याह—\*अन्यदेव

भाष्यभावप्रकाशिका

\*नच विदिक्रियेति\* ॥ मा भूद् विदिक्रियाकर्मत्वम्, उपास्तिक्रियाकर्मत्वं तु भविष्यतीत्यत आह—

\*तथोपास्तिक्रियेति\* ॥

प्रदीपः

भूतस्येति\* ॥ तदज्ञानस्य वृत्तिरूपस्य वेत्यर्थः । \*कार्यानुप्रवेशः\* ॥ पुरुषव्यापारविषयत्वयोग्यत्वरूपविधेयत्वसम्बन्धः । न हि ब्रह्म साधनत्वेनान्वयमर्हति ; निर्विशेषत्वात् । \*ननु\* तर्हि फलत्वेनान्वयो भवतु, इत्याशङ्क्याह—\*नापि विदिक्रिया-कर्मत्वेनेति\* ॥ विदितत्वं हि वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वम् । विदितपदं कार्यपरम् । अविदितपदं कारणपरम् । कार्य-



अविदितादधि” (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, “येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्” (बृह० २।४।१३) इति च । तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—“यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युच्यते” इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य “तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते” (केन० १।४) इति । अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न; अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपर(१)त्वाच्छास्त्रस्य ।

भामती

शङ्कते—\*अविषयत्व इति\* ॥ ततश्च शान्तिकर्मणि वेतालोदय इति भावः । निराकरोति—\*ननु\* ; कुतः अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिविषयत्वादिति\* ॥ सर्वमेव हि वाक्यं नेदंतया वस्तुभेदं

अनुप्रकाशिका

भाष्ये—\*शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति\* ॥ शास्त्रप्रमाणकत्वानुपपत्तिः ; शास्त्रप्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । \*ननु\* शास्त्रस्य शब्दरूपस्य कथमविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिबोधकत्वम् ? सर्वस्य वाक्यस्य तत्तदर्थबोधकत्वदर्शनादित्यत आह—\*सर्वमेव हीति\* ॥ यद्यपि सर्वं वाक्यं तत्तदर्थं बोधयति ? एवंच किमु वक्तव्यं वाचामगोचरे ब्रह्मणि शास्त्रं भेदनिवृत्तिं बोधयतीत्यत्रेत्यर्थः । तथाच ब्रह्मणोऽविषयत्वस्य सिद्धत्वाद् न शान्तिकर्मणि वेतालोदय इति भावः । लौकिक इक्षु-क्षीर-गुडादिरसभेद एवाभिधातुमशक्यः,

पञ्चपादिका

आह—सोऽयं शान्तिकर्मणि वेतालोदयः—ब्रह्मणः क्रियानुप्रवेशं निराकर्तुं ज्ञानक्रियाया अपि विषयत्वं निराकुर्वता तत एव शास्त्रयोनित्वमपि निराकृतमेव, तदाह—\*अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेदिति\* ॥ अत्रोत्तरम्—\*नाविद्याकल्पितेत्यादि\* ॥ शास्त्रं हि

पञ्चपादिकाविवरणम्

शास्त्रजन्यज्ञानं व्यावर्तकत्वाभावात् शास्त्रगम्यं ब्रह्मेति चोदयति—\*सोऽयं शान्तिकर्मणीति\* ॥ स्वयंप्रकाशमानतया स्वविषयप्रकाशजननानपेक्षस्यापि ब्रह्मणः शास्त्रजन्यज्ञानाकारतया तद्व्यावर्तकस्याविद्यादिदोषनिवृत्तिफलवत्तया शास्त्रप्रमेयं ब्रह्मेति प्रतिपादयति ॥

अत्रोत्तरम्—\*नाविद्याकल्पितेत्यादि\* ॥ \*ननु\* अनधिगतार्थप्रकाशमन्तरेण न प्रमाणव्यापारस्य फलवत्ते-

तत्त्वदीपनम्

शङ्क्य तात्पर्यमाह—\*स्वयंप्रकाशमानतयेति\* ॥ \*ज्ञानाकारतयेति\* ॥ ज्ञानं प्रत्याकारप्रदत्वेनेत्यर्थः । तद्व्यावर्तकस्य=तद्विशेषणस्येत्यर्थः । निवर्तकत्वेन शास्त्रप्रामाण्यमनुपपन्नम् ; प्रमाणलक्षणविरोधादिति शङ्कते—\*नन्वनधि-

वार्तिकम्

तद्विदितादिति\* ॥ न द्वितीयः ; विषयत्वस्थापनादित्याशङ्कते—\*अविषयत्वे ब्रह्मण इति\* ॥ अविषयतया स्वतः सिद्धस्यापि ब्रह्मात्मत्वस्याविद्याकल्पितभेदप्रतिबद्धत्वादित्युक्तत्वात् । शास्त्रजनितान्तःकरणवृत्तिविशेषेण तत्प्रतिबन्धनाशमात्रेण शास्त्रप्रमाणकत्वोपचारात् । “यद्वाचानभ्युदितमि”त्यादिश्रुतेस्तु फलव्याप्यत्वलक्षणतत्कर्मत्वरूपविषयत्वप्रतिषेधपरत्वाद् न न्यायविरोधः ; भिन्नविषयत्वादिति परिहरति—\*अविद्या-

प्रदीपः

कारणातिरिक्तं ब्रह्मेत्यर्थः । कार्यकारणातिरिक्तत्वबोधनावसरे विदितत्वनिषेधोऽपि ब्रह्मणो विदिक्रियाकर्मत्वासंभवाभिप्रायेणैवेति

(१) निवृत्तिविषयत्वादिति भामत्यभिमतः पाठः ।



## भामती

बोधयितुमर्हति । नहीक्षु-क्षीर-गुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम् । एवमन्यत्नापि सर्वत्र द्रष्टव्यम् । तेन प्रमाणान्तरसिद्धे लौकिक एवार्थे यदा गतिरीदृशी शब्दस्य, तदा कैव कथा प्रत्यगात्मन्यलौकिके ।

अदूरविप्रकर्षेण तु कथंचित्प्रतिपादनमिहापि समानम् । त्वंपदार्थो हि प्रमाता प्रमाणाधीनया प्रमित्या प्रमेयं घटादि व्याप्नोतीत्यविद्याविलसितम् । तदस्या विषयीभूतोदासीनतत्पदार्थप्रत्यगात्म-सामानाधिकरण्येन प्रमातृत्वाभावात् तन्निवृत्तौ प्रमाणादयस्तिष्ठो विधा निवर्तन्ते । नहि पङ्कुरवस्तुत्वे पाच्य-पाक-पचनानि वस्तुसन्ति भवितुमर्हन्तीति । \*तथाहि\*—

विगलितपराग्वृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा त्वमिति हि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि यत्पदम् ।

तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मतां त्यजति सकलान्कर्तृत्वादीन्पदार्थमलान्निजान् ॥

इत्यान्तरश्लोकः । अत्रैवार्थे श्रुतीरुदाहरति—\*तथाच शास्त्रम्—यस्यामतमिति\* ॥

## ऋजुप्रकाशिका

किमु वक्तव्यम्—अलौकिकमानन्दैकरसं ब्रह्मानभिधेयमित्यत्र । अतो न शास्त्रं ब्रह्म मुखतः प्रतिपादयति, किंत्वतद्वावृत्तिमेव । तथाचाविषयत्वं ब्रह्माणो न व्याहतमिति । अमुमेवाभिप्रायं मनसि निधायह—\*नहीक्षुक्षी-रेत्यादिना—तेनेत्यतः प्राक्तनग्रन्थेन\* ॥ \*अन्यत्रापि सर्वत्रेति\* ॥ ब्रह्मणि तदितरत्र च । एवमाख्यातुमशक्त-मित्यर्थः । अभिप्रायं स्पष्टयति—\*तेनेत्यादिना—अलौकिक इत्यन्तेन\* ॥ \*ननु\* साक्षादप्रतिपादनेऽप्यदूर-विप्रकर्षेण प्रतिपादनमितरत्र दृष्टमित्यत आह—\*अदूरविप्रकर्षेणेति\* ॥ साक्षादप्रतिपादनादस्ति विप्रकर्षः । वचसोऽदूरः ; कुतः वस्तुगतधर्मपरामर्शद्वारा वस्तुशेषस्य लक्षणया प्रतिपादनात्, तादृशप्रतिपादनमिहापि ब्रह्मणि समानमित्यर्थः । “प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयति”ति भाष्यं व्याचक्षाणो वेदान्तानामदूरविप्रकर्षेण वस्तुबोधकत्वमुपपादयति—\*त्वंपदार्थ इति\* ॥ \*प्रमेयं घटादि व्याप्नोतीति\* ॥ घटादि प्रमेयं प्रमिमीत इत्यर्थः । \*इत्यविद्याविलसितमिति\* ॥ प्रमेयं घटादि व्याप्नोतीत्येतद् अविद्याविलसितमित्यर्थः । \*तत् = तस्मात् कारणात् ; यदविद्याविलसितत्वेन कल्पितत्वम्, तस्मात् कारणादित्यर्थः । अविषयीभूतोदासीनतत्पदार्थस्य प्रत्यगात्मनस्त्वंपदार्थस्य च “तत्त्वमसि” इति सामानाधिकरण्येन । \*अस्य = त्वंपदार्थस्य वस्तुतः प्रमातृत्वा-भावात् तन्निवृत्तौ प्रमित्या प्रमेयं घटादि व्याप्नोतीत्येवंभावस्य निवृत्तौ प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयविधास्तिष्ठो निवर्तन्त इत्यर्थः । एवं वक्तृत्वस्याप्यविद्याविलसितत्वे वाच्य-वाचक-वचनान्यपि न वस्तुतः सन्तीत्याह—\*नहीति\* ॥ \*विगलितेति\* ॥ विगलिता पराक्त्वेन वृत्तिः=वर्तनं यस्य, सः=विगलितपराग्वृत्तिः, तादृशः प्रत्यक्त्वमापन्नोऽर्थो यस्य, तद् विगलितपराग्वृत्त्यर्थम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तत्पदस्य तदा काले भवति, कदेत्यत आह—\*त्वमिति हीति\* ॥ त्वमितिपदेन सहैकार्थत्वे सति भवतीत्यर्थः । त्वमित्यपि यत्पदं वर्तते, तदपि च तदा तत्पदेनैकार्थ्यम् । एकार्थत्वं गत्वा=प्राप्य । ऐकार्थ्यं विशिनष्टि—\*विशुद्धेति\* ॥ विशुद्धचिदात्मार्थकत्वलक्षणमैकार्थ्यं प्राप्येत्यर्थः । प्राप्य किं करोतीति ? अत आह—\*त्यजतीति\* ॥ कान् त्यजति ? इति वीक्षायामाह—\*पदार्थमलानिति\* ॥ पदार्थमलानित्यस्य विशेषणम्—\*निजान् सकलान् कर्तृत्वादीनिति\* ॥ इत्यान्तरश्लोकः=इति मध्ये श्लोकः । \*अत्रैवार्थे=

## प्रदीपः

कर्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानविध्यनुपपत्तिरिति भावः । उपास्तिक्रियाकर्मत्वनिषेधोऽपि श्रुतिसिद्ध इत्याह—\*तथोपास्तीति\* ॥ तदेवेति\* ॥ यदिदं देवतादिकं सगुणं सर्वं उपासते, नेदं ब्रह्म, किन्तु वाङ्मनसामतीतमेवेति त्वं जानीहीत्युक्तश्रुतेरर्थः । अनेन चोपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधः क्रियते । अयं च निषेधो धर्म्यशमादाय, यतः सगुणं निर्गुणं च स्वरूपतो धर्म्यशेनाभिन्नमेव, किन्तुपास्यत्वरूपधर्मस्यैव निषेध इति ब्रह्मणोऽनुपास्यत्वमुक्तवचनसिद्धमिति भावः । शास्त्रमप्युपहितमेव ब्रह्म प्रमाणयति, न तु शुद्धं ब्रह्मेति बोधयितुं शङ्कते—\*अविषयत्वे इति\* ॥ ब्रह्मणो वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपज्ञानाविषयत्व इत्यर्थः । \*शास्त्र-



## पञ्चपादिका

सोऽयमित्यादिलौकिकवाक्यवद् ब्रह्मणि प्रमाणम् । तथाहि—सोऽयमिति देश-कालभेदोपाधि-प्रविलयेनाभेदोऽवगम्यते । तथा त्वंपदार्थोऽप्यात्मानमहंरूपं मन्यमानस्तत्त्वमसिवाक्यात्तत्पदार्थैकता-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

त्यत्राह—\*शास्त्रं हि सोऽयमित्यादीति\* ॥ \*ननु\* तत्र वा विषयाधिगममन्तरेण कथं निवर्त्यमाने प्रमाणव्यापार इति ? अत आह—\*तथाहीति\* ॥ उक्तमेतद् देवदत्तैक्यस्याभिज्ञायामेव सिद्धत्वात्तदाकारेण प्रत्यभिज्ञा-वाक्याभ्यामुपजनितेन ज्ञानेनोपाधिपरिकल्पितभेदनिरासेन प्रत्यभिज्ञावाक्ययोः प्रामाण्यमिति । \*ननु\* ब्रह्मात्मनि विपर्ययाभावान्न तन्निरासेनापि प्रामाण्यमित्यत आह—\*तथा त्वंपदार्थोऽपीति\* ॥ केन तर्हि प्रमाणाकारेण विपर्ययसन्निरास इति ? तदाह—\*तत्पदार्थैकतामुपगच्छन्निति\* ॥ तत्त्वंपदाभ्यां लक्ष्यमाणं ब्रह्मात्मैकत्वं विज्ञानाकार

## ऋजुविवरणम्

पदस्यार्थयोरैक्याकारेणेत्युक्तम्, तत्र तत्त्वंपदवाच्ययोः पदार्थयोः स्वीकारे न तज्ज्ञानेन विपर्ययसन्निरासः संभवति ; अतत्त्वरूपत्वात्तत्त्वस्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*तत्त्वंपदाभ्यामिति\* ॥ अर्थात्प्रलीयमानेनेति न युक्तं वक्तुम् ; प्रमाणस्य

## तत्त्वदीपनम्

गतेति\* ॥ “सिद्धं तु निवर्तकत्वादि”त्यत्र निवर्तकत्वेनापि प्रामाण्योक्तेनैतच्चोद्यमित्याह—\*अत्राहेति\* ॥ दृष्टान्ताऽ-संप्रतिपत्तिमाशङ्कते—\*ननु तत्रेति\* ॥ टीकापेक्षितं हेतुमाह—\*उक्तमेतदिति\* ॥ निवर्त्याभावान्न निवर्तकत्वेन प्रामाण्यमिति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्मणो निरवद्यत्वात्तदभिन्नत्वस्यापि निरवद्यत्वमित्यर्थः । वस्तुतोऽ-वद्याभावेऽप्यविद्ययाऽवयं विद्यत इत्याह—\*अत आहेति\* ॥ ‘अहमि’त्यात्मनि ज्ञातेऽपि विपर्ययदर्शनान्नात्मज्ञानस्य निवर्तकत्वमित्याशयेन शङ्कते—\*केन तर्हीति\* ॥ \*प्रमाणाकारेणेत्यर्थः\* ॥ प्रमाणगताकारेणेत्यर्थः । अधिष्ठान-विशेषज्ञानं निवर्तकमित्याह—\*तदाहेति\* ॥ त्वंपदार्थस्य न तत्पदार्थैक्यम् ; विरोधादित्याशङ्क्य, विरुद्धांशपरित्यागे-नैक्यबोधनं युक्तमित्याह—\*तत्त्वंपदाभ्यामिति\* ॥

## वार्तिकम्

कल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्येति\* ॥ \*इदन्त्या विषयीभूतमिति\* ॥ स्वजनितविदिक्रियाकर्मत्वेन स्वविषयीभूतं कृत्वेत्यर्थः । अनाधेयातिशयप्रत्ययस्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेनासंभवादित्यभिप्रायः । \*ननु\* एवं तर्हि वृत्तिव्याप्यत्वमपि ब्रह्मणो न स्यात् ; वाङ्मनसागोचरत्वात् । नच—फलाव्याप्यत्वेन तद-विषयत्वाभिधानमिति—वाच्यम् ; असंभवस्योभयत्र तुल्यत्वात् ॥

तथाहि—चिदात्मके ब्रह्मणि न चिद्व्याप्तिः संभवति ; दीपयोरिव समयोः परस्परानतिशयाधायक-त्वात्, तदभिन्नत्वाद्वा । तथा वाङ्मनसजन्यक्रियाव्याप्तिरपि ; निरतिशयत्वाच्चिरञ्जनत्वाच्च । यथा क्रियया हि यत्रातिशय आधीयते, तथा तद्व्याप्तिरित्युच्यते, यथा गतिक्रियया ग्रामे चक्रादिक्रियया च घटादि-प्रदीपः

योनित्वानुपपत्तिः—शास्त्रप्रमाणकत्वानुपपत्तिः । चैतन्यं न प्रमा, न वा वृत्तिः, किन्तु वृत्त्यवच्छिन्नमेव चैतन्यम् । तज्जनकत्वेनैव चक्षुरादीनामपि प्रमाणत्वमिति ह्यद्वैतिनां प्रक्रिया । तथाच महावाक्यानामखण्डाकारसाक्षात्कारजनकत्वमपि न स्यात्, इति निखिलसंसारबन्धमूलाविद्यानिवृत्तिरप्यनुपपन्नेति शङ्काहृदयम् । प्रत्यक्षप्रमा तु चैतन्यमेवेति हि वेदान्तिनां प्रक्रिया । तथाच शुद्धचैतन्यांशप्रमात्वं सार्वदिकमेव वर्तते । तथाच शुद्धचैतन्यांशप्रमात्वं न प्रमाणप्रयुक्तमस्माभिरूरी-क्रियते । अज्ञाननिवर्तकत्वमात्रेण वृत्तेरपि गौणं ज्ञानत्वमूरीक्रियते । तथाच वेदान्तवाक्यानां तादृशवृत्तिजनकत्वमात्रेण प्रमाणत्वव्यपदेशः । न हि वृत्तिविशिष्टखण्डाकारसाक्षात्कारविषयः, किन्तु तदुपलक्षितम् । अतो न दोषलेशोऽपीत्य-भिप्रायेण समाधत्ते—\*अविद्याकल्पितेति\* ॥ घटादिस्थलेऽपि वृत्तिरज्ञाननिवृत्तिं जनयति, निवृत्ते चाज्ञाने चैतन्यं घटादिकमपि भासयति । ब्रह्मणि तु स्वप्रकाशत्वात् स्वभिन्नं न चैतन्यं भानप्रयोजकम्, किन्त्वज्ञाने निवृत्ते स्वयमेव ब्रह्म प्रकाशते । अतोऽज्ञाननिवर्तकं वृत्तिमात्रमपेक्षते । तथाच शास्त्रं ब्रह्माकारवृत्तिमात्रमविद्यानिवृत्तिक्षमं जनयति । घटादिवद् ब्रह्म वृत्त्य-



## पञ्चपादिका

मुपगच्छन् सोऽयमितिवदहमात्मकेदमंशोपाधिकृतवेद्य-वेदितृ-वेदनात्मकप्रपञ्चेनार्थात्प्रलीयमानेनावच्छिद्य विच्छिद्यमानानिदं प्रकाशः प्रमाणफलं दर्शितः । तदप्यवच्छेदकविनाशे तदैव विजहन्निर्विशेषता-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

इत्यर्थः । किं तर्हि तदाकारज्ञानेन निवर्त्यत इति ? तदाह—\*अहमात्मकेदमंशोपाधिकृतेति\* ॥ प्रमाणव्यापारो विषयाकारोदय एव प्रमीयमाणवस्तुसामर्थ्याद्विपर्यासनिरास इत्याह—\*अर्थादिति\* ॥

\*ननु\* ज्ञातृसमवायिनी ज्ञेयाकारा संवित्प्रमाणफलम्, अनेन च विपर्यासो निरस्यते ; प्रकाशस्यैवाप्रकाश-विरोधित्वात्, नित्ये च चैतन्यप्रकाशे न प्रमाणफलमस्तीत्यत आह—\*अवच्छिद्यमानानिदं प्रकाशः प्रमाणफल-मिति\* ॥ प्रमाणेन विषयीकृतार्थगतं चैतन्यं प्रमाणफलमुच्यते, न प्रमाणजन्यम् ; लोकेऽप्यजन्यत्वात् । अतः प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमात्रादि निवर्तयति ; अवच्छेद-निवृत्त्योः पूर्वोत्तरक्षणतया विरोधाभावादिति । \*ननु\* फलं चेन्नवर्तकम्, निवर्त्यमानन्तरभूतत्वात् । तर्हि फलं यावत्कालमेव स्थास्यतीति, नेत्याह—\*तदप्य-वच्छेदकविनाश इति\* ॥ \*ननु\* शास्त्रजन्यज्ञानेन न प्रकाश्यते चेद् ब्रह्म, न शास्त्रगम्यं स्यादित्यत आह—

## ऋजुविवरणम्

साक्षाद्विद्यमानत्वात्, तद्विषयत्वे चार्थादित्युक्तमेव स्यात् ; प्रमाणस्य विषयगतविपर्ययनिवर्तनसामर्थ्यात्, नापि तस्यान्यत एव प्रलीयमानत्वेऽवच्छेदकत्वनिरूपणं युज्यत इत्याशङ्क्यावतारयति—\*प्रमाणव्यापार इति\* ॥ कथमनिदं-प्रकाशस्य फलत्वम् ? प्रमाणजन्यत्वाभावादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*प्रमाणेन विषयीकृतेति\* ॥ \*ननु\* अवच्छिन्नस्य निवर्तकत्वं न संभवति ; निवर्त्यस्यावच्छेदकत्वविरोधादित्याशङ्क्याह—\*अवच्छेद-निवृत्त्योरिति\* ॥ “एवञ्च नित्य-

## तत्त्वदीपनम्

अनुत्पन्नस्य ज्ञानस्य निवर्तकत्वासंभवादुत्पन्नस्य निवर्तकत्वं वक्तव्यम्, न च तदुपपद्यते ; सहावस्थितेरिति शङ्कते—\*किं तर्हीति\* ॥ तदुत्तरत्वेन टीकामप्यवतारयति—\*तदाहेति\* ॥ उक्तचोद्यस्य कः समाधिः ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रमाणेति\* ॥ विषयाकारेणोदयमन्तरेण ज्ञानस्य व्यापारानिरूपणाजन्मैव व्यापार इत्यर्थः । तथापि कथं निवृत्तिरिति ? तत्राह—\*प्रमीयमाणेति\* ॥ शास्त्रजनितप्रमायामभिव्यक्तं यद्वस्तु, तद्वलादित्यर्थः । अन्धकारनिवर्तनेन दीपो-त्पत्तिवद् विपर्यासनिवर्तनेन ज्ञानोदय इत्यर्थः । अथवा निवर्त्य-निवर्तकयोः सजातीयत्वान्न निवर्त्य-निवर्तकेति शङ्कते—\*किं तर्हीति\* ॥ तथाभूतविषयत्वात् प्रमाणस्य निवर्तकत्वं युज्यत इति समाध्यभिप्रायः ॥

अन्तःकरणवृत्तेर्जडत्वाद् नाज्ञाननिवर्तकत्वम्, नापि चैतन्यस्य ; तस्य सदा भोक्तृत्वात्, न च वृत्तिविशिष्टस्य निवर्तकत्वम् ; विशेषण-विशेष्यतत्संबन्धातिरिक्तविशिष्टस्यानिरूपणात् । ततश्च प्रमाणजन्या संविन्नवर्तिकेत्येष्ट्य-मिति शङ्कते—\*ननु\* ज्ञानिति\* ॥ तर्हि स एव निवर्तकोऽस्तु, तत्राह—\*नित्ये चेति\* ॥ फलासंभवं दर्शयितुं नित्य इति विशेषणम् । चैतन्यस्य नित्यत्वात्कथं फलत्वमिति ? अत आह—\*प्रमाणेनेति\* ॥ अर्थचैतन्ययोर्भेदाभावेऽप्युपचारादर्थगतत्वमुक्तमिति द्रष्टव्यम् । लोके जन्यस्य फलत्वं प्रसिद्धमित्यत्राह—\*लोकेऽपीति\* ॥ ब्रह्मचैतन्य-स्यानात्मासंबन्धात् तन्निवर्तकत्वं कथम् ? तत्राह—\*अत इति\* ॥ काल्पनिकसंबन्धसंभवात्तयोर्निवर्त्य-निवर्तकतेत्यर्थः । चैतन्यस्य निवर्तकत्वे कथं तदवच्छेद इति ? अत्राह—\*अवच्छेदेति\* ॥ ब्रह्माकारवृत्त्युत्पत्तेः पूर्वमवच्छेदः, उत्तरक्षणे निवृत्तिरित्यवच्छेदोपपत्तिरित्यर्थः । इदमत्र विवक्षितम्—यद्यपि वृत्तेर्जडत्वम्, चैतन्यस्य तु सदातनत्वम् ; तथाऽप्या-गन्तुकवृत्तिविशिष्टस्य निवर्तकत्वं कथ्यते । न च—विशिष्टस्यानिरूपणाद् न तस्य निवर्तकत्वमित्यपि—शङ्क्यम् ; वास्तवविशिष्टासंभवेऽनुभवानुरोधेन समारोपितस्य विशिष्टस्येष्टत्वादिति ॥ \*ननु\* फलस्यापि किं निवर्तकान्तरमस्ति ? उत न ? आद्येऽनवस्थेत्यभिसन्धाय द्वितीयं दूषयति—\*ननु फलं चेदिति\* ॥ ततश्चाद्वैतविरोध इत्यर्थः । कारणनिवृत्तौ कार्यस्यापि निवृत्तेर्न द्वैतक्षतिरित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ उपसंहारव्याजेनोक्तचोद्य-परिहारौ स्पष्टयति—\*ननु शास्त्रेति\* ॥



## मृदुविवरणम्

मुक्ते"त्यनेन नित्यमुक्तात्मनि कल्पितबन्धनिवृत्तिः साध्या । सा च निवृत्तिर्नानित्या ; प्रध्वंसरूपत्वादित्युक्तम्, अथवा नित्यमुक्त एवात्मा, नतु मुक्तिः स्वरूपातिरिक्ता साध्यास्ति ; स्वरूपातिरिक्तनिवृत्तौ तस्याः साध्यत्वे च प्रमाणाभावात् । नच—प्रपञ्चस्य स्थितिः स्यादिति—वाच्यम् ; अभावोत्पत्तावप्यविशेषात् । अथाभावोत्पत्तौ विरोधात् पुनर्न तिष्ठेत्, तत्रापि यदि स्वरूपाभावो भवतीत्युच्यते ? किं वान्यत् ? प्रथमेऽनवस्था । द्वितीये स्वरूपस्थितिः । अथ विरोध्युत्पत्तावभावेन विनापि स्वरूपं न भवेत्, वस्तुमात्रमधिष्ठानं तिष्ठेत्, तर्हि भावविरोधिज्ञानोत्पत्तौ स्वरूपमेव न भवेत् । नत्वभावो नामात्मातिरिक्तः ; आत्मनि तदभावव्यवहारादात्मैवाज्ञाननिवृत्तिरिति व्यवहारः । अभावस्तु न घटादावपि निरूपयितुं शक्यः—यथा प्रागभावेऽभावेन स्वरूपभङ्गः, एवमन्यत्रापि । नच घटस्यैव तदभावत्वम् ; घटापगमे प्रागभावप्रसङ्गात्, तद्विरोधिसद्भावमात्रेणाभावेन विनापि वस्त्वपहारोऽङ्गीकृतः स्यात् । नच—केवल-

## वार्तिकम्

विषये, इति ताभ्यां तयोर्व्याप्तिरिति । नचैवं ब्रह्मणि वृत्त्या कश्चिदतिशय आधीयते ; निरञ्जनत्व-श्रुतिव्याकोपात् । सातिशयत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात् । भेदाभ्रमनिरास एव तज्जन्यातिशय इति चेत्, न ; आरोपिताभावस्याधिष्ठानानतिरेकस्यासरुदुक्तत्वात्, कर्मणि क्रियाजन्यातिशयस्य भावत्वनियमाच्च । अपिच यदि ब्रह्मवृत्तिकर्म स्यात्, स्यादेव तर्हि चैतन्यकर्मापि, तत्कर्मत्वनियतत्वाऽतदुपहितचैतन्यकर्मत्वस्य, चैतन्यस्य स्वतो निरञ्जनत्वेन कर्मासम्बन्धात् । अपिच कथं वा परिच्छिन्ना मनोवृत्तिरपरिच्छिन्नं ब्रह्म व्याप्नुयात् ? परिच्छिन्नं हि द्रतताम्रमिव मूर्खां घटादि मनोवृत्तिर्व्याप्तुं शक्नोति ; तदपेक्षया व्यापकत्वात्, नापरिच्छिन्नम् ; स्वयं परिच्छिन्नत्वात्, अन्यथा क्रियात्वव्याहतेः, परिच्छिन्नस्य मनसोऽपरिच्छिन्नाकारपरिणामानुपपत्तेश्च । तस्माद् न ब्रह्मणश्चिद्व्याप्यत्वमिव वृत्तिव्याप्यत्वमपि । तथाच तदभावे कथं तमस्तमसो निवृत्तिः स्यादिति—चेत्, \*न\* ; अन्यथा वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारात् ।

व्याप्तिर्नाम—प्रकृते स्वरूपैक्यापादिनी यथा दुग्धस्योदकव्याप्तिः, विपरीता वा परस्परव्यावृत्तत्वाद् यथा रजते शुक्तिकाया व्याप्तिः । नच—रूपादिविषयस्य निरवयवत्वात् समानाकारासिद्धिरिति—वाच्यम् ; गुणगुण्यदेरभेदाद्रूपादेर्निरवयवत्वासिद्धेः ; अन्यथा क्षीर-नीररूपयोः परस्परसामानाधिकरण्याभावात् परस्परविविक्ततयोपलभ्यप्रसङ्गात् । \*ननु\* चैतन्यव्याप्तिरन्तःकरणवृत्ते रजतस्येव शुक्तिव्याप्तिः परस्पराव्यावृत्तिः, \*न\* ; स्वप्रत्यक्षतया स्वसाक्षितया वा स्वीकारात्, निरवयवचैतन्येन समानाकारद्वाराऽसंभवात्, तावतैव तदावरणभङ्गात् । अत एव घटादिज्ञानं घटादिरूपेण बोधरूपेण च भासते । सेयं द्विप्रकारा व्याप्तिरन्यथा घटादिष्वन्यथा च तत्फलात्मके बोधे । यद्यपि स्वप्रत्यक्षत्व-साक्षित्वाभ्यां घटादिबोधेनैव तद्वृत्तिर्व्याप्यते ; तथाच श्रुतिः—“न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः” इति । तथाऽपि रजतेनैव शुक्तेः प्रतीत्यनुसारेण तद्व्याप्तिर्विबोधस्योच्यते, न परमार्थाभिप्रायेण । अत एव विपरीतविषयविषयिभावात् तदावरणभङ्गमात्रेण तत्तद्विषयत्वमाह भगवान् भाष्यकारः । तथाच घटादिबोधं प्रत्यञ्चं स्वसाक्षिणं तदाकारा वृत्तिस्तत्स्वरूपेणात्मैक्यापादनादावरणभङ्गाद् व्याप्नोतीवेत्युपचर्यते । तेन परमार्थतो न व्याप्नोति ; विपरीत्यात् प्रत्यग्विषयं च व्याप्नोति ; अन्यथा निराप्रदीपः

वच्छिन्नचैतन्यविषय इति भावः । एतदेव भाष्यं गृहीत्वा—“फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् । ब्रह्मण्यज्ञाननाशार्थं वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥” इति विवरणानुसारिणां सिद्धान्तः । भामत्यनुयायिनस्तु—शुद्धचैतन्यस्य शास्त्रयोनित्वमपि नास्तीत्युपहित-ब्रह्मण्येव शास्त्राणां प्रवृत्तिरिति निरूपणेन वृत्तिविषयत्वमपि शुद्धब्रह्मणो नास्तीति मन्यते । “अविद्याकल्पितमेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्येति वाक्यं हि विवरणानुसारिणां मतेन विकल्पितमेदनिवृत्तिप्रयोजकवृत्तिमात्रोपयोगित्वाच्छास्त्रस्येति व्याख्येयम् ।



## वार्तिकम्

त्मकत्वेन तत्प्रथानुपपत्तेः । शब्दमाहात्म्याद् ज्ञायमानसत्य-ज्ञानानन्दानन्ताद्वयब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मात्मैक-  
त्वाकारा तु वृत्तिस्तदावरणभङ्गं कुर्वती सर्वस्य जनिमतो विश्वस्य तदात्मकत्वात् स्वसाक्षित्वाच्च स्व-  
प्रयुक्तेन स्वसाक्षित्वेनापि तत्स्वीकुर्वती ब्रह्म व्याप्नोतीत्युपचर्यते, न पुनः स्वतो व्याप्तिरस्ति ; वैपरीत्यादि-  
त्युक्तत्वात् । न हि बल्वजैर्वह्निर्दह्यते, किन्तु वह्निना बल्वजानि दह्यन्ते ; नापि सुशिक्षितोऽपि नटः स्वस्कन्ध-  
मारोढुं शक्नोति । तदेवेदमभिप्रेत्याह भगवान् भाष्यकारः—\*किं तर्हि ? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रति-  
पादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयतीति\*॥ तथाच श्रुतिः—“तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य  
भासा सर्वमिदं विभाति” । येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ? “विज्ञातारमरे केन विजानीयात्”  
इति च । शास्त्रान्तरं चोदाहृतं भाष्ये द्रष्टव्यम् । \*ननु\* भवतु नाम शास्त्रजनितान्तःकरणवृत्तौ  
सर्वप्रत्ययत्वेन स्फुरतो ब्रह्मणः तत्प्रत्ययत्वेन स्फुरणम् । सर्वस्य जनिमतस्तदात्मनैवात्मवत्त्वात्, तथाऽपि  
तद्वृत्तौ तत्राध्यासात् सर्वस्य जनिमतस्तदधिष्ठानत्वात्, अन्यथा तदात्मनाऽऽत्मवत्त्वानुपपत्तेर्घटादाविव  
तत्फलाकारं ब्रह्म सविकल्पतयैव भायात्, न निर्विकल्पात्मना । तथाच स्वरूपानुपस्थितेन ततो वेद्य-  
वेदित्रादिभ्रमनिवृत्तिरिति चेत्, न ; निर्विकल्पब्रह्मात्मनैव वृत्तेर्जायमानत्वात् ततो भेदभ्रमनिवृत्तिसिद्धेः ।  
यत्रापि घटादौ क्रिया-कर्मकर्तृ-भेदमवगाह्य वृत्तिरुदेति, तत्र विषयेणैव सविकल्पता, न तु स्वतः ; कुतः ?  
विषयैकरूपत्वात्तस्याः, स्वतो रूपान्तराभावात् । ततो यदि निर्विकल्पकं तस्या विषयः, तर्हि स्वयमपि  
निर्विकल्पिकैव जायते । अथ घट-घटत्वादिवैशिष्ट्यं सविकल्पकं विषयः, तर्हि सविकल्पिकैवेति ।  
यदा बहिर्वृत्तौ सकर्मिकायामप्येवं कथा, तत्र किमु वक्तव्यम्—वेद्य-वेदित्रादिभेदशून्यप्रत्यङ्मात्रसत्त्वाया-  
मात्माकारवृत्तौ निर्विकल्पकत्वमिति !! नच ब्रह्मणा स्वसम्बन्धः स्वेन ग्रहीतुं शक्यते, येनापि सवि-  
कल्पकत्वं स्यात् ; आत्मग्रहप्रसङ्गेन तदनुपपत्तेः । नह्यात्मानमगृहीत्वा स्वसम्बन्धग्रहः स्वेन भवति ;  
प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वात् सम्बन्धग्रहस्य । नचात्मनाऽऽत्मा ग्रहीतुं शक्यते ; कर्तृ-कर्मभावविरोधात् ;  
सर्वनिर्विकल्पप्रत्ययोच्छेदप्रसङ्गाच्च । ज्ञेयेन च ज्ञानेन स्वसम्बन्धग्रहे सर्वनिर्विकल्पप्रत्ययोच्छेदप्रसङ्गात् ।  
नच ब्रह्मणो ज्ञेयत्वमप्यस्ति ; प्रत्यक्तवादित्यवोचाम ।

\*ननु\* एवमपि निर्विकल्पेन तेन कथं सविकल्पाध्यासनिवृत्तिः ? लोकेऽदर्शनात्, इति चेत्,  
\*न\* ; आत्मन्यविद्याध्यासस्य सविकल्पत्वासिद्धेस्तस्यापि निर्विकल्पकत्वात् ततस्तन्निवृत्त्युपपत्तेः ।  
अत एव सुषुप्तौ निर्विकल्पात्माधिष्ठानत्वाद् निर्विकल्पतयैवाविद्याऽवभासते, जागरादौ च सविकल्पान्तः-  
करणसम्बन्धात् सविकल्पतया भानमात्मन इवाविद्याया अपीत्यन्यदेतत् । सविकल्पभेदभ्रमनाशस्तु ज्ञानेन  
स्वकारणनाशादेव भवति, न साक्षाज् ज्ञानात्, इति न काचिदनुपपत्तिः । तस्मादुपपन्ना “तत्त्वमसी”त्या-  
दितस्तद्भेदभ्रमकारणाविद्यानिवारणपटीयसी निर्विकल्पिका ब्रह्माकाराऽन्तःकरणवृत्तिरिति । इयमेव यदा  
प्रत्ययान्तरैरनुभूता सती स्थिराऽवतिष्ठते, तदा निर्विकल्पकसमाधिरित्यभिधीयते । तथाच श्रुतिः—  
“तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।” “अध्यात्मयोगाधिगमेन धीरो मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ  
जहाती”ति ॥

\*ननु\* चित्तवृत्तेः क्षणिकत्वात् स्थिरत्वं कथम् ? \*न\* ; स्वतोऽक्षणिकत्वात् । वृत्तिर्हि चित्तस्य  
परिणामो दुग्धस्येव दधि । स च द्रव्यात्मकत्वात् स्वभावतो न क्षणिकः ; कथं तर्हि चित्तस्य सजातीय-  
विजातीयानेकवासनाबडिशकृष्टत्वेन चञ्चलत्वात् परिणामान्तरारम्भः ? युगपत् परिणामद्रव्यासंभवात्,  
पूर्वपरिणामनाशेनैव तदुत्पत्तेस्तस्य क्षणिकत्वमर्थसिद्धम् । यदा तु क्षीणवासनं चित्तं ब्रह्माकारतां गतं



नहि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति । किं तर्हि ? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमप-  
नयति । तथाच शास्त्रम्—“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।  
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥” (केन० २।३) “न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येः”  
“न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः” (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि ।

### पञ्चपादिका

मापद्यते । तेन प्रमाणादिचतुष्टयस्य युगपत्प्रलयेऽपि तदवच्छेदानुभवफलं वाक्यनिबन्धनम् । अतो

### पञ्चपादिकाविवरणम्

\*तेन प्रमाणादिचतुष्टयस्येति\* ॥ \*ननु\* किमित्यविद्यानिवृत्तिरेव प्रमाणफलमुच्यते ? विषयप्रकाशोऽपि प्रमाण-  
फलमुच्यतामिति, तत्राह—\*तथा चैवविधस्येति\* ॥

\*अविज्ञातं विजानताम्\* यतो वाचो निवर्तन्त इत्यादि\* ॥ \*ननु\* “मनसैवानुद्रष्टव्यम्” “तन्त्वौपनिषदं

### ऋजुविवरणम्

स्वरूपाङ्गीकारादेवाभावाङ्गीकार इति—वाच्यम् ; कैवल्यस्य स्वरूपत्वेनाभाववादिभिरङ्गीकरणीयत्वात् । तथाहि—भूतले  
घट-तदभावावित्यङ्गीकर्तव्यम्, तत्र सघटे तदभावो न वर्तत, नाभावयुक्ते च घटः । नापि स्वरूपमिति युक्तं वक्तुम् ;  
तद्युक्तेऽपि स्वरूपस्य विद्यमानत्वात् ; अतः केवल इति वक्तव्यम् । नापीतराभावयुक्त इतरस्य भावः ; तथात्वे  
तद्युक्ते तद्योग इति प्रसङ्गात् तत्रात्माश्रयत्वादिदोषप्रसङ्गः । \*ननु\* उभयरहितं केवलम्, नच राहित्यमभावः ;  
उभयाभाववति तद्योगायोगात्, परस्पराभावरूपत्वेन न तस्यातिरिक्तस्य संभवः । नच श्रवणादिवैयर्थ्यम् ;  
मुद्राराभिघातवत्परिहारात् ॥

### तत्त्वदीपनम्

निवर्तकत्वेन प्रामाण्ये हेत्वभावान्मैवमिति शङ्कते—\*ननु किमितीति\* ॥ असिद्धो हेतुरित्याह—\*तत्राहेति\* ॥  
टीकासूचितमन्त्रब्राह्मणवाक्यं दर्शयति—\*अविज्ञातमिति\* ॥ ब्रह्म ज्ञानकर्मेति ये मन्यन्ते, तेषां ब्रह्माज्ञानं  
स्यात् ; विषयस्याब्रह्मत्वादित्यर्थः । ब्रह्म बोधयितुं प्रवृत्तवाचस्तत्र स्फुरणातिशयमाधातुमसमर्थाः, यतो वाचो  
निवर्तन्ते, तद् ब्रह्मेत्यर्थः । विषयत्वस्यापि श्रुत्वान्न तन्निराकरणमिति शङ्कते—\*ननु मनसेति\* ॥ विरुद्धार्थ-  
त्वेनोभयोः प्रामाण्यानुपपत्तेरन्यतरपरित्यागायोगाच्च व्यवस्था स्वीकार्येत्याह—\*नैष इति\* ॥ युक्तितोऽपीत्यं

### भाष्यभावप्रकाशिका

निवृत्तिपरत्वमेव प्रपञ्चयति—\*नहीति\* ॥ अत्रैवार्थे श्रुतीरुदाहरति—\*तथाच शास्त्रमिति\* ॥  
एवं सत्यसन्मत एव ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्, मोक्षस्य च नित्यत्वमुपपन्नमिति ।

### प्रदीपः

भामतीमतेऽपि त्वविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिप्रयोजकोपहितस्वरूपबोधकत्वात् शास्त्रस्येति । तत्र प्रथममते शुद्धब्रह्मण एवा-  
धिष्ठानत्वात् तत्साक्षात्कारेणैवाज्ञाननिवृत्तिः । द्वितीयमते त्वविद्योपहितस्यैवाधिष्ठानत्वाद् वृत्त्युपहितब्रह्मज्ञानमेवाज्ञान-  
निर्वाणजनकमिति विवेकः । अधिकं चाद्वैतसिद्ध्यादौ व्यक्तम् । एतन्मतेऽविद्योपहितस्यैवोपादानत्वात् शास्त्रवेद्यत्वाच्चोपादानत्वस्य  
स्वरूपलक्षणत्वेऽपि न दोषः । स्वप्रकाशत्वात्तु चैतन्यस्य न प्रमाणवेद्यत्वं स्वीक्रियते । तथाच \*न ; अविद्याकल्पितेति\*  
ग्रन्थ इष्टापत्तिपरतया योजनीयः । शास्त्रस्य शुद्धचैतन्याकारवृत्तिजनन एवोपयोग इति विवरणमतस्य पूर्वोक्तभामतीमतस्य  
चोभयस्यानुसारीदं वाक्यम्—\*न हि शास्त्रमिदन्तयेति\* ॥ अत्रेदन्तया विषयभूतं फलव्याप्यं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपिपादयिष-  
तीति विवरणमतानुसारेण योजनीयम् । भामतीमतेन तु योजनम्—शास्त्रं ब्रह्म इदन्तया निष्कृष्टरूपं न प्रतिपिपादयिषति,  
यत उपहितमेव शास्त्रेण बोधयितुं शक्यते । यदा हि वृत्तिः, तदा तयोपहितत्वात् कथं शुद्धं वृत्तिविषयोऽपि भवतीति भावः ।  
तर्हि शास्त्राणां किं विषयः ? इति शङ्कते—\*किं तर्हि\* ॥ किं तर्हि विषय इत्यर्थः । समाधत्ते—\*प्रत्यगात्मत्वेनेति\* ॥



## पञ्चपादिका

वेदैकगोचरो निर्वाणमिति वेदविदः प्रतिपेदिरे । तथाचैवंविधस्य प्रमाणव्यापारस्य प्रकाशका मन्त्रब्राह्मणवादा भाष्ये दर्शिताः । एवं च नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पुरुषमि”ति ज्ञानक्रियाकर्मत्वमपि श्रूयते, \*नैष दोषः\* ; वेदान्तजनितापरोक्षज्ञानस्याकारसमर्पकतया व्यावर्तकत्वं शास्त्रप्रमेयत्वं नाम, ज्ञानजन्यप्रकाशातिशयशून्यत्वमविषयता नामेति व्यवस्थोपपत्तेः । नहि प्रकाशगुणे पुनः प्रकाशगुणान्तरोदय इति । \*ननु\* अविद्यानिवृत्तेरपि ज्ञानसाध्यत्वाद् मोक्षस्यानित्यतेति, नेत्याह—  
\*एवं च नित्यमुक्तेति\* ॥

\*ननु\* कोऽयं जीवो नाम ? यस्य स्वरूपं त्वंपदेन लक्ष्यमाणं ब्रह्मैव वाक्यार्थः संपद्यते । ब्रह्मैवाविद्या-प्रतिबिम्बितमिति वदामः । ततश्च त्वंपदेनाशेषोपाधिनिराकरणेनाऽऽत्मस्वरूपमेव लक्ष्यमाणं तत्पदोपलक्ष्यं ब्रह्मैव पदद्वयसामर्थ्यात्संपद्यते । नचैतदुपाधिद्वयनिराकरणेन विशुद्धब्रह्मात्मज्ञानमेकेनैव पदेन लभ्यते ; विरोधानुत्पत्तेः । \*ननु\* भिन्नाभिन्नता वाक्यार्थः किन्न स्यात् ? \*न\* ; तथा सति शरीरेन्द्रियविशिष्टस्यैव त्व-पदार्थस्य ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वात्तथैव वाक्यार्थसिद्धेर्लक्षणया ब्रह्मात्मज्ञानेनाध्यासबाधो न स्यात्, वर्तमाना-

## अनुविवरणम्

\*ननु कोऽयमिति\* ॥ जीवो ब्रह्म तावन्मात्रमिति वक्तुं न शक्यते ; एकेन पदेनैव तत्सिद्धावितरवैयर्थ्यादुपदेशा-नर्थक्यात्, ब्रह्मैव जीव इति प्रतिपादनं च न स्यात् ; वैयर्थ्याद् लक्षणाश्रयणं च न स्यात् । अतिरिक्तत्वे तु निर्विभाग इति वक्तुं न शक्यते ; ब्रह्मैव जीव इति च न सिध्येत्, अतो भिन्नाभिन्नत्वमेव सकलपदसाफल्यार्थेऽपि त्वमिति भावः । \*ब्रह्मैवाविद्यादिप्रतिबिम्बितमिति\* ॥ ब्रह्मैवेत्यनेनैकत्वसिद्धिरुक्ता । “अविद्यादी”त्यनेनेतरपदवैयर्थ्यादि परिहृतमिति ॥ \*ननु\* एकस्मिन् तत्त्वे एकेनैव पदेन लक्षणया लब्धे पदान्तरवैयर्थ्यं तदवस्थमित्याशङ्क्याह—\*नचैतदिति\* ॥ \*ननु\* शास्त्रमेव ज्ञानाद् बन्धनिवृत्तिं श्रावयति, तत्कथमध्यासबाधो न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—\*वर्तमानापदेशिनामिति\* ॥ \*ननु\* न बन्धनिवृत्तिप्रतिपादकशास्त्रे योग्यानुपलब्धिविरोधः ; तथाविधज्ञाने सति निवृत्त्यभावानुपलम्भात्,

## तत्त्वदीपनम्

व्यवस्थेत्याह—\*न हीति\* ॥ प्रकाशो गुणो यस्य स प्रकाशगुणः, तस्मिन्नित्यर्थः । अविद्यानिवर्तनेन शास्त्रस्य प्रामाण्यमुक्तम्, तदाक्षिपति—\*नन्वविद्येति\* ॥ साध्यत्वेऽपि प्रध्वंसस्य नित्यतादर्शानामैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ आत्मनो नित्यमुक्तत्वमसहमानः शङ्कते—\*ननु कोऽयमिति\* ॥ जीवेशादिविवाददर्शनाद् विमर्शोपपत्तिरित्यर्थः । जीवस्वरूपनिरूपणस्येह कः प्रसङ्गः ? इत्याशङ्क्याह—\*यस्य स्वरूपमिति\* ॥ यद्यपि जीवस्वरूपं बहुशो निरूपितम् ; तथाऽपि मिथ्याज्ञानोपहतचेतसां तत्र विस्मरणसंभवात्पुनस्तन्निरूपणमित्यर्थः । “ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्”त्यादिश्रुति-समधिगतं रूपमाह—\*ब्रह्मैवेति\* ॥ प्रतिबिम्बितस्य जीवस्य बिम्बभावो विरुद्ध इत्याशङ्क्याह—\*ततश्चेति\* ॥ एकेन पदेन विवक्षितसिद्धेः पदान्तरमनर्थकमित्यत्राह—\*नचैतदिति\* ॥ पदद्वयसामानाधिकरण्याद्विरुद्धार्थप्रतिपत्तौ तन्निरसनेनाखण्डं वस्तु प्रतिपादयितुं शक्यते, नान्यथा, एकपदप्रयोगमात्रेण विरोधाप्रतिपत्तेर्लक्षणानुपपत्तेरित्यर्थः ॥

अखण्डं ब्रह्म शास्त्रप्रमेयमित्युक्तमाक्षिपति—\*ननु भिन्नाभिन्नतेति\* ॥ ततः पदद्वयमर्थवत्स्यादित्यर्थः । भेद-वादिमते पुरुषार्थो न सेत्स्यति, पदद्वयस्यार्थवत्त्वं त्वन्यथापि घटत इत्यभिसन्ध्याह—\*न तथा सतीति\* ॥ \*लक्षण-येति\* ॥ विरुद्धांशपरित्यागेनोत्पन्नज्ञानेनेत्यर्थः । “भिद्यते हृदयग्रन्थिः” “तरति शोकमात्मविदि”त्यादिशास्त्रेण ज्ञाना-दध्यासनिवृत्तेरुपलभ्यमानायाः कथमपलापः ? इत्याशङ्क्याह—\*वर्तमानेति\* ॥ ज्ञानमात्रस्य शरीराद्यध्यासनिवर्त-कत्वं न ब्रूमः, किं त्वन्त्यावस्थायामुत्पन्नज्ञानेनेति चेत्, मैवम् ; तत्र प्रमाणाभावाज्जीवन्मुक्तिप्रतिपादकशास्त्रविरोधाच्चे-त्यर्थः । भिन्नाभिन्नं ब्रह्मेति वदतेदं पर्यालोचनीयम्—किं सर्वदा भिन्नाभिन्नम् ? उत संसारावस्थायामेव ? आद्ये न



## पञ्चपादिकाविवरणम्

पदेशिनां फलवचनानां योग्यानुपलब्धिबाधात्, सत्यपि तत्त्वज्ञाने न शास्त्राद्वन्धनिवृत्त्यवगमः । भिन्नाभिन्ने च वाक्यार्थे न तत्त्वज्ञानाद् भेदांशनिवृत्तिः ; तस्य स्वविषयानाशकत्वात्कर्मोपासनापरोक्षानुभवान्निवृत्तिकल्पना भिन्नाभिन्नविषयागमविरुद्धा, आगमस्य सर्वकालं भेदाभेदविषयत्वात् । यत्त्वभेदांशेन ज्ञानमोक्षादिव्यवहारो भेदांशेन कर्माविद्यादिव्यवहार इति व्यवस्था कल्प्यते ; तन्मन्दचेतनोपच्छन्दनमात्रम् । तथाहि—यदि भेदाभेदाभ्यामंशी जीवोऽभेदांशश्च ब्रह्मैव स्यात्, तदा सावयवो जीवांशश्च ब्रह्मेति पण्डितम्मन्यस्य हि परीतोऽर्थः संपद्येत । भेदांशस्याब्रह्मत्वेऽत्यन्तभेद एव स्यात् । नचांशद्वयसमुदायो जीवः ; अवस्तुत्वप्रसङ्गात् । न चाभेदांश एव जीवः ; ब्रह्मण एव जीवत्वप्रसङ्गात् । नचोभावंशौ ; जीवद्वयप्रसङ्गात् । न च भेदांश एव जीवः ; अत्यन्तभेदप्रसङ्गात् । तत्र तत्त्वज्ञानमोक्षादिव्यवहाराऽसिद्धिः । भेदाभेदांशावभिन्नौ जीव इति चेत्, यद्यभिन्नावेव जीवः, तर्हि ब्रह्मैव जीव इति कुतो बन्ध-मोक्षव्यवहारव्यवस्था ? अथ भेदाभेदांशौ परस्परं भिन्नाभिन्नाविति मतम्, नैवम् ; भेदाद्यनवस्थाप्रसङ्गात् । किंचांशिनो वांशद्वयसमुदायस्य वा परस्परा-

## ऋजुविवरणम्

विरोधित्वेन च तावज्ज्ञानस्य बन्धनिवर्तकत्वं सिद्धमित्याशङ्क्याह—\*भिन्नाभिन्ने इति\* ॥ \*ननु\* न तत्त्वज्ञानात्तन्निवृत्तिः, किन्तु कर्मोपासनाजन्यज्ञानादित्याशङ्क्याह—\*कर्मोपासनेति\* ॥ \*ननु\* अत्यन्ताभेदे बन्ध-मोक्षव्यवहारानुपपत्तिः, अत्यन्तभेदे च शास्त्रविरोधान्निन्नाभिन्नत्वमङ्गीकरणीयम्, तत्रौपाधिकत्वाद्भेदस्योपाधिनिवृत्त्या निवृत्तिरूपपद्यते, भेदांशावलम्बिशास्त्रविरोधाभावश्च ; तस्याप्यौपाधिकभेदाश्रयत्वादित्येतदनुवदति—\*यत्त्वभेदांशेनेति\* ॥

\*तन्मन्दचेतनोपच्छन्दनमात्रम्\* । मन्दचैतन्यानुसरणमित्यर्थः ॥ \*ननु\* सर्वत्रैकस्मिन् वस्तुनि विरुद्धरूपसमवायो

## तत्त्वदीपनम्

मुक्तेः संसारावस्थातो विशेषः । द्वितीयेऽपि भेदांशस्य किं निवर्तकम् ? इति वक्तव्यम्—किं शब्दज्ञानम् ? उत कर्म ? आहो उपासना ? अथवाऽपरोक्षानुभवः ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*भिन्नाभिन्ने इति\* ॥ द्वितीय-तृतीय-चतुर्थान् निरस्यति—\*कर्मैति\* ॥ संसारावस्थायां भेदाभेदप्रतिपादकत्वेनागमोऽन्यथासिद्ध इत्याशङ्क्य, तत्कल्पकाभावान्मैवमित्याह—\*आगमस्येति\* ॥ कल्पकाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*यत्त्विति\* ॥ 'अहं ब्रह्मास्मी'ति ज्ञानं ज्ञानशब्दार्थः । ब्रह्मात्मभावो मोक्षः । अविद्यानिवृत्तिरादिशब्दार्थः । अत्यन्ताभेदेऽत्यन्तभेदे च मुक्ति-बन्धव्यवस्थासिद्धेर्भिन्नाभिन्नत्वमास्थेयम्, तथाचागमस्य संकोचः सेत्स्यतीत्यर्थः ॥ व्यवस्थाया अन्यथाप्युपपत्तेर्न तद्बलाद् भेदाभेदसिद्धिरित्यभिप्रायेणाह—\*तन्मन्दचेतनोपच्छन्दनमात्रमिति\* ॥ मन्दबुद्ध्यनुसरणमात्रमित्यर्थः । न केवलमन्यथोपपन्नार्थपत्तिः, किं त्वन्यथैवेत्याह—\*तथाहीति\* ॥ किं भेदाभेदाभ्यामंशी जीवः ? उतांशद्वयसमुदायः ? आद्येऽपि किमभेदांशो ब्रह्म ? उत ततोऽर्थान्तरम् ? इति विकल्प्याद्यमनूद्य दूषयति—\*यदि भेदाभेदाभ्यामिति\* ॥ \*विपरीतोऽर्थ इति\* ॥ जीवस्य निरवयवत्वप्रतिपादकश्रुतिविरुद्धम्, ब्रह्मांशो जीव इति स्वाभ्युपगमविरुद्धं चेत्यर्थः । आद्यद्वितीयं दूषयति—\*अभेदांशस्येति\* ॥ समुदायपक्षं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ समुदायिनो भेदाभेदाभ्यां समुदायस्य दुर्निरूपत्वाजीवस्याप्यवस्तुत्वं स्यादित्यर्थः । सा भूत् तर्हि समुदायो जीव इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किमभेदांश एव जीवः ? उत भेदांश एव ? अथवोभावप्यंशविति ? तत्राद्यं दूषयति—\*नचेति\* ॥ अन्तिमपक्षेऽपि किं तौ भिन्नौ ? उताभिन्नौ ? नाद्य इत्याह—\*नचोभावविति\* ॥ मध्यमं निरस्यति—\*न च भेदांश इति\* ॥ फलितमाह—\*तत्र तत्त्वेति\* ॥ विकल्पान्तरमनुवदति—\*भेदाभेदेति\* ॥ किं तयोरत्यन्ताभेदः ? उत भेदाभेदौ ? नाद्य इत्याह—\*यद्यभिन्नाविति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*अथ भेदेति\* ॥ यौ तयोर्भेदाभेदौ ? तावपि किं भिन्नौ ? अथवा भिन्नाभिन्नौ ? प्रथम-द्वितीययोः पूर्वसमानयोगक्षेमत्वमित्यभिप्रेत्य तृतीयं दूषयति—\*नैवमिति\* ॥ भेदाभेदनिर्वाहकभेदाभेदोपस्थितौ, तत्रापि भेदांशनिर्वाहकत्वेनाभेदांशनिर्वाहकत्वेन च भेदाभेदौ कल्प्यौ, एवमितरत्रापीति प्राण-युक्तिहीनमनन्तभेदादिकल्पनं स्यादित्यर्थः । अंशपक्षोक्तो दोषः कल्पान्तरेऽपि स्यादिति तदनुवादपूर्वकमाह—\*किं चांशिन इति\* ॥ असेदशपर्यालोचनयापि नायं पक्षो निरूपण-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

भिन्नांशद्वयस्य वा जीवत्वे ब्रह्मणो जीवांशत्वं परिहर्तुं न शक्यते । किंच कस्यायं शास्त्रोपदेशः ? न तावदभेदांशस्य ; तस्य ब्रह्मस्वरूपतयोपदेशानपेक्षत्वात्, नापि भेदांशस्योपदेशः ; “अहं ब्रह्मास्मी”तिप्रतिपत्त्य-योगात् । नच भेदांशस्य पुनरभेदः सम्भवति ; विरोधात्, ब्रह्मण्येव संसारप्रसङ्गाच्च । कस्यायमविद्या-दोषः ? न तावदभेदांशस्य ; ब्रह्मण्येव प्रसङ्गात् । नापि भेदांशस्य ; उपाधिजननात् प्राग् भेदाभावात् । स्वत एव भेदांशेऽशिनि वा जीवे बन्धदोष इति चेत्, तद्विनाशो जीवनाशः स्यात् ; मोक्षे भेदांशविनाशात्, अभेदांशस्य नित्यमुक्तत्वात् ॥ कस्यायं मोक्ष उपदिश्यते । तत्रापि भिन्नाभिन्नं चेत्, “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्येवकारविरोधः संसारादविशेषश्च स्यात् ।

किंचायं सर्वत्र संकीर्णं वस्तु प्रतिपद्यमानः स्वर्ग-नरक-बन्ध-मोक्षादीन् सांकर्येण व्यवस्थापयितुं प्रवृत्तः कथं व्युत्पन्नमतिषु नापन्नपेत । भेदेनैव सर्वं व्यवस्थाप्यते चेत्, किमनेन भेदेन बन्धायमानेन ? स्वप्रयुक्त-

## ऋजुविवरणम्

रूपभेदादिना परिहर्तव्यः, नैवान्न कश्चिद्विशेष इत्याशङ्क्याह—\*किञ्चांशिनो वेति\* ॥ \*ननु\* शास्त्रसामर्थ्यादुभयप्रतिपत्तौ षटाकाश-महाकाशन्यायेन प्राचीनदोषपरिहार इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च कस्यायं शास्त्रेति\* ॥ \*ननु\* अविद्यादिदोषवतां शास्त्रमुपदिशति, नच विरोधः, ब्रह्मणि संसारित्वं चोपाधिकत्वेन ; भेदादिनिवृत्तेरित्याशङ्क्याह—\*कस्यायमविद्या-दोषेति\* ॥ कथं जीवनाशो भवेत् ? अभेदांशस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह—\*अभेदांशस्येति\* ॥ न तस्य जीवत्वमिति भावः । \*ननु\* मोक्षावस्थासंबन्धिनो बद्धत्वम्, तेन न तन्नाशेन मुक्त्यभावः, अविद्यादोषायोगश्च ; शास्त्रञ्च तस्यैव ब्रह्मरूपतामुपदिशतीति वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह—\*कस्यायं मोक्ष इति\* ॥ न मुक्तौ ब्रह्म भिन्नाभिन्नम् ; अतो नावधारणविरोधः, न मुक्त्यभावः ; अभिन्नस्वरूपस्य विद्यमानत्वात्, नच ब्रह्मणि संसारप्रसङ्गः, अभेदांशस्य विद्यमानत्वात्, एवञ्चाविद्यानिर्वाहः । नचोपाधिजननात्प्रागसंबन्धो ब्रह्मणि वा योगः, इतरेतराश्रयत्वादित्या-शङ्क्याह—\*किञ्चायं सर्वत्रेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

पथमवतरतीत्याह—\*किंचेति\* ॥ किमभेदांशस्योपदेशः ? उत भेदांशस्य ? इति विकल्पयति—\*कस्यायमिति\* ॥ आद्यं प्रत्याह—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*नापीति\* ॥ भेदांशेऽभेदस्य विद्यमानत्वात्तथाप्रतिपत्त्युपपत्तिरित्याशङ्क्य, किं मुक्तौ तस्य विद्यमानता ? उत सदा ? नाद्यः ; पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वा तस्याभेदांशभजनानुपपत्तेरित्याह—\*नचेति\* ॥ द्वितीयं निरस्यति—\*ब्रह्मण्येवेति\* ॥ अभेदांशस्याप्यविद्यायोपदेश इत्याशङ्क्याह—\*कस्य चायमिति\* ॥ भेदांशः किमुपाधिनिमित्तः ? उत स्वाभाविकः ? नाद्य इत्याह—\*उपाधीति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*स्वत एवेति\* ॥ पक्षान्तर-माह—\*अंशिनि चेति\* ॥ मुक्ति-बन्धयोरैकाधिकरण्यनियमाद् मुक्त्यवस्थायां तस्यावस्थानमिष्यते ? आहो मुक्ति-संसार-वस्थयोरैलक्षण्यसिद्धयर्थं नेष्यते ? इति । तत्राद्यं दूषयति—\*तद्विनाश इति\* ॥ \*बन्धविनाशो-मुक्तावित्यर्थः\* ॥ जीवनाशः स्यादिति कल्पे भावः स्यादित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*मोक्ष इति\* ॥ भेदांशनाशेऽप्यभेदांशस्य मुक्तिरित्याशङ्क्याह—\*अभेदांशस्येति\* ॥ आद्यमुत्थापयति—\*किं चान्नापीति\* ॥ श्रुतिविरुद्धत्वाच्चेदमादेयमित्याह—\*ब्रह्म वेदेति\* ॥ युक्तिविरुद्धं चैतदित्याह—\*संसारादिति\* ॥ शोच्यश्चायं भेदाभेदादीत्याह—\*किंचायमिति\* ॥ स्वर्गादीनसांकर्येण व्यवस्थापयितुं प्रवृत्तोऽयं व्युत्पन्नमतिषु कथं नापन्नपेतेति संबन्धः । तत्र हेतुमाह—\*सर्वत्रेति\* ॥ असतो भेदा-भावाच्च सांकर्यमिति शङ्कते—\*भेदेनेति\* ॥ अभेदप्रयुक्तकार्याभावाच्चाभेदकल्पनं फलत्रयित्याह—\*किमनेनेति\* ॥ बन्धायमानत्वमाह—\*स्वप्रयुक्तेति\* ॥ किं च किं भेदाभेदौ भिन्नयोर्धर्मिप्रतियोगिनोस्तिष्ठतः ? उताभिन्नयोः ? तत्राद्यं दूषयितुं भेदस्य धर्म्यादितन्त्रतामाह—\*धर्मीति\* ॥ भेदोपाधेरिति । भेदन्यवस्थापकस्येत्यर्थः । ततः किमिति ? अत्राह—\*उपाधिभेदेनेति\* ॥ \*व्यवस्थेति\* ॥ विविक्ततयाऽवस्थानं स्थितिरित्यर्थः । भेदाभेदनिर्वाहकभेदस्यापि भिन्ननिष्ठत्वादनवस्थेत्यर्थः । अथाभिन्नयोर्धर्मिप्रतियोगिनोभेदस्थितौ तस्यापि स्थित्यर्थं भेदान्तरकल्पनं स्यादित्याह—



## पञ्चपादिकाविवरणम्

कार्यानिमित्तेन कल्पितेन धर्मप्रतियोगिव्यतिरेकेण भेदोपाधेरभावात् । उपाधिभेदेन भेदाभेदव्यवस्था त्वेकस्य भेदाभेदौ निवारयति ; धर्मि प्रतियोगिभेदात् । शास्त्रं पुनः—“नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे”ति भेदोपमर्देनैवाभेदं प्रतिपादयति—“एष त आत्मे”ति च । नच सत्त्वादिसामान्यद्वारेण जीवब्रह्मणोरभेदः ; अनुमानेनैव

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* न वयमभेदं कल्पयामः, अपि तु शास्त्रत एव प्रतीयते, तर्ह्यभेद एव स्यादित्याशङ्क्याह—\*धर्मिप्रति-योगीति\*॥ \*ननु\* धर्मि-प्रतियोगिस्वरूपमात्रनिबन्धनं भेदं न ब्रूमः, येन तदसंभवेन भेदो निराक्रियते, अपित्वौपाधिक-मित्याशङ्क्याह—\*उपाधिभेदेनेति\* ॥ \*ननु\* नोपाधिमात्रगतो भेदः, नापि तेन भेद एवापादित इति शक्यं वक्तुम्, उभयमपि शास्त्रसिद्धं यतः, इत्याशङ्क्याह—\*शास्त्रं पुनरिति\* ॥ न शास्त्रीयाभेदेन भेदनिषेधः ; रूपान्तरनिबन्धन-

## तत्त्वदीपनम्

\*धर्मीति\*॥ इतोऽपि नायं पक्षः समञ्जस इत्याह—\*उपाधीति\*॥ यस्मिन् भेदनिवेशस्तस्मिन्नेवाभेदनिवेशः ? उतान्यत्र ? नाद्यः ; विरोधादित्यभिसन्धाय द्वितीयं निरस्यति—\*उपाधीति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*धर्मीति\* ॥ धर्मिप्रति-योगिनोभेदादिति विग्रहः । एकस्मिन् धर्मिप्रतियोगिभावासंभवान्नाभिन्नयोर्भेदस्थितिरित्यर्थः । शास्त्रविरुद्धा चेयं कल्पनेत्याह—\*शास्त्रं पुनरिति\* ॥ अभेदपरं तद्वचनमित्याशङ्क्य पृथग्भेदप्रतिपादनान्मैवमित्याह—\*एष त इति\* ॥

## वार्तिकम्

प्रहरम्, दिनम्, पक्षम्, मासम्, संवत्सरम्, युगम्, कल्पं वा व्याप्य न परिणामान्तरमारभेत, तदा तस्य सिद्धं स्थिरत्वं न केनाप्यपवार्यते । अत एव पुराणेषु योगिनां युग-मन्वन्तर-कल्पादिपर्यन्तं समाधिः श्रूयते, तस्यामवस्थायां चित्तस्य ज्ञेयाकारापन्नत्वेन तदैकरूप्येणावस्थानाद् न ज्ञान-ज्ञेयादिभेद-कल्पनाऽस्ति । तदुक्तमधस्तात् । सेयमात्मनस्तत्त्वभावापत्तिः, यया सर्वानर्थनिवृत्तिस्तस्य भवति । अन्तःकरणं हि स्वतो विद्यमानं सर्वानर्थान् भवति ; तदभावे सुषुप्तावनर्थादर्शनात्, भावे च जागरादौ दर्शनात् । तस्मिंस्तदन्तरायनिवृत्तेश्च तत्तदुपाधिकस्यात्मनस्तत्त्वभावः स्वतः सिद्ध एव । तथाच श्रुतिः—“तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति”ति ॥

तस्योक्तलक्षणस्य ब्रह्मणोऽभिध्यानं नाम=चित्तस्य विषयाभिमुखलक्षणप्रमादनिराकरणेन तत्प्रवणता-करणम्, यन्निदिध्यासनमित्याचक्षते निदिध्यासनिः, “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वायलिङ्गात् ।” इत्यादि श्रुत्यन्तरात् । भूयः शब्दो भिन्नक्रमो योजनादित्यनेन सम्बध्यते । भूयो योजनं नाम=तत्त्वैकाग्रस्य चित्तस्य गुरुमुखश्रुतेन महावाक्यप्रयाणेन पुनः संयोजनम् । “यस्यानुविद्धः प्रतिबुद्ध आत्मे”ति श्रुत्यन्तरात् । तत्त्वभावो नाम=चित्तस्य निष्प्रतिबद्धव्याख्यातनिर्विकल्पक-ब्रह्मात्मैकत्वाकारपरिणामः । चकाराद् भूयःशब्दोऽत्रापि संबध्यते । तदुक्तम्—गुरूपदेशकालेऽपि

## प्रदीपः

ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन \*अविषयतया = केवलवृत्तिविषयत्वेन नतु फलव्याप्यत्वेन । अत्र प्रत्यगात्मत्वेनेति हेतुप्रदर्शनपरम् । वृत्तिविषयतया प्रतिपिपादयिषतीति वस्तुस्थितिः । भामतीमतानुसारेणास्य वाक्यस्य योजनं त्वेवम्—तत्पदार्थं जीवाभेदेन प्रत्यगात्मतया त्वंपदार्थं च तत्पदार्थेनाभेदेनाविषयतयोभयं चैकरूपेणेति यावत् ; प्रतिपादयत् सत् शास्त्रमविद्याकल्पितं भेद-मपनयतीति । तथाच जीव-ब्रह्मणोर्विशुद्धचिद्रूपत्वमात्रं न शास्त्रेण बोध्यते, शास्त्रेण तु सामान्यतश्चैतन्यस्वरूपमात्रमुप-स्थाप्यते । “न हि शास्त्रमिदन्तये”ति भाष्यं गृहीत्वैव भामतीकाराणां शाब्दापरोक्षतावादनिरासः । सर्वथा तु शुद्धचैतन्यस्य ज्ञानाविषयत्वेऽपि न शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिः । ब्रह्मणो न फलव्याप्यत्वमित्यत्र श्रुतिमपि प्रमाणयति—\*तथाच शास्त्रमिति\* ॥ यस्य ब्रह्म फलव्याप्यं दृश्यमिति मतम्, स ब्रह्म न जानाति, यस्य तु ब्रह्म न दृश्यमिति मतम्, तेन ब्रह्म मनोवृत्तिद्वारा साक्षात्कृतमेव । तदेव प्रकारान्तरेणाह—\*अविज्ञातमिति\* ॥ भामतीमतरीत्या तूक्तश्रुतेरयमर्थः—य आत्मानमहमिति विषय-



## वार्तिकम्

तत्त्वभावस्य जायमानत्वात्, परन्तु तस्य प्रतिबद्धत्वात् कार्यान्तमत्वमित्यन्यदेतत् । अन्ते-तदनन्तरम्, विश्वाकारपरिणताया मायाया निवृत्तिरित्यर्थः । पञ्चमीत्रयं पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वसिद्धयर्थं द्रष्टव्यम् । तत्त्वभावलक्षणश्चित्तस्य परिणामो योगानामुत्तमो योगः । तथाचोक्तम्—“लये संबोधयेच्चित्तं विक्षेपे शमयेत् पुनः” इति ॥

\*ननु\* “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” इति योगविदः सूत्रम्, कथं तद्विरुद्धमुच्यते—तत्त्वभावलक्षणा वृत्तिश्चित्तस्य योग इति चेत्, \*न\* ; प्रलयस्यापि योगविदः सूत्र्यत्वप्रसङ्गात् । बुद्धिपूर्वकस्तन्निरोधो विवक्षित इति चेत्, \*सत्यम्\* ; प्रकृतेऽपि तद्भावात्, विषयप्रवणतानिरोधात्, सर्वात्मना निरोधे बुद्धिपूर्वकत्वस्यैवासिद्धेः । नियमेनान्यत्तत्त्वमवलम्ब्यान्यवस्तूपसंहारो हि बुद्धिपूर्वकनिरोधो नाम । तदालम्बनबुद्धौ वा सत्यां कथं स एव भवेत् ; कारणं विना कार्यानुपपत्तेः । सत्यमासीत् साऽन्य-वृत्तिनिरोधा स्वयमपि निरुध्यत इति चेत्, वक्तव्यं तर्हि तन्निरोधकारणम् । दग्धेन्धनानलवत् स्वयमेवोप-शाम्यतीति चेत्, न ; दृष्टान्तासिद्धेः । नहानलः स्वयमेवोपशाम्यति, अपि तु स्वाश्रयेन्धनस्यासत्त्वात् । नचात्र स्वाश्रयस्य चित्तस्याविद्यावद् विद्यासमकाले नाशोऽस्ति ; यावत्प्रारब्धं तस्य सत्त्वात्, अन्यथा तत्क्षणादेव देहादिनाशात् कस्य समाधानं स्यात् ? \*ननु\* अविद्यानाशे स्वाश्रयनाशात् कथं चित्तादिस्थितिरिति—चेत्, \*न\* ; द्रव्यनाशे तदाश्रितानां कार्याणामनाश्रयतयैकक्षणस्थायित्व-कल्पनवदनेकक्षणस्थायित्वस्यापि कल्प्यत्वात्, श्रुतिसिद्धत्वाच्च । तथाच श्रुतिः—“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षये अथ संपत्स्ये” इति यावत्प्रारब्धक्षयमवधिं दर्शयति । अत एव—“क्षीयन्ते चास्य कर्माणि” “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुर्वतेऽर्जुन ।” इत्यादिश्रुति-स्मृत्योः प्रारब्धेतरसर्वकर्मक्षय-विषयत्वमवधार्यते । समारब्धफलस्य कर्मणो यावत्फलं लक्ष्येषुवद् यावद्वेगक्षयं प्रवृत्तेः । नहि लक्ष्यस्येषोरग्रे प्रयोजनाभाव इति कृत्वा यावद्वेगक्षयं न प्रवर्तते ; तद्वत् प्रारब्धप्रवृत्तेस्तं प्रत्यप्रयोजन-त्वेऽप्यविरोधः । तस्मात् प्रारब्धशेषात् चित्ते यावत्तद्विरोधिवृत्त्यन्तरं नोदेति, तावत् तन्नाशकाभावाद् दध्वत्रस्त्राकारा वृत्तिरवतिष्ठते । तत्संस्कारेण तन्नाश इति चेत्, न ; संस्कारस्य तज्जन्यत्वात् तन्नाश-कत्वानुपपत्तेः, अन्यथाऽन्योन्याश्रयापत्तेः—संस्कारेण तन्नाशः, तन्नाशेन च संस्कार इति ॥

\*ननु\* एवं तर्हि ब्रह्मविदां सुप्तावस्था न स्यात् ; तद्वद्वेः कारणस्याविद्याया विलयेन कारणात्मनाऽ-वस्थानासंभवात् स्वापावस्थायास्तादृष्यात् । प्रारब्धशेषाद् ब्रह्माकारवृत्तौ हि तदाकारतयाऽवस्थानं समाधिरेव, ततः प्रच्यावे च जाग्रत्स्वप्नयोरन्यतरविक्षेप इति चेत्, इष्टापत्तेः । ब्रह्माकारतया चेतोऽ-वस्थानस्यैव विदुषां स्वापत्वात् तदतिरिक्तस्वापास्तित्वे प्रमाणाभावात् । तथाच भगवद्गीता—“या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥” इति ।

नच स्वापः प्रारब्धकार्यम्, येन तदङ्गीकारोऽपि स्यात् । सर्वकार्योपरमलक्षणस्य स्वापस्य जाग्र-त्स्वप्नभोगप्रदकर्मोपरमनिमित्तकत्वेन तत्कार्यत्वानुपपत्तेः । नच—स्वापाभावेऽविश्रान्तेर्जाग्रत्स्वप्नानुपपत्ति-रिति—वाच्यम् ; ब्रह्माणि विश्रान्तिसत्त्वेन तदविश्रान्त्यसिद्धेः । ये तु संस्कारशेषामविद्यां प्रारब्ध-निर्बोहिकामङ्गीकुर्वन्ति, तन्मते स्वापावस्थाऽप्युपपद्यते विदुष इति श्लिष्टम् । सर्वथाऽपि निर्विकल्पक-समाधिश्चित्तस्य वृत्तिद्वारा ब्रह्मात्मनाऽवस्थानमेव ; वृत्तिहीनस्य चित्तस्यावस्थानानुपपत्तेः, चित्तत्व-विरोधात् ॥



अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्ष-  
स्यानित्यत्वदोषः ।

भामती

प्रकृतमुपसंहरति—\*अतोऽविद्याकल्पितेति\*॥ परपक्षे मोक्षस्यानित्यतामापादयति—\*यस्य त्विति\*॥

ऋजुप्रकाशिका

ब्रह्मणोऽविषयत्वमित्यस्मिन्नेवार्थे । “यस्यामतम्” इति भाष्यश्रुतेरयमर्थः—यस्य ब्रह्माऽमतम्=अविषय  
इति निश्चयः, तस्य तद्ब्रह्म मतं सम्यग् ज्ञातम्, तदन्तःकरणेऽखण्डसच्चिदानन्दरूपेण प्रतिफलित-  
मित्यर्थः । यस्य पुनर्मतम्=विषयतया ब्रह्मनिश्चयः, स न वेदेति । “अविज्ञातं विजानताम्” इति  
श्रुतेरपि प्रकृतोपयोगितया यथायोग्यमर्थं ऊहनीयः । स्वपक्षे मोक्षनित्यतामुपपाद्य परपक्षे मोक्षस्यानित्यता-

पञ्चपादिका

\*यस्य तूपाद्यो मोक्ष इत्यादिना\*—तस्माद् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते  
इत्यन्तेन भाष्येणाविद्यानिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणं मोक्षं विहाय क्रियानुप्रवेशं कल्पयतोऽपि

पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्सिद्धेः शास्त्रानपेक्षणात् । \*ननु\* अत्यन्ताभेदवादिनस्तवैव सर्वं संकीर्येत, न मम ; भेदस्याभ्युपगमात्,  
\*नैवम्\* ; कार्यप्रपञ्चस्यानिरूपितस्वभावतया यथावभासं भेदादिव्यवस्थोपगमात्, आत्मन एवाभेदोपगमात् ।  
तस्मान्मन्दमतिसन्तोषमात्रप्रयोजनतया बहुवेणुभारपीडितचेतसाऽयं भेदाभेदपक्षः समादीयत इति । तस्मा-  
दिदमेव ब्रह्म देवदत्तवदुपाधिभेदनिमित्तविभागपरामर्शेन प्रत्यस्तमितविभागं वाक्येन प्रतिपाद्यत इति  
शोभनम् ॥

तत्त्वदीपनम्

त्वत्पक्षे शास्त्रप्रामाण्यं च दुर्लभमित्याह—\*न च सत्त्वादीति\* ॥ कनक-कटकादिषु सामान्याकारेणाभिन्नत्वं विशेषा-  
कारेण भिन्नत्वं चेत्तेतल्लोकप्रसिद्धम्, तेन दृष्टान्तेन प्रत्यग्ब्रह्मणोरपि तादृक्तत्त्वसिद्धेः शास्त्रवैयर्थ्यमित्यर्थः ॥

भेदाभेदमते सांकर्यमित्युक्तम्, तत्परमतेऽपि तुल्यमिति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ संकीर्येत एवेति संबन्धः ।  
मन्मते संकरश्च नेत्याह—\*न ममेति\* ॥ काल्पनिकभेदाङ्गीकारान्नाद्वैतमते सांकर्यप्रसङ्गं शोभत इत्याह—\*नैव-  
मिति\* ॥ अभेदवचनं तर्हि किंविषयमिति ? अत आह—\*आत्मन एवेति\* ॥ तात्त्विकाद्वैतविषयं तदित्यर्थः । एकदे-

वार्तिकम्

\*ननु\* एवं निर्विकल्पक-सविकल्पकसमाध्योः को वा भेदः ? अस्ति भेदः—निर्विकल्पक-  
समाध्यौ ज्ञातृ-ज्ञानयोर्ज्ञेयाभेदेनैव भानम्, सविकल्पकसमाध्यौ तु भेदेनेति तद्विभागदर्शनात् ॥

\*ननु\* एवं तर्हि ब्रह्मणि सविकल्पकसमाधिः कदापि न स्यात् ; ज्ञातृ-ज्ञानप्रत्यक्त्वेनैव तद्भावनात्  
भाष्यभावप्रकाशिका

प्रकृतमुपसंहरति—\*अतोऽविद्येति\* ॥ अविद्यानिवृत्तिलक्षणं मोक्षं विना क्रियासाध्यो मोक्ष  
इत्यभ्युपगच्छतः क्रियायास्तत्र फलाभावादन्वयो न संभवतीत्येतदाह—\*यस्य त्विति\* ॥ तर्हि क्रियानु-

प्रदीपः

तथा गृह्णाति, तेनात्मा न ज्ञातः, यस्तु अहमित्यात्मानं न मन्यते, किन्तु अविषयतया शास्त्रेण, स विजानातीति । अनेन च  
शास्त्रेणात्मस्वरूपं न शब्दप्रमाणजन्यवृत्तिभास्यमिति बोध्यते । न हि प्रत्यगात्मतयाऽऽत्मस्वरूपभानावसरे तत्र प्रमावृत्तं  
वर्तते, इति प्रमाणजन्यवृत्तिभास्यत्वं तत्र विरुद्धमिति भावः । चाक्षुषादिवृत्तिभास्यत्वमात्मनः स्पष्टं श्रुतिनिषेधतीत्याह—

\*न दृष्टेरिति\* ॥ वृत्तेरपि भासकं चैतन्यं न वृत्तिजनकत्वेनैव शास्त्रस्योपयोगव्यवस्थापनेन न वा ब्रह्म-ज्ञानविधिविषयतयोपासना-



यस्य तूत्पाद्यो मोक्षः, तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्, तथा विकार्यत्वे च ; तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । नहि दध्यादि विकार्यम् उत्पाद्यं वा धटादि नित्यं दृष्टं लोके ।

भामती

कार्यम् = पूर्वं यागादिव्यापारजन्यम्, तमपेक्षते मोक्षः स्वोत्पत्ताविति । \*तयोः पक्षयोरिति\*॥ निर्वर्त्य-  
विकार्ययोः । क्षणिकं ज्ञानमात्मेति बौद्धाः । तथाच विशुद्धविज्ञानोत्पादो मोक्ष इति निर्वर्त्यो-मोक्षः,

ऋजुप्रकाशिका

मापादयतीत्याह—\*परपक्ष इति\* ॥ उत्पाद्यपक्षे मोक्षः कार्यमपेक्षत इत्युक्तं भाष्ये, तद्व्याचष्टे—  
\*कार्यमपूर्वम् इत्यादिना—“सोत्पत्तावि”त्यन्तेन\* ॥ तयोः पक्षयोरित्युक्तं भाष्ये, तद्व्याचष्टे—\*तयोरिति\* ॥

वार्तिकम्

तद्भेदेन तद्वग्रहानुपपत्तेरिति चेत्, \*सत्यम्\* ; यदा ब्रह्मप्रत्ययः प्रत्ययान्तरैर्नाभिभूयते, तदैवमेव ; यदा तु विपरीतवासनासत्त्वात् ताभिः पुरेव न्यायेन तद्विरोधिप्रत्ययान्तराणि मध्ये जायन्ते, तदा विपरीतप्रत्ययोऽयं लयो वा चित्तस्येति ताननुसन्धाय तन्निराकरणेन ब्रह्माकारवृत्तिकरणात्सविकल्पक-  
समाधिर्भवति । तथाचोक्तम्—“लये संबोधयेच्चित्तं विज्ञेये शमयेत् पुनः” इति, यं मननं निदिध्यासनं नाऽऽचक्षते ध्यायिनः, तयोरेव ब्रह्मणि सविकल्पकसमाधिरूपत्वात् तदुत्तरकाले तत्र तदसंभवात्, परमात्मन्येव विदुषां सर्वभावात् । तथा चाह वसिष्ठः—“देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि । यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥” इति । यस्य तु प्रारब्धवैचित्र्यात्तदुत्तरमपि विज्ञेय-  
प्राधान्यं दृश्यते, तस्य तु तदुत्तरमपि विज्ञेयप्राधान्यं दृश्यते, तस्य तदुत्तरमपि सविकल्पकसमाधि-  
र्भवन्न निवार्यते । वस्तुतस्तु मनने निदिध्यासने वा गत्वा पर्यवस्यति ; अन्यथा ब्रह्मणि सविकल्प-  
प्रत्ययानुपपत्तेरुक्तत्वादित्यास्तामयं चर्चः । सर्वथाऽपि शास्त्रं ब्रह्म बोधयत् सर्वप्रत्यक्तयैवोपस्थापयति,  
न तु विषयवदिदन्तयेति स्थितिः । एवं सत्यस्मन्मते मोक्षात्मके ब्रह्मण्युपासनादिक्रियाया अप्रवेशाद्  
न तस्यानित्यत्वदोषोऽपीत्याह—अतोऽविद्याकल्पितभेदनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणाद् न  
मोक्षस्यानित्यत्वदोष इति । समानाधिकरणे पञ्चम्यौ । शास्त्रेणेति शेषः ॥

अपिच क्रियाफलस्योत्पाद्यादिचातुर्विध्यनियमाद् मोक्षस्यापि तत्त्व उत्पाद्यत्वं विकार्यत्वमाप्यत्वं  
संस्कार्यत्वं वा स्यात्, न चैतद्युक्तम् ; नित्यत्वात्, अनाधेयातिशयत्वाच्च मोक्षस्य ॥

\*ननु\* “नच पुनरावर्तते” इति श्रुतेर्नित्य एव ब्रह्मलोकलक्षणो मोक्षो ज्ञान-कर्मभ्यामुत्पद्यत इति  
हैरण्यगर्भाः । संसार्येव परमार्थतो जीवो भगवदुपासनावशादसंसारिस्वरूपेण विक्रियते । स च  
तस्य नित्यो मोक्ष इति वैष्णवाः । विकारभूतो जीवोऽविकृतं ब्रह्मार्चिरादिना मार्गेण गत्वा प्राप्नोतीति  
भास्करीयाः । विद्यमानस्यैवैहाष्टकैश्वर्याविर्भावो मोक्ष इति तौष्टिकाः । पशुपतेराराधनयाऽविद्या-

भाष्यभावप्रकाशिका

प्रवेशायोगादुत्पाद्यत्वं विकार्यत्वं वा मोक्षस्य गमिष्यतीत्यत आह—\*तयोः पक्षयोरिति\*॥ दृष्टान्तमाह—  
\*नहीति\* ॥ अथानित्यत्वपरिहाराय पूर्वसिद्धस्यैव ब्रह्मणः प्राप्यत्वं ग्रामादेरिव स्यादित्याशङ्क्याह

प्रदीपः

निधिविषयतया समर्प्यते, इति व्यवस्थापितम् । सति चैवं प्रमाणपरतन्त्रत्वाद् वृत्तेन ब्रह्मणः प्रतिपत्तिविधिविषयत्वमिति फलितम् ।



## पञ्चपादिका

न तस्य तत्र संभव इति दर्शितम् । कथम् ? यदि तावदुत्पाद्यो विकार्यो वा मोक्षः ? तदा यद्यपि क्रियानुप्रवेशो युक्तः ; तथापि मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वमित्युक्तम् “न कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादि”त्यादिभाष्येण ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

“यस्य तूत्पाद्यो मोक्षः” इत्यादिनोत्तरस्य भाष्यसमुदायस्य तात्पर्यमाह—\*ननु\* ब्रह्मणोऽपि कारकत्वसम्भवात् कथं न सम्भवति क्रियेत्याह—\*कथमिति\* ॥ तत्वेदं वक्तव्यम्—किं यागादिवत्कर्तृसमवेतापूर्वादिफलदानाय ज्ञानं विधीयते ? किं वा कर्मकारकातिशयफलायेति ? न तावत् पूर्वः कल्पः ; “न कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यादि”त्यारभ्य निरस्तत्वात् ; नाप्युत्तरः कल्प इत्याह—\*यदि तावदुत्पाद्य इत्यादिना\* ॥

अत्र केचिदाहुः—उत्पाद्यत्वेऽपि मोक्षस्य नानित्यतादोषः ; क्रियासाध्यस्यैवानित्यत्वात्, मोक्षस्य ज्ञानमात्रसाध्यत्वात्, नच ज्ञानमात्रसाध्यस्यानित्यत्वं दृष्टम् ; नचाविद्यानिवृत्तिमात्रमेव ज्ञानसाध्यम् ; ब्रह्मभावस्यापि साध्यत्वात् । ननु जीवस्य ब्रह्मभावः स्वाभाविको न साधनीयः, न ; तादात्म्यस्यैव स्वाभाविकत्वात् । भेदतावन्मात्रविरोधस्तादात्म्यं नाम । तद्भावस्तु ब्रह्मतावन्मात्रताजीवस्य ज्ञानेन साध्यते ; “तरति शोकमात्मवित्” “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”त्युभयविधश्रुतिसामर्थ्यादिति, \*अत्रोच्यते\*—किं शास्त्रजनितसम्यग्ज्ञानेन तादात्म्यविषयेण मोक्षः साध्यते ? किं वा तदभावविषयेणेति ? न तावत्तदभावविषयेण ; तस्य नित्यसिद्धताप्रसङ्गात् । यदि तादात्म्यविषयेण ? तत्रापि निवृत्ते तादात्म्ये तदभावः साध्यते वा ? न ? इति

## ऋजुविवरणम्

त्वात्तस्य, भेदनिषेधस्य चात्यन्तभेदविषयत्वादित्याशङ्क्याह—\*नच सत्तादिसामान्येति\* ॥ \*ननु\* तर्हि ज्ञानमात्रसाध्यत्वेन नित्यत्वेऽविद्यानिवृत्तिरेव, तेन न विवादः ; बाधामुपपत्तिश्चेत्याशङ्क्याह—\*नचाविद्यानिवृत्तीति\* ॥ कथमुभयमपि ज्ञानसाध्यमिति ? तदाह—\*तरति शोकमित्यादिना\* ॥ \*नित्यसिद्धतेति\* ॥ विज्ञानविषयत्वे तद्भावस्य ज्ञानात्प्राक् प्रसिद्ध्या भवितव्यम्, पूर्वसिद्धौ न ज्ञानसाध्यता, तदभावे नित्यसिद्धतेति भावः । \*ननु\*

## तत्त्वदीपनम्

शिमतनिराकरणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ गुणदोषविवेकावधारणासमर्थत्वादपि न त्वन्मतमादेयमित्याह—\*बहु-  
वेणुभारेति\* ॥ स्वमतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ मृदादिवद् ब्रह्मणोऽप्युपादानत्वात्तत्र क्रियानुप्रवेशोऽयुक्त  
इति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मण इति\* ॥ मोक्षस्योत्पाद्यत्वादिरूपत्वाभावेऽपि क्रियानुप्रवेशः किं न स्यादित्याशङ्क्य,  
विकल्पोत्तरत्वेन व्याकरोति—\*तत्रेदमित्यादिना\* ॥ मोक्षः, अनित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात् ; घटादिवदित्युक्ते  
क्रियासाध्यत्वमुपाधिरिति केषांचित्प्रत्यवस्थानमाह—\*अत्र केचिदाहुरिति\* ॥ साधनव्यापकत्वं निरस्यति—  
\*मोक्षस्येति\* ॥ ज्ञानसाध्यस्यानित्यत्वे प्रमाणं च न पश्याम इत्याह—\*नच ज्ञानेति\* ॥ ज्ञानस्याविद्या-  
निवर्तकताया लोकसिद्धत्वान्न तत्र विधिरर्थवानित्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ अभूत्वा भावान्न ब्रह्मभावः साध्य  
इति शङ्कते—\*ननु जीवस्येति\* ॥ स्वाभाविकत्वमसिद्धमित्याह—\*नेति\* ॥ “स्वं ह्यपीतो भवती”त्यादिना  
स्वाभाविकत्वं लक्ष्यत इत्याशङ्क्य, तत्तादात्म्यविषयमित्याह—\*तादात्म्यस्येति\* ॥ तादात्म्य-तद्भावयोः को  
भेदः ? इत्याशङ्क्याह—\*भेदेति\* ॥ भेदसहभेदस्तादात्म्यम्, भेदासहभेदस्तद्भाव इति भेदः । तद्भावस्य  
तादात्म्यातिरेकसाधनफलमाह—\*ज्ञानेनेति\* ॥ अविद्यानिवृत्ति-ब्रह्मभावयोर्ज्ञानसाध्यत्वे श्रुतिं प्रमाणयति—  
\*तरति शोकमिति\* ॥ विकल्पासहत्वाद् नैतत्साधित्याह—\*अत्रोच्यत इति\* ॥ तत्रान्त्यं निरस्यति—\*न तावत्त-  
द्भावेति\* ॥ किं तज्ज्ञानमपरोक्षम् ? उत परोक्षम् ? आद्ये ज्ञानात्प्राक् तद्भावाभावेऽपरोक्षज्ञानानुत्पत्तेः स एष्टव्य इत्याह—  
\*तस्येति\* ॥ द्वितीये सर्वेषां तद्भावः स्यादित्यर्थः । आद्यः कल्पो निरूपणं न सहत इत्याह—\*यदि तादात्म्येति\* ॥  
विकल्पासहत्वान्नैतत्साधित्याह—\*तत्रापीति\* ॥ आद्योऽपीदमालोचनीयम्, किं तादात्म्यनिवर्तकं तज्ज्ञानम् ? आद्यो



## पञ्चपादिकाविवरणम्

वक्तव्यम् । निवृत्ते चेत्, ज्ञानस्य स्वविषयविनाशकत्वं दर्शितं स्यात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वे चाज्ञानमेव तादात्म्यमापद्येत, अनिवृत्ते तु तादात्म्ये तद्भावो नोपपद्यते । न हि तावन्मात्रता तद्विरोधिता च युगपत् स्यातामिति ॥ किञ्च तादात्म्यनिवृत्तिरेव तद्भावः किंवान्य इति वक्तव्यम् । निवृत्तिरेव चेत्, अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्ष इत्युक्तं स्यात्, अन्यश्चेत्, तर्हि तादात्म्यं तद्भावं चान्तरेण रूपान्तरं वक्तव्यम् । न हि जीव-ब्रह्मणो-स्तादात्म्य-तद्भावव्यतिरेकेणात्यन्तभेदादन्यद् रूपान्तरं शक्यते निरूपयितुम् । कश्चायं तद्भावो नाम ? न तावद् ब्रह्मैव ; असाध्यत्वात् । अत एव न जीवोऽपि ; नच तृतीयश्चेतनोऽचेतनो वा तद्भावो निरूपयितुं शक्यः । किञ्च यदि तादात्म्यलक्षणातिरेकविशिष्टश्चेज्जीवः, तद्विनाशे विनाशमियात् । निष्कृष्टतादात्म्य-श्चेज्जीवः, ब्रह्ममात्रमेव स्यात् ; अत्यन्तभेदानङ्गीकारात् । तस्मात्तादात्म्यस्य तद्भावः शास्त्रयुक्तिहीनः । नच तत्त्वंपदार्थां लक्ष्यमाणयोर्जीव-ब्रह्मणोस्तादात्म्यं प्रतीयते ; भिन्नोपाधिपरामर्शेनैकस्य वस्तुनो लक्ष्यमाणत्वात् ।

## ऋजुविवरणम्

तादात्म्य-तद्भावयोर्विरोध एवासिद्धः, तत्कथं यौगपद्यं निराक्रियते ? इत्याशङ्क्याह—\*किं तादात्म्यनिवृत्तेरिति\* ॥ अन्यत्वेऽपि स्वरूपातिरिक्तम् ? स्वरूपम् वा ? नाद्य इत्याह—\*अन्यश्चेत्तर्हीति\* ॥ द्वितीयेऽपि जीवस्वरूपं ब्रह्मस्वरूपं वेति विकल्पं मनसि निधायाह—\*कश्चायमिति\* ॥ \*ननु\* स्वरूपतावन्मात्रत्वं न तादात्म्यनिवृत्ति-मात्रम्, अपि तु शुद्धस्वरूपेणावस्थानम् ; अतो न पूर्वोक्तदोष इत्याशङ्क्याह—\*किं तादात्म्येति\* ॥ \*ननु\* शास्त्राद् भेदः प्रतीयते, फलश्रुतिसामर्थ्यात् तद्भावः, अतो द्वयमपि शास्त्रसिद्धम्, तादात्म्यज्ञानस्य तन्निवर्तकत्वम्, तद्भावस्य साध्यत्वम्, नित्यत्वं चेत्याशङ्क्याह—\*नच तत्त्वंपदार्थमिति\* ॥ वाच्ययोः सामानाधिकरण्यं पूर्वमेव निरस्तमिति ॥ \*ननु\* तर्हि पदान्तरवैयर्थ्यम् ; एकेनैव पदेन लक्षणायां तत्त्वसिद्धेरित्याशङ्क्याह—\*नचैकै-

## तत्त्वदीपनम्

स्विद्व्यपत् ? आद्यमुत्थापयति—\*निवृत्ते चेदिति\* ॥ अपसिद्धान्तापत्तेर्नैवमित्याह—\*ज्ञानस्येति\* ॥ नच तदिष्ट-मित्यपि शङ्क्यम् ; अतिप्रसङ्गात्, ज्ञानस्य स्वगोचरघातिताऽदर्शनात् । स्वविषयघातितेष्वपि न दोषाद्विमोक्ष इत्याह—\*ज्ञानेति\* ॥ ज्ञानस्य वस्तुनिवर्तकत्वाददर्शनादित्यर्थः । न द्वितीयः ; निवर्तकान्तरानुपलब्धेरित्यर्थः । अन्तिममप-वदति—\*अनिवृत्त इति\* ॥ अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—\*न हीति\* ॥ तादात्म्यानिवृत्तौ तद्भाव इत्येतदितोऽप्यसङ्गत-मित्याह—\*किं चेति\* ॥ तद्भावः किं निवृत्तिरेव ? उत तदन्यः ? इति विमर्शार्थः । आद्ये न फलद्वैविध्यासिद्धि-रित्याह—\*निवृत्तिरेवेति\* ॥ ज्ञाननिवर्त्यत्वेन तादात्म्यस्याविद्यात्मकत्वात्तन्निवृत्तिरविद्यानिवृत्तिरिति यावत् । द्वितीयमुत्थापयति—\*अन्यश्चेदिति\* ॥ तद्भावस्य तादात्म्यनिवृत्त्यन्यत्वे निवृत्तिस्वरूपं वाच्यमित्याह—\*तर्हीति\* ॥ अभाव एव निवृत्तेः स्वरूपमित्याशङ्क्याह—\*न हि जीवेति\* ॥ जीव-ब्रह्मणोस्तादात्म्यनिवृत्तौ तद्भावोऽत्यन्तभेदो वा स्यात्, नच तदुभयम् ; अत्यन्तभेदानिष्टे, निवृत्तिसमये तद्भावानिष्टेऽचेत्यर्थः । प्रकारान्तरेण तद्भावं दूषयितुं विमृशति—\*कश्चायमिति\* ॥ तद्भावः किं ब्रह्म ? उत जीवः ? आहो अन्यः ? इति किंशब्दार्थः । तद्भावस्य साध्यत्वाद् ब्रह्मणश्चासाध्यत्वात्तयोरन्यत्वमित्याह—\*न तावदिति\* ॥ उक्तं दोषं मतान्तरेऽतिविशति—\*अत एवेति\* ॥ तृतीयेऽपि किं स चेतनः ? उताचेतनः ? उभयथाऽप्यनुपपत्तिरित्याह—\*नच तृतीय इति\* ॥ जीव-ब्रह्मान्यचेतनस्यासंभवादनङ्गीकाराच्च । अचेतनत्वे च न तस्य पुरुषार्थत्वमित्यर्थः । इतोऽपि न भेदाभेदपक्षो युक्त इत्याह—\*किं चेति\* ॥ किं तादात्म्यविशिष्टो जीवः ? उत तदुपलक्षितः ? इति विकल्प्यानुवादेनो-त्तरमाह—\*यदीति\* ॥ द्वितीयेऽस्मिन्मतप्रवेश इत्याह—\*निष्कृष्टेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*अत्यन्तेति\* ॥ प्रमाणं चात्र न पश्याम इत्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*तत्तादात्म्यस्येति\* ॥ तेन तादात्म्यं यस्य तस्येत्यर्थः । \*ननु\* “तत्त्वमसी”ति तादात्म्यं लक्ष्यत इत्याशङ्क्य, किं वाच्ययोस्तादात्म्यम् ? उत लक्ष्ययोः ? नाद्यः ; तयोर्विरोधादित्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति—\*नचेति\* ॥ पदद्वयवैयर्थ्यशङ्कां निरस्यति—\*भिन्नेति\* ॥ भिन्नोपाधि-



## भामती

अन्येषां तु संसाररूपावस्थामपहाय या कैवल्यवधिरात्मनः स मोक्ष इति विकार्यो मोक्षः । यथा पयसः पूर्वावस्थापहानेनावस्थान्तरप्राप्तिर्विकारो दधीति । तदेतयोः पक्षयोरनित्यता मोक्षस्य ; कार्यत्वात्, दधि-घटादिवत् । \*‘अथ\* यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते’ इति श्रुतेर्ब्रह्मणो विकृताविकृतदेशभेदावगमादविकृतदेशब्रह्मप्राप्तिरुपासनादिविधिकार्या भविष्यति, तथाच प्राप्यकर्मता ब्रह्मण इत्यत आह—

## ऋजुप्रकाशिका

निर्वर्त्य-विकार्ययोरिति\* ॥ उत्पाद्य-विकार्यपक्षयोरित्यर्थः । निर्वर्त्य उत्पाद्य इत्यनर्थान्तरम् । निर्वर्त्यो मोक्ष इति पक्षमुपपादयति—\*क्षणिकमिति\* ॥ विकार्यो मोक्ष इति पक्षमुपपादयति—\*अन्येषां त्विति\* ॥ मोक्षा-पेक्षया स इति पुल्लिङ्गनिर्देशः । आद्यपक्ष उत्पाद्यत्वे पटो दृष्टान्तः, विकार्यो मोक्ष इति पक्षे विकार्यत्वे दृष्टान्तमाह—\*यथा पयस इत्यादि—दधीत्यन्तेन\* ॥ एवं स्थिते सति पक्षद्वयेऽपि मोक्षस्यानित्यता-साधकमनुमानं दर्शयति—\*तदेतयोरित्यादिना\* ॥ \*ननु\* सिद्धान्तेऽपि श्रुतिबलादविकृतदेशब्रह्मप्राप्ते-रेव मोक्षत्वात् तस्याश्रोपासनाविधिकार्यत्वाद् मोक्षस्यानित्यत्वापत्तिः समानेत्यभिप्रेत्य शङ्कते—\*अथ यदतः पर इति\* ॥ \*भाष्ये कर्मता=प्राप्यत्वेन कर्मशेषता विधिशेषतेति यावत् । पूर्वमप्राप्तं ब्रह्म प्राप्तं चेत्, तथात्वम्, ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वात् तस्य विकृताविकृतदेशाभावाच्च न तथेत्याह—\*अत आहिति\* ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

नचैकेनैव पदेन तस्य लक्षणायां भेदावभासो निवर्तते । फलश्रुतयश्चाविद्यानिवृत्तौ योजयितुं शक्यन्ते । नच ज्ञानसाध्यस्य नित्यतालाभः ; संस्कारस्य तज्जन्यस्यानित्यतादर्शनात् । नच संस्कारस्यापि क्रियाजन्यता ; संस्कारान्तरवत्स्मृतिहेतुत्वायोगात्, अन्वय-व्यतिरेकविरोधाच्च । [अब्रह्मज्ञानस्य साध्यत्वात्

## ऋजुविवरणम्

नैवेति\* ॥ फलश्रुतिसामर्थ्यात्तद्भावः प्रसङ्गत इति यच्चोद्यम्, तत्परिहरति—\*फलश्रुतयश्चेति\* ॥ ज्ञानसाध्यत्वेन नित्यत्वसिद्धिरिति यदुक्तम् ; तत्राह—\*नच ज्ञानसाध्यस्येति\* ॥ \*ननु\* भावनाख्यः संस्कारोऽपि क्रियाजन्यः, अतो न ज्ञानसाध्यत्वस्य व्यभिचार इत्याशङ्क्याह—\*नच संस्कारस्यापीति\* ॥ भावनायां ज्ञानान्वय-व्यतिरेकौ दृश्येते ; तस्मिन् सत्येव भावात्, असति चाभावात् तद्विरोधोऽपि ॥

यद्वा—स्मृतिहेतुत्वं निराकर्तुं न युक्तम् ; अन्वय-व्यतिरेकविरोधात्, अतः क्रियाजन्यत्वमपीत्याशङ्क्याह—\*अन्वयव्यतिरेकेति\* ॥ अनुमानात्क्रियासाध्यत्वप्रतीतावन्वय-व्यतिरेकघटनं कथं क्रियते ? इति चोदयति—\*अब्रह्म-

## तत्त्वदीपनम्

परामर्श एव कस्मादित्याशङ्क्याह—\*न चैकेनेति\* ॥ भेदनिवृत्तिफलं तत्त्वमस्यादिवाक्यम्, नचैकेन पदेन भेदभ्रमो निवर्तते, तथाच भिन्नोपाधिपरामर्शेन भ्रमनिवर्तकं पदद्वयमर्थवदित्यर्थः ॥ ‘ब्रह्मैव भवती’त्यादिषु ब्रह्मभावस्य साध्यत्वश्रवणात् कथमसाध्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*फलश्रुतय इति\* ॥ चिकित्सादिना रोगादिनिवृत्तौ स्नास्थ्यं जातमितिवत् प्रतिबन्धकाविद्यानिवृत्तिमपेक्ष्य ब्रह्मैव भवतीत्यादिव्यपदेश इत्यर्थः । ज्ञानसाध्यस्या-नित्यतादर्शनान्न मोक्षस्यानित्यत्वमिति यत्तूक्तं तत्राह—\*नचेति\* ॥ भावनालक्षणसंस्कारस्य ज्ञानजन्यस्याप्य-नित्यत्वाद् ब्रह्मभावस्याप्यनित्यत्वमित्यर्थः । संस्कारत्वस्याविशेषाद्वेगादिवद् भावनापि क्रियाजन्येत्याशङ्क्याह—\*नच संस्कारस्येति\* ॥ ज्ञाने सति भावनोत्पद्यते, नान्यथेत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां भावनाया ज्ञानसाध्यत्वमनुभूयते, तद्विरोधश्चेत्याह—\*अन्वय-व्यतिरेकेति\* ॥ नच—संस्कारस्य ज्ञाननाशक्रियाजन्यत्वात् स्मृतिजनकत्वमित्यपि—शङ्क्यम् ; नाशस्य क्रियात्वाभावादित्यर्थः । का तर्ह्यनुमानस्य गतिरिति शङ्कते—\*अब्रह्मेति\* ॥ ब्रह्मज्ञानेतर-साध्यत्वादित्यर्थः । दूषणान्तराभिधित्सयैतत्पुनरुत्थापितमिति द्रष्टव्यम् । व्यभिचारित्वादाभासत्वं तस्येत्याह—\*न क्रियायामिति\* ॥ साध्यतामात्रस्यानित्यत्वप्रयोजकत्वसंभवे क्रिपेति विशेषणं व्यर्थं चेत्यभिप्रायेणाह—



न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षाः ; स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् । स्वरूपव्यति-  
रिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम् ; सर्वगतत्वेन नित्यासस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मण  
आकाशस्येव ।

भामती

\*नचाऽऽप्यत्वेनापीति\* ॥ अन्यदन्येन विकृतदेशपरिहाण्याऽविकृतदेशं प्राप्यते । तद्यथोपवेलं जल-  
धिरतिबहलचपलकलोलमालापरस्परास्फालनसमुल्लसत्फेनपुञ्जस्तबकतया विकृतः, मध्ये तु प्रशान्तसकल-  
कलोलोपसर्गः स्वस्थः स्थिरतयाऽविकृतस्तस्य मध्यमविकृतं पौतिकः पोतेन प्राप्नोति । जीवस्तु ब्रह्मैव,  
इति किं केन प्राप्यताम् ? भेदाश्रयत्वात्प्राप्तेरित्यर्थः । \*अथ\* जीवो ब्रह्मणो भिन्नः, तथापि न तेन  
ब्रह्माऽऽप्यते, ब्रह्मणो विभुत्वेन नित्यप्राप्तत्वादित्याह—\*स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपीति\* ॥ संस्कार्यकर्मता-

ऋतुप्रकाशिका

क्वचिद्विकृतदेशपरिहारेणाविकृतदेशप्राप्तिरस्ति, तदुपपादयति—\*अन्यदन्येनेति\* ॥ तदुदाहृत्य दर्शयति—  
\*तद्यथेति\* ॥ \*उपवेलम्\* = वेलायाः समीपे । जलधिर्विकृत इत्यन्वयः । विकृतौ हेतुमाह—\*अति-  
बहलेत्यादिना\* ॥ मध्ये तु जलधिरविकृत इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—\*प्रशान्तेत्यादिना\* ॥ तस्य =  
जलधेः । अविकृतं मध्यम् = मध्यमभागम् । पौतिकः पोतेन प्राप्नोति, प्रकृते तु विकृताविकृतदेशा-  
भावाद्विकृतदेशपरिहारेणाविकृतदेशप्राप्तिरित्येतन्नास्तीत्याह—\*जीवस्त्विति\* ॥ \*किं केनेति\* ॥ किञ्चित्  
केनचिन्न प्राप्यत इत्यर्थः । तन्न हेतुमाह—\*भेदाश्रयत्वादिति\* ॥ प्रकृते च भेदाभावादिति\* भावः ।  
नच—श्रुत्या ब्रह्मणो विकृताविकृतदेशभेदावगम इति—वाच्यम् ; श्रुतेरखण्डसच्चिदानन्दस्वरूपस्य स्वयं-  
प्रकाशस्य ब्रह्मणोऽविद्यानिवृत्तेः पूर्वमविद्यावृत्ततयाऽभासमानस्य तन्निवृत्त्यनन्तरं स्वयंभासमानतायां  
तात्पर्यात् । अभेदतात्पर्याभावाद् भेदं शङ्कते—\*अथेत्यादिना—तथापीत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन\* ॥ तथा

पञ्चपादिका

अथानित्यत्वपरिहाराय स्थितस्यैवाऽऽप्यत्वमुच्यते, तदपि न ; आत्मस्वरूपस्य क्रियापूर्वकाप्यत्वानुपपत्तेः ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

क्रियाजन्यतेति चेत्, न ; क्रियायामनैकान्तिकत्वात् । तस्मादभूत्वा भवनमेवानित्यताहेतुरिति । तर्हि  
तृतीयं फलं क्रियासाध्यमिष्यतामिति शङ्कते—\*अथानित्यत्वपरिहारायेति\* ॥ तत्त्वेदं वक्तव्यम्—किं ब्रह्म

तत्त्वदीपनम्

\*तस्मादिति\* ॥ प्रतिबन्धनिरासेनाऽऽप्यत्वमुक्तमिति शङ्कां निरस्यति—\*तर्हि तृतीयमिति\* ॥ उत्पत्तिविकारा-  
पेक्षया तृतीयमित्यर्थः । आत्मस्वरूपस्याऽऽप्यत्वानभिधानात्तन्निषेधोऽसङ्गत इत्याशङ्क्य विकल्पपूर्वकं व्याचष्टे—\*तत्रेद-

वार्तिकम्

काम-कर्मलक्षणपशु-पाशविनिर्मोको मोक्ष इति पाशुपता मन्यन्ते । तत् कथं मोक्षे न कर्मपेक्षा ? कथं  
नोत्पाद्याद्यन्यतमो न मोक्षः ? इत्याशङ्क्य, तेषां मतं क्रमेण दूषयति—\*यस्य तूत्पाद्यो मोक्ष इत्या-  
दिना\* ॥ तत्रान्वितप्रथमपक्षे दोषमासञ्जयति—\*तयोः पक्षयोरिति\* ॥ “नास्त्यकृतः कृतेन”

भाष्यभावप्रकाशिका

\*नचेति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् ? अन्यद्वा ? आद्यपक्षे दूषणमाह—  
\*स्वात्मेति\* ॥ द्वितीये सर्वगतम् ? परिच्छिन्नं वा ? इति विकल्प्य, सर्वगतत्वपक्षे तत्प्राप्तिः  
संयोगः ? तादात्म्यं वा ? इति पुनर्विकल्प्य, संयोगपक्षे दूषणमाह—\*सर्वगतत्वेनेति\* ॥



## पञ्चपादिका

व्यतिरेकेऽपि सर्वगतत्वेन नित्यप्राप्तत्वादाकाशेनेव न क्रियापेक्षा प्राप्तिः । अथ विकारवर्तिनोऽपि —“अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते” इति श्रूयमाणस्य प्राप्तये क्रियापेक्षेति, न ; विकारदेशेऽपि ब्रह्मणो विकारसंस्पर्शाभावादविशेषात् । अथ विकारवर्त्येव ब्रह्म न विकारदेशेऽस्ति, तेन तत्प्राप्तये क्रियापेक्षेति, सा तर्हि तत्प्राप्तिरात्मनस्तादात्म्यापत्तिः ? उत स्वेनैव रूपेण तत्रावस्थानम् ? यदि पूर्वकल्पः, तदा स्वरूपनाशः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रत्यगात्मभूतम् ? व्यतिरिक्तं वा ? व्यतिरेकेऽपि सर्वगतं वा ? प्रदेशान्तरवर्ति वा ब्रह्मेति ? तादात्म्ये दूषणमाह—  
\*तदपि नेति\* ॥ व्यतिरेके सर्वगतं चेत्, संयोगव्यतिरिक्तप्राप्त्यभावात्संयोगो नित्यसिद्ध इत्याह—  
\*व्यतिरेकेऽपीति\* ॥ प्रदेशवर्तित्वं शङ्कते—\*अथ विकारावर्तिन इति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किं विकारसंस्पर्शपरिहाराय प्रदेशवर्तित्वमुच्यते ? किं वा शास्त्रसामर्थ्यादिति । शास्त्रं पुनः सर्वगतत्वमेव दर्शयति, नच सर्वगतत्वेऽपि विकारसंस्पर्श इत्याह—\*न विकारदेशेऽपीति\* ॥ अथ सर्वगतत्वस्यौपचारिकत्वात्प्रदेशविशेषवर्त्येव ब्रह्मेति शङ्कते—\*अथ विकारावर्त्येवेति\* । \*न\* ; मध्यमपरिमाणस्य वस्तुनः पृथिव्यादिवत्सावयवत्वात् । दूषणविभागज्ञानाय विकल्पयति—\*सा तर्हि तत्प्राप्तिरिति\* ॥ प्रथमे कल्पे दूषणमाह—\*तदा स्वरूपनाश इति\* ॥ कथं तत्र तावज्जीवस्य ब्रह्मभावः ? ब्रह्मैव वा जीवो वा न संभवति ; असाध्यत्वात् । नापि जीव-ब्रह्मभ्यामारभ्यमाणं द्रव्यान्तरम् ; विनाशित्वप्रसङ्गात्, सर्वगतस्य

## ऋजुविवरणम्

ज्ञानेति\* ॥ \*ननु\* जीवस्य नित्यस्य नित्यब्रह्मतादात्म्ये कथं स्वरूपनाशः ? जीव-ब्रह्मणोस्तत्तादात्म्यस्य च नित्यत्वात् कथंचित्तत्तादात्म्यानित्यत्वशङ्का युज्येतापि, स्वरूपनाशस्त्वयुक्त इत्याक्षिपति—\*कथमिति\* ॥ \*ननु\* प्रमाणान्तरविरोधाभावे प्रामाण्यं युज्यते । यद्वा—कथं वर्तमानापदेशत्वेनान्यसापेक्षत्वम् ? स्वस्य प्रामाण्याभावश्च ? इत्याशङ्क्योप-

## तत्त्वदीपनम्

मिति\* ॥ \*तत्र=आप्यस्वरूप इत्यर्थः । द्वितीयकल्पाद्यकल्पमनुवदति—\*व्यतिरेकेऽपि सर्वगतमिति\* ॥ किं तादात्म्यलक्षणाऽऽप्तिः साध्यते ? संयोगलक्षणा वा ? नाद्य इत्याह—\*संयोगेति\* ॥ अन्यस्यान्यात्मत्वं पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वा न संभवतीत्यर्थः । नापि द्वितीय इत्याह—\*संयोगो नित्यसिद्ध इति\* ॥ सर्वगतत्वाद्विकारदेशेऽवर्तमानत्वाभिधानमयुक्तमित्याशङ्क्याह—\*तत्र वक्तव्यमिति\* ॥ किं प्रयोजनानुरोधात् परिच्छिन्नत्वम् ? उत प्रमाणानुरोधात् ? इति विकल्पार्थः । द्वितीयं दूषयति—\*शास्त्रं पुनरिति\* ॥ “आकाशवत्सर्वगतश्चे”त्यादिशास्त्रे सर्वगतत्वप्रतिपत्तेः, “अथ यदतः परः” इत्यादिवाक्यं त्वन्यथासिद्धमित्यभिसन्धिः । आद्यं दूषयति—\*नचेति\* ॥ रशनादेशे वर्तमानेनापि पन्नगेन न रशनाया यथा संस्पर्शः, तद्वद् ब्रह्मणोऽपि कार्यासंस्पर्श इत्यर्थः । सर्वगतत्वात्कथं ब्रह्म विकारावर्तीति शङ्कायामाह—\*अथ सर्वगतत्वस्येति\* ॥ “अथ यदतः परः” इत्यादेरन्यार्थत्वादर्शनात् परिच्छिन्नमपि सर्वगतमित्युपचर्यत इत्यर्थः ॥ टीकाग्रन्थाद् बहिरेव दूषणमाह—\*न मध्यमेति\* ॥ विकल्पप्रयोजनमाह—\*दूषयतीति\* ॥ प्रतीचो ब्रह्मतादात्म्यस्य साध्यत्वपक्षे कथं स्वरूपनाशः ? जीवस्य भावादिति दूषणाभासत्वशङ्कायामाह—\*प्रथम इति\* ॥ दूषणविधां पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ किं जीवस्य ब्रह्मभावस्ताभ्यामन्यः ? उतान्यः ? आद्ये साध्यत्वायोग इत्याह—\*तत्र तावदिति\* ॥ द्वितीयं प्रत्याह—\*नापीति\* ॥ \*द्रव्यान्तरमिति\* ॥ पदार्थान्तरमित्यर्थः । आरम्भकत्वमङ्गीकृत्य दूषणमवादि, न चारम्भकत्वमपीत्याह—\*सर्वगतस्येति\* ॥ परिच्छिन्नास्तन्तवः पटारम्भका दृष्टाः, ब्रह्म चानीदृशमिति

## प्रदीपः

तत्र च ज्ञानसाध्यत्वस्य मोक्षेऽङ्गीकारान्मोक्षानित्यत्वं कथमिति शङ्का त्वनवसरेत्याह—\*अत इति\* ॥ ब्रह्मभावस्यैव मुक्तित्वाद् अविद्यानिवृत्तौ चाखण्डाकारवृत्त्याऽज्ञानादप्राप्ततयाऽवगता, सैव प्राप्ततयाऽवगम्यत इति नागन्तुकत्वं मुक्तेरिति नानित्यत्वदोष



## पञ्चपादिका

अथ द्वितीयः, संयोगस्य विप्रयोगावसानत्वात् पुनरावृत्तिः । नचापुनरावृत्तिश्रुतिर्वर्तमानापदेशिनी ; तथाभावे प्रमाणान्तरमपेक्षमाणा स्वयं प्रमाणीभवति ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

ब्रह्मणोऽवयवित्वायोगात् । नापि जीव-ब्रह्मणोस्तादात्म्यं नाम कश्चित्संबन्धः ; भिन्नद्रव्ययोः संयोगातिरिक्तसंबन्धाभावात् । नापि जीवेऽणुपरिमाणेऽवस्थिते ब्रह्मस्वरूपापत्तिः ; विरोधात्, अनवस्थिते च परिमाणे द्रव्यस्वरूपनाश इति । द्वितीयेऽपि कल्पे दूषणमाह—\*संयोगस्येति\* ॥ \*ननु\* शास्त्रसामर्थ्यादपुनरावृत्तौ कथं तर्केण पुनरावृत्तिः साध्यते ? तत्राह—\*नचापुनरावृत्तिश्रुतिरिति\* ॥ यथाश्रुतार्थेऽप्राप्तप्रतिषेधात्, नावर्तिष्यत इति कल्पनायाः कृतकत्वानुमानविरोधात्, तस्यैव स्वरूपेणावस्थाने “स स्वराड् भवती”तिश्रुतेरनेकेश्वरप्रसङ्गात् । तस्मान्न प्रदेशान्तरवर्तिब्रह्मप्राप्तिरिति ॥ \*ननु\* “तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती”ति श्रूयते । तर्हि प्रतीकालम्बनानामपि मूर्द्धन्यनाड्यैवाऽऽमानवपुरुषाद् गच्छताममृतत्वं स्यात् ; अविशेषश्रवणात् । \*ननु\* “स एनान् ब्रह्म गमयती”त्यर्चिरादिना गच्छतां ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते, \*ननु\* ; कार्यब्रह्मविषयत्वात् । \*ननु\* ब्रह्मशब्दार्थस्य मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गम्यते,

## ऋजुविवरणम्

पादयति—\*यथाश्रुतार्थ इति\* ॥ नच तदानीं पुनरावृत्तिः प्राप्ता ; अतोऽप्राप्तप्रतिषेध इति । \*ननु\* प्राप्तप्रतिषेधसिद्धयर्थं नावर्तिष्यन्त इति कल्प्यत इत्याशङ्क्याह—\*नावर्तिष्यत इति\* ॥ तर्हि जीवस्यैव स्वरूपेणावस्थानमस्त्वित्याशङ्क्याह—\*तस्यैव स्वरूपेणेति\* ॥ \*ननु\* प्रतीकोपासकानां मूर्द्धन्यया गमनमेव कथममृतत्वमापादयतीत्याशङ्क्याह—\*मूर्द्धन्यनाड्यैवेति\* ॥

\*ननु\* न प्रतीकालम्बनानाममृतत्वम् ; ब्रह्मप्राप्त्यभावात्, “अप्रतीकालम्बनान्नयती”ति साधितत्वात्, अतस्तद्व्यतिरिक्तानां ब्रह्मप्राप्तिरमृतत्वं चेति चोदयति—\*ननु स एनानिति\* ॥ कार्यब्रह्मणोऽस्मिन् वाक्ये प्राप्यत्वावगमाद् न प्राप्तेर्नित्यत्वमिति परिहरति—\*न कार्यब्रह्मेति\* ॥ \*ननु ब्रह्मशब्देति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्य

## तत्त्वदीपनम्

नारम्भकमित्यर्थः । तादात्म्यस्य संबन्धरूपत्वान्न स्वरूपविनाशप्रसक्तिरित्याशङ्क्याह—\*नापि जीवेति\* ॥ संबन्धः संयोगः ? उत समवायः ? न तावदन्त्य इत्याह—\*द्रव्ययोरिति\* ॥ द्रव्यत्वेऽपि मृदघटयोरिव समवायः ? तत्राह—\*भिन्नेति\* ॥ मृद एव घटत्वोपगमान्न दृष्टान्तसिद्धिरित्यर्थः । नच संयोग एव संबन्धः ; “तस्य स्वरूपेणावस्थाने” इत्यत्र निरसिष्यमाणत्वादित्यर्थः । किंच किं जीवस्य स्वपरिमाणे स्थिते ब्रह्मभावः ? उत नष्टे ? नाद्य इत्याह—\*नापि जीव इति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*अनवस्थित इति\* ॥ कटके स्थिते तत्परिमाणाविनाशादित्यर्थः । ऐकग्रन्थं निरस्यति—\*द्वितीय इति\* ॥ ‘संयोगो विप्रयोगान्तः’ इति न्यायः श्रुतिविरोध आभासीभवतीति शङ्कते—\*ननु शास्त्रेति\* ॥ श्रुतेः स्वतः प्रमाणत्वात् प्रमाणान्तराभावेऽपि प्रामाण्यमित्याशङ्क्य, किं यथाश्रुतोऽर्थः स्वीक्रियते ? उत कल्प्यार्थः ? नाद्य इत्याह—\*यथाश्रुतेति\* ॥ प्राप्तिसमये पुनरावृत्तेरप्राप्तत्वात् तत्प्रतिषेध इत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—\*नावर्तिष्यत इति\* ॥ कल्पना ह्यविरोधापेक्षया प्रसरति, तथाच विरोधे सति कथं कल्पनोत्थितिरित्यर्थः । किंच किं तदवस्थायां ब्रह्मसमानमैश्वर्यम् ? उत न ? आद्ये न कस्यापि सर्वेश्वरत्वं सिद्धेयम्, इत्यभिप्रायेणाह—\*तस्यैवेति\* ॥ द्वितीये साधानवैयर्थ्यमित्यभिसन्धायाह—\*तस्मादिति\* ॥ प्रदेशान्तरवर्तिब्रह्मप्राप्तेः श्रुतिसमधिगतत्वात् कथं तन्निरसनमिति शङ्कते—\*ननु तयेति\* ॥ मूर्द्धन्यनाड्येत्यर्थः । आपेक्षिकामृतत्वविषयमेतद्वचनं न परामृतत्वविषयम् ; इतरथाऽतिप्रसङ्गः स्यादित्याह—\*तर्हीति\* ॥ आ अमानवपुरुषात् अमानवपुरुषपर्यन्तमित्यर्थः । अप्रतीकोपासनाद् ब्रह्मप्राप्तेः श्रवणादितरेषां तु नाडीभिर्निरसणमात्रमिति वैषम्यमित्याशयेन शङ्कते—\*ननु स एनानिति\* ॥ अस्मिन्नपि वाक्ये न परब्रह्मणः प्रदेशान्तरवर्तित्वं भाति, किं तु कार्यस्येत्याह—\*न कार्येति\* ॥ “परं



## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*न\* ; यदि तावद् वृद्धव्यवहारे प्रयोगान्मुख्यताऽभिधीयते, तर्हि कार्यब्रह्मण्यपि रूढ एवायं शब्दो भवति । अथावयवार्थानुगमेनार्थमुख्यताऽभिधीयते, नैवम् ; एकस्य शब्दस्य युगपद्रूढि-योगवृत्तिद्वयोपादानायोगात् । प्रयोगमुख्यत्वे कार्यब्रह्मैव गम्यते । किंच “स एनान् ब्रह्मलोकान् गमयती”ति ब्रह्मलोकशब्दाद् बहुवचनात्, “तेषु परावतो वसन्ती”त्यधिकरणाधिकर्तव्यताभवेनात्, “तस्मिन् वसन्ति शाश्वतीः समाः” इति काल-परिच्छेदश्रवणात्, “तृतीयस्यामितो दिवी”ति संख्या-द्युशब्दयोः श्रवणात्, “तथैरमदीयस्य सरसोऽश्वत्थस्य सोम-सवनस्य, अपराजितायाश्च पुरो हिरण्यस्य च वेदमनोऽस्य ण्यस्य चार्णवस्य पर्यङ्कादेश्च भोग्यवस्तुभेदस्य श्रवणात्, प्रजापतेः सभां वेदम प्रपद्ये” इति प्रजापतिसभावेदमनां श्रवणाच्च कार्यब्रह्मैवार्चिरादिना गम्यत इति प्रतीयते । नच ब्रह्मैव लोक इति समासः ; ब्रह्मलोकशब्दस्य सत्यलोके रूढत्वात्, यौगिकत्वेऽपि तत्र प्रथमतरबुद्धिहेतुत्वाद् ब्रह्मणि लोकशब्दविरोधात् । नचैतेषां कार्यब्रह्मलिङ्गानामपवाधया ब्रह्मशब्दस्यैकस्य

## ऋजुविवरणम्

वा मुख्यार्थत्वम् ? अर्थस्य वा ? तत्र प्रथमपक्षे दूषणमाह—\*यदि तावदिति\* ॥ न द्वितीय इत्याह—\*अथावय-वेति\* ॥ अत्रापि किं योगरूढवृत्त्युपादानेन ब्रह्मसिद्धिः ? योगमात्रेण वा ? नाद्य इत्याह—\*नैवमेकस्येति\* ॥ न द्वितीयः ; ‘रूढिर्योगमपहरती’ति न्यायात् ॥ अथ प्रयोगमुख्यत्वेन तत्स्वीकार इति, नेत्याह—\*प्रयोगमुख्यत्व इति\* ॥ \*ननु\* रूढिपक्षे कार्यमेवेति नियमः कथम् ? उभयत्राविशेषेऽन्यतरनिर्धारणायोगात्, परस्मिन्नेव मुख्यः, कार्यं तु गौणः ; नच गौणार्थस्वीकारो मुख्यसंभवे, इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च स एनानिति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारय-ब्रह्मस्त्वात्परमेव ब्रह्म प्रतीयत इत्याशङ्क्याह—\*नच ब्रह्मैव लोक इति\* ॥ \*ननु\* योगसंभवे रूढिकल्पना न युक्ता ; गौरवादित्याशङ्क्याह—\*यौगिकत्वेऽपीति\* ॥ \*ननु\* भवतु योगसंभवः ; न रूढिः, योगभावे तु कथं कर्मधारय-समासस्तन्निबन्धनः ? न तत्पुरुषस्वीकारः ? इत्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मणि लोकशब्देति\* ॥ \*ननु\* श्रुति-लिङ्गविरोधे श्रुतिर्बलीयसी, तत्कथं ब्रह्मशब्दस्यार्थोऽन्यथा नीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*नचैतेषामिति\* ॥ बहुतरलिङ्गानुगृहीत-श्रुतिद्वयविरोधेन तस्य हानमिति भावः ।

## तत्त्वदीपनम्

जैमिनिर्मुख्यत्वादि”ति सूत्रावष्टम्भेन शङ्कते—\*ननु ब्रह्मशब्देति\* ॥ ब्रह्मार्थस्य मुख्यत्वं नाम किं वृद्धव्यवहारे पर-ब्रह्मणो परब्रह्मशब्दप्रयोगविषयत्वम् ? उत बृहत्तिधात्वर्थस्य तत्र परिपूर्णत्वम् ? इति विकल्प्याद्यमनूद्य दूषणमाह—\*यदि तावदित्यादिना\* ॥ प्रयोगमुख्यत्वतो निष्प्रयोगविषयाख्यं मुख्यत्वं ब्रह्मशब्दार्थमुख्यत्वमित्यर्थः । वृद्धव्यवहारे ब्रह्मशब्दप्रयोगस्य कार्य-परयोरविशेषादित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—\*अथावयवेति\* ॥ ब्रह्मशब्दस्यावयवो बृहत्ति-धातुः, तदर्थस्य ब्रह्मण्यन्वयेनेत्यर्थः । विकल्पासहत्वान्नैतदित्याह—\*मैवमिति\* ॥ किं योगवद् रूढिरप्याश्रीयते ? उत योग एव ? इति विकल्प्याद्ये दूषणमाह—\*एकस्येति\* ॥ द्वितीये रूढेः पुरःस्फूर्तिकत्वादितरस्य च तद्विपरीतत्वाद् रूढिराश्रयणीया, तथाच कार्यं ब्रह्म न सेत्स्यति, इत्यभिप्रायेणाह—\*प्रयोगेति\* ॥ रूढेरुभयत्राविशेषे कार्यं ब्रह्मैवेत्यव-धारणं कथम् ? इत्याशङ्क्य, उक्तार्थोपोद्बलकानि लिङ्गान्याह—\*किं च स एनानिति\* ॥ तेषु ब्रह्मलोकेषु, परावतः परानिन्द्रादीनवतीति परावान्, तस्य परावतः, प्रजापतेः समा वसन्तीत्यर्थः । \*तृतीयस्यामिति\* ॥ पृथिव्यपेक्षया तृतीये द्युलोके परब्रह्मणोऽवस्थानं विरूढम् ; सर्वगतत्वात्, तथाच कार्यब्रह्मैव द्युसंस्थं गन्तव्यमित्यर्थः । तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—\*तथेति\* ॥ इरा अन्नरसः, तेन निर्मितमैरम्, मदीयं मदकरम्, ऐरं च तन्मदीयं चेत्यैरमदीयम् । तस्याश्वत्थस्य विनश्वरस्य, सोमममृतं सूते इति सोमसवनस्तस्य । \*अपराजिताया इति\* ॥ अपरैर्न जिताऽपराजिता, तस्या इत्यर्थः । \*अस्य=अरसंज्ञकस्य\* ॥ \*ण्यस्य=ण्यसंज्ञकस्य\* । ब्रह्मणो लोको ब्रह्मलोक इति हैरण्यगर्भो लोकः कस्मादुपादीयते ? ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परब्रह्म कस्माद् न गृह्यत इति ? तत्राह—\*नच ब्रह्मेति\* ॥ यौगिकत्वा-ङ्गीकारेऽपि कार्यलोक इत्याह—\*यौगिकत्वेऽपीति\* ॥ ब्रह्मलोकशब्दस्य कार्यं पुरःस्फूर्तिकत्वादित्यर्थः ॥ भोगभूमौ



## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रयोगमुख्यत्वातिरिक्तमर्थमुख्यत्वमप्युपादातुं युक्तम् ; प्रजापतिशब्दस्य कार्यब्रह्मणि रूढत्वात्, लोकशब्दस्य च भोगभूमिविशेषवाचित्वात् ॥

किञ्च पञ्चाग्निविदामपि परब्रह्मप्राप्तिरस्मिन् पक्षे स्यात् । नच—“स एनान् ब्रह्म गमयती”त्येतच्छब्दः पञ्चाग्नि-विदतिरिक्तान् परामृशतीति—युक्तम् ; पञ्चाग्निविदामेव प्राधान्येन प्रकृतत्वात्, तेषामनिर्दिष्टफलत्वप्रसङ्गात् । किञ्च गायत्री-शाण्डिल्य-षोडशकलोपकोसल-वैश्वानर-भूम-दहर-पर्यङ्कविद्यानामेकरूपैव ब्रह्मप्राप्तिः फलम् ? आहो-स्विदुपचयापचयरूपम् ? इति वक्तव्यम् । एकरूपफलत्वे गुणोपचयापचयादुपासनोपचयापचयौ व्यर्थौ स्याताम् । न ह्यग्निहोत्राद्यनुष्ठानोपचयात् फलोपचयो न जायते । अथ फलोपचयापचयावपीष्येयाताम्, तर्हि न विकारा-संस्पर्शब्रह्मप्राप्तिः ; तल तदभावात् । किञ्च वैश्वानरोपासनाफलं त्रैलोक्यापत्तिरिष्यते वा ? न वा ? इति

## ऋतुविवरणम्

\*ननु\* अन्यथासिद्धत्वे श्रुति-लिङ्गाभ्यां ब्रह्मशब्दस्य तदनुरोधेन वर्तनम्, अत्र वैपरीत्यम्, ब्रह्मशब्द एवानन्यथासिद्धो ग्राह्यः ; साक्षात्प्राप्यविषयत्वात्, लोकसमादिप्राप्तिस्तु मार्गपर्वप्राप्तिवद्वाचीना निर्दिश्यते, अतो न लिङ्गविरोधः । प्रजापतिशब्दः सभाविविशेषितो न प्राप्यविषयः ; लोकशब्द-बहुवचनयोगुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायेन—“पाशानि”त्यत्र प्रातिप्रदिकार्थस्य प्राधान्यात्तस्य प्रमाणत एकत्वेन सिद्धत्वात्तदनुरोधेन गुणे विभक्ति-रूपेऽन्यायकल्पना मुख्यार्थहानं क्रियते,—तद्वदत्रापि प्रथमश्रुतत्वेन प्रबलत्वात्तदनुरोधेन लोकशब्दो वर्तते, ब्रह्मैव लोक इति समासाश्रयणे लोकस्य विशेषणत्वे वैपरीत्येनान्याय्यकल्पनादिति वाच्यम् ; यतो ब्रह्मण एव प्राप्यत्वं न लोकस्य ; “ब्रह्म गमयती”ति श्रुतेः । नच “ब्रह्मलोकानि”ति श्रुतिबलात्तत्पुरुषसमासाश्रयेण लोकस्य प्राप्यत्वं कल्प्यम् ; तस्य ब्रह्मविषयत्वेनैकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदस्यायुक्तत्वात् । नच तेषामेव प्राप्यत्वम् ; श्रुत्यन्तर-विरोधात्, एकवाक्यत्वेनान्यथासिद्धत्वाच्च, विकल्पस्य चायुक्तत्वात् । अतः कालविशेषादीनामविरुद्धत्वात्परमेव ब्रह्म प्राप्यमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च पञ्चाग्निविदामिति\* ॥ नच तेषां ब्रह्मप्राप्तिर्युक्ता ; अब्रह्मोपासकत्वादित्यर्थः । \*ननु\* “स एनानि”त्यत्र पञ्चाग्निविदां निर्देशो नास्ति, तेन न दोष इत्याशङ्क्याह—\*नच स एनानिति\* ॥ न सन्निधिसमात्रेण निर्देशः, किन्तु योग्यतया । नचात्र योग्यत्वमित्याशङ्क्याह—\*तेषामनिर्दिष्टफलत्वेति\* ॥ \*ननु\* अनिर्दिष्टफलत्वे योग्य-फलान्तरमेव कल्प्यताम्, ब्रह्मोपासकानामेव तत्प्राप्तेरित्याशङ्क्य तत्प्राप्त्युपपत्तिमाह—\*किञ्च गायत्रीति\* ॥ \*ननु\* उपासनोपचयेऽपि न फलोपचयो जायते, नापि वैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—\*नह्यग्निहोत्राद्यनुष्ठानेति\* ॥ \*ननु\* विकारासंस्पृष्टे ब्रह्मण्यपि सत्यकामादयः सर्वे गुणाः सन्त्येव ; साधारणत्वेनोपास्यानामानन्दादीनां सर्वोपासनाद्य प्राप्तेः, असाधारणा तु गुणप्राप्तिः, तत्तदुपासकानां गुणसद्भावो ब्रह्मण्यविशिष्ट एव “ब्राह्मेण जैमिनिरि”त्यत्रोक्तः, अतो न दोष इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च वैश्वानरोपासनेति\* ॥ \*ननु\* वैश्वानरत्वं प्राप्य पश्चात्क्रमेण ब्रह्मप्राप्तिः, तत्प्राप्तस्य च न विकारः, तेन न विरोध

## तत्त्वदीपनम्

प्रसिद्धलोकशब्दसमन्विताहारादपि ब्रह्मशब्दः कार्यपर इत्याह—\*ब्रह्मणीति\* ॥ श्रुति-लिङ्गयोर्विरोधे श्रुतेर्बलीयस्त्वात्कथं लिङ्गवशात्कार्यपरिग्रहः ? तत्राह—\*नचैतेषामिति\* ॥

अनेकलिङ्गानुगृहीतश्रुतिविरोधात्प्रसिद्धोऽर्थस्त्याज्य इत्यर्थः । इतोऽपि न ब्रह्मशब्दः परब्रह्मपर इत्याह—\*किञ्च पञ्चाग्निविदामिति\* ॥ \*ननु\* “स एनान् ब्रह्म गमयती”त्येतच्छब्देन पञ्चाग्निविदतिरिक्ता गृह्यन्त इत्याशङ्क्याह—\*नच स एनानिति\* ॥ सन्निहितत्वेऽप्ययोग्यत्वात् तदग्रहणमित्याशङ्क्याह—\*तेषामिति\* ॥ तर्हि फलान्तरं कल्प्यमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च गायत्रीति\* ॥ फलैक्येऽप्युपासनोपचयापचयौ किं न स्यातामित्याशङ्क्याह—\*न हीति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*अथ फलेति\* ॥ तर्हि निर्विशेषं ब्रह्म गन्तव्यमित्येतद्भूतमित्याह—\*तर्हि न विकारेति\* ॥ \*तदभावादिति\* ॥ उपचयापचयाभावादित्यर्थः । इतोऽपि न परं ब्रह्म गन्तव्यमित्योह—\*किञ्चेति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

वक्तव्यम् । इष्यते चेत्, विकारासंस्पृष्टे ब्रह्मणि कथं त्रिलोक्यात्मताफलप्राप्तिः ? न चेदिष्यते, “तं यथा यथोपासते” इति श्रुतिविरोधः स्यात् । किंच पित्रादिसंकल्पैर्विकारासंस्पृष्टे ब्रह्मण्युपभोगः स्यात् ? न वा ? इति वक्तव्यम् । न चेत्, पित्रादिसंकल्पश्रुतिविरोधः । स्याच्चेत्, विकारावर्ति ब्रह्म पित्रादियुक्तं स्यात् । किंच विकारावर्ति-ब्रह्म प्राप्तोऽपि ब्रह्मैवेति “मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते” इति ब्रह्मण एव साधनभोगो दर्शितः स्यात् । ततश्चासकामताविरोधः स्वार्थप्रयुक्ता च सृष्टिः स्यात् ।

किंच विकारावर्ति ब्रह्म प्राप्तस्य लिङ्गशरीरमस्ति वा ? न वा ? इति वक्तव्यम् । अस्ति चेत्, कलाप्रविलयश्रुतिर्बाध्येत । न चेद्विङ्गशरीरम्, “मनसैतान् कामानि”ति श्रुतिर्बाध्येत । किंच तत्र लिङ्गशरीरविलये निमित्तं वक्तव्यम् । विद्यैव चेत्, उक्रान्तिकाले स्यात् ; तदारम्भककर्मक्षयात् । अमानवकरस्पर्शश्चेत्, विद्युत्स्थाने स्यात् । नचोपरिष्ठात्कलाविलयननिमित्तं श्रूयते । किंच औपाधिकजीवपक्षे न जीवस्य विकारावर्तिब्रह्मगमनं सम्भवति ; निरवयवावच्छेदस्य घटाकाशस्येवोद्भूत्य नयनायोगात् । उद्धरणे च ब्रह्मशून्योऽयं

## ऋजुविवरणम्

इत्याशङ्क्य शुद्धप्राप्तौ दूषणमाह—\*किञ्च पित्रादिसंकल्पैरिति\* ॥ \*ननु\* पित्रादिसंकल्पनिमित्तभोगे निर्विकार-ब्रह्मण्यङ्गीक्रियमाणेऽपि न ब्रह्मणः पित्रादियोगप्रसङ्गः ; तत्प्राप्तस्य मुक्तस्यैव भोगाङ्गीकारादित्याशङ्क्याह—\*किञ्च विकारावर्ति\* ॥ \*ननु\* नाप्तकामत्वविरोधः ; आसकामस्यापि राज्ञोऽत्यन्ताल्पकञ्चुकादिविषयेच्छादर्शनादित्याशङ्क्याह—\*स्वार्थप्रयुक्ता चेति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्म प्राप्तस्य ब्रह्मत्वेऽपि न ब्रह्मणो भोगादिप्रसङ्गः, घटाद्युपाध्युपलक्षित इवाकाशे स्वरूपप्राप्तेऽपि धर्मान्तरसंबन्धेऽपि यथा नाकाशमात्रसंबन्धः, तथात्रापीत्याशङ्क्य तस्यापि भोगानुपपत्तिमाह—\*किञ्च विकारावर्ति ब्रह्म प्राप्तस्येति\* ॥ \*ननु\* पूर्वस्य लिङ्गशरीरस्य प्रलये सति ब्रह्मप्राप्तौ शरीरेन्द्रियाद्यन्तरस्य सृष्टत्वान्न प्रविलयश्रुतिविरोधः, नापि “मनसैतानि”ति श्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य, न शुद्धे ब्रह्मणि लिङ्गशरीरप्रविलय इत्याह—\*किञ्च तत्र लिङ्गशरीरेति\* ॥ \*ननु\* संसारमण्डलमतिक्रम्य त्रिपाच्छब्दवाच्ये ब्रह्मणि प्रविलय इत्याशङ्क्याह—\*नचोपरिष्ठादिति\* ॥ \*ननु\* जीवस्य ब्रह्मांशत्वात्तस्य च शरीरेण विना गमनासंभवाच्छरीरस्यापि गमनं निश्चीयते, तत्र लयश्रवणाल्लयोऽपि निश्चीयते, तत्कारणं यथासंभवं स्थितिहेतुकर्माभावाद्गुणवृत्ताविद्यया तत्संस्कारेण वा मोक्षार्थं कर्म वा भविष्यति, अतः पूर्वस्य लय उत्तरोत्पादस्तत्र भोगश्चोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—\*किं चौपाधिकजीवपक्षे

## तत्त्वदीपनम्

वैश्वानरोपासनया त्रैलोक्यशरीरं संप्राप्य विकारावर्ति ब्रह्म प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—\*किंच पित्रादीति\* ॥ संकल्पश्रुतिविरोध इति । “संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती”त्यादिश्रुतिविरोध इत्यर्थः । आद्यं दूषयति—\*स्याच्चेदिति\* ॥ इतोऽपि न परब्रह्म गन्तव्यमित्याह—\*किं च विकारावर्ति\* ॥ आसकामस्यापि नृपतेः क्रीडार्थप्रवृत्तिवद् ब्रह्मणोऽपि तथात्वं स्यादित्याशङ्क्य, तात्कालिकप्रयोजनवद् ब्रह्मणोऽपि तद्भावः स्यादित्याह—\*स्वार्थेति\* ॥ \*कलाप्रविलयश्रुतिरिति\* ॥ “षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती”त्याद्येत्यर्थः । किं च ब्रह्म प्राप्तस्य लिङ्गशरीरोच्छिन्नौ किं निमित्तमस्ति ? उत नेति विवेचनीयमित्याह—\*किंच तत्रेति\* ॥ आद्येऽपि किं विद्या निमित्तम् ? उतान्यत् ? आद्ये दूषणमाह—\*विद्येति\* ॥ विद्यायां सत्यामप्युत्क्रान्तेरवगम्यथा तस्य न विलयस्तथोत्क्रान्तावपीत्याशङ्क्याह—\*तदेति\* ॥ प्राक् प्रतिबन्धसंभवादनिवृत्तिः, उक्रान्तौ तदभावाद्निवृत्तिरित्यर्थः । द्वितीयमनूद्य दूषयति—\*अमानवेति\* ॥ अमानवकरसंस्पर्शस्य विद्युत्स्थाने श्रवणादित्यर्थः । त्रिपाद् ब्रह्म गन्तव्यमिति सम्बन्धो निर्वर्तक इत्याशङ्क्य तत्र मानाभावान्मैवमित्याह—\*नचेति\* ॥ गन्तृपर्यालोचनायामपि न परब्रह्म गन्तव्यमित्याह—\*किं जीवः सर्वगतः ? उत परिच्छिन्नः ? आद्ये गत्यनुपपत्तिः । द्वितीयेऽपि स्वतः परिच्छिन्नः ? उतोपाधितः ? आद्ये विनाशप्रसक्तिरित्यभिप्रेत्य दूषयति—\*औपाधिकेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*निरवयवेति\* ॥ निरवयवस्य ब्रह्मणोऽवच्छेदरूपस्येत्यर्थः । घटादुद्भूत्य यथा गगनं न नीयते, तद्वदुपाधित उद्भूत्य ब्रह्मस्वभावो



## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रदेशः स्यात् । उपरिष्ठाच्च ब्रह्मोपचयं प्राप्नुयात् । तस्मादुपाधिगमनादात्मनि गमनविभ्रमः । \*ननु\* उपाधेरपि गमनं न सम्भवति ; तदुपादानस्य ब्रह्मणश्चलनशून्यत्वात्, न हि मृदि निश्चलायां घटस्य गमनमस्तीति, \*एवं तर्हि\* स्वप्नगमनवन्मायाविजृम्भितो गमनादिप्रतिभासः । \*ननु\* न पित्रादिसंकल्पैर्ब्रह्मणि भोगोऽभिधीयते, किन्तु यावांस्तत्र भोगः, तस्य नित्यानन्दप्राप्तावन्तर्भावादैश्वर्यभेदः कथ्यत इति, \*ननु\* ; एकस्य ब्रह्मशब्दस्य यौगिकार्थभङ्गमयाद् बह्वीनां फलश्रुतीनामुपचारकल्पनायोगात्, शास्त्रान्त्यपादवैफल्यप्रसङ्गाच्च । तस्मात् प्रदेशान्तरवर्तिब्रह्मप्राप्तये क्रियाविधानमित्यनुपपन्नम् ॥

## ऋजुविवरणम्

इति\* ॥ \*शास्त्रान्त्येति\* ॥ तस्मिन् पादे ब्रह्मप्राप्ति-प्राप्यस्वरूपनिरूपणम्, संकल्पात्पित्रादिगमागमः, मानसः शरीरश्च भोगः, तत्र च विशेषनिरूपणं कृतम्, तस्य सर्वस्य फलश्रुतीनामन्यार्थमारम्भः स्यादित्यर्थः ॥

“अहं कर्तुरिदमंशस्ये”त्युक्तम् ; कर्तुर्हि संस्कारः, नचाचेतनस्य वैदिककर्माणि, तदभावे न संस्कार्यत्वं कर्तृत्वेन, संस्कार्यत्वेन वा भोक्तृत्वमपि तस्य स्यात् ; प्रयोक्तृगतत्वाद्भोक्तृत्वस्य, बन्धमोक्षाधिकरणत्वं च स्यात्, नचाचेतनेषु युज्यत

## तत्त्वदीपनम्

जीवो न नेतुं शक्य इत्यर्थः । विपक्षे दण्डमाह—\*उद्धरणे चेति\* ॥ कथं तर्ह्योत्तमनः स्वर्गादिगमनम् ? त्यागशङ्क्याह—\*तस्मादुपाधीति\* ॥ उपाधेरपि गमनानुपपत्तिं शङ्कते—\*ननूपाधेरिति\* ॥ किं तत्त्वतो गमनानुपपत्तिः ? उत कल्पनयाऽपि ? तत्राद्यस्त्वङ्गीक्रियते, द्वितीयस्त्वनुपपन्न इत्याह—\*एवं तर्हीति\* ॥ संकल्पश्रुतिविरोधादित्यर्थः ।

श्रुतेस्तर्हि का गतिरिति शङ्कते—\*किंत्विति\* ॥ लौकिकानन्दस्य ब्रह्मानन्दावच्छेदत्वादवच्छिन्नस्थानवच्छिन्नान्तर्भावप्रतिपादनपरा श्रुतिरित्याह—\*यावांस्तत्रेति\* ॥ अनेकलिङ्गानुगृहीतानेकश्रुतिविरोधाद् ब्रह्मशब्दस्याश्रौतोऽर्थस्याज्य इत्याह—\*एकस्येति\* ॥ इतोऽपि न ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थतेत्याह—\*शास्त्रेति\* ॥ “संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेरिति”त्यादिभ्य उपसनाफलं निरूप्यते, तद्धि न स्वीकृतं स्यात् त्वन्मत इत्यर्थः । आसेः क्रियाफलत्वनिराकरणमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

आदर्शे मलसंभवात्तन्निरासेनाभिव्यक्तिकरणं युक्तम्, आत्मनस्तु निर्मलत्वादभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्चाभिव्यक्तेर्न क्रियासाध्यत्वम्, ततश्च—“अथे”ति बोद्यानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽगन्तुकदोषाभावेऽप्यनाद्यविद्यामलेनाभिव्यक्तेः प्रतिबन्धात्

## वार्तिकम्

“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इत्यादिश्रुतेरित्याशयः । व्याप्तिविरोधश्चेत्याह—\*नहीति\* ॥ तृतीयपक्षमनद्य दूषयति—\*नचाप्यत्वेनापीति\* ॥ स किमात्मैव ? उत तद्भिन्नः ? नाद्य इत्याह—\*स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्तत्वादिति\* ॥ नित्यप्राप्तत्वात्तस्येति शेषः । द्वितीयपक्षेऽपि नाप्यत्वसिद्धिरित्याह—\*स्वरूपातिरिक्तत्वेऽपीति\* ॥ संस्कार्यत्वपक्षमादाय तदन्तर्गत-

## भाष्यभावप्रकाशिका

तादात्म्यपक्षस्तु बहिरेव दूषणीयः । स्थितस्य नष्टस्य वाऽन्यस्यान्यतादात्म्यं न संभवति, इत्यविकृतप्रदेशप्रतिपत्तितयाऽपरिच्छिन्नत्वेऽपि ब्रह्मणः संयोगलक्षणं चेत्, तर्हि तत्प्राप्तेरनित्यत्व-

## प्रदीपः

इति भावः । अनित्यत्वापत्तिरियं परमत एवेत्याह—\*यस्येति\* ॥ एतावता च वृत्तिकारमते मोक्षानित्यत्वापत्तिः, उपासनास्वरूपनिष्कर्षः, मोक्षनित्यत्वं च प्रदर्शितम् । साम्प्रतं मोक्षस्य प्राप्यत्वं संस्कार्यत्वं वा न संभवतीति प्रतिपादयति—\*नचाप्यत्वेनेति\* ॥ अन्यदन्येन प्राप्यते । मोक्षस्तु स्वात्मरूपं कथं प्राप्यतामर्हतीति भावः । \*ननु\* वृत्तिकारमते निर्विशेषवादेऽपि ब्रह्मव्यतिरिक्त एव जीवः स्वीक्रियत इति पूर्वमेवोक्तम् । तथाच तन्मते कथं स प्राप्यत्वं ब्रह्मणः ? इत्याशङ्क्याह—



**नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत । संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात् ? दोषापनयनेन वा ?**

भामती

मपाकरोति—\*नापि संस्कार्य इति\* । द्वयी हि संस्कार्यता—गुणाधानेन वा ; यथा बीजपूरकुसुमस्य लाक्षारसावसेकः, तेन हि तत्कुसुमं संस्कृतं लाक्षासवर्णं फलं प्रसूते, दोषापनयेन वा ; यथा मलिनमादर्शतलं निघृष्टमिष्टकाचूर्णेनोद्भासितभास्वरत्वं संस्कृतं भवति । तत्र न तावद् ब्रह्मणि गुणाधानं संभवति ; गुणो हि ब्रह्मणः स्वभावो वा ? भिन्नो वा ? स्वभावश्चेत् कथमाधेयः ? तस्य नित्यत्वात् ।

ऋजुप्रकाशिका

चाऽऽप्यत्वमस्तीति शङ्काभिप्रायः । कल्पितभेदेऽपि वास्तवभेदो नास्तीति समाधाने सत्येव समाधानान्तरमाहेत्याह—\*तथापीति\* ॥ प्रधानकर्मत्व-गुणकर्मत्वे पूर्वमेव निराकृते, अनन्तरं प्राप्यकर्मत्वं निराकृतम् ; संप्रति संस्कार्यकर्मत्वमपाकरोतीत्याह—\*संस्कार्येति\* ॥ यद्यपि गुणकर्मत्वमेव संस्कार्यकर्मत्वम् ; तथाऽप्यत्र ब्रह्मलक्षणो मोक्षः संस्कार्यो नेति निराक्रियत इत्यर्थः । सिद्धान्तिमते मोक्ष उत्पाद्यो न, विकार्योऽपि न, आप्योऽपि नेत्युक्तम्, एवं संस्कार्योऽपि नेति भाष्यार्थः । ब्रह्मलक्षणस्य मोक्षस्य संस्कार्यत्वं निराकर्तुं संस्कार्यताद्वैविध्यं दर्शयति—\*द्वयीति\* ॥ आद्यसंस्कार्यतामाह—\*गुणाधानेन वेति\* ॥ गुणाधानेन संस्कार्यतामुदाहरति—\*यथेति\* ॥ बीजपूरकुसुमस्य लाक्षारसासेके किं भवतीति शेषः । ततः किमिति ? अत आह—\*लाक्षारससवर्णमिति\* ॥ द्वितीयसंस्कार्यतामाह—\*दोषापनयेन वेति\* ॥ दोषापनयेन संस्कार्यतामुदाहरति—\*यथेति\* ॥ \*यथा मलिनमादर्शतलमिति\* ॥ \*संस्कृतं भवतीति\* ॥ ततश्च स्वच्छतया प्रतिबिम्बग्राहि भवतीति भावः । एवं द्वैविध्यमुपपाद्य ब्रह्मणि गुणाधानेन संस्कार्यता नेत्याह—\*तत्र न तावद्ब्रह्मणीति\* ॥ गुणाधानेन संस्कार्यत्वाभावं वक्तुमेव विकल्पयति—\*गुणो हीति\* ॥ आधायक इति शेषः । ब्रह्मणः स्वभावः = ब्रह्मरूप इत्यर्थः । \*भिन्नो वेति\* ॥ ब्रह्मभिन्नो वेत्यर्थः । आद्यमनूद्य दूषयति—\*स्वभावश्चेदित्यादिना\* ॥ कथमाधेयः = न कथमप्याधेय इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*तस्येति\* ॥ ब्रह्मस्वरूपस्य गुणस्येत्यर्थः । तथाच तेन गुणेन स्वाभिन्ने नित्यब्रह्मलक्षणो मोक्षो नाधातुं

पञ्चपादिका

संस्कार्यत्वमपि न सम्भवति ; गुण-दोषयोराधेयापनेययोस्तत्रासम्भवात् । अथ विद्यमानस्याभिव्यक्ति-

पञ्चपादिकाविवरणम्

संस्कारपक्षे दूषणमाह—\*संस्कार्यत्वमपीति\* ॥ दोषापनयनेन विद्यमानस्य ब्रह्मभावस्याभिव्यक्तिः संस्कार इत्याशङ्कते—\*अथ विद्यमानस्येति\* ॥ तत्र वक्तव्यम्—किमात्माश्रयक्रियया दोषापनयः ? किं वाऽन्याश्रययेति ? न

तत्त्वदीपनम्

संस्कारो युक्त इति शङ्कते—\*दोषेति\* ॥ आदर्शे क्रियाभावेऽपि संस्कार्यत्ववदात्मनोऽपि संस्कार्यत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य विकल्पपूर्वकं व्याचष्टे—\*तत्र वक्तव्यमिति\* ॥ “निरवयवस्ये”त्यत्र सर्वगतस्येत्यपि द्रष्टव्यम् । प्रत्यक्त्व-

वार्तिकम्

चतुर्थ-पञ्चमपक्षौ दर्शयित्वा क्रमेण निराकरोति—\*नापि संस्कार्यो मोक्ष इत्यादिना\* ॥ गुणा अणिमादयः, तदाधानेनेत्यर्थः ; लोके संस्कारस्य द्विधा दर्शनादित्याशयः ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

मित्यत आह—\*नापीति\* ॥ संस्कारस्यासम्भवं दर्शयितुं तस्य द्वैविध्यमाह—\*संस्कारो हीति\* ॥

प्रदीपः

\*स्वरूपेति\* ॥ मोक्षासंस्कार्यत्वमनुवदति—\*नापीति\* ॥ संस्कारो हि त्रिविधो लोके दृश्यते—गुणाधानम्, संस्कार्यगत-



न तावद् गुणाधानेन संभवति; अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य ।  
नापि दोषापनयनेन ; नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य । स्वात्मधर्म एव संस्तिरो-

भामती

भिन्नत्वे तु कार्यत्वेन मोक्षस्यानित्यत्वप्रसङ्गः । नच भेदे धर्म-धर्मिभावः ; गवाश्ववत् । भेदाभेदश्च  
व्युदस्तः ; विरोधात् । तदनेनाभिसन्धिनोक्तम्—\*अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य\* ॥ द्वितीयं  
पक्षमुपक्षिपति—\*नापि दोषापनयनेनेति\* ॥ अशुद्धिः सती दर्पणे निवर्तते, नतु ब्रह्मण्यसती  
निवर्तनीया ; नित्यनिवृत्तत्वादित्यर्थः । शङ्कते—\*स्वात्मधर्म एवेति\* ॥ ब्रह्मस्वभाव एव मोक्षोऽ-  
नाद्यविद्यामलावृत उपासनादिक्रिययाऽऽत्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, नतु क्रियते । \*एतदुक्तं भवति\*

ऋजुप्रकाशिका

शक्य इति भावः । द्वितीये दूषणमाह—\*भिन्नत्वे त्विति\* ॥ ब्रह्मलक्षणो मोक्षो ब्रह्मभिन्नेन गुणेना-  
धेयश्चेत्, तर्हि मोक्षस्य कार्यतयाऽनित्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तथाचानित्यत्वप्रसङ्गादेव न गुणाधानलक्षण-  
संस्कार्यतेति भावः । किंच किं भेदपक्षेऽत्यन्तभेदः ? भेदोभेदा वा ? आद्ये धर्म-धर्मिभावानुपपत्तिरिति  
दूषयति—\*नच भेद इति\* ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—\*गवाश्ववदिति\* ॥ द्वितीयपक्षो निरस्त एवेत्याह—  
\*भेदाभेदश्चेति\* ॥ कुतो दूषणाद् व्युदस्त इति वीक्षायां समानसत्ताकयोरेकत्र विरोधाद् दूषणं निरस्तम्,  
इत्याह—\*विरोधादिति\* ॥ स्वोक्तमर्थं भाष्यारूढं करोति—\*तदनेनाभिसन्धिनेति\* ॥ द्वितीयमिति\* ॥  
दोषापनयेन संस्कार्यतापक्षं द्वितीयमित्यर्थः । \*अशुद्धिरिति\* ॥ मालिन्यलक्षणाऽशुद्धिर्दर्पणे, सा  
विद्यमाना इष्टकाचूर्णनिर्घर्षणेन निवर्तते, नित्यशुद्धे ब्रह्मण्यशुद्धिर्न सती, ततो नाशुद्धिलक्षणदोषो निवर्त-  
नीयोऽस्ति ; नित्यनिवृत्तस्वरूपत्वादित्यर्थः । भाष्ये—नन्वित्यादिशङ्कासूचकपदाभावात् शङ्केति न प्रतीयते,  
अत आह—\*शङ्कत इति\* ॥ \*ननु\* मोक्षस्य स्वात्मधर्मत्वमुक्तं भाष्ये, तदयुक्तम् ; मोक्षस्य ब्रह्मात्मत्व-  
स्वरूपत्वात् ; निर्द्धर्मकत्वाद्ब्रह्मणः, आत्मसंस्कारक्रिया च न शायत इत्यतोऽर्थमाह—\*ब्रह्मस्वभाव एवेति\* ॥  
दृष्टान्तस्त्वभिव्यक्त्यंशे । \*नतु क्रियत इति\* ॥ अतो मोक्षस्य नानित्यत्वप्रसङ्ग इति भावः । \*ननु\*  
ब्रह्मभिन्नस्यात्मनो नित्यशुद्धत्वाद् गुणाधानेन वा दोषापनयेन वा न संस्कार्यत्वमित्युक्तम् ; तत्राह—

पञ्चपादिका

रादर्शस्येव निर्घर्षणेन, तच्च न; आत्मनः क्रियारहितत्वात् । अन्याश्रयायास्तु न विषयः ; प्रत्यग्रूपत्वात् ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

तावदात्मनो निरवयवस्य परिस्पन्दपरिणामावित्याह—\*नात्मनः क्रियारहितत्वादिति\* ॥ नचान्याश्रयक्रियया; क्रिया-  
वद्द्रव्यसंयोगाभावात्तत्रातिशयायोगादित्याह—\*प्रत्यग्रूपत्वादिति\* ॥ \*ननु\* मन्त्र-देवताभिध्यानाद् विषनिरासवदी-

तत्त्वदीपनम्

मात्रेण कथमन्यक्रियासंस्कार्यत्वाभिधानम् ? तत्राह—\*न चान्येति\* ॥ इष्वादिश्रययुक्तेऽतिशयजनकत्वं  
दृष्टम्, आत्मनस्तु प्रत्यक्त्वेन तत्त्वतः पराकूसंबन्धाभावाद् न तत्संस्कार्यत्वमित्यर्थः । ध्यानस्य निवर्तकताया अदृष्ट-

वार्तिकम्

\*ननु\* न वयमदृष्टानां गुणानां तत्रोत्पत्तिं गुणाधानं ब्रूमः, किं तर्हि ? विद्यमानानामेव सता-

भाष्यभावप्रकाशिका

इह द्विविधोऽपि संस्कारो न संभवतीत्याह—\*न तावदिति\* ॥ \*ननु\* यद्यप्यागन्तुको गुणो दोषो

प्रदीपः

दोषनिर्हरणम्, अनभिव्यक्तसंस्कार्यस्वरूपाभिव्यक्तिरिति । तत्र ब्रह्मणि त्रिविधोऽपि संस्कारो न भवतीत्याह—\*न तावदित्या-



भूतो मोक्षः क्रियायाऽऽत्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियाया  
संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चैत्, न ; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः ।  
यदाश्रया क्रिया, तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते । यद्यात्मा क्रियाया विक्रियेत,  
अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । “अविकार्योऽयमुच्यते” इति चैवमादीनि वाक्यानि  
बाध्येरन् । तच्चानिष्टम् । तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति । अन्या-  
श्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयाऽऽत्मा संस्क्रियते ।

### भामती

नित्यशुद्धत्वमात्मनोऽसिद्धम् ; संसारावस्थायामविद्यामलिनत्वादिति । शङ्कां निराकरोति—\*न\* ; कुतः  
\*क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः\* ॥ नाविद्या ब्रह्माश्रया, किन्तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्, तेन नित्य-  
शुद्धमेव ब्रह्म । अभ्युपेत्य त्वशुद्धिं क्रियासंस्कार्यत्वं दूष्यते । क्रिया हि ब्रह्मसमवेता वा ब्रह्म  
संस्क्रियात् ? यथा निघर्षणमिष्टकाचूर्णसंयोगविभागप्रचयो निरन्तर आदर्शतलसमवेतः, अन्यसमवेता  
वा ? न तावद् ब्रह्मधर्मः क्रिया ; तस्याः स्वाश्रयविकारहेतुत्वेन ब्रह्मणो नित्यत्वव्याघातात् । अन्या-  
श्रया तु कथमन्यस्योपकरोति ? अतिप्रसङ्गात् । नहि दर्पणे निघृष्यमाणे मणिर्विशुद्धो दृष्टः ।  
\*तच्चानिष्टमिति\* ॥ तदा बाधनं परामृशति ।

### ऋजुप्रकाशिका

\*एतदुक्तं भवतीति\* ॥ शङ्कामभिधाय तां निराकरोतीत्याह—\*शङ्कामिति\* ॥ हेत्वाकाङ्क्षा-  
मुन्नावयति—\*कुत इति\* ॥ भाष्योक्तं हेतुमाह—\*क्रियेति\* ॥ यत्तु संसारदशायामविद्याया  
मलिनत्वाद् ब्रह्मात्मनो नित्यशुद्धत्वमसिद्धमिति, तत्राह—\*नाविद्येति\* ॥ अविद्या वस्तुतो ब्रह्माश्रया न,  
किंतु ब्रह्मण्यध्यस्तेत्यर्थः ; एतदेवाह—\*सा त्वनिर्वचनीयेति\* ॥ \*तेन नित्यशुद्धमेवेति\* ॥ अविद्याया  
अवास्तवत्वेनाविद्याकृतमालिन्यस्य वास्तवस्याभावादित्यर्थः । \*ननु\* तर्हि ब्रह्मण आशङ्कितमशुद्धत्वम-  
दूषयित्वा “क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः” इत्यादिना क्रियासंस्कार्यत्वमात्रं भाष्ये कथं दूष्यत इति ? अत  
आह—\*अभ्युपेत्यत्वशुद्धिमिति\* ॥ \*ननु\* क्रियायाऽऽत्माभिन्नं ब्रह्म संस्क्रियते चेत्, तत्र वक्तव्यम्—  
किं ब्रह्माश्रिता क्रिया ब्रह्म संस्क्रियात् ? अन्याश्रिता वेति विकल्पयति—\*क्रिया हीत्यादिना\*—\*अन्य-  
समवेता वेत्यन्तेन\* । आद्यविकल्पे दृष्टान्तमाह—\*यथा निघर्षणमित्यादिना—आदर्शतलसमवेत  
इत्यन्तेन\* ॥ आदर्शतलसमवेत इत्यनन्तरम्—“आदर्शतलं संस्क्रियादिति” शेषः । एवं विकल्प्य, तत्राद्यं  
निरस्यति—\*न तावदिति\* ॥ कुतो न ब्रह्मधर्म इति ? अत आह—\*तस्या इति\* ॥ क्रियाया  
इत्यर्थः । नित्यत्वव्याघातादिति छेदः । द्वितीयं निरस्यति—\*अन्याश्रया त्विति\* ॥ अतिप्रसङ्गमेव  
व्यतिरेकमुखेनाह—\*नहीति\* ॥ अन्यथा दर्पणे निघृष्यमाणे मणिरपि विशुद्धः स्यात्, इत्यतिप्रसङ्ग  
इत्यर्थः । \*बाधनमिति\* । “तच्चानिष्टम्” इत्यत्र तदा तच्छब्देन “अविकार्योऽयमुच्यते” इत्यादिवाक्य-

### वार्तिकम्

मभिव्यक्तिम्, अतो नोक्त दोष इत्याशङ्कते—\*स्वात्मधर्म एव सन्निति\* ॥ क्रिया हि स्वाश्रये स्वविषये  
च फलमाधत्ते, नान्यत्र ; कर्तृ-कर्मनिष्ठत्वात् क्रियाफलस्य । तत्रैवं सत्यात्मानो गुणाभिव्यक्तिलक्षण-  
क्रियाफलाश्रयत्वेऽभ्युपगम्यमाने तत्कर्तृत्वं वा स्यात् ? तत्कर्तृत्वं वा ? नाद्य इत्याह—\*न क्रिया-  
श्रयत्वानुपपत्तेरात्मन इति\* ॥ तदनुपपत्तिमुपपादयति—\*यदाश्रया क्रियेति\* ॥ द्वितीयपक्षं दूषयति—



## पञ्चपादिका

\*ननु\* ईश्वराभिध्यानान्मलापगमो भविष्यति दीपप्रभयेव घटावगुण्ठनेन तमोऽपनयः, \*उच्यते\*—  
किमसौ मलः परमार्थः सन् ? उताविद्यात्मकः । यदि परमार्थः सन्, न तर्हि स्वाश्रयविकारमन्तरेणाप-  
सारयितुं शक्यः । न हि विकार आत्मनः संभवति ; अविकारित्वश्रुतेः । अथाविद्यात्मकः, न  
तर्ह्यविद्यावद्भूतेन सम्यग्ज्ञानेन विना तस्यापनयः ; लोके तथा दृष्टत्वात्, अन्यथा चादृष्टत्वात् । नच  
स्नानादिक्रिययेव संकार्यत्वसंभवः ; अहंकर्तुरिदमंशस्यैव तत्र संस्कार्यत्वात् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

श्वराभिध्यानादोषापनयः स्यादिति चोदयति—\*नन्वीश्वराभिध्यानादिति\* ॥ “उच्यते” इत्यादि परिहारः  
स्पष्टार्थः\* ॥ \*ननु\* शास्त्रीयकर्मभिरात्मनो गुणाधानलक्षणः संस्कारः श्रूयत इति, नेत्याह—\*नच स्नानादि-  
क्रिययेवेति\* ॥ \*अयमर्थः\*—यः साधनानि शरीरेन्द्रिय-मनांसि प्रेरयति, स कर्ता, भोक्ता, संस्कार्यश्च । स च  
चैतन्यसंवलितोऽहङ्कारः; “विज्ञानं यज्ञं तनुते” इति श्रुतेः । स चाऽऽसारसमाप्तेरविच्छिन्नो वर्तत इति भोगश्च  
संभवति । तत्र च धर्माधर्मातिशय उत्पद्यते न निर्विकारात्मनि । ततस्तस्य न संस्कार्यत्वमुपपद्यत इति ।

## ऋजुविवरणम्

इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*अयमर्थः\*—यः साधनानीति\* ॥ \*ननु\* संवलितस्य संस्कार्यत्वेऽहङ्कारापगमे संस्कृतस्या-  
गतत्वाद्भोगानुपपत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—\*स चासारसमाप्तेरिति\* ॥ \*ननु\* संस्कारो धर्माधारत्वयोग्यत्वलक्षणः,  
अतस्तदाधार आत्मनि संस्कार्यत्वम्, नान्तःकरण इत्याशङ्क्याह—\*तत्र च धर्माधर्मेति\* ॥ ज्ञानस्याजन्यफलत्वमात्र-  
तत्त्वदीपनम्

त्वात्कथमीश्वरध्यानं तथेत्याशङ्क्यादर्शनमसिद्धमित्याह—\*ननु मन्त्रेति\* ॥ परमार्थस्यापरमार्थस्य च मलस्य  
ध्यानानिवर्त्यत्वे निर्दिष्टे “नच स्नानादिक्रियये”त्यनेन किं निर्दिष्टमिति न ज्ञायते ? तत्राह—\*ननु शास्त्रीयेति\* ॥

इदमंशस्य संस्कार्यत्वाभिधानमयुक्तम्, कर्मणां कर्तृसंस्कारकत्वात्, चेतनस्य च कर्तृत्वादित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह  
—\*अयमर्थ इति\* ॥ प्रेरयिताऽपि चेतन एवेत्याशङ्क्याह—\*स चेति\* ॥ संवलित इति\* ॥ चैतन्यैक्याध्यासमुपगत  
इत्यर्थः । केवलचेतनस्याचेतनप्रेरयित्वानुपपत्तेः शबलस्य प्रेरयित्वं वक्तव्यमित्यर्थः । चित्संनिधानाद् बुद्धेः  
कर्तृत्वे प्रमाणमाह—\*विज्ञानमिति\* ॥ \*ननु\* अहंकारस्य विलीयमानत्वादकृताभ्यागमादिदोषप्रसक्तेर्न बुद्धेः कर्तृत्व-  
मित्यत आह—\*स चेति\* ॥ चशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । छुप्तावपि तस्याः सूक्ष्मरूपेण स्थितत्वान्नाकृताभ्यागमा-  
दिदोषानुपपन्न इत्यर्थः । अविच्छेदप्रतिपादनफलमाह—\*इति भोग इति\* ॥ कर्तृत्ववद् भोगोऽप्युपपन्न इत्यर्थः ।  
धर्मादेरात्मनि समवेतत्वात्कर्तृत्वादिरपि तत्रेत्याशङ्क्याह—\*तत्र चेति\* ॥ चैतन्यसंवलितबुद्धावित्यर्थः । निर्वि-  
कारेति हेतुगर्भविशेषणम् ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

वा न संभवति, तथाऽपि स्वाभाविकविद्यादोषापनयो भविष्यतीति शङ्कते—\*स्वात्मेति\* ॥ स्वाभा-  
विकस्यापि तस्य क्रियाभिव्यक्तौ दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ किं स्वाश्रयक्रियया संस्कारः ?  
किं वाऽन्याश्रययेति विकल्प्य, न तावदाद्यः ; निरवयवस्य सर्वगतस्य च ब्रह्मणः परिणाम-  
परिस्पन्दयोरसंभवादित्याह—\*तच्चेति\* ॥ भवतु तर्ह्यन्तःकरणाश्रयया संस्कार इति, तत्राह—  
\*अन्येति\* ॥ स्वाश्रयद्रव्येण संयुक्ते क्रियया संस्कार्यत्वम्, अतोऽन्याश्रयक्रियाया अतिशया-  
धायकत्वाद् न ब्रह्मणस्संस्कार्यकर्मत्वम् ; ब्रह्मणस्तत्संयोगायोगादिति भावः । अत्र व्यभिचारं

## प्रदीपः

दिना\* ॥ अनभिव्यक्तस्वरूपाभिव्यक्तिः क्रियाश्रयत्वं विना नोपपद्यते । क्रियाश्रयत्वे चानित्यत्वापत्तिरित्याह—\*नेति\* ।  
प्रसज्येतेति\* ॥ तच्चानिष्टमिति च\* ॥ \*ननु\* अन्याश्रययाऽपि क्रिययाऽन्यः संस्क्रियमाणो दृश्यते, यथा स्नात्वाहुत्या यूपः, .



**\*ननु\*** देहाश्रयया स्नानाचमन-यज्ञोपवीतादिकया क्रियया देहो संस्क्रियमाणो दृष्टः, **\*न\*** ; देहसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात् । प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम् । तथा देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन

भामती

अत्र व्यभिचारं चोदयति—**\*ननु देहाश्रयेति\*** ॥ परिहरति—**\*न\*** ; देहसंहतस्येति\* ॥ अनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानमेव ब्रह्मणो जीव इति च क्षेत्रज्ञ इति चाचक्षते । स च स्थूल-सूक्ष्मशरीरेन्द्रियादिसंहतस्तत्संघातमध्यपतितस्तदभेदेनाहमितिप्रत्ययविषयीभूतः, अतः शरीरादिसंस्कारः शरीरादिधर्मोऽप्यात्मनो भवति ; तदभेदाध्यवसायात् । यथाङ्गरागधर्मः सुगन्धिता कामिनीनां व्यपदिश्यते ।

ऋजुप्रकाशिका

बाधनं परामृश्यत इत्यर्थः । **\*अत्रेति\*** ॥ यमाश्रिता या क्रिया सा तमेव संस्करोति, नान्यमिति व्याप्तौ व्यभिचारं शङ्कत इत्यर्थः । भाष्यस्थपरिहारवाक्यतात्पर्यं व्यनक्ति—**\*अनाद्यनिर्वचनीयेत्यादिना—न व्यभिचार इत्यन्तेन\*** ॥ अनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपहितं ब्रह्म जीव इति क्षेत्रज्ञ इति चाचक्षत इत्यर्थः । **\*स चेति\*** । जीवत्वेन च क्षेत्रज्ञत्वेन चोच्यमान इत्यर्थः । **\*स्थूलेति\*** ॥ स्थूल-सूक्ष्म-शरीरेन्द्रियादिविशिष्ट इत्यर्थः । तत्संघातमध्यपतितः=स्थूल-सूक्ष्मशरीरेन्द्रियादिसंघातमध्यनिविष्टः । **\*तदभेदेन=तत्तादात्म्याध्यासापन्नत्वेन । फलितमाह—\*अत इति\*** ॥ यतः शरीरेन्द्रियादितादात्म्याध्यासापन्नत्वमात्मनः, अत इत्यर्थः । तदेतदाह—**\*तदाभेदाध्यवसायादिति\*** ॥ तत्तादात्म्याध्यासादित्यर्थः । अन्यधर्मस्यान्यधर्मत्वेनावभासमानत्वेनान्यधर्मत्वव्यपदेशे दृष्टान्तमाह—**\*यथेति\*** ॥ **\*नान्य-**

वार्तिकम्

**\*अन्याश्रयायास्त्विति\*** ॥ आत्मनस्तद्विषयत्वमसिद्धमिति शङ्कते—**\*ननु देहाश्रयेति\*** ॥ दृष्टः\* ॥ शास्त्रप्रमाणेनेति शेषः । किं शुद्धस्यात्मनस्तत्क्रियया संस्कार्यत्वमुच्यते ? किं वा देहादिसङ्घाते कृतात्माभिमानस्य ? नाद्यः ; तस्यानाधेयातिशयत्वादित्युक्तत्वात् । न द्वितीयः ; तस्य देहादिभिन्नाश्रयक्रियाफलाश्रयत्वासिद्धेस्तद्विषयत्वाभावात् संस्कार्यतयैव तदाश्रयत्वादिति परिहरति—**\*न देहसंहतस्यैवेति\*** ॥ कश्चित् प्रतिविम्बकल्पोऽनिर्वचनीय इत्यर्थः ॥

**\*ननु\*** क्रियाया देहनिष्ठत्वेऽपि तत्फलस्य संस्कारस्य तदसंहतात्मनिष्ठत्वं भविष्यति ; शास्त्रप्रामाण्यात्, अन्यथा तद्देहापगम आत्मनि शुद्ध्याद्यनुवृत्तिर्न स्यादिति चेत्, **\*न\*** ; शुद्धश्शुद्ध्यादि-

भाष्यभावप्रकाशिका

चोदयति—**\*नन्विति\*** ॥ परिहरति—**\*न देहीति\*** ॥ देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽविद्यया देहादिष्वध्यासात्तदभिन्नस्यैव तद्गतक्रियया संस्कार्यत्वम्, अतो न व्यभिचार इत्यर्थः । देहाश्रयक्रियया नान्यस्य संस्कार्यत्वम्, अतो न व्यभिचार इत्यर्थः । देहाश्रयक्रियया तत्संहत एव परमार्थतोऽनात्माऽविद्ययाऽऽत्मत्वेन गृहीतः संस्क्रियते, नासंहत आत्मेत्युक्तम् ॥

प्रदीपः

शुचौ देशे स्वीयमालाधारणेन यजमानस्य सन्तोषः, देहाश्रयया स्नानाचमनादिक्रियया देहिन आत्मनः संस्कारश्चेत्यन्याश्रयया क्रिययाऽन्यो न संस्क्रियत इति न नियमः ; व्यभिचारादित्यभिप्रायेण शङ्कते—**\*नन्विति\*** ॥ देहाश्रयेति\* ॥ प्रत्यक्षं चेदं स्नानाचमनादिकं देहनिष्ठमिति ; अन्यथा स्नानादेरात्माश्रयत्वे हि देहवदात्मनोऽप्यनित्यत्वापत्तिरिति भावः । **\*ननु\*** संस्कारोऽपि मलनिर्हरणादिदेहादिगत एवेति न व्यभिचार इत्यत आह—**\*देहीति\*** ॥ स्नानादिनाऽहं शुद्ध इति हि सर्वेऽप्यनुभवन्ति ।



परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम् । यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम् ; 'अहमरोगः' इति यत्र बुद्धिरूपयते, एवं स्नानाचमन-यज्ञोपवीतादिना—'अहं शुद्धः संस्कृतः' इति यत्र बुद्धिरूपयते, स संस्क्रियते । स च देहेन संहत एव । तेनैव अहंकर्त्राऽहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते । तत्फलं च स एवाश्नाति ; "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड० ३।१।१) इति च ।

भामती

तेनात्रापि यदाश्रिता क्रिया सांव्यवहारिकप्रमाणविषयीकृता, तस्यैव संस्कारो नान्यस्येति न व्यभिचारः । तत्त्वतस्तु न क्रिया न संस्कार इति । सनिदर्शनं तु शेषमध्यासभाष्य एव कृतव्याख्यानमिति नेह व्याख्यातम् । \*तयोरन्यः पिप्पलमिति\* ॥ \*अन्यः = जीवात्मा \*पिप्पलम् = कर्मफलम् । \*अनश्नन्नन्य इति\* ॥ परमात्मा । संहतस्यैव भोक्तृत्वमाह मन्त्रवर्णः—\*आत्मेन्द्रियेति\* ॥

ऋजुप्रकाशिका

स्येति\* ॥ तथाच देहाश्रयया स्नानाचमनादिक्रियाया देहतादात्म्यापन्नः संस्क्रियते चेत्, देह एव संस्क्रियत इत्यायातमिति, यमाश्रिता क्रिया, सा तमेव संस्करोतीति व्याप्तेर्न व्यभिचार इत्यर्थः । \*तत्त्वतस्त्विति\* ॥ आत्मनि पारमार्थिकक्रिया पारमार्थिकसंस्कारो वा नास्त्येवेत्यर्थः । \*सनिदर्शनम्=सदृष्टान्तम्\* । \*शेषमिति\* ॥ "तयोरन्यः पिप्पलम्" इत्यतः प्राक्तनं भाष्यमित्यर्थः । \*कृतव्याख्यानमिति\* ॥ व्याख्यात-प्रायमित्यर्थः । "तयोरन्यः, अनश्नन्नन्यः" इत्यन्यशब्दद्वयं वर्तते । तत्रात्रस्यान्यशब्दस्यार्थमाह—\*जीवात्मेति\* ॥ द्वितीयस्यार्थमाह—\*अनश्नन्नन्य इति परमात्मेति\* । \*संहतस्येति\* ॥ संहतस्य भोक्तृत्वम्, असंहतस्याभोक्तुः सतः प्रकाशमानत्वं चाहायं मन्त्र इत्यर्थः । संहतस्यैव भोक्तृत्वप्रतिपादकं वचनान्तरमुदाहृतं भाष्यकृतेति, तदुदाहृतमादत्ते—\*आत्मेन्द्रियेतीति\* ॥

वार्तिकम्

फलस्याभिमानकृतत्वात्, तस्य च देहद्रव्यसंहतनिष्ठत्वाद् जन्मान्तरेऽपि देहान्तरेण संहतत्वात् तदभिमानानुवृत्तेः शुद्धब्राह्मणपक्षेः शास्त्रप्रामाण्योपपत्तेरित्यभिप्रायेण सदृष्टान्तं तदुपपादयति—\*यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलमहमरोग इति यत्र बुद्धिरूपयते इति\* ॥ यत्र देहसंहत आत्मन्यहमरोग इति बुद्धिरूपयते, तत्संहतस्यैव तदभिमानिनो देहाश्रय-

भाष्यभावप्रकाशिका

इदानीं देहाश्रयैव क्रिया नासंहतात्माश्रयेत्यत्र प्रमाणमाह—\*प्रत्यक्षं हीति\* ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयितुमनुवदति—\*तथेति\* ॥ दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ आरोग्यमप्यसंहतात्माश्रयं किं न स्यादित्याशङ्क्याह—\*अहमिति\* ॥ संस्कारोऽप्यनात्मभूतदेहादिसंहतात्माश्रयः, न पुनरसंहतात्माश्रय इत्यत्रानुभवमाह—\*अहं शुद्ध इति\* ॥ कथं तर्हि स्नानादीनां कर्तृसंस्कारप्रसिद्धिरित्याशङ्क्य, तथाभूतस्यैव कर्तृत्वादित्याह—\*तेनैव हीति\* ॥

\*ननु\* भोक्तुरात्मन एव कर्तृत्वम् ; अकर्तुरभोगादित्याशङ्क्य, भोक्तापि स एवेत्याह—\*फलमिति\* ॥ असंहतस्याभोक्तृत्वे प्रमाणमाह—\*तयोरन्य इति\* ॥ इदानीं संहतस्य भोक्तृत्वे प्रमाणमाह—\*आत्मेन्द्रियेति\* ॥ अत्रात्मेति देह उच्यते । निर्गुणत्वान्निर्दोषत्वाच्च चतुर्भिर्धोऽपि संस्कारोऽनुपपन्न-



तथाच “एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्मोध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च” (इवेता० ६।११) इति, “स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धम्” (ईशा० ८) इति चैतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः ।

भामती

अनुपहितशुद्धस्वभावब्रह्मप्रदर्शनपरौ मन्त्रौ पठति—\*एको देव इति\* ॥ \*शुक्रम् = दीप्तिमत् । अव्रणम् = दुःखरहितम् । \*अस्त्राविरम् = अविगलितम्, अविनाशीति याक्त् ।

वार्तिकम्

चिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येनारोग्यफलमिति यथा, एवं तादृशात्मनो यज्ञोपवीतादि नेति योजना । देहद्वयविशिष्टस्यैवाहंकर्तुः क्रियाफलभोक्तृत्वम्, नासंहतस्येत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति—\*तयोरन्य इत्यादि\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

इत्युक्तम् । इदानीं गुण-दोषयोरभावपरौ मन्त्रौ पठति—\*एको देव इति\* ॥ स पर्यगात् = परितोऽगात्सर्वत्र व्याप्त इत्यर्थः । \*शुक्रम् = दीप्तिमत् । \*अकायमिति\* ॥ सूक्ष्मशरीररहितमित्यर्थः । अव्रणमस्त्राविरमिति—द्वाभ्यां प्राणवतस्सिराबहुलस्थूलशरीरस्य निषेधः । अत्र च—शुक्रमकायमित्यादि प्रथमार्थे द्वितीया ; “स पर्यगादि”ति पुल्लिङ्गेनोपक्रम्य “कविर्मनीषी”त्यादिपुंलिङ्गेनोपसंहारात् । \*अव्रणम् = दुःखरहितम् । \*अस्त्राविरम् = अविगलितम् ; अविनाशीति वाऽर्थः ।

प्रदीपः

नचाहंपदार्थः शरीरम्, ‘अहं जानामी’ति, प्रतीत्यनुपपत्तेरिति भावः । \*ननु\* केवलं शरीरं न खानादिक्रियाश्रयम्, कर्तैव हि क्रियाश्रयः । न हि शरीरमचेतनं कर्तृतामर्हति । अत आत्मैव खानाचमनादेरपि कर्तेति स्वीकर्तव्यम् । खानाचमनादीनां शरीरगतत्वप्रत्यक्षेण सत्यं शरीरस्यैव तानि धर्मा इति प्रतीयन्ते ; तथाऽपि शरीरसम्बन्धादात्मन्यपि संस्कारो भवितुमर्हति, अन्तःकरणोपहितस्यैवात्मनः शरीरोपहितत्वमप्यध्यासनिबन्धनं वर्तते । तथाच शरीरात्मनोः परस्पराध्यासाद् धर्माणामपि परस्पराध्यासेन खानाचमनादीनां तत्फलस्य संस्कारस्य चाध्यासाद् आत्मधर्मत्वाभिमानोऽपि न दोषाय । अयमत्र निष्कर्षः—स्वाश्रया स्वसम्बन्धाश्रया वा क्रिया स्वं संस्क्रुते ; स्वासम्बन्धाश्रया तु क्रिया न स्वं संस्क्रुते इत्येव नियमः । “स्थाणौ स्थाण्वाहुतिं जुहोति”इति विहितस्थाण्वाहुतिरपि स्थाणुपदेन यूपार्थं खण्डितवृक्षावयवस्यैव ग्रहणात् तस्य च यूपसम्बन्धाद् यूपसंस्कारार्था भविष्यति । एतेन शुचौ देशे स्थापिता देवदत्तधारिता मालाऽपि व्याख्याता । सापि हि देवदत्तधारितैवासीदिति देवदत्तसम्बद्धैव । निर्विशेषचैतन्यन्तु निःसंगत्वाद् न केनापि सम्बद्धमिति नान्याश्रयया क्रियया संस्कार्यतामर्हतीति न संस्कार्यत्वं कथमपीत्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*नेति । देहसंहतस्येति\* ॥ अध्यासेन देहादितादात्म्यापन्नस्येत्यर्थः । तदेवोपपादयति—\*प्रत्यक्षं हीति । युक्तमिति च\* ॥ न केवलमदृष्टार्थक्रियायामेवैवं दृश्यते, किन्तु दृष्टार्थक्रियायामपीत्याह—\*यथा देहाश्रयेति\* ॥ तदेवमाध्यासिकं क्रियाश्रयत्वमात्मनोऽपि तत्संस्कार्यत्वस्थले वर्तत इत्यमुं विषयं दार्ष्टान्तिके समन्वयपूर्वकमुपसंहरति—\*एवं खानाचमनेति\* ॥ न देहः कर्ता, किन्तु तत्तदात्म्यापन्नोऽहंप्रत्ययविषय आत्मैव, स एव च भोक्तापि, इति न कुत्राप्यकर्तृस्तदसम्बन्धिनो वा भोक्तृत्वम् । अतैव श्रुतिमपि प्रमाणयति—\*तयोरिति\* ॥ \*तयोः\* जीव-परमात्मनोः । \*अन्यः\* एकतरो जीवात्मेत्यर्थः । \*स्वादु पिप्पलम्\* सुखरूपं कर्मफलम् । इदमुपलक्षणं दुःखस्याधर्मफलस्यापि । \*अन्यः\* एकतरः, परमात्मा प्रत्यगात्मा वा । \*अनश्नन्\* कर्मफलमभुजानः । \*अभिचाकशीति\* प्रकाशते । अनेनाहं प्रत्ययविषयो भोक्ता, चैतन्यमात्रं न भोक्तु, इति प्रतिपादनेन जीवस्य शरीरादिभिः सम्बन्धो भवति, निर्विशेषस्य तु नेति सूच्यते । अत्र निर्विशेषस्याभोक्तृत्वबोधनेऽपि तात्पर्यं तु जीवभोक्तृत्ववर्णन एवेति भाष्यकारामन्यन्ते । अत एव—तत्फलं च स एवाश्रातीत्येतदुपगृह्यमकृतयैवास्य मन्त्रस्य निर्देशः ; इति मन्त्रवर्णाद् इति मन्त्रवर्णशब्द-



ब्रह्मभावश्च मोक्षः । तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद् दर्शयितुम् ।

भामती

उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*ननु\* मा भून्निर्वर्त्यादिकर्मताचतुष्टयी, पञ्चमी तु काचिद् विधा भविष्यति, यथा मोक्षस्य कर्मता घटिष्यत इत्यत आह—\*अतोऽन्यदिति\* ॥ एभ्यः प्रकारेभ्यो न प्रकारान्तरमन्यदस्ति, यतो मोक्षस्य क्रियानुप्रवेशो भविष्यति ॥

ऋजुप्रकाशिका

पञ्चमीं कर्मतां शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ \*निर्वर्त्यादिकर्मताचतुष्टयीति\* ॥ निर्वर्त्यकर्मता, विकार्यकर्मता, प्राप्यकर्मता, संस्कार्यकर्मता चेत्येवंविधकर्मताचतुष्टयं मा भूदित्यर्थः । तान्निवृत्तिरुद्धत्वात् पञ्चमी विधा नेत्याह—\*अत आहेति\* ॥

पञ्चपादिका

\*तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः\* इत्युपसंहरति । अथापि त्वन्यदपि क्रियाफलमस्ति, तद्द्वारेण मोक्षस्य क्रियानुप्रवेशः स्यादित्याशङ्क्याह—\*अतोऽन्यन्मोक्षं प्रतीत्यादि\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

\*तस्मान्न संस्कार्य इत्यादि—ननु इत्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः\* । “ननु ज्ञानस्यापी”त्यारभ्येदमपरमित्यतः

तत्त्वदीपनम्

“ननु ज्ञानस्येत्यादिबोध-परिहारौ पुनरुक्तवित्याशङ्क्याह—\*ननु ज्ञानस्येति\* ॥ अजन्यफलत्वाभिधानमात्रेण

वार्तिकम्

भवतु ब्रह्मणो नित्यशुद्धता, प्रकृते किमायातम् ? अत आह—\*ब्रह्मभावश्च मोक्षः ; तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्ष इति\* ॥ मोक्षस्य चतुर्विधक्रियाफलत्वनिराकरणस्य फलमाह—\*अतोऽन्यन्मोक्षं प्रतीति\* ॥ द्वारान्तराभावादित्याशयः । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

प्रदीपः

प्रयोगश्चोपपद्यते । मन्त्रवर्णशब्दो हि मन्त्रतात्पर्यमादायैव प्रयुज्यते, न तु प्रतीयमानं सर्वमर्थमादाय । अत एव—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामी”ति मन्त्रो मन्त्रवर्णात्रिर्वापाङ्गमिति व्यवहारः । \*ननु\*—“तयोरन्यः” इति वाक्यं न जीवपरम्, किन्तु जीवव्यतिरिक्तपरमात्मस्वरूपनिरूपणपरम् । तथाच जीवभोक्तृत्वादावपि न तात्पर्य-मित्याशङ्क्यायां श्रुत्यन्तरमत्र प्रमाणयति—\*आत्मेन्द्रियेति\* ॥ शरीरेन्द्रियमनोयुक्तम्\* अन्तःकरणेन्द्रिय-शरीरतादात्म्यापन्नम् । आत्मानमिति शेषः । भोक्तेलाहुरिति स्पष्टम् । तथाच भोक्तृत्वं शरीरादितादात्म्यापन्नस्यैव, न तु चैतन्यमात्रस्य, न वा देहमात्रस्येति भावः । निर्विशेषस्य तु न भोक्तृत्वमित्यत्र द्वौ मन्त्रौ प्रमाणयति—\*एको देव इति\* ॥ \*स पर्यगादिति च\* । \*सर्वभूतेष्वेकः=अद्वितीयः । \*देवः=स्वयंप्रकाशः । गूढः=अविद्ययाऽऽवृतः । \*सर्वव्यापी=व्यापकः । अत एव प्रत्यगभिन्नः । \*सर्वभूतान्तरात्मा\* ॥ जीवामेदोऽयमुपाध्यनुपहितेन रूपेण नोपहितेन रूपेणेति सूचनार्थमाह—\*कर्माध्यक्ष इति\* ॥ कर्मसाक्षी न तु कर्मकर्तृत्वार्थः । साक्षित्वं चेदं सर्वभूताधिष्ठानत्वेन, न तु स्वयं द्रष्टृत्वेन ; दृष्टूपस्य तस्य द्रष्टृत्वाभावादित्याह—\*सर्वभूताधिवास इति\* ॥ सर्वभूताधिष्ठानरूप इत्यर्थः । तथाच साक्षित्वमपि तस्य कल्पितमिति भावः । तथाच कर्माध्यक्ष इति पदविवरणार्थमेव सर्वभूताधिवासः साक्षीति पदद्वयमिति भावः । साक्षित्वं हि अकर्तृद्रष्टृरेव लोके प्रसिद्धमिति सूचयन्नाह—\*चेता निर्गुणश्चेति\* ॥ \*स पर्यगादिति\* ॥ \*सः=आत्मा । \*पर्यगात्=सर्व व्याप्तः । \*शुक्रः=स्वयंप्रकाशः । \*अकायः=लिङ्गशून्यः । \*अव्रणः=अक्षतः । नपुंसकत्वमार्थम् । \*अलाविरम्=शिराविधुरः अविनश्वर इति वा । \*शुद्धः=रागादिदोषशून्यः । \*अपापविद्धः=अपहतपात्मा । एतन्मन्त्रद्वयकृत्यमतोपयुक्तमाह—\*इति चैतौ मन्त्राविति\* ॥ \*ननु\* ब्रह्मणोऽनाधेयातिशयत्ववर्णनेन मोक्षस्य किमायातमिति ? अत आह—\*ब्रह्मभावश्चेति\* । तदेवमुत्पाद्यत्व-विकार्यत्व-



## तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते ।

भामती

\*एतदुक्तं भवति\*—चतसृणां विधानां मध्येऽन्यतमतया क्रियाफलत्वं व्याप्तम्, सा च मोक्षाद् व्यावर्तमाना, व्यापकानुपलब्ध्या मोक्षस्य क्रियाफलत्वं व्यावर्तयतीति । तत्किं मोक्षे क्रियैव नास्ति ? तथाच तदर्थानि शास्त्राणि तदर्थश्च प्रवृत्तयोऽनर्थकानीत्यत उपसंहारव्याजेनाह—\*तस्माज्ज्ञानमेकमिति\* ॥ अथ ज्ञानं क्रिया मानसी कस्मान्न विधिगोचरः ? कस्माच्च तस्याः फलं निर्वर्त्यादि-

मृजुप्रकाशिका

निर्वर्त्यादिकर्मताचतुष्टयाभावेऽप्यन्यस्य भावेन क्रियाफलत्वं मोक्षस्याशङ्कमानं प्रत्याह—\*एतदुक्तं भवतीति\* ॥ चतुर्णां फलानां मध्य इति\* ॥ निर्वर्त्य-विकार्य-प्राप्य-संस्कार्यफलानां चतुर्णां मध्य इत्यर्थः । \*अन्यतमया=निर्वर्त्यकर्मतया वा, विकार्यकर्मतया वा, प्राप्यकर्मतया वा, संस्कार्यकर्मतया वान्यतमया व्याप्ता क्रियाफल-तेत्यर्थः । ततः किमिति ? अत आह—\*सा चेति\* ॥ निरुक्तकर्मताचतुष्टयी चेत्यर्थः । \*व्यावर्तयतीति\* ॥ व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यकत्वादिति भावः । शङ्कते—\*तत्किमिति\* ॥ क्रिया नास्ति चेत्, किमिति ? अत आह—\*तथाचेति\* ॥ \*तदर्थानि शास्त्राणि चेति\* ॥ अमृतत्वाय विधीयमानोपासनाक्रियापराणि शास्त्राणीत्यर्थः । \*तदर्थश्च=उपासनार्थश्च प्रवृत्तयः, अमृतत्वस्य=मोक्षस्य ज्ञानाभिव्यङ्गत्वेनोपासनाक्रियासाध्यत्वाभावात्—“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति”, “ब्रह्मविदोऽप्यमृतं”, “तरति शोकमात्मवित्”, “नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” इति श्रुतेरिति भावः । \*तस्या इति\* ॥ विधीयमानमानसिकज्ञानक्रियाया मोक्षलक्षणं फलं निर्वर्त्य-विकार्य-प्राप्य-संस्कार्य-फलेष्वन्यतमं कस्मान्न भवतीत्यर्थः । एवं चोद्ये स्थिते “न ; वैल-

पञ्चपादिका

न हि दृष्टमदृष्टं वा क्रियाफलमुत्पत्त्यादिचतुष्टयातिरिक्तं शक्यं केनचिद् दर्शयितुम् । तस्माज्ज्ञानस्यैव मोक्षो गोचरः, न क्रियायाः ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

भवत्वेवंविधत्वं ब्रह्मणः, मोक्षस्य किमायातमिति ? अत आह—\*ब्रह्मेति\* ॥ \*ननु\* मा भूदुत्पत्त्यादिचतुर्विधकर्मफलान्तर्भावो मोक्षस्य, प्रकाराणान्तरेण तु कर्मसाध्यता स्यादित्यत आह—\*अतोऽन्यदिति\* ॥ तथाविधस्य क्रियाफलस्य लोक-वेदयोरदृष्टत्वादित्यर्थः । \*ननु\* तर्हि मोक्षे क्रियानुप्रवेशाभावे तदर्थः प्रवृत्तयोऽनर्थिकाः स्युरित्याशङ्क्योपसंहारव्याजेन परिहरति—\*तस्माद् ज्ञानमेकमिति\* ॥

प्रदीपः

प्राप्यत्व-संस्कार्यत्वरूपं साध्यत्वं मोक्षस्य न संभवतीति व्यवस्थापितम् । \*ननु\* तर्हि अन्येन द्वारेण मोक्षस्य नित्यस्यैव क्रियासम्बन्धो भवत्वित्यत आह—\*अतोऽन्यदिति\* ॥ \*अतः=उत्पाद्यत्व-विकार्यत्व प्राप्यत्व-संस्कार्यत्वेभ्यः । \*अन्यत् द्वारम्=साध्यत्व-रूपमिति शेषः । \*ननु\*—तर्हि ज्ञानसाध्योऽपि मोक्षो न स्यात् ; उक्तानामुत्पाद्यत्वादीनां भवन्मतेऽप्युपपादनासंभवादित्यत आह—\*तस्माद् ज्ञानमिति\* ॥ न वयं ज्ञानं मोक्षसाधनं मन्यामहे, किन्त्वविद्यानिवृत्तिमात्रजननार्थमिति साक्षान्मोक्षोत्पादकत्वादिकं ज्ञानस्य नोरीक्रियते । ज्ञानसाध्यो मोक्ष इति व्यवहारस्तु प्राप्तस्यैव तस्याप्राप्तत्वभ्रमनिवर्तकत्वेन, इति कथंचन विनापि साध्यत्वं द्वारान्तरेण ज्ञानस्य सम्बन्धो भवितुमर्हति मोक्षेण, न तु क्रियायाः । न हि ज्ञानमिव क्रियाऽपि प्राप्तस्यैवाप्राप्तत्वभ्रमनिवर्तनक्षमेति क्रियायामेतद् द्वारमसंभवीति भावः । \*ननु\* यदि क्रियायामप्राप्तत्वभ्रमनिवर्तकत्वं न संभवति,



## पञ्चपादिका

\*ननु\* च ज्ञानस्यापि न गोचरो ब्रह्मेत्युक्तम्—“न विदिक्रियाकर्मस्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः” इति वदता, सत्यं कर्मत्वं ज्ञानं प्रति निषिद्धम्\* ; न पुनरनुपयोग एवैकान्ततो ज्ञानस्याभिहितः । तथाच तत्रैवोपयोगप्रकारो दर्शितः—\*अविद्यापरिकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वादि\*”त्यादिना भाष्येण । मा

## वार्तिकम्

\*ननु\* मोक्षं प्रति ज्ञानास्यानुप्रवेशोऽङ्गीक्रियमाणे क्रियानुप्रवेशो भवतोऽनिच्छतोऽप्यापतित एव, कुतः ? ब्रह्मज्ञानस्योपासनादिक्रियावदन्तःकरणपरिणामत्वेन मानसक्रियात्वात् । तथाच तद्विधिश्च्युतिरप्युपपन्नेति चेत्, \*कोऽभिप्रायः\* ? यदि तावत्प्रमाणजन्यज्ञानस्य कामादेरिव मनःपरिणाममात्रत्वाद् मानसक्रियात्वमभिधीयते ? तदिष्टमेव ; अस्माकमपि ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तेस्तत्परिणामत्वाभ्युपगमात् । नचैतावता भवदिष्टसिद्धिः ; तस्याः कामादिवदपुरुषतन्त्रत्वेनाविधेयत्वात्, अन्यथा कामादेरपि तत्प्रसङ्गात् । \*अथ\* देवतादिध्यानवत् श्रौतज्ञानत्याविशेषाद् विधेयभावनाव्याप्यमानसक्रियात्वमुच्यते, \*तन्न\* ; पुरुषतन्त्रत्व-वस्तुतन्त्रत्वाभ्यां दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैलक्षण्याद् ब्रह्मज्ञानस्य तादृशक्रियात्वासिद्धेः । तद्वि ज्ञानं पुरुषभावनाव्याप्या मानसी क्रिया नाम भवति, यत्र सा वस्तुस्वरूपमनपेक्ष्यैव चोच्यते । तद्यथा—“यस्यै देवतायै हविर्गृहीयात् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन्” “सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्” इति चैवमादिषु । यद्यपि ध्यानं स्मृतिसन्तानलक्षणं चिन्तनं मानसं ज्ञानं भवति ; तथाऽपि वस्तुनिरपेक्ष-चोदनामात्रतन्त्रत्वात् पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम् ; विधेयपुरुषव्यापारतन्त्रत्वात् । नचैतादृशं निर्विशेषब्रह्मात्मज्ञानम् । तद्वि चक्षुरादिजन्यज्ञानवद् भूतवस्तुविषयत्वात् प्रमाणमात्रजन्यम्, न विधितन्त्रपुरुषव्यापारपेक्षमित्यसकृद्वोचाम । अतस्तज्ज्ञानं न पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत् ; वस्तुतन्त्रस्य पुरुषतन्त्रत्वानुपपत्तेः, अनिच्छतोऽपि दुर्गन्धादेरुपलम्भदर्शनात् । नचापुरुषतन्त्रस्य चोदनातन्त्रत्वमस्ति ; तयोरविनाभूतत्वात् । तस्माद् ब्रह्मज्ञानस्य मानस-ज्ञानत्वेऽपि चोदनातन्त्रमानसज्ञानतो महद्वैलक्षण्यमिति ॥

\*ननु\* असिद्धमेतद् महद् वैलक्षण्यम् ; देवताध्यानादेरपि वस्तुविषयत्वाङ्गीकारात् ; अन्यथा देवताधिकरणविरोधात्, उद्गीथादिविद्यायां तत्तदुपास्यायास्यत्वानिगुणगणविशिष्टप्राणादिदेवताया महता प्रबन्धेन व्यवस्थापनाच्चेति चेत्, \*सत्यम्\* ; यत्र नास्ति प्रमाणान्तरविरोधः, तत्र व्रीह्यादिद्रव्यवत् पृथिव्यादिलोकवच्च सिद्ध्यत्येव तद्विषयः, नैतावता विषयसत्त्वमात्रेण प्रमाणज्ञानेन ध्यानस्यावैलक्षण्यम् । तथात्वेऽपि तमनपेक्ष्यैव विधितः पुरुषव्यापारतन्त्रतया ध्यानस्य जायमानत्वाद् वैलक्षण्यसिद्धेः, तद्यथा “पुरुषो वाय गौतमाग्निरि”त्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी केवलचोदनाजन्यक्रियात्वात् पुरुषव्यापार-तन्त्रैव, न वस्तुतन्त्रा ; तादृशवस्तुनोऽसत्त्वात्, तद्वत् । यत्रापीन्द्रादिदेवतालक्षणं वस्त्वस्ति “यस्यै देवतायै हविर्गृहीयादि”त्यादौ तदनपेक्ष्यैव चोदनाधीनपुरुषव्यापारवशात् तदुत्पत्तिरिति । या तु प्रसिद्धेऽग्नौ प्रत्यक्षादिप्रमाणाद् वस्तुबुद्धिरुत्पद्यते, सा न चोदनातन्त्रा, नापि पुरुषव्यापारतन्त्रा । कथं तर्हि ? प्रत्यक्षादिविषयवस्तुतन्त्रैवेति वस्तुविषयज्ञानमेव तत्, न पुरुषभावनाव्याप्या मानसी क्रिया भवति । एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुज्ञानं वेदितव्यम् । तथाच सति तथाभूतब्रह्मात्मविषयज्ञानमपि न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रमिति सिद्धं वैलक्षण्यम् । तथाच हेयोपादेयशून्यवस्तुविषयत्वात्, दृष्ट-फलत्वादपुरुषतन्त्रत्वाच्च ब्रह्मज्ञान-तद्विषययोरन्यतरस्याप्यननुष्ठेयत्वात्—“आत्मन्येवात्मानं पश्येत्” “आत्मा



**\*ननु\*** ज्ञानं नाम मानसी क्रिया, **\*न\*** ; वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च यथा—‘यस्यै देवतायै

भामती

प्वन्यतमं न मोक्षः ? इति चोदयति—**\*ननु ज्ञानमिति\*** ॥ परिहरति—**\*न\*** ; कुतः ? **\*वैलक्षण्यात्** । **\*अयमर्थः**—सत्यं ज्ञानं मानसी क्रिया, नत्विद्यं ब्रह्मणि फलं जनयितुमर्हति ; तस्य स्वयंप्रकाशतया विदिक्रियाकर्मभावानुपपत्तेरित्युक्तम् । तदेतस्मिन् वैलक्षण्या स्थित एव वैलक्षण्यान्तरमाह—**\*क्रिया हि नाम सेति\*** ॥ यत्र विषये वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते\* ॥ यथा देवतासं-

ऋजुप्रकाशिका

क्षण्यादि”ति भाष्यकृता परिहार उक्तः, तस्य निर्वर्त्यादिफलकक्रियावैलक्षण्यादित्यर्थः । तद्वैलक्षण्यं पूर्वोक्तं स्फोरयति—**\*अयमर्थ इत्यादिना\*** ॥ इयम् = ज्ञानक्रिया\* । **\*तस्य = ब्रह्मणः । \*विदिक्रियेति\*** ॥ वस्तुतो विदिक्रियाकर्मभावानुपपत्तेरित्यर्थः । एवं च निर्वर्त्यफलाभावाद् ज्ञानस्य क्रियात्वाङ्गीकारेऽपि न विधिगोचरत्वमिति भावः । यत्र विषये या वस्तुपेक्षा चोद्यते, चोदनाविषयीक्रियते, सा क्रियेति यच्छब्दाध्याहारेण योजयितुं यत्रशब्दार्थमाह—**\*यत्र विषय इति\*** ॥ **\*चोद्यते = चोदनाविषयीक्रियते । वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—\*यथेति\*** ॥ देवतासंप्रदानकहविग्रहणे = देवतायै हविर्ग्रहणे ।

पञ्चपादिका

तर्हि वोचः—क्रियाया गन्धमात्रस्यानुप्रवेश इह नोपपद्यत इति, **\*ननु\*** ज्ञानं मानसी क्रिया, **\*न\*** वैलक्षण्यादित्युत्तरम्\* । कथं वैलक्षण्यम् ? अजन्यफलत्वात् , उक्तमजन्यफलत्वमहङ्कारटीकायाम् ।

पञ्चपादिकाविवरणम्

प्राक्तनौ चोद्यरिहारौ पूर्वोक्तावप्यवसरप्राप्तत्वात्पुनरिहानीतौ स्पष्टार्थौ\* ॥ जन्याजन्यफलत्वेन क्रिया-ज्ञानयो-वैलक्षण्यमुक्तम्, इदानीं पुरुषेच्छाप्रयत्नसाध्या हि क्रिया, तदनपेक्षमात्मज्ञानमिति कारणतो वैलक्षण्यमाह—

ऋजुविवरणम्

मुक्तम्, न क्रियाफलस्य किञ्चिदुक्तम्, तत्रार्थसिद्धिरिति वृत्तकीर्तनव्याजेनाह—**\*जन्याजन्यफलत्वेनेति\*** ॥ वृत्तकीर्तनव्याजेनाजन्यफलत्वादिति टीकापदेऽजन्यं फलं यस्येति विग्रहः प्रदर्शितः । इदमपरं वैलक्षण्यमित्युक्तम् ; ज्ञानस्या-

तत्त्वदीपनम्

कथं वैलक्षण्यम् ? इत्याशङ्क्याह—**\*जन्येति\*** ॥ ज्ञानं न चोदनाजन्यमित्यत्र प्रतिज्ञामात्रं प्रतिभाति, न

भाष्यभावप्रकाशिका

**\*ननु\*** ज्ञानस्यापि क्रियात्वादस्यैव क्रियानुप्रवेश इति शङ्कते—**\*नन्विति\*** ॥ **\*नैवम्\*** ; जन्याजन्यफलत्वेन भेदादिति परिहरति—**\*न ; वैलक्षण्यादिति\*** ॥ पुरुषेच्छा-प्रयत्नसाध्या क्रिया, अतथाभूतं च ज्ञानमित्यपरं वैलक्षण्यमाह—**\*क्रियेति\*** ॥ **\*यत्र = विषये । वस्तु चेन्न कारणम्, किं तर्हि कारणमिति ? तदाह—\*पुरुषेति\*** ॥ **\*ननु\*** मानसत्वाविशेषाद् ध्यानमपि ज्ञानमेवेत्यत्राह—**\*यथेति\*** ॥

प्रदीपः

तर्हि ज्ञानस्यापि तत् कथम् ? तस्यापि क्रियात्वाविशेषादित्याशयेन शङ्कते—**\*ननु ज्ञानमिति\*** ॥ ज्ञानं मानसक्रिया खलु इति योजना । ज्ञाने मानसक्रियात्वं प्रसिद्धमित्यर्थः । संकल्पविशेषात्मात्वाद् ज्ञानस्य, “संकल्पः कर्म मानसमि”ति कोशात् तस्य मानसक्रियात्वं प्रसिद्धम् । अत एव जानातीति तिबाद्युपपत्तिः । अन्यथा जानातेः क्रियावाचित्वाभावेन धातुत्वमेव न स्यादिति भावः । **\*क्रियेति\*** ॥ तथाच तत्राप्यतोऽन्यन्मोक्षस्य क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद् इत्यस्याध्याहारेण वाक्यं पूरणीयम् । सति चैवं क्रियात्वेन साम्यात् साध्यत्वादिद्वारमेव ज्ञानस्यापि मोक्षेणान्वयः स्वीकर्तव्य इति दूषणसाम्या-



हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट् करिष्यन्” इति, “संध्यां मनसा ध्यायेत्” ( ऐ० ब्रा० ३।८।१ ) इति चैवमादिषु । ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्; तथाऽपि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्; पुरुषतन्त्रत्वात्, ज्ञानं तु प्रमाण-जन्यम् । प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम् । अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुम-शक्यम्, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रम् । नापि पुरुषतन्त्रम् । तस्मान्मा-नसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद् वैलक्षण्यम् । यथाच “पुरुषो वाव गौतमाग्निः” “योषा वाव गौतमाग्निः” (छान्दो० ५।७, ८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति, केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा, पुरुषतन्त्रा च या तु प्रसिद्धेऽग्रावग्नि-बुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा, नापि पुरुषतन्त्रा, किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रा

#### भाष्यभावप्रकाशिका

\*मानसमिति\* ॥ मानसक्रियात्वेनाविशेषेऽपि ज्ञान-ध्यानयोगो-बलीवर्दन्यायेन भेद इत्यभिप्रायः । अत्रो-दाहरणमाह—\*यथेति\* ॥ अत्र पूर्वोदाहरणे देवताया वस्तुनोऽवगतिमात्रम्, योषिदृष्टौ तु वस्तुनो विपर्यय इति विशेषः । अत एव मानसत्वेऽपि न ज्ञानत्वमित्याह—\*केवलेति\* ॥ क्रियैवेत्येव-कारेण वस्तुतन्त्रत्वं निराकरोति । ज्ञानं पुनरनेवंभूतमित्याह—\*या तु प्रसिद्ध इति\* ॥ किं

#### प्रदीपः

पादनमेवात्र विवक्षितम् । अनेन च ज्ञानम्, विधेयम्, मानसक्रियात्वात्; ध्यानवदित्यनुमानप्रयोगो विवक्ष्यते । \*ननु\*—क्रिया हि मानसी द्विविधा दृश्यते—एका पुरुषव्यापाराधीना पुरुषतन्त्रा, इतरा तु प्रमाणव्यापाराधीना वस्तुतन्त्रा चेति । तत्र वस्तुतन्त्रायां क्रियायामेव ज्ञानपदप्रयोगः, नेतरस्याम् । तत्र प्रथमा विधेया, न तु द्वितीया । उत्पाद्यत्वादिसाध्यत्व-द्वारेण विधेयक्रियायामेव साध्यस्यान्वयः स्वीक्रियते, नाविधेयक्रियायाम् । साध्य-साधनभावो हि विधावेव प्रतीयते, न ज्ञानमात्रे । सति चैवं क्रियात्वेन साम्येऽपि ज्ञानस्योपासनया विधेयत्वाविधेयत्वाभ्यां वैलक्षण्यात्तथोर्वैलक्षण्याद् न क्रियानुप्रवेश-द्वारमपि समानं भवितुमर्हति, इति न दूषणसाम्यापादनमत्रावसरतीत्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*नेति\* ॥ नशब्देन “अतोऽन्यत् साध्यत्वादिचतुष्टयादपरं द्वारं ज्ञाने म संभवती”त्यस्य निषेधः क्रियते, न तु क्रियात्वस्येति भावः । तथाच क्रियात्वेऽपि ज्ञानस्य विधेयत्वाभावाद् नोत्पाद्यत्वादिरूपेणैव साध्यत्वेनान्वयनियमस्यात्रावसर इति फलति । अनेन च ज्ञानम्, न विधेयम्, वस्तुतन्त्रत्वात्, यन्नैवं तन्नैवमिति सत्प्रतिपक्षानुमानं प्रदर्शितम् । तथाच ज्ञानम्, विधेयम्, मानसक्रियात्वादिति पूर्वपक्षिणा-मनुमानमप्रयोजकमिति भावः । वस्तुतन्त्रहेतुकानुमाने व्यतिरेकव्याप्तिं प्रदर्शयितुमुक्तमेव वैलक्षण्यं विशदयति—\*क्रिया हि नामेति\* ॥ यत्रपदे प्रथमायां त्रल्लयः । इयमत्र योजना—\*यत्र=या वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव पुरुषव्यापाराधीना च सा नाम क्रिया=सैव क्रिया चोद्यते इति । ध्यानादौ पुरुषतन्त्रत्वादेव विधेयत्वं दृष्टमित्याह—\*यथेति\* ॥ \*ननु\* ध्यान-मपि न विधेयम्, वस्तुतन्त्रत्वात्; ज्ञानवदित्याशङ्क्याह—\*ध्यानमिति\* ॥ पुरुषतन्त्रत्वादिति\* ॥ वस्तुतन्त्रत्वरूपहेत्वसिद्ध्या न ध्यानाविधेयत्वसिद्धिरिति भावः । तथाच व्यतिरेकव्याप्तौ ध्यानदृष्टान्तत्वमुपपन्नमिति भावः । ज्ञाने वस्तुतन्त्रत्वमुप-पादयति—\*ज्ञानमिति\* ॥ \*वस्तुतन्त्रमेव तदिति च\* ॥ अनेन च ज्ञानं न विधेयमिति सत्प्रतिपक्षानुमानस्यैव हेत्वसिद्धय-भावेन साधुत्वमिति ज्ञाप्यते । अनुमानसाधुत्वे चानुमितिरप्यप्रतिहतोदेतीत्यभिप्रायेणाह—\*न चोदनातन्त्रमिति\* ॥ प्रकृतं ज्ञानगतं क्रियावैलक्षण्यमुपसंहरति—\*तस्मादिति । \*मानसत्वेऽपि । ज्ञानोपासनयोरिति शेषः । मानसक्रियात्वेऽपि । \*मह-द्वैलक्षण्यम्\* ॥ वस्तुतन्त्रत्व-पुरुषतन्त्रत्वादिरूपमित्यर्थः । ज्ञाने वस्तुतन्त्रत्वमुपासनायां पुरुषतन्त्रत्वं च सोदाहरणं प्रदर्शयितुं प्रथममुपासनां पुरुषतन्त्रां प्रदर्शयति—\*यथाचेति । \*केवलचोदनाजन्यत्वात्=वस्तुतन्त्रत्वमनपेक्ष्य विधिवोधितत्वात् । न हि योषायामशित्वं विद्यते, इति वस्तुतन्त्रमनपेक्ष्यैवेयं चोदना प्रवर्तत इति भावः । “क्रियैव से”ति विधेयत्व-पुरुषतन्त्रत्वादिकं ज्ञाप्यते । ज्ञानेऽविधेयत्वं वस्तुतन्त्रत्वं च विधेयत्व-पुरुषतन्त्रत्वनिषेधपुरःसरं प्रतिपादयति—\*यत्त्विति\* ॥ न चोदना-



## भामती

प्रदानकहविग्रहणे देवतावस्तुस्वरूपानपेक्षा देवताध्यानक्रिया, यथा वा योषित्यग्निवस्त्वनपेक्षाग्नि-  
बुद्धिर्या, सा क्रिया हि नामेति योजना । नहि “यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्”  
इत्यस्माद्विधेः प्राग्देवताध्यानं प्राप्तम्, प्राप्तं त्वधीतवेदान्तस्य विदितपद-तदर्थसंबन्धस्याधिगतशब्द-न्याय-  
तत्त्वस्य “सदेव सौम्येदम्” इत्यादेः “तत्त्वमसि” इत्यन्तात्संदर्भाद् ब्रह्मात्मभावज्ञानं शब्दप्रमाणसामर्थ्यात्,  
इन्द्रियार्थसन्निकर्षसामर्थ्यादिव प्रणिहितमनसः स्फीतालोकमध्यवर्तिकुम्भानुभवः । न ह्यसौ स्वसामग्री-  
बललब्धजन्मा सन् मनुजेच्छयाऽन्यथाकर्तुमकर्तुं वा शक्यः ; देवताध्यानवत्, येनार्थवानत्र विधिः स्यात् ।  
नचोपासना वानुभवपर्यन्तता वास्य विधेर्गोचरः ; तयोरन्वय-व्यतिरेकावधृतसामर्थ्ययोः साक्षात्कारे  
वाऽनाद्यविद्यापनये वा विधिमन्तरेण प्राप्तत्वेन पुरुषेच्छयाऽन्यथाकर्तुमकर्तुं वाऽशक्यत्वात् । तस्माद्ब्रह्म-  
ज्ञानं मानसी क्रियाऽपि न विधिर्गोचरः, पुरुषचित्तव्यापाराधीनायाश्च क्रियाया वस्तुस्वरूपनिरपेक्षता  
क्वचिदविरोधिनी, यथा देवताध्यानक्रियायाः । नह्यत्र वस्तुस्वरूपेण कश्चिद्विरोधः । क्वचिद्वस्तुस्वरूप-  
विरोधिनी, यथा योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिरित्येतावता भेदेन निदर्शनमिथुनद्वयोपन्यासः । क्रियैवेत्येव-  
कारेण वस्तुतन्त्रत्वमपाकरोति । \*ननु\* “आत्मेत्येवोपासीत” इत्यादयो विधयः श्रूयन्ते । नच ते

## ऋजुप्रकाशिका

दृष्टान्तान्तरमाह—\*यथा वेति\* ॥ अग्निबुद्धिः = अग्निध्यानक्रिया या, \*सा क्रिया नामेति  
योजनेति\* । देवतायै हविर्ग्रहणे देवताध्यानक्रियावद् योषिदग्निध्यानक्रिया वस्तुनिरपेक्षैव चोद्यते, सा  
क्रिया नामेति योजनेत्यर्थः । ध्यानस्य वस्त्वनपेक्षामुक्त्वा पुरुषेच्छाधीनत्वमुपपादयति—\*नहि  
यस्या इति\* ॥ वषट्करिष्यन् । प्रागिति = विध्यर्थानुष्ठानात् प्राक् । प्रमाणदशायां ध्यानं न  
प्राप्तमित्यर्थः । अतो ध्यानं पुरुषेच्छावशवर्ति । ततश्च कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यमिति विधिर्गोचर  
इति भावः । एवं च सति ब्रह्मज्ञाने तद्वैलक्षण्यमाह—\*प्राप्तं त्वित्यादिना\* ॥ शब्दप्रमाणसामर्थ्याद्  
ब्रह्मात्मभावज्ञानं प्राप्तमित्युक्तम्, तत्र दृष्टान्तमाह—\*इन्द्रियेत्यादिना\*—\*नह्यसावित्यतः प्राक्तनेन  
ग्रन्थेन\* ॥ प्रमाणाद् ज्ञानमित्येतावन्मात्रे दृष्टान्तः । ततः किमिति ? अत आह—\*नह्यसाविति\* ॥  
\*असौ = ब्रह्मज्ञानलक्षणोऽर्थः । \*अत्र = ब्रह्मज्ञाने । \*ननु\* उपासना नाम शाब्दज्ञानाभ्यासो वा  
तस्यैव साक्षात्कारपर्यन्तता वा ? उभयत्र पुरुषेच्छादिरस्तीत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥  
अस्याः = \*उपासनायाः । \*अनुभवपर्यन्तता वेति\* योजना । निराकरणमेवाह—\*तयोरिति\* ॥  
उपासना-तदनुभवपर्यन्ततयोरित्यर्थः । \*प्राप्तत्वेनेति\* ॥ उपासनायाः साक्षात्कारे, अनुभवपर्यन्त-  
ताशब्दोक्तसाक्षात्कारस्याविद्यापनये वा प्राप्तत्वेनेत्यर्थः । उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*न विधिर्गोचर  
इति\* ॥ उक्तविधया विधेयक्रियावैलक्षण्यादिति भावः । \*ननु\* देवताध्यान-सन्ध्याध्याननिदर्शन-  
मिथुनमुक्तमेव, पुनः—“पुरुषो वाव गौतमाग्निः, योषा वाव गौतमाग्निः” इति योषित्पुरुषयोरग्नि-  
बुद्धिनिदर्शनमिथुनं भाष्यकृतोच्यते, तत्किमर्थम् ? ध्यानक्रियाग्निबुद्धिक्रिययोः पुरुषचित्तव्यापारत्वाविशेषेण  
वस्तुतन्त्रत्वाभावाविशेषेण च निदर्शनमिथुनद्वन्द्वोपन्यासप्रयोजनाभावादित्याशङ्क्य, तेन रूपेणाविशेषेऽपि वस्तु-  
स्वरूपाविरोधित्व-तद्विरोधित्वाभ्यां विशेषं पुरस्कृत्य पृथग् निदर्शनमिथुनद्वन्द्वोपन्यास इत्याह—\*पुरुषचित्त-  
व्यापाराधीनायाश्चेत्यादिना—निदर्शनमिथुनद्वन्द्वोपन्यास इत्यन्तेन\* ॥ “देवताध्यानक्रियायामि”त्यनन्तरं सन्ध्या-  
ध्यानक्रियायां चेति शेषः । क्रियैवेत्येवकारेण क्रियात्वमात्रमपाकरोतीति भाति, तदर्थमाह—\*क्रियैवेत्येव-  
कारेणेति\* ॥ वस्तुतन्त्रत्वमप्यपाकरोतीत्यर्थः । वस्तुतन्त्रज्ञाने क्रियावैलक्षण्याय क्रियायां वस्तुतन्त्रत्वा-  
भावस्य वक्तव्यत्वादिति भावः । अत्रानुष्ठानकृत्यभावात्तन्त्रत्वमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रमिति भाष्ये



## पञ्चपादिका

इदमपरं वैलक्षण्यम्—ज्ञानं न चोदनाजन्यम्, वस्तुजन्यं हि तत् । वस्तु च ज्ञानात्प्रागेव स्वरूपे व्यवस्थितम् । अतस्तत्तन्त्रं ज्ञानम् । न तद् ज्ञानेनान्यथा कर्तुं शक्यम् । अथापि स्यात्—भवेत्प्रत्यक्षं वस्तुजन्यम्, अनुमानादिषु कथम् ? तत्रापि लिङ्गादिपरतन्त्रम्, न चोदनायास्तत्रानुप्रवेशः । किंच

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*इदमपरं वैलक्षण्यमिति\* ॥ चोदनाजन्यं पुरुषेच्छाप्रयत्नजन्यं न भवति ; ज्ञानमनिच्छतोऽपि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनादित्यर्थः । \*ननु\* शब्दजन्यस्य ज्ञानस्य विषयजन्यत्वाभावात् वस्तुपरतन्त्रता, ततश्चोदनाजन्यत्वमिति शङ्कते—  
\*अथापीति\* ॥ तत्रापि विधिजन्यपुरुषेच्छाप्रयत्ननिरपेक्षमेव लिङ्गादिजन्यमेवेति परिहरति—\*तत्रापीति\* ॥

\*ननु\* संयोग-विभागप्रचयातिरेकिणी केयं क्रिया नाम ? \*ननु\* चलतीति प्रत्यक्षमेवैतच्चलनम् । \*सत्यम्\* ; तदपि संयोगविभागालम्बनमेव चलनम् । \*ननु\* स्थाणोवपि श्येनसंयोगविभागवति चलतीति प्रसङ्गः, \*न\* ; स्वदेशसंयोगविभागालम्बनत्वात्प्रत्ययस्य, स्थाणोश्च श्येनदेशत्वाभावात् । सर्वस्य चाकाश-देशत्वादिति चेत्, न ; ब्रह्मलान्धकारावृते तमस्यप्रतीयमानेऽपि खद्योते चलनबुद्धिदर्शनात् । नच देश-

## श्रुजुविवरणम्

चोदनाजन्यत्वं यत्तत्क्रियायामविशिष्टम् ; चोदनायाः क्रियोत्पादकत्वाभावादित्याशङ्क्याह—\*पुरुषेच्छाप्रयत्नेति\* ॥  
\*ननु\* पुरुषेच्छाप्रयत्नसाध्यत्वमपि न वैलक्षण्यम्, ज्ञानेऽपि तत्साध्यत्वदर्शनादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*विधिजन्येति\* ॥ \*ननु\* संयोगविभागेति\* ॥ संयोगविभागप्रचये बाहुल्ये सति चलतीति प्रत्ययदर्शनात्तदभावे चादर्शान्न तद्व्यतिरिक्तक्रियेति भावः\* ॥ \*ननु\* प्रत्यक्षमेव तदतिरिक्तत्वेन विलक्षणरूपविषयं ज्ञानम्, तत्कथं प्रश्नः ? इत्याह—\*ननु\* चलतीति\* ॥ प्रत्यक्षमिति\* ॥ \*तदपीति\* ॥ तेषु सत्सु भावादसत्त्वभावादित्यर्थः ॥  
\*ननु\* चलतीति ज्ञानं न संयोगविभागालम्बनम् ; अतिप्रसङ्गादिति चोदयति—\*ननु\* स्थाणावपीति\* ॥ \*सर्वस्य

## तत्त्वदीपनम्

हेतुरित्याशङ्क्याह—\*चोदनाजन्यमिति\* ॥ प्रत्यक्षादनुमानादर्शनत्वेनाविशेषादेकं वस्तुजन्यम्, इतरन्न तथेत्युक्तमयुक्तमित्याशङ्क्याह—\*ननु\* शब्देति\* ॥ शब्द-लिङ्गादिकमवर्तमानबोधजनकमपि दृष्टम्, नच तत्र विषयस्य जनककोटावन्तर्भावः ; वर्तमानस्यैव जनकत्वसंभवात्, तथाच न प्रत्यक्षेतरस्य विषयजन्यत्वमित्यर्थः ।

लिङ्गादिजन्यज्ञाने चोदनालक्षणशब्दजन्यत्वाभावस्य तेनापीष्टत्वात् चोदनाया अनुप्रवेश इत्यसंगतमित्याशङ्क्याह—\*तत्रापीति\* ॥ क्रिया-ज्ञानयोर्वैलक्षण्योक्तिरयुक्ता, क्रियाया एवाभावादिति शङ्कते—\*ननु\* संयोगेति\* ॥ मानाभावान्नातिरिक्तक्रियासिद्धिरित्यर्थः । मानाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*ननु\* चलतीति\* ॥ \*एतदिति\* ॥ चलनमित्यर्थः । अनुभवमङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ तर्हि तद्वलात् क्रियासिद्धिः, तत्राह—\*तदपीति\* ॥ तदपि चलतीति प्रत्यक्षं संयोगविभागालम्बनमिति संबन्धः । पादभूतलसंयोगविभागयोश्चलतीति बुद्धिदर्शनादितरथा चादर्शनात् संयोगालम्बनमित्यर्थः । संयोग-विभागयोः सतोरपि स्थाण्वादौ चलतीति बुद्ध्यदृष्टेः प्रत्यक्षस्यातिरिक्तक्रियाविषयत्वमिति शङ्कते—\*ननु\* स्थाणाविति\* ॥ न संयोगविभागमात्रं चलतीति प्रत्यक्षालम्बनमाचक्ष्महे, किं तु स्वाश्रयसंयोगादिति, अतो नातिप्रसङ्ग इति समाधत्ते पूर्वपक्षी—\*न\* स्वदेश इति\* ॥ स्वस्याश्रयभूतो यो देशः स स्वदेशस्तेन संयोगविभागावालम्बनं यस्य प्रत्यक्षस्य स स्वदेशसंयोगविभागालम्बनः, तस्य भावस्तत्त्वम् ; तस्मादित्यर्थः । तथाऽपि कथमतिप्रसक्तिनिरासः ? तत्राह—\*स्थाणोरिति\* ॥ श्येनो देशो यस्य स श्येनदेशः, तस्य भावस्तत्त्वम्, तदभावादिति । श्येनानाश्रयत्वादिति यावत् । स्वाश्रयसंयोग-विभागालम्बनमित्युक्तम्, स्थाण्वादिकमनाश्रित्य विहायसि विहरमाणश्येनादौ चलतीति बुद्धिदर्शनादित्याशङ्क्याह—\*सर्वस्येति\* ॥ श्येनादेर्गनाश्रयत्वात्तत्संयोगविभागयोश्चलतीति बुद्धिर्युक्तेत्यर्थः । संयोगविभागग्रहणं तावदाश्रयग्रहणपुरःसरम् । ततश्च संतमसाबल्यायामाश्रयाप्रतीतावपि चलतीति प्रतीतेर्न संयोगालम्बनमिति सिद्धान्तयति—\*न\* बहुलेति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

मप्रतीत्य तत्संयोगविभागाः प्रतीयन्त इति । तस्मात्संयोगविभागातिरिक्तक्रियालम्बनश्चलतीति प्रत्ययः । यस्तु स्वदेशसंयोग-विभागाभ्यां क्रियामनुमिमीते ; कथम् ? द्रव्यजनितौ संयोग-विभागौ, स्वाश्रये कादाचित्कातिशयपुरस्सरौ ; व्यवस्थितद्रव्ये कादाचित्कत्वात्, संयोगविभागजन्यकार्यवदिति । तस्य मकरादिषु जलप्रवाहाधारेषु स्थिराचलावयवेषु स्वदेशजलसंयोगविभागयोः सतोरपि तेषु क्रियाज्ञानाभावादनैकान्तिकता हेतोरिति । किञ्च संयोगविभागहेतुरतिशयः क्रियाभिधानीयः स्थिरादेव द्रव्यादुत्पद्यते ? अतिशयान्तरवतो वा ? पूर्वस्मिन् व्यवस्थितद्रव्यादेव क्रियाजन्मवत्तत एव संयोगविभागजन्म स्यादित्यनैकान्तिकः । अतिशयान्तरकल्पनायामनवस्थापातः । पादाश्रयस्य कर्मणो हि स्वाश्रयासम्बन्धिभूसमवायिपादसंयोगारम्भवत् प्रयत्नवदात्मपादसंयोगस्यापि भूपादसंयोगारम्भसिद्धेर्न पादाश्रयकर्मातिशयावकाशः । तस्मात्प्रत्यक्षः क्रियाप्रत्ययः ॥

## ऋजुविवरणम्

चेति\* ॥ आकाशस्यैवावकाशदानृत्वादित्यर्थः । \*ननु\* अप्रतीयमानेऽप्याकाशे खद्योतचलनं खद्योतगतसंयोगविभागालम्बनम्, का क्षतिरिति ? तदाह—\*नच देशमिति\* ॥ “कादाचित्कत्वादिति” हेतु रूपादिष्वनैकान्तिकः, तदर्थम्—\*व्यवस्थितेति\* ॥ \*द्रव्ये इति\* ॥ कादाचित्कत्वे विवक्षितातिशयपुरःसरत्वादित्यर्थः । \*ननु\* अन्यतरकर्मजसंयोगविभागयोरपि स्वाश्रयगतातिशयपुरःसरत्वमस्ति ; जलस्य सक्रियत्वात्, अतो नानैकान्तिकत्वमित्याशङ्क्य विकल्प्य दूषणान्तरमाह—\*किञ्च संयोगविभागेति\* ॥ \*ननु\* अभिधातादिकारणान्तरेण कर्मोत्पद्यते, तच्च स्वकारणात्, अतो नानवस्थादि, अत्र त्वन्यस्यासंभवात्कर्मसिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*पादाश्रयस्येति\* ॥ भूसमवेतत्वाकारे भूमेराश्रयत्वम्, नच तत्र क्रियादियोगः, तेनानैकान्तिको हेतुर्न स्वाश्रये क्रियां साधयतीति भावः ।

## तत्त्वदीपनम्

संयोगाद्यतिरिक्तां क्रियामाश्रित्य तस्या अनुमेयत्वं मन्वानस्य गुरोर्मतमुत्थापयति—\*यस्त्विति\* ॥ स्वदेशसंयोगविभागवतीति शेषः । अनुमानप्रकारं पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ अथवा किं विशेषतोऽदृष्टमनुमानम् ? उत सामान्यतोऽदृष्टम् ? न तावदाद्यः ; प्रत्यक्षयोग्यत्वात् क्रियायाः, न द्वितीयः ; तद्व्यासलिङ्गादर्शनादिति शङ्कते—\*कथमिति\* ॥ सामान्यतोऽदृष्टं प्रमाणमित्याह—\*द्रव्येति\* ॥ “संयोगविभागावि”त्युक्ते संयोगजसंयोगे विभागे च स्वाश्रयगतसंयोगाद्यतिशयपुरःसरत्वस्य सिद्धत्वात् सिद्धसाधनत्वम्, तद्व्यावृत्त्यर्थम्—“द्रव्ये”ति विशेषणम् । संयोगविभागाजन्यौ संयोगविभागाविति विवक्षितम् । अतिशयपुरःसरावित्युक्ते ईश्वरेच्छापुरःसरत्वेन सिद्धसाधनत्वम्, तदर्थम्—“कादाचित्के”ति । एतावत्युक्ते पूर्वलक्षणातिशयपुरःसरत्वेन सिद्धसाध्यत्वम्, तदर्थम्—“स्वाश्रये”इति ॥ नचात्मगतसंयोगविभागयोस्तद्गतादृष्टजन्यतया सिद्धसाध्यत्वमित्यपि शङ्क्यम् ; अव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नस्य कादाचित्कशब्देन विवक्षितत्वादित्यर्थः । व्यवस्थितद्रव्यनिष्ठत्वे सति कादाचित्कत्वादिति हेत्वर्थः । “कादाचित्कत्वादि”त्युक्ते कारणेन सहोत्पन्नधर्मेषु व्यभिचारः, तदर्थम्—“व्यवस्थिते”ति । एतावत्युक्ते गगनगतमहत्त्वादौ व्यभिचारः, तद्व्युदासार्थम्—“कादाचित्कत्वादि”ति । तत्र वक्तव्यम्—किं यावान् स्वाश्रयस्तद्गतातिशयजन्यत्वं साध्यते ? उताश्रयमात्रातिशयपुरस्सरत्वम् ? तत्राद्ये दूषणमाह—\*तस्येति\* ॥ जलप्रवाह आधारे येषां ते जलप्रवाहाधाराः, तेष्वित्यर्थः । साध्याभावमाह—\*स्थिरेति\* ॥ तस्यैव व्याख्या—“अचले”ति । नापि द्वितीयः ; आश्रयान्तरे तादृगतिशयमन्तरेणापि संयोगादिजन्मवदन्यत्रापि हेत्वन्तराजन्मसंभवाद् न क्रियासिद्धिरित्यर्थः । इतोऽपि न क्रियानुमानं साधित्याह—\*किञ्च संयोगेति\* ॥ अनुमानस्य किं दूषणमिति ? अत्राह—\*इत्यनैकान्तिक इति\* ॥ क्रियायामेव व्यभिचार इत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*अतिशयान्तरेति\* ॥ ततश्चाप्रयोजको हेतुरित्यर्थः । सिद्धसाध्यं चैतदित्याह—\*पादाश्रयस्येति\* ॥ प्रयत्नवांश्चात्मा चेति प्रयत्नवदात्मा, तस्य पादेन यः संयोगः, तस्येत्यर्थः । \*ननु\* व्यधिकरणमेतत् ; अन्यसंयोगस्थान्यसंयोगजनकत्वानुपपत्तेः, इत्याशङ्क्य प्रतिबन्धोत्तरमाह—\*पादाश्रयेति\* ॥ भूसमवायी यः पादसंयोगः स भूसमवायिपादसंयोगः, स्वाश्रयासंबन्धी च भूसमवायिपादसंयोगश्चेति



## पञ्चपादिका

न चोदनाजन्यं ज्ञानमेकान्ततो वस्तुपरिच्छेदकम् ; योषादिष्वन्यादिदृष्टिविधानदर्शनात् । अतो वस्तु-  
विषयस्य ज्ञानस्य क्रियात्वेऽपि न चोदनाजन्यत्वम्, न वा पुरुषतन्त्रत्वम्, अपितु प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वम्,  
एवं सम्यग्ज्ञानत्वोपपत्तेरमाविवाग्निज्ञानस्य । एवं सति ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानस्यापि यथामूतवस्तु-  
विषयत्वान्न चोदनाजन्यत्वम् । अतो न विधेरत्रावकाशः ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* क्षणिकस्य कर्मणः कथमिन्द्रियसंयोगज्ञानलक्षणक्षणद्वयावस्थानम् ? \*शब्द-विद्युदादिवदित्य-  
विरोधः\* ॥ तस्मादस्ति क्रिया ज्ञानविलक्षणेति । \*किंचेति स्पष्टार्थः\* ॥ किंच “वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितायाः”  
इति निश्चितार्थविषयतत्त्वज्ञानमेव मोक्षसाधनमुक्तम्, तच्च प्रमाणजन्यत्वे संभवतीत्याह—\*एवं सम्यग्ज्ञानत्वोप-  
पत्तेरिति\* ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—\*एवं सतीति\* ॥

## अनुविवरणम्

“एवं सम्यग्ज्ञाने”त्यनेन वस्तुतन्त्रत्वे सम्यग्ज्ञानत्वमुक्तम्, तत्र मा भूत् सम्यक्त्वम्, विधिजन्यत्वनिरा-  
करणमत्र प्रस्तुतं नान्यदित्याशङ्क्याह—\*किञ्च वेदान्तेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

तथोक्तः, तस्यास्मिन् इवेत्यर्थः । कर्माश्रयमात्रं संबन्धित्वं च स्वाश्रयासंबन्धिशब्दार्थः । स्वमतमुपसंहरति—  
\*तस्मादिति\* ॥

क्रियायाः प्रत्यक्षत्वमप्यनुपपन्नमिति शङ्कते—\*ननु क्षणिकस्येति\* ॥ कर्मणः किं पूर्वापरविभागविकल-  
कलावस्थितिलक्षणं क्षणिकत्वं विवक्षितम् ? उताशुतरविनाशित्वम् ? नाद्यः, अनङ्गीकृतेरित्यभिसन्धाय द्वितीयेऽविरोध-  
माह—\*शब्देति\* ॥ प्रकृतं निगमयति—\*तस्मादिति\* ॥ प्रमाणसद्भावस्तच्छब्दार्थः ॥

प्रमाणवस्तुपरतन्त्रतायामेव ब्रह्मज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वमित्युक्तम्, तत्र सम्यक्त्वमेव मा भूदिति मन्वानं  
प्रत्याह—\*किंच वेदान्तेति\* ॥ सम्यग्ज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वम्, तच्च प्रमाणवस्तुतन्त्रतायां घटते, नान्यथेत्यर्थः ।

## प्रदीपः

तन्त्रा\* ॥ वस्तुतत्त्वमपेक्ष्योत्पन्नत्वादित्यर्थः । \*ज्ञानमेव=अविषयमानसक्रियैव । \*तत्=ज्ञानम् । दृष्टान्तसमन्वयानन्तरं दार्ष्टा-  
न्तिके ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽपि चोदनाऽतन्त्रत्वादिकमुपपादयति—\*तत्रैवं सतीति\* ॥ तदेवं ज्ञानमानसक्रियात्वाविशेषप्रश-  
समाधानग्रन्थसन्दर्भः सर्वोऽपि भामतीमतानुसारेण योजितः । अस्मिन् पक्षे स्वरसानि भाष्यवाक्यानीमानि—“केवलं वस्तुतन्त्रमेव  
तत्, न चोदनातन्त्रम् । या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा नापि पुरुषतन्त्रा च” ।

अस्मिन् हि मते—“क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते पुरुषव्यापाराधीना च”, “ज्ञानमेव तत्, न  
क्रिया”इति वाक्यद्वयं क्लिष्टयोजनयैव व्याख्येयम्, यतो ज्ञानस्य क्रियात्वनिषेध एव प्रतीयते, न तु चोदनातन्त्रत्वनिषेधः ।  
अतो विवरणानुयायिनः—“न ; वैलक्षण्यादि”ति ग्रन्थसन्दर्भं ज्ञानस्याक्रियात्वपरतया योजयन्ति । तन्मते तु \*या=  
वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, चोदनातन्त्रा पुरुषव्यापाराधीना च=सा हि नाम क्रिया, यथा ध्यानम् । ध्यानस्यापि मानसत्वाद-  
क्रियात्वं तु न युक्तमित्याह—\*तथापि पुरुषेणेति\* ॥ ज्ञानस्य क्रियात्वनिषेधार्थं पुरुषतन्त्रत्वं चोदनातन्त्रत्वं च निषेधति—  
केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रमिति । तथाच मानसत्वेन साम्येऽपि क्रियात्वेन न साम्यमिति बोधनार्थम्—\*मानस-  
त्वेऽपीति\* ग्रन्थः । “ज्ञानमेव तत्” इति त्वग्नावग्निज्ञानं ज्ञानमेव, न तु क्रियेत्युपसंहारः । “तत्रैवं सतीति”ति वाक्ये न  
चोदनातन्त्रमित्युपसंहारः, “अतो न क्रिये”ति पूरणेन व्याख्येयः, इति प्रकृतं ग्रन्थसन्दर्भं योजनीयं मन्यन्ते । इदं हि क्रियात्वं  
क्रियात्वेन नैयायिकादिप्रसिद्धानां क्रियानामेव । ज्ञानन्तु गुणत्वेनैव ते मन्यन्ते । धातुसंज्ञा तु पारिभाषिकं वैयाकरणाभि-  
मतं क्रियात्वमादायोपपद्यते ॥

अयं हि ग्रन्थसन्दर्भो वृत्तिकारमतनिरासार्थः, इति तन्मते “श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः”



क्रिया । एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम् । तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषय-  
मपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम् । तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषय-

भामती

प्रमत्तगीताः, तुल्यं हि सांप्रदायिकम्, तस्माद्विधेयेनात्र भवितव्यमित्यत आह—\*तद्विषये लिङादय  
इति\* ॥ सत्यं श्रूयन्ते लिङादयः, नत्वमी विधिविषयाः, तद्विषयत्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । हेयोपादेय-

ऋजुप्रकाशिका

उक्तम्, तत्र शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ \*नच त इति\* । ते = विधयः, प्रमत्तगीता न भवन्तीत्यर्थः ।

कुत इति ? अत आह—\*तुल्यं हि सांप्रदायिकमिति\* ॥ अन्यत्र विधिस्थले यः संप्रदायः, स तत्रापि  
तुल्य इत्यर्थः । परिहरति—\*अत आहिति\* ॥ \*तद्विषया लिङादय इति\* । ब्रह्मात्मज्ञानविषये  
लिङादय इत्यर्थः । श्रूयन्ते चेद्विधेयमङ्गीकर्तव्यम्, नेत्याह—\*नत्वमी इति\* ॥ ब्रह्मात्मज्ञाने श्रूयमाणा  
लिङादयः । तद्विषयत्वे=अनुष्ठेयवस्तुविषयत्वे हि विधीनां प्रामाण्यम्, ब्रह्मात्मज्ञानस्याननुष्ठेयत्वेन तद्विषयत्वेऽ-

भाष्यभावप्रकाशिका

तर्हीति\* ॥ अतो वैलक्षण्यं युक्तमित्याह—\*इति ज्ञानमेवैतद् न क्रियेति\* ॥ \*ननु\* भवत्वेवं  
प्रत्यक्षज्ञाने शब्दादिजन्यत्वाभावाद् वस्तुतन्त्रता, नैवं शब्दजन्यज्ञाने ; ततश्चोदनादिजन्यत्वमित्याशङ्क्य,  
तत्रापि विध्यधीनपुरुषेच्छा-प्रयत्ननिरपेक्षमेव लिङ्गादिजन्यं ज्ञानमित्याह—\*एवं सर्वेति\* ॥

दार्ष्टान्तिकं निगमयति—\*तत्रैवमिति\* ॥ \*ननु\* “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः”  
इत्यादि विधिश्रवणाद् विधेयेनात्र भवितव्यम् ; श्रूयमाणस्य विधेस्तर्केण निराकरणायोगादिति,  
तत्राह—\*तद्विषय इति\* । \*कुण्ठीभवन्तीति\* ॥ “विष्णुरुपांशु यष्टव्यः” इत्यादिवत् स्तुत्यर्थवाद-

प्रदीपः

इत्यत्र श्रवणादौ विधेरनङ्गीकारेण दर्शन-श्रवण-मननानां ज्ञानरूपत्वस्य स्वीकारात् तन्मतानुसारेणोत्तरं दातव्यमित्यभिप्रायेण प्रवृत्तः,  
न तु स्वमतानुसारेणेति वक्तव्यम् । अत एव द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादीनामविधित्वसिद्धान्तोऽपि भाष्यकाराणां न  
श्रवणादिनियमविधित्वपक्षप्रतिरोधी । यतः कृत्वाचिन्तयैवायं भाष्यसन्दर्भः प्रवर्तते, न तु वस्तुगत्या । अत एतद्भाष्य-  
प्राधान्यमुपजीव्य श्रवणादावविधित्वपक्षो भामत्यनुयायिनां न भाष्याशयानुसारीति गम्यते । श्रवणादिविधित्वपक्षस्तु सत्यं  
श्रवणादिक्रियात्वं विना नोपपद्यत इति प्रमाणतन्त्रमपि श्रवणादिज्ञानं क्रियारूपमपीति स्वीकर्तव्यम् । तथाच श्रवणादीनां  
क्रियात्वमविधेयत्वं चेति विरुद्धमिदमिति, अक्रियात्वपक्षेणैव भाष्ययोजनं कर्तव्यमिति विवरणं मतनिष्कर्षः । तथाच “सह-  
कार्यन्तरविधिरिति” सूत्रभाष्ये “बाल्यपाण्डित्यादिविधिरिवे”ति भाष्ये पाण्डित्यशब्दशब्दितश्रवणस्य विधेयत्वनिर्देशेन श्रवणादि-  
क्रियात्वपक्षस्य स्वमतीत्या सूत्रेणोपि न हानिः । स्वमते विधेयत्वेऽपि श्रवणादेः, श्रवणादिजन्यज्ञानस्य साक्षात्कारस्य फल-  
रूपस्य प्रमाणतन्त्रत्वाद् उत्पाद्यत्वादिचतुर्विधद्वारातिरेकेणापि ब्रह्मणो मोक्षस्य वा ज्ञानान्वयो न दोषाय । द्रष्टव्य आत्मा  
श्रोतव्य इति वाक्येन श्रवणादिजन्याखण्डाकारवृत्तिरित्येव विवक्ष्यते, न तु आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्य इति च, इति न श्रवणादि-  
विषयतयाऽप्यात्मा विवक्ष्यते । श्रवणं नाम वेदान्तानां तात्पर्यावधारणानुकूलन्यायविचारः, मननं नाम विरोधियुक्तिनिरासानु-  
कूलतर्कात्मकज्ञानजननानुकूलव्यापारः, इति हि विवरणानुसारिणां मतम् । तथाच विरोधिशङ्कानिरासपूर्वकेण निदिध्यासन-  
पूर्वकेण च वेदान्तविचारेणात्मसाक्षात्कारो भवतीत्येवार्थः, इति न साक्षात्कारातिरेकक्रियाकर्मत्वमात्मनः कुत्रापि स्वीक्रियते ।  
तथाचाद्वैतमते श्रवणादिवत् साक्षात्कारस्यापि क्रियात्वमभिप्रेत्य—\*ननु\* ज्ञानं नाम मानसी क्रियेति शङ्कयाम्, श्रवणादीनां  
क्रियात्वेऽपि साक्षात्कारो न क्रियेति सिद्धान्तेन समाधानभाष्यं प्रवृत्तमिति वस्तुस्थित्यनुसारेणापि भाष्ययोजनं संभवति,  
परन्तु श्रवणादिविधिव्यवस्थापनपरभाष्यविरोधी भवतीति कृत्वाचिन्तयोक्तग्रन्थप्रवृत्तिरिति वक्तव्यम् । अतो भामतीकाराः  
श्रवणादीनां सत्यं क्रियात्वं स्वीकुर्मः, परन्तु न विधेयक्रिया सेति विवरणमेव युक्तमिति मन्यन्ते । एतन्मते आत्मा द्रष्टव्यः,  
आत्मा श्रोतव्यः, आत्मा मन्तव्यः, आत्मा निदिध्यासितव्य इति सर्वत्रात्मनोऽन्वयः । तथाच ज्ञानकर्मत्वेऽपि ब्रह्मणो नोपासना-



त्वात् कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवत् ; अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् ।

#### पञ्चपादिका

अतः श्रूयमाणा अपि विधयः केवलप्रमाणवस्तुपरतन्त्रे ज्ञानेऽकिञ्चित्करत्वात् कुण्ठीभवन्ति । अतोऽर्थवादतयैवाऽऽत्मज्ञानस्तावकत्वेन तदुन्मुखीकरणात् सामर्थ्यसिद्धबहिर्मुखतानिरोधाच्च विधिकार्य-लेशस्य विद्यमानत्वाद्विधय इव लक्ष्यन्ते ॥

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* ब्रह्मज्ञाने विधयः श्रूयन्ते, तत्कथं तर्केण निरस्यन्त इति ? अत्राह—\*अतः श्रूयमाणा अपीति\* ॥ \*ननु\* अनुष्ठेयाभावाद्विधेरभावे शब्दस्य वैयर्थ्यं स्यादिति, नेत्याह—\*अतोऽर्थवादतयैवेति\* ॥ ननु\* अर्थवादान्तरवत्स्ताव-कत्वे विधिपदमर्थशून्यं स्यादिति, नेत्याह—\*तदुन्मुखीकरणादिति\* ॥ “तथाच श्रवणं नामे”त्यादिना यैः श्रवणा-

#### तत्त्वदीपनम्

पुनरुक्तिशङ्कां निरस्यति—\*दार्ष्टान्तिकमिति\* ॥ लिङादीनां विधौ स्मरणान्न भावनाविधिनिरसनं घटत इति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ श्रुतेः संभावितेऽर्थे प्रामाण्यादत्र च संभावनाभावान्न विधिरित्याह—\*अत्रेति\* ॥ अध्ययनविध्युपात्तत्वा-नुपपत्त्या विधिपरत्वमेष्टव्यमित्याह—\*नन्वनुष्ठेयेति\* ॥ अन्यथासिद्ध्या दूषयति—\*नेत्याहेति\* ॥ अध्ययनविधि-

#### वार्तिकम्

वा अरे द्रष्टव्यः” इति श्रूयमाणा अपि लिङादय उपले प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवदनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठी-भवन्तीति ॥

यस्तु—एतद्भाष्यमुपादाय क्रियाया ज्ञानत्वमेव नास्तीति तत्परतया व्याकृतवान्, स लौकिक-वैदिकव्यवहारौ बाधते । लोके ह्यापासनं ज्ञानमिति व्यवहरन्ति सर्व आगोपालपण्डितं जनाः । वेदेऽपि “यदुपास्ते” “य एवं विद्यात्” “एवं जानीयादि”त्यादावविगानेन प्रयोगो दृश्यते । नच—तेषां भिन्न-विषयत्वमिति—वाच्यम् ; “ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत” इत्युपासिनोपक्रम्य “पिता ह वै कामानां भवति य एवं वेद” इति विदिनोपसंहारदर्शनाद् भिन्नविषयत्वासिद्धेः ॥

मानसवृत्तित्वसाम्यात् तज्ज्ञानत्वोपचार इति चेत्, न ; कामादावपि तत्प्रसङ्गात् । \*अथ\* एवं मन्यसे—उपासि-विदिक्रिययोर्मानसत्वसामान्याद् “अग्निर्वै ब्राह्मणः” इतिवज्जातियोगादुपासनायां लोके वेदे च ज्ञानशब्दः प्रयुज्यते, न शक्त्येति—चेत्, \*नैवम्\* ; कामादावप्युपचारेण तत्प्रयोगप्रसङ्गात्, मनोजत्वगुणस्योभयत्र तुल्यत्वात् । नच तत्र लोके वेदे च ज्ञानशब्दः प्रयुज्यते । प्रयोगे सति निमित्तानु-सरणमिति चेत्, न ; प्रयोगाभावस्यान्यथाप्युपपद्यमानत्वात्, अन्यथाऽन्योन्याश्रयापत्तेः—उपचारकल्पना-सिद्धावुपासनाया ज्ञानभिन्नत्वसिद्धिः, तत्सिद्धावुपचारकल्पनासिद्धिः—इति । एवं सत्यन्यत्रापि सर्वत्रोपचारासिद्धिरिति चेत्, तस्य प्रमाणान्तरेणार्थभेदसिद्ध्याधीनत्वादित्यत्र तदुपपत्तेः । नचात्रो-पासनायाः प्रमाणान्तरेणाज्ञानत्वं सिद्धमस्ति । पुरुषतन्त्रत्वमेव तदज्ञानत्वप्रयोजकमिति चेत्, न ; अप्रयोजकत्वात्, स्मृतिविशेषे व्यभिचाराच्च, “सदृशादृष्ट-चिन्तायाः स्मृतिवीजस्य बोधकाः” इत्यभ्युपगमात् चिन्ताजनितस्मृतेः पुरुषतन्त्रत्वात्, चिन्तायाः पुरुषव्यापारत्वात्, सहकारित्वमात्रस्यैवोद्बोधकत्वशब्दार्थ-त्वात् तदन्यथासिद्धिकल्पनाया असंभवात्, प्रत्यक्षेणोपास्तिक्रियाया ज्ञानत्वानुभवात्, कालात्ययापदिष्ट-त्वाद्वा । तस्माल्लिङ्गमेतत्—यत् पुरुषतन्त्रत्वमिति । अपिच शब्दप्रमाणेन यद्गुणविशिष्टो यादृशोऽर्थ-श्चिन्तनीयत्वेनोपस्थापितः, तस्यैवार्थस्य प्रयत्नपूर्वकमन्यविषयवृत्तिनिराकरणेन पुनःपुनःस्मारणमेवोपासन-मुच्यते । तथाच स्मृतिसन्तानस्योपासनत्वात् कथं तदज्ञानं भवेत् ? यदि वा न ज्ञानम्, कथं तर्हि



## वार्तिकम्

स्वविषयं प्रकाशयेत् ? नहि गमिक्रिया स्वविषयं ग्रामं प्रकाशयति । \*एतेन\*—शब्दप्रमाणजान्यत्वाद्-ज्ञानत्वमित्यपि—\*अपास्तम्\* ; शब्दप्रमाणजनितज्ञानस्यैवावर्त्यमानस्योपासनत्वात् तदजान्यत्वासिद्धेः । शब्दस्य विधिपरत्वात् तदर्थो न विवक्षित इति चेत्, न ; विधिपराच्छब्दादप्यर्थसिद्धेः, अन्यथा यागादे-स्ततोऽसिद्धिप्रसङ्गात् ॥

\*अथ\* यागादेरेवार्थस्य तत्रानुष्ठेयत्वात् तदभावे विधेरेवासंभवात् तत्सिद्धिः, अत्र तु ज्ञानस्यैवानु-ष्ठेयत्वाद् विषयारोपेणापि तत्सिद्धेर्न नियमेनार्थसिद्धिरिति, \*अस्त्वेवम्\* ; ज्ञानं तु सिद्धमेव, नैतावता तस्य ज्ञानत्वमपैति । नचारोपितविषयस्याज्ञानत्वम् ; भ्रमादेरज्ञानत्वप्रसङ्गात्, तस्य ज्ञानत्वाङ्गीकारात्, तर्कादेरिवाहार्यारोपेऽपि ज्ञानत्वात्ततेः । तस्मादसदेतत्—यदुपासनाया न ज्ञानत्वमिति । तस्मात् प्रमाणवस्तुतन्त्र-पुरुषतन्त्रज्ञानयोस्तत्कृतिजन्यत्वाज्जन्यत्वाभ्यां क्रियात्वाक्रियात्वाभिधानं भाष्यकृता कृतं कृतितन्त्रक्रियाया एव विधेयत्वेन पुरुषकार्यत्वात्, न तयोः क्रियात्व-ज्ञानत्वभावाभावाभ्याम्, उभयोरपि मनःपरिणामत्वेन क्रियात्वात्, स्वविषयप्रकाशकत्वेन ज्ञानत्वाच्च । यथाचायमर्थो भाष्यस्य, तथाऽस्माभिर्भावव्याख्यानेन प्रदर्शित एव ॥

अपिच यदि भाष्यकारेणातोपासनाया ज्ञानभिन्नक्रियात्वं विवक्षितं स्यात्, तर्हि योषितपुरुषयो-रभिबुद्धिर्मानसी भवतीति तत्र बुद्धिशब्दो न प्रयुज्यते ; बुद्धिशब्दस्य निश्चयापरपर्यायत्वादज्ञानात्मिकायां तत्प्रयोगानुपपत्तेः । तस्माद् यथाव्याख्यातमेव मन्तव्यमिति ॥

\*ननु\* आत्मज्ञानस्यानियोज्यविषयत्वादपुरुषतन्त्रत्वाददृष्टफलत्वाच्च नास्ति चेद्विधिः, तर्हि “आत्मन्येवात्मानं पश्येत्” “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यादिवाक्यानि तद्विधिच्छायापन्नानि निरर्थकानि स्युः, नचैतद् युक्तम् ; स्वाध्यायविध्युपात्तानां निरर्थक्यानुपपत्तेः । एवं तर्हि “इमामगृणन् रशनामृत-स्येत्यश्वामिधीमादत्ते” इतिवत् परिसङ्ख्यार्थानि तानि भवन्तु ; अनात्माभिमुख्यवारणार्थत्वात् ॥ साधनचतुष्टयसंपन्नस्यात्मप्रेप्सोः कथम्—“आत्मा ज्ञातव्यः” इति जिज्ञासायामनात्मा न द्रष्टव्य इति ? स्वाभाविकाविद्यादिदोषवशाद् बहिर्विषयाभिमुखान्तःकरणतो विनिवृत्तिस्तदुद्देशेन विधीयते ? तेषु हि देहादिभ्यो बहिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तेष्वात्मा—“इदं सर्वं यदयमात्मा” इत्यादितत्त्वावेदकप्रमाणेन ग्रहीतुं शक्यते । तथाच श्रुतिः—“यदा पञ्चैव लीयन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च नेङ्गते तत्र परमात्मान-मश्नुते” ॥ इति ॥

## प्रदीपः

कर्मत्वमित्येव प्रकृतभाष्यसन्दर्भो योजनीयः । विवरणमते हि वृत्तिकाराणां शङ्का भाष्यमतमनुसृत्य, समाधानं तु भाष्यकाराणां वृत्तिकारमतमनुसृत्य । भामतीमते तु स्वमतमनुसृत्यैव समाधानमपीति न वैरूप्यम् । श्रवणादिविधिनिरासोऽपि हि स्वम-तदृष्ट्येति कल्पनमेव स्वरसं भवति । मतद्वयेऽपि श्रवणादीनां क्रियात्वपक्षमभिमतं गृहीत्वैव भाष्ययोजनमेव तु युक्तमिति प्रतिभाति । \*ननु\* ज्ञानं नाम मानसी क्रिये”ति शङ्का हि न साक्षात्कारमादाय, यतो न वृत्तिकारा न वा भाष्यकाराः साक्षात्कारं विधेयं मन्यन्ते । सति चैवं क्रियाया अपि ज्ञानस्याविधेयताबोधनार्थमेवेदं प्रकरणम्, न तु ज्ञानक्रियात्वनिषेधार्थम् । “तस्माद् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते” इति भाष्यं हि ज्ञानं मुक्त्वेति ज्ञानव्यावर्तनेन स्पष्टं ज्ञानक्रियात्वपक्षमेव सूचयति । अत एवोत्तरग्रन्थोऽप्युपपद्यते—\*अतस्तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अपीति । \*तद्विषये=श्रवण-मनन-निदिध्यासनविषय इत्यर्थः ॥

लिङादय इत्यादिपदेन तव्यप्रत्ययादीनां ग्रहणम् । \*अनियोज्यविषयत्वात्=फलकामरूपाधिकारिशून्यत्वात् । फलकामो ह्यधिकारी । कामना हि न सिद्धे भवति, किन्तु साध्य एव । मोक्षस्तु ब्रह्मरूपो न साध्यः, इति तदुद्देशेन दर्शनं न विधेयम् । यद्यपि साक्षात्कारः श्रवणफलम् ; तथाऽपि न साक्षात्कारमनुसृत्य, किन्तु साक्षात्कारमनुसृत्य इति न तत्कामोऽपि नियोज्यः ।



## वार्तिकम्

यद्यपि साधनचतुष्टयसंपन्नस्यात्मप्रेप्सोस्तन्निवृत्तिरपि प्राप्तैव शम-दमादिवत् ; तथाऽपि दोष-  
प्रावल्यात् प्रमादकृतात् तदनिवृत्तिः स्यात् । तथाच श्रुतिः—“नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो नच प्रमादात्  
तपसोऽवाप्यलिङ्गात् ।” इति । अतः पञ्चपञ्चेतरनखभोजनवत् तदर्थं परिसङ्ख्या(१) ॥

यद्वा—“आनर्थक्यात्तदङ्गेषु” इत्यङ्गावतरणन्यायेन शमदमादेः श्रवणादेश्च तत्साधनस्य नियम-  
पराण्येतानि विधिवाक्यानि, इति न काचिदनुपपत्तिः । यथाचैतत् तथा—“अत्मेत्येवोपासीत” “अत्मान-  
मेव लोकमुपासीत” “सोऽन्वेष्टव्यः” इत्यादि श्रुतिभाष्ये स्पष्टम्, तेनात्यन्ताप्राप्तविषयत्वाद् विधेः—  
“विधिरत्यन्तमप्राप्तावि”त्यभियुक्तवचनादपूर्वविधित्वमेव विद्याप्रकरणे वाक्यानां भाष्यकारेण निराक्रियते,  
न नियमादिपरत्वमिति ध्येयम् । तथाच “सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयम्” इति सूत्रमप्युपपन्नं भवति ;  
अतो यद् भाष्यवाक्यार्थानभिज्ञतयैव तत्साधननियमादिपरत्वमपि तद्वाक्यानां नास्त्येतद्भाष्याभिप्रायः  
कैश्चिद् वर्ण्यते, तच्च तेषामेव(२) शोभते स्वाध्यायविधिविरोधमपश्यतां श्रुति-सूत्र-भाष्यविरोधमपश्यतां  
चेत्यास्ताम् । सर्वथाऽपि नास्ति ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने विधिरिति ॥

यद्यपि प्रतिपत्तिविधिवादिनोक्तम्—यद्यकर्तव्यप्रधानमात्मवाक्यं स्यात्, तर्हि “सप्तद्वीपा वसुमती”  
इत्यादिषु न हानायोपादानाय वेति निरर्थकमेव स्यादिति, तन्मन्दम् ; हानायोपादानाय वा न भवेदित्यङ्गी-  
कृतमस्माभिः ; अलङ्कारत्वात् ; यतः—\*ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां कर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता च । तथाच  
श्रुतिः—“आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेद्”-  
त्यादि । स्मृतिरपि—“एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते”त्यादि । \*एतेन\*—नैरर्थक्य-  
मपि—\*अपास्तम्\* ; हानोपादानशून्याद् रज्जुज्ञानादिव सर्पभयादिनिवृत्तेर्ब्रह्मज्ञानात्सर्वानर्थनिवृत्ते-  
र्दृष्टत्वाच्च, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यशङ्काया अग्रे परिहरिष्यमाणत्वात् । तस्माद् न प्रतिपत्तिविधि-  
शेषतया वेदान्तैर्ब्रह्मसमर्पणम्, किं तर्हि ? सर्वप्रत्यक्तयैवेति सिद्धम् ॥

यत्तु नयोगाभिनिवेशान्नियोगवादिन आहुः—प्रवृत्ति-निवृत्तिविधिशेषव्यतिरेकेण केवलसिद्धार्थ-  
वादी वेदभागो नास्ति ; तत्र शक्तिग्रहासंभवेन तत्प्रतिपादानुपपत्तेः—इति,

तत्र वक्तव्यम्—कोऽभिप्रायो भवताम् ? किमौपनिषदस्यात्मनः क्रियाशेषत्वमभिप्रेयते ? (१) किं वा  
तत्फलत्वम् ? (२) किं वा नास्त्येव तादृशं वस्त्विति तदसत्त्वमेव ? (३) अथवा सत्त्वेऽपि तस्योपनिषद्भि-

## प्रदीपः

सति चैवं क्रियात्वेऽपि श्रवणादेः श्रोतव्यो मन्तव्य इति न विधिः । सिद्धार्थपरोऽप्यविधायकस्तव्यप्रत्ययान्तो बहुश एव दरी-  
दृश्यते । यथा—“विष्णुरुपांशु यष्टव्यः, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यौ, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्यः” इति, मन्त्रलिङ्गेनैव विष्णवादि-  
देवताप्राप्तेर्न देवताविधिपरम् । “उपांशुयाजमन्तरा यजती”ति वाक्येनैव यागोऽपि प्राप्त इति नाप्ययं यागविधिः । नच  
विनिगमनाविरहात्—“उपांशुयाजमन्तरा यजती”त्येवानुवादः, विष्णवादिवाक्यानि तु विधायकानि ; सति ह्येवं यागबहुत्वापत्त्या  
वाक्यभेदः समापद्येत । इदमेव तु फलितम्—यद्विवक्षितार्थस्तव्यप्रत्ययः, इति यागस्तुतिरेव विष्णवादिवाक्यफलम् । व्यक्तं  
चेद्मुपांशुयाजाधिकरणे द्वितीयद्वितीये । सति चैवं “श्रोतव्यो मन्तव्यः” इत्यादि विधेयाभावेऽनुवादमात्रं भवति । अनुवाद-  
प्रयोजनन्वनुपदमेव भाष्ये विशदीभव्यति । सर्वथा तु न क्रियाविधिशेषो ब्रह्म । तदिदमाह—\*कुण्ठीभवन्तीति\* ॥

(१) सिद्धान्तलेशसंगृहीताः परिसंख्याविधिपक्षपातिनो वार्तिककारा अपि श्रीनारायणसरस्वत्य एवेत्यनेन प्रतीयते ।  
सति चैवं परिभाषाकाराः श्रीमदप्पय्यदीक्षितेभ्योऽतिप्राचीना इति १५शं शतकमेव परिभाषाकाराणां समय इति प्रतिभाति । ये  
तु खलु दीक्षितानां समयः षोडशं शतकमिति मन्यन्ते, तन्मतदृष्ट्या तु वार्तिकसमयोऽपि पञ्चदशशतकपरिमित एव स्यात्, न तु  
१५९२ परिमितः समयो भूमिकोक्तरीत्येति सूच्यते ॥

(२) इमे तु प्रकटार्थकारा एवेति प्रकटार्थटीकानन्तरम्—सिद्धान्तलेशसंग्रहः पूर्वं वार्तिकप्रवृत्तिरिति निर्णीयते ।



## भामती

विषयो हि विधिः । स एव च हेय उपादेयो वा, यं पुरुषः कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्नोति । तत्रैव च समर्थः कर्ताऽधिकृतो नियोज्यो भवति । नचैवंभूतान्यात्मश्रवण-मननोपासन-दर्शनानि, इति विषय-तदनुष्ठात्रोर्विधिव्यापकयोरभावाद्भिधेरभावः, इति प्रयुक्ता अपि लिङादयः प्रवर्तनायामसमर्था उपल

## ऋजुप्रकाशिका

प्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यर्थः । विधिरनुष्ठेयवस्तुविषय इत्येतदेवाह—\*हेयोपादेयेति\* ॥ अस्तु हेयोपादेय-विषयत्वं विधेः, अनुष्ठेयविषयत्वे किमायातमिति ? अत आह—\*स एव हेय उपादेयो वेति\* ॥ क इति ? आह—\*यमिति\* ॥ तथाच कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यस्यैव हेयोपादेयत्वेन तद्विषयत्वे विधेरनुष्ठेय-विषयत्वमायातमिति भावः । \*तत्रैव=अनुष्ठेयवस्तुन्येव । यः समर्थः=शक्तः, स कर्ता, यः कर्ता स कर्मण्यधिकृतः, स नियोगं स्वीयत्वेन बुध्यमानो नियोज्यः, स च तत्रैव वर्णितरूपे विषयो भवति, तस्मिन्नसति न भवतीत्यर्थः । श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूपोपासनादर्शनानां ज्ञानस्वरूपत्वमभिप्रेत्येतदुक्तम्, ततः किमिति ? अत आह—\*इति विषय-तदनुष्ठात्रोरिति\* ॥ कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं विषयशब्दार्थः । \*विधेर-भाव इति\* ॥ व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यकत्वादित्यर्थः । ततोऽपि किम् ? तत्राह—\*इति प्रयुक्ता अपीति\* ॥

## पञ्चपादिका

तथा च श्रवणं नाम = आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः, शारीरकश्रवणं च । मननम्—वस्तुनिष्ठ-वाक्यापेक्षितदुन्दुभ्यादिदृष्टान्तजन्मस्थितिलयवाचारम्भणत्वादियुक्तार्थवादानुसन्धानम्, वाक्यार्थाविरोध्यनुमानानुसन्धानं च । निदिध्यासनम्—मननोपबृंहितवाक्यार्थविषये स्थिरीभावः, विधेयस्योपासनापर्यायस्य निष्फलत्वात् । दर्शनम्—अतो वाक्यार्थे स्थैर्यान्निरस्तसमस्तप्रपञ्चावभासविज्ञानधनैकतानुभवः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

दिमिरात्मा संस्तूयते । तान् विभज्य दर्शयति । \*ननु\* श्रवणादिभिः किं श्रेयः क्रियते ? येनोत्कर्षवद्भिरेतैर्विषयीकरणादात्मा स्तुतः स्यादिति, तदाह—\*अतो वाक्यार्थे स्थैर्यादिति\* ॥ \*ननु\* विधेयस्यैवार्थवाद-

## तत्त्वदीपनम्

विरोधान्न ज्ञानादौ विधिनिरसनं घटत इति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ अर्थाभावोऽसिद्ध इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ श्रवणादिस्वरूपप्रदर्शनमत्रानुपयुक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*तथाच श्रवणमिति\* ॥ आत्मनः श्रवणादिविषयत्वमात्रेण कथं स्तुतत्वमिति शङ्कते—\*ननु श्रवणेति\* ॥ श्रवणादीनामात्मसाक्षात्कारहेतुत्वात्तैः स्तवनं युक्तमित्याह—\*तदाहेति\* ॥

## वार्तिकम्

रप्रतीयमानत्वम् ? (४) प्रतीयमानत्वे वा प्रमाणान्तराधिगतत्वाद् वायुक्षेपिष्ठत्वादिवदप्रमेयत्वम् ? (५) प्रमेयत्वे वाऽन्यशेषतया तत्प्रमेयत्वम् ? (६) अन्यशेषत्वे वा हेयोपादेयशून्यतया निष्प्रयोजनत्वमिति (७) ।

नाद्यः ; स्वप्रकरणस्थत्वेनान्यशेषत्वात्, असंभवाच्च । नापि द्वितीयः ; उत्पाद्यादिचतुर्विध-द्रव्यविलक्षणत्वेन तस्यापि प्रत्युक्तत्वात् । नापि तृतीयः ; “स एष नेति” “एष सर्वभूतान्तरात्मा” इति च तस्यात्मत्वश्रुतेः केनापि प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् । नह्यात्मा केनापि निराकर्तुं शक्यते । य एव निराकर्ता, येन च हेतुना निराकरणम्, तस्य तस्यैव प्रत्यगात्मा स व्यवतिष्ठते, इति न शक्यते ‘नास्ति’ केनापि निराकर्तुम् । तथाचाह भगवतो श्रुतिः—“असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरि”ति । नापि चतुर्थः ; उपनिषद्भ्यस्तदधिगमस्य सर्व-



## पञ्चपादिका

कः पुनरत्रार्थवादः ? इदमत्र प्रस्तुतम्—क्रियाकारकफलात्मकात् संसाराद्विरक्त्यायै मैत्रेय्यै मुमुक्षवे मोक्षसाधनमात्मज्ञानं प्रतिपिपादयिषन् “न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती”ति पत्यादेरीप्सितत्वं प्रतिषिध्यात्मन ईप्सिततमत्वमाह । \*ननु\* नैवात्मन ईप्सिततमत्वमुच्यते, किन्तु पत्यादीनामेवात्मार्थ-तयेप्सितत्वमुच्यते—“आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवती”ति, मैवम् ; न हि तस्मिन्ननिष्टे तदर्थमिष्टं भवति । तस्मादनेनोपायेनात्मन एवेप्सितत्वमुक्तम् । ईप्सितश्चेत्, “द्रष्टव्यः श्रोतव्यः” इत्येषोऽर्थवादः । एतच्च सर्वं प्रथमसूत्रेणैव सूत्रितम्, विवृतं च भाष्ये ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

संबन्धः ; स्तुतेः प्रवृत्तिफलत्वात्, न सिद्धवस्तुनः, इत्याक्षिपति—\*कः पुनरिति\* ॥ फलप्रशंसाया अपि प्रवृत्त्युप-योगित्वात् फलभूतात्मप्रशंसाया अपि श्रवणादिप्रवृत्त्युपयोगित्वमुपपद्यत इत्यभिप्रेत्याह—\*इदमत्र प्रस्तुत-मित्यादि\* ॥ \*ग्रन्थस्तु स्पष्टार्थः\* ॥ \*ननु\* सम्यग्दर्शनस्य फलरूपत्वात् प्रमाणाधीनत्वाच्चाविधेयतेति युक्ता तस्यार्थवादता, श्रवणादयस्तु क्रियारूपत्वात्सम्यग्दर्शनस्य दृष्टादृष्टोपकारितया विधेया एवेति, तदाह—\*एतच्च सर्वं प्रथमसूत्रेणैवेति\* ॥ मनन-निदिध्यासनोपबृंहितस्य श्रवणस्य सम्यग्दर्शनाय विधेयत्वमङ्गी-कृत्य प्रथमसूत्रं प्रवृत्तमित्यर्थः । विधीनामपि सतां स्तावकत्वमुक्तम्, इदानीं शब्दस्यार्थान्तरमाह—

## ऋजुविवरणम्

युक्ता तस्यार्थवादतेति\* ॥ तद्वाक्यस्येत्यर्थः । प्रथमसूत्रेणेति कथमुक्तम् ? प्रथमसूत्रस्य ह्यर्थचतुष्टयं निरूपितं पूर्वम्, नायं तदन्तर्गत इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*मनननिदिध्यासनेति\* ॥ “अपिच नैवायमि”ति पुनरुक्तः ; पूर्वग्रन्थेऽपि विधायकत्वनिराकरणेन स्तावकत्वं दर्शयताऽहार्थत्वमुक्तमेवेत्याशङ्क्यावतारयति—\*विधीनामिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

“कः पुनरि”त्यत्र किंशब्दसूचितमाक्षेपमाह—\*ननु विधेयस्येति\* ॥ स्तुतिः प्रवृत्त्यर्था, सा च विध्यधीनेति सिद्धस्यार्थवादसंबन्धानुपपत्तिशङ्कायां तन्निरसनमन्तरेण आत्मन ईप्सितत्वप्रतिपादनं कुत्रोपयुक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्य-माह—\*फलप्रशंसाया इति\* ॥ फले प्रशस्ते तत्साधनं प्रत्यौन्मुख्यं दृश्यते, तथा चात्मनोऽपि फलत्वात् तत्संस्तवे तद्वगतिहेतुश्रवणादौ प्रवृत्तिसंभवात् सिद्धस्याप्यर्थवादसंबन्धो युक्त इत्यर्थः । श्रवणादेः क्रियारूपत्वात्तत्र विधिरेव युक्त इति शङ्कते—\*ननु सम्यग्दर्शनस्येति\* ॥ तस्यार्थवादतेति\* ॥ द्रष्टव्य इति वाक्यार्थवादतेत्यर्थः । कस्तर्हि विवादः ? इत्याशङ्क्याह—\*श्रवणादय इति\* ॥

अन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वात् श्रवणादावपि विधिरित्याशङ्क्यावहननादाविव विधिर्घटत इत्याह—\*सम्यग्दर्शन-स्येति\* ॥ \*दृष्टादृष्टेति\* ॥ दृष्टादृष्टाभ्यामुपकारितयेत्यर्थः । अङ्गीकारेणोत्तरयति—\*तदाहेति\* ॥ नच भाष्य-विरोधः, अपूर्वविधिनिरसनस्य भाष्यार्थत्वादित्यर्थः । अनुबन्धचतुष्टयमेव प्रथमसूत्रेण सूचितम्, न तु विधिसूत्रं दृश्यत-इत्याशङ्क्याह—\*मनननिदिध्यासनेति\* ॥ श्रवणविध्यभावे प्रसङ्गकाभावाद्विचारारम्भ एव न संभवेदित्यर्थः । “द्रष्टव्यः” इत्यस्य विधायकत्वनिराकरणेन स्तावकत्वं दर्शयताऽहार्थत्वमर्थादुक्तम्, तथाचापिचेत्येतत्पुनरुक्तमित्या-शङ्क्य तात्पर्यमाह—\*विधीनामिति\* ॥ “वाचं धेनुमुपासीते”त्यादाविवात्मोपास्तावपि विधिः स्यादिति शङ्कते—

## वार्तिकम्

प्रत्यक्षसिद्धत्वेनापहोतुमशक्यत्वात् । नापि पञ्चमः ; प्रमाणान्तरानधिगतस्य तस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात् तस्यैवात्रानुसन्धेयत्वात् ॥

\*ननु\* अहंप्रत्ययवेद्य आत्मा, कथं तस्य प्रमाणान्तरानधिगतत्वादौपनिषदत्वम् ? इति चेत्, \*न\* ; तत्साम्प्रतित्वेन प्रत्युक्तत्वात्\*, उक्तमेतदधस्तात्, अहंप्रत्ययसाक्षिण एवात्मत्वेन तद्विषयस्याहं-कारस्य दृश्यत्वेन घटादिवदनात्मत्वात् । \*एतेन\*—विधिकाण्डान्यथानुपपत्त्याऽनुमानेन वा तत्सिद्धिः



**किमर्थानि तर्हि—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः” इत्यादीनि विधिच्छा-  
यानि वचनानि ?**

**भामती**

इव क्षुरतैक्ष्ण्यं कुण्ठमप्रमाणीभवन्तीति । \*अनियोज्यविषयत्वादिति\* ॥ समर्थो हि कर्ताऽधि-  
कारी नियोज्यः । असमर्थस्य तु न कर्तृता, ततो नाधिकृतः, अतो न नियोज्य इत्यर्थः । यदि विधेर-  
भावाच्च विधिवचनानि, किमर्थानि तर्हि वचनान्येतानि विधिच्छायानीति पृच्छति—\*किमर्थानीति\* ॥

**ऋजुप्रकाशिका**

कुण्ठीभवने हेतुमाह—\*अनियोज्यविषयत्वादिति\* ॥ अनियोज्यविषयत्वं च नियोज्याभावात् ।  
नियोज्याभावमेवाह—\*समर्थो हीत्यादिना—न नियोज्य इत्यन्तेन\* ॥ \*किमर्थानीति\* । किं प्रयोजन-  
मुद्दिश्य प्रवृत्तानीति प्रश्नार्थः । यदि प्रयोजनं नास्तीति ब्रूषे, तर्हि व्यर्थानि तानीति भावः । वैयर्थ्य-

**पञ्चपादिका**

अपिच नैवायं विधौ कृत्यः, किं तर्हि ? “अहं कृत्यतृचश्चे”त्यहं कृत्यः । \*एतेन\*—“आत्मेत्ये-  
वोपासीत” “आत्मानमेव लोकमुपासीते”त्येवमादीनि विधिच्छायानि वाक्यानि व्याख्यातानि—  
\*वेदितव्यानि\* ॥ अतो हानोपादानशून्यात्मावगमादेव कृतकृत्यता प्रतीयते ; श्रुति-स्मृति-वादानां  
च तथा प्रस्थितत्वात् ।

**पञ्चपादिकाविवरणम्**

\*अपिच नैवायमिति\* ॥ \*ननु\* मा भूवन् ज्ञानविधयः, उपासनाविधिस्तु श्रूयत इति, नेत्याह—  
\*तेनात्मेत्येवोपासीतेत्यादि\* ॥ सर्वतैवकारविशेषणश्रवणात्, अहमितिस्वभावप्राप्तप्रत्ययावृत्त्यनुवादेन विषय-  
विशेषः प्रतिपाद्य इति—\*अतो हानोपादानशून्येत्युपसंहरति\* ॥

**ऋजुविवरणम्**

\*ननु\* “ज्ञातव्यः” इत्यादिवाक्यसाम्येन नोपासनाविधाननिराकरणं युक्तम् ; तव्यप्रत्ययस्यार्थान्तरत्वेन तत्रा-  
विधायकत्वम्, नात्र तथेत्याशङ्क्योपपादयति—\*सर्वत्रैवकारेति\* ॥ सविशेषणवाक्ये विशेषण एव विधिः संक्रामती-

**तत्त्वदीपनम्**

\*ननु\* मा भूवन्निति\* ॥ शाब्दी साक्षात्कारलक्षणा वा प्रतिपत्तिर्ज्ञानशब्दार्थः । अन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वाच्च तत्र  
विधिरित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अवहननादाविव विधिः किं न स्यादिति ? तत्राह—\*सर्वत्रेति\* ॥ सविशेषणवाक्यस्य  
विशेषणपरत्वाच्च विधिपरत्वमित्यर्थः । कस्तर्हि वाक्यार्थ इति ? अत्राह—\*अहमिति\* ॥ उपासीतेति यदिदमुपासनम्,  
तदात्मन्येवेत्यर्थः । उक्तोपसंहरणस्य “तस्मादि”त्यत्रोच्यमानत्वादत इत्ययं ग्रन्थो व्यर्थ इत्याशङ्क्यावान्तरप्रमेयस्योप-  
संहरणान्मैवमित्याह—\*अत इति\* ॥ “तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतये”त्यत्र प्रतिपत्तिशब्दस्य प्रमाणमात्रपरत्वादितर-

**वार्तिकम्**

—प्रत्युक्ता ; तयोरण्यहंप्रत्ययविषयकर्तृमात्रविषयत्वेन तत्साक्षिविषयत्वासंभवादित्युक्तत्वात्, प्रमातृ-  
प्रमाणयोरपि तदात्मकत्वात् । अतः सर्वस्यात्मत्वेनोपनिषत्प्रमाणमात्रसमधिगम्यो न स केनापि  
प्रत्याख्यातुं शक्यः ; सर्वात्मत्वादेव । अत एव च न हेयो नाप्युपादेयः । \*ननु\* सर्वस्यात्मा चेदयम्,  
हन्त सर्वस्य जनिमतो नाशेऽस्य नाशः स्यादिति चेत्, \*न\* ; नाशहेत्वभावात् । उक्तमेतद् नाशहेतो-

**भाष्यभावप्रकाशिका**

तयाऽवतिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ \*ननु\* अनुष्ठेयाभावाद्धिधेरभावे स्तुतेरप्यसंभवाद्विधिशब्दवैयर्थ्यं स्यादिति  
शङ्कते—\*किमर्थानीति\* ॥



स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः । यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः—‘इष्टं मे भूयाद् अनिष्टं मा भूद्’ति, नच तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थ-लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यादीनि । तस्या-

#### भामती

नचानर्थकानि युक्तानि ; स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्वानुपपत्तेरिति भावः । उत्तरम्—\*स्वाभाविकेति\* ॥ अन्यतः प्राप्ता एव हि श्रवणादयो विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते । नचानुवादोऽप्यप्रयोजनः ; प्रवृत्ति-विशेषकरत्वात् । \*तथाहि\*—तत्तदिष्टानिष्टविषयेप्साजिहासापहतहृदयतया बहिर्मुखो न प्रत्यगात्मनि समाधातुमर्हति । आत्मश्रवणादिविधिसरूपैस्तु वचनैर्मनः समाधातुं विषयस्रोतः खिलीकृत्य प्रत्य-गात्मस्रोत उद्धाट्यते, इति प्रवृत्तिविशेषकरताऽनुवादानामस्तीति सप्रयोजनतया स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्व-मुपपद्यत इति । यच्च चोदितमात्मज्ञानमनुष्ठानानङ्गत्वादपुरुषार्थमिति, तदयुक्तम् ; स्वतोऽस्य पुरु-

#### अनुप्रकाशिका

मिष्टमित्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचानर्थकानि युक्तानीति\* । यद्यनर्थकानि, तदा बाधकमाह—\*स्वाध्यायेति\* ॥ “उच्यते” इत्याद्युत्तरसूचकपदाभावाच्छङ्कावाक्यैकवाक्यत्वभ्रमः स्यात्, तं वारयति—\*उत्तरमिति\* ॥ \*ननु\* प्रवर्तकवचनानि कथं प्रवृत्तिविषयविमुखार्थानि, तथात्वे व्यर्थान्यायातानीत्याशङ्क्य, अन्यतः प्राप्तानुवादार्थत्वान्न व्यर्थानीत्यभिप्रेत्याह—\*अन्यतः प्राप्ता एवेति\* ॥ दर्शनार्थं कर्तव्यत्वेनान्वय-व्यतिरेकप्राप्ताः श्रवणादयो विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्त इत्यर्थः । अनुवादस्यापि वैयर्थ्यमाशङ्क्य निराकरोति—\*नचेति\* ॥ निराकरणमेवाह—\*प्रवृत्तीति\* ॥

प्रवृत्तिविशेषकत्वमेवानुवादानामुपपादयति—\*तथाहीति\* ॥ इष्टविषयेषु लिप्सा, अनिष्टविषयेषु जिहासा च, ताभ्यामहतहृदयतया बहिर्मुखः सन् जनः प्रत्यगात्मनि मनः समाधातुं नार्हतीत्यर्थः । अस्त्वेवम्, तावता विधिसरूपैर्वचनैः किं क्रियत इति ? अत आह—\*विधिसरूपैस्त्विति\* ॥ तावतापि किम् ? तत्राह—\*इति प्रवृत्तिविशेषकरतेति\* ॥ इतीति हेतौ । यतो विधिसरूपैरनुवादैर्मनसः प्रत्यगात्मस्रोत उद्धाट्यते, अत इत्यर्थः । इत्थं चाध्ययनविध्यधीनग्रहणत्वानुपपत्तिरिति यदुक्तं दूषणम्, तदपि नेत्याह—\*इति सप्रयोजनतयेति\* ॥ “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यादिवचनानि विधिसरूपाणि प्राशस्त्य-लक्षणयाऽऽत्मविषयकदर्शन-श्रवणादिषु रुचिमुत्पाद्यानात्मचिन्तायामरुचिं कुर्वन्ति, संप्रति प्रवृत्तिविशेषं घटयन्ति, अतोऽर्थवत्त्वादध्ययनविध्यधीनग्रहणमुपपद्यत इत्यर्थः । \*स्वत इति\* ॥ अविद्यानिवर्तकत्वेन, अस्य = ज्ञानस्य

#### भाष्यभावप्रकाशिका

उत्तरमाह—\*स्वाभाविकेति\* ॥ एतदेव प्रपञ्चयति—\*यो हीति\* ॥ इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्तिनिरोधकत्वे तेषामनर्थकरत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—\*नच तत्रेति\* ॥ सर्वानपि पुरुषान् किमिति न प्रवर्तयतीति ? तत्राह—\*तमात्यन्तिकेति\* ॥ \*स्रोतस्तया=आभिमुख्येन । तदेवं फलभूतात्म-दर्शस्तावकतया तदनुमुखीकरणायान्यतः प्राप्ता एव श्रवणादयो विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते । अतो विधि-कार्यलेशाभावाद् विधिच्छायान्येतानीति भावः । प्रतिपाद्यमानवस्तुनो विध्ययोग्यत्वादपि विधेर्न संभव इत्याह—\*तस्यात्मेति\* ॥

#### प्रवीपः

विधिशक्तित्वात् केवलमनुवादरूपा भवन्तीति भावः । तत्र हेतुमाह—\*अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वादिति\* ॥ हेयोपादेयवस्तु-



त्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते—“इदं सर्वं यदयमात्मा” (बृह० २।४।६) “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्” “विज्ञातारमरे केन विजानीयात्” (बृह० ४।५।१५) “अयमात्मा ब्रह्म” (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः ॥

यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथाच श्रुतिः—“आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥” (बृह० ४।४।१२) इति। “एतद्बुद्धा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥” (भ० गो० १५।२३) इति स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

### भामती

षार्थत्वे सिद्धे यदनुष्ठानानङ्गत्वम्, तद्दूषणम्, न दूषणमित्याह—\*यदपीति\* । \*अनुसंज्वरेत् = शरीरं परितप्यमानमनुतप्येत। सुगममन्यत्। प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मान्न प्रतिपत्तीति\* ॥ प्रकृतसिद्ध्यर्थ-

### पञ्चपादिका

\*तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणमित्युपसंहरति\* ॥ \*तस्यायमर्थः\*—न

### पञ्चपादिकाविवरणम्

भाष्यं विवृणोति\*—तस्यायमर्थ इति\* ॥ उक्तमेतन्मोक्षफलविधेयज्ञानब्रह्मरूपनिरूपणायां विधिनिरपेक्षमेव ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणमिति द्वितीयेन वर्णकेन

### ऋजुविवरणम्

स्युक्तमेवेति न विधानमिति तात्पर्यम्। “यदपि केचिद्”त्यादिना किमाक्षिप्यते? न तावद्वेदान्तप्रामाण्यम्; पूर्वमेव परिहृतत्वात्, नापि स्वरूपे प्रामाण्यासंभवेन कार्ये प्रामाण्यमुच्यत इति युक्तम्; तत्रापि कर्मापेक्षितकर्तृप्रतिपादनेन तच्छेषत्वं संभवतीति प्रथमवर्णक एवोक्तत्वाद् वेदान्तवाक्येष्वपि विधानसंभवेन न तन्निष्ठत्वमित्युक्तम्, अतो विधि-मन्तरेण ब्रह्मणि प्रामाण्यस्य सिद्धत्वादाक्षेपान्तरादर्शनादनारम्भ इत्याशङ्क्यावतारयति—\*उक्तमेतदिति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

प्रतिपत्तेर्विधेयत्वमित्याशङ्क्य प्रतिपत्तिशब्दः साधारण इत्युक्तं टीकाकृतेत्याह—\*भाष्यमिति\* ॥ “सत्यं ज्ञानमि” त्यादिवाक्यस्य केवलवस्तुवादिनो दर्शनात् कथं तदभावः? इत्याशङ्क्य वृत्तसंकीर्तनपूर्वकं तात्पर्यमाह—\*उक्तमिति\* ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

इदानीं पूर्ववादिनोक्तमनुवदति—\*यदपीति\* ॥ तत्र किं हानोपादानाभावः प्रसाध्यते? उत क्रियाप्रयोजनाभावः? आद्यस्त्वङ्गीक्रियत इत्याह—\*तत्तथेति\* ॥ द्वितीयस्त्वसिद्ध इत्याह—\*अलङ्कार इति\* ॥ अनुसंज्वरेत् = अनुतपेदित्यर्थः। अतः प्रमाणाप्रमाणरूपप्रतिपत्तिविधिसंबन्धो

### प्रदीपः

विषयत्वाभावादित्यर्थः। अनुवादप्रयोजनमाक्षेप-समाधानाभ्यां विवेचयति—\*किमर्थानीति\* ॥ विधिच्छायापन्नानि = क्षण-विधिशक्तिकानि; अनुवादरूपाणीति यावत्। आत्मस्तीतस्तया बहिर्मुखानां प्रवर्तनं विधिसरूपाणामेषां प्रयोजनमित्याह—\*स्वाभाविकेति\* ॥ स्वाभाविका ये प्रवृत्तिविषया वैषयिकसुखादयः, तेभ्यः। तदभिमुखानां विमुखीकरणार्थानीत्यर्थः। विमुखीकरणकर्म तु सङ्ग्रहवाक्येनोद्धिखितमिति तस्यापि योजनेन संग्रहवाक्यं विवृणोति—\*यो हीति\* ॥ अथवा स्वाभाविकः



यदपि केचिदाहुः—प्रवृत्ति-निवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादां वेदभागो नास्तीति, तन्न ; औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् ।

भामती

मेकदेशमतं दूषयितुमनुभाषते—\*यदपि केचिदाहुरिति\*॥ दूषयति—\*तत्रेति\*॥ इदमत्राकृतम्—  
कार्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा । सिद्धबोधेऽर्थवत्तैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ॥

ऋजुप्रकाशिका

स्वतः पुरुषार्थत्वे सिद्ध इत्यर्थः । एकदेशमतदूषणग्रन्थस्याभिप्रायं विशदयति—\*इदमत्राकृतमिति\* ॥ पर-  
वर्तिशब्दार्थबोधलिङ्गस्य प्रवृत्तेः सिद्धवस्तुन्यभावात् सिद्धे न व्युत्पत्तिग्रह इत्युक्तं पूर्वम्—“अज्ञातसङ्गतित्वेने”-

पञ्चपादिका

प्रमाणात्मकेनेतरेण वा ज्ञानव्यापारेण विधीयमानत्वेन कल्पितेन संस्पर्शो ब्रह्मण इति ॥ \*यदपि केचि-  
दाहुरित्यादि\* ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रथमेन च वर्णकेन प्रमाणान्तरानपेक्षं ब्रह्मणि प्रामाण्यमुक्तम्, इदानीं तदुभयवर्णकार्यमाक्षिप्य समाधत्ते  
—\*यदपि केचिदाहुरित्यादिना\* ॥ कथम् ? किमहंप्रत्ययावसेय एवात्मा वेदान्तैः प्रतिपाद्यते ? किं वा  
तद्व्यतिरिक्तः ? यद्याद्यः, तदा तस्य क्रियायामङ्गत्वाद्विधिवाक्यैर्वेदान्तानामेकवाक्यता स्यात् । अथ

ऋजुविवरणम्

\*ननु\* प्रमाणान्तरानपेक्षे प्रामाण्ये विधिनिरपेक्षत्वे च साधिते केन हेतुनाऽऽश्लेष इति पृच्छति—\*कथमिति\* ॥

तत्त्वदीपनम्

स्वरूपग्राहिवेदभागाभावे को हेतुरिति शङ्कते—\*कथमिति\* ॥ किं कर्त्रादिरूप आत्मा वेदान्तप्रतिपाद्यः ? आहो  
अशनायाद्यतीतः ? इति विकल्पयति—\*किमहंप्रत्ययेति\* ॥

सिद्धे दध्यादावपि प्रवृत्तिर्दृष्ट्याशङ्क्य, आद्येऽस्मदिष्टसिद्धिरित्याह—\*तदेति\* ॥ द्वितीयमुत्थाप्य दूषयति—  
\*अथेत्यादिना\* ॥ प्रतिपाद्यमित्यत्रेतिशब्दो हेत्वर्थः, स च प्रतिपादनं न स्यादित्यनेन संबध्यते । \*ननु\* तर्ह्यद्विषयैव

प्रदीपः

स्वभावत एव प्रवर्तमानः, प्रवृत्तेर्विषयाः प्रवृत्तिविषयाः, प्रवृत्तिविषयेभ्यो विमुखीकरणम्, प्रवृत्तिविषयविमुखीकरणम् । स्वाभा-  
विकस्य प्रवृत्तिविषयविमुखीकरणमिति । विमुखीकरणं चात्मस्रोतस्तथा प्रवर्तनपर्यन्तमेव सप्रयोजनमिति विमुखीकरणम्, अर्थः  
प्रयोजनमित्येव विग्रहो विवक्षित इति सूचयन्नाह—\*विमुखीकृत्यात्मस्रोतस्तथा प्रवर्तयन्तीति\* ॥ आत्मस्रोतस्ता नाम=आत्मा-  
भिमुखचित्तवृत्तिप्रवहणम् । स्रोतस्तयेति फले तृतीया । तथाचोक्तविधचित्तवृत्तिप्रवाहो भवत्विति भावेन प्रवर्तनमेव श्रोत-  
व्यादिवाक्यकृत्यमिति भावः । आत्मज्ञानमनुष्ठानानङ्गत्वेऽपुरुषार्थं स्यादिति शङ्कामनूय, तस्य तदनङ्गत्वापादनं भूषणमेव, न तु  
दूषणमित्याह—\*यदपीत्यादिना\* ॥ \*तथाच श्रुतिरिति\* । यथाचानुष्ठानानङ्गत्वं भूषणमेव, तथा श्रुतिरप्याहेत्यर्थः । तदेवं  
ब्रह्मणः प्रतिपत्तिविधिविषयत्वेऽनुपपत्तिप्रदर्शनेन ब्रह्मणः केवलं ज्ञेयत्व एव वेदान्तानां तात्पर्यमिति विवेचितमुपसंहरति—  
\*तस्मादिति\* ॥ साम्प्रतम्—“अज्ञातसङ्गतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया । मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः” इति  
संग्रहश्लोकोक्तरीत्या वृत्तिकारापादिताः सिद्धब्रह्मस्वरूपबोधमात्रपर्यन्तत्वे वेदान्तानामनुपपत्तीः स्वमतशुद्ध्यर्थमनूय परिहरति—  
\*यदपीत्यादिना\* ॥ तत्र प्रथममज्ञातसङ्गतित्वरूपामनुपपत्तिमनुवदति—\*यदपि केचिदिति\* ॥ केचित् = वृत्तिकारादयः ।  
वेदवाक्यं हि प्रमाणमेव नाप्रमाणमिति हि वस्तुस्थितिः । प्रामाण्यं हि लौकिकानां वैदिकानां च प्रवृत्तिविधिविषयत्वेन निवृत्ति-  
विधिविषयत्वेन प्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरान्वितसिद्धवस्तुबोधकत्वेन वा । सिद्धवस्तु वाक्येन कार्य-तदन्वितान्यतरमात्रबोधकेन बोध्यत  
इति व्याहतमिदम् । अतस्तत्त्वमसीत्यादीनां वेदवाक्यत्वं वा नास्तीति वक्तव्यम् । अथवा कार्यादिपरत्वमित्यभिप्रायेण  
वृत्तिकारा अज्ञातसङ्गतित्वेन कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चय इति मन्यन्ते । तदिदं विशदमनुवदति—\*प्रवृत्तीति\* ॥ प्रवृत्तिश्च-



## भामती

यदि हि पदानां कार्याभिधाने तदर्थस्वार्थाभिधाने वा नियमेन वृद्धव्यवहारे सामर्थ्यमवधृतं भवेत्, न भवेदहेयोपादेयभूतब्रह्मात्मतापरत्वमुपनिषदाम् ; तत्राविदितसामर्थ्यत्वात्पदानां लोके, तत्पूर्वकत्वाच्च वैदिकार्थप्रतीतिः । अथ तु भूतेऽप्यर्थे पदानां लोके शक्यः संगतिग्रहः, तत उपनिषदां तत्परत्वं पौर्वापर्यपर्यालोचनयाऽवगम्यमानमपहुत्य न कार्यपरत्वं शक्यं कल्पयितुम् ; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । तत्र तावदेवमकार्येऽर्थे न संगतिग्रहः, यदि तत्परः प्रयोगो न लोके दृश्येत, तत्प्रत्ययो वा व्युत्पन्नस्योन्नेतुं न शक्येत । न तावत्तत्परः प्रयोगो न दृश्यते लोके ; कुतूहल-भयादिनिवृत्त्यर्थानामकार्यपराणां पद-सन्दर्भाणां प्रयोगस्य लोके बहुलमुपलब्धेः । तद्यथा 'अखण्डलादिलोकपालचक्रवालादिवसतिः सिद्धविद्याधर-गन्धर्वाप्सरःपरिवारो ब्रह्मलोकावतीर्णमन्दाकिनीपयःप्रवाहपातधौतकलधौतमयशिलातलो नन्दनादिप्रमदा-

## ऋजुप्रकाशिका

त्यनेन, तत्राह—\*कार्यबोध इति\* ॥ यथा चेष्टा कार्यबोधे लिङ्गम्, चेष्टापदं प्रवृत्तेरप्युपलक्षणम्, तथा सिद्धबोधे हर्षादयो लिङ्गमिति योजना । एवं च सिद्धेऽपि व्युत्पत्तिग्रहसंभव इति भावः । यदुक्तम्—“अर्थ-वक्तये”ति, तत्सिद्धस्थलेऽप्यस्ति ; सिद्धपुत्रजन्मादिवोधेऽपि हर्षादिप्रयोजनलाभात्, अतः शब्दानां कार्यपरत्वं न नियच्छतीत्यभिप्रेत्याह—\*अर्थवक्तैवमिति\* ॥ यदुक्तम्—“शास्त्रत्वेने”ति, तदपि सिद्धस्थलेऽस्तीत्याह—\*शास्त्रत्वं हितशासनादिति\* ॥ एवं च सिद्धे सङ्गतिग्रहाभावात् सिद्धवस्तुबोधने प्रयोजनाभावात् सिद्धबोध-कस्य शास्त्रत्वाभावाच्च कार्यपरत्वमेव वक्तव्यमिति यदुक्तं पूर्वम्, तदसङ्गतमेव ; सिद्धेऽप्युक्तविधया सङ्गति-ग्रहसंभवात्, प्रयोजनलाभात्, सिद्धबोधकस्य शास्त्रत्वसंभवाच्चेति भावः । तस्मात् सिद्धब्रह्मपरत्वं वेदान्तानां युज्यते । अथापि यदि न युज्यत इत्युच्येत, तदा वक्तव्यम्—किं वृद्धव्यवहारानुरोधाद् लोके कार्ये कार्या-न्वितस्वार्थे च शक्तिग्रहो न सिद्धे ? सिद्धेऽपि वा ? आद्य आह—\*यदि हि पदानामिति\* ॥ शक्तिः सामर्थ्यशब्दार्थः । भवेदित्यतः प्राक् तदेति शेषः । शब्दो भूतशब्दार्थः । उपनिषदां सिद्धपरत्वाभावे हेतुमाह—\*तत्रेति\* ॥ सिद्धे ब्रह्मणीत्यर्थः । सामर्थ्याग्रहेऽपि वेदान्तेभ्यः सिद्धब्रह्मप्रतीतिमाशङ्क्याह—\*तत्पूर्वकत्वाच्चेति\* ॥ सामर्थ्याग्रहपूर्वकत्वाच्चेत्यर्थः । द्वितीय उपनिषदां ब्रह्मपरत्वमायातमित्याह—\*अथ-त्विति\* ॥ \*तत्परत्वम् = ब्रह्मपरत्वम् । सिद्धे सङ्गतिग्रहस्तूक्त एवेति भावः । यद्यप्ययमर्थः पूर्वमुक्त एव ; तथाऽपि विकल्पपुरस्सरं पुनर्दृढीकृत इति ध्येयम् । सिद्धप्रयोगानुरोधात् सिद्धे सङ्गतिग्रहं द्रढयितुमाह—\*तत्र तावदेवमिति\* ॥ तत्परः = अकार्यपरः ; सिद्धपर इति यावत् । सिद्धपरप्रयोगो न दृश्यत इत्युक्ता-विष्टापत्तिमाशङ्क्याह—\*न तावत्तत्पर इति\* ॥ \*तत्परः = सिद्धपरः । कुत इति ? अत आह—\*लोके कुतूहलेति\* ॥ कुतूहलार्थानां भयादिवृत्त्यर्थानां चेत्यर्थः । अकार्यपराणां सिद्धपराणां बहुलमुपलब्धेरित्युक्तम्, तदेतदुदाहरति—\*तद्यथेत्यादिना—नैष भुजगो रज्जुरित्यादीत्यन्तेन\* । सुमेरुं विशिनष्टि—\*आखण्डलेति\* ॥ आखण्डलादीनामिन्द्रादीनां लोकपालानां चक्रवालं समूहः, तस्याधिवसतिः । सुमेरुरित्यस्य विशेषणान्तरमाह—\*सिद्धेत्यादिना—परिवार इत्यन्तेन\* । पुनर्विशेषणान्तरमाह—\*ब्रह्मलोकेति\* ॥ ब्रह्मलोकावतीर्णमन्दाकिनीपयः-प्रवाहपातेन धौतानि शोधितानि कालधौतसौवर्णानि शिलातलानि यस्य, स तथोक्तः । पुनरपि विशेषणान्तरमाह—\*नन्दनादिप्रमदावनेति\* ॥ प्रमदाभिः सह तत्रात्यादीनां क्रीडावनानि प्रमदावनानि, नन्दनानि च तानि

## प्रदीपः

निवृत्तिश्च प्रवृत्तिनिवृत्ती, तयोर्विधिः प्रवृत्तिनिवृत्तिविधिः, तस्योक्तविधेः शेषः, साध्यत्व-साधनत्वान्यतररूपेण तदन्वितत्वम् । विधिश्च तच्छेषश्च विधि-तच्छेषौ । तयोर्व्यतिरेकेण = तदभावेन बोधकतासम्बन्धेन तदभावविशिष्टो वेदभागो नास्तीति योजना । वेदभागे तु न नियतप्रामाण्यकवाक्यलेशोऽपि न स्यादित्यर्थः । \*ननु\* किमनेन विवक्ष्यते—ब्रह्मणः कार्यान्वये ब्रह्मस्वरूपमेव



## पञ्चपादिका

\*अस्यायमर्थः\*—यदि स्वरूपमात्रनिष्ठोऽपि वेदभागोऽस्ति, तत इदं पूर्वीक्तं प्रतिष्ठां लभते ; अन्यथा क्रियानुप्रवेशातिरिक्तमवेदार्थ एव स्यादिति, अस्योत्तरम्—\*तन्न ; औपनिषदस्य पुरुषस्या-नन्यशेषत्वादिति\* वस्तुसंग्रहवाक्यम् ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तद्व्यतिरिक्तः प्रतिपाद्यते, तदा किञ्चिदुद्दिश्य किञ्चित्प्रतिपाद्यमित्युद्देशताऽभावात्प्रतिपादनं न स्यात् । तस्यापि चेतनत्वे कर्मानङ्गतैव स्यात् । तस्मात्क्रियायामेव वेदान्ताः प्रमाणम् । तथाच कर्मण्येव कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाण्यमापस्तम्भो दर्शयति—त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा । तत्र यानि श्रूयन्ते ब्रीहि-यव-पश्वाज्य-पयः-कपाल-पत्नी-संबन्धान्युच्चैर्ज्ञातैः कार्यमिति, तैर्विरुद्ध आचारोऽप्रमाणमिति मन्यत इति । तथा “चाग्निहोत्र-फला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतमि”ति ॥ तत्रोत्तरमाह—\*तत्रौपनिषदस्येत्यादिना\* ॥ अहंप्रत्ययावसेयाद्विशिष्टा-त्मनोऽन्य एव क्रिया-कारकसंसर्गशून्यः, न स कर्माङ्गतया वेदान्तानां विधिशेषतां नयतीत्यर्थः ।

## ऋतुविवरणम्

\*उद्देश्यताऽभावादिति\* ॥ प्रसिद्धत्वाभावादित्यर्थः ॥ \*ननु\* लोके सिद्धार्थत्वेन प्रामाण्यमस्ति ; सिद्धे व्युत्पत्ते-रित्युक्तम्, अतो वेदान्तानामपि स्वरूपप्रामाण्यसंभवे कथं सिद्धे प्रामाण्याभावः ; कार्यपरत्वं च सिद्धवत्कृत्य कथं कर्माङ्गत्वमुच्यते ? नापि वेदान्तप्रतिपाद्यशुद्धचिदानन्दरूपस्य कर्मण्युपयोगः, प्रत्युत वैपरीत्यमप्युक्तम्, अतो नाक्षेपकारणे आक्षेप्ये चाधिक्यमुपलभ्यत इत्याशङ्क्याह—\*तथाच कर्मण्येवेति\* ॥ अतः स्तुति-प्रतिपादनयोरुपयोगो नास्तीत्यादि परास्तम् ; सिद्धे कर्मार्थत्वे प्रमाणतस्तदुपयोगस्यापि संभावयितुं शक्यत्वात् ॥

## तत्त्वदीपनम्

प्रतिपाद्यतामित्याशङ्क्य प्रसिद्धस्योद्देश्यत्वादौपनिषदस्य च प्रमाणांतराग्राह्यत्वाच्चैवमित्याह—\*उद्देश्यताऽभावादिति\* ॥ दूषणान्तरमाह—\*तस्यापीति\* ॥ क्रियायामेव वेदानां प्रामाण्यमित्यत्राभियुक्तोक्तिं प्रमाणयति—\*तथाचेति\* ॥ तद्वाक्यं दर्शयति—\*त्रैविद्यवृद्धानामिति\* ॥ वेदवृद्धानामित्यर्थः ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मणो नास्तीत्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ इदानीं प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्येत्यत्र सूचितं पूर्वपक्षमनुवदति—\*यदपीति\* ॥ किमिह वेदान्तवेद्यं वस्त्वेव नास्ति, तथाविधस्याप्रसिद्धत्वाच्चदु-द्दिश्य प्रतिपादनायोगादित्युच्यते ? किं वा वेदान्तवेद्यवस्तुनः क्रियाशेषत्वम् ? इति विकल्पोभय-मपि समाधत्ते—\*तन्नेति\* ॥

## प्रदीपः

न सिद्ध्यदिति ? अथवा तद्वोधकं वेदवाक्यं केवलमनुवादरूपमप्रवर्तकत्वान्निष्प्रयोजनमिति ? तथाचाबोधकत्वमेव वेदान्तानां किं विवक्ष्यते ? उत बोधकस्यापि तस्य निष्प्रयोजनत्वादप्रामाण्यमिति । तत्र ब्रह्मस्वरूपमेव न सिद्ध्यदिति वा, वेदान्तवाक्यान्व-बोधकानीति न वक्तुं शक्यते । “पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी”त्यादिवाक्यानामिव सुखपर्यवसायिज्ञानजनकत्वात् सिद्ध-वस्तुपरमपि वेदान्तवाक्यं नाबोधकम् । यथाच विनापि विधिवाक्यं प्रवृत्ति-तच्छेषव्यतिरेकं वा वेदवाक्यानां प्रामाण्यं वृत्तिकारै-रपि वक्तव्यम्, तदनुपदमेव विशदीकरिष्यते भाष्य एव । एतावन्तु साम्प्रतं प्रतिपाद्यते—प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म वेदान्तबोधमसत्कल्पं वेति न युक्तमित्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*तन्नेति\* ॥ केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्तीति तु नेत्यर्थः । कथं न कर्मवाक्यानामिव ब्रह्मवाक्यानामपि क्रियापरत्वमिति ? अत आह—\*औपनिषदस्येति\* ॥ वेदान्तप्रमाणकाखण्डाकारसाक्षात्कारविषयस्येति, अथवा वेदान्तद्वारकमानससाक्षात्कारविषयस्येत्यर्थः । एतेन हि साक्षात्कारयोग्यमन्यशेषतयैव प्रतीयत इति न नियमः । यथा चक्षुरादिशाप्यं रूपादीति सूचनद्वारा विवादाध्यासितानि वचनानि, कार्यान्वितभूतार्थविषयाणि भूतार्थविषयकसाक्षात्कारजनक-त्वात्, चक्षुरादिवत्, इत्यनुमानप्रयोगो विवक्षितो ज्ञाप्यते । तथाच कर्मवाक्यविलक्षणत्वाद् वेदान्तवाक्यानां कर्मवाक्यन्यायेन



## भामती

वनविहारिमणिमयशकुन्तकमनीयनिनादमनोहरः पर्वतराजः सुमेरुरिति 'नैष भुजङ्गो रज्जु'रियमित्यादि । नापि भूतार्थबुद्धिर्युत्पन्नपुरुषवर्तिनी न शक्या समुन्नेतुम् ; हर्षादेरुत्पन्नयनहेतोः संभवात् । तथाह्यविदितार्थजनभाषार्थो द्रविडो नगरगमनोद्यतो राजमार्गाभ्यर्णं देवदत्तमन्दिरमध्यासीनः प्रतिपन्नजनकानन्दनिबन्धनपुत्रजन्मा वार्ताहारेण सह नगरस्थदेवदत्ताभ्याशमागतः पटवासोपायनार्पणपुरःसरं 'दिष्ट्या वर्षसे पुत्रस्ते जातः' इति वार्ताहारश्रवणसमनन्तरमुपजातरोमाञ्चकञ्चुकं विकसितनयनोत्पलमतिस्मेरमुखमहोत्पलमवलोक्य देवदत्तमुत्पन्नप्रमोदमनुमिमीते, प्रमोदस्य च प्रागभूतस्य तद्व्याहारश्रवणसमनन्तरं भवतस्तद्धेतुकत्वम् । नचायमप्रतिपादयन् हर्षहेतुमर्थं हर्षाय कल्पत इत्यनेन हर्षहेतुरर्थ उक्त इति प्रतिपद्यते । हर्षहेत्वन्तरस्य चाप्रतीतेः पुत्रजन्मनश्च तद्धेतोरवगमात्तदेव वार्ताहारेणाभ्यधायीति निश्चिनोति । एवं भयशोकादयोऽप्युदाहार्याः । तथाच प्रयोजनवत्तया भूतार्थाभिधानस्य प्रेक्षावत्प्रयोगोऽप्युपपन्नः । एवंच ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य परमपुरुषार्थहेतुभावादनुपदिशतामपि पुरुषप्रवृत्ति-निवृत्ती

## ऋजुप्रकाशिका

प्रमदावनानि च, तेषु विहारिणाम्=संचरणशीलानां \*मणिमयशकुन्तानाम्=रत्नमयपक्षिणां निनादः=शब्दः, तेन मनोहरः । एतादृशपूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः पर्वतराजः सुमेरुरिति\* ॥ “आखण्डले”त्यारभ्य “सुमेरुरित्येतदन्ताः सिद्धपराः पदसन्दर्भाः कुतूहलार्थाः । “नैष भुजङ्गो रज्जुरित्यादिसिद्धपराः पदसन्दर्भास्तु भयादिनिवृत्त्यर्थाः । \*अत एव सिद्धपरपदसन्दर्भाणां प्रयोगो दृश्यत इति\* ॥ दृश्यत इत्युक्तौ नेष्टापत्तिरिति भावः । सिद्धप्रत्ययोऽपि कार्येणोन्नेतुं न शक्येत्यत्रापि नेष्टापत्तिरित्याह—\*नापि भूतार्थेति\* ॥ अत्र व्युत्पत्तिरनेति शेषः । तत्र हेतुमाह—\*हर्षादेरिति\* ॥ तदेतदुपपादयति—\*तथाहीति\* ॥ \*अभ्यर्णम्=निकटम् । प्रतिपन्नं जनकस्य पितुरानन्दे निबन्धनं पुत्रजन्म येन स तथोक्तः, सिन्दूररञ्जितपुत्रपादाङ्कितपटः पटवासः, स एवोपायनम्=उपहारः, तस्यार्पणपूर्वकम् । वचनं व्यवहारशब्दार्थः । महोत्पलं पद्मम् । देवदत्तोत्पन्नप्रमोदमनुमिमीत इति\* ॥ अयं देवदत्तः, प्रमोदवान्, समुदञ्जितरोमाञ्चकञ्चुकत्वविकसितनयनारविन्दत्वादतिस्मेरमुखारविन्दत्वात्, मद्बदित्यनुमिमीते वार्ताहारेण सहागतो द्रविड इत्यर्थः । अस्तु, तावता प्रकृते किमिति ? अत आह—\*प्रमोदस्य चेति\* ॥ \*प्रागभूतस्य=वार्ताहारवचनात् प्रागभूतस्य । तद्व्याहारश्रवणसमनन्तरम्=वार्ताहारवचनश्रवणसमनन्तरम् । \*तद्धेतुकत्वम्=शब्दहेतुकताम् । अनुमिमीत इत्यनुषङ्गः । अनुमानप्रकारस्त्वित्यम्—अयं देवदत्तप्रमोदः, वार्ताहारवचनहेतुकः, तस्मिन् सति भावात् तदभावे चाभावादिति । अत्र हेतुशब्दः प्रयोजकवचनः ; वार्ताहारवचनस्य प्रमोदजनकप्रतीतिजनकत्वादिति ध्येयम् । तथाच हर्षहेत्वर्थकं वचनं वार्ताहारोऽयमुक्तवानिति व्युत्पत्तिरुर्द्विडो निश्चिनोतीत्यर्थः । तदेतदाह—\*नचायमिति\* ॥ \*अयम्=वार्ताहारः । \*अनेन=वार्ताहारेण । हर्षः=प्रमोद इत्यनर्थान्तरम् । “प्रतिपद्यते व्युत्पत्तिरिति शेषः । अनन्तरमनेन हर्षहेतुरर्थः क उक्त इति हृदि समालोच्य हर्षहेत्वन्तरस्याप्रतीतेः सिन्दूररञ्जितपुत्रपादाङ्कितपटप्रदर्शनपूर्वकं वार्ताहारेण यद्वचनमुक्तम्, तद्वचनश्रवणसमनन्तरमेव हर्षसूचकरोमाञ्चकञ्चुकनयनविकासमुखप्रसादादिदर्शनेन पुत्रजन्मरूपार्थस्य हर्षहेतोः प्रतिपत्तेः स एवानेनोक्त इति निश्चिनोतीत्यर्थः । तथाचोक्तरीत्या सिद्धेऽपि पदानां लोके सङ्गतिग्रहात् तदनुरोधेन वेदान्तानामपि सिद्धपरत्वमेव न कार्यपरत्वमित्यभिप्रायः । एवमियता प्रवन्धेन—“कार्यबोधे यथा लिङ्गं चेष्टा हर्षादयस्तथा । सिद्धबोधे” इत्येनं श्लोकभागं व्याचष्टे—\*तथा चेति ॥ “शास्त्रत्वं हितशासनादिति श्लोकभागं व्याचष्टे—\*एवं चेति\* ॥ पुरुषप्रवृत्ति-निवृत्ती अनुपदिशतां वेदान्तानामित्यन्वयः । प्रवृत्ति-निवृत्त्याश्रयणं हि शास्त्रं पुरुषार्थाय भवति । तं तु पुरुषार्थं वेदान्ता अन्तरेणाप्यायासं ज्ञानादेव नृयन्तीति सूत्रायाम् शास्त्रत्वं तेषामित्यर्थः । एवं सति सूचितमनुमानं



**योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म, उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः**

**भामती**

वेदान्तानां पुरुषहितानुशासनाच्छास्त्रत्वं सिद्धं भवति । तत्सिद्धमेतत्, विवादाध्यासितानि वचनानि, भूतार्थविषयाणि, भूतार्थविषयप्रमाजनकत्वात् । यद्यद्विषयप्रमाजनकं तत्तद्विषयम्, यथा रूपादिविषयं चक्षुरादि, तथा चैतानि, तस्मात्तथेति । तस्मात्सुष्ठुक्तम्—\*तत्र ; औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वादिति\* ॥ उपनिपूर्वात्सदेर्विशरणार्थात्किप्युपनिषत्पदं व्युत्पादितम् उपानीयाद्वयं ब्रह्म सवासनानामविद्यां हिनस्तीति ब्रह्मविद्यामाह । तद्धेतुत्वाद्वेदान्ता अप्युपनिषदः । ततो विदित औपनिषदः पुरुषः । एतदेव विभजते—\*योऽसावुपनिषत्स्वेवेति\* ॥ अहंप्रत्ययविषयाद्विनत्ति—\*असंसारीति\* ॥ अत एव क्रियारहितत्वाच्चतुर्विधद्रव्यविलक्षणः । अतश्च चतुर्विधद्रव्यविलक्षणो यदनन्यशेषः । अन्यशेषं

**ऋजुप्रकाशिका**

दर्शयति—\*तत्सिद्धमेतदित्यादिना\* ॥ वचनादित्यस्य वेदान्तवचनादित्यर्थः । भूतार्थविषयाणि=न कार्यविषयाणीत्यर्थः । उक्तमर्थं भाष्यारूढं कुर्वन्नुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ उपनिषत्पदव्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकमुपनिषदः पुरुषशब्दार्थं वक्तुमाह—\*उपनिपूर्वादिति\* ॥ उपनिषत्पदं व्युत्पादितमित्युक्तम् । उपनिषत्पदव्युत्पत्तिमेव दर्शयति—\*उपनिपूर्वात् सदेरिति\* ॥ उपोपसर्गः समीपेत्यर्थः । निरयं निश्चतार्थः । षदेरर्थमाह—\*संवासनामिति\* ॥ \*ब्रह्मविद्यामाहेति\* ॥ उपनिषत्पदमुक्तव्युत्पत्त्या ब्रह्मविद्यामाहेत्यर्थः कथं तर्हि वेदान्ता उपनिषदः इत्युच्यन्त इति ? अत आह—\*तद्धेतुत्वादिति\* ॥ ब्रह्मविद्याहेतुत्वादित्यर्थः । एवं स्थित औपनिषदपुरुषशब्दार्थमाह—\*ततो विदित इति\* ॥ उपनिषद्भ्यो विदित इत्यर्थः । यद्यपि “अन्यदेतद्विदितात्” इति श्रुत्या ब्रह्मणो विदितत्वनिषेध एवावगम्यते ; तथाऽप्युपनिषद्भ्योऽतद्व्यावृत्तिर्विदितेति हृदयम् । \*एतदेवेति\* ॥ औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वमुक्तं भाष्ये तदेतदेवेत्यर्थः । \*यद्वा\*—यदौपनिषदं तदसंसारि ब्रह्म चतुर्विधद्रव्यविलक्षणं न कार्यमित्याद्येतदेवेत्यर्थः । अन्यशेषत्वं क्रियाशेषत्वम्, तदभावोऽनन्यशेषत्वम् ; अक्रियाशेषत्वमिति यावत् । भाष्यस्थान्यसंसारीत्यादिविशेषणानि व्याचष्टे—\*अहंप्रत्ययेत्यादिना\* ॥ भाष्ये—असंसारित्वपदलक्ष्यनिर्देशः—\*ब्रह्मेति\* ॥ चतुर्विधद्रव्यलक्षण इत्युक्तं भाष्ये, तत्र हेतुमाह—\*अत एवेति\* ॥ अत एवेत्यस्य विवरणं क्रियारहितत्वादिति । हेत्वन्तरमाह—\*अतश्चेति\* ॥ इति हेतोश्चतुर्विधद्रव्यविलक्षण इत्यर्थः । तमेव हेतुमाह—\*यदनन्यशेष इति\* ॥ अनन्यशेषत्वाच्च उत्पाद्य-विकार्य-प्राप्य-संस्कार्यलक्षणचतुर्विधद्रव्यविलक्षण इत्यर्थः । यद्यन्यनन्यशेषत्वमौपनिषदपुरुषत्वेन हेतुना साध्यम् ; तथाऽपि तेन साधितमनन्यशेषत्वं चतुर्विधद्रव्यविलक्षणत्वसाध्ये हेतूक्रियत इत्यर्थः । अन्यशेषभूतं तूत्पत्तिकारातिसंस्कारान्यतमवदेवेत्याह—\*अन्येति\* ॥

**भाष्यभावप्रकाशिका**

तत्प्रपञ्चयति—\*योऽसाविति\* ॥ तस्यापि चेतनत्वात् कर्तृत्वेन क्रियाविधिशेषत्वमिति शङ्कां निराचष्टे—\*असंसारीति\* ॥ कर्तृत्वेन नान्वेतीति चेत्, तर्हि कर्मकारकत्वेनान्वयो भविष्यतीति, तत्राह—\*उत्पाद्यादीति\* ॥

**प्रदीपः**

न कार्यत्वार्थनिर्णयः कर्तुं शक्यत इति भावः । तदिदमाह—\*अनन्यशेषत्वादिति\* ॥ प्रमाणतन्त्रो हि साक्षात्कारो न पुरुषतन्त्र इति साक्षात्कारजनकतयैव वेदान्तानां प्रवृत्तत्वात् पुरुषव्यापारानुद्देशेनोच्चार्यमाणानां तेषां प्रवृत्तिपरत्वं न प्रामाणिकमिति भावः । प्रत्यगभिन्नत्वाद् ब्रह्मणि साक्षात्कारयोग्यत्वं वर्तत इति सूचयन् ब्रह्मणो जीवाभेदं निरूपयति—\*पुरुषोऽसंसारीति\* ॥ अत्रासंसारित्वविशेषणेनाहंप्रत्ययविषयत्वाद् भेदेनौपनिषदस्यात्मनः प्रतिपादयतीत्युपनिषत्स्वेवाधिगत इति नानुपपन्नं प्रत्यगभिन्नत्वेऽपीति भावः । असंसारित्वादेव तु क्रियाशून्यत्वाच्चतुर्विधसाध्यत्वाभावः । अनेन न चानन्यशेषत्वं विवृतं भवति ।



स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्,  
'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृह० ३।१।२६ ) इत्यात्मशब्दात्,

भामती

हि भूतं द्रव्यं चिकीर्षितं सदुत्पत्त्याद्याप्यं संभवति । यथा "यूपं तक्षति" इत्यादि । यत्पुनरनन्यशेषं भूतमाव्युपयोगरहितम्, यथा "सुवर्णं भार्यम्" "सक्तून् जुहोति" इत्यादि, न तस्योत्पत्त्याद्याप्यता । कस्मात् पुनरस्यानन्यशेषतेति ? अत आह—यत एव \*स्वप्रकरणस्थः\* ॥ उपनिषदामात्मानमारभ्याधीतानां पौर्वापर्यपर्यालोचनया पुरुषप्रतिपादनपरत्वेन पुरुषस्यैव प्राधान्येनेदं प्रकरणम् । नच जुह्वादिवदव्यभिचरितक्रतुसंबन्धः पुरुष इत्युपपादितम् । अतः स्वप्रकरणस्थः । सोऽयं तथाविध उपनिषद्भ्यः प्रतीयमानो न नास्तीति शक्यो वक्तुमित्यर्थः । स्यादेतत्—मानान्तरागोचरत्वेनागृहीतसंगतितयाऽपदार्थस्य ब्रह्मणो वाक्यार्थत्वा-नुपपत्तेः कथमुपनिषदर्थतेति ? अत आह—\*स एष नेति नेत्यात्मेत्यात्मशब्दात्\* ॥ यद्यपि गवादिवद्

ऋजुप्रकाशिका

तल दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ यथा यूपद्रव्यं यागक्रियाशेषभूतं सत् तक्षणादिसंस्कारवत्, तथेत्यर्थः । यदनन्यशेषभूतं तदुत्पत्त्यादिमच्चतुर्विधद्रव्यविलक्षणमिति पुनर्दृढीकरणाय सट्टान्तमाह—\*यत्पुनरिति\* ॥ दृष्टान्तमाह—\*यथेति\* ॥ सुवर्णधारणं न कृत्वङ्गम्, किन्तु पुरुषधर्मः प्रधानमेवेत्युक्तम् । अतोऽनन्यशेषभूतं तत्=उत्पत्त्यादि-विकृति-संस्कारान्यतमवद् न भवति यथा, तथेत्यर्थः । दृष्टान्तान्तरमाह—\*सक्तूनि\* ॥ सक्तूनां याग एव नियुक्तत्वाद् होमेन भस्मीभूततयोत्तरत्र विनियोगाभावाद् विनियुक्तसंस्कारो वा विनियोज्यमाणसंस्कारो वा नेति सक्तुहोमः प्रधानकर्मैवेत्यनन्यशेषभूतं सत्कर्मोत्पत्त्यादिमच्छून्यं यथा, तथेत्यर्थः । तस्योत्पत्त्यादिशून्यत्वमेवाह—\*न तस्येति\* ॥ यद्यपि ब्रह्मण औपनिषदत्वेनैवानन्यशेषत्वं साधितम् ; तथाऽप्यनन्यशेषत्वे हेत्वन्तरोपन्यासाय हेत्वाकाङ्क्षामुद्धावयति—\*कस्मात् पुनरिति\* । भाष्योक्तं हेत्वन्तरं सङ्घटयति—\*अत आह यत एव स्वप्रकरणस्थ इति\* ॥ स्वप्रकरणस्थत्वादप्यनन्यशेष इत्यर्थः । एतस्यासंसारिपुरुषप्रकरणत्वे तस्य प्रकरणस्थत्वम्, तदेव कथमित्याशङ्क्य, एतस्य तत्प्रकरणत्वं दर्शयति—\*उपनिषदामात्मानमारभ्याधीतानामिति\* ॥ क्रतुप्रकरणमेवेदमस्त्वित्याशङ्क्य, जुह्वादिवदव्यभिचरितक्रतुसंबन्धाभावात् पुरुषस्य न क्रतुप्रकरणशङ्कापीत्याह—\*नचेति\* ॥ उपसंहरति—\*अत इति\* ॥ सोऽयमिति\* ॥ अनन्यशेषः, असंसारी, स्वप्रकरणस्थो वेदान्तस्वरूपोपनिषद्भिः प्रतिपाद्यमानो नास्तीति वक्तुं न शक्य इत्यर्थः । शङ्कते—\*स्यादेतदिति\* ॥ ज्ञात एव पदानां सङ्गतिग्रहात् मानान्तरागोचरस्य ब्रह्मणोऽज्ञाततया सङ्गतिग्रहाभावेनापदार्थत्वात् पदशक्तिग्रहविषयस्य पदशक्यस्यैव पदार्थत्वात् पदार्थसंसर्गस्य वाक्यार्थपक्षे संसृष्टपदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वपर्यवसानाद् अखण्डवाक्यार्थत्वपक्षेऽपि पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वाद् ब्रह्मण उक्तविधया सङ्गतिग्रहाभावेन पदार्थत्वाभावात् कथमुपनिषद्वाक्यार्थतेति शङ्कार्थः । परिहरति—\*अत आह इति\* ॥ यद्यपि पुत्रजन्मादौ सिद्धे सङ्गतिग्रहेऽपि मानान्तरागोचरे सिद्धे ब्रह्मणि न सङ्गतिग्रहः, अतो ब्रह्म न पदार्थः ; तथाऽपि स्वयंप्रकाशत्वेन स्फुरत्यात्मनि समारोपितदृश्यनिषेधेन लक्षणयोपनिषद्वाक्यार्थत्वेन निरूपयितुं शक्यत इति, परिहारभाष्याभिप्रायमाह—\*यद्यपीत्यादिना हाटकस्येवेति\* ॥ हाटकं कुण्डलमित्यादिवाक्यइत्यर्थः । \*स्वयं-

भाष्यभावप्रकाशिका

विनियोजकप्रमाणाभावादपि नान्वय इत्याह—\*स्वप्रकरणस्थ इति\* ॥ अस्तु तर्हि वाक्याद्विनियोगः पर्णमग्न्याइवेति, तत्राह—\*अनन्येति\* ॥ जुह्वादिवदव्यभिचरितक्रतुसंबन्धिनाभावादात्मन इति भावः ।

प्रदीपः

यदि स्वत एव ज्ञानमात्रेण, पुरुषार्थसाधनम्, न पुरुषार्थोपायमपेक्षते, यथा गोदोहनादि, तदेवान्यशेषः, ब्रह्म तु तथा नेतर-प्रकरणावगतक्रियासम्बन्धमपेक्षत इत्याह—\*स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेष इति\* ॥ अन्यशेषत्वं साध्यत्वेन साधनत्वेन वा नास्तीति तु



## पञ्चपादिका

अस्यैव प्रपञ्चः—\*योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगत इत्यादिः\* ॥ \*अस्यायमर्थः\*—योऽयमहंप्रत्यय-विषयात् क्रियासम्बन्ध्यात्मनोऽतिरिक्तः सम एकः सर्वभूतेष्वहंकर्तुरपि साक्षिभूतः, न स केनचित्प्रमाणेन सिद्धः, येन क्रियाशेषतां नीयेत । न हि प्रमाणान्तरासिद्धः क्रियासम्बन्धितयोपदेष्टुं शक्यः । नच स न प्रतीयत इति युक्तं वक्तुम् ; तत्प्रतिपादकोपनिषत्पदसमन्वयस्य दर्शितत्वात् । अत एवौपनिषदत्व-विशेषणम्; अनन्यविषयत्वात् । तच्च वेदान्तानां तत्परत्वेऽवकल्पते ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* असावपि चेतनश्चेदहंप्रत्ययगम्यतया कर्माङ्गमिति, नेत्याह—\*न स केनचिदिति\* ॥ \*ननु\* शास्त्रगम्यस्यापि कर्माङ्गता किं न स्यादिति? अत आह—\*न हि प्रमाणान्तरासिद्ध इति\* ॥ अधिकारिणं कर्तारं च प्रमाणान्तरसिद्धावनूय विधिमात्रप्रतिपादनादन्यथा वाक्यभेदादिति । \*ननु\* चेतनः प्रमाणान्तरा-गम्यत्वाच्छास्त्रेणापि न गम्यत इति, नेत्याह—\*नच स न प्रतीयत इति\* ॥ \*ननु\* सर्वो वेदो धर्मे विनियुक्तः स्मृतिकारैरित्युक्तम्, अत आह—\*अत एवौपनिषदत्वेति\* ॥ औपनिषद इति तद्धितप्रत्ययो ब्रह्मणि वेदान्तान्वि-नियुक्ते । तथा “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” “वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृदि”तिश्रुति-स्मृतिभ्यां ब्रह्मपरा वेदान्ता इति गम्यते । \*ननु\* पदसमन्वयाद् ब्रह्मणि प्रतीयमानेऽपि प्रत्यक्षादिभिर्वाधान्मिथ्याज्ञानमिति,

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* अधिकारिणः कर्तृश्च शास्त्रीयस्य कर्मसम्बन्धप्रतिपादनं दृश्यते, तद्वत्स्यादित्याशङ्क्याह—\*अधि-कारिणं कर्तारमिति\* ॥ \*विधिमात्रप्रतिपादनाद्विधीयत इति\* ॥ विधिरिति \*इष्टसाधनत्वप्रतिपादनादित्यर्थः\* ॥ \*औपनिषद इतीति\* ॥ श्रुतिस्मृतिविरोधात् । आपस्तम्बस्मृतिरितरतद्विषया वा स्मृतिर्वैत्यर्थः । नच सिद्धे

## तत्त्वदीपनम्

\*तत्रेति\* ॥ वेदेष्वित्यर्थः । उच्चैस्तृष्टफलाय ॥ \*नीचैर्निकृष्टफलाय\* ॥ अग्निहोत्रफला इति । कर्मायां इत्यर्थः । शीलं वृत्तं चेति शीलवृत्ते, ते फलं यस्य तत्तथोक्तम् । श्रौत-स्मार्तकर्मणी शीलवृत्तशब्देन निर्दिश्येते । औप-निषदस्यानन्यशेषत्वं कथमिति शङ्कायामाह—\*अहंप्रत्ययेति\* ॥ \*ननु\* अहंप्रत्ययविषयो ह्यात्मा, औपनिषद-स्याप्यात्मत्वे तथात्वम्, तथाच कर्माङ्गत्वं दुर्वारमिति शङ्कायामाह—\*नन्वसाविति\* ॥ अहंप्रत्ययसाक्षित्वान्नात्म-नस्तद्रम्यत्वम्, ततश्च न कर्माङ्गत्वमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ प्रमाणान्तरागम्यत्वेऽपि प्रयाजादिवत्कर्माङ्गत्वं स्यादिति शङ्कते—\*ननु शास्त्रेति\* ॥ प्रयाजादीनामङ्गत्वप्रतिपादकमन्यत् स्वरूपप्रतिपादकं चान्यत्, न तथाऽत्र प्रमाणभेदोऽ-स्तीत्याह—\*अत आहेति\* ॥ “स्वर्गकामो यजेते”त्यादिवाक्यं यथा विध्यधिकार्यादिकं प्रतिपादयति तथैतदपि स्यादित्याह—\*अधिकारिमिति\* ॥ स्वामिनं कर्तारं चेत्येतौ प्रमाणान्तरसिद्धावनूद्येत्यन्वयः । \*विधिमात्रेति\* ॥ इष्टसाधनत्वमात्रेत्यर्थः । व्यतिरेकमुखेनोक्तेऽर्थे हेतुमाह—\*अन्यथेति\* ॥ भूतार्थनिष्ठवाक्यस्य प्रमाणान्तरगोचरत्वं दृष्टम्, ब्रह्मणश्च प्रमाणान्तरागोचरत्वान्न वाक्यप्रमेयत्वमिति शङ्कते—\*ननु चेतन इति\* ॥ गृहीतसङ्गतिकस्योपनिषत्पदसंदोह-श्रवणानन्तरमर्थप्रतिपत्तिदृष्टेर्मेवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ वेदस्य स्वरूपमात्रनिष्ठत्वमभियुक्तवचनविरुद्धमिति यदुक्तम्, तदनुवदति—\*ननु सर्व इति\* ॥ प्रत्यक्षवेदवचनविरोधात् स्मृतिवचनस्य कर्मकाण्डमात्रविषयत्वमप्रामाण्यं चेत्याशये-नाह—\*अत आहेति\* ॥ वेदान्तानां विधिपरत्वेऽप्यात्मन औपनिषदत्वविशेषणं न घटते ; संज्ञापरत्वेनापि तदुपपत्तेरित्य-न्नाह—\*तद्धितेति\* ॥ वेदस्य ब्रह्मपरत्वे वाक्यान्तरमुदाहरति—\*तथेति\* ॥ कर्मकाण्डस्यान्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानजननाद् ब्रह्मणि तात्पर्यस्य विवक्षितत्वमित्यर्थः । \*अत एवेत्यादिटीकाया अयमर्थः\*—अत एषामन्यविषयत्वादौपनिषदत्वं विशेषणम् । ततः किमिति ? अत आह—\*तच्चेति\* ॥ वेदान्तानां विधिपरत्वं औपनिषदत्वनिर्देशो न स्यात् । नच—औपनिषदस्यानूद्यमानत्वाद् विशेषणोपपत्तिरिति—शङ्क्यम् ; मानान्तरागोचरत्वेनानूद्यमानत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । ब्रह्मज्ञान-स्याङ्गत्वप्रादिवाक्योत्थज्ञानोपमत्वान्नादेयत्वमिति शङ्कते—\*ननु पदेति\* ॥



## आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात् ।

### भामती

मानान्तरगोचरत्वमात्मनो नास्ति ; तथाऽपि प्रकाशात्मन एव सतस्तत्तदुपाधिपरिहाण्या शक्यं वाक्यार्थत्वेन निरूपणम्, हाटकस्येव कटक-कुण्डलादिपरिहाण्या । नहि प्रकाशः स्वयंवेदनो न भासते, नापि तदवच्छेदकः कार्य-करणसंघातः । तेन “स एष नेति नेत्यात्मा” इति तत्तदवच्छेदपरिहाण्या बृहत्त्वादापनाच्च स्वयं-प्रकाशः शक्यो वाक्याद् ब्रूहेति चात्मेति च निरूपयितुमित्यर्थः । अथोपाधिनिरासवदुपहितमप्यात्म-रूपं कस्मान्न निरस्यत इति ? अत आह—\*आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्\* ॥ प्रकाशो हि सर्व-

### ऋजुप्रकाशिका

वेदनः = स्वप्रकाशः ॥ \*आत्मा न भासत इति = न भासत एवेत्यर्थः । तदवच्छेदकः कार्यकारणसङ्घातोऽपि न भासत इति न भासत एव ; तत्प्रत्यायकमानस्य सत्त्वादिति भावः । ततः किमिति ? अत आह—\*तेनेति\* ॥ आत्मनः प्रत्याख्यानाशक्यत्वमेवाह—\*प्रकाशो हीत्यादिना\* ॥ “सर्वस्य दृश्यप्रपञ्चमात्रस्य प्रकाशो

### पञ्चपादिका

नैष प्रतीयमानोऽपि शुक्तिरजतवन्मिथ्येति शक्यं वक्तुम् ; बाधाभावात् ॥ इतश्च न शक्यते मिथ्येति विदितुं तस्मिन्नौपनिषदे पुरुषे “स एषः” “नेतिनेत्या” त्मशब्दप्रयोगात् । आत्मनश्चानिराकार्यत्वात्, \*य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वप्रसङ्गात्\* ॥

### पञ्चपादिकाविवरणम्

नेत्याह—\*नैष प्रतीयमानोऽपीति\* ॥ \*ननु\* उद्देशाभावादुपादेयं प्रमातुं न शक्यत इत्यत आह—\*इतश्च न शक्यत इति\* ॥ \*ननु\* अहंप्रत्ययगम्यमात्मानमुद्दिश्य तस्याद्वितीय-निरतिशय-ज्ञानानन्द-ब्रह्मात्म-प्रतिपादनेऽप्यात्मनोऽवस्तुत्वान्निरालम्बनत्वमिति, नेत्याह—\*आत्मनश्चानिराकार्यत्वादित्यादिना\* ॥

### ऋजुविवरणम्

प्रामाण्याभावात्तद्विदितुं ब्रह्मपरत्वं बोधयतीति युक्तम् ; आपस्तम्बेऽपि तुल्यत्वात् । नच वेदस्यैव कार्यपरत्वमिति युक्तम्, सिद्धे बोधदर्शनादितरेतराश्रयप्रसङ्गात् । “इतश्च न शक्यते” इत्यनेनोद्देशेनासंभवेनापि न मिथ्यात्वम् ; अहंप्रत्ययावसेयस्योद्देश्यत्वादित्युक्तमित्यनुवादव्याजेन दर्शयति—\*ननु अहंप्रत्ययगम्यमिति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

ब्रह्मणि विचारशास्त्रप्रवृत्तौ प्रत्यक्षादीनामात्मासविषयत्वम्, वेदान्तानां च तत्त्वविषयत्वमिति व्यवस्था घटते, सैवानुपपन्नेति शङ्कते—\*ननुद्देश्येति\* ॥ प्रसिद्धस्योद्देश्यत्वादस्य च तद्वैपरीत्यान्नोद्देश्यत्वमित्यर्थः । \*उपादेयमिति\* ॥ अनधिगतमित्यर्थः । अहंप्रत्यये प्रतीचो भासमानत्वाद् ब्रह्मणश्च तद्रूपत्वात्प्रतिपादनमुचितमित्यभिप्रायेणाह—\*अत आहिति\* ॥ टीकायां चशब्दः शङ्काव्यावृत्त्यर्थ इति द्रष्टव्यम् । इत इति शब्दः प्रयोगादित्यनेनानुषज्यते ॥ प्रत्यगुद्देशेन शास्त्रप्रवृत्तावाश्रीयमाणायां वाक्यस्य सन्निष्ठत्वं स्यात्, प्रतीचोऽवस्तुत्वादिति शङ्कते—\*नन्वहंप्रत्ययेति\* ॥ किं निराकर्ता कश्चिदस्ति ? उत न ? अन्त्ये निराकरणासिद्धिः, आद्ये मदिष्टसिद्धिः, निराकर्तृत्वात्मत्वादित्याशयवानाह—\*नेत्याहेति\* ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

आत्मत्वात् तस्योद्देश्यत्वमपि न संभवतीत्याह—\*स एष इति\* ॥ तथापि कर्मकाण्डे तर्कशास्त्रेषु च



**\*ननु\*** आत्माऽहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव प्राधान्येन विज्ञायत  
इत्यनुपपन्नम्, **\*न\*** ; तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् ।

भामती

स्यात्मा ; तदधिष्ठानत्वाच्च प्रपञ्चविभ्रमस्य । नचाधिष्ठानाभावे विभ्रमो भवितुमर्हति । नहि जातु रज्ज्वभावे रज्ज्वां भुजङ्ग इति वा धारेति वा विभ्रमो दृष्टपूर्वः । अपिचात्मनः प्रकाशस्य भासा प्रपञ्चस्य प्रथा । तथाच श्रुतिः--“तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” इति । नचात्मनः प्रकाशस्य प्रत्याख्याने प्रपञ्चप्रथा युक्ता । तस्मादात्मनः प्रत्याख्यानायोगाद् वेदान्तेभ्यः प्रमाणान्तरागोचरसर्वोपाधिरहितब्रह्मस्वरूपावगतिसिद्धिरित्यर्थः । **\*उपनिषत्स्वेवावगतः\*** इत्यवधारणममृष्यमाण आक्षिपति—**\*नन्वात्मेति\*** ॥ सर्वजनीनाहंप्रत्ययविषयो ह्यात्मा कर्ता भोक्ता च संसारी ; तत्रैव च लौकिकपरीक्षकाणामात्मपदप्रयोगात् । य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, त एव च तेषामर्था इत्यौपनिषदमप्यात्मपदं तत्रैव प्रवर्तितुमर्हति, नार्थान्तरे तद्विपरीत इत्यर्थः । समाधत्ते—**\*न\*** ; अहंप्रत्ययविषय औपनिषदः पुरुषः । कुतः ? **\*तत्साक्षित्वेन\*** ॥ अहंप्रत्ययविषयो यः कर्ता कार्यकरणसंघातोपहितो जीवात्मा तत्साक्षित्वेन परमात्मनोऽहंप्रत्ययविषयत्वस्य प्रत्युक्तत्वात् । एतदुक्तं भवति—यद्यपि “अनेन जीवेनात्मना” इति जीव-परमात्मनोः पारमार्थिकमैक्यम् ; तथाऽपि तस्योपहितं रूपं जीवः, शुद्धं तु रूपं तस्य साक्षि, तच्च मानान्तरानधिगतमुपनिषद्गोचर इति । एतदेव प्रपञ्चयति

ऋजुप्रकाशिका

ह्यात्मा, आत्मैवास्य ज्योतिः” इति श्रुतेरित्यर्थः । अस्वेतावता, कथं प्रत्याख्यानस्याशक्यत्वमात्मन इत्यत आह—**\*तदधिष्ठानत्वाच्चेति\*** ॥ आत्माधिष्ठानकत्वात् प्रपञ्चविभ्रमस्येत्यर्थः । ततोऽपि कथं प्रत्याख्यानाशक्यत्वम् ? तत्राह—**\*नचेति\*** ॥ तदेव विशदयति—**\*न जात्विति\*** ॥ इतोऽप्यात्मनः प्रत्याख्यानस्याशक्यत्वमित्याह—**\*अपिचेत्यादिना\*** ॥ उपसंहरति—**\*तस्मादिति\*** ॥ सर्वोपाधिरहितेत्यनन्तरमात्माभिन्नेति शेषः । **\*तत्रैव = अहंप्रत्ययविषय एव ॥ \*ननु\*** लौकिकपरीक्षकाणामहंप्रत्ययविषय आत्मपदप्रयोगेऽपि वैदिकानां न तत्र प्रयोग इत्यत आह—**\*य एवेति ॥ त एव चेति\*** ॥ त एव लौकिकपदार्था एव । **\*तेषाम् = वैदिकपदानामर्था इत्यर्थः । एवं च सति फलितमाह—\*इत्यौपनिषदमप्यात्मपदमिति\*** ॥ उपनिषत्सु पठ्यमानमप्यात्मपदमित्यर्थः । तत्रैव = अहंप्रत्ययविषय एव । एवं च उपनिषत्स्वेवावगत इत्युक्तम् ; अहंप्रत्ययेन प्रत्यक्षेणाप्यवगमादिति शङ्काभिप्रायः । भाष्योक्तं समाधानप्रकारमेव विशदयति—**\*नाहंप्रत्ययेति\*** ॥ औपनिषदः पुरुषः अहंप्रत्ययविषय आत्मा नेत्यन्वयः । तत्र हेत्वाकाङ्क्षामुद्भावयति—**\*कुत इति\*** ॥ भाष्योक्तं हेतुमाह—**\*तत्साक्षित्वेनेति\*** ॥ भाष्योक्तहेतुं व्याचष्टे—**\*अहंप्रत्ययविषय इत्यादिना\*** ॥ **\*जीवात्मेति\*** ॥ परैर्जीवात्मत्वेन व्यवहियमाणः सिद्धान्तिमतेऽहङ्कार इत्यर्थः । तत्साक्षित्वेन **\*तदहङ्कारसाक्षित्वेन = नन्वहंकारः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यम्, तच्चैतन्यमेव जीवः, एवं च जीवपरमात्मनोर्वस्तुत एकेयाद् जीवस्याहंप्रत्ययविषयत्वे परमात्मनोऽप्यहंप्रत्ययविषयत्वमायातमेवेति कथं परमात्मनोऽहंप्रत्ययविषयत्वस्य प्रत्युक्तत्वम् ? तत्राह—\*एतदुक्तं भवतीत्यादिना\*** ॥ **\*उपहितं रूपमिति\*** ॥ कार्यकरणसंघातोपहितमन्तःकरणविशिष्टं रूपं जीव इत्यर्थः । स चाहंप्रत्ययविषयः, शुद्धं तु तत्साक्षिभूतं न तद्विषयः, किंतु उपनिषन्मात्रगोचर इत्याह—**\*शुद्धं त्विति\*** ॥ तच्च शुद्धचैतन्यं च । विधिशेषत्वं वा नेतुमिति भाष्यमध्याहारेण योजयति—**\*विधीति\*** ॥ तत्र हेत्वाकाङ्क्षोद्भावनापूर्वकं हेतुमाह—

प्रदीपः

विशेषणद्वयार्थः । अनन्यशेषोऽप्ययं नास्तीति निषेद्धं न शक्यमित्यौपनिषदपदेन सूचितमेवार्थमाह—**\*ब्रह्मणोऽहेयानुपदेयत्वा-**



न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा । अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम् । आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः ।

भामती

—\*नह्यहंप्रत्ययविषयेति\* । विधिशेषत्वं वा नेतुं न शक्यः\* । कुतः ? आत्मत्वादेव । नह्यात्माऽन्यार्थः, अन्यच्च सर्वमात्मात्थम् । तथाच श्रुतिः—“न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति” इति । अपिचातः सर्वेषामात्मत्वादेव न हेयो नाप्युपादेयः ; सर्वस्य हि प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मैव तत्त्वमात्मा । नच स्वभावो हेयः ; अशक्यहानत्वात् । नचोपादेयः ; उपात्तत्वात् । तस्माद्देयोपादेयविषयौ विधि-निषेधौ न तद्विपरीतमात्मतत्त्वं विषयीकुरुत इति सर्वस्य

ऋजुप्रकाशिका

\*कुत आत्मत्वादेवेति\* ॥ न केवलमात्मत्वं विधिशेषत्वाभावमात्रे हेतुः किंतु अन्यार्थत्वाभावेऽपि । तथाच विमतो नान्यार्थः, आत्मत्वादिति । तदेतदाह—\*नह्यात्माऽन्यार्थ इति\* ॥ किं तर्हि अन्यत् सर्वमात्मात्थम् आत्मात्थमेवेत्याह—\*अन्यच्च सर्वमिति\* ॥ तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—\*तथाच श्रुतिरिति\* ॥ किंच न केवलं विधिशेषत्वाभावे, अन्यार्थत्वाभावमात्रे चात्मत्वं हेतुः, किंतु आत्मानः पूर्वोक्तहेयोपादेयभिन्नत्वेऽपि हेतुरित्याह—\*अपिचेति\* ॥ सर्वेषामात्मत्वमेव ब्रह्मात्मनो दर्शयति—सर्वस्य हीति\* ॥ “आत्मैवेदं सर्वम्” इति श्रुत्या सर्वात्मात्मप्रतीतेरित्यर्थः । अस्तु सर्वस्यात्मा ब्रह्म, तावता कथमहेयत्वम् ? अनुपादेयत्वं चेति ? अत आह—\*नच स्वभाव इति\* ॥ स्वभावः = स्वात्मा न हेय इत्यर्थः । अत्र हेतुः—\*अशक्यहानत्वादिति\* ॥ नहि स्वात्मा केनचित् त्यक्तुं शक्यत इति भावः । उपादेयत्वाभावे हेतुः—\*उपात्तत्वादिति\* ॥ नहि स्वात्मा नित्योपात्तः केनचित् पुनरुपादातुं शक्यत इति भावः । पूर्वप्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति\* ॥ सर्वस्य प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मैवात्मा ब्रह्मात्मैव सर्वप्रपञ्चजातस्य तत्त्वमित्युक्तम्, तदेव विशेषतः प्रतिपादयति भाष्यकार इत्याह—

भाष्यभावप्रकाशिका

तस्य प्रसिद्धत्वात् कथमुपनिषत्सुवेव वेद्यत्वमिति ? तत्राह—\*नह्यहमिति\* ॥ अहंकर्तुरेव तत्र प्रसिद्धत्वमित्यर्थः । अहंप्रत्ययस्य विषयोऽहंप्रत्ययविषयः, अहंप्रत्यय विषयश्चासौ कर्ता चेत्यात्मोच्यते । एवंभूतोऽपि साक्षी जैनदर्शने प्रसिद्ध इत्याशङ्क्याह—\*सर्वभूतस्थ इति\* ॥ तेषामात्मा देहपरिणामत्वात् सर्वभूतस्थ इत्यर्थः । सर्वगतत्वेन सर्वभूतस्थो नैयायिकादिमते प्रसिद्ध इत्यत आह—\*सम इति\* ॥ तर्हि सांख्यदर्शने सिद्ध इत्यत आह—\*एक इति\* ॥ चेतनाचेतनसर्वप्रपञ्चतादात्म्यापन्न इत्यर्थः । तथाऽपि भर्तृप्रपञ्चादिभिरभ्युपगतत्वात्परिणामीत्यत आह—\*कूटस्थेति\* ॥ कथं तर्हि

वार्तिकम्

रप्ययमात्मैति । यं यं हि हेतुं मम प्रतीचो नाशार्थं भवान् विवर्द्धति, तस्य तस्य भवतश्च प्रत्यक्तयाऽहं प्रदीपः

दिति\* ॥ अहेयानुपादेयत्वमुपपादयति—\*आत्मत्वादेव चेति\* ॥ नित्यप्राप्तत्वेन न प्राप्यत्वेनोपादेयत्वमिति भावः । उत्पाद्यत्वविकार्यत्वसंस्कार्यत्वाभावेनापि नोपादेयत्वमित्युपसंहरति—\*सर्व हीत्यादिना\* ॥ \*ननु\* “तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामी” इति पुरुषस्यैवोपनिषदत्वं पृष्ठम् । स च जीव एव, न तु सर्वाधिष्ठानं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैतत् पुरुषपदेनापि सर्वाधिष्ठानमेव बोध्यत इति श्रुतिप्रमाणोपपत्त्येन सूचयन् प्रमाणान्तरावेद्यत्वं ब्रह्मण उपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ उपनिषत्सु प्राधान्येनेति\* ॥ अनेन प्रमाणान्तराप्राप्तबोधकत्वेनोपनिषदां नानुवादत्वसंभव इति लौकिकसिद्धार्थपरवाक्यवैलक्षण्यं सूच्यते । सति चैवं लौकिको



**सर्वं हि विकारजातं विनश्यत् पुरुषान्तं विनश्यति । पुरुषो विनाशहेत्व-**

**भामती**

हि प्रपञ्चजातस्यात्मैव तत्त्वमिति । एतदुपपादयति—\*सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति\*॥  
अयमर्थः—पुरुषो हि श्रुति-स्मृतीतिहास-पुराण-तदविरुद्धन्यायव्यवस्थापितत्वात्परमार्थसन्, प्रपञ्चस्त्वनाद्य-  
विद्योपदर्शितोऽपरमार्थसन्; यश्च परमार्थसन्नसौ प्रकृती रज्जुतत्त्वमिव सर्पविभ्रमस्य विकारस्य ।  
अत एवास्यानिर्वाच्यत्वेनादृढस्वभावस्य विनाशः, पुरुषस्तु परमार्थसन् । नासौ कारणसहस्रेणाप्यसन् शक्यः  
कर्तुम् । नहि सहस्रमपि शिल्पिनो घटं पटयितुमीशत इत्युक्तम् । तस्मादविनाशिपुरुषान्तो  
विकारविनाशः, श्रुतिरज्जुतत्त्वान्त इव रजतभुजगविनाशः । पुरुष एव हि सर्वस्य प्रपञ्चविकार-  
जातस्य तत्त्वम् । नच पुरुषस्यास्ति विनाशः, यतोऽनन्तो विनाशः स्यादित्यत आह—\*पुरुषो  
विनाशहेत्वभावादिति\* ॥ नहि कारणानि सहस्रमप्यन्यदन्यथयितुमीशत इत्युक्तम् । अथ मा

**ऋजुप्रकाशिका**

\*सर्वस्य हि प्रपञ्चजातस्येति\*॥ \*अयमर्थ इत्यारभ्य रजतभुजगविनाश इत्यन्तो ग्रन्थः स्पष्टार्थः\*॥ एवं पुरुषाधि-  
ष्ठानकभ्रमरूपस्य सकलप्रपञ्चजातस्य विकारस्य पुरुषान्तो नाश इत्युक्त्वा पुरुषस्याविनाशं द्रढयितुं पुरुषस्य  
विकारभूतसकलप्रपञ्चाधिष्ठानत्वं द्रढयति—\*पुरुष एव हीति\*॥ परमपुरुषः परमात्मा ब्रह्म पुरुषशब्दार्थः । सकल-  
प्रपञ्चविकाराध्यासाधिष्ठानत्वाद् ब्रह्मैव सर्वस्य विकारस्य तत्त्वमित्यर्थः । \*अयं भावः—आरोपितस्य ब्रह्मैव तत्त्वम्;  
ब्रह्मसत्त्ववारोपितस्य विकारस्य सत्ता, नाऽन्या सत्ताऽस्ति; अधिष्ठानसत्ताव्यतिरेकेणारोपितस्य पृथक्सत्ताया  
अभावादिति । तदुक्तम्—“दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते । ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म प्रकाशात्मस्वरूपकम्”  
इति । तदनेन ब्रह्मणोऽधिष्ठानत्वं दृढीकृतम्; एवंचाधिष्ठानस्वरूपस्य तस्य नाशोऽस्तीत्याह—\*नहि  
पुरुषस्यास्ति विनाश इत्यादिना\* ॥ \*ननु\*—कारणवशाद् ब्रह्मण एव विकारप्रपञ्चरूपेणान्यथाभावात्  
कुतो न विनाशः? इत्याशङ्क्य, अतत्त्वतोऽन्यथाभावेऽपि सहस्रकारणेभ्योऽपि तत्त्वतोऽन्यथाभावो नास्ति, येन  
विनाशः स्यात्, इत्युक्तमित्याह—\*नहि कारणानि सहस्रमपि तत्त्वतोऽन्यथयितुमशक्ते\* इत्युक्तमित्यर्थः ॥ अन्यथा-  
भावस्य मिथ्यात्वादिति भावः । \*ननु\* उक्तम्—ब्रह्म अहेयमनुपादेयमिति, अस्त्वेवं ब्रह्मस्वरूपेण, तदीयो  
विकारो धर्मः कश्चिद्वेद्यः कश्चिदुपादेयश्च किं न स्यादित्याशङ्कते—\*अथेति\* ॥ कूटस्थमचलमित्यादिवाक्यात्

**भाष्यभावप्रकाशिका**

निषदमि”ति तद्विप्रत्ययोऽपि मानान्तरासिद्धत्वेनोपनिषत्प्रतिपाद्यत्वमात्मनो गमयतीत्याह—  
\*तन्त्विति\* ॥

तस्य जगत्कारणत्वमिति? तत्राह—\*सर्वस्येति\* ॥ प्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठानत्वात् कारणत्वव्यपदेशो  
रजतविग्रहाधिष्ठानभूतशुक्तेरिवेति भावः । फलितमाह—\*अत इति\* ॥ हेयोपादेयविषयौ विधि-  
निषेधौ न तद्विपरीतमात्मतत्त्वं विषयीकुरुत इत्याह—\*आत्मत्वादेव चेति\* ॥

\*ननु\* पुरुषस्यापि विनाशित्वाद्भेदत्वमित्याशङ्क्याह—\*सर्वं हीति\* ॥ अथवा सर्वस्य  
प्रपञ्चजातस्यात्मैव तत्त्वमित्युपपादयति—\*सर्वं हीति\* ॥ शुक्त्यादितत्त्वान्तं विनाशभाजां रजता-  
दीनां शुक्त्यादिरेव यथा तत्त्वम्, तथाऽत्मान्तं विनश्यतो विकारजातस्यात्मैव तत्त्वमित्यर्थः । \*ननु\*  
न तदन्तो विनाशः, तस्यापि विनाशित्वादित्यत आह—\*पुरुष इति\* ॥



**भावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः । अत एव नित्य-शुद्ध-बुद्ध-**

**भामती**

भूत् स्वरूपेण पुरुषो हेय उपादेयो वा, तदीयस्तु कश्चिद्भूमौ हास्यते, कश्चिच्चोपादास्यत इत्यत आह  
—\*विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः\* ॥ त्रिविधोऽपि धर्म-लक्षणावस्थापरिणामलक्षणो विकारो  
नास्तीत्युक्तम् । अपिचात्मनः परमार्थसतो धर्मोऽपि परमार्थसन्निति न तस्यात्मवदन्यथात्वं कारणैः  
शक्यं कर्तुम् । नच धर्मान्यथात्वादन्यो विकारः, तदिदमुक्तम्—\*विक्रियाहेत्वभावादिति\* ॥ सुगममन्यत् ।

**अनुप्रकाशिका**

कूटस्थत्वेन निर्विकारत्वश्रवणाद् विकारहेत्वभावाद्विकारो धर्मो वास्तवो नेति न तथात्वमित्याह—\*अत  
आहेति\* ॥ विकारहेत्वभावात् त्रिविधो विकारो नास्तीति पूर्वोक्तं स्मारयति—\*त्रिविधोऽपीति\* ॥ धर्मपरिणामः,  
लक्षणपरिणामः, अवस्थापरिणाम इति परिणामलक्षणो विकारस्त्रिविधोऽपि नास्तीत्युक्तमित्यर्थः । आत्मनि धर्म-  
मङ्गीकृत्याप्याह—\*अपिचेति\* ॥ किमात्मनि स्वीक्रियमाणो धर्मः कारणैरन्यथा क्रियते ? उत न ? आद्यमङ्गी-  
करोति—\*आत्मनः परमार्थसत इति\* ॥ \*तस्य = धर्मस्य\* ॥ आत्मवदिति आत्माऽन्यथाकर्तुं न शक्यते ;  
परमार्थत्वात्, एवं धर्मस्याप्यन्यथात्वं कारणैः कर्तुं न शक्यमित्यर्थः । आद्येऽपि किं धर्मान्यथात्वाद् आत्मनोऽन्यो  
विकारोऽस्तीति ? उत न ? अन्ये इष्टापत्तिरित्यभिप्रेत्य, आद्यं दूषयति—\*नच धर्मान्यथात्वादन्यो विकार इति\* ॥  
विक्रियाहेत्वभावादित्यर्थः । तदेतद् भाष्यारूढं करोति—\*तदिदमुक्तमिति\* ॥ वस्तुतस्तु निर्धर्मकमेव ब्रह्म  
तत्रैव तात्पर्यम् । \*अन्यदिति\* ॥ यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणमित्यतः प्राक्तनं भाष्यमित्यर्थः । साक्षित्वेनानु-  
क्रान्तमित्यर्थः । \*ननु\* “दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थवबोधनमिति” कथमुक्तमिति वक्तव्ये “दृष्टो हि तस्यार्थः

**वार्तिकम्**

स्वरूपमिति कथं ममोपनिषद्भिर्गोचरमानसतत्त्वस्य भवता निराकरणं स्यात् ? तस्मात् \*सर्वं हि विकार-  
जातं विनश्यत् पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषस्तु विनाशहेत्वभावाद् न विनाशी\* ; विक्रियाहेत्वभावाच्च  
कूटस्थनित्यः । अत एव नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावः\* ॥ न चैतादृशस्य क्रियाशेषत्वं सचेतसाऽध्य-  
वसातुं शक्यते ; सर्वस्यैतच्छेषत्वात् । तथाच श्रुतिः—“पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।”  
इति ॥

अन्यशेषत्वे चैतन्नोपपद्येत । अपिच यदि स्वप्राधान्येनोपनिषद्भिर्ब्रह्म न प्रतिपाद्येत, ततः—“तं त्वौ-  
पनिषदम्” इत्यौपनिषदत्वविशेषणं ब्रह्मणो नावकल्पेत ; अन्यपरत्वादुपनिषदाम् । तस्माद् वस्तुपरो  
वेदभागो नास्तीति वहिर्मुखानां यत् प्रलपनम्, तत्साहसमात्रमेव । अतो न षष्ठः पक्षः साधीयानिति ।

अयानन्यशेषस्य हेयोपादेयत्वशून्यभूतवस्तुप्रतिपादनं निरर्थकमिति सप्तमः पक्षोऽपि न ; सर्वा-  
नर्थमूलमिथ्याज्ञाननिवृत्तिप्रयोजनस्यासकृदावेदितत्वात् तदर्थमन्यशेषताभ्युपगमस्यायुक्तत्वात् ॥

\*ननु\* उपनिषदां भूतवस्त्वभिधानपरत्वे—“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्” “दृष्टो  
हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम” इत्यादि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणं विरुध्येतेत्युक्तमिति चेत्, \*न\* ;  
प्रकृतविधि-निषेधशास्त्राभिप्रायत्वादाप्तायपदस्य ; यथाचैतत् तथोक्तमधस्तात् । अतो न तदनुक्रमण-  
विरोधः ।

अपिच यद्यक्रियार्थानामानर्थक्यमैकान्तेनाभ्युपगम्यते भवता, कर्मकाण्डेऽपि यूपाहवनीय-स्वर्गादि-  
भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः । अथ तदानर्थक्यपरिहाराय प्रवृत्तिरित्यतिरिक्तं भूतमपि द्रव्य-देवतादिकं



मुक्तस्वभावः । तस्मात् “पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः” (काठ० १।३।११) “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (बृह० ३।१।२३) इति चौप-  
निषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाशयमानत्वं उपपद्यते । अतो  
भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ।

#### पञ्चपादिका

नच तस्य कदाचिदभावः सम्भवति ; अभावहेतूनामविषयत्वात् । नच निर्हेतुको विनाशः ;  
चित्तेरेकरूपावभासेन क्षणभङ्गनिराकरणात् । अतोऽवच्छेदत्रयशून्ये तस्मिन् स्वयंप्रकाशमाने सर्वस्य  
पुरुषावधिर्विनाशस्य । \*सा काष्ठा सा परा गतिः\* ॥ तदेवमसंसार्यात्मनि प्रमाणान्तरागोचरे वेदान्तवाक्य-  
समन्वयात् प्रतीयमाने कथं तत्परो वेदभागो न भवेत् ? कथं वा प्रतीयमानो निराक्रियेत ?

\*ननु\* “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानामि”त्यक्रियार्थानां पदानामर्थशून्यत्वं शास्त्रतात्-  
पर्यविद आहुः । तस्मात्प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यतिरिक्तार्थवादिनां निरालम्बनत्वाद् न ततो वस्त्ववगमः सामान्यतो-

#### पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रकरणार्थमुपसंहरति—\*अतोऽवच्छेदत्रयशून्य इत्यादिना\* ॥ \*ननु\* सूत्रकारवचनसामर्थ्यात्कृत्स्नो  
वेदः क्रियायामेव विनियुक्त इति चोदयति—\*नन्वाम्नायस्येति\* ॥ \*ननु\* पौरुषेयवचनात्कथमना-  
देवैदिकपदसमन्वयस्यार्थनिर्णयः ? \*उच्यते\* ; अनादिप्रवृत्तात् क्रियार्थतयैव प्रयोगप्रत्ययव्यवहारादेतदवगम्यत  
इत्याह—\*तस्मात्प्रवृत्ति-निवृत्तीति\* ॥ \*ननु\* शब्दश्रवणानन्तरं भूतेऽप्यथे प्रतीतिरुपजायत इति,  
नेत्याह—\*न ततो वस्त्ववगम इति\* ॥ \*ननु\* अशतब्रह्मावगमः कथं विभ्रमः स्यादिति ? तत्राह—\*अत एव

#### तत्त्वदीपनम्

\*नच तस्येति टीकाया अयमर्थः—आत्मनः प्रख्यातप्रागवस्थानेऽपि प्रलये लयमाशङ्क्याह—\*न च तस्येति\* ॥  
तदाऽपि किं तन्नाशः सहेतुकः ? उत निर्हेतुकः ? नाद्य इत्याह—\*अभावेति\* ॥ न तावत्समवायिकारण-  
नाशान्नाशः ; तदभावात्, नाप्यसमवायिकारणनाशात् ; अवयवसंयोगो हि द्रव्यासमवायिकारणम्, नचास्या-  
रम्भका अवयवाः सन्ति, येन तत्संयोगनाशान्नाशः स्यात्, न च नाशकान्तरम् ; मानाभावादित्यर्थः । द्वितीयं  
दूषयति—\*न चेति\* ॥ \*पुरुषावधिरिति\* ॥ पुरुषपर्यन्त इत्यर्थः । तस्मिन्नर्थे श्रुतिमुदाहरति—\*सा काष्ठेति\* ॥  
अवधिरित्यर्थः । सकललौकिकानन्दानां तन्मात्रत्वादात्मस्वरूपमेव संभजनीयमित्याह—\*सा परेति\* ॥  
परमप्रकृतमुपसंहरति—\*तदेवमिति\* ॥ \*ननु\* अधोतिविध्युपात्तस्याक्षरमात्रस्यापि नैरर्थक्यानुपपत्तेः कथमानर्थ-  
क्यमुक्तम्—“नन्वाम्नायस्ये”त्यादिना ? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*ननु सूत्रेति\* ॥ अक्रियार्थत्वं आनर्थक्यापाताद्  
वेदस्य क्रियार्थत्वमिति शङ्कार्थः । पौरुषेयवचनानुतोधेन कथं वेदार्थो व्यवस्थापनीयः ? शब्दार्थसंबन्धस्य शक्तिलक्षणतया  
यावच्छब्दभावित्वादिति शङ्कते—\*ननु पौरुषेयेति\* ॥ शक्तेर्यावच्छब्दभावित्वेऽपि तद्ज्ञानस्य वृद्धव्यवहाराधीनत्वात्तद-  
नुरोधेन वेदार्थस्य व्यवस्थावचनमुचितमित्याह—\*उच्यत इति\* ॥ अक्रियार्थानामानर्थक्याभिधानमनुभवविरुद्धमिति

#### वार्तिकम्

भव्यार्थत्वेन शास्त्रेणाभिधीयत इत्यभ्युपगम्यते ; अन्यथा तत्प्रकाशकमन्त्रादेरशास्त्रत्वापत्तेः, तदसिद्ध्या  
भव्यासिद्धेश्चेति चेत्, एवं तर्हि स्वप्रकरणस्थं नित्यं भूतवस्तु शास्त्रेण नोपदिश्यत इति को हेतुः ? नहि

#### प्रदीपः

\*अत इति\* ॥ तदेवं स्वसिद्धान्तेनाज्ञातसङ्गतिरित्येन कार्यार्थत्वमेव वेदान्तानामिति वृत्तिकारीयोपपत्तिनिरस्ता । साम्प्रतं  
वेदान्तवाक्यानां कार्यार्थत्वेनैव वेदवाक्यानां प्रामाण्यमित्यत्र शबरस्वामिनः सूत्रकारा वा नानुकूलः, यतस्ते धर्मजिज्ञासामेवा-  
धिकृत्य कार्यार्थत्वं वेदवाक्यानां प्रतिपादयन्ति, न तु ब्रह्मजिज्ञासामधिकृत्य । तद्यदि तेषां वचनमनुसृत्य कार्यविधिपरत्वं तेषां



यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—‘दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्’ इत्येव-  
मादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् ।

भामती

यत्पुनरेकदेशिना शास्त्रविद्वचनं साक्षित्वेनानुकान्तं तदन्यथोपपादयति—\*यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्र-  
मणमिति\* ॥ ‘दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थवबोधनम्’ इति वक्तव्ये धर्मजिज्ञासायाः प्रकृतत्वा-  
द्धर्मस्य च कर्मत्वात् ‘कर्मावबोधनम्’ इत्युक्तम्, नतु सिद्धरूपब्रह्मावबोधनं व्यापारं वेदस्य वारयति ।  
नहि सोमशर्मणि प्रकृते तदुणाभिधानं परिसंचष्टे विष्णुशर्मणो गुणवत्ताम् । विधिशास्त्रं विधीयमान-  
कर्मविषयम्, प्रतिषेधशास्त्रं च प्रतिषिध्यमानकर्मविषयमित्युभयमपि कर्मावबोधनपरम् । अपिच  
“आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्” इति शास्त्रकृद्वचनम् । तत्रार्थग्रहणं यद्यभिधेयवाचि, ततो भूतार्थानां

ऋजुप्रकाशिका

कर्मावबोधनम्” इति कथमुक्तमित्याशङ्क्य तत्र धर्मजिज्ञासायाः प्रकान्तत्वाद् धर्मस्य च कर्मत्वात्तथोक्त-  
मित्याह—\*दृष्टो हीति\* ॥ कर्मावबोधनमित्युक्ते ब्रह्मावबोधनं व्यावर्त्यत इत्येतदभिप्रायेण नोक्तमित्याह—  
\*नत्विति\* ॥ अन्यस्य कथनमन्यव्यावर्तनाय नेत्येतदेवाह—\*नहीति\* ॥ सोमशर्मणि प्रकृते तदुणाभिधानं  
विष्णुशर्मणुगुणवत्तां नहि निवारयतीत्यर्थः । तथाच धर्मजिज्ञासाप्रक्रमानुसारेण निषेधशास्त्रस्य कर्मावबोधः  
प्रयोजनमित्युक्तमात्रेण सिद्धब्रह्मपरवेदान्तशास्त्रस्य ब्रह्मावबोधप्रयोजनकता न व्यावर्त्यत इति दृढमिति  
द्रष्टव्यम् । \*ननु\*—विधिशास्त्रस्य कर्मावबोधनपरत्वेऽपि निषेधशास्त्रस्य कथं कर्मावबोधनपरत्वम् ? तत्राह—  
\*विधिशास्त्रमिति\* ॥ किंच—“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्” इति शास्त्रस्य वचनानु-  
रोधादाम्नायस्य वेदराशेः क्रियार्थत्वादतदर्थानाम् अक्रियार्थानां वेदान्तानामानर्थक्यमिति वदता वक्तव्यम्—  
किमाम्नायस्य क्रियार्थत्वात् क्रियाभिधायित्वाद् अतदर्थानाम् अक्रियाभिधायिनामानर्थक्यमित्यर्थो विवक्षितः ?

वार्तिकम्

भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति । \*अथैव मन्यसे\* अक्रियार्थत्वेऽपि द्रव्य-देवतादीनां भूतानां क्रियासाधन-  
त्वात् तदर्थमुपदेशः स्यादिति, \*आस्तां क्रियार्थत्वम्\* ; किं तावता ? क्रियानिर्वर्तनशक्तिमन्ति भूतानि  
वस्तूनि शास्त्रेणोपदिष्टान्येव, अक्रियार्थत्वं तु—तेषां प्रयोजनम् । नचैतावता तानि नोपदिष्टानि । नच  
तानि न भूतानि । उपदिश्यतां कर्मप्रकरणे तदर्थतया भूतं वस्तु शास्त्रेण, तावताऽपि किमिष्टं तव  
सिद्धमिति चेत्, उच्यते—प्रमाणान्तरानधिगतात्मवस्तूपदेशस्तथैव भविष्यति । नच तस्य क्रियार्थत्वा-  
भावे निरर्थकत्वशङ्काऽस्ति ; तद्वगतिमात्रेण संसारहेतोरविद्याया निवृत्तेः प्रयोजनस्य सत्त्वात् सार्थकत्वो-  
पपत्तेः । अपिचाक्रियार्थानामक्रियारूपाणां च स्वर्गादिफलानां कर्मकाण्ड उपदेशः क्रियते यथा, तद्वद्  
आत्मतत्त्वस्याप्युपदेशो न विरोत्स्यते । यदि ब्रूयात् स्वर्गादेः स्वतः प्रयोजनरूपत्वाद् न प्रयोजनान्तरापेक्षा,  
ब्रह्मात्मैकत्वस्यापि निरतिशयसुखरूपत्वाद् न प्रयोजनान्तरापेक्षेति समः समाधिः ॥

प्रदीपः

मन्यते, तर्हि तदर्थवादत्वमेव तन्मतरीत्या वक्तव्यम् ; नतु निर्गुणोपासनप्रामाण्यम् । न हि शबरस्वामिनो धर्मजिज्ञासां  
सूत्रयन्तः सूत्रकारा वा ब्रह्मजिज्ञासां नाम जिज्ञासान्तरमपि नियतं मन्यन्ते । असत्कल्पैव हि तन्मते ब्रह्ममीमांसा नाम,  
यतस्तेऽर्थवादत्वमेवोपनिषदां मन्यन्ते । ततश्च शबरस्वाम्यादयो न कथमपि वृत्तिकाराणामनुकूलः । अत उभयसंमतमिदं  
वक्तव्यम्—यत् शबरस्वामिवचनानुसारेण वेदान्तवाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि वा न व्याख्येयानीति प्रतिपादयति—\*यदपीति\* ॥  
\*विधिप्रतिषेधशास्त्रेति\* ॥ “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” इति प्रतिज्ञायैव तदुक्तेरिति भावः । \*द्रष्टव्यमिति\* ॥ निर्गुणोपासना-  
विधिपरैर्वृत्तिकारैरपीति शेषः । वस्तुतस्तु—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादिति क्रियार्थत्वं न क्रियारूपामिधेयत्वम् । क्रियाशेषतया



## पञ्चपादिका

दृष्टनिबन्धनो अमः । तेन प्रवृत्ति-निवृत्त्यनुपयोगि वस्तु न शब्दादवगम्यते, अत एव तन्मिथ्येति शक्यते वक्तुम् ; प्रमाणान्तरस्यापि तद्विषयस्यासम्भवात् । कथं पुनः प्रवृत्ति-निवृत्त्यनुपयोगि वस्तु न शब्दादवगम्यते ? शब्दस्य तत्र सामर्थ्याग्रहणात् । नचागृहीतसामर्थ्य एव शब्दश्चक्षुरादिवद्विज्ञानं जनयति । सामर्थ्याग्रहणं च ज्ञानकार्योन्नेयम् । ज्ञानं च विशिष्टार्थविषयं तद्विषयप्रवृत्त्याऽवगम्यते । तदभावे कुतः सामर्थ्यकल्पना स्यात् ? अक्लृप्तसामर्थ्यश्च शब्दोऽक्रियाशेषेऽर्थे कथं विज्ञानं जनयेत् ?

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तन्मिथ्येति\* ॥ शब्दसामर्थ्याभावात्संवादाभावाच्चेत्यर्थः । \*ननु\* भूतेऽप्यर्थे प्रमितिरूपजायते चेत्, नैव तत्र शब्दसामर्थ्यं कल्प्यतामिति चोदयति—\*कथं पुनरिति\* ॥ परिहरति—\*शब्दस्य तत्वेति\* ॥ \*ननु\* धूमस्य सामान्येन गृहीतसंबन्धस्य विशेषबोधकत्ववत्क्रियार्थे गृहीतसंबन्धोऽपि भूतमर्थं गमयेदिति, नेत्याह—\*नचागृहीतसामर्थ्यं इति\* ॥ तर्हि भूतेऽप्यर्थे संबन्धो गृह्यतामिति, नेत्याह—\*सामर्थ्याग्रहणं चेति\* ॥ \*ननु\* भूतेऽप्यर्थे प्रवृत्त्या ज्ञानानुमानेन सामर्थ्यं गृह्यतामिति, नेत्याह—\*तदभावे कुत इति\* ॥ साध्ये प्रवृत्तिर्न भूतार्थ इति ।

## तत्त्वदीपनम्

शङ्कते—\*ननु शब्देति\* ॥ किं प्रतीतिमात्रस्यानुपपत्त्याऽर्थवत्त्वम् ? उत तद्विशेषस्य ? नाद्य इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*नन्वज्ञातेति\* ॥ “आदित्यो यूयः” इत्यादिवाक्योत्थज्ञानचदप्रामाण्यं स्यादित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ प्रमाणान्तराभावेऽपि भूतवाक्यस्य तत्र प्रामाण्यं किं न स्यादिति ? तत्राह—\*शब्देति\* ॥ भूतवाक्यस्य न स्वार्थे प्रामाण्यं सिध्येत् ; शक्त्यग्रहात्, तथाभूतवाक्यप्रामाण्यस्य संवादाधीनत्वदृष्टेस्तदभावादप्रामाण्यं चेत्यर्थः । सामर्थ्याभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*ननु भूत इति\* ॥ नच संवादकाभावाद् वेदवचसोऽप्रामाण्यम् ; पौरुषेयत्वे तदपेक्षणादित्यर्थः । ऐकग्रन्थशङ्कां निरस्यति—\*परिहरतीति\* ॥ शक्तिग्रहणमप्रयोजकमिति शङ्कते—\*ननु धूमस्येति\* ॥ पर्वतनिष्ठोऽग्निर्विशेषशब्दार्थः । पक्षधर्मताबलाद्विशेषसिद्धेरङ्गीकरणान्नागृहीतसंगतिकस्य लिङ्गस्य बोधकत्वम् ; इतरथाऽतिप्रसक्तिरित्यभिप्रायेणाह—\*नेत्याहेति\* ॥ कार्यवत् सिद्धेऽपि संगतिग्रहणमविशिष्टमिति शङ्कते—\*तर्हि भूत इति\* ॥ संबन्धग्रहणस्य संबन्धिग्रहणाधीनत्वात् तस्य च परवर्तिनोऽप्रत्यक्षत्वान्मैवमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ \*ज्ञानकार्योन्नेयमिति\* ॥ ज्ञानलक्षणकार्योन्नेयमित्यर्थः । \*ननु\* यथाऽनुमिते प्रत्यये संगतिग्रहणं त्वन्मते, तद्वन्ममापीति शङ्कते—\*ननु भूत इति\* ॥ प्रवृत्तेरेवाभावाच्च तथाऽनुमानमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

## वार्तिकम्

\*ननु\* कार्यान्विते कार्यान्वयान्वयिनि वा शक्तिग्रहनियमात् शक्तिग्रहानुसारेण च वाक्यार्थाविधारणात् कथं केवलं वस्तूपदिश्यताम् ? अतोऽस्ति वैषम्यमिति चेत्, \*न\* ; ‘पुत्रस्ते जातः’ ‘नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ती’त्यादिवाक्येषु व्यभिचाराद् लाघवाच्चेतरान्वित एव शक्तिग्रहादुक्तनियमासिद्धेः । नच—तत्र प्रवृत्तिलिङ्गाभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति—वाच्यम् ; हर्षपुत्रोत्सवकरणादिलिङ्गस्य तद्ग्राहकत्वात् । नच—जायासुखप्रसवादेरर्थान्तरस्यापि हर्षहेतोः संभवाद् न हर्षस्य पुत्रजन्मलिङ्गतेति—वाच्यम् ; हर्षमात्रस्य तथात्वेऽपि तादृशल्लिङ्गविशेषेणानुमितहर्षविशेषस्य तथात्वोपपत्तेः । \*एतेन\*—जातकर्मादौ वक्तुरभिप्रायाद् लक्षणया तत्परमेवैतद्वाक्यमिति—\*अपास्तम्\* ; तदनियतत्वात् । नहि सर्वेषां जातकर्मादौ प्रवृत्तिरस्ति, येन तद्वाक्येन तल्लक्ष्येत ; अत्रैवर्णिकेषु नास्तिकेषु च तददर्शनात् । नच वक्तुरपि तदभिप्रायः संभवति ; बाहुल्येन पुत्रजन्मरूपापनस्यैवाभिप्रेतत्वेन सर्वानुभवसिद्धत्वात् । \*एतेन\*—तत्पदाध्याहारोऽपि—\*प्रत्याख्यातः\* ; प्रमाणाभावात्, निरर्थकत्वाच्च, पुत्रजन्मावगममात्रादेव परमप्रीतिलाभात्प्रयोजनसिद्धेः । \*एतेन\*—नदीतीरेवाक्येऽपि कार्यपदाध्याहारः—\*प्रत्याख्यातो



## पञ्चपादिका

उच्यते । नैव सूत्रकार-भाष्यकारयोरभिप्रायो लौकिको वा न्यायः सम्यगवगतो भवता । पश्यतु

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*उच्यते नैव सूत्रकारेत्यादिः परिहारः\* ॥ कथम् ? लौकिकन्यायमनुसरता वार्तिककारेणेदं प्रतिपादितम्—  
“अभिहितान्वय इति” ॥ प्रदेभ्यः प्रतिपन्नानां पदार्थानां संसृष्टपरस्परार्थावबोधनमभिहितान्वयो नाम । तत्र  
श्रोतुः प्रवृत्त्या विशिष्टसंसर्गज्ञानं शब्दकार्यत्वेनानुमाय शब्दसमुदायस्यार्थसमुदाये सामर्थ्यं प्रतिपद्यते । तत्र  
“गामानय” “गां बधाने” त्यादिप्रयोगभेदेष्वावापोद्धाराभ्यामानयन-तत्संसर्गव्यभिचारेऽपि गोमात्रान्वयाद् बन्धनेऽपि  
गोशब्दस्य गोमात्रे संबन्धः प्रतिपद्यते, नानयन-तत्संसर्गयोः ; व्यभिचारात् । एवं सर्वपदानां पदार्थस्वरूपमालेषु  
सामर्थ्यप्रतिपत्तेः संसर्गबोधः किंनिबन्धनः ? इति वीक्षायामनन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकाभ्यां शब्दावगतपदार्थनिबन्धन  
इति कल्प्यते । ततः पदेभ्यः पदार्थाः, पदार्थेभ्यः संसर्ग इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

## ऋजुविवरणम्

\*उच्यते—नैव सूत्रकारेणेति\* कथमुक्तम् ? सूत्रभाष्यवचनस्य दर्शितत्वात्, नच तदभिप्रायस्यान्यथात्व-  
द्योतकं किञ्चिदुपलभ्यते, नापि न्यायस्य, तत्कथमज्ञानमुक्तमिति पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ तत्र न्यायापरिज्ञानं  
तावद्दर्शयति—\*सम्यगवगत इति\* ॥ न्यायस्वरूपे निर्धारिते तन्मूलत्वेन सूत्रभाष्याभिप्रायोऽपि स्पष्टो भवति ।  
तन्मूलत्वेन दौर्बल्यादादौ न्यायप्रदर्शनम् । न्यायेऽपि सन्देहनिवृत्त्यर्थं बृद्धपरिग्रहप्रदर्शनेन तत्स्वरूपं दर्शयति—\*तत्र  
लौकिकन्यायमनुसरतेति\* ॥ कोऽयमभिहितान्वयो नाम ? कथञ्च तत्प्रतिपादने सिद्धे प्रामाण्यलाभ इति ? तदाह—  
\*पदेभ्यः प्रतिपन्नानामिति\* ॥

\*ननु\* शब्दानन्तर्ये विद्यमाने कथं संसर्गबोधोऽर्थनिबन्धनः ? इत्याशङ्क्याह—\*तत्र श्रोतुः प्रवृत्त्येति\* ॥  
“तदर्थक्रियानुपयोग्यार्थवाचिनामिति” टीकाग्रन्थस्यायमर्थः—स चासावर्थश्चेति तदर्थः । तदर्थस्य क्रियोत्पत्तिः ।  
यद्वा—तदर्थ एव क्रिया, तत्रानुपयोग्यार्थवाचिनामिति । एतदुक्तं भवति—\*प्रयोजन-तत्साधनव्यतिरिक्तवाचिना-

## तत्त्वदीपनम्

सिद्धे दृष्ट्यादावपि प्रवृत्तिर्दृष्ट्याशङ्क्य, तस्य क्रियोपरक्ताकारेण प्रवृत्तिविषयत्वम्, न स्वरूपेणेत्याह—\*साध्य इति\* ॥  
उपक्रमादिपर्यालोचनया सूत्र-भाष्ययोः कार्यपरतावगतेः कथं तदभिप्रायेऽनधिगतिरित्याशङ्क्याह—\*उच्यते  
इति\* ॥ परिहारप्रकारं पृच्छति—\*कथमिति\* ॥ सूत्र-भाष्यकाराभिप्रायाधिगतेर्वार्तिकाधीनत्वाद् वार्तिकं च  
सिद्धसाध्ययोरविशिष्टमिति दर्शयितुमभिहितान्वयं वार्तिककारपरिगृहीतमाह—\*लौकिकेति\* ॥ अभिहितान्वयस्व-  
रूपमाह—\*पदेभ्य इति\* ॥ संसृष्टस्वार्थे पदसामर्थ्याधिगतेः पदार्थानां कथं संसर्गबोधकत्वम् ? इत्याह—\*तत्र  
श्रोतुरिति\* ॥ संसर्गज्ञानमन्तरेण प्रवृत्त्यसंभवात् प्रथमं संसर्गज्ञानं कल्पयति, तस्य च कारणान्तरानिरूपणात्  
शब्दकारणकत्वं कल्पयति, शब्दस्य च तत्र सामर्थ्याभावे तद्ज्ञानजननायोगात् सामर्थ्यं पश्चान्निश्चिनोतीत्यर्थः ।  
तथाऽपि कथं पदार्थानां संसर्गबोधकत्वसिद्धिः ? तत्राह—\*तत्र गामिति\* ॥ बन्धनेऽपि गोमात्रस्यान्वयाद्  
गोशब्दस्य तत्र संबन्धं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । पदार्थवत्पदानामप्यन्वय-व्यतिरेकवत्त्वात्संसर्गबोधकत्वमित्याशङ्क्य,  
तयोरन्यथासिद्धिमाह—\*शब्दावगतेति\* ॥ नच—प्रत्यक्षावगतघटादीनां संसर्गबोधकत्वमदृष्टमित्यपि—शङ्क्यम् ;  
शब्दावगतपदार्थानां संसर्गबोधकत्वनियमादित्यभिसन्धिः ॥

## वार्तिकम्

द्रष्टव्यः\* ; तावतैव वाक्यस्य पर्यवसानात्, प्रत्यक्षादिविषय इव रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेः, तदभावे विधौ  
सत्यपि प्रवृत्त्यदर्शनात् । अपिच कार्यान्वित एव शक्तिग्रह इति नियमे कार्यपद एव लिङ्गादौ शक्तिग्रहो न  
स्यात् ; कार्यस्य कार्यान्तरान्वयात्, अन्यथा स्वातन्त्र्यव्याघातात्, स्वस्य स्वान्वयासंभवादात्माश्रया-  
पत्तेः । तदन्वयाभावेऽपि तत्र शक्तिग्रहे कार्यपद एव व्यभिचारः । अत एव न कार्यान्वयान्वयिनि



## पञ्चपादिका

भवान्—देवदत्त ! 'गामभ्याज' 'शुक्लां दण्डेने'ति प्रवर्तकाभ्याजेतिपदातिरेकिणां देवदत्तादिभूतार्थवादि-  
नामप्रवर्तकानामपि प्रवर्तकादेव वाक्याद्भूतवस्तुविषयमपि सामर्थ्यं प्रतीयते ? न वेति ? प्रतीयते चेत्,

## पञ्चपादिकाविवरणम्

तत्र यद्यक्रियाभिधायिनां पदानामालम्बनाभाव उच्यते ? किं वा प्रयोजनाभाव इति ? यद्यालम्बना-  
भावः, तत्राह—\*पश्यतु भवान् देवदत्त गामभ्याजेति\*॥ अथ नालम्बनाभावः, किं तु प्रयोजनाभाव इति वक्तव्य-  
मित्याह—\*प्रतीयते चेदिति\*॥ अथाक्रियार्थानां प्रयोजनाभाव इति, \*न\* ; क्रियायाः प्रयोजनत्वाभावादित्याह

## तत्त्वदीपनम्

ततः किमिति ? अत्राह—\*तत्र यदीति\* ॥ निपातानामनेकार्थस्मरणाद्यदीतिपदं किमर्थं द्रष्टव्यम् ॥  
अप्रतीतिपक्षस्यानुभवविरुद्धत्वात्प्रतीतिपक्ष आदेय इत्याह—\*अथेति\* ॥ अथशब्दस्य प्रकृतादर्थोदर्थान्तरार्थतया  
प्रसिद्धत्वात्प्रतीतिपक्षपरिग्रहार्थत्वमथशब्दार्थः । तर्हि निरालम्बत्वमानर्थक्यमित्येतद्रूपमित्याह—\*नालम्बनाभाव  
इति\* ॥ द्वितीयमनुवदति—\*अथाक्रियार्थानामिति\* ॥ क्रियायाः स्वरूपेण प्रयोजकत्वात्तद्विधुरवाक्येषु फलविधुरत्वं  
विवक्ष्यते ? आहो क्रियायाः फलसाधनत्वात् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—\*न क्रियाया इति\* ॥

## वार्तिकम्

शक्तिग्रहनियमः ; कार्यान्तरस्यान्वयविशेषणत्वे स्वातन्त्र्यव्याहतिरन्योन्याश्रयणादिदोषप्रसङ्गश्च, स्वस्यैव  
स्वान्वयविशेषणत्व आत्माश्रयदोषः । स्वोपलक्षितान्वयान्वयित्वे नायं दोष इति चेत्, तर्ह्यन्वितमात्रे  
शक्तिग्रहः स्यात्, गता कार्यान्विते शक्तिग्रहकथेति सिद्धं नः समीहितम् ॥

अपिच किं वा भवतां कार्यत्वेनाभिमतम् ? तदुच्यताम् । नियोग इति चेत्, ननु नियोग  
एव कः ? यस्मिन् प्रतीते नियुक्तोऽहमिति मत्वा पुरुषः प्रवर्तते, स नियोग इति चेत्, ननु तर्हि स्वर्गादि-  
लक्षणं क्रियाफलमेव नियोगः स्यात् ; तत्प्रयुक्ततया पुरुषस्य तत्साधनेषु प्रवृत्तेः । तथाचोक्तम्—“येन  
प्रयुक्तः पुरुषः प्रवर्तते, तत्प्रयोजनमिति” । फलरागो वा स्यात् ; तेन नियुक्ततया ग्रहगृहीतवत् पुरुषस्य  
प्रवृत्तेः । नित्ये नास्तिफलं तद्गो वेति चेत्, न ; प्रत्यवायपरिहारफलस्य विद्यमानत्वात्, “कर्मणा  
पितृलोकः” इति फलान्तरस्यापि सत्त्वाच्च । \*एतेन\*—फलरागोऽपि तत्र—\*व्याख्यातः\* ; प्रत्यवाय-  
जिहासादेस्तत्र संभवात् । इष्टसाधनताज्ञानं वा नियोगः स्यात् ; तत एव सर्वत्र प्रवृत्तिदर्शनात् । अत  
एवेष्टसाधनत्वं विधिरिति वृद्धाः ॥

\*ननु\* नियोजका लिङ्-लेट्-तव्यादयः, ननु नियोगः ; नियोगस्याज्ञादिवत् प्रयोजकव्यापारत्वेन  
तद्विन्नतया सिद्धत्वादिति चेत्, \*एवमपि\* फलरागादेव प्रवर्तकत्वेन नियोगस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः, तद्व्या-  
पारत्वेन स्वातन्त्र्यव्याहतेश्च । तथाचापसिद्धान्तः । आज्ञादिवन्नियोजकव्यापारत्वेऽपि प्रवर्तकत्वमस्त्ये-  
वेति चेत्, सत्यम् ; तथाऽपि स्वातन्त्र्यहतिस्त्वपरिहार्येव । अपिच नियोगस्यापि प्रवर्तकत्वेन नियोजक-  
त्वाद् नियोगाव्यवस्थाप्रसङ्गः ; एकस्यां क्रियायां प्रवर्तकानेकत्वेन तद्व्यापारानेकत्वाद् नियोगानेकत्व-  
प्रसङ्गाच्च । नियोगव्यञ्जकाश्चैते प्रयोजकव्यापाराः, ध्वनय इव वर्णव्यञ्जकाः ; ननु स्वतो नियोगाः । तदभि-  
व्यञ्जकत्वेन तु नियोगा इत्युच्यन्ते बुद्धिवृत्तय इव ज्ञानानीति । तदभिव्यङ्ग्यस्तु नियोगः । स च स्वतन्त्र  
एकश्चेति नोक्तदोष इति चेत्, न ; तादृशनियोगकल्पने प्रमाणाभावात् । सर्वोऽपि शब्दस्तत्र प्रमाणमिति  
चेत्, न ; “पुत्रस्ते जातः” इत्यादिषु व्यभिचारात् । तेषामपि कार्यपरत्वकल्पनेन व्यभिचारपरिहारे  
चान्योन्याश्रयपत्तेः,—सर्ववाक्यानां कार्यार्थत्वसिद्धौ तेषामपि कार्यपरत्वकल्पनम्, तेषामपि कार्यरत्वकल्पने  
सर्ववाक्यानां कार्यार्थत्वसिद्धिरिति । अपिचोपसर्जनान्वितप्रधानपदार्थस्तयोः परस्परान्वयो वा वाक्यार्थोऽ-



अपिच “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्” इत्येतदेकान्तेनाभ्युप-  
गच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छे(१)षव्यतिरेकेण भूतं  
चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः ?

भामती

द्रव्य-गुण-कर्मनाम्नामानर्थक्यमनभिधेयत्वं प्रसज्येत, नहि ते क्रियार्था इत्यत आह—\*अपि चाम्नाय-  
स्येति\*॥ यद्युच्येत नहि क्रियार्थत्वं क्रियाभिधेयत्वम्, अपितु क्रियाप्रयोजनत्वम्; द्रव्य-गुण-शब्दानां च  
क्रियार्थत्वेनैव भूतद्रव्यगुणामिधानं न स्वनिष्ठतया । यथाहुः शास्त्रविदः—“चोदना हि भूतं भवन्तम्”  
इत्यादि । एतदुक्तं भवति—कार्यमर्थमवगमयन्ती चोदना तदर्थं भूतादिकमप्यर्थं गमयतीति, तत्राह—  
\*प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यतिरेकेण भूतं चेदिति\* ॥ अयमभिसन्धिः—न तावत्कार्यार्थ एव स्वार्थे पदानां

ऋजुप्रकाशिका

उत क्रियाप्रयोजनत्वात् ? तत्राद्यमनूद्य दूषयति—\*अपि चेत्यादिना यद्युच्येते”त्यतः प्राक्तनग्रथेन\*॥ अर्थग्रहणम्=  
अर्थशब्दः । आनर्थक्यमित्यस्य विवरणम्—“अनभिधेयत्वमिति”ति । ते=द्रव्यगुणकर्मादयः । क्रियार्थाः=क्रियारूपार्थाः ।  
तथाऽक्रियात्वात्तेषामनभिधेयत्वं स्यात्, नचेष्टापत्तिः; द्रव्यगुणकर्मादीनामपि विधिशास्त्रेऽभिधानदर्शनादिति भावः ।  
द्वितीयं शङ्कते—\*यद्युच्येतेत्यादिना\*॥ क्रियार्थत्वेनैव=क्रियाप्रयोजनकत्वेनैव । नस्वनिष्ठतया=न स्ववाच्यार्थप्रतीति-  
प्रयोजकत्वेन शङ्कामिष्कृष्टार्थमाह—\*एतदुक्तं भवतीति\* ॥ तदर्थम्=क्रियार्थम् ; कार्यार्थमिति यावत् । परिहरति  
\*तत्राहेति\* ॥ परिहारभाष्यतात्पर्यस्य स्पष्टमप्रतीतेः स्पष्टतया तात्पर्यं स्पष्टयन्नाह—\*अयमभिसन्धिरिति\* ॥ किं  
पदानां कार्यान्वितस्वार्थं शक्तिः ? स्वार्थ एव वा ? कार्यकार्यसाधारण्येनेतरान्वितस्वार्थं वा ? तत्राद्यस्तु  
निरस्त इत्याह—\*न तावदित्यादिना—व्युत्पत्तिं दर्शयद्भिरित्यन्तेन\* ॥ एवकारव्यवच्छेद्यं दर्शयति—

पञ्चपादिका

निष्प्रयोजनत्वमानर्थक्यम्, न निरालम्बनत्वम् । तदाह भाष्यकारः—\*अपिच आम्नायस्य क्रियार्थत्वा-  
दित्यादिना भाष्येण\* । प्रयोजनं चानन्तरं पारम्पर्येण वा सुखावासिर्दुःखपरिहारो वा स्यात् । अत-  
स्तदर्थक्रियानुपयोग्यर्थवाचिनां “सोऽरोदीदि”त्यादिपदानां भवत्वानर्थक्यम्, ब्रह्मात्मत्वावगतिसमन्वितानां

पञ्चपादिकाविवरणम्

—\*प्रयोजनं चानन्तरमिति\*॥ अथ क्रियाद्वारमेव प्रयोजनमिति, सत्यं केषाञ्चिदित्याह—\*अतस्तदर्थक्रियानुप-  
योग्यर्थवाचिनामिति\*॥ \*ननु\* सर्वं क्रियाद्वारमेव प्रयोजनमिति नेत्याह—\*ब्रह्मात्मत्वावगतीति\* ॥ अतोऽ-

तत्त्वदीपनम्

द्वितीयमुत्थापयति—\*अथ क्रियेति\* ॥ किं केषाञ्चित् क्रियाद्वारं प्रयोजनम् ? उत सर्वेषाम् ? तत्राद्य-  
मङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ \*तदर्थक्रियानुपयोग्यर्थवाचिनामिति\* । पुरुषार्थसाधनभूता या क्रिया तदनुपयोगिनो  
येऽर्थास्तद्वाचिनामित्यर्थः । द्वितीयमनुवदति—\*ननु सर्वमिति\* ॥ साक्षात्कारमात्रात्फलसिद्धेः श्रुति-स्मृति-  
न्यायानुभवसिद्धत्वाद् न क्रिया समाश्रयणीयेत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ वार्तिककारीयप्रस्थानपर्यालोचनया भूतेऽप्यर्थे  
पदानां सामर्थ्यं सिद्धमिति मूलग्रन्थापेक्षितमुपसंहरणं दर्शयति—\*अत इति\* ॥

वार्तिकम्

भ्युपगन्तव्यः ; तद्रव्यतिरिक्तवाक्यार्थस्य व्यवहारगोचरत्वेन व्यवहारभूमौ कल्पयितुमशक्यत्वात् । अत  
एव नास्माकं ब्रह्मणि व्यभिचारः ; तस्याप्यपदार्थत्वात्, स्ववाक्यार्थत्वानङ्गीकाराच्च, “यतो वाचो  
निवर्तन्ते” इत्यादिश्रुतेरित्यसकृदावेदितमस्माभिः । नच परकल्पितनियोगोऽपि तथा ; तस्य सिद्धत्व



## भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* पुरुषस्य स्वरूपाविनाशोऽपि तद्धर्मस्य विनाशित्वात् तद्विशिष्टस्यात्मनो हेयत्वमुपादेयत्वं च स्यादित्यत आह—\*विक्रियाहेत्वभावादिति\* ॥ धर्मावस्था-परिणामाख्यविक्रियाशून्य इत्यर्थः ।  
 \*ननु\* तथाप्यशुद्धत्वादिरूपभावेन शुद्धत्वादिरूप उपादेय इति, नेत्याह—\*अत एवेति\* ॥ पुरुषा-  
 वधिः सर्वस्य विनाश इत्युक्तम्, तत्र श्रुतिमाह—\*पुरुषादिति\* ॥ पूर्वोक्तविशेषणादित्यर्थः । “औप-  
 उपनिषदामर्थवत्त्वमभियुक्तवाक्यविरुद्धमिति यदुक्तम्, तदनूद्य समाधत्ते—\*यदपीत्यादिना\* ॥  
 “दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थवबोधनमिति” वक्तव्ये धर्मजिज्ञासायाः प्रक्रान्तत्वात्, धर्मस्य च  
 कर्मत्वात् कर्मावबोधनमित्युक्तम् । नैतावता सिद्धरूपब्रह्मात्मावबोधनं व्यावर्त्यत इति भावः ॥

अपिचानर्थक्यं नामाभिधेयराहित्यम् ? प्रयोजनशून्यत्वं वा ? यद्याद्यः, तत्राह—\*अपिचेति\* ॥  
 भूतोपदेशानां “वषट्कर्तुः प्रथमभक्षो” “देवदत्तो भुक्त्वा निर्गतः” इत्यादीनां द्रव्यादिवाचिनां शब्दानां  
 संबन्धयोग्यताभिधायिविभक्तियुक्तानां साक्षात्कार्यार्थताभावात् तेनैव प्रयोजकेन सिद्धवस्तूपदेशोऽपि  
 संभवतीत्यभिप्रेत्याह—\*कूटस्थनित्यमिति\* ॥ भव्यम् । \*ननु\* किमपि भूतं नोपदिशति, सर्वस्य

## वार्तिकम्

आत्मत्वे वाऽस्मदभिमतं ब्रह्मैव नामान्तरेणाभ्युपगतं कार्यवादिभिः, इति न विवदामहे, कार्यत्वव्याहृतेश्च ।  
 तद्वैपरीत्ये च शशविषाणकल्पत्वान्निष्प्रमाणकमेव तत् ॥

\*ननु\* एवं तर्हि उपसर्जनान्वितप्रधानपदार्थ एव वाक्यार्थो नियोगोऽस्तु ; क्रिया-कारकादेस्तदुप-  
 सर्जनत्वादिति चेत्, \*न\* ; ‘गामानय’ ‘नीलमुत्पलम्’ इत्यादिवाक्येषु क्रिया-द्रव्ययोरेव प्राधान्यदर्शनात्  
 तदतिरिक्तप्रधानपदार्थकल्पने प्रमाणाभावात् । \*ननु\* अपूर्वः खलु वाक्यार्थो भवति ; अनधिगतार्थगन्तु-  
 त्वाद्वैक्यस्य ; अन्यथाप्रामाण्यव्याहृतेः । नच क्रियाद्रव्यादेरपूर्वत्वमस्ति ; प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगोचर-  
 त्वात्, अतो य एव प्रमाणान्तरानधिगतो वाक्यार्थः स नियोग इति चेत्, \*न\* ; विशिष्टक्रिया-द्रव्यादेरेव  
 तत्काले प्रमाणान्तरानधिगतत्वेनापूर्वत्वात्, कालान्तरे प्रमाणान्तरप्रवृत्तावपि पूर्वस्य प्रमाणत्वाव्याहृतेः,  
 अन्यथा चक्षुरादेरप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तद्विषये प्रमाणान्तरप्रवृत्तिदर्शनात् । नच—एवं सति वाक्यस्य  
 कुत्राप्यनुवादकता न स्यादिति—शच्यम् ; पूर्वं प्रमाणान्तरेणाधिगते विधेये तत्वाङ्गीकारात् ॥

\*ननु\* भवतु नाम लौकिकवाक्यानां वस्तुगत्या प्रमाणान्तरगोचरोऽपि क्रियादिस्तत्कालेऽनधि-  
 गतत्वमात्रेण विषयः, वैदिकवाक्यानां तु कालत्रयासंस्पर्शित्वेन सर्वात्मना प्रमाणान्तराविषयोऽर्थः  
 प्रतीयते । नच दर्शादिक्रिया, नचा तत्साधनद्रव्यादिः ; तयोरनुष्ठानकाले प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेणाधि-  
 गम्यमानत्वादिति चेत्, \*न\* ; केवलस्य दर्शादेः प्रमाणान्तराधिगम्यत्वेऽपि स्वर्गादिफलसाधनतया  
 प्रमाणान्तरेण कदाप्यनधिगमादपूर्वत्वसिद्धेः, तत्फलसाधनत्वस्यैव नियोगत्वाङ्गीकारेऽस्मदभिमतसिद्धेः,  
 इष्टसाधनत्वस्यैवास्माभिलिङ्गाद्यर्थत्वेन विधित्वाभ्युपगमात् ॥

\*ननु\* “दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत” “ज्योतिष्टोमेन यजेत” इत्यादितृतीयादिविभक्त्यैव दर्शादेरभिलषित-  
 साधनत्वसिद्धेर्लिङ्गादिना तदभिधाने पौनरुक्त्यं स्यात्, अतस्तेनातिरिक्तो नियोगाख्यो विधिरभिधीयत  
 इति चेत्, न ; सामान्य-विशेषभावेन तदभिधानादपौनरुक्त्यसिद्धेः । लिङ्गादिना स्वसंसृष्टप्रकृत्यर्थस्य  
 यजिमात्रस्याभिलषितसाधनत्वेऽभिहिते, को वा यजिस्तत्साधनम् ? इत्यपेक्षायाम्—“ज्योतिष्टोमेन” इति  
 समानाधिकृततृतीयान्तनामपदेन तद्विशेषः समर्प्यते—यथा किमिष्टम् ? इति विशेषापेक्षायां स्वर्गपदेनेष्ट-



## भामती

संगतिग्रहो नान्यार्थ इत्युपपादितं भूतेऽप्यर्थे व्युत्पत्तिं दर्शयद्भिः । नापि स्वस्वार्थपरतैव पदानाम् । तथा सति न वाक्यार्थप्रत्ययः स्यात् । नहि प्रत्येकं स्वप्रधानतया गुणप्रधानभावरहितानामेकवाक्यता दृष्टा । तस्मात्पदानां स्वार्थमभिदधतामेकप्रयोजनवत्पदार्थपरतयैकवाक्यता । तथाच तत्तदर्थान्तरविशिष्टैकवाक्यार्थप्रत्यय उपपन्नो भवति । यथाहुः शास्त्रविदः—“साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् । वर्णास्तथाऽपि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥ वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् । पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥” इति ॥ तथाचार्थान्तरसंसर्गपरतामात्रेण वाक्यार्थप्रत्ययोपपत्तौ न कार्यसंसर्गपरत्वनियमः पदानाम् । एवंच सति कूटस्थनित्यब्रह्मरूपपरत्वेऽप्यदोष इति । \*भव्यम् = कार्यम् । \*ननु\* यद्भव्यार्थं भूतमुपदिश्यते, न तद्भूतम्, भव्य-

## ऋजुप्रकाशिका

\*नान्यार्थ इति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ स्वस्वार्थपरतैव=स्वार्थमात्रपरतैवत्यर्थः । दूषणमाह—\*तथा सतीति\* ॥ स्वस्वार्थमात्रपराणामपि पदानामेकवाक्यतया वाक्यार्थप्रत्यायकत्वमाशङ्क्याह—\*न हीति\* ॥ एकवाक्यतेत्यतः प्राक् पदानामिति शेषः । \*एकेति\* ॥ स्वस्वार्थमात्रप्रतीतिजनन एवोपक्षीणतयैकवाक्यतां प्राप्य वाक्यार्थप्रतीतिजनकता न दृष्टेत्यर्थः । तृतीयं परिशेषयन्नुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ स्वार्थमभिदधताम्=इतरान्वितस्वस्वार्थमभिदधताम् । एकप्रयोजनवत्पदार्थपरतया=अन्वितपदार्था एकप्रयोजवत्पदार्थस्तत्परतया एकवाक्यतयेत्यर्थः । एकप्रयोजनवत्त्वं च पदार्थानामेकसंसर्गज्ञानविषयप्रतियोगित्वम्, तथाचोक्तविधयैकवाक्यत्वे वाक्यार्थबोधः सुकर इत्याह—\*तथाचेति\* ॥ पदानि साक्षात्तत्पदार्थप्रतिपादनं कुर्वन्ति सन्ति तलैव न पर्यवस्यन्ति, किन्तूक्तविधयैकवाक्यतापन्नानि सन्ति वाक्यार्थप्रत्ययजनयन्तीत्ययमर्थो लब्धः । अस्मिन्नर्थे संगतिमाह—\*यथाहुरित्यादिना\* ॥ फलितमाह—\*तथाचेति\* ॥ अर्थान्तरपरतामात्रेण=अन्वितस्वार्थपरतामात्रेण । न कार्यसंसर्गपरत्वनियमः=कार्यान्वितस्वार्थपरत्वनियमः ; वाक्यार्थबोधस्यान्वितस्वार्थपरत्वमात्रेणाप्युपपत्तेरुक्तत्वादित्यर्थः । एवं च संसर्गप्रतियोगिपदार्थान्तरसत्त्वे तदन्वितस्वार्थपरत्वम्, तदभावे च स्वार्थमात्रपरत्वपर्यवसानाद् वाक्यार्थप्रत्ययाभावापादकस्य निरस्तत्वाद् वेदान्तानां कूटस्थनित्यब्रह्मपरत्वेऽप्यदोष इत्याह—\*एवंच सतीति\* ॥ वस्तुतस्तूक्तसिद्धशक्तिग्रहानुरोधोपात् तत्त्वमस्यादिवाक्येषु तत्त्वमादिपदैर्विशिष्टतत्त्वपदार्थप्रतीतिपूर्वकं शाब्दसामानाधिकरण्यप्रयुक्ततत्त्वपदार्थैक्यप्रतीतौ जातायां तत्प्रतीतिविषयविशिष्टपदार्थैक्यस्य बाधितत्वेन जहदजहल्लक्षणया विशेषणांशपरित्यागेन शुद्धाखण्डब्रह्मैक्यप्रतीतिरिति सिद्धं वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वम् । भव्यार्थत्वेनेत्युक्तं भाष्ये, तत्र भव्यशब्दार्थमाह—\*भव्यं कार्यमिति ॥ भव्यार्थत्वेनोपदिश्यमानं भूतमपि भव्यमेवेत्याशङ्कते—\*नन्विति\* ॥ परिहरति

## प्रदीपः

वाक्यभागः सिद्धार्थबोधकः, राजाऽसौ गच्छतीत्यादिः प्रमाणभूतो नास्तीति वक्तुं शक्यते, वैदिकस्तु नास्तीति साहसमात्रमित्याह—सिद्धवस्तुपराणामपि हि वाक्यानां भवताऽपि प्रामाण्यमूरीक्रियते, अत एव ह्युपासनाविधिशेषतया वेदान्तप्रामाण्यं व्यवस्थापितमुपपद्यते ; अतः क्रियार्थत्वं क्रियाप्रयोजनत्वमित्येव वक्तव्यम् । सति चैवं सिद्धब्रह्मावबोधकत्वेऽपि वेदान्तानामविद्यानिवृत्तिरूपक्रियाप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यमनपोढमेवेति नासन्मतेऽपि धर्ममीमांसासूत्रविरोध इति प्रतिपादयति—\*अपिचेत्यादिना क्रियासाधनवस्तुपदेशेनेत्यन्तेन\* ॥

\*एकान्तेन\* नियमेन । अभ्युपगच्छतां वृत्तिकाराणामिति शेषः । “दध्ना जुहोती”त्यादिभूतोपदेशानर्थक्यं भूतोपदेशानर्थक्यपदेन विवक्षितम् । इदं प्रतिपत्तिविधिविषयताशास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यत इति स्वसिद्धान्तयोगस्याप्युपलक्षणम् । यत उपासनायां ब्रह्मणः करणत्वेनैवान्वयः स्वीकर्तव्यः । ब्रह्मोपासनेन ब्रह्म प्राप्यत इति खलु वक्तव्यम्, न तु केवलेन निर्विषयेणोपासनेन । तत्र च ब्रह्मोपदेशोऽपि कर्तव्य एवेति हृदयम् । \*प्रवृत्तिनिवृत्तिविधिव्यतिरेकेण\* कार्यातिरेकेण । भूतं



नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति । अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वा-  
त्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्, नैष दोषः ; क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्ति-

भामती

संसर्गिणा रूपेण तस्यापि भव्यत्वादित्यत आह—\*नहि भूतमुपदिश्यमानमिति\* ॥ न तादात्म्यलक्षणः  
संसर्गः, किन्तु कार्येण सह प्रयोजन-प्रयोजनिलक्षणोऽन्वयः, तद्विषयेण तु भावार्थेन भूतार्थानां क्रिया-  
कारकलक्षणः, इति न भूतार्थानां क्रियार्थत्वमित्यर्थः । शङ्कते—\*अक्रियात्वेऽपीति\* ॥ एवंचाक्रियार्थ-  
कूटस्थनित्यब्रह्मोपदेशानुपपत्तिरिति भावः । परिहरति—\*नैष दोषः ; क्रियार्थत्वेऽपीति\* ॥ नहि

मृजुप्रकाशिका

\*अत आहिति\* ॥ भव्यसंसर्गिकरूपेण भूतस्य भव्यत्वमुक्तम् । तत्र वक्तव्यम्—को नाम भव्यसंसर्गः ?  
तादात्म्यलक्षणः संसर्गो वा ? भव्येन क्रियाभिधानकार्येण सह प्रयोजनम्—प्रयोजनलक्षणः संसर्गो वा ? तत्राद्यं  
दूषयति—\*न तादात्म्यलक्षण इति\* ॥ भूत-भव्ययोस्तादात्म्यायोगादिति भावः । द्वितीयं परिशेषयति—\*किन्तु  
कार्येण सहेत्यादिना\* ॥ प्रयोजन-प्रयोजनित्वलक्षणसंसर्गोऽपि क्रिया-कारकभावलक्षणसंसर्गतया पर्यवस्यतीत्याह  
—\*तद्विषयेणेति\* ॥ कृतिविषयेणेत्यर्थः । भावार्थेन कर्मरूपेण कार्येण । ततः किमिति ? अत आह—  
\*इति न भूतार्थानामिति\* ॥ \*क्रियात्मत्वम् = भव्यात्मत्वम् । अतो नोक्तशङ्कावकाश इति भावः ।  
अथेत्यादिशङ्कासूचकपदाभावादाह—\*शङ्कत इति\* ॥ \*तदिति\* ॥ भूतमित्यर्थः । अस्तु क्रिया

वातिकम्

विशेषः समर्प्यते ; तद्वत् । यद्यपि नामप्रतिपदिकार्थमात्रादेव यज्यर्थ्याविशेषलाभात् तदन्वितमभिलषित-  
साधनत्वं लिङाभिधीयमानं विशेषेऽवतिष्ठते, अतो न तदर्थं तृतीयाविभक्तेरपेक्षा ; तथाऽपि विभक्तिं विना  
प्रातिपदिकस्यासाधुत्वाद् विभक्त्यन्तरकरणे च व्यधिकरणतयैवान्वयानुपपत्तेः करणत्वांशानुवादेन  
लिङ्गांशानुवादेन च संख्यामात्रमभिदधती तृतीयाविभक्तिः साधुत्वायावतिष्ठते ; लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थ-

भाष्यभावप्रकाशिका

कार्यसंसृष्टतया कार्यत्वात् कार्यमेवोपदिशतीत्याशङ्क्याह—\*नहीति\* ॥ क्रियाशब्देन कार्यमुच्यते ।  
न तादात्म्यलक्षणः संसर्गः कार्येण द्रव्यादिपदार्थानाम्, किन्तु प्रयोजन-प्रयोजकत्वलक्षणः । तद्विषयेण  
च भावार्थेन क्रियाकारकलक्षणः, न तु भूतानां कार्यत्वमित्यर्थः ॥

\*ननु\* प्रवर्तकवचनश्रवणसमनन्तरं श्रोतुः प्रवृत्तिमुपलभ्य प्रवृत्तिलिङ्गेन प्रवृत्तिप्रत्यये पद-  
समुदायस्य सामान्यतः सामर्थ्यमधिगम्य पुनरावापोद्वापाभ्यां च प्रत्येकं कार्यान्विते पदानां सङ्गति-  
ग्रहणादानयनादिलक्षणकार्यविशेषव्यभिचारेऽपि कार्यमात्रस्य सर्वत्राव्यभिचारात् तदन्वितस्वार्थेषु पदानां  
सामर्थ्यमिति कार्यशेषतयैव भूतानामभिधानमिति शङ्कायामाह—\*अक्रियात्वेऽपीति\* ॥ कार्यस्य कार्या-  
न्तराभावात् कार्यपदस्य तदन्वितस्वार्थाभिधायित्वासंभवाद् भावार्थकार्यान्वयस्य च कार्यान्वयोत्तरकालीन-  
त्वादन्वितस्वाभिधायित्वाभावाच्च कार्यपदस्य योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधेयत्वमङ्गीकरणीयम् ॥

तथास्त्येकप्रयोजकत्वाय सर्वत्र योग्येतरान्वय एव समर्थस्तत्पसादसामर्थ्यविषय इत्येहाभ्युपगन्त-  
व्यम् । कार्यमात्रस्याव्यभिचारेऽपि सर्वत्र मानान्तर-तद्विषयशब्दयोरिव न शब्दार्थत्वम् ; प्रयोगनिमित्ततया  
तयोरन्यथासिद्धिवत् प्रवृत्तिलिङ्गहेतुतयैव कार्यस्यान्वयनियमोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति—\*नैष दोष  
इति\* ॥ क्रियार्थत्वेऽपीत्यपिशब्देनात्रारुचिं सूचयति । पुत्रस्ते जात इत्याद्यप्रवर्तकवाक्यादपि हर्षादिलिङ्गेन



मद्वस्तूपदिष्टमेव, क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य । नचैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति ।  
यदि नामोपदिष्टम्, किं तव तेन स्यादिति ?

भामती

क्रियार्थं भूतमुपदिश्यमानमभूतं भवति, अपितु क्रियानिर्वर्तनयोग्यं भूतमेव तत् । तथाच भूतेऽर्थेऽ-  
वधृतशक्तयः शब्दाः कचित्स्वनिष्ठभूतविषया दृश्यमाना मृत्वा शीर्त्वा वा न कथञ्चित्क्रियानिष्ठां  
गमयितुमुचिताः । नह्युपहितं शतशो दृष्टमप्यनुपहितं कचिद्दृष्टमदृष्टं भवति । तथाच वर्तमानापदेशा  
अस्तिक्रियोपहिता अकार्यार्था अप्यटवीवर्णनादयो लोके बहुलमुपलभ्यन्ते । एवं क्रियाऽनिष्ठा अपि  
सम्बन्धमात्रपर्यवसायिनः, यथा कस्यैष पुरुषः ? इति प्रश्नोत्तरं राज्ञ इति । तथा प्रातिपदिकार्थमात्र-

ऋजुप्रकाशिका

निर्वर्तनयोग्यं भूतमेव भूतम्, तावता किमिति ? अत आह—\*तथाचेति\* । \*भूतेऽर्थे—इतरान्विते भूतेऽर्थे ।  
\*स्वनिष्ठभूतविषया \*इति\* ॥ कार्यान्वितभूतविषया इत्यर्थः । केवलमितरान्वितभूते गृहीतशक्तयः शब्दाः  
कचित्कार्यान्वितभूतविषया दृश्यन्ते इत्येतावता तदभूतत्वं नीत्वा वा कथञ्चित्कार्यनिष्ठताङ्गमयितुं नोचिता  
इत्यर्थः । \*ननु\*—कचिद्दर्शनेन तथात्वेऽपि बहुशः कार्यान्वितभूतविषयत्वेन दृष्टाः शब्दाः कथं कार्यनिष्ठां  
गमयितुं नोचिता इत्याशङ्क्य, कार्यान्वितस्य भूतवस्तुपाधित्वेन तत्तद्विशेषणत्वाभावाद् उपाधिभूतस्य  
शब्दार्थकोटिनिविष्टत्वाभावादनूपहितं केवलं भूतवस्तु शब्दार्थत्वेन कचिद् दृष्टमपि तदेतददृष्टं नादृष्टम् ।  
एवंच न कार्यनिष्ठाः शब्दा इत्यभिप्रेत्याह—\*नह्युपहितमिति\* ॥ विचार्यमाणे अनुपहितकेवलभूतवस्तुविषया  
अपि शब्दा लोके बहुलमुपलभ्यन्ते इत्याह—\*तथाचेति\* ॥ चशब्दः सम्पातायातः ॥ \*एवं क्रियानिष्ठा अपीति\* ॥

वार्तिकम्

त्वात् । लोके च “शुष्केन दण्डेन गामभ्याज” इत्यादौ तथा प्रयोगदर्शनात् । अतो न पौनरुक्त्यदोषः ॥  
अपिच नियोगवादिमते तृतीयाविभक्तिर्नोपपद्यते । द्वितीयाविभक्तिरेव युज्येत ; नियोगविषयत्वे-  
नैव यागान्वयाभ्युपगमात्, कस्य ? कुत्र नियोगः ? इत्याश्रय-विषयसापेक्षत्वाद् नियोगस्य, यागस्य  
तद्विषयत्ववत् तत्करणत्वमप्यङ्गीकृतम् । “कृति-तत्कार्यमध्यस्थो यागादिविषयो मतः । कार्यं संघटिता-  
कारे करणत्वेन सम्मतः ॥” इति चेत्, न ; तत्करणत्वस्यार्थकत्वाभ्युपगमेन तृतीयया तदभिधानानुप-  
पत्तेः, साधिकारस्य सविषयस्यापि नियोगस्यासिद्धत्वात् । अर्थात् स्वविषयमेव यागादि स्वविषय-  
सिद्धयर्थं करणत्वेनाङ्गीकरोति, नियोग इति नियोगवाद्यभ्युपगमः । नचैवं प्रथमापेक्षितमन्यतोऽप्राप्तं  
कर्मत्वं परित्यज्यार्थप्राप्तं करणत्वं श्रुत्याऽभिधातुं युक्तम् ; उन्मत्तवाक्यवत् श्रुतेरनादेयवचनत्वापत्तेः ।  
अतो न तव मते तृतीयोपपत्तिः स्यात्, नियोगकरणस्यैव यागस्य फलकरणत्वात्, पृथक्करणत्व-  
कल्पने च स्वातन्त्र्येण फलद्वयापत्तेर्नियोगफलयोः परस्परसम्बन्धो न स्यात् । तथाच फल-नियो-  
गत्वासिद्धिः ।

अपिच नाम-यजिपदयोः सामानाधिकरण्येनान्वयो न स्यात् ; यजेर्नियोगकर्मत्वेनान्वयाद् नाम्नस्तु

भाष्यभावप्रकाशिका

तद्वेतुप्रत्ययः ; कार्यविषयेऽपि सामर्थ्यग्रहणादर्शनात् ॥ \*ननु\* तथापि न स्वतन्त्रभूतोपदेशसंभवः ; क्रिया-  
शेषत्वेनैवान्यत्रोपदेशादित्यत आह—\*क्रियार्थत्वमिति\* ॥ \*ननु\* कार्यशेषत्वाभावे प्रामाण्यमनुपपन्न-  
मित्याशङ्क्यानधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रामाण्यं प्रत्यक्षादिवदुपपन्नमित्याह—\*नचैतावतेति\* ॥ \*ननु\* सर्वस्य  
प्रयोजनस्य क्रियाद्वारत्वात् प्रयोजनपर्यन्तत्वाच्च वाक्यप्रमाणस्य कार्यशेषत्वे शब्दस्याप्रामाण्यमनुपपन्न-



\*उच्यते\*—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति । तदवगत्या मिथ्या-  
ज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधन-  
वस्तूपदेशेन ।

भामती

निष्ठाः, यथा कीदृशास्तरव इति प्रश्नोत्तरं फलिन इति । नहि पृच्छता पुरुषस्य वा तरूणां वास्तित्व-  
नास्तित्वे प्रतिपित्सिते, किन्तु पुरुषस्य स्वामिभेदः, तरूणां च प्रकारभेदः । प्रष्टुरपेक्षितं चाचक्षाणः  
स्वामिभेदमेव प्रकारभेदमेव च प्रतिवक्ति, न पुनरस्तित्वं तस्य ; तेनाप्रतिपित्सितत्वात् । उपपादिता  
च भूतेऽप्यर्थे व्युत्पत्तिः प्रयोजनवती पदानाम् । चोदयति—यदि नामोपदिष्टं भूतम्, किं तवो-  
पदेशः श्रोतुर्वा प्रयोजनं स्यात् ? तस्माद्भूतमपि प्रयोजनवदेवोपदेश्यं नाप्रयोजनम् । अप्रयोजनं  
च ब्रह्म, तस्योदासीनस्य सर्वक्रियारहितत्वेनानुपकारकत्वादिति भावः । परिहरति—\*अनवगतात्मोप-  
देशश्च तथैव = प्रयोजनवानेव, भवितुमर्हति । अप्यर्थश्चकारः । एतदुक्तं भवति—यद्यपि ब्रह्मो-

ऋजुप्रकाशिका

अनिष्ठा अपीति छेदः । एवमक्रियानिष्ठा अपीत्यर्थः । सम्बन्धमात्रपर्यवसायिन इत्यनन्तरं बहुलमुपलभ्यन्त  
इत्यनुषङ्गः । अक्रियानिष्ठान् सम्बन्धमात्रपर्यवसितान् शब्दानुदाहरति—\*यथेत्यादिना\* ॥ स्वामिभेदः ।  
“प्रकारभेदः” इत्यत्र प्रतिपित्सित इत्यनुषङ्गः । यन्मात्रं पृच्छता प्रतिपित्सितं तन्मात्रविषयमेवोत्तरमपि प्रवर्तत  
इत्याह—\*प्रष्टुरपेक्षितं चेति\* ॥ \*तस्य\* पुरुषस्य तथोर्वेत्यर्थः । तस्येत्यनन्तरं प्रतिपत्तीत्यनुषङ्गः । \*तेन पृच्छता  
एवंचोक्तविधया भूतार्थप्रयोगानुरोधाद् भूतार्थेऽपि व्युत्पत्तिरस्तीति भावः । उपपादिता चेयमित्याह—\*उप-  
पादिता चेति\* ॥ एवं च वेदान्तानां सिद्धब्रह्मपरत्वं युक्तमेवेति भावः । \*ननु\* ब्रह्मण उदासीनस्य सर्वक्रिया-  
रहितत्वेनानुपकारत्वमुक्तम्, तत्राह—\*एतदुक्तं भवतीति\* ॥ अवगतिपर्यन्तम्—साक्षात्कारपर्यन्तम् \*तद्विषयम्

वार्तिकम्

फलकरणत्वेन । अस्त्वेवमिति चेत्, न ; असामानाधिकरण्ये नामत्वव्याघातात् । तथाच नामधेयोक्त-  
न्यायव्याघातः, तस्मादपीष्टसाधनत्वमेव विधिः, न परकल्पितो नियोग इति । इष्टसाधनत्वस्य विधित्वे  
“समिधो यजति” “तन्नपातं यजति” इत्यादौ द्वितीयाविभक्त्यनुपपत्तिरिति चेत्, न ; कर्तृव्यापारा-  
पेक्षया तत्कर्मत्वात्तदुपपत्तेः । सर्वं हि करणं कर्तृव्यापारस्य कर्म भवति ; कर्तृव्यापारविषयस्यैव करण-  
त्वात् । अतः स्वसाध्यकरणमपि समिदादि पुरुषकृतिमपेक्ष्य कर्मतया व्यपदिश्यते—समिदादिकं कुर्या-

भाष्यभावप्रकाशिका

मिति शङ्कते—\*यदि नामेति\* ॥ परिहरति—\*उच्यत इत्यादिना\* ॥ \*तथैवेति\* ॥ यथा क्रियासाधनवस्तू-  
पदेशः प्रयोजनपर्यवसायितया प्रमाणम्, तथा वेदान्तवाक्यस्यापि प्रयोजनवद्वस्तूपदेशाद् प्रयोजनवत्त्वमि-  
त्याह—\*तदवगत्येति\* ॥ निगमयति—\*इत्यविशिष्टमिति\* ॥ सकलस्याज्ञायस्य क्रियापरत्वे निषेध-  
वाक्यानि निरवकाशानि स्युः, अतः क्रियान्वयाभिधानवादिनापि भूतेऽर्थे निषेधवाक्यसमन्वयः स्वीकर्तव्य

प्रदीपः

दध्यादि द्रव्यम् । तथाच कार्य एव पदानां सङ्गतिग्रह इति नियमस्य दध्यादिपदे व्यभिचारः । अनेकपदबोधितैकप्रयो-  
जनवत्पदार्थबोधकत्वमेकवाक्यत्वम् । अत एव “आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पतामि”ति मित्राविमौ मन्त्रौ ।  
अन्यथैकामिधेयबोधकत्वेऽपि कुत्तापि नैकवाक्यत्वमिति शारवभाष्ये वाक्यैक्याधिकरणे व्यक्तम् । तथाच “दध्ना जुहोती”त्यादीना-  
मेकप्रयोजनकानेकपदार्थबोधकत्वादेव प्रामाण्यमिति क्रियाभिधेयत्वेनैव प्रामाण्यं व्यभिचरितमिति भावः । भव्यार्थत्वेन  
फलार्थत्वेन । क्रियार्थस्य भूतस्यापि क्रियात्वमित्याशङ्कायाभाह—\*न हीति\* ॥ उपदिश्यमानं क्रियार्थत्वेनेति शेषः । क्रिया-



## भामती

दासीनम् ; तथापि तद्विषयं शाब्दज्ञानमवगतिपर्यन्तं विद्या स्वविरोधिनीं संसारमूलनिदानमविद्या-मुच्छिन्दत् प्रयोजनवदित्यर्थः । अपिच योऽपि कार्यपरत्वं सर्वेषां पदानामास्थिषत, तैरपि “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” “न सुरा पातव्या” इत्यादीनां न कार्यपरता शक्याऽऽस्थातुम् । कृत्युपहितमर्यादं हि कार्यं कृत्या व्याप्तं तन्निवृत्तौ निवर्तते, शिशुपात्वमिव वृक्षत्वनिवृत्तौ । कृतिर्हि पुरुषप्रयत्नः । स च विषया-धीननिरूपणः । विषयश्चास्य साध्यस्वभावतया भावार्थ एव पूर्वापरीभूतोऽन्योत्पादानुकूलो भवितुमर्हति, न द्रव्य-गुणौ । साक्षात्कृतिव्याप्यो हि कृतेर्विषयः । न च द्रव्यगुणयोः सिद्धयोरस्ति कृतिव्याप्यता । अत एव शास्त्रकृद्वचः—“भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत” इति । द्रव्यगुणशब्दानां नैमित्तिकावस्थायां कार्यावमर्शेऽपि भावस्य स्वतः, द्रव्य-गुणशब्दानां तु भावयोगात्कार्यावमर्श इति भावार्थेभ्य एवापूर्वार्थावगतिः, न द्रव्यगुणशब्देभ्य इति । न च “दध्ना जुहोति” “संततमाधारयति” इत्या-

## ऋजुप्रकाशिका

ब्रह्मविषयकं शाब्दज्ञानं विद्येत्युच्यते । विद्यारूपं च तत् स्वविरोधिनीं संसारनिदानभूतामविद्यामुच्छिन्दत् प्रयोजन-वदित्यर्थः । इदानीं निषेधवाक्यवद्वेदान्ता न कार्यपराः किन्तु सिद्धपरा इत्यभिप्रेत्याह—\*अपिचेति\* ॥ \*तन्निवृत्ता-विति\* ॥ कृतिनिवृत्तावित्यर्थः । \*निवर्तते इति\* ॥ कार्यं निवर्तते इत्यर्थः । निषेधस्थल इति शेषः । व्यापकनिवृत्त्या याप्यनिवृत्तेरिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह—\*शिशुपात्वमिवेति\* ॥ वृक्षत्वस्य शिशुपात्वव्यापकत्वात्तन्निवृत्तौ तन्निवर्तते यथा, तथेत्यर्थः । कर्म भावार्थशब्दार्थः । पूर्वापरभूतः पूर्वभाविस्वकारणक इत्यर्थः । न केवलं साध्यः, साधनभूतश्चेत्याह—\*अन्येति\* ॥ कृतिविषयो भावार्थ एवेत्युक्तम्, तत्रैवकारव्यवच्छेद्यं दर्शयति—\*न द्रव्यगुणाविति\* ॥ द्रव्य-गुणौ कुतो न कृतिविषयौ ? तत्राह—\*साक्षादिति\* ॥ “कृतिव्याप्यते”त्यत्र साक्षादिति शेषः । भावार्थस्यैव कृतिविषयत्वसूचकमभियुक्तवचनमाह—\*अत एवेति\* ॥ अनेन भावार्थस्य कृतिविषयत्वं सूचितम् । अत्रावमर्शेऽपीत्यन्तः पूर्वपक्षः । \*अयमर्थः\*—पदस्मारितानन्वितार्थेषु निमित्तेषु भावान्वितावस्था नैमित्तिकी । तस्यामस्ति सिद्धयोरपि द्रव्यगुणयोः क्रियान्वयेन साध्यता कार्यता । अतो द्रव्यगुणभावार्थवाचक-शब्दानामविशेषेण साध्यार्थकत्वात् साध्यार्थविषयत्वाच्च नियोगस्याविशेषेऽपि नियोगविषयसमर्पकत्वमिति सिद्धान्तमाह—\*भावस्येति\* ॥ भावशब्दस्येत्यर्थः । कार्यपरामर्श इत्यनुषङ्गः । भावार्थको हि शब्दः स्वत एव साध्यरूपां क्रियां परामृशति, द्रव्यादिशब्दास्तु क्रियायोगद्वारा द्रव्यार्थिसाध्यतया परामृशन्ति । ततः किमिति ? अत आह—\*भावार्थेभ्य इति\* ॥ नियोगो हि साक्षात्कृतेरविषयः सन् तद्विषयत्वाय स्वावच्छेदकत्वेन साक्षात्साध्यस्वभावं भावार्थमाकाङ्क्षति । तल्लभेन च क्रियायोगद्वारा साध्यस्य द्रव्यादेस्तद्विषयता युक्तार्थं अतो भावार्थेभ्य एव यजेतेत्यादिभ्य एव विषयविशिष्टापूर्वाधिगतिरिति, भावनावाचिभ्योऽपि भावो भावनेत्यादिभ्यो नापूर्वाधिगतिरिति कर्मशब्दा इत्युक्तम् । धात्ववाचिभ्योऽपि कर्मशब्देभ्यो याग इत्येवमादिभ्यो नैवापूर्वाधिगतिरिति भावार्था इत्युक्तम् । अतो धात्वर्थोपरक्तभावना येषु भवति यजेतेत्यादिषु, तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयेत । एष हि भावनासाध्योऽपूर्वलक्षणोऽर्थो विधीयते, इति “भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्था विधीयते” इति सूत्रस्यार्थः । \*द्रव्यगुणेति\* ॥ तथाच “द्रव्यगुणयोः सिद्धयोः कृत्यविषयत्वान्न द्रव्य-गुणौ विधीयेते इति भावः । \*ननु\*—द्रव्यगुणौ दधिसातत्यलक्षणौ विधीयेते ; तत्र तयोरेव कार्यावच्छेदकत्वात्, इत्याशङ्क्य निराकरोति—\*नच दध्नेति\* ॥ \*आधारः = क्षारणम् । सातत्यम् = अविच्छिन्नत्वम् । निराकरणमाह—

## प्रदीपः

र्थत्वमात्रेण क्रियात्वासंभवात् । तदिदमत्र विशदयति शङ्का-समाधानाभ्याम्—अक्रियात्वेऽपीत्यादिना—भवतीत्यन्तेन । प्रकृतं न्यायमतिदिश्य वेदान्तवाक्ये स्वमतरीत्यापि प्रामाण्यं व्यवस्थापयति—\*उच्यते इति\* ॥ न केवलं “दध्ना जुहोती”त्यादिविधि-



## भामत्यादिव्याख्योपन्यास्या-नवकोपेतम्

११०९

## भामती

दिषु द्रव्यादीनां कार्थविषयता । तत्रापि हि होमाधारभावार्थविषयमेव कार्यम् । नचैतावता “सोमेन यजेत” इतिवद् दधिसंततादिविशिष्टहोमाधारविधानात् “अग्निहोत्रं जुहोति” “आधारमाधारयति” इति तदनुवादः । यद्यप्यत्रापि भावार्थविषयमेव कार्यम् ; तथाऽपि भावार्थाऽनुबन्धतया द्रव्य-गुणाव-विषयावपि विधीयेते । भावार्थो हि कारकव्यापारमात्रतयाऽविशिष्टः कारकविशेषण द्रव्यादिना विशेष्यत इति द्रव्यादिस्तदनुबन्धः ।

## ऋजुप्रकाशिका

\*तत्रापीति\* ॥ “दध्ना जुहोति”, “सन्ततमाधारयति” इत्यत्रापीत्यर्थः । तथाच तत्रापि भावार्थ एव विधेयो न द्रव्यगुणादिरिति भावः । \*ननु\*—यदि “दध्ना जुहोति, सन्ततमाधारयति” इत्यत्रापि भावार्थो विधीयेत, तर्हि दधिसातत्यादिविशिष्टहोमाधारभावार्थ एव विधेयः । तथा सति “अग्निहोत्रं जुहोति” “आधारमाधारयति” इत्येतदनुवादकं स्यात्, नचेष्टापत्तिः ; अधिकरणान्तरविरोधादित्याशङ्क्य निराकरोति—\*नचैतावतेति\* ॥ ज्योतिष्टोमे श्रूयते—“सोमेन यजेत” इति, तथा “ऐन्द्रवायवं गृह्णाति मैत्रावरुणं गृह्णाति आश्विनं गृह्णाति” इति च श्रूयते । तत्र संशयः—किं ऐन्द्रवायवादिवाक्यविहितानां सोमरसानां यागानां च यथाक्रमं “सोमेन यजेते”ति सोमयागशब्दावनूदितारौ ? उत द्रव्ययुक्तस्य कर्मणो विधायकौ ? ऐन्द्रवायवादिवाक्येषु द्रव्य-देवताख्यरूप-प्रतीतेर्यागानुमानात्, इतरत्र रूपाप्रतीतेः समुदायानुवाद इति प्राप्ते, द्वितीये सिद्धान्तितम्—“नानुवादत्वम-प्रत्यभिज्ञानात्” । लतावचनो हि सोमशब्दो न रसवचनः, ऐन्द्रवायवादिशब्दास्तु रसानभिदधतीति न तदनुवादी सोमशब्दः । नच यजेतेति प्रत्यक्षे यागे तदनुमानं युक्तम् ; ततः प्राप्त्यभावान्न यजिरप्यनुवादः । तस्मात् सोमवाक्ये यागविधिः, इतरत्र रसानामिन्द्रादिदेवताभ्यो ग्रहणान्युपकल्पनानि विधीयन्त इति । एवं यथा “सोमेन यजेत” इत्यादिवाक्यं सोमद्रव्यविशिष्टयागविधायकम्, एवं “दध्ना जुहोति” “सन्ततमाधारयति” इत्यादि-वाक्यान्यपि दधिसातत्यादिविशिष्टहोमाधारादिविधायीनीति वक्तव्यम् । यदि दधिद्रव्य-सातत्यगुणविशिष्टहोमाधार-विधायीनि—तर्हि “अग्निहोत्रं जुहोति” “आधारमाधारयति” इति वाक्यद्वयं “दध्ना जुहोति” “सन्ततमाधारयति” इति वाक्यद्वयविहितदधिसातत्यविशिष्टहोमाधारसमुदायानुवादकं स्यात् । नचेष्टापत्तिः ; अधिकरणान्तरविरोधादिति शङ्कार्थः । येनाधिकरणान्तरेण विरोधः, तदलोच्यते । तथाहि—तृतीये स्थितम्—“आधाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥” “आधारमाधारयति, ऊर्ध्वमाधारयति, सन्ततमाधारयति”, तथा “अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति”, इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं सन्तत-दध्यादिवाक्यविहिताधारहोमानामाधाराग्निहोत्रवाक्ये द्वे समुदायानुवादिनी ? उतापूर्वयोराधारहोमयोः विधातृणी ? इति । तत्र आधाराग्निहोत्रवाक्ये सन्तत-दध्यादिवाक्य-विहिताधारहोमानुवादिनी, न तद्विधातृणी ; द्रव्य-देवताख्ययागस्वरूपरहितत्वात् । नह्यत्र दधिसातत्यादिवाक्य-विहितहोमाधारेभ्यो विशिष्टं रूपं द्रव्यदेवताख्यमुपलभ्यमानमस्ति, होमाधारमात्रं तु प्रकृतमुपलभ्येत ; अतोऽनुवादकत्वे प्राप्ते, राद्धान्तः—विधी इमे स्याताम् ; आधारयति जुहोतिशब्दाभ्यामनुष्ठेयार्थप्रतीतेः, तत्सन्निधौ श्रुतस्य सातत्यदध्यादिवाक्यस्य यथाक्रमं सातत्यदधिविशिष्टविधिपरत्वे गौरवप्रसङ्गेन “आधारमाधारयति, अग्निहोत्रं जुहोति”, इतिवाक्यविहिताधारहोमानुवादेन सातत्यदधिलक्षणगुणविधानार्थत्वात् सातत्यदध्यादि-वाक्यस्य न सातत्यदधिविशिष्टभावार्थविधिपरत्वमिति । अनेनाधिकरणेन विरुध्यते ; सातत्यदध्यादिवाक्ये सातत्यदध्यादिविशिष्टभावार्थविषयं कार्यम्, आधाराग्निहोत्रवाक्यमनुवादकमित्यभ्युपगमश्च । अतो दधिसातत्य-वाक्ये विशिष्टकर्मविधिः, अग्निहोत्राधारवाक्यमनुवादकमिति शङ्का न युक्तेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—\*यद्यपीति\* ॥ सातत्य-दध्यादिवाक्ये साक्षात्कृतिविषयत्वाद् भावार्थस्य, तदवच्छिन्नमेव कार्यं यद्यपि प्रतीयते, न तु कार्यं प्रति साक्षादविषयत्वात् तदनवच्छेदकौ गुणौ, तथाच न दधिसातत्यलक्षणद्रव्यगुणविशिष्टकर्मविधिः ; तथाऽपि भावार्थं प्रत्यनुबन्धतया अवच्छेदकतया विधीयेते द्रव्यगुणौ । तत्र हेतुमाह—\*भावार्थ इति\* ॥



## भामती

तथाच भावार्थे विधीयमाने स एव सानुबन्धो विधीयत इति द्रव्य-गुणावविषयावपि तदनुबन्धतया विहितौ भवतः । एवंच भावार्थप्रणालिकया द्रव्यादिसंक्रान्तो विधिगौरवाद् बिभ्यत्स्वविषयस्य चान्यतः प्राप्ततया तदनुवादेन तदनुबन्धीभूतद्रव्यादिपरो भवतीति सर्वत्र भावार्थविषय एव विधिः ।  
\*एतेन\*—“यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति” इत्यत्र संबन्धविषयो विधिरिति—\*परास्तम्\* ।

## ऋजुप्रकाशिका

द्रव्यादिश्च विधेयः, तर्हि वाक्यभेदः, तत्राह—\*तथाचेति\* ॥ तर्हि सन्ततद्रव्यादिवाक्यानि विशिष्टविधायीनि स्युः, स्याच्चाग्निहोत्रादिवाक्यमनुवादकम्, तत्राह—\*एवं चेति\* ॥ विधिविषयस्येत्यर्थं स्वविषयस्येति ; भावार्थस्येति यावत् । \*अन्यतः\* = आधार्याग्निहोत्रादिवाक्यात् । यद्यप्यत्र विशिष्टविषयो विधिः प्रतीयते ; तथाऽपि भावार्थद्वारा द्रव्यादिकमपि विषयीकरोति । तत्र संक्रान्तो विधिर्यदि भावार्थमन्यतो विहितमनुवादाय न लभेत, तर्हि गौरवमप्युररीकृत्य विशिष्टं विदधीत । अथाग्निहोत्राधारवाक्यतो विहितं भावार्थमनुवादाय लभेत, तत उपपदाकृष्टशक्तिरन्यतो विहितभावार्थानुवादेन दधिद्रव्यसातत्यादिलक्षणगुणविधिपरो भवति । यथाहुः—

“सर्वत्राख्यातसम्बन्धे श्रूयमाणे पदान्तरे ।

विधिशक्त्युपसंक्रान्तेः स्याद्वातोऽनुवादता ॥”

इति । तदिहाग्निहोत्रादिवाक्यत एव भावार्थलाभात् तद्विहितभावार्थानुवादेन सातत्यद्रव्यादिवाक्यं सातत्य-दधिलक्षणगुणविधिपरम्, आधारयतीति यत् तत्सातत्येन जुहोतीति, यद् जुहोति, तद् दध्नेति । यद्यपि दधि-सातत्यादि गुणतयाऽपि न विधातुं शक्यम्; सिद्धत्वात्, तथाऽपि भावार्थानुबन्धितया कथंचिद्विधानं संभवतीति भावः । मीमांसकैकदेशिनः “यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति” इत्यादौ द्रव्यदेवतासम्बन्धो विधीयत इत्याहुः । तत्रापि सिद्धस्य न विधेयत्वमित्युक्तमिति दिशति—\*एतेनेति\* ॥ सिद्धस्याविधेयत्वेनेत्यर्थः । सिद्धस्यापि संबन्धस्य भावनावच्छेदकत्वेन विधेयत्वमेकदेशी शङ्कते—\*नन्वित्यादिना\* ॥ \*ननु\* यथाश्रुति भवत्यर्थ एव विधीयताम्, किं सम्बन्धविधिना ? इत्याकाङ्क्षायाम्—\*भवत्यर्थकर्ता किं

\*इत ऊर्ध्वं मातृका नोपलब्धा\*

## वार्तिकम्

दिति । अत एवात्र वर्तमानापदेशाद् न साक्षाद् विधिः श्रूयते । किं तर्हि ? अपूर्वत्वात् पञ्चमलकारमुन्नीय स कल्प्यत इति समञ्जसम् । तस्माद् न कुत्रापि नियोगो वाक्यार्थः ।

अपिच नियोगस्य वाक्यार्थत्वे लिङादिना तदभिधानं व्यर्थं स्यात्; वाक्यत एव तल्लाभात्, अन्यथा पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्, अपूर्वत्वव्याहृतेऽपि । सामान्य-विशेषरूपेण कार्योपस्थितौ सामान्यरूपस्यार्थसिद्धत्वात्, सामान्यमन्तरेण विशेषावृत्तेः । नचैतदस्ति ; घटशब्दाद् घटोपस्थितावर्थाद् घटत्वोपस्थितिबद् लिङादि-पदमन्तरेण कार्यबुद्धिप्रसङ्गात् । नहि लिङादिपदरहितेषु वाक्येषु श्रुतेषु कस्यचित् सामान्यतो विशेषतो वा कार्यबुद्धिर्दृश्यते ।

अपिच गृहीतशक्तिकेन लिङादिना कार्यमुपस्थाप्यते ? अगृहीतशक्तिकेन वा ? नान्त्यः ; अति-प्रसङ्गात्, घटादिपदानामपि शक्तिग्रहं विनैव स्वार्थोपस्थापकत्वप्रसङ्गात् । आद्येऽपि न तावत् प्रत्यक्षादिना शक्तिग्रहः ; अपूर्वत्वव्याहृतेः । श्रोत्रियादिपदेष्विव वाक्येनैव तत्र शक्तिग्रह इति चेत्, नचैवं स्यात् ; “यश्चन्द्रोऽधीते स श्रोत्रियः” इत्यादौ प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थकेन ‘चन्द्रोऽधीते’ इति वाक्येन वेदाध्यय-नकर्तृत्वाद्यर्थोपस्थितौ तत्र श्रोत्रियपदस्य शक्तिग्रहो भवति । नचैवं वाक्यस्य धात्वर्थाद्यतिरिक्तकार्यप्रत्याय-कत्वमस्ति ; तथाऽदर्शनात् । दर्शने वा तद्वदेव सहप्रयोगो न स्यात् । नहि च्छन्दोऽध्ययनकर्तृत्वबोधकं



## भामती

\*ननु\* न भवत्यर्थो विधेयः ; सिद्धे भवितरि लब्धरूपस्य भवनं प्रत्यकर्तृत्वात् । न खलु गगनं भवति । नाप्यसिद्धे ; असिद्धस्यानियोज्यत्वात्, गगनकुसुमवत् । तस्माद्भवनेन प्रयोज्य-  
व्यापारेणाक्षिप्तः प्रयोजकस्य भावयितुर्व्यापारो विधेयः । स च व्यापारो भावना, कृतिः, प्रयत्न इति । निर्विषयश्चासावश्यक्यप्रतिपत्तिः ; अतो विषयापेक्षायामग्नेयशब्दोपस्थापितो द्रव्य-देवतासंबन्ध एवास्य विषयः । \*ननु\* व्यापारविषयः पुरुषप्रयत्नः कथमव्यापाररूपं संबन्धं गोचरयेत् ? नहि घटं कुर्वित्यत्रापि साक्षान्नामार्थं घटं पुरुषप्रयत्नो गोचरयति, अपि तु दण्डादि हस्तादिना व्यापारयति । तस्माद् घटार्थं कृतिं व्यापारविषयामेव प्रतिपद्यते, नतु रूपतो घटविषयाम् । उद्देश्यतया त्वस्यामस्ति घटः, नतु विषयतया । विषयतया तु हस्तादिव्यापार एव । अत एवाग्नेय इत्यत्रापि द्रव्य-देवतासंबन्धा-  
क्षिप्तो यजिरेव कार्यविषयो विधेयः । किमुक्तं भवति, आग्नेयो भवतीति, आग्नेयेन यागेन भावये-  
दिति । अत एव “य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजेत” “य एवं विद्वानमावास्यां यजेत” इत्यनुवादो भवति “यदाग्नेयः” इत्यादिविहितस्य यागषट्कस्य । अत एव च विहितानूदितस्य तस्यैव “दर्शपूर्ण-  
मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” इत्यधिकारसंबन्धः । तस्मात्सर्वत्र कृतिप्रणालिकया भावार्थविषय एव विधिरित्येकान्तः । तथाच ‘न हन्यात्’ ‘न पिबेत्’ इत्यादिषु यदि कार्यमभ्युपेयेत्, ततस्तद्व्यापिका कृतिरभ्युपेतव्या । तद्व्यापकश्च भावार्थो विषयः । एवंच प्रजापतिव्रतन्यायेन पर्युदासवृत्त्याऽहनना-  
पानसंकल्पलक्षणया तद्विषयो विधिः स्यात् । तथाच प्रसज्यप्रतिषेधो दत्तजलाञ्जलिः प्रसज्येत । नच सति संभवे लक्षणा न्याय्या । “नेक्षेतोद्यन्तम्” इत्यादौ तु “तस्य व्रतम्” इत्यधिकारात्प्रसज्य-  
प्रतिषेधासंभवेन पर्युदासवृत्त्याऽनीक्षणसंकल्पलक्षणा युक्ता । तस्माद् “न हन्यात्” “न पिबेत्” इत्या-  
दिषु प्रसज्यप्रतिषेधेषु भावार्थाभावात्तद्व्याप्तायाः कृतेरभावः, तदभावे च तद्व्याप्तस्य कार्यस्याभाव इति

## वार्तिकम्

यदा श्रोत्रियपदं प्रयुज्यते, तदा ‘छन्दोऽधीते’ इति वाक्यं तेन सह प्रयुज्यते ; तदा तेन सह श्रोत्रिय-  
पदमिति समानार्थकत्वेन पौनरुक्त्यात् ; एवं लिङ्प्रयोगकाले वाक्यप्रयोगो न स्यात् ; स्ववाक्यप्रयोग-  
काले लिङ्प्रयोगे पौनरुक्त्यात्, पूर्ववदपूर्वत्वव्याघाताच्च । लिङ्ग्रहितेन वाक्येन ‘छन्दोऽधीते’ इति  
वाक्येन श्रोत्रियपदग्रहितेन श्रोत्रियत्वोपस्थितिवद् न कार्योपस्थितिरस्तीति वैषम्यम् । लिङ्ग्रहितवाक्यस्य  
तदुपस्थापकत्वकल्पने चान्योन्याश्रयः—तत्सहितवाक्येन कार्योपस्थितौ तत्र लिङादीनां शक्तिग्रहः, तत्र  
लिङः शक्तिग्रहे च कार्योपस्थितिरिति ।

अपिच सिद्ध एवार्थं लिङः शक्तिर्गृह्यते ? असिद्धे वा ? नाद्यः ; कार्यत्वव्याहतेः, सर्वदा  
फलसिद्धेर्यागानुष्ठानवैयर्थ्याच्च । सिद्धो विनियोगो यागादिनाऽभिव्यज्यते, अभिव्यक्तश्च फलं जनयति ।  
अतश्च न कार्यत्वव्याघातोऽपि ; अभिव्यक्त्युपाधिना कार्यत्वादिति चेत्, न ; कार्यत्वस्य सोपाधिकत्वे  
स्फटिकालौहित्यवद् मिथ्यात्वापत्तेः ॥

अपिच का तावदभिव्यक्तिर्यागादिना जायते ? किं सा नियोगतो भिन्ना ? अभिन्ना वा ?  
भिन्नत्वेऽपि किमुत्पत्तिः ? इतिर्वा ? नाद्यः ; सिद्धत्वव्याहतेः, सिद्धस्योत्पत्त्यनभ्युपगमात् । नचा-  
सिद्धत्वमेवास्तिवति वाच्यम् ; असिद्धस्य यागादिविषयकतया प्रतीत्यनुपपत्तेः । नह्यसिद्धमिच्छादीष्टादि-  
विषयकतया प्रतीयते । असिद्धविषयकं तु स्यात् । स्वयं तु सिद्धमेव । \*एतेन\*—असिद्धे लिङः



## पञ्चपादिका

तु परमपुरुषार्थफलानां कथं निष्प्रयोजनत्वम् । स्यादेतत्—यद्यपि प्रवर्तकादेव वाक्याद्भूतार्थविषयमपि सामर्थ्यं प्रतीयते ; तथाऽपि नाप्रतिपन्नभूतार्थावगतेः संभवः । क्रियार्थतयैव संसर्गावगमात् । न हि गोपदात्तदर्थः सास्त्रादिमत्पिण्डधर्मत्वेनावगतो व्युत्पत्तिकाले पुनः प्रयोगान्तरेऽप्यप्रतिष्ठितः केसरादिमत्पिण्डधर्मत्वेन वा प्रतीयते ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

भिहितानां पदार्थानां प्रयोजनवदर्थसंसृष्टस्वार्थप्रतिपादनेऽपि भूतवस्तुप्रतिपादनं संभवतीति । अत्र प्राभाकरः प्रत्यवतिष्ठते—कार्यसंसृष्टस्वार्थे पदसामर्थ्यं न पदार्थमात्रं इत्याह—\*स्यादेतच्चयपीति\* ॥ \*ननु\* भूतार्थे सामर्थ्यं प्रतीयते चेद् भूतसंसर्गोऽपि प्रमीयतामिति, नेत्याह—\*तथापि नाप्रतिपन्न इति\* ॥ भूतार्थविशिष्टं कार्यमेव प्रमीयत इत्यर्थः । \*ननु\* संसृष्टस्वार्थे शब्दसामर्थ्यं चेद् भूते संसर्गः प्रमीयतामिति, नेत्याह—\*क्रियार्थतयैवेति\* ॥ नियोगसंसृष्टतयैवेत्यर्थः । \*ननु\* कार्यसंसृष्टस्वार्थसामर्थ्येऽप्यन्वितस्वार्थस्य तत्रान्तर्भावात्तेनैव प्रयोजकेन भूतेऽपि संसर्गः प्रतीयतामिति, नेत्याह—\*न हि गोपदात्तदर्थ इति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

मानर्थक्यमिति ॥ टीकाग्रन्थमुपजीव्य चोदयति—\*ननु भूतार्थ इति\* ॥ नाप्रतिपन्नभूतार्थावगतेः संभव इति । किमुक्तं पूर्वमनवगतस्य भूतस्य तदानीं प्रतिषिध्यते ? उतोत्पत्तिकालेनावगतस्येति ? उभयस्याङ्गीकरणान्न दोष इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*भूतार्थविशिष्टं कार्यमिति\* ॥ पूर्वोक्तप्रतीतिमात्रानुपपत्त्या चोदयति—\*ननु संसृष्टस्वार्थ इति\* ॥ व्युत्पत्तिकाले शक्तिविषयतयाऽप्रतिपन्नशुद्धभूतार्थावगतेः संभवो नास्तीति व्याख्यातम् ॥ “ननु क्रियार्थतये”ति न युक्तम् ; नियोगवादिनोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात्, तदर्थत्वं त्वभिहितान्वयवादिनाप्युच्यते ; क्रियायास्सर्वप्रयोजनत्वाङ्गीकारात्, तेनायुक्तमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*नियोगसंसृष्टतयेति\* ॥ व्याख्यातम् । \*ननु कार्यसंसृष्टेति\* ॥ अयमर्थः—कार्यसंसर्गस्य व्युत्पत्तिकाले व्यभिचाराभावेऽपि कार्यान्वयमध्यगतस्येतरान्वितस्याव्यभिचाराल्लाघवात्तस्यैव शक्तिनियामकत्वं युक्तमिति । “नहि गोपदादि”ति टीकाग्रन्थेन गोपदस्य सास्त्रादिपिण्डस्य धर्मभूतगोत्ववाचकत्वे सिद्धे प्रयोगान्तरे स्वनिष्ठगोत्ववाचकत्वमन्यधर्मवाचकत्वञ्च यथा न युक्तम् ; व्युत्पत्तिविरोधात्, तथात्रेत्युक्तम्, तदयुक्तम् ; नात्रोत्तरत्र प्रतीत्यापादनं क्रियते, किन्तु चित्तविरोधलाघवेन व्युत्पत्तिरेव योग्येतरान्वितस्वार्थं भवत्विति चोदितत्वात्, न हि प्रयोजकलाघवे संभवति स्थितिमात्रेण विशिष्टस्य प्रयोजकत्वाश्रयणं युक्तमित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*अयमाशयो गामानयेति\* ॥ \*प्रथमावगतेति\* ॥ अनेन च विशिष्टस्य

## तत्त्वदीपनम्

कार्यविशेषसंसर्गव्यभिचारेऽपि कार्यमात्रसंसर्गस्याव्यभिचारात्तत्रैव पदानां सामर्थ्यमिति शङ्कते—\*अत्र प्राभाकर इति\* ॥ यद्यपि प्रवर्तकाद्वाक्यात्पदानां भूतार्थे सामर्थ्याधिगतिः ; तथाऽपि कार्यसंसृष्टे तदेष्टव्यमिति टीकायोजना । कार्यसंसृष्टे भूते पदसामर्थ्याधिगतावपि शुद्धभूतार्थप्रतिपत्तिः पदेभ्यः किं न स्यादिति शङ्कते—\*ननु भूतार्थ इति\* ॥ भूतानां संसर्गो भूतसंसर्ग इत्यर्थः । कार्यसंसृष्टे सामर्थ्यं चैतदनुरोधेन । तस्यैव प्रतिपत्तिर्युक्ता न शुद्ध्येत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अज्ञातस्य भूतार्थस्यावगतिसंभवो नेत्युक्तं टीकायाम्, तदङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्याह—\*भूतार्थेति\* ॥ सङ्गतिग्रहणसमये शुद्धसिद्धस्य शक्तिविषयतया प्रतिपन्नत्वान्न तदग्रहणमित्यर्थः । ‘प्रसूतस्ते सुतः’ इत्यादौ शुद्धसिद्धे सामर्थ्यग्रहणात् तत्प्रतिपत्तिर्युक्तेति शङ्कते—\*ननु संसृष्टेति\* ॥ तत्राप्यध्याहारादिना कार्यस्यैव प्रतिपत्तिरित्यभिप्रायेण परिहरति—\*नेत्याहेति\* ॥ क्रियाया वाक्यार्थत्वानङ्गीकरणात् क्रियार्थतेत्युक्तमयुक्तमित्याशङ्क्य, क्रियत इति व्युत्पत्त्या नियोगोऽभिधीयत इत्याह—\*नियोगेति\* ॥ योग्येतरान्वितस्वार्थस्योभयत्र संमतत्वात् तस्यैव प्रयोजकत्वमिति शङ्कते—\*ननु कार्येति\* ॥ कार्यस्याव्यभिचारात्प्रयोजकान्तराभाव इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ गोपदस्याऽऽकृतिमात्रे तद्विशिष्टे वा सामर्थ्यग्रहणान्नान्यार्थतेति युक्तम्, अत्र तु योग्येतरान्वित एव शक्तिग्रहणात्तत्प्रतिपत्तिरेव युक्ता, ततो



### पञ्चपादिका

\*विषम उपन्यासः\* ; गोपदस्याभिधेयसम्बन्धेन नानाविधसामर्थ्यमुपलब्धम् । अतो युक्तैकरूपैव

### पञ्चपादिकाविवरणम्

अयमाशयः—“गामानय शुक्लां दण्डेने”ति शब्दश्रवणानन्तरं श्रोतुर्गवानयने प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयन-  
कर्तव्यताऽनेन शब्दात्प्रतिपत्तेरिति भूतार्थसंसृष्टे कार्ये शब्दसमुदायस्य सामर्थ्यं प्रतिपद्यते । पुनश्च “गां बधाना-  
श्रमानये”ति प्रयोगान्तरेषु गोशब्दस्यान्वये कार्यसंसृष्टगवाकृतेरन्वयात्तदुद्दारे च कार्यसंसृष्टगवाकृतेरेवोद्गारात्  
कार्यसंसृष्टायां गवि पदसामर्थ्यं कल्प्यते ; आनयन-तत्संसर्गव्यभिचारेऽपि कार्यसंसर्गाव्यभिचारात् । एवं च  
प्रथमावगतसंसर्गबुद्धिहेतुत्वानपवादाच्छब्दानां मध्ये च पदार्थ-तच्छक्तिव्यवधानकल्पनागौरवपरिहारात् पदाना-  
मेव संसर्गप्रतिपादनसामर्थ्यकल्पना ; लाघवाच्च । तस्मात्कार्यसंसृष्टस्वार्थेषु शब्दसामर्थ्यमिति । तदेतन्निराचष्टे  
—\*विषम उपन्यास इति\* ॥ न हि प्रयोगभेदेषु कार्यसंसर्ग एव गवाकृतेर्नियमेन प्रतीयते, किन्तु गुण-व्यक्ति-  
क्रियाकारकसंसर्गश्च । तथाहि “शुक्लां गामानये”त्युक्ते गुण-कारक-क्रियासम्बन्धाः प्रतीयन्ते क्रियाद्वारश्च कार्य-

### मृजुविवरणम्

प्रयोजकत्वाश्रयणे कारणमुक्तम् ॥ \*ननु\* पदानां पदार्थमात्राभिधायकत्वे पदार्थैभ्य एव वाक्यार्थावगमसंभवे तद्वानेन  
पदानामेवान्विताभिधायकत्वाश्रयणमयुक्तमित्याशङ्क्याह—\*मध्ये च पदार्थतच्छक्तिव्यवधानेति\* ॥ “विषम  
उपन्यासः” इत्यादि परस्परविरुद्धमिवाभाति ; गोपदस्येत्यनेनैकेन पदेनैकरूपैव प्रतीतिः सामर्थ्यैकरूपत्वादित्युक्तम् ।  
“शब्दार्थान्तरान्वयः” इत्यनेनेतरान्वयप्रतीतिः कथमित्याशङ्क्य तद्वटनं कृतमिव प्रतिभाति, व्युत्पत्तिकाल  
एवान्वीयमानपदस्य विभक्तेर्वाऽन्यत्वे तद्योग्यार्थान्वयदर्शनात्संभूय समुच्चरितेषु प्रयोगस्येदं परत्वे ज्ञाततत्तदन्वय-  
प्रतीतेरनियतस्संबन्ध इत्युक्तत्वात् । नच गोत्वमात्रे नियतस्संबन्धोऽनियतस्त्वन्वित इत्यविरोधः ; शक्तिद्वया-  
भावात् ॥ \*ननु\* स्वरूपे संबन्धिदर्शनमात्रात्स्मृतिः, शक्त्या त्वन्वितप्रतीतेरनियतत्वमित्यविरोधः ; एवं तर्हि न  
परिहारः ; पूर्ववादिनाप्यङ्गीकृतत्वात्, पूर्वग्रन्थे गोत्वे व्युत्पत्त्यनुसारेण प्रतिपत्तिदर्शनात्कार्येऽपि तथा स्यादित्युक्ते तद्वैषम्य-  
मनेनोच्यते, युक्तं गोत्वे साम्रादिधर्मभूतस्यैव प्रतीतिर्न स्वनिष्ठस्यान्यधर्मस्य वा व्युत्पत्तिसमयेऽनेकप्रकारगोसामर्थ्यप्रति-  
पत्त्यभावादिति ॥ “शब्दार्थान्तरे”त्यनेन व्युत्पत्तिकाल एवानेकान्वयप्रतिपत्तिदर्शनाच्च कार्येण नियतस्संबन्धः, अपि तु  
योग्येतरान्वित इत्युक्तम्, अतः समञ्जसः परिहार इति । तथाऽपि न निर्वाहः ; कार्यस्याव्यभिचारात्तदन्वितत्वहानं  
न युक्तम् ; प्रधानेन चेतरेषामन्वयात्, इतरान्वयप्रतीतिः पार्ष्टिकत्वात्, इतरथाऽन्यान्वित एव शक्तिरित्याशङ्क्याह—  
\*नहि प्रयोगभेदेष्विति\* ॥ \*ननु\* गुण-गुण्यादिसंबन्धे सत्यपि न कार्यान्वयभङ्गः ; सर्वपदानां कार्यान्वितत्वार्थत्वस्या-  
व्यभिचारात्, गुण-गुण्यादिसंबन्धस्तु पार्ष्टिकः, अतस्तद्दर्शनाच्च कार्यान्वयभङ्ग इत्याशङ्क्याह—\*क्रियाद्वारश्चेति\* ॥

### तत्त्वदीपनम्

दृष्टान्तो विषम इत्याशङ्क्याह—\*अयमाशय इति\* ॥ आवापोद्वापाभ्यां पदानामर्थमात्रे सामर्थ्यं परोक्तं निरस्यति—  
\*पुनश्चेति\* ॥ आनयन-तत्संसर्गयोर्व्यभिचाराद् न शक्तिविषयत्वमित्याशङ्क्याह—\*आनयनेति\* ॥

पदानां पदार्थस्मारकत्वेन तदन्वय-व्यतिरेकयोरन्यथासिद्धत्वात्पदार्थानामेव संसर्गबोधकत्वमित्याशङ्क्याह—  
\*एवं चेति\* ॥ चशब्दः शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । शब्दानां संगतिग्रहणसमये यदवगतं संसर्गबुद्धिजनकत्वम्, तस्यैवं सत्य-  
नपवादादिति योजना । अभिहितान्वयवादे दोषान्तरमाह—\*मध्ये चेति\* ॥ शब्दव्यापारवाक्यार्थ-प्रतिपत्त्योर्मध्य  
इत्यर्थः । पदानां पदार्थबोधनशक्तिमत्त्वम्, पदार्थानां च संसर्गप्रसिद्धिजननसामर्थ्यमिति व्यवधाने कल्पनागौरवं दुर्वारं  
स्यादित्यर्थः । अस्मन्मते तु नायं दोष इत्याह—\*पदानामेवेति\* ॥ पूर्वपक्षमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

तदुत्तरत्वेनोत्तरग्रन्थमवतारयति—\*तदेतदिति\* ॥ गोपदस्य गोमात्रे सामर्थ्यप्रतिपत्तिः, ततो न दृष्टास्त-  
वैषम्यमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*न हि प्रयोगेति\* ॥ कार्यसंसृष्टस्वार्थे गोपदसामर्थ्यग्रहणात् तत्प्रतिपत्तिवद् गुणादि-  
संसर्गस्यापि प्रतिपत्तेः कथं कार्यसंसृष्ट एव सामर्थ्यग्रहणमित्यर्थः । गुणादिसंसर्गप्रतीतिमेवाभिनेयति—\*तथाह्येति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

सम्बन्धः । तत्राव्यवहितसम्बन्धोपादानसिद्धयेऽन्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यं गृह्यते । क्रमेण च गुणक्रियादिसंसर्गो यथा-योगमवभासमानो यावदन्त्यपदोच्चारणसमाप्ति, प्रश्नात्संभूय सर्वैरेव पदैरेकप्रयोजनावच्छिन्नो महावाक्यार्थः प्रतीयत इति नान्योन्यसंसर्गविरोधः । प्रमाणान्तरग्राह्यत्ववत्कार्यमपि प्रवृत्तिलिङ्गहेतुतया नियमेनान्वेति, न सर्वशब्द-सामर्थ्यविषयतया । तस्माद्वाधवादनितस्वार्थे सामर्थ्यमित्यन्यथानुवादप्रसङ्गात्कार्यान्वितस्वार्थेषु प्रमाणान्तरेण शब्दसामर्थ्यप्रतिपत्तौ शब्दादपि तावन्मात्रबोधेऽनुवादः स्यात् । नच कार्येण सर्वपदार्थानामव्यवहितः सम्बन्धः, येन तत्संसृष्टे सामर्थ्यं स्यात् । अस्ति शेषशेषितालक्षणसम्बन्ध इति, केयं शेषशेषिता नाम ? न तावत्स्वामिता ; चेतनविषयत्वात् तस्याः, नापि देवदत्तवदङ्गाङ्गिता ; तदवयवत्वाभावादितरेषाम् । अथ साध्यतैव शेषिता ; क्रियैव तर्हि गुणकारकसाध्येति सैव शेषिणी स्यात् । अथ परमसाध्यता स्वर्ग एव, तर्हि शेषीति किमनेन कार्येणान्तर्गडुना । तस्माद् गुणानां द्रव्यैरन्वयो द्रव्याणां विभक्त्यर्थसंसृष्टानां क्रियया-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* अन्यान्वितस्वार्थाभिधानं न युज्यते ; सर्वपदानामेकवाक्यार्थप्रमितिसिद्धये प्रयोगान्नास्मिन् पक्षे तत्संभवति । नच तेषामेव पुनर्वाक्यार्थप्रत्यायकत्वं संभवति ; विरोधात्, सकृत्कार्यद्वयस्य शक्तिश्च तत्र कल्प्येत, तथा सति गौरवान्नान्यान्विततासंभव इत्याशङ्क्याह—\*क्रमेण गुणक्रियेत्यादिना—संसर्गविरोध इत्येवमन्तेन\* ॥

\*ननु\* अव्यभिचारित्वं कार्यस्य, तेन सर्वपदानां कार्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वं निश्चीयते, इतरथा नियमे-भान्वयविरोध इत्याशङ्क्याह—\*प्रमाणान्तरग्राह्यत्ववदिति\* ॥ कार्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वेऽनुवादकत्वमिति यदुक्तम्, तदयुक्तम्, नहि प्रमाणान्तरं कार्यसंसृष्टपदार्थं प्रवृत्तमस्ति, येनानुवादः स्यादित्याशङ्क्याह—\*कार्यान्वितस्वार्थे-ष्विति\* ॥ \*ननु\* नानुवादकत्वं पदानाम्, येन व्युत्पत्तिकाले कार्यान्वितमात्रान्वितज्ञानम्, प्रतीतिकाले तु कार्यविशेषा-न्वयः सन्निधानात्प्रतीयते, तेन नानुवाद इत्याशङ्क्याह—\*नच कार्येणेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

शुक्लमिति गुणः संसर्गः, गामिति द्वितीयाविभक्त्याऽभिहितकर्मकारकेण संसर्गः, धात्वभिहितानयनक्रियया च संसर्गः, ततः कार्यसंसर्ग इत्यर्थः । गुणादिसंसर्गस्य कार्यसंसर्गोत्तरकालत्वात्कार्यसंसर्गस्यैव प्राथम्यमित्याह—\*तत्राव्यव-हितेति\* ॥ कार्यव्यवधानं विना गवाकृतेर्गुणादिना संसर्गसिद्धय इत्यर्थः । अन्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यग्रहश्चेत्, तर्हि संसर्गस्यानेकत्वादेकवाक्यार्थो न सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—\*क्रमेणेति\* ॥ \*यथायोगम्=योग्यताऽनुसारेणेत्यर्थः । याव-दन्त्यपदोच्चारणपरिसमाप्तिस्तावत् क्रमेण गुणादिसंसर्गोऽवभासमानो भवतीति संबन्धः । \*एकप्रयोजनेति\* ॥ देवदत्त-कर्तृक-दण्डकरणक-गोर्कर्मकानयनक्रियाकर्तव्यतालक्षणैकवाक्यार्थप्रमितिहेतुतयैकवाक्यमित्यर्थः । अव्यभिचारात्कार्य-शक्तिविषयत्वमित्युक्तं निरस्यति—\*प्रमाणान्तरेति\* ॥ प्रमाणान्तरप्रतिपत्तेः शब्दयोगान्न्यथाऽनुपपत्त्या मानान्तर-ग्राह्यत्वस्यान्वयवत् कार्यत्वस्यापि प्रवृत्तिहेतुत्वेनानुगतिर्न शक्तिविषयत्वेन । एतच्च परमतमाश्रित्योक्तमित्यर्थः ॥

मानान्तरविषयत्वस्य शब्दादप्रतीयमानशक्तिविषयत्वम्, कार्यस्य च तद्वैपरीत्यमित्याशङ्क्य गौरवप्रसङ्गाद् मैवमित्याशयेनाह—\*तस्मादिति\* ॥ विपक्षे दण्डमाह—\*अन्यथेति\* ॥ प्रसङ्गमेवाह—\*कार्येति\* ॥ शक्तिग्रहण-धेलायां यावानर्थः प्रतीयते, तावानेवान्यदापि प्रतीयते ? उताधिकोऽपि ? नाद्यः ; अनुवादकतापातादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—\*न च कार्येणेति\* ॥ कार्यान्वितस्वार्थे सकलपदसामर्थ्यप्रतिपत्तावपि कालान्तरे तद्विशेषसिद्धिरित्येतदयुक्तम् ; पदार्थानां कार्येण संसर्गानिरूपणादित्यर्थः । संबन्धाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*अस्तीति\* ॥ शेषशेषित्वमेव दुर्निरूपमित्याह—\*केयमिति\* ॥ किं स्वस्वामिता शेषशेषिता ? उताऽङ्गाङ्गिता ? अथवा साध्य-साधनता ? इति किंशब्दार्थः । आद्यं प्रत्याह—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*नापीति\* ॥ प्रमाणाभावादित्यर्थः । तृतीय-मुत्थापयति—\*अथ साध्यतेति\* ॥ शेषता च साधनतेत्यर्थः । किं साक्षात्साधनत्वं विवक्षितम् ? उत परम्परया ? आद्ये दूषणमाह—\*क्रियैवेति\* ॥ द्वितीयं दूषयति—\*अथ परमेति\* ॥ कार्येणाव्यवहितसंबन्धानिरूपणादन्या-न्वितस्वार्थे पदानां सामर्थ्यं वक्तव्यम्, तत्र च केषाञ्चित्संसर्गः केषाञ्चित्परम्परयेत्याह—\*तस्मादिति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

न्वयः, तस्याश्च कार्येणेति व्यवधानादन्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यं समञ्जसम् । किञ्च कार्यस्य कार्यान्तरान्वयाभावादन्यान्वयो वक्तव्यः । धात्वर्थेन कार्येण कार्यस्यान्वय इति चेत्, न ; नियोगान्वयनिमित्तत्वाद्धात्वर्थे-कार्यतायाः । नियोगस्य तु धात्वर्थेन केवलेनान्वयो न कार्येण ; उत्तरकालत्वात् तत्कार्यत्वस्य । अतोऽप्यन्यान्विते शब्दसामर्थ्यमिति ॥

किञ्च प्रमाणान्तरग्राह्यत्वमप्यर्थस्य शब्दसामर्थ्यविषयः स्यात् ; अव्यभिचारात् । प्रयोगनिमित्ततयाऽन्यथासिद्धिरन्वयस्येति चेत्, कार्यत्वस्यापि प्रवृत्तिलिङ्गहेतुतयैवान्वयनियमः, न सर्वपदसामर्थ्यविषयतयैवेति ।

## ऋजुविवरणम्

यद्वा—इतरान्वितस्वार्थाभिधायकत्वाङ्गीकारेऽपि पुनर्वाक्यार्थप्रतिपादकत्वकल्पनाद् वरं साक्षात्कार्यान्विते शक्तिरिति वक्तुं न शक्यते ; अनिर्धारितस्य शक्तिप्रतियोगित्वाभावात्, अव्यवस्थितश्च पदार्थः स्यात्, नच स्वर्गादेः साध्यत्वेनान्वयः संभवति ; कृतिसाध्यताऽभावात्, अतो व्यवस्थितसिद्धपदार्थसिद्धयेऽव्यभिचारिकार्यान्वयो वक्तव्य इत्याशङ्क्याह—\*किञ्च कार्यस्येति\* ॥ \*न नियोगान्वयेति\* ॥ कार्यस्य साध्यत्वसिद्ध्यर्थं विषयत्वेनान्वितयागस्य करणत्वे पश्चात्कार्यसाध्यत्वमङ्गीक्रियते, तेन पूर्वं कार्यत्वाभावात् तदाकारेणान्वय इत्यर्थः ॥

\*ननु\* चैकस्मिन् पदे व्यभिचारभयेन बहुपदानां कार्यान्वितार्थत्वहानमयुक्तम् ; अव्यभिचारात्, किन्तु सर्वपदानुरोधेन तत्राप्यन्यनिबन्धनं कार्यत्वमेवेति कार्यान्वयित्वमेव ; लोके च तस्य कार्यत्वं दृश्यते, अतो नाव्यभिचारित-कार्यान्वयहानं युक्तमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च प्रमाणान्तरग्राह्यत्वमिति\* ॥ अनन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकतो वाच्यत्वकल्पना, अत्र तु प्रमाणान्तरेण गृहीत एव शब्दप्रयोगस्संभवति, नान्यथेत्यन्यथासिद्धत्वान्न वाच्यत्व-निश्चायकत्वमिति चोदयति—\*प्रयोगनिमित्ततयेति\* ॥ तर्हि कार्यान्वयनियमोऽप्यन्यथासिद्धः । मध्यमवृद्धप्रवृत्ति-दर्शनेन हि बालस्य व्युत्पत्तिर्भवति । नच कार्यज्ञानेन विना मध्यमवृद्धप्रवृत्तिः ; अतः प्रवृत्तिरूपलिङ्गहेतुतया सिद्धो व्यभिचार इति परिहरति—\*कार्यत्वस्यापीति\* ॥

\*ननु\* प्रमाणान्तरग्राह्यत्वसाम्येन कथं कार्यस्य शक्तिप्रतियोगिकत्वनिराकरणम् ? नहि मानान्तरयोग्यत्वं कदाचिदपि प्रतीयते, किन्तु सत्तयैव हेतुत्वम्, तेन न तस्य वाच्यत्वम्, कार्यस्य तु प्रतीतिरस्ति, न कदाचिदपि

## तत्त्वदीपनम्

इतोऽपि न कार्यान्वितस्य सकलशब्दशक्तिविषयत्वम् । तथाहि—किं सर्वेषां पदानां कार्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यम् ? उत कार्यपदव्यतिरिक्तानाम् ? नाथ इत्याह—\*किं च कार्यस्येति\* ॥ कार्यपदस्य न कार्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यम् ; कार्यान्तराभावादित्यर्थः । तस्माद् द्वितीयपक्षः परिशिष्यत इत्याह—\*अन्यान्य इति\* ॥ तथाच प्रयोजकद्वैरूप्यमित्यर्थः । धात्वर्थस्य कार्यत्वात् कार्यपदस्यापि तदन्वितस्वार्थाभिधायित्वमिति न प्रयोजकभेद इति शङ्कते—\*धात्वर्थेति\* ॥ धात्वर्थस्य कार्यत्वमसिद्धमित्याह—\*न नियोगेति\* ॥ यागविषयनियोगे लिङादिना प्रतिपन्ने तस्य साक्षात्कृतिसाध्यत्वानुपपत्तेस्तन्निर्वाहकत्वेन यागः कृतिसाध्यतां भजते, ततश्च नियोगान्वयादवाग्यागस्य न कार्यत्वम् । नच—तन्नियोगान्वयोत्तरकालीनत्वमित्यपि—शङ्क्यम् ; परस्पराश्रयादित्यर्थः । धात्वर्थान्वयमन्तरेण नियोगप्रतीत्यनुपपत्तेः कथं नियोगाधीनत्वं तस्य ? इत्याशङ्क्याह—\*नियोगस्य त्विति\* ॥ यागमात्रे प्रतिपन्ने तद्विषयनियोगस्यापि प्रथा युक्तैत्यर्थः ॥

“प्रमाणान्तरग्राह्यत्ववदि”त्यत्र प्रमाणान्तरग्राह्यमिव न कार्यमपि शक्तिविषय इत्युक्तम्, तत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकौ स्पष्टयति—\*किंचेति\* ॥ अनन्यथासिद्धत्वस्य साधकत्वम्, अत्र च तथात्वाभावान्मैवमिति शङ्कते—\*प्रयोगेति\* ॥ प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तत्र शब्दप्रयोगदर्शनादन्यथासिद्धिरित्यर्थः । तुल्यमुत्तरमित्याह—\*कार्यत्वस्यापीति\* ॥ प्रवृत्ति-लक्षणं लिङ्गं प्रवृत्तिलिङ्गम्, तस्य हेतुः प्रवृत्तिलिङ्गहेतुः, तस्य भावस्तत्ता, तयैत्यर्थः । इतोऽपि न नियोगाधीनः संसर्गबोध



## पञ्चपादिकाविवरणम्

किंच भूतसंसर्गोऽपि शाब्दी प्रमितिरनुभूयते लोके—देवदत्तो भुक्त्वा निर्गत इत्यादौ । तत्र किं प्रतिवाक्यं कार्यपदमध्याह्रियताम् ? शब्दव्यतिरिक्तप्रमाणान्तरं वा कल्प्यताम् ? भ्रान्तित्वं वोपेयताम् ? आहोस्विदन्यान्विते शब्दसामर्थ्यं प्रतिपद्य प्रामाण्यं वा व्यवस्थाप्यतामिति ? अबाधितभूतार्थव्यवहारात्कल्पनालाघवाच्चागृहीतप्रयोजनानां विप्रतिपन्नप्रयोजनानां च सम्बन्धग्रहणादेवार्थप्रतिपत्तेरनिरूपणीयमेतत् । किंच निघण्टु-व्याकरणोपदेशैः कार्यपदार्थमप्रतिपद्यैवार्थान्तरसंसृष्टस्वार्थेणैवव्यभिचाराच्छब्दसामर्थ्यं प्रतीयते, क्वचित्कार्यसंसर्गदर्शनादन्यत्रापि तदनुमीयत इति चेत्, न ; अन्यत्रान्यसंसर्गमात्रदर्शनेन कार्यसंसृष्टेऽप्यन्यसंसर्गमात्रप्रयोजककल्पनोपपत्तेरदृष्टप्रयोजकोपसंहाराद् दृष्टप्रयोजनस्यैव युक्तत्वात् । तस्मादन्यसंसृष्टस्वार्थे शब्दसामर्थ्यमिति सिद्धम् ॥

\*ननु\* गोपदस्याप्यानयनसंसर्गादिवह्वर्थप्रतिपादकत्वादानयनपदस्यापि गोसंसर्गाद्यनेककार्याभिधायित्वात् पदाभ्यां प्रतिपाद्यसंसर्गनियमो न स्यात्, \*नैष दोषः\* ; एकैकपदोच्चारणे यावानर्थः प्रतीयते, तावतामेव संसर्गः संभूयोच्चारणे प्रतीयत इति नियमोपपत्तेः । नह्येकैकपदोच्चारणात्सर्वे संसर्गाः प्रतीयन्ते ; सहकारिपदान्तर-

## ऋजुविवरणम्

व्यभिचारः, अतः कार्यसंसृष्ट एव शक्तिग्रहणमित्याशङ्क्याह—\*किञ्च भूतसंसर्गोऽपीति\* ॥ \*ननु\* त्वयैव निरूपणीयं नास्माभिः ; अज्ञत्वाद्भिप्रतिपत्तेर्वैत्याशङ्क्याह—\*अगृहीतप्रयोजनानामिति\* ॥ यद्वा—लोक एव सिद्धत्वा-न्निरूपणवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—\*अगृहीतेति\* ॥ अज्ञ-विप्रतिपन्नयोरपि शब्दादर्थप्रतिपत्तिदर्शान्न लोकतो निर्णय इति भावः ॥ \*ननु\* किमत्र निरूपणीयम् ? कार्यसंसृष्टे शक्तिर्निश्चिता ; व्युत्पत्तावव्यभिचारात्, उत्तरकालभाविन्या तु न भूतार्थनिश्चयः ; यथाव्युत्पत्तिप्रतीतिः, नच तद्दानेन व्युत्पत्तिरित्याशङ्क्याह—\*किञ्च निघण्टु-व्याकरणोपदेशैरिति\* ॥ \*ननु\* अन्यसंसृष्टस्वार्थप्रतिपादकत्वमपि न संभवति ; अन्यशब्देन हि पदान्तरपस्थाप्यो विवक्षितः, नचासौ व्यवस्थितो लभ्यते ; तदस्यानेकान्वितस्वार्थाभिधायकत्वदर्शनात् । नच तत्सर्वसंसृष्टस्वार्थाभिधायकत्वं संभवति ; अव्यवस्थितत्वाच्च, नचैकस्यैव परिग्रहे कारणमुपलभ्यते, तेन न पदार्थनियम इति चोदयति—\*ननु गोपदस्यापीति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

इत्याह—\*किं च भूतसंसर्ग इति\* ॥ विषयसप्तमी । प्रतीतिमात्रेणार्थासिद्ध्याशङ्कायामाह—\*तत्रेति\* ॥ “व्यवस्थाप्यतामि”त्यत्र निरूपणीयमित्यनुषङ्गः । भूतसंसर्गप्रतीतिभ्रान्तित्वमित्येतदयुक्तमित्याह—\*अबाधितेति\* ॥ अध्याहार-प्रमाणान्तरकल्पनयोरयोग इत्याह—\*कल्पनालाघवादिति\* ॥ इतोऽपि न कार्यस्य प्रयोजकत्वमित्याह—\*अगृहीतेति\* ॥ “देवदत्तो भुक्त्वा निर्गतः” इत्यत्र शब्दशक्तिविषयत्वेन कार्यमेव प्रतिपन्नमित्यर्थः । यत्रापि तत्प्रतिपत्तिः, तत्रापि तस्य न प्रयोजकता ; विप्रतिपत्तेरित्याह—\*विप्रतिपत्तेति\* ॥ \*निरूपणीयमेतदिति\* । कार्यान्वितसामर्थ्यं निरूपणीयमित्यर्थः ॥ इतोऽपि कार्यान्विते शक्तिरित्याह—\*किं चेति\* ॥ ‘आखण्डलः पुरुहुतः पृतनाषाडि’त्येवमादौ प्रसिद्धेन्द्रादिपदसमभिध्याहारानुपपत्त्याऽप्यपूर्वोऽप्याखण्डलादिपदार्थोऽधिगम्यते, तथा रघोरपत्यं राघव इति व्याकरणाद् निश्चीयते, तथा पित्राद्युपदेशाच्च गवादिशब्दार्थ इत्यर्थः । भूतार्थसंसर्गस्य क्वचित् कार्याविनाभावादितरत्रापि तत्कल्पनाद् न तस्य व्यभिचार इति शङ्कते—\*क्वचित् कार्येति\* ॥ वैपरीत्यं किं न स्यादित्याह—\*नान्यत्रेति\* ॥ “देवदत्तो भुक्त्वा निर्गतः” इत्यादौ पदार्थसंसर्गमात्रस्योपलब्धत्वाद् “गामानये”त्यत्रापि पदार्थान्तरसंसर्गमात्रस्य प्रयोजकत्वमित्यर्थः । किमत्र विनिगमनमित्याशङ्क्याह—\*अदृष्टप्रयोजकेति\* ॥ “देवदत्तो निर्गतः” इत्यादावन्यत्र प्रमाणतोऽदृष्टस्योपसंहरणाद्वरं गामानयेत्यत्र दृष्टस्यान्यान्वितस्वार्थलक्षणस्य प्रयोजकस्योररीकरणमुचितमित्यर्थः । स्वमतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ कार्यसंसर्गस्य प्रयोजकत्वकल्पकाभावस्तच्छब्दार्थः ॥ अन्यान्वितस्वार्थे पदसामर्थ्यमुक्तमसहमानोऽभिहितान्वयवादी प्रत्यवतिष्ठते—\*ननु गोपदस्यापीति\* ॥ पदाभ्यामनेकसंसर्गप्रतिपत्तेर्न वाक्यश्रवणान्नियतप्रवृत्तिरित्यर्थः । पदस्मारितपदार्थमात्रसंसर्गस्य वाक्यप्रतिपाद्यत्वाद् नोक्तदोषानुषङ्ग इत्याह—\*नैष इति\* ॥ एकैकपदस्याप्यन्वितार्थबोधनसमर्थत्वात्सर्वोऽपि संसर्गो भासेतेति, तत्राह—\*नह्येकैकेति\* ॥ शक्तोऽपि सहकारिपदान्तरापेक्षया



## पञ्चपादिकाविवरणम्

निमित्तत्वात्संसर्गप्रतीतिः । \*ननु\* एवं पर्यायता स्यात्, तथाहि—गोपदस्याप्यानयनसंसृष्टं गोत्वमर्थः, आनयेतिपदस्यापि गोसंसृष्टमानयनमर्थ इति, \*नैतत्सारम्\* ; एकस्मात्पदाद्यावानर्थः प्रतीयते, तावानेव चेत् पदान्तरादपि प्रतीयात्, स्यादेव पर्यायत्वम् । यदा पुनरितरेतरसंसृष्टौ पदार्थौ पदार्थ्यां संभूय प्रतीयेते, तदा कुतः पर्यायतेति ? \*ननु\* गोपदोच्चारणे गवाकृतिरेव किमिति प्रतीयते ? न सामर्थ्यविषयभूतं सर्वमिति ? अन्वयव्यभिचारात् संस्कारभूयस्त्वाद्वक्ताकृतेः, इतरेषां व्यभिचारादित्यनवद्यम् ॥

\*ननु\* अभिहितेन पदार्थान्तरेण संसृष्टं गोत्वं प्रतिपादयति चेत्, गोपदमानयतिपदमप्यभिहितेनैव गोपदेन संसृष्टं स्वार्थं प्रतिपादयतीतीतरेतराश्रयता स्यात्—गोत्वेऽभिहिते तत्संसृष्टानयनाभिधानम्, तस्मिन्नभिहिते तत्संसृष्टगोत्वाभिधानमिति, \*नैष दोषः\* ; क्रमेण पदेषूच्चार्यमाणेषु क्रमेणैव पदार्था अव्यभिचारिणः प्रतीयन्ते ; अन्त्यपदोच्चारणानन्तरं च संभूयैकस्मृतिगम्यानि पदान्यभिहितानेव पदार्थान् संसृष्टतया प्रतिपादयन्तीत्यभिहितेनैवान्वयोपपत्तेः । पदार्थेष्वपि संसर्गप्रतिपादकेषु तुल्यौ चोद्य-परिहारौ । पदानामेव संसृष्टस्वार्थप्रति-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* इतरान्वितस्वार्थं शक्त्यभ्युपगमे गोशब्दोच्चारणे गोत्वप्रतीतिवत्सर्वेतरप्रतीतिः स्यादिति चोद्यति—  
\*ननु गोपदोच्चारण इति\* ॥ गोशब्दो गोत्वप्रतीतिमेव करोति; इतरान्वये सर्वत्र तस्य व्यभिचाराभावेन संस्कारा-  
त्पदार्थत्वात्, इतरेषान्तु प्रतिप्रयोगम्, भिन्नत्वेन संस्काराभावादनियतत्वात्, अभिहितत्वे सत्येव तदन्विताभिधायकत्व-  
मात्रसंस्कारकत्वमित्याशङ्क्याह—\*अन्वयव्यभिचारादिति\* ॥

\*ननु\* क्रमेणोच्चरितपदेष्वितरपदार्थप्रतीतौ पुनरन्वितबोधो न स्यात् ; पदाभावे प्रतीतेरित्याशङ्क्याह—  
\*संभूयैकस्मृतीति\* ॥ \*पदार्थेष्वपि\* ॥ अभिहितस्यैव वाक्यार्थप्रतिपादकत्वम् ; तत्रापि नैकैकस्य ; एकैकप्रतीति-  
समये वाक्यार्थबोधादर्शनात्, अतो वाक्यप्रतीतिसमये न पूर्वोपामवभासः ; अनवभासमानानां च न हेतुत्वम्, बोधद्वयाङ्गी-  
कारः, इत्यादि सर्वं सममेवेत्यर्थः ॥ \*ननु\* पूर्वं केवलपदार्थप्रतीतिः, पश्चादन्वितप्रतिपत्तावभिहितान्वय एव च स्यात्,

## तत्त्वदीपनम्

कार्यकरत्वं दृष्टम्, तथाच पदस्यापि सहकारिपदान्तरापेक्षया कार्यकरणम्, नान्यथेत्यर्थः । योग्येतरान्वितस्वार्थं पदानां सामर्थ्यं पर्यायत्वेन सह प्रयोगानुपपत्तेरर्थमात्रे सामर्थ्यमिति शङ्कते—\*नन्वेवमिति\* ॥ पर्यायत्वमेवाह—\*तथा हीति\* ॥ सर्वेषां पदानां संभूय संसर्गबोधजनकत्वाभ्युपगमात् पर्यायत्वमित्याह—\*नैतत्सारमिति\* ॥ \*एकस्मा-  
त्पदादिति\* ॥ सहकारिपदान्तरनिरपेक्षादित्यर्थः ॥ गोपदेनानयनसंसृष्टे स्वार्थेऽभिहित आनयतिपदं गोसंसृष्टस्वार्थं ब्रूयाच्चेत्, तर्हि पर्यायत्वम्, न चैवमिति ; युगपदुभयोरेकसंसर्गबोधकत्वात्, इति समाध्यन्तराभिधितस्या निरस्तमपि चोद्यं पुनरुत्थापयति—\*ननु गोपदेति\* ॥ सामर्थ्यविशेषात् सर्वोऽपि संसर्गः किं न भातीत्यर्थः । वैषम्येणोत्तरयति—  
\*अन्वयव्यभिचारादिति\* ॥ गामानय, गां चारय, इत्यादिप्रयोगेषु गोपदस्य गोत्वाव्यभिचारितया तदनुभवजनितसंस्कार-  
भूयस्त्वाद्वोपदोच्चारणे गोत्वस्मरणम्, नेतरेषामित्यभिसन्धिः । विधान्तरेणान्विताभिधानमाक्षिपति—\*नन्विति\* ॥ किं पदानि पदान्तराभिहितेतरसंसृष्टं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति ? उतानभिहितेतरसंसृष्टस्वार्थम् ? इति विकल्प्याद्यमनूद्य दूषयति—\*अभिहितेनेति\* ॥ इतरेतराश्रयत्वं स्पष्टयति—\*गोत्व इति\* ॥ द्वितीये विशेषणभूतार्थान्तराप्रतीतौ तद्विशिष्ट-  
प्रतीत्यनुदय इत्यर्थः । आद्यं पक्षमादाय समाधत्ते—\*नैष दोष इति\* ॥ तर्हीतरेतराश्रयप्रसङ्ग इति यत्तूक्तम्, तत्राह—  
\*क्रमेणेति\* ॥ तत्र हेतुमाह—\*अव्यभिचारिण इति\* ॥ पदानां पदार्थमात्रबोधकत्वे संसर्गबोध आकस्मिकः  
स्यादित्याशङ्क्याह—\*अन्त्यपदेति\* ॥ एकैकपदोपलम्भजनितसंस्काराः संभूय सकलपदविषयामेकां स्मृतिं जनयन्ति,  
तस्यां च स्मृतावुपाख्यानानि पदान्यभिहितपदार्थं संसर्गबोधं जनयन्तीत्यविरोध इत्यर्थः ॥

“यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥”

इति न्यायमभिसन्धायाह—\*पदार्थेष्विति\* ॥ अभिहितान्वयवादिनेदमभिधानीयम्—किमत्रानभिहितानां संसर्ग-



## पञ्चपादिका

प्रतीतिः । शब्दान्तरार्थान्वये पुनः प्रतिविभक्ति प्रतिपदार्थान्तरं च प्रयोगभेदादन्यथा च सम्बन्धग्रहणकाल एवाऽऽवापोद्वापनिबन्धनः समन्वयो दृश्यते । तेन द्रव्य-गुण-क्रियाभिधायिभिः पदैः सम्बन्धयोग्यताभिधायि-विभक्तिसंयुक्तैः प्रयोगैर्दम्पर्यवशादनियतः सम्बन्धो व्युत्पत्तिकाले निरूपितः । तथा च “वषट्कर्तुः प्रथम-भक्षः” “तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागः” इत्यवमादौ क्रियाशून्यानां समन्वयो दृश्यते । यस्तु कर्तव्य इति क्रिया-सम्बन्धः स समन्वयनिमित्तो न तन्निमित्तः समन्वयः । यत्तु तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नाय इति सूचयामास जैमिनिः, तदपि सिद्धेषु रूपादिष्वर्थेषु वर्तमानानां सामानाधिकरण्याद्यर्थत्वेन समाम्नायः समुच्चारणमिति यतो दर्शितः समन्वयो विशेषण-विशेष्यत्वेनापि क्रियार्थेनेति तु धर्मजिज्ञासो-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

पादनमन्विताभिधानं नाम । तदेवं कार्यमनपेक्ष्यैव भूतेऽप्यर्थे शब्दसामर्थ्यं सिद्धम् । तदेतत्सर्वमभि-प्रेत्याह—\*गोपदस्याभिधेयसम्बन्धेनेत्यादिना\* ॥

वेदेऽपि कार्यमनपेक्ष्यैव संसर्गप्रमितिरङ्गीकृतेत्याह—\*तथाच वषट्कर्तुरित्यादिना\* ॥ \*ननु\* कर्तव्य इति पदं तत्राप्यध्याहृत्य तेनैकवाक्यत्वोपगमेन वाक्यार्थः प्रमीयत इति—\*तत्राह यस्तु कर्तव्य इति\* ॥ \*ननु\* सूत्रकारेणैव वृद्धव्यवहारानुसारिणा कार्यान्वितस्वार्थे शब्दसामर्थ्यं दर्शितम्, “तद्भूतानां क्रियार्थेने”ति, तत्राह—\*यत्तु तद्भूतानामित्यादि\* ॥ भाष्यकारेणैव गुण-गुण्यादीनां विशेषण-विशेष्यादिभावेन समन्वयो दर्शित इत्यर्थः । \*ननु\* क्रियार्थेनेतिवचने कथं गुण-गुण्यादिसामानाधिकरण्यसम्बन्ध इति? अत आह—\*क्रियार्थेनेति\* ॥

## श्रुतुविवरणम्

नान्विताभिधानमित्याशङ्क्याह—\*पदानामेवेति\* ॥ अभिहितान्वये पदार्थानामभिहितानामभिधीयमानानां वाक्यार्थ-हेतुत्वाद्वैषम्यम् । यदा तु अभिहितान्वयवादिन एवं वदन्ति—पदार्थोभिधानाऽवान्तरव्यापारेण पदान्येव वाक्यार्थ-प्रतिपत्तिं कुर्वन्तीति; तेषामप्याकाङ्क्षादिवशेन विशिष्टार्थप्रतिपादकत्वम्, न तु वाचकत्वेनेति वैषम्यम् ॥ \*ननु\* प्रातिपदिकार्थं प्रथमाविभक्तिस्मरणे कारकत्वसामर्थ्यलभ्यक्रियान्वयो न भवेत्, एकार्थत्वं वक्तुं न शक्यते;

## तत्त्वदीपनम्

बोधकत्वम्? उताभिहितानाम्? नाद्यः; सदा प्रसङ्गात्, नापि द्वितीयः; पदार्थबोधस्य क्रमभावित्वादिति चोद्ये, एकै-केन पदेनैकैकपदार्थबोधे जाते सकलपदार्थबोधसंस्कारोत्थस्मृतौ भासमानाः पदार्थाः संसर्गं बोधयन्तीति वक्तव्यम्, ततश्चास्मान् प्रत्येवं न चोदनीयमित्यर्थः । अभिहितान्वयवादे च पदानां पदार्थप्रतीतिजनकत्वसाम्याद् मतसाङ्कर्यमित्या-शङ्क्याह—\*पदानामिति\* ॥ पदाभिहितपदार्थानामेव संसर्गबोधकत्वमित्यभिहितान्वयवादी मन्यते, पदान्येव पदार्थ-स्मृत्युत्पादनद्वारा संसर्गबोधकानीत्यन्विताभिधानवादी मन्यत इति विभागः । परमप्रकृतमुपसंहरति—\*तदेवमिति\* ॥ उपवर्णितेऽर्थे टीकामवतारयति—\*तदेतदिति\* ॥ भूतार्थमात्रदर्शनविभ्रमत्वात्, तथाच समन्वयो दृश्यत इत्यनुपपन्न-मित्याशङ्क्याङ्गीकारविरोधान्मैवमित्याह—\*वेदेऽपीति\* ॥ अङ्गीकारोऽसिद्ध इति शङ्कते—\*ननु कर्तव्य इति\* ॥ भूतार्थ-संसर्गोऽवगते नैरर्थक्यानुपपत्त्या कर्तव्यपदाध्याहारस्वीकरणात् क्रियान्वयं विनाऽपि संसर्गप्रमितिरङ्गीकृतेत्याह—\*तत्रा-हेति\* ॥ सूत्रस्य पुंमतिप्रभवत्वात् तद्वलादर्थनिश्चयः, ततश्च यत्तूक्तम्—“तद्भूतानामि”ति, तदनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—\*ननु सूत्रेति\* ॥ अनादिबृद्धव्यवहारानुरोधेन जैमिनिना सूत्रं प्रणीतम्, न तूत्प्रेक्षामात्रेणेत्यर्थः । सूत्रभाषानभिज्ञो भवा-नित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ “यतो दर्शितः समन्वयः” इत्यत्र केनेति न ज्ञायते, इत्यत्राह—\*भाष्यकारेणेति\* ॥ शाबर-भाष्यकारेणेत्यर्थः । शुक्लः पटः, खण्डो गौरित्येवं विशेषण-विशेष्यभावेन समन्वयं दर्शितवानित्यर्थः । भाष्यवचनं सूत्रविरुद्धमिति शङ्कते—\*ननु क्रियार्थेनेति\* ॥ धर्मविचारस्य प्रक्रान्तत्वात् तदनुसारेण तत्प्रतिपादकवाक्यसमन्वयमे-



## पञ्चपादिका

पक्रमात्प्रकृतोपयोगितया सूचितम् । तथा च भाष्यकारोऽपि “दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधन-  
मि”त्यर्थसद्भावमात्रे कथनीये कर्मावबोधनमिति प्रकृतोपयोगित्वेनैवोक्तवान् । तदेतदाह भाष्यकारः—  
यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणमित्यादिभाष्येण । अत एव पूर्वेण तन्त्रेणागतार्थत्वाच्छरीरकारम्भः ।  
तत्र हि वेदस्य विवक्षितार्थत्वं स्वतःप्रामाण्यं स्वरूपे च विज्ञानोत्पत्तौ शब्दस्य सामर्थ्यमित्ये-  
तत्सर्वमवगतम् । क्रियार्थेन समाम्नाय इति तु धर्मजिज्ञासाप्रतिज्ञानुसारेण सूत्रितम् । इह पुन “स्तत्तु  
समन्वयादि”ति विशेषण-विशेष्यात्मकमपि गौणमपि सामानाधिकरण्यं विहायैकस्मिन्निरंशे “तत्त्वमसी”ति  
समन्वयो मुख्यः प्रदर्शितः । तथा च भगवान् पाणिनिरव्यतिरिक्ते प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमां स्मरति,  
नाऽस्तिक्रियाकर्तर्येवातिरिक्तेऽर्थे । तेन च कात्यायनस्य “अस्तिर्भवन्तीपरः” इति मतं नानुमन्यते ।  
दृश्यते च ‘फलिता अमी द्रुमाः’ ‘राज्ञोऽयं पुरुषः’ इत्यस्तिक्रियाशून्यः समन्वयः । नात्रापि ये फलिता

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*तथाच भाष्यकारोऽपीत्यारभ्यात एवेत्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः\* ॥ किंच किमिति जैमिनीयसूत्रवचनाद् वेदान्तानां  
कार्यनिष्ठत्वमिष्यते ? बादरायणसूत्रैर्ब्रह्मनिष्ठत्वमिष्यताम्, इत्याह—\*अत एव पूर्वेण तन्त्रेणेति\* ॥ \*ननु\* अर्थ-  
भेदाभावे कथं पृथगारम्भ इति ? तत्र विभागमाह—\*तत्र हि वेदस्येत्यारम्भ मुख्यः प्रदर्शित इत्यन्तेन ग्रन्थेन\* ॥

\*ननु\* प्रातिपदिकार्थानामेकरसब्रह्मपरतयाऽन्वयेऽपि प्रथमाविभक्तेरव्यभिचारात् तदर्थकारकत्वान्वय इति,  
नेत्याह—\*तथाच भगवान् पाणिनिरव्यतिरिक्त इति\* ॥ तत्र लिङ्ग-संख्यादयस्त्वर्थोत्पत्तीयमाना अपि प्रज्ञानघन  
एवाद्वितीयमित्यादिशब्दविरोधादनिर्वचनीया भविष्यन्तीत्यर्थः । \*ननु\* क्रियान्तरविरहेऽपि प्रातिपदिकार्था-  
न्वये—“अस्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः प्रथमपुरुषेऽगम्यमाने” इति कात्यायनस्मरणादस्त्यर्थनिष्ठः समन्वय इति,  
नेत्याह—\*नास्तिक्रियाकर्तर्येवेति\* ॥ \*ननु\* अस्तिक्रियामप्यपहाय समन्वयो न दृश्यत इति, तत्राह—\*दृश्यते

## ऋजुविवरणम्

लिङ्ग-संख्यादीनामवर्जनीयत्वान्नाभिमतान्वयलाभ इत्याशङ्क्याह—\*लिङ्ग-संख्यादयस्त्विति\* ॥ “अस्तिर्भवन्तीपरः  
प्रयोक्तव्यः प्रथमपुरुषेऽगम्यमाने” इति । अयमर्थः—अस्तिः=“अस् भुवी”ति धातुः ; “इक्स्तिपौ धातुनिर्देशे” इति  
स्मरणात्, भवन्तीपरः=लट्पर इत्यर्थः । भवन्तीति संज्ञा लटः पूर्वाचार्याणाम् ॥

## तत्त्वदीपनम्

वोचिवान्, न भूतसमन्वयाभावमिप्रायेणेत्याह—\*अत आहिति\* ॥ शारीरकारम्भसमर्थनस्यात्र कोऽवसरः ? इत्या-  
शङ्क्य तात्पर्यमाह—\*किञ्च जैमिनीयेति\* ॥ वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यं निरूपयितुं शारीरकशास्त्रमारब्धं भगवता,  
तदनुपपन्नं विधिपरत्वे इत्यर्थः ॥ “तद्भूतानामि”त्यत्र भूतार्थसमन्वयविवक्षायामपि न पृथगारम्भसिद्धिरिति  
शङ्कते—\*नन्वर्थेति\* ॥ विधिवाक्यार्थनिरूपणाय पूर्वतन्त्रं प्रवृत्तम्, उत्तरं तु ज्ञानकाण्डवाक्यार्थनिरूपणायेत्याह—\*तत्र  
विभागमिति\* ॥ प्रथमाविभक्त्या कर्ता तावत्प्रतीयते, कर्ता च क्रियाविशिष्टः, तथाच ब्रह्मणि क्रियान्वयसिद्धिरिति शङ्कते  
—\*ननु प्रातिपदिकेति\* ॥ \*तदर्थेति\* ॥ प्रथमाविभक्त्यर्थाविनाभूता याऽस्तिक्रिया, तत्कर्तृकारकत्वान्वय इत्यर्थः ।  
प्रथमाविभक्तेः प्रातिपदिकार्थमात्रे विधानात् तद्वलत्कर्तृत्वसिद्धिरित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ तत्राऽपि लिङ्ग-संख्यादीनां  
प्रथमाविभक्तिसामर्थ्यादुपलभ्यमानत्वादद्वैतविरोध इत्याशङ्क्याह—\*तत्रेति\* ॥ \*अर्थोदिति\* ॥ विभक्तिसामर्थ्या-  
दित्यर्थः ॥ विधान्तरेण वेदान्तानां क्रियानिष्ठत्वं शङ्कते—\*ननु क्रियान्तरेति\* ॥ बाह्यक्रियाभावेऽपीत्यर्थः । प्रातिपदि-  
कार्थान्वय उपगत इत्यर्थः, “सत्यं ज्ञानमि”त्यादेर्नास्त्यर्थनिष्ठत्वमपीति शङ्कायामाह—\*अस्तिरिति\* ॥ अस्तिशब्दो  
धातुपरः । \*भवन्तीपर इति\* । लट्पर इत्यर्थः । प्राचामाचार्याणां भवन्तीशब्दो लट्संज्ञत्वेन प्रसिद्ध इत्यर्थः । प्रथम-  
पुरुष इति मध्यमोत्तमपुरुषयोरुपलक्षणम् । प्रथमपुरुषकीर्तनं “शेषे प्रथमः” इति सूत्रव्याख्यानरूपत्वाद् वार्तिकस्य ।  
अगम्यमान इति च्छेदः । वाक्ये क्रियावाक्ये क्रियान्तराभावे प्रतीयमानेऽपि अस्तिलट्परः प्रथमपुरुषादिघटितः कल्प्यत



## पञ्चपादिका

द्रुमास्ते सन्ति, यो राशः पुरुषः सोऽस्तीति विवक्षितम् ; अपित्वेते द्रुमाः फलिताः, अयं पुरुषो राश इति सम्बन्धमात्रावसितं वाक्यम् । एवं सामान्यतः सिद्धस्य जगत्कारणस्य सर्वज्ञत्वादिस्वभावत्वे त्वंपदार्थस्य च ब्रह्मात्मतायां समन्वयो वेदान्तवाक्यानां सिद्धः, न तत्रास्तिक्रियाया वस्तुस्वरूपान्त-  
र्वर्तिन्या अप्यनुप्रवेशो दूरत एव बाह्यायाः ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

च फलिता इति\* ॥ \*ननु\* तत्राप्यस्तिक्रियान्वयः कल्प्यतामिति, नेत्याह—\*नात्रापि ये फलिता इति\* ॥ कुत्र तर्हि वाक्यं पर्यवसितमिति, संबन्धमात्र इत्याह—\*अपित्वेते द्रुमा इति\* ॥ कथं पुनरत्र क्रियामपहाय संबन्धमात्रपर्य-  
वसितं वेदान्तवाक्यमिति, तदाह—\*एवं सामान्यतः सिद्धस्येति\* ॥ उक्तं तावत्पदानामर्थान्तरसंसर्गमात्रे सम्बन्ध-  
महणात् क्रियामपहायाव्यतिरिक्तैकरसप्रातिपदिकार्थान्वयो युक्त इति, इदानीं क्रियान्वयाभिधानवादिनामपि

## तत्त्वदीपनम्

इत्यर्थः । कर्तर्यपि समन्वय इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ अस्तिक्रियाया अव्यभिचारित्वात्सैष्टव्या ; अन्यथा समन्वया-  
सिद्धिरिति शङ्कते—\*नन्वस्तिक्रियामिति\* ॥ अदर्शनमसिद्धमित्याह—\*तत्राहेति\* ॥ साकाङ्क्षत्वव्युदासार्थं तत्राप्य-  
स्तिक्रिया कल्प्येति शङ्कते—\*ननु तत्रेति\* ॥ अन्यथाऽपि निराकाङ्क्षत्वसिद्धेर्न तत्कल्पनमित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥

दार्ष्टान्तिकमाक्षिपति—\*कथं पुनरिति\* ॥ संबन्धाभावान्न संबन्धपर्यवसानमित्यर्थः । कारणमात्रस्य प्रसिद्धस्य  
सर्वज्ञत्वासंबन्धे त्वंपदार्थस्य च तत्पदार्थसंबन्धे पर्यवसानमित्याह—\*तदाहेति\* ॥

निषेधवाक्यस्याक्रियार्थताया अनुक्तत्वात् “किंचे”त्येतदयुक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*उक्तं तावदिति\* ॥

## वार्तिकम्

शक्तिग्रह इति पक्षोऽपि—\*निरस्तः\* ; विषयासिद्धेरेव । तत्सिद्धेरेव तत्सिद्धिरिति चेत्, एवं तर्ह्यभि-  
व्यक्तेरप्यौपाधिकत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः । न ह्यन्योत्पत्त्याऽन्योत्पत्तिः पारमार्थिकी भवति । तथाच  
पूर्ववदेव कार्यत्वव्याघातः । नापि इति ; यागस्य तत्करणत्वाभ्युपगमविरोधात्, तदप्रमाणत्वाच्च ।  
नच यागस्य कार्याविनाभूतत्वेन तत्प्रामाण्यम् ; अन्योन्याश्रयात्=यागस्य कार्याविनाभावसिद्धौ तेन  
कार्यसिद्धिः, कार्यसिद्धौ च यागस्य कार्याविनाभावसिद्धिरिति । \*एतेन\*—अर्थाभिन्नाऽभिव्यक्तिरिति  
पक्षोऽपि—\*निरस्तः\* ; सिद्धत्वव्याघातात् । असिद्धस्य शशविषाणकल्पस्याभिव्यक्तित्वानुपपत्तेरित्या-  
स्ताम् । सर्वथाऽपि परकल्पिते नियोगे नास्ति मानमिति । तस्मात् सिद्धार्थेऽपि शक्तिग्रहादुपपद्यते  
शब्दप्रमाणस्य कार्यान्वयं विनाऽपि हेयोपादेयशून्यसिद्धवस्तुबोधकत्वमिति ॥

अपिच “आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्” इति पूर्वपक्षसूत्रेणाविशेषतया सर्वेषा-  
मक्रियार्थानां वेदवाक्यानामानर्थक्यं यदि बोध्येत, हन्त तर्हि निवृत्तेः क्रियातत्साधनान्यतरत्वाभावाद्  
“ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिनिवृत्त्युपदेशपराणां सर्वेषां निषेधवाक्यानामानर्थक्यमेव प्रसजितं  
स्यात् । नच भवता तदिष्टम् । अतोऽपि नैवमभिधातुं युज्यते ॥

\*ननु\* “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमि”तिवद् “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यत्रापि स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानु-  
रागेण नञः पर्युदासवृत्त्या तद्विरुद्धप्राप्तक्रियान्तरपरत्वं कल्प्यते । नच—एवं तद्वाक्यस्य निवृत्ति-  
परत्वं न स्यादिति—वाच्यम् ; हननविरुद्धक्रियाया एव निवृत्तिलक्षणत्वात् । तथाच क्रियार्थत्वान्नानर्थक्य-  
प्रसक्तिरिति चेत्, \*न\* ; प्रसक्तक्रियाऽनुत्पादनाया एव निवृत्तिशब्दार्थत्वात् । तथाहि—नञो ह्येष  
स्वभावः—यत् स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयति ; तत्र शक्यत्वात् । प्रकृते च स्वसम्बन्धी प्रकृत्यर्था-  
न्वितः प्रत्ययार्थ एव ; योग्यत्वात् । यत्रापि पर्युदासेनार्थान्तरे वर्तते, तत्र स्वार्थाविनाभावाद् लक्षणैव ;



अपिच “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्येवमाद्या निवृत्तिरूपदिश्यते । नच सा क्रिया । नापि क्रियासाधनम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत्, “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । तच्चानिष्टम् ।

भामती

न कार्यपरत्वनियमः सर्वत्र वाक्य इत्याह—\*ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्येवमाद्या इति ॥ \*ननु\* कस्मान्निवृत्तिरेव कार्यं न भवति, तत्साधनं वेत्यत आह—\*नच सा क्रियेति\* ॥ क्रियाशब्दः कार्यवचनः । एतदेव विभजते—\*अक्रियार्थानामिति\* ॥ स्यादेतत्—विधिविभक्तिश्रवणात्कार्यं तावदत्र प्रतीयते ।

पञ्चपादिका

किञ्च “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इतिप्रतिषेधवाक्यसमन्वये न क्रिया क्रियार्थो वाऽवगम्यते, किन्तु

पञ्चपादिकाविवरणम्

भूतेऽर्थे निषेधवाक्यसमन्वयो वक्तव्य इत्याह—\*किञ्च ब्राह्मणो न हन्तव्य इति\* ॥ \*ननु\* ब्राह्मणहननाभावोऽपि स्वयं क्रिया ? क्रियार्थो वेति ? नेत्याह—\*न क्रिया क्रियार्थो वेति\* ॥ प्राप्तक्रियानिवृत्तिलक्षणत्वादित्यर्थः । \*ननु\*

तत्त्वदीपनम्

अत्यन्तभेदराहित्यमव्यतिरिक्तशब्दार्थः । तादात्म्यराहित्यमेकरसपदेनोच्यते । निषेधवाक्यस्य भूतार्थनिष्ठत्वमुक्तम्, तदसंभवीति शङ्कते—\*ननु ब्राह्मणेति\* ॥ अहननस्य निवृत्तिरूपत्वात्क्रियार्थत्वमिति द्रष्टव्यम् । टीकापेक्षितं हेतु-

भाष्यभावप्रकाशिका

इत्याह—\*अपिच ब्राह्मण इति\* ॥ कृतेर्भावार्थविषयत्वादिवदभावार्थाभावात् कृतिनिवृत्तौ तद्विनाभूतकार्यमपि निवर्तत इति भावः ।

\*ननु\* कस्मान्निवृत्तिरेव कार्यं न भवति ? तत्साधनं वा ? इत आह—\*नच सेति\* । “प्राप्तक्रिया-दिवृत्तिरूपत्वादि”ति भाष्ये क्रियाशब्दः कार्यवचनः, ततः किमायातमिति ? अत आह—\*अक्रियार्थानामिति\* ॥ \*ननु\* अत्र हननं न कुर्यादिति वाक्यार्थो न भवति, किंस्वहननं कुर्यादिति । ततश्च हननविरोधिनी

प्रदीपः

वाक्यन्यायेन, किन्तु निषेधवाक्यन्यायेनापि न क्रियात्वनियमो वेदान्तवाक्यानामिति वेदान्तानां सिद्धार्थत्वेऽपि प्रामाण्यमुपपादयितुमाह—\*अपिचेति\* ॥ कर्तव्यतैकार्थसमवेष्टानिष्टसाधनत्वं लिङर्थः । ज्योतिष्टोमेनेत्यादेर्लोकसिद्धमनिष्टसाधनत्वमनूद्य कर्तव्यत्वमिष्टसाधनत्वं च लिङो बोध्यते । “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इति हनने लोकसिद्धमिष्टसाधनत्वं कर्तव्यत्वं चानूद्य नञोऽनिष्टसाधनत्वमात्रं बोध्यते । तथाच हननमनिष्टसाधनमिति न हन्तव्य इति वाक्यतात्पर्यविषयोऽर्थः । अथवेष्टसाधनत्वमात्रो लिङर्थः । न हन्तव्य इति नञो धात्वर्थेनाम्बये हनननिवृत्तिरिष्टसाधनमित्यर्थो भवति । कृतिसाध्यत्वेऽपि निवृत्तेरभावत्वेन क्रियात्वाभावाद् न क्रियार्थत्वं निषेधवाक्यानामेतत्पक्षरीत्या । पूर्वतनपक्षरीत्यापि तु हननानिष्टसाधनतामात्रे वाक्यस्य तात्पर्याद् हननकर्तव्यतायां तात्पर्याद् न कार्यविधिपरत्वं निषेधशास्त्राणाम् । उभयथापि तु कार्यार्थत्वनियमो वेदान्तवाक्यानामसम्भवदुक्तिक एवेति भावमाह—\*ब्राह्मणो न हन्तव्य इति\* ॥ \*निवृत्तिः—औदासीन्यम् । प्रकृते चैदासीन्यप्रयोजकमदिष्टसाधनत्वम् । उभयथापि क्रियाप्रयोजनकत्वं वेदवाक्यानां न नियतमिति भावः । निवृत्तेर्नपूर्वकवर्तितधातुवाच्यत्वात्क्रियात्वमेवेत्यत आह—\*न च सा क्रियेति\* ॥ अभावरूपत्वादित्यर्थः । अत्राभावोऽपि न क्रियासाधनमपीति तु दध्यादिवाक्याद्विशेषमाह—\*नापीति\* ॥ तथाच क्रियार्थत्वमात्रेणौपचारिकं क्रियात्वमादायापि प्रामाण्यरक्षणमत्र न भवतीति सूच्यते । तथाच “दुष्यतु दुर्जनः” इति न्यायेन गौणक्रियार्थत्वस्यापि प्रामाण्यमभ्युपगम्य नियमनिरासार्थं निषेधवाक्यानुसरणमिति फलति । प्रकृतं निषेधवाक्ये पूर्वोक्तनियमव्यभिचारं योजयति—\*अक्रियार्थानामिति\* ॥ निश्चितसाध्याभावे हेतुसत्त्वेनैव व्यभिचारः । निषेधवाक्यानि तु वेदान्तवाक्यानीव पक्षकोटिप्रविष्टानीति न दोष इत्याशङ्क्याह—\*तच्चानिष्ट-



नच स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुम्, हनन-  
क्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण ।

भामती

तच्च न भावार्थमन्तरेण । नच रागतः प्रवृत्तस्य हनन-पानादावकस्मादौदासीन्यमुपपद्यते विना विधा-  
रकप्रयत्नम् । तस्मात्स एव प्रवृत्त्युन्मुखानां मनोवाग्देहानां विधारकः प्रयत्नो निषेधविधिगोचरः क्रियेति  
नाक्रियापरमस्ति वाक्यं किञ्चिदपीत्याह—\*नच हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण नञः\* ॥

अयमर्थः—हनन-पानपरो हि विधिप्रत्ययः प्रतीयमानस्ते एव विधत्त इत्युत्सर्गः । नचैते शक्ये विधातुम्;  
रागतः प्राप्तत्वात् । नच नञः प्रसज्यप्रतिषेधो विधेयः ; तस्याप्यौदासीन्यरूपस्य सिद्धतया प्राप्तत्वात् ।  
नच विधारकः प्रयत्नः ; तस्याश्रुतत्वेन लक्ष्यमाणत्वात् ; सति संभवे च लक्षणाया अन्याय्यत्वात्,  
विधिविभक्तेश्च रागतः प्राप्तप्रवृत्त्यनुवादकत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । तस्माद् यत्पि वेत् यद् हन्या-  
द्वेत्यनूद्य तत्रेति निषिध्यते, तदभावो ज्ञाप्यते, नतु नञर्थो विधीयते । अभावश्च स्वविरोधिभाव-  
निरूपणतया भावच्छायानुपाती, इति सिद्धे सिद्धवत्, साध्ये च साध्यवद्भासते, इति साध्यविषयो नञर्थः

भाष्यभावप्रकाशिका

सङ्कल्पक्रियाहननं न कुर्यामिष्येवंरूपा कर्तव्यता प्रत्ययेन विधीयत इत्याशङ्क्याह—\*नच स्वभावेति\* ॥  
स्वभावप्राप्त इति\* ॥ शास्त्रमनपेक्ष्य रागत एव प्राप्त इत्यर्थः । एवंभूतहन्त्यर्थेन हननेन नञोऽनुरागो नञः  
संबन्धो यदा भवति, तदा भवत्यहननमिति, तत्कर्तव्यमित्युक्ते हननविरोधितया, हननसङ्कल्पक्रिया,  
हननप्रवृत्तेर्विधारकः प्रयत्नो वा कर्तव्य इति विधीयते । विधिमन्तरेणाप्राप्तत्वादित्ययं पक्षोऽनुप-  
पन्न इति भावः । तर्हि त्वत्पक्षे किं पर्यवसितमिदं वाक्यमिति ? तदाह—\*हननक्रियेति\* ॥ औदा-  
सीन्यं स्वभावतोऽप्यस्तीति प्रसक्तक्रियानिवृत्त्योपलक्ष्य विशिनष्टि—\*हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्येति\* ॥

प्रदीपः

मिति\* ॥ तत्प्रामाण्यस्योभयसंमतत्वाद्द्वयभिचारदोषस्तदवस्थ इति भावः । \*ननु\* “नेक्षेतो धन्तमादित्यमि”त्यादिनिषेध-  
वाक्येष्वप्यौदासीन्यप्रयोजनकेषु विना मनोवाग्देहानां विधारकप्रयत्नमकामादौदासीन्यासंभवादीक्षणविरोधि संकल्पविधान-  
पर्यन्तं तात्पर्यं मीमांसकैरङ्गीकृतमिति प्रकृतेऽपि तेन न्यायेन हननविरोधि विधारकप्रयत्नविधानमेव युक्तम् । ततश्च निषेध-  
वाक्येष्वपि कार्यार्थत्वात्तेषां न व्यभिचार उक्तनियमस्येत्याशङ्क्याह—\*नचेति\* ॥ “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इति वाक्य-  
स्येति शेषः । नञः स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इति वाक्यस्य हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यति-  
रेकेणाप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं नच शक्यमिति योजना । हन्त्यर्थस्य विधिना यत्र सम्बन्धो हन्तव्य इति, तत्र हन्तव्य  
इत्यादावेवाप्राप्तहननक्रियापरत्वं संभवति नान्यत्र । अत्र तु स्वभावप्राप्तस्येष्टसाधनत्वेनानवगतस्य हन्त्यर्थस्य नवा सम्बन्धो  
दृश्यते न हन्यादिति । अतो हन्त्यर्थेन नञोऽनुरागेण हेतुना हननगतेष्टसाधनत्वाभावबोधद्वारा हननक्रियानिवृत्तिरूपमौदासीन्य-  
मेव ब्राह्मणो न हन्तव्य इति वाक्यतात्पर्यार्थः, न तु तं विहायाप्राप्ता काचन क्रियाऽत्र विधीयत इति कल्पनं संभवतीति  
विशिष्टवाक्यार्थः । हनननिवृत्तिर्हि न हन्तव्य इति हननमिष्टसाधनत्वावबोधस्य फलमेव । तथाच हननमनिष्टसाधन-  
मित्येवात्र वाक्यार्थः, न तु किमपि कर्तव्यमिति । अनिष्टसाधनत्वे ह्यवगते स्वत एव निवृत्तिर्भविष्यति, न तु तदर्थं विधा-  
रकप्रयत्नविधाने निषेधवाक्यस्यापि तात्पर्यं कल्पनीयम् । न हि कर्तव्यं किञ्चिदुपदेष्टुमेव “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इति  
वाक्यं प्रवृत्तमित्यत्र प्रमाणमस्ति, येन सत्यपि नञो धात्वर्थेन योगे धात्वर्थविरोधिविधिधारकप्रयत्नपर्यन्तं विधेर्विषयः कल्पनीयः  
स्यात् । अन्यथा निर्मूला हि लक्षणा तत्राङ्गीकरणीया स्यादिति प्रकृतवाक्यार्थनिष्कर्षः । अथवा—हननाभाव इष्टसाधनमिति  
हननाभावेष्टसाधनताज्ञानफलत्वादौदासीन्यस्य हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यं विहाय हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेणेत्यस्यार्थः ।  
हननाभावेष्टसाधनत्वरूपार्थव्यतिरेकेणेति यावत् । कथं “न हन्तव्यः” इत्यत्रायमेवार्थ इति ? अत आह—\*नञः स्वभावप्राप्तहन्त्य-



## पञ्चपादिका

क्रियानिवृत्तिरेव नियमेन प्रतीयते । व्रतशब्दसमन्वयात् प्रजापतिव्रतादिषु “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमि” त्यादि-  
प्वनीक्षणं मानसी संकल्पक्रिया प्रतीयते—‘अनीक्षणं कुर्यात्,—नेक्षेऽहमिति संकल्पयेदिति, न नजः

## पञ्चपादिकाविवरणम्

“नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमि” त्यादावीक्षणविरोधिनी ‘नेक्षे’ इति संकल्पक्रिया विधीयते, एवं ‘न हन्यामि’ति हननविरो-  
धिनी संकल्पक्रियैव विधीयतामिति नेत्याह—\*व्रतशब्दसमन्वयादिति\*॥ अयमर्थः—संसृज्यमानाऽभावमेव मुख्यया  
वृत्त्या नजशब्दः प्रतिपादयति । अनुष्ठेयाभिधायिव्रतशब्दोपक्रमात्संसृज्यमानविरोधिनी क्रियान्तरे लक्षणया वर्तते,  
न तथेहापवादकं किंचिदस्ति, येन नजशब्दस्य संसृज्यमानविरोधिसंकल्पक्रियायां लक्षणा स्यादिति । \*ननु\*  
संसृज्यमानात्तदन्यतद्विरोधिनोरपि मुख्य एव नजशब्द इति, नेत्याह—\*न नजः समन्वयमात्रादिति\* ॥

अत्र प्राभाकरः प्रत्यवतिष्ठते—अत्र त्रयोऽर्थाः प्रतीयन्ते—ब्राह्मणः, हननम्, प्रत्ययार्थश्चेति । तत्र न ब्राह्मणेन

## ऋजुविवरणम्

एतदुक्तं भवति—क्रियानिष्ठमेव पदजातम् ; विभक्तिसहितस्यैव प्रयोगात्, द्वितीयादिविभक्तियुक्तानां क्रियान्वयः  
प्रसिद्ध एव, प्रथमाविभक्तेरप्यस्ति क्रिया ; कर्तरि स्मरणात्, तदस्तेः प्रयोगः कर्तव्यः, द्रुमाः सन्तीति गम्यमानत्व-  
दर्शनात्, “व्रतशब्दसमन्वयादि”त्यनेन व्रतशब्दान्वयबलेन विरोधिक्रियाविधायकत्वम्, तदयुक्तम् ; संसृज्यमाना-  
भाव-तदन्य-तद्विरोधिनामपि नज्वाच्यत्वात्, तच्चास्त्यत्राप्यहननसंकल्पवाचित्वम्, इत्याशङ्क्याभिप्रायमाह—  
\*अयमर्थः संसृज्यमानेति\*॥ “स्वभावत एवे”त्युक्तं चोद्यम् ; नजो मुख्यया वृत्त्याऽभाववाचकत्वं स्यात् ; तत्त्वात्,  
तत्त्यागे कारणाभावस्याप्युक्तत्वात्, तेन न चोद्यमुपपद्यत इत्याशङ्क्यावतारयति—\*अत्र प्राभाकर इति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

माह—\*प्राप्तेति\* ॥ अहननस्य क्रियानिवृत्तिरूपत्वान्न क्रियात्वम् ; अत एव न क्रियासाधनत्वमपीत्यर्थः । प्रतिषेध-  
वाक्यस्यापि संकल्पविधिपरत्वात् क्रियार्थत्वमस्खलितमित्याह—\*ननु नेक्षेतेति\* ॥ दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याद्  
मैवमित्याह—\*नेत्याहेति\*॥ उपक्रमानुरोधेन “नेक्षेते”त्यस्य विधिपरत्वमुक्तम्, तत् कस्मात् ? तदन्य-तदभाव-तद्विरुद्धानां  
नजः साधारणत्वादित्याशङ्क्याह—\*अयमर्थ इति\*॥ शक्तित्रयकल्पनाप्रसङ्गाद् न नजः साधारणत्वम्, किं त्वभाव एव  
तस्य मुख्योऽर्थ इत्यर्थः । कथं तर्हि क्रियापरत्वाभिधानं टीकायाम् ? तत्राह—\*अनुष्ठेयेति\* ॥ निवृत्तिपरत्वे  
उपक्रमभङ्गात्क्रियापरत्वमित्यर्थः । तर्ह्यत्रापि लक्षणया नजपदं संकल्पे वर्तताम्, तत्राह—\*तथेति\* ॥ गवादिशब्दा-  
नामनेकार्थप्रतिपादकत्वदृष्टेर्नजोऽपि तथात्वं स्यादिति शङ्कते—\*ननु संसृज्यमानादिति\* ॥ गत्यन्तराभावाद्गवादि-  
शब्दानामनेकार्थत्वं न तथाऽन्नेत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ संकल्पविधिपरताया नजो निरस्तत्वाद् न च स्वभावेति ग्रन्थाऽ-  
नुपपत्तिरित्याशङ्क्य तद्व्यावर्त्यां शङ्कां दर्शयति—\*अत्र प्राभाकर इति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*तत्रेति\* ॥

## वार्तिकम्

यथा प्रजापतिव्रते तत्प्रकरणावरोधात्, स्वार्थपरत्वे तु वाक्यभेदापत्तेः, पृथक् फलकल्पनापत्तेः । तथाच  
तद्विरोधः स्यात् । अतस्तदन्यथानुपपत्त्या तत्र लक्षणा क्लिष्टाऽप्यङ्गीक्रियते । नचात्र काप्यनुपपत्ति-  
रस्ति, येन स्वार्थपरित्यागेन लक्षणया तद्विनाभूतार्थान्तरपरत्वकल्पना स्यात्, तावतैव हननानु-  
त्पादनापरपर्यायतन्निवृत्तिप्रयोजनसिद्धेः । स्वभाव-रागादिदोषेण भ्रान्त्या ब्राह्मणहननं ममेष्टसाधन-  
मिति मत्वा तच्चिकीर्षोर्यदा निषेधशास्त्रस्मरणाद् ब्राह्मणहननं नेष्टसाधनमिति बुद्धिरुदेति, तदा शुक्ति-  
बुध्येव रजतबुद्धिः, शरबुद्धेयव च कुशबुद्धिस्तथा शास्त्रजनितया प्रमाणबुद्ध्या हननेष्टसाधनत्वभ्रान्ति-  
बाधिता सत्युपशम्यति । निवृत्तायां तु तस्यां कारणाभावात् तच्चिकीर्षोपशमलक्षणौदास्ये सिद्धेऽ-

## प्रदीपः

र्थानुरागेणेति\* ॥ हननाभावस्यैव विध्यर्थविशेषणत्वम्, इति न क्रियाकर्तव्यतायां विवरणतात्पर्यमित्यादिरूपेण योजनाऽवगन्तव्या ।



**नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति ।  
अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् ।**

भामती

साध्यवद्भासत इति नञर्थः कार्य इति भ्रमः । तदिदमाह—\*नञश्चैष स्वभाव इति\* ॥ \*ननु\*  
बोधयतु संबन्धिनोऽभावं नञ्, प्रवृत्त्यनुस्वानां तु मनो-बाग्देहानां कुतोऽकस्मान्निवृत्तिरिति ? अत आह--  
\*अभावबुद्धिश्चौदासीन्यपालनकारणम्\* ॥ \*अयमभिप्रायः\*—‘ज्वरितः पथ्यमश्नीयात्’ ‘न सर्पायाङ्गुलिं

पञ्चपादिका

समन्वयमात्रात्, तस्य समन्वीयमानार्थाभावकरत्वात् । \*‘नच स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण’\* त्यादिभाष्य-  
भाष्यभावप्रकाशिका

कुतो न शक्यमित्यत आह—\*नञश्चेति\* ॥ चकारोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमः । एष एवेति । नच  
तदन्य-तद्विरोधिनोरपि मुख्ययैव वृत्त्या नञोऽभिधायकत्वादवधारणमयुक्तमिति वाच्यम् ; अभा-  
वार्थत्वेऽपि नञः स्वेन संसृज्यमानादन्य-तद्विरोधिनोरभावसंबन्धिनोर्लक्षणयापि वृत्तिसंभवे तत्रापि शक्ति-  
कल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्, अतोऽब्रह्मणा धर्मावन्याविरोधिनावित्यपि वाक्यस्य लक्षणयैवार्थान्तरे नञो  
वृत्तिप्रदर्शकत्वादिति भावः ॥

\*ननु\* तर्हि नञर्थे हननाभावे नियोगोऽस्तु, ततो नियोगनिष्ठमिदं वाक्यमिति, तत्राह—  
\*अभावबुद्धिरिति\* ॥ भावार्थो दध्यादि गुणो वा नियोगविषयतया तन्निष्पत्तिहेतुः, नत्वभावः ;  
अभावस्यानादिसिद्धत्वात्तद्विषयत्वे नियोगस्याननुष्ठेयत्वप्रसङ्गात् । नचास्य प्रागभावस्य परिपालनं  
कर्तव्यम् ; स्वास्थ्यादप्रच्युतिलक्षणौदासीन्येनैव तत्परिपालनोपपत्तेरनुष्ठेयाभावादिति भावः । आस्ताम्,  
\*न\* प्रकृत्यर्थेन नञस्संबन्धः, किन्तु प्रत्ययार्थेन ; प्रत्ययार्थस्यैव प्रधानत्वात्, प्रधानेनैवेतरेषामन्व-  
यात्, प्रकृत्यर्थस्य चान्योपसर्जनत्वेनाप्रधानत्वात् ; अतो हननक्रियाया यदिष्टसाधनत्वं प्रवर्तकम्, तदेव  
प्रत्ययेनानूद्य नञा प्रतिषिध्यते—ब्राह्मणहननमिष्टसाधनं न भवतीति । एतदाह—\*अभावबुद्धिरिति\* ॥  
का तर्हि हननक्रियानिवृत्तिरिति ? तत्राह—\*सा चेति\* ॥ प्रत्ययार्थभूतेष्टसाधनताया निषेधे  
प्रकृत्यर्थाद् हननात् स्वयमेव निवर्तते । आपाततोऽभिमतसाधनत्वबुद्ध्या प्रवृत्तस्य ततोऽधिकतरानर्थ-  
हेतुत्वावगमे पुंसः प्रवृत्त्ययोगादिति भावः ॥

\*एवं वा योजना\*—\*नच हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण नञश्शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं  
कल्पयितुम् ; कुतो न शक्यमिति ? अत आह—\*स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञ इति\* ।  
अयमर्थः—हननपरोऽपि विधिप्रत्ययः प्रतीयमानो न तद्विधत्ते ; तस्य रागतः प्राप्तत्वात्, नच नञः  
प्रसज्यप्रतिषेधो विधेयः ; तस्याप्यौदासीन्यस्वरूपस्य सिद्धतया प्राप्तत्वात् । नच विधारकः प्रयत्नः ;  
तस्याश्रुतत्वेन लक्ष्यमाणत्वात्, सति संभवे च लक्षणाया अन्याय्यत्वात्, विधिविभक्तेरप्राप्तविषयकत्व-  
नियमेन रागतः प्राप्तप्रवृत्त्यनुवादकत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । तस्माद् यद् हन्यादित्यनूद्य तच्चेति  
निषेधेन तदभावो ज्ञाप्यते, नतु नञर्थो विधीयत इति ॥ \*ननु\* “न हन्तव्यः” इति नञर्थोऽभावः

प्रदीपः

\*ननु\* कथं “न हन्यादि”त्यत्र हननगतेष्टसाधनत्वाभावे तात्पर्यमिति ? अत आह—\*नञश्चैष स्वभाव इति\* ॥ तथाचेष्टसाधन-



## वार्तिकम्

नादिसिद्धा हननानुत्पादनालक्षणा निवृत्तिः प्रयोजनं सिद्धैवेति न काचिदनुपपत्तिः । \*तस्मादन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः प्रसक्तक्रियानुत्पादनालक्षणनिवृत्तिकारणं तच्चिकीर्षानिवृत्तिलक्षणमौदासीन्यमेव “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिनिषेधवाक्येषु निषेधस्य प्रयोजनमनुसन्धेयम् । अतो निषेधवाक्यानामक्रियार्थत्वेऽप्यानर्थक्याभावात् पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिरूपार्थवादविषयमेवानर्थक्याभिधानं पूर्वपक्षसूत्रार्थ इति द्रष्टव्यम् । अत एव “विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः” इति सिद्धान्तसूत्रेऽर्थवादानामेव विष्येकवाक्यातामापन्नानामानर्थक्यपरिहारः कृतः ; अन्यथा सर्वेषामक्रियार्थानामविशेषेणानर्थक्यपरिचोदनाद् अविशेषेण तत्परिहारः कृतः स्यादिति ॥

\*ननु\* यदि प्रसक्तक्रियाया इष्टसाधनत्वाभावमात्रं निषेधवाक्येनोपदिश्यते, हन्त तर्हि तत्क्रियाया नरकाद्यनिष्टसाधनत्वं न सिध्येत् ; तत्साधकप्रमाणाभावात्, अर्थात्, तत्सिद्धिरिति चेत्—अथैवं मन्यसे शब्देन ब्राह्मणहननादीष्टसाधनत्वाभावे बोधितेऽर्थादनिष्टसाधनत्वं सिद्ध्यति, तन्न ; अविनाभावाभावात्, नहि यदिष्टं न साधयति, तदनिष्टं साधयतीति नियमोऽस्ति ; निरर्थकाया उपेक्षणीय-फलिकायाश्च क्रियाया लोके दर्शनात्, \*न\* ; वैदिकनिषेधबलादेव तत्कल्पनात् । सर्वो हि वेदः पुरुषस्य फलवदर्थज्ञानपर्यवसन्न इत्युक्तम् । तत्र चाक्षरमात्रेणापि निरर्थकेन न भवितव्यम् । फलमपि द्विविधम्—सुखं दुःखाभावश्चेत्युक्तम् । तत्र ब्राह्मणहिंसादेः सुखसाधनत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तदंशे च तस्या भ्रान्तेरभावाद् न तत् श्रुत्या निषेद्धं शक्यते । अतः परिशेषाद् दुःखाभावसाधनत्वं भ्रान्त्या प्राप्तं प्रतिषिद्ध्यते । प्रतिषिद्धे च तस्मिन् अर्थान्निषिद्धायाः क्रियाया दुःखसाधनत्वं सिद्ध्यति । एवं सत्यर्थवत्त्वं निषेधशास्त्रस्येति न काचिदनुपपत्तिः ॥ \*एतेन\*—नञ्युक्तविधिप्रत्ययेन हिंसादेरनिष्टसाधनत्वाङ्गीकारे पशुदासोऽङ्गीकृतः स्यादिति—\*अपास्तम्\* ; तदनिष्टसाधनत्वस्यार्थिकत्वेन तदभिधानानङ्गीकारादुक्तदोषाभावादिति । तस्माद् निषेधवाक्यवदुपनिषदामप्यक्रियापरत्वमविरुद्धम् ॥

\*यद्युक्तम्\*—कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रपरत्वात् “सप्तद्वीपा वसुमती” इत्यादिवदुपनिषदामानर्थक्यमिति, तदपि परिहृतम् । “रज्जुरियं नायं सर्पः” इति वस्तुमात्रवचनाद् भयकम्पादिनिवृत्तिवद्वगतब्रह्मात्मभावस्य संसारनिवृत्तिप्रयोजनस्य दृष्टत्वेः ॥

\*ननु\* श्रुतब्रह्मणोऽपि पूर्ववत् संसारानुवृत्तिदर्शनाद् विषमो दृष्टान्त इत्युक्तमिति चेत्, \*न\* ; अवगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वस्य ब्रह्मात्मभावविरोधेन दर्शयितुमशक्यत्वाद् दृष्टान्तावैषम्यात् । देहादिष्वात्माभिमानकृतो हि तद्वत्सुखदुःखादिसंसारानुभव आत्मन इत्यसकृदवेदितम् । तस्मिंश्च वेदान्तजनितब्रह्मात्मज्ञानेन निरस्ते निमित्ताभावात् कुतो नैमित्तिकदुःखादेस्तत्र संभवः ? धनित्व-कुण्डलित्वाभिमानकृतस्य सुखस्येव तदभिमानवियोगे । श्रुतिरपीममेव न्यायसिद्धमर्थमनुवदति—“अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः” इति ॥

## प्रदीपः

हननाभावो न हन्तव्य इति हननगतेष्टसाधनत्वाभाव एव पर्यवस्यति । नहि हननाभावः श्रुत्या बोधयितुं शक्यते । श्रुतेरिष्टसाधनत्व-तदभावबोधन एव तात्पर्यादिति भावः । \*ननु\* एवं निषेधवाक्यानां निवर्तकवाक्यत्वेन व्यपदेशः किंनिबन्धनः ? यदि निवृत्तिबोधकत्वेन, तर्हि तद्विधारकप्रयत्नबोधकत्वमेव समायातमिति कथं नाप्राप्तक्रियार्थत्वमिति ? अत आह—\*अभावबुद्धिरिति\* ॥ औदासीन्यरूपा हि निवृत्तिरिष्टसाधनत्वाभावबुद्धेः फलम्, ननु विधिवाक्यस्यैवार्थः, इति न विधारकप्रयत्नपर्यन्तं विधेर्व्यापार इति भावः । \*ननु\*—अभावबुद्धेः क्षणिकत्वाद् सत्यपि निषेधे प्रवृत्त्यापत्तिः, कारणाभावे कार्याभावस्यैव नियतत्वेनौदासीन्यप्रच्युति-



## भामती

दद्यात्' इत्यादिवचनश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धस्य पश्याशने प्रवृत्तिं भुजङ्गाङ्गुलिदानोन्मुखस्य च ततो निवृत्तिमुपलभ्य बालो व्युत्प्लुः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रवृत्ति-निवृत्तिहेतू इच्छाद्वेषावनुमिमीते । तथाहि—इच्छाद्वेषहेतुके, वृद्धस्य प्रवृत्ति-निवृत्ती, स्वतन्त्रप्रवृत्ति-निवृत्तित्वात् ; मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्ति-निवृत्तिवत् । कर्तव्यतैकार्थसमवेतेष्टानिष्टसाधनभावावगमपूर्वकौ च, अस्येच्छाद्वेषौ ; प्रवृत्ति-निवृत्ति-हेतुभूतेच्छाद्वेषत्वात्, मत्प्रवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषवत् । न जातु मम शब्दतद्यापारपुरुषाशयत्रैकाल्यान-वच्छिन्नभावनापूर्वप्रत्ययपूर्वाविच्छाद्वेषावभूताम्, अपितु भूयोभूयः स्वगतमालोचयत उक्तकारणपूर्वावेव प्रत्यवभासेते । तस्माद् वृद्धस्य स्वतन्त्रप्रवृत्ति-निवृत्ती इच्छाद्वेषभेदौ च कर्तव्यतैकार्थसमवेतेष्टानिष्ट-साधनभावावगमपूर्वावित्यानुपूर्व्या सिद्धः कार्य-कारणभाव इतीष्टानिष्टसाधनतावगमात्प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्ति-निवृत्ती इति सिद्धम् । स चावगमः प्रागभूतः शब्दश्रवणानन्तरमुपजायमानः शब्दश्रवणहेतुकः, इति प्रवर्तकेषु वाक्येषु “यजेत” इत्यादिषु शब्द एव कर्तव्यमिष्टसाधनं व्यापारमवगमयंस्तस्येष्टसाधनतां कर्तव्यतां चावगमयति ; अनन्यलभ्यत्वादुभयोः, अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात् । तत्र तु कर्तव्यतान्यत एव लभ्यते, यथा “न हन्यात्” “न पिबेत्” इत्यादिषु हनन-पानप्रवृत्त्यो रागतः प्रतिलम्भात्, तत्र तदनुवादेन नञ्समभिव्याहृता लिङादिविभक्तिरन्यतोऽप्राप्तमनयोरनर्थहेतुभावमात्रमवगमयति । प्रत्यक्षं हि तयोरिष्टसाधनभावोऽवगम्यते ; अन्यथा रागविषयत्वायोगात् । तस्माद्वागादिप्राप्तकर्तव्यतानुवादेनानर्थ-साधनताज्ञानपरं “न हन्यात्” “न पिबेत्” इत्यादिवाक्यम्, नतु कर्तव्यतापरमिति सुष्ठूक्तमकार्यनिष्ठत्वं निषेधानाम् । निषेध्यानां चानर्थसाधनताबुद्धिरेव निषेध्याभावबुद्धिः, तथा खल्वयं चेतन आपाततो

## वार्तिकम्

\*ननु\* अशरीरस्य तदस्पर्शं वदति श्रुतिः, नतु शरीर आत्माभिमानशून्यस्य, अशरीरत्वं च शरीरपाते सति भवति, नतु विद्यमान एव शरीरे ; विरोधात् । अस्ति च ज्ञानिनामपि शरीरम्, अतो न प्रियाप्रियादिसंसारपगमस्तेषामिति चेत्, \*न\* ; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञानकृतत्वात् । न ह्यात्मनः शरीरात्मताभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं परित्यज्यान्यत् सशरीरत्वं कल्पयितुं शक्यं केनापीत्युप-पादितमधस्तादस्माभिः । नित्यात्मस्वरूपमेवात्मनोऽशरीरत्वम्, न कर्मनिमित्तमित्यप्यवोचाम ॥

\*ननु\* आत्मकृतधर्माधर्मनिमित्तमेव सशरीरत्वम्, न मिथ्याज्ञानमात्रम् ; जात्यायुर्भोगानां धर्माधर्मावधत्वात् । तथाच तदुपशमोऽपि कर्मापेक्ष इति चेत्, \*न\* ; अन्योन्याश्रयात्—नहि शरीरादिसंहतस्यात्मनो धर्माधर्मकारित्वमस्ति, न वा केनचिदभ्युपगम्यते । तथाच शरीरादिसम्बन्ध-सिद्धौ धर्माधर्मसिद्धिरात्मनः, तत्सिद्धौ च तत्कृतशरीरादिसम्बन्धसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । बीजाङ्कुर-वददोष इति चेत्, न ; अन्धपरम्परात्वेन तद्वैलक्षण्यादित्युक्तत्वात् । मिथ्याज्ञानकृतत्वं तु सशरीर-त्वस्य प्रत्यक्षसिद्धम् ; स्वापादौ तदभावेऽभावात्, भावे च जागरादौ भावात्, अक्रियत्वादात्मनः कर्तृत्वा-नुपपत्तेश्च ॥

राजप्रभृतीनामिव भृत्यादिसन्निधानमात्रेणाक्रियस्याप्यात्मनो देहादिसन्निधानमात्रेण कर्तृत्वमविरुद्ध-मिति चेत्, न ; वैषम्यात् । धनदानादिनोपार्जितभृत्यादिसम्बन्धित्वादराजप्रभृतीनां तत्प्रयोजकत्वेन तत्कर्तृत्वोपपत्तिः, न तथाऽऽत्मनो धनदानादिवत् शरीरादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धकारणं किञ्चिदमिथ्या-ज्ञानमन्तरेण तददृष्टादि शक्यं कल्पयितुम् ; प्रमाणाभावात्, अन्योन्याश्रयाच्चेत्यवोचाम । मिथ्याहं-



## पञ्चपादिका

समन्वयमात्रात् ; तस्य समन्वीयमानार्थाभावकरत्वात् । नच स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेणेत्य-  
स्यायमर्थः\*—स्वभावत एव रागादिनिमित्ताच्छास्त्रमन्तरेणैव हननक्रिया प्राप्ता यदि नञाऽनुरज्यते,  
विशेष्यते, तदा भवत्यहननमिति । ततश्चाहननं कुर्यादिति वाक्यार्थः स्यात्, न 'हननं न कुर्यादिति'  
हननक्रियानिवृत्यौदासीन्यम् । अतो न हन्यामिति मानसी संकल्पक्रियाऽपूर्वाऽभिहिता स्यात् । न  
चैतद्युक्तम् ; नञः सम्बन्ध्युपमर्दरूपत्वात् । अनीक्षणे तु व्रतशब्दबलात्तथा समन्वयः, न नञः सामर्थ्या-  
दित्युक्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रतिषेधान्वयः ; प्रत्यक्षविरोधात् । नच हननाभावं प्रतिपादयति ; तस्य प्रवृत्तत्वात् । नापि प्रत्ययार्थाभावम् ;  
फलप्रार्थनायाः प्रवृत्तिहेतोः कार्यबुद्धेर्वा प्रत्यक्षत्वात्, ततः स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण तद्विरोधिनी संकल्पक्रियैव  
नञा प्रतिपाद्यते । सा च प्रत्ययेन विधीयते । नचाभावो नाम भावान्तरव्यतिरेकेण कश्चिदस्ति, येन  
तत्पर्यवसितं वाक्यं स्यात् । अतो भावान्तरविधिपरं वाक्यमिति, तदेतदाह—\*स्वभावत एव रागादि-  
निमित्तादित्यादिना\* ॥

परिहरति—\*नचैतद्युक्तमिति\* ॥ नचाभावस्तद्बुद्धिगोचरो निवर्तयितुं शक्यः । नच भावान्तर-  
मेवाभावः ; तस्य सप्रतियोगिकत्वात् । अभाव एव च नञो मुख्योऽर्थः ; अर्थान्तर-विरोधिनोरभाव-

## ऋजुविवरणम्

फलं प्रार्थ्यतेऽनेनेति फलसाधनमभिधीयत इति । कार्यबुद्धेर्वैति तन्मत्तानुसारेणोक्तम् ॥ \*ननु\* प्रत्ययाभिहितेषु  
साधनान्वयेन तन्निषेधेऽनिष्टसाधनतायां निमित्तप्रवृत्त्युपरमहेतुत्वेनाभावपर्यवसितत्वे मुख्ये संभवति सति कथं तद्विरोधि-  
परत्वममुख्यमाश्रीयत इत्याशङ्क्याह—\*नचाभावो नामेति\* ॥ \*ननु\* अभाव एव नास्ति, कुतस्तदर्थत्वमित्याशङ्क्य  
परिहाराभिप्रायमाह—\*नचाभाव इति\* ॥ \*ननु\* भावान्तरस्याभावबुद्धिगोचरत्वाङ्गीकारात्त बुद्धिविरोध इत्या-  
शङ्क्याह—\*नच भावान्तरमिति\* ॥ \*ननु\* भवत्वभाववाचित्वम्, तथाऽपि तदन्य-तद्विरोधिनीरपि वाच्यत्वं  
कल्प्यत इत्याशङ्क्याह—\*अभाव एवेति\* ॥ \*ननु\* तदन्य-तद्विरोधिनीरपि प्रयोगान्मुख्यत्वमित्याशङ्क्याह—

## तत्त्वदीपनम्

धात्वर्थे नञः संबन्ध इति पक्षं निरस्यति—\*नच हननेति\* ॥ उपस्थितं हननं न प्रतिषेध्यम्, क्रियायाः क्षणिकत्वेन  
स्वतो विनाशादित्याह—\*तस्येति\* ॥ प्रतिपादयतीति पदमन्त्रानुषज्यत इति द्रष्टव्यम् । फलं प्रार्थ्यतेऽनेनेति फल-  
प्रार्थना, फलसाधनत्वमित्यर्थः । स्वमतमनुसृत्याह—\*कार्यबुद्धेरिति\* ॥ कस्तर्ह्यर्थः ? इति वीक्षायामाह—\*तत  
इति\* ॥ शास्त्रसंस्कारमन्तरेण रागादेव प्राप्तो यो हन्त्यर्थः, तदनुरागेणेत्यर्थः । कस्तर्हि प्रत्ययार्थः ? इत्याह—  
\*सा चेति\* ॥ इतोऽपि नाभावनिष्ठं वाक्यमित्याह—\*न चाभावो नामेति\* ॥ भावस्यैवाभावान्न तस्य नञर्थत्वमिति  
यत्तूक्तं तत्राह—\*न चाभाव इति\* ॥ अभावानुभवविरोधान्न तदपलाप इत्यर्थः । अथाभावस्वरूपं न निराकुर्मः किं  
तु तस्याभावातिरेकमित्याशङ्क्याह—\*न च भावान्तरमिति\* ॥ भवत्वभावस्तथापि कथं वाक्यस्य तन्निष्ठत्वम् ?  
तत्राह—\*अभाव एवेति\* ॥ तदन्य-तद्विरोधिनीरपि नञः प्रयोगात्कथमभावस्यैव मुख्यत्वम् ? तत्राह—\*अर्थान्त-  
रेति\* ॥ वाच्याऽविनाभावस्य लक्षणानिमित्तावगममङ्गीकृत्याह—\*अभावेति\* ॥ अभाव एव नञो मुख्योऽर्थः

## वार्तिकम्

ममाभिमानस्तु देहादिसम्बन्धहेतुः प्रत्यक्षसिद्ध एवेति न तत्र प्रमाणात्वेष्टा । तस्मात् स्वप्नप्राप्त-  
राज्योपकरणादिवदमिथ्याभिमानकृतमेवात्मनि कर्तृत्वम्, न पारमार्थिकम् ॥

\*एतेन\*—कर्तृत्वस्य मिथ्याभिमानहेतुत्वव्याख्यानेनात्मनो यजमानत्वस्यापि तद्वेतुत्वम्—  
\*व्याख्यातम्\* ; कतुरेव क्रियाफलस्वामित्वेन यजमानत्वात् ॥



## पञ्चपादिका

\*ननु\* नञर्थे नियोगः प्रतिषेधेषु, तेन यागाद्यनुष्ठानादिव नञर्थानुष्ठानान्नियोगः साध्यः, किमुच्यते क्रियानिवृत्त्यौदासीन्यं प्रतीयत इति ? वार्तमेतत् । नञर्थो हि नाम न क्रिया, नापि साधनम्, अपि तु येन संसृज्यते तस्याभावो न तत्सिद्धिहेतुः । एवं प्रतिषेधस्य विधेरन्यत्वं सिध्यति । अन्यथा विधिरेव सर्वं स्यात् । तस्माद् न संसृज्यमानाभावमात्रे प्रतिषेधवाक्यं पर्यवस्यति । तत्र न

## पञ्चपादिकाविवरणम्

सम्बन्धिनोर्लक्षणयाऽपि प्रवृत्तिसंभवे रूढिकल्पनायोगात् । \*ननु\*—“नाम-धात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः । वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥” इत्यर्थान्तरेऽपि नञ्शब्दो दर्शितः, \*सत्यम्\* ; तत्रापि मुख्यार्थान्वयेन लक्षणयाऽर्थान्तरेऽपि बुद्धिनियमो दर्शित इत्यविरोधः ।

आह प्राभाकरः—हननाभावे नियोगः, ततश्च नियोगपर्यवसितं वाक्यमिति, तदाह—\*ननु\* नञर्थनियोग इति\* ॥ दूषयति—\*वार्तमेतदिति\* ॥ भावार्थो दध्यादिगुणो वा विधिविषयतया तन्निवृत्तिहेतुः, न हननप्रागभावः ; अनादिसिद्धतया नियोगस्याननुष्ठेयत्वात् । दूषणान्तरमाह—\*एवं प्रतिषेधस्येति\* ॥ विधिप्रतिषेधविभागव्यवहारो लौकिको न स्यादित्यर्थः । तस्मान्न कार्यपर्यवसितमित्युपसंहरति—\*तस्मात्संसृज्यमानेति\* ॥

## ऋजुविवरणम्

\*अर्थान्तर-तद्विरोधिनोरिति\* ॥ “ननु नञर्थः” इति चोद्यं पुनरुक्तम्—पूर्वमपि नञर्थस्यैव संकल्पस्यैव नियोगविषयत्वमुक्तम्, अत्रापि नञर्थानुष्ठानादित्याशङ्क्यावतारयति—\*हननाभाव इति\* ॥ \*ननु\* क्रिया-तत्साधनव्यतिरिक्ताभावस्यैव विधिनिवर्तकत्वमस्त्वित्याशङ्क्याभिप्रायमाह—\*भावार्थो दध्यादिरिति\* ॥ \*एवमिति\* पूर्वोक्तमुपजीव्योक्तमिति भाति ; तद्युक्तम् ; पूर्वग्रन्थे ह्यभावस्य विधिविषयत्वं निरस्तम्, अत्र तु—“एवमि”त्युक्ते तस्य विषयत्वाभावे विधिप्रतिषेधभेद इति प्रतिभाति, तदा विरोधः ; तेनैव भेदाभावसिद्धेरित्याशङ्क्यावतारयति—\*दूषणान्तरमिति\* ॥ \*एवमिति\* ॥ औदासीन्यमात्रार्थत्वं इत्यर्थः ॥ \*ननु\* विधिप्रतिषेधभेदो मा भूत् ; सर्वत्रानुष्ठेयस्यैव विषयत्वं भवतु, को दोषः ? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*विधिप्रतिषेधविभागेति\* ॥ “तस्मात्संसृज्यमानः” इत्युपसंहारो न युक्तः ; तस्याप्रतिपाद्यत्वात्, असमासत्वात्, उत्तरत्र तत्प्रतिपादनात्, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*तस्मान्न कार्येति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

इत्युक्तम्, तत्र वार्तिकविरोधं शङ्कते—\*ननु नामेति\* ॥ नञ्पदं न निषेधकं चेत् किं तर्हि प्रतिपादयतीत्यत आह—\*वदतीति\* ॥ अर्थान्तरे नञ्शब्दस्य वृत्तिमुक्तामङ्गीकरोति—\*सत्यमिति\* ॥ कथं तर्ह्यभाव एवार्थस्तत्राह—\*तत्रापीति\* ॥ \*ननु\* नञर्थे नियोग इत्यत्र नञा निर्दिष्टसंकल्पक्रियायां नियोगः शङ्कित इति शङ्का स्यात्, न च सा युज्यते पौनरुक्त्यात्, इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*आह प्राभाकर इति\* ॥ अभावस्य नियोगविषयत्वमङ्गीकृत्योक्तमिति द्रष्टव्यम् । अभावस्यापि क्रियातत्साधनवन्नियोगनिवर्तकत्वात्तद्विषयत्वं युज्यते, ततश्च “वार्तमि”त्येतदेव वार्तमित्याशङ्क्याह—\*दूषयतीति\* ॥ दूषणमेव स्पष्टयति—\*भावार्थ इति\* ॥ विधिविषयतयेति । नियोगविषयतयेत्यर्थः । \*अननुष्ठेयत्वादिति\* ॥ अननुष्ठेयत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । यागादिः स्वयं कृत्या साध्यः सन्नियोगकारणतां भजते, न तथाऽभावस्य कृतिसाध्यता, अनादित्वादित्यर्थः ॥ अर्थस्य विधिनिष्ठत्वमिष्टमेवेत्याशङ्क्याह—\*विधिप्रतिषेधेति\* ॥ न तत्र विधिगन्ध इत्यत्र विधिशब्दार्थं दर्शयन् व्याचष्टे—\*तस्मादिति\* ॥ नञोऽभावार्थतायाः सिद्धत्वात्तच्च संसृज्यमान-

## प्रदीपः

रूपायाः प्रवृत्तेर्युज्जीवनापत्तेरिति—चेत्, औदासीन्यं हि प्रसक्तप्रवृत्तिविनाशः, प्रवृत्तिप्रागभावपरिपालनं वा । तत्र नष्टायाः प्रवृत्तेर्नाशकसामग्रीविनाशेऽपि नाशापत्तिः किमुक्तापत्त्या विवक्षिता ? उत रक्षितस्य प्रागभावस्य रक्षकसामग्रीं विना विनाशापत्तिः ? तत्र रक्षकसामग्रीविनाशाद् रक्षितविनाशो हि कुत्रापि न दृष्टचरः । नाशकसामग्रीप्रयुक्तो हि नाशः, न तु रक्षकसामग्रीविनाशप्रयुक्त इति द्वितीयापत्तेर्नावसर इति मत्वा प्रथमाया आपत्तेरनवसरमाह—\*सा चेति\* ॥ \*दग्धेन्धनादिवत्=



## पञ्चपादिका

विधिगन्धोऽपि विद्यते । तच्च संसृज्यमानं विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-संपश्चाभ्यनुज्ञानानामभावात्प्रति-  
पाद्यधर्मः प्रतिषिध्यमानक्रियाफलं प्रार्थना प्रतिषेधवाक्ये लिङाद्यर्थः । तेन तदभावः प्रतिषेधार्थः, स

## पञ्चपादिकाविवरणम्

प्रकृत्यर्थस्य हननस्यैव नञ्शब्दान्वयमङ्गीकृत्य भावोऽर्थान्तरं वा न विधेयमित्युक्तम् ; इदानीं प्रत्ययार्थे  
एव नञा सम्बध्यते, प्रकृत्यर्थस्यान्योपसर्जनत्वात्प्रधानेन चेतरेषामन्वयादित्याह—\*तच्च संसृज्यमानमिति\* ॥  
प्रत्यक्षादिव्यवहारेषु पुरुषान्तरनिवन्धनत्वाभावाद्बिध्यादीनामसंभवे प्रतिपाद्यधर्म इत्यनुष्ठेयता स्वधर्म इत्यर्थः ।  
\*प्रतिषिध्यमानक्रियाफलेति\* ॥ निवर्त्यमानक्रियाफलेत्यर्थः । प्रत्ययार्थनिषेधेऽपि प्रकृत्यर्थो निवर्तत इति ।  
प्रार्थ्यत इति प्रार्थना फलसाधनमित्यर्थः । ततश्च हननस्य यदिष्टसाधनत्वं प्रवर्तकम्, तदेव प्रत्ययेनानुद्य  
प्रतिषिध्यते ब्राह्मणहननमिष्टसाधनं न भवतीति ॥ \*ननु\* प्रत्यक्षमिष्टसाधनत्वं हननस्य नादृष्टविरोधि  
दृष्टप्रयोजनस्येष्टशब्दत्वादिदमदृष्टविरोधि, दृष्ट प्रार्थ्यत इति प्रार्थना ; फलसाधनमित्यर्थः । ततश्च हननस्य

## ऋजुविवरणम्

“तच्च संसृज्यमानमि”त्यनेन किमधिकमुच्यते ? पूर्वग्रन्थे संसृज्यमानाभावार्थत्वात् कार्यत्वमित्युक्तम्, अत्रापि  
संसृज्यमानाभावार्थत्वात्तस्य चाननुष्ठेयत्वात् कार्यपरत्वमित्युक्तम्, अतः पुनरुक्तम् । \*ननु\* संसृज्यमानाभावार्थत्व-  
मेव तत्रोक्तम्, न तु संसृज्यमानस्वरूपं निर्दिष्टम्, अत्र तन्निरूपणं क्रियत इति भेदः, निष्फलत्वात्तत्रापि संसृज्य-  
मानस्यापेक्षितत्वेन योग्यत्वेन लब्धत्वात्पुनरुक्त इत्याशङ्क्यावतारयति—\*प्रकृत्यर्थस्य हननस्यैवेति\* ॥ \*ननु\*  
विध्यादीनां लिङ्यर्थत्वात्कथं “तेषामसंभवः ?” इति टीकाकारोक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह—\*पुरुषान्तरनिवन्धन-  
त्वेति\* ॥ \*प्रतिपाद्यधर्म इति\* न युक्तम् ; निषेधवाक्ये नञर्थस्यैव प्रतिपाद्यत्वात् । न हि स्वेनैव स्वस्यान्वयः,  
नापि प्रतिपाद्यशब्देन प्रतीयमानत्वं विवक्षितम् ; ब्राह्मण-धात्वर्थयोरुभयोरपि प्रतीयमानत्वेनोभयधर्मत्वप्रसङ्गादित्या-  
शङ्क्य व्याचष्टे—\*प्रतिपाद्यधर्म इति\* ॥ \*अनुष्ठेयेति\* ॥ “प्रतिषिध्यमाने”ति व्याहृतम् ; धात्वर्थधर्मस्य  
नञाऽन्वयात्तदन्वयेन विना क्रियानिषेधानुपपत्तेः, “फलप्रार्थना लिङाद्यर्थः” इत्यनेन लिङ्यर्थस्य निषेधेऽन्वयप्रतीतिश्च विरोध  
इत्याशङ्क्याह—\*निवर्त्यमानक्रियेति\* ॥ \*ननु\* विरुद्धं लिङ्यर्थस्य निषेधे क्रियानिघर्त्यत्वाभिधानमिति, तत्राह—  
\*प्रत्ययार्थनिषेधेऽपि प्रकृत्यर्थ इति\* ॥ \*ननु\* फलप्रार्थनेति फलरागः प्रतीयते, कथं तस्य लिङ्यर्थत्वम् ? इत्याशङ्क्य  
व्याचष्टे—\*प्रार्थ्यत इति प्रार्थनेति\* ॥ फलार्थं साधनेऽपि रागोऽस्त्येवेति तात्पर्यम् । यद्वा—फलं प्रार्थ्यतेऽनेनेति  
फलप्रार्थनेति । कथं तर्हि वाक्यार्थः संपद्यत इति ? तदाह—\*ततश्च हननस्येति\* ॥ \*ननु\* हनने सुखं दृश्यते, कथं

## तत्त्वदीपनम्

मित्यादेर्नैकत्वमित्याशङ्क्याह—\*प्रकृत्यर्थस्येति\* ॥ भवतु उपसर्जनत्वम्, कथं प्रत्ययार्थेन संबन्धः ? तत्राह—  
\*प्रधानेनेति\* ॥ विधिनिमन्त्रणादीनामसंभवे हेतुमाह—\*प्रत्यक्षादीति\* ॥ अनुष्ठानव्यतिरिक्तपुरुषान्तरसंभवे  
विध्यादिकं दृष्टम्, न च प्रत्यक्षानुमानपूर्वकव्यवहारस्यानुष्ठानव्यतिरिक्तपुरुषान्तरजन्यता, ततो न विध्यादिरित्यर्थः ।  
हननस्याप्रतिपाद्यत्वात् प्रतिपाद्यधर्म इति कथमुक्तम् ? तत्राह—\*अनुष्ठेयेति\* ॥ प्रत्ययार्थस्य प्रतिषिध्यमानत्वात् कथं  
प्रतिषिध्यमानक्रियेत्युक्तम् ? तत्राह—\*प्रतिषिध्यमानेति\* ॥ \*ननु\* लिङाद्यर्थस्य प्रतिषिध्यमानत्वात् कथं क्रियाया-  
निवर्त्यमानत्वमित्याशङ्क्यार्थान्निवृत्तिरित्याह—\*प्रत्ययार्थेति\* ॥ प्रार्थनाया लिङ्यर्थत्वं सिद्धान्तविरुद्धमित्याशङ्क्याह—  
\*प्रार्थ्यत इति\* ॥ अक्षरार्थमभिधाय वाक्यार्थं दर्शयति—\*ततश्चेति\* ॥ निषेधप्रकारमभिनयति—\*ब्राह्मणहननमिति\* ॥  
हननस्येष्टसाधनताया अनुभूयमानत्वात्कथं तन्निषेधः ? इति शङ्कते—\*ननु\* प्रत्यक्षमिति\* ॥ इष्टसाधनशब्दार्थोऽ-  
नभिज्ञो भवानित्याह—\*नादृष्टेति\* ॥ इष्टमिति शब्दो यस्य तदिष्टशब्दम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादित्यर्थः ।  
इष्टशब्दार्थमभिधाय वाक्यार्थमाह—\*इदमदृष्टेति\* ॥ \*ननु\* सर्वस्यानर्थसंभिन्नत्वाद् हननमनर्थसंभिन्नमपीष्टसाधन-



## भामती

रमणीयतां पश्यन्नप्यायतिमालोच्य प्रवृत्त्यभावं निवृत्तिमवबुध्य निवर्तते । औदासीन्यमात्मनोऽवस्थापयतीति यावत् । \*स्यादेतत्\*—अभावबुद्धिश्चेदौदासीन्यस्थापनकारणम्, यावदौदासीन्यमनुवर्तते, नचानुवर्तते ; नह्युदासीनोऽपि विषयान्तरव्यासक्तचित्तस्तदभावबुद्धिमान् । नचावस्थापक-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

यदिष्टसाधनत्वं प्रवर्तकम्, तदेव प्रत्ययेनानूद्य प्रतिषिध्यते—ब्राह्मणहननमिष्टसाधनं न भवतीति । \*ननु\* प्रत्यक्षमिष्टसाधनत्वं हननस्य नादृष्टविरोधि ; दृष्टप्रयोजनस्येष्टशब्दत्वात्, इदमदृष्टविरोधिदृष्टसाधनं न भवतीत्यर्थः । सर्वत्र चार्थानर्थसंयोगादनयादधिकोऽर्थः पुरुषार्थ इत्युच्यते, अर्थाच्चाधिकोऽनर्थोऽपुरुषार्थ इति, तत्र पुरुषार्थसाधनं न भवति हननमित्युक्तेऽनर्थादधिकोऽर्थो नास्तीत्युक्तं भवति । ततश्चार्थादनर्थस्याधिक्यादर्थादनर्थमित्युक्तम् । तदेवं प्रत्ययार्थ-प्रतिषेधस्याननुष्ठेयत्वं सिद्धमित्याह—\*सच प्रागभाव इति\* ।

## ऋजुविवरणम्

निषेधः ? इति चोदयति—\*ननु प्रत्यक्षमिति\* ॥ इष्ट इति शब्दो यस्य तदिष्टशब्दः, तस्य भाव इष्टशब्दत्वम्, तस्मादिति । \*ननु\* अदृष्टविरोधित्वं प्रयोजकं न भवति ; अविरोधिन्यप्यपुरुषार्थत्वदर्शनात्, विरोधिन्यपि पुरुषार्थत्वदर्शनात् तत्प्रयोजकम् ; तेन यस्येष्टसाधनत्वं नास्ति, अनिष्टं वा साधयेत्, तदनिष्टसाधनमिति विभागः क्रियताम्, किं विरोधाविरोधेन ? इत्याशङ्क्याह—\*सर्वत्रेति\* ॥ तर्हि पुरुषार्थापुरुषार्थविवेको न स्यात् ; शबलितत्वादित्याशङ्क्याह—\*अनर्थादधिकोऽर्थ इति\* ॥ एवं नात्रानिष्टसाधनत्वनिश्चयः ; इष्टसाधनत्वनिषेधस्य विध्यायत्तत्वात्, अनर्थाधिक्याभावादित्याशङ्क्याह—\*तत्र पुरुषार्थसाधनमिति\* ॥ स्वरूपमात्रस्य निषेद्धमशक्यत्वादित्यर्थः ॥

\*ननु\* सिद्धेऽनर्थसाधनत्वे ततोऽर्थोऽधिको नास्तीति वक्तुं शक्येत, तदेव न सिद्धमित्याशङ्क्याह—\*ततश्चाथी-तत्त्वदीपनम्

मिति तत्प्रतिषेधः साधीयानित्याशङ्क्याह—\*सर्वत्रेति\* ॥ भवत्वेवम्, ततः किमित्यत आह—\*तत्र पुरुषार्थेति\* ॥ पुरुषार्थाऽपुरुषार्थयोरेवं विभागो यस्मात्तस्मादित्यर्थः । तथापि हननस्याऽनर्थसाधनत्वाप्रतिपत्तेर्न निवृत्तिरित्या-

## वार्तिकम्

\*ननु\* देहादिष्वहमिति शब्द-प्रत्ययौ गौणौ भवतः ; न मिथ्या ; तथाचात्मनि तद्धेतुकर्तृत्वादेर्न मिथ्यात्वमिति चेत्, \*न\* ; मुख्यार्थात्प्रसिद्धभेदे वस्तुनि तच्छब्दप्रत्यययोगौणत्वप्रसिद्धेः । तद्यथा—केसरादिमतः सिंहात्प्रसिद्धभेदे देवदत्ते सिंहशब्द-प्रत्ययौ शौर्यादिगुणयोगात्प्रवर्तमानौ गौणौ भवतः । नचात्मनो देहादेर्भेदः प्रसिद्धोऽस्ति, शुक्तेरिव रजतस्य भेदस्तत्प्रत्ययशब्दप्रयोगकाले । तस्मान्मिथ्याज्ञानमेवैतत् ; शुक्तिरजतादिप्रत्ययवत्, न गौणौ । यथा चैतत् तथोपपादितमध्यासभाष्यवार्तिके, न पुनर्विस्तार्यते ; पुनरुक्तभयात् । तस्माद् अशरीरत्वस्यात्मनो मिथ्याज्ञानकृतत्वाद् विदुषस्तन्मिथ्याभाष्यभावप्रकाशिका

साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वाद् विधिविषय इति, तत्राह—\*नञश्चैष इति\* ॥ अयमर्थः—अभावः स्वविरोधिभावनिरूप्यतया भावानुकारित्वेन सिद्धे भावे सिद्धवत् साध्ये च साध्यवदवभासत इति साध्यविषयो नञर्थः साध्यवद् भासते । अतो नञर्थः कार्य इति भ्रमः, ननु तस्य कार्यतेति । \*ननु\* संबन्धिनोऽभावबोधनेऽपि हननोन्मुखानां मनो-वाग्-देहानां कुतोऽस्मान्निवृत्तिरिति ? तत्राह—\*अभावबुद्धिरिति\* ॥ \*औदासीन्यकरणम् = औदासीन्यपालनकारणमिति यावत् । \*अयं भावः\*—लोके प्रवृत्ति-निवृत्तिहेतुवाक्यश्रवणसमनन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्ति-निवृत्ती बालोऽनुमिमीते । इच्छा-द्वेषहेतुके, अस्य प्रवृत्ति-निवृत्ती, स्वतन्त्रप्रवृत्ति-निवृत्तित्वात् ; मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्ति-निवृत्तिवदिति ।



## पञ्चपादिका

च प्रागभावः स्वभावसिद्धः । तस्मात्संस्कारोद्बोधनिमित्तसन्निधावपि तत्प्रतिबन्धे प्रयत्न आस्थेयः ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

किं तर्ह्यनुष्ठेयमिति ? पुरुषार्थसाधनविभ्रमाद्रागाद्युद्बोधप्रसक्तौ तन्निमित्तप्रध्वंसोऽनुष्ठेय इत्याह—\*तत्संस्कारोद्बोध इति\* ॥ स एव तर्हि वाक्येन विधीयतामिति, नेत्याह—\*स च यद्यपि साध्य इति\* ॥ हननमिष्टं न

## अनुविवरणम्

दनर्थस्येति\* ॥ “तस्मादि”त्युपसंहार इवाभाति, स न युक्तः ; नहि संस्कारोद्बोधकस्य निरोधकरणं पूर्वं साधितम्, येन तदुपसंहियेत, इत्याशङ्क्यावतारयति—\*किं तर्ह्यनुष्ठेयमिति\* ॥ “अन्वय-व्यतिरेकगम्यः” इत्युक्तम् ; तत्कथं

## तत्त्वदोषनम्

शङ्क्याह—\*तत्तश्चेति\* ॥ कुतस्तर्हीष्टसाधनताप्रतिपत्तिनिरोधः ? इत्याशयेन शङ्कते—\*किं तर्हीति\* ॥ निमित्तनिरोधस्याऽनुष्ठेयत्वात्तस्य विधेयत्वं स्यादिति शङ्कते—\*स एवेति\* ॥ \*अन्वय-व्यतिरेकगम्यामिति\* । निरोधस्यान्वयव्यतिरेकायत्तत्त्वे न शाब्दत्वमित्युक्तम्, तत्र किंविषयावन्वय-व्यतिरेकौ ? इत्याकाङ्क्षायामाह—\*हनन-वार्तिकम्

ज्ञानाभावात् सिद्धं तस्य जीवतोऽशरीरत्वम्, तत्प्रदर्शकश्रुतिस्मृतिवादास्तु भाष्ये । \*अतोऽवगत-ब्रह्मात्मभावस्य न पूर्ववत्संसारित्वम्, यस्य तु मन्दमतेः श्रुतब्रह्मणोऽपि पूर्ववत्संसारित्वं प्रतिभाति, नासौ ब्रह्मात्मभावमवगतवानिति द्रष्टव्यम् । “श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युरिति” श्रुतेः, “आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्” इत्यादि स्मृतेः । अत एव तं प्रति मननादिनियम-श्रुतिः—“मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इति । \*एतेन\*—यदुक्तम्—श्रवणात्पराचीनमनननिदिध्यासन-

## भाष्यभावप्रकाशिका

अतस्तयोरिच्छाद्वेषयोः कर्तव्यतैकार्थसमवेतेष्टानिष्टसाधनभावावगमपूर्वकतामध्यवस्यति, प्रवृत्ति-निवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषत्वाद् मत्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषवदिति, न जातु शब्दात्तद्व्यापारपुरुषाशयत्रै-करयानवच्छिन्नभावनापूर्वप्रत्ययपूर्वकताम् ; स्वगतेच्छाद्वेषयोस्तत्प्रत्ययपूर्वकतानवगमात् । स चाव-गमः शब्दान्वय-व्यतिरेकानुविधायी शब्दजन्य इत्यध्यवस्यति । अतो लिङादिप्रत्ययानां कृति-योग्येष्टसाधनपरत्वादिष्टसाधनतां कर्तव्यतां च शब्दोऽवगमयति ; अनन्यलभ्यत्वाद्भयोः, अनन्य-लभ्यस्य च शब्दार्थत्वात् । यत्र तु कर्तव्यताऽन्यत एव लभ्यते, यथा ‘न हन्यात्’ ‘न पिबेत्’ इत्यादौ ; हननप्रवृत्ते रागत एव प्राप्तत्वात्, तत्र तदनुवादेन लिङ्विभक्तिर्नञ्निताऽन्यतोऽप्राप्तमनर्थ-हेतुतामवगमयति । अतो रागादिप्राप्तकर्तव्यतानुवादेनानर्थसाधनताबोधकमिदं वाक्यम् । निषेधस्य चानर्थसाधनताबुद्धिरेव निषेधभावबुद्धिः ; प्रकृत्यर्थस्य हितसाधनत्वावगमेऽप्यधिकतरामनर्थहेतुतामाला-पयति, तत औदासीन्यमात्मनोऽवस्थापयतीति ॥

\*ननु\* अभावबुद्धिश्चेदौदासीन्यस्थापनकारणम्, तर्हि यावदौदासीन्यमनुवर्तेत, कारणाभावे कार्यावस्थानायोगात्, नचानुवर्तते ; उदासीनस्यापि विषयान्तरव्यासक्तचित्तस्य तदभावादित्यत आह—

## प्रदीपः

हन्धनविनाशानन्तरमग्निर्यथा स्वयं विनश्यति, एवमभावबुद्धिरपि स्वयं क्षणिकत्वाद्दिनश्यतीत्यर्थः । तथाचेन्धनविनाश-काग्निविनाशानन्तरं यथेन्धनानां नष्टानां न पुनरुज्जीवनम्, तथात्रापि न प्रवृत्तेर्विनाशया उज्जीवनम् । प्रवृत्त्युज्जीवनं हि रागाधीनम्, न प्रवृत्तिनाशकनाशाधीनमिति न दोष इति भावः । तथाच निवृत्तिरूपमौदासीन्यं निषेधशास्त्रस्य फलमेव, न त्वभिधेयम्, निवर्तकत्वव्यवहारस्तु निवृत्तिफलत्वप्रयुक्त एवेति निषेधशास्त्राणां धात्वर्थविरोधविधारकप्रयत्नविधायकत्वं बाधित-मेवेति फलति ॥



सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव  
“ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहेऽन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः ॥

भामती

कारणाभावे कार्यावस्थानं दृष्टम् । नहि स्तम्भावपाते प्रासादोऽवतिष्ठते, अत आह—\*सा च  
दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति\* ॥ तावदेव खल्वयं प्रवृत्त्युन्मुखः, न यावदस्यानर्थहेतु-  
भावमधिगच्छति । अनर्थहेतुत्वाधिगमोऽस्य समूलोद्धारं प्रवृत्तिमुद्धृत्य दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमे-  
वोपशाम्यति । \*एतदुक्तं भवति\*—यथा प्रासादावस्थानकारणं स्तम्भौ, नैवमौदासीन्यावस्थानकारणम-  
भावबुद्धिः, अपित्वागन्तुकामाद्विनाशहेतोस्त्राणेनावस्थानकारणम् । यथा कमठपृष्ठनिष्ठुरः कवचः शस्त्र-  
प्रहारत्राणेन राजन्यजीवावस्थानहेतुः । नच कवचापगमे चासति च शस्त्रप्रहारे राजन्यजीवनाश  
इति । उपसंहरति—\*तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेवेति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

\*सा चेति\* ॥ एतदुक्तं भवति न साक्षादौदासीन्यानवस्थानकारणमभावबुद्धिः, अपित्वागन्तुक-  
तद्विनाशहेतुनिरासेन, तेन स्तम्भादीनां प्रासादावस्थानकारणताऽभावात्, शस्त्रप्रहारनिरासेन राजजीवना-  
वस्थानहेतुकवादिवत् स्वावस्थानप्रतिबन्धकनिरासेनावस्थापनकारणत्वात् कवचापगमेऽसति च  
शस्त्रप्रहारे जीवनावस्थानवदौदासीन्यावस्थानं न विरुध्यत इति ॥ निषेधवाक्यानामर्थमित्थमुपपाद्य  
सिद्धवस्तुविषयत्वमित्युपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥

\*ननु\* “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमि”त्यादावीक्षणविरोधिनी संकल्पक्रिया ‘नेक्षे’ इत्येवंरूपा विधीयते,  
तथाऽत्रापि हननक्रियाविरोधिनी ‘न हन्यामि’ति सङ्कल्पक्रिया विधीयतामित्याशङ्क्याह—  
\*अन्यत्र प्रजापतीति\* ॥ मुख्यवृत्त्या संसृज्यमानाभावप्रतिपादकस्य नजशब्दस्यानुष्ठेयाभिधायिव्रत-  
शब्दोपक्रमानुसारेण लक्षणया विरोधिक्रियान्तरे वृत्तिराश्रिता तत्र, अत्र तु न स हेतुः ; तदापादका-

प्रदीपः

\*ननु\* एवं सति “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमि”त्यत्रापि नञो धात्वर्थयोगेन निवृत्तिफलकत्वेनैव निर्वाहे तल्लक्षणविरोधि संकल्पा-  
त्मकविधारकप्रयत्नपरत्वं न पर्थुदासाधिकरणे व्यवस्थापितमुपपद्यत इति चेत्, \*नायं दोषः\*—यतः “नेक्षेतोद्यन्तमि”ति प्रजापति-  
व्रतमिदं कार्याणामनुक्रमेण प्रवृत्तमिति कर्तव्यपरमेवोपक्रमाविरोधार्थं स्वीकर्तव्यम् ; अन्यथा कर्तव्यमुपक्रम्याकर्तव्योपदेशो-  
सङ्गत एव स्यात् । तथाच सति बाधक एव नञः स्वभावप्राप्तधात्वर्थयोगेन निवृत्तिबोधकत्वम्, ननु सति बोधकेऽपि,  
“नेक्षेतोद्यन्तमि”त्यत्र तु “तस्य व्रतमि”त्युपक्रमो निवृत्तिपरतायां बाधकः । \*एतेन\*—“यजति येयजामहं करोति नानूयाजेषु”  
इति वाक्ये, यत्र धात्वर्थो येयजामहकरणरूपो न रागतः प्राप्तः, तत्रापि न निवृत्तिपरत्वमिति—\*व्याख्यातम्\* ; अन्यथा हि  
शास्त्रप्राप्तस्यैव शास्त्रेण निषेधे विकल्पापत्तिरिति निष्कर्षः । तदिदं सर्वमभिप्रेत्याह—\*तस्मादिति\* ॥

\*तस्मात्\*—असति बाधके स्वभावप्राप्तधात्वर्थनिवृत्तिपरत्वस्यैव निषेधवाक्यानां स्वीकरणीयत्वादित्यर्थः । \*प्रसक्तेति\* ॥  
रागप्राप्ताया इष्टसाधनत्वेन कर्तव्यत्वेन चावगतायाः क्रियाया निवृत्तिरूपमौदासीन्यमेवेत्यर्थः । इत्यादिष्वित्यादिपदेन “न  
कलञ्जं भक्षयेदि”त्यादीनां रागप्राप्तधात्वर्थनिषेधपराणां ग्रहणम्, न तु “नानूयाजेष्वि”त्यादिनिषेधवाक्यानाम् । \*प्रतिषेधार्थ-  
मिति\* ॥ निवृत्तिरूपं प्रयोजनं हननादीष्टसाधनत्वाभावबोधप्रयुक्तमित्यर्थः । \*अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः\*—“नेक्षेतोद्यन्त-  
मादित्यम्” “नानूयाजेषु” इत्यादिवाक्यानि विहायेत्यर्थः । एतावता च—अक्रियार्थत्वेऽपि वेदवाक्यानां प्रामाण्यमिति निषेध-  
वाक्यवृष्टान्तेन व्यवस्थापितम् । वस्तुतस्तु—“रज्जुरियं नायं सर्पः” इति सिद्धार्थवाक्यान्यपि क्रियाबोधकत्वाभावेऽपि सप्रयोजनान्ये-  
वेति सिद्धार्थवाक्यप्रामाण्यं लौकिकवाक्येष्वपि दृष्टमिति प्रकृतेऽपि न दोष इति निरूपयिष्यन् पूर्वोक्तमाक्षेपमनुवदति—\*यदप्युक्त-  
मिति\* ॥ एतावता च “कार्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा । सिद्धबोधेऽर्थवत्तैव शास्त्रत्वं हितशासनात्” ॥ इति कारि-



तस्मात्पुरुषार्थानुयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् । यदप्युक्तम्—कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमतो'त्यादिवदिति; तत् परिहृतम्; 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वस्तुमात्र-कथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् ।

भामती

औदासीन्यमजानतोऽप्यस्तीति प्रसक्तक्रियानिवृत्त्योपलक्ष्य विशिनष्टि । “तत्किमक्रियार्थत्वेनानर्थक्य-माशङ्क्य क्रियार्थत्वोपवर्णनं जैमिनीयमसमञ्जसमेव? इत्युपसंहारव्याजेन परिहरति—\*तस्मात्पुरुषार्थेति\*॥ पुरुषार्थानुयोग्युपाख्यानादिविषयावक्रियार्थतया क्रियार्थतया च पूर्वोत्तरपक्षौ, नतूपनिषद्विषयौ; उपनिषदां स्वयंपुरुषार्थब्रह्मरूपावगमपर्यवसानादित्यर्थः । यदप्यौपनिषदात्मज्ञानमपुरुषार्थं मन्यमाने-नोक्तम्—\*कतव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेणेति\* ॥ अत्र निगूढाभिसन्धिः पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—\*तत्परिहृतमिति\* ॥

पञ्चपादिका

स च यद्यपि साध्यः; तथाऽप्यन्वय-व्यतिरेकगम्यो न शब्दार्थः; तत्प्रतिपादकपदाभावाच्च, एकवाक्ये

पञ्चपादिकाविवरणम्

भवत्यनिष्टं चेत्यवगतौ हननोद्बोधनिमित्तनिरोधस्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यामेवानुष्ठेयत्वाद् न तत्र शब्दापेक्षेति । निमित्त-निरोधकर्तव्यतायां वाक्यस्यासामर्थ्याच्चेत्याह—\*तत्प्रतिपादकेति\* ॥ \*ननु\* अनिष्टसाधनविषयशब्दसामर्थ्या-

ऋजुविवरणम्

निमित्तनिरोधस्यान्वय-व्यतिरेकगम्यत्वम्? नहि तत्कर्तव्यताबोधकावन्वय-व्यतिरेकौ स्तः; तथा कस्यान्वय-व्यतिरे-काभ्यामिति न ज्ञायते; विशेषानुपादानात्, इत्याशङ्क्य दर्शयति—\*हननमिष्टमिति\* ॥ अनुष्ठेयाभावे नियोगाङ्गी-

तत्त्वदीपनम्

मिति\* ॥ \*हननोद्बोधेति\* ॥ हननसंस्कारोद्बोधनिमित्तरागादिनिरोधस्येत्यर्थः । इतोऽपि निरोधकर्तव्यता न वाक्यगम्येत्याह—\*निमित्तेति\* ॥ अनर्थस्यापि वाक्यगम्यत्वं स्यादिति शङ्कते—\*नन्वनिष्टेति\* ॥ अतिप्रसक्तेनैत-दित्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ नञर्थे नियोगस्य निरस्तत्वादयं पुनरित्याद्यनुपपन्नमित्याशङ्क्य दूषणान्तराभिधित्सया

वार्तिकम्

विधानाद् विधिशेषत्वम्, अतो न तत्प्रतिपादकवाक्यानां स्वरूपपर्यवसायित्वमिति, तदपि—\*अपास्तम्\* ; तयोरपि श्रवणवत् तदवगत्यर्थत्वात्, अवगतस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र विनियोगाऽसम्भवस्योक्तत्वात्, अनवगतस्य भाष्यभावप्रकाशिका

भावात्, ततो विरोधिक्रियायां लक्षणावृत्तिमङ्गीकृत्यानुष्ठानपर्यवसायित्वं वाक्यस्य नाभ्युपगन्तव्यमिति भावः । तर्ह्यभियुक्तवचसां का गतिः? इत्याशङ्क्योपसंहारव्याजेन गतिं दर्शयति—\*तस्मात् पुरुषार्थेति\* ॥ उपनिषदां तु पुरुषार्थब्रह्मरूपावगमपर्यवसानमुक्तमिति भावः । पूर्ववादिनोक्तमनु-वदति—\*यदप्युक्तमिति\* ॥ निगूढाभिसन्धिः पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—\*ननु श्रुतब्रह्मणो-

प्रदीपः

कार्थः सङ्गृहीतो भवति । एतेन हि—“शास्त्रत्वेनार्थवत्तया कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः” इति वृत्तिकारीयाक्षेपांशोऽपि—परिहृतः । मननादिविध्यन्यथानुपपत्त्या कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चय इति शङ्कामनुवदति—\*नन्विति\* ॥ श्रुतब्रह्मणोऽपि संसारित्वदर्शनादिति\* ॥ तथाच श्रवणमालं न सप्रयोजनम् । अत्र एव मननादिविध्यादीनामुपलक्षणमिदम् । \*ननु\* श्रुतब्रह्मणोऽपीत्यनेन साङ्गश्रवणानन्तरं ब्रह्मासाक्षात्कारतोऽपीति विवक्ष्यते? उत श्रवणमात्रवतः? आद्ये त्वसंभव इत्याह—\*नावगतात्मभावस्येति\* ॥



## पञ्चपादिका

संसृष्टपदार्थव्यतिरेकेणान्यत्र वाक्यार्थत्वाभावाच्च । अतो यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः । वाक्यन्तु क्रियाशून्यमेवावसितम् । न साध्यं किञ्चित्तेन विषयीकृतम् ; औदासीन्यमात्रावसितत्वात्तस्य ॥

अथ पुनर्नञर्थविषयो नियोग एव प्रतिषेधेऽपि वाक्यार्थ इत्यभिनिवेशः, भवतु ; तथाऽपि प्रति-  
विध्यमानक्रियानिवृत्त्या स सिध्यति, क्रियोपादाने च तत्फलप्रार्थनैव हेतुरिति तत्कारणप्रतिबन्धे प्रयत्ना-  
स्थानान्नियोगसिद्धिः । तच्चान्वयव्यतिरेकावसेयमिति पूर्वोक्तान्मार्गान्न विशिष्यते । तदेवं वृद्धव्यव-  
हारानुसारेणैव समन्वयानुसरणे सति तद्गम्यं ब्रह्म न धर्मवच्चोदनागम्यम् । दर्शितानि च वेदान्त-  
वाक्यानि कारणसामान्ये सिद्धे तद्विशेषावगमाय समन्वितानि—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते”  
इत्यादीनि तत्त्वमसीत्यादीनि च ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

चेन्निमित्तनिरोधः, सोऽपि तर्हि शब्दार्थ इति, नेत्याह—\*यश्चार्थादर्थ इति\*॥ अङ्गीकरोति—\*अथ पुनरिति\*॥  
दूषयति—\*भवतु ; तथापीति\* ॥ तथाऽप्यनुष्ठेयांशस्यान्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वाच्छब्दो नानुष्ठेयनियोगपर्यवसित  
इत्यर्थः । \*ननु\* प्रत्ययेनापूर्वं प्रतिपाद्यते, तत्कथमननुष्ठेयं स्यात् ? कैतद् गृहीतसम्बन्धम् ? न तावलोके ;  
तस्यादर्शनात् । \*ननु\* स्वर्गकामिनो यागकर्तव्यता स्वर्गसाधनमन्तरेणानुपपन्ना । तच्च साधनत्वं क्षणभङ्गिनः  
कर्मणो मध्यवर्तिकायमन्तरेणानुपपन्नमिति—श्रुतार्थापत्त्याऽपूर्वं गम्यते, तत्र शब्दस्य सामर्थ्यं गृह्यत इति,  
सोऽयं बकबन्धः । शब्दालौकिकसामर्थ्यानुसारेण क्रियाकर्तव्यताऽभिहिता चेत्पुनस्तत्सामर्थ्यलब्धेऽपूर्वं किमिति

## ऋजुविवरणम्

कारोऽपि न दोषायेत्यभिप्रायेणाह—\*अङ्गीकरोतीति\* ॥ “तथाऽपी”त्यनेनैतदुक्तम्—क्रियानिवृत्तिमात्रेण यदि  
नियोगसिद्धिः, तर्ह्यनुष्ठानाभाव इति । तर्हि क्रियानिवृत्तेरनुष्ठेयत्वमित्याशङ्क्याह—\*क्रियोपादाने चेति\* ॥ (टीकायाम्)  
क्रियानुष्ठाने यच्च निमित्तमिष्टं फलसाधनत्वम्, तन्निषेधे क्रिया निवर्तत एव ; पुनरपि भ्रान्त्या फलसाधनत्वेन प्रवृत्ति-  
प्रसक्तावपि न क्रियानिवृत्तेरनुष्ठेयत्वं रागाद्युद्बोधकनिमित्तनिरोधे क्रियानिवृत्तिसिद्धेरित्यर्थः । निमित्तनिरोध एवानुष्ठेय  
इत्याशङ्क्य, परिहृतम्—\*तच्चान्वयेति\* ॥ तच्चेति प्रयत्नस्थानं निर्दिश्यते, एवमपि स्वाभिमतसिद्धनियोगनिष्ठत्वस्य  
निषेध्यत्वात् तदभावे नियोगस्यानुष्ठेयत्वेनानुष्ठेयकार्यान्वयहानेन सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यासिद्धेरित्याशङ्क्य व्याचष्टे—  
\*तथाप्यनुष्ठेयांशस्येति\* ॥ “किं तद् गृहीतसम्बन्धमि”त्यादिनियोगनिराकरणचर्चायां व्यक्तमिति नेह प्रतन्यते ॥

\*श्रुतार्थापत्त्येति\* ॥ श्रुतस्वर्गसाधनत्वानुपपत्त्यनुसन्धानेनेत्यर्थः । अवगतब्रह्मणोऽपि संसारदर्शनाद् ज्ञानसाध्य-

## तत्त्वदीपनम्

प्रागुक्तस्याभ्युपगम इत्याह—\*अङ्गीकरोतीति\* ॥ अन्वयव्यतिरेकसिद्धेऽप्यवहननादौ यथा विधिस्तथाऽत्रापि स्यात्,  
तथा च भवतु तथापीत्यदूषणमित्याशङ्क्याह—\*दूषयतीति\* ॥ दूषणप्रकारमेवाह—\*तथापीति\* ॥ तत्र नियमा-  
पूर्वस्यालौकिकस्य संभवाद् विधिर्युज्यते, न तथाऽत्रेत्याशयः ।

नियोगाभिधायित्वेन लिङादीनां प्रतिपन्नत्वात्कथमत्र तदप्रतिपत्तिरिति शङ्कते—\*ननु प्रत्ययेनेति\* ॥ किं  
लोके तथा प्रतिपन्नत्वम् ? उत वेदे ? इति विकल्पयति—\*अथैतदिति\* ॥ आद्यं दूषयति—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीय-  
मुत्थापयति—\*ननु स्वर्गेति\* ॥ वृत्तिकामस्य तदसाधनपर्वतारोहणादावप्रवृत्तिवद्यागस्य स्वर्गसाधनत्वेनात्र प्रवृत्त्य-  
नुपपत्तिरित्यर्थः । भवतु तर्हि यागस्य स्वर्गसाधनत्वमिति चेत्, तत्र वक्तव्यं किं साक्षात्साधनत्वम् ? उत व्यवधानेनेति ?  
तत्र नाद्य इत्याह—\*तच्चेति\* ॥ \*मध्यवर्तीति\* ॥ कर्मस्वर्गमध्यवर्तीत्यर्थः । तस्माद् द्वितीयपक्ष आश्रयणीय  
इत्याह—\*इति श्रुतेति\* ॥ \*श्रुतार्थापत्त्येति\* ॥ श्रुतस्वर्गसाधनतानुपपत्तेरित्यर्थः । प्रत्ययस्य किं क्रियाकर्तव्यताऽ-  
भिधायित्वं लोकेऽवगतम् ? उत न ? तत्राद्यस्तावदसमञ्जस इत्याह—\*सोऽयमिति\* ॥ बकबन्ध इति । बकबन्ध-



**\*ननु\***—श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थ-  
वत्त्वमित्युक्तम्, **\*अत्रोच्यते\***—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं

भामती

अत्राक्षेप्ता स्वोक्तमर्थं स्मारयति—**\*ननु श्रुतब्रह्मणोऽपीति\*** ॥ निगूढमभिसन्धि समाधातोद्-  
घाटयति—**\*अत्रोच्यते\***—नावगतब्रह्मात्मभावस्येति\* ॥ सत्यम्, न ब्रह्मज्ञानमात्रं सांसारिकधर्म-

पञ्चपादिका

यत् पुनरुक्तम्—प्रतिपन्नब्रह्मात्मभावस्यापि पूर्ववत्संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमस्य,  
ततो न तन्मात्रे तस्य पर्यवसानमिति, अत्रोत्तरम्—**\*नावगतब्रह्मात्मभावस्येत्यादि\*** ॥ अस्यायमर्थः—न

पञ्चपादिकाविवरणम्

सम्बन्धो गृह्यते ? अथ नाभिहिता क्रियाकर्तव्यता, न तर्ह्यपूर्वमेव लभ्यत इति कुतः सम्बन्धग्रहः ? **\*ननु\***  
यागकर्तव्यताऽभिहिताऽनुपपन्ना साऽपूर्वाभिधानमन्तरेणेति, तर्हि तदप्यनुपपन्नम् ; शरीरेन्द्रियविषयसम्बन्ध-  
मन्तरेण स्वर्गस्यासिद्धेः । अतः प्रत्ययेन शरीराद्यभिधानं स्यात्, अर्थापत्तिगम्यत्वान्न शब्दापेक्षेति चेत्, अपूर्वेऽपि  
तुल्यम् । तस्माद्धात्वर्थकर्तव्यतालक्षणमिष्टसाधनमेव प्रत्ययार्थं इति । तदेवं वृद्धव्यवहारानुसारेणेत्यारभ्यात्रोत्तर-  
मित्यतः प्राक्तनः स्पष्टार्थः । प्रथमोत्पन्नं शाब्दज्ञानं तावन्न विधीयते, तत्सन्तानश्च सुखानुभवकामस्य न विधेयः ;  
ताभ्यामेव च स्वयं प्रवृत्ताभ्यामपरोक्षज्ञानमुत्पद्यते । तदेवमुत्पन्नापरोक्षज्ञानमधिकृत्योत्तरमाह—**\*नावगतब्रह्मात्म-**

ऋजुविवरणम्

प्रयोजनसिध्यभावाद्धिच्यनङ्गीकरणं न युक्तम् ; प्रयोजनासिद्धेः, अतो विधिरङ्गीकरणीय इति चोद्यस्य “नावगत-  
ब्रह्मात्मभावस्ये”ति परिहारो न युक्तः ; संसारदर्शनविरोधादित्याशङ्क्य सामिप्रायमवतारयति—**\*प्रथमोत्पन्नं शाब्द-  
ज्ञानमिति\*** ॥ इतरेतराश्रयादिति टीकायामुक्तम्—कर्मणि सति देहग्रहणम्, देहग्रहणे सति कर्मेति ॥

तत्त्वदीपनम्

समानस्याय इत्यर्थः । बकग्रहणे क उपाय इति केनचित्पृष्टे खरतरदिनकरसंपर्कात्तन्मस्तकनिहितनवनीतबिन्दुभिर्नय-  
नयोः पूर्णतायां तद्ग्रहणं सुकरमिति कश्चित्तुच्छमतिः प्रतिवक्ति, न च तदुपपद्यते, बकग्रहणमन्तरेण तन्मस्तके नवनीत-  
प्रक्षेपानुपपत्तेः, तस्मिंश्च परिगृहीते तत्प्रक्षेपोऽपि मुधा, तथा च लौकिकव्युत्पत्त्यनुरोधेन क्रियाकर्तव्यतायां प्रत्ययाभि-  
हितायाम् अपूर्वेण संगतेर्ग्रहणोपपादनमसमञ्जसमित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति—**\*अथ नाभिहितेति\*** ॥ क्रियाकर्तव्य-  
ताया अप्रतिपत्तौ तदनुपपत्त्या नापूर्वप्रतिपत्तिरिति न तत्र संगतिसंघित्सिंभव इत्याह—**\*न तर्हीति\*** ॥ आद्यं  
पक्षमेवादाय शङ्कते—**\*ननु यागेति\*** ॥ अतिप्रसक्तैर्नैतदित्याह—**\*तर्हि तदपीति\*** ॥ अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वं दृष्टम्,  
शरीरादिसंबन्धस्यान्यथासिद्धत्वान्न प्रत्ययार्थत्वप्रसक्तिरिति शङ्कामुद्भाव्य दूषयति—**\*अर्थापत्तीति\*** ॥ ‘यश्चोभयोः  
समो दोषः’ इति न्यायमनुसृत्याह—**\*अपूर्वं इति\*** ॥ कस्तर्हि प्रत्ययार्थः ? इत्याह—**\*तस्मादिति\*** ॥

ब्रह्मावगतौ सत्यामपि संसारस्यानुभूयमानत्वाद् नावगतब्रह्मात्मभावस्येत्युक्तम्, तादृग्ज्ञानस्य च विध्यायत्तत्वा-  
त्तन्निरसनमप्युक्तमित्याशङ्क्याह—**\*प्रथमेति\*** ॥ अधीतवेदस्य गृहीतसंगतिकस्य श्रवणमात्रादेव प्राथमिकज्ञानोत्प-  
त्तिसंभवान्न तदर्थं विधिरेष्टव्य इत्यर्थः । नापि संताने विधिरित्याह—**\*तत्संतान इति\*** ॥ ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तक-  
नियमात्तदकार्यशरीराद्यनिवर्तकत्वम्, ततश्च ज्ञानवैयर्थ्यमिति शङ्कते—**\*ननु कर्मेति\*** ॥ शरीरसंबन्धमन्तरेण कर्म-

भाष्यभावप्रकाशिका

ऽपीति\* ॥ श्रवणमात्रज्ञानोत्तरकालं संसारित्वमुच्यते ? किं वा तत्त्वसाक्षात्कारज्ञानोत्तरकालम् ?  
इति विकल्प्य, तत्राद्योऽङ्गीक्रियते, उत्तरपक्षस्तु न संभवतीत्याह—**\*नावगतेति\*** ॥ तत्



शक्यं दर्शयितुम्, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । नहि शरीराद्यात्मा-  
भिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्माव-  
गमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं

भामती

निवृत्तिकारणम्, अपि तु साक्षात्कारपर्यन्तम् । ब्रह्मासाक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः श्रवण-मननादि-  
जनितसंस्कारसचिवमनोजन्मा षड्जादिभेदसाक्षात्कार इव गान्धर्वशास्त्रश्रवणाभ्याससंस्कृतमनोयोनिः ।  
स च निखिलप्रपञ्चमहेन्द्रजालसाक्षात्कारं समूलमुन्मूलयन्नात्मानमपि प्रपञ्चत्वाविशेषादुन्मूलयतीत्युपपादित-  
मधस्तात् । तस्माद्ब्रज्जुस्वरूपकथनतुल्यतैवात्रेति सिद्धम् । अत्र च वेदप्रमाणमूलतया वेदप्रमाणजनितेत्युक्तम् ।

पञ्चपादिका

कर्मनिमित्तत्वावच्छरीरसम्बन्धः ; इतरेतराश्रयदोषाक्तियादिरहितत्वाच्च चैतन्यस्य । अनादित्वेऽप्यन्ध-  
परम्परावदप्रतिष्ठत्वात् । तन्निमित्तत्वे च पुत्रादिशरीरेष्विव गौणत्वप्रसङ्गात्, तथानुभवाभावात् प्रसिद्ध-  
गौणत्वप्रकारासम्भवात्, पुत्रादिशरीरेणैव स्वशरीरेणापि प्रमातृत्वाभावप्रसङ्गात् । पारिशेष्यादविद्यानिमित्तः  
शरीरसम्बन्धः । तस्यां च निवृत्तायां तत्सम्बन्धनिवृत्तौ कथं पूर्ववत्त्वनिमित्तः सुखदुःखानुभवः ?

पञ्चपादिकाविवरणम्

भावस्येति\* ॥ \*ननु\* कर्मादिनिमित्तः शरीरसम्बन्धः, ततश्च संसारः, किमपरोक्षज्ञानेन ? इत आह—\*न  
कर्मनिमित्तत्वावदित्यादिना सुखदुःखानुभव इत्यन्तेन ग्रन्थेन\* ॥

ऋजुविवरणम्

\*ननु\* पूर्व-पूर्वकर्मभिरुत्तरोत्तरदेहग्रहणे नेतरेतराश्रयमित्याशङ्क्याह—\*अनादित्वेऽपीति\* ॥ (टीकायाम्)

\*ननु\* शास्त्रेण कर्मनिमित्तत्वं प्रतीयते, कथमन्धपरम्परेति ? तत्राह—पुत्रादिशरीरेष्विवेति\* ॥ अहंमानो गौणः  
स्यादित्यर्थः । भवतु गौणत्वमिति, नेत्याह—\*तथानुभवेति\* ॥ ममेति पुत्रादौ प्रतीतिर्न तथाऽत्रेति भावः ॥ \*ननु\*  
भेदानुभवाभावेऽप्यन्यत्रान्यशब्दप्रयोगाद्गौणत्वं निश्चीयत इत्याशङ्क्याह—\*प्रसिद्धगौणत्वेति\* ॥ \*ननु\* मुख्यज्ञानपूर्व-  
कत्वाभावेऽपि राजशब्दादावन्यत्रान्यशब्दत्वेन गौणत्वनिश्चयो दृष्टः, तथात्रापीत्याशङ्क्याह—\*पुत्रादिशरीरेणैवेति\* ॥

\*ननु\* न श्रुत्यादिसामर्थ्यात्संसारसंबन्धाभावनिश्चयः ; पक्षान्तरोक्तदूषणप्रसङ्गात्, वैयर्थ्याच्चाविद्यानिमित्तत्व-

तत्त्वदीपनम्

संबन्धस्यानुपपत्तेर्न तन्निमित्तः शरीरसंबन्ध इत्याह—\*अत आहृति\* ॥ तर्हि शरीरसंबन्धपुरःसर एव कर्मसंबन्धोऽ-  
स्त्विति शङ्कायामुक्तमितरेतरेति । कर्मसंबन्धसिद्धौ तन्निमित्तः शरीरसंबन्धः सिद्धेयत्, तस्मिंश्च सिद्धे तत्सिद्धिरिति  
इतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः । कौटस्थ्यविरोधादपि न परमार्थतः कर्मादिसंबन्ध इत्याह—\*क्रियेति\* ॥

ननु प्राक्तनकर्मापेक्षया हृदानीन्तनः शरीरसंबन्धः, तच्च ततः प्राक्तनशरीरसंबन्धात्, स च प्राक्तनदेहसंबन्धोत्थ-  
कर्मणेति कथमितरेतराश्रयत्वमित्याशङ्क्योक्तमनादित्वेऽपीति । प्रमाणविधुरत्वान्नैयं परम्परा शोभत इत्यर्थः । कर्म-  
निमित्तत्वमङ्गीकृत्य दूषणमाह—\*तन्निमित्तत्वेति\* ॥ \*गौणत्वेति\* ॥ गौणत्वप्रसङ्गो नानिष्ट इत्याह—\*प्रसि-  
द्धेति\* ॥ ज्ञानभेदयोरभेदावभासस्य गौणत्वव्यापकत्वाद्वा व्यापकाभावान्न गौणत्वमित्यर्थः । इतोऽपि न गौणत्व-  
मित्याह—\*पुत्रादीति\* ॥ तथा चेत्यत्र संसारसंबन्धाभावे प्रमाणान्तरमुच्यते इति चशब्दप्रयोगाद्भाति, न च पूर्व किं

प्रदीपः

ब्रह्मासाक्षात्कारे सति सकलसंसारनिवृत्तिरेव, न तु संसारित्वं प्रदर्शयितुं शक्यते । \*ननु\* जीवन्मुक्तानां साक्षात्कृत-  
ब्रह्मणामपि भोजनासनादिव्यवहारदर्शनात् कथं साक्षात्कारो भयादिनिवर्तकः ? इत्याशङ्क्य, शरीराभिमानप्रयुक्तत्वात् संसारस्य  
सत्यपि शरीरसम्बन्धे प्रारब्धकर्माधीने तदभिमानस्य संसारनिमित्तस्य तत्रासंभवाद् न दोष इत्याह—\*न हीति\* ॥ न हि शक्यं



कल्पयितुम् । नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति । नच कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति । तदुक्तं श्रुत्या—“अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” ( छन्दो० ८।१२।१ ) इति । शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत्, न ; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् । नह्यात्मनः शरीरात्मनः शरीरात्माभि-

भामतो

अत्रैव सुख-दुःखानुत्पादभेदेन निदर्शनद्वयमाह—\*नहि धनिन इति\* ॥ श्रुतिमत्रोदाहरति—\*तदुक्तमिति\* ॥ चोदयति—\*शरीरे पतित इति\* ॥ परिहरति—\*न ; सशरीरत्वस्येति\* ॥ यदि वास्तवं सशरीरत्वं भवेत्, न जीवतस्तन्निवर्तेत । मिथ्याज्ञाननिमित्तं तु तत् । तच्चोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन जीवतापि शक्यं निवर्तयितुम् । यत्पुनरशरीरत्वं तदस्य स्वभाव इति न शक्यं निवर्तयितुम् ; स्वभावहानेन भाव-

भाष्यभावप्रकाशिका

प्रपञ्चयति—\*नहीति\* ॥ अत्रैव दुःखसुखानुत्पादे भेदेनोदाहरणद्वयमाह—\*नहि धनिन इति\* ॥ अत्रैव श्रुतिमुदाहरति—\*तदुक्तमिति\* ॥ जीवतोऽशरीरत्वमनुपपन्नमिति चोदयति—\*शरीर इति\* ॥ परिहरति—\*सशरीरत्वस्येति\* ॥ यदि वास्तवं सशरीरत्वं भवेत्, न जीवतस्तन्निवर्तेत, मिथ्याज्ञाननिमित्तं तु तत्त्वतो जीवतोऽप्युत्पन्नतत्त्वज्ञानेन निवर्तयितुं शक्यमिति भावः ॥ ततश्च

प्रदीपः

कल्पयितुमिति सम्बन्धः । \*दृष्टमिति\* ॥ दृष्टमिति कृत्वैत्यर्थः । \*ननु\* जीवन्मुक्तानामपि शरीरदर्शनात् कथं न तदभिमान इति ? अत आह—\*वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तावपीति\* ॥ पुरुषान्तरदृष्ट्या शरीरदर्शनेऽपि न जीवन्मुक्तस्य तच्छरीरेऽभिमानः । अत एव शूलारोपितस्याप्याणिमाण्डव्यस्य भयकम्पाद्यदर्शनमुपपद्यत इति भावः । शरीराभिमानिनामपि संसारिणां बहुषु विषयेष्वभिमानकाले दुःखं तन्निवृत्तौ निवृत्तिरित्यन्वय-व्यतिरेकसिद्धमिति प्रदर्शयति—\*न हि धनिन इति\* ॥ \*नच कुण्डलिन इति च\* ॥ नहि-नचैत्यनयोर्भेदतीत्यनेन तत्तद्वाक्यस्थभवतिप्रदेनान्वयः । जीवन्मुक्तानां शरीराभिमानरहितानां संसाराभावं श्रुतिरप्याहेत्याह—\*तदुक्तमिति\* ॥ अशरीरं वा वसन्तम्, शरीरशून्यं जीवन्तं चेत्यर्थः । जीवतः शरीरराहित्यम्—तस्य तदभिमाननिवृत्तिरूपमेवेति भावः । अनेन पुरुषान्तरदृष्टैव शरीरित्वम्, न तु स्वदृष्ट्या जीवन्मुक्तानामिति शाप्यते । तथाच मिथ्याज्ञाननिमित्तं हि शरीरित्वम् । मिथ्याज्ञानविनाशे च जीवतो मुक्तत्वमवाधितमिति—‘अशरीरं जीवन्त-मि’ति च न विरुद्धमिति भावः । तदेतदाशङ्का-समाधानाभ्यां निरूपयति—\*शरीरेतीत्यादिना\* । शरीरविनाशप्रयुक्तमेवा-शरीरत्वम्, न तु शरीराभिमाननिवृत्तिमात्रप्रयुक्तं जीवन्मुक्तसाधारणमिति शङ्काहृदयम् । बद्धानां शरीरित्वे मुक्तानामशरीरित्वं च किंनिबन्धनमिति वक्तव्यम्—यदि कर्मनिमित्तं ब्रह्मात्मनः सशरीरत्वम्, तर्हि तु शरीरविनाशेनैवाशरीरत्वम्, नत्वभिमाननिवृत्तिमात्रेण । यदि त्वभिमानाख्यमिथ्याज्ञाननिमित्तमेव सशरीरत्वम्, तर्हि सत्यपि शरीरेऽभिमाननिवृत्तावशरीरत्व-व्यवहारो भवति, इति जीवतामपि मुक्तानामशरीरत्वं विरुद्धम् । तत्र मिथ्याज्ञाननिमित्तमेव सशरीरत्वम्, न तु कर्मनिमित्तम् ; निराकरिष्यमाणत्वात्, इति नोक्तस्याक्षेपस्यावसर इत्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*नेति\* ॥ मिथ्याज्ञाननिमित्तादिति\* ॥ \*ननु\* मिथ्याज्ञाननिमित्तं सशरीरत्वमिति मतेऽपि मिथ्याज्ञानेन मूलाज्ञानस्य, अथवा तत्तज्जीवगतविक्षेपावरणात्मकशक्तिद्वयविशिष्टस्या-वरणाज्ञानस्य वैव ग्रहणीयत्वात् सति शरीरेऽभिमानमात्रनिवृत्तावपि पूर्वोक्तमिथ्याज्ञानानपायात् कथं जीवन्मुक्तिः ? कथं वा जीवत एवाशरीरत्वं चेत्याशङ्कावारणार्थं मिथ्याज्ञानपदमत्रत्यं स्वयमेव विवृणोति—\*शरीरीत्यभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानमिति\* ॥



मानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम् । नित्यमशरीर-  
त्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम । तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत्, न ;  
शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः । शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयो-  
स्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना ; क्रियासमवाया-

भामती

विनाशप्रसङ्गादित्याह—\*नित्यमशरीरत्वमिति\* ॥ स्यादेतत्\*—न मिथ्याज्ञाननिमित्तं सशरीरत्वम्, अपि  
तु धर्माधर्मनिमित्तम्, तच्च स्वकारणधर्माधर्मनिवृत्तिमन्तरेण न निवर्तते, तन्निवृत्तौ च प्रयाणमेवेति न  
जीवतोऽशरीरत्वमिति शङ्कते—\*तत्कृतेति\* ॥ तदित्यात्मानं परामृशति । निराकरोति—\*न शरीर-  
संबन्धस्येति\* ॥ न तावदात्मा साक्षाद्धर्माधर्मौ कर्तुमर्हति ; वाग्बुद्धिशरीरारम्भजनितौ हि तौ नासति  
शरीरसंबन्धे भवतः, ताभ्यां तु शरीरसंबन्धं रोचयमानो व्यक्तं परस्पराश्रयं दोषमावहति । तदिदमाह—  
\*शरीरसंबन्धस्येति\* ॥ यद्युच्येत सत्यमस्ति परस्पराश्रयः, न त्वेष दोषः, अनादित्वात्, बीजाङ्कुरवदित्यत  
आह—\*अन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना\* ॥ यस्तु मन्यते नेयमन्धपरम्परातुल्यानादिता । नहि यतो धर्मा-  
धर्मभेदादात्मशरीरसंबन्धभेदजन्मनः, एष त्वात्मशरीरसंबन्धभेदः, तत एव स धर्माधर्मभेदः, किन्त्वेष  
पूर्वस्मादात्मशरीरसम्बन्धात् पूर्वधर्माधर्मभेदजन्मतः, एष त्वऽस्माद्धर्माधर्मभेदादिति, तं प्रत्याह—

भाष्यभावप्रकाशिका

सशरीरत्वमज्ञाननिमित्तमित्याह—\*नित्यमिति\* ॥ कर्मनिमित्तः शरीरसंबन्धो न मिथ्याज्ञाननिमित्त  
इति शङ्कते—\*तत्कृतेति\* ॥ \*ननु\* इदानीन्तनशरीरसंबन्धः, प्राक्तनकर्मनिबन्धनः, तच्च कर्म  
प्राक्तनशरीरसंबन्धात्, सोऽपि प्राक्तनकर्मवशात्, नचानवस्था दोषाय ; बीजाङ्कुरवदनादित्वादिवत्,  
इत्याशङ्क्याह—\*अन्धपरम्परेति\* ॥ कर्मसंबन्धस्य शरीरसंबन्धस्य वाऽऽत्मनि केनापि प्रमाणेना-  
दृष्टत्वादिति भावः ॥

प्रदीपः

आत्मन इत्यस्य सशरीरत्वमित्यनेन सम्बन्धः । तथाच शरीरीत्यभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा, अन्यतः=प्रकारान्तरेण,  
आत्मनः सशरीरत्वं कल्पयितुं न शक्यमित्यन्वयः । मूलाज्ञानादिप्रयुक्तत्वे हि सशरीरत्वे समाधि-सुषुप्तयोरपि तस्य सद्भावात्  
शरीरित्वव्यवहारापत्तिः । इष्टापत्तौ तु आगिमाण्डव्यादीनां शूलरोषितानां दुःखप्रसङ्गः । अतोऽभिमानत एव सशरीरत्वम्,  
न शरीरसद्भावमात्रेणेति भावः । तदेतदाह—\*नित्यमशरीरत्वमिति\* ॥ तथाच श्रुतिः—“अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्व-  
वस्थितमिति”ति । अन्यथा शरीरनाशप्रयुक्तमेवासशरीरत्वमिति स्वीकारे कर्मनिमित्तत्वात् शरीरनाशस्याशरीरत्वमपि कर्मनिमित्त-  
मित्यापद्येत, तच्चायुक्तमिति पूर्वमेवोपपादितमित्याह—\*अकमेति । अवोचामेति च\* ॥ \*ननु\* सत्यमुक्तं पूर्वमशरीर-  
त्वाख्यो मोक्षो नित्यत्वाच्च कर्माधीन इति, परन्तु न वयमशरीरत्वमेव मोक्षं मन्यामह इति तस्य कर्मनिमित्तत्वे न कोऽपि दोष  
इत्याशयेन शङ्कते—\*धर्माधर्मेति\* ॥ शरीरसम्बन्धाधीनत्वाद्धर्माधर्मानुष्ठानस्य धर्माधर्मानुष्ठाननिबन्धनत्वमेव सशरीरत्व-  
स्यापीति स्वीकारेऽन्योन्याश्रयापत्त्योक्तामाशङ्कां समाधास्यन् प्रथमं धर्माधर्मयोः सशरीरत्वापेक्षत्वं प्रदर्शयति—\*न, शरीरसम्बन्ध-  
स्येति च\* ॥ आत्मनो धर्माधर्मादिकर्तृत्वं शरीरसम्बन्धाधीनमिति भावः । भवत्वेवम्, तावता प्रकृताशङ्क्यां किमायात-  
मित्यत आह—\*शरीरसम्बन्धस्येति\* ॥ \*ननु\* एतच्छरीरबन्धः पूर्वतनकर्माधीनः, पूर्वतनं तु कर्म तत्पूर्वतनशरीराधीन-  
मिति स्वीकाराद् नात्रान्योन्याश्रयः, सत्यम् ; अनवस्थादोषोऽत्र प्रसरति, परन्तु सापि बीजाङ्कुरादिन्यायेनानादित्वात् शरीरसम्बन्ध-  
धर्माधर्मकर्तृत्वयोर्न दोष इत्याशङ्क्याह—\*अन्धपरम्परैषेति\* ॥ एषाऽनादित्वकल्पनाऽन्धपरम्परा, नात्र बीजाङ्कुरन्यायस्य



भावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः । संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेत्, न; धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः, नत्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्व-स्वामिसंबन्धनिमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम् । मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः । एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम् ।

\*अत्राहुः\*—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणः, न

भामती

\*क्रियासमवायाभावादिति\* ॥ शङ्कते—\*संनिधानमात्रेणेति\* ॥ परिहरति—\*नेति\* । \*उपार्जनम् = स्वीकरणम् । न त्वियं विधात्मनीत्याह—\*नत्वात्मन इति\* ॥ ये तु देहादावात्माभिमानो न मिथ्या, अपितु गौणः, माणवकादाविव सिंहाभिमान इति मन्यन्ते, तन्मतमुपन्यस्य दूषयति—\*अत्राहुरिति\* ॥ प्रसिद्धो वस्तुभेदो यस्य पुरुषस्य स तथोक्तः । उपपादितं चैतदस्माभिरध्यासभाष्य

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* आत्मनः स्वत एव कर्तृत्वाद् धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वसिद्धेर्नैतरेतराश्रयत्वादिदोष इति, तत्राह—\*क्रियेति\* ॥ \*उपार्जनम् = स्वीकरणम् । इतरसंबन्धे यद्यपि प्रमाणाभावः ; तथाऽपि त्वदभिमत-संबन्धो न सिध्येत् ; तत्रापि प्रमाणाभावात्, इत्याशङ्क्याह—\*मिथ्येति\* ॥ ममेदमिति प्रतिपत्ति-समर्थमधिकारिणं कर्तारं चोद्दिश्य यागादिविधानाच्चेतनस्यैव कर्तृत्वमिति, तत्राह—\*एतेनेति\* । एतेन क्रियासमवायित्वनिराकरणेन यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात्प्रपद्यते, न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः ; कणभोजिवत्, इति यदुच्यते, तन्निराकृतमित्यर्थः ॥ अथवा—शरीरसंबन्धस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वप्रदर्शनेन ब्राह्मण्यादिविशिष्टस्य यजमानत्वं परमार्थतो नास्तीति दर्शितमित्यर्थः ।

प्रदीपः

प्रसर इति तु हृदयम् । अयं भावः—अङ्कुरं बीजात्, बीजमङ्कुरादिति कार्य-कारणभावोऽयं लोकसिद्धः ; उभयोरपि प्रत्यक्ष-योग्यत्वात्, धर्माधर्मयोस्तु न प्रत्यक्षत्वं शरीरस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि, इति कार्य-कारणयोः प्रत्यक्षत्वस्थल एव बीजाङ्कुरन्यायो नास्तीति, आत्मनो देहसम्बन्धो न कर्मकृत इति । तथाच्चात्मनः सशरीरत्वं कर्मकृतमिति नेदं प्रत्यक्षगम्यम्, न वाऽऽगमगम्यम् ; “असङ्को ह्ययमि”ति श्रुतिर्हि आत्मनोऽसङ्कत्वमेव प्रतिपादयति । युक्तं चैतद् आत्मनः स्वाभाविकं न कर्तृत्वमिति, तदिदमाह—\*क्रियेति\* ॥ न हि कर्तृत्वं साक्षात् परम्पराया वा क्रियाश्रयत्वं विना संभवति, तत्र साक्षात्क्रियाश्रयत्वमात्मनोऽनित्यत्वा-पत्त्या न भवतीति पूर्वमेव निरूपितमिति, परम्परयापि क्रियाश्रयत्वाभावाद् न कर्तृत्वमिति निरूपयितुमाह—\*सन्निधानेति\* ॥ परित्यज्य सम्बन्धान्तरकल्पनं युक्तमित्यभिप्रायेणाह—\*मिथ्याभिमानस्त्विति\* ॥ न केवलं प्रत्यक्षम्, किन्तु श्रुतिरपि देहात्म-भावाभिमाननिबन्धन एव कर्माधिकार इत्याह—\*एतेनेति । यजमानत्वमिति\* ॥ फलकामस्य तद्भोक्तुर्वा ब्राह्मणादेरेव कर्माधिकारः । आत्मनो ब्राह्मणत्वान् शरीरतादात्म्याध्यासं विना नोपपद्यत इति भावः । \*ननु\* देहादावात्मनोऽहंभावो गौण एव, न तु तादात्म्यध्यासमूलकः । भवति ह्यन्यत्रान्यशब्दप्रयोगो गौणोऽपि ; यथा सिंहो देवदत्त इति । सति चैवं मिथ्याभिमानप्रयुक्त एव शरीरिभाव इति रिक्तमिदं वचः । सिंह-माणवकयोरिव शरीरात्मनोरपि भेदः प्रत्यक्ष एवानुभूयते ममेदं शरीरमिति । तथाच भेदाग्रहनिबन्धनत्वादध्यासस्य नात्राध्यासविवक्षा । अस्तु वा भेदाग्रहः, सत्यपि तस्मिन् नाध्यासादिकं कल्पयितुं युक्तम् ; अख्यातिवादस्यैव स्वीकारादित्यभिप्रायेण प्राभाकराणां शङ्कामुपक्षिपति—\*अत्राहुरिति\* ॥ प्राभाकरा इति शेषः । \*देहादिव्यतिरिक्तस्येति\* ॥ युष्मदसत्प्रत्ययगोचरयोरित्यत्राप्ययमर्थः स्पष्टमाविष्कृतः । अनेन



मिथ्येति चेत्, न ; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्व-मुख्यत्वप्रसिद्धेः । यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाग् मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्य-शौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः प्रसिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य । तस्य त्वन्यत्रान्यशब्द-प्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ ; यथा मन्दान्ध-कारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्द-प्रत्ययौ स्थाणुविषयौ ; यथावा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिदमिति निश्चितौ शब्द-प्रत्ययौ ; तद्वद्देहादिसङ्घातेऽह-मिति निरुपचारेण शब्द-प्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् ?

### भामती

इति नेहोपपाद्यते । यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे वस्तुनि पुरुषात् सांशयिकौ पुरुषशब्द-प्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, तत्र हि पुरुषत्वमनियतमपि समारोपितमेव । एवं संशये समारोपित-मनिश्चितमुदाहृत्य विपर्ययज्ञाने निश्चितमुदाहरति—\*यथावा शुक्तिकायामिति\*॥ शुक्लभास्वरस्य द्रव्यस्य पुरःस्थितस्य सति शुक्तिकारजतसाधारण्ये यावदत्र रजतविनिश्चयो भवति, तावत्कस्माच्छुक्तिविनिश्चय एव न भवति ? संशयो वा द्वेधा युक्तः ; समानधर्मधर्मिणोर्दर्शनात्, उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषद्वयस्मृतेश्च । संस्कारोन्मेषहेतोः सादृश्यस्य द्विष्टत्वेनोभयत्र तुल्यमेतदित्यत उक्तम्—  
\*अकस्मादिति\* ॥ अनेन दृष्टस्य हेतोः समानत्वेऽप्यदृष्टं हेतुरुक्तः । तच्च कार्यदर्शनोन्नेयत्वेनासाधा-

### भाष्यभावप्रकाशिका

आत्मीयतयैव देहादावात्मसंबन्धो भवति, ततस्तस्यात्मीयदेहादौ क्षतेरिव राश आत्मबुद्धिः, ततः स्वकीयदेहादिनिबन्धनं कर्तृत्वं प्रमातृत्वं च पारमार्थिकमिति मन्वानः शङ्कते—\*देहादीति\* ॥

परिहरति—\*न प्रसिद्धेति\* ॥ प्रसिद्धो वस्तुभेदो यस्य पुरुषस्य, स तथोक्तः । तदेव प्रपञ्चयति—\*यस्य हीति\* ॥ \*नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्येति\* ॥ गौणत्वलक्षणाभावाद् न गौण

### प्रदीपः

सति भेदज्ञानेऽभेदग्रहस्य गौणभेदविषयकत्वं सूचितमिति शुष्मदसादिति परमोपक्रमतात्पर्यार्थः प्रकटीकृतो भवति । तथाचा-ध्यासाक्षेपभाष्यं गौणात्मवादिनां मतेनेति तन्मतनिरासेन चतुःसूत्रीविवरणव्याजेन शास्त्रार्थपरिपूर्तिं मन्यमानो भाष्यकारोऽ-ध्यासभाष्यसिद्धान्तेनैव समापयतीत्युपक्रमोपसंहारैकवाक्यताऽपि प्रकाशिता भवति । \*आत्मीये देहादाविति\* ॥ शरीरस्यै-वाध्यासेनात्मत्वे हि शरीरमात्मैव सर्वदा प्रतीयेत, न तु मम शरीरमित्यात्मीयतयाऽपीति भेदग्रह एवायं विशिष्यानेनोपक्षिप्यते । \*अभिमानः=अभेदप्रत्ययः । \*गौणः=शरीरात्मनोः सादृश्यनिबन्धन इत्यर्थः । गुणसाम्यप्रयुक्तो गौण इति व्यपदिश्यते । अत्राभिमानपदप्रयोगः परमतमभिप्रेत्य, न तु स्वमतमिति स्फुटयति—\*न मिथ्येति\* ॥ तथाच भ्रमस्यापि सादृश्य-निमित्तकत्वादभिमानो गौण इत्यन्यथाग्रहो वारितो भवति । सत्यं दृग्दृश्यादिलक्षणतो भेदः शरीरात्मनोर्वर्तते, परन्तु न तावताऽभेदभ्रमो वारितो भवति । शुक्तिरजते अपि लक्षणतो भिन्ने एवेति कथं वा तत्रापि मिथ्याप्रत्ययः संभवदुक्तिकः स्यात् ? येन रूपेण भेदप्रत्ययः, तेनैव रूपेणभेदप्रत्यय एव हि गौणः, यथा सिंह-देवदत्तयोः, सिंहशब्दवाच्यत्वेन देवदत्त-पदवाच्यत्वेन च भिन्नयोः सिंह-देवदत्तयोस्तेनैव रूपेणभेदप्रत्ययः । शुक्ति-रजतयोस्तु शुक्तिरूपेण रजतत्वरूपेण च भिन्नतया गृह्यमाणयोर्न ताभ्यामेव रूपाभ्यामभेदप्रत्यय इति नायं गौणः । तथाच गृहीतभेदयोरभेदप्रत्ययो गौणः, अगृहीत-भेदयोरभेदप्रत्ययो मिथ्येति व्यवस्था समादरणीया । भेदाग्रहमात्रेणैव प्रवृत्तिनिर्वाहेऽपीदंकाराभिमुखप्रवृत्त्यादिनिर्वाहार्थ-



आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवविविक्तौ शब्द-  
प्रत्ययौ भवतः । तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो  
मिथ्यैव, न गौणः । तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि  
विदुषोऽशरीरत्वम् । तथाच ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—“तद्यथाऽहिनिर्लव्यनी  
वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयोतैवमेवेदं शरीरं शेते । अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो

भामती

रणमिति भावः । \*आत्मानात्मविवेकिनामिति\* ॥ श्रवण-मननकुशलतामात्रेण पण्डितानाम् ; अनुत्पन्न-  
तत्त्वसाक्षात्काराणामिति यावत् । तदुक्तम्—“पश्चादिभिश्चाविशेषात्” इति । शेषमतिरोहितार्थम् ।  
जीवतो विदुषोऽशरीरत्वे च श्रुति-स्मृती उदाहरति—\*तथाचेति\* । सुबोधम् । प्रकृतमुपसंहरति—

पञ्चपादिका

तथाच श्रुति-स्मृतिवादा ब्रह्मविदः सर्वसंसारप्रवृत्त्यभावं दर्शयन्त उदाहृता भाष्ये । तस्मान्न

पञ्चपादिकाविवरणम्

उक्तमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तत्त्वज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ संसारनिवृत्तिरिति, अथेदानीं तत्रैवागमप्रमाणमाह—  
\*तथा च श्रुतिस्मृतिवादा इति\* ॥ ते हि ब्रह्मात्मैकत्वं साक्षादनुभवन्तोऽपि द्वैतदर्शनाभासं दर्शयन्ति ॥

अञ्जुविवरणम्

साधनेनेत्याशङ्क्योपयोगमाह—\*उक्तमन्वय-व्यतिरेकाभ्यामिति\* ॥ \*ननु\* श्रुत्यादिषु न संसारनिवृत्तिः प्रतीयते,  
कथमुदाहृता श्रुतिः ? इत्याशङ्क्याह—\*ते हि ब्रह्मात्मैकत्वमिति\* ॥ \*कथमेकदेशेति\* ॥ अवधिकरण-

तत्त्वदीपनम्

चित्प्रमाणमुपन्यस्तमित्याशङ्क्याह—\*उक्तमिति\* ॥ अद्वैतदर्शिनो द्वैतदर्शनं विरुद्धमित्याशङ्क्य, प्रमाप्रतिपन्ने  
नानाभास इत्याह—\*ते हीति\* ॥

भाष्यभावप्रकाशिका

इत्यर्थः । पूर्वं संशये समारोपितं निश्चितरूपमुदाहृत्य विपर्ययज्ञाने निश्चितमुदाहरति—  
\*यथावेति\* ॥ \*अकस्मादिति\* ॥ संशये विपर्यये च दृष्टस्य हेतोः साधारणधर्मदर्शनसंस्कारोद्बोधहेतु-

सादृश्यादेः समानत्वेऽप्यदृष्टवशाद् विपर्ययो जायत इत्यर्थः ॥ \*ननु\* विवेकिनोऽप्यहं-  
शब्दप्रत्ययदर्शनादज्ञाननिमित्तत्वाभावे गौणोऽयमित्याशङ्क्याह—\*आत्मानात्मविवेकिनामिति\* ॥

आत्मीयेऽपि देहादावात्मबुद्ध्यैवात्मीयत्वं तिरोहितं भवति । सर्पबुद्धाविव रज्जुत्वमित्यर्थः ।

प्रदीपः

ममेदप्रतीतिरेवेति हि स्वीकर्तव्यम् । शरीरात्मनोस्तु शरीरत्वात्मत्वाभ्यां भेदप्रतीतिः कुत्रापि न निश्चिता ; “मम शरीरम्”  
इति प्रतीतिः स्पष्टायामपि सम्बन्धवाचिन्यां षष्ठ्यां ‘राहोः शिरः’ इत्यादिवत् षष्ठ्या अमेदाविरोधित्वाद् न भेदप्रतीतिरेवेति  
निश्चिता । अतो नात्र गौणोऽभेदप्रत्यय इत्यभिप्रायेण समाधत्ते—\*प्रसिद्धवस्तुभेदस्येति\* ॥ विशिष्टेन रूपेण वस्तुनो-  
भेदं यो निश्चिनोति, स एवेदं मुख्यमिदं गौणमिति प्रत्ययं निर्णेतुं पारयति । तथाच सिंहशब्देन मुख्यं सिंहं माणवकशब्देन  
मुख्यं माणवकं च यः परस्परभिन्नं जानाति, स एव गौणो व्यवहारोऽयमिति व्यवस्थापनेऽपि समर्थो भवतीति भावः ।  
यस्तु पुनः—इदं रजतमिति भ्रममनुभवति, स हीदंपदार्थो रजतपदार्थश्च स्वस्वमुख्येनेदन्त्वेन रजतत्वेन च  
भिन्नाविति कदापि नानुभवति । न हि रजतशब्दवाच्यमिदंशब्दवाच्यं न भवति । सत्यस्थलेऽपि इदं रजतमित्येव हि  
प्रत्ययः । अतोऽयमनुभवः—इदं रजतमिति न गौणः, किन्तु मिथ्यैवेति दृष्टान्तपुरःसरं विवेचयति—\*अप्रसिद्धेति\* ॥ येन  
रूपेणाभेदप्रत्ययः, तेन रूपेण भेदं निश्चिन्वानो हि मिथ्यैवाभेदं प्रत्येति । तद्वोदाहरणद्वयं निर्दिशति—\*मन्दान्धकार इति\* ॥



ब्रह्मैव तेज एव” (बृह० ४।४।७) इति । “सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव” इति च । स्मृतिरपि च— “स्थितप्रज्ञस्य का भाषा” (भ० गो० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति । तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्, यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वम्, नासावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम् । यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनन-निदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं

भामती

\*तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्येति\* ॥ \*ननु\* उक्तं यदि जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावगतिरेव सांसारिकधर्मनिवृत्तिहेतुः, हन्त मननादिविधानानर्थक्यम्, तस्मात्प्रतिपत्तिविधिपरा वेदान्ता इति, तदनुभाष्य दूषयति—\*यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोरिति\* ॥ मनन-निदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारफलयो-

भाष्यभावप्रकाशिका

परमप्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मान्निमित्थेति\* ॥ न केवलं यौक्तिकोऽयमर्थः, श्रुतिस्मृतिप्रतिपन्नोऽपीति दर्शयति—\*तथाचेति\* ॥ \*निर्व्वयनी=निर्मोकेः । अचक्षुस्सचक्षुरिवेत्यादि योजना ॥

प्रदीपः

अत्र हि दोषवशात् स्थाणुत्वं शुक्तित्वं वा भेदकभेदप्रतीतिकाले न विज्ञातमिति तेन रूपेण भिन्नतया गृह्यमाणयोरिदन्त्व-  
पुरुषत्वशुक्तिव्रजत्वादिरूपैर्नाभेदप्रत्यय इति विशदम् । दार्ष्टान्तिकेऽपि मिथ्याप्रत्ययत्वं समन्वयीकरोति—\*तद्वदिति\* ॥  
अत्राप्यात्मनोऽधिष्ठानस्य स्वपारमार्थिकाकारेणाज्ञानदशायामेव ब्रह्मभेदभ्रम इत्याह—\*अहमिति\* ॥ \*निरुपचारेणेति\* ॥  
सादृश्यरूपमुपचरं विनैवेत्यर्थः । न ह्यत्र सिंह-देवदत्तयोरिवात्म-शरीरयोः पृथक् पृथक् भानमपि वर्तत इति कथमयं सादृश्यनिबन्धनोऽभेदप्रत्यय इति भावः । एतावता च विनैव देहात्मविवेकमहं प्रत्ययो मिथ्येति व्यवस्थापितम् । देहात्म-  
विवेकिनामपि नापरोक्षो विवेकग्रहः, किन्तु परोक्ष एव, स च नाध्यासविरोधीति “पश्चादिभिश्चाविशेषात्” इति  
भाष्योक्तमत्राप्यनुसन्धत्ते—\*आत्मानात्मविवेकिनामपीति\* ॥ अपिशब्दस्य पण्डितानामित्यनेन सम्बन्धाद् पण्डितानाम-  
पीत्यर्थो विवक्ष्यते । तेन च तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिप्रतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तन्मूल इति भाष्येणैकवाक्यता ।  
शब्द-प्रत्ययौ समानाधिकरणपदद्वयसमभिव्याहारः, अभेदप्रत्ययश्चेत्यर्थः । परोक्षविवेकग्रहोऽपरोक्षाध्यासाविरोधीत्यभिप्रायेणैव—  
\*इतरतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोरिति\* भाष्यमप्यध्याससमर्थनपरं प्रवृत्तम् । तथाच नात्र भेदग्रहमात्रेण गौणताकल्पनं  
युक्तमिति सूचनपूर्वकं शरीरित्वस्य मिथ्याभिमानप्रयुक्तत्वाद् अशरीरित्वस्य स्वाभाविकत्वात्, अवगतात्मभावानां सर्वेषामपि  
शरीराभिमानादिनिवृत्तेरेव दृश्यमानत्वाच्च साङ्गं वेदान्तं श्रुतवतां संसारानुवृत्तिरिति साङ्गश्रवणं सिद्धब्रह्मात्रविषयकं न  
निष्प्रयोजनमिति निष्कर्षः । तदिदं सर्वमभिप्रेत्योपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ तदेवं विदुषां मनन-निदिध्यासनाभ्यां सह  
वेदान्तं श्रुतवतामितरदृष्ट्या सशरीरिणामपि तदनभिमानित्वान्न संसारबन्धः, किन्तु ब्रह्मभावाख्या मुक्तिरेवेति श्रुति-स्मृति-  
प्रमाणाभ्यां विशदयति—\*तथाच ब्रह्मविद्विषयेति\* ॥ इयमेव श्रुतिर्जीवन्मुक्तिस्वीकारे प्रमाणम् । तद्यथाऽहिनिर्व्वयनीति  
श्रुतेरयमर्थः—\*तत्=तस्मिन् देहे विषये, सदृष्टान्तं निरूपणं क्रियत इति शेषः । यथा लोके \*अहिनिर्व्वयनी=सर्पनिर्मोकेः  
सर्पदेहत्वम् वल्मीकादौ प्रक्षिप्ता \*शयीत=विना तत्र सर्पस्य स्वात्मनाभिमानं वर्तत, एवमेव=तथैव, इदं शरीरम्, विदुष  
इति शेषः, जीवन्मुक्तशरीरमिति यावत् ; मुक्तत्वेन स्वात्मतयाऽगृहीतं शेते तिष्ठति । अथ पुनस्तु अयं देहस्यो  
जीवन्मुक्तः अशरीरः=शरीराभिमानराहित्यात् शरीरशून्य एव । अमृतो मरणधर्मरहितः । प्राणः = जीवन्नपि तेजः स्वयंप्रकाशं  
ब्रह्मैवेति । तथाच वहिर्दृष्ट्यैव जीवन्मुक्तानां सशरीरत्वम्, न तु स्वदृष्ट्येति बोधनद्वारा शरीराभिमानवत्त्वमेव सशरीरत्वम्,  
न तु वस्तुगत्या शरीरसम्बन्धमात्रमिति सूचनाद् देहादावात्मभावो मिथ्यैव न गौण इत्ययमेवार्थो विशदीकृत इति सूचयन्  
श्रुत्यन्तरमत्रानुसन्धत्ते—\*सचक्षुरिति\* ॥ न केवलं श्रुतिः, किन्तु स्मृतिरपि भगवद्गीताख्याऽत्र प्रमाणमित्याह—\*स्मृतिरपीति\* ॥  
विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धमिति । शरीरादिसम्बन्धस्य कल्पितत्वात् तदभिमानपूर्वकप्रवृत्त्यादिरप्याविद्यक एवेति निरभिमाने



ब्रह्मणः, न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति, न ; अवगत्यर्थत्वान्मनन-निदिध्यासनयोः ।  
यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्, नतु तदस्ति ;

भामती

विधिसरूपैर्वचनैरनुवादात् । तदिदमुक्तम्—\*अवगत्यर्थत्वादिति\* ॥ ब्रह्मसाक्षात्कारोऽवगतिः, तदर्थत्वं  
मनन-निदिध्यासनयोरन्वय-व्यतिरेकसिद्धमिदमर्थः । अथ कस्माद् मननादिविधिरेव न भवतीति ? अत आह  
\*यदि ह्यवगतमिति\* ॥ न तावन्मनन-निदिध्यासने प्रधानकर्मणी अपूर्वविषये अमृतत्वफले इत्युक्तमध-

भाष्यभावप्रकाशिका

\*ननु\* ब्रह्मात्मत्वावगमः संसारिणामस्माकमसिद्ध इति, तत्राह—\*यस्य त्विति\* ॥ श्रुतस्य

प्रदीपः

विदुषि सामिमानत्वव्यवहारो बाधित एवेति स्मृतितात्पर्यादेवमुक्तम् । तथाच जीवन्मुक्तानां यथापूर्वं संसारित्वं न कथमपि  
वक्तुं शक्यत इति साक्षात्कारमात्रं शब्दजन्यमपि न निष्प्रयोजनमिति विनापि प्रवर्तकत्वमर्थवत्त्वं वेदान्तावाक्यानां वर्तत इति  
“शास्त्रत्वेनार्थवत्तये”ति वाक्यनिर्दिष्टस्याक्षेपस्य नात्रावसर इति सिद्धेऽपि वस्तुनि वेदान्तानां प्रामाण्यमनपोहमिति ब्रह्मणः  
शास्त्रयोनित्वं प्रत्यगभिन्नस्यापि प्रतिपत्तिविधिसम्बन्धायोग्यस्यापि नानुपपन्नमिति भावेन प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥  
\*अवगतब्रह्मात्मभावस्य=निर्विक्रित्सब्रह्मसाक्षात्कारवतः । “यथापूर्वमि”त्यनेन विद्यमानोऽपि व्यवहारः प्रारब्धकर्माधीनत्वाद्  
अविद्यासंस्कारमात्रनिबन्धनत्वाद्वा मिथ्यात्वेनानुसन्धीयमानत्वात् संसारावस्थायामिव दग्धपटन्यायेनाकार्यकारित्वान्न बन्धप्रयोजक  
इति सूच्यते । तथाच “श्रुतब्रह्मणोऽपि संसारित्वदर्शनादि”ति पूर्वपक्षिणामुपक्षेपो यदि साक्षात्कृतब्रह्मजीवन्मुक्तमभिप्रत्य,  
तर्हि तु बाधितमिति गूढमेव भावं विशदयन्नाह—\*यस्य त्विति\* ॥ अनेन च “श्रुतब्रह्मणः” इत्यत्र विना मनन-निदिध्यासने  
श्रवणमात्रं येन कृतम्, तस्यैव ग्रहणे तस्य संसारित्वदर्शनं न वेदान्तानां निष्प्रयोजनत्वेनाप्रामाण्यव्यवस्थापनायालम्,  
यतो न वेदान्ताः श्रवणमात्रेण बन्धनिवृत्तिं प्रतिपादयन्तीति सूच्यते । श्रवणं मनन-निदिध्यासनसहितमेव साक्षात्कार-  
साधनमिति वेदान्ताभिमतमिति श्रवणानन्तरं मननादिविधिरपि नास्माकं प्रतिरोधी, किन्त्वनुरोध्येवेति मनसिकृत्य मननादि-  
विध्यन्यथाऽनुपपत्त्या वेदान्तानां विधिपरत्वमिति वृत्तिकारीयं पक्षमनूय परिहरति—\*यत्पुनरिति\* ॥ अवगत्यर्थत्वान्मनन-  
निदिध्यासनयोरिति\* ॥ श्रवणेनावगतौ जननीयायामितिकर्तव्यतात्वान्मनननिदिध्यासनयोः श्रवणफलमवगतिरेव मनननिदि-  
ध्यासनयोरपि फलमिति मनन-निदिध्यासने अपि अवगत्यर्थे इति भाव इति विवरणानुयायिनां विवरणम् । अस्मिन्पक्षे  
श्रवणवदवगत्यर्थत्वादित्यनुपदभाष्यस्यायमेवाशयः—यत् अङ्गिफलेनैवाङ्गानां फलवत्त्वात् “फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि”ति न्यायेन  
श्रवणवद् मनन-निदिध्यासनयोरप्यवगत्यर्थत्वमिति । इदमेव भाष्यं मनसि निधाय श्रवणप्राधान्यपक्षः शाब्दापरोक्षवादानुकूलो  
विवरणानुयायिनां प्रवृत्तः । वाचस्पतिमते तु मननतुल्यत्वेन निदिध्यासनेन सह निर्देशो न स्वरस इति तु हृदयम् ।  
अत्र मनन-निदिध्यासनयोरवगत्यर्थत्ववर्णनेन नैतयोरारादुपकारकत्वं प्रयाजादिनामिवेति सूचनेनान्वय-व्यतिरेकसिद्ध एव कार्य-  
कारणभावः श्रुत्या विवक्ष्यत इति ज्ञापनाद् मननाद्यंशेऽपि न विधिरिति पक्ष एव भाष्यकाराभिमत इति भामत्यनुयायिनो  
मन्यन्ते । सति चैवं सर्वेषां श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां चित्ताकाशैक्यकोपयोगित्वाद् न शाब्दापरोक्षवादस्यैव सन्दर्भ इति  
विशदं प्रतीयते । श्रुतब्रह्मणो यथापूर्वं संसारित्वदर्शनेन मननादिविध्यनुपपत्तिशङ्कावारणमेव ह्यत्र प्रस्तुतम्, न त्वङ्गाङ्गि-  
भावप्रदर्शनम् । अन्यथा हि श्रवणार्थत्वान्मनन-निदिध्यासनयोरिति खलु वक्तव्यम्, न त्ववगत्यर्थत्वादिति । तथाच—  
अवगत्यर्थत्वादिति भाष्यं श्रवणवद् मनन-निदिध्यासनयोरप्यवगत्यर्थत्वस्यान्वय-व्यतिरेकप्रमाणसिद्धत्वादित्येवार्थम्, इति भामत्यनुसारि-  
विवरणम् । तथाच समप्राधान्यवाद एव भाष्यारूढ इति प्रतिभाति । अत एव श्रवणवदवगत्यर्थत्वादित्यनुपदोपक्षेप उप-  
पद्यते । निदिध्यासनप्राधान्यवादस्तु नैतद्भाष्यारूढोऽपि भाष्यान्तरारूढ इति सिद्धान्तलेशसंग्रहसूचितमेव यथावसरं विवेच-  
यिष्यते । यद्यपि “मननादिप्रतीत्या चे”ति मननविधिवैयर्थ्यमेकमेव प्रधानतममाक्षेपनिमित्तमिति मननसार्धक्यवर्णने-  
नैवालम् ; तथाऽपि वृत्तिकारैः श्रवण-मननयोर्विध्यनङ्गीकाराद् निदिध्यासन एव विध्यङ्गीकाराच्च श्रुतस्य मतस्य च ध्यानविधानार्थ-  
मेव निदिध्यासितव्य इति स्वीकाराद् मननवद् निदिध्यासनेऽपि न विधिः, न वा साक्षात्कारातिरिक्तफलकत्वमिति सूचनार्थ-  
मनन-निदिध्यासनयोरिति निदिध्यासनस्यापि विशदमत्रोल्लेखः । अयमाशयः—विधिशेषत्वं हि सिद्धवस्तुनो ज्ञातस्यैव भवति,



मनन-निदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात् । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषय-  
तया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवति, इत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं  
वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम् ।

भामती

स्तात् । अतो गुणकर्मत्वमननयोरवघातप्रोक्षणादिवत्परिशिष्यते, तदप्युक्तम् ; अन्यत्रोपयुक्तोपयोक्ष्य-  
माणत्वाभावादात्मनः, विशेषतस्त्वौपनिषदस्य कर्मानुष्ठानविरोधादित्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति—\*तस्मा-  
दिति\* ॥ एवं सिद्धरूपब्रह्मपरत्वमुपनिषदाम् । ब्रह्मणः शास्त्रार्थस्य धर्मादन्यत्वाद्भिन्नविषयत्वेन शास्त्र-

प्रदीपः

नाज्ञातस्य । प्रत्यगभिन्नं च ब्रह्म प्रत्यक्षीकृतमेवोपासनाविधिशेष इति यदि वर्ण्यते, तर्हि श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रवण-  
मननयोरैव साक्षात्कारोपयोगः, न तु निदिध्यासनस्येति वक्तव्यम् । नचेदं संभवति ; विना निदिध्यासनं साक्षात्कारा-  
संभवात् । अतः प्रतिपत्तिविधिशेषतया ब्रह्मसमर्पणं यदि वेदान्तवाक्येषु विवक्ष्यते, तर्हि प्रकृते श्रूयमाणनिदिध्यासितव्य-  
पदातिरेकेण ध्यानविध्यन्तरेणान्वयो ब्रह्मणः स्वीकर्तव्यः । तत्र च विध्यन्तरपरमपि किं क्लृप्तं मत्वा विधिशेषत्वं ब्रह्मणो  
मन्यते ? उक्तं कल्पितम् ? अन्ये तु न प्रमाणम् । अतः प्रथममेव पक्षं मत्वा विधिशेषत्वं ब्रह्मणो वक्तव्यम् । तत्तु  
बाधितमित्यभिप्रायेणाह—\*यदीति\* ॥

\*अवगतं ब्रह्म=श्रवण-मनन-निदिध्यासनैरवगतं ब्रह्म । \*अन्यत्र=क्लृप्तप्रतिपत्तिविध्यन्तरे । \*यिनियुज्येत=अङ्गत्वेन बोध्येत ।  
ज्ञातानामेव द्रव्याणामङ्गत्वेन विधानं नाज्ञातानाम् । यजेतेति सामान्यतो ज्ञातानामेव देवतानां देवतापदेनापि नियमनं  
क्रियते । न हि देवतोद्देश्यकद्रव्यत्याग एव याग इतिवद् ब्रह्मसम्बन्धेवोपासनमिति संभवदुक्तिकम् । “वाचं धेनुमुपा-  
सीते”ति हि विनापि ब्रह्मोपासनविधिर्दृश्यते । ततश्च न ब्रह्मण उपासनविधिशेषत्वं वेदान्तैकसमधिगम्यस्य कथमपि कल्पयितुं  
शक्यमिति भावः । \*मननेति\* ॥ व्याख्यातमेतदधस्तात् । ब्रह्मणः स्वतन्त्रं शास्त्रप्रमाणकत्वमेतावता प्रपञ्चेन साधित-  
मुपसंहरति—\*तस्मादिति\* ॥ \*शास्त्रप्रमाणकमिति\* ॥ अनेकशाखाभेदभिन्न-साङ्गवेदादिसर्ववेदप्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं  
ब्रह्मस्वरूपम् । तदुक्तम्—\*सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति\* ॥ \*ननु\* वेदानां कर्मकाण्डोपासनाकाण्डादिभेदेन विभिन्नानां  
कथं प्रत्यगभिन्नब्रह्मपरत्वम्, यतः कर्मकाण्डवाक्यानि कर्म-तदङ्गकर्तृभूतजीवादिप्रतिपादनपराणि, उपासनाकाण्डवाक्यानि तु  
सगुणेश्वरस्वरूपनिरूपणपराणि, सृष्ट्यादिवाक्यान्यपि कारणत्वेनेश्वरस्वरूपनिरूपणपराणि वर्तन्ते । सति चैवं तत्त्वमसीत्यादीनां  
केषांचन वाक्यानां प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती”ति कथमुपपद्यतेऽन्यतः स्तुत्यर्थत्वादित्यत  
आह—\*वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति\* ॥ वेदान्तवाक्यानां “तत्त्वमसी”त्यादीनामेवोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यग्राहकप्रमाणावगत-  
तात्पर्यवस्त्वेन प्रधानत्वात् कर्मकाण्डवाक्यानां तदेकदेशत्वंपदार्थोपस्थापनद्वारेणोपासनाकाण्डवाक्यानां तत्पदवाच्योपस्थापन-  
द्वारेण च तदङ्गत्वान्महावाक्यार्थ एव मुख्यो वेदार्थः, न त्ववान्तरवाक्यार्थः । अन्यथा “दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते”  
त्यवान्तरवाक्यानुसारेण दर्श-पूर्णमासप्रधानयागानुष्ठानमात्रेण स्वर्गोत्पत्त्यापत्त्या सर्वेषामङ्गवाक्यानां वैफल्यम्, अथवा प्रयाजा-  
दीनामपि स्वतन्त्रफलकल्पनया प्रधानत्वं स्यादिति महान् विप्लवः समापद्येतेति वेदान्तवाक्यसमन्वयेन शास्त्रप्रमाणकत्व-  
साधनमुपपन्नमेवेति निष्कर्षः । अनेन च धर्ममीमांसाऽवान्तरवाक्यविचारार्था, ब्रह्ममीमांसा तु महावाक्यविचारार्थेति  
धर्मब्रह्मज्ञासयोर्विषयभेदोऽपि सूच्यते । तथाच धर्ममीमांसा कर्मस्वरूपमात्रं तत्तद्वाक्यगतं निरूपयितुमेव प्रवृत्ता, न तु  
महावाक्यैकदेशतया कर्मकाण्डवाक्यानामुपयोगप्रकारमपि । ब्रह्ममीमांसा तु कर्मोक्तस्य कर्तृरुपात्तरस्य ब्रह्मणश्च व्यावहारिकं  
स्वरूपमनूद्यैव निष्कृष्टपारमार्थिकस्वरूपनिरूपणेन सर्वेषां वेदवाक्यानां प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि तात्पर्यं निर्धारयितुं प्रवृत्ता । अत  
एव व्यावहारिकं जीवेश्वरभेदं तत्र तत्र विद्यमानमादायैव सगुणवाक्यानां तात्पर्यनिर्धारणमपि ब्रह्ममीमांसागतमुपपद्यते । न  
ह्यन्यथा त्वंपदवाच्यार्थस्तत्पदवाच्यार्थश्च निर्धारितः स्यात् । सति चैवं प्रथमाध्यायेन कुत्रचन पूर्वपक्षमुखेन जीवपरत्वम्,  
कुत्र चनेश्वरपरत्वम्, कुत्रचन निर्गुणचैतन्यमात्रपरत्वमिति प्रतिपाद्य “वाक्यान्वयादि”ति वाक्यान्वयाधिकरणेन प्रत्यगभिन्न-  
स्वरूपनिर्धारणेनैव शास्त्रार्थसमापनमपि सुतरामुपपद्यते । जीवस्वरूपं हि कर्मोक्तकर्तृरूपं प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वाद् नावान्तर-  
वाक्याविषयाऽपि वेदान्तवाक्यावसेयमिति जगत्कारणेश्वरस्वरूपनिरूपणमुख्येनैव प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मस्वरूपं ब्रह्ममीमांसावधारणीयमिति  
सगुणेश्वरवाक्यानामेवावान्तराणामपि ब्रह्ममीमांसायां विचारः । अयमत्र निष्कर्षः—तत्तु समन्वयादिति सूत्रे महावाक्य-



एवं च सति “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते । प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि “अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत । आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—अथातः परिशिष्टधर्म-

भामती

भेदाद् ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ इत्यस्य शास्त्रारम्भत्वमुपपद्यत इत्याह—\*एवंच सतीति\* ॥ इतरथा तु धर्मजिज्ञासैवेति न शास्त्रान्तरमिति न शास्त्रारम्भत्वं स्यादित्यत आह—\*प्रतिपत्तिविधिपरत्व इति\* ॥ न

वार्तिकम्

सुतरामविनियोगात् । तस्माद् न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं सम्भवति, किं तर्हि ? स्वातन्त्र्येणैव तद्वगतत्वं ; सामर्थ्यात्, इति सिद्धम् ॥

यस्त्वेकदेशी प्रतिपत्तिविधिषेष्टत्वेन ब्रह्मसमर्पणात् तत्परत्वं वेदान्तानामिति मन्यते, तन्मते—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति पृथक् शास्त्रारम्भो नोपपद्येत ; तत्प्रतिपत्तेर्विधेयत्वेन यागादिवद् धर्मत्वा-

भाष्यभावप्रकाशिका

ब्रह्मणोऽनेन निदिध्यासनकर्तव्यशेषत्वेन समर्पणाद्विधिषेष्टत्वमुक्तमनूद्य दूषयति—\*यत्पुनरिति\* ॥ एत-  
देव स्पष्टयति—\*यदीति\* ॥ श्रुतमात्रस्य मननादिसंबन्धः, नावगतस्येति भावः । उक्तेऽर्थे सूत्रं  
योजयति—\*अत इति\* ॥ “तत्तु समन्वयात्” अस्त्येवेति प्रथमवर्णके योजना । समन्वयादेवेति  
द्वितीये । शास्त्रारम्भभेदोऽपि विधिनिरपेक्षभूतवस्तुप्रतिपादकत्वं वेदान्तानां गमयतीत्याह—एवंचेति\* ॥  
अन्यथानुपपत्तिमाह—\*प्रतिपत्तिविधीति\* ॥

\*ननु\* शरीरादिनिर्वर्त्यो विधिभेदः कर्मकाण्डे निरूपितः, इह तु केवलं मनस्साध्यो निरूपित  
इत्यत आह—\*आरभ्यमाणं चेति\* ॥ त्वन्मतेऽपि मतं पृथगारम्भ इति शङ्कायां सङ्कर्षकाण्डस्य

प्रदीपः

समन्वयात् शास्त्रप्रमाणकत्वं यदुपक्षिप्तम्, तदेव वाक्यान्वयादित्यत्रोपसंहियते । अनेन चात्मनस्तत्र तत्र रूपभेदश्रवणेऽपि  
परमार्थत एकमेव स्वरूपम्, धर्मभेदमात्रे तात्पर्यम्, न तु धर्मभेदेऽपि ; इति जगत्कारणत्वेन किञ्चित्त्वादिना च सत्यपि भेदे  
परमार्थतो जगत्कारणत्वं विवर्तोपादनत्वरूपमेवेति न वाक्यान्वयविरोध इति निरूपणार्थमेव—“प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुप-  
रोधादि”ति सूत्रम् । अनेन च वाचारम्भणादिश्रुत्युपस्थापनद्वारा “वाक्यान्वयादि”ति सूत्रनिर्धारितमात्मस्वरूपं “तत्त्वमसी”ति  
महावाक्यप्रतिपादितमेवेति सूच्यत इति समन्वयाध्यायप्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव नान्यदिति सिद्धम् । सति चैवं जीवत्वेने-  
श्वरत्वेन जीवत्वेन शुद्धब्रह्मरूपेणेश्वरत्वेन शुद्धब्रह्मरूपेण च सर्वेषां परस्परं भेदस्यैवाद्वैतसम्प्रदायेऽप्यनुस्मियमाणत्वात्,  
केषांचन सगुणवाक्यानामपि तत्पदार्थनिर्धारणार्थमत्र प्रथमाध्याये विचारणस्यावश्यकत्वाच्च तत्र तत्र “भेदव्यपदेशादि”ति सूत्रं  
नाद्वैतसम्प्रदायं प्रतिरुद्धि । एतेन—“सार्थादपि तत्करा बहवः” इति न्यायेन सगुणवाक्यानां बहूनामेवात्र विचारितत्वाद्  
ब्रह्ममीमांसायाः सगुण एव पर्यवसानमिति कर्मकाण्डवाक्यानामुपासनापराणां च वाक्यानां सर्वेषां सममेव प्राधान्यमिति  
जीवेश्वरविभागादयः सर्वेऽपि सत्या एव, निर्गुणादिवाक्यं तूपास्यस्यैव ब्रह्मणो हेयगुणराहित्यादिप्रतिपादनार्थमेव प्रवृत्तमिति  
तत्त्वमस्यादिवाक्यमुपासनाविधेरैवाङ्गमिति शङ्काऽपि निरवसरेति—सूचितम् ॥

अयं भावः—अद्वैतसम्प्रदायानुसारिणो मन्यन्ते—यत् सूत्रकारास्तस्वमस्थादिवाक्यं महावाक्यम्, कर्मकाण्डवाक्यानि  
तु तदुपकारकाणीति मन्यन्त इति । अन्ये तु मन्यन्ते—उपासनाकाण्डप्राधान्यमेव युक्तम्, तत्त्वमस्यादिवाक्यान्तु तदङ्गमिति  
सूत्रकारा मन्यन्त इति । तत्र द्वितीयमतेऽथातो ब्रह्मजिज्ञासेति पृथग्विचारवैयर्थ्यम् ; यतोऽथातो धर्मजिज्ञासेत्यनेनैव जिज्ञासा-  
न्तरप्रतिज्ञापि गतार्था भवति । न हि तन्मते वेदार्थः सर्वोऽप्येकवाक्यार्थतया मन्यते । वेदार्थशेषरूपब्रह्मजिज्ञासापि वेदार्थ-  
सामान्यजिज्ञासैवार्थतः सिद्ध्यति । अतः प्रथममतमेव सूत्रारूढमिलमिप्रेत्याह—\*एवं च सतीति\* ॥ तत्त्वमस्यादि-



## वार्तिकम्

विशेषात्—“अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्यनेनैव तदारम्भसिद्धेः । यदि ब्रूयाल्लक्षणान्तरारम्भवत् संकर्षकाण्डा-  
रम्भवच्च तत्त्वेऽपि पृथगारम्भो न विरुध्यते, एवम्—“अथातः क्रत्वर्थ-पुरुषार्थयोजिज्ञासा” इत्यादिवदेव—  
‘अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा’ ‘अथातः प्रतिपत्तिजिज्ञासा’ इत्येवारभ्येत, नतु—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा”  
इति । ब्रह्माणस्तच्छेषत्वेन स्वातन्त्र्येण जिज्ञास्यत्वप्रतिज्ञानुपपत्तेः ॥

\*ननु\* नैवं सूत्रणीयं प्राप्नोति—‘अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा’ इति, ‘अथातः प्रतिपत्तिजिज्ञासा’  
इति वा, कुतः ? सामान्यतो धर्मजिज्ञाससूत्रणेनैव तल्लाभात्, किं तर्हि ? तच्छेषाणां क्रत्वर्थत्व-  
पुरुषार्थत्वादिनिरासात् प्रतिपत्तिविधिशेषस्य ब्रह्मणोऽस्तित्व-नास्तित्वजिज्ञासनादुपपद्यते—“अथातो  
ब्रह्मजिज्ञासा” इति तत्सूत्रणमिति चेत्, \*न\* ; काकदन्तपरीक्षावत् तत्परीक्षाया निष्प्रयोजनत्वात् ।  
अनुष्ठानोपयोगितया हि शेषाणां क्रत्वर्थत्व-पुरुषार्थत्वादि जिज्ञास्यते ; तज्ज्ञानमन्तरेण तदर्थतयाऽनुष्ठानं  
तेषामशक्तेः । नचैवं ब्रह्मणोऽस्तित्वज्ञानं विना तत्प्रतिपत्तिर्नानुष्ठानं शक्यते ; योषिदग्न्यादिभाव-  
वदारोपेणापि तत्प्रतिपत्त्यनुष्ठानोपपत्तेरित्युक्तत्वात् । अतो निष्प्रयोजनत्वेन क्रत्वर्थत्वादिचिन्ताबैलक्षण्यात्  
काकदन्तवद् ब्रह्मणोऽस्तित्वं न परीक्षणीयम् । भूतार्थप्रतिपत्तेस्तदस्तित्वमन्तरेणानुपपत्तिरिति चेत्,  
न ; तस्याविधेयत्वे भूतार्थत्वस्यैवासिद्धेः । अभूतार्थत्वेऽविद्यानिवर्तकत्वं न स्यादिति चेत्, अस्त्येवं  
तव मते । का नो हानिः ? त्यज्यतां वा विधिपरत्वाग्रहः । अपिच कुतो वा प्रमाणाद् ब्रह्मास्तित्वाव-  
धारणम् ? प्रतिपत्तिविधिवाक्यजनितज्ञानादिति चेत्, न ; तस्य विधिपरत्वेन तदस्तित्वावधारण-  
परत्वानुपपत्तेः ॥

किञ्च तदेव ज्ञानं तेन वाक्येन विधेयम् ? ज्ञानान्तरं वा ? नाद्यः ; तस्य द्विकरतापत्तेः । नहोकेन  
वाक्येन स्वयं प्राप्तत्वेन ज्ञानमुत्पाद्य तदेव स्वजन्यं ज्ञानमनुष्ठेयत्वेन ज्ञापयितुं शक्यते ; द्विकरत्वा-

## प्रदीपः

महावाक्येष्वेव महातात्पर्येण सर्वेषां वेदवाक्यानामङ्गतयोपयोगे सिद्धे चेत्यर्थः । \*तद्विषयः\*—महावाक्यावसेयप्रत्यगभिन्न-  
ब्रह्मविषयक इत्यर्थः । \*पृथक्शास्त्रारम्भ इति\* ॥ “अथातः सिद्धधर्मजिज्ञासे”ति वक्तव्ये ब्रह्मजिज्ञासेति ब्रह्मपदप्रयोगपूर्वक-  
शास्त्रारम्भो हि धर्मवद्विधिसम्बन्धानर्हस्वरूपविषयकत्व एव समञ्जसो भवति, अन्यथा हि ब्रह्मणोऽपि धर्मत्वे क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं  
वैव वक्तव्यम् । तत्र च क्रत्वर्थ-पुरुषार्थविशेषजिज्ञासैव ब्रह्मजिज्ञासेति नावान्तरप्रतिज्ञापि सप्रयोजना, यतः—अथातः क्रत्वर्थ-  
पुरुषार्थयोजिज्ञासे”त्यवान्तरप्रतिज्ञायैव चारितार्थ्यं भवति । सिद्धानां गोदोहनादीनां पुरुषार्थानामपि हि तत्रैव विचारो दृश्यते,  
इति न सिद्धधर्मविचारोऽपि प्रतिज्ञातव्योऽवशिष्यत इति ब्रह्मजिज्ञासाप्रतिज्ञा शास्त्रान्तरप्रसिद्धेव, न तु पूर्वतनशास्त्रस्यैवान्तर-  
प्रतिज्ञान्तरमिति हि वस्तुस्थितिः । इयं च ब्रह्मणोऽपि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकत्वे शास्त्रान्तरप्रतिज्ञावैयर्थ्यापत्त्या  
नोपपद्यते । न हि “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” इति सूत्रलक्षितेन धर्मेण सामानाधिकरण्यं संभवतीति भावः । \*ननु\* सत्यं  
धर्मजिज्ञासयैव ब्रह्मजिज्ञासाऽपि गतार्था ; तथाऽपि तत्राविचारितत्वाद् विशिष्य ब्रह्मरूपस्य धर्मस्य, बादरायणेन धर्मजिज्ञासाया  
अपौष्कल्यं दृष्ट्वा ब्रह्मजिज्ञासापि प्रारब्धेत्येव पश्यामः । सति चैवमथातो ब्रह्मजिज्ञासेति प्रतिज्ञा न ब्रह्मणोऽपि प्रतिपत्तिविधि-  
विषयतया धर्मत्वेऽपि विफलेति शङ्कायामाह—\*आरम्भमाणं चेति\* ॥ यदि धर्मविचारमपूर्णं दृष्ट्वा तत्परिपूर्णां परिशिष्टधर्म-  
विचार एवात्र विवक्षितः स्यात्, तर्हि बादरायणेन कथं धर्मपदाननुषङ्गेनैव विचारप्रतिज्ञा क्रियते । अतो ज्ञायते बादरायणो  
धर्मत्वमेव ब्रह्मणोऽत्र विचार्यस्य नास्तीति मन्यत इति । अयमाशयः—उपास्यतयैव ब्रह्मसमर्पणे वेदान्तानां तात्पर्यं हि, उपास्यस्य  
जगत्कारणस्य वाचि धेनुत्वस्यैव कल्पितत्वेऽपि शास्त्रदृष्टस्य मोक्षाख्यस्य फलस्योपासनासाध्यत्वनिर्वाहाद् ब्रह्मपारमार्थिकत्वमेव  
न सिद्धेयदिति तस्य जगत्कारणस्य प्रधानादिस्वरूपत्वनिरासोऽत्र विफलः स्यात् । उपास्यमपि ब्रह्म पारमार्थिकमेव ; फलत्वात्,  
इति कल्पना तु तदैव स्यात्, यद्युपासनासाध्योऽपि ब्रह्मभावो नित्य इति स्यात् । यथा चैतन्न संभवति, तथाऽवस्ताद्  
विवेचितमिति “तत्तु समन्वयादि”ति सूत्रमपि निरर्थकमप्येवेति ॥



जिज्ञासेति, 'अथातः कत्वर्थपुरुषार्थयोजिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवत् ।  
ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्म-  
जिज्ञासा' इति ।

### वातिकम्

सम्भवात्, संभवे वा ज्योतिष्टोमादिवाक्यानामपि तथात्वप्रसङ्गात् । ततश्च यागाद्यनुष्ठानलोप एव ।  
ज्ञानान्तरञ्च न मानसम् ; ब्रह्मणोऽतीन्द्रियत्वेन मनोऽगोचरत्वस्यासकृदुक्तत्वात्, तत्संयोगानाधार-  
त्वेन संस्कृतमनोगोचरत्वस्यापि प्रत्युक्तत्वात्, विधितस्तदयोग्यविषये तदनुष्ठानेऽपि चक्षुषा रसबुद्धिवद्  
अप्रमाणत्वेन तद्वबुद्धेरविद्यानिवर्तकत्वानुपपत्तेः । नच परम्परया शब्दप्रमाणमूलत्वेन तत्प्रामाण्यम् ;  
भावनाजनितयोषिदग्निसाक्षात्कारस्यापि परम्परया शब्दमूलत्वात् प्रामाण्यापत्तेः । विधिपरत्वेन तन्मूल-  
शब्दस्य स्वार्थे प्रामाण्यं प्रकृतेऽपि तुल्यम् । \*एतेन\*—अवान्तरवाक्याद् ब्रह्मास्तित्वावधारणम्—  
\*प्रत्युक्तम्\*—

अपिचानुष्ठानमन्तरेण शब्दप्रामाण्यात् तदवभासनमुत्पद्यत इत्यङ्गीक्रियते चेत्, तर्हि तदेवास्तु ; प्रामा-  
णिकत्वात्, अविद्यानिवर्तकत्वं तु न ; विधेयमानसप्रत्यक्षत्वात्, तन्मूलकल्पनायान्तु वकवन्धप्रयासापत्तेश्च ।  
अपरोक्षत्वं तु ब्रह्मणि शाब्दज्ञानस्य पूर्वमेवोपपादितम् । अत उपपद्यतेऽविद्यानिवर्तकत्वमित्यास्ताम् । सर्व-  
थाऽपि प्रतिपत्तिविधिवादिनो न ब्रह्मजिज्ञास्यत्वोपपत्तिः ; निष्प्रयोजनत्वोक्तेः । अतो युक्तमुक्तं भाष्ये—  
\*आरभ्यमाणञ्चैवमारभ्येत—अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति ; "अथातः कत्वर्थ-पुरुषार्थयोजिज्ञासेति"-  
वदिति\* ॥ अस्मन्मते तु स्वातन्त्र्येण वेदान्तानां ब्रह्मात्मैक्यावगतिपरत्वात् सा च पूर्वं शास्त्राद् ज्ञाता, इति  
तदर्थो युक्त एव शास्त्रारम्भः—"\*अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति\*" ॥

### भाष्यभावप्रकाशिका

क्रियाखिलन्यायनिरूपणस्य फलैक्येऽपि प्रमेयभेदादिष्टः पृथगारम्भः, इह तु प्रमेयफलभेदात् सुतरा-  
दप्रीपः

एतेन—श्रीभाष्यकाराणां ब्रह्म, पारमार्थिकम्, पुरुषार्थत्वेनाविवृतत्वात् ; स्वर्गादिवद्, इति ब्रह्मण उपास्यस्यापि  
नापारमार्थिकत्वमिति विवरणमपि—व्याख्यातम् । न हि स्वर्गादीनामपि फलानां त्रिकालाबाध्यत्वरूपं पारमार्थिकत्वं  
निरसनीयं सर्वपूर्वपक्षसंगतम् । श्रीभाष्यकारा हि—प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमिति न सङ्गतं  
वृत्तिकारीयं मतम्, ज्ञानमात्रेण पुरुषार्थसिद्धेर्ज्ञेय एव ब्रह्मणि वेदान्तानां पर्यवसानमित्यद्वैतमतम्, ब्रह्मोपासनमात्रं  
मोक्षसाधनम्, ब्रह्मपारमार्थिकता तु न विवक्षितेति मतम्, भास्करमतं चात्र पूर्वपक्षत्वेन गृहीत्वैकैकस्य मतस्य मतान्तरेण  
निरास इति क्रमेण पूर्वपक्षप्रकारान् संगृह्णन्ति । अत्र चाद्वैतमतस्यापि कयाचन प्रणाल्या निरस्यत्वं तदमितं  
न वेति विचारणायामिदं प्रतिभाति—यत् श्रीभाष्यकारा ज्ञानमात्रेण पुरुषार्थपर्यवसानमित्यद्वैतसिद्धान्तमेव स्वमिममतमपीति  
सूचयन्तोऽपि सगुणस्यैव ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं मन्यन्त इति जिज्ञासाधिकरणप्रक्रियानुसन्धानेन तदेकवाक्यतामपि प्रकृते  
मन्यन्त इति श्रीभाष्यकारनिरस्यमेवाद्वैतमपि प्रकृतस्येति । सति चैवं तन्मतरीत्या स्वर्गादीनामप्यपरमार्थत्वात् पुरुषार्थत्वेनान्वयो  
न पारमार्थिकत्वेन व्याप्त इति नोक्तसूत्रं श्रीभाष्यकारमिमत्तं विवरणमर्हति । उभयसम्प्रतिपन्नं हि निदर्शनं नाम । अयमत्र  
सारांशः—यत्, अद्वैतभाष्यकारा इव श्रीभाष्यकारा अपि मीमांसकमतम्, वृत्तिकारमतम्, भास्करमतं चैवात्र निरस्यं  
मन्यन्ते । अद्वैतमतनिरासस्तु प्रथमसूत्रार्थपर्यालोचनालभ्य एव प्रकृतेऽपि विवक्ष्यते, न तु प्रकृतसूत्रस्वारस्यमपि विशिष्टं  
मत्वाऽद्वैतमनिरासं श्रीभाष्यकारा मन्यन्ते । "शास्त्रारम्भसिद्धयर्थेण चतुःसूत्री सृषावादिमते न सङ्गच्छते" इति श्रुतप्रकाशिको-  
क्तिरपि—यद्यद्वैतमते शास्त्रारम्भार्थं न चतुःसूत्रपक्षेति मन्यते, तर्हि संमतमेवैतत् । यतः प्रथममेव सूत्रमद्वैतमत आरम्भ-  
समर्थनपरम्, न तु सूत्रचतुष्टयमपि । यदि तु शास्त्रारम्भानुपपत्तिमात्रमत्र भवता विवक्षितम्, तर्हि तु निरूप्यताम्—कथं वा  
तदनुपपत्तिरद्वैतमते इति ? यथाच प्रत्यगभिन्नं फलव्याप्यमपि वृत्तिव्याप्यं निर्विशेषचैतन्यमेव विषयः, प्रयोजनमपि तदेव,



**तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेताराणि प्रमाणानि ।**

**भामती**

केवलं सिद्धरूपत्वाद् ब्रह्मात्मैक्यस्य धर्मादन्यत्वम्, अपितु तद्विरोधादपीत्युपसंहारव्याजेनाह—\*तस्मादहं ब्रह्मास्मीति\* ॥ इतिकरणेन ज्ञानं परामृशति । विधयो हि धर्मे प्रमाणम् । ते च साध्य-साधनेति-कर्तव्यताभेदाधिष्ठाना धर्मोत्पादिनश्च तदधिष्ठाना न ब्रह्मात्मैक्ये सति प्रभवन्ति ; विरोधादित्यर्थः । न

**भाष्यभावप्रकाशिका**

मारम्भे भेदासिद्धिरित्याह—\*ब्रह्मेति\* ॥ न केवलं सिद्धरूपत्वाद् ब्रह्मात्मैक्यस्य धर्मादन्यत्वम्, अपितु तद्विरोधादपीत्युपसंहारव्याजेनाह—\*तस्मादहमिति\* ॥ इतिकरणेन ज्ञानं परामृशति । \*अद्वैत-ज्ञानस्य भेदाधिष्ठानकर्मविरोधित्वादित्यर्थः । न केवलं विधीनामियं गतिः, अपितु—सर्वेषां प्रमाणाना-मित्याह—\*सर्वाणि चेति\* ॥

**प्रदीपः**

तथा पूर्वमेव विवेचितमिति न विषय-प्रयोजनासिद्ध्या शास्त्रारम्भानुपपत्तिः । यथाचारम्भणीयत्वेऽपि शास्त्रस्य जिज्ञास्यस्य ब्रह्माणो लक्षण-प्रमाणाभ्यां निरूपणार्थम्, सिद्धस्यापि तस्य वेदान्तरूपशास्त्रवेद्यत्वं न विरुद्धमिति विवेचनार्थं च सूत्राण्यपराण्य-प्यपेक्ष्यन्तेऽद्वैतमते, तथा पूर्वमेव विवेचितम् । वस्तुतस्तु—श्रीभाष्यमत एव पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रयोनित्वसूत्रस्य वितथत्वाद् न चतुःसूत्रीसार्थक्यम् । तदेवं समन्वयसूत्रादिसार्थक्यार्थं ब्रह्माणो धर्मविलक्षणत्वं विवक्षणीयमिति पृथक् शास्त्रारम्भः—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति ब्रह्मणः प्रतिपत्तिविधिशेषत्वाभाव एवोपपद्यत इति व्याख्यातम् ॥

तदेतदभिप्रेत्याह—\*ब्रह्मात्मैक्येति\* ॥ प्रत्यगभिन्नस्वरूपचैतन्यमात्रसाक्षात्कारफलकजिज्ञासा त्वित्यर्थः । \*अप्रति-क्षातेति\* ॥ अथातो धर्मजिज्ञासेति सूत्राविषय इत्यर्थः । \*तदर्थः=विनानुष्ठानं फलसाधनब्रह्मसाक्षात्कारमात्रफलक इत्यर्थः । मतान्तरेषु तु ब्रह्मोपासनमेव मोक्षसाधनतया विवक्षितमिति न पृथक्शास्त्रारम्भः सप्रयोजनः । \*शास्त्रा-रम्भोऽथातो ब्रह्मजिज्ञासेति\* ॥ अनेन चतुःसूत्राः शास्त्रारम्भार्थत्वमतनिरासः सूच्यते । अन्यथा हि ब्रह्मलक्षणमात्रादि कथनेन जिज्ञासापदाननुषङ्गेण सूत्रत्रयं प्रवर्तमानमसङ्गतं स्यात् । विचारो हि विषय-प्रयोजनसद्भावसमर्थनैव समर्थनीयः । तच्च ब्रह्मशब्देनैव संपन्नमिति नेदन्तया ब्रह्मस्वरूपनिर्णयादिकं विचारावश्यकताव्यवस्थापनायोपयुक्तम् । निर्णीतं हि ब्रह्म न पुनर्विचारमर्हति ॥ सन्दिग्धत्वं खलु विचारव्यापकम्, न तु निर्णीतत्वम् । “जन्माद्यस्य यतः” इत्यादिकं तु “तत्तु समन्वयादि”त्यन्तं ब्रह्मस्वरूपनिर्णायकं कथं वा तत्र सन्देहमुत्पादयेदिति न चतुःसूत्राः शास्त्रारम्भार्थत्वम् । तथाहि—श्रीभाष्यमते—ब्रह्माणो जिज्ञास्यस्योपास्यत्वेन फलत्वस्याभिमत्तत्वाद् उपास्यजिज्ञासाप्रतिज्ञा “अथातो धर्मजिज्ञासे”त्यनेनैव गतार्थत्वद् वितथेति न प्रथमसूत्रमपेक्षितम् । एवं सगुणस्यैव चैतनस्य संसारि-व्यतिरिक्तस्य ब्रह्मत्वस्योरीकारात् लाघवानुगृहीतकार्यत्वहेतुकानुमानसाच्चिव्येनैव सदेवेत्यादिवाक्यार्थनिर्णयसंभवात् तत्तत्कारण-वाक्यार्थनिर्णयेन ब्रह्मस्वरूपनिर्णयसंभवाच्च “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रमपि वितथम् । उपसंहारादिन्यायाः पूर्वतन्त्र-सिद्धा एव तत्तत्कारणवाक्यगतात्मादिशब्दसामानाधिकरण्यस्यापि साधका भविष्यन्तीति शास्त्रैक्यवादिनां मते ब्रह्म-पदार्थनिर्णयार्थं पृथक्प्रयतनमेवानपेक्षितम् । अद्वैतमते तु जिज्ञास्यस्य धर्मवद् विधिशेषत्वाभावात्, अनुष्ठानापेक्षया फलसाधनत्वाभावाच्च न धर्मजिज्ञासया ब्रह्मजिज्ञासा गतार्था । एवं पूर्वोक्तप्रकारेणानुमानाविषयत्वाज्जिज्ञास्यस्य, अनुमानसाहाय्येन ब्रह्मनिर्णयासंभवात् श्रुत्यापीदन्तया ब्रह्मबोधनासंभवेन स्थूलारुन्धतीन्यायेन तदस्थलक्षणविधयैव तन्निरूपण-स्यावश्यकत्वाद् “जन्माद्यस्य यतः” इति सूत्रमप्यावश्यकमेव । शास्त्रयोनित्वसूत्रन्तु महातात्पर्येण सर्वेषां वेदानां प्रत्यग-भिन्नस्वरूपनिर्द्धारणार्थत्वबोधनार्थमपेक्षितमेवाद्वैतमते । श्रीभाष्यमते तु—त्रैदार्थत्वाद् ब्रह्माणो धर्मजिज्ञासाप्रतिज्ञयैव ब्रह्म-जिज्ञासाया अपि क्रोडीकरणाद् धर्मवत् शास्त्रयोनित्वमपि ब्रह्माणोऽर्थसिद्धमिति तन्निरपेक्षितमेव । एतेन—“तत्तु समन्वयात्” इति सूत्रमपि व्याख्यातम् । अनेन हि शास्त्रप्रमाणकत्वमेव समन्वयेन हेतुना व्यवस्थाप्यत इति मतद्वयसम्प्रतिपन्नम् । शास्त्रबोधितं हि बाधितं वाऽबाधितं वेति संशये बाधसद्भावासद्भावविचार एवावश्यकः । न हि वाचि धेनुत्वमुपास्यं कल्पित-मिति ब्रह्मणि सत्यकामत्वादिगुणजातं श्रुत्येकसमधिगम्यं बाधितमिति कल्पनाया अवसरलेशोऽपि । न हि वाचि धेनुत्वमिव



## नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति ॥

भामती

केवलं धर्मप्रमाणस्य शास्त्रस्येयं गतिः, अपितु सर्वेषां प्रमाणानामित्याह—\*सर्वाणि चैतराणि प्रमाणा-  
नीति\* ॥ कुतः ? \*नहि\* ॥ अद्वैते हि विषयविषयिभावो नास्ति । नच कर्तृत्वम् ; कार्याभावात् ।  
नच करणत्वम् एव । तदिदमुक्तम्—\*अप्रमातृकाणि च\* ॥

वार्तिकम्

\*ननु\* वेदान्तानां ब्रह्माद्वैतपरत्वे कर्मविधयो व्याकुल्येरन् ; तेषां कर्त्तादिभेदसापेक्षत्वात्, प्रत्य-  
क्षादिप्रमाणानि च ; तेषां तदुभेदगोचरत्वात्, स्वविरोधश्च ; ज्ञातृ-ज्ञेयादिभेदमपेक्ष्योपनिषत्प्रमाणस्यापि  
प्रवर्तनादिति चेत्, \*न\* ; जाग्रद्वोधात् प्राक् स्वप्रधियः प्रामाण्यवद् 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यद्वितीयब्रह्मात्मवो-  
धात्प्राग्विद्याकल्पिततदुभेदसत्त्वात् तमादाय सर्वप्रमाणानां प्रामाण्योपपत्तेः, तदुत्तरकालश्च तदप्रामाण्यस्ये-  
ष्टत्वात्, विषयाश्रययोरभावेन तेषामभावात् । नहि हेयोपादेयत्वशून्याद्वितीयब्रह्मात्मावगतौ निर्वि-  
षयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि स्थातुं प्रवर्तितुं वाऽर्हन्तीति । यथाच प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वम्,

भाष्यभावप्रकाशिका

तदेतदुपपादयति—\*नहीति\* ॥ प्रमातृ-विषययोरभावादित्यर्थः ।

प्रदीपः

सत्यकामत्वादिगुणकं ब्रह्म प्रत्यक्षादिबाधितमिति व्यर्थं ब्रह्मपारमार्थिकतासाधनार्थं "तत्तु समन्वयादि"ति सूत्रम् । समन्वयशब्दो  
हि वाक्यतात्पर्यबोधकः कथं वा ब्रह्मगतपुरुषार्थत्वान्वयमुपस्थापयेत् ? उपस्थापनेऽपि वा ब्रह्म न पारमार्थिकम्, उपास्यत्वात्,  
वाग्धेनुत्वादिवत्, इत्यनुमानेऽपुरुषार्थत्वेन सोपाधिकत्वप्रदर्शनार्थं समन्वयाधिकरणमथवा पुरुषार्थत्वेहेतुकसत्प्रतिपक्षानुमान-  
प्रदर्शनार्थमिति खलु वक्तव्यम् । इदं च वाग्धेनुत्वादिवद् ब्रह्मणोऽबाधितत्वेन बाधितत्वेन सोपाधिकत्वादेव प्रथमानुमानानव-  
सरादनपेक्षितमेव । वस्तुतस्तु—ब्रह्मणोऽपारमार्थिकत्वेऽपि तदुपासनेन तज्ज्ञानमात्रेण वा मोक्ष इति वादनिरासार्थं खलु  
समन्वयाधिकरणं श्रीभाष्यमते । तत्र चाप्रयोजनत्वाद्विचारायोगशङ्का तु नास्त्येव । एवं ब्रह्मणोऽपारमार्थिकत्वेऽपि  
सप्रयोजनत्वस्यैव साधनाद् विषयाभावाद् विचारायोगशङ्कापि नास्तीति कथं वा शास्त्रारम्भापेक्षणस्यैवासंभवे शास्त्रारम्भाधर्मत्वस्य  
सूत्रस्येति समन्वयसूत्रमपि तन्मते व्यर्थम् । अद्वैतमते तु—अवान्तरतात्पर्येण कर्मोपासनादिपरत्वेऽपि महातात्पर्येण ब्रह्मणि  
सर्वेषां वेदवाक्यानां पर्यवसानसमन्वयार्थमिदमपेक्षितमित्यादि पूर्वमेव विवेचितम् । तदेदं सर्वं मनसि निधायोपसंहरति—  
\*तस्मादिति\* ॥ तत्त्वंपदशोधितलक्ष्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मनिरूपणार्थत्वस्यैव सर्वेषु शास्त्रेषु स्वीकरणीयत्वादित्यर्थः । \*अहं ब्रह्मा-  
स्मीत्येतदवसानाः—महातात्पर्येण तत्त्वमसीतिवाक्येन वाक्यैकवाक्यतयाऽन्वयेनैव निराकाङ्क्षाः । \*सर्वे विधयः—कर्मोपासना-  
विधयः । \*एतेन\*—स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया । वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते" इति वाक्यैक-  
वाक्यतालक्षणमपि समन्वितं भवति । \*ननु\* ब्रह्मज्ञानां प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपे न तात्पर्यम्, यत उपनिषत्सु तत्पदार्थ इव  
त्वंपदार्थोऽपि तात्पर्येण कुत्रापि न प्रतिपादितः ; प्रत्यक्षसिद्धत्वाज्जीवस्य, इति कथं जीववाक्यानामभावे वाक्यैकवाक्यता ?  
अन्यथा समन्वयाध्याये सिद्धान्तविधया कथं कानिचन जीववाक्याण्यपि न विचारितानीत्याशङ्क्य, न केवलं वेदवाक्यानाम्, किन्तु  
सर्वेषां प्रमाणानां तत्त्वमसीतिमहावाक्येनैकवाक्यतेति निरूपयति—\*सर्वाणि चैतराणीति\* ॥ शाब्दबोधे हि पदोपस्थापित-  
मवान्तरवाक्योपस्थापितमिव च प्रमाणान्तरोपस्थापितमपि भासते तात्पर्यानुसारेण । तदुक्तम्—"पश्यतः श्वेतमारूपं हेयाशब्दं  
च शृण्वतः । सुरविक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः" इति । तथाच पदार्थोपस्थापनार्थमेव पदानि, न तु पदेभ्येव  
वाक्यार्थानुभाविताऽपि शक्तिरस्तीति नान्विताभिधानवादो युक्तः, किन्त्वभिहितान्वयवाद एवेति भाट्टमत एव स्वस्य विशेषतः  
समादर इति सूचनद्वारा सति संभवे व्यवहारे भाट्टनयमेव स्वादरणीयं भाष्यकाराः सूचयन्ति । तथाचाभिहितान्वयवाद-  
रीत्योपस्थापितत्वं पदार्थे प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धे तात्पर्यानुसारेण प्रत्यक्षादिप्रमाणैकवाक्यतयापि तत्त्वमसीति महावाक्यं प्रत्यगभिन्नं  
स्वरूपमुपस्थापयति । जीववाक्यानि समन्वयाध्याये प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वाज्जीवस्य, न तत्र सन्देह इति न विचारितानि ;



## पञ्चपादिका

ब्रह्मात्माभिमानिनः पूर्ववत्संसारित्वम् ; तदभिमानविरोधात् । वैषयिकस्तु साक्षादनुभवाभिमानः संसार-

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* अपरोक्षज्ञानान्मिथ्याज्ञाने निवृत्ते कुतो द्वैतदर्शनमिति ? तत्राह—\*वैषयिकस्त्विति\* ॥ \*ननु\* कर्मणामपि निवृत्तत्वात् कथं तन्निमित्तं द्वैतदर्शनम् ? \*नैष दोषः\* ; “तस्य तावदेव चिरमि”ति ज्ञानव्यतिरिक्ता-वध्यन्तरकरणात् कञ्चित्कालं शरीरेन्द्रियाद्यवस्थानकल्पनया तन्निमित्तकर्मावस्थानकल्पनात् । \*ननु\* सर्वकर्म-क्षयश्रुतेः श्रुत्यर्थापत्तिः कथमेकदेशवाधिका स्यात् ? \*अर्थापत्त्यनुदये श्रुतस्यैव बाधप्रसङ्गादिति वदामः\* । तस्मात् श्रुत्यादेरेव सामान्य-विशेषभावेन व्यवस्थेति ॥ \*ननु\* अपरोक्षज्ञानेन कृत्स्नाविद्यानिवृत्तौ कुतः कर्मणामवस्थानमिति ? \*उच्यते\* ; तत्त्वज्ञानमेव स्वकारणेभ्यो जायमानं श्रुत्यवगतारब्धकर्मावस्थान-प्रतिबन्धात्तदपेक्षितद्वैतप्रतिभासनिवर्तनपाटवशून्यमितरकर्माविद्यारागादेर्निवर्तकं चोत्पद्यते । \*ननु\* ब्रह्मात्मा-नुभव-द्वैतदर्शनयोः कुतः साहित्यमुच्यते ? \*न वयं साहित्यं ब्रूमः\* ; कदाचिदसंप्रज्ञातात्मैकत्वदर्शनं कदाचिदारब्धकर्मोपस्थापितदोषनिमित्तद्वैतदर्शनं चेति । \*ननु\* नास्त्येव सशरीरस्यापरोक्षदर्शनम् , \*ननु\*, आरब्धकर्मव्यतिरिक्तपूर्वोत्तरकर्मविनाशनिमित्तदर्शनाभ्युपगमात् । नचापरोक्षदर्शनमन्तरेण कृत्स्नकर्मविनाशः । प्रारब्धकर्मवतश्च तत्त्वदर्शनं सशरीरस्यैव संभवति । व्यासादीनां च सशरीराणामेवापरोक्षदर्शनं श्रूयते ॥

## ऋजुविवरणम्

सामर्थ्यात्प्रारब्धकदेशस्य कथं स्थितिरिति चोद्यार्थः । \*श्रुतस्यैवेति\* ॥ “तावदेव चिरमि”ति श्रुत्याऽवधिः कृतः, तद्वाधभयादिति भावः । \*कुतः कर्मणामिति\* ॥ ज्ञानस्य तन्निवर्तनसामर्थ्याविशेषात् स्थितिहेत्वज्ञानभावात्सुखादि-साधनविषयाभावेन प्रयोजनाभावादिति ॥ \*ननु\* प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तविनाशकज्ञानाभ्युपगमेऽपि तदपरोक्षमिति कथं निश्चीयते ? उपासनाप्रकर्षादिना विनिवृत्तिसंभवादित्याशङ्क्याह—\*नचापरोक्षदर्शनमिति\* ॥ भवत्वारब्ध-कर्मणि विद्यमाने ज्ञानोदयः, तथाऽपि कथं सशरीरित्वम् ? इत्याशङ्क्याह—\*प्रारब्धकर्मवतश्चेति\* ॥ एवं सामर्थ्यात् सशरीरस्यापरोक्षज्ञानं प्रसाध्य प्रमाणान्तरं दर्शयति—\*व्यासादीनाञ्चेति\* ॥ \*ननु\* कर्मसमाप्तिपर्यन्तं भेददर्शन-स्यावस्थाननियमाभावेऽपि यावद्भेददर्शनं कर्म कर्तव्यम् ; यथा देहस्याविदुषां कर्मसमाप्तिपर्यन्तमवस्थाननियमाभावेऽपि

## तत्त्वदीपनम्

हेत्वभावे फलाभावप्रसिद्धेः कथमेतदिति शङ्कते—\*नन्वपरोक्षेति\* ॥ अज्ञानविनिवृत्तावप्यारब्धकर्मलेशवशाद् द्वैतदर्शनं युज्यत इत्याह—\*तत्राहेति\* ॥ ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणी’ति शास्त्राद् ज्ञानोत्तरकालं कर्माभावप्रतिपत्तेः कथं तद-नुसारित्वं द्वैतदर्शनस्येति शङ्कते—\*ननु कर्मणामिति\* ॥ “तस्य तावदेव चिरमि”त्यत्र ज्ञानिनोऽपि विदेहकैवल्यप्राप्तौ विलम्बप्रतिपत्तेः कर्मस्थितिः, अन्यथा तदप्रामाण्यप्रसङ्गादित्याशयेनाह—\*नैष इति\* ॥ प्रत्यक्षश्रुति तदर्थोपपत्त्योः श्रुतेः प्राबल्यान्न कर्मावस्थानप्रतिपत्तिरिति शङ्कते—\*ननु सर्वेति\* ॥ अर्थापत्तिबाध्यत्वपक्षे श्रुतेरेव बाधान्न सा बाध्येत्याह—\*अर्थापत्तीति\* ॥ विरुद्धानर्थयोः श्रुत्योः प्रामाण्यानुपपत्तेः श्रुतिबाध इष्ट इत्याशङ्क्योभयोः प्रामाण्य-संभवेऽन्यतरस्याप्रामाण्यकल्पनमसाध्वित्याह—\*तस्मादिति\* ॥ अनारब्धकर्मवदारब्धकर्मणामप्यविद्याकार्यत्वात्त-न्निवृत्तौ निवृत्तिरेवेति शङ्कते—\*ननु अपरोक्षेति\* ॥ अविद्यायाः कात्स्न्येन निवृत्तिरयुक्तेत्याह—\*उच्यत इति\* ॥ संतमसबहुलालोक्योः साहित्यानुपपत्तिवदनयोरपि साहित्यस्यानुपपत्तिस्तुल्येति शङ्कते—\*ननु ब्रह्मेति\* ॥ साहित्यानुपपत्तिरिष्टेत्याह—\*उच्यत इति\* ॥ तर्हि जीवन्मुक्त्यभावः प्राप्त इत्याशङ्क्याह—\*कदाचिदिति\* ॥ \*असंप्रज्ञातेति\* ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनधिगतं निर्विशेषं ब्रह्म, तस्य प्रतीचश्चैकत्वसाक्षात्करणमित्यर्थः ॥ प्रयाणावस्थायामेव तत्त्वसाक्षात्कारसंभवान्न जीवन्मुक्त्याशेति शङ्कते—\*ननु नास्तीति\* ॥ अनेकश्रुति-स्मृतिविरोधादेतन्मतमुपेक्ष्यमित्याह—\*नारब्धेति\* ॥ दर्शनसंभवेऽपि कथमपरोक्षदर्शनमित्याशङ्क्याह—\*न



## पञ्चपादिका

विषय आरब्धकर्मशेषनिमित्तः, तिमिरनिमित्तद्विचन्द्रवत् । मनन-निदिध्यासनयोर्न ब्रह्मावगत्युत्तर-  
कालीनता, किन्तु श्रवणवदवगत्युपायतया पूर्वकालतैवेत्युक्तम् ॥

## पञ्चपादिकाविवरणम्

\*ननु\* तत्त्वदर्शिनोऽपि द्वैतदर्शनं चेत्, नियोगानुष्ठानमपि स्यात्, \*ननु\* ; निवृत्तदेशकालाधिकारकर्तृत्व-  
प्रतिपत्त्यधीनत्वादनुष्ठानस्य । तत्त्वदर्शिनस्त्वारब्धकर्मनिमित्तदोषोद्भवस्य देशकालनियमाभावात्, प्रारब्धानुष्ठान-  
परिसमाप्तिपर्यन्तमवस्थानायोगात्, पुनःपुनस्तत्त्वदर्शनेनानुष्ठितकर्मणां बाधादनुष्ठाने प्रयोजनाभावात्, प्रत्यवायस्य  
च तत्त्वदर्शनेनैव निवृत्तेः । \*ननु\* तत्त्वदर्शिनः शास्त्रनियमाभावे यथेष्टाचरणं स्यात्, \*ननु\* ; हिताहित-  
प्राप्तिपरिहारप्रार्थनानिमित्तत्वादाचरणस्य स्वात्मन्येव निरतिशयानन्दमशेषानर्थनिवृत्तिं च साक्षादनुभवतः  
साध्यपुरुषार्थप्रार्थनाभावात्कुतो यथेष्टाचरणप्रसङ्गः ? कथं तर्हि शरीरयात्रेति चेत्, आरब्धकर्मदोष-  
वशादित्युक्तम् । नचापूर्वकर्मोपचयस्याविद्यारागादिनिमित्तं संभवति ; निवृत्तत्वात्, आरब्धकर्मणां च  
स्वफलमात्रहेतुत्वात् । तस्मात्तत्त्वदर्शिनोऽपि द्वैतदर्शनाभास उपपद्यत इति ॥

\*ननु\* श्रवणज्ञानव्यतिरेकेण मनन-निदिध्यासनविधानात् साध्यान्तरमस्तीत्युक्तमिति, नेत्याह—\*मनन-  
निदिध्यासनयोश्चेति\* ॥ उक्तं च मनन-निदिध्यासनयोस्तत्त्वदर्शनहेतुत्वम्, इदानीं वर्णकद्वयोक्तमर्थमनुवदति-

## ऋजुविवरणम्

कर्मानुष्ठानम्, तद्वदित्याशङ्क्याह—\*पुनःपुनस्तत्त्वदर्शनेनेति\* ॥ \*ननु\* बाधात्प्रयोजनं नास्तीति वक्तुं न शक्यते ;  
प्रत्यवायपरिहारस्य प्रयोजनत्वात्, तस्य चानुष्ठानमात्रसाध्यत्वादित्याशङ्क्याह—\*प्रत्यवायस्येति\* ॥ \*कथं  
तर्हीति\* ॥ इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारप्रार्थनानिमित्तत्वात्प्रवृत्ति-निवृत्त्योः, विदुषश्च तदभावे प्रवृत्त्यभावाच्छरीरसंविधानं न  
स्यादित्यर्थः । प्रारब्धाक्षिसरागादिना प्रवृत्त्यादिसंविधानं चोपपद्यत इति परिहरति—\*आरब्धकर्ममिति\* ॥ \*ननु\*  
पूर्वकर्मोपचयात् पुनः शरीरग्रहणमिति संसारो नित्यकर्मानुष्ठानं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—\*नचापूर्वकर्मोपचयस्येति\* ॥  
\*ननु\* आरब्धकर्मणामेव निमित्तत्वमित्याशङ्क्याह—\*आरब्धकर्मणाञ्चेति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

चेति\* ॥ तथाऽपि कथं सशरीरस्य तत्सिद्धिरिति ? अत्राह—\*प्रारब्धेति\* ॥ अतिप्रसङ्गान्न विदुषि द्वैतदर्शनं युज्यत  
इत्याह—\*नन्विति\* ॥ विहितकर्मानुष्ठानस्य नियतदेशादिसापेक्षत्वादस्मिंश्च तदनुपपत्तेर्नैतदित्याह—\*न नियतेति\* ॥  
अधिकरोतीत्यधिकारः स्वामी । ततः किमिति ? अत आह—\*तत्त्वदर्शिन इति\* ॥ फलाभावादनपेतस्य कर्मानुष्ठान-  
मित्याह—\*पुनः पुनरिति\* ॥ विहितकर्माकरणनियतप्रत्यवायपरिहारार्थं तदनुष्ठानमित्याशङ्क्याह—\*प्रत्यवायस्येति\* ॥  
यथेष्टचेष्टानिवृत्त्यर्थस्तस्य शास्त्रीयो नियम एष्टव्य इत्याशङ्कते—\*नन्विति\* ॥ चेष्टा तावद्वागाधीने प्रसिद्धा, सकलानन्दै-  
कनीडं ब्रह्माऽऽत्मत्वेनानुभवतः कथं क्षुद्राभिलाषोद्भवः ? इत्याह—\*न हितेति\* ॥ तर्हि अशनायादिप्रवृत्त्यसंभवात्सद्यः  
शरीरपातः स्यादित्याह—\*कथमिति\* ॥ अन्यथासिद्धयोत्तरमाह—\*आरब्धेति\* ॥ नचैवं कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकं  
स्यादित्यपि वाच्यमित्याह—\*न चेति\* ॥ न चारब्धफलकर्माण्येव तद्धेतूनीत्यपि वाच्यमित्याह—\*आरब्धेति\* ॥

श्रवणोत्तरकालं मननादिविधानानुपपत्त्या विदुषोऽपि साध्यान्तरमस्तीत्युक्तमनुवदति—\*ननु श्रवणेति\* ॥  
तयोः साक्षात्कारार्थत्वान्न तदुत्तरकालं साध्यान्तरसंभव इत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ साक्षात्कारस्य शब्दकरणत्वात् कथं  
तत्फलत्वम् ? इत्याशङ्क्यासंभावनादिप्रतिबन्धनिरासद्वारा तयोरुपयोग इति समर्थितमित्याह—\*उक्तमिति\* ॥ “एवं

## प्रदीपः

अन्यथा ब्रह्मपरेष्वपि कथमपराणि वाक्यानि समन्वाध्यायादौ न विचारितानीति शङ्का दुष्परिहरा समापयेत् ।  
तदयं निष्कर्षः—अध्यारोपापवादन्यायेन सर्वेषां प्रमाणानां प्रत्यगभिन्नस्वरूपपरत्वम् । तत्राध्यारोपमादाय सगुणवाक्या-  
नीश्वरपराणि प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि जीवपराणि, “तत्त्वमसी”ति महावाक्यन्त्वपवादेन चैतन्यमात्रपरमिति सर्वेषां  
प्रमाणानां तद्वैव पर्यवसानमिति । अवान्तरवाक्यबोधितत्वेऽपि तु गुणानां न पारमाथिकत्वम् ; अपच्छेदन्यायात्, इति न



## पञ्चपादिका

तदेवं सिद्धस्य वस्तुनः स्वरूपसत्तामात्रेणाप्रतिपन्नस्य प्रमाणविषयतया प्रमेयत्वाद्विधीयमानक्रिया-  
कर्मत्वे तु कारकत्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धयपेक्षत्वात्ततः सिद्धयनुपपत्तेर्वाक्यभेदप्रसङ्गात्प्रत्यक्षादिविरोधे  
देवताधिकरणन्यायासिद्धेर्वाक्यान्तरसिद्धस्य कर्मकारकत्वे चतुर्विधस्यापि कर्मकार्यस्य तत्रासम्भवात्,  
तत्कर्मकोपासनाद्देवताकर्मयागादिवत्त्वगोपमो मोक्षः फलं कल्प्येत ; तस्य तद्वदेवानित्यत्वप्रसङ्गात्, “ब्रह्म  
वेद ब्रह्मैव भवती”त्यादिभ्यो ब्रह्मवेदन-मोक्षफलयोर्निरन्तरत्वप्रतिपादकेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थादन्तराले क्रियानु-  
प्रवेशनिराकरणात्, “तरति शोकमात्मविदि”त्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रस्यैवात्मज्ञानफलस्य  
दर्शितत्वात्, साध्यान्तराभावे क्रियानुपपत्तेर्ब्रह्मात्मावगमस्य च मुख्यैक्याधिकरणस्य संपदादिविद्विकल्पना-  
नुपपत्तेः, प्रमाणजन्याया अपि विदिक्रियायाः कर्मत्वनिषेधाद्विधीयमानोपास्तिक्रियाविषयत्वस्य दूरनिरस्त-  
त्वाद् विदिक्रियाविषयत्वेऽपि समारोपितनिवर्तनमुखेन नित्यसिद्धचैतन्यस्य ब्रह्मस्वरूपतासमर्पणाद् वाक्य-  
विषयत्वोपपत्तेः, सत्यपि वा विदिक्रियाकर्मत्वे तस्य च विध्यनायत्तत्वाद्विधिच्छायाणां संस्तावकत्वेनाहार्य-  
त्वात् संसारनिवृत्तेश्च ज्ञानफलस्य दृष्टत्वात् । अतो विधिनिरपेक्षं स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकम् ;  
वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम् ॥

एवंच सति पदानां परस्परसमन्वयजनितविज्ञानातिरेकेण चक्षुरादिवत्प्रवर्तकत्वस्याभावात्  
तद्विषयः शास्त्रारम्भः पृथगुपपद्यते ; अन्यथाऽत्रापि बोधकत्वातिरेकेण प्रवर्तकत्वमपि चेत्, “अथातो  
धर्मजिज्ञासे”त्येवारब्धत्वान्न पृथगारभ्येत । अथाप्यवहिःसाधनत्वात्ततः परिशेषितमिति, तथाप्यथातः  
परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति प्रतिज्ञा स्यात् ; प्रवर्तकविशेषजिज्ञासनात् । तदेवं ब्रह्मावगमात् प्रागेव विधि-  
विधेय-प्रमाण-प्रमेयव्यवहारः । परतस्तु प्रमातुर्विधिविषयस्य चाभावान्न तत्सद्भाव इति ।

## पञ्चपादिकाविवरणम्

—\*तदेवं सिद्धस्य वस्तुन इत्यारभ्य—अतो विधिनिरपेक्षं स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादि-  
त्यन्तेन ग्रन्थेन\* ॥ अपिच विधिनिरपेक्षभूतवस्तुप्रतिपादने शास्त्रारम्भभेदसिद्धिरित्याह—\*एवं च सति पदाना-  
मिति\* ॥ \*ननु\* प्रवर्तकविशेष एव पृथक्शास्त्रारम्भनिमित्तमिति, नेत्याह—\*अन्यथात्रेति\* ॥ \*ननु\* अन्यदेव  
भेदकमस्ति, शरीरेन्द्रियनिर्वर्त्या विधिभेदाः कर्मकाण्डे निरूपिताः, इह तु केवलमानससाध्यो विधिर्निरूप्यत  
इति, तदाह—\*अथाप्यवहिःसाधन इति\* ॥ दूषयति—\*तथाप्यथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति\* ॥ अधिकरणार्थ-

## ऋजुविवरणम्

\*तदेवमिति\* ॥ अनेनैतदुक्तम्—ब्रह्मावगमोत्तरकाले न व्यवहारः संभवति ; प्रमातुर्विषयस्य चाभावादित्युक्तम् ।  
नहि ब्रह्मावगममात्रेण किञ्चिन्नवर्तते, नापि प्रमातुरभावः, नित्यत्वात्तस्य, तन्नाशे वा ज्ञाने प्रवृत्तिरेव न स्यात् ;

## तत्त्वदीपनम्

चे”त्यत्र चशब्दं हेत्वन्तरपरतया व्याचष्टे—\*अपि चेन्न\* ॥ वेदान्तानां विधिनिष्ठत्वेऽपि शास्त्रारम्भः सिद्धयतीति  
गूढाभिसन्धिः शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ भूतव्यावृत्तं प्रवर्तकं प्रवर्तकविशेषशब्दार्थः ? आहो केवलमानससाध्यम् ? इति  
विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*नेत्याहेति\* ॥ गूढाभिसन्धिं विवृणोति—\*नन्वन्यदिति\* ॥

## प्रदीपः

दोषलेशोऽपीत्याह—\*नह्यहेयानुपादेयेति\* ॥ \*ननु\* प्रमाणत्वाविशेषात् कथं प्रत्यक्षादिसिद्धमपि न पारमार्थिकं स्वरूपमित्या-  
शङ्क्याह—\*निर्विषयाणीति—प्रमाणानीति च\* ॥ प्रमाणं द्विविधम्—व्यावहारिकतत्त्वावेदकं पारमार्थिकतत्त्वावेदकं च ।  
आद्यं घटादिप्रत्यक्षस्य, द्वितीयन्तु ब्रह्मसाक्षात्कारस्य । आद्यं ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमेव । अनन्तरन्तु ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य  
बाधितत्वान्न प्रमाणमिति व्यवहारकालाबाधितविषयकत्वेन प्रत्यक्षादेस्तत्त्वमस्यादिवाक्यानामविशेषेऽपि त्रिकालाबाधितार्थ-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

मुपसंहरति—\*तदेवं ब्रह्मात्मावगमात्प्रागिति\*॥ ब्रह्मात्मापरोक्षदर्शनादुत्तरकालमन्तःकरणसंनिष्ठतत्प्रमातृयाधात्, प्रमेयसम्बन्धासिद्धेर्निवर्तत एव प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-कर्तृ-कर्म-कार्य-भोक्तृ-भोगलक्षणो व्यवहार इति ॥

\*ननु\* भेदाभेदरूपत्वान्नद्वैतदर्शनेन द्वैतदर्शनबाधः, \*न तर्हि देहात्मभावः सुखदुःखादिरपि बाध्येत\* ; भेदाभेदरूपत्वात् । भेदाभेद इति च स्ववचनविरोधः ; पूर्वपक्ष-सिद्धान्तनियमाभावश्च ; सर्वसाङ्कर्यात् । \*ननु\* तवाप्यद्वैते सर्वसाङ्कर्यं समानम्, \*न\* ; प्रपञ्चस्य यथादर्शनमेव भेदेन व्यवस्थितत्वात्, ब्रह्मण एवाद्वितीयत्वात् । \*ननु\* दृश्यते भिन्नाभिन्नं वस्तु प्रत्यक्षेण, \*किं तत् प्रत्यक्षम्\* ? न तावत् खण्डो गौरिति भिन्नाभिन्नविषयं प्रत्यक्षम् ; तथा प्रतिभासाभावात् । \*ननु\* इतरेतरात्मनैवाभेदः प्रतिभासते, \*तर्हि तरेतरानात्मना भेदोऽप्यवभासेत\* । \*ननु\* रूपभेदेन भेदोऽवभासते \*तर्हि\* रूपैक्यादभेदो वक्तव्यः । अथेतरेतरात्मत्वाद-

## ऋजुविवरणम्

एवं विषयस्यापि नाशो नोपपद्यते ; तथा विषेय-प्रमाण-प्रमेयव्यवहारस्य स्वरूपेण निवृत्तौ तावन्मात्रनिवृत्तौ वा न कारणमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—\*ब्रह्मात्मापरोक्षदर्शनादिति\* ॥

\*ननु भेदाभेदिति\* ॥ अत्यन्ताभेदे तद्दर्शनेन भेददर्शनस्य निवृत्तिविरोधो भवेत्, नात्र विरोध इति भावः । \*ननु\* भेदादेर्न भेदरूपत्वाद् बाधः, अपितु शास्त्रेण विरोधप्रतीतिर्देहात्मभक्तमणोऽज्ञानस्य च संसारासंसारहेतुत्वे भिन्नफलत्वेन विरोधादस्मत्पक्षे निवृत्तिरुपपद्यत इति, तत्राह—\*भेदाभेद इतीति\* ॥ \*ननु\* न स्ववचनविरोधः, परस्परपदभेदे त्वभावादित्याशङ्क्याह—\*पूर्वपक्षसिद्धान्तेति\* ॥ \*ननु तवापीति\* ॥ बन्धमोक्षादिः सर्वो विरुद्धो भिन्नाधिकरणसाकाङ्क्षो भेदाभेदाभावे नैकस्मिन्नेव संभवेदित्यर्थः । \*ननु दृश्यत इति\* ॥ भेदाभेदप्रतीतेर्नापलापः कर्तुं शक्यते, व्यवस्था च दृश्यते, अतो न साङ्कर्यादिदूषणमिति भावः । तथा प्रतिपत्त्यभावादिति\* ॥ भिन्नाभिन्नोऽयमिति प्रतीत्यभावादित्यर्थः । \*मा भूदभिन्न इति शब्दप्रयोगस्तथाव्यर्थस्तावदभेदरूपः प्रतीयत एवेति चोदयति—\*नन्वितरेतरेति\* ॥ \*तर्हि\* ॥ अभेदोपमर्देनैव भेदप्रतीतावभावावो भेदाभावो वा भवेत्, नतुभयमित्यर्थः ॥ \*ननु रूपभेदेनेति\* ॥ तेन नाभेदोपमर्दे रूपत्वमित्यर्थः ॥ \*तर्हि\* ॥ अभेदशब्देन तदभावस्तद्विरोधी वा वक्तव्यः ; अन्यमात्रे भेदाभेदाद्भेदसिद्धेः, चैकस्मिन् ज्ञाने सति भवतीति भावः । \*अथेतरेतरेति\* ॥ अभावस्तद्विरोधी वा भेदशब्दवाच्यो न भवति, किन्त्वन्यवाची ; तत्रापि नान्यमात्रम्, अपि तु परस्परात्मत्वमित्यर्थः ।

## तत्त्वदीपनम्

ब्रह्मज्ञानोत्तरकालमपि लौकिकवैदिकव्यवहारदर्शनावगमात्प्रागेवेति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—\*ब्रह्मेति\* ॥ अद्वैतबोधोत्तरकालं द्वैतबोधनिवृत्तिरित्युक्तम्, तदाक्षिपति—\*नन्विति\* ॥ अतिप्रसक्तैर्नैतदित्याह—\*न तर्हि\* ॥ घटभावाभाववद् भेदाभेदयोरपि विरुद्धत्वान्नैकत्र समावेश इत्याह—\*भेदाभेद इति\* ॥ अतिप्रसक्तश्चन्तरमाह—\*पूर्वपक्षेति\* ॥ ब्रह्मातिरिक्तवस्त्वभावात्त्वन्मतेऽपि साङ्कर्यं स्यादित्याह—\*नन्विति\* ॥ प्रातीतिकभेदभावात् नन्मते साङ्कर्यमित्याह—\*न प्रपञ्चस्येति\* ॥ न तर्ह्यद्वैतगीः, तत्राह—\*ब्रह्मण इति\* ॥ अद्वैतं तात्त्विकम्, द्वैतं तु समारोपितमिति न विरोधः । भेदाभेदयोः प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानत्वाज्ज्ञानानां स्वतः प्रामाण्याच्च तत्त्वत एव भेदाभेदाविति शङ्कते—\*नन्विति\* ॥ तर्हि प्रत्यक्षमेव विवेचयेत्याह—\*किं तदिति\* ॥ किं “खण्डो गौरि”त्येकस्मात्प्रत्ययात्तत्सिद्धिः ? उत ‘खण्डो गौः’ ‘मुण्डो गौरि’ति द्वान्याम्, अथवा ‘खण्डो गौः’ ‘मुण्डो गौः’ ‘स एवायं गौरि’ति ज्ञानत्रयेणेति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—\*न तावदिति\* ॥ अनुवृत्त-व्यावृत्तरूपेण तयोर्भेदप्रथावदभेदोऽपि प्रथत इत्याह—\*नन्विति\* ॥ अवधारणस्य प्रतिभासत इत्यनेन संबन्धः । अभेदस्येतरेतरात्मत्वे भेदस्येतरेतरानात्मत्वं वक्तव्यम्, न च तद्युज्यते, विरोधादित्यभिसन्धायह—\*तर्हि\* ॥ इतरेतरात्मत्वेनाभिन्नता, अनुवृत्त-व्यावृत्ततालक्षणरूपभेदेन भिन्नता, ततो न विरोध इत्याशयेनाह—\*नन्विति\* ॥ भेदाभेदयोः परस्परप्रतिस्पर्द्धित्वेन भावत्वाभावत्ववद् रूपभेदेन भेदत्वं तद्विपरीतरूपैक्यादभेद इति वक्तव्यम्, तथाच न त्वदिष्टसिद्धिरित्याह—\*तर्हि\* ॥ रूपभेदैक्ययोरविरुद्धत्वान्मैवमित्याह—\*अथेति\* ॥ अभेदस्येतरेतरात्मताय । कचिदप्यनुपलब्धत्वान्मैवमित्याह—\*क दृष्टमिति\* ॥



## पञ्चपादिकाविवरणम्

भेदः, रूपभेदाद् भेद इति, \*क दृष्टमितरेतरात्मत्वमभेद इति\* ? न तावदेको घट इत्यत्र दृश्यते । तस्मात्खण्डो गौरिति न भेदाभेदावभासः ॥

\*स्यादेतत्\*—खण्डो गौरिति प्रत्ययाभ्यां भेदाभेदावभास इति, \*न\* ; ज्ञानयोः संभूय प्रमापकत्वाभावात्, प्रत्यभिज्ञामन्तरेणैकस्योभयसम्बन्धासिद्धेः । तर्हि प्रत्ययत्रयेणार्थाद् भेदाभेदसिद्धिरिति, प्रत्यक्षं तावत् पराहतम् । खण्डस्य गोश्च तदुभयालम्बनपिण्डस्य च त्रयाणां प्रत्यक्षेऽवभासनात्सामानाधिकरण्यस्य च तदुभयाश्रयपिण्डालम्बनत्वात् । न चार्थापत्तिरपि ; ‘ह्रस्वोऽकारः’ ‘दीर्घोऽकारः’ ‘स एवायमकारः’ इति प्रत्ययत्रयेणापि भेदाभेदासिद्धेर्भ्रान्तिमात्रत्वोपगमात् । तस्मान्न भिन्नाभिन्नं वस्तु । नाप्यात्मनि भेदः प्रमातुं शक्यः ; विवादगोचरापन्नाः, स्थावर-जङ्गमशरीरव्यक्तयः, प्रतिवादिशरीरव्यक्त्यात्मनैवात्मवत्यः, शरीरव्यक्तित्वात् ; प्रतिवादिशरीरव्यक्तिवदित्येकात्मत्वानुमानात् ; युगपज्जनन-मरणादिविरुद्धधर्माश्रयत्वादग्न्युदकादिवद्धर्मिभेदोऽनुमीयत इति चेत्, न ; शरीराश्रयतया व्यधिकरणासिद्धत्वात् । प्रतिशरीरं सुखदुःखाद्यनुभवाननुभवानुसन्धानाननुसन्धानैर्द्रष्टृभेदैः कल्पयत इति चेत्, न ; शरीरभेदे सत्येकस्याप्यात्मनो जन्मान्तरीया-

## ऋजुविवरणम्

\*ननु\* समासेऽर्थत्रयं संभवति प्रसिद्धम्, अत्र तु तदतिरिक्तः कथं वाच्यत्वेन निश्चीयत इति प्रश्नार्थः । तत्र संप्रतिपत्ते वस्तुन्येकस्मिन्नेवमभेद इत्याशङ्क्याह—\*न तावदेक इति\* ॥

\*स्यादेतदिति\* ॥ प्रत्ययद्वयेन खण्ड-मुण्डाभ्यामेकस्य गोस्तादात्म्यप्रतीतिश्च भेदाभेदसिद्धिरिति भावः ॥ सा भूत् संभूय प्रमापकत्वम् ; तथाप्येकस्य गोरेकेन ज्ञानेन खण्डात्मकत्वमपरेण मुण्डात्मकत्वमिति भेदाभेदासिद्धिरित्याशङ्क्याह—\*प्रत्यभिज्ञामन्तरेणेति\* ॥ \*प्रत्ययत्रयेणेति\* ॥ खण्डो गौः, मुण्डो गौः, स एवायं गौरिति प्रत्ययत्रयमित्यर्थः ॥ किं प्रत्ययत्रयेण ? प्रतीतिसामर्थ्याद्वेति विकल्प्य प्रथमपक्षे दूषणमाह—\*प्रत्यक्षं तावदिति\* ॥ न द्वितीय इत्याह—\*नचार्थापत्तिरिति\* ॥ \*ननु\* तत्रापि न भेद इति, तत्राह—\*अन्तिमात्रेति\* ॥ सर्वत्र भेदं निराकृत्य, इदानीं जीवभेदं निराकर्तुमाह—\*नाप्यात्मनि भेद इति\* ॥ प्रत्यनुमानविरुद्धमिति चोदयति—\*युगपज्जननेति\* ॥ \*ननु\* जन्मान्तरे न शरीरभेदे शरीरभेदादननुसन्धानम् ; स्तन्यपानादिप्रवृत्तिदर्शनात्, अपि तु मरणेन निःशेषं संस्काराणां

## तत्त्वदीपनम्

घट-पटादित्यत्र भेद एव प्रथते, एको घट इत्यत्र त्वभेदो भासते, न त्वितरेतरात्मत्वमित्याह—\*न तावदिति\* ॥ द्वितीयं कल्पमुत्थापयति—\*स्यादिति\* ॥ एकस्मिन् क्षण उभयोर्ज्ञानयोः स्थित्यनुपपत्तेर्नैतदपि साध्वित्याह—\*न ज्ञानयोरिति\* ॥ ‘कथं तर्हि सोऽयं देवदत्तः’ इत्यादावैक्यम् ? इत्याशङ्क्य ‘सः’ ‘अयमि’ति ज्ञानद्वयमैक्यग्राहि नेष्यते, किं त्वेकं प्रत्यभिज्ञाव्यमित्यभिप्रायेणाह—\*प्रत्यभिज्ञामिति\* ॥ प्रत्ययत्रयं भेदाभेदसाधकमिति कल्पमुत्थापयति—\*तर्हि प्रत्ययेति\* ॥ \*अर्थादिति\* ॥ निरालम्बनत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । किं प्रत्ययत्रयं साक्षाद्भेदाभेदसाधनम् ? उतानुपपत्त्या सह कृतम् ? नाद्य इत्याह—\*प्रत्यक्षमिति\* ॥ तत्र हेतुः—\*खण्डस्येति\* ॥ सामानाधिकरण्यं तदग्राहीत्यत्राह—\*सामानाधिकरण्यस्येति\* ॥ द्वितीयं निरस्यति—\*नचेति\* ॥ एवं सर्वं भिन्नाभिन्नमिति मतं निराकृत्यात्मानो बहव इति वैशेषिकादिमतं निरस्यति—\*नापीति\* ॥ किं प्रत्यक्षेण तद्भेदो गृह्यते ? उत लिङ्गेन ? अथवाऽनुपपत्त्या ? नाद्यः ; आत्मनः प्रत्यक्षागोचरत्वेन तदघटितभेदस्यापि मानागोचरत्वादित्यर्थः । उक्ततर्कस्य विपर्ययापर्यवसायित्वशङ्कां निराकर्तुमभेदे प्रमाणमाह—\*विवादेति\* ॥ भागे सिद्धसाध्यत्वं निराकर्तुं विवादेति विशेषणम् । आत्मवत्त्वमात्रे सिद्धसाध्यत्वम्, तदर्थम्—“प्रतिवादीति” विशेषणम् । शरीरविशेषत्वादित्यर्थः । तदनेन जीवच्छरीरत्वादित्युक्तं भवति । द्वितीयमुत्थापयति—\*युगपदिति\* ॥ आत्मनो जात्यादिविधुरतायाः श्रुत्यादिसिद्धत्वादभासमानस्य जात्यादेश्च गात्राश्रयत्वादव्यधिकरणासिद्धत्वमित्याह—\*न शरीरेति\* ॥

## वार्तिकम्

तथाऽऽवेदितमभ्यासभाष्ये । भेदमिथ्यात्वञ्च—“तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः” इत्यत्र सम्यग् निवे-



## पञ्चपादिकाविवरणम्

ननुसन्धानादिदर्शनात्, सत्यप्येकत्वे प्रतिविम्बभेदेषु वर्णसंकरादर्शनात् । नच जीव-ब्रह्मभेदोऽपि प्रत्यक्ष-सिद्धः ; विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् भेदानुमाने विम्बप्रतिविम्बयोरनैकान्तिकत्वात् । नियन्तृ-नियन्तव्येशितीशितव्य-द्रष्टृ-दृश्यादीनां भेदलिङ्गत्वाजीवब्रह्मभेद इति चेत्, न ; “नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे”त्यादिश्रुत्यैव भेदप्रतिषेधे लिङ्गाद् भेदानुमितेरयोगात्, अतुल्यप्रमाणत्वाच्च भेदाभेदकल्पनायोगात् । “द्वा सुपर्णा” इति द्वित्वसंख्या श्रूयत इति चेत्, न ; “यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः” इत्येकत्वसंख्याश्रवणाद् भ्रान्तिसिद्धद्वित्वानुवादादेकत्वम् ; नानात्वे प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षेण भेदग्रहणे भेदस्य धर्मिप्रतियोगिकत्वव्यवस्थापेक्षत्वात् तद्व्यवस्थायाश्च भेदापेक्षत्वादितरेतराश्रयत्वात् । तस्मान्न भेदाभेदौ, इत्यद्वैतदर्शनेन द्वैतदर्शनबाधः । प्रत्यक्षभ्रमस्य चाप्तवचनेन बाधदर्शनात्फलवचनानां च वर्तमानापदेशितया योग्यानुपलब्धिविरोधाद् दृष्टद्वारेण बन्धनिवृत्तिरेव मोक्ष इति ॥

## श्रुतिविवरणम्

निवर्तितत्वादनुसन्धानाभावः, न तथेह व्यवस्थाकारणम् ; अत एकत्वेऽव्यवस्थैव स्यादित्याशङ्क्याह—\*सत्यप्येकत्व इति\* ॥ “एकत्वादि”त्यनेनानैकान्तिकत्वमुक्तम् ; विम्ब-प्रतिविम्बधर्मवदुपाधिभेदेन व्यवस्थेति भावः ॥ भवतु जीव-ब्रह्म-गोरभेदः, तथाऽपि प्रामाणिकोऽङ्गीकर्तव्य इत्याशङ्क्येदानीं जीव-ब्रह्मभेदेन प्रमाणमित्याह—\*नच जीव-ब्रह्मभेद इति\* ॥

\*ननु\* श्रुत्याऽभेदः प्रतीयते, लिङ्गाद्भेदः, इति प्रमाणद्वयसामर्थ्याद्भेदाङ्गीकारो युक्तः, नान्यतरस्य बाधः ; प्रमाणाविशेषादित्याशङ्क्याह—\*अतुल्यप्रमाणत्वादिति\* ॥ \*ननु\* न लिङ्गाद्भेदः, अपि तु श्रुत्यैवेति चोदयति—\*द्वा सुपर्णौति\* ॥ \*ननु\* भेदस्यापि श्रुतिसिद्धत्वेन समप्रमाणत्वे भिन्नाभिन्नात्मकत्वमित्याशङ्क्याह—\*भ्रान्तिसिद्धद्वित्वानुवादादिति\* ॥ \*ननु\* अनुवादेऽपि भ्रान्तिसिद्धस्यानुवाद इति कथं निश्चीयते ? इत्याशङ्क्याह—\*एकत्वम् ; नानात्वेति\* ॥ मा भूच्छब्दस्य प्रमाणत्वम्, प्रत्यक्षमेव प्रमाणमित्याशङ्क्याह—\*प्रत्यक्षेणेति\* ॥ \*ननु\* भवतु सर्वभेदमिथ्यात्वम्, तथाऽपि नाद्वैतदर्शनेन बाधस्संभवति ; अपरोक्षभ्रमस्य शाब्दज्ञानेन निवृत्त्यदर्शनादित्याशङ्क्याह—\*प्रत्यक्षभ्रमस्येति\* ॥ \*ननु\* फलवचनसामर्थ्यादेव मोक्षे बन्धनिवृत्तिरूपे ब्रह्मप्राप्तिरूपे वा संभवति सति, किं मिथ्यात्वनिवृत्तिसिद्धये साध्यते ? इत्याशङ्क्याह—\*फलवचनानामिति\* ॥

## तत्त्वदीपनम्

औपाधिकभेदाद् व्यवस्थेत्थन्न दृष्टान्तान्तरमाह—\*सत्यपीति\* ॥ एवमात्मनामितरेतरभेदं निराकृत्यात्म-ब्रह्मणोभेदं निराचष्टे—\*न चेति\* ॥ तयोः प्रत्यक्षागोचरत्वात् तद्वद्विभेदोऽपि न प्रत्यक्ष इति द्रष्टव्यम् । विमते, भिन्ने, विरुद्ध-धर्माधिकरणत्वात् ; दहन-तुहिनवदित्याशङ्क्य, किं काल्पनिकधर्माश्रयत्वं हेतुः ? उत वास्तवधर्माधिकरणत्वम् ? नाद्य इत्याह—\*विरुद्धेति\* ॥ द्वितीयमुत्थापयति—\*नियन्त्रिति\* ॥ श्रुतिविरोध इत्याह—\*नान्योऽत इति ॥ नचोभयो-रनुग्रहार्थं प्रत्यग्ब्रह्मणोभेदाभेदावास्थेयावित्यपि वाच्यमित्याह—\*अतुल्येति\* ॥ भेदोऽपि श्रौत इति शङ्कते—\*द्वा सुपर्णेति\* ॥ बलवदभेदवचनविरोधे तद्विपरीतभेदवचनमन्यथा नेयमित्याह—\*नेति\* ॥ इतोऽपि न तस्य भेदे प्रामाण्य-मित्याह—\*भ्रान्तीति\* ॥ अज्ञातार्थाधिगन्तृप्रमाणम्, भेदश्च ज्ञातः, इति न तत्र प्रामाण्यमित्यर्थः । प्रमाणशब्दश्च भावपरः ॥ नानात्वे प्रमाणत्वाभावादिति वक्तव्ये एकत्वग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । भ्रान्तिसिद्धत्वमुपपादयति—\*प्रत्यक्षेणेति\* ॥ भेदस्य समारोपितत्वादपि न तत्त्वतो भेदाभेदावित्याह—\*तस्मादिति\* ॥ भेदस्य काल्पनिकत्वसमर्थन-फलमाह—\*इतीति\* ॥ उपजीव्यद्वैतदर्शनस्योपजीवकेन श्रौतज्ञानेन कथं बाधः ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—\*प्रत्यक्षेति\* ॥ “हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते” इत्यादिश्रुतिबलात् कर्मणैव मोक्ष इति शङ्कां निरस्यति—\*फलेति\* ॥ ब्रह्मज्ञानोत्तर-

## वार्तिकम्

द्वयिष्यते । तस्माद् “अहं ब्रह्मास्मी”ति ब्रह्मात्मैक्यावगतिपर्यन्त एव सर्वेषां विधीनां तदितरप्रमाणानाञ्च व्यापारः, न तदुत्तरकालमपि ; आत्मन्यविद्याकल्पितप्रमातृत्वादिनवविधसंसारस्य स्वोदयसमय एव नाशादिति । अपिचादुरस्मिन्नर्थे सम्प्रदायविदो गौडपादाचार्याः—



अपिचाहुः—“गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।

भामती

अत्रैव ब्रह्मविदां गाथामुदाहरति—\*अपिचाहुरिति\*॥ पुत्र-दारादिष्वात्माभिमानो गौणः । यथा दुःखेन दुःखी यथा च स्वसुखेन सुखी तथा पुत्रादिगतेनापीति सोऽयं गुणः । नत्वेकत्वाभिमानः ; भेदस्यानुभवसिद्धत्वात् । तस्माद् गौर्वाहीक इतिवद् गौणः । देहेन्द्रियादिषु त्वभेदानुभवान्न गौण आत्माभिमानः, किन्तु शुक्तौ रजतज्ञानवन्मिथ्या । तदेवं द्विविधोऽयमात्माभिमानो लोकयात्रां वहति । तदसत्त्वे तु न लोकयात्रा, नापि ब्रह्मात्मैकत्वानुभवः ; तदुपायस्य श्रवण-मननादेरभावात् । तदिदमाह—\*पुत्रदेहादिबाधनात्\* ॥ गौणात्मनोऽसत्त्वे पुत्रकलत्रादिबाधनम् । ममकाराभाव इति यावत् ।

पञ्चपादिका

\*अपिचाहुरिति\* ॥ प्रसिद्धमेतद् ब्रह्मविदामिति पूर्वोक्तं न्याय्यं संक्षेपतः श्लोकैः संगृह्णाति \*गौणमिथ्यात्मन इति\* ॥ गौणोऽहंमानो ममत्वेन सम्बन्धात्पुत्रदारादौ । अतः स गौण आत्मा । मिथ्यादेहादेरभ्याहङ्कर्तुरिदमंशपर्यन्तोऽहंमानो नात्मन्यात्माभिमानात् ; अतः स मिथ्यात्मा । तस्योभय-

पञ्चपादिकाविवरणम्

अपिचाहुरिति श्लोकत्रयस्य तात्पर्यमाह—\*गौणमिथ्यात्मन इत्यादिना\* ॥ श्लोकं व्याचष्टे—\*तदेतद्

वार्तिकम्

“गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।

सद्ब्रह्माऽहमित्येवंबोधे कार्यं कथं भवेत् ॥

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।

अन्विष्टः स्यात् प्रमातृत्वं पाप्मदोषादिवर्जितः ॥

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।

लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥” इति ।

गौण आत्मा पुत्रकलत्रादिः ; प्रसिद्धभेदे तस्मिन् पुत्रादौ विकले सकले वाऽहमेव विकलस्सकला

भाष्यभावप्रकाशिका

उक्तन्यायमभियुक्तोक्तिभिः संगृह्णाति—\*अपिचाहुरिति\*॥ प्रसिद्धभेदत्वाद् गौणोऽहंभावः पुत्रादौ,

अतः स गौणात्मा, देहादावप्रसिद्धभेदेऽहंभावो मिथ्या ; अनात्मन्यात्माभिमानत्वात्, अतः स मिथ्यात्मा ;

तयोर्मुख्यपरमार्थात्मावगमे तदाधारपुत्रदेहादिबाधनादसत्त्वे तन्निमित्तं नियोज्यत्वं न भवतीत्यर्थः ।

तत्त्वज्ञानात्प्रागेव कर्तव्यशेषानुवृत्तिः, नोत्तरकालमित्येतत्कथमित्याशङ्क्य, तत्त्वज्ञानस्य प्रमातृत्वादिनि-

प्रदीपः

विषयकत्वेन तत्त्वमसिवाक्यादेर्विशेषाद् न तत्त्वमसिवाक्यदृष्टान्तेन प्रत्यक्षादीनां त्रिकालाबाधितविषयत्वम्, न वा प्रत्यक्षादिदृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्यानां व्यवहारकालमात्राबाधितविषयकत्वमिति न कोऽपि दोष इति भावः । तस्मिन् विशेषे निगूढमभिप्रेतमेव पूर्वाचार्यकारिकोपष्टम्भेन विशदयति—\*अपिचाहुरिति\* ॥ अत्र प्रथमश्लोकेन ‘अहं ब्रह्मास्मी’ति वाक्यजन्यज्ञानेन प्रमाणान्तरस्य बाधः प्रतिपाद्यते, द्वितीयेन तु श्लोकेन बाधितानामपि प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकं प्रामाण्यन्तु वर्तते एवेति प्रतिपाद्यत इत्यनुपद-  
सूचितो विशेष एवात्र विशदीकृतः । आहुः—आचार्यसुन्दरपाण्ड्या इति केचित् । अयं श्लोक आचार्यसुन्दरपाण्ड्यानामिस्ति महामहोपाध्यायश्रीकुण्डमुस्वामिशशिपादैः सूतसंहिताव्याख्यानुसारेणान्यत्र विवेचितम् । विचारितं चात्र किञ्चिदसदीय-  
वेदान्तपरिभाषाव्याख्यायामिति तत एवाधिकमवगन्तव्यम् । श्रीनारायणसरस्वत्यस्तु स्वीये वार्तिके गौडपादाचार्या इति वदन्ति ।



मिथ्यात्मनोऽसत्त्वे देहेन्द्रियादिबाधनं श्रवणादिबाधनं च । ततश्च न केवलं लोकयात्रासमुच्छेदः, सद्ब्रह्माहमित्येवंबोधशीलं यत्कार्यम् ; अद्वैतसाक्षात्कार इति यावत्, तदपि कथं भवेत् ? कुतस्तदसंभव

\*ननु\* मुख्यं सामानाधिकरण्यं त्रिविधम्—विशेषणविशेष्यभावे बाधायामभेदे चेति । यत्र तु त्रिविधमपीदं न भवति, तत्र सादृश्यनिबन्धनं गौणं सामानाधिकरण्यम् । यत्र नात्यन्तिकाभेदः, न वैकतरविशेषज्ञानवाध्यत्वमपरस्य तत्र प्रथमम्, यथा नीलो घट इत्यादौ । न हि नीलज्ञानवाध्यो घटो घटज्ञानवाध्यो वा नील इति न बाधायां सामानाधिकरण्यमधिष्ठानारोप्यतादात्म्यप्रतीतिरूपम् । धर्मतो भेदात् नानामेदेऽपि तदिति विशेषणविशेष्यभाव एव सामानाधिकरण्यम् । इदं रजतमित्यत्र तु द्वितीयम्—इदंपदार्थविशेषज्ञानवाध्यत्वाद्भजतस्य । “उद्भिदा यजेत” इत्यत्र त्वभेदे सामानाधिकरण्यम् । त्रितस्यायाप्यस्य सिंहो देवदत्त इत्यत्राभावाद् गौणं सामानाधिकरण्यमिति वस्तुस्थितिः । सति चैवमहं स्थूलः कृश इत्यादौ, “अहं ब्रह्मास्मी”त्यत्र च कीदृशं सामानाधिकरण्यं विवक्षितमिति वक्तव्यम् । वयन्तु प्रतीमः—उभयत्रैकरूपमेव सामानाधिकरण्यं गौणम्, न मुख्यम् । मुख्यत्वेऽपि वा शरीरात्मनोरभेदस्य बाधितत्ववद् जीव-ब्रह्मणोरपि तस्य बाधितत्वादुभयत्रापि बाधायामेव सामानाधिकरण्यम् । अत एव भाष्येऽनुपदं सप्रमातृकाणि प्रमाणानि न भवितुमर्हन्तीति प्रमागानामिव प्रमातुरपि बाधितत्वं प्रतिपादितमुपपद्यत इति कथं तत्त्वमसीति वाक्येन जीव ब्रह्मात्यन्तिकाभेदप्रतीतिः ? इत्याशङ्कासमाधानपूर्वकमुभयत्रापि सामानाधिकरण्यं नैकरूपमिति प्रतिपादनपूर्वकं जीवब्रह्माभेद एव महावाक्यार्थ इति निरूपणपरं प्रथमश्लोकं निर्दिशति—\*गौणेति\* ॥ गौणश्च मिथ्या च गौणमिथ्या, गौणमिथ्या आत्मानो गौणमिथ्यात्मानो तयोगौणमिथ्यात्मनोः । रेफलोपस्तु संन्यासिसम्प्रदायगृहीतत्वेनास्याः कारिकाया वेदतुल्यत्वाच्छन्दसः । दृश्यते हि पारायणोप-युज्यमानानां पौरुषेयाणामपि गीतादीनां श्रीमद्रामायणादीनां च वेदतुल्यत्वेन तत्र तत्र छान्दसप्रयोगः । सादृश्यनिबन्ध-नाभेदव्यवहारविषय आत्मा गौणात्मा, अध्यासनिबन्धनाभेदव्यवहारविषय आत्मा तु मिथ्यात्मा । पुत्रादेरात्माभिमानो गौणः, यतस्तत्र बाह्यत्वान्तरत्वादिना भेदग्रहदशायामेव निरतिशयप्रेमास्पदत्वसादृश्यमात्रेणाभेदव्यवहारः । न हि शरीरमि-वान्तःकरणाधारे चैतन्य एव पुत्रादिकमपि कल्पितम् । अत एव नाहं पुत्र इति व्यवहारो दृश्यते । शरीर आत्माभिमानस्तु मिथ्यैव, यतोऽध्यासनिबन्धनमेवेदं सामानाधिकरण्यम्, न तु सादृश्यनिबन्धनम् । न हि कृशो देवदत्तः कदापि नाहं कृश इति भेदेन व्यपदिशति । भेदव्यपदेशायोग्यत्वेऽप्यभेदे सामानाधिकरण्यन्तु बाधितमेवेति बाधायामेवेदं सामानाधिकरण्यम् । बाध्यते हि शरीरादि निष्कृष्टप्रमातृस्वरूपसाक्षात्कारानन्तरमिति देहादिमिथ्यात्मा=पुत्रादिस्तु गौणाभेति निष्कर्षः । \*असत्त्वे, स्वरूपतोऽभावे । \*पुत्रदेहादिबाधनात्=सदृशस्याध्यस्तस्य चोभयस्य ब्रह्मसाक्षात्कारवाध्यत्वात् । \*सद्ब्रह्माहमिति बोधे=अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मसाक्षात्कारे सति । \*कार्यं=शरीराद्यभिमानप्रयुक्ताधिकारविशेषादिनिबन्धनानि विधिनियेषशस्त्राणि । \*कथं भवेत्=न भवन्तीत्यर्थः । कथमाक्षेपे । अत्राहं ब्रह्मास्मीति न गौणं बाधायां वा सामानाधिकरण्यम्, किन्त्वभेद इति सत्यद-विशेषणेन सूच्यते । सत्यं सत्यदेन ब्रह्मात्रस्याबाधः सूच्यते, नतु प्रमातुरपि ; तथाऽपि पुत्रदेहाद्युपाधिबाधस्यैव पूर्व-मुल्लेखात् प्रमातृस्वरूपमप्यबाधितं मत्तैव सद्ब्रह्माहमिति ज्ञानोल्लेखोऽत्र विवक्षित इति मन्तव्यम् । सति चैवं “सप्रमातृकाणी”ति पूर्वतनभाष्ये प्रमातुरपि निषेधस्तदुपाध्यन्तःकरणनिषेधाभिप्राय एवेति फलति । जीवानाभासताभिप्रायेणैवमुक्तम् । यदि तु जीवाभासतावाद आश्रीयते, तर्हि सद्ब्रह्माहमित्यपि बाधायां सामानाधिकरण्यमेव । तत्र च बाध्यमानत्वं न ब्रह्मणः, किन्तु प्रमातुरेवेति बोधनार्थं सदिति ब्रह्मविशेषणम् ।

किन्तु प्रमातुरेवेति बोधनाथं सादेति ब्रह्माविशेषणम् ।  
इदमेव तु भाष्यं गृहीत्वा जीवाभासतावादः, जीवोऽपि कूटस्थचैतन्ये कल्पितः, अहं ब्रह्मासीति बाधायां  
सामानाधिकरण्यमिति च सिद्धान्तलेशे संगृहीतम् । अत्र पक्षे पुत्रदेहादीत्यादिपदेन प्रमातुरपि ग्रहणमिति विवेकः ।  
\*ननु\* देहादेरिव पुत्रस्यापि बाध्यमानत्ववर्णनात् कथं देहो मिथ्यात्मा, पुत्रस्तु गौणात्मेति चेत्, \*अतोच्यते\* ;  
बाध्यत्वं ह्यविद्या-तत्कार्यान्यतरप्रयुक्तमेव । तच्च पुत्रादेरपि समानम् । गौणमिथ्याव्यवहारस्तु, यत्तादात्म्यं यत्र भासते,  
तत्र भेदप्रतीतिकालिकतदभावनिवन्धन एवेति, अहं पदार्थदृष्ट्या पुत्रस्य गौणत्वेऽपि शुद्धचैतन्यदृष्ट्या तदध्यस्तत्वस्यैव

(२) 'एवंबोधी'ति भामत्यभिमतः पाठः ।



अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।

अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥

भामती

इति ? अत आह—\*अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः\* ॥ उपलक्षणं चैतत् । प्रमा-प्रमेय-प्रमाणविभाग इत्यपि द्रष्टव्यम् । एतदुक्तं भवति—एष हि विभागोऽद्वैतसाक्षात्कारकारणम् ; ततो नियमेन प्राग्भावात् । तेन तदभावे कार्यं नोत्पद्यत इति । नच प्रमातुरात्मनोऽन्वेष्टव्य आत्माऽन्य इत्याह—\*अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः\* ॥ उक्तं ग्रीवास्थग्रैवेयकनिदर्शनम् ।

पञ्चपादिका

स्याप्यात्मनो मुख्यपरमार्थब्रह्मात्मावगमेन तदाधारपुत्रदेहादिबाधनादसत्त्वं तन्निमित्तं शास्त्रीयं नियोज्यत्वं शारीरं च भोक्तृत्वं निमित्ताभावान्न कथंचिदुद्भवेदित्यर्थः । तदेतद् द्रढयन्नाह—\*अन्वेष्टव्यात्मेति\* ॥ “सोऽन्वेष्टव्यः” इत्याद्युपक्रमेणोपदिष्टापास्ताशेषसंसाररूपब्रह्मात्मावगमात्प्रागेव प्रमातृत्वाभिमानः प्रत्यक्चित्तेर्यदा पुनस्तद्रूपं विस्मृतसुवर्णवदवाप्तम्, तदा स एव प्रमातृत्वाभिमतो निरस्तसंसारदोषः सम्पन्नः । कुतस्तस्य

पञ्चपादिकाविवरणम्

द्रढयन्नाहेति\* ॥ द्वितीयश्लोकस्य तात्पर्यमाह—\*कथमिदानीमस्य प्रामाण्यमित्यादिना\* ॥ तृतीयश्लोकं

वार्तिकम्

वेत्यात्मप्रत्ययदर्शनात् । मुख्य आत्मा देहादिः ; प्रसिद्धभेदत्वात् । तथाचैवमन्वयः—सद् ब्रह्माहमित्येवं बोधे सत्यविद्याकल्पितपुत्र-देहादिबाधनाद् गौणमिथ्यात्मनस्तस्य पुत्रदेहादेरसत्त्वे सति तन्निर्वर्त्य यागादि-कार्यं तस्य विदुषः कथं भवेत् ? न कथमपीत्यर्थः । तथाऽपि ब्रह्मावबोधे ज्ञातृज्ञेयाद्यपेक्षणात्, अन्यथा तदनुत्पत्तेर्न तेनात्मनि प्रमातृत्वादिबाधः ; उपजीव्यविरोधापत्तेरिति, नेत्याह—\*अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः\* ॥ कुतः ? यतः स चात्मा \*अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव = प्रमातृत्वादिपाप्म-

भाष्यभावप्रकाशिका

वर्तकत्वादित्याह—\*अन्वेष्टव्येति\* ॥ “य आत्मा अपहतपाप्मेत्यादिश्रुतिप्रतिपादित आत्माऽन्वेष्टव्यः ; “सोऽन्वेष्टव्यः” इति श्रुतेः, यदि प्रमातृत्वादिव्यवहारः कल्पितः, कथं तर्हि प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यम् ?

प्रदीपः

स्वीकाराद् न कोऽपि दोषः । तथाच दृश्यं द्विविधम्—किंचिदहंपदार्थभिन्नतया प्रतीयमानम्, किंचिच्च तदभिन्नतयैव प्रतीयमानम्, उभयमपि मायिकं मिथ्या चेति निरूपणमन्तरा नाद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारानुवादः संभवतीत्युभयविधस्यापि दृश्यस्य बाधोऽत्र निरूपितः । तथाच “तत्त्वमसी”ति महावाक्यमबाधितब्रह्मस्वरूपविषयकसाक्षात्कारजनकत्वात् पारमार्थिकतत्त्वावेदकं प्रमाणम् । “अहं कृशः” इत्यादिज्ञानन्तु विधिनिषेधशास्त्राणि च व्यावहारिकतत्त्वावेदप्रमाणानीति विशेषो ज्ञाप्यते । यतः—“अहं ब्रह्मास्मी”ति ज्ञानमबाधितचैतन्यस्वरूपमात्रविषयकम्, अहं कृश इत्यादिकन्तु ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं बाध्यमानान्तःकरणादि-शबलितात्मविषयकम् । तथाचाहं ब्रह्मास्मीति चैतन्यस्वरूपमात्रविषयकत्वादमेदे सामानाधिकरण्यमेव, यतोऽन्तःकरणोप-लक्षितस्य मायोपलक्षितस्य च चैतन्यमात्रस्यैवाभेदमात्रं विवक्ष्यते, न तु धर्मतः परस्परभेदोऽपि । \*ननु\* कथमहमर्थस्य सत्यस्य बाधः ? कथं वा चैतन्यमात्रस्याहंपदेनोपस्थितिः ? नह्यहमर्थस्य बाधितत्वेऽहं मुक्तः स्यामितीच्छा संभवतीत्याशङ्क्य, चैतन्यमात्रस्याहंपदार्थत्वमात्मसाक्षात्कारपूर्वावस्थायामेव, न तु ततः परमपीति प्रतिपादकं द्वितीयं श्लोकं निर्दिशति—\*अन्वेष्टव्येति\* ॥ सत्यमहमर्थोऽप्यात्मैव सर्वैरपि मन्यते ; तथाऽपि वेदान्तगम्यमात्मतत्त्वं नाहंकारशबलितमेव पारमार्थिकम् । अत एव—“अथातोऽहंकारादेशः” इति प्रतिज्ञाय “अथात आत्मादेशः” इति पृथगात्मोपदेशोपक्रम उपपद्यते । तथाचात्मविचारात्



## देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।

भामती

स्यादेतत्—अप्रमाणात्कथं पारमार्थिकाद्वैतानुभवोत्पत्तिरिति ? अत आह—\*देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः\* ॥

पञ्चपादिका

यद्ययमहमुल्लेखप्रमुखप्रमातृत्वादिव्यवहारः कल्पितः, कथमिदानीमस्य प्रामाण्यम्? इत्याशङ्क्याह—  
\*देहात्मप्रत्यय इति\* । यथा देहे विशिष्टजातीये तद्व्यतिरिक्तस्याहङ्कर्तुरहंमानसम्बन्धः कल्पितोऽपि

पञ्चपादिकाविवरणम्

व्याचष्टे—\* अद्वितीय-निरतिशयानन्द-चैतन्यैकतान-सर्वज्ञ-सर्वेश्वर-सर्वशक्ति-निरवयव-स्वच्छासङ्ग-प्रत्यग्भूत-

भृजुविवरणम्

\*ननु\* ब्रह्मात्मज्ञानात्सर्वव्यवहारनिवृत्तौ संवादो न दर्शनीयः, अत्र कार्याभावप्रामाण्यं च लौकिकस्योक्तम्, न तु व्यवहारनिवृत्तिः, यद्वा प्रकाशत एव सर्वदा ब्रह्म ; सर्वेषामात्मत्वात्, अतः कथं तज्ज्ञानात् कृत्याभावः ? इत्याशङ्क्योक्तमप्यर्थं श्लोकारूढं करोति—\*अद्वितीयेत्यादिना\* ॥

व्याख्यातो यस्मिन्नेत्रो विदितनिखिलगीस्तत्सुतो यस्य नाम ।

मीमांसापारगन्तुर्जनरणनयुतो योऽर्दनस्तत्सुतेन ॥

बीजं यन्नामसिद्धं तदिह वननिधेरद्वितीयेन युक्तम् ।

वायोष्वष्टं विधातुर्युतमिह दशमात्पञ्चमेनेशयुक्तः ॥

तत्त्वदीपनम्

कालमपि प्रमातृत्वादिकं किं न स्यात्? इत्याशङ्क्यान्तःकरणैक्याध्यासनिबन्धनं हि प्रमातृत्वं तस्मिन् सत्येव भवेत्,

वार्तिकम्

दोषादिवर्जितस्सन् सम्भवेदित्यर्थः । तथाच ब्रह्मात्मावगतेः पाश्चात्योपजीव्यविरोधो न दोषायेति भावः ।

\*ननु\* एवं सति प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणानां बाधितविषयत्वादप्रामाण्यं भवेत्, नच—  
एवमस्तीति—वाच्यम् ; तत्र सर्वजनीनप्रमाणत्वव्यवहारविलोपादिति, नेत्याह—\*देहात्मप्रत्ययो

भाष्यभावप्रकाशिका

आत्मावबोधजनकत्वं च श्रुतेरिति ? तत्राह—\*देहात्मेति\* ॥ यथा कल्पितोऽपि देहात्मभावे लोक-  
व्यवहाराङ्गतया प्रमाणमिव भाति, अर्थक्रियाकारी च ; तथा व्यवहाराङ्गत्वाद् व्यवहारे बाधाभावाच्च

प्रदीपः

पूर्वमहमर्थ एवात्मेति ज्ञातश्चेदपि विचारेण तत्साक्षात्कारानन्तरमहमर्थः प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः परमात्मस्वरूपो भवतीति वाक्यार्थः । अत्र “पाप्मदोषादिवर्जितः” इति विशेषणपदेनापहतपाप्मत्वस्य परमात्मासाधारणगुणत्वात् परमात्मपर्यन्तपरत्वेन जीवस्य परमात्मभाव एव मुक्तौ प्रतिपाद्यते । यथाच मुक्तिदशायामहंकाराननुवृत्तावप्यहं मुक्तः स्यामितीच्छोपपत्तिः, तथान्यत्र व्यक्तम् । इदमेव भाष्यं गृहीत्वाऽहमर्थोनात्मतावादोऽद्वैतानाम् । अन्येष्टव्यविचारद्वारा साक्षात्कर्तव्यात्म-  
साक्षात्कारादित्यन्वेष्टव्यात्मविज्ञानादिति पदस्यार्थः । \*आत्मनः=चैतन्यस्य । प्रमातृत्वम्=अन्तःकरणावच्छिन्नत्वम् । \*अन्विष्टः=साक्षात्कृत एव सन्, आत्मेति शेषः । \*पाप्मदोषादिवर्जितः=परमात्माभिन्नः स्यादिति योजना । अनेन च प्रमातृत्वमेवात्मनः कल्पितम्, न तु प्रमातैव स्वरूपतः कल्पित इति जीवानाभासतापक्ष एव स्वरसः प्रतीयते । अनेन च श्लोकेनाभेद एवाहं



लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥ इति ॥ ४ ॥

इति श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये समन्वयाधिकरणं संपूर्णम् ॥

भामती

\*लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं तु\* ॥ अस्यावधिमाह—आऽऽत्मनिश्चयात् । आ ब्रह्मस्वरूपसाक्षा-  
त्कारादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—पारमार्थिकप्रपञ्चवादिभिरपि देहादिष्वात्माभिमानो मिथ्येति  
वक्तव्यम् ; प्रमाणबाधितत्वात् । तस्य च समस्तप्रमाणकारणत्वं भाविकलोकयात्राबाहित्वं चाभ्युपेयम् ।  
सेयमस्माकमप्यद्वैतसाक्षात्कारे विधा भविष्यति । नचायमद्वैतसाक्षात्कारोऽप्यन्तःकरणवृत्तिभेद  
एकान्ततः परमार्थः । यस्तु साक्षात्कारो भाविकः, नासौ कार्यः ; तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात् । अविद्या तु  
यद्यविद्यामुच्छिन्द्याज्जनयेद्वा, तत्त काचिदनुपपत्तिः । तथाच श्रुतिः—‘विद्यां चाविद्यां च  
यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥’ इति । तस्मात् सर्वमवदातम् ॥४॥  
समन्वयाधिकरणम् ।

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृतौ भामत्यां समन्वयाधिकरणं समाप्तम् ।

पञ्चपादिका

स्वनिबन्धने लोकशास्त्रव्यवहारे यथाऽवगतितत्त्वहेतुः, तथाऽयं कल्पितोऽप्यलौकिकात्मस्वरूपप्रतिपत्तेः  
प्राक् प्रमाणम् ; निश्चितप्रत्ययोत्पादनाद्वाधानुपलब्धेश्चेति ॥

इति परमहंसपरिव्राजकादि-श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवर-श्रीपञ्चपादाचार्यकृतौ पञ्चपादिकायां

वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयनिरूपणं नाम नवमं वर्णकं समाप्तम् ॥

पञ्चपादिकाविवरणम्

ब्रह्मात्मन्यपरोक्षानुभवात्प्राग् देहात्मप्रत्ययवत् सर्वो व्यवहारो यथादर्शनमुपपद्यते । तस्मिंश्चापरोक्षेऽवभासमाने  
प्रमातृत्वादिबाधात् सर्वो व्यवहारो निवर्तत इति श्लोकार्थः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकानन्यानुभवपूज्यपादशिष्य-स्वप्रकाशानुभवभगवतः कृतौ पञ्चपादिकाविवरणे

समन्वयाधिकरणं नाम नवमं वर्णकं समाप्तम् ॥

ऋजुविवरणम्

मेये छसूक्ष्मे मतिराविरासीद् गुरोः प्रसादेन कृता हि तेन ।

वेदान्तसिद्धान्तविवेचनाय टीका च सर्वैश्च विभावनीया ॥

मद्देहगेहं समुपेहि राम ! हृत्कंजपीठेन युतं निरीह ।

भाराधये तत्र भवन्तमीशं भावोपचारैरखिलात्मरूपम् ॥

भाराधये राम कथञ्चिदात्मनिस्साधनोऽहं सकलं त्वमेव ।

क्रियाऽपि नो या विषयीकरोति कर्ताऽपि चाहं नहि भिन्नरूपः ॥

इति स्वामीन्द्रपूर्णपूज्यपादशिष्य-सर्वशास्त्रविशारदजनार्दनात्मज-सर्वज्ञ-विष्णुभट्टोपाध्यायकृतौ

ऋजुविवरणे समन्वयाधिकरणं नाम नवमं वर्णकं समाप्तम् ॥

तत्त्वदीपनम्

नान्यदेत्यभिसन्धायाह—\*तदेवेति\* ॥ ज्ञाने सत्यपि प्रमातृत्वादिकं दृष्टमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाह—\*अद्वितीयेति\* ॥

सकलशास्त्रव्यवस्थसिद्ध्यर्थं सोपाधिकं निरुपाधिकं च रूपमनूदितमिति द्रष्टव्यम् ॥

इति परमहंसपरिव्राजकाचार्याखण्डानुभूतिशिष्येणाऽखण्डानन्दमुनिना विरचिते विवरणतत्त्व-

दीपने समन्वयाधिकरणं नाम नवमं वर्णकं समाप्तम् ॥



## वार्तिकम्

यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितं लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयादिति\* ॥ आत्मनिश्चयादि पदच्छेदः ॥

“नारायणीयमेतद्धि युज्यते शङ्कने नये ।

को हान्यः पुण्डरीकाक्षाद् वेत्ता शङ्करहृदयतम् ॥”

इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिके समन्वयाधिकरणं संपूर्णम् ॥

## भाष्यभावप्रकाशिका

तत्त्वावेदकप्रामाण्याभावेऽपि प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रामाण्यम्, आत्मबोधजनकत्वं च श्रुतेः सिध्य-  
तीत्यर्थः ॥

इति पूज्यश्रीचित्सुखमुनिवृत्तौ शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यायां भाष्यभावप्रकाशिकायां  
समन्वयाधिकरणं नाम नवमं वर्णकं संपूर्णम् ॥

## प्रदीपः

ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यम्, न तु बाधायामिति सूच्यते, इति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यं पारमार्थिकतत्त्वावेदकमिति ज्ञाप्यते ।  
अथ तृतीयश्लोकमहं कुरु इत्यादिज्ञानानां व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वलक्षणमेव प्रामाण्यमिति निरूपणपरं निर्दिशति—\*देहात्म-  
प्रत्यय इति\* ॥ \*लौकिकम्=घटादिज्ञानम् । देहात्मज्ञानं यथा व्यावहारिकतत्त्वावेदकम्, एवं ‘सन् घटः’ इत्यादिज्ञानमपि  
व्यावहारिकतत्त्वावेदकमिति भावः । कुत इत्यत आह—\*आत्मनिश्चयादिति\* ॥ आत्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः । ‘सन्  
घटः’ इत्यपि बाधायां सामानाधिकरण्यमेवेति निष्कर्षः । यथा चैतन्यमहंप्रतीतिसमय आनन्दरूपेण न ज्ञायते, सच्चिद्रूपेण तु  
ज्ञायते, एवमेव सन् घट इति प्रतीतिसमयेऽपि । इयान्विशेषः—यद् अहं प्रतीतावधिष्ठानारोप्ययोरुभयोरप्यप्रतीत्या न  
द्वंद्वविषयकत्वं स्पष्टम्, सन् घट इत्यत्र तु तत् स्पष्टम् । न हि ‘सन् घटः’ इति प्रतीतिविषयं सत्त्वं नैयायिकसम्मतसमान-  
जातिमत्त्वम् । अभावोऽस्तीत्यभावसाधारण्यात्सत्त्वस्येति धिष्ठानरूपसत्तात्तादात्म्यमेवात्र प्रतीयत इति भावः । त्रिमिरेतैः श्लोकैः  
प्रमाणानां महावाक्यातिरिक्तानां व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वलक्षणं महावाक्यानां पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वलक्षणं प्रामाण्यमिति  
व्यवस्थापनेन महावाक्यप्रतिपाद्यं नोपासनादिसाध्यतया तत्साधनतया वाऽन्वेतुं योज्यमिति सूच्यते । तेन च धर्मविलक्षणत्वं  
ब्रह्मणः साध्यते, इति विधिसम्बन्धो धर्मेजिज्ञासाविषयत्वं वा न ब्रह्मण इति सिद्ध्यति । तथाच न प्रतिपत्तिविधिविषयतया  
ब्रह्मणो वेदान्तैर्बोधनम्, किन्तु साक्षात्कारमात्रे निखिलसंसारबन्धनिवर्तनक्षमं ब्रह्मस्वरूपमात्रमेव वेदान्तैर्बोध्यते । तत्रैव  
महावाक्यानामुपक्रमोपसंहारादिभिस्तात्पर्यमवगम्यते, इति शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्मेति सिद्धम् । सति चैवं सर्ववेदतात्पर्यविषय-  
स्तटस्थलक्षणविधया स्थूलारुन्धतीन्यायेन जन्मादिवाक्यावसेयं शुद्धं निर्विशेषं च चैतन्यमात्रमेवावगतिमात्रेण मोक्षपर्यवसायि—  
“अथातो ब्रह्मजिज्ञासे”ति जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातमिति तस्य प्रत्यगभिन्नस्याप्यहंप्रतीतिविषयात् प्रमातुर्विभिन्नत्वादहंज्ञानमात्रेण  
मोक्षासिद्धयपपत्तेस्तस्य शरीरादितादात्म्यापन्नस्य संसारिव्यतिरिक्तत्वाव्यतिरिक्तत्वादीनां विचारं विना सन्दिग्धस्वरूपत्वाद्  
वेदान्तमात्रसमधिगम्यत्वाच्च ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति निष्कर्षः ।

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यटिप्पणे प्रदीपे समन्वयाधिकरणं समाप्तम् ।

चतुःसूत्री संपूर्णा

\*शुभमस्तु\*







1











